प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी.
मुद्रक : विद्याविलास प्रेस वाराणसी
संस्करण : तृतीय, संवत् २ १८
मूल्य ५-

Chowkhamba Sanskrit Series Office
P O Box 8 Varanasi.
(INDIA)
1961
Phone 3145

भूमिका

काव्यकी उपादेयता

महर्षिने कहा है—धर्मार्थियोंको धर्म, कामार्थियोंको काम, दुष्टोंको निग्रह, कायरोंको साहस, शूरवीरोंको उत्साह, मूर्खोंको ज्ञान, विद्वानोंको वैदुष्य एवं दुःखियों, शान्तों और शोकार्तोंको विश्रान्ति देनेवाला तथा धर्म, यश, आयुष्य को देनेवाला, बुद्धिवर्धक एवं परमहितकारक काव्य है[1]। भामहाचार्यने काव्यको धर्मार्थकाममोक्षरूप पुरुषार्थचतुष्टयका साधन कहा है तथा मम्मटाचार्यने काव्यको यश, धन एवं व्यवहारज्ञानका दाता, अमङ्गलनाशक, तत्काल परमसुखप्रद और कान्तावत् उपदेशप्रद बतलाया है।

अब प्रश्न यह उठता है कि वेदान्त, उपनिषद् आदि विविध शास्त्रोंका परिशीलन छोड़कर काव्यका ही परिशीलन क्यों किया जाय? इस सम्बन्धमें वक्रोक्तिजीवितकार कहते हैं—अन्यान्य शास्त्र कड़वे औषधके समान अविद्यारूप रोगका नाश करनेवाले हैं परन्तु काव्यशास्त्र अमृतवत् आह्लादपूर्वक अविद्यारूप रोगका नाशक है। आचार्य भामहने भी उक्त विषयका ही समर्थन किया है[2]। इतना ही नहीं, काव्यके द्वारा राजनीति तथा लोकव्यवहारका ज्ञान भी होता है। व्यास, वाल्मीकि, कालिदास, बाण, माघ, श्रीहर्ष आदि परस्सहस्र काव्यनिर्माताओंको अजरामरत्व देनेवाले उनके रचित 'काव्यशास्त्र' ही हैं। उद्भट आदि विद्वानोंको राजकोपसे प्रतिदिन एक लाख अशर्फियाँ मिलती थीं[3] तथा कवियोंको ही राजदरबारोंमें सान्धिविग्रहिक, मुख्यामात्य आदि सम्माननीय पद प्राप्त होते थे। सूर्य भगवान्‌के स्तुतिकाव्यसे मयूरादि कवियोंके कुष्ठरोगका नाश होना भी शास्त्रोंमें पाया जाता है। अतएव काव्यको शृङ्गाररस-प्रधान मानकर रसिकमात्रोंके लिए उपयुक्त कहना नितान्त भ्रमात्मक धारणा है।

काव्यहेतु

अधिकतम आचार्यों का सिद्धान्त है कि—काव्य-रचनाके लिए शक्ति, निपुणता तथा अभ्यासका होना अत्यन्त आवश्यक है। इनमेंसे स्वस्थ मनमें अनेक प्रकारके अर्थोंका भान एवं सरल पदोंके स्फुरणको 'शक्ति' या 'प्रतिभा' कहते हैं। जिस कविमें इसका सहज अभाव है, वह व्युत्पत्ति तथा अभ्यासके द्वारा कविता

---

१ नाट्यशास्त्र १।१०९–१२४ २. काव्यालङ्कार ५।३ ३. देखें राजतरङ्गिणी।

भले ही कर ले, किन्तु उसमें वह सरसता नहीं आ सकती जो प्रतिभा-सम्पन्न कविके काव्यमें होती है। वेद, धर्मशास्त्र, पुराण, व्याकरण, छन्द, कला, इतिहास, कामतन्त्र, आयुर्वेद, कोष आदि विविध शास्त्रोंका एवं काव्यशास्त्रविषयक साहित्यालङ्कारादि ग्रन्थोंका आम्नायपूर्वक ज्ञान प्राप्त करना 'निपुणता' या 'व्युत्पत्ति' कहलाती है। इसके द्वारा कवि आचारादिविरुद्ध कविता करनेमें समर्थ होता है। सततसंलग्न होकर स्वयं तथा गुरुजनके समक्ष काव्यरचनामें क्रमशः क्रमिक विकास करते रहना 'अभ्यास' कहलाता है। जैनाचार्य वाग्भट (प्रथम) प्रतिभाको काव्यका कारण, व्युत्पत्तिको विभूषण तथा अभ्यासको अभिकारण अर्थात् तीनोंको ही काव्यका कारण माना है[1]। काव्यप्रकाशकार मम्मटाचार्य भी सम्मिलित तीनोंको ही काव्योत्पत्तिमें कारण माना है[2]।

काव्य-लक्षण

सबका वर्णन करने या जाननेवाला 'कवि' कहलाता है। श्लोकोंको ग्रथित कर या वर्णन करे उसे कवि कहते हैं। (कवते श्लोकान् ग्रथ्नाति वर्णयति वा 'कविः') 'कवि' शब्द का प्रयोग शुक्राचार्य[3] एवं विद्वत्सामान्य[4] के लिये भी होता है।

अग्निपुराणमें अलङ्कार एवं गुणोंसे युक्त तथा विशेष पदावलीको 'काव्य' कहनेके बाद इस काव्यमें वचनचातुरीकी प्रधानता रहने पर भी रसको ही काव्य का प्राण कहा गया है[5]। वामनाचार्यने भी यही स्वीकार किया है[6]। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथने तो रसको ही काव्यकी आत्मा माना है[7] तथा पण्डितराज जगन्नाथने रसगङ्गाधरमें रमणीयार्थप्रतिपादक शब्दको काव्यकी संज्ञा दी और उस रसमें चमत्कारको सार बतलाया है[8]। इस प्रकार समष्टिरूप

---

१ वाग्भटालङ्कार १।२

२ काव्यप्रकाश १।३ तथा उसकी वृत्ति 'त्रयः समुदिताः' —'हेतुर्न तु हेतवः' इति

३ 'शुक्रो दैत्यगुरुः काव्य उशना भार्गवः कविः। (अमरकोष १।३।२५)

४ 'विद्वान् विपश्चिद्दोषज्ञ'…'संख्यावान् पण्डितः कविः'। (अमरकोष २।७।५)

५ 'संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।
काव्यं स्फुरदलङ्कारं गुणवद्दोषवर्जितम्॥' (अग्निपुराण ३३७।७)
तथा—'वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्।' (अग्निपु० ३३७।३३)

६ द्रष्टव्य—काव्यालङ्कारसूत्र १।१।१ तथा उसकी वृत्ति।

७ 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।' (सा० द० १)

८ 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।' तथा—'रसे सारश्चमत्कारः।'

विचार करने पर 'चमत्कारयुक्त रसात्मक सगुण सालङ्कार एवं निर्दोष वाक्यको 'काव्य' कहते हैं' यही निष्कृष्ट लक्षण काव्यका होता है।

काव्यके भेद

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथने काव्यके दो भेद कहे हैं—दृश्यकाव्य और श्रव्य-काव्य। प्रथम दृश्यकाव्यको 'रूपक' भी कहते हैं। यह (दृश्य या रूपक) दश प्रकारका होता है नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अङ्क, वीथी और प्रहसन। द्वितीय (श्रव्यकाव्य) तीन प्रकारका होता है—पद्यात्मक, गद्यात्मक तथा गद्यपद्यात्मक। इनमेंसे भी प्रथम पद्यात्मक काव्यके सात भेद हैं—महाकाव्य, खण्डकाव्य, कुलक, कलापक, सन्दानितक, युग्मक और मुक्तक। द्वितीय गद्यात्मक काव्यके कथा, आख्यायिका ये दो और विश्वनाथके मतसे मुक्तक, वृत्तगन्धि, उत्कलिकाप्राय और चूर्णक—ये चार भेद हैं[1]। तृतीय गद्य-पद्यात्मक काव्यको 'चम्पू' तथा उसीके राजस्तुतिपरक होने पर 'विरुद' और बहुभाषा होने पर 'करम्भक' कहते हैं[2]।

महाकवि कालिदास और उनकी विशेषतायें

महाकवि कालिदास की नैसर्गिक एव सामयिक वाणीमें जहाँ शूरवीरोंसे लेकर कायरों तकमें उत्साह भरनेकी शक्ति थी वहीं विद्वानोंसे लेकर मूर्खों तकमें पात्रानुकूल रचनाओंसे ज्ञान भरनेकी भी अदृष्टचर कला थी। प्रकृतिके सूक्ष्म निरीक्षण तथा मानवमानसमें अन्तर्हित गूढतम भावके ज्ञानमें कालिदासको अद्वितीय सिद्धि प्राप्त थी। शृङ्गाररसके तो ये अन्यतम महाकवि थे ही, करुणरसमें भी इन्हें पूर्ण सफलता मिली है। कुमारसम्भवके रति-विलाप, तथा रघुवंशके अज-विलाप में किये गए करुणात्मक वर्णनोंसे कौन ऐसा सहृदय होगा जो उनके दुःखसे दुखी होकर चार बूंद आँसू न बहा दे। इन महाकविके तीनों नाटक यद्यपि एकसे एक बढ़कर हैं, किन्तु 'अभिज्ञानशाकुन्तल' नाटक तो नाटकमालामणियोंका सुमेरु (मध्यनायकमणि) है, जिसकी तुलना कोई नाटक अद्यावधि नहीं कर सका है।[3]

महाकविका भौगोलिक ज्ञान कितना समुन्नत था इसका पता मेघदूत, रघुवंशके रघुदिग्विजय तथा अज-स्वयंवर-वर्णनसे स्पष्ट है। सैकड़ों वर्षों तक

---

१ 'वृत्तबन्धोज्झितं गद्यं मुक्तकं वृत्तगन्धि च।
भवेदुत्कलिकाप्रायं चूर्णकञ्च चतुर्विधम्॥' (सा० द० ६।५८६).

२ द्रष्टव्य—साहित्यदर्पण ६।५८९–५९१

३. 'काव्येषु नाटकं श्रेष्ठं तत्रापि च शकुन्तला।'

वैज्ञानिक अनुसन्धानोंमें कोशिश तथा श्रम करनेके बाद आधुनिक वैज्ञानिक जिस बातका पता लगा सके हैं, उसको हमारे महाकवि कालिदास आजसे दो सहस्र पूर्व ही 'धूमज्योतिःसलिलमरुतां संनिपातः क्व मेघः' (मेघदूत पूर्व श्लोक ५) के द्वारा सबकी ओर घोषित कर चुके थे। कुमारसम्भव मेघदूत तथा शाकुन्तलके वर्णनसे स्पष्ट है कि इन्हें हिमालय तथा उत्तरभारतका वर्णन अधिक प्रिय था।

कालिदास भारतीय संस्कृति (वैदिक संस्कृति) के सच्चे उपासक थे इसी-लिये उन्होंने यथास्थान सन्ध्योपासनादि नित्यक्रियाओं ब्रह्मचर्यादि आश्रमों तथा जातकर्मादि संस्कारोंका वर्णन किया है। गो-ब्राह्मणके तो आप सच्चे उपासक थे। चक्रवर्ती दिलीपका २१ दिन तक 'नन्दिनी' की सेवा करनेके उपरान्त पुत्रप्राप्ति-रूप मनोरथ की सिद्धि होना तथा 'गोमूत्र' नेत्रमें लगाते ही दिव्य दृष्टि प्राप्त करना गो-सेवाका और आतिथ्यसत्काररूप स्वकर्तव्यसे विमुखी महर्षिकन्या शकुन्तलाका दुर्वासाके शापसे नानाविध कष्ट सहना ब्राह्मणसेवा-विमुखताका एवं कौत्सशिष्य वरतन्तुको अपार धनराशि दान देकर 'अज' को पुत्ररूपमें प्राप्त करना ब्राह्मण-सेवा का स्पष्ट उदाहरण है। रघुवंशके नवम तथा अठारहवें सर्गकी रचना महाकविने यमकमें की है। आपकी रचनामें वैदर्भी रीति एवं प्रसाद गुणका बाहुल्य पाया जाता है। उपमाके तो आप बेजोड़ कवि हैं, कहा भी है—'उपमा कालिदासस्य'।

निवासस्थान तथा किंवदन्तियाँ

महाकविको हिमालय तथा उत्तर भारतका वर्णन अतिशय प्रिय था इसमें इन्हें पूर्णतया सफलता मिली है। इसी वर्णनके आधारपर कुछ विद्वान् इन्हें कश्मीरी मानते हैं। महाकाली देवीका उपासक होनेसे कुछ विद्वान् इन्हें बंगाली और कुछ मैथिल तथा कुछ विदर्भदेशोत्पन्न मानते हैं। मेघदूतमें उज्जयिनीका सविस्तर वर्णन होनेसे कुछ इतिहासज्ञ विद्वान् इन्हें उज्जयिनी निवासी बतलाते हैं। इसी प्रकार महाकविका जीवनवृत्त भी सन्देहसागर-सा है। इनके सम्बन्धमें जो किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं, उनमेंसे कुछ इस प्रकार हैं—प्रथम किंवदन्ती यह है कि महाकवि कालिदास पहले महामूर्ख थे। शास्त्रार्थमें अनेक प्रखर विद्वानोंको पराजित करनेवाली एक राजकुमारीसे कह-सुनकर कुछ विद्वानोंने कालिदासको राजसभामें लाकर इनके पाण्डित्यकी बड़ी प्रशंसा करके उस राजकुमारीसे इनका विवाह करा दिया। अनन्तर राजकुमारीने कालिदासको महामूर्ख जानकर तिरस्कार-पूर्वक घरसे निकाल दिया। इस प्रकार तिरस्कृत होकर वे भगवती महाकालीकी आराधनासे वरदान प्राप्त कर पुनः जब घर लौटे तो इनकी पत्नी राज-

कुमारीने पूछा—'अस्ति[1] कश्चिद्वागर्थं ?' इसके उत्तरमें महाकविने क्रमश. 'अस्ति, कश्चित् , वागर्थ.' इन तीन प्रश्नगत पदोंके आधार पर 'अस्त्युत्तरस्या दिशि देवतात्मा…' 'कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा…' और 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ …' इस प्रकार कुमार-सम्भव, मेघदूत तथा रघुवंश—इन तीन ग्रन्थोंकी रचना की। द्वितीय किंवदन्ती यह है कि महाकवि कालिदास लङ्काके राजा कुमारदास के राजपण्डित या मित्र थे। वहाँ इन्हें किसी वेश्याने मार डाला। तृतीय किंवदन्तीके अनुसार इनकी मृत्यु 'धारा' नगरीमें हुई ऐसा कहा जाता है।

समय-निरूपण

कतिपय इतिहासवेत्ता कालिदासका समय ईसवीय षष्ठ शतकमें मानते हैं और अपने पक्षकी पुष्टिमें कहते हैं कि ईसवीय षष्ठ शतकमें महाराज यशोधर्माने हूणवंशीय राजा मिहिरकुलको पराजित किया था। उस समय यशोधर्मा विक्रमादित्य नाम से प्रसिद्ध थे। विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में कालिदास का नाम लिया गया है—

> 'धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशङ्कुवेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः।
> ख्यातो वराहमिहिरो नृपते सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥'

किन्तु यशोधर्माके विक्रमादित्यकी उपाधि धारण करनेका कोई प्रमाण नहीं मिलता। अतएव यह मत सयुक्तिक नहीं है। फर्ग्यूसन सा० का मत है कि ५४४ ई० में कारूरकी लड़ाई में उज्जयिनीनरेशने हूणोंको पराजित कर अपनी विजय को स्थायी करनेके लिए अपने नाम पर विक्रम सवत् चालू किया और उसकी प्राचीनता सिद्ध करने के लिए ६०० वर्ष पूर्व (ई० वर्षसे ५७ वर्ष पहले) उस संवत्का स्थापनाकाल कल्पित किया। यही महाकवि कालिदासके विक्रमादित्य हैं, अत कालिदासका समय ईसवीय वर्षका षष्ठ शतक मानना चाहिये। परन्तु इस मतको अन्य इतिहासवेत्ता स्वीकार नहीं करते, उनका मत है कि भारतवर्षमें विक्रमादित्य नामका कोई भी राजा ईसवीय वर्षके षष्ठ शतकमें नहीं हुआ और न किसी राजाने ६०० वर्ष पूर्व स्थापनाकाल मानकर कोई सवत् ही चालू किया। इस सम्बन्धमें श्रद्धेय प बलदेवजी उपाध्याय का अभिमत ठीक मालूम पड़ता है। उनका कहना है कि— पूर्वकालमें मालव गणोंका विशेष प्रभुत्व था, यह जाति सिकन्दरसे पराजित होकर राजपूतानेकी ओर आयी तथा मालवामें अपना पुन प्रभुत्व जमाया। इस अर्सेमें इसे लगभग दो सौ वर्ष व्यतीत हो गये। इस गणराज्यके मुखिया विक्रमादित्य

---

१ कहीं-कहीं 'वाग्विशेष' ऐसा भी पाठ है।

ये इन्होंने ही युद्धमें शकोंको हराया, जिसके हर्षोल्लासमें नवीन संवत् चालू किया। गणराज्यमें किसी व्यक्तिकी नहीं अपितु समष्टिकी प्रमुखता रहती है, अत एव उक्त संवत् 'मालव संवत्' नामसे प्रसिद्ध हुआ। इन्हीं विक्रमादित्यके सभापण्डित नवरत्नोंमेंसे महाकवि कालिदास भी अन्यतम थे अतएव कालिदास का समय ईसवीय-वर्षके एक शतक पूर्व मानना उचित प्रतीत होता है। मध्य भारत प्रान्तमें स्थित मन्दसोरके शिलालेखसे इसके मालव संवत् होनेकी पूर्णतया पुष्टि होती है। उक्त शिलालेख इस प्रकार है—

'मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये।
त्रिनवत्यधिकेऽब्दानामृतौ सेव्यघनस्वने ॥ (वत्सभट्टि)

कालिदासको ईसवीय वर्षके षष्ठ शतकमें माननेवालोंका तृतीय पक्ष यह कहता है कि—कालिदासके ग्रन्थसे पता चलता है कि वे ग्रीक ज्योतिषसे सुपरिचित थे। उक्त ग्रीक ज्योतिष सिद्धान्त भारतमें सर्वप्रथम प्रचारक आर्यभट्ट ईसवीय वर्षके पञ्चम शतकके अन्तिम पादमें हुए, अत एव कालिदासका समय ईसवीय वर्षका षष्ठ शतक मानना सर्वथा न्याय्य है। किन्तु डा. मैक्डोनेलका कहना है कि ग्रीक ज्योतिष सिद्धान्तका भारतवर्षमें सर्वप्रथम प्रचार करनेवाले आर्यभट्ट नहीं हैं क्योंकि 'रोमकसिद्धान्त' नामक ग्रन्थसे स्पष्ट है कि भारतीय जनता आर्यभट्टसे पहले ही ग्रीक ज्योतिष सिद्धान्तसे पूर्णतया परिचित थी। यह ग्रन्थ आर्यभट्टसे भी पूर्व समयका है। अत एव उक्त सिद्धान्तके आधार पर महाकवि कालिदासका ईसवीय वर्षके षष्ठ शतक में विद्यमान होना कदापि प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। कालिदासको ईसवीय वर्षके षष्ठ शतकमें माननेवालोंका चतुर्थ पक्ष यह है कि—कालिदासकृत मेघदूत पूर्वार्द्धके 'अद्रेः शृङ्गं हरति पवनः……' (मे. दू. पूर्व. १४) श्लोकका म. म. मल्लिनाथने स्वकृत 'सञ्जीविनी' व्याख्या में द्वितीय अर्थ करते हुए 'निचुल' नामक विद्वान्‌को कालिदासका सहाध्यायी और उन (कालिदास) की रचनाओंमें 'दिङ्नागाचार्य' के द्वारा प्रदर्शित दोषोंका उद्धारक बतलाया है। ये दोनों विद्वान् (निचुल तथा दिङ्नागाचार्य) बौद्ध थे तथा इनमें से दिङ्नागाचार्य ईसवीय वर्षके षष्ठ शतकमें वर्तमान 'वसुबन्धु' के शिष्य थे अत एव कालिदासका समय भी ईसवीय वर्षका षष्ठ शतक ही मानना चाहिये किन्तु यह पक्ष भी सर्वसम्मत नहीं है क्योंकि 'वसुबन्धु' के ईसवीय वर्षके षष्ठ शतकमें नहीं अपितु चतुर्थ शतकके चरम पाद तथा पञ्चम शतकके प्रथम पाद में होनेका स्पष्ट प्रमाण है। इन कारणोंसे कालिदासका ईसवीय वर्षके षष्ठ शतकमें अस्तित्व मानना किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं होता।

भारतीय के. बी. पाठक कालिदासको स्कन्दगुप्त विक्रमादित्यका समकालीन मानते हैं। उनका कहना है कि रघुवंशमें रघुके दिग्विजयवर्णनके प्रसङ्गमें कालि-

दासने 'वङ्क्षु' (वर्तमानमें-अरबसागरमें गिरनेवाली आमू दरिया) नदीके तटपर हुणोंके रघुद्वारा पराजित होने का वर्णन किया है। हूण जातीय लोग आक्सस नदीके तटपर ईसवीय वर्षके पञ्चम शतकके प्रथम पादमें बस गये थे और स्कन्दगुप्त विक्रमादित्यके साथ उनका युद्ध ईसवीय वर्षके पञ्चम शतकके मध्यमें हुआ, इस कारण कालिदासका समय वही (ईसवीय वर्षका पञ्चम शतक) मानना उचित है। इस पक्षमें माननीय कान्तानाथ शास्त्री तैलङ्ग यह दोष बतलाते हैं कि अधिकतम ग्रन्थोंमें 'वङ्क्षु' के स्थान पर 'सिन्धु' पाठ मिलता है। इस पाठको ठीक मान लेनेपर यह मानना पड़ेगा कि हूण जातिके लोगों के 'सिन्धु' नदीके तटपर बसनेके समयमें कालिदास हुए थे और यह समय ईसवीय वर्षका षष्ठ शतक सिद्ध होता है, क्योंकि यशोधर्मासे पराजित मिहर कुलने ईसवीय वर्षके षष्ठ शतकमें हूण राज्य की स्थापना की थी। यदि 'वङ्क्षु' पाठ ही ठीक मान लिया जाय तो आमू दरिया (आक्सस नदी) के तटपर केसरकी उत्पत्ति माननी पड़ती है, यह भूगोलशास्त्रके विरुद्ध है, क्योंकि भूगोलमें 'सिन्धु'नदीके तटपर ही केशरकी उत्पत्ति मानी गयी है। अतएव कालिदासको ईसवीय वर्षके पञ्चम शतकमें मानना भी सिद्धान्तसङ्गत नहीं है।

महाकवि कालिदासको ईसवीय वर्षके चतुर्थ शतकमें माननेवाले डा० कीथका कथन है कि अश्वघोषके प्राकृत की अपेक्षा कालिदासका प्राकृत अर्वाचीन है, कालिदास ग्रीक ज्योतिषके पारिभाषिक शब्दोंसे सुपरिचित थे। उनके रचित ग्रन्थोंके वर्णनसे स्पष्ट मालूम पड़ता है कि उनके समयमें वैदिक धर्मका प्रचुरमात्रामें प्रचार था, देश सुखैश्वर्यसम्पन्न था, अतएव ये कालिदास किसी-न-किसी गुप्तवंशीय सम्राट्के आश्रित होंगे और वह गुप्त सम्राट् सम्भवत द्वितीय चन्द्रगुप्त ही होंगे। कालिदासने 'कुमारसम्भव' की रचना भी इन्हीं सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीयके पुत्र कुमारगुप्तकी जन्मकालीन घटनापर की है। परन्तु यह पक्ष भी इतना ही सिद्ध करता है कि कालिदास किसी गुप्त सम्राट्के आश्रित थे, सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय ही थे, इस विषयमें कोई प्रबल प्रमाण नहीं मिलता, अत' गुप्तवंशमें स्कन्दगुप्त भी महाप्रतापी तथा विक्रमादित्योपाधिधारी हो चुके हैं और इनके ही आश्रित महाकवि कालिदासको माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त समुद्रगुप्तका प्रयागका स्तम्भलेख उनकी मृत्युके बाद सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीयके समयमें लिखा गया जो विद्वान् मानते हैं, उनके सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि कालिदास सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वितीयके आश्रित थे तो उक्त प्रयाग का स्तम्भलेख इनसे न लिखाकर निम्नस्तरके विद्वान् 'हरिसेन'से क्यों लिखवाया गया? अतएव इन कारणों से कालिदासको सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वितीयका आश्रित मानकर ईसवीय

वर्षके चतुर्थ शतकमें कालिदासका समय मानना भी निर्णीत पक्ष नहीं कहा जा सकता।

कतिपय विद्वानों का यह पक्ष है कि महाकवि कालिदास तथा बौद्ध दार्शनिक कवि अश्वघोषकी कल्पना-शैलीमें अधिक साम्य है। जैसा कि कालिदासकृत रघुवंशके द्वितीय सर्गके १० वें तथा सप्तम सर्गके ११ वें श्लोकों और अश्वघोषकृत बुद्धचरितके क्रमशः त्रयोदश सर्गके ५० वें तथा तृतीय सर्गके १९ वें श्लोकोंके साथ उक्त साम्य स्पष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त रघुवंशके सप्तम सर्गमें ५ वें से १५ वें श्लोक तक नगरमें प्रवेश करते हुए वरवधूको देखनेके लिए उत्कण्ठित रमणियोंका जो मनोरम वर्णन कालिदासने किया है, ठीक वैसा ही वर्णन अश्वघोषकृत बुद्धचरितके तृतीय सर्गके १३ वें से २४ वें श्लोक तक मिलता है, अत एव अश्वघोषके पर वर्ती कालिदासका बुद्धचरितमें अश्वघोषवर्णित भावका अनुसरण करना स्पष्ट हो जाता है। अश्वघोष ईसवीय वर्षके प्रथम शतकके वर्तमान कुषाण नरेशके समकालीन थे अतः अपरार्द्धमें कालिदासका समय ईसवीय वर्षके द्वितीय शतकमें मानना उचित है। इसके विपक्षमें प्रदेय पं. बलदेव मिश्रजीका कथन है कि कालिदास काव्यकलाके आकर थे उनपर सर्वास्तिवादी दार्शनिक बौद्ध कवि अश्वघोषका प्रभाव नहीं पड़ा है अपि तु अश्वघोषपर ही कालिदास का प्रभाव पड़ा है उन्होंने (अश्वघोषने) काव्यकलाको धर्मप्रचारका उपतामिष उत्कृष्ट साधन मानकर उसे अपनाया। यदि अश्वघोषके भावोंको कालिदासने अपनाया होता तो रघुवंशके इन्दुमती-स्वयंवरके प्रसङ्ग को अभिराम वर्णन मिलता है ठीक वही श्लोक उसी वर्णन उन्हीं रघुवंशके पद्योंसे कुमारसम्भवके सप्तम सर्गमें पार्वतीशिवको देखनेके लिये उत्कण्ठित रमणियोंका करके अश्वघोषका नाम दुबारा व्यक्त नहीं करते अपि तु रूपान्तर देकर उसे छिपाने का काम करते। अतः उचित यही प्रतीत होता है कि कालिदासने अश्वघोषका अनुकरण नहीं किया है बल्कि अश्वघोषने ही कालिदास का अनुकरण किया है अतएव कालिदासका समय अश्वघोषसे पहले अर्थात् ईसवीय वर्षका प्रथम शतक होना चाहिये।

उपर्युक्त बातकी ही पुष्टि जैन विद्वान् मेरुतुङ्गाचार्यकृत 'पट्टावलि'से एवं ऐतिहासिक अन्वेषणोंसे भी होती है। 'पट्टावली' में उज्जयिनी नरेश गर्दभिल्ल राजकुमार विक्रमादित्यने शकोंको पराजितकर उज्जयिनीका राज्य पुनः ले लिया था, यह घटना अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीरके निर्वाणके ७० वर्ष पहले की है। प्रबन्धकोष एवं शत्रुञ्जयमाहात्म्यसे भी उक्त विषय प्रमाणित होता है। यह उज्जयिनी नरेश विद्वानोंके शास्त्रोंका दान करता था तथा महाप्रतापी उदार और शूरवीर था। उक्त विक्रमादित्य के आश्रित कालिदासको मानकर उनका समय ईसवीय वर्षके पूर्व

प्रथम शतक होता है, किन्तु माननीय कान्तानाथ शास्त्री तैलङ्ग का अभिमत है कि पाश्चात्य विद्वान् कालिदासकृत समाजके वर्णनादिसे उन (कालिदास) को किसी गुप्त सम्राट् का ही आश्रित होना स्वीकार करते हैं।

अन्त में बहुत ऊहापोह करने के बाद यह तो निश्चित है कि कालिदास ने अपनी रचना मालविकाग्निमित्र नाटकमें 'अग्निमित्र' को नायक बनाया है वह अग्निमित्र शुगवंशीय पुष्पमित्रका पुत्र था, जिसका समय इतिहासज्ञोंने ईसवीय सन्‌के पूर्वद्वितीय शतक माना है। तथा ईसवीय वर्षके सप्तम शतकमें वर्तमान हर्षचरितकर्ता महाकवि 'बाणभट्ट'ने कादम्बरीके कथामुखमें कवियोंका वर्णन करते हुए कालिदास का भी नाम लिया है,[1] अतएव महाकवि कालिदासका समय ईसवीय वर्षके पूर्व द्वितीय शतक तथा ईसवीय वर्षके बाद सप्तम शतकका पूर्वार्द्ध या षष्ठशतक सिद्ध होता है।

कालिदासके ग्रन्थ

महाकवि कालिदासकी जीवनी तथा समयके समान रचना भी यद्यपि सन्देहसे परे नहीं है तथापि 'रघुवंश तथा कुमारसम्भव' नामक दो महाकाव्य, 'मेघदूत' नामक एक खण्डकाव्य और 'अभिज्ञानशाकुन्तल, मालविकाग्निमित्र तथा विक्रमोर्वशीय' नामके तीन नाटक इनके ग्रन्थ हैं। 'ऋतुसंहार' काव्य तथा 'श्रुतबोध' नामक छन्द-शास्त्रका छोटासा ग्रन्थ भी इन्हीं की रचनाओंमें से है ऐसा भी कुछ विद्वान् मानते हैं। कतिपय विद्वान् 'नलोदय काव्य, पुष्पबाणविलास काव्य, द्वात्रिंशत्पुत्तलिका, शृङ्गारतिलक, शृङ्गाररसाष्टक और 'विवाहवृन्दावन' ग्रन्थोंको भी कालिदासकी ही रचना मानते हैं। यह तो निश्चित ही है कि उपर्युक्त सब ग्रन्थ महाकवि कालिदासकी रचना हैं, किन्तु तीन कालिदास हो चुके हैं,[2] उनमें किसने कौन-कौनसे ग्रन्थ रचे यह विवादका विषय है, तथापि पूर्व ६ ग्रन्थ (२ महाकाव्य, १ खण्डकाव्य तथा ३ नाटक ग्रन्थ) हमारे विवेच्य प्रथम महाकवि कालिदासकी ही रचना हैं इसमें कोई सन्देह नहीं है।

कतिपय विद्वान् तो कुमारसम्भवके आदिम ७ सर्गोंको ही कालिदासकी रचना मानते हैं तथा कतिपय अष्टम सर्गको भी। इन आठ सर्गों पर ही म० म०

---

१ 'निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते॥' (हर्षचरित १।१६)

२. जैसा कि राजशेखर ने कहा है—

'एकोऽपि जीयते हन्त कालिदासो न केनचित्।
शृङ्गारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु?॥'

मल्लिनाथकी व्याख्या है शेष सर्गोंकी रचना किसी महाराष्ट्र कविने की यह डा॰ जैकोबीका मत है।

महाकाव्यका लक्षण

साहित्यदर्पणमें विश्वनाथने महाकाव्यका लक्षण इस प्रकार कहा है—महाकाव्य की रचना सर्गोंमें होती है, उसमें एक देवता या वीर और उदात्तगुणयुक्त श्रेष्ठ वंशमें उत्पन्न क्षत्रिय नायक होता है अथवा एक वंशमें उत्पन्न अनेक राजा भी नायक होते हैं। इस महाकाव्यमें शृङ्गार वीर तथा शान्त—इन तीनोंमें-से कोई एक रस अङ्गी (प्रधान) तथा अन्य रस अङ्ग रहते हैं। नाटककी सभी सन्धियाँ महाकाव्यमें रहती हैं। इस महाकाव्य में कोई इतिहास प्रसिद्ध या सज्जनाश्रित वृत्तका वर्णन रहता है। धर्म, अर्थ, काम मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थों का साम महा-काव्यका फल (प्रयोजन) होता है। सर्वप्रथम ग्रन्थादिमें आशीर्वादात्मक, नमस्कारात्मक या वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गलाचरण किया जाता है। किसी-किसी महाकाव्यमें दुष्टोंकी निन्दा तथा सज्जनोंकी प्रशंसा भी की जाती है। महाकाव्य के प्रत्येक सर्गमें एक छन्द होता है तथा सर्गके अन्तमें छन्दका परिवर्तन कर दिया जाता है अथवा अनेक छन्दों वाले भी पद्य किसी-किसी सर्गमें देखे जाते हैं। न बहुत बड़े और न बहुत छोटे कमसे कम आठ सर्ग महाकाव्य में होते हैं। सर्गकी समाप्तिमें अग्रिम सर्गकी कथाका सङ्केत रहता है। सन्ध्या सूर्य चन्द्र रात्रि प्रदोष, अन्धकार दिन प्रातः, मध्याह्न, आखेट, पर्वत वन समुद्र सम्भोग तथा विप्रलम्भ शृङ्गार, मुनि स्वर्ग, नगर, यज्ञ युद्धयात्रा विवाह मन्त्रणा पुत्रोत्पत्ति आदिका साङ्गोपाङ्ग वर्णन इस महाकाव्यमें यथावसर किया जाता है। कवि वर्णनीय विषय नायक या दूसरे किसीके नाम पर महाकाव्यका नामकरण किया जाता है। इसके सर्गका नाम सर्गमें वर्णनीय कथा-प्रसङ्गके आधार पर रहता है।

—हरगोविन्द शास्त्री

॥ श्रीः ॥

रघुवंशमहाकाव्यम्

'सञ्जीविनी' 'मणिप्रभा' टीकाद्वयोपेतम्



प्रथमः सर्गः

मातापितृभ्यां जगतो नमो वामार्धजानये ।
सद्यो दक्षिणदृक्पातसङ्कुचद्वामदृष्टये ॥ १ ॥

अन्तरायतिमिरोपशान्तये शान्तपावनमचिन्त्यवैभवम् ।
तन्नरं वपुषि कुञ्जरं मुखे मन्महे किमपि तुन्दिलं महः ॥ २ ॥

शरणं करवाणि शर्मदं ते चरणं वाणि ! चराचरोपजीव्यम् ।
करुणामसृणैः कटाक्षपातैः कुरु मामम्ब ! कृतार्थसार्थवाहम् ॥ ३ ॥

वाणीं काणभुजीमजीगणदवाशासीच्च वैयासिकी-
मन्तस्तन्त्रमरंस्त पन्नगगवीगुम्फेषु चाजागरीत् ।
वाचामाकलयद्रहस्यमखिलं यश्चाक्षपादस्फुरां
लोकेऽभूद्यदुपज्ञमेव विदुषां सौजन्यजन्यं यशः ॥ ४ ॥

मल्लिनाथकविः सोऽयं मन्दात्मानुजिघृक्षया ।
व्याचष्टे कालिदासीयं काव्यत्रयमनाकुलम् ॥ ५ ॥

कालिदासगिरां सारं कालिदासः सरस्वती ।
चतुर्मुखोऽथवा साक्षाद्विदुर्नान्ये तु मादृशाः ॥ ६ ॥

तथाऽपि दक्षिणावर्तनाथाद्यैः क्षुण्णवर्त्मसु ।
वयं च कालिदासोक्तिष्ववकाशं लभेमहि ॥ ७ ॥

भारती कालिदासस्य दुर्व्याख्याविषमूर्च्छिता ।
एषा सञ्जीविनी टीका तामद्योज्जीवयिष्यति ॥ ८ ॥

इहान्वयमुखेनैव सर्वं व्याख्यायते मया ।
नामूलं लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षितमुच्यते ॥ ९ ॥

इह खलु सकलकविशिरोमणिः कालिदासः (काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये। सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे) इत्याद्यालङ्कारिकव-

सममिमामनवद्यामस्यानेकमेवस्य साधनतां (काव्यालापांश्च वर्जयेत्) इत्यस्य निषेधशास्त्रस्यासत्काव्यविषयतां च पश्यन् रघुवंशाख्यं महाकाव्यं चिकीर्षुः, चिकीर्षितार्थाविघ्नपरिसमाप्तिसम्प्रदायाविच्छेदलक्षणफलसाधनभूतविशिष्टदेवतानमस्कारस्य शिष्टाचारपरिप्राप्तत्वात् (आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्) इत्याशीराद्यन्यतमस्य प्रबन्धमुखलक्षणत्वात् काव्यनिर्माणस्य विशिष्टशब्दार्थप्रतिपत्तिमूलकत्वेन विशिष्टशब्दार्थयोश्च (शब्दजातमशेषं तु धत्ते शर्वस्य वल्लभा । अर्थरूपं यदखिलं धत्ते मुग्धेन्दुशेखरः) इति वायुपुराणसंहितावचनबलेन पार्वतीपरमेश्वरायत्तत्वात्तत्प्रतिपित्सया तावेवाभिवादयते—

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥ १ ॥

वागिति । वागर्थाविवेत्येकं पदम् । इवेन सह नित्यसमासो विभक्त्यलोपश्च । पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं चेति वक्तव्यम् । एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् । वागर्थाविव शब्दार्थाविव सम्पृक्तौ नित्यसम्बद्धावित्यर्थः । नित्यसम्बद्धयोरुपमानत्वेनोपादानात् । नित्यः शब्दार्थसम्बन्धः' इति मीमांसकाः । जगतो लोकस्य पितरौ । माता च पिता च पितरौ । पिता मात्रा' इत्येकशेषः । 'मातापितरौ पितरौ मातरपितरौ प्रसूजनयितारौ' इत्यमरः । एतेन शर्वशिवयोः सर्वजगज्जनकतया वैशिष्ट्यमित्यर्थं महामहिमा परमकारुणिकत्वं च सूच्यते । पर्वतस्यापत्यं स्त्री पार्वती 'तस्यापत्यम्' इत्यण् । 'टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्०' इत्यादिना ङीप् । पार्वती च परमेश्वरश्च पार्वतीपरमेश्वरौ । परमशब्दः सर्वोत्तमत्वद्योतनार्थः । मातुरभ्यर्हितत्वादल्पाक्षरत्वाच्च पार्वतीशब्दस्य पूर्वनिपातः । वागर्थप्रतिपत्तये शब्दार्थयोः सम्यग्ज्ञानार्थं वन्दे अभिवादये । अत्रोपमालङ्कारः स्फुट एव तल्लक्षणं—(स्वतः सिद्धेन भिन्नेन सम्पन्नेन च धर्मतः । साम्यमन्येन वर्ण्यस्य वाच्यं चेदेकदोपमा ॥) इति भामिकदण्डिनोपमालङ्कारः काव्यादर्शे । भूदेवतात्वेन सर्वगुरोर्मगणस्य प्रयोगाच्छुभलाभः सूच्यते । तदुक्तं—(शुभदो मो भूमिमयः) इति वक्त्रमनुष्टुब्वृत्तमनुष्टुभ्विशिष्टम् ॥ १ ॥

शब्द और अर्थ के समान नित्य मिले हुए, संसार के माता-पिता उमा और महेश्वर को मैं (कालिदास) शब्द और अर्थ का भलीभाँति से ज्ञान होने के लिये नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥

सम्प्रति कविः स्वाहङ्कारं परिहरति क सूर्य—इत्यादिश्लोकद्वयेन—

क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः ।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥ २ ॥

क्वेति । प्रभवत्यस्मादिति प्रभवः कारणम् । 'ऋदोरप्' । 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' इति साधुः । सूर्यः प्रभवो यस्य स सूर्यप्रभवो वंशः क्व ? अल्पो विषयो

ज्ञेयोऽर्थो यस्याः सा मे मतिः प्रज्ञा च क ? द्वौ कशब्दौ महदन्तरं सूचयतः । सूर्यवंशमाकलयितुं न शक्नोमीत्यर्थः । तथा च तद्विषयप्रबन्धनिरूपणं तु दूरापास्तमिति भावः । तथा हि । दुस्तरं तरितुमशक्यम् 'ईषद्दुःसुषु०' इत्यादिना खल्प्रत्ययः । सागरं मोहादज्ञानादुडुपेन प्लवेन । 'उडुपं तु प्लवः कोलः' इत्यमरः । अथवा चर्मावनद्धेन यानपात्रेण । 'चर्मावनद्धमुडुपं प्लवः काष्ठं करण्डवत्' इति सज्जनः । तितीर्षुस्तरीतुमिच्छुरस्मि भवामि । तरतेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । अल्पसाधनैरधिकारम्भो न सुकर इति भावः । इदं च वंशोत्कर्षकथनं स्वप्रबन्धमहत्त्वार्थमेव । तदुक्तम् (प्रतिपाद्यमहिम्ना च प्रबन्धो हि महत्तरः) इति ॥ २ ॥

कहाँ सूर्य से उत्पन्न हुआ वंश (रघुकुल) और कहाँ थोड़े विषयों का ग्रहण करनेवाली मेरी बुद्धि, अतः उसके वर्णन करने में मैं अज्ञान से पनसुइया डोंगी द्वारा दुस्तर सागर पार करने की इच्छा करनेवाले की भाँति हूँ ॥ २ ॥

मन्दः सन् महाकाव्यं चिकीर्षुः कविः स्वासामर्थ्यं कथयति—

मन्दः कवियशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम् ।
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः ॥ ३ ॥

मन्द इति । किं च मन्दो मूढः । 'मूढाल्पापटुनिर्भाग्या मन्दाः स्युः' इत्यमरः । तथाऽपि कवियशःप्रार्थी कवीनां यशः काव्यनिर्माणेन जातं तत्प्रार्थनाशीलोऽहं प्रांशुनोन्नतपुरुषेण लभ्ये प्राप्ये फले फलविषये लोभादुद्बाहुः फलग्रहणायोच्छ्रितहस्तो वामनः खर्व इव । 'खर्वो ह्रस्वश्च वामनः' इत्यमरः । उपहास्यतामुपहासविषयताम् । 'ऋहलोर्ण्यत्' इति ण्यत्प्रत्ययः । गमिष्यामि प्राप्स्यामि ॥ ३ ॥

कवियों के यश पाने की इच्छा करनेवाला, मन्दबुद्धि मैं उसी प्रकार हास्यास्पद होऊँगा जैसा कि लम्बे पुरुष के हाथ लगने योग्य फल की ओर लोभ से ऊपर हाथ किया हुआ बौना पुरुष होता है ॥ ३ ॥

मन्दश्चेत्तर्हि त्यज्यतामयमुद्योग इत्यत आह—

अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन्पूर्वसूरिभिः ।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः ॥ ४ ॥

अथवेति । अथवा पक्षान्तरे पूर्वैः सूरिभिः कविभिर्वाल्मीक्यादिभिः कृतवाग्द्वारे कृतं रामायणादिप्रबन्धरूपा या वाक् सैव द्वारं प्रवेशो यस्य तस्मिन् । अस्मिन्सूर्यप्रभवे वंशे कुले । जन्मनैकलक्षणः सन्तानो वंशः । वज्रेण मणिवेधकसूचीविशेषेण । 'वज्रं त्वस्त्री कुलिशशस्त्रयोः । मणिवेधे रत्नभेदे' इति केशवः । समुत्कीर्णे विद्धे मणौ रत्ने सूत्रस्येव मे मम गतिः सञ्चारोऽस्ति । वर्णनीये रघुवंशे मम वाक्प्रसरोऽस्तीत्यर्थः ॥

अथवा पहले के कवियों (वाल्मीकि आदि) के द्वारा वर्णन किये हुए रामायण प्रबन्धात्मक द्वार वाले सूर्यवंश में, मणि वेधनेवाले सूचीविशेष से वेध किये हुये मणि में सूत्र की भाँति मेरी गति है ॥ ४ ॥

एवं रघुवंशे वक्तव्यमेवेत्यतद्भूतमां प्रतिज्ञाया 'सोऽहम्' इत्यादिभिः पञ्चभिः श्लोकैः कुलकेनाह—

सोऽहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम् ।
आसमुद्रक्षितीशानामानाकरथवर्त्मनाम् ॥ ५ ॥

स इति । सोऽहं 'रघूणामन्वयं वक्ष्ये' इत्युत्तरेण सम्बन्धः । किंविधानां रघूणामित्यत्रोत्तराणि विशेषणानि योजनानि । आजन्मनः । जन्मारभ्येत्यर्थः । 'आङ् मर्यादाभिविध्योः' इत्यव्ययीभावः । शुद्धानाम् । सुप्सुपेति समासः । एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् । आजन्मशुद्धानाम् । निषेकादिसर्वसंस्कारसम्पन्नानामित्यर्थः । आफलोदयमाफलसिद्धेः कर्म येषां ते तथोक्तास्तेषाम् । प्रारब्धान्तगामिनामित्यर्थः । आसमुद्रं क्षितेरीशानाम् । सार्वभौमानामित्यर्थः । आनाकं रथवर्त्म येषां तेषाम् । इन्द्रसहचारिणामित्यर्थः । अत्र सर्वत्राङोऽभिविध्यर्थत्वं द्रष्टव्यम् । अन्यथा मर्यादार्थत्वे जन्मादिषु शुद्ध्यभावप्रसङ्गात् ॥ ५ ॥

वह 'मन्दबुद्धि' मैं कालिदास जन्म से निषेकादि संस्कारों से शुद्ध, फलकी सिद्धि पर्यन्त कर्म को करनेवाले समुद्रपर्यन्त पृथ्वी का शासन करनेवाले स्वर्ग तक रथ के मार्ग वाले 'रघु के वंश को कहता हूँ' [यह आगे के तीन श्लोकों में भी लगाना चाहिये । कुलक होने से यहाँ से पाँचवें श्लोक से इस अर्थ का आक्षेप किया जाता है] ॥ ५ ॥

यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामार्चितार्थिनाम् ।
यथाऽपराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम् ॥ ६ ॥

यथेति । विधिमनतिक्रम्य यथाविधि । 'यथाऽसादृश्ये' इत्यव्ययीभावः । तथा हुतपदेन सुप्सुपेति समासः । एवं 'यथाकामार्चित-'इत्यादीनामपि द्रष्टव्यम् । यथाविधि हुता अग्नयो यैस्तेषाम् । यथाकाममभिलाषमनतिक्रम्यार्चितार्थिनाम् । यथाऽपराधमपराधमनतिक्रम्य दण्डो येषां तेषाम् । यथाकालं कालमनतिक्रम्य प्रबोधिनां प्रबोधनशीलानाम् । चतुर्भिर्विशेषणैर्यजनार्थिसत्कारदण्डधरत्वप्रजापालनसमयजागरूकत्वादीनि विवक्षितानि ॥ ६ ॥

विधिपूर्वक अग्नि में आहुति देनेवाले इच्छानुसार याचकों का सम्मान करनेवाले, अपराध के अनुसार दण्ड देनेवाले उचित समय पर सावधान रहने वाले ॥ ६ ॥

त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम् ।
यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम् ॥ ७ ॥

त्यागायेति । त्यागाय सत्पात्रे विनियोगस्त्यागस्तस्मै । त्यागो विहापितं दानम् इत्यमरः । संभृतार्थानां संचितधनानाम् । न तु कुम्भीपाराय । सत्याय मितभाषिणां मितभाषणशीलानाम् । न तु पराभवाय । यशसे कीर्तये । 'यशः कीर्तिः समज्ञा च' इत्यमरः । विजिगीषूणां विजेतुमिच्छूनाम् । न त्वर्थसंग्रहाय । प्रजायै

संतानाय गृहमेधिनां दारपरिग्रहाणाम्। न तु कामोपभोगाय। अत्र 'त्यागाय' इत्यादिषु 'चतुर्थी तदर्थार्थ–' इत्यादिना तादर्थ्ये चतुर्थीसमासविधानज्ञापकाच्चतुर्थी। गृहैर्दारैर्मेधन्ते सङ्गच्छन्त इति गृहमेधिनः। 'दारेष्वपि गृहाः पुंसि' इत्यमरः। 'जाया च गृहिणी गृहम्' इति हलायुध। 'मेधृ सङ्गमे' इति धातोर्णिनि। एभिर्विशेषणैः परोपकारित्व सत्यवचनत्व यश परत्व पितॄणां शुद्धत्व च विवक्षितानि ॥ ७ ॥

सत्पात्र को दान देने के लिए धन इकट्ठा करने वाले, यश के हेतु विजय चाहने वाले, सन्तानार्थ विवाह करने वाले ॥ ७ ॥

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥ ८ ॥

शैशव इति। शिशोर्भाव शैशवं बाल्यम्। 'प्राणभृज्जातिवयोवचनोद्गात्र–' इत्यण्प्रत्यय। 'शिशुत्व शैशव बाल्यम्' इत्यमर। तस्मिन् वयस्यभ्यस्तविद्यानाम्। एतेन ब्रह्मचर्याश्रमो विवक्षित। यूनो भावो यौवनं तारुण्यम्। युवादित्वादण्प्रत्ययः। 'तारुण्य यौवन समे' इत्यमर। तस्मिन् वयसि विषयैषिणां भोगाभिलाषिणाम्। एतेन गृहस्थाश्रमो विवक्षित। वृद्धस्य भावो वार्द्धकं वृद्धत्वम्। 'द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च' इति वुञ्प्रत्यय। 'वार्द्धक वृद्धसंघाते वृद्धत्वे वृद्धकर्मणि' इति विश्वः। सङ्घातार्थे च 'वृद्धाच्च' इति वक्तव्यात्सामूहिको वुञ्। तस्मिन् वार्द्धके वयसि मुनीनां वृत्तिरिव वृत्तिर्येषां तेषाम्। एतेन वानप्रस्थाश्रमो विवक्षितः। अन्ते शरीरत्यागकाले योगेन परमात्मध्यानेन। 'योग सन्नहनोपायध्यानसंगतियुक्तिषु' इत्यमरः। तनुं देह त्यजन्तीति तनुत्यजः देहत्यागिनाम्। 'कायो देह क्लीबपुंसो स्त्रिया मूर्तिस्तनुस्तनू' इत्यमर। 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' इति क्विप्। एतेन भिक्षाश्रमो विवक्षित ॥ ८ ॥

बालकपन में ही समस्त विद्याओं को अभ्यस्त कर लेने वाले, युवावस्था में भोग की अभिलाषा रखने वाले, बुढापे में मुनियों की तरह जीविका रखने वाले, अन्त में (शरीर त्याग करने के समय) योग (चित्तवृत्ति के निरोध) से शरीर त्याग करने वाले ॥ ८ ॥

रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोऽपि सन्।
तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः ॥ ९ ॥

रघूणामिति। सोऽहं लब्धप्रवेशः। तनुवाग्विभवोऽपि स्वल्पवाणीप्रसारोऽपि सन्। तेषां रघूणां गुणैस्तद्गुणैः। आजन्मशुद्ध्यादिभि कर्तृभि कर्णं मम श्रोत्रमागत्य चापलाय चापलं चपलकर्माविमृश्यकरणरूपं कर्तुम्। युवादित्वात्कर्मण्यण्। 'क्रियाऽर्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' इत्यनेन चतुर्थी। प्रचोदित प्रेरित सन्। रघूणामन्वयं तद्विषयप्रबन्धं वक्ष्ये। कुलकम् ॥ ९ ॥

(ऐसे) रघुवंशियोंके वंश को, मैं वाणी का वैभव थोडा होते हुये भी कान में सुनाई पडे

हुवे कवियों के गुणों के द्वारा बिना विचार किये ही वर्णन करने के लिये प्रयत्न किया हुआ कर रहा हूँ ॥ ९ ॥

सम्प्रति रघुवंशप्रबन्धपरीक्षार्थं सतः प्रार्थयते—

> तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः ।
> हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकाऽपि वा ॥ १० ॥

तमिति । तं रघुवंशाख्यं प्रबन्धं सदसतोर्गुणदोषयोर्व्यक्तिहेतवः कर्तारः सन्तः श्रोतुमर्हन्ति । तथा हि । हेम्नो विशुद्धिर्निर्दोषस्वरूपं श्यामिकाऽपि लोहान्तरसंसर्गात्मको दोषोऽपि वाऽग्नौ संलक्ष्यते । नान्यत्र । तद्वदत्रापि सन्त एव गुणदोषविवेकाधिकारिणः । नान्य इति भावः ॥ १० ॥

भले और बुरे के विचार करने वाले पण्डित लोग इसे सुनने के लिये योग्य हैं क्योंकि सुवर्ण की शुद्धता और श्यामता अग्नि ही में देखी जाती है ॥ १० ॥

वर्ण्यं वस्तूपक्षिपति श्लोकद्वयेन—

> वैवस्वतो मनुर्नाम माननीयो मनीषिणाम् ।
> आसीन्महीक्षितामाद्यः प्रणवश्छन्दसामिव ॥ ११ ॥

वैवस्वत इति । मनस ईषिणो मनीषिणो धीराः । विद्वांस इति यावत् । पृषोदरादित्वात्साधुः । तेषां माननीयः पूज्यः । छन्दसां वेदानाम् । 'छन्दः पद्ये च वेदे च' इति विश्वः । प्रणव ओंकार इव । महीं क्षियन्तीशत इति महीक्षितः क्षितीश्वराः । क्षियतेरैश्वर्यार्थात्क्विप् तुगागमश्च । तेषामाद्य आदिभूतः । विवस्वतः सूर्यस्यापत्यं पुमान्वैवस्वतो नाम वैवस्वत इति प्रसिद्धो मनुरासीत् ॥ ११ ॥

पण्डितों से पूज्य वेदों में प्रणव (ओंकार) के समान राजाओं में प्रथम वैवस्वत नाम से प्रसिद्ध मनु हुवे ॥ ११ ॥

वर्ण्ये रघुवंशे महापुरुषस्य रघोः पितृनामकथनम्—

> तदन्वये शुद्धिमति प्रसूतः शुद्धिमत्तरः ।
> दिलीप इति राजेन्दुरिन्दुः क्षीरनिधाविव ॥ १२ ॥

तदिति । शुद्धिरस्यास्तीति शुद्धिमान् । तस्मिञ्शुद्धिमति तदन्वये तस्य मनोरन्वये वंशे । 'अन्ववायोऽन्वयो वंशो गोत्रं चाभिजनं कुलम्' इति हलायुधः । अतिशयेन शुद्धिमाञ्छुद्धिमत्तरः । 'द्विवचनविभज्योप—' इत्यादिना तरप् । दिलीप इति प्रसिद्धो राजा इन्दुरिव राजेन्दू राजश्रेष्ठः । 'उपमितं व्याघ्रादिभिः' इत्यादिना समासः । क्षीरनिधाविन्दुरिव प्रसूतो जातः ॥ १२ ॥

उस 'वैवस्वत' मनु के पवित्र वंश में, अतिपवित्र, राजाओं में चन्द्र (श्रेष्ठ) 'दिलीप' नाम से प्रसिद्ध, क्षीरसमुद्र में चन्द्रमा के समान उत्पन्न हुवे ॥ १२ ॥

'व्यूढ' इत्यादित्रिभि श्लोकैर्दिलीपं विशिनष्टि—

व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः ।
आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्त्रो धर्म इवाश्रितः ॥ १३ ॥

व्यूढेति । व्यूढं विपुलमुरो यस्य स व्यूढोरस्क । 'उरःप्रभृतिभ्य कप्' इति कप्प्रत्यय । 'व्यूढ विपुलं भद्र स्फार सम वरिष्ठ च' इति यादव । वृषस्य स्कन्द इव स्कन्धो यस्य स तथा । 'सप्तम्युपमान–' इत्यादिनोत्तरपदलोपी बहुव्रीहि । शालो वृक्ष इव प्रांशुरुन्नत शालप्रांशुः । 'प्राकारवृक्षयो शाल शाल सर्जतरु स्मृत.' इति यादव । 'उच्चप्रांशून्नतोदग्रोच्छ्रितास्तुङ्गे' इत्यमर. । महाभुजो महाबाहु । आत्मकर्मक्षमं स्वव्यापारानुरूपं देहमाश्रित प्राप्त क्षात्र क्षत्रसंबन्धी धर्म इव स्थित. । मूर्तिमान् पराक्रम इव स्थित इत्युत्प्रेक्षा ॥ १३ ॥

चौडी छाती वाले, बैल के कन्धे के समान कन्धे वाले, साल सरीखे ऊँचे, लम्बी भुजा वाले, अपने काम के करने में समर्थ देह को धारण किये हुये, जैसे क्षत्रियों का धर्म पराक्रम हो, उसके समान दिलीप हुये ॥ १३ ॥

सर्वातिरिक्तसारेण सर्वतेजोऽभिभाविना ।
स्थितः सर्वोन्नतेनोर्वीं क्रान्त्वा मेरुरिवात्मना ॥ १४ ॥

सर्वेति । सर्वातिरिक्तसारेण सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽधिकबलेन । 'सारो बले स्थिरांशे च' इत्यमर. । सर्वाणि भूतानि तेजसाऽभिभवतीति सर्वतेजोऽभिभावी तेन । सर्वेभ्य उन्नतेनात्मना शरीरेण 'आत्मा देहे धृतौ जीवे स्वभावे परमात्मनि' इति विश्व । मेरुरिव । उर्वीं क्रान्त्वाऽऽक्रम्य स्थित. । मेरावपि विशेषणानि तुल्यानि । (अष्टाभिश्च सुरेन्द्राणां मात्राभिर्निर्मितो नृप । तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ॥) इति मनुवचनाद्राज्ञ. सर्वतेजोऽभिभावित्व ज्ञेयम् ॥ १४ ॥

सबसे अधिक बलवान् (मेरुपक्ष में सबसे अधिक स्थिर), सभी लोगों के तेज को अपने प्रभावसे (मेरुपक्षमें कान्तिसे) नीचा दिखाने वाले, सबसे अधिक ऊँचे शरीर से मेरु पर्वत के समान पृथ्वी को दबा कर बैठे हुए ॥ १४ ॥

आकारसदृशप्रज्ञः प्रज्ञया सदृशागमः ।
आगमैः सदृशारम्भ आरम्भसदृशोदयः ॥ १५ ॥

आकारेति । आकारेण मूर्त्या सदृशी प्रज्ञा यस्य सः । प्रज्ञया सदृशागम प्रज्ञाऽनुरूपशास्त्रपरिश्रम । आगमै सदृश आरम्भः कर्म यस्य स तथोक्त. । आरभ्यत इत्यारम्भ कर्म । तत्सदृश उदय फलसिद्धिर्यस्य स तथोक्त ॥ १५ ॥

आकार के सदृश बुद्धिवाले, बुद्धि के सदृश शास्त्र का अभ्यास करने वाले, शास्त्रके अनुरूप कर्म प्रारम्भ करने वाले, प्रारम्भ किये हुये कर्म के अनुरूप फलसिद्धि प्राप्त करने वाले (दिलीप हुए) ॥ १५ ॥

तस्य प्रजारक्षणे मनोरमत्वमाह दर्शयति—

भीमकान्तैर्नृपगुणैः स बभूवोपजीविनाम् ।
अधृष्यश्चाभिगम्यश्च यादोरत्नैरिवार्णवः ॥ १६ ॥

भीमेति । भीमैश्च कान्तैश्च नृपगुणैः राजगुणैस्तेजःप्रतापादिभिः कुलशीलदाक्षिण्यादिभिश्च स दिलीप उपजीविनामाश्रितानाम् । यादोभिर्जलजन्तुभिः 'यादांसि जलजन्तवः' इत्यमरः । रत्नैरर्णव इव । अधृष्योऽनभिभवनीयः । अभिगम्य आश्रयणीयश्च बभूव ॥ १६ ॥

भयानक और मनोरम राजगुणों (तेज प्रताप आदि और दया दाक्षिण्यादि) के कारण आश्रितों को वह राजा दिलीप जलजन्तु और रत्नोंके कारण समुद्रके समान दूर रहने योग्य और सेवा करने योग्य हुवे ॥ १६ ॥

तस्य प्रजा राजनिदेशवर्तिन्य इत्याह—

रेखामात्रमपि क्षुण्णादा मनोर्वर्त्मनः परम् ।
न व्यतीयुः प्रजास्तस्य नियन्तुर्नेमिवृत्तयः ॥ १७ ॥

रेखेति । नियन्तुः शिक्षकस्य सारथेश्च तस्य दिलीपस्य संबन्धिन्यो नेमीनां चक्रधाराणां वृत्तिरिव वृत्तिर्व्यापारो यासां ताः 'चक्रधारा प्रधिर्नेमिः' इति यादवः । 'चक्रं रथाङ्गं तस्यान्ते नेमिः स्त्री स्यात्प्रधिः पुमान्' इत्यमरः । प्रजाः । आ मनोः मनुमारभ्येत्यभिविधिः । पदद्वयं चैतत् । समासस्य विभाषितत्वात् । क्षुण्णादभ्यस्तात् क्षुण्णाच्च वर्त्मन आचारपद्धतेरध्वनश्च परमधिकम् । इतस्तत इत्यर्थः । रेखा प्रमाणमस्येति रेखामात्रं रेखाप्रमाणम् । ईषदपीत्यर्थः । 'प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः' इत्यत्र मात्रच्प्रत्ययः । परशब्दविशेषणं चैतत् । न व्यतीयुर्नातिक्रान्तवत्यः । कुशलसारथिप्रेरिता रथनेमय इव तस्य प्रजाः पूर्वक्षुण्णमार्गं न जहुरिति भावः ॥ १७ ॥

शिक्षक अथवा सारथि के समान उस राजा दिलीप के रथ के पहिये की भाँति चलने वाली प्रजायें मनुके समय से चलाये हुवे (रथचक्रधारापक्षमें खुदे हुए) मार्ग से लकीर बाहर न गईं ॥ १७ ॥

तस्य करग्रहणं प्रजानां सुखविधानार्थमित्याह—

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत् ।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः ॥ १८ ॥

प्रजानामिति । स राजा प्रजानां भूत्या अर्थाय भूत्यर्थं वृद्ध्यर्थमेव । (अर्थेन सह नित्यसमासः सर्वलिङ्गता च वक्तव्या) ग्रहणक्रियाविशेषणं चैतत् । ताभ्यः प्रजाभ्यो बलिं षष्ठांशरूपं करमग्रहीत् । 'भागधेयः करो बलिः' इत्यमरः । तथाहि । रविः सहस्रं गुणा यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा सहस्रगुणं सहस्रधोत्स्रष्टुं दातुम् । उत्सर्जनक्रियाविशेषणं चैतत् । रसमम्बु आदत्ते गृह्णाति । 'रसो गन्धे रसे स्वादे तिक्तादौ

विषरोगयोः । शृङ्गारादौ द्रवे वीर्ये देहधात्वम्बुपारदे ॥' इति विश्वः ॥ १८ ॥

प्रजाओं की भलाई के लिए ही वह राजा दिलीप उन सबों (प्रजाओं) से कर लेता था, जैसे-कि सहस्रगुणा बरसाने के लिए ही सूर्य जल लेता है ॥ १८ ॥

सम्प्रति बुद्धिशौर्यसम्पन्नस्य तस्यार्थसाधनेषु परानपेक्षत्वमाह—

सेना परिच्छदस्तस्य द्वयमेवार्थसाधनम् ।
शास्त्रेष्वकुण्ठिता बुद्धिर्मौर्वी धनुषि चातता ॥ १९ ॥

सेनेति । तस्य राज्ञः सेना चातुरङ्गबलम् परिच्छाद्यतेऽनेनेति परिच्छद उपकरणं बभूव । छत्रचामरादितुल्यमभूदित्यर्थः । 'पुंसि सञ्ज्ञायां घः प्रायेण' इति घप्रत्ययः । 'छादेर्घेऽद्व्युपसर्गस्य' इत्युपधाह्रस्वः । अर्थस्य प्रयोजनस्य तु साधनं द्वयमेव । शास्त्रेष्वकुण्ठिताऽव्याहता बुद्धिः 'व्यापृता' इत्यपि पाठः । धनुष्याततताऽऽरोपिता मौर्वी ज्या च । 'मौर्वी ज्या शिञ्जिनी गुणः' इत्यमरः । नीतिपुरःसरमेव तस्य शौर्यमभूदित्यर्थः ॥ १९ ॥

उस राजा दिलीपकी सेना तो छत्र-चामरके समान केवल शोभार्थ हुई । क्योंकि प्रयोजन सिद्ध दो से होते थे, एक तो शास्त्रोंमें पैनी बुद्धिसे और दूसरे धनुष पर चढ़ी हुई प्रत्यञ्चा से ॥ १९ ॥

राज्यमूलं मन्त्रसंरक्षणं तस्यासीदित्याह—

तस्य संवृतमन्त्रस्य गूढाकारेङ्गितस्य च ।
फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्काराः प्राक्तना इव ॥ २० ॥

तस्येति । संवृतमन्त्रस्य गुप्तविचारस्य । 'वेदभेदे गुप्तवादे मन्त्रः' इत्यमरः । शोकहर्षादिसूचको भ्रुकुटीमुखरागादिराकारः इङ्गितं चेष्टितं हृदयगतविकारो वा । 'इङ्गितं हृद्गतो भावो बहिराकार आकृतिः' इति सज्जनः । गूढे आकारेङ्गिते यस्य स्वभावचापलाद्भ्रमपरम्परया मुखरागादिलिङ्गैर्वाऽतृतीयगामिमन्त्रस्य तस्य प्रारभ्यन्त इति प्रारम्भाः सामाद्युपायप्रयोगाः । प्रागित्यव्ययेन पूर्वजन्मोच्यते तत्र भवाः प्राक्तनाः । 'सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च' इत्यनेन ट्युल्प्रत्ययः । संस्काराः पूर्वकर्मवासना इव । फलेन कार्येणानुमेयाऽनुमातुं योग्या आसन् । अत्र याज्ञवल्क्यः-(मन्त्रमूलं यतो राज्यमतो मन्त्रं सुरक्षितम् । कुर्याद्यथा तन्न विदुः कर्मणामाफलोदयात्) ॥ इति ॥ २० ॥

विचारको गुप्त रखनेवाले तथा बाहर-भीतर के हर्षशोकादिसूचक चिह्नोंको छिपाने वाले, उस राजा दिलीपके कार्य 'सामदामाद्युपाय' फलोंसे अनुमान किये जाते थे, जैसे-कि पूर्वजन्म के संस्कार ॥ २० ॥

सम्प्रति सामाद्युपायान्विनैवात्मरक्षाऽऽदिकं कृतवानित्याह—

जुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे धर्ममनातुरः ।
अगृध्नुराददे सोऽर्थमसक्तः सुखमन्वभूत् ॥ २१ ॥

जुगोपेति। अत्रस्तोऽभीतः सन्। 'त्रस्तो भीरुभीरुकभीलुकाः' इत्यमरः। आत्मानं आधिमन्तरेणैव निर्वाहसिद्धेः प्रथमसाधनत्वादेवात्मानं शरीरं जुगोप रक्षितवान्। अनातुरोऽरुग्ण एव धर्मं सुकृतं भेजे। अर्जितवानित्यर्थः। अगृध्नुरगर्धनशील एवार्थमाददे स्वीकृतवान्। 'गृध्नुस्तु गर्धनः। लुब्धोऽभिलाषुकस्तृष्णक्समौ लोलुपलोलुभौ' इत्यमरः। 'त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः' इति क्नुप्रत्ययः। असक्त आसक्तिरहित एव सुखमन्वभूत्॥ २१॥

उस (राजा दिलीप) ने बिना डरे हुए अपने शरीरकी रक्षा की बिना रोगी होते हुए धर्म का सेवन किया बिना लोभी होते हुये धन का ग्रहण किया और बिना आसक्त होते हुए सुख का अनुभव किया॥ २१॥

परस्परविरुद्धानामपि गुणानां तत्र साहचर्यमासीदित्याह—

ज्ञाने मौनं क्षमा शक्तौ त्यागे श्लाघाविपर्ययः।
गुणा गुणानुबन्धित्वात्तस्य सप्रसवा इव॥ २२॥

ज्ञान इति। ज्ञाने परवृत्तान्तज्ञाने सत्यपि मौनं वाङ्नियमनम्। यथाह कामन्दकः—(नान्योपतापि वचनं मौनं व्रतचरिष्णुता) इति। शक्तौ प्रतीकारसामर्थ्येऽपि क्षमा अपकारसहनम्। अत्र चाणक्यः—(शक्तानां भूषणं क्षमा) इति। त्यागे वितरणे सत्यपि श्लाघाया विकत्थनस्य विपर्ययोऽभावः। यथाह मनुः—(न दत्त्वा परिकीर्तयेत्) इति। इत्थं तस्य गुणा ज्ञानादयो गुणैर्विरुद्धैर्मौनादिभिरनुबन्धित्वात् सहचारित्वात् सह प्रसवो जन्म येषां ते सप्रसवाः सोदरा इवाभूवन्। विरुद्धा अपि गुणास्तस्मिन्नविरोधेनैव स्थिता इत्यर्थः॥ २२॥

दूसरे के वृत्तान्त को जानते हुए भी उस विषय में चुप रहना सामर्थ्य रहने पर भी अपकार सहन करना दान करने पर भी अपनी बड़ाई न करना इस प्रकार से उस राजा दिलीप के ज्ञानादि गुण विरुद्ध मौनादि गुणों के साथ रहने से सहोदर के समान हुए॥ २२॥

द्विविधं वृद्धत्वं ज्ञानेन वयसा च। तत्र तस्य ज्ञानेन वृद्धत्वमाह—

अनाकृष्टस्य विषयैर्विद्यानां पारदृश्वनः।
तस्य धर्मरतेरासीद्वृद्धत्वं जरसा विना॥ २३॥

अनाकृष्टेति। विषयैः शब्दादिभिः। 'रूपं शब्दो गन्धरसस्पर्शाश्च विषया अमी' इत्यमरः। अनाकृष्टस्यावशीकृतस्य विद्यानां वेदवेदाङ्गादीनां पारदृश्वनः पारमन्तं दृष्टवतः। दृशेः क्वनिप्। धर्मे रतिर्यस्य तस्य राज्ञो जरसा जरया विना। 'विस्रसा जरा' इत्यमरः। 'षिद्भिदादिभ्योऽङ्' इत्यङ्प्रत्ययः। 'जराया जरसन्यतरस्याम्' इति जरसादेशः। वृद्धत्वं वार्धकमासीत्। तस्य यूनो विषयवैराग्यादिज्ञानगुणसम्पत्त्या ज्ञानतो वृद्धत्वमासीदित्यर्थः। ज्ञायस्तु चतुर्विधं वृद्धत्वमिति ज्ञात्वा 'अनाकृष्टस्य' इत्यादिना विशेषणत्रयेण वैराग्यज्ञानशीलवृद्धत्वान्युक्तानीत्यवोचत्॥ २३॥

विषयादिकों से नहीं खींचे जाते हुये (विषयों के वश में न होते हुये), विद्याओं के पार देखनेवाले (अन्त करनेवाले) धर्म में रुचि रखनेवाले उस राजा दिलीप को वृद्धावस्था (आये) विना उक्त विशेषणों से वृद्धता प्रगट हुई ॥ २३ ॥

द्विविध पितृत्वं रक्षणेनोत्पादनेन च तत्र तस्य रक्षणेन पितृत्वमाह—

प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि ।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः ॥ २४ ॥

प्रजानामिति। प्रजायन्त इति प्रजा जना 'उपसर्गे च सञ्ज्ञायाम्' इति डप्रत्यय । 'प्रजा स्यात्सन्ततौ जने' इत्यमर । तासां विनयस्य शिक्षाया आधानात्क-रणात् सन्मार्गप्रवर्तनादिति यावत्। रक्षणाद् भयहेतुभ्यस्त्राणाद् आपन्निवारणादिति यावत्। भरणादन्नपानादिभि पोषणादपि। अपिः समुच्चये। स राजा पिताऽभूत्। तासां पितरस्तु जन्महेतवो जन्ममात्रकर्तार केवलमुत्पादका एवाभूवन्। जननमात्र एव पितॄणां व्यापार । सदा शिक्षारक्षणादिक तु स एव करोतीति तस्मिन्पितृत्वव्यपदेश । आहुश्च-(स पिता यस्तु पोषक) इति ॥ २४ ॥

नम्रता आदि की शिक्षा देने से, आपत्तियों से बचाने से और अन्नादिकों के द्वारा पोषण करने से, वे दिलीप ही प्रजाओं के पिता हुए और उन प्रजाओं के पिता तो केवल जन्म देने में ही कारण हुये ॥ २४ ॥

तस्यार्थकामावपि धर्म एवास्तामित्याह—

स्थित्यै दण्डयतो दण्ड्यान्परिणेतु प्रसूतये ।
अप्यर्थकामौ तस्यास्तां धर्म एव मनीषिणः ॥ २५ ॥

स्थित्या इति। दण्डमर्हन्तीति दण्ड्या दण्डादिभ्यो य' इति यप्रत्यय । (अदण्ड्यान्दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन् । अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति) ॥ इति शास्त्रवचनात्। तान्दण्ड्यानेव स्थित्यै लोकप्रतिष्ठाय दण्डयत शिक्षयतः। प्रसूतये संतानायैव परिणेतुर्दारान्परिगृह्णत । मनीषिणो विदुष । दोषज्ञस्येति यावत्। 'विद्वान्विपश्चिद्दोषज्ञ सन्सुधी कोविदो बुध । धीरो मनीषी' इत्यमर । तस्य दिलीपस्यार्थकामावपि धर्म एवास्तां जातौ। अस्तेर्लङ्। अर्थकामसाधनयोर्दण्डविवाहयोर्लोकस्थापनप्रजोत्पादनरूपधर्मार्थत्वेनानुष्ठानादर्थ-कामावपि धर्मशेषतामापादयन्स राजा धर्मोत्तरोऽभूदित्यर्थ। आह च गौतम — (न पूर्वाह्णमध्यदिनापराह्णानफलान्कुर्याद् यथाशक्ति धर्मार्थकामेभ्यस्तेषु धर्मोत्तरः स्यात्)। इति ॥ २५ ॥

'लोक मर्यादा की' स्थिति के लिये अपराधियों को दण्ड देनेवाले, सन्तानके लिये विवाह करने वाले 'अत एव' बुद्धिमान् उस राजा दिलीप के अर्थ और काम भी धर्म ही हुये ॥ २५ ॥

तस्य दिलीपस्येन्द्रेण सह परस्परविनिमयेन सख्यमाह—

दुदोह गां स यज्ञाय सस्याय मघवा दिवम्।
सम्पद्विनिमयेनोभौ दधतुर्भुवनद्वयम् ॥ २६ ॥

दुदोहेति। स राजा यज्ञाय यज्ञं कर्तुं गां भुवं दुदोह। करग्रहणेन रिक्तां चकारेत्यर्थः। मघवा देवेन्द्रः सस्याय सस्यं वर्धयितुं दिवं स्वर्गं दुदोह। वृष्टिमुत्पादयामासेत्यर्थः। 'क्रियार्थोपपद-' इत्यादिना यज्ञसस्याभ्यां चतुर्थी। एवमुभौ सम्पदो विनिमयेन परस्परमादानप्रतिदानाभ्यां भुवनद्वयं दधतुः पुपुषतुः। राजा यज्ञैरिन्द्रलोकमिन्द्रश्चोदकेन भूलोकं पुपोषेत्यर्थः। उक्तं च दण्डनीतौ—(राजा त्वर्थान्समाहृत्य कुर्यादिन्द्रमहोत्सवम्। प्रीणितो मेघवाहस्तु महतीं वृष्टिमावहेत्) ॥ इति ॥ २६ ॥

उस (राजा दिलीप) ने यज्ञ करने के लिये पृथ्वी को 'कर-ग्रहण' कर ग्रहण द्वारा दुहा और इन्द्र ने धान्य की वृद्धि करने के लिये स्वर्ग को वृष्टि द्वारा दुहा 'इस प्रकार से दोनों 'इन्द्र और दिलीप' परस्पर धन और वृष्टि रूप अपनी-अपनी सम्पत्ति के बदलने से दोनों ने स्वर्ग और मर्त्य लोक की रक्षा की ॥ २६ ॥

तस्य राज्ये तस्करभयं नासीदित्याह—

न किलानुययुस्तस्य राजानो रक्षितुर्यशः।
व्यावृत्ता यत्परस्वेभ्यः श्रुतौ तस्करता स्थिता ॥ २७ ॥

नेति। राजानोऽन्ये नृपा रक्षितुर्भयेभ्यस्त्रातुस्तस्य राज्ञो यशो नानुययुः किल नानुचक्रुः खलु। कुतः। यद्यस्मात्कारणात्तस्करता चौर्यं परस्वेभ्यः परधनेभ्यः स्वविषयभूतेभ्यो व्यावृत्ता सती श्रुतौ तस्करशब्दे स्थिता प्रवृत्ता। अपहर्त्रन्तराभावात्स एवापहृत इत्यर्थः। अथवा। (अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि) इति न्यायेन शब्दे स्थिता स्फुरिता न तु स्वरूपतोऽस्तीत्यर्थः ॥ २७ ॥

अन्य राजा लोग 'भय से रक्षा करने वाले उस राजा दिलीप के यश का अनुकरण नहीं कर सके, क्योंकि उसके राज्य में 'चोरी का शब्द' अपने विषयभूत दूसरे के द्रव्य से पृथक् होती हुई केवल श्रवणगोचर हुई अथवा चोरी अर्थवाचक 'चोर' शब्द के ही सुनने में प्रवृत्त हुई ॥ २७ ॥

तस्य शिष्ट एव प्रियो दुष्ट एवाप्रिय आसीदित्याह—

द्वेष्योऽपि सम्मतः शिष्टस्तस्यार्तस्य यथौषधम्।
त्याज्यो दुष्टः प्रियोऽप्यासीदङ्गुलीवोरगक्षता ॥ २८ ॥

द्वेष्य इति। शिष्टो जनो द्वेष्यः शत्रुरपि। आर्तस्य रोगिण औषधं यथौषधमिव। तस्य संमतोऽनुमत आसीत्। दुष्टो जनः प्रियोऽपि प्रेमास्पदीभूतोऽपि। उरगक्षता सर्पदष्टाङ्गुलीव। (त्यजेदाप्तमपि दुष्टमात्मना) इति न्यायात् त्याज्य आसीत्। तस्य शिष्ट एव बन्धुर्दुष्ट एव शत्रुरित्यर्थः ॥ २८ ॥

जिस प्रकार रोगी को कडवी 'हितकर' औषधि भी प्यारी होती है, उसी प्रकार उस राजा दिलीप का द्वेष करने के योग्य 'वैरी' होता हुआ भी सज्जन प्यारा होता था और प्यारा होता हुआ भी दुर्जन साप से काटी हुई अङ्गुली की भाँति छोड देने के योग्य होता था ॥ २८ ॥

तस्य परोपकारित्वमाह—

तं वेधा विदधे नूनं महाभूतसमाधिना ।
तथा हि सर्वे तस्यासन्परार्थैकफला गुणाः ॥ २९ ॥

तमिति । वेधा स्रष्टा । 'स्रष्टा प्रजापतिर्वेधा' इत्यमर । तं दिलीपम् । समाधीयतेऽनेनेति समाधि कारणसामग्री । महाभूतानां य समाधिस्तेन महाभूतसमाधिना विदधे ससर्ज नून ध्रुवम् । इत्युत्प्रेक्षा । तथाहि । तस्य राज्ञः सर्वे गुणा रूपरसादिमहाभूतगुणवदेव परार्थं परप्रयोजनमेवैकं मुख्य फलं येषां ते तथोक्ता आसन् । महाभूतगुणोपमानेन कारणगुणा कार्यं सक्रामन्तीति न्याय. सूचित. ॥

ब्रह्मा जी ने उस राजा दिलीप को महाभूतों (पृथ्वी-जल-तेज-वायु-आकाश) के कारण की सामग्री से बनाया था, निश्चय करके उस राजा दिलीप के सभी 'शौर्यादि' गुण 'पञ्च महाभूतों के रूपरसादि गुणोंके तुल्य' पराये प्रयोजन वाले ही थे ॥ २९ ॥

तस्य चक्रवर्त्तित्वमाह—

स वेलावप्रवलयां परिखीकृतसागराम् ।
अनन्यशासनामुर्वी शशासैकपुरीमिव ॥ ३० ॥

स इति । स दिलीपः । 'वेला समुद्रकूलानि । 'वेला कूलेऽपि वारिधे' इति विश्व । ता एव वप्रवलया प्राकारवेष्टनानि यस्यास्ताम् । 'स्याच्चयो वप्रमस्त्रियाम् । प्राकारो वरण शाल प्राचीन प्रान्ततो वृति' इत्यमर. । परित' खातं परिखा दुर्गवेष्टनम् । 'खान खेय तु परिखा' इत्यमर । 'अन्येष्वपि दृश्यते' इत्यत्रापिशब्दात्खने· डप्रत्यय । अपरिखा परिखा सम्पद्यमाना कृता परिखीकृता· सागरा यस्यास्ताम् । अभूततद्भावे च्विः । अविद्यमानमन्यस्य राज्ञ शासनं यस्यास्तामनन्यशासनामुर्वीमेकपुरीमिव शशास । अनायासेन शासितवानित्यर्थ ॥ ३० ॥

उस राजा दिलीप ने समुद्र का किनारा है कङ्कण की तरह चाहारदीवारी जिसकी और समुद्र है खान जिसकी, ऐसी अन्य किसी राजा से शासन नहीं की जाती हुई पृथ्वी को एक नगरी की भाति शासन किया ॥ ३० ॥

तस्य पत्न्या नामाह—

तस्य दाक्षिण्यरूढेन नाम्ना मगधवंशजा ।
पत्नी सुदक्षिणेत्यासीदध्वरस्येव दक्षिणा ॥ ३१ ॥

तस्येति । तस्य राज्ञो मगधवंशे जाता मगधवंशजा । 'सप्तम्यां जनेर्ड' इति

कारयन्त्या । एतेनाभिजात्यमुक्तम् । दाक्षिण्यं परच्छन्दानुवर्तनम्। दक्षिणा सरलोदारपरच्छन्दानुवर्तिषु' इति यादवः । तेन रूढं प्रसिद्धम् । तेन नाम्ना । अन्यत्रस्व यज्ञस्य दक्षिणा दक्षिणाऽऽख्या पत्नीव सुदक्षिणेति प्रसिद्धा पत्न्यासीत् । अत्र श्रुतिः-(यज्ञो गन्धर्वस्तस्य दक्षिणा अप्सरसः) इति । (दक्षिणाया दाक्षिण्यं नाम र्त्विग्भ्यो दक्षिणात्वमापकत्वम् । ते दक्षन्ते दक्षिणां प्रतिगृह्य) इति च ॥ ३१ ॥

उस राजा दिलीप की मगधवंश में उत्पन्न हुई दूसरे के मनोऽनुकूल चलने के कारण यज्ञ की पत्नी दक्षिणा की तरह सुदक्षिणा इस नाम से प्रसिद्ध पटरानी थी ॥ ३१ ॥

तस्यानेकासु पत्नीषु सतीष्वपि प्रिया सुदक्षिणैवेत्याह—

कलत्रवन्तमात्मानमवरोधे महत्यपि ।
तया मेने मनस्विन्या लक्ष्म्या च वसुधाऽधिपः ॥ ३२ ॥

कलत्रवन्तमिति । वसुधाऽधिपः । अवरोधेऽन्तःपुरवर्गे महति सत्यपि मन स्विन्या दृढचित्तया पतिचित्तानुवर्तनादिनिर्बन्धवत्येत्यर्थः । तया सुदक्षिणया लक्ष्म्या चात्मानं कलत्रवन्तं भार्यावन्तं मेने । 'कलत्रं श्रोणिभार्ययोः' इत्यमरः । वसुधाधिप इत्यनेन वसुधया चेति गम्यते ॥ ३२ ॥

उस राजा दिलीप का रनिवास बहुत बड़ा होने पर भी (बहुत सी रानियाँ होने पर भी) दृढचित्त सुदक्षिणा और लक्ष्मी से ही वह अपने को स्त्री वाला समझता था ॥ ३२ ॥

दिलीपः स्वपत्न्यां सुदक्षिणायामपि पुत्रोत्पत्तिप्रतीक्षया कृतवानित्याह—

तस्यामात्मानुरूपायामात्मजन्मसमुत्सुकः ।
विलम्बितफलैः कालं स निनाय मनोरथैः ॥ ३३ ॥

तस्यामिति । स राजा । आत्मानुरूपायां तस्याम् । आत्मनो जन्म यस्यासावात्मजन्मा पुत्रः । तस्मिन्समुत्सुकः । यद्वा । आत्मनो जन्मनि पुत्ररूपेणोत्पत्तौ समुत्सुकः सन् । (आत्मा वै पुत्रनामासि) इति श्रुतेः । विलम्बितं फलं पुत्रप्राप्तिरूपं येषां तैर्मनोरथैः कदा मे पुत्रो भवेदित्याशाभिः कालं विलम्ब्य यापयामास ॥ ३३ ॥

उस 'राजा दिलीप' ने अपने मनके अनुकूल उस 'सुदक्षिणा' में पुत्र के जन्म के विषय में उत्सुक होते हुये, विलम्ब है जिसके फल में ऐसे 'कब मेरा पुत्र होगा' इस आकांक्षा से समय बिताया ॥ ३३ ॥

सन्तानार्थमुद्योक्तुं मनुष्यस्य राज्ञो मन्त्रिवर्गे राज्यभारसमर्पणमित्याह—

सन्तानार्थाय विधये स्वभुजादवतारिता ।
तेन धूर्जगतो गुर्वी सचिवेषु निचिक्षिपे ॥ ३४ ॥

संतानेति । तेन दिलीपेन । सन्तानोऽर्थः प्रयोजनं यस्य तस्मै संतानार्थाय विधयेऽनुष्ठानाय । स्वभुजादवतारितावरोपिता जगतो लोकस्य गुर्वी धूर्भारः सचिवेषु निचिक्षिपे निहिता ॥ ३४ ॥

सन्तान प्राप्ति के लिये अनुष्ठान 'करने' के निमित्त अपने बाहु से उतारे हुये जगत् के बड़े भारी (प्रजापालनरूप कार्य) भार को मन्त्रियों के ऊपर रख दिया ॥ ३४ ॥

पुत्रप्राप्तिकाम्यया दिलीपस्य स्वगुरोर्वसिष्ठस्याश्रमे गमनमित्याह—

अथाभ्यर्च्य विधातारं प्रयतौ पुत्रकाम्यया ।
तौ दम्पती वसिष्ठस्य गुरोर्जग्मतुराश्रमम् ॥ ३५ ॥

अथेति । अथ धुरोऽवतारानन्तरं पुत्रकाम्ययाऽऽत्मनः पुत्रेच्छया 'काम्यच्च' इति पुत्रशब्दात्काम्यच्प्रत्ययः । 'अप्रत्ययात्' इति पुत्रकाम्यतेरप्रत्ययः । ततष्टाप् । तया तौ दम्पती जायापती । राजदन्तादिषु जायाशब्दस्य दमिति निपातनात्साधुः । प्रयतौ पूतौ विधातारं ब्रह्माणमभ्यर्च्य 'स खलु पुत्रार्थिभिरुपास्यते' इति मान्त्रिकाः । गुरोः कुलगुरोर्वसिष्ठस्याश्रमं जग्मतुः पुत्रप्राप्त्युपायापेक्षयेति शेषः ॥ ३५ ॥

मन्त्रियों के ऊपर राज्यभार सौंपने के अनन्तर पुत्र की कामना से पवित्र हो, वे दोनों स्त्री पुरुष सुदक्षिणा और दिलीप ब्रह्मा की पूजा कर गुरु वसिष्ठ के आश्रम को गये ॥ ३५ ॥

तयोरेकरथेन वसिष्ठाश्रमगमनमित्याह—

स्निग्धगम्भीरनिर्घोषमेकं स्यन्दनमास्थितौ ।
प्रावृषेण्यं पयोवाहं विद्युदैरावताविव ॥ ३६ ॥

स्निग्धेति । स्निग्धो मधुरो गम्भीरो निर्घोषो यस्य तमेकं स्यन्दनं रथम् । प्रावृषि भवं प्रावृषेण्यम् । 'प्रावृष एण्यः' इत्येण्यप्रत्ययः । तं प्रावृषेण्यं पयोवाहं मेघं विद्युदैरावताविव । आस्थितावारूढौ । जग्मतुरिति पूर्वेण सम्बन्धः । इरा आपः । 'इरा भूवाक्सुराऽप्सु स्यात्' इत्यमरः । इरावान्समुद्रः । तत्र भव ऐरावतोऽभ्रमातङ्गः । 'ऐरावतोऽभ्रमातङ्गैरावणाभ्रमुवल्लभाः' इत्यमरः । 'अभ्रमातङ्गत्वाच्चाभ्रस्थरूपत्वात्' इति क्षीरस्वामी । अत एव मेघारोहणं विद्युत्साहचर्यञ्च घटते । किञ्च विद्युत ऐरावतसाहचर्यादैरावती सञ्ज्ञा । ऐरावतस्य स्त्र्यैरावतीति क्षीरस्वामी । तस्मात्सुष्ठूक्तं विद्युदैरावताविवेति । एकरथारोहणोक्त्या कार्यसिद्धिबीजं दम्पत्योरत्यन्तसौमनस्यं सूचयति ॥ ३६ ॥

मधुर और गम्भीर शब्द करने वाले एक ही रथ पर वर्षाकाल के मेघ के ऊपर चढ़े हुये बिजली और ऐरावत हाथी की भांति वे दोनों सुदक्षिणा और दिलीप चले ॥ ३६ ॥

सेनाविरहितयोस्तयोर्गमने कारणमाह—

मा भूदाश्रमपीडेति परिमेयपुरःसरौ ।
अनुभावविशेषात्तु सेनापरिवृताविव ॥ ३७ ॥

मा भूदिति । पुनः किंभूतौ दम्पती । आश्रमपीडा मा भून्मास्त्विति हेतोः । 'माङि लुङ्' इत्याशीरर्थे लुङ् । 'न माङ्योगे' इत्यडागमनिषेधः । परिमेयपुरःसरौ मितपरिचरौ । अनुभावविशेषात्तु तेजोविशेषात्सेनापरिवृताभ्यामिव स्थितौ ॥३७॥

गुरु वशिष्ठ के आश्रम को पीड़ा न हो इस 'कारण' से थोड़े 'परि मित नौकरों' (राजा के आगे-आगे चलने वालों) से युक्त होते हुये भी प्रभाव की अधिकता के कारण से सेना से घिरे हुये की भाँति 'दिखलाई पड़ते हुये' वे दोनों सुदक्षिणा और दिलीप चले जाते थे॥ ३७॥

मार्गे तयोः सुखवायुभिः सेव्यमानयोर्गमनमित्याह—

सेव्यमानौ सुखस्पर्शैः शालनिर्यासगन्धिभिः।
पुष्परेणूत्किरैर्वातैराधूतवनराजिभिः॥ ३८॥

सेव्यमानाविति। पुनः कथंभूतौ। सुखः शीतलत्वात्प्रियः स्पर्शो येषां तैः। शालनिर्यासगन्धिभिः सर्जतरुनिर्यासगन्धवद्भिः। 'शालः सर्जतरुः स्मृतः' इत्यमरः। पुष्पाणि किरन्तीति पुष्पकिराः। इगुपध— इत्यादिना किरतेः कप्रत्ययः। पुष्परेणूनामुत्किरास्तैराधूता मन्दमीषत्कम्पिता वनराजयो यैस्तैर्वातैः सेव्यमानौ॥ ३८॥

सुखकर स्पर्श वाली, शाल वृक्षों से निकले हुये, गन्ध से युक्त, पुष्पों के परागों को उड़ानेवाली वायु का 'सुदक्षिणा और दिलीप' सेवन करते हुये जाते थे॥ ३८॥

मार्गे मयूरवाणीः शृण्वतोस्तयोर्गमनमित्याह—

मनोऽभिरामाः शृण्वन्तौ रथनेमिस्वनोन्मुखैः।
षड्जसंवादिनीः केका द्विधा भिन्नाः शिखण्डिभिः॥ ३९॥

मनोऽभिराम इति। रथनेमिस्वनोन्मुखैः। मेघध्वनिसदृशोऽयमिति मुखैरित्यर्थः। शिखण्डिभिर्मयूरैर्द्विधा भिन्नाः षड्जसंवादित्वमेकेषामविकृतानामपरेषां च्युताच्युतभेदेन वा षड्जो द्विविधः। तत्सादृश्यात्केका अपि द्विधा भिन्ना इत्युच्यते। अत एवाह षड्जसंवादिनीरिति। षड्भ्यः स्थानेभ्यो जातः षड्जः। तदुक्तम्—(नासां कण्ठमुरस्तालु जिह्वां दन्तांश्च संस्पृशन्। षड्भ्यः संजायते यस्मात्तस्मात्षड्ज इति स्मृतः॥) स च तन्त्रीकण्ठजन्मा स्वरविशेषः। 'निषादर्षभगान्धारषड्जमध्यमधैवताः। पञ्चमश्चेत्यमी सप्त तन्त्रीकण्ठोत्थिताः स्वराः॥' इत्यमरः। षड्जेन संवादिनीः सदृशीः। तदुक्तं मातङ्गेन—(षड्जं मयूरो वदति) इति। मनोऽभिरामाः, मनसः प्रियाः। के मूर्ध्नि कायन्ति ध्वनन्तीति केका मयूरवाण्यः 'केका वाणी मयूरस्य' इत्यमरः। ताः केकाः शृण्वन्तौ इति श्लोकार्थः॥ ३९॥

रथ के पहियों के शब्द को सुन कर ऊपर मुख किये हुये मयूरों द्वारा दो प्रकार की हुई षड्ज स्वर का अनुसरण करने वाली तथा मन को प्रसन्न करने वाली वाणी को सुनते हुये वे दोनों चले॥ ३९॥

मृगद्वन्द्वं पश्यतोस्तयोर्गमनम्—

परस्पराक्षिसादृश्यमदूरोज्झितवर्त्मसु।
मृगद्वन्द्वेषु पश्यन्तौ स्यन्दनाबद्धदृष्टिषु॥ ४०॥

परस्परेति । विश्रम्भाददूरं समीपं यथा भवति तथोज्झितं वर्त्म यैस्तेषु । स्यन्दनावद्धदृष्टिषु स्यन्दने रथ आवद्धाऽऽसक्षिता दृष्टिर्नेत्रं यैस्तेषु । 'दृग्दृष्टिनेत्रलोचनचक्षुर्नयनाम्बकेक्षणाक्षीणि' इति हलायुधः । कौतुकवशाद्रथासक्तदृष्टिष्वित्यर्थः । मृग्यश्च मृगाश्च मृगाः । 'पुमान् स्त्रिया' इत्येकशेषः । तेषां द्वन्द्वेषु मिथुनेषु । 'स्त्रीपुंसौ मिथुनं द्वन्द्वम्' इत्यमरः । परस्पराणां सादृश्यं पश्यन्तौ । द्वन्द्वशब्दसामर्थ्यान्मृगीषु सुदक्षिणाऽक्षिसादृश्यं दिलीपो दिलीपाक्षिसादृश्यं च मृगेषु सुदक्षिणेत्येवं विवेक्तव्यम् ॥

समीपमें रथ के मार्ग को छोडे हुये, रथ की ओर दृष्टि लगाये हुये, मृग के जोडों में परस्पर (एक दूसरे के) आँखों की समानता को देखते हुये 'वे दोनों चले' ॥ ४० ॥

मार्गे क्वचित् सारसान् पश्यन्तौ जग्मतुरित्याह—

श्रेणीबन्धाद्वितन्वद्भिरस्तम्भां तोरणस्रजम् ।
सारसैः कलनिर्ह्रादैः क्वचिदुन्नमिताननौ ॥ ४१ ॥

श्रेणीबन्धादिति । श्रेणीबन्धात्पङ्क्तिबन्धाद्धेतोरस्तम्भामाधारस्तम्भरहिताम् । तोरणं बहिर्द्वारम् । 'तोरणोऽस्त्री बहिर्द्वारम्' इत्यमरः । तत्र या स्रग्विरच्यते तां तोरणस्रजं वितन्वद्भिः । कुर्वद्भिरिवेत्यर्थः । उत्प्रेक्षाव्यञ्जकेवशब्दप्रयोगाभावेऽपि गम्योत्प्रेक्षेयम् । कलनिर्ह्रादैरव्यक्तमधुरध्वनिभिः सारसैः पक्षिविशेषैः करणैः । क्वचिदुन्नमिताननौ । 'सारसो मैथुनी कामी गोनर्दः पुष्कराह्वयः' इति यादवः ॥ ४१ ॥

पाङ्क्ति बाधने से (पाङ्क्ति बाध कर चलने से) बिना खम्भे के वन्दनवार (की तरह शोभा) को करते हुये, अस्पष्ट मधुर शब्द वाले सारस पक्षियों के कारण कभी कभी ऊपर की ओर मुख किये हुये 'वे दोनों चले' ॥ ४१ ॥

गच्छतोस्तयोः पथ्यनुकूलवहनमित्याह—

पवनस्यानुकूलत्वात्प्रार्थनासिद्धिशंसिनः ।
रजोभिस्तुरगोत्कीर्णैरस्पृष्टालकवेष्टनौ ॥ ४२ ॥

पवनस्येति । प्रार्थनासिद्धिशंसिनोऽनुकूलत्वादेव मनोरथसिद्धिसूचकस्य पवनस्यानुकूलत्वाद्गन्तव्यदिगभिमुखत्वात् । तुरगोत्कीर्णै रजोभिरस्पृष्टा अलका देव्या, वेष्टनमुष्णीषं च राज्ञो ययोस्तौ तथोक्तौ । 'शिरसा वेष्टनशोभिना सुतः' इति वक्ष्यति ॥ ४२ ॥

मनोरथ की सिद्धि को सूचित करने वाली वायु की अनुकूलता (सम्मुख दिशा की ओर बहने) के कारण घोडों के खुरों से उठी हुई धूलि से 'सुदक्षिणा' के घुंघराले बाल और 'दिलीप' के सिरपेंच नहीं छुए गये 'ऐसे वे दोनों चले' ॥ ४२ ॥

मार्गे कमलानां गन्धं जिघ्रतोस्तयोर्गमनमित्याह—

सरसीष्वरविन्दानां वीचिविक्षोभशीतलम् ।
आमोदमुपजिघ्रन्तौ स्वनिःश्वासानुकारिणम् ॥ ४३ ॥

सरसीष्विति । सरसीषु वीचिविक्षोभशीतलम्मूर्मिसम्पर्केण शीतलं स्वनिःश्वास-मनुकर्तुं शीलमस्यास्तीति स्वनिःश्वासानुकारिणम् । एतेन तयोरस्स्रग्धरीपुंष्ठजातीयत्वमुक्तम् । अरविन्दानामामोदमुपजिघ्रन्तौ आघ्राय गच्छन्तौ ॥ ४३ ॥

तालाबों में लहरों के झकोरों से शीतल, अत एव अपने निःश्वास 'मुख की वायु' का अनुकरण करने वाले, कमलों की मनोहर सुगन्ध सूँघते हुये 'वे दोनों चले' ॥ ४३ ॥

यज्ञे यजमानेभ्यः प्रदत्ते ग्रामे ग्रामे तेषामाशीर्वादग्रहणमित्याह—

ग्रामेष्वात्मविसृष्टेषु यूपचिह्नेषु यज्वनाम् ।
अमोघाः प्रतिगृह्णन्तावर्घ्यानुपदमाशिषः ॥ ४४ ॥

ग्रामेष्विति । आत्मविसृष्टेषु स्वदत्तेषु । यूपो नाम संस्कृतः पशुबन्धाय दारु-विशेषः । यूपा एव चिह्नानि येषां तेषु ग्रामेष्वमोघाः सफला यज्वनां विधिनेष्टवताम् 'यज्वा तु विधिनेष्टवान्' इत्यमरः । सुयजोर्ङ्वनिप् इति ङ्वनिप्प्रत्ययः । आशिष आशीर्वादान् । अर्घः पूजाविधिः । तदर्थं द्रव्यमर्घ्यम् । 'पादार्घाभ्यां च' इति यत्प्रत्ययः । 'षट् तु त्रिष्वर्घ्यमर्घार्थे पाद्यं पादाय वारिणि' इत्यमरः । अर्घ्यस्यानुप-दमनन्तरम् । अर्घ्यस्वीकारानन्तरमित्यर्थः । प्रतिगृह्णन्तौ स्वीकुर्वन्तौ । पदस्य पश्चादनु-पदम् । पश्चादर्थेऽव्ययीभावः । 'अन्वगन्वक्षमनुगेऽनुपदं क्लीबमव्ययम्' इत्यमरः ॥

स्वयं 'दान में दिये हुए' यज्ञ के स्तम्भों से चिह्नित ग्रामों में विधिपूर्वक यज्ञ करने वाले ब्राह्मणों के अमोघ 'कभी निष्फल न जाने वाले' आशीर्वादों को अर्घ्य स्वीकार करने के अनन्तर ग्रहण करते हुए वे दोनों चले ॥ ४४ ॥

मार्गे वन्यवृक्षाणां नामानि पृच्छतोस्तयोर्गमनमित्याह—

हैयङ्गवीनमादाय घोषवृद्धानुपस्थितान् ।
नामधेयानि पृच्छन्तौ वन्यानां मार्गशाखिनाम् ॥ ४५ ॥

हैयङ्गवीनमिति । ह्यस्तनगोदोहोद्भवं घृतं हैयङ्गवीनम् । 'तत्तु हैयङ्गवीनं यद् ह्योगोदोहोद्भवं घृतम्' इत्यमरः । हैयङ्गवीनं संज्ञायाम् इति निपातः । तत्सद्यो घृतमादायोपस्थितान्घोषवृद्धान् । 'घोष आभीरपल्ली स्यात्' इत्यमरः । वन्यानां मार्गशाखिनां नामधेयानि पृच्छन्तौ । दुहाद्— इत्यादिना पृच्छतेर्द्विकर्मकत्वम् । युक्तम् ॥ ४५ ॥

ताजे ताजे दूध का मक्खन लेकर उपस्थित हुये घोष (अहीरों के ग्राम) में रहने वाले) बूढ़ों से जङ्गली रास्ते के वृक्षों के नामों को पूछते हुये 'वे दोनों चले' ॥ ४५ ॥

तयोर्गच्छतोश्चित्राचन्द्रमसोरिव शोभाऽभूदित्याह—

काऽप्यभिख्या तयोरासीद् व्रजतोः शुद्धवेषयोः ।
हिमनिर्मुक्तयोर्योगे चित्राचन्द्रमसोरिव ॥ ४६ ॥

काऽपीति । व्रजतोर्गच्छतोः शुद्धवेषयोरुज्ज्वलनेपथ्ययोस्तयोः सुदक्षिणादिली

योश्चित्राचन्द्रमसोरिव योगे सति काऽप्यनिर्वाच्याऽभिख्या शोभाऽऽसीत् । 'अभिख्या नामशोभयो' इत्यमर । 'आतश्चोपसर्गे' इत्यण्प्रत्यय । चित्रा नक्षत्रविशेष. । शिशिरापगमे चैत्र्या चित्रापूर्णचन्द्रमसोरिवेत्यर्थ. ॥ ४६ ॥

जाते हुये उज्ज्वल वेष वाले उन दोनों (सुदक्षिणा और दिलीप)का तुषार से निर्मुक्त हुये चित्रा नक्षत्र और चन्द्रमा के समान योग होने पर अनिर्वचनीय शोभा हुई ॥ ४६ ॥

पत्न्यै मार्गेऽद्भुतवस्तुजातं दर्शयतो दिलीपस्य गमनमित्याह—

तत्तद्भूमिपतिः पत्न्यै दर्शयन्प्रियदर्शन ।
अपि लङ्घितमध्वानं बुबुधे न बुधोपमः ॥

तत्तदिति । प्रिय दर्शन स्वकर्मक यस्यासौ प्रियदर्शन । योगदर्शनीय इत्यर्थ । भूमिपति' पत्न्यै तत्तदद्भुत वस्तु दर्शयंल्लङ्घितमतिवाहितमप्यध्वान न बुबुधे न ज्ञातवान् । बुध सौम्य उपमोपमानं यस्येति विग्रह । इदं विशेषण तत्तद्दर्शयनित्युपयोगितयैवास्य ज्ञातृत्वसूचनार्थम् ॥ ४७ ॥

देखने में सुन्दर, 'अत एव' चन्द्रपुत्र बुधके समान, राजा 'दिलीप' अद्भुत वस्तुओं को रानी 'सुदक्षिणा' को दिखलाते हुये, लांघे हुये (पीछे छोड़े हुये) मार्ग को भी न जान सके ॥ ४७ ॥

सुदक्षिणादिलीपयोर्वसिष्ठाश्रमप्रापणमित्याह—

स दुष्प्रापयशा प्रापदाश्रमं श्रान्तवाहन ।
सायं संयमिनस्तस्य महर्षेर्महिषीसख. ॥ ४८ ॥

स इति । दुष्प्रापयशा दुष्प्रापमन्यदुर्लभ यशो यस्य स तथोक्त । श्रान्तवाहनो दूरोपगमनात्क्लान्तयुग्य । महिष्या सखा महिषीसख । 'राजाह सखिभ्यष्टच्' इति टच्प्रत्यय. । सहायान्तरनिरपेक्ष इति भाव । स राजा साय सायकाले सयमिनो नियमवतस्तस्य महर्षेर्वसिष्ठस्याश्रम प्रापत्प्राप । पुषादित्वादङ् ॥ ४८ ॥

'दूसरों के' दुर्लभ यश वाले, थके हुये हैं वाहन जिसके ऐसे पटरानी सुदक्षिणा के सहित वे राजा दिलीप, सायङ्काल के समय सयम रखने वाले उन पूर्वोक्त कुलगुरु महर्षि वसिष्ठ के आश्रम में पहुँचे ॥ ४८ ॥

तमाश्रम विशिनष्टि—

वनान्तरादुपावृत्तै समित्कुशफलाहरैः ।
पूर्यमाणमदृश्याग्निप्रत्युद्यातैस्तपस्विभिः ॥ ४९ ॥

वनान्तरादिति । वनान्तरादन्यस्माद्वनादुपावृत्तै प्रत्यावृत्तै । समिधश्च कुशांश्च फलानि चाहर्तुं शील येषामिति समित्कुशफलाहरास्तै 'आङि ताच्छील्ये' इति हरतेराङ्पूर्वादच्प्रत्यय । अदृश्यैर्दर्शनायोग्यैरग्निभिर्वैतानिकै । प्रत्युद्याता. प्रत्युद्गतास्तै. । तपस्विभि पूर्यमाणम् । (प्रोष्यागच्छतामाहिताग्नीनामग्नय' प्रत्युद्यान्ति)

इति श्रुतेः। यथाऽऽह—(कामं पितरं पुत्राः पोषितवन्तं प्रत्याचक्षन्ति। एवमेव मनसा प्रत्याचक्षन्ति सफलकाम्याकर्मिणाहरन् इति) ॥ ४९ ॥

दूसरे वन से लौटे हुये समिधा कुश और फल के लाने वाले, दूसरों से नहीं दिखाई पड़ते हुये अग्नि के द्वारा अगवानी किये गये तपस्वियों से भरे हुये 'आश्रम में पहुँचे' ॥४९॥

आश्रमस्थमृगवर्णनमित्याह—

आकीर्णमृषिपत्नीनामुटजद्वाररोधिभिः ।
अपत्यैरिव नीवारभागधेयोचितैर्मृगैः ॥ ५० ॥

आकीर्णमिति। नीवाराणां भाग एव भागधेयोंऽशः। 'भागरूपनामभ्यो धेयः' इति वक्तव्यसूत्रात्स्वार्थे धेयप्रत्ययः। तदुचितैः। अत एवोटजानां पर्णशालानां द्वाररोधिभिर्द्वाररोधकैर्मृगैर्ऋषिपत्नीनामपत्यैरिव। आकीर्णं व्याप्तम् ॥ ५० ॥

तृणधान्य के भाग को पाने वाले तथा पर्णशाला 'कुटी' के द्वार को रोकने वाले, ऋषिपत्नियों की सन्तानों की तरह मृगों से भरे हुये आश्रम में पहुँचे ॥ ५० ॥

आश्रमस्थपक्षिणां सद्यः सेचिततरुमूलजलपानमित्याह—

सेकान्ते मुनिकन्याभिस्तत्क्षणोज्झितवृक्षकम् ।
विश्वासाय विहङ्गानामालवालाम्बुपायिनाम् ॥ ५१ ॥

सेकान्त इति। सेकान्ते वृक्षमूलसेचनावसाने मुनिकन्याभिः सेक्त्रीभिः। आलवालेषु जलावापप्रदेशेषु यदम्बु तत्पायिनाम्। 'स्यादालवालमावालमावापः' इत्यमरः। विहङ्गानां पक्षिणां विश्वासाय विस्रम्भाय। 'समौ विस्रम्भविश्वासौ' इत्यमरः। तत्क्षणे सेकक्षण उज्झिता वृक्षका ह्रस्ववृक्षा यस्मिंस्तम्। ह्रस्वार्थे कप्रत्ययः ॥ ५१ ॥

वृक्षों की क्यारियों का जल पीने का स्वभाव है जिनका ऐसे पक्षियों के विश्वास के लिये (अर्थात्–कोई भय नहीं है ऐसा विश्वास दिलाने के लिये) मुनिकन्याओं के द्वारा सींचे जाने के उपरान्त तत्काल ही छोड़े गये हैं छोटे वृक्ष जिसमें 'ऐसे आश्रम में पहुँचे' ॥ ५१ ॥

तत्रत्यानां मृगाणां रोमन्थवर्णनमित्याह—

आतपात्ययसंक्षिप्तनीवारासु निषादिभिः ।
मृगैर्वर्तितरोमन्थमुटजाङ्गनभूमिषु ॥ ५२ ॥

आतपेति। आतपस्यात्ययेऽपगमे सति संक्षिप्ता राशीकृता नीवारास्तृणधान्यानि यासु तासु। 'नीवारास्तृणधान्यानि' इत्यमरः। उटजानां पर्णशालानामङ्गनभूमिषु चत्वरभागेषु 'पर्णशालोटजोऽस्त्रियाम्' इति। 'अङ्गनं चत्वराजिरे' इति चामरः। निषादिभिरुपविष्टैर्मृगैर्वर्तितो निष्पादितो रोमन्थश्चर्वितचर्वणं यस्मिंस्तमाश्रमं तम् ॥ ५२ ॥

घाम के न रहने पर इकट्ठे किये गये हैं नीवार नामक धान्य जिसमें, ऐसी पर्णशाला के आँगन की भूमि में बैठने वाले हरिण जहाँ पागुर कर रहे हैं ऐसे आश्रम में पहुँचे ॥

तत्रत्यो हुतहवनीयद्रव्यगन्धयुक्तो धूम इत्याह—

अभ्युत्थिताग्निपिशुनैरतिथीनाश्रमोन्मुखान् ।
पुनानं पवनोद्धूतैर्धूमैराहुतिगन्धिभिः ॥ ५३ ॥

अभ्युत्थितेति । अभ्युत्थिताः प्रज्वलिताः । होमयोग्या इत्यर्थः । (समिद्धेऽग्नावाहुतीर्जुहोति) इति वचनात् । तेषामग्नीनां पिशुनैः सूचकैः पवनोद्धूतैः । आहुतिगन्धो येषामस्तीत्याहुतिगन्धिनस्तैर्धूमैराश्रमोन्मुखानतिथीन् पुनानं पवित्रीकुर्वाणम् ॥ कुलकम् ॥ ५३ ॥

प्रज्वलित अग्नि को सूचित करने वाले 'तथा' वायु से फैले हुये, आहुति के गन्ध से मिले हुये धूयें से आश्रम की ओर आने के लिये उन्मुख अतिथियों को पवित्र करने वाले 'आश्रम में पहुँचे' ॥ ५३ ॥

आश्रमप्राप्त्यनन्तरं रथादवतरणमित्याह—

अथ यन्तारमादिश्य धुर्यान्विश्रामयेति सः ।
तामवारोहयत्पत्नीं रथादवततार च ॥ ५४ ॥

अथेति । अथाश्रमप्राप्त्यनन्तरं स राजा यन्तारं सारथिम् । धुरं वहन्तीति धुर्याः युग्याः । 'धुरो यड्ढकौ' इति यत्प्रत्ययः । 'धूर्वहे धुर्यधौरेयधुरीणाः सधुरन्धराः' इत्यमरः । धुर्यान् रथाश्वान्विश्रामय विनीतश्रमान्कुर्वित्यादिश्याज्ञाप्य तां पत्नीं रथादवारोहयदवतारितवान्स्वयं चावततार 'विश्रमय' इति ह्रस्वपाठे 'जनीजॄष्—' इति मित्त्वे 'मितां ह्रस्वः' इति ह्रस्वः । दीर्घपाठे 'मितां ह्रस्वः' इति सूत्रे 'वा चित्तविरागे' इत्यतो 'वा' इत्यनुवर्त्य व्यवस्थितविभाषाऽऽश्रयणाद्ध्रस्वाभाव इति वृत्तिकारः ॥

उसके बाद वह 'राजा दिलीप' सारथि को 'घोड़ों को विश्राम कराओ' यह आज्ञा देकर उस 'अपनी' स्त्री 'सुदक्षिणा' को रथ से उतारे और स्वयं भी उतरे ॥ ५४ ॥

मुनयो दिलीपार्हणां चक्रुरित्याह—

तस्मै सभ्याः सभार्याय गोप्त्रे गुप्ततमेन्द्रियाः ।
अर्हणामर्हते चक्रुर्मुनयो नयचक्षुषे ॥ ५५ ॥

तस्मा इति । सभायां साधवः सभ्याः । 'सभाया यः' इति यप्रत्ययः । गुप्ततमेन्द्रियाः अत्यन्तनियमितेन्द्रियाः मुनयः सभार्याय गोप्त्रे रक्षकाय । नयः शास्त्रमेव चक्षुस्तत्त्वावेदकं प्रमाणं यस्य तस्मै नयचक्षुषे । अत एवार्हते प्रशस्ताय । पूज्यायेत्यर्थः । 'अर्ह प्रशंसायाम्' इति शतृप्रत्ययः । तस्मै राज्ञेऽर्हणां पूजां चक्रुः । 'पूजा नमस्याऽपचितिः सपर्याऽर्चाऽर्हणाः समाः' इत्यमरः ॥ ५५ ॥

सभ्य जितेन्द्रिय मुनियों ने, रानी के सहित, रक्षा करने वाले, नीतिशास्त्ररूपी नेत्र वाले 'अत एव' पूज्य उन राजा दिलीप की पूजा की ॥ ५५ ॥

सायङ्कालीनक्रियान्तेऽरुन्धतीसहितस्य गुरोर्दर्शनमित्याह—

विधेः सायन्तनस्यान्ते स ददर्श तपोनिधिम् ।
अन्वासितमरुन्धत्या स्वाहयेव हविर्भुजम् ॥ ५६ ॥

विधेरिति । स राजा सायन्तनस्य सायम्भवस्य । 'सायंचिरम्-' इत्यादिना ट्युप्रत्ययः । विधेरनुष्ठानस्यान्तेऽवसानेऽरुन्धत्यान्वासितं पश्चादुपवेशनेनोपसेवितम् । कर्मणि क्तः । उपसर्गवशात्सकर्मकत्वम् 'अन्वास्यैनाम्' इत्यादिवदुपपद्यते । तपोनिधिं वसिष्ठम् । स्वाहया स्वाहादेव्या । 'अथाग्नायी स्वाहा च हुतभुक्प्रिया' इत्यमरः । अन्वासितं हविर्भुजमिव ददर्श । (समित्पुष्पकुशाग्न्यम्बुमृदन्नाक्षतपाणिकः । जपं होमं च कुर्वाणो नाभिवाद्यो द्विजो भवेत् ॥) इत्यनुष्ठानस्य मध्येऽभिवादननिषेधाद्विधेरन्ते ददर्शेत्युक्तम् । अन्वासनं चात्र पतिव्रताधर्मत्वेनोक्तं न तु कर्माङ्गत्वेन । विधेरन्त इति कर्मणः समाप्तत्वाभिधानात् ॥ ५६ ॥

उस राजा दिलीप ने सायङ्कालीन अनुष्ठान के समाप्त होने पर अरुन्धती से सेवित तपोनिधि 'वसिष्ठ' को स्वाहा देवी से सेवित अग्नि की भाँति देखा ॥ ५६ ॥

सुदक्षिणादिलीपयोः सपत्नीकस्य गुरोः पादाभिवन्दनमित्याह—

तयोर्जगृहतुः पादान् राजा राज्ञी च मागधी ।
तौ गुरुर्गुरुपत्नी च प्रीत्या प्रतिननन्दतुः ॥ ५७ ॥

तयोरिति । मागधी मगधराजपुत्री राज्ञी सुदक्षिणा राजा च तयोररुन्धतीवसिष्ठयोः पादाञ्जगृहतुः । 'पादाः पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । पादग्रहणमभिवादनम् । गुरुपत्नी गुरुश्च कर्तारौ सा च स च तौ सुदक्षिणादिलीपौ कर्मभूतौ । प्रीत्या हर्षेण प्रतिननन्दतुः । आशीर्वादादिभिः सम्भावयामासतुरित्यर्थः ॥ ५७ ॥

मगध देश के राजा की कन्या रानी 'सुदक्षिणा' और राजा 'दिलीप' ने उन दोनों 'अरुन्धती और वसिष्ठ' के चरणों को पकड़ा 'प्रणाम किया' तथा गुरु 'वसिष्ठ' और गुरुपत्नी 'अरुन्धती' ने प्रेम से उन दोनों सुदक्षिणा और दिलीप को आशीर्वाद दिया ॥

वसिष्ठो दिलीपं राज्यविषयककुशलं पृष्टवानित्याह—

तमातिथ्यक्रियाशान्तरथक्षोभपरिश्रमम् ।
पप्रच्छ कुशलं राज्ये राज्याश्रममुनिं मुनिः ॥ ५८ ॥

तमिति । मुनिः । अतिथ्यर्थमातिथ्यम् । 'अतिथेर्ञ्यः' इति ञ्यप्रत्ययः । आतिथ्यस्य क्रिया तया शान्तो रथक्षोभेण यः परिश्रमः स यस्य स तं तथोक्तम् । राज्यमेवाश्रमस्तत्र मुनिं मुनितुल्यमित्यर्थः । तं दिलीपं राज्ये कुशलं पप्रच्छ पृच्छतेर्द्विकर्मकत्वमित्युक्तम् । यद्यपि राज्यशब्दः पुरोहितादिव्यन्तर्गतत्वात्स्वकर्मवचनः । तथाप्यत्र सप्ताङ्गवचनः । 'उपपन्नं ननु शिवं सप्तस्वङ्गेषु' इत्युत्तरविरोधात् । तथा च मनुः—(स्वाम्यमात्यपुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ तथा सुहृत् । सप्तैतानि समस्तानि

लोकेऽस्मिन् राज्यमुच्यते ।) इति । तत्र (ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत्क्षत्रबन्धुमनामयम् । वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च) इति मनुवचने सत्यपि तस्य राज्ञो महानुभावत्वाद् ब्राह्मणोचितं कुशलप्रश्न एव कृत इत्यनुसन्धेयम् । अत एवोक्त-'राज्याश्रममुनिम्' इति ॥ ५८ ॥

मुनि 'वशिष्ठ' ने अतिथिसत्कार के द्वारा रथ के हिलने से उत्पन्न हुई, थकावट जिसकी दूर हो गयी है, ऐसे राज्यरूपी आश्रम के विषय में मुनितुल्य उन 'राजा दिलीप' से राज्य 'स्वामी–मन्त्री–नगर–देश–खजाना–दण्ड–मित्र–' विषयक कुशल पूछा ॥ ५८ ॥

वशिष्ठस्य कुशलप्रश्नानन्तर दिलीपस्योत्तरदानोपक्रम —

अथाथर्वनिधेस्तस्य विजितारिपुरः पुरः ।
अर्थ्यामर्थपतिर्वाचमाददे वदतां वरः ॥ ५९ ॥

अथेति ॥ अथ प्रश्नानन्तरं विजितारिपुरो विजितशत्रुनगरो वदतां वक्तृणां वरः श्रेष्ठः 'यतश्च निर्धारणम्' इति षष्ठी । अर्थपतिः राजाऽथर्वणोऽथर्ववेदस्य निधेस्तस्य मुनेः पुरोऽग्रेऽर्थ्यामर्थादनपेताम् । 'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते' इति यत्प्रत्ययः । वाचमाददे । वक्तुमुपक्रान्तवानित्यर्थः । अथर्वनिधेरित्यनेन पुरोहितकृत्याभिज्ञत्वात्तत्कर्मनिर्वाहकत्वं मुनेरस्तीति सूच्यते । यथाऽऽह कामन्दकः (त्रय्यां च दण्डनीत्यां च कुशलः स्यात्पुरोहितः । अथर्वविहितं कुर्यान्नित्यं शान्तिकपौष्टिकम् ।) इति ॥५९॥

'गुरु वशिष्ठ के कुशल प्रश्न पूछ चुकने के' बाद, वैरियों के नगरों को जीतने वाले, बोलने वालों में श्रेष्ठ, विभव के पति 'राजा दिलीप' ने, अथर्ववेद के खजाना 'अथर्ववेद के विद्वान्' उन 'वशिष्ठ ऋषि' के आगे प्रयोजन से युक्त बात छेड़ी ॥ ४९ ॥

यस्य त्वं गुरुरसि तस्य राज्ये सर्वत्र कुशलमस्त्येवेत्याह—

उपपन्नं ननु शिवं सप्तस्वङ्गेषु यस्य मे ।
दैवीनां मानुषीणां च प्रतिहर्ता त्वमापदाम् ॥ ६० ॥

उपपन्नमिति । हे गुरो ! सप्तस्वङ्गेषु स्वाम्यमात्यादिषु । 'स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि च । सप्ताङ्गानि' इत्यमरः । शिवं कुशलमुपपन्नं ननु युक्तमेव । नन्ववधारणे । 'प्रश्नावधारणानुज्ञाऽनुनयामन्त्रणे ननु' इत्यमरः । कथमित्यत्राह–यस्य मे दैवीनां देवेभ्य आगतानां दुर्भिक्षादीनाम् मानुषीणां मनुष्येभ्य आगतानां चौरभयादीनाम् । उभयत्रापि । 'तत आगतः' इत्यण् । 'टिड्ढाणञ्–' इत्यादिना ङीप् । आपदां व्यसनानां त्वं प्रतिहर्ता वारयिताऽसि । अत्राह कामन्दकः (हुताशनो जलं व्याधिर्दुर्भिक्षं मरणं तथा । इति पञ्चविधं दैवं मानुषं व्यसनं ततः । आयुक्तकेभ्यश्चौरेभ्यः परेभ्यो राजवल्लभात् । पृथिवीपतिलोभाच्च नराणां पञ्चधा मतम् ॥) इति ॥ ६० ॥

'हे गुरो' ! मेरे 'राज्य के' सात अङ्गों 'स्वामी, मन्त्री, मित्र, कोश, राष्ट्र, किला,

सेना में कुशल क्यों न हो क्योंकि जिसके दैवी अति बाल रोग दुर्भिक्ष मरण इन पांच और मानुषी रथ, चोर शत्रु राजा का कृपापात्र राजा का लोभ इन पांच आपत्तियों के नाश करने वाले आप स्वयं विद्यमान हैं ॥ ६० ॥

तत्र मानुषापत्प्रतीकारमाह—

तव मन्त्रकृतो मन्त्रैर्दूरात्प्रशमितारिभिः ।
प्रत्यादिश्यन्त इव मे दृष्टलक्ष्यभिदः शराः ॥ ६१ ॥

तवेति । दूरात्परोक्ष एव प्रशमितारिभिः । मन्त्रान्करोतीति मन्त्रकृत् । 'सुकर्मपापमन्त्रपुण्येषु कृञः' इति क्विप् । तस्य मन्त्रकृतो मन्त्राणां स्रष्टुः प्रयोक्तुर्वा तव मन्त्रैः कर्तृभिः । दृष्टं प्रत्यक्षं यल्लक्ष्यं यन्मात्रं बिन्दन्तीति दृष्टलक्ष्यभिदो मे शराः प्रत्यादिश्यन्त इव । वयमेव समर्थाः । किमेभिः निरर्थकैरिति निराक्रियन्त इवेत्युत्प्रेक्षा । 'प्रत्यादेशो निराकृतिः' इत्यमरः । त्वन्मन्त्रसामर्थ्यादेव मे पौरुषं फलतीति भावः ॥ ६१ ॥

मन्त्र के प्रयोग करनेवाले आप के जो दूर ही से (परोक्ष ही में) वैरियों के नाश करनेवाले मन्त्र हैं वे प्रत्यक्ष ही में वेधने वाले मेरे बाणों को व्यर्थ से करते हैं ॥ ६१ ॥

सम्प्रति दैविकापत्प्रतीकारमाह—

हविरावर्जितं होतस्त्वया विधिवदग्निषु ।
वृष्टिर्भवति सस्यानामवग्रहविशोषिणाम् ॥ ६२ ॥

हविरिति । हे होतः ! त्वया विधिवदग्निष्वावर्जितं प्रक्षिप्तं हविराज्यादिकं कर्तृ । अवग्रहो वर्षप्रतिबन्धः । 'अवे ग्रहो वर्षप्रतिबन्धे' इत्यप्प्रत्ययः । 'वृष्टिर्वर्षं तद्विघातेऽवग्राहावग्रहौ समौ' इत्यमरः । तेन विशोषिणां विशुष्यतां सस्यानां वृष्टिर्भवति वृष्टिरूपेण सस्यान्युपजीवयतीति भावः । अत्र मनुः (अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ।) इति ॥ ६२ ॥

हे हवन करने वाले ! गुरो ! आपसे विधिपूर्वक अग्नि में दी हुई आहुति अकाल से सूखते हुए धानों 'धानखेतों के फसलों' के सम्बन्ध में वृष्टिरूप होती है ॥ ६२ ॥

स्वप्रजानां सर्वतो भावेन सुस्थित्वे त्वद्ब्रह्मवर्चसं हेतुरित्याह—

पुरुषायुषजीविन्यो निरातङ्का निरीतयः ।
यन्मदीयाः प्रजास्तस्य हेतुस्त्वद्ब्रह्मवर्चसम् ॥ ६३ ॥

पुरुषायुषेति । आयुर्जीवितकालः पुरुषस्यायुः पुरुषायुषम् । वर्षशतमित्यर्थः । (शतायुर्वै पुरुषः) इति श्रुतेः । 'अचतुरविचतुरसुचतुर—' इत्यादिसूत्रेणाच्प्रत्ययान्तो निपातः । मदीयाः प्रजाः पुरुषायुषं जीवन्तीति पुरुषायुषजीविन्यः । निरातङ्का निर्भयाः । 'आतङ्को भयमाशङ्का' इति हलायुधः । निरीतयोऽतिवृष्ट्यादिरहिताः इति यत्तस्य सर्वस्य त्वद्ब्रह्मवर्चसं तव ब्रह्माध्ययनसंपत्तिरेव हेतुः । 'ब्रह्माध्ययन

सपत्तिरित्येतद्ब्रह्मवर्चसम्' इति हलायुध.। ब्रह्मणो वर्चो ब्रह्मवर्चसम्। 'ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चस.' इत्यच्प्रत्यय। (अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषिका शलभाः शुका.। अत्यासन्नाश्च राजान षडेता ईतयः स्मृता॥) इति कामन्दक॥ ६३॥

जो मेरी प्रजायें, पुरुष की आयु 'सौ वर्ष' तक जीने वाली, निर्भय और ईति अतिवर्षा, सूखा, चूहा, टीटी, सुआ पक्षी' राजाओं की चढ़ाई मे बची हुई हैं। वह इन सबों का कारण आपका ब्रह्मतेज 'सदाचार वेदवेदाङ्गाध्ययन से उत्पन्न पुण्य' ही है॥

भवादृशेन मद्गुरुणा सर्वं मे सुख भवतीत्याह—

त्वयैव चिन्त्यमानस्य गुरुणा ब्रह्मयोनिना।
सानुबन्धाः कथं न स्यु' संपदो मे निरापदः॥ ६४॥

त्वयैवमिति। ब्रह्मा योनि. कारणं यस्य तेन ब्रह्मपुत्रेण गुरुणा त्वयैवमुक्तप्रकारेण चिन्त्यमानस्यानुध्यायमानस्य। अत एव निरापदो व्यसनहीनस्य मे सपद सानुस्यूतयोऽविच्छिन्ना इति यावत्। कथं न स्यु.। स्युरित्यर्थ॥ ६४॥

'जब' ब्रह्मपुत्र आप 'मेरे' गुरु हैं और सर्वदा' उक्त प्रकार से 'मेरे कल्याण की' चिन्ता किया करते हैं। 'तो फिर' आपत्ति से रहित मेरी सम्पत्ति 'निरन्तर' अविच्छिन्न 'स्थिर' क्यों न रहे॥ ६४॥

संप्रत्यागमनप्रयोजनमाह—

किन्तु वध्वां तवैतस्यामदृष्टसदृशप्रजम्।
न मामवति सद्वीपा रत्नसूरपि मेदिनी॥ ६५॥

किन्त्विति। किन्तु तवैतस्यां वध्वा स्नुषायाम्। 'वधूर्जाया स्नुषा चैव' इत्यमर। अदृष्टा सदृश्यनुरूपा प्रजा येन त मा सद्वीपाऽपि। रत्नानि सूयत इति रत्नसूरपि। 'सत्सूद्विष–' इत्यादिना क्विप्। मेदिनी नावति न प्रीणाति। अवधातू रक्षणगतिप्रीत्याद्यर्थेपूपदेशादत्र प्रीणने। रत्नसूरपीत्यनेन सर्वरत्नेभ्य पुत्ररत्नमेव श्लाघ्यमिति सूचितम्॥ ६५॥

परन्तु आपकी इस शिष्य-वधू में 'अपने' सदृश सन्तान होती हुई न देखने वाले मुझको द्वीपों के सहित रत्नों को पैदा करने वाली पृथ्वी भी नहीं भाती॥ ६५॥

पुत्राभावेन पितॄणां दु खेन पिण्डग्रहण भविष्यतीत्याह—

नूनं मत्त परं वंश्या. पिण्डविच्छेददर्शिनः।
न प्रकामभुज श्राद्धे स्वधासंग्रहतत्पराः॥ ६६॥

नूनमिति। मत्त पर मदनन्तरम् 'पञ्चम्यास्तसिल्' पिण्डविच्छेददर्शिन पिण्डदानविच्छेदमुत्प्रेक्षमाणा। वंशोद्भवा वंश्या पितर। स्वधेत्यव्यय पितृभोज्ये वर्तते। तस्या सग्रहे तत्परा आसक्ता' सन्त श्राद्धे 'पितृदान निवाप' स्याच्छ्राद्ध तत्कर्म शास्त्रतः' इत्यमर। प्रकामभुज पर्याप्तभोजिनो न भवन्ति। नून सत्यम्। 'काम

प्रकामं पर्याप्तम्' इत्यमरः । निर्धना ज्ञापयन्तं किमद्यपि संगृह्णन्तीति भावः ॥ ६६ ॥

मेरे बाद पिण्ड का लोप देखने वाले, स्वधा इकट्ठी करने में लगे हुये मेरे पूर्वज श्राद्ध में इच्छापूर्वक भोजन करने के लिये निश्चय प्रकार नहीं कर रहे हैं ॥ ६६ ॥

पुत्राभावेन पितृणां दुःखेन जलपानं भविष्यतीत्याह—

मत्परं दुर्लभं मत्वा नूनमावर्जितं मया ।
पयः पूर्वैः स्वनिःश्वासैः कवोष्णमुपभुज्यते ॥ ६७ ॥

मत्परमिति । मत्परं मदनन्तरम् । 'अन्यारादितरर्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते' इत्यनेन पञ्चमी । दुर्लभं दुर्लभ्यं मत्वा मयाऽऽवर्जितं मद्दत्तं पयः पूर्वैः पितृभिः स्वनिःश्वासदुःखजैः कवोष्णमीषदुष्णं यथा तथोपभुज्यते । नूनमिति वितर्के । कवोष्णमिति कुशब्दस्य कादेशः । 'कोष्णं कवोष्णं मन्दोष्णं कदुष्णं त्रिषु तद्वति' इत्यमरः ॥ ६७ ॥

मेरे बाद 'जल को दुर्लभ समझ कर' इस समय' मुझसे दिये जल को 'मेरे' पूर्वज 'पितृगण' अपने 'दुःखजन्य' निःश्वासों से थोड़ा गरम 'जैसे हो वैसे पीते हैं'। 'ऐसा मैं' अनुमान 'करता हूँ' ॥ ६७ ॥

पितृणामुपरतस्य द्वितीयस्य दुःखप्रकाशनमित्याह—

सोऽहमिज्याविशुद्धात्मा प्रजालोपनिमीलितः ।
प्रकाशश्चाप्रकाशश्च लोकालोक इवाचलः ॥ ६८ ॥

स इति । इज्या यागः 'व्रजयजोर्भावे क्यप्' इति क्यप्प्रत्ययः । तया विशुद्धात्मा विशुद्धचेतनः प्रजालोपेन सन्तत्यभावेन निमीलितः । कलुषीकृतः सोऽहम् । लोक्यत इति लोकः । न लोक्यत इत्यलोकः लोकश्चालोकश्च स इति । लोकालोकेति वा, लोकालोकाख्यश्चासावचल इव । 'लोकालोकश्चक्रवालः' इत्यमरः । प्रकाशत इति प्रकाशः देवर्णविमोचनात् । न प्रकाशत इत्यप्रकाशः पितृर्णविमोचनात् । पचाद्यच् । अस्मीति शेषः । लोकालोकोऽप्यन्तःसूर्यसंपर्काद्बहिस्तमो व्याप्त्या च प्रकाशाप्रकाशरूपेति मन्तव्यम् ॥ ६८ ॥

यज्ञ करने के कारण शुद्ध चित्तवाला तथा पुत्र के न दिखाई पड़ने (न होने) से ग्लानि भरे हुये 'अन्या वैसा मैं दिलीप लोकालोक पर्वत की भाँति प्रकाशवान् 'शोभमान' और अप्रकाशवान् 'मलिन' हो गया हूँ ॥ ६८ ॥

ननु तपोदानादिसम्पन्नस्य किमपत्यैरित्याह—

लोकान्तरसुखं पुण्यं तपोदानसमुद्भवम् ।
सन्ततिः शुद्धवंश्या हि परत्रेह च शर्मणे ॥ ६९ ॥

लोकान्तरेति । समुद्भवत्यस्मादिति समुद्भवः कारणम् । तपोदाने समुद्भवो यस्य तत्तपोदानसमुद्भवं पुण्यं तल्लोकान्तरे परलोके सुखं सुखकरम् । शुद्धवंश्या

शुद्धवंश्या सन्ततिर्हि परत्र परलोके, इह च लोके शर्मणे सुखाय। 'शर्मशात-सुखानि च' इत्यमर.। भवतीति शेप ॥ ६९

तप और दान है कारण जिसका ऐसा जो पुण्य है वह परलोक में सुख देनेवाला होता है। परन्तु पवित्र वश में उत्पन्न हुई सन्तति इस लोक और परलोक दोनों ही में सुख के लिये होती है ॥ ६९ ॥

समर्थोऽपि कथमनपत्यं मां ज्ञात्वा भवान्न दूयत इत्याह—

तया हीनं विधातर्मां कथं? पश्यन्न दूयसे।
सिक्तं स्वयमिव स्नेहाद् वन्ध्यमाश्रमवृक्षकम् ॥ ७० ॥

तयेति। हे विधात! स्रष्ट!, तया सन्तत्या हीनमनपत्य माम्। स्नेहात्प्रेम्णा स्वयमेव सिक्त जलसेकेन वर्धितं वन्ध्यमफलम्। 'वन्ध्योऽफलोऽवकेशी च' इत्य-मर। आश्रमस्य वृक्षक वृक्षपोतमिव। पश्यन्कथ न दूयसे न परितप्यसे? विधा-तरित्यनेन समर्थोऽप्युपेक्षस इति गम्यते ॥ ७० ॥

हे विधाता। सन्तान से हीन मुझे स्नेह से स्वय सींचे हुये फल से रहित आश्रम के छोटे वृक्ष की भाँति देखते हुये किस कारण आप दु खी नही होते हो ॥ ७० ॥

दिलीपस्य स्वकीयापुत्रत्वस्यासह्यपीडत्वकथनमित्याह—

असह्यपीडं भगवन्नृणमन्त्यमवेहि मे।
अरुन्तुदमिवालानमनिर्वाणस्य दन्तिनः ॥ ७१ ॥

असह्यपीडमिति। हे भगवन्! मे ममान्त्यमृण पैतृकमृणम्। अनिर्वाणस्य मज्जनरहितस्य। 'निर्वाण निर्वृतौ मोक्षे विनाशे गजमज्जने' इति यादव। दन्तिनो गजस्य। अरुर्मर्म तुदतीत्यरुन्तुद मर्मस्पृक्। 'व्रणोऽस्त्रियामीर्ममरु' इति, 'अरुन्तुदन्तु मर्मस्पृक्' इति चामर। 'विध्वरुषोस्तुद' इति खश्प्रत्यय। 'अरुर्द्विषद्-'इत्यादिना मुमागम। आलान बन्धनस्तम्भमिव। 'आलानं बन्धनस्तम्भे' इत्यमर। असह्या सोढुमशक्या पीडा दु.ख यस्मिंस्तदवेहि। दु सहदु खजनक विद्धीत्यर्थः। 'निर्वाणो-त्थानशयनानि त्रीणि गजकर्माणि' इति पालकाप्ये। (ऋण देवस्य यागेन ऋषीणा दानकर्मणा। सन्तत्या पितृलोकाना शोधयित्वा परिव्रजेत्) ॥ ७१ ॥

हे भगवन्! मेरे अन्तिम 'पैतृक' ऋण को विना स्नान किये हुए हाथी के मर्म को दु ख देने वाले बाँधने के खम्भे की तरह असह्य पीडा 'पहुँचाने' वाला 'आप' समझें ॥७१॥

दिलीपस्य पुत्रप्राप्तौ प्रयत्न कर्तुं वशिष्ठ प्रति कथनमित्याह—

तस्मान्मुच्ये यथा तात! संविधातुं तथाऽर्हसि।
इक्ष्वाकूणां दुरापेऽर्थे त्वदधीना हि सिद्धय ॥७२॥

तस्मादिति। हे तात! तस्मात्पैतृकादृणाद्यथा मुच्ये मुक्तो भवामि। कर्मणि लट्। तथा सविधातु कर्तुमर्हसि। हि यस्मात्कारणादिक्ष्वाकूणामिक्ष्वाकुवंश्यानाम्।

सन्तानस्तम्भमुक्तये गुरुः । दुरापे दुष्प्राप्येऽर्थे । सिद्धयस्त्वदधीनास्त्वदायत्ताः । इक्ष्वाकूणामिति शेषे षष्ठी । 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' इत्यनेन कृद्योगे षष्ठीनिषेधात् ॥ ७२ ॥

हे तात ! उस 'पैतृक ऋण' से जिस प्रकार मैं छुटकारा पाऊँ उस प्रकार 'यत्न' करने के लिये आप योग्य हो। क्योंकि इक्ष्वाकुकुल के राजाओं के कठिन कार्य के विषय में सिद्धियाँ आप के अधीन हैं ॥ ७२ ॥

दिलीपप्रश्नं श्रुत्वा वसिष्ठस्य तदुपरि विचार इत्याह—

इति विज्ञापितो राज्ञा ध्यानस्तिमितलोचनः ।
क्षणमात्रमृषिस्तस्थौ सुप्तमीन इव ह्रदः ॥ ७३ ॥

इतीति । इति राज्ञा विज्ञापित ऋषिर्ध्यानेन स्तिमिते लोचने यस्य स ध्यानस्तिमितलोचनो निश्चलाक्षः सन् क्षणमात्रं सुप्तमीनो ह्रद इव तस्थौ ॥ ७३ ॥

इस प्रकार राजा 'दिलीप' से निवेदन किये गये 'वसिष्ठ' ऋषि ध्यान से दोनों आँखें मूँदे हुए क्षण मात्र, सोई मछलियाँ हैं जिसमें ऐसे अगाध जलाशय की भाँति स्थिर हुए ॥ ७३ ॥

वसिष्ठस्य ध्यानचक्षुषा पुत्रप्रतिबन्धकारणं विज्ञाय दिलीपं प्रति कथनमित्याह—

सोऽपश्यत्प्रणिधानेन संततेः स्तम्भकारणम् ।
भावितात्मा भुवो भर्तुरथैनं प्रत्यबोधयत् ॥ ७४ ॥

स इति । स मुनिः प्रणिधानेन चित्तैकाग्र्येण भावितात्मा शुद्धान्तःकरणो भुवो भर्तुर्नृपस्य सन्ततेः स्तम्भकारणं सन्तानप्रतिबन्धकारणमपश्यत् । अथानन्तरमेनं नृपं प्रत्यबोधयत् । स्वदृष्टं ज्ञापितवानित्यर्थः । एनमिति 'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थ—' इत्यादिनाऽणिकर्तुः कर्मत्वम् ॥ ७४ ॥

चित्त की एकाग्रता द्वारा शुद्ध अन्तःकरण वाले उन 'वसिष्ठ ऋषि' ने पृथ्वी के पालन करने वाले राजा दिलीप' की सन्तति के प्रतिबन्ध 'न होने' के कारण को देखा उसके बाद उन 'राजा दिलीप' को भी बतलाया ॥ ७४ ॥

वसिष्ठस्य राज्ञः सन्तानप्रतिबन्धकारणकथनमित्याह—

पुरा शक्रमुपस्थाय तवोर्वीं प्रति यास्यतः ।
आसीत्कल्पतरुच्छायामाश्रिता सुरभिः पथि ॥ ७५ ॥

पुरेति । पुरा पूर्वं कदाचिच्छक्रमुपस्थाय सेवित्वोर्वीं प्रति भुवमुद्दिश्य यास्यतो गमिष्यतस्तव पथि मार्गेऽपि कल्पतरुच्छायामाश्रिता सुरभिः कामधेनुरासीत् । तत्र स्थितेत्यर्थः ॥ ७५ ॥

पहले किसी समय में इन्द्र का दरबार करके पृथ्वी की ओर लौटते हुए तुम्हारे मार्ग में कल्पवृक्ष की छाया का सेवन करती हुई कामधेनु थी ॥ ७५ ॥

कामधेनोः प्रदक्षिणाऽकरणे हेतुं प्रदर्शयन्नाह—

धर्मलोपभयाद्राज्ञीमृतुस्नातामिमां स्मरन् ।
प्रदक्षिणक्रियाऽर्हायां तस्यां त्वं साधु नाचरः ॥ ७६ ॥

धर्मेति । ऋतु पुष्पं रज इति यावत् । 'ऋतु स्त्रीकुसुमेऽपि च' इत्यमरः । ऋतुना निमित्तेन स्नातामिमां राज्ञीं सुदक्षिणां धर्मस्यर्त्वभिगमनलक्षणस्य लोपाद्भ्रंशाद्भय तस्मात्स्मरन्ध्यायन् । (मृद गा दैवत विप्रं घृत मधु चतुष्पथम् । प्रदक्षिणानि कुर्वीत विज्ञाताश्च वनस्पतीन् ।) इति शास्त्रात्प्रदक्षिणक्रियाऽर्हाया प्रदक्षिणकरणयोग्याया तस्या धेन्वा त्वं साधु प्रदक्षिणादिसत्कार नाचरो नाचरितवानसि । व्यासक्ता हि विस्मरन्तीति भाव. । ऋतुकालाभिगमने मनु —(ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरत सदा) इति । अकरणे दोषमाह पराशर —(ऋतुस्नाता तु यो भार्यां स्वस्थ सन्नोपगच्छति । बालगोघ्नापराधेन वध्यते नात्र सशय. ।) इति । तथा च—(ऋतुस्नाता तु यो भार्यां सन्निधौ नोपगच्छति । घोराया भ्रूणहत्यायां युज्यते नात्र सशय) इति ॥ ७६ ॥

ऋतुकाल (रजोदर्शन) निमित्तक स्नान की हुई, इस रानी सुदक्षिणाको धर्म के लोप के भय से स्मरण करते हुये तुमने प्रदक्षिण क्रिया के योग्य उस कामधेनु के विषय में उचित 'प्रदक्षिणादि सत्कार' नहीं किया ॥ ७६ ॥

अनादृताया सुरभेर्दिलीपाय शापप्रदानमित्याह—

अवजानासि मां यस्मादतस्ते न भविष्यति ।
मत्प्रसूतिमनाराध्य प्रजेति त्वां शशाप सा ॥ ७७ ॥

अवजानासीति । यस्मात्कारणान्मामवजानासि तिरस्करोषि । अत. कारणान्मत्प्रसूतिं मम संततिमनाराध्यासेवयित्वा ते तव प्रजा न भविष्यतीति स सुरभिस्त्वां शशाप । 'शप आक्रोशे' ॥ ७७ ॥

तूने मेरा अनादर किया इस कारण मेरी सन्तति की आराधना किये बिना तुझे सन्तान नहीं होगी ऐसा उस 'कामधेनु' ने तुम्हें शाप दिया ॥ ७७ ॥

कथं तदस्माभिर्न श्रुतमित्याह—

स शापो न त्वया राजन्न च सारथिना श्रुत ।
नदत्याकाशगङ्गायाः स्रोतस्युद्दामदिग्गजे ॥ ७८ ॥

स इति । हे राजन् ! स शापस्त्वया न श्रुत सारथिना च न श्रुत । अश्रवणे हेतुमाह—क्रीडाऽर्थमागता उद्दामानो दाम्न उद्गता दिग्गजा यस्मिंस्तथोक्ते । आकाशगङ्गाया मन्दाकिन्या स्रोतसि प्रवाहे नदति सति ॥ ७८ ॥

हे राजन् ! उस शाप को तुमने और सारथि ने भी नहीं सुना । क्योंकि स्नान करने

के लिये जाते हुये 'आठ पद' नाम के छूटे हुये 'ऐरावत आदि' दिग्गजों का आकाशगङ्गा (मन्दाकिनी) के प्रवाह में अगम्य बन्द हो रहा था ॥ ७८ ॥

अस्तु प्रस्तुते किमायातमित्यत आह—

ईप्सितं तदवज्ञानाद्विद्धि सार्गलमात्मनः ।
प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः ॥ ७९ ॥

ईप्सितमिति । तदवज्ञानात्तस्या धेनोरवज्ञानादपमानादात्मनः स्वस्याप्तुमिष्टमीप्सितं मनोरथम् । आप्नोतेः सन्नन्तात्क्त ईकारश्च । सार्गलं सप्रतिबन्धं विद्धि जानीहि । तथा हि । पूज्यपूजाया व्यतिक्रमोऽतिक्रमणं श्रेयः प्रतिबध्नाति ॥ ७९ ॥

उस कामधेनु का अनादर करने से अपने सन्तानरूप मनोरथ को तुम [रुका हुआ] समझो । क्योंकि पूज्यों की पूजा का उल्लङ्घन करना कल्याण को रोकता है ॥ ७९ ॥

तर्हि गत्वा तामाराधयामि । सा वा कर्यविदायमित्यपेक्षायां न कर्तव्यमेवाह—

हविषे दीर्घसत्रस्य सा चेदानीं प्रचेतसः ।
भुजङ्गपिहितद्वारं पातालमधितिष्ठति ॥ ८० ॥

हविष इति । सा च सुरभिरिदानीं दीर्घसत्रं चिरकालसाध्यो यागविशेषो यस्य तस्य प्रचेतसो वरुणस्य हविषे दध्याज्यादिहविरर्थं भुजङ्गैः पिहितद्वारं ततो दुष्प्रवेशं पातालमधितिष्ठति । पाताले तिष्ठतीत्यर्थः । 'अधिशीङ्स्थाऽऽसां कर्म' इति कर्मत्वम् ।

इस समय वह कामधेनु अधिक समय में पूर्ण होने वाले यज्ञ के कर्ता वरुण के हवि घृत आदि के लिये साँपों से बन्द हुए द्वार वाले पाताल लोक में रहती है ॥ ८० ॥

तर्हि का गतिरित्याह—

सुतां तदीयां सुरभेः कृत्वा प्रतिनिधिं शुचिः ।
आराधय सपत्नीकः प्रीता कामदुघा हि सा ॥ ८१ ॥

सुतामिति । तस्याः सुरभेरियं तदीया । तां सुतां सुरभेः प्रतिनिधिं कृत्वा शुचिः शुद्धः । सह पत्न्या वर्तत इति सपत्नीकः सन् । 'नद्यृतश्च' इति कप्प्रत्ययः । आराधय । हि यस्मात्कारणात्सा प्रीता तुष्टा सती । कामान्दोग्धीति कामदुघा भवति । 'दुहः कब्घश्च' इति कप्प्रत्ययो घादेशश्च ॥ ८१ ॥

उस कामधेनु की लड़की को उसी के स्थान पर प्रतिनिधि करके तुम शुद्ध मन होकर रानी के सहित उसकी सेवा करो क्योंकि वह ही प्रसन्न होने पर मनोरथ को पूरा करने वाली होती है ॥ ८१ ॥

कामधेनुसुताया नन्दिन्या समागममित्याह—

इति वादिन एवास्य होतुराहुतिसाधनम् ।
अनिन्द्या नन्दिनी नाम धेनुराववृते वनात् ॥ ८२ ॥

इतीति । इति वादिनो वदत एव होतुर्वसिष्ठस्य । 'तृन्' इति तृन्प्रत्ययः ।

अस्य मुनेराहुतीनां साधनं कारणम् । नन्दयतीति व्युत्पत्त्या नन्दिनीनामानिन्द्याऽगर्ह्या प्रशस्ता धेनुर्वनादाववृते प्रत्यागता । (अव्याक्षेपो भविष्यन्त्या कार्यसिद्धेर्हि लक्षणम्) इति भाव ॥ ८२ ॥

इस प्रकार कहते हुए ही उन वसिष्ठ महर्षि की आहुति का साधन 'नन्दिनी' नाम से प्रसिद्ध 'नई व्याई' धेनु वन से लौटकर आई ॥ ८२ ॥

सम्प्रति धेनु विशिनष्टि—

ललाटोदयमाभुग्नं पल्लवस्निग्धपाटला ।
बिभ्रती श्वेतरोमाङ्कं सन्ध्येव शशिनं नवम् ॥ ८३ ॥

ललाटेति ॥ पल्लववत्स्निग्धा चासौ पाटला च । 'सध्यायामप्येतद्विशेषण योज्यम्। ललाट उदयो यस्य स ललाटोदय' । तमाभुग्नमीषद्वक्रम् । 'आविद्ध कुटिल भुग्न वेल्लितं वक्रमित्यपि' इत्यमर. । 'ओदितश्च' इति निष्ठातस्य नत्वम् । श्वेतरोमाण्येवाङ्कस्त बिभ्रती । नव शशिनं बिभ्रती संध्येव स्थिता ॥ ८३ ॥

पल्लव के तरह चिक्कण श्वेतयुक्त लाल रङ्गवाली, ललाट में उत्पन्न हुये, कुछ टेढे, सफेद रोयें रूपी चिह्न को धारण करती हुई, अत एव द्वितीया के चन्द्रमा को धारण करती हुई सन्ध्या के समान, वह नन्दिनी (वन से लौट कर आई) ॥ ८३ ॥

पुनरपि धेनुवर्णनप्रसङ्गेनाह—

भुवं कोष्णेन कुण्डोध्नी मेध्येनावभृथादपि ।
प्रस्नवेनाभिवर्षन्ती वत्सालोकप्रवर्तिना ॥ ८४ ॥

भुवमिति । कोष्णेन किंचिदुष्णेन । 'कवं चोष्णे' इति चकारात्कादेश. । अवभृथादप्यवभृथस्नानादपि मेध्येन पवित्रेण । 'पूत पवित्र मेध्यं च' इत्यमर । वत्सस्यालोकेन प्रदर्शनेन प्रवर्तिना प्रवहता प्रस्नवेन क्षीराभिष्यन्दनेनभुवमभिवर्षन्ती सिञ्चन्ती । कुण्डमिवोध आपीन यस्या सा कुण्डोध्नी । 'ऊधस्तु क्लीवमापीनम्' इत्यमर । 'ऊधसोऽनङ्' इत्यनङादेश' । 'वहुव्रीहेरूधसो ङीप्' ॥ ८४ ॥

कुछ गरम, यज्ञ के अन्त में इष्टिपूर्वक स्नानार्थ जल से भी पवित्र, बछड़े के देखने से वहते हुये दूध के टपकने से पृथिवी को सींचती हुई, अत एव वट्ठलोईकी भाँति घन स्तनों वाली 'नन्दिनी वन से लौटी' ॥ ८४ ॥

नन्दिन्या खुरोद्धूतरजसा पूतत्ववर्णनपूर्वकं तां विशिनष्टि—

रजःकणैः खुरोद्धूतैः स्पृशद्भिर्गात्रमन्तिकात् ।
तीर्थाभिषेकजां शुद्धिमादधाना महीक्षितः ॥ ८५ ॥

रज इति । खुरोद्धूतैरन्तिकात्समीपे गात्रं स्पृशद्भि । 'दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च' इति चकारात्पञ्चमी । रजसां कणै । महीं क्षियत ईष्ट इति महीक्षित्तस्य । तीर्थाभिषेकेण जाता तीर्थाभिषेकजाम् । शुद्धिमादधाना कुर्वाणा । एतेन वायव्य स्नान-

सुगमम् । उक्तं च मनुना—(आग्नेयं भस्मना स्नानमवगाह्य तु वारुणम् । आपोहिष्ठेति च ब्राह्मं वायव्यं गोरजः स्मृतम् ॥) इति ॥ ८५ ॥

खुरों से उड़ी हुई और ... होने के कारण शरीर को स्पर्श करती हुई ... [illegible] ... जल में स्नान करने से उत्पन्न पुण्य के ... से राजा दिलीप की ... [illegible] ... ॥ ८५ ॥

तां दृष्ट्वा वसिष्ठः पुनर्दिलीपं प्रत्याह—

तां पुण्यदर्शनां दृष्ट्वा निमित्तज्ञस्तपोनिधिः ।
याज्यमाशंसितावन्ध्यप्रार्थनं पुनरब्रवीत् ॥ ८६ ॥

तामिति । निमित्तज्ञः शकुनज्ञस्तपोनिधिर्वसिष्ठः पुण्यं दर्शनं यस्यास्तां धेनुं दृष्ट्वा । आशंसिते मनोरथे । अवन्ध्यं सफलं प्रार्थनं यस्य स तम् । अवन्ध्यमनोरथमित्यर्थः । याज्यमिति योज्यं याज्यं यजमानं पुनरब्रवीत् ॥ ८६ ॥

[illegible] ... पुण्यदर्शन ... [illegible] ... (वसिष्ठ) ... [illegible] ... ॥ ८६ ॥

निमित्तदर्शनात्कार्यसिद्धिं ... [illegible] ... हेतुं प्रदर्शयन्नाह—

अदूरवर्तिनीं सिद्धिं राजन्विगणयात्मनः ।
उपस्थितेयं कल्याणी नाम्नि कीर्तित एव यत् ॥ ८७ ॥

अदूरवर्तिनीमिति । हे राजन् ! आत्मनः कार्यस्य सिद्धिमदूरवर्तिनीं सन्निहितां विगणय विद्धि । यत्कल्याणी मङ्गलमूर्तिः । 'बह्वादिभ्यश्च' इति ङीप् । इयं धेनुर्नाम्नि कीर्तिते सत्येवोपस्थिता ॥ ८७ ॥

[illegible] ... (...) ... [illegible] ...

[illegible]—

वन्यवृत्तिरिमां शश्वदात्मानुगमनेन गाम् ।
विद्यामभ्यसनेनेव प्रसादयितुमर्हसि ॥ ८८ ॥

गवानुसरणप्रकारमाह—

प्रस्थितायां प्रतिष्ठेथाः स्थितायां स्थितिमाचरेः ।
निषण्णायां निषीदास्यां पीताम्भसि पिबेरपः ॥८९॥

प्रस्थितायामिति । अस्या नन्दिन्या प्रस्थिताया प्रतिष्ठेथा. प्रयाहि । 'समवप्रविभ्य स्थ' इत्यात्मनेपदम् । स्थिताया निवृत्तगतिकाया स्थितिमाचरेः स्थितिं कुरु । तिष्ठेत्यर्थ । निषण्णायामुपविष्टायां निषीदोपविश । विध्यर्थे लोट् । पीतमम्भो यया तस्या पीताम्भसि सत्यामप पिबे पिब ॥ ८९ ॥

हे राजन् ! इस (नन्दिनी) के चलने पर तुम (इसके पीछे २) चलो, ठहरने पर ठहरो, बैठने पर बैठो और पानी पीने पर पानी पीओ ॥ ८९ ॥

साम्प्रतं नन्दिनीपरिचर्यायां सुदक्षिणयाऽनुष्ठास्यमानं कर्म ब्रुवन्नाह—

वधूर्भक्तिमती चैनामर्चितामातपोवनात् ।
प्रयता प्रातरन्वेतु सायं प्रत्युद्व्रजेदपि ॥ ९० ॥

वधूरिति । वधूर्जाया च भक्तिमती गन्धादिभिरर्चितामेनां प्रातरातपोवनात् । आङ्मर्यादायाम् । पदद्वयं चैतत् । अन्वेत्वनुगच्छतु । सायमपि प्रत्युद्व्रजेत्प्रत्युद्गच्छेत् । विध्यर्थे लिङ् ॥ ९० ॥

वधू 'सुदक्षिणा' भक्ति 'श्रद्धा' से युक्त पवित्र मन होकर 'गन्धादिकों से' पूजित इस 'नन्दिनी' के पीछे पीछे प्रात काल तपोवन की सीमा तक 'वन में पहुँचाने के लिये' जाए और सायङ्काल को भी 'तपोवन की सीमा पर जाकर इसका' स्वागत करे ॥ ९० ॥

नन्दिनीपरिचर्याऽवधिं निर्दिशन्नाह—

इत्याप्रसादादस्यास्त्वं परिचर्यापरो भव ।
अविघ्नमस्तु ते स्थेयाः पितेव धुरि पुत्रिणाम् ॥ ९१ ॥

इतीति । इत्यनेन प्रकारेण त्वमाप्रसादात्प्रसादपर्यन्तम् । 'आङ्मर्यादाऽभिविध्यो.' इत्यस्य वैभाषिकत्वादसमासत्वम् । अस्या धेनो परिचर्यापरः शुश्रूषापरो भव । ते तवाविघ्न विघ्नस्याभावोऽस्तु । 'अव्यय विभक्तिसमीपसमृद्धिव्यृद्ध्यर्थाभाव' इत्यादिनाऽर्थाभावेऽव्ययीभाव । पितेव पुत्रिणा सत्पुत्रवताम् । प्रशंसायामिनिप्रत्यय । धुर्ये स्थेयास्तिष्ठे । आशीरर्थे लिङ् । 'एर्लिङि' इत्याकारस्यैकारादेशः । त्वत्सदृशो भवत्पुत्रोऽस्त्विति भाव ॥ ९१ ॥

इस प्रकार जब तक यह नन्दिनी प्रसन्न न होवे, तब तक तुम इसकी सेवा करने में तत्पर रहो, तुम्हारे विघ्नों का अभाव रहे (अर्थात् तुम्हें विघ्नों का सामना न करना पड़े), पिता के समान तुम भी अच्छे पुत्रवालों में मुख्य हो (अर्थात् तुम्हें अपने समान पुत्र प्राप्त हो) ॥ ९१ ॥

राज्ञो दिलीपस्य सप्रेम गुरोराज्ञाग्रहणमाह—

> तथेति प्रतिजग्राह प्रीतिमान्सपरिग्रहः ।
> आदेशं देशकालज्ञः शिष्यः शासितुरानतः ॥ ९२ ॥

तथेतीति । देशकालज्ञः । देशोऽग्निसंनिधिः, कालोऽग्निहोत्रावसानसमयः । विविक्तदेशकालोत्पन्नमार्गज्ञानसम्पादकमिति ज्ञातवान् । अत एव प्रीतिमान्हृष्टोऽन्तेवासी राजा सपरिग्रहः सपत्नीकः । 'पत्नीपरिजनादानमूलशापाः परिग्रहाः' इत्यमरः । आनतो विनयनम्रः सन् शासितुर्गुरोरादेशमाज्ञां तथेति प्रतिजग्राह स्वीचकार ।

देश और काल को जाननेवाले अत एव प्रसन्न शिष्य राजा दिलीप ने पत्नी 'सुदक्षिणा' के सहित विनय से नम्र होते हुये उपदेश करने वाले गुरु की आज्ञा को वैसा ही हो' यह कह कर स्वीकार किया ॥ ९२ ॥

अथ रात्रिकालं विज्ञाय दिलीपमपगमार्थं वसिष्ठानुशासनमाह—

> अथ प्रदोषे दोषज्ञः संवेशाय विशांपतिम् ।
> सूनुः सूनृतवाक्स्रष्टुर्विससर्जोर्जितश्रियम् ॥ ९३ ॥

अथेति । अथ प्रदोषे रात्रौ दोषज्ञो विद्वान् । 'विद्वान्विपश्चिद्दोषज्ञः' इत्यमरः । सूनृतवाक् सत्यप्रियवाक् । 'प्रियं सत्यं च सूनृतम्' इति हलायुधः । स्रष्टुः सूनुर्ब्रह्मपुत्रो मुनिः । अनेन महत्कार्यनिर्वाहकत्वं सूचयति । ऊर्जितश्रियं विशांपतिं मनुष्येश्वरम् । 'द्वौ विशौ वैश्यमनुजौ' इत्यमरः । संवेशाय निद्रायै । 'स्यान्निद्रा शयनं स्वापः स्वप्नः संवेश इत्यपि' इत्यमरः । विससर्जाज्ञापयामास ॥ ९३ ॥

इसके (गुरु वसिष्ठ की आज्ञा ग्रहण करने के) बाद रात्रि के प्रथम प्रहर होने पर (प्रत्येक विषय के) दोषों को जानने वाले (नरेश) तथा सत्य और प्रियवादी ब्रह्मा के (आत्मज) पुत्र (वसिष्ठ ऋषि) ने राजा दिलीप को सोने के लिये आज्ञा दी ॥ ९३ ॥

महर्षेर्वसिष्ठस्य दिलीपाय मुनिजनार्हसामग्रीसम्पादनमाह—

> सत्यामपि तपःसिद्धौ नियमापेक्षया मुनिः ।
> कल्पवित्कल्पयामास वन्यामेवास्य संविधाम् ॥ ९४ ॥

सत्यामिति । कल्पविद्व्रतप्रयोगाभिज्ञो मुनिः । तपःसिद्धौ सत्यामपि । तपसैव राजयोग्याहारसंपादनसामर्थ्ये सत्यपीत्यर्थः । नियमापेक्षया व्रतनियमस्यैव प्रत्यवे-क्षया । अस्य राज्ञः वन्यामेव । संविधीयतेऽनयेति संविधाम् । कुशादिशयनसामग्रीम् । 'आतश्चोपसर्गे' इति कप्रत्ययः । 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' इति कर्मोपपदत्वम् । कल्पयामास संपादयामास ॥ ९४ ॥

व्रत के प्रयोग को जानने वाले मुनि वसिष्ठजी ने तप की सिद्धि (राजाओं के योग्य भोग सामग्री सम्पादन करने की सामर्थ्य) रहते हुये भी नियमों की अपेक्षा

व्रत का विचार कर इन 'राजा दिलीप' के लिये वन में उत्पन्न हुए 'वनवासियों के उपभोग करने के योग्य' सामग्री का प्रबन्ध किया ॥ ९४ ॥

वशिष्ठाज्ञया पर्णशालायां पत्न्या सह प्रसुप्तस्य दिलीपस्य ब्राह्ममुहूर्त्ते निद्रात्यागमाह—

निर्दिष्टां कुलपतिना स पर्णशाला-
मध्यास्य प्रयतपरिग्रहद्वितीयः ।
तच्छिष्याध्ययननिवेदितावसानां
संविष्टः कुशशयने निशां निनाय ॥ ९५ ॥

निर्दिष्टामिति । स राजा कुलपतिना मुनिकुलेश्वरेण वशिष्ठेन निर्दिष्टां पर्णशाला-मध्यास्याधिष्ठाय । तस्यामधिष्ठानं कृत्वेत्यर्थः । 'अधिशीङ्स्थाऽऽसां कर्म' इत्यनेनाधारस्य कर्मत्वम् । कर्मणि द्वितीया । प्रयतो नियतः परिग्रहः पत्नी द्वितीयो यस्येति स तथोक्तः । कुशानां शयने संविष्टः सुप्तः सन् । तस्य वशिष्ठस्य शिष्याणामध्ययने-नापररात्रे वेदपाठेन निवेदितमवसानं यस्यास्तां निशां निनाय गमयामास । अपर-रात्रेऽध्ययने मनुः—(निशान्ते न परिश्रान्तो ब्रह्माधीत्य पुनः स्वपेत्) । (न चापर-रात्रमधीत्य पुनः स्वपेद्) इति गौतमश्च । प्रहर्षिणीवृत्तमेतत् । तदुक्तम्—(म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम्) ॥ ९५ ॥

इति सञ्जीविनीव्याख्यायां वशिष्ठाश्रमाभिगमनो नाम प्रथमः सर्गः ।



उन राजा दिलीप ने कुलपति 'दश सहस्र मुनियों को अन्नादि देकर वेद पढ़ाने वाले ब्रह्मर्षि वशिष्ठ जी' की बताई हुई पर्णकुटी 'पत्तों से बनी हुई कुटी' में निवास कर 'वश आदि से' शुद्ध धर्मपत्नी सुदक्षिणा के साथ कुशों से बनी हुई शय्या पर सोये हुये, वशिष्ठजी के विद्यार्थियों के वेदाध्ययन करने से ज्ञात हो गया है प्रातःकाल का होना जिसका ऐसी रात को विताया ॥ ९५ ॥

इति रघुवंशमहाकाव्ये प्रथमः सर्गः समाप्तः ।



द्वितीयः सर्गः

अथ प्रजानामधिपः प्रभाते जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम् ।
वनाय पीतप्रतिबद्धवत्सां यशोधनो धेनुमृषेर्मुमोच ॥ १ ॥

आशासुराशीभवदङ्गवल्लीभासैव दासीकृतदुग्धसिन्धुम् ।
मन्दस्मितैर्निन्दितशारदेन्दुं वन्देऽरविन्दासनसुन्दरि ! त्वाम् ॥

अथेति । अथ निशानयनानन्तरं यशोधनः प्रजानामधिपः प्रजेश्वरः प्रभाते प्रातः-काले जायया सुदक्षिणया प्रतिग्राहयित्र्या प्रतिग्राहिते स्वीकारिते गन्धमाल्ये यया

सा जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्या तां धेनुं मुमोच । पीतं पानमस्यास्तीति पीतः पीतवानित्यर्थः । 'अर्श आदिभ्योऽच्' इत्यच्प्रत्ययः । 'पीता गावो भुक्ता ब्राह्मणाः' इति महाभाष्ये दर्शनात् । पीतः प्रतिबद्धो वत्सो यस्यास्ताम् यशोधनः बन्धाय वनं गन्तुम् । 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' इत्यनेन चतुर्थी । मुमोच मुक्तवान् । जाया-पत्योः सामर्थ्यात्पुत्रविषयायाः पुत्रजननयोग्यत्वमनुसन्धेयम् । तथा हि श्रुतिः—(पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वेह मातरम् । तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते । तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः ॥) इति । यशोधन इत्यनेन पुत्रवत् कीर्त्तिलोभादयमारम्भः गोरक्षणे प्रवृत्त इति गम्यते । (अस्मिन्सर्गे वृत्तमुपजातिः—(अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः) ॥ १ ॥

रात के बीत जाने पर प्रातःकाल प्रजाओं के पालन करने वाले यश को ही धन समझने वाले राजा दिलीप ने रानी सुदक्षिणा के द्वारा पूजन में प्राप्त चन्दन और पुष्पों की माला को धारण की हुई, दूध भी चुकने के बाद जिसका बछड़ा बाँध दिया गया है ऐसी ऋषि वसिष्ठ की परम प्यारी हुई नन्दिनी नाम की गौ को जङ्गल में चरने के लिये छोड़ दिया ॥ १ ॥

तस्याः खुरन्यासपवित्रपांसुमपांसुलानां धुरि कीर्तनीया ।
मार्गं मनुष्येश्वरधर्मपत्नी श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत् ॥ २ ॥

तस्या इति । पांसवो दोषा आसां सन्तीति पांसुलाः स्वैरिण्यः । 'स्वैरिणी पांसुला' इत्यमरः । 'सिध्मादिभ्यश्च' इति लच्प्रत्ययः । अपांसुलानां पतिव्रतानां धुर्यग्रे कीर्तनीया परिगणनीया । मनुष्येश्वरधर्मपत्नी । खुरन्यासैः पवित्राः पांसवो यस्य तम् । 'रेणुर्द्वयोः स्त्रियां धूलिः पांसुर्ना न द्वयो रजः' इत्यमरः । तस्या धेनोर्मार्गम् । स्मृतिर्मन्वादिवाक्यं श्रुतेर्वेदवाक्यस्यार्थमभिधेयमिव अन्वगच्छदनुसृतवती च । यथा स्मृतिः श्रुतिक्षुण्णमेवार्थमनुसरति तथा साऽपि गोक्षुरक्षुण्णमेव मार्गमनुससारेत्यर्थः । धर्मपत्नीत्यत्राश्वघासादिवत्तादर्थ्ये षष्ठीसमासः प्रकृतिविकाराभावात् । पांसुलपदप्रयोगादपांसुलानामिति विरोधालङ्कारो व्यज्यते ॥ २ ॥

पतिव्रताओं में अग्रिम राजा दिलीप की रानी सुदक्षिणा ने नन्दिनी के खुरों के रखने से पवित्र धूलि वाले मार्ग का उसी भाँति अनुसरण किया जैसे मन्वादि स्मृतियाँ वेद के वाक्यों के अर्थों का अनुसरण करती हैं ॥ २ ॥

निवर्त्य राजा दयितां दयालुस्तां सौरभेयीं सुरभिर्यशोभिः ।
पयोधरीभूतचतुःसमुद्रां जुगोप गोरूपधरामिवोर्वीम् ॥ ३ ॥

निवर्त्येति । दयालुः कारुणिकः । 'दयालुः कारुणिकः' इत्यमरः । 'स्पृहि-गृहि—' इत्यादिनाऽऽलुच्प्रत्ययः । यशोभिः सुरभिर्मनोज्ञः । 'सुरभिः स्यान्मनोज्ञेऽपि' इति विश्वः । राजा तां दयितां निवर्त्य सौरभेयीं कामधेनुसुतां नन्दिनीम् । चरन्तीमिति शेषः । पयोधराः । पयसां धराः पयोधराः स्तनाः । 'स्त्रीस्तनाब्दौ पयो-

धरौ' इत्यमर'। अपयोधरा' पयोधरा सम्पद्यमाना पयोधरीभूता । अभूततद्भावे च्वि.। 'कुगतिप्रादय'' इति समास । पयोधरीभूताश्चत्वारः समुद्रा यस्यास्ताम्। 'अनेकमन्यपदार्थे' इत्यनेकपदार्थग्रहणसामर्थ्यात्त्रिपदो बहुव्रीहि । गोरूपधरा-मुर्वीमिव जुगोप ररक्ष । भूरक्षणप्रयत्नेनेव ररक्षेति भाव'। धेनुपक्षे—पयसा दुग्धेना धारीभूताश्चत्वार. समुद्रा यस्या सा तथोक्ताम्। दुग्धतिरस्कृतसागरामित्यर्थ. ॥३॥

दया से युक्त कीर्तियों से सुशोभित राजा दिलीप प्यारी पटरानी सुदक्षिणा को लौटा कर जिस के दूध से चारों समुद्र तिरस्कृत हैं ऐसी उस नन्दिनी को, चार समुद्रों को चार स्तनों के रूप में धारण की हुई गौ के रूप में उपस्थित पृथ्वी की भाँति रक्षा करने लगे ॥ ३ ॥

व्रताय तेनानुचरेण धेनोर्न्यषेधि शेषोऽप्यनुयायिवर्गः ।
न चान्यतस्तस्य शरीररक्षा स्ववीर्यगुप्ता हि मनोः प्रसूति ॥ ४ ॥

व्रतायेति । व्रताय धेनोरनुचरेण न तु जीवनायेति भाव । तेन दिलीपेन शेषोऽवशिष्टोऽप्यनुयायिवर्गोऽनुचरवर्गो न्यषेधि निवर्त्तित । शेषत्व सुदक्षिणाऽपेक्षया । कथ तर्ह्यात्मरक्षणमत आह—न चेति। तस्य दिलीपस्य शरीररक्षा चान्यत पुरुषान्तराच्च । कुत । हि यस्मात्कारणान्मनो. प्रसूयत इति प्रसूति सन्तति स्ववीर्यगुप्ता स्ववीर्येणैव रक्षिता । न हि स्वनिर्वाहकस्य परापेक्षेति भाव ॥ ४ ॥

गोसेवा व्रत पालन करने के लिये सेवक की भाँति पीछे पीछे चलने वाले उन 'राजा दिलीप' ने 'सुदक्षिणा' के लौटाने के बाद बचे हुये अनुचर वर्ग को भी पीछे पीछे आने से रोका और उनको शरीर की रक्षा करने के लिये भी दूसरे पुरुष की आवश्यकता नहीं थी। क्योंकि 'वैवस्वत' मनु के वंश में उत्पन्न राजा लोग अपने ही पराक्रम से आत्मरक्षा कर लेते थे ॥ ४ ॥

आस्वादवद्भिः कवलैस्तृणानां कण्डूयनैर्दंशनिवारणैश्च ।
अव्याहतैः स्वैरगतैः स तस्या. सम्राट् समाराधनतत्परोऽभूत् ॥५॥

आस्वादवद्भिरिति । सम्राट् मण्डलेश्वर । 'येनेष्ट राजसूयेन मण्डलस्येश्वरश्च य । शास्ति यश्चाज्ञया राज्ञ स सम्राट्' इत्यमर । स राजा आस्वादवद्भि रसवद्भि स्वादयुक्तैरित्यर्थ । तृणानां कवलैर्ग्रासै । 'ग्रासस्तु कवल पुमान्' इत्यमर । कण्डूयनै खर्जनै । दंशाना वनमक्षिकाणा निवारणै । 'दंशस्तु वनमक्षिका' इत्यमर । अव्याहतैरप्रतिहतै स्वैरगतैः स्वच्छन्दगमनैश्च । तस्या धेन्वा समाराधनतत्पर शुश्रूषाऽऽसक्तोऽभूत्। तदेव पर प्रधान यस्येति तत्पर । 'तत्परे प्रसितासक्तौ' इत्यमर ॥५॥

चक्रवर्ती वे राजा दिलीप स्वादयुक्त कोमल-कोमलतृणों के ग्रासों से शरीर के खुजलाने से, वन के मच्छड़ों के 'बैठने पर उसे' उड़ाने से और बिना रुकावट के स्वच्छन्द फिरने देने से उस 'नन्दिनी' को प्रसन्न करने में तत्पर हुये ॥ ५ ॥

स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां निषेदुषीमासनबन्धधीरः ।
जलाभिलाषी जलमाददानां छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत् ॥ ६ ॥

स्थित इति । भूपतिस्तां गां स्थितां सतीं स्थितः सन् । स्थितिकृतविरामः । प्रयातां प्रस्थितामुच्चलितः प्रस्थितः । निषेदुषीं निषण्णाम् । उपविष्टामित्यर्थः । 'भाषायां सदवसश्रुवः' इति क्वसुप्रत्ययः । 'उगितश्च' इति ङीप् । आसनबन्धे उपवेशने धीरः । स्थिर उपविष्टः सन्नित्यर्थः । जलमाददानां जलं पिबन्तीं । जलाभिलाषी जलं पिबन्नित्यर्थः । इत्थं छायेवान्वगच्छदनुसृतवान् ॥ ६ ॥

पृथ्वीपति 'राजा दिलीप' ने उस नन्दिनी के ठहरने पर ठहरते थे, चलने पर चलते थे, बैठने पर बैठते थे जल पीने पर जल पीते थे इस प्रकार छाया की भाँति अनुसरण किया ॥ ६ ॥

स न्यस्तचिह्नामपि राजलक्ष्मीं तेजोविशेषानुमितां दधानः ।
आसीदनाविष्कृतदानराजिरन्तर्मदावस्थ इव द्विपेन्द्रः ॥ ७ ॥

स इति । न्यस्तानि परिहृतानि चिह्नानि छत्रचामरादीनि यस्यास्तां तथाभूतामपि तेजोविशेषेण प्रभावातिशयेनानुमिताम्, सर्वथा राजैवायं भवेदित्यूहितां राजलक्ष्मीं दधानः स राजा अनाविष्कृतदानराजिर्बहिरप्रकटितमदरेखः । अन्तर्गता मदावस्था यस्य सोऽन्तर्मदावस्थः, तथाभूतो द्विपेन्द्र इवासीत् ॥ ७ ॥

यद्यपि छत्र-चामरादि चिह्न से भूषित नहीं हैं तथापि अपने तेज की अधिकता से ही जानी जाती हुई राजलक्ष्मी को धारण करते हुये प्रकट रूप से नहीं दिखाई पड़ रही है मदरेखा जिसकी अत एव भीतर में स्थित है मद की अवस्था जिसकी ऐसे गजराज की भाँति मालूम पड़ते थे ॥ ७ ॥

लताप्रतानोद्ग्रथितैः स केशैरधिज्यधन्वा विचचार दावम् ।
रक्षापदेशान्मुनिहोमधेनोर्वन्यान्विनेष्यन्निव दुष्टसत्त्वान् ॥ ८ ॥

लतेति । लतानां वल्लीनां प्रतानैः कुटिलतन्तुभिरुद्ग्रथिता उन्नमय्य ग्रथिता बद्धा ये केशास्तैरुपलक्षितः । 'इत्थंभूतलक्षणे' इति तृतीया । स राजा । अधिज्यमारोपितमौर्वीकं धनुर्यस्य सोऽधिज्यधन्वा सन् । 'धनुषश्च' इत्यनङादेशः । मुनिहोमधेनो रक्षापदेशाद्रक्षणव्याजात् । वन्यान् वने भवान् दुष्टसत्त्वान् दुष्टजन्तून् 'प्राण्यासु व्यवसायेषु सत्त्वमस्त्री तु जन्तुषु' इत्यमरः । विनेष्यन् शिक्षयिष्यन्निव दावं वनम् 'वने च वनवह्नौ च दावो दव इहेष्यते' इति यादवः । विचचार । वने चचारेत्यर्थः । 'देशकालाध्वगन्तव्याः कर्मसंज्ञा ह्यकर्मणाम्' इति दावस्य कर्मत्वम् ॥ ८ ॥

लताओं के रेशे-रेशे सूत के समान धागाविशेषों से बन्धे हुये सिर के बालों से सुशोभित थे राजा दिलीप प्रत्यञ्चा चढ़े हुये धनुष को धारण किये हुये वशिष्ठ महर्षि के होम की सामग्री

घृतादि देने वाली नन्दिनी की रक्षा करने के व्याज से वनैले दुष्ट 'व्याघ्रादि' जीवों का शासन करने के लिए मानो जङ्गल में घूम रहे थे ॥ ८ ॥

'विसृष्ट' इत्यादिभिः षड्भिः श्लोकैस्तस्य महामहिमतया द्रुमादयोऽपि राजोपचार चक्रुरित्याह—

विसृष्टपार्श्वानुचरस्य तस्य पार्श्वद्रुमाः पाशभृता समस्य ।
उदीरयामासुरिवोन्मदानामालोकशब्दं वयसां विरावैः ॥ ९ ॥

विसृष्टेति । विसृष्टा पार्श्वानुचरा पार्श्ववर्तिनो जना येन तस्य । पाशभृता वरुणेन समस्य तुल्यस्य । 'प्रचेता वरुण' पाशी' इत्यमर । अनुभावोऽनेन सूचित. । तस्य राज्ञ' पार्श्वयोर्द्रुमा । उन्मदानामुत्कटमदाना वयसां खगानाम् । 'खगवाल्यादिनोर्वय ' इत्यमर । विरावै' शब्दै । आलोकस्य शब्दं वाचकमालोकयेति शब्द जयशब्दमित्यर्थ' । 'आलोको जयशब्द स्याद्' इति विश्व. । उदीरयामासुरिवावदन्निव, इत्युत्प्रेक्षा ॥ ९ ॥

पार्श्ववर्त्ती अनुचरवृन्द के छोड देने पर भी वरुण के समान 'प्रभावशाली' उन राजा दिलीप के आस पास के वृक्षों ने उन्मत्त पक्षियों के शब्दों द्वारा जयशब्द उच्चारण किया ऐसा मालूम पडता था ॥ ९ ॥

मरुत्प्रयुक्ताश्च मरुत्सखाभं तमर्च्यमारादभिवर्त्तमानम् ।
अवाकिरन्बाललताः प्रसूनैराचारलाजैरिव पौरकन्याः ॥ १० ॥

मरुत्प्रयुक्ताश्चेति । मरुत्प्रयुक्ता वायुना प्रेरिता , बाललता , आरात्समीपेऽभिवर्त्तमानम् । 'आराद्दूरसमीपयो. इत्यमर. । मरुतो वायो सखा मरुत्सखोऽग्नि । स इवाभातीति मरुत्सखाभम् । 'आतश्चोपसर्गे' इति कप्रत्यय । अर्घ्यं पूज्यं तं दिलीपं प्रसूनैः पुष्पै । पौरकन्या पौराश्च ता कन्या आचारार्थैर्लाजैराचारलाजैरिव । अवाकिरन् तस्योपरि निक्षिप्तवत्य इत्यर्थ । सखा हि सखायमागतमुपचरतीति भाव ॥

वायु से प्रेरित (हिलाई गई) कोमल कोमल लताओं ने अग्नितुल्य (तेजस्वी) समीप में स्थित, पूज्य उन (राजा दिलीप) के ऊपर फूलों की वर्षा की, जैसे कि नगरवासियों की कन्यायें मङ्गलार्थक धान के लावों की वर्षा करती हैं ॥ १० ॥

धनुर्भृतोऽप्यस्य दयाऽऽर्द्रभावमाख्यातमन्तः करणैर्विशङ्कैः ।
विलोकयन्त्यो वपुरापुरक्ष्णां प्रकामविस्तारफलं हरिण्यः ॥ ११ ॥

धनुर्भृत इति । धनुर्भृतोऽप्यस्य राज्ञः । एतेन भयसम्भावना दर्शिता तथाऽपि विशङ्कैर्निर्भीकैरन्त करणै कर्तृभि । दयया कृपारसेनार्द्रो भावोऽभिप्रायो यस्य तद्दयाऽऽर्द्रभावं तदाख्यातम् । दयाऽऽर्द्रभावमेतदित्याख्यातमित्यर्थ । 'भाव सत्तास्वभावाभिप्रायचेष्टाऽऽत्मजन्मसु' इत्यमर । तथाविध वपुर्विलोकयन्त्या हरिण्याऽक्ष्णा प्रकामविस्तारस्यात्यन्तविशालताया । फलमापु' । (विमल कलुषीभवच्च

वैरः कथमपीह द्विषन्तं रिपुं च) इति न्यायेन स्वाभाविकमपि विरोधमाप्यमेव विसृज्य शशमुरित्यर्थः ॥ ११ ॥

मनुष्य को धारण किये हुए भी राजा दिलीप का प्रभाव से दूसरे अपने बल-वदनों के द्वारा दया से भरा अभिप्राय मालूम पड़ने से उनके शरीर को विशेष रूप से देखती हुई हरिणियों ने अपने-अपने आँखों का आनन्द बड़े होने का फल प्राप्त किया ॥ ११ ॥

स कीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैः कूजद्भिरापादितवंशकृत्यम् ।
शुश्राव कुञ्जेषु यशः स्वमुच्चैरुद्गीयमानं वनदेवताभिः ॥ १२ ॥

स इति । स दिलीपो मारुतपूर्णरन्ध्रैः । अत एव कूजद्भिः स्वनद्भिः कीचकैर्वेणुविशेषैः । 'वेणवः कीचकास्ते स्युर्ये स्वनन्त्यनिलोद्धताः' इत्यमरः । वंशः सुषिरवाद्यविशेषः । 'वंशादिकं तु सुषिरम्' इत्यमरः । आपादितं सम्पादितं वंशस्य कृत्यं कार्यं यस्मिन्कर्मणि तत्तथा । कुञ्जेषु लतागृहेषु । 'निकुञ्जकुञ्जौ वा क्लीबे लतादिपिहितोदरे' इत्यमरः । वनदेवताभिरुद्गीयमानमुच्चैर्गीयमानं स्वं यशः शुश्राव श्रुतवान् ॥

उस राजा दिलीप ने वायु से भरे हुए छिद्रों के होने से शब्द करते हुए कीचकसंज्ञक बाँसों के द्वारा वंशी का कार्य सम्पादन जिसमें हो रहा है ऐसे लतागृहों में वन की अधिष्ठात्री देवियों से ऊँचे स्वरों में गाये जाते हुए यश को सुना ॥ १२ ॥

पृक्तस्तुषारैर्गिरिनिर्झराणामनोकहाकम्पितपुष्पगन्धी ।
तमातपक्लान्तमनातपत्रमाचारपूतं पवनः सिषेवे ॥ १३ ॥

पृक्त इति । गिरिषु निर्झराणां वारिप्रवाहाणाम् । 'वारिप्रवाहो निर्झरो झरः' इत्यमरः । तुषारैः सीकरैः । 'तुषारौ हिमसीकरौ' इति शाश्वतः । पृक्तः सम्पृक्तोऽतो शीतः । अनोकहानां वृक्षाणामाकम्पितानीषत्कम्पितानि पुष्पाणि तेषां यो गन्धः सोऽस्यास्तीत्याकम्पितपुष्पगन्धी । ईषत्कम्पितपुष्पगन्धवान् । एवं शीतो मन्दः सुरभिः पवनो वायुरनातपत्रं व्रतार्थं परिहृतच्छत्रम् । अत एवातपक्लान्तमाचारेण पूतं शुद्धं तं नृपं सिषेवे । आचारपूतत्वादस्य राज्ञो जगत्पावनस्यापि सेव्य आसीदिति भावः ॥ १३ ॥

पहाड़ी झरनों के जलबिन्दुओं से युक्त, अतएव शीतल तथा वृक्षों के कुछ-कुछ हिले हुए फूलों के गन्ध को लेता हुआ 'मन्द-मन्द सुगन्धित' वायु व्रत करने से छत्र से रहित अत एव घाम से मुरझाये हुए, सदाचार से पवित्र उस राजा दिलीप की सेवा करने लगा ॥ १३ ॥

शशाम वृष्ट्याऽपि विना दवाग्निरासीद्विशेषा फलपुष्पवृद्धिः ।
ऊनं न सत्त्वेष्वधिको बबाधे तस्मिन् वनं गोप्तरि गाहमाने ॥ १४ ॥

शशामेति । गोप्तरि तस्मिन् वनं गाहमाने प्रविशति सति वृष्ट्या विनाऽपि दवा दवाग्निर्वनाग्निः 'दवदावौ वनानले' इति हैमः । शशाम । फलानां पुष्पाणां च वृद्धिः । विशेष्यत इति विशेषा अतिशयिताऽभवत् । कर्मणि घञ्प्रत्ययः । सत्त्वेषु जन्तुषु

मध्ये । 'यतश्च निर्धारणम्' इति सप्तमी । अधिक' प्रबलो व्याघ्रादिरूपं दुर्बल हरिणादिक न ववाधे ॥ १४ ॥

जगत् के रक्षा करने वाले उन राजा दिलीप के वन में प्रवेश करने पर वृष्टि के विना ही वन की अग्नि शान्त हुई, फल और पुष्पों की वृद्धि अधिक हुई तथा वनैले जीवों के बीच में 'कोई बलवान् 'व्याघ्रादि' अपने से निर्बल किसी 'मृगादि' को नहीं सताने लगा ॥ १४ ॥

सञ्चारपूतानि दिगन्तराणि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुम् ।
प्रचक्रमे पल्लवरागताम्रा प्रभा पतङ्गस्य मुनेश्च धेनुः ॥ १५ ॥

सञ्चारेति । पल्लवस्य रागो वर्ण पल्लवराग' । 'रागोऽनुक्तौ मात्सर्ये क्लेशादौ लोहितादिषु' इति शाश्वत । स इव ताम्रा पल्लवरागताम्रा पतङ्गस्य सूर्यस्य प्रभा कान्ति 'पतङ्ग पक्षिसूर्ययोः' इति शाश्वत । मुनेर्धेनुश्च । दिगन्तराणि दिशामवकाशान् । 'अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्तर्धिभेदतादर्थ्ये' इत्यमर । सञ्चारेण पूतानि शुद्धानि कृत्वा दिनान्ते सायकाले निलयायास्तमयाय । धेनुपक्षे आलयाय च गन्तु प्रचक्रमे ॥

पल्लव के वर्ण के तरह लाल वर्ण वाली सूर्य की प्रभा और मुनि वशिष्ठ की धेनु ये दोनों, दिशाओं के मध्यभाग को अपने अपने सञ्चार से पवित्र कर दिन के अन्त (सन्ध्याकाल) में अस्त होने के लिये तथा अपने आश्रम में पहुँचने के लिये उपक्रम करने लगीं ॥ १५ ॥

तां देवतापित्रतिथिक्रियाऽर्थामन्वग्ययौ मध्यमलोकपालः ।
बभौ च सा तेन सतां मतेन श्रद्धेव साक्षाद्विधिनोपपन्ना ॥ १६ ॥

तामिति । मध्यमलोकपालो भूपाल । देवतापित्रतिथीनां क्रिया यागश्राद्धदानादि ता एवार्थ प्रयोजन यस्यास्ता धेनुमन्वगनुपद ययौ । 'अन्वगन्वक्षमनुगेऽनुपद क्लीवमव्ययम्' इत्यमर । सता मतेन सद्भिर्मान्येन । 'गतिबुद्धि–' इत्यादिना वर्त्तमाने' क्त । 'क्तस्य च वर्त्तमाने' इति षष्ठी । तेन राज्ञोपपन्ना युक्ता सा धेनु । सता मतेन विधिनाऽनुष्ठानेनोपपन्ना युक्ता साक्षात्प्रत्यक्षा श्रद्धाऽऽस्तिक्यबुद्धिरिव बभौ च ॥ १६ ॥

भूलोक के पालन करने वाले राजा दिलीप देवता, पितर और अतिथि लोगों के कार्यों (यज्ञ–श्राद्ध–भोजनादि) को साधने वाली, उस धेनु के पीछे पीछे चले और सज्जनों के द्वारा पूजित उनसे युक्त, वह (नन्दिनी) भी सज्जनों से किये गये अनुष्ठान से युक्त श्रद्धा जैसी सुशोभित होती है वैसी सुशोभित होने लगी ॥ १६ ॥

स पल्वलोत्तीर्णवराहयूथान्यावासवृक्षोन्मुखबर्हिणानि ।
ययौ मृगाध्यासितशाद्वलानि श्यामायमानानि वनानि पश्यन् ॥१७॥

स इति । स राजा । पल्वलेभ्योऽल्पजलाशयेभ्य उत्तीर्णानि निर्गतानि वराहाणां

यूथानि कुलानि येषु तानि । बर्हाण्येषां सन्तीति बर्हिणो मयूराः । 'मयूरो बर्हिणो बर्ही' इत्यमरः । 'आवासवृक्षोन्मुखा बर्हिणो येषु तानि' आवासवृक्षोन्मुखा बर्हिणो येषु तानि । श्यामायमानानि वराहबर्हिणादिभिः कृष्णानि अश्यामानि श्यामानि भवन्तीति श्यामायमानानि । 'लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्' इति क्यषप्रत्ययः । 'वा क्यषः' इत्यात्मनेपदं शानच् । मृगैरध्यासितान्यधिष्ठितानि शाद्वलानि येषु तानि । शादाः शष्पाण्येषु देशेषु सन्तीति शाद्वलाः शष्पश्यामदेशाः । 'शाद्वलः शादहरिते' इत्यमरः । 'शादः कर्दमशष्पयोः' इति विश्वः । 'नडशादाड्ड्वलच्' इति ड्वलच्प्रत्ययः । वनानि पश्यन्ययौ ॥ १७ ॥

वे राजा दिलीप छोटे-छोटे तालाबों से निकले हुये अनेक सूअरों के झुण्डवाले, अपने अपने आवासयोग्य वृक्षों के तरफ जाने के लिए उन्मुख मयूरों वाले तथा हरिन जिन पर बैठे हुये हैं ऐसे घासों से हरे मैदान, अत एव सर्वत्र श्याम ही श्याम वनों को देखते हुए जाने लगे ॥ १७ ॥

आपीनभारोद्वहनप्रयत्नाद्गृष्टिर्गुरुत्वाद्वपुषो नरेन्द्रः ।
उभावलंचक्रतुरञ्चिताभ्यां तपोवनावृत्तिपथं गताभ्याम् ॥ १८ ॥

आपीनेति । गृष्टिः सकृत्प्रसूता गौः । 'गृष्टिः सकृत्प्रसूता गौः' इति हलायुधः । नरेन्द्रश्च । उभौ यथाक्रमम् । आपीनमूधः । 'ऊधस्तु क्लीबमापीनम्' इत्यमरः । आपीनस्य भारोद्वहने प्रयत्नात्प्रयासात्, वपुषो गुरुत्वाद्राजचिह्नयोगाच्च । अञ्चिताभ्यां पूजिताभ्यां गताभ्यां गमनाभ्यां तपोवनादावृत्तेः पन्थास्तं तपोवनावृत्तिपथम् 'ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे' इत्यनेन समासान्तोऽप्रत्ययः । अलंचक्रतुर्भूषितवन्तौ ॥ १८ ॥

पहली बार का ब्याई हुई नन्दिनी और राजा दिलीप इन दोनों ने क्रम से (नन्दिनी) स्तनों के भार के धारण करने में प्रयास करने के कारण से तथा (राजा दिलीप) शरीर की स्थूलता के कारण से अपनी-अपनी सुन्दर गमन से तपोवन से लौटने के मार्ग को सुशोभित किया ॥ १८ ॥

वसिष्ठधेनोरनुयायिनं तमावर्तमानं वनिता वनान्तात् ।
पपौ निमेषालसपक्ष्मपङ्क्तिरुपोषिताभ्यामिव लोचनाभ्याम् ॥ १९ ॥

वसिष्ठेति । वसिष्ठधेनोरनुयायिनमनुचरं वनान्ताद्वनमध्यादावर्तमानं प्रत्यागतं तं दिलीपं वनिता सुदक्षिणा निमेषेष्वलसा मन्दा पक्ष्मणां पङ्क्तिर्यस्याः सा निर्निमेषा सतीत्यर्थः । लोचनाभ्यां करणाभ्याम् । उपोषिताभ्यामिव । उपवासो भोजननिवृत्तिस्तद्वद्भ्यामिव । वसतेः कर्तरि क्तः । पपौ । यथोपोषितोऽतितृष्णया जलमधिकं पिबति तद्वदतितृष्णयाऽधिकं व्यलोकयदित्यर्थः ॥ १९ ॥

वसिष्ठ महर्षि की एक बार ब्याई हुई नन्दिनी गाय के पीछे-पीछे चलनेवाले तपोवन के प्रान्त भाग से लौटते हुए उन राजा दिलीप से स्नेह करने वाली रानी सुदक्षिणाने पेल

के बन्द करने में आलसी बरौनी वाली होती हुई (अर्थात् एक टक से) प्यासे की भाँति आँखों से पिया अर्थात् देखा ॥ १९ ॥

पुरस्कृता वर्त्मनि पार्थिवेन प्रत्युद्गता पार्थिवधर्मपत्न्या ।
तदन्तरे सा विरराज धेनुर्दिनक्षपामध्यगतेव सन्ध्या ॥ २० ॥

पुरस्कृतेति ॥ वर्त्मनि पार्थिवेन पृथिव्या ईश्वरेण । 'तस्येश्वर' इत्यण्प्रत्ययः । पुरस्कृताऽग्रतः कृता धर्मस्य पत्नी धर्मपत्नी धर्मार्थपत्नीत्यर्थः । अश्वघासादिवत्ता- दर्थ्ये षष्ठीसमासः । पार्थिवस्य धर्मपत्न्या प्रत्युद्गता सा धेनुस्तदन्तरे तयोर्दम्पत्यो र्मध्ये । दिनक्षपयोर्दिनरात्र्योर्मध्यगता सन्ध्येव विरराज ।

मार्ग में राजा दिलीप द्वारा आगे की गई और उनकी पटरानी सुदक्षिणा से आगे जाकर ली हुई (अगवानी की गई) वह नन्दिनी सुदक्षिणा और दिलीप के बीच में दिन और रात्रि के मध्य में स्थित सन्ध्याकाल की भाँति शोभित हुई ॥ २० ॥

प्रदक्षिणीकृत्य पयस्विनीं तां सुदक्षिणा साक्षतपात्रहस्ता ।
प्रणम्य चानर्च विशालमस्याः शृङ्गान्तरं द्वारमिवार्थसिद्धेः ॥ २१ ॥

प्रदक्षिणीकृत्येति । अक्षताना पात्रेण सह वर्त्तत इति साक्षतपात्रौ हस्तौ यस्याः सा सुदक्षिणा पयस्विनीं प्रशस्तक्षीरा तां धेनुं प्रदक्षिणीकृत्य प्रणम्य च । अस्या धेन्वा विशालं शृङ्गमध्यम् । अर्थसिद्धेः कार्यसिद्धेर्द्वारं प्रवेशमार्गमिव, आनर्चार्चयामास । अर्चतेर्भौवादिकाल्लिट् ॥ २१ ॥

अक्षतों से युक्त पात्र को हाथ में लिये रानी सुदक्षिणा ने उत्तम दूध वाली उस नन्दिनी की प्रदक्षिणा तथा वन्दना कर उसके चौड़े दोनों सींगों के मध्यभाग का, पुत्राप्तिरूप प्रयोजन सिद्ध होने के द्वार की भाँति जानकर पूजन किया ॥ २१ ॥

वत्सोत्सुकाऽपि स्तिमिता सपर्यां प्रत्यग्रहीत्सेति ननन्दतुस्तौ ।
भक्त्योपपन्नेषु हि तद्विधानां प्रसादचिह्नानि पुरःफलानि ॥ २२ ॥

वत्सोत्सुकाऽपीति । सा धेनुर्वत्सोत्सुकाऽपि वत्स उत्कण्ठिताऽपि स्तिमिता निश्चला सती सपर्यां पूजां प्रत्यग्रहीदिति हेतोस्तौ दम्पती ननन्दतुः । पूजास्वीकार- स्यानन्दहेतुमाह—भक्त्येति । पूज्येष्वनुरागो भक्तिस्तयोपपन्नेषु युक्तेति विषये तद्विधानां तस्या धेन्वा विधेव विधा प्रकारो येषां तेषाम् महतामित्यर्थः । प्रसादस्य चिह्नानि लिङ्गानि पूजास्वीकारादीनि पुरःफलानि पुरोगतानि प्रत्यासन्नानि येषां तानि हि । अविलम्बितफलसूचकलिङ्गदर्शनादानन्दो युज्यत इत्यर्थः ॥ २२ ॥

उस नन्दिनी ने अपने बछड़े को देखने के लिये उत्कण्ठा युक्त होने पर भी स्थिर होती हुई 'सुदक्षिणा द्वारा किये गये' पूजन को स्वीकार किया वे दोनों सुदक्षिणा और दिलीप प्रसन्न हुए । क्योंकि अपने में अनुराग रखने वाले जनों के विषय में नन्दिनी के समान बड़े लोगों की प्रसन्नता का चिह्न, शीघ्र अभीष्ट सिद्धि करनेवाले निश्चय करके होते हैं ॥

गुरोः सदारस्य निपीड्य पादौ समाप्य सान्ध्यं च विधिं दिलीपः ।
दोहावसाने पुनरेव दोग्ध्रीं भेजे भुजोच्छिन्नरिपुर्निषण्णाम् ॥२३॥

गुरोरिति । भुजोच्छिन्नरिपुर्दिलीपः सदारस्य दारैस्सहवर्तमानस्य गुरोः । उभयोरपीत्यर्थः । 'भार्या जायाऽथ पुम्भूम्नि दाराः' इत्यमरः । पादौ निपीड्याभिवन्द्य । सान्ध्यायां विहितं विधिमनुष्ठानं च समाप्य । दोहावसाने निषण्णामासीनां दोग्ध्रीं दोहनशीलाम् । 'तृन्' इति तृन्प्रत्ययः । धेनुमेव पुनर्भेजे सेवितवान् । दोग्ध्रीमिति विशेषणप्रयोगात्कामधेनुत्वं गम्यते ॥ २३ ॥

बाहुओं से शत्रुओं का नाश करने वाले राजा दिलीप ने पत्नी के सहित गुरु का चरण दबा कर और सान्ध्यकालिक कृत्य को समाप्त कर दुह चुकने के बाद सुखपूर्वक बैठी हुई नन्दिनी की फिर से सेवा शुरू की ॥ २३ ॥

तामन्तिकन्यस्तबलिप्रदीपामन्वास्य गोप्ता गृहिणीसहायः ।
क्रमेण सुप्तामनुसंविवेश सुप्तोत्थितां प्रातरनूदतिष्ठत् ॥ २४ ॥

तामिति । गोप्ता रक्षको गृहिणीसहायः पत्नीद्वितीयः सन् । उभावपीत्यर्थः । अन्तिके न्यस्ता बलयः प्रदीपाश्च यस्यास्तां तथोक्तां पूर्वोक्तां निषण्णां धेनुमन्वास्य अनूपविश्य क्रमेण सुप्तामनन्तरं संविवेश सुष्वाप । प्रातः सुप्तोत्थितामनूदतिष्ठ दुत्थितवान् । अत्रानुशब्देन धेनुराजव्यापारयोः पौर्वापर्यमुच्यते क्रमशब्देन पश्चात्पारम्पर्येणोपासनमनन्तरम् । 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' इति द्वितीया ॥ २४ ॥

रक्षा करने वाले सुदक्षिणा के सहित राजा दिलीप जिसके समीप में उपहारसम्बन्धी दीप रखे गये हैं ऐसी वहाँ बैठी हुई नन्दिनी के पीछे बैठकर क्रम से उस (नन्दिनी) के सोने के पीछे सोये और प्रातःकाल उसके सोकर उठ जाने के पीछे उठे ॥ २४ ॥

इत्थं व्रतं धारयतः प्रजार्थं समं महिष्या महनीयकीर्तेः ।
सप्त व्यतीयुस्त्रिगुणानि तस्य दिनानि दीनोद्धरणोचितस्य ॥२५॥

इत्थमिति । इत्थमनेन प्रकारेण प्रजार्थं सन्तानाय महिष्या समभिषिक्तपत्न्या सह । 'कृताभिषेका महिषी' इत्यमरः । व्रतं धारयतः महनीया पूज्या कीर्तिर्यस्य तस्य दीनानामनुद्धरणे दैन्यविमोचने तत्रोचितस्य परिचितस्य तस्य नृपस्य त्रयो गुणा आवृत्तयो येषां तानि त्रिगुणानि त्रिरावृत्तानि सप्त दिनान्येकविंशतिदिनानि व्यतीयुः ॥ २५ ॥

इस प्रकार पुत्र के लिये महारानी सुदक्षिणा के साथ नियम को धारण करते हुए प्रशंसनीय कीर्तिवाले दीनों के उद्धार करने में लगे हुए महाराज दिलीप के तिगुने सात (इक्कीस) दिन बीत गये ॥ २५ ॥

अन्येद्युरात्मानुचरस्य भावं जिज्ञासमाना मुनिहोमधेनुः ।
गङ्गाप्रपातान्तविरूढशष्पं गौरीगुरोर्गह्वरमाविवेश ॥२६॥

अन्येद्युरिति । अन्येद्युरन्यस्मिन्दिने द्वाविंशे दिने । 'सद्यः परुत्परारि०' इत्यादिना निपातनादव्ययत्वम् । 'अद्यात्राह्न्यथ पूर्वेऽह्नीत्यादौ पूर्वोत्तरापरात् । तथाऽधरान्यान्यतरेतरात्पूर्वेद्युरादयः' इत्यमरः । मुनिहोमधेनुः । आत्मानुचरस्य भावमभिप्राय दृढभक्तित्वम् । 'भावोऽभिप्राय आशय' इति यादवः । जिज्ञासमाना ज्ञातुमिच्छन्ती । 'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः' इत्यात्मनेपदे शानच् । प्रपतन्त्यस्मिन्निति प्रपातः पतनप्रदेशः । गङ्गायाः प्रपातस्तस्यान्ते समीपे विरूढानि जातानि शष्पाणि बालतृणानि यस्मिंस्तत् । 'शष्पं बालतृणं घासः' इत्यमरः । गौरीगुरोः पार्वतीपितुर्गह्वरं गुहामाविवेश ॥

दूसरे (बाइसवें) दिन वशिष्ठ की होमसम्बन्धी धेनु (नन्दिनी) अपने सेवक राजा दिलीप का 'मेरे में दृढभक्ति है या नहीं' इस भाव को जानने की इच्छा रखती हुई, गङ्गा के वारिप्रवाह के समीप उगी हुई हैं छोटी-छोटी घासें जिसमें ऐसे पार्वतीके पिता (हिमालय पर्वत) की गुफा में घुसा ॥ २६ ॥

सा दुष्प्रधर्षा मनसाऽपि हिंस्रैरित्यद्रिशोभाप्रहितेक्षणेन ।
अलक्षिताभ्युत्पतनो नृपेण प्रसह्य सिंहः किल तां चकर्ष ॥ २७ ॥

सेति । सा धेनुर्हिंस्रैर्व्याघ्रादिभिर्मनसाऽपि दुष्प्रधर्षा दुर्धर्षेति हेतोरद्रिशोभायां प्रहितेक्षणेन दत्तदृष्टिना नृपेणालक्षिताभ्युत्पतनमाभिमुख्येनोत्पतनं यस्य स सिंहस्तां धेनुं प्रसह्य हठात् । 'प्रसह्य तु हठार्थकम्' इत्यमरः । चकर्ष । किलेत्यलीके ॥ २७ ॥

'यह नन्दिनी हिंसक व्याघ्रादि दुष्ट जीवों द्वारा बडी कठिनाई से मन से भी तकलीफ न पहुँचाने के योग्य है' इस कारण से निश्चिन्त हो हिमालय की शोभा देखने में दृष्टि को लगाये हुये राजा दिलीप के द्वारा जिसका आक्रमण करना नहीं देखा गया ऐसा मायाकृत सिंह जबरदस्ती उस नन्दिनी को बनावटी ढङ्ग से फाड़ने लगा ॥ २७ ॥

तदीयमाक्रन्दितमार्त्तसाधोर्गुहानिबद्धप्रतिशब्ददीर्घम् ।
रश्मिष्विवादाय नगेन्द्रसक्तां निवर्त्तयामास नृपस्य दृष्टिम् ॥ २८ ॥

तदीयमिति । गुहानिबद्धेन प्रतिशब्देन प्रतिध्वनिना दीर्घम् । तस्या इदं तदीयम् । आक्रन्दितमार्त्तघर्षणम् । आर्त्तेषु विपन्नेषु साधोर्हितकारिणो नृपस्य नगेन्द्रसक्तां दृष्टिम् । रश्मिषु प्रग्रहेषु 'किरणप्रग्रहौ रश्मी' इत्यमरः । आदायेव गृहीत्वेव निवर्त्तयामास ॥ २८ ॥

गुफा में टकराती हुई प्रतिध्वनि से बढे हुए उस (नन्दिनी) के आर्त्तनाद ने दुखियों के विषय में सज्जन (रक्षक) राजा दिलीप की हिमालय पर्वत (की शोभा देखने) में लगी दृष्टिको लगाम पकड कर जैसे कोई घोडे आदिको फेरता है वैसे ही अपनी ओर फेर लिया ॥

स पाटलायां गवि तस्थिवांसं धनुर्धरः केसरिणं ददर्श ।
अधित्यकायामिव धातुमय्यां लोध्रद्रुमं सानुमतः प्रफुल्लम् ॥ २९ ॥

स इति। धनुर्धरः स नृपः पाटलायां रक्तश्वेतायां गवि तस्थिवांसं स्थितम्, 'क्वसुश्च' इति क्वसुप्रत्ययः। केसरिणं सिंहम्। सानुमतोऽद्रेः। धातोर्गैरिकस्य विकारो धातुमयी तस्यामधित्यकायामूर्ध्वभूमौ 'उपत्यकाद्रेरासन्ना भूमिरूर्ध्वमधित्यका' इत्यमरः। 'उपाधिभ्यां त्यकन्नासन्नारूढयोः' इति त्यकन्प्रत्ययः। प्रफुल्लं विकसितम्। 'फुल्ल विकसने' इति धातोः पचाद्यच्। प्रफुल्लम् इति तकारपाठे 'ञिफला विशरणे' इति धातोः कर्तरि क्तः 'उत्परस्यातः' इत्युकारादेशः। लोध्रद्रुमं द्रुममिव ददर्श ॥ २९ ॥

धनुष को धारण करने वाले उस राजा दिलीप ने श्वेतयुक्त लाल वर्णवाली नन्दिनी के ऊपर बैठे हुए सिंह को पर्वत की गैरिक धातुमयी ऊंची भूमि में लगे हुए लोध्र वृक्ष की भाँति देखा ॥ २९ ॥

ततो मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रगामी वधाय वध्यस्य शरं शरण्यः।
जाताभिषङ्गो नृपतिर्निषङ्गादुद्धर्तुमैच्छत् प्रसभोद्धृतारिः ॥ ३० ॥

तत इति। ततः सिंहदर्शनानन्तरं मृगेन्द्रगामी 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः। 'शरणं रक्षणे गृहे' इति यादवः। शरणे साधुः शरण्यः। 'तत्र साधुः' इति यत्प्रत्ययः। प्रसभेन बलात्कारेणोद्धृता अरयो येन स नृपतिः राजा जाताभिषङ्गो जातपराभवः सन्। 'अभिषङ्गः पराभवः' इत्यमरः। वध्यस्य वधार्हस्य। 'दण्डादिभ्यो यः' इति यत्प्रत्ययः। मृगेन्द्रस्य वधाय निषङ्गात्तूणीरात्। 'तूणोपासङ्गतूणीरनिषङ्गा इषुधिर्द्वयोः' इत्यमरः। शरमुद्धर्तुमैच्छत्।

सिंह के दर्शन के बाद मृगेन्द्र की तरह चलने वाले रक्षा करने में निपुण, शत्रुओं को बलपूर्वक उखाड़ने वाले, अपमान पाये हुए राजा दिलीप ने सिंह को मारने के लिये तरकस से बाण निकालने के लिए इच्छा की ॥ ३० ॥

वामेतरस्तस्य करः प्रहर्तुर्नखप्रभाभूषितकङ्कपत्रे।
सक्ताङ्गुलिः सायकपुङ्ख एव चित्रार्पितारम्भ इवावतस्थे ॥ ३१ ॥

वामेतर इति। प्रहर्तुस्तस्य वामेतरो दक्षिणः करः। नखप्रभाभिर्भूषितानि चित्रितानि कङ्कस्य पक्षिविशेषस्य पत्राणि यस्य तस्मिन्। 'कङ्कः पक्षिविशेषे स्याद् गृध्रकरो युधिष्ठिरे' इति विश्वः। 'पुङ्खस्तु कर्तरि' इति यादवः। सायकस्य पुङ्खे एव कर्तर्याख्ये मूलप्रदेशे। 'कर्तरि पुङ्खे' इति यादवः। सक्ताङ्गुलिः सन्। चित्रार्पितारम्भः चित्रलिखितप्रहारोद्योग इव अवतस्थे ॥ ३१ ॥

प्रहार करने वाले उस राजा दिलीप का दाहिना हाथ अपने नख की कान्ति से भूषित कङ्क (पक्षी पङ्ख) जिसमें लगे हुए होते हैं ऐसे बाण के मूलप्रदेश में ही लगी हुई हैं अङ्गुलियाँ जिसकी ऐसा होता हुआ चित्र में लिखे हुए बाण निकालने के उद्योग में लगे हुए की भाँति ही रुका ॥ ३१ ॥

बाहुप्रतिष्टम्भविवृद्धमन्युरभ्यर्णमागस्कृतमस्पृशद्भिः ।
राजा स्वतेजोभिरदह्यतान्तर्भोगीव मन्त्रौषधिरुद्धवीर्यः ॥ ३२ ॥

बाहुप्रतिष्टम्भेति । बाह्वो· प्रतिष्टम्भेन प्रतिबन्धेन । 'प्रतिबन्ध· प्रतिष्टम्भ' इत्यमर· । विवृद्धमन्यु प्रवृद्धरोषो राजा । मन्त्रौषधिभ्यां रुद्धवीर्य· प्रतिबद्धशक्तिर्भोगी सर्प इव 'भोगी राजभुजङ्गयो·' इति शाश्वत । अभ्यर्णमन्तिकम् । 'उपकण्ठान्तिकाभ्यर्णाभ्यग्रा अप्यभितोऽव्ययम्' इत्यमर । आगस्कृतमपराधकारिणमस्पृशद्भिः स्वतेजोभिरन्तरदह्यत । 'अधिक्षेपाद्यसहन तेज·प्राणात्ययेष्वपि' इति यादव· ॥ ३२ ॥

हाथ के रुक जाने से बढ़ हुए क्रोधवाले, राजा दिलीप, मन्त्र और औषधि से बाँध दिया गया है पराक्रम जिसका ऐसे साँप की भाँति समीप में (स्थित) अपराधी को नहीं स्पर्श करते हुए अपने तेज से भीतर जलने लगे ॥ ३२ ॥

तमार्यगृह्यं निगृहीतधेनुर्मनुष्यवाचा मनुवंशकेतुम् ।
विस्माययन्विस्मितमात्मवृत्तौ सिंहोरुसत्त्वं निजगाद सिंह ॥३३॥

तमिति । निगृहीता पीडिता धेनुर्येन स सिंह· । आर्याणा सता गृह्यं पक्ष्यम् 'पदास्वैरिबाह्यापक्ष्येषु च' इति क्यप् । मनुवंशस्य केतु चिह्न केतुवद्व्यावर्त्तकम् । सिंह इवोरुसत्त्वो महाबलस्तम् । आत्मनो वृत्तौ बाहुस्तम्भरूपे व्यापारेऽभूतपूर्वत्वाद्विस्मितम् । कर्त्तरि क्त । त दिलीपं मनुष्यवाचा करणेन पुनर्विस्माययन्विस्मयमाश्चर्यं प्रापयन्निजगाद । 'स्मिङ् ईषद्धसने' इति धातोर्णिचि वृद्धावायादेशे शतृप्रत्यये च सति विस्माययन्निति रूप सिद्धम् । 'विस्मापयन्' इति पाठे पुगागममात्र वक्तव्यम् । तच्च 'नित्य स्मयते' इति हेतुस्मयविवक्षायामेवेति 'भीस्म्योर्हेतुभये' इत्यात्मनेपदे 'विस्मापयमान' इति स्यात् । तस्मान्मनुष्यवाचा विस्माययन्निति रूप सिद्धम् । करणविवक्षाया न कश्चिद्दोष ॥ ३३ ॥

नन्दिनी को पीडित किया हुआ सिंह सज्जनों के पक्ष में रहने वाले मनुवंश के द्योतक सिंह के समान महान् बलवान् अपने बाहुस्तम्भरूप व्यापार के विषय में चकित हुए उन राजा दिलीप को मनुष्यवाणी से पुन चकित करता हुआ बोला ॥ ३३ ॥

अलं महीपाल ! तव श्रमेण प्रयुक्तमप्यस्त्रमितो वृथा स्यात् ।
न पादपोन्मूलनशक्तिरंहः शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य ॥ ३४ ॥

अलमिति । हे महीपाल ! तव श्रमेणालम् ! साध्याभावाच्छ्रमो न कर्त्तव्य इत्यर्थः । अत्र गम्यमानसाधनक्रियाऽपेक्षया श्रमस्य करणत्वात्तृतीया । उक्त च न्यासोद्द्योते (न केवलश्रूयमाणैव क्रियानिमित्त करणभावस्य । अपि तर्हि गम्यमानाऽपि) इति । 'अल भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम्' इत्यमर । इतोऽस्मिन्मयि । सार्वविभक्तिकस्तसि । प्रयुक्तमप्यस्त्र वृथा स्यात् । तथाहि—पादपोन्मूलने शक्तिर्यस्य तत्तथोक्तं, मारुतस्य रहो वेग· शिलोच्चये पर्वते न मूर्च्छति न प्रसरति ॥३४॥

हे पृथ्वी के पालन करने वाले महाराज दिलीप ! आपका श्रम करना वृथा है बस रहने दीजिये क्योंकि मेरे ऊपर चलाया हुआ अस्त्र भी वैसा ही व्यर्थ होगा जैसा कि पेड़ों को उखाड़ने वाली शक्ति रखने वाले वायु का वेग पर्वत के विषय में व्यर्थ होता है ॥ ३४ ॥

कैलासगौरं वृषमारुरुक्षोः पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठम् ।
अवेहि मां किङ्करमष्टमूर्तेः कुम्भोदरं नाम निकुम्भमित्रम् ॥ ३५ ॥

कैलासेति । कैलास इव गौरः शुभ्रवर्णम् । 'चामीकरं च शुभ्रं च गौरमाहुर्मनीषिणः' इति शाश्वतः । वृषं वृषभमारुरुक्षोरारोढुमिच्छोः । स्वस्योपरि पदं विन्यस्य वृषमारोहतीत्यर्थः । अष्टौ मूर्तयो यस्य स तस्याष्टमूर्तेः शिवस्य पादार्पणं पादन्यासस्तदेवानुग्रहः प्रसादस्तेन पूतं पृष्ठं यस्य तं तथोक्तम् । निकुम्भमित्रं कुम्भोदरं नाम किङ्करं मामवेहि विद्धि । 'पृथिवी सलिलं तेजो वायुराकाशमेव च । सूर्याचन्द्रमसौ सोमयाजी चेत्यष्टमूर्तयः ।' इति यादवः ॥ ३५ ॥

हे राजन् ! कैलास पर्वत के तुल्य श्वेत बैल पर चढ़ने की इच्छा करने वाले आठ (पृथ्वी जल तेज-वायु आकाश सूर्य चन्द्र-सोमयाजी) हैं मूर्तियाँ जिनकी ऐसे शिवजी के चरण रखने रूप अनुग्रह से पवित्र पीठवाला निकुम्भ (शिवजी का प्रसिद्ध गण) का मित्र 'कुम्भोदर' नाम से प्रसिद्ध 'शिवजी का' नौकर मुझे तुम जानो ॥ ३५ ॥

अमुं पुरः पश्यसि देवदारुं पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन ।
यो हेमकुम्भस्तननिःसृतानां स्कन्दस्य मातुः पयसां रसज्ञः ॥ ३६ ॥

अमुमिति । पुरोऽग्रतोऽमुं देवदारुं पश्यसि इति काकुः । असौ देवदारुः । वृषभो ध्वजो यस्य स तेन शिवेन पुत्रीकृतः पुत्रत्वेन स्वीकृतः । अभूततद्भावे च्विः । यो देवदारुः स्कन्दस्य मातुर्गौर्या हेम्नः कुम्भ एव स्तनस्तस्मान्निःसृतानां पयसामम्बूनां रसज्ञः स्वादज्ञः, स्कन्दपक्षे—हेमकुम्भ इव स्तन इति विग्रहः । पयसां क्षीराणाम् । 'पयः क्षीरं पयोऽम्बु च' इत्यमरः । स्कन्दसमानप्रेमास्पदमिति भावः ॥ ३६ ॥

हे राजन् ! तुम जो आगे स्थित इस देवदारु के वृक्ष को देख रहे हो इसे शङ्करजी ने पुत्रभाव से माना है जो कि कार्तिकेय की माँ पार्वतीजी के सोने के घड़ेरूपी स्तनों से निकले हुए दूधरूपी जल के स्वाद का जानने वाला है स्कन्दपक्ष में सोने के घड़े के समान स्तनों से निकले हुए दूध के स्वाद का जानने वाला है ॥ ३६ ॥

कण्डूयमानेन कटं कदाचिद्वन्यद्विपेनोन्मथिता त्वगस्य ।
अथैनमद्रेस्तनया शुशोच सेनान्यमालीढमिवासुरास्त्रैः ॥ ३७ ॥

कण्डूयेति । कदाचित्कटं कपोलं कण्डूयमानेन घर्षयता । 'कण्ड्वादिभ्यो यक्' इति यक् ततः शानच् । वन्यद्विपेनारण्यगजेनास्य देवदारोस्त्वगुन्मथिता । अथाद्रेस्तनया गौरी असुरास्त्रैरालीढं क्षतम् । सेनां नयतीति सेनानीः स्कन्दः । 'पार्वतीनन्दनः स्कन्दः सेनानीः' इत्यमरः । 'सत्सूद्विष—' इत्यादिना क्विप् । तमिव एनं देवदारुं शुशोच ।

किसी समय में गण्डस्थल को रगड़ते हुये किसी जंगली हाथी ने इस देवदारु वृक्ष की छाल उचेड डाली, इसके बाद पार्वतीजी ने दैत्यों के अस्त्रों से चोट खाये हुये अपने पुत्र स्कन्ध के समान इसके सम्बन्ध में भी शोक किया ॥ ३७ ॥

तदाप्रभृत्येव वनद्विपानां त्रासार्थमस्मिन्नहमद्रिकुक्षौ ।
व्यापारितः शूलभृता विधाय सिंहत्वमङ्कागतसत्त्ववृत्ति ॥ ३८ ॥

तदेति । तदा तत्काल प्रभृतिरादिर्यस्मिन्कर्मणि तत्तथा तदाप्रभृत्येव वनद्विपानां त्रासार्थं भयार्थं शूलभृता शिवेन, अङ्कं समीपमागता प्राप्ता सत्त्वा प्राणिनो वृत्तिर्यस्मिंस्तत् 'अङ्क समीप उत्सङ्गे चिह्ने स्थानापराधयोः' इति केशव । सिंहत्व विधाय । अस्मिन्नद्रिकुक्षौ गुहायामहं व्यापारितो नियुक्त ॥ ३८ ॥

उसी समय से जङ्गली हाथियों के डराने के लिये, शूल के धारण करने वाले श्रीशिवजी ने समीप में आये हुए प्राणियों पर निर्वाह करने वाली सिंहवृत्ति देकर मुझे इस पहाड की गुफा में नियुक्त किया है ॥ ३८ ॥

तस्यालमेषा क्षुधितस्य तृप्त्यै प्रदिष्टकाला परमेश्वरेण ।
उपस्थिता शोणितपारणा मे सुरद्विषश्चान्द्रमसी सुधेव ॥ ३९ ॥

तस्येति । परमेश्वरेण प्रदिष्टो निर्दिष्टकालो भोजनवेला यस्या सोपस्थिता प्राप्तैषा गोरूपा शोणितपारणा रुधिरस्य व्रतान्तभोजन, सुरद्विपो राहो, चन्द्रमस इय चान्द्रमसी सुधेव, क्षुधितस्य बुभुक्षितस्य तस्याङ्कागतसत्त्ववृत्तेर्मे मम सिंहस्य तृप्त्या अलं पर्याप्ता । 'नमः स्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च' इत्यनेन चतुर्थी ॥ ३९ ॥

शिवजी के बताये हुये भोजन के समय पर उपस्थित यह गोरूप रुधिरसम्बन्धी व्रत की समाप्ति के समय का भोजन दैत्य राहु के लिए चन्द्रसम्बन्धी अमृत की भाँति, भूखे हुये उस को अर्थात् समीप में आये हुये प्राणियों को खाकर जीवन निर्वाह करने वाले मुझ सिंह की तृप्ति के लिये पर्याप्त (पूरा) होगा ॥ ३९ ॥

स त्वं, निवर्त्तस्व विहाय लज्जां गुरोर्भवान्दर्शितशिष्यभक्तिः ।
शस्त्रेण रक्ष्यं यदशक्यरक्षं न तद्यशः शस्त्रभृतां क्षिणोति ॥४०॥

स त्वमिति । स एवमुपायशून्यस्त्वं लज्जां विहाय निवर्त्तस्व । भवांस्त्व गुरोर्दर्शिता प्रकाशिता शिष्यस्य कर्त्तव्या भक्तिर्येन स तथोक्तोऽस्ति । ननु गुरुधनं विनाश्य कथं तत्समीपं गच्छेयमत आह—शस्त्रेणेति । यद्रक्ष्यं धनं शस्त्रेणायुधेन । 'शस्त्रमायुधलोहयो' इत्यमर । अशक्या रक्षा यस्य तदशक्यरक्षम् । रक्षितुमशक्यमित्यर्थ । तद्रक्ष्यं नष्टमपि शस्त्रभृतां यशो न क्षिणोति न हिनस्ति । अशक्यार्थेष्वप्रतिविधानं न दोषायेति भावः ॥ ४० ॥

उपाय से शून्य पूर्वोक्त तुम लज्जा को छोड़ कर लौट जाओ । तुमने गुरु के सम्बन्ध

में शिष्यों के योग्य भक्ति दिखला दी और जो रक्षा करने योग्य वस्तु गाय है रक्षा करने के योग्य नहीं होती वह नष्ट होती हुई भी शस्त्रधारी की कीर्ति को नष्ट नहीं कर सकती है ॥ ५० ॥

इति प्रगल्भं पुरुषाधिराजो मृगाधिराजस्य वचो निशम्य ।
प्रत्याहतास्त्रो गिरिशप्रभावादात्मन्यवज्ञां शिथिलीचकार ॥ ५१ ॥

इतीति । पुरुषाणामधिराजः नृप इति प्रगल्भं मृगाधिराजस्य वचो निशम्य श्रुत्वा गिरिशस्येश्वरस्य प्रभावात्प्रत्याहतास्त्रः कुण्ठितास्त्रः सन्नात्मनि विषयेऽवज्ञामपमानं शिथिलीचकार । तत्याजेत्यर्थः । अशक्ततोऽहमिति निर्वेदं न प्रापेत्यर्थः । समानेषु हि शक्तिप्रतिघाताभिमानो न सर्वेश्वरे प्रतीति भावः ॥ ५१ ॥

नराधिप दिलीप ने इस प्रकार से ढीठ सिंह के वचन सुनकर शङ्कर के प्रभाव से अपने शस्त्र को रुका हुआ जानकर अपने विषय में अपमान के भाव को शिथिल कर दिया अर्थात् अपना अपमान नहीं समझा ॥ ५१ ॥

प्रत्यब्रवीच्चैनमिषुप्रयोगे तत्पूर्वभङ्गे वितथप्रयत्नः ।
जडीकृतस्त्र्यम्बकवीक्षणेन वज्रं मुमुक्षन्निव वज्रपाणिः ॥ ५२ ॥

प्रतीति । स एव पूर्वः प्रथमो भङ्गः प्रतिबन्धो यस्य तस्मिंस्तत्पूर्वभङ्गे इषुप्रयोगे वितथप्रयत्नो विफलप्रयासः । अत एव वज्रं कुलिशं मुमुक्षुर्मोक्तुमिच्छन् । त्र्यम्बकस्य लोचनम् । 'शतक्रतोरुद्यतवज्रबाहोर्वज्रस्य...' इति इतिवृत्तम् । त्रीण्यम्बकानि यस्य स त्र्यम्बको हरः तस्य वीक्षणेन जडीकृतो निष्पन्दीकृतः । वज्रं पाणौ यस्य स वज्रपाणिरिन्द्रः । 'प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ भवत इति वक्तव्यम्' इति पाणेः सप्तम्यन्तस्योत्तरनिपातः । स इव स्थितो नृप एवं सिंहं प्रत्यब्रवीत् (बाहुं सवज्रं शक्रस्य क्रुद्धस्यास्तम्भयत्प्रभुः) इति महाभारते ॥ ५२ ॥

पहले पहल ही है अवसर जिसमें ऐसे बाण के चलाने में निष्फल प्रयत्न वाले अत एव शङ्कर भगवान् के देखने से ही निश्चेष्ट किये हुये वज्र का प्रहार करने की इच्छा करने वाले वज्र है हाथ में जिसके ऐसे इन्द्र के समान स्थित राजा दिलीप सिंह के प्रत्युत्तर में बोले ॥ ५२ ॥

संरुद्धचेष्टस्य मृगेन्द्र ! कामं हास्यं वचस्तद्यदहं विवक्षुः ।
अन्तर्गतं प्राणभृतां हि वेद सर्वं भवान्भावमतोऽभिधास्ये ॥ ५३ ॥

संरुद्धचेष्टस्येति । मृगेन्द्र ! संरुद्धचेष्टस्य प्रतिबद्धव्यापारस्य मम यद्वचो वाक्यं कामं हास्यं परिहसनीयम् । यद्वचः 'सत्वं मदीयेन' (२।४५) इत्यादिकमहं विवक्षुर्वक्तुमिच्छुरस्मि । तर्हि तूष्णीं स्थीयतामित्याशङ्क्य विवक्षुरस्मि तत्सर्वं त्वां प्रति न हास्यमित्याह—अन्तरिति । हि यतो भवान्प्राणभृतामन्तर्गतं हृदयं प्रविश्य बहिर प्रकाशितमेव सर्वं भावं वेद वेत्ति 'विदो लटो वा' इति णलादेशः । अतोऽहमभि-

धास्ये वक्ष्यामि। वच इति प्रकृतं कर्म सम्बध्यते। अन्ये त्वीदृग्वचनमाकर्ण्या-सम्भावितार्थमेतदित्युपहसन्ति, अतस्तु मौनमेव भूषणम्। त्वं तु वाङ्मनसयोरेकविध एवायमिति जानासि। अतोऽभिधास्ये यद्वचोऽह त्रिवक्षुरित्यर्थ ॥ ४३ ॥

हे सिंह! यद्यपि रुकी हुई है चेष्टा जिसकी, ऐसे मुझ दिलीप का वह वचन अत्यन्त परिहास करने के योग्य है, जिसे कि मैं कहने की इच्छा करने वाला हो रहा हूँ, तथापि आप सभी जीवों के हृदय के भाव जानते हैं, इससे कहूँगा ॥ ४३ ॥

मान्यः स मे स्थावरजङ्गमानां सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुः।
गुरोरपीदं धनमाहिताग्नेर्नश्यत्पुरस्तादनुपेक्षणीयम् ॥ ४४ ॥

मान्य इति। प्रत्यवहार प्रलय.। स्थावराणां तरुशैलादीनां जङ्गमानां मनुष्यादीनां सर्गस्थितिप्रत्यवहारेषु हेतु स ईश्वरो मे मम मान्य पूज्य। अलङ्घ्यशासन इत्यर्थ। शासन च 'सिंहत्वमङ्कागतसत्त्ववृत्ति' (२।३८) इत्युक्तरूपम्। तर्हि विसृज्य गम्यताम्। नेत्याह–गुरोरपीति। पुरस्तादग्रे नश्यदिदमाहिताग्नेर्गुरोर्धनमपि गोरूपमनुपेक्षणीयम्। आहिताग्नेरिति विशेषणेनानुपेक्षाकारणं हवि.साधनत्व सूचयति ॥ ४४ ॥

स्थावर (वृक्ष–पर्वत आदि) और जङ्गमों (मनुष्यादिकों) के उत्पत्ति, पालन और संहार करने में कारण वे श्रीशिवजी मेरे पूज्य हैं, (अर्थात् उनकी आज्ञा माननीय है) और आगे नष्ट होता हुआ यह अग्निहोत्र करने वाले गुरुजी वसिष्ठ महाराज का गोरूप धन भी उपेक्षा करने के योग्य नहीं है (अर्थात् इसकी ही रक्षा करनी चाहिये) ॥ ४४ ॥

स त्वं मदीयेन शरीरवृत्तिं देहेन निर्वर्तयितुं प्रसीद।
दिनावसानोत्सुकबालवत्सा विसृज्यतां धेनुरियं महर्षेः ॥ ४५ ॥

स इति। सोऽङ्कागतसत्त्ववृत्तिस्त्वं मदीयेन देहेन शरीरस्य वृत्तिं जीवन निर्वर्तयितु सम्पादयितु प्रसीद। दिनावसाने उत्सुको माता समागमिष्यतीत्युत्कण्ठितो बालवत्सो यस्या सा महर्षेरिय धेनुर्विसृज्यताम् ॥ ४५ ॥

समीप में आये हुए प्राणियों से अपना जीवन-निर्वाह करने वाले (वह) तुम मेरे शरीर से अपने शरीर का जीवन रखने के लिये अनुग्रह करो और दिन के समाप्त होने पर 'हमारी माँ आती होगी' इससे उत्कण्ठित छोटे बछडे वाली महर्षि वसिष्ठ की इस धेनु 'नन्दिनी' को छोडो ॥ ४५ ॥

अथान्धकारं गिरिगह्वराणां दंष्ट्रामयूखैः शकलानि कुर्वन्।
भूयः स भूतेश्वरपार्श्ववर्ती किञ्चिद्विहस्यार्थपतिं बभाषे ॥ ४६ ॥

अथेति। अथ भूतेश्वरस्य पार्श्ववर्त्यनुचर स सिंहो गिरेर्गह्वराणां गुहानाम्। 'देवखातबिले गुहा। गह्वरम्' इत्यमर। अन्धकार ध्वान्तं दंष्ट्रामयूखैः, शकलानि

म्वादि कुर्वन्। गिरस्वविस्तार्थः। विभिविद्धिस्वार्थपर्ति नृपं मूढो भासे। हातु कारणम् 'अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्' इति वक्ष्यमाणं द्रष्टव्यम् ॥ ४६ ॥

दिलीप के यह सुनने के बाद भगवान् शङ्कर के पास रहने वाला वह सिंह हिमालय पर्वत की गुफाओं के अन्धकार को दाँतों की कान्ति से हटाते हटाते करता हुआ कुछ हँसकर दिलीप से फिर बोला ॥ ४६ ॥

एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च।
अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम् ॥४७॥

एकातपत्रमिति। एकातपत्रमेकच्छत्रं जगतः प्रभुत्वं स्वामित्वम्। नवं वयो यौवनम्। इदं कान्तं रम्यं वपुश्च। इत्येवं बहु अल्पस्य हेतोरल्पेन कारणेन, अल्पफलेनेत्यर्थः। 'षष्ठी हेतुप्रयोगे' इति षष्ठी। हातुं त्यक्तुमिच्छंस्त्वं विचारे कार्याकार्यविमर्शे मूढो मूर्खो मे मम प्रतिभासि ॥ ४७ ॥

एकच्छत्र संसार की प्रभुता नवीन युवावस्था और यह सुन्दर शरीर इन सब वस्तुओं को थोड़े से गौरूप फल के लाभ के कारण से छोड़ने की इच्छा करते हुये तुम 'क्या करना चाहिये क्या नहीं करना चाहिये' इसके विचार करने में मुझे मूर्ख मालूम पड़ते हो ॥

भूतानुकम्पा तव चेदियं गौरेका भवेत्स्वस्तिमती त्वदन्ते।
जीवन्पुनः शश्वदुपप्लवेभ्यः प्रजाः प्रजानाथ ! पितेव पासि ॥४८॥

भूतानुकम्पेति। तव भूतेष्वनुकम्पा कृपा चेत्। 'कृपा दयानुकम्पा स्यात्' इत्यमरः। कृपैव वर्तते चेदित्यर्थः। तर्हि त्वदन्ते तव नाशे सतीयमेका गौः स्वस्ति क्षेममस्या अस्तीति स्वस्तिमती भवेत्। जीवन्नित्यर्थः। 'स्वस्त्याशीःक्षेम पुण्यादौ' इत्यमरः। हे प्रजानाथ ! जीवन्पुनः पितेव प्रजा उपप्लवेभ्यो विघ्नेभ्यः शश्वत्सदा। 'पुनःसदार्थयोः शश्वत्' इत्यमरः। पासि रक्षसि। स्वनाशमपेक्ष्यानेकधेनुरक्षणाद्वरं जीवितेनैव प्रजापरिपालनमित्यर्थः ॥ ४८ ॥

हे राजन् ! तुम्हारी प्राणियों के ऊपर दया यदि है तो तुम्हारे मर जाने पर केवल यही एक गौ कल्याण से युक्त हो सकती है। हे प्रजाओं के स्वामी महाराज दिलीप ! जीते हुए विद्यमान हो आप पिता के समान प्रजाओं की विघ्नों से निरन्तर रक्षा कर सकते हैं ॥४८॥

न धर्मलोपादियं भीः किन्तु गुरुभयादित्यत आह—

अथैकधेनोरपराधचण्डाद्गुरोः कृशानुप्रतिमाद्बिभेषि।
शक्योऽस्य मन्युर्भवता विनेतुं गाः कोटिशः स्पर्शयता घटोध्नीः ॥४९॥

अथेति। अथेति पक्षान्तरे। अथवा। एकैव धेनुर्यस्य तस्मात्। अपराधे कोपकारणे-ऽपचार इति यावत्। अत एवापराधे गवोपेक्षालक्षणे सति चण्डादतिकोपनात्। 'चण्डस्त्वत्यन्तकोपनः' इत्यमरः। अत एव कृशानुः प्रतिमोपमा यस्य तस्माद्बिभेषि। इति भावः। 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' इत्यपादानात्पञ्चमी।

अल्पवित्तस्य धनहानिरतिदुःसहेति भावः । अस्य गुरोर्मन्युः क्रोधः 'मन्युर्दैन्ये क्रतौ क्रुधि' इत्यमरः । घटा इवोधांसि यासां ता घटोध्नीः । 'ऊधसोऽनङ्' इत्यनङादेशः । 'बहुव्रीहेरूधसो ङीष्' इति ङीष् । कोटिशो गाः स्पर्शयता प्रतिपादयता । 'विश्राणनं वितरणं स्पर्शनं प्रतिपादनम्' इत्यमरः । भवता विनेतुमपनेतुं शक्यः ॥ ४९ ॥

अथवा हे राजन् ! एक ही है धेनु जिसके अत एव गौ के रक्षा न करने रूप अपराध होने से अत्यन्त क्रुद्ध हुये, अग्नि के तुल्य अपने गुरु वसिष्ठजी से यदि तुम डरते हो तो, उनके क्रोध को घडे के समान बडे-बडे स्तनों वाली करोडों गायों को देते हुये दूर करने में समर्थ हो ॥ ४९ ॥

तद्रक्ष कल्याणपरम्पराणां भोक्तारमूर्जस्वलमात्मदेहम् ।
महीतलस्पर्शनमात्रभिन्नमृद्धं हि राज्यं पदमैन्द्रमाहुः ॥५०॥

तद्रक्षेति । तत्तस्मात्कारणात्कल्याणपरम्पराणां भोक्तारम् । कर्मणि षष्ठी । ऊर्जो बलमस्यास्तीत्यूर्जस्वलम् । 'ज्योत्स्नातमिस्रे' त्यादिना वलच् प्रत्ययान्तो निपातः । आत्मदेहं रक्ष । ननु गामुपेक्ष्यात्मदेहरक्षणे स्वर्गहानिः स्यात् । नेत्याह— महीतलेति । ऋद्धं समृद्धं राज्यं महीतलस्पर्शनमात्रेण भूतलसम्बन्धमात्रेण भिन्नमैन्द्रमिन्द्रसम्बन्धिपदं स्थानमाहुः स्वर्गान्न भिद्यत इत्यर्थः ॥ ५० ॥

इस कारण से हे राजन् ! तुम उत्तरोत्तर सुखों का भोग करने वाले अत्यन्त बल से युक्त अपने शरीर की रक्षा करो, क्योंकि विद्वान् लोग समृद्धिशाली राज्यको केवल पृथ्वीतल के सम्बन्ध होनेसे अलग हुआ इन्द्रसम्बन्धी स्थान (स्वर्ग) कहते हैं ॥ ५० ॥

एतावदुक्त्वा विरते मृगेन्द्रे प्रतिस्वनेनास्य गुहागतेन ।
शिलोच्चयोऽपि क्षितिपालमुच्चैः प्रीत्या तमेवार्थमभाषतेव ॥५१॥

एतावदिति । मृगेन्द्र एतावदुक्त्वा विरते सति गुहागतेनास्य सिंहस्य प्रतिस्वनेन शिलोच्चयो शैलोऽपि प्रीत्या तमेवार्थं क्षितिपालमुच्चैरभाषतेव इत्युत्प्रेक्षा । भाषितेर्ब्रुविसमानार्थत्वाद् द्विकर्मकः । ब्रुविस्तु द्विकर्मकेषु पठितः । तदुक्तम्— (दुहियाचिरुधिप्रच्छिभिक्षिचिञामुपयोगनिमित्तमपूर्वविधौ । ब्रुविशासिगुणेन च यत्सचते तदकीर्तितमाचरितं कविना ॥) इति ॥ ५१ ॥

सिंह के इतना कहकर चुप हो जाने पर गुफा में पहुँची हुई इसकी प्रतिध्वनि द्वारा पर्वत भी प्रेम से मानो उसी बात को राजा दिलीप से जोर से कहने लगा ॥ ५१ ॥

निशम्य देवानुचरस्य वाचं मनुष्यदेवः पुनरप्युवाच ।
धेन्वा तदध्यासितकातराक्ष्या निरीक्ष्यमाणः सुतरां दयालुः ॥५२॥

निशम्येति । देवानुचरस्येश्वरकिङ्करस्य सिंहस्य वाचं निशम्य मनुष्यदेवो राजा पुनरप्युवाच । किम्भूतः सन् । तेन सिंहेन यदध्यासितं व्याक्रमणम् । नपुंसके भावे क्तः । तेन कातरे अक्षिणी यस्यास्तया । 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात्षच्' इति

बध्नासि कुर्वन् । निरस्यसीत्यर्थः । किमिति हितस्वार्थपरिं नृपं भूयो बभाषे । हास्य कारणम् 'अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्' इति वक्ष्यमाणं प्रकृतम् ॥ ४६ ॥

दिलीप के इस युक्ति के बाद भगवान् शङ्कर के पास रहने वाला वह सिंह हिमालय पर्वत की गुफाओं के अन्धकार को दाँतों की कान्ति से हटाता हटाता हुआ कुछ हँसकर दिलीप से फिर बोला ॥ ४६ ॥

एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च ।
अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम् ॥४७॥

एकातपत्रमिति । एकातपत्रमेकच्छत्रं जगतः प्रभुत्वं स्वामित्वम् । नवं वयो यौवनम् । इदं कान्तं रम्यं वपुश्च । इत्येतद् बहु अल्पस्य हेतोरल्पेन कारणेन, अल्पफलायेत्यर्थः । 'षष्ठी हेतुप्रयोगे' इति षष्ठी । हातुं त्यक्तुमिच्छंस्त्वं विचारे कार्याकार्यविमर्शे मूढो मूर्खो मे मम प्रतिभासि ॥ ४७ ॥

एकच्छत्र संसार की प्रभुता नवीन युवावस्था और यह सुन्दर शरीर इन सब वस्तुओं को थोड़े से नन्दिनी रूप धन के नाश के कारण से छोड़ने की इच्छा करते हुये तुम 'क्या करना चाहिये क्या नहीं करना चाहिये' इसके विचार करने में मुझे मूर्ख मालूम पड़ते हो ।

भूतानुकम्पा तव चेदियं गौरेका भवेत्स्वस्तिमती त्वदन्ते ।
जीवन्पुनः शश्वदुपप्लवेभ्यः प्रजाः प्रजानाथ ! पितेव पासि ॥४८॥

भूतानुकम्पेति । तव भूतेष्वनुकम्पा कृपा चेत् । 'कृपा दयानुकम्पा स्यात्' इत्यमरः । कृपैव वर्तते चेदित्यर्थः । तर्हि त्वदन्ते तव नाशे सतीयमेका गौः । स्वस्ति क्षेममस्या अस्तीति स्वस्तिमती भवेत् । जीवेदित्यर्थः । 'स्वस्त्याशीःक्षेम-पुण्यादौ' इत्यमरः । हे प्रजानाथ ! जीवन्पुनः पितेव प्रजाः उपप्लवेभ्यो विघ्नेभ्यः शश्वत्सदा । 'पुनःसदार्थयोः शश्वत्' इत्यमरः । पासि रक्षसि । स्वप्राणव्ययेनैक-धेनुरक्षणाद्वरं जीवितेनैव शश्वदखिलजगत्त्राणमित्यर्थः ॥ ४८ ॥

हे राजन् ! तुम्हारी प्राणियों के ऊपर दया यदि है तो तुम्हारे मर जाने पर केवल यही एक गौ कल्याण से युक्त हो सकती है । हे प्रजाओं के स्वामी महाराज दिलीप ! जीते हुए निश्चय ही आप पिता के समान प्रजाओं की विघ्नों से निरन्तर रक्षा कर सकते हैं ॥४८॥

न धर्मलोपादिदं मनुषे किन्तु गुरुभयादित्यत आह—

अथैकधेनोरपराधचण्डाद् गुरोः कृशानुप्रतिमाद् बिभेषि ।
शक्योऽस्य मन्युर्भवता विनेतुं गाः कोटिशः स्पर्शयता घटोध्नीः ॥४९॥

अथेति । अथेति पक्षान्तरे । अथवा । एकैव धेनुर्यस्य तस्मात् । एकधेनुकारणो-पन्यास इति शेषः । अत एवापराधे गवोपेक्षालक्षणे सति चण्डादतिकोपनात् । 'चण्डस्त्वत्यन्तकोपनः' इत्यमरः । अत एव कृशानुः प्रतिमोपमा यस्य तस्मादग्नि-कल्पाद् गुरोर्बिभेषि । इति यद्भयम् । 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' इत्यपादानात्पञ्चमी ।

अल्पवित्तस्य धनहानिरतिदुःसहेति भावः। अस्य गुरोर्मन्युः क्रोध 'मन्युर्दैन्ये क्रतौ क्रुधि' इत्यमरः। घटा इवोधांसि यासां ता घटोध्नीः। 'ऊधसोऽनङ्' इत्यनङादेशः। 'बहुव्रीहेरूधसो ङीष्' इति ङीप्। कोटिशो गा. स्पर्शयता प्रतिपादयता। 'विश्राणन वितरण स्पर्शनं प्रतिपादनम्' इत्यमर। भवता विनेतुमपनेतुं शक्यः॥ ४९॥

अथवा हे राजन्! एक ही है धेनु जिसके अत एव गौ के रक्षा न करने रूप अपराध होने से अत्यन्त क्रुद्ध हुये, अग्नि के तुल्य अपने गुरु वसिष्ठजी से यदि तुम डरते हो तो, उनके क्रोध को घड़े के समान बड़े-बड़े स्तनों वाली करोड़ों गायों को देते हुये दूर करने में समर्थ हो॥ ४९॥

तद्रक्ष कल्याणपरम्पराणां भोक्तारमूर्जस्वलमात्मदेहम्।
महीतलस्पर्शनमात्रभिन्नमृद्धं हि राज्यं पदमैन्द्रमाहुः॥५०॥

तद्रक्षेति। तत्तस्मात्कारणात्कल्याणपरम्पराणा भोक्तारम्। कर्मणि षष्ठी। ऊर्जो बलमस्यास्तीत्यूर्जस्वलम्। 'ज्योत्स्नातमिस्रे' त्यादिना वलच् प्रत्ययान्तो निपात.। आत्मदेह रक्ष। ननु गामुपेक्ष्यात्मदेहरक्षणे स्वर्गहानि स्यात्। नेत्याह— महीतलेति। ऋद्ध समृद्ध राज्य महीतलस्पर्शनमात्रेण भूतलसम्बन्धमात्रेण भिन्नमैन्द्रमिन्द्रसम्बन्धिपद स्थानमाहु स्वर्गान्न भिद्यत इत्यर्थ॥ ५०॥

इस कारण से हे राजन्! तुम उत्तरोत्तर सुखों का भोग करने वाले अत्यन्त बल से युक्त अपने शरीर की रक्षा करो, क्योंकि विद्वान् लोग समृद्धिशाली राज्यको केवल पृथ्वीतल के सम्बन्ध होनेसे अलग हुआ इन्द्रसम्बन्धी स्थान (स्वर्ग) कहते हैं॥ ५०॥

एतावदुक्त्वा विरते मृगेन्द्रे प्रतिस्वनेनास्य गुहागतेन।
शिलोच्चयोऽपि क्षितिपालमुच्चैः प्रीत्या तमेवार्थमभाषतेव॥५१॥

एतावदिति। मृगेन्द्र एतावदुक्त्वा विरते सति गुहागतेनास्य सिंहस्य प्रतिस्वनेन शिलोच्चयो शैलोऽपि प्रीत्या तमेवार्थं क्षितिपालमुच्चैरभाषतेव इत्युत्प्रेक्षा। भाषिरयं ब्रुविसमानार्थकत्वाद् द्विकर्मक.। ब्रुविस्तु द्विकर्मकेषु पठित·। तदुक्तम्— (दुहियाचिरुधिप्रच्छिभिक्षिचिञामुपयोगनिमित्तमपूर्वविधौ। ब्रुविशासिगुणेन च यत्सचते तदकीर्तितमाचरित कविना॥) इति॥ ५१॥

सिंह के इतना कहकर चुप हो जाने पर गुफा में पहुँची हुई इसकी प्रतिध्वनि द्वारा पर्वत भी प्रेम से मानो उसी बात को राजा दिलीप से जोर से कहने लगा॥ ५१॥

निशम्य देवानुचरस्य वाचं मनुष्यदेवः पुनरप्युवाच।
धेन्वा तदध्यासितकातराक्ष्या निरीक्ष्यमाणः सुतरां दयालुः॥५२॥

निशम्येति। देवानुचरस्येश्वरकिङ्करस्य सिंहस्य वाच निशम्य मनुष्यदेवो राजा पुनरप्युवाच। किम्भूत सन्। तेन सिंहेन यदध्यासित ग्याक्रमणम्। नपुसके भावे क्त.। तेन कातरे अक्षिणी यस्यास्तया। 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात्षच्' इति

पच। 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इति ङीष्। किंवा नरपतीति नीत्वैवं विपर्ययेऽस्वर्थः। पश्यता निरीक्ष्यमाणः। अत एव सुतरां दयालुः सन्। सुतरामित्यत्र 'द्विवचनवि-भज्य—' इत्यादिना तरप्प्रत्ययः। 'किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे' इत्यनेनाम्-प्रत्ययः। 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' इत्यव्ययसंज्ञा ॥ ५२ ॥

शङ्कर भगवान् के नौकर (सिंह) की वाणी को सुनकर मनुष्यों के राजा (वे दिलीप) फिर भी (उससे) बोले, क्योंकि—उस सिंह के द्वारा आक्रान्त होने से आकुल नेत्रों वाली नन्दिनी से देखे जाते हुये अत एव अत्यन्त दयालु हो रहे थे ॥ ५२ ॥

किञ्चाधिकमाह—

क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्त्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः।
राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा ॥५३॥

क्षतादिति। 'क्षणु हिंसायाम्' इति धातोः सम्पदादित्वात्क्विप्। 'गमादीनाम्' इति वक्तव्यादनुनासिकलोपे तुगागमे च क्षदिति रूपं सिद्धम्। क्षतात् नाशात् त्रायत इति क्षत्त्रः। सुपीति योगविभागात्कः। तामेतां व्युत्पत्तिं कविरर्थतोऽनुक्रामति—क्षतादित्यादिना। उदग्र उन्नतः क्षत्त्रस्य क्षत्त्रवर्णस्य शब्दो वाचकः क्षत्त्रशब्द इत्यर्थः। क्षतात्त्रायत इति व्युत्पत्त्या भुवनेषु रूढः किल प्रसिद्धः खलु। यौगिकत्वं न केवलं रूढमात्रम्, किन्तु पङ्कजादिवद्योगरूढ इत्यर्थः। ततः किमित्यत आह—तस्य क्षत्त्रशब्दस्य विपरीतवृत्तेर्विरुद्धव्यापारस्य क्षतत्राणमकुर्वतः पुंसो राज्येन किम्। उपक्रोशमलीमसैर्निन्दामलिनैः। 'उपक्रोशो जुगुप्सा च कुत्सा निन्दा च गर्हणे' इत्यमरः। 'ज्योत्स्नातमिस्रा' इत्यादिना मलीमसशब्दो निपातितः। 'मलीमसं तु मलिनं कच्चरं मलदूषितम्' इत्यमरः। तैः प्राणैर्वा किम्। निन्दितस्य सर्वं व्यर्थमित्यर्थः। एतेन 'एकातपत्रम्' (२।४७) इत्यादिना श्लोकद्वयेनोक्तं प्रत्युक्तमिति वेदितव्यम् ॥ ५३ ॥

क्षत को क्षत्रिय वर्ण वाचक 'क्षत्र' शब्द है सो 'क्षत' अर्थात् नाश से जो बचावे वह क्षत्रिय कहलाता है इस व्युत्पत्ति से संसार में 'पङ्कज' की तरह योगरूढि से प्रसिद्ध है अतः उस क्षत्र शब्द से विपरीत व्यापार करने वाले अर्थात् नाश से नहीं रक्षा करने वाले पुरुष का राज्य और अपकीर्ति से मलिन हुए प्राण ये दोनों व्यर्थ हैं ॥ ५३ ॥

'अवैकधेनोः' (२-४९) इत्यस्योत्तरमाह—

कथं नु शक्योऽनुनयो महर्षेर्विश्राणनाच्चान्यपयस्विनीनाम्।
इमामनूनां सुरभेरवेहि रुद्रौजसा तु प्रहृतं त्वयाऽस्याम् ॥५४॥

कथमिति। अनुनयः क्रोधापनयः। शक्यः शक्यार्थः। महर्षेरनुनयो ऽन्यासां पयस्विनीनां दोग्ध्रीणां गवां विश्राणनाद्दानात्। 'त्यागो विहापितं दानमुत्सर्जनविसर्जने। विश्राणनं वितरणम्' इत्यमरः। कथं नु शक्यः। न शक्य

इत्यर्थः। अत्र हेतुमाह—इमां गां सुरभेः कामधेनोः 'पञ्चमी विभक्ते' इति पञ्चमी। अनूनामन्यूनामवेहि जानीहि। तर्हि कथमस्याः परिभवो भूयादित्याह—रुद्रौजसेति। अस्यां गवि त्वया कर्त्रा प्रहृतं तु प्रहारस्तु। नपुंसके भावे क्तः। रुद्रौजसेश्वरसामर्थ्येन न तु स्वयमित्यर्थः। 'सप्तम्यधिकरणे च' इति सप्तमी॥ ५४॥

महर्षि वसिष्ठजी के क्रोध की शान्ति दूसरी दूध देने वाली गायों के देने से किस प्रकार हो सकती है? 'अर्थात् कभी नहीं हो सकती है' क्योंकि—'इसे कामधेनु से कम नहीं समझना चाहिये' और इस के ऊपर तुम्हारा आक्रमण हुआ है, उसे भी शङ्कर भगवान् के सामर्थ्य से ही समझना चाहिये न कि अपनी सामर्थ्य से॥ ५४॥

तर्हि किं चिकीर्षितमित्याह—

सेयं स्वदेहार्पणनिष्क्रयेण न्याय्या मया मोचयितुं भवत्तः।
न पारणा स्याद्विहता तवैवं भवेदलुप्तश्च मुनेः क्रियाऽर्थः॥ ५५॥

सेयमिति। सेयं गौर्मया निष्क्रीयते प्रत्याह्रियतेऽनेन परिगृहीतमिति निष्क्रयः प्रतिशीर्षकम् 'एरच्' इत्यच्प्रत्ययः। स्वदेहार्पणमेव निष्क्रयः तेन। भवतस्त्वत्तः। पञ्चम्यास्तसिल्। मोचयितुं न्याय्या न्यायादनपेता। युक्तेत्यर्थः। 'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते' इत्यनेन यत्प्रत्ययः। एवं सति तव पारणा भोजनं विहता न स्यात्। मुनेः क्रिया होमादिः स एवार्थः प्रयोजनम्। स चालुप्तो भवेत्। स्वप्राणव्ययेनापि स्वामिगुरुधनं संरक्ष्यमिति भावः॥ ५५॥

कामधेनु के तुल्य उसी इस नन्दिनी का मुझे अपने शरीर का त्याग कर देना ही रूप निष्क्रय के द्वारा आप से छुडाना न्यायसङ्गत है, ऐसा करने पर आपका व्रतके अन्त का भोजन (पारणा) भी नष्ट नहीं होगा, वसिष्ठ महर्षि का होमादिरूप प्रयोजन भी नष्ट नहीं होगा॥ ५५॥

अत्र भवानेव प्रमाणमित्याह—

भवानपीदं परवानवैति महान् हि यत्नस्तव देवदारौ।
स्थातुं नियोक्तुर्न हि शक्यमग्रे विनाश्य रक्ष्यं स्वयमक्षतेन॥५६॥

भवानिति। परवान्स्वामिपरतन्त्रो भवानपि। 'परतन्त्रः पराधीनः परवान्नाथवानपि' इत्यमरः। इदं वक्ष्यमाणमवैति। भवताऽनुभूयत एवेत्यर्थः। 'शेषे प्रथमः' इति प्रथमपुरुषः। किमित्यत आह—हि यस्माद्धेतोः। 'हि हेतावधारणे' इत्यमरः। तव देवदारौ विषये महान् यत्नः। महता यत्नेन रक्षत इत्यर्थः। इदंशब्दोक्तमर्थं दर्शयति—स्थातुमिति। रक्ष्यं वस्तु विनाश्य विनाशं गमयित्वा स्वयमक्षतेनाव्रणेन। नियुक्तेनेति शेषः। नियोक्तुः स्वामिनोऽग्रे स्थातुं शक्यं न हि॥ ५६॥

पराधीन होते हुए आप भी इस (आगे कही जाने वाली) बात को जानते हैं, क्योंकि आपका देवदारु के विषय में 'रक्षा करने के लिए' बहुत भारी प्रयत्न है। 'अत एव' रक्षा

करने के योग्य वस्तु का नाश कर के स्वयं बिना नष्ट हुए, नौकर स्वामी के आगे उपस्थित होने के लिए समर्थ नहीं हो सकता ॥ ५६ ॥

अथवा चैतदप्रतिहार्यमित्याह—

किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं यशःशरीरे भव मे दयालुः ।
एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु ॥५७॥

किमिति । किमपि किं वाऽहं तवाहिंस्योऽवध्यो मतश्चेत्तर्हि मे यश एव शरीरं तस्मिन्दयालुः कारुणिको भव । 'स्याद्दयालुः कारुणिकः' इत्यमरः । ननु मुख्यमुपेक्ष्यामुख्यशरीरे कोऽभिनिवेशोऽत आह—एकान्तेति । मद्विधानां मादृशानां विवेकिनामेकान्तविध्वंसिष्ववश्यविनाशिषु भौतिकेषु पृथिव्यादिभूतविकारेषु पिण्डेषु शरीरेष्वनास्था खल्वनपेक्षैव । 'आस्था त्वालम्बनास्थानयत्नापेक्षासु कथ्यते' इति विश्वः ॥

और मैं यदि तुम्हारी समझ में अवध्य हूं तो मेरे यशरूप शरीर के विषय में तुम दयायुक्त हो क्योंकि हमारे ऐसे लोगों के अवश्य नष्ट होने वाले पृथ्वी जल-तेज-वायु आकाश इन पाँच महाभूतों से बने हुए शरीर में अपेक्षा नहीं रहती है ॥ ५७ ॥

सौहार्दादहमनुसरणीयोऽस्मीत्याह—

संबन्धमाभाषणपूर्वमाहुर्वृत्तः स नौ संगतयोर्वनान्ते ।
तद्भूतनाथानुग ! नार्हसि त्वं सम्बन्धिनो मे प्रणयं विहन्तुम् ॥५८॥

संबन्धमिति । संबन्धं सख्यम् । आभाषणमालापः पूर्वं कारणं यस्य तमाहुः । 'स्यादाभाषणमालापः' इत्यमरः । स तादृशसम्बन्धो वनान्ते संगतयोर्मिलितयोर्नौ वृत्तो जातः । ततो हेतोर्हे भूतनाथानुग ! शिवानुचर ! एतेन तस्य महत्त्वं सूचयति । अत एव सम्बन्धिनो मित्रस्य मे प्रणयं याच्ञाम् । 'प्रणयास्त्वमी । विस्रम्भयाच्ञाप्रेमाणः' इत्यमरः । विहन्तुं नार्हसि ॥ ५८ ॥

सम्बन्ध (मैत्री) को भी बातचीत से उत्पन्न हुआ लोग कहते हैं वह वन के बीच में मिले हुये हम दोनों का हो चुका है इस कारण से हे शिवजी के अनुचर सिंह ! तुम सम्बन्धी होकर मुझ मित्र की प्रार्थना को विफल करने के योग्य नहीं हो ॥ ५८ ॥

तथेति गामुक्तवते दिलीपः सद्यः प्रतिष्टम्भविमुक्तबाहुः ।
स न्यस्तशस्त्रो हरये स्वदेहमुपानयत्पिण्डमिवामिषस्य ॥ ५९ ॥

तथेतीति । तथेति गामुक्तवते हरये सिंहाय । 'कपौ सिंहे सुवर्णे च वर्णे विष्णौ हरिं विदुः' इति शाश्वतः । सद्यस्तत्क्षणे प्रतिष्टम्भात्प्रतिबन्धाद्विमुक्तो बाहुर्यस्य स दिलीपः । न्यस्तशस्त्रस्त्यक्तायुधः सन् । स्वदेहम् । आमिषस्य मांसस्य । 'पललं क्रव्यमामिषम्' इत्यमरः । पिण्डं कवलमिव । उपानयत्समर्पितवान् । एतेन निर्ममत्वमुक्तम् ॥ ५९ ॥

वैसा ही हो इस वचन को कहते हुए सिंह के लिए, उसी क्षण में रुकाव से छुटी

बाहु-वाले उन राजा दिलीप ने शस्त्र के त्यागने वाले होते हुए अपने शरीर को मांस के पिण्ड (ग्रास) के समान समर्पण कर दिया ॥ ५९ ॥

तस्मिन् क्षणे पालयितुः प्रजानामुत्पश्यतः सिंहनिपातमुग्रम् ।
अवाङ्मुखस्योपरि पुष्पवृष्टिः पपात विद्याधरहस्तमुक्ता ॥६०॥

तस्मिन्निति । तस्मिन्क्षणे उग्रं सिंहनिपातमुत्पश्यत उत्प्रेक्षमाणस्य तर्कयतोऽवाङ्मुखस्य 'स्यादवाङ्प्यधोमुखः' इत्यमरः । प्रजानां पालयितू राज्ञ उपर्युपरिष्टात् 'उपर्युपरिष्टात्' इति निपातः । विद्याधराणां देवयोनिविशेषाणां हस्तैर्मुक्ता पुष्पवृष्टिः पपात ॥ ६० ॥

उस क्षण में उत्कट सिंह के आक्रमण के विषय में विचार करते हुए नीचे को मुख किए प्रजाओं के पालन करने वाले राजा दिलीप के ऊपर विद्याधर नामक देवयोनिविशेषों के हाथों से छोटी गई फूलों की वर्षा हुई ॥ ६० ॥

उत्तिष्ठ वत्सेत्यमृतायमानं वचो निशम्योत्थितमुत्थितः सन् ।
ददर्श राजा जननीमिव स्वां गामग्रतः प्रस्रविणीं न सिंहम् ॥६१॥

उत्तिष्ठेति । राजा अमृतमिवाचरतीत्यमृतायमानं तत् 'उपमानादाचारे' इति क्यच् । ततः शानच् । उत्थितमुत्पन्नं 'हे वत्स ! उत्तिष्ठ' इति वचो निशम्य श्रुत्वा । उत्थितः सन् । अस्तेः शतृप्रत्ययः । अग्रतोऽग्रे प्रस्रवः क्षीरस्रावोऽस्ति यस्याः सा तां प्रस्रविणीं गां स्वां जननीमिव ददर्श सिंहं न ददर्श ॥ ६१ ॥

राजा दिलीप ने अमृत के समान (नन्दिनी के मुख से) निकले हुये 'हे पुत्र ! उठो' इस वचन को सुनकर उठते हुये आगे 'स्थित' जिसके 'स्तनों से' दूध बह रहा है ऐसी गौ (नन्दिनी) को अपनी मा के समान देखा 'किन्तु' सिंह को नहीं देखा ॥ ६१ ॥

तं विस्मितं धेनुरुवाच साधो ! मायां मयोद्भाव्य परीक्षितोऽसि ।
ऋषिप्रभावान्मयि नान्तकोऽपि प्रभुः प्रहर्तुं किमुतान्यहिंस्राः ॥६२॥

तमिति । विस्मितमाश्चर्यं गतम् । कर्तरि क्तः । तं दिलीपं धेनुरुवाच किमित्यत्राह—हे साधो ! मया मायामुद्भाव्य कल्पयित्वा परीक्षितोऽसि । ऋषिप्रभावान्मय्यन्तको यमोऽपि प्रहर्त्तुं न प्रभुर्न समर्थः अन्ये हिंस्रा घातुकाः । 'शरारुर्घातुको हिंस्रः' इत्यमरः । 'नमिकम्पिस्म्यजसकमहिंसदीपो रः' इत्यादिना रप्रत्ययः । किमुत सुष्ठु न प्रभव इति योज्यम् । 'बलवत्सुष्ठु किमुत स्वत्यतीव च निर्भरे' इत्यमरः ॥६२॥

आश्चर्य-युक्त उन राजा दिलीप से धेनु बोली कि—सज्जन महाराज दिलीप ! मैंने माया को उत्पन्न कर तुम्हारी परीक्षा ली थी, महर्षि वशिष्ठ जी के प्रभाव से यमराज भी मुझ पर प्रहार करने के लिये समर्थ नहीं हैं । दूसरे हिंस्र व्याघ्रादि तो अत्यन्त समर्थ नहीं हैं ॥

भक्त्या गुरौ मय्यनुकम्पया च प्रीतास्मि ते पुत्र ! वरं वृणीष्व ।
न केवलानां पयसां प्रसूतिमवेहि मां कामदुघां प्रसन्नाम् ॥ ६३ ॥

भक्त्येति। हे पुत्र! गुरौ भक्त्या मय्यनुकम्पया च ते तुभ्यं प्रीतास्मि। 'क्रियाग्रहणमपि कर्तव्यम्' इति चतुर्थी। वरं देवेभ्यो वरणीयमर्थम्। 'देवाद्वृते वरः श्रेष्ठे त्रिषु क्लीबं मनाक् प्रिये' इत्यमरः। वृणीष्व स्वीकुरु। तथाहि—मां केवलानां पयसां प्रसूतिं कारणं नावेहि न विद्धि। किन्तु प्रसन्नां माम्। कामान्दोग्धीति काम दुघा तामवेहि। 'दुहः कब्घश्च' इति कप्प्रत्ययः॥ ६३॥

हे पुत्र! वसिष्ठ महर्षि के विषय में भक्ति रखने से और मेरे विषय में दया रखने से मैं तुमपर प्रसन्न हूँ। इसलिए तू वर माँग और मुझे केवल दूध देने वाली गाय मत समझ प्रसन्न होने पर अभिलाषाओं को पूरी करने वाली जान॥ ६३॥

ततः समानीय स मानितार्थी हस्तौ स्वहस्तार्जितवीरशब्दः।
वंशस्य कर्तारमनन्तकीर्तिं सुदक्षिणायां तनयं ययाचे॥ ६४॥

तत इति। ततो मानितार्थी। स्वहस्तार्जितो वीर इति शब्दो येन एतेनास्य दातृत्वं दैन्यराहित्यं चोक्तम्। स राजा हस्तौ समानीय संधाय। अञ्जलिं बद्ध्वेत्यर्थः। वंशस्य कर्तारं प्रवर्तयितारम्। अत एव रघुकुलमिति प्रसिद्धिः। अनन्तकीर्तिं स्थिरयशसं तनयं सुदक्षिणायां ययाचे॥ ६४॥

इसके बाद याचकों को सम्मान करने वाले अपने हाथों से 'वीर' इस शब्द को प्राप्त करने वाले उन राजा दिलीप ने दोनों हाथों को जोड़ कर वंश को चलाने वाले स्थिर कीर्तिवाले पुत्र 'अपनी रानी सुदक्षिणा में होने की प्रार्थना की॥ ६४॥

सन्तानकामाय तथेति कामं राज्ञे प्रतिश्रुत्य पयस्विनी सा।
दुग्ध्वा पयः पत्रपुटे मदीयं पुत्रोपभुङ्क्ष्वेति तमादिदेश॥ ६५॥

सन्तानेति। पयस्विनी गौः। सन्तानं कामयत इति सन्तानकामः। 'कर्मण्यण्' तस्मै राज्ञे तथेति काम्यत इति कामो वरः। कर्मार्थे घञ्प्रत्ययः। तं प्रतिश्रुत्य प्रतिज्ञाय हे पुत्र! मदीयं पयः पत्रपुटे पत्रनिर्मिते पात्रे दुग्ध्वोपभुङ्क्ष्व। 'उपभुङ्क्ष्व' इति वा पाठः। 'पिब' इति तमादिदेशाज्ञापितवती॥ ६५॥

उस उत्तम दूध वाली नन्दिनी ने पुत्र चाहने वाले राजा दिलीप से 'वैसा ही हो' इसी वरदान की प्रतिज्ञा कर के 'हे पुत्र! मेरे दूध को पत्ते के दोने में दुह कर पी लो' ऐसी उन्हें आज्ञा दी॥ ६५॥

वत्सस्य होमार्थविधेश्च शेषमृषेरनुज्ञामधिगम्य मातः!।
औधस्यमिच्छामि तवोपभोक्तुं षष्ठांशमुर्व्या इव रक्षितायाः॥ ६६॥

वत्सस्येति। हे मातः! वत्सस्य वत्सपीतस्य शेषम्, वत्सपीतावशिष्टमित्यर्थः। होमः एवार्थः, तस्य विधिरनुष्ठानम् तस्य च शेषम्। होमावशिष्टमित्यर्थः। तव ऊधसि भवमौधस्यं क्षीरम्। 'शरीरावयवाच्च' इति यत्प्रत्ययः। रक्षिताया उर्व्याः षष्ठांशं षष्ठभागमिव। ऋषेरनुज्ञामधिगम्य उपभोक्तुमिच्छामि॥ ६६॥

हे मां ! मैं बछडे के पीने से तथा होमरूप प्रयोजन के अनुष्ठान (अग्निहोत्रादि) से बचे हुये तुम्हारे स्तनों से निकले हुवे दूध को पालन की गई पृथ्वी के षष्ठांश (छठा भाग रूप) कर की तरह ऋषि वसिष्ठ की आज्ञा प्राप्त करके पीना चाहता हूँ ॥ ६६ ॥

इत्थं क्षितीशेन वशिष्ठधेनुर्विज्ञापिता प्रीततरा बभूव ।
तदन्विता हैमवताच्च कुक्षेः प्रत्याययावाश्रममश्रमेण ॥ ६७ ॥

इत्थमिति । इत्थं क्षितीशेन विज्ञापिता वसिष्ठस्य धेनुः प्रीततरा, पूर्वं शुश्रूषया प्रीता सम्प्रत्यनया विज्ञापनया प्रीततराऽतिसन्तुष्टा बभूव । तदन्विता तेन दिलीपेनान्विता हैमवताद्धिमवत्सम्बन्धिनः कुक्षेर्गुहाया सकाशादश्रमेणानायासेनाश्रमं प्रत्याययावागता च ॥ ६७ ॥

इस प्रकार से राजा दिलीप की प्रार्थना करने से वसिष्ठ महर्षि की धेनु नन्दिनी अत्यन्त प्रसन्न हुई और दिलीप से युक्त होती हुई हिमालय की गुफा से बिना परिश्रम के आश्रम की तरफ लौटी ॥ ६७ ॥

तस्याः प्रसन्नेन्दुमुखः प्रसादं गुरुर्नृपाणां गुरवे निवेद्य ।
प्रहर्षचिह्नानुमितं प्रियायै शशंस वाचा पुनरुक्तयेव ॥ ६८ ॥

तस्या इति । प्रसन्नेन्दुरिव मुखं यस्य स नृपाणां गुरुर्दिलीपः प्रहर्षचिह्नैर्मुखरागादिभिरनुमितमूहितं तस्या धेनोः प्रसादमनुग्रहं प्रहर्षचिह्नैरेव ज्ञातत्वात्पुनरुक्तयेव वाचा गुरवे निवेद्य विज्ञाप्य पश्चात्प्रियायै शशंस । कथितस्यैव कथनं पुनरुक्तिः । न चेह तदस्ति । किन्तु चिह्नैः कथितप्रायत्वात्पुनरुक्तयेव स्थितयेत्युत्प्रेक्षा ॥ ६८ ॥

निर्मल चन्द्रमा की भाँति स्वच्छ मुखवाले राजाओं में श्रेष्ठ दिलीप ने अधिक प्रसन्नता के द्योतक मुख की लालिमा आदि चिह्नों से जिसका अनुमान हो रहा था, ऐसे उस नन्दिनी के वरदानरूपी अनुग्रह को हर्ष के जानने वाले चिह्नों से कहने से पहिले ही मालूम हो जाने से दुबारा कही जाती हुई की भाँति वाणी के द्वारा गुरु जी से निवेदन किया पश्चात् प्यारी पटरानी सुदक्षिणा से भी कहा ॥ ६८ ॥

स नन्दिनीस्तन्यमनिन्दितात्मा सद्वत्सलो वत्सहुतावशेषम् ।
पपौ वसिष्ठेन कृताभ्यनुज्ञः शुभ्रं यशो मूर्त्तमिवातितृष्णः ॥ ६९ ॥

स इति । अनिन्दितात्माऽगर्हितस्वभावः । सत्सु वत्सलः प्रेमवान्सद्वत्सलः । 'वत्सांसाभ्यां कामबले' इति लच्प्रत्ययः । वसिष्ठेन कृताभ्यनुज्ञः । कृतानुमतिः स राजा वत्सस्य हुतस्य चावशेषं पीतहुतावशिष्टं नन्दिन्याः स्तन्यं क्षीरं शुभ्रं मूर्त्तं परिच्छिन्नं यश इव । अतितृष्णः सन् पपौ ॥ ६९ ॥

प्रशंसनीय स्वभाव वाले, सज्जनों से प्रेम रखने वाले, वसिष्ठ महर्षि की आज्ञा को प्राप्त किये हुए, उन राजा दिलीप ने बछडे के पीने से तथा अग्निहोत्र से बचे हुए नन्दिनी के

दूध को सफेद मूर्ति को धारण किये हुए यश की भाँति अधिक तृष्णा से युक्त होते हुए पिया ॥ ६९ ॥

प्रातर्यथोक्तव्रतपारणान्ते प्रास्थानिकं स्वस्त्ययनं प्रयुज्य ।
तौ दम्पती स्वां प्रति राजधानीं प्रस्थापयामास वशी वसिष्ठः ॥ ७० ॥

प्रातरिति । वशी वसिष्ठः प्रातः । यथोक्तस्य व्रतस्य गोसेवारूपस्य या पारणा तस्या अन्ते प्रास्थानिकं प्रस्थानकाले भवं तत्कालोचितमित्यर्थः। 'कालाट्ठञ्' इति ठञ्प्रत्ययः । 'यथा कथंचिद् गुणवृत्त्याऽपि काले वर्तमानत्वात् प्रत्यय इष्यते' इति वृत्तिकारः । ईयते प्राप्यतेऽनेनेत्ययनं स्वस्त्ययनं शुभावहमाशीर्वादं प्रयुज्य तौ दम्पती स्वां राजधानीं प्रति प्रस्थापयामास ॥ ७० ॥

इन्द्रियों के ऊपर अपनी प्रभुता रखने वाले (जितेन्द्रिय) वसिष्ठ महर्षि ने प्रातःकाल में पूर्वोक्त गोसेवारूप व्रत की पारणा कर चुकने के बाद प्रस्थान-कालोचित स्वस्त्ययन करके उन दोनों को पुण्य सुदक्षिणा और दिलीप को उनकी राजधानी अयोध्या की तरफ भेजा ॥ ७० ॥

प्रदक्षिणीकृत्य हुतं हुताशमनन्तरं भर्तुररुन्धतीं च ।
धेनुं सवत्सां च नृपः प्रतस्थे सन्मङ्गलोदग्रतरप्रभावः ॥ ७१ ॥

प्रदक्षिणीकृत्येति । नृपः हुतं तर्पितं, हुतमश्नातीति हुताशोऽग्निः । 'कर्मण्यण्'। तं भर्तुर्मुनेरनन्तरम् प्रदक्षिणानन्तरमित्यर्थः । अरुन्धतीं च सवत्सां धेनुं च प्रदक्षिणीकृत्य प्रगतं दक्षिणम् । 'तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च' इत्यव्ययीभावः । ततश्च्विः । अप्रदक्षिणं सम्पद्यमानं कृत्वा प्रदक्षिणीकृत्य सद्भिर्मङ्गलाचारैरुदग्रतरप्रभावः सन् प्रतस्थे ॥

राजा दिलीप ने आहुति दिये हुए अग्नि की तथा रक्षा करने वाले वसिष्ठ जी की प्रदक्षिणा कर चुकने के बाद उनकी पत्नी अरुन्धती तथा बछड़े के सहित नन्दिनी की भी प्रदक्षिणा करके अपने मङ्गलमय प्रदक्षिणा आदि करने से बढ़े हुये तेज वाले होते हुए प्रस्थान किया ॥ ७१ ॥

श्रोत्राभिरामध्वनिना रथेन स धर्मपत्नीसहितः सहिष्णुः ।
ययावनुद्घातसुखेन मार्गं स्वेनेव पूर्णेन मनोरथेन ॥ ७२ ॥

श्रोत्रेति । धर्मपत्नीसहितः सहिष्णुर्व्रतादिदुःखसहनशीलः स नृपः श्रोत्राभिरामध्वनिना कर्णाह्लादकरस्वनेनानुद्घातः पाषाणादिप्रतिघातरहितः । अत एव सुखयतीति सुखम्, तेन रथेन स्वेन पूर्णेन सफलेन मनोरथेनेव मार्गमध्वानं ययौ । मनोरथपक्षे-प्यधिक युक्तिः । अनुद्घातः प्रतिबन्धनिवृत्तिः ॥ ७२ ॥

धर्मपत्नी सुदक्षिणा के सहित व्रतादि सम्बन्धी दुःखों के सहन करने वाले वह राजा दिलीप ने कानों को सुख देनेवाली है ध्वनि जिसकी, तथा नीचे ऊँचे पत्थरों के ठोकर लगने से जिससे हिल नहीं सकता, अत एव सुखमय रथ से भी अपने ही कामों को

सुख देने वाला है तथा प्रतिबन्ध के दूर हो जाने से आनन्दप्रद है ऐसे अपने सफल हुए मनोरथ के समान रास्ता को तय करने लगे ॥ ७२ ॥

तमाहितौत्सुक्यमदर्शनेन प्रजाः प्रजाऽर्थव्रतकर्शिताङ्गम् ।
नेत्रैः पपुस्तृप्तिमनाप्नुवद्भिर्नवोदयं नाथमिवौषधीनाम् ॥ ७३ ॥

तमिति। अदर्शनेन प्रवासनिमित्तेनाहितौत्सुक्य जनितदर्शनोत्कण्ठ्यम्। प्रजाऽर्थेन सन्तानार्थेन व्रतेन नियमेन कर्शित कृशीकृतमङ्ग यस्य तम्। नवोदय नवाभ्युदय प्रजास्तृप्तिमनाप्नुवद्भिरतिगृध्नुभिर्नेत्रै। ओषधीना नाथ सोममिव तं राजानं पपु। अत्यास्थया ददृशुरित्यर्थ.। चन्द्रपक्षे—अदर्शन कलाक्षयनिमित्त प्रजाऽर्थं लोकहितार्थं व्रतं देवताभ्य कलादाननियम. (त च सोम पपुर्देवा पर्यायेणानुपूर्वशः) इति व्यास.। उदय आविर्भाव । अन्यत्समानम् ॥ ७३ ॥

प्रवास करने के कारण से नहीं देख पड़ने से 'चन्द्रपक्ष में' कला के क्षय हो जाने से नहीं दीख पड़ने से लोगों में देखने की उत्कण्ठा जिसने उत्पन्न करा दी है तथा पुत्र के लिए गोसेवारूप व्रत करने से जिनका शरीर कृश हो गया है 'चन्द्रपक्ष में' लोक के हित के लिये देवताओं को अमृतरूपी कलाओं के दानरूपी नियम से जिनका शरीर कृश हो गया है, तथा जिनकी नवीन उन्नति हुई है 'चन्द्रपक्ष में' जिनका नवीन आविर्भाव हुआ है, ऐसे ओषधियों के स्वामी चन्द्रमा की भाति उन राजा दिलीप को प्रजाओं ने अतृप्त नेत्रों से देखा ॥ ७३ ॥

पुरन्दरश्री पुरमुत्पताकं प्रविश्य पौरैरभिनन्द्यमानः ।
भुजे भुजङ्गेन्द्रसमानसारे भूयः स भूमेर्धुरमाससञ्ज ॥ ७४ ॥

पुरन्दरेति। पुर पुरीरसुराणां दारयतीति पुरन्दर शक्रः। 'पूःसर्वयोर्दारिसहो:' इति खच्प्रत्यय। 'वाचयमपुरन्दरौ च' मुमागमो निपातित। तस्य श्रीरिव श्रीर्यस्य स नृपः पौरैरभिनन्द्यमान। उत्पताकमुच्छ्रितध्वजम्। 'पताका वैजयन्ती स्यात् केतनं ध्वजमस्त्रियाम्' इत्यमर। पुर प्रविश्य भुजङ्गेन्द्रेण समानसारे तुल्य वले। 'सारो वले स्थिरांशे च न्याय्ये क्लीव वरे त्रिषु' इत्यमर। भुजे भूयो भूमेर्धुरमाससञ्ज स्थापितवान् ॥ ७४ ॥

इन्द्र के समान कान्ति वाले उन राजा दिलीप ने पुरवासियों से अभिनन्दन किये जाते हुए, जिसमें पताकायें फहरा रही थीं, ऐसे 'अयोध्या' नामक नगर में प्रवेश करके सर्पराज वासुकि के समान वल रखने वाले वाहु पर फिर पृथ्वी के पालनरूप भार को धारण किया ॥ ७४ ॥

अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः सुरसरिदिव तेजो वह्निनिष्ठ्यूतमैशम्।
नरपतिकुलभूत्यै गर्भमाधत्त राज्ञी गुरुभिरभिनिविष्टं लोकपालानुभावैः ॥

अथेति। अथ द्यौ सुरवर्त्म। 'द्यौः स्वर्गसुरवर्त्मनो' इति विश्व। अत्रेर्महर्षेर्नय-

नयोः समुत्थमुत्पन्नं नयनसमुत्थम् । 'आतश्चोपसर्गे' इति कप्रत्ययः । ज्योतिरिव चन्द्रमिवेत्यर्थः । 'अत्रेस्त्वा स्यादत्रिनेत्रप्रसूतः' इति हलायुधः । चन्द्रस्यात्रिनेत्रोद्भूतत्वमुक्तं हरिवंशे 'नेत्राभ्यां वारि सुस्राव दशधा द्योतयद्दिशः । तद्गर्भं विधिना हृष्टा दिशो देव्यो दधुस्तदा ॥ समेत्य धारयामासुर्न च ताः समशक्नुवन् । स ताभ्यः सहसैवाथ दिग्भ्यो गर्भः प्रभान्वितः । पपात भासयँल्लोकाञ्छीतांशुः सर्वभावनः ॥' इति । सुरसरिद् गङ्गा वह्निना निष्ठ्यूतं निक्षिप्तं 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' इत्यनेन निष्ठ्यूत इति वकारस्य ऊठ् । 'शुक्रं तेजोरेतसी च बीजवीर्येन्द्रियाणि च' इत्यमरः । ऐशं तेजः स्कन्दमिव । अत्र रामायणम्—(ते गत्वा पर्वतं राम कैलासं धातुमण्डितम् । अग्निं नियोजयामासुः पुत्रार्थं सर्वदेवताः ॥ देवकार्यमिदं देव ! समाधत्स्व हुताशन ! शैलपुत्र्यां महातेजो गङ्गायां तेज उत्सृज ॥ देवतानां प्रतिज्ञाय गङ्गामभ्येत्य पावकः । गर्भं धारय वै देवि ! देवतानामिदं प्रियम् ॥ इत्येतद्वचनं श्रुत्वा दिव्यं रूपमधारयत् । सा तस्य महिमां दृष्ट्वा समन्तादवकीर्यत ॥ समन्ततस्तु तां देवीमभ्यषिञ्चत पावकः । सर्वस्रोतांसि पूर्णानि गङ्गाया रघुनन्दन ! ॥ इति ।) राज्ञी सुदक्षिणा नरपतिर्दिलीपस्तस्य कुलभूत्यै संततिलक्षणायै गुरुभिर्महद्भिर्लोकपालानामनुभावैस्तेजोभिरभिनिविष्टमनुप्रविष्टं गर्भमाधत्त धारयामासेत्यर्थः । अत्र मनुः—(अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृपः) इति । आधत्त इत्यनेन धीकर्तृकधारणमात्रमुच्यते । तथा मन्त्रे च दृश्यते—(यथेयं पृथिवी मह्युत्ताना गर्भमादधे । एवं तं गर्भमाधेहि दशमे मासि सूतवे)। इत्यापस्तम्बानां सीमन्तमन्त्रे धीव्यापारवाचिन आधानशब्दप्रयोगदर्शनादिति । मालिनीवृत्तमेतत् । तदुक्तम्—'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' इति लक्षणात् ॥ ७५ ॥

इति संजीविनीव्याख्यायां नन्दिनीवरप्रदानो नाम द्वितीयः सर्गः ।

इसके बाद आकाश ने जैसे अत्रि मुनि के नेत्रों से उत्पन्न ज्योतिःस्वरूप चन्द्रमा को और देवनदी गङ्गाजी ने जैसे अग्नि से फेंके हुवे शंकरतेजको (स्कन्द को पैदा करने वाले) वीर्य को धारण किया उसी भाँति रानी सुदक्षिणा ने भी राजा दिलीप के कुल की उन्नति के लिए बड़े लोकपालों के तेज से गर्भ को धारण किया ॥ ७५ ॥

इति रघुवंशमहाकाव्ये द्वितीयः सर्गः ।

तृतीयः सर्गः

'राज्ञी गर्भमाधत्त' (२ ७५) इत्युक्तम् । सम्प्रति गर्भलक्षणानि वर्णयितुं प्रस्तौति—

अथेप्सितं भर्तुरुपस्थितोदयं सखीजनोद्वीक्षणकौमुदीमुखम् ।
निदानमिक्ष्वाकुकुलस्य सन्ततेः सुदक्षिणा दौर्हृदलक्षणं दधौ ॥ १ ॥

उपाधिगम्योऽप्यनुपाधिगम्यः समावलोक्योऽप्यसमावलोक्यः ।
भवोऽपि योऽभूदभवः शिवोऽयं जगन्त्यपायादपि न स पायात् ॥

अथेति । अथ गर्भधारणानन्तरं सुदक्षिणा । उपस्थितोदयं प्राप्तकालं भर्तुर्दिलीपस्येप्सितं मनोरथम् । भावे क्तः । पुनः सखीजनस्योद्वीक्षणानां दृष्टीनां कौमुदीमुखं चन्द्रिकाप्रादुर्भावम् । यद्वा कौमुदी नाम दीपोत्सवतिथिः तदुक्तं भविष्योत्तरे— (कौ मोदन्ते जना यस्यां तेनासौ कौमुदी मता) इति । तस्याः मुखं प्रारम्भम् । 'सखीजनोद्वीक्षणकौमुदी' इति पाठं केचित्पठन्ति । इक्ष्वाकुकुलस्य सन्ततेरविच्छेदस्य निदानं मूलकारणम् । 'निदानं त्वादिकारणम्' इत्यमरः । एवंविधं दौर्हृदलक्षणं गर्भचिह्नं वक्ष्यमाणं दधौ । स्वहृदयेन गर्भहृदयेन च द्विहृदया गर्भिणी । यथाऽऽह वाग्भटः-(मातृजमस्य हृदयं मातुश्च हृदयेन तत् । सम्बद्धं तेन गर्भिण्याः श्रेष्ठं श्रद्धाभिमाननम् ।) इति । तत्सम्बन्धित्वाद् गर्भो दौर्हृदमित्युच्यते । सा च तद्योगाद्दौर्हृदिनीति । तदुक्तं सग्रहे- (द्विहृदयां नारीं दौर्हृदिनीमाचक्षते) इति । अत्र दौर्हृदलक्षणस्येप्सितत्वेन कौमुदीमुखत्वेन च निरूपणाद् रूपकालङ्कारः । अस्मिन् सर्गे वंशस्थं वृत्तम्—(जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ) इति लक्षणात् ॥ १ ॥

उस के बाद रानी सुदक्षिणा ने जिसका समय उपस्थित हो गया है और जो स्वामी महाराज दिलीप का अभीष्ट है तथा सखी लोगों के नेत्रों को आह्लादित करने वाली चन्द्रिका का जो प्रादुर्भावस्वरूप है और जो इक्ष्वाकुवंश के सन्तान (पुत्र) का मुख्य कारण है, ऐसे गर्भ के लक्षण जो कि आगे शरीर की कृशता आदि से कहे जायेंगे उनको धारण किया ॥

सम्प्रति क्षामताऽऽख्यं गर्भलक्षणं वर्णयति—

शरीरसादादसमग्रभूषणा मुखेन साऽलक्ष्यत लोध्रपाण्डुना ।
तनुप्रकाशेन विचेयतारका प्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी ॥ २ ॥

शरीरेति । शरीरस्य सादात्कार्श्यादसमग्रभूषणा परिमिताभरणा लोध्रपुष्पेणेव पाण्डुना मुखेनोपलक्षिता सा सुदक्षिणा । विचेया मृग्यास्तारका यस्यां सा तथोक्ता । विरलनक्षत्रेत्यर्थः । तनुप्रकाशेनाल्पकान्तिना शशिनोपलक्षितेषत्समाप्तप्रभाता प्रभातकल्पा । प्रभातादीषदूनेत्यर्थः । 'तसिलादिष्वाकृत्वसुचः' इति प्रभातशब्दस्य पुंवद्भावः । शर्वरी रात्रिरिव । अलक्ष्यत । शरीरसादादिगर्भलक्षणमाह वाग्भटः —

(क्षामता गरिमा कुक्षेर्मूर्च्छा छर्दिररोचकम् । जृम्भा प्रसेकः सदनं रोमराज्याः प्रकाशनम्) ॥ इति ॥ २ ॥

शरीर के कृश हो जाने के कारण से सारे आभूषणों को नहीं पहने हुई लोध्र के फूल के रङ्ग की तरह पाण्डु वर्ण वाले मुख से उपलक्षित (लक्ष्य की जाती हुई) उस रानी सुदक्षिणा को थोड़े बाकी तारक (सितारे) नक्षत्रों वाली थोड़ी कान्ति से युक्त चन्द्रमा से उपलक्षित सबेरा होने में थोड़ी ही देरी जिसमें है ऐसी रात्रि के समान लोगों ने देखा ॥२॥

तदाननं मृत्सुरभि क्षितीश्वरो रहस्युपाघ्राय न तृप्तिमाययौ ।
करीव सिक्तं पृषतैः पयोमुचां शुचिव्यपाये वनराजिपल्वलम् ॥३॥

तदिति । क्षितीश्वरो रहसि मृदा सुरभि तस्या आननं तदाननं मुहुरुपाघ्राय तृप्तिं न ययौ । क इव । शुचिव्यपाये ग्रीष्मावसाने । 'शुचिः शुद्धेऽनुपहते शृङ्गाराषाढयोः सिते । ग्रीष्मे हुतवहेऽपि स्यादुपधाशुद्धमन्त्रिणि ॥' इति विश्वः । पयोमुचां मेघानां पृषतैर्बिन्दुभिः । 'पृषन्ति बिन्दुपृषताः' इत्यमरः । सिक्तमुक्षितं वनराज्याः पल्वलमुपाघ्राय करी गज इव । अत्र करिवनराजिपल्वलाभ्यां कान्तकामिनीवदनसमाधिरनुसन्धेयः । गर्भिणीनां मृद्भक्षणं लोकप्रसिद्धमेव । एतेन दोहदाख्यं गर्भलक्षणमुच्यते ॥ ३ ॥

पृथ्वी के स्वामी राजा दिलीप ने एकान्त में मिट्टी के खाने से सुगन्ध युक्त उस सुदक्षिणा के मुख को सूंघ कर गर्मी के अन्त में मेघों के बूंदों से सींचे हुए वन की कतारों के बीच में स्थित छोटे तालाब (थोड़े जल वाले गड्ढे) को सूंघ कर हाथी के समान तृप्ति को नहीं प्राप्त किया ॥ ३ ॥

दौहृदलक्षणे मृद्भक्षणे हेत्वन्तरमुत्प्रेक्षते—

दिवं मरुत्वानिव भोक्ष्यते भुवं दिगन्तविश्रान्तरथो हि तत्सुतः ।
अतोऽभिलाषे प्रथमं तथाविधे मनो बबन्धान्यरसान्विलङ्घ्य सा ॥

दिवमिति । हि यस्माद्दिगन्तविश्रान्तरथश्चक्रवर्ती तस्याः सुतस्तत्सुतः । मरुत्वा निन्द्रः । 'इन्द्रो मरुत्वान्मघवा' इत्यमरः । दिवं स्वर्गमिव भुवं भोक्ष्यते । 'भुजोऽनवने' इत्यात्मनेपदम् । अतः प्रथमं सा सुदक्षिणा तथाविधे मृद्विकारे पार्थिवे । अभिलष्यत इत्यभिलाषो भोग्यवस्तु तस्मिन् । कर्मणि घञ्प्रत्ययः । रस्यन्त आस्वाद्यन्त इति रसा भोग्यार्थाः । अन्ये च ते रसाश्च तान्विलङ्घ्य विहाय मनो बबन्ध । निवेशितवती । दोहदहेतुकस्य मृद्भक्षणस्य पुत्रभूभोगसूचकार्थत्वमुत्प्रेक्षते ॥ ४ ॥

क्योंकि दिशाओं के अन्त में रथ को विश्राम कराने (पहुंचाने) वाला (चक्रवर्ती) उस (सुदक्षिणा) का पुत्र इन्द्र जैसे स्वर्ग का भोग करता है उसी भांति पृथ्वी का भोग करेगा इस कारण से प्रथम उस (सुदक्षिणा) ने उस प्रकार के मिट्टीरूप भोग्यवस्तु में अन्य चखने लायक वस्तुओं को छोड़ कर मन लगाया ॥ ४ ॥

न मे ह्रिया शंसति किञ्चिदीप्सितं स्पृहावती वस्तुषु केषु मागधी ।
इति स्म पृच्छत्यनुवेलमादृतः प्रियासखीरुत्तरकोसलेश्वरः ॥ ५ ॥

नेति । मगधस्य राज्ञोऽपत्यं स्त्री मागधी सुदक्षिणा । 'द्व्यञ्मगधकलिङ्गसूरमसादण्' इत्यण्प्रत्ययः । ह्रिया किञ्चित् किमपीप्सितमिष्टं मे मह्यं न शंसति नाचष्टे । केषु वस्तुषु स्पृहावतीत्यनुवेलमनुक्षणमादृत आदृतवान् । कर्तरि क्तः । 'आदृतौ सादरार्चितौ' इत्यमरः । प्रियायाः सखीः सहचरीरुत्तरकोसलेश्वरो दिलीपः । पृच्छति स्म पप्रच्छ । 'लट् स्मे' इत्यनेन भूतार्थे लट् । सखीनां विश्रम्भभूमित्वादिति भावः ॥ ५ ॥

मगध देश के राजा की लड़की रानी सुदक्षिणा लज्जा से किसी अभिलाषा को मुझसे नहीं प्रकट करती है, अतः किन वस्तुओं में पाने की उसकी इच्छा रहती है । इस बात को वारवार आदरपूर्वक रानी की सखियों से उत्तरकोसल देश के अधिपति राजा दिलीप पूछा करते थे ॥ ५ ॥

उपेत्य सा दोहददुःखशीलतां यदेव वव्रे तदपश्यदाहृतम् ।
न हीष्टमस्य त्रिदिवेऽपि भूपतेरभूदनासाद्यमधिज्यधन्वनः ॥ ६ ॥

उपेत्येति । दोहदं गर्भिणीमनोरथः । 'दोहदं दौर्हृदं श्रद्धा लालसेन समं स्मृतम्' इति हलायुधः । सा सुदक्षिणा दोहदेन गर्भिणीमनोरथेन दुःखशीलतां दुःखस्वभावमुपेत्य प्राप्य यद्वस्तु वव्रे आचकाङ्क्ष तदाहृतमानीतम् । भर्त्रेति शेषः । अपश्यदेव अलभतेत्यर्थः । कुतः । हि यस्मादस्य भूपतेस्त्रिदिवेऽपि स्वर्गेऽपीष्टं वस्त्वनासाद्यमनवाप्यं नाभूत् । किं याच्ञया ? इत्याह–अधिज्यधन्वन इति । नहि वीरपत्नीनामलभ्यं नाम किञ्चिदस्तीति भावः । अत्र वाग्भटः–(पादशोफो विदाहोऽन्ते श्रद्धा च विविधात्मिका) इति । एतच्च पत्नीमनोरथपूरणाकरणे दृष्टदोषसम्भवाद् न तु राज्ञः प्रीतिलौल्यात् । तदुक्तम्–(देयमप्यहितं तस्यै हितोपहितमल्पकम् । श्रद्धाविघाते गर्भस्य विकृतिश्च्युतिरेव वा ।) अन्यत्र च–(दोहदस्याप्रदानेन गर्भो दोषमवाप्नुयात्) इति ॥ ६ ॥

उस सुदक्षिणा ने गर्भिणियों का मनोरथ द्वारा जो दुःख पाने का स्वभाव है उसे पाकर जिस वस्तु के पाने की इच्छा की उसी को महाराज दिलीप से तुरन्त मगवाई गई देखा । क्योंकि धनुष को चढाये हुए इन महाराज दिलीपके स्वर्ग में भी वाञ्छित वस्तु हो तो वह भी पाने के लायक नहीं हुई यह नहीं कह सकते अर्थात् पाने के योग्य ही हुई ॥ ६ ॥

क्रमेण निस्तीर्य च दोहदव्यथां प्रचीयमानावयवा रराज सा ।
पुराणपत्रापगमादनन्तरं लतेव सन्नद्धमनोज्ञपल्लवा ॥ ७ ॥

क्रमेणेति । सा सुदक्षिणा क्रमेण दोहदव्यथां च निस्तीर्य प्रचीयमानावयवा

पुष्यमाणावयवा सती। पुराणपत्राणामपगमात्पातादनन्तरं सन्नद्धाः सञ्जाताः मनो- ज्ञाः पल्लवा यस्याः सा लतेव रराज ॥ ७ ॥

और वह रानी सुदक्षिणा क्रम से गर्भिणियों के मनोरथ से जो व्यथा होती है उसे अतिक्रमण करके, जिसके अवयव पुष्ट हो रहे हैं ऐसी होती हुई पुराने पत्तों के गिरने के बाद, नवीन होने से सुन्दर पल्लव जिसमें उत्पन्न हो गये हैं ऐसी लता के समान सुशोभित हुई ॥ ७ ॥

अवस्थान्तरं वर्णयति—

दिनेषु गच्छत्सु नितान्तपीवरं तदीयमानीलमुखं स्तनद्वयम् ।
तिरश्चकार भ्रमराभिलीनयोः सुजातयोः पङ्कजकोशयोः श्रियम् ॥८॥

दिनेष्विति। दिनेषु दोहददिवसेषु गच्छत्सु सत्सु नितान्तपीवरमतिस्थूलम्। आसमन्तान्नीले मुखे चूचुके यस्य तत्। तदीयं स्तनद्वयम्। भ्रमरैरभिलीनयोरभि- व्याप्तयोः सुजातयोः सुन्दरयोः पङ्कजकोशयोः पद्ममुकुलयोः श्रियं तिरश्चकार। अत्र वाग्भटः—(अम्लेष्टता स्तनौ पीनौ श्वेतान्तौ कृष्णचूचुकौ) इति ॥ ८ ॥

कुछ दिन व्यतीत होने पर अत्यन्त मोटे और चारों तरफ से नील वर्ण मुख वाले उस सुदक्षिणा के दोनों कुचों ने भौंरे से व्याप्त सुन्दर कमल की दो कलियों की शोभा को अपनी शोभा से नीचा कर दिया ॥ ८ ॥

निधानगर्भामिव सागराम्बरां शमीमिवाभ्यन्तरलीनपावकाम् ।
नदीमिवान्तःसलिलां सरस्वतीं नृपः ससत्त्वां महिषीममन्यत ॥९॥

निधानेति। नृपः ससत्त्वामापन्नसत्त्वां गर्भिणीमित्यर्थः। 'आपन्नसत्त्वा स्याद् गुर्विण्यन्तर्वत्नी च गर्भिणी' इत्यमरः। महिषीं निधानं निधिर्गर्भे यस्यास्तां सागरा- म्बरां समुद्रवसनाम् भूमिमित्यर्थः। 'भूतधात्री रत्नगर्भा जगती सागराम्बरा' इति कोशः। अभ्यन्तरे लीनः पावको यस्यास्तां शमीमिव। शमीतरौ वह्निरस्ती- त्यत्र लिङ्गं 'शमीगर्भादग्निं मन्थतीति'। अन्तःसलिलामन्तर्गतजलां सरस्वतीं नदी- मिव। अमन्यत। एतेन गर्भस्य भाग्यवत्त्वतेजस्वित्वपावनत्वानि विवक्षितानि ॥९॥

राजा दिलीप ने गर्भिणी रानी सुदक्षिणा को गर्भ में रत्नों के निधि को रखने वाली पृथ्वी तथा भीतर में छिपी हुई अग्नि को रखने वाले शमी वृक्ष और अन्तर्गत जल वाली सरस्वती नदी के समान समझा ॥ ९ ॥

प्रियाऽनुरागस्य मनःसमुन्नतेर्भुजार्जितानां च दिगन्तसम्पदाम् ।
यथाक्रमं पुंसवनादिकाः क्रिया धृतेश्च धीरः सदृशीर्व्यधत्त सः ॥१०॥

प्रियेति। धीरः स राजा प्रियायामनुरागस्य मनसः समुन्नतेरौदार्यस्य भुजेन भुजबलेनोपार्जितानां न तु वाणिज्यादिना। दिगन्तेषु सम्पदां धनानां 'पुत्रो मे भविष्यती'ति सन्तोषस्य च। 'धृतिर्योगान्तरे धैर्यधारणाध्वरतुष्टिषु' इति विश्वः।

सदृशीरनुरूपा'। पुमान्सूयतेऽनेनेति पुंसवनं तदादिर्यासां ताः क्रिया यथाक्रमं क्रममनतिक्रम्य व्यधत्त कृतवान्। आदिशब्देनानवलोमनसीमन्तोन्नयने गृह्येते। अत्र (मासि द्वितीये तृतीये वा पुंसवनं यदा पुंसा नक्षत्रेण चन्द्रमा युक्तः स्यात्) इति पारस्कर। (चतुर्थेऽनवलोमनम्) इत्याश्वलायन'। (षष्ठेऽष्टमे वा सीमन्तोन्नयनम्) इति याज्ञवल्क्य ॥ १० ॥

बुद्धिमान् उन राजा दिलीप का जैसा रानी सुदक्षिणा में स्नेह था, तथा जैसी उनमें मन की उदारता थी और बाहुबल से उपार्जित चारों दिशाओं के प्रान्त की जैसी सम्पत्ति थी, तथा मेरे पुत्र होगा इससे जितना सन्तोष था, उसके अनुरूप पुंसवन आदि सभी संस्कारों को जैसा जिसका क्रम है उसी क्रम से उन्होंने किया ॥ १० ॥

सुरेन्द्रमात्राऽऽश्रितगर्भगौरवात् प्रयत्नमुक्तासनया गृहागतः।
तयोपचाराञ्जलिखिन्नहस्तया ननन्द पारिप्लवनेत्रया नृप. ॥ ११ ॥

सुरेन्द्रेति। गृहागतो नृप. सुरेन्द्राणां लोकपालानां मात्राभिरंशैराश्रितस्यानुप्रविष्टस्य गर्भस्य गौरवाद्भाराद्धेतोः प्रयत्नेन मुक्तासनया। आसनादुत्थितयेत्यर्थः। उपचारस्याञ्जलावञ्जलीकरणे खिन्नहस्तया पारिप्लवनेत्रया तरलाक्ष्या। 'चञ्चलं तरलं चैव पारिप्लवपरिप्लव.' इत्यमर.। तया सुदक्षिणया ननन्द। ('सुरेन्द्रमात्राऽऽश्रित' इत्यत्र मनु -अष्टाभिश्च सुरेन्द्राणां मात्राभिर्निर्मितो नृप') इति ॥ ११ ॥

गृह में आये हुए राजा दिलीप लोकपालों के अंशों से भरे हुये गर्भ की गुरुता से कोशिश करके अपने आसन का परित्याग किये हुई, तथा उपचारार्थ (प्रणाम करने के लिये) अञ्जलि बाँधने में शिथिल हाथ वाली होती हुई, अत एव चञ्चल नेत्रों वाली उस रानी सुदक्षिणा से बहुत खुश हुये ॥ ११ ॥

कुमारभृत्याकुशलैरनुष्ठिते भिषग्भिराप्तैरथ गर्भभर्मणि।
पतिः प्रतीतः प्रसवोन्मुखीं प्रियां ददर्श काले दिवमाश्रितामिव ॥

कुमारेति। अथ कुमारभृत्या बालचिकित्सा। 'सञ्ज्ञायां समजनिषद-'इत्यादिना क्यप्। तस्यां कुशलै' कृतिभि। 'कृती कुशल इत्यपि' इत्यमर'। आप्तैर्हितैर्भिषग्भिर्वैद्यैः। 'भिषग्वैद्यो चिकित्सके' इत्यमर। गर्भस्य भर्मणि। 'भरणे पोषणे भर्म' इति हैम। 'भृतिर्भर्म' इति शाश्वत। भृञो मनिच्प्रत्यय 'गर्भकर्मणि' इति पाठे गर्भाधानप्रतीतावौचित्यभङ्ग। अनुष्ठिते कृते सति। काले दशमे मासि। अन्यत्र ग्रीष्मावसाने। प्रसवस्य गर्भमोचनस्योन्मुखीम्। आसन्नप्रसवामित्यर्थ.। 'स्यादुत्पादे फले पुष्पे प्रसवो गर्भमोचने' इत्यमर। प्रियां भार्याम्। अभ्राण्यस्या सञ्जातान्यभ्रिता ताम्। 'तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्' इतीतच्प्रत्यय.। दिवमिव। पतिर्भर्त्ता प्रतीतो हृष्ट. सन्। 'ख्याते हृष्टे प्रतीत' इत्यमरः। ददर्श दृष्टवान् ॥ १२॥

इसके (आसन्न प्रसव के लक्षण जानने के बाद) बालचिकित्सा में निपुण विश्वासपात्र वैद्यों के द्वारा गर्भ की रक्षा कर चुकने पर समय प्राप्त होने पर अर्थात् दसवें महीने में 'आकाशपथ में वर्षा ऋतु के आरम्भ काल में वर्षा करने के तरफ उन्मुख होती हुई प्यारी पत्नी सुदक्षिणा को वर्षोन्मुख मेघों से व्याप्त आकाश-लक्ष्मी की भाँति स्वामी राजा दिलीप ने प्रसन्न होते हुवे देखा ॥ १२ ॥

ग्रहैस्ततः पञ्चभिरुच्चसंश्रयैरसूर्यगैः सूचितभाग्यसम्पदम् ।
असूत पुत्रं समये शचीसमा त्रिसाधना शक्तिरिवार्थमक्षयम् ॥

ग्रहैरिति । ततः शच्येन्द्राण्या समा । 'पुलोमजा शचीन्द्राणी' इत्यमरः । सा सुदक्षिणा समये प्रसूतिकाले सति दशमे मासीत्यर्थः । (दशमे मासि जायते ।) इति श्रुतेः । पञ्चसंश्रयैरुच्चसंस्थैरुच्चस्थानगैरसूर्यगैरनस्तमितैः कैश्चिद् यथासम्भवं पञ्चभिर्ग्रहैः सूचिता भाग्यसम्पद्यस्य तं पुत्रम् । त्रीणि प्रभावमन्त्रोत्साहात्मकानि साधनान्युत्पादकानि यस्याः सा त्रिसाधना शक्तिः । 'शक्तयस्तिस्रः प्रभावोत्साहमन्त्रजाः' इत्यमरः । अक्षयमर्थमिव । असूत । 'षूङ् प्राणिगर्भविमोचने' इत्यस्मात् परिह्यु लभ्यते । तस्माल्लङ्—कर्तरि लङ् । अत्रेदमनुसन्धेयम्—(जयतुङ्गमसूयाङ्गमकुलीरा झषचन्द्रौ च दिवाकरादितुङ्गाः । दशमिति बिभ्रतु पुष्टिमीशियोपिनेष्विकमेक विभवतिमिम तैस्तदीयाः ॥) इति पूर्वाचार्योक्त्या मेषादयो भावा मेषवृषभादयो राशयः रवेर्मेषोच्चमिति निश्चितानि उच्चस्थानानि स्वस्वतुङ्गापेक्षया सप्तमस्थानानि च नीचानि । तत्रोच्चेष्वपि दशमादयो राशिविभागोक्ता यथाक्रमसुच्चेषु परमोच्चा नीचेषु परमनीचा इति ज्यौतिषकोक्तार्थः । अनस्तमिता मस्ता । यथाऽऽह नारदः—(सिंहस्थापरमर्क्षं कथम्) इति सूर्यसान्निध्यसम्भेदादनस्तमया नाम । तदुक्तं जातके—(रविणास्तमयो योगो वियोगस्तु तथा भवेत्) इति । ते च स्वोच्चस्था अन्ति भाग्यवान् अपि भोगवान् । तदुक्तं राजमृगाङ्के—(स्वोच्चे पूर्णं स्वत्रिकोणे सुहृद्भे पादं द्विषद्भेऽर्धं शुभं वीर्येषु । नीचस्थानी नास्तगो वा न किञ्चित्पादं पूर्णं स्वत्रिकोणे ददाति ॥) इति । तदिदमाह कविरुच्चसंस्थैरसूर्यगैरिति च । एवं सति यस्य जन्मकाले पञ्चप्रभृतयो ग्रहाः स्वोच्चस्थाः स एव तुङ्गे भवति । तदुक्तं वराहमिहिरे—(मुदितस्फुटकार्यौ राज्यमहिष्यकाम राजाधः । पुष्टिविभवजन्मैर्भवेत् परं द्विजनार ॥ इति) तदिदमाह—पञ्चभिरिति ॥ १३ ॥

इसके बाद इन्द्राणी के तुल्य रानी सुदक्षिणा ने प्रसव का समय (दसवाँ महीना) होने पर उच्च स्थान में स्थित सूर्य के सान्निध्य से अस्त को नहीं प्राप्त होते हुवे पाँच ग्रहों के द्वारा जिसकी भाग्यसम्पत्ति सूचित हो रही है ऐसे पुत्र को प्रभाव उत्साह, मन्त्र इन तीनों से उत्पन्न होने वाली शक्ति जैसे अक्षय अर्थ को उत्पन्न करती है उस भाँति उत्पन्न किया ॥ १३ ॥

दिशः प्रसेदुर्मरुतो ववुः सुखाः प्रदक्षिणार्चिर्हविरग्निराददे।
बभूव सर्वं शुभशंसि तत्क्षणं भवो हि लोकाभ्युदयाय तादृशाम् ॥१४॥

दिश इति। तत्क्षण तस्मिन् क्षणे। 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' इति द्वितीया। दिश प्रसेदु प्रसन्ना बभूवुः। मरुतो वाता सुखा मनोहरा ववुः। अग्निः प्रदक्षिणार्चि सन् हविराददे स्वीचकार। इत्थ सर्वं शुभशंसि शुभसूचक बभूव। तथाहि। तादृशा रघुप्रकाराणां भवो जन्म लोकाभ्युदयाय। भवतीति शेषः। ततो देवा अपि सन्तुष्टा इत्यर्थ.॥ १४॥

उस क्षण (रघु के जन्म समय) में दिशायें निर्मल हो गईं, सुख पहुँचाने वाला जिसका स्पर्श है, ऐसा वायु वहने लगा। अग्नि, दक्षिण के तरफ घूमकर जिसकी ज्वाला निकल रही है ऐसा होता हुआ, हवि घृत आदि को ग्रहण करने लगा। इस प्रकार से सभी 'उस समय' शुभ-सूचक लक्षण होने लगे। क्योंकि इस तरह के महापुरुषों का जन्म जगत् के कल्याण के लिये होता है॥ १४॥

अरिष्टशय्यां परितो विसारिणा सुजन्मनस्तस्य निजेन तेजसा।
निशीथदीपाः सहसा हतत्विषो बभूवुरालेख्यसमर्पिता इव ॥१५॥

अरिष्टशय्यामिति। 'अरिष्टं सूतिकागृहम्' इत्यमर। अरिष्टे सूतिकागृहे शय्यां तल्प परितोऽभित 'अभित परित. समयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि' इति द्वितीया। विसारिणा सुजन्मनः शोभनोत्पत्ते। 'जनुर्जननजन्मानि जनिरुत्पत्तिरुद्भव' इत्यमर.। तस्य शिशोर्निजेन नैसर्गिकेण तेजसा सहसा हतत्विष क्षीणकान्तयो निशीथदीपा अर्द्धरात्रप्रदीपा.। 'अर्धरात्रनिशीथौ द्वौ' इत्यमर। आलेख्यसमर्पिताश्चित्रार्पिता इव बभूवु। निशीथशब्दो दीपानां प्रभाऽऽधिक्यसम्भावनार्थ.॥ १५॥

सूतिकागृह में शय्या के चारों तरफ फैलने वाले, सुन्दर जन्म लेने वाले उस बालक रघु के स्वाभाविक तेज से एकाएक कान्ति क्षीण हो गयी है जिनकी ऐसे अर्धरात्रि के समय सभी प्रदीप चित्र में लिखे हुये की भाँति हो गये अर्थात् मालूम पडने लगे॥ १५॥

जनाय शुद्धान्तचराय शंसते कुमारजन्मामृतसम्मिताक्षरम्।
अदेयमासीत् त्रयमेव भूपतेः शशिप्रभं छत्रमुभे च चामरे॥ १६॥

जनायेति। भूपतेर्दिलीपस्यामृतसम्मिताक्षरममृतसमानाक्षरम्। 'सरूपसमसम्मिता' इत्याह दण्डी। कुमारजन्म पुत्रोत्पत्ति शंसते कथयते शुद्धान्तचरायान्तःपुरचारिणे जनाय त्रयमेवादेयमासीत्। तत् किं शशिप्रभमुज्ज्वल छत्रम्। उभे चामरे च। छत्रादीना राज्ञ प्रधानाङ्गत्वादिति भाव॥ १६॥

राजा दिलीप को अमृत के समान अक्षर हैं जिसके ऐसे 'पुत्र का जन्म हुआ है' इस बात को कहते हुये अन्त पुर में चलने फिरने वाले जो लोग हैं, उनके लिये तीन ही

वस्तुएँ नहीं देने योग्य थीं एक चन्द्र के समान स्वच्छ वर्ण छत्र और दो चामर, यही कुछ वस्तुएँ देने योग्य थीं ॥ १६ ॥

निवातपद्मस्तिमितेन चक्षुषा नृपस्य कान्तं पिबतः सुताननम् ।
महोदधेः पूर इवेन्दुदर्शनाद् गुरुः प्रहर्षः प्रबभूव नात्मनि ॥ १७ ॥

निवातेति । निवातो निर्वातप्रदेशः । 'निवातावाश्रयावातौ' इत्यमरः । तत्र यत् पद्मं तद्वत्स्तिमितेन निष्पन्देन चक्षुषा नेत्रेण कान्तं सुन्दरं सुताननं पुत्रमुखं पिबतः सतृष्णया पश्यतो नृपस्य गुरुर्महान् प्रहर्षः (कर्ता) इन्दुदर्शनाद् गुरुर्महोदधेः पूरो जलौघ इव । आत्मनि शरीरे न प्रबभूव स्थातुं न शशाक । अन्तर्न माति स्मेति यावत् । न स्वस्यापारेऽधिकं मीयत इति भावः । यद्वा इदं आत्मनि स्वस्मिन्विषये न प्रबभूव । आत्मानं नियन्तुं न शशाक । किन्तु बहिर्निर्जगामेत्यर्थः ॥ १७ ॥

वायु से रहित प्रदेश में स्थित कमल की भाँति निश्चल नेत्रों से सुन्दर पुत्र के मुख को तृष्णापूर्वक देखते हुए राजा दिलीप का पुत्रदर्शन से उत्पन्न महान् आनन्द चन्द्र के देखने से महान् समुद्र के जल की वृद्धि के समान शरीर के भीतर ठहरने में समर्थ न हो सका किन्तु बाहर निकल पड़ा ॥ १७ ॥

स जातकर्मण्यखिले तपस्विना तपोवनादेत्य पुरोधसा कृते ।
दिलीपसूनुर्मणिराकरोद्भवः प्रयुक्तसंस्कार इवाधिकं बभौ ॥१८॥

स इति । दिलीपसूनुः । तपस्विना पुरोहितेन । 'पुरोधास्तु पुरोहितः' इत्यमरः । वसिष्ठेन । तपस्विनाप्यनुष्ठितं कर्म सवीर्यं स्यादिति भावः । तपोवनादेत्यागत्य । अखिले समग्रे जातकर्मणि कर्तव्यसंस्कारविशेषे कृते सति । प्रयुक्तसंस्कारः शाणोल्लेखनादिर्यस्य स तथोक्तः । आकरोद्भवः खनिसम्भवः । 'खनिः स्त्रियामाकरः स्यात्' इत्यमरः । मणिरिव । अधिकं बभौ । वसिष्ठमन्त्रप्रभावादतिशिशयेऽभूदित्यर्थः । अत्र मनुः—(प्राङ्नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते) इति ॥ १८ ॥

वे राजा दिलीप के नवजात पुत्र तपस्वी पुरोहित वसिष्ठ महर्षि के द्वारा तपोवन से आकर सम्पूर्ण जातकर्म नामक संस्कार विशेष के किये जाने पर जिसका शाण पर चढ़ाना आदि संस्कार हो चुका है ऐसे खान से निकले हुए मणि की भाँति अधिक सुशोभित हुए ॥

सुखश्रवा मङ्गलतूर्यनिस्वनाः प्रमोदनृत्यैः सह वारयोषिताम् ।
न केवलं सद्मनि मागधीपतेः पथि व्यजृम्भन्त दिवौकसामपि ॥१९॥

सुखेति । सुखः सुखकरः श्रवः श्रवणं येषां ते सुखश्रवाः श्रुतिसुखाः । मङ्गलतूर्यनिस्वना मङ्गलवाद्यध्वनयो वारयोषितां वेश्यानाम् । 'वारस्त्री गणिका वेश्या रूपाजीवा' इत्यमरः । प्रमोदनृत्यैर्हर्षनर्तनैः सह मागधीपतेर्दिलीपस्य सद्मनि केवलं गृह एव न व्यजृम्भन्त । किन्तु द्यौरोको येषां ते दिवौकसो देवाः । पृषोदरादित्वात्साधुः । तेषां

पथ्याकाशेऽपि व्यजृम्भन्त । तस्य देवांशत्वाद् देवोपकारित्वाच्च देवदुन्दुभयोऽपि नेदुरिति भावः ॥ १९ ॥

सुनने में सुखकर मङ्गलवाद्य मृदङ्ग आदि की ध्वनि, वेश्याओं के आनन्दसम्बन्धी नाच के साथ मगध देश के राजा की लडकी सुदक्षिणा के स्वामी महाराज दिलीप के गृह में ही केवल नहीं स्फुट हुआ, किन्तु देवताओं के मार्ग–आकाश में भी स्फुट हुआ ॥ १९ ॥

न संयतस्तस्य बभूव रक्षितुर्विसर्जयेद्यं सुतजन्महर्षितः ।
ऋणाभिधानात्स्वयमेव केवलं तदा पितॄणां मुमुचे स बन्धनात् ॥२०॥

नेति । रक्षितुः सम्यक्पालनशीलस्य तस्य दिलीपस्य । अत एव चौराद्यभावात् संयतो बद्धो न बभूव नाभूत् । किं तेनात आह—विसर्जयेदिति । सुतजन्मना हर्षितस्तोषितः सन् यं बद्धं विसर्जयेद्विमोचयेत् । किन्तु स राजा तदा पितॄणामृणाभिधानाद्बन्धनात्केवलमेकं यथा तथा स्वयमेव । एक एवेत्यर्थः । 'केवलः कृत्स्न एकश्च केवलश्चावधीरितः' इति शाश्वतः । मुमुचे कर्मकर्त्तरि लिट् स्वयमेव मुक्त इत्यर्थः । अस्मिन्नर्थे–[एष वा अनृणो यः पुत्री] इति श्रुतिः प्रमाणम् ॥ २० ॥

भलीभाँति रक्षा करने वाले उन दिलीप महाराज का कोई कैदी नहीं था कि जिसे पुत्रजन्म से प्रसन्न होते हुए छोड़ें, किन्तु वे महाराज उस समय पितरों के ऋणरूपी बन्धन से अकेले स्वयं ही मुक्त हुये ॥ २० ॥

श्रुतस्य यायादयमन्तमर्भकस्तथा परेषां युधि चेति पार्थिवः ।
अवेक्ष्य धातोर्गमनार्थमर्थविच्चकार नाम्ना रघुमात्मसम्भवम् ॥२१॥

श्रुतस्येति । अर्थविच्छब्दार्थज्ञः पार्थिवः पृथिवीश्वरो दिलीपः । अयमर्भको बालकः श्रुतस्य शास्त्रस्यान्तं पारं यायात् । तथा युधि परेषां शत्रूणामन्तं पारं च यायात् । यातुं शक्नुयादित्यर्थः । 'शकि लिङ् च' इति शक्यार्थे लिङ् । इति हेतोर्धातोः । 'अधिवधिलघिगत्यर्थाः' इति लघिधातोर्गमनाख्यमर्थमर्थवित्त्वादवेक्ष्यालोच्य । आत्मसम्भवं पुत्रं नाम्ना रघुं चकार । 'लङ्घिवह्योर्नलोपश्च' । इत्युप्रत्यये 'बालमूललघ्वलमङ्गुलीनां वा लो रत्वमापद्यते' इति वैकल्पिके रेफादेशे रघुरिति रूपं सिद्धम् । अत्र शङ्का 'आशौचे तु व्यतिक्रान्ते नामकर्म विधीयते' इति ॥ २१ ॥

शब्दों के अर्थों को जानने वाले पृथ्वी के स्वामी राजा दिलीप ने यह बालक शास्त्र के पार को निश्चय जा सकेगा (जान सकेगा) तथा युद्ध में शत्रुओं के पार (नाश) को जा सकेगा (कर सकेगा) इस कारण लघि धातु के जाना रूप अर्थ को विचार कर अपने लडके का रघु ऐसा नाम रखा ॥ २१ ॥

पितुः प्रयत्नात्स समग्रसम्पदः शुभैः शरीरावयवैर्दिने दिने ।
पुपोष वृद्धिं हरिदश्वदीधितेरनुप्रवेशादिव बालचन्द्रमाः ॥२२॥

पितुरिति । स रघुः समग्रसम्पदः पूर्णलक्ष्मीकस्य पितुर्दिलीपस्य प्रयत्नाच्छुभैर्म-

गोचरैः शरीरावयवैः। हरिदश्वदीधितेः सूर्यस्य रश्मेः। 'भास्वद्विवस्वत्सप्ताश्वहरिदश्वोष्णरश्मयः' इत्यमरः। अनुप्रवेशाद् चन्द्रमा इव दिने दिने प्रतिदिनम्। 'नित्यवीप्सयोः' इति द्विर्वचनम्। वृद्धिं पुपोष। अत्र वराहसंहितावचनम्-(सलिलमये शशिनि रवेर्दीधितयो मूर्छितास्तमो नैशम्। क्षपयन्ति दर्पणोदरनिहिता इव मन्दिरस्यान्तः) इति ॥ २२ ॥

वह बालक रघु पूर्ण सम्पत्तिशाली पिता दिलीप के प्रयत्न से मनोहर अङ्ग और उपायों से सूर्य की किरणों के भीतर प्रवेश करने से बाल चन्द्रमा (प्रतिपद् के चन्द्रमा) की भाँति प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त करने लगा ॥ २२ ॥

उमावृषाङ्कौ शरजन्मना यथा यथा जयन्तेन शचीपुरन्दरौ।
तथा नृपः सा च सुतेन मागधी ननन्दतुस्तत्सदृशेन तत्समौ ॥२३॥

उमेति। उमावृषाङ्कौ पार्वतीवृषभध्वजौ शरजन्मना कार्तिकेयेन। 'कार्तिकेयो महासेनः शरजन्मा षडाननः' इत्यमरः। यथा ननन्दतुः। शचीपुरन्दरौ जयन्तेन जयन्ताख्येन सुतेन। 'जयन्तः पाकशासनिः' इत्यमरः। यथा ननन्दतुः। तथा तत्समौ ताभ्यामुमावृषाङ्काभ्यां शचीपुरन्दराभ्यां च समौ समानौ सा मागधी नृपश्च तत्सदृशेन ताभ्यां कुमारजयन्ताभ्यां सदृशेन सुतेन ननन्दतुः। मागधी मगधान्वयजाता ॥ २३ ॥

पार्वती और भगवान् शङ्कर ने कार्तिकेय से और इन्द्राणी तथा इन्द्र ने जयन्त से जैसा आनन्द पाया, उसी तरह से उन दोनों (पार्वती और शङ्कर की तथा इन्द्राणी और इन्द्र) के समान यह सुदक्षिणा और राजा दिलीप (इन दोनों) ने उन दोनों (कार्तिकेय और जयन्त) के समान पुत्र रघु से आनन्द पाया ॥ २३ ॥

रथाङ्गनाम्नोरिव भावबन्धनं बभूव यत्प्रेम परस्पराश्रयम्।
विभक्तमप्येकसुतेन तत्तयोः परस्परस्योपरि पर्यचीयत ॥ २४ ॥

रथाङ्गेति। रथाङ्गनाम्नी च रथाङ्गनामा च रथाङ्गनामानौ चक्रवाकौ 'पुमान् स्त्रिया' इत्येकशेषः। तयोरिव तयोर्दम्पत्योर्भावबन्धनं हृदयाकर्षकं परस्पराश्रयमन्योन्यविषयं यत्प्रेम बभूव तदेकेन केवलेन तत्समान्वयेन वा। 'एके मुख्यान्यकेवलाः' इत्यमरः। सुतेन विभक्तमपि कृतविभागमपि परस्परस्योपरि पर्यचीयत ववृधे। कर्मकर्तरि लङ्। अकृत्रिमत्वात्स्वयमेवोपचितमित्यर्थः। यदेकाधारं वस्तु तदाधारान्तरे विभक्तमात्रं हीयते। अत्र तु तयोः मातापित्रोरेकैकविषयं प्रेम सम्प्रति द्वितीयविषयलाभेऽपि नाहीयत। प्रत्युतोपचितमेवाभूदिति भावः ॥ २४ ॥

चकवा-चकवी की भाँति उन दोनों (सुदक्षिणा और दिलीप) के हृदय को आकृष्ट करने वाला अन्योन्य-विषयक जो प्रेम था वह केवल पुत्र रघु के द्वारा बँट जाने पर भी परस्पर एक दूसरे के ऊपर बढ़ता गया ॥ २४ ॥

उवाच धाऽया प्रथमोदितं वचो ययौ तदीयामवलम्ब्य चाङ्गुलिम् ।
अभूच्च नम्रः प्रणिपातशिक्षया पितुर्मुदं तेन तनान सोऽर्भकः ॥२५॥

उवाचेति । सोऽर्भक शिशुः । 'पोत' पाकोऽर्भको डिम्भः पृथुक शावकः शिशु' इत्यमरः । धाञ्योपमात्रा । 'धात्री जनन्यामलकीवसुमत्युपमातृषु' इति विश्व । प्रथममुदितमुपदिष्ट वच उवाच । तदीयामङ्गुलिमवलम्ब्य ययौ च । प्रणिपातस्य शिक्षयोपदेशेन नम्रोऽभूच्च । इति यत्तेन पितुर्मुद ततान ॥ २५ ॥

वह बालक रघु धाई के द्वारा उच्चारण किये 'तात आदि' वचन का उच्चारण करने लगा और उसकी अङ्गुली का सहारा लेकर चलने लगा तथा प्रणाम करने की शिक्षा से बडों के सामने नम्र होने लगा, इन सब पूर्वोक्त प्रकारों से पिता के हर्ष को बढाने लगा ॥२५॥

तमङ्कमारोप्य शरीरयोगजैः सुखैर्निषिञ्चन्तमिवामृतं त्वचि ।
उपान्तसंमीलितलोचनो नृपश्चिरात्सुतस्पर्शरसज्ञतां ययौ ॥२६॥

तमिति । शरीरयोगजैः सुखैस्त्वचि त्वगिन्द्रियेऽमृत निषिञ्चन्तं वर्षन्तमिव त पुत्रमङ्कमारोप्य मुदाविर्भावादुपान्तयोः प्रान्तयो समीलितलोचनः सन् नृपश्चिरात्सुतस्पर्शरसज्ञता ययौ । रसः स्वाद. ॥ २६ ॥

'पुत्र के' अङ्ग के सङ्ग से उत्पन्न आनन्द के द्वारा मानो त्वचा पर अमृत वरसाते हुए उस पुत्र को गोद में विठा कर नेत्रप्रान्त को वन्द किये हुए राजा दिलीप ने बहुत दिनों से अभिलषित पुत्र के स्पर्श-सुख की अभिज्ञता को प्राप्त किया ॥ २६ ॥

अमंस्त चानेन परार्ध्यजन्मना स्थितेरभेत्ता स्थितिमन्तमन्वयम् ।
स्वमूर्त्तिभेदेन गुणाग्र्यवर्त्तिना पतिः प्रजानामिव सर्गमात्मनः ॥

अमस्तेति । स्थितेरभेत्ता मर्यादापालक स नृप परार्ध्यजन्मनोत्कृष्टजन्मनाऽनेन रघुणाऽन्वय वशम् । प्रजानां पतिर्ब्रह्मा । गुणाः सत्त्वादय । तेष्वग्र्येण मुख्येन सत्वेन वर्त्तते व्याप्रियत इति गुणाग्र्यवर्त्ती तेन । स्वस्य मूर्त्तिभेदेनावतारविशेषेण विष्णुनाऽऽत्मनः सर्गं सृष्टिमिव । स्थितिमन्त प्रतिष्ठावन्तममस्त मन्यते स्म । मन्यतेरनुदात्तत्वादिट्प्रतिषेध । अत्रोपमानोपमेययोरितरेतरविशेषणानीतरेतरत्र योज्यानि । तत्र रघुपक्षे गुणा विद्याविनयादय । 'गुणोऽप्रधाने रूपादौ मौर्व्यां सूदे वृकोदरे। स्तम्बे सत्त्वादिसन्ध्यादिविद्याऽऽदिहरितादिषु ॥'इति विश्व । शेषं सुगमम् ॥

मर्यादा की रक्षा करनेवाले राजा दिलीप ने उत्कृष्ट जन्मवाले इस रघु के द्वारा वंशको जिस भाँति प्रजापति ब्रह्माजी सर्वगुणवाले अपने अवतार विशेष विष्णु भगवान् के द्वारा अपनी सृष्टि को स्थिर रहनेवाली मानते हैं उसी भाँति स्थिर रहने वाला माना ॥ २७ ॥

स वृत्तचूलश्चलकाकपक्षकैरमात्यपुत्रैः सवयोभिरन्वितः ।
लिपेर्यथावद्ग्रहणेन वाङ्मयं नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत् ॥२८॥

स इति । (चूडाकार्यं द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः । प्रथमेऽब्दे तृतीयेव ।

कर्तव्यं श्रुतिचोदनात् ॥) इति मनुस्मरणात्तृतीये वर्षे वृत्तचूलो निष्पन्नचूडाकर्मा सन्। रघुरित्यर्थः। स रघुः। (प्राप्ते तु पञ्चमे वर्षे विद्यारम्भं च कारयेत्) इति वचनात्पञ्चमे वर्षे। चलकाकपक्षकैश्चञ्चलशिखण्डकैः। 'बालानां तु शिखा प्रोक्ता काकपक्षः शिखण्डकः' इति हलायुधः। सवयोभिः स्निग्धैः। 'वयस्यः स्निग्धः' इत्यमरः। अमात्यपुत्रैरन्वितः सन् लिपेः पञ्चाशद्वर्णात्मिकाया मातृकाया यथावद् ग्रहणेन सम्यग्बोधेनोपायभूतेन वाङ्मयं शब्दजातम्। नद्या मुखं द्वारम्। 'मुखं तु वदने मुख्यारम्भे द्वाराभ्युपाययोः' इति यादवः। तेन मकरादिः समुद्रमिव। आविशत्प्रविष्टः। प्राप्तवानित्यर्थः ॥ २८ ॥

चूडाकर्म संस्कार के हो चुकने पर उस बालक रघु ने चञ्चल शिखावाले अपने सम वयस्क मन्त्रिपुत्रों के सहित वर्णमाला का भलीभाँति परिचय पा चुकने पर उसी के द्वारा समस्त वाङ्मय में नदी के द्वारा मकरादि जैसे समुद्र में प्रवेश करते हैं उसी भाँति प्रवेश किया ॥ २८ ॥

अथोपनीतं विधिवद्विपश्चितो विनिन्युरेनं गुरवो गुरुप्रियम् ।
अवन्ध्ययत्नाश्च बभूवुरत्र ते क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति ॥२९॥

अथेति। (गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्। गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः ॥) इति मनुस्मरणाद्गर्भैकादशेऽब्दे विधिवदुपनीतं गुरुप्रियमेनं रघुं विपश्चितो विद्वांसो गुरवो विनिन्युः शिक्षितवन्तः। ते गुरवोऽत्रास्मिन् रघावबन्ध्ययत्नाश्च बभूवुः। तथाहि। क्रिया शिक्षा। 'क्रिया तु निष्कृतौ शिक्षाचिकित्सोपायकर्मसु' इति यादवः। वस्तुनि पात्रभूत उपहिता प्रयुक्ता प्रसीदति फलति। 'क्रिया हि द्रव्यं विनयति नाद्रव्यम्' इति कौटिल्यः ॥ २९ ॥

इसके बाद गर्भ से ११ वें वर्ष में शास्त्रानुकूल उपनयन कर चुकने पर गुरुओं के प्रिय उस रघु को विद्वान् गुरु लोगों ने शिक्षा दी और वे गुरु लोग उस रघु के विषय में सफल प्रयत्न हुए क्योंकि शिक्षा सत्पात्र को दी हुई फलवती होती है ॥ २९ ॥

धियः समग्रैः स गुणैरुदारधीः क्रमाच्चतस्रश्चतुरर्णवोपमाः ।
ततार विद्याः पवनातिपातिभिर्दिशो हरिद्भिर्हरितामिवेश्वरः ॥३०॥

धिय इति। अत्र कामन्दकः—शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा। ऊहापोहोऽर्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः ॥ इति। आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती। एता विद्याश्चतस्रस्तु लोकसंस्थितिहेतवः ॥ इति च। उदारधीर्महाबुद्धिः। स रघुः समग्रैर्धियो गुणैः। चत्वारोऽर्णवा उपमा यासां ताश्चतुरर्णवोपमाः। 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इत्युत्तरपदसमासः। चतस्रो विद्याः। हरितां दिशामीश्वरः सूर्यः पवनातिपातिभिर्हरिद्भिरश्वैः। 'हरित्ककुभि वर्णे च तृणवाजिविशेषयोः' इति केशवः। चतस्रो दिश इव क्रमात्ततार। चतुरर्णवोपमात्वं दिशामपि द्रष्टव्यम् ॥

बड़ी बुद्धिवाले उस राजकुमार रघु ने समग्र (शुश्रूषा-श्रवण-ग्रहण-धारण-

ऊहापोह-अर्थज्ञान तत्त्वज्ञान) इन बुद्धि के गुणों के द्वारा चार समुद्र के समान चार (आन्वीक्षिकी-वेदत्रयी-वार्ता-दण्डनीति आदि) विद्याओं को दिशाओं के स्वामी (सूर्य) जैसे पवन से भी अधिक वेगवान् अपने घोड़ों से चारों दिशाओं को क्रम से पार करते हैं, उसी भाँति पार किया ॥ ३० ॥

त्वचं स मेध्यां परिधाय रौरवीमशिक्षतास्त्रं पितुरेव मन्त्रवत् ।
न केवलं तद्गुरुरेकपार्थिवः क्षितावभूदेकधनुर्धरोऽपि सः ॥३१॥

त्वचमिति । स रघुः । 'कार्ष्णरौरववास्तानि चर्माणि ब्रह्मचारिणः । वसीरन्नानुपूर्व्येण शाणक्षौमाविकानि च' इति मनुस्मरणान्मेध्यां शुद्धां रौरवीं रुरुसम्बन्धिनीम् । 'रुरुर्महाकृष्णसारः' इति यादवः । त्वचं चर्म परिधाय वसित्वा मन्त्रवत्समन्त्रकमस्त्रमाग्नेयादिकं पितुरेवोपाध्यायादशिक्षताभ्यस्तवान् । 'आख्यातोपयोगे' इत्यपादानसंज्ञा । पितुरेवेत्यवधारणमुपपादयति-नेति । तद्गुरुरेकोऽद्वितीयः पार्थिवः केवलं पृथिवीश्वर एव नाभूत् । किन्तु क्षितौ स दिलीप एको धनुर्धरोऽप्यभूत् ॥

उस (रघु) ने पवित्र रुरु मृग के चर्म को धारण करके मन्त्रयुक्त (आग्नेयादि) अस्त्रों को पिता ही से सीखा, क्योंकि उसके पिता (दिलीप महाराज) अद्वितीय चक्रवर्ती महाराज केवल न थे, किन्तु-पृथ्वी में वह अद्वितीय धनुर्धर भी थे ॥ ३१ ॥

महोक्षतां वत्सतरः स्पृशन्निव द्विपेन्द्रभावं कलभः श्रयन्निव ।
रघुः क्रमाद्यौवनभिन्नशैशवः पुपोष गाम्भीर्यमनोहरं वपुः ॥ ३२ ॥

महोक्षतामिति । रघुः क्रमाद्यौवनेन भिन्नशैशवो निरस्तशिशुभावः सन् । महानुक्षा महोक्षो महर्षभः 'अचतुरविचतुर' इत्यादिसूत्रेण निपातनादकारान्तत्वम् । तस्य भावस्तत्ता तां स्पृशन्गच्छन्वत्सतरो दम्य इव । 'दम्यवत्सतरौ समौ' इत्यमरः । द्विपेन्द्रभावं महागजत्वं श्रयन्व्रजन्कलभः करिपोत इव । गाम्भीर्येणाचापलेन मनोहरं वपुः पुपोष ॥ ३२ ॥

रघु क्रम से युवावस्था के द्वारा लड़कपन दूर होने पर बड़े भारी बैल के भाव को प्राप्त किये हुए दमन करने लायक बछड़े की भाँति तथा गजराज के भाव (स्वभाव) को प्राप्त किये हुए हाथी के बच्चे की भाँति चञ्चलता न होने से सुन्दर शरीर को पुष्ट करने लगे ॥

अथास्य गोदानविधेरनन्तरं विवाहदीक्षां निरवर्त्तयद् गुरुः ।
नरेन्द्रकन्यास्तमवाप्य सत्पतिं तमोनुदं दक्षसुता इवाबभुः ॥३३॥

अथेति । 'गौर्नाऽऽदित्ये बलीवर्दे क्रतुभेदर्षिभेदयोः । स्त्री तु स्याद्दिशि भारत्यां भूमौ च सुरभावपि । पुंस्त्रियोः स्वर्गवज्राम्बुरश्मिदृग्बाणलोमसु ॥' इति केशवः । गावो लोमानि केशा दीयन्ते खण्ड्यन्तेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या गोदानं नाम ब्राह्मणादीनां षोडशादिषु वर्षेषु कर्त्तव्यं केशान्ताख्यं कर्मोच्यते । तदुक्तं मनुना—(केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते । राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः ॥) इति ।

युक्ता राजपुत्रा रक्षन्त्यश्वम्) इत्यादिश्रुत्या । राजसुतैरनुगतमनुगतं धनुर्धरं तं रघुं होमतुरङ्गरक्षणे नियुज्य । एकेन क्रतुनाऽपूर्णमेकोनं क्रतूनामेकशतं मखमविघ्नमपगतविघ्नं यथा तथाऽऽप ॥ ३८ ॥

इन्द्र के तुल्य उन दिलीप महाराज ने राजकुमारों से अनुसरण किये गये धनुष के धारण करने वाले उन युवराज रघु को होम के लिये जो अश्वमेध यज्ञ-सम्बन्धी घोड़े हैं उनकी रक्षा करने में नियुक्त करके एक कम सौ अश्वमेध यज्ञ को निर्विघ्न समाप्त किया ॥

ततः परं तेन मखाय यज्वना तुरङ्गमुत्सृष्टमनर्गलं पुनः ।
धनुर्भृतामग्रत एव रक्षिणां जहार शक्रः किल गूढविग्रहः ॥ ३९ ॥

तत इति । ततः परमेकोनशतक्रतुप्राप्त्यनन्तरं यज्वना विधिनेष्टवता तेन दिलीपेन पुनः पुनरपि मखाय मखं कर्तुम् । 'क्रियार्थोपपदस्य—' इत्यादिना चतुर्थी । उत्सृष्टं मुक्तमनर्गलमप्रतिबन्धम् । अव्याहतस्वैरगतिमित्यर्थः । अयमी वर्तयन्तोऽश्वमनुचरन्ति इत्यापस्तम्बस्मरणात् । तुरङ्गं धनुर्भृतां रक्षिणां रक्षकाणामग्रत एव शक्रो गूढविग्रहः सन् । जहार किल । किलेत्यैतिह्ये ॥ ३९ ॥

उसके (९९ वां यज्ञ समाप्त होने के) बाद विधिपूर्वक यज्ञ करने वाले उन दिलीप महाराज से फिर से यज्ञ करने के लिये छोड़े हुये बिना रोक-टोक अपने मन से चलने वाले घोड़े को धनुर्धारी रक्षकों के आगे से ही इन्द्र गुप्त शरीर वाला होता हुआ हर ले गया ॥ ३९ ॥

विषादलुप्तप्रतिपत्ति विस्मितं कुमारसैन्यं सपदि स्थितं च तत् ।
वसिष्ठधेनुश्च यदृच्छयाऽऽगता श्रुतप्रभावा ददृशेऽथ नन्दिनी ॥ ४० ॥

विषादेति । तत्कुमारस्य सैन्यं सेना सपदि । विषाद इष्टनाशकृतो मनोभङ्गः । तदुक्तम् (विषादश्चेतसो भङ्ग उपायाभावनाशयोः) इति । तेन लुप्ता प्रतिपत्तिः कर्तव्यज्ञानं यस्य तथोक्तम् । विस्मितमश्वनाशस्याकस्मिकत्वादाश्चर्याविष्टं सत् । स्थितं तस्थौ । अथ श्रुतप्रभावा यदृच्छया स्वेच्छयाऽऽगता । एतो स्वप्रभावप्रख्यापनायागतेति भावः । नन्दिनी नाम । वसिष्ठधेनुश्च ददृशे । द्वौ चकाराव-विलम्बसूचकौ ॥ ४० ॥

जब राजकुमार रघु की वह सेना उसी क्षण (घोड़ा के न होने के कारण) विषाद से क्या करना चाहिये क्या नहीं करना चाहिये इस विचार से शून्य विस्मित होती हुई निश्चल स्थित हुई, तब उसके बाद जिसका प्रभाव सबको विदित है ऐसी अपनी इच्छा से आई हुई नन्दिनी नाम की वसिष्ठ महर्षि की धेनु को लोगों ने देखा ॥ ४० ॥

तदङ्गनिस्यन्दजलेन लोचने प्रमृज्य पुण्येन पुरस्कृतः सताम् ।
अतीन्द्रियेष्वप्युपपन्नदर्शनो बभूव भावेषु दिलीपनन्दनः ॥ ४१ ॥

तदङ्गेति । सतां पुरस्कृतः पूजितो दिलीपनन्दनो रघुः पुण्येन तस्या नन्दिन्या

यदङ्गं तस्य निस्यन्दो द्रव' स एव जलम् । मूत्रमित्यर्थ.। तेन लोचने प्रमृज्य शोधयित्वा । अतिन्द्रियेष्विन्द्रियाण्यतिक्रान्तेषु । 'अत्यादय. क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' इति समास । द्विगुप्राप्तापन्नालम्पूर्वगतिसमासेषु परवल्लिङ्गताप्रतिषेधाद्विशेष्यनिघ्नत्वम् । भावेष्वपि वस्तुपूपपन्नदर्शनः सम्पन्नसाक्षात्कारशक्तिर्बभूव ॥ ४१ ॥

सज्जनों से पूजित दिलीप महाराज के पुत्र युवराज रघु, पवित्र उस नन्दिनी के अङ्ग से उत्पन्न जल (मूत्र) से दोनों आँखों को धोकर इन्द्रियों से नहीं प्रत्यक्ष होने वाली भी वस्तुओं में देखने की शक्ति वाले हो गये ॥ ४१ ॥

स पूर्वतः पर्वतपक्षशातनं ददर्श देवं नरदेवसम्भवः ।
पुनः पुनः सूतनिषिद्धचापलं हरन्तमश्वं रथरश्मिसंयतम् ॥४२॥

स इति । नरदेवसम्भव. स रघु. पुनः पुन सूतेन निषिद्धचापल निवारितौद्धत्यं रथस्य रश्मिभि. प्रग्रहै. । 'किरणप्रग्रहौ रश्मी' इत्यमर.। सयत बद्धमश्व हरन्त पर्वतपक्षाणा शातनं छेदक देवमिन्द्रं पूर्वत' पूर्वस्यां दिशि ददर्श ॥ ४२ ॥

राजा दिलीप के लडके उन युवराज रघु ने वारम्बार सारथि के द्वारा जिसकी उद्धतपना रोकी जा रही थी और जो रथ की डोरी से बँधा हुआ था, ऐसे घोडे को हरण करके ले जाते हुये पर्वतों के पक्षों को काटने वाले देवराज इन्द्र को पूर्व दिशा में देखा ॥ ४२ ॥

शतैस्तमक्ष्णामनिमेषवृत्तिभिर्हरिं विदित्वा हरिभिश्च वाजिभिः ।
अवोचदेनं गगनस्पृशा रघुः स्वरेण धीरेण निवर्त्तयन्निव ॥४३॥

शतैरिति। रघुस्तमश्वहर्त्तारमनिमेषवृत्तिभिर्निमेषव्यापारशून्यैरक्ष्णां शतैर्हरिभिर्हरिद्वर्णै'। 'हरिर्वाच्यवदाख्यातो हरित्कपिलवर्णयोः' इति विश्व.। वाजिभिरश्वैश्च हरिमिन्द्र विदित्वा। 'हरिर्वातार्कचन्द्रेन्द्रयमोपेन्द्रमरीचिषु' इति विश्वः। एनमिन्द्र गगनस्पृशा व्योमव्यापिना धीरेण गम्भीरेण स्वरेण ध्वनिनैव निवर्त्तयन्निवावोचत् ॥

युवराज रघु उन्हें (अश्व के हरण करने वाले को) निमेष (पलक का गिरना) शून्य व्यापार वाले सैकड़ों आँखों के द्वारा तथा हरे रङ्ग के घोडों के द्वारा इन्द्र जानकर उसे आकाश में गूँज जाने वाले गम्भीर स्वर से लौटाते हुये की भाँति बोले ॥ ४३ ॥

मखांशभाजां प्रथमो मनीषिभिस्त्वमेव देवेन्द्र ! सदा निगद्यसे ।
अजस्रदीक्षाप्रयतस्य मद्गुरोः क्रियाविघाताय कथं प्रवर्त्तसे ॥४४॥

मखांशेति । हे देवेन्द्र ! मनीषिभिस्त्वमेव मखांशभाजां यज्ञभागभुजा प्रथमः सदा निगद्यसे कथ्यसे । तथाऽप्यजस्रदीक्षायां प्रयतस्य मद्गुरो क्रियाविघाताय । क्रतुविघाताय । क्रियां विहन्तुमित्यर्थ । 'तुमर्थाच्च भाववचनात्' इति चतुर्थी । कथ प्रवर्तसे ॥ ४४ ॥

हे इन्द्र ! विद्वान् लोग आप ही को यज्ञ के भाग को ग्रहण करने वाले देवताओं में प्रथम सदा बतलाते हैं मत निरन्तर यज्ञसम्बन्धी दीक्षा लेने में प्रवृत्त (सदा यज्ञ

अथ गुरुः पिता 'गुरुर्गीष्पतिपित्राद्यौ' इत्यमरः। अस्य गोदानविधेरनन्तरं विवाहं दीक्षां निरवर्तयत्। कृतवानित्यर्थः। अथ नरेन्द्रकन्यास्तं रघुम्। दक्षस्य सुता रोहिण्यादयस्तमोनुदं चन्द्रमिव। 'तमोनुदोऽग्निचन्द्रार्काः' इति विश्वः। सत्पतिमवाप्याबभुः। रघुरपि तमोनुत्। अत्र मनुः—'वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्। अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत्' ॥ इति ॥ ३३ ॥

इसके बाद पिता दिलीप महाराज ने इन राजकुमार रघु का 'गोदान' नामक संस्कार कर चुकने के बाद विवाह संस्कार किया, उसके बाद राजकन्यायें जिस तरह रोहिणी आदि चन्द्र को पाकर सुशोभित हुई थीं उसी भाँति सुशोभित हुईं ॥ ३३ ॥

सम्प्रति यौवराज्ययोग्यतामाह—

युवा युगव्यायतबाहुरंसलः कपाटवक्षाः परिणद्धकन्धरः ।
वपुःप्रकर्षादजयद् गुरुं रघुस्तथाऽपि नीचैर्विनयाददृश्यत ॥३४॥

युवेति। युवा युगो नाम धुर्यस्कन्धगः सच्छिद्रप्रान्तो यानाङ्गभूतो दारुविशेषः। 'यानाङ्गे युगः पुंसि युगं युग्मे कृतादिषु' इत्यमरः। युगवद् व्यायतौ दीर्घौ बाहू यस्य सः। अंसावस्य स्त इत्यंसलो बलवान् मांसलस्येति वृत्तिकारः। 'बलवान् मांसलोंऽसलः' इत्यमरः। 'वत्सांसाभ्यां कामबले' इति लच्प्रत्ययः। कपाटवक्षाः परिणद्धकन्धरो विशालग्रीवः। 'परिणाहो विशालता' इत्यमरः। रघुर्वपुषः प्रकर्षात् पितुरप्यौन्नत्यात् गुरुं पितरमजयत्। तथाऽपि विनयात् नम्रत्वेन नीचैरल्पकोऽदृश्यत। अनेनानौद्धत्यं च विवक्षितम् ॥ ३४ ॥

युवावस्था को प्राप्त हुए जुआ (यान का अवयव दारुविशेष जूआ) की भाँति लम्बी भुजाओंवाले बलवान् किवाड़ की तरह चौड़ी छातीवाले तथा विशाल गर्दनवाले रघु ने यद्यपि शरीर की अधिकता से पिता को जीत लिया था तथापि विनय से नीचे ही दीख पड़ते थे ॥

सम्प्रति तस्य यौवराज्यमाह—

ततः प्रजानां चिरमात्मना धृतां नितान्तगुर्वीं लघयिष्यता धुरम् ।
निसर्गसंस्कारविनीत इत्यसौ नृपेण चक्रे युवराजशब्दभाक् ॥

तत इति। ततः आत्मना चिरं धृतां नितान्तगुर्वीम्। 'वोतो गुणवचनात्' इति ङीप्। प्रजानां धुरं पालनप्रयासं लघयिष्यता लघ्वीं करिष्यता। 'तत्करोति तदाचष्टे' इति लघुशब्दाण्णिच्। ततो 'लृटः सद्वा' इति शतृप्रत्ययः। नृपेण दिलीपेनासौ रघुर्निसर्गेण स्वभावेन संस्कारेण शास्त्राभ्यासजनितवासनया च विनीतो नम्र इति हेतोः। युवराज इति शब्दं भजतीति तथोक्तः। 'भजो ण्विः' इति ण्विप्रत्ययः। चक्रे कृतः। (द्विविधो विनयः स्वाभाविकः कृत्रिमश्च) इति कौटिल्यः। तदुभयसम्पन्नत्वाद्युवत्वं चकारेत्यर्थः। अत्र कामन्दकः—(विनयोपग्रहान्भूत्यै

कुर्वीत नृपतिः सुतान्। अविनीतकुमारं हि कुलमाशु विशीर्यते॥ विनीतमौरसं पुत्रं यौवराज्येऽभिषेचयेत्॥) इति ॥ ३५ ॥

उसके बाद स्वयं बहुत दिनों से धारण किये हुये अत्यन्त भारयुक्त प्रजापालन सम्बन्धी भार को हल्का करने की इच्छा करनेवाले राजा दिलीप ने यह रघु स्वभाव से तथा शास्त्र के अभ्यास करने से उत्पन्न वासना से नम्र है इस कारण से उसे युवराज पद से भूषित किया ॥ ३५ ॥

नरेन्द्रमूलायतनादनन्तरं तदास्पदं श्रीर्युवराजसंज्ञितम्।
अगच्छदंशेन गुणाभिलाषिणी नवावतारं कमलादिवोत्पलम् ॥३६॥

नरेन्द्रेति। गुणान्विनयादीन्सौरभ्यादींश्चाभिलषतीति गुणाभिलाषिणी राज्यलक्ष्मीः पद्माश्रया च नरेन्द्रो दिलीप एव मूलायतनं प्रधानस्थानं तस्मात्। अपादानात्। अनन्तरं संनिहितम्। युवराज इति संज्ञाऽस्य संजाता युवराजसंज्ञितम्। तारकादित्वादितच्प्रत्ययः। आत्मनः पदं स्थानमास्पदम्। 'आस्पदं प्रतिष्ठायाम्' इति निपातः। स रघुरित्यास्पदं तदास्पदम्। कमलाच्चिरोत्पन्नात् नवावतारमचिरोत्पन्नमुत्पलमिव। अंशेनागच्छत्। स्त्रियो हि यूनि रज्यन्त इति भावः ॥३६॥

विनयादि गुणों की अभिलाषा रखने वाली राजलक्ष्मी के पक्ष में सुगन्ध आदि गुणों की अभिलाषा रखने वाली कमलालया लक्ष्मी, राजा दिलीप रूप प्रधान स्थान से समीप में स्थित युवराज इस पदवी को धारण करने वाले रघुरूप अपने स्थान को जैसे पुराने कमल से नवीन उत्पन्न हुये कमल को पद्मालया जाती है, वैसे ही एक अंश से गई ॥ ३६ ॥

विभावसुः सारथिनेव वायुना घनव्यपायेन गभस्तिमानिव।
बभूव तेनातितरां सुदुःसहः कटप्रभेदेन करीव पार्थिवः॥ ३७ ॥

विभावसुरिति। सारथिना सहायभूतेन। एतद्विशेषणमुत्तरवाक्येष्वप्यनुषञ्जनीयम्। वायुना विभावसुर्वह्निरिव। 'सूर्यवह्नी विभावसू' इत्यमरः। घनव्यपायेन शरत्समयेन सारथिना गभस्तिमान्सूर्य इव। कटो गण्डः। 'गण्डः कटो मदो दानम्' इत्यमरः। तस्य प्रभेदः स्फुटनम्। मदोदय इत्यर्थः। तेन करीव पार्थिवो दिलीपस्तेन रघुणाऽतितरामत्यन्तं सुदुःसहः सुष्ठ्वसह्यो बभूव॥ ३७ ॥

सहायभूत वायु से जैसे अग्नि और मेघ का नाश जिसमें हैं ऐसे सहायभूत शरत्काल से जैसे सूर्य, तथा सहायभूत गण्डस्थल के फूटने से (मदके उदय होने से) जैसे हाथी, अत्यन्त सुदुःसह हो जाता है, उसी भांति राजा दिलीप भी सहायभूत उस रघु से 'दुश्मनों के लिये' भली भांति दुःसह हुये अर्थात् नहीं जीतने लायक हुये ॥ ३७ ॥

नियुज्य तं होमतुरङ्गरक्षणे धनुर्धरं राजसुतैरनुद्रुतम्।
अपूर्णमेकेन शतक्रतूपमः शतं क्रतूनामपविघ्नमाप सः ॥ ३८ ॥

नियुज्येति। शतक्रतुरिन्द्र उपमा यस्य स शतक्रतूपमः स दिलीपः। (शतं वै

तुल्या राजपुत्रा देवा आज्ञापालकाः) इत्यादिसूत्रात् । राजसुतैरनुसृतमनुगतं धनुर्धरं रघुं होमतुरङ्गाणां रक्षणे नियुज्य । एकेन क्रतुनाऽप्यूनमेकोनं क्रतूनामश्वमेधानां शतमपविघ्नमपगतविघ्नं यथा तथाऽऽप ॥ ३८ ॥

इन्द्र के तुल्य उन दिलीप महाराज ने राजकुमारों से अनुसरण किये गये धनुष के धारण करने वाले उन युवराज रघु को होम के लिये जो अश्वमेध यज्ञ-सम्बन्धी घोड़े थे, उनकी रक्षा करने में नियुक्त करके एक कम सौ अश्वमेध यज्ञ को निर्विघ्न समाप्त किया ॥

ततः परं तेन मखाय यज्वना तुरङ्गमुत्सृष्टमनर्गलं पुनः ।
धनुर्भृतामग्रत एव रक्षिणां जहार शक्रः किल गूढविग्रहः ॥ ३९ ॥

तत इति । ततः परमेकोनशततमक्रतुप्राप्त्यनन्तरं यज्वना विधिनेष्टवता तेन दिलीपेन पुनः पुनरपि मखाय मखं कर्तुम् । 'क्रियार्थोपपदस्य—' इत्यादिना चतुर्थी । उत्सृष्टं मुक्तमनर्गलमप्रतिबन्धकम् । अव्याहतस्वैरगतिमित्यर्थः । अयमश्वो यथेच्छमनुचरन्त्विति इत्यावश्यकस्मरणात् । तुरङ्गं धनुर्भृतां रक्षिणां रक्षकाणामग्रत एव शक्रो गूढविग्रहः सन् । जहार किल । किलेत्यैतिह्ये ॥ ३९ ॥

उसके (९९ वाँ यज्ञ समाप्त होने के) बाद विधिपूर्वक यज्ञ करने वाले उन दिलीप महाराज से फिर से यज्ञ करने के लिये छोड़े हुये बिना रोक-टोक अपने मन से चलने वाले घोड़े को धनुर्धारी रक्षकों के आगे से ही इन्द्रगुप्त शरीर वाला होता हुआ हर ले गया ॥ ३९ ॥

विषादलुप्तप्रतिपत्ति विस्मितं कुमारसैन्यं सपदि स्थितं च तत् ।
वसिष्ठधेनुश्च यदृच्छयाऽऽगता श्रुतप्रभावा ददृशेऽथ नन्दिनी ॥ ४० ॥

विषादेति । तत्कुमारस्य सैन्यं सेना सपदि । विषाद इष्टनाशकृतो मनोभङ्गः । 'विषादश्चेतसो भङ्ग उपायाभावनाशयोः' इति । तेन लुप्ता प्रतिपत्तिः कर्तव्यज्ञानं यस्य तत्तथोक्तम् । विस्मितमश्वस्याकस्मिकादर्शनादाश्चर्यान्वितं सत् । स्थितं तस्थौ । अथ श्रुतप्रभावा यदृच्छया स्वेच्छयाऽऽगता । रघोः स्वमसाधकत्वादनुचिन्तयेति भावः । नन्दिनी नाम । वसिष्ठधेनुश्च ददृशे । द्वौ चकारावविलम्बसूचकौ ॥ ४० ॥

तब राजकुमार रघु की वह सेना उसी क्षण (घोड़ा के न दीख पड़ने के कारण) विषाद से 'क्या करना चाहिये क्या नहीं करना चाहिये' इस विचार से शून्य विस्मित होती हुई निश्चल स्थित हुई, तब अपने आप जिसका प्रभाव सबको विदित है, ऐसी अपनी इच्छा से आई हुई नन्दिनी नाम की वसिष्ठ महर्षि की धेनु को लोगों ने देखा ॥ ४० ॥

तदङ्गनिस्यन्दजलेन लोचने प्रमृज्य पुण्येन पुरस्कृतः सताम् ।
अतीन्द्रियेष्वप्युपपन्नदर्शनो बभूव भावेषु दिलीपनन्दनः ॥ ४१ ॥

तदङ्गेति । सतां पुरस्कृतः पूजितो दिलीपनन्दनो रघुः पुण्येन तस्या नन्दिन्या

यदङ्गं तस्य निस्यन्दो द्रव स एव जलम्। मूत्रमित्यर्थः। तेन लोचने प्रमृज्य शोधयित्वा। अतिन्द्रियेष्विन्द्रियाण्यतिक्रान्तेषु। 'अत्यादय क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' इति समास। द्विगुप्राप्तापन्नालम्पूर्वगतिसमासेषु परवल्लिङ्गताप्रतिषेधाद्विशेष्यनिघ्नत्वम्। भावेष्वपि वस्तुषूपपन्नदर्शनः सम्पन्नसाक्षात्कारशक्तिर्बभूव॥ ४१॥

सज्जनों से पूजित दिलीप महाराज के पुत्र युवराज रघु, पवित्र उस नन्दिनी के अङ्ग से उत्पन्न जल (मूत्र) से दोनों आँखों को धोकर इन्द्रियों से नहीं प्रत्यक्ष होने वाली भी वस्तुओं में देखने की शक्ति वाले हो गये॥ ४१॥

स पूर्वतः पर्वतपक्षशातनं ददर्श देवं नरदेवसम्भवः।
पुनः पुनः सूतनिषिद्धचापलं हरन्तमश्वं रथरश्मिसंयतम्॥४२॥

स इति। नरदेवसम्भव स रघु पुनः पुन सूतेन निषिद्धचापल निवारितौद्धत्यं रथस्य रश्मिभि प्रग्रहैः। 'किरणप्रग्रहौ रश्मी' इत्यमर। संयत बद्धमश्व हरन्त पर्वतपक्षाणां शातनं छेदक देवमिन्द्र पूर्वत पूर्वस्यां दिशि ददर्श॥ ४२॥

राजा दिलीप के लड़के उन युवराज रघु ने वारम्बार सारथि के द्वारा जिसकी उद्धतपना रोकी जा रही थी और जो रथ की डोरी से बँधा हुआ था, ऐसे घोड़े को हरण करके ले जाते हुये पर्वतों के पक्षों को काटने वाले देवराज इन्द्र को पूर्व दिशा में देखा॥ ४२॥

शतैस्तमक्ष्णामनिमेषवृत्तिभिर्हरिं विदित्वा हरिभिश्च वाजिभिः।
अवोचदेनं गगनस्पृशा रघुः स्वरेण धीरेण निवर्त्तयन्निव॥४३॥

शतैरिति। रघुस्तमश्वहर्त्तारमनिमेषवृत्तिभिर्निमेषव्यापारशून्यैरक्ष्णां शतैर्हरिभिर्हरिद्वर्णैः। 'हरिर्वाच्यवदाख्यातो हरित्कपिलवर्णयो' इति विश्व। वाजिभिरश्वैश्च हरिमिन्द्र विदित्वा। 'हरिर्वाताऽर्कचन्द्रेन्द्रयमोपेन्द्रमरीचिषु' इति विश्व। एनमिन्द्र गगनस्पृशा व्योमव्यापिना धीरेण गम्भीरेण स्वरेण ध्वनिनैव निवर्त्तयन्निवावोचत्॥

युवराज रघु उन्हें (अश्व के हरण करने वाले को) निमेष (पलक का गिरना) शून्य व्यापार वाले सैकड़ों आँखों के द्वारा तथा हरे रङ्ग के घोड़ों के द्वारा इन्द्र जानकर उसे आकाश में गूँज जाने वाले गम्भीर स्वर से लौटाते हुये की भाँति बोले॥ ४३॥

मखांशभाजां प्रथमो मनीषिभिस्त्वमेव देवेन्द्र! सदा निगद्यसे।
अजस्रदीक्षाप्रयतस्य मद्गुरोः क्रियाविघाताय कथं प्रवर्त्तसे॥४४॥

मखांशेति। हे देवेन्द्र! मनीषिभिस्त्वमेव मखांशभाजां यज्ञभागभुजां प्रथमः सदा निगद्यसे कथ्यसे। तथाऽप्यजस्रदीक्षाया प्रयतस्य मद्गुरो क्रियाविघाताय। क्रतुविघाताय। क्रियां विहन्तुमित्यर्थः। 'तुमर्थाच्च भाववचनात्' इति चतुर्थी। कथ प्रवर्तसे॥ ४४॥

हे इन्द्र! विद्वान् लोग आप ही को यज्ञ के भाग को ग्रहण करने वाले देवताओं में प्रथम सदा बतलाते हैं अत निरन्तर यज्ञसम्बन्धी दीक्षा लेने में प्रवृत्त (सदा यज्ञ

ही करते हुये) मेरे पिता दिलीप महाराज के अश्वमेध यज्ञ को नष्ट करने के लिये आप क्यों प्रवृत्त हो रहे हैं ॥ ४४ ॥

त्रिलोकनाथेन सदा मखद्विषस्त्वया नियम्या ननु दिव्यचक्षुषा ।
स चेत्स्वयं कर्मसु धर्मचारिणां त्वमन्तरायो भवसि च्युतो विधिः ॥

त्रिलोकेति । त्रयाणां लोकानां नाथस्त्रिलोकनाथः । 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इत्युत्तरपदसमासः । तेन त्रैलोक्याधिपालकेन । दिव्यचक्षुषाऽतीन्द्रियार्थदर्शिना त्वया मखद्विषः क्रतुविघातकाः सदा नियम्या ननु शिक्षणीयाः खलु । स त्वं धर्मचारिणां कर्मसु क्रतुषु स्वयमन्तरायो विघ्नो भवसि चेत् । विधिरनुष्ठानं च्युतः नष्टः । लोके सत्कर्मकथैवास्तमितेत्यर्थः ॥ ४५ ॥

त्रिलोक के स्वामी दिव्य दृष्टि वाले आप के द्वारा यज्ञ के विध्वंस करने वाले राक्षसादि सदा नियमन करने योग्य हैं अतः ऐसे जो आप हैं सो धर्म के आचरण करने वाले सज्जनों के यज्ञादि कर्म में स्वयम् यदि विघ्न हो रहे हैं तो यज्ञादि सत्कर्म नष्ट हुआ ही है अर्थात् लोक में तब सत्कर्म की कथा भी अस्त ही है ॥ ४५ ॥

तदङ्गमग्र्यं मघवन्महाक्रतोरमुं तुरङ्गं प्रतिमोक्तुमर्हसि ।
पथः श्रुतेर्दर्शयितार ईश्वरा मलीमसामाददते न पद्धतिम् ॥ ४६ ॥

तदङ्गमिति । हे मघवन् ! तत्तस्मात्कारणान्महाक्रतोरश्वमेधस्याग्र्यं श्रेष्ठमङ्गं साधनममुं तुरङ्गं प्रतिमोक्तुं प्रतिदातुमर्हसि । तथाहि—श्रुतेः पथः दर्शयितारः सन्मार्गप्रदर्शका ईश्वरा महान्तो मलीमसां मलिनां पद्धतिं मार्गं नाददते न स्वीकुर्वन्ति । असन्मार्गं नावलम्बन्त इत्यर्थः । 'मलीमसं तु मलिनं कच्चरं मलदूषितम्' इत्यमरः ॥ ४६ ॥

हे इन्द्र ! इस कारण से महायज्ञ (अश्वमेध) का प्रधान साधन इस घोड़े को छोड़ने के लिये आप समर्थ होवें क्योंकि—वेद के मार्गों को दिखाने वाले बड़े लोग मलिन (निन्दित) मार्ग (यज्ञ का अश्व चुराना रूप) का अवलम्बन नहीं करते हैं ॥ ४६ ॥

इति प्रगल्भं रघुणा समीरितं वचो निशम्याधिपतिर्दिवौकसाम् ।
निवर्तयामास रथं सविस्मयः प्रचक्रमे च प्रतिवक्तुमुत्तरम् ॥ ४७ ॥

इतीति । इति रघुणा समीरितं प्रगल्भं वचः निशम्याकर्ण्य । दिवौकसः स्वर्गौकसः । 'दिवं स्वर्गेऽन्तरिक्षे च' इति विश्वः । तेषामधिपतिर्देवेन्द्रो रघुप्रभावात्सविस्मयः सन् । रथं निवर्तयामास । उत्तरं प्रतिवक्तुं प्रचक्रमे च ॥ ४७ ॥

इस प्रकार से रघु के द्वारा कहे हुये धृष्ट वचन को सुन कर देवताओं के स्वामी इन्द्र ने रघु के प्रभाव से आश्चर्ययुक्त होते हुये रथ को लौटाया और उत्तर देने के लिये आरम्भ किया ॥ ४७ ॥

यदात्थ राजन्यकुमार ! तत्तथा यशस्तु रक्ष्यं परतो यशोधनैः ।
जगत्प्रकाशं तदशेषमिज्यया भवद्गुरुर्लङ्घयितुं ममोद्यतः ॥४८॥

यदिति । हे राजन्यकुमार ! क्षत्रियकुमार ! 'मूर्धाभिषिक्तो राजन्यो बाहुजः क्षत्रियो विराट्' इत्यमरः यद्वाक्यमात्थ ब्रवीषि । 'ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः' इत्यनेनाहादेशः । तत्तथा सत्यम् । किन्तु यशोधनैरस्मादृशैः परतः शत्रुतो यशो रक्ष्यम् । तत्र किमत आह–भवद्गुरुस्त्वत्पिता जगत्प्रकाशं लोकप्रसिद्धमशेषं सर्वं मम तद्यश इज्यया यागेन लङ्घयितुं तिरस्कर्तुमुद्यत उद्युक्तः ॥ ४८ ॥

हे क्षत्रियकुमार रघु ! तुम जिस बात को कह रहे हो वह उसी तरह से (ठीक) ही है, किन्तु यश ही को धन माननेवाले हमारे ऐसे लोगों को शत्रु से यश की रक्षा करनी उचित है और आपके पिता जगत् में अतिशय प्रसिद्ध जो सम्पूर्ण मेरा यश है, उसे यज्ञ से लङ्घन करने के लिए उद्यत हो रहे हैं ॥ ४८ ॥

किं तद्यश इत्याह—

हरिर्यथैकः पुरुषोत्तमः स्मृतो महेश्वरस्त्र्यम्बक एव नापरः ।
तथा विदुर्मां मुनयः शतक्रतुं द्वितीयगामी नहि शब्द एष नः ॥

हरिरिति । पुरुषेषूत्तम इति सप्तमीसमासः । 'न निर्धारणे' इति षष्ठीसमासनिषेधात् । कर्मधारये तु 'सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः' इत्युत्तमपुरुष इति स्यात् । यथा हरिर्विष्णुरेक एव पुरुषोत्तमः स्मृतः । यथा च त्र्यम्बकः शिव एव महेश्वरः स्मृतः । नापरोऽपरः पुमान्न । तथा मां मुनयः । शतक्रतुं विदुर्विदन्ति । 'विदो लटो वा' इति झेरुसादेशः । नोऽस्माकम् । हरिहरयोर्मम चेत्यर्थः । एष त्रितयोऽपि शब्दो द्वितीयगामी नहि । द्वितीयाप्रकरणे गम्यादीनामुपसङ्ख्यानात्समासः ॥४९॥

जिस प्रकार विष्णु ही केवल पुरुषोत्तम कहे जाते हैं और जिस प्रकार से त्र्यम्बक ही केवल महेश्वर कहे जाते हैं और दूसरा कोई नहीं कहा जाता है, उसी भाँति से मुनि लोग मुझे शतक्रतु (सौ अश्वमेध यज्ञ करने वाला) समझते हैं। हम लोगों के ये तीनों (पुरुषोत्तम–महेश्वर–शतक्रतु) शब्द दूसरे पुरुष के लिए नहीं हैं ॥ ४९ ॥

अतोऽयमश्वः कपिलानुकारिणा पितुस्त्वदीयस्य मयाऽपहारितः ।
अलं प्रयत्नेन तवात्र मा निधाः पदं पदव्यां सगरस्य सन्ततेः ॥५०॥

अत इति । यतोऽहमेव शतक्रतुरतस्त्वदीयस्य पितुरयं शततमोऽश्वः कपिलानुकारिणा कपिलमुनितुल्येन मयाऽपहारितोऽपहृतः । अपहारित इति स्वार्थे णिच् । तवात्राश्वे प्रयत्नेनालम् । प्रयत्नो मा कारीत्यर्थः । निषेधस्य निषेधं प्रति करणत्वात्तृतीया । सगरस्य राज्ञः सन्ततेः सन्तानस्य पदव्यां पदं मा निधाः न निधेहि । निपूर्वाद्धातोर्लुङ् । 'न माङ्योगे' इत्यडागमप्रतिषेधः । महदास्कन्दनं ते विनाशमूलं भवेदिति भावः ॥ ५० ॥

क्योंकि मैं ही केवल अश्वमेध का करनेवाला हूँ दूसरा कोई नहीं है इस कारण से तुम्हारे पिता के इस घोड़े को कपिल मुनि के तुल्य मैंने चुरा लिया है। तुम्हारा इस घोड़े के विषय में 'छुड़ाने के लिए' प्रयत्न करना वृथा है और सगर महाराज के पुत्रों के मार्ग में पैर मत रक्खो अर्थात् उनका अनुसरण मत करो ॥ ५० ॥

ततः प्रहस्यापभयः पुरन्दरं पुनर्बभाषे तुरगस्य रक्षिता ।
गृहाण शस्त्रं यदि सर्ग एष ते न खल्वनिर्जित्य रघुं कृती भवान् ॥

तत इति । ततस्तुरगस्य रक्षिता रघुः प्रहस्य प्रहासं कृत्वा । अपभयो निर्भीकः सन् । पुनः पुरन्दरं बभाषे । किमिति—हे देवेन्द्र ! अश्वेऽस्मिन्नाभावकल्पस्ते तव सर्गो निश्चयः । 'सर्गः स्वभावनिर्मोक्षनिश्चयाध्यायसृष्टिषु' इत्यमरः । तर्हि शस्त्रं गृहाण । भवान् रघुं मामनिर्जित्य कृतमनेनेति कृती । कृतकृत्यो न खलु । 'इष्टादिभ्यश्च' इतीनिप्रत्ययः । रघुमित्यनेनात्मनो दुर्जयत्वं सूचितम् ॥ ५१ ॥

इसके (इन्द्र की बात सुनने के) बाद घोड़े की रक्षा करने वाले रघु हँस कर निर्भीक होते हुए इन्द्र से बोले—हे देवेन्द्र ! यदि यह घोड़ा न छोड़ना ऐसा आपका निश्चय है तो शस्त्र को ग्रहण करिये क्योंकि आप मुझे बिना जीते घोड़ा ले जाने रूप कार्य में निश्चय कृतार्थ नहीं हो सकेंगे ॥ ५१ ॥

स एवमुक्त्वा मघवन्तमुन्मुखः करिष्यमाणः सशरं शरासनम् ।
अतिष्ठदालीढविशेषशोभिना वपुःप्रकर्षेण विडम्बितेश्वरः ॥ ५२ ॥

स इति । स रघुरुन्मुखः सन् मघवन्तमिन्द्रमेवमुक्त्वा शरासनं चापं सशरं करिष्यमाणः । आलीढेनालीढाख्येन स्थानभेदेन विशेषशोभिनाऽतिशयशोभिना वपुःप्रकर्षेण देहौन्नत्येन विडम्बितेश्वरोऽनुकृतपिनाकी सन् । अतिष्ठत् । आलीढलक्षणमाह यादवः—(स्थानानि धन्विनां पञ्च तत्र वैशाखमस्त्रियाम् । त्रिवितस्त्यन्तरौ पादौ मण्डलं तोरणाकृति । अन्वर्थं स्यात्समपदमालीढं तु ततोऽग्रतः । दक्षिणे वामसंकुच्य प्रत्यालीढं विपर्यये ॥) इति ॥ ५२ ॥

वह रघु ऊपर को मुख किये हुए इन्द्र से इस प्रकार कह कर धनुष को बाण से युक्त किया जाने वाला करते हुए आलीढ नामक (आगे की ओर दाहिना पैर कुछ झुका हो और बायाँ पैर पीछे की ओर तना हुआ रखा हो ऐसे आलीढ नामक पैंतरा धनुर्धरों के जानने वाले कहते हैं) पैंतरे से विशेष शोभा देनेवाले देह के औन्नत्य से शङ्कर भगवान् का अनुकरण किये हुए खड़ा हुआ ॥ ५१ ॥

रघोरवष्टम्भमयेन पत्रिणा हृदि क्षतो गोत्रभिदप्यमर्षणः ।
नवाम्बुदानीकमुहूर्तलाञ्छने धनुष्यमोघं समधत्त सायकम् ॥ ५३ ॥

रघोरिति । रघोरवष्टम्भमयेन स्तम्भरूपेण । 'अवष्टम्भः सुवर्णे च स्तम्भप्रारम्भयोरपि' इति विश्वः । पत्रिणा बाणेन हृदि हृदये क्षतो भिन्नः । अत एवामर्षणो-

सहन. । क्रुद्ध इत्यर्थः । गोत्रभिदिन्द्रोऽपि । 'सम्भावनीये चौरेऽपि गोत्रः क्षोणीधरे मतः' इति विश्वः । नवाम्बुदानामनीकस्य वृन्दस्य मुहूर्त्तं क्षणमात्र लाञ्छने चिह्नभूते धनुषि । दिव्ये धनुषीत्यर्थः । अमोघमवन्ध्यं सायकं बाणं समधत्त संहितवान् ॥ ५३ ॥

रघु के स्तम्भरूप बाण के द्वारा हृदय में क्षत (घाव) हो जाने से क्रोधित हुये, पर्वतों के भेदन करने वाले (इन्द्र) ने भी नवीन मेघ के समूह की थोडी देर चिह्न (शोभा) को धारण करने वाले धनुष पर अमोघ (कभी व्यर्थ नहीं जाने वाला) बाण सन्धान किया ॥

दिलीपसूनोः स बृहद्भुजान्तरं प्रविश्य भीमासुरशोणितोचितः ।
पपावनास्वादितपूर्वमाशुगः कुतूहलेनेव मनुष्यशोणितम् ॥ ५४ ॥

दिलीप इति । भीमाना भयङ्कराणामसुराणां शोणिते रुधिर उचित परिचित स इन्द्रमुक्त आशुगः सायको दिलीपसूनोः रघोर्बृहद्विशाल भुजान्तर वक्ष प्रविश्य । अनास्वादितपूर्वं पूर्वमनास्वादितम् । सुप्सुपेति समास. । मनुष्यशोणितं कुतूहलेनेव पपौ ॥ ५४ ॥

भयङ्कर दैत्यों के रक्तपान में अभ्यस्त वा विदित उस बाण ने दिलीप के पुत्र रघु के विशाल वक्ष स्थल में प्रविष्ट होकर जिसका पहले कभी स्वाद नहीं लिया है ऐसे मनुष्य के रक्त का कुतूहल से मानो पान किया ॥ ५४ ॥

हरेः कुमारोऽपि कुमारविक्रमः सुरद्विपास्फालनकर्कशाङ्गुलौ ।
भुजे शचीपत्रविशेषकाङ्किते स्वनामचिह्नं निचखान सायकम् ॥५५॥

हरेरिति । कुमारस्य स्कन्दस्य विक्रम इव विक्रमो यस्य स तथोक्त । 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य—' इत्यादिना समास । कुमारोऽपि रघुरपि सुरद्विपस्यैरावतस्यास्फालनेन कर्कशा अङ्गुलयो यस्य स तस्मिन् । शच्या पत्रविशेषकैरङ्किते शचीपत्रविशेषकाङ्किते हरेरिन्द्रस्य भुजे स्वनामचिह्न स्वनामाङ्कित सायक निचखान निखातवान् । निष्कण्टकराज्यमासस्यायं महानभिभव इति भाव ॥ ५५ ॥

कार्त्तिकेय के समान अत्यन्त पराक्रमी युवराज रघु ने भी ऐरावत हाथी के उत्साहार्थ मारने से कठिन अङ्गुलियाँ जिसकी हो रही हैं तथा इन्द्राणी के तिलक का जिसमें चिह्न है, ऐसे इन्द्र के बाहु मध्य में अपने नाम का चिह्न जिसमें मौजूद है ऐसे बाण को गाड दिया ॥ ५५ ॥

जहार चान्येन मयूरपत्त्रिणा शरेण शक्रस्य महाशनिध्वजम् ।
चुकोप तस्मै स भृशं सुरश्रियः प्रसह्य केशव्यपरोपणादिव ॥५६॥

जहारेति । अन्येन मयूरपत्त्रिणा मयूरपत्त्रवता शरेण शक्रस्येन्द्रस्य महाशनिध्वज महान्तमशनिरूप ध्वजं जहार चिच्छेद च । स शक्र । सुरश्रिय प्रसह्य बलात्कृत्य केशानां व्यपरोपणादवतारणाच्छेदनादिव । तस्मै रघवे भृशमत्यर्थं चुकोप ।

तं हन्तुमियेष इत्यर्थः। 'क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः' इत्यनेन सम्प्रदानाच्चतुर्थी।

उसके बाद फिर रघु ने दूसरे मयूर के पंखों से युक्त बाण से इन्द्र की बड़ी भारी वज्र के चिह्न से युक्त पताका को काट डाला और तब इन्द्र ने देवताओं की राजलक्ष्मी के केश जबर्दस्ती कर काटने की तरह पताका कट जाने से उस रघु के ऊपर अत्यन्त क्रोध किया ॥५६॥

तयोरुपान्तस्थितसिद्धसैनिकं गरुत्मदाशीविषभीमदर्शनैः ।
बभूव युद्धं तुमुलं जयैषिणोरधोमुखैरूर्ध्वमुखैश्च पत्रिभिः ॥ ५७ ॥

तयोरिति। जयैषिणोरन्योन्यजयकाङ्क्षिणोस्तयोरिन्द्ररघ्वोः। गरुतः पक्षाः। 'गरुत्पक्षच्छदाः पत्रम्' इत्यमरः। आशीविषाः आशिषि दंष्ट्रायां विषं येषां ते आशीविषाः सर्पाः। पृषोदरादित्वात्साधुः 'स्त्री त्वाशीर्हिताशंसाहिदंष्ट्रयोः' इत्यमरः। त इव भीमदर्शनाः। सपक्षाः सर्पा इव भयङ्करा भयावहा इत्यर्थः। तैरधोमुखैरूर्ध्वमुखैश्च। वज्रिणोऽन्तरिक्षे रघोर्भूतलस्थितत्वादिति भावः। पत्रिभिर्बाणैरुपान्तस्थितास्तटस्थाः सिद्धा देवा इन्द्रस्य सैनिकाश्च रघोर्यस्मिंस्तत्तथोक्तं तुमुलं सङ्कुलं युद्धं बभूव ॥ ५७ ॥

परस्पर विजय पाने की इच्छा रखने वाले उन दोनों इन्द्र और रघु का पंखयुक्त (उड़ने वाले) सर्पों के समान देखने में भयङ्कर अधोमुख (इन्द्र के) तथा ऊर्ध्वमुख (रघु के) वाले बाणों से पास में ही स्थित हैं सिद्ध (इन्द्र के) और सैनिक (रघु के) जिसमें ऐसा घमासान युद्ध हुआ ॥ ५७ ॥

अतिप्रबन्धप्रहितास्त्रवृष्टिभिस्तमाश्रयं दुष्प्रसहस्य तेजसः ।
शशाक निर्वापयितुं न वासवः स्वतश्च्युतं वह्निमिवाद्भिरम्बुदः ॥५८॥

अतिप्रबन्धेति । वासवोऽतिप्रबन्धेनातिसातत्येन प्रहिताभिः प्रयुक्ताभिरस्त्रवृष्टिभिर्दुष्प्रसहस्य दुःखेन प्रसह्यत इति दुष्प्रसहं तस्य। दुर्धर्षस्येत्यर्थः। तेजसः प्रतापस्याश्रयं तं रघुम्। अम्बुदोऽद्भिः स्वतश्च्युतं निर्गतं वह्निमिव। निर्वापयितुं न शशाक। रघोरपि लोकपालात्मकस्येन्द्रांशसम्भवत्वादिति भावः ॥ ५८ ॥

इन्द्र लगातार वेग से प्रयोग किये हुये अस्त्रों की वृष्टि से अत्यन्त दुःसह प्रताप के स्थान उस रघु को वैसे बादल जल की वृष्टि से अपने से उत्पन्न अग्नि (वैद्युताग्नि) को बुझाने के लिये समर्थ नहीं होता, उसी भाँति बुझाने के लिये (शान्त करने के लिये) समर्थ नहीं हुये ॥ ५८ ॥

ततः प्रकोष्ठे हरिचन्दनाङ्किते प्रमथ्यमानार्णवधीरनादिनीम् ।
रघुः शशाङ्कार्धमुखेन पत्रिणा शरासनज्यामलुनाद्बिडौजसः ॥५९॥

तत इति। ततो रघुर्हरिचन्दनाङ्किते प्रकोष्ठे मणिबन्धे प्रमथ्यमानार्णवधीरनादिनीं प्रमथ्यमानार्णव इव धीरं गम्भीरं नदतीति तां तथोक्ताम्। वेवेष्टि व्याप्नोतीति विट् व्यापकमोजो यस्य स तस्य बिडौजस इन्द्रस्य। पृषोदरादित्वात्साधुः।

शरासनज्या धनुर्मौर्वीम् । शशाङ्कस्यार्द्धं खण्ड इव मुखं फलं यस्य तेन पत्रिणाऽलुनादच्छिनत् ॥ ५९ ॥

इसके बाद रघु ने हरिचन्दन लगे हुये प्रकोष्ठ (केहुनी से कलाई पर्यन्त भाग) में मथे जाते हुये समुद्र की भाँति गम्भीर शब्द करने वाली इन्द्र के धनुषकी प्रत्यञ्चा को चन्द्र के आधे टुकडे के समान फल वाले बाण से काट दिया ॥ ५९ ॥

स चापमुत्सृज्य विवृद्धमत्सरः प्रणाशनाय प्रबलस्य विद्विषः ।
महीध्रपक्षव्यपरोपणोचितं स्फुरत्प्रभामण्डलमस्त्रमाददे ॥ ६० ॥

स इति । विवृद्धमत्सरः प्रवृद्धवैरः इन्द्रश्चापमुत्सृज्य प्रबलस्य विद्विषः शत्रोः प्रणाशनाय वधाय । महीं धारयन्तीति महीध्राः पर्वताः । मूलविभुजादित्वात्कप्रत्ययः । तेषां पक्षव्यपरोपणे पक्षच्छेद उचितं स्फुरत्प्रभामण्डलमस्त्रं वज्रायुधमाददे जग्राह ६०

'धनुष की प्रत्यञ्चा के कट जाने से' जिसका क्रोध अत्यन्त बढ गया है, ऐसे इन्द्र ने धनुष को छोड कर अत्यन्त बलवान् शत्रु (रघु) का नाश करने के लिये पर्वतों के पक्षों के काटनेमें प्रसिद्ध, चमकती हुई प्रभा का मण्डल जिसके चारों तरफ है ऐसे वज्रसञ्ज्ञक अस्त्र को ग्रहण किया ॥ ६० ॥

रघुर्भृशं वक्षसि तेन ताडितः पपात भूमौ सह सैनिकाश्रुभिः ।
निमेषमात्रादवधूय तद्व्यथां सहोत्थितः सैनिकहर्षनिःस्वनैः ॥६१॥

रघुरिति । रघुस्तेन वज्रेण भृशमत्यर्थं । वक्षसि ताडितो हतः सन् । सैनिकानामश्रुभिः सह भूमौ पपात । तस्मिन्पतिते ते रुरुदुरित्यर्थः निमेषमात्रात्तद्व्यथां दुःखमवधूय तिरस्कृत्य सैनिकानां हर्षेण ये निःस्वनाः क्ष्वेडास्तैः सहोत्थितश्च । तस्मिन्नुत्थिते हर्षात् सिंहनादाश्चक्रुरित्यर्थः ॥ ६१ ॥

रघु उस (इन्द्र से छोडे हुये) वज्र से छाती में अत्यन्त चोट लगने से सैनिकों के अश्रु के साथ जमीन पर गिर पडे और क्षणभर के बाद ही उसकी पीडा को सहन करके सैनिकों के हर्ष से किये सिंहनाद के साथ ही उठ पडे ॥ ६१ ॥

तथाऽपि शस्त्रव्यवहारनिष्ठुरे विपक्षभावे चिरमस्य तस्थुषः ।
तुतोष वीर्यातिशयेन वृत्रहा पदं हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते ॥६२॥

तथाऽपीति । तथाऽपि वज्रपातेऽपि शस्त्राणामायुधानां व्यवहारेण व्यापारेण निष्ठुरे क्रूरे विपक्षभावे शात्रवे चिरं तस्थुषः स्थितवतोऽस्य रघोर्वीर्यातिशयेन । वृत्रं हतवानिति वृत्रहा । 'ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्' । तुतोष । स्वयं वीर एव वीरं जानातीति भावः । कथं शत्रौ सन्तोषोऽत आह–गुणैः सर्वत्र शत्रुमित्रोदासीनेषु पदमङ्घ्रिर्निधीयते । गुणैः सर्वत्र सक्रम्यत इत्यर्थः । गुणाः शत्रूनप्यावर्जयन्तीति भावः ॥

उस प्रकार के वज्रप्रहार होने पर भी अस्त्रों के व्यवहार करने से निष्ठुर शत्रुभाव

में बहुत देर से स्थित हुये उस रघु के पराक्रम की अधिकता से वृत्रासुर को (इसी वज्र से) मारने वाले इन्द्र प्रसन्न हुये क्योंकि—गुण ही सर्वत्र शत्रु-मित्रादिकों में पैर को स्थापित करते हैं अर्थात् गुण से ही सर्वत्र आदर होता है ॥ ६२ ॥

असङ्गमद्रिष्वपि सारवत्तया न मे त्वदन्येन विसोढमायुधम् ।
अवेहि मां प्रीतमृते तुरङ्गमात्किमिच्छसीति स्फुटमाह वासवः ॥

असङ्गमिति । सारवत्त्वयाऽद्रिष्वप्यसङ्गमप्रतिबन्धं मे आयुधं वज्रं त्वदन्येन न विसोढम् । अतो मां प्रीतं सन्तुष्टमवेहि । तुरङ्गमादृते तुरङ्गं वर्जयित्वा । 'अन्यारादितरर्ते—' इति पञ्चमी किमिच्छसीति स्फुटं वासव आह—तुरङ्गमादन्यद्देयमस्तीति भावः ॥ ६३ ॥

सारवान् (दृढ़) होने से पर्वतों में भी नहीं रुकने वाला मेरा अस्त्र जो वज्र है उसे तुम्हारे अलावा किसी दूसरे ने नहीं सहन किया है अतः हमें तुम प्रसन्न समझो और घोड़े को छोड़ कर क्या चाहते हो ! ऐसा इन्द्र ने प्रकाश रूप में रघु से कहा ॥ ६३ ॥

ततो निषङ्गादसमग्रमुद्धृतं सुवर्णपुङ्खद्युतिरञ्जिताङ्गुलिम् ।
नरेन्द्रसूनुः प्रतिसंहरन्निषुं प्रियंवदः प्रत्यवदत्सुरेश्वरम् ॥ ६४ ॥

तत इति । ततो निषङ्गात्तूणीरादसमग्रं यथा तथोद्धृतं सुवर्णपुङ्खद्युतिभी रञ्जिता अङ्गुलयो येन तमिषुं प्रतिसंहरन्निवर्तयन् । नाप्रहरन्तं प्रहरेदिति निषेधादिति भावः । प्रियं वदतीति प्रियंवदः । 'प्रियवशे वदः खच्' इति खच्प्रत्ययः । 'अरुर्द्विषदजन्तस्य' इति मुमागमः । नरेन्द्रसूनू रघुः सुरेश्वरं प्रत्यवदत् । न तु प्राहरदिति भावः ॥ ६४ ॥

इसके (इन्द्र की बात सुनने के) बाद तरकस से पूरे नहीं निकाले हुये जिसके सुवर्ण-मय मूल भाग की कान्ति से अङ्गुलियाँ रङ्ग गई हैं ऐसे बाण को फिर से तरकस में रखते हुए प्रियवचन बोलने वाले महाराज दिलीप के कुमार रघु देवताओं के प्रभु इन्द्र से बोले ॥ ६४ ॥

अमोच्यमश्वं यदि मन्यसे प्रभो ततः समाप्ते विधिनैव कर्मणि ।
अजस्रदीक्षाप्रयतः स मद्गुरुः क्रतोरशेषेण फलेन युज्यताम् ॥

अमोच्यमिति । हे प्रभो इन्द्र ! अश्वममोच्यं मन्यसे यदि ततस्तर्ह्यजस्रदीक्षाप्रयतः स मद्गुरुर्मम पिता विधिनैव कर्मणि समाप्ते सति क्रतोर्यत्फलं तेन फलेनाऽशेषेण कृत्स्नेनैव युज्यतां युक्तोऽस्तु । अश्वमेधफललाभे किमश्वेनेति भावः ॥ ६५ ॥

हे प्रभो ! अश्व को यदि नहीं छोड़ने लायक आप समझते हैं तो जो निरन्तर यज्ञ की दीक्षा में लगे हुये हैं ऐसे वे मेरे पिता महाराज दिलीप विधिपूर्वक कर्म की समाप्ति होने पर यज्ञ का जो फल होता है उस सम्पूर्ण फल से युक्त हों 'यह मैं चाहता हूँ' ॥

यथा च वृत्तान्तमिमं सदोगतस्त्रिलोचनैकांशतया दुरासदः ।
तवैव संदेशहराद्विशांपतिः शृणोति लोकेश तथा विधीयताम् ॥६६॥

यथेति । सदोगतः सदो गृह गतस्त्रिलोचनस्येश्वरस्यैकांशतयाऽष्टानामन्यतममूर्त्तित्वात् । दुरासदोऽस्मादृशैर्दुष्प्राप्यो विशांपतिर्यथेम वृत्तान्त तव सदेशहराद्वार्त्ताहरादेव शृणोति च । हे लोकेशेन्द्र ! तथा विधीयताम् ॥ ६६ ॥

और यज्ञमण्डप में स्थित शङ्कर भगवान् का भी एक अंश (यजमानरूपी मूर्त्ति) होने से हमारे ऐसे लोगों के लिए बड़ी कठिनाई से प्राप्त होने के योग्य महाराजाधिराज दिलीप जी जिस प्रकार इस वृत्तान्त को तुम्हारे दूत से ही सुनें, हे लोकपाल इन्द्र जी ! वैसा आप करें ॥ ६६ ॥

तथेति कामं प्रतिशुश्रुवान् रघोर्यथाऽऽगतं मातलिसारथिर्ययौ ।
नृपस्य नातिप्रमनाः सदोगृहं सुदक्षिणासूनुरपि न्यवर्त्तत ॥६७॥

तथेतीति । मातलिसारथिरिन्द्रो रघो सम्बन्धिन काम मनोरथं तथेति तथास्त्विति प्रतिशुश्रुवान् । 'भाषाया सदवसश्रुव.' इति क्वसुप्रत्यय । यथाऽऽगतं ययौ । सुदक्षिणासूनू रघुरपि नातिप्रमना विजयलाभेऽप्यश्वनाशान्नातीव तुष्ट. सन् । नञर्थस्य सुप्सुपेति समास. । नृपस्य सदोगृह प्रति न्यवर्त्तत ॥ ६७ ॥

मातलि नामक सारथि है जिसका ऐसे इन्द्रजी रघु की अभिलाषा के सम्बन्ध में वैसा ही होगा 'जैसा कि तुमने कहा है' ऐसी प्रतिज्ञा करके जिस मार्ग मे आये थे उसी मार्ग से गये और सुदक्षिणा के पुत्र रघु भी 'विजय होने पर भी घोडा न मिलने से' अत्यन्त प्रसन्न चित्त नहीं होते हुये राजा दिलीप के सभाभवन की ओर लौटे ॥ ६७ ॥

तमभ्यनन्दत्प्रथमं प्रबोधित. प्रजेश्वर' शासनहारिणा हरेः ।
परामृशन्हर्षजडेन पाणिना तदीयमङ्गं कुलिशव्रणाङ्कितम् ॥६८॥

तमिति । हरेरिन्द्रस्य शासनहारिणा पुरुषेण प्रथम प्रबोधितो ज्ञापित । वृत्तान्तमिति शेष । प्रजेश्वरो दिलीपो हर्षजडेन हर्षशिशिरेण पाणिना कुलिशव्रणाङ्कितम् । तस्य रघोरिद तदीयम् । अङ्ग शरीर परामृशस्त रघुमभ्यनन्दत् ॥ ६८ ॥

इन्द्र की आज्ञा को लाने वाले पुरुष से (रघु के आने के) पहिले ही वृत्तान्त को जाने हुए प्रजाओं के मालिक, राजा दिलीप ने हर्ष से कॉंपते हुए हाथ से वज्र के घाव से युक्त उन (रघु) के शरीर का स्पर्श करते हुये उन (रघु) का अभिनन्दन किया ॥ ६८ ॥

इति क्षितीशो नवतिं नवाधिकां महाक्रतूनां महनीयशासन. ।
समारुरुक्षुर्दिवमायुषः क्षये ततान सोपानपरम्परामिव ॥ ६९ ॥

इतीति । महनीयशासन पूजनीयाज्ञ क्षितीश इत्यनेन प्रकारेण 'इति हेतुप्रकर-

अमकारादिसमाप्तिषु' इत्यमरः । महाक्रतूनामश्वमेधानां नवतिरधिका नवतिमेको-नशततमायुषः क्रतौ सति दिवं स्वर्गं समारुरुक्षुरारोढुमिच्छुः सोपानानां परम्परां पङ्क्तिमिव ततान ॥ ६९ ॥

जिसकी आज्ञा सभी लोगों को माननीय है ऐसे पृथ्वी के स्वामी राजा दिलीप ने इस प्रकार से यज्ञ करते हुए अर्थात् निन्यानबे ९९ अश्वमेध नामक महायज्ञों को पूरा किया सो मानों जीवन समाप्त होने पर ऊपर स्वर्ग पर चढ़ने की इच्छा रखने वाले की भाँति सीढ़ियों की पंक्ति तैयार की ॥ ६९ ॥

अथ स विषयव्यावृत्तात्मा यथाविधि सूनवे
नृपतिककुदं दत्त्वा यूने सितातपवारणम् ।
मुनिवनतरुच्छायां देव्या तया सह शिश्रिये
गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम् ॥ ७० ॥

अथेति । अथ विषयेभ्यो व्यावृत्तात्मा निवृत्तचित्तः स दिलीपो यथाविधि यथाशास्त्रं यूने सूनवे नृपतिककुदं राजचिह्नम् । 'ककुद्मत्ककुदं श्रेष्ठे वृषाङ्के राजलक्ष्मणि' इति विश्वः । सितातपवारणं श्वेतच्छत्रं दत्त्वा तया देव्या सुदक्षिणया सह मुनिवनतरोश्छायां शिश्रिये श्रितवान् । वानप्रस्थाश्रमं स्वीकृतवानित्यर्थः । तथाहि । गलितवयसां वृद्धानामिक्ष्वाकूणामिक्ष्वाकोर्गोत्रापत्यानाम् । तद्राजसंज्ञकत्वाद्बहुत्वे लुक् । इदं वनगमनं कुलव्रतम् । देव्या सहेत्यनेन सपत्नीकस्य वानप्रस्थाश्रमपक्ष उक्तः । तथा च याज्ञवल्क्यः—(सुतविन्यस्तपत्नीकस्तया वानुगतो वनम् । वानप्रस्थो ब्रह्मचारी साग्निः सोपासनो व्रजेत् ।) इति । हरिणीवृत्तमेतत् । तदुक्तम्—(रसयुगहयैर्न्सौ म्रौ स्लौ गो यदा हरिणी तदा) इति ॥ ७० ॥

इति सञ्जीविनीव्याख्यायां रघुराज्याभिषेको नाम तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

इसके बाद विषयों (इन्द्रियजन्य सुखादिकों) से जिसका चित्त हट गया है ऐसे दिलीप महाराज शास्त्रोक्त रीति से युवावस्था को प्राप्त पुत्र रघु को राजचिह्न श्वेतछत्र देकर पूर्वोक्त महारानी सुदक्षिणा के साथ मुनिजनों के तपोवन के वृक्षों की छाया का सेवन करने लगे (अर्थात् वानप्रस्थाश्रम ले लिया), क्योंकि—यह इक्ष्वाकुवंश के राजाओं का वह (वन में जाना) कुलव्रत नियम है ॥ ७० ॥

इति तृतीयः सर्गः ।

चतुर्थः सर्गः

अथ प्राप्तराज्यस्य रघो कीदृशी शोभाऽऽसीत्तामेवाह—

स राज्यं गुरुणा दत्तं प्रतिपद्याधिकं बभौ।
दिनान्ते निहितं तेज' सवित्रेव हुताशनः॥ १॥

शारदा शारदाम्भोजवदना वदनाम्बुजे।
सर्वदा सर्वदाऽस्माक सन्निधिं सन्निधिं क्रियात्॥

स इति। स रघुर्गुरुणा पित्रा दत्तं राज्यं राज्ञ. कर्म प्रजापरिपालनात्मकम्। पुरोहितादिस्वाद्यक्। प्रतिपद्य प्राप्य। दिनान्ते सायकाले सवित्रा सूर्येण निहित तेज. प्रतिपद्य हुताशनोऽग्निरिव। अधिकं बभौ। (सौर तेज' सायमग्निं सक्रमते। आदित्यो वा अस्त. सन्नग्निमनुप्रविशति। अग्निं वा आदित्य. साय प्रविशति) इत्यादिश्रुति. प्रमाणम्॥ १॥

वह रघु महाराज पिताके दिये हुये राज्य (प्रजापालन रूप कर्म) को पाकर सायङ्काल में सूर्यके द्वारा स्थापित तेजको पाकर जैसे अग्नि अधिक सुशोभित होता है उसी भाँति अधिक सुशोभित होने लगे॥ १॥

अथ रघो राज्येऽवस्थान श्रुत्वा शत्रूणां हृदि सन्तापाधिक्य बभूवेत्याह—

दिलीपानन्तरं राज्ये तं निशम्य प्रतिष्ठितम्।
पूर्वं प्रधूमितो राज्ञां हृदयेऽग्निरिवोत्थितः॥ २॥

दिलीपेति। दिलीपानन्तर राज्ये प्रतिष्ठितमवस्थित त रघु निशम्याकर्ण्यं पूर्वं दिलीपकाले राज्ञां हृदये प्रकर्षेण धूमोऽस्य सञ्जात प्रधूमितोऽग्नि सन्तापाग्नि-रुत्थित इव प्रज्वलित इव। पूर्वेभ्योऽधिकसन्तापोऽभूदित्यर्थं। राजकर्तृकस्यापि निशमनस्याग्नावुपचाराञ्च समानकर्तृकत्वविरोध॥ २॥

दिलीप महाराजके बाद प्रतिष्ठित हुए उन महाराज रघु को सुनकर पहले (दिलीप महाराजके) समयमें जो राजाओंके हृदयमें धूमयुक्त सन्तापाग्नि थी सो इस समय प्रज्वलित हो उठी अर्थात् पहले की अपेक्षा अधिक सन्ताप हुआ॥ २॥

अथ रघु राज्येऽवस्थित दृष्ट्वा सर्वा अपि प्रजा प्रसन्ना बभूवुरित्याह—

पुरुहूतध्वजस्येव तस्योन्नयनपङ्क्तयः।
नवाभ्युत्थानदर्शिन्यो ननन्दुः सप्रजाः प्रजाः॥ ३॥

पुरुहूतेति। पुरुहूतध्वज इन्द्रध्वज। स किल राजभिर्वृष्ट्यर्थं पूज्यत इत्युक्त भविष्योत्तरे (एव य कुरुते यात्रामिन्द्रकेतोर्युधिष्ठिर। पर्जन्य कामवर्षी स्यात्तस्य राज्ये न सशय॥) इति। (चतुरस्र ध्वजाकार राजद्वारे प्रतिष्ठितम्। आहु शक्रध्वज नाम पौरलोकसुखावहम्।) इति। पुरुहूतध्वजस्येव तस्य रघोर्नवाभ्युत्थानमभ्युन्न-

त्थितमभ्युदयं च पश्यन्तीति नवाभ्युत्थानदर्शिन्यः। इन्द्रध्वजं प्रतिपन्ना भक्तिमत्यः नवनवध्वजो यासां ताः सप्रजाः ससन्तानाः प्रजा जनाः। 'प्रजा स्यात्सन्ततौ जने' इत्युभयत्राप्यमरः। ननन्दुः ॥ ३ ॥

इन्द्रकी पताकाकी तरह रघु महाराजके नवीन अभ्युदय (तरक्की) को देखने वाले नव नव अभ्युदयको देख-समूहों को लिये हुये सन्तान सहित प्रजा लोग प्रसन्न हुये ॥ ३ ॥

अथ रघोः सिंहासनारोहणेन एव शत्रुमण्डलमपि पदाक्रान्तमभूदित्याह—

सममेव समाक्रान्तं द्वयं द्विरदगामिना ।
तेन सिंहासनं पित्र्यमखिलं चारिमण्डलम् ॥ ४ ॥

सममिति। द्विरद इव द्विरदेन वा गच्छतीति द्विरदगामी तेन। 'कर्तर्युपमाने' इति 'सुप्यजातौ' इति च णिनिः। तेन रघुणा समं युगपदेव द्वयं समाक्रान्तमधिष्ठितम्। किं तद् द्वयम्। पितुरागतं पित्र्यम्। 'पितुर्यत्' इति यत्प्रत्ययः। सिंहासनम् अखिलमरीणां मण्डलं राष्ट्रं च ॥ ४ ॥

हाथीकी तरह शानपूर्वक चलनेवाले अथवा हाथी पर चलने वाले रघुने साथ ही दोनों को दबाया। एक तो पिताके राज सिंहासनको दूसरे सम्पूर्ण शत्रुमण्डलको ॥ ४ ॥

अथ सिंहासनारोहणानन्तरं तस्य लक्ष्मीसमाश्रयमाह—

छायामण्डललक्ष्येण तमदृश्या किल स्वयम् ।
पद्मा पद्मातपत्रेण भेजे साम्राज्यदीक्षितम् ॥ ५ ॥

छायेति। अत्र रघोरभिषेकानन्तरं सन्निहितया लक्ष्म्या छत्रधारणं कृतमिति उत्प्रेक्ष्यते। पद्मा लक्ष्मीः। 'लक्ष्मीः पद्मालया पद्मा कमला श्रीर्हरिप्रिया' इत्यमरः। सा स्वयमदृश्या किल दृश्येति सम्भावनायाम्। सती। छायामण्डलस्य लक्ष्येण कान्तिपुञ्जानुमेयेन न तु स्वरूपतो दृश्येन। छायामण्डलमिषेणैवानपत्रमित्यर्थः। 'छाया सूर्यप्रिया कान्तिः प्रतिबिम्बमनातपः' इत्युभयत्राप्यमरः। पद्मातपत्रेण पद्ममेवातपत्रं तेन कारणभूतेन साम्राज्यदीक्षितं साम्राज्ये साम्राज्यपदमभिषेकसंस्कारेण दीक्षितम् अभिषिक्तं तं भेजे। अन्यथा कथमगादस्मै कान्तिमत्त्वमिति भावः ॥ ५ ॥

लक्ष्मी स्वयं अदृश्य रूप से विद्यमान हुई छाया (कान्ति वा छाया) के मण्डल से जिसका अनुमान किया जा सकता है ऐसे कमल से रघु महाराज की सेवा करने लगी ॥ ५ ॥

तमपि सरस्वत्युपतस्थ इत्याह—

परिकल्पितसांनिध्या काले काले च बन्दिषु ।
स्तुत्यं स्तुतिभिरर्थ्याभिरुपतस्थे सरस्वती ॥ ६ ॥

परिकल्पितेति। सरस्वती च काले काले सर्वेष्वपि योग्यकालेषु। 'नित्यवीप्सयो' इति वीप्सायां द्विर्वचनम्। बन्दिषु परिकल्पितसांनिध्या कृतसंनिधाना सती स्तुत्यं

स्तोत्रार्हं तं रघुम् । अर्थ्याभिरर्थादनपेताभिः । 'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते' इति यत्प्रत्ययः । स्तुतिभिः स्तोत्रैरुपतस्थे । देवताबुद्धया पूजितवतीत्यर्थः । देवतात्वं च (ना विष्णुः पृथिवीपतिः) इति वा लोकपालात्मकत्वाद्वेत्यनुसंधेयम् । एवं च सति 'उपाद्देवपूजासङ्गतिकरणमित्रकरणपथिषु' इति वक्तव्यादात्मनेपदं सिध्यति ॥ ६ ॥

सरस्वती देवी ने भी समय-समय पर वन्दियोंकी समीपवर्त्तिनी होती हुई स्तुति करने के योग्य उन रघु महाराज को अर्थ से युक्त उचित स्तोत्रों द्वारा देवबुद्धि से या लोकपालों के अंश से उत्पन्न होने के कारण पूजन किया ॥ ६ ॥

अथ रघोरनन्यपूर्वमिव पृथ्वीशासनमासीदित्याह—

मनुप्रभृतिभिर्मान्यैर्भुक्ता यद्यपि राजभिः ।
तथाऽप्यनन्यपूर्वेव तस्मिन्नासीद्वसुन्धरा ॥ ७ ॥

मनुप्रभृतिभिरिति । वसुन्धरा मनुप्रभृतिभिर्मन्वादिभिर्मान्यैः पूज्यै राजभिर्भुक्ता यद्यपि । भुक्तैवेत्यर्थः । यद्यपीत्यवधारणे । 'अप्यर्थे यदि वाऽर्थे स्यात्' इति केशवः । तथाऽपि । तस्मिन् राज्ञि । अन्यः पूर्वो यस्याः साऽन्यपूर्वा अन्यपूर्वा न भवतीत्यनन्यपूर्वा अनन्योपभुक्तेवासीत् । तत्प्रथमपतिकेवानुरक्तवतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

पृथ्वी मनु आदि माननीय राजाओं से यद्यपि भोगी हुई थी, तथापि उन महाराज रघु में अन्य से जैसे नहीं भोगी गई हो ऐसी अनुरक्त हुई ॥ ७ ॥

अत्र कारणमाह—

स हि सर्वस्य लोकस्य युक्तदण्डतया मनः ।
आददे नातिशीतोष्णो नभस्वानिव दक्षिणः ॥ ८ ॥

स इति । हि यस्मात्कारणात्स रघुर्युक्तदण्डतया यथाऽपराधदण्डतया सर्वस्य लोकस्य मन आददे जहार । क इव । अतिशीतोऽत्युष्णो वा न भवतीति नातिशीतोष्णः । नञर्थस्य नशब्दस्य 'सुप्सुपे'ति समासः । दक्षिणो दक्षिणदिग्भवो नभस्वान्वायुरिव । मलयानिल इवेत्यर्थः । युक्तदण्डतयेत्यत्र कामन्दकः-(उद्वेजयति तीक्ष्णेन मृदुना परिभूयते । दण्डेन नृपतिस्तस्माद्युक्तदण्डः प्रशस्यते) । इति ॥ ८ ॥

क्योंकि उस रघु ने अपराध के अनुसार दण्ड देने से सभी लोगों के मन का हरण कर लिया जैसे कि—न अत्यन्त शीत और न अत्यन्त गरम बहने वाला दक्षिण दिशा का पवन सब लोगों के मन को हरण करता है ॥ ८ ॥

अथ रघोः सुप्रबन्धेन प्रजावर्गस्य दिलीपकर्तृकसुप्रबन्धस्य विस्मरणमाह—

मन्दोत्कण्ठाः कृतास्तेन गुणाधिकतया गुरौ ।
फलेन सहकारस्य पुष्पोद्गम इव प्रजाः ॥ ९ ॥

मन्देति । तेन रघुणा प्रजा गुरौ दिलीपविषये । सहकारोऽतिसौरभश्चूतः 'आम्रश्चूतो रसालोऽसौ सहकारोऽतिसौरभः' इत्यमरः । तस्य फलेन पुष्पोद्गमे पुष्पोदय

एव ततोऽपि गुणाधिकतया हेतुना मन्दोत्कण्ठा अहीनोत्सुकयाः कृताः । गुणोत्तरत्वे पूर्वो विषयः पूर्वं विस्मार्यतीति भावः ॥ ९ ॥

इस रघु महाराज ने प्रजावर्ग को अपने पिता महाराज दिलीप के विषय में बढ़े काम का फल-फूल (बौर) के निकलने के विषय में कम (बौर) की अपेक्षा अधिक गुण होने से फलों की स्वल्प उत्कण्ठा वाला बना देता है उसी भाँति बना दिया अर्थात् रघु के गुणों से लोग महाराज दिलीप को भूल गये ॥ ९ ॥

अथ रघोः सदसतोर्मध्ये सदेवाभिमतमासीदित्याह—

नयविद्भिर्नवे राज्ञि सदसच्चोपदर्शितम् ।
पूर्व एवाभवत्पक्षस्तस्मिन्नाभवदुत्तरः ॥ १० ॥

नयेति । नयविद्भिर्नीतिशास्त्रज्ञैर्नवे तस्मिन् राज्ञि विषये । सदसदित्युभयमर्थो सद्धर्मयुद्धादिकमसद्कूटयुद्धादिकं चोपदर्शितम् । तस्मिन्राज्ञि पूर्वः पक्ष एवाभवत् । संक्रान्त इत्यर्थः । उत्तरः पक्षो नाभवत् । न संक्रान्त इत्यर्थः । तत्र सदसतोर्मध्ये सदेवाभिमतं नासत् । तदुभयं तु ज्ञानार्थमेवेत्यर्थः । पक्षः साधनयोग्यार्थः । 'पक्षः पार्श्वगरुत्साध्यसहायबलभित्तिषु' इति केशवः ॥ १० ॥

नीति जानने वाले मन्त्रियों ने नवीन महाराज रघु के विषय में अच्छा धर्मयुद्धादिक और बुरा कपट-युद्धादिक दोनों विवेचन करके दिखाया पर उनके योग्य पहला धर्म युद्धादि पक्ष ही निश्चय हुआ दूसरा अधर्मयुद्धादि पक्ष निश्चय नहीं हुआ ॥ १० ॥

अथ रघो राज्ञि प्रभवेषु गुणानां पञ्चानामुत्कर्षमाह—

पञ्चानामपि भूतानामुत्कर्षं पुपुषुर्गुणाः ।
नवे तस्मिन्महीपाले सर्वं नवमिवाभवत् ॥ ११ ॥

पञ्चानामिति । पृथिव्यादीनां पञ्चानां भूतानामपि गुणा गन्धादय उत्कर्षमतिशयं पुपुषुः । अथोत्प्रेक्षते—तस्मिन्रघौ नाम नवे महीपाले सर्वं वस्तुजातं नवमिवाभवत् । तदेव भूतजातमिदानीमपूर्वगुणयोगादपूर्वमिवाभवदिति भावः ॥ ११ ॥

पृथिवी जल, तेज वायु और आकाश इन पाँच महाभूतों के भी गुण गन्ध रस रूप, स्पर्श और शब्द अत्यन्त पुष्ट हुए (अर्थात् पहले की अपेक्षा अधिकत्व को प्राप्त हुये) उस नवीन महाराज रघु के राजा होने पर सभी वस्तुएँ नवीन की तरह हो गईं ॥ ११ ॥

अथ रघुरन्वर्थो राजाभूदित्याह—

यथा प्रह्लादनाच्चन्द्रः प्रतापात्तपनो यथा ।
तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृतिरञ्जनात् ॥ १२ ॥

यथेति । यथा चन्द्रयत्याह्लादयतीति चन्द्र इन्दुः । चदिधातोरौणादिको रक्प्रत्ययः । प्रह्लादनादाह्लादकरत्वादन्वर्थोऽनुगतार्थनामकोऽभूत् । यथा च तपतीति तपनः सूर्यः । 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' इत्यनेन ल्युप्रत्ययः । प्रतापा

त्सन्तापजननादन्वर्थं । तथैव स राजा प्रकृतिरञ्जनादन्वर्थः सार्थकराजशब्दोऽभूत् । यद्यपि राजशब्दो राजतेर्दीप्त्यर्थात्कनिन्प्रत्ययान्तो न तु रञ्जेस्तथाऽपि धातूनामनेकार्थत्वाद्रञ्जनाद्राजेत्युक्तं कविना ॥ १२ ॥

जिस प्रकार से चन्द्रमा आह्लाद उत्पन्न करने से सार्थक नाम वाले हुए और जिस प्रकार से सूर्य सन्ताप उत्पन्न करने से यथार्थ नामवाले हुये, उसी प्रकार से वे रघु महाराज भी पुरवासी लोगों के अनुराग को पैदा करने से यथार्थ नाम वाले राजा हुये ॥

अथ चक्षुष्मतोऽपि रघोर्लोचनं शास्त्रमेवासीदित्याह—

कामं कर्णान्तविश्रान्ते विशाले तस्य लोचने ।
चक्षुष्मत्ता तु शास्त्रेण सूक्ष्मकार्यार्थदर्शिना ॥ १३ ॥

काममिति । विशाले तस्य रघोर्लोचने काम कर्णान्तयोर्विश्रान्ते कर्णप्रान्तगते । चक्षुष्मत्ता तु चक्षुःफल त्वित्यर्थः । सूक्ष्मान् कार्यार्थान्कर्तव्यार्थान्दर्शयति प्रकाशयतीति सूक्ष्मकार्यार्थदर्शिना शास्त्रेणैव शास्त्र दृष्टिर्विवेकिनामिति भावः ॥ १३ ॥

यद्यपि बड़े बड़े उन रघु महाराज के लोचन हद से ज्यादा कान तक फैले हुए थे, परन्तु आँख का होना (आँखों का फल) तो गूढ कर्त्तव्य विषयों के दिखानेवाले शास्त्र से ही था, अर्थात् वे शास्त्र से देखकर कार्य करते थे न कि केवल आँखों से ही ॥ १३ ॥

अथ रघोर्दिग्विजययोग्य समय शरदृतु प्राप्त इत्याह—

लब्धप्रशमनस्वस्थमथैनं समुपस्थिता ।
पार्थिवश्रीर्द्वितीयेव शरत्पङ्कजलक्षणा ॥ १४ ॥

लब्धेति । अथ लब्धस्य राज्यस्य प्रशमनेन परिपन्थिनामनुरञ्जनप्रतीकाराभ्यां स्थिरीकरणेन स्वस्थं समाहितचित्तमेन रघु पङ्कजलक्षणा पद्मचिह्ना । श्रियोऽपि विशेषणमेतत् । शरद् । द्वितीया पार्थिवश्री राजलक्ष्मीरिव समुपस्थिता प्राप्ता । (रक्षा पौरजनस्य देशनगरग्रामेषु गुप्तिस्तथा योधानामपि संग्रहोऽपि तुलया मानव्यवस्थापनम् । साम्यं लिङ्गिषु दानवृत्तिकरणं त्याग समानेऽर्चनं कार्याण्येव महीभुजां प्रशमनान्येतानि राज्ये नवे) ॥ १४ ॥

इसके (राजासन पर बैठने के) बाद पाये हुये राज्य का (पौरजनों की रक्षा आदि प्रशमनात्मक कार्यों से) प्रशमन (शान्तिस्थापन) करने से शान्त चित्त हुये इन रघु महाराजको कमल ही है चिह्न जिसका ऐसी शरद् ऋतु दूसरी कमलरूप चिह्नवाली राजलक्ष्मी की भाँति प्राप्त हुई ॥ १४ ॥

अथ शरदृतुगुणान् वर्णयन् कविरादौ सूर्यस्य रघोश्च साम्यस्थितिमाह—

निर्वृष्टलघुभिर्मेघैर्मुक्तवर्त्मा सुदुःसहः ।
प्रतापस्तस्य भानोश्च युगपद् व्यानशे दिशः ॥ १५ ॥

निर्वृष्टेति । निःशेषं वृष्टा निर्वृष्टाः । कर्तरि क्तः । अत एव लघवः । तैर्मेघैर्मुक्त-

धाम्नां त्यक्तमार्गः । अत एव दुःसहः । तस्य रघोर्भानोश्च प्रतापः पौरुषमातपश्च । 'प्रतापौ पौरुषातपौ' इति यादवः । युगपद्दिशो व्याप्य व्याप ॥ १५ ॥

अच्छी तरह जल बरसा चुकने से हल्के हुए मेघों ने जिसके मार्ग को छोड़ दिया है अत एव अत्यन्त दुःसह रघुका प्रताप और सूर्यका तेज दोनों एक समय ही सारी दिशाओं में व्याप्त हो गये ॥ १५ ॥

अथेन्द्रस्य वार्षिकधनुःसंहारानन्तरं रघोर्जैत्रधनुर्धारणमाह—

> वार्षिकं संजहारेन्द्रो धनुर्जैत्रं रघुर्दधौ ।
> प्रजाऽर्थसाधने तौ हि पर्यायोद्यतकार्मुकौ ॥ १६ ॥

वार्षिकमिति । इन्द्रः । वर्षासु भवं वार्षिकम् । वर्षानिमित्तमित्यर्थः । 'वर्षाभ्यष्ठक्' इति ठक्प्रत्ययः । धनुः संजहार । रघुर्जैत्रं जयशीलम् । जेतृशब्दात्तृन्नन्तात् 'प्रज्ञादिभ्यश्च' इति स्वार्थेऽण्प्रत्ययः । धनुर्दधौ हि यस्मात्ताविन्द्ररघू प्रजानामर्थस्य प्रयोजनस्य वृष्टिविजयलक्षणस्य साधनविषये पर्यायेणोद्यते कार्मुके याभ्यां तौ पर्यायोद्यतकार्मुकौ । 'पर्यायोद्यमविक्रमौ' इति पाठान्तरे पर्यायेणोद्यमो विक्रमश्च ययोस्तौ पर्यायोद्यमविक्रमौ । द्वयोः पर्यायकरणमप्यपेक्ष्य इति भावः ॥ १६ ॥

इन्द्रने वर्षा काल में बनने वाले धनुषको रख दिया और रघुने विजय करने वाले धनुष को धारण किया क्योंकि वे दोनों इन्द्र और रघु प्रजाओंका प्रयोजन जो वर्षाका होना तथा दिग्विजयका करना है उन दोनोंको बारी-बारीसे सिद्ध करने के लिये तत्पर रहते थे ॥१६॥

अथ शरदृतुकर्तृकं रघो राजचिह्नस्य छत्रचामरस्यानुकरणमाह—

> पुण्डरीकातपत्रस्तं विकसत्काशचामरः ।
> ऋतुर्विडम्बयामास न पुनः प्राप तच्छ्रियम् ॥ १७ ॥

पुण्डरीकेति । पुण्डरीकं सिताम्भोजमेवातपत्रं यस्य स तथोक्तः । विकसन्ति काशानि काशाख्यतृणकुसुमान्येव चामराणि यस्य स तथोक्तः । ऋतुः शरदृतुः पुण्डरीकमिवातपत्रं काशमिव चामरं तु रघुं विडम्बयामासानुचकार । तस्य रघोः श्रियं पुनः शोभां तु न प्राप । 'शोभासम्पत्तिपद्मासु लक्ष्मीः श्रीरिव कथ्यते' इति शाश्वतः ॥ १७ ॥

जिसका श्वेतकमल ही छत्र है तथा खिले हुये काश ही चामर हैं—ऐसा भी शरदृतु है उसने यद्यपि श्वेतकमल के समान श्वेत छत्र तथा खिले हुए काश के समान चामर वाले उन रघु महाराज का अनुकरण किया, तथापि उनकी शोभा को नहीं प्राप्त किया ॥

अथ सर्वासां प्रजानां तस्मिन् रघौ तुल्यतमा प्रीतिरासीदित्याह—

> प्रसादसुमुखे तस्मिंश्चन्द्रे च विशदप्रभे ।
> तदा चक्षुष्मतां प्रीतिरासीत्समरसा द्वयोः ॥ १८ ॥

प्रसादेति । प्रसादेन सुमुखे तस्मिन् रघौ विशदप्रभे निर्मलकान्तौ चन्द्रे च द्वयो

विषये तदा चक्षुष्मतां प्रीतिरनुरागः समरसा समस्वादा । तुल्ययोगेति यावत् । 'रसो गन्धे रसः स्वादे' इति विश्वः । आसीत् ॥ १८ ॥

लोगों के अपार अनुग्रह करने से देखने में सुन्दर मुखवाले उन रघु महाराज तथा स्वच्छकान्ति वाले चन्द्रमा इन दोनों के विषय में उस समय जिनके आँखें थीं ऐसे लोगों की प्रीति समान ही थी ॥ १८ ॥

अथ रघुयशसां धवलिमवर्णनमाह—

हंसश्रेणीषु तारासु कुमुद्वत्सु च वारिषु ।
विभूतयस्तदीयानां पर्यस्ता यशसामिव ॥ १९ ॥

हंसश्रेणीष्विति । हंसानां श्रेणीषु पङ्क्तिषु तारासु नक्षत्रेषु कुमुदानि येषु सन्तीति कुमुद्वन्ति । 'कुमुद्वान्कुमुदप्राये' इत्यमरः । 'कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप्' । तेषु कुमुदप्रायेष्वित्यर्थः । वारिषु च तदीयानां रघुसम्बन्धिनां यशसां विभूतयः सम्पदः पर्यस्ता इव प्रसारिताः किम् । इत्युत्प्रेक्षा । अन्यथा कथमेषां धवलिमेति भावः ॥ १९ ॥

हंसों की पङ्क्तियों में, नक्षत्रों में और कुमुद से युक्त जल में रघुसम्बन्धी यश की सफेदीरूप विभूति मानों फैली हुई थी ॥ १९ ॥

ग्रामीणस्त्रियोऽपि रघुयशोगानपरायणा आसन्नित्याह—

इक्षुच्छायनिषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम् ।
आकुमारकथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः ॥ २० ॥

इक्षुच्छायेति । इक्षूणां छायेक्षुच्छायम् । 'छाया बाहुल्ये' इति नपुंसकत्वम् । तत्र निषण्णा इक्षुच्छायनिषादिन्यः 'इक्षुच्छायानिषादिन्यः' इति स्त्रीलिङ्गपाठे इक्षोश्छायेति विग्रहः । अन्यथा बहुत्वे नपुंसकत्वप्रसङ्गात् । शालीन्गोपायन्ति रक्षन्तीति शालिगोप्यः सस्यपालिकाः स्त्रियः । 'कर्मण्यण्' । 'टिड्ढाणञ्—' इत्यादिना ङीप् । गोप्तुः रक्षकस्य तस्य रघोः । गुणेभ्य उदयो यस्य तद्गुणोदयं गुणोत्पन्नमाकुमारं कुमारादारभ्य कथोद्घातः कथाऽऽरम्भो यस्य तत् । कुमारैरपि स्तूयमानमित्यर्थः । यशो जगुर्गायन्ति स्म । अथवा कुमारस्य सतो रघोर्या कथा इन्द्रविजयादयस्तत आरभ्याकुमारकथम् । तत्राप्यभिविधावव्ययीभावः । आकुमारकथमुद्घातो यस्मिन्कर्मणि । गानक्रियाविशेषणमेतत् । 'स्यादभ्यादानमुद्घात आरम्भः' इत्यमरः 'आकुमारकथोद्भूतम्' इति पाठे कुमारस्य सतस्तस्य कथाभिश्चरितैरुद्भूतं यद्यशस्तद्यश आरभ्य यशो जगुरिति व्याख्येयम् ॥ २० ॥

ईखकी छायामें बैठी हुई साठी आदि धानकी रखवाली करने वाली किसानों की स्त्रियोंने रक्षा करने वाले उन रघु महाराज के शूरता, उदारता आदि गुणों से प्रकट हुये बालकों तक से तारीफ किये गये यश का गान किया ॥ २० ॥

अथ रघोः प्रतापोदयेन निजाभिभवशङ्कया शत्रूणां मनः क्षुभितं बभूवेत्याह—

प्रससादोदयादम्भः कुम्भयोनेर्महौजसः ।
रघोरभिभवाशङ्कि चुक्षुभे द्विषतां मनः ॥ २१ ॥

प्रससादेति । महौजसः कुम्भयोनेरगस्त्यस्य । 'अगस्त्यः कुम्भसंभवः' इत्यमरः । उदयादम्भः प्रससाद प्रसन्नं बभूव । महौजसो रघोरुदयादभिभवाशङ्कि द्विषतां मनः चुक्षुभे कालुष्यं प्राप । 'अगस्त्योदये जलानि प्रसीदन्ति' इत्यागमः ॥ २१ ॥

इधर महातेजस्वी अगस्त्य जी का नक्षत्ररूपेण उदय होने से जल निर्मल हुआ और उधर महातेजस्वी रघु महाराज का दिग्विजयके लिये सर्वत्र विजय करने वाले शत्रुओं का पराभव करना रूप उदय होने से दुश्मनोंका मन अत्यन्त व्याकुल हो उठा ॥ २१ ॥

अथ रघोर्महोक्षस्पर्द्धित्वमासीदित्याह—

मदोदग्राः ककुद्मन्तः सरितां कूलमुद्रुजाः ।
लीलाखेलमनुप्रापुर्महोक्षास्तस्य विक्रमम् ॥ २२ ॥

मदोदग्रा इति । मदोदग्रा मदोद्धताः । ककुदेषामस्तीति ककुद्मन्तः, महाककुद इत्यर्थः । यवादित्वान्मकारस्य वत्वाभावः । सरितां कूलान्युद्रुजन्तीति कूलमुद्रुजाः । 'उदि कूले रुजिवहोः' इति खश्प्रत्ययः । 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' इत्यादिना मुमागमः । महान्त उक्षाणो महोक्षाः । 'अचतुर–' इत्यादिना निपातनादकारान्तः । लीलाखेलं विलाससुभगं तस्य रघोरप्रसादवतो वपुष्मतः परमशक्तस्य विक्रमं शौर्यमनुप्रापुरनुचक्रुः ॥ २२ ॥

मदसे मतवाले बड़े ककुद (डील) वाले नदियोंके किनारोंको गिराने वाले बड़े-बड़े बैलोंने लीलापूर्वक टेढ़की तरह उस रघु महाराजके विक्रम का अनुकरण किया ॥ २२ ॥

अथ रघोः सैन्ये महोन्मत्ता गजेन्द्रा आसन्नित्याह—

प्रसवैः सप्तपर्णानां मदगन्धिभिराहताः ।
असूययेव तन्नागाः सप्तधैव प्रसुस्रुवुः ॥ २३ ॥

प्रसवैरिति । मदस्येव गन्धो येषां तैर्मदगन्धिभिः । 'उपमानाच्च' इतीकारः समासान्तः । सप्तपर्णानां वृक्षविशेषाणाम् । 'सप्तपर्णो विशालत्वक् शारदो विषमच्छदः' इत्यमरः । प्रसवैः पुष्पैराहतास्तस्य रघोर्नागा गजाः । 'गजेऽपि नागमातङ्गौ' इत्यमरः । असूययेवाहतिनिमित्तया स्पर्धयेव सप्तधैव प्रसुस्रुवुर्मदं ववृषुः । प्रतिगजगन्धाभिमानादिति भावः । 'कराट्कटाभ्यां मेढ्राच्च नेत्राभ्यां च मदस्रुतिः' इति पालकाप्ये । करान्नासारन्ध्राभ्यामित्यर्थः ॥ २३ ॥

हाथीके मदके तुल्य गन्धवाले सप्तपर्ण के फूलों से आहत हुये उन रघु महाराज के सभी हाथी मानों स्पर्धा से सात प्रकार (सात जगहों) से मदको बरसाने लगे ॥ २३ ॥ P

अथ शरदृतुर्दिग्विजयाय तं रघुं प्रथम प्रेरयामासेत्याह—

सरितः कुर्वती गाधाः पथश्चाश्यानकर्दमान् ।
यात्रायै चोदयामास तं शक्तेः प्रथमं शरत् ॥ २४ ॥

सरितो गाधाः सुप्रतरा कुर्वती। पथो मार्गांश्चाश्यानकर्दमाञ्छुष्कपङ्कान्कुर्वती। 'संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः' इति श्यतेर्निष्ठातस्य नत्वम् । शरच्छरदृतुस्त रघुं शक्तेरुत्साहशक्तेः प्रथम प्राग्यात्रायै दण्डयात्रायै चोदयामास प्रेरयामास । प्रभाव-मन्त्रशक्तिसम्पन्नस्य शरत्स्वयमुत्साहमुत्पादयामासेत्यर्थ ॥ २४ ॥

नदियों को सुखपूर्वक पार जाने लायक करती हुई तथा मार्गों के कीचड़ों को शुष्क करती हुई शरद् ऋतु प्रभाव-शक्ति तथा मन्त्र-शक्ति से युक्त उन रघु महाराज को उत्साह शक्ति होने के पहले ही दिग्विजय के लिये प्रेरणा करने लगी ॥ २४ ॥

अथ रघोर्यात्रासमये शुभशकुन सूचयन् वह्नि प्रदक्षिणार्चिर्बभूवेत्याह—

तस्मै सम्यग्घुतो वह्निर्वाजिनीराजनाविधौ ।
प्रदक्षिणार्चिर्व्याजेन हस्तेनेव जयं ददौ ॥ २५ ॥

वाजिनामश्वाना नीराजनाविधौ नीराजनाऽऽख्ये शान्तिकर्मणि सम्यग्विधिवद् हुतो होमसमिद्धो वह्नि । प्रगता दक्षिणं प्रदक्षिणम् । तिष्ठद्गुप्रभृतित्वादव्ययी-भाव । प्रदक्षिण याऽर्चिर्ज्वाला तस्या व्याजेन हस्तेनेव तस्मै जय ददौ । उक्तमाह-वयात्रायाम्—'इद्ध प्रदक्षिणगतो हुतभुङ्नृपस्य धात्रीं समुद्ररशना वशगा करोति' इति । वाजिग्रहण गजादीनामप्युपलक्षण तेषामपि नीराजनाविधानात् ॥ २५ ॥

घोड़ों के नीराजना नामक शान्तिकर्म में विधिपूर्वक हवन जिसमें किया गया है ऐसे होमाग्नि ने दक्षिण की तरफ घूमकर निकलती हुई ज्वाला के छल से मानो अपने हाथ से उन रघु महाराज के लिये विजय प्रदान किया ॥ २५ ॥

स गुप्तमूलप्रत्यन्तः शुद्धपार्ष्णिरयान्वितः ।
षड्विधं बलमादाय प्रतस्थे दिग्जिगीषया ॥ २६ ॥

गुप्तौ मूल स्वनिवासस्थान प्रत्यन्त प्रान्तदुर्गं च येन स गुप्तमूलप्रत्यन्त । शुद्धपार्ष्णिरुद्धृतपृष्ठशत्रु सेनया रक्षितपृष्ठदेशो वा। अयान्वित शुभदैवान्वित 'अय शुभावहो विधि' इत्यमर. । स रघु, षड्विध मौलभृत्यादिरूप बल सैन्यम् । 'मौल भृत्य सुहृच्छ्रेणी द्विपदाटविकं बलम्' इति कोष । आदाय दिशा जिगीषया जेतुमिच्छया प्रतस्थे चचाल ॥ २६ ॥

महाराज रघुने अपने निवास-स्थान तथा प्रान्त के दुर्गों की रक्षा का प्रबन्ध कर तथा सेना के पृष्ठ भाग को सुरक्षित कर एवं कल्याण करने वाले यात्राकालीन मङ्गलाचरणादि को विधिवत् सम्पादन कर छः प्रकार के बल (सैन्य) के साथ दिग्विजय की इच्छा से प्रस्थान किया ॥ २६ ॥

अथ दिग्विजयाय प्रस्थितस्य तस्य रघोरुपरि पौरवृद्धाङ्गनानां लाजप्रक्षेपमाह—

अवाकिरन्वयोवृद्धास्तं लाजैः पौरयोषितः ।
पृषतैर्मन्दरोद्धूतैः क्षीरोर्मय इवाच्युतम् ॥ २७ ॥

वयोवृद्धाः पौरयोषितस्तं रघुं प्रयाणे लाजैराचारलाजैः मन्दरोद्धूतैः पृषतैः बिन्दुभिः क्षीरोर्मयः क्षीरसमुद्रोर्मयोऽच्युतं विष्णुमिव । अवाकिरन्नवचिक्षिपुः ॥

अवस्था में वृद्ध नगरवासियों की स्त्रियों ने दिग्विजय के लिये जाते हुये उन रघु महाराज के ऊपर मङ्गलार्थक लावों (धान के खीलों) से मन्दराचल से फेंके गये दूध के बिन्दुओं से क्षीरसमुद्र की लहरों ने जैसे विष्णु भगवान् के ऊपर वर्षा की थी वैसी वर्षा की ॥ २७ ॥

अथ युग्मेन प्रथमं रघोः प्राच्यां दिशि गमनमभूदित्याह—

स ययौ प्रथमं प्राचीं तुल्यः प्राचीनबर्हिषा ।
अहिताननिलोद्धूतैस्तर्जयन्निव केतुभिः ॥ २८ ॥

प्राचीनबर्हिर्नाम कश्चिन्महाराज इति केचित् प्राचीनबर्हिरिन्द्रः । 'पर्जन्यो मघवा वृषा हरिहयः प्राचीनबर्हिः स्मृतः' इतीन्द्रपर्यायेषु हलायुधाभिधानात् । तेन तुल्यः स रघुः अनिलेनानुकूलवातेनोद्धूतैः केतुभिर्ध्वजैरहितानरीन्भर्त्सयन्निव । तर्जिभर्त्स्योरनुदात्तेत्त्वेऽपि चक्षिङो ङित्करणेनानुदात्तेत्त्वनिमित्तस्यात्मनेपदस्यानित्यत्वज्ञापनात्परस्मैपदमिति वामनः । प्रथमं प्राचीं दिशं ययौ ॥ २८ ॥

इन्द्र के तुल्य वे रघुमहाराज अनुकूल वायु से फहराती हुई पताकाओं से दुश्मनों को मानों डराते हुये पहले पूर्व दिशा की तरफ चले ॥ २८ ॥

अथ कथं रघोः सैन्यबाहुल्यं द्योतयन्नाह—

रजोभिः स्यन्दनोद्धूतैर्गजैश्च घनसन्निभैः ।
भुवस्तलमिव व्योम कुर्वन्व्योमेव भूतलम् ॥ २९ ॥

किं कुर्वन् स्यन्दनोद्धूतै रजोभिर्घनसन्निभैर्मेघतुल्यैः, क्रियातः परिमाणतश्च मेघतुल्यैर्गजैश्च यथाक्रमं व्योमाकाशं भुवस्तलमिव भूतलं च व्योमेव कुर्वन् । ययाविति पूर्वेण सम्बन्धः ॥ २९ ॥

रथ से उठी हुई धूलि से और मेघ के तुल्य (गर्जन करने वाले तथा वर्ण और आकार वाले) हाथियों से क्रम से आकाश को पृथ्वीतल की भाँति और पृथ्वीतल को आकाश की भाँति करते हुये 'वे रघु महाराज पूर्व दिशा को गये' ॥ २९ ॥

अथ रघोः सैन्यगमनं वर्णयन्नाह—

प्रतापोऽग्रे ततः शब्दः परागस्तदनन्तरम् ।
ययौ पश्चाद्रथादीति चतुःस्कन्धेव सा चमूः ॥ ३० ॥

अग्रे प्रतापस्तेजोविशेषः । 'स प्रतापः प्रभावश्च यत्तेजः कोशदण्डजम्' इत्यमरः । ततः शब्दः सैन्यकलकलः । तदनन्तरं परागो धूलिः । 'परागः पुष्परजसि धूलि-

स्नानीययोरपि' इति विश्वः। पश्चाद्रथादि रथाश्वादिकं चतुरङ्गबलम्। 'रथानीकम्' इति पाठे, इति शब्दाध्याहारेण योज्यम्। इतीत्थं चतुःस्कन्धेव चतुर्व्यूहेव। 'स्कन्धः प्रकाण्डे कायांशे विज्ञानादिषु पञ्चसु। नृपे समूहे च' इति हैमः। सा चमूर्ययौ ॥३०॥

सबसे पहले रघु का प्रताप उसके बाद सेनाका कलकल शब्द और उसके बाद धूलि तथा पीछेसे रथ वगैरह, इस प्रकारसे चार व्यूह किये हुयेकी भांति रघुसेना चली ॥ ३० ॥

अथ रघोः शक्त्युत्कर्षाज्जले स्थलेऽपि च सर्वत्र सुखेन गमनमासीदित्याह—

मरुपृष्ठान्युदम्भांसि नाव्याः सुप्रतरा नदीः।
विपिनानि प्रकाशानि शक्तिमत्त्वाच्चकार सः॥ ३१॥

स रघुः शक्तिमत्त्वात्समर्थत्वान्मरुपृष्ठानि निर्जलस्थानानि। 'समानौ मरुधन्वानौ' इत्यमरः। उदम्भांस्युद्भूतजलानि चकार। नाव्या नौभिस्तार्या नदीः। 'नाव्यं त्रिलिङ्गं नौतार्ये' इत्यमरः। 'नौवयोधर्मविषमूलसीतातुलाभ्यः—' इत्यादिना यत्प्रत्ययः। सुप्रतराः सुखेन तार्याश्चकार। विपिनान्यरण्यानि। 'अटव्यरण्यं विपिनम्' इत्यमरः। प्रकाशानि निर्वृक्षाणि चकार। शक्त्युत्कर्षात्तस्यागम्यं किमपि नासीदिति भावः ॥ ३१ ॥

उन रघु महाराज ने प्रभाव, उत्साह और मन्त्र-शक्तिसम्पन्न होने से जल से रहित प्रदेशों को जल से युक्त और नौका से पार करने लायक नदियों को सुख से पार करने के योग्य, तथा जङ्गलों को (वृक्ष कट जाने से) प्रकाशयुक्त कर दिया ॥ ३१ ॥

अथ पूर्वीयसिन्धुतटमुद्दिश्य गच्छन्तीं महतीं सेनां नयतो रघोः शोभां वर्णयन्नाह—

स सेनां महतीं कर्षन्पूर्वसागरगामिनीम्।
बभौ हरजटाभ्रष्टां गङ्गामिव भगीरथः॥ ३२॥

महतीं सेनां पूर्वसागरगामिनीं कर्षन् स रघुः हरस्य जटाभ्यो भ्रष्टां गङ्गां कर्षन् (साऽपि पूर्वसागरगामिनी) भगीरथ इव बभौ। भगीरथो नाम कश्चित्कपिलदग्धानां सगराणां नप्ता, तत्पावनाय हरकिरीटाद् गङ्गा प्रवर्तयिता राजा, यत्सम्बन्धाद् गङ्गा च भागीरथी गीयते ॥ ३२ ॥

बड़ी भारी सेना जो कि पूर्वसमुद्र की तरफ जाने वाली थी उसे ले जाते हुये वे रघु महाराज उसी भांति सुशोभित हुये जैसे कि शङ्कर की जटा से नीचे गिरी हुई पूर्व समुद्र की तरफ जाने वाली गङ्गा जी को लिये जाते हुए भगीरथ सुशोभित हुये थे ॥ ३२ ॥

अथ रघोः सैन्यमार्गः प्रतिबन्धरहित आसीदित्याह—

त्याजितैः फलमुत्खातैर्भग्नैश्च बहुधा नृपैः।
तस्यासीदुल्बणो मार्गः पादपैरिव दन्तिनः॥ ३३॥

फलं लाभम्। 'फलं फले धने बीजे निष्पत्तौ भोगलाभयोः' इति केशवः। वृक्षपक्षे-प्रसवं च। त्याजितैः। त्यजेर्ण्यन्ताद् द्विकर्मकादप्रधाने कर्मणि क्तः। उत्खातैः

स्वपदात्प्रच्यावितैः । अन्यत्रोपारोपितैः । बहुधा मनसे रघवे स्थितैः । अन्यत्र फलितैः । । नृपैः । पादपैरिव हस्तिनो गजस्येव । तस्य रघोर्मार्ग उत्तानः प्रकाश आसीत् । 'प्रकाशं प्रकटे स्पष्टमुक्तवत्ये विस्तृते स्फुटम्' इति यादवः ॥ ३३ ॥

नाम होना जिसका जिसका किया गया है और जो अपने स्थानसे च्युत कर दिये गये हैं तथा अनेक प्रकार से कष्टों में जो नीच किये गये हैं ऐसे प्रतिकूल राजाओं से इस रघु महाराज का मार्ग साफ (निष्कण्टक) हुआ जैसे कि जिनके फल गिरा दिये गये हैं और जो जड़ से उखाड़ दिये गये हैं तथा रोप दिये गये हैं ऐसे वृक्षों से हाथी का मार्ग स्वच्छ (निष्कण्टक) हो जाता है ॥ ३३ ॥

अथ दिग्विजयं कुर्वतो रघोः पूर्वसमुद्रतटसमीपप्राप्तिमाह—

पौरस्त्यानेवमाक्रामंस्तांस्ताञ्जनपदाञ्जयी ।
प्राप तालीवनश्याममुपकण्ठं महोदधेः ॥ ३४ ॥

जयी जयनशीलः । 'जिदृक्षिविश्री' इत्यादिनेनिप्रत्ययः । स रघुरेवम् । पुरो भवान्पौरस्त्यान्प्राच्यान् । 'दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यक्' इति त्यक्प्रत्ययः । तांस्तान् । सर्वानित्यर्थः । वीप्सायां द्विरुक्तिः । जनपदान् देशानाक्रामंस्तालीवनैः श्यामं महोदधेरुपकण्ठमन्तिकं प्राप ॥ ३४ ॥

विजयी वे रघु महाराज इस प्रकार से पूर्व दिशा के सब देशों पर अपना अधिकार करते हुए ताली के वनों से श्यामवर्ण जो महासमुद्र का तट प्रान्त है वहाँ पहुँचे ॥ ३४ ॥

अथ रघोः सकाशात्सुह्मदेशीयानां नृपाणां पादप्रणयाऽऽत्मसंरक्षणमाह—

अनम्राणां समुद्धर्तुस्तस्मात्सिन्धुरयादिव ।
आत्मा संरक्षितः सुह्मैर्वृत्तिमाश्रित्य वैतसीम् ॥ ३५ ॥

अनम्राणाम् । अनमतां पुंसाम् । समुद्धर्तुरुन्मूलयितुस्तस्माद्रघोः सकाशात् । 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' इत्यपादानत्वात् पञ्चमी । सिन्धुरयान्नदीवेगादिव सुह्मैः सुह्मदेशीयैः । सुह्मशब्दो जनपदवचनः क्षत्रियमाचष्टे । वैतसीं वेतसः सम्बन्धिनीं वृत्तिम् । प्रवृत्तिमित्यर्थः । आश्रित्य । आत्मा संरक्षितः । अत्र कौटिल्यः—'बलीयसाऽभियुक्तो दुर्बलः सर्वत्रानुप्रणतो वैतसधर्ममातिष्ठेत्' इति ॥ ३५ ॥

जो कि नम्र नहीं हैं ऐसे लोगों को उखाड़ देने वाले नदी के वेग के समान उन रघु महाराज से सुह्मदेश के राजाओंने वेत के तुल्य (नम्र हो आश्रय कर) वृत्ति का आश्रय लेकर अपने को (बचा लीये थे) बचाया ॥ ३५ ॥

अथ रघुकर्तृकं वङ्गदेशीयानां राज्ञां पराभवमाह—

वङ्गानुत्खाय तरसा नेता नौसाधनोद्यतान् ।
निचखान जयस्तम्भान् गङ्गास्रोतोऽन्तरेषु सः ॥ ३६ ॥

नेता नायकः स रघुर्नौभिः साधनैरुद्यतान् संनद्धान्वङ्गांस्तरसा बलेन ।

'तरसा बलरहसी' इति यादव । उत्खायोन्मूल्य गङ्गायाः स्रोतसां प्रवाहाणामन्तरेषु द्वीपेषु जयस्तम्भान्निचखान । स्थापितवानित्यर्थः ॥ ३६ ॥

बड़ी भारी सेना के नायक उन रघु महाराज ने नौकारूप साधनों से युद्ध के लिये उद्यत वङ्गदेश के राजाओं को बल से उखाड कर (जीत कर) गङ्गा के प्रवाह के बीच द्वीपों में अपने जय के स्मारक स्तम्भों को गाड दिया ॥ ३६ ॥

अथ रघो. समीपे विजितवङ्गदेशीयराजकर्तृकसुपहारस्वरूपधनार्पणमाह—

आपादपद्मप्रणताः कलमा इव ते रघुम् ।
फलैः संवर्धयामासुरुत्खातप्रतिरोपिताः ॥ ३७ ॥

आपादपद्मम‌ङ्घ्रिपद्मपर्यन्त प्रणता' । अत एवोत्खाता पूर्वमुद्धृता अपि प्रतिरोपिता पश्चात्स्थापितास्ते वङ्गा., कलमा इव शालिविशेषा इव । 'शालय. कलमाद्याश्च षष्टिकाद्याश्च पुस्यमी' इत्यमरः । तेऽप्यापादपद्म पादपद्ममूलपर्यन्तं प्रणता.। 'पादो बुघ्ने तुरीयांशशैलप्रस्यन्तपर्वताः' इति विश्वः । उत्खातप्रतिरोपिताश्च । रघुं फलैर्धनै । अन्यत्र सस्यैः । संवर्धयामासु । 'फलं फले धने बीजे निष्पत्तौ भोगलाभयोः । सस्ये' इति केशवः ॥ ३७ ॥

'रघु महाराजके' चरणकमल तक झुके हुये 'शालिपक्ष में' अपने कमलसदृश मूल भाग तक झुके हुये, अत एव पहले राजपद से हटाये गये भी पश्चात् पुन राजपद पर स्थापित किये गये 'शालिपक्ष में' पहले उखाडे पश्चात् अन्यत्र फिर से बैठाये गये, उन वङ्गदेशी राजाओं ने अगहन मास में तैयार होने वाले 'कलम' नामक शालि विशेष की भांति धनों से 'शालिपक्ष में' फलों से उन रघु महाराज को पूर्ण कर दिया ॥ ३७ ॥

अथ रघुर्वङ्गान्विजित्य कलिङ्गाभिमुखो ययावित्याह—

स तीर्त्वा कपिशां सैन्यैर्बद्धद्विरदसेतुभिः ।
उत्कलादर्शितपथः कलिङ्गाभिमुखो ययौ ॥ ३८ ॥

स रघुर्बद्धा द्विरदा एव सेतवो यैस्तै सैन्यै कपिशां नाम नदीं तीर्त्वा । 'करभाम्' इति केचित्पठन्ति । उत्कलै राजभिरादर्शितपथ. सन्दर्शितमार्ग' सन् । कलिङ्गाभिमुखो ययौ ॥ ३८ ॥

वे रघु महाराज जिसने हाथियों से ही पुल को तैयार किया है, ऐसी अपनी सेना के साथ कपिशा नाम की नदी को पार कर उत्कल देश के राजाओं से बताये हुये मार्ग से कलिङ्गदेश की तरफ (मुख किये हुये) चले ॥ ३८ ॥

अथ रघो. प्रतापो महेन्द्रपर्वतशिखरे न्यासो बभूवेत्याह—

स प्रतापं महेन्द्रस्य मूर्ध्नि तीक्ष्णं न्यवेशयत् ।
अङ्कुशं द्विरदस्येव यन्ता गम्भीरवेदिनः ॥ ३९ ॥

स रघुर्महेन्द्रस्य कुलपर्वतविशेषस्य । 'महेन्द्रो मलय. सह्य शक्तिमानृक्षपर्वतः।

विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः' ॥ इति विष्णुपुराणात्। मूर्ध्नि तीक्ष्णं दुःसहं प्रतापम्। यन्ता सारथिर्गम्भीरवेदिनो द्विरदस्य गजविशेषस्य मूर्ध्नि तीक्ष्णं सितमङ्कुशमिव। न्यवेशयन्निवेशितवान्। 'त्वग्भेदाच्छोणितस्रावान्मांसस्य क्रथनादपि। आत्मानं यो न जानाति स स्याद् गम्भीरवेदिता ॥ इति राजपुत्रीये। 'चिरकालेन यो वेत्ति शिक्षां परिचितामपि। गम्भीरवेदी विज्ञेयः स गजो गजवेदिभिः' ॥ इति मृगचर्मणि ॥ ३९ ॥

उस रघु महाराजने महेन्द्र नामक पर्वतके शिखर पर दुःसह अपने प्रताप को वैसे सारथि (महावत) गम्भीरवेदीसंज्ञक (चिरकाल होने पर जो अत्यन्त परिचित शिक्षा को समझता है उसे गम्भीरवेदी ऐसा गज शास्त्र के जानने वाले पण्डित कहते हैं) हाथी के मस्तक पर तीखे अङ्कुश को रखता है उसी भाँति रखा ॥ ३९ ॥

अथ कलिङ्गदेशाधिपो युद्धार्थं रघोरभिमुखो बभूवेत्याह—

प्रतिजग्राह कालिङ्गस्तमस्त्रैर्गजसाधनः।
पक्षच्छेदोद्यतं शक्रं शिलावर्षीव पर्वतः ॥ ४० ॥

गजसाधनः सन् कलिङ्गानां राजा 'द्व्यञ्मगधकलिङ्गसूरमसादण्' इत्यनेनाण्प्रत्ययः। अस्त्रैरायुधैस्तं रघुम्। पक्षाणां छेदे उद्यतमुद्युक्तं शक्रं शिलावर्षी पर्वत इव प्रतिजग्राह प्रत्यभियुक्तवान् ॥ ४० ॥

गज ही है साधन (सेनाका अङ्ग) जिसका ऐसा कलिङ्गदेश का राजा आयुधों से रघु महाराज का वैसे पक्षों के काटने में उद्यत इन्द्र का शिलाओं की वर्षा करने वाले पर्वतों ने सामना किया था उसी भाँति किया ॥ ४० ॥

अथ रघोर्विजयलाभो बभूवेत्याह—

द्विषां विषह्य काकुत्स्थस्तत्र नाराचदुर्दिनम्।
सन्मङ्गलस्नात इव प्रतिपेदे जयश्रियम् ॥ ४१ ॥

काकुत्स्थो रघुस्तत्र महेन्द्राद्रौ द्विषां नाराचदुर्दिनं नाराचानां बाणविशेषाणां दुर्दिनम्। वर्षणमित्यर्थः। विषह्य सहित्वा सद्यःस्नातः सन्मङ्गलस्नात इव विजयमङ्गलार्थमभिषिक्त इव जयश्रियं प्रतिपेदे प्राप। 'यत्तु सर्वौषधिस्नानं सन्माङ्गल्यमुदीरितम्' इति यादवः ॥ ४१ ॥

ककुत्स्थ राजा के वंशज रघु महाराज ने उस महेन्द्र नामक पर्वत के ऊपर शत्रुओं के छोड़े हुए नाराचसंज्ञक बाणों की वृष्टि को सहन करके जैसे कोई शास्त्रानुसार विजय-मङ्गल के लिये सर्वौषधि से स्नान किया हुआ हो उस भाँति जयलक्ष्मी को प्राप्त किया ॥

अथ महेन्द्राद्रौ रघुसैनिका विजयमहोत्सवं चक्रुरित्याह—

ताम्बूलीनां दलैस्तत्र रचितापानभूमयः।
नारिकेलासवं योधाः शात्रवं च पपुर्यशः ॥ ४२ ॥

तत्र महेन्द्राद्रौ युध्यन्त इति योधाः। पचाद्यच्। रचिताः कल्पिता आपानभूमयः पानयोग्यप्रदेशा यैस्ते तथोक्ताः सन्तो नारिकेलासवं नारिकेलमद्य ताम्बूलाना नागवल्लीना दलै: पपुः। तत्र विजह्रुरित्यर्थः। शात्रवं यशश्च पपुः जह्रुरित्यर्थः ॥ ४२ ॥

उस महेन्द्र नामक पर्वत पर महाराज रघु के योद्धा लोगों ने मद्यपान करने के योग्य प्रदेशों की रचना कर नारियल का आसव बनाकर उसे पान के पत्तों से पिया (विहार किया) और शत्रुओं के यश का भी पान किया अर्थात् हरण किया ॥ ४२ ॥

अथ रघुर्महेन्द्रनाथं कालिङ्गं विजित्य पुनरपि त राजासने स्थापयामासेत्याह—

गृहीतप्रतिमुक्तस्य स धर्मविजयी नृपः।
श्रियं महेन्द्रनाथस्य जहार न तु मेदिनीम् ॥ ४३ ॥

धर्मविजयी धर्मार्थं विजयशील स नृपो रघुः। गृहीतश्चासौ प्रतिमुक्तश्च गृहीतप्रतिमुक्त.। तस्य महेन्द्रनाथस्य कालिङ्गस्य श्रिय जहार। धर्मार्थमिति भाव.। मेदिनीं तु न जहार। शरणागतवात्सल्यादिति भाव. ॥ ४३ ॥

धर्मार्थ विजय करने वाले शरणागतवत्सल महाराज रघु ने पहले पकड़ कर फिर छोड़ दिये गये कलिंग–देशीय महेन्द्राचल के राजा की लक्ष्मी का ही केवल हरण किया न कि राज्य का ॥ ४३ ॥

अथ पूर्वदिशातो दक्षिणां दिशं रघुर्ययावित्याह—

ततो वेलातटेनैव फलवत्पूगमालिना।
अगस्त्याचरितामाशामनाशास्यजयो ययौ ॥ ४४ ॥

तत प्राचीविजयानन्तरम् फलवत्पूगमालिना फलितक्रमुकश्रेणीमता। व्रीह्यादित्वादिनिप्रत्यय.। वेलाया समुद्रकूलस्य तटेनोपान्तेनैवागस्त्येनाचरितामाशां दक्षिणां दिशमनाशास्यजयः। अयत्नसिद्धत्वादप्रार्थनीयजय सन्। ययौ 'अगस्त्यो दक्षिणामाशामाश्रित्य नभसि स्थित। वरुणस्यात्मजो योगी विन्ध्यवातापिमर्दनः ॥' इति ब्रह्मपुराणे ॥ ४४ ॥

पूर्व दिशा का विजय कर चुकने के बाद फल से लदे हुए सुपारी के वृक्ष कतार के कतार जिसमें लगे हुए हैं ऐसे समुद्र के किनारे-किनारे से ही अगस्त्य भगवान् से सेवित जो दक्षिण दिशा है उसकी तरफ अनायास ही विजय लाभ करने वाले महाराज रघु गये ॥

अथ दक्षिणा दिशं गच्छन् रघुर्मार्गे कावेरीं प्रापेत्याह—

स सैन्यपरिभोगेण गजदानसुगन्धिना।
कावेरीं सरितां पत्युः शङ्कनीयामिवाकरोत् ॥ ४५ ॥

स रघुः। गजानां दानेन मदेन सुगन्धिना सुरभिगन्धिना। 'गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः' इत्यनेनेकारादेश समासान्त। यद्यपि गन्धस्येत्वे तदेकान्तग्रहण कर्त-

विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः' ॥ इति विष्णुपुराणात्। मूर्ध्नि शीर्षे दुस्सहं प्रतापम्। यन्ता सारथिर्गम्भीरवेदिनो द्विरदस्य गजविशेषस्य मूर्ध्नि शीर्षे सितमङ्कुशमिव। न्यवेशयद्विनिवेशितवान्। 'त्वग्भेदाच्छोणितस्रावान्मांसस्य क्रथनादपि। आत्मानं यो न जानाति स स्याद् गम्भीरवेदिता' ॥ इति राजपुत्रीये। 'चिरकालेन यो वेत्ति शिक्षां परिचितामपि। गम्भीरवेदी विज्ञेयः स गजो गजवेदिभिः' ॥ इति मृगचर्मीये ॥ ३९ ॥

उन रघु महाराजने महेन्द्र नामक पर्वतके शिखर पर दुस्सह अपने प्रताप को वैसे सारथि (महावत) गम्भीरवेदीसंज्ञक (चिरकाल होने पर भी अत्यन्त परिचित शिक्षा को समझता है उसे गम्भीरवेदी ऐसा गज शास्त्र के जानने वाले पण्डित जन कहते हैं) हाथी के मस्तक पर पैने अङ्कुश को रखता है उसी भांति रखा ॥ ३९ ॥

अथ कलिङ्गदेशाधिपो युद्धार्थं रघोरभिमुखो बभूवेत्याह—

प्रतिजग्राह कालिङ्गस्तमस्त्रैर्गजसाधनः ।
पक्षच्छेदोद्यतं शक्रं शिलावर्षीव पर्वतः ॥ ४० ॥

गजसाधनः सन् कलिङ्गानां राजा 'द्व्यञ्मगधकलिङ्गसूरमसादण्' इत्यनेनाण्प्रत्ययः। अस्त्रैरायुधैस्तं रघुम्। पक्षाणां छेदे उद्यतमुद्युक्तं शक्रं शिलावर्षी पर्वत इव प्रतिजग्राह प्रत्यभियुक्तवान् ॥ ४० ॥

गज ही है साधन (सेनाका अङ्ग) जिसका ऐसा कलिङ्गदेश का राजा अस्त्रोंसे उन रघु महाराज का जैसे पङ्खों के काटने में उद्यत इन्द्र का शिलाओं की वर्षा करने वाले पर्वतों ने सामना किया था उसी भांति किया ॥ ४० ॥

अथ रघोर्विजयक्रमो बभूवेत्याह—

द्विषां विषह्य काकुत्स्थस्तत्र नाराचदुर्दिनम् ।
सन्मङ्गलस्नात इव प्रतिपेदे जयश्रियम् ॥ ४१ ॥

काकुत्स्थो रघुस्तत्र महेन्द्राद्रौ द्विषां नाराचदुर्दिनं नाराचानां बाणविशेषाणां दुर्दिनम्। [illegible] वर्षमुच्यते। विषह्य सहित्वा सन्मङ्गलस्नात इव विजयमङ्गलार्थमभिषिक्त इव जयश्रियं प्रतिपेदे प्राप। 'पयः सर्वौषधिस्नानं सम्मङ्गल्यमुदीरितम्' इति यादवः ॥ ४१ ॥

ककुत्स्थ राजा के वंशज रघु महाराज ने उस महेन्द्र नामक पर्वत के ऊपर शत्रुओं के छोड़े के बने हुये नाराचसंज्ञक बाणों की घोर वर्षा को सहन करके जैसे कोई शास्त्रानुसार विजय-मङ्गल के लिये सर्वौषधि से स्नान किया हुआ हो उस भांति जयलक्ष्मीको प्राप्त किया॥

अथ महेन्द्राद्रौ रघुसैनिका विजयमहोत्सवं चक्रुरित्याह—

ताम्बूलीनां दलैस्तत्र रचितापानभूमयः ।
नारिकेलासवं योधाः शात्रवं च पपुर्यशः ॥ ४२ ॥

अथ मलयतरुषु बद्धान् सेनागजान्वर्णयन्नाह—

भोगिवेष्टनमार्गेषु चन्दनानां समर्पितम्।
नास्रसत्करिणां ग्रैवं त्रिपदीच्छेदिनामपि ॥ ४८ ॥

चन्दनानां चन्दनद्रुमाणा भोगिवेष्टनमार्गेषु सर्पवेष्टनान्निम्नेषु समर्पितं सज्जितं त्रिपदीछेदिना पादशृङ्खलच्छेदकानामपि 'त्रिपदी पादबन्धनम्' इति यादव । करिणाम् । ग्रीवासु भव ग्रैव कण्ठबन्धनम् । 'ग्रीवाभ्योऽण्च' इत्यणप्रत्यय. । नास्रं सन्न स्रस्तमभूत् । 'द्युद्भ्यो लुङि' इति परस्मैपदे पुषादित्वादङ् । 'अनिदिताम्' इति नकारलोप ॥ ४८ ॥

चन्दन के वृक्षों में सर्पों के लिपटे रहने से पडी हुई रेखाओं के बीचमें दिये हुए पैरके सीकडों को तोड डालने वाले हाथियों के बन्धन (सीकड) नहीं ढीले हुये ॥ ४८ ॥

अथ रघो' प्रतापं पाण्ड्यदेशाधिपतयो न विषेहिर इत्याह—

दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि ।
तस्यामेव रघो पाण्ड्या प्रतापं न विषेहिरे ॥ ४९ ॥

दक्षिणस्या दिशि रवेरपि तेजो मन्दायते मन्दं भवति । लोहितादित्वात्क्यष् प्रत्यय । 'वा क्यष' इत्यात्मनेपदम् । दक्षिणायने तेजोमान्द्यादिति भाव । तस्यामेव दिशि पाण्ड्याः पाण्डूना जनपदाना राजान' पाण्ड्या । 'पाण्डोर्ड्यण्वक्तव्य' । रघो प्रताप न विषेहिरे न सोढवन्त । सूर्यविजयिनोऽपि विजितवानिति नायकस्य महानुत्कर्षो गम्यते ॥ ४९ ॥

दक्षिण दिशा में सूर्य का भी तेज मन्द हो जाता है, पर उसी दिशा में पाण्डु देश के राजा लोग रघु महाराज के प्रताप को नहीं सह सके ॥ ४९ ॥

अथ रघवे पराजितानां पाण्ड्यदेशाधिपतीनामुपहारस्वरूपमुक्ताफलार्पणमाह—

ताम्रपर्णीसमेतस्य मुक्तासार महोदधे. ।
ते निपत्य ददुस्तस्मै यश स्वमिव सञ्चितम् ॥ ५० ॥

ते पाण्ड्यास्ताम्रपर्ण्या नद्या समेतस्य सङ्गतस्य महोदधे सम्बन्धि सञ्चितं मुक्तासार मौक्तिकवरम् । 'सारो बले स्थिरांशे च न्याय्ये क्लीब वरे त्रिषु' इत्यमर. । स्व स्वकीय सञ्चित यश इव । तस्मै रघवे निपत्य प्रणिपत्य ददु । यशस. शुभ्रत्वादौपम्यम् । ताम्रपर्णीसङ्गमे मौक्तिकोत्पत्तिरिति प्रसिद्धम् ॥ ५० ॥

पाण्डुदेश के राजाओं ने ताम्रपर्णी नाम की नदी से मिले हुये दक्षिणसमुद्र सम्बन्धी इकट्ठे किये हुये उत्तमोत्तम मोतियों को अपने सञ्चित यश की भाँति उन रघु महाराज के पैरों पर रख कर नजराना दिया ॥ ५० ॥

न्यमिति नैसर्गिकगन्धविवक्षायामेवेकारादेशः, यथाऽपि 'निरुद्धवाः कवयो यथा माघकाव्ये-'मधुरमधुरगन्धसुगन्धया सततमारुतगानगिराऽऽशिमि' (६।२०) नैषधे च—'यया हि तसाय न पारिजाता स्वादुः सुगन्धिः स्वदते तुषारा' (३।९४) इति । 'न कर्मधारयान्मत्वर्थीयः' इति निषेधादिनिप्रत्ययपक्षेऽपि जघन्य एव । सेनायां समवेताः सैन्याः । 'सेनायां समवेता ये सैन्यास्ते सैनिकाश्च ते' इत्यमरः । 'सेनाया वा' इति ण्यप्रत्ययः । तेषां परिभोगेण कावेरीं नाम सरितं सरितां पत्युः समुद्रस्य शङ्कनीयामविश्वसनीयामिवाकरोत् । संभोगचिह्नदर्शनाद्भर्तुरविश्वासो भवतीति भावः ॥ ४५ ॥

उन रघु महाराज ने हाथियों के मद से कावेरी नाम की नदी को नदियों के स्वामी समुद्र के नजदीक मानों विश्वास करने के योग्य बना दिया ॥ ४५ ॥

अथ मार्गे रघुसैन्यं मलयाचलोपत्यकासु निवसति स्मेत्याह—

बलैरध्युषितास्तस्य विजिगीषोर्गताध्वनः ।
मारीचोद्भ्रान्तहारीता मलयाद्रेरुपत्यकाः ॥ ४६ ॥

विजिगीषोर्विजेतुमिच्छोर्गताध्वनस्तस्य रघोर्बलैः सैन्यैः । 'बलं शक्तिर्बलं सैन्यम्' इति यादवः । मारीचेषु मरीचवनेषूद्भ्रान्ताः परिभ्रान्ताः हारीताः पक्षिविशेषा यासु ताः । 'तेषां विशेषा हारीतो मद्गुः कारण्डवः प्लवः' । इत्यमरः । मलयाद्रेरुपत्यका आसन्नभूमयः । 'उपत्यकाऽद्रेरासन्ना भूमिरूर्ध्वमधित्यका' । इत्यमरः । 'उपाधिभ्यां त्यकन्नासन्नारूढयोः' इत्यनेन त्यकन्प्रत्ययः । अध्युषिताः । उपत्यकास्वुषितमित्यर्थः । 'उपान्वध्याङ्वसः' इति कर्मत्वम् ॥ ४६ ॥

विजय की इच्छा रखने वाले (दक्षिण दिशा का) कुछ रास्ता तय किये हुए उन रघु महाराज के सैनिकों ने जिस जगह पर मरीच के वनों में हारीत नामक चिड़ियाँ उड़ रही थीं ऐसी मलयाचल के समीप की भूमि (तराई) में डेरा डाला ॥ ४६ ॥

अथ मलयाद्रेरुपत्यकाभूमिं वर्णयंस्तत्रैलालतानां प्राचुर्यमासीदित्याह—

ससञ्जुरश्वक्षुण्णानामेलानामुत्पतिष्णवः ।
तुल्यगन्धिषु मत्तेभकटेषु फलरेणवः ॥ ४७ ॥

अश्वैः क्षुण्णानामेलानामेलालतानामुत्पतिष्णव उत्पतनशीलाः । 'अलंकृञ्निराकृञ्- इत्यादिनेष्णुच्प्रत्ययः । फलानां रेणवस्तुल्यगन्धिषु समानगन्धिषु । सर्वत्रेतिपरिहाणो विशेष्यो बहुव्रीहिः । मत्तेभानां कटेषु ससञ्जुः सक्ताः । 'गण्डः कटो मदः स्त्री-' इति कोशः ॥ ४७ ॥

घोड़ों के खुरों से खुदी हुई इलायची की लताओं की उड़ती हुई फल की धूलि अपने समान गन्धि वाले मतवाले हाथियों के गण्डस्थल (मद बहने के स्थानों) में चिपक गई ॥

अथ मलयतरुषु बद्धान् सेनागजान्वर्णयन्नाह—

भोगिवेष्टनमार्गेषु चन्दनानां समर्पितम्।
नास्रसत्करिणां ग्रैवं त्रिपदीच्छेदिनामपि ॥ ४८ ॥

चन्दनानां चन्दनद्रुमाणां भोगिवेष्टनमार्गेषु सर्पवेष्टनान्निम्नेषु समर्पितं सञ्जितं त्रिपदीच्छेदिनां पादशृङ्खलच्छेदकानामपि 'त्रिपदी पादबन्धनम्' इति यादवः। करिणाम्। ग्रीवासु भवं ग्रैवं कण्ठबन्धनम्। 'ग्रीवाभ्योऽण्च' इत्यण्प्रत्ययः। नास्रसन्न स्रस्तमभूत्। 'द्युद्भ्यो लुङि' इति परस्मैपदे पुषादित्वादङ्। 'अनिदिताम्' इति नकारलोपः॥ ४८ ॥

चन्दन के वृक्षों में सर्पों के लिपटे रहने से पड़ी हुई रेखाओं के बीचमें दिये हुए पैरके सीकडों को तोड डालने वाले हाथियों के बन्धन (सीकड) नहीं ढीले हुये ॥ ४८ ॥

अथ रघोः प्रतापं पाण्डुदेशाधिपतयो न विषेहिर इत्याह—

दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि।
तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः प्रतापं न विषेहिरे ॥ ४९ ॥

दक्षिणस्यां दिशि रवेरपि तेजो मन्दायते मन्दं भवति। लोहितादित्वात्क्यष्प्रत्ययः। 'वा क्यषः' इत्यात्मनेपदम्। दक्षिणायने तेजोमान्द्यादिति भावः। तस्यामेव दिशि पाण्ड्याः पाण्डूनां जनपदानां राजानः पाण्ड्याः। 'पाण्डोर्ड्यण्वक्तव्यः'। रघोः प्रतापं न विषेहिरे न सोढवन्तः। सूर्यविजयिनोऽपि विजितवानिति नायकस्य महानुत्कर्षो गम्यते ॥ ४९ ॥

दक्षिण दिशा में सूर्य का भी तेज मन्द हो जाता है, पर उसी दिशा में पाण्डु देश के राजा लोग रघु महाराज के प्रताप को नहीं सह सके ॥ ४९ ॥

अथ रघवे पराजितानां पाण्डुदेशाधिपतीनामुपहारस्वरूपमुक्ताफलार्पणमाह—

ताम्रपर्णीसमेतस्य मुक्तासारं महोदधेः।
ते निपत्य ददुस्तस्मै यशः स्वमिव सञ्चितम् ॥ ५० ॥

ते पाण्ड्यास्ताम्रपर्ण्या नद्या समेतस्य सङ्गतस्य महोदधेः सम्बन्धि सञ्चितं मुक्तासारं मौक्तिकवरम्। 'सारो बले स्थिरांशे च न्याय्ये क्लीबं वरे त्रिषु' इत्यमरः। स्वं स्वकीयं सञ्चितं यश इव। तस्मै रघवे निपत्य प्रणिपत्य ददुः। यशसः शुभ्रत्वादौपम्यम्। ताम्रपर्णीसङ्गमे मौक्तिकोत्पत्तिरिति प्रसिद्धम् ॥ ५० ॥

पाण्डुदेश के राजाओं ने ताम्रपर्णी नाम की नदी से मिले हुये दक्षिणसमुद्र सम्बन्धी इकट्ठे किये हुये उत्तमोत्तम मोतियों को अपने सञ्चित यश की भाँति उन रघु महाराज के पैरों पर रख कर नजराना दिया ॥ ५० ॥

अथ रघुर्मलयदर्दुरपर्वतयोरवयवेषु विहारं कृत्वा सह्याद्रिमलङ्घयदिति युग्मेनाह—

स निर्विश्य यथाकामं तटेष्वालीनचन्दनौ ।
स्तनाविव दिशस्तस्याः शैलौ मलयदर्दुरौ ॥ ५१ ॥

असह्यविक्रमः सह्यं दूरान्मुक्तमुदन्वता ।
नितम्बमिव मेदिन्याः स्रस्तांशुकमलङ्घयत् ॥ ५२ ॥

युग्ममेतत् । असह्यविक्रमः स रघुस्तटेषु सानुष्वालीनचन्दनौ व्याप्तचन्दनद्रुमौ। 'गन्धसारो मलयजो भद्रश्रीश्चन्दनोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । स्तनपक्षे—प्रान्तेषु व्याप्तचन्दनानुलेपौ । तस्या दक्षिणस्या दिशः स्तनाविव स्थितौ मलयदर्दुरौ नाम शैलौ यथाकामं यथेष्टं निर्विश्योपभुज्य । 'निर्वेशो भृतिभोगयोः' इत्यमरः । उदकान्यस्य सन्तीत्युदन्वानुदधिः । 'उदन्वानुदधौ च' इति निपातः । उदन्वता दूरान्मुक्तं दूरत्यक्तम् । 'स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन' इति समासः । 'पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः' इत्यलुक् । स्रस्तांशुकं मेदिन्या नितम्बमिव स्थितं सह्यं सह्याद्रिमलङ्घयद्व्याप्तोऽतिक्रान्तो वा ॥ ५१-५२ ॥

जिनका पराक्रम दुश्मनों के लिये असह्य है ऐसे वे रघु महाराज जिसका प्रान्तभाग चन्दन के वृक्षों से भरा हुआ है 'स्तनपक्षमें' जिसके प्रान्तभाग में चन्दन का लेप हुआ है ऐसे उस दक्षिण-दिशारूपी स्त्री के स्तन की भाँति स्थित मलय और दर्दुर नामक पर्वतपर इच्छापूर्वक उपभोग (विहार) करके 'स्तनपक्ष में मर्दन करके', समुद्रसे दूर छोड़े हुये अतः जहाँ से वस्त्र खिसक गया है ऐसे पृथ्वीरूप स्त्री के नितम्ब भाग की भाँति स्थित सह्य नामक पर्वत को लाँघ गये, अर्थात् उस पर्वत पर भी विहार करके आगे की ओर चले ॥ ५१-५२ ॥

सम्प्रति प्रतीचीं दिशमभियानमाह—

तस्यानीकैर्विसर्पद्भिरपरान्तजयोद्यतैः ।
रामास्त्रोत्सारितोऽप्यासीत्सह्यलग्न इवार्णवः ॥ ५३ ॥

अपरान्तानां पाश्चात्त्यानां जये उद्यतैः । 'अपरान्तास्तु पाश्चात्त्यास्ते च सूर्पारकादयः' इति यादवः । विसर्पद्भिर्व्याप्नुवद्भिस्तस्य रघोरनीकैः सैन्यैः । 'अनीकं तु रणे सैन्ये' इति विश्वः । अर्णवो रामस्य जामदग्न्यस्यास्त्रैरुत्सारितः परिसारितोऽपि सह्यलग्न इवासीत् । सैन्यं द्वितीयार्णव इवावर्ततेति भावः ॥ ५३ ॥

पश्चिम देश के राजाओं के विजय करने में तत्पर अत एव समुद्र तट से चलते हुये रघु महाराज की सेनाओं से समुद्र परशुरामजी के बाणों से दूर किया गया भी सह्य पर्वत से मिले हुए की भाँति मालूम पड़ने लगा ॥ ५३ ॥

अथ रघोर्मदात् सैन्यं दृष्ट्वा भीताः सत्यः अलङ्कारान्विना पत्या विना बभूवुरित्याह—

भयोत्सृष्टविभूषाणां तेन केरलयोषिताम् ।
अलकेषु चमूरेणुश्चूर्णप्रतिनिधीकृतः ॥ ५४ ॥

तेन रघुणा भयेनोरस्सुविष्टभूपाणां परिहृतभूषणानां केरलयोषितां केरलाङ्गनानामलकेषु चमूरेणुः सेनारजश्चूर्णस्यकुङ्कमादिरजसः प्रतिनिधीकृतः। एतेन योषितां पलायनं चमूनां च तदनुधावनं ध्वन्यते ॥ ५४ ॥

उन रघु महाराजने, डर के कारण से आभूषणों को छोडकर भागती हुई केरल देशकी स्त्रियों के घुँघराले बालों में सेनाओं की धूलि को कुङ्कम आदि सुगन्धित द्रव्यों के चूर्ण का प्रतिनिधि बना दिया ॥ ५४ ॥

अथ रघो सैन्यं नदीं प्रापेत्याह—

मुरलामारुतोद्धूतमगमत्कैतकं रजः।
तद्योधवारबाणानामयत्नपटवासताम् ॥ ५५ ॥

मुरला नाम केरलदेशेषु काचिन्नदी। 'मुरलीमारुतोद्धृतम्' इति केचित्पठन्ति। तस्या मारुतेनोद्धूतमुत्थापितं कैतकं केतकीसम्बन्धि रजस्तद्योधवारबाणानां रघुभटकञ्चुकानाम्। 'कञ्चुको वारबाणोऽस्त्री' इत्यमरः। अयत्नपटवासतामयत्नसिद्धवस्त्रवासनाद्रव्यत्वमगमत्। 'पिष्टातः पटवासकः' इत्यमरः ॥ ५५ ॥

मुरला नाम की नदी की वायु से उडाये हुए केतकी पुष्प के पराग ने उन रघु महाराज के योधाओं के कन्चुकों (कवचविशेषों) का बिना प्रयत्न के ही वस्त्र को सुगन्धित करने वाले चूर्ण का कार्य किया ॥ ५५ ॥

अथ पथि गच्छतो रघोर्वाहानां राजतालीवनमध्ये प्रवेशमाह—

अभ्यभूयत वाहानां चरतां गात्रशिञ्जितैः।
वर्मभिः पवनोद्धूतराजतालीवनध्वनिः ॥ ५६ ॥

चरतां गच्छतां वाहानां वाजिनाम्। 'वाजिवाहार्वगन्धर्वहयसैन्धवसप्तयः' इत्यमरः। गात्रशिञ्जितैर्गात्रेषु शब्दायमानैः। कर्तरि क्तः। 'गात्रसञ्जितैः' इति वा पाठः। सञ्जतेर्ण्यन्तात्कर्मणि क्तः। वर्मभिः कवचैः। 'मर्मरः' इति पाठे वाहानां गात्रशिञ्जितैर्गात्रध्वनिभिरित्यर्थः। मर्मरो मर्मरायमाण इति ध्वनेर्विशेषणम्। पवनेनोद्धूतानां कम्पितानां राजतालीवनानां ध्वनिरभ्यभूयत तिरस्कृतः ॥ ५६ ॥

चलते हुए घोड़ों के शरीरों पर शब्द करते हुए कवचों की ध्वनि से वायु से हिलते हुए तालवृक्षों के वन की ध्वनि तिरस्कृत हुई ॥ ५६ ॥

अथ मदस्राविणां रघुसेनागजानां गण्डस्थले पुन्नागतरुवनाद्भ्रमराणां निपतनमाह—

खर्जूरीस्कन्धनद्धानां मदोद्गारसुगन्धिषु।
कटेषु करिणां पेतुः पुन्नागेभ्यः शिलीमुखाः ॥ ५७ ॥

खर्जूरीणां तृणद्रुमविशेषाणाम्। 'खर्जूरः केतकी ताली खर्जूरी च तृणद्रुमाः' इत्यमरः। स्कन्धेषु प्रकाण्डेषु। 'अस्त्री प्रकाण्डः स्कन्धः स्यान्मूलाच्छाखावधेस्तरोः' इत्यमरः। नद्धानां बद्धानां करिणां मदोद्गारेण मदस्रावेण सुगन्धिषु। 'गन्धस्येदुत्पू-

लिप्तमुखेभ्यः इत्यनेकार्थः। कपोलेषु पुन्नागेभ्यो नागकेसरेभ्यः पुन्नागपुष्पाणि विहाय। ल्यब्लोपे पञ्चमी। शिलीमुखा भ्रमरा येतुः। 'अलिबाणौ शिलीमुखौ' इत्यमरः। ततोऽपि सौगन्ध्यातिशयादिति भावः ॥ ५७ ॥

समुद्र के तटों में बँधे हुए हाथियों के मद के झरने से सुगन्धयुक्त गण्डस्थलों पर पुन्नाग (नागकेसर) के पुष्पों को छोड़कर भौंरे आ बैठे ॥ ५७ ॥

अथ पश्चिमदेशीया राजानो रघवे करं ददुरित्याह—

अवकाशं किलोदन्वान् रामायाभ्यर्थितो ददौ ।
अपरान्तमहीपालव्याजेन रघवे करम् ॥ ५८ ॥

उदन्वानुदधी रामाय जामदग्न्याय। अभ्यर्थितो याचितः सन्। अवकाशं स्थानं ददौ किल। किलेति प्रसिद्धौ। रघवे त्वपरान्तमहीपालव्याजेन करं बलिं ददौ। 'बलिहस्तांशवः कराः' इत्यमरः। अपरान्त्यानां समुद्रमध्यदेशवर्तित्वात्तेषु करे समुद्रत्वोपचारः। अरयार्थं च मीत्वा न तु याचनयेति रामाद्रघोरुत्कर्षः ॥ ५८ ॥

जिस समुद्र ने परशुरामजी के लिये प्रार्थना करने पर रहने के लिये अवकाश (स्थान) दिया था उसी समुद्र ने रघु महाराजके लिये पश्चिम देशके राजाओंके व्याजसे कर दिया॥

अथ रघोर्जयस्तम्भत्रिकूटाद्रिमुद्दिश्याह—

मत्तेभरदनोत्कीर्णव्यक्तविक्रमलक्षणम् ।
त्रिकूटमेव तत्रोच्चैर्जयस्तम्भं चकार सः ॥ ५९ ॥

तत्र स रघुर्मत्तेभानामिभानां रदनोत्कीर्णानि दन्तक्षतान्येव। भावे क्तः। व्यक्तानि स्फुटानि विक्रमलक्षणानि पराक्रमचिह्नानि विजयवर्णावलिस्थानापन्नानि यस्मिंस्तं तथोक्तं त्रिकूटमेवोच्चैर्जयस्तम्भं चकार। गजक्षताङ्कितस्त्रिकूटोऽद्रिरेवोत्कीर्णजयस्तम्भो रघोर्जयस्तम्भोऽभूदित्यर्थः ॥ ५९ ॥

उस देश में रघु महाराज ने मतवाले हाथियों के दाँतों के प्रहारों से खुदे हुये अतएव ही जिसमें स्पष्ट रूप से पराक्रम के चिह्न मौजूद हैं ऐसे त्रिकूट नामक पर्वत को ही ऊँचा विजय का स्मरण दिलाने वाला स्तम्भ कायम किया ॥ ५९ ॥

अथ रघोः पारसीकजेतुं प्रस्थानमाह—

पारसीकांस्ततो जेतुं प्रतस्थे स्थलवर्त्मना ।
इन्द्रियाख्यानिव रिपूंस्तत्त्वज्ञानेन संयमी ॥ ६० ॥

ततः स रघुः। संयमी योगी तत्त्वज्ञानेनेन्द्रियाख्यानिन्द्रियनामकान् रिपूनिव पारसीकान् राज्ञो जेतुं स्थलवर्त्मना प्रतस्थे न तु सिन्धुमार्गेणापि जलपथेन समुद्रया नस्य निषिद्धत्वादिति भावः ॥ ६० ॥

उसके (त्रिकूटाचल को ही विजयस्मारकस्तम्भ कायम कर चुकने के) बाद अब रघु

महाराज ने योगी की भांति तत्त्वज्ञान से इन्द्रिय नामक शत्रु के समान पारस देश के म्लेच्छ राजाओं को जीतने के लिए स्थलमार्ग से प्रस्थान किया ॥ ६० ॥

अथ रघुर्यवनस्त्रीमुखाना मधुनो मदरागं न सेह इत्याह—

यवनीमुखपद्मानां सेहे मधुमदं न सः ।
बालातपमिवाब्जानामकालजलदोदयः ॥ ६१ ॥

स रघुर्यवनीना यवनस्त्रीणाम् । 'जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्' इति ङीष् । मुखानि पद्मानीव मुखपद्मानि । उपमितसमास' । तेषा मधुना मद्येन यो मदो मदरागः । कार्यकारणभावयोरभेदेन निर्देश. । त न सेहे । कमिव । अकाले प्रावृड्व्यतिरिक्ते काले जलदोदय । प्रायेण प्रावृषि पद्मविकासस्याप्रसक्तत्वादब्जानां सम्बन्धिन बालातपमिव । अब्जहितत्वादब्जसम्बन्धित्व सौरातपस्य ॥ ६१ ॥

रघु ने यवन की स्त्रियों के मद्यपान-जनित कमल-सदृश मुख को जैसे—वर्षा ऋतु के अलावे और ऋतुओं में मेघों का उदय होना कमल-सम्बन्धी सूर्य की कोमल किरणों को नहीं सहता है उसी भाँति नहीं सहन किया ॥ ६१ ॥

अथ पारसीकै' सह रघोस्तुमुल युद्धं बभूवेत्याह—

सङ्ग्रामस्तुमुलस्तस्य पाश्चात्त्यैरश्वसाधनैः ।
शार्ङ्गकूजितविज्ञेयप्रतियोधे रजस्यभूत् ॥ ६२ ॥

तस्य रघोरश्वसाधनैर्वाजिसैन्यै । 'साधनं सिद्धिसैन्ययो 'इति हैम । पश्चाद्भवै· पाश्चात्त्ययवनै सह । 'दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यक्'इति त्यक् । सहार्थे तृतीया । श्रृङ्गाणा विकारा शार्ङ्गाणि धनूंषि तेषा कूजितै' शब्दै. । 'शार्ङ्ग पुनर्धनुषि शार्ङ्गिण । जये च श्रृङ्गविहिते चापेऽप्याह विशेषत' इति केशव । अथवा शार्ङ्गै श्रृङ्गसम्बन्धिभिः कूजितैर्विज्ञेया अनुमेया प्रतियोधा प्रतिभटा यस्मिंस्तस्मिन् रजसि तुमुल सग्राम· सङ्कुल युद्धमभूत् । 'तुमुलं रणसङ्कुले' इत्यमरः ॥ ६२ ॥

उन रघु महाराज का घोड़ों ही की सेना जिनकी है ऐसे पश्चिम दिशाके यवन राजाओं के साथ धनुष के टङ्कारों से ही जिसमें प्रतिद्वन्द्वी योद्धाओं का परिज्ञान होता था ऐसी (उड़ती हुई) धूलि में घमासान युद्ध हुआ ॥ ६२ ॥

अथ रघु स्वबाणच्छिन्नै पारसीकानां शिरोभि' पृथ्वीं छादयामासेत्याह—

भल्लापवर्जितैस्तेषां शिरोभिः श्मश्रुलैर्महीम् ।
तस्तार सरघाव्याप्तैः स क्षौद्रपटलैरिव ॥ ६३ ॥

स रघुर्भल्लापवर्जितैर्बाणविशेषकृत्तै' । 'स्नुहीदलफलो भल्ल''इति । यादव । श्मश्रुलै· प्रवृद्धमुखरोमवद्भि । 'सिध्मादिभ्यश्च'इति लच्प्रत्यय । तेषा पाश्चात्त्यानां शिरोभि· सरघाभिर्मधुमक्षिकाभिर्व्याप्तै । 'सरघा मधुमक्षिका' इत्यमर । क्षुद्रा सरघा । 'क्षुद्रा व्यङ्गा नटी वेश्या सरघा कण्टकारिका' इत्यमर । क्षुद्राभि· कृतानि क्षौद्राणि

मधूनि। 'मधु क्षौद्रं माक्षिकादि' इत्यमरः। 'क्षुद्राभ्रमरवटरपादपात्' इति संज्ञायाम्। तेषां पटलैः सञ्चयैरिव। 'पटलं तिलके नेत्ररोगे वृन्दे चये। पिटके परिवारे च' इति हैमः। महीं तस्तारास्तारयामास ॥ ६३ ॥

जब रघु महाराज ने हस्ती के पदों की तरह जिसमें चक्र बने हुए हैं ऐसे भालों से कटे हुए दाढ़ी-मूछों से युक्त उन पारसी राजाओं के सिरों से जैसे मधुमक्खियों से ढके हुए मधु के छत्तों से ढक जावे उस भाँति पृथ्वी को ढक दिया ॥ ६३ ॥

अथ हतावशिष्टाः पारसीका राजानस्तं रघुं शरणं ययुरित्याह—

अपनीतशिरस्त्राणाः शेषास्तं शरणं ययुः।
प्रणिपातप्रतीकारः संरम्भो हि महात्मनाम् ॥ ६४ ॥

शेषा हतावशिष्टा अपनीतशिरस्त्राणा अपसारितशीर्षण्याः सन्तः। 'शीर्षकम्। शीर्षण्यं च शिरस्त्रे' इत्यमरः। शरणागतलक्षणमेतत्। तं रघुं शरणं ययुः। तथाहि। महात्मनां संरम्भः कोपः। 'संरम्भः सम्भ्रमे कोपे' इति विश्वः। प्रणिपातः प्रणतिरेव प्रतीकारो यस्य सः। हि महतां परकीयमौद्धत्यमेवासह्यं न तु जीवितमिति भावः॥

युद्ध में मरने से बचे हुए राजा लोग अपने-अपने टोपों को उतार कर रघु महाराज के *शरण (शरण में) गये क्योंकि विनय करके महात्माओं का कोप प्रणाम करने ही* से दूर हो जाने वाला होता है ॥ ६४ ॥

अथ रघोर्योधानां विजयश्रमनिवारणार्थं मद्यपानमाह—

विनयन्ते स्म तद्योधा मधुभिर्विजयश्रमम्।
आस्तीर्णाजिनरत्नासु द्राक्षावलयभूमिषु ॥ ६५ ॥

तस्य रघोर्योधा भटा आस्तीर्णान्यजिनरत्नानि चर्मश्रेष्ठानि यासु तासु द्राक्षा-वलयानां भूमिषु। 'मृद्वीका गोस्तनी द्राक्षा स्वाद्वी मधुरसेति च' इत्यमरः। मधुभिर्द्राक्षाफलप्रकृतिकैर्मद्यैर्विजयश्रमं युद्धखेदं विनयन्ते स्म अपनीतवन्तः। 'कर्तृस्थे चाशरीरे कर्मणि' इत्यात्मनेपदम्। 'लट् स्मे' इति भूतार्थे लट् ॥ ६५ ॥

उन रघु महाराज के योद्धाओं ने जिसमें उत्तम मृगचर्म आदि बिछे हुए हैं ऐसी चौक-भर दाख की लताओं से वेष्टित भूभाग में दाख के फलों से बने हुए मद्य के द्वारा (अर्थात् मद्यपान करने से) विजय करने में जो परिश्रम हुआ है उसे दूर किया ॥ ६५ ॥

अथ रघोर्दिग्विजयार्थमुदीचीं दिशमुद्दिश्य प्रस्थानमनुस्मृत्याह—

ततः प्रतस्थे कौबेरीं भास्वानिव रघुर्दिशम्।
शरैरुस्रैरिवोदीच्यानुद्धरिष्यन् रसानिव ॥ ६६ ॥

ततो रघुर्भास्वान्सूर्य इव शरैर्बाणैरुस्रैः किरणैरिव। 'किरणोस्रमयूखांशुगभस्ति-घृणिरश्मयः' इत्यमरः। उदीच्यानुदग्भवान्नृपान् रसानुदकानीवोद्धरिष्यन्कौबेरीं कुबेर

सम्बधिनीं दिशमुदीचीं प्रतस्थे । अनेकेनेवशब्देनेयमुपमा । यथाऽऽह दण्डी–'एकाने-केवशब्दत्वात्सा वाक्यार्थोपमा द्विधा' इति ॥ ६६ ॥

उसके (पश्चिम दिशा के देशों की विजय कर चुकने के) वाद रघु महाराज ने सूर्य जैसे किरणों से जलों का शोषण करने के लिए उत्तरायण होते हैं उसी भाँति अपने बाणों से पश्चिम और उत्तर दिशा के देशाधिपति राजाओं को उखाड डालने (विजय करने) के लिये कुवेर की जो उत्तर दिशा है उसकी ओर प्रस्थान किया ॥ ६६ ॥

अथोदीचीं दिशं प्रस्थितस्य रघो सेनासम्बन्धिनोऽश्वान् वर्णयन्नाह—

विनीताध्वश्रमास्तस्य सिन्धुतीरविचेष्टनैः ।
दुधुवुर्वाजिनः स्कन्धांल्लग्नकुङ्कुमकेसरान् ॥ ६७ ॥

सिन्धुर्नाम कश्मीरदेशेषु कश्चिन्नदविशेष. । 'देशे नदविशेषेऽब्धौ सिन्धुर्ना सरिति स्त्रियाम्' इत्यमर । सिन्धोस्तीरे विचेष्टनैरङ्गपरिवर्त्तनैर्विनीताध्वश्रमास्तस्य रघोर्वाजिनोऽश्वा , लग्ना कुङ्कुमकेसरा कुङ्कुमकुसुमकिञ्जल्का येषा तान् । यद्वा लग्नकुङ्कुमा. केसरा सटा येषां तान् । 'अथ कुङ्कुमम् । कश्मीरजन्म' इत्यमर । 'केसरो नागकेसरे । तुरङ्गसिंहयो. स्कन्धकेशेषु बकुलद्रुमे । पुन्नागवृक्षे किञ्जल्के स्याद्' । इति हैमः । स्कन्धान्कायान् । 'स्कन्ध. प्रकाण्डे कायेंऽसे विज्ञानादिषु पञ्चसु । नृपे समूहे व्यूहे च' । इति हैम । दुधुवु कम्पयन्ति स्म ॥ ६७ ॥

सिन्धु नामक नदी के किनारे उलट-पलट कर जिन्होंने अपने २ मार्ग की थकावट को दूर कर दिया है और जिनके स्कन्ध के वालों में केसर लगे हुये हैं ऐसे रघु महाराज के घोड़ों ने अपने २ शरीर या कन्धे को हिलाया (झाडा) ॥ ६७ ॥

अथ रघुर्हूणान् युधि जितवानित्याह—

तत्र हूणावरोधानां भर्तृषु व्यक्तविक्रमम् ।
कपोलपाटलादेशि बभूव रघुचेष्टितम् ॥ ६८ ॥

तत्रोदीच्यां दिशि भर्तृषु व्यक्तविक्रमम् । भर्तृवधेन स्फुटपराक्रममित्यर्थ. । रघु-चेष्टित रघुव्यापार । हूणा जनपदाख्याः क्षत्रिया तेषामवरोधा अन्त.पुरस्त्रिय । तासा कपोलेषु पाटलस्य पाटलिम्नस्ताडनादिकृतारुण्यस्यादेश्युपदेशक बभूव । अथवा पाटल आदेश्यादेष्टा यस्य तद् बभूव । स्वय लेख्यायत इत्यर्थं ॥ ६८ ॥

उत्तर दिशा में अपने २ स्वामियों के विषय में जो पराक्रम हुये हैं वे जिनसे व्यक्त हो रहे हैं ऐसे रघु महाराज के व्यापार हूण देश के राजाओं की स्त्रियों के कपोलों पर जो (पतियों के मर जाने से दु ख में पीटने पर) रक्तवर्णता आ गई थी, उसके उपदेश वाले हुये अर्थात् रघु ने हूणों को जीता है इसको बतलाने वाली उनकी स्त्रियों के कपोलों की रक्तवर्णता ही हुई ॥ ६८ ॥

अथ रघुः काम्बोजदेशवासिनो राज्ञोऽपि विजितवानित्याह—

काम्बोजाः समरे सोढुं तस्य वीर्यमनीश्वराः ।
गजालानपरिक्लिष्टैरक्षोटैः सार्धमानताः ॥ ६९ ॥

काम्बोजा राजानः समरे तस्य रघोर्वीर्यं प्रभावम् । 'वीर्यं तेजःप्रभावयोः' इति हैमः । सोढुमनीश्वरा अशक्ताः सन्तः गजानामालानं बन्धनम् । भावे ल्युट् । 'विभाषा लीयतेः' इत्यात्वम् । तेन परिक्लिष्टैः परिक्षतैरक्षोटैः पर्वतपीलुविशेषैः सार्धमानताः

कम्बोज देशवासी राजा (काबुली) लोग युद्ध में उन रघु महाराज के प्रभाव (पराक्रम) को सहन करने में नहीं समर्थ होते हुये हाथियों के बांधने के लिये खम्भ-स्वरूप होने से नीचे जाते हुये अखरोट के वृक्षों के साथ नम्र हो गये अर्थात् सिर झुकाये ॥ ६९ ॥

अथ रघवे काम्बोजाः पराजिताः सन्तोऽश्वधनादिकमुपायनं ददुरित्याह—

तेषां सदश्वभूयिष्ठास्तुङ्गा द्रविणराशयः ।
उपदा विविशुः शश्वन्नोत्सेकाः कोसलेश्वरम् ॥ ७० ॥

तेषां काम्बोजानां सदश्वैर्भूयिष्ठा बहुलास्तुङ्गा द्रविणानां हिरण्यानाम् । 'हिरण्यं द्रविणं द्युम्नम्' इत्यमरः । राशय पुञ्जा उपदा उपायनानि । 'उपायनमुपग्राह्यमुपहारस्तथोपदा' इत्यमरः । कोसलेश्वरं कोसलदेशाधिपतिं तं रघुं शश्वदसकृद्विविशुः । 'मुहुः पुनः पुनः शश्वदभीक्ष्णमसकृत्समाः' इत्यमरः । तथाऽप्युत्सेका गर्वा रघुं न विविशुः सत्यपि गर्वकारणे न गर्वितइत्यर्थः ॥ ७० ॥

(हारे हुये) कम्बोज देश के राजाओं के बहुत से उत्तम २ घोड़े और बहुमूल्य स्वर्ण की राशि उपहार स्वरूप में लेकर कोसल देश के स्वामी उन रघु महाराज के पास उपस्थित हुये किन्तु फिर भी (रघु के हृदय में) अहङ्कार नहीं पैदा हुआ ॥ ७० ॥

अथ काम्बोजविजयानन्तरं रघोर्हिमालयपर्वतारोहणमाह—

ततो गौरीगुरुं शैलमारुरोहाश्वसाधनः ।
वर्धयन्निव तत्कूटानुद्धूतैर्धातुरेणुभिः ॥ ७१ ॥

ततोऽनन्तरमश्वसाधनः सन् गौर्या गुरुं पितरं शैलं हिमवन्तम् । उद्धूतै-रश्वखुरोद्धूतैर्धातूनां गैरिकादीनां रेणुभिस्तत्कूटांस्तस्य शृङ्गाणि । 'कूटोऽस्त्री शिखरं शृङ्गम्' इत्यमरः । वर्धयन्निव । आरुरोह । अत्यन्तप्रचुरैर्धातुभिर्गिरिशिखरवृद्धिभ्रमो जात इति भावः ॥ ७१ ॥

काबुलियों को विजय कर चुकने के बाद घुड़सवारों को साथ में लिये हुये वे रघु महाराज हिमालय पर्वत पर घोड़ों के खुरों से उड़ी हुई मनःशिला आदि धातुओं की धूलियों से पर्वत की चोटियों को बढ़ाते हुये की भांति चढ़े ॥ ७१ ॥

अथ हिमालयपर्वतगह्वरेषु सुप्तान् सिंहान् वर्णयन्नाह—

शशंस तुल्यसत्त्वानां सैन्यघोषेऽप्यसम्भ्रमम् ।
गुहाशयानां सिंहानां परिवृत्यावलोकितम् ॥ ७२ ॥

शशंसेति । तुल्यसत्त्वानां सैन्यैः समानबलानाम् । गुहासु शेरत इति गुहाशयास्तेषाम् । 'अधिकरणे शेते' इत्यच्प्रत्ययः । 'दरी तु कन्दरो वा स्त्री देवखातबिले गुहा' इत्यमरः । सिंहानां हरीणाम् । 'सिंहो मृगेन्द्रः पञ्चास्यो हर्यक्षः केसरी हरिः' इत्यमरः । सम्बन्धि परिवृत्य परावृत्यावलोकितं शयित्वैव ग्रीवाभङ्गेनावलोकनं कर्तृ सैन्यघोषे सेनाकलकले सम्भ्रमकारणे सत्यप्यसम्भ्रममन्तःक्षोभविरहितम् । नञः प्रसज्यप्रतिषेधेऽपि समास इष्यते । शशंस कथयामास । सैन्येभ्य इत्यर्थाल्लभ्यते । वाह्यचेष्टितमेव मनोवृत्तेरनुमापकमिति भावः । असम्भ्रान्तत्वे हेतुस्तुल्यसत्त्वानामिति । न हि समबलाः समबलाद् बिभ्यतीति भावः ॥ ७२ ॥

समान बल वाले हिमालय पर्वत की गुफाओं में सोये हुये सिंहों का घूम कर (सोते २ गर्दन फेर कर) देखना जो है उसीने भय का कारण जो सेना का कलकल शब्द है, उसके होने पर भी निर्भीकता प्रकट की ॥ ७२ ॥

अथ हिमालयमारोहतो रघोः पथि गङ्गाऽम्बुकणोपेतः पवनो ववावित्याह—

भूर्जेषु मर्मरीभूताः कीचकध्वनिहेतवः ।
गङ्गाशीकरिणो मार्गे मरुतस्तं सिषेविरे ॥ ७३ ॥

भूर्जेष्विति । भूर्जेषु भूर्जपत्रेषु । 'भूर्जपत्रो भुजो भूर्जो मृदुत्वक्चर्मिका मता' इति यादवः । मर्मरः शुष्कपर्णध्वनिः । 'मर्मरः शुष्कपर्णानाम्' इति यादवः । अयं च शुक्लादिशब्दवद्गुणिन्यपि वर्तते । प्रयुज्यते च—'मर्मरैरगुरुधूपगन्धिभिः' इति । अतो मर्मरीभूताः । मर्मरशब्दवन्तो भूता इत्यर्थः । कीचकानां वेणुविशेषाणां ध्वनिहेतवः ॥ श्रोत्रसुखाश्चेति भावः । गङ्गाशीकरिणः शीतला इत्यर्थः । मरुतो वाता मार्गे तं सिषेविरे ॥

सूखे हुए भूर्जपत्र (भोजपत्र) के वनों में मर्मर शब्द युक्त, कीचक नामक वंशवृक्षों की ध्वनि को पैदा करने वाला गङ्गा के जल कणों से मिला हुआ (शीतल) वायु मार्ग में रघु महाराज की सेवा करने लगा, अर्थात् बहते हुए शीतल वायु ने रघु के श्रम को दूर किया ॥

अथ रघोः सैनिका मृगमदवासितशिलातलेषु मार्गश्रमापनयनार्थं निवासं चक्रुरित्याह-

विशश्रमुर्नमेरूणां छायास्वध्यास्य सैनिकाः ।
दृषदो वासितोत्सङ्गा निषण्णमृगनाभिभिः ॥ ७४ ॥

विशश्रमुरिति । सैनिकाः सेनायां समवेताः । प्राग्वहतीयष्ठक्प्रत्ययः । नमेरूणां सुरपुन्नागानां छायासु निषण्णानां दृषदुपविष्टानां मृगाणां कस्तूरीमृगाणां नाभिभिः वासितोत्सङ्गाः सुरभिततलाः दृषदः शिलाः अध्यास्याधिष्ठाय । 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' इति कर्म । दृषत्स्वधिरुह्येत्यर्थः । विशश्रमुर्विश्रान्ताः ॥ ७४ ॥

रघु के सैनिक लोगों ने नमेरु नामक (देवदारुओं की जाति) नामक वृक्षों की छाया में बैठे हुए कस्तूरी मृगों की (नाभिसे निकली) कस्तूरी से जिनके कुछ भाग सुगन्धित हो गये हैं ऐसी शिलाओं पर बैठकर विश्राम किया ॥ ७४ ॥

अथ हिमवति रघोर्दीपकार्यं रात्रौ ज्योतिर्लताविशेषा एव कुर्वन्ति इत्याह—

सरलासक्तमातङ्गग्रैवेयस्फुरितत्विषः ।
आसन्नोषधयो नेतुर्नक्तमस्नेहदीपिकाः ॥ ७५ ॥

सरलेति । सरलेषु देवदारुविशेषेष्वासक्तानि यानि मातङ्गानां गजानां ग्रैवाणि ग्रैवेयाणि कण्ठशृङ्खलानि । 'ग्रीवाभ्योऽण्च' इति चकाराड्ढञ्प्रत्ययः । तेषु स्फुरितत्विषः प्रतिफलितभासः ओषधयो ज्वलन्त्यो ज्योतिर्लताविशेषा नक्तं रात्रौ नेतुर्नायकस्य रघोरस्नेहदीपिकास्तैलनिरपेक्षाः प्रदीपा आसन् ॥ ७५ ॥

सरल नामक वृक्षों में बँधे हुये हाथियों के गले में बाँधने की सीकड़ों में जिनकी कान्ति पड़ रही थी ऐसी ज्योतिर्लता नामक ओषधियाँ रात होने पर सेना के सञ्चालन करने वाले रघु महाराज के लिये तैलादि की अपेक्षा नहीं रखने वाले प्रदीप की भाँति हुई ॥ ७५ ॥

अथ रघोः सेनागजानामौन्नत्यं देवदारुस्कन्धव्रणैः किराता ज्ञातवन्त इत्याह—

तस्योत्सृष्टनिवासेषु कण्ठरज्जुक्षतत्वचः ।
गजवर्ष्म किरातेभ्यः शशंसुर्देवदारवः ॥ ७६ ॥

तस्येति । तस्य रघोरुत्सृष्टेषु त्यक्तेषु निवासेषु सेनानिवेशेषु कण्ठरज्जुभिर्गजग्रैवेयैः क्षता भिन्नास्त्वचो येषां ते देवदारवः किरातेभ्यो वनचरेभ्यो गजानां वर्ष्म प्रमाणम् । 'वर्ष्म देहप्रमाणयोः' इत्यमरः । शशंसुः कथितवन्तः । देवदारुस्कन्धव्रणैस्तैर्गजानामौन्नत्यमनुमीयत इत्यर्थः ॥ ७६ ॥

उन रघु महाराज के छोड़े हुये सेनाके पड़ावों पर गले में बाँधने के रस्सों से जिनके वल्कल उखड़ गये हैं ऐसे देवदार के वृक्षों ने ही किरातों से हाथियों की ऊँचाई को कहा, अर्थात् जितनी ऊँचाई पर देवदार के वल्कल उखड़ गये थे उतनी हाथियों की ऊँचाई किरातों ने समझी ॥ ७६ ॥

अथ रघोः पर्वतीयैरुत्सवसङ्केतैः किरातादिभिः सह घोरं युद्धमभूदित्याह—

तत्र जन्यं रघोर्घोरं पर्वतीयैर्गणैरभूत् ।
नाराचक्षेपणीयाश्मनिष्पेषोत्पतितानलम् ॥ ७७ ॥

तत्रेति । तत्र हिमाद्रौ रघोः पर्वते भवैः पर्वतीयैः । 'पर्वताच्च' इति छप्रत्ययः । गणैरुत्सवसङ्केताख्यैः सप्तभिः सह । 'गणानुत्सवसङ्केतानजयत्सप्त पाण्डवः' इति महाभारते । नाराचानां बाणविशेषाणां क्षेपणीयानां भिन्दिपालानामश्मनां च निष्पेषेण सङ्घर्षेणोत्पतिता अनला यस्मिंस्तत्तथोक्तम् । 'क्षेपणीयो भिन्दिपालः लगुडो दीर्घो

महाफलः' इति यादवः। घोरं भीमं जन्यं युद्धमभूत्। 'युद्धमायोधनं जन्यम्' इत्यमरः॥ ७७॥

उस हिमालय पर्वत पर रघु का वहाँ के निवासी उत्सवसङ्केताख्य म्लेच्छजाति के गणों के साथ केवल नाराच नामक बाण और भिन्दिपाल तथा पत्थर के टुकडे, इन सबों के परस्पर रगण से, अग्नि जिसमें उत्पन्न हो गयी थी ऐसा भयङ्कर युद्ध हुआ॥७७॥

अथ पर्वतीयगणविजयिनो रघोर्यशोगान तत्र किन्नरगणाश्चक्रुरित्याह—

शरैरुत्सवसङ्केतान् स कृत्वा विरतोत्सवान्।
जयोदाहरणं बाह्वोर्गापयामास किन्नरान्॥ ७८॥

शरैरिति। स रघुः शरैर्बाणैरुत्सवसङ्केतान्नाम्नो गणान्विरतोत्सवान्कृत्वा। जित्वेत्यर्थः। किन्नरान् बाह्वोः स्वभुजयोर्जयोदाहरण जयख्यापक प्रबन्धविशेष गापयामास। 'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्त्ता स णौ' इत्यनेन किन्नराणा कर्मत्वम्॥ ७८॥

उन रघु महाराज ने बाणों से उत्सवसङ्केत नामक सात पर्वत-निवासी म्लेच्छजाति के गिरोहों को युद्धमें बाणों से पराजित कर उनके उत्सवों को बन्द कर दिया और किन्नरों द्वारा अपने भुजबल का यशोगान कराया॥ ७८॥

अथ पराजिताना पर्वतीयगणाना रघवे उपहारस्वरूपमणिगणाद्यर्पणमाह—

परस्परेण विज्ञातस्तेषूपायनपाणिषु।
राज्ञा हिमवतः सारो राज्ञः सारो हिमाद्रिणा॥ ७९॥

परस्परेणेति। तेषु गणेषूपायनयुक्ता पाणयो तेषा तेषु सत्सु परस्परेणान्योऽन्य राज्ञा हिमवतः सारो धनरूपो विज्ञातः, हिमाद्रिणाऽपि राज्ञः सारो बलरूपो विज्ञातः। एतेन तत्रस्थवस्तूनामनर्घ्यत्व गणानामभूतपूर्वश्च पराजय इति ध्वन्यते॥

उन पर्वतीय उत्सवसकेत नामक म्लेच्छजातिके सात गिरोहों के हाथमें उपहारस्वरूप रत्नादिकोंको लेकर रघुके शरण में उपस्थित होने पर महाराज रघु और हिमालय ने परस्पर एक दूसरेके सारको जाना अर्थात् उपहारस्वरूप उन बहुमूल्यक रत्नों को देखकर महाराज रघुने हिमालयके धन रूप सारको और हिमालयने पर्वतीय उन वीरों को पराजित देखकर रघुके पराक्रमरूप सार को जाना॥ ७९॥

अथ रघुरग्रे कैलासपर्वतमगत्वैव हिमालयशिखरादवततारेत्याह—

तत्राक्षोभ्यं यशोराशिं निवेश्यावरुरोह सः।
पौलस्त्यतुलितस्याद्रेरादधान इव ह्रियम्॥ ८०॥

तत्रेति। स रघुस्तत्र हिमाद्रावक्षोभ्यमधृष्यं यशोराशिं निवेश्य निधाय। पौलस्त्येन रावणेन तुलितस्य चालितस्याद्रेः कैलासस्य ह्रियमादधानो जनयन्निव। अव-

प्रोहसञ्चचार । कैलासमात्मैव प्रतिमितमिव इत्यर्थः । यदि शुक्लः परोण पराजितमपि पुरुषस्य इति भावः ॥ ८० ॥

वे रघु महाराज उस हिमालय पर्वत पर अपनी यशोराशि को रखकर रावण से हिलाये गये कैलास पर्वत को लज्जित करते हुए की भाँति (चले ही) गये ॥ ८० ॥

अथ कामरूपाधिपती रघोर्भयेन कम्पितवानित्याह—

चकम्पे तीर्णलौहित्ये तस्मिन् प्राग्ज्योतिषेश्वरः ।
तद्गजालानतां प्राप्तैः सह कालागुरुद्रुमैः ॥ ८१ ॥

चकम्प इति । तस्मिन् रघौ । तीर्णो लौहित्यो नाम नदी येन तस्मिंस्तीर्णलौहित्ये सति । प्राग्ज्योतिषाणां जनपदानामीश्वरः, तस्य रघोर्गजानामालानतां प्राप्तैः कालागुरुद्रुमैः कृष्णागुरुवृक्षैः सह चकम्पे कम्पितवान् ॥ ८१ ॥

उन रघु राजा के लौहित्य नदी के पार करने पर प्राग्ज्योतिष देश का राजा उनके हाथियों के बाँधने में स्तम्भ का काम दे रहे थे ऐसे कालागुरु वृक्ष के साथ ही साथ काँप गया ॥ ८१ ॥

अथ कामरूपाधिपो रघो रथमार्गधूलिं दृष्ट्वैव भीतः सन् तेन सह युद्धं न कृतवानित्याह—

न प्रसेहे स रुद्धार्कमधारावर्षदुर्दिनम् ।
रथवर्त्मरजोऽप्यस्य कुत एव पताकिनीम् ॥ ८२ ॥

नेति । स प्राग्ज्योतिषेश्वरो रुद्धार्कमावृतसूर्यम् । अधारावर्षं च तद् दुर्दिनं च धारावृष्टिं विना दुर्दिनीभूतम् । अस्य रघो रथवर्त्मरजोऽपि न प्रसेहे । पताकिनीं सेनां तु कुत एव प्रसेहे । न कुतोऽपीत्यर्थः ॥ ८२ ॥

प्राग्ज्योतिष देश का राजा सूर्य को ढक देने वाली निरन्तर जलवृष्टि के बिना मेघ से घिरे हुए दिन के समान मालूम पड़ने वाली उन रघु महाराज के रथमार्ग की धूलि को भी नहीं सह सका फिर सेना को कैसे सहता ॥ ८२ ॥

अथ कामरूपाधिपो गजरत्नमुपायनीकृत्य रघोः शरणागतो बभूवेत्याह—

तमीशः कामरूपाणामत्याखण्डलविक्रमम् ।
भेजे भिन्नकटैर्नागैरन्यानुपरुरोध यैः ॥ ८३ ॥

तमिति । कामरूपाणां नाम देशानामीशोऽत्याखण्डलविक्रममतीन्द्रपराक्रमं तं रघुम् । भिन्नाः प्रवृत्तमदाः कटा गण्डा येषां तैर्नागैर्गजैः साधनैर्भेजे । असेवत्, शरणमगमदित्यर्थः । कीदृशैर्नागैः । यैरन्यान् युष्मत्परान् नृपानुपरुरोध । युद्धासमर्थो रघुरिति भावः ॥ ८३ ॥

कामरूप के राजा ने पराक्रम में इन्द्र को भी अतिक्रमण करने वाले उन रघु महाराज को जिनके गण्डस्थलों से मद झर रहा था ऐसे हाथियों से सेवा की अर्थात्

हाथियोंको भेंटमें देकर शरणागत हुआ, कैसे वे हाथी हैं, कि जिन हाथियों से रघुके अलावे और आक्रमणकारी राजाओं को दूर कर दिया था, अत रघु शूर के भी शूर थे ॥ ८३ ॥

अथ कामरूपेश्वरो रघो. पादयोर्निपत्य रत्नान्युपायनीकृतवानित्याह—

कामरूपेश्वरस्तस्य हेमपीठाधिदेवताम् ।
रत्नपुष्पोपहारेण छायामानर्च पादयोः ॥ ८४ ॥

कामेति। कामरूपेश्वरो हेमपीठस्याधिदेवता तस्य रघो पादयोश्छायां कनकमय-पदपीठव्यापिनीं कान्ति रत्नान्येव पुष्पाणि तेषामुपहारेण समर्पणेनानर्चार्चयामास॥

कामरूप देशके राजाने पैर रखने के लिए सोनेके बने हुए आसन की अधिदेवता स्वरूप उन रघु महाराज के पैरों की कान्ति की रत्नरूपी फूलों को समर्पण करके पूजा की ॥ ८४ ॥

अथ रघुः सर्वा दिशो जित्वा दिग्विजयान्निवृत्तोऽभूदित्याह—

इति जित्वा दिशो जिष्णुर्न्यवर्तत रथोद्धतम् ।
रजो विश्रामयन्राज्ञां छत्रशून्येषु मौलिषु ॥ ८५ ॥

इतीति। जिष्णुर्जयशील.। 'ग्लाजिस्थश्च ग्स्नु.' इति ग्स्नुप्रत्ययः। स रघुरितीत्थ दिशो जित्वा रथैरुद्धत रजश्छत्त्रशून्येषु। रघोरेकच्छत्त्रकत्वादिति भावः। राज्ञा मौलिषु किरीटेषु। 'मौलि. किरीटे धम्मिल्ले चूडाकङ्केलिमूर्धजे' इति हैम'। विश्रा-मयन्। सङ्क्रामयन्नित्यर्थं। न्यवर्तत निवृत्त ॥ ८५ ॥

विजयी राजा रघु इस प्रकार से दिशाओं को विजय करके रथों से उड़ी हुई धूलि को छत्ररहित राजाओं के मुकुटों में जमाते हुये दिग्विजय करने से निवृत्त हुये ॥ ८५ ॥

अथ रघुर्विश्वजितं यज्ञं कृतवानित्याह—

स विश्वजितमाजह्रे यज्ञं सर्वस्वदक्षिणम् ।
आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव ॥ ८६ ॥

स इति। स रघु सर्वस्व दक्षिणा यस्य त सर्वस्वदक्षिणम्। 'विश्वजित्सर्वस्व-दक्षिण.' इति श्रुते। विश्वजित नाम यज्ञमाजह्रे, कृतवानित्यर्थं। युक्त चैतदित्याह-सता साधूनाम् वारिमुचा मेघानामिव। आदानमर्जन विसर्गाय त्यागाय हि, पात्र-विनियोगायेत्यर्थ. ॥ ८६ ॥

उन रघु महाराज ने, जिसकी दक्षिणा में अपना सारा धन दे दिया जाता है, ऐसा विश्वजित् नाम का यज्ञ किया, क्योंकि यह उचित ही है कि—सज्जनों का लेना मेघों की भाँति (जैसे मेघ समुद्र से जल ले जाता है और बरसा कर किसानों को खुश करता है) उसी प्रकार दूसरे को देने ही के लिये होता है ॥ ८६ ॥

अथ यज्ञान्ते स्वनिदेशायत्तीकृतेभ्यो नृपेभ्यो निजनिजगृहगमनाय रघुराज्ञां ददातीत्याह-

सत्रान्ते सचिवसखः पुरस्क्रियाभिर्गुर्वीभिः शमितपराजयव्यलीकान् ।
काकुत्स्थश्चिरविरहोत्सुकावरोधान् राजन्यान्स्वपुरनिवृत्तयेऽनुमेने ॥

सत्रान्त इति । काकुत्स्थो रघुः सत्रान्ते यज्ञान्ते । 'सत्रमाच्छादने यज्ञे सदा दाने वनेऽपि च' इत्यमरः । सचिवानाममात्यानां सखेति सचिवसखः सन् । 'सचिवो भृत्ये ऽप्यमात्ये' इति हैमः । तेषामत्यन्तानुसरणद्योतनार्थं राज्ञः सचिवसखपदप्रयोगः । 'राजाहः सखिभ्यष्टच्' । गुर्वीभिर्महतीभिः । 'गुरुर्महत्याङ्गिरसे पित्रादौ धर्मदेशके' इति हैमः । पुरस्क्रियाभिः पूजाभिः शमितं पराजयव्यलीकं दुःखं वैकृत्यं वा येषां तान् । 'दुःख वैकृत्ये व्यलीकम्' इति यादवः । चिरविरहेणोत्सुकाः उत्कण्ठिता अवरोधा अन्तःपुराणि येषां तान् । राज्ञोऽपत्यानि राजन्याः, क्षत्रियास्तान् । 'राजश्वशुराद्यत्' इत्यपत्यार्थे यत्प्रत्ययः । 'मूर्धाभिषिक्तो राजन्यो बाहुजः क्षत्रियो विराट्' इत्यमरः । स्वपुरं प्रति निवृत्तये प्रतिगमनायानुमेनेऽनुज्ञातवान् । प्रहर्षिणीवृत्तमेतत् । तदुक्तम्-'म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम्' इति ॥ ८७ ॥

ककुत्स्थ के वंश में पैदा हुये रघु महाराजने विश्वजित् नामक यज्ञ की समाप्ति होने पर मन्त्रियों के मित्र अर्थात् मन्त्रियों के मत का अनुसरण करनेवाले होते हुये अत्यन्त आदर सत्कार द्वारा जिनके पराजय से उत्पन्न दुःख शान्त हो गये हैं और बहुत दिनों से वियोग होने के कारण जिनकी अन्तःपुरकी स्त्रियाँ देखने के लिये उत्कण्ठित हो रही हैं ऐसे क्षत्रिय राजाओं को अपने-अपने नगर की ओर जाने के लिए आज्ञा दी ॥ ८७ ॥

अथ स्वपुरं प्रति गमनाय प्रस्थानुज्ञार्थं राज्ञां प्रणामकाले रघोः पादयोः प्रणिपतनमाह—

ते रेखाध्वजकुलिशातपत्रचिह्नं सम्राजश्चरणयुगं प्रसादलभ्यम् ।
प्रस्थानप्रणतिभिरङ्गुलीषु चक्रुर्मौलिस्रक्च्युतमकरन्दरेणुगौरम् ॥८८॥

त इति । ते राजानः । रेखा एव ध्वजश्च कुलिशानि आतपत्राणि च ध्वजाद्याकाररेखा इत्यर्थः । तानि चिह्नानि यस्य तत्तथोक्तम् । प्रसादेनैव लभ्यम् प्रसादलभ्यम् । सम्राजः सार्वभौमस्य रघोश्चरणयुगं प्रस्थाने प्रयाणसमये याः प्रणतयो नमस्कारास्ताभिः करणैः । अङ्गुलीषु, मौलिषु केशबन्धेषु याः स्रजो मालास्ताभ्यश्च्युतैर्मकरन्दैः पुष्परसैः । 'मकरन्दः पुष्परसः' इत्यमरः । रेणुभिः परागैश्च । 'परागः सुमनोरजः' इत्यमरः । गौरं गौरवर्णं चक्रुः ॥ ८८ ॥

इति सञ्जीविनीव्याख्यायां रघुदिग्विजयो नाम चतुर्थः सर्गः ।



विश्वजित् यज्ञ के लिये निमन्त्रित राजाओं ने ध्वजा वज्र और छत्र के चिह्न रेखारूप से जिनमें मौजूद हैं और जो कि अनुग्रह से पाने योग्य हैं ऐसे चक्रवर्ती महाराज रघु के चरणों की अङ्गुलियों को घर जाने के समय प्रणाम करते समय अपने-अपने शिरों में जो मालायें लगा रखी थीं उनसे झरे हुये फूलों के रस तथा परागों से गौर वर्ण कर दिया ॥ ८८ ॥

इति चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥



पञ्चमः सर्गः

अथ गुरुदक्षिणाऽर्थी वरतन्तुशिष्यः कौत्स ऋषी रघुम्प्रापेत्याह—

तमध्वरे विश्वजिति क्षितीशं निःशेषविश्राणितकोषजातम् ।
उपात्तविद्यो गुरुदक्षिणाऽर्थी कौत्सः प्रपेदे वरतन्तुशिष्यः ॥ १ ॥

इन्दीवरदलश्याममिन्दिराऽऽनन्दकन्दलम् ।
वन्दारुजनमन्दारं वन्देऽहं यदुनन्दनम् ॥

तमिति। विश्वजिति विश्वजिन्नाम्न्यध्वरे यज्ञे। 'यज्ञः सवोऽध्वरो यागः' इत्यमरः। निःशेषं विश्राणितं दत्तम्। 'श्रणु दाने' चुरादिः। कोषाणामर्थराशीनां जातं समूहो येन तं तथोक्तम्। 'कोषोऽस्त्री कुड्मले खड्गपिधानेऽर्थौघदिव्ययोः' इत्यमरः। 'जातं जनिसमूहयोः' इति शाश्वतः। एतेन कौत्सस्यानवसरप्राप्तिं सूचयति। तं क्षितीशं रघुमुपात्तविद्यो लब्धविद्यो वरतन्तोः शिष्यः कौत्सः। 'ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च' इत्यण्। इञोऽपवादः। गुरुदक्षिणाऽर्थी। 'पुष्करादिभ्यो देशे' इत्यात्रार्थाच्चासन्निहिते तदन्ताच्चेतीनिः। अप्रत्याख्येय इति भावः। प्रपेदे प्राप। अस्मिन्सर्गे वृत्तमुपजातिः। तल्लक्षणं तु—(स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः, उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ। अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः)॥ इति ॥ १ ॥

विश्वजित् नामक यज्ञ में सारे अर्थ-राशियों के समूह (खजानों) का दान किए हुये उन महाराज रघु के पास १४ विद्या (छन्द-कल्प-ज्यौतिष-निरुक्त-शिक्षा-व्याकरण-इन छ अङ्गों के सहित ऋग्वेद-यजुर्वेद-सामवेद-अथर्ववेद-ये ४ वेद और मीमांसा-न्याय-धर्मशास्त्र-पुराण) को प्राप्त किये हुए वरतन्तु नामक महर्षि के शिष्य कौत्स ऋषि गुरुकी दक्षिणा स्वरूप १४ करोड़ धन को चाहने वाले होते हुए पहुँचे ॥ १ ॥

अथ रघुः कौत्सस्य स्वागतार्थमर्घ्यं गृहीत्वा सम्मुखं ययावित्याह—

स मृन्मये वीतहिरण्मयत्वात्पात्रे निधायार्घ्यमनर्घशीलः ।
श्रुतप्रकाशं यशसा प्रकाशः प्रत्युज्जगामातिथिमातिथेयः ॥ २ ॥

स इति। अनर्घशीलोऽमूल्यस्वभावः। असाधारणस्वभाव इत्यर्थः। 'मूल्ये पूजाविधावर्घः' इति। 'शीलं स्वभावे सद्वृत्ते' इति चामरशाश्वतौ। यशसा कीर्त्या।

प्रकाशत इति प्रकाशः । पचाद्यच् । अतिथिषु साधुरातिथेयः । 'पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ्' इति ढञ् । स रघुः । हिरण्यस्य विकारो हिरण्मयम् । 'दाण्डिनायन' इत्यादिना सूत्रेण निपातः । वीतहिरण्मयत्वादपगतसुवर्णपात्रत्वात् । यज्ञस्य सर्वस्वदक्षिणाकत्वादिति भावः । मृण्मये मृद्विकारे पात्रे । अर्घार्थमिदमर्घ्यम् । 'पादार्घाभ्यां च' इति यत् । पूजार्थं द्रव्यं निधाय श्रुतेन शास्त्रेण प्रकाशं प्रसिद्धम् । श्रुत इति श्रुतं वेदशास्त्रम् । श्रुतं शास्त्रावधृतयोः इत्यमरः । अतिथिमभ्यागतं कौत्सम् । इत्यमरः । प्रत्युज्जगाम ॥ २ ॥

यशोधारक धीमान् कीर्ति से परम प्रसिद्ध अतिथियोंका सत्कार करनेवाले, वे रघु महाराज सोने के बने हुये पात्रों के न रहने से मिट्टी के बने हुए पात्र में अर्घ्यनिमित्तक द्रव्य रख कर शास्त्र से परम प्रसिद्ध अतिथि कौत्स के पास चल कर गये ॥ २ ॥

अथ कौत्समर्घ्यादिदानेन पूजयित्वाऽऽसने समुपवेश्य कृताञ्जलिः सन् रघुर्वक्तुमारेभ इत्याह—

तमर्चयित्वा विधिवद्विधिज्ञस्तपोधनं मानधनाग्रयायी ।
विशाम्पतिर्विष्टरभाजमारात्कृताञ्जलिः कृत्यविदित्युवाच ॥ ३ ॥

तमिति । विधिज्ञः शास्त्रज्ञः । अग्रे यान्तीत्यग्रयायी प्रथमगामीत्यर्थः । मानधनानामग्रयायी मानधनाग्रेसरः । तपोधनमृषिमित्यर्थः । कृत्यवित्कार्यज्ञः । आगमनप्रयोजनमवश्यं प्रष्टव्यमिति कृत्यवित् । विशाम्पतिर्मनुजेश्वरः । 'द्वौ विशौ वैश्यमनुजौ' इत्यमरः । विष्टरमासनभाजमासनगतम् । उपविष्टमित्यर्थः । 'विष्टरो विटपी दर्भमुष्टिः पीठाद्यमासनम्' इत्यमरः । 'वृक्षासनयोर्विष्टरः' इति निपातः । तं तपोधनं विधिवद्विध्यर्हं यथा तथा । यथाशास्त्रमित्यर्थः । 'तदर्हम्' इति वतिप्रत्ययः । अर्चयित्वाऽऽरात्तत्समीपे । 'आराद् दूरसमीपयोः' इत्यमरः । कृताञ्जलिः सन्निति वक्ष्यमाणप्रकारेणोवाच ॥ ३ ॥

शास्त्र के जानने वाले, मान को ही धन मानने वालों में सर्वप्रथम, एवं 'आगमन का प्रयोजन अवश्य पूछना चाहिये' इस कार्य को जानने वाले राजा रघु आसन पर बैठे हुए उन तपोधन कौत्स ऋषि का विधिवत् पूजन करके समीप में हाथ जोड़े हुए इस प्रकार उन से बोले ॥ ३ ॥

अथ कौत्सं प्रति पृच्छता रघुणा तद्गुरोः सर्वप्रथमं कुशलं पृष्टमित्याह—

अप्यग्रणीर्मन्त्रकृतामृषीणां कुशाग्रबुद्धे ! कुशली गुरुस्ते ।
यतस्त्वया ज्ञानमशेषमाप्तं लोकेन चैतन्यमिवोष्णरश्मेः ॥ ४ ॥

अप्यग्रणीरिति । हे कुशाग्रबुद्धे ! सूक्ष्मबुद्धे ! । 'कुशाग्रीयमतिः प्रोक्तः सूक्ष्मदर्शी च यः पुमान्' इति हलायुधः । मन्त्रकृतां मन्त्रद्रष्टॄणाम् । 'सुकर्मपापमन्त्र' इत्यादिना क्विप् । ऋषीणामग्रणीः श्रेष्ठस्ते तव गुरुः कुशल्यपि क्षेमवान् किम् । अपि प्रश्ने । 'गर्हासमुच्चयप्रश्नशङ्कासम्भावनास्वपि' इत्यमरः । यतो यस्माद् गुरोः

सकाशात्त्वयाऽशेषं ज्ञानम्। लोकेनोष्णरश्मेः। सूर्याच्चैतन्यं प्रबोध इव। आप्तं स्वीकृतम् ॥ ४ ॥

हे तीक्ष्णबुद्धि वाले! आपे कौत्स! मन्त्रों के स्मरण करने वाले ऋषियों में श्रेष्ठ वे आप के गुरुजी महाराज कुशल से तो हैं? जिनसे आपने सम्पूर्ण ज्ञान उस भाँति प्राप्त किया जिस भाँति लोग सूर्य से प्रबोध प्राप्त करते हैं॥ ४॥

अथ सम्प्रति रघुकर्तृकं पुनर्महर्षेस्तपोविषयककुशलप्रश्नमाह—

कायेन वाचा मनसाऽपि शश्वद्यत्सम्भृतं वासवधैर्यलोपि।
आपाद्यते न व्ययमन्तरायैः कच्चिन्महर्षेस्त्रिविधं तपस्तत् ॥ ५ ॥

कायेनेति। कायेनोपवासादिकृच्छ्रचान्द्रायणादिना वाचा वेदपाठेन मनसा गायत्रीजपादिना कायेन वाचा मनसाऽपि करणेन वासवस्येन्द्रस्य धैर्यं लुम्पतीति वासवधैर्यलोपि। स्वपदापहारशङ्काजनकमित्यर्थः। यत्तप शश्वदसकृत्। 'मुहु पुन पुन शश्वदभीक्ष्णमसकृत्समा' इत्यमरः। सम्भृत सञ्चितं महर्षेर्वरतन्तोस्त्रिविध वाङ्मनःकायज तत्तपोऽन्तरायैर्विघ्नैरिन्द्रप्रेरिताप्सर शापैर्व्यय नाश नापाद्यते कच्चिद् न नीयते किम्। 'कच्चित्कामप्रवेदने' इत्यमर ॥ ५ ॥

शरीर से (कृच्छ्रचान्द्रायणादि द्वारा), वाणी से (वेदपाठ द्वारा) और मन से (गायत्रीजपादि द्वारा) इन्द्र के धैर्य का नाश करने वाला (इन्द्र के पदके अपहरण की शङ्का को उत्पन्न करने वाला) जो (तप) वारबार सञ्चय किया हुआ महर्षि वरतन्तु का तीन प्रकार का (शरीर–वाणी–और मन से सम्पादित) तप है वह विघ्नों से (इन्द्र की भेजी हुई अप्सराओं से या शापों से) कभी नष्ट तो नहीं कराया जाता है? ॥ ५ ॥

अथ रघुकर्तृकं महर्षेस्तपोवनवर्त्तिवृक्षविषयककुशलप्रश्नमाह—

आधारबन्धप्रमुखैः प्रयत्नैः संवर्धितानां सुतनिर्विशेषम्।
कच्चिन्न वाय्वादिरुपप्लवो वः श्रमच्छिदामाश्रमपादपानाम् ॥ ६ ॥

आधारेति। आधारबन्धप्रमुखैरालवालनिर्माणादिभि प्रयत्नैरुपायै। 'आधार आलवालेऽम्बुबन्धेऽधिकरणेऽपि च' इति विश्व। सुतेभ्यो निर्गतो विशेषोऽतिशयो यस्मिन्कर्मणि तत्तथा संवर्धितानां श्रमच्छिदां व आश्रमपादपाना वाय्वादि। आदिशब्दाद्दावानलादि। उपप्लवो बाधको न कच्चिन्नास्ति किम् ॥ ६ ॥

क्यारी बाँधना, जल देना आदि उपायों से पुत्र के समान बढ़ाये गये जो (पथिकों की) थकावट को दूर करने वाले आप लोगों के तपोवन के वृक्ष हैं, उन सबों को झञ्झा वात–दावानल आदि उपद्रवों से कोई बाधा तो नहीं पहुँचती है? ॥ ६ ॥

अथाश्रमस्थमृगीणा सद्योजातशिशुविषयककुशलप्रश्नमाह—

क्रियानिमित्तेष्वपि वत्सलत्वादभग्नकामा मुनिभिः कुशेषु।
तदङ्कशय्याच्युतनाभिनाला कच्चिन्मृगीणामनघा प्रसूतिः ॥ ७ ॥

क्रियानिमित्तेष्विति । क्रियानिमित्तेष्वनुष्ठानसाधनेष्वपि कुशेषु मुनिभिर्वत्स लत्वात्स्नेहादभग्नकामाप्रतिहतेच्छा । तेषां मुनीनामङ्का एव शय्यास्तासु च्युतानि नाभिनालानि यस्याः सा तथोक्ता मृगीणां प्रसूतिः सन्ततिरनघाव्यसना कच्चित् । अनपायिनी किमित्यर्थः । 'दुःखैनोव्यसनेष्वघम्' इति यादवः । ते हि स्वात्मन्यपराधमङ्क एव धारयन्ति ॥ ७ ॥

और अनुष्ठान के निमित्त रक्खे हुए भी कुशों में जो मुनि स्नेहवश ही जिन के खाने की इच्छा को नहीं रोक सके हैं (खाने दिया है) ऐसे उन मुनियों की गोदी रूप बिछौने पर जिस के नाभिनाल गिर पड़े हैं ऐसे हरिणियों के नवजात बच्चे विपत्ति से रहित (कुशल से) तो हैं ? ॥ ७ ॥

अथ रघुर्मुनिसेवितजलानां शिवत्वं पृच्छन्नाह—

निर्वर्त्यते यैर्नियमाभिषेको येभ्यो निवापाञ्जलयः पितॄणाम् ।
तान्युञ्छषष्ठाङ्कितसैकतानि शिवानि वस्तीर्थजलानि कच्चित् ॥ ८ ॥

निर्वर्त्यत इति । यैस्तीर्थजलैर्नियमाभिषेको नित्यस्नानादिर्निर्वर्त्यते निष्पाद्यते । येभ्यो जलेभ्यः । उद्धृत्येति शेषः । पितॄणामग्निष्वात्तादीनां निवापाञ्जलयस्तर्पणा ञ्जलयः । 'पितृदानं निवापः स्यात्' इत्यमरः । निर्वर्त्यन्ते । उञ्छानां धान्यकणानां षष्ठो षष्ठांशो राजस्वत्वात्प्रमाणैरङ्कितानि सैकतानि पुलिनानि येषां तानि तथोक्तानि वो युष्माकं तानि तीर्थजलानि शिवानि भद्राणि कच्चित् । अनुप प्लुतानि किमित्यर्थः । 'उञ्छो धान्यांशकादानं कणिशाद्यर्जनं शिलम्' इति यादवः । 'षष्ठाष्टमाभ्यां ञ च' इति षष्ठशब्दाज्ञापार्थेऽन्प्रत्ययः । अत एवापूरणार्थत्वात् 'पूरणगुण' इत्यादिना न षष्ठीसमासप्रतिषेधः । सिकता येषु सन्ति तानि सैकतानि । 'सिकताशर्कराभ्यां च' इत्यण्प्रत्ययः ॥ ८ ॥

जिन तीर्थों (जिनके जलों से ऋषि लोग नित्य स्नान-तर्पणादि किया करते हैं उन्हें तीर्थ कहते हैं) के जलों से नित्यकर्म स्नानादि क्रिया निष्पन्न होती है और जिन तीर्थजलों से पितृगण का तर्पण किया जाता है और जिनके बालुकामय किनारे (बचे हुए कणों द्वारा धान्य की राशि बना के बाद पर एक-एक कणों को बटोरकर इकट्ठा किये गये राजा के लिये दिये) षष्ठ अंश धान्यों के छठे भागों से सुशोभित हो रहे हैं ऐसे आप लोगों के तीर्थों के जल उपद्रव से रहित तो हैं ॥ ८ ॥

अथ रघुर्मुनिजनभक्ष्याणां नीवारादिधान्यानां निरुपद्रवं पृच्छन्नाह—

नीवारपाकादि कडङ्गरीयैरामृश्यते जानपदैर्न कच्चित् ।
कालोपपन्नातिथिकल्प्यभागं वन्यं शरीरस्थितिसाधनं वः ॥ ९ ॥

नीवारेति । कालेषु योग्यकालेषूपपन्नानामागतानामतिथीनां कल्प्यो भागो यस्य तत्तथोक्तम् । वने भवं वन्यम् । शरीरस्थितेर्जीवितस्य साधनं वो युष्माकम् । यस्मात

इति पाकः फलम्। धान्यमिति यावत्। नीवारपाकादि। आदिशब्दाच्छ्यामाका दिधान्यसंग्रहः। जनपदेभ्य आगतैर्जानपदैः। 'तत आगतः' इत्यण्। कडङ्गरीयैः। कडङ्गरं-बुसमर्हन्तीति कडङ्गरीयाः। 'कडङ्गरो बुसं क्लीबे धान्यत्वचि तुषः पुमान्' इत्यमरः। 'कडङ्गरदक्षिणाच्छ च' इति छप्रत्ययः। तैर्गोमहिषादिभिर्नामृश्यते कच्चित् न भक्ष्यते किमित्यर्थः॥ ९॥

उचित समय पर (बलि वैश्वदेव कर चुकने पर) आये हुए अतिथियों के भागों की भी जिनमें कल्पना की जाती है, ऐसे जङ्गलों में उत्पन्न हुये, शरीर की स्थिति बनाये रखने के कारण रूप (भक्ष्य पदार्थ) जो आप लोगों के नीवार-सावा आदि धान्य हैं उन्हें ग्राम से आये हुए भूसा खाने वाले गाय-भैंस तो नहीं खा जाते हैं॥ ९॥

अथ किं गुरुणा प्रसन्नतया गृहस्थाश्रमं प्रवेष्टुं समाप्तविद्यस्त्वमाज्ञप्तः? इति पृच्छन् रघुराह—

अपि प्रसन्नेन महर्षिणा त्वं सम्यग्विनीयानुमतो गृहाय।
कालो ह्ययं संक्रमितुं द्वितीयं सर्वोपकारक्षममाश्रमं ते॥ १०॥

अपीति। किञ्च त्वं प्रसन्नेन सता महर्षिणा सम्यग्विनीय शिक्षयित्वा विद्यामुपदिश्येत्यर्थः। गृहाय गृहस्थाश्रमं प्रवेष्टुम्। 'क्रियाऽर्थोपपद०'इत्यादिना चतुर्थी। अनुमतोऽप्यनुज्ञातः किम्। हि यस्मात्ते तव सर्वेषामाश्रमाणां ब्रह्मचर्यवानप्रस्थयतीनामुपकारे क्षमं शक्तम्। 'क्षमं शक्ते हिते त्रिषु'इत्यमरः। द्वितीयमाश्रमं गार्हस्थ्यं संक्रमितुं प्राप्तुमयं कालः। विद्याग्रहणानन्तर्यात्तस्येति भावः। 'कालसमयवेलासु तुमुन्' इति तुमुन्। सर्वोपकारक्षममित्यत्र मनुः—(यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः। वर्तन्ते गृहिणस्तद्वदाश्रित्येतर आश्रमाः) इति॥ १०॥

और आपसे प्रसन्न होने हुये महर्षि वरतन्तु जी ने भलीभाँति शिक्षा देकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिए क्या आपको आज्ञा दी है? क्योंकि सभी (ब्रह्मचर्य-वानप्रस्थ-सन्यास) आश्रमों के उपकार करने में समर्थ जो दूसरा गार्हस्थ्य आश्रम है उसमें प्रविष्ट होने का यह समय है॥ १०॥

कुशलप्रश्नं विधायागमनप्रयोजनप्रश्नं चिकीर्षुराह—

तवार्हतो नाभिगमेन तृप्तं मनो नियोगक्रिययोत्सुकं मे।
अप्याज्ञया शासितुरात्मना वा प्राप्तोऽसि संभावयितुं वनान्माम्॥ ११॥

तवार्हत इति। अर्हतः पूज्यस्य प्रशस्यस्य। 'अर्ह प्रशंसायाम्'इति शतृप्रत्ययः। तवाभिगमेनागमनमात्रेण मे मनो न तृप्तं न तुष्टम्। किन्तु नियोगक्रिययाऽऽज्ञाकरणेनोत्सुकं सोत्कण्ठम्। 'इष्टार्थोद्युक्त उत्सुकः' इत्यमरः। 'प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च' इति सप्तम्यर्थे तृतीया। शासितुर्गुरोराज्ञयाप्यात्मना स्वतो वा। 'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्'इति तृतीया। मां सम्भावयितुं वनात्प्राप्तोऽसि। गुर्वर्थं स्वार्थं वाऽऽगमनमित्यर्थः॥ ११॥

पूजनीय जो आप हैं सो आपके (आप सदृश पूजनीय के) आने मात्र से ही मेरा मन सन्तुष्ट नहीं हुआ, किन्तु आप आज्ञा करें इस विषय में अत्यन्त उत्कण्ठित है अतः आप क्या गुरु की आज्ञा से अथवा अपनी इच्छा से मुझे कृतार्थ करने के लिए जंगल से आये हैं ? अर्थात् आप किस लिए आये ? यही कहें ॥ ११ ॥

अथ पूर्वोक्तं रघुवचः श्रुत्वा तदुत्तरं दातुकामतया कौत्सो वक्ष्यमाणप्रकारेण समुवाचेत्याह—

इत्यर्घ्यपात्रानुमितव्ययस्य रघोरुदारामपि गां निशम्य ।
स्वार्थोपपत्तिं प्रति दुर्बलाशस्तमित्यवोचद्वरतन्तुशिष्यः ॥ १२ ॥

इतीति । अर्घ्यपात्रेण मृन्मयेनानुमितो व्ययः सर्वस्वत्यागो यस्य तस्य रघोरुदारामौदार्ययुक्तामपि गां वाचम् । ममोभिप्रायोपक्रियतामित्युक्तं मे इत्येवंरूपाम् 'स्वर्गेषुपशुवाग्वज्रदिङ्नेत्रघृणिभूजले । लक्ष्यदृष्ट्या स्त्रियां पुंसि गौः' इत्यमरः । निशम्य श्रुत्वा वरतन्तुशिष्यः कौत्सः स्वार्थोपपत्तिं स्वकार्यसिद्धिं प्रति दुर्बलाशः सम्पूर्णमयपात्रदर्शनाच्छिथिलमनोरथः सन् तं रघुमिति वक्ष्यमाणप्रकारेणावोचत् ॥

अर्घ्यसम्बन्धी (मृन्मय) पात्र से ही जिसके सम्पूर्ण धन के खर्च हो जाने का पता लग गया है ऐसे उन रघु महाराज की 'हमारा मन आपकी आज्ञा पालन करने के लिए उत्कण्ठित है' इस तरह की उदारतासे भरी हुई वाणी सुन कर भी वरतन्तु महर्षि के शिष्य कौत्स ऋषि अपने कार्य की सिद्धि की ओर से निराश होते हुए, उनसे आगे कहे जानेवाले प्रकार से बोले ॥ १२ ॥

अथ कौत्सो रघोः प्रश्नोत्तरं दातुकामतया तं प्रति भावमात्म बाढी 'भो सर्वप्रकारेण सर्वत्र कुशलमस्ती'त्याह—

सर्वत्र नो वार्तमवेहि राजन्नाथे कुतस्त्वय्यशुभं प्रजानाम् ।
सूर्ये तपत्यावरणाय दृष्टेः कल्पेत लोकस्य कथं तमिस्रा ॥ १३ ॥

सर्वत्रेति । हे राजन् ! त्वं सर्वत्र नोऽस्माकं वार्तं स्वास्थ्यमवेहि जानीहि । 'वार्तं फल्गुन्यरोगे च' इत्यमरः । 'वार्तं पाटवमारोग्यं भव्यं स्वास्थ्यमनामयम्' इति यादवः । न चैतदाश्चर्यमित्याह—नाथ इति । त्वयि नाथ ईश्वरे सति प्रजानामशुभं दुःखं कुतः । तथाहि । अर्थान्तरं न्यस्यति—सूर्ये इत्यादिना । सूर्ये तपति प्रकाशमाने सति तमिस्रा तमस्ततिः । 'तमिस्रं तिमिरं रोगे तमिस्रा तु तमस्ततौ । कृष्णपक्षनिशायां च' इति विश्वः । 'तमिस्रम्' इति पाठे तमिस्रं तिमिरम् । 'तमिस्रं तिमिरं तमः' इत्यमरः । लोकस्य जनस्य । 'लोकस्तु भुवने जने' इत्यमरः । दृष्टेरावरणाय कथं कल्पेत ? दृष्टिमावरितुं नालमित्यर्थः । क्लृपेरलमर्थत्वात्तद्योगे 'नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च' इत्यनेन चतुर्थी । 'अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणम्' इति भाष्यकारः । अन्येन सम्पद्येत न कल्पत इत्यर्थः । क्लृपि सम्पद्यमाने चतुर्थीति वक्तव्यात् ॥ १३ ॥

हे राजन् ! सब विषयों में हम लोगों का कुशल है यह जानो, तुम्हारे ऐसे राजा के रहने पर प्रजाओं को दुःख कहाँ से है, अर्थात् कहीं से भी नहीं है, क्योंकि सूर्यके प्रकाशमान होने पर अन्धकार-समूह लोगों की दृष्टि को ढँकने के लिये किसी प्रकार से भी नहीं समर्थ होता है ॥ १३ ॥

'तवार्हत' (५।१२) इत्यादिनोक्त यत्तन्न चित्रमित्याह—

भक्तिः प्रतीक्ष्येषु कुलोचिता ते पूर्वान्महाभाग ! तयातिशेषे ।
व्यतीतकालस्त्वहमभ्युपेतस्त्वामर्थिभावादिति मे विषादः ॥१४॥

भक्तिरिति। प्रतीक्ष्येषु पूज्येषु। 'पूज्य' प्रतीक्ष्य.' इत्यमर । भक्तिरनुरागविशेषस्ते तव कुलोचिता कुलाभ्यस्ता। 'अभ्यस्तेऽप्युचित न्याय्यम्' इति यादव.। हे महाभाग ! सार्वभौम ! तया भक्त्या पूर्वानतिशेषेऽतिवर्तसे। किंतु सर्वत्र वार्तं चेत्तर्हि कथ खेदखिन्न इव दृश्यसेऽत आह—व्यतीतेति। अह व्यतीतकालोऽतिक्रान्तकाल. सन्नार्थभावात्त्वामभ्युपेत इति मे मम विषाद' ॥ १४ ॥

'पूज्य जनों में भक्ति रखना' यह आपके कुल में परम्परा से चला आया है, अत हे परमभाग्यशाली रघु महाराज ! आप (पूज्य-विषयक भक्ति) से अपने पूर्वजों को भी लाँघ गये हैं,-अर्थात् पूज्यजनों में भक्ति रखने में आप अपने पूर्वजों से भी बढ कर हैं, किन्तु (सब जगह कुशल यदि है, तो आप उदास क्यों हैं ऐसा यदि आप कहें तो) मैं समय बीत जाने पर याचकरूप से आपके पास आया हूँ, इसी से मुझे उदासी है ॥ १४ ॥

अथ धनप्राप्तौ निराश सन्नपि कौत्सो रघु प्रशसन्नाह—

शरीरमात्रेण नरेन्द्र ! तिष्ठन्नाभासि तीर्थप्रतिपादितर्द्धिः ।
आरण्यकोपात्तफलप्रसूतिः स्तम्बेन नीवार इवावशिष्टः ॥ १५ ॥

शरीरमात्रेणेति । हे नरेन्द्र ! तीर्थे सत्पात्रे प्रतिपादिता दत्ता ऋद्धिर्येन स तथोक्त । 'योनौ जलावतारे च मन्त्र्याद्यष्टादशस्वपि। पुण्यक्षेत्रे तथा पात्रे तीर्थं स्याद्दर्शनेष्वपि'। इति हलायुध.। शरीरमात्रेण तिष्ठन्। आरण्यका अरण्ये भवा मनुष्या मनुष्यप्रमुखा । 'अरण्यान्मनुष्ये' इति वुञ्प्रत्यय । तैरुपात्ता फलमेव प्रसूतिर्यस्य स स्तम्बेन काण्डेनावशिष्ट (प्रकृत्यादित्वात्तृतीया)। नीवार इव। आभासि शोभसे॥

हे राजन् ! सत्पात्रों को अपनी सारी सम्पत्ति दे देने से केवल बचे हुये शरीर से स्थित आप वन के रहने वाले मुनिजन आदिकों से फल तोड लिये जाने पर डाठ मात्र से बचे हुए नीवार नामक मुनिधान्य के समान सुशोभित हो रहे हैं ॥ १५ ॥

कौत्सो रघोर्मखजस्य निर्धनत्वस्य समीचीनत्व पुनर्दृष्टान्तान्तरेण प्रदर्शयन्नाह—

स्थाने भवानेकनराधिप सन्नकिञ्चनत्वं मखजं व्यनक्ति ।
पर्यायपीतस्य सुरैर्हिमांशो· कलाक्षयः श्लाघ्यतरो हि वृद्धेः ॥१६॥

स्थान इति । भवानेकनराधिपः सार्वभौमः सन् । मखस्य मखजन्यम् । न विद्यते किंचन यस्येत्यकिंचनः । (मयूरव्यंसकादित्वात्समासः) तस्य भावस्तत्त्वं निर्धनत्वं व्यनक्ति प्रकटयति । स्थाने युक्तम् । 'युक्ते द्वे सांप्रतं स्थाने' इत्यमरः । तथाहि सुरैर्देवैः पर्यायेण क्रमेण पीतस्य हिमांशोः कलाक्षयो वृद्धेरुपचयादभ्यर्हतरो हि वरः खलु । 'भक्तिः [illegible] समरविजयी हेतिनिहतो महत्यस्मिन्नर्थे तरणिसरिता स्थानयुक्तिमाः । कलाशेषश्चन्द्रः सुरतमृदिता बालवनिता तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषु नृपाः ॥' (सर्ग १।७) इति भावः । अत्र सामान्य-धर्मार्थे श्रीमत्कोपस्य श्रीणत्वमपि शोभते । सुरैः पीतावशेषस्य कृष्णपक्षे विधो रिव ॥ इति ॥ १६ ॥

आप अद्वितीय महाराज (चक्रवर्ती) होते हुये भी जो विश्वजित् यज्ञ में सर्वस्व दान करने से उत्पन्न निर्धनता को प्रकट कर रहे हैं यह उचित है (बहुत भला मालूम पड़ता है) क्योंकि—देवताओं द्वारा क्रम से पीये गये चन्द्रमा की कलाओं का क्षय होना बढ़नेकी अपेक्षा अधिकतर प्रशंसनीय होता है ॥ १६ ॥

कौत्सो रघोर्भवत्तं निर्धनत्वं ज्ञात्वाऽन्यतो गुरुधनमाहर्तुं स्वाभिप्रायमभिव्यज्य गमनं सम्प्रति विज्ञापयन्नाह—

तदन्यतस्तावदनन्यकार्यो गुर्वर्थमाहर्तुमहं यतिष्ये ।
स्वस्त्यस्तु ते निर्गलिताम्बुगर्भं शरद्घनं नार्दति चातकोऽपि ॥१७॥

तदिति । तत्तस्मात्तावदनन्यकार्यः । 'यावत्तावच्च साकल्येऽवधौ मानेऽवधारणे' इति विश्वः । प्रयोजनान्तररहितोऽहमन्यतो वदान्यान्तरात् गुर्वर्थं गुरुधनमाहर्तुमर्जयितुं यतिष्ये उद्योक्ष्ये । ते तुभ्यं स्वस्ति शुभमस्तु । 'नमः स्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च' इत्यनेन चतुर्थी । तथाहि—चातकोऽपि । ([illegible]) इति [illegible] । निर्गलितोऽम्बुैव गर्भो यस्य तं शरद्घनं नार्दति न याचते । 'अर्द—गतौ याचने च' इति धातुः । 'याचनार्थे दत्ते-र्दंयस' इति माधवः ॥ १७ ॥

इस (आपकी निर्धनता के) कारण (जबतक अभीष्ट द्रव्य की प्राप्ति न होवे) तब तक गुरुदक्षिणा देने के अलावा दूसरा कोई प्रयोजन नहीं रखने वाला मैं (कौत्स ऋषि) दूसरे किसी दाता के पास से गुरु वरतन्तु महर्षि के लिये धन उपार्जन करने के लिये कोशिश करूँगा आपका कल्याण होवे और (पृथ्वी पर गिरा हुआ जल रोगकारक होने से केवल मेघ का ही जल पीनेवाला), चातक (पपीहा) पक्षी भी जल रहित (जिसके मध्य भाग से जल निकल गया है ऐसे शरद् काल के) मेघ से जल की याचना नहीं करता है

पूर्वोक्तवाक्यमुक्त्वा गन्तुकामं कौत्सं निषिध्य, गुरवे प्रदेयं वस्तु किमात्मकं किम्परिमाणं वाऽस्तीति त रघु पृच्छन्नाह—

एतावदुक्त्वा प्रतियातुकामं शिष्यं महर्षेर्नृपतिर्निषिध्य ।
किं वस्तु विद्वन्! गुरवे प्रदेयं त्वया कियद्वेति तमन्वयुङ्क्त ॥१८॥

एतावदिति । एतावद्वाक्यमुक्त्वा प्रतियातु कामो यस्य तं प्रतियातुकाम गन्तुकामम् । 'तुकाममनसोरपि' इति मकारलोप. । महर्षेर्वरतन्तो शिष्यं कौत्स नृपती रघुर्निषिध्य निवार्य । हे विद्वन्! त्वया गुरवे प्रदेय वस्तु किं किमात्मक कियत् किंपरिमाणं वा । इत्येव त कौत्समन्वयुङ्क्तापृच्छत् । 'प्रश्नोऽनुयोग पृच्छा च' इत्यमरः ॥

इतनी बात कह कर जाने की इच्छा करने वाले महर्षि वरतन्तु के शिष्य कौत्स ऋषि को महाराज रघु ने रोक कर—हे विद्वन्! आपको जो गुरुजी के लिये देना है, वह वस्तु कौन सी और कितनी है, यह उनसे पूछा ॥ १८ ॥

अथ कौत्सो रघो. प्रश्नोत्तरं दित्सुराह—

ततो यथावद्विहिताध्वराय तस्मै स्मयावेशविवर्जिताय ।
वर्णाश्रमाणां गुरवे स वर्णी विचक्षणः प्रस्तुतमाचचक्षे ॥ १९ ॥

तत इति । ततो यथावद्यथाऽर्हम् । अर्हार्थे वति । विहिताध्वराय विधिवदनुष्ठितयज्ञाय । सदाचारायेत्यर्थ. । स्मयावेशविवर्जिताय गर्वाभिनिवेशशून्याय । अनुद्धतायेत्यर्थः । वर्णाना ब्राह्मणादीनामाश्रमाणां ब्रह्मचर्यादीनां च गुरवे नियामकाय । 'वर्णा स्युर्ब्राह्मणादयः' इति । 'ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो भिक्षुश्चतुष्टये । आश्रमोऽस्त्री' इति चामर. । सर्वकार्यनिर्वाहकायेत्यर्थं । तस्मै रघवे विचक्षणो विद्वान्वर्णी ब्रह्मचारी । 'वर्णिनो ब्रह्मचारिण' इत्यमर. । 'वर्णाद् ब्रह्मचारिणि' इतीनिप्रत्यय । स कौत्सः प्रस्तुत प्रकृतमाचचक्षे ॥ १९ ॥

उसके बाद शास्त्रानुकूल यज्ञ को जिसने किया है और जो गर्व के आवेश से शून्य है अर्थात् अहङ्कारशून्य हैं ऐसे चारों (ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य–शूद्र) वर्णों और चारों (ब्रह्मचर्य–गार्हस्थ्य–वानप्रस्थ–सन्यास) आश्रमों को अपने-अपने मार्ग पर चलाने वाले उन रघु महाराज से पण्डित और ब्रह्मचारी वे कौत्स ऋषि प्रकृत विषय को कहने लगे ॥ १९ ॥

अथ प्रकृतविषयमाचक्षाण कौत्स आदौ गुरुदक्षिणायै साग्रहं कृतं गुरौ निवेदनमेव रघुं प्रत्याह—

समाप्तविद्येन मया महर्षिर्विज्ञापितोऽभूद् गुरुदक्षिणायै ।
स मे चिरायास्खलितोपचारां तां भक्तिमेवागणयत्पुरस्तात् ॥ २० ॥

समाप्तेति । समाप्तविद्येन मया महर्षिर्गुरुदक्षिणायै गुरुदक्षिणास्वीकारार्थं विज्ञापितोऽभूत् । स च गुरुश्चिरायास्खलितोपचारां तां दुष्करां मे भक्तिमेव पुरस्तात्प्रथ-

ममागत्यपरसंख्याऽभावात्। भक्त्यैव सन्तुष्टः किं दक्षिणयेत्युक्त्वाभिलाषी। अथवा भक्तिमेव तां दक्षिणामगणयदिति योज्यम् ॥ २ ॥

१४ विद्याओं को प्राप्त किये हुए हमने गुरुदक्षिणा के लिये महर्षि वरतन्तु जी से जब प्रार्थना की तब उन्होंने बहुत दिन तक नियम-पूर्वक मुझसे की हुई देर तक सेवा ही को मुख्य दक्षिणा समझा अर्थात् यह कहा कि—मैं तेरी सेवा से ही प्रसन्न हूँ मुझे दक्षिणा से क्या काम है ॥ २ ॥

अथ दक्षिणार्थं पुनः पुनः प्रार्थनया क्रुद्धो गुरुश्चतुर्दशकोटिमितं धनं दक्षिणारूपेण मानेतुं मामादिष्टवानिति कथयन् कौत्स आह—

निर्बन्धसञ्जातरुषाऽर्थकार्श्यमचिन्तयित्वा गुरुणाऽहमुक्तः ।
वित्तस्य विद्यापरिसंख्यया मे कोटीश्चतस्रो दश चाहरेति ॥ २१ ॥

निर्बन्धेति। निर्बन्धेन प्रार्थनाऽतिशयेन सञ्जातरुषा सञ्जातक्रोधेन गुरुणा। अर्थकार्श्यं दारिद्र्यमचिन्तयित्वाऽविचार्याहम्। वित्तस्य धनस्य चतस्रो दश च कोटीश्चतुर्दशकोटीर्मे ममाहरानयेति विद्यापरिसंख्यया विद्यापरिसंख्यानुसारेणोक्तः। अत्र मनुः—अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः। पुराणं धर्मशास्त्रं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश ॥ इति ॥ २१ ॥

बारंबार दक्षिणा ग्रहण करने के लिये मेरे द्वारा प्रार्थना करने से क्रोधित होकर गुरुजी ने मेरी दरिद्रता की तरफ ध्यान न करके १४ करोड़ द्रव्य मेरे लिये लाओ' ऐसा कहा अर्थात् जितनी विद्या पढ़ी थी उतनी विद्या की संख्या के अनुसार वो मुझ से धन लाने के लिये कहा ॥ २१ ॥

सम्प्रति भवन्तं निःस्वं मत्वा भिक्षाभीप्सितद्रव्यासिमसम्भाव्य चान्यत्र व्रजामि गुरवेऽस्मीति बोधयन् कौत्सो रघुमुवाच—

सोऽहं सपर्याविधिभाजनेन मत्वा भवन्तं प्रभुशब्दशेषम् ।
अभ्युत्सहे सम्प्रति नोपरोद्धुमल्पेतरत्वाच्छ्रुतनिष्क्रयस्य ॥ २२ ॥

सोऽहमिति। सोऽहं सपर्याविधिभाजनेनार्घ्यपात्रेण भवन्तं प्रभुशब्द एव शेषो यस्य तं मत्वा। वित्तशून्यमित्यर्थः। श्रुतनिष्क्रयस्य विद्यामूल्यस्याल्पेतरत्वान्महत्त्वात्सम्प्रत्युपरोद्धुं निर्बन्धुं नाभ्युत्सहे ॥ २२ ॥

गुरुजी आज्ञा से माँगने के लिये मैं आया हुआ था किन्तु पूजन करने का पात्र अर्थात् मृण्मय अर्घ्यपात्र द्वारा आपको केवल 'प्रभु' का शब्द जिसके पास बच गया है ऐसा समझकर अर्थात्—बिलकुल धन से रहित जान कर विद्या का मूल्य (गुरुदक्षिणा) बहुत अधिक (१४ करोड़) होने से इस समय आप देवें इसके लिए बाध्य करने में मुझे उत्साह नहीं होता है। अर्थात् आपकी हालत देखकर मुझे कुछ कहने का साहस नहीं होता अतः मेरा जाना ही उचित है ॥ २२ ॥

पूर्वोक्तं कौत्सवचः श्रुत्वा रघुः पुनस्तमुवाचेत्याह—

इत्थं द्विजेन द्विजराजकान्तिरावेदितो वेदविदां वरेण ।

एनोनिवृत्तेन्द्रियवृत्तिरेनं जगाद भूयो जगदेकनाथः ॥ २३ ॥

इत्थमिति । द्विजराजकान्तिश्चन्द्रकान्तिः । 'द्विजराजः शशधरो नक्षत्रेशः क्षपाकरः' इत्यमरः । 'तस्मात्सोमो राजा नो ब्राह्मणानाम्' इति श्रुतेः । द्विजराजकान्तित्वेनार्थावाप्तिवैराग्यं वारयति । एनसः पापान्निवृत्तेन्द्रियवृत्तिर्यस्य स जगदेकनाथो रघुर्वेदविदां वरेण श्रेष्ठेन द्विजेन कौत्सेनेत्थमावेदितो निवेदितः सन् । एनं कौत्सं भूयः पुनर्जगाद ॥ २३ ॥

चन्द्रमा की तरह कान्ति वाले, पापों से निवृत्त इन्द्रिय वृत्ति वाले (जितेन्द्रिय) ये जगत् के एकमात्र प्रभु चक्रवर्ती रघु महाराज, वेद के जानने वालों में श्रेष्ठ ब्राह्मण (कौत्स ऋषि) के द्वारा पूर्वोक्त प्रकार से निवेदन किये जाने पर उन कौत्स ऋषि से फिर बोले ॥

अथ रघुः कौत्समन्यत्रगमनात्परावर्त्तयन्नाह—

गुर्वर्थमर्थी श्रुतपारदृश्वा रघोः सकाशादनवाप्य कामम् ।

गतो वदान्यान्तरमित्ययं मे माभूत्परीवादनवावतारः ॥ २४ ॥

गुर्वर्थमिति ॥ श्रुतस्य पारं दृष्टवाञ्छ्रुतपारदृश्वा । 'दृशेः क्वनिप्' इति क्वनिप् । गुर्वर्थं गुरुदक्षिणाऽर्थं यथा तथाऽर्थी याचकः । विशेषणद्वयेनाप्यस्याप्रत्याख्येयत्वमाह । रघोः सकाशात्कामं मनोरथमनवाप्याप्राप्य वदान्यान्तरं दात्रन्तरं गतः । 'स्युर्वदान्यस्थूललक्ष्यदानशौण्डा बहुप्रदे' इत्यमरः । इत्येवंरूपोऽयं परीवादस्य नवो नूतनः प्रथमोऽवतार आविर्भावो मे मा भून्माऽस्तु । रघोरिति स्वनामग्रहणं सम्भावितत्वद्योतनार्थम् । तथा च—(सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते) इति भावः ॥ २४ ॥

'शास्त्र के पारगमी, गुरु के लिये याचना करने वाले कौत्स जी रघु के पास से मनोरथ पूर्ण न होने से दूसरे दाता के यहाँ गये,' इस तरह का यह निन्दा का पहले पहल नया (अवतार) सोहरा मेरा न होवे ॥ २४ ॥

अथ रघुः 'दिनत्रयाभ्यन्तरमेव भवदपेक्षितं धनं दास्यामी'त्युक्त्वा कौत्सं निवासयामासेत्याह—

स त्वं प्रशस्ते महिते मदीये वसंश्चतुर्थोऽग्निरिवाग्न्यगारे ।

द्वित्राण्यहान्यर्हसि सोढुमर्हन् यावद्यते साधयितुं त्वदर्थम् ॥२५॥

स इति । स त्वं महिते पूजिते प्रशस्ते प्रसिद्धे मदीयेऽग्न्यगारे त्रेताग्निशालायां चतुर्थोऽग्निरिव वसन्द्वित्राणि द्वे त्रीणि वाऽहानि दिनानि । सङ्ख्ययाऽव्ययाऽसन्नादूराधिकसङ्ख्याः सङ्ख्येये' इति बहुव्रीहिः । 'बहुव्रीहौ सङ्ख्येये डजबहुगणात्' इति डच्प्रत्ययः समासान्तः । सोढुमर्हसि । हे अर्हन् ! मान्य ! । त्वदर्थं तव प्रयोजनं

साधयितुं यावद्यतिष्ये । 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्' इति भविष्यदर्थे लट् ॥ २५ ॥

अन्यत्र कहीं न जाकर मेरे अग्नि से रखे हुये की भाँति है सो सबों से पूजित तथा प्रसिद्ध मेरी अग्निशाला में (दक्षिणाग्नि-गार्हपत्य-आहवनीय-इन तीन अग्नियों के साथ) चौथे अग्नि की भाँति रहते हुये तब तक २ ३ दिन तक (और उसमें से [illegible] होने को) क्षमा करने में समर्थ हों । जब तक कि हे माननीय ! आप का प्रयोजन पूरा करने के लिये मैं यत्न करूँ ॥ २५ ॥

अथ रघुः कौत्सं निवास्य कुबेरात् तद्धनमाहर्तुमियेषेत्याह—

तथेति तस्यावितथं प्रतीतः प्रत्यग्रहीत्सङ्गरमग्रजन्मा ।
गामात्तसारां रघुरप्यवेक्ष्य निष्क्रष्टुमर्थं चकमे कुबेरात् ॥ २६ ॥

तथेतीति । अग्रजन्मा ब्राह्मणः प्रतीतः प्रीतः संस्तस्य रघोरवितथममोघं सङ्गरं प्रतिज्ञाम् । 'अथ प्रतिज्ञाऽऽजिसंविदापत्सु सङ्गरः' इत्यमरः । 'गां गिरम्' इति केचित्पठन्ति । तथेति प्रत्यग्रहीत् । रघुरपि गां भूमिमात्तसारां गृहीतधनामवेक्ष्य कुबेरादर्थं निष्क्रष्टुमाहर्तुं चकमे इयेष ॥ २६ ॥

ब्राह्मणों में श्रेष्ठ कौत्स ऋषि प्रसन्न होते हुये तब रघु महाराज की सत्य प्रतिज्ञा को वैसा मान करते हैं वैसा ही होगा अर्थात् मैं २-३ दिन तक ठहरूँगा । ऐसा कह कर स्वीकार किया अर्थात् प्रतिज्ञा सच मानकर ठहर गये और रघुमहाराज ने पृथ्वी को 'निःसार धन कर लिया है' ऐसा समझ कर कुबेर से धन लेने की इच्छा की ॥ २६ ॥

अथ कुबेरो लोकपालोऽलकापुरवासी अतस्तत्र रघोर्गमनमप्रतिहतमित्याह—

वसिष्ठमन्त्रोक्षणजात्प्रभावादुदन्वदाकाशमहीधरेषु ।
मरुत्सखस्येव बलाहकस्य गतिर्विजघ्ने न हि तद्रथस्य ॥ २७ ॥

वसिष्ठमन्त्रेति । वसिष्ठस्य मन्त्रेणोक्षणमभिमन्त्र्य प्रोक्षणं तस्माज्जातात्प्रभावात्सामर्थ्याद्धेतोः । उदन्वदाकाशमहीधरेषु समुद्रगगनपर्वतेषु वा । मरुत्सखस्य मरुतः सखेति तत्पुरुषे बहुव्रीहौ समासान्ताभावात् । ततो वायुसहायस्येति लभ्यते । वारिणो वाहको बलाहकः (पृषोदरादित्वात्साधुः) तस्येव मेघस्येव । तद्रथस्य गतिः सञ्चारो न विजघ्ने न विहता हि ॥ २७ ॥

वसिष्ठ महर्षि के मन्त्र से अभिमन्त्रित जल छिड़कने से उत्पन्न सामर्थ्य से समुद्र, आकाश और पर्वतों में वायु की सहायता से जैसे मेघ की गति नहीं रुकती है उसी भाँति उन रघु महाराज के रथ की गति कहीं नहीं रुकती थी अर्थात् सब जगह वे आ जा सकते थे अतः कुबेर के पास जाकर धन के लाने की इच्छा करना ठीक ही है ॥ २७ ॥

अथ कुबेरं जिगीषू रघुः सायंसमये रात्रौ रथमधिशयितवानित्याह—

अथाधिशिश्ये प्रयतः प्रदोषे रथं रघुः कल्पितशस्त्रगर्भम् ।
सामन्तसंभावनयैव धीरः कैलासनाथं तरसा जिगीषुः ॥ २८ ॥

अथेति। अथ प्रदोषे रजनीमुखे। तत्काले यानाधिरोहणविधानात्। प्रयतो धीरो रघुः। समन्ताद्भव. सामन्तः। राजमात्रमिति सम्भावनयैव कैलासनाथं कुबेरं तरसा बलेन जिगीषुर्जेतुमिच्छुः सन्। कल्पितं सज्जितं शस्त्रं गर्भे यस्य तं रथमधिशिश्ये। रथे शयितवानित्यर्थः। 'अधिशीङ्स्थाऽऽसां कर्म' इति कर्मत्वम् ॥ २८ ॥

इसके (कुबेर से धन प्राप्त करने की इच्छा होने के) बाद सायङ्काल में (उस समय थ पर चढने का मुहूर्त्त होने से) धैर्यशाली (किसी से नहीं डरने वाले) रघु महाराज ा केवल यक्षों के राजा हैं न कि लोकपाल, इस सम्भावना से ही कैलास पर्वत के स्वामी कुवेर को बल से जीतने की इच्छा करते हुये जिसके मध्यभाग में सब शस्त्र रक्खे हुये हैं ऐसे रथ में शयन किया ॥ २८ ॥

अथ रघु युद्धार्थमाजिगमिषुं वीक्ष्य कुबेरो रात्रावेव तदीयकोषागारे सुवर्णवृष्टिं कृतवानित्याह—

प्रातः प्रयाणाभिमुखाय तस्मै सविस्मयाः कोशगृहे नियुक्ताः ।
हिरण्मयीं कोषगृहस्य मध्ये वृष्टिं शशंसुः पतितां नभस्तः ॥ २९ ॥

प्रातरिति। प्रातः प्रयाणाभिमुखाय तस्मै रघवे कोषगृहे नियुक्ता अधिकृता भाण्डागारिका सविस्मया सन्त कोषगृहस्य मध्ये नभस्तो नभस. । (पञ्चम्यास्तसिल्प्रत्यय) पतिता हिरण्मयीं सुवर्णमयीम्। 'दाण्डिनायन०' इत्यादिना निपातनात्साधु । वृष्टिं शशंसु कथयामासु ॥ २९ ॥

प्रात काल यात्रा करने के लिये उद्यत उन रघु महाराज से खजाने पर नियुक्त किये हुये लोगों ने आश्चर्ययुक्त होते हुये खजाने के गृह के अन्दर आकाश से गिरी हुई सुवर्ण की वृष्टि को कहा ॥ २९ ॥

अथ यावती सुवर्णवृष्टिरभूत्तावतीं सर्वामेव रघु कौत्साय ददावित्याह—

तं भूपतिर्भासुरहेमराशिं लब्धं कुबेरादभियास्यमानात् ।
दिदेश कौत्साय समस्तमेव पादं सुमेरोरिव वज्रभिन्नम् ॥ ३० ॥

तमिति। भूपति रघु । अभियास्यमानादभिगमिष्यमाणात्कुबेराल्लब्धम्। वज्रेण कुलिशेन भिन्नं सुमेरो पादं प्रत्यन्तपर्वतमिव स्थितम्। 'पादा प्रत्यन्तपर्वता' इत्यमर । 'श्लक्ष्णम्' इति क्वचित्पाठः। तं भासुरं भास्वरम्। 'भञ्जभासमिदो घुरच्' इति घुरच्। हेमराशिं समस्तं कृत्स्नमेव कौत्साय दिदेश ददौ। न तु चतुर्दशकोटिमात्रमित्येवकारार्थः ॥ ३० ॥

महाराज रघु ने युद्ध के लिये चढाई किये जाने वाले कुवेर से पाये हुये वज्र से कटकर, अलग हुये सुमेरु पर्वत के बिलकुल पास की छोटी पहाड़ी की भाँति स्थित, उस चमकते हुए, सम्पूर्ण स्वर्ण-राशि को कौत्स के लिये दे दिया ॥ ३० ॥

अथ कौत्सः सर्वस्वमपि दित्सो रघोः सकाशाच्चतुर्दशकोटितो नाधिकं प्रतिजग्राहेत्याह—

जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ द्वावप्यभूतामभिनन्द्यसत्त्वौ ।
गुरुप्रदेयाधिकनिःस्पृहोऽर्थी नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च ॥ ३१ ॥

जनस्येति । तावर्थिदातारौ द्वावपि साकेतनिवासिनोऽयोध्यावासिनः । 'साकेतः स्यादयोध्यायां कोसला नन्दिनी च सा' इति यादवः । जनस्याभिनन्द्यसत्त्वौ श्लाघ्यव्यवसायावभूताम् । 'द्रव्यासुव्यवसायेषु सत्त्वमस्त्री तु जन्तुषु' इत्यमरः । कौ द्वौ ? गुरुप्रदेयादधिकेऽतिरिक्तद्रव्ये निःस्पृहोऽर्थी । अर्थिकामादर्थिमनोरथादधिकं प्रददातीति तथोक्तः । 'प्रे दाज्ञः' इति कप्रत्ययः । नृपश्च ॥ ३१ ॥

वे (कौत्स और रघु) दोनों अयोध्या के निवासी लोगों के लिए प्रशंसनीय व्यवसाय (व्यवहार) वाले हुये एक तो गुरु के देने (१४ करोड़) से अधिक लेने में निःस्पृह याचक कौत्स ऋषि और दूसरे—याचक की कामना से अधिक देने वाले महाराज रघु ॥३१॥

अथ सफलमनोरथः सन् प्रस्थातुकामः कौत्सः प्रभुं रघुमुवाचेत्याह—

अथोष्ट्रवामीशतवाहितार्थं प्रजेश्वरं प्रीतमना महर्षिः ।
स्पृशन्करेणानतपूर्वकायं सम्प्रस्थितो वाचमुवाच कौत्सः ॥ ३२ ॥

अथेति । अथ प्रीतमना महर्षिः कौत्सः सम्प्रस्थितः प्रस्थास्यमानः सन् 'आशंसायां भूतवच्च' इति भविष्यदर्थे क्तः । उष्ट्राणां वामीनां वडवानां च शतैर्वाहितार्थं प्रापितधनमानतपूर्वकायम् विनयनम्रमित्यर्थः । प्रजेश्वरं रघुं करेण स्पृशन्वाचमुवाच ॥ ३२ ॥

इसके बाद प्रसन्न मन हो महर्षि कौत्स ने प्रस्थान करते हुये सैकड़ों ऊँटों और घोड़ियों से धन को पहुँचा देने का प्रबन्ध कर देने वाले (पहुँचवा देने वाले), शरीर के आगे के भाग को झुकाये हुए अर्थात् विनय से नम्र प्रजाओं के प्रभु रघु महाराज को हाथ से स्पर्श करते हुये अर्थात् उनके ऊपर हाथ फेरते हुये बोले ॥ ३२ ॥

अथ कौत्सः स्वर्णवृष्टिप्रसङ्गेनास्य तदीयमत्यद्भुतं प्रभावं प्रशंसन्नाह—

किमत्र चित्रं यदि कामसूर्भूर्वृत्ते स्थितस्याधिपतेः प्रजानाम् ।
अचिन्तनीयस्तु तव प्रभावो मनीषितं द्यौरपि येन दुग्धा ॥ ३३ ॥

किमिति । वृत्ते स्थितस्य । (न्यायेनार्जनमर्थस्य वर्धनं पालनं तथा । सत्पात्रे प्रतिपत्तिश्च राजवृत्तं चतुर्विधम् ॥) इति कामन्दकः । तस्मिन्वृत्ते स्थितस्य प्रजानामधिपतेर्नृपस्य भूः कामान्सूत इति कामसूर्यदि । 'सत्सूद्विषद्रुहदुहयुजविदभिदच्छिदजिनीराजामुपसर्गेऽपि क्विप्' इत्यनेन क्विप् । अत्र कामप्रसवने किं चित्रम् । न चित्रमित्यर्थः । किन्तु तव प्रभावो महिमा त्वचिन्तनीयः । येन त्वया द्यौरपि मनीषित

मभिलषितं दुग्धा। दुहेर्द्विकर्मकत्वादप्रधाने कर्मणि क्तः। (प्रधानकर्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्विकर्मणाम्। अप्रधाने दुहादीनां ण्यन्ते कर्तुश्च कर्मण.) इति स्मरणात्॥

'न्याय से धनका उपार्जन करना, बढ़ाना, रक्षा करना, सत्पात्र को देना' इस तरह के चार प्रकार के राजार्थों के व्यवहार में स्थित रहने वाले राजा को भूमि अभिलषित वस्तुओं को पैदा करने वाली यदि होवे तो इस विषय में कोई आश्चर्य नहीं है, किन्तु आप का प्रभाव वस्तुत निश्चय करके अचिन्तनीय (आश्चर्यजनक) हैं, कि जिस प्रभाव से अपने अभिलषित वस्तु को आकाश से भी दुहा अर्थात् प्राप्त किया॥ ३३॥

संप्रति कौत्सो रघवे 'पुत्रं स्वानुरूपं लभस्व' इत्याशीर्वाद ददावित्याह—

आशास्यमन्यत्पुनरुक्तभूतं श्रेयांसि सर्वाण्यधिजग्मुषस्ते।
पुत्रं लभस्वात्मगुणानुरूपं भवन्तमीड्यं भवतः पितेव॥ ३४॥

आशास्यमिति। सर्वाणि श्रेयांसि शुभान्यधिजग्मुप प्राप्तवतस्ते तवान्यत्पुत्रातिरिक्तमाशास्यमाशी.साध्यमाशसनीयं वा पुनरुक्तभूतम्। सर्वसिद्धमित्यर्थः। किनवीड्य स्तुत्यं भवन्त भवत पितेवात्मगुणानुरूपम्। त्वया तुल्यगुणमित्यर्थ.। पुत्र लभस्व प्राप्नुहि॥ ३४॥

सभी कल्याणों को प्राप्त किये हुए, आप के लिये पुत्र के अलावा आशीर्वाद देना व्यर्थ है, अर्थात्-सभी मौजूद है, किन्तु फिर भी (पुत्रसुख न होने से मेरे आशीर्वाद से) प्रशंसा के योग्य आप सरीखे पुत्र को आप के पिता दिलीप महाराज ने जैसे पाया, वैसे ही आप भी अपने समान गुण से युक्त अर्थात् अपने तुल्य ही पुत्र को प्राप्त करें॥ ३४॥

अथ कौत्स इत्थं रघवे आशीर्वादं दत्वा गुरोः सकाशं गतः, सोऽपि शीघ्रमृषेराशिषा पुत्र प्राप्तवानित्याह—

इत्थं प्रयुज्याशिषमग्रजन्मा राज्ञे प्रतीयाय गुरोः सकाशम्।
राजाऽपि लेभे सुतमाशु तस्मादालोकमर्कादिव जीवलोकः॥ ३५॥

इत्थमिति। अग्रजन्मा ब्राह्मणः। 'अग्रजन्मा द्विजे श्रेष्ठे भ्रातरि ब्रह्मणि स्मृत' इति विश्व'। इत्थं राज्ञ आशिष प्रयुज्य दत्वा गुरो सकाश समीप प्रतीयाय प्राप। राजाऽपि। जीवलोको जीवसमूह। 'जीव प्राणिनि गीष्पतौ' इति विश्व। अर्कादालोक प्रकाशमिव। शीघ्रम्। 'चैतन्यम्' इति पाठे ज्ञानम्। तस्मादृषेराशु सुत लेभे प्राप॥ ३५॥

ब्राह्मण कौत्स महर्षि इस प्रकार से राजा को आशीर्वाद देकर अपने गुरु वरतन्तु महर्षि के पास चले गये और राजा ने भी जैसे जीव-समूह सूर्यसे प्रकाश को शीघ्र प्राप्त करता है, उसी तरह से उन पूर्वोक्त महर्षि कौत्स के अर्थात् उनके आशीर्वाद से शीघ्र ही पुत्र को प्राप्त किया, अर्थात् उनकी महिषी ने गर्भ धारण किया॥ ३५॥

अथ कौत्समहर्षेराशीर्वादेन ब्राह्मे मुहूर्ते रघोर्महिषी पुत्ररत्नमसूत अत एव तस्य 'अज' इति नामकरणं बभूवेत्याह—

ब्राह्मे मुहूर्ते किल तस्य देवी कुमारकल्पं सुषुवे कुमारम्।
अतः पिता ब्रह्मण एव नाम्ना तमात्मजन्मानमजं चकार॥ ३६॥

ब्राह्म इति। तस्य रघोर्देवी महिषी ब्राह्मे। 'तस्येदम्' इत्यण्। ब्रह्मदेवताकेऽभिजिन्नामके मुहूर्ते किलेत्यैतिह्ये कुमारं कुमारकल्पं स्कन्दसदृशम्। 'ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः' इत्यनेन कल्पप्प्रत्ययः। कुमारं पुत्रं सुषुवे। 'कुमारो बालके स्कन्दे' इति विश्वः। अतो ब्राह्ममुहूर्तोत्पन्नत्वात्पिता रघुर्ब्रह्मणो विधेरेव नाम्ना तमात्मजन्मानं पुत्रमजमजनामकं चकार। 'अजो हरौ हरे कामे विधौ छागे रघोः सुते' इति विश्वः॥ ३६॥

तब रघु महाराज की पटरानी ने ब्रह्मा जिसके अधिष्ठाता देवता हैं ऐसे अभिजिन्नामक मुहूर्त में कार्तिकेय के समान बालक पैदा किया, इससे अर्थात् ब्राह्ममुहूर्त में उत्पन्न होने से पिता रघु महाराज ने ब्रह्मा के ही 'अज' इस नाम से उस पुत्र का अज नाम रक्खा॥

अथ बालको निजपितुस्तुल्य एवासीदित्याह—

रूपं तदोजस्वि तदेव वीर्यं तदेव नैसर्गिकमुन्नतत्वम्।
न कारणात्स्वाद्बिभिदे कुमारः प्रवर्तितो दीप इव प्रदीपात्॥ ३७॥

रूपमिति। ओजस्वि तेजस्वि बलिष्ठं वा। 'ओजस्तेजसि धातूनामवष्टम्भप्रकाशयोः। ओजो बले च दीप्तौ च' इति विश्वः। रूपं वपुः। 'अथ रूपं नपुंसकम्। स्वभावाकृतिसौन्दर्यवपुषि श्लोकशब्दयोः'॥ इति विश्वः। तदेव पैतृकमेव वीर्यं वीर्यं तदेव। नैसर्गिकं स्वाभाविकमुन्नतत्वं तदेव। तादृशमेवेत्यर्थः। कुमारो बालकः। प्रवर्तितः उत्पादितो दीपः प्रदीपात्स्वोत्पादकदीपादिव। स्वात्स्वकीयात्। 'पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा' इति स्मात्स्थानेऽभावो वैकल्पिकः। कारणाज्जनकात् न बिभिदे भिन्नो नाभूत्। सर्वात्मना तादृश एवाभूदित्यर्थः॥ ३७॥

पिता के तुल्य तेज से युक्त शरीर वही पराक्रम वही स्वाभाविक चित्त का उच्च होना भी वही अर्थात्-पिता ही के तुल्य होने से बालक अज ऐसे—जलाया गया दीपक (जिस दीपक से जलाया गया है) उस (दीपक) से भिन्न नहीं होता अर्थात्-उसी तरह से प्रकाशक होता है वैसे ही अपने उत्पन्न करने वाले पिता रघु से भिन्न नहीं हुए, अर्थात् पराक्रम आदि में पिता के समान ही हुए॥ ३७॥

अथ बालकेऽस्मिन् क्रमशः सर्वां विद्यामधीत्य युवावस्थां प्राप्ते सति यौवराज्या-र्होऽभूदित्याह—

उपात्तविद्यं विधिवद्गुरुभ्यस्तं यौवनोद्भेदविशेषकान्तम्।
श्रीः साभिलाषापि गुरोरनुज्ञां धीरेव कन्या पितुराचकाङ्क्ष॥ ३८॥

उपात्तविद्यमिति। गुरुभ्यो विधिवद्यथाशास्त्रमुपात्तविद्यं लब्धविद्यम्। यौवनस्योद्भेदादाविर्भावाद्धेतोर्विशेषेण कान्तं सौम्यं तमज प्रति साभिलाषाऽपि श्रीः धीरा स्थिरोन्नतचित्ता। 'स्थिरा चित्तोन्नतिर्या तु तद्धैर्यमिति सञ्ज्ञितम्' इति भूपाल'। कन्या पितुरिव। गुरोरनुज्ञामाचकाङ्क्षेप। यौवराज्याहोऽभूदित्यर्थ'। अनुज्ञाशब्दात्पितृपारतन्त्र्यमुपमासामर्थ्यात्पाणिग्रहणयोग्यता च ध्वन्यते ॥ ३८॥

गुरुओं से विधिवद् (शास्त्रोक्त-रीति से ब्रह्मचर्यादि में रहकर तथा गुरुओं की सेवा करके) सम्पूर्ण १४ विद्याओं को प्राप्त किये हुए, जवानी आने से अत्यन्त सुन्दर उन राजकुमार अज के प्रति अनुरागिणी होती हुई भी राज्यलक्ष्मी धीरा (स्थिर उन्नत चित्त वाली) कन्या जैसे पिता की आज्ञा (मनोवाञ्छित पति वरण करने के लिए) चाहती है, वैसे ही श्रेष्ठ रघु महाराज की अनुमति चाहने लगी, अर्थात् राजकुमार अज युवराज बनाने के योग्य हो गये ॥ ३८॥

अथ रघुसमीपं विदर्भराजप्रेपितो दूत इन्दुमतीस्वयवरार्थमजस्यानयनार्थमाजगामेत्याह—

अथेश्वरेण क्रथकैशिकानां स्वयंवरार्थं स्वसुरिन्दुमत्याः।
आप्तः कुमारानयनोत्सुकेन भोजेन दूतो रघवे विसृष्टः॥ ३९॥

अथेश्वरेणेति। अथ स्वसुर्भगिन्या इन्दुमत्या' स्वयवरार्थं कुमारस्याजस्यानयन उत्सुकेन क्रथकैशिकानां विदर्भदेशानामीश्वरेण स्वामिना भोजेन राज्ञाऽऽप्तो हितो दूतो रघवे विसृष्ट-प्रेषित. (क्रियामात्रयोगेऽपि चतुर्थी) ॥ ३९॥

इसके बाद अपनी बहन इन्दुमती के स्वयंवर के लिए युवराज 'अज' के बुलवाने में उत्कण्ठित विदर्भदेश के महाराज भोज ने अपने विश्वासपात्र दूत को रघु महाराज के पास भेजा ॥ ३९॥

अथ रघुर्विदर्भाधिपराजधानीम् प्रत्यजं सैन्यै' सह प्रस्थापयामासेत्याह—

तं श्लाघ्यसम्बन्धमसौ विचिन्त्य दारक्रियायोग्यदशं च पुत्रम्।
प्रस्थापयामास ससैन्यमेनमृद्धां विदर्भाधिपराजधानीम्॥ ४०॥

तमिति। असौ रघुस्त भोज श्लाघ्यसम्बन्धमनूचानत्वादिगुणयोगात्स्पृहणीयसम्बन्ध विचिन्त्य विचार्य पुत्र च दारक्रियायोग्यदश विवाहयोग्यवयस विचिन्त्य ससैन्यमेन पुत्रमृद्धां समृद्धां विदर्भाधिपस्य भोजस्य राजधानीं पुरीं प्रति प्रस्थापयामास। धीयतेऽस्यामिति धानी। 'करणाधिकरणयोश्च'इत्यधिकरणे ल्युट्प्रत्यय'। राज्ञां धानीति विग्रह ॥ ४०॥

इन रघु महाराज ने उन भोज महाराज के साथ सम्बन्ध प्रशसनीय होगा, यह सोच कर तथा पुत्र की विवाह के योग्य अवस्था विचार कर सेना के सहित इन युवराज अज को समृद्धि-युक्त विदर्भ देश के महाराज की राजधानी को भेजा ॥ ४०॥

अथ विदर्भराजधानीं प्रति गच्छतो रघुसूनोर्मार्गे रचितानि निवासस्थानानि नगरीविहारस्थानतुल्यान्यासन्नित्याह—

तस्योपकार्यारचितोपचारा वन्येतरा जानपदोपदाभिः ।
मार्गे निवासा मनुजेन्द्रसूनोर्बभूवुरुद्यानविहारकल्पाः ॥ ४१ ॥

तस्येति । उपकार्यासु राजसद्मसु पटमण्डपादिषु । 'सौधोऽस्त्री राजसदनमुपकार्योपकारिका' इत्यमरवचनव्याख्याने क्षीरस्वामी । उपक्रियत उपकरोति वा पसमन्तपादि राजसद्मनमिति । रचिता उपचाराः सपर्यादयो येषु ते तथोक्ताः । जानपदानां जनपदेभ्य आगतानामुपदाभिरुपायनैः वन्या वनेभवा इतरे येषां ते वन्येतराः । अवन्या इत्यर्थः । 'न बहुव्रीहौ' इति सर्वनामसंज्ञानिषेधः । तत्पुरुषे सर्वनामसंज्ञा दुर्वारैव । तस्य मनुजेन्द्रसूनोरजस्य मार्गे निवासा वासभिका उद्यानान्याक्रीडाः । 'पुमानाक्रीड उद्यानम्' इत्यमरः । तान्येव विहारा विहारस्थानानि तत्कल्पाः । तत्सदृशा इत्यर्थः । 'ईषदसमाप्तौ—' इति कल्पप्प्रत्ययः । बभूवुः ॥ ४१ ॥—

राजाओं के योग्य तम्बुओं में जिनका आतिथ्य जहाँ पर किया हुआ है तथा बस्तीसे लाये हुए उपहार स्वरूप सुख-साधन-सामग्रियों से जो जंगल में बने हुए की भाँति नहीं मालूम पड़ रहा है ऐसे उन महाराज रघु के युवराज अज के मार्ग के निवास-स्थान अपनी राजधानी के बगीचों में बने हुए विहार स्थानों के समान ही हुए ॥ ४१ ॥

अथ रघुसुतो नर्मदातटं प्राप्य तत्र सैन्येन सह निवासं कृतवानित्याह—

स नर्मदारोधसि सीकरार्द्रैर्मरुद्भिरानर्तितनक्तमाले ।
निवेशयामास विलङ्घिताध्वा क्लान्तं रजोधूसरकेतु सैन्यम् ॥ ४२ ॥

स इति । विलङ्घिताध्वातिक्रान्तमार्गः सोऽजः सीकरार्द्रैः । शीतलैरित्यर्थः । मरुद्भिर्वातैरानर्तिताः कम्पिता नक्तमालाश्चिरबिल्वाख्यवृक्षविशेषाः । 'चिरबिल्वो नक्तमालः करञ्जश्च करञ्जके' इत्यमरः । यस्मिंस्तस्मिन् । निवेशार्ह इत्यर्थः । नर्मदाया रोधसि रेवायास्तीरे क्लान्तं श्रान्तं रजोभिर्धूसराः केतवो ध्वजा यस्य तत्सैन्यं निवेशयामास ॥ ४२ ॥

मार्ग (मंजिल) को तय करके पूरा किये हुए उन युवराज अज ने जल के कणों से आर्द्र अर्थात् शीतल वायु से जहाँ पर चिरबिल्व नामक वृक्ष हिल रहे हैं ऐसे नर्मदा नदी के किनारे पर थकी हुई, धूलि से धूसर जिसकी पताकाएँ हो रही हैं ऐसी अपनी सेना को ठहराया ॥ ४२ ॥

अथ सेनानिवासकरणानन्तरं नर्मदायाः कश्चिद्वन्यो गज उत्थित इत्याह—

अथोपरिष्टाद् भ्रमरैर्भ्रमद्भिः प्राक्सूचितान्तःसलिलप्रवेशः ।
निर्धौतदानामलगण्डभित्तिर्वन्यः सरितो गज उन्ममज्ज ॥ ४३ ॥

अथेति । अथोपरिष्टादूर्ध्वम् । 'उपर्युपरिष्टात्' इति निपातः । भ्रमरैः । मद-लोभादिति भावः । भ्रमरैः प्रागुन्मज्जनात्पूर्वं सूचितः ज्ञापितोऽन्तःसलिले प्रवेशो यस्य स तथोक्तः । निर्धौतदाने क्षालितमदे अत एवामले गण्डभित्ती यस्य स तथोक्तः । 'दानं गजमदे त्यागे' इति शाश्वतः । प्रशस्तौ गण्डौ गण्डभित्ती । 'प्रशंसा-वचनैश्च' इति समासः । भित्तिशब्दः प्रशस्तार्थः । तथा च गणरत्नमहोदधौ— 'मतल्लिकोद्धमिश्रा स्युः प्रकाण्डस्थलभित्तयः' इति । भित्तिः प्रदेशो वा । 'भित्तिः प्रदेशे कुड्येऽपि' इति विश्वः । निर्धौतदानेनामला गण्डभित्तिर्यस्येति वा । वन्यो गजः सरित्तो नर्मदायाः सकाशात् । (पञ्चम्यास्तसिल्प्रत्ययः) । उन्म-मज्जोत्थितः ॥ ४३ ॥

सेना ठहरा चुकने के बाद मद के लोभ से ऊपर उड़ते हुए भौंरों से पहले जल में डूब कर जिसका नहाना सूचित हो रहा था, अत एव (जल में डूब कर नहाने से) जिसके मद धुल गये हैं, ऐसे दोनों गण्डस्थल जिसके निर्मल हो रहे हैं ऐसा कोई जङ्गली हाथी नर्मदा नदी से निकला ॥ ४३ ॥

अथ नर्मदासलिलादुत्थितस्य गजस्य शोभां युग्मेन वर्णयितुकामः कविरादौ तस्य वप्रक्रियासूचकं दन्तद्वयमेव वर्णयन्नाह—

निःशेषविक्षालितधातुनाऽपि वप्रक्रियामृक्षवतस्तटेषु ।
नीलोर्ध्वरेखाशबलेन शंसन्दन्तद्वयेनाश्मविकुण्ठितेन ॥ ४४ ॥

निःशेषेति । कथम्भूतो गजः । निःशेषविक्षालितधातुनाऽपि धौतगैरिकादिना-ऽपि । नीलाभिरूर्ध्वाभी रेखाभिस्तटाभिघातजनिताभिः शबलेन कर्बुरेण । 'चित्रं किर्मीरकल्माषशबलैताश्च कर्बुरे' इत्यमरः । अश्मभिः पाषाणैर्विकुण्ठितेन कुण्ठीकृतेन दन्तद्वयेन । ऋक्षवान्नाम कश्चित्तत्रत्यः पर्वतः । तस्य तटेषु वप्रक्रियां वप्रक्रीडाम् । उत्खातकेलिमित्यर्थः । 'उत्खातकेलिः शृङ्गाद्यैर्वप्रक्रीडा निगद्यते' इति शब्दार्णवः । शंसन्कथयन् । सूचयन्नित्यर्थः । युग्मम् ॥ ४४ ॥

जल में डूबकर स्नान करने से जिसमें लगे हुए गैरिकादि धातु अच्छी तरह से धुलकर साफ हो गये हैं और पर्वत के तट प्रान्त पर प्रहार करने से ऊपर की तरफ काली रेखायें पड़ने से जो चितकाबर रङ्ग के हो रहे हैं, तथा पत्थरों से जिनके नोक घिस गये हैं ऐसे अपने दाँतों से 'ऋक्षवान्' नामक नर्मदा के पास के पर्वत के तट प्रान्तों में किये हुए उत्खात-केलि अर्थात् पत्थरों को दाँतों से उखाड़ने के खेल को सूचित करता हुआ वह नर्मदा से निकला हुआ हाथी सुशोभित होने लगा ॥ ४४ ॥

तीरमभिलक्ष्याजिगमिषया बृहत्तरङ्गान् करेण विदारयतो गजस्य शोभामुत्प्रेक्ष-माणः कविराह—

संहारविक्षेपलघुक्रियेण हस्तेन तीराभिमुखः सशब्दम् ।
बभौ स भिन्दन्बृहतस्तरङ्गान् वार्यर्गलाभङ्ग इव प्रवृत्तः ॥ ४५ ॥

संहारेति । संहारविक्षेपयोः सङ्कोचनप्रसारणयोर्लघुक्रियेण क्षिप्रव्यापारेण । 'लघु क्षिप्रमरं द्रुतम्' इत्यमरः । हस्तेन शुण्डादण्डेन । 'हस्तो नक्षत्रभेदे स्यात्करेभकरयोरपि' इति विश्वः । ससब्दं सघोषं बृहतस्तरङ्गानभिन्दन् विदारयन् तीराभिमुखः स गजः । वारी गजबन्धनस्थानम् । 'वारी तु गजबन्धनी' इति यादवः । वार्यां अर्गलाया विष्कम्भस्य भङ्गे भञ्जने प्रवृत्त इव बभौ ॥ ४५ ॥

सकोड़ने और फैलाने में जिसके व्यापार जल्दी २ हो रहे हैं ऐसे अपनी सूंड से शब्द के साथ जैसे हो वैसे बड़े २ तरङ्गों को चीरता हुआ नर्मदा के तीर की तरफ मुख किये हुए उस हाथी ने जैसे हाथी बांधने के स्थान की अर्गला के तोड़ने में प्रवृत्त होने से शोभा होती है वैसी शोभा पाई ॥ ४५ ॥

इत्थं तरङ्गान् भिन्दन् स गजो यत्र तटेऽजसैन्यं स्थितं तत्तटं प्रापदिति वर्णयन् कविराह

शैलोपमः शैवलमञ्जरीणां जालानि कर्षन्नुरसा स पश्चात् ।
पूर्वं तदुत्पीडितवारिराशिः सरित्प्रवाहस्तटमुत्ससर्प ॥ ४६ ॥

शैलोपम इति । शैलोपमः स गजः शैवलमञ्जरीणां जालानि वृन्दान्युरसा कर्षन्पश्चात्तटमुत्ससर्प । पूर्वं तेन गजेनोत्पीडितो क्षुब्धो वारिराशिर्यस्य स सरित्प्रवाहस्तटमुत्ससर्प ॥ ४६ ॥

पर्वत के समान आकार वाला वह हाथी सेवार के मञ्जरियों के समूहों को छाती से खींचता हुआ पीछे से तीर पर पहुँचा और उसके पहिले उस गज से ढकेला गया है जल की राशि जिसकी ऐसा नदी का प्रवाह तट पर पहुँच गया ॥ ४६ ॥

अथ तट प्राप्य तत्रस्थ स्थितसैन्यगजदर्शनेन तस्य वन्यगजेन्द्रस्य कपोलयोः शान्तो मदस्रावोऽभूदित्याह—

तस्यैकनागस्य कपोलभित्त्योर्जलावगाहक्षणमात्रशान्ता ।
वन्येतरानेकपदर्शनेन पुनर्दिदीपे मदुर्दिनश्रीः ॥ ४७ ॥

तस्येति । तस्यैकनागस्यैकाकिनो गजस्य कपोलभित्त्योर्जलावगाहेन क्षणमात्रं शान्ता निवृत्ता मदुर्दिनश्रीर्मदवर्षलक्ष्मीर्वन्येतरेषां ग्राम्याणामनेकपानां द्विपानां दर्शनेन पुनर्दिदीपे ववृधे ॥ ४७ ॥

हाथियों में मुख्य उस गज के दोनों गण्डस्थलों में जल में डूब कर नहाने से जो क्षणमात्र के लिये शान्त हो गई थी वही मद झरने की शोभा जङ्गली हाथियों से भिन्न अर्थात् सेना के हाथियों के देखने से पुनः बढ़ गई, अर्थात् पहले की अपेक्षा अधिक मद झरने लगा ॥ ४७ ॥

सम्प्रति तस्य वन्यगजेन्द्रस्योत्कटं मदगन्धमाघ्राय सेनास्थितगजेन्द्राणामवस्थां वर्णयन् कविराह—

सप्तच्छदक्षीरकटुप्रवाहमसह्यमाघ्राय मदं तदीयम् ।
विलङ्घिताधोरणतीव्रयत्नाः सेनागजेन्द्रा विमुखा बभूवुः ॥ ४८ ॥

सप्तच्छदेति । सप्तच्छदस्य वृक्षविशेषस्य क्षीरवत्कटुः सुरभि. प्रवाहः प्रसारो यस्य तम् । 'कटुतिक्तकषायास्तु सौरभ्येऽपि प्रकीर्तिता' इति यादव' । असह्य तदीय मदमाघ्राय सेनागजेन्द्रा. । विलङ्घितस्तिरस्कृत आधोरणानां हस्तिपकानां तीव्रो महान्यत्नो यैस्ते तथोक्ता' सन्त' । 'आधोरणा हस्तिपका हस्त्यारोहा निषादिनः' इत्यमर । विमुखा पराङ्मुखाः । बभूवु. ॥ ४८ ॥

सप्तपर्ण नामक वृक्ष के दुग्ध की भाँति जिसकी सुगन्धि फैल रही थी, इसी से असह्य उस जङ्गली हाथी के मद को सूँघ कर सेना के सभी गजेन्द्र अपने-अपने महावतों के किये हुए अत्यन्त अङ्कुश से मारने आदि उपायों को निष्फल करते हुए मुँह फेर कर भागने लगे॥

अथ स वन्यो गजेन्द्रः सैन्यनिवेशं प्रविश्य तत्रस्थान् सर्वानेव समुद्विग्नमनस कृतवानित्याह—

स च्छिन्नवन्धद्रुतयुग्यशून्यं भग्नाक्षपर्यस्तरथं क्षणेन ।
रामापरित्राणविहस्तयोधं सेनानिवेशं तुमुलं चकार ॥ ४९ ॥

स इति । स गज । छिन्ना वन्धा यैस्ते छिन्नवन्धा द्रुताः पलायिता', युग वहन्तीति युग्या वाहा यस्मिन्स', स चासौ शून्यश्च तम् । भग्ना अक्षा रथावयवदारु विशेषा. । 'अक्षो रथस्यावयवे पाशकेऽप्यक्षमिन्द्रियम्' इति शाश्वत. । येषान्ते भग्नाक्षा अत एव पर्यस्ता' पतिता रथा यस्मिंस्तम् । रामाणां परित्राणे संरक्षणे विहस्ता व्याकुला । 'विहस्तव्याकुलौ समौ' इत्यमरः । योधा यस्मिंस्त सेनानिवेशं शिविर क्षणेन तुमुल सङ्कुल चकार ॥ ४९ ॥

उस जङ्गली हाथी ने अपने-अपने बन्धनों को तोडकर भागे हुए वाहनों (हाथी घोडे वगैरह) से जो शून्य हो रहा है, धुरा के टूट जाने से गिरे हुए रथ जिसमें पडे हुए हैं, स्त्रियों की रक्षा करने में योधा लोग जिस में व्याकुल हो रहे हैं, ऐसे सेना के निवास-स्थान को क्षण मात्र में व्याकुल कर दिया॥ ४९ ॥

अथ वन्यगजकृता सेनाशिविरव्याकुलता श्रुत्वा त गजं निवर्तयितुकामो युवराजोऽजो धनुरीषदाकृष्य कुम्भस्थले वाणेन जघानेत्याह—

तमापतन्तं नृपतेरवध्यो वन्यः करीति श्रुतवान्कुमारः ।
निवर्तयिष्यन्विशिखेन कुम्भे जघान नात्यायतकृष्टशार्ङ्गः ॥ ५० ॥

तमिति । नृपते राज्ञो वन्य कर्यवध्य इति श्रुतवाञ्शास्त्राज्ज्ञातवान्कुमार आपतन्तमभिधावन्तं त गज निवर्तयिष्यन्न तु प्रहरिष्यन् । अत एव नात्यायतमनतिदीर्घं यथा स्यात् (नञर्थस्य नशब्दस्य सुप्सुपेति समास)। कृष्टशार्ङ्ग ईषदाकृष्टचाप सन्विशिखेन वाणेन कुम्भे जघान । अत्र चाणक्य—(लक्ष्मीकामो युद्धादन्यत्र करिवधं न कुर्यात् । इय हि श्रीर्येः करिण') इति । अत एव (युद्धादन्यत्र) इति द्योतनार्थमेव वन्यग्रहणं कृतम् ॥ ५० ॥

'राजा के लिये जङ्गली हाथी का मारना उचित नहीं है' इस बात को जानने वाले युवराज अज ने सामने दौड़कर आते हुए उस हाथी के भगाने की इच्छा से न कि मार डालने की इच्छा से थोड़ा सा धनुष खींचकर छोड़े हुए बाणों से कुम्भ स्थल में मारा ॥५०॥

अथ बाणेन विद्धमात्र एव स गजरूपं विहाय सद्यः खेचरं वपुः प्रापेत्याह—

स विद्धमात्रः किल नागरूपमुत्सृज्य तद्विस्मितसैन्यदृष्टः ।
स्फुरत्प्रभामण्डलमध्यवर्ति कान्तं वपुर्व्योमचरं प्रपेदे ॥ ५१ ॥

स इति । स गजो विद्धमात्रस्ताडितमात्रः किल न तु प्रहृतस्तथाऽपि नागरूपं गजशरीरमुत्सृज्य । तेन कुमारेण विस्मितैस्तद्विस्मितैः सैन्यैर्दृष्टः सन् । स्फुरत्प्रभामण्डलस्य मध्यवर्ति कान्तं मनोहरं व्योमचरं वपुः प्रपेदे प्राप ॥ ५१ ॥

वह जङ्गली हाथी ने बाण से बिंध जाते ही अपने हाथी के रूप को छोड़ कर (इस करामात के होने से) आश्चर्य के साथ सैनिकों से देखा जाता हुआ, चमकते हुए प्रभा-मण्डल के मध्य में स्थित सुन्दर आकाश में चलनेवाला गन्धर्व का शरीर धारण कर लिया ॥५१॥

अथ स कल्पद्रुमकुसुमान्यजस्योपरि विकीर्य तमुवाचेत्याह—

अथ प्रभावोपनतैः कुमारं कल्पद्रुमोत्थैरवकीर्य पुष्पैः ।
उवाच वाग्मी दशनप्रभाभिः संवर्धितोरःस्थलतारहारः ॥ ५२ ॥

अथेति । अथ प्रभावेणोपनतैः प्राप्तैः कल्पद्रुमोत्पन्नैः पुष्पैः कुमारमवकीर्य अभिवृष्य दशनप्रभाभिर्दन्तकान्तिभिः संवर्धिता उरःस्थले च तारहारा स्थूलमुक्ताहारा यस्य स तथोक्तः । वाचोऽस्य सन्तीति वाग्मी वक्ता । 'वाचो ग्मिनिः' इति ग्मिनिप्रत्ययः । स पुरुष उवाच ॥ ५२ ॥

उस के (दिव्यशरीर प्राप्त होने के) बाद अपने प्रभाव से प्राप्त कल्पवृक्ष के पुष्पों की युवराज अज के ऊपर वर्षा करके दाँतों की कान्ति से छाती पर लटकती हुई बड़े-बड़े मोतियों की मालाओं की कान्ति को बढ़ाता हुआ अच्छे वचनों को बोलने वाला वह दिव्य पुरुष बोला ॥५२॥

अथ स्वकीयपूर्वपरिचयं कृत्वा करिशरीरप्राप्तिकारणं मतङ्गशापमेव निर्दिशन्नाह—

मतङ्गशापादवलेपमूलादवाप्तवानस्मि मतङ्गजत्वम् ।
अवेहि गन्धर्वपतेस्तनूजं प्रियंवदं मां प्रियदर्शनस्य ॥ ५३ ॥

मतङ्गशापदिति । अवलेपमूलाद्गर्वहेतुकात् । 'अवलेपस्तु गर्वे स्याल्लेपने दूषणेऽपि च' इति विश्वः । मतङ्गस्य मुनेः शापान्मतङ्गजत्वमवाप्तवानस्मि । मां प्रियदर्शनस्य प्रियदर्शनाख्यस्य गन्धर्वपतेर्गन्धर्वराजस्य तनूजं पुत्रम् । 'स्त्रियां मूर्तिस्तनुस्तनूः' इत्यमरः । '[illegible]' इत्यूङिति केचित् । प्रियंवदं प्रियंवदाख्यमवेहि जानीहि । प्रियं वदतीति प्रियंवदः । 'प्रियवशे वदः खच्' इति खच्प्रत्ययः ॥ ५३ ॥

मैंने गर्व करना ही जिसका कारण था, ऐसे मतङ्ग ऋषि के शाप से हाथी के शरीर को

जो मैंने प्राप्त किया था, उसी मुझको प्रियदर्शन नामक गन्धर्वराज का पुत्र प्रियंवद नामक गन्धर्व-राजकुमार आप जानें ॥ ५३ ॥

तथा शापप्रदानानन्तरं मत्कृतप्रणतिपूर्वकस्तवेन शान्तिं लभमानस्य महर्षेर्मयि पुनः कृपाऽभूदित्याह—

स चानुनीतः प्रणतेन पश्चान्मया महर्षिर्मृदुतामगच्छत् ।
उष्णत्वमग्न्यातपसंप्रयोगाच्छैत्यं हि यत्सा प्रकृतिर्जलस्य ॥ ५४ ॥

स इति। महर्षिश्च प्रणतेन मयाऽनुनीतः सन्पश्चान्मृदुतां शान्तिमगच्छत्। तथा हि। जलस्योष्णत्वमग्नेरातपस्य वा संप्रयोगात्संपर्कात्, न तु प्रकृत्योष्णत्वम्। यच्छैत्यं सा प्रकृतिः स्वभावः। विधेयप्राधान्यात्सेति स्त्रीलिङ्गनिर्देशः। महर्षीणां शान्तिरेव स्वभावो न क्रोध इत्यर्थः ॥ ५४ ॥

और उन महर्षि मतङ्ग के पैरों पर गिरे हुए मैंने उन से क्रोध शान्त करने की प्रार्थना की, बाद में उन्होंने क्रोध को शान्त किया, क्योंकि—जलका गरम होना जो है वह अग्नि और सूर्य्य के किरणों के सम्बन्ध से है और जो शीतलता है वह उसकी प्रकृति है, अर्थात् जैसे जल स्वाभाविक शीतल ही है, कारणवश गरम हो जाता है, उसी भाँति महात्मा लोग स्वाभाविक शान्त होते हैं, कारणवश क्रुद्ध हो जाते हैं ॥ ५४ ॥

अथ पश्चात् प्रसन्नेन महर्षिणा निर्दिष्टं शापान्तसमयं कथयन्नाह—

इक्ष्वाकुवंश्यप्रभवो यदा ते भेत्स्यत्यजः कुम्भमयोमुखेन ।
संयोक्ष्यसे स्वेन वपुर्महिम्ना तदेत्यवोचत्स तपोनिधिर्माम् ॥५५॥

इक्ष्वाकुवंशेति। इक्ष्वाकुवंशः प्रभवो यस्य सोऽजो यदा ते कुम्भमयोमुखेन लोहाग्रेण शरेण भेत्स्यति विदारयिष्यति तदा स्वेन वपुषो महिम्ना पुनः संयोक्ष्यसे सगंस्यस इति स तपोनिधिर्मामवोचत् ॥ ५५ ॥

इक्ष्वाकु-वंश में उत्पन्न, अज नामक राजकुमार जब तुम्हारे कुम्भ-स्थल को लोह का बना हुआ है अग्र भाग जिसका ऐसे वाण से वेधेंगे, तब अपने शरीर सम्बन्धी गौरव से फिर तुम युक्त हो जाओगे ऐसा उन तपोनिधि महर्षि, मतङ्ग ने मुझसे कहा था ॥ ५५ ॥

सम्प्रति त्वयाऽहं शापान्मोचितोऽस्मीत्यतस्तेऽपि प्रत्युपकारं चिकीर्षुरस्मीत्याह—

संमोचितः सत्त्ववता त्वयाऽहं शापाच्चिरप्रार्थितदर्शनेन ।
प्रतिप्रियं चेद्भवतो न कुर्यां वृथा हि मे स्यात्स्वपदोपलब्धिः ॥५६॥

संमोचित इति। चिरं प्रार्थितं दर्शनं यस्य तेन सत्त्ववता बलवता त्वयाऽहं शापात्संमोचितो मोक्षं प्रापितः। भवतः प्रतिप्रियं प्रत्युपकारं न कुर्यां चेन्मे स्वपदलब्धिः स्वस्थानप्राप्तिः। 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु', इत्यमरः। वृथा स्याद्धि। तदुक्तम्—(प्रतिकर्तुमशक्तस्य जीवितान्मरणं वरम्) इति ॥ ५६ ॥

बहुत दिनों से जिस का दर्शन अभीष्ट हो रहा था ऐसे बलवान् आपने मुझे शाप से

हुआया अर्थात् गजयोनि छुड़ा कर गन्धर्व-शरीर प्राप्त कराया अतः आप का प्रत्युपकार यदि मैं न करूँ तो मेरा स्थान (गन्धर्व लोक) को प्राप्त करना ही वृथा होगा इस में कोई सन्देह नहीं है ॥ ५६ ॥

अथ प्रत्युपचिकीर्षया प्रियंवदोऽस्त्राय स्वकीयं संमोहनं नामकमस्त्रं दातुं स्वेच्छां प्रकटीकुर्वन्नाह—

संमोहनं नाम सखे ! ममास्त्रं प्रयोगसंहारविभक्तमन्त्रम् ।
गान्धर्वमादत्स्व यतः प्रयोक्तुर्न चारिहिंसा विजयश्च हस्ते ॥५७॥

संमोहनमिति । हे सखे ! सखिशब्देन समप्राणतोक्ता तथोक्तम्—(कल्याण-सहजो बन्धुः सदैवानुमतः सुहृत् । एकक्रियं भवेन्मित्रं समप्राणः सखा मतः ॥) इति । प्रयोगसंहारयोर्विभक्तमन्त्रं गान्धर्वं गन्धर्वदेवताकम् । संमोह्यतेऽनेनेति संमोहनं नाम ममास्त्रमादत्स्व गृहाण । यतोऽस्त्रात्प्रयोक्तुरस्त्रप्रयोगिणोऽरिहिंसा न च विजयश्च हस्ते । हस्तगतो नियतो भवतीत्यर्थः ॥ ५७ ॥

हे प्राण के समान प्रिय मित्र ! आप चलाने और लौटा लेने में जिसके पृथक्-पृथक् मन्त्र हैं तथा गन्धर्व जिसके देवता हैं और जो सबको मोहित करने वाला होने से सम्मोहन नाम से प्रसिद्ध है ऐसे मेरे इस अस्त्र को स्वीकार करें, जिस अस्त्र से कि—चलाने वाले के शत्रुओं का वध भी नहीं हो पाता और विजय हस्तगत हो जाता है ॥ ५७ ॥

कथमनिमित्तं कथमहमपरः स्यामिति चेत्तत्राह—

अलं ह्रिया मां प्रति यन्मुहूर्तं दयापरोऽभूः प्रहरन्नपि त्वम् ।
तस्मादुपच्छन्दयति प्रयोज्यं मयि त्वया न प्रतिषेधरौक्ष्यम् ॥५८॥

अलमिति । किं च । मां प्रति ह्रिया प्रहारनिमित्तयालम् । कृतम् । यद्यतो हेतोस्त्वं मां प्रहरन्नपि मुहूर्तं दयापरः कृपालुरभूः । तस्मादुपच्छन्दयति प्रार्थयमाने मयि त्वया प्रतिषेधः परिहारः स एव रौक्ष्यं पारुष्यम् । तन्न प्रयोज्यं न कर्तव्यम् ।

मेरे प्रति आप प्रहार करने के कारण आप लज्जा मत करें, क्योंकि—आप मुझपर प्रहार करते हुये भी थोड़ी देर के लिये दया से युक्त ही हुए थे अर्थात् आप का बाण मारना मेरे लिये दया करना ही हुआ था इस कारण से अस्त्र प्रदान करने के लिये मेरे प्रार्थना करने पर आप 'हम नहीं लेंगे' ऐसी रुखाई मत करें ॥ ५८ ॥

अथ प्रियंवदात्तदीयं सम्मोहनाख्यमस्त्रं गृहीतवानित्याह—

तथेत्युपस्पृश्य पयः पवित्रं सोमोद्भवायाः सरितो नृसोमः ।
उदङ्मुखः सोऽस्त्रविदस्त्रमन्त्रं जग्राह तस्मान्निगृहीतशापात् ॥५९॥

तथेतीति । ना सोमश्चन्द्र इव नृसोमः । उपमितसमासः । 'सोम ओषधिचन्द्रयोः' इति शाश्वतः । उदङ्मुखः । अस्त्रविदस्त्रज्ञः सोऽज इत्यर्थः । सोम उद्भवो यस्याः सा तस्याः सोमोद्भवायाः सरितो नर्मदायाः । 'रेवा तु नर्मदा सोमोद्भवा

मेकलकन्यका' इत्यमरः। पवित्र पय उपस्पृश्य पीत्वा। आचम्येत्यर्थः। उदङ्मुख' सन्निगृहीतशापान्निवर्तितशापात्। उपकृतादित्यर्थ'। तस्मात्प्रियंवदादस्त्रमन्त्रं जग्राह ॥ ५९ ॥

पुरुष श्रेष्ठ, शास्त्रों को जाननेवाले उन युवराज अज ने 'जैसा आप कहते हैं वैसा ही होगा' अर्थात् मैं ग्रहण करूँगा, यह कह कर नर्मदा के पवित्र जल से आचमन करके उत्तर की ओर मुख किये हुए, जिसका शाप छूट गया था ऐसे उस प्रियंवद नामक गन्धर्व राजकुमार से समोहन नामक अस्त्रको चलाने और लौटा लेनेके मन्त्रोंके सहित ग्रहण किया ॥

एव मित्रत्व प्राप्तवतोस्तयो' प्रियवदश्चैत्ररथमजश्च विदर्भदेशान् ययावित्याह—

एवं तयोरध्वनि दैवयोगादासेदुषो. सख्यमचिन्त्यहेतु।
एको ययौ चैत्ररथप्रदेशान्सौराज्यरम्यानपरो विदर्भान् ॥ ६० ॥

एवमिति। एवमध्वनि मार्गे दैवयोगाद् दैववशादचिन्त्यहेत्वनिर्धार्यहेतुकं सख्य सखित्वम्। 'सख्युर्य' इति यप्रत्यय.। आसेदुषो. प्राप्तवतोस्तयोर्मध्ये एको गन्धर्वश्चैत्ररथस्य कुबेरोद्यानस्य प्रदेशान्। 'अस्योद्यान चैत्ररथम्' इत्यमर.। अपरोऽज, सौराज्येन राजन्वत्तया रम्यान्विदर्भदेशान्ययौ ॥ ६० ॥

इस प्रकार से मार्ग में दैवयोग से, जिसका कारण नहीं समझा जा सकता ऐसे परस्पर मित्रभाव को प्राप्त किए हुए उन दोनों के मध्य में से एक अर्थात्–प्रियंवद चैत्ररथ नामक कुबेर के बगीचा की तरफ गये और दूसरे युवराज अज भली भाँति शासन करनेवाला राजा होने से सुन्दर विदर्भ देश की तरफ गये ॥ ६० ॥

अथ नगरसमीपेऽजस्यागमनं श्रुत्वा विदर्भाधिपतिस्तत्स्वागतार्थं स्वसदनान्निर्गत्य त प्रत्युज्जगामेत्याह—

तं तस्थिवांसं नगरोपकण्ठे तदागमारूढगुरुप्रहर्षः।
प्रत्युज्जगाम क्रथकैशिकेन्द्रश्चन्द्रं प्रवृद्धोर्मिरिवोर्मिमाली ॥ ६१ ॥

तमिति। नगरस्योपकण्ठे समीपे तस्थिवास स्थित तमज तस्याजस्यागमेनागमनेनारूढ उत्पन्नो गुरु प्रहर्षो यस्य स क्रथकैशिकेन्द्रो विदर्भराज। प्रवृद्धोर्मिरूर्मिमाली समुद्रश्चन्द्रमिव प्रत्युज्जगाम ॥ ६१ ॥

नगर के समीप में स्थित उन युवराज अज के आगमन से उत्पन्न हुए अत्यन्त हर्ष से युक्त विदर्भ देश के महाराज भोज जैसे–बढी हुई लहरों वाला समुद्र चन्द्रमा के उदय होने से अत्यन्त आनन्दित हो उससे मिलने के लिये जाता है, वैसे ही मिलने के लिए गये ॥

अथ विदर्भेश्वरोऽग्रयायी भूत्वा मार्गं प्रदर्शयन्नज सादरं स्वपुर प्रवेश्य नम्र सन्नुपाचरदित्याह—

प्रवेश्य चैनं पुरमग्रयायी नीचैस्तथोपाचरदर्पितश्रीः।
मेने यथा तत्र जन समेतो वैदर्भमागन्तुमजं गृहेशम् ॥ ६२ ॥

प्रवेश्येति । पुरमग्रयायी । सेवाधर्मेण पुरो गच्छन्नित्यर्थः । नीचैर्नम्रः पुरं प्रवेश्य प्रवेशं कारयित्वा अर्पितश्रीस्तथा तेन प्रकारेणोपाचरदुपचरितवान् । यथा येन प्रकारेण तत्र पुरे समेतो मिलितो जनो वैदर्भं भोजमागन्तुमागन्तुकं मेने । अजं गृहेशं गृहपतिं मेने ॥ ६२ ॥

इस अज के आगे-आगे चलते हुए नम्र भोज महाराज उन्हें नगर में प्रवेश कराकर प्रेम से सारी सम्पत्ति अर्पण किये हुये उस तरह उनकी सेवा करने लगे जिस तरह वहाँ पर इकट्ठे हुए लोगों ने विदर्भाधिपति को आगन्तुक (मेहमान) और अज को घर का मालिक समझा ॥ ६२ ॥

तस्याधिकारपुरुषैः प्रणतैः प्रदिष्टां प्राग्द्वारवेदिविनिवेशितपूर्णकुम्भाम् ।
रम्यां रघुप्रतिनिधिः स नवोपकार्यां बाल्यात्परामिव दशां मदनोऽध्युवास ॥

तस्येति । रघुप्रतिनिधी रघुकल्पः । रघुतुल्य इत्यर्थः । सर्वं च प्रतिनिधिः सादृश्यवाचकप्रस्तावे 'कल्पदेशीयदेश्यादि प्रख्यप्रतिनिधी अपि' इति । सोऽजः प्रणतैर्नमस्कृतवद्भिः । कर्तरि क्तः । तस्य भोजस्याधिकारो नियोगस्तस्य पुरुषैः । अधिकृतैरित्यर्थः । प्रदिष्टां निर्दिष्टां प्राग्द्वारस्य वेद्यां विनिवेशिताः पूर्णकुम्भा यस्यास्ताम् । स्थापितमङ्गलकलशामित्यर्थः । रम्यां रमणीयां नवोपकार्यां नूतनं राजभवनम् । 'उपकार्या राजसद्मन्युपचारचितेऽन्यवत्' इति विश्वः । मदनो बाल्यात्परां दशामवस्थामिव । यौवनमित्यर्थः । अध्युवासाधिष्ठितवान् । तत्रोषितवानित्यर्थः । 'उपान्वध्याङ्वसः' इति कर्मत्वम् ॥ ६३ ॥

रघु के तुल्य उस युवराज अज ने नमस्कार करते हुए, उस विदर्भाधिपति भोज के नियुक्त किये हुये पुरुषों से बतलाये हुये, जिसके प्रधान द्वार के आगे वेदी पर जल से भरे मङ्गल कलश रक्खे हुये हैं ऐसे सुन्दर नवीन कपड़े के बने हुए, राजाओं के रहने के योग्य मण्डप में ऐसे कामदेव बाल्यावस्था के बाद युवावस्था में निवास करता है उसी भाँति निवास किया ॥ ६३ ॥

अथ रात्रौ कन्यारत्नमिच्छुमजं चिरेण निद्रावशो बभूवेत्याह—

तत्र स्वयंवरसमाहृतराजलोकं कन्याललाम कमनीयमजस्य लिप्सोः ।
भावावबोधकलुषा दयितेव रात्रौ निद्रा चिरेण नयनाभिमुखी बभूव ॥

तत्रेति । तत्रोपकार्यां स्वयंवरनिमित्तं समाहृतः सम्मेलितो राजलोको येन तत् कमनीयं स्पृहणीयं कन्याललाम कन्यासु श्रेष्ठम् । 'ललामोऽस्त्री ललामापि प्रभावे पुच्छे ध्वजे । श्रेष्ठे भूषापुण्ड्रयोश्च पुण्ड्रिवाश्वविशेषयोः' इति यादवः । लिप्सोर्लब्धुमिच्छोः । अजस्य भावावबोधे पुरुषस्याभिप्रायपरिज्ञाने कलुषाऽसमर्था दयितेव रात्रौ निद्रा चिरेण नयनाभिमुखी बभूव । 'कामिनं राजानं चौरं परित्यजन्ति प्रजागराः' इति भावः । अभिमुखीत्यस्यो दीर्घस्वरत्वमन्तो वा ॥ ६४ ॥

उस पटनिर्मित राजमण्डप में, स्वयंवर में जिसके लिए राजा लोग एकत्र किये गये हैं ऐसे सबों के चाहने योग्य कन्याओं में श्रेष्ठ उस इन्दुमती को पाने की इच्छा रखने वाले अज के अभिप्राय के जानने में असमर्थ मुग्ध नवोढा नायिका की भाँति निद्रा रात में बहुत देर के बाद आँखों के सम्मुख अर्थात् आँखों में आई ॥ ६४ ॥

वहुमुहूर्त्तानन्तरं प्रसुप्तमज वन्दिपुत्रा स्तुतिपाठैरुषसि प्रबोधयामासुरित्याह—

तं कर्णभूषणनिपीडितपीवरांसं शय्योत्तरच्छदविमर्दकृशाङ्गरागम् ।
सूतात्मजाः सवयसः प्रथितप्रबोधं प्राबोधयन्नुषसि वाग्भिरुदारवाचः ॥

तमिति । कर्णभूषणाभ्यां निपीडितौ पीनावंसौ यस्य तम् । शय्याया उत्तरच्छदस्योपर्यास्तरणवस्त्रस्य विमर्देन घर्षणेन कृशो विरलोऽङ्गरागो यस्य तम् । न स्वङ्गनासङ्गादिति भाव । प्रथितप्रबोध प्रकृष्टज्ञान तमेनमज सवयस. समानवयस्का उदारवाच. प्रगल्भगिर. सूतात्मजा वन्दिपुत्राः । 'वैतालिका' इति वा पाठ. । 'वैतालिका बोधकरा.' इत्यमर. । वाग्भि स्तुतिपाठैरुषसि प्राबोधयन्प्रबोधयामासु. ॥

दोनों कर्णों के भूषणों से जिसके मोटे-मोटे दोनों कन्धे दब गये हैं और शय्या के ऊपर बिछाने की चद्दर की रगड़ से जिसके अङ्ग में लगे हुए कस्तूरी आदि अङ्गराग छूट गये हैं, तथा जो उत्तम ज्ञान सम्पन्न हैं ऐसे उन युवराज अज को समान अवस्था वाले प्रगल्भता के साथ बात करने वाले वन्दियों के पुत्र स्तुति-वचनों को कह कर जगाने लगे॥

स्तुतिवचनानि ब्रुवन्तो वन्दिपुत्रा अजनिद्रात्यागे हेतुं प्रदर्शयन्तीत्याह—

रात्रिर्गता मतिमतां वर ! मुञ्च शय्यां धात्रा द्विधैव ननु धूर्जगतो विभक्ता ।
तामेकतस्तव बिभर्ति गुरुर्विनिद्रस्तस्या भवानपरधुर्यपदावलम्बी ॥६६॥

रात्रिरिति । हे मतिमता वर ! निर्धारणे षष्ठी । रात्रिर्गता । शय्यां मुञ्च । विनिद्रो भवेत्यर्थ । विनिद्रत्वे फलमाह—धात्रेति । धात्रा ब्रह्मणा जगतो धूर्भार. । 'धूः स्याद्यानमुखे भारे' इति यादव. । द्विधैव द्वयोरेवेत्यर्थ । एवकारस्तृतीयनिषेधार्थ. । विभक्ता ननु विभज्य स्थापिता खलु । तत्किमत आह—तां धुरमेकत एककोटौ तव गुरु पिता विनिद्र सन्बिभर्ति तस्या धुरो भवान् । धुर वहतीति धुर्यो भारवाही । तस्य पद वहनस्थानम् । अपरं यद् धुर्यपद तदवलम्बी । ततो विनिद्रो भवेत्यर्थ । नह्युभयवाह्यमेको वहतीति भाव ॥ ६६ ॥

हे बुद्धिमानों में श्रेष्ठ अज ! रात बीत गई, अत शय्या को आप छोड़े, अर्थात् निद्रा-त्याग करके उठें, क्योंकि-ब्रह्माजी ने जगत् के पालन का भार दो ही हिस्सों में बाट कर रखा है, उसमें से एक हिस्से के कार्यभार को आप के पिता रघु महाराज निद्रा त्याग कर वहन कर रहे हैं और आप भी उस जगत्पालन रूप कार्यभार के दूसरे हिस्से के भारवहन करने वाले के स्थान का अवलम्बन करें, अर्थात् आप भी उठकर अपने हिस्से के भार को वहन करते हुये पृथ्वी पालन करें । क्योंकि-दो का भार एक नहीं उठा सकता है॥

अथ निद्रात्यागे हेतुभूतं निशावसानमेव चन्द्रस्यास्तमितत्वेन सूचयन्नाह—

निद्रावशेन भवताऽप्यनवेक्ष्यमाणा पर्युत्सुकत्वमबला निशि खण्डितेव।
लक्ष्मीर्विनोदयति येन दिगन्तलम्बी सोऽपि त्वदाननरुचिं विजहाति चन्द्रः॥

चन्द्रारविन्दराजवन्दाद्यो लक्ष्मीनिवासस्थानानीति प्रसिद्धिमाश्रित्योच्यते। निद्रावशेन निद्राधीनेन। स्वप्नावसरोऽत्र व्यज्यते। भवता पर्युत्सुकत्वमपि। त्वत्परितुष्टत्वमपीत्यर्थः। 'प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च' इति सप्तम्यर्थे तृतीया। अपिसम्प्रत्ययपादुगतस्यानपेक्षणयोग्यतार्थः। निशि खण्डिता प्रियतमस्यान्यासङ्गाद्गतेन नायिकेन। 'ज्ञातेऽन्यासङ्गविकृते खण्डितेर्ष्याकषायिता' इति दशरूपके। अनपेक्ष्यमाणा अविचार्यमाणा सती। उपेक्ष्यमाणेत्यर्थः। 'ह्यनवेक्ष्यमाणा' इति पाठे निद्रावशेन भवताऽनवेक्ष्यमाणाऽनिरीक्ष्यमाणा। कर्मणि शानच्। लक्ष्मीः अबला स्त्री येन प्रयोज्येन चन्द्रेण पर्युत्सुकत्वं त्वद्विरहवेदनाम्। 'कामजन्यमनौ-त्सुक्यं मनस्तापमरतिं विदुः' इत्यलङ्कारे। विनोदयति निरासयतीति योजना। शेषं पूर्ववत्। (वाक्यस्यार्थोपपत्तिमपरथाभिसं पचमुपैषि)। लक्ष्मीर्येन चन्द्रेण सह। स्वप्नावसरसत्त्वादिति भावः। विनोदयति विनोदं करोति। विनोदशब्दात्। 'तत्करोति तदाचष्टे' इति णिच्प्रत्ययः। सादृश्यसम्बन्धाद्यो हि विरहिणां विनोदस्थानानीति भावः। स चन्द्रोऽपि दिगन्तलम्बी पश्चिमाशां गतः सन्। अस्तं गच्छन्नित्यर्थः। अत एव त्वदाननरुचिं विजहाति। त्वन्मुखसादृश्यं त्यजतीत्यर्थः। अतो निद्रां विहाय त्वं लक्ष्मीमनन्यशरणां परिगृहाणेति भावः॥ ६७॥

निद्राख्यी रमणी के अधीन हुए आप के विषय में अपनी अनुरक्ति की तरफ रात्रि में खण्डिता नायिका की भाँति कुछ ध्यान नहीं देती हुई अतः-खिन्नचित्त होती हुई लक्ष्मी जिस चन्द्रमा के साथ अपने मन को बहलाती थी वह चन्द्रमा भी इस समय पश्चिम दिशा के अन्त में जाता हुआ अर्थात् अस्त होता हुआ तुम्हारे मुख की कान्ति की भाँति जो अपनी कान्ति है उसको छोड़ रहा है अर्थात् कान्तिहीन हो रहा है। अतः निद्रा को छोड़कर आप जिसका कोई आश्रय नहीं है ऐसी उस लक्ष्मी को ग्रहण करें अर्थात् उठें॥

निशावसानसूचककमलविकाससमारम्भाय नेत्रोन्मीलनौचित्यं सूचयन्नाह—

तद्वल्गुना युगपदुन्मिषितेन तावत् सद्यः परस्परतुलामधिरोहतां द्वे।
प्रस्पन्दमानपरुषेतरतारमन्तश्चक्षुस्तव प्रचलितभ्रमरं च पद्मम्॥ ६८॥

तद्वल्गुनेति। तत्तस्माल्लक्ष्मीपरिग्रहणाद्वल्गुना मनोज्ञेन। 'वल्गु स्थाने मनोज्ञे च वल्गु भाषितमन्यवत्' इति विश्वः। युगपदुन्मिषितेन युगपदेवोन्मिषितेन सद्यो द्वे अपि परस्परतुलामन्योन्यसादृश्यमधिरोहतां प्राप्नुताम्। प्रार्थनायां लोट्। के द्वे। अन्तः प्रस्पन्दमाना चलन्ती परुषेतरा स्निग्धा तारा कनीनिका यस्य तत्तथोक्तम्। 'तारकाऽक्ष्णः कनीनिका' इत्यमरः। तव चक्षुः। अन्तः प्रचलितभ्रमरं

चलद्भृङ्गं पद्मं च। युगपदुन्मेषे सति सम्पूर्णसादृश्यलाभ इति भावः॥ ६८॥

इस (लक्ष्मी के स्वीकार करने के) कारण से सुन्दर जो साथ ही साथ एकही क्षण में आँख का खुलना और कमल का खिलना ये दोनों व्यापार हैं उनसे शीघ्र उसी क्षण में दोनों ही परस्पर एक दूसरे की बराबरीको प्राप्त करें, वे दोनों कौन-एक तो भीतर कुछ-कुछ चलती हुई चिकनी काली पुतलियों वाली तुम्हारी आँखें और दूसरे भीतर कुछ कुछ चलते हुए भौंरों से युक्त कमल, अर्थात्-साथ ही साथ खुलने और खिलने से आँखों की और कमलों की पूर्ण रूप से समानता हो जायगी, अर्थात् आप आँखें खोलें, कमल खिल रहे हैं॥

अथ निशाऽवसानसूचकं प्रातःकालीन मन्दसुगन्धिपवन वर्णयन्नाह—

वृन्ताच्छ्लथ हरति पुष्पमनोकहानां संसृज्यते सरसिजैररुणांशुभिन्नैः।
स्वाभाविकं परगुणेन विभातवायुः सौरभ्यमीप्सुरिव ते मुखमारुतस्य॥

वृन्तादिति। विभातवायुः प्रभातवायु स्वाभाविक ते तव मुखमारुतस्य निःश्वासपवनस्य सौरभ्यम्। तादृक्सौगन्ध्यमित्यर्थः। परगुणेन। साक्रामिकगन्धेनेत्यर्थः। ईप्सुराप्तुमिच्छुरिव। 'आप्ज्ञप्यृधामीत्' इतीकारादेशः। अनोकहानां वृक्षाणां श्लथ शिथिलं पुष्प वृन्तात्पुष्पबन्धनात्। 'वृन्त प्रसवबन्धनम्' इत्यमरः। हरत्यादत्ते। अरुणांशुभिन्नैस्तरणिकिरणोद्बोधितैः सरसि जातैः सरसिजैः कमलैः सह। 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इति सप्तम्या अलुक्। संसृज्यते सङ्गच्छते। सृजेर्दैवादिकात्कर्त्तरि लट्॥ ६९॥

प्रातःकाल की वायु स्वाभाविक तुम्हारे मुख की निःश्वास-वायु की सुगन्धि के समान सुगन्धिको दूसरे के गुण से अर्थात् दूसरे से प्राप्त किये हुए गन्ध के द्वारा प्राप्त करने की इच्छा से, मानों वृक्षों के शिथिल हुये पुष्पों को वृन्त अर्थात् फूलों के बन्धन-स्थानों से अलग कर रहा है, और सूर्य की किरणों से विकसित कमलों के साथ सङ्गत हो रहा है, अर्थात्-फूलों के और कमलों के गन्ध को ग्रहण करता हुआ बह रहा है, अतः सूर्योदय का समय हो रहा है आप उठें॥ ६९॥

अथ तरुपल्लवस्थित हिमाम्भोवर्णनपुरःसर निशाऽवसान सूचयन्नाह—

ताम्रोदरेषु पतितं तरुपल्लवेषु निर्धौतहारगुलिकाविशदं हिमाम्भः।
आभाति लब्धपरभागतयाऽधरोष्ठे लीलास्मितं सदशनार्चिरिव त्वदीयम्॥

ताम्रोदरेष्विति। ताम्रोदरेष्वरुणाभ्यन्तरेषु पतित निर्धौता या हारगुलिका मुक्तामणयस्तद्वद्विशद हिमाम्भो लब्धपरभागतया लब्धोत्कर्षतया। 'परभागो गुणोत्कर्षः' इति यादवः। अधरोष्ठे त्वदीय सदशनार्चिर्दन्तकान्तिसहित लीलास्मितमिवाभाति शोभते॥ ७०॥

ताम्र के समान लाल वर्ण से युक्त जिनका मध्य भाग है, ऐसे वृक्षों के नवीन पल्लवों में गिरे हुए स्वच्छ मोतियों के हार के गुच्छे की भाँति विमल ओस की बूँदें उत्कर्ष

को प्राप्त किये हुये होने से जैसे मौंसे में ओष्ठ में तुम्हारी दाँतों की कान्ति के सहित लीला पूर्वक मन्द हास्य सुशोभित होता है उसी भाँति सुशोभित हो रहा है। क्योंकि सूर्योदय होना चाहता है। अतः आप उठें॥ ७० ॥

यावत्प्रतापनिधिराक्रमते न भानुरह्राय तावदरुणेन तमो निरस्तम्।
आयोधनाग्रसरतां त्वयि वीर याते किं वा रिपूंस्तव गुरुः स्वयमुच्छिनत्ति॥

यावदिति। प्रतापनिधिस्तेजोनिधिर्भानुर्नाक्रमते नोद्गच्छति। 'आङ उद्गमे' इत्यात्मनेपदम्। तावद् भानावनुदित एवेत्यर्थः। अह्राय झटिति। 'द्राक् झटित्यञ्जसाह्राय' इत्यमरः। अरुणेनानूरुणा। 'सूर्यसूतोऽरुणोऽनूरुः' इत्यमरः। तमो निरस्तम्। तथाहि। हे वीर!। त्वय्यायोधनेषु युद्धेषु। 'युद्धमायोधनं जन्यम्' इत्यमरः। अग्रसरतां याते सति तव गुरुः पिता रिपूंस्त्वमुच्छिनत्ति किं वा। नोच्छिनत्त्येवेत्यर्थः। न ह्यहो योग्यपुत्रन्यस्तभाराणां स्वामिनां स्वयं व्यापारखेद इति भावः॥

तेज के निधि सूर्य भगवान् जब तक उदय नहीं हो पाते तब तक उनके पहिले ही अरुण से सूर्य के सारथि 'अरुण' ही अन्धकार को दूर कर देते हैं अतः हे वीर! युवराज अज आपके रण से आगे युद्ध में रहने वाले होते हुये आपके पिता रघु महाराज शत्रुओं को क्या स्वयम् उच्छिन्न करते हैं नहीं कदापि नाश करते हैं अतः आप अब भी उठें॥

सम्प्रति ते सेनाग्रस्थगजा अपि विनिद्रा जाता अतस्त्वमपि विनिद्रो भवेत्याह—

शय्यां जहत्युभयपक्षविनीतनिद्राः स्तम्बेरमा मुखरशृङ्खलकर्षिणस्ते।
येषां विभान्ति तरुणारुणरागयोगाद्भिन्नाद्रिगैरिकतटा इव दन्तकोशाः॥

शय्यामिति। उभाभ्यां पक्षाभ्यां विनीता अपगता निद्रा येषां त उभयपक्षविनीतनिद्राः। अत्र समासविषये उभशब्दस्थाने उभयशब्दप्रयोग एव साधुरित्यनुसन्धेयम्। यथाऽऽह कैयटः—'उभादुदात्तो नित्यमि'ति नित्यग्रहणस्येदं प्रयोजनं वृत्तिविषये उभशब्दस्य प्रयोगो माभूत्। उभयशब्दस्यैव यथा स्यात् उभयपुत्र इत्यादि भवति इति। मुखराञ्छब्दायमानाञ्छृङ्खलान्निगडानि विकर्षन्तीति तथोक्तास्त एव तव स्तम्बे रमन्त इति स्तम्बेरमा हस्तिनः। 'स्तम्बकर्णयो रमिजपोः' इत्यच्प्रत्ययः। 'हस्तिसूचकयोः' इति वक्तव्यात्। 'इभः स्तम्बेरमः पद्मी' इत्यमरः। 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इति सप्तम्या अलुक्। शय्यां जहति त्यजन्ति। येषां स्तम्बेरमाणाम्। दन्ताः कोशा इव दन्तकोशाः दन्तकुड्मलास्तरुणा-रुणरागयोगाद् बालार्कारुणसम्पर्काद्धेतोर्भिन्नाद्रिगैरिकतटा इव विभान्ति। धातुरक्ता इव भान्तीत्यर्थः॥ ७२॥

दोनों पार्श्वों से करवट बदलने से जिनकी नींद पूरी हो चुकी है अब वह अपने के बन्धन शृङ्खलाओं से झन् झन् शब्द करते हुए थोड़े से बने हुये हाथियों को पीछ

रहे हैं, ऐसे आपकी सेना के सभी गजेन्द्र शय्या का त्याग कर रहे हैं, अर्थात् अपने अपने सयन करने के स्थानों से उठ रहे हैं, और जितने खिलने के नजदीक आई हुई कलियां के समान दाँत प्रातःकाल में उदय होते हुये सूर्य की लाल-लाल किरणों के सम्पर्क होने से कटे हुये पर्वत के गेरू के टुकड़े की भाँति मालूम पड़ते हुये सुशोभित हो रहे हैं। अर्थात् हाथी भी सोकर के उठ गये, अब आपको भी उठना चाहिये ॥ ७२ ॥

अथ सेनाऽश्वा अपि विगतनिद्रा जाता इति ब्रुवन्तो वन्दिपुत्रा आहुरित्याह—

दीर्घेष्वमी नियमिताः पटमण्डपेषु निद्रां विहाय वनजाक्ष ! वनायुदेश्याः।
वक्त्रोष्मणा मलिनयन्ति पुरोगतानि लेह्यानि सैन्धवशिलाशकलानि वाहाः॥

दीर्घेष्विति। हे वनजाक्ष ! नीरजाक्ष !। 'वनं नीरं वनं सत्वम्' इति शाश्वतः। दीर्घेषु पटमण्डपेषु नियमिता बद्धा वनायुदेश्या वनायुदेशे भवा। 'पारसीका वनायुजा' इति हलायुधः। अमी वाहा अश्वा निद्रां विहाय पुरोगतानि लेह्यान्यास्वाद्यानि सैन्धवशिलाशकलानि। 'सैन्धवोऽस्त्री शीतशिवं मणिमन्थं च सिन्धुजे' इत्यमरः। वक्त्रोष्मणा मलिनयन्ति मलिनानि कुर्वन्ति। उक्तं च सिद्धयोगसंग्रहे— पूर्वाह्णकाले चाश्वानां प्रायशो लवणं हितम्। शूलमोहविबन्धघ्नं लवणं सैन्धवं वरम् ॥ इत्यादि ॥ ७३ ॥

हे कमलनयन ! अज ! कपड़ों के बने हुये बड़े बड़े मण्डपों में बँधे हुये पारस देश में उत्पन्न हुये (पारसी) ये आप की सेना के घोड़े निद्रा त्याग कर उठे हुये, आगे रखे हुये चाटने लायक सेंधा नमक की चट्टानों के टुकड़ों को अपने मुख की वायु की गर्मी से अर्थात् भाफ से मलिन कर रहे हैं ॥ ७३ ॥

भवति विरलभक्तिर्म्लानपुष्पोपहारः स्वकिरणपरिवेषोद्भेदशून्याः प्रदीपाः।
अयमपि च गिरं नस्त्वत्प्रबोधप्रयुक्तामनुवदति शुकस्ते मञ्जुवाक्पञ्जरस्थः॥

भवतीति। म्लानः पुष्पोपहारः पुष्पपूजा म्लानत्वादेव विरलभक्तिर्विरलरचनो भवति। प्रदीपाश्च स्वकिरणानां परिवेषस्य मण्डलस्योद्भेदेन स्फुरणेन शून्या भवन्ति। निस्तेजस्का भवन्तीत्यर्थः। अपि चायं मञ्जुवाङ् मधुरवचनः पञ्जरस्थस्ते तव शुकस्त्वत्प्रबोधनिमित्तेन प्रयुक्तामुच्चारितां नोऽस्माकं गिरं वाणीमनुवदति। अनुकृत्य वदतीत्यर्थः। इत्थं प्रभातलिङ्गानि वर्तन्ते, अतः प्रबोद्धव्यमिति भावः॥

उपहार में आये हुये पुष्पों के मुरझा जाने से उनकी रचना (गुथाई) ढीली हो गई है, और दीपक अपने अपने प्रभामण्डल की चमक से रहित हो रहे हैं, अर्थात्—दीपकों की प्रभा फीकी हो गई है, अतः इन सब पूर्वोक्त लक्षणों से पूरा सबेरा हो गया है, और यह सुन्दर बोलने वाला पिंजरे में रखा हुआ आपका सूगा भी आप को जगाने के लिये कहे गये हम लोगों के पूर्वोक्त वचनों का अनुकरण करके बोल रहा है, अतः आप निद्रा का त्याग करके उठें ॥ ७४ ॥

इति विरचितवाग्भिर्वन्दिपुत्रैः कुमारः सपदि विगतनिद्रस्तल्पमुज्झाञ्चकार।
मदपटु निनदद्भिर्बोधितो राजहंसैः सुरगज इव गाङ्गं सैकतं सुप्रतीकः॥

इतीति। इतीत्थं विरचितवाग्भिर्बन्दिपुत्रैर्वैतालिकैः। पुत्रग्रहणं समानवयस्कत्वद्योतनार्थम्। सपदि विगतनिद्रः कुमारः। तल्पं शय्याम्। 'तल्पं शय्याट्टदारेषु' इत्यमरः। उज्झाञ्चकार विससर्ज। इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' इत्याम्प्रत्ययः। कथमिव। मदेन पटु मधुरं निनदद्भी राजहंसैर्बोधितः सुप्रतीकाख्यः। सुरगज ऐशानदिग्गजः। गङ्गाया इदं गाङ्गं सैकतं पुलिनमिव। तोयोत्थितं तत्पुलिनं सैकतं सिकतामयम् इत्यमरः। 'सिकताशर्कराभ्यां च' इत्यण्प्रत्ययः। सुप्रतीकग्रहणं प्रायशः कैलासवासिनस्तस्य नित्यं गङ्गातटविहारसम्भवादित्यनुसन्धेयम् ॥ ७५ ॥

इस प्रकार से स्तुति-वचनों की रचना जिन्होंने की है ऐसे वन्दि पुत्रों से जिनकी निद्रा दूर हो गई थी ऐसे कुमार अज ने शय्या को उस तरह से परित्याग किया जिस तरह से हर्ष से मधुर शब्द करते हुये राजहंसों से जगाया गया, 'सुप्रतीक' नामक ईशान दिशा का दिग्गज गङ्गा के रेतीले तट का परित्याग करता है ॥ ७५ ॥

अथ विधिमवसाय्य शास्त्रदृष्टं दिवसमुखोचितमञ्चिताक्षिपक्ष्मा।
कुशलविरचितानुकूलवेषः क्षितिपसमाजमगात्स्वयंवरस्थम् ॥७६॥

अथेति। अथोत्थानानन्तरमञ्चितानि चारूणि पक्ष्माणि यस्य सोऽजः शास्त्रदृष्टं दिवसमुखोचितं प्रातःकालोचितं विधिमनुष्ठानमवसाय्य समाप्य। स्यतेर्ण्यन्ताल्ल्यप्। कुशलैः प्रसाधनदक्षैर्विरचितोऽनुकूलः स्वयंवरोचितो वेषो नेपथ्यं यस्य स तथोक्तः सन् स्वयंवरस्थं क्षितिपसमाजं राजसमूहमगात् अगमत्। 'इणो गा लुङि' इति गादेशः। पुष्पिताग्रा वृत्तमेतत्। तल्लक्षणम् 'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' इति ॥ ७६ ॥

इति पञ्चमसर्गः म० म० कोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितसञ्जीविनीटीका समाप्ता।

इसके बाद [illegible] के बाद [illegible] सुन्दर पलकों वाले अज [illegible] प्रातःकाल के योग्य [illegible] अनुष्ठान समाप्त करके [illegible] चतुर पुरुषों के द्वारा अपने स्वयंवर में जाने के योग्य उत्तम वेष बनाकर स्वयंवर में बैठे हुए राजसमूह में गये ॥ ७६ ॥

इति [illegible] विरचिता [illegible] टीका समाप्ता।

रघुवंशमहाकाव्यम्

'घण्टापथ' 'मणिप्रभा' टीकाद्वयोपेतम् ।

षष्ठः सर्गः ।

जाह्नवी मूर्ध्नि पादे वा कालः कण्ठे वपुष्यथ ।
कामारिं कामतातं वा कञ्चिद्देवं भजामहे ॥

स तत्र मञ्चेषु मनोज्ञवेषान्सिंहासनस्थानुपचारवत्सु ।
वैमानिकानां मरुतामपश्यदाकृष्टलीलान्नरलोकपालान् ॥ १ ॥

स इति । सोऽजस्तत्र स्थाने उपचारवत्सु राजोपचारवत्सु मञ्चेषु पर्यङ्केषु सिंहासनस्थान्मनोज्ञवेषान्मनोहरनेपथ्यान्वैमानिकानां विमानैश्चरताम् । 'चरति' इति ठक्प्रत्ययः । मरुताममराणाम् । 'मरुतौ पवनामरौ' इत्यमरः । आकृष्टलीलान्गृहीतसौभाग्यान्, आकृष्टमरुल्लीलानित्यर्थः । सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्समासः । नरलोकं पालयन्तीति नरलोकपालाः । कर्मण्यण्प्रत्ययः । तान्भूपालानपश्यत् । सर्गेऽस्मिन्नुपजातिश्छन्दः ॥ १ ॥

सुरनदी शिर या चरणमें श्यामता गल कण्ठमें ।
कामके रिपु वा पिता उस देवको हम नित भजें ॥

उस अजने राजकीय साधनोंसे सजाये गये मञ्चोंपर सुन्दर वेषवाले तथा विमानस्थ देवताओंके अनुकरण करनेवाले राजाओंको उस स्वयंवरमें देखा ॥ १ ॥

रतेर्गृहीतानुनयेन कामं प्रत्यर्पितस्वाङ्गमिवेश्वरेण ।
काकुत्स्थमालोकयतां नृपाणां मनो बभूवेन्दुमतीनिराशम् ॥ २ ॥

रतेरिति । 'रतिः स्मरप्रियायां च रागे च सुरते स्मृता' इति विश्वः । रतेः कामप्रियाया गृहीतानुनयेन स्वीकृतप्रार्थनेन, गृहीतरत्यनुनयेनेत्यर्थः । सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्समासः । ईश्वरेण हरेण प्रत्यर्पितस्वाङ्गं काममिव स्थितं काकुत्स्थमजमालोकयतां नृपाणां मन इन्दुमतीनिराशं वैदर्भीनिःस्पृहं बभूव । इन्दुमती सत्पतिमेनं विहाय नास्मान्वरिष्यतीति निर्विण्णमित्यर्थः । सर्वातिशयसौन्दर्यमस्येति भावः ॥२॥

रति (कामपत्नी) की प्रार्थनाको स्वीकारकर शिवजीसे फिर अपने शरीरको प्राप्त किये

हुए कामके समान अजको देखते हुए राजाओंका मन इन्दुमती (की पाने) से निराश हो गया ॥ २ ॥

वैदर्भनिर्दिष्टमसौ कुमारः क्लृप्तेन सोपानपथेन मञ्चम् ।
शिलाविभङ्गैर्मृगराजशावस्तुङ्गं नगोत्सङ्गमिवारुरोह ॥ ३ ॥

वैदर्भेति । असौ कुमारो वैदर्भेण भोजेन निर्दिष्टं प्रदर्शितं मञ्चं पर्यङ्कं क्लृप्तेन सुविहितेन सोपानपथेन । मृगराजशावः सिंहपोतः । 'पोतः पाकोऽर्भको डिम्भः पृथुकः शावकः शिशुः' इत्यमरः । शिलानां विभङ्गैर्भङ्गीभिस्तुङ्गमुन्नतं नगोत्सङ्गं शैलाग्रमिव आरुरोह ॥ ३ ॥

वे कुमार (अज) विदर्भनरेश (भोज) से बतलाये गये मञ्चपर बनाये गये सीढ़ीके रास्तेसे पत्थरोंके रास्तेसे पहाड़पर सिंहके बच्चेके समान चढ़ गये ॥ ३ ॥

परार्ध्यवर्णास्तरणोपपन्नमासेदिवान्रत्नवदासनं सः ।
भूयिष्ठमासीदुपमेयकान्तिर्मयूरपृष्ठाश्रयिणा गुहेन ॥ ४ ॥

परार्ध्येति । परार्ध्यः श्रेष्ठो वर्णो नीलपीतादिर्यस्य तेनास्तरणेन कम्बलादिनोपपन्नं युक्तं रत्नवद्रत्नखचितमासनं सिंहासनमासेदिवानधिष्ठितवान्सोऽजः मयूरपृष्ठाश्रयिणा गुहेन सेनान्या स्कन्देन । 'सेनानीरग्निभूर्गुहः' इत्यमरः । भूयिष्ठमत्यर्थमुपमेयकान्तिरासीत् । मयूरस्य विचित्रवर्णत्वादास्तरणसाम्यं रत्नासनस्य । तद्द्वारा च तदारूढयोरपीति भावः ॥ ४ ॥

बहुमूल्य रंगीन चादरसे बिछाये गये रत्नजटित आसनपर बैठे हुए वे अज मोरकी पीठपर बैठे हुए कार्तिकेयके समान अधिक शोभमान हुए ॥ ४ ॥

तासु श्रिया राजपरम्परासु प्रभाविशेषोदयदुर्निरीक्ष्यः ।
सहस्रधात्मा व्यरुचद्विभक्तः पयोमुचां पङ्क्तिषु विद्युतेव ॥ ५ ॥

तास्विति । तासु राजपरम्परासु श्रिया कान्त्या पयोमुचां मेघानां पङ्क्तिषु विद्युतेव सहस्रधा विभक्तः शरीरेषु तरणिरिव स्वयमेक एव प्रत्येकं संक्रमित इत्यर्थः । प्रभाविशेषस्योदयेनाविर्भावेन दुर्निरीक्ष्यो दुर्दर्शन आत्मा विग्रहः व्यरुचद्रोचते स्म । 'द्युद्भ्यो लुङि' इति परस्मैपदम् । पुषादित्वादङ्प्रत्ययः । तस्मिन् समये प्रत्येकं संक्रान्तकमनीयतया तैर्न किमपि दुरासदं तेजः प्रादुरासीदित्यर्थः ॥ ५ ॥

उन राजपङ्क्तियोंमें लक्ष्मी (शोभा) से हजारों भागोंमें (राजाओंमें सूर्यके समान) आत्माको दिखाते हुए वे अज, मेघपङ्क्तियोंमें बिजलीसे हजारों भागोंमें विभक्त (सब तरफ फैलाये गये) आत्मा अर्थात् मध्याह्नके समान शोभित हुए ॥ ५ ॥

तेषां महार्हासनसंस्थितानामुदारनेपथ्यभृतां स मध्ये ।
रराज धाम्ना रघुसूनुरेव कल्पद्रुमाणामिव पारिजातः ॥ ६ ॥

तेषामिति । महार्हासनसंस्थितानां श्रेष्ठसिंहासनस्थानाम् । उदारनेपथ्यभृतामुज्ज्वलवेषधारिणां तेषां राज्ञां मध्ये । कल्पद्रुमाणां मध्ये पारिजात इव सुरद्रुमविशेष इव । 'पञ्चैते देवतरवो मन्दारः पारिजातकः । संतानः कल्पवृक्षस्य पुंसि वा हरिचन्दनम्' इत्यमरः । स रघुसूनुरेव धाम्ना तेजसा । 'भूम्ना' इति पाठेऽतिशयेनेत्यर्थः । रराज । अत्र कल्पद्रुमशब्दः पञ्चान्यतमविशेषवचनः, उपकल्पयन्ति मनोरथानिति व्युत्पत्त्या सुरद्रुममात्रोपलक्षकतया प्रयुक्त इत्यनुसन्धेयम् । कल्पा इति द्रुमाः कल्पद्रुमा इति विग्रहः ॥ ६ ॥

बहुमूल्य आसनोंपर बैठे हुए तथा श्रेष्ठ भूषणोंको पहने हुए उन राजाओंके बीचमें रघुकुमार अज ही, कल्पद्रुमोंके बीचमें पारिजातके समान अपने तेजसे शोभायमान हुए ॥ ६ ॥

नेत्रव्रजाः पौरजनस्य तस्मिन्विहाय सर्वान्नृपतीन्निपेतुः ।
मदोत्कटे रेचितपुष्पवृक्षा गन्धद्विपे वन्य इव द्विरेफाः ॥ ७ ॥

नेत्रेति । पौरजनस्य नेत्रव्रजाः सर्वान्नृपतीन्विहाय तस्मिन्नजे निपेतुः । स एव सर्वोत्कर्षेण ददृश इत्यर्थः । कथमिव—मदोत्कटे मदेनोद्भिन्नगण्डे निर्भरमदे वा वन्ये गन्धप्रधाने द्विपे गजे । रेचिता रिक्तीकृताः पुष्पाणां वृक्षा यैस्ते, त्यक्तपुष्पवृक्षा इत्यर्थः । द्विरेफा भृङ्गा इव । द्विपस्य वन्यविशेषणं द्विरेफाणां पुष्पवृक्षत्यागसम्भवार्थं कृतम् ॥ ७ ॥

नागरिकोंकी दृष्टि सब राजाओंको छोड़कर उस अजपर ही उस प्रकार गयी, जिस प्रकार भौंरे फूले हुए वृक्षोंको छोड़कर तीव्र गन्धवाले हाथी (के गण्डस्थल) पर जाते हैं ॥ ७ ॥

त्रिभिर्विशेषमाह—

अथ स्तुते बन्दिभिरन्वयज्ञैः सोमार्कवंश्ये नरदेवलोके ।
सञ्चारिते चागुरुसारयोनौ धूपे समुत्सर्पति वैजयन्तीः ॥ ८ ॥

अथेति । अथान्वयज्ञै राजवंशाभिज्ञैर्बन्दिभिः स्तुतिपाठकैः । 'बन्दिनः स्तुतिपाठकाः' इत्यमरः । सोमार्कवंश्ये सोमसूर्यवंशभवे नरदेवलोके राजसमूहे स्तुते सति । विवेशेत्युत्तरेण सम्बन्धः । एवमुत्तरत्रापि योज्यम् । सञ्चारिते समन्तात्प्रचारिते । अगुरुसारो योनिः कारणं यस्य तस्मिन्धूपे च वैजयन्तीः पताकाः समुत्सर्पति सति अतिक्रम्य गच्छति सति ॥ ८ ॥

इसके बाद वंश (की परम्परा) को जाननेवाले बन्दियोंसे सूर्यवंशी तथा चन्द्रवंशी राजाओंके प्रशंसित होनेपर अर्थात् प्रशंसात्मक वचनोंसे परिचय दिये जानेपर, जलाये गये अगरकी धूपवत्तियों (के धूएँ) को पताकाओंसे ऊपर तक फैलते रहनेपर—॥ ८ ॥

पुरोपकण्ठोपवनाश्रयाणां कलापिनामुद्धतनृत्यहेतौ ।
प्रध्मातशङ्खे परितो दिगन्तांस्तूर्यस्वने मूर्च्छति मङ्गलार्थे ॥ ९ ॥

पुर इति । किं च । पुरस्योपकण्ठे समीपे यान्युपवनानि तान्याश्रयो येषां तेषां कलापिनां बर्हिणामुद्धतनृत्यहेतौ मेघध्वनिसादृश्यादुद्दामनृत्यकारणे । प्रध्माताः पूरिताः शङ्खा यस्मिन् तस्मिन् मङ्गलार्थे मङ्गलप्रयोजनके । तूर्यस्वने वाद्यघोषे परितः सर्वतो दिगन्तान् मूर्च्छति व्याप्नुवति सति ॥ ९ ॥

नगरके पार्श्ववर्ती उपवनोंमें रहनेवाले मयूरोंके उद्धत नाचनेका कारण बने हुए तथा शङ्ख बजाने जानेवाले, मङ्गलके लिये तुरही (आदि बाजाओं) की ध्वनिकी दिगन्त तक फैल रहनेपर—॥ ९ ॥

मनुष्यवाह्यं चतुरस्रयानमध्यास्य कन्या परिवारशोभि ।
विवेश मञ्चान्तरराजमार्गं पतिंवरा क्लृप्तविवाहवेषा ॥ १० ॥

मनुष्यवाह्यमिति । पतिं वृणोतीति पतिंवरा स्वयंवरा । 'अथ स्वयंवरा । पतिंवरा च वर्याथ' इत्यमरः । 'संज्ञायां भृतृवृजिधारिसहितपिदमः' इत्यनेन खच्प्रत्ययः । क्लृप्तविवाहवेषा कन्येन्दुमती मनुष्यैर्वाह्यं परिवारेण परिजनेन शोभि चतुरस्रयानं चतुरस्रवाहनं शिबिकामध्यास्यारुह्य मञ्चान्तरे मञ्चमध्ये यो राजमार्गस्तं विवेश ॥ १० ॥

पतिको स्वयं वरण करनेवाली विवाहके भूषणोंको पहनी हुई कुमारी इन्दुमती परिवारोंसे शोभमान तथा मनुष्योंसे ढोये जानेवाले पालकी या तामदानपर सवार होकर मञ्चोंके मध्यमें (बनी हुई) सड़कपर पहुँची ॥ १० ॥

तस्मिन्विधानातिशये विधातुः कन्यामये नेत्रसहस्रलक्ष्ये ।
निपेतुरन्तःकरणैर्नरेन्द्रा देहैः स्थिताः केवलमासनेषु ॥ ११ ॥

तस्मिन्निति । नेत्रसहस्रैकलक्ष्ये एकलक्ष्ये कन्यामये कन्यारूपे तस्मिन्विधातुर्विधानातिशये सृष्टिविशेषे नरेन्द्रा अन्तःकरणैर्निपेतुः । आसनेषु देहैः केवलं देहैरेव स्थिताः । देहानपि विस्मृत्य तत्रैव दत्तचित्ता बभूवुरित्यर्थः । अन्तःकरणानां निपतने नरेन्द्राणां कर्तृत्वव्यपदेश आदरातिशयार्थः ॥ ११ ॥

सैकड़ों नेत्रोंका एक लक्ष्य कन्या (इन्दुमती) रूप ब्रह्माकी श्रेष्ठ रचनामें राजाओंके अन्तःकरण मग्न हो गये और आसनपर (तो वे केवल) शरीरसे बैठे रहे । (इन्दुमतीमें सब राजाओंका अन्तःकरण आकृष्ट हो गया) ॥ ११ ॥

तां प्रत्यभिव्यक्तमनोरथानां महीपतीनां प्रणयाग्रदूत्यः ।
प्रवालशोभा इव पादपानां शृङ्गारचेष्टा विविधा बभूवुः ॥ १२ ॥

तामिति। तामिन्दुमतीं प्रति। अभिव्यक्तमनोरथानां प्ररूढाभिलाषाणां महीपतीनां राज्ञां प्रणयाग्रदूत्यः प्रणयः प्रार्थना प्रेम वा। 'प्रणयास्त्वमी। विस्रम्भयाच्ञाप्रेमाणः' इत्यमरः। प्रणयेष्वग्रदूत्यः प्रथमदूतिका। प्रणयप्रकाशकत्वसाम्याद्दूतीत्वव्यपदेशः। विविधाः शृङ्गारचेष्टाः शृङ्गारविकाराः पादपानां प्रवालशोभाः पल्लवसम्पद इव बभूवुरुत्पन्नाः। अत्र शृङ्गारलक्षणं रससुधाकरे—'विभावैरनुभावैश्च स्वोचितैर्व्यभिचारिभिः। नीता सदस्यरस्यत्वं रतिः शृङ्गार उच्यते'॥ रतिरिच्छाविशेषः। तच्चोक्तं तत्रैव—'यूनोरन्योन्यविशेषस्थायिनीच्छा रतिः स्मृता' इति। चेष्टाशब्देन तदनुभावविशेषा उच्यन्ते। तेऽपि तत्रैवोक्ताः—'भावं मनोगतं साक्षात्स्वहेतुं व्यञ्जयन्ति ये। तेऽनुभावा इति ख्याता भ्रूविक्षेपस्मितादयः॥ ते चतुर्धा चित्तगात्रवाग्बुद्ध्यारम्भसम्भवाः' इति। तत्र गात्रारम्भसम्भवांश्चेष्टाशब्दोक्ताननुभावान् 'कश्चित्'—इत्यादिभिः श्लोकैर्वर्णयति। शृङ्गाराभासश्चायम्। एकत्रैव प्रतिपादनात्। तदुक्तम्—'एकत्रैवानुरागश्चेत्तिर्यक्शब्दगतोऽपि वा। योषितां बहुसक्तिश्चेद्रसाभासस्त्रिधा मतः' इति॥ १२॥

उस इन्दुमतीके प्रति स्पष्ट अभिलाषावाले राजाओंकी प्रेमसम्बन्धिनी प्रथम दूती, वृक्षोंकी नवपल्लवोंकी शोभाके समान, अनेक चेष्टायें (श्लो० १३-१९ में वर्णित) हुईं॥ १२॥

"शृङ्गारचेष्टा बभूवुः" इत्युक्तम्। ता एव दर्शयति—

कश्चित्कराभ्यामुपगूढनालमालोलपत्राभिहतद्विरेफम्।
रजोभिरन्तःपरिवेषबन्धि लीलारविन्दं भ्रमयाञ्चकार॥ १३॥

कश्चिदिति। कश्चिद्राजा कराभ्यां पाणिभ्यामुपगूढनालं गृहीतनालम्। आलोलैश्चञ्चलैः पत्रैरभिहतास्ताडिता द्विरेफा भ्रमरा येन तत्तथोक्तम्। रजोभिः परागै रन्तः परिवेषं मण्डलं बध्नातीत्यन्तःपरिवेषबन्धि। लीलारविन्दं भ्रमयाञ्चकार। करस्थलीलारविन्दवत्त्वयाहं भ्रमयितव्य इति नृपाभिप्रायः। हस्तघूर्णकोऽयमपलक्षणक इतीन्दुमत्यभिप्रायः॥ १३॥

कोई राजा दोनों हाथसे पकडे गये नालदण्डवाले, हिलते हुए पत्तोंसे भ्रमरोंको दूर करनेवाले और भीतरमें परागोंके मण्डल बाधते हुए लीलाकमलको घुमा रहा था। ('मेरे हाथमें स्थित इस लीला—कमलके समान तुम्हारे साथ में भ्रमण करूंगा या तुम मेरे साथ भ्रमण करना' यह राजाका अभिप्राय था और 'हाथको घुमानेवाला यह राजा कुलक्षण है' यह इन्दुमतीका अभिप्राय था)॥ १३॥

विस्रस्तमंसादपरो विलासी रत्नानुविद्धाङ्गदकोटिलग्नम्।
प्रालम्बमुत्कृष्य यथावकाशं निनाय साचीकृतचारुवक्त्रः॥ १४॥

विस्रस्तमिति। विलसनशीलो विलासी। 'वौ कषलसकत्थस्रम्भः' इति घिनुण्प्रत्ययः। अपरो राजांसाद्विस्रस्तं रत्नानुविद्धं रत्नखचितं यदङ्गदं केयूरं तस्य कोटि-

कण्ठे प्रालम्बमृजुलम्बिनीं स्रजम् । 'प्रालम्बमृजुलम्बि स्यात्कण्ठात्' इत्यमरः । 'मा-लाम्' इति पाठे तृतीयं पदम् । वक्त्रयोद्धृत्य साचीकृतं तिर्यक्कृतं चारु वक्त्रं यस्य स तथोक्तः सन् यथास्थानं स्वस्थाने निनाय । मायारोपेणापवृत्तकेनाहं त्वामेवं परिरप्स्य इति नृपाभिप्रायः । योपवीतं किञ्चिद्दोषमपि छलोऽयं मायायुक्त इतीन्दुमत्य-भिप्रायः ॥ १४ ॥

दूसरा विलासी राजा कन्धेसे नीचे सरकी हुई तथा रत्नजटित बिजायठके किनारेमें फँसी हुई मालाको (पाठान्तरसे—दुपट्टेको) मुखको थोड़ा तिर्छा करता हुआ यथास्थान रखा । ('दुपट्टेको हटानेके बहानेसे मैं तुमको इसी प्रकार आलिङ्गन करूँगा' यह राजाका अभिप्राय था और 'यह राजा अपने दूषित अङ्गको छिपा रहा है' यह इन्दुमतीका अभिप्राय था ॥ १४ ॥

आकुञ्चिताग्राङ्गुलिना ततोऽन्यः किञ्चित्समावर्जितनेत्रशोभः ।
तिर्यग्विसंसर्पिनखप्रभेण पादेन हैमं विलिलेख पीठम् ॥ १५ ॥

आकुञ्चितेति । ततः पूर्वोक्तादन्योऽपरो राजा किञ्चित्समावर्जितनेत्रशोभः ईषदधो-न्यासितनेत्रशोभः सन् । आकुञ्चिता आकुञ्चिता अग्राङ्गुल्यो यस्य तेन तिर्यग्विसंसर्पि-ण्यो नखप्रभा यस्य तेन च पादेन हैमं हिरण्मयं पीठं पादपीठं विलिलेख लिलिख-वान् । पादाङ्गुलीनामाकुञ्चनेन त्वं मत्समीपमागच्छेति नृपाभिप्रायः । भूमिविलेख-कोऽयमपलक्षणक इतीन्दुमत्याशया । भूमिविलेखनं तु लक्ष्मीविनाशहेतुः ॥ १५ ॥

इसके अतिरिक्त दूसरा राजा नेत्रको थोड़ा नीचे करके शोभायुक्त होता हुआ आगेकी अङ्गु-लियाँ संकुचित करता हुआ अङ्गुलियोंको थोड़ा सिकोड़कर तिर्छे फैलती हुई नखकान्तिवाले पैरसे सुवर्ण-रचित पादपीठ (सिंहासनके नीचे रखे हुए पायदान) को कुरेदने लगा । ('हे प्रिये ! इन्दु-मति ! तुम मेरे समीप आओ' यह राजाका अभिप्राय था और 'भूमिको कुरेदनेवाले राजाकी लक्ष्मीके विनाशका सूचक अशुभ लक्षण है' ऐसा इन्दुमतीका अभिप्राय था) ॥ १५ ॥

निवेश्य वामं भुजमासनार्धे तत्संनिवेशादधिकोन्नतांसः ।
कश्चिद्विवृत्तत्रिकभिन्नहारः सुहृत्समाभाषणतत्परोऽभूत् ॥ १६ ॥

निवेश्येति । कश्चिद्राजा वामं भुजमासनार्धे सिंहासनैकदेशे निवेश्य संस्थाप्य तत्संनिवेशात्तस्य वामभुजस्य संनिवेशात्संस्थापनादधिकोन्नतोंऽसो वामांसो यस्य स तथोक्तः सन् । विवृत्ते परावृत्ते त्रिके त्रिकप्रदेशे भिन्नहारो कुञ्चितहारः सन् । 'पृष्ठवंशाधरे त्रिकम्' इत्यमरः । सुहृत्समाभाषणतत्परोऽभूत् । वामपार्श्ववर्तिनैव मि-त्रेण समभाषिष्ट प्रवृत्त इत्यर्थः । अत एव विवृत्तत्रिकत्वं उक्तं । त्वया वामाङ्गे स्थि-तया सहैव वार्ता करिष्य इति नृपाभिप्रायः । परं दृष्ट्वा पराङ्मुखोऽयं न कार्यं करोतीतीन्दुमत्यभिप्रायः ॥ १६ ॥

सिंहासनके आधे भागमें बायें हाथको रखकर उस हाथको आसनपर रखनेसे ऊंचे (उठे हुए दहिने) कन्धेवाला तथा पीठपर पहुँचे (लटकते) हुए हारवाला कोई राजा मित्रके साथ बात करने लगा। ('तुमको बायें अङ्कमें बैठाकर इसी प्रकार मैं तुमसे वार्तालाप करूंगा' यह राजाका अभिप्राय था और 'दूसरेके सामने मुख फेर कर कर्तव्यविमुख होनेवाला यह राजा है' यह इन्दुमतीका अभिप्राय था) ॥ १६ ॥

विलासिनीविभ्रमदन्तपत्रमापाण्डुरं केतकबर्हमन्यः।
प्रियानितम्बोचितसन्निवेशैर्विपाटयामास युवा नखाग्रैः ॥ १७ ॥

विलासिनीति। अन्यो युवा विलासिन्याः प्रियाया विभ्रमार्थं दन्तपत्रं दन्तपत्रभूतमापाण्डुरं केतकबर्हं केतकदलम्। 'दलेऽपि बर्हम्' इत्यमरः। प्रियानितम्ब उचितसन्निवेशैरभ्यस्तनिक्षेपणैर्नखाग्रैर्विपाटयामास विदारयामास। अहं तव नितम्ब एव नखव्रणादीन्दास्यामीति नृपाशयः। तृणच्छेदकवत्पत्रपाटकोऽयमपलक्षणक इतीन्दुमत्याशयः॥ १७ ॥

दूसरा युवक राजा विलासिनियोंके विलासार्थ निर्मित दन्तपत्रवाले एवं श्वेतवर्ण केतकी-पुष्पके पत्तेको प्रियाके नितम्बपर रखने योग्य अर्थात् प्रियाके नितम्बको विलिखित करनेवाले नखाग्रोंसे खुरचता था। ('मैं तुम्हारे नितम्बपर सम्भोगकालमें इसी प्रकार नखाग्रोंसे विलेखन करूंगा' यह राजाका अभिप्राय था और 'तृणच्छेदन करनेकी अशुभ प्रकृतिवाला यह केतकी-पुष्पके पत्रको विदीर्ण कर रहा है' यह इन्दुमती का अभिप्राय था) ॥ १७ ॥

कुशेशयाताम्रतलेन कश्चित्करेण रेखाध्वजलाञ्छनेन।
रत्नाङ्गुलीयप्रभयानुविद्धानुदीरयामास सलीलमक्षान् ॥ १८ ॥

कुशेशयेति। कश्चिद्राजा कुशेशयं शतपत्रमिवाताम्रं तलं यस्य तेन। 'शतपत्रं कुशेशयम्' इत्यमरः। रेखारूपो ध्वजो लाञ्छनं यस्य तेन करेण। अङ्गुलीषु भवान्यङ्गुलीयान्यूर्मिकाः। 'अङ्गुलीयकमूर्मिका' इत्यमरः। 'जिह्वामूलाङ्गुलेश्छः' इति छप्रत्ययः। रत्नानामङ्गुलीयानि तेषां प्रभयानुविद्धान्व्याप्तानक्षान्पाशान्। 'अक्षास्तु देवनाः पाशकाश्च ते' इत्यमरः। सलीलमुदीरयामासोत्चिक्षेप। अहं त्वया सहैव रंस्य इति नृपाभिप्रायः। अक्षचातुर्येण कापुरुषोऽयमितीन्दुमत्यभिप्रायः। 'अक्षैर्मा दीव्येत्' इति श्रुतिनिषेधात्॥ १८ ॥

कोई राजा कमलके समान लाल तलहत्थीवाले तथा ध्वजाके चिह्नसे युक्त रेखावाले हाथसे, रत्न जड़ी हुई अंगूठीकी कान्तिसे युक्त पाशेको उछाल रहा था। ('मैं तुम्हारे साथ इसी प्रकार रमण करूंगा' यह राजाका अभिप्राय था और 'यह जुआरी है' यह इन्दुमतीका अभिप्राय था) ॥ १८ ॥

कश्चिद्यथाभागमवस्थितेऽपि स्वसंनिवेशाद्व्यतिलङ्घिनीव ।
वज्रांशुगर्भाङ्गुलिरन्ध्रमेकं व्यापारयामास करं किरीटे ॥ १९ ॥

कश्चिदिति । कश्चिद्यथाभागं यथास्थानमवस्थितेऽपि स्वसंनिवेशाद्व्यतिलङ्घिनीव स्वस्थानाच्चलित इव किरीटे वज्राणां हीरकाणामंशवो गर्भे येषां तान्यङ्गुलिरन्ध्राणि यस्य तमेकं करं व्यापारयामास । किरीटवन्मम शिरसि स्थितामपि त्वां भारं न मन्ये इति नृपाभिप्रायः । शिरसि न्यस्तहस्तोऽयमपकृष्ट इतीन्दुमत्यभिप्रायः ॥ १९ ॥

कोई राजा उचित स्थानपर स्थित होनेपर भी इधर-उधर हटे हुएके समान मुकुटपर हीरेकी किरणोंसे युक्त अङ्गुलिछिद्रोंवाले हाथको मुकुटपर रखा । (मस्तकपर रहनेपर भी तुमको मुकुटके समान भार नहीं समझूंगा यह राजाका अभिप्राय था और 'मस्तकपर हाथ रखनेवाला यह कुलक्षण राजा है' यह इन्दुमतीका अभिमत था) ॥ १९ ॥

ततो नृपाणां श्रुतवृत्तवंशा पुंवत्प्रगल्भा प्रतिहाररक्षी ।
प्राक्संनिकर्षं मगधेश्वरस्य नीत्वा कुमारीमवदत्सुनन्दा ॥ २० ॥

तत इति । ततोऽनन्तरं नृपाणां श्रुतवृत्तवंशा श्रुतनृपवृत्तवंशेत्यर्थः । सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्समासः । प्रगल्भा वाग्मिनी सुनन्दा सुनन्दाख्या प्रतिहारं रक्षतीति प्रतिहाररक्षी द्वारपालिका । कर्मण्यणप्रत्ययः । 'टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः' इत्यनेन ङीप् । प्राक्प्रथमं कुमारीमिन्दुमतीम् । मगधेश्वरस्य संनिकर्षं समीपं नीत्वा पुंवत्पुंसा तुल्यम् । 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इति वतिप्रत्ययः । अवदत् ॥ २० ॥

इसके बाद राजाओंके आचरण एवं वंश-परम्पराको जाननेवाली तथा ढीठ (अथवा पुरुषके समान ढीठ) द्वारपालिका 'सुनन्दा' पहले कुमारी इन्दुमतीको मगधनरेशके समीप लेजाकर पुरुषके समान बोली ॥ २० ॥

असौ शरण्यः शरणोन्मुखानामगाधसत्त्वो मगधप्रतिष्ठः ।
राजा प्रजारञ्जनलब्धवर्णः परंतपो नाम यथार्थनामा ॥ २१ ॥

असाविति । असौ राजा । असाविति पुरोवर्तिनो निर्देशः । एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् । शरणोन्मुखानां शरणार्थिनां शरण्यः शरणे रक्षणे साधुः, 'तत्र साधुः' इति यत्प्रत्ययः । शरणं गृहरक्षित्रोः शरण्य इति नामनिर्देशोऽर्थमूलेन । अगाधसत्त्वो गम्भीरस्वभावः । 'सत्त्वं गुणे पिशाचादौ बले द्रव्यस्वभावयोः' इति विश्वः । मगधा जनपदास्तेषु प्रतिष्ठास्पदं यस्य स मगधप्रतिष्ठः, 'प्रतिष्ठा कृत्यमास्पदम्' इत्यमरः । प्रजारञ्जने लब्धवर्णो विचक्षणः । अथवा प्रजारञ्जनेन लब्धकीर्तिः । परान्शत्रूंस्तापयतीति परंतपः परन्तपः । 'द्विषत्परयोस्तापेः' इति खच्प्रत्ययः । 'खचि ह्रस्वः' इति ह्रस्वः ।

'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' इति मुमागम. । नामेति प्रसिद्धौ, यथार्थनामा, शत्रुसन्तापनादिति भाव. ॥ २१ ॥

यह शरणार्थियोंके लिये शरण्य (शरणागतोंके साथ सद्व्यवहार करनेवाला), अपरिमित बलवाला, मगध देशकी प्रतिष्ठा अर्थात् मगध देशमें रहनेवाला, प्रजाओंके अनुरञ्जन करनेमें विद्वान् और शत्रुओंको सन्तप्त करनेसे यथार्थ नामवाला 'परन्तप' नामक राजा है ॥ २१ ॥

काम नृपा. सन्तु सहस्रशोऽन्ये राजन्वतीमाहुरनेन भूमिम् ।
नक्षत्रताराग्रहसङ्कुलापि ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः ॥ २२ ॥

काममिति । अन्ये नृपा' कामं सहस्रश सन्तु । भूमिमनेन राजन्वतीं शोभनराजवतीमाहु, नैतादृक्कश्चिदस्तीत्यर्थ । 'सुराज्ञि देशे राजन्वान्स्यात्ततोऽन्यत्र राजवान्' इत्यमर । 'राजन्वान्सौराज्ये' इति निपातनात्साधु' । तथा हि—नक्षत्रैरश्विन्यादिभिस्ताराभि साधारणैर्ज्योतिर्भिर्ग्रहैर्भौमादिभिश्च सङ्कुलापि रात्रिश्चन्द्रमसैव ज्योतिरस्या अस्तीति ज्योतिष्मती, नान्येन ज्योतिषेत्यर्थ. ॥ २२ ॥

दूसरे हजारों राजा भले ही हों, (किन्तु लोग) इसी राजासे पृथ्वीको श्रेष्ठ राजावाली कहते हैं, क्योंकि अश्विनी आदि नक्षत्र, अन्य ताराए तथा मङ्गल आदि ग्रहोंसे परिपूर्ण भी रात्रि चन्द्रमासे ही 'चाँदनीवाली' होती है ॥ २२ ॥

क्रियाप्रबन्धादयमध्वराणामजस्रमाहूतसहस्रनेत्रः ।
शच्याश्चिरं पाण्डुकपोललम्बान्मन्दारशून्यानलकांश्चकार ॥ २३ ॥

क्रियेति । अयं परन्तपोऽध्वराणां क्रतूनां क्रियाप्रबन्धादनुष्ठानसातत्यात्, अविच्छिन्नादनुष्ठानादित्यर्थ । अजस्र नित्यमाहूतसहस्रनेत्र सश्चिर शच्या अलकान्पाण्डुकपोलयोर्लम्बान्स्रस्तान् । पचाद्यच् । मन्दारै कल्पद्रुमकुसुमै शून्यांश्चकार । प्रोषितभर्तृका हि केशसंस्कार न कुर्वन्ति । 'प्रोषिते मलिना कृशा' इति । 'क्रीडां शरीरसंस्कार समाजोत्सवदर्शनम् । हास्य परगृहे यान त्यजेत्प्रोषितभर्तृका ॥' इति च स्मरणात् ॥ २३ ॥

सर्वदा यज्ञ करनेसे इन्द्रको बार २ बुलानेवाला यह राजा इन्द्राणीके (पतिविरहसे) पाण्डुर कपोलोंपर लटकते हुए बालोंको मन्दार–पुष्पसे रहित कर दिया है । (जब २ इन्द्र राजा के यहां यज्ञभाग लेनेके लिये जाते हैं तब २ प्रोषित (परदेशमें गये हुए) पतिवाली इन्द्राणीका कपोलमण्डल पतिविरहसे श्वेतवर्ण हो जाता है और वह केशोंमें मन्दार-पुष्पोंको गूंथकर शृङ्गार करना छोड़ देती है) ॥ २३ ॥

अनेन चेदिच्छसि गृह्यमाण पाणिं वरेण्येन कुरु प्रवेशे ।
प्रासादवातायनसंश्रितानां नेत्रोत्सवं पुष्पपुराङ्गनानाम् ॥ २४ ॥

कश्चिद्यथाभागमवस्थितेऽपि स्वसंनिवेशाद्व्यतिलङ्घिनीव ।
वज्रांशुगर्भाङ्गुलिरन्ध्रमेकं व्यापारयामास करं किरीटे ॥ १९ ॥

कश्चिदिति । कश्चिद्यथाभागं यथास्थानमवस्थितेऽपि स्वसंनिवेशाद्व्यतिलङ्घिनीव स्वस्थानाच्चलित इव किरीटे वज्राणां हीरकाणामंशवो गर्भे येषां तान्यङ्गुलिरन्ध्राणि यस्य तमेकं करं व्यापारयामास । किरीटकम्पम शिरसि स्थितमपि त्वां भारं न मन्ये इति नृपाभिप्रायः । शिरसि न्यस्तहस्तोऽयमपत्रप इतीन्दुमत्यभिप्रायः ॥ १९ ॥

कोई राजा उचित स्थानपर स्थित होनेपर भी इधर-उधर सरके हुएके समान मुकुटपर हीरेकी किरणोंसे युक्त अङ्गुलि-छिद्रोंवाले हाथको मुकुटपर रखा । ('मस्तकपर रहनेपर भी तुमको मुकुटके समान भार नहीं समझूँगा' यह राजाका अभिप्राय था और 'मस्तकपर हाथ रखनेवाला यह कुलक्षण राजा है' यह इन्दुमतीका अभिप्राय था) ॥ १९ ॥

ततो नृपाणां श्रुतवृत्तवंशा पुंवत्प्रगल्भा प्रतिहाररक्षी ।
प्राक्संनिकर्षं मगधेश्वरस्य नीत्वा कुमारीमवदत्सुनन्दा ॥ २० ॥

तत इति । ततोऽनन्तरं नृपाणां श्रुतवृत्तवंशा श्रुतनृपवृत्तवंशेत्यर्थः । सापेक्षत्वे अपि गमकत्वात्समासः । प्रगल्भा वाग्मिनी सुनन्दा सुनन्दाख्या प्रतिहारं रक्षतीति प्रतिहाररक्षी द्वारपालिका । कर्मण्यण्प्रत्ययः । 'टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः' इत्यनेन ङीप् । प्राक्प्रथमं कुमारीमिन्दुमतीम् । मगधेश्वरस्य संनिकर्षं समीपं नीत्वा पुंवत्पुंसा तुल्यम् । 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इति वतिप्रत्ययः । अवदत् ॥ २० ॥

इसके बाद राजाओंके आचरण एवं वंश-परम्पराको जाननेवाली तथा ढीठ (अथवा पुरुषके समान ढीठ) द्वारपालिका 'सुनन्दा' पहले कुमारी इन्दुमतीको मगधनरेशके समीप ले जाकर पुरुषके समान बोली ॥ २० ॥

असौ शरण्यः शरणोन्मुखानामगाधसत्त्वो मगधप्रतिष्ठः ।
राजा प्रजारञ्जनलब्धवर्णः परंतपो नाम यथार्थनामा ॥ २१ ॥

असाविति । असौ राजा । असाविति पुरोवर्तिनो निर्देशः । एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् । शरणोन्मुखानां शरणार्थिनां शरण्यः शरणे रक्षणे साधुः, 'तत्र साधुः' इति यत्प्रत्ययः । शरणं गृहरक्षित्रोः रक्षणे इति [illegible] । अगाधसत्त्वो गम्भीरस्वभावः । 'सत्त्वं गुणे पिशाचादौ बले द्रव्यस्वभावयोः' इति विश्वः । मगधा जनपदास्तेषु प्रतिष्ठास्पदं यस्य स मगधप्रतिष्ठः, 'प्रतिष्ठा कृत्यमास्पदम्' इत्यमरः । प्रजारञ्जने लब्धवर्णो विचक्षणः । यद्वा प्रजारञ्जनेन लब्धकीर्तिः । परान्शत्रूंस्तापयतीति परंतपः नाम्ना । 'द्विषत्परयोस्तापेः' इति खच्प्रत्ययः । 'खचि ह्रस्वः' इति ह्रस्वः ।

लकादिभिर्महर्षिभिर्विनीतनागः शिक्षितगज । किलेत्यैतिह्ये। अत एव भूमिगतो-
प्यैन्द्र पदमैश्वर्यं भुङ्क्ते, भूर्लोक एव स्वर्गसुखमनुभवतीत्यर्थ । गजाप्सरोदेवर्षि-
भोग्यत्वमैन्द्रपदशब्दार्थः। पुरा किल कुतश्चिच्छापकारणाद् भुवमवतीर्णं दिग्गजवर्गमा-
लोक्य स्वयमशक्तेरिन्द्राभ्यनुज्ञयाऽऽनीतंर्देवर्षिभि' प्रणीतेन शास्त्रेण गजान्वशीकृत्य
भुवि सम्प्रदाय प्रावर्तयदिति कथा गीयते ॥ २७ ॥

और थोली—'देवाङ्गनाओं (अप्सराओं) से अभीप्सित यौवनश्रीवाला गजशास्त्रके पण्डितों (पालकादि ऋषियों) से हाथियोंको शिक्षित करानेवाला यह अङ्गदेशका राजा पृथ्वीपर स्वर्गके पदको भोग करता है अर्थात् पृथ्वीपर ही स्वर्गतुल्य सुख भोग रहा है ॥२७॥

पौराणिक कथा—१ एक समय यह राजा असुरपीडित इन्द्रकी सहायताके लिये स्वर्गमें गया था तो अप्सराएँ इसकी यौवनावस्थाकी शोभापर मुग्ध होकर इसे चाहने लगी थीं।

२ पहले किसीके शापके कारण भूलोकमें आये हुए दिग्गजोंको देखकर इन्द्रके स्वयं असमर्थ होनेके कारण उनकी अनुमतिसे पालकादि देवर्षियोंको बुलाकर उनके बनाये गज-शास्त्रमें वर्णित विधिके अनुसार उन दिग्गजोंको वशमें करके इस राजाने 'गज-शिक्षा' का सम्प्रदाय भूलोक में चलाया।

अनेन पर्यासयताश्रुबिन्दून्मुक्ताफलस्थूलतमान्स्तनेषु ।
प्रत्यर्पिता शत्रुविलासिनीनामुन्मुच्य सूत्रेण विनैव हाराः ॥ २८ ॥

अनेनेति । शत्रुविलासिनीनां स्तनेषु मुक्ताफलस्थूलतमानश्रुबिन्दून् । 'अस्त्रमश्रुणि शोणिते' इति विश्व । पर्यासयता प्रस्तारयता । भर्तृवधादिति भाव' । अनेनाङ्गनाथे-नोन्मुच्याक्षिप्य सूत्रेण विना हारा एव प्रत्यर्पिता । अविच्छिन्नाश्रुबिन्दुप्रवर्तनाद्-सूत्रहारार्पणमेव कृतमिवेत्युत्प्रेक्षा गम्यते ॥ २८ ॥

शत्रुओंकी स्त्रियोंके स्तनोंपर मोतीके समान बडी २ आंसुओंके बूंदोंको फैलाता हुआ यह राजा, उनके मोतियोंके हारोंको हटाकर विना सूतके ही हारोंको पहना दिया। (इस राजाके द्वारा पतिके मारे जानेसे शत्रुस्त्रिया हारोंको फेंक करके रोती हुई मोतीके समान बडी २ आंसुओंकी जो बूंदे स्तनोंपर गिरा रही है, वे मुक्ताहारके समान मालूम पड रहे हैं)॥

निसर्गभिन्नास्पदमेकसंस्थमस्मिन्द्वयं श्रीश्च सरस्वती च ।
कान्त्या गिरा सूनृतया च योग्या त्वमेव कल्याणि तयोस्तृतीया॥२९॥

निसर्गेति । निसर्गत स्वभावतो भिन्नास्पद भिन्नाश्रयम्, सहावस्थानविरोधी-त्यर्थ । श्रीश्च सरस्वती चेति द्वयमस्मिन्नङ्गनाथ एकत्र संस्था स्थितिर्यस्य तदेक-संस्थम्, उभयमिह सङ्गतमित्यर्थ. । हे कल्याणि ! 'बह्वादिभ्यश्च' इति ङीप् । कान्त्या सूनृतया सत्यप्रियया गिरा च योग्या संसर्गार्हा त्वमेव तयोः श्रीसरस्वत्योस्तृतीया ।

अनेनेति । पौरस्त्येन प्राच्यदेशीयेन । पुरस्त्येतैरेनादिक् त्यक्प्रत्ययः । अनेन राज्ञा सह पाणिमिच्छसि चेत् पाणिग्रहणमिच्छसि चेदित्यर्थः । प्रवेशे प्रवेशकाले प्रासादवातायनसंश्रितानां राजभवनगवाक्षस्थितानां पुष्पपुराङ्गनानां पाटलिपुत्राङ्गनानां नेत्रोत्सवं कुरु । सर्वोत्तमानां तासामपि दर्शनीया भविष्यसीति भावः ॥ २४ ॥

तुम यदि इस राजाके साथ विवाह करना चाहती हो तो (इस राजाकी राजधानीमें जाने) प्रवेशकालमें महलोंकी खिड़कियोंपर बैठी हुई 'पुष्पपुर' ('पटना'—इस राजाकी राजधानी) की स्त्रियोंके नेत्रोंको उत्सवयुक्त अर्थात् अपना दर्शन देकर प्रसन्न करो ॥

एवं तयोक्ते तमवेक्ष्य किञ्चिद्विस्रंसिदूर्वाङ्कमधूकमाला ।
ऋजुप्रणामक्रिययैव तन्वी प्रत्यादिदेशैनमभाषमाणा ॥ २५ ॥

एवमिति । एवं तया सुनन्दयोक्ते सति तं परन्तपमवेक्ष्य किञ्चिद्विस्रंसिनी दूर्वाङ्का दूर्वाचिह्ना मधूकमाला गुडपुष्पमाला यस्याः सा 'मधूके तु गुडपुष्पमधुद्रुमौ' इत्यमरः । अलसे शिथिलप्रयत्नेति भावः । तन्वीऋजुप्रणामक्रिययैव भूपमभाषमाणत्वं मानशून्यया प्रणामक्रिययैव प्रत्यादिदेश परिजहार ॥ २५ ॥

उस सुनन्दाके ऐसा कहनेपर दूर्वायुक्त महुएकी मालाको कुछ नीचे सरकाती हुई कृशाङ्गी इन्दुमतीने बिना बोले सरल (आदर-भक्तिसे रहित) अर्थात् सामान्य प्रणाम करनेसे ही उसका त्याग कर दिया ॥ २५ ॥

तां सैव वेत्रग्रहणे नियुक्ता राजान्तरं राजसुतां निनाय ।
समीरणोत्थेव तरङ्गलेखा पद्मान्तरं मानसराजहंसीम् ॥ २६ ॥

तामिति । सैव धात्री विश्वासपात्रमिति भावः । वेत्रग्रहणे नियुक्ता दौवारिकी सुनन्दा तां राजसुतां राजान्तरमन्यराजानं निनाय । नयतिर्द्विकर्मकः । कामिव ? समीरणोत्था वातोत्थिता तरङ्गलेखोर्मिपङ्क्तिर्मानसे सरसि या राजहंसी तां पद्मान्तरमिव ॥ २६ ॥

वेत्रयष्टिको ग्रहण करनेमें नियुक्त अर्थात् द्वारपालिका वही सुनन्दा वायुसे उत्पन्न तरङ्गपंक्ति मानसरोवरकी राजहंसीको जिस प्रकार एक कमलसे दूसरे कमलके पास ले जाती है वैसे (राजकुमारी इन्दुमतीको उस मगधनरेशके पाससे) दूसरे राजाके पास ले गयी ॥

जगाद चैनामयमङ्गनाथः सुराङ्गनाप्रार्थितयौवनश्रीः ।
विनीतनागः किल सूत्रकारैरैन्द्रं पदं भूमिगतोऽपि भुङ्क्ते ॥ २७ ॥

जगादेति । एनामिन्दुमतीं जगाद । किमिति ? अयमङ्गनाथोऽङ्गदेशाधीश्वरः सुराङ्गनाभिः प्रार्थिता कामिता यौवनश्रीर्यस्य स तथोक्तः, सुरा किमेव सिम्रसाहाय्यार्थं किम्पुरमाभिकमणमवन्त्यात्सरस इति मतिरिति । किञ्च । सूत्रकारैर्गजशास्त्रकृद्भिः

पालकादिभिर्महर्षिभिर्विनीतनागः शिक्षितगज । किलेत्यैतिह्ये। अत एव भूमिगतो-ऽप्यैन्द्र पदमैश्वर्यं भुङ्क्ते, भूलोक एव स्वर्गसुखमनुभवतीत्यर्थ । गजाप्सरोदेवर्षि-सेव्यत्वमैन्द्रपदशब्दार्थ । पुरा किल कुतश्चिच्छापकारणाद् भुवमवतीर्णं दिग्गजवर्गमा-लोक्य स्वयमशक्तेरिन्द्राभ्यनुज्ञयाऽऽनीतैर्देवर्षिभि' प्रणीतेन शास्त्रेण गजान्वशीकृत्य भुवि सम्प्रदाय प्रावर्तयदिति कथा गीयते ॥ २७ ॥

और थोली—'देवाङ्गनाओं (अप्सराओं) से अभीप्सित यौवनश्रीवाला गजशास्त्रके पण्डितों (पालकादि ऋषियों) से हाथियोंको शिक्षित करानेवाला यह अङ्गदेशका राजा पृथ्वीपर स्वर्गके पदको भोग करता है अर्थात् पृथ्वीपर ही स्वर्गतुल्य सुख भोग रहा है ॥२७॥

पौराणिक कथा—१ एक समय यह राजा असुरपीडित इन्द्रकी सहायताके लिये स्वर्गमें गया था तो अप्सराएँ इसकी यौवनावस्थाकी शोभापर मुग्ध होकर इसे चाहने लगी थीं।

२ पहले किसीके शापके कारण भूलोकमें आये हुए दिग्गजोंको देखकर इन्द्रके स्वयं असमर्थ होनेके कारण उनकी अनुमतिसे पालकादि देवर्षियोंको बुलाकर उनके बनाये गज-शास्त्रमें वर्णित विधिके अनुसार उन दिग्गजोंको वशमें करके इस राजाने 'गज-शिक्षा' का सम्प्रदाय भूलोक में चलाया।

अनेन पर्यासयताश्रुबिन्दून्मुक्ताफलस्थूलतमान्स्तनेषु ।
प्रत्यर्पिता शत्रुविलासिनीनामुन्मुच्य सूत्रेण विनैव हारा ॥ २८ ॥

अनेनेति । शत्रुविलासिनीनां स्तनेषु मुक्ताफलस्थूलतमानश्रुबिन्दून् । 'अस्रमश्रुणि शोणिते' इति विश्व । पर्यासयता प्रस्तारयता । भर्तृवधादिति भाव । अनेनाङ्गनाथे-नोन्मुच्याक्षिप्य सूत्रेण विना हारा एव प्रत्यर्पिता । अविच्छिन्नाश्रुबिन्दुप्रवर्तनादु-त्सूत्रहारार्पणमेव कृतमित्युत्प्रेक्षा गम्यते ॥ २८ ॥

शत्रुओंकी स्त्रियोंके स्तनोंपर मोतीके समान बडी २ आसुओंके बूंदोंको फैलाता हुआ यह राजा, उनके मोतियोंके हारोंको हटाकर विना सूतके ही हारोंको पहना दिया। (इस राजाके द्वारा पतिके मारे जानेसे शत्रुस्त्रिया हारोंको फेंक करके रोती हुई मोतीके समान बडी २ आसुओंकी जो बूदे स्तनोंपर गिरा रही है, वे मुक्ताहारके समान मालूम पड रहे हैं)॥

निसर्गभिन्नास्पदमेकसंस्थमस्मिन्द्वय श्रीश्च सरस्वती च ।
कान्त्या गिरा सूनृतया च योग्या त्वमेव कल्याणि तयोस्तृतीया॥२९॥

निसर्गेति । निसर्गत• स्वभावतो भिन्नास्पद भिन्नाश्रयम् , सहावस्थानविरोधी-त्यर्थः । श्रीश्च सरस्वती चेति द्वयमस्मिन्नङ्गनाथ एकत्र सस्था स्थितिर्यस्य तदेक-सस्थम् , उभयमिह सङ्गतमित्यर्थ । हे कल्याणि ! 'बह्वादिभ्यश्च' इति ङीप् । कान्त्या सूनृतया सत्यप्रियया गिरा च योग्या ससर्गार्हा त्वमेव तयोः श्रीसरस्वत्योस्तृतीया ।-

समानगुणयोर्द्वयोर्योगस्त्वं युक्तत एवेति भावः। उपमितमायावृत्तं चास्य ध्वन्यते।
-वृत्तम्—'तृतीयोऽनेकत्र वर्तिष्य' इति ॥ २९ ॥

समानसे ही भिन्न २ स्थानोंमें रहनेवाली लक्ष्मी और सरस्वती—इस राजामें एक साथ रहती हैं (यह राजा विद्वान् तथा ऐश्वर्यवान्—दोनों ही है) 'हे कल्याणि! शोभा तथा मधुर भाषणसे योग्य (साथमें निवास करने योग्य) उन दोनों (लक्ष्मी और सरस्वती) में तुम्हीं तीसरी होओ' (अथवा—शोभा तथा मधुर भाषणसे उन दोनोंके योग्य तीसरी तुम्हीं हो—अन्य कोई नहीं अत एव तुम इस राजाको वरण करो)॥ २९ ॥

अथाङ्गराजादवतार्य चक्षुर्याहीति जन्यामवदत्कुमारी ।
नासौ न काम्यो न च वेद सम्यग्द्रष्टुं न सा भिन्नरुचिर्हि लोकः ॥३०॥

अथेति। अथ कुमार्यङ्गराजाच्चक्षुरवतार्य अपनीयेत्यर्थः। जन्यां मातृसखीम्। 'जन्या मातृसखीमुदोः' इति विश्वः। याहि गच्छेत्यवदत्। 'याहीति जन्याम-वदत्' इति पाठे जनीं वधूं वहन्तीति जन्या वधूबन्धवः। तान् याहि गच्छेत्यवदत्। 'जन्यो वरवधूज्ञातिभृत्यस्निग्धेऽपि च' इति विश्वः। अथवा जन्या वधूसुहृदः। 'भृत्याश्चापि नवोढायाः' इति केशवः। 'संज्ञायां जन्या' इति यत्प्रत्ययान्तो निपातः। यथाह वृत्तिकारः—'जनीं वधूं वहन्तीति जन्या जामातुर्वयस्याः' इति। यथामरः 'जन्याः स्निग्धा वरस्य ये' इति तत्सर्वमुपलक्षणार्थमित्यविरोधः। न चाय-मङ्गराजनिषेधो वरपदोषावाप्ति प्रपञ्चोपाधित्वाद्—नेत्याह। असावङ्गराजः काम्यः कमनीयो नेति न किन्तु काम्य एवेत्यर्थः। सा कुमारी च सम्यग्द्रष्टुं विवेक्तुं न वेदेति न वेदैवेत्यर्थः। किन्तु लोको जनो भिन्नरुचिर्हि रुचिरमपि किञ्चित्कस्मैचिन्न रोचते। किं कुर्मो न हीच्छा नियन्तुं शक्यत इति भावः॥ ३० ॥

इसके बाद कुमारी इन्दुमतीने अङ्गराजसे दृष्टिको हटाकर माताकी सखी सुनन्दासे (धाया - उपमाता होनेवालीसे) 'चलो' ऐसा कहा। 'यह राजा सुन्दर नहीं था' यह बात नहीं थी और 'यह इन्दुमती देखना (देखकर भला तथा बुराका विचार करना) नहीं जानती थी' यह बात भी नहीं थी; किन्तु लोग भिन्न २ रुचिवाले होते हैं (अतः जिसको जो रुचता है वही उसके लिये सुन्दर एवं मान्य होता है)॥ ३० ॥

ततः परं दुष्प्रसहं द्विषद्भिर्नृपं नियुक्ता प्रतिहारभूमौ ।
निदर्शयामास विशेषदृश्यमिन्दुं नवोत्थानमिवेन्दुमत्यै ॥ ३१ ॥

तत इति। ततोऽनन्तरं प्रतिहारभूमौ द्वारदेशे नियुक्ता दौवारिकी। 'स्त्री द्वार्द्वारं प्रतीहारः' इत्यमरः। द्विषद्भिः शत्रुभिर्दुष्प्रसहं दुःसहम् दुरभिभवमित्यर्थः। विशेषेण दृश्यं दर्शनीयं कमनीयमित्यर्थः। परमन्यं नृपम्। नवोत्थानं नवोदयमिन्दुमिव। इन्दुमत्यै निदर्शयामास ॥ ३१ ॥

इसके बाद द्वारपालिका सुनन्दाने शत्रुओंसे असह्य, विशेष सुन्दर तथा नयी अवस्था या उन्नतिवाले (अत एव) विशेष सुन्दर तथा नया उदय लेते हुए चन्द्रमाके समान राजाको इन्दुमतीके लिये दिखलाया ॥ ३१ ॥

अवन्तिनाथोऽयमुदग्रबाहुर्विशालवक्षास्तनुवृत्तमध्यः ।
आरोप्य चक्रभ्रममुष्णतेजास्त्वष्ट्रेव यत्नोल्लिखितो विभाति ॥ ३२ ॥

अवन्तीति । उदग्रबाहुर्दीर्घबाहुविशालवक्षास्तनुवृत्तमध्य कृशवर्तुलमध्योऽय राजाऽवन्तिनाथोऽवन्तिदेशाधीश्वर । त्वष्ट्रा विश्वकर्मणा । भर्तुस्तेजोवेगमसहमानया दुहित्रा सञ्ज्ञादेव्या प्रार्थितेनेति शेष । चक्रभ्रम चक्रकार शस्त्रोत्तेजनयन्त्रम् । 'भ्रमोऽम्बुनिर्गमे भ्रान्तौ कुण्डाख्ये शिल्पियन्त्रके' इति विश्वः । आरोप्य यत्नेनोल्लिखित उष्णतेजा सूर्य इव विभाति । अत्र मार्कण्डेय—'विश्वकर्मा त्वनुज्ञातः शाकद्वीपे विवस्वता । भ्रममारोप्य तत्तेज शातनायोपचक्रमे ॥' इति ॥ ३२ ॥

लम्बी (घुटने तक) बाहुवाला, चौटी छातीवाला तथा कृश एव गोलाकार कटिवाला यह अवन्ती देशका राजा, (कन्याकी प्रार्थना करनेसे) विश्वकर्मा द्वारा सानपर चढाकर यत्नपूर्वक उल्लिखित अर्थात् घिसे गये सूर्यके समान है ॥ ३२ ॥

पौराणिक कथा—विश्वकर्माने अपनी पुत्री सञ्ज्ञाका विवाह सूर्यके साथ कर दिया तो पति सूर्यके तेजको सहन नहीं कर सकनेवाली उस सञ्ज्ञाके प्रार्थना करनेपर विश्वकर्माने शाकद्वीपमें सूर्यको सानपर चढाकर बडे यत्नपूर्वक उन्हें छोटा किया ।

अस्य प्रयाणेषु समग्रशक्तेरग्रेसरैर्वाजिभिरुत्थितानि ।
कुर्वन्ति सामन्तशिखामणीना प्रभाप्ररोहास्तमय रजांसि ॥ ३३ ॥

अस्येति । समग्रशक्ते शक्तित्रयसम्पन्नस्यास्यावन्तिनाथस्य प्रयाणेषु जैत्रयात्रास्वग्रेसरैर्वाजिभिरश्वैरुत्थितानि रजांसि सामन्तानां समन्ताद्भवाना राज्ञा ये शिखामणयश्चूडामणयस्तेषां प्रभाप्ररोहास्तमय तेजोङ्कुरनाश कुर्वन्ति । नासीरैरेवास्य शत्रवः पराजीयन्त इति भाव ॥ ३३ ॥

समस्त शक्ति (प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति तथा उत्साहशक्ति—ये तीन शक्तियाँ हैं) से युक्त इस राजाकी दिग्विजयकी यात्रामें आगे चलनेवाले घोडों (के खुरों) से उडी हुई धूलिया सामन्त राजाओंके मुकुटमणियोंकी प्रभाओंके अङ्कुरोंको छिपा (नष्ट कर) देती हैं ॥ ३३ ॥

असौ महाकालनिकेतनस्य वसन्नदूरे किल चन्द्रमौलेः ।
तमिस्रपक्षेऽपि सह प्रियाभिर्ज्योत्स्नावतो निर्विशति प्रदोषान् ॥३४॥

असाविति । असाववन्तिनाथ । महाकाळ नाम स्थानविशेष । तदेव निकेतन मकुटस्थानं यस्य तस्य चन्द्रमौलेरीश्वरस्यादूरे समीपे वसन् । अत एव हेतोस्तमिस्र-

पक्षे कृष्णपक्षेऽपि प्रियाभिः सह ज्योत्स्नावतः प्रदोषान् रात्रीर्निर्विशन्ननुभवति किम् । नित्यज्योत्स्नाविहारत्वमेतस्यैव नान्यस्येति भावः ॥ ३४ ॥

महाकाल (मालव उज्जयिनी के स्थान) निवासी शिवजीके समीपमें रहनेवाला यह (अवन्तिनरेश) कृष्ण पक्ष (की रात्रियों) में भी प्रियाओंके साथ चाँदनी रातों (का आनन्द) अनुभव करता है ॥ ३४ ॥

अनेन यूना सह पार्थिवेन रम्भोरु कच्चिन्मनसो रुचिस्ते ।
सिप्रातरङ्गानिलकम्पितासु विहर्तुमुद्यानपरम्परासु ॥ ३५ ॥

अनेनेति । रम्भे कदलीस्तम्भाविवोरू यस्याः सा रम्भोरूस्तस्याः सम्बोधनम् । हे रम्भोरु ! 'ऊरूत्तरपदादौपम्ये' इत्यूङ्प्रत्ययः । नदीत्वाद्ध्रस्वः । यूनानेन पार्थिवेन सह । सिप्रा नाम तत्रत्या नदी तस्यास्तरङ्गाणामनिलेन कम्पितासूद्यानानां परम्परासु पङ्क्तिषु विहर्तुं ते तव मनसो रुचिः कच्चित् । स्पृहास्ति किमित्यर्थः । 'अभिष्वङ्गे स्पृहायां च गभस्तौ च रुचिः स्त्रियाम्' इत्यमरः ॥ ३५ ॥

"हे केलेके खम्भेके समान जङ्घावाली इन्दुमति ! इस युवक राजाके साथ सिप्रा नदीके तरङ्गोंकी हवासे कम्पित उद्यानोंके समूहमें विहार करनेके लिये तुम्हारी चाहना है क्या ?" ॥ ३५ ॥

तस्मिन्नभिद्योतितबन्धुपद्मे प्रतापसंशोषितशत्रुपङ्के ।
बबन्ध सा नोत्तमसौकुमार्या कुमुद्वती भानुमतीव भावम् ॥ ३६ ॥

तस्मिन्निति । उत्तमसौकुमार्योत्कृष्टमार्दवा सेन्दुमती । अभिद्योतितान्युल्लासितानि बन्धव एव पद्मानि येन तस्मिन् । प्रतापेन तेजसा संशोषिताः शत्रव एव पङ्काः कर्दमा येन तस्मिन् । तस्मिन्नवन्तिनाथे कुमुद्वती । 'कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप्' इति ड्मतुप्प्रत्ययः । भानुमत्यंशुमतीव भावं चित्तं न बबन्ध न तत्रानुरागमकरोदित्यर्थः । बन्धूनां पद्मत्वेन शत्रूणां पङ्कत्वेन च निरूपणं राज्ञः सूर्यसाम्यार्थम् ॥ ३६ ॥

अत्यन्त सुकुमारी वह इन्दुमती बन्धुरूप कमलोंको विकसित करनेवाले तथा ताप अर्थात् क्षत्रिय सम्बन्धी प्रतापसे शत्रुरूप पङ्कोंको सुखानेवाले उस अवन्तिनरेशमें (बन्धुओंके समान कमलोंको विकसित करनेवाले तथा दूसरे शत्रुओंके समान पङ्कको सुखानेवाले सूर्यके अत्यन्त कोमल) कुमुदिनीके समान भाव नहीं किया अर्थात् उसकी चाहना नहीं की ॥ ३६ ॥

तामग्रतस्तामरसान्तराभामनूपराजस्य गुणैरनूनाम् ।
विधाय सृष्टिं ललितां विधातुर्जगाद भूयः सुदतीं सुनन्दा ॥ ३७ ॥

तामिति । सुनन्दा तामरसान्तराभां पद्मोदरतुल्यकान्तिं कनकगौरीमित्यर्थः । गुणैरनूनाम् अधिकामित्यर्थः । शोभना दन्ता यस्याः सा सुदती, 'वयसि दन्तस्य

दत्' इति दन्त्रादेशः 'उगितश्च' इति ङीप् । तां प्रकृतां प्रसिद्धां वा विधातुर्ललितां सृष्टिं, मधुरनिर्माणां स्त्रियमित्यर्थः । अनुगता आपो येषु तेऽनूपा नाम देशाः । 'ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे' इत्यप्रत्ययः समासान्तः 'ऊदनोर्देशे' इत्यूदादेशः । तेषां राज्ञोऽनूपराजस्याग्रतो विधाय व्यवस्थाप्य भूय पुनर्जगाद ॥ ३७ ॥

सुनन्दाने कमलोदर (कमलपत्रका भीतरी भाग) के समान आभावाली, गुणोंसे परिपूर्ण, ब्रह्माकी मनोहर रचनारूप और सुन्दर दाँतोंवाली उस इन्दुमतीको अनूप-नरेशके सामने लेजाकर फिर कहा—॥ ३७ ॥

सङ्ग्रामनिर्विष्टसहस्रबाहुरष्टादशद्वीपनिखातयूपः ।
अनन्यसाधारणराजशब्दो बभूव योगी किल कार्तवीर्यः ॥ ३८ ॥

सङ्ग्रामेति । सङ्ग्रामेषु युद्धेषु निर्विष्टा अनुभूता सहस्रं बाहवो यस्य स तथोक्तः । युद्धादन्यत्र द्विभुज एव दृश्यत इत्यर्थः । अष्टादशसु द्वीपेषु निखाताः स्थापिता यूपा येन स तथोक्तः । सर्वक्रतुयाजी सार्वभौमश्चेति भावः । जरायुजादिसर्वभूतरञ्जनादनन्यसाधारणो राजशब्दो यस्य स तथोक्तः । योगी ब्रह्मविद्विद्वानित्यर्थः । स किल भागवतो दत्तात्रेयाल्लब्धयोग इति प्रसिद्धः । कृतवीर्यस्यापत्यं पुमान्कार्तवीर्यो नाम राजा बभूव किलेति । अयं चास्य महिमा सर्वोऽपि दत्तात्रेयवरप्रसादलब्ध इति भारते दृश्यते ॥ ३८ ॥

युद्धमें हजारों बाहुओंको प्राप्त करनेवाला, अठारहों द्वीपोंमें यशस्तम्भोंको गाड़नेवाला और अनन्य साधारण (दूसरोंमें अप्रयुक्त) 'राजा' इस शब्दवाला और योगी कार्तवीर्य (सहस्रार्जुन) हुआ था ॥ ३८ ॥

अकार्यचिन्तासमकालमेव प्रादुर्भवंश्चापधरः पुरस्तात् ।
अन्तःशरीरेष्वपि यः प्रजानां प्रत्यादिदेशाविनयं विनेता ॥ ३९ ॥

अकार्येति । विनेता शिक्षको यः कार्तवीर्यः । अकार्यस्यासत्कार्यस्य चिन्तया, अहं चौर्यादिकं करिष्यामीति बुद्धया । समकालमेककालमेव यथा तथा पुरस्तादग्रे चापधरः प्रादुर्भवन्सन्, प्रजानां जनानाम्, 'प्रजा स्यात्सन्ततौ जने' इत्यमरः । अन्तःशरीरेष्वन्तःकरणेषु शरीरशब्देनेन्द्रियं लक्ष्यते । अविनयमपि प्रत्यादिदेश मानसापराधमपि निवारयामासेत्यर्थः । अन्ये तु वाक्कायापराधमात्रप्रतिकर्तार इति भावः ॥ ३९ ॥

शासक जो (कार्तवीर्य), नहीं करने योग्य कार्यके विचार करनेके समयमें ही सामने धनुष धारण किया हुआ उपस्थित होकर प्रजाओंके मनमें या इन्द्रियोंमें भी अविनय दूर करता था। (प्रजाओंमें-से कोई व्यक्ति नहीं करने योग्य कार्यको करनेके लिये जब विचार करता था, तब उसके मनमें उक्त विचार आते ही उसे ऐसा मालूम पड़ता था कि धनुष धारण

स क्षितीशः। शरदा प्रत्यादिष्टोऽपाकृतो निरस्तमेघावरणः पर्याप्तकलः पूर्णकलः शशी नलिन्या इव। तस्या इन्दुमत्या रुचये न बभूव रुचिं नाजीजनदित्यर्थः। लोको भिन्नरुचिरिति भावः ॥ ४४ ॥

देखनेमें अत्यन्त सुन्दर भी वह राजा कमलिनीको शरद् ऋतुसे दूर किये गये मेघके आवरणवाले अर्थात् मेघरहित तथा पूर्ण कलावाले चन्द्रमाके समान उस इन्दुमतीके रुचिके लिये नहीं हुआ (इन्दुमतीने उसे नहीं चाहा) ॥ ४४ ॥

सा शूरसेनाधिपतिं सुषेणमुद्दिश्य लोकान्तरगीतकीर्तिम् ।
आचारशुद्धोभयवंशदीपं शुद्धान्तरक्ष्या जगदे कुमारी ॥ ४५ ॥

सेति। लोकान्तरे स्वर्गेऽपि गीतकीर्तिम्। आचारेण शुद्धयोरुभयवंशयोर्मातृपितृकुलयोर्दीपं प्रकाशकम्। उभयपदेऽत्वमोभयपदविशेषणम्। शूरसेनानां देशानामधिपतिं सुषेणं नाम नृपतिमुद्दिश्याभिसन्धाय शुद्धान्तरक्ष्यान्तःपुरपालिकया। 'कर्मण्यण्'। 'टिड्ढाणञ्–'इति ङीप्। सा कुमारी जगदे ॥ ४५ ॥

रनिवासकी रक्षामें नियुक्त 'सुनन्दा'ने अन्य लोक (स्वर्गादि) में गाये गये यशवाले तथा आचरणसे शुद्ध दोनों वंश (मातृकुल तथा पितृकुल) वाले शूरसेन देशके राजा 'सुषेण' को दिखाकर इन्दुमती से कहा—॥ ४५ ॥

नीपान्वयः पार्थिव एष यज्वा गुणैर्यमाश्रित्य परस्परेण ।
सिद्धाश्रमं शान्तमिवैत्य सत्त्वैर्नैसर्गिकोऽप्युत्ससृजे विरोधः ॥ ४६ ॥

नीपान्वय इति। यज्वा विधिवदिष्टवान्। 'सुयजोर्ङ्वनिप्' इति ङ्वनिप्प्रत्ययः। एष पार्थिवो नीपो नामान्वयोऽस्येति नीपान्वयो नीपवंशजः। यं सुषेणमाश्रित्य गुणैर्ज्ञानमौनादिभिः शान्तं प्रशान्तं सिद्धाश्रममृष्याश्रममेत्य प्राप्य सत्त्वैर्जन्तुभिरहिनकुलादिभिः प्राणिभिरिव। नैसर्गिकः स्वाभाविकोऽपि परस्परेण विरोध उत्ससृजे त्यक्तः ॥ ४६ ॥

विधिपूर्वक यज्ञ किया हुआ यह राजा 'नीप'के वंशके हैं जिसे आश्रयकर (क्षमा, धीरता, दया, दान आदि) गुणोंने शान्त सिद्धाश्रमको प्राप्तकर (परस्पर विरोधी सिंह-गज, गौ-व्याघ्र, नकुल-सर्प आदि) जीवोंके समान स्वभाविक विरोधको छोड़ दिया है ॥ ४६ ॥

यस्यात्मगेहे नयनाभिरामा कान्तिर्हिमांशोरिव संनिविष्टा ।
हर्म्याग्रसंरूढतृणाङ्कुरेषु तेजोऽविषह्यं रिपुमन्दिरेषु ॥ ४७ ॥

यस्येति। हिमांशोः कान्तिश्चन्द्रिका इव नयनयोरभिरामा यस्य सुषेणस्य कान्तिः सौन्दर्यमात्मगेहे स्वशरीरे संनिविष्टा संक्रान्ता। अविषह्यं विषोढुमशक्यं तेजः प्रतापस्तु। हर्म्याग्रेषु धनिकमन्दिराग्रेषु। 'हर्म्यादि धनिनां वासः' इत्यमरः। संरूढ-

स्तृणाङ्कुरा येषां तेषु, शून्येष्वित्यर्थः । रिपुमन्दिरेषु शत्रुनगरेषु । 'मन्दिरं नगरे गृहे' इति विश्वः । सन्निविष्टम् । स्वजनाह्लादको द्विपन्तपश्चेति भावः ॥ ४७ ॥

चन्द्रमाके समान नयनोंको आह्लादित करनेवाली जिसकी कान्ति अपने घरोंमें स्थित है तथा असह्य तेज शत्रुओंके महलोंके छज्जोंपर जमे हुए घासके अङ्कुरोंवाले, उनके महलोंमें थत है। (शत्रुओंके मारे जानेसे या इसके भयसे घर छोडकर भाग जानेसे उनके महलोंके पर घासोंके जमनेसे वह इसके असह्य प्रताप तुल्य दिखलाई पडता है) ॥ ४७ ॥

यस्यावरोधस्तनचन्दनानां प्रक्षालनाद्वारिविहारकाले ।
कलिन्दकन्या मथुरां गतापि गङ्गोर्मिसंसक्तजलेव भाति ॥ ४८ ॥

यस्यावरोध इति । यस्य सुषेणस्य वारिविहारकाले जलक्रीडासमयेऽवरोधानामन्तःपुराङ्गनानां स्तनेषु चन्दनानां मलयजानां प्रक्षालनाद्धेतोः । कलिन्दो नाम शैलस्तत्कन्या यमुना । 'कालिन्दी सूर्यतनया यमुना शमनस्वसा' इत्यमरः । मथुरा नामास्य राज्ञो नगरी । तां गतापि, गङ्गाया विप्रकृष्टापीत्यर्थः । मथुरायां गङ्गाऽभावं सूचयत्यपिशब्दः । कालिन्दीतीरे मथुरा लवणासुरवधकाले शत्रुघ्नेन निर्मास्यते इति वक्ष्यति । तत्कथमधुना मथुरासम्भव इति चिन्त्यम् । मथुरा मधुरापुरीति शब्दभेदः । यद्वा सान्येति । गङ्गाया भागीरथ्या ऊर्मिभिः संसक्तजलेव भाति । धवलचन्दनसंसर्गात्प्रयागादन्यत्राप्यत्र गङ्गासंगतेव भातीत्यर्थः । 'सितासिते हि गङ्गायमुने' इति घण्टापथः ॥ ४८ ॥

जिस राजाकी जलक्रीडाके समयमें रानियोंके स्तनोंके श्वेत चन्दनके घुल जानेसे मथुरामें भी यमुना गङ्गाके तरङ्गोंसे मिली हुईके समान शोभमान होती है। (जिस प्रकार प्रयागमें गङ्गाकी धाराके मिलनेपर यमुनाका जल श्वेत-नीलवर्ण दिखलाई पडता है, वैसे ही मथुरामें भी इस राजाकी जलक्रीडाके समयमें रानियोंके स्तनोंके श्वेत चन्दनके धुलनेसे यमुनाका जल श्वेत मिश्रित नीलवर्ण दिखलाई पडता है) ॥ ४८ ॥

त्रस्तेन तार्क्ष्यात्किल कालियेन मणिं विसृष्टं यमुनौकसा यः ।
वक्षःस्थलव्यापि रुचं दधानः सकौस्तुभं ह्रेपयतीव कृष्णम् ॥ ४९ ॥

त्रस्तेनेति । तार्क्ष्याद्गरुडात्त्रस्तेन । यमुना ओकः स्थानं यस्य तेन । कालियेन नाम्ना नागेन विसृष्टं किलाभयदाननिष्क्रयत्वेन दत्तम् । किलेत्यैतिह्ये । वक्षःस्थलव्यापिरुचं मणिं दधानो यः सुषेणः सकौस्तुभं कृष्णं विष्णुं ह्रेपयतीव । 'अर्तिह्रीव्लीरीक्नूयीक्ष्माय्यातां पुङ्णौ' इत्यनेन पुगागमः । कौस्तुभमणेरप्युत्कृष्टोऽस्य मणिरिति भावः ॥ ४९ ॥

गरुडसे डरे हुए यमुनामें रहनेवाले कालिय नागके द्वारा (अभयदान देनेसे उपहारमें) दिये गये तथा छातीपर फैलती हुई कान्तिवाले रत्नको धारण किया हुआ यह 'सुषेण' राजा

किया हुआ राजा कार्तवीर्य इसे दण्ड देनेके लिये आ गये जब तक उसकी प्रजा नहीं करते योग्य किसी भी कार्यको करनेका विचार तक भी नहीं करती थी) ॥ ३९ ॥

ज्याबन्धनिष्पन्दभुजेन यस्य विनिःश्वसद्वक्त्रपरम्परेण ।
कारागृहे निर्जितवासवेन लङ्केश्वरेणोषितमाप्रसादात् ॥ ४० ॥

ज्याबन्धेति । ज्यया मौर्व्या बन्धेन बन्धनेन निष्पन्दा निश्चेष्टा भुजा यस्य तेन विनिःश्वसन्ती ज्याबन्धोपरोधाद्दीर्घं निःश्वसन्ती वक्त्रपरम्परा दशमुखी यस्य तेन निर्जितवासवेनेन्द्रविजयिना । अनेनेन्द्रस्योऽप्यनेन जितमात्रा एवेति भावः। लङ्केश्वरेण दशास्येन यस्य कार्तवीर्यस्य कारागृहे बन्धनागारे 'कारा स्याद्बन्धनालये' इत्यमरः। आप्रसादादनुग्रहपर्यन्तमुषितं स्थितम् । 'नपुंसके भावे क्तः'। प्रसादपर्यन्त एव तस्य मोक्षोपायो न तु बाहुमिति भावः ॥ ४० ॥

प्रत्यञ्चाके बन्धनसे स्पन्द (चेष्टा) रहित बाहुवाला, लम्बी २ श्वास लेते हुए मुखसमूह वाला और इन्द्रको पराजित करनेवाला लङ्काधिपति रावण जेलमें जिस (कार्तवीर्य) के प्रसन्न होने तक पड़ा रहा । (जब तक कार्तवीर्यने प्रसन्न होकर रावणको नहीं छोड़ा तब तक वह उसके जेलमें ही विवश होकर पड़ा रहा) ॥ ४० ॥

पौराणिक कथा—एक समय कार्तवीर्य अपने बाहुओंसे नर्मदाकी धाराको रोककर स्त्रियोंके साथमें जलक्रीडा कर रहा था उसी समयमें दिग्विजयके लिये निकला हुआ दश-कन्धर रावण वहाँ पहुँचकर उससे युद्ध करने लगा तब कार्तवीर्यने रावणको जीतकर और बाहुओंको डोरीसे बांधकर कैदी बना लिया और जब तक वह प्रसन्न नहीं हुआ तब तक रावण वहीं जेलमें पड़ा रहा ।

तस्यान्वये भूपतिरेष जातः प्रतीप इत्यागमवृद्धसेवी ।
येन श्रियः संश्रयदोषरूढं स्वभावलोलेत्ययशः प्रमृष्टम् ॥ ४१ ॥

तस्येति । आगमवृद्धसेवी प्रतीप इति । ख्यात इति शेषः । एष भूपतिस्तस्य कार्तवीर्यस्यान्वये वंशे जातः । येन प्रतीपेन संश्रयस्याश्रयस्य पुंसो दोषैर्व्यसनादिभी रूढमुत्पन्नं श्रियः सम्बन्धि स्वभावलोला प्रकृतिचञ्चलेत्येवंरूपमयशो दुष्कीर्तिः प्रमृष्टं निरस्तम् । दुष्टाश्रयपरित्यागशीलायाः श्रियः प्रकृतिचापल्यमयशो भूपालदोषनिबन्धनमित्यर्थः । वस्तुतो दोषरहितस्य कदाचिदपि श्रिया त्यक्तत इति भावः ॥ ४१ ॥

शास्त्रों तथा वृद्धजनों का सेवक 'प्रतीप' नामक यह राजा उस कार्तवीर्यके वंशमें उत्पन्न हुआ है जिसने आश्रयके दोषसे लक्ष्मीके 'लक्ष्मी' स्वभावसे ही चञ्चला होती है' इस अपयशको दूर कर दिया है । ('आश्रितोंमें व्यसनादिजोंके दुर्गुणोंके कारण ही लक्ष्मी उन पुरुषोंका त्याग करती है धीर एवं गुणवान् व्यक्तिको लक्ष्मी कदापि नहीं छोड़ती' इस भावको

सद्गुणवान् इस 'प्रतीप' राजाने प्रमाणित करके लक्ष्मीके 'स्वभावचञ्चला' होनेकी लोक-निन्दाको दूर कर दिया है अर्थात् इसके पास लक्ष्मी सर्वदा निवास करती है) ४१ ॥

आयोधने कृष्णगतिं सहायमवाप्य यः क्षत्रियकालरात्रिम् ।
धारां शितां रामपरश्वधस्य सम्भावयत्युत्पलपत्रसाराम् ॥ ४२ ॥

आयोधन इति । यः प्रतीप आयोधने युद्धे कृष्णगतिं कृष्णवर्त्मानमग्निं सहायमवाप्य क्षत्रियाणां कालरात्रिं, संहाररात्रिमित्यर्थः । रामपरश्वधस्य जामदग्न्यपरशोः । 'द्वयोः कुठारः स्वधितिः परशुश्च परश्वधः' इत्यमरः । शितां तीक्ष्णां धारां मुखम् । 'खड्गादीनां च निशितमुखे धारा प्रकीर्तिता' इति विश्वः । उत्पलपत्रस्य सार इव सारो यस्यास्तां तथाभूतां सम्भावयति मन्यते । एतन्नगरजिगीषयागतान्रिपून्स्वयमेव धक्ष्यामीति भगवता वैश्वानरेण दत्तवरोऽयं राजा । 'दह्यन्ते च तथागताः शत्रवः' इति भारते कथानुसन्धेया ॥ ४२ ॥

जो 'प्रतीप' राजा युद्धमें अग्निको सहायक पाकर क्षत्रियोंके लिये कालरात्रि परशुरामजीके फरसेकी तेज धारको कमलपत्रके समान शक्तिवाला अर्थात् निःसार समझता है ॥ ४२ ॥

पौराणिक कथा—पहले अग्निने इस प्रतीप राजाको वरदान दिया था कि 'इसके नगरको जीतनेके लिये आये हुए शत्रुओंको मैं स्वयं जला दिया करूंगी' अतः क्षत्रियोंके २१ वार संहार करनेवाले परशुरामजी इस प्रतीप राजाको कभी नहीं जीत सके ।

अस्याङ्कलक्ष्मीर्भव दीर्घबाहोर्माहिष्मतीवप्रनितम्बकाञ्चीम् ।
प्रासादजालैर्जलवेणिरम्यां रेवां यदि प्रेक्षितुमस्ति कामः ॥ ४३ ॥

अस्येति । दीर्घबाहोरस्य प्रतीपस्याङ्कलक्ष्मीर्भव, एनं वृणीष्वेत्यर्थः । अनेनायं विष्णुतुल्य इति ध्वन्यते । माहिष्मती नामास्य नगरी । तस्या वप्रः प्राकार एव नितम्बः तस्य काञ्चीं रशनाभूताम् । जलानां वेण्या प्रवाहेण रम्याम् । 'ओघः प्रवाहो वेणी च' इति हलायुधः । रेवां नर्मदां प्रासादजालैर्गवाक्षैः । 'जालं समूह आनायो गवाक्षक्षारकावपि' इत्यमरः । प्रेक्षितुं कामः इच्छाऽस्ति यदि ॥ ४३ ॥

माहिष्मती (नामक इस राजाकी राजधानी) के परकोटा (चहारदिवारी) रूप नितम्बकी करधनी तथा जलरूप वेणी (केशकी चोटी) से रमणीय रेवा नदीको महलोंके झरोखोंसे देखनेकी इच्छा है तो इस राजाके अङ्ककी शोभा बनो अर्थात् इस राजाको वरण करो ॥ ४३ ॥

तस्याः प्रकामं प्रियदर्शनोऽपि न स क्षितीशो रुचये बभूव ।
शरत्प्रमृष्टाम्बुधरोपरोधः शशीव पर्याप्तकलो नलिन्याः ॥ ४४ ॥

तस्या इति । प्रकामं प्रियं प्रीतिकरं दर्शनं यस्य सोऽपि, दर्शनीयोऽपीत्यर्थः ।

स विशेषः। कान्ता मधुरप्युपरोपरोधो निरस्तमेघावरणः पर्याप्तकलः पूर्णकलः शशी चन्द्रमा इव। तस्या इन्दुमत्या रुचये न बभूव रुचिं नाजीजनदित्यर्थः। लोको भिन्नरुचिरिति भावः ॥ ४४ ॥

देखनेमें अत्यन्त सुन्दर भी वह राजा कमलिनीके शरद् वायुसे दूर किये गये मेघके आवरणवाले अर्थात् मेघरहित तथा पूर्ण कलावाले चन्द्रमाके समान उस इन्दुमतीके रुचिके लिये नहीं हुआ (इन्दुमतीने उसे नहीं चाहा) ॥ ४४ ॥

सा शूरसेनाधिपतिं सुषेणमुद्दिश्य लोकान्तरगीतकीर्तिम् ।
आचारशुद्धोभयवंशदीपं शुद्धान्तरक्ष्या जगदे कुमारी ॥ ४५ ॥

सेति। लोकान्तरे स्वर्गेऽपि गीतकीर्तिमाचारेण शुद्धयोरुभयोर्वंशयोर्मातापितृकुलयोर्दीपं प्रकाशकम्। उभयवंशप्रकाशकमित्यर्थः। शूरसेनानां देशानामधिपतिं सुषेणं नाम नृपमुद्दिश्याभिलक्ष्य शुद्धान्तरक्ष्यान्तःपुरपालिकया। 'कर्मण्यण्'। 'टिड्ढाणञ्-'इति ङीप्। सा कुमारी जगदे ॥ ४५ ॥

रनिवासकी रक्षामें नियुक्त सुनन्दाने अन्य लोक (स्वर्गादि) में गाये गये यशवाले तथा आचरणसे शुद्ध दोनों वंश (मातृकुल तथा पितृकुल) वाले शूरसेन देशके राजा 'सुषेण' को दिखाकर इन्दुमती से कहा—॥ ४५ ॥

नीपान्वयः पार्थिव एष यज्वा गुणैर्यमाश्रित्य परस्परेण ।
सिद्धाश्रमं शान्तमिवैत्य सत्त्वैर्नैसर्गिकोऽप्युत्ससृजे विरोधः ॥ ४६ ॥

नीपान्वय इति। यज्वा विधिवदिष्टवान्। 'सुयजोर्ङ्वनिप्' इति ङ्वनिप्प्रत्ययः। एष पार्थिवो नीपो नामान्वयोऽस्येति नीपान्वयो नीपवंशजः। यं सुषेणमाश्रित्य गुणैर्धर्मसौम्यादिभिः शान्तं प्रसन्नं सिद्धाश्रममुन्याश्रममेत्य प्राप्य सत्त्वैर्व्यालसिंहादिभिः प्राणिभिरिव। नैसर्गिकः स्वाभाविकोऽपि परस्परेण विरोधः वैरमुत्ससृजे त्यक्तः ॥ ४६ ॥

विधिपूर्वक यज्ञको किया हुआ यह राजा 'नीप' वंशके हैं जिसे आश्रयकर (क्षमा, धीरता, दया, दान आदि) गुणोंने शान्त सिद्धाश्रमको प्राप्तकर (परस्पर विरोधी सिंह-व्याघ्र, गौ-व्याघ्र, नकुल-सर्प आदि) जीवोंके समान स्वाभाविक विरोधको छोड़ दिया है ॥ ४६ ॥

यस्यात्मगेहे नयनाभिरामा कान्तिर्हिमांशोरिव संनिविष्टा ।
हर्म्याग्रसंरूढतृणाङ्कुरेषु तेजोऽविषह्यं रिपुमन्दिरेषु ॥ ४७ ॥

यस्येति। हिमांशोः कान्तिश्चन्द्रिकेव नयनयोरभिरामा यस्य सुषेणस्य कान्तिः सौम्याकारो आत्मगेहे स्वभवने संनिविष्टा सङ्क्रान्ता। अविषह्यं विसोढुमशक्यं तेजः प्रतापस्तु। हर्म्याग्रेषु धनिकमन्दिराग्रेषु। 'हर्म्यादि धनिनां वासः' इत्यमरः। संरू-

स्तृणाङ्कुरा येषां तेषु, शून्येष्वित्यर्थः। रिपुमन्दिरेषु शत्रुनगरेषु। 'मन्दिरं नगरे गृहे' इति विश्वः। सन्निविष्टम्। स्वजनाह्लादको द्विषन्तपश्चेति भावः॥ ४७॥

चन्द्रमाके समान नयनोंको आह्लादित करनेवाली जिसकी कान्ति अपने घरोंमें स्थित है तथा असह्य तेज शत्रुओंके महलोंके छज्जोंपर जमे हुए घासके अङ्कुरोंवाले, उनके महलोंमें स्थित है। (शत्रुओंके मारे जानेसे या इसके भयसे घर छोड़कर भाग जानेसे उनके महलोंके ऊपर घासोंके जमनेसे वह इसके असह्य प्रताप तुल्य दिखलाई पड़ता है) ॥ ४७॥

यस्यावरोधस्तनचन्दनानां प्रक्षालनाद्वारिविहारकाले।
कलिन्दकन्या मथुरां गतापि गङ्गोर्मिसंसक्तजलेव भाति॥ ४८॥

यस्यावरोध इति। यस्य सुषेणस्य वारिविहारकाले जलक्रीडासमयेऽवरोधानामन्तःपुराङ्गनानां स्तनेषु चन्दनानां मलयजानां प्रक्षालनाद्धेतोः। कलिन्दो नाम शैलस्तत्कन्या यमुना। 'कालिन्दी सूर्यतनया यमुना शमनस्वसा' इत्यमरः। मथुरा नामास्य राज्ञो नगरी। तां गतापि, गङ्गाया विप्रकृष्टापीत्यर्थः। मथुरायां गङ्गाऽभावं सूचयत्यपिशब्दः। कालिन्दीतीरे मथुरा लवणासुरवधकाले शत्रुघ्नेन निर्मास्यते इति वक्ष्यति। तत्कथमधुना मथुरासम्भव इति चिन्त्यम्। मथुरा मधुरापुरीति शब्दभेदः। यद्वा सान्येति। गङ्गाया भागीरथ्या ऊर्मिभिः संसक्तजलेव भाति। धवलचन्दनसंसर्गात्प्रयागादन्यत्राप्यत्र गङ्गासंगतेव भातीत्यर्थः। 'सितासिते हि गङ्गायमुने' इति घण्टापथः॥ ४८॥

जिस राजाकी जलक्रीडाके समयमें रानियोंके स्तनोंके श्वेत चन्दनके धुल जानेसे मथुरामें भी यमुना गङ्गाके तरङ्गोंसे मिली हुईके समान शोभमान होती है। (जिस प्रकार प्रयागमें गङ्गाकी धाराके मिलनेपर यमुनाका जल श्वेत-नीलवर्ण दिखलाई पड़ता है, वैसे ही मथुरामें भी इस राजाकी जलक्रीडाके समयमें रानियोंके स्तनोंके श्वेत चन्दनके धुलनेसे यमुनाका जल श्वेत मिश्रित नीलवर्ण दिखलाई पड़ता है) ॥ ४८॥

त्रस्तेन तार्क्ष्यात्किल कालियेन मणिं विसृष्टं यमुनौकसा यः।
वक्षःस्थलव्यापि रुचं दधानः सकौस्तुभं ह्रेपयतीव कृष्णम्॥ ४९॥

त्रस्तेनेति। तार्क्ष्याद्गरुडात्त्रस्तेन। यमुना ओकः स्थानं यस्य तेन। कालियेन नाम नागेन विसृष्टं किलाभयदाननिष्क्रयत्वेन दत्तम्। किलेत्यैतिह्ये। वक्षःस्थलव्यापिरुचं मणिं दधानो यः सुषेणः सकौस्तुभं कृष्णं विष्णुं ह्रेपयतीव। 'अर्तिह्रीव्लीरीक्नूयीक्ष्माय्यातां पुङ्णौ' इत्यनेन पुगागमः। कौस्तुभमणेरप्युत्कृष्टोऽस्य मणिरिति भावः॥ ४९॥

गरुडसे डरे हुए यमुनामें रहनेवाले कालिय नागके द्वारा (अभयदान देनेसे उपहारमें) दिये गये तथा छातीपर फैलती हुई कान्तिवाले रत्नको धारण किया हुआ यह 'सुषेण' राजा

कौस्तुभ मणिको धारण किये हुए विष्णु भगवान्‌को मानो अभिभव कर रहा है ॥ ४९ ॥

सम्भाव्य भर्तारममुं युवानं मृदुप्रवालोत्तरपुष्पशय्ये ।
वृन्दावने चैत्ररथादनूने निर्विश्यतां सुन्दरि यौवनश्रीः ॥ ५० ॥

सम्भाव्येति । युवानममुं सुषेणं भर्तारं सम्भाव्य मत्वा पतित्वेनाङ्गीकृत्येत्यर्थः । मृदुप्रवालोत्तरोपरिप्रस्तारितकोमलपल्लवा पुष्पशय्या यस्मिंस्तस्मिंश्चैत्ररथात्कुबेरोद्यानादनूने वृन्दावने वृन्दावननामक उद्याने हे सुन्दरि ! यौवनश्रीर्यौवनफलं निर्विश्यतां भुज्यताम् ॥ ५० ॥

हे सुन्दरि ! इस युवक राजाको पति मानकर ऊपरमें कोमल पत्ते बिछी हुई पुष्पशय्या वाले चैत्ररथ (नामक कुबेरोद्यान) के समान वृन्दावनमें जवानीकी शोभाको चरितार्थ करो

अध्यास्य चाम्भःपृषतोक्षितानि शैलेयगन्धीनि शिलातलानि ।
कलापिनां प्रावृषि पश्य नृत्यं कान्तासु गोवर्धनकन्दरासु ॥ ५१ ॥

अध्यास्येति । किं च, प्रावृषि वर्षासु कान्तासु गोवर्धनस्याद्रेः कन्दरासु दरीषु 'दरी तु कन्दरो वा स्त्री' इत्यमरः । अम्भसः पृषतैर्बिन्दुभिरुक्षितानि सिक्तानि शिलायां भवं शैलेयम् । 'शिलाजतु च शैलेयम्' इति यादवः । यद्वा शिलापुष्पाख्यौषधिविशेषः । 'कालानुसार्यवृद्धाश्मपुष्पशीतशिवानि तु । शैलेयम्' इत्यमरः । 'शिलाया ढः' इत्यत्र शिलाया इति योगविभागाद्विकारार्थे ढप्रत्ययः । तद्गन्धवन्ति शैलेयगन्धीनि शिलातलान्यध्यास्याधिष्ठाय कलापिनां बर्हिणां नृत्यं पश्य ॥ ५१ ॥

और सुन्दर गोवर्धन पर्वतकी गुफाओंमें जलकी बूंदोंसे छिड़काव किये गये एवं शिलाजीतकी गन्धसे युक्त चट्टानोंपर बैठकर बरसातमें मोरोंके नृत्यको देखो ॥ ५१ ॥

नृपं तमावर्तमनोज्ञनाभिः सा व्यत्यगादन्यवधूर्भवित्री ।
महीधरं मार्गवशादुपेतं स्रोतोवहा सागरगामिनीव ॥ ५२ ॥

नृपमिति । 'स्यादावर्तोऽम्भसां भ्रमः' इत्यमरः । आवर्तमनोज्ञा नाभिर्यस्याः सा । इदं च नदीसाम्यार्थमुक्तम् । अन्यवधूरन्यस्य वधूर्भवित्री भाविनी सा कुमारी तं नृपम् । सागरगामिनी सागरं गच्छन्ती स्रोतोवहा नदी मार्गवशादुपेतं प्राप्तं महीधरं पर्वतमिव व्यत्यगादतीत्य गता ॥ ५२ ॥

पानीके भौंरके समान सुन्दर नाभिवाली तथा भविष्यमें दूसरे अर्थात् 'अज' की भार्या होनेवाली उस इन्दुमतीने रास्तेमें आनेसे प्राप्त पर्वतको समुद्रगामिनी एवं प्रवाहसे बहने वाली नदीके समान (भावी-पति 'अजके यहां जाते समय मार्गमें प्राप्त) उस राजाको छोड़ दिया अर्थात् उस राजाको छोड़कर आगे बढ़ी ॥ ५२ ॥

अथाङ्गदाश्लिष्टभुजं भुजिष्या हेमाङ्गदं नाम कलिङ्गनाथम्।
आसेदुषीं सादितशत्रुपक्षं बालामबालेन्दुमुखीं बभाषे॥ ५३॥

अथेति। अथ भुजिष्या किङ्करी सुनन्दा। 'भुजिष्या किङ्करी मता' इति हला युधः। अङ्गदाश्लिष्टभुज केयूरबद्धबाहुं सादितशत्रुपक्ष विनाशितशत्रुवर्गं हेमाङ्गदं नाम कलिङ्गनाथमासेदुषीमासन्नामबालेन्दुमुखीं पूर्णेन्दुमुखीं बालामिन्दुमतीं बभाषे॥५३॥

इसके बाद दासी सुनन्दाने बाहुमें बिजायठ पहने हुए तथा शत्रुपक्षको नष्टकरनेवाले अङ्गदेशके राजा 'हेमाङ्गद'को (बतलाकर) समीपमें स्थित तथा पूर्णचन्द्रतुल्य इन्दुमतीसे कहा॥ ५३॥

असौ महेन्द्राद्रिसमानसारः पतिर्महेन्द्रस्य महोदधेश्च।
यस्य क्षरत्सैन्यगजच्छलेन यात्रासु यातीव पुरो महेन्द्र॥ ५४॥

असाविति। महेन्द्राद्रे समानसारस्तुल्यसत्त्वोऽसौ हेमाङ्गदो महेन्द्रस्य नाम कुलपर्वतस्य महोदधेश्च पति स्वामी। 'महेन्द्रमहोदधी एवास्य गिरिजलदुर्गे' इति भाव। यस्य यात्रासु क्षरतां मदस्राविणां सैन्यगजानां छलेन महेन्द्रो महेन्द्राद्रि पुरोऽग्रे यातीव। अद्रिकल्पा अस्य गजा इत्यर्थ॥ ५४॥

महेन्द्र पर्वतके समान सार (शक्ति तथा सम्पत्ति) वाला यह 'हेमाङ्गद' राजा महेन्द्र पर्वतका तथा महासमुद्रका स्वामी है, जिसकी (दिग्विजयकी) यात्रामें मदजलको बहानेवाले हाथियोंके बहानेसे महेन्द्रपर्वत मानों आगे चलता है॥ ५४॥

ज्याघातरेखे सुभुजो भुजाभ्यां बिभर्ति यश्चापभृतां पुरोगः।
रिपुश्रिया साञ्जनबाष्पसेके बन्दीकृतानामिव पद्धती द्वे॥ ५५॥

ज्याघातेति। सुभुजश्चापभृतां पुरोगो धनुर्धराग्रेसरो य बन्दीकृतानां प्रगृहीतानाम्। 'प्रग्रहोपग्रहौ बन्द्याम्' इत्यमर। रिपुश्रिया साञ्जनो बाष्पसेको ययोस्ते, कज्जलमिश्राश्रुसिक्ते इत्यर्थः। पद्धती इव। द्वे ज्याघातानां मौर्वीकिणानां रेखे राजी भुजाभ्यां बिभर्ति। द्विवचनात्सम्यसाचित्व गम्यते। रिपुश्रियां भुजाभ्यामेवाहरणात्तद्गतरेखयोस्तत्पद्धतित्वेनोत्प्रेक्षा। तयो श्यामत्वात्साञ्जनाश्रुसेकोक्तिः॥ ५५॥

सुन्दर भुजाओंवाला तथा धनुर्धारियोंमें प्रधान जो 'हेमाङ्गद' राजा दोनों भुजाओंमें, बन्दिनी बनायी गयीं शत्रुओंकी राजलक्ष्मियोंके अञ्जनयुक्त आँसूसे सिक्त दो रेखाओंके समान प्रत्यञ्चाके आघातसे उत्पन्न दो चिह्नों (घट्ठों) को धारण करता है। (सर्वदा धनुष चलानेसे इसकी भुजाओंमें जो प्रत्यञ्चाके आघातसे उत्पन्न कृष्णवर्ण दो घट्ठे हैं, वे वशमें की गयी शत्रुओंकी राजलक्ष्मीके अञ्जनयुक्त श्यामवर्णकी दो रेखाओंके समान मालूम पड़ते हैं)॥ ५५॥

यमात्मनः सद्मनि संनिकृष्टो मन्द्रध्वनित्याजितयामतूर्यः ।
प्रासादवातायनदृश्यवीचिः प्रबोधयत्यर्णव एव सुप्तम् ॥ ५६ ॥

यमिति । आत्मनः सद्मनि सुप्तं यं हेमाङ्गदं संनिकृष्टः समीपस्थोऽर्णव एव प्रासाद-वातायनैर्दृश्यवीचिभिर्मन्द्रेण गम्भीरेण । 'मन्द्रस्तु गम्भीरे' इत्यमरः । ध्वनिना त्याजितं निवर्तितं यामस्य तूर्यं प्रहरावसानसूचकं वाद्यं येन स तथोक्तः । 'द्वौ यामप्रहरौ समौ' इत्यमरः । अर्णव एव प्रबोधयति । अर्णवस्यैव तूर्यकार्यकारित्व-प्रबोधकत्वमित्यर्थः । समुद्रस्यापि सेव्यः किमन्येषामिति भावः ॥ ५६ ॥

अपने महलमें सोये हुए जिस 'हेमाङ्गद' राजाको समीपस्थ महलके झरोखोंसे दिखाई पड़ते हुए तरङ्गोंवाला और गम्भीर शब्दसे प्रहर-सूचक बाजेको व्यर्थ करनेवाला समुद्र ही जगाता है ॥ ५६ ॥

अनेन सार्धं विहराम्बुराशेस्तीरेषु तालीवनमर्मरेषु ।
द्वीपान्तरानीतलवङ्गपुष्पैरपाकृतस्वेदलवा मरुद्भिः ॥ ५७ ॥

अनेनेति । अनेन राज्ञा सार्धं तालीवनैर्मर्मरेषु मर्मरेति ध्वनत्सु । 'अथ मर्मरः । स्तनिते वस्त्रपर्णानाम्' इत्यमरवचनात्पुंस्त्वस्यापि मर्मरशब्दस्य गुणिपरत्वं प्रयोग-वशेषम् । अम्बुराशेः समुद्रस्य तीरेषु द्वीपान्तरेभ्य आनीतानि लवङ्गपुष्पाणि देव-कुसुमानि येषां तैः । 'लवङ्गं देवकुसुमम्' इत्यमरः । मरुद्भिर्वातैरपाकृताः प्रशमिताः स्वेदस्य लवा बिन्दवो यस्याः सा तथा भूता सती त्वं विहर क्रीड ॥ ५७ ॥

तालीवनोंसे 'मर्मर' ध्वनि करनेवाले समुद्रके तटोंपर अन्य द्वीपोंसे लवङ्गपुष्पोंको लानेवाली हवासे पसीनेको सुखानेवाली तुम इस राजाके साथ विहार करो ॥ ५७ ॥

प्रलोभिताप्याकृतिलोभनीया विदर्भराजावरजा तयैवम् ।
तस्मादपावर्तत दूरकृष्टा नीत्येव लक्ष्मीः प्रतिकूलदैवात् ॥ ५८ ॥

प्रलोभितापीति । आकृत्या रूपेण लोभनीयाऽऽकर्षणीया न तु वर्णनामात्रेणेत्यर्थः । विदर्भराजावरजा भोजानुजेन्दुमती तया सुनन्दयैवं प्रलोभितापि प्रलोभितापि । नीत्या पुरुषकारेण दूरकृष्टा दूरमानीतापि लक्ष्मीः प्रतिकूलं दैवं यस्य तस्मात्पुंस इव तस्माद्धेमाङ्गदादपावर्तत प्रतिनिवृत्ता ॥ ५८ ॥

रूपसे लोभनीय वह भोजकी छोटी बहन इन्दुमती उस सुनन्दाके बहुत लुभानेपर भी नीति अर्थात् पुरुषार्थके द्वारा दूर खींची गई लक्ष्मीके समान प्रतिकूलभाग्यवाले उस राजासे दूर हट गई ॥ ५८ ॥

अथोरगाख्यस्य पुरस्य नाथं दौवारिकी देवसरूपमेत्य ।
इतश्चकोराक्षि विलोकयेति पूर्वानुशिष्टां निजगाद भोज्याम् ॥ ५९ ॥

अथेति । अथ द्वारे नियुक्ता दौवारिकी सुनन्दा । 'तत्र नियुक्तः' इति ठक्प्रत्ययः । 'द्वारादीनां च' इत्यौ आगमः । अकारेण देवसरूप देवतुल्यम् । उरगाख्यस्य पुरस्य पाण्ड्यदेशे कान्यकुब्जतीरवर्तिनागपुरस्य नाथमेत्य प्राप्य । हे चकोराक्षि ! इतो विलोकयेति पूर्वानुशिष्टां पूर्वमुक्तां भोजस्य राज्ञो गोत्रापत्य स्त्रिय भोज्यामिन्दुमतीम् । 'क्रोड्यादिभ्यश्च' इत्यत्र भोजात्क्षत्रियादित्युपसङ्ख्यानात्ष्यङ्प्रत्ययः । 'यङश्चाप्' इति चाप् । निजगाद । इतो विलोकयेति पूर्वमुक्त्वा पश्चादुक्तस्य निजगादेत्यर्थः ॥ ५९ ॥

इसके बाद द्वारपालिका सुनन्दा देवतुल्य कान्तिवाले 'उरग' (पाण्ड्यदेशमें कान्यकुब्जके तटवर्ती नागपुर) के राजाको प्राप्तकर पूर्वोक्त भोजवंशोत्पन्न इन्दुमतीसे 'हे चकोरनेत्रे ! इधर देखो' इसप्रकार बोली—॥ ५९ ॥

पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः क्लृप्ताङ्गरागो हरिचन्दनेन ।
आभाति बालातपरक्तसानुः सनिर्झरोद्गार इवाद्रिराजः ॥ ६० ॥

पाण्ड्य इति । अंसयोरर्पिताः लम्बन्त इति लम्बाः हारा यस्य सः । हरिचन्दनेन गोशीर्षाख्येन चन्दनेन । 'तैलपर्णिकगोशीर्षे हरिचन्दनमस्त्रियाम्' इत्यमरः । क्लृप्ताङ्गराग सिद्धानुलेपनोऽय पाण्डूना जनपदाना राजा पाण्ड्यः । 'पाण्डोर्जनपदशब्दात्क्षत्रियाड्ड्यण्वक्तव्य ' इति ड्यण्प्रत्ययः । 'यस्य राजन्यपत्यवत्' इति वचनात् । बालातपेन रक्ता अरुणा सानवो यस्य स सनिर्झरोद्गारः प्रवाहस्यन्दनसहितः । 'वारिप्रवाहो निर्झरो झरः' इत्यमरः । अद्रिराज इवाभाति ॥ ६० ॥

कन्धोंसे लटकते हुए हारको पहना हुआ तथा हरिचन्दनका अङ्गराग (अङ्गोंमें लेप) लगाया हुआ यह पाण्ड्य देशका राजा प्रातःकालके धूपसे रक्तवर्णयुक्त शिखरवाले झरनोंसे जल बहाते हुए हिमालयके समान शोभमान हो रहा है ॥ ६० ॥

विन्ध्यस्य संस्तम्भयिता महाद्रेर्निःशेषपीतोज्झितसिन्धुराजः ।
प्रीत्याश्वमेधावभृथार्द्रमूर्तेः सौस्नातिको यस्य भवत्यगस्त्यः ॥ ६१ ॥

विन्ध्यस्येति । विन्ध्यस्य नाम्नो महाद्रेः । तपनमार्गनिरोधाय वर्धमानस्येति शेषः । संस्तम्भयिता निवारयिता निःशेषं पीत उज्झित पुनस्त्यक्तः सिन्धुराजः समुद्रो येन सोऽगस्त्योऽश्वमेधस्यावभृथे दीक्षान्ते कर्मणि । 'दीक्षान्तोऽवभृथो यज्ञे' इत्यमरः । आर्द्रमूर्तेः स्नातस्येत्यर्थः । यस्य पाण्ड्यस्य प्रीत्या स्नेहेन, न तु दाक्षिण्येन । सुस्नात पृच्छतीति सौस्नातिको भवति । 'पृच्छतौ सुस्नातादिभ्यः' इत्युपसङ्ख्यानाट्ठक् ॥ ६१ ॥

विन्ध्य महापर्वतको स्तब्ध करनेवाले तथा सम्पूर्ण समुद्रको पी जानेवाले अगस्त्य ऋषि

अवभृथ (यज्ञान्तमें कर्तव्य स्नान-विशेष) से भीगे हुए शरीरवाले अर्थात् स्नान किये हुए जिस राजासे प्रसन्नतासे सुखपूर्वक स्नान करनेका कुशल पूछते हैं ॥ ६१ ॥

पौराणिक कथा—१ पूर्वकालमें सूर्यके साथ स्पर्धाकर उनके मार्गको रोकनेके लिए वेगसे बढ़ते हुए विन्ध्यपर्वतको देखकर देवताओंके सहित इन्द्रने अगस्त्य मुनिसे उसे शान्त करनेके लिये प्रार्थना की तब उनकी प्रार्थना सुनकर अगस्त्यजी दक्षिण दिशाको जाने लगे तब शिष्य विन्ध्यपर्वतने गुरु अगस्त्यजीको दण्डवत् भूमिमें लेटकर प्रणाम करनेपर उन्होंने कहा कि 'जब तक मैं वापस नहीं लौटूँगा तब तक तुम यों ही पड़े रहना, उठना नहीं' तदनुसार विन्ध्यपर्वत आजतक अगस्त्य ऋषिके दक्षिण दिशासे नहीं लौटनेसे वैसे ही भूमिपर दण्डवत् पड़ा हुआ है।

२ एक समय ब्राह्मणोंकी हत्या करनेवाले वातापि तथा इल्वल नामक दो असुर हुए। उनमें इल्वल ब्राह्मणका रूप धारणकर संस्कृतमें बोलता हुआ श्राद्धके बहाने ब्राह्मणोंको भोजनके लिये निमन्त्रण देता था और मेषका रूप धारण किये हुए वातापिको मारकर उसके मांसको विधिपूर्वक श्राद्धमें उन ब्राह्मणोंको भोजन कराता था। उनके भोजन कर लेनेपर उच्च स्वरसे 'हे वातापि! बाहर निकलो' पुकारता था, भाईका पुकारना सुनकर उन ब्राह्मणोंके पेटको फाड़कर वातापि बाहर आ जाता था और वे ब्राह्मण मर जाते थे। इस प्रकार वे राक्षस हजारों ब्राह्मणोंको मारकर उनके मांसका भक्षण करते थे। यह देख देवताओंकी प्रार्थना करनेपर महर्षि अगस्त्यजी वहाँ गये और इल्वलने उसी प्रकार उन्हें निमन्त्रितकर मेषरूपधारी वातापिके मांसको विधिवत् बनाकर भोजन करानेके उपरान्त 'हे वातापि! बाहर निकलो' इस प्रकार उच्च स्वरसे पुकारने लगा। यह देख महर्षि अगस्त्यजीने हँसते हुए कहा—'भेड़का रूप धारण करनेवाला तुम्हारा भाई मेरे पेटमें पच गया है, अब बाहर निकलनेकी शक्ति उसमें नहीं है।' यह सुनकर क्रुद्ध उस इल्वल मुनिको मारनेके लिये दौड़ा तो मुनिने क्षणमात्रमें क्रोधाग्निसे उसको भी भस्म कर दिया। (वाल्मीकि रामा० आरण्यकाण्ड ११।५५–६०)। इस वातापि-वातापिको मारनेके लिये अगस्त्यजी द्वारा समुद्रपानकी कथा भी कहीं २ मिलती है।

> अस्त्रं हरादाप्तवता दुरापं येनेन्द्रलोकावजयाय दृप्तः ।
>
> पुरा जनस्थानविमर्दशङ्की सन्धाय लङ्काधिपतिः प्रतस्थे ॥ ६२ ॥

अस्त्रमिति । पुरा पूर्वं जनस्थानस्य खरालयस्य विमर्दशङ्की एष वक्ष्यते लङ्काधिपती रावणो दुरापं दुर्लभमस्त्रं ब्रह्मशिरोनामकं हरादाप्तवता येन पाण्ड्येन सन्धाय । इन्द्रलोकस्यावजयायेन्द्रलोकजेतुं प्रतस्थे । इन्द्रविजयिनो रावणस्यापि विजेतेत्यर्थः ॥ ६२ ॥

पहले जनस्थानके बाधकी आशङ्का करनेवाले अहङ्कारी लङ्केश्वर रावणने दुर्लभ (ब्रह्मशिर नामक) अस्त्रको शिवजीसे पाये हुए जिस पाण्ड्यनरेशके साथ सन्धि करके इन्द्रलोक (स्वर्ग) को विजयके लिये यात्रा की ॥ ६२ ॥

अनेन पाणौ विधिवद्गृहीते महाकुलीनेन महीव गुर्वी ।
रत्नानुविद्धार्णवमेखलाया दिशः सपत्नी भव दक्षिणस्याः ॥ ६३ ॥

अनेनेति । महाकुलीनेन महाकुले जातेन । 'महाकुलादञ्खञौ' इति खञ्प्रत्ययः । अनेन पाण्ड्येन पाणौ स्वदीये विधिवद्यथाशास्त्र गृहीते सति गुर्वी गुरुः । 'वोतो गुणवचनात्' इति ङीप् । महीव रत्नैरनुविद्धो व्याप्तोऽर्णव एव मेखला यस्यास्तस्याः । इद विशेषण मह्यामिन्दुमत्यां च योज्यम् । दक्षिणस्या दिशः सपत्नी भव । अनेन सपत्न्यन्तराभावो ध्वन्यते ॥ ६३ ॥

श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न इस पाण्ड्य राजाके साथ विवाह करनेपर तुम पृथ्वीके समान रत्नयुक्त समुद्ररूप मेखला (करधनी) वाली दक्षिण दिशाकी सपत्नी (सौत) बनो ॥ ६३ ॥

ताम्बूलवल्लीपरिणद्धपूगास्वेलालतालिङ्गितचन्दनासु ।
तमालपत्रास्तरणासु रन्तुं प्रसीद शश्वन्मलयस्थलीषु ॥ ६४ ॥

ताम्बूलेति । ताम्बूलवल्लीभिर्नागवल्लीभिः परिणद्धाः परिरब्धाः पूगाः क्रमुका यासु तासु । 'ताम्बूलवल्ली ताम्बूली नागवल्ल्यपि' इति, 'घोण्टा तु पूगः क्रमुकः' इति चामरः । एलालताभिरालिङ्गिताश्चन्दना मलयजा यासु तासु । 'गन्धसारो मलयजो भद्रश्रीश्चन्दनोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । तमालस्य तापिच्छस्य पत्राण्येवास्तरणानि यासु तासु । 'कालस्कन्धस्तमालः स्यात्तापिच्छोऽपि' इत्यमरः । मलयस्थलीषु शश्वन्मुहुः सदा वा रन्तुं प्रसीदानुकूला भव ॥ ६४ ॥

जलीय लताओंसे वेष्टित सुपारीके वृक्षोंवाली, छोटी इलायचीकी लताओंसे वेष्टित चन्दन वृक्षोंवाली और तमालपत्रोंकी ऊपरी चादरवाली (तमालके पत्तोंसे ढकी हुई) मलयाचलकी भूमिमें निरन्तर रमण करनेके लिये प्रसन्न होओ ॥ ६४ ॥

इन्दीवरश्यामतनुर्नृपोऽसौ त्वं रोचनागौरशरीरयष्टिः ।
अन्योन्यशोभापरिवृद्धये वां योगस्तडित्तोयदयोरिवास्तु ॥ ६५ ॥

इन्दीवरेति । असौ नृपः इन्दीवरश्यामतनुः । त्वं रोचना गोरोचनेव गौरी शरीरयष्टिर्यस्याः सा ततस्तडित्तोयदयोर्विद्युन्मेघयोरिव वां युवयोर्योगः समागमोऽन्योन्यशोभायाः परिवृद्धयेऽस्तु ॥ ६५ ॥

यह राजा नीलकमलके समान श्यामवर्ण देहवाला है तथा तुम गोरोचनके समान गौर शरीरयष्टिवाली हो, (अत एव) तुम दोनोंका सम्बन्ध बिजली तथा मेघके समान परस्परकी शोभा बढानेवाला होए' ॥ ६५ ॥

स्वसुर्विदर्भाधिपतेस्तदीयो लेभेऽन्तरं चेतसि नोपदेशः ।
दिवाकरादर्शनबद्धकोशे नक्षत्रनाथांशुरिवारविन्दे ॥ ६६ ॥

स्वसुरिति । विदर्भाधिपतेर्भोजस्य स्वसुरिन्दुमत्याश्चेतसि तदीयः सुनन्दासम्बन्ध्युपन्यासो वाक्यम् । दिवाकरस्यादर्शनेन बद्धकोशे मुकुलितेऽरविन्दे मधुव्रतानां ध्वन्यग्रस्थितम् इव । अन्तरमवकाशं न लेभे ॥ ६६ ॥

सूर्यके नहीं देखनेसे बन्द कोषवाले (मुकुलित) कमलमें भ्रमरके समान, विदर्भनरेशकी बहन इन्दुमतीके हृदयमें उसके (सुनन्दाके) वचनने स्थान नहीं पाया ॥ ६६ ॥

सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा ।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः ॥ ६७ ॥

सञ्चारिणीति । पतिंवरा सेन्दुमती रात्रौ सञ्चारिणी दीपशिखेव यं यं भूमिपालं व्यतीयायातीत्य गता स स भूमिपालः, स सर्व इत्यर्थः । 'नित्यवीप्सयोः' इति वीप्सायां द्विर्वचनम् । नरेन्द्रमार्गे राजपथेऽट्टालको गृहभेद इव । 'स्यादट्टः क्षौममस्त्रियाम्' इत्यमरः । विवर्णभावं विच्छायत्वम् । अट्टस्तु तमोवृतत्वम् । प्रपेदे ॥ ६७ ॥

पतिको स्वयं वरण करनेवाली वह इन्दुमती रात्रिमें चलती हुई दीपकके लौके समान जिस २ राजाको छोड़कर आगे बढ़ गयी वह २ राजा सड़ककी अट्टालिकाके समान उदासीन भाव (पक्षमें-अँधेरा) को प्राप्त किया अर्थात् इन्दुमतीके छोड़कर आगे बढ़ जानेसे वे राजा उदासीन हो गये ॥ ६७ ॥

तस्यां रघोः सूनुरुपस्थितायां वृणीत मां नेति समाकुलोऽभूत् ।
वामेतरः संशयमस्य बाहुः केयूरबन्धोच्छ्वसितैर्नुनोद ॥ ६८ ॥

तस्यामिति । तस्यामिन्दुमत्यामुपस्थितायामासन्नायां सत्यां रघोः सूनुरजो मां वृणीत न वेति समाकुलः संशयितोऽभूत् । अथास्याजस्य वामेतरो वामान्यो दक्षिणो बाहुः । केयूरं बध्यतेऽस्मिन्निति केयूरबन्धोऽङ्गदस्थानं तस्योच्छ्वसितैः स्फुरणैः संशयं नुनोद ॥ ६८ ॥

उस (इन्दुमती) के पास पहुँचनेपर रघुपुत्र अज 'यह इन्दुमती मुझे वरण करेगी या नहीं?' इसप्रकार सन्देह करने लगे, (फिर) इनकी दहनी भुजाने बिजायठ बाँधनेके स्थानके स्फुरित होने (फड़कने) से इनके सन्देहको दूर कर दिया। (सामुद्रिक शास्त्रानुसार दहनी भुजाके स्फुरणसे स्त्रीलाभ होता है अतः दहनी भुजाके स्फुरित होनेसे अजको इन्दुमतीके वरणमें सन्देह नहीं रहा) ॥ ६८ ॥

तं प्राप्य सर्वावयवानवद्यं व्यावर्ततान्योपगमात्कुमारी ।
न हि प्रफुल्लं सहकारमेत्य वृक्षान्तरं काङ्क्षति षट्पदाली ॥ ६९ ॥

तमिति । कुमारी सर्वैरवयवैरनवद्यमगर्ह्यं तमजं प्राप्य अन्योपगमाद्राजान्तरोपगमनाद् व्यावर्तत निवृत्ता । तथा हि । षट्पदालिर्भ्रमरपङ्क्तिः । प्रफुल्लतीति प्रफुल्लं

विकसितम्, पुष्पितमित्यर्थः। प्रपूर्वात्फुल्लतेः पचाद्यच्। फलतेस्तु प्रफुल्तमिति पठितव्यम्। अनुपसर्गात् फुल्लक्षीबकृशोल्लाघाः' इति निषेधात्। इत्युभयथापि न कदाचिदनुपपत्तिरित्युक्तं प्राक्। सहकारं चूतविशेषमेत्य। 'आम्रश्चूतो रसालोऽसौ सहकारोऽतिसौरभः' इत्यमरः। वृक्षान्तरं न काङ्क्षति। न हि सर्वोत्कृष्टवस्तुलाभेऽपि वस्त्वन्तरस्याभिलाषः स्यादित्यर्थः। ॥ ६९ ॥

कुमारी इन्दुमती सम्पूर्ण अङ्गोंमें अनिन्दनीय उस अजको पाकर अन्यत्र जानेसे रुक गयी अर्थात् दूसरे राजाके पास जानेका विचार छोड दिया, क्योंकि भ्रमरोंकी पङ्क्ति खिले (मौंजरों-बौरोंसे लदे) हुए आमको छोडकर दूसरे वृक्षको चाहना नहीं करती है ॥ ६९ ॥

तस्मिन् समावेशितचित्तवृत्तिमिन्दुप्रभामिन्दुमतीमवेक्ष्य ।
प्रचक्रमे वक्तुमनुक्रमज्ञा सविस्तरं वाक्यमिदं सुनन्दा ॥ ७० ॥

तस्मिन्निति। तस्मिन्नजे समावेशिता सङ्क्रामिता चित्तवृत्तिर्यया ताम्। इन्दोः प्रभेव प्रभा यस्यास्ताम्। आह्लादकत्वादिन्दुसाम्यम्। इन्दुमतीमवेक्ष्यानुक्रमज्ञा वाक्यपौर्वापर्याभिज्ञा सुनन्देदं वक्ष्यमाणं सविस्तारं सप्रपञ्चम्। 'प्रथने वावशब्दे' इति घञो निषेधात्। 'ऋदोरप्' इत्यप्प्रत्ययः। 'विस्तारो विग्रहो व्यासः स च शब्दस्य विस्तरः' इत्यमरः। वाक्यं वक्तुं प्रचक्रमे ॥ ७० ॥

पूर्वापर क्रम अर्थात् अवसरको जाननेवाली सुनन्दा उस अजमें मनको लगायी हुई, चन्द्रतुल्य कान्तिवाली इन्दुमतीको देखकर विस्तारपूर्वक यह (श्लोक० ७१-७९) वचन कहने लगी ॥ ७० ॥

इक्ष्वाकुवंश्यः ककुदं नृपाणां ककुत्स्थ इत्याहितलक्षणोऽभूत् ।
काकुत्स्थशब्दं यत उन्नतेच्छाः श्लाघ्यं दधत्युत्तरकोसलेन्द्राः ॥ ७१ ॥

इक्ष्वाकुवंश्य इति। इक्ष्वाकोर्मनुपुत्रस्य वंश्यो वंशे भवः। नृपाणां ककुदं श्रेष्ठः। 'ककुच्च ककुदं श्रेष्ठे वृषांसे राजलक्ष्मणि' इति विश्वः। आहितलक्षणः प्रख्यातगुणः। 'गुणैः प्रतीते तु कृतलक्षणाहतलक्षणौ' इत्यमरः। ककुदि वृषांसे तिष्ठतीति ककुत्स्थ इति प्रसिद्धः कश्चिद्राजाऽभूत्। यतः ककुत्स्थादारभ्योन्नतेच्छा महाशयाः। 'महेच्छस्तु महाशयः' इत्यमरः। उत्तरकोसलेन्द्रा राजानो दिलीपादयः श्लाघ्यं प्रशस्तम्। ककुत्स्थस्यापत्यं पुमान्काकुत्स्थ इति शब्दं संज्ञां दधति बिभ्रति। तन्नामसंस्पर्शोऽपि यशस्यः कीर्तिकर इति भावः। पुरा किल पुरञ्जयो नाम साक्षाद्भगवतो 'विष्णोरंशावतारः कश्चिदैक्ष्वाको राजा देवैः सह समयबन्धेन देवासुरयुद्धे महोक्षरूपधारिणो महेन्द्रस्य ककुदि स्थित्वा पिनाकिलीलया निखिलमसुरकुलं निहत्य ककुत्स्थसंज्ञां लेभे इति पौराणिकी कथानुसन्धेया। वक्ष्यते चायमेवार्थ उत्तरश्लोके ॥ ७१ ॥

इक्ष्वाकु (ऊखको भेदनकर उत्पन्न होनेसे मनुपुत्रका नाम 'इक्ष्वाकु' पड़ा) के वंशमें

उनमें राजाओंमें श्रेष्ठ प्रख्यात गुणोंवाले 'ककुत्स्थ' राजा हुए, जिससे आरम्भकर उच्च भाग्य वाले उत्तर कोसलके स्वामी (दिलीप आदि) भी 'काकुत्स्थ' शब्दको धारण करते हैं। (उसीसे ही उत्तर कोसलके राजा 'काकुत्स्थ' कहलाते हैं) ॥ ७१ ॥

> महेन्द्रमास्थाय महोक्षरूपं यः संयति प्राप्तपिनाकिलीलः ।
> चकार बाणैरसुराङ्गनानां गण्डस्थलीः प्रोषितपत्त्रलेखाः ॥ ७२ ॥

महेन्द्रमिति । यः ककुत्स्थः संयति युद्धे महांश्चासावुक्षा महोक्षः । 'अचतुर-' इत्यादिना निपातः । तस्य रूपमिव रूपं यस्य तं महेन्द्रमास्थायारुह्य । अत एव प्राप्ता पिनाकिन ईश्वरस्य लीला येन स तथोक्तः सन् बाणैरसुराङ्गनानां गण्डस्थलीः प्रोषितपत्त्रलेखा निवृत्तपत्त्ररचनाश्चकार । पत्यूनसुरानवधीदित्यर्थः । न हि विधवाः प्रसाधनभाज इति भावः ॥ ७२ ॥

जिस 'ककुत्स्थ' राजाने युद्धमें वृषभरूपधारी इन्द्रपर सवार होकर शङ्करजीकी लीलाको प्राप्तकर बाणोंसे असुरपत्नियोंके कपोलमण्डलको पत्ररचनासे शून्य कर दिया अर्थात् असुरोंको मार डाला ॥ ७२ ॥

पौराणिक कथा—पहले सत्ययुगमें विष्णु भगवान्‌के अवतार इक्ष्वाकुवंशोत्पन्न 'पुरञ्जय' राजा हुए। असुरोंसे देवताओंके पीड़ित होनेपर इन्द्रने सहायताके लिये उनसे प्रार्थना की। तब 'यदि देवेन्द्र रूप आप धारण करें तो मैं वृषभरूपधारी आपको वाहन बनाकर असुरोंका संहार करूँगा' ऐसा उनसे पुरञ्जयके कहनेपर इन्द्रने वृषभका रूप धारण किया और पुरञ्जयने उनपर सवार होकर युद्धमें असुरोंका संहार किया। अत एव उनका नाम 'ककुत्स्थ' (ककुद बैलकी डील अर्थात् पर्वतपर स्थित उच्च मांसपिण्डविशेषपर बैठनेवाला) पड़ा और उनके वंशज 'काकुत्स्थ' कहलाये।

> ऐरावतास्फालनविश्लथं यः संघट्टयन्नङ्गदमङ्गदेन ।
> उपेयुषः स्वामपि मूर्तिमग्र्यामर्धासनं गोत्रभिदोऽधितष्ठौ ॥ ७३ ॥

ऐरावतेति । यः ककुत्स्थ ऐरावतस्यास्फालनमास्फालनं ताडनं तेन विश्लथं शिथिलमङ्गदं केयूरमङ्गदेन स्वकीयेन संघट्टयन्संघर्षयन्नग्र्यां श्रेष्ठां मूर्तिमुपेयुषोऽपि प्राप्तस्यापि गोत्रभिद इन्द्रस्यार्धमासनस्यार्धासनम् । 'अर्धं नपुंसकम्' इति समासः । अधितष्ठावधिष्ठितवान् । 'स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य' इत्यभ्यासेन व्यवायेऽपि षत्वम् । न केवलं महोक्षरूपधारिण एव तस्य ककुत्स्थस्याधिष्ठानम् । किंतु निजरूपधारिणोऽपीन्द्रस्यार्धासनमधितष्ठावित्यपिशब्दार्थः । अथवा अर्धासनमपीत्यपेरन्वयः ॥ ७३ ॥

जो 'ककुत्स्थ' राजा ऐरावतके ठोंकनेसे ढीले पड़े हुए (इन्द्रके) बिजायठको अपनी बिजायठसे रगड़ता हुआ, अपने ही उत्तम मूर्तिको प्राप्त किये हुए इन्द्रके आधे आसन पर बैठे ॥ ७३ ॥

जातः कुले तस्य किलोरुकीर्तिः कुलप्रदीपो नृपतिर्दिलीपः ।
अतिष्ठदेकोनशतक्रतुत्वे शक्राभ्यसूयाविनिवृत्तये यः ॥ ७४ ॥

जात इति । उरुकीर्तिर्महायशाः कुलप्रदीपो वंशप्रदीपको दिलीपो नृपतिस्तस्य ककुत्स्थस्य कुले जातः किल । यो दिलीप शक्राभ्यसूयाविनिवृत्तये न स्वशक्त्येति भावः । एकेनोना शत क्रतवो यस्य स एकोनशतक्रतुः । तस्य भावे तत्वेऽतिष्ठत् । इन्द्रप्रीतये शततमं क्रतुमवशेषितवानित्यर्थ ॥ ७४ ॥

उस 'ककुत्स्थ' राजाके वंशमें महायशस्वी, कुलदीपक (वंशको दीपकके समान प्रकाशित करनेवाले) 'दिलीप' राजा उत्पन्न हुए, जो इन्द्रकी असूया (गुणमें भी दोष बताना) को दूर करनेके लिये निन्यानवे (अश्वमेध) यज्ञ करके ठहर गये (केवल इन्द्रको ही सौ अश्वमेध यज्ञ करनेका अधिकार होनेसे ९९ यज्ञोंको करके रुक गये (देखें सर्ग ३ श्लो० ३८)॥७४॥

यस्मिन्महीं शासति वाणिनीनां निद्रां विहारार्धपथे गतानाम् ।
वातोऽपि नास्रंसयदंशुकानि को लम्बयेदाहरणाय हस्तम् ॥ ७५ ॥

यस्मिन्निति । यस्मिन्दिलीपे महीं शासति सति । विहरन्त्यत्रेति विहार' क्रीडास्थानम् । तस्यार्धपथे निद्रा गताना वाणिनीना मत्ताङ्गनानाम् । 'वाणिनी नर्तकी-मत्ताविदग्धवनितासु च' इति विश्व. । 'वाणिन्यौ नर्तकीदूत्यौ' इत्यमरश्च । अंशुकानि वस्त्राणि वातोऽपि नास्रंसयन्नाकम्पयत् । आहरणायापहर्तुं को हस्त लम्बयेत् । तस्याज्ञासिद्धत्वादकुतोभयसञ्चारा' प्रजा इत्यर्थ' । अर्धश्चासौ पन्थाश्चेति विग्रह. । समप्रविभागे प्रमाणाभावाच्चैकदेशिसमासः ॥ ७५ ॥

जिस 'दिलीप' राजाके शासन करते रहनेपर क्रीडास्थानके आधे मार्गमें सोई हुई मतवाली स्त्रियोंके वस्त्रोंको वायु भी नहीं हटाया (तो फिर दूसरा) कौन पुरुष उन्हें हटानेके लिये हाथ बढावे ॥ ७५ ॥

पुत्रो रघुस्तस्य पदं प्रशास्ति महाक्रतोर्विश्वजितः प्रयोक्ता ।
चतुर्दिगावर्जितसम्भृतां यो मृत्पात्रशेषामकरोद्विभूतिम् ॥ ७६ ॥

पुत्र इति । विश्वजितो नाम महाक्रतो प्रयोक्ताऽनुष्ठाता तस्य दिलीपस्य पुत्रो रघु पद पैत्र्यमेव प्रशास्ति पालयति । यो रघुश्चतसृभ्यो दिग्भ्य आवर्जिताऽऽहृता सम्भृता सम्यग्वर्धिता च या चतुर्दिगावर्जितसम्भृता तां विभूतिं सम्पदं मृत्पात्रमेव शेषो यस्यास्तामकरोत् । विश्वजिद्यागस्य सर्वस्वदक्षिणाकत्वादित्यर्थं ॥ ७६ ॥

'विश्वजित्' यज्ञको करनेवाला, उस 'दिलीप'का पुत्र रघु उसके पद अर्थात् राज्यका शासन करते हैं, जिसने चारों दिशाओंसे लाकर सञ्चित की हुई सम्पत्तिको (दानकर) मृण्मयपात्रमात्र अवशिष्ट कर दिया (समस्त सम्पत्तिको इस प्रकार दान कर दिया कि उनके यहा केवल मिट्टीके बर्तन रह गये । देखें सर्ग ४ श्लो० ८६) ॥ ७६ ॥

आरूढमद्रीनुदधीन्वितीर्णं भुजङ्गमानां वसतिं प्रविष्टम् ।
ऊर्ध्वं गतं यस्य न चानुबन्धि यशः परिच्छेत्तुमियत्तयालम् ॥ ७७ ॥

आरूढमिति । किं च । अद्रीनारूढम् । उदधीन्वितीर्णमवगाह्य, समस्तभूलोकव्यापकमित्यर्थः । भुजङ्गमानां वसतिं पातालं प्रविष्टम् । ऊर्ध्वं स्वर्गादिकं गतं व्याप्तम्, इत्थं सर्वदिग्व्याप्तीत्यर्थः । अनुबन्ध्यविच्छिन्नमनुबन्धि चानुबन्धीति । अविच्छिन्न-व्यापकं चेत्यर्थः । अत एवंभूतं यस्य यश इयत्तया ऐदंता कायत्ता वा केनचिन्मानेन परिच्छेत्तुं परिमातुं नालं न शक्यम् ॥ ७७ ॥

पर्वतोंपर चढ़ा हुआ, समुद्रोंके पार गया हुआ, नागलोक (पाताल) में घुसा हुआ, ऊपर फैला हुआ और निरन्तर (सिलसिलेसे) अविच्छिन्न जिसका यश 'यहाँ तक गया है' या इतना है' ऐसा प्रमाण करनेमें असमर्थ है अर्थात् किसीसे उसकी सीमा तथा प्रमाण नहीं हो सकता ॥ ७७ ॥

असौ कुमारस्तमजोऽनुजातस्त्रिविष्टपस्येव पतिं जयन्तः ।
गुर्वीं धुरं यो भुवनस्य पित्रा धुर्येण दम्यः सदृशं बिभर्ति ॥ ७८ ॥

असाविति । असावजाख्यः कुमारः । त्रिविष्टपस्य पतिमिन्द्रं जयन्त इव । 'जयन्तः पाकशासनिः' इत्यमरः । तं रघुमनुजातः, तस्माज्जात इत्यर्थः । अकर्मकोऽपि जनि-र्जातो भवति जनयकर्मकोरामन्वर्थत् । 'गत्यर्थाकर्मकश्लिषशीङ्स्थासवसजनरुहजीर्यतिभ्यश्च' इति क्तः । सोपसर्गत्वात्सकर्मकत्वम् । आह वामनः सूत्रे वृत्तिकारः— 'सिद्धास्तु सोपसर्गाः सकर्मका भवन्ति' इति । दम्यः शिक्षणीयावस्थो योऽजो गुर्वीं भुवनस्य धुरं धुर्येण धुरन्धरेण चिरविनीतेन पित्रा सदृशं तुल्यं यथा तथा बिभर्ति । यथा कश्चिद्दम्यवत्सतरोऽपि धुर्येण महोक्षेण समं महतीं धुरमुपमाकण्ठारो वहते । 'दम्यवत्सतरौ समौ' इत्यमरः ॥ ७८ ॥

यह कुमार 'अज' स्वर्गपति इन्द्रसे जयन्तके [समान उन रघुसे उत्पन्न हुआ है, शिक्षणीय (नवयुवक) भी अज संसारके (बड़े भारी प्रजापालनरूप) भारको भारवाहक पिताके समान धारण करता है ॥ ७८ ॥

कुलेन कान्त्या वयसा नवेन गुणैश्च तैस्तैर्विनयप्रधानैः ।
त्वमात्मनस्तुल्यममुं वृणीष्व रत्नं समागच्छतु काञ्चनेन ॥ ७९ ॥

कुलेनेति । कुलेन कान्त्या सौन्दर्येण नवेन वयसा यौवनेन विनयः प्रधानं येषां तैस्तैर्गुणैः श्रुतशीलादिभिश्चात्मनस्तुल्यं स्वानुरूपममुमजं त्वं वृणीष्व । किं बहुना । रत्नं काञ्चनेन समागच्छतु सङ्गच्छताम् । प्रार्थनायां लोट् । रत्नकाञ्चनयोरिवात्यन्तानुरूपयोर्युवयोः समागमः प्रार्थ्यत इत्यर्थः ॥ ७९ ॥

कुलसे, सौन्दर्यसे, नई अवस्था (युवावस्था) से और विनयादि प्रधान उन २ (शास्त्रज्ञान, शील, दया, दाक्षिण्य, आदि) गुणोंसे अपने समान इस कुमार अजको तुम वरण करो, (इस प्रकार) रत्न सुवर्णके साथ सयुक्त हो (तुम दोनोंका सम्बन्ध सुवर्णमें जड़े रत्नके समान उचित एवं सर्वप्रिय होगा) ॥ ७९ ॥

ततः सुनन्दावचनावसाने लज्जां तनूकृत्य नरेन्द्रकन्या ।
दृष्ट्या प्रसादामलया कुमारं प्रत्यग्रहीत्संवरणस्रजेव ॥ ८० ॥

तत इति । ततः सुनन्दावचनस्यावसानेऽन्ते नरेन्द्रकन्येन्दुमती लज्जां तनूकृत्य सङ्कोच्य प्रसादेन मनःप्रसादेनामलया प्रसन्नया दृष्ट्या संवरणस्य स्रजा स्वयंवरणार्थं स्रजेव कुमारमजं प्रत्यग्रहीत्स्वीचकार । सम्यक्सानुरागमपश्यदित्यर्थः ॥ ८० ॥

तब सुनन्दाके वचनके अन्तमें राजकुमारी इन्दुमतीने लज्जाको कम करके संवरणकी मालाके समान प्रसन्नतायुक्त निर्मल दृष्टिसे कुमार 'अज' को स्वीकार किया । (अनुरागयुक्त होकर इन्दुमतीने अजको अच्छी तरह देखा) ॥ ८० ॥

सा यूनि तस्मिन्नभिलाषबन्धं शशाक शालीनतया न वक्तुम् ।
रोमाञ्चलक्ष्येण स गात्रयष्टिं भित्त्वा निराक्रामदरालकेश्याः ॥ ८१ ॥

सेति । सा कुमारी यूनि तस्मिन्नजेऽभिलाषबन्धमनुरागग्रन्थिं शालीनतयाऽधृष्टतया । 'स्यादधृष्टस्तु शालीनः' इत्यमरः । 'शालीनकौपीने अधृष्टाकार्ययोः' इति निपातः। वक्तुं न शशाक । तथाप्यरालकेश्या सोऽभिलाषबन्धो रोमाञ्चलक्ष्येण पुलकव्याजेन। 'व्याजोऽपदेशो लक्ष्यं च' इत्यमरः। गात्रयष्टिं भित्त्वा निराक्रामत् सात्त्विकाविर्भावलिङ्गेन प्रकाशित इत्यर्थः ॥ ८१ ॥

वह इन्दुमती युवक उस अजविषयक अनुरागको सरलताके कारण कह नहीं सकी (तथापि) वह अनुराग कुटिल केशों (अगुठिया वालों) वाली उस इन्दुमतीके शरीरको भेदनकर रोमाञ्चके बहाने बाहर निकल आया । (इन्दुमतीके रोमाञ्चसे उसके विना कहे ही 'अज'में उसका अनुराग स्पष्ट मालूम पड़ने लगा) ॥ ८१ ॥

तथागतायां परिहासपूर्वं सख्यां सखी वेत्रभृदाबभाषे ।
आर्ये ! व्रजामोऽन्यत इत्यथैनां वधूरसूयाकुटिलं ददर्श ॥ ८२ ॥

तथेति । सख्यामिन्दुमत्यां तथागतायां तथाभूतायां, दृष्टानुरागायां सत्यामित्यर्थः । सखी सहचरी । 'सख्यशिश्वीति भाषायाम्' इति निपातनान्ङीप् । वेत्रभृत् सुनन्दा । हे आर्ये पूज्ये ! अन्यतोऽन्यं प्रति व्रजाम इति परिहासपूर्वमाबभाषे । अथ वधूरिन्दुमत्येनां सुनन्दामसूयया रोषेण कुटिलं ददर्श, अन्यागमनस्यासह्यत्वादित्यर्थः ॥ ८२ ॥

आरूढमद्रीनुदधीन्वितीर्णं भुजङ्गमानां वसतिं प्रविष्टम् ।
ऊर्ध्वं गतं यस्य न चानुबन्धि यशः परिच्छेत्तुमियत्तयालम् ॥ ७७ ॥

आरूढमिति । किं च । अद्रीनारूढम् । उदधीन्वितीर्णमतिक्रान्तम्, समुद्रोल्लङ्घनेन व्यापकमित्यर्थः । भुजङ्गमानां वसतिं पातालं प्रविष्टम् । ऊर्ध्वं स्वर्गादिकं गतं व्याप्तम्, इत्थं सर्वदिग्व्यापीत्यर्थः । अनुबन्धि चानुबन्धि चाविच्छेदि । अनन्तं व्यापकं चेत्यर्थः । अत एवंभूतं यस्य यश इयत्तया एतावत्त्वेन परिच्छेत्तुं परिमातुं नालं न शक्यम् ॥ ७७ ॥

पर्वतोंपर चढ़ा हुआ, समुद्रोंके पार गया हुआ, नागलोक (पाताल) में घुसा हुआ, ऊपर फैला हुआ और निरन्तर (भविष्यमें) अविच्छिन्न जिसका यश 'यहाँ तक गया है या रहता है' ऐसा प्रमाण करनेमें असमर्थ है अर्थात् दिशोंपके यशकी सीमा तथा प्रमाण नहीं हो सकता ॥ ७७ ॥

असौ कुमारस्तमजोऽनुजातस्त्रिविष्टपस्येव पतिं जयन्तः ।
गुर्वीं धुरं यो भुवनस्य पित्रा धुर्येण दम्यः सदृशं बिभर्ति ॥ ७८ ॥

असाविति । असावजाख्यः कुमारः । त्रिविष्टपस्य पतिमिन्द्रं जयन्त इव । 'जयन्तः पाकशासनिः' इत्यमरः । तं रघुमनुजातः, तस्माज्जात इत्यर्थः । जनेरकर्मकत्वेऽपि तदनुजातो भवति कर्मकर्तोरासन्नत्वात् । 'गत्यर्थाकर्मकश्लिषशीङ्स्थासवसजनरुहजीर्यतिभ्यश्च' इति क्तः । सोपसर्गत्वात्सकर्मकत्वम् । आह चात्रैव सूत्रे वृत्तिकारः— 'श्लिषादयः सोपसर्गाः सकर्मका भवन्ति' इति । दम्यः शिक्षणीयावस्थो योऽजो गुर्वीं भुवनस्य धुरं धुर्येण धुरन्धरेण चिरनिविष्टेन पित्रा सदृशं तुल्यं यथा तथा बिभर्ति । यथा कश्चिद्दम्यवत्सतरोऽपि धुर्येण महोक्षेण समं धुरमुद्वहति तद्वदित्यर्थः । 'दम्यवत्सतरौ समौ' इत्यमरः ॥ ७८ ॥

यह कुमार 'अज' स्वर्गपति इन्द्रसे जयन्तके समान उस रघुसे उत्पन्न हुआ है, शिक्षणीय (अवस्थावाला) भी यह संसारके (बड़े भारी प्रजापालनरूप) भारको भारवाहक पिताके समान धारण करता है ॥ ७८ ॥

कुलेन कान्त्या वयसा नवेन गुणैश्च तैस्तैर्विनयप्रधानैः ।
त्वमात्मनस्तुल्यममुं वृणीष्व रत्नं समागच्छतु काञ्चनेन ॥ ७९ ॥

कुलेनेति । कुलेन कान्त्या लावण्येन नवेन वयसा यौवनेन विनयः प्रधानं येषां तैस्तैर्गुणैश्च श्रुतशीलादिभिरात्मनस्तुल्यमनुरूपं त्वममुमजं वृणीष्व । किं बहुना । रत्नं काञ्चनेन समागच्छतु संगच्छताम् । प्रार्थनायां लोट् । रत्नकाञ्चनयोरिवात्यन्तानुरूपयोर्युवयोः समागमः प्रार्थ्यत इत्यर्थः ॥ ७९ ॥

भागीरथी, तत्सदृशीत्यर्थः । इत्येव नृपाणां श्रवणयोः कटु परुषमेकविसंवादि वाक्यमेकवाक्यं विवव्रुः । मालिनीवृत्तम् ॥ ८५ ॥

उस स्वयंवरमें समान गुणोंके सम्बन्ध होनेसे प्रसन्न नागरिक लोग 'यह इन्दुमती' मेघसे मुक्त (होनेसे निर्मल) चन्द्रमाको प्राप्त चांदनी तथा योग्य समुद्रको प्राप्त गङ्गा (के सदृश) हुई' इस प्रकार राजाओंके सुननेमें कटु वचन एक स्वरसे कहने लगे। (उनको वरण करनेसे प्रसन्न नागरिकोंकी बातें राजाओंको कटु मालूम पड़ती थीं।) ॥ ८५ ॥

प्रमुदितवरपक्षमेकतस्तत्क्षितिपतिमण्डलमन्यतो वितानम् ।
उषसि सर इव प्रफुल्लपद्मं कुमुदवनप्रतिपन्ननिद्रमासीत् ॥ ८६ ॥

प्रमुदितेति । एकत एकत्र प्रमुदितो हृष्टो वरस्य जामातुः पक्षो वर्गो यस्य तत्तथोक्तम् । अन्यतोऽन्यत्र वितानं शून्यम्, भग्नाशत्वादप्रहृष्टमित्यर्थः । तत्क्षितिपतिमण्डलम् । उषसि प्रभाते प्रफुल्लपद्मं कुमुदवनेन प्रतिपन्ननिद्रं प्राप्तनिमीलनं सर इव सरस्तुल्यम् । आसीत् । पुष्पिताग्रावृत्तमेतत् ॥ ८६ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया सञ्जीवनीसमाख्यया व्याख्यया समेतो महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये स्वयंवरवर्णनो नाम षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥



एक ओर प्रसन्न वर-पक्षवाला तथा दूसरी ओर उदासीन वह राज-समूह प्रातःकालमें खिले हुए कमलोंवाले तथा मुकुलित (बन्द) कुमुदोंवाले तडागके समान था। (अजपक्षवाले व्यक्ति सुप्रसन्न थे तथा उनसे भिन्न राजालोग इन्दुमतीको पानेकी आशाके भग्न होनेसे उदासीन थे।) ॥ ८६ ॥

यह 'मणिप्रभा' टीकामें 'रघुवंश' महाकाव्यका 'स्वयंवरवर्णन' नामक षष्ठ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ६ ॥



जबमें उस इन्दुमतीके वैसा अनुराग अजमें? हारपाकिका सखी सुनन्दाने परिहास-पूर्वक कहा कि—'ई आर्ये ! दूसरी जगह चलें' इसके बाद वह इन्दुमतीने उसे असूयापूर्वक दृष्टि (टेढ़ी नजर) से देखा ॥ ८२ ॥

सा चूर्णगौरं रघुनन्दनस्य धात्रीकराभ्यां करभोपमोरूः ।
आसञ्जयामास यथाप्रदेशं कण्ठे गुणं मूर्तमिवानुरागम् ॥ ८३ ॥

सेति । करभः करप्रदेशविशेषः । 'मणिबन्धादाकनिष्ठं करस्य करभो बहिः' इत्यमरः । करभ उपमा ययोस्तावूरू यस्याः सा करभोपमोरूः । 'ऊरूत्तरपदादौपम्ये' इत्यूङ्प्रत्ययः । सा कुमारी चूर्णेन मङ्गलचूर्णेन गौरं शोभितं गुणं स्रजम् । मूर्तं मूर्तिमन्तमनुरागमिव । धात्र्या उपमातुः सुनन्दायाः कराभ्यां रघुनन्दनस्याजस्य कण्ठे यथाप्रदेशं यथास्थानमासञ्जयामास न तु स्वयमाससञ्ज लज्जाविष्टत्वात् ॥ ८३ ॥

करभ (हाथकी कलाईसे कनिष्ठा अङ्गुलि तक का भाग) के समान ऊरुवाली उस इन्दुमतीने मङ्गलचूर्णसे गौरवर्ण मालाको मूर्तिमान् अनुरागके समान धाय 'सुनन्दा'के हाथोंसे (अजके) कण्ठमें यथास्थान पहनवाया ॥ ८३ ॥

तया स्रजा मङ्गलपुष्पमय्या विशालवक्षःस्थललम्बया सः ।
अमंस्त कण्ठार्पितबाहुपाशां विदर्भराजावरजां वरेण्यः ॥ ८४ ॥

तयेति । वरेण्यो वरणीयः श्रेष्ठः । 'वृञ एण्यः' । सोऽजो मङ्गलपुष्पमय्या मङ्गलपुष्पप्रचुरया विशालवक्षःस्थले लम्बया लम्बमानया तया स्रजा विदर्भराजावरजामिन्दुमतीं कण्ठार्पितौ बाहू एव पाशौ यया तामिवामंस्त । मन्यतेर्लुङ् । बाहुमाल्यस्पर्शसुखमन्वभूदित्यर्थः ॥ ८४ ॥

श्रेष्ठ उस अजने मङ्गलमय पुष्पोंसे बनी हुई तथा चौड़ी छातीपर लटकती हुई उस मालासे विदर्भराजकी छोटी बहन इन्दुमतीको कण्ठमें बाहुपाश अर्पण की हुई (गलेमें बाहें डाली हुई) समझा ॥ ८४ ॥

शशिनमुपगतेयं कौमुदी मेघमुक्तं
जलनिधिमनुरूपं जह्नुकन्यावतीर्णा ।
इति समगुणयोगप्रीतयस्तत्र पौराः
श्रवणकटु नृपाणामेकवाक्यं विवव्रुः ॥ ८५ ॥

शशिनमिति । तत्र स्वयंवरे समगुणयोस्तुल्यगुणयोरिन्दुमत्यजयोर्योगेन प्रीतिर्येषां ते समगुणयोगप्रीतयः पौराः पुरे भवा जनाः । इयमजं गतेन्दुमती मेघैर्मुक्तं शशिनमुपगता कौमुदी । अनुरूपं सदृशं जलनिधिमवतीर्णा प्रविष्टा जह्नुकन्या

भागीरथी, तत्सदृशीत्यर्थः । इत्येव नृपाणां श्रवणयोः कटु परुषमेकविसंवादि वाक्य-मेकवाक्यं विवव्रुः । मालिनीवृत्तम् ॥ ८५ ॥

उस स्वयंवरमें समान गुणोंके सम्बन्ध होनेसे प्रसन्न नागरिक लोग 'यह इन्दुमती' मेघसे मुक्त (होनेसे निर्मल) चन्द्रमाको प्राप्त चाँदनी तथा योग्य समुद्रको प्राप्त गङ्गा (के सदृश) हुई' इस प्रकार राजाओंके सुननेमें कटु वचन एक स्वरसे कहने लगे। (अजको वरण करनेसे प्रसन्न नागरिकोंकी बातें राजाओंको कटु मालूम पड़ती थीं।) ॥ ८५ ॥

प्रमुदितवरपक्षमेकतस्तत्क्षितिपतिमण्डलमन्यतो वितानम् ।
उषसि सर इव प्रफुल्लपद्मं कुमुदवनप्रतिपन्ननिद्रमासीत् ॥ ८६ ॥

प्रमुदितेति । एकत एकत्र प्रमुदितो हृष्टो वरस्य जामातुः पक्षो वर्गो यस्य तत्त-थोक्तम् । अन्यतोऽन्यत्र वितानं शून्यम्, भग्नाशत्वादप्रहृष्टमित्यर्थः । तत्क्षितिपति-मण्डलम् । उषसि प्रभाते प्रफुल्लपद्मं कुमुदवनेन प्रतिपन्ननिद्रं प्राप्तनिमीलनं सर इव सरस्तुल्यम् । आसीत् । पुष्पिताग्रावृत्तमेतत् ॥ ८६ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया सञ्जीवनीसमा-ख्यया व्याख्यया समेतो महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये स्वयंवरवर्णनो नाम षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥



एक ओर प्रसन्न वर-पक्षवाला तथा दूसरी ओर उदासीन वह राज-समूह प्रातःकालमें खिले हुए कमलोंवाले तथा मुकुलित (बन्द) कुमुदोंवाले तड़ागके समान था। (अजपक्षवाले व्यक्ति सुप्रसन्न थे तथा उनसे भिन्न राजालोग इन्दुमतीको पानेकी आशाके भग्न होनेसे उदासीन थे।) ॥ ८६ ॥

यह 'मणिप्रभा' टीकामें 'रघुवंश' महाकाव्यका 'स्वयंवरवर्णन' नामक षष्ठ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ६ ॥



सप्तमः सर्गः ।

भजेमहि गिरीशैकं शुद्धरत्नं पयोधरम् ।
भार्याभर्तृवाग्व्यामिश्रावाचयन्ती हि दम्पती ॥

अथोपयन्त्रा सदृशेन युक्तां स्कन्देन साक्षादिव देवसेनाम् ।
स्वसारमादाय विदर्भनाथः पुरप्रवेशाभिमुखो बभूव ॥ १ ॥

अथेति । अथ विदर्भनाथो भोजः सदृशेनोपयन्त्रा वरेण युक्ताम् । अत एव साक्षात्प्रत्यक्षम् । 'साक्षात्प्रत्यक्षतुल्ययोः' इत्यमरः । स्कन्देन युक्तां देवसेनामिव । देवसेना नाम देवपुत्री स्कन्दपत्नी 'पूर्वं हि ब्रह्मणा निर्मिते देवसेनादैत्यसेने इन्द्रकन्ये तयोः पूर्वस्याः पतित्वे स्कन्दोऽभिषिक्तः' इत्याख्यानम् । तामिव स्थितां स्वसारं भगिनीमिन्दुमतीमादाय गृहीत्वा पुरप्रवेशाभिमुखो बभूव । उपजातिवृत्तं सर्गेऽस्मिन् ॥ १ ॥

पीकर पयोधर एक फिर भी दूसरा ढूंढने लगे ।
उस शम्भुके बालकरूप दम्पतिको हम भजने लगे ॥

इसके बाद विदर्भनरेश भोज योग्य वर (अज) से युक्त (अत एव) साक्षात् स्कन्द युक्त देवसेना (स्कन्द-पत्नी) के समान बहन (इन्दुमती) को लेकर नगरमें प्रवेश करनेके लिये चले ॥ १ ॥

सेनानिवेशान्पृथिवीक्षितोऽपि जग्मुर्विभातग्रहमन्दभासः ।
भोज्यां प्रति व्यर्थमनोरथत्वाद्रूपेषु वेषेषु च साभ्यसूयाः ॥ २ ॥

सेनेति । भोजस्य राज्ञो भोज्यां भगिनीमिन्दुमतीं प्रति व्यर्थमनोरथत्वाद्रूपेष्वाकृतिषु वेषेषु नेपथ्येषु च साभ्यसूया द्वेषिण इत्यर्थः । किञ्च विभाते प्रातःकाले ये ग्रहाश्चन्द्रादयस्त इव मन्दभासः क्षीणकान्तयः पृथिवीक्षितो नृपा अपि सेनानिवेशाञ्शिबिराणि जग्मुः ॥ २ ॥

इन्दुमतीके प्रति असफल मनोरथ होनेसे प्रातःकालके ताराओंके समान फीके पड़े हुए तथा अपने रूप और वेषसे ईर्ष्या करते हुए राजालोग भी शिविरोंको गये ॥ २ ॥

ननु क्षुभितेष्वन्येषु तत्राह—

सान्निध्ययोगात्किल तत्र शच्याः स्वयंवरक्षोभकृतामभावः ।
काकुत्स्थमुद्दिश्य समत्सरोऽपि शशाम तेन क्षितिपाललोकः ॥ ३ ॥

सान्निध्येति । तत्र स्वयंवरे शच्या इन्द्राण्याः । सन्निधिरेव सान्निध्यम् । तस्य योगात्सम्बन्धात् स्वयंवरस्य क्षोभकृतां विघ्नकारिणामभावः किल । किञ्च

स्वयंवरविघातका शच्या विनाश्यन्त इत्यागमसूचनार्थम् । तेन हेतुना काकुत्स्थमज-मुद्दिश्य समत्सरोऽपि सवैरोऽपि क्षितिपाललोकः शशाम नाक्षुभ्यत् ॥ ३ ॥

वहां (स्वयंवरस्थलमें) इन्द्राणीके सामीप्य रहनेसे स्वयंवरमें विघ्न करनेवालोंका अभाव रहा अर्थात् स्वयंवरमें कोई गडबडी नहीं कर सका, इस कारण अजको लक्ष्यकर ईर्ष्यालु भी राजालोग शान्त रहे ॥ ३ ॥

तावत्प्रकीर्णाभिनवोपचारमिन्द्रायुधद्योतिततोरणाङ्कम् ।
वरः स वध्वा सह राजमार्गं प्राप ध्वजच्छायनिवारितोष्णम् ॥ ४ ॥

तावदिति । 'यावत्तावच्च साकल्ये' इत्यमरः । तावत्प्रकीर्णाः साकल्येन प्रसारिता अभिनवा नूतना उपचाराः पुष्पप्रकरादयो यस्य त तथोक्तम् । इन्द्रायुधानीव द्योतितानि प्रकाशितानि तोरणान्यङ्काश्चिह्नानि यस्य तम् । ध्वजानां छाया ध्वजच्छायम् । 'छाया बाहुल्ये' इति नपुंसकत्वम् । तेन निवारित उष्ण आतपो यत्र तं तथा राज-मार्गं स वरो वोढा वध्वा सह प्राप विवेश ॥ ४ ॥

वे 'अज' वधू इन्दुमतीके साथ, सर्वत्र नये २ साधनोंवाले, इन्द्रधनुषके समान शोभमान तोरणोंसे युक्त और पताकाओंसे धूपरहित मुख्य सडकपर पहुचे ॥ ४ ॥

ततस्तदालोकनतत्पराणां सौधेषु चामीकरजालवत्सु ।
बभूवुरित्थं पुरसुन्दरीणां त्यक्तान्यकार्याणि विचेष्टितानि ॥ ५ ॥

तत इति । ततस्तदनन्तरं चामीकरजालवत्सु सौवर्णगवाक्षयुक्तेषु सौधेषु तस्या-जस्यालोकने तत्पराणामासक्तानां पुरसुन्दरीणामित्थं वक्ष्यमाणप्रकाराणि त्यक्ता-न्यकार्याणि केशबन्धनादीनि येषु तानि विचेष्टितानि व्यापाराः । नपुंसके भावे क्तः । बभूवुः ॥ ५ ॥

इसके बाद सुनहले झरोखोंवाले महलोंमें उन्हें (इन्दुमती तथा अजको) देखनेके लिये तैयार नागरिक सुन्दरियोंका अन्यान्य कार्योंको छोडकर इस प्रकार की (श्लो० ६–१०) चेष्टाए हुई ॥ ५ ॥

तान्येवाह पञ्चभिः श्लोकैः —

आलोकमार्गं सहसा व्रजन्त्या कयाचिदुद्वेष्टनवान्तमाल्यः ।
बद्धुं न सम्भावित एव तावत्करेण रुद्धोऽपि च केशपाशः ॥ ६ ॥

आलोकेति । सहसालोकमार्गं गवाक्षपथं व्रजन्त्या कयाचित्कामिन्योद्वेष्टनवान्त-माल्यः । उद्वेष्टनो द्रुतगतिवशादुन्मुक्तबन्धनः । अत एव वान्तमाल्यो बन्धविश्ले-षेणोद्गीर्णमाल्यः करेण रुद्धो गृहीतोऽपि च केशपाशः केशकलापः । 'पाशः पक्षश्च

सप्तमः सर्गः ।

मजेमहि गिरीशेन सुधुरस्य पयोधरम् ।
मार्गमर्गं मातमाधेयमाश्चर्यवन्तौ हि दम्पती ॥

अथोपयन्त्रा सदृशेन युक्तां स्कन्देन साक्षादिव देवसेनाम् ।
स्वसारमादाय विदर्भनाथः पुरप्रवेशाभिमुखो बभूव ॥ १ ॥

अथेति । अथ विदर्भनाथो भोजः सदृशेनोपयन्त्रा वरेण युक्ताम् । अत एव साक्षात्प्रत्यक्षम् । 'साक्षात्प्रत्यक्षतुल्ययोः' इत्यमरः । स्कन्देन युक्तां देवसेनामिव । देवसेना नाम देवपुत्री स्कन्दपत्नी 'पूर्वं हि ब्रह्मणा सृष्टे देवसेनादैत्यसेने द्वे कन्ये बभूवतुः । पूर्वस्याः पतित्वे स्कन्दोऽभिषिक्तः' इत्याख्यायिका । तामिव स्थितां स्वसारं भगिनीमिन्दुमतीमादाय गृहीत्वा पुरप्रवेशाभिमुखो बभूव । उपजातिवृत्तं सर्गेऽस्मिन् ॥ १ ॥

पीकर पयोधर एक फिर भी दूसरा ढूंढे कभी ।
उस मातको नमस्कार दम्पतिको इम मनमें करें ॥

इसके बाद विदर्भनरेश भोज योग्य वर (अज) से युक्त (अत एव) साक्षात् स्कन्दसे युक्त देवसेना (स्कन्द-पत्नी) के समान, बहन (इन्दुमती) को लेकर नगरमें प्रवेश करनेके लिये चले ॥ १ ॥

सेनानिवेशान्पृथिवीक्षितोऽपि जग्मुर्विभातग्रहमन्दभासः ।
भोज्यां प्रति व्यर्थमनोरथत्वाद्रूपेषु वेषेषु च साभ्यसूयाः ॥ २ ॥

सेनेति । भोजस्य राज्ञो गोत्रापत्यं स्त्री भोज्या तामिन्दुमतीं प्रति व्यर्थमनोरथत्वाद्रूपेष्वाकृतिषु वेषेषु नेपथ्येषु च साभ्यसूया दूषयन्त इति भावः । किंच विभाते प्रातःकाले ये ग्रहाः प्रकाशास्त इव मन्दभासः क्षीणकान्तयः पृथिवीक्षितो नृपा अपि सेनानिवेशाञ्छिबिराणि जग्मुः ॥ २ ॥

इन्दुमतीके प्रति असफल मनोरथ होनेसे प्रातःकालके तारोंके समान फीके पड़े हुए तथा अपने रूप और वेषसे ईर्ष्या करते हुए राजालोग भी शिबिरोंको गये ॥ २ ॥

ननु क्षुब्धाः किं युध्यन्तो तदाह—

सांनिध्ययोगात्किल तत्र शच्याः स्वयंवरक्षोभकृतामभावः ।
काकुत्स्थमुद्दिश्य समत्सरोऽपि शशाम तेन क्षितिपाललोकः ॥ ३ ॥

सांनिध्येति । तत्र स्वयंवरे शच्या इन्द्राण्याः । सन्निधिरेव सांनिध्यम् । तस्य योगात्सम्बन्धात् स्वयंवरस्य क्षोभकृतां विघ्नकारिणामभावः किल । किलेति

झरोखेके मध्यसे देखती हुई दूसरी स्त्रीने (शीघ्र) चलनेसे खुली हुई नीवी (फुफुती, फुफुनी) को नहीं बांधा, (किन्तु) वह नाभिमें प्रविष्ट होती हुई कङ्कणकी कान्तिवाले हाथसे कपडेको पकडकर (इन्दुमती तथा अजको देखती हुई) खडी रही ॥ ९ ॥

अर्धाञ्चिता सत्वरमुत्थितायाः पदे पदे दुर्निमिते गलन्ती ।
कस्याश्चिदासीद्रशना तदानीमङ्गुष्ठमूलार्पितसूत्रशेषा ॥ १० ॥

अर्धाञ्चितेति । सत्वरमुत्थिताया. कस्याश्चिदर्धाञ्चिता मणिभिरर्धगुम्फिता दुर्निमिते सम्भ्रमादुत्क्षिप्ते । 'डुमिञ्प्रक्षेपणे' इति धातो' कर्मणि क्त. । पदे पदे प्रतिपदम् । वीप्सायां द्विर्भाव । गलन्ती गलद्रत्ना सती रशना मेखला तदानीं गमनसमयेऽङ्गुष्ठ मूलेऽर्पितं सूत्रमेव शेषो यस्या साऽऽसीत् ॥ १० ॥

शीघ्रतासे उठी हुई किसी स्त्रीकी आधी गुथी हुई तथा शीघ्र चलनेसे पग २ पर गिरती हुई करधनीका (झरोखेके पास पहुचनेपर) अगूठेमें बाधा हुआ केवल धागा ही बच गया। (शीघ्रतासे चलनेके कारण उसे सम्हालनेका ध्यान नहीं रहनेसे रास्तेमें ही सब मणि गिर पडे) ॥ १० ॥

तासां मुखैरासवगन्धगर्भैर्व्याप्तान्तराः सान्द्रकुतूहलानाम् ।
विलोलनेत्रभ्रमरैर्गवाक्षा' सहस्रपत्राभरणा इवासन् ॥ ११ ॥

तासामिति । तदानीं सान्द्रकुतूहलाना तासा स्त्रीणामासवगन्धो गर्भे येषां तै । विलोलानि नेत्राण्येव भ्रमरा येषां तै. । मुखैर्व्याप्तान्तराश्छन्नावकाशा गवाक्षाः सहस्रपत्राभरणा इव कमलालङ्कृता इव । 'सहस्रपत्र कमलम्' इत्यमर' । आसन् ॥ ११ ॥

(वधू-वरको देखनेके लिये) अत्यन्त कौतूहलवाली उन स्त्रियोंके मदिरापानसे गन्धयुक्त तथा चञ्चल नेत्ररूप भ्रमरवाले मुखोंसे व्याप्त अवकाशवाले अर्थात् ठसाठस भरे हुए झरोखे कमलोंसे अलङ्कृतके समान हो गये । (कमलमें गन्ध तथा भौंरे रहते हैं यहा उनके मुखमें मदिराका गन्ध तथा नेत्ररूपी भ्रमर थे ।) ॥ ११ ॥

ता राघव दृष्टिभिरापिबन्त्यो नार्यो न जग्मुर्विषयान्तराणि ।
तथा हि शेषेन्द्रियवृत्तिरासां सर्वात्मना चक्षुरिव प्रविष्टा ॥ १२ ॥

ता इति । ता नार्यो रघोरपत्य राघवमजम्। 'तस्यापत्यम्' इत्यण्प्रत्यय' । दृष्टिभिरापिबन्त्योऽतितृष्णया पश्यन्त्यो विषयान्तराण्यन्यान्विषयान्न जग्मु , न विदुरित्यर्थः । तथा हि । आसां नारीणां शेषेन्द्रियवृत्तिश्चक्षुर्व्यतिरिक्तश्रोत्रादीन्द्रियव्यापार सर्वात्मना स्वरूपकार्त्स्न्येन चक्षु प्रविष्टेव । श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि स्वातन्त्र्येण ग्रहणाशक्तेश्चक्षुरेव प्रविश्य कौतुकात्स्वयमप्येनमुपलभन्ते किमु । अन्यथा स्वस्वविषयाधिगम. किं न स्यादिति भाव. ॥ १२ ॥

हस्तेन कलापाग्रं कलापान्तरे' इत्यमरः । आवातायनमार्गप्राप्तिपर्यन्तं बद्धुमवकाशो न सम्भावितो न चिन्तित एव ॥ ६ ॥

खिड़कीके रास्तेसे झाँकनेवाले जाती हुई किसी स्त्री ने खुला होनेसे गिरी हुई पुष्प-मालाको (अत एव) हाथ पकड़े हुए केश-समूह अर्थात् चोटीको नहीं ही बांधा ॥ ६ ॥

प्रसाधिकालम्बितमग्रपादमाक्षिप्य काचिद् द्रवरागमेव ।
उत्सृष्टलीलागतिरागवाक्षादलक्तकाङ्कां पदवीं ततान ॥ ७ ॥

प्रसाधिकेति । काचित् । प्रसाधिकया मण्डनकर्त्र्या आलम्बितं रञ्जनार्थं धृतं द्रवरागमेव आर्द्रालक्तकमेव । अग्रश्चासौ पादश्चेत्यग्रपाद इति कर्मधारयसमासः । 'हस्ताग्राग्रहस्तादयो गुणगुणिनोर्भेदाभेदाभ्याम्' इति वामनः । तमाक्षिप्याकृष्य । उत्सृष्टलीलागतिस्त्यक्तमन्दगमना सती । आगवाक्षाद्गवाक्षपर्यन्तं पदवीं पन्थानमलक्तकाङ्कां लाक्षारसचिह्नां ततान विस्तारयामास ॥ ७ ॥

किसी स्त्री ने महावर लगाती हुई दासी द्वारा अवलम्बित पैरके अग्रभागको खींच लेकर लीला पूर्वक गमनको छोड़कर अर्थात् जल्दी २ जाती हुई, खिड़की तक (गीले होनेसे) महावरसे युक्त पैरोंके चिह्नसे भरा दिया ॥ ७ ॥

विलोचनं दक्षिणमञ्जनेन सम्भाव्य तद्वञ्चितवामनेत्रा ।
तथैव वातायनसन्निकर्षं ययौ शलाकामपरा वहन्ती ॥ ८ ॥

विलोचनमिति । अपरा स्त्री दक्षिणं विलोचनमञ्जनेन सम्भाव्यालङ्कृत्य । सम्भाव्येति भावः । तद्वञ्चितं तेनाञ्जनेन वञ्चितं वामनेत्रं यस्याः सा सती तथैव शलाकामञ्जनतूलिकां वहन्ती सती वातायनसन्निकर्षं गवाक्षसमीपं ययौ । दक्षिणग्रहणं सम्भ्रमात् पुरुषस्मरणद्योतनार्थम् । 'सव्यं हि पूर्वं मनुष्या अञ्जते' इति श्रुतेः ॥ ८ ॥

दूसरी स्त्री दाहनी आंखमें अञ्जन लगाकर बायीं आंखमें बिना अञ्जन लगाये ही सलाई लिए हुए झरोखेके पास पहुँच गई ॥ ८ ॥

जालान्तरप्रेषितदृष्टिरन्या प्रस्थानभिन्नां न बबन्ध नीवीम् ।
नाभिप्रविष्टाभरणप्रभेण हस्तेन तस्थाववलम्ब्य वासः ॥ ९ ॥

जालान्तरेति । अन्या स्त्री जालान्तरप्रेषितदृष्टिर्गवाक्षमध्यप्रेरितदृष्टिः सती प्रस्थानेन गमनेन भिन्नां त्रुटितां नीवीं वसनग्रन्थिम् । 'नीवी परिपणे ग्रन्थौ स्त्रीणां जघनवाससि' इति विश्वः । न बबन्ध । किन्तु नाभिप्रविष्टा आभरणानां कङ्कणादीनां प्रभा यस्य तेन । प्रभैव नाभेराभरणमभूदिति भावः । हस्तेन वासोऽवलम्ब्य गृहीत्वा तस्थौ ॥ ९ ॥

सहस्रमध्ये । सत्यपि व्यत्यासकारण इति भावः । आत्मप्रतिरूपं स्वतुल्यमेव । 'तुल्य-सङ्काशनीकाशप्रकाशप्रतिरूपका.' इति दण्डी । गता प्राप्ता । तदपि कथं जातमत आह—हि यस्मान्मनो जन्मान्तरसङ्गतिज्ञ भवति । तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञाभावेऽपि वासनाविशेषवशादनुभूतार्थेषु मन.प्रवृत्तिरस्तीत्युक्तम् । जन्मान्तरसाहचर्यमेवात्र प्रवर्तकमिति भाव ॥ १५ ॥

निश्चय ही ये दोनों (पूर्वजन्ममें) रति तथा कामदेव थे (और इस जन्ममें) इन्दुमती तथा अजरूपमें उत्पन्न हुए हैं, क्योंकि कुमारी इस इन्दुमतीने हजारों राजाओंके बीचमें इनको प्राप्त कर लिया । मन दूसरे जन्मकी सङ्गतिका ज्ञाता (जानकार) होता है ॥ १५ ॥

इत्युद्गताः पौरवधूमुखेभ्य शृण्वन्कथाः श्रोत्रसुखाः कुमारः ।
उद्भासितं मङ्गलसंविधाभिः सम्बन्धिन' सद्म समाससाद ॥ १६ ॥

इतीति । इति 'स्थाने वृता' इत्याद्युक्तप्रकारेण पौरवधूमुखेभ्य उद्गता उत्पन्ना. श्रोतयो' सुखा मधुरा. । सुखशब्दो विशेष्यनिघ्न । 'पाप पुण्य सुखादि च' इत्यमर. । कथा गिरः शृण्वन्कुमारोऽजो मङ्गलसंविधाभिर्मङ्गलरचनाभिरुद्भासित शोभितं सम्बन्धिन' कन्यादायिन' सद्म गृहं समाससाद प्राप ॥ १६ ॥

इस प्रकार (श्लो० १२–१५) नगरकी स्त्रियोंके मुखसे निकली हुई एव कर्णप्रिय बातों-को सुनते हुए कुमार 'अज'ने मङ्गलमय सामग्रियोंसे शोभित, सम्बन्धी अर्थात् नातेदार (भोज) के घरको प्राप्त किया ॥ १६ ॥

ततोऽवतीर्याशु करेणुकायाः स कामरूपेश्वरदत्तहस्तः ।
वैदर्भनिर्दिष्टमथो विवेश नारीमनांसीव चतुष्कमन्तः ॥ १७ ॥

तत इति । ततोऽनन्तर करेणुकाया हस्तिन्या सकाशादाशु शीघ्रमवतीर्य । कामरूपेश्वरे दत्तो हस्तो येन सोऽज अथोऽनन्तर वैदर्भेण निर्दिष्ट प्रदर्शितमन्तश्चतुष्क चत्वरम् । नारीणा मनासीव विवेश ॥ १७ ॥

तदनन्तर वे अज कामरूप (कामाक्षा) देशके राजापर हाथ रखकर अर्थात् हाथका सहारा देकर हथिनीसे शीघ्र उतर गये । बाद विदर्भ–नरेश भोजके बतलाये हुए चौक (अन्त पुरके मध्यवर्ती आँगन) में स्त्रियोंके मनके समान प्रवेश किये ॥ १७ ॥

महार्हसिंहासनसंस्थितोऽसौ सरत्नमर्घ्यं मधुपर्कमिश्रम् ।
भोजोपनीतं च दुकूलयुग्म जग्राह सार्धं वनिताकटाक्षैः ॥ १८ ॥

महार्हेति । महार्हसिंहासने सस्थितोऽसावज' भोजेनोपनीतम् । रत्नै सहित सरत्नम् । मधुपर्कमिश्रमर्घ्यं पूजासाधनद्रव्य दुकूलयो क्षौमयोर्युग्म च । वनिताकटा-क्षैरन्यस्त्रीणामपाङ्गदर्शनै सार्धम् । जग्राह गृहीतवान् ॥ १८ ॥

उस रघुपुत्र अजको अच्छी तरह देखती हुई स्त्रियोंने दूसरे विषयोंको नहीं जाना (अन्यत्र कहाँ क्या हो रहा है ? इस विषयको कुछ भी नहीं जाना), क्योंकि उन स्त्रियोंकी दूसरी इन्द्रियोंका व्यापार मानों नेत्रोंमें प्रविष्ट हो गया था ॥ १२ ॥

'शृण्वन्कथाः श्रोत्रसुखाः कुमारः' इति वक्ष्यति। ताः कथयन्ति 'स्थाने' इत्यादिभिस्त्रिभिः—

स्थाने वृता भूपतिभिः परोक्षैः स्वयंवरं साधुममंस्त भोज्या।
पद्मेव नारायणमन्यथाऽसौ लभेत कान्तं कथमात्मतुल्यम् ॥ १३ ॥

स्थान इति। भोज्येन्दुमती परोक्षैरप्रत्यक्षैर्भूपतिभिर्वृता समीपमिति प्रार्थितापि स्वयंवरमेव साधु हितममंस्त मेने। न तु परोक्षमेव कञ्चित्प्रार्थकं वव्रे। स्थाने युक्तमेतत्। 'युक्ते द्वे साम्प्रतं स्थाने' इत्यमरः। कुतः। अन्यथा स्वयंवराभावेऽसाविन्दुमती पद्मेव लक्ष्मीरिव। 'लक्ष्मीः पद्मालया पद्मा' इत्यमरः। नारायणमिवात्मतुल्यं स्वानुरूपं कान्तं पतिं कथं लभेत। न लभेतैव सम्यग्विवेकाभावादिति भावः ॥ १३ ॥

'परोक्षमें स्थित (अन्यान्य) राजाओंसे वरण की गयी ('इन्दुमती मेरी ही पत्नी है' ऐसा समझी गयी) इन्दुमतीने स्वयंवरको ही अच्छा समझा' यह ठीक हुआ, नहीं तो यह इन्दुमती विष्णु भगवान्‌को लक्ष्मीके समान अपने अनुरूप पतिको कैसे पाती ? ॥ १३ ॥

परस्परेण स्पृहणीयशोभं न चेदिदं द्वन्द्वमयोजयिष्यत्।
अस्मिन्द्वये रूपविधानयत्नः पत्युः प्रजानां वितथोऽभविष्यत् ॥ १४ ॥

परस्परेणेति। स्पृहणीयशोभं सर्वैराशंसनीयसौन्दर्यमिदं द्वन्द्वं मिथुनम्। 'द्वन्द्वं रहस्यमर्यादावचनव्युत्क्रमणयज्ञपात्रप्रयोगाभिव्यक्तिषु' इत्यनेन निपातः। परस्परेण नायोजयिष्यच्चेद्योजयेत्तर्हि प्रजानां पत्युर्विधातुरस्मिन्द्वये द्वन्द्वे रूपविधानयत्नः सौन्दर्यनिर्माणप्रयासो वितथो विफलोऽभविष्यत्। एतावतानुरूपदाम्पत्यलाभादिति भावः। 'लिङ्निमित्ते लृङ्क्रियातिपत्तौ' इति लृङ्। 'कुतश्चिद्वैगुण्यात्क्रियाया अनभिनिर्वृत्तिः क्रियातिपत्तिः' इति वृत्तिकारः ॥ १४ ॥

सुन्दर शरीरवाले शोभायाली वह जोड़ी (इन्दुमती तथा अज) यदि परस्परमें नहीं मिलते, तब ब्रह्माका इन दोनोंमें सौन्दर्य बनानेका परिश्रम निष्फल हो जाता ॥ १४ ॥

रतिस्मरौ नूनमिमावभूतां राज्ञां सहस्रेषु तथा हि बाला।
गतेयमात्मप्रतिरूपमेव मनो हि जन्मान्तरसंगतिज्ञम् ॥ १५ ॥

रतीति। रतिस्मरौ यौ नित्यसहचरावित्यभिमानः। नूनं तावेवेमौ जायापती दम्पती अभूताम् मनुष्यरूपेणोत्पन्नौ। कुतः। तथा हि इयं बाला राज्ञां सहस्रेषु राज-

सहस्रमध्ये। सत्यपि व्यत्यासकारण इति भाव । आत्मप्रतिरूप स्वतुल्यमेव। 'तुल्य-सङ्काशनीकाशप्रकाशप्रतिरूपका' इति दण्डी। गता प्राप्ता। तदपि कथ जातमत आह—हि यस्मान्मनो जन्मान्तरसङ्गतिज्ञ भवति। तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञाभावेऽपि वासनाविशेषवशादनुभूतार्थेषु मनःप्रवृत्तिरस्तीत्युक्तम्। जन्मान्तरसाहचर्यमेवात्र प्रवर्तकमिति भाव ॥ १५ ॥

निश्चय ही ये दोनों (पूर्वजन्ममें) रति तथा कामदेव थे (और इस जन्ममें) इन्दुमती तथा अजरूपमें उत्पन्न हुए हैं, क्योंकि कुमारी इस इन्दुमतीने हजारों राजाओंके बीचमें इनको प्राप्त कर लिया। मन दूसरे जन्मकी सङ्गतिका ज्ञाता (जानकार) होता है ॥ १५ ॥

इत्युद्गताः पौरवधूमुखेभ्य शृण्वन्कथाः श्रोत्रसुखाः कुमारः।
उद्भासित मङ्गलसंविधाभिः सम्बन्धिनः सद्म समाससाद ॥ १६ ॥

इतीति। इति 'स्थाने वृता' इत्याद्युक्तप्रकारेण पौरवधूमुखेभ्य उद्गता उत्पन्ना श्रोतयो.सुखा मधुराः। सुखशब्दो विशेष्यनिघ्न । 'पाप पुण्य सुखादि च' इत्यमरः। कथा गिरः शृण्वन्कुमारोऽजो मङ्गलसंविधाभिर्मङ्गलरचनाभिरुद्भासित शोभितं सम्बन्धिनः कन्यादायिन' सद्म गृहं समाससाद प्राप ॥ १६ ॥

इस प्रकार (श्लो० १३–१५) नगरकी स्त्रियोंके मुखसे निकली हुई एवं कर्णप्रिय बातोंको सुनते हुए कुमार 'अज'ने मङ्गलमय सामग्रियोंसे शोभित, सम्बन्धी अर्थात् नातेदार (भोज) के घरको प्राप्त किया ॥ १६ ॥

ततोऽवतीर्याशु करेणुकायाः स कामरूपेश्वरदत्तहस्तः।
वैदर्भनिर्दिष्टमथो विवेश नारीमनांसीव चतुष्कमन्तः ॥ १७ ॥

तत इति। ततोऽनन्तर करेणुकाया हस्तिन्या सकाशादाशु शीघ्रमवतीर्य। कामरूपेश्वरे दत्तो हस्तो येन सोऽज अथोऽनन्तर वैदर्भेण निर्दिष्ट प्रदर्शितमन्तश्चतुष्क चत्वरम्। नारीणां मनांसीव विवेश ॥ १७ ॥

तदनन्तर वे अज कामरूप (कामाक्षा) देशके राजापर हाथ रखकर अर्थात् हाथका सहारा देकर हथिनीसे शीघ्र उतर गये। बाद विदर्भ-नरेश भोजके बतलाये हुए चौक (अन्त पुरके मध्यवर्ती आँगन) में स्त्रियोंके मनके समान प्रवेश किये ॥ १७ ॥

महार्हसिंहासनसंस्थितोऽसौ सरत्नमर्घ्यं मधुपर्कमिश्रम्।
भोजोपनीतं च दुकूलयुग्मं जग्राह सार्धं वनिताकटाक्षैः ॥ १८ ॥

महार्हेति। महार्हसिंहासने संस्थितोऽसावज' भोजेनोपनीतम्। रत्नैः सहित सरत्नम्। मधुपर्कमिश्रमर्घ्यं पूजासाधनद्रव्य दुकूलयो क्षौमयोर्युग्म च। वनिताकटाक्षैरन्यस्त्रीणामपाङ्गदर्शनै सार्धम्। जग्राह गृहीतवान् ॥ १८ ॥

बहुमूल्य सिंहासनपर बैठे हुए उस कुमार अजने भोजके लाये हुए रत्नोंके सहित, मधुपर्क युक्त अर्घ्य तथा दो वस्त्रों (धोती-दुपट्टा) को स्त्रियोंके कटाक्षोंके साथ ग्रहण किया ॥ १८ ॥

दुकूलवासाः स वधूसमीपं निन्ये विनीतैरवरोधरक्षैः ।
वेलासकाशं स्फुटफेनराजिर्नवैरुदन्वानिव चन्द्रपादैः ॥ १९ ॥

दुकूलेति । दुकूलवासाः सोऽजः । विनीतैर्नम्रैरवरोधरक्षैरन्तःपुराधिकृतैर्वधूसमीपं निन्ये । तत्र दृष्टान्तः—स्फुटफेनराजिरुदन्वान्समुद्रो नवैरुद्गतैश्चन्द्रपादैश्चन्द्रकिरणैर्वेलायाः सकाशं समीपमिव । पूर्णदृष्टान्तोऽयम् ॥ १९ ॥

रेशमी वस्त्र पहने हुए उस अजको अन्तःपुरके रक्षक वधू (इन्दुमती) के पास इस प्रकार ले गये जिस प्रकार चन्द्रकिरण स्पष्ट फेन-समूहवाले समुद्रको तीरके पास ले जाती है ॥ १९ ॥

तत्रार्चितो भोजपतेः पुरोधा हुत्वाग्निमाज्यादिभिरग्निकल्पः ।
तमेव चाधाय विवाहसाक्ष्ये वधूवरौ सङ्गमयाञ्चकार ॥ २० ॥

तत्रेति । तत्र सम्यगर्चितः पूजितोऽग्निकल्पोऽग्नितुल्यो भोजपतेर्भोजदेशाधीश्वरस्य पुरोधाः पुरोहितः । 'पुरोधास्तु पुरोहितः' इत्यमरः । आज्यादिभिर्हविर्भिरग्निं हुत्वा तमेवाग्निं विवाहसाक्ष्ये आधाय साक्षिणं च कृत्वेत्यर्थः । वधूवरौ सङ्गमयाञ्चकार योजयामास ॥ २० ॥

वहाँपर सत्कृत तथा अग्निके समान (तेजस्वी) भोज राजाके पुरोहितने घी आदिसे अग्निमें हवनकर उसी (अग्नि) को विवाहमें साक्षी बनाकर वधू-वर (इन्दुमती-अज) को संयुक्त (विवाह-सम्बद्ध) कर दिया ॥ २० ॥

हस्तेन हस्तं परिगृह्य वध्वाः स राजसूनुः सुतरां चकासे ।
अनन्तराशोकलताप्रवालं प्राप्येव चूतः प्रतिपल्लवेन ॥ २१ ॥

हस्तेनेति । स राजसूनुर्हस्तेन स्वकीयेन वध्वा हस्तं परिगृह्य । अनन्तराया सन्निहिताया अशोकलतायाः प्रवालं पल्लवं प्रतिपल्लवेन स्वकीयेन प्राप्य चूत आम्र इव सुतरां चकासे ॥ २१ ॥

वे राजकुमार अज (अपने) हाथसे वधू इन्दुमतीका हाथ पकड़कर समीपस्थ अशोक लताके नवपल्लवको अपने पल्लवसे प्राप्त कर आम्रवृक्षके समान अत्यन्त शोभित हुए ॥ २१ ॥

आसीद्वरः कण्टकितप्रकोष्ठः स्विन्नाङ्गुलिः संववृते कुमारी ।
तस्मिन्द्वये तत्क्षणमात्मवृत्तिः समं विभक्तेव मनोभवेन ॥ २२ ॥

आसीदिति । वरः कण्टकितः पुलकितः प्रकोष्ठो यस्य स आसीत् । 'सूच्यग्रे क्षुद्रशत्रौ च रोमहर्षे च कण्टकः' इत्यमरः । कुमारी स्विन्नाङ्गुलिः संववृते बभूव । तस्मि-

त्प्रेक्षते—तस्मिन्द्वये मिथुने तत्क्षणमात्मवृत्ति' सात्त्विकोदयरूपा वृत्तिर्मनोभवेन कामेन सम विभक्तेव पृथक्कृतेव। प्राक्सिद्धस्याप्यनुरागसाम्यस्य सम्प्रति तत्कार्यदर्शनात्पाणिस्पर्शकृतत्वमुत्प्रेक्षते । अत्र वात्स्यायन —'कन्या तु प्रथमसमागमे स्विन्नाङ्गुलि स्विन्नमुखी च भवति । पुरुषस्तु रोमाञ्चितो भवति । एभिरनयोर्भाव परीक्षेत' इति । स्त्रीपुरुषयो स्वेदरोमाञ्चाभिधान सात्त्विकमात्रोपलक्षणम् । न तु प्रतिनियमो विवक्षित , एभिरिति बहुवचनसामर्थ्यात् । एव सति कुमारसम्भवे-'रोमोद्गमः प्रादुरभूदुमाया' स्विन्नाङ्गुलि. पुङ्गवकेतुरासीत्' । इति व्युत्क्रमवचन न दोषायेति । 'वृत्तिस्तयो' पाणिसमागमेन सम विभक्तेव मनोभवस्य' इत्यपरार्धस्य पाठान्तरे व्याख्यानान्तरम्—पाणिसमागमेन पाण्यो सस्पर्शेन कर्त्रा । तयोर्वधूवरयोर्मनोभवस्य वृत्ति स्थिति सम विभक्तेव । समीकृतेवेत्यर्थ' ॥ २२ ॥

वर अजका प्रकोष्ठ (हाथकी कोहुनी तथा कलाईका मध्यभाग) रोमाञ्चित हो गया तथा कुमारी इन्दुमतीकी अङ्गुलिया पसीज गयीं (स्वेदयुक्त हो गयीं)। हाथोंके उस स्पर्शने उन दोनों (वधू-वर) के कामवृत्तिको मानों बराबर २ बाट दिया ॥ २२ ॥

तयोरपाङ्गप्रतिसारितानि क्रियासमापत्तिनिवर्तितानि ।
ह्रीयन्त्रणामानशिरे मनोज्ञामन्योन्यलोलानि विलोचनानि ॥ २३ ॥

तयोरिति । अपाङ्गेषु नेत्रप्रान्तेषु प्रतिसारितानि प्रवर्तितानि क्रिययोर्निरीक्षणलक्षणयो समापत्त्या यदृच्छासङ्गत्या निवर्तितानि प्रत्याकृष्टान्यन्योन्यस्मिंल्लोलानि सतृष्णानि । 'लोलश्चलसतृष्णयो ' इत्यमर । तयोर्दम्पत्यो , विलोचनानि दृष्टयो मनोज्ञां रम्या ह्रिया निमित्तेन यन्त्रणा सङ्कोचमानशिरे प्रापु ॥ २३ ॥

नेत्रप्रान्त तक खुली हुई, दर्शनरूप कार्यके स्वेच्छासे हो जानेपर हटाई हुई उन दोनोंकी आंखें मनोहर लज्जापरवशताको प्राप्त हुईं। (विना चाहनाके भी उन्होंने आंखोंको फाडकर एक दूसरेको अच्छी तरह एकाएक देख लिया, किन्तु पुन शीघ्र ही लज्जासे आंखोंको जो सङ्कुचित कर लिया वह बहुत सुन्दर मालूम पडा ।) ॥ २३ ॥

प्रदक्षिणप्रक्रमणात्कृशानोरुदर्चिषस्तन्मिथुन चकासे ।
मेरोरुपान्तेष्विव वर्तमानमन्योन्यसंसक्तमहस्त्रियामम् ॥ २४ ॥

प्रदक्षिणेति । तन्मिथुनमुदर्चिष उन्नतज्वालस्य कृशानोर्वह्ने प्रदक्षिणप्रक्रमणात्प्रदक्षिणीकरणात् मेरोरुपान्तेषु समीपेषु वर्तमानमावर्तमानम् , मेरु प्रदक्षिणीकुर्वदित्यर्थ । अन्योन्यससक्त परस्परसङ्गतम् । मिथुनस्याप्येतद्विशेषणम् । अहश्च त्रियामा चाहस्त्रियाम रात्रिदिवमिव । समाहारे द्वन्द्वैकवद्भाव । चकासे दिदीपे ॥ २४ ॥

जलती हुई अग्निकी प्रदक्षिणा करनेसे परस्परमें मिली हुई (वधू-वरकी) वह जोडी

नाम्नो संकेताचारनामसु' इति केशवः। स राजलोकः समयोपलभ्यमनायासलभ्यमारम्भे कन्या तदा तस्यैकाकित्वादिति भावः। 'समयोपलभ्यम्' इति पाठे सुखसाध्यमित्यर्थः। तत्प्रमदैवामिषं भोग्यवस्तु। 'आमिषं त्वस्त्रियां मांसे तथा स्याद्भोग्यवस्तुनि' इति केशवः। आदास्यमानो ग्रहीष्यमाणः सन्नजस्य पन्थानमावृत्य तस्थौ ॥ ३१ ॥

आरम्भ किये गये कार्यकी सिद्धिमें पहलेसे ही संकेत किये हुए (अमुक स्थानपर हम लोग मिलकर रास्तेमें ही अजसे छीनकर इन्दुमतीको छीन लेंगे ऐसा गुप्त तय करके) समय पर (पाठान्तरसे–सरलतासे) मिलनेवाले इन्दुमतीरूप मांस अर्थात् भोग्य पदार्थको छीननेवाले वे राजालोग अजके मार्गको रोककर ठहर गये ॥ ३१ ॥

> भर्तापि तावत्क्रथकैशिकानामनुष्ठितानन्तरजाविवाहः ।
> सत्त्वानुरूपाहरणीकृतश्रीः प्रास्थापयद्राघवमन्वगाच्च ॥ ३२ ॥

भर्तापीति। अनुष्ठितः सम्पादितोऽनन्तरजाया अनुजाया विवाहो येन स तथोक्तः क्रथकैशिकानां देशानां भर्ता स्वामी भोजोऽपि तावत्तदा सत्त्वानुरूपमुत्साहानुरूपं यथा तथा वा समन्तात् [illegible]। हरणं कन्यायै देयं धनम्। तदुक्तं कात्यायनेन—'ऊढया कन्यया वापि पत्युः पितृगृहेऽपि वा। भ्रातुः सकाशात् पित्रोर्वा लब्धं सौदायिकं स्मृतम्' ॥ 'यौतकादि तु यद्देयं सुदायो हरणं च तत्' इत्यमरः। आहरणीकृता यौतकेन तथोक्तः सन् राघवमजं प्रास्थापयत्प्रस्थापितवान्स्वयमन्वगादनुजगाम च ॥ ३२ ॥

छोटी बहन इन्दुमतीके विवाहको किये हुए क्रथकैशिक (विदर्भ) के राजा भोज भी शक्तिके अनुसार दहेज देकर अजको विदा किये तथा स्वयं भी उनके पीछे चले ॥ ३२ ॥

> तिस्रस्त्रिलोकप्रथितेन सार्धमजेन मार्गे वसतीरुषित्वा ।
> तस्मादपावर्तत कुण्डिनेशः पर्वात्यये सोम इवोष्णरश्मेः ॥ ३३ ॥

तिस्र इति। कुण्डिनं विदर्भनगरं तस्येशो भोजस्त्रिषु लोकेषु प्रथितेनाजेन सार्धं मार्गे पथि तिस्रो वसती रात्रीरुषित्वा स्थित्वा। 'वसती रात्रिवेश्मनोः' इत्यमरः। 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' इति द्वितीया। पर्वात्यये दर्शान्ते उष्णरश्मेः सूर्यात्सोम इव। तस्मादजादपावर्तत निवृत्त इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

कुण्डिन (विदर्भ) नरेश भोज त्रिलोकमें विख्यात अजके साथ रास्तेमें तीन रातोंतक निवासकर पर्व (अमावस्या) के बीतनेपर सूर्यसे चन्द्रमाके समान उस (अज) से वापस लौटे। (अमावस्याको चन्द्रमा तथा सूर्य एक साथ रहते हैं तथा बादमें चन्द्रमा सूर्यसे अलग होते हैं। यह ज्योतिषशास्त्रका सिद्धान्त है) ॥ ३३ ॥

प्रमन्यवः प्रागपि कोसलेन्द्रे प्रत्येकमात्तस्वतया बभूवुः।
अतो नृपाश्चक्षमिरे समेताः स्त्रीरत्नलाभं न तदात्मजस्य ॥ ३४ ॥

प्रमन्यव इति। नृपा राजानः प्रागपि प्रत्येकमात्तस्वतया दिग्विजये गृहीत-धनत्वेन कोसलेन्द्रे रघौ प्रमन्यवो रूढवैरा बभूवुः। अतो हेतोः स्वयंवरार्थं समेताः सङ्गताः सन्तस्तदात्मजस्य रघुसूनोः स्त्रीरत्नलाभं न चक्षमिरे न सेहिरे ॥ ३४ ॥

राजालोग पहले (रघुके दिग्विजय-समयमें) भी हरएककी सम्पत्तिको ग्रहण कर लेनेसे कोसलाधीश रघुपर रुष्ट थे, इस कारण सम्मिलित हुए वे उन (रघु) के पुत्र अजकी स्त्री-रत्नप्राप्तिको नहीं सहन किये ॥ ३४ ॥

तमुद्वहन्तं पथि भोजकन्यां रुरोध राजन्यगणः स दृप्तः।
बलिप्रदिष्टां श्रियमाददानं त्रैविक्रमं पादमिवेन्द्रशत्रुः ॥ ३५ ॥

तमिति। दृप्त उद्धतः। स राजन्यगणो राजसङ्घातः भोजकन्यामुद्वहन्तं नयन्तं तमजं बलिना वैरोचनिना प्रदिष्टां दत्तां श्रियमाददानं स्वीकुर्वाणम्। त्रिविक्रमस्येमं त्रैविक्रमं पादमिन्द्रशत्रुः प्रह्लाद इव, पथि रुरोध। तथा च ब्रह्माण्डपुराणे—'विरोचन-विरोधेऽपि प्रह्लादः प्राक्तनं स्मरन्। विष्णोस्तु क्रममाणस्य पादाम्भोजं रुरोध ह' इति॥

उद्धत उस क्षत्रिय-राज-समूहने इन्दुमतीको लेजाते हुए उस अजको, बलि राजासे दी हुई लक्ष्मीको लेते हुए वामनके चरणको इन्द्रशत्रु प्रह्लादके समान रास्तेमें रोक लिया ॥ ३५ ॥

पौराणिक कथा—दैत्यराज बलिके यज्ञमें जाकर वामनरूपधारी विष्णु भगवान्ने साढ़े तीन पग पृथ्वीको दानमें उनसे प्राप्त किया, तदनन्तर विराट्रूप धारणकर पृथ्वीको स्वाधीन करनेके लिए विष्णुभगवान् नापने लगे तब विरोचनके विरोध करनेपर भी पूर्व बातको स्मरण करते हुए प्रह्लादने विष्णु भगवान्के चरणकमलोंको रोक लिया था।

तस्याः स रक्षार्थमनल्पयोधमादिश्य पित्र्यं सचिवं कुमारः।
प्रत्यग्रहीत्पार्थिववाहिनीं तां भागीरथीं शोण इवोत्तरङ्गः ॥ ३६ ॥

तस्या इति। स कुमारोऽजस्तस्या इन्दुमत्या रक्षार्थमनल्पयोधं बहुभटम्, पितु-रागतं पित्र्यम्, आप्तमित्यर्थः। सचिवमादिश्याज्ञाप्य तां पार्थिववाहिनीं राजसेनाम्। 'ध्वजिनी वाहिनी सेना' इत्यमरः। भागीरथीमुत्तरङ्गः शोणः शोणाख्यो नद इव। प्रत्यग्रहीदभियुक्तवान् ॥ ३६ ॥

उस कुमार अजने उस इन्दुमतीकी रक्षाके लिये बहुत योद्धाओंसे युक्त, पिताके क्रमसे रहनेवाले अर्थात् विश्वासपात्र मन्त्रीको नियुक्तकर, भागीरथीको उन्नत तरङ्गोंवाले 'शोणभद्र' नामक महानदके समान राजाओंके उस सेनाको रोका ॥ ३६ ॥

इसेब पर्वतके समीपमें अर्थात् चारो ओर चक्कर लगाती हुई परस्पर मिश्रित दिन-रातके समान शोभित हुई ॥ २४ ॥

नितम्बगुर्वी गुरुणा प्रयुक्ता वधूर्विधातृप्रतिमेन तेन ।
चकार सा मत्तचकोरनेत्रा लज्जावती लाजविसर्गमग्नौ ॥ २५ ॥

नितम्बेति । नितम्बेन गुर्वी अलसगामी। 'गुर्वी ...गुर्वी' इति शाश्वतः । विधातृप्रतिमेन ब्रह्मतुल्येन तेन गुरुणा याजकेन प्रयुक्ता प्रयुङ्क्ष्वेति नियुक्ता मत्तचकोरस्येव नेत्रे यस्याः सा लज्जावती सा वधूरग्नौ लाजविसर्गं चकार ॥ २५ ॥

बड़े २ नितम्बोंवाली चकोरके समान नेत्रवाली तथा लज्जा युक्त इन्दुमती ब्रह्माके तुल्य गुरु अर्थात् पुरोहितके कहनेपर अग्निमें लावा (धानकी खीलोंको) छोड़ा (अग्निमें हवन किया) ॥ २५ ॥

हविःशमीपल्लवलाजगन्धी पुण्यः कृशानोरुदियाय धूमः ।
कपोलसंसर्पिशिखः स तस्या मुहूर्तकर्णोत्पलतां प्रपेदे ॥ २६ ॥

हविरिति । हविष आज्यादेः शमीपल्लवानां लाजानां च गन्धोऽस्यास्तीति हविःशमीपल्लवलाजगन्धी । 'सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ' इति ... । पुण्यो धूमः कृशानोः पावकादुदियायोद्भूतः । कपोलयोः संसर्पिणी प्रसरणशीला शिखा यस्य स तथोक्तः स धूमस्तस्या वध्वा मुहूर्तं कर्णोत्पलतां कर्णाभरणतां प्रपेदे ॥ २६ ॥

हविष्य शमी-पल्लव तथा खीलों (धानके लावे) के गन्धवाला पवित्र (जो) धुआं अग्निसे निकला कपोल तक पहुंचे हुए अग्रभागवाला वह धुआं थोड़े समयके लिये उस इन्दुमतीका कर्णभूषण बन गया ॥ २६ ॥

तदञ्जनक्लेदसमाकुलाक्षं प्रम्लानबीजाङ्कुरकर्णपूरम् ।
वधूमुखं पाटलगण्डलेखमाचारधूमग्रहणाद्बभूव ॥ २७ ॥

तदिति । तद्वधूमुखमाचारेण प्राप्तं धूमग्रहणम् । अञ्जनस्य क्लेदोऽञ्जनक्लेदः, अञ्जनमिश्रबाष्पोद्गम इत्यर्थः । तेन समाकुलाक्षम् । प्रम्लानौ बीजाङ्कुरौ यवाङ्कुर एव कर्णपूराववतंसौ यस्य तत्पाटलगण्डलेखं च बभूव ॥ २७ ॥

आचारसे धूम-ग्रहण करनेसे वह इन्दुमतीका मुख अञ्जनके मिल जानेसे आकुल नेत्रोंवाला तथा लाल कपोलोंवाला हो गया ॥ २७ ॥

तौ स्नातकैर्बन्धुमता च राज्ञा पुरंध्रिभिश्च क्रमशः प्रयुक्तम् ।
कन्याकुमारौ कनकासनस्थावार्द्राक्षतारोपणमन्वभूताम् ॥ २८ ॥

ताविति । कनकासनस्थौ तौ कन्याकुमारौ स्नातकैर्गृहस्थविशेषैः, कृतसमावर्तनैरित्यर्थः । 'स्नातकस्त्वाप्लुतो व्रती' इत्यमरः । बन्धुमता, बन्धुपुरःसरेणेत्यर्थः । राज्ञा च पुरन्ध्रिभिः पतिपुत्रवतीभिर्नारीभिश्च क्रमशः प्रयुक्तं स्नातकादीनां पूर्वपूर्ववैशिष्ट्याक्रमेण कृतमार्द्राक्षतानामारोपणमन्वभूतामनुभूतवन्तौ ॥ २८ ॥

सुवर्णके आसनपर बैठे हुए वधू इन्दुमती तथा कुमार अजने क्रमसे स्नातकों, परिवारसहित राजा भोज और सौभाग्यवती स्त्रियोंके द्वारा किये गये आर्द्र अक्षतोंके आरोपणको प्राप्त किया ॥ २८ ॥

इति स्वसुर्भोजकुलप्रदीपः सम्पाद्य पाणिग्रहणं स राजा ।
महीपतीनां पृथगर्हणार्थं समादिदेशाधिकृतानधिश्रीः ॥ २९ ॥

इतीति । अधिश्रीः अधिगता प्राप्ता श्रीः सम्पत्तिः येन सः अधिश्रीरधिकसम्पन्नो भोजकुलप्रदीपः स राजा । इति स्वसुरिन्दुमत्याः पाणिग्रहणं विवाहं सम्पाद्य कारयित्वा । महीपतीनां राज्ञां पृथगेकैकशोऽर्हणार्थं पूजार्थमधिकृतानधिकारिणः समादिदेशाज्ञापयामास ॥ २९ ॥

सम्पत्तिशाली तथा भोजकुलदीपक राजाने इस प्रकार (श्लोक० १८–२८) बहन इन्दुमतीके विवाहको पूर्णकर राजाओंकी अलग २ पूजा (आदर-सत्कार) करनेके लिये अधिकारियोंको आदेश दिया ॥ २९ ॥

लिङ्गैर्मुदः संवृतविक्रियास्ते ह्रदाः प्रसन्ना इव गूढनक्राः ।
वैदर्भमामन्त्र्य ययुस्तदीयां प्रत्यर्प्य पूजामुपदाछलेन ॥ ३० ॥

लिङ्गैरिति । मुदः सन्तोषस्य लिङ्गैश्चिह्नैः कपटहासादिभिः संवृतविक्रियाः निगूहितमत्सराः अत एव प्रसन्ना बहिर्निर्मला गूढनक्रा अन्तर्लीनग्राहा ह्रदा इव स्थितास्ते नृपा वैदर्भं भोजमामन्त्र्यापृच्छ्य तदीयां वैदर्भीयां पूजामुपदाछलेनोपायनमिषेण प्रत्यर्प्य ययुर्गतवन्तः ॥ ३० ॥

(बाहरी) हर्षके चिह्नोंसे छिपाये हुए विकार (भीतरी द्वेष) वाले अत एव (जलमें डूबकर) छिपे हुए मगरसे युक्त निर्मल तडागके समान वे राजालोग विदर्भनरेश भोजके यहांसे पूजा (में आयी हुई मणि आदि सामग्रियों) को भेंटके बहाने उन्हें लौटाकर और उनसे पूछकर (वहांसे) चले गये ॥ ३० ॥

स राजलोकः कृतपूर्वसंविदारम्भसिद्धौ समयोपलभ्यम् ।
आदास्यमानः प्रमदामिषं तदावृत्य पन्थानमजस्य तस्थौ ॥ ३१ ॥

स इति । आरम्भसिद्धौ कार्यसिद्धौ विषये । पूर्वं कृता कृतपूर्वा, सुप्सुपेति समासः । कृतपूर्वा संवित्संकेतो मार्गावरोधरूप उपायो येन स तथोक्तः । 'संविद्युद्धे प्रति

मार्गो उद्देशाचारमात्रम् इति केशवः। स राजलोकः समयोपलभ्यमवसरलभ्यम् तदा तदेवोपलभ्यमिति भावः। 'समरोपलभ्यम्' इति पाठे युद्धसाध्यमित्यर्थः। लभ्यमेवामिषं भोग्यवस्तु। 'आमिषं त्वस्त्रियां मांसे तथा स्याद्भोग्यवस्तुनि' इति केशवः। आददानो महीक्षितः सञ्जातस्य पन्थानमावृत्यावष्टभ्य तस्थौ ॥ ३१ ॥

आरम्भ किये गये कार्यकी सिद्धिमें पहलेसे ही संकेत किये हुए (अमुक स्थानपर हम लोग मिलकर रास्तेमें ही अजसे लड़कर इन्दुमतीको छीन लेंगे ऐसा गुप्त समझकर) समय पर (पाठान्तरसे—समरमें) मिलनेवाले इन्दुमतीरूप मांस अर्थात् भोग्य पदार्थको भविष्यमें लेनेवाले वे राजालोग अजके मार्गको रोककर ठहर गये ॥ ३१ ॥

भर्तापि तावत्क्रथकैशिकानामनुष्ठितानन्तरजाविवाहः ।
सत्त्वानुरूपाहरणीकृतश्रीः प्रास्थापयद्राघवमन्वगाच्च ॥ ३२ ॥

भर्तापीति। अनुष्ठितः सम्पादितोऽनन्तरजाया अनुजाया विवाहो येन स तथोक्तः क्रथकैशिकानां देशानां भर्ता स्वामी भोजोऽपि तावत्तदा सत्त्वानुरूपं स्वसामर्थ्यानुरूपं यथा तथा आ समन्तात् अनेनाभिप्रेतवस्तुदानमित्यर्थः। हरणं कन्यायै देयं धनम्। तदेवाह कात्यायनः—'ऊढया कन्यया वापि पत्युः पितृगृहेऽपि वा। भ्रातुः सकाशात्पित्रोर्वा लब्धं सौदायिकं स्मृतम्' ॥ 'यौतकादि तु यद्देयं सुदायो हरणं च तत्' इत्यमरः। आहरणीकृता श्रीर्येन तथोक्तः सन् राघवमजं प्रास्थापयत्प्रस्थापितवान् स्वयमन्वगाच्च अनुजगाम च ॥ ३२ ॥

छोटी बहन इन्दुमतीके विवाहको किये हुए क्रथकैशिक (विदर्भ) के राजा भोज भी शक्तिके अनुसार दहेज देकर अजको बिदा किये तथा स्वयं भी उनके पीछे चले ॥ ३२ ॥

तिस्रस्त्रिलोकप्रथितेन सार्धमजेन मार्गे वसतीरुषित्वा ।
तस्मादपावर्तत कुण्डिनेशः पर्वात्यये सोम इवोष्णरश्मेः ॥ ३३ ॥

तिस्र इति। कुण्डिनं विदर्भनगरं तस्येशो भोजस्त्रिषु लोकेषु प्रथितेनाजेन सार्धं मार्गे पथि तिस्रो वसती रात्रीरुषित्वा स्थित्वा। 'वसती रात्रिवेश्मनोः' इत्यमरः। 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' इति द्वितीया। पर्वात्यये दर्शान्ते उष्णरश्मेः सूर्यात्सोम इव। तस्मादजादपावर्तत तं विसृज्य निवृत्त इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

कुण्डिन–(विदर्भ) नरेश भोज त्रिलोकमें विख्यात अजके साथ रास्तेमें तीन पड़ावोंपर निवासकर पर्व (अमावस्या) के बीतनेपर सूर्यसे चन्द्रमाके समान उस (अज) से वापस लौटे। (अमावस्याको चन्द्रमा तथा सूर्य एक साथ रहते हैं तथा बादमें चन्द्रमा सूर्यसे अलग होते हैं। यह ज्योतिषशास्त्रका सिद्धान्त है) ॥ ३३ ॥

प्रमन्यवः प्रागपि कोसलेन्द्रे प्रत्येकमात्तस्वतया बभूवुः ।
अतो नृपाश्चक्षमिरे समेताः स्त्रीरत्नलाभं न तदात्मजस्य ॥ ३४ ॥

प्रमन्यव इति । नृपा राजानः प्रागपि प्रत्येकमात्तस्वतया दिग्विजये गृहीत-धनत्वेन कोसलेन्द्रे रघौ प्रमन्यवो रूढवैरा बभूवुः । अतो हेतोः स्वयंवरार्थं समेता सङ्गताः सन्तस्तदात्मजस्य रघुसूनोः स्त्रीरत्नलाभं न चक्षमिरे न सेहिरे ॥ ३४ ॥

राजालोग पहले (रघुके दिग्विजय-समयमें) भी हरएककी सम्पत्तिको ग्रहण कर लेनेसे कोसलाधीश रघुपर रुष्ट थे, इस कारण सम्मिलित हुए वे उन (रघु) के पुत्र अजकी स्त्री-रत्नप्राप्तिको नहीं सहन किये ॥ ३४ ॥

तमुद्वहन्तं पथि भोजकन्यां रुरोध राजन्यगणः स दृप्तः ।
बलिप्रदिष्टां श्रियमाददानं त्रैविक्रमं पादमिवेन्द्रशत्रुः ॥ ३५ ॥

तमिति । दृप्त उद्धतः । स राजन्यगणो राजसङ्घातः भोजकन्यामुद्वहन्तं नयन्तं तमजं बलिना वैरोचनिना प्रदिष्टां दत्तां श्रियमाददानं स्वीकुर्वाणम् । त्रिविक्रमस्येमं त्रैविक्रमं पादमिन्द्रशत्रुः प्रह्लाद इव, पथि रुरोध । तथा च ब्रह्माण्डपुराणे—'विरोचन-विरोधेऽपि प्रह्लादः प्राक्तनं स्मरन् । विष्णोस्तु क्रममाणस्य पादाम्भोजं रुरोध ह' इति॥

उद्धत उस क्षत्रिय-राज-समूहने इन्दुमतीको लेजाते हुए उस अजको, बलि राजासे दी हुई लक्ष्मीको लेते हुए वामनके चरणको इन्द्रशत्रु प्रह्लादके समान रास्तेमें रोक लिया ॥ ३५ ॥

पौराणिक कथा—दैत्यराज बलिके यज्ञमें जाकर वामनरूपधारी विष्णु भगवान्‌ने साढ़े तीन पग पृथ्वीको दानमें उनसे प्राप्त किया, तदनन्तर विराट्रूप धारणकर पृथ्वीको स्वाधीन करनेके लिए विष्णुभगवान् नापने लगे तब विरोचनके विरोध करनेपर भी पूर्व बातको स्मरण करते हुए प्रह्लादने विष्णु भगवान्‌के चरणकमलोंको रोक लिया था ।

तस्याः स रक्षार्थमनल्पयोधमादिश्य पित्र्यं सचिवं कुमारः ।
प्रत्यग्रहीत्पार्थिववाहिनीं तां भागीरथीं शोण इवोत्तरङ्गः ॥ ३६ ॥

तस्या इति । स कुमारोऽजस्तस्या इन्दुमत्या रक्षार्थमनल्पयोधं बहुभटम्, पितुरागतं पित्र्यम्, आप्तमित्यर्थः । सचिवमादिश्याज्ञाप्य तां पार्थिववाहिनीं राजसेनाम् । 'ध्वजिनी वाहिनी सेना' इत्यमरः । भागीरथीमुत्तरङ्गः शोणः शोणाख्यो नद इव । प्रत्यग्रहीदभियुक्तवान् ॥ ३६ ॥

उस कुमार अजने उस इन्दुमतीकी रक्षाके लिये बहुत योद्धाओंसे युक्त, पिताके क्रमसे रहनेवाले अर्थात् विश्वासपात्र मन्त्रीको नियुक्तकर, भागीरथीको उन्नत तरङ्गोंवाले 'शोणभद्र' नामक महानदके समान राजाओंके उस सेनाको रोका ॥ ३६ ॥

पत्तिः पदातिं रथिनं रथेशस्तुरङ्गसादी तुरगाधिरूढम् ।
यन्ता गजस्याभ्यपतद्गजस्थं तुल्यप्रतिद्वन्द्वि बभूव युद्धम् ॥ ३७ ॥

पत्तिरिति । पत्तिः पादचारो योद्धा पदातिं पादचारमभ्यपतत् । पद्भ्यामततीति पदातिः । 'पादस्य पदाज्यातिगोपहतेषु' इत्यनेन पदादेशः । 'पदातिपत्तिपदगपादातिकपदाजयः' इत्यमरः । रथेशो रथिको रथिनं रथारोहमभ्यपतत् । तुरङ्गसादी अश्वारोहस्तुरगाधिरूढमश्वारोहमभ्यपतत् । 'रथिनः स्यन्दनारोहा अश्वारोहास्तु सादिनः' इत्यमरः । गजस्य यन्ता हस्त्यारोहो गजस्थं पुरुषमभ्यपतत् । इत्यनेन प्रकारेण तुल्यप्रतिद्वन्द्वेककालीनप्रतिभटं युद्धं बभूव । अन्योन्यं द्वन्द्वं कलहोऽस्त्येषामिति प्रतिद्वन्द्विनो योधाः 'द्वन्द्वं कलहयुग्मयोः' इत्यमरः ॥ ३७ ॥

पैदल पैदलके साथ रथसवार रथसवारके साथ घुड़सवार घुड़सवारके साथ और हाथीपर सवार योद्धा हाथीपर सवार हुए योद्धाके साथमें भिड़ गये यह युद्ध समान प्रतिभटोंवाला हुआ ॥ ३७ ॥

नदत्सु तूर्येष्वविभाव्यवाचो नोदीरयन्ति स्म कुलोपदेशान् ।
बाणाक्षरैरेव परस्परस्य नामोर्जितं चापभृतः शशंसुः ॥ ३८ ॥

नदत्स्विति । तूर्येषु नदत्सु सत्स्वविभाव्यवाचोऽनवधार्यगिरश्चापभृतो धानुष्काः । कुलमुपदिश्यते प्रकाश्यते यैस्ते कुलोपदेशास्तान्कुलनामानि नोदीरयन्ति स्म नोच्चारयामासुः । [illegible] । किन्तु बाणाक्षरैर्बाणेषु लिखिताक्षरैरेव परस्परस्यान्योन्यस्योर्जितं प्रख्यातं नाम शशंसुः कथयामासुः ॥ ३८ ॥

तुरहियों (बाजे विशेषों) के बजते रहनेपर (परस्परमें अविदित) वचनवाले वहाँ समरमें वाले धनुर्धारी योद्धागण अपने वंशको मौखिकसे नहीं कहते थे किन्तु बाणोंपर लिखे गये अक्षरोंसे ही (अपने २) प्रसिद्ध नामको (या नाम तथा पराक्रमको) बतलाते थे ॥ ३८ ॥

उत्थापितः संयति रेणुरश्वैः सान्द्रीकृतः स्यन्दनवंशचक्रैः ।
विस्तारितः कुञ्जरकर्णतालैर्नेत्रक्रमेणोपरुरोध सूर्यम् ॥ ३९ ॥

उत्थापित इति । संयति सङ्ग्रामेऽश्वैस्तुरगैरुत्थापितः स्यन्दनवंशानां रथसमूहानां चक्रै रथाङ्गैः 'चक्रमस्त्री समासार्थे रथावयवराष्ट्रयोः' । 'संसारे मस्तके पृष्ठे पर्वमध्यमयोरपि' इति वैजयन्ती । सान्द्रीकृतो घनीकृतः । 'सान्द्र पुष्कलमस्थिर गीतेऽल्पकाले देशी गणे पुष्पे' इति केशवः । कुञ्जरकर्णानां तालैस्तालनैर्विस्तारितः प्रसारितो रेणुर्नेत्रक्रमेणांशुकपरिपाट्या अंशुकमिवेत्यर्थः 'स्यान्नेत्रं पटवस्त्रयोर्मथ' इति 'अक्ष्णोर्मूले परिपाट्यां च' इति केशवः । सूर्यमुपरुरोधाच्छादयामास ॥ ३९ ॥

युद्धमें घोड़ों (के खुरों) से उठाई गयी रथ—समूहोंके पहियोंसे सघन की गयी तथा

हाथियोंके कानोंके फटकारनेसे फैलाई गयी धूलि नेत्रके क्रमसे वस्त्रके समान सूर्यको रोक (छिपा) लिया अर्थात् उक्त धूलिसे पहले किसीको कुछ वस्तु दिखलाई नहीं पडती थी, पीछे उससे सूर्य भी छिप गया ॥ ३९ ॥

मत्स्यध्वजा वायुवशाद्विदीर्णैर्मुखैः प्रवृद्धध्वजिनीरजांसि।
बभुः पिबन्तः परमार्थमत्स्याः पर्याविलानीव नवोदकानि ॥ ४० ॥

मत्स्येति। वायुवशाद्विदीर्णैर्विवृतैर्मुखैः प्रवृद्धानि ध्वजिनीरजांसि सैन्यरेणून्पिबन्तो गृह्णन्तो मत्स्यध्वजा मत्स्याकारा ध्वजाः। पर्याविलानि परितः कलुषाणि नवोदकानि पिबन्तः परमार्थमत्स्याः सत्यमत्स्या इव। बभुर्भान्ति स्म ॥ ४० ॥

वायुके कारण बाये (फैलाये) हुए मुखोंसे सेनाकी बढी हुई धूलिको पीती हुई, मछलियोंके आकारवाली पताकायें बरसाती मलिन पानी पीती हुई वास्तविक मछलियोंके समान शोभित हुई ॥ ४० ॥

रथो रथाङ्गध्वनिना विजज्ञे विलोलघण्टाक्वणितेन नागः।
स्वभर्तृनामग्रहणाद्बभूव सान्द्रे रजस्यात्मपरावबोधः ॥ ४१ ॥

रथ इति। सान्द्रे प्रवृद्धे रजसि रथो रथाङ्गध्वनिना चक्रस्वनेन विजज्ञे ज्ञातः। नागो हस्ती विलोलानां घण्टानां क्वणितेन नादेन विजज्ञे। आत्मपरावबोधः स्वपरविवेकः। योधानामिति शेषः। स्वभर्तृणां स्वस्वामिनां नामग्रहणान्नामोच्चारणाद्बभूव। रजोन्धतया सर्वे स्वं परं च शब्दादेवानुमाय प्रजघ्नुरित्यर्थः ॥ ४१ ॥

धूलिके सघन होनेपर पहियोंके शब्दसे रथ तथा हिलती हुई घटाओंकी ध्वनियोंसे हाथी मालूम पडते थे और अपने स्वामीका नाम लेनेसे अपने-परायेका ज्ञान होता था ॥ ४१ ॥

आवृण्वतो लोचनमार्गमाजौ रजोऽन्धकारस्य विजृम्भितस्य।
शस्त्रक्षताश्वद्विपवीरजन्मा बालारुणोऽभूद्रुधिरप्रवाहः ॥ ४२ ॥

आवृण्वत इति। लोचनमार्गमावृण्वतो दृष्टिपथमुपरुन्धतः आजौ युद्धे विजृम्भितस्य व्याप्तस्य। रज एवान्धकारं तस्य। शस्त्रक्षतेभ्यो जन्म यस्य स तथोक्तो रुधिरप्रवाहो बालारुणो बालार्कोऽभूत् 'अरुणो भास्करोऽपि स्यात्' इत्यमरः। बालविशेषणं रुधिरसावर्ण्यार्थम् ॥ ४२ ॥

दृष्टिपथको रोकते हुए तथा बढे हुए धूलिरूप अन्धकारका, शस्त्रोंसे घायल घोडों, हाथियों तथा शूरवीरों (के शरीर) से उत्पन्न रक्तका प्रवाह बाल सूर्य हुआ। (जैसे रात्रिमें अन्धकारसे कुछ नहीं दिखाई पडता, दृष्टिमार्गको रोकनेवाले उस अन्धकारके बाद लाल रंगवाले प्रातःकालीन सूर्यका उदय होता है और कुछ समयके बाद ही वह अन्धकार भी नष्ट हो जाता है, वैसे ही युद्धमें आहत अश्व, हाथी तथा वीरोंसे उत्पन्न रक्तप्रवाह दृष्टिरोधक धूलिका

जाने पूर्व मालूम पड़ता था । इससे इस धूलिका अधिक ही विस्तार भी सूचित किया गया है जैसा कि अग्रिम श्लोकमें वर्णित है ।) ॥ ४२ ॥

स च्छिन्नमूलः क्षतजेन रेणुस्तस्योपरिष्टात्पवनावधूतः ।
अङ्गारशेषस्य हुताशनस्य पूर्वोत्थितो धूम इवाबभासे ॥ ४३ ॥

स इति । क्षतजेन रुधिरेण च्छिन्नमूलः स्तम्भितमूलप्रसर इत्यर्थः । तस्य क्षतजस्योपरिष्टात्पवनावधूतो वाताहतः । स रेणुः अङ्गारशेषस्य हुताशनस्याग्नेः पूर्वोत्थितो धूम इवाबभासे दिदीपे ॥ ४३ ॥

(नीचे मूलमें) रक्तसे नष्ट की गयी तथा उसके ऊपरमें हवासे कम्पित (इधर-उधर उड़ती चली हुई) वह धूलि अङ्गारमात्र बची हुई अग्निके, पहले ऊपर उठे हुए धूएके समान शोभमान होती थी ॥ ४३ ॥

प्रहारमूर्च्छापगमे रथस्था यन्तॄनुपालभ्य निवर्तिताश्वान् ।
यैः सादिता लक्षितपूर्वकेतूंस्तानेव सामर्षतया निजघ्नुः ॥ ४४ ॥

प्रहारेति । रथस्था रथिनः प्रहारेण या मूर्च्छा तस्या अपगमे सति मूर्च्छितानामस्माकं भीत्या संत्यजनं सारथिधर्म इति कृत्वा निवर्तिताश्वान्यन्तॄन्सारथीनुपालभ्यासाधु कृतमित्यधिक्षिप्य । पूर्वं यैः स्वयं सादिता हताः, लक्षितपूर्वकेतून् पूर्वतः केतुभिः प्रत्यभिज्ञातानित्यर्थः । तानेव सामर्षतया सक्रोधत्वेन हेतुना निजघ्नुः जघ्नुः ॥ ४४ ॥

रथपर चढ़े हुए वीर प्रहारसे मूर्च्छाके दूर होनेपर (मूर्च्छितावस्थामें) घोड़ोंको (युद्धभूमिसे) वापस लानेवाले सारथियोंको उपालम्भ देकर (तुम युद्ध भूमिसे हमारे रथको वापस लाये यह अच्छा नहीं किया, फिर वहीं रथको ले चलो इत्यादि उलहना देकर) जिनसे पहले घायल हुए थे पहले देखे गये पताकाओंवाले उन योद्धाओंपर ही क्रोधित भावसे प्रहार किया ॥ ४४ ॥

अप्यर्धमार्गे परबाणलूना धनुर्भृतां हस्तवतां पृषत्काः ।
सम्प्रापुरेवात्मजवानुवृत्त्या पूर्वार्धभागैः फलिभिः शरव्यम् ॥ ४५ ॥

अपीति । अर्धमार्गो मार्गार्धः अर्धमार्गस्तस्मिन्नर्धमार्गे परेषां बाणैर्लूना अपि हस्तवतां कृतहस्तानां धनुर्भृतां पृषत्काः शरा आत्मजवानुवृत्त्या स्ववेगानुवृत्त्या हेतुना फलभिर्दोषवद्भिः । 'फलवत्ता भयमयोः शल्यम्' इति विश्वः । पूर्वार्धभागैः । मध्यभागेऽपि धरः । तस्मे स्थितं शरव्यं लक्ष्यम् । 'शरारोरिव्यो वधं' इति ... । 'लक्ष्यं लक्ष्यं शरव्यं च' इत्यमरः । सम्प्रापुरेव न तु मध्ये पतिता इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

हस्तलाघववाले धनुर्धारियोंके, दूसरोंके बाणोंसे बीचमें आधे मार्गमें (मार्ग तय करनेसे पहले ही) कटे हुए भी बाण अपने वेगके अनुसार फल (अग्रभाग) से युक्त पूर्वार्ध

गोंसे निशानाओंको प्राप्त ही कर लिये (आधे मार्गमें दो टुकडा होकर भी निपुण धनुधारियोंके बाणोंने अपने लक्ष्यका वेध कर ही दिया) ॥ ४५ ॥

आधोरणानां गजसन्निपाते शिरांसि चक्रैर्निशितैः क्षुराग्रैः।
हृतान्यपि श्येननखाग्रकोटिव्यासक्तकेशानि चिरेण पेतुः ॥ ४६ ॥

आधोरणेति। गजसन्निपाते गजयुद्धे निशितैरत एव क्षुराग्रै क्षुरस्याग्रमिवाग्र येषा तैश्चक्रैरायुधविशेषैर्हृतानि छिन्नान्यपि। श्येनानां पक्षिविशेषाणाम्। 'पक्षी श्येन.' इत्यमर । नखाग्रकोटिषु व्यासक्ता केशा येषां तानि। आधोरणानां हस्त्यारोहाणाम्। 'आधोरणा हस्तिपका हस्त्यारोहा निषादिन.' इत्यमर । शिरांसि चिरेण पेतु पतितानि। शिर पातात्प्रागेवारुह्य पश्चादुत्पतता पक्षिणां नखेषु केशसङ्गश्चिरपातहेतुरिति भाव ॥ ४६ ॥

हाथियोंकी लडाईमें तेज एव क्षुरके समान फलवाले चक्रोंसे कटे हुए भी, बाज पक्षियोंके चङ्गुलोंके नखाग्रमें फँसे हुए हाथीवानोंके मस्तक देरसे (भूमिपर) गिरे। (मस्तक कटनेके पहले ही उनपर बाज मडराते थे, इतनेमें ही वे कट गये और उनको लेकर वे उडे, किन्तु भारी होनेसे चङ्गुलके नखोंमें बालोंके फसनेसे विलम्बसे नीचे गिर पड़े। यहां मस्तकोंके छिन्न होनेके पहले बाजोंके उनके मस्तकोंपर मडरानेसे कविने उनके अशुभ शकुनको सूचित किया है) ॥

पूर्वं प्रहर्ता न जघान भूयः प्रतिप्रहाराक्षममश्वसादी।
तुरङ्गमस्कन्धनिषण्णदेहं प्रत्याश्वसन्तं रिपुमाचकाङ्क्ष ॥ ४७ ॥

पूर्वमिति। पूर्वं प्रथमं प्रहर्ताऽश्वसादी तौरङ्गिक. प्रतिप्रहारेऽक्षममशक्तं तुरङ्गमस्कन्धे निषण्णदेहम्, मूर्च्छितमित्यर्थं। रिपु भूयो न जघान पुनर्न प्रजहार। किन्तु प्रत्याश्वसन्तं पुनरुज्जीवन्तमाचकाङ्क्ष। 'नायुधव्यसनं प्राप्तं नार्तं नातिपरिक्षतम्' इति निषेधादिति भाव ॥ ४७ ॥

पहले प्रहार करनेवाला घुडसवार ने घोडेके कन्धेपर पडे हुए शरीरवाले अर्थात् मूर्च्छित तथा प्रतिप्रहार (जवाबी हमला) करनेमें असमर्थ उस शत्रुपर फिर प्रहार नहीं किया, किन्तु उसको होशमें आनेकी प्रतीक्षा करने लगा। (इस वर्णनसे वह युद्ध धर्माधर्मको विचारकर ही रहा था, यह सकेत किया गया है) ॥ ४७ ॥

तनुत्यजां वर्मभृतां विकोशैर्बृहत्सु दन्तेष्वसिभिः पतद्भिः।
उद्यन्तमग्निं शमयांबभूवुर्गजा विविग्ना करशीकरेण ॥ ४८ ॥

तनुत्यजामिति। तनुत्यजां, तनुषु नि स्पृहाणामित्यर्थः। वर्मभृतां कवचिनां सम्बन्धिभिर्बृहत्सु दन्तेषु पतद्भिरत एव विकोशै। पिधानादुद्धृतै। 'कोशोऽस्त्री कुड्मले खड्गपिधाने' इत्यमर। असिभि खड्गैरुद्यन्तमुत्थितमग्निं विविग्ना भीता गजा. करशीकरेण शुण्डादण्डजलकणेन शमयाम्बभूवुः शान्तं चक्रुः ॥ ४८ ॥

(निरन्तर होकर) शरीर-त्याग करनेको तैयार वर्म पहने हुए योद्धाओंकी म्यानसे निकली हुई तथा बड़े २ हाथियोंपर पड़ती हुई तलवारोंसे निकलती हुई अग्निको हाथियोंने सूंड़के फौवारों (फुत्कार करनेसे निकले हुए जल-कणों) से बुझाया ॥ ४८ ॥

शिलीमुखोत्कृत्तशिरःफलाढ्या च्युतैः शिरस्त्रैश्चषकोत्तरेव ।
रणक्षितिः शोणितमद्यकुल्या रराज मृत्योरिव पानभूमिः ॥ ४९ ॥

शिलीमुखेति । शिलीमुखैर्बाणैरुत्कृत्तानि शिरांस्येव फलानि तैराढ्या सम्पन्ना । च्युतैर्भ्रष्टैः । शिरांसि त्रायन्त इति शिरस्त्राणि शीर्षकाणि । 'शीर्षण्यं च शिरस्त्रेऽथ' इत्यमरः । तैश्चषकोत्तरा, चषकाः पानपात्राण्युत्तरं यस्यां सेव । 'चषकोऽस्त्री पानपात्रम्' इत्यमरः । शोणितान्येव मद्यं तस्य कुल्याः प्रवाहा यस्यां सा । 'कुल्याऽल्पा कृत्रिमा सरित्' इत्यमरः । रणक्षितिर्युद्धभूमिर्मृत्योः पानभूमिरिव रराज ॥ ४९ ॥

बाणोंसे कटे हुए मस्तकरूप फलोंसे परिपूर्ण, गिरे हुए शिरस्त्राण अर्थात् टोपरूप पान-पात्रोंवाली तथा रक्तरूपी मद्यके प्रवाहोंवाली वह युद्धभूमि मृत्युकी (मद्य) पान-भूमिके समान शोभित हुई ॥ ४९ ॥

उपान्तयोर्निष्कुषितं विहङ्गैराक्षिप्य तेभ्यः पिशितप्रियाऽपि ।
केयूरकोटिक्षततालुदेशा शिवा भुजच्छेदमपाचकार ॥ ५० ॥

उपान्तयोरिति । उपान्तयोः प्रान्तयोर्विहङ्गैः पक्षिभिर्निष्कुषितं खण्डितम् । 'इण्निष्ठायाम्' इतीडागमः । भुजच्छेदं भुजखण्डं तेभ्यो विहङ्गेभ्य आक्षिप्याच्छिद्य पिशितप्रिया मांसप्रियाऽपि शिवा क्रोष्ट्री । 'शिवः कीलः शिवा क्रोष्ट्री' इति विश्वः । केयूरकोट्याङ्गदाग्रेण क्षतस्तालुदेशो यस्याः सा सती । अपाचकारापसारयामास । किरतेः करोतेर्वा लिट् ॥ ५० ॥

पक्षियोंसे दोनों ओर नोचे गये बाहुके टुकड़ेको उन (पक्षियों) से छीनकर मांसप्रिय (मांसको चाहनेवाली) स्यारिनने (बाहुमें लगी हुई) विजायठके किनारेसे तालुके कटनेपर (उस बाहुको) त्यागकर दिया ॥ ५० ॥

कश्चिद्द्विषत्खड्गहृतोत्तमाङ्गः सद्यो विमानप्रभुतामुपेत्य ।
वामाङ्गसंसक्तसुराङ्गनः स्वं नृत्यत्कबन्धं समरे ददर्श ॥ ५१ ॥

कश्चिदिति । द्विषतः खड्गेन हृतोत्तमाङ्गश्छिन्नशिराः । 'उत्तमाङ्गं शिरः शीर्षम्' इत्यमरः । कश्चिद्वीरः सद्यो विमानप्रभुतां विमानाधिपत्यम्, देवत्वमित्यर्थः । उपेत्य प्राप्य वामाङ्गसंसक्ता सव्योत्सङ्गवर्तिनी सुराङ्गना यस्य स तथोक्तः सन् । उक्तं च पुराणे—'[illegible]' इति ॥ समरे नृत्यत् स्वं निजं कबन्धं शिरोरहितं कलेवरं ददर्श । 'कबन्धोऽस्त्री क्रियायुक्तमपमूर्धकलेवरम्' इत्यमरः ॥ ५१ ॥

शत्रुकी तलवारसे छिन्नमस्तक किसी योद्धाने विमानका मालिक अर्थात् देव बनकर बांये भाग-में स्थित देवाङ्गनासे युक्त होता हुआ युद्धमें नाचते (छटपटाते हुए) अपने धडको देखा ॥५१॥

अन्योन्यसूतोन्मथनादभूतां तावेव सूतौ रथिनौ च कौचित् ।
व्यश्वौ गदाव्यायतसम्प्रहारौ भग्नायुधौ बाहुविमर्दनिष्ठौ ॥ ५२ ॥

अन्योन्येति। कौचिद्वीरावन्योन्यस्य सूतयोः सारथ्योरुन्मथनान्निधनात्तावेव सूतौ रथिनौ योद्धारौ चाभूताम्। तावेव व्यश्वौ नष्टाश्वौ सन्तौ गदाभ्यां व्यायतो दीर्घः सम्प्रहारो युद्धं ययोस्तावभूताम्। ततो भग्नायुधौ भग्नगदौ सन्तौ बाहुविमर्दे निष्ठा नाशो ययोस्तौ बाहुयुद्धसक्तावभूताम्। 'निष्ठा निष्पत्तिनाशान्ता' इत्यमरः ॥ ५२ ॥

कोई दो योद्धा आपसके सारथियोंके मरनेसे वे ही सारथि तथा रथी हो गये अर्थात् स्वयं रथको हांकते हुए युद्ध करने लगे, (फिर) घोडोंके मर जानेपर गदायुद्ध करने लगे, (और फिर) शस्त्र अर्थात् गदाके टूट जानेपर मल्लयुद्ध करने लगे ॥ ५२ ॥

परस्परेण क्षतयोः प्रहर्त्रोरुत्क्रान्तवाय्वोः समकालमेव ।
अमर्त्यभावेऽपि कयोश्चिदासीदेकाप्सरःप्रार्थितयोर्विवादः ॥ ५३ ॥

परस्परेणेति। परस्परेणान्योन्यं क्षतयोः क्षततन्वोः समकालमेककालं यथा तथो-त्क्रान्तवाय्वोर्युगपदुद्गतप्राणयोः। एकैवाप्सरा प्रार्थिता याभ्यां तयोरेकाप्सरःप्रार्थि-तयोः, प्रार्थितैकाप्सरसोरित्यर्थः। 'वाहिताग्न्यादिषु' इति परनिपातः। अथवा एक-स्यामप्सरसि प्रार्थितं प्रार्थना ययोरिति विग्रहः। 'स्त्रिया बहुष्वप्सरसः' इति बहुत्वा-भिधानं प्रायिकम्। कयोश्चित्प्रहर्त्रोर्योधयोरमर्त्यभावेऽपि देवत्वेऽपि विवादः कलह आसीत्। एकामिषाभिलाषो हि महद्वैरबीजमिति भावः ॥ ५३ ॥

आपसमें (एक दूसरेके प्रहारसे) मारे गये एक साथ ही निकली हुई प्राणवायुवाले किसी एक ही अप्सराको चाहनेवाले दो योद्धाओंके देवत्व प्राप्त करनेपर भी वादविवाद ही बना रहा ॥ ५३ ॥

व्यूहावुभौ तावितरेतरस्माद्भङ्गं जयं चापतुरव्यवस्थम् ।
पश्चात्पुरोमारुतयोः प्रवृद्धौ पर्यायवृत्त्येव महार्णवोर्मी ॥ ५४ ॥

व्यूहाविति। तावुभौ व्यूहौ सेनासङ्घातौ। 'व्यूहस्तु बलविन्यासः' इत्यमरः। पश्चात्पुरश्च यौ मारुतौ 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते', तयोः पर्याय-वृत्त्या क्रमवृत्त्या प्रवृद्धौ महार्णवोर्मी इव। इतरेतरस्मादन्योन्यस्मादव्यवस्थं व्यवस्था-रहितमनियतं जयं भङ्गं पराजयं चापतुः प्रापवन्तौ ॥ ५४ ॥

वे दोनों व्यूह (अजपक्षीय तथा राजपक्षीय सेनासमूह) आगे तथा पीछे (या पूर्व और पश्चिम) वायुके पर्यायक्रमसे बढे हुए महासमुद्रके दो तरङ्गोंके समान आपस में एक दूसरेसे

अन्यवस्थित जय तथा पराजयको प्राप्त करते थे। (कभी अजपक्षकी सेना–समूहकी जीत होती थी तथा कभी अन्यराजसमूह पक्षकी सेना–समूहकी जीत होती थी) ॥ ५४ ॥

परेण भग्नेऽपि बले महौजा ययावजः प्रत्यरिसैन्यमेव ।
धूमो निवर्त्येत समीरणेन यतस्तु कक्षस्तत एव वह्निः ॥ ५५ ॥

परेणेति । बले स्वसैन्ये परेण परबलेन भग्नेऽपि महौजा महाबलोऽजः प्रत्यरिसैन्यमेव ययौ । तथा हि–समीरणेन वायुना धूमो निवर्त्येत अपसार्येत । वृतेर्ण्यन्तात्कर्मणि सम्भावनायां लिङ् । वह्निस्तु यतो यत्र कक्षस्तृणम् 'कक्षौ तु तृणवीरुधौ' इत्यमरः । तत एव तत्रैव । गच्छतीति शेषः । सार्वविभक्तिकस्तसिः ॥ ५५ ॥

अपनी सेनाके शत्रुओंसे मारे जानेपर भी महाबली अज शत्रुओंकी सेनाओंकी ओर ही बढ़ रहे थे क्योंकि धूम (भले ही) निवृत्त हो जाये किन्तु जहां घास रहती है, वहीं आग बढ़ती है ॥ ५५ ॥

रथी निषङ्गी कवची धनुष्मान् दृप्तः स राजन्यकमेकवीरः ।
निवारयामास महावराहः कल्पक्षयोद्वृत्तमिवार्णवाम्भः ॥ ५६ ॥

रथीति । रथी रथारूढो निषङ्गी तूणीरवान् । 'तूणोपासङ्गतूणीरनिषङ्गा इषुधिर्द्वयोः' इत्यमरः । कवची वर्मधरो धनुष्मान् धनुर्धरो दृप्तो रणपटुः एकवीरोऽसहायशूरः सोऽजो राजसमूहम् । 'गोत्रोक्षोष्ट्रोरभ्रराजराजन्यराजपुत्रवत्समनुष्याजाद् वुञ्' इत्य नेन वुञ्प्रत्ययः । महावराहो वाराहावतारो विष्णुः कल्पक्षये कल्पान्तकाले उद्वृत्तमुद्वेलमर्णवाम्भ इव निवारयामास ॥ ५६ ॥

रथसवार तूणीर (तरकस) युक्त कवच पहने हुए और धनुर्धारी अकेले (असहाय) बहुत वीर अज ने क्षत्रिय राजाओंके समूहको प्रलयकालमें मर्यादाको उल्लङ्घन करने वाले समुद्र–जलको महावराह (रूपधारी विष्णु भगवान्) के समान रोक दिया ॥ ५६ ॥

स दक्षिणं तूणमुखेन वामं व्यापारयन् हस्तमलक्ष्यताजौ ।
आकर्णकृष्टा सकृदस्य योद्धुर्मौर्वीव बाणान्सुषुवे रिपुघ्नान् ॥ ५७ ॥

स इति । सोऽजः आजौ संग्रामे दक्षिणं हस्तं तूणमुखेन निषङ्गविवरेण वामम् अतिसुन्दरम् । 'वामं वल्गौ प्रतीपे च द्रविणे चातिसुन्दरे' इति विश्वः । व्यापारयन् अलक्ष्यत । शरसन्धानादिवेगात् दुर्लक्ष्य इत्यर्थः । सकृदाकर्णकृष्टा योद्धुरस्याजस्य मौर्वी ज्या रिपून्घ्नन्तीति रिपुघ्नास्तान् । 'अमनुष्यकर्तृके च' इति टक्प्रत्ययः । बाणान् प्रसूत इव सुषुवे किमु इत्युत्प्रेक्षा ॥ ५७ ॥

वे अज युद्धमें दाहिने हाथको तरकसपर रखते हुए बड़े सुन्दर मालूम पड़ते थे। एक

र कानतक खींची गयी, योद्धा इस अजकी प्रत्यञ्चा (धनुषकी डोरी) मानो शत्रुनाशक ाणोंको पैदा कर रही थी ॥ ५७ ॥

स रोषदष्टाधिकलोहितोष्ठैर्व्यक्तोर्ध्वरेखा भ्रुकुटीर्वहद्भिः ।
तस्तार गां भल्लनिकृत्तकण्ठैर्हुङ्कारगर्भैर्द्विषतां शिरोभिः ॥ ५८ ॥

स इति। सोऽज रोपेण दष्टा अत एवाधिकलोहिता ओष्ठा येषां तानि तैः। व्यक्ता ऊर्ध्वा रेखा यासां ता भ्रुकुटीर्भ्रूभङ्गान्वहद्भिः। भल्लनिकृत्ता बाणविशेषच्छिन्ना कण्ठा येषां तै। हुङ्कारगर्भैः सहुङ्कारैः, हुङ्कुर्वद्भिरित्यर्थ। द्विषता शिरोभिर्गां भूमिं तस्तार छादयामास ॥ ५८ ॥

उस अजने क्रोधसे काटे गये अतएव लाल ओठोंवाले, चढी हुई टेढी भ्रकुटियोंसे युक्त, भालेसे कटी हुई गर्दनवाले, (अत एव) भीतरमें ही हुङ्कार करनेवाले, शत्रुओं के मस्तकोंसे पृथ्वीको ढंक दिया ॥ ५८ ॥

सर्वैर्बलाङ्गैर्द्विरदप्रधानैः सर्वायुधैः कङ्कटभेदिभिश्च ।
सर्वप्रयत्नेन च भूमिपालास्तस्मिन्प्रजह्रुर्युधि सर्व एव ॥ ५९ ॥

सर्वैरिति। द्विरदप्रधानैर्गजमुख्यै सर्वैर्बलाङ्गै सेनाङ्गैः। 'हस्त्यश्वरथपादातं सेनाङ्गं स्याच्चतुष्टयम्' इत्यमरः। कङ्कटभेदिभि कवचभेदिभि । 'उरच्छद कङ्कटको जगरः कवचोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः। सर्वायुधैश्च। बाह्यबलमुक्त्वाऽन्तरमाह—सर्वप्रयत्नेन च सर्वे एव भूमिपाला युधि तस्मिन्नजे प्रजह्रु, तं प्रजह्रुरित्यर्थः। सर्वत्र सर्वकारक शक्तिसम्भवात्कर्मणोऽप्यधिकरणविवक्षायां सप्तमी। तदुक्तम्—'अनेकशक्तियुक्तस्य विश्वस्यानेककर्मण। सर्वदा सर्वथाभावात्क्वचित्किञ्चिद्विवक्ष्यते' ॥ इति ॥ ५९ ॥

हाथी हैं मुख्य जिसमें ऐसे सम्पूर्ण सेनाङ्गोंसे (गजदल, रथदल, अश्वदल तथा पैदलरूप चतुरङ्गिणी सेनाओंसे), कवचको विदीर्ण करनेवाले सम्पूर्ण शस्त्रोंसे और समस्त उपायोंसे सब राजालोग युद्धमें अजपर ही प्रहार करने लगे ॥ ५९ ॥

सोऽस्त्रव्रजैश्छन्नरथः परेषां ध्वजाग्रमात्रेण बभूव लक्ष्य. ।
नीहारमग्नो दिनपूर्वभागः किञ्चित्प्रकाशेन विवस्वतेव ॥ ६० ॥

स इति। परेषां द्विषामस्त्रव्रजै शस्त्रसमुदायैश्छन्नरथ सोऽज । नीहारैर्हिमै- र्मग्नो दिनपूर्वभाग प्रात काल किञ्चित्प्रकाशेनेषल्लक्ष्येण विवस्वतेव आच्छादितरथः ध्वजाग्रमात्रेण लक्ष्यो बभूव। ध्वजाग्रादन्यन्न किञ्चिल्लक्ष्यते स्मेत्यर्थ ॥ ६० ॥

शत्रुओंके शस्त्रसमूहसे ढँके हुए रथवाले वे अज केवल ध्वजाके अग्र भागसे उस प्रकार दिखलाई पडते थे, जिस प्रकार हिमसे आच्छादित, दिनका प्रथम भाग कुछ २ प्रकाशमान सूर्यसे लक्षित होता है ॥ ६० ॥

प्रियंवदात्प्राप्तमसौ कुमारः प्रायुङ्क्त राजस्वधिराजसूनुः ।
गान्धर्वमस्त्रं कुसुमास्त्रकान्तः प्रस्वापनं स्वप्ननिवृत्तलौल्यः ॥ ६१ ॥

प्रियंवदादिति । अधिराजसूनुर्महाराजपुत्रः कुसुमास्त्रकान्तो मदनसुन्दरः स्वप्ननिवृत्तलौल्यः स्वप्नविमुखः, जागरूक इत्यर्थः । असौ कुमारोऽजः । प्रियंवदात्प्राप्तं गन्धर्वाणामिदं गान्धर्वं गान्धर्वदैवतमस्त्रम् । 'सास्य देवता' इत्यण् । प्रस्वापयतीति प्रस्वापनं निद्राजनकमस्त्रं राजसु प्रायुङ्क्त प्रयुक्तवान् ॥ ६१ ॥

महाराजकुमार मदनके समान सुन्दर तथा जागरूक कुमार अजने प्रियंवद (नामक गन्धर्व) से प्राप्त (५।५९), गन्धर्व देवताके एवं नींद लानेवाले अस्त्रको राजाओंपर चलाया ॥ ६१ ॥

ततो धनुष्कर्षणमूढहस्तमेकांसपर्यस्तशिरस्त्रजालम् ।
तस्थौ ध्वजस्तम्भनिषण्णदेहं निद्राविधेयं नरदेवसैन्यम् ॥ ६२ ॥

तत इति । ततो धनुष्कर्षणे चापकर्षणे मूढहस्तमव्यापृतहस्तम् । एकस्मिन्नंसे पर्यस्तं स्रस्तं शिरस्त्राणां शीर्षण्यानां जालं समूहो यस्य तत् । ध्वजस्तम्भेषु निषण्णा अवष्टब्धा देहा यस्य तत् नरदेवानां राज्ञां सेनैव सैन्यम् । चातुर्वर्ण्यादित्वात्स्वार्थे ष्यञ्प्रत्ययः । निद्राविधेयं निद्रापरतन्त्रं तस्थौ ॥ ६२ ॥

तदनन्तर धनुषके खींचनेमें चेष्टारहित हाथवाला, एक कन्धेपर पड़े हुए शिरस्त्राण-समूह (टोपों) वाला और ध्वजाओंके सहारे स्थित शरीरोंवाला वह राज-सैन्य निद्राके अधीन हो गया अर्थात् सो गया ॥ ६२ ॥

ततः प्रियोपात्तरसेऽधरोष्ठे निवेश्य दध्मौ जलजं कुमारः ।
तेन स्वहस्तार्जितमेकवीरः पिबन् यशो मूर्तमिवाबभासे ॥ ६३ ॥

तत इति । ततः कुमारोऽजः प्रिययेन्दुमत्योपात्तरसे आस्वादितमाधुर्ये । अतिरक्तात्म इति भावः । अधरोष्ठे जलजं शङ्खं निवेश्य । 'जलजं शङ्खपद्मयोः' इति विश्वः । दध्मौ मुखमारुतेन पूरयामास । तेनोक्तविधिना शङ्खेनैकवीरः स स्वहस्तार्जितं मूर्तिमद्यशः पिबन्निवाबभासे । असहायशूरत्वादिति भावः ॥ ६३ ॥

इसके बाद कुमार अजने प्रिया इन्दुमतीसे पीये गये रसवाले निचले ओठपर शङ्खको रखकर बजाया, उससे मुख्य वीर (या बिना सहायकके वीर) वे अज मानो अपने बाहुबलसे उपार्जित मूर्तिधारी यशको पान करते हुएके समान शोभमान हुए ॥ ६३ ॥

शङ्खस्वनाभिज्ञतया निवृत्तास्तं सन्नशत्रुं ददृशुः स्वयोधाः ।
निमीलितानामिव पङ्कजानां मध्ये स्फुरन्तं प्रतिमाशशाङ्कम् ॥ ६४ ॥

शङ्खस्वनेति । शङ्खस्वनस्याजप्रयुक्तत्वेनाभिज्ञतया प्रत्यभिज्ञातत्वान्निवृत्ताः प्राप्त-

लाय्य सम्प्रति प्रत्यागता स्वयोधा. सन्नशत्रुं निद्राणशत्रुं तमजम्। निमीलितानां मुकुलितानां पङ्कजानां मध्ये स्फुरन्त प्रतिमा चासौ शशाङ्कश्च तं प्रतिमाशशाङ्क प्रतिबिम्बचन्द्रमिव ददृशुः ॥ ६४ ॥

(अजकी) शङ्खध्वनिको पहचाननेसे वापस लौटे हुए अपने (अजपक्षवाले) योद्धाओंने शत्रुओंको पराजित किये हुए अजको, मुकुलित (वन्दमुखवाले, अत एव शोभाहीन) कमलोंके बीचमें प्रकाशित होते हुए प्रतिबिम्बित चन्द्रमाके समान देखा ॥ ६४ ॥

सशोणितैस्तेन शिलीमुखाग्रैर्निक्षेपिताः केतुषु पार्थिवानाम्।
यशो हृतं सम्प्रति राघवेण न जीवितं वः कृपयेति वर्णाः ॥ ६५ ॥

सशोणितैरिति। सम्प्रति राघवेण रघुपुत्रेण। पूर्वं रघुणेति भावः। हे राजान' ! वो युष्माक यशो हृतम्, जीवित तु कृपया न हृतम्। न स्वशक्त्येति भाव'। इत्येवं-रूपा वर्णा, एतदर्थप्रतिपादकं वाक्यमित्यर्थ.। सशोणितै' शोणितदिग्धैः शिलीमुखाग्रैर्बाणाग्रै' साधनैस्तेनाजेन प्रयोजककर्त्रा पार्थिवानां राज्ञां केतुषु ध्वजस्तम्भेषु निक्षेपिता' प्रयोज्यैरन्यैर्निवेशिताः, लेखिता इत्यर्थ । क्षिपतेर्ण्यन्तात्कर्मणि क्त' ॥ ६५ ॥

'इस समय रघुपुत्र अजने तुमलोगोंके यशको ले लिया तथा कृपाकर प्राणोंको नहीं लिया' इन अक्षरोंको अजने राजाओंकी पताकाओंपर बाणोंके रक्तलिप्त अग्रभागों (नोकों) से लिखवा दिया ॥ ६५ ॥

स चापकोटीनिहितैकबाहुः शिरस्त्रनिष्कर्षणभिन्नमौलिः।
ललाटबद्धश्रमवारिबिन्दुर्भीतां प्रियामेत्य वचो बभाषे ॥ ६६ ॥

स इति। चापकोट्यां निहित एकबाहुर्येन स। शिरस्त्रस्य निष्कर्षणेनापनयनेन भिन्नमौलि श्लथकेशबन्ध। 'चूडा किरीट केशाश्च संयता मौलयस्त्रय' इत्यमर। ललाटे बद्धा श्रमवारिबिन्दवो यस्य स.। सोऽजो भीता प्रियामिन्दुमतीमेत्यासाद्य वचो बभाषे ॥ ६६ ॥

धनुषके किनारेपर एक हाथको रखे हुए, शीर्षण्य (युद्धकालमें सिरकी रक्षाके लिये पहने जानेवाला टोप) के नहीं रहनेसे शिथिल (बिखरे) केशवाले और ललाटपर पसीनेकी बूदोंसे युक्त वे अज भयभीत प्रिया (इन्दुमती) के पास जाकर बोले ॥ ६६ ॥

किमित्याह—

इतः परानर्भकहार्यशस्त्रान्वैदर्भि ! पश्यानुमता मयाऽसि।
एवंविधेनाहवचेष्टितेन त्वं प्रार्थ्यसे हस्तगता ममैभि. ॥ ६७ ॥

इत इति। हे वैदर्भि इन्दुमति ! इत इदानीमर्भकहार्यशस्त्रान्बालकापहार्यायुधान्पराञ्शत्रून्पश्य। मयाऽनुमताऽसि द्रष्टुमिति शेष। एभिर्नृपैरेवंविधेन निद्रारूपेणा·

प्रियंवदात्प्राप्तमसौ कुमारः प्रायुङ्क्त राजस्वधिराजसूनुः ।
गान्धर्वमस्त्रं कुसुमास्त्रकान्तः प्रस्वापनं स्वप्ननिवृत्तलौल्यः ॥ ६१ ॥

प्रियंवदादिति । अधिराजसूनुर्महाराजपुत्रः कुसुमास्त्रकान्तो मदनसुन्दरः स्वप्ननिवृत्तलौल्यः स्वप्नविमुखः, जागरूक इत्यर्थः । असौ कुमारोऽजः । प्रियंवदात्प्राप्तम् गन्धर्वसम्बन्धि गान्धर्वं गान्धर्वदैवत्यम् । 'सास्य देवता' इत्यण् । प्रस्वापयतीति प्रस्वापनं निद्राजनकमस्त्रं राजसु प्रायुङ्क्त प्रयुक्तवान् ॥ ६१ ॥

महाराजकुमार मदनके समान सुन्दर तथा जागरूक कुमार अजने प्रियंवद (गान्धर्व) से प्राप्त (५।५९) गन्धर्व देवतावाले एवं नींद लानेवाले अस्त्रको राजाओंपर चलाया ॥ ६१ ॥

ततो धनुष्कर्षणमूढहस्तमेकांसपर्यस्तशिरस्त्रजालम् ।
तस्थौ ध्वजस्तम्भनिषण्णदेहं निद्राविधेयं नरदेवसैन्यम् ॥ ६२ ॥

तत इति । ततो धनुष्कर्षणे चापकर्षणे मूढहस्तमव्यापृतहस्तम् । एकस्मिन्नंसे पर्यस्तं स्रस्तं शिरस्त्राणां शीर्षण्यानां जालं समूहो यस्य तत् । ध्वजस्तम्भेषु निषण्णा अवष्टब्धा देहा यस्य तत् नरदेवानां राज्ञां सेनैव सैन्यम् । चातुर्वर्ण्यादित्वात्स्वार्थे ष्यञ्प्रत्ययः । निद्राविधेयं निद्रापरतन्त्रं तस्थौ ॥ ६२ ॥

तदनन्तर धनुषके खींचनेमें चेष्टारहित हाथवाला, एक कन्धेपर गिरे हुए शिरस्त्राण-समूह (टोपों) वाला और ध्वजाओंके सहारे स्थित शरीरोंवाला वह राज-सैन्य निद्राके अधीन हो गया अर्थात् सो गया ॥ ६२ ॥

ततः प्रियोपात्तरसेऽधरोष्ठे निवेश्य दध्मौ जलजं कुमारः ।
तेन स्वहस्तार्जितमेकवीरः पिबन्यशो मूर्तमिवाबभासे ॥ ६३ ॥

तत इति । ततः कुमारोऽजः प्रिययेन्दुमत्योपात्तरसे आस्वादितमाधुर्ये । अधिष्ठाय इति भावः । अधरोष्ठे जलजं शङ्खं निवेश्य । 'जलजं शङ्खपद्मयोः' इति विश्वः । दध्मौ मुखमारुतेन पूरयामास । तेनौष्ठनिवेशितेन शङ्खेनैकवीरः स स्वहस्तार्जितं मूर्तं मूर्तिमद्यशः पिबन्निवाबभासे । शङ्खस्य शुक्लत्वादिति भावः ॥ ६३ ॥

इसके बाद कुमार अजने प्रिया इन्दुमतीसे पीये गये रसवाले निचले ओष्ठपर शङ्खको रखकर बजाया, उससे मुख्य वीर (या बिना सहायताके वीर) वे अज अपने बाहुबलसे उपार्जित मूर्तिधारी यशको पान करते हुएके समान शोभमान हुए ॥ ६३ ॥

शङ्खस्वनाभिज्ञतया निवृत्तास्तं सन्नशत्रुं ददृशुः स्वयोधाः ।
निमीलितानामिव पङ्कजानां मध्ये स्फुरन्तं प्रतिमाशशाङ्कम् ॥ ६४ ॥

शङ्खस्वनेति । शङ्खस्वनस्याजशङ्खध्वनेरभिज्ञतया प्रत्यभिज्ञातत्वान्निवृत्ताः प्रत्य-

मदोपा तामिन्दुमतीमुदवहदुपानयत्, आत्मसाच्चकारेत्यर्थः। अयमर्थ 'तमुद्वहन्त पथि भोजकन्याम्' इत्यत्र न श्लिष्टः। तस्याजस्य रथतुरगाणां रजोभी रूक्षाणि परुषाण्यलकाग्राणि यस्याः सा, सेन्दुमत्येव मूर्ता मूर्तिमती समरविजलक्ष्मीर्बभूव। एतल्लाभादन्यः को विजयलक्ष्मीलाभ इत्यर्थः ॥ ७० ॥

अनिन्दित वे अज इस प्रकार (शत्रुभूत) राजाओंके मस्तकपर बांये पैरको रखकर अनिन्दनीय उस इन्दुमतीको लेकर चले। रथों तथा घोड़ोंकी धूलिसे रूखे केशाग्रवाली वह इन्दुमती ही मूर्तिमती विजयलक्ष्मी हुई ॥ ७० ॥

प्रथमपरिगतार्थस्तं रघुः सन्निवृत्तं विजयिनमभिनन्द्य श्लाघ्यजायासमेतम्।
तदुपहितकुटुम्बः शान्तिमार्गोत्सुकोऽभून्न हि सति कुलधुर्ये सूर्यवंश्या गृहाय॥

प्रथमेति। प्रथममजागमनात्प्रागेव परिगतो ज्ञातोऽर्थो विवाहविजयरूपो येन सः प्रथमपरिगतार्थो रघुर्विजयिनं विजययुक्तं श्लाघ्यजायासमेतं सन्निवृत्तं प्रत्यागतं तमजमभिनन्द्य तस्मिन्नजे उपहितकुटुम्बः सन्। 'सुतविन्यस्तपत्नीकः' इति याज्ञवल्क्यस्मरणादिति भावः। शान्तिमार्गे मोक्षमार्गे उत्सुकोऽभूत्। तथा हि—कुलधुर्ये कुलधुरन्धरे सति सूर्यवंश्याः गृहाय गृहस्थाश्रमाय न हि भवन्ति ॥ ७१ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया सञ्जीविनीसमाख्यया व्याख्यया समेतो महाकविश्रीकालीदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये अजपाणिग्रहणो नाम सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥



(अजके पहुंचनेके) पहले ही समाचारको मालूम किये हुए रघु लौटे हुए, विजयी तथा प्रशंसनीय स्त्रीसे युक्त उस अजका अभिनन्दनकर उनपर कुटुम्ब (अपनी स्त्री) का भार समर्पितकर शान्ति-मार्ग अर्थात् मुक्तिके लिये उत्सुक हुए, क्योंकि—सूर्यवंशी राजा अपनी सन्तानके राज्यभार सम्हालनेके योग्य होनेपर गृहस्थाश्रममें नहीं रहते ॥ ७१ ॥

यह 'मणिप्रभा' टीकामें 'रघुवंश' महाकाव्यका 'अजपाणिग्रहण' नामक सप्तम सर्ग समाप्त हुआ ॥ ७ ॥



इदमेवेप्सितेन एकमनसा मम हस्तगता हस्तगतमभूमीत्यर्थः । त्वं प्राप्यसे अयत्नेन प्राप्स्यस इत्यर्थः । पूर्वं विवेकेनात्र स्वहस्तविग्रहेणैव सोपहासमुक्तवानिति मन्तव्यम् ॥ ६७ ॥

हे विदर्भराजकुमारि ! वन्यसे शोभाके योग्य अर्थोंवाले शत्रुओंको देखो मैं इन्हें देखनेके लिये तुमको अनुमति देता हूँ । इस प्रकारसे ही तुमको हम वेगसे मेरे हाथमें आयी हुई तुमको ये छीन (हरण करना) चाहते हैं ॥ ६७ ॥

तस्याः प्रतिद्वन्द्विभवाद्विषादात्सद्यो विमुक्तं मुखमाबभासे ।
निःश्वासबाष्पापगमात्प्रपन्नः प्रसादमात्मीयमिवात्मदर्शः ॥ ६८ ॥

तस्या इति । प्रतिद्वन्द्विभवात्प्रतिद्वन्द्विप्राप्तिजन्यात्सद्यो विमुक्तं तस्या मुखं निःश्वासबाष्प धो वाष्प ऊष्मा । 'बाष्पो नेत्रजलोष्मणोः' इति विश्वः । तस्यापगमात्... प्रसादं नैर्मल्यं प्रपन्न प्राप्तः । आत्मा स्वरूपं दृश्यतेऽनेनेत्यात्मदर्शो दर्पण । आबभासे ॥ ६८ ॥

वैरियोंसे उत्पन्न विषादसे तत्काल छूटा हुआ उस इन्दुमतीका मुख, भापकणके दूर होनेसे अपनी (स्वाभाविक) निर्मलताको प्राप्त दर्पणके समान अत्यन्त शोभाको प्राप्त हुआ ॥ ६८ ॥

हृष्टापि सा ह्रीविजिता न साक्षाद्वाग्भिः सखीनां प्रियमभ्यनन्दत् ।
स्थली नवाम्भःपृषताभिवृष्टा मयूरकेकाभिरिवाभ्रवृन्दम् ॥ ६९ ॥

हृष्टापीति । सेन्दुमती हृष्टापि परन्तु पौरुषेण प्रमुदितापि ह्रिया विजिता पराभूता प्रियमजं साक्षात्स्वयं नाभ्यनन्दत् प्रशशंस किन्तु नवैरम्भःपृषतैः पयोबिन्दुभिरभिवृष्टाऽभिषिक्ता स्थली अकृत्रिमा भूमिः । 'जानपदकुण्डगोणस्थल— इत्यादिना अकृत्रिमार्थे ङीप् । अभ्रवृन्दं मेघसङ्घं मयूरकेकाभिरिव । सखीनां वाग्भिरभ्यनन्दत् ॥ ६९ ॥

(पतिके पराक्रमसे) प्रसन्न भी लज्जासे पराभूत उस इन्दुमतीने जिस प्रकार नये जलबूँदोंसे सींची गयी स्थली (बिना जुती हुई भूमि) मेघ—समूहका अभिनन्दन स्वयं न करती है किन्तु मयूरोंकी केका (मयूरोंकी बोलीका नाम) से करती है उसी प्रकार स्वयं (स्वयं ही) अपने वचनों से पतिका अभिनन्दन नहीं किया, किन्तु सखियोंके वचनोंसे अभिनन्दन किया ॥ ६९ ॥

इति शिरसि स वामं पादमाधाय राज्ञामुदवहदनवद्यां तामवद्यादपेतः ।
रथतुरगरजोभिस्तस्य रूक्षालकाग्रा समरविजयलक्ष्मीः सैव मूर्ता बभूव ॥ ७० ॥

इतीति । अवद्यते गर्ह्यत इत्यवद्यं गर्ह्यम् । 'अवद्यपण्यवर्या गर्ह्यपणितव्यानिरोधेषु' इत्यनेन निपातः । 'कुत्सितकुत्सितावद्यखेटगर्ह्याणकाः समाः' इत्यमरः । तस्मात् ... रहितः, निर्दोष इत्यर्थः । सोऽज इति राज्ञां शिरसि वामं पादमाधायानवद्या

वता पूर्वेषामपकर्षः । प्रशंसापरत्वात् 'सर्वत्र जयमन्विच्छेत्पुत्रादिच्छेत्पराजयम्' इत्य- ङ्गीकृतत्वाच्च ॥ ३ ॥

पृथ्वीने वसिष्ठ ऋषिके द्वारा (मन्त्रपूर्वक) छोडे गये जलोंसे उस अजके साथ अभिषिक्त होकर निर्मल उच्छ्वास (या आनन्दोच्छ्वास) से (गुणवान् पतिको प्राप्त करनेसे) कृता- र्थताको प्रकट किया ॥ ३ ॥

स बभूव दुरासदः परैर्गुरुणाऽथर्वविदा कृतक्रियः ।
पवनाग्निसमागमो ह्ययं सहितं ब्रह्म यदस्त्रतेजसा ॥ ४॥

स इति। अथर्वविदाऽथर्ववेदाभिज्ञेन गुरुणा वसिष्ठेन कृतक्रियः, अथर्वोक्तविधिना कृताभिषेकसंस्कार इत्यर्थः । सोऽजः परैः शत्रुभिर्दुरासदो दुर्धर्षो बभूव । तथा हि । अस्त्रतेजसा क्षत्रतेजसा सहितं युक्तं यद् ब्रह्म ब्रह्मतेजोऽयं पवनाग्निसमागमो हि, तत्कल्प इत्यर्थः। पवनाग्नीत्यत्र पूर्वनिपातशास्त्रस्यानित्यत्वात् 'द्वन्द्वे घि' इति नाग्नि- शब्दस्य पूर्वनिपातः । तथा च काशिकायाम्—'अयमेकस्तु लक्षणहेत्वोरिति निर्देशः पूर्वनिपातव्यभिचारचिह्नम्' इति । क्षात्त्रेणैवायं दुर्धर्षः किमयं पुनर्वसिष्ठमन्त्रप्रभावे सतीत्यर्थः । अत्र मनुः—'नाक्षत्त्रं ब्रह्म भवति क्षत्त्रं नाब्रह्म वर्धते । ब्रह्मक्षत्त्रे तु संयुक्ते इहामुत्र च वर्धते' ॥ इति ॥ ४ ॥

अथर्ववेदके ज्ञाता गुरु (वसिष्ठजी) से अभिषिक्त वे अज शत्रुओंके दुर्धर्ष (अजेय) हुए, क्योंकि क्षत्रियतेजसे युक्त जो ब्रह्मतेज है, वह वायु तथा अग्निका समागम है अर्थात् जिस प्रकार वायुका संयोग होनेपर अग्नि असह्य हो जाती है, उसी प्रकार वसिष्ठ ऋषिके ब्रह्मतेजसे युक्त अजका क्षत्रियतेज शत्रुओंको असह्य हो गया ॥ ४ ॥

रघुमेव निवृत्तयौवनं तममन्यन्त नवेश्वरं प्रजाः ।
स हि तस्य न केवलां श्रियं प्रतिपेदे सकलान्गुणानपि ॥ ५ ॥

रघुमिति । प्रजा नवेश्वरं तमजं निवृत्तयौवनं प्रत्यावृत्तयौवनं रघुमेवामन्यन्त । न किञ्चिद्भेदकमस्तीत्यर्थः । कुतः । हि यस्मात्सोऽजस्तस्य रघोः केवलामेकां श्रियं न प्रतिपेदे, किन्तु सकलान्गुणाञ्छौर्यदाक्षिण्यादीनपि प्रतिपेदे, अतस्तद्गुणयोगात्तद्बु- द्धिर्युक्तेत्यर्थः ॥ ५ ॥

प्रजाओंने उस नये राजाको लौटी हुई जवानीवाला रघु ही माना, क्योंकि उस (अज) ने उस (रघु) के केवल राजलक्ष्मीको ही नहीं प्राप्त किया, (किन्तु रघुके) सब गुणोंको भी प्राप्त किया ॥ ५ ॥

अधिकं शुशुभे शुभंयुना द्वितयेन द्वयमेव सङ्गतम् ।
पदमृद्धमजेन पैतृकं विनयेनास्य नवं च यौवनम् ॥ ६ ॥

अष्टमः सर्गः ।

हेरम्बमवलम्बेऽहं यस्मिन् पातालकेलिषु ।
दन्तेनोद्धरति क्षोणीं बिभात्यब्धिः फणीश्वरः ॥

अथ तस्य विवाहकौतुकं ललितं बिभ्रत एव पार्थिवः ।
वसुधामपि हस्तगामिनीमकरोदिन्दुमतीमिवापराम् ॥ १ ॥

अथेति । अथ पार्थिवो रघुर्ललितं सुभगं विवाहकौतुकं विवाहमङ्गलं विवाहहस्तसूत्रं वा बिभ्रत एव । 'कौतुकं मङ्गले हर्षे हस्तसूत्रे कुतूहले' इति यादवः । तस्याजस्यापरामिन्दुमतीमिव वसुधामपि हस्तगामिनीमकरोत् । तस्मै समर्पयामासेत्यर्थः । अस्मिन् सर्गे वैतालीयं वृत्तम् ॥ १ ॥

पानखेल—केलमें जो भूको दंष्ट्रापर कै लेता ।
उठाते शेषराज सम मैं उस गजमुख को चित देता ॥

इसके बाद राजा रघुने मनोहर विवाह मङ्गलको धारण करते ही उस अजके हाथोंमें दूसरी इन्दुमतीके समान पृथ्वीको भी सौंप दिया ॥ १ ॥

दुरितैरपि कर्तुमात्मसात्प्रयतन्ते नृपसूनवो हि यत् ।
तदुपस्थितमग्रहीदजः पितुराज्ञेति न भोगतृष्णया ॥ २ ॥

दुरितैरिति । नृपसूनवो राजपुत्रा यद्राज्यं दुरितैरपि पितृद्रोहादिभिरपि पापैरात्मसात्स्वाधीनम् । 'तदधीनवचने' इति सातिप्रत्ययः । कर्तुं प्रयतन्ते हि, प्रवर्तन्त इत्यर्थः । तथा हि—'राजपुत्रा मदोद्वृत्ता गजा इव निरङ्कुशाः । भ्रातरं पितरं वापि निघ्नन्त्येवाभिलाषिणः' ॥ हिरत्र हेत्वर्थे । 'हि हेताववधारणे' इत्यमरः । तदुपस्थितं स्वतः प्राप्तं राज्यमजः । पितुराज्ञेति हेतोरग्रहीत्स्वीकृतवान् भोगतृष्णया नाग्रहीत् ॥ २ ॥

राजकुमारलोग जिस राज्यको (पिता हनने आदि) पाप कर्मोंके द्वारा भी स्वाधीन करनेके लिये प्रयत्न करते हैं प्राप्त हुए भी उस राज्यको अजने 'पिताकी आज्ञा है' इस कारणसे स्वीकार किया भोगकी तृष्णासे नहीं (स्वीकार किया) ॥ २ ॥

अनुभूय वसिष्ठसम्भृतैः सलिलैस्तेन सहाभिषेचनम् ।
विशदोच्छ्वसितेन मेदिनी कथयामास कृतार्थतामिव ॥ ३ ॥

अनुभूयेति । मेदिनी भूमिः । महिषी च गम्यते । वसिष्ठेन सम्भृतैः सलिलैस्तेनाजेन सहाभिषेचनमनुभूय विशदोच्छ्वसितेन स्पष्टमुद्गतहर्षेण आनन्दनिर्भरोच्छ्वसितेन चेति गम्यते । कृतार्थतां गुणवद्भर्तृलाभकृतं साफल्यं कथयामासेव । न केवला-

न खरो न च भूयसा मृदुः पवमानः पृथिवीरुहानिव ।
स पुरस्कृतमध्यमक्रमो नमयामास नृपाननुद्धरन् ॥ ९ ॥

नेति। स नृपो भूयसा बाहुल्येन खरस्तीक्ष्णो न। भूयसा मृदुरतिमृदुरपि न। किन्तु पुरस्कृतमध्यमक्रमः सन्, मध्यमपरिपाटीमवलम्ब्येत्यर्थः। पवमानो वायुः पृथिवीरुहास्तरूनिव। नृपाननुद्धरन्ननुत्पाटयन्नेव नमयामास। अत्र कामन्दकः— 'मृदुश्चेदवमन्येत तीक्ष्णादुद्विजते जनः। तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चैव प्रजानां स च सम्मतः' ॥ इति ॥ ९ ॥

न बहुत तेज तथा न बहुत मन्द—किन्तु मध्यम गतिसे बहती हुई वायु जिस प्रकार वृक्षोंको नहीं उखाडती हुई उन्हें झुका देती है, उसी प्रकार न बहुत कठोर तथा न बहुत सरल—किन्तु मध्यम शासनको करनेवाले अजने राजाओंको नष्ट (राज्यभ्रष्ट) नहीं करते हुए उन्हें झुका दिया अर्थात् अपने वशमें कर लिया ॥ ९ ॥

अथ वीक्ष्य रघुः प्रतिष्ठितं प्रकृतिष्वात्मजमात्मवत्तया ।
विषयेषु विनाशधर्मसु त्रिदिवस्थेष्वपि निःस्पृहोऽभवत् ॥ १० ॥

अथेति। अथ रघुरात्मजं पुत्रमात्मवत्तया, निर्विकारमनस्कतयेत्यर्थः। 'उदयादिष्वविकृतिर्मनसः सत्त्वमुच्यते। आत्मवान् सत्त्ववानुक्तः' इत्युत्पलमालायाम्। प्रकृतिष्वमात्यादिषु प्रतिष्ठितं रूढमूलं वीक्ष्य ज्ञात्वा विनाशो धर्मो येषां तेषु विनाशधर्मसु, अनित्येष्वित्यर्थः। 'धर्मादनिच्केवलात्' इत्यनिच्प्रत्ययः समासान्तः। त्रिदिवस्थेषु स्वर्गस्थेष्वपि विषयेषु शब्दादिषु निःस्पृहो निर्गतेच्छोऽभवत् ॥ १० ॥

इसके बाद रघु पुत्र (अज) को विकारहीन भावसे मन्त्री आदि प्रकृतियोंमें स्थिर (जमे हुए प्रभाववाला) देखकर विनश्वर स्वर्गीय विषयोंमें भी निःस्पृह हो गये ॥ १० ॥

कुलधर्मश्चायमेवेत्याह—

गुणवत्सुतरोपितश्रियः परिणामे हि दिलीपवंशजाः ।
पदवीं तरुवल्कवाससां प्रयताः संयमिनां प्रपेदिरे ॥ ११ ॥

गुणवदिति। दिलीपवंशजाः परिणामे वार्धके गुणवत्सुतेषु रोपितश्रियः स्थापितलक्ष्मीकाः प्रयताश्च सन्तः। तरुवल्कान्येव वासांसि येषां तेषां संयमिनां यतीनां पदवीं प्रपेदिरे यस्मात्तस्मादस्यापीदमुचितमित्यर्थः ॥ ११ ॥

क्योंकि दिलीप-वंशोत्पन्न राजालोगोंने वृद्धावस्थामें गुणवान् पुत्रोंको राज्यभार सौंपकर वृक्षोंके वल्कल (छाल) पहननेवाले मुनियोंके मार्गको ग्रहण किया है (अतः रघुका विषय-निःस्पृह होना उचित ही था) ॥ ११ ॥

अधिकमिति । शुभमेव शुभंयुना शुभवता । 'शुभंयुस्तु शुभान्वितः' इत्यमरः । 'अहंशुभमोर्युस्' इति युस्प्रत्ययः । द्वितयेन सङ्गतं युक्तं द्वयमधिकं शुशुभे । किं केन ? इत्याह—पदमिति । पैतृकं पितुरागतम् । 'ऋतष्ठञ्' इति ठञ्प्रत्ययः । ऋद्धं समृद्धं पदं राज्यमजेन । अस्याजस्य नवं यौवनं विनयेनेन्द्रियजयेन च । 'विनयो हीन्द्रियजयस्तद्युक्तः शास्त्रमर्हति' इति कामन्दकः । राज्यस्थोऽपि प्राकृतवन्न प्रोन्मत्त इत्यर्थः ॥ ६ ॥

शुभयुक्त दोनों (अज तथा विनय) से युक्त दोनों (पैतृकराज्य तथा अजकी युवावस्था) ही अधिक शोभित हुए—अजसे समृद्धिशाली पितृक्रमागत राज्य और विनयसे इस अजकी नयी युवावस्था ॥ ६ ॥

सदयं बुभुजे महाभुजः सहसोद्वेगमियं व्रजेदिति ।
अचिरोपनतां स मेदिनीं नवपाणिग्रहणां वधूमिव ॥ ७ ॥

सदयमिति । महाभुजः सोऽजोऽचिरोपनतां नवोपनतां मेदिनीं भुवं नवं पाणिग्रहणं विवाहो यस्यास्तां नवोढां वधूमिव । उक्तं च रतिरहस्ये—'सौम्यैरात्मविश्वासैर्नवोढामुपचारैरपि सान्त्वयेत्' । सहसा अकस्मात्वरेण चैव । 'सद्यो वधे सदा मार्गे' इत्यमरः । इयं मेदिनी वधूश्चोद्वेगं भयं व्रजेदिति हेतोः । सदयं सकृपं बुभुजे बुभोज । 'भुजोऽनवने' इत्यात्मनेपदम् ॥ ७ ॥

महाबाहु अजने थोड़े दिनोंसे प्राप्त पृथ्वीको नवविवाहित वधूके समान 'अकस्मात् (कठोर शासन या बलपूर्वक भोग करनेपर) यह (पृथ्वी तथा वधू) उद्विग्न हो जायेगी' इस कारण दयापूर्वक (धीरे २) भोग किया ॥ ७ ॥

अहमेव मतो महीपतेरिति सर्वः प्रकृतिष्वचिन्तयत् ।
उदधेरिव निम्नगाशतेष्वभवन्नास्य विमानना क्वचित् ॥ ८ ॥

अहमिति । प्रकृतिषु प्रजासु मध्ये सर्वोऽपि जनः । अथवा प्रकृतिष्वित्यस्य 'अहमि'त्यनेनान्वयः । व्यवधानं तु सह्यम् । सर्वोऽपि जनः प्रकृतिष्वहमेव महीपतेर्मतो महीपतिना सम्मतः । 'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च' इति वर्तमाने क्तः । 'क्तस्य च वर्तमाने' इति षष्ठी । इत्यचिन्तयदमन्यत । उदधेर्निम्नगाशतेष्विवास्य नृपस्य क्वचित् । 'कर्तृकर्मणोः कृति' इति कर्तरि षष्ठी । क्वचिदपि कस्मिंश्चिदपि विमाननाऽवमानना तिरस्कारो नाभवत् । यतो न कञ्चिदवमन्यतेऽतः सर्वोऽप्यहमेवास्य मत इत्यमन्यतेत्यर्थः ॥

प्रकृतियों (प्रजाओं या मन्त्री आदि अधीनस्थ कर्मचारियों) में 'मुझे ही राजा अधिक मानते हैं' ऐसा सबने समझा। सैकड़ों नदियोंमें समुद्रके समान इस (अज) से किसीका भी तिरस्कार नहीं हुआ ॥ ८ ॥

न खरो न च भूयसा मृदुः पवमान पृथिवीरुहानिव ।
स पुरस्कृतमध्यमक्रमो नमयामास नृपाननुद्धरन् ॥ ९ ॥

नेति । स नृपो भूयसा वाहुल्येन खरस्तीक्ष्णो न । भूयसा मृदुरतिमृदुरपि न । किन्तु पुरस्कृतमध्यमक्रम' सन्, मध्यमपरिपाटीमवलम्ब्येत्यर्थ । पवमानो वायुः पृथिवीरुहांस्तरूनिव । नृपाननुद्धरन्ननुत्पाटयन्नेव नमयामास । अत्र कामन्दक— 'मृदुश्चेदवमन्येत तीक्ष्णादुद्विजते जन' । तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चैव प्रजाना स च सम्मत ' ॥ इति ॥ ९ ॥

न बहुत तेज तथा न बहुत मन्द—किन्तु मध्यम गतिसे बहती हुई वायु जिस प्रकार वृक्षोंको नहीं उखाडती हुई उन्हें झुका देती है, उसी प्रकार न बहुत कठोर तथा न बहुत सरल—किन्तु मध्यम शासनको करनेवाले अजने राजाओंको नष्ट (राज्यभ्रष्ट) नहीं करते हुए उन्हें झुका दिया अर्थात् अपने वशमें कर लिया ॥ ९ ॥

अथ वीक्ष्य रघुः प्रतिष्ठितं प्रकृतिष्वात्मजमात्मवत्तया ।
विषयेषु विनाशधर्मसु त्रिदिवस्थेष्वपि निःस्पृहोऽभवत् ॥ १० ॥

अथेति । अथ रघुरात्मज पुत्रमात्मवत्तया, निर्विकारमनस्कतयेत्यर्थः । 'उदयादिष्वविकृतिर्मनस' सत्त्वमुच्यते । आत्मवान् सत्त्ववानुक्तः' इत्युत्पलमालायाम् । प्रकृतिष्वमात्यादिषु प्रतिष्ठित रूढमूल वीक्ष्य ज्ञात्वा विनाशो धर्मो येषां तेषु विनाश धर्मसु, अनित्येष्वित्यर्थं । 'धर्मादनिच्केवलात्' इत्यनिच्प्रत्ययः समासान्त । त्रिदिवस्थेषु स्वर्गस्थेष्वपि विषयेषु शब्दादिषु निःस्पृहो निर्गतेच्छोऽभवत् ॥ १० ॥

इसके बाद रघु पुत्र (अज) को विकारहीन भावसे मन्त्री आदि प्रकृतियोंमें स्थिर (जमे हुए प्रभाववाला) देखकर विनश्वर स्वर्गीय विषयोंमें भी निःस्पृह हो गये ॥ १० ॥

कुलधर्मश्चायमेवेत्याह—

गुणवत्सुतरोपितश्रियः परिणामे हि दिलीपवंशजा' ।
पदवीं तरुवल्कवाससां प्रयता' संयमिनां प्रपेदिरे ॥ ११ ॥

गुणवदिति । दिलीपवशजा परिणामे वार्धके गुणवत्सुतेषु रोपितश्रिय. स्थापितलक्ष्मीका प्रयताश्च सन्त । तरुवल्कान्येव वासांसि येषां तेषां सयमिनां यतीनां पदवीं प्रपेदिरे यस्मात्तस्मादस्यापीदमुचितमित्यर्थ' ॥ ११ ॥

क्योंकि दिलीप-वंशोत्पन्न राजालोगोंने वृद्धावस्थामें गुणवान् पुत्रोंको राज्यभार सौंपकर वृक्षोंके वल्कल (छाल) पहननेवाले मुनियोंके मार्गको ग्रहण किया है (अत रघुका विषय-निःस्पृह होना उचित ही था) ॥ ११ ॥

तमरण्यसमाश्रयोन्मुखं शिरसा वेष्टनशोभिना सुतः ।
पितरं प्रणिपत्य पादयोरपरित्यागमयाचतात्मनः ॥ १२ ॥

तमिति । अरण्यसमाश्रयोन्मुखं वनवासोद्युक्तम् । अत्र मनुः—'गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः । सापत्यो निरपत्यो वा तदारण्यं समाश्रयेत् ॥' पितरं तं रघुं सुतोऽजः । वेष्टनशोभिनोष्णीषमनोहरेण शिरसा पादयोः प्रणिपत्य । आत्मनोऽपरित्यागमयाचत । मां परित्यज्य न गन्तव्यमिति प्रार्थितवानित्यर्थः ॥ १२ ॥

वनको जानेके लिये तैयार पिता रघुको पुत्र अजने पगड़ी (या राजमुकुट) से शोभित मस्तकसे दोनों चरणोंमें प्रणामकर 'मुझे छोड़कर मत जाइये' ऐसी प्रार्थना की ॥ १२ ॥

रघुरश्रुमुखस्य तस्य तत्कृतवानीप्सितमात्मजप्रियः ।
न तु सर्प इव त्वचं पुनः प्रतिपेदे व्यपवर्जितां श्रियम् ॥ १३ ॥

रघुरिति । आत्मजप्रियः पुत्रवत्सलो रघुः । अश्रूणि मुखे यस्य तस्याश्रुमुखस्य तस्य तदपरित्यागरूपमीप्सितमभिलषितं कृतवान् । किन्तु सर्पस्त्वचमिव व्यपवर्जितां त्यक्तां श्रियं पुनर्न प्रतिपेदे न प्राप ॥ १३ ॥

पुत्रवत्सल रघुने अश्रुयुक्त हुए आँखोंवाले उस अजके अभिलषितको (पूर्ण) किया अर्थात् वनको जानेका विचार छोड़ दिया, किन्तु छोड़ी गयी केंचुली (केंचुल) को सर्पके समान छोड़ी हुई राजलक्ष्मीको पुनः स्वीकार नहीं किया ॥ १३ ॥

स किलाश्रममन्त्यमाश्रितो निवसन्नावसथे पुराद्बहिः ।
समुपास्यत पुत्रभोग्यया स्नुषयेवाविकृतेन्द्रियः श्रिया ॥ १४ ॥

स इति । स रघुः किलान्त्यमाश्रमं संन्यासाश्रममाश्रितः पुरात्पुराद्बहिरावसथे स्थाने निवसन्नविकृतेन्द्रियः, जितेन्द्रियः सन्नित्यर्थः । अत एव स्नुषयेव वध्वेव पुत्रभोग्यया । न स्वभोग्यया । श्रिया समुपास्यत शुश्रूषितः । जितेन्द्रियस्य तस्य स्नुषयेव श्रियापि पुष्पफलोपहरणादिशुश्रूषाव्यतिरेकेण न किञ्चिदपेक्षितमासीदित्यर्थः । अत्र यद्यपि 'ब्राह्मणाः प्रव्रजन्ति' इति श्रुतेः, 'आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात्' इति मनुस्मरणात् । 'मुखजानामयं धर्मो यद्विष्णोर्लिङ्गधारणम् । बाहुजातोरुजातानामयं धर्मो न विद्यते ॥' इति निषेधाच्च ब्राह्मणस्यैव प्रव्रज्या न क्षत्रियादेरित्याहुः, तथापि 'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्' इत्यादिश्रुतेस्त्रैवर्णिकसाधारण्यात्, 'त्रयाणां वर्णानां वेदमधीत्य चत्वार आश्रमाः' इति सूत्रकारवचनात् 'ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि वैश्यो वा प्रव्रजेद् गृहात्' इति स्मरणात्, 'मुखजानामयं धर्मो वैष्णवं लिङ्गधारणम् । बाहुजातोरुजातानां त्रिदण्डं न विधीयते ॥' इति निषेधस्य त्रिदण्डविषयत्वदर्शनात् क्वचित् ब्राह्मणपदस्योपलक्षणत्वाभ्युपगमाच्च केचित् त्रै-

र्णिकाधिकारं प्रतिपेदिरे। तथा सति 'स किलाश्रममन्त्यमाश्रितः' इत्यत्रापि कविनाप्ययमेव पक्षो विवक्षित इति प्रतीमः। अन्यथा वानप्रस्थाश्रमतया व्याख्याते 'विदधे विधिमस्य नैष्ठिकं यतिभिः सार्धमनग्निमग्निचित्' इति वक्ष्यमाणेनानग्निसंस्कारेण विरोधः स्यात्। अग्निसंस्काररहितस्य वानप्रस्थस्यैवाभावात् इत्यलं प्रासङ्गिकेन ॥ १४ ॥

वे (रघु) अन्तिम आश्रम (सन्यासाश्रम) को स्वीकारकर नगरके बाहरी स्थानमें रहते हुए जितन्द्रिय होकर पुत्रके भोग करने योग्य पतोहू (पुत्रवधू) के समान राजलक्ष्मी से सेवित हुए ॥ १४ ॥

प्रशमस्थितपूर्वपार्थिवं कुलमभ्युद्यतनूतनेश्वरम् ।
नभसा निभृतेन्दुना तुलामुदितार्केण समारुरोह तत् ॥ १५ ॥

प्रशमेति। प्रशमे स्थितः पूर्वपार्थिवो रघुर्यस्य तत्। अभ्युद्यतोऽभ्युदितो नूतनेश्वरोऽजो यस्य तत्। प्रसिद्धं कुलं निभृतेन्दुनाऽस्तमयासन्नचन्द्रेणोदितार्केण प्रकटितसूर्येण च नभसा तुलां सादृश्यं समारुरोह प्राप्त। न च नभसा तुलामित्यत्र 'तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम्' इत्यनेन प्रतिषेधस्तृतीयायाः। तस्य सदृशवाचितुलाशब्दाविषयत्वात्। 'कृष्णस्य तुला नास्ति' इति प्रयोगात्। अस्य च सादृश्यवाचित्वात् ॥ १५ ॥

शान्तिमें स्थित पुराने राजा (रघु) वाला तथा उन्नत होते हुए नये राजा अज वाला वह (इक्ष्वाकु-) वंश अस्त होते हुए चन्द्रवाले तथा उदय हुए सूर्यवाले आकाश के सदृश हुआ॥

यतिपार्थिवलिङ्गधारिणौ ददृशाते रघुराघवौ जनैः ।
अपवर्गमहोदयार्थयोर्भुवमंशाविव धर्मयोर्गतौ ॥ १६ ॥

यतीति। यतिर्भिक्षुः। पार्थिवो राजा। तयोर्लिङ्गधारिणौ रघुराघवौ रघुतत्सुतौ। अपवर्गमहोदयार्थयोर्मोक्षाभ्युदयफलयोर्धर्मयोः। निवर्तकप्रवर्तकरूपयोरित्यर्थः। भुवं गतौ भूलोकमवतीर्णावंशाविव। जनैर्ददृशाते दृष्टौ ॥ १६ ॥

भिक्षु (सन्यासी) तथा राजाके चिह्नों (क्रमशः गैरिक वस्त्र आदि तथा राजमुकुट श्वेतच्छत्र एवं चामर आदि) को धारण करते हुए रघु तथा अजको लोग मुक्ति तथा महोन्नतिरूप फलवाले (निवृत्ति तथा प्रवृत्तिको करनेवाले) दो धर्मोंके भूलोकपर अवतीर्ण अंशके समान देखते थे ॥ १६ ॥

अजिताधिगमाय मन्त्रिभिर्युयुजे नीतिविशारदैरजः ।
अनपायिपदोपलब्धये रघुराप्तैः समियाय योगिभिः ॥ १७ ॥

अजितेति। अजोऽजिताधिगमायाजितपदलाभाय नीतिविशारदैर्नीतिज्ञैर्मन्त्रिभिर्यु-

तमरण्यसमाश्रयोन्मुखं शिरसा वेष्टनशोभिना सुतः ।
पितरं प्रणिपत्य पादयोरपरित्यागमयाचतात्मनः ॥ १२ ॥

तमिति । अरण्यसमाश्रयोन्मुखं वनवासोद्युक्तम् । आह मनुः—'गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः । सापत्यो निरपत्यो वा तदारण्यं समाश्रयेत्' ॥ पितरं तं रघुं सुतोऽजः । वेष्टनशोभिनोष्णीषशोभिना शिरसा पादयोः प्रणिपत्य । आत्मनोऽपरित्यागमयाचत । मां परित्यज्य न गन्तव्यमिति प्रार्थितवानित्यर्थः ॥ १२ ॥

वनको जानेके लिये तैयार पिता रघुसे पुत्र अजने पगड़ी (या राजमुकुट) से शोभित मस्तकसे दोनों चरणोंमें प्रणामकर 'मुझे छोड़कर मत जाइये' ऐसी प्रार्थना की ॥ १२ ॥

रघुरश्रुमुखस्य तस्य तत्कृतवानीप्सितमात्मजप्रियः ।
न तु सर्प इव त्वचं पुनः प्रतिपेदे व्यपवर्जितां श्रियम् ॥ १३ ॥

रघुरिति । आत्मजप्रियः पुत्रवत्सलो रघुः । अश्रूणि मुखे यस्य तस्याश्रुमुखस्य तस्य तदपरित्यागरूपमीप्सितमभिलषितं कृतवान् । किन्तु सर्पस्त्वचमिव व्यपवर्जितां त्यक्तां श्रियं पुनर्न प्रतिपेदे न प्राप ॥ १३ ॥

पुत्रवत्सल रघुने रुदन करते हुए आँसुओंसे युक्त मुखवाले अजके अभिलाषको (पूर्ण) किया अर्थात् वनको जानेका विचार छोड़ दिया, किन्तु छोड़ी गयी केंचुली (केंचुल) को सर्पके समान छोड़ी हुई राज्यलक्ष्मीको पुनः स्वीकार नहीं किया ॥ १३ ॥

स किलाश्रममन्त्यमाश्रितो निवसन्नावसथे पुराद्बहिः ।
समुपास्यत पुत्रभोग्यया स्नुषयेवाविकृतेन्द्रियः श्रिया ॥ १४ ॥

स इति । स रघुः किलान्त्यमाश्रमं संन्यासाश्रममाश्रितः पुरान्नगराद्बहिरावसथे स्थाने निवसन्नविकृतेन्द्रियः, जितेन्द्रियः सन्नित्यर्थः । अत एव स्नुषयेव वध्वेव पुत्रभोग्यया । न स्वभोग्यया । श्रिया समुपास्यत शुश्रूषितः । जितेन्द्रियस्य तस्य स्नुषयेव श्रियापि शुश्रूषामात्रकारणमासीदभूतान्यविशेषेण न किञ्चिदपेक्षितमासीदित्यर्थः । अत्र यद्यपि 'ब्राह्मणाः प्रव्रजन्ति' इति श्रुतेः 'आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद्गृहात्' इति मनुस्मरणात् । 'मुखजानामयं धर्मो यद्विष्णोर्लिङ्गधारणम् । बाहुजातोरुजातानामयं धर्मो न विद्यते ।' इति निषेधाच्च ब्राह्मणस्यैव प्रव्रज्या न क्षत्रियादेरित्याहुः, तथापि 'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्' इत्यादिश्रुतेरविशेषप्रवृत्तत्वात् 'त्रयाणां वर्णानां वेदमधीत्य चत्वार आश्रमाः' इति सूत्रकारवचनात् 'ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि वैश्यो वा प्रव्रजेद् गृहात्' इति स्मरणात्, 'मुखजानामयं धर्मो वैष्णवं लिङ्गधारणम् । बाहुजातोरुजातानां त्रिदण्डं न विधीयते ॥' इति विशेषस्य निषेधविषयत्वदर्शनाच्च क्वचित् ब्राह्मणग्रहणस्योपलक्षणमात्रपरत्वात् केचित् नेव

सादकरोत्कार्त्स्न्येन भस्मीकृतवान् । 'विभाषा साति कार्त्स्न्ये' इति सातिप्रत्ययः । इतरो रघुर्ज्ञानमयेन तत्त्वज्ञानप्रचुरेण वह्निना पावकेन करणेन स्वकर्मणां भवबीजभूतानां दहने भस्मीकरणे ववृते । स्वकर्माणि दग्धुं प्रवृत्त इत्यर्थः । 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन' इति गीतावचनात् ॥ २० ॥

नये राजा (अज) ने पृथ्वीपर शत्रुओंके आरम्भ किये गये कार्योंके फलोंको भस्म (नष्ट) कर दिया तथा दूसरे (प्राचीन राजा—रघु) ज्ञानमय अग्निसे अपने (संसार के कारणभूत) कर्मोंको जलाने (नष्ट करने) में लग गये अर्थात् ज्ञानप्राप्तिसे अपने कर्मोंको नष्ट करने लगे ॥ २० ॥

पणबन्धमुखान्गुणानजः षडुपायुङ्क्त समीक्ष्य तत्फलम् ।
रघुरप्यजयद् गुणत्रयं प्रकृतिस्थं समलोष्टकाञ्चनः ॥ २१ ॥

पणबन्धेति । 'पणबन्धः सन्धिः' इति कौटिल्यः । अजः पणबन्धमुखान्सन्ध्यादीन्षड्गुणान् । 'सन्धिर्ना विग्रहो यानमासनं द्वैधमाश्रयः । षड्गुणाः' इत्यमरः । तत्फलं तेषां गुणानां फलं समीक्ष्यालोच्योपायुङ्क्त । फलिष्यन्तमेव गुणं प्रायुङ्क्तेत्यर्थः । 'प्रोपाभ्यां युजेरयज्ञपात्रेषु' इत्यात्मनेपदम् । समस्तुल्यतया भावितो लोष्टो मृत्पिण्डः काञ्चनं सुवर्णं च यस्य स समलोष्टकाञ्चनः, निःस्पृह इत्यर्थः । 'लोष्टानि लेष्टवः पुंसि' इत्यमरः । रघुरपि गुणत्रयं सत्त्वादिकम् । 'गुणाः सत्त्वं रजस्तमः' इत्यमरः । प्रकृतौ साम्यवस्थायामेव तिष्ठतीति प्रकृतिस्थं पुनर्विकारशून्यं यथा तथाऽजयत् ॥ २१ ॥

अज सन्धि आदि षड्गुणोंका, उनका फल देखकर (देश-कालके अनुसार) प्रयोग करने लगे तथा मिट्टीके ढेले और सुवर्णको समान समझते हुए अर्थात् सम्पत्तिसे निःस्पृह होते हुए रघु भी प्रकृतिस्थ तीनों गुणों (सत्त्व, रज और तम) को जीत लिये ॥ २१ ॥

न नवः प्रभुराफलोदयात्स्थिरकर्मा विरराम कर्मणः ।
न च योगविधेर्नवेतरः स्थिरधीरापरमात्मदर्शनात् ॥ २२ ॥

नेति । स्थिरकर्मा फलोदयकर्मकारी नवः प्रभुरजः आफलोदयात्फलसिद्धिपर्यन्तं कर्मण आरम्भाच्च विरराम न निवृत्तः । 'जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम्' इत्यपादानात्पञ्चमी । 'व्याङ्परिभ्यो रमः' इति परस्मैपदम् । स्थिरधीर्निश्चलचित्तः । तदुक्तं गीतायां—'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः । वीतरागभयक्रोधः स्थिरधीर्मुनिरुच्यते' ॥ नवेतरो रघुश्चापरमात्मदर्शनात्परमात्मसाक्षात्कारपर्यन्तं योगविधेरैक्यानुसंधानाच्च विरराम ॥ २२ ॥

स्थिरकर्मा (फलप्राप्तितक काममें लगे रहनेवाले) नये राजा (अज) ने फलके दृष्टिगोचर होनेतक कार्यको नहीं छोड़ा तथा स्थिर बुद्धिवाले प्राचीन राजा (रघु) ने परमात्माके दर्शन होनेतक योगविधिको नहीं छोड़ा ॥ २२ ॥

युजे सङ्गः । रघुरप्यनपायिपदस्योपलब्धये मोक्षस्य प्राप्तये यथार्थदर्शिनो यथार्थतत्त्वदर्शिनस्तैर्योगिभिः समियाय सङ्गतः । उभयमप्युपायचिन्तार्थमिति भेदः ॥ १७ ॥

अज अविचल पदको प्राप्त करनेके लिये नीतिनिपुण मन्त्रियोंसे मिले (उनसे सलाह मशवरा करने लगे) और रघु अविनश्वर पद अर्थात् मुक्तिको प्राप्त करनेके लिये यथार्थ तत्त्वदर्शी योगियोंसे मिले ॥ १७ ॥

नृपतिः प्रकृतीरवेक्षितुं व्यवहारासनमाददे युवा ।
परिचेतुमुपांशु धारणां कुशपूतं प्रवयास्तु विष्टरम् ॥ १८ ॥

नृपतिरिति । युवा नृपतिरजः प्रकृतीः प्रजाः कार्यार्थिनीरवेक्षितुम्, दुष्टादुष्टपरिज्ञानार्थमित्यर्थः । व्यवहारासनं धर्मासनमाददे स्वीचकार । 'व्यवहारान्नृपः पश्येत्' इति याज्ञवल्क्यस्मरणात् । प्रवयाः स्थविरो नृपती रघुस्तु । 'प्रवयाः स्थविरो वृद्धः' इत्यमरः । धारणां चित्तस्यैकाग्रतां परिचेतुमभ्यसितुमुपांशु विजने । 'उपांशु विजने प्रोक्तम्' इति हलायुधः । कुशैः पूतं विष्टरमासनमाददे । 'यमादिगुणसंयुक्ते मनसः स्थितिरात्मनि । धारणा प्रोच्यते सद्भिर्योगशास्त्रविशारदैः' इति वसिष्ठः ॥ १८ ॥

युवक राजा (अज) प्रजाओंके (व्यवहार—विवाद) को देखनेके लिये धर्मासनको तथा वृद्ध राजा (रघु) चित्तकी एकाग्रताके अभ्यासके लिये एकान्तमें पवित्र कुशासनको ग्रहण किये ॥ १८ ॥

अनयत्प्रभुशक्तिसम्पदा वशमेको नृपतीननन्तरान् ।
अपरः प्रणिधानयोग्यया मरुतः पञ्च शरीरगोचरान् ॥ १९ ॥

अनयदिति । एकोऽन्यतरः, अज इत्यर्थः । अनन्तरान् स्वभूम्यनन्तरभूपतीन्प्रभुशक्तिसम्पदा कोशदण्डमहिम्ना वशं स्वायत्ततामनयत् । 'कोशो दण्डो बलं चैव प्रभुशक्तिः प्रकीर्तिता' इति मिताक्षरायाम् । अपरो रघुः प्रणिधानयोग्यया समाध्यभ्यासेन । 'योग्याभ्यासस्तदर्कयोषितोः' इति विश्वः । शरीरगोचरान् देहाश्रयान् पञ्च मरुतः प्राणादीन्वशमनयत् । 'प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ च वायवः । शरीरस्थाः' इत्यमरः ॥ १९ ॥

एक राजा (अज) ने प्रभुशक्ति अर्थात् कोष एवं दण्डकी सम्पत्तिसे अनन्तर राजाओंको तथा दूसरे राजा (रघु) ने समाधिके अभ्याससे शरीरस्थ पाँच वायुओं (प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान) को वशमें किया ॥ १९ ॥

अकरोदचिरेश्वरः क्षितौ द्विषदारम्भफलानि भस्मसात् ।
इतरो दहने स्वकर्मणां ववृते ज्ञानमयेन वह्निना ॥ २० ॥

अकरोदिति । अचिरेश्वरोऽजः क्षितौ द्विषतामारम्भाः कर्माणि तेषां फलानि भस्म-

अग्निहोत्र करनेवाले रघु-पुत्र (अज) ने पिताके शरीर-त्यागको सुनकर बहुत देरतक रोकर इन (रघु) के अग्निसंस्काररहित अन्तिम संस्कारको यतियोंके साथ किया ॥ २५ ॥

अकरोत्स तदौर्ध्वदैहिकं पितृभक्त्या पितृकार्यकल्पवित् ।
न हि तेन पथा तनुत्यजस्तनयावर्जितपिण्डकाङ्क्षिणः ॥ २६ ॥

अकरोदिति । पितृकार्यस्य तातश्राद्धस्य कल्पविद्विधानज्ञः सोऽजः पितृभक्त्या पितरि प्रेम्णा करणेन न पितुः परलोकसुखापेक्षया । मुक्तत्वादिति भावः । तस्य रघोरौर्ध्वदैहिकम् । देहादूर्ध्वं भवतीति तत्तिलोदकपिण्डदानादिकमकरोत् । 'ऊर्ध्वं देहाच्च' इति वक्तव्याट्ठक्प्रत्ययः । अनुशतिकादित्वादुभयपदवृद्धिः । ननु कथं भक्तिरेव श्राद्धादिफलप्रेप्सापि कस्मान्नाभूदित्याशङ्क्याह—न हीति । तेन पथा योगरूपेण मार्गेण तनुत्यजः शरीरत्यागिनः पुरुषास्तनयेनावर्जितं दत्तं पिण्डं काङ्क्षन्तीति तथोक्ता न हि भवन्ति ॥ २६ ॥

पितृ-कार्यविधिको जाननेवाले उस (अज) ने पिताकी भक्तिसे उनके पारलौकिक कार्य (श्राद्धादि) को किया, क्योंकि उस मार्ग अर्थात् योगसे शरीरत्याग करनेवाले (महायोगी लोग) पुत्रके दिये हुए पिण्डकी चाहना नहीं करते हैं ॥ २६ ॥

स परार्ध्यगतेरशोच्यतां पितुरुद्दिश्य सदर्थवेदिभिः ।
शमिताधिरधिज्यकार्मुकः कृतवानप्रतिशासनं जगत् ॥ २७ ॥

स इति । परार्ध्यगतेः प्रशस्तगतेः प्राप्तमोक्षस्य पितुरशोच्यतामशोचनीयत्वमुद्दिश्याभिसन्धाय । शोको न कर्तव्य इत्युपदिश्येत्यर्थः । 'परिव्राजि विपन्ने तु पतिते चात्मवेश्मनि । कार्यो न शोको ज्ञातीनामन्यथा दोषभागिनः ॥' इति सुमन्तुस्मरणात् । सदर्थवेदिभिः परमार्थज्ञैर्विद्वद्भिः शमिताधिर्निवारितमनोव्यथः । 'पुंस्याधिर्मानसी व्यथा' इत्यमरः । सोऽजोऽधिज्यकार्मुकः अधिज्यमारोपितमौर्वीकं कार्मुकं यस्य स तथोक्तः सन् जगत्कर्मभूतमप्रतिशासनं द्वितीयाज्ञारहितम्, आत्माज्ञाविधेयमित्यर्थः । कृतवांश्चकार ॥ २७ ॥

उत्तम गति (मोक्ष) को पाये हुए पिताकी अशोच्यताको उद्देश्यकर परमार्थज्ञाताओंके द्वारा समझाये गये ('आपके पिताने मुक्तिको प्राप्त किया है, अतः उनके विषयमें शोक नहीं करना चाहिये' इस प्रकार ज्ञानियोंके समझानेपर पितृशोकको त्याग किये हुए) अजने धनुषको चढ़ाकर संसारको एक शासनवाला कर दिया (संसारमें सब राजाओंको अपने वशमें कर लिया) ॥ २७ ॥

क्षितिरिन्दुमती च भामिनी पतिमासाद्य तमग्र्यपौरुषम् ।
प्रथमा बहुरत्नसूरभूदपरा वीरमजीजनत्सुतम् ॥ २८ ॥

इति शत्रुषु चेन्द्रियेषु च प्रतिषिद्धप्रसरेषु जाग्रतौ ।
प्रसितावुदयापवर्गयोरुभयीं सिद्धिमुभाववापतुः ॥ २३ ॥

इतीति । इत्येवं प्रतिषिद्धः प्रसरः स्वार्थप्रवृत्तिर्येषां तेषु शत्रुषु चेन्द्रियेषु च जाग्रतावप्रमत्तावुदयापवर्गयोरभ्युदयमोक्षयोः प्रसितावासक्तौ । 'तत्परे प्रसितासक्तौ' इत्यमरः । उभावजरघू उभयीं द्विविधामभ्युदयमोक्षरूपाम् । 'उभादुदात्तो नित्यम्' इति तयप्प्रत्ययस्यायजादेशः । 'टिड्ढाणञ्–' इति ङीप् । सिद्धिं फलमवापतुः । उभावुभे सिद्धी यथासंख्यमवापतुरित्यर्थः ॥ २३ ॥

इस प्रकार (क्रमसे १७–२१) रोके गये स्वार्थ प्रवृत्तिवाले इन्द्रियों तथा शत्रुओंके विषयमें जागरूक (तथा क्रमशः) उन्नति एवं मोक्षमें लगे हुए उन दोनों (अज तथा रघु) ने द्विविध सिद्धियोंको प्राप्त कर लिया ॥ २३ ॥

अथ काश्चिदजव्यपेक्षया गमयित्वा समदर्शनः समाः ।
तमसः परमापदव्ययं पुरुषं योगसमाधिना रघुः ॥ २४ ॥

अथेति । अथ रघुः समदर्शनः सर्वभूतेषु समदृष्टिः सन्नजव्यपेक्षयाऽजस्यानुरोधेन काश्चित्समाः कतिचिद्वर्षाणि । 'समा वर्षं समं तुल्यम्' इति विश्वः । गमयित्वा नीत्वा । योगसमाधिनैवात्मानुसन्धानेन । 'संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः' इति वसिष्ठः । अव्ययमविनाशिनं तमसः परमविद्यायाः परम् मायातीतमित्यर्थः । अविरमात्सुखमात्मस्तु नित्यसुखमनुविरमिणा' इति योगसारे । पुरुषं परमात्मानमापत्प्राप सायुज्यं प्राप्त इत्यर्थः ॥ २४ ॥

इसके बाद सब वस्तुओंको समान देखनेवाले रघुने अजकी इच्छासे कुछ वर्षों तक बिताकर योगसमाधिसे विनाशरहित तथा मायातीत परमपुरुष (सायुज्य) को प्राप्त किया अर्थात् शरीरत्याग कर दिया ॥ २४ ॥

श्रुतदेहविसर्जनः पितुश्चिरमश्रूणि विमुच्य राघवः ।
विदधे विधिमस्य नैष्ठिकं यतिभिः सार्धमनग्निमग्निचित् ॥ २५ ॥

श्रुतेति । अग्निचिदग्निं चितवानाहिताग्निः । 'अग्नौ चेः' इति क्विप्प्रत्ययः । राघवोऽजः पितुः श्रुतदेहविसर्जन आकर्णितपितृतनुत्यागः सन् चिरमश्रूणि बाष्पाणि विमुच्य विसृज्यास्य पितुरनग्निमग्निसंस्काररहितमित्यर्थः । नैष्ठिकं निष्ठायामन्ते भवं विधिमाचारमन्त्येष्टिं यतिभिः संन्यासिभिः सार्धं सह विदधे चक्रे । अनग्निविधिमित्यत्र शौनकः— 'सर्वसङ्गनिवृत्तस्य ध्यानयोगरतस्य च । न तस्य दहनं कार्यं नैव पिण्डोदकक्रिया ॥ निदध्यात्प्रणवेनैव बिले भिक्षोः कलेवरम् । प्रोक्षणं खननं चैव सर्वं तेनैव कारयेत्' ॥ इति ॥ २५ ॥

द्वारा पितरोंके) ऋणसे छुटकारा पाये हुए वे राजा (अज) परिवेष (सूर्यके चारों ओर कभी २ दिखलाई पडने वाले गोल घेरे) से युक्त सूर्यके समान शोभमान हुए ॥ ३० ॥

बलमार्तभयोपशान्तये विदुषां सत्कृतये बहुश्रुतम् ।
वसु तस्य विभोर्न केवलं गुणवत्तापि परप्रयोजना ॥ ३१ ॥

बलमिति। तस्य विभोरजस्य केवल वसु धनमेव परप्रयोजन परोपकारकं नाभूत्। किन्तु गुणवत्तापि गुणित्वमपि परप्रयोजना परेषामन्येषां प्रयोजन यस्यां सा। विधेयांशत्वेन प्राधान्याद् गुणवत्ताया विशेषणं वस्वित्यत्र तूहनीयम्। तथा हि। बल पौरुषमार्तानामापन्नानां भयस्योपशान्तये निषेधाय न तु स्वार्थं परपीडनाय वा। बहु भूरि श्रुत विद्या विदुषां सत्कृतये सत्काराय। न तूत्सेकाय बभूव। तस्य धन परोपयोगीति किं वक्तव्यम्। बलश्रुतादयोऽपि गुणाः परोपयोगिन इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

(उस अजका) बल दुखियोंके भय दूर करनेके लिये तथा शास्त्राध्ययन विद्वानोंके सत्कारके लिये हुआ, (इस प्रकार) समर्थ उस अजका केवल धन ही परोपकारके लिये नहीं हुआ, किन्तु गुणवान् होना भी परोपकारके लिये हुआ ॥ ३१ ॥

स कदाचिदवेक्षितप्रजः सह देव्या विजहार सुप्रजाः ।
नगरोपवने शचीसखो मरुतां पालयितेव नन्दने ॥ ३२ ॥

स इति। अवेक्षितप्रजोऽकुतोभयत्वेनानुसहितप्रज'। 'नित्यमसिच्प्रजामेधयोः' इत्यसिच्प्रत्यय'। न केवल स्त्रैण इति भाव'। शोभना प्रजा यस्यासौ सुप्रजा' सुपुत्र वान्। पुत्रन्यस्तभार इति भाव'। सोऽज' कदाचिद् देव्या महिष्येन्दुमत्या सह नगरोपवने नन्दने नन्दनाख्येऽमरावत्युपकण्ठवने शचीसखः, शच्या सहेत्यर्थः। मरुतां देवानां पालयितेन्द्र इव। विजहार चिक्रीड ॥ ३२ ॥

प्रजाओंकी देख-भाल करनेवाले तथा उत्तम सन्तानवाले वे (अज) किसी समय नगरके उपवनमें पटरानी (इन्दुमती) के साथ, 'नन्दन' वनमें इन्द्राणीके साथ देवरक्षक इन्द्रके समान विहार करने लगे ॥ ३२ ॥

अथ रोधसि दक्षिणोदधेः श्रितगोकर्णनिकेतमीश्वरम् ।
उपवीणयितुं ययौ रवेरुदयावृत्तिपथेन नारदः ॥ ३३ ॥

अथेति। अथ दक्षिणस्योदधे समुद्रस्य रोधसि तीरे श्रितगोकर्णनिकेतमधिष्ठितगोकर्णाख्यस्थानमीश्वर शिवमुपवीणयितु वीणयोपसमीपे गातुम्। 'सत्यापपाशरूपवीणातूलश्लोकसेनालोमत्वचवर्मवर्णचूर्णचुरादिभ्यो णिच्' इत्यनेन वीणाशब्दादुपमार्थे णिच्प्रत्यय.। ततस्तुमुन्। नारदः नराणां समूह नार तद् द्यति खण्डयति

क्षितिरिति । क्षितिर्भूमिः भामिनी कामिनीन्दुमती च । 'भामिनी कामिनी च' इति हलायुधः । अग्र्यपौरुषं महापराक्रमम्भुतपराक्रमोपपन्नं च तमजं पतिमासाद्य प्राप्य । तत्र प्रथमा क्षितिः बहूनि रत्नानि श्रेष्ठवस्तूनि सूत इति बहुरत्नसूरभूत् 'रत्नं स्वजातिश्रेष्ठेऽपि' इत्यमरः । अपरेन्दुमती वीरं विक्रान्तं सुतमजीजनत् ईदृशमपि जनयति स्म । वीरस्य सुतमत्वं विशेषणपरिमित्त । अपरेत्थौ इति क्रमम् । यथोक्तया सामान्यमुच्यते ॥ २८ ॥

पृथ्वी तथा भामिनी इन्दुमती महापुरुषार्थी उस (अज) को पति (रूपमें) प्राप्त कर पहली अर्थात् पृथ्वी बहुत रत्नोंको पैदा करनेवाली हुई तथा दूसरी अर्थात् इन्दुमतीने वीर पुत्र को पैदा किया ॥ २८ ॥

किंनामकोऽसावत आह—

दशरश्मिशतोपमद्युतिं यशसा दिक्षु दशस्वपि श्रुतम् ।
दशपूर्वरथं यमाख्यया दशकण्ठारिगुरुं विदुर्बुधाः ॥ २९ ॥

दशेति । दश रश्मिशतानि यस्य स दशरश्मिशतः सूर्यः । स उपमा यस्याः सा दशरश्मिशतोपमा द्युतिर्यस्य तम् । यशसा कीर्त्या दशस्वपि दिक्षु श्रुतं प्रसिद्धम् । दशकण्ठारेः रावणारेः रामस्य गुरुं पितरं यं सुतम् । आख्यया नाम्ना दशपूर्वो दशशब्दपूर्वो रथो रथशब्दो यस्य तम्, दशरथमित्यर्थः । बुधा विद्वांसो विदुर्जानन्ति । 'विदो लटो वा' इति झेर्जुसादेशः ॥ २९ ॥

विद्वान् लोग दस सौ किरणोंवाले (सूर्य) के समान कान्तिवाले और यशसे दसों दिशाओंमें प्रसिद्ध, दशकण्ठ (रावण)-शत्रु (राम) के पिता जिसका नाम दशपूर्वक रथ अर्थात् दशरथ जानते हैं ('ऐसे पुत्रको इन्दुमतीने पैदा किया' इसका पूर्वश्लोकसे सम्बन्ध है)॥

ऋषिदेवगणस्वधाभुजां श्रुतयागप्रसवैः स पार्थिवः ।
अनृणत्वमुपेयिवान्बभौ परिधेर्मुक्त इवोष्णदीधितिः ॥ ३० ॥

ऋषीति । श्रुतयागप्रसवैरध्ययनयागसन्तानैः करणैः यथासंख्यमृषीणां देवानां स्वधाभुजां पितॄणां च अनृणत्वमृणविमुक्तत्वमुपेयिवान्प्राप्तवान् । 'ऋणं देवस्य यज्ञेन पितॄणां दानकर्मणा । सन्तत्या पितृलोकानां शोधयित्वा परिव्रजेत्' ॥ 'एष वा अनृणो यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारी वा' इति श्रुतेः । स पार्थिवोऽजः परिधेः परिवेषात् । 'परिवेषस्तु परिधिः' इत्यमरः । मुक्तो विमुक्त उष्णदीधितिः सूर्य इव । बभौ दिदीपे । इत्युपमा ॥ ३० ॥

वेदादि शास्त्रोंके अध्ययन यज्ञ तथा पुत्रोत्पादनसे (क्रमशः) ऋषि देवता तथा पितरोंके (वेदादि पढ़नेसे ऋषियोंके, यज्ञोंके द्वारा देवताओंके और पुत्र उत्पन्न करनेके

(द्वारा पितरोंके) ऋणसे छुटकारा पाये हुए वे राजा (अज) परिवेष (सूर्यके चारो ओर कभी २ दिखलाई पडने वाले गोल घेरे) से युक्त सूर्यके समान शोभमान हुए ॥ ३० ॥

बलमार्तभयोपशान्तये विदुषां सत्कृतये बहुश्रुतम् ।
वसु तस्य विभोर्न केवलं गुणवत्तापि परप्रयोजना ॥ ३१ ॥

बलमिति। तस्य विभोरजस्य केवलं वसु धनमेव परप्रयोजन परोपकारकं नाभूत्। किन्तु गुणवत्तापि गुणित्वमपि परप्रयोजना परेषामन्येषां प्रयोजन यस्यां सा। विधेयांशत्वेन प्राधान्याद् गुणवत्ताया विशेषणं वस्वित्यत्र तूहनीयम्। तथा हि। बलं पौरुषमार्तानामापन्नानां भयस्योपशान्तये निषेधाय न तु स्वार्थं परपीडनाय वा। बहु भूरि श्रुत विद्या विदुषां सत्कृतये सत्काराय। न तूत्सेकाय बभूव। तस्य धनं परोपयोगीति किं वक्तव्यम्। बलश्रुतादयोऽपि गुणाः परोपयोगिन इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

(उस अजका) बल दुखियोंके भय दूर करनेके लिये तथा शास्त्राध्ययन विद्वानोंके सत्कारके लिये हुआ, (इस प्रकार) समर्थ उस अजका केवल धन ही परोपकारके लिये नहीं हुआ, किन्तु गुणवान् होना भी परोपकारके लिये हुआ ॥ ३१ ॥

स कदाचिदवेक्षितप्रजः सह देव्या विजहार सुप्रजाः ।
नगरोपवने शचीसखो मरुतां पालयितेव नन्दने ॥ ३२ ॥

स इति। अवेक्षितप्रजोऽकुतोभयत्वेनानुसंहितप्रजः। 'नित्यमसिच्प्रजामेधयोः' इत्यसिच्प्रत्ययः। न केवलं स्त्रैण इति भावः। शोभना प्रजा यस्यासौ सुप्रजाः सुपुत्रवान्। पुत्रन्यस्तभार इति भावः। सोऽजः कदाचिद्देव्या महिष्येन्दुमत्या सह नगरोपवने नन्दने नन्दनाख्येऽमरावत्युपकण्ठवने शचीसखः, शच्या सहेत्यर्थः। मरुतां देवानां पालयितेन्द्र इव। विजहार चिक्रीड ॥ ३२ ॥

प्रजाओंकी देख-भाल करनेवाले तथा उत्तम सन्तानवाले वे (अज) किसी समय नगरके उपवनमें पटरानी (इन्दुमती) के साथ, 'नन्दन' वनमें इन्द्राणीके साथ देवरक्षक इन्द्रके समान विहार करने लगे ॥ ३२ ॥

अथ रोधसि दक्षिणोदधेः श्रितगोकर्णनिकेतमीश्वरम् ।
उपवीणयितुं ययौ रवेरुदयावृत्तिपथेन नारदः ॥ ३३ ॥

अथेति। अथ दक्षिणस्योदधेः समुद्रस्य रोधसि तीरे श्रितगोकर्णनिकेतमधिष्ठितगोकर्णाख्यस्थानमीश्वरं शिवमुपवीणयितुं वीणयोपसमीपे गातुम्। 'सत्यापपाशरूपवीणातूलश्लोकसेनालोमत्वचवर्मवर्णचूर्णचुरादिभ्यो णिच्' इत्यनेन वीणाशब्दादुपमार्थे णिच्प्रत्ययः। ततस्तुमुन्। नारदः नराणां समूहः नारं तद् द्यति खण्डयति

कण्ठदेशगमनात् इति भारका दैवर्षी देवी सूर्येण सम्बन्धिनोऽप्युपरिपथेनाकाशमार्गेण ययौ जगाम। सूर्योपमानेनास्याशिवत्वमुच्यते ॥ ३३ ॥

इसके बाद दक्षिण समुद्रके तटपर 'गोकर्ण' नामक स्थानमें शिवजीके पास वीणा बजाकर स्तुति करनेके लिये नारदजी आकाश-मार्गसे चले ॥ ३३ ॥

कुसुमैर्ग्रथितामपार्थिवैः स्रजमातोद्यशिरोनिवेशिताम् ।
अहरत्किल तस्य वेगवानधिवासस्पृहयेव मारुतः ॥ ३४ ॥

कुसुमैरिति। अपार्थिवैरभौमैः, दिव्यैरित्यर्थः। कुसुमैर्ग्रथितां रचिताम्। तस्य नारदस्यातोद्यस्य वीणायाः शिरस्यग्रे निवेशिताम्। 'चतुर्विधमिदं वाद्यं वादित्रातोद्यनामकम्' इत्यमरः। स्रजं मालां वेगवान्मारुतः। अधिवासे वासनायां स्पृहयेव स्वाङ्गं संस्कर्तुमित्यर्थः। 'संस्कारो गन्धमाल्याद्यैर्यः स्यात्तदधिवासनम्' इत्यमरः। अहरत्किल किलेत्यैतिह्ये ॥ ३४ ॥

दिव्य (स्वर्गीय) पुष्पोंसे गुथी हुई तथा वीणाके ऊपरी भागमें लपेटी या लटकाई हुई मालाको तीव्र वायुने मानो अपनेको (उन फूलोंसे) सुगन्धित करनेकी इच्छासे हरण कर लिया। (नारदजीके स्वर्गीय फूलोंकी बनी एवं वीणाके ऊपरी भागमें लटकती हुई माला हवासे उड़ गयी) ॥ ३४ ॥

भ्रमरैः कुसुमानुसारिभिः परिकीर्णा परिवादिनी मुनेः ।
ददृशे पवनावलेपजं सृजती बाष्पमिवाञ्जनाविलम् ॥ ३५ ॥

भ्रमरैरिति। कुसुमानुसारिभिः पुष्पानुयायिभिर्भ्रमरैरलिभिः परिकीर्णा व्याप्ता मुनेर्नारदस्य परिवादिनी वीणा। 'वीणा तु वल्लकी। विपञ्ची सा तु तन्त्रीभिः सप्तभिः परिवादिनी' इत्यमरः। पवनस्य वायोरवलेपोऽधिक्षेपस्तस्माज्जातेन कज्जलेनाविलं कलुषं बाष्पमश्रु सृजती मुञ्चतीव ददृशे दृष्टा। भ्रमराणां साञ्जनबाष्पबिन्दुसारूप्यम्। 'वा नपुंसकस्य' इति पक्षमपि 'आच्छीनद्योर्नुम्' इति नुम्विकल्पः ॥ ३५ ॥

फूलोंके पीछे चलनेवाले भ्रमरोंसे व्याप्त नारदजीकी वीणा वायुकृत अपमानसे कज्जलमिश्रित मलिन आँसूको छोड़ती हुईके समान देखी गयी ॥ ३५ ॥

अभिभूय विभूतिमार्तवीं मधुगन्धातिशयेन वीरुधाम् ।
नृपतेरमरस्रगाप सा दयितोरुस्तनकोटिसुस्थितिम् ॥ ३६ ॥

अभिभूयेति। सा अमरस्रग्दिव्यमाला मधुगन्धयोर्मकरन्दसौरभयोरतिशयेनाधिक्येन। वीरुधां लतानाम्। 'लता प्रतानिनी वीरुत्' इत्यमरः। ऋतोः सम्बन्धिनीमार्तवीमृतावुपलभ्यमानां विभूतिं सम्पदमभिभूय तिरस्कृत्य नृपतेरजस्य दयिताया इन्दुमत्या उरोनितम्बयोरुन्नतयोः कोटी चूचुके तयोः सुस्थितिं सौस्थ्यमवस्थानं प्रियतमावक्षसि स्थितिमवस्थानमाप प्राप्ता ॥ ३६ ॥

वह दिव्य माला पराग तथा सुगन्धिकी अधिकतासे लताओंके ऋतूत्पन्न ऐश्वर्यों (सुगन्धियों) को दबाकर राजा अजकी प्रियाके विशाल स्तनोंके चूचुकों (अग्रभागों) पर गिरी ॥

क्षणमात्रसखीं सुजातयोः स्तनयोस्तामवलोक्य विह्वला ।
निमिमील नरोत्तमप्रिया हृतचन्द्रा तमसेव कौमुदी ॥ ३७ ॥

क्षणमात्रेति । सुजातयोः सुजन्मनोः, सुन्दरयोरित्यर्थः । स्तनयोः क्षणमात्र सखीं सखीमिव स्थिताम्, सुजातत्वसाधर्म्यात्स्रजः स्तनसखीत्वमिति भावः । तां स्रजमवलोक्येषद्दृष्ट्वा विह्वला परवशा नरोत्तमप्रियेन्दुमती तमसा राहुणा । 'तमस्तु राहुः स्वर्भानु'' इत्यमरः । हृतचन्द्रा कौमुदी चन्द्रिकेव निमिमील मुमोह, ममारेत्यर्थः । 'निमीलो दीर्घनिद्रा च' इति हलायुधः । कौमुद्या निमीलनं प्रतिसंहारः ॥ ३७ ॥

सुन्दर स्तनोंकी क्षणमात्रके लिये सखी उस मालाको देखकर अजकी प्रिया (इन्दुमती) राहुसे अपहृत चन्द्रमावाली चाँदनीके समान मोहित हो गयी (मर गयी) ॥ ३७ ॥

वपुषा करणोज्झितेन सा निपतन्ती पतिमप्यपातयत् ।
ननु तैलनिषेकबिन्दुना सह दीपार्चिरुपैति मेदिनीम् ॥ ३८ ॥

वपुषेति । करणैरिन्द्रियैरुज्झितेन मुक्तेन । 'करणं साधकतमं क्षेत्रगात्रेन्द्रियेष्वपि' इत्यमरः । वपुषा निपतन्ती सेन्दुमती पतिमजमप्यपातयत्पातयति स्म । तथा हि । निषिच्यते इति निषेकः तैलस्य निषेकस्तैलनिषेकः, क्षरत्तैलमित्यर्थः । तस्य बिन्दुना सह दीपार्चिर्दीपज्वाला मेदिनीं भुवमुपैति ननूपैत्येव । नन्वत्रावधारणे । 'प्रश्नावधारणानुज्ञानुनयामन्त्रणे ननु' इत्यमरः । इन्दुमत्या दीपार्चिरुपमानम् । अजस्य तैलबिन्दुः । तत एव तस्या जीवितसमाप्तिस्तस्य जीवितशेषश्च सूच्यते ॥ ३८ ॥

इन्द्रिय-शून्य शरीरसे गिरती हुई उस इन्दुमतीने पति (अज) को भी गिरा दिया (इन्दुमतीके सज्ञाशून्य शरीरके गिरते ही उसे मरी हुई जानकर अज भी (मूर्च्छित हो) पछाड़ खाकर गिर पड़े) । (तैल-बिन्दुके टपकने (चूने-गिरने) के साथ ही दीपककी लौ भी निश्चय ही पृथ्वीको प्राप्त करती पृथ्वीपर गिरती है) ॥ ३८ ॥

उभयोरपि पार्श्ववर्तिनां तुमुलेनार्तरवेण वेजिताः ।
विहगाः कमलाकरालयाः समदुःखा इव तत्र चुक्रुशुः ॥ ३९ ॥

उभयोरिति । उभयोर्दम्पत्योः पार्श्ववर्तिनां परिजनानां तुमुलेन सङ्कुलेनार्तरवेण करुणस्वनेन वेजिता भीताः कमलाकरालयाः सरःस्थिता विहगा हंसादयोऽपि तत्रोपवने समदुःखा इव तत्पार्श्ववर्तिनां समानशोका इव चुक्रुशुः क्रोशन्ति स्म ॥ ३९ ॥

दोनों (इन्दुमती-अज)के पासमें स्थित लोगोंकी फैली हुई आर्तध्वनिसे तडागमें रहनेवाले पक्षी भी मानो (उनके) समान दुःखी होकर वहांपर चिल्लाने लगे (राजानुचरोंके

उपवादयितुम् इति यावत्। रवेः सूर्यस्य उदयावृत्तिपथेनाकाशमार्गेण ययौ जगाम। पूर्वोपमानेनास्य पश्चिमोत्सवस्त्रुम्भते ॥ ३३ ॥

इसके बाद दक्षिण समुद्रके ऊपर 'गोकर्ण' नामक स्थानमें शिवजीके पास वीणा बजाकर स्तुति करनेके लिये नारदजी आकाश-मार्गसे चले ॥ ३३ ॥

कुसुमैर्ग्रथितामपार्थिवैः स्रजमातोद्यशिरोनिवेशिताम् ।
अहरत्किल तस्य वेगवानधिवासस्पृहयेव मारुतः ॥ ३४ ॥

कुसुमैरिति । अपार्थिवैरभौमैः, दिव्यैरित्यर्थः । कुसुमैर्ग्रथितां रचिताम् । तस्य नारदस्यातोद्यस्य वाद्यस्य वीणायाः शिरस्यग्रे निवेशिताम् । 'चतुर्विधमिदं वाद्यं वादित्रातोद्यनामकम्' इत्यमरः । स्रजं मालां वेगवान्मारुतः । अधिवासे वासनायां स्पृहयेव तया स्वाङ्गं संस्कर्तुमित्यर्थः । 'संस्कारो गन्धमाल्याद्यैर्यः स्यात्तदधिवासनम्' इत्यमरः । अहरत्किल किलेत्यैतिह्ये ॥ ३४ ॥

दिव्य (स्वर्गीय) पुष्पोंसे गुथी हुई तथा वीणाके ऊपरी भागमें लपेटी या लटकाई हुई मालाको तीव्र वायुने मानो अपनेको (उन फूलोंसे) सुगन्धित करनेकी इच्छासे हरण कर लिया । (नारदजीकी स्वर्गीय फूलोंकी बनी एवं वीणाके ऊपरी भागमें लटकती हुई माला वेग हवासे उड़ गयी) ॥ ३४ ॥

भ्रमरैः कुसुमानुसारिभिः परिकीर्णा परिवादिनी मुनेः ।
ददृशे पवनावलेपजं सृजती बाष्पमिवाञ्जनाविलम् ॥ ३५ ॥

भ्रमरैरिति । कुसुमानुसारिभिः पुष्पानुयायिभिर्भ्रमरैरलिभिः परिकीर्णा व्याप्ता मुनेर्नारदस्य परिवादिनी वीणा । 'वीणा तु वल्लकी । विपञ्ची सा तु तन्त्रीभिः सप्तभिः परिवादिनी' ॥ इत्यमरः । पवनस्य वायोरवलेपोऽभिलेपस्तज्जमवलेपजम् अञ्जनेनाविलं कलुषं बाष्पमश्रु सृजती मुञ्चतीव ददृशे दृष्टा । भ्रमराणां साञ्जनबाष्पबिन्दुसादृश्यं विवक्षितम् । 'वा नपुंसकस्य' इति पक्षमपि 'आच्छीनद्योर्नुम्' इति नुम्विकल्पः ॥ ३५ ॥

फूलोंके पीछे चलनेवाले भ्रमरोंसे व्याप्त नारदजीकी वीणा वायुकृत अपमानसे मानो काजलसे मलिन आँसूको छोड़ती हुईके समान देखी गयी ॥ ३५ ॥

अभिभूय विभूतिमार्तवीं मधुगन्धातिशयेन वीरुधाम् ।
नृपतेरमरस्रगाप सा दयितोरुस्तनकोटिसुस्थितिम् ॥ ३६ ॥

अभिभूयेति । साऽमरस्रग्दिव्यमाला मधुगन्धयोर्मकरन्दसौरभयोरतिशयेनाधिक्येन । वीरुधां लतानाम् । 'लता प्रतानिनी वीरुत्' इत्यमरः । ऋतोः प्राप्तामार्तवीम् ऋतुसम्भविनीं विभूतिं समृद्धिमभिभूय तिरस्कृत्य नृपतेरजस्य दयिताया इन्दुमत्या ऊर्वोर्विस्तृतयोः स्तनयोः कोटौ चूचुके तयोः सुस्थितिं योग्यस्थाने पतितत्वात्सुस्थितिं स्थानमाप प्राप्ता ॥ ३६ ॥

विललाप स बाष्पगद्गदं सहजामप्यपहाय धीरताम्।
अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिषु ॥ ४३ ॥

विललापेति। सोऽज सहजां स्वाभाविकीमपि धीरतां धैर्यमपहाय विप्रकीर्य बाष्पेण कण्ठगतेन गद्गदं विशीर्णाक्षर यथा तथा ध्वनिमात्रानुकारिगद्गदशब्दै विललाप परिदेवितवान्। 'विलापः परिदेवनम्' इत्यमरः। धीरस्य कुतः शोक इति चेदत आह—अभितप्तमग्निना सन्तप्तमयो लोहमचेतनमपि मार्दवं मृदुत्वमवैरस्वं च भजते प्राप्नोति। शरीरिषु देहिषु। अभिसन्तप्तेष्विति शेषः। विषये कैव कथा वार्ता, अनुक्तसिद्धमित्यर्थ' ॥ ४३ ॥

वे (अज) स्वाभाविक भी धैर्यको छोडकर आँसूसे गद्गद होकर विलाप करने लगे, तपा हुआ (जड) लोहा भी कोमल हो जाता है (तब चैतन्य) शरीरधारियोंके विषयमें क्या कहना है ? अर्थात् दु खसन्तप्त प्राणियोंके तरल होनेमें कोई आश्चर्य नहीं है ॥ ४३ ॥

कुसुमान्यपि गात्रसङ्गमात्प्रभवन्त्यायुरपोहितुं यदि।
न भविष्यति हन्त साधन किमिवान्यत्प्रहरिष्यतो विधेः ॥ ४४ ॥

कुसुमानीति। कुसुमानि पुष्पाण्यपि। अपिशब्दो नितान्तमार्दवद्योतनार्थः। गात्रसङ्गमाद्देहसंसर्गादायुरपोहितुमपहर्तुं प्रभवन्ति यदि। हन्त विषादे। 'हन्त हर्षेऽनुकम्पायां वाक्यारम्भविषादयो' इत्यमर'। प्रहरिष्यतो हन्तुमिच्छतो विधेर्दैवस्यान्यत्कुसुमातिरिक्त किमिव वस्तु। इवशब्दो वाक्यालङ्कारे, कीदृशमित्यर्थः। साधनं प्रहरण न भविष्यति न भवेत्, सर्वमपि साधन भविष्यत्येवेत्यर्थ. ॥ ४४ ॥

यदि फूल भी शरीरपर गिरनेसे मारनेके लिये समर्थ होते हैं, तब खेद है कि भविष्यमें मारनेवाले दैवकी दूसरी कौन वस्तु (मारनेके लिये) साधन नहीं होगी ॥ ४४ ॥

अथवा मृदु वस्तु हिंसितुं मृदुनैवारभते प्रजान्तकः।
हिमसेकविपत्तिरत्र मे नलिनी पूर्वनिदर्शनं मता ॥ ४५ ॥

अथवेति। अथवा पक्षान्तरे। प्रजान्तक. कालो मृदु कोमल वस्तु मृदुना वस्तुना हिंसितु हन्तुमारभत उपक्रमते। अत्रार्थे हिमसेकेन तुषारनिष्यन्देन विपत्तिर्मृत्युर्यस्याः सा तथा नलिनी पद्मिनी मे पूर्वं प्रथम निदर्शनमुदाहरण मता। द्वितीय निदर्शनं पुष्पमृत्युरिन्दुमतीति भावः ॥ ४५ ॥

अथवा काल कोमल पदार्थको कोमल पदार्थसे ही नष्ट करता है, इस विषयमें पाला (तुषार) पड़नेसे नष्ट होनेवाली कमलिनी मुझे पहले उदाहरण रूपमें प्राप्त हो चुकी है ॥४५॥

स्रगियं यदि जीवितापहा हृदये किं निहिता न हन्ति माम्।
विषमप्यमृतं क्वचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया ॥ ४६ ॥

रोनेमें व्यक्तिके अत्यन्त मृगमेपर उसकाआसी पक्षी भी आवाजकर कोलाहल करने लगे) ॥३९॥

नृपतेर्व्यजनादिभिस्तमो नुनुदे सा तु तथैव संस्थिता ।
प्रतिकारविधानमायुषः सति शेषे हि फलाय कल्पते ॥ ४० ॥

नृपतेरिति । नृपतेरजस्य तमोऽज्ञानं व्यजनादिभिः तालवृन्तादिभिरुपचारैः नुनुदे नुन्नम् । सा इन्दुमती तथैव संस्थिता मृता । तथा हि । प्रतिकारविधानं चिकित्साकरणं आयुषो जीवितकालस्य शेषे सति विद्यमाने । आयुर्जीवितकालो ना इत्यमरः । फलाय सिद्धये कल्पते आरोग्याय भवति । 'क्लृपि सम्पद्यमाने च' इति चतुर्थी । अन्यथा नृपतेरायुःशेषसद्भावात्प्रतीकारस्य साफल्यम् । तस्यास्तु तदभावाद्वैफल्यमित्यर्थः ॥ ४० ॥

राजा (अज) की मूर्च्छा पंखा आदि (चन्दनमिश्रित जलसेक आदि अन्य उपचारों) से दूर हुई, किन्तु वह (इन्दुमती) वैसे ही पड़ी रही क्योंकि आयुके शेष रहनेपर उपाय सफल होता है ॥ ४० ॥

प्रतियोजयितव्यवल्लकीसमवस्थामथ सत्त्वविप्लवात् ।
स निनाय नितान्तवत्सलः परिगृह्योचितमङ्कमङ्गनाम् ॥ ४१ ॥

प्रतीति । अथ सत्त्वस्य चैतन्यस्य विप्लवाद्विनाशाद्धेतोः । 'द्रव्यासुव्यवसायेषु सत्त्वम्' इत्यमरः । प्रतियोजयितव्या तन्त्रीभिर्योजनीया, न तु योजितपूर्वा । या वल्लकी वीणा तस्याः समावस्था दशा यस्यास्तामङ्गनां नितान्तं वत्सलः सोऽजः परिगृह्य हस्ताभ्यां गृहीत्वोचितं परिचितमङ्कमुत्सङ्गं निनाय नीतवान् । वल्लकीपक्षे तु सत्त्वं तन्त्रीणामवस्थानम् ॥ ४१ ॥

इसके बाद (मिलनेके) अत्यन्त प्रेमी अज अपने चैतन्यशून्य होने (मर जाने) से तार चढ़ाने योग्य वीणाके समान स्थित प्रियाको (हाथसे) उठाकर गोदमें ले लिया ॥ ४१ ॥

पतिरङ्कनिषण्णया तया करणापायविभिन्नवर्णया ।
समलक्ष्यत बिभ्रदाविलां मृगलेखामुषसीव चन्द्रमाः ॥ ४२ ॥

पतिरिति । पतिरजोऽङ्कनिषण्णयोत्सङ्गस्थितया करणानामिन्द्रियाणां अपायेनापगमेन हेतुना विभिन्नवर्णया विच्छायया तया । 'इत्थम्भूतलक्षणे' इत्यनेन तृतीया । उषसि प्रातःकाले आविलां मलिनां मृगलेखां कलङ्करेखां बिभ्रत् चन्द्रमा इव । समलक्ष्यतादृश्यत इत्युपमा ॥ ४२ ॥

पति (अज) गोदमें स्थित तथा प्राणोंके निकल जानेसे श्रीहीन वह (इन्दुमती) से प्रातःकालमें मलिन कृष्ण-चिह्नको धारण करते हुए चन्द्रमाके समान मालूम पड़ते थे ॥ ४२ ॥

विललाप स बाष्पगद्गदं सहजामप्यपहाय धीरताम् ।
अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिषु ॥ ४३ ॥

विललापेति । सोऽजः सहजां स्वाभाविकीमपि धीरतां धैर्यमपहाय विप्रकीर्य बाष्पेण कण्ठगतेन गद्गद विशीर्णाक्षरं यथा तथा ध्वनिमात्रानुकारिगद्गदशब्दैः विललाप परिदेवितवान् । 'विलापः परिदेवनम्' इत्यमरः । धीरस्य कुतः शोक इति चेदत आह—अभितप्तमग्निना सन्तप्तमयो लोहमचेतनमपि मार्दवं मृदुत्वमवैरस्यं च भजते प्राप्नोति । शरीरिषु देहिषु । अभिसन्तप्तेष्विति शेषः । विषये कैव कथा वार्ता, अनुक्तसिद्धमित्यर्थः ॥ ४३ ॥

वे (अज) स्वाभाविक भी धैर्यको छोडकर आँसूसे गद्गद होकर विलाप करने लगे, तपा हुआ (जड) लोहा भी कोमल हो जाता है (तब चैतन्य) शरीरधारियोंके विषयमें क्या कहना है ? अर्थात् दुःखसन्तप्त प्राणियोंके तरल होनेमें कोई आश्चर्य नहीं है ॥ ४३ ॥

कुसुमान्यपि गात्रसङ्गमात्प्रभवन्त्यायुरपोहितुं यदि ।
न भविष्यति हन्त साधनं किमिवान्यत्प्रहरिष्यतो विधेः ॥ ४४ ॥

कुसुमानीति । कुसुमानि पुष्पाण्यपि । अपिशब्दो नितान्तमार्दवद्योतनार्थः । गात्रसङ्गमाद्देहसंसर्गादायुरपोहितुमपहर्तुं प्रभवन्ति यदि । हन्त विषादे । 'हन्त हर्षेऽनुकम्पायां वाक्यारम्भविषादयोः' इत्यमरः । प्रहरिष्यतो हन्तुमिच्छतो विधेर्दैवस्यान्यत्कुसुमातिरिक्तं किमिव वस्तु । इवशब्दो वाक्यालङ्कारे, कीदृशमित्यर्थः । साधनं प्रहरणं न भविष्यति न भवेत्, सर्वमपि साधनं भविष्यत्येवेत्यर्थः ॥ ४४ ॥

यदि फूल भी शरीरपर गिरनेसे मारनेके लिये समर्थ होते हैं, तब खेद है कि भविष्यमें मारनेवाले दैवकी दूसरी कौन वस्तु (मारनेके लिये) साधन नहीं होगी ॥ ४४ ॥

अथवा मृदु वस्तु हिंसितुं मृदुनैवारभते प्रजान्तकः ।
हिमसेकविपत्तिरत्र मे नलिनी पूर्वनिदर्शनं मता ॥ ४५ ॥

अथवेति । अथवा पक्षान्तरे । प्रजान्तकः कालो मृदु कोमलं वस्तु मृदुना वस्तुना हिंसितुं हन्तुमारभत उपक्रमते । अत्रार्थे हिमसेकेन तुषारनिष्यन्देन विपत्तिर्मृत्युर्यस्याः सा तथा नलिनी पद्मिनी मे पूर्वं प्रथमं निदर्शनमुदाहरणं मता । द्वितीयं निदर्शनं पुष्पमृत्युरिन्दुमतीति भावः ॥ ४५ ॥

अथवा काल कोमल पदार्थको कोमल पदार्थसे ही नष्ट करता है, इस विषयमें पाला (तुषार) पडनेसे नष्ट होनेवाली कमलिनी मुझे पहले उदाहरण रूपमें प्राप्त हो चुकी है ॥४५॥

स्रगियं यदि जीवितापहा हृदये किं निहिता न हन्ति माम् ।
विषमप्यमृतं क्वचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया ॥ ४६ ॥

स्रगिति । इयं स्रग्जीवितमपहर्तुमीशेति जीवितापहा यदि हृदये वक्षसि, हृदयं त्वन्तं हन्त्यसावद् मम न हन्यते । निहिता सती मां किं न हन्ति । ईश्वरेच्छया क्वचिद्विषमप्यमृतं भवेत्क्वचिदमृतं वा विषं भवेत् दैवमेवात्र कारणमित्यर्थः ॥ ४६ ॥

यदि यह माला मारनेवाली है तो हृदयपर रखी हुई मुझको क्यों नहीं मारती ? अथवा ईश्वरकी इच्छासे विष भी कहींपर अमृत हो जाता है और अमृत भी विष हो जाता है ॥ ४६ ॥

अथवा मम भाग्यविप्लवादशनिः कल्पित एष वेधसा ।
यदनेन तरुर्न पातितः क्षपिता तद्विटपाश्रिता लता ॥ ४७ ॥

अथवेति । अथवा मम भाग्यस्य विप्लवाद्विपर्ययादेव, दुर्भाग्यादित्यर्थः । विशेषमाया स्रगादिरूपेणाशनिर्निर्दिष्टः । वेधसा विधात्राशनिर्वज्रमुत्पादितः कल्पितः । 'दम्भोलिरशनिर्द्वयोः' इत्यमरः । यदस्मादेनेनाशनिना मयि स्थिताश्रितेनैव तरुस्तरुस्थानीयः स्वयमेव न पातितः । किन्तु तस्य तरोर्विटपाश्रिता लता तत्स्थानी क्षपिता नाशिता ॥ ४७ ॥

अथवा मेरे भाग्यकी प्रतिकूलतासे विधाताने इसे (इस पुष्पमालाको) वज्र बनाया है जो इस (वज्र) ने वृक्ष (स्वरूप मुझ) को नहीं गिराया किन्तु उसकी आश्रित लता (मेरी धर्मपत्नी इन्दुमती) को नष्ट कर दिया ॥ ४७ ॥

कृतवत्यसि नावधीरणामपराद्धेऽपि यदा चिरं मयि ।
कथमेकपदे निरागसं जनमाभाष्यमिमं न मन्यसे ॥ ४८ ॥

कृतवतीति । मयि चिरं भूरिशोऽपराद्धेऽप्यपराधं कृतवत्यपि । राधेः कर्तरि क्तः । यदा यस्माद्धेतोः । यदेति हेत्वर्थः । 'यस्माद्यदा यच्च यतो यत्र हेतौ' इति यादवः । अवधीरणामवज्ञां न कृतवत्यसि नाकार्षीः । तत्कथमेकपदे तत्क्षणे । 'स्यात्तत्क्षणं एकपदम्' इति विश्वः । निरागसं निरपराधमिमं जनम् । इममिति स्वात्मनिर्देशः मामित्यर्थः । आभाष्यं सम्भाष्यं न मन्यसे न चिन्तयसि ॥ ४८ ॥

(अब इन्दुमतीके प्रति प्रणय करते हुए अज विलाप करते हैं) जब मेरे बहुत बार अपराध करनेपर भी तुमने मेरा अपमान (असंभाषणादि) नहीं किया है तब एकाएक निरपराधी इस जन (मुझ) को सम्भाषित करने योग्य क्यों नहीं मानती हो अर्थात् इससे क्यों नहीं बोलती हो ? ॥ ४८ ॥

ध्रुवमस्मि शठः शुचिस्मिते ! विदितः कैतववत्सलस्तव ।
परलोकमसंनिवृत्तये यदनापृच्छ्य गतासि मामितः ॥ ४९ ॥

ध्रुवमिति । हे शुचिस्मिते धवलहसिते ! शठो गूढविप्रियकारी कैतवेन कपटेन वत्सलः कैतववत्सल इति ध्रुवं सत्यं तव विदितोऽस्मि, विज्ञातोऽस्मि, यदि-

बुद्धिपूजार्थेभ्यश्च' इत्यनेन कर्तरि क्तः। 'क्तस्य च वर्तमाने' इति कर्तरि षष्ठी। कृत', यद्यस्मान्मामनापृच्छ्यानामन्त्र्येतोऽस्माल्लोकात्परलोकस्थिवृत्तयेऽपुनरावृत्तये गतासि ॥ ४९ ॥

हे सुन्दर हासवाली प्रिये ! निश्चय ही तुम मुझे शठ (गुप्त रूपसे बुराई करनेवाला) कपटी प्रेमी जानती हो, क्योंकि मुझसे विना कहे ही फिर नहीं लौटनेके लिये यहांसे स्वर्गमें चली गयी हो ॥ ४९ ॥

दयितां यदि तावदन्वगाद्विनिवृत्तं किमिदं तया विना।
सहतां हतजीवित मम प्रबलामात्मकृतेन वेदनाम् ॥ ५० ॥

दयितामिति। इद मम हतजीवित कुत्सित जीवित तावदादौ दयितामिन्दुमती-मन्वगादन्वगच्छद्यदि अन्वगादेव। यद्यत्रावधारणे। पूर्वं मूर्च्छितत्वादिति भाव.। तर्हि तया दयितया विना किं किमर्थं विनिवृत्त प्रत्यागतम्, प्रत्यागमन न युक्त-मित्यर्थ। अत एवात्मकृतेन स्वदुश्चेष्टितेन निवृत्तिरूपेण प्रबलामधिकां वेदना दु.ख सहता क्षमताम्। स्वयकृतापराधेषु सहिष्णुतैव शरणमिति भाव. ॥ ५० ॥

यह मेरा निन्दित जीवन यदि पहले प्रियाके पीछे गया (देखें, श्लो० ३८) तो फिर उसके विना लौट क्यों आया (देखें, श्लो० ४०)? इसलिये अपनी करनीके महान् दु खको यह सहन करे ॥ ५० ॥

सुरतश्रमसम्भृतो मुखे ध्रियते स्वेदलवोद्गमोऽपि ते।
अथ चास्तमिता त्वमात्मना धिगिमां देहभृतामसारताम् ॥ ५१ ॥

सुरतश्रमेति। सुरतश्रमेण सम्भृतो जनित स्वेदलवोद्गमोऽपि ते तव मुखे ध्रियते वर्तते। अथ च त्वमात्मना स्वरूपेणास्त नाशमिता प्राप्ता। अतः कारणाद्देहभृता प्राणिनामिमां प्रत्यक्षामसारतामस्थिरतां धिक् ॥ ५१ ॥

सुरतके परिश्रमसे उत्पन्न पसीनेका कुछ २ लेश भी तुम्हारे मुखपर है और तुम स्वरूपसे नष्ट हो (मर) गयी, (अतएव) देहधारियोंकी इस नि सारताको धिक्कार है ॥ ५१ ॥

मनसापि न विप्रियं मया कृतपूर्वं तव किं जहासि माम्।
ननु शब्दपतिः क्षितेरहं त्वयि मे भावनिबन्धना रतिः ॥ ५२ ॥

मनसेति। मया मनसापि तव विप्रिय न कृतपूर्वम्, पूर्वं न कृतमित्यर्थः। सुप्सुपेति समास'। किं केन निमित्तेन मां जहासि त्यजसि। नन्वहं क्षितेः शब्दपतिः शब्दत एव पतिः न त्वर्थत इत्यर्थं। भावनिबन्धनामिप्रायनिबन्धता स्वभावहेतुका मे रतिः प्रेम तु त्वय्येव। अस्तीति शेषः ॥ ५२ ॥

मैंने मनसे भी तुम्हारा अप्रिय पहले कभी नहीं किया तो मुझे क्यों छोड़ रही हो ? मैं निश्चय ही नाममात्रसे अर्थात् कहनेके लिये पृथ्वीका पति हूं किन्तु तुममें स्वाभाविक प्रेम है (अतः मैं मेरी सपत्नीरूप पृथ्वीके पति हैं ऐसा मानकर तुम्हें मेरा त्याग करना उचित नहीं है) ॥ ५२ ॥

कुसुमोत्खचितान्वलीभृतश्चलयन्भृङ्गरुचस्तवालकान् ।
करभोरु करोति मारुतस्त्वदुपावर्तनशङ्कि मे मनः ॥ ५३ ॥

कुसुमेति । कुसुमैरुत्खचितान्गुम्फितान्वलीभृतो भङ्गुरान् कुटिलानि-त्यर्थः । भृङ्गरुचो नीलांस्तवालकांश्चलयन्कम्पयन्मारुतः । हे करभोरु करभसदृशोरु ! 'मणिबन्धादाकनिष्ठं करस्य करभो बहिः' इत्यमरः । मे मनस्त्वदुपावर्तनशङ्कि तव पुनरागमने सशङ्कं करोति । त्वदुज्जीवने प्रत्याशां जनयतीत्यर्थः ॥ ५३ ॥

हे करभोरु ! फूल गूथे हुए तथा टेढ़े ? तुम्हारे बालोंको हिलाती हुई वायु मेरे मनमें तुम्हारे जीने (उठने) का सन्देह उत्पन्न करती है ॥ ५३ ॥

तदपोहितुमर्हसि प्रिये ! प्रतिबोधेन विषादमाशु मे ।
ज्वलितेन गुहागतं तमस्तुहिनाद्रेरिव नक्तमोषधिः ॥ ५४ ॥

तदिति । हे प्रिये ! तत्तस्मात्कारणादाशु मे विषादं दुःखम् । नक्तं रात्रावोषधि-स्तृणज्योतिरात्मा ज्वलितेन प्रकाशेन तुहिनाद्रेर्हिमाचलस्य गुहागतं तमोऽन्ध-कारमिव प्रतिबोधेन प्रबोधेनापोहितुं निरसितुमर्हसि ॥ ५४ ॥

हे प्रिये ! इस कारणसे मेरे विषादको रातमें हिमालय पर्वतकी गुफाओंके अन्धकारको प्रकाशसे ओषधिके समान (तुम्हें) जाग (चैतन्य) से दूर करना चाहिये ॥ ५४ ॥

इदमुच्छ्वसितालकं मुखं तव विश्रान्तकथं दुनोति माम् ।
निशि सुप्तमिवैकपङ्कजं विरताभ्यन्तरषट्पदस्वनम् ॥ ५५ ॥

इदमिति । इदमुच्छ्वसितालकं चलितचूर्णकुन्तलं विश्रान्तकथं निवृत्त-संलापं तव मुखम् । निशि रात्रौ सुप्तं निमीलितं विरतोऽभ्यन्तरगतानामन्तर्वर्तिनां षट्पदानां स्वनो यस्य तत् विरतषट्पदस्वनमित्यर्थः । एकमद्वितीयं पङ्कजमिव । मां दुनोति परितापयति ॥ ५५ ॥

हिलते हुए केशोंवाला मौनावलम्ब (चुप) तुम्हारा मुख, रात्रिमें भीतरमें भ्रमरके गुञ्जारसे रहित बन्द हुए एक कमलके समान मुझे पीड़ित कर रहा है ॥ ५५ ॥

शशिनं पुनरेति शर्वरी दयिता द्वन्द्वचरं पतत्त्रिणम् ।
इति तौ विरहान्तरक्षमौ कथमत्यन्तगता न मां दहेः ॥ ५६ ॥

शशिनमिति। शर्वरी रात्रिः शशिनं चन्द्रं पुनरेति प्राप्नोति। द्वन्द्वीभूय चरतीति द्वन्द्वचरः तं पतत्रिणं चक्रवाकं दयिता चक्रवाकी पुनरेति। इति हेतोस्तौ चन्द्रचक्रवाकौ विरहान्तरक्षमौ विरहावधिसहौ। 'अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्तर्धिभेदतादर्थ्ये' इत्यमरः। अत्यन्तगता पुनरावृत्तिरहिता त्वं तु कथं न मां दहेर्न सन्तापयेः। अपि तु दहेरेवेत्यर्थः॥ ५६॥

'रात्रि चन्द्रमाको तथा प्रिया (चकई) मिथुनचारीपक्षी (चकवे) को फिर प्राप्त करती है' अत एव वे दोनों (चन्द्रमा तथा चकवा पक्षी अपनी २ प्रियाओंके) विरहके मध्यभागको सहन करनेमें समर्थ होते हैं, (किन्तु) सर्वथा गयी हुई (फिर नहीं लौटनेवाली) अर्थात् मरी हुई तुम मुझे क्यों नहीं जलावोगी (सन्तप्त करोगी) अर्थात् अवश्य सन्तप्त करोगी॥

नवपल्लवसंस्तरेऽपि ते मृदु दूयेत यदङ्गमर्पितम्।
तदिदं विषहिष्यते कथं वद वामोरु! चिताधिरोहणम्॥ ५७॥

नवेति। नवपल्लवसंस्तरे नूतनप्रवालास्तरणेऽप्यर्पितं स्थापितं मृदु ते तव यदङ्गं शरीरं दूयेत परितप्तं भवेत्। वामौ सुन्दरौ ऊरू यस्याः सा हे वामोरु! 'वामं स्यात्सुन्दरे सव्ये' इति केशवः। 'संहितशफलक्षणवामादेश्च' इत्यादिनोङ्प्रत्ययः। तदिदमङ्गं चितायाः काष्ठसञ्चयस्याधिरोहिणं कथं विषहिष्यते? वद॥ ५७॥

नये पल्लवोंकी शय्यापर भी स्थित जो तुम्हारा यह शरीर सन्तप्त होता था, हे वामोरु (सुन्दर जघनोंवाली प्रिये)! तब यह (शरीर) चितापर रखनेको कैसे सहन करेगा?॥

इयमप्रतिबोधशायिनी रशना त्वां प्रथमा रहःसखी।
गतिविभ्रमसादनीरवा न शुचा नानुमृतेव लक्ष्यते॥ ५८॥

इयमिति। इयं प्रथमाऽऽद्या रहःसखी। सुरतसमयेऽप्यनुयानादिति भावः। गतिविभ्रमसादेन विलासोपरमेण नीरवा निःशब्दा रशना मेखला अप्रतिबोधमपुनरुद्बोधं यथा तथा शायिनीम्, मृतामित्यर्थः। त्वामनु त्वया सह। 'तृतीयार्थे' इत्यनुशब्दस्य कर्मप्रवचनीयत्वात्। 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' इत्यनेन द्वितीया। शुचा शोकेन मृतेव न लक्ष्यत इति न, लक्ष्यत एवेत्यर्थः। सम्भाव्यनिषेधनिवर्तनाय द्वौ प्रतिषेधौ॥ ५८॥

यह मुख्य तथा एकान्तकी सहेली गमन-विलासके अभावसे शब्दरहित करधनी फिर नहीं जगनेके लिये सोई हुई अर्थात् मरी हुई तुम्हारे पीछे शोकसे मरी हुई नहीं लक्षित होती है, यह बात नहीं है अर्थात् यह तुम्हारी करधनी भी नहीं बजनेके कारण तुम्हारे पीछे शोकसे मरी हुई-सी मालूम पड़ती है॥ ५८॥

कलमन्यभृतासु भाषितं कलहंसीषु मदालसं गतम्।
पृषतीषु विलोलमीक्षितं पवनाधूतलतासु विभ्रमाः॥ ५९॥

त्रिदिवोत्सुकयाप्यवेक्ष्य मां निहिताः सत्यममी गुणास्त्वया ।
विरहे तव मे गुरुव्यथं हृदयं न त्ववलम्बितुं क्षमाः ॥ ६० ॥

कलमिति, त्रिदिवेति । युग्मम् । रसपरिकल्पना । मन्मथसाह्य कोकिलासु कलं मधुरं भाषितं भाषणम् । कलहंसीषु विविधहंसीषु मदालसं मन्थरं पदं गमनम् । पृषतीषु हरिणीषु विलोलमीक्षितं चञ्चला दृष्टिः । पवनेन वायुनाऽऽधूतलतासु विलासचञ्चलासु विभ्रमा विलासाः । इत्यमी पूर्वोक्ता कलभाषणादयो गुणाः । एषु कोकिलादिष्वस्मासुरिति शेषः । त्रिदिवोत्सुकयापीह लोकस्येव स्वर्गं प्रति गन्तुकामापि त्वया ममावेक्ष्य विरहासहं विचार्य सत्यं निहिताः, मद्विनोदार्थमस्थापयत्वा स्थापिता इत्यर्थः । तव विरहे गुरुव्यथमतिदुःखं मे हृदयं मनोऽवलम्बितुं स्थापयितुं न क्षमा न शक्ताः । ते तु त्वत्संगम एव सुखकारिणो भवन्ति, प्रत्युत भावातापदायिनीति भावः ॥

कोयलोंमें मधुर भाषण कलहंसियोंमें मदसे आलस्ययुक्त गमन हरिणियोंमें चञ्चल देखना और पवनसे थोड़ा २ हिलती हुई लताओंमें विलास, इन गुणोंको स्वर्ग जानेके लिये उत्कण्ठित तुमने मुझको देखकर (मेरे स्वर्ग जानेपर इन मेरे गुणोंको देखकर ही ये सुख पावेंगे ऐसा विचारकर) सत्यही में स्थापित किये हैं, तथापि ये तुम्हारे विरहमें अत्यन्त पीड़ित मेरे हृदयको धारण करनेके लिये समर्थ नहीं होते हैं । (मधुर भाषण आदि तुम्हारे गुणोंको कोयल आदिमें देखकर तुम्हारे बिना मेरे हृदयको सुख नहीं मिलता है) ॥

मिथुनं परिकल्पितं त्वया सहकारः फलिनी च नन्विमौ ।
अविधाय विवाहसत्क्रियामनयोर्गम्यत इत्यसाम्प्रतम् ॥ ६१ ॥

मिथुनमिति । ननु हे प्रिये ! सहकारश्चूतविशेषः फलिनी प्रियङ्गुलता चेमौ त्वया मिथुनं परिकल्पितं मिथुनत्वेनाभ्यमायि । अनयोः फलिनीसहकारयोर्विवाहसत्क्रियां विवाहमङ्गलमविधायाकृत्वा गम्यत इत्यसाम्प्रतमयुक्तम् । मातृहीनायां च फलिन्यामुचितमस्तीति भावः ॥ ६१ ॥

तुमने इस आमको तथा प्रियङ्गु लताको जोड़ी (दम्पतिरूप) माना था (अतः) इन दोनोंके विवाह मङ्गलको बिना किये जा रही हो यह अनुचित है ॥ ६१ ॥

कुसुमं कृतदोहदस्त्वया यदशोकोऽयमुदीरयिष्यति ।
अलकाभरणं कथं नु तत्तव नेष्यामि निवापमाल्यताम् ॥ ६२ ॥

कुसुममिति । कृताभिलषितदोहदम् । त्वया कृतं दोहदं पादताडनरूपं येन सोऽयमशोको यत्कुसुममुदीरयिष्यति प्रसविष्यते । तदलकाभरणमाभरणभूतं तत्कुसुमं कथं नु केन प्रकारेण निवापमाल्यतां दाहाञ्जलिमाल्यतां नेष्यामि ? 'पितृदानं निवापः स्यात्' इत्यमरः ॥ ६२ ॥

तुमसे प्राप्त (पादप्रहाररूप) दोहदवाला यह अशोक जिस पुष्पको उत्पन्न करेगा, तुम्हारे केशके भूषणयोग्य उस पुष्पको मैं किस प्रकार दाह संस्कारके बाद तिलाञ्जलिमें प्रदान करूंगा ? ॥ ६२ ॥

स्मरतेव सशब्दनूपुरं चरणानुग्रहमन्यदुर्लभम् ।
अमुना कुसुमाश्रुवर्षिणा त्वमशोकेन सुगात्रि ! शोच्यसे ॥ ६३ ॥

स्मरतेति । अन्यदुर्लभम्, किन्तु स्मर्तव्यमेवेत्यर्थः । सशब्द ध्वनियुक्तं नूपुरं मञ्जीरं यस्य तं चरणेनानुग्रहं पादेन ताडनरूपं स्मरतेव चिन्तयतेव कुसुमान्येवाश्रूणि तद्वर्षिणाऽमुना पुरोवर्तिनाऽशोकेन । हे सुगात्रि ! 'अङ्गगात्रकण्ठेभ्यो वक्तव्यम्' इति ङीप् । त्वं शोच्यसे ॥ ६३ ॥

हे सुन्दर शरीरवाली प्रिये ! दूसरेको दुर्लभ, झङ्कार करते हुए नूपुरोंवाले चरण (ताडनरूप) कृपाको स्मरण करते हुएके समान पुष्परूप आँसूको बरसाता हुआ यह अशोक तुम्हारे लिये मानो पश्चात्ताप कर रहा है ॥ ६३ ॥

तव निःश्वसितानुकारिभिर्बकुलैरर्धचितां समं मया ।
असमाप्य विलासमेखलां किमिदं किन्नरकण्ठि ! सुप्यते ॥ ६४ ॥

तवेति । तव निःश्वसितानुकारिभिर्बकुलैर्बकुलकुसुमैर्मया समं सार्धमर्धचितामर्धं यथा तथा रचितां विलासमेखलामसमाप्यापूरयित्वा । किन्नरस्य देवयोनिविशेषस्य कण्ठ इव कण्ठो यस्यास्तत्सम्बुद्धिर्हे किन्नरकण्ठि ! 'अङ्गगात्रकण्ठेभ्यो वक्तव्यम्' इति ङीप् । किमिदं सुप्यते निद्रा क्रियते । 'वचिस्वपियजादीनां किति' इत्यनेन सम्प्रसारणम् । अनुचितमिदं स्वपनमित्यर्थः ॥ ६४ ॥

हे किन्नरके समान (मधुर ध्वनियुक्त) कण्ठवाली प्रिये ! (सुगन्धिमें) तुम्हारे श्वासका अनुकरण करनेवाले इन मौलसरीके फूलोंसे मेरे साथ आधी गुथी हुई विलास-मेखला (विलासार्थ करधनी) को विना पूरा किये क्यों सो रही हो ? ॥ ६४ ॥

समदुःखसुखः सखीजनः प्रतिपच्चन्द्रनिभोऽयमात्मजः ।
अहमेकरसस्तथापि ते व्यवसायः प्रतिपत्तिनिष्ठुरः ॥ ६५ ॥

समेति । सखीजनः समदुःखसुखः, त्वद्दुःखेन दुःखी त्वत्सुखेन सुखीत्यर्थः । अयमात्मजो बालः प्रतिपच्चन्द्रनिभः दर्शनीयो वर्धिष्णुश्चेत्यर्थः । प्रतिपच्छब्देन द्वितीया लक्ष्यते । प्रतिपदि चन्द्रस्यादर्शनात् । अहमेकरसोऽभिन्नरागः । 'शृङ्गारादौ विषे वीर्ये गुणे रागे द्रवे रसः' इत्यमरः । तथा जीवितसामग्रीसत्त्वेऽपीत्यर्थः । ते तव व्यवसायोऽस्मत्परित्यागरूपो व्यापारः प्रतिपत्त्या निश्चयेन निष्ठुरः क्रूरः । 'प्रतिपत्तिः पदप्राप्तौ प्रवृत्तौ गौरवेऽपि च । प्रागल्भ्ये च प्रबोधे च' इति विश्वः । स्मर्तुं न शक्यः, किमुताधिकर्तुमिति भावः ॥ ६५ ॥

। (यद्यपि) हे स्त्रियों सुख-दुःखमें समान रहनेवाली है यह मानना प्रतिपद्के चन्द्रमाके समान (बहुत ही क्षीण एवं सौम्य होनेसे मातृपालनकी अपेक्षा करने योग्य) है और मैं एकरस पहले ही के समान प्रेम करनेवाला हूँ; तथापि तुम्हारा बर्ताव (हमलोगोंको छोड़कर स्वर्ग सिधारना) अत्यन्त ही निठुर मालूम पड़ता है ॥ ६५ ॥

धृतिरस्तमिता रतिश्च्युता विरतं गेयमृतुर्निरुत्सवः ।
गतमाभरणप्रयोजनं परिशून्यं शयनीयमद्य मे ॥ ६६ ॥

धृतिरिति । अद्य मे धृतिर्धैर्यं प्रतीतिर्वास्तमिता । रतिः क्रीडा च्युता गता । गेयं गानं विरतम् । ऋतुर्वसन्तादिर्निरुत्सवः । आभरणानां प्रयोजनं गतमपगतम् । शेतेऽस्मिन्निति शयनीयं तल्पम्, 'कृत्यल्युटो बहुलम्' इत्यधिकरणार्थेऽनीयर्प्रत्ययः । परिशून्यम् । त्वां विना सर्वमपि निष्फलमिति भावः ॥ ६६ ॥

आज मेरा धैर्य दूर गया, प्रेम नष्ट हो गया, गाना बन्द हो गया, ऋतु उत्सवहीन हो गयी, भूषण पहननेका प्रयोजन समाप्त हो गया और शय्या शून्य हो गयी ॥ ६६ ॥

गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम् ॥ ६७ ॥

गृहिणीति । त्वमेव गृहिणी दाराः । अनेन सर्वं कुटुम्बं त्वदायत्तमिति भावः । सचिवो बुद्धिसहायो मन्त्री सखी हितोपदेशस्त्वदायत्त इत्यनेनोच्यते । मिथो रहसि सखी नर्मसचिवः । सर्वोपभोगस्त्वदायत्त इत्यमुना प्रकाशितम् । ललिते मनोहरे कलाविधौ नृत्यगीतादिचतुःषष्टिकलाप्रयोगे प्रियशिष्या । प्रियत्वं प्राज्ञत्वादित्यपि सूचितम् । सर्वाभ्युदयेन व्यतिरेकेण इत्युक्तार्थम् । अतस्त्वां समस्तरूपां हरता अत एव करुणाविमुखेन कृपाशून्येनैव मृत्युना मे मत्संबन्धि किं वस्तु न हृतं वद । सर्वमपि हृतमित्यर्थः ॥ ६७ ॥

(तुम) गृहिणी मन्त्री, एकान्तकी सखी और मनोहर कलाओंके प्रयोगमें प्रिय शिष्या थी । तुमको हरण करते हुए निर्दय मृत्युने मेरा क्या नहीं हरण कर लिया ? अर्थात् मृत्युने मेरा सब कुछ हरण कर लिया ॥ ६७ ॥

मदिराक्षि ! मदाननार्पितं मधु पीत्वा रसवत्कथं नु मे ।
अनुपास्यसि बाष्पदूषितं परलोकोपनतं जलाञ्जलिम् ॥ ६८ ॥

मदिराक्षीति । माद्यत्यनयेति मदिरा लोकप्रसिद्धा । तथापि 'बाले मदिरलोचना' इत्यादिप्रयोगदर्शनान्माद्यत्यनयेति मदिरे अक्षिणी यस्यास्तत्संबुद्धिर्हे मदिराक्षि मत्तलोचने ! मदाननेनार्पितं रसवत्स्वादुतरं मधु मद्यं पीत्वा बाष्पदूषितममुतश्च पर लोकोपनतं परलोकप्राप्तं मे जलाञ्जलिं तिलोदकाञ्जलिं कथं नु अनुपास्यसि

तदनन्तरमित्यर्थः । यथाह भट्टमल्ल —'अनुपानं हिमजलं यवगोधूमनिर्मिते । दध्नि मद्ये विषे द्राक्षे पिष्टे पिष्टमयेऽपि च ॥' इति । तच्चेहैव युज्यते । इदं तूष्णं लोकान्तरोपयोगि चेत्यायुर्वेदविरोधात्कथमनुपास्यमीति भावः ॥ ६८ ॥

हे मतवाली आँखोंवाली प्रिये ! (पहले सर्वदा) मेरे पीये हुए सरस मदिराको पीकर बादमें (अब मर जानेपर) मेरी आँसूसे दूषित तथा परलोकमें प्राप्त (तिलयुक्त) जलाञ्जलिको कैसे पीओगी ? ॥ ६८ ॥

विभवेऽपि सति त्वया विना सुखमेतावदजस्य गण्यताम् ।
अहृतस्य विलोभनान्तरैर्मम सर्वे विषयास्त्वदाश्रयाः ॥ ६९ ॥

विभव इति । विभव ऐश्वर्ये सत्यपि त्वया विनाऽजस्यैतावदेव सुखं गण्यताम् यावत्त्वया सह भुक्तं ततोऽन्यन्न किञ्चिद्भविष्यतीत्यर्थः । कुतः । विलोभनान्तरैर्विषयान्तरैरहृतस्यानाकृष्टस्य मम सर्वे विषया भोगादयस्त्वदधीना । त्वां विना मे न किञ्चिद्रोचत इत्यर्थः ॥ ६९ ॥

(राज्यादि) ऐश्वर्यके रहनेपर भी तुम्हारे विना अजका इतना ही सुख था ऐसा समझो, (क्योंकि) दूसरे लुभावने पदार्थोंसे नहीं आकृष्ट होनेवाले मेरे भोग–साधन तुम्हारे ही आश्रित थे, (अतः तुम्हारे विना सब भोग–साधन निष्फल मालूम पड़ते हैं)' ॥ ६९ ॥

विलपन्निति कोसलाधिपः करुणार्थग्रथितं प्रियां प्रति ।
अकरोत्पृथिवीरुहानपि स्रुतशाखारसबाष्पदूषितान् ॥ ७० ॥

विलपन्निति । कोसलाधिपोऽज इति करुणः शोकरसः स एवार्थस्तेन ग्रथितं सबद्धं यथा तथा प्रियां प्रतीन्दुमतीमुद्दिश्य विलपन् पृथिवीरुहान्वृक्षानपि स्रुताः शाखारसा मकरन्दा एव बाष्पास्तैर्दूषितानकरोत्, अचेतनानप्यरोदयदित्यर्थः ॥७०॥

इस प्रकार प्रियाके लिये सकरुण विलाप करते हुए कोसलेश्वर अजने (जड) वृक्षोंको भी गिरे हुए मकरन्द (या निर्यास–आर्द्र गोंद) रूपी आँसूसे दूषित कर दिया अर्थात् जड वृक्षोंतकको भी रुला दिया ॥ ७० ॥

अथ तस्य कथञ्चिदङ्कतः स्वजनस्तामपनीय सुन्दरीम् ।
विससर्ज तदन्त्यमण्डनामनलायागुरुचन्दनैधसे ॥ ७१ ॥

अथेति । अथ स्वजनो बन्धुवर्गस्तस्याऽजस्याङ्कत उत्सङ्गात्कथञ्चिदपनीय । तद्दिव्यकुसुममेवान्त्यं मण्डनमलङ्कारो यस्यास्तां तां सुन्दरीमगुरूणि चन्दनान्येधांसीन्धनानि यस्य तस्मै अनलायाग्नये विससर्ज विसृष्टवान् । क्रियाग्रहणमपि कर्तव्यम् इति क्रियामात्रप्रयोगे सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी ॥ ७१ ॥

इसके बाद आत्मीय जनोंने किसी प्रकार अजकी गोदसे अलगकर उस दिव्य पुष्पमाला-

इस अन्तिम अवस्थामें उस सुन्दरीको अगर तथा चन्दनके इन्धनोंवाली अग्निके ...
समर्पित कर दिया अर्थात् अगर तथा चन्दनकी लकड़ी हुई चितापर जला दिया ॥ ७१ ॥

प्रमदामनु संस्थितः शुचा नृपतिः सन्निति वाच्यदर्शनात् ।
न चकार शरीरमग्निसात्सह देव्या न तु जीविताशया ॥ ७२ ॥

प्रमदामिति । नृपतिरजः सन्नपि विद्वानपि शुचा शोकेन प्रमदामनु प्रमदया स...
संस्थितो मृत इति वाच्यदर्शनान्निन्दापवादभयादन्येनुमरणा सह शरीरमग्निसात्...
न चकार । 'तदधीनवचने' इति सातिप्रत्ययः । जीविताशया प्राणेच्छया तु नेति ...

राजा (अज) 'विद्वान् होते हुए भी शोकसे स्त्रीके पीछे मर गये' इस लोकनिन्दा...
भयसे ही महारानी (इन्दुमती) के साथमें शरीरको नहीं जलाया जीनेकी आशासे नहीं ...

अथ तेन दशाहतः परे गुणशेषामुपदिश्य भामिनीम् ।
विदुषा विधयो महर्द्धयः पुर एवोपवने समापिताः ॥ ७३ ॥

अथेति । अथ विदुषा शास्त्रज्ञेन तेनाजेन । गुण्य एव शेषा यस्याः सा...
गुणशेषां भामिनीमिन्दुमतीमुपदिश्योद्दिश्य दशानामह्नां समाहारो दशाहः । 'तद्धि...
तार्थोत्तरपदसमाहारे च' इत्यनेन समासः । समाहारस्यैकत्वादेकवचनम् । 'राजाह...
सखिभ्यष्टच्' इति टच् । 'रात्राह्नाहाः पुंसि' इति पुंस्त्वम् । ततस्तसिल् । तस्माद्दशाह...
पर ऊर्ध्वं कर्तव्या महर्द्धयो महासमृद्धयो विधयः क्रियाः पुरः पुर्या उपवन एव पु...
समापिताः सम्पूर्णमनुष्ठिताः । 'दशाहतः' इत्यत्र 'विप्रः शुद्ध्येद्दशाहेन द्वादशाहेन भूमिपः'
इति मनुवचनविरोधो नाशङ्कनीयः । तस्य निर्गुणक्षत्रियविषयत्वात् । गुणवत्क्षत्रिय...
तु दशाहेन शुद्धिमाह पराशरः—'क्षत्रियस्तु दशाहेन स्वकर्मनिरतः शुचिः' इति ...
सूच्यतेऽनेनापि गुणवत्त्वं विदुषेत्यनेन ॥ ७३ ॥

इसके बाद विद्वान् उस अजने गुणमात्रावशेष अर्थात् मरी हुई सुन्दरी (इन्दुमती) के ...
उद्देश्यसे दश दिनोंके बादकी सब बड़ी क्रियाओंको विस्तारके साथ नगरके उपवनमें ही पूरा ...
किया ॥ ७३ ॥

स विवेश पुरीं तया विना क्षणदापायशशाङ्कदर्शनः ।
परिवाहमिवावलोकयन्स्वशुचः पौरवधूमुखाश्रुषु ॥ ७४ ॥

स इति । तयेन्दुमत्या विना । क्षणदाया रात्रेरपायेऽपगमे यः शशाङ्कस्तस्य दर्शन...
इव दृश्यत इति क्षणदापायशशाङ्कदर्शनः प्रातःकालिकचन्द्र इव दृश्यमान इत्यर्थः ।
दृश्यत इति कर्मणि ल्युट् । सोऽजः पौरवधूमुखाश्रुषु स्वशुचः स्वशोकस्य परीवाहं
जलोच्छ्वासमिवावलोकयन् । 'जलोच्छ्वासाः परीवाहाः' इत्यमरः । स्वशुचः ...

मिव पश्यन्पुरीं विवेश । वधूग्रहणाचस्यामिन्दुमत्यां सख्याभिमानादजसमानदुःख-सूचकपरिवाहोक्तिर्निर्वहति ॥ ७४ ॥

उस (इन्दुमती) के विना रात्रिके वाद चन्द्रमाके समान प्रभाहीन वे (अज) नगरकी स्त्रियोंके मुखपर आँसुओंमें अपने शोकके प्रवाहको देखते हुए राजधानीमें प्रवेश किये अर्थात् राजा प्रियाके विना निष्प्रभ हो रहे थे तथा नगरकी रमणिया उनके दुःखमे रो रही थीं ॥७४॥

अथ त सवनाय दीक्षित. प्रणिधानाद्गुरुराश्रमस्थित' ।
अभिपङ्गजडं विजज्ञिवानिति शिष्येण किलान्वबोधयत् ॥ ७५ ॥

अथेति । अथ सवनाय यागाय दीक्षितो गुरुर्वसिष्ठ आश्रमे स्वकीयाश्रमे स्थितः सन् तमजमभिषङ्गजडं दुःखमोहितं प्रणिधानाच्चित्तैकाग्र्याद्विजज्ञिवाञ्ज्ञातवान् । 'क्वसुश्च' इति क्वसुप्रत्यय. । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण शिष्येणान्वबोधयत्किल बुधे-र्ण्यन्ताण्णिचि लङ् ॥ ७५ ॥

इसके वाद यज्ञके लिये दीक्षाको ग्रहण किये हुए (अतएव अजके यहां स्वय आनेमें असमर्थ) गुरु वसिष्ठजीने आश्रमपर रहते हुए ही, दु खसे मोहित उस अजको इस प्रकार मालूमकर शिष्यके द्वारा (श्लो० ७६–९०, प्रथम तीन श्लोकों (७६–७८) को शिष्यने अपनी ओरसे कहा है, शेप वसिष्ठजीका कथन है) समझाया ॥ ७५ ॥

वसिष्ठशिष्य आह—

असमाप्तविधिर्यतो मुनिस्तव विद्वानपि तापकारणम् ।
न भवन्तमुपस्थित' स्वयं प्रकृतौ स्थापयितुं पथश्च्युतम् ॥ ७६ ॥

असमाप्तेति । यतो हेतोर्मुनिरसमाप्तविधिरसमाप्तक्रतुस्ततस्तव तापकारण दुःख-हेतु कलत्रनाशरूप विद्वाञ्जानन्नपि । 'विदे. शतुर्वसु ' इति वस्वादेश । 'न लोका-व्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' इत्यनेन षष्ठीप्रतिषेध । पथश्च्युत स्वभावाभ्रष्ट भवन्त प्रकृतौ स्वभावे स्थापयितु समाश्वासयितुमित्यर्थं । स्वय नोपस्थितो नागत ॥ ७६ ॥

'मुनि (वसिष्ठजी) का यज्ञ समाप्त नहीं हुआ है अतएव आपके सन्तापके कारणको जानते हुए भी वे मार्ग (धैर्य) से भ्रष्ट आपको प्रकृतिस्थ करनेके लिये (समझाकर पुनः अपने स्वभावपर लानेके लिये) स्वय नहीं आये हैं, (किन्तु मेरे द्वारा आपको यह सन्देश भेजा है) ॥ ७६ ॥

मयि तस्य सुवृत्त ! वर्तते लघुसन्देशपदा सरस्वती ।
शृणु विश्रुतसत्त्वसार ! तां हृदि चैनामुपधातुमर्हसि ॥ ७७ ॥

मयीति । हे सुवृत्त सदाचार ! सन्दिश्यत इति सदेश सदेष्टव्यार्थं । तस्य पदानि वाचकानि लघूनि सक्षिप्तानि सन्देशपदानि यस्यां सा लघुसदेशपदा तस्य मुने सर-

त्वयी वाच्यमपि वर्तते । हे विश्रुतसारसार ! प्रख्यातवीर्यविक्रम ! तां सरस्वतीं मद्गुरोर्वाचं हृदयमस्तु कर्तुं अर्हसि ॥ ७७ ॥

हे धराधारसम्पन्न ! जोकि सन्देशरूपी उनकी वाणी मुझमें स्थित है अर्थात् उन्होंने थोड़े शब्दोंमें मेरेद्वारा सन्देश भेजा है हे प्रसिद्ध पराक्रमवाले अज ! उसे आप सुनें और हृदयमें रखें ॥ ७७ ॥

वक्ष्यमाणार्थानुगुणं मुनेः सर्वज्ञत्वं तावदाह—

पुरुषस्य पदेष्वजन्मनः समतीतं च भवच्च भावि च ।
स हि निष्प्रतिघेन चक्षुषा त्रितयं ज्ञानमयेन पश्यति ॥ ७८ ॥

पुरुषस्येति । अजन्मनः पुरुषस्य पुराणपुरुषस्य भगवतस्त्रिविक्रमस्य पदेषु त्रिषु भुवनेष्वपीत्यर्थः । समतीतं भूतं च भवद्वर्तमानं च भावि भविष्यच्चेति त्रितयं स मुनिर्निष्प्रतिघेनाप्रतिबन्धेन ज्ञानमयेन चक्षुषा ज्ञानदृष्ट्या पश्यति हि । अतस्तद्वचसि न संशयितव्यमित्यर्थः । श्लोकद्वये कालत्रयस्य वार्तां गुरुर्विजानातीति भावः ॥ ७८ ॥

अजन्मा पुराणपुरुष (वामन भगवान्) के पगोंमें अर्थात् त्रैलोक्यमें स्थित भूत वर्तमान तथा भविष्य इन तीनोंको वे (वसिष्ठजी) प्रतिबन्धरहित ज्ञानमय नेत्रसे देखते हैं (अतएव उनके भेजे हुए सन्देशमें आपको सन्देह दूरकर पूर्ण विश्वास करना चाहिये) ॥ ७८ ॥

चरतः किल दुश्चरं तपस्तृणबिन्दोः परिशङ्कितः पुरा ।
प्रजिघाय समाधिभेदिनीं हरिरस्मै हरिणीं सुराङ्गनाम् ॥ ७९ ॥

चरत इति । पुरा किल दुश्चरं तीव्रं तपश्चरतस्तृणबिन्दोस्तृणबिन्दुनामकादृषेः परिशङ्कितो भीतः कर्तरि क्तः । 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' इत्यपादानात्पञ्चमी । हरिरिन्द्रः समाधिभेदिनीं तपोविघातिनीं हरिणीं नाम सुराङ्गनामस्मै तृणबिन्दवे प्रजिघाय प्रेरितवान् ॥ ७९ ॥

(जिस तरह यहाँ मुनि वसिष्ठका सन्देश कहता है—) 'पहले अतिकठिन तपस्या करते हुए तृणबिन्दु मुनिसे डरे हुए इन्द्रने समाधिको भंग करनेवाली हरिणी (नामकी) देवाङ्गनाको भेजा ॥ ७९ ॥

स तपःप्रतिबन्धमन्युना प्रमुखाविष्कृतचारुविभ्रमाम् ।
अशपद्भव मानुषीति तां शमवेलाप्रलयोर्मिणा भुवि ॥ ८० ॥

स इति । स मुनिः शमः शान्तिरेव वेला मर्यादा तस्याः प्रलयोर्मिणा प्रलयकाल-तरङ्गेण शान्तिविनाशकेनेत्यर्थः । 'अब्ध्यम्बुविकृतौ वेला कालमर्यादयोरपि' इत्यमरः । तपसः प्रतिबन्धेन विघ्नेन यो मन्युः क्रोधस्तेन हेतुना प्रमुखेऽग्रे आविष्कृतचारुविभ्रमां

प्रकाशितमनोहरविलासां तां हरिणीं भुवि भूलोके मानुषीं मनुष्यस्त्री भवेत्यशप-च्छशाप ॥ ८० ॥

उस मुनिने शान्तिरूपी किनारा (पक्षा०–मर्यादा) के प्रलयकालिक तरङ्गके समान तपस्याके बाधक होने के कारण क्रोधसे, सामने सुन्दर विलास (शृङ्गारमय हाव-भाव) दिखानेवाली उस (हरिणी) को 'मानुषी हो जावो' ऐसा शाप दिया ॥ ८० ॥

भगवन्परवानयं जनः प्रतिकूलाचरितं क्षमस्व मे ।
इति चोपनतां क्षितिस्पृशं कृतवानासुरपुष्पदर्शनात् ॥ ८१ ॥

भगवन्निति। हे भगवन्महर्षे ! अयं जनः परोऽस्यास्तीति स्वामित्वेन परवान्पराधीनः। इन्द्राधीन इत्यर्थः। अयमित्यात्मनिर्देशः। अहं पराधीनेत्यर्थः। मे मम प्रतिकूलाचरितमपराधं क्षमस्वेत्यनेन प्रकारेणोपनतां शरणागतां च हरिणीमासुरपुष्पदर्शनात्सुरपुष्पदर्शनपर्यन्तम्। क्षितिं स्पृशतीति क्षितिस्पृक् तां क्षितिस्पृशं मानुषीं कृतवानकरोत्। दिव्यपुष्पदर्शनं शापावधिरित्यनुगृहीतवानित्यर्थः ॥ ८१ ॥

'हे भगवन्! यह जन अर्थात् मैं (इन्द्रके) पराधीन है, अतः (मेरे) विपरीत व्यवहार को क्षमा कीजिये' इस प्रकार (कहती हुई) शरणागत उसको देव–पुष्पके दर्शनतक पृथ्वीपर रहनेवाली अर्थात् मानुषी बना दिया अर्थात् 'देव-पुष्प देखनेके बाद तुम मानुषी शरीरका त्यागकर फिर स्वर्गमें आ जावोगी' ऐसी शापकी अवधि मुनिने कर दी ॥ ८१ ॥

क्रथकैशिकवंशसम्भवा तव भूत्वा महिषी चिराय सा ।
उपलब्धवती दिवश्च्युतं विवशा शापनिवृत्तिकारणम् ॥ ८२ ॥

क्रथेति। क्रथकैशिकानां राज्ञां वंशे सम्भवो यस्याः सा हरिणी तव महिष्यभिषिक्ता स्त्री 'कृताभिषेका महिषी' इत्यमरः। भूत्वा चिराय दिवः स्वर्गाच्च्युतं शापनिवृत्तिकारणं सुरपुष्परूपमुपलब्धवती। विवशा अभूदिति शेषः। मृतेत्यर्थः ॥ ८२ ॥

क्रथकैशिक वंशकी कन्या वह (हरिणी नामकी तृणविन्दु मुनिसे शाप पायी हुई देवाङ्गना) बहुत दिनोंतक तुम्हारी पटरानी होकर स्वर्गसे गिरे हुए, शापकी निवृत्तिके कारण (पुष्पमाला) को प्राप्त करनेपर विवश हुई अर्थात् मर गयी ॥ ८२ ॥

तदलं तदपायचिन्तया विपदुत्पत्तिमतामुपस्थिता ।
वसुधेयमवेक्ष्यतां त्वया वसुमत्या हि नृपाः कलत्रिणः ॥ ८३ ॥

तदलमिति। तत्तस्मात्तस्या अपायचिन्तयालं, तस्या मरणं न चिन्त्यमित्यर्थः। निषेधक्रियां प्रति करणत्वाच्चिन्तयेति तृतीया। कुतो न चिन्त्यमत आह—उत्पत्तिमतां जन्मवतां विपद्विपत्तिरुपस्थिता सिद्धा। 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च' इत्यर्थः। तथापि कलत्ररहितस्य किं जीवितेन। तत्राह—त्वयेयं वसुधा भूमिरवेक्ष्यतां

पालयताम् । हि यस्मान्नृपा भूभृतः पृथिव्या कलत्रिणः कलत्रवन्तः, अतो न शोचितव्यमित्यर्थः ॥ ८३ ॥

इस कारण उसके मरनेकी चिन्ता करना व्यर्थ है प्राणियोंकी विपत्ति निश्चित है, इस पृथ्वीको देखो अर्थात् राज्यका भार सम्हालो, क्योंकि राजालोग पृथ्वीसे पत्नीवाले होते हैं ॥ ८३ ॥

उदये मदवाच्यमुज्झता श्रुतमाविष्कृतमात्मवत्त्वया ।
मनसस्तदुपस्थिते ज्वरे पुनरक्लीबतया प्रकाश्यताम् ॥ ८४ ॥

उदय इति । उदयेऽभ्युदये सति मदेन वाच्यं निन्दामुज्झता परिहरता सत्यपि मदहेतावसमत्तता त्वया यदात्मवदात्मनस्तुल्यं श्रुतं शास्त्रम्, आविष्कृतं प्रकाशितमिति यावत् । आविष्कृतं प्रकाशितं तच्छ्रुतं मनसो ज्वरे सन्तापे उपस्थिते प्राप्ते अक्लीबतया धैर्येण निर्भयेन पुनः प्रकाश्यताम् । विदुषा सर्वास्ववस्थास्वपि धीरेण भवितव्यमित्यर्थः ॥ ८४ ॥

अभ्युदयमें मदजन्य निन्दाका त्याग करते हुए तुमने भी शास्त्र (शास्त्रज्ञान) को प्रकाशित (प्राप्त) किया है उसे मानसिक सन्ताप होनेपर पुरुषार्थभावसे (या धैर्यसे) प्रकाशित करो । (ऐश्वर्यवान् होते हुए भी अभिमानको त्यागकर प्राप्त किये हुए शास्त्रको, आपत्तिकालमें भी धैर्यपूर्वक प्रकाशितकर उसके फल को अर्थात् शोकका नाश करो) ॥ ८४ ॥

इतोऽपि न रोदितव्यमित्याह—

रुदता कुत एव सा पुनर्भवता नानुमृतापि लभ्यते ।
परलोकजुषां स्वकर्मभिर्गतयो भिन्नपथा हि देहिनाम् ॥ ८५ ॥

रुदतेति । रुदता भवता सा कुत एव लभ्यते । न लभ्यत एव । अनुशयित एव इत्यर्थः । किन्तु । तेनानुमृतानुमृतवतापि भवता पुनर्न लभ्यते । कथं न लभ्यत इत्याह—परलोकजुषां लोकान्तरभाजां देहिनाम् । गम्यन्त इति गतयो गन्तव्यस्थानानि स्वकर्मभिः पूर्वचरितपुण्यपापैर्भिन्नपथाः पृथङ्मार्गा हि । अतोऽपि स्वस्वकर्मानुरूपफलभोगाय भिन्नदेहगमनात् मृतेनापि लभ्यत इत्यर्थः ॥ ८५ ॥

रोते हुए तुम उसे कहाँसे पाओगे? उसके पीछे मरकर भी उसे नहीं पा सकोगे, क्योंकि मरे हुए जीवोंकी गति अपने कर्मोंके अनुसार भिन्न २ होती है ॥ ८५ ॥

अपशोकमनाः कुटुम्बिनीमनुगृह्णीष्व निवापदत्तिभिः ।
स्वजनाश्रु किलातिसन्ततं दहति प्रेतमिति प्रचक्षते ॥ ८६ ॥

अपशोकमना इति । अपशोकमना निर्दुःखचित्तः सन् कुटुम्बिनीं पत्नीं निवापदत्तिभिः पिण्डोदकादिदानैरनुगृह्णीष्व उपकुरुष्व । अन्यथा दोषमाह—अतिसन्तत-

मविच्छिन्नं स्वजनानां बन्धूना 'बन्धुस्वस्वजनाः समाः' इत्यमरः। अश्रु कर्तृ। प्रेतं मृतं दहतीति प्रचक्षते मन्वादयः किल। अत्र याज्ञवल्क्यः—'श्लेष्माश्रु बन्धुभिर्मुक्तं प्रेतो भुङ्क्ते यतोऽवशः। अतो न रोदितव्यं हि क्रियाः कार्याः स्वशक्तितः' ॥ इति ॥ ८६ ॥

मनको शोकरहितकर पत्नी (इन्दुमती) को पिण्डदान आदिसे तृप्त करो, क्योंकि 'निरन्तर बहनेवाली स्वजनोंकी आँसू प्रेत (मृतात्मा) को जलाती है' ऐसा (मनु आदि महर्षि) कहते हैं ॥ ८६ ॥

मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः।
क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन्यदि जन्तुर्ननु लाभवानसौ ॥ ८७ ॥

मरणमिति। शरीरिणां मरणं प्रकृतिः स्वभावः, ध्रुवमित्यर्थः। जीवितं विकृतिर्यादृच्छिकं बुधैरुच्यते। एवं स्थिते जन्तुः प्राणी क्षणमपि। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। श्वसञ्जीवन्नवतिष्ठते यद्यसौ क्षणजीवी लाभवान्ननु। जीवने यथालाभं सन्तोष्टव्यम्। अलभ्यलाभात्। मरणे तु न शोचितव्यम्। अस्य स्वाभाव्यादिति भावः। अत्र मरणशब्देन स्थूलशरीरस्यागोऽवगन्तव्यः ॥ ८७ ॥

शरीरधारियोंका मरना स्वभाव और जीना विकार कहा जाता है, (अतः) यदि जीव क्षणमात्र भी श्वास लेता हुआ ठहरता अर्थात् जीता है तो वह लाभवान् है ॥ ८७ ॥

अवगच्छति मूढचेतनः प्रियनाशं हृदि शल्यमर्पितम्।
स्थिरधीस्तु तदेव मन्यते कुशलद्वारतया समुद्धृतम् ॥ ८८ ॥

अवेति। मूढचेतनो भ्रान्तबुद्धिः प्रियनाशमिष्टनाशं हृद्यर्पितं निखातं शल्यं शङ्कुमवगच्छति मन्यते। स्थिरधीर्विद्वांस्तु तदेव शल्यं समुद्धृतमुत्खातं मन्यते। प्रियनाशे सतीति शेषः। कुतः। कुशलद्वारतया प्रियनाशस्य मोक्षोपायतयेत्यर्थः। विषयलाभविनाशयोर्यथाक्रमं हिताहितसाधनत्वाभिमानं पामराणां विपरीतं तु विपश्चितामिति भावः ॥ ८८ ॥

मूढबुद्धि व्यक्ति इष्टके नाशको हृदयमें चुभा हुआ काँटा समझता है और धैर्यवान् व्यक्ति तो (मोक्षोपाय साधक) श्रेष्ठ मार्गद्वारा उस काँटेको निकाला हुआ समझता है। (मूर्खलोग विषयलाभको उत्तम लाभ तथा मरणको हानि और विद्वान्लोग इसके विपरीत समझते हैं) ॥ ८८ ॥

स्वशरीरशरीरिणावपि श्रुतसंयोगविपर्ययौ यदा।
विरहः किमिवानुतापयेद्वद बाह्यैर्विषयैर्विपश्चितम् ॥ ८९ ॥

स्वशरीरेति। स्वस्य शरीरशरीरिणौ देहात्मानावपि यदा यतः श्रुतौ श्रुत्यवगतौ संयोगविपर्ययौ संयोगवियोगौ ययोस्तौ, तथोक्तौ, तदा बाह्यैर्विषयैः पुत्रमित्रकलत्रा·

स्थिरैर्विरहो विप्रयोगः विहितः किमिवानुतापस्तेन वद, न किमपीत्यर्थः । अतएव स्वात्मनस्य शरीरेणैव सम्बन्धः ॥ ८९ ॥

जब अपने शरीर और आत्माका भी संयोग और वियोग हुआ (पर्व देखा) करता है तब बाहरी विषयोंसे वियोग होना विद्वान्‌को क्यों सन्ताप करे ? अर्थात् बाहरी विषयोंके वियोगसे विद्वान्‌को कदापि शोक नहीं करना चाहिये ॥ ८९ ॥

न पृथग्जनवच्छुचो वशं वशिनामुत्तम ! गन्तुमर्हसि ।
द्रुमसानुमतां किमन्तरं यदि वायौ द्वितयेऽपि ते चलाः ॥ ९० ॥

नेति । हे वशिनामुत्तम जितेन्द्रियवर्य ! पृथग्जनवत्पामरजनवच्छुचः शोकस्य वशं गन्तुं नार्हसि । तथा हि द्रुमसानुमतां वृक्षपर्वतानां किमन्तरं को विशेषः । वायौ सति द्वितयेऽपि द्विप्रकारा अपि । समप्रधानम्— द्वन्द्वादिभ्यश्च विभाषया सर्वनामसंज्ञा । ते द्रुमसानुमन्तश्चलाश्चञ्चला यदि । सानुमतामपि चलत्वे द्रुमतुल्यत्वम् । व्यवच्छेदो न स्यादित्यर्थः ॥ ९ ॥

हे जितेन्द्रियोंमें श्रेष्ठ अज ! (तुम्हें) साधारण जनके समान शोकके वशमें होना (इन्दुमतीके लिये शोक करना) उचित नहीं है क्योंकि हवाके बहनेपर पेड़ तथा पर्वत दोनों चञ्चल हों तो उन दोनोंमें अन्तर ही क्या रह जायेगा ? अर्थात् कुछ नहीं (अतः तुम्हें शोककारण उपस्थित होने पर भी वायुके बहनेपर पर्वतके समान स्थिर रहना चाहिये) ॥ ९ ॥

स तथेति विनेतुरुदारमतेः प्रतिगृह्य वचो विससर्ज मुनिम् ।
तदलब्धपदं हृदि शोकघने प्रतियातमिवान्तिकमस्य गुरोः ॥ ९१ ॥

स इति । सोऽजः उदारमतेर्विनेतुर्गुरोर्वसिष्ठस्य वचस्तथेत्यङ्गीकृत्य प्रतिगृह्याङ्गीकृत्य मुनिं वसिष्ठशिष्यं विससर्ज प्रेषयामास । किन्तु तद्वचः शोकघने दुःखसान्द्रेऽस्याजस्य हृदयेऽलब्धपदमप्राप्तावकाशं सत् गुरोर्वसिष्ठस्यान्तिकं प्रतियातमिव प्रतिनिवृत्तं किमु । इत्युत्प्रेक्षा । ... 'इह लोके ...' इति ... ॥ ९१ ॥

वे अज भी बुद्धिमान् उपदेशक (वसिष्ठजी) के वचनको 'वैसा ही करूँगा' इस प्रकार स्वीकारकर मुनि (वसिष्ठजीके शिष्य) को विदा किये किन्तु अत्यन्त शोकयुक्त इस (अज) के हृदयमें स्थानको नहीं पानेवाला वह वचन इस (अज) के गुरु (वसिष्ठ जी) के पास लौट गया क्या ? ॥ ९१ ॥

तेनाष्टौ परिगमिताः समाः कथंचिद्बालत्वादवितथसूनृतेन सूनोः ।
सादृश्यप्रतिकृतिदर्शनैः प्रियायाः स्वप्नेषु क्षणिकसमागमोत्सवैश्च ॥ ९२ ॥

तेनेति । अवितथ यथार्थं सूनृत प्रियवचन यस्य तेनाजेन । सूनोः पुत्रस्य बालत्वात्, राज्याक्षमत्वादित्यर्थः । प्रियाया इन्दुमत्या सादृश्य वस्त्वन्तरगतमाकारसाम्यम् । प्रतिकृतिश्चित्रम् । तयोर्दर्शनैः स्वप्नेषु क्षणिकाः क्षणभङ्गुरा ये समागमोत्सवास्तैश्च कथञ्चित्कृच्छ्रेण । अष्टौ समा वत्सराः । 'संवत्सरो वत्सरोऽब्दो हायनोऽस्त्री शरत्समा' इत्यमरः । परिगमिता अतिवाहिताः । उक्तं च–'वियोगावस्थासु प्रियजनसदृक्षानुभवनं ततश्चित्रं कर्म स्वपनसमये दर्शनमपि । तदङ्गस्पृष्टानामुपगतवतां स्पर्शनमपि प्रतीकारः कामव्यथितमनसां कोऽपि कथितः' ॥ इति । प्रकृते सादृश्यादित्रितयाभिधानं तदङ्गस्पृष्टपदार्थस्पृष्टेरप्युपलक्षणम् । प्रहर्षिणीवृत्तमेतत् ॥ ९२ ॥

सत्यवक्ता उस (अज) ने पुत्रके बालक (अबोध) होनेके कारण प्रिया (इन्दुमती) के समान चित्र आदि देखने तथा स्वप्नोंमें क्षणिक समागमके आनन्दोंसे किसी प्रकार आठ वर्ष विताया ॥ ९२ ॥

तस्य प्रसह्य हृदयं किल शोकशङ्कुः प्लक्षप्ररोह इव सौधतलं बिभेद ।
प्राणान्तहेतुमपि तं भिषजामसाध्यं लाभं प्रियानुगमने त्वरया स मेने ॥९३॥

तस्येति । शोक एव शङ्कुः कीलः । 'शङ्कुः कीले शिवेऽस्त्रे च' इति विश्वः । तस्याजस्य हृदयम् । प्लक्षप्ररोहः सौधतलमिव । प्रसह्य बलात्किल बिभेद । सोऽजः प्राणान्तहेतुं मरणकारणमपि भिषजामसाध्यमप्रतिसमाधेयं तं शोकशङ्कुं रोगपर्यवसितं प्रियाया अनुगमने त्वरयोत्कण्ठया लाभं मेने । तद्विरहस्यातिदुःसहत्वात्तत्प्राप्तिकारणं मरणमेव वरमित्यमन्यतेत्यर्थः ॥ ९३ ॥

शोकरूप काँटेने उस अजके हृदयको, मकानके छतको पीपलके अङ्कुरके समान बलात् विदीर्ण कर दिया, उस (अज) ने प्राणान्त करनेवाले तथा वैद्योंके असाध्य उस (शोकरूप शङ्कु) को शीघ्रतासे या उत्सुकतासे प्रियाके अनुगमनको लाभकारक माना ॥ ९३ ॥

सम्यग्विनीतमथ वर्महरं कुमारमादिश्य रक्षणविधौ विधिवत्प्रजानाम् ।
रोगोपसृष्टतनुदुर्वसतिं मुमुक्षुः प्रायोपवेशनमतिर्नृपतिर्बभूव ॥९४॥

सम्यगिति । अथ नृपतिरजः सम्यग्विनीतं निसर्गसंस्काराभ्यां विनयवन्तम् । वर्म हरतीति वर्महरं कवचधारणार्हवयस्कः । 'वयसि च' इत्यच्प्रत्ययः । तं कुमारं दशरथं प्रजानां रक्षणविधौ राज्ये विधिवद्विध्यर्हं, यथाशास्त्रमित्यर्थः । 'तदर्हम्' इति वतिप्रत्ययः । आदिश्य नियुज्य रोगेणोपसृष्टाया व्याप्तायास्तनोः शरीरस्य दुर्वसतिं दुःखावस्थितिं मुमुक्षुर्जिहासुः सन् । प्रायोपवेशनेऽनशनावस्थाने मतिर्यस्य स बभूव । 'प्रायश्चानशने मृत्यौ तुल्यबाहुल्ययोरपि' इति विश्वः । अत्र पुराण-

वचनम्—'समासक्तो भवेद्यस्तु पातकैर्महदादिभिः। दुश्चिकित्स्यैर्महारोगैः पीडितो वा भवेत्तु यः ॥ स्वयं देहविनाशस्य काले प्राप्ते महामतिः। आब्रह्माणं वा स्वर्गादि महाफलजिगीषया ॥ प्रविशेज्ज्वलनं दीप्तं कुर्यादनशनं तथा। एतेषामधिकारोऽस्ति नान्येषां सर्वजन्तुषु ॥ नराणामथ नारीणां सर्ववर्णेषु सर्वदा' इति। वसन्ततिलकावृत्तम्। तदुक्तम्—'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इति ॥

इसके बाद राजा (अज) अच्छी तरह शिक्षित कवचधारी कुमार (पुत्र दशरथ) को प्रजाओंकी रक्षाके कार्यमें विधिपूर्वक आदेश देकर रोगग्रस्त शरीरको छोड़नेके इच्छुक हो प्रायोपवेश (अन्न-जलका त्याग) कर लिये ॥ ९४ ॥

> तीर्थे तोयव्यतिकरभवे जह्नुकन्यासरय्वो-
> र्देहत्यागादमरगणनालेख्यमासाद्य सद्यः ।
> पूर्वाकाराधिकतररुचा सङ्गतः कान्तयाऽसौ
> लीलागारेष्वरमत पुनर्नन्दनाभ्यन्तरेषु ॥ ९५ ॥

तीर्थ इति। असावजो जह्नुकन्यासरय्वोस्तोययोर्व्यतिकरेण सम्भेदेन भवे तीर्थे गङ्गासरयूसङ्गमे देहत्यागादमरगणनायां लेख्यं लेखनम्। '[illegible]' इति भावार्थे ल्यप्रत्ययः। आसाद्य प्राप्य। पूर्वस्मादाकारादधिकतरा रुचिर्यस्यास्तया कान्तया रमण्या सङ्गतः सन्। नन्दनस्येन्द्रोद्यानस्याभ्यन्तरवर्तिषु लीलागारेषु क्रीडासदनेषु पुनररमत। 'गङ्गासरय्वोर्विधिवद्देहत्यागं करोति यः। तस्यात्मघातदोषो न प्राप्नुयादीप्सितान्यपि ॥' इति स्कान्दे। मन्दाक्रान्ता वृत्तम्। तदुक्तम्—'मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैर्म्भौ नतौ ताद्गुरू चेत्' इति ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया सञ्जीविनीसमाख्यया व्याख्यया समेतो महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्येऽजविलापो नामाष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥



(वे अज) गङ्गा तथा सरयू नदियोंके जलके मिलनसे बने हुए तीर्थमें अर्थात् गङ्गा सरयूके संगममें देहत्याग करनेसे तत्काल देवत्वको प्राप्त किये और पहलेकी आकृतिसे अधिक सुन्दरी प्रिया (देवाङ्गना) के साथ नन्दन वनके भीतर क्रीडामन्दिरोंमें रमण करने लगे ॥ ९५ ॥

यह मणिप्रभा टीकामें 'रघुवंश' महाकाव्यका 'अजविलाप' नामक अष्टम सर्ग समाप्त हुआ ॥ ८ ॥

नवमः सर्गः ।

एकलोचनमेकार्धे सार्धलोचनमन्यत ।
नीलार्धे नीलकण्ठार्धे महः किमपि मन्महे ॥

पितुरनन्तरमुत्तरकोसलान्समधिगम्य समाधिजितेन्द्रियः ।
दशरथः प्रशशास महारथो यमवतामवतां च धुरि स्थितः ॥ १ ॥

पितुरिति । समाधिना संयमेन जितेन्द्रियः । 'समाधिर्नियमे ध्याने' इति कोशः । यमवतां संयमिनामवताम् । 'ब्रह्मचर्यं दया क्षान्तिर्दानं सत्यमकल्कता । अहिंसास्तेयमाधुर्यंदमश्चेति यमाः स्मृताः' इति याज्ञवल्क्यः । रक्षता राज्ञां च धुर्यग्रे स्थितो महारथः । 'एको दश सहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम् । शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च स महारथ उच्यते' ॥ इति । दशरथः पितुरनन्तरमुत्तरकोसलाञ्जनपदान्समधिगम्य प्रशशास । अत्र मनुः–'क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानां परिपालनम् ।' इति । द्रुतविलम्बितमेतद्वृत्तम् । तल्लक्षणम्–'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' इति ॥ १ ॥

वामार्द्धमें है एक नेत्र परार्द्धमें वह सार्द्ध है ।
नीलार्द्ध नील गलार्द्ध उस निर्वाच्य महको हम भजें ॥

संयमसे इन्द्रियोंको विजय किये हुए तथा संयमियों और रक्षकोंमें मुख्य महारथी 'दशरथ' पिताके बाद उत्तरकोसल देशकी प्रजाओंका शासन करने लगे ॥ १ ॥

अधिगतं विधिवद्यदपालयत्प्रकृतिमण्डलमात्मकुलोचितम् ।
अभवदस्य ततो गुणवत्तरं सनगरं नगरन्ध्रकरौजसः ॥ २ ॥

अधिगतमिति । अधिगतं प्राप्तमात्मकुलोचितं स्वकुलागतं सनगरं नगरजनसहितं प्रकृतिमण्डलं जानपदमण्डलम् । अत्र प्रकृतिशब्देन प्रजामात्रवाचिना नगरशब्दयोगाद्गोबलीवर्दन्यायेन जानपदमात्रमुच्यते । यद्यस्माद्विधिवद्यथाशास्त्रमपालयत् । ततो हेतोः । रन्ध्रं करोतीति रन्ध्रकरः रन्ध्रहेतुरित्यर्थः । 'कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु' इति टप्रत्ययः । नगस्य रन्ध्रकरो नगरन्ध्रकरः कुमारः । 'कुमारः क्रौञ्चदारणः' इत्यमरः । तदोजसस्तत्तुल्यबलस्यास्य दशरथस्य गुणवत्तरमभवत् । तत्पौरजनपदमण्डलं तस्मिन्नतीवासक्तमभूदित्यर्थः ॥ २ ॥

प्राप्त हुए, अपने कुलके योग्य नगरसहित देशकी प्रजाको (दशरथने) जो ठीक पालन किया, इससे (क्रौञ्चनामक) पर्वतमें छिद्र करनेवाले अर्थात् स्वामी कार्तिकेयके समान पराक्रमी इस (दशरथ) का प्रजामण्डल अतिशय गुणी (दशरथमें स्नेह करनेवाला) हुआ ॥ २ ॥

उभयमेव वदन्ति मनीषिणः समयवर्षितया कृतकर्मणाम् ।
बलनिषूदनमर्थपतिं च तं श्रमनुदं मनुदण्डधरान्वयम् ॥ ३ ॥

उभयमिति । मनस ईषिणो मनीषिणो विद्वांसः । पृषोदरादित्वात्साधुः । बल-निषूदनमिन्द्रम् । दण्डस्य धरो राजा मनुरिति यो दण्डधरः स पूर्वोऽन्वयो यस्य तमर्थपतिं दशरथं चेत्युभयमेव । समये काले वर्षतीति समय-वर्षी तस्य भावः समयवर्षिता तया हेतुना कृतकर्मणां स्वकर्मकारिणाम् । श्रमनुदमिति नुदम् । 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' इति कप्रत्ययः । श्रमस्य नुदं श्रमनुदम् । क्रियाफले नोपभुक्ते श्रेमपत्तयेव समाप्याभिकारम्यं न स्यात् इति वदन्ति ॥ ३ ॥

विद्वान् लोग इन्द्र तथा राजा मनुके वंशज दशरथ—इन दोनोंको ही समयमें (क्रमशः जल तथा धनकी वृष्टि करनेसे कर्म करनेवाले) लोगोंके परिश्रमको दूर करनेवाले कहते हैं। ('इन्द्र यथासमय जलवृष्टिकर कर्मपरायण पुरुषोंके तथा राजा दशरथ यथासमय धनदानकर कर्मपरायण मनुष्योंके श्रमको दूर करते हैं' ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं) ॥ ३ ॥

जनपदे न गदः पदमादधावभिभवः कुत एव सपत्नजः ।
क्षितिरभूत्फलवत्यजनन्दने शमरतेऽमरतेजसि पार्थिवे ॥ ४ ॥

जनपद इति । शमरते शान्तिपरेऽमरतेजस्यजनन्दने दशरथे पार्थिवे पृथिव्या ईश्वरे सति । 'तस्येश्वरः' इत्यण् प्रत्ययः । जनपदे देशे गदो व्याधिः । 'उपतापरोग-व्याधिगदामयाः' इत्यमरः । पदं नादधौ नाधत्तमेवेत्यर्थः । सपत्नजः शत्रुजन्योऽभिभवः कुत एव असम्भावित एवेत्यर्थः । क्षितिः फलवत्यभूत् इति देशानुकूल्यमभूदित्यर्थः ॥

शान्तिपरायण तथा देवतुल्य तेजस्वी अज-कुमार (दशरथ) के राजा होनेपर देशमें रोगने पैर नहीं रखा अर्थात् देश रोगपीड़ित नहीं हुआ, फिर शत्रुजन्य पराभव कहाँसे हो सकता है? (और उस समय) पृथ्वी फल देनेवाली (अधिक पैदावार) हुई ॥ ४ ॥

दशदिगन्तजिता रघुणा यथा श्रियमपुष्यदजेन ततः परम् ।
तमधिगम्य तथैव पुनर्बभौ न न महीनमहीनपराक्रमम् ॥ ५ ॥

दशेति । मही दशदिगन्ताञ्जितवानिति दशदिगन्तजित् । [illegible] इति वामनः । तेन रघुणा यथा श्रियं कान्तिमपुष्यत् । ततः परं रघोरनन्तरमजेन च यथा श्रियमपुष्यत् तथैवाहीनपराक्रमं न हीनः पराक्रमो यस्य तमन्यूनपराक्रमं तं दशरथमिनं स्वामिनमधिगम्य पुनर्बभौ बभातीति न न बभावेवेत्यर्थः । द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं गमयतः ॥ ५ ॥

पृथ्वी दस दिशाओंके अन्ततक जीतनेवाले रघुसे जिस प्रकार शोभित हुई थी उनके बादमें तथा उनके बाद अजसे जिस प्रकार शोभित हुई पूर्ण पराक्रमी उन महीपति

(दशरथ) को पाकर उसी प्रकार शोभित नहीं हुई, ऐसा नहीं अर्थात् उसी प्रकार (रघु तथा अज के शासनकालके समान ही) शोभित हुई ॥ ५ ॥

समतया वसुवृष्टिविसर्जनैर्नियमनादसतां च नराधिपः ।
अनुययौ यमपुण्यजनेश्वरौ सवरुणावरुणाग्रसरं रुचा ॥ ६ ॥

समतयेति । नराधिपो दशरथ समतया समवर्तित्वेन, मध्यस्थत्वेनेत्यर्थः । वसुवृष्टेर्धनवृष्टेर्विसर्जनैः असतां दुष्टानां नियमनान्निग्रहाच्च । सवरुणौ वरुणसहितौ यमपुण्यजनेश्वरौ यमकुबेरौ यमकुबेरवरुणान्यथासंख्यमनुययावनुचकार । रुचा तेजसाऽरुणाग्रसरमरुणसारथिं सूर्यमनुययौ ॥ ६ ॥

राजा (दशरथ) समान भावसे धन तथा वृष्टि के त्यागसे तथा दुष्टोंका शासन करनेसे वरुणसहित यम तथा कुबेरके और तेजसे सूर्यके समान हुए । (कुबेर, वरुण तथा यम क्रमशः धनत्याग, वर्षा, दुष्टशासन करते तथा सूर्य तेजस्वी होते हैं, दशरथ उक्त चारों गुण युक्त होनेसे उन सबके तुल्य हुए) ॥ ६ ॥

तस्य व्यसनासक्तिर्नासीदित्याह—

न मृगयाभिरतिर्न दुरोदरं न च शशिप्रतिमाभरणं मधु ।
तमुदयाय न वा नवयौवना प्रियतमा यतमानमपाहरत् ॥ ७ ॥

नेति । उदयाय यतमानमभ्युदयार्थं व्याप्रियमाणं तं दशरथं मृगयाभिरतिराखेटव्यसनं नापाहरन्नाचकर्ष । 'आच्छोदनं मृगव्यं स्यादाखेटो मृगया स्त्रियाम्' इत्यमरः । दुष्टमासमन्तादुदरमस्येति दुरोदरं द्यूतं च नापाहरत् । 'दुरोदरो द्यूतकारे पणे द्यूते दुरोदरम्' इत्यमरः । शशिनः प्रतिमा प्रतिबिम्बमाभरणं यस्य तन्मधु नापाहरत् । न वेति पदच्छेदः । वाशब्दः समुच्चये । नवयौवना नवं नूतनं यौवनं तारुण्यं यस्यास्तादृशी प्रियतमा वा स्त्री नापाहरत् । जातावेकवचनम् । अत्र मनुः— 'पानमक्षाः स्त्रियश्चेति मृगया च यथाक्रमम् । एतत्कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजे गणे' ॥ इति ॥ ७ ॥

उन्नतिके लिये प्रयत्नशील उस (दशरथ) को शिकारका व्यसन, जुआ, चन्द्रप्रतिबिम्बसे सुशोभित मद्य अर्थात् चाँदनी रातमें मद्यपान अथवा नवयौवनवाली प्रियतमाने वशीभूत नहीं किया अर्थात् राजा दशरथ इनमेंसे किसीमें आसक्त नहीं होकर उन्नतिके लिये उद्योग करते रहे ॥ ७ ॥

न कृपणा प्रभवत्यपि वासवे न वितथा परिहासकथास्वपि ।
न च सपत्नजनेष्वपि तेन वागपरुषा परुषाक्षरमीरिता ॥ ८ ॥

नेति । तेन राज्ञा प्रभवति प्रभौ सति वासवेऽपि कृपणा दीना वाङ् नेरिता

णोक्ता। परिहासकथास्वपि वितथाभिधायिनी वाङ् नेरिता। जिगीषुणा रोषरूक्षेण तेन सपत्नजनेष्वपि तद्गुणेष्वपि परुषाक्षरं निष्ठुराक्षरं तथा वाङ् नेरिता। किमुतात्मीयेष्विति सर्वथापि सत्यार्था। किन्त्वमोघा सत्या मधुरैव वागुक्तेति फलितोऽर्थः ॥ ८ ॥

उस (दशरथ) ने शासन करते रहनेपर अर्थात् अपने राज्यकालमें रुष्टमें भी (अथवा—उसने शासन करनेवाले भी रुष्टमें) दीन वचन, हँसी-मजाकमें भी असत्य वचन और शत्रुओंमें भी कटु वचन नहीं कहा। (फिर अन्य किसीके विषयमें कहना ही क्या है ? अर्थात् वे सर्वदा अदीन सत्य और मधुर वचन बोलते थे) ॥ ८ ॥

उदयमस्तमयं च रघूद्वहादुभयमानशिरे वसुधाधिपाः ।
स हि निदेशमलङ्घयतामभूत्सुहृदयोहृदयः प्रतिगर्जताम् ॥ ९ ॥

उदयमिति। वसुधाधिपा राजानः रघूद्वहाद्दशरथात्। पञ्चम्यन्तम्। रघूणामुद्वहो रघुनायकः। तस्माद्रघुनायकादुदयं वृद्धिम् अस्तमयं नाशं च उभयमानशिरे लेभिरे। कुतः। हि यस्मात्स दशरथो निदेशमलङ्घयतामकुर्वताम्। शोभनं हृदयं यस्येति सुहृन्मित्रमभूत्। 'सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः' इति निपातः। प्रतिगर्जतां प्रतिस्पर्धिनाम्। अय इव हृदयं यस्येत्ययोहृदयः कठिनचित्तोऽभूत्। आज्ञाकारिणो रक्षति अन्यान्मारयतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

राजाओंने रघुश्रेष्ठ उस (दशरथ) से उन्नति और नाश—दोनोंको प्राप्त किया, क्योंकि वे (दशरथ) आज्ञोल्लङ्घन नहीं करनेवाले (राजाओं) के मित्र थे (अतः आज्ञापालक राजाओंने दशरथसे उन्नतिको प्राप्त किया) तथा प्रतिस्पर्धा करनेवाले राजाओंके लिये लौहतुल्य हृदयवाले थे (अतः प्रतिस्पर्धी राजाओंने उनसे नाशको प्राप्त किया) ॥ ९ ॥

अजयदेकरथेन स मेदिनीमुदधिनेमिमधिज्यशरासनः ।
जयमघोषयदस्य तु केवलं गजवती जवतीव्रहया चमूः ॥ १० ॥

अजयदिति। अधिज्यशरासनः ज्यामधिरूढम् अधिज्यं शरासनं यस्य स दशरथ उदधिनेमिं समुद्रवेष्टनां मेदिनीमेकरथेनाजयत्, स्वयमेकरथेनाजैषीदित्यर्थः। गजवती गजयुक्ता जवेन तीव्रा वेगाधिका हया यस्यां सा चमूस्तु अस्य नृपस्य केवलं जयमघोषयत्। स्वयमेकवीरस्य चमूरुपकरणमात्रमिति भावः ॥ १० ॥

धनुषको चढ़ाये हुए उस (दशरथ) ने एक रथसे समुद्रपर्यन्त पृथ्वीको जीत लिया, हाथियों तथा तेज घोड़ोंवाली उनकी सेनाने तो केवल उनकी विजय-घोषणा की। (युद्धमें दशरथने अपनी सेनाकी सहायताकी अपेक्षा न करके केवल अपने पराक्रमसे ही शत्रुओंको पराजित कर दिया) ॥ १० ॥

अवनिमेकरथेन वरूथिना जितवतः किल तस्य धनुर्भृतः ।
विजयदुन्दुभितां ययुरर्णवा घनरवा नरवाहनसम्पदः ॥ ११ ॥

अवनिमिति । वरूथिना गुप्तिमता । 'वरूथो रथगुप्तिर्या तिरोधत्ते रथस्थितिम्' इति सज्जनः । एकरथेनाद्वितीयरथेनावनिं जितवतो धनुर्भृतो नरवाहनसम्पदः कुबेरतुल्यश्रीकस्य तस्य दशरथस्य घनरवा मेघसमघोषा अर्णवा विजयदुन्दुभितां किल ययुः, अर्णवान्तविजयीत्यर्थः ॥ ११ ॥

बख्तरबन्द (रक्षार्थं बाहरमें लौहपत्र लगे हुये) एक रथसे ही पृथ्वीकी विजय करते हुए धनुर्धारी तथा कुबेरतुल्य सम्पत्तिवाले उस (दशरथ) के, मेघतुल्य गर्जनेवाले समुद्रोंने विजय दुन्दुभित्वको प्राप्त किया अर्थात् शब्दायमान समुद्रोंने विजयी दशरथके विजय-दुन्दुभिको बजाया ॥ ११ ॥

शमितपक्षबलः शतकोटिना शिखरिणां कुलिशेन पुरन्दरः ।
स शरवृष्टिमुचा धनुषा द्विषां स्वनवता नवतामरसाननः ॥ १२ ॥

शमितेति । पुरन्दर इन्द्रः शतकोटिना शतास्त्रिणा कुलिशेन वज्रेण शिखरिणां पर्वतानां शमितपक्षबलो विनाशितपक्षसारः । नवतामरसाननो नवपङ्कजाननः । 'पङ्केरुहं तामरसम्' इत्यमरः । स दशरथः शरवृष्टिमुचा स्वनवता धनुषा द्विषां शमितो नाशितः पक्षः सहायो बलं च येन स तथोक्तः । 'पक्षः सहायेऽपि' इत्यमरः ॥ १२ ॥

इन्द्रने सैकड़ों नोकवाले वज्रसे पर्वतोंके पंखकी शक्तिको नष्ट किया तथा नवीन कमलके समान मुखवाले उस (दशरथ) ने बाणवर्षा करनेवाले ध्वनियुक्त (टङ्कार करनेवाले) धनुषसे शत्रुओंके पक्ष (में रहनेवालों) के बलको नष्ट किया ॥ १२ ॥

चरणयोर्नखरागसमृद्धिभिर्मुकुटरत्नमरीचिभिरस्पृशन् ।
नृपतयः शतशो मरुतो यथा शतमखं तमखण्डितपौरुषम् ॥ १३ ॥

चरणयोरिति । शतशो नृपतयोऽखण्डितपौरुषं तं दशरथम् । मरुतो देवाः शतमखं यथा शतक्रतुमिव । नखरागेण चरणनखकान्त्या समृद्धिभिः सम्पादितर्द्धिभिर्मुकुटरत्नमरीचिभिश्चरणयोरस्पृशन्, तं प्रणेमुरित्यर्थः ॥ १३ ॥

सैकड़ों राजालोग अखण्डित पुरुषार्थवाले उस (दशरथ) को, इन्द्रको देवताओंके समान, नखोंकी लालिमासे अधिक शोभनेवाली मुकुटोंमें जड़े हुए रत्नोंकी कान्तियोंसे चरणोंमें स्पर्श (प्रणाम) किया ॥ १३ ॥

निववृते स महार्णवरोधसः सचिवकारितबालसुताञ्जलीन् ।
समनुकम्प्य सपत्नपरिग्रहाननलकानलकानवमां पुरीम् ॥ १४ ॥

नोक्ता । परिहासकथास्वपि वितथाऽनृता वाङ् नेरिता । किञ्चापरस्य रोषरूपेणैव येन सपत्नजनेष्वपि शत्रुजनेष्वपि परुषाक्षरं निष्ठुराक्षरं तथा वाङ् नेरिता । किमुतान्यत्रेति सर्वथापि असत्यापरुषा । किंतर्हि सत्या मधुरैव वागुक्तेति फलितोऽर्थः ॥ ८ ॥

उस (दशरथ) ने शासन करते रहनेपर अर्थात् अपने राज्यकालमें क्रोधमें भी (अथवा—उसने शासन करनेवाले भी क्रोधमें) दीन वचन हँसी-मजाकमें भी असत्य वचन और शत्रुओंमें भी कटु वचन नहीं कहा । (फिर अन्य किसीके विषयमें कहना ही क्या है ! अर्थात् वे सर्वदा अदीन सत्य और मधुर वचन बोलते थे) ॥ ८ ॥

उदयमस्तमयं च रघूद्वहादुभयमानशिरे वसुधाधिपाः ।
स हि निदेशमलङ्घयतामभूत्सुहृदयोहृदयः प्रतिगर्जताम् ॥ ९ ॥

उदयमिति । वसुधाधिपा राजानः रघूद्वहो नायकः । रघूणामुद्वहो रघूद्वहः । तस्माद्रघूद्वहादुभयं वृद्धिं क्षयं च उदयमस्तमयं चानशिरे प्राप्नुवन् । कुतः । हि यस्मात्स दशरथो निदेशमाज्ञामलङ्घयताम् । योऽमर्यं हृदय मत्वेति सुहृन्मित्रमभूत् । 'सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः' इति निपातः । प्रतिगर्जतां प्रतिस्पर्धिनाम् । अय इव हृदयं यस्येत्ययोहृदयः कठिनचित्तोऽभूत् । आज्ञाकारिणो रक्षति अन्यान्नाशयतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

राजाओंने रघुकुलमें श्रेष्ठ उस (दशरथ) से समृद्धि और नाश—दोनोंको प्राप्त किया, क्योंकि वे (दशरथ) आज्ञोल्लङ्घन नहीं करनेवाले (राजाओं) के मित्र थे (अतः आज्ञापालक राजाओंने दशरथसे समृद्धिको प्राप्त किया) तथा प्रतिस्पर्धा करनेवाले राजाओंके लिये लौहतुल्य हृदयवाले थे (अतः प्रतिस्पर्धी राजाओंने उनसे नाशको प्राप्त किया) ॥ ९ ॥

अजयदेकरथेन स मेदिनीमुदधिनेमिमधिज्यशरासनः ।
जयमघोषयदस्य तु केवलं गजवती जवतीव्रहया चमूः ॥ १० ॥

अजयदिति । अधिज्यमारोपितज्याकम् अधिज्यं शरासनं यस्य स दशरथ उदधिर्नेमिः समुद्रपर्यन्तां मेदिनीमेकरथेनाजयत्, स्वयमेकरथेनाजैषीदित्यर्थः । गजवती गजयुक्ता जवेन तीव्रा वेगाधिका हया यस्यां सा चमूः सेना अस्य नृपस्य केवलं जयमघोषयत् । स्वयमेकवीरस्य चमूः कलकलमात्रमिति भावः ॥ १ ॥

धनुषको चढ़ाये हुए उस (दशरथ) ने एक रथसे समुद्रपर्यन्त पृथ्वीको जीत लिया, हाथियों तथा तेज घोड़ोंवाली उनकी सेनाने तो केवल उनकी विजय-घोषणा की । (इससे दशरथने अपनी सेनाकी सहायताकी अपेक्षा न करके केवल अपने पराक्रमसे ही शत्रुओंको पराजित कर दिया) ॥ १ ॥

अवनिमेकरथेन वरूथिना जितवतः किल तस्य धनुर्भृतः ।
विजयदुन्दुभितां ययुरर्णवा घनरवा नरवाहनसम्पदः ॥ ११ ॥

अवनिमिति । वरूथिना गुप्तिमता । 'वरूथो रथगुप्तिर्या तिरोधत्ते रथस्थितिम्' इति सज्जनः । एकरथेनाद्वितीयरथेनावनिं जितवतो धनुर्भृतो नरवाहनसम्पदः कुबेरतुल्यश्रीकस्य तस्य दशरथस्य घनरवा मेघसमघोषा अर्णवा विजयदुन्दुभितां किल ययुः, अर्णवान्तविजयीत्यर्थः ॥ ११ ॥

वख्तरवन्द (रक्षार्थ वाहरमें लौहपत्र लगे हुये) एक रथमें ही पृथ्वीकी विजय करते हुए धनुर्धारी तथा कुबेरतुल्य सम्पत्तिवाले उस (दशरथ) के, मेघतुल्य गर्जनेवाले समुद्रोंने विजय-दुन्दुभित्वको प्राप्त किया अर्थात् शब्दायमान समुद्रोंने विजयी दशरथके विजय-दुन्दुभिको वजाया ॥ ११ ॥

शमितपक्षबलः शतकोटिना शिखरिणां कुलिशेन पुरन्दरः ।
स शरवृष्टिमुचा धनुषा द्विषां स्वनवता नवतामरसाननः ॥ १२ ॥

शमितेति । पुरन्दर इन्द्रः शतकोटिना शतास्त्रिणा कुलिशेन वज्रेण शिखरिणां पर्वतानां शमितपक्षबलो विनाशितपक्षसारः । नवतामरसाननो नवपङ्कजाननः । 'पङ्केरुह तामरसम्' इत्यमरः । स दशरथः शरवृष्टिमुचा स्वनवता धनुषा द्विषां शमितो नाशित पक्षः सहायो बलं च येन स तथोक्तः । 'पक्षः सहायेऽपि' इत्यमरः ॥ १२ ॥

इन्द्रने सैकड़ों नोकवाले वज्रसे पर्वतोंके पक्षकी शक्तिको नष्ट किया तथा नवीन कमलके समान मुखवाले उस (दशरथ) ने वाणवर्षा करनेवाले ध्वनियुक्त (टङ्कार करनेवाले) धनुषसे शत्रुओंके पक्ष (में रहनेवालों) के बलको नष्ट किया ॥ १२ ॥

चरणयोर्नखरागसमृद्धिभिर्मुकुटरत्नमरीचिभिरस्पृशन् ।
नृपतयः शतशो मरुतो यथा शतमखं तमखण्डितपौरुषम् ॥ १३ ॥

चरणयोरिति । शतशो नृपतयोऽखण्डितपौरुषं तं दशरथम् । मरुतो देवाः शतमखं यथा शतक्रतुमिव । नखरागेण चरणनखकान्त्या समृद्धिभिः सम्पादितर्द्धिभिर्मुकुटरत्नमरीचिभिश्चरणयोरस्पृशन्, तं प्रणेमुरित्यर्थः ॥ १३ ॥

सैकड़ों राजालोग अखण्डित पुरुषार्थवाले उस (दशरथ) को, इन्द्रको देवताओंके समान, नखोंकी लालिमासे अधिक शोभनेवाली मुकुटोंमें जड़े हुए रत्नोंकी कान्तियोंसे चरणोंमें स्पर्श (प्रणाम) किया ॥ १३ ॥

निववृते स महार्णवरोधसः सचिवकारितबालसुताञ्जलीन् ।
समनुकम्प्य सपत्नपरिग्रहाननलकानलकानवमां पुरीम् ॥ १४ ॥

निवहृत इति । स दशरथः सचिवैः सम्यग्योजितैः अमरिता वाक्गुणानामास्पदो वैस्तात् स्वयमसंस्तुतास्त्वाविस्तर्कः । अवकाशमन्ततमसंस्कृतपावकसंस्कारसूत्रा-न्तपवपरिमहात्पदुपची । 'पत्नीपरिजनादानमूलशापाः परिग्रहाः' इत्यमरः । सम सुकृत्यासुपुत्राम्भमथसमामसकामागारस्मूर्ता अकस्ति भूत्यति स्वस्यामस्मिपन्नां पुरीमयोध्यां प्रति महार्णवार्वा रोधसा पर्यन्ताविवहृते । अरण्यास्तत्समक इति भावः ॥ १४ ॥

वे दशरथ मन्त्रियोंके द्वारा स्थापित कराये गये यज्ञोंवाले तथा (यज्ञके मरनेसे) संस्कारयुक्त अग्नि-चितियोंके बेदीपर लगाकर अलका (कुबेरकी राजधानी) के समान अयोध्या पुरीको समुद्रके किनारेसे वापस लौट आये ॥ १४ ॥

उपगतोऽपि च मण्डलनाभितामनुदितान्यसितातपवारणः ।
श्रियमवेक्ष्य स रन्ध्रचलामभूदनलसोऽनलसोमसमद्युतिः ॥ १५ ॥

उपगत इति । अनुदितमनुत्पन्नमन्यस्य राज्ञः सितातपवारणं श्वेतच्छत्रं यस्य सः । अनलसोमयोरग्निचन्द्रयोः समे द्युती तेजःकान्ती यस्य स तथोक्तः । श्रियं लक्ष्मीं रन्ध्रेऽन्यायावकाशादिरूपे छिद्रे चलां चञ्चलामवेक्ष्य । श्रीर्हि केन चिन्निमित्तेन पुमांसं परिहरति । स दशरथो मण्डलस्य नाभितां द्वादशराजमण्डलस्य प्रधानमहीपतित्वमुपगतोऽपि चक्रवर्ती सन्नपीत्यर्थः । 'चक्र नाभिस्तु कल्ये यस्य संज्ञा प्रतारिका । रथचक्रस्य मध्यस्थपिण्डिकायां च ना पुमान् ॥ नाभि क्षत्रियभेदे तु मतो मुख्यमहीपतौ' । इति केशवः । अनलसोऽप्रमत्तोऽभूत् । 'अखिलमस्ति नृपास्पदम्' इति पाठान्तरेऽखिलं नृपास्पदमस्तीति युक्तमनलसोऽप्रमत्तोऽभूत् । विजिगीषुविजयेच्छोऽपि पुरुषैरन्यान्तरयोजिव आश्रयस्य प्रयत्नविज्ञेयोऽर्थः । द्वादशराजमण्डलं तु कामन्दकेनोक्तम्—'अरिर्मित्रमरेर्मित्रं मित्रमित्रमतः परम् । तथारिमित्रमित्रं च विजिगीषोः पुरःसराः । पार्ष्णिग्राहस्ततः पश्चादाक्रन्दस्तदनन्तरम् । आसारावनयो श्चैव विजिगीषोस्तु पृष्ठतः । अरेश्च विजिगीषोश्च मध्यमो भूम्यनन्तरः । अनुग्रहे संहतयोः समर्थो व्यस्तयोर्वधे । मण्डलाद्बहिरेतेषामुदासीनो बलाधिकः । अनुग्रहे संहतानां व्यस्तानां च वधे प्रभुः' ॥ इति । 'अरिर्मित्रमरेर्मित्र विजिगीषोः पुरःसराः ॥ पार्ष्णिग्राहाक्रन्दपार्ष्णिग्राहासाराक्रन्दासाराः' । इति पञ्चपश्चात् । मध्यमोदासीनौ द्वौ विजिगीषुरेक इत्येवं द्वादशराजमण्डलम् । तन्नेतासीदमलमोऽचक्रवर्ती, एव रन्ध्रेवावधिपति तात्पर्यार्थः ॥ १५ ॥

दूसरे श्वेतछत्रके नहीं उठने पर (अन्य राजाके नहीं रहने पर) और अग्नि तथा चन्द्रके समान कान्तिवाले (बहु राजाओंमें अग्निके समान तीव्र प्रतापवाले तथा मित्र राजाओं में चन्द्रके समान आह्लादक तेजवाले) वे (दशरथ) बारह राज-मण्डलोंमें अधिकार कर

कर पहियेके अरों (लम्बे २ तीर्छे काष्ठों) के आधारभूत नाभि (मध्यके काष्ठ) के समान बारह राज-मण्डलोंके आधारभूत (होकर) भी थोडा भी छिद्र (दोष) होनेपर चञ्चल लक्ष्मीको ('अजितमस्ति नृपास्पदम्' इस पाठभेदमें—'राजपद अजेय है' ऐसा) विचारकर निरालस अर्थात् सर्वदा उद्योगशील रहते थे ॥ १५ ॥

तमपहाय ककुत्स्थकुलोद्भवं पुरुषमात्मभवं च पतिव्रता ।
नृपतिमन्यमसेवत देवता सकमला कमलाघवमर्थिषु ॥ १६ ॥

तमिति । पत्यौ व्रतं नियमो यस्याः सा पतिव्रता सकमला कमलहस्ता देवता लक्ष्मीरर्थिषु विषयेऽलाघवं लघुत्वरहितम्, अपराङ्मुखमित्यर्थः । ककुत्स्थकुलोद्भवं तं दशरथमात्मभवं पुरुषं पुरि शरीरे उषतीति पुरुषं तं विष्णुं चापहाय त्यक्त्वा । अन्यं कं नृपतिमसेवत, कमपि नासेवतेत्यर्थः । विष्णाविव विष्णुतुल्ये तस्मिन्नपि श्रीः स्थिराभूदित्यर्थः ॥ १६ ॥

पतिव्रता कमलासना या कमलहस्ता लक्ष्मी ने अतिथियोंमें अपराङ्मुख ककुत्स्थवंशोत्पन्न उस राजा (दशरथ) को तथा विष्णु भगवान्को छोडकर दूसरे किस राजा या देवताकी सेवा की ? अर्थात् किसी की नहीं ॥ १६ ॥

तमलभन्त पतिं पतिदेवताः शिखरिणामिव सागरमापगाः ।
मगधकोसलकेकयशासिनां दुहितरोऽहितरोपितमार्गणम् ॥ १७ ॥

तमिति । पतिरेव देवता यासां ताः पतिदेवताः पतिव्रताः मगधाश्च कोसलाश्च केकयाश्च तांज्जनपदाञ्छासतीति तच्छासिनः । तेषां राज्ञां दुहितरः पुत्र्यः । सुमित्रा कौसल्याकैकेय्य इत्यर्थः । अत्र क्रमो न विवक्षितः । अहितरोपितमार्गणं शत्रुनिखातशरम् । 'कदम्बमार्गणशराः' इत्यमरः । तं दशरथं शिखरिणां क्ष्माभृतां दुहितरः आ समन्तादपगच्छन्तीति । अथवा 'आपेनाप्सम्बन्धिना वेगेन गच्छन्तीत्यापगाः' इति क्षीरस्वामी । नद्यः सागरमिव । पतिं भर्तारमलभन्त प्रापुः ॥ १७ ॥

मगध, कोसल तथा केकय देशके राजाओंकी पतिव्रता कन्याओं (क्रमशः—सुमित्रा, कौसल्या तथा केकयी) ने शत्रुओंपर बाणको आरोपित करनेवाले (बाणसे शत्रुओंको मारने वाले) उस (दशरथ) को, समुद्रको पर्वतकन्याओं अर्थात् नदियोंके समान, पति रूपमें प्राप्त किया ॥ १७ ॥

प्रियतमाभिरसौ तिसृभिर्बभौ तिसृभिरेव भुवं सह शक्तिभिः ।
उपगतो विनिनीषुरिव प्रजा हरिहयोऽरिहयोगविचक्षणः ॥ १८ ॥

प्रियतमाभिरिति । अरीन्घ्नन्तीत्यरिहणो रिपुघ्नाः । हन्तेः क्विप् । 'ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्' इति नियमस्य प्रायिकत्वात् । यथाह न्यासकारः—'प्रायिकश्चायं नियमः क्वचि-

इत्यस्मिन्नप्युपपन्ने दशरथे मधुरा मारिकर्म च भक्ष्यमाणस्य बाहुव्यायामस्य पुरस्ता-दपकर्षोऽभिमतो' इति। तेषु योगेषूपायेषु विचक्षणो दक्षः। 'योगः सन्नहनोपायध्यान-सङ्गतियुक्तिषु' इत्यमरः। इन्द्रेऽपि योज्यमेतत्। असौ दशरथस्तिसृभिः प्रियतमाभिः सह। प्रजा विनिनीषुर्विनेतुमिच्छुस्तिसृभिः शक्तिभिः प्रभुमन्त्रोत्साहशक्तिभिरेव सह भुवमुपगतो हरिहय इन्द्र इव बभौ ॥ १८ ॥

शत्रुनाशक उपायोंमें चतुर वह (दशरथ) तीन प्रियतमाओं (कौसल्या कैकेयी और सुमित्रा) के साथ प्रजाओंको विनीत करनेकी इच्छा करते हुए, तीन शक्तियों (प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति और उत्साहशक्ति) के साथ पृथ्वीपर आये हुए शत्रुनाशक उपायोंमें चतुर इन्द्र के समान शोभित हुए ॥ १८ ॥

स किल संयुगमूर्ध्नि सहायतां मघवतः प्रतिपद्य महारथः ।
स्वभुजवीर्यमगापयदुच्छ्रितं सुरवधूरवधूतभयाः शरैः ॥ १९ ॥

स इति। महारथः स दशरथः संयुगमूर्ध्नि रणाग्रे मघवत इन्द्रस्य सहायतां प्रतिपद्य प्राप्य शरैरवधूतभयाः निवर्तितत्रासाः सुरवधूरुच्छ्रितं स्वभुजवीर्यमगापयत् किल। गायतेः सकर्मकत्वात् 'गतिबुद्धि' इत्यादिना सुरवधूनामपि कर्मत्वम् ॥ १९ ॥

महारथ उस (दशरथ) ने युद्धके आगे इन्द्रकी सहायता करके निर्भय देवाङ्गनाओंके द्वारा, अपने बढ़े हुए बाहुबल (के यश) को गवाया। (युद्धके आगे होकर इन्द्रकी सहायता करनेसे निर्भय देवाङ्गनाओंने दशरथके बाहुबलका यश गाया) ॥ १९ ॥

क्रतुषु तेन विसर्जितमौलिना भुजसमाहृतदिग्वसुना कृताः ।
कनकयूपसमुच्छ्रयशोभिनो वितमसा तमसासरयूतटाः ॥ २० ॥

क्रतुष्विति। क्रतुषु यागेषु विसर्जितमौलिना अपनीतकिरीटेन दीक्षितेन मुण्डितेन भाव्यं स्वयमुण्डनेन वा। यथा हि यज्ञेषु यजमानो मौलिं विसर्जयति। 'यावज्ज-मज्ज्योतिः राजा भवति' इति राजशब्दस्याभिधानादित्यभिमानः। 'मौलिः किरीटे धम्मिल्ले' इति विश्वः। भुजसमाहृतदिग्वसुना भुजार्जितदिगन्तसम्पदा। अनेन चरितस्य विशिष्टत्वमुक्तम्। विजमार्जितधनत्वं सद्विनियोगकारित्वं च सूच्यते। वितमसा तमोगुणरहितेन तेन दशरथेन। तमसा च सरयूश्च नद्यौ तयोस्तटाः कनक-यूपानां समुच्छ्रयेण समुन्नमनेन शोभिनः शोभिताः कृताः। कनकमयत्वं च यूपानां सोमार्य-विघ्नभावात्। 'हैमयूपस्तु शोभितः' इति वाक्यात् ॥ २० ॥

यज्ञोंमें मुकुट को उतारे हुए, बाहु (बल) से दिशाओंकी सम्पत्तिको प्राप्त किये हुए तथा तमोगुणसे रहित उस (दशरथ) ने तमसा और सरयू नदियोंके तटोंको सुवर्णके यज्ञस्तम्भोंकी ऊँचाईसे शोभित कर दिया ॥ २० ॥

अजिनदण्डभृतं कुशमेखलां यतगिरं मृगशृङ्गपरिग्रहाम् ।
अधिवसंस्तनुमध्वरदीक्षितामसमभासमभासयदीश्वरः ॥ २१ ॥

अजिनेति । ईश्वरो भगवानष्टमूर्तिरजिनं कृष्णाजिनं दण्डमौदुम्बरं बिभर्तीति तमजिनदण्डभृतम् । 'कृष्णाजिनं दीक्षयति, 'औदुम्बरं दीक्षितदण्डं यजमानाय प्रयच्छति' इति वचनात् । कुशमयी मेखला यस्यास्तां कुशमेखलाम् । 'शरमयी मौञ्जी वा मेखला' तया यजमानं दीक्षयती'ति विधानात् । प्रकृते कुशग्रहणं तु चित्प्रतिनिधिदर्शनात्कृतम् । यतगिरं वाचंयमाम् । 'वाचं यच्छति' इति श्रुतेः । मृगशृङ्गं परिग्रहः कण्डूयनसाधनं यस्यास्ताम् । 'कृष्णविषाणेन कण्डूयते' इति श्रुतेः । अध्वरदीक्षितां संस्कारविशेषयुक्तां तनुं दाशरथीमधिवसन्नधितिष्ठन् सन् । असमा भासो दीप्तयो यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा अभासयद्भासयति स्म ॥ २१ ॥

और शिवजीने मृगचर्म तथा दण्ड धारण किये हुए, कुशाओंकी मेखलावाले, मौनी, मृगके सींगमात्र परिग्रह (साधन) वाले (यज्ञमें दीक्षित होनेपर यदि शरीर कहीं खुजलाता है तो हाथकी अगुलियों या नखोंसे खुजलानेका निषेध होनेसे पूर्व गृहीत मृगकी सींगसे ही खुजलाते हैं), यज्ञमें दीक्षा ग्रहण किये हुए, दशरथके शरीरमें निवास करते हुए अनुपम कान्तिमान् उस (दशरथ) को सुशोभित किया ॥ २१ ॥

अवभृथप्रयतो नियतेन्द्रियः सुरसमाजसमाक्रमणोचितः ।
नमयति स्म स केवलमुन्नतं वनमुचे नमुचेररये शिरः ॥ २२ ॥

अवभृथेति । अवभृथेन प्रयतो नियतेन्द्रियः सुरसमाजसमाक्रमणोचितो देवसमाजाधिष्ठानार्हः स दशरथ उन्नतं शिरो वनमुचे जलवर्षिणे 'जलं नीरं वनं सत्त्वम्' इति शाश्वतः । नमुचेररये केवलमिन्द्रायैव नमयति स्म । लोकरक्षार्थं वृष्टेरपेक्षितत्वादिन्द्रमेवानमच्छिरः न कस्मैचिदन्यस्मै मानुषायेत्यर्थः ॥ २२ ॥

अवभृथ (यज्ञान्तमें किया जानेवाला स्नानविशेष) से शुद्ध, जितेन्द्रिय और देवसभामें बैठने योग्य वे दशरथ उन्नत मस्तकको केवल जल-वृष्टि करनेवाले इन्द्रके लिये नवाते थे । (अन्य राजाओंको पराजित करनेसे वे केवल इन्द्रको ही प्रणाम करनेमें मस्तक झुकाते थे) ॥ २२ ॥

असकृदेकरथेन तरस्विना हरिहयाग्रसरेण धनुर्भृता ।
दिनकराभिमुखा रणरेणवो रुरुधिरे रुधिरेण सुरद्विषाम् ॥ २३ ॥

असकृदिति । एकरथेनाद्वितीयरथेन तरस्विना बलवता हरिहयस्येन्द्रस्याग्रसरेण धनुर्भृता दशरथेनासकृद् बहुशो दिनकरस्याभिमुखा, अभिमुखस्थिता इत्यर्थः । रणरेणवः सुरद्विषां दैत्यानां रुधिरेण रुरुधिरे निवारिताः ॥ २३ ॥

आहितीय (प्रधान) रथी पश्चात् रथके आगे चलनेवाले धनुर्धारी (दशरथ) ने सूर्यके सम्मुख स्थित अर्थात् ऊपर उड़ी हुई युद्धकी धूलियोंको राक्षसोंके रक्तसे अनेक बार शान्त किया। (युद्धमें रथके आगे २ बढ़कर राक्षसोंका अनेकबार संहार किया) ॥२३॥

अथ समाववृते कुसुमैर्नवैस्तमिव सेवितुमेकनराधिपम्।
यमकुबेरजलेश्वरवज्रिणां समधुरं मधुरञ्चितविक्रमम् ॥ २४ ॥

अथेति। अथ यमकुबेरजलेश्वरवज्रिणां धर्मराजधनदवरुणवासवानां समा धुर्यस्य स समधुरः। माध्यस्थ्यवितरणनियमनैश्वर्येस्तुल्यभार इत्यर्थः। 'ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे' इत्यनेन समासान्तोऽप्रत्ययः। तं समधुरम्। अञ्चितविक्रमं पूजितपराक्रममेकनराधिपं तं दशरथं सेवितुमिव। मधुर्वसन्तः। 'मधौ पुष्परसे मद्ये चैत्रे वैत्ते वसन्ते च जीवाशोके मधुद्रुमे' इति विश्वः। नवैः कुसुमैरुपलक्षितः सन् समाववृते समागतः। 'रिक्तहस्तेन नोपेयाद्राजानं दैवतं गुरुम्' इति वचनात्पुष्पसमेतो राजानं सेवितुमागत इत्यर्थः ॥ २४ ॥

इसके बाद यम कुबेर वरुण और इन्द्रके समान भारवाले (क्रमशः धर्मादि पूर्वोक्त चारों दिक्पालोंके समान समदर्शिता, दानशीलता, निग्रह (शासन) और ऐश्वर्यवाले), श्रेष्ठ पराक्रमी और प्रधान राजा उस (दशरथ) की मानो सेवा करनेके लिये वसन्त (ऋतु) नये २ फूलोंसे युक्त होकर उपस्थित हुआ। (जिस प्रकार अन्य राजालोग रत्नादिका उपहार लेकर दशरथकी सेवामें उपस्थित होते हैं, उसी प्रकार ऋतुराज (वसन्त) भी नये फूलोंका उपहार लेकर उनकी सेवाके लिये उपस्थित हुआ अर्थात् वसन्त ऋतु आने पर नये २ फूल खिलने लगे) ॥ २४ ॥

जिगमिषुर्धनदाध्युषितां दिशं रथयुजा परिवर्तितवाहनः।
दिनमुखानि रविर्हिमनिग्रहैर्विमलयन्मलयं नगमत्यजत् ॥ २५ ॥

जिगमिषुरिति। धनदाध्युषितां कुबेराधिष्ठितां दिशं जिगमिषुर्गन्तुमिच्छुः रथयुजा सारथिनाऽरुणेन परिवर्तितवाहनो निवर्तिताश्वो रविः हिमस्य निग्रहैर्निरासैर्दिनमुखानि प्रभातानि विमलयन्निर्मलयन्। मलयं नाम नगमत्यजत्। दक्षिणां दिशमत्याक्षीदित्यर्थः ॥ २५ ॥

कुबेरसेवित (उत्तर) दिशाको जानेके इच्छुक (उत्तरायण होनेवाले), सारथि (अरुण) के द्वारा घुमाये गये घोड़ोंवाले सूर्यने हिम (पाला या ठंडक) को रोकनेसे प्रातःकालको निर्मल करते हुए मलयपर्वतको छोड़ा (सूर्य दक्षिणायनसे उत्तरायण हुए) ॥ २५ ॥

कुसुमजन्म ततो नवपल्लवास्तदनु षट्पदकोकिलकूजितम्।
इति यथाक्रममाविरभून्मधुर्द्रुमवतीमवतीर्य वनस्थलीम् ॥ २६ ॥

कुसुमेति। आदौ कुसुमजन्म ततो नवपल्लवाः। तदनु। 'अनुर्लक्षणे' इति कर्मप्रवचनीयत्वाद्द्वितीया। यथासंख्य तदुभयानन्तर षट्पदानां कोकिलानां च कूजितम्। इत्येवम्प्रकारेण यथाक्रम क्रममनतिक्रम्य पुष्पप्रियो भृङ्गः पल्लवप्रियः कोकिल इति क्रमोत्केरयमाशयः। द्रुमवतीं द्रुमभूयिष्ठां वनस्थलीमवतीर्य मधुर्वसन्त आविर्भूत्। केषाञ्चिद्द्रुमाणां पल्लवप्राथम्यात्केशाञ्चित्कुसुमप्राथम्यान्नोक्तक्रमस्य इष्टविरोधः ॥ २६ ॥

(पहले) फूलोंकी उत्पत्ति, फिर नये २ पल्लव, उसके बाद (क्रमशः) भ्रमरोंका गुञ्जार और कोयलोंका कुहुकना, इस प्रकार वसन्त क्रमानुसार पेडोंवाली वन-भूमिमें उतरकर प्रकट हुआ। (पहले पेडोंमें फूल लग गये और उनपर भ्रमर गुञ्जार करने लगे, तदनन्तर नये २ कोमल पल्लव निकलने लगे, जिनके आस्वादनसे कषाय कण्ठ कोकिल कूजने लगी, इस प्रकार वसन्त वनराजियोंमें दिखाई पडने लगा) ॥ २६ ॥

नयगुणोपचितामिव भूपतेः सदुपकारफलां श्रियमर्थिनः ।
अभिययुः सरसो मधुसम्भृतां कमलिनीमलिनीरपतत्रिणः ॥ २७ ॥

नयगुणेति। नयो नीतिरेव गुणः तेन, अथवा नयेन गुणैः शौर्यादिभिश्चोपचिताम्। सतामुपकारः फलं यस्यास्तां सदुपकारफलां भूपतेर्दशरथस्य श्रियमर्थिन इव मधुना वसन्तेन सम्भृतां सम्यक्पुष्टां सरसः सम्बन्धिनीं कमलिनीं पद्मिनीमलिनीरपतत्रिणः अलयो भृङ्गा नीरपतत्रिणो जलपतत्रिणो हंसादयश्च अभिययुः ॥ २७ ॥

नीतिरूपी गुणसे (या नीति तथा पराक्रमादि गुणोंसे) बढी हुई और सज्जनोंका उपकारमात्र फलवाली राजा (दशरथ) की सम्पत्तिको याचकोंके समान, वसन्तसे वृद्धिको प्राप्त, तडागकी कमलिनीको भ्रमर तथा जलचरपक्षियों (हंस आदि) ने प्राप्त किया ॥२७॥

कुसुममेव न केवलमार्तवं नवमशोकतरोः स्मरदीपनम् ।
किसलयप्रसवोऽपि विलासिनां मदयिता दयिताश्रवणार्पितः ॥२८॥

कुसुमिति। ऋतुरस्य प्राप्त आर्तवम्। 'ऋतोरण्' इत्यण्। नवं प्रत्यग्रमशोकतरोः केवलं कुसुममेव स्मरदीपनमुद्दीपनं न, किन्तु विलासिनां मदयिता मदजनको दयिताश्रवणार्पितः किसलयप्रसवोऽपि पल्लवसन्तानोऽपि स्मरदीपनोऽभवत् ॥ २८ ॥

ऋतुमें उत्पन्न अशोकवृक्षका केवल फूल ही कामोद्दीपक नहीं हुआ, किन्तु विलासियोंको उन्मादित करनेवाला, प्रियाओंका कर्णभूषण बना हुआ नवपल्लव भी कामोद्दीपक हुआ ॥२८॥

विरचिता मधुनोपवनश्रियामभिनवा इव पत्रविशेषकाः ।
मधुलिहां मधुदानविशारदा कुरबका रवकारणतां ययुः ॥ २९ ॥

विरचितेति। मधुना वसन्तेन विरचिता उपवनश्रियामभिनवाः पत्रविशेषकाः

पताकारचना इव स्थिता मधुना मकरन्दानां कुसुमे विस्तारयामास कुरबकप्रसवो मधु-लिहां मधुपानां रचनमस्ति वधूः। मधुपाः कुरबकाणां मधूनि पीत्वा चतुरिकर्माः। सामसौन्दर्यमवितमाः स्तुवन्तीति भावः॥ २९॥

वसन्तके द्वारा उपवन-लक्ष्मीके बनायी गयी नयी २ पत्ररचना (स्त्री-कपोलपर कस्तूरीकी पत्राकाररचना) के समान स्थित बहुत मधु-दान करनेवाले लाल कुरबकके प्रसवने भ्रमरोंके गुंजारको धारण कर लिये। (भ्रमर कुरबकके वृक्षोंके लाल पुष्पोंके रसको पीकर वैसे गुंजार करने लगे जैसे दातासे दान पाकर याचक उसका गुणगान करते हैं) ॥ २९ ॥

सुवदनावदनासवसम्भृतस्तदनुवादिगुणः कुसुमोद्गमः।
मधुकरैरकरोन्मधुलोलुपैर्बकुलमाकुलमायतपङ्क्तिभिः ॥ ३० ॥

सुवदनेति। सुवदनावदनासवेन कान्तामुखमद्येन सम्भृतो जनितः। तदस्य दोहद-मिति प्रसिद्धिः। तस्यासवस्यानुवादी सदृशो गुणो यस्य तदनुवादिगुणः कुसुमोद्गमः कर्ता। मधुलोलुपैरायतपङ्क्तिभिर्दीर्घपङ्क्तिभिर्मधुपैः करणैः बकुलो मदिरागण्डूषदोहदेन पुष्प्यतीति प्रसिद्धिः। बकुलं बकुलवृक्षमाकुलमकरोत्॥ ३०॥

सुमुखियोंके मुख-मदिरासे उत्पन्न (तरुणियाँ मुखमें मदिरा लेकर बकुल वृक्षपर कुल्ला फेंकती हैं तो वह शीघ्र विकसित होता है—ऐसी कविसमय प्रसिद्धि है) और उस (मदिरा) के अनुरूप गुण (सुगन्धि) वाले पुष्पोत्पत्तिने मधुके लोभी लम्बी २ कतारोंको बाँधकर आते हुए भ्रमरोंसे मौलसिरीके वृक्षको व्याकुल (तंग और व्याप्त) कर दिया ॥ ३० ॥

उपहितं शिशिरापगमश्रिया मुकुलजालमशोभत किंशुके।
प्रणयिनीव नखक्षतमण्डनं प्रमदया मदयापितलज्जया ॥ ३१ ॥

उपहितमिति। शिशिरापगमश्रिया वसन्तलक्ष्म्या किंशुके पलाशवृक्षे 'पलाशे किंशुकः पर्णो वातपोथः' इत्यमरः। उपहितं दत्तं मुकुलजालं कुड्मलवृन्दम्। मदेन यापिता अपसारिता लज्जा यया तया प्रमदया प्रणयिनि प्रियतम उपहितं नखक्षतमेव मण्डनं तदिव। अशोभत॥ ३१॥

(मानिनीरूप) वसन्तश्रीके द्वारा (नायकरूप) पलाश वृक्षमें उत्पन्न किया गया कलिका-समूह, मदसे लज्जाहीन प्रमदाके द्वारा प्रियतम (के अंगों) पर किये गये नखक्षत-भूषणके समान शोभता था ॥ ३१ ॥

व्रणगुरुप्रमदाधरदुःसहं जघननिर्विषयीकृतमेखलम्।
न खलु तावदशेषमपोहितुं रविरलं विरलं कृतवान् हिमम् ॥ ३२ ॥

व्रणेति। व्रणैर्दन्तक्षतैर्गुरुभिः प्रमदानामधरैरधरोष्ठैर्दुःसहं हिमस्य बाधाकर-

त्वादसह्यम् । जघनेषु निर्विषयीकृता निरवकाशीकृता मेखला येन तत् । शैत्यात्त्याजित-मेखलमित्यर्थः । एवभूतं हिम रविस्तावदावसन्तादशेष निःशेषं यथा तथापोहितु निरसितु नाल खलु न शक्तो हि, किन्तु विरल कृतवांस्तनूचकार ॥ ३२ ॥

अधिक दन्तक्षतोंवाले प्रमदाओंके अधरोष्ठसे असह्य और (ठण्डा लगनेसे) जघनोंको करधनीसे रहित करनेवाली शीत (ठण्डक) को सूर्यने पूर्णतया नहीं दूर किया, किन्तु उसे कम कर दिया। (पहले शिशिर ऋतुमें अत्यधिक ठण्डकसे दन्तक्षत असह्य हो रहे थे तथा करधनीको पहनना भी स्त्रियोंने छोड दिया था, उस ठडकको सूर्यतापने कुछ कम कर दिया था, विशेष कम नहीं किया था) ॥ ३२ ॥

अभिनयान्परिचेतुमिवोद्यता मलयमारुतकम्पितपल्लवा ।
अमदयत्सहकारलता मनः सकलिका कलिकामजितामपि ॥ ३३ ॥

अभिनयानिति । अत्र चूतलताया नर्तकीसमाधिरभिधीयते । अभिनयानर्थव्यञ्ज-कान्व्यापारान् । 'व्यञ्जकाभिनयौ समौ' इत्यमर । परिचेतुमभ्यसितुमुद्यतेव स्थिता । कुत मलयमारुतेन कम्पितपल्लवा पल्लवशब्देन हस्तो गम्यते । सकलिका सकोरका, 'कलिका कोरक पुमान्' इत्यमर' । सहकारलता । कलि' कलहो द्वेष उच्यते । 'कलि' स्यात्कलहे शूरे कलिरन्त्ययुगे युधि' इति विश्वः । कामो राग तज्जितामपि । जितरागद्वेषाणामपीत्यर्थः । मनोऽमदयत् ॥ ३३ ॥

अभिनयों (हाव-भाव-व्यञ्जक व्यापारों) को अभ्यास करनेके लिये तैयार (नर्तकी) के समान स्थित, मलयाचलकी वायुसे कम्पित पल्लवोंवाली कोरकयुक्त आम्रलता द्वेष तथा कामके विजेताओं (ऋषि-मुनियों) के भी मनको उन्मत्त कर दिया ॥ ३३ ॥

प्रथममन्यभृताभिरुदीरिताः प्रविरला इव मुग्धवधूकथाः ।
सुरभिगन्धिषु शुश्रुविरे गिरः कुसुमितासुमिता वनराजिषु ॥ ३४ ॥

प्रथममिति । सुरभिर्गन्धो यासां तासु सुरभिगन्धिषु 'गन्धस्येदुत्पूतिसुसुर-भिभ्य' इत्यनेनेकार । कुसुमान्यासां सञ्जातानि कुसुमिता । तासु वनराजिषु वनपङ्क्तिषु । अन्यभृताभि कोकिलाभि प्रथम प्रारम्भेपूदीरिता उक्ता अत एव मिता परिमिता गिर आलापा । प्रविरला मौग्ध्यात्स्तोकोक्ता मुग्धवधूनां कथा वाच इव शुश्रुविरे श्रुता' ॥ ३४ ॥

सुगन्धियुक्त गन्धोंवाली (खुशबूदार) पुष्पयुक्त वनराजियोंमें पहले कोयलोंसे कही गयी परिमित वचन (कुहुकना) मुग्ध वधुओंकी कथाओंके समान सुना गया। (जिस प्रकार रतिकालमें नववधुए लज्जा से थोडा २ बोलती हैं उसी प्रकार सुगन्धियुक्त पुष्पित उपवनमें कहीं २ कोयलोंका कुहुकना सुनाई पडने लगा) ॥ ३४ ॥

श्रुतिसुखभ्रमरस्वनगीतयः कुसुमकोमलदन्तरुचो बभुः ।
उपवनान्तलताः पवनाहतैः किसलयैः सलयैरिव पाणिभिः ॥ ३५ ॥

श्रुतीति । श्रुतिसुखाः कर्णमधुरा भ्रमरस्वना एव गीतयो यासां ताः । कुसुमान्येव कोमला दन्तरुचो दन्तकान्तयो यासां ताः । अनेन सस्मितत्वं विवक्षितम् । उपवनान्तलता आराममध्यवर्तिन्यः पवनेनाहतैः कम्पितैः किसलयैः । सलयैः साम्ययैः । लयसमेन कपाणुक्तोऽभिनयो लक्ष्यते । उपवनान्ते पवनाहतैरिति सन्निधानाभिधानात् । पाणिभिरिव बभुः । अनेन लतानां नर्तकीसाम्यं गम्यते ॥ ३५ ॥

वनोंकी लताएँ भ्रमर-गुञ्जनरूपी गीतवाली तथा पुष्परूपी कोमल दाँतोंकी दीप्तिवाली उपवनके पासकी वायुसे हिलते हुए नवीन पल्लवोंसे लय (ताल-स्वरके अभिनयविशेष) सहित हाथोंके समान शोभित हुईं ॥ ३५ ॥

ललितविभ्रमबन्धविचक्षणं सुरभिगन्धपराजितकेसरम् ।
पतिषु निर्विविशुर्मधुमङ्गनाः स्मरसखं रसखण्डनवर्जितम् ॥ ३६ ॥

ललितेति । अङ्गना ललितविभ्रमबन्धविचक्षणं मधुरविलासघटनापटुतरम् । सुरभिणा मनोहरेण गन्धेन पराजितकेसरं निर्जितबकुलकुसुमम् 'अथ केसरे बकुलः' इत्यमरः । स्मरस्य सखायं स्मरसखं स्मरोद्दीपकमित्यर्थः । मधु मद्यम् । 'मधु मद्ये पुष्परसे' इत्यमरः । अर्धर्चाः पुंसि च इति पुंलिङ्गता । उक्तं च—'मकरन्दस्य मद्यस्य माक्षिकस्यापि वाचकः । अर्धर्चादिगणे पाठात्पुंनपुंसकयोर्मधु ॥' इति । पतिषु विषये रसखण्डनवर्जितमनुरागभङ्गरहितं यथा तथा निर्विविशुः । परस्परानुरागपूर्वकं पतिभिः सह पपुरित्यर्थः ॥ ३६ ॥

स्त्रियों ने सुन्दर विलासहावोंके अधिक चातुर्ययुक्त सुगन्धिसे मौलसिरीको जीतनेवाले और कामदेवके सखारूप पतियोंके निकटमें अनुरागसे प्रेमके साथ पान किया । (परस्पर अनुरक्त होकर स्त्रियोंने पतियोंके साथ मद्यपान किया) ॥ ३६ ॥

शुशुभिरे स्मितचारुतराननाः स्त्रिय इव श्लथशिञ्जितमेखलाः ।
विकचतामरसा गृहदीर्घिका मदकलोदकलोलविहङ्गमाः ॥ ३७ ॥

शुशुभिर इति । विकचतामरसा विकसितकमला अत एव स्मितचारुतराननाः मदेन कलमव्यक्तमधुरं रसन्तः उदके लोलाश्चञ्चला विहङ्गमा यासां ताः गृहेषु दीर्घिका वाप्यः विकचेन तामरसेनाननेन चारुतराणि यासां ताः 'दीर्घिका तु गृहवापी' इत्यमरः । श्लथानि शिथिलानि शिञ्जितानि ध्वनितानि मेखलाः इति मेखलायाः श्लथशिञ्जितमेखलाः । श्लथाः शिथिलाः मुखरा मेखला यासां ताः । स्त्रियः इव शुशुभिरे ॥ ३७ ॥

खिले हुए कमलोंवाली, मदसे अस्पष्ट एव मधुर चहचहाती हुई जलचर पक्षियों (हंसादि) वाली गृहकी बावडियाँ, मुस्कानसे अधिक सुन्दर मुखोंवाली और ढोली लटकती एव बजती हुई करधनियोंवाली स्त्रियोंके समान शोभित हुई ॥ ३७ ॥

उपययौ तनुतां मधुखण्डिता हिमकरोदयपाण्डुमुखच्छविः।
सदृशमिष्टसमागमनिर्वृतिं वनितयाऽनितया रजनीवधूः ॥ ३८ ॥

उपययाविति। मधुना मधुसमयेन खण्डिता ह्रासं गमिता। क्षीयन्ते खलूत्तरायणे रात्रय', खण्डिताख्या च नायिका ध्वन्यते। हिमकरोदयेन चन्द्रोदयेन पाण्डुर्मुखस्य प्रदोषस्य वक्त्रस्य च छविर्यस्याः सा रजन्येव वधूः। इष्टसमागमनिर्वृतिं प्रियसङ्गम-सुखमनितयाऽप्राप्तया। 'इण् गतौ' इति धातो' कर्तरि क्तः। वनितया सदृशं तुल्यं तनुतां न्यूनतां कार्श्यं चोपययौ ॥ ३८ ॥

वसन्त-समय (के आने) से उदयसे पाण्डुवर्ण सायङ्काल (पक्षान्तरमें—मुख) वाली रात्रिरूपिणी, स्त्री इष्ट (प्रिय)-समागमके सुखको नहीं पायी हुई नायिकाके समान कृशता (दुर्बलता, रात्रिपक्षमें—छोटी होना) को ग्रहण किया। (स्त्री दुर्बल हो गयी तथा रात्रि छोटी होने लगी) ॥ ३८ ॥

अपतुषारतया विशदप्रभैः सुरतसङ्गपरिश्रमनोदिभिः।
कुसुमचापमतेजयदंशुभिर्हिमकरो मकरोर्जितकेतनम् ॥ ३९ ॥

अपेति। हिमकरश्चन्द्र अपतुषारतयाऽपगतनीहारतया विशदप्रभैर्निर्मलका-न्तिभि' सुरतसङ्गपरिश्रमनोदिभि' सुरतसङ्गखेदहारिभिरंशुभि' किरणै'। 'चन्दनं मृदुनालानि हरन्ति सुरतश्रमम्' इति रतिरहस्यम्। मकरोर्जितकेतनं मकरेणोर्जितं केतनं ध्वजो यस्य तम्। लब्धावकाशत्वादुच्छ्रितध्वजमित्यर्थ'। कुसुमचापं काममते-जयदशातयत्, 'तिज निशाने' इति धातोर्ण्यन्ताल्लङ्। सहकारिलाभात्कामोऽपि तीक्ष्णोऽभूदित्यर्थः ॥ ३९ ॥

चन्द्र हिमनाश होनेसे निर्मल प्रकाशवाले तथा सुरत (रतिक्रीडा) के सङ्गसे उत्पन्न परिश्रमको दूर करनेवाले किरणोंके द्वारा मकरसे उन्नत पताकावाले कामदेवको तीक्ष्ण करने (बढाने) लगा ॥ ३९ ॥

हुतहुताशनदीप्ति वनश्रियः प्रतिनिधिः कनकाभरणस्य यत्।
युवतयः कुसुमं दधुराहितं तदलके दलकेसरपेशलम् ॥ ४० ॥

हुतेति। हुतहुताशनदीप्त्याज्यादिप्रज्वलिताग्निप्रभं यत्कुसुमं, कर्णिकारमित्यर्थ'। वनश्रियः उपवनलक्ष्म्याः कनकाभरणस्य प्रतिनिधि', अभूदिति शेषः। दलेषु केस-रेषु च पेशलं, सुकुमारपत्रकिञ्जल्कमित्यर्थ'। आहितं प्रियैरिति शेषः। तत्कुसुमं युवत-योऽलके कुन्तले दधुः ॥ ४० ॥

प्रभातकी अग्निके समान कान्तिवाला (कनेरका) फूल वनस्थलीके कर्णभूषणके प्रतिनिधि हुआ, पङ्क्तियों तथा पत्तोंमें सुकोमल अर्थात् सुन्दर उस फूलको सुन्दरियोंने कानोंमें लगाया (पहना)॥ ४० ॥

अलिभिरञ्जनबिन्दुमनोहरैः कुसुमपङ्क्तिनिपातिभिरङ्कितः।
न खलु शोभयति स्म वनस्थलीं न तिलकस्तिलकः प्रमदामिव ॥४१॥

अलिभिरिति। अञ्जनबिन्दुमनोहरैः कज्जलकणसुन्दरैः कुसुमपङ्क्तिषु निपतन्तीति ते तैः अलिभिरङ्कितश्चिह्नितस्तिलकः श्रीमान्नाम वृक्षः। 'तिलकः क्षुरकः श्रीमान्' इत्यमरः। वनस्थलीम्। तिलकेन विशेषकेण। 'तमालपत्रतिलकचित्रकाणि विशेषकम्। द्वितीयं च तुरीयं च न स्त्रियाम्' इत्यमरः। प्रमदामिव न शोभयति स्मेति न खलु, अपि त्वशोभयदेवेत्यर्थः। 'लट् स्मे' इति स्मशब्दप्रयोगाद्भूतार्थे लट्। तिलकोऽप्यञ्जन बिन्दुवत् शोभार्थं क्रियते ॥ ४१ ॥

कज्जलबिन्दुके समान सुन्दर, पुष्पसमूहोंपर बैठे हुए भ्रमरोंसे चिह्नित तिलक वृक्ष वनस्थलीको, स्त्रीको तिलक (ललाटस्थ टीका) के समान नहीं सुशोभित करता था ऐसा नहीं किन्तु सुशोभित करता ही था ॥ ४१ ॥

अमदयन्मधुगन्धसनाथया किसलयाधरसङ्गतया मनः।
कुसुमसम्भृतया नवमल्लिका स्मितरुचा तरुचारुविलासिनी ॥४२॥

अमदयदिति। तरुचारुविलासिनी तरोः पुंसश्चारुविलासिनी नवमल्लिका सप्तलाख्या लता 'सप्तला नवमल्लिका' इत्यमरः। मधुनो मकरन्दस्य मद्यस्य च गन्धेन सनाथया सम्पन्नयेत्यर्थः। किसलयमेवाधरस्तत्र सङ्गतया प्रसृतयेत्यर्थः। कुसुमैः सम्भृतया सम्पादितया कुसुमरूपयेत्यर्थः। स्मितरुचा हासकान्त्या मनः, पश्यतामिति शेषः। अमदयत् ॥ ४२ ॥

वृक्ष (पक्षान्तरमें पुरुष) की सुन्दर विलासिनी नवमल्लिका लता (सेवती या मोतिया) पराग तथा सुगन्धिसे युक्त (नायिकापक्षमें—मद्य तथा उसके सदृश सुगन्धियोंसे युक्त), नव पल्लवरूप अधरवाली (नायिकापक्षमें—नव पल्लवके तुल्य अधरवाली) और पुष्पोंसे सम्पादित हुई हासकी कान्तिसे (नायिकापक्षमें—मुस्कान तथा लतापक्षमें—पुष्परूप मुस्कानसे) मनको मदयुक्त (मस्त) कर दिया ॥ ४२ ॥

अरुणरागनिषेधिभिरंशुकैः श्रवणलब्धपदैश्च यवाङ्कुरैः।
परभृताविरुतैश्च विलासिनः स्मरबलैरबलैकरसाः कृताः ॥ ४३ ॥

अरुणेति। विलासिनो विलसनशीलाः पुरुषाः 'वौ कषलसकत्थस्रम्भः' इत्यनेन घिनुण्प्रत्ययः। अरुणरागमारुणवर्णं निषेधन्ति निराकुर्वन्तीत्यरुणरागनिषेधिभि

तैः कुसुम्भादिरञ्जनात्तत्सदृशैरित्यर्थः। 'तमन्वेत्यनुबध्नाति तच्छीलं तन्निषेधति। तस्येवानुकरोतीति शब्दाः सादृश्यवाचकाः ॥' इति दण्डी। अशुकैरम्बरैः श्रवणेषु कर्णेषु लब्धपदैः, निवेशितैरित्यर्थः। यवाङ्कुरैश्च परभृताविरुतैः कोकिलाकूजितैश्च। इत्येतैः स्मरबलैः कामसैन्यैः। अबलास्वेक एव रसो रागो येषां तेऽबलैकरसाः स्त्रीपरतन्त्राः कृताः ॥ ४३ ॥

विलासीलोगोंको अरुण (प्रातःकालकी लालिमा) को तिरस्कृत करनेवाले (लाल) वस्त्र, कर्णभूषण बनाये गये यवके अङ्कुर और कोयलोंका कुहुकना—इन कामसेनारूप इन सबोंने एकमात्र स्त्रियोंके पराधीन (केवल स्त्रियोंमें आसक्त) बना दिया ॥ ४३ ॥

उपचितावयवा शुचिभिः कणैरलिकदम्बकयोगमुपेयुषी ।
सदृशकान्तिरलक्ष्यत मञ्जरी तिलकजाऽलकजालकमौक्तिकैः ॥ ४४ ॥

उपचितेति। शुचिभिः शुभ्रैः कणै रजोभिरुपचितावयवा पुष्टावयवा। अलिकदम्बकयोगमुपेयुषी प्राप्ता। तिलकजा तिलकवृक्षोत्था मञ्जरी अलकेषु यज्जालकमाभरणविशेषस्तस्मिन् मौक्तिकैः सदृशकान्तिः अलक्ष्यत। भृङ्गसङ्गिनी शुभ्रा तिलकमञ्जरी नीलालकसक्तमुक्ताजालमिवालक्ष्यतेति वाक्यार्थः ॥ ४४ ॥

श्वेत परागोंसे व्याप्त अवयवोंवाली तथा भ्रमरसमूहसे अधिष्ठित तिलकवृक्षकी मञ्जरी (नायिकाओंके) केशोंको बांधनेवाली जालियोंमें गुथे हुए मोतियोंके समान दिखलाई पड़ती थी ॥ ४४ ॥

ध्वजपटं मदनस्य धनुर्भृतश्छविकरं मुखचूर्णमृतुश्रियः ।
कुसुमकेसररेणुमलिव्रजाः सपवनोपवनोत्थितमन्वयुः ॥ ४५ ॥

ध्वजपटमिति। अलिव्रजाः षट्पदनिवहाः धनुर्भृतो धानुष्कस्य मदनस्य कामस्य ध्वजपटं पताकाभूतम्। ऋतुश्रियो वसन्तलक्ष्म्याश्छविकरं शोभाकरं मुखचूर्णं मुखालङ्कारचूर्णभूतम्, 'चूर्णानि वासयोगाः स्युः' इत्यमरः। सपवनोपवनोत्थितं सपवनं पवनेन सहितं यदुपवनं तस्मिन्नुत्थितं कुसुमानां केसरेषु किञ्जल्केषु यो रेणुस्तम्। अन्वयुरन्वगच्छन्। यातेर्लङ् ॥ ४५ ॥

भौरोंके समूह धनुर्धारी कामदेवकी पताकाके वस्त्ररूप, वसन्त ऋतुकी श्रीको शोभित करनेवाले मुखमें लगाने योग्य चूर्णरूप वायुसहित उपवनमें उड़े हुए पुष्पपरागके पीछे चले ॥ ४५ ॥

अनुभवन्नवदोलमृतूत्सवं पटुरपि प्रियकण्ठजिघृक्षया ।
अनयदासनरज्जुपरिग्रहे भुजलतां जलतामबलाजनः ॥ ४६ ॥

अनुभवन्निति। नवा दोला प्रेङ्खा यस्मिंस्तं नवदोलमृतूत्सवं वसन्तोत्सव-

ग्रथितमौलिरसौ वनमालया तरुपलाशसवर्णतनुच्छदः ।
तुरगवल्गनचञ्चलकुण्डलो विरुरुचे रुरुचेष्टितभूमिषु ॥ ५१ ॥

ग्रथितेति । वनमालया वन्यपुष्पमालया ग्रथितमौलिर्बद्धधम्मिल्लः । 'पत्रपुष्पमयी माला वनमाला प्रकीर्तिता' इति । तरूणां पलाशैः पर्णैः सवर्णः समानस्तनुच्छदो वर्म यस्य स तथोक्तः । इदं च वर्मणः पलाशसावर्ण्याभिधानं मृगाणामविश्वासार्थम् । तुरगस्य वल्गनेन गतिविशेषेण चञ्चलकुण्डलोऽसौ दशरथो रुरुभिर्मृगविशेषैश्चेष्टिताः सञ्चरिता या भूमयस्तासु विरुरुचे दिदीपे ॥ ५१ ॥

वनमाला (पत्र-पुष्परचितमाला) से केश बांधे तथा पेड़ोंके पत्तियोंके समान वर्णके हरे रंगके कवचको पहने हुए और घोड़ेकी उछलती हुई चालसे हिलते हुए कुण्डलोंवाले (दशरथ) रुरु मृगोंसे युक्त वनस्थलियोंमें शोभित हुए ॥ ५१ ॥

तनुलताविनिवेशितविग्रहा भ्रमरसंक्रमितेक्षणवृत्तयः ।
ददृशुरध्वनि तं वनदेवताः सुनयनं नयनन्दितकोसलम् ॥ ५२ ॥

तन्विति । तनुषु कृशासु लतासु विनिवेशितविग्रहाः संक्रमितदेहाः भ्रमरेषु संक्रमिता ईक्षणवृत्तयो दृष्टिव्यापारा यासां ता वनदेवताः सुनयनं सुलोचनं नयेन नीत्या नन्दितास्तोषिताः कोसला येन तं दशरथमध्वनि ददृशुः । प्रसन्नपावनतया तं देवता अपि गूढवृत्त्या ददृशुरित्यर्थः ॥ ५२ ॥

सूक्ष्म लताओंमें शरीरको तथा भ्रमरोंमें नेत्रव्यापारको संक्रमित की हुई वनदेवियोंने सुन्दर नेत्रवाले तथा नीतिसे कोसल (देशकी प्रजाओं) को आनन्दित करनेवाले उन्हें (दशरथको) मार्गमें देखा ॥ ५२ ॥

श्वगणिवागुरिकैः प्रथमास्थितं व्यपगतानलदस्यु विवेश सः ।
स्थिरतुरङ्गमभूमि निपानवन्मृगवयोगवयोपचितं वनम् ॥ ५३ ॥

श्वगणीति । स दशरथः । शुनां गणः स एषामस्तीति श्वगणिनः श्वगणिनश्च ते वागुरिकाश्च तैः । वागुरा मृगबन्धनरज्जुः । 'वागुरा मृगबन्धनी' इत्यमरः । तया चरन्तीति वागुरिका जालिकाः । 'चरति' इति ठक्प्रत्ययः । 'द्वौ वागुरिकजालिकौ' इत्यमरः । तैः प्रथममास्थितमधिष्ठितम् । व्यपगता अनला दावाग्नयो दस्यवस्तस्कराश्च यस्मात् तथोक्तम् । 'दस्युतस्करमोषकाः' इत्यमरः । 'कारणेऽवधबन्धोपगमादौ मानुषाण्यपि प्रविविशुः । आप्तपरम्परागता प्रविविशुः संकटे च गच्छेच्च न विशेत्' इति कामन्दकः । स्थिरा दृढा पङ्कादिरहिता तुरङ्गमयोग्या भूमिर्यस्य तत् । निपानवज्जलाशययुक्तम् । 'आहावस्तु निपानं स्यादुपकूपजलाशये' इत्यमरः । मृगैर्हरिणादिभिर्वयोभिः पक्षिभिर्गवयैर्गोसदृशैर्मृगविशेषैश्चोपचितं समृद्धं वनं विवेश प्रविष्टवान् ॥ ५३ ॥

वे (दशरथ) शिकारी कुत्तोंके समूह तथा जालवाले लोगोंसे पहलेसे ही युक्त, दावाग्नि और चोरोंसे रहित, घोड़ोंके चलने योग्य सूखी हुई (दलदलरहित) भूमिवाले, कूओंके पास पशुओंके पानी पीने योग्य हौजोंसे युक्त और हरिण, पक्षी तथा गवय (शावर, नीलगायों) से परिपूर्ण हुए वनमें प्रवेश किये ॥ ५३ ॥

अथ नभस्य इव त्रिदशायुधं कनकपिङ्गतडिद्गुणसंयुतम् ।
धनुरधिज्यमनाधिरुपाददे नरवरो रवरोषितकेसरी ॥ ५४ ॥

अथेति । अथानाधिर्मनोव्यथारहितो नरवरो नरश्रेष्ठः । रवेण धनुष्टङ्कारेण रोषिताः केसरिणः सिंहा येन स राजा । कनकमिव पिङ्गः पिशङ्गो यस्तडिदेव गुणो मौर्वी तेन संयुतं त्रिदशायुधमिन्द्रचापं नभस्यो भाद्रपदमास इव । 'स्युर्नभस्यः प्रौष्ठपदभाद्रभाद्रपदाः समाः' इत्यमरः । अधिज्यमधिगतमौर्वीकं धनुरुपाददे जग्राह ॥ ५४ ॥

इसके बाद कष्टरहित, (धनुष) के टङ्कारसे सिंहको क्रोधित किये हुए नरश्रेष्ठ (दशरथ) प्रत्यञ्चा चढ़े हुए धनुषको, सुवर्णके समान बिजलीरूपी प्रत्यञ्चासे युक्त इन्द्रधनुषको भाद्रपद मासके समान ग्रहण किया ॥ ५४ ॥

तस्य स्तनप्रणयिभिर्मुहुरेणशावैर्व्याहन्यमानहरिणीगमनं पुरस्तात् ।
आविर्बभूव कुशगर्भमुखं मृगाणां यूथं तदग्रसरगर्वितकृष्णसारम् ॥ ५५ ॥

तस्येति । स्तनप्रणयिभिः स्तनपायिभिरेणशावैर्हरिणशिशुभिः 'पृथुकः शावकः शिशुः' इत्यमरः । व्याहन्यमानं तद्वत्सलतया तद्गमनानुसारेण मुहुर्मुहुः प्रतिषिध्यमानं हरिणीनां गमनं गतिर्यस्य तत् । कुशा गर्भे येषां तानि मुखानि यस्य तत्कुशगर्भमुखम् । यस्य यूथस्याग्रेसरः पुरःसरो गर्वितो दृप्तश्च कृष्णसारो यस्य तत् । मृगाणां यूथं कुलम् । 'सजातीयैः कुलं यूथं तिरश्चां पुंनपुंसकम्' इत्यमरः । तस्य दशरथस्य पुरस्तादग्रे आविर्बभूव । वसन्ततिलकावृत्तम् ॥ ५५ ॥

स्तनको पीनेके लिये बच्चोंसे वार २ रोके गये हरिणियोंके गमनवाला, मुखमें कुशा लिया हुआ आगे २ चलते हुए मस्त कृष्णसार मृगवाला, मृगोंका झुण्ड उस (दशरथ) के सामने आया ॥ ५५ ॥

तत्प्रार्थितं जवनवाजिगतेन राज्ञा तूणीमुखोद्धृतशरेण विशीर्णपङ्क्ति ।
श्यामीचकार वनमाकुलदृष्टिपातैर्वातेरितोत्पलदलप्रकरैरिवार्द्रैः ॥ ५६ ॥

तदिति । जवनो जवशीलः । 'जुचङ्क्रम्यदन्द्रम्यसृगृधिज्वलशुचलषपतपदः' इत्यनेन युच्प्रत्ययः । 'तरस्वी त्वरितो वेगी प्रजवी जवनो जवः' इत्यमरः । तं वाजिनमश्वं गतेनारूढेन । तूणीपुधिः । 'वह्वादिभ्यश्च' इति स्त्रियां ङीप् । तस्यामुखाद्विवरादुद्धृतशरेण राज्ञा प्रार्थितमभियातम् । 'याच्ञायामभियाने च प्रार्थना कथ्यते

मधुमदपरवशा अपि पटुरपि निपुणोऽपि प्रियकण्ठस्य प्रियतमा ग्रहीतुमालिङ्गितुम् इच्छयाऽऽसनरज्जुपरिभवे दोलारज्जुग्रहणे भुजलतां बाहुलतां जडतां शैथिल्यम् । चकारेत्यर्थः । 'समासेऽपि विशेषु जडयोर्डलयोर्न भिदा' इति । ग्रहणम् । दोलाविलोलनपतनभयात् प्रियकण्ठमाश्लिष्यदित्यर्थः ॥ ४६ ॥

नये झूलेपर चढ़कर वसन्तोत्सव मनाती हुई स्त्री सावधान रहती हुई भी (सामने झूलते हुए) पतिके गलेमें आलिङ्गन करनेकी इच्छासे ढीले हाथोंवाले भुजाओंसे रस्सीको पकड़नेमें शिथिलता कर दी। (झूलेसे वास्तवमें नहीं गिरती हुई भी भयसे मानो गिरती हुई-सी होकर झूलेकी रस्सीके पकड़नेको ढीलाकर पतिको गलेसे आलिङ्गन कर लिया) ॥ ४६ ॥

त्यजत मानमलं बत विग्रहैर्न पुनरेति गतं चतुरं वयः ।
परभृताभिरितीव निवेदिते स्मरमते रमते स्म वधूजनः ॥ ४७ ॥

त्यजतेति । बतेत्यामन्त्रणे । 'बताऽनुकम्पासन्तोषविस्मयामन्त्रणे बत' इत्यमरः । बत अङ्गनाः मानं कोपं त्यजत । तदुक्तम्—'स्त्रीणामीर्ष्याकृतः कोपो मानोऽन्यासङ्गिनि प्रिये' इति । विग्रहैर्विरोधैरलं, विग्रहो न कार्य इत्यर्थः । गतमतीतं चतुरमुपभोगक्षमं वयो यौवनं पुनर्नैति नागच्छति इत्येवंरूपे स्मरमते स्मराभिमते । नपुंसके भावे क्तः । परभृताभिः कोकिलाभिर्निवेदिते सतीव वधूजनो रमते स्म रेमे, कोकिलाकूजितोद्दीपितस्मरः स्त्रीजनः कामशासनमपालयदित्यर्थः ॥ ४७ ॥

'हाय! तुम मानको छोड़ दो विरोध करना व्यर्थ है, बीती हुई जवानी फिर नहीं लौटती' इस प्रकार कोयलोंके कामोद्दीपक वचन कहनेपर ही (पतिके साथ) रमण करने लगी। (मानिनी भी स्त्रियोंने कामोद्दीपक कुहुकना सुनकर मान छोड़कर पतियोंके साथ रमण करने लगी) ॥ ४७ ॥

अथ यथासुखमार्तवमुत्सवं समनुभूय विलासवतीसखः ।
नरपतिश्चकमे मृगयारतिं स मधुमन्मधुमन्मथसन्निभः ॥ ४८ ॥

अथेति । अथानन्तरम् । मधुः अस्यास्तीति मधुमान् । समवासिन्यासखिः । मधुर्दैत्यः । मन्मथातीति मथः । यथायथम् । मधुश्च मधुमांश्च मन्मथश्च तेषां सन्निभः सदृशो मधुमन्मधुमन्मथसन्निभः स नरपतिर्दशरथो विलासवतीसखः कान्तासहचरः सन् । आर्तवम् ऋतौ भवम् । वसन्तोत्सवं यथासुखं समनुभूय मृगयारतिं मृगयाविहारं चकमे कामयामास ॥ ४८ ॥

फिर विष्णु वसन्त तथा कामदेवके समान राजा (दशरथ) ने विलासिनियों (स्त्रियों) के साथ वसन्त ऋतुके उत्सवको सुखपूर्वक भोगकर शिकार खेलना चाहा ॥ ४८ ॥

व्यसनासङ्गदोषं परिहरन्नाह—

परिचय चललक्ष्यनिपातने भयरुषोश्च तदिङ्गितबोधनम् ।
श्रमजयात्प्रगुणां च करोत्यसौ तनुमतोऽनुमतः सचिवैर्ययौ ॥ ४९ ॥*

परिचयमिति । असौ मृगया चललक्ष्याणि मृगगवयादीनि तेषां निपातने परिचयमभ्यास करोति । भयरुषोर्भयक्रोधयोस्तदिङ्गितबोधन तेषां चललक्ष्याणामिङ्गितस्य चेष्टितस्य भयादिलिङ्गभूतस्य बोधन ज्ञान च करोति । तनु शरीर श्रमस्य जयान्निरासात्प्रगुणां प्रकृष्टलाघवादिगुणवतीं च करोति । अतो हेतो सचिवैरनुमतोऽनुमोदित सन् ययौ । सर्वं चैतद् युद्धोपयोगीत्यतस्तदपेक्षया मृगयाप्रवृत्ति' । न तु व्यसनितयेति भाव' ॥ ४९ ॥

यह (शिकार) चञ्चल लक्ष्य (पक्षी या मृग व्याघ्रादि पशु) के गिरानेमें अभ्यासको, (उन लक्ष्यभूत पशुओं) के भय तथा क्रोधकी चेष्टाओंकी जानकारीको तथा श्रमके जीतनेसे शरीरमें फुर्ती (हलकापन) को करता है, अत मन्त्रियोंसे अनुमति पाकर (राजा शिकारके लिये) चले ॥ ४९ ॥

मृगवनोपगमक्षमवेषभृद्विपुलकण्ठनिषक्तशरासनः ।
गगनमश्वखुरोद्धतरेणुभिर्नृसविता स वितानमिवाकरोत् ॥ ५० ॥

मृगवनेति । मृगाणा वन तस्योपगम' प्राप्ति· तस्य क्षममर्हं वेष बिभर्तीति स तथोक्तः, मृगयाविहारानुगुणवेषधारीत्यर्थ । विपुलकण्ठे निषक्तशरासनो लग्नधन्वा । ना सवितेव नृसविता पुरुषश्रेष्ठ । उपमितसमास । स राजाऽश्वखुरोद्धतरेणुभिर्गगन वितान तुच्छमसदिवाकरोत्, गगन नालक्ष्यतेत्यर्थ । 'वितान तुच्छमन्दयो·' इति विश्व । अथवा सवितानमित्येक पदम्, सवितानमुल्लोचसहितमिवाकरोत् । 'अस्त्री वितानमुल्लोच' इत्यमर ॥ ५० ॥

मृगोंसे पूर्ण वनके योग्य भेषवाले, विशाल कण्ठमें धनुषको रक्खे हुए और राजाओंमें सूर्यवत् (तेजस्वी) वे (दशरथ) घोड़ोंके खुरोंसे उड़ी हुई धूलियोंसे आकाशको मानो छोटा (सङ्कुचित), (या 'सवितानमिव' पाठ मानकर मानो चँदोवेसे युक्त) कर दिया ॥ ५० ॥

---

* एतदाशयक एव श्लोकोऽभिज्ञानशाकुन्तले प्रथमेऽङ्के दुष्यन्त प्रति सेनापतिनोक्त दृश्यते, तद्यथा—

'मेदश्छेदकृशोदर लघु भवत्युत्साहयोग्य वपुः
सत्त्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमच्चित्त भयक्रोधयो ।
उत्कर्ष· स हि धन्विनां यदिषव· सिद्ध्यन्ति लक्ष्ये चले ।
मिथ्या हि व्यसन वदन्ति मृगयामीदृग्विनोद कुत ॥' इति ।

ग्रथितमौलिरसौ वनमालया तरुपलाशसवर्णतनुच्छदः ।
तुरगवल्गनचञ्चलकुण्डलो विहरति स्म रुरुचेष्टितभूमिषु ॥ ५१ ॥

ग्रथितेति । वनमालया वनपुष्पस्रजा ग्रथितमौलिर्बद्धकेशपाशः । 'वनपुष्पकृता माला वनमाला प्रकीर्तिता' इति । तरूणां पलाशैः पत्रैः सवर्णः समानस्तनुच्छदो वर्म यस्य स तथोक्तः । इदं च वर्मणः पलाशसावर्ण्याभिधानं मृगाणां विश्वासार्थम् । तुरगस्य वल्गनेन गतिविशेषेण चञ्चलकुण्डलोऽसौ दशरथो रुरुभिर्मृगविशेषैश्चेष्टिताश्चरिता या भूमयस्तासु विहरति स्म विजहार ॥ ५१ ॥

वनमाला (वन-पुष्परचितमाला) से केश बांधे तथा पेड़ोंके पत्तियोंके समान वर्णके हरे रंगके कवचको पहने हुए और घोड़ेके चलनेसे हिलते हुए कुण्डलोंवाले (दशरथ) रुरु मृगोंसे युक्त वनस्थलियोंमें शोभित हुए ॥ ५१ ॥

तनुलताविनिवेशितविग्रहा भ्रमरसंक्रमितेक्षणवृत्तयः ।
ददृशुरध्वनि तं वनदेवताः सुनयनं नयनन्दितकोसलम् ॥ ५२ ॥

तनुलतेति । तनुषु लतासु विनिवेशितविग्रहाः संक्रमितदेहाः भ्रमरेषु संक्रमिता ईक्षणवृत्तयो दृष्टिव्यापारा यासां ताः वनदेवताः सुनयनं शोभनलोचनं नयेन नीत्या नन्दिताः कोसला येन तं दशरथमध्वनि ददृशुः । प्रशस्तरूपत्वात् तं देवता अपि गूढरूपा ददृशुरित्यर्थः ॥ ५२ ॥

सूक्ष्म लताओंमें शरीरको तथा भ्रमरोंमें नेत्रव्यापारको संक्रमित की हुई वनदेवियोंने सुन्दर नेत्रवाले तथा नीतिसे कोसल (देशकी प्रजाओं) को आनन्दित करनेवाले उन्हें (दशरथको) मार्गमें देखा ॥ ५२ ॥

श्वगणिवागुरिकैः प्रथमास्थितं व्यपगतानलदस्यु विवेश सः ।
स्थिरतुरङ्गमभूमि निपानवन्मृगवयोगवयोपचितं वनम् ॥ ५३ ॥

श्वगणीति । स दशरथः । शुनां गणाः स एषामस्तीति श्वगणिनः [illegible] वागुरा मृगबन्धनरज्जुः । 'वागुरा मृगबन्धनी' इत्यमरः । तया चरन्तीति वागुरिकाः जालिकाः । 'चरति' इति ठक्प्रत्ययः । 'द्वौ वागुरिकजालिकौ' इत्यमरः । तैः प्रथममास्थितमधिष्ठितम् । व्यपगता अनलाः दावाग्नयो दस्यवस्तस्कराश्च यस्मात् [illegible] । 'दस्युतस्करमोषकाः' इत्यमरः । 'व्यपेतव्यपगत[illegible] मतुप्स्थि-त्यपि [illegible] ॥' इति [illegible] । स्थिरा दृढा पङ्कादिरहिता तुरङ्गमयोग्या भूमिर्यस्य तत् । निपानवज्जलाशययुक्तम् । 'आहावस्तु निपानं स्यादुपकूपजलाशये' इत्यमरः । मृगैर्हरिणादिभिर्वयोभिः पक्षिभिर्गवयैर्गोसदृशैरारण्यपशुविशेषैश्चोपचितं समृद्धं वनं विवेश प्रविवेश ॥ ५३ ॥

वे (दशरथ) शिकारी कुत्तोंके समूह तथा जालवाले लोगोंसे पहलेसे ही युक्त, दावाग्नि और चोरोंसे रहित, घोड़ोंके चलने योग्य सूखी हुई (दलदलरहित) भूमिवाले, कूओंके पास पशुओंके पानी पीने योग्य हौजोंसे युक्त और हरिण, पक्षी तथा गवय (शावर, नीलगायों) से परिपूर्ण हुए वनमें प्रवेश किये ॥ ५३ ॥

अथ नभस्य इव त्रिदशायुधं कनकपिङ्गतडिद्गुणसंयुतम् ।
धनुरधिज्यमनाधिरुपाददे नरवरो रवरोषितकेसरी ॥ ५४ ॥

अथेति । अथानाधिर्मनोव्यथारहितो नरवरो नरश्रेष्ठः । रवेण धनुष्टङ्कारेण रोषिता केसरिणः सिंहा येन स राजा । कनकमिव पिङ्गः पिशङ्गो यस्तडिदेव गुणो मौर्वी तेन सयुतं त्रिदशायुधमिन्द्रचापं नभस्यो भाद्रपदमास इव । 'स्युर्नभस्य प्रौष्ठपद-भाद्रभाद्रपदाः समाः' इत्यमरः । अधिज्यमधिगतमौर्वीकं धनुरुपाददे जग्राह ॥ ५४ ॥

इसके बाद कष्टरहित, (धनुष) के टङ्कारसे सिंहको क्रोधित किये हुए नरश्रेष्ठ (दशरथ) प्रत्यञ्चा चढ़े हुए धनुषको, सुवर्णके समान बिजलीरूपी प्रत्यञ्चासे युक्त इन्द्रधनुषको भाद्रपद मासके समान ग्रहण किया ॥ ५४ ॥

तस्य स्तनप्रणयिभिर्मुहुरेणशावैर्व्याहन्यमानहरिणीगमनं पुरस्तात् ।
आविर्बभूव कुशगर्भमुखं मृगाणां यूथं तदग्रसरगर्वितकृष्णसारम् ॥ ५५ ॥

तस्येति । स्तनप्रणयिभिः स्तनपायिभिरेणशावैर्हरिणशिशुभिः 'पृथुकः शावकः शिशुः' इत्यमरः । व्याहन्यमानं तद्वत्सलतया तद्गमनानुसारेण मुहुर्मुहुः प्रतिषिध्यमानं हरिणीनां गमनं गतिर्यस्य तत् । कुशा गर्भे येषां तानि मुखानि यस्य तत्कुशगर्भमुखम् । यस्य यूथस्याग्रेसरः पुरःसरो गर्वितो दृप्तश्च कृष्णसारो यस्य तत् । मृगाणां यूथं कुलम् । 'सजातीयैः कुलं यूथं तिरश्चां पुंनपुंसकम्' इत्यमरः । तस्य दशरथस्य पुरस्तादग्रे आविर्बभूव । वसन्ततिलकावृत्तम् ॥ ५५ ॥

स्तनको पीनेके लिये बच्चोंसे बार २ रोके गये हरिणियोंके गमनवाला, मुखमें कुशा लिया हुआ आगे २ चलते हुए मस्त कृष्णसार मृगवाला, मृगोंका झुण्ड उस (दशरथ) के सामने आया ॥ ५५ ॥

तत्प्रार्थितं जवनवाजिगतेन राज्ञा तूणीमुखोद्धृतशरेण विशीर्णपङ्क्ति ।
श्यामीचकार वनमाकुलदृष्टिपातैर्वातेरितोत्पलदलप्रकरैरिवार्द्रैः ॥ ५६ ॥

तदिति । जवनो जवशीलः । 'जुचङ्क्रम्यदन्द्रम्यसृगृधिज्वलशुचलषपतपदः' इत्यनेन युच्प्रत्ययः । 'तरस्वी त्वरितो वेगी प्रजवी जवनो जवः' इत्यमरः । तं वाजिनमश्वं गतेनारूढेन । तूणीपुधिः । 'बह्वादिभ्यश्च' इति स्त्रियां ङीप् । तस्यामुखाद्विवरादुद्धृतशरेण राज्ञा प्रार्थितमभियातम् । 'याच्ञायामभियाने च प्रार्थना कथ्यते

मुखे' इति केशवः। अत एव विशीर्णा पङ्क्तिः संहतिर्यस्य तत् मृगयूथं कर्तृ। आर्द्रैर्भयादश्रुसिक्तैराकुलैर्भयचकितैर्ये दृष्टिपातास्तैः। वातेरितोत्पलदलप्रकरैः पवनकम्पितेन्दीवरदलसमूहैरिव। वनं श्यामीचकार ॥ ५६ ॥

घोड़ेपर चढ़े हुए, तरकसमें सिरेसे बाणको निकाले हुए राजासे पीछा किया गया, (भयवश) बिखरी (छिन्न भिन्न) पंक्तिवाले उस मृगोंके झुण्डने अश्रुयुक्त एवं भयचकित नेत्रोंसे वायुके द्वारा कम्पित हुए नीलकमलपत्रोंके समान, वनको श्यामवर्ण कर दिया ॥ ५६ ॥

लक्ष्यीकृतस्य हरिणस्य हरिप्रभावः प्रेक्ष्य स्थितां सहचरीं व्यवधाय देहम् ।
आकर्णकृष्टमपि कामितया स धन्वी बाणं कृपामृदुमनाः प्रतिसञ्जहार ॥ ५७ ॥

लक्ष्यीकृतस्येति। हरिरिन्द्रो विष्णुर्वा। तस्येव प्रभावः सामर्थ्यं यस्य स तथोक्तः। धन्वी धनुष्मान् नृपः। लक्ष्यीकृतस्य वेद्धुमिष्टस्य हरिणस्य स्वमेवासौ देहं व्यवधायानुरागात्स्वकायेन तिरोधाय स्थिताम्। सह चरतीति सहचरी। पचादिषु चरडिति टित्करणान्ङीप्। यथाह वामनः—'अनुचरीति चरेष्टित्वात्' इति। तां सहचरीं हरिणीं प्रेक्ष्य कामितया स्वयं कामुकत्वात् कृपामृदुमनाः करुणार्द्रचित्तः सन्। आकर्णकृष्टमपि दुष्प्रतिसंहरमपीत्यर्थः। बाणं प्रतिसंजहार नैपुण्यादित्यर्थः। नैपुण्यं तु धन्वीत्यनेन गम्यते ॥ ५७ ॥

विष्णु (या इन्द्र) के समान समर्थ धनुर्धारी उस (दशरथ) ने निशाना बनाये गये हरिणके शरीरको व्यवहित (मेरे पतिको पहले बाण न लगकर मुझे ही [लगे इस भावनासे राजा दशरथ तथा प्रिय पतिके मध्यमें) करके खड़ी हुई हरिणीको देखकर कानतक खींचे हुए बाणको भी स्वयं कामी होनेके कारण दयासे द्रवीभूतचित्त होते हुए उतार लिया (खींचकर भी अर्थात् बाण नहीं छोड़ा) ॥ ५७ ॥

तस्यापरेष्वपि मृगेषु शरान्मुमुक्षोः
कर्णान्तमेत्य बिभिदे निबिडोऽपि मुष्टिः ।
त्रासातिमात्रचटुलैः स्मरतः सुनेत्रैः
प्रौढप्रियानयनविभ्रमचेष्टितानि ॥ ५८ ॥

तस्येति। त्रासातिमात्रचटुलैः त्रासेनातिमात्रं चटुलैरतिचञ्चलैः सुनेत्रैः प्रौढप्रियानयनविभ्रमचेष्टितानि प्रगल्भकान्तानेत्रविलासव्यापारान्स्मरतः। अपरेष्वपि मृगेषु शरान्मुमुक्षोर्मोक्तुमिच्छोस्तस्य नृपस्य निबिडो दृढोऽपि मुष्टिः कर्णान्तमेत्य प्राप्य बिभिदे। स्वयमेव भिद्यते स्म। भिदेः कर्मकर्तरि लिट्। कामिनस्तस्य प्रियाविभ्रमस्मृतिजनितकृपातिरेकान्मुष्टिभेदः। न त्वनैपुण्यादिति तात्पर्यार्थः ॥ ५८ ॥

भयसे अत्यन्त चञ्चल नेत्रोंके द्वारा अपनी प्रौढ प्रियाओंके नेत्रोंके विलासपूर्ण चेष्टाओंको

स्मरण करते हुए दूसरे मृगोंपर भी बाणोंको छोड़नेके इच्छुक उस (दशरथ) की दृढ मुट्ठी भी कानतक पहुंच कर ढीली पढ गयी। (अत एव दूसरे मृगोंपर भी राजा दशरथ बाण नहीं छोड़ सके)॥ ५८॥

उत्तस्थुषः सपदि पल्वलपङ्कमध्यान्मुस्ताप्ररोहकवलावयवानुकीर्णम्।
जग्राह स द्रुतवराहकुलस्य मार्गं सुव्यक्तमार्द्रपदपङ्क्तिभिरायताभिः॥५९॥

उत्तस्थुष इति। स नृपः। मुस्ताप्ररोहाणां मुस्ताङ्कुराणां कवला ग्रासाः। तेषामवयवैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभि शकलैरनुकीर्णं व्याप्तम्। आयताभिर्दीर्घाभिरार्द्रपदपङ्क्तिभि· सुव्यक्तम्। सपदि पल्वलपङ्कमध्यादुत्तस्थुष उत्थितस्य द्रुतवराहकुलस्य पलायितवराहयूथस्य मार्गं जग्राहानुससार। जिघांसया तदीयपदवीमनुययावित्यर्थः॥

उस (दशरथ)ने मोथेकी जड़ोंके ग्रासोंके (मुखपतित) अवयवोंसे व्याप्त, सुदूर तक गीले पैरोंके चिह्नोंकी कतारोंसे स्पष्ट, तत्काल (कुछ समय पहले) ही (गढोंसे) निकलकर भागे हुए सूअरोंके झुण्डोंके रास्ते का अनुसरण किया। (उस रास्तेसे बढ़ते हुए उनका पीछा किया)॥

तं वाहनादवनतोत्तरकायमीषद्विध्यन्तमुद्धृतसटाः प्रतिहन्तुमीषुः।
नात्मानमस्य विविदुः सहसा वराहा वृक्षेषु विद्धमिषुभिर्जघनाश्रयेषु॥६०॥

तमिति। वराहा· वाहनादश्वादीषदवनतोत्तरकाय किञ्चिदानतपूर्वकाय विध्यन्तं प्रहरन्त त नृपम्। उद्धृतसटा ऊर्ध्वकेसरा· सन्तः। 'सटा जटाकेसरयोः' इति केशव। प्रतिहन्तुमीषु प्रतिहर्तुमैच्छन्। अस्य नृपस्येषुभिः सहसा जघनानामाश्रयेष्ववष्टम्भेषु वृक्षेषु विद्धमात्मान न विविदु·। एतेन वराहाणां मनस्वित्व नृपस्य हस्तलाघवं चोक्तम्॥ ६०॥

सूअरोंने घोड़ेपर शरीरको थोड़ा झुकाकर प्रहार करते हुए उन (राजा दशरथ) को गर्दनोंके बालोंको खड़ाकर (ऐसा सूअरोंका स्वभाव होता है कि किसीको मारनेके पूर्व वे गर्दनको उठाकर बालोंको कड़ा कर लेते हैं) मारना चाहा किन्तु इस (दशरथ) के बाणोंसे एकाएक जङ्घोंके आश्रयभूत पेड़ोंमें अपनेको बिधा हुआ नहीं जाना। (जब तक सूअरोंने राजाको मारना चाहा, इतनेमें ही उन्होंने झट उन सूअरोंकी जङ्घाओंमें बाण मारकर उन्हें विवश कर दिया)॥ ६०॥

तेनाभिघातरभसस्य विकृष्य पत्री वन्यस्य नेत्रविवरे महिषस्य मुक्त·।
निर्भिद्य विग्रहमशोणितलिप्तपुङ्खस्त पातयां प्रथममास पपात पश्चात्॥६१॥

तेनेति। अभिघाते रभस औत्सुक्यं यस्य तस्य, अभिहन्तुमुद्यतस्येत्यर्थं। वन्यस्य वने भवस्य महिषस्य नेत्रविवरे नेत्रमध्ये तेन नृपेण विकृष्याकृष्य मुक्त· पत्री शरो विग्रह महिषदेह निर्भिद्य विदार्य। शोणितलिप्तो न भवतीत्यशोणितलिप्त· पुङ्खो

यस्य स तथोक्तः सन् । तं महिषं प्रथमं पातयामास । स्वयं पश्चात्पपात । 'कृञ्चानु-प्रयुज्यते लिटि' इत्यत्रानुप्रयुज्यत इत्यस्य व्यवहितविपर्यस्तप्रयोगनिवृत्त्यर्थत्वात् 'पातयां प्रथममास' इत्यपप्रयोग इति पाणिनीयाः। तथाह वार्त्तिककारः—'विपर्यासनिवृत्त्यर्थं व्यवहितनिवृत्त्यर्थं च' इति ॥ ६१ ॥

वेगसे प्रहार करनेवाले जिसकी भैंसेकी आँखमें उस (दशरथ) से खींचकर छोड़ा गया बाण पंखमें बिना रक्तरंजित होता हुआ (भैंसेके) शरीरको विदीर्णकर उसको ही पहले गिराया तथा स्वयं पीछे गिरा ॥ ६१ ॥

प्रायो विषाणपरिमोक्षलघूत्तमाङ्गान्खड्गांश्चकार नृपतिर्निशितैः क्षुरप्रैः ।
शृङ्गं स दृप्तविनयाधिकृतः परेषामत्युच्छ्रितं न ममृषे न तु दीर्घमायुः॥६२॥

प्राय इति । नृपतिर्निशितैः क्षुरप्रैः शरविशेषैः, अर्धचन्द्राकारबाणैरित्यर्थः । खड्गान्, खड्गाख्यान्मृगान् 'गण्डके खड्गखड्गिनौ' इत्यमरः । प्रायो बाहुल्येन विषाणपरि-मोक्षेण शृङ्गमोक्षेण लघून्यगुरूण्युत्तमाङ्गानि शिरांसि येषां तानकरोत्, न त्वमारयदित्य-र्थः । कुतः, दृप्तविनयाधिकृतो दुष्टनिग्रहनियुक्तः स राजा परेषां प्रतिकूलानामत्युच्छ्रि-तमुन्नतं शृङ्गं विषाणं प्राधान्यं च । 'शृङ्गं प्राधान्यसान्वोश्च' इत्यमरः । न ममृषे न सेहे । दीर्घमायुर्जीवितकालम् । 'आयुर्जीवितकालो ना' इत्यमरः । न ममृष इति न किन्तु ममृष एवेत्यर्थः ॥ ६२ ॥

राजा (दशरथ) ने तेज बाणोंसे गैंडोंको अधिकतर सींगको तोड़कर हल्के मस्तक-वाला कर दिया । अभिमानियोंके शासक (राजा दशरथ) शत्रुओंके अत्युन्नत सींगको (पक्षान्तरमें—उनकी प्रधानताको) नहीं सहन किये (और उनकी) दीर्घायुको नहीं सहन किये ऐसी बात नहीं थी । (राजाने दयाकर उनके प्राण नहीं लिये, किन्तु मानको भङ्ग किया) ॥ ६२ ॥

व्याघ्रानभीरभिमुखोत्पतितान्गुहाभ्यः
फुल्लासनाग्रविटपानिव वायुरुग्णान् ।
शिक्षाविशेषलघुहस्ततया निमेषा-
त्तूणीचकार शरपूरितवक्त्ररन्ध्रान् ॥ ६३ ॥

व्याघ्रानिति । अभीर्निर्भीकः स धन्वी गुहाभ्योऽभिमुखमुत्पतितान् । वायुना रुग्णान्भग्नान् फुल्ला विकसिता । 'अनुपसर्गात्फुल्लक्षीबकृशोल्लाघाः' इति निष्ठा-तकारस्य लत्वनिपातः । येऽसनस्य सर्जवृक्षस्य । 'सर्जकासनबन्धूकपुष्पप्रियक-जीवकाः' इत्यमरः । अग्रविटपानिव स्थितान्, हृतविक्रमानित्यर्थः । व्याघ्राणां विवृतास्यत्वानुरूपमत्र फुल्लविशेषणम् । शरैः पूरितानि वक्त्ररन्ध्राणि येषां तान्

शिक्षाविशेषेणाभ्यासातिशयेन लघुहस्ततया क्षिप्रहस्ततया निमेषात्तूणीचकार, तूर्णं शरैः पूरितवानित्यर्थ ॥ ६३ ॥

निर्भय दशरथने गुहासे निकलकर सामने आये हुए, वायुसे बिखरे हुए विकसित पुष्पोंवाले सर्ज वृक्षोंके समान स्थित वाघोंका मुख उत्तम शिक्षा पानेके कारण फुर्तीले हाथोंसे पलकभरमें बाणोंसे भर दिया। (गुफासे उछलकर सामने आते ही क्षणमात्रमें बाणोंसे उनके मुखोंको पूर्ण कर दिया) ॥ ६३ ॥

निर्घातोग्रैः कुञ्जलीनाञ्जिघांसुर्ज्यानिर्घोषैः क्षोभयामास सिंहान् ।
नूनं तेषामभ्यसूयापरोऽभूद्वीर्योदग्रे राजशब्दे मृगेषु ॥ ६४ ॥

निर्घातेति। कुञ्जेषु लीनान्। 'निकुञ्जकुञ्जौ वा क्लीबे लतादिपिहितोदरे' इत्यमर.। सिंहाञ्जिघांसुर्हन्तुमिच्छु । निर्घातो व्योमोत्थित औत्पातिकः शब्दविशेषः। तदुक्त नारदीयसंहितायाम्—'वायुनाऽभिहतो वायुर्गगनात्पतितः क्षितौ। यदाऽदीप्तः खगरुत. स निर्घातोऽतिदोषकृत् ॥' इति। तद्वदुग्रै रौद्रैर्ज्यानिर्घोषैर्मौर्वीशब्दै. क्षोभयामास। अत्रोत्प्रेक्षते—तेषां सिंहानां सम्बन्धिनि वीर्येणोदग्रे उन्नते मृगेषु विषये यो राजशब्दस्तस्मिन्नभ्यसूयापरोऽभून्नूनम् । अन्यथा कथमेतानन्विष्य, हन्यादित्यर्थः। 'मृगाणाम्' इति पाठे समासे गुणभूतत्वाद्राजशब्देन सम्बन्धो दुर्घटः। शालिनीवृत्तम्। 'शालिन्युक्ता म्तौ तगौ गोऽब्धिलोकैः' इति लक्षणात् ॥ ६४ ॥

कुञ्जोंमें छिपे हुए सिंहोंको मारनेके इच्छुक (राजा दशरथ) ने बिजली कड़कनेके समान तीव्र धनुषके टङ्कारोंसे उन्हें व्याकुल कर दिया। मालूम पड़ता है कि निश्चय ही (राजा दशरथ) मृगोंमें पराक्रमसे उन्नत राजशब्द अर्थात् 'मृगराज' शब्दोंमें ईर्ष्या करते थे। (वे स्वयं एकच्छत्र राजा रहते हुए इन सिंहोंका 'मृगराज' कहलाना नहीं सहन करते थे, अतएव उन्हें मारनेकी इच्छासे कुञ्जोंमें छिपे हुए सिंहोंको धनुष्टङ्कारसे व्याकुल कर दिया ॥ ६४ ॥

तान्हत्वा गजकुलबद्धतीव्रवैरान्काकुत्स्थः कुटिलनखाग्रलग्नमुक्तान् ।
आत्मानं रणकृतकर्मणां गजानामानृण्यं गतमिव मार्गणैरमंस्त ॥ ६५ ॥

तानिति। काकुत्स्थो दशरथ। गजकुलेषु बद्धं तीव्रं वैरं यैस्तान्। कुटिलेषु नखाग्रेषु लग्ना मुक्ता गजकुम्भमौक्तिकानि येषां तान्सिंहान्हत्वा। आत्मानं रणेषु कृतकर्मणां कृतोपकाराणां गजानामानृण्यमनृणत्वं मार्गणैः शरैः। 'मार्गणो याचके शरे' इति विश्व.। गतं प्राप्तवन्तमिवामंस्त मेने ॥ ६५ ॥

दशरथने गज समूहोंसे घोर विरोध करनेवाले और टेढे नखोंके अग्रभागमें स्थित गजमुक्तावाले उन सिंहोंको मारकर युद्ध कार्यमें उपकार करनेवाले हाथियोंके ऋणसे अपनेको मुक्त हुआ माना ॥ ६५ ॥

चमरान्परितः प्रवर्तिताश्वः क्वचिदाकर्णविकृष्टभल्लवर्षी ।
नृपतीनिव तान्वियोज्य सद्यः सितबालव्यजनैर्जगाम शान्तिम् ॥ ६६ ॥

चमरानिति । क्वचिच्चमरान्परितः । 'अभितःपरितःसमयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि' इत्यनेन द्वितीया । प्रवर्तिताश्वः प्रधाविताश्वः । आकर्णविकृष्टभल्लानि वर्षतीति तथोक्तः स नृपः । नृपतीनिव तांश्चमरान्सितबालव्यजनैः शुभ्रचामरैर्वियोज्य विरहय्य सद्यः शान्तिं जगाम । शूराणां परकीयमैश्वर्यमेवापहर्तव्यम् । न तु जीवितमिति भावः । औपच्छन्दसिकं वृत्तम् ॥ ६६ ॥

चमर मृगोंके चारों ओर घोड़ेको दौड़ाये हुए तथा कानतक खींच-खींच कर भल्ल मारनेवाले वे (दशरथ) राजाओंके समान उनको श्वेत चामरों (पक्षा०—पूँछों) से रहितकर शीघ्र शान्त हो गये। (राजाओंको पराजितकर उन्हें राजचिह्नरूप श्वेत चामरोंसे रहितकर शान्त होनेके समान चमर मृगोंके भी पूँछोंको काटकर छोड़ दिया उन्हें मारा नहीं) ॥ ६६ ॥

अपि तुरगसमीपादुत्पतन्तं मयूरं न स रुचिरकलापं बाणलक्ष्यीचकार ।
सपदि गतमनस्कश्चित्रमाल्यानुकीर्णे रतिविगलितबन्धे केशपाशे प्रियायाः ॥

अपीति । स नृपस्तुरगसमीपादुत्पतन्तमपि सुप्रहारमपीत्यर्थः । रुचिरकलापं मधुरबर्हम् । मह्यामक्षिप्तत्वेन रौतीति मयूरो बर्हो । पृषोदरादित्वात्साधुः । तं चित्रैर्माल्यैरनुकीर्णे रतौ विगलितबन्धे प्रियायाः केशपाशे सपदि गतमनस्कः सक्तचित्तः । 'उरःप्रभृतिभ्यः कप्' इति कप्प्रत्ययः । न बाणलक्ष्यीचकार न प्रजहारेत्यर्थः ॥ ६७ ॥

वे (राजा दशरथ) घोड़ेके पाससे उड़ते हुए भी मनोहर पूँछोंवाले मोरको, चित्र-विचित्र मालाओंसे व्याप्त (गुंथे हुए) तथा रतिमें बन्धन छूटे हुए प्रियाके केश-समूह (चोटी) को स्मरणकर बाणका निशाना नहीं बनाये (उसपर बाण नहीं चलाये) ॥ ६७ ॥

तस्य कर्कशविहारसम्भवं स्वेदमाननविलग्नजालकम् ।
आचचाम सतुषारशीकरो भिन्नपल्लवपुटो वनानिलः ॥ ६८ ॥

तस्येति । कर्कशविहारात्कठिनव्यायामात्सम्भवो यस्य तम् । आनने विलग्नजालकं बद्धकदम्बकं तस्य नृपस्य स्वेदम् । सतुषारशीकरः शिशिराम्बुकणसहितः । भिन्ना निर्भिन्नाः पल्लवानां पुटाः कोशा येन स वनानिल आचचाम जहारेत्यर्थः । रथोद्धता वृत्तमेतत् ॥ ६८ ॥

कठोर (मृगया) विहार करनेसे उत्पन्न मुखपर बूँदोंके समूहोंसे युक्त उनके पसीनेको, ठंढे जलकणोंसे युक्त तथा पत्तोंके बन्द कोषोंको स्फुटित करनेवाली वनकी हवाने दूर किया ॥ ६८ ॥

इति विस्मृतान्यकरणीयमात्मनः सचिवावलम्बितधुरं धराधिपम् ।
परिवृद्धरागमनुबन्धसेवया मृगया जहार चतुरेव कामिनी ॥ ६९ ॥

इतीति । इति पूर्वोक्तप्रकारेणात्मनो विस्मृतमन्यत्करणीयं कार्यं येन तम्, विस्मृतात्मकार्यान्तरमित्यर्थः । सचिवैरवलम्बिता धृता धूर्यस्य तम् । 'ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे' इति समासान्तोऽच्प्रत्ययः । अनुबन्धसेवया सन्ततसेवया परिवृद्धो रागो यस्य त धराधिपम् । मृग्यन्ते यस्यां मृगा इति मृगया 'परिचर्यापरिसर्यामृगयाटाट्यादीनामुपसंख्यानम्' इति शप्रत्ययान्तो निपातः । चतुरा विदग्धा कामिनीव जहाराचकर्ष । 'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति । हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥' इति भावः ॥ ६९ ॥

इस प्रकार अपने दूसरे कर्तव्योंको भूले हुए तथा राज्यभारको मन्त्रियोंके अधीन किये हुए और निरन्तर सेवन करने (लगे रहने) से अधिक प्रेम (आसक्ति) युक्त राजाको आखेटने चतुर कामिनीके समान आकर्षित कर लिया ॥ ६९ ॥

स ललितकुसुमप्रवालशय्यां ज्वलितमहौषधिदीपिकासनाथाम् ।
नरपतिरतिवाहयाम्बभूव क्वचिदसमेतपरिच्छदस्त्रियामाम् ॥ ७० ॥

स इति । स नरपतिः । ललितानि कुसुमानि प्रवालानि पल्लवानि शय्या यस्यां ताम् । ज्वलिताभिर्महौषधीभिरेव दीपिकाभिः सनाथाम्, तत्प्रधानामित्यर्थः । त्रियामां त्रयो यामा यस्याः सा ताम् रात्रिं क्वचिदसमेतपरिच्छदः, परिहृतपरिजनः सन्नित्यर्थः । अतिवाहयाम्बभूव गमयामास । पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥ ७० ॥

उस राजा (दशरथ) ने सुन्दर पुष्पों तथा नवपल्लवोंकी शय्यावाली, जलती हुई महौषधिरूप दीपकोंवाली रात्रिको कहींपर परिजनोंसे रहित होते अर्थात् अकेला विताया । (राजा दशरथने अपने अनुचरोंका साथ छूट जानेपर रातको किसी स्थानमें फूलों तथा पत्तोंपर सोकर विताया और वहां दीपकके स्थानमें औषधियां प्रकाशित हो रही थीं) ॥७०॥

उषसि स गजयूथकर्णतालैः पटुपटहध्वनिभिर्विनीतनिद्रः ।
अरमत मधुराणि तत्र शृण्वन्विहगविकूजितबन्दिमङ्गलानि ॥ ७१ ॥

उषसीति । उषसि प्रातः पटूनां पटहानामिव ध्वनिर्येषां तैर्गजयूथानां हस्तिसमूहानां कर्णैरेव तालैर्वाद्यप्रभेदैर्विनीतनिद्रः स नृपस्तत्र वने मधुराणि विहगानां पक्षिणां विकूजितान्येव वन्दिनां मङ्गलानि मङ्गलगीतानि शृण्वन्नरमत ॥ ७१ ॥

प्रातःकाल बडे नगाड़ेके समान ध्वनिवाली हाथियोंके कानोंकी ध्वनिसे जगे हुए वे (राजा दशरथ) वहांपर पक्षियोंका मधुर-मधुर वचन (चहचहाना) रूप वन्दियोंके मङ्गल स्तुतियोंको सुनते हुए प्रसन्न हुए ॥ ७१ ॥

अथ जातु रुरोर्गृहीतवर्त्मा विपिने पार्श्वचरैरलक्ष्यमाणः ।
श्रमफेनमुचा तपस्विगाढां तमसां प्राप नदीं तुरङ्गमेण ॥ ७२ ॥

अथेति । अथ जातु कदाचिद्रुरोर्मृगस्य गृहीतवर्त्मा स्वीकृतरुरुमार्गो विपिने वने पार्श्वचरैरनुचरैरलक्ष्यमाणः, तुरगवेगादित्यर्थः । श्रमेण फेनमुचा स्वेदफेनवर्षिणा तुरङ्गमेण तपस्विभिर्गाढां सेवितां तमसां नाम नदीं सरितं प्राप ॥ ७२ ॥

इसके बाद किसी समय रुरु मृगके मार्गको ग्रहण किये (उसका पीछा करते) हुए वनमें अनुचरोंसे नहीं देखे जाते हुए वे (दशरथ राजा) थकावटसे फेनको गिराते हुए घोड़ेपर चढ़े हुए, तपस्वियोंने जिसमें स्नान किया है ऐसी तमसा नदीको प्राप्त किया अर्थात् रुरु मृगका पीछा करते हुए दशरथ साथियोंका साथ छूट जानेपर चढ़े हुए घोड़ेपर तमसा नदीपर पहुँचे ॥ ७२ ॥

कुम्भपूरणभवः पटुरुच्चैरुच्चचार निनदोऽम्भसि तस्याः ।
तत्र स द्विरदबृंहितशङ्की शब्दपातिनमिषुं विससर्ज ॥ ७३ ॥

कुम्भेति । तस्यास्तमसाया अम्भसि कुम्भपूरणे भव उत्पन्नः । पटुः स्फुटः । उच्चैर्गम्भीरो निनदो ध्वनिरुच्चचारोदियाय । तत्र निनदे स नृपः । द्विरदबृंहितं शङ्कत इति द्विरदबृंहितशङ्की सन् । शब्देन शब्दानुसारेण पततीति शब्दपातिनमिषुं विससर्ज । स्वागता वृत्तम् ॥ ७३ ॥

उस (तमसा नदी) के पानीमें घड़ा भरनेसे मधुर एवं तीव्र ध्वनि हुई, उस ध्वनिमें हाथीके गर्जनेका सन्देहकर उस (दशरथ) ने शब्दवेधी बाण छोड़ा ॥ ७३ ॥

नृपतेः प्रतिषिद्धमेव तत्कृतवान्पङ्क्तिरथो विलङ्घ्य यत् ।
अपथे पदमर्पयन्ति हि श्रुतवन्तोऽपि रजोनिमीलिताः ॥ ७४ ॥

नृपतेरिति । तत्कर्म नृपतेः क्षत्रियस्य प्रतिषिद्धमेव यदेतत्कर्म गजवधरूपं पङ्क्तिरथो दशरथो विलङ्घ्य । 'लक्ष्मीकामो युद्धादन्यत्र करिवधं न कुर्यात्' इति शास्त्रमुल्लङ्घ्य कृतवान् । ननु विदुषस्तस्य कथमीदृग्विचेष्टितमत आह—अपथ इति । श्रुतवन्तोऽपि विद्वांसोऽपि रजोनिमीलिता रजोगुणावृताः सन्तः । न पन्था अपथम् । 'पथो विभाषा' इति वा समासान्तः । 'अपथं नपुंसकम्' इति नपुंसकत्वम् । 'अपन्थास्त्वपथं तुल्ये' इत्यमरः । तस्मिन्नपथेऽमार्गे पदमर्पयन्ति हि निक्षिपन्ति हि, प्रवर्तन्त इत्यर्थः । वैतालीयं वृत्तम् ॥ ७४ ॥

वह (गजवधरूप) कर्म राजाके प्रतिकूल ही हुआ, जिस (गजवधरूप) कर्मको दशरथ ने ('युद्धभूमिके अतिरिक्त हाथीका वध नहीं करना चाहिये' इस शास्त्रीय वचन का) उल्लङ्घन

कर किया। विद्वान् भी राजसिक गुणसे आक्रान्त होते हुए अयोग्य स्थानमें पैर रखते हैं अर्थात् नहीं करने योग्य काम कर देते हैं ॥ ७४ ॥

हा तातेति क्रन्दितमाकर्ण्य विषण्णस्तस्यान्विष्यन्वेतसगूढं प्रभवं सः ।
शल्यप्रोतं प्रेक्ष्य सकुम्भं मुनिपुत्रं तापादन्तःशल्य इवासीत्क्षितिपोऽपि॥७५॥

हेति । हेत्यार्तौ । तातो जनकः । 'हा विषादशुग्गतिषु' इति । 'तातस्तु जनकः पिता' इति चामरः । हा तातेति क्रन्दितं क्रोशनमाकर्ण्य । विषण्णो भग्नोत्साहः सन् । तस्य क्रन्दितस्य वेतसैर्गूढं छन्नम् । प्रभवत्यस्मादिति प्रभवः कारणम् । तमन्विष्य-ञ्छल्येन शरेण प्रोतं स्यूतम् । 'शल्यं शङ्कौ शरे वंशे' इति विश्वः । सकुम्भं मुनिपुत्रं प्रेक्ष्य स क्षितिपोऽपि तापाद् दुःखादन्तः शल्यं यस्य सोऽन्तःशल्य इवासीत् । मत्त-मयूरं वृत्तम् ॥ ७५ ॥

'हा पिताजी !' ऐसा रोदन सुनकर हतोत्साह होते हुए, वेतों (के कुञ्ज) में छिपे हुए उस (रोदनध्वनि) के उत्पत्तिस्थानको ढूंढते हुए, बाणसे आहत तथा घडा लिये मुनिकुमारको देखकर राजा भी दुःखके कारण हृदयमें बाणविद्ध के समान (दुखित) हो गये ॥ ७५ ॥

तेनावतीर्य तुरगात्प्रथितान्वयेन पृष्टान्वयः स जलकुम्भनिषण्णदेहः ।
तस्मै द्विजेतरतपस्विसुतं स्खलद्भिरात्मानमक्षरपदैः कथयाम्बभूव ॥ ७६ ॥

तेनेति । प्रथितान्वयेन प्रख्यातवंशेन । एतेन पापभीरुत्वं सूचितम् । तेन राज्ञा तुरगादवतीर्य पृष्टान्वयो ब्रह्महत्याशङ्कया पृष्टकुलः । जलकुम्भनिषण्णदेहः स मुनि-पुत्रस्तस्मै राज्ञे स्खलद्भिः, अशक्तिवशादर्धोच्चारितैरित्यर्थः । अक्षरप्रायैः पदैरक्षरपदैः-रात्मानं द्विजेतरश्चासौ तपस्विसुतश्च तं द्विजेतरतपस्विसुतं कथयाम्बभूव न तावत्त्रै-वर्णिक एवाहमस्मि किन्तु करणः । 'वैश्यात्तु करणः शूद्रायाम्' इति याज्ञवल्क्यः । कुतो ब्रह्महत्येत्यर्थः । तथा च रामायणे—'ब्रह्महत्याकृतं पापं हृदयादपनीयताम् । न द्विजातिरहं राजन्माभूत्ते मनसो व्यथा । शूद्रायामस्मि वैश्येन जातो जन-पदाधिप' ॥ इति ॥ ७६ ॥

विख्यात कुलवाले उस (दशरथ) ने घोड़ेसे उतरकर वंश पूछा तो पानीके घड़े पर शरीरको रखकर (सहारा देकर) वह मुनिकुमार उन (दशरथ) से स्खलित होते हुए अर्थात् अस्पष्ट अक्षरोंवाले शब्दोंसे अपनेको द्विजसे भिन्न (वैश्यपितासे शूद्र मातामें उत्पन्न 'करण' संज्ञक) मुनि-कुमार बतलाया। (इसी कारण राजा दशरथ ब्रह्महत्याके पापसे बच गये)॥

तच्चोदितश्च तमनुद्धृतशल्यमेव पित्रोः सकाशमवसन्नदृशोर्निनाय ।
ताभ्यां तथागतमुपेत्य तमेकपुत्रमज्ञानतः स्वचरितं नृपतिः शशंस ॥ ७७ ॥

तदिति । तच्चोदितस्तेन पुत्रेण चोदितः प्रेरितः पितृसमीपं प्रापयेत्युक्तः स नृप-

निरपुरुषमप्रमसमुत्पादितचरमेव तं मुनिपुत्रम् । अवसन्नलोचनयोरन्धयोः, अन्धके रित्यर्थः । पित्रोर्मातापित्रोः । 'पिता मात्रा' इत्येकशेषः । अभ्याशं समीपं निनाय । इदं च रामायणविरुद्धम् । तत्र–'अथाहमेकस्तं देशं नीत्वा तौ भृशदुःखितौ । अस्पर्शयमहं पुत्रं तं मुनिं सह भार्यया' इति दशरथेन एव मृतं पुत्रं प्रति पित्रोरानयनमभिधानात् । तथापरं चैतत्सगृह्यम् । एकमात्रो पुत्रस्यैकपुत्रस्य । एकमात्रं पित्रोर अन्यपतिकर्मणसूचनार्थम् । तं मुनिपुत्रमुपेत्य सविधं गत्वा तत्रागत्य परिभ्रम्य स्वचरितं स्वकृतं ताभ्यां मातापितृभ्यां किमाग्रहणात्तनुपी । अर्थात् कथितवान् इत्यर्थः

राजा (दशरथ) उसको वैसा शरमेपर विना बाण निकाले ही उस (कुमार) को उसके माता-पिताके पास ले गये और उनसे पुत्रके जन्मेमोंसे उस प्रकार (वेदोंके कुम्भमें छिपे रहने से) अज्ञानसे किये गये अपने कार्य (हाथीके भ्रमसे मारने) को कह दिया॥

तौ दम्पती बहु विलप्य शिशोः प्रहर्त्रा शल्यं निखातमुदहारयतामुरस्तः ।
सोऽभूत्परासुरथ भूमिपतिं शशाप हस्तार्पितैर्नयनवारिभिरेव वृद्धः ॥७८॥

ताविति । तौ जाया च पतिश्च दम्पती । राजदन्तादिषु जायाशब्दस्य दम्भावो जम्भावश्च विकल्पेन निपातितः । 'दम्पती जम्पती जायापती भार्यापती च तौ' इत्यमरः । बहु विलप्य भूरि परिदेव्य । 'विलापः परिदेवनम्' इत्यमरः । शिशोरुरसो वक्षसः । 'पञ्चम्यास्तसिल्' निखातं शल्यं शरं प्रहर्त्रा राज्ञोदहारयतामुद्धारयामा-सतुः । स शिशुः परासुर्गतप्राणोऽभूत् । अथ वृद्धो हस्तार्पितैर्नयनवारिभिरेव शाप-दानस्य जलपूर्वकत्वादेव भूमिपतिं शशाप ॥ ७८ ॥

उस दम्पति (मुनिने) बहुत विलापकर बालकको मारनेवाले (दशरथ) से गड़े हुए बाणको (बालककी) छातीसे निकलवाया और वह मर गया, उसके बाद वृद्ध (मुनि) ने हाथमें आँसूका जल लेकर राजाको ऐसा शाप दिया—॥ ७८ ॥

दिष्टान्तमाप्स्यति भवानपि पुत्रशोका-
दन्त्ये वयस्यहमिवेति तमुक्तवन्तम् ।
आक्रान्तपूर्वमिव मुक्तविषं भुजङ्गं
प्रोवाच कोसलपतिः प्रथमापराद्धः ॥ ७९ ॥

दिष्टान्तमिति । हे राजन् ! भवानप्यन्त्ये वयस्यहमिव पुत्रशोकाद्दिष्टान्तं कालाव-सानं मरणमित्यर्थः । 'दिष्टः काले च दैवे स्यात्' इति विश्वः । आप्स्यति प्राप्स्यति । इत्युक्तवन्तम् । आक्रान्तः पादाहतः पूर्वमाक्रान्तपूर्वः । सुप्सुपेति समासः । 'राजदन्तादिषु परम्' इत्यनेन परनिपातः । तं प्रथममपकृतमित्यर्थः । मुक्तविष-वमनानन्तरमनुग्राहकविषं भुजङ्गमिव स्थितं तं वृद्धं प्रति प्रथमापराद्धः प्रथमापराधी ।

कर्तरि क्तः । इद च सहने कारणमुक्तम् । कोसलपतिर्दशरथः शापप्रदानात्पश्चाद्प्येनं मुनिं प्रोवाच ॥ ७९ ॥

'आप भी वृद्धावस्थामें मेरे समान पुत्रके शोकसे मरेंगे' ऐसा कहनेवाले, पहले आक्रान्त (पैर आदिसे दबे हुए) विषको उगलनेवाले सर्पके समान उस (मुनि) से, पहले (अपने) को अपराधी कहनेवाले कोसलाधीश (दशरथ) बोले—॥ ७९ ॥

शापोऽप्यदृष्टतनयाननपद्मशोभे
सानुग्रहो भगवता मयि पातितोऽयम् ।
कृष्यां दहन्नपि खलु क्षितिमिन्धनेद्धो
बीजप्ररोहजननीं ज्वलन. करोति ॥ ८० ॥

शाप इति । अदृष्टा तनयाननपद्मशोभा पुत्रमुखकमलश्रीर्येन तस्मिन्नपुत्रके मयि भगवता पातित । वज्रप्रायत्वात्पातित इत्युक्तम् । अयं पुत्रशोकान्म्रियस्वेत्येवंरूपः शापोऽपि सानुग्रहः। वृद्धकुमारीवरन्यायेनेष्टावाप्तेरान्तरीयकत्वात्सोपकार एव । निग्राहकस्याप्यनुग्राहकत्वमर्थान्तरन्यासेनाह—कृष्यामिति । इन्धनै' काष्ठैरिद्ध' प्रज्वलितो ज्वलनोऽग्निः कृष्यां कर्षणार्हाम् । 'ऋदुपधाच्चाक्लृपिचृते ' इति क्यप् । क्षितिं दहन्नपि बीजप्ररोहाणां बीजाङ्कुराणां जननीमुत्पादनक्षमा करोति ॥ ८० ॥

पुत्रके मुखकमलकी शोभाको नहीं देखे हुए मुझपर आपने यह अनुग्रहरूप शापको गिराया है । इन्धनसे बढी हुई जोतने योग्य भूमिको जलाती हुई भी अग्नि उसे बीजाङ्कुरोत्पदिका बनाती है । (मुझे अब तक कोई पुत्र नहीं हुआ है अत एव आपका वचन तो सत्य होगा तथा मुझे पुत्रका मुखकमल देखनेका सत्सौभाग्य प्राप्त होगा, इस प्रकार आपने शाप देकर भी मुझपर उस प्रकार अनुग्रह किया है, जिस प्रकार घास-फूस आदि इधनोंसे जोतने योग्य भूमिको जलानेवाली भी आग उसे पैदावार ही बना देती है) ॥ ८० ॥

इत्थं गते गतघृण' किमयं विधत्तां वध्यस्तवेत्यभिहितो वसुधाधिपेन ।
एधान्हुताशनवतः स मुनिर्ययाचे पुत्र परासुमनुगन्तुमनाः सदार. ॥ ८१ ॥

इत्यमिति । इत्थं गते प्रवृत्ते सति । वसुधाधिपेन राज्ञा । गतघृणो निष्करुण., इन्तृत्वान्निष्कृप इत्यर्थः । अत एव तव वध्यो वधार्होऽय जन । अयमिति राज्ञो निर्वेदादनादरेण स्वात्मनिर्देश. । किं विधत्तामित्यभिहित उक्तः, मया किं विधेयमिति विज्ञापित इत्यर्थ । स मुनि सदार. सभार्यः परासुं गतासु पुत्रमनुगन्तु मनो यस्य सोऽनुगन्तुमना. सन् । 'तु काममनसोरपि' इति मकारलोपः । हुताशनवत' साग्नी नेधान्काष्ठानि ययाचे । न चात्रात्मघातदोष' । 'अनुष्ठानासमर्थस्य वानप्रस्थस्य जीर्यत' । भृग्वग्निजलसम्पातैर्मरणं प्रविधीयते' इत्युक्तेः ॥ ८१ ॥

'प्रत्ययोऽधीनशपथज्ञानविश्वासहेतुषु' इत्यमरः । स नृपः मन्थात्प्राक् मन्थनात्पूर्वं मनभिव्यक्तरत्ना रत्नोत्पत्तिर्यस्य सोऽर्णव इव । चिरमतिष्ठत् । सामग्र्यभावादि कार्यो न तु सम्पन्नवानिति भावः ॥ ३ ॥

सन्तानकी अपेक्षा करनेवाले सन्तानवाले वे राजा (दशरथ) मन्थनके पहले अप्रकट रत्नोत्पत्तिवाले समुद्रके समान बहुत कालतक रहे । (भीतरमें रत्नोंके रहनेपर भी मन्थनके पहले जिस प्रकार समुद्रके रत्न नहीं दिखलायी पड़ते, उसी प्रकार कारण (पुत्रेष्टि यज्ञ) की अपेक्षा करनेवाली सन्तान भी राजाको नहीं प्राप्त हुई) ॥ ३ ॥

ऋष्यशृङ्गादयस्तस्य सन्तः सन्तानकाङ्क्षिणः ।
आरेभिरे जितात्मानः पुत्रीयामिष्टिमृत्विजः ॥ ४ ॥

ऋष्येति । ऋष्यशृङ्गादयः । ऋष्यशृङ्गो नाम कश्चिन्मुनिः तदादयः सन्तः सत्पुरुषाः ऋतौ ऋतौ यजन्तीत्यृत्विजो याजकाः । 'ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्च्युजिक्रुञ्चां च' इत्यनेन क्विन्प्रत्ययो निपातः । जितात्मानो जितान्तःकरणाः सन्तः सन्तानकाङ्क्षिणः पुत्रार्थिनस्तस्य दशरथस्य पुत्रीयां पुत्रनिमित्ताम् । 'पुत्राच्छ च' इति छप्रत्ययः । इष्टिं यागमारेभिरे प्रचक्रमिरे ॥ ४ ॥

उन (दशरथ) की सन्तानको चाहनेवाले, महात्मा एवं जितेन्द्रिय ऋष्यशृङ्ग आदि ऋत्विजोंने पुत्रेष्टि यज्ञ करना आरम्भ किया (अथवा-ऋष्यशृङ्ग आदि सज्जन ऋत्विजोंने सन्तानेच्छुक एवं जितेन्द्रिय उस राजाके पुत्रेष्टि यज्ञको करना आरम्भ किया) ॥ ४ ॥

तस्मिन्नवसरे देवाः पौलस्त्योपप्लुता हरिम् ।
अभिजग्मुर्निदाघार्ताश्छायावृक्षमिवाध्वगाः ॥ ५ ॥

तस्मिन्निति । तस्मिन्नवसरे पुत्रकामेष्टिप्रवृत्तिसमये देवाः पुलस्त्यस्य गोत्रापत्यं पुमान्पौलस्त्यो रावणः तेनोपप्लुताः पीडिताः सन्तः । निदाघार्ता घर्मातुराः । अध्वानं गच्छन्तीत्यध्वगाः पान्थाः । 'अन्तात्यन्ताध्वदूरपारसर्वानन्तेषु डः' इति डप्रत्ययः । छायाप्रधानं वृक्षं छायावृक्षमिव । शाकपार्थिवादित्वात्समासः । हरिं विष्णुमभिजग्मुः ॥

उसी समय रावणसे पीडित देवलोग विष्णु भगवान्‌के पास छायावाले वृक्षके पास घामसे तप्त पथिकोंके समान गये ॥ ५ ॥

ते च प्रापुरुदन्वन्तं बुबुधे चादिपूरुषः ।
अव्याक्षेपो भविष्यन्त्याः कार्यसिद्धेर्हि लक्षणम् ॥ ६ ॥

त इति । ते देवाश्चोदन्वन्तं समुद्रम् 'उदन्वानुदधौ च' इति निपातः । प्रापुः । आदिपुरुषो विष्णुश्च बुबुधे । योगनिद्रां व्याजहौ । समकालमित्येवमनयोरवि-नाभावार्थौ चकारौ । तथाहि । अव्याक्षेपो मन्दत्वाभावः । अविलम्ब इति यावत् ।

भविष्यन्त्याः कार्यसिद्धेर्लक्षणं लिङ्गं हि । उक्तं च—'अनन्यपरता चास्य कार्यसिद्धेस्तु लक्षणम्' ॥ इति ॥ ६ ॥

वे लोग समुद्रको गये और आदि पुरुष भगवान् विष्णु जगे (योग निद्रा छोड़े), क्योंकि विलम्ब नहीं होना पूर्ण होनेवाले कार्य की सिद्धिका शुभ लक्षण होता है ॥ ६ ॥

भोगिभोगासनासीनं ददृशुस्तं दिवौकसः ।
तत्फणामण्डलोदर्चिर्मणिद्योतितविग्रहम् ॥ ७ ॥

भोगीति । द्यौरोको येषां ते दिवौकसो देवा । पृषोदरादित्वात्साधु । यद्वा दिव-शब्दोऽदन्तोऽप्यस्ति । तथा च बुद्धचरिते—'न शोभते तेन हि नो विना पुर मरुत्वता वृत्रवधे यथा दिवम्' इति । तत्र 'दिवु क्रीडादौ' इति धातो' 'इगु-पधज्ञाप्रीकिरः क'' इति क' । दिवमोक एषामिति विग्रहः । भोगिन' शेषस्य भोग शरीरम् । 'भोग' सुखे स्त्र्यादिभृतावहेश्च फणकाययो' इत्यमर । स एवासनं सिंहासनम् । तत्रासीनमुपविष्टम् । आसे' शानच् । 'ईदास' इतीकारादेश । तस्य भोगिन' फणामण्डले य उदर्चिष उद्रश्मयो मणयस्तैर्द्योतितविग्रह त विष्णु ददृशु ॥ ७ ॥

देवताओंने सर्प (शेषनाग) के शरीरपर बैठे हुए तथा उसके फणा–समूहकी चमकती हुई मणियोंसे प्रकाशमान शरीरवाले उन (विष्णु भगवान्) को देखा ॥ ७ ॥

श्रियः पद्मनिषण्णायाः क्षौमान्तरितमेखले ।
अङ्के निक्षिप्तचरणमास्तीर्णकरपल्लवे ॥ ८ ॥

श्रिय इति । कीदृश विष्णुम्, पद्मे निषण्णाया उपविष्टाया· श्रिय क्षौमान्तरिता दुकूलव्यवहिता मेखला यस्य तस्मिन् । आस्तीर्णौ करपल्लवौ पाणिपल्लवौ यस्मिन् । विशेषणद्वयेनापि चरणयोः सौकुमार्यात्कटिमेखलास्पर्शासहत्व सूच्यते । तस्मिन्नङ्के निक्षिप्तौ चरणौ येन तम् ॥ ८ ॥

कमलपर बैठी हुई लक्ष्मीके रेशमी वस्त्रसे ढकी हुई करधनीवाले अङ्कमें फैलाये हुए पल्लवोपम हाथमें पैरको रक्खे हुए (विष्णु भगवान्‌को देखा) ॥ ८ ॥

प्रबुद्धपुण्डरीकाक्षं बालातपनिभांशुकम् ।
दिवसं शारदमिव प्रारम्भसुखदर्शनम् ॥ ९ ॥

प्रबुद्धेति । पुन कीदृशम् । प्रबुद्धे विकसिते पुण्डरीके सिताम्भोजे इवाक्षिणी यस्य तम् । दिवसे तु पुण्डरीकमेवाक्षि यस्येति विग्रह । बालातपनिभमंशुकं यस्य त, पीताम्बरधरमित्यर्थ । अन्यत्र बालातपव्याजांशुकमित्यर्थ । 'निभो व्याजस-दृशयो' इति विश्व । प्रकृष्ट आरम्भो योगो येषां ते प्रारम्भा· योगिन । तेषां

ऐसा होनेपर 'निर्दय होनेसे तुम्हारा वध्य यह व्यक्ति क्या करे ? (मैं क्या करूँ)' इस प्रकार राजाके पूछनेपर मरे हुए पुत्रके पीछे जीवित मरनेकी इच्छा करनेवाले मुनिने अग्नियुक्त लकड़ियोंको माँगा । (राजासे मुनिने चिता बनाकर जलानेके लिये कहा) ॥ ८१ ॥

> प्राप्तानुगः सपदि शासनमस्य राजा
> सम्पाद्य पातकविलुप्तधृतिर्निवृत्तः ।
> अन्तर्निविष्टपदमात्मविनाशहेतुं
> शापं दधज्ज्वलनमौर्वमिवाम्बुराशिः ॥ ८२ ॥

प्राप्तेति । प्राप्तानुगः प्राप्तानुचरो राजा सपद्यस्य मुनेः शासनं काष्ठसम्भारादिरूपं मार्गोत्थेऽपि सम्पाद्य प्राप्तानुचरत्वात्सम्पाद्य पातकेन मुनिवधरूपेण विलुप्तधृतिर्नष्टधैर्यः सन् । अन्तर्निविष्टपदमन्तर्लब्धस्थानमात्मविनाशहेतुं शापम् । अम्बुराशिरौर्वं ज्वलनं वडवानलमिव । 'और्वस्तु वाडवो वडवानलः' इत्यमरः । दधद्दधानः । निवृत्तः स्वनगरीमिति शेषः ॥ ८२ ॥

इति महामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया संजीविनीसमाख्यया व्याख्यया समेतो महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये मृगयावर्णनो नाम नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

परिजनोंको पाकर राजा (दशरथ) ने शीघ्र इस (मुनि) की आज्ञाका पालनकर पापसे अधीर होते हुए तथा अन्तःकरणमें स्थित अपने विनाशके कारणभूत शापको, भीतरमें स्थित वडवाग्निको समुद्रके समान, धारण करते हुए (राजधानीको) लौटे ॥ ८२ ॥

यह 'मणिप्रभा' टीकामें 'रघुवंश' महाकाव्य का 'मृगयावर्णन' नामक नवम सर्ग समाप्त हुआ ॥ ९ ॥

दशमः सर्गः ।

आशसे नित्यमानन्द रामनामकथामृतम् ।
सद्भिः स्वश्रवणैर्नित्य पेय पाप प्रणोदितुम् ॥

पृथिवीं शासतस्तस्य पाकशासनतेजस ।
किंचिदूनमनूनर्द्धेः शरदामयुत ययौ ॥ १ ॥

पृथिवीमिति । पृथिवीं शासत पालयत' पाकशासनतेजस इन्द्रवर्चस । अनूनर्द्धे- र्महासमृद्धेस्तस्य दशरथस्य किञ्चिदूनमीषन्न्यून शरदा वत्सराणाम् । 'स्याद्दतौ वत्सरे शरत्' इत्यमरः । अयुत दशसहस्र ययौ । 'एकदशशतसहस्राण्ययुत लक्ष तथा प्रयु- तम् । कोट्यर्बुदं च पद्म स्थानात्स्थान दशगुणं स्यात्' ॥ इत्यार्यभट्टः । इद च मुनि- शापात्पर वेदितव्य न तु जननात् । 'षष्टिवर्षसहस्राणि जातस्य मम कौशिक । दुःखे- नोत्पादितश्चाय न राम नेतुमर्हसि' ॥ इति रामायणविरोधात् । नाप्यभिषेकात्पर तस्यापि 'सम्यग्विनीतमथ वर्महर कुमारमादिश्य रक्षणविधौ विधिवत्प्रजानाम्' (८।९४) इति कौमारानुष्ठितत्वाभिधानात्स एव विरोध इति ॥ १ ॥

आनन्ददात्री रामनामकथासुधा चाहूं सदा ।
पीकर जिसे सज्जन हटाते नित्य ही पापापदा ॥

इन्द्रके समान तेजस्वी, पृथ्वीको शासन करते हुए पूर्ण समृद्धिशाली उस दशरथको कुछ कम दश सहस्र वर्ष बीत गये ॥ १ ॥

न चोपलेभे पूर्वेषामृणनिर्मोक्षसाधनम् ।
सुताभिधानं स ज्योतिः सद्यः शोकतमोपहम् ॥ २ ॥

नेति । स दशरथः पूर्वेषां पितॄणामृणनिर्मोक्षसाधनम् 'एष वा अनृणो य पुत्री' इति श्रुते' । पितॄणामृणविमुक्तिकारणम् । सद्य शोक एव तमस्तदपहन्तीति शोकतमोपहम् । अत्राभयकर इतिवदुपपदेऽपि तदन्तविधिमाश्रित्य 'अपे क्लेश- तमसोः' इति डप्रत्यय' । सुताभिधान सुताख्यं ज्योतिर्नोपलेभे न प्राप च ॥ २ ॥

(किन्तु) उन्होंने पूर्वजोंके ऋणसे मुक्त करनेका साधन, शोकरूपी अन्धकारका नाशक पुत्ररूप प्रकाशको नहीं प्राप्त किया ॥ २ ॥

अतिष्ठत्प्रत्ययापेक्षसन्ततिः स चिरं नृपः ।
प्राङ्मन्थादनभिव्यक्तरत्नोत्पत्तिरिवार्णवः ॥ ३ ॥

अतिष्ठदिति । प्रत्ययं हेतुमपेक्षत इति प्रत्ययापेक्षा सन्ततिर्यस्य स तथोक्त'

प्रसवोऽप्यौषधप्रयोगादिविघ्नाश्रयेषु हेतुषु । स नृपः मन्थनात्प्राक् मन्थनात्पूर्वं समभिव्यक्ताऽन्तर्गता रत्नोत्पत्तिर्यस्य सोऽर्णव इव । चिरमतिष्ठत् । सत्यप्रसवशक्तावपि अभ्यो न तु कार्यमभूदिति भावः ॥ ३ ॥

कारणकी अपेक्षा करनेवाली सन्तानवाले वे राजा (दशरथ) मन्थनसे पहले अन्तः रत्नोत्पत्तिवाले समुद्रके समान बहुत कालतक रहे। (भीतरमें रत्नोंके रहनेपर भी मन्थनसे पहले जिस प्रकार समुद्रके रत्न नहीं दिखलायी पड़े, उसी प्रकार कारण (पुत्रेष्टि यज्ञ) की अपेक्षा करनेवाली सन्तान भी राजाको नहीं प्राप्त हुई) ॥ ३ ॥

ऋष्यशृङ्गादयस्तस्य सन्तः सन्तानकाङ्क्षिणः ।
आरेभिरे जितात्मानः पुत्रीयामिष्टिमृत्विजः ॥ ४ ॥

ऋष्येति । ऋष्यशृङ्गादयः । ऋष्यशृङ्गो नाम कश्चिदपि तदादयः सन्तः साधवो वा यजन्तीत्यृत्विजो याजकाः । 'ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च' इत्यनेन क्विन्नन्तो निपातः । जितात्मानो जितान्तःकरणाः सन्तः सन्तानकाङ्क्षिणः पुत्रार्थिनस्तस्य दशरथस्य पुत्रीयां पुत्रनिमित्ताम् । 'पुत्राच्छ च' इति छप्रत्ययः । इष्टिं यागमारेभिरे प्रचक्रमिरे ॥ ४ ॥

उस (दशरथ) की सन्तानको चाहनेवाले महात्मा एवं जितेन्द्रिय ऋष्यशृङ्ग आदि ऋत्विजोंने पुत्रेष्टि यज्ञ करना आरम्भ किया (अथवा—ऋष्यशृङ्ग आदि सज्जन ऋत्विजोंने सन्तानेच्छुक एवं जितेन्द्रिय उस राजाके पुत्रेष्टि यज्ञको करना आरम्भ किया) ॥ ४ ॥

तस्मिन्नवसरे देवाः पौलस्त्योपप्लुता हरिम् ।
अभिजग्मुर्निदाघार्ताश्छायावृक्षमिवाध्वगाः ॥ ५ ॥

तस्मिन्निति । तस्मिन्नवसरे पुत्रकामेष्टिप्रवृत्तिसमये देवाः पुलस्त्यस्य गोत्रापत्यं पुमान्पौलस्त्यो रावणः तेनोपप्लुताः पीडिताः सन्तः । निदाघार्ता घर्मपीडिताः । अध्वानं गच्छन्तीत्यध्वगाः पान्थाः । 'अन्तात्यन्ताध्वदूरपारसर्वानन्तेषु डः' इति डप्रत्ययः । छायाप्रधानं वृक्षं छायावृक्षमिव । शाकपार्थिवादित्वात्समासः । हरिं विष्णुमभिजग्मुः ॥ ५ ॥

उसी समय रावणसे पीडित देवतालोग विष्णु भगवान्‌के पास छायावाले वृक्षके पास घामसे सन्तप्त पथिकोंके समान गये ॥ ५ ॥

ते च प्रापुरुदन्वन्तं बुबुधे चादिपूरुषः ।
अव्याक्षेपो भविष्यन्त्याः कार्यसिद्धेर्हि लक्षणम् ॥ ६ ॥

त इति । ते देवाश्चोदन्वन्तं समुद्रम् 'उदन्वानुदधौ च' इति निपातः । प्रापुः । आदिपुरुषो विष्णुश्च बुबुधे । योगनिद्रां जहाविति भावः । प्राप्तिप्रतिबोधयोरविलम्बनार्थौ चकारौ । तथाहि । अव्याक्षेपो कालक्षेपाभावः । अविलम्ब इति यावत् ।

भविष्यन्त्याः कार्यसिद्धेर्लक्षणं लिङ्गं हि । उक्तं च—'अनन्यपरता चास्य कार्यसिद्धेस्तु लक्षणम्' ॥ इति ॥ ६ ॥

वे लोग समुद्रको गये और आदि पुरुष भगवान् विष्णु जगे (योग निद्रा छोड़े), क्योंकि विलम्ब नहीं होना पूर्ण होनेवाले कार्य की सिद्धिका शुभ लक्षण होता है ॥ ६ ॥

भोगिभोगासनासीनं ददृशुस्तं दिवौकसः ।
तत्फणामण्डलोदर्चिर्मणिद्योतितविग्रहम् ॥ ७ ॥

भोगीति । द्यौरोको येषां ते दिवौकसो देवाः । पृषोदरादित्वात्साधुः । यद्वा दिवशब्दोऽदन्तोऽप्यस्ति । तथा च बुद्धचरिते—'न शोभते तेन हि नो विना पुरं मरुत्वता वृत्रवधे यथा दिवम्' इति । तत्र 'दिवु क्रीडादौ' इति धातोः 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' इति कः । दिवमोक एषामिति विग्रहः । भोगिनः शेषस्य भोगः शरीरम् । 'भोगः सुखे स्त्र्यादिभृतावहेश्च फणकाययोः' इत्यमरः । स एवासनं सिंहासनम् । तत्रासीनमुपविष्टम् । आसेः शानच् । 'ईदासः' इतीकारादेशः । तस्य भोगिनः फणामण्डले ये उदर्चिष उद्गरश्मयो मणयस्तैर्द्योतितविग्रहं तं विष्णुं ददृशुः ॥ ७ ॥

देवताओंने सर्प (शेषनाग) के शरीरपर बैठे हुए तथा उसके फणा-समूहकी चमकती हुई मणियोंसे प्रकाशमान शरीरवाले उन (विष्णु भगवान्) को देखा ॥ ७ ॥

श्रियः पद्मनिषण्णायाः क्षौमान्तरितमेखले ।
अङ्के निक्षिप्तचरणमास्तीर्णकरपल्लवे ॥ ८ ॥

श्रिय इति । कीदृशं विष्णुम्, पद्मे निषण्णाया उपविष्टायाः श्रियः क्षौमान्तरिता दुकूलव्यवहिता मेखला यस्य तस्मिन् । आस्तीर्णौ करपल्लवौ पाणिपल्लवौ यस्मिन् । विशेषणद्वयेनापि चरणयोः सौकुमार्यात्कटिमेखलास्पर्शासहत्वं सूच्यते । तस्मिन्नङ्के निक्षिप्तौ चरणौ येन तम् ॥ ८ ॥

कमलपर बैठी हुई लक्ष्मीके रेशमी वस्त्रसे ढकी हुई करधनीवाले अङ्कमें फैलाये हुए पल्लवोपम हाथमें पैरको रक्खे हुए (विष्णु भगवान्को देखा) ॥ ८ ॥

प्रबुद्धपुण्डरीकाक्षं बालातपनिभांशुकम् ।
दिवसं शारदमिव प्रारम्भसुखदर्शनम् ॥ ९ ॥

प्रबुद्धेति । पुनः कीदृशम् । प्रबुद्धे विकसिते पुण्डरीके सिताम्भोजे इवाक्षिणी यस्य तम् । दिवसे तु पुण्डरीकमेवाक्षि यस्येति विग्रहः । बालातपनिभमंशुकं यस्य तं, पीताम्बरधरमित्यर्थः । अन्यत्र बालातपव्याजांशुकमित्यर्थः । 'निभो व्याजसदृक्षयोः' इति विश्वः । प्रकृष्ट आरम्भो योगो येषां ते प्रारम्भाः योगिनः । तेषां

'प्रत्ययोऽधीनशपथज्ञानविश्वासहेतुषु' इत्यमरः । स नृपः मन्थात्प्राक् मन्थनात्पूर्वम् अनभिव्यक्तरत्नोत्पत्तिः रत्नोत्पत्तिर्यस्य सोऽर्णव इव । चिरमतिष्ठत् । सामग्र्यभावादि विलम्बो न तु वन्ध्यत्वादिति भावः ॥ ३ ॥

कारणकी अपेक्षा करनेवाली सन्तानवाले वे राजा (दशरथ) मन्थनके पहले नहीं रत्नोत्पत्तिवाले समुद्रके समान बहुत कालतक रहे । (मथनेमें रत्नोंके रहनेपर भी मन्थनके पहले जिस प्रकार समुद्रके रत्न नहीं दिखलायी पड़े, उसी प्रकार कारण (पुत्रेष्टि यज्ञ) की अपेक्षा करनेवाली सन्तान भी राजाको नहीं प्राप्त हुई) ॥ ३ ॥

ऋष्यशृङ्गादयस्तस्य सन्तः सन्तानकाङ्क्षिणः ।
आरेभिरे जितात्मानः पुत्रीयामिष्टिमृत्विजः ॥ ४ ॥

ऋष्येति । ऋष्यशृङ्गादयः । ऋष्यशृङ्गो नाम कश्चिदृषिः तदादयः सन्तः साधवो वा ऋत्विजो याजकाः । 'ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च' इत्यनेन क्विन्प्रत्ययान्तो निपातः । जितात्मानो जितान्तःकरणाः सन्तः सन्तानकाङ्क्षिणः पुत्रकाङ्क्षिणस्तस्य दशरथस्य पुत्रीयां पुत्रनिमित्ताम् । 'पुत्राच्छ च' इति छप्रत्ययः । इष्टिं यागम् आरेभिरे प्रचक्रमिरे ॥ ४ ॥

उन (दशरथ) की सन्तानको चाहनेवाले, महात्मा एवं जितेन्द्रिय ऋष्यशृङ्ग आदि ऋत्विजोंने पुत्रेष्टि यज्ञ करना आरम्भ किया (ऋष्य-शृङ्गादि सज्जन ऋत्विजोंने सन्तानेच्छुक एवं जितेन्द्रिय उस राजाके पुत्रेष्टि यज्ञको करना आरम्भ किया) ॥ ४ ॥

तस्मिन्नवसरे देवाः पौलस्त्योपप्लुता हरिम् ।
अभिजग्मुर्निदाघार्ताश्छायावृक्षमिवाध्वगाः ॥ ५ ॥

तस्मिन्निति । तस्मिन्नवसरे पुत्रकामेष्टिप्रवृत्तिसमये देवाः पुलस्त्यस्य गोत्रापत्यं पुमान्पौलस्त्यो रावणः तेनोपप्लुताः पीडिताः सन्तः । निदाघार्ता घर्मपीडिताः । अध्वानं गच्छन्तीत्यध्वगाः पान्थाः । 'अन्तात्यन्ताध्वदूरपारसर्वानन्तेषु डः' इति डप्रत्ययः । छायाप्रधानं वृक्षं छायावृक्षमिव । शाकपार्थिवादित्वात्समासः । हरिं विष्णुमभिजग्मुः ॥

उसी समय रावणसे पीडित देवतालोग विष्णु भगवान्‌के पास छायावाले वृक्षके पास घामसे सन्तप्त पथिकोंके समान गये ॥ ५ ॥

ते च प्रापुरुदन्वन्तं बुबुधे चादिपूरुषः ।
अव्याक्षेपो भविष्यन्त्याः कार्यसिद्धेर्हि लक्षणम् ॥ ६ ॥

त इति । ते देवा उदन्वन्तं समुद्रम् 'उदन्वानुदधौ च' इति निपातः । प्रापुः । आदिपूरुषो विष्णुश्च बुबुधे । योगनिद्रां जहावित्यर्थः । गमनप्रतिबोधयोरविल-म्बार्थौ चकारौ । तथाहि । अव्याक्षेपो गमनस्याप्रत्यूहः । अविलम्ब इति यावत् ।

भविष्यन्त्या' कार्यसिद्धेर्लक्षणं लिङ्गं हि । उक्तं च—'अनन्यपरता चास्य कार्यसिद्धेस्तु लक्षणम्' ॥ इति ॥ ६ ॥

वे लोग समुद्रको गये और आदि पुरुष भगवान् विष्णु जगे (योग निद्रा छोड़े), क्योंकि विलम्ब नहीं होना पूर्ण होनेवाले कार्य की सिद्धिका शुभ लक्षण होता है ॥ ६ ॥

भोगिभोगासनासीनं ददृशुस्तं दिवौकसः ।
तत्फणामण्डलोदर्चिर्मणिद्योतितविग्रहम् ॥ ७ ॥

भोगीति । द्यौरोको येषां ते दिवौकसो देवा । पृषोदरादित्वात्साधु' । यद्वा दिव-शब्दोऽदन्तोऽप्यस्ति । तथा च बुद्धचरिते—'न शोभते तेन हि नो विना पुर मरुत्वता वृत्रवधे यथा दिवम्' इति । तत्र 'दिवु क्रीडादौ' इति धातो' 'इगु-पधज्ञाप्रीकिर क' इति क' । दिवमोक एषामिति विग्रहः । भोगिन' शेषस्य भोग शरीरम् । 'भोगः सुखे स्त्र्यादिभृतावहेश्च फणकाययो' इत्यमर' । स एवासनं सिंहासनम् । तत्रासीनमुपविष्टम् । आसेः शानच् । 'ईदास.' इतीकारादेश । तस्य भोगिन फणामण्डले य उदर्चिष उद्गरश्मयो मणयस्तैर्द्योतितविग्रह स विष्णु ददृशु' ॥ ७ ॥

देवताओंने सर्प (शेषनाग) के शरीरपर बैठे हुए तथा उसके फणा—समूहकी चमकती हुई मणियोंसे प्रकाशमान शरीरवाले उन (विष्णु भगवान्) को देखा ॥ ७ ॥

श्रियः पद्मनिषण्णायाः क्षौमान्तरितमेखले ।
अङ्के निक्षिप्तचरणमास्तीर्णकरपल्लवे ॥ ८ ॥

श्रिय इति । कीदृश विष्णुम्, पद्मे निषण्णाया उपविष्टाया. श्रिय क्षौमान्तरिता दुकूलव्यवहिता मेखला यस्य तस्मिन् । आस्तीर्णौ करपल्लवौ पाणिपल्लवौ यस्मिन् । विशेषणद्वयेनापि चरणयो' सौकुमार्यात्कटिमेखलास्पर्शासहत्व सूच्यते । तस्मिन्नङ्के निक्षिप्तौ चरणौ येन तम् ॥ ८ ॥

कमलपर बैठी हुई लक्ष्मीके रेशमी वस्त्रसे ढकी हुई करधनीवाले अङ्कमें फैलाये हुए पल्लवोपम हाथमें पैरको रक्खे हुए (विष्णु भगवान्को देखा) ॥ ८ ॥

प्रबुद्धपुण्डरीकाक्षं बालातपनिभांशुकम् ।
दिवसं शारदमिव प्रारम्भसुखदर्शनम् ॥ ९ ॥

प्रबुद्धेति । पुन कीदृशम् । प्रबुद्धे विकसिते पुण्डरीके सिताम्भोजे इवाक्षिणी यस्य तम् । दिवसे तु पुण्डरीकमेवाक्षि यस्येति विग्रह । बालातपनिभमंशुक यस्य त, पीताम्बरधरमित्यर्थः । अन्यत्र बालातपव्याजांशुकमित्यर्थ. । 'निभो व्याजस-दृशयो' इति विश्व । प्रकृष्ट आरम्भो योगो येषां ते प्रारम्भाः योगिनः । तेषां

सुखदर्शनम् । अम्भसि मातम्य आदौ सुखदर्शनं शारदं शरत्सम्बन्धिनं दिवसमिव स्थितम् ॥ ९ ॥

खिले हुए श्वेत कमलके समान नेत्रवाले, प्रातःकालके धूपके समान वस्त्र (पीताम्बर) वाले और योगियोंके सुन्दरता दर्शनवाले (दिन पक्षमें—शरद्के सुन्दर अर्थात् देखनेमें सुन्दर) शरद् ऋतुके दिनके समान (विष्णु भगवान्को देखा) ॥ ९ ॥

प्रभानुलिप्तश्रीवत्सं लक्ष्मीविभ्रमदर्पणम् ।
कौस्तुभाख्यमपां सारं बिभ्राणं बृहतोरसा ॥ १० ॥

प्रभेति । पुनः किंविधम् । प्रभयाऽनुलिप्तमनुरञ्जितं श्रीवत्सं नाम लाञ्छनं येन तम् । लक्ष्म्या विभ्रमदर्पणं कौस्तुभ इत्याख्या यस्य तम् । अपां समुद्राणां सारं स्थिरांशम् । अम्भसामिति स्पर्धा । बृहतोरसा विशालवक्षःस्थलेन बिभ्राणम् ॥ १० ॥

प्रभासे श्रीवत्स (हृदयस्थ चिह्न-विशेष) को रञ्जित करनेवाले लक्ष्मीके विलासका दर्पणरूप (समुद्र-) जलके सार कौस्तुभ (मणि) को विशाल छातीमें धारण करते हुए (विष्णु भगवान्को देखा) ॥ १० ॥

बाहुभिर्विटपाकारैर्दिव्याभरणभूषितैः ।
आविर्भूतमपां मध्ये पारिजातमिवापरम् ॥ ११ ॥

बाहुभिरिति । विटपाकारैः शाखाकारैरित्यर्थः । दिव्याभरणभूषितैर्बाहुभिरुपलक्षितम् । अत एवापां सैन्धवानां मध्ये आविर्भूतमपरं द्वितीयं पारिजातमिव स्थितम् ॥ ११ ॥

शाखाओंके तुल्य (बड़े २) और दिव्य आभरणोंसे अलङ्कृत बाहुओंसे जलके बीचमें उत्पन्न दूसरे पारिजात (वृक्ष) के समान (स्थित विष्णु भगवान्को देखा) ॥ ११ ॥

दैत्यस्त्रीगण्डलेखानां मदरागविलोपिभिः ।
हेतिभिश्चेतनावद्भिरुदीरितजयस्वनम् ॥ १२ ॥

दैत्येति । दैत्यस्त्रीगण्डलेखानामसुराङ्गनाकपोलस्थलीनां यो मदरागस्तं विलुम्पन्ति हरन्तीति मदरागविलोपिभिः चेतनावद्भिः सजीवैर्हेतिभिः सुदर्शनादिभिः करणैः । 'रवेरर्चिश्च शस्त्रं च वह्निज्वाला च हेतयः' इत्यमरः । उदीरितजयस्वनं जयजय सुखोच्चारन्तीभिर्मूर्तिमतीभिरायुधदेवताभिरुपास्यमानमित्यर्थः ॥ १२ ॥

दैत्योंकी स्त्रियोंके कपोल मण्डलके मदराग (कस्तूरीरचित पत्ररचना-आदि) को नष्ट करनेवाले सजीव शस्त्रों ('नन्दक' खड्ग 'सुदर्शन' चक्र तथा 'कौमोदकी' गदा और 'शार्ङ्ग' धनुष आदि मूर्तिमान् अधिष्ठात्री देवताओं) से जय-जयकार मनाये जाते हुए (विष्णु भगवान्को देखा) ॥ १२ ॥

मुक्तशेषविरोधेन कुलिशव्रणलक्ष्मणा ।
उपस्थितं प्राञ्जलिना विनीतेन गरुत्मता ॥ १३ ॥

मुक्तेति । मुक्तो भगवत्सन्निधानात्त्यक्तः शेषेणाहीश्वरेण सह विरोधः सहजमपि वैरं येन तेन । कुलिशव्रणा वज्रव्रणा अमृताहरणकाले इन्द्रयुद्धे ये वज्रप्रहारास्त एव लक्ष्माणि यस्य स तेन । प्रबद्धोऽञ्जलिर्येन तेन प्राञ्जलिना, प्रबद्धाञ्जलिनेत्यर्थः । विनीतेनानुद्धतेन गरुत्मतोपस्थितमुपासितम् । पुरा किल मातलिप्रार्थितेन भगवता तद्दुहितुर्गुणकेश्याः पत्युः कस्यचित्सर्पस्य गरुडादभयदाने कृते स्वविपक्षरक्षणक्षुभितं पक्षिराजं स्वद्वोढाहं त्वत्तो बलाढ्य इति गर्वितं स्ववामतर्जनीभारेणैव भङ्क्त्वा भगवान्विनिनायेति महाभारतीयां कथां सूचयति विनीतेनेत्यनेन ॥ १३ ॥

शेष (सर्पराज) के साथ वैरको छोडे हुए, वज्रके घावोंके चिह्नोंसे युक्त, हाथ जोड़े हुए तथा शिक्षित अर्थात् शासित गरुडसे सेवित (विष्णु भगवान्‌को देखा) ॥ १३ ॥

पौराणिकी कथा—(१) एक समय गरुडकी माता 'विनता'को नागोंकी माता 'कद्रू' से होड लगनेपर हारकर उसकी दासी बनना पडा । फिर उसे (अपनी माता 'विनता'को) 'कद्रू'को दासीत्वसे छुडानेके लिये गरुड स्वर्गसे अमृत लाने लगे तो इन्द्रने वज्रसे उनपर प्रहार किये, उसीके चिह्न गरुडके शरीरपर अब तक बने थे ।

(२) इन्द्र-सारथि मातलिके प्रार्थना करने पर विष्णु भगवान्‌ने मातलिकी गुणकेशी नामकी पुत्रीके पति किसी नागको गरुडके भयसे मुक्त कर दिया । अपने शत्रुके प्रति इस प्रकार पक्षपात करते हुए भगवान् विष्णुको जानकर गरुड उनको ढोने (उनके भारको सहन करने) से अपनेको विष्णु भगवान्‌से भी बली मानकर अभिमान करने लगे, उनके इस अभिमानको अन्तर्यामी भगवान् विष्णुने अपने वाम हाथकी तर्जनीके भारसे नष्टकर उन्हें विनीत कर दिया ।

योगनिद्रान्तविशदैः पावनैरवलोकनैः ।
भृग्वादीननुगृह्णन्तं सौखशायनिकानृषीन् ॥ १४ ॥

योगेति । योगो मनसो विषयान्तरव्यावृत्तिः, तद्रूपा या निद्रा तस्या अन्तेऽवसाने विशदैः प्रसन्नैः पावनैः शोधनैरवलोकनैः सुखशयनं पृच्छन्तीति सौखशायनिकास्तान् । 'पृच्छतौ सुस्नातादिभ्यः' इत्युपसंख्यानाट्ठक्प्रत्ययः । भृग्वादीनृषीननुगृह्णन्तम् ॥ १४ ॥

योगनिद्राके बादमें (जगने से) निर्मल और पवित्र दृष्टि से, सुखपूर्वक सोनेका कुशल पूछनेके लिये आये हुए भृगु आदि ऋषियोंको अनुगृहीत करते हुए (विष्णु भगवान्‌को देखा) ॥ १४ ॥

प्रणिपत्य सुरास्तस्मै शमयित्रे सुरद्विषाम्।
अथैनं तुष्टुवुः स्तुत्यमवाङ्मनसगोचरम्॥ १५॥

प्रणिपत्येति। अथ दर्शनानन्तरं सुराः सुरद्विषामसुराणां शमयित्रे विनाशकाय तस्मै विष्णवे प्रणिपत्य स्तुत्यं स्तोतार्हम्। 'एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप्' इति क्यप्। वाक् च मनश्च वाङ्मनसे। 'अचतुर—' इत्यादिनाच्प्रत्ययान्तो निपातः। तयोर्गोचरो विषयो न भवतीत्यवाङ्मनसगोचरः। यदाह—'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इति श्रुतेः। एनं विष्णुं तुष्टुवुरस्तुवन्॥ १५॥

इसके बाद देवताओंने राक्षसोंको मारनेवाले उन (विष्णु भगवान्) के लिये नमस्कार कर स्तुतिके योग्य तथा वचन और मनके अगोचर उन (विष्णु भगवान्) की स्तुति करने लगे—॥ १५॥

नमो विश्वसृजे पूर्वं विश्वं तदनु बिभ्रते।
अथ विश्वस्य संहर्त्रे तुभ्यं त्रेधा स्थितात्मने॥ १६॥

नम इति। पूर्वं सर्गादौ विश्वसृजे विश्वस्रष्ट्रे 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इति श्रुतेः। तदनु सर्गानन्तरं विश्वं बिभ्रते पुष्णते। अथ विश्वस्य संहर्त्रे। एवं त्रेधा सृष्टिस्थितिसंहारकर्तृत्वेन स्थित आत्मा स्वरूपं यस्य तस्मै। ब्रह्मविष्णुहरात्मने तुभ्यं नमः॥ १६॥

पहले संसारकी सृष्टि करनेवाले उसके बाद संसारका पालन करते हुए, फिर संसार का संहार करनेवाले—इस प्रकार तीन प्रकार (ब्रह्मा, विष्णु और शिवरूपमें) अवस्थित रहनेवाले तुमको नमस्कार है॥ १६॥

ननु एकरूपस्य कथं त्रैरूप्यमित्याशङ्क्यौपाधिकमित्याह—

रसान्तराण्येकरसं यथा दिव्यं पयोऽश्नुते।
देशे देशे गुणेष्वेवमवस्थास्त्वमविक्रियः॥ १७॥

रसान्तराणीति। एकरसं मधुरैकरसं दिवि भवं दिव्यं पयो वर्षोदकं देशे देशे ऊषरादिदेशेष्वन्यान्यसान्तराणि लवणादीनि यथाश्नुते प्राप्नोति। अविक्रियो निर्विकारः, एकरूप इत्यर्थः। त्वं गुणेषु सत्त्वादिष्वेवमवस्थाः ब्रह्मत्वादिरूपा अश्नुषे इत्यर्थः।

एक रस (सर्वदा मधुर रसवाला) वर्षाका जल प्रत्येक स्थानोंमें अन्य (लवणादि) रसोंको जिस प्रकार प्राप्त करता है उसी प्रकार विकाररहित तुम भी (सत्त्वादि) गुणोंमें (सृष्टिकर्ता पालनकर्ता और नाशकर्ता रूप) विविध अवस्थाओंको प्राप्त करते हो॥ १७॥

अमेयो मितलोकस्त्वमनर्थी प्रार्थनावहः।
अजितो जिष्णुरत्यन्तमव्यक्तो व्यक्तकारणम्॥ १८॥

अमेय इति। हे देव! त्वममेयो लोकैरियत्तया न परिच्छेद्यः। मितलोकः परिच्छिन्नलोकः। अनर्थी निःस्पृहः। आवहतीत्यावहः। पचाद्यच्। प्रार्थनानामावहः कामदः। अजितोऽन्यैर्न जितः। जिष्णुर्जयशीलः। अत्यन्तमव्यक्तोऽतिसूक्ष्मरूपः। व्यक्तस्य स्थूलरूपस्य कारणम् ॥ १८ ॥

(हे भगवन्!) तुम अमेय (इतना प्रमाण है यह निश्चित नक रने योग्य), ससारके प्रमाणको करनेवाले, निःस्पृह, दूसरोंकी याचनाको पूर्ण करनेवाले, दूसरेसे नहीं जीते गये, (स्वय) विजयी, अत्यन्त सूक्ष्म स्वरूपवाले और स्थूलरूप ससारके कारण हो ॥ १८ ॥

हृदयस्थमनासन्नमकामं त्वां तपस्विनम्।
दयालुमनघस्पृष्टं पुराणमजरं विदुः ॥ १९ ॥

हृदयस्थमिति। हे देव! त्वां हृदयस्थं सर्वान्तर्यामितया नित्यसन्निहितं तथाप्यनासन्नमगम्यरूपत्वाद्विप्रकृष्टं च विदुः। सन्निकृष्टस्यापि विप्रकृष्टत्वमिति विरोधः। तथाऽकामं न कामोऽभिलाषोऽस्य तं परिपूर्णत्वान्निःस्पृहत्वाच्च निष्कामम्। तथापि तपस्विनं प्रशस्ततपोयुक्तं विदुः। यो निष्कामः स कथं तपः कुरुत इति विरोधः। परिहारस्तु ऋषिरूपेण दुस्तरं तपस्तप्यते। दयालुं परदुःखप्रहरणपरं तथाप्यनघस्पृष्टं नित्यानन्दस्वरूपत्वाददुःखिनं विदुः। 'अघं दुरितदुःखयोः' इति विश्वः। दयालुरदुःखी चेति विरोधः। 'ईर्ष्यी घृणी त्वसन्तुष्टः क्रोधनो नित्यशङ्कितः। परभाग्योपजीवी च षडेते नित्यदुःखिताः।' ॥ इति महाभारते। पुराणमनादिमजरं निर्विकारत्वादक्षरं विदुः। चिरन्तनं न जीर्यत इति विरोधालङ्कारः। उक्तं च—'आभासत्वे विरोधस्य विरोधालङ्कृतिर्मता' इति। विरोधेन चालौकिकमहिमत्वं व्यज्यते ॥ १९ ॥

(हे भगवन्! ऋषिलोग) तुमको अत्यन्त निकटमें रहनेवाले (होनेपर भी) दूरमें रहनेवाला, (परिपूर्ण एव निस्पृह होनेसे) निष्काम (होनेपर भी) तपस्या करनेवाला, दयालु (दूसरोंके दुःखसे दुःखित होकर दया करनेवाला—होकर भी) दुःखसे अछूता (वर्जित) प्राचीन अर्थात् अनादि (होनेपर भी) जरारहित जानते हैं ॥ १९ ॥

सर्वज्ञस्त्वमविज्ञातः सर्वयोनिस्त्वमात्मभूः।
सर्वप्रभुरनीशस्त्वमेकस्त्वं सर्वरूपभाक् ॥ २० ॥

सर्वज्ञ इति। त्वं सर्वं जानासीति सर्वज्ञः। 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' इति कप्रत्ययः। अविज्ञातः, न केनापि विज्ञात इत्यर्थः। त्वं सर्वस्य योनिः कारणं त्वमात्मन एव भवतीत्यात्मभूः स्वयम्भूः, न ते किञ्चित्कारणमस्तीत्यर्थः। त्वं सर्वस्य प्रभुः त्वमनीशः त्वमेकः सर्वरूपभाक्। त्वमेक एव सर्वात्मना वर्तस इत्यर्थः ॥ २० ॥

(हे भगवन्!) तुम सर्वज्ञ हो, तुमको कोई (पूर्णरूपसे) नहीं जानता, तुम सबके कारण (उत्पन्न करनेवाले) हो, स्वयं उत्पन्न होनेवाले हो (तुम्हें किसीने उत्पन्न नहीं

बहुधेति । आगमैस्त्रयीसांख्यादिभिर्बहुधा भिन्ना अपि सिद्धिहेतवः पुरुषार्थसाधकाः पन्थान उपाया जाह्नव्या इमे जाह्नवीया गाङ्गाः । 'वृद्धाच्छः' इति छप्रत्ययः । ओघाः प्रवाहाः तेऽन्यागमैस्त्रय्यादिभिर्बहुधा भिन्नाः सिद्धिहेतवः, अर्णव इव त्वय्येव निपतन्ति प्रविशन्ति । येन केनापि रूपेण त्वामेवोपयान्तीत्यर्थः । यथाहुराचार्याः— 'किं बहुना कारुकोऽपि विश्वकर्मेत्युपास्ते' इति ॥ २६ ॥

(सांख्य मीमांसा, शैव वैष्णवादि) शास्त्रोंसे अनेक प्रकारसे भिन्न भी सिद्धिके कारणभूत सब मार्ग (उपाय) समुद्रमें गङ्गाके प्रवाहोंके समान तुममें ही प्रवेश करते हैं ॥ २६ ॥

त्वय्यावेशितचित्तानां त्वत्समर्पितकर्मणाम् ।
गतिस्त्वं वीतरागाणामभूयःसंनिवृत्तये ॥ २७ ॥

त्वयीति । त्वय्यावेशितं निवेशितं चित्तं यैस्तेषां तुभ्यं समर्पितानि कर्माणि यैस्तेषां 'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु । मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे' इति भगवद्वचनात् । वीतरागाणां विरक्तानामभूयःसंनिवृत्तयेऽपुनरावृत्तये मोक्षायेत्यर्थः । त्वमेव गतिः साधनम् । 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति । नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इति श्रुतेरित्यर्थः ॥ २७ ॥

तुममें चित्त लगाये हुए, तुममें सब कर्मोंका समर्पण करनेवाले विरक्त (योगियों) की मुक्तिके लिये तुम्हीं गति हो ॥ २७ ॥

प्रत्यक्षोऽप्यपरिच्छेद्यो मह्यादिर्महिमा तव ।
आप्तवागनुमानाभ्यां साध्यं त्वां प्रति का कथा ॥ २८ ॥

प्रत्यक्ष इति । प्रत्यक्षः प्रत्यक्षप्रमाणगम्योऽपि तव मह्यादिः पृथिव्यादिर्महिमा ऐश्वर्यमपरिच्छेद्य इयत्तया ज्ञातुमशक्य इत्यर्थः । आप्तवागाप्तवाक्यम् । 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादिश्रुतिः । अनुमानं—क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वाद्घटवदित्यादिकं ताभ्यां साध्यं गम्यं त्वां प्रति का कथा प्रत्यक्षमपि तावदुक्तं अपरिच्छेद्यम् । तवाप्रत्यक्षत्वमपरिच्छेद्य इति किमु वक्तव्यमित्यर्थः ॥ २८ ॥

प्रत्यक्ष भी तुम्हारे पृथ्वी आदि ऐश्वर्यका प्रमाण नहीं किया जा सकता (इतने प्रमाण वाले हैं यह नहीं कहा जा सकता) आप्त (वेद या यथार्थवादी योगी आदि) के वचन तथा अनुमानसे ज्ञात होने योग्य तुम्हारे प्रति क्या कहना है ? (जब प्रत्यक्ष में देखे जाते हुए भी तुम्हारे पृथ्वी आदि रूप महिमाका प्रमाण नहीं किया जा सकता, तब उनके कारणभूत तुम्हारा प्रमाण करनेकी क्या बात है ? अर्थात् उसका प्रमाण करना तो सर्वथा असम्भव ही है) ॥ २८ ॥

केवलं स्मरणेनैव पुनासि पुरुषं यतः।
अनेन वृत्तयः शेषा निवेदितफलास्त्वयि ॥ २९ ॥

केवलमिति। स्मरणेन केवल कृत्स्नम्। 'केवल कृत्स्नमेकञ्च' इति शाश्वतः। पुरुष स्मर्तारं जनं पुनासि यत', यदित्यर्थः। अनेन स्मृतिकार्येणैव त्वयि त्वद्विषये या' शेषा अवशिष्टा वृत्तयो दर्शनस्पर्शनादयो व्यापारास्ता निवेदितफला विज्ञापित-कार्या। तव स्मरणस्यैवैतत्फल दर्शनादीनां तु कियदिति नावधारयाम इति भाव ॥ २९ ॥

(तुम) स्मरणमात्रसे ही पुरुषको जो पवित्र करते हो, इस स्मरण कार्यसे तुम्हारे विषयमें शेष (दर्शन, पूजन आदि) व्यापार विज्ञापित कार्यवाले हैं। (जब तुम्हारे दर्शन-मात्रका इतना बड़ा फल है, तब दर्शनपूजन आदि करनेवाले व्यक्तिके फलका निश्चय कौन कर सकता है ? अर्थात् कोई नहीं) ॥ २९ ॥

उदधेरिव रत्नानि तेजांसीव विवस्वतः।
स्तुतिभ्यो व्यतिरिच्यन्ते दूराणि चरितानि ते ॥ ३० ॥

उदधेरिति। उदधेरुदक धीयते इति उदधिस्तस्य रत्नानीव। विवस्वतस्तेजांसीव। दूराण्यवाङ्मनसगोचराणि ते चरितानि स्तुतिभ्यो व्यतिरिच्यन्ते। नि'शेषं स्तोतु न शक्यन्त इत्यर्थ' ॥ ३० ॥

समुद्रके रत्नों तथा सूर्यके तेजोंके समान आपके चरित स्तुतियोंसे अत्यधिक हैं अर्थात् जिस प्रकार समुद्रके रत्नों तथा सूर्यके किरणोंका कोई अन्त नहीं पा सकता, उसी प्रकार आपके चरितोंकी स्तुतिका अन्त तक वर्णन नहीं किया जा सकता ॥ ३० ॥

अनवाप्तमवाप्तव्यं न ते किञ्चन विद्यते।
लोकानुग्रह एवैको हेतुस्ते जन्मकर्मणो' ॥ ३१ ॥

अनवाप्तमिति। अनवाप्तमप्राप्तम् अवाप्तव्य प्राप्तव्य ते तव किञ्चन किञ्चिदपि न विद्यते, नित्यपरिपूर्णत्वादिति भाव। तर्हि किंनिबन्धने जन्मकर्मणी तत्राह—लोकेति। एको लोकानुग्रह एव ते तव जन्मकर्मणोर्हेतु। परमकारुणिकस्य ते परार्थैव प्रवृत्ति' न स्वार्थेत्यर्थ ॥ ३१ ॥

तुम्हें कोई वस्तु अप्राप्त या अप्राप्तव्य (नहीं पा सकने योग्य) नहीं है, किन्तु लोक-पर एकमात्र कृपा ही तुम्हारे जन्म तथा कर्मका कारण है। (सब कुछ तुम लोकोपकारके लिये ही करते हो, अपने लिये तुम्हें किसीकी आवश्यकता नहीं है) ॥ ३१ ॥

महिमानं यदुत्कीर्त्य तव संह्रियते वचः।
श्रमेण तदशक्त्या वा न गुणानामियत्तया ॥ ३२ ॥

किया है), तुम सबके स्वामी हो तुम्हारा कोई स्वामी नहीं है और तुम एक (अद्वितीय) हो (तथापि) सबमें रहनेवाले हो ॥ २० ॥

सप्तसामोपगीतं त्वां सप्तार्णवजलेशयम् ।
सप्तार्चिर्मुखमाचख्युः सप्तलोकैकसंश्रयम् ॥ २१ ॥

सप्तेति । हे देव ! त्वां सप्तभिः सामभिः रथन्तरबृहद्वैरूपवैराजश्याक्वररैवतवामदेव्याख्यैरुपगीतम् 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इत्युत्तरपदसमासः । सप्तानामर्णवानां जलं सप्तार्णवजलम् । पूर्ववत्समासः । तत्र शेते यः स सप्तार्णवजलेशयः तम् । 'शयवासवासिष्वकालात्' इत्यलुक् । सप्तार्चिर्मुखं यस्य तम् 'अग्निमुखा वै देवाः' इति श्रुतेः । सप्तानां लोकानां भूर्भुवःस्वरादीनामेकसंश्रयम् एकमाधारमाचख्युः ॥ २१ ॥

(हे भगवन् ! विद्वान् लोग) तुमको सात (सातों रथन्तर आदि मंत्रों) से स्तुत, सातों समुद्रोंके जलमें सोनेवाला, सात ज्वालावाली (अग्नि) है मुख जिसका ऐसा, सात लोक (भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्य लोक) का मुख्य आश्रय कहते हैं ॥ २१ ॥

चतुर्वर्गफलं ज्ञानं कालावस्थाश्चतुर्युगाः ।
चतुर्वर्णमयो लोकस्त्वत्तः सर्वं चतुर्मुखात् ॥ २२ ॥

चतुर्वर्गफलमिति । चतुर्णां धर्मार्थकाममोक्षाणां वर्गश्चतुर्वर्गः । 'त्रिवर्गो धर्मकामार्थैश्चतुर्वर्गः समोक्षकैः' इत्यमरः । तत्फलकं ज्ञानम् । चत्वारि युगानि कृतादीनि यासु ताश्चतुर्युगाः कालावस्थाः कालपरिमाणम् । चत्वारो वर्णाः प्रकृता यस्मिन्निति चतुर्वर्णमयः, चातुर्वर्ण्यमयः इत्यर्थः । स्वार्थे मयट् । 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इत्यनेन तद्धितार्थे विषये तत्पुरुषः । स लोकश्च इत्येतत्सर्वं चतुर्मुखात्त्वत्तश्चतुर्मुखरूपिणस्त्वत्तः, जातमिति शेषः । 'इदं सर्वमसृजत यदिदं किंच' इति श्रुतेः ॥ २२ ॥

(हे भगवन् !) चतुर्वर्ग (अर्थ, धर्म, काम और मोक्षरूप चार पुरुषार्थ) का फल ज्ञान, चार युग (सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि)-रूपवाला परिमाणस्वरूप चार वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) वाला संसार चतुर्मुख तुमसे ही हुआ है अर्थात् सबके कारण तुम्हीं हो ॥ २२ ॥

---

१ [illegible]र्जनस्तपःसत्यमुदाहृताः । इति (अभिधानचिन्तामणि ५।१४१)।

२ करालो धूमिनी श्वेता लोहिता नीललोहिता ।
सुवर्णा पद्मरागा च सप्त जिह्वा विभावसोः ॥ इति ([illegible])।

३ '[illegible]' इति पाठभेदः ।

अभ्यासनिगृहीतेन मनसा हृदयाश्रयम् ।
ज्योतिर्मयं विचिन्वन्ति योगिनस्त्वा विमुक्तये ॥ २३ ॥

अभ्यासेति । अभ्यासेन निगृहीतं विषयान्तरेभ्यो निवर्तितम् । तेन मनसा योगिनो हृदयाश्रय हृत्पद्मस्थ ज्योतिर्मयं त्वां विमुक्तये मोक्षार्थं विचिन्वन्त्यन्विष्यन्ति ध्यायन्तीत्यर्थ ॥ २३ ॥

योगीलोग अभ्यासमे वशमें किये गये मनसे हृदयमें रहनेवाले प्रकाशस्वरूप तुमको मुक्तिके लिये ढूंढते (ध्यान करते) हैं ॥ २३ ॥

अजस्य गृह्णतो जन्म निरीहस्य हतद्विषः ।
स्वपतो जागरूकस्य याथार्थ्यं वेद कस्तव ॥ २४ ॥

अजस्येति । न जायत इत्यज । 'अन्येष्वपि दृश्यते' इति डप्रत्यय. । तस्याजस्य जन्मशून्यस्यापि जन्म गृह्णत । मत्स्यादिरूपेण जायमानस्य । निरीहस्य चेष्टारहितस्यापि हतद्विप शत्रुघातिनो जागरूकस्य सर्वसाक्षितया नित्यप्रबुद्धस्यापि स्वपतो योगनिद्रामनुभवत. । इत्थ विरुद्धचेष्टस्य तव याथार्थ्यं को वेद वेत्ति । 'विदो लटो वा' इति णलादेश ॥ २४ ॥

अज (उत्पन्न नहीं होनेवाले) होनेपर भी जन्मको ग्रहण करते हुए, निश्चेष्ट होकर भी शत्रुओंको मारनेवाले, जागरूक (सर्वद्रष्टा होनेसे नित्य जागते हुए भी) सोते (योगनिद्राको प्राप्त किये) हुए तुम्हारी वास्तविकताको कौन जानता है ? अर्थात् कोई नहीं ॥ २४ ॥

शब्दादीन्विषयान्भोक्तुं चरितुं दुश्चरं तपः ।
पर्याप्तोऽसि प्रजाः पातुमौदासीन्येन वर्तितुम् ॥ २५ ॥

शब्दादीनिति । किञ्च, कृष्णादिरूपेण शब्दादीन्विषयान्भोक्तुम् । नरनारायणादिरूपेण दुश्चर तपश्चरितुम् । तथा दैत्यमर्दनेन प्रजा पातुम् । औदासीन्येन ताटस्थ्येन वर्तितु च पर्याप्त समर्थोऽसि । तथा भोगतपसो पालनौदासीन्ययोश्च परस्परविरुद्धयोराचरणे त्वदन्य क समर्थ इत्यर्थ ॥ २५ ॥

(हे भगवन् ! तुम कृष्ण-राम आदि अवतारोंको धारण कर) शब्द आदि (रूप, रस, गन्ध आदि) विषयोंको भोगनेके लिये, (नर तथा नारायणका रूप धारण कर) कठिन तप करनेके लिये, (असुरोंका संहार करनेसे) प्रजाओंकी रक्षा करनेके लिये तथा (संलग्न रहते हुए भी) उदासीन (सृष्टिके पालन और संहारसे निरपेक्ष) रहनेके लिये समर्थ हो ॥ २५ ॥

बहुधाऽप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतव. ।
त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे ॥ २६ ॥

बहुधेति । आगमैस्त्रयीसांख्यादिभिर्दर्शनैर्बहुधा भिन्ना अपि सिद्धिहेतवः पुरुषार्थसाधकाः पन्थान उपाया जाह्नव्या इमे जाह्नवीया याहाः । 'इवार्थे' इति ... ओघाः प्रवाहाः तेऽप्यागमैरपरिमितैर्बहुधा भिन्नाः सिद्धिहेतवः अर्णव इव त्वय्येव निपतन्ति प्रविशन्ति । येन केनापि रूपेण त्वामेवोपयान्तीत्यर्थः । यथाहुराचार्याः- 'किं बहुना कारकेऽपि विष्णुमेवोपासते' इति ॥ २६ ॥

(सांख्य मीमांसा शैव वेदान्तादि) शास्त्रोंसे अनेक प्रकारसे भिन्न भी सिद्धिके कारण भूत सब मार्ग (उपाय) समुद्रमें गङ्गाके प्रवाहोंके समान तुममें ही प्रवेश करते हैं ॥ २६ ॥

त्वय्यावेशितचित्तानां त्वत्समर्पितकर्मणाम् ।
गतिस्त्वं वीतरागाणामभूयःसंनिवृत्तये ॥ २७ ॥

त्वयीति । त्वय्यावेशितं निवेशितं चित्तं यैस्तेषां तुभ्यं समर्पितानि कर्माणि यैस्तेषां 'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु । मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥' इति भगवद्वचनात् । वीतरागाणां विरक्तानामभूयःसंनिवृत्तयेऽपुनरावृत्तये मोक्षायेत्यर्थः । त्वमेव गतिः प्रापकम् । 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति । नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इति श्रुतेरित्यर्थः ॥ २७ ॥

तुममें चित्त लगाये हुए, तुममें सब कर्मोंका समर्पण करनेवाले विरक्त (योगियों) की मुक्तिके लिये तुम्हीं गति हो ॥ २७ ॥

प्रत्यक्षोऽप्यपरिच्छेद्यो मह्यादिर्महिमा तव ।
आप्तवागनुमानाभ्यां साध्यं त्वां प्रति का कथा ॥ २८ ॥

प्रत्यक्ष इति । प्रत्यक्षः प्रत्यक्षप्रमाणगम्योऽपि तव मह्यादिः पृथिव्यादिर्महिमा ऐश्वर्यमपरिच्छेद्य इयत्तया ज्ञातुमशक्य इत्यर्थः । आप्तवाग्वेदः । 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादिश्रुतिः । अनुमानं क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वाद्घटवदित्यादिकं ताभ्यां साध्यं गम्यं त्वां प्रति का कथा प्रत्यक्षमपि त्वत्कार्यं ज्ञातुमपरिच्छेद्यम् । तदप्रत्यक्षस्त्वमपरिच्छेद्य इति किमु वक्तव्यमित्यर्थः ॥ २८ ॥

प्रत्यक्ष भी तुम्हारे पृथ्वी आदि ऐश्वर्यका प्रमाण नहीं किया जा सकता (इतने प्रमाण वाले हैं यह नहीं कहा जा सकता) आप्त (वेद या यथार्थवक्ता योगी आदि) के वचन तथा अनुमानसे प्राप्त होने योग्य तुम्हारे प्रति क्या कहना है ? (जब प्रत्यक्ष में देखे जाते हुए भी तुम्हारे उत्पादित पृथ्वी आदि रूप महिमाका प्रमाण नहीं किया जा सकता, तब उनके कारणभूत तुम्हारा प्रमाण करनेकी क्या बात है ? अर्थात् तुम्हारा प्रमाण करना तो सर्वथा असम्भव ही है) ॥ २८ ॥

केवलं स्मरणेनैव पुनासि पुरुषं यतः ।
अनेन वृत्तयः शेषा निवेदितफलास्त्वयि ॥ २९ ॥

केवलमिति । स्मरणेन केवल कृत्स्नम् । 'केवल कृत्स्नमेकश्च' इति शाश्वतः । पुरुष स्मर्तार जन पुनासि यत', यदित्यर्थ । अनेन स्मृतिकार्येणैव त्वयि त्वद्विषये या' शेषा अवशिष्टा वृत्तयो दर्शनस्पर्शनादयो व्यापारास्ता निवेदितफला विज्ञापित-कार्या । तव स्मरणस्यैवैतत्फल दर्शनादीना तु कियदिति नावधारयाम इति भाव ॥ २९ ॥

(तुम) स्मरणमात्रसे ही पुरुषको जो पवित्र करते हो, इस स्मरण कार्यसे तुम्हारे विषयमें शेष (दर्शन, पूजन आदि) व्यापार विज्ञापित कार्यवाले हैं । (जब तुम्हारे दर्शन-मात्रका इतना बड़ा फल है, तब दर्शनपूजन आदि करनेवाले व्यक्तिके फलका निश्चय कौन कर सकता है ? अर्थात् कोई नहीं) ॥ २९ ॥

उदधेरिव रत्नानि तेजांसीव विवस्वतः ।
स्तुतिभ्यो व्यतिरिच्यन्ते दूराणि चरितानि ते ॥ ३० ॥

उदधेरिति । उदधेरुदकं धीयते इति उदधिस्तस्य रत्नानीव । विवस्वतस्तेजांसीव । दूराण्यवाङ्मनसगोचराणि ते चरितानि स्तुतिभ्यो व्यतिरिच्यन्ते । नि'शेषं स्तोतुं न शक्यन्त इत्यर्थ' ॥ ३० ॥

समुद्रके रत्नों तथा सूर्यके तेजोंके समान आपके चरित स्तुतियोंसे अत्यधिक हैं अर्थात् जिस प्रकार समुद्रके रत्नों तथा सूर्यके किरणोंका कोई अन्त नहीं पा सकता, उसी प्रकार आपके चरितोंकी स्तुतिका अन्त तक वर्णन नहीं किया जा सकता ॥ ३० ॥

अनवाप्तमवाप्तव्यं न ते किञ्चन विद्यते ।
लोकानुग्रह एवैको हेतुस्ते जन्मकर्मणो' ॥ ३१ ॥

अनवाप्तमिति । अनवाप्तमप्राप्तम् अवाप्तव्य प्राप्तव्य ते तव किञ्चन किञ्चिदपि न विद्यते, नित्यपरिपूर्णत्वादिति भाव' । तर्हि किंनिबन्धने जन्मकर्मणी तत्राह—लोकेति । एको लोकानुग्रह एव ते तव जन्मकर्मणोर्हेतु' । परमकारुणिकस्य ते परार्थैव प्रवृत्तिः न स्वार्थेत्यर्थ' ॥ ३१ ॥

तुम्हें कोई वस्तु अप्राप्त या अप्राप्तव्य (नहीं पा सकने योग्य) नहीं है, किन्तु लोक-पर एकमात्र कृपा ही तुम्हारे जन्म तथा कर्मका कारण है । (सब कुछ तुम लोकोपकारके लिये ही करते हो, अपने लिये तुम्हें किसीकी आवश्यकता नहीं है) ॥ ३१ ॥

महिमानं यदुत्कीर्त्य तव संह्रियते वच' ।
श्रमेण तदशक्त्या वा न गुणानामियत्तया ॥ ३२ ॥

प्रशमयोगोंके महिमा तथा पुरुषार्थ राक्षस (रावण) से तमोगुणसे सत्त्वगुण तथा रजोगुणके समान (आक्रान्त है यह) मैं जानता हूँ ॥ ३८ ॥

विदितं तप्यमानं च तेन मे भुवनत्रयम् ।
अकामोपनतेनेव साधोर्हृदयमेनसा ॥ ३९ ॥

विदितमिति । किञ्च अकामेनानिच्छयोपनतेन प्रमादादागतेनैनसा पापेन साधोः सज्जनस्य हृदयमिव । तेन रक्षसा तप्यमानं सन्ताप्यमानम् । तपेर्णिचि कर्मणि शानच् । भुवनत्रयं च मे विदितम् । मया ज्ञायत इत्यर्थः । 'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च' इत्यनेन वर्तमाने क्तः । 'क्तस्य च वर्तमाने' इति षष्ठी ॥ ३९ ॥

तथा बिना इच्छाके उपस्थित पापसे सज्जनके हृदयके समान उस (रावण) से पीड़ित होते हुए तीनों लोकोंको मैं जानता हूँ ॥ ३९ ॥

कार्येषु चैककार्यत्वादभ्यर्थ्योऽस्मि न वज्रिणा ।
स्वयमेव हि वातोऽग्नेः सारथ्यं प्रतिपद्यते ॥ ४० ॥

कार्येष्विति । किञ्च एककार्यत्वात् एकं कार्यं ययोस्तौ तयोर्भाव एककार्यत्वं तस्मात्तयोरेककार्यकरणहेतोः । कार्येषु कर्तव्यार्थेषु विषयेषु वज्रिणेन्द्रेणाभ्यर्थ्य एवं कुर्विति प्रार्थनीयो नास्मि । तथा हि । वातः स्वयमेवाग्नेः सारथ्यं साहाय्यं प्रतिपद्यते प्राप्नोति । न तु वह्निप्रार्थनया इत्येवकारार्थः । मेधावतां हि स्वार्थेषु स्वत एव प्रवृत्तिः, न तु परप्रार्थनया । स्वार्थत्वात् ममापीत्याशयः ॥ ४० ॥

और एक काम (असुरसंहाररूप) होनेसे इन्द्रसे मैं प्रार्थनीय नहीं हूँ अर्थात् मेरा तथा इन्द्रका कार्य समान असुरसंहार तथा शिष्टरक्षा आदि है अतः इन्द्रको उस कार्यके लिये मुझसे प्रार्थना करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि वायु स्वयमेव अग्निका सहायक बन जाता है (वैसे ही मैं स्वयं ही असुरसंहार–शिष्टरक्षादि कार्यमें इन्द्रका सहायक बनूँगा)॥

पुरा किल त्रिपुरारिप्रीणनाय स्वशिरांसि छिन्दता दशकण्ठेन चक्रस्य शिरोऽवशेषितं तल्लभ्यमित्याह—

स्वासिधारापरिहृतः कामं चक्रस्य तेन मे ।
स्थापितो दशमो मूर्धा लभ्यांश इव रक्षसा ॥ ४१ ॥

स्वेति । स्वासिधारया स्वखड्गधारया परिहृतः, अच्छिन्न इत्यर्थः । दशमो मूर्धा मे मम चक्रस्य कामं पर्याप्तो लभ्यांशः प्राप्तव्यभाग इव तेन रक्षसा स्थापितः । तच्छेदेन तं हनिष्यामीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

अपनी तलवारकी धारसे नहीं कटे हुए दसवें मस्तकको मानो मेरे सुदर्शन चक्रके प्राप्य भागके समान उस राक्षस (रावण) ने रख छोड़ा है । (आशय यह है कि—

पहले रावण ने शिवके आराधनार्थ तलवारसे अपने नव मस्तकोंको काट काट कर हवन कर दिया और दसवें मस्तकको नहीं काटा, अतः उस दसवें मस्तकको मेरे सुदर्शन चक्रके भागरूपमें (हिस्सा) छोड़ दिया है अर्थात् मैं उस रावणके मस्तकको सुदर्शन चक्रसे अवश्य काटूँगा)॥

तर्हि किं प्रागुपेक्षितमत आह—

स्रष्टुर्वरातिसर्गात्तु मया तस्य दुरात्मनः।
अत्यारूढं रिपोः सोढं चन्दनेनेव भोगिनः॥ ४२॥

स्रष्टुरिति। किन्तु स्रष्टुर्ब्रह्मणो वरातिसर्गाद्वरदानाद्धेतोः। मया तस्य दुरात्मनो रिपो रावणस्यात्यारूढमत्यारोहणम्, अतिवृद्धिरित्यर्थः। नपुंसके भावे क्तः। भोगिनः सर्पस्यात्यारूढं चन्दनेनेव सोढम्। चन्दनद्रुमस्यापि तथा सहनं स्रष्टुर्नियतेरिति द्रष्टव्यम्॥ ४२॥

मैंने ब्रह्माके वर देनेके कारण उस दुष्ट शत्रु (रावण) की अतिसमृद्धिको, भाग्यके कारण सर्पकी समृद्धिको चन्दनके समान, सहन किया है॥ ४२॥

सम्प्रति वरस्वरूपमाह—

धातारं तपसा प्रीतं ययाचे स हि राक्षसः।
दैवात्सर्गादवध्यत्वं मर्त्येष्वास्थापराङ्मुखः॥ ४३॥

धातारमिति। स राक्षसस्तपसा प्रीतं सन्तुष्टं धातारं ब्रह्माणम्। मर्त्येषु विषये आस्थापराङ्मुख आदरविमुखः सन्, मर्त्याननादृत्येत्यर्थः। दैवादष्टविधात्सर्गाद्देवसृष्टेरवध्यत्वं ययाचे हि॥ ४३॥

क्योंकि मनुष्योंमें अनादर करते हुए उस राक्षस (रावण) ने तपस्यासे सन्तुष्ट ब्रह्मासे अष्टविध देवताओंसे अपनी अवध्य होनेका वर मागा है॥ ४३॥

तर्हि का गतिरित्याशङ्क्य मनुष्यावतारेण हनिष्यामीत्याह—

सोऽहं दाशरथिर्भूत्वा रणभूमेर्बलिक्षमम्।
करिष्यामि शरैस्तीक्ष्णैस्तच्छिरःकमलोच्चयम्॥ ४४॥

स इति। सोऽहं। दशरथस्यापत्यं पुमान्दाशरथिः। 'अत इञ्' इति इञ्प्रत्ययः।

---

१. देवसर्गोऽष्टविधः श्रीमद्भागवतस्य दशमस्कन्धे उक्तस्तद्यथा—
'देवसर्गश्चाष्टविधो विबुधाः पितरोऽसुराः।
गन्धर्वाप्सरसः सिद्धा यक्षरक्षांसि चारणाः॥
भूतप्रेतपिशाचाश्च विद्याध्राः किन्नरादयः।' इति।

रीत्या पुमानुत्थितो विस्मयेन सह प्रबभूव प्रादुर्बभूव । तदाविर्भावस्तेषामपि विस्मयोऽभूदित्यर्थः ॥ ५० ॥

इसके बाद उस राजा (दशरथ) के यज्ञकर्म (पुत्रेष्टि यज्ञ) समाप्त होनेपर ऋत्विजोंके आश्चर्यके साथ अग्निसे एक पुरुष प्रकट हुआ । (यज्ञाग्निसे निकले पुरुषको देखकर ऋत्विजों को भी आश्चर्य हुआ) ॥ ५० ॥

तमेव पुरुषं विशिनष्टि—

> हैमपात्रगतं दोर्भ्यामादधानः पयश्चरुम् ।
> अनुप्रवेशादाद्यस्य पुंसस्तेनापि दुर्वहम् ॥ ५१ ॥

हैमेति । आद्यस्य पुंसो विष्णोरनुप्रवेशादधिष्ठानाद्धेतोस्तेन दिव्यपुरुषेणापि दुर्वहम् । चतुर्भुजस्य भगवतो हरेरतिगरीयस्त्वाद्वोढुमशक्यम् । हेमपात्रगतं पयसि पक्वं चरुं पयश्चरुं पायसान्नं दोर्भ्यामादधानो वहन् । 'अवयवाद्विकारे...' इति पाणिनिः ॥ ५१ ॥

आदि पुरुष (विष्णु भगवान्) के अधिष्ठान (निवास) होनेसे उस (अग्निसे उत्पन्न पुरुष) के द्वारा भी कठिनतासे ढोने योग्य स्वर्णपात्रमें स्थित पायस (दूधके बने) चरुको दोनों हाथोंसे लिया हुआ पुरुष अग्निसे उत्पन्न हुआ ॥ ५१ ॥

> प्राजापत्योपनीतं तदन्नं प्रत्यग्रहीन्नृपः ।
> वृषेव पयसां सारमाविष्कृतमुदन्वता ॥ ५२ ॥

प्राजापत्येति । नृपो दशरथः प्राजापत्येन प्रजापतिसम्बन्धिना पुरुषेणोपनीतं न तु वसिष्ठेन । 'प्राजापत्यं नरं विद्धि मामिहाभ्यागतं नृप' इति रामायणात् । तदन्नं पायसान्नम् । उदन्वता समुद्रेणाविष्कृतं प्रकाशितं पयसां सारममृतं वृषा वासव इव । 'वासवो वृत्रहा वृषा' इत्यमरः । प्रत्यग्रहीत्स्वीचकार ॥ ५२ ॥

राजा (दशरथ) ने प्रजापति-सम्बन्धी उस पुरुषके द्वारा दिये गये उस अन्न (चरु) को, समुद्रसे प्रकट किये गये जलके सार अर्थात् अमृतको इन्द्रके समान ग्रहण किया ॥ ५२ ॥

> अनेन कथिता राज्ञो गुणास्तस्यान्यदुर्लभाः ।
> प्रसूतिं चकमे तस्मिंस्त्रैलोक्यप्रभवोऽपि यत् ॥ ५३ ॥

अनेनेति । तस्य राज्ञो दशरथस्यान्यदुर्लभा असाधारणा गुणा अनेन कथिता व्याख्याताः । यद्यस्मात्त्रयो लोकास्त्रैलोक्यम् । चातुर्वर्ण्यादित्वात्स्वार्थे ष्यञ् । तस्य प्रभवः कारणं विष्णुरपि तस्मिन् राज्ञि प्रसूतिमुत्पत्तिं चकमे कामितवान् । त्रिभुवनस्यापि कारणमिति परमात्मविष्णुमत्स्याप्रभवत्यर्थः ॥ ५३ ॥

इस कारण उस राजा (दशरथ) के दूसरोंसे दुर्लभ अर्थात् असाधारण गुण वर्णित है, जो तीन लोकोंके कारण (विष्णु भगवान्) ने भी उस (राजा दशरथके पुत्ररूप) में उत्पन्न होनेकी इच्छा की ॥ ५३ ॥

स तेजो वैष्णवं पत्न्योर्विभेजे चरुसंज्ञितम् ।
द्यावापृथिव्योः प्रत्यग्रमहर्पतिरिवातपम् ॥ ५४ ॥

स इति । स नृपः चरुसंज्ञास्य संजाता चरुसंज्ञितं । वैष्णवं तेजः । पत्न्योः कौसल्याकैकेय्योः । द्यौश्च पृथिवी च द्यावापृथिव्यौ । 'दिवसश्च पृथिव्याम्' इति चकाराद्दिवशब्दस्य द्यावादेशः । तयोर्द्यावापृथिव्योः । अह्नः पतिरहर्पतिः सूर्यः । 'अहरादीनां पत्यादिषु वा रेफः' इत्युपसंख्यानाद्वैकल्पिको रेफस्य रेफादेशो विसर्गापवादः । प्रत्यग्रं नूतनमातपं बालातपमिव । विभेजे । विभज्य ददावित्यर्थः ॥ ५४ ॥

उस (राजा दशरथ) ने चरुनामक उस विष्णु-सम्बन्धी तेजको दोनों स्त्रियों (कौसल्या तथा कैकेयी) के लिये उस प्रकार विभक्त कर दिया, जिस प्रकार सूर्य प्रातःकालके धूपको आकाश तथा पृथ्वीके लिये विभक्त कर देता है ॥ ५४ ॥

पत्नीत्रये सति द्वयोरेव विभागे कारणमाह—

अर्चिता तस्य कौसल्या प्रिया केकयवंशजा ।
अतः सम्भाविता ताभ्यां सुमित्रामैच्छदीश्वरः ॥ ५५ ॥

अर्चितेति । तस्य राज्ञः । कौ पृथिव्यां सलति गच्छतीति कोसलः । 'सल गतौ' पचाद्यच् । कुशब्दस्य पृषोदरादित्वाद्गुणः । कोसलस्य राज्ञोऽपत्यं स्त्री कौसल्या । 'वृद्धेत्कोसलाजादाञ्ञ्यङ्' इति ञ्यङ् । 'यङश्चाप्' इति चाप् । अत एव सूत्रे निर्देशात्कोसलशब्दो दन्त्यसकारमध्यमः । अर्चिता ज्येष्ठा मान्या । केकयवंशजा कैकेयी प्रियेष्टा । अतो हेतोरीश्वरो भर्ता नृपः सुमित्रां ताभ्यां कौसल्याकैकेयीभ्यां सम्भावितां भागदानेन मानितामैच्छदिच्छति स्म । एवं च सामान्यं तिसृणां च भागप्रापणमिति राज्ञ्युचितज्ञता कौशलं च लभ्यते ॥ ५५ ॥

उस (राजा दशरथ) की कौसल्या बड़ी पत्नी थी तथा कैकेयी प्रिय पत्नी थी, अतः राजा (दशरथ) ने सुमित्राको उन दोनों (कौसल्या तथा कैकेयी) के द्वारा (चरुका भाग देकर) सम्मानित करना चाहा ॥ ५५ ॥

ते बहुज्ञस्य चित्तज्ञे पत्न्यौ पत्युर्महीक्षितः ।
चरोरर्धार्धभागाभ्यां तामयोजयतामुभे ॥ ५६ ॥

त इति । बहुज्ञस्य सर्वज्ञस्य । उचितज्ञस्येत्यर्थः । पत्युर्महीक्षितः क्षितीश्वरस्य विशेषणत्रयेण राज्ञोऽनुसरणीयतामाह—चित्तज्ञे अभिप्रायज्ञे ते उभे पत्न्यौ-कौसल्या-

बिभ्रत्या कौस्तुभन्यासं स्तनान्तरविलम्बिनम् ।
पर्युपास्यन्त लक्ष्म्या च पद्मव्यजनहस्तया ॥ ६२ ॥

बिभ्रत्येति । किंच स्तनयोरन्तरे मध्ये विलम्बिनं लम्बमानम् । न्यस्यत इति न्यासः कौस्तुभ एव न्यासस्तम् । यद्वा कौस्तुभन्यासं कौस्तुभमित्यर्थः । बिभ्रत्या पद्ममेव व्यजनं हस्ते यस्यास्तया लक्ष्म्या पर्युपास्यन्तोपासिताः ॥ ६२ ॥

स्तनोंके मध्यमें लटकते हुए (पति अर्थात् विष्णुके द्वारा स्थापित) कौस्तुभ मणिको धारण करती हुई तथा हाथमें कमलरूप पंखेको लेकर हवा करती हुई लक्ष्मी सेवा कर रही हैं ॥ ६२ ॥

कृताभिषेकैर्दिव्यायां त्रिस्रोतसि च सप्तभिः ।
ब्रह्मर्षिभिः परं ब्रह्म गृणद्भिरुपतस्थिरे ॥ ६३ ॥

कृतेति । किंच । दिवि भवायां दिव्यायां त्रिस्रोतस्याकाशगङ्गायां कृताभिषेकैः कृतस्नानैः परं ब्रह्म वेदरहस्यं गृणद्भिः पठद्भिः सप्तभिर्ब्रह्मर्षिभिः कश्यपप्रभृतिभिरुपतस्थिरे उपासांचक्रिरे ॥ ६३ ॥

स्वर्गीय गङ्गामें स्नान किये एवं परब्रह्म (वेदतत्त्व) को पढ़ते हुए (कश्यप आदि) सात ब्रह्मर्षि उपासना कर रहे हैं। (ऐसे (श्लो० ६०–६३) स्वप्नोंको उन रानियोंने देखा और राजा दशरथसे कहा) ॥ ६३ ॥

ताभ्यस्तथाविधान् स्वप्नाञ्छ्रुत्वा प्रीतो हि पार्थिवः ।
मेने परार्ध्यमात्मानं गुरुत्वेन जगद्गुरोः ॥ ६४ ॥

ताभ्य इति । पार्थिवो दशरथस्ताभ्यः पत्नीभ्यः 'आख्यातोपयोगे' इत्यपादानत्वात्पञ्चमी । तथाविधानुक्तप्रकारान्स्वप्नाञ्छ्रुत्वा प्रीतः सन् आत्मानं जगद्गुरोर्विष्णोरपि गुरुत्वेन पितृत्वेन हेतुना परार्ध्यं सर्वोत्कृष्टं मेने हि ॥ ६४ ॥

राजा (दशरथ) ने उन (कौसल्या आदि पत्नियों) से वैसे (श्लो० ६०–६३) स्वप्नोंको सुनकर प्रसन्न होते हुए, जगद्गुरु (विष्णु भगवान्) के पिता होनेसे अपनेको सर्वश्रेष्ठ माना ॥ ६४ ॥

विभक्तात्मा विभुस्तासामेकः कुक्षिष्वनेकधा ।
उवास प्रतिमाचन्द्रः प्रसन्नानामपामिव ॥ ६५ ॥

विभक्तेति । एक एकाकी विभुर्विष्णुस्तासां राजपत्नीनां कुक्षिषु गर्भेषु प्रसन्नानां निर्मलानामपां कुक्षिषु प्रतिमाचन्द्रः प्रतिबिम्बचन्द्र इव अनेकधा विभक्तात्मा सन् उवास ॥ ६५ ॥

एकरूप विभु (एकरूप होते हुए भी सर्वशक्तिमान् विष्णु भगवान्) उनके गर्भोंमें

निर्मल जलके भीतरमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमाके समान, अनेक रूपमें विभक्त होकर रहने लगे ॥

अथाग्र्यमहिषी राज्ञः प्रसूतिसमये सती ।
पुत्रं तमोपहं लेभे नक्तं ज्योतिरिवौषधिः ॥ ६६ ॥

अथेति । अथ राज्ञो दशरथस्य सती पतिव्रता अग्र्या चासौ महिषी चाग्र्यमहिषी कौसल्या प्रसूतिसमये प्रसूतिकाले ओषधिर्नक्तं रात्रिसमये तमः अपहन्तीति तमोपहम् 'अपे क्लेशतमसोः' इति डप्रत्ययः । ज्योतिरिव तमोपहं तमोनाशकरं पुत्रं लेभे प्राप ॥ ६६ ॥

इसके बाद साध्वी राजाकी पटरानी (कौसल्या) ने प्रसवकाल (दशम मास) में, रातमें अन्धकारका नाश करनेवाले तेजको ओषधिके समान, पापनाशक पुत्रको प्राप्त किया ॥ ६६ ॥

राम इत्यभिरामेण वपुषा तस्य चोदितः ।
नामधेयं गुरुश्चक्रे जगत्प्रथममङ्गलम् ॥ ६७ ॥

राम इति । अभिरमतेऽत्रेत्यभिरामं मनोहरम् । अधिकरणार्थे घञ्प्रत्ययः । तेन वपुषा चोदितः प्रेरितो गुरुः पिता दशरथस्तस्य पुत्रस्य जगतां प्रथमं मङ्गलं सुलक्षणं राम इति नामधेयं चक्रे । अभिरामत्वमेव रामशब्दप्रवृत्तिनिमित्तमित्यर्थः ॥ ६७ ॥

मनोहर शरीरसे प्रेरित उस पिता (दशरथ) ने उस (बालक) का नाम, संसारका प्रथम मङ्गलस्वरूप 'राम' रखा ॥ ६७ ॥

रघुवंशप्रदीपेन तेनाप्रतिमतेजसा ।
रक्षागृहगता दीपाः प्रत्यादिष्टा इवाभवन् ॥ ६८ ॥

रघुवंशेति । रघुवंशस्य प्रदीपेन प्रकाशकेन अप्रतिमतेजसा तेन रामेण रक्षागृहगताः सूतिकागृहगता दीपाः प्रत्यादिष्टाः प्रतिबद्धा इवाभवन् । महादीपसमीपे नाल्पाः स्फुरन्तीति भावः ॥ ६८ ॥

रघुवंशमें दीपकके समान (प्रकाशमान) अपरिमित तेजवाले उस (राम) से रक्षागृह (प्रसूतिगृह) में रखे हुए दीपक मानो फीके पड़ गये ॥ ६८ ॥

शय्यागतेन रामेण माता शातोदरी बभौ ।
सैकताम्भोजबलिना जाह्नवीव शरत्कृशा ॥ ६९ ॥

शय्यागतेनेति । शातोदरी गर्भमोचनात्कृशोदरी माता शय्यागतेन रामेण सैकते पुलिने योऽम्भोजबलिः पद्मोपहारस्तेन शरदि कृशा जाह्नवी गङ्गेव बभौ ॥ ६९ ॥

(बालकोत्पादन करनेसे अत्यन्त) कृश उदरवाली माता (कौसल्या), शय्यापर स्थित

कैकेय्यौ । चरोरर्धभागौ समभागौ तयोरर्धयोर्भागौ तौ च तौ भागौ चेत्यर्धभागाभ्याम् 'पुंस्यर्धोऽर्धं समेंऽशके' इत्यमरः । तां सुमित्रामुभे सपत्न्यौ युयुजतुः । अयं च विभागो न रामायणसंवादी तत्र 'चरोरर्धं कौसल्यायै अवशिष्टार्धं कैकेय्यै, शिष्टं पुनः सुमित्रायाः' इत्यभिधानात् । किन्तु पुराणान्तरसंवादो मृग्यः । उक्तं च नारसिंहे—'ते पिण्डप्राशने काले सुमित्रायै महीपतेः । पिण्डाभ्यामल्पमल्पं तु स्वभगिन्यै प्रयच्छताम्' ॥ इति । एवमन्यत्रापि विरोधे पुराणान्तरसमाधानम् ॥ ५६ ॥

प्रभु (अभिलाषानुकूल सब कुछके दाता) महीपाल पतिके मनोभावको जाननेवाली उन दोनों पत्नियों (कौसल्या तथा कैकेयी) ने चरुके आधे २ भागसे उस (सुमित्रा) को युक्त किया (पतिके मनके अनुसार अपने १ चरुमेंसे आधा १ भाग सुमित्राको दे दिया) ॥५६॥

न चैवं सापत्न्येर्ष्या स्यादित्याह—

सा हि प्रणयवत्यासीत्सपत्न्योरुभयोरपि ।
भ्रमरी वारणस्येव मदनिस्यन्दरेखयोः ॥ ५७ ॥

सेति । सा सुमित्रोभयोरपि । समानः एकः पतिर्ययोस्तयोः सपत्न्योः । 'नित्यं सपत्न्यादिषु' इति ङीप् नकारादेशश्च । भ्रमरी मधुकरी वारणस्य गजस्य मदनिस्यन्दरेखयोरिव गण्डद्वयगतयोरिति भावः । प्रणयवती प्रेमवत्यासीत् । सपत्न्योरित्यत्र समासान्तर्गतस्य पत्युरर्थभावे वारणस्येति ॥ ५७ ॥

वह (सुमित्रा) दोनों सौतों (कौसल्या तथा कैकेयी) में (हाथीके कपोलस्थल स्थित) मदके प्रवाहकी दो धाराओंमें भ्रमरीके समान, स्नेहयुक्त थी । (सुमित्रा अपनी दोनों सौतोंमें प्रेम करती थी, अत एव उनसे चरु मिलनेपर भी उसे ईर्ष्या नहीं हुई) ॥ ५७ ॥

ताभिर्गर्भः प्रजाभूत्यै दध्रे देवांशसम्भवः ।
सौरीभिरिव नाडीभिरमृताख्याभिरम्मयः ॥ ५८ ॥

ताभिरिति । ताभिः कौसल्यादिभिः प्रजानां भूत्यै अभ्युदयाय । देवस्य विष्णोरंशः सम्भवः कारणं यस्य स गर्भः । सूर्यस्येमाः सौर्यः, ताभिः सौरीभिः, 'सूर्यतिष्यागस्त्यमत्स्यानां य उपधायाः' इत्युपधायकारस्य लोपः । अमृता इत्याख्या यासां ताभिः अमृताख्याभिरिव । नाडीभिर्दीधितिभिरपां विकारोऽम्मयो जलमयो गर्भ इव । दध्रे धृतः । कर्मणि लिट् । गर्भो धृत इत्यर्थः । अत्र याज्ञवल्क्यः—'तासां शतानि चत्वारि रश्मीनां वृष्टिसर्जने । शतत्रयं हिमोत्सर्गे तावद् घर्मस्य सर्जने ॥ आनन्दाश्च हि मेध्याश्च नूतनाः पूतना इति । चतुःशती हि विद्यासु अमृता नाम रश्मयः ॥' इति ॥ ५८ ॥

उन्हों (रानियों) ने सन्तानकी वृद्धिके लिये विष्णु भगवान्का अंश है कारण जिसका ऐसे गर्भको, जलमय गर्भको सूर्यकी अमृतसंज्ञक किरणोंके समान धारण किया। (सहस्ररश्मि सूर्यकी चार सौ किरणें वर्षा करती हैं और उनकी 'अमृत' संज्ञा है) ॥ ५८ ॥

समम् आपन्नसत्त्वास्ता रेजुरापाण्डुरत्विषः ।
अन्तर्गतफलारम्भाः सस्यानामिव सम्पदः ॥ ५९ ॥

सममिति । समं युगपदापन्ना गृहीताः सत्त्वा प्राणिनो याभिस्ता आपन्नसत्त्वा गर्भिण्यः 'आपन्नसत्त्वा स्याद्गुर्विण्यन्तर्वत्नी च गर्भिणी' इत्यमरः । अत एवापाण्डुरत्विष ईषत्पाण्डुरवर्णास्ता राजपत्न्यः । अन्तर्गता गुप्ताः फलारम्भाः फलप्रादुर्भावा यासां ताः । सस्यानां सम्पद इव रेजुर्बभुः ॥ ५९ ॥

एक साथ गर्भधारण करती हुई कुछ २ पाण्डुर वर्णकी कान्तिवाली वे (कौसल्यादि तीनों रानियां) शीघ ही फलको वाहर प्रकट करनेवाली ईषत्पाण्डुर धान्य-सम्पत्तिके समान शोभित हुई ॥ ५९ ॥

सम्प्रति तासां स्वप्नदर्शनान्याह—

गुप्तं ददृशुरात्मानं सर्वाः स्वप्नेषु वामनैः ।
जलजासिगदाशार्ङ्गचक्रलाञ्छितमूर्तिभिः ॥ ६० ॥

गुप्तमिति । सर्वास्ताः स्वप्नेषु जलजं शङ्खः जलजासिगदाशार्ङ्गचक्रैर्लाञ्छिता मूर्तयो येषां तैर्वामनैर्ह्रस्वैः पुरुषैर्गुप्तं रक्षितमात्मानं स्वरूपम् । जातावेकवचनम् । ददृशुः दृष्टवत्यः ॥ ६० ॥

उन सबोंने स्वप्नोंमें देखा कि—('पाञ्चजन्य' नामक) शङ्ख, ('नन्दक' नामक) खड्ग, ('कौमोदकी' नामक) गदा, शार्ङ्गनामक धनुष और 'सुदर्शन' चक्रसे युक्त मूर्तिवाले लघुरूप पुरुष हमारी रक्षा कर रहे हैं ॥ ६० ॥

हेमपक्षप्रभाजालं गगने च वितन्वता ।
उह्यन्ते स्म सुपर्णेन वेगाकृष्टपयोमुचा ॥ ६१ ॥

हेमेति । किञ्चेति चार्थः । हेम्नः सुवर्णस्य पक्षाणां प्रभाजालं कान्तिपुञ्जं वितन्वता विस्तारयता वेगेनाकृष्टा पयोमुचो मेघा येन तेन । सुपर्णेन गरुत्मता गरुडेन गगने ता उह्यन्ते स्मोढा ॥ ६१ ॥

आकाशमें सुनहले पङ्खोंके प्रभा-समूहको फैलाते हुए तथा वेगसे मेघको आकर्षित करनेवाले गरुडसे वे ढोई जाती हैं अर्थात् उक्त स्वरूपवाले गरुडपर सवार होकर आकाशमें जाती हुई अपनेको स्वप्नमें देखती थीं ॥ ६१ ॥

बिभ्रत्या कौस्तुभन्यासं स्तनान्तरविलम्बिनम् ।
पर्युपास्यन्त लक्ष्म्या च पद्मव्यजनहस्तया ॥ ६२ ॥

बिभ्रत्येति । किंच स्तनयोरन्तरे मध्ये विलम्बिनं लम्बमानम् । न्यस्यत इति न्यासः कौस्तुभ एव न्यासस्तम् । तस्याः कौस्तुभन्यासं, कौस्तुभमित्यर्थः । बिभ्रत्या पद्ममेव व्यजनं हस्ते यस्यास्तया लक्ष्म्या पर्युपास्यन्तोपासिताः ॥ ६२ ॥

स्तनोंके मध्यमें लटकते हुए (पति अर्थात् विष्णुके द्वारा स्थापित) कौस्तुभ मणिको धारण करती हुई तथा हाथमें कमलरूप पंखेको लेकर हवा करती हुई लक्ष्मी सेवा कर रही हैं ॥ ६२ ॥

कृताभिषेकैर्दिव्यायां त्रिस्रोतसि च सप्तभिः ।
ब्रह्मर्षिभिः परं ब्रह्म गृणद्भिरुपतस्थिरे ॥ ६३ ॥

कृतेति । किंच । दिवि भवायां दिव्यायां त्रिस्रोतस्याकाशगङ्गायां कृताभिषेकैः कृतस्नानैः परं ब्रह्म वेदरहस्यं गृणद्भिः पठद्भिः सप्तभिर्ब्रह्मर्षिभिः कश्यपप्रभृतिभिरुपतस्थिरे उपासाञ्चक्रिरे ॥ ६३ ॥

स्वर्गीय गङ्गामें स्नान किये एवं परब्रह्म (वेदतत्त्व) को पढ़ते हुए (कश्यप आदि) सप्त महर्षि उपस्थान कर रहे हैं। (ऐसे (श्लो० ६०–६३) स्वप्नोंको उन रानियोंने देखा और राजा दशरथसे कहा) ॥ ६३ ॥

ताभ्यस्तथाविधान् स्वप्नाञ्छ्रुत्वा प्रीतो हि पार्थिवः ।
मेने परार्ध्यमात्मानं गुरुत्वेन जगद्गुरोः ॥ ६४ ॥

ताभ्य इति । पार्थिवो दशरथस्ताभ्यः पत्नीभ्यः 'आख्यातोपयोगे' इत्यपादानत्वात्पञ्चमी । तथाविधांस्तथाप्रकारान्स्वप्नाञ्छ्रुत्वा प्रीतः सन् आत्मानं जगद्गुरोर्विष्णोरपि गुरुत्वेन पितृत्वेन हेतुना परार्ध्यं सर्वोत्कृष्टं मेने हि ॥ ६४ ॥

राजा (दशरथ) ने उन (कौसल्या आदि पत्नियों) से वैसे (श्लो० ६०–६३) स्वप्नोंको सुनकर प्रसन्न होते हुए, जगद्गुरु (विष्णु भगवान्) के पिता होनेसे अपनेको सर्वश्रेष्ठ माना ॥ ६४ ॥

विभक्तात्मा विभुस्तासामेकः कुक्षिष्वनेकधा ।
उवास प्रतिमाचन्द्रः प्रसन्नानामपामिव ॥ ६५ ॥

विभक्तेति । एक एकरूपो विभुर्विष्णुस्तासां राजपत्नीनां कुक्षिषु गर्भेषु प्रसन्नानां निर्मलानामपां कुक्षिषु प्रतिमाचन्द्रः प्रतिबिम्बचन्द्र इव अनेकधा विभक्तात्मा सन् उवास ॥ ६५ ॥

एकरूप विभु (एकरूप होते हुए भी सर्वशक्तिमान् विष्णु भगवान्) उनके गर्भोंमें,

निर्मल जलके भीतरमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमाके समान, अनेक रूपमें विभक्त होकर रहने लगे ॥

अथाग्र्यमहिषी राज्ञः प्रसूतिसमये सती ।
पुत्रं तमोपहं लेभे नक्तं ज्योतिरिवौषधिः ॥ ६६ ॥

अथेति । अथ राज्ञो दशरथस्य सती पतिव्रता अग्र्या चासौ महिषी चाग्र्यमहिषी कौसल्या प्रसूतिसमये प्रसूतिकाले ओषधिर्नक्तं रात्रिसमये तमः अपहन्तीति तमोपहम् 'अपे क्लेशतमसो' इति डप्रत्ययः । ज्योतिरिव तमोपहं तमोनाशकरं पुत्रं लेभे प्राप ॥ ६६ ॥

इसके बाद साध्वी राजाकी पटरानी (कौसल्या) ने प्रसवकाल (दशम मास) में, रातमें अन्धकारका नाश करनेवाले तेजको ओषधिके समान, पापनाशक पुत्रको प्राप्त किया ॥ ६६ ॥

राम इत्यभिरामेण वपुषा तस्य चोदितः ।
नामधेयं गुरुश्चक्रे जगत्प्रथममङ्गलम् ॥ ६७ ॥

राम इति । अभिरमतेऽत्रेत्यभिरामं मनोहरम् । अधिकरणार्थे घञ्प्रत्ययः । तेन वपुषा चोदितः प्रेरितो गुरुः पिता दशरथस्तस्य पुत्रस्य जगतां प्रथमं मङ्गलं सुलक्षणं राम इति नामधेयं चक्रे । अभिरामत्वमेव रामशब्दप्रवृत्तिनिमित्तमित्यर्थः ॥ ६७ ॥

मनोहर शरीरसे प्रेरित उस पिता (दशरथ) ने उस (बालक) का नाम, संसारका प्रथम मङ्गलस्वरूप 'राम' रखा ॥ ६७ ॥

रघुवंशप्रदीपेन तेनाप्रतिमतेजसा ।
रक्षागृहगता दीपाः प्रत्यादिष्टा इवाभवन् ॥ ६८ ॥

रघुवंशेति । रघुवंशस्य प्रदीपेन प्रकाशकेन अप्रतिमतेजसा तेन रामेण रक्षागृहगताः सूतिकागृहगता दीपाः प्रत्यादिष्टाः प्रतिबद्धा इवाभवन् । महादीपसमीपे नाल्पाः स्फुरन्तीति भावः ॥ ६८ ॥

रघुवंशमें दीपकके समान (प्रकाशमान) अपरिमित तेजवाले उस (राम) से रक्षागृह (प्रसूतिगृह) में रखे हुए दीपक मानो फीके पड़ गये ॥ ६८ ॥

शय्यागतेन रामेण माता शातोदरी बभौ ।
सैकताम्भोजबलिना जाह्नवीव शरत्कृशा ॥ ६९ ॥

शय्यागतेनेति । शातोदरी गर्भमोचनात्कृशोदरी माता शय्यागतेन रामेण सैकते पुलिने योऽम्भोजबलिः पद्मोपहारस्तेन शरदि कृशा जाह्नवी गङ्गेव बभौ ॥ ६९ ॥

(बालकोत्पादन करनेसे अत्यन्त) कृश उदरवाली माता (कौसल्या) शय्यापर स्थित

रामसे उत्पन्न ही हुई कमलपुष्पकी भाँति सरस्थान में उस अर्थात् थोड़े थोड़े जलवाली गङ्गाके समान शोभित हुई ॥ ६९ ॥

कैकेय्यास्तनयो जज्ञे भरतो नाम शीलवान् ।
जनयित्रीमलञ्चक्रे यः प्रश्रय इव श्रियम् ॥ ७० ॥

कैकेय्या इति । केकयस्य राज्ञोऽपत्यं स्त्री कैकेयी 'तस्यापत्यम्' इत्यणि ङीप् केकयमित्रयुप्रलयानां यादेरियः इतीयादेशः । तस्या भरतो नाम शीलवांस्तनयो जज्ञे जातः । यस्तनयः प्रश्रयो विनयः श्रियमिव । जनयित्रीं मातरमलञ्चक्रे ॥ ७० ॥

कैकेयीको भरतनामक शीलयुक्त पुत्र उत्पन्न हुआ जिसने लक्ष्मीको नम्रताके समान माताको सुशोभित किया ॥ ७० ॥

सुतौ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ सुमित्रा सुषुवे यमौ ।
सम्यगाराधिता विद्या प्रबोधविनयाविव ॥ ७१ ॥

सुताविति । सुमित्रा लक्ष्मणशत्रुघ्नौ नाम यमौ युग्मजातौ सुतौ पुत्रौ । सम्यगाराधिता विद्या प्रबोधविनयौ तत्त्वज्ञानेन्द्रियजयाविव । सुषुवे ॥ ७१ ॥

सुमित्राने लक्ष्मण और शत्रुघ्न नामक यमज पुत्रोंको, ज्ञान तथा विनयको अच्छी तरह सेवित विद्याके समान उत्पन्न किया ॥ ७१ ॥

निर्दोषमभवत्सर्वमाविष्कृतगुणं जगत् ।
अन्वगादिव हि स्वर्गो गां गतं पुरुषोत्तमम् ॥ ७२ ॥

निर्दोषमिति । सर्वं जगत् भूलोके निर्दोषं दुर्भिक्षादिदोषरहितम्—आविष्कृतगुणं प्रकटीकृतारोग्यादिगुणं चाभवत् । अत्रोत्प्रेक्ष्यते—गां भुवं गतमवतीर्णं पुरुषोत्तमं विष्णुं स्वर्गोऽप्यन्वगादिव । स्वर्गो हि गुणवान्निर्दोषश्चेत्यागमः । स्वर्गतुल्यमभूदित्यर्थः ॥ ७२ ॥

(उस समय) सम्पूर्ण संसार दुर्भिक्षादि दोषोंसे रहित तथा आरोग्य एवं धनादि वृद्धि रूप गुणोंसे सहित हो गया । मानो भूमि पर आये हुए विष्णु भगवान्‌का स्वर्गने अनुगमन किया अर्थात् राम आदि चारों पुत्रोंके उत्पन्न होनेपर भूलोक स्वर्ग के समान दोषवर्जित एवं सद्गुणयुक्त हो गया ॥ ७२ ॥

तस्योदये चतुर्मूर्तेः पौलस्त्यचकितेश्वराः ।
विरजस्कैर्नभस्वद्भिर्दिश उच्छ्वसिता इव ॥ ७३ ॥

तस्येति । चतुर्मूर्तेः रामादिरूपेण चतूरूपस्य तस्य हरेरुदये सति । पौलस्त्या-द्रावणाच्चकिता भीता ईश्वरा नाथा इन्द्रादयो यासां ता दिशो विरजस्कैर

धूलिभिर्नभस्वद्भिर्वायुभिः मिषेण उच्छ्वसिता इव इत्युत्प्रेक्षा। श्वसे कर्तरि क्तः। स्वानाथशरणलाभसन्तुष्टाना दिशामुच्छ्वासवाता इव, वाता ववुरित्यर्थः। चतुर्दिगीशरक्षणं मूर्तिचतुष्टयप्रयोजनमिति भावः ॥ ७३ ॥

उन चारों मूर्तियोंके प्रकट होनेपर रावणसे डरे हुए (इन्द्र आदि) पतियोंवाली दिशायें धूलिरहित वायुसे मानो श्वास लिया अर्थात् अपने पति इन्द्र आदिके शरण्य राम आदिके प्रकट होनेसे दिशाओंने सुखका श्वास लिया। (रामादिके प्रकट होनेपर सुखद वायु बहने लगी)॥

कृशानुरपधूमत्वात्प्रसन्नत्वात्प्रभाकरः।
रक्षोविप्रकृतावास्तामपविद्धशुचाविव ॥ ७४ ॥

कृशानुरिति। रक्षसा रावणेन विप्रकृतावपकृतौ पीडितावित्यर्थः। कृशानुरग्निः प्रभाकरः सूर्यश्च यथासंख्यमपधूमत्वात्प्रसन्नत्वाच्चापविद्धशुचौ निरस्तदुःखाविवास्तामभवताम् ॥ ७४ ॥

राक्षस (रावण) से पीडित अग्नि धूमरहित होनेसे तथा सूर्य निर्मल होनेसे मानो शोकरहित हो गये ॥ ७४ ॥

दशाननकिरीटेभ्यस्तत्क्षणं राक्षसश्रियः।
मणिव्याजेन पर्यस्ताः पृथिव्यामश्रुबिन्दवः ॥ ७५ ॥

दशाननेति। तत्क्षणं तस्मिन् क्षणे रामोत्पत्तिसमये राक्षसश्रियोऽश्रुबिन्दवो दशाननकिरीटेभ्यो मणीनां व्याजेन मिषेण पृथिव्यां पर्यस्ताः पतिताः। रामोदये सति तद्वध्यस्य रावणस्य किरीटमणिभ्रंशलक्षणं दुर्निमित्तमभूदित्यर्थः ॥ ७५ ॥

उस (रामादिके उत्पत्तिके) समयमें राक्षसोंकी लक्ष्मीकी आंसूकी बूँदें रावणके मुकुटोंसे मणियोंके बहानेसे गिरीं। (रामादिको उत्पत्ति होनेपर रावणके मुकुटोंसे मणियोंके गिरनेसे राक्षस-लक्ष्मीके रोनेके समान उसे अपशकुन हुआ) ॥ ७५ ॥

पुत्रजन्मप्रवेश्यानां तूर्याणां तस्य पुत्रिणः।
आरम्भं प्रथमं चक्रुर्देवदुन्दुभयो दिवि ॥ ७६ ॥

पुत्रजन्मेति। पुत्रिणो जातपुत्रस्य तस्य दशरथस्य पुत्रजन्मनि प्रवेश्यानां प्रवेशयितव्यानां, वादनीयानामित्यर्थः। तूर्याणां वाद्यानामारम्भमुपक्रमं प्रथमं दिवि देवदुन्दुभयश्चक्रुः। साक्षात्पितुर्दशरथादपि देवा अधिकं प्रहृष्टा इत्यर्थः ॥ ७६ ॥

पुत्रवान् उस (दशरथ) के पुत्रजन्ममें बजाने योग्य बाजाओंका आरम्भ पहले स्वर्गमें देवताओंकी दुन्दुभियोंने किया अर्थात् पुत्रवान् दशरथकी अपेक्षा अधिक प्रसन्न देवताओंने पहले स्वर्गमें दुन्दुभि बजायीं ॥ ७६ ॥

सन्तानकमयी वृष्टिर्भवने चास्य पेतुषी ।
सन्मङ्गलोपचाराणां सैवादिरचनाऽभवत् ॥ ७७ ॥

सन्तानकेति । अस्य राज्ञो भवने सन्तानकानां कल्पवृक्षकुसुमानां विकारः सन्तानकमयी वृष्टिश्च पेतुषी पपात । 'क्वसुश्च' इति क्वसुप्रत्ययः । 'उगितश्च' इति ङीप् । सा वृष्टिरेव सन्तः पुत्रजन्मसम्बन्धिनो ये मङ्गलोपचारास्तेषामादिरचना प्रथमक्रियाऽभवत् ॥ ७७ ॥

उस (दशरथ) के राजभवनमें कल्पवृक्षोंकी पुष्पवृष्टि हुई वही श्रेष्ठ मङ्गल-रचनाओंकी प्रथम रचना हुई अर्थात् रामजन्मसे हर्षित देवताओंने स्वर्गसे पुष्पवृष्टि की ॥ ७७ ॥

कुमाराः कृतसंस्कारास्ते धात्रीस्तन्यपायिनः ।
आनन्देनाग्रजेनेव समं ववृधिरे पितुः ॥ ७८ ॥

कुमारा इति । कृताः संस्कारा जातकर्मादयो येषां ते । धात्रीणामुपमातॄणां स्तन्यानि पयांसि पिबन्तीति तथोक्ताः । ते कुमाराः अग्रे जातेनाग्रजेन ज्येष्ठेनेव पितुरानन्देन समं ववृधिरे । कुमारवृद्धया पिता महान्तमानन्दमवापेत्यर्थः । कुमारजन्मनः प्रागेव जातत्वादग्रजत्वोक्तिरानन्दस्य ॥ ७८ ॥

(जातकर्मादि) संस्कारसे संस्कृत तथा धात्रीके दूधको पीनेवाले वे बालक श्रेष्ठ (प्रथमोत्पन्न) के समान पिताके आनन्दके साथ बढ़ने लगे ॥ ७८ ॥

स्वाभाविकं विनीतत्वं तेषां विनयकर्मणा ।
मुमूर्च्छ सहजं तेजो हविषेव हविर्भुजाम् ॥ ७९ ॥

स्वाभाविकमिति । तेषां कुमाराणां सम्बन्धि स्वाभाविकं सहजं विनीतत्वं विनयकर्मणा शिक्षया । हविर्भुजामग्नीनां सहजं तेजो हविषाऽऽज्यादिनेव मुमूर्च्छ ववृधे । निसर्गसंस्काराभ्यां विनीता इत्यर्थः ॥ ७९ ॥

उन (रामादि) की सहज नम्रता शिक्षासे हविष्यसे अग्निके सहज तेजके समान बढ़ गयी अर्थात् हविष्य डालनेसे अग्निका स्वाभाविक तेज जिस प्रकार बढ़ जाता है, उसी प्रकार शिक्षासे रामादिका स्वाभाविक विनय भी बढ़ गया ॥ ७९ ॥

परस्पराविरुद्धास्ते तद्रघोरनघं कुलम् ।
अलमुद्योतयामासुर्देवारण्यमिवर्तवः ॥ ८० ॥

परस्परेति । परस्परमविरुद्धा अविद्विषः । सौभ्रात्रयुक्ता इत्यर्थः । ते कुमारा अनघं निष्पापं रघोः कुलम् । ऋतवो वसन्तादयो देवारण्यं नन्दनमिव ।

सहजविरोधानामप्यृतूनां सहावस्थानसम्भावनार्थं देवविशेषणम् । अलमत्यन्तमुद्योतयामासुः प्रकाशयामासुः । सौभ्रात्रवन्तः कुलभूषणायन्त इति भावः ॥ ८० ॥

परस्पर में विरोधरहित वे (रामादि राजकुमार) रघुके उस निर्दोष वंशको, सुन्दर नन्दन वनको परस्पर विरोधरहित ऋतुओंके समान अत्यन्त प्रकाशित (प्रसिद्ध, पक्षान्तरमें—सुशोभित) कर दिया ॥ ८० ॥

समानेऽपि हि सौभ्रात्रे यथोभौ रामलक्ष्मणौ ।
तथा भरतशत्रुघ्नौ प्रीत्या द्वन्द्वं बभूवतुः ॥ ८१ ॥

समान इति । शोभनाः स्निग्धा भ्रातरो येषां ते सुभ्रातरः । 'नद्यृतश्च' इति कप् न भवति, 'वन्दिते भ्रातुः' इति निषेधात् । तेषां भावः सौभ्रात्रं युवादित्वादण् । तस्मिन्समाने चतुर्णां तुल्येऽपि यथोभौ रामलक्ष्मणौ प्रीत्या द्वन्द्वं बभूवतुः, तथा भरतशत्रुघ्नौ प्रीत्या द्वन्द्वं द्वौ द्वौ साहचर्येणाभिव्यक्तौ बभूवतुः । 'द्वन्द्वं रहस्यमर्यादावचनव्युत्क्रमणयज्ञपात्रप्रयोगाभिव्यक्तिषु' इत्यभिव्यक्तार्थे निपातः । कश्चित्कस्यचित्स्नेहो नातिरिच्यत इति भावः ॥ ८१ ॥

(चारों भाइयोंमें) उत्तम भ्रातृभावके तुल्य होनेपर भी जिस प्रकार दोनों राम तथा लक्ष्मण परस्पर संयुक्त हुए, उसी प्रकार भरत तथा शत्रुघ्न भी हुए अर्थात् राम तथा लक्ष्मणका और भरत तथा शत्रुघ्नका परस्परमें अधिक प्रेम होनेसे वे एक दूसरेके सहचर हुए ॥ ८१ ॥

तेषां द्वयोर्द्वयोरैक्यं बिभिदे न कदाचन ।
यथा वायुविभावस्वोर्यथा चन्द्रसमुद्रयोः ॥ ८२ ॥

तेषामिति । तेषां चतुर्णां मध्ये द्वयोर्द्वयोः रामलक्ष्मणयोर्भरतशत्रुघ्नयोश्चेत्यर्थः । यथा वायुविभावस्वोर्वातवह्न्योरिव चन्द्रसमुद्रयोरिव च ऐक्यमैकमत्यं कदाचन न बिभिदे एककार्यत्वं समानसुखदुःखत्वं च क्रमादुपमाद्वयाल्लभ्यते । सहजः सहकारी हि वह्नेर्वायुः चन्द्रवृद्धौ हि वर्धते सिन्धुस्तत्क्षये च क्षीयत इति ॥ ८२ ॥

उन (चारों भाइयों) में दो-दोका एकता अर्थात् साहचर्य (सर्वदा साथ रहना) वायु तथा अग्निके समान और चन्द्र तथा सूर्यके समान कभी भी भिन्न नहीं हुई ॥ ८२ ॥

ते प्रजानां प्रजानाथास्तेजसा प्रश्रयेण च ।
मनो जह्रुर्निदाघान्ते श्यामाभ्रा दिवसा इव ॥ ८३ ॥

त इति । प्रजानाथास्ते कुमारास्तेजसा प्रभावेण प्रश्रयेण विनयेन च निदाघान्ते ग्रीष्मान्ते श्यामान्यभ्राणि मेघा येषां ते श्यामाभ्राः, नातिशीतोष्णा इत्यर्थः । दिवसा इव प्रजानां लोकानां मनश्चित्तं जह्रुः हरन्ति स्म ॥ ८३ ॥

प्रजाओंके स्वामी वे (चारों राजकुमार) प्रभाव तथा विनयसे ग्रीष्मकालके बादमें श्यामवर्ण बादलोंवाले दिवसों (दिनों) के समान प्रजाओंके मनको हरण (वशीभूत) कर लिये ॥ ८३ ॥

स चतुर्धा बभौ व्यस्तः प्रसवः पृथिवीपतेः ।
धर्मार्थकाममोक्षाणामवतार इवाङ्गभाक् ॥ ८४ ॥

स इति । स चतुर्धा । 'संख्याया विधार्थे धा' इत्यनेन धाप्रत्ययः । व्यस्तो विभक्तः पृथिवीपतेर्दशरथस्य प्रसवः सन्तानम् । चतुर्धाऽङ्गभाग्मूर्तिमान्धर्मार्थकाममोक्षाणामवतार इव बभौ ॥ ८४ ॥

चार प्रकारसे विभक्त राजा (दशरथ) की वह सन्तान शरीरधारी धर्म अर्थ काम और मोक्षके अवतारके समान शोभित हुई ॥ ८४ ॥

गुणैराराधयामासुस्ते गुरुं गुरुवत्सलाः ।
तमेव चतुरन्तेशं रत्नैरिव महार्णवाः ॥ ८५ ॥

गुणैरिति । गुरुवत्सलाः पितृभक्तास्ते कुमारा गुणैर्विनयादिभिर्गुरुं पितरं चतुर्णामन्तानां दिगन्तानामीशं चतुरन्तेशम् । 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इत्यनेनोत्तरपदसमासः । तं दशरथमेव महार्णवाश्चत्वार आराधयामासुरत्नैरिवेत्युपमा ॥ ८५ ॥

पितृभक्त वे (राजकुमार) गुणोंसे चारों दिशाओंके अधिपति उस पिता (दशरथ) की रत्नोंसे (चार) महासमुद्रोंके समान आराधना (आनन्दित) करने लगे ॥ ८५ ॥

सुरगज इव दन्तैर्भग्नदैत्यासिधारैर्नय इव पणबन्धव्यक्तयोगैरुपायैः ।
हरिरिव युगदीर्घैर्दोर्भिरंशैस्तदीयैः पतिरवनिपतीनां तैश्चकाशे चतुर्भिः ॥

सुरगज इति । भग्ना दैत्यानामसिधारा यैस्तैर्दन्तैश्चतुर्भिर्दन्तैः सुरगज ऐरावत इव । पणबन्धेन सन्धिना व्यक्तयोगैरनुमितफलैरुपायैश्चतुर्भिः सामादिभिर्नयो नीतिरिव । युगदीर्घैश्चतुर्भिर्दोर्भिर्भुजैर्हरिर्विष्णुरिव । 'यानाद्ये युगः पुंसि' इत्यमरः । तदीयैरंशैरंशसम्भवैस्तैश्चतुर्भिः पुत्रैरवनिपतीनां पतिः राजराजो दशरथश्चकाशे दिदीपे ॥ ८६ ॥

इति महामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितसञ्जीविनी-
व्याख्यायां रामावतारो नाम दशमः सर्गः ॥ १० ॥



दैत्योंके तलवारकी धारको भग्न करनेवाले दाँतोंसे ऐरावतके समान, फलसिद्धिके साथ प्रयोगवाले (साम, दाम भेद और दण्ड नामक चार) उपायोंसे नीतिके समान और युगके समान लम्बे बाहुओंसे विष्णुके समान उस (विष्णु) के अंशरूप उन चारों (राम, भरत और शत्रुघ्न लक्ष्मण) से राजराज (दशरथ) शोभित हो गये ॥ ८६ ॥

यह 'मणिप्रभा' टीकामें 'रघुवंश' महाकाव्यका 'रामावतार' नामक
दशम सर्ग समाप्त हुआ ॥ १० ॥

एकादशः सर्गः ।

रामचन्द्रचरणारविन्दयोरन्तरङ्गचर भृङ्गलीलया ।
तत्र सन्ति हि रसाश्चतुर्विधास्तान्यथारुचि सदैव निर्विश ॥

कौशिकेन स किल क्षितिश्वरो राममध्वरविघातशान्तये ।
काकपक्षधरमेत्य याचितस्तेजसा हि न वयः समीक्ष्यते ॥ १ ॥

कौशिकेनेति । कौशिकेन कुशिकापत्येन विश्वामित्रेणैत्याभ्यागत्य स क्षितीश्वरो दशरथः । अध्वरविघातशान्तये यज्ञविघ्नविध्वंसाय । काकपक्षधरं बालकोचितशिखाधरम् । 'बालानां तु शिखा प्रोक्ता काकपक्षः शिखण्डकः' इति हलायुधः । रामं याचितः किल प्रार्थितः खलु । याचेर्द्विकर्मकादप्रधाने कर्मणि क्तः 'अप्रधाने दुहादीनाम्' इति वचनात् । नायं बालाधिकार इत्याशङ्क्याह—तेजसा तेजस्विना वयो बाल्यादि न समीक्ष्यते हि, अप्रयोजकमित्यर्थः । अत्र सर्गे रथोद्धता वृत्तम् । उक्तं च—'रान्नराविह रथोद्धता लगौ' इति ॥ १ ॥

रामचन्द्रचरणारविन्द में चित्त ! भृङ्ग-सम तू सदा रमो ।
चार हैं रस वहां, निजेच्छया पानकर बहुस्वतन्त्र हो भ्रमो ॥

विश्वामित्र मुनिने उस राजाके पास आकर यज्ञके विघ्नकी शान्तिके लिये काकपक्षधर (बालक) रामको मांगा, क्योंकि तेजस्वियोंकी अवस्था (उम्र) नहीं देखी जाती ॥ १ ॥

कृच्छ्रलब्धमपि लब्धवर्णभाक् तं दिदेश मुनये सलक्ष्मणम् ।
अप्यसुप्रणयिनां रघोः कुले न व्यहन्यत कदाचिदर्थिता ॥ २ ॥

कृच्छ्रेति । लब्धा वर्णाः प्रसिद्धयो यैस्ते लब्धवर्णा विचक्षणाः । 'लब्धवर्णो विचक्षणः' इत्यमरः । तान्भजत इति लब्धवर्णभाक्, विद्वत्सेवीत्यर्थः । स राजा कृच्छ्रलब्धमपि सलक्ष्मणं तं रामं मुनये दिदेशातिसृष्टवान् । तथा हि । असुप्रणयिनां प्राणार्थिनामप्यर्थिता याञ्चा रघोः कुले कदाचिदपि न व्यहन्यत न विहता, न विफलीकृतेत्यर्थः । यैरर्थिभ्यः प्राणा अपि समर्प्यन्ते तेषां पुत्रादित्यागो न विस्मयावह इति भावः ॥ २ ॥

विद्वानोंकी सेवा करनेवाले (राजा दशरथ) ने कष्टसे प्राप्त हुए भी उस रामको लक्ष्मणके सहित, मुनि (विश्वामित्रजी) के लिये दे दिया । रघुवंशियोंमें प्राणोंकी याचना करनेवालोंकी भी याचना कभी असफल नहीं होती । (अतः राजा दशरथजी विश्वामित्र मुनिकी यज्ञरक्षाके लिये प्रिय पुत्र रामजीको कैसे मना करते ?) ॥ २ ॥

यावदादिशति पार्थिवस्तयोर्निर्गमाय पुरमार्गसत्क्रियाम् ।
तावदाशु विदधे मरुत्सखैः सा सपुष्पजलवर्षिभिर्घनैः ॥ ३ ॥

यावदिति । पार्थिवः पृथिवीश्वरस्तयो रामलक्ष्मणयोर्निर्गमाय निष्क्रमणाय पुरमार्गसत्क्रियां धूलिसम्मार्जनगन्धोदकसेचनपुष्पोपहाररूपसंस्कारं यावदादिशत्याज्ञापयति तावन्मरुत्सखैर्वायुसहायैः । अनेन धूलिसम्मार्जनं गम्यते । सपुष्पजलवर्षिभिः पुष्पसहितजलवर्षिभिर्घनैः सा मार्गसत्क्रियाशु विदधे विहिता । एतेन दैवकार्योद्यतयोर्दैवानुकूल्यं सूचितम् ॥ ३ ॥

राजाने जब तक उन दोनों (राम तथा लक्ष्मण) के नगरसे बाहर जानेके लिये राजमार्ग (मुख्य सड़कों) की सफाई, छिड़काव एवं पुष्प-पंक्तियोंसे सजावट करनेकी आज्ञा दी, तब तक अर्थात् तत्काल ही वायुने धूल साफ कर दी और मेघने जलका छिड़काव कर दिया एवं देवताओंने आकाशसे पुष्पवृष्टिकर मार्गोंको सजावट कर दी ॥ ३ ॥

तौ निदेशकरणोद्यतौ पितुर्धन्विनौ चरणयोर्निपेततुः ।
भूपतेरपि तयोः प्रवत्स्यतोर्नम्रयोरुपरि बाष्पबिन्दवः ॥ ४ ॥

ताविति । निदेशकरणोद्यतौ पित्राज्ञाकरणोद्युक्तौ धन्विनौ धनुष्मन्तौ तौ कुमारौ पितुश्चरणयोर्निपेततुः, प्रणतावित्यर्थः । भूपतेरपि बाष्पबिन्दवः प्रवत्स्यतोः प्रवासं करिष्यतोः । अत एव नम्रयोः प्रणतयोः । 'नमिकम्पि' इति रप्रत्ययः । तयोरुपरि निपेतुः पतिताः ॥ ४ ॥

पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये तैयार एवं धनुष धारण किये हुए उन दोनों (राम तथा लक्ष्मण) ने पिताके चरणोंपर झुककर प्रणाम किया और बाहर जाते हुए तथा चरणोंमें प्रणत उन दोनोंके ऊपर राजाकी (स्नेहसे) आंसुओंकी बूंद गिर पड़ी ॥ ४ ॥

तौ पितुर्नयनजेन वारिणा किंचिदुक्षितशिखण्डकावुभौ ।
धन्विनौ तमृषिमन्वगच्छतां पौरदृष्टिकृतमार्गतोरणौ ॥ ५ ॥

ताविति । पितुर्नयनजेन वारिणा किंचिदुक्षितशिखण्डकावीषत्सिक्तकाकपक्षौ । 'शिखा चूडा शिखण्डः स्यात्' इत्यमरः । 'शेषाद्विभाषा' इति कप्प्रत्ययः । धन्विनौ तावुभौ । पौरदृष्टिभिः कृतानि मार्गतोरणानि सम्पादितानि कुसुमतोरणानि ययोस्तौ तथोक्तौ, सस्पृहं वीक्ष्यमाणावित्यर्थः । तमृषिमन्वगच्छताम् ॥ ५ ॥

पिताके नेत्रोत्पन्न जल (आंसू) से कुछ भीगे हुए काकपक्षवाले धनुर्धारी वे दोनों (राम तथा लक्ष्मण) उस मुनि (विश्वामित्र) के पीछे पीछे चले तो मार्गोंपर खड़े होकर नागरिक जो उन्हें देख रहे थे, वे ऐसे मालूम पड़ते थे कि मानो नागरिकोंके नेत्रकी कतारोंसे तोरण बनाकर मार्ग सजाया गया है ॥ ५ ॥

लक्ष्मणानुचरमेव राघवं नेतुमैच्छदृषिरित्यसौ नृपः ।
आशिषं प्रयुयुजे न वाहिनीं सा हि रक्षणविधौ तयोः क्षमा ॥ ६ ॥

लक्ष्मणेति । ऋषिर्लक्ष्मणानुचरमेव लक्ष्मणमात्रानुचरं तं राघवं नेतुमैच्छदिति हेतोरसौ नृप आशिषं प्रयुयुजे प्रयुक्तवान् । वाहिनीं सेनां न प्रयुयुजे न प्रेषितवान् । हि यस्मात्साऽऽशीरेव तयोः कुमारयो रक्षणविधौ क्षमा शक्ता ॥ ६ ॥

विश्वामित्र मुनिने केवल लक्ष्मणके ही साथ रामचन्द्रजीको ले जाना चाहा, अतः इन्हें राजाने केवल आशीर्वाद दिया, (उनकी रक्षाके लिए) सेनाको साथमें नहीं भेजी, (क्योंकि) वह आशीर्वाद ही उन दोनोंका रक्षक था ॥ ६ ॥

मातृवर्गचरणस्पृशौ मुनेस्तौ प्रपद्य पदवीं महौजसः ।
रेजतुर्गतिवशात्प्रवर्तिनौ भास्करस्य मधुमाधवाविव ॥ ७ ॥

मातृवर्गेति । मातृवर्गस्य चरणान्स्पृशत इति मातृवर्गचरणस्पृशौ, कृतमातृवर्गनमस्कारावित्यर्थः । 'स्पृशोऽनुदके क्विन्' इति क्विन्प्रत्ययः । तौ महौजसौ मुनेः पदवीं प्रपद्य । महौजसो भास्करस्य गतिवशान्मेषादिराशिसंक्रान्त्यनुसारात्प्रवर्तिनौ मधुमाधवाविव चैत्रवैशाखाविव रेजतुः । 'फणां च सप्तानाम्' इति वैकल्पिकावेत्वाभ्यासलोपौ । 'स्याच्चैत्रे चैत्रिको मधुः' इति । 'वैशाखे माधवो राधः' इति चामरः ॥ ७ ॥

माताओंको प्रणामकर महातेजस्वी मुनिके मार्गसे चलनेवाले वे दोनों ऐसे शोभायमान होते थे, जैसे महातेजस्वी सूर्यकी (मेष आदि सङ्क्रान्ति) की गतिके कारण प्रवृत्त होनेवाले चैत्र तथा वैशाख मास शोभमान होते हैं ॥ ७ ॥

वीचिलोलभुजयोस्तयोर्गतं शैशवाच्चपलमप्यशोभत ।
तोयदागम इवोद्ध्यभिद्ययोर्नामधेयसदृशं विचेष्टितम् ॥ ८ ॥

वीचीति । वीचिलोलभुजयोस्तरङ्गचञ्चलबाह्वोः । इदं विशेषणं नदोपमानसिद्ध्यर्थं वेदितव्यम् । तयोश्चपलं चञ्चलमपि गतं गतिः शैशवाद्धेतोरशोभत । किमिव, तोयदागमे वर्षासमये उज्झत्युदकमित्युद्ध्यः । भिनत्ति कूलमिति भिद्यः । 'भिद्योद्ध्यौ नदे' इति क्यबन्तौ निपातितौ । उद्ध्यभिद्ययोर्नदविशेषयोर्नामधेयसदृशं नामानुरूपं विचेष्टितमिव । उदकोज्झनकूलभेदनरूपव्यापार इव । समयोत्पन्नं चापलमपि शोभत इति भावः ॥ ८ ॥

सुख (पूर्वक गमन) से हिलते हुए भुजाओंवाले उन दोनोंका शैशवके कारण चञ्चल भी गमन, वर्षाकाल आनेपर तरङ्गरूप चञ्चल बाहुवाले भिद्य और उद्ध्य नामक नदोंकी नामानुकूल (क्रमशः तटको तोड़नेवाला और जलको छोड़नेवाला) चेष्टाके समान शोभित होता था ॥ ८ ॥

तौ बलातिबलयोः प्रभावतो विद्ययोः पथि मुनिप्रदिष्टयोः ।
मम्लतुर्न मणिकुट्टिमोचितौ मातृपार्श्वपरिवर्तिनाविव ॥ ९ ॥

ताविति । मणिकुट्टिमोचितौ मणिबद्धभूमिसञ्चारोचितौ तौ मुनिप्रदिष्टयोः कौशिकेनोपदिष्टयोर्बलातिबलयोर्विद्ययोर्बलातिबलाख्ययोर्मन्त्रयोः प्रभावतः सामर्थ्यात् मातृपार्श्वपरिवर्तिनौ मातृसमीपवर्तिनाविव पथि न मम्लतुः, न ग्लानिमापतुः । अत्र रामायणश्लोकः—'क्षुत्पिपासे न ते राम भविष्येते नरोत्तम । बलामतिबलां चैव पठतः पथि राघव ॥' ॥ ९ ॥

मणिमयी भूमिपर चलनेके योग्य वे दोनों (राम और लक्ष्मण) मुनि विश्वामित्रके द्वारा सिखाई हुई 'बला और अतिबला' नामक विद्याओंके प्रभावसे माताके समीप रहते हुए के समान रास्तेमें खिन्न नहीं हुए ॥ ९ ॥

पूर्ववृत्तकथितैः पुराविदः सानुजः पितृसखस्य राघवः ।
उह्यमान इव वाहनोचितः पादचारमपि न व्यभावयत् ॥ १० ॥

पूर्ववृत्तेति । वाहनोचितः सानुजो राघवः । पुराविदः पूर्ववृत्ताभिज्ञस्य पितृसखस्य मुनेः पूर्ववृत्तकथितैः पुरावृत्तकथाभिरुह्यमान इव वाहनेन प्राप्यमाण इव । वहेर्यन्तात् कर्मणि शानच् । 'उह्यमानः' इत्यत्र दीर्घादिरपपाठः । दीर्घप्राप्त्यभावात् । पादचारमपि न व्यभावयत् ज्ञातवान् ॥ १० ॥

वाहनों (हाथी-घोड़ा आदि सवारियों) के योग्य और भाई (लक्ष्मण) के सहित रामचन्द्रजीने पुराने इतिहासोंके ज्ञाता तथा पिता (दशरथजी) के मित्र मुनिराज विश्वामित्रके द्वारा प्राचीन इतिहास कहनेसे वाहनोंसे ढोये जाते हुए के समान, अपने पैदल चलनेको भी अनुभव नहीं किया । (पूर्व इतिहासोंको सुनते हुए चलनेसे पैदल चलनेपर भी उन्हें श्रम नहीं हुआ) ॥ १० ॥

तौ सरांसि रसवद्भिरम्बुभिः कूजितैः श्रुतिसुखैः पतत्रिणः ।
वायवः सुरभिपुष्परेणुभिश्छायया च जलदाः सिषेविरे ॥ ११ ॥

ताविति । तौ राघवौ कर्मभूतौ सरांसि कर्तॄणि रसवद्भिर्मधुरैरम्बुभिः सिषेविरे । पतत्रिणः पक्षिणः । सुखयन्तीति सुखानि । पचाद्यच् । श्रुतीनां सुखानि । तैः कूजितैः । वायवः सुरभिपुष्परेणुभिः सुगन्धिपरागैः । जलदाश्छायया च सिषेविरे इति सर्वत्र सम्बध्यते ॥ ११ ॥

तालाबोंने मधुर जलसे पक्षियोंने कानोंको सुखप्रद मधुर कलरवसे वायुने सुगन्धयुक्त पुष्प-परागोंसे और मेघोंने (धूपनिवारक) छायासे उन दोनोंकी सेवा की ॥ ११ ॥

नाम्भसां कमलशोभिनां तथा शाखिनां च न परिश्रमच्छिदाम्।
दर्शनेन लघुना यथा तयोः प्रीतिमापुरुभयोस्तपस्विनः॥ १२॥

नाम्भसामिति। तप एषामस्तीति तपस्विनः। 'तपःसहस्राभ्यां विनीनी' इति विनिप्रत्ययः। लघुनेष्टेन 'त्रिष्विष्टेऽल्पे लघुः' इत्यमरः। तयोरुभयोः कर्मभूतयोः। दर्शनेन यथा प्रीतिमापुः तथा कमलशोभिनामम्भसां दर्शनेन नापुः। परिश्रमच्छिदां शाखिनां दर्शनेन च नापुः॥ १२॥

तपस्वीलोगोंने अभिलषित (या थोड़े) उन दोनोंके दर्शनसे जैसा सुख पाया, वैसा सुख कमलोंसे शोभायमान जलके दर्शनसे और परिश्रमको (छायासे) दूर करनेवाले वृक्षोंके दर्शनसे नहीं पाया॥ १२॥

स्थाणुदग्धवपुषस्तपोवनं प्राप्य दाशरथिरात्तकार्मुकः।
विग्रहेण मदनस्य चारुणा सोऽभवत्प्रतिनिधिर्न कर्मणा॥ १३॥

स्थाणुदग्धेति। स आत्तकार्मुकः। दशरथस्यापत्यं पुमान्दाशरथी रामः। 'अत इञ्' इतीञ्प्रत्ययः। स्थाणुर्हरः। 'स्थाणुः कीले हरे स्थिरे' इति विश्वः। तेन दग्धवपुषो मदनस्य तपोवनं प्राप्य चारुणा विग्रहेण कायेन। 'विग्रहः समरे काये' इति विश्वः। प्रतिनिधिः प्रतिकृतिः सदृशोऽभवत्कर्मणा न पुनः देहेन मदनसुन्दर इति भावः॥१३॥

धनुर्धारी दशरथनन्दन वह (रामचन्द्रजी) तपोवनमें पहुँचकर शिवजीसे दग्ध शरीर-वाले कामके प्रतिनिधि (केवल) सुन्दर शरीरसे ही हुए, कार्य (विरहिजन-पीडनरूप कार्य या शिवकी समाधिको भग्न करनेके कार्य) से कामदेवके प्रतिनिधि नहीं हुए॥ १३॥

पौराणिक कथा—ब्रह्माके वर देनेसे निर्भय तारकासुरसे पीडित देवसमूहोंने ब्रह्माके पास जाकर तारकासुरके मरनेका उपाय पूछा तो उन्होंने कहा कि 'शिवजीकी सन्तानको सेनापति बनाकर आपलोग उसे मारनेका उद्योग करें। तब हिमालयके एकदेशमें समाधि लगाये हुए, प्रतिदिन पूजाके लिए फूल आदि सामग्री पहुँचानेवाली पार्वतीसे उपास्यमान शङ्करजीकी समाधिको भङ्ग करनेके लिए देवेन्द्रके अनुरोधसे कामदेव वहाँ जाकर धनुषपर बाण चढाकर शङ्करजीके मनमें विकार पैदा करना चाहा, इतनेमें उन्होंने उस कामदेवके दुष्कार्यको मालूमकर तृतीय नेत्रकी अग्निसे तत्काल ही उसे भस्म कर डाला।

तौ सुकेतुसुतया खिलीकृते कौशिकाद्विदितशापया पथि।
निन्यतुः स्थलनिवेशिताटनी लीलयेव धनुषी अधिज्यताम्॥ १४॥

ताविति। अत्र रामायणवचनम्—'अगस्त्यः परमक्रुद्धस्ताडकामभिशप्तवान्। पुरुषादी महायक्षी विकृता विकृतानना। इदं रूपमपहाय दारुणं रूपमस्तु ते।' इति। तदेतदाह—विदितशापयेति। कौशिकादाख्यातुः 'आख्यातोपयोगे' इत्यपादाना-

स्थाणुमी । विदितशापया मुनेस्तु तया ताडकया विलक्षिते पथि । 'विलक्षमङ्कितं त्रा-णम्' इति हलायुधः । रामलक्ष्मणौ । स्वके निवेशिते अटनी धनुष्कोटी याभ्यां तौ तथोक्तौ । 'कोटिरस्याटनी' इत्यमरः । ज्यामेव धनुषी । अधिज्ये ज्ये, मौर्व्यौ ययो-स्ते अधिज्ये । 'ज्या मौर्वीमातृभूमिषु' इति विश्वः । तयोर्भावस्तत्तामधिज्यतां निन्-युर्नीतवन्तौ नयतिर्द्विकर्मकः ॥ १३ ॥

विश्वामित्रजीसे विदित हो गया है शाप जिसका ऐसी ताडकासे अलंकार रूप किये गये मार्गमें भूमिपर धनुष्कोटियोंको रखकर उन दोनोंने सरलतासे धनुषोंपर डोरी चढ़ा दी॥

पौराणिक कथा—'सुकेतु' नामक यक्षकी पुत्रीका विवाह 'सुन्द' नामक 'कुम्भ' दैत्यके पुत्रसे हुआ। विष्णुके द्वारा 'सुन्द'के मारे जानेपर महाबली बनसे प्रबल एवं हजारों हाथियोंके तुल्य बलवाली 'सुन्द'की स्त्रीने अगस्त्य ऋषिपर आक्रमण किया तो ऋषिने क्रुद्ध होकर शाप दिया कि 'तुम इस शरीरको छोड़कर भयङ्कर शरीर धारण करो और पुरुषोंको भक्षण करनेवाली विकराल मुखवाली महाराक्षसी हो जाओ' इसी बातको रामचन्द्रजीने विश्वामित्र ऋषिसे मालूम किया।

ज्यानिनादमथ गृह्णती तयोः प्रादुरास बहुलक्षपाछविः ।
ताडका चलकपालकुण्डला कालिकेव निबिडा बलाकिनी ॥ १४ ॥

ज्यानिनादमिति । अथ तयोर्ज्यानिनादं गृह्णती जानती शृण्वतीत्यर्थः । बहुल-क्षपाछविः कृष्णपक्षरात्रिवर्णा । 'बहुलः कृष्णपक्षे च' इति विश्वः । चले कपाले एव कुण्डले यस्याः सा तथोक्ता ताडका । निबिडा सान्द्रा बलाकिनी बलाकावती । 'व्री-ह्यादिभ्यश्च' इतीनिः । कालिकेव घनालीव । 'कालिका योगिनीभेदे कार्ष्ण्ये पौर्वे घनावलौ' इति विश्वः । प्रादुरास प्रादुर्बभूव ॥ १४ ॥

इसके बाद (उन दोनोंके द्वारा किये गये) धनुष्टङ्कारको सुनकर कृष्णपक्षकी रात्रिके समान शोभावाली (अर्थात् अत्यन्त काली) और चञ्चल कपाल-कुण्डलोंवाली ताडका बकपङ्क्तियुक्त सघन मेघमालाके समान वहाँ पहुँच गयी ॥ १४ ॥

तीव्रवेगधुतमार्गवृक्षया प्रेतचीवरवसा स्वनोग्रया ।
अभ्यभावि भरताग्रजस्तया वात्ययेव पितृकाननोत्थया ॥ १५ ॥

तीव्रवेगेति । तीव्रवेगेन धुताः कम्पिता मार्गवृक्षा यया तयोक्तया । प्रेतचीवराणि वस्त इति प्रेतचीवरवसाः । तया प्रेतचीवरवसा । वसतेराच्छादनार्थात्क्विप् । स्वनेन सिंहनादेनोग्रया तया ताडकया । पितृकानने श्मशाने उत्थया । 'आतश्चोपसर्गे' इत्युपसर्गे स्थिको कर्तरि कप्रत्ययः । तया वात्ययेव वातसमूहेनेव । 'पाशादिभ्यो यः' इति यः । भरताग्रजो रामोऽभ्यभावि अभिभूतः । कर्मणि लुङ् । तीव्रवेगेत्यादिविशेषणानि वात्यायामपि योज्यानि ॥ १५ ॥

तीव्र वेगसे मार्गके पेडोंको कम्पित करनेवाली, प्रेतोंका चीथटा (कफन) पहनी हुई, गर्जनेसे अतिभयङ्कर उस ताडकाने श्मशानसे उठी हुई आँधीके समान, रामचन्द्रजीको अभिभूत कर दिया ॥ १६ ॥

उद्यतैकभुजयष्टिमायतीं श्रोणिलम्बिपुरुषान्त्रमेखलाम् ।
तां विलोक्य वनितावधे घृणा पत्रिणा सह मुमोच राघवः ॥ १७ ॥

उद्यतैकेति । उद्यतोन्नमितैको भुज एव यष्टिर्यस्यास्ताम् । आयतीमायान्तीम् । इणो धातो शतरि 'उगितश्च' इति ङीप् । श्रोणिलम्बिनी पुरुषाणामन्त्राण्येव मेखला यस्यास्ताम् । इति विशेषणद्वयेनाप्याततायित्व सूचितम । अत एव तां विलोक्य राघवो वनितावधे स्त्रीवधनिमित्ते घृणा जुगुप्सा करुणा वा । 'जुगुप्साकरुणे घृणे' इत्यमर । पत्रिणेषुणा सह । 'पत्री रोप इषुर्द्वयो ' इत्यमरः । मुमोच मुक्तवान् । आततायिवधे मनुः-'आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् । जिघांसन्त जिघासीयान्न तेन ब्रह्महा भवेत् । नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन' इति ॥ १७ ॥

ऊपर उठी हुई एक भुजारूप लाठीवाली अर्थात् लाठीके समान एक भुजाको ऊपर उठाई हुई, आती हुई और मनुष्योंकी आँतोंकी करधनी बनाकर कमरमें पहनकर लटकाती हुई उस ताडकाको देखकर रामजीने स्त्रीवध करनेमें घृणा (या दया) के साथ बाणको छोडा । ('ऐसी स्त्रीको मारनेमें दया नहीं करनी चाहिये' ऐसा विचारकर उसपर बाण छोड़ा)॥१७॥

यच्चकार विवरं शिलाघने ताडकोरसि स रामसायकः ।
अप्रविष्टविषयस्य रक्षसां द्वारतामगमदन्तकस्य तत् ॥ १८ ॥

यदिति । स रामसायक शिलावद्घने सान्द्रे ताडकोरसि यद्विवर रन्ध्रं चकार तद्विवरं रक्षसामप्रविष्टविषयस्य, अप्रविष्टरक्षोदेशस्येत्यर्थ । सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्समासः । 'विषय स्यादिन्द्रियार्थे देशे जनपदेऽपि च' इति विश्वः । अन्तकस्य यमस्य द्वारतामगमत् । इय प्रथमा रक्षोमृतिरिति भाव ॥ १८ ॥

उस राम-बाणने पत्थरके समान कठोर ताडकाकी छातीमें जो छिद्र किया, वह राक्षसोंके देश (निवासस्थान) में नहीं पहुचे हुए यमराजके द्वारभावको प्राप्त किया अर्थात् यमराजके लिये मानो द्वार बन गया ॥ १८ ॥

बाणभिन्नहृदया निपेतुषी सा स्वकाननभुवं न केवलाम् ।
विष्टपत्रयपराजयस्थिरां रावणश्रियमपि व्यकम्पयत् ॥ १९ ॥

बाणभिन्नेति । बाणभिन्नहृदया निपेतुषी निपतिता सती । 'क्वसुश्च' इति क्वसुप्रत्ययः । 'उगितश्च' इति ङीप् । सा केवलामेकाम् । 'निर्णीते केवलमिति त्रिलिङ्ग त्वेककृत्स्नयो.' इत्यमरः । स्वकाननभुवं न व्यकम्पयत । किन्तु विष्टपत्रयस्य लोक-

धनस्य पराक्रमेण स्थितां रावणश्रियमपि व्यकम्पयत्। ताडकावधश्रवणेनैव रावणस्यापि भयमुत्पन्नमिति भावः ॥ १९ ॥

रामसे विद्ध हृदयवाली तथा गिरी हुई उस ताडकाने केवल अपने पासकी भूमिको ही नहीं कम्पित कर दिया किन्तु तीनों लोकोंको पराजित करनेसे स्थिर रावणकी लक्ष्मीको भी कम्पित कर दिया ॥ १९ ॥

अथ ताडकाया अभिसारिकायाः समाधिरभिधीयते—

राममन्मथशरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी ।
गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसतिं जगाम सा ॥ २० ॥

राममन्मथेति । सा निशासु चरतीति निशाचरी राक्षसी अभिसारिका च। दुःसहेन सोढुमशक्येन राम एव मन्मथः, मन्मथाभिरामो मन्मथः। तस्य शरेण हृदये उरसि मनसि च। 'हृदयं मन उरसोः' इति विश्वः। ताडिता, निशाचरी गन्धवद् दुर्गन्धि यद्रुधिरमेव चन्दनं तेनोक्षिता सिक्ता। अन्यत्र गन्धवती सुगन्धिनी ये रुधिरचन्दने कुङ्कुमचन्दने ताभ्यामुक्षिता यद्वा गन्धवद् रुधिरमिव चन्दनं हरिचन्दनमित्यर्थः। 'रुधिरं कुङ्कुमासृजोः' इत्युभयत्रापि विश्वः। जीवितेशस्यान्तकस्य प्राणेश्वरस्य च वसतिं जगाम ॥ २० ॥

जिस प्रकार दुःसह, सुन्दर कामके बाणसे पीड़ित रात्रिमें गमन करनेवाली अभिसारिका नायिका गन्धयुक्त चन्दनसे चर्चित होकर प्राणनाथके निवासस्थानको जाती है उसी प्रकार दुःसह मन्मथ मथन करनेवाले रामके बाणसे (या रामरूपी कामदेवके बाणसे) हृदयमें ताडित हुई राक्षसी ताडका गन्धयुक्त रक्तरूप चन्दनसे चर्चित (अनुलिप्त) होकर यमराजपुरीको चली गयी अर्थात् मर गयी ॥ २० ॥

नैर्ऋतघ्नमथ मन्त्रवन्मुनेः प्रापदस्त्रमवदानतोषितात् ।
ज्योतिरिन्धननिपाति भास्करात्सूर्यकान्त इव ताडकान्तकः ॥ २१ ॥

नैर्ऋतघ्नमिति । अथानन्तरं ताडकान्तको रामः। अवदानं पराक्रमः। 'पराक्रमोऽवदानं स्यात्' इति मागुरिः। तेन तोषितान्मुनेः नैर्ऋतान् राक्षसान्हन्तीति नैर्ऋतघ्नम्। 'अमनुष्यकर्तृके च' इति टक्। मन्त्रवन्मन्त्रयुक्तमस्त्रम्। सूर्यकान्तो मणिविशेषो भास्करादिन्धनमपि निपातयतीतीन्धननिपाति ज्योतिरिव। प्रापदलभत् ॥ २१ ॥

इसके बाद ताडकाका वध करनेवाले रामने पराक्रमसे सन्तुष्ट मुनि (विश्वामित्र)से मन्त्रयुक्त राक्षसनाशक अस्त्रको उस प्रकार प्राप्त किया जिस प्रकार सूर्यकान्तमणि सूर्यसे इन्धनको जलानेवाले तेजको प्राप्त करता है ॥ २१ ॥

वामनाश्रमपदं ततः परं पावनं श्रुतमृषेरुपेयिवान् ।
उन्मना प्रथमजन्मचेष्टितान्यस्मरन्नपि बभूव राघवः ॥ २२ ॥

वामनेति । ततः परं राघव । ऋषे कौशिकादाख्यातुः श्रुतं पावनं शोधनं वामनस्य स्वपूर्वावतारविशेषस्याश्रमपदमुपेयिवानुपगतः सन् । 'उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च' इति निपातः । प्रथमजन्मचेष्टतानि रामवामनयोरैक्यात्स्मृतियोग्यान्यपि रामस्याज्ञातावतारत्वेन संस्कारदौर्बल्यादस्मरन्नपि उन्मना उत्सुको बभूव ॥ २२ ॥

तदनन्तर विश्वामित्रसे सुने गये, पवित्र वामनाश्रम स्थानको पहुंचे हुए राम पूर्वजन्म (वामनावतार) की चेष्टाओंको नहीं स्मरण करते हुए भी उत्सुक हुए ॥ २२ ॥

आससाद मुनिरात्मनस्ततः शिष्यवर्गपरिकल्पितार्हणम् ।
बद्धपल्लवपुटाञ्जलिद्रुमं दर्शनोन्मुखमृगं तपोवनम् ॥ २३ ॥

आससादेति । ततो मुनिः । शिष्यवर्गेण परिकल्पिता सज्जितार्हणा पूजासामग्री यस्मिंस्तत्तथोक्तम् । 'सपर्यार्चार्हणा समाः' इत्यमरः । बद्धा पल्लवपुटा एवाञ्जलयो यैस्ते तथाभूता द्रुमा यस्मिंस्तत्तथोक्तम् । दर्शनेन मुनिदर्शनेनोन्मुखा मृगा यस्मिंस्तत् । आत्मनस्तपोवनमाससाद । एतेन विशेषणत्रयेणातिथिसत्काररताच्छील्यविनयशान्तयः सूचिताः ॥ २३ ॥

तदनन्तर मुनि (विश्वामित्रजी) ने शिष्यसमुदायद्वारा सुसज्जित पूजा-सामग्रीवाले, सम्पुटित पल्लव-पुटरूपी अञ्जलि-युक्त वृक्षोंवाले और दर्शनके लिये या दर्शनसे उन्मुख (मुखको ऊपर उठाये हुए) मृगोंवाले अपने तपोवनको प्राप्त किया ॥ २३ ॥

तत्र दीक्षितमृषिं ररक्षतुर्विघ्नतो दशरथात्मजौ शरैः ।
लोकमन्धतमसात्क्रमोदितौ रश्मिभिः शशिदिवाकराविव ॥ २४ ॥

तत्रेति । तत्र तपोवने आश्रमे दशरथात्मजौ दीक्षितं दीक्षासंस्कृतमृषिं शरैर्विघ्नतो विघ्नेभ्यः । क्रमेण पर्यायेण रात्रिदिवसयोरुदितौ शशिदिवाकरौ रश्मिभिः किरणैरन्धतमसाद्गाढध्वान्तात् । 'ध्वान्ते गाढेऽन्धतमसम्' इत्यमरः । 'अवसमन्धेभ्यस्तमसः' इति समासान्तोऽच्प्रत्ययः । लोकमिव ररक्षतुः । रक्षणप्रवृत्तावभूतामित्यर्थः ॥

वहांपर दोनों दशरथनन्दन (राम-लक्ष्मण) यज्ञ करनेके लिए दीक्षाको ग्रहण किये हुए मुनिकी बाणोंके द्वारा विघ्नोंसे उस प्रकार रक्षा करने लगे, जिस प्रकार उदयको प्राप्त हुए सूर्य तथा चन्द्र किरणोंके द्वारा घने अन्धकारसे संसारकी रक्षा करते हैं ॥ २४ ॥

वीक्ष्य वेदिमथ रक्तबिन्दुभिर्बन्धुजीवपृथुभिः प्रदूषिताम् ।
सम्भ्रमोऽभवदपोढकर्मणामृत्विजां च्युतविकङ्कतस्रुचाम् ॥ २५ ॥

वीक्ष्येति । अथ बन्धुजीवपृथुभिर्बन्धुजीवकुसुमस्थूलैः। 'रक्तकस्तु बन्धूको बन्धुजीवकः' इत्यमरः। रक्तबिन्दुभिः प्रदूषितामुपहतां वेदिं वीक्ष्य। अपोढकर्मणां त्यक्तव्यापाराणां त्यक्तयज्ञकर्मणाम्। च्युता विकङ्कतस्रुचो यज्ञपात्राणि येषां तेषामृत्विजां याजकानां सम्भ्रमोऽभवत्। विकङ्कतग्रहणं परिशिष्टपात्रोपलक्षणम्। स्रुगादीनां वा विकङ्कतप्रकृतिकत्वात्। स्रुगादिपात्रस्यैव विकङ्कतप्रकृतिकत्वात्। 'विकङ्कतः स्रुवावृक्षः' इत्यमरः। यद्वा स्रुच्मात्रस्य विकङ्कतप्रकृतिकत्वमस्तु। वचनप्राप्ति साधनसम्भवात्। यथाह भगवानापस्तम्बः—'वाग्निरस्रुक् पर्णमयी वैकङ्कती स्रुवो वा' इति ॥

तदनन्तर 'बन्धुजीव' नामक फूल के समान बड़े २ रक्तकी बूंदोंसे दूषित यज्ञवेदीको देखकर यज्ञकर्मको रोक देनेवाले तथा खदिरनिर्मित स्रुवाको गिरा देनेवाले ऋत्विजों (याजकों—यज्ञकर्ताओं) को सम्भ्रम हुआ अर्थात् ऋत्विजोंने रक्तबिन्दु-दूषित यज्ञ-वेदीको देख घबड़ाकर यज्ञ करना रोक दिया और स्रुवाको नीचे रख दिया ॥ २५ ॥

उन्मुखः सपदि लक्ष्मणाग्रजो बाणमाश्रयमुखात्समुद्धरन् ।
रक्षसां बलमपश्यदम्बरे गृध्रपक्षपवनेरितध्वजम् ॥ २६ ॥

उन्मुख इति । सपदि लक्ष्मणाग्रजो रामो बाणमाश्रयमुखात्तूणीरमुखात्समुद्धरन्। उन्मुख ऊर्ध्वमुखोऽम्बरे। गृध्रपक्षपवनेरितध्वजं कम्पिता ध्वजा यस्य तथोक्तम्। रक्षसां दुर्निमित्तसूचकमेतत्। तदुक्तं शकुनार्णवे—'आसन्नमृत्योर्विजये चरन्ति गृध्रादयो मूर्ध्नि पुरोऽर्धभागे' इति। रक्षसां निशाचराणां बलमपश्यत् ॥ २६ ॥

उसी समयमें तरकससे बाणको निकालते हुए रामने उन्मुख होकर आकाशमें गीधोंके पंखोंकी हवासे कम्पित पताकाओंवाली राक्षसोंकी सेनाको देखा। (गीधोंके द्वारा पताकाओंका हिलना जाना राक्षसोंका अशुभ शकुन था) ॥ २६ ॥

तत्र यावधिपती मखद्विषां तौ शरव्यमकरोत्स नेतरान् ।
किं महोरगविसर्पिविक्रमो राजिलेषु गरुडः प्रवर्तते ॥ २७ ॥

तत्रेति । स रामस्तत्र रक्षसां बले यौ मखद्विषां मखं यज्ञं द्विषन्तीति तेषाम्। अधिपती तौ सुबाहुमारीचौ शरव्यं लक्ष्यमकरोत्। 'शरव्यं लक्ष्यं लक्षं च' इति हलायुधः। इतरान्नाकरोत्। तथा हि—महोरगविसर्पिविक्रमो गरुडो गरुत्मान् राजिलेषु जलव्यालेषु प्रवर्तते किम्, न प्रवर्तत इत्यर्थः। 'अलगर्दो जलव्यालः समौ राजिलडुण्डुभौ' इत्यमरः ॥ २७ ॥

उस (राम) ने उस सेनामें यज्ञ-विध्वंसक राक्षसोंके जो दो (मारीच तथा सुबाहु) प्रधान थे, उन्हींको निशाना बनाया दूसरोंको नहीं; क्योंकि बड़े २ सर्पोंपर उत्कट पराक्रम करनेवाला गरुड क्या ढोंड़ (जलमें रहनेवाले निर्विष) सर्पोंपर प्रहार करता है? अर्थात् कदापि नहीं ॥ २७ ॥

सोऽस्त्रमुग्रजवमस्त्रकोविदः सन्दधे धनुषि वायुदैवतम् ।
तेन शैलगुरुमप्यपातयत्पाण्डुपत्रमिव ताडकासुतम् ॥ २८ ॥

स इति । अस्त्रकोविदोऽस्त्रज्ञः स राम उग्रजवमुत्कटजवं वायुदैवतं वायुर्देवता अस्य तद्वायव्यमस्त्रं धनुषि सन्दधे सहितवान् । कर्तरि लिट् । तेनास्त्रेण शैलवद्गुरुमपि ताडकासुतं मारीचं पाण्डुपत्रमिव, परिणतपर्णमिवेत्यर्थः । अपातयत्पातितवान् ॥ २८ ॥

अस्त्र-पण्डित (राम) ने तीव्र वेगवाले जिस वायव्यास्त्रको धनुषपर चढाया था, उसने पर्वतके समान भारी भी ताडकापुत्र (मारीच) को पके हुए पत्तेके समान (सरलतासे दूर) गिरा दिया ॥ २८ ॥

यः सुबाहुरिति राक्षसोऽपरस्तत्र तत्र विससर्प मायया ।
तं क्षुरप्रशकलीकृतं कृती पत्त्रिणां व्यभजदाश्रमाद्बहिः ॥ २९ ॥

य इति । सुबाहुरिति । योऽपरो राक्षसस्तत्र तत्र मायया शम्बरविद्यया विससर्प सञ्चचार । क्षुरप्रैः शरविशेषैः शकलीकृतं खण्डीकृतं तं सुबाहुं कृती कुशलो रामः । 'इष्टादिभ्यश्च' इति इनिः । 'कृती कुशल इत्यपि' इत्यमरः । आश्रमाद्बहिः पत्त्रिणां पक्षिणाम् । 'पत्त्रिणौ शरपक्षिणौ' इत्यमरः । व्यभजत्, विभज्य दत्तवानित्यर्थः ॥ २९ ॥

दूसरा 'सुबाहु' नामका जो राक्षस मायासे इधर-उधर घूम रहा था, चतुर रामने क्षुरप्र (एक प्रकारका बाण-विशेष) से खण्डितकर उसको आश्रमके बाहर पक्षियोंके लिये बाँट दिया । (उसके शरीरको खण्डशः कर आश्रमके बाहर फेंक दिया तो उसे पक्षी खाने लगे) ॥ २९ ॥

इत्यपास्तमखविघ्नयोस्तयोः सांयुगीनमभिनन्द्य विक्रमम् ।
ऋत्विजः कुलपतेर्यथाक्रमं वाग्यतस्य निरवर्तयन्क्रियाः ॥ ३० ॥

इतीति । इत्यपास्तमखविघ्नयोस्तयो राघवयोः । संयुगे रणे साधु सांयुगीनस्तम् । 'प्रतिजनादिभ्यः खञ्' इति खञ्प्रत्ययः । 'सांयुगीनो रणे साधुः' इत्यमरः । विक्रमं पौरुषमभिनन्द्य सत्कृत्य ऋत्विजो याज्ञिकाः । वाचि यतो वाग्यतो मौनी तस्य कुलपतेर्मुनिकुलेश्वरस्य क्रियाः क्रतुक्रिया यथाक्रमं निरवर्तयन्निष्पादितवन्तः ॥ ३० ॥

इस प्रकार यज्ञ-विघ्नोंको दूर करनेवाले उन दोनोंके युद्ध-निपुण पराक्रमको अभिनन्दितकर ऋत्विजों (यज्ञकर्ताओं) ने मौनी कुलपति (विश्वामित्रजी) की क्रियाओंको क्रमशः पूरा किया ॥ ३० ॥

तौ प्रणामचलकाकपक्षकौ भ्रातरावभृथाप्लुतो मुनिः ।
आशिषामनुपदं समस्पृशद्दर्भपाटिततलेन पाणिना ॥ ३१ ॥

ताविति । अवभृथे दीक्षान्ते आप्लुतः स्नातो मुनिः । 'दीक्षान्तोऽवभृथो यज्ञे' इत्यमरः । प्रणामेन चलकाकपक्षकौ चलच्चूडौ तौ भ्रातरावाशिषामनुपदमन्वग्दर्भपाटिततलेन कुशक्षतान्तःप्रदेशेन पाणिनेत्यर्थः । पाणिना समस्पृशत्, स्पृष्टवानित्यर्थः ॥ ३१ ॥

अवभृथ (यज्ञान्तमें किये जानेवाले) स्नानको किये हुए मुनि (विश्वामित्रजी) ने प्रणाम करनेसे हिलते हुए काकपक्षोंवाले उन दोनोंको आशीर्वाद देनेके बाद कुशाओंसे विदीर्ण तलहथीवाले हाथोंसे स्पर्श किया अर्थात् हाथसे पीठ छूते हुए आशीर्वाद दिया ॥ ३१ ॥

तं न्यमन्त्रयत सम्भृतक्रतुर्मैथिलः स मिथिलां व्रजन्वशी ।
राघवावपि निनाय बिभ्रतौ तद्धनुःश्रवणजं कुतूहलम् ॥ ३२ ॥

तमिति । सम्भृतक्रतुः संकल्पितसम्भारो मिथिलायां भवो मैथिलो जनकस्तं विश्वामित्रं न्यमन्त्रयताहूतवान् । वशी स मुनिर्मिथिलां जनकनगरीं व्रजंस्तस्य जनकस्य धनुःश्रवणजं कुतूहलं बिभ्रतौ राघवावपि निनाय नीतवान् ॥ ३२ ॥

विवाह सम्भारका निश्चय किये हुए मिथिलेश्वर (जनक) ने उन्हें (विश्वामित्रजीको) निमन्त्रित किया । मिथिलाको जाते हुए जितेन्द्रिय वे (विश्वामित्र मुनि) उनके धनुषके (उठाने वालेके साथ पुत्री सीताका विवाह करनेकी प्रतिज्ञा) सुननेसे उत्पन्न कौतूहलयुक्त हुए उन दोनों रघुवंशियों (राम तथा लक्ष्मण) को भी ले गये ॥ ३२ ॥

तैः शिवेषु वसतिर्गताध्वभिः सायमाश्रमतरुष्वगृह्यत ।
येषु दीर्घतपसः परिग्रहो वासवक्षणकलत्रतां ययौ ॥ ३३ ॥

तैरिति । गताध्वभिस्तैस्त्रिभिः सायं शिवेषु रम्येष्वाश्रमतरुषु वसतिः स्थानमगृह्यत । येष्वाश्रमतरुषु दीर्घतपसो गौतमस्य परिग्रहः पत्नी । 'पत्नीपरिजनादानमूलशापाः परिग्रहाः' इत्यमरः । अहल्येति यावत् । वासवस्येन्द्रस्य क्षणकलत्रतां ययौ ॥

मार्गको अतिक्रमण किये हुए उन्होंने सायङ्कालमें रमणीय उस आश्रम वृक्षोंके नीचे ठहरे, जहाँपर महातपस्वी (गौतम मुनि की जो (अहल्या) क्षणमात्र इन्द्रकी पत्नी बन गयी थी ॥ ३३ ॥

प्रत्यपद्यत चिराय यत्पुनश्चारु गौतमवधूः शिलामयी ।
स्वं वपुः स किल किल्बिषच्छिदां रामपादरजसामनुग्रहः ॥ ३४ ॥

प्रत्यपद्यत इति । शिलामयी भर्तुः शापाच्छिलात्वं प्राप्ता गौतमवधूरहल्या चारु स्वं

वपुश्चिराय पुनः प्रत्यपद्यत प्राप्तवती यत्। स किल्विषच्छिदां पापहारिणाम्। 'पाप किल्विषकल्मषम्' इत्यमरः। रामपादरजसामनुग्रह किल प्रसादः किलेति श्रूयते ॥३४॥

(पतिके शापसे) पत्थर बनी हुई गौतम-पत्नी (अहल्या) ने चिरकालके लिये जो अपना सुन्दर शरीर प्राप्त किया, वह पापनाशिनी रामके चरणरजकी कृपा थी (पति-शापसे) पत्थर बनी हुई अहल्याने रामके चरणरजके स्पर्शसे सुन्दर शरीर प्राप्त किया ॥ ३४ ॥

राघवान्वितमुपस्थितं मुनिं तं निशम्य जनको जनेश्वरः।
अर्थकामसहितं सपर्यया देहबद्धमिव धर्ममभ्यगात् ॥ ३५ ॥

राघवेति। राघवाभ्यामन्वित युक्तमुपस्थितमागतं त मुनिं जनको जनेश्वरो निशम्य आकर्ण्य। अर्थकामाभ्यां सहित देहबद्ध बद्धदेह, मूर्तिमन्तमित्यर्थः। वाहिताग्न्यादित्वात्साधु। धर्ममिव। सपर्ययाऽभ्यगात्प्रत्युद्गतवान् ॥ ३५ ॥

अर्थ और कामके सहित शरीरधारी धर्मके समान, राघव (राम-लक्ष्मण) के साथ आये हुए मुनि (विश्वामित्रजी) का नाम सुनकर राजा जनक पूजाके लिये अगवानी किये ॥३५॥

तौ विदेहनगरीनिवासिनां गां गताविव दिवः पुनर्वसू।
मन्यते स्म पिबतां विलोचनैः पक्ष्मपातमपि वञ्चना मनः ॥ ३६ ॥

ताविति। दिवः सुरवर्त्मन आकाशात्। 'द्यौ स्वर्गसुरवर्त्मनोः' इति विश्वः। गां भुवं गतौ। 'स्वर्गेषुपशुवाग्वज्रदिङ्नेत्रघृणिभूजले। लक्ष्यदृष्ट्या स्त्रियां पुंसि गौः' इत्यमरः। पुनर्वसू इव तन्नामकनक्षत्राधिदेवते इव स्थितौ। तौ राघवौ, विलोचनैः पिबताम्, अत्यास्थया पश्यतामित्यर्थः। विदेहनगरी मिथिला तन्निवासिनां मनः कर्तृ पक्ष्मपात निमेषमपि तद्दर्शनप्रतिबन्धकत्वाद्वञ्चनां विडम्बनां मन्यते स्म मेने। 'लट् स्मे' इति भूतार्थे लट् ॥ ३६ ॥

स्वर्गसे भूलोकमें आये हुए पुनर्वसु नक्षत्रके अधिष्ठातृ—देवता-द्वयके समान (स्थित) उन दोनोंको देखते हुए मिथिला-निवासियोंका मन पलक गिरनेको भी वञ्चना (विडम्बना-बाधक) मानता था। (यदि हमलोगोंकी आंखोंके पलक नहीं गिरते तो इन दोनोंको हम लोग निरवच्छिन्न देखकर अत्यन्त सन्तुष्ट होते, ऐसा मिथिलानिवासी लोग मानते थे) ॥३६॥

यूपवत्यवसिते क्रियाविधौ कालवित्कुशिकवंशवर्धनः।
राममिष्वसनदर्शनोत्सुकं मैथिलाय कथयाम्बभूव सः ॥ ३७ ॥

यूपवतीति। यूपविति क्रियाविधौ कर्मानुष्ठाने, क्रतावित्यर्थः। अवसिते समाप्ते सति कालविदवसरज्ञ कुशिकवंशवर्धनः स मुनी रामम्। अस्यतेऽनेनेत्यसनम्। इषूणामसनमिष्वसन चापम्। तस्य दर्शन उत्सुक मैथिलाय जनकाय कथयाम्बभूव कथितवान् ॥ ३७ ॥

धनु-रूपमय-चाले पूर्णे समाप्त होनेपर जनकसे कहा कुशिक मुनिको ... धनुष देखनेके लिये आमन्त्रित रामचन्द्रजीको जनकसे कहा ...

तस्य वीक्ष्य ललितं वपुः शिशोः पार्थिवः प्रथितवंशजन्मनः ।
स्वं विचिन्त्य च धनुर्दुरानमं पीडितो दुहितृशुल्कसंस्थया ॥ ३८ ॥

तस्येति । पार्थिवो जनकः प्रथितवंशे जन्म यस्य तस्य प्रथितवंशजन्मनः । पूर्वेण सहसंबन्धः । शिशोस्तस्य रामस्य ललितं कोमलं वपुर्वीक्ष्य । स्वं स्वकीयं दुरानमं दुःखेन आनमयितुमशक्यम् । ण्यन्तात्खल् । धनुर्विचिन्त्य च दुहितृशुल्कं कन्यामूल्यं धनुर्नमनं तस्य । 'शुल्कं घट्टादिदेये स्याज्जामातुर्धनकेऽपि च' इति विश्वः । तस्य शुल्कस्य संस्थया स्थित्या । 'संस्था स्थितौ मृते नाशे' इति विश्वः । पीडितो बाधितो । विवाहो रामेण दुष्करमिति दुःखित इति भावः ॥ ३८ ॥

राजा (जनक) ने प्रसिद्ध (इक्ष्वाकु) वंशमें उत्पन्न बालक उस रामचन्द्रके सुन्दर शरीरको देखकर और दुःखसे झुकाये जानेवाले अपने धनुषको विचारकर पुत्री (सीताजी) के शुल्ककी स्थितिसे दुःखित हुए । (जनकजीने विचारा कि रामचन्द्रजी श्रेष्ठ इक्ष्वाकु वंशमें उत्पन्न हैं इनका सुन्दर शरीर है, किन्तु मेरे धनुषको झुकाना अत्यन्त कठिन है, धनुष झुकानेवाले वीरके लिये सीताजीके देनेकी प्रतिज्ञासे बद्ध होनेके कारण मैं इनसे सीताका विवाह नहीं कर सकता, यह महादुःख है) ॥ ३८ ॥

अब्रवीच्च भगवन्मतङ्गजैर्यद्बृहद्भिरपि कर्म दुष्करम् ।
तत्र नाहमनुमन्तुमुत्सहे मोघवृत्ति कलभस्य चेष्टितम् ॥ ३९ ॥

अब्रवीदिति । अब्रवीच्च । मुनिमिति शेषः । किमिति । हे भगवन्मुने ! बृहद्भिर्महद्भिर्मतङ्गजैरपि दुष्करं यत्कर्म तत्र कर्मणि कलभस्य बालगजस्य । 'कलभः करिशावकः' इत्यमरः । मोघवृत्ति व्यर्थव्यापारं चेष्टितं साहसमनुमन्तुमहं नोत्सहे ॥ ३९ ॥

और बोले—हे भगवन् ! जो कर्म बड़े २ मतवाले हाथियोंसे भी दुष्कर है उस कर्ममें निष्फल प्रयास बच्चे (हाथीके बच्चे) के प्रयासको अनुमोदन करनेके लिये उत्साह नहीं करता ॥ ३९ ॥

ह्रेपिता हि बहवो नरेश्वरास्तेन तात धनुषा धनुर्भृतः ।
ज्यानिघातकठिनत्वचो भुजान्स्वान्विधूय धिगिति प्रतस्थिरे ॥ ४० ॥

ह्रेपिता इति । हे तात ! तेन धनुषा बहवो धनुर्भृतो नरेश्वरा ह्रेपिता ह्रियं प्रापिता हि । जिह्रेतेर्ण्यन्तात्कर्मणि क्तः । 'अर्तिह्रीव्लीरीक्नूयीक्ष्माय्यातां पुङ्णौ' इत्यनेन पुगागमः । ते नरेश्वरा ज्यानिघातेन कठिनत्वचः स्वान्भुजान्धिगिति विधूय निन्दित्वा प्रतस्थिरे प्रस्थिताः ॥ ४० ॥

क्योंकि हे तात ! उस धनुषने बड़े बड़े धनुर्धारी राजाओंको लज्जित कर दिया (और वे)

मौर्वी (धनुषकी डोरी) के निरन्तर आघातसे घट्ठेयुक्त चमड़ेवाले अपनी भुजाओंको 'धिक्कारपूर्वक निन्दितकर वापस चले गये' ॥ ४० ॥

प्रत्युवाच तमृषिर्निशम्यता सारतोऽयमथवा गिरा कृतम् ।
चाप एव भवतो भविष्यति व्यक्तशक्तिरशनिर्गिराविव ॥ ४१ ॥

प्रत्युवाचेति । ऋषिस्तं नृपं प्रत्युवाच । किमिति । अयं रामः सारतो बलेन निशम्यतां श्रूयताम् । अथवा गिरा सारवर्णनया कृतमलम् । गीर्वं, वक्तव्येत्यर्थः । 'युगपर्याप्तयोः कृतम्' इत्यमरः । अव्ययं चैतत् । 'तं निवारणनिषेधयोः' इति गणव्याख्याने । गिरेति करणे तृतीया । निषेधक्रियां प्रति करणत्वात् । किन्त्वशनिर्वज्रो गिराविव । चापे धनुष्येव भवतस्तव व्यक्तशक्तिर्दृष्टसारो भविष्यति ॥४१॥

उनसे ऋषि (विश्वामित्रजी) बोले—'इस रामका पराक्रम सुनिये, अथवा कहना व्यर्थ है, पर्वतमें वज्रके समान धनुषमें ही (इनका) पराक्रम आपको स्पष्ट हो जायेगा ॥ ४१ ॥

एवमाप्तवचनात्स पौरुषं काकपक्षकधरेऽपि राघवे ।
श्रद्दधे त्रिदशगोपमात्रके दाहशक्तिमिव कृष्णवर्त्मनि ॥ ४२ ॥

एवमिति । एवमाप्तस्य यथार्थवक्तुर्मुनेर्वचनात्स जनकः काकपक्षकधरे बालेऽपि राघवे पुरुषस्य कर्म पौरुषं पराक्रमम् । 'हायनान्तयुवादिभ्योऽण्' इति युवादित्वादण् । 'पौरुषं पुरुषस्योक्तं भावे कर्मणि तेजसि' इति विश्वः । त्रिदशगोप इन्द्रगोपकीटः प्रमाणमस्य त्रिदशगोपमात्रं । 'प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः' इत्यनेन मात्रच्प्रत्ययः । ततः स्वार्थे कप्रत्ययः । तस्मिन्कृष्णवर्त्मनि वह्नौ दाहशक्तिमिव श्रद्दधे विश्वस्तवान् ॥ ४२ ॥

इस प्रकार यथार्थ कहनेवाले (विश्वामित्रजी) के वचनसे उस जनकने काकपक्ष धारण करनेवाले अर्थात् बालक भी रामचन्द्रजीमें, वीरबहूटी नामक बरसाती कीडेके बराबर अर्थात् अत्यन्त थोड़ी अग्निमें दाहशक्तिके समान, पराक्रम होनेका विश्वास किया ॥ ४२ ॥

व्यादिदेश गणशोऽथ पार्श्वगान्कार्मुकाभिहरणाय मैथिलः ।
तैजसस्य धनुषः प्रवृत्तये तोयदानिव सहस्रलोचनः ॥ ४३ ॥

व्यादिदेशेति । अथ मैथिलः पार्श्वगान्पुरुषान्कार्मुकाभिहरणाय कार्मुकमानेतुम् । 'तुमर्थाच्च भाववचनात्' इति चतुर्थी । सहस्रलोचन इन्द्रस्तैजसस्य तेजोमयस्य धनुषः प्रवृत्तये आविर्भावाय तोयदान्मेघानिव गणान्गणशः । 'संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम्' इति शस्प्रत्ययः । व्यादिदेश प्रजिघाय ॥ ४३ ॥

इसके बाद मिथिलेश्वर (जनकजी) धनुषको लानेके लिये पार्श्ववर्ती झुण्डके झुण्ड

पुरुषोंको इस प्रकार भेजा जिसप्रकार सूर्य मेघोंमय धनुषको प्रकट (उदित) करनेके लिये सूर्यके सुन्दर मेघोंको भेजते हैं ॥ ४३ ॥

तत्प्रसुप्तभुजगेन्द्रभीषणं वीक्ष्य दाशरथिराददे धनुः ।
विद्रुतक्रतुमृगानुसारिणं येन बाणमसृजद् वृषध्वजः ॥ ४४ ॥

तदिति । दाशरथी रामः प्रसुप्तभुजगेन्द्र इव भीषणं भयङ्करं तद्धनुर्वीक्ष्य आददे । वृषो ध्वजश्चिह्नं यस्य स शिवो येन धनुषा । क्रतुरेव मृगः । विद्रुतं पलायितं क्रतुमृगमनुसरति । ताच्छील्ये णिनिः । तं विद्रुतक्रतुमृगानुसारिणं बाणमसृजदमुचत् ॥ ४४ ॥

(धनुषके आनेपर) दशरथ–कुमार (राम) ने सोये हुए सर्पराजके समान भयङ्कर उस धनुषको देखकर उठा लिया जिस (धनुष) से शिवजीने मृगरूपधारी यज्ञके पीछे २ दौड़ने वाले बाणको छोड़ा था ॥ ४४ ॥

पौराणिक कथा—पिता दक्षप्रजापतिके यज्ञमें पति शङ्करजीके लिये भाग न देनेके कारण पतिके अपमानसे सन्तप्त सतीके योगाग्निमें अपना शरीर भस्म कर डालने ही सकल शिवगणोंको आज्ञासे यज्ञको भ्रष्ट भ्रष्ट करने लगे और वह यज्ञ मृग रूप धारणकर आकाशमें भाग चला फिर शङ्करजीने इसी धनुष (जो जनकजीके यहाँ सीता–स्वयंवरमें रखा गया था) से मृगरूपधारी यज्ञके ऊपर बाण छोड़ा था ।

आततज्यमकरोत्स संसदा विस्मयस्तिमितनेत्रमीक्षितः ।
शैलसारमपि नातियत्नतः पुष्पचापमिव पेशलं स्मरः ॥ ४५ ॥

आततज्यमिति । स रामः संसदा सभया विस्मयेन स्तिमिते नेत्रे यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा ईक्षितः सन् । शैलस्येव सारो यस्य तच्छैलसारमपि धनुः । स्मरः पेशलं कोमलं पुष्पचापमिव नातियत्नतो नातियत्नात् । अत्यर्थस्य यत्नस्य सुप्सुपेति समासः । आततज्यमधिज्यमकरोत् ॥ ४५ ॥

सभा (में स्थित समस्त राजा आदि) के द्वारा आश्चर्यसे (निर्निमेष नेत्रोंसे) देखे जाते हुए उस (राम) ने पर्वतके समान भारी भी उस धनुषको कोमल पुष्प–धनुषको कामदेवके समान सामान्य प्रयत्नसे ही चढ़ा दिया अर्थात् अनायास ही प्रत्यञ्चायुक्त कर दिया ॥ ४५ ॥

भज्यमानमतिमात्रकर्षणात्तेन वज्रपरुषस्वनं धनुः ।
भार्गवाय दृढमन्यवे पुनः क्षत्रमुद्यतमिव न्यवेदयत् ॥ ४६ ॥

भज्यमानमिति । तेन रामेणातिमात्रकर्षणाद्भज्यमानमत एव वज्रपरुषस्वनं वज्रमिव परुषः स्वनो यस्य तत् । धनुः कर्तृ । दृढमन्यवे दृढकोपाय । भार्गवाय

क्रोधे क्रतौ दैन्ये' इति विश्वः । भार्गवाय क्षत्र क्षत्रकुलं पुनरुद्यतं न्यवेदयदिव ज्ञापयामासेव ॥ ४६ ॥

उस (राम) के द्वारा अत्यन्त खींचनेसे टूटते हुए तथा वज्रके समान कठोर शब्द करनेवाले उस धनुषने मानो अत्यन्त क्रोधी परशुरामजीसे फिर उद्यत क्षत्रिय वंशको कहा ॥४६॥

दृष्टसारमथ रुद्रकार्मुके वीर्यशुल्कमभिनन्द्य मैथिलः ।
राघवाय तनयामयोनिजां रूपिणीं श्रियमिव न्यवेदयत् ॥ ४७ ॥

दृष्टसारमिति । अथ मैथिलो जनको रुद्रकार्मुके शङ्करधनुषि दृष्ट सारः स्थिरांशो यस्य तद् दृष्टसारं विलोकितविक्रमम् । 'सारो बले स्थिरांशे च' इति विश्वः । वीर्यमेव शुल्कं, धनुर्भङ्गरूपमित्यर्थः । अभिनन्द्य राघवाय रामायायोनिजां देवयजनसम्भवां तनयां सीतां रूपिणीं श्रियमिव साक्षाल्लक्ष्मीमिव न्यवेदयदर्पितवान् । वाचेति शेषः ॥ ४७ ॥

इसके बाद मिथिलेश (जनक) ने (धनुर्भङ्गरूप) पराक्रममूल्यका अभिनन्दनकर शिवजीके धनुषपर देखे गये पराक्रमवाले रामचन्द्रजीके लिये देवयज्ञसे उत्पन्न पुत्री (सीताजी) को, साक्षात् लक्ष्मीजीके समान दे दिया अर्थात् वाग्दान कर दिया ॥ ४७ ॥

उक्तमेवार्थं सोपस्कारमाह—

मैथिलः सपदि सत्यसङ्गरो राघवाय तनयामयोनिजाम् ।
सन्निधौ द्युतिमतस्तपोनिधेरग्निसाक्षिक इवातिसृष्टवान् ॥ ४८ ॥

मैथिल इति । सत्यसङ्गरः सत्यप्रतिज्ञः । 'अथ प्रतिज्ञाजिसंविदापत्सु सङ्गरः' इत्यमरः । मैथिलो राघवायायोनिजां तनयां द्युतिमतस्तेजस्विनस्तपोनिधेः कौशिकस्य सन्निधौ । अग्निः साक्षी यस्य सोऽग्निसाक्षिकः । 'शेषाद्विभाषा' इति कप्प्रत्ययः । स इव । सपद्यतिसृष्टवान्दत्तवान् ॥ ४८ ॥

सत्यप्रतिज्ञ मिथिलेश (जनक) ने देवयज्ञसे उत्पन्न पुत्री (सीताजी) को तेजस्वी तपोनिधि (विश्वामित्रजी) के समीपमें अग्निको साक्षी करनेके समान तत्काल ही (वचनसे) रामचन्द्रजीके लिये दे दिया (जिस प्रकार अग्निको साक्षीकर कन्यादान किया जाता है, उसी प्रकार अग्नितुल्य तेजस्वी विश्वामित्रजीके समीपमें जनकजीने दृष्टपराक्रम रामके लिये सीताजी का वाग्दान कर दिया अर्थात् रामके साथ सीताका विवाह करना स्वीकार कर लिया) ॥४८॥

प्राहिणोच्च महितं महाद्युतिः कोसलाधिपतये पुरोधसम् ।
भृत्यभावि दुहितुः परिग्रहाद्दिश्यतां कुलमिदं निमेरिति ॥ ४९ ॥

प्राहिणोदिति । महाद्युतिर्जनको महितं पूजितं पुरोधसं पुरोहितं कोसलाधिपतये दशरथाय प्राहिणोत्प्रहितवांश्च । किमिति । निमिर्नाम जनकानां पूर्वज

करिष्य । इदं मिथेः कुलं दुहिता सीतायाः परिग्रहात्स्वीकारेण 'स्वीकारावेतौ' । सुतस्य भावो सुतत्वं सोऽस्मास्वस्तीति सुतत्वभाजि चिरन्तनामनुमन्यतामिति । तस्येति शेषः ॥ ४९ ॥

महातेजस्वी (जनक) ने कोसलाधीश (दशरथजी) के पास पूजित पुरोहितको कहा कि—(आप) कन्याकी विवाह करनेसे पात्र मानकेयाके इस विधि-संबंधी स्वीकार कीजिये अर्थात् मिथिलाधीश मैं कन्यादानकर आपका दास बनना चाहता हूं इसे आप स्वीकार कीजिये ॥ ४९ ॥

अन्वियेष सदृशीं स च स्नुषां प्राप चैनमनुकूलवाग्द्विजः ।
सद्य एव सुकृतां हि पच्यते कल्पवृक्षफलधर्मि काङ्क्षितम् ॥ ५० ॥

अन्वियेषेति । स दशरथश्च सदृशीमनुरूपां स्नुषामन्वियेष रामविवाहमाकाङ्क्षत्येत्यर्थः । अनुकूलवाक्स्वपालिसितिरूपानुकूलवादी द्विजो जनकपुरोधाः शतानन्दोऽनं दशरथं प्राप । तथाहि । कल्पवृक्षफलस्य यो धर्मः सद्यः पाकरूपः सोऽस्मास्तीति कल्पवृक्षफलधर्मि । अतः सुकृतां पुण्यकारिणां काङ्क्षितं मनोरथः सद्य एव पच्यते । कर्मकर्तरि लट् । स्वयमेव पक्वं भवतीत्यर्थः । 'कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रिया' इति कर्मवद्भावात् 'भावकर्मणोः' इत्यात्मनेपदम् ॥ ५० ॥

वह (राजा दशरथ) योग्य स्नुषा (पुत्रवधू-पतोहू) की चाहते थे, (उसीमें ही) अनुकूल (योग्य स्नुषा-प्राप्तिरूप इच्छानुकूल संदेश) कहनेवाला ब्राह्मण (जनक-पुरोहित) इन (दशरथजी) के पास पहुंच गया; क्योंकि कल्पवृक्षके फलके समान पुण्यात्माओंका अभिलषित तत्काल ही परिपक्व (योग करने योग्य अर्थात् सफल) होता है ॥ ५० ॥

तस्य कल्पितपुरस्क्रियाविधेः शुश्रुवान्वचनमग्रजन्मनः ।
उच्चचाल बलभित्सखो वशी सैन्यरेणुमुषितार्कदीधितिः ॥ ५१ ॥

तस्येति । बलभित्सख इन्द्रसहचरो वशी स्वाधीनचित्तादिः । 'वश आयत्ततायां च' इति शिक्षा । कल्पितपुरस्क्रियाविधेः कृतपूजाविधेस्तस्याग्रजन्मनो द्विजस्य वचनं अन्तःकेन अभिहितं शुश्रुवान्श्रुतवान् । भाषेति कसुः । सैन्यरेणुमुषितार्कदीधितिः सन्नुच्चचाल प्रतस्थे ॥ ५१ ॥

इन्द्रके मित्र जितेन्द्रिय (राजा दशरथ) सत्कार पाये ब्राह्मण (जनक-पुरोहित) से (जनक-सन्देश वचन) सुनकर सेनाकी धूलिसे सूर्यके प्रकाशको आच्छादित करते हुए (मिथिलाके लिये) प्रस्थान किये ॥ ५१ ॥

आससाद मिथिलां स वेष्टयन्पीडितोपवनपादपां बलैः ।
प्रीतिरोधमसहिष्ट सा पुरी स्त्रीव कान्तपरिभोगमायतम् ॥ ५२ ॥

आससादेति । स दशरथो बलैः सैन्यैः पीडितोपवनपादपां मिथिलां वेष्टयन्परिधीकुर्वन् आससाद । सा पुरी स्त्री युवतिरयतमतिप्रसक्तं कान्तपरिभोगं प्रियसम्भोगमिव । प्रीत्या रोध प्रीतिरोधमसहिष्ट सोढवती । द्वेषरोधं तु न सहत इति भावः ॥ ५२ ॥

वह दशरथ, सेनासे पीड़ित हैं उपवनोंके वृक्ष जिसके ऐसी मिथिलाको घेरते हुए प्राप्त किये और उस पुरीने पतिके अतिशयित सम्भोगके समान प्रेमपूर्वक उस प्रतिरोधको सहन किया ॥ ५२ ॥

तौ समेत्य समये स्थितावुभौ भूपती वरुणवासवोपमौ ।
कन्यकातनयकौतुकक्रिया स्वप्रभावसदृशीं वितेनतुः ॥ ५३ ॥

ताविति । समये शिष्टाचारे स्थितावाचारनिष्ठौ । 'समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः । वरुणवासवावुपमोपमानं ययोस्तौ तथोक्तौ । तावुभौ भूपती जनकदशरथौ समेत्य स्वप्रभावसदृशीमात्ममहिमानुरूपां कन्यकानां सीतादीनां तनयानां रामादीनां च कौतुकक्रियां विवाहोत्सवं वितेनतुर्विस्तृतवन्तौ तनोतेर्लिट् ॥५३॥

मर्यादापर स्थित एवं वरुण तथा इन्द्रके तुल्य वे दोनों राजा (जनक तथा दशरथ) मिलकर कन्या तथा पुत्रके विवाह मङ्गलको अपने प्रभावके अनुसार विस्तृत किया अर्थात् बढाया॥

पार्थिवीमुदवहद्रघूद्वहो लक्ष्मणस्तदनुजामथोर्मिलाम् ।
यौ तयोरवरजौ वरौजसौ तौ कुशध्वजसुते सुमध्यमे ॥ ५४ ॥

पार्थिवीमिति । उद्वहतीत्युद्वहः पचाद्यच् । रघूणामुद्वहो रघूद्वहो रामः । पृथिव्या अपत्यं स्त्री पार्थिवी । 'तस्यापत्यम्' इत्यणि । 'टिड्ढाणञ्' इति ङीप् । तां सीतामुदवहत्परिणीतवान् । अथ लक्ष्मणस्तस्याः सीताया अनुजां जनकस्यौरसीमूर्मिलामुदवहत् । यौ वरौजसौ तयो रामलक्ष्मणयोरवरजावनुजातौ भरतशत्रुघ्नौ तौ सुमध्यमे कुशध्वजस्य जनकानुजस्य सुते कन्यके माण्डवीं श्रुतकीर्तिं चोदवहताम् । नात्र व्युत्क्रमविवाहदोषो भिन्नोदरत्वात् । तदुक्तम्—'पितृव्यपुत्रे सापत्न्ये परनारीसुतेषु च । विवाहाधानयज्ञादौ परिवेत्त्राद्यदूषणम्' ॥ इति ॥ ५४ ॥

इसके बाद राघवश्रेष्ठ (राम) ने पृथ्वीपुत्री (सीता) के साथ, लक्ष्मणने उसकी छोटी बहन उर्मिलाके साथ और उन दोनों (राम तथा लक्ष्मण) के महापराक्रमी जो छोटे भाई (भरत तथा शत्रुघ्न) थे, उन्होंने कृशोदरी कुशध्वजकी पुत्रियों (माण्डवी तथा श्रुतकीर्ति) के साथ विवाह किया ॥ ५४ ॥

विमर्श—यहां 'रामके छोटे भाई भरत और लक्ष्मणके छोटे भाई शत्रुघ्न' ऐसा क्रम समझना चाहिये, भरत तथा शत्रुघ्न दोनोंको राम और लक्ष्मणका छोटा भाई नहीं समझना चाहिये, क्योंकि पहले (१०।६६, ७०, ७१) इसी क्रमसे कुमारोंकी उत्पत्ति वर्णित है ।

ध्वांक्ष ('काक' नामक पक्षि-विशेष) के पंखकी धूसर केशवाली तथा सायंकालके (लाल) मेघरूप रक्तसे भीगे हुए वस्त्रवाली दिशायें काकके पंखोंके समान धूसर (मलिन वेष) केशवाली तथा सायंकालके मेघके समान रक्तसे भीगे हुए वस्त्रवाली रजस्वला स्त्रियोंके समान देखनेके अयोग्य (नहीं देखने योग्य) हो गयीं। (रजस्वला स्त्रीको देखनेका शास्त्रोंमें निषेध किया गया है) ॥ ६० ॥

भास्करश्च दिशमध्युवास यां तां श्रिताः प्रतिभयं ववासिरे ।
क्षत्रशोणितपितृक्रियोचितं चोदयन्त्य इव भार्गवं शिवाः ॥ ६१ ॥

भास्कर इति । भास्करो यां दिशमध्युवास च यस्यां स्थितवान् । 'उपान्वध्याङ्वसः' इति कर्मत्वम् । तां दिशं श्रिताः शिवाः क्रोष्टारः । 'शिवा स्यात् क्रोष्टुमाम्' इत्यमरः । क्षत्रशोणितेन या पितृक्रिया पितृतर्पणं तदुचितं परिचितं भार्गवं चोदयन्त्य इव प्रतिभयं भयङ्करं ववासिरे रुरुवुः, 'वाशृ शब्दे' इति धातोर्लिट् । 'प्रतिभयं भीषणं भयम्' इत्यमरः ॥ ६१ ॥

सूर्य जिस दिशामें गये थे, उस दिशामें स्थित गीदड़ियाँ क्षत्रियोंके रक्तसे पितृतर्पण करनेवाले परशुरामजीको सूचित करती हुई-सी भयंकर रोने लगीं ॥ ६१ ॥

तत्प्रतीपपवनादि वैकृतं प्रेक्ष्य शान्तिमधिकृत्य कृत्यवित् ।
अन्वयुङ्क्त गुरुमीश्वरः क्षितेः स्वन्तमित्यलघयत् स तद्व्यथाम् ॥ ६२ ॥

तदिति । तत्प्रतीपपवनादि वैकृतं दुर्निमित्तं प्रेक्ष्य कृत्यवित्कार्यज्ञः क्षितेरीश्वरः शान्तिमधिकृत्योद्दिश्य गुरुं वसिष्ठमन्वयुङ्क्तापृच्छत् । 'प्रश्नोऽनुयोगः पृच्छा च' इत्यमरः । स गुरुः स्वन्तं शुभोदर्कं भावीति तस्य राज्ञो व्यथामलघयत् लघूकृतवान् ॥ ६२ ॥

उस प्रतिकूल वायु आदि विकार (अपशकुन) को देखकर कार्यज्ञ राजा (दशरथ) ने शान्तिके लिये गुरु (वसिष्ठ) से पूछा और उन्होंने 'इसका अन्त अच्छा होगा' ऐसा कहकर राजाके दुःखको हलका किया ॥ ६२ ॥

तेजसः सपदि राशिरुत्थितः प्रादुरास किल वाहिनीमुखे ।
यः प्रमृज्य नयनानि सैनिकैर्लक्षणीयपुरुषाकृतिश्चिरात् ॥ ६३ ॥

तेजस इति । तत्क्षणमुत्थितस्तेजसो राशिः वाहिनीमुखे सेनाग्रे प्रादुरास किल । यः सैनिकैर्नयनानि प्रमृज्य चिरात्लक्षणीया ज्ञातव्या पुरुषाकृतिर्यस्य स तथोक्त इति शेषः ॥ ६३ ॥

हो गयी तो उन्होंने आँखोंको पोंछकर बहुत देरके बाद उसे देखकर 'यह पुरुष है' ऐसा समझा) ॥ ६३ ॥

पित्र्यमंशमुपवीतलक्षणं मातृकं च धनुरूर्जितं दधत् ।
यः ससोम इव धर्मदीधितिः सद्विजिह्व इव चन्दनद्रुमः ॥ ६४ ॥

पित्र्यमिति । उपवीतं लक्षणं चिन्हं यस्य तम् । पितुरय पित्र्यः । 'वाय्वृतुपित्रुषसो यत्' 'पितुर्यच्च' इति यत्प्रत्ययः । तमशम् । धनुषोर्जितं धनुरूर्जितम् । मातुरय मातृकः । 'ऋतष्ठञ्' इति ठञ्प्रत्यय । तमंश च दधद्यो भार्गवः । ससोमश्चन्द्रयुक्तो घर्मदीधिति• सूर्य इव । सद्विजिह्वः ससर्पश्चन्दनद्रुम इव स्थित• ॥ ६४ ॥

यज्ञोपवीत रूप पित्रंश (ब्राह्मण-लक्षण) को तथा धनुषसे उत्पन्न मात्रंश (क्षत्रिय-लक्षण] को धारण करते हुए (परशुराम) चन्द्रमासे युक्त सूर्यके समान तथा सर्पसे युक्त चन्दन वृक्षके समान (ज्ञात होते) थे ॥ ६४ ॥

येन रोषपरुषात्मनः पितुः शासने स्थितिभिदोऽपि तस्थुषा ।
वेपमानजननीशिरश्छिदा प्रागजीयत घृणा ततो मही ॥ ६५ ॥

येनेति । रोषपरुषा रोषेण क्रोधेन परुषः निष्ठुरः आत्मा बुद्धिर्यस्य स• । 'आत्मा जीवो धृतिर्बुद्धि ' इत्यमर• । तस्य रोषपरुषात्मन स्थितिभिदोऽपि मर्यादालङ्घिनोऽपि पितुः शासने । तस्थुषा स्थितेन वेपमानजननीशिरश्छिदा येन प्राग्घृणाऽजीयत । ततोऽनन्तर महीजीयत । मातृहन्तु• क्षत्रवधात्कुतो जुगुप्सेति भाव• ॥ ६५ ॥

क्रोधसे कठोर चित्तवाले तथा मर्यादा-भङ्ग करनेवाले भी पिताकी आज्ञाका पालन करनेवाले और काँपती हुई माताके सिरको काटनेवाले जिस (परशुराम) ने पहले दयाका त्याग किया और इसके बादमें पृथ्वीका त्याग किया ॥ ६५ ॥

पौराणिक कथा—एक बार महर्षि 'जामदग्नि'की पत्नी 'रेणुका' जल लानेके लिये नदी-तटपर गयी तो मैथुन करते हुए गन्धर्वोंकी जोडीको देखकर उनके मनमें कुछ विकार हो गया और वे कुछ विलम्बसे आश्रममें लौटीं । समाधिके द्वारा जमदग्नि मुनिने सब मालूम कर उसके शिरको काटनेके लिये बडे पुत्रको आज्ञा दी, किन्तु जब उसने मातृवधको पापकर्म मानकर मातृवध नहीं किया तो पिता जमदग्निने छोटे पुत्रको वही आज्ञा दी, और उन्होंने पिताकी आज्ञाको सर्वोपरि मानकर माता 'रेणुका'का शिर काट डाला । फिर आज्ञापालनसे प्रसन्न पिताके वरदान माँगनेको कहनेपर परशुरामने माताको पुनर्जीवित होनेका वरदान माँगकर माताको फिर जीवित करा दिया ।

अक्षबीजवलयेन निर्बभौ दक्षिणश्रवणसंस्थितेन य• ।
क्षत्रियान्तकरणैकविंशतेर्व्याजपूर्वगणनामिवोद्वहन् ॥ ६६ ॥

... (...) के ... घूमकर ... तथा ... (...) ... हुए ... रंगवाले ... पंखोंके समान सुन्दर (...) ... हुए ... (...) ही गयी । (...) ... किया गया है) ॥ ६० ॥

... विषममुवास यां तां मिया मतिमयं यथाशिरे । ... योगमन्त्य इव मार्गवं शिखा ॥ ६१ ॥

... वा विषममुवास च यस्यां दिशुपिता । ... इति । ... तां दिशं ... मिया योगमायया । 'मिया मिया परिमाणु' इति ... । ... पितृमिथा विधुवयं ... प्रतिमयं ... यथाशिरे ... 'वास ...' इति ... । ... इत्यमरः ॥ ६१ ॥

... जिस दिशामें ... पंखोंसे ... उसी दिशामें ... हुई के समान ... ॥ ६१ ॥

... शान्तिमधिकृत्य कृत्यवित् । ... गुरुमीश्वरः क्षितेः स्वन्तमित्यलघयत्स तद्व्यथाम् ॥ ६२ ॥

... दुर्निमित्तं ... कृत्यवित् ... क्षितेरीश्वरः ... गुरुं वसिष्ठमनुष्ठाय ... । 'प्रमोऽनुयोग' ... । ... इत्यमरः । ... वाचीति ... राज्ञो ... ॥ ६२ ॥

... (...) को देखकर ... राजा (दशरथ) ने ... (...) से पूछा और उन्होंने '... अच्छा होगा' ऐसा ... दिया ॥ ६२ ॥

... परिवर्तित ... प्रायुरास किल यादिनीमुखे । ... सैनिकैस्सपणीयपुष्पपात्र्यविशिरात् ॥ ६३ ॥

... यादिनीमुखे सेनाके मायुरास किल वशु । ... माधवीया ... स ... ।

... निमित्त ... बनको ...

...

Left margin fragments: ... मर ... मिल ... वार्ता ... मदन ... मेर्या ... वृक्ष ... मिट ... सामा ... र ... वा ... धीकस्य ... स मरान ... सविता ... यथा मङ्गति ... वे राज ... (... न ... तथा ... (... मलय पुष्प् ... रोगी मिलकर ... जन ... स ... परमार्थ ... मध्यमु रिपु ... वृतमिति । ... मिपिकाणां निवेरय ...

त्रिष्वध्वसु प्रयाणेषु सत्सु विसृष्टमैथिलः सन्। स्वा पुरीं न्यवर्तत। उद्देशक्रियापेक्षया कर्मत्व पुर्या ॥ ५७ ॥

इस प्रकार प्रीतियुक्त वह (राजा दशरथ) वहां (मिथिलामें) चारों पुत्रोंका विवाहकर तीन मार्गो में अर्थात् तीन दिनके पडावोंके पडनेके बाद जनकको विदाकर अपनी नगरी (अयोध्या) को लौटे ॥ ५७ ॥

तस्य जातु मरुतः प्रतीपगा वर्त्मसु ध्वजतरुप्रमाथिनः ।
चिक्लिशुर्भृशतया वरूथिनीमुत्तटा इव नदीरयाः स्थलीम् ॥ ५८ ॥

तस्येति। जातु कदाचिद्वर्त्मसु ध्वजा एव तरवस्तान्प्रमथ्नन्ति ये ते ध्वजतरुप्रमाथिन प्रतीपगा प्रतिकूलगामिनो मरुतः। उत्तटा नदीरया स्थलीमकृत्रिमभूमिमिव। 'जानपदकुण्ड–' इत्यादिना ङीप्। तस्य वरूथिनीं सेनां भृशतया भृशं चिक्लिशु क्लिश्यन्ति स्म ॥ ५८ ॥

मार्गमें पताकाओं तथा वृक्षोंको छिन्न–भिन्न करनेवाली प्रतिकूल वायुने उनकी सेनाओंको उस प्रकार पीडित कर दिया, जिस प्रकार तटके ऊपर बहनेवाला नदीका वेग (जल–प्रवाह) ऊपरी भूमिको पीडित अर्थात् आप्लावित कर देता है ॥ ५८ ॥

लक्ष्यते स्म तदनन्तरं रविर्बद्धभीमपरिवेषमण्डलः ।
वैनतेयशमितस्य भोगिनो भोगवेष्टित इव च्युतो मणिः ॥ ५९ ॥

लक्ष्यत इति। तदनन्तरं प्रतीपपवनानन्तरं बद्धं भीमं बिभेत्यस्मादिति भीमं भयङ्करं परिवेषस्य परिधेर्मण्डलं यस्य स। 'परिवेषस्तु परिधिरुपसूर्यकमण्डले' इत्यमरः। रविः वैनतेयशमितस्य गरुडहतस्य भोगिनः सर्पस्य भोगेन कायेन। 'भोगः सुखे स्त्र्यादिभृतावहेश्च फणकाययोः' इत्यमरः। वेष्टितश्च्युतः शिरोभ्रष्टो मणिरिव। लक्ष्यते स्म ॥ ५९ ॥

इसके बाद भयङ्कर परिवेष–मण्डलसे युक्त सूर्य, गरुडके द्वारा मारे गये सर्पके शरीरसे वेष्टित (चारों ओरसे घिरे हुए उस सर्पकी) मणिके समान दिखलाई पडता था ॥ ५९ ॥

श्येनपक्षपरिधूसरालकाः सान्ध्यमेघरुधिरार्द्रवाससः ।
अङ्गना इव रजस्वला दिशो नो बभूवुरवलोकनक्षमाः ॥ ६० ॥

श्येनेति। श्येनपक्षा एव परिधूसरा अलका यासां तास्तथोक्ताः। सान्ध्यमेघा एव रुधिरार्द्राणि वासांसि यासां तास्तथोक्ताः। रजो धूलिरासामस्तीति रजस्वलाः। 'रजःकृष्यासुतिपरिषदो वलच्' इति वलच्प्रत्ययः। दिशः रजस्वला ऋतुमत्योऽङ्गना इव। 'स्याद्रजः पुष्पमार्तवम्' इत्यमरः। अवलोकनक्षमा दर्शनार्हा नो बभूवुः एकत्राऽदृष्टदोषादपरत्र शास्त्रदोषादिति विज्ञेयम्। अत्र रजोवृष्टिरुत्पात उक्तः ॥ ६० ॥

तथा वाल्मीकि रामायणके बालकाण्ड (१८।८-१४) में 'रामचन्द्रजी पुनर्वसु नक्षत्रमें, भरतजी पुष्य नक्षत्रमें और लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न आश्लेषा नक्षत्रमें उत्पन्न हुए' ऐसा वचन मिलनेसे 'राम भरत लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न' इसी क्रमसे राजकुमारोंकी उत्पत्ति जाननी चाहिये। अन्यान्य ग्रन्थोंमें भी यही क्रम है।

ते चतुर्थसहितास्त्रयो बभुः सूनवो नववधूपरिग्रहाः ।
सामदानविधिभेदविग्रहाः सिद्धिमन्त इव तस्य भूपतेः ॥ ५५ ॥

त इति। ते चतुर्थसहितास्त्रयः, चत्वार इत्यर्थः। नृपस्य सूनवो नववधूपरिग्रहाः। सिद्धिमन्तः फलसिद्धियुक्तास्तस्य भूपतेर्दशरथस्य सामदानविधिभेदविग्रहाश्चत्वार उपाया इव बभुः। विधीयत इति विधिः। दानमेव विधिः। विग्रहो दण्डः। सूनूनामुपायैर्वधूनां सिद्धिभिश्चौपम्यमित्यनुसन्धेयम् ॥ ५५ ॥

नव-वधुओंसे विवाहित वे चारों बालक उस राजा (दशरथ) के सिद्धियुक्त साम, दान, भेद और दण्डरूप चार उपायोंके समान शोभित हुए। (यहाँ राम आदि चारों बालकोंकी सामादि चारों उपाय तथा सीता आदि चारों वधुओंकी सिद्धिकी उपमा दी गयी है) ॥ ५५ ॥

ता नराधिपसुता नृपात्मजैस्ते च ताभिरगमन्कृतार्थताम् ।
सोऽभवद्वरवधूसमागमः प्रत्ययप्रकृतियोगसन्निभः ॥ ५६ ॥

ता इति। ता नराधिपसुता जनककन्यका नृपात्मजैर्दशरथपुत्रैः कृतार्थतां कृतकृत्यतामगमन्। ते राजपुत्राश्च ताभिः सीताद्याभिस्तथा। किञ्च स वराणां वधूनां च समागमः। प्रत्ययानां प्रकृतीनां च योग इव सन्निभोऽभवत्। यथाहुः। प्रत्ययाः समादयो येभ्यो विधीयन्ते ताः प्रकृतयः। यथा प्रकृतिप्रत्यययोः सहैकार्थसाधकत्वं तद्वदासीदिति भावः ॥ ५६ ॥

वे राजकुमारियाँ उन राजकुमारोंसे तथा वे राजकुमार उन राजकुमारियोंसे कृतार्थ (कृतकृत्य अर्थात् सार्थक) हो गये। वधूवरोंका वह समागम प्रकृति ('पच्' आदि धातु) तथा प्रत्यय ('अच्' आदि)के समान हुआ। (जिसप्रकार 'पच्' आदि प्रकृति तथा 'अच्' आदि प्रत्यय पृथक् २ रहनेपर किसी वाच्यार्थको कहनेमें असमर्थ होनेसे निरर्थक होते हैं तथा वे ही दोनों मिलकर 'पचः' शब्द बनकर सार्थक ('पकानेवाला' इस अर्थ के वाचक हो जाते हैं वैसे इन वधूवरोंका समागम भी सार्थक हुआ) ॥ ५६ ॥

एवमात्तरतिरात्मसम्भवांस्तान्निवेश्य चतुरोऽपि तत्र सः ।
अध्वसु त्रिषु विसृष्टमैथिलः स्वां पुरीं दशरथो न्यवर्तत ॥ ५७ ॥

एवमिति। एवमात्तरतिरुपात्तानन्दो दशरथस्तांश्चतुरोऽप्यात्मसम्भवानात्मजांस्तत्र मिथिलायां निवेश्य विवाह्य। 'निवेशः शिबिरोद्वाहविन्यासेषु प्रकीर्तितः' इति विश्वः।

हो गयी तो उन्होंने आँखोंको पोंछकर बहुत देरके बाद उसे देखकर 'यह पुरुष है' ऐसा समझा) ॥ ६३ ॥

पित्र्यमंशमुपवीतलक्षणं मातृकं च धनुरूर्जितं दधत् ।
यः ससोम इव धर्मदीधितिः सद्विजिह्व इव चन्दनद्रुमः ॥ ६४ ॥

पित्र्यमिति । उपवीत लक्षणं चिन्ह यस्य तम् । पितुरय पित्र्यः । 'वाय्वृतुपित्रुषसो यत्' 'पितुर्यच्च' इति यत्प्रत्यय' । तमशम् । धनुषोर्जित धनुरूर्जितम् । मातुरय मातृकः । 'ऋतष्ठञ्' इति ठञ्प्रत्यय. । तमंश च दधद्यो भार्गवः । ससोमश्चन्द्रयुक्तो घर्मदीधितिः सूर्य इव । सद्विजिह्व ससर्पश्चन्दनद्रुम इव स्थितः ॥ ६४ ॥

यज्ञोपवीत रूप पित्र्यंश (ब्राह्मण-लक्षण) को तथा धनुषसे उत्पन्न मात्रंश (क्षत्रिय-लक्षण] को धारण करते हुए (परशुराम) चन्द्रमासे युक्त सूर्यके समान तथा सर्पसे युक्त चन्दन वृक्षके समान (ज्ञात होते) थे ॥ ६४ ॥

येन रोषपरुषात्मनः पितुः शासने स्थितिभिदोऽपि तस्थुषा ।
वेपमानजननीशिरश्छिदा प्रागजीयत घृणा ततो मही ॥ ६५ ॥

येनेति । रोषपरुषा रोषेण क्रोधेन परुषः निष्ठुरः आत्मा बुद्धिर्यस्य सः । 'आत्मा जीवो धृतिर्बुद्धिः' इत्यमरः । तस्य रोषपरुषात्मन स्थितिभिदोऽपि मर्यादालङ्घिनोऽपि पितुः शासने । तस्थुषा स्थितेन वेपमानजननीशिरश्छिदा येन प्राग्घृणाऽजीयत । ततोऽनन्तर मह्यजीयत । मातृहन्तुः क्षत्रवधात्कुतो जुगुप्सेति भावः ॥ ६५ ॥

क्रोधसे कठोर चित्तवाले तथा मर्यादा-भङ्ग करनेवाले भी पिताकी आज्ञाका पालन करनेवाले और काँपती हुई माताके सिरको काटनेवाले जिस (परशुराम) ने पहले दयाका त्याग किया और इसके बादमें पृथ्वीका त्याग किया ॥ ६५ ॥

पौराणिक कथा—एक बार महर्षि 'जामदग्नि'की पत्नी 'रेणुका' जल लानेके लिये नदी तटपर गयी तो मैथुन करते हुए गन्धर्वोंकी जोडीको देखकर उनके मनमें कुछ विकार हो गया और वे कुछ विलम्बसे आश्रममें लौटीं । समाधिके द्वारा जमदग्नि मुनिने सब मालूम कर उसके शिरको काटनेके लिये बडे पुत्रको आज्ञा दी, किन्तु जब उसने मातृवधको पापकर्म मानकर मातृवध नहीं किया तो पिता जमदग्निने छोटे पुत्रको वही आज्ञा दी, और उन्होंने पिताकी आज्ञाको सर्वोपरि मानकर माता 'रेणुका'का शिर काट डाला । फिर आज्ञापालनसे प्रसन्न पिताके वरदान माँगनेको कहनेपर परशुरामने माताको पुनर्जीवित होनेका वरदान माँगकर माताको फिर जीवित करा दिया ।

अक्षबीजवलयेन निर्बभौ दक्षिणश्रवणसंस्थितेन यः ।
क्षत्रियान्तकरणैकविंशतेर्व्याजपूर्वगणनामिवोद्वहन् ॥ ६६ ॥

श्येन ('बाज' नामक पक्षि-विशेष) के पंखरूपी धूसर केशवाली तथा सान्ध्यकालीन (लाल) मेघरूप रक्तसे भीगे हुए वस्त्रवाली दिशायें, बाजके पंखोंके समान धूसर (मलिन-केश) केशवाली तथा सान्ध्यकालके मेघके समान रक्तसे भीगे हुए वस्त्रवाली रजस्वला स्त्रियोंके समान देखनेके अयोग्य (नहीं देखने योग्य) हो गयीं। (रजस्वला स्त्रीको देखनेका शास्त्रोंमें निषेध किया गया है) ॥ ६० ॥

भास्करश्च दिशमध्युवास यां तां श्रिताः प्रतिभयं ववासिरे ।
क्षत्रशोणितपितृक्रियोचितं चोदयन्त्य इव भार्गवं शिवाः ॥ ६१ ॥

भास्कर इति । भास्करो यां दिशमध्युवास च तस्यां दिशि स्थिताः । 'उपान्वध्याङ्वसः' इति कर्मत्वम् । तां दिशं श्रिताः शिवाः गोमायवः । 'शिवा हि फेरवः फेरुगोमायुमृगधूर्तकाः' इत्यमरः । क्षत्रशोणितेन या पितृक्रिया पितृतर्पणं तत्रोचितं परिचितं भार्गवं चोदयन्त्य इव प्रतिभयं भयङ्करं ववासिरे चक्रुशुः, 'वाशृ शब्दे' इति धातोर्लिट् । 'तिरश्चां वाशितं रुतम्' इत्यमरः ॥ ६१ ॥

सूर्य जिस दिशामें गये थे उस दिशामें स्थित शृगालियां क्षत्रियोंके रक्तसे पितृतर्पण करनेवाले परशुरामजीको सूचित करती हुई के समान रोने लगीं ॥ ६१ ॥

तत्प्रतीपपवनादि वैकृतं प्रेक्ष्य शान्तिमधिकृत्य कृत्यवित् ।
अन्वयुङ्क्त गुरुमीश्वरः क्षितेः स्वन्तमित्यलघयत्स तद्व्यथाम् ॥ ६२ ॥

तदिति । तत्प्रतीपपवनादि वैकृतं दुर्निमित्तं प्रेक्ष्य कृत्यवित्कार्यज्ञः क्षितेरीश्वरः शान्तिमधिकृत्य विघ्नोपशमनमुद्दिश्य गुरुं वसिष्ठमन्वयुङ्क्तापृच्छत् । 'प्रश्नोऽनुयोगः पृच्छा च' इत्यमरः । स गुरुः स्वन्तं शुभोदर्कं भावीति तस्य राज्ञो व्यथामलघयल्लघूकृतवान् ॥ ६२ ॥

उस प्रतिकूल वायु आदि विकार (अपशकुन) को देखकर कार्यज्ञ राजा (दशरथ) ने शान्तिके लिये गुरु (वसिष्ठजी) से पूछा और उन्होंने 'इसका अन्त अच्छा होगा' ऐसा कहकर राजाके कष्टको हलका कर दिया ॥ ६२ ॥

तेजसः सपदि राशिरुत्थितः प्रादुरास किल वाहिनीमुखे ।
यः प्रमृज्य नयनानि सैनिकैर्लक्षणीयपुरुषाकृतिश्चिरात् ॥ ६३ ॥

तेजस इति । सपदि किल तेजसो राशिरुत्थितो वाहिनीमुखे सेनाग्रे प्रादुरास किल खलु । यः सैनिकैर्नयनानि प्रमृज्य चिराल्लक्षणीया ज्ञातव्या पुरुषाकृतिर्यस्य स तथोक्तः अभूदिति शेषः ॥ ६३ ॥

इसके बाद सहसा तेज-समूह सेनाओंके आगे प्रकट हुआ जिसे सैनिकोंने आँखें पोंछकर बहुत देरी पर पुरुषाकारमें देखा। (तेजकी अधिकताके कारण सैनिकोंकी आँखें चकाचौंध

क्षत्रियोंका (इक्कीस बार) अन्त करनेवाला भी पराक्रम तुमको विना जीते मुझको सन्तुष्ट नहीं करता है, (क्योंकि) अग्निका यही महत्त्व गिना जाता है कि वह समुद्रमें भी तृणमें (स्थित) के समान जले ॥ ७५ ॥

विद्धि चात्तबलमोजसा हरेरैश्वरं धनुरभाजि यत्त्वया ।
खातमूलमनिलो नदीरयैः पातयत्यपि मृदुस्तटद्रुमम् ॥ ७६ ॥

विद्धीति । किञ्च ऐश्वरं धनुर्हरेर्विष्णोरोजसा बलेनात्तबलं हृतसारं च विद्धि । यद्धनुस्त्वयाऽभाज्यभञ्जि । 'भञ्जेश्च चिणि' इति विभाषया नलोपः । तथा हि नदीरयः खातमूलमवदारितपादं तटद्रुमं मृदुरप्यनिलः पातयति । ततः शिशुरपि रौद्रं धनुरभाङ्क्षमिति मागर्वीरिति भावः ॥ ७५ ॥

शिवजीके उस धनुषको विष्णुके बलसे हरण किये हुए शक्तिवाला (विष्णु-बलसे शक्तिहीन) समझो, जिसे तुमने तोड़ दिया है, क्योंकि नदीके वेगसे जर्जर जड़वाले तीरस्थ वृक्षको साधारण हवा भी गिरा देती है ॥ ७६ ॥

तन्मदीयमिदमायुधं ज्यया सङ्गमय्य सशरं विकृष्यताम् ।
तिष्ठतु प्रधनमेवमप्यहं तुल्यबाहुतरसा जितस्त्वया ॥ ७७ ॥

तदिति । तत्तस्मान्मदीयमिदमायुधं कार्मुकं ज्यया सङ्गमय्य संयोज्य । 'ल्यपि लघुपूर्वात्' इति णेरयादेशः । सशरं यथा तथा त्वया विकृष्यताम् । प्रधनं रणस्तिष्ठतु प्रधनं तावदास्तामित्यर्थः । 'प्रधनं मारणे रणे' इति विश्वः । एवमपि मद्धनुष्कर्षणेऽप्यहं तुल्यबाहुतरसा समबाहुबलेन । 'रंहस्तरसी तु रयः स्यदः' इत्यमरः । त्वया जितः ॥ ७७ ॥

अतः मेरे इस धनुषकी डोरी चढाकर इसे बाण सहित खैंचो तो युद्ध न हो, इस प्रकार (धनुषको चढाकर बाणसहित खैंचनेमात्रसे) समान बाहु-बलवाले तुमसे मैं जीता गया ॥७७॥

कातरोऽसि यदि वोद्गतार्चिषा तर्जितः परशुधारया मम ।
ज्यानिघातकठिनाङ्गुलिर्वृथा बध्यतामभययाचनाञ्जलिः ॥ ७८ ॥

कातर इति । यदि वोद्गतार्चिषोद्गतत्विषा मम परशुधारया तर्जितः कातरोऽसि भीतोऽसि । वृथा ज्यानिघातेन मौर्वीसङ्घट्टनेन कठिना अङ्गुलयो यस्य स तथोक्तोऽभययाचनाञ्जलिरभयप्रार्थनाञ्जलिर्बध्यताम् । 'तौ युतावञ्जलिः पुमान्' इत्यमरः ॥ ७८ ॥

यदि चमकती हुई मेरे फरसेकी धारसे भययुक्त तुम कातर हो तो व्यर्थमें (झूठ-मूठ) प्रत्यञ्चाके बार २ आघातसे कठिन (घट्ठेयुक्त) हुई अङ्गुलियोंवाली अभययाचनाकी अञ्जलिको बाँधो अर्थात् हाथ जोड़कर तुम मुझसे अभययाचना करो ॥ ७८ ॥

मैथिलस्येति। अन्यैः पार्थिवैः। अनमितपूर्वं पूर्वमनमितम्। सुप्सुपेति समासः। मैथिलस्य धनुस्त्वमक्षिणोः क्षतवान्। किलेति वार्तायाम्। 'वार्तासम्भाव्ययोः किल' इत्यमरः। तद्धनुर्भङ्गं निशम्याकर्ण्य भवता आत्मनो मम वीर्यमेव शृङ्गं भग्नमिव समर्थये मन्ये॥ ७२॥

दूसरे राजाओंसे नहीं झुकाये गये मिथिलेश (जनक) के धनुषको तुमने तोड़ा है, यह सुनकर मेरे वीर्यरूपी सींगको तुमने तोड़ा है, ऐसा मानता हूं॥ ७२॥

अन्यदा जगति राम इत्ययं शब्द उच्चरित एव मामगात्।
व्रीडमावहति मे स सम्प्रति व्यस्तवृत्तिरुदयोन्मुखे त्वयि॥ ७३॥

अन्यदेति। अन्यदा अन्यस्मिन्काले। जगति राम इत्ययं शब्द उच्चरित एव मामेवापतत् अगमत्। सम्प्रति त्वय्युदयोन्मुखे सति व्यस्तवृत्तिर्विपरीतवृत्तिः। अन्यगामीति यावत्। स शब्दो मे व्रीडमावहति लज्जां करोति॥ ७३॥

दूसरे समयमें अर्थात् पहले संसारमें कहा गया 'राम' यह शब्द मुझे प्राप्त होता था, वह समय तुम्हारे उदयोन्मुख (उन्नतिकी ओर अग्रसर) होनेपर विपरीत व्यवहारवाला (मुझे छोड़कर तुम्हें प्राप्त करनेवाला) वह ('राम' शब्द) मुझे लज्जित कर रहा है॥ ७३॥

बिभ्रतोऽस्त्रमचलेऽप्यकुण्ठितं द्वौ रिपू मम मतौ समागसौ।
धेनुवत्सहरणाच्च हैहयस्त्वं च कीर्तिमपहर्तुमुद्यतः॥ ७४॥

बिभ्रत इति। अचले क्रौञ्चाद्रावप्यकुण्ठितमस्त्रं बिभ्रतो मम द्वौ समागसौ तुल्यापराधौ रिपू मतौ। 'आगोऽपराधो मन्तुश्च' इत्यमरः। कौ तौ। पितुर्होमधेनोर्वत्सस्य हरणाद्धेतोर्हैहयः कार्तवीर्यः। कीर्तिमपहर्तुमुद्यतस्त्वं च। वत्सहरणे भारतश्लोकः—'प्रमत्तस्याश्रमात्तस्य होमधेन्वास्ततो बलात्। जहार वत्सं क्रोशन्त्या बभञ्ज च महाद्रुमान्' इति॥ ७४॥

पर्वतमें भी अकुण्ठित (नहीं रुकनेवाला अर्थात् तीक्ष्ण) अस्त्र (फरसा) को धारण करते हुए भी मेरे दो शत्रु समान अपराधवाले हैं—(एक तो) गौके बछड़ेको हरण करनेसे कार्तवीर्य अर्थात् सहस्रार्जुन और (मेरी) कीर्तिहरण करनेके लिए तैयार तुम॥ ७४॥

पौराणिक कथा—इस कथाका प्रसङ्ग सर्ग ११ के पौराणिक कथामें देखें।

क्षत्रियान्तकरणोऽपि विक्रमस्तेन मामवति नाजिते त्वयि।
पावकस्य महिमा स गण्यते कक्षवज्ज्वलति सागरेऽपि यः॥ ७५॥

क्षत्रियान्तेति। तेन कारणेन क्षत्रियान्तकरणोऽपि विक्रमः। त्वय्यजिते। मां नावति न प्रीणाति। तथा हि—पावकस्य महिमा स गण्यते। यः कक्षवत्तृण इव। 'तत्र तस्येव' इति सप्तम्यर्थे वतिः। सागरेऽपि ज्वलति॥ ७५॥

क्षत्रियोंका (इक्कीस बार) अन्त करनेवाला भी पराक्रम तुमको विना जीते मुझको सन्तुष्ट नहीं करता है, (क्योंकि) अग्निका यही महत्त्व गिना जाता है कि वह समुद्रमें भी तृणमें (स्थित) के समान जले ॥ ७५ ॥

विद्धि चात्तबलमोजसा हरेरैश्वरं धनुरभाजि यत्त्वया ।
खातमूलमनिलो नदीरयैः पातयत्यपि मृदुस्तटद्रुमम् ॥ ७६ ॥

विद्धीति । किञ्च ऐश्वरं धनुर्हरेर्विष्णोरोजसा बलेनात्तबलं हृतसारं च विद्धि । यद्धनुस्त्वयाऽभाज्यभञ्जि । 'भञ्जेश्च चिणि' इति विभाषया नलोपः । तथा हि नदीरयैः खातमूलमवदारितपादं तटद्रुमं मृदुरप्यनिलः पातयति । ततः शिशुरपि रौद्रं धनुरभाङ्क्षमिति मागर्वीरिति भावः ॥ ७५ ॥

शिवजीके उस धनुषको विष्णुके बलसे हरण किये हुए शक्तिवाला (विष्णु-बलसे शक्तिहीन) समझो, जिसे तुमने तोड दिया है, क्योंकि नदीके वेगसे जर्जर जडवाले तीरस्थ वृक्षको साधारण हवा भी गिरा देती है ॥ ७६ ॥

तन्मदीयमिदमायुधं ज्यया सङ्गमय्य सशरं विकृष्यताम् ।
तिष्ठतु प्रधनमेवमप्यहं तुल्यबाहुतरसा जितस्त्वया ॥ ७७ ॥

तदिति । तत्तस्मान्मदीयमिदमायुधं कार्मुकं ज्यया सङ्गमय्य संयोज्य । 'ल्यपि लघुपूर्वात्' इति णेरयादेशः । सशरं यथा तथा त्वया विकृष्यताम् । प्रधनं रणस्तिष्ठतु प्रधनं तावदास्तामित्यर्थः । 'प्रधनं मारणे रणे' इति विश्वः । एवमपि मद्धनुष्कर्षणेऽप्यहं तुल्यबाहुतरसा समबाहुबलेन । 'रंहस्तरसी तु रयः स्यदः' इत्यमरः । त्वया जितः ॥ ७७ ॥

अतः मेरे इस धनुषकी डोरी चढाकर इसे बाण सहित खैंचो तो युद्ध न हो, इस प्रकार (धनुषको चढाकर बाणसहित खैंचनेमात्रसे) समान बाहु-बलवाले तुमसे मैं जीता गया ॥७७॥

कातरोऽसि यदि वोद्गतार्चिषा तर्जितः परशुधारया मम ।
ज्यानिघातकठिनाङ्गुलिर्वृथा बध्यतामभययाचनाञ्जलिः ॥ ७८ ॥

कातर इति । यदि वोद्गतार्चिषोद्गतत्विषा मम परशुधारया तर्जितः कातरोऽसि भीतोऽसि । वृथा ज्यानिघातेन मौर्वीसङ्घट्टनेन कठिना अङ्गुलयो यस्य स तथोक्तोऽभययाचनाञ्जलिरभयप्रार्थनाञ्जलिर्बध्यताम् । 'तौ युतावञ्जलिः पुमान्' इत्यमरः ॥ ७८ ॥

यदि चमकती हुई मेरे फरसेकी धारसे भययुक्त तुम कातर हो तो व्यर्थमें (झूठ-मूठ) प्रत्यञ्चाके बार २ आघातसे कठिन (घट्ठेयुक्त) हुई अङ्गुलियोंवाली अभययाचनाकी अञ्जलिको बांधो अर्थात् हाथ जोडकर तुम मुझसे अभययाचना करो ॥ ७८ ॥

मैथिलस्येति । अन्ये पार्थिवाः । अवमितपूर्वं पूर्वमवमितम् । सुप्सुपेति समासः । अस्य मैथिलस्य धनुस्त्वमभाङ्क्षीः भङ्क्तवान् । किमेति वार्तामात्र । वार्तासम्भाव्ययोः किल इत्यमरः । तद्धनुर्भङ्गं विश्रम्भादमुं भवता आत्मनो मम वीर्यमेव शृङ्गमिव समर्पये मन्ये ॥ ७२ ॥

दूसरे राजाओंसे नहीं झुकाये गये मिथिलेश (जनक) के धनुषको तुमने तोड़ा है, उसे समझकर मेरे वीर्यरूपी सींगको तुमने तोड़ा है ऐसा मानता हूं ॥ ७२ ॥

अन्यदा जगति राम इत्ययं शब्द उच्चरित एव मामगात् ।
व्रीडमावहति मे स सम्प्रति व्यस्तवृत्तिरुदयोन्मुखे त्वयि ॥ ७३ ॥

अन्यदेति । अन्यदा अन्यस्मिन्काले । जगति राम इत्ययं शब्द उच्चरित एव मामेवापतत् अगमत् । सम्प्रति त्वय्युदयोन्मुखे सति व्यस्तवृत्तिर्विपरीतवृत्तिः । अन्यगामीति यावत् । स शब्दो मे व्रीडमावहति लज्जां करोति ॥ ७३ ॥

दूसरे समयमें अर्थात् पहले संसारमें कहा गया 'राम' यह शब्द मुझे मात्र बोधित था, इस समय तुम्हारे उदयोन्मुख (अभ्युदय और अवसर) होनेपर विपरीत व्यवहारवाला (मुझे छोड़कर तुम्हें मात्र कहनेवाला) वह ('राम' शब्द) मुझे लज्जित कर रहा है ॥ ७३ ॥

बिभ्रतोऽस्त्रमचलेऽप्यकुण्ठितं द्वौ रिपू मम मतौ समागसौ ।
धेनुवत्सहरणाच्च हैहयस्त्वं च कीर्तिमपहर्तुमुद्यतः ॥ ७४ ॥

बिभ्रत इति । अचलेऽपि क्रौञ्चाद्रावप्यकुण्ठितमस्त्रं बिभ्रतो मम द्वौ समागसौ तुल्यापराधौ रिपू मतौ । 'आगोऽपराधो मन्तुश्च' इत्यमरः । धेनोः होमधेनोर्वत्सस्य हरणाद्धेतोर्हैहयः कार्तवीर्यश्च । कीर्तिमपहर्तुमुद्यतस्त्वं च । अत्राहमेव भारत श्लोकः—'मम स्थाने समागतस्य होमधेन्वास्ततो बलात् । जहार वत्सं क्रोशन्त्या बभञ्ज च महाद्रुमान्' ॥ इति ॥ ७४ ॥

पर्वतपर भी अकुण्ठित (नहीं झुकनेवाला अर्थात् तीक्ष्ण) अस्त्र (परशु) को धारण करते हुए भी मेरे दो शत्रु समान अपराधवाले हैं—(होमधेनु) गौ तथा बछड़ेको हरण करनेसे कार्तवीर्य अर्थात् सहस्रार्जुन और (मेरी) कीर्तिहरण करनेके लिए तैयार तुम ॥ ७४ ॥

पौराणिक कथा—इस कथाका प्रसङ्ग श्लोक ११ के पौराणिक कथासे देखें ।

क्षत्रियान्तकरणोऽपि विक्रमस्तेन मामवति नाजिते त्वयि ।
पावकस्य महिमा स गण्यते कक्षवज्ज्वलति सागरेऽपि यः ॥ ७५ ॥

क्षत्रियान्तेति । तेन कारणेन विक्रमो येनासौ करणः । क्षत्रियान्तस्य करणोऽपि विक्रमः । त्वय्यजिते । मां नावति न प्रीणाति । तथा हि—पावकस्याग्नेर्महिमा स गण्यते । यः कक्षवत्तृण इव । 'तृण कक्षस्तु' इति सप्तम्यर्थे वतिः । सागरेऽपि ज्वलति ॥ ७५ ॥

क्षत्रियोंका (इक्कीस बार) अन्त करनेवाला भी पराक्रम तुमको विना जीते मुझको सन्तुष्ट नहीं करता है, (क्योंकि) अग्निका यही महत्त्व गिना जाता है कि वह समुद्रमें भी तृणमें (स्थित) के समान जले ॥ ७५ ॥

विद्धि चात्तबलमोजसा हरेरैश्वरं धनुरभाजि यत्त्वया ।
खातमूलमनिलो नदीरयैः पातयत्यपि मृदुस्तटद्रुमम् ॥ ७६ ॥

विद्धीति । किञ्च ऐश्वरं धनुर्हरेर्विष्णोरोजसा बलेनात्तबलं हृतसारं च विद्धि । यद्धनुस्त्वयाऽभाज्यभञ्जि । 'भञ्जेश्च चिणि' इति विभाषया नलोपः । तथा हि नदीरयैः खातमूलमवदारितपादं तटद्रुमं मृदुरप्यनिलः पातयति । ततः शिथिलरपि रौद्रं धनुरभाङ्क्षमिति मागर्वीरिति भावः ॥ ७५ ॥

शिवजीके उस धनुषको विष्णुके बलसे हरण किये हुए शक्तिवाला (विष्णु-बलसे शक्ति-हीन) समझो, जिसे तुमने तोड दिया है, क्योंकि नदीके वेगसे जर्जर जडवाले तीरस्थ वृक्ष-को साधारण हवा भी गिरा देती है ॥ ७६ ॥

तन्मदीयमिदमायुधं ज्यया सङ्गमय्य सशरं विकृष्यताम् ।
तिष्ठतु प्रधनमेवमप्यहं तुल्यबाहुतरसा जितस्त्वया ॥ ७७ ॥

तदिति । तत्तस्मान्मदीयमिदमायुधं कार्मुकं ज्यया सङ्गमय्य संयोज्य । 'ल्यपि लघुपूर्वात्' इति णेरयादेशः । सशरं यथा तथा त्वया विकृष्यताम् । प्रधनं रणस्तिष्ठतु प्रधनं तावदास्तामित्यर्थः । 'प्रधनं मारणे रणे' इति विश्वः । एवमपि मद्धनुष्कर्षणेऽप्यहं तुल्यबाहुतरसा समबाहुबलेन । 'रहस्तरसी तु रयः स्यदः' इत्यमरः । त्वया जितः ॥ ७७ ॥

अतः मेरे इस धनुषकी डोरी चढाकर इसे बाण सहित खैंची तो युद्ध न हो, इस प्रकार (धनुषको चढाकर बाणसहित खैंचनेमात्रसे) समान बाहु-बलवाले तुमसे मैं जीता गया ॥७७॥

कातरोऽसि यदि वोद्गतार्चिषा तर्जितः परशुधारया मम ।
ज्यानिघातकठिनाङ्गुलिर्वृथा बध्यतामभययाचनाञ्जलिः ॥ ७८ ॥

कातर इति । यदि वोद्गतार्चिषोद्गतत्विषा मम परशुधारया तर्जितः कातरोऽसि भीतोऽसि । वृथा ज्यानिघातेन मौर्वीसङ्घट्टनेन कठिना अङ्गुलयो यस्य स तथोक्तोऽभययाचनाञ्जलिरभयप्रार्थनाञ्जलिर्बध्यताम् । 'तौ युतावञ्जलिः पुमान्' इत्यमरः ॥ ७८ ॥

यदि चमकती हुई मेरे फरसेकी धारसे भययुक्त तुम कातर हो तो व्यर्थमें (झूठ-मूठ) प्रत्यञ्चाके बार २ आघातसे कठिन (घट्ठेयुक्त) हुई अङ्गुलियोंवाली अभययाचनाकी अञ्जलिको बांधो अर्थात् हाथ जोड़कर तुम मुझसे अभययाचना करो ॥ ७८ ॥

मैथिलस्येति । अन्यैः पार्थिवैः । अनमितपूर्वं पूर्वमनमितम् । धनुरिति शेषः । तस्य मैथिलस्य धनुस्त्वमक्षणोः बभञ्जिथ । किलेति वार्तायाम् । 'वार्तासम्भाव्ययोः किल' इत्यमरः । तद्धनुर्भङ्गं निशम्याकर्ण्य भवता आत्मनो मम वीर्यमेव शृङ्गमिव भग्नं समर्थये मन्ये ॥ ७२ ॥

दूसरे राजाओंसे नहीं झुकने वाले मिथिलेश (जनक) के धनुषको तुमने तोड़ा है, अतः इसप्रकार मेरे वीर्यरूपी सींगको तुमने तोड़ा है, ऐसा मानता हूँ ॥ ७२ ॥

अन्यदा जगति राम इत्ययं शब्द उच्चरित एव मामगात् ।
व्रीडमावहति मे स सम्प्रति व्यस्तवृत्तिरुदयोन्मुखे त्वयि ॥ ७३ ॥

अन्यदेति । अन्यदा अन्यस्मिन्काले । जगति राम इत्ययं शब्द उच्चरित एव मामेवागात् अगमत् । सम्प्रति त्वय्युदयोन्मुखे सति व्यस्तवृत्तिर्विपरीतवृत्तिः । त्वद्गामीति यावत् । स शब्दो मे व्रीडमावहति लज्जां करोति ॥ ७३ ॥

दूसरे समयमें अर्थात् पहले संसारमें कहा गया 'राम' यह शब्द मुझे प्राप्त होता था, वह इस समय तुम्हारे अभ्युदयोन्मुख (उन्नतिकी ओर अग्रसर) होनेपर विपरीत व्यवहारवाला (मुझे छोड़कर तुम्हें प्राप्त करनेवाला) वह ('राम' शब्द) मुझे लज्जित कर रहा है ॥ ७३ ॥

बिभ्रतोऽस्त्रमचलेऽप्यकुण्ठितं द्वौ रिपू मम मतौ समागसौ ।
धेनुवत्सहरणाच्च हैहयस्त्वं च कीर्तिमपहर्तुमुद्यतः ॥ ७४ ॥

बिभ्रत इति । अचले क्रौञ्चाद्रावप्यकुण्ठितमस्त्रं बिभ्रतो मम द्वौ समागसौ तुल्या-पराधौ रिपू मतौ । 'आगोऽपराधो मन्तुश्च' इत्यमरः । धेन्वाः पितुर्होमधेनोर्वत्सस्य हरणाद्धेतोर्हैहयः कार्तवीर्यश्च । कीर्तिमपहर्तुमुद्यतस्त्वं च । अत्रापरार्धे श्लोकः—'समवायसमायुक्तं होमधेन्वास्ततो बलात् । जहार वत्सं क्रोशन्त्या बभञ्ज च महाद्रुमान्' ॥ इति ॥ ७४ ॥

पर्वतमें भी अकुण्ठित (नहीं रुकनेवाला अर्थात् सफल) अस्त्र (फरसा) को धारण करते हुए भी मेरे दो शत्रु समान अपराधवाले हैं—(एकतो) पिताकी गायके बछड़ेको हरण करनेसे कार्तवीर्य अर्थात् सहस्रार्जुन और (मेरी) कीर्तिहरण करनेके लिए तैयार तुम ॥ ७४ ॥

पौराणिक कथा—इस कथाका प्रसङ्ग श्लोक … के पौराणिक कथामें देखें।

क्षत्रियान्तकरणोऽपि विक्रमस्तेन मामवति नाजिते त्वयि ।
पावकस्य महिमा स गण्यते कक्षवज्ज्वलति सागरेऽपि यः ॥ ७५ ॥

क्षत्रियान्तेति । येन कारणेन जितस्त्वं तेनासौ कारणम् । क्षत्रियान्तकरणोऽपि विक्रमः । त्वय्यजिते । मां नावति न प्रीणाति । तथा हि—पावकस्याग्नेर्महिमा स गण्यते । यः कक्षवत्तृण इव । 'तत्र तस्येव' इति सप्तम्यर्थे वतिः । सागरेऽपि ज्वलति ॥ ७५ ॥

क्षत्रियोंका (इक्कीस बार) अन्त करनेवाला भी पराक्रम तुमको बिना जीते मुझको सन्तुष्ट नहीं करता है, (क्योंकि) अग्निका यही महत्त्व गिना जाता है कि वह समुद्रमें भी तृणमें (स्थित) के समान जले ॥ ७५ ॥

विद्धि चात्तबलमोजसा हरेरैश्वरं धनुरभाजि यत्त्वया।
खातमूलमनिलो नदीरयैः पातयत्यपि मृदुस्तटद्रुमम् ॥ ७६ ॥

विद्धीति। किञ्च ऐश्वरं धनुर्हरेर्विष्णोरोजसा बलेनात्तबलं हृतसारं च विद्धि। यद्धनुस्त्वयाऽभाज्यभञ्जि। 'भञ्जेश्च चिणि' इति विभाषया नलोपः। तथा हि नदीरयैः खातमूलमवदारितपादं तटद्रुमं मृदुरप्यनिलः पातयति। ततः शिष्ठरपि रौद्रं धनुरभाङ्क्षमिति मागर्वीरिति भावः ॥ ७५ ॥

शिवजीके उस धनुषको विष्णुके बलसे हरण किये हुए शक्तिवाला (विष्णु-बलसे शक्तिहीन) समझो, जिसे तुमने तोड़ दिया है, क्योंकि नदीके वेगसे जर्जर जड़वाले तीरस्थ वृक्षको साधारण हवा भी गिरा देती है ॥ ७६ ॥

तन्मदीयमिदमायुधं ज्यया सङ्गमय्य सशरं विकृष्यताम्।
तिष्ठतु प्रधनमेवमप्यहं तुल्यबाहुतरसा जितस्त्वया ॥ ७७ ॥

तदिति। तत्तस्मान्मदीयमिदमायुधं कार्मुकं ज्यया सङ्गमय्य संयोज्य। 'ल्यपि लघुपूर्वात्' इति णेरयादेशः। सशरं यथा तथा त्वया विकृष्यताम्। प्रधनं रणस्तिष्ठतु प्रधनं तावदास्तामित्यर्थः। 'प्रधनं मारणे रणे' इति विश्वः। एवमपि मद्धनुष्कर्षणेऽप्यहं तुल्यबाहुतरसा समबाहुबलेन। 'रंहस्तरसी तु रयः स्यदः' इत्यमरः। त्वया जितः ॥ ७७ ॥

अतः मेरे इस धनुषकी डोरी चढाकर इसे बाण सहित खैंचो तो युद्ध न हो, इस प्रकार (धनुषको चढाकर बाणसहित खैंचनेमात्रसे) समान बाहु-बलवाले तुमसे मैं जीता गया ॥७७॥

कातरोऽसि यदि वोद्गतार्चिषा तर्जितः परशुधारया मम।
ज्यानिघातकठिनाङ्गुलिर्वृथा बध्यतामभययाचनाञ्जलिः ॥ ७८ ॥

कातर इति। यदि वोद्गतार्चिषोद्गतत्विषा मम परशुधारया तर्जितः कातरोऽसि भीतोऽसि। वृथा ज्यानिघातेन मौर्वीसङ्घट्टनेन कठिना अङ्गुलयो यस्य स तथोक्तोऽभययाचनाञ्जलिरभयप्रार्थनाञ्जलिर्बध्यताम्। 'तौ युतावञ्जलिः पुमान्' इत्यमरः ॥ ७८ ॥

यदि चमकती हुई मेरे फरसेकी धारसे भययुक्त तुम कातर हो तो व्यर्थमें (झूठ-मूठ) प्रत्यञ्चाके बार २ आघातसे कठिन (घट्ठेयुक्त) हुई अङ्गुलियोंवाली अभययाचनाकी अञ्जलिको बांधो अर्थात् हाथ जोड़कर तुम मुझसे अभययाचना करो ॥ ७८ ॥

एवमुक्तवति भीमदर्शने भार्गवे स्मितविकम्पिताधरः ।
तद्धनुर्ग्रहणमेव राघवः प्रत्यपद्यत समर्थमुत्तरम् ॥ ७९ ॥

एवमिति । भीमदर्शने भार्गवे एवमुक्तवति सति । राघवः स्मितेन हासेन विकम्पिताधरः सन् । तद्धनुर्ग्रहणमेव समर्थमुचितमुत्तरं प्रत्यपद्यताङ्गीचकार ॥ ७९ ॥

देखनेमें भयङ्कर परशुरामके ऐसा कहनेपर मुस्कराहटसे ही स्फुरित अधरवाले रामने (बिना कुछ कहे) उनके धनुषको ग्रहण करना ही उचित उत्तर (देना) स्वीकार किया ॥ ७९ ॥

पूर्वजन्मधनुषा समागतः सोऽतिमात्रलघुदर्शनोऽभवत् ।
केवलोऽपि सुभगो नवाम्बुदः किं पुनस्त्रिदशचापलाञ्छितः ॥ ८० ॥

पूर्वजन्मेति । पूर्वजन्मनि नारायणावतारे यद्धनुस्तेन समागतः सङ्गतः स रामोऽतिमात्रमत्यन्तं लघुदर्शनः प्रियदर्शनोऽभवत् । तथा हि । नवाम्बुदः केवलो रिक्तोऽपि सुभगः सौभाग्यवान् । त्रिदशचापेनेन्द्रधनुषा लाञ्छितश्चिह्नितः किं पुनः । सुभग एवेति भावः ॥ ८० ॥

पूर्व जन्म (नारायणावतार) के धनुषसे युक्त वह (राम) अत्यन्त प्रियदर्शन (देखने में सुन्दर) हो गये क्योंकि नया मेघ अकेला भी सुन्दर होता है, फिर यदि वह इन्द्रधनुषसे युक्त हो जाय तो (उसकी शोभाका) क्या कहना है ॥ ८० ॥

तेन भूमिनिहितैककोटि तत्कार्मुकं च बलिनाऽधिरोपितम् ।
निष्प्रभश्च रिपुरास भूभृतां धूमशेष इव धूमकेतनः ॥ ८१ ॥

तेनेति । बलिना तेन रामेण भूमिनिहितैका कोटिर्यस्य तत् । कर्मेव प्रभवतीति कार्मुकं धनुश्च । 'कर्मण उकञ्' इत्युकञ्प्रत्ययः । अधिरोपितम् । भूभृतां रिपुर्भार्गवश्च । धूमशेषो धूमकेतनोऽग्निरिव । निष्प्रभो निस्तेजस्क आस बभूव । निष्प्रभत्वे अधिरोपणे इत्युभयत्र सहोक्तिः । आसेति तिङन्तप्रतिरूपकमव्ययं दीप्त्यर्थकस्यास्तेः रूपं वा ॥ ८१ ॥

बलवान् उस (राम) ने एक किनारेको भूमिपर (रख) रखकर उस धनुषको चढ़ा दिया (तब) राजाओंके शत्रु वह (परशुराम) धूममात्र अग्निके समान निस्तेज हो गये ॥ ८१ ॥

तावुभावपि परस्परस्थितौ वर्धमानपरिहीनतेजसौ ।
पश्यति स्म जनता दिनात्यये पार्वणौ शशिदिवाकराविव ॥ ८२ ॥

तावित्ति । परस्परस्थितावन्योन्याभिमुखौ । वर्धमानं च परिहीनं चेति द्वन्द्वः । वर्धमानपरिहीने तेजसी ययोस्तावुभौ राघवभार्गवावपि । दिनात्यये सायङ्काले वर्तमानौ पार्वणौ शशिदिवाकराविव । जनता जनसमूहः । 'ग्रामजनबन्धुसहायेभ्यस्तल्'

इति तत्प्रत्ययः । पश्यति स्मापश्यत् । अत्र राघवस्य शशिना भार्गवस्य भानुनौपम्यं द्रष्टव्यम् ॥ ८२ ॥

जनताने परस्पर स्थित एवं बढते हुए तथा क्षीण तेजवाले उन दोनोंको सायङ्कालमें (बढते हुए तथा क्षीण तेजवाले) चन्द्रमा तथा सूर्यके समान देखा । (यहां बढते हुए तेज-वाले रामचन्द्रजीको तथा क्षीण तेजवाले परशुरामजीको समझना चाहिये) ॥ ८२ ॥

तं कृपामृदुरवेक्ष्य भार्गवं राघवः स्खलितवीर्यमात्मनि ।
स्वं च संहितममोघमाशुगं व्याजहार हरसूनुसन्निभः ॥ ८३ ॥

तमिति । हरसूनुसन्निभः स्कन्दसमः । कृपामृदुः राघवः । आत्मनि विषये स्खलितवीर्यं कुण्ठितशक्तिं तं भार्गवं स्वं स्वकीयं संहितममोघमाशुगं बाणं चावेक्ष्य व्याजहार बभाषे ॥ ८३ ॥

कार्तिकेयके समान पराक्रमवाले तथा कृपासे कोमल अर्थात् दयार्द्र राम, अपने विषयमें वीर्यहीन (हारे हुए) परशुरामसे चढाये हुए अपने अमोघ (कभी व्यर्थ नहीं होनेवाले) बाणको देखकर बोले—॥ ८३ ॥

न प्रहर्तुमलमस्मि निर्दयं विप्र इत्यभिभवत्यपि त्वयि ।
शंस किं गतिमनेन पत्रिणा हन्मि लोकमुत ते मखार्जितम् ॥ ८४ ॥

नेति । अभिभवत्यपि त्वयि । विप्र इति हेतोः । निर्दयं प्रहर्तुमलं शक्तो नास्मि किंत्वनेन पत्रिणा शरेण ते गतिं गमनं हन्मि । उत मखार्जितं लोकं स्वर्गं हन्मि शंस ब्रूहि ॥ ८४ ॥

'अभिभव (तिरस्कार) करते हुए भी तुमपर 'तुम ब्राह्मण हो' इस कारणसे प्रहार नहीं कर सकता, अतः इस बाणसे तुम्हारे गतिको नष्ट करूं अथवा तपस्यासे उपार्जित तुम्हारे स्वर्गलोकको नष्ट करूं ? कहो' ॥ ८४ ॥

प्रत्युवाच तमृषिर्न तत्त्वतस्त्वां न वेद्मि पुरुषं पुरातनम् ।
गां गतस्य तव धाम वैष्णवं कोपितो ह्यसि मया दिदृक्षुणा ॥ ८५ ॥

प्रत्युवाचेति । ऋषिर्भार्गवस्तं रामं प्रत्युवाच । किमिति । तत्त्वतः स्वरूपतस्त्वां पुरातनं पुरुषं न वेद्मीति न, किन्तु वेद्म्येवेत्यर्थः । किन्तु गां गतस्य भुवमवतीर्णस्य तव वैष्णवं धाम तेजो दिदृक्षुणा द्रष्टुमिच्छुना मया कोपितो ह्यसि ॥ ८५ ॥

उस (राम) से मुनि (परशुराम) बोले-'वस्तुतः 'तुमको पुरातन पुरुष अर्थात् विष्णु मैं नहीं जानता हूँ' यह बात नहीं है, किन्तु पृथ्वीपर अवतार ग्रहण किये हुए तुम्हारे वैष्णव (विष्णु सम्बन्धी) तेजको देखनेकी इच्छासे मैंने तुम्हें) क्रोधायुक्त किया है ॥ ८५ ॥

भस्मसात्कृतवतः पितृद्विषः पात्रसाच्च वसुधां ससागराम् ।
आहितो जयविपर्ययोऽपि मे श्लाघ्य एव परमेष्ठिना त्वया ॥ ८६ ॥

भस्मसादिति । पितृद्विषः पितृवैरिणो भस्मसात्कृतवतः कोपेन भस्मीकृतवतः । 'विभाषा साति कार्त्स्न्ये' इति सातिप्रत्ययः । ससागरां वसुधां च पात्रसात्पात्राधीनं देयं कृतवतः । 'देये त्रा च' इति चकारात्सातिः । कृतवतश्च मे परमेष्ठिना परमे स्थाने तिष्ठतीति तेन परमपुरुषेण त्वयाऽऽहितः कृतो जयविपर्ययः पराजयोऽपि श्लाघ्यः प्रशस्त एव ॥ ८६ ॥

पिताके शत्रुओं (क्षत्रियों) को भस्म करनेवाले तथा समुद्रसहित भूमिको पात्रोंके अधीन (ब्राह्मणोंको दान) करनेवाले मेरा परमेष्ठी तुम्हारे द्वारा किया गया पराजय भी प्रशंसनीय ही है ॥ ८६ ॥

तद्गतिं मतिमतां वरेप्सितां पुण्यतीर्थगमनाय रक्ष मे ।
पीडयिष्यति न मां खिलीकृता स्वर्गपद्धतिरभोगलोलुपम् ॥ ८७ ॥

तदिति । तत्तस्मात्कारणात् हे मतिमतां वर ! पुण्यतीर्थगमनायाभीप्सितामीप्सितां मे गतिं रक्ष पालय । किन्तु खिलीकृता दुर्गमीकृतापि स्वर्गपद्धतिरभोगलोलुपं भोगानभिलाषुकं मां न पीडयिष्यति । अतस्तामेव जहीत्यर्थः ॥ ८७ ॥

इसलिये हे बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ ! पुण्यतीर्थोंको जानेके लिये मेरी अभिलषित गतिकी रक्षा करो भ्रष्ट (नष्ट) की गयी स्वर्ग-परम्परा भोगमें लोभरहित मुझको दुःखित नहीं करेगी (अतः मेरी गतिको बचाकर मेरे स्वर्गलोकको ही इस बाणसे नष्ट कर दो)' ॥ ८७ ॥

प्रत्यपद्यत तथेति राघवः प्राङ्मुखश्च विससर्ज सायकम् ।
भार्गवस्य सुकृतोऽपि सोऽभवत्स्वर्गमार्गपरिघो दुरत्ययः ॥ ८८ ॥

प्रतीति । राघवस्तथेति प्रत्यपद्यताङ्गीकृतवान् । प्राङ्मुखः पूर्वाभिमुखः सायकं विससर्ज च । स सायकः सुकृतोऽपि साधुकारिणोऽपि । कर्तरि क्विप् । भार्गवस्य दुरत्ययो दुर्गमेन अत्ययो यानो यस्य स दुरत्ययो दुरतिक्रमः स्वर्गमार्गस्य परिघः प्रतिबन्धोऽभवत् ॥ ८८ ॥

रामने 'ऐसा ही हो' ऐसा स्वीकार कर लिया (और) पूर्वकी ओर मुख करके बाणको छोड़ा, वह (बाण) पुण्यकर्ता भी परशुरामके लिये स्वर्ग-मार्गका दुर्लङ्घ्य परिघ (अर्गला—आगल अर्थात् बिल्ली) हो गया ॥ ८८ ॥

राघवोऽपि चरणौ तपोनिधेः क्षम्यतामिति वदन्समस्पृशत् ।
निर्जितेषु तरसा तरस्विनां शत्रुषु प्रणतिरेव कीर्तये ॥ ८९ ॥

राघव इति । राघवोऽपि क्षम्यतामिति वदंस्तपोनिधेर्भार्गवस्य चरणौ समस्पृशत्प्रणनाम । तथा हि, तरस्विना बलवतां तरसा बलेन निर्जितेषु शत्रुषु प्रणतिरेव कीर्तये । भवतीति शेषः ॥ ८९ ॥

'क्षमा कीजिये' ऐसा कहते हुए रामने भी महातपस्वी (परशुरामजी) के दोनों चरणोंको स्पर्श किया (चरणस्पर्शकर प्रणाम किया), क्योंकि बलवानोंके बलसे शत्रुओंके जीत जानेपर (विजेता बलवानोंका नम्र) होना ही कीर्तिके लिये होता है ॥ ८९ ॥

राजसत्वमवधूय मातृकं पित्र्यमस्मि गमितः शमं यदा ।
नन्वनिन्दितफलो मम त्वया निग्रहोऽप्ययमनुग्रहीकृतः ॥ ९० ॥

राजसत्वेति । मातुरागतं मातृकं राजसत्वं रजोगुणप्रधानत्वमवधूय तिरस्कृत्य पितुरागतं पित्र्यं शमं यदा गमितोऽस्मि तदा त्वया ममापेक्षितत्वादनिन्दितमगर्हितं फलं स्वर्गहानिलक्षणं यस्य सोऽयं निग्रहोऽपकारोऽप्यनुग्रहीकृतो ननूपकारीकृतः खलु ॥ ९० ॥

'जब मैं माताके राजसत्व (राजसिक गुण अर्थात् क्षत्रियोचित बल) को तिरस्कृतकर पिताकी शान्ति (ब्राह्मणोचित शान्ति) को प्राप्त कर लिया हूँ, तब तुमसे किया गया अनिन्दित फलवाला (स्वर्गहानिरूप) मेरा यह निग्रह (शासन) भी अनुग्रह (उपकार) ही किया गया है ॥ ९० ॥

पौराणिक वार्ता --सत्यवतीके साथ पुत्र 'च्यवन' ऋषिके विवाह करनेपर 'भृगु' पुत्रवधूको देखने आये । नव वधू-वरके द्वारा श्रद्धा-भक्तिसे पूजित भृगुने पुत्रवधू सत्यवतीसे वर मागनेको कहा तो उसने अपने लिये वेदादिशास्त्रका ज्ञाता तथा माताके लिये अस्त्रशास्त्रका ज्ञाता योद्धा पुत्र होनेका वर मांगा। प्राणायाम करनेके बाद उत्पन्न हुए दो चरुओं को देते हुए'भृगु'ने सत्यवतीसे कहा-यह लाल चरु तुम्हारी माता पीपल वृक्षका आलिङ्गन कर ऋतुकालमें खावे तथा इस श्वेत चरुको गूलरका आलिङ्गनकर तुम ऋतुकालमें खाना । यह सुन प्रसन्नचित्ता सत्यवतीने कान्यकुब्जनरेश 'गाधि'की पत्नी अपनी माताको उक्त चरु देकर पुत्रोत्पादक चरुका महत्त्व बतला दिया, तब उसकी माताने 'अपनी पुत्र-वधूके लिये महर्षिने उत्तम चरु दिया होगा' ऐसा मनमें विचारकर ऋतुकालके समय श्वेत चरु स्वयं खाया तथा लाल चरु कन्या (सत्यवती) को खिलाया । योगबलसे इस परिवर्तित चरुको खानेका वृत्तान्त मालूम कर भगवान् भृगुने पुत्रवधू सत्यवतीसे सब बातें कहते हुए कहा कि इस परिवर्तनसे तुम्हारा पुत्र ब्राह्मण होकर भी अस्त्र-शास्त्रका ज्ञाता योद्धा तथा तुम्हारी माताका पुत्र क्षत्रिय होकर भी वेदादि शास्त्रका ज्ञाता होगा । सत्यवतीने बद्धाञ्जलि होकर इस अपराधकी क्षमायाचना की तो भृगुने कहा—'अस्तु, इसमें परिवर्तन सर्वथा तो नहीं हो सकता किन्तु तुम्हारे पुत्रके बदले पौत्र ब्राह्मण होकर भी क्षत्रियकर्म करने-

ज्ञाता (अस्त्र-शस्त्रका ज्ञाता योद्धा) होगा । उसीके परिणाम स्वरूप राजा गाधिके विश्वामित्र हुए, जो क्षत्रिय होकर भी ब्राह्मणोचित कर्म करनेवाले हुए तथा ऋचीकके पौत्र एवं जमदग्निके पुत्र परशुराम हुए, जो ब्राह्मण होकर भी क्षत्रियोचित अस्त्र-शस्त्रके ज्ञाता महान् वीर योद्धा हुए ।

साधयाम्यहमविघ्नमस्तु ते देवकार्यमुपपादयिष्यतः ।
ऊचिवानिति वचः सलक्ष्मणं लक्ष्मणाग्रजमृषिस्तिरोदधे ॥ ९१ ॥

साधयामीति । अहं साधयामि गच्छामि । धातूनामनेकार्थत्वात् इति । देवकार्यमुपपादयिष्यतः सम्पादयिष्यतस्तेऽविघ्नमस्तु विघ्नाभावोऽस्तु । 'अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धिव्यृद्ध्यर्थाभाव—' इत्यादिनार्थाभावेऽव्ययीभावः । सह लक्ष्मणेन सलक्ष्मणम् । 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इति बहुव्रीहिः । लक्ष्मणाग्रजं राममिति, वच ऊचिवानुक्तवान् । ऋषिः प्रभुः । ऋषिस्तिरोदधेऽन्तर्दधे ॥ ९१ ॥

"मैं जाता हूँ, भविष्यमें देवकार्यको करनेवाले तेरा निर्विघ्न (कल्याण) हो" ऐसा वचन लक्ष्मणके सहित रामसे कहकर मुनि (परशुरामजी) अन्तर्हित हो गये ॥ ९१ ॥

पौराणिक कथा—ब्रह्माके वरदानसे नर-वानरको छोड़कर दूसरेसे अवध्य होनेका वरदान पाकर जब रावण त्रैलोक्यको सताने लगा तब इन्द्रादि देवोंने वैकुण्ठ धाममें विष्णुके शरणमें जाकर उसके वधके लिये स्तुतिपूर्वक प्रार्थना की । तब विष्णुने 'दशरथ राजाके पुत्ररूपमें अवतार लेकर मैं देवकार्य का सम्पादन करूँगा' ऐसा कहकर देवताओं को सान्त्वना दी और स्वयं नररूप रावणको मारनेके लिये धारण किया ।

तस्मिन् गते विजयिनं परिरभ्य रामं
स्नेहादमन्यत पिता पुनरेव जातम् ।
तस्याभवत्क्षणशुचः परितोषलाभः
कक्षाग्निलङ्घिततरोरिव वृष्टिपातः ॥ ९२ ॥

तस्मिन्निति । तस्मिन्भार्गवे गते सति । विजयिनं रामं पिता स्नेहात्परिरभ्यालिङ्ग्य पुनर्जातमेवामन्यत । क्षणं शुग्यस्येति विग्रहः । क्षणशुचस्तस्य दशरथस्य परितोषलाभः सन्तोषप्राप्तिः कक्षाग्निना दावानलेन । 'कक्षा शुष्कवनवीरुधोः' इति विश्वः । लङ्घितस्याभिदग्धस्य तरोर्वृष्टिपातो वर्षपात इव अभवत् ॥ ९२ ॥

उन (परशुराम) के चले जाने पर विजयी रामको स्नेहसे आलिङ्गन कर पिता (दशरथ) ने पुनः उत्पन्न हुएके समान माना । क्षणमात्र शोक करनेवाले उन (दशरथ) को सन्तोषप्राप्ति वन दावाग्निसे पीड़ित वृक्षको वृष्टि होनेके समान हुआ ॥ ९२ ॥

अथ पथि गमयित्वा क्लृप्तरम्योपकार्ये
कतिचिदवनिपालः शर्वरीः शर्वकल्पः ।
पुरमविशदयोध्यां मैथिलीदर्शनीना
कुवलयितगवाक्षां लोचनैरङ्गनानाम् ॥ ९३ ॥

अथेति । अथ ईषदसमाप्तः शर्वः शर्वकल्पः । 'ईषदसमाप्तौ कल्पप्देश्यदेशीयर' इति कल्पप्प्रत्ययः । अवनिपालः दशरथः क्लृप्ता रम्या नवा उपकार्या यस्मिन्स तस्मिन्पथि कतिचिच्छर्वरी रात्रीर्गमयित्वा मैथिलीदर्शनीनामङ्गनानां लोचनैः कुवलयानि येषां सञ्जातानि कुवलयिता । 'तदस्य सञ्जात तारकादिभ्य इतच्' इतीतच्प्रत्ययः । कुवलयिता गवाक्षा यस्यास्तां पुरमयोध्यामविशत्प्रविष्टवान् ॥ ९३ ॥

इति महामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया सञ्जीविनीसमाख्यया व्याख्यया समेतो महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये सीताविवाहवर्णनो नामैकादशः सर्गः ॥ ११ ॥



इसके बाद शिवजीके समान पृथ्वीपति (दशरथ) ने सुन्दर-तम्बू-खेमेवाले मार्गमें कई रातोंको बिताकर सीताको देखनेवाली स्त्रियोंके नेत्रोंसे नील कमलोंसे युक्त किये गये झरोखोंवाली अयोध्यापुरीमें प्रवेश किया ॥ ९३ ॥

यह 'मणिप्रभा' टीकामें 'रघुवंश' महाकाव्यका 'सीताविवाहवर्णन' नामक एकादश सर्ग समाप्त हुआ ॥ ११ ॥



द्वादशः सर्गः ।

वन्दामहे महोद्दण्डदोर्दण्डौ रघुनन्दनौ ।
तेजोनिर्जितमार्तण्डमण्डलौ लोकनन्दनौ ॥

निर्विष्टविषयस्नेहः स दशान्तमुपेयिवान् ।
आसीदासन्ननिर्वाणः प्रदीपार्चिरिवोषसि ॥ १ ॥

निर्विष्टेति । स्नेहयन्ति प्रीणयन्ति पुरुषमिति स्नेहाः । पचाद्यच् । स्निह्यन्ति पुरुषा येष्विति वा स्नेहाः । अधिकरणार्थे घञ् । विषयाः शब्दादयस्त एव स्नेहाः निर्विष्टा भुक्ता विषयस्नेहा येन स तथोक्तः । 'निर्वेशो भृतिभोगयोः' इति विश्वः । दशा जीवनावस्था तस्य अन्तं वार्धकमुपेयिवान् स दशरथः । उषसि प्रदीपार्चिरिव दीपज्वालेव । आसन्नं निर्वाणं मोक्षो यस्य स तथोक्तः आसीत् । अर्चिःपक्षे तु—

विषयो देश आश्रयः । मानसमिति यावत् । 'विषयः स्यादिन्द्रियार्थे देशे जनपदेऽपि च' इति विश्वः । स्नेहस्तैलमिति । 'स्नेहस्तैलादिरसके स्यात्सौहार्देऽपि च' इति विश्वः । दशा वर्तिका । 'दशा वर्त्यामवस्थायाम्' इति विश्वः । निर्वाणं विनाशः । 'निर्वाणं निर्वृतौ मोक्षे विनाशे गजमज्जने' इति यादवः ॥ १ ॥

भोगेच्छ-सुमनस्य राम-जननी पति कहै ।
दीपशिख-मार्तण्ड, भोगदीपक सम तहाँ ॥

रूप-रसादि सकल विषयोंको भोगे हुए तथा अन्तिम अवस्था (बुढ़ापा) को प्राप्त वे राजा (दशरथ) दीपके स्नेह (तैल) का भोग किये (जलाये) हुए तथा बत्ती की अन्तिमावस्थाको प्राप्त प्रातःकालमें दीपककी लौ (ज्वाला) के समान शीघ्र बुझनेवाले (दशरथ पक्षमें—मरनेवाले) थे ॥ १ ॥

तं कर्णमूलमागत्य रामे श्रीर्न्यस्यतामिति ।
कैकेयीशङ्कयेवाह पलितच्छद्मना जरा ॥ २ ॥

तमिति । जरा कैकेयीशङ्कयेव पलितस्य केशादिशौक्ल्यस्य छद्मना मिषेण । 'पलितं जरसा शौक्ल्यं केशादौ विस्रसा जरा' इत्यमरः । कर्णमूलं कर्णोपकण्ठमागत्य रामे श्री राज्यलक्ष्मीर्न्यस्यतां निधीयतामिति तमाह । वृद्धोऽहमिति विचार्य रामस्य यौवराज्याभिषेकं चकम इत्यर्थः ॥ २ ॥

पके हुए बालोंके बहानेसे बुढ़ापेने कैकेयीकी शङ्कासे मानो कानके पास आकर 'रामको राज-लक्ष्मी दे दो' ऐसा कहा । (कर्णप्रान्तमें पके हुए बालोंको देख अपना बुढ़ापा जानकर दशरथने रामको राजलक्ष्मी देना चाहा) ॥ २ ॥

सा पौरान्पौरकान्तस्य रामस्याभ्युदयश्रुतिः ।
प्रत्येकं ह्लादयांचक्रे कुल्येवोद्यानपादपान् ॥ ३ ॥

सेति । सा पौरकान्तस्य रामस्याभ्युदयश्रुतिरभिषेकवार्ता । कुल्या कृत्रिमा सरित् । 'कुल्याल्पा कृत्रिमा सरित्' इत्यमरः । उद्यानपादपानिव पौरान् प्रत्येकं ह्लादयांचक्रे ॥ ३ ॥

नागरिकोंके प्रिय रामकी उन्नति (अभिषेक) की वार्ताने उपवनके वृक्षोंको नहरके समान प्रत्येक नागरिकोंको आह्लादित कर दिया ॥ ३ ॥

तस्याभिषेकसम्भारं कल्पितं क्रूरनिश्चया ।
दूषयामास कैकेयी शोकोष्णैः पार्थिवाश्रुभिः ॥ ४ ॥

तस्येति । क्रूरनिश्चया कैकेयी तस्य रामस्य कल्पितं सम्भृतमभिषेकस्य सम्भा-

श्मुपकरणं शोकोष्णैः पार्थिवाश्रुभिर्दूषयामास । स्वदुःखमूलेन राजशोकेन प्रतिबन्धेत्यर्थः ॥ ४ ॥

क्रूर निश्चयवाली कैकेयीने तैयार किये गये अभिषेक-साधनको शोकसे उष्ण दशरथको आँसुओंसे दूषित कर दिया । (क्रूर विचारवाली कैकेयीके कारण रोते हुए राजाने रामके अभिषेकको रोक दिया) ॥ ४ ॥

सा किलाश्वासिता चण्डी भर्त्रा तत्संश्रुतौ वरौ ।
उद्ववामेन्द्रसिक्ता भूर्बिलमग्नाविवोरगौ ॥ ५ ॥

सेति । चण्डयतिकोपना 'चण्डस्त्वत्यन्तकोपनः' इत्यमरः । सा किल भर्त्राऽऽश्वासिताऽनुनीता सती तेन भर्त्रा संश्रुतौ प्रतिज्ञातौ वरौ । इन्द्रेण मेघेन सिक्ताभिवृष्टा । 'इन्द्रः फणिज्जके सान्द्रे घनकामनयोर्मदौ' इति विश्वः । भूर्बिले वल्मीकादौ मग्नावुरगाविव । उद्ववामोज्जगार ॥ ५ ॥

चण्डी (अतिक्रोधशीला) उस कैकेयीने पतिके आश्वासन देनेपर मेघसे सींची गयी भूमि बिलमें घुसे हुए दो सर्पोंको जिस प्रकार उगल देती है, उसी प्रकार उनके दिये हुए दो वरोंको उगला (मागा) ॥ ५ ॥

तयोश्चतुर्दशैकेन रामं प्राव्राजयत्समाः ।
द्वितीयेन सुतस्यैच्छद्वैधव्यैकफलां श्रियम् ॥ ६ ॥

तयोरिति । सा तयोर्वरयोर्मध्ये एकेन वरेण रामं चतुर्दश समाः सम्वत्सरान् । अत्यन्तसयोगे द्वितीया । प्राव्राजयत्प्रावासयत् । द्वितीयेन वरेण सुतस्य भरतस्य वैधव्यैकफलां स्ववैधव्यमात्रफलाम् । न तूपभोगफलामिति भावः । श्रियमैच्छदियेष ॥

उन (दोनों) वरोंमेंसे एक वरसे रामको चौदह वर्षतक प्रवास (वनवास) दिया और दूसरे वरसे एकमात्र अपना विधवा होना ही जिसका फल है, ऐसी पुत्र (भरत) की राजलक्ष्मीको मागा ॥ ६ ॥

पौराणिक कथा—असुरपीडित इन्द्रके बुलानेसे स्वर्गमें जाकर युद्धमें इन्द्रकी सहायता करते हुए दशरथ असुरोंके बाणोंसे विद्ध होकर मूर्च्छित हो गये, उस समय कैकेयीने—जो युद्ध स्थलमें भी उनके साथ ही थी—उनकी सेवा शुश्रूषा की, उससे प्रसन्न होकर राजा दशरथने कैकेयीसे वर मांगनेके लिए कहा तो उसने 'मैं आपसे दो वर मांगती हूँ, किन्तु जब कभी उन्हें लेना चाहूंगी, आप देनेका वचन दें' ऐसा कैकेयीके कहनेपर दशरथने 'एवमस्तु' कहा । उन्हीं वरोंको कैकेयीने इस समय मन्थराकी प्रेरणासे मांगा । कहीं २ पर राजा दशरथके मूर्च्छित होनेके स्थानमें यह प्रसङ्ग आता है कि असुरोंके साथ युद्ध करते हुए दशरथके रथका धुरा टूट गया तो उस आपत्तिसे कैकेयीने उनको बचाया, जिससे प्रसन्न दशरथने वर मांगनेके लिये कहा । शेष कथा-प्रसङ्ग पूर्ववत ही है ।

पित्रा दत्तां रुदन् रामः प्राङ्महीं प्रत्यपद्यत ।
पश्चाद्वनाय गच्छेति तदाज्ञां मुदितोऽग्रहीत् ॥ ७ ॥

पित्रेति । रामः प्राक् पित्रा दत्तां महीं रुदन् प्रत्यपद्यत स्वीचकार । त्यागस्य दुःखादिति भावः । पश्चाद्वनाय गच्छेत्येवंरूपां तदाज्ञां मुदितोऽग्रहीत् । पित्राज्ञाकरणसम्भवादिति भावः ॥ ७ ॥

रामने पहले पिताके द्वारा दी गयी राज्य-लक्ष्मीको (अपने त्यागके दुःखसे) रोते हुए स्वीकार किये थे, पीछे उनकी 'वनको जाओ' इस आज्ञाको (पिताकी आज्ञाका पालन तथा भरतको राज्यप्राप्तिसे) प्रसन्न होते हुए स्वीकार किया ॥ ७ ॥

दधतो मङ्गलक्षौमे वसानस्य च वल्कले ।
ददृशुर्विस्मितास्तस्य मुखरागं समं जनाः ॥ ८ ॥

दधत इति । मङ्गलक्षौमे—मङ्गले च ते क्षौमे दुकूले च दधतो वल्कले वसानस्याच्छादयतस्तस्य रामस्य समं मुखरागं मुखवर्णं जना विस्मिता ददृशुः । सुखदुःखयोरविकृत इति भावः ॥ ८ ॥

मङ्गलयुक्त क्षौमोंको (पहले) सुन्दर २ रेशमी वस्त्र पहनते हुए (तथा वनमें जाते समय) वल्कल पहनते हुए रामके मुखके वर्ण (भाव या प्रसन्नता) को समान रूपमें देखा । (पहले राज्याभिषेकके लिये सुन्दर २ वस्त्र पहनते-समय तथा वन जानेके लिये वल्कल पहनते समय रामके मुखमें कोई हर्ष या शोकका चिह्न न देखकर लोग आश्चर्यित हो गये) ॥ ८ ॥

स सीतालक्ष्मणसखः सत्याद् गुरुमलोपयन् ।
विवेश दण्डकारण्यं प्रत्येकं च सतां मनः ॥ ९ ॥

स इति । स रामो गुरुं पितरं सत्याद्वचनरूपादलोपयन्नभ्रंशयन् । सीतालक्ष्मणयोः सखेति विग्रहः । ताभ्यां सहितः सन् दण्डकारण्यं दण्डकाख्यमरण्यमार्यकन्यया पुण्यं वनं विवेश । सतां मनश्च प्रत्येकं विवेश । पितृभक्त्या सर्वे सन्तः सन्तुष्टा इति भावः ॥ ९ ॥

पिताको असत्यवादी नहीं करते हुए वे राम सीता और लक्ष्मणके साथ दण्डकारण्यमें तथा प्रत्येक सज्जनोंके चित्तमें प्रविष्ट हुए । (रामकी पितृभक्तिसे सभी सज्जन अत्यन्त प्रसन्न हो गये) ॥ ९ ॥

राजाऽपि तद्वियोगार्तः स्मृत्वा शापं स्वकर्मजम् ।
शरीरत्यागमात्रेण शुद्धिलाभममन्यत ॥ १० ॥

राजेति । तद्वियोगार्तः पुत्रवियोगदुःखितो राजाऽपि स्वकर्मणा मुनिपुत्रवधरूपेण

जातः स्वकर्मस्तं शाप पुत्रशोकज मरणात्मक स्मृत्वा शरीरत्यागमात्रेण देहत्यागेनैव शुद्धिलाभ प्रायश्चित्तममन्यत । मृत इत्यर्थः ॥ १० ॥

इनके वियोगसे दुःखित राजा (दशरथ) ने भी अपने कर्मसे प्राप्त शापको (देखें १०।७१-७९) स्मरणकर एकमात्र शरीरत्याग (मरने) से ही शुद्धिकी प्राप्ति (प्रायश्चित्तके द्वारा शुद्धि) समझा अर्थात् वे मर गये ॥ १० ॥

विप्रोषितकुमारं तद्राज्यमस्तमितेश्वरम् ।
रन्ध्रान्वेषणदक्षाणां द्विषामामिषतां ययौ ॥ ११ ॥

विप्रोषितेति । विप्रोषिता गताः कुमारा यस्मिंस्तत्तथोक्तम् । अस्तमितो मृत ईश्वरो राजा यस्य तत्तथोक्त तद्राज्य रन्ध्रान्वेषणदक्षाणां द्विषां शत्रूणामामिषतां भोग्यवस्तुतां ययौ । 'आमिषं भोग्यवस्तुनि' इति केशव. ॥ ११ ॥

जिस राज्यसे राजकुमार परदेश (राम-लक्ष्मण वनको तथा भरत-शत्रुघ्न नानाके यहां) चले गये हैं और राजा मर गये हैं, ऐसा वह राज्य छिद्रान्वेषी शत्रुओंका भोग-साधन बन गया ॥ ११ ॥

अथानाथाः प्रकृतयो मातृबन्धुनिवासिनम् ।
मौलैरानाययामासुर्भरत स्तम्भिताश्रुभिः ॥ १२ ॥

अथेति । अथानाथाः प्रकृतयोऽमात्याः । 'प्रकृति' सहजे योनावमात्ये परमात्मनि' इति विश्वः । मातृबन्धुषु निवासिन भरत स्तम्भिताश्रुभिः । पितृमरणगुप्त्यर्थमिति भावः । मौलैराप्तैः सचिवैरानाययामासुरागमयाञ्चक्रुः ॥ १२ ॥

इसके बाद अनाथ मन्त्रियोंने मामाके यहां रहते हुए भरतको आँसूको रोके हुए विश्वासपात्र मन्त्रियोंसे बुलवाया ॥ १२ ॥

श्रुत्वा तथाविधं मृत्यु कैकेयीतनयः पितुः ।
मातुर्न केवल स्वस्याः श्रियोऽप्यासीत्पराङ्मुखः ॥ १३ ॥

श्रुत्वेति । कैकेयीतनयो भरत पितुस्तथाविध, रामवियोगादित्यर्थः । स्वमातृमूल मृत्युं मरण श्रुत्वा स्वस्या मातुः केवल मातुरेव पराङ्मुखो न किन्तु श्रियोऽपि पराङ्मुख आसीत् ॥ १३ ॥

कैकेयीपुत्र (भरत) पिताकी उस प्रकार (राम-विरहके कारण) हुई मृत्युको सुनकर केवल अपनी मातासे ही पराङ्मुख नहीं हुए, अपितु राजलक्ष्मीसे भी पराङ्मुख हुए । (भरतने माता तथा राजलक्ष्मी दोनोंका—त्यागकर दिया) ॥ १३ ॥

ससैन्यश्चान्वगाद्रामं दर्शितानाश्रमालयैः।
तस्य पश्यन्ससौमित्रेरुदश्रुर्वसतिद्रुमान्॥ १४॥

ससैन्यमिति। ससैन्यो भरतो राममन्वगात्। किं कुर्वन्। आश्रमालयैर्वैखानसैर्मुनिभिर्दर्शितानेते रामनिवासा इति कथितान् ससौमित्रेर्लक्ष्मणसहितस्य तस्य रामस्य वसतिद्रुमान्निवासवृक्षान् पश्यन्नुदश्रुरुद्गतबाष्पो बभूव॥ १४॥

सेनासहित (भरतने) आश्रमवासियों (मुनियों) से बतलाये गये लक्ष्मण-सहित रामके निवासभूत वृक्षोंको देखते एवं रोते हुए रामका अनुगमन किया॥ १४॥

चित्रकूटवनस्थं च कथितस्वर्गतिर्गुरोः।
लक्ष्म्या निमन्त्रयाञ्चक्रे तमनुच्छिष्टसम्पदा॥ १५॥

चित्रकूटेति। चित्रकूटवनस्थं तं रामं च गुरोः पितुः कथितस्वर्गतिः, कथितपितृमरणः सन्नित्यर्थः। अनुच्छिष्टयाननुभूतपूर्वया सम्पदा गुणोत्कर्षेण युक्तया सा।, 'सम्पद् भूतौ गुणोत्कर्षे' इति केशवः। तया लक्ष्म्या करणेन निमन्त्रयाञ्चक्रे आहूतवान्, राज्यमनुभवेत्याहूतवानित्यर्थः॥ १५॥

चित्रकूटके वनमें निवास करते हुए रामसे पिताकी मृत्युका हाल कहकर भरतने बिना भोगी हुई राज्यलक्ष्मीसे रामको निमन्त्रित किया। ('राज्यलक्ष्मीको मैं स्वीकार नहीं करूंगा अतः आप स्वीकार करके भोग कीजिये। ऐसी रामसे प्रार्थना की)॥ १५॥

स हि प्रथमजे तस्मिन्नकृतश्रीपरिग्रहे।
परिवेत्तारमात्मानं मेने स्वीकरणाद्भुवः॥ १६॥

स इति। स हि भरतः प्रथमजेऽग्रजे तस्मिन् रामेऽकृतश्रीपरिग्रहे सति स्वयं भुवः स्वीकरणादात्मानं परिवेत्तारं मेने। 'परिवेत्तानुजोऽनूढे ज्येष्ठे दारपरिग्रहात्' इत्यमरः। भूपरिग्रहोऽपि दारपरिग्रहसम इति भावः॥ १६॥

वह भरतने बड़े भाई रामकी राज्यलक्ष्मीको स्वीकार नहीं करनेपर पहले स्वयं राज्यलक्ष्मीको स्वीकार करनेवाले अपनेको 'परिवेत्ता' माना। (बड़े भाईके अविवाहित रहते विवाह करनेवाले छोटे भाईको 'परिवेत्ता' कहते हैं यह विवाह शास्त्रनिषिद्ध है, क्योंकि स्त्री-परिग्रहके समान भूमि (राज्यलक्ष्मी) का परिग्रह भी माना गया है॥ १६॥

तमशक्यमपाक्रष्टुं निदेशात्स्वर्गिणः पितुः।
ययाचे पादुके पश्चात्कर्तुं राज्याधिदेवते॥ १७॥

तमिति। स्वर्गिणः स्वर्गतस्य पितुर्निदेशादाज्ञायाः सकाशादपाक्रष्टुं निवर्तयितुमशक्यं तं रामं पश्चाद्राज्याधिदेवते स्वामिन्यौ कर्तुं पादुके ययाचे॥ १७॥

स्वर्गीय पिताकी आज्ञासे पृथक् करनेके लिये (पिताकी आज्ञा तोड़कर राजलक्ष्मीको स्वीकृत करनेके लिये) असमर्थ रामसे बादमें राज्यकी अधिष्ठात्री देवता बनानेके लिये उनकी खड़ाऊंको मांगा ॥ १७ ॥

स विसृष्टस्तथेत्युक्त्वा भ्रात्रा नैवाविशत्पुरीम्।
नन्दिग्रामगतस्तस्य राज्यं न्यासमिवाभुनक् ॥ १८ ॥

स इति। स भरतो भ्रात्रा रामेण तथेत्युक्त्वा विसृष्टः सन् पुरीमयोध्यां नाविशदेव। किन्तु नन्दिग्रामगतः सस्तस्य रामस्य राज्यं न्यासमिव निक्षेपमिवाभुनगपालयत्, न तूपभुक्तवानित्यर्थः। अन्यथा 'भुजोऽनवने' इत्यात्मनेपदप्रसङ्गात्। भुजेर्लङ् ॥ १८ ॥

'अच्छा वैसा ही हो' यह कहकर (राज्याधिष्ठात्री देवता बनानेके लिये अपनी खराऊं देकर) भाई रामसे लौटाये गये भरत अयोध्या पुरीमें प्रवेश नहीं किये, किन्तु नन्दिग्राममें रहते हुए (वे भरत) धरोहरके समान रामके राज्यका पालन किया ॥ १८ ॥

दृढभक्तिरिति ज्येष्ठे राज्यतृष्णापराङ्मुखः।
मातुः पापस्य भरतः प्रायश्चित्तमिवाकरोत् ॥ १९ ॥

दृढेति। ज्येष्ठे दृढभक्ती राज्यतृष्णापराङ्मुखो भरत इति पूर्वोक्तानुष्ठानेन मातुः पापस्य प्रायश्चित्तं तदपनोदकं कर्माकरोदिव इत्युत्प्रेक्षा। दृढभक्तिरित्यत्र दृढशब्दस्य 'स्त्रियाः पुंवत्-' इत्यादिना पुंवद्भावो दुर्घटः। 'अप्रियादिषु' इति निषेधात्। भक्तिशब्दस्य प्रियादिषु पाठात्। अतो दृढं भक्तिरस्येति नपुंसकपूर्वपदो बहुव्रीहिरिति गणव्याख्याने दृढभक्तिरित्येवमादिषु पूर्वपदस्य नपुंसकस्य विवक्षितत्वात्सिद्धमिति समाधेयम्। वृत्तिकारश्च—दीर्घनिवृत्तिमात्रपरो दृढभक्तिशब्दो लिङ्गविशेषस्यानुपकारत्वात् स्त्रीत्वमविवक्षितमेव, तस्मादस्त्रीलिङ्गत्वाद्दृढभक्तिशब्दस्यायं प्रयोग इत्यभिप्रायः। न्यासकारोऽप्येवम्। भोजराजस्तु-कर्मसाधनस्यैव भक्तिशब्दस्य प्रियादिपाठाद्भवानीभक्तिरित्यादौ कर्मसाधनत्वात् पुंवद्भावप्रतिषेधः। दृढभक्तिरित्यादौ भावसाधनत्वात् पुंवद्भावसिद्धिः पूर्वपदस्येत्याह ॥ १९ ॥

बड़े (भाई राम) में अटल भक्तिवाले तथा राज्यकी तृष्णासे विमुख भरत मानो माता के पापका प्रायश्चित्त करने लगे ॥ १९ ॥

रामोऽपि सह वैदेह्या वने वन्येन वर्तयन्।
चचार सानुजः शान्तो वृद्धेक्ष्वाकुव्रतं युवा ॥ २० ॥

राम इति। सानुजः सलक्ष्मणः शान्तो रामोऽपि वैदेह्या सह वने वन्येन वन-

ससैन्यश्चान्वगाद्रामं दर्शितानाश्रमालयैः ।
तस्य पश्यन्ससौमित्रेरुदश्रुर्वसतिद्रुमान् ॥ १४ ॥

ससैन्यमिति । ससैन्यो भरतो राममन्वगच्छत् । किं कुर्वन् । आश्रमालयैर्वैखानसैर्मुनिभिर्दर्शितानेते रामनिवासा इति कथितान् ससौमित्रेर्लक्ष्मणसहितस्य तस्य रामस्य वसतिद्रुमान्निवासवृक्षान् पश्यन्नुदश्रुरुद्गतबाष्पः सन् ॥ १४ ॥

सेनासहित (भरतने) आश्रमवासियों (मुनियों) से बतलाये गये लक्ष्मण-सहित रामके निवासभूत वृक्षोंको देखते एवं रोते हुए रामका अनुगमन किया ॥ १४ ॥

चित्रकूटवनस्थं च कथितस्वर्गतिर्गुरोः ।
लक्ष्म्या निमन्त्रयाञ्चक्रे तमनुच्छिष्टसम्पदा ॥ १५ ॥

चित्रकूटेति । चित्रकूटवनस्थं तं रामं च गुरोः पितुः कथितस्वर्गतिः, कथितपितृमरणः सन्नित्यर्थः । अनुच्छिष्टाननुभूतभोगा सम्पत् गुणोत्कर्षो यस्याः सा । 'सम्पद् स्त्री गुणोत्कर्षे' इति केशवः । तया लक्ष्म्या करणेन निमन्त्रयाञ्चक्रे आहूतवान् राज्यमनुभवेत्याहूतवानित्यर्थः ॥ १५ ॥

चित्रकूटके वनमें निवास करते हुए रामसे पिताकी मृत्युका हाल कहकर भरतने बिना भोगी हुई राजलक्ष्मीसे रामको निमन्त्रित किया । (राजलक्ष्मीको मैं स्वीकार नहीं करूँगा अतः आप लौटकर इसका भोग कीजिये । ऐसी रामसे प्रार्थना की) ॥ १५ ॥

स हि प्रथमजे तस्मिन्नकृतश्रीपरिग्रहे ।
परिवेत्तारमात्मानं मेने स्वीकरणाद्भुवः ॥ १६ ॥

स इति । स हि भरतः प्रथमजेऽग्रजे तस्मिन् रामेऽकृतश्रीपरिग्रहे सति स्वयं भुवः स्वीकरणादात्मानं परिवेत्तारं मेने । 'परिवेत्तानुजोऽनूढे ज्येष्ठे दारपरिग्रहात्' इत्यमरः । भूपरिग्रहोऽपि दारपरिग्रहसम इति भावः ॥ १६ ॥

तब भरतने बड़े भाई रामके राजलक्ष्मीका स्वीकार नहीं करनेपर पहले स्वयं राजलक्ष्मीको स्वीकार करनेवाले अपनेको 'परिवेत्ता' माना । (बड़े भाईके अविवाहित रहते विवाह करनेवाले छोटे भाईको 'परिवेत्ता' कहते हैं यह विवाह शास्त्र-विरुद्ध है, क्योंकि स्त्री-परिग्रहके समान भूमि (राजलक्ष्मी) का परिग्रह भी माना गया है ॥ १६ ॥

तमशक्यमपाक्रष्टुं निदेशात्स्वर्गिणः पितुः ।
ययाचे पादुके पश्चात्कर्तुं राज्याधिदेवते ॥ १७ ॥

तमिति । स्वर्गिणः स्वर्गतस्य पितुर्निदेशादाज्ञयापाक्रष्टुं निवर्तयितुमशक्यं तं रामं पश्चाद्राज्याधिदेवते स्वामिन्यौ कर्तुं पादुके ययाचे ॥ १७ ॥

(रामबाणके अमोघ होनेसे अपनी एक आंखको उसके द्वारा नष्ट कराकर) उस बाणसे अपनेको छुड़ाया ॥ २३ ॥

रामस्त्वासन्नदेशत्वाद् भरतागमनं पुनः ।
आशङ्क्योत्सुकसारङ्गां चित्रकूटस्थलीं जहौ ॥ २४ ॥

राम इति । रामस्त्वासन्नदेशत्वाद्धेतोः पुनर्भरतागमनमाशङ्क्योत्सुकसारङ्गामुत्कण्ठितहरिणां चित्रकूटस्थलीं जहौ तत्याज । आसन्नश्चासौ देशश्चेति विग्रहः ॥ २४ ॥

रामने समीप होनेसे फिर भरतके आनेकी आशङ्काकर (भावी राम-विरहसे) उत्कण्ठित हिरणोंवाली चित्रकूट भूमिको छोड दिया ॥ २४ ॥

प्रययावातिथेयेषु वसन् ऋषिकुलेषु सः ।
दक्षिणां दिशमृक्षेषु वार्षिकेष्विव भास्करः ॥ २५ ॥

प्रययाविति । स रामः अतिथिषु साधून्यातिथेयानि । 'पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ्' इति ढञ्प्रत्ययः । तेष्वृषिकुलेष्वृष्याश्रमेषु । 'कुलं कुल्ये गणे देहे गेहे जनपदेऽन्वये' इति हैमः । वर्षासु भवानि वार्षिकाणि । 'वर्षाभ्यष्ठक्' इति ठक्प्रत्ययः । तेष्वृक्षेषु नक्षत्रेषु राशिषु वा भास्कर इव वसन् दक्षिणां दिशं प्रययौ ॥ २५ ॥

वे राम अतिथियोंमें सद्व्यवहार करनेवाले, ऋषियोंके आश्रमोंमें रहते हुए उस प्रकार दक्षिण दिशाको गये, जिस प्रकार सूर्य वर्षाके नक्षत्रों (आर्द्रा आदि) में दक्षिण दिशाको जाते हैं अर्थात् दक्षिणायन होते हैं ॥ २५ ॥

बभौ तमनुगच्छन्ती विदेहाधिपतेः सुता ।
प्रतिषिद्धापि कैकेय्या लक्ष्मीरिव गुणोन्मुखी ॥ २६ ॥

बभाविति । तं राममनुगच्छन्ती अनुयान्ती विदेहाधिपतेः सुता सीता कैकेय्या प्रतिषिद्धा निवारिताऽपि गुणोन्मुखी गुणोत्सुका लक्ष्मी राजलक्ष्मीरिव बभौ ॥ २६ ॥

उस रामके पीछे चलती हुई जनकनन्दिनी सीता, कैकेयीके मना करनेपर (रामके) गुणोंमें उत्कण्ठित (अत एव रामके पीछे २ चलती हुई) राज-लक्ष्मीके समान शोभायमान होती थी ॥ २६ ॥

अनुसूयातिसृष्टेन पुण्यगन्धेन काननम् ।
सा चकाराङ्गरागेण पुष्पोच्चलितषट्पदम् ॥ २७ ॥

अनुसूयेति । सा सीताऽनुसूययाऽत्रिभार्ययाऽतिसृष्टेन दत्तेन पुण्यगन्धेनाङ्गरागेण काननं वनं पुष्पेभ्य उच्चलिता निर्गताः षट्पदा भ्रमरा यस्मिंस्तत्तथाभूतं चकार ॥२७॥

उस सीताने अनुसूया (अत्रि ऋषिकी पत्नी) के दिये हुए पवित्र (श्रेष्ठ) गन्धवाले

वन्येन वन्यमूलादिना। वर्तयन् इति कुर्वन्। वृद्धेक्ष्वाकूणां व्रतं वानप्रस्थाश्रमं युवा यौवनस्थ एव चचार॥ २०॥

रामने भी सीताके साथ वन्य (वनमें होनेवाले कन्द मूल, फल इत्यादि आदि) से जीवन-निर्वाह करते हुए और शान्त रहते हुए युवावस्थामें ही छोटे भाई (लक्ष्मण) के साथ वृद्ध इक्ष्वाकुवंशियोंके व्रतका पालन किया॥ २०॥

> प्रभावस्तम्भितच्छायमाश्रितः स वनस्पतिम्।
> कदाचिदङ्के सीतायाः शिश्ये किंचिदिव श्रमात्॥ २१॥

प्रभावेति। स रामः कदाचित्प्रभावेण स्वमहिम्ना स्तम्भिता स्थिरीकृता छाया यस्य तं वनस्पतिमाश्रितः सन्। किंचिदीषच्छ्रमादिव सीताया अङ्के उत्सङ्गे शिश्ये सुष्वाप॥ २१॥

वह रामने किसी समय (रामके) प्रभावसे स्थिर छायावाले वनस्पति (वृक्ष) का आश्रयकर और किसी समय मानों कुछ थकावटसे सीताकी गोदमें शयन किया॥ २१॥

> ऐन्द्रिः किल नखैस्तस्या विददार स्तनौ द्विजः।
> प्रियोपभोगचिह्नेषु पौरोभाग्यमिवाचरन्॥ २२॥

ऐन्द्रिरिति। ऐन्द्रिरिन्द्रस्य पुत्रो द्विजः पक्षी काकः। 'ऐन्द्रिः काकजयन्तयोः' इति विश्वः। तस्याः सीतायाः स्तनौ। प्रियस्य रामस्योपभोगचिह्नेषु नखक्षतादिषु विषये। पुरोभागिनो दोषैकदर्शिनः कर्म पौरोभाग्यम्। 'दोषैकदृक्पुरोभागी' इत्यमरः। दूषयिष्यन्दोषमात्रमाचरन्निव नखैर्विददार विलिलेख। किलेत्यैतिह्ये॥

पक्षी (काकरूपको धारण किया हुआ) इन्द्रपुत्र (जयन्त) ने सीताके स्तनोंको, रामके उपभोगके (नखक्षतरूप) चिह्नोंमें दोष दिखलाते हुएके समान नखोंसे विदीर्ण कर दिया। (कौवेका रूप धारणकर नखोंसे सीताके स्तनोंपर प्रहार किया)॥ २२॥

> तस्मिन्नास्थदिषीकास्त्रं रामो रामावबोधितः।
> आत्मानं मुमुचे तस्मादेकनेत्रव्ययेन सः॥ २३॥

तस्मिन्निति। रामया सीतयावबोधितो रामस्तस्मिन्काके इषीकामेवास्त्रमास्थत्। 'इषीका काशमुच्यते' इति हलायुधः। आस्थदक्षिपत्। 'असु क्षेपणे' इति धातोर्लुङ्। 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' इत्यङ्प्रत्ययः। 'अस्यतेस्थुक्' इति थुगागमः। स काक एकनेत्रस्य व्ययेन दानेन तस्मादस्त्रादात्मानं मुमुचे मुक्तवान्। मुचेः कर्तरि लिट्। 'भेजे मुमोच' इतिवत्प्रयोगः॥ २३॥

फिर सीतासे इस बातको जानकर रामने उस (काकरूपी इन्द्रपुत्र जयन्त) पर 'काश' नामक तृण-विशेषके बाणको चलाया और वह (जयन्त) एक आँखको देकर

(रामबाणके अमोघ होनेसे अपनी एक आंखको उसके द्वारा नष्ट कराकर) उस बाणसे अपनेको छुड़ाया ॥ २३ ॥

रामस्त्वासन्नदेशत्वाद् भरतागमनं पुनः ।
आशङ्क्योत्सुकसारङ्गां चित्रकूटस्थलीं जहौ ॥ २४ ॥

राम इति । रामस्त्वासन्नदेशत्वाद्धेतोः पुनर्भरतागमनमाशङ्क्योत्सुकसारङ्गामुत्कण्ठितहरिणां चित्रकूटस्थलीं जहौ तत्याज । आसन्नश्चासौ देशश्चेति विग्रहः ॥ २४ ॥

रामने समीप होनेसे फिर भरतके आनेकी आशङ्काकर (भावी राम-विरहसे) उत्कण्ठित हिरणोंवाली चित्रकूट भूमिको छोड़ दिया ॥ २४ ॥

प्रययावातिथेयेषु वसन् ऋषिकुलेषु सः ।
दक्षिणां दिशमृक्षेषु वार्षिकेष्विव भास्करः ॥ २५ ॥

प्रययाविति । स रामः अतिथिषु साधून्यातिथेयानि । 'पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ्' इति ढञ्प्रत्ययः । तेष्वृषिकुलेष्वृष्याश्रमेषु । 'कुलं कुल्ये गणे देहे गेहे जनपदेऽन्वये' इति हैमः । वर्षासु भवानि वार्षिकाणि । 'वर्षाभ्यष्ठक्' इति ठक्प्रत्ययः । तेष्वृक्षेषु नक्षत्रेषु राशिषु वा भास्कर इव वसन् दक्षिणां दिशं प्रययौ ॥ २५ ॥

वे राम अतिथियोंमें सद्व्यवहार करनेवाले, ऋषियोंके आश्रमोंमें रहते हुए उस प्रकार दक्षिण दिशाको गये, जिस प्रकार सूर्य वर्षाके नक्षत्रों (आर्द्रा आदि) में दक्षिण दिशाको जाते हैं अर्थात् दक्षिणायन होते हैं ॥ २५ ॥

बभौ तमनुगच्छन्ती विदेहाधिपतेः सुता ।
प्रतिषिद्धापि कैकेय्या लक्ष्मीरिव गुणोन्मुखी ॥ २६ ॥

बभाविति । तं राममनुगच्छन्ती अनुयान्ती विदेहाधिपतेः सुता सीता कैकेय्या प्रतिषिद्धा निवारिताऽपि गुणोन्मुखी गुणोत्सुका लक्ष्मी राजलक्ष्मीरिव बभौ ॥ २६ ॥

उस रामके पीछे चलती हुई जनकनन्दिनी सीता, कैकेयीके मना करनेपर (रामके) गुणोंमें उत्कण्ठित (अत एव रामके पीछे २ चलती हुई) राज-लक्ष्मीके समान शोभायमान होती थी ॥ २६ ॥

अनुसूयातिसृष्टेन पुण्यगन्धेन काननम् ।
सा चकाराङ्गरागेण पुष्पोच्चलितषट्पदम् ॥ २७ ॥

अनुसूयेति । सा सीताऽनुसूययाऽत्रिभार्ययाऽतिसृष्टेन दत्तेन पुण्यगन्धेनाङ्गरागेण काननं वनं पुष्पेभ्य उच्चलिता निर्गताः षट्पदा भ्रमरा यस्मिंस्तत्तथाभूतं चकार ॥२७॥

उस सीताने अनुसूया (अत्रि ऋषिकी पत्नी) के दिये हुए पवित्र (श्रेष्ठ) गन्धवाले

कहरमिठ उस पवनने पुष्पोंसे भरे हुए भ्रमरोंसे युक्त कर दिया (पुष्पोंको छोड़कर भ्रमर अधिक सुगन्धि सीताके कहराव पर जाने लगे) ॥ २७ ॥

सन्ध्याभ्रकपिशस्तस्य विराधो नाम राक्षसः ।
अतिष्ठन्मार्गमावृत्य रामस्येन्दोरिव ग्रहः ॥ २८ ॥

सन्ध्येति । सन्ध्याभ्रकपिशः सन्ध्याभ्रवत्कपिशः पिङ्गो विराधो नाम राक्षसः ग्रहो राहुरिन्दोरिव । तस्य रामस्य मार्गमध्वानमावृत्याच्छाद्यातिष्ठत् ॥ २८ ॥

सायंकालके बादलके समान पिङ्गल (लाल–पीला) वर्ण वाला विराध नामक राक्षस चन्द्रमाके मार्गको रोके हुए राहुके समान उस रामके मार्गको रोककर खड़ा हो गया ॥ २८ ॥

स जहार तयोर्मध्ये मैथिलीं लोकशोषणः ।
नभोनभस्ययोर्वृष्टिमवग्रह इवान्तरे ॥ २९ ॥

स इति । लोकस्य शोषणः शोषकः, जगत्सन्तापकारीत्यर्थः । स राक्षसस्तयो रामलक्ष्मणयोर्मध्ये मैथिलीम् । नभोनभस्ययोः श्रावणभाद्रपदयोरन्तरे मध्ये वृष्टिमवग्रहो वर्षप्रतिबन्ध इव जहार । 'वृष्टिर्वर्षं तद्विघातेऽवग्राहावग्रहौ समौ' इत्यमरः ॥ २९ ॥

संसारको सन्तप्त करनेवाला वह विराध उन दोनोंके बीचसे सीताको उस प्रकार हरण कर लिया जिस प्रकार श्रावण तथा भादो महीनोंके मध्यमें वर्षाको सूखा (वृष्टिका अभाव) हरण कर लेता है ॥ २९ ॥

तं विनिष्पिष्य काकुत्स्थौ पुरा दूषयति स्थलीम् ।
गन्धेनाशुचिना चेति वसुधायां निचख्नतुः ॥ ३० ॥

तमिति । ककुत्स्थस्य गोत्रापत्ये पुमांसौ काकुत्स्थौ रामलक्ष्मणौ तं विराधं विनिष्पिष्य हत्वा । अशुचिनाऽपवित्रेण गन्धेन स्थलीमाश्रमभुवं पुरा दूषयति दूषयिष्यतीति हेतोः । 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्' इति भविष्यदर्थे लट् । वसुधायां निचख्नतुः भूमौ खनित्वा निक्षिप्तवन्तौ च ॥ ३० ॥

राम और लक्ष्मणने उसे मारकर 'यह दुर्गन्धसे वनकी भूमिको दूषित कर देगा' ऐसा विचारकर उसे भूमिमें गाड़ दिया ॥ ३० ॥

पञ्चवट्यां ततो रामः शासनात्कुम्भजन्मनः ।
अनपोढस्थितिस्तस्थौ विन्ध्याद्रिः प्रकृताविव ॥ ३१ ॥

पञ्चवट्यामिति । ततो रामः कुम्भजन्मनोऽगस्त्यस्य शासनात् । पञ्चानां वटानां समाहारः पञ्चवटी । 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इति समासः । 'संख्यापूर्वो द्विगुः' इति द्विगुसंज्ञायाम् । 'द्विगोः' इति ङीप् । 'द्विगुरेकवचनम्' इत्येकवचनम् ।

तस्यां पञ्चवट्याम्। विन्ध्याद्रिः प्रकृतौ वृद्धेः पूर्वावस्थायामिव। अनपोढस्थितिरनतिक्रान्तमर्यादस्तस्थौ ॥ ३१ ॥

इसके बाद राम अगस्त्यजीके कहनेसे मर्यादाको नहीं छोड़ते हुए पञ्चवटीमें उस प्रकार रहने लगे, जिस प्रकार विन्ध्यपर्वत अगस्त्यके कहनेसे अपनी प्रकृति (पूर्वावस्था) में रहता है ॥ ३१ ॥

रावणावरजा तत्र राघवं मदनातुरा।
अभिपेदे निदाघार्ता व्यालीव मलयद्रुमम् ॥ ३२ ॥

रावणेति। तत्र पञ्चवट्यां मदनातुरा रावणावरजा रावणानुजा शूर्पणखा। 'पूर्वपदात् संज्ञायामगः' इति णत्वम्। राघवम्, निदाघार्ता घर्मतप्ता व्याकुला व्याली भुजङ्गी मलयद्रुमं चन्दनद्रुममिव। अभिपेदे प्राप ॥ ३२ ॥

वहां पर रावणकी कामपीडित छोटी बहन (शूर्पनखा), चन्दन वृक्षको ग्रीष्मसे पीडित सर्पिणीके समान रामचन्द्रको प्राप्त हुई। (रामके पास आयी) ॥ ३२ ॥

सा सीतासन्निधावेव तं वव्रे कथितान्वया।
अत्यारूढो हि नारीणामकालज्ञो मनोभवः ॥ ३३ ॥

सेति। सा शूर्पणखा सीतासन्निधावेव कथितान्वया कथितस्ववंशा सती तं रामं वव्रे वृतवती। तथा हि अत्यारूढोऽतिप्रवृद्धो नारीणां मनोभवः कामः कालज्ञोऽवसरज्ञो न भवतीत्यकालज्ञो अनवसरज्ञो हि ॥ ३३ ॥

उस (शूर्पनखा) ने सीताके सामने ही अपने कुलको बताकर रामको वरण किया। बहुत बढा हुआ स्त्रियोंका काम समयको नहीं पहचानता है ॥ ३३ ॥

कलत्रवानहं बाले ! कनीयांसं भजस्व मे।
इति रामो वृषस्यन्तीं वृषस्कन्धः शशास ताम् ॥ ३४ ॥

कलत्रेति। वृषः पुमान्। 'वृषः स्याद्वासवे धर्मे सौरभेये च शुक्रले। पुराशिभेदयो श्रङ्ग्यां मूषकश्रेष्ठयोरपि' ॥ इति विश्वः। वृषं पुरुषमात्मार्थमिच्छतीति वृषस्यन्ती कामुकी। 'वृषस्यन्ती तु कामुकी' इत्यमरः। 'सुप आत्मनः क्यच्' इति क्यच्प्रत्ययः। 'अश्वक्षीरवृष-लवणानामात्मप्रीतौ क्यचि' इत्यसुगागमः। ततो लटः शत्रादेशः। 'उगितश्च' इति ङीप्। श्लोकार्थस्तु—वृषस्कन्धो रामो वृषस्यन्तीं तां राक्षसीम्। हे बाले! अहं कलत्रवान्, मे कनीयांसं कनिष्ठं भजस्व इति शशासाज्ञापितवान् ॥ ३४ ॥

वृषके समान स्कन्धवाले रामने 'हे बाले! मैं स्त्रीयुक्त हूँ, मेरे छोटे भाईके पास जाओ' इस प्रकार अतिमैथुनेच्छावाली उस (शूर्पनखा) से कहा ॥ ३४ ॥

ज्येष्ठाभिगमनात्पूर्वं तेनाप्यनभिनन्दिता ।
साऽभूद्रामाश्रया भूयो नदीवोभयकूलभाक् ॥ ३५ ॥

ज्येष्ठेति । पूर्वं ज्येष्ठाभिगमनात्तेन लक्ष्मणेनाप्यनभिनन्दिता नाङ्गीकृता भूयो रामाश्रया रामसमीपं पुनरागच्छन्ती सा राक्षसी । उभे कूले भजतीत्युभयकूलभाक् नदीवाभूत् । सा हि वाताघाताभ्यां पर्यायेण कूलद्वयगामिनी भवतीत्यर्थः ॥

पहले बड़े भाईके पास जानेके कारण उस (लक्ष्मण) से स्वीकार नहीं करने पर फिर रामके पास जाते हुए वो दोनोंको आश्रय करनेवाली नदीके समान हुई ॥ ३५ ॥

सरम्भं मैथिलीहासः क्षणसौम्यां निनाय ताम् ।
निवातस्तिमितां वेलां चन्द्रोदय इवोदधेः ॥ ३६ ॥

सरम्भमिति । मैथिलीहासः क्षणं सौम्यां सौम्याकारां तां राक्षसीम् । निवातेन स्तिमितां निश्चलामुदधेर्वेलामम्बुविकृतिमिव चन्द्रोदय इवेत्यर्थः । 'अब्ध्यम्बुविकृतौ वेला' इत्यमरः । चन्द्रोदय इव । संरम्भं संक्षोभं निनाय ॥ ३६ ॥

सीताकी हंसीने क्षणमात्रके लिये सुन्दरी बनी हुई (किन्तु राक्षसी होनेके कारण सर्वदा भयङ्कर रूपवाली) उस राक्षसीको वायुके अभावसे शान्त समुद्रतटको चन्द्रमाके समान संक्षुब्ध कर दिया ॥ ३६ ॥

फलमस्योपहासस्य सद्यः प्राप्स्यसि पश्य माम् ।
मृग्याः परिभवो व्याघ्र्यामित्यवेहि त्वया कृतम् ॥ ३७ ॥

फलमिति । सकोपमुपेत्याह । अस्योपहासस्य फलं सद्यः तत्क्षणमेव प्राप्स्यसि । मां पश्य । त्वया कर्त्री कृतमुपहासकर्म व्याघ्र्यां विषये मृग्याः कर्त्र्याः परिभव इत्यवेहि ॥ ३७ ॥

"इस उपहास (मजाक) का फल शीघ्र पाओगी तुम मुझे देखो। तुमसे किया गया यह उपहास व्याघ्रीके विषयमें मृगी द्वारा किया गया तिरस्कार है यह समझो। (जिस प्रकार व्याघ्रीका तिरस्कार करनेवाली मृगीका कुशल नहीं होता, उसी प्रकार मेरे द्वारा किये गये उपहासका तुरत फल भी शीघ्र ही तुम्हें मिलेगा)" ॥ ३७ ॥

इत्युक्त्वा मैथिलीं भर्तुरङ्के निविशतीं भयात् ।
रूपं शूर्पणखा नाम्नः सदृशं प्रत्यपद्यत ॥ ३८ ॥

इतीति । भयाद्भर्तुरङ्के निविशतीमालिङ्गन्तीं मैथिलीमित्युक्त्वा शूर्पणखा नाम्नः सदृशम्, शूर्पाकारनखयुक्तमित्यर्थः । रूपमाकारं प्रत्यपद्यत स्वीचकार, दधारेत्यर्थः ॥ ३८ ॥

भयसे पति (राम) की गोदमें छिपती हुई सीतासे ऐसा कहकर शूर्पनखाने नामके समान (भयङ्कर) रूप धारण कर लिया ॥ ३८ ॥

लक्ष्मणः प्रथमं श्रुत्वा कोकिलामञ्जुवादिनीम्।
शिवाघोरस्वनां पश्चाद् बुबुधे विकृतेति ताम् ॥ ३९ ॥

लक्ष्मण इति। लक्ष्मणः प्रथमं कोकिलावन्मञ्जुवादिनीं पश्चाच्छिवावद्घोरस्वनां जम्बुकीभीषणरवां तां शूर्पणखां श्रुत्वा, तस्याः स्वनं श्रुत्वेत्यर्थः। सुस्वनः शङ्खः श्रूयते इतिवत्प्रयोगः। विकृता मायाविनीति बुबुधे बुद्धवान्। कर्तरि लिट् ॥ ३९ ॥

लक्ष्मणने पहले कोकिलके समान मधुर बोलनेवाली तथा बादमें स्यारिन (शृगाली) के समान भयङ्कर स्वरवाली उस (के शब्द) को सुनकर 'यह मायाविनी है' ऐसा जाना ॥३९॥

पर्णशालामथ क्षिप्रं विकृष्टासिः प्रविश्य सः।
वैरूप्यपौनरुक्त्येन भीषणां तामयोजयत् ॥ ४० ॥

पर्णशालामिति। अथ स लक्ष्मणो विकृष्टासिः कोशोद्धृतखड्गः सन् क्षिप्रं पर्णशालां प्रविश्य। भीषयतीति भीषणाम्। नन्द्यादित्वाल्ल्युट् कर्तरि। तां राक्षसीं कर्णनासादिच्छेदाद्यद्वैरूप्यं तस्य वैरूप्यस्य पौनरुक्त्यं द्वैगुण्यं लक्षणया। तेनायोजयद्योजितवान्। स्वभावत एव विकृतां तां कर्णादिच्छेदेन पुनरतिविकृतामकरोदित्यर्थः ॥४०॥

इसके बाद वह लक्ष्मण (म्यानसे) तलवारको खैंचे हुए, झट पर्णकुटीमें घुसकर भयङ्कर रूपवाली उस (शूर्पनखा) को कुरूपकी पुनरुक्तिसे युक्त कर दिया अर्थात् राक्षसी होनेके कारण पहलेसे ही कुरूप उस शूर्पनखाको उसके नाक-कान काटकर अधिक कुरूप कर दिया ॥ ४० ॥

सा वक्रनखधारिण्या वेणुकर्कशपर्वया।
अङ्कुशाकारयाऽङ्गुल्या तावतर्जयदम्बरे ॥ ४१ ॥

सेति। सा वक्रनखं धारयतीति वक्रनखधारिणी। तया वेणुवत्ककर्कशपर्वया। अत एवाङ्कुशस्याकार इवाकारो यस्याः सा तया, अङ्गुल्या। तौ राघवावम्बरे व्योम्नि स्थिता। 'अम्बरं व्योम्नि वाससि' इत्यमरः। अतर्जयदभर्त्सयत्। 'तर्ज भर्त्सने' इति धातोश्चौरादिकादनुदात्तेत्त्वादात्मनेपदेन भाव्यम्। तथापि चक्षिङो ङित्करणाज्ज्ञापकादनुदात्तेत्त्वनिमित्तस्यात्मनेपदस्यानित्यत्वात्परस्मैपदमूह्यमित्युक्तमाख्यातचन्द्रिकायाम् 'तर्जयते भर्त्सयते तर्जयतीत्यपि च दृश्यते कविषु' इति ॥ ४१ ॥

उस (शूर्पनखा) ने टेढे नखोंवाली, बांसके समान पोरोंवाली तथा अङ्कुशके समान आकारवाली अङ्गुलिसे, आकाशमें (पहुँचकर) उन दोनों (राम-लक्ष्मण) को डराया ॥ ४१ ॥

प्राप्य चाशु जनस्थानं खरादिभ्यस्तथाविधम् ।
रामोपक्रममाचख्यौ रक्षःपरिभवं नवम् ॥ ४२ ॥

प्राप्येति । आशु जनस्थानं प्राप्य खरादिभ्यो राक्षसेभ्यस्तथाविधं स्वानुभूतप्रकारं नासिकाछेदरूपम् । उपक्रम्यत इत्युपक्रमः । कर्मणि घञ्प्रत्ययः । रामस्य उपक्रमः रामोपक्रमम् । रामेणादावुपक्रान्तमित्यर्थः । 'उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम्' इति क्लीबत्वम् । नवं रक्षसां अभूतपूर्वं परिभवमाचख्यौ च ॥ ४२ ॥

और शीघ्र जनस्थान (दण्डकारण्यका एक भाग-विशेष) को प्राप्तकर खर आदिसे रामके इस व्यवहाररूप राक्षसोंके सर्वप्रथम तिरस्कारको बतलाया ॥ ४२ ॥

मुखावयवलूनां तां नैर्ऋता यत्पुरो दधुः ।
रामाभियायिनां तेषां तदेवाभूदमङ्गलम् ॥ ४३ ॥

मुखेति । नैर्ऋता राक्षसाः । 'नैर्ऋतो यातुरक्षसी' इत्यमरः । मुखावयवेषु कर्णादिषु लूनां छिन्नां तां पुरो दधुरग्रे चक्रुरिति यत्तदेव रामाभियायिनां राममभियातां तेषाममङ्गलमभूत् ॥ ४३ ॥

राक्षसोंने जो नाक और कानकी कटी (सूर्पणखा) को आगे किया वही रामके प्रति चढ़ाई करनेवाले राक्षसोंका अमङ्गल हुआ । (यात्रामें सामने नाक-कान कटीका देखना ज्योतिष-शास्त्रमें अमङ्गल-कारक माना गया है) ॥ ४३ ॥

उदायुधानापततस्तान्दृप्तान्प्रेक्ष्य राघवः ।
निदधे विजयाशंसां चापे सीतां च लक्ष्मणे ॥ ४४ ॥

उदायुधेति । उदायुधानुद्यतायुधानापततः आभिमुख्येनागच्छतो दृप्तान् सगर्वांस्तान्राक्षसान्प्रेक्ष्य राघवश्चापे धनुषि विजयस्याशंसामाशां लक्ष्मणे सीतां च निदधे । सीतारक्षणे लक्ष्मणं नियुज्य स्वयं युद्धाय सन्नद्ध इति भावः ॥ ४४ ॥

रामने शस्त्र उठाये हुए और आते हुए अभिमानी उन राक्षसोंको देखकर धनुषमें विजयकी आशाको और लक्ष्मणमें सीताको रखा अर्थात् सीताकी रक्षाके लिये लक्ष्मणको नियुक्तकर स्वयं युद्धके लिये तैयार हो गये ॥ ४४ ॥

एको दाशरथिः कामं यातुधानाः सहस्रशः ।
ते तु यावन्त एवाजौ तावांश्च ददृशे स तैः ॥ ४५ ॥

एक इति । दाशरथी राम एकोऽद्वितीयः । यातुधानाः कामं सहस्रशः सन्तीति शेषः । तेऽपि तु यावन्तः स राम आजौ युद्धे तैर्यातुधानैर्यावन्तो यावत्संख्याकास्तावत्संख्याक एव ददृशे ॥ ४५ ॥

यद्यपि राम अकेले थे और राक्षस हजारों थे, किन्तु उन राक्षसोंने जितने राक्षस थे, उतने रामको संग्राममें देखा ॥ ४५ ॥

असज्जनेन काकुत्स्थः प्रयुक्तमथ दूषणम् ।
न चक्षमे शुभाचारः स दूषणमिवात्मनः ॥ ४६ ॥

असज्जनेनेति । अथ शुभाचारो रणे साधुचारी सदवृत्तश्च स काकुत्स्थोऽसज्जनेन दुर्जनेन रक्षोजनेन च प्रयुक्तं प्रेषितमुच्चारितं च दूषणं दूषयतीति दूषणस्तं दूषणाख्य राक्षसमात्मनो दूषणं दोषमिव न चक्षमे न सेहे । प्रतिकर्तुं प्रवृत्त इत्यर्थः ॥ ४६ ॥

सदाचरणवाले रामने दुष्ट राक्षसलोगोंसे भेजे गये उस ('दूषण' नामक राक्षस) को उस प्रकार क्षमा नहीं किया, जिस प्रकार सदाचारी व्यक्ति दुर्जनोंके उच्चारित अपने दोषको क्षमा नहीं करता है ॥ ४६ ॥

तं शरैः प्रतिजग्राह खरत्रिशिरसौ च सः ।
क्रमशस्ते पुनस्तस्य चापात्सममिवोद्ययुः ॥ ४७ ॥

तमिति । स रामस्तं दूषणं खरत्रिशिरसौ च शरैः प्रतिजग्राह, प्रतिजहारेत्यर्थः । क्रमशो यथाक्रमम् । प्रयुक्ता अपीति शेषः । तस्य ते शराः पुनश्चापात्समं युगपदिवोद्ययुः । अतिलघुहस्त इति भावः ॥ ४७ ॥

उस (राम) ने उस ('दूषण' नामक राक्षस) को तथा खर और त्रिशिराको प्रतिग्रहण किया (उनके विरुद्ध युद्ध किया)। उनके क्रमसे (एकके बाद दूसरा) छोड़े गये भी बाण मानो धनुषसे एक साथ निकले। (रामने इतने शीघ्र बाण छोड़े कि क्रमशः छोड़े गये भी बाण एक साथ ही छोड़े गये-से मालूम पड़ते थे) ॥ ४७ ॥

तैस्त्रयाणां शितैर्बाणैर्यथापूर्वविशुद्धिभिः ।
आयुर्देहातिगैः पीतं रुधिरं तु पतत्रिभिः ॥ ४८ ॥

तैरिति । देहमतीत्य भित्त्वा गच्छन्तीति देहातिगाः । तैर्यथास्थिता पूर्वविशुद्धिर्येषां तैः । अतिवेगत्वेन देहभेदात्प्रागिव रुधिरलेपरहितैरित्यर्थः । शितैस्तीक्ष्णैस्तैर्बाणैस्त्रयाणां खरादीनामायुर्जीवितं पीतम् । रुधिरं तु पतत्रिभिः पक्षिभिः पीतम् ॥४८॥

देहको भेदन करनेवाले, पहले (देहभेदनके पूर्व) के समान शुद्धियुक्त (मारने पर भी रक्तरहित होनेसे स्वच्छ) और तीक्ष्ण उन बाणोंने उन तीनों (दूषण, खर और त्रिशिरा) की आयुको पी लिया (उन्हें मार डाला) और उनके रक्तको पक्षियोंने पीया ॥

तस्मिन् रामशरोत्कृत्ते बले महति रक्षसाम् ।
उत्थितं ददृशेऽन्यच्च कबन्धेभ्यो न किञ्चन ॥ ४९ ॥

तस्मिन्निति । तस्मिन् रामशरोत्कृत्ते छिन्ने महति रक्षसां बले उत्थितमुत्थान-क्रियाविशिष्टं नाचिता कबन्धेभ्यः शिरोहीनशरीरेभ्यः । 'कबन्धोऽस्त्री क्रियायुक्तमप-मूर्धकलेवरम्' इत्यमरः । अन्यच्चान्यत्किंचन न ददृशे । कबन्धेभ्य इत्यत्र 'अन्यारात्' इति पञ्चमी । विशेषं इत्यभिप्रायः ॥ ४९ ॥

राक्षसोंकी उस बड़ी सेनाके राम-बाणोंसे कटे (मारे) जानेपर ऊपर उठे हुए धड़ (ढेर कटे हुए बिना सिरके शरीर) के अतिरिक्त कुछ नहीं दिखाई पड़ा अर्थात् सब राक्षसों को रामने मार दिया ॥ ४९ ॥

सा बाणवर्षिणं रामं योधयित्वा सुरद्विषाम् ।
अप्रबोधाय सुष्वाप गृध्रच्छाये वरूथिनी ॥ ५० ॥

सेति । सा सुरद्विषां रक्षसां वरूथिनी सेना बाणवर्षिणं रामं योधयित्वा युद्धं कारयित्वा । गृध्राणां छाया गृध्रच्छायम् । 'छाया बाहुल्ये' इति क्लीबत्वम् । तस्मि-न्नप्रबोधायापुनर्बोधाय सुष्वाप, ममारेत्यर्थः । अत्र सुरतश्रान्तकान्तासमाधि-र्व्यज्यते ॥ ५० ॥

राक्षसोंकी वह सेना बाण बरसानेवाले रामको लड़ाकर (फिर) नहीं जागनेके लिये गीधों (के पंखों) की छायामें सो गयी अर्थात् मर गयी ॥ ५० ॥

राघवास्त्रविदीर्णानां रावणं प्रति रक्षसाम् ।
तेषां शूर्पणखैवैका प्रवृत्तिहराऽभवत् ॥ ५१ ॥

राघवेति । शूर्प इव नखानि यस्याः सा शूर्पणखा । 'पूर्वपदात्संज्ञायामगः' इति णत्वम् । 'नखमुखात्संज्ञायाम्' इति ङीप्प्रतिषेधः । सैव रावणं प्रति राघवास्त्रै-र्विदीर्णानां हतानां तेषां रक्षसां खरादीनां प्रवृत्तिं वार्तां हरति प्रापयतीति प्रवृत्ति-हराऽभवत् । 'वार्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्तः' इत्यमरः । 'हरतेरनुद्यमनेऽच्' इत्यच्प्रत्ययः ॥ ५१ ॥

रामके बाणोंसे मारे गये उन राक्षसोंके बुरे समाचारको रावणके पास पहुँचाने वाली एक शूर्पणखा ही बची ॥ ५१ ॥

निग्रहात्स्वसुराप्तानां वधाच्च धनदानुजः ।
रामेण निहितं मेने पदं दशसु मूर्धसु ॥ ५२ ॥

निग्रहादिति । स्वसुः शूर्पणखाया निग्रहाद्विरूपकरणादाप्तानां बन्धूनां खरादीनां वधाच्च कारणाद्धनदानुजो रावणो रामेण दशसु मूर्धसु पदं पादं निहितं मेने ॥ ५२ ॥

बहन (शूर्पणखा) को अङ्गभङ्ग करनेसे तथा प्रिय बन्धुओंके मारनेसे रावणने (अपने) दसों मस्तकों पर राम का पैर रखना समझा ॥ ५२ ॥

रक्षसा मृगरूपेण वञ्चयित्वा स राघवौ।
जहार सीतां पक्षीन्द्रप्रयासक्षणविघ्नितः॥ ५३॥

रक्षसेति। स रावणो मृगरूपेण रक्षसा मारीचेन राघवौ वञ्चयित्वा प्रतार्य पक्षीन्द्रस्य जटायुषः प्रयासेन युद्धरूपेण क्षण विघ्नितः सञ्जातविघ्नः सन् सीतां जहार॥

उस (रावण) ने (सुवर्णके) मृगरूप धारण करने वाले राक्षस (मारीच) से राम-लक्ष्मणको वञ्चितकर पक्षिराज ('जटायु' नामक गृद्ध) से क्षणमात्र विघ्नयुक्त होकर सीताका हरण कर लिया॥ ५३॥

तौ सीतान्वेषिणौ गृध्रं लूनपक्षमपश्यताम्।
प्राणैर्दशरथप्रीतेरनृणं कण्ठवर्तिभिः॥ ५४॥

ताविति। सीतान्वेषिणौ तौ राघवौ लूनपक्षं रावणेन छिन्नपक्षं कण्ठवर्तिभिः प्राणैर्दशरथप्रीतेर्दशरथसख्यस्यानृणमृणैर्विमुक्तं गृध्रं जटायुषमपश्यतां दृष्टवन्तौ। लङ्लर्थे लिङि रूपम्॥ ५४॥

सीताको ढूंढते हुए उन दोनों (राम-लक्ष्मण) ने कटे हुए पङ्खोंवाले और कण्ठमें आये हुए प्राणोंसे दशरथ की मित्रतासे ऋणमुक्त गृद्ध जटायुको देखा। (दशरथकी पुत्रवधू सीताको छुडानेके लिये शत्रुसे युद्धकर मरणावस्थाको प्राप्त होनेसे गृद्धराज 'जटायु'को दशरथकी मित्रतासे ऋणमुक्त समझना चाहिये)॥ ५४॥

स रावणहृतां ताभ्यां वचसाऽऽचष्ट मैथिलीम्।
आत्मनः सुमहत्कर्म व्रणैरावेद्य संस्थितः॥ ५५॥

स इति। स जटायू रावणहृतां मैथिलीं ताभ्यां रामलक्ष्मणाभ्याम्। 'क्रियाग्रहणमपि कर्तव्यम्' इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी। वचसा वाग्वृत्त्याऽऽचष्ट। आत्मनः सुमहत्कर्म युद्धरूपं व्रणैरावेद्य संस्थितो मृतः॥ ५५॥

वह (जटायु) उन दोनों (राम-लक्ष्मण) से सीताको रावणसे हरण की हुई वचनसे कहकर अपने बड़े भारी कर्म (सीताकी रक्षाके लिये रावणसे युद्धरूप कर्म) को अपने घावोंसे ही बतलाकर मर गया॥ ५५॥

तयोस्तस्मिन्नवीभूतपितृव्यापत्तिशोकयोः।
पितरीवाग्निसंस्कारात्परा ववृतिरे क्रियाः॥ ५६॥

तयोरिति। व्यापत्तिर्मरणम्। नवीभूतः पितृव्यापत्तिशोकः पितुः दशरथस्य व्यापत्तेर्मरणस्य शोकः ययोस्तौ तयोः राघवयोस्तस्मिन्गृध्रे पितरीवाग्निसंस्कारादग्निसंस्कारमारभ्य परा उत्तराः क्रिया ववृतिरेऽवर्तन्त। तस्य पितृवदौर्ध्वदेहिकं चक्रतुरित्यर्थः॥ ५६॥

नया हो गया है पिता (दशरथ) के मरनेका शोक जिनका ऐसे उन दोनों भाइयोंका उस (जटायु) में अग्निसंस्कार (दाह) से लेकर सब कार्य पिताके समान हुआ। (उन दोनोंने जटायुके मरनेपर पिताके मरनेके समान शोक किया और दाह आदि सब पारलौकिक संस्कार भी पिताके समान ही किया) ॥ ५६ ॥

वधनिर्धूतशापस्य कबन्धस्योपदेशतः ।
मुमूर्च्छ सख्यं रामस्य समानव्यसने हरौ ॥ ५७ ॥

वधेति । वधेन रामकृतेन निर्धूतशापस्य दैवमुखं गतस्य कबन्धस्य रक्षोविशेषस्योपदेशतो रामस्य समानव्यसने समानापदि, कलत्रवियोगदुःखिते सख्यार्थिनीत्यर्थः, हरौ कपौ सुग्रीवे । 'शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु' इत्यमरः । सख्यं मुमूर्च्छ ववृधे ॥ ५७ ॥

रामके मारनेसे शापसे मुक्त कबन्धके बतलानेसे रामकी मित्रता (अपने भाई वालीके द्वारा स्त्रीके हरण किये जानेके कारण रामके) समान दुःखवाले वानर (सुग्रीव) में बढ़ने लगी॥

स हत्वा वालिनं वीरस्तत्पदे चिरकाङ्क्षिते ।
धातोः स्थान इवादेशं सुग्रीवं संन्यवेशयत् ॥ ५८ ॥

स इति । वीरः स रामो वालिनं सुग्रीवाग्रजं हत्वा चिरकाङ्क्षिते तत्पदे वालिस्थाने धातोः स्थाने आदेशमिव आदेशभूतं धात्वन्तरमिवेत्यर्थः । सुग्रीवं संन्यवेशय प्रतिस्थापितवान् । यथा 'अस्तेर्भूः' इत्यस्तिधातोः स्थाने आदेशो भूधातुरस्तिकार्यमशेषं समश्नुते तद्वदिति भावः । आदेशो नाम शब्दान्तरस्य स्थाने विधीयमानं शब्दान्तरमभिधीयते ॥ ५८ ॥

उस (राम) ने वालीको मारकर धातुके स्थानपर आदेशके समान ('अस्' या आदि धातुओंके स्थानपर क्रमशः 'अस्तेर्भूः' तथा 'ब्रुवो वचिः' — इत्यादि सूत्रोंसे विहित 'भू' और 'वच' आदि आदेशके समान) सुग्रीवको चिरकालसे अभिलषित पद (राज्य) के स्थान पर रखा ॥ ५८ ॥

इतस्ततश्च वैदेहीमन्वेष्टुं भर्तृचोदिताः ।
कपयश्चेरुरार्तस्य रामस्येव मनोरथाः ॥ ५९ ॥

इत इति । वैदेहीमन्वेष्टुं मार्गितुं भर्त्रा सुग्रीवेण चोदिताः प्रयुक्ताः कपयो हनुमत्प्रमुखा आर्तस्य विरहातुरस्य रामस्य मनोरथाः कामा इव इतस्ततश्चेरुर्नाना-देशेषु बभ्रमुः ॥ ५९ ॥

स्वामी (सुग्रीव) के द्वारा सीताको खोजनेमें लगे वानर (हनुमान्, अङ्गद आदि) रामके मनोरथके समान इधर-उधर घूमने लगे ॥ ५९ ॥

प्रवृत्तावुपलब्धायां तस्याः सम्पातिदर्शनात् ।
मारुतिः सागरं तीर्णः संसारमिव निर्ममः ॥ ६० ॥

प्रवृत्ताविति । सम्पातिर्नाम जटायुषो ज्यायान्भ्राता । तस्य दर्शनात् । तन्मुखा-द्विति भावः । तस्याः सीतायाः प्रवृत्तौ वार्तायाम् । 'वार्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्तः' इत्यमरः । उपलब्धायां ज्ञातायां सत्याम् । मारुतस्यापत्यं पुमान्मारुतिः हनूमान्सागरम् । ममे-त्येतदव्ययं ममतायाचि । तद्रहितो निर्ममो निःस्पृहः संसारमविद्यावन्धनमिव । तीर्णस्ततार । तरतेः कर्तरि क्तः ॥ ६० ॥

सम्पाति ('जटायु' का भाई) के देखनेसे उस (सीता) की बात मालूम होनेपर, संसार को अहङ्कार रहित व्यक्तिके समान, समुद्रको पार कर गये ॥ ६० ॥

दृष्टा विचिन्वता तेन लङ्कायां राक्षसीवृता ।
जानकी विषवल्लीभिः परीतेव महौषधिः ॥ ६१ ॥

दृष्टेति । लङ्कायां रावणराजधान्यां विचिन्वता मृगयमाणेन तेन मारुतिना राक्ष-सीभिर्वृता जानकी विषवल्लीभिः परीता परिवृता महौषधिः सञ्जीविनीलतेव दृष्टा ॥

(सीताको) ढूढ़ते हुए हनुमान्ने, विषलताओंसे घिरी हुई महौषधिके समान राक्षसियोंसे घिरी हुई सीताको लङ्कामें देखा ॥ ६१ ॥

तस्यै भर्तुरभिज्ञानमङ्गुलीयं ददौ कपिः ।
प्रत्युद्गतमिवानुष्णैस्तदानन्दाश्रुबिन्दुभिः ॥ ६२ ॥

तस्या इति । कपिर्हनूमान्भर्तू रामस्य सम्बन्ध्यभिज्ञानं अभिज्ञायत इत्यभिज्ञानं प्रत्यभिज्ञानसाधकमङ्गुलीयमूर्मिकाम् । 'अङ्गुलीयकमूर्मिका' इत्यमरः । 'जिह्वामूला-ङ्गुलेश्छः' इति छप्रत्ययः, तस्यै जानक्यै ददौ । किं विधमङ्गुलीयम् । अनुष्णैः शीतलै-स्तस्या आनन्दाश्रुबिन्दुभिः प्रत्युद्गतमिव स्थितम् । भर्त्रभिज्ञानदर्शनादानन्दबाष्पो जात इत्यर्थः ॥ ६२ ॥

कपि (वानर अर्थात् हनुमान्) ने उस (सीता) के लिये पति (राम) के दिये हुए चिह्न रूप अँगूठा को, ठण्ढ तथा उस सीताके आनन्दजन्य आँसुओं बूँदोंसे निर्गतके समान, दिया ॥ ६२ ॥

निर्वाप्य प्रियसन्देशैः सीतामक्षवधोद्धतः ।
स ददाह पुरीं लङ्कां क्षणसोढारिनिग्रहः ॥ ६३ ॥

निर्वाप्येति । स कपिः । प्रियस्य रामस्य सन्देशैर्वाचिकैः सीतां निर्वाप्य सुख-यित्वा । अक्षस्य रावणकुमारस्य वधेनोद्धतो दृप्तः सन् । क्षण सोढोऽरेरिन्द्रजितः कर्तुः

नया हो गया है पिता (दशरथ) के मरणका शोक जिनका ऐसे उन दोनों रामलक्ष्मणका उस (जटायु) में अग्निसंस्कार (दाह) से लेकर सब कार्य पिताके समान हुआ। (उन दोनोंने जटायुके मरनेपर पिताके मरनेके समान शोक किया और दाह आदि सब पारलौकिक संस्कार भी पिताके समान ही किया) ॥ ५६ ॥

वधनिर्धूतशापस्य कबन्धस्योपदेशतः ।
मुमूर्च्छ सख्यं रामस्य समानव्यसने हरौ ॥ ५७ ॥

वधेति । वधेन रामकृतेन निर्धूतशापस्य देवत्वं गतस्य कबन्धस्य रक्षोविशेषस्योपदेशतो रामस्य समानव्यसने समानापदि, कलत्रवियोगदुःखिते सख्यं मैत्री त्यर्थः, हरौ कपौ सुग्रीवे । 'शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु' इत्यमरः । सख्यं मुमूर्च्छ ववृधे ॥ ५७ ॥

रामके मारनेसे शापसे मुक्त कबन्धके कहनेसे रामकी मित्रता (भाई वालीके द्वारा स्त्रीके हरण किये जानेके कारण रामके) समान दुःखवाले वानर (सुग्रीव) में बढ़ने लगी॥

स हत्वा वालिनं वीरस्तत्पदे चिरकाङ्क्षिते ।
धातोः स्थान इवादेशं सुग्रीवं संन्यवेशयत् ॥ ५८ ॥

स इति । वीरः स रामो वालिनं सुग्रीवाग्रजं हत्वा चिरकाङ्क्षिते तत्पदे वालिस्थाने, धातोः स्थाने आदेशमिव, आदेशभूतं धात्वन्तरमिवेत्यर्थः । सुग्रीवं संन्यवेशयत्स्थापितवान् । यथा 'अस्तेर्भूः' इत्यस्तिधातोः स्थाने आदेशो भूधातुरस्तिकार्यमशेषं समभिधत्ते तद्वदिति भावः । आदेशो नाम शत्रुवत्परस्य स्थाने विधीयमानं धात्वन्तरमभिधीयते ॥ ५८ ॥

उस (राम) ने वालीको मारकर धातुके स्थानपर आदेशके समान ('अस्' 'ब्रू' आदि धातुओंके स्थानपर क्रमशः 'अस्तेर्भूः' तथा 'ब्रुवो वचिः' ...... इत्यादि सूत्रोंसे विहित 'भू' और 'वच' आदि आदेशके समान) सुग्रीवको चिरकालसे अभिलषित उस (वाली) के स्थान पर रखा ॥ ५८ ॥

इतस्ततश्च वैदेहीमन्वेष्टुं भर्तृचोदिताः ।
कपयश्चेरुरार्तस्य रामस्येव मनोरथाः ॥ ५९ ॥

इत इति । वैदेहीमन्वेष्टुं मार्गितुं भर्त्रा सुग्रीवेण चोदिताः प्रेरिताः कपयो हनूमत्प्रमुखाः आर्तस्य विरहातुरस्य रामस्य मनोरथाः कामा इव इतस्ततश्चेरुः देशेषु बभ्रमुः ॥ ५९ ॥

स्वामी (सुग्रीव) के द्वारा सीताको खोजनेके लिये वानर (हनुमान् अङ्गद आदि) रामके मनोरथके समान इधर-उधर घूमने लगे ॥ ५९ ॥

प्रवृत्तावुपलब्धायां तस्याः सम्पातिदर्शनात् ।
मारुतिः सागरं तीर्णः संसारमिव निर्ममः ॥ ६० ॥

प्रवृत्ताविति । सम्पातिर्नाम जटायुषो ज्यायान्भ्राता । तस्य दर्शनात् । तन्मुखादिति भाव. । तस्या. सीताया. प्रवृत्तौ वार्तायाम् । 'वार्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्तः' इत्यमरः । उपलब्धायां ज्ञाताया सत्याम् । मारुतस्यापत्य पुमान्मारुतिः हनूमान्सागरम् । ममेत्येतदव्यय ममतावाचि । तद्रहितो निर्ममो नि.स्पृहः संसारमविद्याबन्धनमिव । तीर्णस्ततार । तरते कर्तरि क्तः ॥ ६० ॥

सम्पाति ('जटायु' का भाई) के देखनेसे उस (सीता) की बात मालूम होनेपर, संसार को अहङ्कार रहित व्यक्तिके समान, समुद्रको पार कर गये ॥ ६० ॥

दृष्टा विचिन्वता तेन लङ्कायां राक्षसीवृता ।
जानकी विषवल्लीभिः परीतेव महौषधिः ॥ ६१ ॥

दृष्टेति । लङ्कायां रावणराजधान्यां विचिन्वता मृगयमाणेन तेन मारुतिना राक्षसीभिर्वृता जानकी विषवल्लीभि परीता परिवृता महौषधि सञ्जीविनीलतेव दृष्टा ॥

(सीताको) ढूढते हुए हनुमान्ने, विषलताओंसे घिरी हुई महौषधिके समान राक्षसियोंसे घिरी हुई सीताको लङ्कामें देखा ॥ ६१ ॥

तस्यै भर्तुरभिज्ञानमङ्गुलीयं ददौ कपिः ।
प्रत्युद्गतमिवानुष्णैस्तदानन्दाश्रुबिन्दुभिः ॥ ६२ ॥

तस्या इति । कपिर्हनूमान्भर्तू रामस्य सम्बन्ध्यभिज्ञान अभिज्ञायत इत्यभिज्ञानं प्रत्यभिज्ञानसाधकमङ्गुलीयमूर्मिकाम् । 'अङ्गुलीयकमूर्मिका' इत्यमरः । 'जिह्वामूलाङ्गुलेश्छः' इति छप्रत्यय , तस्यै जानक्यै ददौ । किं विधमङ्गुलीयम् । अनुष्णैः शीतलैस्तस्या आनन्दाश्रुबिन्दुभि. प्रत्युद्गतमिव स्थितम् । भर्त्रभिज्ञानदर्शनादानन्दबाष्पो जात इत्यर्थः ॥ ६२ ॥

कपि (वानर अर्थात् हनुमान्) ने उस (सीता) के लिये पति (राम) के दिये हुए चिह्न रूप अँगूठी को, ठण्ढे तथा उस सीताके आनन्दजन्य आँसूको बूँदोंसे निर्गतके समान, दिया ॥ ६२ ॥

निर्वाप्य प्रियसन्देशैः सीतामक्षवधोद्धत. ।
स ददाह पुरीं लङ्कां क्षणसोढरिनिग्रहः ॥ ६३ ॥

निर्वाप्येति । स कपि. । प्रियस्य रामस्य सन्देशैर्वाचिकैः सीतां निर्वाप्य सुखयित्वा । अक्षस्य रावणकुमारस्य वधेनोद्धतो दृप्त. सन् । क्षण सोढोऽरेरिन्द्रजित. कर्तृ-

(उस रामने) उस मार्ग (पुल) से समुद्रके पार उतरकर पीछा (घेराका होनेसे) दूसरी चहारदिवारीको बनाते हुए के समान वानरोंसे लङ्काको घेर लिया ॥ ७१ ॥

रणः प्रववृते तत्र भीमः प्लवगरक्षसाम् ।
दिग्विजृम्भितकाकुत्स्थपौलस्त्यजयघोषणः ॥ ७२ ॥

रण इति । तत्र लङ्कायां प्लवगानां रक्षसां च भीमो भयङ्करो दिग्विजृम्भितं काकुत्स्थपौलस्त्ययोरामरावणयोर्जयघोषणं जयशब्दो यस्मिन् स तथोक्तो रणः प्रववृते प्रवृत्तः । 'अस्त्रियां समरानीकरणाः कलहविग्रहौ' इत्यमरः ॥ ७२ ॥

वहाँ पर (लङ्कामें) दिशाओंमें फैली हुई राम तथा रावणकी जयघोषणावाला, वानर और राक्षसोंका भयङ्कर युद्ध होने लगा ॥ ७२ ॥

पादपाविद्धपरिघः शिलानिष्पिष्टमुद्गरः ।
अतिशस्त्रनखन्यासः शैलरुग्णमतङ्गजः ॥ ७३ ॥

पादपेति । किंविधो रणः । पादपैर्वृक्षैराविद्धा भग्नाः परिघा लोहबद्धकाष्ठानि यस्मिन् स तथोक्तः । 'परिघः परिघातनः' इत्यमरः । शिलाभिर्निष्पिष्टाश्चूर्णिता मुद्गरा अयोघना यस्मिन् स तथोक्तः । 'द्रुघणो मुद्गरघनौ' इत्यमरः । अतिशस्त्राः शस्त्राण्यतिक्रान्ता नखन्यासा यस्मिंस्स तथोक्तः । शैलै रुग्णा भग्ना मतङ्गजा यस्मिन् स तथोक्तः ॥ ७३ ॥

(जिसमें—) पेड़ोंसे परिघ भग्न किये गये हैं, पत्थरों (चट्टानों) से मुद्गर चूर-चूर कर दिये गये हैं, नखोंके प्रहार शस्त्र-प्रहारसे बढ़कर हो गये हैं । राक्षसोंको शस्त्रादिकी अपेक्षा वानरोंके नखप्रहार ही लग रहे हैं और पर्वतोंसे गजराजोंके हाथी व्याकुल किये गये हैं (ऐसा युद्ध हुआ) ॥ ७३ ॥

अथ रामशिरश्छेददर्शनोद्भ्रान्तचेतनाम् ।
सीतां मायेति शंसन्ती त्रिजटा समजीवयत् ॥ ७४ ॥

अथेति । अथानन्तरम् । छिद्यते इति छेदः कर्मणि घञ् । शिर एव छेद इति विग्रहः । रामशिरश्छेदस्य विद्युज्जिह्वाख्यराक्षसमायानिर्मितस्य दर्शनेनोद्भ्रान्तचेतनां गत संज्ञां सीतां त्रिजटा नाम काचित्सीतापक्षपातिनी राक्षसी मायाकल्पितं वस्त्वेतत् मिति शंसन्ती ब्रुवाणा । 'शप्श्यनोर्नित्यम्' इति नित्यं नुमागमः । समजीवयत् [illegible]

('विद्युज्जिह्व' नामक राक्षससे मायाकृत) रामके मस्तकका कटना देखनेसे व्याकुल चित्तवाली सीताको त्रिजटाने 'यह माया है' ऐसा कहकर जिलाया (धैर्य दिया) ॥ ७४ ॥

कामं जीवति मे नाथ इति सा विजहौ शुचम् ।

काममिति । सा सीता मे नाथो जीवतीति हेतोः शुच शोकं काम विजहौ तत्याज । किन्तु प्रावपूर्वमस्य नाथस्यान्त नाश सत्य यथार्थं मत्वा जीवितवत्यस्मीति हेतोर्लज्जिता लज्जावती । कर्तरि क्तः । दु.खादपि दुस्सहो लज्जाभर इति भाव.॥ ७५ ॥

उस (सीता) ने—'मेरे स्वामी (रामजी) जीवित हैं' यह जानकर शोकको बिलकुल छोड दिया, किन्तु 'पहले इन (प्राणनाथ राम) की मृत्युको सत्य मानकर भी मैं जीती रह गई अर्थात् उसी क्षण नहीं मरी' इस कारण लज्जित हुई ॥ ७५ ॥

गरुडापातविश्लिष्टमेघनादास्त्रबन्धनः ।
दाशरथ्यो' क्षणक्लेश. स्वप्नवृत्त इवाभवत् ॥ ७६ ॥

गरुडेति । गरुडस्तार्क्ष्य. तस्यापातेनागमेन विश्लिष्ट मेघनादस्येन्द्रजितोऽस्त्रेण नागपाशेन बन्धन यस्मिन्स तथोक्तः । क्षणक्लेशो दाशरथ्यो रामलक्ष्मणयो. । स्वप्नवृत्तः स्वप्नावस्थायां भूत इवाभवत् ॥ ७६ ॥

गरुडके आनेसे नष्ट हो गया है मेघनादका नागास्त्र बन्धन जिसका ऐसा राम-लक्ष्मण का क्षणिक क्लेश स्वप्नमें हुएके समान मालूम हुआ ॥ ७६ ॥

ततो बिभेद पौलस्त्यः शक्त्या वक्षसि लक्ष्मणम् ।
रामस्त्वनाहतोऽप्यासीद्विदीर्णहृदयः शुचा ॥ ७७ ॥

तत इति । तत पौलस्त्यो रावण शक्त्या कासूनामकेनायुधेन । 'कासूसामर्थ्ययो शक्ति' इत्यमर । लक्ष्मण वक्षसि बिभेद विदारयामास । रामस्त्वनाहतोऽप्यहतोऽपि शुचा शोकेन विदीर्णहृदय आसीत् ॥ ७७ ॥

इसके बाद रावणने शक्ति ('कासू' नामके शस्त्र) से लक्ष्मणको हृदयमें मारा, राम आघात (चोट) रहित होकर भी शोकसे विदीर्ण हृदयवाले हो गये ॥ ७७ ॥

स मारुतिसमानीतमहौषधिहृतव्यथः ।
लङ्कास्त्रीणां पुनश्चक्रे विलापाचार्यकं शरैः ॥ ७८ ॥

स इति । स लक्ष्मणो मारुतिना मरुत्सुतेन हनुमता समानीतया महौषध्या सञ्जीविन्या हृतव्यथ सन्पुन शरैर्लङ्कास्त्रीणां विलापे परिदेवने । 'विलाप परिदेवनम्' इत्यमर. । आचार्यकमाचार्यकर्म । 'योपधाद्गुरूपोत्तमाद्वुञ्' इति वुञ् । चक्रे । पुनरपि राक्षसाञ्जघानेति व्यज्यते ॥ ७८ ॥

वह (लक्ष्मण) हनुमानसे लाई गई औषध सञ्जीवनी बूटी) से व्यथा रहित होकर बाणोंसे लङ्काकी स्त्रियोंके रोनेमें आचार्य कर्म किये (राक्षसोंको बाणोंसे मारा, जिससे वहां की स्त्रियां विलापकर रोने लगीं) ॥ ७८ ॥

निमग्नो यस्यो ब्रह्मास्त्रबन्धनक्षणो येन स तथोक्तः सन् । लङ्कां पुरीं ददाह भस्मीचकार ॥

सीताके प्रिय (राम) के सेवकोंमें अग्रसर अक्ष (रावणका पुत्र) के मारनेसे उद्धत तथा क्षणमात्र शत्रु (मेघनाद) के बन्धनको सहन किये हुए उस (हनुमान्) ने लङ्का नगरीको भस्म किया ॥ ६३ ॥

प्रत्यभिज्ञानरत्नं च रामायादर्शयत्कृती ।
हृदयं स्वयमायातं वैदेह्या इव मूर्तिमत् ॥ ६४ ॥

प्रत्यभीति । कृती कुशलः कपिः स्वयमायातं मूर्तिमद्वैदेह्या हृदयमिव स्थितं तस्या एव प्रत्यभिज्ञानरत्नं च रामायादर्शयत् ॥ ६४ ॥

कुशल उस (हनुमान्) ने स्वयं आये हुए मूर्तिमान् सीताके हृदयके समान (सीताके दिये हुए) प्रत्यभिज्ञान चूडामणि को रामके लिये दिखलाया (दिया) ॥ ६४ ॥

स प्राप हृदयन्यस्तमणिस्पर्शनिमीलितः ।
अपयोधरसंसर्गां प्रियालिङ्गननिर्वृतिम् ॥ ६५ ॥

स इति । हृदये वक्षसि न्यस्तस्य धृतस्य मणेः प्रत्यभिज्ञानरत्नस्य स्पर्शेन निमीलितो मोहितः स रामोऽविद्यमानः पयोधरसंसर्गः स्तनस्पर्शो यस्यास्तां तथाभूतां प्रियाया आलिङ्गनेन या निर्वृतिरानन्दस्तां प्राप ॥ ६५ ॥

हृदयपर रखे हुए चूडामणिके स्पर्शसे आँखें मूंदे हुए (राम) ने स्तनके स्पर्शसे रहित प्रिया (सीता) के आलिङ्गनके सुखको पाया ॥ ६५ ॥

श्रुत्वा रामः प्रियोदन्तं मेने तत्सङ्गमोत्सुकः ।
महार्णवपरिक्षेपं लङ्कायाः परिखालघुम् ॥ ६६ ॥

श्रुत्वेति । प्रियाया उदन्तं वार्ताम् । 'उदन्तः साधुवार्तयोः' इति विश्वः । श्रुत्वा तस्याः सीतायाः सङ्गमं प्रत्युत्सुको रामो लङ्कायाः सम्बन्धी यो महार्णव एव परिक्षेपः परिवेष्टनं तं परिखालघुं दुर्गवेष्टनकुल्यालघुतरं मेने ॥ ६६ ॥

प्रिया (सीता) के वृत्तान्तको सुनकर उससे मिलनेके लिये उत्सुक रामने लङ्का-सम्बन्धी समुद्ररूपी घेरेको खाईंके समान थोड़ा (आसानीसे पार होने योग्य) समझा ॥ ६६ ॥

स प्रतस्थेऽरिनाशाय हरिसैन्यैरनुद्रुतः ।
न केवलं भुवः पृष्ठे व्योम्नि सम्बाधवर्तिभिः ॥ ६७ ॥

स इति । केवलं भुवः पृष्ठे पृथिव्यामेव किन्तु व्योम्नि च सम्बाधवर्तिभिः सङ्कटमभिनिर्वर्तिभिः हरिसैन्यैः कपिसैन्यैरनुद्रुतोऽनुगतः सन् स रामोऽरिनाशाय प्रतस्थे चचाल ॥ ६७ ॥

केवल पृथ्वीपर ही नहीं अपि तु आकाशमें भी (अधिक भीड़के कारण) कठिनतासे चलने वाली वानरोंकी सेनाओं से अनुगत उस रामने शत्रु (रावण) के नाशके लिये प्रस्थान किया ॥ ६७ ॥

निविष्टमुदधेः कूले तं प्रपेदे विभीषणः ।
स्नेहाद्राक्षसलक्ष्म्येव बुद्धिमाविश्य चोदितः ॥ ६८ ॥

निविष्टमिति । उदधेः कूले निविष्टं तं रामम् । विशेषेण भीषयते शत्रूनिति विभीषणो रावणानुजः । राक्षसलक्ष्म्या स्नेहाद् बुद्धिं कर्तव्यताज्ञानमाविश्य चोदितः प्रणोदित इव । प्रपेदे प्राप्तः ॥ ६८ ॥

राक्षस–लक्ष्मीके द्वारा स्नेहसे बुद्धिमें प्रवेश कर प्रेरित हुए के समान विभीषणने समुद्रके तट पर स्थित उस (राम) को प्राप्त किया (रामके पास पहुचे) ॥ ६८ ॥

तस्मै निशाचरैश्वर्यं प्रतिशुश्राव राघवः ।
काले खलु समारब्धाः फलं बध्नन्ति नीतयः ॥ ६९ ॥

तस्मा इति । राघवस्तस्मै विभीषणाय । 'प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्ता' इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । निशाचरैश्वर्यं राक्षसाधिपत्यं प्रतिशुश्राव प्रतिज्ञातवान् । तथा हि । कालेऽवसरे समारब्धाः प्रक्रान्ता नीतयः फलं बध्नन्ति गृह्णन्ति खलु । जनयन्तीत्यर्थः ॥ ६९ ॥

रामने उस (विभीषण) के लिये राक्षसोंका ऐश्वर्य (राज्य) देनेकी प्रतिज्ञा की, क्योंकि समय पर आरम्भ की गई नीतियां सफल होती हैं ॥ ६९ ॥

स सेतुं बन्धयामास प्लवगैर्लवणाम्भसि ।
रसातलादिवोन्मग्नं शेषं स्वप्नाय शार्ङ्गिणः ॥ ७० ॥

स इति । स रामो लवणं क्षारमम्भो यस्यासौ लवणाम्भस्तस्मिँल्लवणाब्धौ प्लवगैः प्रयोज्यैः । शार्ङ्गिणो विष्णोः स्वप्नाय शयनाय रसातलात्पातालादुन्मग्नमुत्थितं शेषमिव स्थितम् । सेतुं बन्धयामास ॥ ७० ॥

उस (राम) ने वानरोंके द्वारा क्षारसमुद्रमें, विष्णुको सोनेके लिये पातालसे ऊपर आकर स्थित शेषनागके समान, पुलको बनवाया ॥ ७० ॥

तेनोत्तीर्य पथा लङ्कां रोधयामास पिङ्गलैः ।
द्वितीयं हेमप्राकारं कुर्वद्भिरिव वानरैः ॥ ७१ ॥

तेनेति । रामस्तेन पथा सेतुमार्गेणोत्तीर्य । सागरमिति शेषः । पिङ्गलैः सुवर्णवर्णैरत एव द्वितीयं हेमप्राकारं कुर्वद्भिरिव स्थितैर्वानरैर्लङ्कां रोधयामास ॥ ७१ ॥

(उस रामने) उस मार्ग (पुल) से समुद्रके पार उतरकर पिङ्गल (वर्णवाले होनेसे) दूसरी सुवर्णदिवारोंको बनाते हुए के समान वानरोंसे लङ्काको घेर लिया ॥ ७१ ॥

रणः प्रववृते तत्र भीमः प्लवगरक्षसाम् ।
दिग्विजृम्भितकाकुत्स्थपौलस्त्यजयघोषणः ॥ ७२ ॥

रण इति । तत्र लङ्कायां प्लवगानां रक्षसां च भीमो भयङ्करो दिग्विजृम्भितं काकुत्स्थपौलस्त्ययो रामरावणयोर्जयघोषणं जयशब्दो यस्मिन् स तथोक्तो रणः प्रववृते प्रवृत्तः । 'अस्त्रियां समराणीकरणाः कलहविग्रहौ' इत्यमरः ॥ ७२ ॥

वहां पर (लङ्कामें) दिशाओंमें फैलती हुई राम तथा रावणकी जयघोषणावाला भयानक वानर और राक्षसोंका भयङ्कर युद्ध होने लगा ॥ ७२ ॥

पादपाविद्धपरिघः शिलानिष्पिष्टमुद्गरः ।
अतिशस्त्रनखन्यासः शैलरुग्णमतङ्गजः ॥ ७३ ॥

पादपेति । किंविधो रणः । पादपैर्वृक्षैराविद्धा भग्नाः परिघा लोहबद्धकाष्ठानि यस्मिन् स तथोक्तः । 'परिघः परिघातनः' इत्यमरः । शिलाभिर्निष्पिष्टाश्चूर्णिता मुद्गरा अयोघना यस्मिन् स तथोक्तः । 'द्रुघणो मुद्गरघनौ' इत्यमरः । अतिशस्त्राः शस्त्राण्यतिक्रान्ता नखन्यासा यस्मिन् स तथोक्तः । शैलै रुग्णा भग्ना मतङ्गजा यस्मिन् स तथोक्तः ॥ ७३ ॥

(जिसमें-) पेड़ोंसे परिघ भग्न किये गये हैं पत्थरों (चट्टानों) से मुद्गर चूर-चूर कर दिये गये हैं नखोंकी प्रहार, शस्त्र प्रहारको अतिक्रमण कर गये हैं। राक्षसोंके शस्त्र आदिसे अधिक वानरोंके नखप्रहार ही बढ़ गये हैं और पर्वतोंसे मतवाले हाथी व्याकुल किये गये हैं (ऐसा युद्ध हुआ) ॥ ७३ ॥

अथ रामशिरश्छेददर्शनोद्भ्रान्तचेतनाम् ।
सीतां मायेति शंसन्ती त्रिजटा समजीवयत् ॥ ७४ ॥

अथेति । अथानन्तरम् । छिद्यते इति छेदः कर्म । शिर एव छेद इति विग्रहः । रामशिरश्छेदस्य विद्युज्जिह्वाख्यराक्षसमायानिर्मितस्य दर्शनेनोद्भ्रान्तचेतनां तां सीतां त्रिजटा नाम बिभीषणपक्षपातिनी राक्षसी मायाकल्पितं चैतन्मस्तकमिति शंसन्ती ब्रुवाणा । 'शप्श्यनोर्नित्यम्' इति नित्यं नुमागमः । समजीवयत् [illegible]

('विद्युज्जिह्व' नामक राक्षसके मायासे) रामके मस्तकको काटा देखनेसे व्याकुल चित्तवाली सीताको त्रिजटाने 'यह माया है' ऐसा कहकर जिलाया (धैर्य दिया) ॥ ७४ ॥

कामं जीवति मे नाथ इति सा विजहौ शुचम् ।
प्राङ्मत्वा सत्यमस्यान्तं जीवितोऽस्मीति लज्जिता ॥ ७५ ॥

काममिति । सा सीता मे नाथो जीवतीति हेतोः शुच शोकं काम विजहौ तत्याज । किन्तु प्राक्पूर्वमस्य नाथस्यान्त नाश सत्य यथार्थं मत्वा जीवितवत्यस्मीति हेतोर्लज्जिता लज्जावती । कर्तरि क्तः । दुःखादपि दुःसहो लज्जाभर इति भाव. ॥ ७५ ॥

उस (सीता) ने—'मेरे स्वामी (रामजी) जीवित हैं' यह जानकर शोकको बिलकुल छोड दिया, किन्तु 'पहले इन (प्राणनाथ राम) की मृत्युको सत्य मानकर भी मैं जीती रह गई अर्थात् उसी क्षण नहीं मरी' इस कारण लज्जित हुई ॥ ७५ ॥

गरुडापातविश्लिष्टमेघनादास्त्रबन्धन' ।
दाशरथ्योः क्षणक्लेश' स्वप्नवृत्त इवाभवत् ॥ ७६ ॥

गरुडेति । गरुडस्तार्क्ष्यः तस्यापातेनागमेन विश्लिष्ट मेघनादस्येन्द्रजितोऽस्त्रेण नागपाशेन बन्धन यस्मिन्स तथोक्त । क्षणक्लेशो दाशरथ्यो रामलक्ष्मणयो' । स्वप्नवृत्त स्वप्नावस्थायां भूत इवाभवत् ॥ ७६ ॥

गरुडके आनेसे नष्ट हो गया है मेघनादका नागास्त्र बन्धन जिसका ऐसा राम-लक्ष्मण का क्षणिक क्लेश स्वप्नमें हुएके समान मालूम हुआ ॥ ७६ ॥

ततो बिभेद पौलस्त्यः शक्त्या वक्षसि लक्ष्मणम् ।
रामस्त्वनाहतोऽप्यासीद्विदीर्णहृदयः शुचा ॥ ७७ ॥

तत इति । तत. पौलस्त्यो रावण. शक्त्या कासूनामकेनायुधेन । 'कासूसामर्थ्ययो शक्ति ' इत्यमर' । लक्ष्मण वक्षसि बिभेद विदारयामास । रामस्त्वनाहतोऽप्यहतोऽपि शुचा शोकेन विदीर्णहृदय आसीत् ॥ ७७ ॥

इसके बाद रावणने शक्ति ('कासू' नामके शस्त्र) से लक्ष्मणको हृदयमें मारा, राम आघात (चोट) रहित होकर भी शोकसे विदीर्ण हृदयवाले हो गये ॥ ७७ ॥

स मारुतिसमानीतमहौषधिहृतव्यथः ।
लङ्कास्त्रीणां पुनश्चक्रे विलापाचार्यकं शरैः ॥ ७८ ॥

स इति । स लक्ष्मणो मारुतिना मरुत्सुतेन हनुमता समानीतया महौषध्या सञ्जीविन्या हृतव्यथ सन्पुन' शरैर्लङ्कास्त्रीणां विलापे परिदेवने । 'विलाप परिदेवनम्' इत्यमर । आचार्यकमाचार्यकर्म । 'योपधाद्गुरूपोत्तमाद्वुञ्' इति वुञ् । चक्रे । पुनरपि राक्षसाञ्घानेति व्यज्यते ॥ ७८ ॥

वह (लक्ष्मण) हनुमानसे लाई गई औषध सञ्जीवनी बूटी) से व्यथा रहित होकर बाणोंसे लङ्काकी स्त्रियोंके रोनेमें आचार्य कर्म किये (राक्षसोंको बाणोंसे मारा, जिससे वहां की स्त्रियां विलापकर रोने लगीं) ॥ ७८ ॥

(तब रामने) उस मार्ग (पुल) से समुद्रके पार उतरकर पिङ्गल (वर्णवाले होनेसे) दूसरी चाहारदिवारीको बनाते हुए के समान वानरोंसे लङ्काको घेर लिया ॥ ७१ ॥

रणः प्रववृते तत्र भीमः प्लवगरक्षसाम् ।
दिग्विजृम्भितकाकुत्स्थपौलस्त्यजयघोषणः ॥ ७२ ॥

रण इति । तत्र लङ्कायां प्लवगानां रक्षसां च भीमो भयङ्करो दिग्विजृम्भिते काकुत्स्थपौलस्त्ययो रामरावणयोर्जयघोषणे जयशब्दौ यस्मिन् स तथोक्तो रणः प्रववृते प्रवृत्तः । 'अस्त्रियां समरानीकरणाः कलहविग्रहौ' इत्यमरः ॥ ७२ ॥

वहां पर (लङ्कामें) दिशाओंमें फैली हुई राम तथा रावणकी जयघोषणावाला वानर और राक्षसोंका भयङ्कर युद्ध होने लगा ॥ ७२ ॥

पादपाविद्धपरिघः शिलानिष्पिष्टमुद्गरः ।
अतिशस्त्रनखन्यासः शैलरुग्णमतङ्गजः ॥ ७३ ॥

पादपेति । किंविधो रणः । पादपैर्वृक्षैराविद्धा भग्नाः परिघा लोहबद्धकाष्ठानि यस्मिन् स तथोक्तः । 'परिघः परिघातनः' इत्यमरः । शिलाभिर्निष्पिष्टाश्चूर्णिता मुद्गरा घनाख्या यस्मिन् स तथोक्तः । 'द्रुघणो मुद्गरघनौ' इत्यमरः । अतिशस्त्राः शस्त्राण्यतिक्रान्ता नखन्यासा यस्मिंस्स तथोक्तः । शैलै रुग्णा भग्ना मतङ्गजा यस्मिन् स तथोक्तः ॥ ७३ ॥

(जिसमें-) पेड़ोंसे परिघ भग्न किये गये हैं पत्थरों (चट्टानों) से मुद्गर चूर चूर कर दिये गये हैं अर्थात् प्रहार, सब प्रकारसे चकनाचूर कर गये हैं । राक्षसोंके शस्त्र आदिकी अपेक्षा वानरोंके नखप्रहार ही बढ़ गये हैं और पर्वतोंसे मतवाले हाथी व्याकुल किये गये हैं (ऐसा युद्ध हुआ) ॥ ७३ ॥

अथ रामशिरश्छेददर्शनोद्भ्रान्तचेतनाम् ।
सीतां मायेति शंसन्ती त्रिजटा समजीवयत् ॥ ७४ ॥

अथेति । अथानन्तरम् । छिद्यत इति छेदः कर्मणि घञ् । शिर एव छेद इति विग्रहः । रामशिरश्छेदस्य विद्युज्जिह्वनामराक्षसमायानिर्मितस्य दर्शनेनोद्भ्रान्तचेतनां नष्टसंज्ञां सीतां त्रिजटा नाम बिभीषणभगिनी राक्षसी मायाकल्पितं मायेयमिति शंसन्ती ब्रुवाणा । 'उगितश्च' इति स्त्रियां नुमागमः । समजीवयत् ॥ ७४ ॥

('विद्युज्जिह्व' नामक राक्षससे मायारचित) रामके मस्तकको कटा देखनेसे व्याकुल चित्तवाली सीताको त्रिजटाने 'यह माया है' ऐसा कहकर जिलाया (धैर्य दिया) ॥ ७४ ॥

कान्तं जीवति मे नाथ इति सा विजहौ शुचम् ।
प्राङ्मत्वा सत्यमस्यान्तं जीवितास्मीति लज्जिता ॥ ७५ ॥

और भी बहुतसे राक्षस, उनके रक्तकी नदियों पर समरमें उड़ी हुई धूलिके समान वानरोंकी सेना पर गिरे (गिर कर मरे) ॥ ८२ ॥

निर्ययावथ पौलस्त्यः पुनर्युद्धाय मन्दिरात्।
अरावणमरामं वा जगदद्येति निश्चितः ॥ ८३ ॥

निर्ययाविति। अथ पौलस्त्यो रावणः। अद्य जगदरावणं रावणशून्यमरामं रामशून्यं वा भवेदिति निश्चितो निश्चितवान्। कर्तरि क्तः। विजयमरणयोरन्यतरनिश्चयवान्पुनर्युद्धाय मन्दिरान्निर्ययौ निर्जगाम ॥ ८३ ॥

इसके बाद रावण 'आज संसार रावण या रामसे हीन हो जावेगा (मैं ही मर जाऊंगा या रामको ही मारूँगा)' ऐसा निश्चयकर राजभवनसे युद्धके लिये निकला ॥ ८३ ॥

रामं पदातिमालोक्य लङ्केशं च वरूथिनम्।
हरियुग्यं रथं तस्मै प्रजिघाय पुरन्दरः ॥ ८४ ॥

राममिति। पादाभ्यामततीति पदातिः तं पादचारिणं रामम्। वरूथो रथगुप्तिः। 'रथगुप्तिर्वरूथो ना' इत्यमरः। अत्र वरूथेन रथो लक्ष्यते। वरूथिनं रथिनं लङ्केशं चालोक्य पुरन्दर इन्द्रः। युगं वहन्तीति युग्या रथाश्वाः। 'तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम्' इति यत्प्रत्ययः। हरियुग्यं कपिलवर्णाश्वम्। 'शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु' इत्यमरः। रथं तस्मै रामाय प्रजिघाय प्रहितवान् ॥ ८४ ॥

इन्द्रने रामको पैदल तथा लङ्कापति (रावण) को रथपर सवार देखकर उन (राम) के लिये हरित (सब्ज) घोड़ोंसे युक्त रथको भेजा ॥ ८४ ॥

तमाधूतध्वजपटं व्योमगङ्गोर्मिवायुभिः।
देवसूतभुजालम्बी जैत्रमध्यास्त राघवः ॥ ८५ ॥

तमिति। राघवो व्योमगङ्गोर्मिवायुभिराधूतध्वजपटम्। मार्गवशादिति भावः। जेतैव जैत्रो जयनशीलः तं जैत्रम्। जेतृशब्दात्तृन्नन्तात् 'प्रज्ञादिभ्यश्च' इति स्वार्थेऽण्प्रत्ययः। तं रथं देवसूतभुजालम्बी मातलिहस्तावलम्बः सन्नध्यास्ताधिष्ठितवान्। आसेर्लङ् ॥ ८५ ॥

आकाश गङ्गाकी लहरोंकी वायुसे उड़ते हुए पताकाके वस्त्रवाले विजयशील उस रथपर देवसारथि (मातलि) के हाथको पकड़कर रामचन्द्र सवार हुए ॥ ८५ ॥

मातलिस्तस्य माहेन्द्रमामुमोच तनुच्छदम्।
यत्रोत्पलदलक्लैव्यमस्त्राण्यापुः सुरद्विषाम् ॥ ८६ ॥

मातलिरिति। मातलिरिन्द्रसारथिर्माहेन्द्रम्। तनुश्छाद्यतेऽनेनेति तनुच्छदो वर्म।

स नादं मेघनादस्य धनुश्चेन्द्रायुधप्रभम् ।
मेघस्येव शरत्कालो न किंचित्पर्यशेषयत् ॥ ७९ ॥

स इति । स लक्ष्मणः । शरत्काल मेघस्येव । मेघनादस्येन्द्रजितो नादं सिंहनादम् । अन्यत्र गर्जितं च इन्द्रायुधप्रभं शक्रधनुस्तुल्यं धनुश्च किंचिदल्पमपि न पर्यशेषयत् नावशेषितवान् । सममारयदित्यर्थः ॥ ७९ ॥

उस (लक्ष्मण) ने मेघनादके गर्जन तथा इन्द्र धनुषके समान कान्तिवाले धनुषको — (दोनोंमें) किसीको भी उस प्रकार नहीं छोड़ा जिस प्रकार शरद् ऋतुने मेघके गर्जन और इन्द्र धनुषको नहीं छोड़ा (नष्ट कर देता) है। (लक्ष्मणने मेघनादको मार डाला) ॥ ७९ ॥

कुम्भकर्णः कपीन्द्रेण तुल्यावस्थः स्वसुः कृतः ।
रुरोध रामं शृङ्गीव टङ्कच्छिन्नमनःशिलः ॥ ८० ॥

कुम्भकर्ण इति । कपीन्द्रेण सुग्रीवेण स्वसुः शूर्पणखायास्तुल्यावस्थो नासाकर्णच्छेदेन सदृशः कृतः कुम्भकर्णः टङ्केन शिलाभेदकशस्त्रेण छिन्ना मनःशिला रक्तवर्णधातुविशेषो यस्य स तथोक्तः । 'टङ्कः पाषाणदारणः' इति [illegible] इति चामरः । शृङ्गी शिखरीव । रामं रुरोध ॥ ८० ॥

वानरराज (सुग्रीव) के द्वारा बहन (शूर्पणखा) के समान किया गया (नाक-कानसे रहित किया गया, अत एव) टांकी (छेनी) से कटे गये मैनसिलवाले पर्वतके समान स्थित कुम्भकर्णने रामको घेर लिया ॥ ८० ॥

अकाले बोधितो भ्रात्रा प्रियस्वप्नो वृथा भवान् ।
रामेषुभिरितीवासौ दीर्घनिद्रां प्रवेशितः ॥ ८१ ॥

अकाल इति । प्रियस्वप्न इष्टनिद्रो भवान् भ्रात्रा रावणेनाकाले बोधित इतीवासौ कुम्भकर्णो रामेषुभी रामबाणैर्दीर्घनिद्रां मरणं प्रवेशितो गमितः । यथा केनचिन्निद्रालुरकालप्रबोधितस्य तस्योऽपि सुप्तिमुपपाद्यते तद्वदिति भावः ॥ ८१ ॥

'सोनेको अधिक पसन्द करनेवाले तुम व्यर्थ ही इस प्रकार भाई (रावण) से असमयमें जगाया गया मानो इसी कारणसे रामके बाणोंने उसे महानिद्रामें प्रविष्ट करा दिया। (रामजीके प्रहारसे कुम्भकर्ण मारा गया) ॥ ८१ ॥

इतराण्यपि रक्षांसि पेतुर्वानरकोटिषु ।
रजांसि समरोत्थानि तच्छोणितनदीष्विव ॥ ८२ ॥

इतराणीति । इतराणि रक्षांस्यपि वानरकोटिषु । समरोत्थानि रजांसि तेषां रक्षसां शोणितनदीषु रक्तप्रवाहेष्विव पेतुः । निपत्य मृतानीत्यर्थः ॥ ८२ ॥

तुरुवाच बहुमन्यत। साधु मद्विक्रमस्याय पर्याप्तो विषय इति बहुमानमकरोदित्यर्थः। बह्विति क्रियाविशेषणम् ॥ ८९ ॥

लोकपालों को जीतनेवाले, अपने मस्तकोंसे शिवजी की पूजा करनेवाले और कैलास पर्वतको उठानेवाले रावणको रामने (अपने पराक्रमके) योग्य माना ॥ ८९ ॥

तस्य स्फुरति पौलस्त्यः सीतासङ्गमशंसिनि।
निचखानाधिकक्रोधः शरं सव्येतरे भुजे ॥ ९० ॥

तस्येति। अधिकक्रोधः पौलस्त्यः स्फुरति स्पन्दमानेऽत एव सीतासङ्गमशंसिनि सीतायाः सङ्गमं शंसतीति तस्मिन् तस्य रामस्य सव्य इतरो यस्मात्सव्येतरे दक्षिणे। 'न बहुव्रीहौ' इतीतरशब्दस्य सर्वनामसंज्ञाप्रतिषेधः। भुजे शरं निचखान निखातवान् ॥ ९० ॥

अत्यन्त क्रोध युक्त रावण, फरकते हुए (अत एव) सीताके सङ्गमको सूचित करते हुए उस (राम) के दाहिने बाहुमें बाण मारा ॥ ९० ॥

रावणस्यापि रामास्तो भित्त्वा हृदयमाशुगः।
विवेश भुवमाख्यातुमुरगेभ्य इव प्रियम् ॥ ९१ ॥

रावणस्येति। रामेणास्तः क्षिप्त आशुगो बाणः। विश्रवसोऽपत्यं पुमान् रावणः। विश्रवःशब्दादपत्येऽर्थेऽण्प्रत्यये सति। 'विश्रवसो विश्रवणरवणौ' इति रवणादेशः। तस्य रावणस्यापि हृदयं वक्षो भित्त्वा विदार्य। उरगेभ्यः पातालवासिभ्यः प्रियमाख्यातुमिव भुवं विवेश ॥ ९१ ॥

रामका छोड़ा हुआ बाण उस रावणके भी हृदय का भेदनकर मानों पातालवासी नागोंसे प्रिय सन्देश कहनेके लिये भूमिमें घुस गया ॥ ९१ ॥

वचसैव तयोर्वाक्यमस्त्रमस्त्रेण निघ्नतोः।
अन्योन्यजयसंरम्भो ववृधे वादिनोरिव ॥ ९२ ॥

वचसैवेति। वाक्यं वचसैवास्त्रमस्त्रेण निघ्नतोः प्रतिकुर्वतोस्तयोः रामरावणयोः। वादिनोः कथकयोरिव। अन्योन्यविषये जयसंरम्भो ववृधे ॥ ९२ ॥

बातको बातसे ही और अस्त्रोंसे अस्त्रों को नष्ट करते उन दोनों (राम-रावण) का कथकके समान परस्पर विजयका क्रोध बढ़ गया। (जिस प्रकार वादी तथा प्रतिवादी बातसे ही बातको नष्ट करते हुए परस्परमें जीतने के लिये क्रमशः क्रोधित हो जाते हैं उसी प्रकार एक दूसरेके शस्त्रोंको शस्त्रोंसे ही नष्ट करते हुए वे दोनों परस्परमें विजयप्राप्त करनेके लिये अत्यन्त कुपित हो गये) ॥ ९२ ॥

'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण' इति घः । तं तस्य रामस्यामुष्मोपासञ्जयामास । अत्र तद्गुणपदे पूर्वार्ध्यमधमपुत्रत्वबुद्धया यत्कैश्यं नपुंसकत्वं निरर्थकत्वं तदाह ॥८६॥

मातलि (इन्द्रका सारथि) ने इन्द्रका कवच रामको पहनाया, जिस (कवच) पर राक्षसोंके अस्त्र कमलपत्रके समान व्यर्थ हो गये) ॥ ८६ ॥

> अन्योन्यदर्शनप्राप्तविक्रमावसरं चिरात् ।
> रामरावणयोर्युद्धं चरितार्थमिवाभवत् ॥ ८७ ॥

अन्योन्येति । चिरादन्योन्यदर्शनेन प्राप्तविक्रमावसरं रामरावणयोर्युद्धमात्मनो चरितार्थं सफलमभवदिव । प्रागपरस्परमप्राप्तत्वाद्वीर्यस्याप्रकटत्वाच्च तदानीं साफल्यमुत्प्रेक्ष्यते ॥ ८७ ॥

बहुत समयके बाद परस्परको देखनेसे पराक्रमके अवसरको प्राप्त किया हुआ राम-रावणका युद्ध मानों सफल हो गया ॥ ८७ ॥

> भुजमूर्धोरुबाहुल्यादेकोऽपि धनदानुजः ।
> ददृशे ह्ययथापूर्वो मातृवंश इव स्थितः ॥ ८८ ॥

भुजेति । यथाभूतः पूर्वं यथापूर्वः सुप्सुपेति समासः । यथापूर्वो न भवतीत्ययथापूर्वः । विहितयत्पृथक्त्वात्परीवारशून्य इत्यर्थः । अत एवैकोऽपि सन् धनदानुजो रावणः । भुजाश्च मूर्धानश्चोरवश्च । प्राण्यङ्गत्वाद्द्वन्द्वैकवद्भावः । तस्य बाहुल्याद्बहुत्वाद्धेतोः । तदुक्तं व्यासेन—'दशास्यो विंशतिभुजश्चतुष्पान्मा समन्विते' इति । मातृवंशे मातृसम्बन्धिनि वर्गे स्थित इव ददृशे दृष्टो हि । 'वंशो वेणौ कुले वर्गे' इति विश्वः । अत्र रावणमातृ रक्षोजातिश्चापूर्वो रक्षोवर्ग इति गम्यते । तथैकोऽप्यनेकवत्परिदृष्ट इत्युत्प्रेक्षार्थः ॥ ८८ ॥

कुबेरके छोटे भाई (समस्त शत्रुओंके वश हो जानेसे) अकेला रहकर बहुतसे बाहु, मस्तक तथा पैरों वाला (बीस बाहु, दस मस्तक और चार पैरोंवाला) मातृकुलमें स्थितके समान दिखाई पड़ता था (अकेला होकर भी अनेक राक्षसोंसे युक्त दिखाई पड़ता था) ॥ ८८ ॥

> जेतारं लोकपालानां स्वमुखैरर्चितेश्वरम् ।
> रामस्तुलितकैलासमरातिं बह्वमन्यत ॥ ८९ ॥

जेतारमिति । लोकपालानामिन्द्रादीनां जेतारम् । 'कर्तृकर्मणोः कृति' इति कर्मणि षष्ठी । स्वमुखैः स्वशिरोभिरर्चितेश्वरं तुलितकैलासमुत्क्षिप्तकैलासमरातिं तमेवं शौर्यवीर्यसम्पन्नं महावीर्यमरातिं शत्रुं रामो गुणग्राहित्वात्स्वयोग्यप्रतिद्वन्द्वीति श्रेष्ठं शत्रुमपि

तुल्वाय बह्वमन्यत। साधु मद्विक्रमस्यायं पर्याप्तो विषय इति बहुमानमकरोदित्यर्थः। बह्विति क्रियाविशेषणम् ॥ ८९ ॥

लोकपालों को जीतनेवाले, अपने मस्तकोंसे शिवजी की पूजा करनेवाले और कैलास पर्वतको उठानेवाले रावणको रामने (अपने पराक्रमके) योग्य माना ॥ ८९ ॥

तस्य स्फुरति पौलस्त्यः सीतासङ्गमशासिनि।
निचखानाधिकक्रोधः शरं सव्येतरे भुजे ॥ ९० ॥

तस्येति। अधिकक्रोधः पौलस्त्यः स्फुरति स्पन्दमानेऽत एव सीतासङ्गमशासिनि सीतायाः सङ्गमं शासतीति तस्मिन् तस्य रामस्य सव्य इतरो यस्मात्सव्येतरे दक्षिणे। 'न बहुव्रीहौ' इतीतरशब्दस्य सर्वनामसंज्ञाप्रतिषेधः। भुजे शरं निचखान निखातवान् ॥ ९० ॥

अत्यन्त क्रोध युक्त रावण, फरकते हुए (अत एव) सीताके सङ्गमको सूचित करते हुए उस (राम) के दाहिने बाहुमें बाण मारा ॥ ९० ॥

रावणस्यापि रामास्तो भित्त्वा हृदयमाशुगः।
विवेश भुवमाख्यातुमुरगेभ्य इव प्रियम् ॥ ९१ ॥

रावणस्येति। रामेणास्तः क्षिप्त आशुगो बाणः। विश्रवसोऽपत्यं पुमान् रावणः। विश्रवःशब्दादपत्येऽर्थेऽण्प्रत्यये सति। 'विश्रवसो विश्रवणरवणौ' इति रवणादेशः। तस्य रावणस्यापि हृदयं वक्षो भित्त्वा विदार्य। उरगेभ्यः पातालवासिभ्यः प्रियमाख्यातुमिव भुवं विवेश ॥ ९१ ॥

रामका छोडा हुआ बाण उस रावणके भी हृदय का भेदनकर मानों पातालवासी नागोंसे प्रिय सन्देश कहनेके लिये भूमिमें घुस गया ॥ ९१ ॥

वचसैव तयोर्वाक्यमस्त्रमस्त्रेण निघ्नतोः।
अन्योन्यजयसंरम्भो ववृधे वादिनोरिव ॥ ९२ ॥

वचसैवेति। वाक्यं वचसैवास्त्रमस्त्रेण निघ्नतोः प्रतिकुर्वतोस्तयोः रामरावणयोः। वादिनोः कथकयोरिव। अन्योन्यविषये जयसंरम्भो ववृधे ॥ ९२ ॥

बातको बातसे ही और अस्त्रोंसे अस्त्रों को नष्ट करते उन दोनों (राम-रावण) का कथकके समान परस्पर विजयका क्रोध बढ गया। (जिस प्रकार वादी तथा प्रतिवादी बातसे ही बातको नष्ट करते हुए परस्परमें जीतने के लिये क्रमशः क्रोधित हो जाते हैं उसी प्रकार एक दूसरेके शस्त्रोंको शस्त्रोंसे ही नष्ट करते हुए वे दोनों परस्परमें विजयप्राप्त करनेके लिये अत्यन्त कुपित हो गये) ॥ ९२ ॥

विक्रमव्यतिहारेण सामान्याऽभूद्द्वयोरपि।
जयश्रीरन्तरा वेदिर्मत्तवारणयोरिव ॥ ९३ ॥

विक्रमेति। जयश्रीर्विक्रमस्य व्यतिहारेण पर्यायक्रमेण द्वयोरपि। अन्तरा मध्ये। अव्ययमेतत्। वेदिर्वेदिकाकारा भित्तिर्मत्तवारणयोरिव। सामान्या साधारणाभूत् अन्यतरमनिविष्टेत्यर्थः। अत्र मत्तवारणयोरित्यत्र द्वयोरित्यत्र च 'अन्तरान्तरेण युक्ते' इति द्वितीया न भवति। अन्तराशब्दस्याधिकरणप्रधानत्वात्। मध्ये कामपि भित्तिं कृत्वा गजौ योधयन्तीति प्रसिद्धिः ॥ ९३ ॥

पराक्रमके व्यतिहारसे (कभी रामके पराक्रम बढ़नेसे तथा कभी रावणके पराक्रम बढ़नेसे) उन दोनोंके मध्यमें विजयलक्ष्मी उस प्रकार सामान्य (कभी रामके पक्षमें कभी रावणके पक्षमें) हुई जिस प्रकार लड़ते हुए दो मतवाले हाथियोंके बीचमें वेदी सामान्य रूपमें होती है (किसी वेदीके आकारवाली भित्तिको मध्यमें करके दो हाथियों का परस्परमें युद्ध करना लोक-प्रसिद्ध है) ॥ ९३ ॥

कृतप्रतिकृतप्रीतैस्तयोर्मुक्तां सुरासुरैः।
परस्परशरव्राता पुष्पवृष्टिं न सेहिरे ॥ ९४ ॥

कृतेति। स्वयमकृतप्रयोगः कृतं प्रतिकृतं प्रत्युपकृतमपकारस्ताभ्यां प्रीतैः सुरासुरैर्यथासंख्यं तयो रामरावणयोर्मुक्तां पुष्पवृष्टिम्। द्वयीमिति शेषः। परस्परं शरव्राता न सेहिरे। असहनमेवार्थः किं तत्रेति अन्तराल एवोपरोधात् तिरस्कारे पुष्पवृष्टिमपात विलम्बके ॥ ९४ ॥

कृत (किसी पर मारनेके लिये छोड़ा गया अस्त्र) तथा प्रतिकृत (अपनी रक्षाके लिये उस छोड़े गये अस्त्रको नष्ट करनेके लिये अस्त्र छोड़ना) से प्रसन्न देवता और राक्षसोंसे की गयी पुष्पवृष्टिको परस्परके बाणसमूह नहीं सहन किया। (राम तथा रावण परस्परमें एक दूसरेपर अस्त्र छोड़कर मारते थे तथा उनके छोड़े गये अस्त्रको अपने अस्त्रसे छिन्न-भिन्नकर आत्म-रक्षा करते थे, उनसे देवता तथा राक्षस प्रसन्न होकर क्रमशः राम तथा रावणपर पुष्पवर्षा करते थे किन्तु वे दोनों उतना अविरल बाण छोड़ते थे कि पुष्प पृथ्वीमें नहीं गिरकर ऊपर ही रह जाते थे) ॥ ९४ ॥

अयःशङ्कुचितां रक्षः शतघ्नीमथ शत्रवे।
हृतां वैवस्वतस्येव कूटशाल्मलिमक्षिपत् ॥ ९५ ॥

अथ इति। अथ रक्षो रावणोऽयसां लोहस्य शङ्कुभिः कीलैश्चितां व्याप्तां शतघ्नीं लोहकण्टककीलितयष्टिविशेषम्। 'शतघ्नी तु चतुर्हस्ता लोहकण्टकसञ्चिता यष्टिः' इति केशवः। हृतां विवस्वत्सुताम्। वैवस्वतस्यान्तकस्य कूटशाल्मलिमिव। यामे

रावणायाक्षिपत्क्षिप्तवान् । कूटशाल्मलिरिव कूटशाल्मलिरिति व्युत्पत्त्या वैवस्वतगदाया गौणी संज्ञा । कूटशाल्मलिर्नामैकमूलप्रकृतिः कण्टकीवृक्षविशेषः । 'रोचनः कूटशाल्मलिः' इत्यमरः । तत्सादृश्यं च गदाया अयःशङ्कुचितत्वादनुसन्धेयम् ॥ ९५ ॥

इसके बाद राक्षस (रावण) ने लोहके कीलोंसे व्याप्त शतघ्नी (यष्टिके आकारवाले शस्त्र-विशेष) को, विजयमें प्राप्त हुई यमराजके कूटशाल्मलि (कण्टकयुक्त मूलवाली शाल्मलीके समान गदा) के समान रामको मारनेके लिये फेंका ॥ ९५ ॥

राघवो रथमप्राप्तां तामाशां च सुरद्विषाम् ।
अर्धचन्द्रमुखैर्बाणैश्चिच्छेद कदलीसुखम् ॥ ९६ ॥

राघव इति । राघवो रथमप्राप्तां तां शतघ्नीं सुरद्विषां रक्षसामाशां विजयतृष्णां च । 'आशा तृष्णादिशोः प्रोक्ता' इति विश्वः । अर्धचन्द्र इव मुखं येषां तैर्बाणैः कदलीवत्सुखं यथा तथा चिच्छेद । अथवा कदल्यामिव सुखमक्लेशो यस्मिन्कर्मणि तदिति विग्रहः ॥ ९६ ॥

रामने रथतक नहीं पहुँची हुई उस गदाको तथा राक्षसों की आशाको अर्द्धचन्द्राकार फलों वाले बाणोंसे केलेके समान सुखपूर्वक काट दिया (राक्षसोंको आशा थी कि इस शक्तिसे राम अवश्यमेव मर जायेंगे, किन्तु जब रामने उसको केलेके समान अनायासही काट दिया तो उनकी आशा नष्ट हो गई) ॥ ९६ ॥

अमोघं सन्दधे चास्मै धनुष्येकधनुर्धरः ।
ब्राह्ममस्त्रं प्रियाशोकशल्यनिष्कर्षणौषधम् ॥ ९७ ॥

अमोघमिति । एकोऽद्वितीयो धनुर्धरो रामः प्रियायाः शोक एव शल्यं तस्य निष्कर्षणमुद्धारकं यदौषधं तदमोघं सफलं ब्राह्मं ब्रह्मदेवताकमस्त्रमभिमन्त्रितं बाणमस्मै रावणाय च, तद्वधार्थमित्यर्थः । धनुषि सन्दधे ॥ ९७ ॥

प्रधान धनुर्धर (राम) ने प्रिया सीताके शोक रूपी काँटेके निकालनेमें औषधरूप सफल ब्रह्मास्त्रको इस (रावणको मारने) के लिये धनुषपर रक्खा ॥ ९७ ॥

तद्व्योम्नि शतधा भिन्नं ददृशे दीप्तिमन्मुखम् ।
वपुर्महोरगस्येव करालफणमण्डलम् ॥ ९८ ॥

तदिति । व्योम्नि शतधा भिन्नं प्रसृतं दीप्तिमन्ति मुखानि यस्य तद् ब्रह्मास्त्रम् । करालं भीषणं तुङ्गं वा फणमण्डलं यस्य तत्तथोक्तम् । 'करालो दन्तुरे तुङ्गे करालो भीषणेऽपि च' इति विश्वः । महोरगस्य शेषस्य वपुरिव । ददृशे दृष्टम् ॥ ९८ ॥

आकाशमें सैकडों तरफ फैला हुआ, चमकते हुए फलों (अग्रभागों) वाला वह (ब्रह्मास्त्र) भयङ्कर फणा-समूहवाले शेषके शरीरके समान दिखाई पड़ा ॥ ९८ ॥

विक्रमव्यतिहारेण सामान्याऽभूद्द्वयोरपि ।
जयश्रीरन्तरा वेदिर्मत्तवारणयोरिव ॥ ९३ ॥

विक्रमेति । जयश्रीर्विक्रमस्य व्यतिहारेण पर्यायक्रमेण तयोर्द्वयोरपि । अन्तरा मध्ये । अव्ययमेतत् । वेदिर्वेदिकाकारा भित्तिर्मत्तवारणयोरिव । सामान्या साधारणाऽभूत्, अनन्यतरनियतेत्यर्थः । अत्र मत्तवारणयोरित्यत्र द्वयोरित्यत्र च 'अन्तरान्तरेण युक्ते' इति द्वितीया न भवति । अन्तराशब्दस्योक्तार्थाभावात् । मध्ये कमपि भित्तिं कृत्वा गजौ योधयन्तीति प्रसिद्धिः ॥ ९३ ॥

पराक्रमके व्यतिहारसे (कभी रामके पराक्रम बढ़नेसे तथा कभी रावणके पराक्रम बढ़नेसे) उन दोनोंके मध्यमें विजयलक्ष्मी उस प्रकार सामान्य (कभी रामके पक्षमें कभी रावणके पक्षमें) हुई जिस प्रकार लड़ते हुए भी मतवाले हाथियोंके बीचमें वेदी सामान्य रूपमें होती है (किसी वेदीके आधारवाली भित्तिको मध्यमें करके दो हाथियों का परस्परमें युद्ध कराना लोक प्रसिद्ध है) ॥ ९३ ॥

कृतप्रतिकृतप्रीतैस्तयोर्मुक्तां सुरासुरैः ।
परस्परशराव्राता पुष्पवृष्टिं न सेहिरे ॥ ९४ ॥

कृतेति । रामरावणयोः कृतं प्रतिकृतं पराक्रमप्रतीकारस्ताभ्यां प्रीतैः सुरासुरैर्यथासंख्यं तयो रामरावणयोर्मुक्तां पुष्पवृष्टिम् । इतीमिति शेषः । परस्परं शरव्राता न सेहिरे । अहमेवार्थं किं त्वयेति वाच्यताक्षेपेणैवेतरेतरपुष्पवृष्टिमपातयदित्याशयः ॥ ९४ ॥

कृत (किसी पर मारनेके लिये छोड़ा गया बाण) तथा प्रतिकृत (अपनी रक्षाके लिये उस छोड़े गये बाणको नष्ट करनेके लिये बाण छोड़ना) से प्रसन्न देवता और राक्षसोंसे की गई पुष्पवृष्टिको परस्परका बाणसमूह नहीं सहन किया । (राम तथा रावण परस्परमें एक दूसरेपर बाण छोड़कर मारते थे तथा उनके छोड़े गये बाणको बाणसे छिन्न-भिन्नकर आत्म-रक्षा करते थे, इससे देवता तथा राक्षस प्रसन्न होकर क्रमशः राम तथा रावणपर पुष्पवर्षा करते थे किन्तु वे दोनों इतना अधिक बाण छोड़ते थे कि पुष्प भूमिमें नहीं गिरकर ऊपरही रह जाते थे) ॥ ९४ ॥

अयःशङ्कुचितां रक्षः शतघ्नीमथ शत्रवे ।
हृतां वैवस्वतस्येव कूटशाल्मलिमक्षिपत् ॥ ९५ ॥

अथ इति । अथ रक्षो रावणोऽयसां लोहानां शङ्कुभिः कीलैश्चितां व्याप्तां शतघ्नीं लोहकण्टकसंकीर्णशिलाविशेषम् । 'शतघ्नी तु चतुस्ताला लोहकण्टकसंचिता यष्टिः' इति केशवः । हृतां विलुप्तस्थानाम् । वैवस्वतस्यान्तकस्य कूटशाल्मलिमिव । अन्ये

सल्लकीमातृभेदयोः ॥ सुगन्धौ च मनोज्ञे च वाच्यवत्सुरभि स्मृतम्' । इति विश्वः । सुरविमुक्त पुष्पवर्षमुपनत आसन्नो मणिवन्धो राज्याभिषेकसमये भावी यस्य तस्मि न्पौलस्त्यशत्रो रामस्य मूर्ध्नि शिरसि पपात । इदमेव राज्याभिषेकसूचकमिति भाव. । मालिनीवृत्तमेतत् ॥ १०२ ॥

इसके बाद भावी रामराज्याभिषेकमें समीपतममणिवन्धयुक्त होनेवाले, रामके (अथवा—अञ्जलि युक्त) मस्तकपर देवोंने फूलोंकी वर्षाकी, तब उन फूलोंके अतिशय सुगन्धित होनेके कारण हाथियोंके मदजलका पान करनेसे भारी पखोंवाले भी भ्रमरसमूह दिक्पालोंके हाथियोंके गण्डस्थलको छोडकर उन फूलों पर ही आ गये थे ॥ १०२ ॥

यन्ता हरे. सपदि संहृतकार्मुकज्य-
मापृच्छ्य राघवमनुष्ठितदेवकार्यम् ।
नामाङ्करावणशराङ्कितकेतुयष्टि-
मूर्ध्वं रथ हरिसहस्रयुज निनाय ॥ १०३ ॥

यन्तेति । हरेरिन्द्रस्य यन्ता मातलि' सपदि संहृतकार्मुकज्यमनुष्ठितं देवकार्यं रावणवधरूप येन त राघवमापृच्छ्य साधु यामीत्यामन्त्र्य । नामाङ्कैर्नामाक्षरचिह्नै रावणशरैरङ्किता चिह्निता केतुयष्टिर्ध्वजदण्डो यस्य तम् । हरीणां वाजिनां सहस्रेण युज्यत इति हरिसहस्रयुक् तम् । 'यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवाजिषु । शुका-हिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु' इत्युभयत्राप्यमर' । रथमूर्ध्वं निनाय नीत-वान् ॥ १०३ ॥

इन्द्रका सारथि (मातलि) धनुष-बाण को समेटे हुए, देवकार्य (रावण-वधरूप) को पूरा किये हुए (राम) से पूछ कर नाम खुदे हुए रावण के बाणों से चिह्नित पताकाके दण्डवाले सहस्र घोडोंसे युक्त रथको ऊपर (स्वर्गमें) ले गया ॥ १०३ ॥

रघुपतिरपि जातवेदोविशुद्धा प्रगृह्य प्रियां
प्रियसुहृदि विभीषणे सङ्गमय्य श्रिय वैरिणः ।
रविसुतसहितेन तेनानुयात' ससौमित्रिणा
भुजविजितविमानरत्नाधिरूढः प्रतस्थे पुरीम् ॥१०४॥

रघुपतिरिति । रघुपतिरपि जातवेदस्याग्नौ विशुद्धां जातशुद्धिं प्रियां सीतां प्रगृह्य स्वीकृत्य । प्रियसुहृदि विभीषणे वैरिणो रावणस्य श्रिय राज्यलक्ष्मीं सङ्गमय्य सङ्गतां कृत्वा । गमेर्ण्यन्ताल्ल्यप्प्रत्यय । 'मितां ह्रस्व' इति ह्रस्वः । 'ल्यपि लघुपूर्वात्' इति णेरयादेश । रविसुतसहितेन सुग्रीवयुक्तेन ससौमित्रिणा सलक्ष्मणेन तेन विभी-षणेनानुयातोऽनुगतः सन् । विमानं रत्नमिव विमानरत्नमित्युपमितसमासः । भुज

तेन मन्त्रप्रयुक्तेन निमेषार्धादपातयत् ।
स रावणशिरःपङ्क्तिमज्ञातव्रणवेदनाम् ॥ ९९ ॥

तेनेति । स रामो मन्त्रप्रयुक्तेन तेनास्त्रेणाज्ञातव्रणवेदनामतिक्षिप्रपातादननुभूतव्रणदुःखां रावणशिरःपङ्क्तिं निमेषार्धादपातयामास ॥ ९९ ॥

उस (राम) ने मन्त्रपूर्वक छोड़े गये उस (ब्रह्मास्त्र) से (अत्यन्त शीघ्रताके कारण) वेदना का अनुभव नहीं करनेवाले, रावणके मस्तक-समूहको आधे पलकमें (क्षणभर) गिरा दिया ॥ ९९ ॥

बालार्कप्रतिमेवाप्सु वीचिभिन्ना पतिष्यतः ।
रराज रक्षःकायस्य कण्ठच्छेदपरम्परा ॥ १०० ॥

बालार्केति । पतिष्यतः भाविपातस्य रक्षःकायस्य रावणकलेवरस्य छिद्यन्त इति छेदाः खण्डाः । कण्ठानां ये छेदास्तेषां परम्परा पङ्क्तिः । वीचिभिर्भिन्ना बालार्कस्याप्सु बालार्कस्य प्रतिमा प्रतिबिम्बमिव रराज । अर्कस्य बालविशेषणमारुण्यप्रसिद्ध्यर्थमिति भावः ॥ १०० ॥

भावीपतन (भविष्यमें गिरनेवाले) राक्षस-शरीरके कण्ठोंके कटनेका क्रम जलमें तरङ्गसे खण्डित किये बालसूर्यके प्रतिबिम्बके समान शोभित हुई ॥ १०० ॥

मरुतां पश्यतां तस्य शिरांसि पतितान्यपि ।
मनो नातिविशश्वास पुनः सन्धानशङ्किनाम् ॥ १०१ ॥

मरुतामिति । पतितानि तस्य रावणस्य शिरांसि पश्यतामपि पुनःसन्धानशङ्किनां पूर्वं तथादर्शनादिति भावः । मरुताममराणाम् । 'मरुतौ पवनामरौ' इत्यमरः । मनः चित्तं नातिविशश्वास न विशश्वास ॥ १०१ ॥

रावणके गिरे हुए भी मस्तकोंको देखते हुए फिर जुड़ जानेकी शङ्का करनेवाले देवोंके मन पूरा २ विश्वास नहीं किया। (शिवजीकी पूजामें मस्तकोंको काटकर चढ़ानेपर जिस प्रकार वे पुनः जुड़ गये उसी प्रकार फिर भी न जुड़ जाय ऐसी शङ्का देवताओंके मनमें कुछ २ बनी रही) ॥ १०१ ॥

अथ मदगुरुपक्षैर्लोकपालद्विपानामनुगतमलिवृन्दैर्गण्डभित्तीर्विहाय ।
उपनतमणिबन्धे मूर्ध्नि पौलस्त्यशत्रोः सुरभि सुरविमुक्तं पुष्पवर्षं पपात ॥

अथेति । अथ अनेन पद्यपञ्चकप्रकारसमूहेन गुरुपक्षैर्मदभारवद्भिः लोकपालद्विपानां गण्डभित्तीर्विहायानुगतमनुसृतं सुरभि सुगन्धि । 'सुरभिस्तु स्त्रियां गवि सुगन्धौ चाभिधेयवत्' इत्यमरः । पौलस्त्यशत्रोः

इसके बाद गुणज्ञाता रामनामक विष्णुशब्द गुणवाले, अपने (विष्णुके) पद को अर्थात् आकाशको विमान से पार करते हुए समुद्रको देखकर एकान्तमें प्रिया (सीता) से यह कहने लगे ॥ १ ॥

वैदेहि पश्यामलयाद्विभक्तं मत्सेतुना फेनिलमम्बुराशिम् ।
छायापथेनेव शरत्प्रसन्नमाकाशमाविष्कृतचारुतारम् ॥ २ ॥

वैदेहीति । हे वैदेहि सीते ! आ मलयान्मलयपर्यन्तम् । 'पञ्चम्यपाङ्परिभि' इति पञ्चमी । पदद्वयं चैतत् । मत्सेतुना विभक्तं द्विधाकृतम्, अत्यायतसेतुनेत्यर्थः । दर्पाधिक्याच्च मद्ग्रहणम् फेनिलं फेनवन्तम् । 'फेनादिलच्च' इतीलच्प्रत्ययः । क्षिप्रकारी चायमिति भावः । अम्बुराशिम् । छायापथेन विभक्तं शरत्प्रसन्नमाविष्कृतचारुतारमाकाशमिव पश्य मम महानयं प्रयासस्त्वदर्थं इति हृदयम् । छायापथो नाम ज्योतिश्चक्रमध्यवर्ती कश्चित्तिरश्चीनोऽवकाशः ॥ २ ॥

हे जनकनन्दिनि ! मलय पर्वततक मेरे पुलसे विभक्त और फेनयुक्त, छायापथसे विभक्त शरद् ऋतुमें निर्मल सुन्दर ताराओंसे युक्त आकाशके समान, समुद्रको देखो ॥ २ ॥

गुरोर्यियक्षोः कपिलेन मेध्ये रसातलं सङ्क्रमिते तुरङ्गे ।
तदर्थमुर्वीमवदारयद्भिः पूर्वैः किलायं परिवर्धितो नः ॥ ३ ॥

गुरोरिति । यियक्षोर्यष्टुमिच्छोः । यजेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । गुरोः सगरस्य मेध्येऽश्वमेधार्हे तुरगे हये कपिलेन मुनिना रसातलं पातालं सङ्क्रमिते सति । तदर्थमुर्वीवदारयद्भिः खनद्भिर्नोऽस्माकं पूर्वैर्वृद्धैः सगरसुतैरयं समुद्रः परिवर्धितः किल । किलेत्यैतिह्ये । अतो नः पूज्य इति भावः । यद्यपि तुरङ्गहारी शतक्रतुस्तथापि तस्य कपिलसमीपे दर्शनात्स एवेति तेषां भ्रान्तिः तन्मतस्यैव कविना कपिलेनेति निर्दिष्टम् ॥ ३ ॥

(अश्वमेध) यज्ञ करनेके इच्छुक गुरु (पूज्य सगर) के यज्ञिय (यज्ञ-सम्बन्धी) घोड़ेको कपिलमुनिके पास (इन्द्रके द्वारा चुराकर) पातालमें बांधेजानेपर उस घोड़ेके लिये पृथ्वीको खोदने वाले हमारे पूर्वजों (सगरके साठ सहस्र पुत्रोंने) इस समुद्रको बढाया है ॥ ३ ॥

गर्भं दधत्यर्कमरीचयोऽस्माद्विवृद्धिमत्राश्नुवते वसूनि ।
अविन्धनं वह्निमसौ बिभर्ति प्रह्लादनं ज्योतिरजन्यनेन ॥ ४ ॥

गर्भमिति । अर्कमरीचयोऽस्मादब्धेः । अपादानात् । गर्भमम्मयं दधति, सृष्ट्यर्थमित्यर्थः । अयमर्थो दशमसर्गे-'ताभिर्गर्भः' इत्यत्र स्पष्टीकृतः । अयं लोकोपकारीति भावः । अत्राब्धौ वसूनि धनानि । 'धने रत्ने वसु स्मृतम्' इति विश्वः । विवृद्धिमश्नुवते प्राप्नुवन्ति, सम्पद्यन्तानित्यर्थः । असावाप इन्धनं दाह्यं यस्य तद्दाहकं वह्निं

निर्मितं पद्मिमावर्ज्यं पुष्पकं तदारूढः सन् । पुरीमयोध्यां प्रतस्थे । 'समवप्रविभ्यः स्थः' इत्यात्मनेपदम् । अत्र प्रस्थानक्रियाया अकर्मकत्वेऽपि तदङ्गभूतोद्देशक्रियापेक्षया सकर्मकत्वम् । अस्ति च धातूनां क्रियान्तरोपसर्जनकस्वार्थाभिधायकत्वम् । यथा 'कुसूलात्पचति' इत्यत्रापादानक्रियापेक्षं पाकं विधीयत इति ॥ १०४ ॥

इति महामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया सञ्जीविनीसमाख्यया
व्याख्यया समेतो महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
रावणवधो नाम द्वादशः सर्गः ॥ १२ ॥

राम भी अग्नि (परीक्षा से) शुद्ध प्रिया (सीता) को पाकर प्रिय मित्र विभीषणको शत्रु (रावण) की राज-लक्ष्मी देकर पूर्व-सखा (सुग्रीव तथा लक्ष्मणके सहित उस (विभीषण) से अनुगत होकर बाहु (बल) से जीते गये विमानश्रेष्ठ पुष्पकविमान पर सवार होकर अयोध्यापुरीको चले ॥ १०४ ॥

यह 'मणिप्रभा' टीकामें 'रघुवंश' महाकाव्यका 'रावणवध'
नामक द्वादश सर्ग समाप्त हुआ ॥ १२ ॥

त्रयोदशः सर्गः

त्रैलोक्यरक्षोदरणाय सिन्धोरुद्धार यश्च भरणं रिपूणाम् ।
पुण्यप्रणामं भुवनाभिरामं रामं विरामं विपदामुपासे ॥

अथात्मनः शब्दगुणं गुणज्ञः पदं विमानेन विगाहमानः ।
रत्नाकरं वीक्ष्य मिथः स जायां रामाभिधानो हरिरित्युवाच ॥ १ ॥

अथेति । अथ प्रस्थानानन्तरम् । आगमशीलि ज्ञः । 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' इत्यनेन कप्रत्ययः । गुणानां ज्ञो गुणज्ञः । रत्नाकरादिवर्णनैकगुणाभिज्ञ इत्यर्थः । स रामाभिधानो हरिर्विष्णुः शब्दो गुणो यस्य तच्छब्दगुणमात्मनः स्वस्य पदं विष्णुपदम् आकाशमित्यर्थः । 'वियद्विष्णुपदम्' इत्यमरः । 'शब्दगुणकमाकाशम्' इति तार्किकाः । विमानेन पुष्पकेण विगाहमानः सन् । रत्नाकरं समुद्रं वीक्ष्य मिथो रहसि । 'मिथोऽन्योन्यं रहस्यपि' इत्यमरः । जायां पत्नीं सीतामिति वक्ष्यमाणमब्रवीद्वोवाच । रामस्य हरिरित्यभिधानं निरङ्कुशमहिमद्योतनार्थम् । मिथो ग्रहणं गोष्ठीविश्रम्भसूचनार्थम् ॥ १ ॥

त्रैलोक्य-रक्षक नाशको भी सिन्धु बाँधा रिपु हना ।
मन मोद-सुन्दर भवहर श्री राम को मैं भज मना ॥

इसके बाद गुणज्ञाता रामनामक विष्णुशब्द गुणवाले, अपने (विष्णुके) पद को अर्थात् आकाशको विमान से पार करते हुए समुद्रको देखकर एकान्तमें प्रिया (सीता) से यह कहने लगे ॥ १ ॥

वैदेहि पश्यामलयाद्विभक्तं मत्सेतुना फेनिलमम्बुराशिम् ।
छायापथेनेव शरत्प्रसन्नमाकाशमाविष्कृतचारुतारम् ॥ २ ॥

वैदेहीति। हे वैदेहि सीते! आ मलयान्मलयपर्यन्तम्। 'पञ्चम्यपाङ्परिभिः' इति पञ्चमी। पदद्वयं चैतत्। मत्सेतुना विभक्तं द्विधाकृतम्, अत्यायतसेतुनेत्यर्थः। हर्षाधिक्याच्च मद्ग्रहणम्। फेनिलं फेनवन्तम्। 'फेनादिलच्च' इतीलच्प्रत्ययः। क्षिप्रकारी चायमिति भावः। अम्बुराशिम्। छायापथेन विभक्तं शरत्प्रसन्नमाविष्कृतचारुतारमाकाशमिव पश्य मम महानयं प्रयासस्त्वदर्थं इति हृदयम्। छायापथो नाम ज्योतिश्चक्रमध्यवर्ती कश्चित्तिरश्चीनोऽवकाशः ॥ २ ॥

हे जनकनन्दिनि! मलय पर्वततक मेरे पुलसे विभक्त और फेनयुक्त, छायापथसे विभक्त शरद् ऋतुमें निर्मल सुन्दर ताराओंसे युक्त आकाशके समान, समुद्रको देखो ॥ २ ॥

गुरोर्यियक्षोः कपिलेन मेध्ये रसातलं सङ्क्रमिते तुरङ्गे ।
तदर्थमुर्वीमवदारयद्भिः पूर्वैः किलायं परिवर्धितो नः ॥ ३ ॥

गुरोरिति। यियक्षोर्यष्टुमिच्छोः। यजेः सन्नन्तादुप्रत्ययः। गुरोः सगरस्य मेध्येऽश्वमेधार्हे तुरगे हये कपिलेन मुनिना रसातलं पातालं सङ्क्रमिते सति। तदर्थमुर्वीमवदारयद्भिः खनद्भिर्नोऽस्माकं पूर्वैर्वृद्धैः सगरसुतैरयं समुद्रः परिवर्धितः किल। किलेत्यैतिह्ये। अतो नः पूज्य इति भावः। यद्यपि तुरङ्गहारी शतक्रतुस्तथापि तस्य कपिलसमीपे दर्शनात्स एवेति तेषां भ्रान्तिः तन्मतेनैव कविना कपिलेनेति निर्दिष्टम् ॥ ३ ॥

(अश्वमेध) यज्ञ करनेके इच्छुक गुरु (पूज्य सगर) के यज्ञिय (यज्ञ-सम्बन्धी) घोडेको कपिलमुनिके पास (इन्द्रके द्वारा चुराकर) पातालमें बांधेजानेपर उस घोडेके लिये पृथ्वीको खोदने वाले हमारे पूर्वजों (सगरके साठ सहस्र पुत्रोंने) इस समुद्रको बढाया है ॥ ३ ॥

गर्भं दधत्यर्कमरीचयोऽस्माद्विवृद्धिमत्राश्नुवते वसूनि ।
अबिन्धनं वह्निमसौ बिभर्ति प्रह्लादनं ज्योतिरजन्यनेन ॥ ४ ॥

गर्भमिति। अर्कमरीचयोऽस्मादब्धेः। अपादानात्। गर्भमम्मयं दधति, सृष्ट्यर्थमित्यर्थः। अयमर्थो दशमसर्गे-'ताभिर्गर्भः' इत्यत्र स्पष्टीकृतः। अयं लोकोपकारीति भावः। अत्राब्धौ वसूनि धनानि। 'धने रत्ने वसु स्मृतम्' इति विश्वः। विवृद्धिमश्नुवते प्राप्नुवन्ति, सम्पद्यन्तानित्यर्थः। असावपि इन्धनं दाह्यं यस्य तद्दाहकं वह्नि

बिभर्ति । अनपायोऽवाभिर्न न त्यजतीति भावः । अनेन महाजनमप्यात्मकं ज्योतिर्गणोऽजनि कथितम् । अनेर्ज्योत्स्नात्मकमपि सुहृद् । सौम्य इति भावः ॥ ४ ॥

इस समुद्रसे—सूर्य-किरण (बादल) गर्भ धारण करते हैं इस समुद्रमें रत्न बढ़ते हैं यह समुद्र जिसका अग्नि उत्पन्न है ऐसी बडवाग्निको धारण करता है और इस समुद्रने आह्लादक तेज अर्थात् चन्द्रमाको उत्पन्न किया है ॥ ४ ॥

तां तामवस्थां प्रतिपद्यमानं स्थितं दश व्याप्य दिशो महिम्ना ।
विष्णोरिवास्यानवधारणीयमीदृक्तया रूपमियत्तया वा ॥ ५ ॥

तामिति । तां तामनेकाम् । 'नित्यवीप्सयोः' इति वीप्सायां द्विरुक्तिः । अवस्थामवस्थाम्-[illegible] । विष्णुपक्षे-मत्स्याद्यवस्थाम् । प्रतिपद्यमानं भजमानं महिम्ना दश दिशो व्याप्य स्थितं विष्णोरिवास्य रत्नाकरस्य रूपं स्वरूपम् ईदृक्तया [illegible] इयत्तया वा परिमाणतः अनवधारणीयं दुर्निरूपम् ॥ ५ ॥

अनेक (अनेक) अवस्थाओंको (समुद्रपक्षमें—बढ़ना आदि तथा विष्णु पक्षमें—मत्स्य आदि अवतारोंको) ग्रहण करते हुए तथा महिमासे दसों दिशाओंमें व्याप्त होकर स्थित विष्णुके समान इस समुद्रका स्वरूप 'ऐसा है तथा इतना है' इस प्रकार निश्चय करनेके लिये अशक्य है ॥ ५ ॥

नाभिप्ररूढाम्बुरुहासनेन संस्तूयमानः प्रथमेन धात्रा ।
अमुं युगान्तोचितयोगनिद्रः संहृत्य लोकान्पुरुषोऽधिशेते ॥ ६ ॥

नाभीति । युगान्ते कल्पान्ते उचिता परिचिता योगः समाधिरेव निद्रा यस्य स पुरुषो विष्णुर्लोकान् भुवनानि संहृत्य । नाभ्यां प्ररूढं पद्मं तदासनेन तदासनेन तदधिष्ठानमासनं यस्य तेन प्रथमेन धात्रा ब्रह्मणा [illegible] संस्तूयमानः सन् । अमुमधिशेते अमुष्मिन्नेव शेत इत्यर्थः । कल्पान्तेऽप्यस्तीति भावः ॥ ६ ॥

प्रलय-कालमें योग-निद्राको ग्रहण किये हुये विष्णु संसारका संहारकर, नाभिसे उत्पन्न कमल पर स्थित (ब्रह्मा—आदि आदिको सृष्टि करनेवाले) ब्रह्मासे स्तुति किये जाते हुए इसी समुद्रमें सोते हैं अर्थात् यह प्रलयकालमें भी नष्ट नहीं होता है ॥ ६ ॥

पक्षच्छिदा गोत्रभिदात्तगन्धाः शरण्यमेनं शतशो महीध्राः ।
नृपा इवोपप्लविनः परेभ्यो धर्मोत्तरं मध्यममाश्रयन्ते ॥ ७ ॥

पक्षच्छिदेति । पक्षच्छिदा गोत्रभिदेन्द्रेण । आत्तगन्धाः 'सम्प्रति—' इत्यादिना

क्विप्। आत्तगन्धा हृतगर्वा, अभिभूता इत्यर्थः। 'गन्धो गन्धक आमोदे लेशे सम्बन्धगर्वयोः' इति विश्वः। 'आत्तगन्धोऽभिभूतः स्यात्' इत्यमरः। महीं धारयन्तीति महीध्राः पर्वताः। मूलविभुजादित्वात्कप्रत्ययः। शतं शतं शतशः शरण्यं रक्षणसमर्थमेनं समुद्रम्। परेभ्यः शत्रुभ्य उपप्लविनो भयवन्तो नृपा धर्मोत्तरं धर्मप्रधानं मध्यमं मध्यमभूपालमिव। आश्रयन्ते। 'अरेश्च विजिगीषोश्च मध्यमो भूम्यनन्तरः' इति कामन्दकः। आर्तबन्धुरिति भावः ॥ ७ ॥

पङ्खोंके काटनेवाले इन्द्रके द्वारा गर्व-शून्य किये गये जीते गये पर्वत सैकड़ोंके शरणमें सम्यक् व्यवहार करने वाले उस प्रकार आश्रय करते हैं, जिस प्रकार शत्रुओंसे पीडित राजा धर्मात्मा मध्यम राजाका आश्रय करते हैं ॥ ७ ॥

रसातलादादिभवेन पुंसा भुवः प्रयुक्तोद्वहनक्रियायाः ।
अस्याच्छमम्भः प्रलयप्रवृद्धं मुहूर्तवक्त्राभरणं बभूव ॥ ८ ॥

रसातलादिति। आदिभवेन पुंसाऽऽदिवराहेण रसातलात्प्रयुक्तोद्वहनक्रियायाः कृतोद्धरणक्रियायाः। विवाहक्रिया च व्यज्यते। भुवो भूदेवतायाः प्रलये प्रवृद्धमस्याब्धेरच्छमम्भो मुहूर्तं वक्त्राभरणं लज्जारक्षणार्थं मुखावगुण्ठनं बभूव। तदुक्तम्—'उद्धृतासि वराहेण कृष्णेन शतबाहुना' इति ॥ ८ ॥

जब आदि पुरुष (वराह) ने पातालसे पृथ्वीका उद्धार किया (विष्णु पक्षमें—विवाह किया) तब प्रलय-कालमें बढ़ा हुआ इसका जल मुहूर्त भरके लिये उस पृथ्वीके मुखका भूषण हुआ (वि० पक्षमें पृथ्वीरूपिणी नववधूके लज्जानिवारणार्थ घूँघट हुआ) ॥ ८ ॥

मुखार्पणेषु प्रकृतिप्रगल्भाः स्वयं तरङ्गाधरदानदक्षः ।
अनन्यसामान्यकलत्रवृत्तिः पिबत्यसौ पाययते च सिन्धूः ॥ ९ ॥

मुखेति। अन्येषां पुंसां सामान्याः साधारणा न भवतीत्यनन्यसामान्या कलत्रेषु वृत्तिर्भोगरूपा यस्य स तथोक्तः। इममेवार्थं प्रतिपादयति—तरङ्ग एवाधरस्तस्य दाने समर्पणे दक्षश्चतुरोऽसौ समुद्रो मुखार्पणेषु प्रकृत्या सख्यादिप्रेरणं विना प्रगल्भा धृष्टाः सिन्धूर्नदीः। 'सिन्धुः समुद्रे नद्यां च' इति विश्वः। स्वयं पिबति पाययते च तरङ्गाधरमिति शेषः। 'न पादम्याङ्यमा०' इत्यादिना पिबतेर्ण्यन्तान्नित्यं परस्मैपदनिषेधः 'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थ०' इत्यादिना सिन्धूनां कर्मत्वम्। दम्पत्योर्युगपत्परस्पराधरपानमनन्यसाधारणमिति भावः ॥ ९ ॥

(नदीरूप) स्त्रियोंसे अनन्य साधारण भोग करनेवाला और स्वयं तरङ्गरूप अधरको देनेवाला यह समुद्र मुख-दान करनेमें स्वभावतः धृष्ट नदियोंको स्वयं पान करता है और कराता है। (सम्भोगकालमें दम्पतिका परस्पर अधरपान करना कामतन्त्र प्रसिद्ध है) ॥९॥

ससत्त्वमादाय नदीमुखाम्भः सम्मीलयन्तो विवृताननत्वात् ।
अमी शिरोभिस्तिमयः सरन्ध्रैरूर्ध्वं वितन्वन्ति जलप्रवाहान् ॥१०॥

ससत्त्वमिति । अमी तिमयो मत्स्यविशेषाः । तदुक्तम्— अस्ति मत्स्यस्तिमिर्नाम शतयोजनमायतः इति । विवृताननत्वाद्व्यात्तमुखत्वाद्धेतोः व्यादानविवृतत्वेन वा । ससत्त्वं मत्स्यादिप्राणिसहितं नदीमुखाम्भ आदाय सम्मीलयन्तो मुखपुटानि संवृण्वन्तः सन्तः सरन्ध्रैः शिरोभिर्जलप्रवाहानूर्ध्वं वितन्वन्ति । जलयन्त्रलीलामनुभवन्तीति विभाव्यते ॥ १० ॥

ये तिमि (बड़ी२ मछलियाँ) मुखके बहुत बड़ा होनेके कारण नदियोंके मुहानेमें जन्तुओंके सहित जलको (मुखमें) लेकर फिर मुखको बन्द करती हुई छिद्र युक्त मस्तकों के ऊपरी भागसे (फौवारेके समान) जलकी धाराको छोड़ती हैं ॥ १० ॥

मातङ्गनक्रैः सहसोत्पतद्भिर्भिन्नान्द्विधा पश्य समुद्रफेनान् ।
कपोलसंसर्पितया य एषां व्रजन्ति कर्णक्षणचामरत्वम् ॥ ११ ॥

मातङ्गेति । सहसोत्पतद्भिर्मातङ्गनक्रैर्गजाकारैर्ग्राहैर्द्वेधा भिन्नान्समुद्रफेनान्पश्य । ये फेना एषां मातङ्गनक्राणां कपोलेषु संसर्पितया संसर्पणेन हेतुना कर्णेषु क्षणं चामरत्वं व्रजन्ति ॥ ११ ॥

एकाएक उछलते हुए गजाकार विशाल मगरोंसे दो भागोंमें विभक्त समुद्रके फेनोंको देखो जो फेन इन (मगरों) के कपोलोंके पास स्थित होनेसे क्षणमात्र कानोंमें चामरत्व को धारण करते हैं ॥ ११ ॥

वेलानिलाय प्रसृता भुजङ्गा महोर्मिविस्फूर्जथुनिर्विशेषाः ।
सूर्यांशुसम्पर्कसमृद्धरागैर्व्यज्यन्त एते मणिभिः फणस्थैः ॥ १२ ॥

वेलेति । वेलानिलाय । वेलानिलं पातुमित्यर्थः । 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' इत्यनेन चतुर्थी । प्रसृता निर्गता महोर्मीणां विस्फूर्जथुघोषेण । 'वीचिघोषे तु विस्फूर्जथुः' इत्युत्पलमाला । तस्मान्निर्विशेषा दुर्लक्षभेदा एते भुजङ्गाः सूर्यांशुसम्पर्केण समृद्धरागैः प्रवृद्धकान्तिभिः फणस्थैर्मणिभिर्व्यज्यन्त व्यक्तीक्रियन्ते ॥ १२ ॥

तीरकी वायुका पान करनेके लिये बाहर निकले हुए, बड़े २ तरङ्गोंके सदृशके समान स्थित ये सर्प किरणोंके पड़नेसे चमकते हुए फणस्थित मणियोंसे मालूम पड़ते हैं ॥ १२ ॥

तवाधरस्पर्धिषु विद्रुमेषु पर्यस्तमेतत्सहसोर्मिवेगात् ।
ऊर्ध्वाङ्कुरप्रोतमुखं कथंचित्क्लेशादपक्रामति शङ्खयूथम् ॥ १३ ॥

तवेति । तवाधरस्पर्धिषु, अधरसदृशेष्वित्यर्थः । विद्रुमेषु प्रवालेषु सहसोर्मिवेगा-

स्पर्यस्तं प्रोत्क्षिप्तसमूर्ध्वाङ्कुरविद्रुमप्ररोहे। प्रोतमुखं स्यूतवदनमेतच्छङ्खानां यूथ वृन्दं कथञ्चित्क्लेशादपक्रामति विलम्ब्यापसरतीत्यर्थ ॥ १३ ॥

तुम्हारे अधरके समान प्रवालों (मूंगाओं) में सहसा तरङ्गों के वेग से ऊपर आया हुआ ऊपर में स्थित (प्रवालोंके) अङ्कुरोंमें फँसा हुआ शङ्ख-समूह किसी प्रकार कठिनाईसे अर्थात् रुकनेसे कुछ विलम्बकर अलग होता है ॥ १३ ॥

प्रवृत्तमात्रेण पयांसि पातुमावर्तवेगाद्भ्रमता घनेन।
आभाति भूयिष्ठमयं समुद्र प्रमथ्यमानो गिरिणेव भूय ॥ १४ ॥

'प्रवृत्तेति। पयांसि पातु प्रवृत्त एव प्रवृत्तमात्रो न पीतवांस्तेनावर्तवेगात्। 'स्यादावर्तोऽम्भसो भ्रम' इत्यमर। भ्रमता घनेन मेघेनाय समुद्रो भूय पुनरपि गिरिणा मन्दरेण प्रमथ्यमान इव भूयष्ठिमत्यन्तमाभाति ॥ १४ ॥

जलको पीनेके लिये आरम्भ करते हुए भँवर (पानी का चकोह) से घूमते हुए बादल से यह समुद्र फिर सुमेरुसे मथे जाते हुए के समान अत्यन्त शोभित होता है ॥ १४ ॥

दूरादयश्चक्रनिभस्य तन्वी तमालतालीवनराजिनीला।
आभाति वेला लवणाम्बुराशेर्धारानिबद्धेव कलङ्करेखा ॥ १५ ॥

दूरादिति। अयश्चक्रनिभस्य लोहचक्रसदृशस्य। लवणाम्बुराशेर्दूरात्तन्व्यणुत्वेनावभासमाना तमालतालीवनराजिभिर्नीला वेला तीरभूमिर्धारानिबद्धा चक्राश्रिता कलङ्करेखा मालिन्यरेखेव। आभाति। 'मालिन्यरेखां तु कलङ्कमाहु' इति दण्डी ॥ १५ ॥

लोहचक्रके समान क्षारसमुद्रकी वेला दूरसे छोटी मालूम पड़ती हुई और तमालों तथा तालों की वनराजिसे श्यामवर्णवाली धारासे निबद्ध कलङ्करेखा के समान मालूम पड़ती है ॥

वेलानिल केतकरेणुभिस्ते सम्भावयत्याननमायताक्षि।
मामक्षमं मण्डनकालहानेर्वेत्तीव बिम्बाधरबद्धतृष्णम् ॥ १६ ॥

वेलेति। हे आयताक्षि। 'वेला स्यात्तीरनीरयो' इति विश्व। वेलानिलः समुद्रतीरवायु केतकरेणुभिस्त आनन सम्भावयति। किमर्थमित्यपेक्षायामुत्प्रेक्षते— बिम्बाधरे बद्धतृष्ण मा मण्डनेनाभरणक्रियया कालहानिर्विलम्बस्तस्या अक्षममसहमानम्। कर्मणि षष्ठी। कालहानिमसहमान वेत्तीव वेत्ति किम्। नो चेत्कथ सम्भावयेदित्यर्थ ॥ १६ ॥

हे विशाललोचनवाली सीता! समुद्रतट की हवा (तुम्हारे अधरोंके प्यासे और मण्डनजन्य समयातिक्रम (विलम्ब) को सहनेमें असमर्थ मुझको जानती हुई-के समान, केतकी-पुष्पके परागोंसे तुम्हारे मुखको अलङ्कृत कर रही है ॥ १६ ॥

त्वमिति । हे भीरु भयशीले ! 'रक्षसा' इत्यूह्य यतो वदीत्वात्समुद्धी हरन्त्या । तं रक्षसा रावणेन यतो येन मार्गेण । मार्गमिमविज्ञातवत्यसि । अपनीतावस्थया ते मार्ग पातिनिमित्ताभावात्तमनवबुध्य एता कथा वीरम आवर्जिता लतिकाः पल्लवा या विस्पाकीवा पाणिस्ताभिः शाखाभिः स्वावयवभूताभिः कृपया मेऽन्वर्दर्शन् । इत्यते हमा सूचयन्तीत्यर्थः । शाखा हस्तान्तरे भुजे' इति विश्वः । कथाऽप्यभीवामपि शाखा स्तोम, तदुक्तं मनुना-'मन्तर्गता भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विता' इति ॥ २४ ॥

हे भीरु ! रावण (राक्षस) तुमको जिस रास्तेसे ले गया, बोलनेमें असमर्थ इन लता ओंने झुकते हुए पत्तोंवाली शाखाओंसे दया मार्गको बताकर मुझे दिखलाया ॥ २४ ॥

मृग्यश्च दर्भाङ्कुरनिर्व्यपेक्षास्तवागतिज्ञं समबोधयन्माम् ।
व्यापारयन्त्यो दिशि दक्षिणस्यामुत्पक्ष्मराजीनि विलोचनानि ॥ २५ ॥

मृग्य इति । दर्भाङ्कुरेषु भक्ष्येषु निर्व्यपेक्षा निःस्पृहा मृग्यो मृगाङ्गनाश्चोत्पक्ष्म राजीनि विलोचनानि दक्षिणस्यां दिशि व्यापारयन्त्यः प्रसारयन्त्यः सत्यस्तवागतिज्ञं मार्गमविज्ञं मां समबोधयन् । पक्षिपेक्षया व्यवहितमबोधयन्नित्यर्थः ॥ २५ ॥

कुशाओंके अङ्कुरमें निःस्पृह हरिणियां भी ऊपर किये हुए पलक-समूह वाले नेत्रोंसे दक्षिण दिशा की ओर देखती हुई तुम्हारी गतिको नहीं जाननेवाले मुझको तुम्हारा रास्ता बतलाई ॥ २५ ॥

एतद्गिरेर्माल्यवतः पुरस्तादाविर्भवत्यम्बरलेखि शृङ्गम् ।
नवं पयो यत्र घनैर्मया च त्वद्विप्रयोगाश्रु समं विसृष्टम् ॥ २६ ॥

एतदिति । माल्यवतो नाम गिरेरम्बरलेखि गगनचुम्बि शृङ्गं शिखरमेतत्पुरस्तादग्रे आविर्भवति यत्र शृङ्गे घनैर्मेघैर्नवं पयो मया त्वद्विप्रयोगेण अश्रु च समं युगपद्विसृष्टं मुक्तम् । मेघदर्शनात्पर्युत्सुकत्वमश्रु विसृष्टमिति भावः ॥ २६ ॥

माल्यवान् पर्वतका आकाश चूमनेवाला शिखर दिख रहा है जहाँपर बादल नया जल बरसाते थे तथा मैंने तुम्हारे विरहसे आँसूकी धार बरसायी थी अर्थात् बरसते हुए मेघको देखकर तुम्हारे विरहसे पीड़ित होकर मैंने अत्यन्त रोया था ॥ २६ ॥

गन्धश्च धाराहतपल्वलानां कादम्बमर्धोद्गतकेसरं च ।
स्निग्धाश्च केकाः शिखिनां बभूवुर्यस्मिन्नसह्यानि विना त्वया मे ॥ २७ ॥

गन्ध इति । यस्मिञ्छृङ्गे धाराभिर्वर्षधाराभिराहतानां पल्वलानां गन्धश्च अर्धोद्गतकेसरं कादम्बं नीपकुसुमं च स्निग्धा मधुराः शिखिनां बर्हिणाम् 'शिखिनौ वह्नि-बर्हिणौ' इत्यमरः । केकाश्च त्वया विना मेऽसह्यानि बभूवुः । 'नपुंसकम्—' इति नपुंसकैकशेषः ॥ २७ ॥

जिस (माल्यवानके शिखर) पर वर्षाकी धाराओंसे ताडित पल्लवोंका गन्ध, आधे निकले हुए केसरोंवाला कदम्बपुष्प और मयूरोंके मनोहर शब्द तुम्हारे बिना मुझे असह्य हो गये थे ॥ २७ ॥

पूर्वानुभूतं स्मरता च यत्र कम्पोत्तरं भीरु तवोपगूढम् ।
गुहाविसारीण्यतिवाहितानि मया कथञ्चिद्घनगर्जितानि ॥ २८ ॥

पूर्वेति । किञ्च हे भीरु ! यत्र शृङ्गे पूर्वानुभूतं कम्पोत्तरं कम्पप्रधानं तवोपगूढमुपगूहनं मेघस्तनितश्रवणेन भीरुस्वभावत्वात्त्वया, कृतमालिङ्गनमित्यर्थः । स्मरता मया गुहाविसारीणि घनगर्जितानि कथञ्चिदतिवाहितानि स्मारकत्वेनोद्दीपकत्वात्, क्लेशेन गमितानीत्यर्थः ॥ २८ ॥

हे भीरु ! जिस (महेन्द्रके शिखर) पर पहले अनुभूत (मेघके भयङ्कर गर्जनेसे डरने के कारण) अधिक कम्पन युक्त तुम्हारे आलिङ्गनको स्मरण करते हुये मैंने गुफाओं (प्रतिध्वनित होनेसे) में बढ़े हुये, मेघ-गर्जनको किसी तरह अर्थात् बडे कष्टसे बिताया ॥ २८ ॥

आसारसिक्तक्षितिबाष्पयोगान्मामक्षिणोद्यत्र विभिन्नकोशैः ।
विडम्ब्यमाना नवकन्दलैस्ते विवाहधूमारुणलोचनश्री ॥ २९ ॥

आसारेति । यत्र शृङ्गे विभिन्नकोशैर्विकसितकुड्मलैर्नवकन्दलैः कन्दलीपुष्पैररुणवर्णैरासारेण धारासम्पातेन । 'धारासम्पात आसारः' इत्यमरः । सिक्तायाः क्षितेर्बाष्पस्य धूमवर्णस्य योगाद्धेतोर्विडम्ब्यमानाऽनुक्रियमाणा ते विवाहधूमेनारुणा लोचनश्रीः सादृश्यात्स्मर्यमाणेति शेषः । मामक्षिणोदपीडयत् ॥ २९ ॥

जिस (मन्दराचलके शिखर) पर खिली हुई कलियोंवाले कन्दली-पुष्पोंने धारापूर्वक वर्षा होनेसे भीगी हुई भूमिसे निकलते हुए भाफके द्वारा अनुकृत, विवाहकालिक (हवनके) धूमसे लाल नेत्रोंकी शोभाने स्मरण आने पर) मुझे पीडित किया ॥ २९ ॥

उपान्तवानीरवनोपगूढान्यालक्ष्यपारिप्लवसारसानि ।
दूरावतीर्णा पिबतीव खेदादमूनि पम्पासलिलानि दृष्टिः ॥ ३० ॥

उपान्तेति । उपान्तवानीरवनोपगूढानि पार्श्ववञ्जुलवनच्छन्नान्यालक्ष्य ईषद्दृश्याः पारिप्लवाश्चञ्चलाः सारसा येषु तान्यमूनि पम्पासलिलानि पम्पासरोजलानि दूरादवतीर्णा मे दृष्टिरत एव खेदात्पिबतीव, न विहातुमुत्सहत इत्यर्थः ॥ ३० ॥

समीपस्थ बेंतके उपवनोंमे ढके हुए और थोड़ा-२ दिखलाई पड़ते हुए सारस पक्षियों वाले, पम्पासरके जलको दूरसे पडती हुई मेरी दृष्टि मानो खेदसे पी रही है। (पम्पासरके जलको दूरसे देखता हुआ मैं उससे दृष्टि हटाना नहीं चाहता) ॥ ३० ॥

एते वयं सैकतभिन्नशुक्तिपर्यस्तमुक्तापटलं पयोधेः ।
प्राप्ता मुहूर्तेन विमानवेगात्कूलं फलावर्जितपूगमालम् ॥ १७ ॥

एत इति । एते वयं सैकतेषु भिन्नाभिः स्फुटिताभिः शुक्तिभिः पर्यस्तानि परिक्षिप्तानि मुक्तानां पटलानि यस्मिंस्तत्तथोक्तम् । फलैरावर्जिता आनमिताः पूगमाला यस्मिंस्तत्तथोक्तं पयोधेः सागरस्य कूलं तीरं विमानवेगात्पुष्पकविमानवेगान्मुहूर्तेन प्राप्ताः ॥

ये हमलोग बालुओंमें फूटी हुई सीपियोंसे फैले हुए मुक्ता-समूहवाले और फलोंके भारसे झुके हुए सुपारीके वृक्षोंके समूहवाले समुद्र-तट पर विमान की तीव्र गतिके कारण मुहूर्त (दोघड़ी) में पहुँच गये ॥ १७ ॥

कुरुष्व तावत्करभोरु पश्चान्मार्गे मृगप्रेक्षिणि दृष्टिपातम् ।
एषा विदूरीभवतः समुद्रात्सकानना निष्पततीव भूमिः ॥ १८ ॥

कुरुष्वेति । 'मणिबन्धादाकनिष्ठं करस्य करभो बहिः' इत्यमरः । करभ इवोरू यस्याः सा करभोरूः 'ऊरूत्तरपदादौपम्ये' इत्यूङ् । तस्याः सम्बुद्धौ हे करभोरु ! मृगस्येवेक्षणं यस्याः इति विग्रहः । हे मृगप्रेक्षिणि ! तावत्पश्चान्मार्गे वर्त्मनि, दृष्टिपातं कुरुष्व एषा सकानना भूमिर्विदूरीभवतः समुद्रान्निष्पततीव निर्गच्छतीव । [illegible] ॥ १८ ॥

हे करभोरु, हे मृगनयनी ! जरा पीछेके रास्तेमें देखो वनके सहित यह भूमि दूर होती हुई समुद्रसे मानो निकल रही है ॥ १८ ॥

क्वचित्पथा सञ्चरते सुराणां क्वचिद्घनानां पततां क्वचिच्च ।
यथाविधो मे मनसोऽभिलाषः प्रवर्तते पश्य तथा विमानम् ॥ १९ ॥

क्वचिदिति । हे देवि ! विमानं पुष्पकं मे मनसोऽभिलाषो यथाविधस्तथा प्रवर्तते पश्य । क्वचित्सुराणां पथा मार्गेण सञ्चरते । क्वचिद् घनानां क्वचित्पततां पक्षिणां च पथा सञ्चरते । 'समस्तृतीयायुक्तात्' इति सम्पूर्वाच्चरतेरात्मनेपदम् ॥ १९ ॥

(हे प्रिये !) जैसी मेरी इच्छा होती है यह पुष्पक विमान वैसे ही चलता है देखो ! कहीं देवताओंके, कहीं मेघों के और कहीं पक्षियोंके मार्गसे (चलता है) ॥ १९ ॥

असौ महेन्द्रद्विपदानगन्धिस्त्रिमार्गगावीचिविमर्दशीतः ।
आकाशवायुर्दिनयौवनोत्थानाचामति स्वेदलवान्मुखे ते ॥ २० ॥

असाविति । महेन्द्रद्विपदानगन्धिरैरावतमदगन्धिः त्रिभिर्मार्गैर्गच्छतीति त्रिमार्गगा गङ्गा 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इत्यनेनोत्तरपदसमासः । तस्या वीचयस्तासां विमर्देन सम्पर्केण शीतोऽसावाकाशवायुर्दिनयौवनोत्थान्मध्याह्नजन्यान्ते मुखे स्वेदकणानाचामति हरति । अनेन सुरपथप्रयाणो दर्शितः ॥ २० ॥

ऐरावतके मदसे सुगन्धियुक्त, आकाशगङ्गाके तरङ्गोंके स्पर्शसे शीतल यह आकाश-वायु मध्याह्नके कारण उत्पन्न तुम्हारे मुखमें पसीनोंको सुखा रहा है ॥ २० ॥

करेण वातायनलम्बितेन स्पृष्टस्त्वया चण्डि कुतूहलिन्या ।
आमुञ्चतीवाभरणं द्वितीयमुद्भिन्नविद्युद्वलयो घनस्ते ॥ २१ ॥

करेणेति । हे चण्डि कोपने ! 'चण्डस्त्वत्यन्तकोपन' इत्यमर । कुतूहलिन्या विनोदार्थिन्या त्वया कर्त्र्या वातायने गवाक्षे लम्बितेनावस्रंसितेन करेण स्पृष्ट उद्भिन्नविद्युद्वलयो घनस्ते द्वितीयमाभरणं वलयमामुञ्चतीव अर्पयतीव । चण्डीत्यनेन कोपनशीलत्वाद्भीत. क्षिप्रं त्वां मुञ्चति मेघ इति व्यज्यते ॥ २१ ॥

हे कोपशीले ! कौतुकवश तुम (विमानकी) खिडकीसे बाहर निकाले हुए हाथसे मेघको स्पर्श करती है तब चमकती हुई बिजुली रूप कङ्कणवाला वह मेघ तुमको मानो दूसरा भूषण देता है ॥ २१ ॥

अमी जनस्थानमपोढविघ्नं मत्वा समारब्धनवोटजानि ।
अध्यासते चीरभृतो यथास्वं चिरोज्झितान्याश्रममण्डलानि ॥२२॥

अमीति । अमी चीरभृतस्तापसा जनस्थानमपोढविघ्नमपास्तविघ्न मत्वा ज्ञात्वा समारब्धा नवा उटजा पर्णशाला येषु तानि । 'पर्णशालोटजोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । चिरोज्झितानि, राक्षसभयादित्यर्थ. । आश्रममण्डलान्याश्रमविभागान्यथास्वं स्वं स्वमनतिक्रम्याध्यासतेऽधितिष्ठन्ति ॥ २२ ॥

ये वल्कल-धारी (तपस्वी) जनस्थान (दण्डकारण्यका भू-भाग-विशेष) को निर्विघ्न मानकर बनायी जारही हैं नयी पर्णशालायें जिनमें ऐसे, (राक्षसोंके भयसे पहले) बहुत समय तक छोडे हुए आश्रमोंमें अपने २ क्रमसे निवास कर रहे हैं ॥ २२ ॥

सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम् ।
अदृश्यत त्वच्चरणारविन्दविश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम् ॥ २३ ॥

सैषेति । सा पूर्वानुभूता स्थल्येषा, दृश्यत इत्यर्थ । अत्र स्थल्यां त्वां विचिन्वताऽन्विष्यता मया । त्वच्चरणारविन्देन यो विश्लेषो वियोगस्तेन यद् दुःख तस्मादिव बद्धमौन निःशब्दम् उर्व्यां भ्रष्टमेकं नूपुरं मञ्जीर । 'मञ्जीरो नूपुरोऽस्त्रियाम्' इत्यमर' । अदृश्यत दृष्टम् । हेतूत्प्रेक्षा ॥ २३ ॥

यह वही वनभूमि है, जहां तुमको ढूंढते हुये मैंने भूमिपर नूपुरको पाया था, जो मानो तुम्हारे चरण-कमलके विरह जन्य दुःखसे मौन दिखलाई पडता था ॥ २३ ॥

त्वं रक्षसा भीरु यतोऽपनीता तं मार्गमेताः कृपया लता मे ।
अदर्शयन्वक्तुमशक्नुवत्यः शाखाभिरावर्जितपल्लवाभिः ॥ २४ ॥

एते वयं सैकतभिन्नशुक्तिपर्यस्तमुक्तापटलं पयोधेः ।
प्राप्ता मुहूर्तेन विमानवेगात्कूलं फलावर्जितपूगमालम् ॥ १७ ॥

एत इति । एते वयं सैकतेषु भिन्नाभिः स्फुटिताभिः शुक्तिभिः पर्यस्तानि परितः क्षिप्तानि मुक्तानां पटलानि यस्मिंस्तत्पयोधेः । फलैरावर्जिता आनमिताः पूगमाला यस्मिंस्तत्पयोधेः सागरस्य कूलं तीरं विमानवेगात्पुष्पकविमानवेगान्मुहूर्तेन प्राप्ताः ॥

ये हमलोग बालुओंमें फूटी हुई सीपियोंसे बिखरे हुए मुक्ता-समूहवाले और फलोंके भारसे झुके हुए सुपारीके वृक्षोंके समूहवाले समुद्र-तट पर विमान की तीव्र गतिके कारण मुहूर्त (क्षणभर) में पहुँच गये ॥ १७ ॥

कुरुष्व तावत्करभोरु पश्चान्मार्गे मृगप्रेक्षिणि दृष्टिपातम् ।
एषा विदूरीभवतः समुद्रात्सकानना निष्पततीव भूमिः ॥ १८ ॥

कुरुष्वेति । 'मणिबन्धादाकनिष्ठं करस्य करभो बहिः' इत्यमरः । करभ इवोरू यस्याः सा करभोरूः 'ऊरूत्तरपदादौपम्ये' इत्यूङ् । तस्याः सम्बुद्धौ हे करभोरु ! मृगप्रेक्षिणीव इति विग्रहः । हे मृगप्रेक्षिणि ! तावत्पश्चान्मार्गे अतिक्रान्तपथि, दृष्टिपातं कुरुष्व एषा सकानना भूमिर्विदूरीभवतः समुद्रान्निष्पततीव निर्गच्छतीव । विदूरत्वात्तिरोधानमित्यभिप्रायः ॥ १८ ॥

हे करभोरु, हे मृगनयनी ! जरा पीछेके रास्तेकी देखो, वनसे सहित यह भूमि दूर होती हुई समुद्रसे मानों निकल रही है ॥ १८ ॥

क्वचित्पथा संचरते सुराणां क्वचिद्घनानां पततां क्वचिच्च ।
यथाविधो मे मनसोऽभिलाषः प्रवर्तते पश्य तथा विमानम् ॥ १९ ॥

क्वचिदिति । हे देवि ! विमानं पुष्पकं मे मनसोऽभिलाषो यथाविधस्तथा प्रवर्तते पश्य क्वचित्सुराणां पथा मार्गेण संचरते । क्वचिद् घनानां क्वचित्पततां पक्षिणां च पथा संचरते । 'समस्तृतीयायुक्तात्' इति संपूर्वाच्चरतेरात्मनेपदम् ॥ १९ ॥

(हे प्रिये !) जैसी मेरा इच्छा होती है वह पुष्पक विमान वैसे ही चलता है देखो ! कभी देवताओंके, कहीं मेघों के और कहीं पक्षियोंके मार्गसे (चलता है) ॥ १९ ॥

असौ महेन्द्रद्विपदानगन्धिस्त्रिमार्गगावीचिविमर्दशीतः ।
आकाशवायुर्दिनयौवनोत्थानाचामति स्वेदलवान्मुखे ते ॥ २० ॥

असाविति । महेन्द्रद्विपस्यैरावतस्य दानगन्धिः त्रिमार्गगा गङ्गा 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इत्युत्तरपदसमासः । तस्या वीचयस्तासां विमर्देन सम्पर्केण शीतोऽसावाकाशवायुर्दिनयौवनोत्थान्मध्याह्नसम्भवान्स्वेदलवान्मुखे ते आचामति हरति । अनेन सुरपथसंचारो दर्शितः ॥ २० ॥

ऐरावतके मदसे सुगन्धियुक्त, आकाशगङ्गाके तरङ्गोंके स्पर्शसे शीतल यह आकाश-वायु मध्याह्नके कारण उत्पन्न तुम्हारे मुखमें पसीनोंको सुखा रहा है ॥ २० ॥

करेण वातायनलम्बितेन स्पृष्टस्त्वया चण्डि कुतूहलिन्या ।
आमुञ्चतीवाभरणं द्वितीयमुद्भिन्नविद्युद्वलयो घनस्ते ॥ २१ ॥

करेणेति । हे चण्डि कोपने ! 'चण्डस्त्वत्यन्तकोपनः' इत्यमरः । कुतूहलिन्या विनोदार्थिन्या त्वया कर्त्र्या वातायने गवाक्षे लम्बितेनावस्रंसितेन करेण स्पृष्ट उद्भिन्नविद्युद्वलयो घनस्ते द्वितीयमाभरणं वलयमामुञ्चतीव अर्पयतीव । चण्डीत्यनेन कोपनशीलत्वाद्भीतः क्षिप्रं त्वां मुञ्चति मेघ इति व्यज्यते ॥ २१ ॥

हे कोपशीले ! कौतुकवश तुम (विमानकी) खिड़कीसे बाहर निकाले हुए हाथसे मेघको स्पर्श करती है तब चमकती हुई बिजुली रूप कङ्कणवाला वह मेघ तुमको मानो दूसरा भूषण देता है ॥ २१ ॥

अमी जनस्थानमपोढविघ्नं मत्वा समारब्धनवोटजानि ।
अध्यासते चीरभृतो यथास्वं चिरोज्झितान्याश्रममण्डलानि ॥२२॥

अमीति । अमी चीरभृतस्तापसा जनस्थानमपोढविघ्नमपास्तविघ्नं मत्वा ज्ञात्वा समारब्धा नवा उटजाः पर्णशाला येषु तानि । 'पर्णशालोटजोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । चिरोज्झितानि, राक्षसभयादित्यर्थः । आश्रममण्डलान्याश्रमविभागान्यथास्वं स्वं स्वमनतिक्रम्याध्यासतेऽधितिष्ठन्ति ॥ २२ ॥

ये वल्कल-धारी (तपस्वी) जनस्थान (दण्डकारण्यका भू-भाग-विशेष) को निर्विघ्न मानकर बनायी जारही हैं नयी पर्णशालायें जिनमें ऐसे, (राक्षसोंके भयसे पहले) बहुत समय तक छोड़े हुए आश्रमोंमें अपने २ क्रमसे निवास कर रहे हैं ॥ २२ ॥

सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम् ।
अदृश्यत त्वच्चरणारविन्दविश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम् ॥ २३ ॥

सैषेति । सा पूर्वानुभूता स्थल्येषा, दृश्यत इत्यर्थः । अत्र स्थल्यां त्वां विचिन्वताऽन्विष्यता मया । त्वच्चरणारविन्देन यो विश्लेषो वियोगस्तेन यद् दुःखं तस्मादिव बद्धमौनं निःशब्दम् उर्व्यां भ्रष्टमेकं नूपुरं मञ्जीरं । 'मञ्जीरो नूपुरोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । अदृश्यत दृष्टम् । हेतूत्प्रेक्षा ॥ २३ ॥

यह वही वनभूमि है, जहां तुमको ढूंढते हुये मैंने भूमिपर नूपुरको पाया था, जो मानों तुम्हारे चरण-कमलके विरह जन्य दुःखसे मौन दिखलाई पड़ता था ॥ २३ ॥

त्वं रक्षसा भीरु यतोऽपनीता तं मार्गमेताः कृपया लता मे ।
अदर्शयन्वक्तुमशक्नुवत्यः शाखाभिरावर्जितपल्लवाभिः ॥ २४ ॥

त्वमिति । हे भीरु भयशीले ! 'ऊङुतः' इत्यूङ् ततो नदीत्वात्सम्बुद्धौ ह्रस्वः । त्वं रक्षसा रावणेन यतो येन मार्गेण । सार्वविभक्तिकस्तसिः । अपनीतास्यपहृतासि तं मार्गं वाग्भिर्वाचामभावादशक्नुवत्यः पुरा वक्तुं धीरमावर्जिता नमिताः पल्लवा यासां ताभिः शाखाभिर्बाहुभिः कृपया मेऽदर्शयन् । हस्तैरेव सूचयन्नित्यर्थः । 'शाखा वृक्षान्तरे भुजे' इति विश्वः । लताऽन्यासामपि सामान्य स्पर्श वक्तुं मनुना—'मन्तव्याश्च मनुष्येते सुखदुःखसमन्विताः' इति ॥ २४ ॥

हे भीरु ! राक्षस (रावण) तुमको जिस रास्तेसे ले गया, बोलनेमें असमर्थ इन लताओंने झुकते हुए पल्लवोंवाली शाखाओंसे वह मार्ग मुझको कृपाकर मुझे दिखलाया ॥ २४ ॥

मृग्यश्च दर्भाङ्कुरनिर्व्यपेक्षास्तवागतिज्ञं समबोधयन्माम् ।
व्यापारयन्त्यो दिशि दक्षिणस्यामुत्पक्ष्मराजीनि विलोचनानि ॥ २५ ॥

मृग्य इति । दर्भाङ्कुरेषु भक्ष्येषु निर्व्यपेक्षा निःस्पृहा मृग्यो मृगाङ्गना उत्पक्ष्मराजीनि विलोचनानि दक्षिणस्यां दिशि व्यापारयन्त्यः प्रवर्तयन्त्यः तवागतिज्ञं त्वद्गमनानभिज्ञं मां समबोधयन्, दक्षिणस्यां त्वद्गतिमबोधयन्नित्यर्थः ॥ २५ ॥

कुशाओंके अङ्कुरमें निरपेक्ष हरिणियोंने भी ऊपर किये हुए पलक-समूह वाले आँखोंसे दक्षिण दिशाकी ओर देखती हुई तुम्हारी गतिको नहीं जाननेवाले मुझको तुम्हारा रास्ता बतलाई ॥ २५ ॥

एतद्गिरेर्माल्यवतः पुरस्तादाविर्भवत्यम्बरलेखि शृङ्गम् ।
नवं पयो यत्र घनैर्मया च त्वद्विप्रयोगाश्रु समं विसृष्टम् ॥ २६ ॥

एतदिति । माल्यवतो नाम गिरेरम्बरलेखि अभ्रङ्कषं एतच्छिखरमेव पुरस्तादग्रे आविर्भवति यत्र शृङ्गे घनैर्मेघैर्नवं पयो मया त्वद्विप्रयोगेण अश्रु च समं युगपद्विसृष्टम् । मेघदर्शनादुद्दीपनमभूद् विप्रलम्भमिति भावः ॥ २६ ॥

माल्यवान् पर्वतका यह सामने आकाशको छूने वाला शिखर दिख रहा है जहाँपर नये मेघके जलको तथा मैंने तुम्हारे विरहसे उत्पन्न आँसूको साथ गिराये थे अर्थात् बरसते हुए मेघको देखकर तुम्हारे विरहसे पीड़ित होकर मैंने अत्यन्त रोया था ॥ २६ ॥

गन्धश्च धाराहतपल्वलानां कादम्बमर्धोद्गतकेसरं च ।
स्निग्धाश्च केकाः शिखिनां बभूवुर्यस्मिन्नसह्यानि विना त्वया मे ॥ २७ ॥

गन्ध इति । यस्मिन्नद्रौ धाराभिर्वर्षधाराभिराहतानां पल्वलानां गन्धश्च अर्धोद्गतकेसरं कादम्बं नीपकुसुमं च स्निग्धा मधुराः शिखिनां बर्हिणाम् 'शिखिनौ वह्नि-बर्हिणौ' इत्यमरः । केकाश्च त्वया विना मेऽसह्यानि बभूवुः । 'नपुंसकम्—' इति नपुंसकैकशेषः ॥ २७ ॥

जिस (माल्यवानके शिखर) पर वर्षाकी धाराओंसे ताडित पल्लवोंका गन्ध, आधे निकले हुए केसरोंवाला कदम्बपुष्प और मयूरोंके मनोहर शब्द तुम्हारे बिना मुझे असह्य हो गये थे ॥ २७ ॥

पूर्वानुभूतं स्मरता च यत्र कम्पोत्तरं भीरु तवोपगूढम् ।
गुहाविसारीण्यतिवाहितानि मया कथञ्चिद्घनगर्जितानि ॥ २८ ॥

पूर्वेति । किञ्च हे भीरु ! यत्र शृङ्गे पूर्वानुभूतं कम्पोत्तरं कम्पप्रधानं तवोपगूढमुपगूहनं मेघस्तनितश्रवणेन भीरुस्वभावत्वात्त्वया, कृतमालिङ्गनमित्यर्थः । स्मरता मया गुहाविसारीणि घनगर्जितानि कथञ्चिदतिवाहितानि स्मारकत्वेनोद्दीपकत्वात्, क्लेशेन गमितानीत्यर्थः ॥ २८ ॥

हे भीरु ! जिस (महेन्द्रके शिखर) पर पहले अनुभूत (मेघके भयङ्कर गर्जनेसे डरनेके कारण) अधिक कम्पन युक्त तुम्हारे आलिङ्गनको स्मरण करते हुये मैंने गुफाओं (प्रतिध्वनित होनेसे) में बढे हुये, मेघ-गर्जनको किसी तरह अर्थात् बडे कष्टसे बिताया ॥ २८ ॥

आसारसिक्तक्षितिबाष्पयोगान्मामक्षिणोद्यत्र विभिन्नकोशैः ।
विडम्ब्यमाना नवकन्दलैस्ते विवाहधूमारुणलोचनश्रीः ॥ २९ ॥

आसारेति । यत्र शृङ्गे विभिन्नकोशैर्विकसितकुड्मलैर्नवकन्दलैः कन्दलीपुष्पैररुणवर्णैरासारेण धारासम्पातेन । 'धारासम्पात आसार' इत्यमरः । सिक्तायाः क्षितेर्बाष्पस्य धूमवर्णस्य योगाद्धेतोर्विडम्ब्यमानाऽनुक्रियमाणा ते विवाहधूमेनारुणा लोचनश्रीः सादृश्यात्स्मर्यमाणेति शेषः । मामक्षिणोदपीडयत् ॥ २९ ॥

जिस (मन्दराचलके शिखर) पर खिली हुई कलियोंवाले कन्दली-पुष्पोंने धारापूर्वक-वर्षा होनेसे भीगी हुई भूमिसे निकलते हुए भाफके द्वारा अनुकृत, विवाहकालिक (हवनके) धूमसे लाल नेत्रोंकी शोभाने स्मरण आने पर) मुझे पीडित किया ॥ २९ ॥

उपान्तवानीरवनोपगूढान्यालक्ष्यपारिप्लवसारसानि ।
दूरावतीर्णा पिबतीव खेदादमूनि पम्पासलिलानि दृष्टिः ॥ ३० ॥

उपान्तेति । उपान्तवानीरवनोपगूढानि पार्श्ववञ्जुलपनच्छन्नान्यालक्ष्य ईषद्दृश्या पारिप्लवाश्चञ्चला सारसा येषु तान्यमूनि पम्पासलिलानि पम्पासरोजलानि दूरादवतीर्णा मे दृष्टिरत एव खेदात्पिबतीव, न विहातुमुत्सहत इत्यर्थः ॥ ३० ॥

समीपस्थ बेंतके उपवनोंसे ढके हुए और थोडा २ दिखलाई पडते हुए सारस पक्षियोंवाले, पम्पासरके जलको दूरसे पडती हुई मेरी दृष्टि मानो खेदसे पी रही है । (पम्पासरके जलको दूरसे देखता हुआ मैं उससे दृष्टि हटाना नहीं चाहता) ॥ ३० ॥

अत्रावियुक्तानि रथाङ्गनाम्नामन्योन्यदत्तोत्पलकेसराणि ।
द्वन्द्वानि दूरान्तरवर्तिना ते मया प्रिये सस्पृहमीक्षितानि ॥ ३१ ॥

अत्रेति । अत्र पम्पासरस्यन्योन्यस्मै दत्तोत्पलकेसराण्यवियुक्तानि रथाङ्गनाम्नां द्वन्द्वानि चक्रवाकमिथुनानि ते तव दूरान्तरवर्तिना दूरदेशवर्तिना मया हे प्रिये ! सस्पृहं साभिलाषमीक्षितानि । तद्वत् त्वामस्मार्षमित्यर्थः ॥ ३१ ॥

हे प्रिये ! इस पम्पासर पर परस्परमें एक दूसरेको कमलकेसर देनेवाले, वियोगरहित चकवा-चकवियोंकी जोड़ीको तुमसे दूर रहते हुये मैंने बड़े लोभसे देखा था । (इन्हें देखनेसे तुम्हारा स्मरण हो आता था) ॥ ३१ ॥

इमां तटाशोकलतां च तन्वीं स्तनाभिरामस्तबकाभिनम्राम् ।
त्वत्प्राप्तिबुद्ध्या परिरब्धुकामः सौमित्रिणा साश्रुरहं निषिद्धः ॥ ३२ ॥

इमामिति । किंच स्तनवदभिरामाभ्यां स्तबकाभ्यामभिनम्रां तन्वीमिमां तटाशोकलतां त्वत्प्राप्तिबुद्ध्या त्वमेव प्राप्तेति भ्रान्त्या परिरब्धुमालिङ्गितुं कामो यस्य सोऽहं सौमित्रिणा लक्ष्मणेन साश्रुः निषिद्धः नेयं सीतेति निवारितः । परिरब्धुकाम इत्यत्र 'तुं काममनसोरपि' इति मकारलोपः ॥ ३२ ॥

स्तनके समान मनोहर गुच्छोंसे झुकी हुई और पतली इस तटवर्तिनी अशोकलताको 'तुम्हें मैंने पा लिया' इस विचारसे आलिङ्गन करनेकी इच्छुक तथा रोते हुए मुझको लक्ष्मणने रोका ॥ ३२ ॥

अमूर्विमानान्तरलम्बिनीनां श्रुत्वा स्वनं काञ्चनकिङ्किणीनाम् ।
प्रत्युद्व्रजन्तीव खमुत्पतन्त्यो गोदावरीसारसपङ्क्तयस्त्वाम् ॥ ३३ ॥

अमूरिति । विमानस्यान्तरेष्ववकाशेषु लम्बन्ते यास्तासां काञ्चनकिङ्किणीनां स्वनं श्रुत्वा खमूर्ध्वमाकाशमुत्पतन्त्योऽमूर्गोदावरीसारसपङ्क्तयस्त्वां प्रत्युद्व्रजन्तीव ॥ ३३ ॥

विमानमें लगी हुई स्वर्णमयी छोटी २ घंटियों (घुंघरुओं) के स्वरको सुनकर (अपने तुम्हारे प्रेम होनेसे) आकाश की ओर उड़ते हुए ये गोदावरी नदीके सारसोंके झुण्ड मानो तुम्हारी अगवानी कर रहे हैं ॥ ३३ ॥

एषा त्वया पेशलमध्ययाऽपि घटाम्बुसंवर्धितबालचूता ।
आनन्दयत्युन्मुखकृष्णसारा दृष्टा चिरात्पञ्चवटी मनो मे ॥ ३४ ॥

एषेति । पेशलमध्ययाऽपि भाराक्षमयाऽपीत्यर्थः । त्वया घटाम्बुभिः संवर्धिता बालचूता यस्याः सा, उन्मुखा अस्मदभिमुखास्त्वत्संवर्धिता एव कृष्णसारा यस्याम्

सा चिराद् दृष्टैषा पञ्चवटी मे मन आनन्दयत्याह्लादयति। पञ्चवटीशब्दः पूर्वमेव व्याख्यातः॥ ३४॥

कृशोदरी (होनेसे भार के चलनेमें असमर्थ) होनेपर भी तुमने घड़ोंसे सींचकर जहाँ के आमकी गोंछियों (छोटे २ पौधों) को बढाया है, ऐसी तथा मुझे देखकर सामने आते हुए कृष्णसार मृगोंवाली एव बहुत दिनोंके बाद देखी गयी भी यह पञ्चवटी मुझे आनन्दित कर रही है॥ ३४॥

अत्रानुगोदं मृगयानिवृत्तस्तरङ्गवातेन विनीतखेदः।
रहस्त्वदुत्सङ्गनिषण्णमूर्धा स्मरामि वानीरगृहेषु सुप्तः॥ ३५॥

अत्रेति। अत्र पञ्चवट्यां गोदा गोदावरी तस्याः समीपेऽनुगोदम् 'अनुर्यत्समया' इत्यव्ययीभावः। मृगयाया निवृत्तस्तरङ्गवातेन विनीतखेदो रहो रहसि अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। त्वदुत्सङ्गनिषण्णमूर्धा सन्नहं वानीरगृहेषु सुप्तः स्मरामि। वाक्यार्थः कर्म सुप्त इति यत्तत्स्मरामीत्यर्थः॥ ३५॥

इस (पञ्चवटी) में गोदावरी नदीके समीप शिकारसे लौटा हुआ, तरङ्गोंकी (शीतल) वायुसे खेदरहित, वेतोंके कुञ्जोंमें एकान्तमें तुम्हारे अङ्कमें शिरको रखकर सोया हुआ मैं (उसको) स्मरण करता हूँ॥ ३५॥

भ्रूभेदमात्रेण पदान्मघोनः प्रभ्रंशयां यो नहुषं चकार।
तस्याविलाम्भःपरिशुद्धिहेतोर्भौमो मुनेः स्थानपरिग्रहोऽयम्॥ ३६॥

भ्रूभेदेति। यो मुनिर्भ्रूभेदमात्रेण भ्रूभङ्गमात्रेणैव नहुषं राजानं मघोनः पदादिन्द्रत्वात्प्रभ्रंशयाञ्चकार प्रभ्रंशयति स्म। आविलाम्भःपरिशुद्धिहेतोः कलुषजलप्रसादहेतोस्तस्य मुनेरगस्त्यस्य। अगस्त्योदये शरदि जलं प्रसीदतीत्युक्तं प्राक्। भूमौ भवो भौमः स्थानपरिग्रह आश्रमोऽयं दृश्यते इति शेषः। भौम इत्यनेन दिव्योऽप्यस्तीत्युक्तम्। परिगृह्यते इति परिग्रहः। स्थानमेव परिग्रह इति विग्रहः॥ ३६॥

जिस (अगस्त्य मुनि) ने केवल भ्रुकुटि टेढी करनेसे ही नहुषको इन्द्रपदसे गिरा दिया, मलिन जल की शुद्धि (निर्मल) होनेके कारणभूत (अगस्त्यके उदय होनेपर अर्थात् शरदृतु में बरसाती मलिन जलका निर्मल होना सर्वानुभवसिद्ध है) उस मुनिका भूमिपर स्थित यह आश्रम है॥ ३६॥

त्रेताऽग्निधूमाग्रमनिन्द्यकीर्तेस्तस्येदमाक्रान्तविमानमार्गम्।
घ्रात्वा हविर्गन्धि रजोविमुक्तः समश्नुते मे लघिमानमात्मा॥ ३७॥

त्रेताऽग्नीति। अनिन्द्यकीर्तेस्तस्यागस्त्यस्याक्रान्तविमानमार्गं हविर्गन्धोऽस्यास्तीति हविर्गन्धि त्रेताऽग्निरग्नित्रयम्। 'अग्नित्रयमिदं त्रेता' इत्यमरः। पृषोदरादित्वादे-

व्यम्। गीतध्वनेर्मामिति प्रत्यासन्नत्वात् तत्रस्थो गुणापीयुषके मे ममात्मा॰ ... कर्णमार्गं ... समश्नुते प्राप्नोति॥ ३७॥

गर्भस्थ ... (...) मुनिके ... इन्द्रिके ..., मेरोके (... और ...) के ... सुनकर ... रहित मेरा अन्तःकरण अनुरागको प्राप्त करता है॥ ३७॥

एतन्मुनेर्मानिनि शातकर्णेः पञ्चाप्सरो नाम विहारवारि।
आभाति पर्यन्तवनं विदूरान्मेघान्तरालक्ष्यमिवेन्दुबिम्बम्॥ ३८॥

एतदिति। हे मानिनि! शातकर्णेर्मुनेः सम्बन्धि पञ्चाप्सरो नाम पञ्चाप्सर इति प्रसिद्धम्। पञ्चाप्सरसो यस्मिन्निति विग्रहः। पर्यन्तेषु वनानि यस्य तत्पर्यन्तवनं विहारवारि क्रीडासरो विदूरात्। मेघानामन्तरे मध्ये आलक्ष्यमीषल्लक्ष्यम्। 'आलक्ष्यमीषल्लक्ष्ये' इत्यमरः। इन्दुबिम्बमिव आभाति॥ ३८॥

हे मानिनि! 'शातकर्णि' नामक मुनिका समीपस्थ वनोंसे युक्त विहारयोग्य जलाशय 'पञ्चाप्सरस' नामक तालाब दूरसे मेघके मध्यमें स्थित हुआ १ दिखाई पड़नेवाले चन्द्रबिम्बके समान शोभित होता है॥ ३८॥

पुरा स दर्भाङ्कुरमात्रवृत्तिश्चरन्मृगैः सार्धमृषिर्मघोना।
समाधिभीतेन किलोपनीतः पञ्चाप्सरोयौवनकूटबन्धम्॥ ३९॥

पुरेति। पुरा पूर्वस्मिन्काले दर्भाङ्कुरमात्रवृत्तिस्तन्मात्राहारो मृगैः सार्धं सह चरन् स ऋषिः समाधेस्तपसो भीतेन मघोनेन्द्रेण पञ्चानामप्सरसां यौवनम्। ... च' इत्युत्तरपदसमासः। तदेव कूटबन्धं ... उपनीतः। 'उन्माथः कूटयन्त्रं स्यात्' इत्यमरः। किलेत्यैतिह्ये। ... इति भावः॥ ३९॥

पहले केवल कुशाङ्कुरोंसे जीवनयात्रा करनेवाले अर्थात् केवल कुशाङ्कुर खाकर रहनेवाले और मृगोंके साथ चरते हुए उस मुनिको (इन्द्रने) समाधिसे डरे हुए इन्द्रने पांच अप्सराओंके यौवनरूपी कपट जालमें फंसा दिया (इन्द्रने पांच अप्सराओंको भेजकर उन्हें तपसे भ्रष्ट कर दिया)॥ ३९॥

तस्यायमन्तर्हितसौधभाजः प्रसक्तसंगीतमृदङ्गघोषः।
वियद्गतः पुष्पकचन्द्रशालाः क्षणं प्रतिश्रुन्मुखराः करोति॥ ४०॥

तस्येति। अन्तर्हितसौधभाजो जलान्तर्गतप्रासादस्थस्य तस्य शातकर्णेः प्रसक्तः सन्ततः ... वियद्गतः ... पुष्पकस्य चन्द्रशालाः शिरोगृहाणि।

'चन्द्रशाला शिरोगृहम्' इत्यमरः। क्षण प्रतिश्रुद्भिः प्रतिध्वानैर्मुखरा ध्वनन्तीः करोति। 'स्त्री प्रतिश्रुत्प्रतिध्वाने' इत्यमरः ॥ ४० ॥

जलके मध्यमें बने हुए महलोंमें निवास करनेवाले उस (शातकर्णि) मुनिका, होते हुए संगीतका मृदङ्गनाद आकाशमें पहुँच कर पुष्पकविमानके चन्द्रभवनोंको क्षण भर प्रतिध्वनिसे शब्दायमान कर रहा है ॥ ४० ॥

हविर्भुजामेधवतां चतुर्णां मध्ये ललाटन्तपसप्तसप्तिः।
असौ तपस्यत्यपरस्तपस्वी नाम्ना सुतीक्ष्णश्चरितेन दान्तः ॥ ४१ ॥

हविरिति। नाम्ना सुतीक्ष्ण. सुतीक्ष्णनामा चरितेन दान्त. सौम्योऽसावपरस्तपस्वी एधवतामिन्धनवताम्। 'काष्ठं दार्विन्धनं त्वेधः' इत्यमर। चतुर्णां हविर्भुजामग्नीनां मध्ये ललाटं तपतीति ललाटन्तप. सूर्यः। 'असूर्यललाटयोर्दृशितपो.' इति खश्प्रत्यय'। 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' इत्यनेन मुमागम.। ललाटन्तपः सप्तसप्ति. सप्ताश्व. सूर्यो यस्य स तथोक्त सन् तपस्यति तपश्चरति। 'कर्मणो रोमन्थतपोभ्यां वर्तिचरो.' इति क्यङ्। 'तपसः परस्मैपदं च' इति वक्तव्यम् ॥ ४१ ॥

जितेन्द्रिय चरितवाले 'सुतीक्ष्ण' नामक यह दूसरे तपस्वी इन्धन युक्त चार अग्नियोंके मध्यमें ललाटको तप्तकरनेवाले सूर्यसे युक्त होकर तपस्या कर रहे हैं। (पञ्चाग्निमें चारों दिशाओंमें जलती हुई चार अग्नि तक सूर्य रूप पञ्चम अग्निके मध्यमें स्थित होकर तपस्या करनेका शास्त्रीय विधान है, अत एव माघमें—'तेजस्विमध्ये' तेजस्वी दवीयानपि गण्यते। ·········पञ्चतपस. पञ्चमस्तपनो यथा' कहा है ॥ ४१ ॥

अमु सहासप्रहितेक्षणानि व्याजार्धसन्दर्शितमेखलानि।
नालं विकर्तुं जनितेन्द्रशङ्क सुराङ्गनाविभ्रमचेष्टितानि ॥ ४२ ॥

अमुमिति। जनितेन्द्रशङ्क जनिता इन्द्रस्य शङ्का भय येन त तपसेति शेषः। अमु सुतीक्ष्ण सहास प्रहितानीक्षणानि दृष्टयो येषु तानि व्याजेन केनचिन्मिषेण। 'पुंस्यर्धोऽर्धं समेंऽशके' इति विश्व'। अर्धमीषत्सन्दर्शिता मेखला काञ्ची येषु तानि सुराङ्गनानामिन्द्रप्रेषितानां विभ्रमा विलासा एव चेष्टितानि विकर्तुं स्खलयितुमल, समर्थानि न बभूवुरिति शेष ॥ ४२ ॥

जिसमें हँसते हुए कटाक्ष हैं, ऐसी तथा जिसमें किसी बहानेसे करधनीके आधे भाग दिखाये गये हैं, ऐसी, देवाङ्गनाओंकी विलास युक्त चेष्टायें, तपस्यासे इन्द्रको भयभीत करने वाले 'सुतीक्ष्ण' मुनिको विकृत (तपोभ्रष्ट) नहीं कर सकीं ॥ ४२ ॥

एषोऽक्षमालावलयं मृगाणां कण्डूयितारं कुशसूचिलावम्।
सभाजने मे भुजमूर्ध्वबाहुः सव्येतरं प्राध्वमितः प्रयुङ्क्ते ॥ ४३ ॥

एष इति । ऊर्ध्वबाहुरेष सुतीक्ष्णोऽक्षमालैव वलयं यस्य तं मृगाणां कण्डूयितारं कृत्वा एव सूचयस्ता लुनातीति कुशसूचिलावस्तम् । 'कर्मण्यण्' इत्यण् । एभिर्विशेषणैर्जपशीलत्वं भूतदया कर्मठत्वं च द्योत्यते । सव्यादितरं दक्षिणं भुजं मे मम सभाजने सम्माननिमित्ते 'निमित्तात्कर्मयोगे' इति सप्तमी । इतः मार्गे प्राध्वमानुकूल्य-बन्धं प्रयुङ्क्ते प्रेरयति । 'आनुकूल्यार्थकं प्राध्वम्' इत्यमरः । अन्वर्थं चैतत् ॥ ४३ ॥

ऊर्ध्वबाहु (बाहु को सर्वदा ऊपर ही रखनेवाले) यह (सुतीक्ष्ण) मुनि अक्षमाला रूपी कंकणवाले, मृगोंको खुजलाने वाले तथा कुशरूपी सूइयोंको काटने वाले दाहिने हाथसे मेरे सत्कारमें लगा रहे हैं अर्थात् दाहिने हाथसे मेरा सत्कार कर रहे हैं ॥ ४३ ॥

वाचंयमत्वात्प्रणतिं ममैष कम्पेन किञ्चित्प्रतिगृह्य मूर्ध्नः ।
दृष्टिं विमानव्यवधानमुक्तां पुनः सहस्रार्चिषि सन्निधत्ते ॥ ४४ ॥

वाचंयमत्वादिति । एष सुतीक्ष्णो वाचं यच्छतीति वाचंयमो मौनव्रती । 'वाचि यमो व्रते' इति खच्प्रत्ययः । 'वाचंयमपुरन्दरौ च' इति मुम् । तस्य भावस्तत्त्वान्मम प्रणतिं किञ्चिन्मूर्ध्नः कम्पेनैव प्रतिगृह्य विमानेन व्यवधानं तिरोधानं तस्मान्मुक्ताम् । 'अपेतापोढमुक्तपतितापत्रस्तैरल्पशः' इत्यनेन पञ्चमी समासः । दृष्टिं पुनः सहस्रार्चिषि सूर्ये सन्निधत्ते, सम्बध्नातीत्यर्थः । अन्यथाऽ-कर्मकत्वप्रसङ्गात् ॥ ४४ ॥

यह (सुतीक्ष्ण) मुनिने मौन होनेके कारण, मेरे प्रणामको मस्तकको कुछ हिलाकरके स्वीकार कर पुष्पक विमानसे हटी दृष्टिको दुबारा फिर सूर्यमें लगा लिया है ॥ ४४ ॥

अदः शरण्यं शरभङ्गनाम्नस्तपोवनं पावनमाहिताग्नेः ।
चिराय सन्तर्प्य समिद्भिरग्निं यो मन्त्रपूतां तनुमप्यहौषीत् ॥ ४५ ॥

अद इति । शरणे रक्षणे साधु शरण्यं पावयतीति पावनम् । अदो दृश्यमानं तपोवनमाहिताग्नेः शरभङ्गनाम्नो मुनेः सम्बन्धि, यः शरभङ्गश्चिराय चिरमपि समिद्भिः अग्निं सन्तर्प्य तर्पयित्वा ततो मन्त्रैः पूतां तनुमप्यहौषीद्धुतवान् । जुहोतेर्लुङ् ॥

अग्निहोत्र करनेवाले 'शरभङ्ग' मुनिका शरणागतोंके लिये यह तपोवन है जिन मुनिने चिरकाल तक समिधाओंसे अग्निको सन्तुष्ट कर मन्त्रोंसे पवित्र शरीरको भी हवन कर दिया था ॥ ४५ ॥

छायाविनीताध्वपरिश्रमेषु भूयिष्ठसम्भाव्यफलेष्वमीषु ।
तस्यातिथीनामधुना सपर्या स्थिता सुपुत्रेष्विव पादपेषु ॥ ४६ ॥

छायेति । अधुनास्मिन्काले तस्य शरभङ्गस्य सम्बन्धिनामतिथीनां सपर्याऽर्चितिः पूजा । 'पूजा नमस्याऽपचितिः सपर्याऽर्चार्हणाः समाः' इत्यमरः । छायाभिर्विनीतोऽप-

नीतोऽध्वपरिश्रमो यैस्तेषु भूयिष्ठानि बहुतमानि सम्भाव्यानि श्लाघ्यानि फलानि येषां तेष्वमीषु पादपेष्वाश्रमवृक्षेषु सुपुत्रेष्विव स्थिता तत्पुत्रैरिव पादपैरनुष्ठीयत इत्यर्थः ॥

इस समय उस (शरभङ्ग) मुनिकी अतिथि-पूजा छायासे मार्गके परिश्रमको हरनेवाले तथा अत्यन्त मधुरफलोंवाले, सुपुत्रोंके समान इन वृक्षोंमें रह गई है अर्थात् अतिथियोंके आनेपर शरभङ्ग मुनिके सुपुत्रोंके समान ये वृक्ष छाया तथा मधुर फलोंके द्वारा अतिथि—सत्कार करते हैं ॥ ४६ ॥

धारास्वनोद्गारिदरीमुखोऽसौ शृङ्गाग्रलग्नाम्बुदवप्रपङ्कः ।
बध्नाति मे बन्धुरगात्रि चक्षुर्दृप्तः ककुद्मानिव चित्रकूटः ॥ ४७ ॥

धारेति । धारा निर्झरधाराः, यद्वा धारया सातत्येन स्वनोद्गारिदर्येव मुखं यस्य सः शृङ्गं, शिखरं विषाणं च तस्याग्रे लग्नोऽम्बुद एव वप्रपङ्को वप्रक्रीडासक्तपङ्को यस्य सः असौ चित्रकूटो हे बन्धुरगात्रि ! उन्नतानताङ्गि ! 'बन्धुरं तून्नतानतम्' इत्यमरः । दृप्तः ककुद्मान्वृषभ इव मे चक्षुर्बध्नात्यनन्यासक्तं करोति ॥ ४७ ॥

हे मनोहर शरीरवाली सीता ! कन्दराओंके आगेमें झरनोंसे कलकल शब्द युक्त धाराको गिराता हुआ तथा चोटीके ऊपर मेघरूपी वप्रक्रीडाके पङ्कसे युक्त यह चित्रकूट पर्वत कन्दराके समान मुखसे सदा सशब्द धाराको गिराते-हुये और सींगके ऊपरमें मेघके समान वप्रक्रीडा करने (अखाडने) में लगे पङ्कवाले मतवाले साँढके समान मेरी दृष्टिको अपनी ओरसे नहीं हटने देता है ॥ ४७ ॥

एषा प्रसन्नस्तिमितप्रवाहा सरिद्विदूरान्तरभावतन्वी ।
मन्दाकिनी भाति नगोपकण्ठे मुक्तावली कण्ठगतेव भूमेः ॥ ४८ ॥

एषेति । प्रसन्नो निर्मलः स्तिमितो निःस्पन्दः प्रवाहो यस्याः सा विदूरस्यान्तरस्य मध्यवर्त्यवकाशस्य भावात्तन्वी दूरदेशवर्तित्वात्तनुत्वेनावभासमाना मन्दाकिनी नाम काचिच्चित्रकूटनिकटगैषा सरिन्नगोपकण्ठे भूमेः कण्ठगता मुक्तावलीव भाति । अत्र नगस्य शिरस्त्वं तदुपकण्ठस्य कण्ठत्वं च गम्यते ॥ ४८ ॥

निर्मल तथा शान्तप्रवाहवाली, दूर होनेसे पतली दिखाई देती हुई यह मन्दाकिनी नदी पर्वत (चित्रकूट) के समीपमें कण्ठमें लटकती हुई मुक्ता-मालाके समान शोभित हो रही है ॥

अयं सुजातोऽनुगिरं तमालः प्रवालमादाय सुगन्धि यस्य ।
यवाङ्कुरापाण्डुकपोलशोभी मयाऽवतंसः परिकल्पितस्ते ॥ ४९ ॥

अयमिति । गिरेः समीपेऽनुगिरम् । 'गिरेश्च सेनकस्य' इति समासान्तष्टच्प्रत्ययः । सुजातः स तमालोऽयं दृश्यते यस्य तमालस्य शोभनो गन्धो यस्य तत्सुगन्धि । 'गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः' इत्यनेनेकारः समासान्तः । प्रवालं पल्लवमादाय मया

ते यवाङ्कुरवत्पाण्डौ कपोले लोध्री शोभते या लोध्रकर्णिका कर्णोत्पलस्य परिकल्पिता ॥

पर्वतके समीपमें यह स्थान (दिखाई दे रहा) है जिसके लोध्र पुष्प पत्तोंको लेकर मैंने यवाङ्कुरके समान पाण्डु कपोलमें शोभायमान तुम्हारा कर्णभूषण बनाया था ॥ ४९ ॥

अनिग्रहत्रासविनीतसत्त्वमपुष्पलिङ्गात्फलबन्धिवृक्षम् ।
वनं तपः साधनमेतदत्रेराविष्कृतोदग्रतरप्रभावम् ॥ ५० ॥

अनिग्रहेति । अनिग्रहत्रासा दण्डभयरहिता अपि विनीताः सत्त्वा जन्तवो यस्मिंस्तत् । अपुष्पलिङ्गात्पुष्पलक्षणनिमित्तं विनैव फलबन्धिनः फलग्राहिणो वृक्षा यस्मिंस्तत् । अत एवाविष्कृतोदग्रतरप्रभावमत्रेर्मुनेस्तपसः साधनं वनमेतत् ॥ ५० ॥

दण्ड तथा मारनेका भय नहीं रहनेसे शान्त जन्तुओंवाला, बिना फूलके ही फलनेवाले वृक्षोंवाला अतएव प्रभाववाला यह 'अत्रि' मुनिका तपका साधनभूत वन अर्थात् तपोवन है ॥

अत्राभिषेकाय तपोधनानां सप्तर्षिहस्तोद्धृतहेमपद्माम् ।
प्रवर्तयामास किलानसूया त्रिस्रोतसं त्र्यम्बकमौलिमालाम् ॥ ५१ ॥

अत्रेति । अत्र वनेऽनसूयाभिधाना तस्य च भार्यया सप्तर्षयः । 'दिक्संख्ये संज्ञायाम्' इति तत्पुरुषसमासः । तेषां हस्तैरुद्धृतानि हेमपद्मानि यस्यास्तां त्र्यम्बकमौलिमालां हरशिरोमालां त्रिस्रोतसं भागीरथीं तपोधनानामृषीणामभिषेकाय स्नानाय प्रवर्तयामास प्रवाहयामास । किलेत्यैतिह्ये ॥ ५१ ॥

इस तपोवनमें अनुसूया ('अत्रि' मुनिकी पत्नी) ने सप्तर्षियोंके हाथसे तोड़े गये हैं स्वर्ण कमल जिसके ऐसी तथा शिवजीके मस्तककी माला रूप गङ्गाको मुनियोंके स्नानके लिये प्रवाहित कराया है ॥ ५१ ॥

वीरासनैर्ध्यानजुषामृषीणाममी समध्यासितवेदिमध्याः ।
निवातनिष्कम्पतया विभान्ति योगाधिरूढा इव शाखिनोऽपि ॥ ५२ ॥

वीरासनैरिति । वीरासनैरुपवेशनविशेषैः ध्यानं जुषन्ते सेवन्त इति ध्यानजुषः समाधिनिष्ठा इत्यर्थः । तेषां तैरुपविश्य ध्यायतामृषीणां समध्यासिता समध्यासितवेदिमध्याः इदं वीरासनस्थानीयम् । अमी शाखिनोऽपि निवाते निष्कम्पतया योगाधिरूढा इव ध्यानमग्ना इव विभान्ति ध्यायन्तोऽपि निष्कम्पा भवन्ति । वीरासने वसिष्ठः—'एकपादमथैकस्मिन्विन्यस्योरुणि संस्थितम् । इतरस्मिंस्तथा चान्यं वीरासनमुदाहृतम् ॥' इति ॥ ५२ ॥

वीरासनसे (बैठकर) ध्यान करनेवाले ऋषियोंके, वेदिमध्यमें स्थित ये वृक्ष भी वायुके अभावसे स्थिर होनेके कारण ध्यान करते हुए के समान शोभते हैं ॥ ५२ ॥

त्वया पुरस्तादुपयाचितो यः सोऽयं वटः श्याम इति प्रतीतः ।
राशिर्मणीनामिव गारुडानां सपद्मरागः फलितो विभाति ॥ ५३ ॥

त्वयेति । त्वया पुरस्तात्पूर्वं य उपयाचितः प्रार्थितः । तथा च रामायणे—'न्यग्रोध तमुपस्थाय वैदेही वाक्यमब्रवीत् । नमस्तेऽस्तु महावृक्ष पालयेन्मे व्रतपतिः ॥' इति । श्याम इति प्रतीत. स वटोऽय फलित. सन् । सपद्मरागो गारुडानां मणीनां मरकतानां राशिरिव विभाति ॥ ५३ ॥

तुमने पहले जिसकी प्रार्थना की थी, वह 'श्याम' नामसे प्रसिद्ध यह वट अर्थात् 'श्यामवट' पद्मराग मणियोंके सहित गारुत्मक (बिछौर) मणियोंकी ढेरके समान शोभता है ॥

'क्वचित्—'इत्यादिभिश्चतुर्भिः श्लोकैः प्रयागे गङ्गायमुनासङ्गमं वर्णयति—

क्वचित्प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलैर्मुक्तामयी यष्टिरिवानुविद्धा ।
अन्यत्र माला सितपङ्कजानामिन्दीवरैरुत्खचितान्तरेव ॥ ५४ ॥
क्वचित्खगानां प्रियमानसानां कादम्बसंसर्गवतीव पङ्क्तिः ।
अन्यत्र कालागुरुदत्तपत्रा भक्तिर्भुवश्चन्दनकल्पितेव ॥ ५५ ॥
क्वचित्प्रभा चान्द्रमसी तमोभिश्छायाविलीनैः शबलीकृतेव ।
अन्यत्र शुभ्रा शरदभ्रलेखा रन्ध्रेष्विवालक्ष्यनभःप्रदेशा ॥ ५६ ॥
क्वचिच्च कृष्णोरगभूषणेव भस्माङ्गरागा तनुरीश्वरस्य ।
पश्यानवद्याङ्गि विभाति गङ्गा भिन्नप्रवाहा यमुनातरङ्गैः ॥ ५७ ॥

क्वचिदित्यादि । हे अनवद्याङ्गि ! यमुनातरङ्गैर्भिन्नप्रवाहा व्यामिश्रौघा गङ्गा जाह्नवी विभाति । त्व पश्य । केव, क्वचित्प्रदेशे प्रभया लिम्पन्ति सन्निहितमिति प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलैरनुविद्धा सह गुम्फिता मुक्तामयी यष्टिरिव हारावलिरिव विभाति । अन्यत्र प्रदेशे इन्दीवरैर्नीलोत्पलैरुत्खचितान्तरा सह ग्रथिता सितपङ्कजानां पुण्डरीकाणां मालेव विभातीति सर्वत्र सम्बन्धः । क्वचित्कादम्बसंसर्गवती नीलहंससंसृष्टा प्रियं मानसं नाम सरो येषां तेषां खगानां राजहंसानां पङ्क्तिरिव । 'राजहंसास्तु ते चञ्चुचरणैर्लोहितैः सिताः' इत्यमरः । अन्यत्र कालागुरुणा दत्तपत्रा रचितमकरिकापत्रा भुवश्चन्दनकल्पिता भक्तिरिव क्वचिच्छायासु विलीनै. स्थितैस्तमोभिः शबलीकृता कर्बुरीकृता चान्द्रमसी प्रभा चन्द्रिकेव । अन्यत्र रन्ध्रेष्वालक्ष्यनभःप्रदेशा शुभ्रा शरदभ्रलेखा शरन्मेघपङ्क्तिरिव क्वचित्कृष्णोरगभूषणा भस्माङ्गरागेश्वरस्य तनुरिव विभाति । शेषो व्याख्यात । कलापकम् ॥ ५४–५७ ॥

कलापक

हे अनिन्दित शरीरवाली (सीता) ! कान्तिसे (समीपस्थ वस्तुओंको) लिप्त करते हुए

इन्द्रनील मणियोंसे गुथी गयी मोतियोंकी लड़ीके समान, दूसरी ओर नील कमलोंसे बनी हुई माला श्वेत कमलोंकी मालाके समान, नीलहंसोंसे युक्त श्वेत राजहंसपंक्तियोंकी पङ्क्तिके समान, दूसरी ओर कालागुरुसे मकरिका (मकराकार रचना-विशेष) चन्दनसे बनाये हुई पृथ्वीकी रचनाके समान, कहीं पर (कृष्ण सर्पोंकी) छायामें पड़ती हुई चाँदनीके समान दूसरी ओर शिवजीके (मेघसे रहित शरत्में कहीं २ दिखलाई पड़ रहा है आकाश-नील जिसमें ऐसी शरद् ऋतुके मेघ-खण्डके समान, कृष्णसर्पोंसे अलङ्कृत भस्मको लगाये हुए शिवजीके शरीरके समान यमुनाके तरङ्गोंसे मिश्रित गङ्गाकी धारा शोभित हो रही है॥५५-५७॥

समुद्रपत्न्योर्जलसंनिपाते पूतात्मनामत्र किलाभिषेकात्।
तत्त्वावबोधेन विनाऽपि भूयस्तनुत्यजां नास्ति शरीरबन्धः॥५८॥

समुद्रेति। अत्र समुद्रपत्न्योर्गङ्गायमुनयोर्जलसंनिपाते संगमेऽभिषेकात्स्नानात् पूतात्मनां शुद्धात्मनां पुंसां तत्त्वावबोधेन तत्त्वज्ञानेन विनापि तनुत्यजां मृतानामनन्तरं भूयः पुनः शरीरबन्धः शरीरसंबन्धो नास्ति किल। अन्यत्र ज्ञानादेव मुक्तिः। अत्र तु स्नानमात्रेण मुक्तिरित्यर्थः॥५८॥

यहाँ दोनों नदियों (गङ्गा-यमुनाके) संगममें स्नान करनेसे पवित्र आत्माओंको ज्ञान प्राप्तिके बिना भी मरने पर फिर शरीरबन्धन नहीं होता है अर्थात् वे केवल यहाँ स्नानमात्रसे ही मुक्तिको पाते हैं॥५८॥

पुरं निषादाधिपतेरिदं तद्यस्मिन्मया मौलिमणिं विहाय।
जटासु बद्धास्वरुदत्सुमन्त्रः कैकेयि कामाः फलितास्तवेति॥५९॥

पुरमिति। निषादाधिपतेर्गुहस्य तत्पुरमिदम्। यस्मिन्पुरे मया मौलिमणिं विहाय जटासु बद्धासु रचितासु सतीषु सुमन्त्रः। हे कैकेयि! तव कामा मनोरथाः फलिताः सफला जाताः इत्यरुदत्। 'रुदिर् अश्रुविमोचने' इति धातोर्लङ्॥५९॥

यह निषादराज (गुह) का नगर (शृंगवेरपुर) है, जहाँ पर मेरे मुकुटमणिको छोड़कर जटाके बाँधने पर 'हे कैकेयि! तुम्हारे मनोरथ सफल हुए' ऐसे (कहकर) सुमन्त्र रोये थे॥५९॥

पयोधरैः पुण्यजनाङ्गनानां निर्विष्टहेमाम्बुजरेणु यस्याः।
ब्राह्मं सरः कारणमाप्तवाचो बुद्धेरिवाव्यक्तमुदाहरन्ति॥६०॥

पयोधरैरिति। पुण्यजनाङ्गनानां यक्षस्त्रीणां पयोधरैः स्तनैर्निर्विष्टं उपभुक्तं हेमाम्बुजरेणुर्यस्य तत्। तच्च तत्सरो ब्राह्ममिति कथ्यते। ब्रह्मण इदं ब्राह्मम्। 'तस्येदम्' इति विग्रहः। ब्राह्मं सरो मानसं यस्याः सरय्वाः बुद्धेर्महत्तत्त्वस्याव्यक्तं प्रधानमिव कारणम्। आप्तस्य वाचः आप्तवाचो वेदाः। अथवा मनुप्रभृतिका मुनय उदाहरन्ति कथयन्ति॥६०॥

यक्ष-स्त्रियां जिसके स्वर्णकमलोंके परागको स्तनोंमें लगाती हैं ऐसे मानससरोवरको जिस (सरयु नदी) का, बुद्धि (महत्तत्त्व) के अव्यक्त (प्रधान) के समान, कारण आप्त-वाक् अर्थात् आप्तोंका वचन वेद या आप्तवचनवाले मुनि लोग कहते हैं । (वेद या मुनि लोग जिस सरयु नदीको मानससरोवरसे निकली बतलाते हैं)—॥ ६० ॥

जलानि या तीरनिखातयूपा वहत्ययोध्यामनु राजधानीम् ।
तुरङ्गमेधावभृथावतीर्णैरिक्ष्वाकुभिः पुण्यतरीकृतानि ॥ ६१ ॥

जलानीति । यूपः संस्कृतः पशुबन्धनार्हो दारुविशेषः । तीरनिखातयूपा या सरयूस्तुरङ्गमेधा अश्वमेधास्तेष्ववभृथार्थमेवावतीर्णैरवरूढैरिक्ष्वाकुभिरिक्ष्वाकुगोत्रापत्यैर्नृपैः । तद्राजत्वादणो लुक् । पुण्यतरीकृतान्यतिशयेन पुण्यानि कृतानि जलान्ययोध्या राजधानीं नगरीमनुसमीपे तया लक्षितयेत्यर्थः । अनुशब्दस्य 'लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः' इत्यनेन कर्मप्रवचनीयत्वात्तद्योगे द्वितीया । वहति प्रापयति ॥ ६१ ॥

तीरमें गाडे गये यूप (यज्ञ-पशु बांधनेके लिये मन्त्रोंसे संस्कृत स्तम्भ-विशेष) वाली जो (सरयु नदी) अश्वमेध यज्ञके अवभृथ (यज्ञका समाप्ति-सूचक अन्तिम स्नान-विशेष) के लिये उतरे (प्रवेश किये) हुए इक्ष्वाकुवंशके राजाओंसे अधिक पवित्र जलको अयोध्या-समीपमें धारण करती प्राप्त कराती है ॥ ६१ ॥

यां सैकतोत्सङ्गसुखोचितानां प्राज्यैः पयोभिः परिवर्धितानाम् ।
सामान्यधात्रीमिव मानसं मे सम्भावयत्युत्तरकोसलानाम् ॥ ६२ ॥

यामिति । यां सरयूं मे मानसं कर्तृ सैकतं पुलिनं तदेवोत्सङ्गः तत्र यत्सुखं तत्रोचितानां प्राज्यैः प्रभूतैः पयोभिरम्बुभिः क्षीरैश्च । 'पयः क्षीरं पयोऽम्बु च' इत्यमरः परिवर्धितानां पुष्टानामुत्तरकोसलानामुत्तरकोसलेश्वराणां सामान्यधात्रीं साधारणमातरमिव सम्भावयति । 'धात्री जनन्यामलकीवसुमत्युपमातृषु' इति विश्वः ॥ ६२ ॥

जिस (सरयू नदी) को मेरा चित्त तट रूप गोदमें (मातृपक्षमें—तटके समान गोदमें) सुखके योग्य तथा पर्याप्त जलसे (मातृपक्षमें—दूधसे) बढाये तथा परिपुष्ट किये गये उत्तर-कोशलके राजाओंकी सामान्य धात्री (सर्व-साधारण माता) के समान सत्कृत करता है ॥

सेयं मदीया जननीव तेन मान्येन राज्ञा सरयूर्वियुक्ता ।
दूरे वसन्तं शिशिरानिलैर्मां तरङ्गहस्तैरुपगूहतीव ॥ ६३ ॥

सेयमिति । मदीया जननी कौसल्येव मान्येन पूज्येन तेन राज्ञा दशरथेन वियुक्ता सेयं सरयूर्दूरे वसन्तम्, प्रोष्यागच्छन्तमित्यर्थः । मां पुत्रभूतं शिशिरानिलैस्तरङ्गैरेव हस्तैरुपगूहतीवालिङ्गतीव ॥ ६३ ॥

पूज्य उस राजा (दशरथजी) के द्वारा छोडी गई मेरी माता (कौसल्या) के समान यह यह शरद् ऋतु पूर लिये (परदेशमें निवास करते हुए) मुझको अभी इनाशके उठ कम हाथोंसे (मातृपक्षमें—चरणोंके समान हाथोंसे) आकर्षित कर रही है ॥ ६३ ॥

विरक्तसन्ध्याकपिशं पुरस्ताद्यतो रजः पार्थिवमुज्जिहीते ।
शङ्के हनूमत्कथितप्रवृत्तिः प्रत्युद्गतो मां भरतः ससैन्यः ॥ ६४ ॥

विरक्तेति । विरक्तविरक्ता या सन्ध्या तद्वत्कपिशं ताम्रवर्णम् । पृथिव्या इदं पार्थिवम् । रजो भूमिरजः पुरस्तादग्रे यतो यस्मात्कारणादुज्जिहीत ऊर्ध्वं गच्छति । तस्माद्धनुरस्यास्तीति हनूमान् । 'शरादीनां च' इति दीर्घः । तेन कथिता प्रवृत्तिर्वार्ता यस्मै स भरतः ससैन्यः सन्मां प्रत्युद्गत इति शङ्के तर्कयामि । 'शङ्का वितर्कभयोः' इति सप्तार्णवे । अत्र पदार्थयोर्लिङ्गसम्बन्धात्काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ ६४ ॥

जिस कारण आगे भरतका आकर्षण सन्ध्याकालके समान कपिश वर्ण पृथ्वीकी धूलि उड़ रही है (अतः) हनुमानके कहनेसे मेरे समाचारको मालूमकर भरत सेनाके साथ मेरी अगवानीको आरहे हैं ऐसा समझता हूँ ॥ ६४ ॥

अद्धा श्रियं पालितसङ्गराय प्रत्यर्पयिष्यत्यनघां स साधुः ।
हत्वा निवृत्ताय मृधे खरादीन्संरक्षितां त्वामिव लक्ष्मणो मे ॥ ६५ ॥

अद्धेति । किन्तु साधुः सज्जनः स भरतः । 'साधुर्वार्धुषिके चारौ सज्जने चाभि' धेयवत्' इति विश्वः । पालितसङ्गराय पालितपितृप्रतिज्ञाय मे मह्यमनघामव्याजोपभोगामनाघ्रातामनुपभुक्तां किन्तु संरक्षितां श्रियम् । मृधे युद्धे खरादीन्हत्वा निवृत्ताय मे लक्ष्मणः संरक्षितामनघां त्वामिव प्रत्यर्पयिष्यत्यद्धा सत्यम् । 'तत्त्वे त्वद्धाञ्जसा द्वयम्' इत्यमरः ॥ ६५ ॥

सज्जन वह (भरत पिताकी आज्ञा रूप) प्रतिज्ञाको पूरा किये हुए मेरे लिये (स्वयं भोग न करके रक्षा करके) निर्दोष लक्ष्मीको वस्तुतः उस प्रकार समर्पण करेंगे, जिस प्रकार युद्धमें खर आदि राक्षसोंको मारकर लौटे हुए मेरे लिये लक्ष्मण ने निर्दोष एवं सुरक्षित तुमको सौंपा था ॥ ६५ ॥

असौ पुरस्कृत्य गुरुं पदातिः पश्चादवस्थापितवाहिनीकः ।
वृद्धैरमात्यैः सह चीरवासा मामर्घ्यपाणिर्भरतोऽभ्युपैति ॥ ६६ ॥

असाविति । असौ पदातिः पादाभ्यामततीति पदातिः पादचारी चीरवासा वल्कलवसनो भरतः पश्चादग्रतोऽवस्थापिता वाहिनी सेना येन स तथोक्तः सन् । 'नद्यृतश्च' इति कप् । गुरुं वसिष्ठं पुरस्कृत्य वृद्धैरमात्यैः सहार्घ्यपाणिः सन्मामभ्युपैति ॥ ६६ ॥

पैदल तथा वल्कल पहने हुए यह भरत सेनाको पीछे कर तथा गुरु (वसिष्ठ मुनि) को आगेकर वृद्ध मन्त्रियोंके साथ हाथमें अर्घ्य लिये मेरे सन्मुख आरहे हैं ॥ ६६ ॥

पित्रा विसृष्टां मदपेक्षया यः श्रियं युवाऽप्यङ्कगतामभोक्ता।
इयन्ति वर्षाणि तया सहोग्रमभ्यस्यतीव व्रतमासिधारम् ॥ ६७ ॥

पित्रेति। यो भरतः पित्रा विसृष्टां दत्तामङ्कमुत्सङ्गं च गतामपि यां श्रियं युवाऽपि मदपेक्षया मद्भक्त्याऽभोक्ता सन्। तृन्नन्तत्वात् 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' इति षष्ठीनिषेधः। इयन्ति वर्षाण्येतावतो वत्सरान्। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। तया श्रिया सह स्त्रियेति च गम्यते। उग्रं दुश्चरमासिधारं नाम व्रतमभ्यस्यतीव वर्तयतीव। 'युवा युवत्या सार्धं यन्मुग्धभर्तृवदाचरेत्। अन्तर्निवृत्तसङ्गः स्यादासिधारव्रतं हि तत् ॥' इति यादवः। इदं चासिधाराचङ्क्रमणतुल्यत्वादासिधारव्रतमित्युक्तम् ॥६७॥

जो भरत पिताजीके द्वारा दी हुई तथा अङ्कमें आई हुई लक्ष्मीको मेरी अपेक्षा (मेरी भक्ति) के कारण युवा होकर भी नहीं भोग करते हुए इतने दिन (चौदह) वर्षोंतक उस श्री (पक्षमें स्त्री) के साथ मानों कठिन 'आसिधार व्रत' (तलवारकी धारपर चलनेके समान अतिकष्टसाध्य व्रत) का अभ्यास कर रहे हैं ॥ ६७ ॥

एतावदुक्तवति दाशरथौ तदीयामिच्छां विमानमधिदेवतया विदित्वा।
ज्योतिष्पथादवततार सविस्मयाभिरुद्वीक्षितं प्रकृतिभिर्भरतानुगाभिः ॥६८॥

एतावदिति। दाशरथौ रामे एतावदुक्तवति सति विमानं पुष्पकं कर्तृ, तदीयां रामसम्बन्धिनीमिच्छामधिदेवतया मिषेण विदित्वा, तत्प्रेरितं सदित्यर्थः। सविस्मयाभिर्भरतानुगाभिः प्रकृतिभिः प्रजाभिरुद्वीक्षितम् ऊर्ध्वंदृष्टं सज्ज्योतिष्पथादाकाशादवततार ॥ ६८ ॥

रामके ऐसा (श्लो० —६७) कहनेपर उनकी इच्छाको अधिदेवतासे मालूम कर आश्चर्यित तथा भरतके पीछे चलनेवाली प्रजाओंसे देखा गया वह पुष्पकविमान आकाश से (भूमिपर) उतरा ॥ ६८ ॥

तस्मात्पुरःसरविभीषणदर्शितेन सेवाविचक्षणहरीश्वरदत्तहस्तः।
यानादवातरददूरमहीतलेन मार्गेण भङ्गिरचितस्फटिकेन रामः ॥ ६९ ॥

तस्मादिति। रामः सेवायां विचक्षणः कुशलो हरीश्वरः सुग्रीवस्तेन दत्तो हस्तो हस्तावलम्बो यस्य तादृशः सन्। स्खलनत्वात्पुरःसरो विभीषणस्तेन दर्शितेनादूरमासन्नं महीतलं यस्य भङ्गिभिर्विच्छित्तिभी रचितस्फटिकेन बद्धस्फटिकेन सोपानपर्वणा मार्गेण तस्माद्यानात्पुष्पकादवातरदवतीर्णवान्। तरतेर्लङ् ॥ ६९ ॥

राम सेवाचतुर वानरपति (सुग्रीव) के हाथ का अवलम्बन कर आगे चलनेवाले

विभीषणसे प्रदर्शित तथा समीपवर्ती भूमितलके (भूमिसे थोड़ा ऊँचा), तथा स्फटिक मणिकी रचनावाले (सीढ़ी है) मार्गसे वह पुष्पक विमान उतरने लगा॥ ६९॥

इक्ष्वाकुवंशगुरवे प्रयतः प्रणम्य स भ्रातरं भरतमर्घ्यपरिग्रहान्ते।
पर्यश्रुरस्वजत मूर्धनि चोपजघ्रौ तद्भक्त्यपोढपितृराज्यमहाभिषेके॥ ७०॥

इक्ष्वाक्विति। प्रयतः स राम इक्ष्वाकुवंशगुरवे वसिष्ठाय प्रणम्य अर्घ्यस्यार्घ्यस्य परिग्रहः स्वीकारस्तस्यान्ते पर्यश्रुः परिगतान्यश्रूणि यस्य सन् भ्रातरं भरतमस्वजत आलिलिङ्ग। यस्मिन्रामे भक्त्यापोढः परित्यक्तः पितृराज्यमहाभिषेको येन तस्मिन्मूर्धन्युपजघ्रौ च। 'घ्रा गन्धोपादाने' इति धातुः॥ ७०॥

पवित्रात्मा राम इक्ष्वाकु वंशके गुरु (वसिष्ठ मुनि) को प्रणाम कर अर्घ्य ग्रहण करनेके बादमें भाई भरतको (आनन्दके कारण) अश्रुयुत होते हुए आलिङ्गन किया और उन (राम) के भक्तिसे पिता (दशरथ) के दिये हुए राज्याभिषेकका त्याग करनेवाले भरतको सूँघा। (छोटे भाईके मस्तकका सूँघना या चूमना शास्त्रोंमें वात्सल्यका लक्षण माना गया है)॥

श्मश्रुप्रवृद्धिजनिताननविक्रियांश्च प्लक्षान्प्ररोहजटिलानिव मन्त्रिवृद्धान्।
अन्वग्रहीत्प्रणमतः शुभदृष्टिपातैर्वार्तानुयोगमधुराक्षरया च वाचा॥ ७१॥

श्मश्र्विति। श्मश्रूणां मुखरोम्णां प्रवृद्ध्या संस्काराभावादभिवृद्ध्या जनिता आननेषु विक्रिया विकृतिर्येषां तानत एव प्ररोहैः शाखाभ्यः कटिभिर्लम्बमानैर्मूलैर्जटिलान् जटावतः प्लक्षान्पर्कटीनिव स्थितान्। प्रणमतो मन्त्रिवृद्धान् शुभैः सौम्यैर्दृष्टिपातैर्वार्तानुयोगेन कुशलप्रश्नेन मधुराक्षरया वाचा चान्वग्रहीदनुगृहीतवान्॥ ७१॥

दाढ़ी-मूँछ बढ़नेसे विकृत (संस्कारहीन होनेसे शोभा रहित) मुखवाले बरोहोंसे व्याप्त पाकड़ वृक्षोंके समान स्थित प्रणाम करते हुए वृद्धमन्त्रियोंको स्नेहपूर्वक देखनेसे कुशल प्रश्न युक्त मधुर वचनोंसे (उस रामने) अनुगृहीत किया॥ ७१॥

दुर्जातबन्धुरयमृक्षहरीश्वरो मे पौलस्त्य एष समरेषु पुरः प्रहर्ता।
इत्यादृतेन कथितौ रघुनन्दनेन व्युत्क्रम्य लक्ष्मणमुभौ भरतो ववन्दे॥ ७२॥

दुर्जातेति। अयं मे दुर्जातबन्धुरापद्बन्धुः। 'दुर्जातं व्यसनं प्रोक्तम्' इति विश्वः। ऋक्षहरीश्वरः सुग्रीवः। एष समरेषु पुरः प्रहर्ता पौलस्त्यो विभीषणः। इत्यादृतेनादरवता। कर्तरि क्तः। रघुनन्दनेन रामेण कथितावुभौ विभीषणसुग्रीवौ लक्ष्मणमग्रजमपि व्युत्क्रम्यालिङ्गनादिभिः सम्मान्य भरतो ववन्दे॥ ७२॥

'ये मेरे दुःखके बन्धु तथा भालुओं और वानरोंके राजा सुग्रीव हैं, एवं युद्धमें आगे (बढ़कर शत्रुओं पर) प्रहार करनेवाले ये पुलस्त्य-सन्तान अर्थात् विभीषण हैं' इस प्रकार

रामके द्वारा बतलाये गये इन दोनों (सुग्रीव और विभीषण) को भरतने लक्ष्मणको छोड़ कर (लक्ष्मणका आलिङ्गन आदिसे सत्कृत करनेके पहले) प्रणाम किया ॥ ७२ ॥

सौमित्रिणा तदनु संससृजे स चैनमुत्थाप्य नम्रशिरसं भृशमालिलिङ्ग ।
रूढेन्द्रजित्प्रहरणव्रणकर्कशेन क्लिश्यन्निवास्य भुजमध्यमुरः स्थलेन ॥७३॥

सौमित्रिणेति । तदनु सुग्रीवादिवन्दनानन्तर स भरत. सौमित्रिणा ससृजे सङ्गत' । 'सृज विसर्गे' दैवादिकात्कर्तरि लिट् । नम्रशिरस प्रणतमेन सौमित्रिमुत्थाप्य भृश गाढमालिलिङ्ग च । किं कुर्वन् । रूढेन्द्रजित्प्रहरणव्रणै. कर्कशेनास्य सौमित्रेरुर स्थलेन भुजमध्य स्वकीयं क्लिश्यन्निव पीडयन्निव क्लिश्नातिरय सकर्मकः । 'क्लिश्नाति भुवनत्रयम्' इति दर्शनात् । ननु रामायणे—'ततो लक्ष्मणमासाद्य वैदेहीं च परन्तप । अभिवाद्य ततः प्रीतो भरतो नाम चाब्रवीत ॥' इति भरतस्य कानिष्ठ्य प्रतीयते, किमर्थं ज्यैष्ठ्यमवलम्ब्यानार्जवेन श्लोको व्याख्यात. ? सत्यम् । किन्तु रामायणश्लोकार्थंष्टीकाकृतोक्त श्रूयताम् । 'ततो लक्ष्मणमासाद्य—'इत्यादि श्लोक आसादन लक्ष्मणवैदेह्योः अभिवादनं तु वैदेह्या एव अन्यथा पूर्वोक्त भरतस्य ज्यैष्ठ्यं विरुध्येतेति ॥ ७३ ॥

उसके बाद वह (भरत) लक्ष्मणसे मिले—प्रणाम कर नम्रमस्तक इस (लक्ष्मण) को उठाकर इन्द्रजित् (रावणपुत्र मेघनाथ) के घावोंसे कठोर इस लक्ष्मण कि छातीसे मानो भुजमध्य (अपनी छाती) को पीडित करते हुए आलिङ्गन किया । (लक्ष्मणकी छातीको मेघनादके प्रहारके व्रणोंसे चिह्नित देखकर भरतको हार्दिक कष्ट हुआ) ॥ ७३ ॥

रामाज्ञया हरिचमूपतयस्तदानीं कृत्वा मनुष्यवपुरारुरुहुर्गजेन्द्रान् ।
तेषु क्षरत्सु बहुधा मदवारिधारा' शैलाधिरोहणसुखान्युपलेभिरे ते ॥७४॥

रामेति । तदानीं हरिचमूपतयो रामाज्ञया मनुष्यवपु कृत्वा गजेन्द्रानारुरुहु. । बहुधा मदवारिधारा' क्षरत्सु वर्षत्सु तेषु गजेन्द्रेषु ते कपियूथनाथाः शैलाधिरोहण-सुखान्युपलेभिरेऽनुबभूवुः ॥ ७४ ॥

उस समय वानर सेनापति रामकी आज्ञासे मनुष्यके शरीरको धारण कर गजराजों पर चढ गये । अत्यधिक मद-धाराको गिराते हुए उन हाथियों पर उन वानर-सेनापति-योंने (झरनोंसे पानी गिराते हुए) पहाड़ों पर चढनेका सुख प्राप्त किया ॥ ७४ ॥

सानुप्लवः प्रभुरपि क्षणदाचराणां भेजे रथान्दशरथप्रभवानुशिष्ट' ।
मायाविकल्परचितैरपि ये तदीयैर्न स्यन्दनैस्तुलितकृत्रिमभक्तिशोभा. ॥

सानुप्लव इति । सानुप्लव' सानुग । 'अभिसारस्त्वनुसर सहायोऽनुप्लवो-ऽनुग.' इति यादवः । क्षणदाचराणां रक्षसां प्रभुर्विभीषणोऽपि प्रभवत्यस्मादिति

मनसो दशरथो दशरथः मनसो यस्य स दशरथमनसो रामः। तेनानुशिष्टः सद्रथान् भेजे। तानेव विशिनष्टि—ये रथा मायाविकल्परचितैः सद्यःसङ्कल्प-निर्मितैरपि तदीयैर्विभीषणीयैः स्यन्दनैः रथैस्तुल्यकृत्रिममणिसोपानास्तत्कृता तस्मै कृता कृत्रिमा क्रियया निपुणा सत्कृता लोभा येषां ते तथोक्ता न भवन्ति। तेषां तत्साम्यं न समस्तमित्यर्थः। कृत्रिमेत्यत्र 'ड्वितः क्त्रिः' इति क्त्रिप्रत्ययः। 'क्त्रेर्मम्नित्यम्' इति ममागमः ॥ ७५ ॥

दशरथ-नन्दन (राम) की आज्ञा पाये हुए निशाचरराज (विभीषण) की अनुयायियों के साथ उन रथोंपर सवार हुए, जो माया की कल्पनासे बनाये गये उन (राक्षसों) के रथोंसे परावरकी नहीं बनावटी शोभावाले नहीं हुए ॥ ७५ ॥

> भूयस्ततो रघुपतिर्विलसत्पताक-
>
> मध्यास्त कामगति सावरजो विमानम्।
>
> दोषातनं बुधबृहस्पतियोगदृश्य-
>
> स्तारापतिस्तरलविद्युदिवाभ्रवृन्दम् ॥ ७६ ॥

भूय इति। ततो रघुपतिः सावरजो भरतलक्ष्मणसहितः सन् विलसत्पताकं कामगत्येच्छानुसारेण गतिः यस्य तद्विमानं भूयः पुनरपि। बुधबृहस्पतिभ्यां योगेन दृश्यो दर्शनीयस्तारापतिश्चन्द्रो दोषाभवं दोषातनम्। सायंचिरम्प्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्य ट्युट्युलौ तुट् च' इत्यनेन दोषाशब्दात्ट्युप्रत्ययः। तरलविद्युच्चञ्चलविद्युद्वृन्दमिव अध्यास्ताधितिष्ठति ॥ ७६ ॥

उसके बाद अनुजों (भरत तथा लक्ष्मण) के सहित राम पताकासे शोभायमान और इच्छानुसार गमन करनेवाले पुष्पक विमान पर फिर उस प्रकार सवार हुए, जिस प्रकार बुध तथा बृहस्पतिके संयोगसे दर्शनीय चन्द्रमा रातमें चञ्चल बिजलीसे युक्त मेघ-समूह पर सवार होता (गमन करता) है ॥ ७६ ॥

> तत्रेश्वरेण जगतां प्रलयादिवोर्वीं वर्षात्ययेन रुचमभ्रघनादिवेन्दोः।
>
> रामेण मैथिलसुतां दशकण्ठकृच्छ्रात्प्रत्युद्धृतां धृतिमतीं भरतो ववन्दे ॥

तत्रेति। तत्र विमाने। जगतामीश्वरेणादिवराहेण प्रलयादुद्धृतामिव उर्वीं वर्षात्ययेन शरदागमेनाभ्रघनान्मेघसङ्घातादिन्दोः रुचं चन्द्रिकामिव। रामेण दशकण्ठ एव कृच्छ्रं सङ्कटं तस्मात्प्रत्युद्धृतां धृतिमतीं सन्तोषवतीं मैथिलसुतां सीतां भरतो ववन्दे ॥ ७७ ॥

उस विमानके ऊपर, जगत्पति (भगवान् वराह) के द्वारा प्रलयसे उबारी गयी पृथ्वीके समान तथा शरद्ऋतुके द्वारा मेघ समूहसे उबारी गयी चन्द्रज्योत्स्नाके समान रामके द्वारा रावण के कष्टसे उबारी गयी धैर्यधारिणी सीताको भरतने प्रणाम किया ॥ ७७ ॥

लङ्केश्वरप्रणतिभङ्गदृढव्रतं तद्वन्द्यं युगं चरणयोर्जनकात्मजायाः।
ज्येष्ठानुवृत्तिजटिलं च शिरोऽस्य साधोरन्योन्यपावनमभूदुभयं समेत्य॥

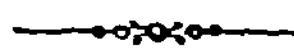
लङ्केश्वरेति। लङ्केश्वरस्य रावणस्य प्रणतीनां भङ्गेन निरासेन दृढव्रतमखण्डितपातिव्रत्यमत एव वन्द्यं तज्जनकात्मजायाश्चरणयोर्युगं ज्येष्ठानुवृत्त्या जटिलं जटायुक्तं साधोः सज्जनस्यास्य भरतस्य शिरश्चेत्युभयं समेत्य मिलित्वाऽन्योन्यस्य पावनं शोधकमभूत्॥ ७८॥

लङ्केश्वर (रावण) के प्रणामोंको भङ्ग करनेसे (रावणकी प्रार्थना ठुकरा देनेसे) दृढ व्रतवाला (अत एव) वन्दनीय, उस जनकनन्दिनी (सीता) का वह चरणयुगल और बड़े (भाई राम) के अनुवृत्ति करनेवाला जटायुक्त महात्मा इस भरतका मस्तक—ये दोनों मिलकर परस्परको पवित्र करनेवाले हुए॥ ७८॥

क्रोशार्धं प्रकृतिपुरःसरेण गत्वा काकुत्स्थः स्तिमितजवेन पुष्पकेण।
शत्रुघ्नप्रतिविहितोपकार्यमार्यः साकेतोपवनमुदारमध्युवास॥ ७९॥

क्रोशार्द्धमिति। आर्यः पूज्यः काकुत्स्थो रामः प्रकृतयः प्रजाः पुरःसर्यो यस्य तेन स्तिमितजवेन मन्दवेगेन पुष्पकेण। क्रोशोऽध्वपरिमाणविशेषः। क्रोशार्धं क्रोशैकदेशं गत्वा शत्रुघ्नेन प्रतिविहिताः सज्जिता उपकार्याः पटभवनानि यस्मिंस्तदुदारं महत्साकेतस्यायोध्याया उपवनमध्युवासाधितष्ठौ। 'साकेतः स्यादयोध्यायां कोसलानन्दिनी तथा' इति यादवः॥ ७९॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया सञ्जीविनीसमाख्यया व्याख्यया समेतो महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये दण्डकाप्रत्यागमनो नाम त्रयोदशः सर्गः॥ १३॥



पूज्य राम, प्रजावर्ग जिसके आगे २ चल रहे हैं, ऐसे मन्दगतिवाले पुष्पक विमानसे आधाकोश चलकर शत्रुघ्नसे सजाये गये तम्बू-कनात टेण्ट आदि वस्त्र-भवनों वाले अयोध्याके सुन्दर उपवनमें निवास किया॥ ७९॥

यह 'मणिप्रभा' टीकामें 'रघुवंश महाकाव्यका 'दण्डकाप्रत्यागमन' नामक त्रयोदशसर्ग समाप्त हुआ॥ १३॥



चतुर्दशः सर्गः ।

सधीचम मैथिलकन्यकया सौम्यर्तिसर्वस्वमहानिधानम् ।
समाश्रयतेजस्वी: समार्थ रामस्य वन्दे रमणीयमस्तम् ॥

भर्तुः प्रणाशादथ शोचनीयं दशान्तरं तत्र समं प्रपन्ने ।
अपश्यतां दाशरथी जनन्यौ छेदादिवोपघ्नतरोर्व्रतत्यौ ॥ १ ॥

भर्तुरिति । अथोपवनाभिगमनानन्तरं दाशरथी रामलक्ष्मणौ । उपघ्नतरोराश्रय-वृक्षस्य । 'उपघ्न आश्रये' इति निपातः । तस्य छेदात् व्रतत्यौ लते इव । 'व्रती तु व्रततिर्लता' इत्यमरः । भर्तुर्दशरथस्य प्रणाशान्मरणाच्छोचनीयं दशान्तरमवस्थान्त-रम् । 'अवस्थायां वस्त्रान्ते स्याद्दशाऽपि' इति विश्वः । प्रपन्ने प्राप्ते जनन्यौ कौस-ल्यासुमित्रे तत्र साकेतोपवने समं युगपदपश्यताम् । दृशेः कर्तरि लङ् ॥ १ ॥

तपोवनोंसे पूर्णिमाके कान्ति समान वे दोनों ।
चन्द्र पद समान मन्थी रघुकुल सुन्दर मनी ॥

इसके बाद वहाँ पर (उपवनमें) राम-लक्ष्मणने पतिके मरनेसे शोचनीय दशाको प्राप्त हुई दोनों माताओं (कौसल्या तथा सुमित्रा) को आश्रयभूत वृक्षके कटनेसे शोचनीय दशाको प्राप्त हुई दो लताओंके समान एक साथ देखा ॥ १ ॥

उभावुभाभ्यां प्रणतौ हतारी यथाक्रमं विक्रमशोभिनौ तौ ।
विस्पष्टमस्रान्धतया न दृष्टौ ज्ञातौ सुतस्पर्शसुखोपलम्भात् ॥ २ ॥

उभाविति । यथाक्रमं ज्येष्ठानुक्रमपूर्वकं प्रणतौ नमस्कुर्वन्तौ हतारी हतशत्रू विक्रमशोभिनौ तावुभौ रामलक्ष्मणावुभाभ्यां मातृभ्यामस्रान्धतया हेतुना । 'शत्रुघ्न-श्च सौमित्रिश्च' इति पाठः । विस्पष्टं न दृष्टौ किन्तु सुतस्पर्शेन यत्सुखं तस्योपलम्भा-दनुभवाज्ज्ञातौ ॥ २ ॥

दोनों माताओंको क्रमपूर्वक प्रणाम किये हुए, शत्रुओंको नाश किये हुए (अतएव) पराक्रमसे शोभमान उन दोनों (राम लक्ष्मण) को माताओंने आँसू बहते रहनेसे अन्धी-सी होनेके कारण (माताओंने) नहीं देखा किन्तु पुत्रके स्पर्शसे सुखको प्राप्त होनेसे (उन दोनों पुत्रोंको) पहचाना ॥ २ ॥

आनन्दजः शोकजमश्रु बाष्पस्तयोरशीतं शिशिरो बिभेद ।
गङ्गासरय्वोर्जलमुष्णतप्तं हिमाद्रिनिष्यन्द इवावतीर्णः ॥ ३ ॥

आनन्दज इति । तयोर्मात्रोरानन्दजः शिशिरः शीतलो बाष्पः शोकजमशीतमुष्ण-

मश्रु । उष्णतप्त ग्रीष्मतप्त गङ्गासरय्वोर्जल कर्म अवतीर्णो हिमाद्रेर्निस्यन्दो निर्झर इव विभेद, आनन्देन शोकस्तिरस्कृत इत्यर्थ ।

उन दोनों (कौसल्या तथा सुमित्रा) के आनन्दोत्पन्न ठण्डे आँसूने, ठण्डा एव गर्म गङ्गाके जलके गिरते हुए हिमालयके झरनेके प्रवाहके समान, शोकजन्य आँसूको दूर कर दिया। (यहाँ ठण्डे आनन्दजन्य आँसूके द्वारा शोकजन्य आँसूको दूर करनेके वर्णनसे पुत्र प्राप्तिजन्य आनन्दसे पतिमरणजन्य शोक दूर हो गया यह कहा गया है, शीतल जलसे गर्म जलको भी शीतल हो जाना प्रसिद्ध है) ॥ ३ ॥

ते पुत्रयोर्नैर्ऋतशस्त्रमार्गानार्द्रानिवाङ्गे सदय स्पृशन्त्यौ ।
अपीप्सितं क्षत्रकुलाङ्गनानां न वीरसूशब्दमकामयेताम् ॥ ४ ॥

त इति । ते मातरौ पुत्रयोरङ्गे शरीरे नैर्ऋतशस्त्राणां राक्षसशस्त्राणां मार्गान्व्रणान् शस्त्रघातकिणानार्द्रान्सरसानिव सदय स्पृशन्त्यौ क्षत्रकुलाङ्गनानामीप्सितमिष्टमपि वीरसूर्वीरमातेति शब्द नाकामयेताम् । वीरप्रसवो दुःखहेतुरिति भाव. ॥ ४ ॥

वे दोनों (कौसल्या तथा सुमित्रा) दोनों पुत्रों (राम तथा लक्ष्मण) के राक्षस-शस्त्रोंसे किये गये आर्द्र (ताजा) के समान व्रणोंको दया पूर्वक (धीरे) स्पर्श करती हुई क्षत्रिय कुलवधुओंके अत्यन्त अभिलषित भी वीरसू (वीर पुत्र पैदा करनेवाली) शब्दकी इच्छा नहीं की। (वीर सन्तान पैदा करना महान् कष्टका कारण होता है, यह मानकर उसकी चाहना नहीं की) ॥ ४ ॥

क्लेशावहा भर्तुरलक्षणाऽहं सीतेति नाम स्वमुदीरयन्ती ।
स्वर्गप्रतिष्ठस्य गुरोर्महिष्यावभक्तिभेदेन वधूर्ववन्दे ॥ ५ ॥

क्लेशावहेति । आवहतीत्यावहा भर्तुं क्लेशावहा क्लेशकारिणी अत एवालक्षणाऽहं सीतेति स्व नामोदीरयन्ती स्वर्ग प्रतिष्ठाऽऽस्पद यस्य तस्य स्वर्गस्थितस्य गुरो. श्वशुरस्य महिष्यौ श्वश्र्वौ। 'वधूः स्नुषा वधूर्जायास्नुषा' इत्यमर । अभक्तिभेदेन ववन्दे । स्वर्गप्रतिष्ठस्येत्यनेन श्वश्रूवैधव्यदर्शनदुःख सूचितम् ॥ ५ ॥

'कुलक्षणवाली मैं सीता पतिको कष्ट देनेवाली हुई' इस प्रकार अपने नामको कहती हुई वह सीताने स्वर्गगत श्वशुर की दोनों पटरानियों (कौसल्या-सुमित्रा) को विना भेद भावके प्रणाम किया ॥ ५ ॥

उत्तिष्ठ वत्से ननु सानुजोऽसौ वृत्तेन भर्ता शुचिना तवैव ।
कृच्छ्रं महत्तीर्ण इति प्रियार्हां तामूचतुस्ते प्रियमप्यमिथ्या ॥ ६ ॥

उत्तिष्ठेति । 'ननु 'वत्से ! उत्तिष्ठ । असौ सानुजो भर्ता तवैव शुचिना वृत्तेन मह-

कृत्स्नं दुःखं धीरैस्तीर्णमेतत्' इति प्रियार्हां तां वधूं प्रियमप्यमिथ्या सत्यं ते बभूवतुः । उभयं दुर्लभमिति भावः ॥ ६ ॥

उन दोनों (कौसल्या तथा सुमित्रा) ने स्नेह करके सौम्य सीतासे 'हे पुत्रि ! तुम्हारे पवित्र आचरणसे ही भाइयोंके सहित पति (राम) ने बड़े भारी कष्टको पार कर लिया है' इस प्रकार प्रिय होते हुए भी सत्य वचनको कहा ॥ ६ ॥

> अथाभिषेकं रघुवंशकेतोः प्रारब्धमानन्दजलैर्जनन्योः ।
> निर्वर्तयामासुरमात्यवृद्धास्तीर्थाहृतैः काञ्चनकुम्भतोयैः ॥ ७ ॥

अथेति । अथ जनन्योरानन्दजलैरानन्दबाष्पैः प्रारब्धं प्रक्रान्तं रघुवंशकेतो रामस्याभिषेकममात्यवृद्धास्तीर्थेभ्यो गङ्गाप्रमुखेभ्य आहृतैरानीतैः काञ्चनकुम्भतोयैर्निर्वर्तयामासुर्निष्पादयामासुः ॥ ७ ॥

इसके बाद वृद्ध मन्त्रियोंने दोनों माताओं (कौसल्या तथा सुमित्रा) के आनन्द जन्य आँसूसे आरम्भ किये हुए रघुवंश केतु (रघुवंशियोंमें पताकाके समान श्रेष्ठ) रामके अभिषेकको तीर्थोंसे लाये हुए, सुवर्ण कलशके जलोंसे पूरा किया ॥ ७ ॥

> सरित्समुद्रान्सरसीश्च गत्वा रक्षःकपीन्द्रैरुपपादितानि ।
> तस्यापतन्मूर्ध्नि जलानि जिष्णोर्विन्ध्यस्य मेघप्रभवा इवापः ॥ ८ ॥

सरिदिति । रक्षःकपीन्द्रैः सरितो गङ्गाद्याः समुद्रान्पूर्वादींस्सरसीर्मानसादींश्च गत्वा उपपादितान्युपनीतानि जलानि जिष्णोर्जयशीलस्य । 'ग्लाजिस्थश्च ग्स्नुः' इति ग्स्नुप्रत्ययः । तस्य रामस्य मूर्ध्नि विन्ध्यस्य विन्ध्याद्रेर्मूर्ध्नि मेघप्रभवा आप उदकानीव अपतन् ॥ ८ ॥

राक्षसों तथा वानरोंके स्वामी (सुग्रीव तथा विभीषण) से पहुँचाये गये पूर्व-पश्चिम आदि समुद्र तथा मानस आदि सरोवरोंको जाकर लाये गये जल, विन्ध्याचलके शिखरपर मेघजन्य जलके समान विजयी रामके मस्तकपर गिरे ॥ ८ ॥

> तपस्विवेषक्रिययापि तावद्यः प्रेक्षणीयः सुतरां बभूव ।
> राजेन्द्रनेपथ्यविधानशोभा तस्योदितासीत्पुनरुक्तदोषा ॥ ९ ॥

तपस्वीति । यो रामस्तपस्विवेषक्रिययाऽपि तपस्विवेषधारणयाऽपि सुतरामत्यन्तं प्रेक्षणीयो दर्शनीय एव बभूव । तस्य राजेन्द्रनेपथ्यविधानेन राजवेषरचनयोदिता या शोभा सा पुनरुक्तं नाम दोषो यस्याः सा पुनरुक्तदोषा द्विगुणाऽऽसीत् ॥ ९ ॥

जो (राम) तपस्वि वेष धारण करनेसे भी अत्यन्त सुन्दर थे उनकी राजराजेश्वरोंके रूपमें वेष धारण करनेसे उत्पन्न शोभा पुनरुक्त दोषवाली हुई ॥ ९ ॥

स मौलरक्षोहरिभिः ससैन्यस्तूर्यस्वनानन्दितपौरवर्गः ।
विवेश सौधोद्गतलाजवर्षामुत्तोरणामन्वयराजधानीम् ॥ १० ॥

स इति । स राम. ससैन्यस्तूर्यस्वनैरानन्दितपौरवर्ग. सन् , मूले भवा मौला मन्त्रिवृद्धास्तै रक्षोभिर्हरिभिश्च सह सौधेभ्य उद्गतलाजवर्षामुत्तोरणामन्वयराजधानी-मयोध्यां विवेश प्रविष्टवान् ॥ १० ॥

बाजाओंके शब्दसे नागरिकोंको आनन्दित करते हुए सेना-सहित वे (रामचन्द्रजी) महलोंसे (स्त्रियोंके द्वारा) खील (लावा) बरसाने वाली तथा तोरणयुक्त, अपने वंशकी परम्परागत राजधानी (अयोध्यापुरी) में प्रवेश किये ॥ १० ॥

सौमित्रिणा सावरजेन मन्दमाधूतबालव्यजनो रथस्थः ।
धृतातपत्रो भरतेन साक्षादुपायसङ्घात इव प्रवृद्धः ॥ ११ ॥

सौमित्रिणेति । सावरजेन शत्रुघ्नयुक्तेन सौमित्रिणा लक्ष्मणेन मन्दमाधूते वाल व्यजने चामरे यस्य स रथस्थो भरतेन धृतातपत्र एव चतुर्व्यूहो राम प्रवृद्ध साक्षा दुपायाना सामादीनां सङ्घातः समष्टिरिव । विवेशेति पूर्वेण सम्बन्ध ॥ ११ ॥

रथपर बैठे हुए रामको छोटे भाई (शत्रुघ्न) के साथ लक्ष्मणजी चामर डुला रहे थे, भरतजी श्वेतच्छत्र लगाये हुए थे, ऐसे वे (रामचन्द्रजी) उन्नत उपायों (साम, दान, दण्ड और भेद) के समुदायके समान (अयोध्यामें प्रवेश किये) ॥ ११ ॥

प्रासादकालागुरुधूमराजिस्तस्याः पुरो वायुवशेन भिन्ना ।
वनान्निवृत्तेन रघूत्तमेन मुक्ता स्वयं वेणिरिवावभासे ॥ १२ ॥

प्रासादेति । वायुवशेन भिन्ना प्रासादे य कालागुरुधूमस्तस्य राजी रेखा । वना-न्निवृत्तेन रघूत्तमेन रामेण स्वयं मुक्ता तस्या पुर पुर्या वेणिरिव आवभासे । पुरोऽपि पतिप्रवासमाधिरुक्त. । 'न प्रोषिते तु संस्कुर्यान्न वेणीं च प्रमोचयेत्' इति हारीतः ॥ १२ ॥

उस अयोध्यानगरीके महलोंमें कालागुरु धूप जलाये जा रहे थे, हवासे फैला हुआ उनका धूँआ ऐसा शोभित होता था कि मानो वनसे लौटे हुए रामने उस नगरीकी चोटी (केशसमूह) को खोल दिया हो ॥ १२ ॥

श्वश्रूजनानुष्ठितचारुवेषां कर्णीरथस्था रघुवीरपत्नीम् ।
प्रासादवातायनदृश्यबन्धैः साकेतनार्योऽञ्जलिभि. प्रणेमुः ॥१३॥

श्वश्रूजनेति । श्वश्रूजनैरनुष्ठितचारुवेषा कृतसौम्यनेपथ्याम् । 'आकल्पवेषौ नेप-थ्यम्' इत्यमर । कर्णीरथ स्त्रीयोग्योऽल्परथ । 'कर्णीरथ. प्रवहण डयनं रथगर्भके' इति

नायका । तत्रस्थां रघुवीरपत्नीं सीतां साकेतनार्यः प्रासादवातायनेषु दृश्यबन्धैरञ्जलिभिः प्रणेमुः ॥ १३ ॥

अयोध्याकी स्त्रियोंने सासुओं (कौसल्या-सुमित्रा) के द्वारा भूषण-वस्त्र पहनाकर उपस्थित तथा कर्णीरथ (स्त्रियोंके चढ़ने योग्य पालकी गाड़ी) पर बैठी हुई सीताको महलोंकी खिड़कियोंसे दिखलाई पड़ती हुई अञ्जलियोंको बाँधकर प्रणाम किया ॥ १३ ॥

स्फुरत्प्रभामण्डलमानुसूयं सा बिभ्रती शाश्वतमङ्गरागम् ।
रराज शुद्धेति पुनः स्वपुर्यै सन्दर्शिता वह्निगतेव भर्त्रा ॥ १४ ॥

स्फुरदिति । स्फुरत्प्रभामण्डलमनुसूयमनुसूयया दत्तं शाश्वतं सदातनमङ्गरागं विलेपनद्रव्यं बिभ्रती सा सीता भर्त्रा स्वपुर्यै शुद्धेति सन्दर्शिता पुनर्वह्निगतेव रराज ॥ १४ ॥

फैलते हुए प्रभा-समूहवाले अनुसूयाके दिये हुए अविनश्वर अङ्गरागको लगाई हुई सीता ऐसी शोभायमान होती थी जैसे रामचन्द्र फिर वही अग्निमें प्रवेशकराकर अपनी नगरी (अयोध्या) के लिये 'यह सीता शुद्ध है' यह दिखला रहे हों ॥ १४ ॥

वेश्मानि रामः परिबर्हवन्ति विश्राण्य सौहार्दनिधिः सुहृद्भ्यः ।
बाष्पायमाणो बलिमन्निकेतमालेख्यशेषस्य पितुर्विवेश ॥ १५ ॥

वेश्मानीति । सुहृदो भावः सौहार्दं सौजन्यम् । 'हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च' इत्युभयपदवृद्धिः । सौहार्दनिधी रामः सुहृद्भ्यः परिबर्हवन्ति उपकरणवन्ति वेश्मानि विश्राण्य दत्त्वा । आलेख्यशेषस्य चित्रमात्रशेषस्य पितुर्बलिमत्पूजायुक्तं निकेतं गृहं बाष्पायमाणो बाष्पमुद्वमन्निविवेश । 'बाष्पोष्मभ्यामुद्वमने' इति क्यङ् प्रत्ययः ॥ १५ ॥

सज्जनताके भण्डार राम मित्रोंके लिये सब सामानों से परिपूर्ण महलोंको (रहनेके लिये) देकर पूजित चित्र-मात्र बचे हुए पिता (दशरथजी) के कमरेमें रोते हुए प्रवेश किये ॥ १५ ॥

कृताञ्जलिस्तत्र यदम्ब सत्यान्नाभ्रश्यत स्वर्गफलाद् गुरुर्नः ।
तच्चिन्त्यमानं सुकृतं तवेति जहार लज्जां भरतस्य मातुः ॥ १६ ॥

कृताञ्जलिरिति । तत्र निकेतने कृताञ्जलिः सन् रामः । हे अम्ब ! नो गुरुः पिता स्वर्गः फलं यस्य तस्मात्सत्यान्नाभ्रश्यत न भ्रष्टवानिति यदित्थंभूतं तच्चिन्त्यमानं विचार्यमाणं तव सुकृतम् । इत्येवं प्रकारेण भरतस्य मातुः कैकेय्या लज्जां जहार अपनयत् । तस्याः प्रतिज्ञापरिपालनं स्वर्गसाधनमित्यर्थः । भरतमहत्त्वं तदपेक्षयाऽपि रामेऽनुसरणीयमेवेत्यर्थः ॥ १६ ॥

वहाँपर हाथ जोड़े हुए 'हे माता ! हमारे पिताजी स्वर्गरूप फल देनेवाले सत्यसे नहीं

छोड़ा था, विचार करने पर वह तुम्हारा ही सत्कर्म है' ऐसा कहकर भरतकी माता (कैकेयी) की लज्जाको दूर किया ॥ १६ ॥

तथैव सुग्रीवविभीषणादीनुपाचरत्कृत्रिमसंविधाभिः।
सङ्कल्पमात्रोदितसिद्धयस्ते क्रान्ता यथा चेतसि विस्मयेन ॥ १७ ॥

तथैवेति। सुग्रीवविभीषणादीन्। संविधीयन्त इति संविधा भोग्यवस्तूनि। कृत्रिमसंविधाभिस्तथा तेन प्रकारेणैवोपाचरत्। यथा सङ्कल्पमात्रेणेच्छामात्रेणोदितसिद्धयस्ते सुग्रीवादयश्चेतसि विस्मयेन क्रान्ता आक्रान्ताः ॥ १७ ॥

(रामने) सुग्रीव और विभीषण आदिका तैयार की गई सामग्रियोंसे ऐसा सत्कार किया कि केवल इच्छा करते सब साधनोंके पहुँच जानेसे वे मनमें आश्चर्य करने लगे ॥१७॥

सभाजनायोपगतान्स दिव्यान्मुनीन्पुरस्कृत्य हतस्य शत्रोः।
शुश्राव तेभ्यः प्रभवादि वृत्तं स्वविक्रमे गौरवमादधानम् ॥ १८ ॥

सभाजनेति। स रामः सभाजनायाभिनन्दनायोपगतान्दिवि भवान्मुनीनगस्त्यादीन्पुरस्कृत्य हतस्य शत्रो रावणस्य प्रभवादि जन्मादिकं स्वविक्रमे गौरवमुत्कर्षमादधानं वृत्तं तेभ्यो मुनिभ्यः शुश्राव श्रुतवान्, विजितोत्कर्षाज्जेतुरुत्कर्ष इत्यर्थः ॥१८॥

(राज्याभिषेकका) अभिनन्दन करनेके लिये आये हुए (अगस्त्य आदि) दिव्यमुनियों का सत्कारकर रामने उन लोगोंसे अपने पराक्रमके महत्वको बढाने वाला मारे गये शत्रु (रावण) के जन्मादिका वृत्तान्त सुना ॥ १८ ॥

प्रतिप्रयातेषु तपोधनेषु सुखादविज्ञातगतार्धमासान्।
सीतास्वहस्तोपहृताग्र्यपूजान्रक्षःकपीन्द्रान् विससर्ज रामः ॥ १९ ॥

प्रतीति। तपोधनेषु मुनिषु प्रतिप्रयातेषु प्रतिनिवृत्य गतेषु सत्सु सुखादविज्ञात एव गतोऽर्धमासो येषां ताननन्तरं सीतायाः स्वहस्तेनोपहृता दत्ताग्र्यपूजोत्तमसम्भावना येभ्यस्तान्। एतेन सौहार्दातिशय उक्तः। रक्षःकपीन्द्रान्रामो विससर्ज विसृष्टवान् ॥ १९ ॥

तपस्वियोंके चले जानेपर सुख पूर्वक रहनेसे बीते हुए आधे महीने समयको नहीं जानने वाले तथा जिनके लिये स्वयं सीताजी अपने हाथोंसे सत्कारके लिये सामग्री लाई हैं, ऐसे राक्षस तथा वानरोंके राजा (सुग्रीव तथा विभीषणको) रामने विदा किया ॥ १९ ॥

तच्चात्मचिन्तासुलभं विमानं हृतं सुरारेः सह जीवितेन।
कैलासनाथोद्वहनाय भूयः पुष्पं दिवः पुष्पकमन्वमंस्त ॥ २० ॥

तदिति। तच्चात्मचिन्तासुलभं स्वेच्छामात्रलभ्यं सुरारे रावणस्य जीवितेन

एव कृत्वा पुष्पं पुष्पवदाभरणभूतं पुष्पकं विमानं भूयः पुनरपि कैलासनाथं कुबेरस्योद्वहनायानुमेने सादृशावाप्यम् । मन्यतेर्लिट् । भूयोऽप्यनेन पूर्वमप्येतस्मै रमेणेति सूच्यते ॥ २० ॥

इच्छामात्रसे उपस्थित होने वाले तथा देवशत्रु (रावण) के प्राणोंके साथमें हरण किये हुए (आकाश-कुसुम के समान दुर्लभ) उस पुष्पक विमानको कुबेरको चढ़नेके लिये फिर भेज दिया ॥ २० ॥

पितुर्नियोगाद्वनवासमेवं निस्तीर्य रामः प्रतिपन्नराज्यः ।
धर्मार्थकामेषु समां प्रपेदे यथा तथैवावरजेषु वृत्तिम् ॥ २१ ॥

पितुरिति । राम एवं पितुर्नियोगाद्वनवासमाज्ञयावासं निस्तीर्यानन्तरं प्रतिपन्नराज्यः प्राप्तराज्यः सन् । धर्मार्थकामेषु यथा तथैवावरजेषु समां वृत्तिं प्रपेदे अवैषम्येण व्यवहृतवानित्यर्थः ॥ २१ ॥

इस प्रकार पिताकी आज्ञासे वनवासको समाप्त कर राज्यको पाये हुए राम धर्म, अर्थ और काममें तथा छोटे भाइयोंमें समान व्यवहार करते रहे ॥ २१ ॥

सर्वासु मातृष्वपि वत्सलत्वात्स निर्विशेषप्रतिपत्तिरासीत् ।
षडाननापीतपयोधरासु नेता चमूनामिव कृत्तिकासु ॥ २२ ॥

सर्वास्विति । स रामो वत्सलत्वात्स्निग्धत्वात् न तु लोकप्रतीत्यर्थम् । 'स्निग्धस्तु वत्सलः' इत्यमरः । सर्वासु मातृष्वपि निर्विशेषप्रतिपत्तिस्तुल्यसत्कार आसीत् । कथमिव चमूनां नेता षण्मुखः षड्भिराननैरापीताः पयोधराः स्तना यासां तासु कृत्तिकास्विव ॥ २२ ॥

स्नेहभाजन होनेसे वे (राम) सब माताओंमें उस प्रकार समान आदर करते थे जिस प्रकार जिनके स्तनोंको बचपनमें पीया है ऐसी कृत्तिकाओंका आदर कार्तिकेय स्वामी करते हैं । (ज्योतिष सिद्धान्तके अनुसार कृत्तिका नक्षत्रोंकी संख्या तीन है अतः वे छःमुखवाले कार्तिकेयको पीनेके लिये ६ स्तनोंका होना उचित ही है और इस प्रकार कौसल्यादि तीनों राममाताओंका उपमानोपमेयभाव भी संगत हो जाता है) ॥ २२ ॥

तेनार्थवाँल्लोभपराङ्मुखेन तेन घ्नता विघ्नभयं क्रियावान् ।
तेनास लोकः पितृमान्विनेत्रा तेनैव शोकापनुदेन पुत्री ॥ २३ ॥

तेनेति । लोकोऽलोभपराङ्मुखेन वदान्येन तेन रामेणार्थवान् धनिक आस बभूव । विघ्नस्य प्रतिकूलकस्य भयमेतत् । विघ्नेभ्यो भयं घ्नता नुदता तेन क्रियावाननुष्ठानवा- नास । विनेत्रा शिक्षकेण तेन पितृमानास पितृमत्त्विनयवानित्यर्थः । शोकापनुदेनेति

शोकापनुदो दुःखस्य हर्ता तेन। 'तुन्दशोकयोः परिमृजापनुदोः' इति कप्रत्ययः। तेन पुत्री पुत्रवानास, पुत्रवदानन्दयतीत्यर्थः॥ २३॥

प्रजालोग रामके लोभशून्य (दाता) होनेसे धनिक, विघ्ननाशक होनेसे अपने २ कर्तव्यमें सलग्न, विनय-शिक्षक होनेसे पितावाले और शोक-नाशक होनेसे पुत्रवान् थे॥

स पौरकार्याणि समीक्ष्य काले रेमे विदेहाधिपतेर्दुहित्रा।
उपस्थितश्चारु वपुस्तदीयं कृत्वोपभोगोत्सुकयेव लक्ष्म्या॥ २४॥

स इति। स रामः कालेऽवसरे पौराणां कार्याणि प्रयोजनानि समीक्ष्य विदेहाधिपतेर्दुहित्रा सीतया उपभोगोत्सुकयाऽत एव तदीयं सीतासम्बन्धि चारु वपुः कृत्वा स्थितया लक्ष्म्येव। उपस्थितः सङ्गतः सन् रेमे। 'उपस्थानं तु सङ्गतिः' इति यादवः॥ २४॥

वे राम यथासमय राजकार्य देखकर उस (सीता) के सुन्दर शरीर करके भोगके लिये उत्कण्ठित लक्ष्मीके समान सीताके साथ वहां उपस्थित होकर (पहुँच कर) रमण करते थे॥ २४॥

तयोर्यथाप्रार्थितमिन्द्रियार्थानासेदुषोः सद्मसु चित्रवत्सु।
प्राप्तानि दुःखान्यपि दण्डकेषु सञ्चिन्त्यमानानि सुखान्यभूवन्॥२५॥

तयोरिति। चित्रवत्सु वनवासवृत्तान्तालेख्यवत्सु सद्मसु यथाप्रार्थितं यथेष्टमिन्द्रियार्थानिन्द्रियविषयाञ्शब्दादीनासेदुषोः प्राप्तवतोस्तयोः सीतारामयोर्दण्डकेषु दण्डकारण्येषु प्राप्तानि दुःखान्यपि विरहविलापान्वेषणादीनि सञ्चिन्त्यमानानि स्मर्यमाणानि सुखान्यभूवन्। स्मारकं तु चित्रदर्शनमिति द्रष्टव्यम्॥ २५॥

वनवासकी घटनाओंके चित्रोंसे सुसज्जित महलोंमें इच्छानुसार इन्द्रिय-विषयोंको प्राप्त करते हुए उन दोनों (सीता और राम) के स्मरण किये गये दण्डकारण्यमें मिले हुए दुःख भी सुख देने वाले हुए॥ २५॥

अथाधिकस्निग्धविलोचनेन मुखेन सीता शरपाण्डुरेण।
आनन्दयित्री परिणेतुरासीदनक्षरव्यञ्जितदोहदेन॥ २६॥

अथेति। अथ सीताऽधिकस्निग्धविलोचनेनात्यन्तमसृणलोचनेन शरवत्तृणविशेषवत्पाण्डुरेणात एवानक्षरमवाग्व्यापारं यथा भवति तथा व्यञ्जितं प्रकटितं दोहदं गर्भो येन तेन मुखेन परिणेतुः पत्युः। कर्मणि षष्ठी। आनन्दयित्र्यासीत्॥ २६॥

इसके बाद सीता अधिक सुन्दरनेत्रोंवाले तथा कासके समान पाण्डुवर्ण (अत एव) विना कहे ही गर्भावस्थाको बतलानेवाले मुखसे पति (राम) को आनन्द देनेवाली हुई। (सीताको मुखपाण्डुरतासे गर्भिणी जानकर राम बहुत आनन्दित हुए)॥ २६॥

तामङ्कमारोप्य कृशाङ्गयष्टिं वर्णान्तराक्रान्तपयोधराग्राम्।
विलज्जमाना रहसि प्रतीतः पप्रच्छ रामां रमणोऽभिलाषम्॥ २७॥

तामिति। प्रतीतो गर्भज्ञानवान्। रमयतीति रमणः प्रियो रामः कृशाङ्गयष्टिं वर्णान्तरेण नीलिम्नाक्रान्तपयोधराग्रां विलज्जमानां तां रामां रहस्यङ्कमारोप्याभिलाषं मनोरथं पप्रच्छ। यतः—'दोहदस्याप्रदानेन गर्भो दोषमवाप्नुयात्' इति स्मरणात्, न तु कौतुकादित्यनुसन्धेयम्॥ २७॥

प्रसन्न पति (रामचन्द्र) ने दुर्बल शरीरवाली तथा श्यामवर्णवाले स्तनाग्रोंवाली सलज्ज प्रियाको एकान्तमें गोदमें बैठाकर उसका मनोभिलषित (तुम क्या चाहती हो ऐसी उसकी गर्भावस्थाका दोहद) पूछा॥ २७॥

सा दष्टनीवारबलीनि हिंस्रैः सम्बद्धवैखानसकन्यकानि।
इयेष भूयः कुशवन्ति गन्तुं भागीरथीतीरतपोवनानि॥ २८॥

सेति। सा सीता हिंस्रैर्दष्टा नीवारा एव बलयो येषु तानि। तिर्यग्भिरुपभुक्तमित्यर्थः। सम्बद्धाः कृतसम्बन्धाः कृतसख्या वैखानसानां कन्यका येषु तानि कुशवन्ति भागीरथीतीरतपोवनानि भूयः पुनरपि गन्तुमियेषाभिलषितवती॥ २८॥

वह (सीता) जहां जानवरोंके द्वारा पशु-पक्षी मनुष्यादिके लिये दिये जानेवाले नीवार ('तीनी' नामक मुनिधान्य-विशेष) को हिंस्र खा जाते हैं ऐसे वैखानस (वानप्रस्थ) मुनियोंकी कन्याओंके साथ जहां सम्बन्ध (प्रेम भाव) हो गया है ऐसे, और कुशाओंवाले गंगाजीके तीरोंपर स्थित तपोवनोंको फिर जानेके लिये इच्छा की॥ २८॥

तस्यै प्रतिश्रुत्य रघुप्रवीरस्तदीप्सितं पार्श्वचरानुयातः।
आलोकयिष्यन्मुदितामयोध्यां प्रासादमभ्रंलिहमारुरोह॥ २९॥

तस्या इति। रघुप्रवीरो रामस्तस्यै सीतायै तदीप्सितं तस्या अभीप्सितं मनोरथं प्रतिश्रुत्य पार्श्वचरैस्तत्समयोचितैरनुयातः सन् मुदितां तामयोध्यामालोकयिष्यन्, अभ्रं लिहतीत्यभ्रंलिहमत्युच्चं प्रासादमारुरोह। 'वहाभ्रे लिहः' इति खश्प्रत्ययः। 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' इति मुमागमः॥ २९॥

रघुश्रेष्ठ (राम) उसके लिये 'ऐसा ही करेंगे' ऐसा स्वीकारकर पार्श्ववर्ती अनुचरोंसे अनुगत होते हुए प्रसन्न अयोध्यापुरीको देखनेके लिये, आकाशको छूते हुए (बहुत ऊंचे) महलपर चढ़े॥ २९॥

ऋद्धापणं राजपथं स पश्यन्विगाह्यमानां सरयूं च नौभिः।
विलासिभिश्चाध्युषितानि पौरैः पुरोपकण्ठोपवनानि रेमे॥ ३०॥

ऋद्धेति। स रामः ऋद्धाः समृद्धा आपणाः पण्यभूमयो यस्मिंस्तं राजपथं

नौभिः समुद्रवाहिनीभिर्विगाह्यमानां सरयूं च । पौरविलासिभिरध्युषितानि पुरोपकण्ठोपवनानि च पश्यन् रेमे । विलासिन्यश्च विलासिनश्च विलासिनः । 'पुमान्स्त्रिया' इत्येकशेषः ॥ ३० ॥

वे (राम) समृद्धि युक्त दूकानोंवाले राजमार्ग (सड़कों) को, नावोंसे पारकी जाती हुई सरयू नदीको और विलासी नागरिकोंसे युक्त नगरके समीपस्थ उपवनोंको देखते हुए प्रसन्न हुए ॥ ३० ॥

स किंवदन्तीं वदतां पुरोगः स्ववृत्तमुद्दिश्य विशुद्धवृत्तः ।
सर्पाधिराजोरुभुजोऽपसर्पं पप्रच्छ भद्रं विजितारिभद्रः ॥ ३१ ॥

स इति । वदतां वाग्मिनां पुरोगः श्रेष्ठो विशुद्धवृत्तः सर्पाधिराजः शेषस्तद्वद्गुरू भुजौ यस्य स विजितारिभद्रो विजितारिश्रेष्ठः स रामः स्ववृत्तमुद्दिश्य भद्रं भद्रनामकमपसर्पं चरं किंवदन्तीं जनवादं पप्रच्छ । 'अपसर्पश्चरः स्पशः' इति, 'किंवदन्ती जनश्रुतिः' इति चामरः ॥ ३१ ॥

वक्ताओंमें श्रेष्ठ, शुद्ध आचरणवाले, शेष नागके समान दृढ बाहुवाले और श्रेष्ठ शत्रुओंको जीतनेवाले उस (राम) ने अपने आचरणके विषयमें की जानेवाली लोकचर्चाको 'भद्र' नामक गुप्तचरसे पूछा ॥ ३१ ॥

निर्बन्धपृष्टः स जगाद सर्वं स्तुवन्ति पौराश्चरितं त्वदीयम् ।
अन्यत्र रक्षोभवनोषितायाः परिग्रहान्मानवदेव देव्याः ॥ ३२ ॥

निर्बन्धेति । निर्बन्धेनाग्रहेण पृष्टः सोऽपसर्पो जगाद । किमिति । हे मानवदेव । रक्षोभवन उषिताया देव्याः सीतायाः परिग्रहात्स्वीकारादन्यत्रतरांशे, तं वर्जयित्वेत्यर्थः । त्वदीयं सर्वं चरितं पौराः स्तुवन्ति ॥ ३२ ॥

आग्रहपूर्वक पूछनेपर उस ('भद्र' नामक गुप्तचर) ने कहा कि 'हे राजन् ! नागरिक लोग रावणके यहाँ रही हुई देवी (सीताजी) को पुनः ग्रहण करनेके अतिरिक्त आपके सब व्यवहारकी प्रशंसा करते हैं अर्थात् सीताजीको पुनः पत्नीरूपमें स्वीकार करना पसन्द नहीं करते ॥ ३२ ॥

कलत्रनिन्दागुरुणा किलैवमभ्याहतं कीर्तिविपर्ययेण ।
अयोघनेनाय इवाभितप्तं वैदेहिबन्धोर्हृदयं विदद्रे ॥ ३३ ॥

कलत्रेति । एवं किल कलत्रनिन्दया गुरुणा दुर्वहेण कीर्तिविपर्ययेणापकीर्त्याऽभ्याहतं वैदेहिबन्धोर्वैदेहिवल्लभस्य । 'ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम्' इति ह्रस्वः, कालिदास इतिवत् । हृदयम् अयोघनेनाभितप्तं सन्तप्तमय इव विदद्रे विदीर्णम् । कर्तरि लिट् ॥ ३३ ॥

इस प्रकार पत्नीकी निन्दासे गम्भीर अपयशसे तपाये हुए रामका हृदय चोटसे तपाये तप्त लोहेके समान विदीर्ण हो गया ॥ ३३ ॥

किमात्मनिर्वादकथामुपेक्षे जायामदोषामुत संत्यजामि ।
इत्येकपक्षाश्रयविक्लवत्वादासीत्स दोलाचलचित्तवृत्तिः ॥ ३४ ॥

किमिति । आत्मनो निर्वादोऽपवाद एव कथा ताम् उपेक्षे । उत अदोषां जायां संत्यजामि । प्रश्नेऽप्युत प्रश्ने वत् । इत्येकपक्षाश्रयेऽनवस्थितत्वपरिग्रहे विक्लवत्वपरिग्रहपूर्वापरः रामो दोलेव चला चित्तवृत्तिर्यस्य स आसीत् ॥ ३४ ॥

'क्या मैं अपनी अपकीर्ति (बदनामी) की बातकी उपेक्षा कर दूँ, या निर्दोष भी (सीता) को छोड़ दूँ' इस प्रकार एक पक्षके स्वीकार करनेमें व्याकुलता होनेसे वे (राम) दोलायमान (झूलेपर चढ़े हुएके समान) चित्तवाले हो गये ॥ ३४ ॥

निश्चित्य चानन्यनिवृत्ति वाच्यं त्यागेन पत्न्याः परिमार्ष्टुमैच्छत् ।
अपि स्वदेहात्किमुतेन्द्रियार्थाद्यशोधनानां हि यशो गरीयः ॥ ३५ ॥

निश्चित्येति । किंच । वाच्यमपवादं, नास्त्यन्येन त्यागातिरिक्तोपायेन निवृत्तिर्यस्य तदनन्यनिवृत्ति निश्चित्य पत्न्यास्त्यागेन परिमार्ष्टुं परिहर्तुमैच्छत् । तथा हि, यशोधनानां पुंसां स्वदेहादपि यशो गरीयो गुरुतरम् । इन्द्रियार्थात्स्त्र्यादिरूपादिन्द्रियविषयाद्गरीय इति किमुत वक्तव्यम् । 'प्रश्नो वितर्के' इत्युभयत्रापि अमरः । सीता चेन्द्रियार्थ एव ॥ ३५ ॥

फिर अन्य प्रकारसे दूर नहीं करने योग्य अपकीर्ति (निन्दा—बदनामी) को सीताके त्याग करनेसे दूर करना चाहा । यशोधन (यशको ही धन माननेवालों) का यश अपने शरीरसे भी श्रेष्ठ होता है फिर इन्द्रियके विषयोंसे भी श्रेष्ठ होता है यह क्या कहना है ॥ ३५ ॥

स संनिपात्यावरजान्हतौजास्तद्विक्रियादर्शनलुप्तहर्षान् ।
कौलीनमात्माश्रयमाचचक्षे तेभ्यः पुनश्चेदमुवाच वाक्यम् ॥ ३६ ॥

स इति । हतौजा निस्तेजस्कः स रामस्तस्य रामस्य विक्रियादर्शनेन लुप्तहर्षान् अवरजान्भ्रातॄन् संनिपात्य सङ्गमय्यात्माश्रयम् आत्मविषयकं कौलीनं निन्दां तेभ्य आचचक्षे । पुनरिदं वाक्यमुवाच च ॥ ३६ ॥

क्षीण तेजवाले (उदास हुएवाले) वे राम उनके भाइयोंको बुलाकर उनके विकार (उदासी) को देखकर दुःखित उन भाइयोंसे अपने विषयमें होनेवाली निन्दाको कहकर फिर यह वचन कहे—॥ ३६ ॥

राजर्षिवंशस्य रविप्रसूतेरुपस्थितः पश्यत कीदृशोऽयम् ।
मत्तः सदाचारशुचेः कलङ्कः पयोदवातादिव दर्पणस्य ॥ ३७ ॥

राजर्षीति । रवेः प्रसूतिर्जन्म यस्य तस्य राजर्षिवंशस्य सदाचारशुचेः सद्वृत्ता-च्छुद्धान्मत्तो मत्सकाशात् । दर्पणस्य पयोदवातादिव, अम्भःकणादित्यर्थः । कीदृशो-ऽयं कलङ्क उपस्थितः प्राप्तः पश्यत ॥ ३७ ॥

'सूर्यवंशीय राजर्षियोंके कुलमें उत्पन्न और सदाचारी मुझसे मेघकी हवासे दर्पणके समान यह कैसा (अकल्पनीय) कलङ्क पैदा हुआ' यह तुम लोग देखो ॥ ३७ ॥

पौरेषु सोऽहं बहुलीभवन्तमपां तरङ्गेष्विव तैलबिन्दुम् ।
सोढुं न तत्पूर्वमवर्णमीशे आलानिकं स्थाणुमिव द्विपेन्द्रः ॥ ३८ ॥

पौरेष्विति । सोऽहम् । अपां तरङ्गेषु तैलबिन्दुमिव पौरेषु बहुलीभवन्तं प्रसरन्त-म् । स एव पूर्वो यस्य स तम् । तत्पूर्वमवर्णमपवादम् । 'अवर्णाक्षेपनिर्वादपरीवादा-पवादवत्' इत्यमरः । द्विपेन्द्र आलानमेवालानिकम् । विनयादित्वात्स्वार्थे ठक् । अथवाऽऽलानं बन्धनं प्रयोजनमस्येत्यालानिकम् । 'प्रयोजनम्' इति ठक् । स्थाणुं स्तम्भमिव । चूतवृक्ष इति वत्सामान्यविशेषभावादपौनरुक्त्यं द्रष्टव्यम् । सोढं नेशे न शक्नोमि ॥ ३८ ॥

वह मैं जलके तरङ्गोंपर तैलबिन्दुके समान नागरिकोंमें फैलते हुए सर्वप्रथम अपयशको उस प्रकार सहनेमें असमर्थ हूँ (बर्दास्त नहीं कर सकता) जिस प्रकार गजराज पहले पहल बांधनेवाले खूंटेको सहनेमें असमर्थ होता है ॥ ३८ ॥

तस्यापनोदाय फलप्रवृत्तावुपस्थितायामपि निर्व्यपेक्षः ।
त्यक्ष्यामि वैदेहसुतां पुरस्तात्समुद्रनेमिं पितुराज्ञयेव ॥ ३९ ॥

तस्येति । तस्यावर्णस्यापनोदाय दूरीकरणाय फलप्रवृत्तवपत्योत्पत्तावुपस्थितायां सत्यामपि निर्व्यपेक्षो निःस्पृहः सन् । वैदेहसुताम् । पुरस्तात्पूर्वं पितुराज्ञया समुद्र-नेमिं समुद्रो नेमिरिव नेमिर्यस्याः सा भूमिः । तामिव त्यक्ष्यामि ॥ ३९ ॥

उस (अपयश) को दूर करनेके लिये फलको मालूम करते हुए भी निःस्पृह होकर सीता को पिताकी आज्ञासे सम्पूर्ण पृथ्वीके समान छोड़ूंगा ॥ ३९ ॥

ननु सर्वथा साध्वी न त्याज्येत्याह—

अवैमि चैनामनघेति किन्तु लोकापवादो बलवान्मतो मे ।
छाया हि भूमेः शशिनो मलत्वेनारोपिता शुद्धिमतः प्रजाभिः ॥४०॥

अवैमीति । एनां सीतामनघा साध्वीति चावैमि । किन्तु मे मम लोकापवादो

चन्द्रमसा । कुतः । हि यस्मात्प्रजाभिर्भूमेश्छाया प्रतिबिम्बं शुद्धिमतो निर्मलस्य शशिनो मलत्वेन कलङ्कत्वेनारोपिता । अतो लोकापवाद एव बलवानित्यर्थः ॥ ४० ॥

इसे (सीताको) मैं निर्दोष मानता हूँ फिर भी लोकनिन्दाको मैं बड़ा मानता हूँ, क्योंकि (चन्द्रमामें ग्रहणके समय) भूमिकी परछाईंको लोग निर्मल चन्द्रमाका कलङ्क कहते हैं। (उसके अवास्तविक होनेपर भी लोग उसे ही सत्य मानते हैं इसी प्रकार सीताके निर्दोष होनेपर, झूठी होने पर भी लोकनिन्दाको ही सत्य मानना तथा उसे दूर करना उचित मानता हूँ) ॥ ४० ॥

रक्षोवधान्तो न च मे प्रयासो व्यर्थः स वैरप्रतिमोचनाय ।
अमर्षणः शोणितकाङ्क्षया किं पदा स्पृशन्तं दशति द्विजिह्वः ॥ ४१ ॥

रक्ष इति । किञ्च मे रक्षोवधान्तः प्रयासो व्यर्थो न किन्तु स वैरप्रतिमोचनाय वैरशोधनाय । तथा हि अमर्षणोऽसहनो द्विजिह्वः सर्पः पदा पादेन स्पृशन्तं पुरुषं शोणितकाङ्क्षया दशति किम् ? किन्तु वैरनिर्यातनायेत्यर्थः ॥ ४१ ॥

और रावणको मारनेका मेरा प्रयास व्यर्थ नहीं समझना चाहिये क्योंकि वह तो विरोध का बदला लेनेके लिये था तथा असहनशील (क्रोधी) सर्प पैरसे दबानेवाले व्यक्तिको रक्त पीनेके लिये डँसता है ? अर्थात् नहीं वह तो केवल बदला लेनेके लिये ही डँसता है ॥ ४१ ॥

तदेष सर्गः करुणार्द्रचित्तैर्न मे भवद्भिः प्रतिषेधनीयः ।
यद्यर्थिता निर्हृतवाच्यशल्यान्प्राणान्मया धारयितुं चिरं वः ॥ ४२ ॥

तदिति । तत्तस्मादेष मे सर्गो निश्चयः । 'सर्गः स्वभावनिर्मोक्षनिश्चयाध्यायसृष्टिषु' इत्यमरः । करुणार्द्रचित्तैर्भवद्भिर्न प्रतिषेधनीयः । निर्हृतं वाच्यमेव शल्यं येषां तान्प्राणान्मया चिरं धारयितुं धारयितुं वो युष्माकमर्थिता यदि । अस्तीति शेषः ॥ ४२ ॥

इस कारण निन्दारूप काँटेको निकालकरके मेरा जीना चाहते हो तो करुणार्द्र होकर तुम लोग मेरे इस निश्चयको मना मत करना (क्योंकि ऐसी निन्दा होने पर मैं जीनेकी अपेक्षा मर जाना अच्छा समझता हूँ) ॥ ४२ ॥

इत्युक्तवन्तं जनकात्मजायां नितान्तरूक्षाभिनिवेशमीशम् ।
न कश्चन भ्रातृषु तेषु शक्तो निषेद्धुमासीदनुमोदितुं वा ॥ ४३ ॥

इतीति । इत्युक्तवन्तं जनकात्मजायां विषये नितान्तरूक्षाभिनिवेशमतिक्रूराग्रहमीशं स्वामिनं तेषु भ्रातृषु मध्ये कश्चनापि निषेद्धुं निवारयितुमनुमोदितुं प्रशंसितुं वा शक्तो नासीत् । पक्षद्वयस्यापि भयङ्करत्वादित्यर्थः ॥ ४३ ॥

ऐसा कहे हुए सीतामें अत्यन्त कठोर निश्चय किये हुए राजा (राम) को भाइयोंमें से न तो कोई निषेध कर सका और न समर्थन कर सका ॥ ४३ ॥

स लक्ष्मणं लक्ष्मणपूर्वजन्मा विलोक्य लोकत्रयगीतकीर्तिः ।
सौम्येति चाभाष्य यथार्थभाषी स्थितं निदेशे पृथगादिदेश ॥ ४४ ॥

स इति । लोकत्रयगीतकीर्तिस्त्रैलोक्ये प्रथितयशा यथार्थभाषी लक्ष्मणपूर्वजन्मा लक्ष्मणाग्रजः स रामो निदेशे स्थितमाज्ञाकारिणं लक्ष्मणं विलोक्य 'हे सौम्य, सुभग' इत्याभाष्य च पृथग्भरतशत्रुघ्नाभ्यां विनाकृत्यादिदेशाज्ञापयामास ॥ ४४ ॥

तीनों लोकमें व्याप्त यशवाले, यथार्थवक्ता और लक्ष्मणके बड़े भाई वे (राम सर्वदा आज्ञापालनेवाले) लक्ष्मणसे 'हे सौम्य !' ऐसा सम्बोधितकर अलग (व्यक्तिगत रूपसे) कहे—

प्रजावती दोहदशंसिनी ते तपोवनेषु स्पृहयालुरेव ।
स त्वं रथी तद्व्यपदेशनेयां प्रापय्य वाल्मीकिपदं त्यजैनाम् ॥ ४५ ॥

प्रजेति । दोहदो गर्भिणीमनोरथः, तच्छंसिनी ते प्रजावती भ्रातृजाया । 'प्रजावती भ्रातृजाया' इत्यमरः । तपोवनेषु स्पृहयालुरेव सस्पृहैव । 'स्पृहिगृहिपतिदयिनिद्रा-तन्द्राश्रद्धाभ्य आलुच्' इत्यनेनालुच्प्रत्ययः । स त्वं रथी सन् । तद्व्यपदेशेन दोहद-मिषेण नेयां नेतव्यामेनां सीतां वाल्मीकेः पदं स्थानं प्रापय्य गमयित्वा 'विभाषापः' इत्ययादेशः । त्यज ॥ ४५ ॥

दोहद (गर्भकालीन इच्छा) को बतलाने वाली तुम्हारी भाभी (भौजाई सीता) तपो-वनोंमें जाना ही चाहती है, वह तुम रथ पर सवार होकर उस बहानेसे इसे वाल्मीकिके आश्रमको पहुचाकर छोड आओ ॥ ४५ ॥

स शुश्रुवान्मातरि भार्गवेण पितुर्नियोगात्प्रहृतं द्विषद्वत् ।
प्रत्यग्रहीदग्रजशासनं तदाज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया ॥ ४६ ॥

स इति । पितुर्जमदग्नेर्नियोगाच्छासनाद्भार्गवेण जामदग्न्येन कर्त्रा । 'न लोका-व्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' इत्यनेन षष्ठीप्रतिषेधः । मातरि द्विषतीव द्विषद्वत् । 'तत्र तस्येव' इति वतिप्रत्ययः । प्रहृतं प्रहारं शुश्रुवाञ्छ्रुतवान् । 'भाषायां सदवसश्रुवः' इति क्वसुप्रत्ययः । स लक्ष्मणस्तदग्रजशासनं प्रत्यग्रहीत् । हि यस्माद् गुरूणा-माज्ञाऽविचारणीया ॥ ४६ ॥

जिसप्रकार परशुरामने माताको शत्रुके समान मारनेके लिये पिता की आज्ञाको सुनकर स्वीकार किया था अर्थात् तदनुसार माताको मारा भी था, उसी प्रकार लक्ष्मणने बड़े भाई (राम) की आज्ञा को स्वीकार किया क्योंकि बड़ोंकी आज्ञा विचारणीय नहीं होती (अर्थात् गुरुजन की यह आज्ञा उचित है या अनुचित ऐसा विचार करना ठीक नहीं) ॥ ४६ ॥

अथानुकूलश्रवणप्रतीतामत्रस्नुभिर्युक्तधुरं तुरङ्गैः ।
रथं सुमन्त्रप्रतिपन्नरश्मिमारोप्य वैदेहसुतां प्रतस्थे ॥ ४७ ॥

अथेति । अथासौ लक्ष्मणः । अनुकूलश्रवणेन प्रतीतामिष्टश्रवणेन हृष्टां वैदेहसुताम् अत्रस्नुभिरभीरुभिस्तुरङ्गैर्युक्तधुरम् । 'त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः' इति क्नुप्रत्ययः । तुरङ्गैर्युक्तधुरं सुमन्त्रेण प्रतिपन्नरश्मिं गृहीतप्रग्रहं रथमारोप्य प्रतस्थे ॥ ४७ ॥

परशुरामके प्रसङ्गमें यह पौराणिक वार्ता पहले (११।६५) लिखी जा चुकी है ।

इसके बाद (वे लक्ष्मण) अनुकूल बात (तपोवनमें जाना) सुननेसे प्रसन्न जनकनन्दिनीको निडर (किसी नवीन वस्तु या बाजेपर आदिको देखकर नहीं भड़कने या डरने वाले) घोड़ोंसे युक्त हुए और सुमन्त्रसे रास पकड़े हुए रथपर चढ़ाकर (तपोवनको) चल पड़े ॥ ४७ ॥

सा नीयमाना रुचिरान्प्रदेशान्प्रियंकरो मे प्रिय इत्यनन्दत् ।
नाबुद्ध कल्पद्रुमतां विहाय जातं तमात्मन्यसिपत्रवृक्षम् ॥ ४८ ॥

सेति । सा सीता रुचिरान्प्रदेशान्नीयमाना प्राप्यमाणा सती मे मम प्रियः प्रियं करोतीति प्रियंकरः प्रियकारीत्यनन्दत् । 'क्षेमप्रियमद्रेऽण्च' इति खच्प्रत्ययः । तं प्रियमात्मनि विषये कल्पद्रुमतां सुरद्रुमतां विहायासिपत्रवृक्षं जातं नाबुद्ध नाज्ञासीत् । बुध्यतेर्लुङ् । असिपत्रः खड्गाकारपत्रः कोऽप्यपूर्वो वृक्षविशेषः । 'असिपत्रो महोत्क्षेपाकारे च नरकान्तरे' इति विश्वः । आसन्नघातुक इति भावः ॥ ४८ ॥

मनोहर स्थानोंसे ले जाती हुई सीता 'मेरे प्रिय (राम) प्रिय करनेवाले हैं' ऐसा (समझती हुई) प्रसन्न हुई (किन्तु) अपने विषयमें कल्पवृक्षके भावको छोड़कर असिपत्र वन (जिस वनके पौधे और वृक्षादिके पत्ते तलवारके समान हैं ऐसे दुःखदायी नरक वन) के वृक्ष (अत्यन्त दुःखदायी) बने हुए उनको नहीं समझा ॥ ४८ ॥

जुगूह तस्याः पथि लक्ष्मणो यत्सव्येतरेण स्फुरता तदक्ष्णा ।
आख्यातमस्यै गुरु भावि दुःखमत्यन्तलुप्तप्रियदर्शनेन ॥ ४९ ॥

जुगूहेति । पथि लक्ष्मणो यद् दुःखं तस्याः सीताया जुगूह गोपितवान् गुरु भावि भविष्यद् दुःखमत्यन्तलुप्तं प्रियदर्शनं यस्य तेन स्फुरता सव्येतरेण दक्षिणेनाक्ष्णा तदस्यै सीतायै आख्यातम् । स्त्रीणां दक्षिणाक्षिस्फुरणं दुर्निमित्तमाहुः ॥ ४९ ॥

लक्ष्मणने जिस बातको रास्तेमें छिपाया उस भावी महान् दुःखको प्रिय (रामके) दर्शनसे सर्वदाके लिये वञ्चित रहनेवाली फड़कती हुई दाहिनी आँखने सीताके समक्ष किया (दाहिनी आँख के फड़कनेसे सीताको मानो प्रिय-विरहकी आशङ्का होने लगी) ॥ ४९ ॥

सा दुर्निमित्तोपगताद्विषादात्सद्यः परिम्लानमुखारविन्दा ।
राज्ञः शिवं सावरजस्य भूयादित्याशशंसे करणैरबाह्यैः ॥ ५० ॥

सेति । सा सीता दुर्निमित्तेन दक्षिणाक्षिस्फुरणरूपेणोपगतात् प्राप्ताद्विषादाद् दुःखात्सद्यः परिम्लानमुखारविन्दा क्लान्तमुखकमला सती सावरजस्य सानुजस्य राज्ञो रामस्य शिवं भूयादित्यबाह्यैः करणैरन्तःकरणैराशशंसे । शंसतेरपेक्षायामात्मनेपदमिष्यते । करणैरिति बहुवचनं क्रियावृत्त्यभिप्रायम् । पुनः पुनराशशंसे-त्यर्थः ॥ ५० ॥

अशकुनके कारण उत्पन्न विषादसे तत्काल मलिन मुखकमलवाली वह (सीता) 'छोटे भाईके सहित राजा (रामचन्द्र) का कल्याण हो' ऐसा अन्तःकरणसे कहने (मनाने) लगी ॥ ५० ॥

गुरोर्नियोगाद्वनितां वनान्ते साध्वीं सुमित्रातनयो विहास्यन् ।
अवार्यतेवोत्थितवीचिहस्तैर्जह्नोर्दुहित्रा स्थितया पुरस्तात् ॥ ५१ ॥

गुरोरिति । गुरोर्ज्येष्ठस्य नियोगात्साध्वीं वनिताम्, अत्याज्यामित्यर्थः । वनान्ते विहास्यंस्त्यक्ष्यन्सुमित्रातनयो लक्ष्मणः पुरस्तादग्रे स्थितया जह्नोर्दुहित्रा जाह्नव्योत्थितैर्वीचिहस्तैरवार्यतेव । अकार्यं मा कुर्वित्यवार्यतेव । इत्युत्प्रेक्षा ॥ ५१ ॥

बड़े भाई (राम) की आज्ञासे पतिव्रता स्त्री (सीता) को भविष्यमें छोड़ते हुए सुमित्राकुमार (लक्ष्मण) को मानो आगे स्थित गङ्गाजीके ऊपर उठते हुए तरङ्गरूपी हाथोंने मना किया ॥ ५१ ॥

रथात्स यन्त्रा निगृहीतवाहात्तां भ्रातृजायां पुलिनेऽवतार्य ।
गङ्गां निषादाहृतनौविशेषस्ततार सन्धामिव सत्यसन्धः ॥ ५२ ॥

रथादिति । सत्यसन्धः सत्यप्रतिज्ञः स लक्ष्मणो यन्त्रा सारथिना निगृहीतवाहान्निरुद्धाश्वाद्रथाद् भ्रातृजायां पुलिनेऽवतार्यारोप्य निषादेन किरातेनाहृतनौविशेष आनीतदृढनौकः सन् । गङ्गां भागीरथीं सन्धां प्रतिज्ञामिव ततार । 'सन्धा प्रतिज्ञा मर्यादा' इत्यमरः ॥ ५२ ॥

सत्य प्रतिज्ञावाले वे (लक्ष्मण) सारथि (सुमन्त्र) से रोके गये घोड़ोंवाले रथसे उस भाभी (सीताजी) को किनारेपर उतारकर निषादके द्वारा लायी हुई नावसे गङ्गाको प्रतिज्ञा के समान पार किये ॥ ५२ ॥

अथ व्यवस्थापितवाक्कथञ्चित्सौमित्रिरन्तर्गतबाष्पकण्ठः ।
औत्पातिको मेघ इवाश्मवर्षं महीपतेः शासनमुज्जगार ॥ ५३ ॥

अथेति । अथ कथंचिद्दुःखव्यवस्थापिता प्रकृतिमापादिता वाग्येन सः अन्तर्गतबाष्प-कण्ठो यस्य सः, कण्ठस्तम्भितवागुरित्यर्थः । सौमित्रिर्मेघोपमो वासवम् । मेघ इत्युक्ते घनमौक्तिकासारमसत्यं शिलावर्षमिव उक्तवानरोचितं वचनम् । वाक्यलेशेनातान्त्याम् अप्रियस्तत्कुसुमम् ॥ ५३ ॥

इसके बाद किसी प्रकार अर्थात् बड़ी कठिनाईसे अपने वचनको प्रकृतिस्थकर (अपनेको स्थिर होकर) वाणीसे पत्थरकणाके समान कलापमें होनेवाली ओलोंकी वर्षाके समान राजाकी आज्ञाको बाहर किया अर्थात् कहा ॥ ५३ ॥

ततोऽभिषङ्गानिलविप्रविद्धा प्रभ्रश्यमानाभरणप्रसूना ।
स्वमूर्तिलाभप्रकृतिं धरित्रीं लतेव सीता सहसा जगाम ॥ ५४ ॥

तत इति । ततः अभिषङ्गः भर्तृपरित्यागरूपः पराभवः । 'अभिषङ्गः पराभवे' इत्यमरः । स एवानिलस्तेन विप्रविद्धा अभिहता । प्रभ्रश्यमानान्याभरणा-न्येव प्रसूनानि यस्याः सा सीता लतेव । सहसा स्वमूर्तिलाभस्य स्वशरीरलाभस्य स्योत्पत्तेः प्रकृतिं कारणं धरित्रीं जगाम, भूमौ पपातेत्यर्थः । सीतामातापि मातैव शरणमिति भावः ॥ ५४ ॥

इसके बाद तिरस्कार रूपी आंधीसे अभिहत तथा गिरते हुए पुष्परूपी भूषणोंवाली लताके समान वह अपने शरीरकी उत्पत्तिके कारणभूत पृथ्वीको प्राप्त हुई अर्थात् तेज हवाके झोंकेसे गिरते हुए फूलोंवाली लता जिस प्रकार पृथ्वी पर पड़ती है उसी प्रकार तिरस्कारसे अभिहत एवं गिरते हुए भूषणोंवाली सीता अपनी उत्पत्तिके कारण पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ ५४ ॥

पौराणिक वार्ता—अनावृष्टिसे देशमें कई वर्षोंतक अकाल पड़नेपर महर्षियोंकी आज्ञासे मिथिलानरेश जनकजीने स्वयं हल चलाया, उसी समय हलके अग्रभागसे सीताजी उत्पन्न हुईं, पृथ्वी उनकी माता तथा पालन-पोषण करनेसे जनकजी पिता हुए ।

इक्ष्वाकुवंशप्रभवः कथं त्वां त्यजेदकस्मात्पतिरार्यवृत्तः ।
इति क्षितिः संशयितेव तस्यै ददौ प्रवेशं जननी न तावत् ॥ ५५ ॥

इक्ष्वाक्विति । इक्ष्वाकुवंशप्रभवः, महाकुलप्रसूतिरित्यर्थः । आर्यवृत्तः साधुचरितः पतिर्भर्ता त्वामकस्मादकारणात्कथं त्यजेत्, असम्भावितमित्यर्थः । इति संशयितेव सन्दिहानेव तावत् त्यागहेतुज्ञानाभावेऽपि मातेत्यर्थः । जननी क्षितिस्तस्यै सीतायै प्रवेशम् आत्मनीति शेषः । न ददौ ॥ ५५ ॥

"इक्ष्वाकु वंशमें उत्पन्न एवं सदाचारी पति (राम) तुमको एकाएक क्यों छोड़ देंगे?" इस प्रकार सन्देह-युक्त सी माता पृथ्वीने उस सीताके लिये (अपनेमें) प्रवेश (स्थान) नहीं दिया ॥ ५५ ॥

सा लुप्तसंज्ञा न विवेद दु:खं प्रत्यागतासुः समतप्यतान्तः ।
तस्या. सुमित्राऽऽत्मजयत्नलब्धो मोहादभूत्कष्टतरः प्रबोधः ॥५६॥

सेति । लुप्तसंज्ञा नष्टचेतना मूर्च्छिता सा दुःखं न विवेद । प्रत्यागतासुर्लब्धसंज्ञा सत्यन्तं समतप्यत, दु:खेनादह्यतेत्यर्थं । तपेः कर्मणि लङ् । कर्मकर्तरीति केचित् । तन्न । 'तपस्तप कर्मकस्यैव' इति यङ्नियमात् । तस्याः सीतायाः सुमित्राऽऽत्मजयत्नलब्धः प्रबोधो मोहात्कष्टतरोऽति दु:खदोऽभूत् । दुःखवेदनासम्भवादिति भाव' ॥ ५६ ॥

वह (सीता) मूर्च्छित होकर दु खको नहीं जाना (और) होशमें आकर अन्त करणमें सन्तप्त होने लगी । सुमित्रा–तनय (लक्ष्मण) के बहुत प्रयत्नों (शीतल जल–सिञ्चन आदि) से प्राप्त उस (सीता) का ज्ञान (होशमें आना) मूर्च्छासे अधिक कष्टकारक हुआ ॥ ५६॥

न चावदद्भर्तुरवर्णमार्या निराकरिष्णोर्वृजिनादृतेऽपि ।
आत्मानमेव स्थिरदुःखभाजं पुनः पुनर्दुष्कृतिनं निनिन्द ॥ ५७ ॥

नेति । आर्या साध्वी सा सीता वृजिनादृते एनसो विनाऽपि । 'कलुषं वृजिनैनोऽघम्' इत्यमरः । 'अन्यारादितरर्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते' इत्यनेन पञ्चमी । निराकरिष्णोर्निरासकस्य । 'अलङ्कृञ्निराकृञ' इत्यनेनेष्णुच्प्रत्ययः । भर्तुरवर्णमपवादं न चावदन्नैवावादीत् । किन्तु स्थिरदुःखभाजमत एव दुष्कृतिनमात्मानं पुनः पुनर्निनिन्द ॥ ५७ ॥

साध्वी (सीता) ने विना अपराधके त्याग करनेवाले पति (राम) को निन्दित वचन नहीं कहा, किन्तु स्थिर दु खको भोगनेवाली, अपनी पापी आत्माकी ही बार २ निन्दा की ॥५७॥

आश्वास्य रामावरज' सतीं तामाख्यातवाल्मीकिनिकेतमार्गः ।
निघ्नस्य मे भर्तृनिदेशरौक्ष्यं देवि क्षमस्वेति बभूव नम्रः ॥ ५८ ॥

आश्वास्येति । रामावरजो लक्ष्मणः सतीं साध्वीं तामाश्वास्य आख्यात उपदिष्टो वाल्मीकेर्निकेतस्याश्रमस्य मार्गो येन स तथोक्तः सन् । निघ्नस्य पराधीनस्य । 'अधीनो निघ्न आयत्त ' इत्यमरः । मे भर्तृनिदेशेन स्वाम्यनुज्ञया हेतुना यद्रौक्ष्यं पारुष्यं तद्धे देवि ! क्षमस्व इति नम्रः प्रणतो बभूव ॥ ५८ ॥

रामके छोटे भाई (लक्ष्मण) साध्वी सीताको आश्वासन (ढाढस) देकर वाल्मीकि आश्रमका रास्ता बतलाकर 'हे देवि ! पराधीन मेरे, स्वामीकी आज्ञाकी रूक्षता (रूखापन) को क्षमा करो' यह कहकर प्रणाम किये ॥ ५८ ॥

सीता तमुत्थाप्य जगाद वाक्यं प्रीताऽस्मि ते सौम्य चिराय जीव ।
बिडौजसा विष्णुरिवाग्रजेन भ्रात्रा यदित्थं परवानसि त्वम् ॥ ५९ ॥

सीतेति । सीता तं लक्ष्मणमुत्थाप्य वाक्यं जगाद । किमिति । हे सौम्य साधो ! ते प्रीतास्मि चिराय चिरं जीव । यस्मात् । बिडौजसेन्द्रेण विष्णुरुपेन्द्र इव अग्रजेन ज्येष्ठेन भ्रात्रा त्वमित्थं परवान्परतन्त्रोऽसि ॥ ५९ ॥

उसको उठाकर सीता बोली—'हे सौम्य ! तुम चिरंजीवी होओ मैं तुमपर प्रसन्न हूँ, जो तुम बड़े भाईके वशमें इन्द्रसे विष्णुके समान इस प्रकार पराधीन हो ॥ ५९ ॥

श्वश्रूजनं सर्वमनुक्रमेण विज्ञापय प्रापितमत्प्रणामम् ।
प्रजानिषेकं मयि वर्तमानं सूनोरनुध्यायत चेतसेति ॥ ६० ॥

श्वश्रूजनमिति । सर्वं श्वश्रूजनमनुक्रमेण प्रापितमत्प्रणामं सन् मत्प्रणाममुक्त्वेत्यर्थः । विज्ञापय । किमिति । निषिच्यत इति निषेकः । मयि वर्तमानं सूनोस्तव युष्माकं प्रजानिषेकं गर्भं चेतसानुध्यायत शिवमस्त्विति चिन्तयतेति ॥ ६० ॥

सभी सासुओंसे मेरा प्रणाम कह कर कहना कि—'मुझमें स्थित (रामचन्द्रजी) के सन्तानबीज अर्थात् गर्भको आपलोग हृदयसे स्मरण रखना अर्थात् उसकी मङ्गल कामना करना ॥ ६० ॥

वाच्यस्त्वया मद्वचनात्स राजा वह्नौ विशुद्धामपि यत्समक्षम् ।
मां लोकवादश्रवणादहासीः श्रुतस्य किं तत्सदृशं कुलस्य ॥ ६१ ॥

वाच्य इति । स राजा त्वया मद्वचनान्मद्वचनमिति कृत्वा । ल्यब्लोपे पञ्चमी । वाच्यो वक्तव्यः । किमित्यत आह—'वह्नौ' इत्यादिभिः सप्तभिः श्लोकैः । अक्ष्णोः समीपे समक्षम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः सामीप्यार्थे वा । 'अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः' इति समासान्तष्टच्प्रत्ययः । समक्षमग्रे वह्नौ विशुद्धामपि मां लोकवादस्य मिथ्यापवादस्य श्रवणाद्धेतोरहासीरत्याक्षीरिति यत् श्रुतस्य प्रख्यातस्य कुलस्य सदृशं किम् ? किन्त्वसदृशमित्यर्थः । यद्वा श्रुतस्य शास्त्रस्य चेति योजना । [illegible] ॥ ६१ ॥

मेरे कहनेसे उस राजा (रामचन्द्रजी) को तुम कहना कि—प्रत्यक्षमें अग्निमें शुद्ध भी मुझको लोक-निन्दाके सुननेसे जो तुमने छोड़ दिया है वह प्रसिद्ध तुम्हारे कुलके योग्य है ? ॥ ६१ ॥

कल्याणबुद्धेरथवा तवायं न कामचारो मयि शङ्कनीयः ।
ममैव जन्मान्तरपातकानां विपाकविस्फूर्जथुरप्रसह्यः ॥ ६२ ॥

कल्याणेति । अथवा कल्याणबुद्धेः शुभचिन्तस्य तव कर्तुः मयि विषयेऽयं त्यागो न कामचार इच्छया कार्यं न शङ्कनीयः । कामचारशङ्कामपि न विषय इत्यर्थः । किन्तु ममैव जन्मान्तरपातकानामसह्यो विपच्यत इति विपाकः फलं स एव विस्फूर्जथुरशनिनिर्घोषः । 'स्फूर्जथुर्वज्रनिर्घोषः' इत्यमरः ॥ ६२ ॥

अथवा इसे श्रेष्ठ बुद्धिवाले तुम्हारी मनमानी करनेकी आशङ्का मुझे नहीं करनी चाहिये, (किन्तु) मेरे दूसरे जन्मोंके पापोंका असह्य परिणाम रूप वज्रपात (या बिजलीकी कडक) है ॥

उपस्थितां पूर्वमपास्य लक्ष्मीं वनं मया सार्धमसि प्रपन्नः ।
तदास्पदं प्राप्य तयातिरोषात्सोढाऽस्मि न त्वद्भवने वसन्ती ॥ ६३ ॥

उपस्थितामिति । पूर्वमुपस्थितां प्राप्तां लक्ष्मीमपास्य मया सार्धं वनं प्रपन्नोऽसि । प्राप्तोऽसि । तत्तस्मात्तया लक्ष्म्याऽतिरोषात्त्वद्भवने आस्पदं प्रतिष्ठाम् । 'आस्पदं प्रतिष्ठायाम्' इति निपातः । प्राप्य वसन्त्यहं सोढा नास्मि ॥ ६३ ॥

पहले प्राप्त हुई राजलक्ष्मीको छोडकर मेरे साथ वनको गये थे, इस कारण तुम्हारे यहां आदर पाकर रहती हुई मुझे उस राजलक्ष्मीने सहन नहीं किया ॥ ६३ ॥

निशाचरोपप्लुतभर्तृकाणां तपस्विनीनां भवतः प्रसादात् ।
भूत्वा शरण्या शरणार्थमन्यं कथं प्रपत्स्ये त्वयि दीप्यमाने ॥ ६४ ॥

निशाचरेति । निशाचरैरुपप्लुताः पीडिता भर्तारो यासां ता निशाचरोपप्लुतभर्तृकाः । 'नद्यृतश्च' इति कप्प्रत्ययः । तासां तपस्विनीनां भवतः प्रसादादनुग्रहाच्छरण्या शरणसमर्था भूत्वा । अद्य त्वयि दीप्यमाने प्रकाशमाने सत्येव शरणार्थमन्यं तपस्विनं कथं प्रपत्स्ये प्राप्स्यामि ॥ ६४ ॥

राक्षसोंसे पीडित पतियों वाली तपस्विनियोंके शरण्य (शरणागतमें सद्व्यवहार करनेवाली) होकर आपके समर्थ रहते हुए दूसरेकी शरणपानेके लिये कैसे जाऊँ ? ॥ ६४ ॥

किं वा तवात्यन्तवियोगमोघे कुर्यामुपेक्षां हतजीवितेऽस्मिन् ।
स्याद्रक्षणीयं यदि मे न तेजस्त्वदीयमन्तर्गतमन्तरायः ॥ ६५ ॥

किं वेति । किं वाऽथवा तव सम्बन्धिनाऽत्यन्तेन पुनःप्राप्तिरहितेन वियोगेन मोघे निष्फलेऽस्मिन्हतजीविते तुच्छजीविते उपेक्षां कुर्यां कुर्यामेव । रक्षणीयं रक्षणार्हमन्तर्गतं कुक्षिस्थं त्वदीयं तेजः शुक्रं गर्भरूपम् । 'शुक्रं तेजोरेतसी च बीजवीर्येन्द्रियाणि च' इत्यमरः । मे ममान्तरायो विघ्नो न स्याद्यदि ॥ ६५ ॥

अथवा यदि रक्षा करने योग्य मुझमें स्थित तुम्हारा तेज (गर्भ) यदि बाधक नहीं होता तो तुम्हारे नित्य विरहके कारण निष्फल इस अभागे जीवनकी भी मैं उपेक्षा कर देती अर्थात् मर जाती ॥ ६५ ॥

साऽहं तपः सूर्यनिविष्टदृष्टिरूर्ध्वं प्रसूतेश्चरितुं यतिष्ये ।
भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः ॥ ६६ ॥

सेति । साऽहं प्रसूतेरूर्ध्वं सूर्यनिविष्टदृष्टिः सती तथाविधं तपश्चरितुं यतिष्ये,

यथा भूयस्तेन तपसा मे मम जन्मान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता स्याः विप्रयोगश्च न स्यात्॥

पर मैं सन्तानके बाद सूर्यकी ओर देखती हुई ऐसा तप करनेके लिये यत्न करूँगी जिससे जन्मान्तरमें भी मेरे पति तुम्हीं होओ और (मेरा तुमसे) वियोग न हो॥ ६६॥

नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत्स एव धर्मो मनुना प्रणीतः।
निर्वासिताप्येवमतस्त्वयाऽहं तपस्विसामान्यमवेक्षणीया॥ ६७॥

नृपस्येति। वर्णानां ब्राह्मणादीनामाश्रमाणां ब्रह्मचर्यादीनां च पालनं यत्स एव नृपस्य धर्मो मनुना प्रणीत उक्तः। अतः कारणादेवं त्वया निर्वासिता निष्कासिताऽप्यहं तपस्विभिः सामान्यं साधारण्यं यथा भवति तथाऽवेक्षणीया। [illegible] वर्णाश्रमदृष्टि सीताया [illegible]॥ ६७॥

मनुने वर्णाश्रमकी रक्षा करना राजाका धर्म कहा है इस कारण बाहर निकाली हुई भी मुझको तुम सामान्य तपस्विनी के समान देखना (मुझको पत्नी न समझते हुए एक तपस्विनी समझ कर वर्णाश्रम-पालनके नाते मेरी भी अन्य तपस्विनियोंके समान रक्षा करना)॥ ६७॥

तथेति तस्याः प्रतिगृह्य वाचं रामानुजे दृष्टिपथं व्यतीते।
सा मुक्तकण्ठं व्यसनातिभाराच्चक्रन्द विग्ना कुररीव भूयः॥ ६८॥

तथेतीति। तथेति तस्याः सीताया वाचं प्रतिगृह्याङ्गीकृत्य रामानुजे लक्ष्मणे दृष्टिपथं व्यतीतेऽतिक्रान्ते सति सा सीता व्यसनातिभारात् दुःखातिरेकान्मुक्तकण्ठं यथा स्यात्तथा चक्रन्दोच्चैरारुरोद। विग्ना भीता कुररीवोत्क्रोशीव। 'उत्क्रोशकुररौ समौ' इत्यमरः। भूयो भृशं चक्रन्द पुनर्वा॥ ६८॥

'अच्छा वैसा करूँगा' इस प्रकार उस (सीता) के वचनको स्वीकार कर लक्ष्मणजी दृष्टिसे ओझल हो जाने पर अत्यन्त दुःखके कारण डरी हुई कुररीके समान फिर कण्ठ खोल कर (पुक्का फाड़कर) रोने लगी॥ ६८॥

नृत्यं मयूराः कुसुमानि वृक्षा दर्भानुपात्तान्विजहुर्हरिण्यः।
तस्याः प्रपन्ने समदुःखभावमत्यन्तमासीद्रुदितं वनेऽपि॥ ६९॥

नृत्यमिति। मयूरा नृत्यं विजहुस्तत्यजुः। वृक्षाः कुसुमानि। हरिण्य उपात्तान्दर्भान्। इत्थं तस्याः सीतायाः समदुःखभावं प्रपन्ने तुल्यदुःखत्वं प्राप्ते वनेऽप्यत्यन्तं रुदितमासीत्। यथा रामगोष्ठ्यामित्यपिशब्दार्थः॥ ६९॥

मयूरोंने नाचना, वृक्षोंने पुष्प और हरिणियोंने प्राप्त हुए कुशाओंको छोड़ दिया, उसके समान दुःखको पाये हुए वनमें भी ('अपि' शब्दसे अयोध्याके राजभवनमें भी) अत्यधिक रोना होने लगा॥ ६९॥

तामभ्यगच्छद्रुदितानुसारी कविः कुशेध्माहरणाय यातः ।
निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः ॥ ७० ॥

तामिति । कुशेध्माहरणार्थं यातः कविर्वाल्मीको रुदितानुसारी सन्तां सीता-मभ्यगच्छत् । अभिगमने च दयालुतयेत्याह—निषादेति । निषादेन व्याधेन विद्ध-स्याण्डजस्य क्रौञ्चस्य दर्शनोत्थ उत्पन्नो यस्य शोकः श्लोकत्वमापद्यत, श्लोकरूपे-णाविरभूदित्यर्थः । स च श्लोकः पठ्यते-'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः । यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥' इति । तिरश्चामपि दुःखं न सेहे किमुतान्येषामिति भावः ॥ ७० ॥

कुशा तथा हवन-समिधा लानेके लिये (आश्रमसे) चले हुए कवि वाल्मीकि रोनेके शब्दके अनुसार आकर उसे (सीताको) प्राप्त किया, जिसका निषाद (व्याधा) के द्वारा मारे गये पक्षी (क्रौञ्च पक्षी) के देखनेसे उत्पन्न शोक श्लोक रूपमें परिणत हो गया (श्लोक बन गया) ॥ ७० ॥

पौराणिक वार्ता—एक समय वाल्मीकि मुनि मध्याह्न स्नान करनेके लिये आश्रमके पासमें बहती हुई तमसा नदीको जा रहे थे, उसी समय एक व्याधा मैथुन करते हुए क्रौञ्च-मिथुनमेंसे एक नर पक्षी पर बाण चलाया, उसे मारते हुए देखकर दयार्द्र-हृदय महर्षिके मुखसे वेदसे भिन्न एक नया ही लौकिक छन्दमें एकाएक यह श्लोक निकल पड़ा—

'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वगमः शाश्वतीः समाः । यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥'

अर्थात् 'हे व्याध ! जो तुमने मैथुन करते हुए क्रौञ्च पक्षीकी जोड़ीमें-से काम-मोहित एक (नर-पुरुष पक्षी) को मारा, अतः तुम बहुत वर्षों तक प्रतिष्ठा (सुख) को मत प्राप्त कर ।'

इसके बाद ब्रह्माने प्रकट होकर रामचरित वर्णन करनेके लिये आदेश देते हुए उनको अप्रतिहत ज्ञान दिया और महर्षि वाल्मीकिने 'रामायण' की रचनाकी, इसी कारणसे 'वाल्मीकीय रामायण' आदिकाव्य तथा वाल्मीकि मुनि आदि कवि कहलाये ।

तमश्रु नेत्रावरणं प्रमृज्य सीता विलापाद्विरता ववन्दे ।
तस्यै मुनिर्दोहदलिङ्गदर्शी दाश्वान्सुपुत्राशिषमित्युवाच ॥ ७१ ॥

तमिति । सीता विलापाद्विरता सती नेत्रावरणं दृष्टिप्रतिबन्धकमश्रु प्रमृज्य तं मुनिं ववन्दे । दोहदलिङ्गदर्शी गर्भचिह्नदर्शी मुनिस्तस्यै सीतायै सुपुत्राशिषं तत्प्राप्ति-हेतुभूतां दाश्वान्दत्तवानिति वक्ष्यमाणप्रकारेणोवाच । 'दाश्वान्साह्वान्मीढ्वांश्च' इति क्वस्वन्तो निपातः ॥ ७१ ॥

विलाप करना बन्दकर सीताने नेत्रके आवरण (देखनेमें बाधक) आंसूको पोंछ कर



अन्तरास्तीर्णं मेध्यं शुद्धमजिनमेव तल्पं शय्या यस्मिंस्तमुटजं पर्णशालां वितेरुर्ददुः ॥ ८१ ॥

उन तपस्विनियोंने उस सीताके लिये, पूजनके बाद सायङ्कालमें निवास करने (सोने) के लिये इङ्गुदी-तैलके जलते हुए दीपक वाली, भीतरमें पवित्र बिछाये गये मृगचर्मकी शय्यावाली पर्णशालाको दिया ॥ ८१ ॥

तत्राभिषेकप्रयता वसन्ती प्रयुक्तपूजा विधिनाऽतिथिभ्यः ।
वन्येन सा वल्कलिनी शरीरं पत्युः प्रजासन्ततये बभार ॥ ८२ ॥

तत्रेति । तत्राश्रमेऽभिषेकेण स्नानेन प्रयता नियता वसन्ती विधिना शास्त्रेणातिथिभ्यः प्रयुक्तपूजा कृतसत्कारा वल्कलिनी सा सीता पत्युः प्रजासन्ततये सन्तानाविच्छेदाय हेतोः । वन्येन कन्दमूलादिना शरीरं बभार पुपोष ॥ ८२ ॥

वहां (आश्रममें) अभिषेक अर्थात् स्नानमें नियत, शास्त्रोक्त विधिसे अतिथि-सत्कार करनेवाली वल्कल धारण करती हुई वह सीता पति (रामचन्द्र) की सन्तान के विच्छेद (बीचमें नष्ट) नहीं होनेके लिये वनोत्पन्न कन्द-मूल-फल आदिसे शरीर-पालन किया ॥

अपि प्रभुः सानुशयोऽधुना स्यात्किमुत्सुकः शक्रजितोऽपि हन्ता ।
शशंस सीतापरिदेवनान्तमनुष्ठितं शासनमग्रजाय ॥ ८३ ॥

अपीति । प्रभू राजाऽधुनाऽपि सानुशयः सानुतापः स्यात्किम् । इति काकुः । उत्सुकः शक्रजितः इन्द्रजितो हन्ता लक्ष्मणोऽपि सीतापरिदेवनान्तं सीताविलापान्तमनुष्ठितं शासनमग्रजाय शशंस कथयामास ॥ ८३ ॥

'राजा (रामचन्द्रजी) अब भी (सीताके करुण सन्देशको सुनकर भी) दयालु होंगे क्या ?' इस प्रकार (विचार करते हुए) उत्कण्ठित, इन्द्रजित् (मेघनाद) के भी मारनेवाले (लक्ष्मण) सीता के विलापतक किये गये अनुशासन अर्थात् सीताके सन्देशको बडे भाई (राम) से कहा ॥ ८३ ॥

बभूव रामः सहसा सबाष्पस्तुषारवर्षीव सहस्यचन्द्रः ।
कौलीनभीतेन गृहान्निरस्ता न तेन वैदेहसुता मनस्तः ॥ ८४ ॥

बभूवेति । सहसा सपदि सबाष्पो रामः । तुषारवर्षी सहस्यचन्द्रः पौषेन्दुरिव बभूव । अस्यश्रुतया तुषारवर्षिणा पौषचन्द्रेण तुल्योऽभूत् । 'पौषे तैषसहस्यौ द्वौ' इत्यमरः । युक्तं चैतदित्याह-कौलीनाल्लोकापवादात् । 'स्यात्कौलीनं लोकवादे' इत्यमरः । भीतेन तेन रामेण वैदेहसुता सीता गृहान्निरस्ता । मनस्तो मनसश्चित्तान्न निरस्ता । पञ्चम्यास्तसिल् ॥ ८४ ॥

मुनिको प्रणाम किया। गर्भके चिह्नको देखते हुए मुनि (वाल्मीकि ऋषि) ने पुत्रवती होनेका आशीर्वाद देकर ऐसा कहा ॥ ७१ ॥

> जाने विसृष्टां प्रणिधानतस्त्वां मिथ्याऽपवादक्षुभितेन भर्त्रा ।
> तन्मा व्यथिष्ठा विषयान्तरस्थं प्राप्ताऽसि वैदेहि पितुर्निकेतम् ॥ ७२ ॥

जान इति। त्वां मिथ्याऽपवादेन क्षुभितेन भर्त्रा विसृष्टां त्यक्तां प्रणिधानतः समाधिचक्षुषा जाने। हे वैदेहि! विषयान्तरस्थं देशान्तरस्थं पितुर्जनकस्यैव निकेतं गृहं प्राप्ताऽसि। तत्तस्मात् मा व्यथिष्ठा मा शोचीः। व्यथेर्लुङ्। 'न माङ्योगे' इत्यडागमप्रतिषेधः। भर्तृपरित्यक्तानां पितृगृहे वास एवोचित इति भावः ॥ ७२ ॥

झूठे लोक-निन्दासे क्षुब्ध पतिके द्वारा छोड़ी गई तुमको मैं ध्यानसे जानता हूँ। हे जनककुमारी! दूसरे देशमें स्थित पिताके ही घर तुम पहुँच गई हो, अतएव दुःखित मत होओ ॥ ७२ ॥

> उत्खातलोकत्रयकण्टकेऽपि सत्यप्रतिज्ञेऽप्यविकत्थनेऽपि ।
> त्वां प्रत्यकस्मात्कलुषप्रवृत्तावस्त्येव मन्युर्भरताग्रजे मे ॥ ७३ ॥

उत्खातेति। उत्खातलोकत्रयकण्टकेऽपि। रावणादिकण्टकोद्धारेण सर्वलोकोपकारिण्यपीत्यर्थः। सत्यप्रतिज्ञे सत्यसन्धेऽपि अविकत्थनेऽप्यश्लाघनेऽपि। इत्थं स्तोत्रपात्रेऽपि त्वां प्रत्यकस्मादकारणात्कलुषप्रवृत्तौ गर्हितव्यापारे भरताग्रजे मे मन्युः क्रोधोऽस्त्येव। सर्वगुणसम्पन्नस्याप्येकोऽयं दोष इत्यर्थः। सीताश्वासनार्थोऽयं रामोपालम्भः ॥ ७३ ॥

तीनों लोकोंके कण्टकोंको उखाड़े (राक्षसोंको मारे) हुए भी (पिताकी आज्ञापालन कर १४ वर्ष वनमें रहनेसे) सत्य प्रतिज्ञावाले भी और आत्म-प्रशंसा नहीं करनेवाले भी (इन तीनों गुणोंसे युक्त भी) तुम्हारे विषयमें निष्कारण निन्दित कर्म करनेवाले राम पर मेरा क्रोध है ही ॥ ७३ ॥

> तवोरुकीर्तिः श्वशुरः सखा मे सतां भवोच्छेदकरः पिता ते ।
> धुरि स्थिता त्वं पतिदेवतानां किं तन्न येनासि ममानुकम्प्या ॥ ७४ ॥

तवेति। उरुकीर्तिस्तव श्वशुरो दशरथो मे सखा। ते पिता जनकः सतां विदुषां भवोच्छेदकरो ज्ञानोपदेशादिना संसारदुःखध्वंसकरः। त्वं पतिदेवतानां पतिव्रतानां धुरि स्थिता। येन निमित्तेन ममानुकम्प्याऽनुग्राह्या नासि तत्किम्। न किञ्चिदित्यर्थः ॥ ७४ ॥

बड़े यशस्वी तुम्हारे श्वशुर (दशरथ) मेरे मित्र थे, तुम्हारे पिता सज्जनोंके (ज्ञानोपदेशके द्वारा) संसारका नाश करनेवाले हैं। पतिव्रताओंमें अग्रगण्य तुम जिस कारण मेरी दयाके योग्य नहीं हो ऐसा कारण है? अर्थात् ऐसा कोई कारण नहीं, जिससे मैं तुमपर दया न करूं ॥ ७४ ॥

तपस्विसंसर्गविनीतसत्त्वे तपोवने वीतभया वसास्मिन् ।
इतो भविष्यत्यनघप्रसूतेरपत्यसंस्कारमयो विधिस्ते ॥ ७५ ॥

तपस्वीति । तपस्विसंसर्गेण विनीतसत्त्वे शान्तजन्तुकेऽस्मिंस्तपोवने वीतभया निर्भीका वस । इतोऽस्मिन्वनेऽनघप्रसुतेः सुखप्रसूतेस्तेऽपत्यसंस्कारमयो जातकर्मादिरूपो विधिरनुष्ठानं भविष्यति ॥ ७५ ॥

तपस्वियोंके संसर्गसे विनीत (हिंसक भावको छोडे हुए) जन्तुओं वाले इस वनमें तुम निर्भय होकर रहो । इस वनमें निर्विघ्न प्रसव करनेवाली तेरी सन्तानका संस्कारकर्म होगा (अथवा निर्विघ्न प्रसव करने वाली तेरी सन्तान का संस्कारकर्म यहां से अर्थात् मेरी तरफ से होगा) ॥ ७५ ॥

अशून्यतीरा मुनिसन्निवेशैस्तमोपहन्त्रीं तमसां वगाह्य ।
तत्सैकतोत्सङ्गबलिक्रियाभिः सम्पत्स्यते ते मनसः प्रसादः ॥ ७६ ॥

अशून्येति । सन्निविशन्ते येष्विति सन्निवेशा उटजाः । अधिकरणार्थे 'घञ्प्रत्ययः' । मुनिना सन्निवेशैरुटजैरशून्यतीरां पूर्णतीरां तमसः शोकस्य पापस्य वा हन्त्रीम् । 'तमस्तु क्लीबे पापे नरकशोकयोः' इत्यमरः । तमसां नदीं वगाह्य तत्र स्नात्वा । बलिक्रियाऽपेक्षया पूर्वकालता । तस्याः सैकतोत्सङ्गेषु बलिक्रियाभिरिष्टदेवतापूजाविधिभिस्ते मनसः प्रसादः सम्पत्स्यते भविष्यति ॥ ७६ ॥

मुनियोंकी कुटियाओंसे अशून्य (परिपूर्ण) तीरवाली एवं शोक या पापका नाश करनेवाली तमसा नदीमें गोता लगाकर उसके रेतीले तीरमें (इष्ट देवताओंकी) पूजासे तुम्हारा मन प्रसन्न होगा ॥ ७६ ॥

पुष्पं फलं चार्तवमाहरन्त्यो बीजं च बालेयमकृष्टरोहि ।
विनोदयिष्यन्ति नवाभिषङ्गामुदारवाचो मुनिकन्यकास्त्वाम् ॥ ७७ ॥

पुष्पमिति । ऋतुरस्य प्राप्त आर्तवम्, स्वकालप्राप्तमित्यर्थः । पुष्पं फलं च । अकृष्टरोह्यकृष्टक्षेत्रोत्थम्, अकृष्टपच्यमित्यर्थः । बलये हितं बालेयं पूजायोग्यम् । 'छदिरुपधिबलेर्ढञ्' इति ढञ्प्रत्ययः । बीजं नीवारादि धान्यं चाहरन्त्यः उदारवाचः प्रगल्भगिरो मुनिकन्यका नवाभिषङ्गां नूतनदुःखां त्वां विनोदयिष्यन्ति ॥ ७७ ॥

ऋतुओंमें पैदा होनेवाले फूल तथा फलको तथा बिना जोते पैदा होनेवाले पूजायोग्य (नीवार आदिके) बीजको लाती हुई तथा मधुरभाषिणी मुनिकन्यायें नवीन दुःखवाली तुमको प्रसन्न करेंगी ॥ ७७ ॥

पयोघटैराश्रमबालवृक्षान्संवर्धयन्ती स्वबलानुरूपैः ।
असंशयं प्राक् तनयोपपत्तेः स्तनन्धयप्रीतिमवाप्स्यसि त्वम् ॥ ७८ ॥

पय इति । स्तवकानुकारैः स्तवकस्यानुकारिभिः पयसामम्भसां कणैः स्तम्बैरिति च पठ्यते । आश्रमबालवृक्षान्संवर्धयन्ती त्वं तनयोपपत्तेः प्राक्पूर्वमसंशयं यथा तथा । स्तनं पयश्च पिबतीति स्तनन्धयः सिद्धः । 'नासिकास्तनयोर्ध्माधेटोः' इति खश्प्रत्ययः । 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' इत्यनेन मुमागमः । तस्मिन्या प्रीतिस्तामवाप्स्यसि । ततः परं सुलभ एव विनोद इति भावः ॥ ७८ ॥

अपनी शक्तिके अनुकूल बलके घड़ोंसे आश्रमके छोटे २ वृक्षोंको (सींच २ कर) बढ़ाती हुई तुम पुत्रोत्पत्तिके पहले ही दूध पीनेवालेके बच्चेके प्रेमको अवश्यमेव प्राप्त करोगी ॥ ७८ ॥

अनुग्रहप्रत्यभिनन्दिनीं तां वाल्मीकिरादाय दयाऽऽर्द्रचेताः ।
सायं मृगाध्यासितवेदिपार्श्वं स्वमाश्रमं शान्तमृगं निनाय ॥ ७९ ॥

अनुग्रहेति । दयार्द्रचेता वाल्मीकिरनुग्रहं प्रत्यभिनन्दतीति तथोक्तां तां सीतामादाय सायं मृगैरध्यासितवेदिपार्श्वमधिष्ठितवेदिप्रान्तं शान्तमृगं स्वमाश्रमं निनाय ॥ ७९ ॥

दयासे आर्द्र चित्तवाले वाल्मीकि मुनि उनके कृपाका प्रत्यभिनन्दन करने वाली उस (सीता) को लेकर सायङ्कालमें जहां पर वेदियोंके पासमें हरिन बैठे हैं ऐसे तथा शान्त हरिनों (या पशुओं) वाले अपने आश्रममें ले गये ॥ ७९ ॥

तामर्पयामास च शोकदीनां तदागमप्रीतिषु तापसीषु ।
निर्विष्टसारां पितृभिर्हिमांशोरन्त्यां कलां दर्श इवौषधीषु ॥ ८० ॥

तामिति । शोकदीनां तां सीतां तस्याः सीताया आगमेन प्रीतिर्यासां तासु तापसीषु । पितृभिरग्निष्वात्तादिभिर्निर्विष्टसारां भुक्तसारां हिमांशोरन्त्यामवशिष्टां कलां दर्शोऽमावास्याकाल ओषधीष्विव । अर्पयामास च । अत्र पराशरः—'पिबन्ति मिश्रकं सोमं पितरस्तस्य या कला । सुधामृतमयीं पुण्यां तामिन्दोः पितरो मुने' ॥ इति । व्यासश्च—'अमायां तु सदा सोम ओषधीः प्रतिपद्यते' इति ॥ ८ ॥

(वाल्मीकि मुनिने) शोकसे दुःखित उस (सीता) को उसके आनेसे प्रसन्न हुई तपस्विनियोंमें इस प्रकार सौंपा (अग्निष्वात्त आदि) पितर से भुक्त सार वाली चन्द्रमाकी अन्तिम कलाको अमावास्या ओषधियोंमें समर्पित करती है ॥ ८ ॥

ता इङ्गुदीस्नेहकृतप्रदीपमास्तीर्णमेध्याजिनतल्पमन्तः ।
तस्यै सपर्याऽनुपदं दिनान्ते निवासहेतोरुटजं वितेरुः ॥ ८१ ॥

ता इति । तापस्यस्तस्यै सीतायै सपर्यामनुपदं पूजानन्तरं दिनान्ते प्राप्ते दिवस एव हेतुस्तस्य निवासहेतोः, निवासार्थमित्यर्थः । 'षष्ठी हेतुप्रयोगे' इति षष्ठी । 'इङ्गुदी तापसतरुर्भूर्जे चर्मिमृदुत्वची' इत्यमरः । इङ्गुदीस्नेहेन कृतप्रदीप-

अन्तरास्तीर्णं मेध्यं शुद्धमजिनमेव तल्पं शय्या यस्मिंस्तमुटजं पर्णशालां वितेरुर्ददुः ॥ ८१ ॥

उन तपस्विनियोंने उस सीताके लिये, पूजनके बाद सायङ्कालमें निवास करने (सोने) के लिये इङ्गुदी-तैलके जलते हुए दीपक वाली, भीतरमें पवित्र बिछाये गये मृगचर्मकी शय्यावाली पर्णशालाको दिया ॥ ८१ ॥

तत्राभिषेकप्रयता वसन्ती प्रयुक्तपूजा विधिनाऽतिथिभ्यः ।
वन्येन सा वल्कलिनी शरीरं पत्युः प्रजासन्ततये बभार ॥ ८२ ॥

तत्रेति । तत्राश्रमेऽभिषेकेण स्नानेन प्रयता नियता वसन्ती विधिना शास्त्रेणातिथिभ्यः प्रयुक्तपूजा कृतसत्कारा वल्कलिनी सा सीता पत्युः प्रजासन्ततये सन्तानाविच्छेदाय हेतोः । वन्येन कन्दमूलादिना शरीरं बभार पुपोष ॥ ८२ ॥

वहां (आश्रममें) अभिषेक अर्थात् स्नानमें नियत, शास्त्रोक्त विधिसे अतिथि-सत्कार करनेवाली वल्कल धारण करती हुई वह सीता पति (रामचन्द्र) की सन्तान के विच्छेद (बीचमें नष्ट) नहीं होनेके लिये वनोत्पन्न कन्द-मूल-फल आदिसे शरीर-पालन किया ॥

अपि प्रभुः सानुशयोऽधुना स्यात्किमुत्सुकः शक्रजितोऽपि हन्ता ।
शशंस सीतापरिदेवनान्तमनुष्ठितं शासनमग्रजाय ॥ ८३ ॥

अपीति । प्रभू राजाऽधुनाऽपि सानुशयः सानुतापः स्यात्किम् । इति काकुः । उत्सुकः शक्रजितः इन्द्रजितो हन्ता लक्ष्मणोऽपि सीतापरिदेवनान्तं सीताविलापान्तमनुष्ठितं शासनमग्रजाय शशंस कथयामास ॥ ८३ ॥

'राजा (रामचन्द्रजी) अब भी (सीताके करुण सन्देशको सुनकर भी) दयालु होंगे क्या ?' इस प्रकार (विचार करते हुए) उत्कण्ठित, इन्द्रजित् (मेघनाद) के भी मारनेवाले (लक्ष्मण) सीता के विलापतक किये गये अनुशासन अर्थात् सीताके सन्देशको बड़े भाई (राम) से कहा ॥ ८३ ॥

बभूव रामः सहसा सबाष्पस्तुषारवर्षीव सहस्यचन्द्रः ।
कौलीनभीतेन गृहान्निरस्ता न तेन वैदेहसुता मनस्तः ॥ ८४ ॥

बभूवेति । सहसा सपदि सबाष्पो रामः । तुषारवर्षी सहस्यचन्द्रः पौषेन्दुरिव बभूव । अत्यश्रुतया तुषारवर्षिणा पौषचन्द्रेण तुल्योऽभूत् । 'पौषे तैषसहस्यौ द्वौ' इत्यमरः । युक्तं चैतदित्याह-कौलीनाल्लोकापवादात् । 'स्यात्कौलीनं लोकवादे' इत्यमरः । भीतेन तेन रामेण वैदेहसुता सीता गृहान्निरस्ता । मनस्तो मनसश्चित्तात्तु निरस्ता । पञ्चम्यास्तसिल् ॥ ८४ ॥

लक्ष्मणद्वारा सीताका सन्देश सुनकर तुषार बरसाने वाले पौषमासके चन्द्रमाके समान राम आँसू गिराने लगे क्योंकि लोकनिन्दासे डरे हुए रामने सीताको घरसे निकाला था, मनसे नहीं निकाला था (कारणकि सीताकी शुद्धताके विषयमें रामको पूर्णतया विश्वास था) ॥ ८४ ॥

निगृह्य शोकं स्वयमेव धीमान्वर्णाश्रमावेक्षणजागरूकः ।
स भ्रातृसाधारणभोगमृद्धं राज्यं रजोरिक्तमनाः शशास ॥ ८५ ॥

निगृह्येति । धीमान्वर्णानामाश्रमाणां चावेक्षणेऽनुसन्धाने जागरूकोऽप्रमत्तः । 'जागरूकः' इत्यूकप्रत्ययः । रजोरिक्तमना रजोगुणशून्यचेताः स रामः स्वयमेव शोकं निगृह्य निरुध्य भ्रातृभिः साधारणभोगम् शरीरस्थितिमात्रोपयुक्तमित्यर्थः । ऋद्धं समृद्धं राज्यं शशास ॥ ८५ ॥

बुद्धिमान्, वर्ण (ब्राह्मण आदि चार वर्ण) तथा आश्रम (ब्रह्मचर्य आदि चार आश्रम) को देखनेमें सावधान तथा रजोगुणसे रहित अर्थात् सात्त्विक गुण युक्त चित्तवाले राम स्वयं ही शोकको दबाकर भाइयोंके समान रूपमें भोग किये जाने वाले समृद्धिशाली राज्यका शासन करने लगे ॥ ८५ ॥

तामेकभार्यां परिवादभीरोः साध्वीमपि त्यक्तवतो नृपस्य ।
वक्षस्यसङ्घट्टसुखं वसन्ती रेजे सपत्नीरहितेव लक्ष्मीः ॥ ८६ ॥

तामिति । परिवादभीरोर्निन्दाभीरोरत एवैकभार्यामिति साध्वीमपि तां सीतां त्यक्तवतो नृपस्य रामभद्रस्य वक्षस्यसङ्घट्टसुखमसम्बाधसुखं वसन्ती लक्ष्मीः सपत्नीरहितेव रेजे विदिद्युते । तस्य स्त्र्यन्तरपरिग्रहो नाभूदिति भावः ॥ ८६ ॥

निन्दाके डरसे एक साध्वी भी उस सीता का भी त्याग करनेवाले रामचन्द्रके हृदयमें बाधारहित सुखपूर्वक निवास करती हुई लक्ष्मी सपत्नी-रहितके समान शोभायमान हुई । (रामने एक पत्नीव्रतको धारण किया अर्थात् पुनः दूसरा विवाह नहीं किया) ॥ ८६ ॥

सीतां हित्वा दशमुखरिपुर्नोपयेमे यदन्यां
तस्या एव प्रतिकृतिसखो यत्क्रतूनाजहार ।
वृत्तान्तेन श्रवणविषयप्रापिणा तेन भर्तुः
सा दुर्वारं कथमपि परित्यागदुःखं विषेहे ॥ ८७ ॥

सीतामिति । दशमुखरिपू रामः सीतां हित्वा त्यक्त्वाऽन्यां स्त्रियं नोपयेमे न परिणीतवानिति यत् । 'उपाद्यमः स्वकरणे' इत्यात्मनेपदम् । किञ्च । तस्याः सीताया एव प्रतिकृतेः प्रतिमाया हिरण्मय्याः सखा प्रतिकृतिसखः सन् क्रतूनाजहारेति यत्

निति । 'सस्त्रीको धर्ममाचरेत्' इति धर्मशास्त्रात् । यत्तेन श्रवणविषयप्रापिणा श्रोत्रदेशगामिना भर्तुर्वृत्तान्तेन वार्तया हेतुना सा सीता दुर्वार दुर्निरोध परित्यागेन यद् दुःखं तत्कथमपि विषेहे विसोढवती ॥ ८७ ॥

इति महामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया सञ्जीविनीसमाख्यया व्याख्यया समेतो महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये सीतापरित्यागो नाम चतुर्दश सर्गः ॥ १४ ॥



रावणशत्रु (राम) ने सीताका त्यागकर दूसरा विवाह नहीं किया तथा उसीकी मूर्तिके साथ अर्थात् स्वर्णमयी सीताकी प्रतिमाको अर्द्धाङ्गिनी बनाकर यज्ञोंको किया। पतिके इस वृत्तान्तको सुननेसे असह्य भी त्यागके कष्टको उस (सीता) ने किसी प्रकार सहन किया ॥ ८७ ॥

यह 'मणिप्रभा' टीकामें 'रघुवंश' महाकाव्यका 'सीतापरित्याग' नामक चतुर्दश सर्ग समाप्त हुआ ॥ १४ ॥



आज दो सहस्र सात विक्रमीय वर्षमें । महाशिवरात्रिपर्वके हर्षप्रकर्षमें ॥
रघुवंशका 'मणिप्रभा'ऽनुवाद चार सर्ग । राष्ट्रभाषामें किया विवाद-वर्ग ॥ १ ॥
विश्वनाथ-पादाब्जमें अर्पित यह कृति भूरि । हो जन हर्षप्रदा सदा रामचरितमय भूरि ॥२॥



प्राप्तिस्थानम्—
चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस,
पो० बाक्स नं० ८, बनारस—१

रघुवंशमहाकाव्यम्

पञ्चदशः सर्गः

आरण्यक-गृहस्थानां श्वशुरौ यद्रजःकणा ।
स्वयमौद्वाहिकं गेहं स्मै रामाय ते नमः ॥

कृतसीतापरित्यागः स रत्नाकरमेखलाम् ।
बुभुजे पृथिवीपालः पृथिवीमेव केवलाम् ॥ १ ॥

कृतेति । कृतसीतापरित्यागः स पृथिवीपालो रामो रत्नाकर एव मेखला यस्यास्ताम्, सार्णवामित्यर्थः । केवलाम् एकामित्यर्थः । पृथिवीमेव बुभुजे भुक्तवान्, न तु पार्थिवीमित्यर्थः । साऽपि रत्नखचितमेखला । पृथिव्या कान्तासमाधिर्व्यज्यते । रामस्य स्त्र्यन्तरपरिग्रहो नास्तीति श्लोकाभिप्रायः ॥ १ ॥

यति-गृहस्थोंके श्वशुर जिसके हुये थे धूलि-कण ।
उद्वाह मन्दिर थे स्वय, उस राम पदको नित नमन ॥

सीताका परित्यागकर वे राजा 'राम' समुद्ररूपी मेखला (करधनी) वाली केवल पृथ्वीका भोग करने लगे ॥ १ ॥

लवणेन विलुप्तेज्यास्तामिस्रेण तमभ्ययुः ।
मुनयो यमुनाभाजः शरण्यं शरणार्थिनः ॥ २ ॥

लवणेनेति । लवणेन लवणाख्येन तामिस्रेण तामिस्राचारिणा, रक्षसेत्यर्थः । विलुप्तेज्या लुप्तयागक्रिया अत एव शरणार्थिनो यमुनाभाजो यमुनातीरवासिनो मुनयः शरण्यं शरणार्हं रक्षणसमर्थं तं रामं रक्षितारमभ्ययुः प्राप्ताः । यातेर्लङ् ॥२॥

'लवण' नामक निशाचर से नष्ट भ्रष्ट किये गये यज्ञ करनेवाले, यमुना तटवासी शरणार्थी मुनिलोग शरणागतवत्सल रामके पास आए ॥ २ ॥

अवेक्ष्य रामं ते तस्मिन्न प्रजह्रुः स्वतेजसा ।
त्राणाभावे हि शापास्त्राः कुर्वन्ति तपसो व्ययम् ॥ ३ ॥

अवेक्ष्येति। ते मुनयो राममवेक्ष्य । रक्षितारमिति शेषः । तस्मिँल्लवणे स्वतेजसा शापरूपेण न प्रजह्रुः । तथा हि, त्रायते इति त्राणं रक्षकम् । कर्तरि ल्युट् । तदभावे शाप एवास्त्रं येषां ते शापास्त्राः सन्तस्तपसो व्ययं कुर्वन्ति । शापदानात्तपसो व्यय इति प्रसिद्धेः ॥ ३ ॥

उन मुनियोंने रामको (अपना रक्षक) देखकर उस लवणासुर पर प्रहार नहीं किया अर्थात् लवणासुरको शाप देकर नष्ट नहीं किया, क्योंकि शाप ही अस्त्र है जिनका, ऐसे मुनिलोग रक्षकके न होनेपर तपको व्यय करते हैं । (क्रोधजन्य शापसे तप क्षीण होता है, अतएव मुनिलोग जबतक दूसरे रक्षकके द्वारा कार्यसिद्धि हो सकती है, तबतक किसी अपराधीको शापद्वारा दण्ड नहीं देते हैं) ॥ ३ ॥

प्रतिशुश्राव काकुत्स्थस्तेभ्यो विघ्नप्रतिक्रियाम् ।
धर्मसंरक्षणार्थैव प्रवृत्तिर्भुवि शार्ङ्गिणः ॥ ४ ॥

प्रतीति । काकुत्स्थो रामस्तेभ्यो मुनिभ्यो विघ्नप्रतिक्रियां लवणवधरूपां प्रतिशुश्राव प्रतिजज्ञे । 'प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्ता' इत्यनेन चतुर्थी । तथा हि भुवि शार्ङ्गिणो विष्णोः प्रवृत्ती रामरूपेणावतरणं धर्मसंरक्षणमेवार्थः प्रयोजनं यस्याः सा तथैव ॥

काकुत्स्थ (राम) ने उन मुनियोंसे विघ्नके प्रतीकार करने (लवणको मारने) की प्रतिज्ञा की क्योंकि धर्म-रक्षाके लिये ही पृथ्वीपर विष्णुका अवतार होता है ॥ ४ ॥

ते रामाय वधोपायमाचख्युर्विबुधद्विषः ।
दुर्जयो लवणः शूली विशूलः प्रार्थ्यतामिति ॥ ५ ॥

त इति । ते मुनयो रामाय विबुधद्विषः सुरारेर्लवणस्य वधोपायमाचख्युः । क्रुधादीति चतुर्थी । तमाविष्कुर्वन्त्याख्युः । 'तमेव विपादमाख्यातम् । लवणः शूली शूलवान्दुर्जयोऽजय्यः । किन्तु विशूलः शूलरहितः प्रार्थ्यतामभियुज्यताम् । 'प्रार्थ्यमभियाने च प्रार्थना कथ्यते बुधैः' इति केशवः ॥ ५ ॥

उन मुनियोंने रामसे देववैरी लवणासुरके वधके उपायको—'यह लवणासुर शूलवान और दुर्जय किन्तु शूलरहित है उसपर चढ़ाई कीजिये' इस प्रकार कहा ॥ ५ ॥

आदिदेशाथ शत्रुघ्नं तेषां क्षेमाय राघवः ।
करिष्यन्निव नामास्य यथार्थमरिनिग्रहात् ॥ ६ ॥

आदिदेशेति । अथ तेषां मुनीनां क्षेमाय क्षेमकरणाय राघवो रामः शत्रुघ्नमादिदेश । उत्प्रेक्षते—अस्य शत्रुघ्नस्य नामारिनिग्रहाच्छत्रुवधाद्धेतोः । यथा भूतोऽर्थो यस्य तद्यथार्थं करिष्यन्निव । शत्रून्हन्तीति शत्रुघ्नः । 'अमनुष्यकर्तृके च' इति चकारात् कृतघ्नशत्रुघ्नादयः सिद्धा इति दुर्गसिंहः । पाणिनीयेऽपि बहुलग्रहणात्सिद्धमिति । 'कृत्यल्युटो बहुलम्' इति ॥ ६ ॥

इसके बाद रामने उन मुनियोंके कल्याणके लिये शत्रुघ्नको—शत्रुके निग्रह करने (वध देने) से इन (शत्रुघ्न) के नामको चरितार्थ करते हुए के समान—आज्ञा दी । (लवणासुरको मारनेके लिये शत्रुघ्नको भेजा) ॥ ६ ॥

रामस्य स्वयमप्रयाणे हेतुमाह—

यः कश्चन रघूणां हि परमेकः परन्तपः ।
अपवाद इवोत्सर्गं व्यावर्तयितुमीश्वरः ॥ ७ ॥

य इति । हि यस्मात् परान्शत्रून् तापयतीति परन्तपः । 'द्विषत्परयोस्तापेः' इति खच्प्रत्ययः । 'खचि ह्रस्वः' इति ह्रस्वः । रघूणां मध्ये यः कश्चनैकः अपवादो विशेषशास्त्रमुत्सर्गं सामान्यशास्त्रमिव परं शत्रुं व्यावर्तयितुं बाधितुमीश्वरः समर्थः । अतः शत्रुघ्नमेवादिदेशेति पूर्वेणान्वयः ॥ ७ ॥

शत्रुको दण्डित करनेवाला रघुवंशियोंमें कोई भी एक व्यक्ति शत्रुको पराजित करनेके लिये इस प्रकार समर्थ होता है, जिस प्रकार अपवाद-शास्त्र उत्सर्ग-शास्त्रको रोकनेमें समर्थ होता है ॥ ७ ॥

अग्रजेन प्रयुक्ताशीस्ततो दाशरथी रथी ।
ययौ वनस्थलीः पश्यन्पुष्पिताः सुरभीरभीः ॥ ८ ॥

अग्रजेनेति । ततोऽग्रजेन रामेण प्रयुक्ताशीः कृताशीर्वादो रथी रथिकोऽभीर्निर्भीको दाशरथि पुष्पाणि सञ्जातानि यासां ता पुष्पिताः सुरभीरामोदमाना वनस्थलीः पश्यन् ययौ ॥ ८ ॥

इसके बाद बड़े भाई (राम) से आशीर्वादको पाये हुए दशरथ–कुमार (शत्रुघ्न) रथपर सवार होकर निर्भय हो खिले हुए फूलोंवाली तथा सुगन्धित वनस्थलियोंको देखते हुए चले ॥ ८ ॥

रामादेशादनुगता सेना तस्यार्थसिद्धये ।
पश्चादध्ययनार्थस्य धातोरधिरिवाभवत् ॥ ९ ॥

रामेति । रामादेशादनुगता सेना तस्य शत्रुघ्नस्य । अध्ययनमर्थोऽभिधेयो यस्य तस्य । धातो 'इङ् अध्ययने' इत्यस्य धातो पश्चादधिरध्युपसर्ग इव । अर्थसिद्धये प्रयोजनसाधनायेत्येकत्र । अन्यत्राभिधेयसाधनाय अभवत् । 'अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु' इत्यमरः । यथा 'इङिकावध्युपसर्गं न व्यभिचरत' इति न्यायेनाध्युपसर्गं स्वयमेवार्थसाधकस्य धातो सन्निधिमात्रेणोपकरोति सेनाऽपि तस्य तद्वदिति भाव ॥ ९ ॥

रामकी आज्ञासे शत्रुघ्नके पीछे चलती हुई सेना अध्ययनार्थक (इङ्) धातुके अनुगत 'अधि' (उपसर्ग) के समान हुई । (जिस प्रकार 'इङ् अध्ययने' धातुका साथ 'अधि' उपसर्ग कभी नहीं छोड़ता, उसी प्रकार शत्रुघ्नका साथ सेनाने कभी नहीं छोड़ा–बराबर उनके पीछे चलती रही) ॥ ९ ॥

आदिष्टवर्त्मा मुनिभि स गच्छँस्तपतां वरः ।
विरराज रथप्रष्ठैर्वालखिल्यैरिवांशुमान् ॥ १० ॥

आदिष्टेति । रथप्रष्ठै रथाग्रगामिभि । 'प्रष्ठोऽग्रगामिनि' इति निपातः । मुनिभि. पूर्वोक्तैरादिष्टवर्त्मा निर्दिष्टमार्गो गच्छंस्तपता देदीप्यमानाना मध्ये वर श्रेष्ठ स शत्रुघ्न. । वालखिल्यैर्मुनिभिरंशुमान्सूर्य इव विरराज । तेऽपि रथप्रष्ठा इत्यनुसन्धेयम् ॥

रथगामी मुनियोंके द्वारा बतलाये गये मार्गवाले तेजस्वि–श्रेष्ठ वह शत्रुघ्न रथगामी वालखिल्य मुनियोंसे तेजस्वि–श्रेष्ठ सूर्यके समान शोभित हुए ॥ १० ॥

तस्य मार्गवशादेका बभूव वसतिर्यतः ।
रथस्वनोत्कण्ठमृगे वाल्मीकीये तपोवने ॥ ११ ॥

तस्येति । वशो गम्यता । इत्यनयोः सप्तम्यर्था । तस्य शत्रुघ्नस्य मार्गवशादेक-स्यां वाल्मीकेः सम्बन्धीनि यस्मिंस्तस्मिन्वाल्मीकीये वाल्मीकिसम्बन्धिनि । 'पूजाख्या' इति सप्तम्यर्थः । तपोवन एकां वसतीं रात्रिमवसत् । तत्रैकां रात्रिमुषित इत्यर्थः । 'वसती रात्रिवेश्मनोः' इत्यमरः ॥ ११ ॥

जाते हुए उस शत्रुघ्नने रास्तेमें आनेसे घोड़ोंके थकनेके कारण, वाल्मीकि मुनिके तपोवनमें (उस शत्रुघ्नका) एक निवास हुआ अर्थात् शत्रुघ्न एक रात वाल्मीकि मुनिके आश्रममें ठहरे ॥ ११ ॥

तमृषिः पूजयामास कुमारं क्लान्तवाहनम् ।
तपःप्रभावसिद्धाभिर्विशेषप्रतिपत्तिभिः ॥ १२ ॥

तमिति । क्लान्तवाहनं श्रान्तयुग्यं तं कुमारं शत्रुघ्नमृषिर्वाल्मीकिस्तपःप्रभाव-सिद्धाभिर्विशेषप्रतिपत्तिभिरुत्कृष्टसम्मानक्रियाभिः आसनशयनपानादिभिः पूजयामास ॥

ऋषि (वाल्मीकि) ने थके हुए वाहनों (घोड़े आदि सवारियों) वाले उस शत्रुघ्नका तपस्यासे सिद्ध विशेष सामग्रियोंद्वारा (अतिथि) सत्कार किया ॥ १२ ॥

तस्यामेवास्य यामिन्यामन्तर्वत्नी प्रजावती ।
सुतावसूत सम्पन्नौ कोशदण्डाविव क्षितिः ॥ १३ ॥

तस्यामिति । तस्यामेव यामिन्यां रात्रावस्य शत्रुघ्नस्य । अन्तरस्या अस्तीत्यन्तर्वत्नी गर्भिणी । 'अन्तर्वत्नी च गर्भिणी' इत्यमरः । 'अन्तर्वत्पतिवतोर्नुक्' इति ङीप् नुगागमश्च । प्रजावती भ्रातृजाया सीता । क्षितिः सम्पन्नौ समग्रौ कोशदण्डा-विव सुतावसूत ॥ १३ ॥

उस (शत्रुघ्न) की गर्भिणी भाभी (सीता) ने उसी रातमें सम्पन्न दो पुत्रोंको वैसे उत्पन्न किया जैसे पृथ्वी कोष तथा दण्डको उत्पन्न करती है ॥ १३ ॥

सन्तानश्रवणाद्भ्रातुः सौमित्रिः सौमनस्यवान् ।
प्राञ्जलिर्मुनिमामन्त्र्य प्रातर्युक्तरथो ययौ ॥ १४ ॥

सन्तानेति । भ्रातुर्ज्येष्ठस्य सन्तानश्रवणाद्धेतोः सौमनस्यवान्प्रीतिमान्सौमित्रिः शत्रुघ्नः प्रातर्युक्तरथः सज्जरथः सन् । प्राञ्जलिः कृताञ्जलिर्मुनिमामन्त्र्यापृच्छ्य ययौ ॥

इसके बाद भ्राता बड़े (रामचन्द्रजी) के पुत्रोत्पत्तिसे प्रसन्न शत्रुघ्न रथको सजाकर हाथ जोड़कर वाल्मीकि मुनिसे पूछकर चल दिये ॥ १४ ॥

स च प्राप मधूपघ्नं कुम्भीनस्याश्च कुक्षिजः ।
वनात्करमिवादाय सत्त्वराशिमुपस्थितः ॥ १५ ॥

स इति । स शत्रुघ्नश्च मधूपघ्नं नाम लवणपुरं प्राप । कुम्भीनसी नाम रावण-स्वसा तस्याः कुक्षिजः पुत्रो लवणश्च वनात्करं बलिमिव सत्त्वानां प्राणिनां राशिं

वे शत्रुघ्न 'मधूपघ्न' नामक लवण-नगरीमें पहुँचे, (वहाँ पर) कुम्भीनसी पुत्र लवणासुर वनसे कर (टैक्स) के समान जीवसमूहको लेकर उपस्थित हुआ ॥ १५ ॥

धूमधूम्रो वसागन्धी ज्वालाबभ्रुशिरोरुहः ।
क्रव्याद्गणपरीवारश्चिताऽग्निरिव जङ्गमः ॥ १६ ॥

धूमेति । किम्भूतो लवणः । धूम इव धूम्रः कृष्णलोहितवर्णः । 'धूम्रधूमलौ कृष्णलोहिते' इत्यमरः । वसागन्धी हृन्मेदोगन्धः, सोऽस्यास्तीति वसागन्धी । 'हृन्मेदस्तु वपा वसा' इत्यमरः । ज्वाला इव बभ्रव पिशङ्गाः शिरोरुहाः केशा यस्य स तथोक्तः । 'विपुले नकुले विष्णौ बभ्रुः स्यात्पिङ्गले त्रिषु' इत्यमरः । क्रव्यं मांसमदन्तीति क्रव्यादो राक्षसाः, तेषां गण एव परीवारो यस्य स तथोक्तः । अत एव जङ्गमश्चरिष्णुश्चिताऽग्निरिव स्थितः । कृशानुपक्षे-धूमैर्धूम्रवर्णः । ज्वाला एव शिरोरुहाः । क्रव्यादो गृध्रादय इत्यनुसन्धेयम् ॥ १६ ॥

(वह लवणासुर) धूएँ के समान धूम्र (लाल-काला) वर्णवाला, चर्बी के समान गन्धवाला, अग्निकी ज्वालाके समान पिङ्गलवर्णयुक्त केशोंवाला, राक्षसपरिवारवाला अर्थात् राक्षसोंसे युक्त—धूँएसे धूम्रवर्णवाला, ज्वालारूपी पिङ्गल केशोंवाला, कच्चे मासका भक्षण करनेवाले गीध आदि पक्षियोंसे युक्त-जङ्गम (चलने-फिरनेवाली) चिताग्निके समान था ॥ १६ ॥

अपशूलं तमासाद्य लवणं लक्ष्मणानुजः ।
रुरोध सम्मुखीनो हि जयो रन्ध्रप्रहारिणाम् ॥ १७ ॥

अपशूलमिति । लक्ष्मणानुजः शत्रुघ्नोऽपशूलं शूलरहितं लवणमासाद्य रुरोध । तथा हि, रन्ध्रप्रहारिणां रन्ध्रप्रहरणशीलानाम् । अपशूलतैवात्र रन्ध्रम् । जयः सम्मुखीनो हि सम्मुखस्य दर्शनो हि । 'यथामुखसम्मुखस्य दर्शनः खः' इति खप्रत्ययः । अधिकारलक्षणार्थस्तु दुर्लभ एव ॥ १७ ॥

लक्ष्मणके छोटे भाई (शत्रुघ्न) ने शूलरहित उस लवणासुरको प्राप्तकर रोका, क्योंकि छिद्र-युक्त (शस्त्रादि साधन न रहनेसे निर्बल) शत्रुपर प्रहार करनेवालोंको विजय सामने रहती है अर्थात् निर्बल शत्रुपर प्रहार करनेवाले योद्धाकी अवश्य ही विजय होती है ॥ १७ ॥

नातिपर्याप्तमालक्ष्य मत्कुक्षेरद्य भोजनम् ।
दिष्ट्या त्वमसि मे धात्रा भीतेनेवोपपादितः ॥ १८ ॥
इति सन्तर्ज्य शत्रुघ्नं राक्षसस्तज्जिघांसया ।
प्रांशुमुत्पाटयामास मुस्तास्तम्बमिव द्रुमम् ॥ १९ ॥

नातीत्यादि । युग्मम् । राक्षसो लवणः । अद्य मत्कुक्षेः । भुज्यत इति भोजनम् । भोज्यं मृगादिकं नातिपर्याप्तमनतिसमग्रमालक्ष्य दृष्ट्वा भीतेनेव धात्रा दिष्ट्या भाग्येन मे त्वमुपपादितः कल्पितोऽसि । इति शत्रुघ्नं सन्तर्ज्य तस्य शत्रुघ्नस्य जिघांसया हन्तुमिच्छया प्रांशुमुन्नतं द्रुमम् । मुस्तास्तम्बमिव अक्लेशेनोत्पाटयामास ॥१८ १९॥

'आज मेरे पेट के योग्य परिपूर्ण भोजन (हम लोग मृग आदि पशुओं को) नहीं देख कर डरे हुए-से ब्रह्माने भाग्यसे तुमको मेरा भोजन कल्पित किया है' ऐसा कहकर राक्षस लवणासुर उस शत्रुघ्नको मारनेकी इच्छासे 'मोथा' नामक घासके तनके समान (क्या बात) एक बड़े वृक्षको उखाड़ लिया ॥ १८-१९ ॥

सौमित्रेर्निशितैर्बाणैरन्तरा शाकलीकृतः ।
गात्रं पुष्परजः प्राप न शाखी नैर्ऋतेरितः ॥ २० ॥

सौमित्रेरिति । नैर्ऋतेरितो रक्षःप्रेरितः शाखी अन्तरा मध्ये निशितैर्बाणैः शकली-कृतः सन्सौमित्रेः शत्रुघ्नस्य गात्रं न प्राप । किन्तु पुष्परजः प्राप ॥ २० ॥

लवणासुरके द्वारा फेंका गया वह वृक्ष सुमित्राकुमार (शत्रुघ्न) के तीक्ष्ण बाणोंसे बीचमें खण्डशः होकर नहीं पहुँच सका (शत्रुघ्नके तीक्ष्ण बाणोंसे बीचमें ही टुकड़ा टुकड़ा होकर गिर पड़ा), किन्तु (उस वृक्षके) पुष्पोंका पराग (शत्रुघ्नके पास) पहुँचा ॥ २० ॥

विनाशात्तस्य वृक्षस्य रक्षस्तस्मै महोपलम् ।
प्रजिघाय कृतान्तस्य मुष्टिं पृथगिव स्थितम् ॥ २१ ॥

विनाशादिति । रक्षो लवणस्तस्य वृक्षस्य विनाशाद्धेतोः । महोपलं महान्तं पाषाणम् । पृथक् स्थितं कृतान्तस्य यमस्य मुष्टिमिव । मुष्टिरस्त्री द्विलिङ्गः । तस्मै शत्रुघ्नाय प्रजिघाय प्रहितवान् ॥ २१ ॥

उस वृक्षके नाश (खण्डशः होकर व्यर्थ) होनेसे राक्षस लवणासुरने उस शत्रुघ्न (को मारने) के लिये यमराजके पृथक् स्थित मुष्टि (मुक्का) के समान बड़ा भारी पत्थर फेंका ॥ २१ ॥

ऐन्द्रमस्त्रमुपादाय शत्रुघ्नेन स ताडितः ।
सिकतात्वादपि परां प्रपेदे परमाणुताम् ॥ २२ ॥

ऐन्द्रमिति । स महोपलः शत्रुघ्नेनैन्द्रमिन्द्रदेवताकमस्त्रमुपादाय ताडितोऽभिहतः सन् । सिकतात्वात्सिकताभावादपि परां परमाणुतां प्रपेदे । यतोऽणुर्नास्ति स परमाणुरित्यणुः ॥ २२ ॥

इन्द्रास्त्र लेकर शत्रुघ्नसे अभिहत उस पत्थरने बालू (रेत) से भी अधिक छोटा-छोटा परमाणुभावको प्राप्त किया अर्थात् शत्रुघ्नने इन्द्रास्त्रसे उस पत्थरको चूर्णकर परमाणुके समान छोटा-छोटा कर दिया ॥ २२ ॥

तमुपाद्रवदुद्यम्य दक्षिणं दोर्निशाचरः ।
एकताल इवोत्पातपवनप्रेरितो गिरिः ॥ २३ ॥

तमिति । निशाचरो राक्षसो दक्षिणं दोः 'ककुद्दोषणी' इति भगवतो भाष्यकारस्य प्रयोगाद्दोःशब्दस्य नपुंसकत्वं द्रष्टव्यम् । 'भुजबाहू प्रवेष्टो दोः' इति पुंल्लिङ्गसाह-

पर्यायपुंस्त्वं च। तथा च प्रयोगः—'दोषं तस्य तथाविधस्य भजतः' इति। सव्येतरं बाहुमुद्यम्य एकस्तालस्तदाख्यवृक्षो यस्मिन्स एकतालः। उत्पातपवनेन प्रेरितो गिरिरिव। तं शत्रुघ्नमुपाद्रवदभिद्रुतः॥ २३॥

राक्षस लवणासुर दाहिना हाथ उठाकर एक ताड वृक्षवाले वायु-प्रेरित पर्वतके समान, उस शत्रुघ्नपर (प्रहार करनेके लिये) दौड़ा॥ २३॥

कार्ष्णेन पत्रिणा शत्रुः स भिन्नहृदयः पतन्।
आनिनाय भुवः कम्पं जहाराश्रमवासिनाम्॥ २४॥

कार्ष्णेनेति। स शत्रुर्लवणः। कार्ष्णेन वैष्णवेन पत्रिणा बाणेन। उक्तं च रामायणे—'एवमेष प्रजनितो विष्णोस्तेजोमयः शरः' इति। 'विष्णुर्नारायणः कृष्णः' इत्यमरः। भिन्नहृदयः पतन्भुवः कम्पमानिनायानीतवान्, देहभारादित्यर्थः। आश्रमवासिनां कम्पं जहार। तन्नाशादकुतोभया बभूवुरित्यर्थः॥ २४॥

वैष्णव (विष्णु देवतावाला) बाण से भिन्न (विधे हुए) हृदयवाला वह शत्रु (लवणासुर) गिरता हुआ पृथ्वीको कम्पनयुक्त कर दिया (कँपा दिया) तथा आश्रमवासियों (मुनियों) के कम्पन (भय) को हरण कर लिया अर्थात् उसके मरनेसे मुनि लोग निर्भय हो गये॥ २४॥

वयसां पङ्क्तयः पेतुर्हतस्योपरि विद्विषः।
तत्प्रतिद्वन्द्विनो मूर्ध्नि दिव्याः कुसुमवृष्टयः॥ २५॥

वयसामिति। हतस्य विद्वेष्टीति विद्विट् तस्य विद्विषो राक्षसस्योपरि वयसां पक्षिणां पङ्क्तयः पेतुः। तत्प्रतिद्वन्द्विनः शत्रुघ्नस्य मूर्ध्नि तु दिव्याः कुसुमवृष्टयः पेतुः॥

मारे गये शत्रु (लवणासुर) के ऊपर (उसके मांसको भक्षण करनेके लिये) पक्षियोंका समूह गिरने लगा तथा उस लवणासुरके शत्रु (शत्रुघ्न) के मस्तकपर दिव्य पुष्प गिरने लगे अर्थात् आकाशसे पुष्पवृष्टि होने लगी॥ २५॥

स हत्वा लवणं वीरस्तदा मेने महौजसः।
भ्रातुः सोदर्यमात्मानमिन्द्रजिद्वधशोभिनः॥ २६॥

स इति। स वीरः शत्रुघ्नो लवणं हत्वा तदाऽऽत्मानं महौजसो महाबलस्येन्द्रजिद्वधेन शोभिनो भ्रातुर्लक्ष्मणस्य समानोदरे शयितः सोदर्यमेकोदरं मेने। 'सोदराद्यः' इति यप्रत्ययः॥ २६॥

उस शूर वीर (शत्रुघ्न) ने लवणासुरको मारकर उस समय अपनेको महापराक्रमी इन्द्र-विजयी मेघनादको मारनेसे शोभाशाली भाई (लक्ष्मण) का सहोदर माना (लवणासुरको मारकर इस समय मैं लक्ष्मण का वास्तविक सहोदर बना, ऐसा समझा)॥ २६॥

तस्य संस्तूयमानस्य चरितार्थैस्तपस्विभिः।
शुशुभे विक्रमोदग्रं व्रीडयाऽवनतं शिरः॥ २८॥

तस्येति । चरितार्थैः कृतार्थैः कृतकार्यैस्तपस्विभिः संस्तूयमानस्य तस्य शत्रुघ्नस्य विनयेनोऽप्यनुद्धतं व्रीडया लज्जयावनतं नम्रं शिरः शुशुभे । विनयस्तस्य भूषणमिति भावः ॥ २७ ॥

कृतकृत्य तपस्वियोंसे प्रशंसित होते हुए उस शत्रुघ्नका पराक्रमसे उन्नत (किन्तु) लज्जासे नम्र मस्तक शोभित हुआ । (अपकारकके वधसे कृतकृत्य मुनिलोग जब शत्रुघ्नकी प्रशंसा करने लगे तब उन्होंने मस्तकको विनयवश लज्जासे झुका लिया, अतः वह बहुत सुन्दर मालूम पड़ते थे) ॥ २७ ॥

उपकूलं स कालिन्द्याः पुरीं पौरुषभूषणः ।
निर्ममे निर्ममोऽर्थेषु मथुरां मधुराकृतिः ॥ २८ ॥

उपकूलमिति । पौरुषभूषणः । अर्थेषु विषयेषु निर्ममो निःस्पृहः । मधुराकृतिः सौम्यरूपः स शत्रुघ्नः कालिन्द्या यमुनाया उपकूलं कूले । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । मथुरां नाम पुरीं निर्ममे निर्मितवान् ॥ २८ ॥

पुरुषार्थ है भूषण जिसका ऐसे, विषयोंमें ममतारहित और प्रियदर्शन उस शत्रुघ्नने यमुनाके तटपर 'मथुरा' नगरीको बसाया ॥ २८ ॥

या सौराज्यप्रकाशाभिर्बभौ पौरविभूतिभिः ।
स्वर्गाभिष्यन्दवमनं कृत्वेवोपनिवेशिता ॥ २९ ॥

येति । या पूः । शत्रुघ्नः शोभनो राजा यस्याः पुरः सा सुराज्ञी सुराज्ञ्या भावः सौराज्यम् । तेन प्रकाशाभिः प्रकाशमानाभिः पौराणां विभूतिभिरैश्वर्यैः । स्वर्गस्याभिष्यन्दोऽतिरिक्तजनः तस्य वमनमाहरणं कृत्वोपनिवेशितेवोपस्थापितेव बभौ । अत्र कौटिल्यः—'भूतपूर्वमभूतपूर्वं वा जनपदं परदेशप्रवाहेण स्वदेशाभिष्यन्दवमनेन वा निवेशयेत्' इति ॥ २९ ॥

जो मथुरा श्रेष्ठ राजासे युक्त होनेके कारण प्रकाशशील पुरवासियोंके ऐश्वर्योंसे स्वर्गके अतिरिक्त लोगोंको लाकर बसायी गई के समान शोभती थी ॥ २९ ॥

तत्र सौधगतः पश्यन्यमुनां चक्रवाकिनीम् ।
हेमभक्तिमतीं भूमेः प्रवेणीमिव पिप्रिये ॥ ३० ॥

तत्रेति । तत्र मथुरायां सौधगतो हर्म्यस्थः स चक्रवाकिनीं चक्रवाकवतीं यमुनाम् । हेमभक्तिमतीं सुवर्णरचनावतीं भूमेः प्रवेणीं वेणीमिव । 'वेणिः प्रवेणी' इत्यमरः । पश्यन्पिप्रिये प्रीतः । 'प्रीङ् प्रीणने' इति धातोर्दैवादिकाल्लिट् ॥ ३० ॥

उस मथुरामें महलके ऊपर चढ़े हुए वे शत्रुघ्न चक्रवाक (चकवा) से युक्त यमुनाको पृथ्वीकी स्वर्णमयी रचनावाली चोटीके समान देखते हुए प्रसन्न हुए ॥ ३० ॥

सम्प्रति रामसन्तानवृत्तान्तमाह—

सखा दशरथस्यापि जनकस्य च मन्त्रकृत् ।
संचस्कारोभयप्रीत्या मैथिलेयौ यथाविधि ॥ ३१ ॥

सखेति । दशरथस्य जनकस्य च सखा मन्त्रकृन्मन्त्रद्रष्टा स वाल्मीकिरपि । 'सुकर्मपापमन्त्रपुण्येषु कृञ' इति क्विप् । उभयोर्दशरथजनकयो: प्रीत्या स्नेहेन मैथिलेयौ मैथिलीपुत्रौ यथाविधि यथाशास्त्र सञ्चस्कार संस्कृतवान् । जातकर्मादिभिरिति शेषः ॥ ३१ ॥

दशरथ तथा जनकके भी मित्र मन्त्रद्रष्टा (वाल्मीकि मुनि) ने दोनों (दशरथ और जनक) के प्रेमसे दोनों मैथिली-पुत्रोंका (देखें, श्लो० १३) विधिपूर्वक संस्कार किया ॥३१॥

स तौ कुशलवोन्मृष्टगर्भक्लेदौ तदाख्यया ।
कविः कुशलवावेव चकार किल नामतः ॥ ३२ ॥

स इति । स कविर्वाल्मीकि: कुशैर्दर्भैर्लवैर्गोपुच्छलोमभि: । 'लवो लवणकिञ्जल्कपक्ष्मगोपुच्छलोमसु' इति वैजयन्ती । उन्मृष्टो गर्भक्लेदो गर्भोपद्रवो ययोस्तौ कुशलवोन्मृष्टगर्भक्लेदौ मैथिलेयौ तेषां कुशानां च लवानां चाख्यया नामतो नाम्ना यथासंख्य कुशलवावेव चकार किल । कुशोन्मृष्ट कुश: । लवोन्मृष्टो लवः ॥ ३२ ॥

उस (आदि) कवि अर्थात् वाल्मीकिने, कुश तथा लव (गोपुच्छके रोएँ) से दूर किया गया है गर्भजन्य उपद्रव जिनका ऐसे उन दोनों (सीताके पुत्रों) का नाम उन (कुश तथा लव = गोपुच्छके रोएँ) के नाम पर 'कुश और लव' ही रखा । (आदि कवि वाल्मीकिने आश्रमसुलभ कुश तथा गोपुच्छके रोमोंसे सीताके पुत्रोंका गर्भजन्य उपद्रव नष्ट किया था, अत कुश तथा गोपुच्छरोमके नाम पर उन दोनों पुत्रोंका नाम भी 'कुश तथा लव' रखा) ॥ ३२ ॥

साङ्गं च वेदमध्याप्य किञ्चिदुत्क्रान्तशैशवौ ।
स्वकृतिं गापयामास कविप्रथमपद्धतिम् ॥ ३३ ॥

साङ्गमिति । किञ्चिदुत्क्रान्तशैशवावतिक्रान्तबाल्यौ तौ साङ्गं च वेदमध्याप्य कवीनां प्रथमपद्धतिम्, कवितावीजमित्यर्थ । स्वकृतिं काव्यं रामायणाख्यं गापयामास । गापयतेर्लिट्, शब्दकर्मकत्वात् 'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्ता स णौ' इत्यनेन द्विकर्मकत्वम् ॥ ३३ ॥

उनके बचपनके कुछ बीत जानेपर ६ अङ्गों[1] के सहित वेदको पढाकर कवियोंका सर्वप्रथम कवितावीजभूत अपनी रचना (रामायण) को उन दोनों से गान कराया ॥ ३३ ॥

रामस्य मधुरं वृत्तं गायन्तौ मातुरग्रत: ।
तद्वियोगव्यथां किञ्चिच्छिथिलीचक्रतुः सुतौ ॥ ३४ ॥

रामस्येति । तौ सुतौ रामस्य वृत्त मातुरग्रतो मधुरं गायन्तौ तद्वियोगव्यथां रामविरहवेदनां किञ्चिच्छिथिलीचक्रतु: लघूकृतवन्तौ ॥ ३४ ॥

---

१ तदुक्तम्—'शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं ज्योतिषां गति: ।
छन्दोविचितिरित्येतत्षडङ्गो वेद उच्यते ॥'

माता (सीता) के आगे रामकी मधुर कथाको गाते हुए उन दोनों पुत्रोंने उस (राम) के वियोगके दुःखको कुछ कम किया। (पुत्रोंसे गायी जाती हुई मधुर रामकथासे रामके विरहसे उत्पन्न सीताका दुःख कुछ कम हुआ) ॥ ३४ ॥

इतरेऽपि रघोर्वंश्यास्त्रयस्त्रेताऽग्नितेजसः ।
तद्योगात्पतिवत्नीषु पत्नीष्वासन् द्विसूनवः ॥ ३५ ॥

इतरेऽपीति । रघोर्वंश्या वंशे भवाः । त्रेतात्रयस्त्रेताग्नयः । तेषां तेज इव तेजो येषां ते त्रेताग्नितेजसः । इतरे रामादन्ये त्रयो भरतादयोऽपि तद्योगात्तेषां भरतादीनां सम्बन्धात्पतिवत्नीषु भर्तृमतीषु जीवत्पतिकासु, पत्नीष्वित्यर्थः। 'पतिवत्नी सभर्तृका' इत्यमरः। 'अन्तर्वत्पतिवतोर्नुक्' इति ङीप्नुगागमश्च । पत्नीषु द्विसूनव आसन् । द्वौ द्वौ सूनू येषां ते द्विसूनव इति विग्रहः । कथितसंख्याकत्वमूलं वृत्तिविषये वीप्सार्थत्वं सप्तपर्णादिवत् ॥ ३५ ॥

रघुवंशोत्पन्न तथा त्रेताग्निके समान तेजस्वी अन्य (भरत आदि तीनों) भी सौभाग्यवती पत्नियोंमें उन-उन (भरत आदि) के सम्बन्धसे दो-दो पुत्रवाले हुए। (भरत लक्ष्मण तथा शत्रुघ्नके भी दो-दो पुत्र हुए) ॥ ३५ ॥

शत्रुघातिनि शत्रुघ्नः सुबाहौ च बहुश्रुते ।
मधुराविदिशे सून्वोर्निदधे पूर्वजोत्सुकः ॥ ३६ ॥

शत्रुघ्नेति । पूर्वजोत्सुको ज्येष्ठमिलनोत्सुकः शत्रुघ्नो बहुश्रुते शत्रुघातिनि सुबाहौ च तन्नामकयोः सून्वोर्मधुरां च विदिशां च ते नगर्यौ निदधे । निक्षिप्य गत इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

बड़े भाईके लिये उत्कण्ठित शत्रुघ्नने शत्रुघातक 'सुबाहु' तथा 'बहुश्रुत' (नामक अपने) दो पुत्रोंको 'मधुरा' तथा 'विदिशा' (के राज्य) को दे दिया ॥ ३६ ॥

भूयस्तपोव्ययो मा भूद्वाल्मीकेरिति सोऽत्यगात् ।
मैथिलीतनयोद्गीतनिःस्पन्दमृगमाश्रमम् ॥ ३७ ॥

भूय इति । स शत्रुघ्नो मैथिलीतनययोः कुशलवयोरुद्गीतेन निःस्पन्दमृगं गीतश्रवणतया निश्चलहरिणं वाल्मीकेराश्रमम् । भूयः पुनरपि तपोव्ययः संविधानकरणार्थं तपोहानिर्मा भूदिति हेतोः अत्यगात् । अतिक्रम्य गत इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

वे शत्रुघ्न सीताके पुत्र (लव तथा कुश) के (रामचरित) गानसे शान्त पशुओंवाले वाल्मीकिके आश्रमको, 'तपस्यामें फिर बाधा न हो' इस कारण छोड़कर चले गये अर्थात् लौटते समय फिर तपोवन में न जाकर सीधे अयोध्या चले गये ॥ ३७ ॥

वशी विवेश चायोध्यां रथ्यासंस्कारशोभिनीम् ।
लवणस्य वधात्पौरैरीक्षितोऽत्यन्तगौरवम् ॥ ३८ ॥

वशीति । वशी स लवणस्य वधाद्धेतोः पौरैः पुरवासिभिरत्यन्तं गौरवं यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथेक्षितः सन् । रथ्यासंस्कारैस्तोरणादिभिः शोभते या तामयोध्यां विवेश च ॥ ३८ ॥

जितेन्द्रिय (उन शत्रुघ्न) ने लवणासुरके मारनेसे नागरिकों (अयोध्यावासियों) के द्वारा अत्यन्त गौरवपूर्वक देखे जाते हुए मार्गोंकी सजावटसे शोभित अयोध्यामें प्रवेश किया ॥३८॥

स ददर्श सभामध्ये सभासद्भिरुपस्थितम् ।
रामं सीतापरित्यागादसामान्यपतिं भुवः ॥ ३९ ॥

स इति । स शत्रुघ्नः सभामध्ये सभासद्भिः सभायां सीदन्ति ते तैः सभ्यैरुपस्थितं सेवितं सीतापरित्यागाद्भुवोऽसामान्यपतिमसाधारणपतिं रामं ददर्श ॥ ३९ ॥

उस शत्रुघ्नने सभाके बीचमें सभासदोंसे सेवित तथा सीताके परित्यागसे पृथ्वीके असाधारण पति रामको देखा (पहले रामजी सीता तथा पृथ्वी, इन दोनोंके पति थे, किन्तु सीताका त्यागकर देनेपर अब केवल पृथ्वी के ही पति रहे—ऐसे, सभासदोंसे सेवित सभाके मध्यमें विराजमान रामको शत्रुघ्नने देखा ॥ ३९ ॥

तमभ्यनन्दत्प्रणतं लवणान्तकमग्रजः ।
कालनेमिवधात्प्रीतस्तुराषाडिव शार्ङ्गिणम् ॥ ४० ॥

तमिति । अग्रजो रामो लवणस्यान्तकं हन्तारं प्रणतं तं शत्रुघ्नम् । कालनेमिर्नाम राक्षसः तस्य वधात्प्रीतः । तुरा वेगं सहत इति तुराषाडिन्द्रः । 'छन्दसि सहः' इति ण्विः । यद्वा सहतेर्णिचि कृते साह्यते क्विप् । 'अन्येषामपि दृश्यते' इति पूर्वपदस्य दीर्घं । 'सहेः साडः सः' इति षत्वम् । शार्ङ्गिणमुपेन्द्रमिव अभ्यनन्दत् ॥४०॥

बडे भाई (राम) ने नम्र तथा लवणासुरघातक (शत्रुघ्न) का प्रसन्न होते हुए उस प्रकार अभिनन्दन किया, जिस प्रकार कालनेमिके वधसे प्रसन्न (बडे भाई) इन्द्रने (छोटे भाई) विष्णु का अभिनन्दन किया था ('उपेन्द्र इन्द्रावरज ... ' इत्यादि कोश तथा पौराणिक वचनोंसे विष्णु इन्द्रके छोटे भाई माने जाते हैं) ॥ ४० ॥

स पृष्टः सर्वतो वार्तमाख्यद्राज्ञे न सन्ततिम् ।
प्रत्यर्पयिष्यतः काले कवेराद्यस्य शासनात् ॥ ४१ ॥

स इति । स शत्रुघ्नः पृष्टः सन् । सर्वतो वार्तं कुशलं राज्ञे रामायाख्यदाख्यातवान् । चक्षिङो लुङ् । 'चक्षिङः ख्याञ्' इति ख्याञादेशः । 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' इत्यङ् । 'आतो लोप इटि च' इत्याकारलोपः । ख्यातेर्वा लुङ् । सन्ततिं कुशलवोत्पत्तिं नाख्यत् । कुतः कालेऽवसरे प्रत्यर्पयिष्यतः आद्यस्य कवेर्वाल्मीकेः शासनात् ॥ ४१ ॥

पूछे जानेपर उस शत्रुघ्नने राजा (राम) से सब कुशल कहा, किन्तु भविष्यमें (बालकोंको) समर्पण करनेवाले कवि (वाल्मीकि मुनि) की आज्ञासे (सीताकी) सन्तान (के समाचार) को नहीं कहा ॥ ४१ ॥

अथ जानपदो विप्रः शिशुमप्राप्तयौवनम् ।
अवतार्याङ्कशय्यास्थं द्वारि चक्रन्द भूपतेः ॥ ४२ ॥

अथेति। अथ जनपदे भवो जानपदो विप्रः। कश्चिदिति शेषः। अप्राप्तयौवनं शिशुम्। मृतमिति शेषः। भूपते रामस्य द्वार्यङ्कशय्यास्थं यथा तथाऽवतार्याङ्कशय्यायास्थमवतार्य चक्रन्द मुक्रोश॥ ४२॥

इसके बाद राज्यनिवासी ब्राह्मण युवावस्थाको नहीं पाये हुए बालक (मृतपुत्र) को राजद्वारपर गोदमें रखकर चिल्लाकर रोने लगा॥ ४२॥

शोचनीयाऽसि वसुधे या त्वं दशरथाच्च्युता।
रामहस्तमनुप्राप्य कष्टात् कष्टतरं गता॥ ४३॥

शोचनीयेति। हे वसुधे! दशरथाच्च्युता भ्रष्टा या त्वं रामहस्तमनुप्राप्य कष्टात् कष्टतरं गता सती शोचनीयाऽसि॥ ४३॥

हे पृथ्वी! तुम शोचनीय हो, जो (तुम) दशरथसे हीन होकर राम के हाथमें पड़कर अधिकसे अधिक कष्टको प्राप्त हुई हो॥ ४३॥

श्रुत्वा तस्य शुचो हेतुं गोप्ता जिह्राय राघवः।
न ह्यकालभवो मृत्युरिक्ष्वाकुपदमस्पृशत्॥ ४४॥

श्रुत्वेति। गोप्ता रक्षको राघवस्तस्य विप्रस्य शुचः शोकस्य हेतुं कारणं श्रुत्वा जिह्राय लज्जितः। कुतः। हि यस्मादकालभवः असामयिको मृत्युरिक्ष्वाकूणां पदं राष्ट्रं नास्पृशत्। इक्ष्वाकुषु जीवत्सु पर्यायेण न म्रियते इत्यर्थः॥ ४४॥

रक्षक अर्थात् राजा राम उस (ब्राह्मण) के शोकका कारण (बालककी मृत्यु) सुनकर लज्जित हुए, क्योंकि इक्ष्वाकुवंशियोंके राज्यमें अकालमृत्यु नहीं होती है, अर्थात् उनके जीवित रहते हुए या बालककी मृत्यु कभी नहीं होती॥ ४४॥

स मुहूर्तं क्षमस्वेति द्विजमाश्वास्य दुःखितम्।
यानं सस्मार कौबेरं वैवस्वतजिगीषया॥ ४५॥

स इति। स रामो दुःखितं द्विजं मुहूर्तं क्षमस्वेत्याश्वास्य वैवस्वतस्यान्तकस्य जिगीषया जेतुमिच्छया कौबेरं यानं पुष्पकं सस्मार॥ ४५॥

उस रामने 'मुहूर्तमात्र क्षमा करो' इस प्रकार दुःखित ब्राह्मणको आश्वासन देकर यमराजको जीतनेकी इच्छासे कुबेरके विमान (पुष्पक विमान) का स्मरण किया॥ ४५॥

आत्तशस्त्रस्तदध्यास्य प्रस्थितः स रघूद्वहः।
उच्चचार पुरस्तस्य गूढरूपा सरस्वती॥ ४६॥

आत्तेति। रघूद्वहो राम आत्तशस्त्रः सन् तत्पुष्पकमध्यास्य प्रस्थितः। अथ तस्य पुरो गूढरूपा सरस्वत्यशरीरा वागुच्चचारोदभूत्॥ ४६॥

शस्त्रधारी वे रघुश्रेष्ठ राम उस (पुष्पक विमान) पर सवार होकर चले, (उस समय) उनके सामने आकाशवाणी हुई॥ ४६॥

राजन्प्रजासु ते कश्चिदपचारः प्रवर्तते ।
तमन्विष्य प्रशमयेर्भवितासि ततः कृती ॥ ४७ ॥

राजन्निति । हे राजन् । ते प्रजासु कश्चिदपचारो वर्णधर्मव्यतिकरः प्रवर्तते । तमपचारमन्विष्य प्रशमये । ततः कृती कृतकृत्यो भवितासि भविष्यसि ॥ ४७ ॥

हे राजन् ! तुम्हारी प्रजाओंमें कोई हीनाचरण (वर्णाश्रम धर्मके प्रतिकूल व्यवहार) हो रहा है, उसे पता लगाकर नष्ट करो, तब (तुम) सफल होवोगे' ॥ ४७ ॥

इत्याप्तवचनाद्रामो विनेष्यन्वर्णविक्रियाम् ।
दिशः पपात पत्त्रेण वेगनिष्कम्पकेतुना ॥ ४८ ॥

इतीति । इत्याप्तवचनाद्रामो वर्णविक्रियां वर्णापचारं विनेष्यन्नपनेष्यन् वेगेन निष्कम्पकेतुना पत्त्रेण वाहनेन पुष्पकेण । 'पत्त्रं वाहनपक्षयोः' इत्यमरः । दिशः पपात धावति स्म ॥ ४८ ॥

इस वर्ण विकार (वर्णाश्रम धर्मके प्रतिकूल व्यवहार) को भविष्यमें दूर करनेवाले राम वेगसे कम्पनरहित पताकावाले (पुष्पक) विमानसे दिशाओंको दौड़े (सब दिशाओंमें पता लगानेके लिए चल पड़े) ॥ ४८ ॥

अथ धूमाभिताम्राक्षं वृक्षशाखाऽवलम्बिनम् ।
ददर्श कश्चिदैक्ष्वाकुस्तपस्यन्तमधोमुखम् ॥ ४९ ॥

अथेति । अथेक्ष्वाकुवंशप्रभवे ऐक्ष्वाको रामः । 'कोपधादण्' इत्यणि कृते 'दाण्डिनायन—' इत्यादिनोकारलोपनिपातः । धूमेन पीयमानेनाभिताम्राक्षं वृक्षशाखाऽवलम्बिनमधोमुखं तपस्यन्तं तपश्चरन्तं कञ्चित्पुरुषं ददर्श ॥ ४९ ॥

इसके बाद इक्ष्वाकुवंशी रामने धूम्रपानसे लाल आँखोंवाले, वृक्षकी डालसे लटकते हुए और नीचे मुखकर तपस्या करते हुए किसी (पुरुष) को देखा ॥ ४९ ॥

पृष्टनामान्वयो राज्ञा स किलाचष्ट धूमपः ।
आत्मानं शम्बुकं नाम शूद्रं सुरपदार्थिनम् ॥ ५० ॥

पृष्टेति । राज्ञा नाम चान्वयश्च तौ पृष्टौ नामान्वयौ यस्य स तथोक्तः । धूमं पिबतीति धूमपः । 'सुपि' इति योगविभागात्कप्रत्ययः । स पुरुषः आत्मानं सुरपदार्थिनं स्वर्गार्थिनम् । अनेन प्रयोजनमपि पृष्टमिति ज्ञेयम् । शम्बुकं नाम शूद्रमाचष्ट बभाषे किल ॥ ५० ॥

राजाके द्वारा नाम तथा वंशके पूछनेपर उस धूम्रपानकर्ता (पुरुष) ने अपनेको स्वर्गाभिलाषी शम्बुक नामक शूद्र बतलाया ॥ ५० ॥

तपस्यनधिकारित्वात्प्रजानां तमघावहम् ।
शीर्षच्छेद्यं परिच्छिद्य नियन्ता शस्त्रमाददे ॥ ५१ ॥

तपस्यन्तमिति। [illegible] धूमपं तं शूद्रं [illegible]। 'शरीरस्येऽधोमुखं' इति [illegible]। पप्रच्छ [illegible] ॥ ५१ ॥

तपस्याके अधिकारी नहीं होनेसे [illegible] धूम पीते हुए [illegible] (उसे मारनेके लिए) [illegible] (राम) ने [illegible] प्रश्न किया ॥ ५१ ॥

स तद्वक्त्रं हिमक्लिष्टकिञ्जल्कमिव पङ्कजम् ।
ज्योतिष्कणाहतश्मश्रु कण्ठनालादपातयत् ॥ ५२ ॥

स इति। स रामो ज्योतिष्कणैः स्फुलिङ्गैराहतानि दग्धानि श्मश्रूणि यस्य तत्तथोक्तं तस्य वक्त्रम्। हिमक्लिष्टकिञ्जल्कं पङ्कजमिव। कण्ठ एव नालं तस्मादपातयत् ॥ ५२ ॥

उस रामने (धूम पान करने के कारण) जिसकी दाढ़ी जल गई है ऐसे [illegible] (शम्बूक नामक शूद्र) के मुखको हिम (पाला) से मारे हुए केसरवाले कमलके समान, कण्ठरूपी नालसे गिरा दिया अर्थात् उसका सिर धड़से अलग कर दिया ॥ ५२ ॥

कृतदण्डः स्वयं राज्ञा लेभे शूद्रः सतां गतिम् ।
तपसा दुश्चरेणापि न स्वमार्गविलङ्घिना ॥ ५३ ॥

कृतदण्ड इति। शूद्रः शम्बूको राज्ञा स्वयं कृतदण्डः कृतशिक्षः सन्। सतां गतिं लेभे। दुश्चरेणापि स्वमार्गविलङ्घिना, अनधिकारदुष्टेनेत्यर्थः। तपसा न लेभे। अत आहुः—'राजभिः कृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः। निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा' इति ॥ ५३ ॥

स्वयं राजाके द्वारा दण्डित वह शूद्र सज्जनोंकी गतिको प्राप्त हुआ (किन्तु) अपने मार्ग (वर्णाश्रमाचार) के विरोधी कठिन तपसे भी सद्गतिको नहीं प्राप्त किया ॥ ५३ ॥

रघुनाथोऽप्यगस्त्येन मार्गसंदर्शितात्मना ।
महौजसा संयुयुजे शरत्काल इवेन्दुना ॥ ५४ ॥

रघुनाथ इति। रघुनाथोऽपि मार्गसंदर्शितात्मना महौजसागस्त्येन। इन्दुना शरत्काल इव संयुयुजे संगतः। इन्दावपि विशेषणं योज्यम्। रघुनाथेन्दू [illegible] [illegible] ॥ ५४ ॥

राम भी मार्गमें दर्शन दिए हुए महातेजस्वी अगस्त्यजीसे शरत्कालमें चन्द्रमाके समान मिले ॥ ५४ ॥

कुम्भयोनिरलंकारं तस्मै दिव्यपरिग्रहम् ।
ददौ दत्तं समुद्रेण पीतेनेवात्मनिष्क्रयम् ॥ ५५ ॥

कुम्भेति। कुम्भयोनिरगस्त्यः पीतेन समुद्रेणात्मनिष्क्रयमिवात्ममोचनमूल्यमिव दत्तम्। अत एव परिगृह्यत इति व्युत्पत्त्या दिव्यपरिग्रहं, दिव्यानां परिग्राह्यमित्यर्थः। तमलंकारं तस्मै रामाय ददौ ॥ ५५ ॥

अगस्त्यजीने पीतपूर्व (पहले पीये गये) समुद्रके द्वारा अपने छुटकारा के बदलेमें दिये गये देवताओंके ग्रहण करने योग्य अलङ्कारको रामके लिये दिया ॥ ५५ ॥

तं दधन्मैथिलीकण्ठनिर्व्यापारेण बाहुना ।
पश्चान्निववृते रामः प्राक्परासुर्द्विजात्मजः ॥ ५६ ॥

तमिति । मैथिली कण्ठनिर्व्यापारेण आलिङ्गनरहितेन बहुना तमलङ्कार दधद्राम पश्चान्निववृते निवृत्त । परासुर्मृतो द्विजात्मज प्राग्रामात्पूर्वं निववृते ॥ ५६ ॥

सीताके कण्ठके व्यापारसे रहित (सीताका त्यागकर देनेसे उसके कण्ठका आलिङ्गन नहीं करनेवाले) बाहु से उस (अगस्त्यजीके दिये हुए अलङ्कार) को धारण करते हुये राम पीछे लौटे और मरा हुआ ब्राह्मणका पुत्र पहले लौटा (रामके वापस आनेके पहले ही ब्राह्मणका मरा हुआ पुत्र जी गया) ॥ ६५ ॥

तस्य पूर्वोदितां निन्दां द्विजः पुत्रसमागतः ।
स्तुत्या निवर्तयामास त्रातुर्वैवस्वतादपि ॥ ५७ ॥

तस्येति । पुत्रसमागत. पुत्रेण सङ्गतो द्विजो वैवस्वतादन्तकादपि त्रातू रक्षकस्य । "भीत्रार्थानां भयहेतु ' इत्यपादानात्पञ्चमी । तस्य रामस्य पूर्वोदितां पूर्वोक्ता निन्दां स्तुत्या निवर्तयामास ॥ ५७ ॥

पुत्रसे मिला हुआ वह ब्राह्मण पहले की गयी (देखें-श्लोक ४३) उन (राम) की निन्दाको यमराजसे भी बचानेवाले रामकी स्तुतिसे दूर किया । (पुत्रके जीवित हो जानेपर ब्राह्मणने रामजी की बहुत स्तुति करके पहले जो राम की निन्दा (देखें श्लोक ४३) की थी, उसका परिमार्जन किया) ॥ ५७ ॥

तमध्वराय मुक्ताश्वं रक्षःकपिनरेश्वराः ।
मेघाः सस्यमिवाम्भोभिरभ्यवर्षन्नुपायनैः ॥ ५८ ॥

तमिति । अध्वरायाश्वमेधाय मुक्ताश्व त राम रक्षःकपिनरेश्वरा सुग्रीवविभीषणाद्यो राजानश्च मेघा अम्भोभि. सस्यमिव उपायनैरभ्यवर्षन् ॥ ५८ ॥

(अश्वमेध) यज्ञके लिये घोड़ा छोडे हुए उस रामको राक्षस (विभीषण आदि), वानर (सुग्रीव आदि) और राजाओं (भारतवासी अन्य नरेन्द्रों) ने उस प्रकार भेंट दिये, जिस प्रकार मेघ धान्यको जल देता है ॥ ५८ ॥

दिग्भ्यो निमन्त्रिताश्चैनमभिजग्मुर्महर्षयः ।
न भौमान्येव धिष्ण्यानि हित्वा ज्योतिर्मयान्यपि ॥ ५९ ॥

दिग्भ्य इति । निमन्त्रिता आहूता महर्षयश्च भूम्या सम्बन्धीनि भौमानि धिष्ण्यानि स्थानान्येव न । 'धिष्ण्य स्थाने गृहे भेऽग्नौ' इत्यमर । किन्तु ज्योतिर्मयानि नक्षत्ररूपाणि धिष्ण्यान्यपि हित्वा दिग्भ्य पुन राममभिजग्मु ॥ ५९ ॥

(रामके द्वारा) निमन्त्रित महर्षिलोग केवल भूमिस्थित निवास-स्थानोंको ही छोड़कर

नाना दिशाओंसे रामके पास नहीं आये किन्तु दिव्य निवास-स्थानोंको भी छोड़कर नाना दिशाओंसे रामके पास आये ॥ ५९ ॥

उपशल्यनिविष्टैस्तैश्चतुर्द्वारमुखी बभौ ।
अयोध्या सृष्टलोकेव सद्यः पैतामही तनुः ॥ ६० ॥

उपशल्येति । चत्वारि द्वाराण्येव मुखानि यस्याः सा चतुर्द्वारमुखी अयोध्या । उपशल्येषु ग्रामान्तेषु निविष्टैः । 'ग्रामान्त उपशल्यं स्यात्' इत्यमरः । तैर्महर्षिभिः । सद्यः सृष्टलोका पितामहस्येयं पैतामही तनुर्मूर्तिरिव बभौ ॥ ६० ॥

चार द्वाररूपी चार मुखवाली वह अयोध्या-पुरी ग्रामान्तमें ठहरे हुए उन महर्षियोंसे तत्काल लोकसृष्टि करनेवाले (चतुर्मुखवाले) ब्रह्माके शरीरके समान शोभित होने लगी।

श्लाघ्यस्त्यागोऽपि वैदेह्याः पत्युः प्राग्वंशवासिनः ।
अनन्यजानेः सैवासीद्यस्माज्जाया हिरण्मयी ॥ ६१ ॥

श्लाघ्य इति । वैदेह्यास्त्यागोऽपि श्लाघ्यो वर्ण्य एव । कुतः । यस्मात् । प्राग्वंशः प्राचीनवंशो यजमानगृहविशेषस्तद्वासिनः । नास्त्यन्या जाया यस्य तस्यानन्यजानेः । 'जायाया निङ्' इति समासान्तो निङादेशः । पत्युः रामस्य हिरण्मयी सीतैव । 'दाण्डिनायन०' इत्यादिसूत्रेण निपातः । सा सीतैव जाया पत्न्यासीत् । अभि-मानमेतत् ॥ ६१ ॥

सीताका त्याग भी प्रशंसनीय था, क्योंकि यज्ञशालामें स्थित एकपत्नीव्रतवाले (राम) की सुवर्णनिर्मित वही (सीता ही) स्त्री थी। (सीताका त्यागकर रामने दूसरा विवाह नहीं किया और यज्ञमें सुवर्णनिर्मित सीताकी प्रतिमाको ही अपनी सहधर्मिणीके स्थानमें रखकर यज्ञको पूर्ण किया) ॥ ६१ ॥

विधेरधिकसम्भारस्ततः प्रववृते मखः ।
आसन्यत्र क्रियाविघ्ना राक्षसा एव रक्षिणः ॥ ६२ ॥

विधेरिति । ततो विधेः शास्त्रादधिकसम्भारोऽतिरिक्तसामग्रीको मखः प्रववृते प्रवृत्तः । यत्र मखे विघ्नन्तीति विघ्नाः । 'कर्मण्यनुपसर्गे' इति कः । क्रियाविघ्ना यज्ञविघातका राक्षसा एव रक्षिणो रक्षका आसन् ॥

इसके बाद शास्त्र-विहित विधिसे अधिक सामानवाला यज्ञारम्भ हुआ, जिस यज्ञमें विघ्न करनेवाले राक्षस ही रक्षक थे (तो फिर उस यज्ञके निर्विघ्न पूर्ण होनेमें क्या सन्देह हो सकता है) ॥ ६२ ॥

अथ प्राचेतसोपज्ञं रामायणमितस्ततः ।
मैथिलेयौ कुशलवौ जगतुर्गुरुचोदितौ ॥ ६३ ॥

अथेति । अथ मैथिलेयौ मैथिलीतनयौ । 'स्त्रीभ्यो ढक्' । कुशलवौ गुरुणा वाल्मीकिना चोदितौ प्रेरितौ सन्तौ । प्राचेतसो वाल्मीकिः । उपज्ञायत इत्युपज्ञा ।

'आतश्चोपसर्गे' इति कर्मण्यङ्प्रत्ययः। प्राचेतसस्योपज्ञा प्राचेतसोपज्ञम्। प्राचेतःसेनादौ ज्ञातमित्यर्थः। 'उपज्ञा ज्ञानमाद्यं स्यात्' इत्यमरः। 'उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम्' इति नपुंसकत्वम्। अय्यते ज्ञायतेऽनेनेत्ययनः, रामस्यायनं चरितं रामायणं रामायणाख्यं काव्यम्। 'पूर्वपदात्संज्ञायामगः' इति णत्वम्। उत्तरायणमितिवत्। इतस्ततो जगतुः। गायतेर्लिट्॥ ६३॥

इसके बाद गुरु (वाल्मीकि मुनि) की आज्ञासे सीताके पुत्र कुश तथा लव वाल्मीकि मुनि की प्रथम रचना रामायणको इधर उधर गाने लगे॥ ६३॥

वृत्तं रामस्य वाल्मीकेः कृतिस्तौ किन्नरस्वनौ।
किं तद्येन मनो हर्तुमलं स्यातां न शृण्वताम्॥ ६४॥

वृत्तमिति। रामस्य वृत्तं वर्ण्यम्। वस्त्विति शेषः। वाल्मीकेः कृतिः काव्यम्, गेयमिति शेषः। तौ कुशलवौ किन्नरस्वनौ किन्नरकण्ठौ गायकौ, पुनरिति शेषः। अत एव तत्किं येन निमित्तेन तौ शृण्वतां मनो हर्तुमलं शक्तौ न स्याताम्? सर्वं सरसमित्यर्थः॥ ६४॥

(एक तो) रामका चरितरूप वस्तु (दूसरे) वाल्मीकि मुनिकी रचनारूप गान और (फिर) किन्नरके समान मधुर कण्ठध्वनिवाले वे दोनों (कुश तथा लवरूप) गायक, (अतएव), वह क्या वस्तु थी, जो वे दोनों (कुश तथा लव) सुननेवालोंके मनको हरण करनेके लिये पर्याप्त (पूर्णतया समर्थ) नहीं होते। (सुन्दर रामका चरित, वाल्मीकि मुनिकी रचनारूपी उत्तम गान तथा किन्नरतुल्य मधुर कण्ठध्वनिवाले वे दोनों गायक—इन सब साधनोंके एकसे एकके उत्तम होनेसे उन दोनों ने सुननेवालोंके मनको हरण कर लिया)॥

रूपे गीते च माधुर्यं तयोस्तज्ज्ञैर्निवेदितम्।
ददर्श सानुजो रामः शुश्राव च कुतूहली॥ ६५॥

रूप इति। ते जानन्तीति तज्ज्ञाः। तैस्तज्ज्ञैरभिज्ञैर्निवेदितं तयोः कुशलवयोः रूपे आकारे गीते च माधुर्यं रामणीयकं सानुजो रामः कुतूहली सानन्दः सन् यथासंख्यं ददर्श शुश्राव च॥ ६५॥

उनके जानकारोंसे बतलाये गये, उन दोनोंके रूप (शरीर-सौन्दर्य) तथा गानकी मधुरताको छोटे भाइयोंके साथ कौतूहलयुक्त रामने (क्रमसे) देखा और सुना॥ ६५॥

तद्गीतश्रवणैकाग्रा संसदश्रुमुखी बभौ।
हिमनिष्यन्दिनी प्रातर्निर्वातेव वनस्थली॥ ६६॥

तदिति। तयोर्गीतश्रवणे एकाग्रसक्ताश्रुमुखी। आनन्दादिति भावः। संसत्सभा प्रातर्हिमनिष्यन्दिनी निर्वाता वातरहिता वनस्थलीव। बभौ शुशुभे। आनन्दपारवश्यान्निष्पन्दमास्त इत्यर्थः॥ ६६॥

उन दोनोंके गानको सुननेमें आसक्त और (सीताके स्मरणसे) आँसुओंको गिराती

हुई सभा प्रातःकालमें हिमपात करती हुई वायुरहित वनस्थलीके समान शोभित हुई ॥ ६६ ॥

वयोवेशविसंवादि रामस्य च तयोस्तदा ।
जनता प्रेक्ष्य सादृश्यं नाक्षिकम्पं व्यतिष्ठत ॥ ६७ ॥

वय इति । जनता जनानां समूहः । 'ग्रामजनबन्धुसहायेभ्यस्तल्' इति तल्प्रत्ययः । वयोवेषाभ्यामेव विसंवादि विसदृशं तदा तयोः कुमारयोः रामस्य च सादृश्यं प्रेक्ष्य । नास्त्यक्षिकम्पो यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा । नञर्थस्य नशब्दस्य बहुव्रीहिः । व्यतिष्ठत । 'समवप्रविभ्यः स्थः' इत्यात्मनेपदम् । विस्मयादनिमेषमद्राक्षीदित्यर्थः ॥ ६७ ॥

उस समय जनता अवस्था तथा वेषसे विलक्षण रामकी तथा उन दोनों (कुश तथा लव) की समानताको देखकर निमेषसे रहित होकर स्थित हुई अर्थात् राम तथा उन दोनों की समानताको एकटक देखती रही ॥ ६७ ॥

उभयोर्न तथा लोकः प्रावीण्येन विसिष्मिये ।
नृपतेः प्रीतिदानेषु वीतस्पृहतया यथा ॥ ६८ ॥

उभयोरिति । लोको जन उभयोः कुमारयोः प्रावीण्येन नैपुण्येन तथा न विसिष्मिये न विस्मितवान्, यथा नृपतेः प्रीतिदानेषु वीतस्पृहतया वैस्पृह्येन विसिष्मिये ॥

लोग उन दोनों (कुश तथा लव) की निपुणतासे वैसा आश्चर्यित नहीं हुए, जैसा राजा (राम) के प्रीतिदानोंमें निःस्पृह भावसे आश्चर्यित हुए ॥ ६८ ॥

गेये को नु विनेता वां कस्य चेयं कृतिः कवेः ।
इति राज्ञा स्वयं पृष्टौ तौ वाल्मीकिमशंसताम् ॥ ६९ ॥

गेय इति । गेये गीते को नु वां युवयोर्विनेता शिक्षकः । नु इति प्रश्ने । 'नु पृच्छायां वितर्के च' इत्यमरः । इयं च कस्य कवेः कृतिरिति राज्ञा स्वयं पृष्टौ तौ कुमारौ वाल्मीकिमशंसतामुक्तवन्तौ विनेतारं कविं चेत्यर्थः । 'गेये केन विनीतौ वाम्' इति पाठे वामिति युष्मदर्थप्रतिपादकमव्ययम् । तथा वामनः— केन पुंसा वां युवां गेये गीतविषये विनीतौ शिक्षितौ । कर्मणि निष्ठाप्रत्ययः ॥ ६९ ॥

'तुम दोनोंको किसने गाना सिखलाया है तथा यह रचना किस कविकी है?' ऐसा राजाके पूछनेपर उन दोनोंने वाल्मीकिको बतलाया ॥ ६९ ॥

अथ सावरजो रामः प्राचेतसमुपेयिवान् ।
ऊरीकृत्यात्मनो देहं राज्यमस्मै न्यवेदयत् ॥ ७० ॥

अथेति । अथ सावरजो रामः प्राचेतसं वाल्मीकिमुपेयिवानुपगतः सन् । देहमात्मानम् ऊरीकृत्य आत्मार्थं स्थापयित्वेत्यर्थः । राज्यमस्मै प्राचेतसाय न्यवेदयत्समर्पितवान् ॥ ७० ॥

इसके बाद छोटे भाइयोंके सहित रामने वाल्मीकिके पास जाकर अपनी आत्माका स्थापनकर राज्यको इस वाल्मीकि मुनिके लिये समर्पित कर दिया ॥ ७० ॥

स तावाख्याय रामाय मैथिलेयौ तदात्मजौ ।
कविः कारुणिको वव्रे सीतायाः सम्परिग्रहम् ॥ ७१ ॥

स इति । करुणा प्रयोजनमस्य कारुणिको दयालुः । 'प्रयोजनम्' इति ठञ् । 'स्याद्दयालुः कारुणिकः' इत्यमरः । स कवी रामाय मैथिलेयौ तदात्मजौ रामसुतावाख्याय सीतायाः सम्परिग्रहं स्वीकारं वव्रे ययाचे ॥ ७१ ॥

दयालु कवि (आदिकवि वाल्मीकि मुनि) ने मैथिलीकुमार उन दोनोंको रामके पुत्र बतलाकर रामसे सीताको स्वीकार करनेके लिये याचना की ॥ ७१ ॥

तात शुद्धा समक्षं नः स्नुषा ते जातवेदसि ।
दौरात्म्याद्रक्षसस्तां तु नात्रत्याः श्रद्दधुः प्रजाः ॥ ७२ ॥

तातेति । हे तात ! ते स्नुषा सीता नोऽस्माकमक्ष्णोः समीपं समक्षम् । 'अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः' इति समासान्तष्टच् । जातवेदसि वह्नौ शुद्धा, नास्माकमविश्वास इत्यर्थः । किन्तु रक्षसो रावणस्य दौरात्म्यादत्रत्याः प्रजास्तां न श्रद्दधुर्न विशश्वसुः ॥ ७२ ॥

'हे तात ! आपकी स्नुषा (पुत्रवधूसमा सीता) हमारे सामने अग्निमें शुद्ध हुई है । (अतएव हमें इसके ऊपर अविश्वास नहीं है, किन्तु) यहाँ की प्रजाओंने रावणकी दुष्टतासे (उस अग्निशुद्धिपर) विश्वास नहीं किया ॥ ७२ ॥

ताः स्वचारित्रमुद्दिश्य प्रत्याययतु मैथिली ।
ततः पुत्रवतीमेनां प्रतिपत्स्ये त्वदाज्ञया ॥ ७३ ॥

ता इति । मैथिली स्वचारित्रमुद्दिश्य ताः प्रजाः प्रत्याययतु विश्वासयतु । विश्वासस्य बुद्धिरूपत्वात् 'णौ गमिरबोधने' इति इणो गम्यादेशो नास्ति । ततोऽनन्तरं पुत्रवतीमेनां सीतां त्वदाज्ञया प्रतिपत्स्ये स्वीकरिष्ये ॥ ७३ ॥

(अतएव यह) अपने चरित्र (सदाचार) का लक्ष्यकर उन प्रजाओंको विश्वास दिलावे, तब मैं पुत्र सहित इस (सीता) को आपकी आज्ञासे स्वीकार करूँगा ॥ ७३ ॥

इति प्रतिश्रुते राज्ञा जानकीमाश्रमान्मुनिः ।
शिष्यैरानाययामास स्वसिद्धिं नियमैरिव ॥ ७४ ॥

इतीति । राज्ञेति प्रतिश्रुते प्रतिज्ञाते सति मुनिराश्रमाज्जानकीं शिष्यैः प्रयोज्यैः स्वसिद्धिं स्वार्थसिद्धिं नियमैस्तपोभिरिव आनाययामास ॥ ७४ ॥

ऐसा (७२–७३ श्लोकोक्त रीति से) राजा (राम) के प्रतिज्ञा करनेपर मुनिने तपस्याओंसे अपनी सिद्धिके समान सीताको शिष्योंसे बुलवाया ॥ ७४ ॥

अन्येद्युरथ काकुत्स्थः संनिपात्य पुरौकसः।
कविमाह्वाययामास प्रस्तुतप्रतिपत्तये॥ ७५॥

अन्येद्युरिति। अथ काकुत्स्थो रामः। अन्येद्युरन्यस्मिन्नहनि प्रस्तुतप्रतिपत्तये प्रकृतकार्यानुसन्धानाय पुरौकसः पौरान् संनिपात्य मेलयित्वा कविं वाल्मीकिमाह्वाययामासाकारयामास॥ ७५॥

इसके बाद रामने दूसरे दिन उपस्थित कार्यकी सिद्धिके लिये पुरवासियोंको एकत्रितकर कवि (वाल्मीकि) को बुलवाया॥ ७५॥

स्वरसंस्कारवत्यासौ पुत्राभ्यामथ सीतया।
ऋचेवोदर्चिषं सूर्यं रामं मुनिरुपस्थितः॥ ७६॥

स्वरेति। अथ स्वर उदात्तादिः। संस्कारः शब्दशुद्धिः तद्वत्या ऋचा सावित्र्योदर्चिषं सूर्यमिव पुत्राभ्यामुपलक्षितया सीतया ऋचेवोदर्चिषं राममसौ मुनिरुपस्थित उपतस्थे॥ ७६॥

(उदात्त आदि) स्वरसे शुद्धिसे युक्त ऋचा (सावित्री) से तेजस्वी सूर्यके समान, पुत्रयुक्त सीतासे तेजस्वी रामके पास वाल्मीकि मुनि उपस्थित हुए॥ ७६॥

काषायपरिवीतेन स्वपदार्पितचक्षुषा।
अन्वमीयत शुद्धेति शान्तेन वपुषैव सा॥ ७७॥

काषायेति। कषायेण रक्तं काषायम्। 'तेन रक्तं रागात्' इत्यण्। तेन परिवीतेन संवृतेन स्वपदार्पितचक्षुषा शान्तेन प्रसन्नेन वपुषैव सा सीता शुद्धा साध्वीत्यन्वमीयतानुमिता॥ ७७॥

गेरुआ वस्त्र पहने हुए अपने पैरपर दृष्टि लगाये हुए शान्त शरीरसे ही 'यह (सीता) शुद्ध है' ऐसा अनुमान (लोगोंको ज्ञात) हुआ॥ ७७॥

जनास्तदालोकपथात्प्रतिसंहृतचक्षुषः।
तस्थुस्तेऽवाङ्मुखाः सर्वे फलिता इव शालयः॥ ७८॥

जना इति। तस्याः सीतायाः कर्मण आलोकपथाद्दर्शनमार्गात्प्रतिसंहृतचक्षुषो निवर्तितदृष्टयः सर्वे जनाः फलिताः शालय इव अवाङ्मुखा अवनतमुखास्तस्थुः॥

सीताको देखनेसे अपनी दृष्टिको हटाये हुए सब लोगोंने पके हुए धानके समान (नीचे-नीचे) मुखको नीचे कर लिया॥ ७८॥

तां दृष्टिविषये भर्तुर्मुनिरास्थितविष्टरः।
कुरु निःसंशयं वत्से स्ववृत्ते लोकमित्यशात्॥ ७९॥

तामिति। आस्थितविष्टरोऽधिष्ठितासनो मुनिः हे वत्से! भर्तुर्दृष्टिविषये समक्षं स्ववृत्ते स्वचरिते विषये लोकं निःसंशयं कुरु। इति तां सीतामशास्ति स्म॥ ७९॥

— आसनपर बैठे हुए मुनिने 'हे वत्से ! पति (राम) के सामने अपने सदाचारके विषयमें लोगोंको सन्देहरहित करो' ऐसा सीतासे कहा ॥ ७९ ॥

अथ वाल्मीकिशिष्येण पुण्यमावर्जितं पयः।
आचम्योदीरयामास सीता सत्यां सरस्वतीम् ॥ ८० ॥

अथेति । अथ वाल्मीकिशिष्येणावर्जितं दत्तं पुण्यं पूतं पयो जलमाचम्य सीता सत्यां सरस्वतीं वाचमुदीरयामासोच्चारयामास ॥ ८० ॥

इसके बाद वाल्मीकिके शिष्यके द्वारा दिये गये पवित्र जलसे आचमनकर सीताने सत्य वचन कहा—॥ ८० ॥

वाङ्मनःकर्मभिः पत्यौ व्यभिचारो यथा न मे।
तथा विश्वम्भरे देवि मामन्तर्धातुमर्हसि ॥ ८१ ॥

वागिति । वाङ्मनःकर्मभिः पत्यौ विषये मे व्यभिचारः स्खालित्यं न यथा नास्ति यदि तथा तर्हि । विश्वं बिभर्तीति विश्वम्भरा भूमिः । 'सञ्ज्ञायां भृतृ—' इत्यादिना खच्प्रत्ययः । 'अरुर्द्विषद्—' इत्यादिना मुमागमः । हे विश्वम्भरे देवि ! मामन्तर्धातुं गर्भे वासयितुमर्हसि ॥ ८१ ॥

वचन, मन और कर्मसे पतिके विषयमें यदि मैं स्खलित नहीं हुई हूँ, तब हे मात (वसुन्धरे) मुझे अन्तर्हित कर लो अर्थात् अपने भीतर मुझे समा लो ॥ ८१ ॥

एवमुक्ते तया साध्व्या रन्ध्रात्सद्योभवाद् भुवः।
शातह्रदमिव ज्योतिः प्रभामण्डलमुद्ययौ ॥ ८२ ॥

एवमिति । साध्व्या पतिव्रतया तया सीतयैवमुक्ते सति सद्योभवाद् भुवो रन्ध्राच्छातह्रदं वैद्युतं ज्योतिरिव प्रभामण्डलमुद्ययौ ॥ ८२ ॥

पतिव्रता सीताके ऐसा कहनेपर तत्काल फटती हुई पृथ्वीसे बिजुलीके समान प्रभासमूह ऊपर निकला ॥ ८२ ॥

तत्र नागफणोत्क्षिप्तसिंहासननिषेदुषी।
समुद्ररशना साक्षात्प्रादुरासीद्वसुन्धरा ॥ ८३ ॥

तत्रेति । तत्र प्रभामण्डले नागफणोत्क्षिप्ते सिंहासने निषेदुष्यासीना समुद्ररशना समुद्रमेखला साक्षात् । वसूनि धारयतीति वसुन्धरा भूमिः । 'खचि ह्रस्वः' इति ह्रस्वः । प्रादुरासीत् ॥ ८३ ॥

उस प्रभासमूहमें सर्पकी फणासे ऊपर उठाये हुए सिंहासनपर बैठी हुई समुद्ररूपी करधनीवाली साक्षात् पृथ्वी प्रकट हुई ॥ ८३ ॥

सा सीतामङ्कमारोप्य भर्तृप्रणिहितेक्षणाम् ।
मा मेति व्याहरत्येव तस्मिन्पातालमभ्यगात् ॥ ८४ ॥

सेति । सा वसुन्धरा भर्तरि प्रणिहितेक्षणां दत्तदृष्टिं सीतामङ्कमारोप्य तस्मिन् भर्तरि रामे मा मेति मा हरेति व्याहरति वदत्येव व्याहरन्तमनादृत्येत्यर्थः । 'षष्ठी चानादरे' इति सप्तमी । पातालमभ्यगात् ॥ ८४ ॥

वह माता पृथ्वी पतिमें देखती हुई सीताको गोदमें रखकर रामके 'नहीं, नहीं' कहते रहनेपर भी उनके निषेधकी उपेक्षा करके पाताल चली गयी ॥ ८४ ॥

धरायां तस्य संरम्भं सीताप्रत्यर्पणैषिणः ।
गुरुर्विधिबलापेक्षी शमयामास धन्विनः ॥ ८५ ॥

धरायामिति । सीताप्रत्यर्पणमिच्छतीति तथोक्तस्य धन्विन आत्तधनुष्कस्य रामस्य धरायां विषये संरम्भं विधिबलापेक्षी दैवबलदर्शी गुरुर्वसिष्ठः शमयामास । अपरिहार्यो विधिरिति भावः ॥ ८५ ॥

सीताके लौटाने (वापसी) चाहनेवाले धनुर्धारी रामके क्रोधको विधिके विधानको कोई नहीं टाल सकता ऐसा जाननेवाले वसिष्ठ और वाल्मीकिने शान्त किया ॥ ८५ ॥

ऋषीन्विसृज्य यज्ञान्ते सुहृदश्च पुरस्कृतान् ।
रामः सीतागतं स्नेहं निदधे तदपत्ययोः ॥ ८६ ॥

ऋषीनिति । रामो यज्ञान्ते पुरस्कृतान्पूजितानृषीन्वाल्मीक्यादीन्सुहृदश्च विभीषणादीन् विसृज्य सीतागतं स्नेहं तदपत्ययोः कुशलवयोर्निदधे ॥ ८६ ॥

राम यज्ञके अन्तमें सत्कृत मुनियों तथा मित्रोंको बिदाकर सीता विषयक स्नेह उनके पुत्रोंमें करने लगे ॥ ८६ ॥

युधाजितश्च सन्देशात्स देशं सिन्धुनामकम् ।
ददौ दत्तप्रभावाय भरताय भृतप्रजः ॥ ८७ ॥

युधेति । किञ्च । भृतप्रजः स रामो युधाजितो भरतमातुलस्य सन्देशात्सिन्धुनामकं देशं दत्तप्रभावाय दत्तैश्वर्याय रामेणेति शेषः । भरताय ददौ ॥ ८७ ॥

प्रजाका पालन करते हुए रामने युधाजित् (भरत के मामा) के कहनेसे 'सिन्धु' नामक देशको रामसे प्रभावित भरतके लिये दिया ॥ ८७ ॥

भरतस्तत्र गन्धर्वान्युधि निर्जित्य केवलम् ।
आतोद्यं ग्राहयामास समत्याजयदायुधम् ॥ ८८ ॥

भरत इति । तत्र सिन्धुदेशे भरतोऽपि युधि गन्धर्वान्निर्जित्य केवलमेकमातोद्यं वीणादि । 'ततं वीणादिकं वाद्यमानद्धं मुरजादिकम् । वंशादिकं तु सुषिरं कांस्यतालादिकं घनम् ॥ चतुर्विधमिदं वाद्यं वादित्रातोद्यनामकम् ॥' इत्यमरः । ग्राहयामास । आयुधं समत्याजयत्परित्याजयत् । ग्रहित्यज्योर्ण्यन्तयोर्द्विकर्मकत्वं चिन्त्यमित्युपपन्नमेव ॥ ८८ ॥

वहाँ (गान्धर्व देशके) भरतने युद्धमें सब गन्धर्वोंको जीतकर उनसे केवल वीणा ग्रहण कराया और शस्त्रका ग्रहण करना छुड़ा दिया। (भरतसे पराजित गन्धर्वोंने फिर किसी युद्धमें शस्त्रको नहीं ग्रहण किया, किन्तु सदा गान करनेके लिये केवल वीणा ग्रहण किया) ॥ ८८ ॥

स तक्षपुष्कलौ पुत्रौ राजधान्योस्तदाख्ययोः ।
अभिषिच्याभिषेकार्हौ रामान्तिकमगात्पुनः ॥ ८९ ॥

स इति । स भरतः । अभिषेकार्हौ तक्षपुष्कलौ नाम पुत्रौ तदाख्ययोः, तक्षपुष्कलाख्ययोरित्यर्थः । पुष्कल पुष्कलावत्या तक्ष तक्षशिलायामिति राजधान्योर्नगर्योरभिषिच्य पुना रामान्तिकमगात् ॥ ८९ ॥

वे भरत राज्याभिषेकके योग्य 'तक्ष' तथा 'पुष्कल' नामक अपने पुत्रोंको उनके नामसे प्रसिद्ध 'तक्षशिला' और 'पुष्कलावती' नामकी दो राजधानियोंमें क्रमशः अभिषिक्तकर फिर रामके पास लौट आये ॥ ८९ ॥

अङ्गदं चन्द्रकेतुं च लक्ष्मणोऽप्यात्मसम्भवौ ।
शासनाद्रघुनाथस्य चक्रे कारापथेश्वरौ ॥ ९० ॥

अङ्गदमिति । लक्ष्मणोऽपि रघुनाथस्य रामस्य शासनादङ्गद चन्द्रकेतुं च तदाख्यावात्मसम्भवौ पुत्रौ । कारापथो नाम देशः । तस्येश्वरौ चक्रे ॥ ९० ॥

लक्ष्मणने भी रामके आदेशसे 'अङ्गद' तथा 'चन्द्रकेतु' नामक अपने पुत्रोंको 'कारापथ' (नामक देश) का स्वामी बना दिया ॥ ९० ॥

इत्यारोपितपुत्रास्ते जननीनां जनेश्वराः ।
भर्तृलोकप्रपन्नानां निवापान्विदधुः क्रमात् ॥ ९१ ॥

इतीति । इत्यारोपितपुत्रास्ते जनेश्वरा रामादयो भर्तृलोकप्रपन्नाना स्वर्यातानां जननीना क्रमान्निवापाञ्छ्राद्धादीन्विदधुश्चक्रुः । 'पितृदान निवाप स्यात्' इत्यमरः ॥

इस प्रकार (श्लो० ८७–९०) पुत्रोंको (पूर्वोक्त देशोंमें) स्थापितकर उन प्रजारक्षकों (राम आदि चारों भाइयों) ने पतिलोकको प्राप्त (मरी हुई) माताओंके क्रमशः तर्पणों (श्राद्ध आदि पारलौकिक कर्मों) को किया ॥ ९१ ॥

उपेत्य मुनिवेषोऽथ कालः प्रोवाच राघवम् ।
रहःसंवादिनौ पश्येदावां यस्तं त्यजेरिति ॥ ९२ ॥

उपेत्येति । अथ कालोऽन्तको मुनिवेष सन्नुपेत्य राघव प्रोवाच । किमित्याह– रहस्येकान्ते सवादिनौ सम्भाषिणावावां यः पश्येत् । रहस्यभङ्ग कुर्यादित्यर्थं । त त्यजेरिति ॥ ९२ ॥

इसके बाद काल अर्थात् मृत्युने मुनिका वेष धारण कर रामके पास आकर 'एकान्तमें,

वार्तालाप करते हुए हम दोनोंको जो कोई देखे, उसका तुम त्याग कर देना' ऐसा कहा ॥ ९२ ॥

तथेति प्रतिपन्नाय विवृतात्मा नृपाय सः ।
आचख्यौ दिवमध्यास्व शासनात्परमेष्ठिनः ॥ ९३ ॥

तथेतीति । स कालस्तथेति प्रतिपन्नाय नृपाय रामाय विवृतात्मा प्रकाशितनिजस्वरूपः सन् । परमेष्ठिनो ब्रह्मणः शासनाद्दिवमध्यास्वेत्याचख्यौ ॥ ९३ ॥

उस (काल) ने 'ऐसा ही हो' इस प्रकार स्वीकार किये हुए रामसे अपना रूप प्रकट करके 'ब्रह्माकी आज्ञासे अब आप स्वर्गको चलें' ऐसा कहा ॥ ९३ ॥

विद्वानपि तयोर्द्वाःस्थः समयं लक्ष्मणोऽभिनत् ।
भीतो दुर्वाससः शापाद्रामसंदर्शनार्थिनः ॥ ९४ ॥

विद्वानिति । द्वास्थो द्वारि नियुक्तो लक्ष्मणो विद्वानपि पूर्वोक्तसमयं जानन्नपि रामसंदर्शनार्थिनो दुर्वाससो मुनेः शापाद्भीतः सन् । तयोः कालरामयोः समयं संवादमभिनद् बिभेद ॥ ९४ ॥

द्वारपर स्थित हुए लक्ष्मणने (राम तथा मुनिवेषी कालकी शर्तको) जानते हुए भी रामके दर्शनको चाहनेवाले दुर्वासा ऋषिके शापसे डरकर उन दोनों (राम तथा काल) के संवादको भिन्न कर दिया। (परस्पर भाषण करते हुए उन दोनोंके सामने जाकर उसमें बाधा डाल दी) ॥ ९४ ॥

स गत्वा सरयूतीरं देहत्यागेन योगवित् ।
चकारावितथां भ्रातुः प्रतिज्ञां पूर्वजन्मनः ॥ ९५ ॥

स इति । योगविद्योगमार्गवेदी स लक्ष्मणः सरयूतीरं गत्वा देहत्यागेन पूर्वजन्मनो भ्रातुः प्रतिज्ञामवितथां सत्यां चकार ॥ ९५ ॥

योगके ज्ञाता उस लक्ष्मणने 'सरयू' नदीके तटपर जाकर शरीर-त्याग करनेसे बड़े भाई (राम) की प्रतिज्ञा (देखें श्लो० ९२ ९३) को सत्य किया ॥ ९५ ॥

तस्मिन्नात्मचतुर्भागे प्राङ्नाकमधितस्थुषि ।
राघवः शिथिलं तस्थौ भुवि धर्मस्त्रिपादिव ॥ ९६ ॥

तस्मिन्निति । चतुर्थो भागश्चतुर्भागः । संख्याशब्दस्य वृत्तिविषये पूरणार्थत्वं वक्तव्यम् । आत्मचतुर्भागे तस्मिंल्लक्ष्मणे प्राङ्नाकमधितस्थुषि पूर्वं स्वर्गं गतवति सति राघवो रामः । भुवि त्रिपाद्धर्म इव शिथिलं तस्थौ । पादविकलो हि शिथिलं तिष्ठतीति भावः । त्रेतायां धर्मस्त्रिपादित्यागमः । पादश्चतुर्थांश उच्यते । 'पादा रश्म्यङ्घ्रितुर्यांशाः' इत्यमरः । त्रयः पादा यस्यासौ त्रिपात् । 'संख्यासुपूर्वस्य' इत्यकारलोपः समासान्तः ॥ ९६ ॥

अपने चतुर्थांश (चौथाई हिस्सा) उस (लक्ष्मण) के पहले स्वर्गमें जानेपर राम पृथ्वी पर तीन पादवाले धर्मके समान शिथिल रहने लगे। (जैसा युगमें धर्मके तीन पाद होनेसे

वह शिथिल होकर रहता है, तीन पादवाले व्यक्तिका एक पादसे हीन होनेपर शिथिल रहना स्वाभाविक ही है) ॥ ९६ ॥

स निवेश्य कुशावत्यां रिपुनागाङ्कुशं कुशम् ।
शरावत्यां सतां सूक्तैर्जनिताश्रुलवं लवम् ॥ ९७ ॥
उदक्प्रतस्थे स्थिरधीः सानुजोऽग्निपुरःसरः ।
अन्वितः पतिवात्सल्यात् गृहवर्जमयोध्यया ॥ ९८ ॥

स इत्यादीति । युग्मम् । स्थिरधी स राम' । रिपव एव नागा गजास्तेषामङ्कुशं निवारक कुश कुशावत्यां पुर्यां निवेश्य स्थापयित्वा । सूक्तै समीचीनवचनै. सतां जनिता अश्रुलवा अश्रुलेशा येन त लव लवाख्यं पुत्रम् । 'लवो लेशे विलासे च छेदने रामनन्दने' इति विश्व । शरावत्या पुर्याम् । 'शरादीना च' इति शरकुशशब्दयो-र्दीर्घ' । निवेश्य सानुजोऽग्निपुरःसर सन् । पत्यौ भर्तरि वात्सल्यादनुरागात् । गृहा-न्वर्जयित्वा गृहवर्जम् 'द्वितीयायां च' इति णमुल् । अथ क्वचिदपरीप्सायामपी ष्यते । 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' इत्येकाच शेषतया व्याख्यातत्वात् । परीप्सा त्वरा । अयोध्ययाऽन्वितोऽनुगत उदक्प्रतस्थे ॥ ९७-९८ ॥

स्थिर बुद्धिवाले वे राम शत्रुरूपी हाथीके अङ्कुशभूत कुशको 'कुशावती' में तथा सुन्दर वचनोंसे सज्जनोंके नेत्रोंमें आँसू लानेवाले (सज्जनोंको रुलानेवाले) लवको 'शरा-वती' में स्थापित कर छोटे भाईयोंके सहित हो, अग्निको आगे लिये हुए, स्वामी (राजा) में स्नेह होनेसे घर छोड़कर अयोध्यासे युक्त होकर उत्तर दिशाको चले ॥ ९७-९८ ॥

जगृहुस्तस्य चित्तज्ञाः पदवीं हरिराक्षसाः ।
कदम्बमुकुलस्थूलैरभिवृष्टां प्रजाऽश्रुभि ॥ ९९ ॥

जगृहुरिति । चित्तज्ञा हरिराक्षसा कदम्बमुकुलस्थूलै प्रजाऽश्रुभिरवृष्टां तस्य रामस्य पदवीं मार्गं जगृहु , तेऽप्यनुजग्मुरित्यर्थ ॥ ९९ ॥

रामके चित्तको जाननेवाले वानरों तथा राक्षसों ने कदम्बपुष्पकी कलिकाके समान बड़ी-बड़ी (बूँदवाली) प्रजाकी आँसुओंसे भीगे हुए मार्गको ग्रहण किया अर्थात् रामके पीछे वानर तथा राक्षस भी चले ॥ ९९ ॥

उपस्थितविमानेन तेन भक्तानुकम्पिना ।
चक्रे त्रिदिवनिश्रेणिः सरयूरनुयायिनाम् ॥ १०० ॥

उपस्थितेति । उपस्थित प्राप्त विमान यस्य तेन । भक्ताननुकम्पत इति भक्ता-नुकम्पिना । तेन रामेणानुयायिनां सरयूस्त्रिदिवनिश्रेणि स्वर्गाधिरोहणी चक्रे । 'निश्रेणिस्त्वधिरोहणी' इत्यमर ॥ १०० ॥

भाषण करते हुए हम दोनोंको जो कोई देखे उसका तुम त्याग कर देना' ऐसा कहा ॥ ९२ ॥

तथेति प्रतिपन्नाय विवृतात्मा नृपाय सः ।
आचख्यौ दिवमध्यास्व शासनात्परमेष्ठिनः ॥ ९३ ॥

तथेतीति । स कालस्तथेति प्रतिपन्नाय नृपाय रामाय विवृतात्मा प्रकाशितनिजस्वरूपः सन् । परमेष्ठिनो ब्रह्मणः शासनाद्दिवमध्यास्वेत्याचख्यौ ॥ ९३ ॥

उस (काल) ने 'ऐसा ही हो' इस प्रकार स्वीकार किये हुए रामसे अपना रूप प्रकट करके 'ब्रह्माके आदेशसे अब आप स्वर्गको चलें' ऐसा कहा ॥ ९३ ॥

विद्वानपि तयोर्द्वाःस्थः समयं लक्ष्मणोऽभिनत् ।
भीतो दुर्वाससः शापाद्रामसन्दर्शनार्थिनः ॥ ९४ ॥

विद्वानिति । द्वास्थो द्वारि नियुक्तो लक्ष्मणो विद्वानपि पूर्वोक्तशपथं जानन्नपि रामसन्दर्शनार्थिनो दुर्वाससो मुनेः शापाद्भीतः सन् । तयोः कालरामयोः समयं संवादमभिनद् बिभेद ॥ ९४ ॥

द्वारपर स्थित हुए लक्ष्मणने (राम तथा मुनिवेषी कालकी शर्तको) जानते हुए भी रामके दर्शनको चाहनेवाले दुर्वासा ऋषिके शापसे डरकर उन दोनों (राम तथा काल) के संवादको भिन्न कर दिया। (परस्पर भाषण करते हुए उन दोनोंके सामने जाकर उन्हें बाधा डाल दी) ॥ ९४ ॥

स गत्वा सरयूतीरं देहत्यागेन योगवित् ।
चकारावितथां भ्रातुः प्रतिज्ञां पूर्वजन्मनः ॥ ९५ ॥

स इति । योगविद्योगमार्गवेदी स लक्ष्मणः सरयूतीरं गत्वा देहत्यागेन पूर्वजन्मनो भ्रातुः प्रतिज्ञामवितथां सत्यां चकार ॥ ९५ ॥

योगके ज्ञाता उस लक्ष्मणने 'सरयू' नदीके तटपर जाकर शरीरत्याग करनेसे बड़े भाई (राम) की प्रतिज्ञा (देखें श्लो० ९२ ९१) को सत्य किया ॥ ९५ ॥

तस्मिन्नात्मचतुर्भागे प्राङ्नाकमधितस्थुषि ।
राघवः शिथिलं तस्थौ भुवि धर्मस्त्रिपादिव ॥ ९६ ॥

तस्मिन्निति । चतुर्थो भागश्चतुर्भागः । संख्याशब्दस्य वृत्तिविषये पूरणार्थत्वं वक्तव्यम् । आत्मचतुर्भागे तस्मिंल्लक्ष्मणे प्राङ्नाकमधितस्थुषि पूर्वं स्वर्गमधिष्ठितवति सति राघवो रामः । भुवि त्रिपाद्धर्म इव शिथिलं तस्थौ । पादविकलो हि शिथिलं तिष्ठतीति भावः । त्रेतायां धर्मस्त्रिपादित्यागमः । पादश्चतुर्थांश अङ्घ्रिश्च कथ्यते । 'पादा रश्म्यङ्घ्रितुर्यांशाः' इत्यमरः । त्रयः पादा यस्यासौ त्रिपात् । संख्यासुपूर्वस्य इत्यकारलोपः समासान्तः ॥ ९६ ॥

अपने चतुर्थांश (चौथाई हिस्सा) उस (लक्ष्मण) के पहले स्वर्गमें जानेपर राम पृथ्वी पर तीन चरणोंवाले धर्मके समान शिथिल रहने लगे। (जैसा त्रेतामें धर्मके तीन पाद होनेसे

षोडशः सर्गः

अथेतरे सप्त रघुप्रवीरा ज्येष्ठं पुराजन्मतया गुणाश्च ।
चक्रुः कुशं रत्नविशेषभाजं सौभ्रात्रमेषां हि कुलानुसारि ॥ १ ॥

वृन्दारका यस्य भवन्ति भृङ्गा मन्दाकिनी यन्मकरन्दविन्दुः ।
तवारविन्दाक्ष पदारविन्दं वन्दे चतुर्वर्गचतुष्पदं तत् ॥

अथेति । अथ रामनिर्वाणानन्तरमितरे लवादयः सप्त रघुप्रवीराः पुरः पूर्वं जन्म यस्य तस्य भावस्तत्ता तया । गुणैश्च ज्येष्ठं कुशं रत्नविशेषभाजं तत्तच्छ्रेष्ठवस्तुभागिनं चक्रुः । तदुक्तम्—'जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तद्रत्नमभिधीयते' इति । तथा हि, सुभ्रातॄणां भावः सौभ्रात्रम् । 'हायनान्तयुवादिभ्योऽण्' इत्यनेन युवादित्वादण्प्रत्ययः । एषां कुशलवादीनां कुलानुसारि वंशानुगतं हि ॥ १ ॥

भ्रमर जिसके भ्रमर हैं औ जाह्नवी मकरन्दकण ।
चतुर्वर्गके चतुष्पाद उस पद्मपादको है नमन ॥

इसके (रामके स्वर्गारोहणके) बाद रघुवंशिश्रेष्ठ अन्य सातों (राम पुत्र लव, भरत पुत्र तक्ष और पुष्कल, शत्रुघ्न-पुत्र सुबाहु और बहुश्रुत) ने पहले जन्म लेनेसे तथा गुणोंसे श्रेष्ठ कुशको उत्तमोत्तम रत्न दिये, क्योंकि इन (रघुवंशियों) का सद्भ्रातृभाव कुलक्रमागत (खान्दानी) होता है ॥ १ ॥

ते सेतुवार्तागजबन्धमुख्यैरभ्युच्छ्रिताः कर्मभिरप्यवन्ध्यैः ।
अन्योन्यदेशप्रविभागसीमां वेलां समुद्रा इव न व्यतीयुः ॥ २ ॥

त इति । सेतुर्जलबन्धः । वार्ता कृषिगोरक्षणादिः 'वार्ता कृष्याद्युदन्तयोः' इति विश्वः । गजबन्ध आकरेभ्यो गजग्रहणं ते मुख्य प्रधानं येषां तैरवन्ध्यैः सफलैः कर्मभिरभ्युच्छ्रिताः, अतिसमर्था अपीत्यर्थः । ते कुशादयः । प्रविभज्यन्त इति प्रविभागाः अन्योन्यदेशप्रविभागानां या सीमा ताम् । वेलां समुद्रा इव । न व्यतीयुर्नातिचक्रमुः । अत्र कामन्दकः—'कृषिर्वणिक्पथो दुर्गं सेतुः कुञ्जरबन्धनम् । खन्याकरधनादानं शून्यानां च निवेशनम् ॥ अष्टवर्गमिमं साधुः स्वयं वृद्धोऽपि वर्धयेत् ॥' इति ॥ २ ॥

नदी आदिका बाँध बनवाना, खेती तथा गोपालन आदि करना तथा आकरोंसे हाथियोंको ग्रहण करना आदि सफल कर्मोंसे अत्यन्त समृद्धियुक्त भी वे (कुश आदि) परस्परके देशके विभाजनकी सीमाका उल्लङ्घन उस प्रकार नहीं करते थे, जिस प्रकार समुद्र तटका उल्लङ्घन नहीं करता ॥ २ ॥

चतुर्भुजांशप्रभवः स तेषां दानप्रवृत्तेरनुपारतानाम् ।
सुरद्विपानामिव सामयोनिर्भिन्नोऽष्टधा विप्रससार वंशः ॥ ३ ॥

विमानको प्राप्त भक्तवत्सल उन रामने अनुगमन करनेवालों (अपने पीछे आनेवाले वानरों राक्षसों तथा अयोध्यावासी प्रजाओं) के लिये सरयूको स्वर्गकी सीढ़ी बना दी अर्थात् रामके पीछे जो-जो व्यक्ति सरयूतटपर आये वे सब अनायास ही स्वर्गमें पहुँच गये।

यद्गोप्रतरकल्पोऽभूत्सम्मर्दस्तत्र मज्जताम् ।
अतस्तदाख्यया तीर्थं पावनं भुवि पप्रथे ॥ १०१ ॥

यदिति । यद्यस्मात्तत्र सरय्वां मज्जतां सम्मर्दः गोप्रतरो गोप्रतरणम् । तत्कल्पोऽभूत् । अतस्तदाख्यया गोप्रतराख्यया पावनं शोधकं तीर्थं भुवि पप्रथे ॥ १०१ ॥

जिस कारण वहाँ (सरयू में) स्नान करनेवालोंकी भीड़ गौओंके सरयूमें तैरनेके समान हुई, उस कारण पृथ्वीपर वह 'गोप्रतर' नामसे प्रसिद्ध पवित्र तीर्थ हो गया ॥ १०१ ॥

स विभुर्विबुधांशेषु प्रतिपन्नात्ममूर्तिषु ।
त्रिदशीभूतपौराणां स्वर्गान्तरमकल्पयत् ॥ १०२ ॥

स इति । विभुः प्रभुः स रामो विबुधानामंशेषु सुग्रीवादिषु प्रतिपन्नात्ममूर्तिषु सत्सु त्रिदशीभूता देवत्वं गता ये पौरास्तेषां नूतनमपरमन्यं स्वर्गान्तरमकल्पयत् ॥

सर्वसमर्थ उन रामने देवों के अंशभूत सुग्रीव आदिके अपनी-अपनी मूर्ति (पूर्व देवभाव) को प्राप्त कर लेनेपर नये देव बने हुए नगरवासियोंके लिये दूसरा स्वर्ग बनाया ॥ १०२ ॥

निर्वर्त्यैवं दशमुखशिरश्छेदकार्यं सुराणां
विष्वक्सेनः स्वतनुमविशत्सर्वलोकप्रतिष्ठाम् ।
लङ्कानाथं पवनतनयं चोभयं स्थापयित्वा
कीर्तिस्तम्भद्वयमिव गिरौ दक्षिणे चोत्तरे च ॥ १०३ ॥

निर्वर्त्येति । विष्वक्सेनो विष्णुरेवं सुराणां दशमुखशिरश्छेदकार्यं निर्वर्त्य निष्पाद्य । लङ्कानाथं विभीषणं पवनतनयं हनूमन्तं चोभयं कीर्तिस्तम्भद्वयमिव । दक्षिणे गिरौ त्रिकूटे चोत्तरे गिरौ हिमवति च स्थापयित्वा । सर्वलोकप्रतिष्ठां सर्वलोकाश्रयभूतां स्वतनुं स्वमूर्तिमविशत् ॥ १०३ ॥

इति सञ्जीविनीव्याख्यायां श्रीरामस्वर्गारोहणो नाम पञ्चदशः सर्गः ॥ १५ ॥



इस प्रकार विष्णु भगवान्‌ने रावणके वधरूप देवकार्यको पूरा कर लङ्कानाथ (विभीषण) तथा पवनकुमार हनुमान को दो कीर्तिस्तम्भोंके समान दक्षिणपर्वत (त्रिकूट) तथा उत्तर पर्वत (हिमालय) पर स्थापित कर समस्त संसारके आश्रयभूत अपने शरीरमें प्रवेश किया ॥

इस प्रकार 'मणिप्रभा' टीका में पञ्चदश सर्ग समाप्त हुआ ॥ १५ ॥

षोडशः सर्गः

अथेतरे सप्त रघुप्रवीरा ज्येष्ठं पुराजन्मतया गुणैश्च ।
चक्रुः कुशं रत्नविशेषभाजं सौभ्रात्रमेषां हि कुलानुसारि ॥ १ ॥

वृन्दारका यस्य भवन्ति भृङ्गा मन्दाकिनी यन्मकरन्दबिन्दुः ।
तवारविन्दाक्ष पदारविन्दं वन्दे चतुर्वर्गचतुष्पदं तत् ॥

अथेति । अथ रामनिर्वाणानन्तरमितरे लवादयः सप्त रघुप्रवीराः पुरः पूर्वं जन्म यस्य तस्य भावस्तत्ता तया । गुणैश्च ज्येष्ठं कुशं रत्नविशेषभाजं तत्तच्छ्रेष्ठवस्तुभागिनं चक्रुः । तदुक्तम्—'जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तद्रत्नमभिधीयते' इति । तथा हि, सुभ्रातॄणां भावः सौभ्रात्रम् । 'हायनान्तयुवादिभ्योऽण्' इत्यनेन युवादित्वादण्प्रत्ययः । एषां कुशलवादीनां कुलानुसारि वंशानुगतं हि ॥ १ ॥

अमर जिसके भ्रमर हैं औ जाह्नवी मकरन्दकण ।
चतुर्वर्गके चतुष्पाद उस पद्मपादको है नमन ॥

इसके (रामके स्वर्गारोहणके) बाद रघुवंशिश्रेष्ठ अन्य सातों (राम पुत्र लव, भरत पुत्र तक्ष और पुष्कल, शत्रुघ्न-पुत्र सुबाहु और बहुश्रुत) ने पहले जन्म लेनेसे तथा गुणोंसे श्रेष्ठ कुशको उत्तमोत्तम रत्न दिये, क्योंकि इन (रघुवंशियों) का सद्भ्रातृभाव कुलक्रमागत (खान्दानी) होता है ॥ १ ॥

ते सेतुवार्तागजबन्धमुख्यैरभ्युच्छ्रिताः कर्मभिरप्यवन्ध्यैः ।
अन्योन्यदेशप्रविभागसीमां वेलां समुद्रा इव न व्यतीयुः ॥ २ ॥

त इति । सेतुर्जलबन्धः । वार्ता कृषिगोरक्षणादिः 'वार्ता कृष्याद्युदन्तयोः' इति विश्वः । गजबन्ध आकरेभ्यो गजग्रहणं ते मुख्यं प्रधानं येषां तैरवन्ध्यैः सफलैः कर्मभिरभ्युच्छ्रिताः, अतिसमर्था अपीत्यर्थः । ते कुशादयः । प्रविभज्यन्त इति प्रविभागाः अन्योन्यदेशप्रविभागानां या सीमा ताम् । वेलां समुद्रा इव । न व्यतीयुर्नातिचक्रमुः । अत्र कामन्दकः—'कृषिर्वणिक्पथो दुर्गं सेतुः कुञ्जरबन्धनम् । खन्याकरधनादानं शून्यानां च निवेशनम् ॥ अष्टवर्गमिमं साधुः स्वयं वृद्धोऽपि वर्धयेत् ॥' इति ॥ २ ॥

नदी आदिका बाँध बनवाना, खेती तथा गोपालन आदि करना तथा आकरोंसे हाथियों को ग्रहण करना आदि सफल कर्मोंसे अत्यन्त समृद्धियुक्त भी वे (कुश आदि) परस्परके देशके विभाजनकी सीमाका उल्लङ्घन उस प्रकार नहीं करते थे, जिस प्रकार समुद्र तटका उल्लङ्घन नहीं करता ॥ २ ॥

चतुर्भुजांशप्रभवः स तेषां दानप्रवृत्तेरनुपारतानाम् ।
सुरद्विपानामिव सामयोनिर्भिन्नोऽष्टधा विप्रससार वंशः ॥ ३ ॥

चतुर्भुजांशप्रभव इति। चतुर्भुजो विष्णुः तस्यांशा रामादयः। ते प्रभवाः कारणानि यस्य स तथोक्तः। दानं त्यागो मदश्च। 'दानं गजमदे त्यागे' इति विश्वः। अनुपारताः प्रवृत्तयो येषाम्। दानप्रवृत्तेरनुपारतानां तेषां कुशादीनां स वंशः। सामयोनिः सामवेदप्रभवो दानप्रवृत्तेरनुपारतानां सुरद्विपानां दिग्गजानां वंश इव अष्टधा भिन्नः सन्। विप्रससार विस्तृतोऽभूत्। सामयोनिरित्यत्र पालकाप्यः—'सूर्यस्याण्डकपाले द्वे समानीय प्रजापतिः। हस्ताभ्यां परिगृह्याथ सप्त सामान्यगायत। गायतो ब्रह्मणस्तस्मात्समुत्पेतुर्मतङ्गजाः॥' इति॥३॥

दान देनेसे विमुख नहीं होनेवाले उन (कुश आदि) का विष्णुके अंश (राम आदि) से उत्पन्न वह वंश मदप्रवाहसे युक्त दिग्गजोंके सामवेदोत्पन्न वंशके समान आठ भागोंमें विभक्त होकर बढ़ने लगा ॥ ३ ॥

अथार्धरात्रे स्तिमितप्रदीपे शय्यागृहे सुप्तजने प्रबुद्धः।
कुशः प्रवासस्थकलत्रवेषामदृष्टपूर्वां वनितामपश्यत् ॥ ४ ॥

अथेति। अथ अर्धं रात्रेरर्धरात्रः। 'अर्धं नपुंसकम्' इत्येकदेशिसमासः। 'अहःसर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः' इति समासान्तोऽच्प्रत्ययः। 'रात्राह्नाहाः पुंसि' इति नियमात्पुंस्त्वम्। अर्धरात्रे निशीथे स्तिमितप्रदीपे सुप्तजने शय्यागृहे प्रबुद्धः, न तु सुप्तः। कुशः प्रवासस्थकलत्रवेषां प्रोषितभर्तृकावेषाम्। अदृष्टा पूर्वमित्यदृष्टपूर्वा ताम्। सुप्सुपेति समासः। वनितामपश्यत् ॥ ४ ॥

इसके बाद आधी रातमें शान्त दीपोंवाले और सोये हुए लोगोंवाले शयनागारमें जगे हुए कुशने प्रोषित (परदेशमें स्थित) पतिवाली स्त्रीके वेषको धारण की हुई तथा पहले कभी नहीं देखी गयी अर्थात् अपरिचित स्त्रीको देखा ॥ ४ ॥

सा साधुसाधारणपार्थिवर्द्धेः स्थित्वा पुरस्तात्पुरुहूतभासः।
जेतुः परेषां जयशब्दपूर्वं तस्याञ्जलिं बन्धुमतो बबन्ध ॥ ५ ॥

सेति। सा वनिता साधुसाधारणपार्थिवर्द्धेः सज्जनसाधारणराज्यलक्ष्मीकस्य पुरुहूतभासः इन्द्रतेजसः परेषां शत्रूणां जेतुर्बन्धुमतस्तस्य कुशस्य पुरस्तात्स्थित्वा जयशब्दपूर्वं यथा तथाञ्जलिं बबन्ध ॥ ५ ॥

उस स्त्रीने सज्जन साधारणके लिए है राजलक्ष्मी जिसकी ऐसे इन्द्रके समान तेजस्वी शत्रुओंके विजेता और बान्धवोंवाले उस कुशके आगे खड़ी होकर पहले 'जय' शब्दका उच्चारण कर हाथ जोड़ लिया ॥ ५ ॥

अथानपोढार्गलमप्यगारं छायामिवादर्शतलं प्रविष्टाम्।
सविस्मयो दाशरथेस्तनूजः प्रोवाच पूर्वार्धविसृष्टतल्पः ॥ ६ ॥

अथेति। अथ सविस्मयः पूर्वार्धेन शरीरपूर्वभागेनैव विसृष्टतल्पस्त्यक्तशयनो दाशरथेस्तनूजः कुशः। अनपोढार्गलमनुद्घाटितविष्कम्भमपि। 'तद्विष्कम्भोऽर्गलं न ना'

इत्यमरः । अगारम् । आदर्शतलं छायामिव प्रविष्टां तां वनितां प्रोवाचावदत् ॥६॥

इसके बाद आश्चर्ययुक्त, पूर्वार्द्ध अर्थात् कटिके ऊपरी भागसे शय्याको छोड़े हुए (पैर फैलाये शय्यापर बैठे हुए) रामके पुत्र कुश आगल (किवाड़की किल्ली) नहीं खोले गये अर्थात् बन्द मकानमें भी, दर्पणके भीतर छायाके समान प्रवेश की हुई, उस स्त्रीसे बोले-॥

लब्धान्तरा सावरणेऽपि गेहे योगप्रभावो न च लक्ष्यते ते ।
बिभर्षि चाकारमनिर्वृतानां मृणालिनी हैममिवोपरागम् ॥ ७ ॥
का त्वं शुभे कस्य परिग्रहो वा किं वा मदभ्यागमकारणं ते ।
आचक्ष्व मत्वा वशिनां रघूणां मनः परस्त्रीविमुखप्रवृत्ति ॥ ८ ॥

लब्धान्तरेति । युग्मम् । सावरणेऽपि गेहे लब्धान्तरा लब्धावकाशा । त्वमिति शेषः । योगप्रभावश्च ते न लक्ष्यते । मृणालिनी हैमं हिमकृतमुपरागमुपद्रवमिव । अनिर्वृतानां दुःखितानामाकारं बिभर्षि च । न हि योगिनां दुःखमस्तीति भावः । किं च हे शुभे ! त्वं का । कस्य वा परिग्रहः पत्नी । ते तव मदभ्यागमे कारणं वा किम् । वशिनां जितेन्द्रियाणां रघूणां मनः परस्त्रीषु विषये विमुखा प्रवृत्तिर्यस्य तत्तथाभूतं मत्वाऽऽचक्ष्व ॥ ७-८ ॥

'तुम बन्द कमरे (घर) में भी आ गयी हो, तुम्हारा योगविषयक कोई प्रभाव भी नहीं दिखाई पड़ता है, (क्योंकि) हिमजनित उपद्रवको मृणालिनीके समान दुःखियोंकी आकृतिको तुम धारण कर रही हो (योगियोंको कभी दुःख नहीं होता और तुम दुखिया हो रही हो, अतएव तुमने योगसिद्धिसे इस बन्द कमरेमें प्रवेश किया है—ऐसी कल्पना करना ठीक नहीं है)। हे शुभे ! तुम कौन हो और किसकी पत्नी हो ? अथवा मेरे पास तुम्हारे आनेमें क्या कारण है ? जितेन्द्रिय रघुवंशियोंके मनको परस्त्रीसे विमुख व्यवहार वाला मानकर कहो ॥ ७-८ ॥

तमब्रवीत्सा गुरुणाऽनवद्या या नीतपौरा स्वपदोन्मुखेन ।
तस्याः पुरः सम्प्रति वीतनाथां जानीहि राजन्नधिदेवतां माम् ॥९॥

तमिति । सा वनिता तं कुशमब्रवीत् । अनवद्याऽदोषा या पूः स्वपदोन्मुखेन विष्णुपदोन्मुखेन गुरुणा त्वत्पित्रा नीतपौरा हे राजन् ! मां सम्प्रति वीतनाथामनाथां तस्याः पुरो नगर्या अयोध्याया अधिदेवतां जानीहि ॥ ९ ॥

उस स्त्रीने लवसे कहा—'अनिन्दनीय जिस (अयोध्या) नगरीसे अपने पद (वैकुण्ठ) के लिये उन्मुख तुम्हारे पिता (राम) पुरवासियोंको अपने साथ (स्वर्गमें) ले गये हैं, हे राजन् ! उस नगरीकी इस समय अनाथ अधिष्ठात्री देवी मुझको जानो अर्थात् उस अयोध्यापुरीकी मैं अनाथ अधिष्ठात्री देवी हूं ॥ ९ ॥

वस्वौकसारामभिभूय साऽहं सौराज्यबद्धोत्सवया विभूत्या ।
समग्रशक्तौ त्वयि सूर्यवंश्ये सति प्रपन्ना करुणामवस्थाम् ॥१०॥

वस्वौकसारामिति । सार्व्यं सौराज्यमेव राजन्वत्तया हेतुना कुबेरस्यया विभूत्या। वस्वौकसाराम् अलकापुरी । 'अलकापुरी वस्वौकसारा स्यात्' इति कोशः । अथवा मानसोत्तरशैलशिखरवर्तिनी शक्रनगरी । 'वस्वौकसारा शक्रस्य' इति विष्णुपुराणात्। ताम् अभिभूय तिरस्कृत्य समग्रशक्तौ त्वयि सूर्यवंश्ये सति कृपणामवस्थां दीनां दशां प्रपन्ना प्राप्ता ॥ १० ॥

जो मैंने (पहले) सुन्दर राजा रहनेसे उत्सवयुक्त ऐश्वर्यसे अलकापुरी या इन्द्रपुरीका तिरस्कार कर (इस समय) सम्पूर्ण शक्तिवाले सूर्यवंशी तुम्हारे रहनेपर दीनावस्था को प्राप्त किया है ॥ १० ॥

विशीर्णतल्पाट्टशतो निवेशः पर्यस्तशालः प्रभुणा विना मे ।
विडम्बयत्यस्तनिमग्नसूर्यं दिनान्तमुग्रानिलभिन्नमेघम् ॥ ११ ॥

विशीर्णेति । तल्पान्यट्टालिकाः । 'तल्पं शय्याट्टदारेषु' इत्यमरः । अट्टा अपि गृहैकदेशाः । 'अट्टः क्षौमे च शुष्के च भौमेऽत्यर्थे पुरान्तरे' इति विश्वः । विशीर्णानि तल्पानामट्टानां च शतानि यस्य स तथोक्तः । 'विशीर्णतल्पाट्टशतो निवेशः' इति वा पाठः । अट्टाः क्षौमाः । 'स्यादट्टः क्षौममस्त्रियाम्' इत्यमरः । द्विपदसमासे विशीर्णानि विदीर्णतल्पान्यट्टशतानि यस्य स तथोक्तः । पर्यस्तशालः ध्वस्तप्राकारः । 'प्राकारो वरणः शालः' इत्यमरः । प्रभुणा स्वामिना विना मे निवेशो निवेशनम् । अस्तनिमग्नसूर्यमस्ताद्रिलीनार्कमुग्रानिलेन भिन्नमेघं दिनान्तं विडम्बयत्यनुकरोति ॥ ११ ॥

स्वामी (राम) के बिना जर्जर-भग्न हुए सैकड़ों अट्टालिकाओं (या शय्याओं) वाला तथा टूटे हुए घेरे (परकोटा = चारदिवारी) वाला मेरा घर अस्ताचलमें छिपे (डूबे) हुए सूर्यवाले तथा तीव्र वायुसे बिखरे हुए मेघवाले सायंकालके समान हो रहा है ॥ ११ ॥

निशासु भास्वत्कलनूपुराणां यः संचरोऽभूदभिसारिकाणाम् ।
नदन्मुखोल्काविचितामिषाभिः स वाह्यते राजपथः शिवाभिः ॥

निशास्विति । निशासु भास्वन्ति दीप्तिमन्ति कलान्यव्यक्तमधुराणि नूपुराणि यासां तासामभिसारिकाणाम् । 'कान्तार्थिनी तु या याति संकेतं साभिसारिका' इत्यमरः । यो राजपथः । संचरन्त्यनेनेति संचरः । संचारसाधनमभूत् । 'गोचरसंचरवहव्रजव्यजापणनिगमाश्च' इत्यनेन घप्रत्ययान्तो निपातः । नदन्तु मुखेषु या उल्कास्ताभिर्विचितामिषाभिरन्विष्टमांसाभिः शिवाभिः क्रोष्ट्रीभिः स राजपथो वाह्यते गम्यते । वहेरण्यन्तो वहिधातुरस्तीत्युपदेशः ॥ १२ ॥

रात्रिमें जो राजमार्ग चमकते तथा मधुर-ध्वनि करते हुए नूपुरवाली अभिसारिकाओंके जानेका साधन था, वह राजमार्ग में (इस समय) चिल्लानेसे जलते हुए लुपटी मांस को ढूँढनेवाली स्यारियाँ चलती हैं ॥ १२ ॥

आस्फालितं यत्प्रमदाकराग्रैर्मृदङ्गधीरध्वनिमन्वगच्छत् ।
वन्यैरिदानीं महिषैस्तदम्भः शृङ्गाहतं क्रोशति दीर्घिकाणाम् ॥१३॥

आस्फालितमिति । यदम्भ प्रमदाकराग्रैरास्फालितं ताडितं सत् । जलक्रीडास्विति शेष. । मृदङ्गानां यो धीरध्वनिस्तमन्वगच्छदन्वकरोत् । तद्दीर्घिकाणामम्भ इदानीं वन्यैर्महिषै· कर्तृभि· शृङ्गैर्विषाणैराहतं सत्क्रोशति, न तु मृदङ्गध्वनिमनुकरोतीत्यर्थः ॥ १३ ॥

जो (बावरियोंका जल, पहले जलक्रीडा करते समय) युवती स्त्रियोंके हस्ताघातसे मृदङ्गकी ध्वनिका अनुकरण करता था, वह बावरियोंका जल जङ्गली भैंसोंके शृङ्गसे आहत होकर रोता है (वैसा मृदङ्गध्वनिका अनुकरण नहीं करता है) ॥ १३ ॥

वृक्षेशया यष्टिनिवासभङ्गान्मृदङ्गशब्दापगमादलास्याः ।
प्राप्ता दवोल्काहतशेषबर्हाः क्रीडामयूरा वनबर्हिणत्वम् ॥ १४ ॥

वृक्षेशया इति । यष्टिरेव निवास स्थान तस्य भङ्गात् । वृक्षे शेरत इति वृक्षेशया· । 'अधिकरणे शेते' इत्यच्प्रत्ययः । 'शयवासवासिष्वकालात्' इत्यलुक्सप्तम्या । मृदङ्गशब्दानामपगमादभावादलास्या नृत्यशून्याः । दवोऽरण्यवह्निः । 'दवदावौ वनारण्यवह्नी' इत्यमर । तस्योल्काभि स्फुलिङ्गैर्हतेभ्य· शेषाणि बर्हाणि येषा ते क्रीडामयूरा वनबर्हिणत्व वनमयूरत्व प्राप्ता ॥ १४ ॥

डण्डेपर बैठना छूट जानेसे (पहले स्थान-स्थानपर मयूरोंके बैठनेके लिये छोटे छोटे लकडियों के टुकडे टँगे हुए थे, परन्तु इस समय उनके नहीं रहनेसे) वृक्षोंपर सोनेवाले तथा मृदङ्गकी ध्वनि नहीं सुननेसे नृत्य नहीं करनेवाले और दवाग्निकी चिनगारियोंसे जलकर बचे हुए पङ्खवाले क्रीडामयूर जगली मयूर हो गये हैं ॥ १४ ॥

सोपानमार्गेषु च येषु रामा निक्षिप्तवत्यश्चरणान्सरागान् ।
सद्यो हतन्यङ्कुभिरस्रदिग्धं व्याघ्रैः पदं तेषु निधीयते मे ॥ १५ ॥

सोपानेति । किञ्च येषु सोपानमार्गेषु रामा रमण्य· सरागाँल्लाक्षारसार्द्रांश्चरणान्निचिक्षिप्तवत्य । तेषु मे मम मार्गेषु सद्यो हतन्यङ्कुभिर्मारितमृगैर्व्याघ्रैरस्रदिग्धं रुधिरलिप्त पदं निधीयते ॥ १५ ॥

जिन सीढियोंपर रमणियाँ महावर लगे हुए पैरोंको रखती थीं अर्थात् महावर लगाकर चलती थीं, उन मेरे सोपान मार्गोंपर तत्काल मृगोंको मारनेवाले बाघ रक्तरञ्जित पैर रख रहे हैं ॥ १५ ॥

चित्रद्विपाः पद्मवनावतीर्णाः करेणुभिर्दत्तमृणालभङ्गाः ।
नखाङ्कुशाघातविभिन्नकुम्भाः संरब्धसिंहप्रहृतं वहन्ति ॥ १६ ॥

चित्रेति । पद्मवनमवतीर्णा प्रविष्टा , तथा लिखिता इत्यर्थ. । करेणुभिः करिणीभि. । चित्रगताभिरेव । 'करेणुरिभ्यां स्त्री नेभे' इत्यमर. । दत्तमृणालभङ्गाश्चित्रद्विप

वसौकसारामिति। साहं सौराज्येन राजन्वत्तया हेतुना बद्धोत्सवया विभूत्या वसौकसारामलकापुरीम्। 'अलकापुरी वसौकसारा स्यात्' इति कोशः। अथवा मानसोत्तरशैलशिखरवर्तिनीं शक्रनगरीम्। 'वस्वौकसारा शक्रस्य' इति विष्णुपुराणात्। तामभिभूय तिरस्कृत्य समग्रशक्तौ त्वयि सूर्यवंश्ये सति करुणामवस्थां दीनां दशां प्रपन्ना प्राप्ता ॥ १० ॥

वह मैं (पहले) सुन्दर राजा रहनेसे उत्सवयुक्त ऐश्वर्यसे अलकापुरी या इन्द्रपुरीका तिरस्कार कर (इस समय) सम्पूर्ण शक्तिमान् सूर्यवंशी तुम्हारे रहनेपर दीनावस्था को प्राप्त किया है ॥ १० ॥

विशीर्णतल्पाट्टशतो निवेशः पर्यस्तशालः प्रभुणा विना मे।
विडम्बयत्यस्तनिमग्नसूर्यं दिनान्तमुग्रानिलभिन्नमेघम् ॥ ११ ॥

विशीर्णेति। तल्पान्यट्टालिकाः। 'तल्पं शय्याट्टदारेषु' इत्यमरः। अट्टानि गृहभेदाः। 'अट्टं भक्ते च हट्टे च क्षौमेऽत्यर्थे गृहान्तरे' इति विश्वः। विशीर्णानि तल्पानामट्टानां च शतानि यस्य स तथोक्तः। 'विशीर्णतल्पाट्टशतो निवेशः' इति वा पाठः। अट्टः क्षौमः। 'स्यादट्टः क्षौममस्त्रियाम्' इत्यमरः। द्वन्द्वसमासे विशीर्णानि विशीर्णतल्पान्यट्टशतानि यस्य स तथोक्तः। पर्यस्तशालः ध्वस्तप्राकारः। 'प्राकारो वरणः शालः' इत्यमरः। प्रभुणा स्वामिना विना मे निवेशो निवेशनम्। अस्तनिमग्नसूर्यमस्ताद्रिलीनार्कमुग्रानिलेन भिन्नमेघं दिनान्तं विडम्बयत्यनुकरोति ॥ ११ ॥

स्वामी (राम) के बिना अस्त-व्यस्त हुए सैकड़ों अट्टालिकाओं (या शय्याओं) वाला तथा टूटे हुए घेरे (परकोटा = चहारदिवारी) वाला मेरा घर अस्ताचलमें छिपे (डूबे) हुए सूर्यवाले तथा तीव्र वायुसे बिखरे हुए मेघवाले सायंकालके समान हो रहा है ॥ ११ ॥

निशासु भास्वत्कलनूपुराणां यः सञ्चरोऽभूदभिसारिकाणाम्।
नदन्मुखोल्काविचितामिषाभिः स वाह्यते राजपथः शिवाभिः ॥

निशास्विति। निशासु भास्वन्ति दीप्तिमन्ति कलान्यव्यक्तमधुराणि नूपुराणि यासां तासामभिसारिकाणाम्। 'कान्तार्थिनी तु या याति सङ्केतं साभिसारिका' इत्यमरः। यो राजपथः। सञ्चरन्त्यनेनेति सञ्चरः। सञ्चारसाधनमभूत्। 'गोचरसञ्चरवहव्रजव्यजापणनिगमाश्च' इत्यनेन घप्रत्ययान्तो निपातः। नदत्सु मुखेषु या उल्कास्ताभिर्विचितामिषाभिरन्विष्टमांसाभिः शिवाभिः क्रोष्ट्रीभिः स राजपथो वाह्यते गम्यते। चोरेभ्यो बहिर्यातुरशमिदुपदेशः ॥ १२ ॥

रात्रिमें जो राजमार्ग चमकते तथा मधुर ध्वनि करते हुए नूपुरवाली अभिसारिकाओंके चलनेका साधन था, उस राजमार्गमें (इस समय) चिल्लानेसे जलते हुए मुखसे मांसको ढूँढनेवाली स्यारियाँ चलती हैं ॥ १२ ॥

आस्फालितं यत्प्रमदाकराग्रैर्मृदङ्गधीरध्वनिमन्वगच्छत् ।
वन्यैरिदानीं महिषैस्तदम्भः श‍ृङ्गाहतं क्रोशति दीर्घिकाणाम् ॥१३॥

आस्फालितमिति । यदम्भ प्रमदाकराग्रैरास्फालितं ताडितं सत् । जलक्रीडास्विति शेषः । मृदङ्गानां यो धीरध्वनिस्तमन्वगच्छदन्वकरोत् । तद्दीर्घिकाणामम्भ इदानीं वन्यैर्महिषैः कर्तृभिः श‍ृङ्गैर्विषाणैराहतं सत्क्रोशति, न तु मृदङ्गध्वनिमनुकरोतीत्यर्थः ॥ १३ ॥

जो (बावरियोंका जल, पहले जलक्रीडा करते समय) युवती स्त्रियोंके हस्ताघातसे मृदङ्गकी ध्वनिका अनुकरण करता था, वह बावरियोंका जल जङ्गली भैंसोंके श‍ृङ्गसे आहत होकर रोता है (वैसा मृदङ्गध्वनिका अनुकरण नहीं करता है) ॥ १३ ॥

वृक्षेशया यष्टिनिवासभङ्गान्मृदङ्गशब्दापगमादलास्याः ।
प्राप्ता दवोल्काहतशेषबर्हाः क्रीडामयूरा वनबर्हिणत्वम् ॥ १४ ॥

वृक्षेशया इति । यष्टिरेव निवासः स्थानं तस्य भङ्गात् । वृक्षे शेरत इति वृक्षेशया । 'अधिकरणे शेते' इत्यच्प्रत्ययः । 'शयवासवासिष्वकालात्' इत्यलुक्समस्या । मृदङ्गशब्दानामपगमादभावादलास्या नृत्यशून्या । दवोऽरण्यवह्निः । 'दवदावौ वनारण्यवह्नी' इत्यमरः । तस्योल्काभिः स्फुलिङ्गैर्हृतेभ्यः शेषाणि बर्हाणि येषां ते क्रीडामयूरा वनबर्हिणत्वं वनमयूरत्वं प्राप्ताः ॥ १४ ॥

डण्डेपर बैठना छूट जानेसे (पहले स्थान-स्थानपर मयूरोंके बैठनेके लिये छोटे छोटे लकडियों के टुकडे टँगे हुए थे, परन्तु इस समय उनके नहीं रहनेसे) वृक्षोंपर सोनेवाले तथा मृदङ्गकी ध्वनि नहीं सुननेसे नृत्य नहीं करनेवाले और दवाग्निकी चिनगारियोंसे जलकर बचे हुए पङ्खवाले क्रीडामयूर जंगली मयूर हो गये हैं ॥ १४ ॥

सोपानमार्गेषु च येषु रामा निक्षिप्तवत्यश्चरणान्सरागान् ।
सद्यो हतन्यङ्कुभिरस्रदिग्धं व्याघ्रैः पदं तेषु निधीयते मे ॥ १५ ॥

सोपानेति । किञ्च येषु सोपानमार्गेषु रामा रमण्यः सरागाल्लाक्षारसार्द्रांश्चरणान्निक्षिप्तवत्यः । तेषु मे मम मार्गेषु सद्यो हतन्यङ्कुभिर्मारितमृगैर्व्याघ्रैरस्रदिग्धं रुधिरलिप्तं पदं निधीयते ॥ १५ ॥

जिन सीढियोंपर रमणियाँ महावर लगे हुए पैरोंको रखती थीं अर्थात् महावर लगाकर चलती थीं, उन मेरे सोपान मार्गोंपर तत्काल मृगोंको मारनेवाले बाघ रक्तरञ्जित पैर रख रहे हैं ॥ १५ ॥

चित्रद्विपाः पद्मवनावतीर्णाः करेणुभिर्दत्तमृणालभङ्गाः ।
नखाङ्कुशाघातविभिन्नकुम्भाः संरब्धसिंहप्रहृतं वहन्ति ॥ १६ ॥

चित्रेति । पद्मवनमवतीर्णाः प्रविष्टाः, तथा लिखिता इत्यर्थः । करेणुभिः करिणीभिः । चित्रगताभिरेव । 'करेणुरिभ्यां स्त्री नेभे' इत्यमरः । दत्तमृणालभङ्गाश्चित्रद्विपा

चाकेलमङ्कुशाः । नखा एवाङ्कुशास्तेषामाघातैर्विभिन्नकुम्भाः सन्तः संरब्धसिंहस्य कुपितसिंहस्य प्रहारं वहन्ति ॥ १६ ॥

कमलवनमें प्रविष्ट, हथिनियोंसे उखाड़ दिये गये हैं मृणालखण्ड जिनके लिये ऐसे चित्रित हाथी नखरूपी अङ्कुशके प्रहारसे विदीर्ण कुम्भवाले होकर क्रोधित सिंहके प्रहार को प्राप्त कर रहे हैं। (चित्रमें दिखाया गया है कि हाथी कमलवनमें प्रविष्ट हैं हथिनियाँ उनके लिये मृणालखण्ड दे रही हैं उन चित्रित हाथियोंको वास्तविक हाथी मानकर सिंहोंने उनके माथोंपर पञ्जा मारकर उनके मस्तकस्थ कुम्भोंको विदीर्ण कर दिया है) ॥ १६ ॥

स्तम्भेषु योषित्प्रतियातनानामुत्क्रान्तवर्णक्रमधूसराणाम् ।
स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति सङ्गान्निर्मोकपट्टाः फणिभिर्विमुक्ताः ॥१७॥

स्तम्भेष्विति । उत्क्रान्तवर्णक्रमा विशीर्णवर्णविन्यासास्तस्माद् धूसराश्च तास्तासां स्तम्भेषु योषित्प्रतियातनानां स्त्रीप्रतिकृतीनां दारुमयीनां फणिभिर्विमुक्ता निर्मोकपट्टाः कञ्चुका एव पट्टाः । 'समौ कञ्चुकनिर्मोकौ' इत्यमरः । सङ्गात्सम्पर्कात्स्तनोत्तरीयाणि स्तनाच्छादनवस्त्राणि भवन्ति ॥ १७ ॥

(स्थान-स्थानपर) छूटे हुए रंग तथा धूसर वर्णवाले खम्भोंमें बनी मूर्तियोंके स्तनोंके वस्त्र सर्पोंसे छोड़े हुए केंचुल हो रहे हैं। (खंभोंमें जो मूर्तियाँ बनी हुई हैं उनमें लिपटे हुए सर्पोंने जो केंचुल छोड़ा है वही उन मूर्तियोंके स्तनोंके वस्त्र हो रहे हैं तथा जगह-जगह से उनके रंग छूट गये हैं और वे मटमैली हो गयी हैं) ॥ १७ ॥

कालान्तरश्यामसुधेषु नक्तमितस्ततो रूढतृणाङ्कुरेषु ।
त एव मुक्तागुणशुद्धयोऽपि हर्म्येषु मूर्च्छन्ति न चन्द्रपादाः ॥

कालान्तरेति । कालान्तरेण कालक्षेपवशेन श्यामसुधेषु मलिनचूर्णेष्वितस्ततो रूढतृणाङ्कुरेषु हर्म्येषु गृहेषु नक्तं रात्रौ मुक्तागुणानां हारकाणामिव शुद्धिः स्वाच्छ्यं येषां तादृशा अपि तथा पूर्वं ये मूर्च्छन्ति स्म त एव चन्द्रपादाश्चन्द्ररश्मयः । 'पादा रश्म्यङ्घ्रितुर्यांशाः' इत्यमरः । न मूर्च्छन्ति न प्रकाशन्त इत्यर्थः ॥ १८ ॥

बहुत समयसे पुताई नहीं करानेसे काली पुताई वाले तथा इधर-उधर (कहीं-कहीं पर) जमे हुए घास वाले महलोंपर रातमें मोती की लड़ीके समान निर्मल भी वे ही चन्द्रकिरण प्रतिबिम्बित नहीं होते हैं। (पहले महलोंके सर्वदा पुताईसे निर्मल रहनेके कारण उनपर रातमें चन्द्रमाकी किरणें प्रतिबिम्बित होती थीं किन्तु अब बहुत समयसे पुताई नहीं होनेसे वे काले पड़ गये हैं कहीं-कहीं घास जम गयी है, अत एव उनपर पहले प्रतिबिम्बित होनेवाली ही चन्द्रकिरणें अब प्रतिबिम्बित नहीं हो रही हैं) ॥ १८ ॥

आवर्ज्य शाखाः सदयं च यासां पुष्पाण्युपात्तानि विलासिनीभिः ।
वन्यैः पुलिन्दैरिव वानरैस्ताः क्लिश्यन्त उद्यानलता मदीयाः ॥१९॥

आवर्ज्येति । किञ्च विलासिनीभिः सदयं आवर्ज्य शाखाग्रमात्रमवनम्य

यासां लतानां पुष्पाण्युपात्तानि गृहीतानि ता मदीया उद्यानलता वन्यैः पुलिन्दैः म्लेच्छविशेषैरिव वानरैः, उभयैरपीत्यर्थः। क्लिश्यन्ते पीड्यन्ते। क्लिश्नातेः कर्मणि लट्। 'मेदाः किरातशबरपुलिन्दा म्लेच्छजातयः' इत्यमरः ॥ १९ ॥

विलासिनी स्त्रियां जिनकी डालियोंको (टूटनेके भयसे) धीरेसे झुकाकर फूल तोड़ती थीं, मेरी उन उद्यान लताओंको जङ्गली (पुलिन्द) म्लेच्छजाति—कोल भील आदि) तथा वानर छिन्न भिन्न करते हैं ॥ १९ ॥

रात्रावनाविष्कृतदीपभासः कान्तामुखश्रीवियुता दिवाऽपि ।
तिरस्क्रियन्ते कृमितन्तुजालैर्विच्छिन्नधूमप्रसरा गवाक्षाः ॥ २० ॥

रात्राविति । रात्रावनाविष्कृतदीपभासः अप्रकटीकृतदीपदीप्तयः, दीपप्रभाशून्या इत्यर्थः । दिवाऽपि दिवसेऽपि कान्तामुखानां श्रिया कान्त्या वियुता रहिता विच्छिन्नो नष्टो धूमप्रसरो येषां ते गवाक्षाः कृमितन्तुजालैर्लूतातन्तुवितानैस्तिरस्क्रियन्ते छाद्यन्ते ॥ २० ॥

रात्रिमें दीपकके प्रकाशको बाहर नहीं फैलने देनेवाली और दिनमें भी स्त्रियोंके (खिड़कियों पर नहीं जानेसे) मुखकी शोभासे हीन खिड़कियाँ मकड़ियोंके जालोंसे आच्छन्न होनेके कारण धूँए का निकलना भी बन्द कर रही हैं । (खिड़कियोंमें मकड़ियोंके जाल हैं इसलिये उनपर से झाँकनेके लिये दिनमें कोई स्त्री नहीं जाती, रातमें उनसे दीपकोंके प्रकाश बाहर नहीं निकलते और न धूआँ ही बाहर निकलता है) ॥ २० ॥

बलिक्रियावर्जितसैकतानि स्नानीयसंसर्गमनाप्नुवन्ति ।
उपान्तवानीरगृहाणि दृष्ट्वा शून्यानि दूये सरयूजलानि ॥ २१ ॥

बलीति । 'बलिः पूजोपहारः स्यात्' इति शाश्वतः । बलिक्रियावर्जितानि सैकतानि येषां तानि । स्नानीयानि स्नानसाधनानि चूर्णादीनि । 'कृत्यल्युटो बहुलम्' इति करणेऽनीयर् प्रत्ययः, स्नानीयसंसर्गमनाप्नुवन्ति सरयूजलानि शून्यानि रिक्तान्युपान्तेषु वानीरगृहाणि येषां तानि च दृष्ट्वा दूये परितप्ये ॥ २१ ॥

पूजन-क्रियासे हीन तटवाले, स्नानार्थ चूर्णसे रहित और पासमें बेंतोंके शून्य कुञ्जोंवाले सरयूके जलको देखकर मैं दुःखित होती हूँ ॥ २१ ॥

तदर्हसीमां वसतिं विसृज्य मामभ्युपैतुं कुलराजधानीम् ।
हित्वा तनुं कारणमानुषीं तां यथा गुरुस्ते परमात्ममूर्तिम् ॥२२॥

तदिति । तत्तस्मादिमां वसतिं कुशावतीं विसृज्य कुलराजधानीं राज्ञा धीयतेऽस्यामिति राजधानी तामयोध्यां मामभ्युपैतुमर्हसि । कथमिव । ते गुरुः पिता रामस्तां प्रसिद्धां कारणवशान्मानुषीं तनुं मानुषमूर्तिं हित्वा परमात्ममूर्तिं यथा विष्णुमूर्तिमिव ॥ २२ ॥

इस कारण तुम इस (कुशावती नगरी) को छोड़कर कुल-राजधानी (अयोध्या) को मुझे उस प्रकार प्राप्त करो जिस प्रकार तुम्हारे पिता (राम) ने कारणवश प्राप्त किये हुए मानव-शरीरको छोड़कर परमात्माकी मूर्तिको प्राप्त कर लिया ॥ २२ ॥

तथेति तस्याः प्रणयं प्रतीतः प्रत्यग्रहीत्प्राग्रहरो रघूणाम् ।
पूरप्यभिव्यक्तमुखप्रसादा शरीरबन्धेन तिरोबभूव ॥ २३ ॥

तथेतीति । रघूणां प्राग्रहरः श्रेष्ठः कुशस्तस्याः पुरः प्रणयं याच्ञां प्रतीतो हृष्टः सन् तथेति प्रत्यग्रहीत्स्वीकृतवान् । पूः पुराधिदेवताऽप्यभिव्यक्तमुखप्रसादा सती । हृष्टा सतीति भावः, शरीरबन्धेन शरीरयोगेन करणेन तिरोबभूवान्तर्दधे मानवं रूपं विहाय दैवं रूपमग्रहीदित्यर्थः ॥ २३ ॥

रघुवंशियों में श्रेष्ठ कुशने प्रसन्न होकर उस (नगरी की अधिष्ठात्री देवता) की याचना को वैसा ही हो इस प्रकार स्वीकार कर लिया और प्रसन्नमुखवाली वह (नगरी की अधिष्ठात्री देवता) भी शरीरत्यागसे अन्तर्धान हो गयी अर्थात् मनुष्य रूपमान मानव-शरीरको छोड़कर अपना देवशरीर को धारण कर लिया ॥ २३ ॥

तदद्भुतं संसदि रात्रिवृत्तं प्रातर्द्विजेभ्यो नृपतिः शशंस ।
श्रुत्वा त एनं कुलराजधान्या साक्षात्पतित्वे वृतमभ्यनन्दन् ॥२४॥

तदिति । नृपतिः कुशस्तदद्भुतं रात्रिवृत्तं रात्रिवृत्तान्तं प्रातः संसदि सभायां द्विजेभ्यः शशंस । ते द्विजाः श्रुत्वैनं कुशं कुलराजधान्या साक्षात्स्वयमेव पतित्वे विषये वृतमभ्यनन्दन् । पतित्वेन वृतोऽसीत्यपूजयन् । आशीर्भिरिति शेषः । अत्र गार्ग्यः—'दृष्ट्वा स्वप्नं शोभनं नैव सुप्यात्पश्चाद् दृष्टो यः स पाकं विधत्ते । तदेवेति तत्र साधुर्द्विजेभ्यस्तस्य कार्यास्ति श्रीप्रवेशमुपरोद्धम' इत्यपि स्वप्नशुभमिति भावः ॥

राजा (कुश) ने प्रातःकाल सभामें आश्चर्यजनक उस रात्रिके वृत्तान्तको ब्राह्मणोंसे कहा और उन्होंने साक्षात् कुलराजधानी (अयोध्या) के द्वारा पतिरूपमें स्वीकृत उन कुशका (आशीर्वाद देकर) अभिनन्दन किया ॥ २४ ॥

कुशावतीं श्रोत्रियसात्स कृत्वा यात्रानुकूलेऽहनि सावरोधः ।
अनुद्रुतो वायुरिवाभ्रवृन्दैः सैन्यैरयोध्याभिमुखः प्रतस्थे ॥२५॥

कुशावतीमिति । स कुशः कुशावतीं श्रोत्रियेभ्यश्छान्दसेभ्योऽधीनां श्रोत्रियसात् । तदधीनवचने इति सातिप्रत्ययः । 'श्रोत्रियंश्छन्दोऽधीते' इति निपातः । 'श्रोत्रियच्छान्दसौ समौ' इत्यमरः । कृत्वा यात्रानुकूलेऽहनि सावरोधः साऽन्तःपुरः सन् । वायुरभ्रवृन्दैरिव । सैन्यैरनुद्रुतोऽनुगतः सन्नयोध्याभिमुखः प्रतस्थे ॥ २५ ॥

वे कुश कुशावती नगरीको वेदपाठी ब्राह्मणोंके अधीन कर (उन्हें दान देकर) यात्राके अनुकूल (शुभ मुहूर्त्तयुक्त) दिनमें अन्तःपुरके सहित मेघसमूहसे अनुगत वायुके समान सेनासे अनुगत होकर अयोध्याको चले ॥ २५ ॥

सा केतुमालोपवना बृहद्भिर्विहारशैलानुगतेव नागैः ।
सेना रथोदारगृहा प्रयाणे तस्याभवज्जङ्गमराजधानी ॥ २६ ॥

सेति । केतुमाला एवोपवनानि यस्याः सा बृहद्भिर्नागैर्गजैर्विहारशैलैः क्रीडाशैलैरनुगतेव स्थिता । रथा एवोदारगृहा यस्याः सा सेना तस्य कुशस्य प्रयाणे जङ्गमराजधानी सञ्चारिणी नगरीवाभवद्बभूव ॥ २६ ॥

यात्रामें पताकाओंकी पङ्क्तियाँ ही हैं उपवन जिसकी ऐसी, बडे-बडे हाथियोंसे क्रीडापर्वतके समान स्थित, रथरूपी मनोहर भवनोंवाली वह सेना उस कुशकी जङ्गम (चलने-फिरने वाली) राजधानी हुई ॥ २६ ॥

तेनातपत्रामलमण्डलेन प्रस्थापितः पूर्वनिवासभूमिम् ।
बभौ बलौघः शशिनोदितेन वेलामुदन्वानिव नीयमानः ॥ २७ ॥

तेनेति । आतपत्रमेवामलं मण्डलं बिम्बं यस्य तेन तेन कुशेन पूर्वनिवासभूमिमयोध्यां प्रति प्रस्थापितो बलौघः । आतपत्रवदमलमण्डलेनोदितेन शशिना वेलां नीयमानः प्राप्यमाणः । उदकमस्यास्तीत्युदन्वान् उदधिरिव बभौ । 'उदन्वानुदधौ च' इति निपातनात्साधु ॥ २७ ॥

श्वेतच्छत्ररूप निर्मल मण्डलवाले कुशके द्वारा प्रथम निवासस्थान (अयोध्या पुरी) को भेजा गया सेनासमूह उगे हुए श्वेतच्छत्रके समान निर्मल (एवं गोल) मण्डलवाले चन्द्रमाके द्वारा तीर पर लाये जाते हुए समुद्रके समान शोभित हुआ। (चन्द्रमाके उदय होनेपर समुद्रका तीरकी ओर बढना सर्वानुभवसिद्ध है)॥ २७ ॥

तस्य प्रयातस्य वरूथिनीनां पीडामपर्याप्तवतीव सोढुम् ।
वसुन्धरा विष्णुपदं द्वितीयमध्यारुरोहेव रजश्छलेन ॥ २८ ॥

तस्येति । प्रयातस्य प्रस्थितस्य तस्य कुशस्य वरूथिनीनां सेनानां कर्त्रीणाम् । "कर्तृकर्मणोः कृति' इति कर्तरि षष्ठी । पीडां सोढुमपर्याप्तवतीवाशक्तेव वसुन्धरा रजश्छलेन द्वितीयं विष्णुपदमाकाशमध्यारुरोहेव । इत्युत्प्रेक्षा ॥ २८ ॥

प्रस्थान किये हुए कुशकी सेनाओंकी पीडा (भार) को नहीं सहती हुईके समान पृथ्वी धूलिके व्याजसे मानो दूसरे विष्णुपद अर्थात् आकाशको चली गयी ॥ २८ ॥

उद्यच्छमाना गमनाय पश्चात्पुरो निवेशे पथि च व्रजन्ती ।
सा यत्र सेना ददृशे नृपस्य तत्रैव सामग्र्यमतिं चकार ॥ २९ ॥

उद्यच्छमानेति । पश्चात्कुशावत्याः सकाशाद्गमनाय प्रयाणाय तथा पुरोऽग्रे निवेशे निमित्ते, निवेष्टुमित्यर्थः । उद्यच्छमानोद्योगं कुर्वती । 'समुदाङ्भ्यो यमोऽग्रन्थे' इत्यस्य सकर्मकाधिकारत्वादात्मनेपदम् । पथि च व्रजन्ती नृपस्य कुशस्य सा सेना यत्र पश्चात्पुरो मध्ये वा ददृशे तत्रैव सामग्र्यमतिं कृत्स्नताबुद्धिं चकार । अपरिमिता तस्य सेनेत्यर्थः ॥ २९ ॥

(कुमाली) नदीके किनारे मार्गमें चलनेके लिये तैयार [illegible] ठहरी हुई तथा मार्गमें चलती हुई कुशकी सेनाको कहींपर (नगरके निकटके भागमें आगे या मार्गमें) लोगोंने देखा कहीं पर 'यह सम्पूर्ण सेना है' ऐसा विचार किया अर्थात् कुशकी सेनाके थोड़ेसे अंशको भी अत्यन्त विशाल होनेसे लोगोंने पूरी सेना समझा ॥ २९ ॥

तस्य द्विपानां मदवारिसेकात्खुराभिघाताच्च तुरङ्गमाणाम् ।
रेणुः प्रपेदे पथि पङ्कभावं पङ्कोऽपि रेणुत्वमियाय नेतुः ॥ ३० ॥

तस्येति । नेतुस्तस्य कुशस्य द्विपानां मदवारिभिः सेकात्तुरङ्गमाणां खुराभिघाताच्च यथासंख्यं पथि रेणू रजः पङ्कभावं पङ्कत्वं प्रपेदे, पङ्कोऽपि रेणुत्वमियाय तस्य तावद्बलमित्यर्थः ॥ ३० ॥

मालिक कुशके हाथियोंके मदजलके सिंचनसे और घोड़ोंके खुरोंके आघात से रास्ते में (क्रमशः) धूलि कीचड़ हो गयी और कीचड़ धूलि हो गया ॥ ३० ॥

मार्गैषिणी सा कटकान्तरेषु वैन्ध्येषु सेना बहुधा विभिन्ना ।
चकार रेवेव महाविरावा बद्धप्रतिश्रुन्ति गुहामुखानि ॥ ३१ ॥

मार्गैषिणीति । वैन्ध्येषु विन्ध्यसम्बन्धिषु कटकान्तरेषु नितम्बावकाशेषु । 'कटकोऽस्त्री नितम्बोऽद्रेः' इत्यमरः । मार्गैषिणी मार्गान्वेषिणी । अत एव बहुधा विभिन्ना । महाविरावा दीर्घशब्दा सा सेना । रेवेव नर्मदेव । 'रेवा तु नर्मदा सोमोद्भवा मेकलकन्यका' इत्यमरः । गुहामुखानि बद्धप्रतिश्रुन्ति प्रतिध्वानवन्ति चकार ॥ ३१ ॥

विन्ध्य पर्वतके मध्यभागमें मार्गको खोजती हुई अनेक टुकड़ियोंमें विभक्त उच्च शब्द करती हुई उस सेनाने महाध्वनि करती हुई रेवा नदीके समान गुफाओंको प्रतिध्वनित कर दिया ॥ ३१ ॥

स धातुभेदारुणयाननेमिः प्रभुः प्रयाणध्वनिमिश्रतूर्यः ।
व्यलङ्घयद्विन्ध्यमुपायनानि पश्यन्पुलिन्दैरुपपादितानि ॥ ३२ ॥

स इति । धातूनां गैरिकादीनां भेदेनारुणा यानस्य नेमिश्चक्रधारा यस्य [illegible] प्रयाणे ये ध्वनयः [illegible] तैर्मिश्राणि तूर्याणि यस्य [illegible] स प्रभुः कुशः पुलिन्दैः किरातैरुपपादितानि समर्पितान्युपायनानि पश्यन् । विन्ध्यं व्यलङ्घयत् ॥ ३२ ॥

(पर्वतके) धातुओंके भेदन करनेसे अर्थात् उनको तोड़ते हुए पहियोंसे लाल हो गया है रथके पहियेका घेरा जिसका ऐसे तथा बाजाकी ध्वनि (सेना हाथी घोड़े आदिके शब्द) से मिश्रित हो रहे हैं तूर्य (तुरही बाजा) जिसके ऐसे स्वामी कुश (पर्वतवासी) पुलिन्दोंसे लाये गये उपायनोंको देखते हुए विन्ध्य-पर्वतको लाँघ गये ॥ ३२ ॥

तीर्थे तदीये गजसेतुबन्धात्प्रतीपगामुत्तरतोऽस्य गङ्गाम् ।
अयत्नबालव्यजनीबभूवुर्हंसा नभोलङ्घनलोलपक्षाः ॥ ३३ ॥

तीर्थ इति । तदीये वैन्ध्ये तीर्थेऽवतारे मजा एव सेतुस्तस्य बन्धाद्धेतोः प्रतीपगां पश्चिमवाहिनीं गङ्गामुत्तरतोऽस्य कुशस्य नभोलङ्घनेन लोलपक्षा हंसा अयत्नेन वालव्यजनीवभूवुश्चामराण्यभूवन् । अभूततद्भावे च्वि ॥ ३३ ॥

विन्ध्य के तट पर हाथियों का पुल बन जाने से उलटी अर्थात् पश्चिम दिशा में बहनेवाली गगा के उत्तर भाग में कुशके, आकाश में उड़ने से चञ्चल पक्षोंवाले हस अनायास ही चामर हो गये ॥ ३३ ॥

स पूर्वजानां कपिलेन रोषाद्भस्मावशेषीकृतविग्रहाणाम् ।
सुरालयप्राप्तिनिमित्तमम्भस्त्रैस्रोतसं नौलुलितं ववन्दे ॥ ३४ ॥

स इति । स कुश कपिलेन मुनिना रोषाद्भस्मावशेषीकृता विग्रहा देहा येषां तेषां पूर्वजानां वृद्धाना सगराणां सुरालयस्य स्वर्गस्य प्राप्तौ निमित्तं नौभिर्लुलितं क्षुभितम् । त्रिस्रोतस इदं त्रैस्रोतस गाङ्गमम्भो ववन्दे ॥ ३४ ॥

कुशने कपिल मुनि के क्रोध से भस्मावशिष्ट शरीरवाले अर्थात् जले हुए पुरुषों की स्वर्गप्राप्ति का कारण तथा नौकाओं से चञ्चल गङ्गाजल की वन्दना की ।

पौराणिक कथा—इक्ष्वाकुवंशोत्पन्न राजा सगर ने सौवाँ अश्वमेध यज्ञ करते समय जब यज्ञ के घोडे को छोडा तब अपने पद के छिन जाने के भय से इन्द्रने चुपके से घोडे को पाताल लोक में तपस्या करते हुए कपिल मुनि के आश्रम में बाँध दिया । तदनन्तर उसको खोजते हुए राजा सगर के साठ सहस्र पुत्रों ने पृथ्वी को खोद पाताल में जाकर कपिलमुनि के आश्रम में घोडे को बँधा देख 'इसी कपटी ने इस घोडेको चुराकर यहाँ बाँध रखा है और अब यह हम लोगोंको देख झूठे ध्यान लगाकर बैठ गया है' ऐसा विचार कर उन पर पादप्रहार किया । उससे क्रुद्ध महर्षि ने नेत्रोत्पन्न अग्निसे उन्हें क्षणमात्रमें भस्म कर डाला । बाद घोडे तथा सगर-पुत्रों को खोजते हुए लोगों ने वहाँ जाकर जले हुए साठ सहस्र राजकुमारोंकी भस्मराशि तथा बँधे हुए घोडे और कपिलमुनिको देखकर सब वृत्तान्त मालूम किया और उक्त मुनि के आदेश से ही भस्मीभूत उन लोगों की स्वर्गप्राप्ति के लिए तपस्या द्वारा गङ्गाजी को वहाँ लाने का निश्चय कर तपस्या के लिए हिमालयपर पहुँचकर कठिन तपस्या में लग गये । इस प्रकार वंशानुवंशज के तपस्या करते करते भगीरथ ने गङ्गाजी को प्रसन्न किया और अपने रथ के अनुसार उन्हें कपिलाश्रम में—जहाँ उनके पुरुषा भस्म हुए थे—लाकर उनका उद्धार किया । वर्तमानकाल में उस स्थानको 'गङ्गासागर' कहते हैं और प्रत्येक मकरसंक्रान्ति को स्नानार्थ जहाज द्वारा वहाँ लोग जाते हैं ॥ ३४ ॥

इत्यध्वनः कैश्चिदहोभिरन्ते कूलं समासाद्य कुशः सरय्वाः ।
वेदिप्रतिष्ठान्वितताध्वराणां यूपानपश्यच्छतशो रघूणाम् ॥३५॥

इतीति । इति कैश्चिदहोभिरध्वनोऽन्तेऽवसाने कुश सरय्वा कूल समासाद्य

वितताम्बराणां विस्तृतमखानां रघूणाम्। वेदिः प्रतिष्ठास्पदं येषां तान्। यूपान्प्राप्तोऽपश्यत् ॥ १५ ॥

इस प्रकार (श्लो० १५ १४) कई दिनों में मार्ग के अन्त में सरयू नदी के तीर को पहुँचकर कुशने बड़े-बड़े यज्ञों के करनेवाले रघुवंशियों के, वेदियों पर बने सैकड़ों यज्ञस्तम्भों को देखा ॥ १५ ॥

आपृच्छ्य शाखाः कुसुमद्रुमाणां स्पृष्ट्वा च शीताम्सरयूतरङ्गान्।
तं क्लान्तसैन्यं कुलराजधान्याः प्रत्युज्जगामोपवनान्तवायुः ॥१६॥

आपृच्छ्येति। कुलराजधान्या उपवनान्तवायुः कुसुमद्रुमाणां शाखा आपृच्छ्येव कृत्वा, पुरस्निर्गम्येत्यर्थः। शीताम्सरयूतरङ्गांश्च स्पृष्ट्वा। अनेन शैत्योक्तिः। क्लान्तसैन्यं तं कुशं प्रत्युज्जगाम ॥ १६ ॥

वंशपरम्परागत राजधानी (अयोध्या पुरी) के उपवन की वायु ने पुष्पित वृक्षों की शाखियों को थोड़ा कम्पित कर और सरयू के शीतल तरङ्गों का स्पर्शकर थकी हुई सेनावाले कुश की अगवानी की। (शीतल मन्द और सुगन्ध वायु ने थके हुए सेना के सहित कुश की थकावट (मार्गश्रम) को दूर किया) ॥ १६ ॥

अथोपशल्ये रिपुमग्नशल्यस्तस्याः पुरः पौरसखः स राजा।
कुलध्वजस्तानि चलध्वजानि निवेशयामास बली बलानि ॥१७॥

अथेति। अथ रिपुषु मग्नं शल्यं शङ्कुः यस्य सः। 'शल्यं शङ्कौ शरे वंशे' इति विश्वः। पौराणां सखा पौरसखः। 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' इत्यनेन टच्प्रत्ययः। कुलस्य ध्वजश्चिह्नभूतो बली स राजा चलाश्चञ्चला ध्वजा येषां तानि तानि बलानि सैन्यानि तस्याः पुरः पुर्या उपशल्ये ग्रामान्ते। 'ग्रामान्त उपशल्यं स्यात्' इत्यमरः। निवेशयामास ॥ १७ ॥

शत्रुओं में शल्य (कील तुल्य बाण या बाण) को मग्न करनेवाले नागरिकों (अयोध्यावासियों) के मित्र कुल के ध्वजरूप अर्थात् उन्नत और बली राजा कुशने चञ्चल ध्वजाओं वाली उस सेना को ग्राम के पास में ठहराया ॥ १७ ॥

तां शिल्पिसङ्घाः प्रभुणा नियुक्तास्तथागतां सम्भृतसाधनत्वात्।
पुरं नवीचक्रुरपां विसर्गान्मेघा निदाघग्लपितामिवोर्वीम् ॥१८॥

तामिति। प्रभुणा नियुक्ताः शिल्पिनां सङ्घाः सम्भृतसाधनत्वात्संभृतोपकरणत्वात् तथागतां शून्यामित्यर्थः। पुरमयोध्याम्। मेघा अपां विसर्गात् जलसेकान्निदाघग्लपितां ग्रीष्मतप्तामुर्वीमिव। नवीचक्रुः परिपूरयामासुः ॥ १८ ॥

राजा कुश से नियुक्त कारीगरों ने साधनों के संचित होने से—(पहले) सूनी नगरी (अयोध्या पुरी) को इस प्रकार नयी कर दिया जिस प्रकार मेघ पानी छोड़ने (बरसने) से—गर्मी के द्वारा मुर्झायी हुई पृथ्वी को नयी कर देता है ॥ १८ ॥

ततः सपर्यां सपशूपहारां पुरः परार्ध्यप्रतिमागृहायाः।
उपोषितैर्वास्तुविधानविद्भिर्निर्वर्तयामास रघुप्रवीरः ॥ ३९ ॥

तत इति। ततो रघुप्रवीरः कुशः प्रतिमा देवताप्रतिकृतयः, अर्च्या इत्यर्थः। परार्ध्यप्रतिमागृहायाः प्रशस्तदेवतायतनायाः पुरः उपोषितैर्वास्तुविधानविद्भिः प्रयोज्यैः पशूपहारैः सहितां सपशूपहारां सपर्यां पूजां निर्वर्तयामास कारयामास। अत्र ण्यन्ताण्णिच्पुनरित्यनुसन्धेयम्। अन्यथा वृतेरकर्मकस्याकरोत्यर्थत्वे कारयत्यर्थाभावप्रसङ्गात्। भवितव्यं वृतेरण्यन्तकर्त्रा प्रयोज्यत्वेन तन्निर्देशात्प्रयोगान्तरस्यापेक्षितत्वात् ॥ ३९ ॥

इसके बाद रघुश्रेष्ठ कुशने कुलपूज्य देवताका निवासस्थान उस नगरीकी पशुओंकी बलिसहित पूजाको उपवास किये हुए या समीपस्थ एवं गृह-विधिको जाननेवालों (विद्वानों) के द्वारा पूरा करवाया ॥ ३९ ॥

तस्याः स राजोपपदं निशान्तं कामीव कान्ताहृदयं प्रविश्य।
यथार्हमन्यैरनुजीविलोकं सम्भावयामास यथाप्रधानम् ॥ ४० ॥

तस्या इति। स कुशस्तस्याः पुरः सम्बन्धि राजोपपदं राजशब्दपूर्वं निशान्तं, राजभवनमित्यर्थः। 'निशान्तं भवनोषसोः' इति विश्वः। कामी कान्ताहृदयमिव प्रविश्य। अन्यैर्निशान्तैरनुजीविलोकममात्यादिकं यथाप्रधानं मान्यानुसारेण। यथार्हं यथोचितं, तत्तदुचितगृहैरित्यर्थः। सम्भावयामास सम्भावितवान् ॥ ४० ॥

राजा कुश उस (अयोध्या पुरी) के राजपूर्वक निशान्त (भवन) अर्थात् राजभवनमें कान्ताके मनमें कामीके समान प्रवेश कर अन्यान्य (दूसरे दूसरे) भवनोंके द्वारा प्रधानके क्रमसे अनुचरोंका सत्कार किया। (स्वयं राजभवनमें प्रवेश कर मन्त्री आदिके निवास करनेके लिये योग्यतानुसार दूसरे भवनोंको देकर अन्यान्य अनुचरोंका सत्कार किया) ॥ ४० ॥

सा मन्दुरासंश्रयिभिस्तुरङ्गैः शालाविधिस्तम्भगतैश्च नागैः।
पूरावभासे विपणिस्थपण्या सर्वाङ्गनद्धाभरणेव नारी ॥ ४१ ॥

सेति। विपणिस्थानि पण्यानि क्रयविक्रयार्हवस्तूनि यस्याः सा। 'विपणिः पण्यवीथिका' इत्यमरः। सा पूरयोध्या मन्दुरासंश्रयिभिरश्वशालासंश्रयणशीलैः। 'वाजिशाला तु मन्दुरा' इत्यमरः। 'जिदृक्षि–' इत्यादिनेनिप्रत्ययः। तुरङ्गैरश्वैः। शालासु गेहेषु ये विधिना स्थापिताः स्तम्भास्तान्गतैः प्राप्तैर्नागैश्च। सर्वाङ्गेषु नद्धान्याभरणानि यस्याः सा नारीव। आवभासे ॥ ४१ ॥

बाजारकी श्रेणियोंमें रखी हुई विक्रेय वस्तुओंवाली वह नगरी घुड़शालाओंमें रहनेवाले घोड़ोंसे तथा गजशालाओंमें सविधि स्थापित खम्भों में बँधे हुए हाथियोंसे सम्पूर्ण शरीर में आभूषण पहनी हुई स्त्रीके समान शोभित हुई ॥ ४१ ॥

वसन्स तस्यां वसतौ रघूणां पुराणशोभामधिरोपितायाम् ।
न मैथिलेयः स्पृहयाम्बभूव भर्त्रे दिवो नाप्यलकेश्वराय ॥ ४२ ॥

वसन्निति । स मैथिलेयः कुशः पुराणशोभां पूर्वशोभामधिरोपितायां तस्यां रघूणां वसतावयोध्यायां वसन् । दिवो भर्त्रे देवेन्द्राय तथाऽलकेश्वराय कुबेरायापि न स्पृहयाम्बभूव, तावपि न गणयामासेत्यर्थः । 'स्पृहेरीप्सितः' इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । एतेनायोध्याया अमरावत्यलकाभ्यामाधिक्यं गम्यते ॥ ४२ ॥

प्राचीन शोभाको पुनः प्राप्त की हुई रघुवंशियोंकी उस नगरी (अयोध्या पुरी) में निवास करते हुए मैथिलीकुमार कुशने स्वर्गाधीश (इन्द्र) तथा अलकाधीश (कुबेर) की भी स्पृहा नहीं की अर्थात् अपने सामने इन्द्र और कुबेरको भी कुछ नहीं समझा ॥४२॥

कुशस्य कुमुद्वतीसङ्गमं प्रस्तौति—

अथास्य रत्नग्रथितोत्तरीयमेकान्तपाण्डुस्तनलम्बिहारम् ।
निःश्वासहार्यांशुकमाजगाम धर्मः प्रियावेशमिवोपदेष्टुम् ॥ ४३ ॥

अथास्येति । अथास्य कुशस्य । रत्नैर्ग्रथितमधिग्रथितमुत्तरीयाणि यस्मिंस्तम् । एकान्तमत्यन्तं पाण्ड्वोः स्तनयोर्लम्बिनो हारा यस्मिंस्तम् । निःश्वासहार्याण्यतिसूक्ष्माण्यंशुकानि यत्र तम् । एवं शीतलमार्द्रं प्रियाया वेषं नेपथ्यमुपदेष्टुमिव धर्मो ग्रीष्म आजगाम ॥ ४३ ॥

इसके बाद कुशको रत्नों से गुथे हुए दुपट्टेवाले, अत्यन्त निर्मल स्तनोंपर लटकते हुए हारवाले और श्वाससे हटाने योग्य अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म वस्त्रवाले प्रियाके वेषको मानो उपदेश करनेके लिये ग्रीष्मकाल आया ॥ ४३ ॥

अगस्त्यचिह्नादयनात्समीपं दिगुत्तरा भास्वति संनिवृत्ते ।
आनन्दशीतामिव बाष्पवृष्टिं हिमस्रुतिं हैमवतीं ससर्ज ॥ ४४ ॥

अगस्त्येति । अगस्त्यः चिह्नं यस्य तस्मादयनाद्दक्षिणमार्गाद्दक्षिणायनाद्भास्वति समीपं संनिवृत्ते सति । उत्तरा दिक् । आनन्दशीतां बाष्पवृष्टिमिव । हैमवतीं हिमवत्सम्बन्धिनीं हिमस्रुतिं हिमनिष्यन्दं ससर्ज । अत्र प्रोषितप्रियासमागमसमाधिर्गम्यते ॥

दक्षिणायनसे सूर्यके (अपने) पास लौटनेपर उत्तर दिशाने आनन्दसे शीतल वाष्पवृष्टिके समान हिमालयकी हिमस्रुतिको छोड़ा अर्थात् हिमकी ओस बहने लगी ॥ ४४ ॥

प्रवृद्धतापो दिवसोऽतिमात्रमत्यर्थमेव क्षणदा च तन्वी ।
उभौ विरोधक्रियया विभिन्नौ जायापती सानुशयाविवास्ताम् ॥

प्रवृद्ध इति । अतिमात्रं प्रवृद्धतापो दिवसः । अत्यर्थमेवातिमात्रं तन्वी कृशा क्षणदा च ह्रस्वेतावुभौ । विरोधक्रियया प्रणयकलहरूपया विरोधाचरणेन विभिन्नौ सानुशयौ सानुतापौ जायापती दम्पती इव आस्ताम् तयोरपि तापकार्श्यसम्भवात्समानतामित्यर्थः ॥ ४५ ॥

अत्यन्त सन्तापयुक्त दिन और अत्यन्त दुर्बल अर्थात् छोटी रात्रि—ये दोनों, प्रणयकलह आदि परस्पर विरुद्ध व्यवहारसे पृथक् हुए पश्चात्तापयुक्त दम्पती (स्त्री-पुरुष) के समान थे ॥ ४५ ॥

दिने दिने शैवलवन्त्यधस्तात्सोपानपर्वाणि विमुञ्चदम्भः ।
उद्दण्डपद्मं गृहदीर्घिकाणां नारीनितम्बद्वयसं बभूव ॥ ४६ ॥

दिने दिने इति । दिने दिने प्रतिदिनं शैवलवन्त्यधस्ताद्यानि सोपानानां पर्वाणि मङ्क्षस्तानि विमुञ्चत् । अत एवोद्दण्डपद्मं गृहदीर्घिकाणामम्भः । नारीनितम्बः प्रमाणमस्य नारीनितम्बद्वयसं बभूव, विहारयोग्यमभूदित्यर्थः । 'प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः' इति द्वयसच्प्रत्ययः ॥ ४६ ॥

प्रतिदिन शेवालयुक्त सीढियोंको छोड़ता (घटता) हुआ (अतएव जलसे) ऊपर उठे हुए डण्ठलयुक्त कमलवाला भवनोंकी बावरियोंका पानी स्त्रियोंके नितम्बके बराबर रह गया ॥

वनेषु सायन्तनमल्लिकानां विजृम्भणोद्गन्धिषु कुड्मलेषु ।
प्रत्येकनिक्षिप्तपदः सशब्दं संख्यामिवैषां भ्रमरश्चकार ॥ ४७ ॥

वनेष्विति । वनेषु विजृम्भणेन विकासेनोद्गन्धिषूत्कटसौरभेषु । 'गन्धस्य—' इत्यादिना समासान्त इकारादेशः । सायन्तनमल्लिकानां कुड्मलेषु सशब्दं यथा तथा प्रत्येकमेकैकस्मिन्निक्षिप्तपदः, मकरन्दलोभादित्यर्थः । भ्रमर एषां कुड्मलानां सङ्ख्यां गणनां चकारेव ॥ ४७ ॥

वनमें खिलनेसे उत्कट गन्धवाले सायङ्कालीन मल्लिका-पुष्पोंकी कलिकाओंपर शब्द पूर्वक (गुञ्जनके साथ साथ प्रत्येकपर) पैर रखता (बैठता) हुआ भ्रमर मानो इनकी गिन्ती कर रहा था ॥ ४७ ॥

स्वेदानुविद्धार्द्रनखक्षताङ्के भूयिष्ठसंदष्टशिखं कपोले ।
च्युतं न कर्णादपि कामिनीनां शिरीषपुष्पं सहसा पपात ॥ ४८ ॥

स्वेदानुविद्धेति । स्वेदानुविद्धमार्द्रं नूतनं नखक्षतमङ्को यस्य तस्मिन्कामिनीनां कपोले भूयिष्ठमत्यर्थं सन्दष्टशिखं विश्लिष्टकेसरम् । अत एव कर्णाच्च्युतमपि शिरीषपुष्पं सहसा न पपात ॥ ४८ ॥

स्वेद (पसीना) से युक्त, आर्द्र (ताजा) नखक्षतसे चिह्नित कामिनियोंके कपोलमें अत्यन्त पृथग्भूत केसरवाला अत एव कानसे गिरा हुआ भी शिरीषका पुष्प एकाएक नहीं गिरा (किन्तु पसीनेसे गीले तथा आर्द्र नखक्षतमें सट जानेसे कुछ विलम्बसे गिरा) ॥४८॥

यन्त्रप्रवाहैः शिशिरैः परीतान्रसेन धौतान्मलयोद्भवस्य ।
शिलाविशेषानधिशय्य निन्युर्धारागृहेष्वातपमृद्धिमन्तः ॥ ४९ ॥

यन्त्रप्रवाहैरिति । ऋद्धिमन्तो धनिका धारागृहेषु यन्त्रधारागृहेषु शिशिरैर्यन्त्र-

प्रवीर्यैर्व्यसक्तारितसविकल्पैः परीतान्याशामव्योमवस्य रसैन कम्पयेत्येन शीतान्वर्पक्तिसम्बिकाविषेयान्मभिमयासमान्यधिसम्य तेषु कविताऽऽत्प विन्नु रावपरिहारं चक्रुः ॥ ४९ ॥

धनिकोंने चौम्बारोंवाले घरोंमें उनके चौम्बारोंसे युक्त तथा चन्दन-जल से धोये गये पत्थरोंपर सोकर ग्रीष्मको बिताया ॥ ४९ ॥

आगाढमुक्तेष्वनुधूपवासं　　विन्यस्तसायन्तनमल्लिकेषु ।
कामो वसन्तात्ययमन्दवीर्यः केशेषु लेभे बलमङ्गनानाम् ॥५०॥

आगाढेति । वसन्तस्यात्ययेन सहकारिणोऽपायेनातिक्रमेण मन्दवीर्योऽल्पशक्तिः कामः आगाढाश्च ते मुक्ताश्च धूपसंस्कारार्थमित्यर्थः । तेषु अनुधूपवासं धूपवासा-नन्तरं विन्यस्ता सायन्तनमल्लिका येषु तेषु । अङ्गनानां केशेषु बलं लेभे देदीपित इत्यर्थः ॥ ५० ॥

वसन्त ऋतुके बीतनेसे शिथिलशक्ति कामदेवने कामसे बांधे गये खुले हुए तथा धूप-बासने सुगन्धित कर सायंकालमें गुथे हुए, मल्लिकाके फूलोंवाले कामिनियोंके केशोंमें शक्ति प्राप्त किया अर्थात् उस समयसे कामिनियोंके बालोंको देखनेसे कामोद्दीपन हुआ ॥ ५० ॥

आपिञ्जरा बद्धरजःकणत्वान्मञ्जर्युदारा शुशुभेऽर्जुनस्य ।
दग्ध्वाऽपि देहं गिरिशेन रोषात्खण्डीकृता ज्येव मनोभवस्य ॥५१॥

आपिञ्जरेति । बद्धरजःकणत्वात् व्याप्तरजःकणत्वात् आपिञ्जरा ईषत्पिङ्गला उदारा महती अर्जुनस्य ककुभवृक्षस्य । 'इन्द्रद्रुः ककुभोऽर्जुनः' इत्यमरः । मञ्जरी देहं दग्ध्वापि रोषाद्धेतोः गिरिशेन गिरिरस्त्यस्य निवासत्वेन गिरिशस्तेन । लोमादित्वाच्छप्रत्ययः । गिरौ शेत इति विग्रहे तु 'गिरौ डश्छन्दसि' इत्यस्य छन्दसि विधानाल्लोके प्रयोगानुपपत्तिः स्यात् । तस्मात्पूर्वोक्तमेव विग्रहवाक्यं व्याख्येयम् । खण्डीकृता मनोभवस्य ज्या मौर्वीव शुशुभे ॥ ५१ ॥

पराग-कणोंसे व्याप्त होनेसे लगभग पिङ्गलित बड़ी अर्जुन वृक्षकी मञ्जरी (कामके) शरीरको जलाकर भी क्रोधसे शिवजीके द्वारा खण्डित कामदेवकी प्रत्यञ्चा (धनुषकी डोर) के समान शोभती थी ॥ ५१ ॥

मनोज्ञगन्धं सहकारभङ्गं पुराणसीधुं नवपाटलं च ।
सम्बध्नता कामिजनेषु दोषाः सर्वे निदाघावधिना प्रमृष्टाः ॥ ५२ ॥

मनोज्ञेति । मनोज्ञगन्धमिति सर्वत्र सम्बध्यते । सहकारभङ्गं चूतपल्लवखण्डम् । पुराणं वासितं चिरसंभृतमिति सीधुः पक्वेक्षुरसप्रकृतिका सुराविशेषस्तम् । 'सीधुः' इत्युणादिसूत्रेण 'षीञ् स्वप्ने' इत्यस्माद्धातोर्धुक्प्रत्ययः । 'पक्वैरिक्षुरसैः सीधुः पक्वरसा स्मिता' इति यादवः । नवं पाटलकुसुमं पाटलं च सम्बध्नता संघट्टयता निदाघावधिना ग्रीष्मकालेन । 'अवधिस्त्ववधाने स्यात्सीम्नि काले बिलेऽपि

'च' इति विश्वः। कामिजनेषु विषये सर्वे दोषास्तापादय प्रमृष्टा परिहृताः ॥ ५२ ॥

सुगन्धित आमके पल्लव-खण्ड, पुराण (सुवासित) गन्नेका मद्य और नये पाटलाके-पुष्पको सङ्घटित करते हुए ग्रीष्मकालने कामियोंके विषयमें सब दोषोंको दूर कर दिया अर्थात् ग्रीष्मकालमें सुगन्धित आम्र-पल्लवखण्ड आदिके द्वारा कामोत्तेजन होनेसे उन कामियोंकी सम्पूर्ण कमी पूरी हो गयी ॥ ५२ ॥

जनस्य तस्मिन्समये विगाढे बभूवतुर्द्वौ सविशेषकान्तौ ।
तापापनोदक्षमपादसेवौ स चोदयस्थौ नृपतिः शशी च ॥ ५३ ॥

जनस्येति। तस्मिन्समये ग्रीष्मे विगाढे कठिने सति जनस्य द्वौ सविशेष सातिशयं यथा तथा कान्तौ बभूवतु। कौ द्वौ? तापापनोदे क्षमा योग्या पादयोरङ्घ्र्योः पादानां रश्मीनां च सेवा ययोस्तावुदयस्थावभ्युदयस्थौ स च नृपति शशी च ॥

ताप (चन्द्रपक्षमें—गर्मी तथा कुशपक्षमें—सन्ताप = दु ख) के अत्यन्त तीव्र होनेपर लोगोंके लिये ताप (चन्द्रपक्षमें—गर्मी, कुशपक्षमें—दु ख) के दूर करनेमें समर्थ पादों (चन्द्रपक्षमें—किरणों तथा कुशपक्षमें—चरणों) की सेवावाले उदयप्राप्त राजा कुश तथा चन्द्र—ये दोनों ही अत्यन्त प्रिय हुए ॥ ५३ ॥

अथोर्मिलोलोन्मदराजहंसे रोधोलतापुष्पवहे सरय्वाः ।
विहर्तुमिच्छा वनितासखस्य तस्याम्भसि ग्रीष्मसुखे बभूव ॥५४॥

अथेति। अथोर्मिषु लोला सतृष्णा उन्मदा राजहसा यस्मिस्तस्मिन्। 'लोल श्चलसतृष्णयो' इत्यमर। रोधोलतापुष्पाणा वहे प्रापके। पचाद्यच्। ग्रीष्मेषु सुखे सुखकरे सरय्वा अम्भसि पयसि तस्य कुशस्य वनितासखस्य, वनिताभि सहेत्यर्थः। विहर्तुमिच्छा बभूव ॥ ५४ ॥

इसके बाद तरङ्गोंसे चञ्चल या सतृष्ण एव उन्मद राजहंसोंवाले तथा तीरस्थ लताओंके फूलोंको बहानेवाले ग्रीष्मकालमें सुखप्रद सरयू-नदीके जलमें स्त्रीके साथ राजा कुशकी विहार करनेकी इच्छा हुई ॥ ५४ ॥

स तीरभूमौ विहितोपकार्यामानायिभिस्तामपकृष्टनक्राम् ।
विगाहितुं श्रीमहिमानुरूपं प्रचक्रमे चक्रधरप्रभावः ॥ ५५ ॥

स इति। चक्रधरप्रभावो विष्णुतेजा स कुशस्तीरभूमौ विहितोपकार्या यस्यास्ताम्। आनायो जालमेषामस्तीत्यानायिनो जालिका। 'जालमानाय' इति निपात। 'आनाय पुसि जाल स्यात्' इत्यमर। तैरपकृष्टनक्रामपनीतग्राहा ता सरयू श्रीमहिम्नो सम्पत्प्रभावयोरनुरूप योग्य यथा तथा विगाहितु प्रचक्रमे। अत्र कामन्दक—'परितापिषु वासरेषु पश्यस्तटलेखास्थितमाप्तसैन्यचक्रम्। सुविशोधितनक्रमीनजाल व्यवगाहेत जल सुहृत्समेत ॥' इति ॥ ५५ ॥

विष्णुतुल्य प्रभाववाले कुश जिसके तटपर सामियाना, टेण्ट आदि लगे हैं ऐसी, जाल-

वालों (मल्लाहों) द्वारा मथनसे क्षोभ को प्राप्त सरयूमें स्थिति तथा प्रवाहके अनुसार जलक्रीडा करने लगीं ॥ ५५ ॥

सा तीरसोपानपथावतारादन्योन्यकेयूरविघट्टिनीभिः ।
सनूपुरक्षोभपदाभिरासीदुद्विग्नहंसा सरिदङ्गनाभिः ॥ ५६ ॥

सेति । सा सरित्सरयूस्तीरसोपानपथेनावतारादवतरणादन्योन्यं केयूरविघट्टिनीभिः संघट्टनशीलाभिः सनूपुरक्षोभाणि सनूपुरस्वनानि पदानि यासां ताभिरङ्गनाभिर्हेतुभिरुद्विग्नहंसा भीतहंसाऽऽसीत् ॥ ५६ ॥

वह (सरयू) नदी तीरस्थ सीढ़ियोंके रास्ते उतरनेके कारण (अधिकतम संख्या होनेसे) परस्परमें बाजूबन्दोंके संघर्षवाली तथा बजते हुए नूपुरोंवाली स्त्रियोंसे व्याकुल हंसोंवाली हो गयी (अत्यधिक जनसङ्घर्षसे सरयूके ऊपर रहनेवाले हंस व्याकुल हो गये) ॥ ५६ ॥

परस्पराभ्युक्षणतत्पराणां तासां नृपो मज्जनरागदर्शी ।
नौसंश्रयः पार्श्वगतां किरातीमुपात्तबालव्यजनां बभाषे ॥ ५७ ॥

परस्परेति । नौसंश्रयः परस्परमभ्युक्षणे सेचने तत्पराणामासक्तानां तासां स्त्रीणां मज्जने रागोऽभिलाषस्तद्दर्शी नृपः पार्श्वगतामुपात्तबालव्यजनां गृहीतचामरां किरातीं चामरग्राहिणीं बभाषे । किरातस्तु कुब्जाम्बरे । स्त्रियां चामरधारिण्यां म्लेच्छभेदेऽल्पवर्ष्मणि ॥ इति केशवः ॥ ५७ ॥

नावपर बैठे हुए तथा परस्परमें पानीका छींटा फेंकती हुई उन स्त्रियोंके स्नानमें राग (अभिलाष) को देखनेवाले राजा कुशने चँवर डुलाती हुई पार्श्ववर्तिनी किरातीसे कहा—

पश्यावरोधैः शतशो मदीयैर्विगाह्यमानो गलिताङ्गरागैः ।
सन्ध्योदयः साभ्र इवैष वर्णं पुष्यत्यनेकं सरयूप्रवाहः ॥ ५८ ॥

पश्येति । गलिताङ्गरागैर्मदीयैः शतशोऽवरोधैर्विगाह्यमानो विलोड्यमान एष सरयूप्रवाहः । साभ्रः समेघः सन्ध्योदयः सन्ध्याऽऽविर्भाव इव । अनेकं नानाविधं वर्णं रक्तपीतादिकं पुष्यति पश्य । वाक्यार्थः कर्म ॥ ५८ ॥

देखो—छूटे हुए अङ्गराग (कुङ्कुमादि) वाली मेरी सैकड़ों अन्तःपुरकी स्त्रियोंसे विलोडित यह सरयूका प्रवाह मेघयुक्त सन्ध्याकालके समान अनेक रङ्गोंको प्राप्त कर रहा है ॥ ५८ ॥

विलुप्तमन्तःपुरसुन्दरीणां यदञ्जनं नौलुलिताभिरद्भिः ।
तद्बध्नतीभिर्मदरागशोभां विलोचनेषु प्रतिमुक्तमासाम् ॥ ५९ ॥

विलुप्तमिति । नौलुलिताभिर्नौक्षोभिताभिरद्भिरन्तःपुरसुन्दरीणां यदञ्जनं कज्जलं विलुप्तं हृतं तदञ्जनं विलोचनेषु नयनेषु मदेन वा रागशोभां तां बध्नतीभिर्जनयन्तीभिरद्भिरासां प्रतिमुक्तं प्रत्यर्पितम् । प्रतिनिधिविधानमपि तात्पर्यकारित्वान्नवर्णनीयमिति भावः ॥ ५९ ॥

नावसे सञ्चालित पानी ने रनिवास की सुन्दरियोंके जिस अञ्जन को नष्ट कर दिया (धो डाला) है, उस अञ्जनको इन सुन्दरियों के नेत्रों में मदराग की सुन्दरता करनेवाले पानीने वापस कर दिया अर्थात् पानी से अञ्जन के धुल जाने पर भी उनकी आँखों में स्नान करने से मदरागसौन्दर्य (लालिमा) आ गया है ॥ ५९ ॥

एता गुरुश्रोणिपयोधरत्वादात्मानमुद्वोढुमशक्नुवत्यः ।
गाढाङ्गदैर्बाहुभिरप्सु बालाः क्लेशोत्तरं रागवशात्प्लवन्ते ॥ ६० ॥

एता इति । गुरु दुर्वहं श्रोणिपयोधरं यस्यात्मन इति विग्रहः । गुरुश्रोणिपयोधरत्वादात्मानं शरीरमुद्वोढुमशक्नुवत्य एता बालाः गाढाङ्गदैः श्लिष्टाङ्गदैर्बाहुभिः क्लेशोत्तरं दुःखप्राय यथा तथा रागवशात्क्रीडाभिनिवेशपारतन्त्र्यात्प्लवन्ते तरन्ति ॥६०॥

नितम्बों तथा स्तनों के दुर्वह (भारी) होने से देहके ढोने में असमर्थ होती हुई बालाएँ चिपके हुए बाजूबन्दोंवाले बाहुओं से (जलक्रीडा के लिए) अधिक चाहना होने से क्लेशपूर्वक (कठिनता से) पानी में तैरती हैं ॥ ६० ॥

अमी शिरीषप्रसवावतंसाः प्रभ्रंशिनो वारिविहारिणीनाम् ।
पारिप्लवाः स्रोतसि निम्नगायाः शैवाललोलांश्छलयन्ति मीनान् ॥

अमी इति । वारिविहारिणीनामासां प्रभ्रंशिनो भ्रष्टा निम्नगाया श्रोतसि पारिप्लवाश्चञ्चला । 'चञ्चलं तरलं चैव पारिप्लवपरिप्लवे' इत्यमर । अमी शिरीषप्रसवा एवावतसा कर्णभूषा शैवाललोलाञ्जलनीलीप्रियान् । 'जलनीली तु शैवालम्' इत्यमरः । मीनांश्छलयन्ति प्रादुर्भावयन्ति । शैवालप्रियत्वाच्छिरीषेषु शैवालभ्रमात्प्रादुर्भवन्तीत्यर्थः ॥ ६१ ॥

जलविहार करनेवाली इन सुन्दरियों के गिरे हुए तथा नदी (सरयू) के जल में चञ्चल ये शिरीषपुष्प-निर्मित कर्णभूषण शेवाल में चञ्चल मछलियों को वञ्चित करती हैं। (शेवाल के भ्रम से मछलियाँ इन शिरीष-पुष्प-रचित कर्णभूषणों में शरीर रगड़ने के लिए जाकर वञ्चित हो जाती हैं) ॥ ६१ ॥

आसां जलास्फालनतत्पराणां मुक्ताफलस्पर्धिषु शीकरेषु ।
पयोधरोत्सर्पिषु शीर्यमाणः संलक्ष्यते न च्छिदुरोऽपि हारः ॥६२॥

आसामिति । जलस्यास्फालने तत्पराणामासक्तानामासां स्त्रीणां मुक्ताफलस्पर्धिषु मौक्तिकानुकारिषु पयोधरेषु स्तनेषूत्सर्पन्त्युत्पतन्ति ये तेषु शीकरेषु शीकराणां मध्ये शीर्यमाणो गलन्हारोऽत एव छिदुरः स्वयं छिन्नोऽपि न संलक्ष्यते । 'विदिभिदिच्छिदे कुरच्' इति कुरच्प्रत्ययः । शीकरसंसर्गाच्छिन्न इति न ज्ञायत इति भाव ॥

पानी को उछालती हुई इन सुन्दरियों के मुक्ताफल (मोती) के समान तथा स्तनोंपर

(उनके आघात से) उछलते हुए जलकणों (के मध्य) में भीगे होकर (टूटकर) बिखरा हुआ भी हार लक्षित नहीं होता है ॥ ६२ ॥

आवर्तशोभा नतनाभिकान्तेर्भङ्गो भ्रुवां द्वन्द्वचराः स्तनानाम् ।
जातानि रूपावयवोपमानान्यदूरवर्तीनि विलासिनीनाम् ॥६३॥

आवर्तशोभेति । विलासिनीनां विलासवतीनां स्त्रीणाम् । 'वौ कषलसकत्थस्रम्भः' इति घिनुण्प्रत्ययः । रूपावयवानामुपमेयानां यान्युपमानानि लोकप्रसिद्धानि तान्यदूरवर्तीन्यन्तिकस्थानि जातानि । कस्य किमुपमानमित्यत आह—नतनाभिकान्तेर्निम्ननाभिशोभाया आवर्तशोभा । 'स्यादावर्तोऽम्भसां भ्रमः' इत्यमरः । भ्रुवां भङ्गस्तरङ्गः । स्तनानां द्वन्द्वचराश्चक्रवाकाः । उपमानमिति सर्वत्र सम्बध्यते ॥ ६३ ॥

विलासिनियों के रूप तथा अवयवों की उपमाएँ अत्यन्त निकटस्थ हो गयीं (अर्थात्) गहरी नाभि की शोभा को भँवर की भाँति भृकुटि (की शोभा) को तरङ्गें और स्तनों (की शोभा) को चकवा (चकवा हो गये) अर्थात् सुन्दरियों की गहरी नाभि भू और स्तनों की अत्यधिक समानता को क्रमशः पानी के भँवर, तरङ्ग और चकवाक प्राप्त कर रहे हैं ॥ ६३ ॥

तीरस्थलीबर्हिभिरुत्कलापैः प्रस्निग्धकेकैरभिनन्द्यमानम् ।
श्रोत्रेषु सम्मूर्च्छति रक्तमासां गीतानुगं वारिमृदङ्गवाद्यम् ॥६४॥

तीरस्थलीति । उत्कलापैरुद्बर्हैः प्रस्निग्धा मधुराः केका येषां तैस्तीरस्थलीषु स्थितैर्बर्हिभिर्मयूरैरभिनन्द्यमानं रक्तं श्राव्यं गीतानुगं गीतानुसार्यासां स्त्रीणां सम्बन्धि वारीव मृदङ्गस्तस्य वाद्यं वादनम् । श्रोत्रेषु सम्मूर्च्छति व्याप्नोति ॥ ६४ ॥

नाचते हुए, मनोहर केका (मयूरवाणी) वाले तथा तटस्थलीस्थित मयूरोंसे अभिनन्दित होते हुए इनके गीत को अनुगमन करनेवाले इन (जलक्रीडारत विलासिनियों) का जलरूप मृदङ्ग की ध्वनि कानों में व्याप्त हो रही है ॥ ६४ ॥

सन्दष्टवस्त्रेष्वबलानितम्बेष्विन्दुप्रकाशान्तरितोडुतुल्याः ।
अमी जलापूरितसूत्रमार्गा मौनं भजन्ते रशनाकलापाः ॥ ६५ ॥

सन्दष्टेति । सन्दष्टवस्त्रेषु जलक्लेदवशात्संश्लिष्टवस्त्रेष्वबलानां नितम्बेष्विन्दुप्रकाशेन ज्योत्स्नयान्तरितान्याच्छादितान्युडूनि नक्षत्राणि तत्तुल्याः । शुभ्रमसाम्यादिति भावः । अमी जलापूरितसूत्रमार्गाः, निबिड इत्यर्थः । रशना एव कलापा भूषणः । 'कलापो भूषणे बर्हे' इत्यमरः । मौनं निःशब्दतामित्यर्थः । भजन्ते ॥

(भीगने से) सटे हुए कपड़ेवाले स्त्रियों के नितम्बोंपर चाँदनी से छिपे हुए तारागणों के समान ये जलपूर्ण सूत्रमार्गवाले अर्थात् निबिड करधनी रूप भूषण मौन (शब्दरहित) हो रहे हैं ॥ ६५ ॥

एताः करोत्पीडितवारिधारा दर्पात्सखीभिर्वदनेषु सिक्ताः ।
वक्रेतराग्रैरलकैस्तरुण्यश्चूर्णारुणान्वारिलवान्वमन्ति ॥ ६६ ॥

एता इति । दर्पात्सखीजनं प्रति करैरुत्पीडिता उत्सारिता वारिधारा याभिस्ताः स्वयमपि पुनस्तथैव सखीभिर्वदनेषु सिक्ता एतास्तरुण्यो वक्रेतराग्रैर्जलसेकादृजवग्रैरलकै करणैश्चूर्णै कुङ्कुमादिभिररुणान्वारिलवानुदकविन्दून्वमन्ति वर्षन्ति ॥ ६६ ॥

दर्पके कारण हाथसे जलको उछालनेवाला तथा (पुनः उसी प्रकार अर्थात् हाथसे जलको उछालकर) सखियोंके द्वारा मुखमें सिक्त हुई ये (विलासिनियाँ) सीधे अग्रभागवाले केशोंके चूर्णों (केशमें लगाये गये सुगन्धित कुङ्कुमादि चूर्णों) से जलकी लाल लाल बूँदोंको गिरा रही हैं। (आनन्दजन्य दर्पसे विलासिनी स्त्रियाँ एव उनकी सखियाँ परस्परमें एक दूसरेपर हाथसे जल उछाल रही हैं तथा भींगनेसे सीधे अग्रभागवाले इनके बालोंसे कुङ्कुमादि चूर्णोंसे मिश्रित होनेसे जलकी लाल लाल बूँदें टपक रही हैं) ॥ ६६ ॥

उद्बन्धकेशश्च्युतपत्रलेखो विश्लेषिमुक्ताफलपत्रवेष्टः ।
मनोज्ञ एव प्रमदामुखानामम्भोविहाराकुलितोऽपि वेषः ॥ ६७ ॥

उद्बन्धकेशेति । उद्बन्धा उद्भ्रष्टा केशा यस्मिन्स । च्युतपत्रलेख च्युतपत्ररचनः । विश्लेषिणो विस्रसिनो मुक्ताफलपत्रवेष्टा मुक्तामयताटङ्का यस्मिन्स । एवमम्भोविहाराकुलितोऽपि प्रमदामुखाना वेषो नेपथ्यं मनोज्ञ एव । 'रम्याणा विकृतिरपि श्रिय तनोति' इति भाव ॥ ६७ ॥

खुले हुए बालोंवाला, (गण्डस्थलोंपर) धुली हुई पत्ररचनावाला और मोतियोंके बने नाटङ्क (कर्णभूषण विशेष) से रहित एव जल विहारसे अस्तव्यस्त भी विलासिनियोंका वेष मनोहर ही है ॥ ६७ ॥

स नौविमानादवतीर्य रेमे विलोलहारः सह ताभिरप्सु ।
स्कन्धावलग्नोद्धृतपद्मिनीकः करेणुभिर्वन्य इव द्विपेन्द्रः ॥ ६८ ॥

स इति । स कुशो - नौर्विमानमिव नौर्विमानम् । उपमितसमास । तस्मादवतीर्य विलोलहार॰ सन् ताभि स्त्रीभि सह करेणुभि सह स्कन्धावलग्नोद्धृतपद्मिन्युत्पाटिता नलिनी यस्य स तथोक्त॰ सन् । 'नद्यृतश्च' इति कप्प्रत्यय । वन्यो द्विपेन्द्र इव । अप्सु रेमे ॥ ६८ ॥

चञ्चल हारवाले वे कुश विमानके तुल्य नावसे उतरकर उन विलासिनियोंके साथ, हथिनियोंके साथ कन्धेपर स्थित उखाडी हुई कमलिनीवाले हाथीके समान जलमें विहार करने लगे ॥ ६८ ॥

ततो नृपेणानुगताः स्त्रियस्ता भ्राजिष्णुना सातिशय विरेजुः ।
प्रागेव मुक्ता नयनाभिरामा॰ प्राप्येन्द्रनीलं किमुतोन्मयूखम् ॥६९॥

तत इति । ततो भ्राजिष्णुना प्रकाशनशीलेन । 'भुवश्च' इति चकारादिष्णुच् ।

रूपेणानुगताः प्रकृत्यास्ताः स्त्रियः सातिशयं यथा तथा विरेजुः। यथैव इन्द्रनीलको मणिः पूर्वमेव केवलः कपीत्यर्थः। मुक्ता मयूखो नयनाभिरामतरः सम्प्रसूतमिन्द्रनीलं प्राप्य किमुत अभिरामा इति किमु वक्तव्यमित्यर्थः ॥ ६९ ॥

इसके बाद शोभनशील राजा कुशसे अनुगत (सम्मिलित) वे स्त्रियाँ अत्यधिक शोभने लगीं क्योंकि मुक्ताएँ पहले से ही देखनेमें सुन्दर होती हैं फिर कैसी हुई किरणोंवाले इन्द्रनील (नीलम) को पाकर क्या कहना है ? अर्थात् निश्चितरूपसे अधिक शोभती हैं ॥ ६९ ॥

वर्णोदकैः काञ्चनशृङ्गमुक्तैस्तमायताक्ष्यः प्रणयादसिञ्चन्।

तथागतः सोऽतितरां बभासे सधातुनिष्यन्द इवाद्रिराजः ॥७०॥

वर्णोदकैरिति। तं कुशमायताक्ष्यः काञ्चनस्य शृङ्गैर्मुक्तानि तैर्वर्णोदकैः कुङ्कुमादिवर्णद्रव्यसहितोदकैः प्रणयात्स्नेहादसिञ्चन्। तथागतस्तथा स्थितः, वर्णोदकसिक्त इत्यर्थः। स कुशः सधातुनिष्यन्दो गैरिकद्रव्ययुक्तोऽद्रिराज इव। अतितरां बभासेऽत्यर्थं चकासे ॥ ७० ॥

सुवर्णमयी पिचकारियों से छोड़े गये कुङ्कुमादिके रङ्गयुक्त पानीसे विशाल नेत्रोंवाली उन सुन्दरियोंने उस कुशको सिञ्चित किया और वैसे अर्थात् स्त्रियोंके द्वारा रङ्गयुक्त पानी में भीगे हुए वे कुश धातु (गैरिक आदि) के निष्यन्दसे युक्त हिमालयके समान शोभित हुये ॥ ७० ॥

तेनावरोधप्रमदासखेन विगाहमानेन सरिद्वरां ताम्।

आकाशगङ्गारतिरप्सरोभिर्वृतो मरुत्वाननुयातलीलः ॥ ७१ ॥

तेनेति। अवरोधप्रमदासखेनान्तःपुरसुन्दरीसहचरेण तां सरिद्वरां सरयूं विगाहमानेन तेन कुशेनाकाशगङ्गायां रतिः क्रीडा यस्य सोऽप्सरोभिर्वृत आवृतो मरुत्वानिन्द्रोऽनुयातलीलोऽनुकृतश्रीः। अनुकृत इति शेषः। इन्द्रमनुकृतवानित्यर्थः ॥ ७१ ॥

अन्तःपुरकी स्त्रियोंके सहित श्रेष्ठ नदी सरयूमें विहार करते हुये कुशने अप्सराओंके साथ आकाशगङ्गामें रमण (जल क्रीडा) करते हुये इन्द्रकी शोभाको प्राप्त किया ॥ ७१ ॥

यत्कुम्भयोनेरधिगम्य रामः कुशाय राज्येन समं दिदेश।

तदस्य जैत्राभरणं विहर्तुरज्ञातपातं सलिले ममज्ज ॥ ७२ ॥

यदिति। यदाभरणं रामः कुम्भयोनेरगस्त्यादधिगम्य प्राप्य कुशाय राज्येन समं दिदेश ददौ राज्यसममूल्यमित्यर्थः। सलिले विहर्तुं क्रीडितुरस्य कुशस्य तज्जैत्रं जयशीलमाभरणमज्ञातपातं सत् समज्ज बुडोढ ॥ ७२ ॥

राम कुशके (पिता) ने अगस्त्य मुनिसे प्राप्त किया जिसको राज्यके साथ कुशके लिए दिया था वह (कुश) का विजयशील वह आभरण विहार करते हुए गिरकर पानीमें डूब गया ॥ ७२ ॥

स्नात्वा यथाकाममसौ सदारस्तीरोपकार्यां गतमात्र एव ।
दिव्येन शून्यं वलयेन बाहुमपोढनेपथ्यविधिर्ददर्श ॥ ७३ ॥

स्नात्वेति । असौ कुश सदार सन् यथाकाम यथेच्छ स्नात्वा विगाह्य । तीरे योपकार्या पूर्वोक्ता ता गतमात्रो गत एवापोढनेपथ्यविधिरकृतप्रसाधन एव दिव्येन वलयेन शून्य बाहु ददर्श ॥ ७३ ॥

स्त्रियोंके साथ इच्छानुसार स्नान कर तीरस्थित शामियाने (पट निर्मित भवन) में आने ही बिना शृङ्गार किये हुए उस कुशने दिव्य कङ्कणसे सूना हाथ देखा ॥ ७३ ॥

जयश्रियः संवननं यतस्तदामुक्तपूर्वं गुरुणा च यस्मात् ।
नेहेऽस्य न भ्रंशमतो न लोभात्स तुल्यपुष्पाभरणो हि धीरः ॥७४॥

जयश्रिय इति । यत कारणात्तदाभरण जयश्रिय सवनन वशीकरणम् । 'वशक्रिया संवननम्' इत्यमर । यस्माच्च गुरुणा पित्राऽऽमुक्तपूर्वं पूर्वमामुक्तम्, आधृतमित्यर्थं । सुप्सुपेति समास । अतो हेतोरस्याभरणस्य भ्रश नाश न सेहे । लोभात्न । कुत । हि यस्माद्धीरो विद्वान्स कुशस्तुल्यानि पुष्पाण्याभरणानि च यस्य स । पुष्पेष्विवाभरणेषु धृतेषु निर्माल्यबुद्धि करोतीत्यर्थ ॥ ७४ ॥

जिस कारणसे पिता (राम) ने विजयलक्ष्मीका वशीकरण वह भूषण कुशको पहनाया था, अत एव वे (कुश) उस भूषण का गिरना नहीं सह सके (उसके गिरनेसे उन्हें अपार दु ख हुआ), लोभसे नहीं, क्योंकि वे कुश पुष्प तथा भूषणको समान समझते थे ॥ ७४ ॥

ततः समाज्ञापयदाशु सर्वानानायिनस्तद्विचये नदीष्णान् ।
वन्ध्यश्रमास्ते सरयूं विगाह्य तमूचुरम्लानमुखप्रसादाः ॥ ७५ ॥

तत इति । तत नद्यां स्नान्ति कौशलेनेति नदीष्णा तान् । 'सुपि' इति योगविभागात्कप्रत्यय । 'निनदीभ्यां स्नाते कौशले' इति षत्वम् । सर्वानानायिनो जालिकास्तस्याभरणस्य विचयेऽन्वेषणे निमित्ते आशु समाज्ञापयदादिदेश । त आनायिन सरयू विगाह्य विलोड्य वन्ध्यश्रमा विफलप्रयासास्तथाऽपि तद्भर्तिं ज्ञात्वाऽम्लानमुखप्रसादा सश्रीकमुखा सन्तस्त कुशमूचु ॥ ७५ ॥

नदीमें अच्छी तरह गोता लगानेवाले सभी जालिकों (जाल लगानेवाले धीवरों) को उस (पितृदत्त आभरण) को खोजनेके लिये उस कुशने शीघ्र आज्ञा दी । सरयूको विलोडित (उसमें अच्छी तरह खोज) कर व्यर्थ परिश्रमवाले (रत्नको नहीं प्राप्त किए हुए) भी प्रसन्नमुख होते हुए वे (जालिक) उस कुशसे बोले ॥ ७५ ॥

कृतः प्रयत्नो न च देव लब्धं मग्नं पयस्याभरणोत्तमं ते ।
नागेन लौल्यात्कुमुदेन नूनमुपात्तमन्तर्ह्रदवासिना तत् ॥ ७६ ॥

कृत इति । हे देव ! प्रयत्नः कृतः । पयसि मग्न त आभरणोत्तम न च लब्धम् ।

किन्तु तदाभरणमन्तर्ह्रदवासिना कुमुदेन कुमुदाख्येन नागेन पन्नगेन लोभादुपात्तं गृहीतम्। नूनमिति वितर्के ॥ ७६ ॥

हे देव! (हम लोगोंने) यत्न किया (किन्तु) पानी में डूबे हुए आपके उस आ-भूषणको (हमने) नहीं पाया। 'उस (आभूषणरत्न) को ह्रद के भीतर निवास करनेवाले कुमुद' नामक नागने लोभसे ले लिया है यह हमारा अनुमान है' ॥ ७६ ॥

ततः स कृत्वा धनुराततज्यं धनुर्धरः कोपविलोहिताक्षः ।
गारुत्मतं तीरगतस्तरस्वी भुजङ्गनाशाय समाददेऽस्त्रम् ॥ ७७ ॥

तत इति। ततो धनुर्धरः कोपविलोहिताक्षस्तरस्वी बलवान्स कुशस्तीरगतः सन्धनुराततज्यमधिज्यं कृत्वा भुजङ्गस्य कुमुदस्य नाशाय गारुत्मतं गरुत्मद्देवताक-मस्त्रं समाददे ॥ ७७ ॥

इसके बाद क्रोधसे लाल नेत्रोंवाले धनुर्धारी एवं बलवान् उस कुशने (सरयूके) तट पर आकर नागको मारनेके लिए धनुष चढ़ाकर गारुड़ अस्त्रको ग्रहण किया ॥ ७७ ॥

तस्मिन्ह्रदः संहितमात्र एव क्षोभात्समाविद्धतरङ्गहस्तः ।
रोधांसि निघ्नन्नवपातमग्नः करीव वन्यः परुषं ररास ॥ ७८ ॥

तस्मिन्निति। तस्मिन्नस्त्रे संहितमात्रे सत्येव ह्रदः क्षोभात्क्षोभहेतोः समाविद्धाः सङ्घट्टितास्तरङ्गा एव हस्ता यस्य स रोधांसि निघ्नन्पातयन्। अवपाते गजग्रहणार्थं गर्ते मग्नः पतितः। 'अवपातस्तु हस्त्यर्थे गर्तस्तच्छादनादिना' इति यादवः। वन्यः करीव परुषं घोरं ररास दध्वान ॥ ७८ ॥

उस (कुश) के पास जाते ही क्षोभसे फैलते हुए तरङ्गरूपी हाथोंवाला वह ह्रद तटोंको गिराता हुआ गड्ढेमें गिरे हुए जङ्गली हाथीके समान कठोर स्वर करने लगा ॥ ७८ ॥

तस्मात्समुद्रादिव मथ्यमानादुद्वृत्तनक्रात्सहसोन्ममज्ज ।
लक्ष्म्येव सार्धं सुरराजवृक्षः कन्यां पुरस्कृत्य भुजङ्गराजः ॥ ७९ ॥

तस्मादिति। मथ्यमानात्समुद्रादिव। उद्वृत्तनक्रादुद्भ्रमितग्राहात्तस्माद् ह्रदात्। लक्ष्म्या सार्धं सुरराजवृक्षस्तरुः पारिजात इव। कन्यां पुरस्कृत्य भुजङ्गराजः कुमुदः सहसोन्ममज्ज ॥ ७९ ॥

मथे जाते हुए समुद्रसे लक्ष्मीसहित पारिजात वृक्षके समान मगरोंके उछ-लते ह्रदसे कन्याको आगे करके वह नागराज ऊपर निकला ॥ ७९ ॥

विभूषणप्रत्युपहारहस्तमुपस्थितं वीक्ष्य विशां पतिस्तम् ।
सौपर्णमस्त्रं प्रतिसंजहार प्रह्वेष्वनिर्बन्धरुषो हि सन्तः ॥ ८० ॥

विभूषणेति। विशां पतिर्मनुजपतिः कुशः। द्वौ विशौ वैश्यमनुजौ इत्यमरः। विभूषणं प्रत्युपहरति प्रत्यर्पयतीति विभूषणप्रत्युपहारः। कर्मण्यण्। विभूषणप्रत्युप

हारो हस्तो यस्य तम् । उपस्थित प्राप्त तं कुमुद वीक्ष्य सौपर्णं गारुत्मतमस्त्रं प्रतिसञ्जहार । तथा हि, सन्त प्रह्वेषु नम्रेष्वनिर्बन्धरुपोऽनियतकोपा हि ॥ ८० ॥

राजा (कुश) ने भूषणरूप प्रत्युपहारको हाथमें लेकर उपस्थित नागको देखकर गारुडास्त्रको समेट लिया (उसका प्रहार नहीं किया), क्योंकि सज्जन लोग नम्र व्यक्तियोंपर क्रोध करनेका हठ अर्थात् क्रोध नहीं करते हैं ॥ ८० ॥

त्रैलोक्यनाथप्रभवं प्रभावात्कुशं द्विषामङ्कुशमस्त्रविद्वान् ।
मानोन्नतेनाप्यभिवन्द्य मूर्ध्ना मूर्धाभिषिक्तं कुमुदो बभाषे ॥ ८१ ॥

त्रैलोक्येति । अस्त्र विद्वानस्त्रविद्वान् । 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' इत्यनेन षष्ठीनिषेध । 'द्वितीयाश्रित—' इत्यत्र गम्यादीनामुपसङ्ख्यानाद् द्वितीयेति योगविभागाद्वा समास । गारुडास्त्रमहिमाभिज्ञ इत्यर्थ । कुमुद । त्रयो लोकास्त्रैलोक्यम् । चातुर्वर्ण्यादित्वात्स्वार्थे ष्यञ्प्रत्यय' । त्रैलोक्यनाथो राम॰ प्रभवो जनको यस्य तम् । अत एव प्रभावाद् द्विषामङ्कुश निवारक मूर्धाभिषिक्त राजान कुशं मानोन्नतेनापि मूर्ध्नाऽभिवन्द्य प्रणम्य बभाषे ॥ ८१ ॥

अस्त्रज्ञाता (गरुडास्त्रके प्रभावको जाननेवाला) 'कुमुद' (नामका नाग) त्रैलोक्यपति (राम) के पुत्र तथा प्रभावसे शत्रुओंके अङ्कुश राजा कुशको मानसे उन्नत भी मस्तकसे अभिवादन कर बोला ॥ ८१ ॥

अवैमि कार्यान्तरमानुषस्य विष्णोः सुताख्यामपरां तनुं त्वाम् ।
सोऽहं कथं नाम तवाचरेयमाराधनीयस्य धृतेर्विघातम् ॥ ८२ ॥

अवैमीति । त्वाम् । ओदनान्तरस्तण्डुल इतिवत्कार्यान्तर कार्यार्थ॰ । 'स्थानात्मीयान्यतादर्थ्यरन्ध्रान्तर्येषु चान्तरम्' इति शाश्वत । स चासौ मानुषश्चेति तस्य विष्णो रामस्य सुताख्या पुत्रसञ्ज्ञामपरा तनु मूर्तिमवैमि । 'आत्मा वै पुत्रनामासि' इति श्रुतेरित्यर्थं । स जानन्नहमाराधनीयस्योपास्यस्य तव धृते प्रीतेः । 'धृ प्रीतौ' इति धातो स्त्रिया क्तिन् । विघात कथ नामाचरेयम् , असम्भावितमित्यर्थः ॥८२॥

आपको कार्य (देवकार्य) के लिये मनुष्य (रूप धारण किये हुए) विष्णुका पुत्ररूप शरीर अर्थात् पुत्र मैं जानता हूँ, वह मैं पूजनीय आपकी प्रीतिके विपरीत व्यवहार कैसे करूँगा ? अर्थात् कदापि नहीं करूँगा ॥ ८२ ॥

कराभिघातोत्थितकन्दुकेयमालोक्य बालातिकुतूहलेन ।
ह्रदात्पतज्ज्योतिरिवान्तरिक्षादादत्त जैत्राभरणं त्वदीयम् ॥ ८३ ॥

कराभिघातेति । कराभिघातेनोत्थित ऊर्ध्वं गत कन्दुको यस्या सा । कन्दुकार्थमूर्ध्वं पश्यन्तीत्यर्थ । इय बालातिकुतूहलेनात्यन्तकौतुकेनान्तरिक्षाज्ज्योतिर्नक्षत्रमिव । 'ज्योतिर्भद्योतदृष्टिषु' इत्यमर । ह्रदात्पतत्त्वदीय जैत्राभरणमालोक्यादत्तागृह्णात् ॥

हाथके अभिघातसे ऊपर उछल हुए गेंदवाली अर्थात् गेंदके लिये ऊपर देखती हुई इस

वाला (अयोध कन्या) ने अत्यन्त कुतूहलसे आकाशसे गिरते हुए ताराके समान ऊपरसे गिरते हुए आपके विजयशील आभरणको ले लिया ॥ ८३ ॥

तदेतदाजानुविलम्बिना ते ज्याघातरेखाकिणलाञ्छनेन ।
भुजेन रक्षापरिघेण भूमेरुपैतु योगं पुनरंसलेन ॥ ८४ ॥

तदेतदिति । तदेतदाभरणमाजानुविलम्बिना दीर्घेण । ज्याघातेन या रेखा रेखाकारः सा तस्याः किणं चिह्नं तदेव लाञ्छनं यस्य तेन । भूमे रक्षायां परिघेण रक्षार्गलेन । 'परिघो योगभेदास्त्रमुद्गरेऽर्गलघातयोः' इत्यमरः । अंसलेन बलवता भुजेन पुनर्योगं सङ्गतिमुपैतु । एतैर्विशेषणैर्महाभाग्यशालीत्वं पुरस्कारत्वं बलवत्त्वादि गम्यते ।

इस कारण यह (भूषण) आजानुलम्बी (घुटनेतक लटकते हुए अर्थात् विशाल), प्रत्यञ्चाके आघातजन्य रेखारूप व्रण (घट्टे) से चिह्नित पृथ्वीकी रक्षाके लिये परिघरूप और बलवान् बाहुसे फिर संयुक्त होवे अर्थात् इस भूषणको आप फिर बाहुमें धारण करें ।

इमां स्वसारं च यवीयसीं मे कुमुद्वतीं नार्हसि नानुमन्तुम् ।
आत्मापराधं नुदतीं चिराय शुश्रूषया पार्थिव पादयोस्ते ॥ ८५ ॥

इमामिति । किञ्च । हे पार्थिव ! ते तव पादयोश्चिराय शुश्रूषया परिचर्यया । 'शुश्रूषा श्रोतुमिच्छायां परिचर्योपासनयोः' इति विश्वः । आत्मापराधमाभरणहरणरूपं नुदतीम् परिजिहीर्षन्तीमित्यर्थः । 'वर्तमानसामीप्ये भूतवद्वा' इति वर्तमानसामीप्ये शतृप्रत्ययः । 'भाव्यर्थेऽयोर्तुम्' इत्यस्य वैकल्पिकत्वात्तुमुनभावः । इमां मे यवीयसीं कनिष्ठां स्वसारं भगिनीं कुमुद्वतीमनुमन्तुं नार्हसीति न, किन्त्वर्हस्येवेत्यर्थः ॥

हे राजन् आपके चरणोंकी बहुत समय तक सेवा करनेसे अपने अपराधको दूर करती हुई 'कुमुद्वती' नामकी मेरी इस छोटी बहनको आप स्वीकार करनेके योग्य नहीं हैं ऐसा नहीं है अर्थात् इसे अवश्य स्वीकार करें ॥ ८५ ॥

इत्यूचिवानुपहृताभरणः क्षितीशं श्लाघ्यो भवान्स्वजन इत्यनुभाषितारम् ।
संयोजयां विधिवदास समेतबन्धुः कन्यामयेन कुमुदः कुलभूषणेन ॥ ८६ ॥

इतीति । इति पूर्वश्लोकोक्तप्रकारम् ऊचिवान् ब्रुवः । उपहृताभरणः उपहृतं समर्पितमाभरणं येन स कुमुदः । हे कुमुद ! भवाञ्श्लाघ्यः स्वजनो बन्धुरित्यनुभाषितारमनुवक्तारं क्षितीशं कुशं समेतबन्धुर्मिलितबन्धुः सन् कन्यामयेन कन्यारूपेण कुलभूषणेन विधिवत्संयोजयामास । न केवलं तदीयमेव किन्तु स्वकीयमपि भूषणं तस्मै दत्तवानिति ध्वनिः । आमन्तत्वादनुप्रयोगात्मनेपदं काले समर्थितम् ॥ ८६ ॥

तस्याः स्पृष्टे मनुजपतिना साहचर्याय हस्ते
माङ्गल्योर्णावलयिनि पुरः पावकस्योच्छिखस्य ।
दिव्यस्तूर्यध्वनिरुदचरव्द्यश्नुवानो दिगन्तान्
गन्धोदग्रं तदनु ववृपुः पुष्पमाश्चर्यमेघाः ॥ ८७ ॥

तस्या इति । मनुजपतिना कुशेन साहचर्याय, सहधर्माचरणायेत्यर्थः । माङ्गल्या मङ्गले साधुर्योर्णा मेषादिलोम । 'ऊर्णा मेषादिलोम्नि स्यात्' इत्यमर । अत्र लक्षणया तन्निर्मित सूत्रमुच्यते । तया वलयिनि वलयवति तस्या कुमुद्वत्या हस्ते पाणावुच्छिखस्योदर्चिष पावकस्य पुरोऽग्रे स्पृष्टे गृहीते सति दिगन्तान्व्यश्नुवानो व्याप्नुवन्दिव्यस्तूर्यध्वनिरुदचरदुत्थित । तदन्वाश्चर्या अद्भुता मेघा गन्धेनोदग्रमुत्कटं पुष्प पुष्पाणि । जात्यभिप्रायेणैकवचनम् । ववृषु । आश्चर्यशब्दस्य । 'रौद्र तूग्रममी त्रिषु । चतुर्दश' इत्यमरवचनास्त्रिलिङ्गत्वम् ॥ ८७ ॥

राजा (कुश) के, साहचर्य्य (सहधर्मिणी बनाने) के लिये मङ्गलार्थ ऊनी सूतके बने कङ्कणयुक्त उस 'कुमुद्वती' के हाथको जलती हुई अग्निके सामने ग्रहण करने पर दिशाओंके अन्ततक फैलनेवाली दिव्य तूर्यध्वनि हुई तथा आश्चर्यजनक मेघोंने श्रेष्ठ गन्धयुक्त पुष्पोंकी वर्षा की ॥ ८७ ॥

इत्थं नागस्त्रिभुवनगुरोरौरसं मैथिलेयं
लब्ध्वा बन्धुं तमपि च कुशः पञ्चमं तक्षकस्य ।
एकः शङ्कां पितृवधरिपोरत्यजद्वैनतेया-
च्छान्तव्यालामवनिमपरः पौरकान्तः शशास ॥ ८८ ॥

इत्थमिति । इत्थ नाग कुमुद । त्रयाणां भुवनाना समाहारस्त्रिभुवनम् । 'तद्धितार्थ' इत्यादिना तत्पुरुष । अदन्तद्विगुत्वेऽपि पात्राद्यदन्तत्वान्नपुंसकत्वम् । 'पात्राद्यदन्तैरेकार्थो द्विगुर्लक्ष्यानुसारत ' इत्यमर । तस्य गुरु राम । तस्यौरस धर्मपत्नीज पुत्रम् । 'औरसो धर्मपत्नीज ' इति याज्ञवल्क्य । मैथिलेय कुश बन्धु लब्ध्वा । कुशोऽपि च तक्षकस्य पञ्चम पुत्र त कुमुद बन्धु लब्ध्वा एकस्तयोरन्यतर. कुमुद पितृवधेन रिपोर्वैनतेयाद्गरुडात् । गुरुणा वैष्णवांशेन कुशेन त्याजितक्रौर्यादिति भाव । शङ्का भयमत्यजत् । अपर कुश शान्तव्याला कुमुदाज्ञया वीतसर्पभयामवनिमत एव पौरकान्त पौरप्रिय सञ्छशास ॥ ८८ ॥

इति सञ्जीविनीव्याख्याया कुमुद्वतीपरिणयो नाम षोडश सर्ग ॥ १६ ॥



इस प्रकार नाग ('कुमुद' नामक नाग) ने त्रिभुवनाधीश (राम) के पुत्र मैथिलीकुमार (कुश) को बन्धु (रूपमें) प्राप्त कर और कुश भी तक्षकके पञ्चम पुत्र 'कुमुद' को

वस्तु (रत्न) प्राप्तकर (इन दोनोंमेंसे) एक अर्थात् 'कुमुद' पक्षने (कुशके हाथसे पिताके अंशभूत पिता रामके द्वारा गरुडको करवाया त्याग करानेसे) पिताके मारनेसे पड़ भयसे मनसे छोड़ा और दूसरे अर्थात् कुशने (कुमुद्की भगिनीसे) सर्पभयसे रहित प्रजाओंका पालन नागरिकोंका प्रिय चमत्कार किया ॥ ८८ ॥

यह 'मणिप्रभा' व्याख्यामें 'रघुवंश' महाकाव्यका 'कुमुद्वती-परिणय' नामक सोलह सर्ग समाप्त हुआ ॥ १६ ॥

—:o:—

सप्तदशः सर्गः

नमो रामपदाम्भोजरेणवो यत्र सन्ततम् । कुर्वन्ति कुमुदप्रीतिमित्युपगुरुमेखिका ॥

अतिथिं नाम काकुत्स्थात्पुत्रं प्राप कुमुद्वती ।
पश्चिमाद्यामिनीयामात्प्रसादमिव चेतना ॥ १ ॥

अतिथिमिति । कुमुद्वती काकुत्स्थात्कुशादतिथिं नाम पुत्रम् । चेतना बुद्धिः पश्चिमाद्यामिनीयामाद्रात्रेरन्तिमप्रहरात् । 'यामः प्रहरौ समौ' इत्यमरः । प्रसादं वैशद्यमिव प्राप । प्राह्णे सर्वेषां बुद्धिवैशद्यं भवतीति प्रसिद्धिः ॥ १ ॥

जो पराग नित्य चन्द्रमाको कुमुद प्रसन्न करते हैं ।
रामचन्द्रके उन चरणोंको प्रणाम हम करते हैं ॥

कुमुद्वती ('कुमुद' नामक नागकी छोटी बहन) ने कुशसे 'अतिथि' नामक पुत्रको उस प्रकार प्राप्त किया जिस प्रकार चेतना (बुद्धि) रात्रिके अन्तिम प्रहरसे प्रसाद (स्वच्छता) को प्राप्त करती है ॥ १ ॥

स पितुः पितृमान्वंशं मातुश्चानुपमद्युतिः ।
अपुनात्सवितेवोभौ मार्गावुत्तरदक्षिणौ ॥ २ ॥

स इति । पितृमान् प्रशस्तपितृकः । प्रशंसायां मतुप् । सुशिक्षित इत्यर्थः । अनुपमद्युतिः । सवितुरप्येतद् विशेषणम् । सोऽतिथिः पितुः कुशस्य मातुः कुमुद्वत्याश्च वंशम् । सवितोत्तरदक्षिणावुभौ मार्गाविव । अपुनात्पवित्रीकृतवान् ॥ २ ॥

सुशिक्षित तथा अनुपम कान्तिवाले उस 'अतिथि' ने पिता तथा माता के वंशको उस प्रकार पवित्र किया जिस प्रकार सूर्य उत्तर और दक्षिण मार्गको (उत्तरायण तथा दक्षिणायन होनेपर) पवित्र करते हैं ॥ २ ॥

तमादौ कुलविद्यानामर्थमर्थविदां वरः ।
पश्चात्पार्थिवकन्यानां पाणिमग्राहयत्पिता ॥ ३ ॥

तमिति । कुलक्रमागतानामान्वीक्षिक्यादिविद्यानामर्थमभिधेयमर्थांश्च विदन्तीत्यर्थविदः ।

तेषां वरः श्रेष्ठः पिता कुशस्तमतिथिमादौ प्रथमं कुलविद्यानामान्वीक्षिकीत्रयीवार्तादण्डनीतीनामर्थमभिधेयमग्राहयदबोधयत्। पश्चात्पार्थिवकन्यानां पाणिमग्राहयत्स्वीकारितवान्, उदवाहयदित्यर्थः। ग्रहेर्ण्यन्तस्य सर्वत्र द्विकर्मकत्वमस्तीत्युक्तं प्राक्॥ ३॥

अर्थ (शब्दार्थ तथा दान-सङ्ग्रहादि कार्यके प्रयोजनों) के ज्ञाता पिता (कुश) ने पहले उसे (अतिथि को) कुलविद्या (आन्वीक्षिकी आदि वंशपरम्परागत राजनीति विद्या) के अर्थका ग्रहण कराया अर्थात् राजनीतिको पढाया और बादमें राजकन्याओंके पाणिको ग्रहण कराया अर्थात् राजकुमारियोंके साथ उनका विवाह कर दिया॥ ३॥

जात्यस्तेनाभिजातेन शूरः शौर्यवता कुशः।
अमन्यतैकमात्मानमनेकं वशिना वशी॥ ४॥

जात्य इति। जातौ भवो जात्यः कुलीनः शूरो वशी कुशोऽभिजातेन कुलीनेन। 'अभिजातः कुलीनः स्यात्' इत्यमरः। शौर्यवता वशिना तेनातिथिना करणेन एकमात्मानम्। एको न भवतीत्यनेकस्तम्। अमन्यत। सर्वगुणसामग्र्यादात्मजमात्मन एव रूपान्तरममस्तेत्यर्थः॥ ४॥

कुलीन, शूरवीर तथा जितेन्द्रिय कुशने कुलीन, शूरवीर तथा जितेन्द्रिय उस 'अतिथि'के द्वारा अकेले भी अपनेको अनेक समझा अर्थात् 'अतिथि' नामक अपने पुत्रमें अपने सम्पूर्ण गुणोंके होनेसे उसे अपना ही रूपान्तर माना॥ ४॥

स कुलोचितमिन्द्रस्य साहायकमुपेयिवान्।
जघान समरे दैत्यं दुर्जयं तेन चावधि॥ ५॥

स इति। कुशः कुलोचितं कुलाभ्यस्तमिन्द्रस्य साहायकं सहकारित्वम्। 'योपधाद् गुरूपोत्तमाद् वुञ्' इत्यनेन वुञ्। उपेयिवान्प्राप्तः सन्समरे नामतोऽर्थतश्च दुर्जयं दैत्यं जघानावधीत्। तेन दैत्येनावधि हतश्च। 'लुङि च' इति हनो वधादेशः॥ ५॥

उस कुशने अपने वंश (रघुवंश) के योग्य इन्द्रकी सहायता कर युद्धमें 'दुर्जय' (दुःखसे जीतने योग्य तथा 'दुर्जय' नामक) दैत्यको मारा तथा (स्वयं भी) उससे मारे गये॥ ५॥

तं स्वसा नागराजस्य कुमुदस्य कुमुद्वती।
अन्वगात्कुमुदानन्दं शशाङ्कमिव कौमुदी॥ ६॥

तमिति। कुमुदस्य नाम नागराजस्य स्वसा कुमुद्वती कुशपत्नी। कुमुदानन्दं शशाङ्कं कौमुदी ज्योत्स्नेव। तं कुशमन्वगात्। कुशस्तु। कुः पृथ्वी तस्या मुत्प्रीतिः सैवानन्दो यस्येति कुमुदानन्दः, परानन्देन स्वयमानन्दतीत्यर्थः॥ ६॥

नागराज 'कुमुद' का बहन 'कुमुद्वती' ने कुमुदको विकसित करनेवाले चन्द्रमाकी चाँदनीके समान पृथ्वीको हर्षसे आनन्दित करनेवाले उस कुशका अनुगमन किया अर्थात् कुशकी मृत्युके बाद वह सती हो गयी॥ ६॥

तयोर्दिवस्पतेरासीदेकः सिंहासनार्धभाक् ।
द्वितीयाऽपि सखी शच्याः पारिजातांशभागिनी ॥ ७ ॥

तयोरिति । तयोः कुशकुमुद्वत्योर्मध्ये एकः कुशो दिवस्पतेरिन्द्रस्य सिंहासनार्धं सिंहासनैकदेशं तद्भागासीत् । द्वितीया कुमुद्वती शच्या इन्द्राण्याः पारिजातांशभागिनी भाजिनी । 'सम्पृच-' इत्यादिना घिनुण्प्रत्ययः । सख्यासीत् । दिवस्पतिरिति साधुः ॥ ७ ॥

उन दोनों (कुश तथा कुमुद्वती) में से एक (कुश) इन्द्रके आधे आसनको प्राप्त करनेवाले हुए तथा दूसरी (कुमुद्वती) इन्द्राणीकी पारिजात का भाग लेनेवाली सखी हुई अर्थात् अपने अपने पुण्यकर्मोंसे दोनोंने स्वर्गमें उच्च स्थान पाया है ॥ ७ ॥

तदात्मसम्भवं राज्ये मन्त्रिवृद्धाः समादधुः ।
स्मरन्तः पश्चिमामाज्ञां भर्तुः संग्रामयायिनः ॥ ८ ॥

तदिति । संग्रामयायिनः संग्रामं यास्यतः । आवश्यकार्थे णिनिः । अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः इति षष्ठीनिषेधः । भर्तुः स्वामिनः कुशस्य पश्चिमामन्तिमामाज्ञां विपर्यये पुत्रोऽभिषेक्तव्य इत्येवंरूपां स्मरन्तो मन्त्रिवृद्धास्तदात्मसम्भवमतिथिं राज्ये समादधुर्निदधुः ॥ ८ ॥

(इन्द्रकी सहायता करनेके लिए) संग्राममें जानेवाले स्वामी (कुश) की अन्तिम आज्ञाको स्मरण करते हुए बूढ़े मन्त्रियोंने उनके पुत्र (अतिथि) को राज्यपदपर बैठाया ॥ ८ ॥

ते तस्य कल्पयामासुरभिषेकाय शिल्पिभिः ।
विमानं नवमुद्वेदि चतुःस्तम्भप्रतिष्ठितम् ॥ ९ ॥

त इति । ते मन्त्रिणस्तस्यातिथेरभिषेकाय शिल्पिभिर्हेतुभिरुद्वेदिकं चतुःस्तम्भप्रतिष्ठितं चतुर्षु स्तम्भेषु प्रतिष्ठितं नवं विमानं मण्डपं कल्पयामासुः कारयामासुः ॥ ९ ॥

उन (बूढ़े मन्त्रियों) ने कारीगरों से उस (अतिथि) के राज्याभिषेकके लिये चार खम्भोंपर स्थित ऊँची वेदीवाला विमान (मण्डप) बनवाया ॥ ९ ॥

तत्रैनं हेमकुम्भेषु सम्भृतैस्तीर्थवारिभिः ।
उपतस्थुः प्रकृतयो भद्रपीठोपवेशितम् ॥ १० ॥

तत्रेति । तत्र विमाने भद्रपीठे पीठविशेषे उपवेशितमेनमतिथिं हेमकुम्भेषु सम्भृतैः सम्भृतैस्तीर्थवारिभिः करणैः प्रकृतयो मन्त्रिणः उपतस्थुः ॥ १० ॥

उस आसनपर बैठाये गये उस (अतिथि) का मन्त्रियोंने सुवर्णके कलशोंमें रखे हुए तीर्थ-जलसे अभिषेक किया ॥ १० ॥

नदद्भिः स्निग्धगम्भीरं तूर्यैराहतपुष्करैः ।
अन्वमीयत कल्याणं तस्याविच्छिन्नसन्तति ॥ ११ ॥

नदद्भिरिति । आहतं पुष्करं मुखं येषां तैः । 'पुष्करं करिहस्ताग्रे वाद्यभाण्डमुखे

जले' इत्यमरः। स्निग्धं मधुरं गम्भीरं च नदद्भिस्तूर्यैस्तस्यातिथेरविच्छिन्नसन्ततय-विच्छिन्नपारम्पर्यं कल्याणं भावि शुभमन्वमीयतानुमितम् ॥ ११ ॥

बजाये जाते हुए मुखवाले अतएव मधुर एवं गम्भीर ध्वनि करते हुए बाजोंसे उस (अतिथि) के कल्याणकी अविच्छिन्न परम्परा वाला होनेका अनुमान होता था अर्थात् 'अतिथि'के कल्याणकी परम्परा कभी भी नहीं टूटेगी, ऐसा अनुमान किया गया ॥ ११ ॥

दूर्वायवाङ्कुरप्लक्षत्वगभिन्नपुटोत्तरान्।
ज्ञातिवृद्धैः प्रयुक्तान्स भेजे नीराजनाविधीन् ॥ १२ ॥

दूर्वेति। सोऽतिथिः। दूर्वाश्च यवाङ्कुराश्च प्लक्षत्वचश्चाभिन्नपुटा बालपल्लवाश्चोत्तराणि प्रधानानि येषु तान्। अभिन्नपुटानि मधूकपुष्पाणीति केचित्। कमलानीत्यन्ये। ज्ञातिषु ये वृद्धास्तैः प्रयुक्तान्नीराजनाविधीन्भेजे ॥ १२ ॥

उस 'अतिथि'ने दूब, यवके अङ्कुर (जई, मुजरियाँ), पीपलकी छाल तथा नये पल्लवों (मतान्तरसे महुएके फूलों या कमलों) से युक्त जातीमें वृद्ध जनोंसे की गयी आरती को प्राप्त किया अर्थात् जातिके बड़े-बूढ़े लोगोंने नवाभिषिक्त राजा 'अतिथि'की दूर्वादियुक्त आरती की ॥ १२ ॥

पुरोहितपुरोगास्तं जिष्णुं जैत्रैरथर्वभिः।
उपचक्रमिरे पूर्वमभिषेक्तुं द्विजातयः ॥ १३ ॥

पुरोहितेति। पुरोहितपुरोगाः पुरोहितप्रमुखा द्विजातयो ब्राह्मणा जिष्णुं जयशीलं तमतिथिं जैत्रैर्जयशीलैरथर्वभिर्मन्त्रविशेषैः करणैः पूर्वमभिषेक्तुमुपचक्रमिरे ॥

पुरोहित आदि ब्राह्मणोंने पहले विजयशील अथर्व-मन्त्रोंसे जयशील उस 'अतिथि' का अभिषेक करना आरम्भ किया ॥ १३ ॥

तस्यौघमहती मूर्ध्नि निपतन्ती व्यरोचत।
सशब्दमभिषेकश्रीर्गङ्गेव त्रिपुरद्विषः ॥ १४ ॥

तस्येति। तस्यातिथेर्मूर्ध्नि सशब्दं निपतन्त्योघमहती महाप्रवाहा। अभिषिच्यतेऽनेनेत्यभिषेको जलम्। स एव श्रीः। यद्वा तस्य श्रीः समृद्धिस्त्रिपुरद्विषः शिवस्य मूर्ध्नि निपतन्ती गङ्गेव व्यरोचत। त्रयाणां पुराणां द्वेष्टीति विग्रहः ॥ १४ ॥

उस 'अतिथि' के मस्तक पर गिरती हुई ध्वनिसहित महाप्रवाहयुक्त अभिषेक लक्ष्मी शङ्करजीके मस्तक पर ध्वनि के साथ गिरती हुई महाप्रवाहयुक्त गङ्गाके समान शोभित हुई ॥

स्तूयमानः क्षणे तस्मिन्नलक्ष्यत स वन्दिभिः।
प्रवृद्ध इव पर्जन्यः सारङ्गैरभिनन्दितः ॥ १५ ॥

स्तूयमान इति। तस्मिन्क्षणेऽभिषेककाले वन्दिभिः स्तूयमानः सोऽतिथिः प्रवृद्धः प्रवृद्धवान्। कर्तरि क्तः। अत एव सारङ्गैश्चातकैरभिनन्दितः पर्जन्यो मेघ इव। अलक्ष्यत ॥ १५ ॥

तयोर्दिवस्पतेरासीदेकः सिंहासनार्धभाक् ।
द्वितीयाऽपि सखी शच्याः पारिजातांशभागिनी ॥ ७ ॥

तयोरिति । तयोः कुशकुमुद्वत्योर्मध्ये एकः कुशो दिवस्पतेरिन्द्रस्य सिंहासनार्धं सिंहासनैकदेशं तद्भागासीत् । द्वितीया कुमुद्वती सख्या इन्द्राण्याः पारिजातांशभागिनी भागिनी । 'सम्बन्ध–' इत्यादिना मतेर्षिगुणप्रत्ययः । सख्यासीत् । कस्ता दिवादिवस्पतिः पाठः ॥ ७ ॥

उन दोनों (कुश तथा कुमुद्वती) में से एक (कुश) स्वर्गलोकमें इन्द्रके आधे आसनके भाग करनेवाले बने तथा दूसरी (कुमुद्वती) इन्द्राणीकी पारिजात का भाग लेनेवाली सखी बनी अर्थात् अपने-अपने पुण्यकर्मोंसे दोनोंने स्वर्गमें श्रेष्ठ स्थान पाया ॥ ७ ॥

तदात्मसम्भवं राज्ये मन्त्रिवृद्धाः समादधुः ।
स्मरन्तः पश्चिमामाज्ञां भर्तुः सङ्ग्रामयायिनः ॥ ८ ॥

तदिति । सङ्ग्रामयायिनः सङ्ग्रामं यास्यतः । आवश्यकार्थे णिनिः । 'अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः' इति षष्ठीनिषेधः । भर्तुः स्वामिनः कुशस्य पश्चिमामन्तिमामाज्ञां विपर्यये पुत्रोऽभिषेक्तव्य इत्येवंरूपां स्मरन्तो मन्त्रिवृद्धास्तदात्मसम्भवमतिथिं राज्ये समादधुर्निदधुः ॥ ८ ॥

(दैत्यको मारनेके लिए) संग्राममें जानेवाले स्वामी (कुश) की अन्तिम आज्ञाको स्मरण करते हुए वृद्ध मन्त्रियोंने उनके पुत्र (अतिथि) को राजगद्दीपर बैठाया ॥

ते तस्य कल्पयामासुरभिषेकाय शिल्पिभिः ।
विमानं नवमुद्वेदि चतुःस्तम्भप्रतिष्ठितम् ॥ ९ ॥

त इति । ते मन्त्रिणस्तस्यातिथेरभिषेकाय शिल्पिभिरुद्वेदि उन्नतवेदिकं चतुःस्तम्भप्रतिष्ठितं चतुर्षु स्तम्भेषु प्रतिष्ठितं नवं विमानं मण्डपं कल्पयामासुः कारयामासुः ॥

उन (वृद्ध मन्त्रियों) ने कारीगरों से उस (अतिथि) के राज्याभिषेकके लिये चार खम्भोंपर स्थित ऊँची वेदीवाला विमान (मण्डप) बनवाया ॥ ९ ॥

तत्रैनं हेमकुम्भेषु सम्भृतैस्तीर्थवारिभिः ।
उपतस्थुः प्रकृतयो भद्रपीठोपवेशितम् ॥ १० ॥

तत्रेति । तत्र विमाने भद्रपीठे सिंहासने उपवेशितमेनमतिथिं हेमकुम्भेषु सम्भृतैः सम्पूरितैस्तीर्थवारिभिः करणैः प्रकृतयो मन्त्रिण उपतस्थुः ॥ १० ॥

उसके बाद मण्डपमें बैठाये गये उन अतिथिका मन्त्रियोंने सुवर्णके कलशोंमें रखे हुए तीर्थजलसे अभिषेक किया ॥ १० ॥

नदद्भिः स्निग्धगम्भीरं तूर्यैराहतपुष्करैः ।
अन्वमीयत कल्याणं तस्याविच्छिन्नसन्तति ॥ ११ ॥

नदद्भिरिति । आहतं पुष्करं मुखं येषां तैः । 'पुष्करं करिहस्ताग्रे वाद्यभाण्डमुखे

जले' इत्यमर । स्निग्ध मधुरं गम्भीरं च नदद्भिस्तूर्यैस्तस्यातिथेरविच्छिन्नसन्तत्य-विच्छिन्नपारम्पर्यं कल्याण भावि शुभमन्वमीयतानुमितम् ॥ ११ ॥

बजाये जाते हुए मुखवाले अतएव मधुर एव गम्भीर ध्वनि करते हुए बाजोंसे उस (अतिथि) के कल्याणकी अविच्छिन्न परम्परा वाला होनेका अनुमान होता था अर्थात् 'अतिथि'के कल्याणकी परम्परा कभी भी नहीं टूटेगी, ऐसा अनुमान किया गया ॥ ११ ॥

दूर्वायवाङ्कुरप्लक्षत्वगभिन्नपुटोत्तरान् ।
ज्ञातिवृद्धैः प्रयुक्तान्स भेजे नीराजनाविधीन् ॥ १२ ॥

दूर्वेति । सोऽतिथिः । दूर्वाश्च यवाङ्कुराश्च प्लक्षत्वचश्चाभिन्नपुटा बालपल्लवाश्चोत्तराणि प्रधानानि येषु तान् । अभिन्नपुटानि मधूकपुष्पाणीति केचित् । कमलानीत्यन्ये । ज्ञातिषु ये वृद्धास्तैः प्रयुक्तान्नीराजनाविधीन्भेजे ॥ १२ ॥

उस 'अतिथि'ने दूब, यवके अङ्कुर (जई, भुजरियाँ), पीपलकी छाल तथा नये पल्लवों (मतान्तरसे महुएके फूलों या कमलों) से युक्त नातीमें वृद्ध जनोंसे की गयी आरती को प्राप्त किया अर्थात् जातिके बड़े-बूढ़े लोगोंने नवाभिषिक्त राजा 'अतिथि'की दूर्वादियुक्त आरती की ॥ १२ ॥

पुरोहितपुरोगास्तं जिष्णुं जैत्रैरथर्वभिः ।
उपचक्रमिरे पूर्वमभिषेक्तुं द्विजातयः ॥ १३ ॥

पुरोहितेति । पुरोहितपुरोगा पुरोहितप्रमुखा द्विजातयो ब्राह्मणाः जिष्णुं जयशीलं तमतिथिं जैत्रैर्जयशीलैरथर्वभिर्मन्त्रविशेषैःकरणैः पूर्वमभिषेक्तुमुपचक्रमिरे ॥

पुरोहित आदि ब्राह्मणोंने पहले विजयशील अथर्व-मन्त्रोंसे जयशील उस 'अतिथि' का अभिषेक करना आरम्भ किया ॥ १३ ॥

तस्यौघमहती मूर्ध्नि निपतन्ती व्यरोचत ।
सशब्दमभिषेकश्रीर्गङ्गेव त्रिपुरद्विषः ॥ १४ ॥

तस्येति । तस्यातिथेर्मूर्ध्नि सशब्द निपतन्त्योघमहती महाप्रवाहा । अभिषिच्यतेऽनेनेत्यभिषेको जलम् । स एव श्री । यद्वा तस्य श्री समृद्धिस्त्रिपुरद्विष शिवस्य मूर्ध्नि निपतन्ती गङ्गेव व्यरोचत । त्रयाणा पुराणा द्वेष्टीति विग्रह. ॥ १४ ॥

उस 'अतिथि' के मस्तक पर गिरती हुई ध्वनिसहित महाप्रवाहयुक्त अभिषेक लक्ष्मी शङ्करजीके मस्तक पर ध्वनि के साथ गिरती हुई महाप्रवाहयुक्त गङ्गाके समान शोभित हुई ॥

स्तूयमानः क्षणे तस्मिन्नलक्ष्यत स वन्दिभिः ।
प्रवृद्ध इव पर्जन्यः सारङ्गैरभिनन्दितः ॥ १५ ॥

स्तूयमान इति । तस्मिन्क्षणेऽभिषेककाले वन्दिभि स्तूयमान सोऽतिथिः प्रवृद्ध प्रवृद्धवान् । कर्तरि क्त । अत एव सारङ्गैश्चातकैरभिनन्दित पर्जन्यो मेघ इव । अलक्ष्यत ॥ १५ ॥

तयोर्दिवस्पतेरासीदेकः सिंहासनार्धभाक् ।
द्वितीयाऽपि सखी शच्याः पारिजातांशभागिनी ॥ ७ ॥

तयोरिति । तयोः कुशकुमुद्वत्योर्मध्ये एकः कुशो दिवस्पतेरिन्द्रस्य सिंहासनार्धं सिंहासनैकदेशं तद्भागासीत् । द्वितीया कुमुद्वती शच्या इन्द्राण्याः पारिजातांश भागिनी भागिनी । 'सम्पृच—' इत्यादिना घिनुण्प्रत्ययः । सख्यासीत् । कस्कादित्वाद्दिवस्पतिः साधुः ॥ ७ ॥

उन दोनों (कुश तथा कुमुद्वती) में से एक (कुश) इन्द्रके आधे आसनको प्राप्त करनेवाले बने तथा दूसरी (कुमुद्वती) इन्द्राणीकी पारिजात का भाग लेनेवाली सखी बनी अर्थात् अपने अपने पुण्यकर्मोंसे दोनोंने स्वर्गमें श्रेष्ठ स्थान पाया ॥ ७ ॥

तदात्मसम्भवं राज्ये मन्त्रिवृद्धाः समादधुः ।
स्मरन्तः पश्चिमामाज्ञां भर्तुः सङ्ग्रामयायिनः ॥ ८ ॥

तदिति । सङ्ग्रामयायिना सङ्ग्रामं यास्यतः । आवश्यकार्थे णिनिः । 'अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः' इति षष्ठीनिषेधः । भर्तुः स्वामिनः कुशस्य पश्चिमामन्तिमामाज्ञां विपर्यये पुत्रोऽभिषेक्तव्य इत्येवंरूपां स्मरन्तो मन्त्रिवृद्धास्तत्पुत्रमात्मसम्भवमतिथिं राज्ये समादधुर्निदधुः ॥ ८ ॥

(इन्द्रकी सहायता करनेके लिए) संग्राममें जानेवाले स्वामी (कुश) की अन्तिम आज्ञाको स्मरण करते हुए बूढ़े मन्त्रियोंने उनके पुत्र (अतिथि) को राजगद्दीपर बैठाया ॥ ८ ॥

ते तस्य कल्पयामासुरभिषेकाय शिल्पिभिः ।
विमानं नवमुद्वेदि चतुःस्तम्भप्रतिष्ठितम् ॥ ९ ॥

त इति । ते मन्त्रिणस्तस्यातिथेरभिषेकाय शिल्पिभिरुन्नतवेदिकं चतुःस्तम्भप्रतिष्ठितं चतुर्षु स्तम्भेषु प्रतिष्ठितं नवं विमानं मण्डपं कल्पयामासुः कारयामासुः ॥ ९ ॥

उन (बूढ़े मन्त्रियों) ने कारीगरों से उस (अतिथि) के राज्याभिषेकके लिये चार खम्भोंपर स्थित ऊँची वेदीवाला विमान (मण्डप) बनवाया ॥ ९ ॥

तत्रैनं हेमकुम्भेषु सम्भृतैस्तीर्थवारिभिः ।
उपतस्थुः प्रकृतयो भद्रपीठोपवेशितम् ॥ १० ॥

तत्रेति । तत्र विमाने भद्रपीठे पीठविशेषे उपवेशितमेनमतिथिं हेमकुम्भेषु सम्भृतैः सम्पूरितैस्तीर्थवारिभिः करणैः प्रकृतयो मन्त्रिणः उपतस्थुः ॥ १० ॥

उस आसनपर बैठाये गये उस अतिथिका मन्त्रियोंने सुवर्णके कलशोंमें रखे हुए तीर्थजलोंसे अभिषेक किया ॥ १० ॥

नदद्भिः स्निग्धगम्भीरं तूर्यैराहतपुष्करैः ।
अन्वमीयत कल्याणं तस्याविच्छिन्नसन्तति ॥ ११ ॥

नदद्भिरिति । आहतं पुष्करं मुखं येषां तैः । 'पुष्करं करिहस्ताग्रे वाद्यभाण्डमुखे

जले' इत्यमरः। स्निग्धं मधुरं गम्भीरं च नदद्भिस्तूर्यैस्तस्यातिथेरविच्छिन्नसन्तस्य-विच्छिन्नपारम्पर्यं कल्याणं भावि शुभमन्वमीयतानुमितम् ॥ ११ ॥

बजाये जाते हुए मुखवाले अतएव मधुर एवं गम्भीर ध्वनि करते हुए बाजोंसे उस (अतिथि) के कल्याणको अविच्छिन्न परम्परा वाला होनेका अनुमान होता था अर्थात् 'अतिथि'के कल्याणकी परम्परा कभी भी नहीं टूटेगी, ऐसा अनुमान किया गया ॥ ११ ॥

दूर्वायवाङ्कुरप्लक्षत्वगभिन्नपुटोत्तरान्।
ज्ञातिवृद्धैः प्रयुक्तान्स भेजे नीराजनाविधीन् ॥ १२ ॥

दूर्वेति। सोऽतिथिः। दूर्वाश्च यवाङ्कुराश्च प्लक्षत्वचश्चाभिन्नपुटा बालपल्लवाश्चोत्त-राणि प्रधानानि येषु तान्। अभिन्नपुटानि मधूकपुष्पाणीति केचित्। कमलानीत्य-न्ये। ज्ञातिषु ये वृद्धास्तैः प्रयुक्तान्नीराजनाविधीन्भेजे ॥ १२ ॥

उस 'अतिथि'ने दूब, यवके अङ्कुर (जई, मुजरियाँ), पीपलकी छाल तथा नये पल्लवों (मतान्तरसे महुएके फूलों या कमलों) से युक्त ज्ञातिमें वृद्ध जनोंसे की गयी आरती को प्राप्त किया अर्थात् जातिके बड़े-बूढ़े लोगोंने नवाभिषिक्त राजा 'अतिथि'की दूर्वादियुक्त आरती की ॥ १२ ॥

पुरोहितपुरोगास्तं जिष्णुं जैत्रैरथर्वभिः।
उपचक्रमिरे पूर्वमभिषेक्तुं द्विजातयः ॥ १३ ॥

पुरोहितेति। पुरोहितपुरोगाः पुरोहितप्रमुखा द्विजातयो ब्राह्मणाः जिष्णुं जयशीलं तमतिथिं जैत्रैर्जयशीलैरथर्वभिर्मन्त्रविशेषैः करणैः पूर्वमभिषेक्तुमुपचक्रमिरे ॥

पुरोहित आदि ब्राह्मणोंने पहले विजयशील अथर्व-मन्त्रोंसे जयशील उस 'अतिथि' का अभिषेक करना आरम्भ किया ॥ १३ ॥

तस्यौघमहती मूर्ध्नि निपतन्ती व्यरोचत।
सशब्दमभिषेकश्रीर्गङ्गेव त्रिपुरद्विषः ॥ १४ ॥

तस्येति। तस्यातिथेर्मूर्ध्नि सशब्दं निपतन्त्योघमहती महाप्रवाहा। अभिषिच्य-तेऽनेनेत्यभिषेको जलम्। स एव श्रीः। यद्वा तस्य श्रीः समृद्धिस्त्रिपुरद्विषः शिवस्य मूर्ध्नि निपतन्ती गङ्गेव व्यरोचत। त्रयाणां पुराणां द्वेष्टीति विग्रहः ॥ १४ ॥

उस 'अतिथि' के मस्तक पर गिरती हुई ध्वनिसहित महाप्रवाहयुक्त अभिषेक लक्ष्मी शङ्करजीके मस्तक पर ध्वनि के साथ गिरती हुई महाप्रवाहयुक्त गङ्गाके समान शोभित हुई ॥

स्तूयमानः क्षणे तस्मिन्नलक्ष्यत स बन्दिभिः।
प्रवृद्ध इव पर्जन्यः सारङ्गैरभिनन्दितः ॥ १५ ॥

स्तूयमान इति। तस्मिन्क्षणेऽभिषेककाले बन्दिभिः स्तूयमानः सोऽतिथिः प्रवृद्धः प्रवृद्धवान्। कर्तरि क्तः। अत एव सारङ्गैश्चातकैरभिनन्दितः पर्जन्यो मेघ इव। अलक्ष्यत ॥ १५ ॥

उस समय अभिषेकोंसे युत समृद्धिमान् वह अतिथि बाजाओंसे अभिनन्दित होते हुए मेघके समान दिखलायी पड़ते थे ॥ १५ ॥

तस्य सन्मन्त्रपूताभिः स्नानमद्भिः प्रतीच्छतः ।
ववृधे वैद्युतस्याग्नेर्वृष्टिसेकादिव द्युतिः ॥ १६ ॥

तस्येति । सन्मन्त्रैः पूताभिरद्भिः स्नानं प्रतीच्छतः कुर्वतस्तस्य वृष्टिसेकात् । विद्युतोऽयं वैद्युतस्तस्याग्नेरिव । द्युतिर्ववृधे ॥ १६ ॥

मंत्र मन्त्रोंके द्वारा पवित्र जलसे स्नान करते हुए उस अतिथिकी कान्ति वर्षाके सिंचनसे विद्युत्सम्बन्धी अग्निके तेजके समान बढ़ गयी ॥ १६ ॥

स तावदभिषेकान्ते स्नातकेभ्यो ददौ वसु ।
यावतैषां समाप्येरन्यज्ञाः पर्याप्तदक्षिणाः ॥ १७ ॥

स इति । सोऽतिथिरभिषेकान्ते स्नातकेभ्यो गृहस्थेभ्यस्तावत्तावत्परिमाणं वसु धनं ददौ । यावता वसुनैषां स्नातकानां पर्याप्तदक्षिणाः सम्पूर्णदक्षिणा यज्ञाः समाप्येरन् तावद्दत्तवानित्यर्थः ॥ १७ ॥

राज्याभिषेकके अन्तमें वह अतिथि राजाने उन ब्राह्मणोंके लिये उतना धन दिया जितनेसे उनके पर्याप्त (परिपूर्ण) दक्षिणावाले यज्ञ समाप्त हो जायें ॥ १७ ॥

ते प्रीतमनसस्तस्मै यामाशिषमुदैरयन् ।
सा तस्य कर्मनिर्वृत्तैर्दूरं पश्चात्कृता फलैः ॥ १८ ॥

ते इति । प्रीतमनसस्ते स्नातकास्तस्मै अतिथये यामाशिषमुदैरयन्नब्रुवन्सा तस्यातिथेः कर्मनिर्वृत्तैः पूर्वपुण्यनिष्पन्नैः फलैः सत्कामप्रभृतिभिर्दूरं दूरतः पश्चात्कृता । स्वफलप्राप्तस्य तदाशीर्वचनस्यानर्थक्यमिति भावोऽत्यर्थः ॥ १८ ॥

प्रसन्नचित्त उन ब्राह्मणोंने उस अतिथि के लिये जो आशीर्वाद दिया, वह उस अतिथि के पूर्व कर्मोंसे प्राप्त फलोंके द्वारा पश्चात् करके छिपे हुआ अर्थात् अतिथि के राज्यप्राप्ति रूप पूर्वकर्मार्जित होनेसे उन ब्राह्मणोंके दिये गये आशीर्वाद का फल पहले प्राप्त होनेवाला हुआ ॥ १८ ॥

बन्धच्छेदं स बद्धानां वधार्हाणामवध्यताम् ।
धुर्याणां च धुरो मोक्षमदोहं चादिशद्गवाम् ॥ १९ ॥

बन्धच्छेदेति । सोऽतिथिर्बद्धानां बन्धच्छेदं वधार्हाणामवध्यताम् । धुरं वह न्तीति धुर्याः बलीवर्दास्तेषां धुरो भारस्य मोक्षं गवामदोहं वत्सानां पानार्थे दोहनिवृत्तिं चादिशदादिदेश ॥ १९ ॥

उस अतिथिने बँधे हुए (चोरी आदि) दोषोंसे बन्धनसे छोड़नेका मारे जानेवाले (दोषोंसे दण्ड पाये हुए अपराधी आदि) को नहीं मारने का, भार ढोनेवालों (बैल-

खच्चर आदि) को भार न ढोने की, और (केवल बछड़ों के दूध पीने के लिये) गायों का दुहना बन्द करनेकी आज्ञा दी ॥ १९ ॥

क्रीडापतत्रिणोऽप्यस्य पञ्जरस्थाः शुकादयः ।
लब्धमोक्षास्तदादेशाद्यथेष्टगतयोऽभवन् ॥ २० ॥

क्रीडापतत्रिण इति । पञ्जरस्था शुकादयोऽस्यातिथेः क्रीडापतत्रिणोऽपि, किमुतान्य इत्यपिशब्दार्थः । तदादेशात्तस्यातिथेः शासनाल्लब्धमोक्षाः सन्तो यथेष्ट गतिर्येषां ते स्वेच्छाचारिणोऽभवन् ॥ २० ॥

पिंजडे में रहनेवाले क्रीडाके लिये पाले गये पक्षी (तोता, मैना आदि) भी उस 'अतिथि' की आज्ञासे छुटकारा पाकर स्वेच्छा-पूर्वक विचरण करने लगे (उनकी आज्ञाने क्रीडार्थ पाले गये पञ्जरस्थ पक्षियोंको भी छोड दिया गया) ॥ २० ॥

ततः कक्ष्यान्तरन्यस्तं गजदन्तासनं शुचि ।
सोत्तरच्छदमध्यास्त नेपथ्यग्रहणाय स ॥ २१ ॥

तत इति । ततः सोऽतिथिर्नेपथ्यग्रहणाय प्रसाधनस्वीकाराय । कक्ष्यान्तरं हर्म्याङ्गणविशेषः । 'कक्ष्या प्रकोष्ठे हर्म्यादेः' इत्यमरः । तत्र न्यस्तं स्थापितं शुचि निर्मलं सोत्तरच्छदमास्तरणसहितं गजदन्तस्यासनं पीठमध्यास्त' तत्रोपविष्ट इत्यर्थः ॥

इसके बाद वे 'अतिथि' आभूषण पहननेके लिये दूसरे प्रकोष्ठमें गये और वहाँ रखे हुए हाथीदाँतके बने हुए तथा चादर बिछे हुए श्वेत सिंहासन पर बैठे ॥ २१ ॥

तं धूपाश्यानकेशान्तं तोयनिर्णिक्तपाणयः ।
आकल्पसाधनैस्तैस्तैरुपसेदुः प्रसाधकाः ॥ २२ ॥

तमिति । तोयेन निर्णिक्तपाणयः क्षालितहस्ताः प्रसाधका अलङ्कर्तारो धूपेन गन्धद्रव्यधूपेनाश्यानकेशान्तं शोषितकेशपाशान्तं तमतिथिं तैस्तैराकल्पस्य नेपथ्यस्य साधनैर्गन्धमाल्यादिभिरुपसेदुरुपतस्थुः, अलञ्चक्रुरित्यर्थः ॥ २२ ॥

जलसे हाथ धोए हुए प्रसाधकों (शृङ्गार करनेवालों) ने धूप देनेसे सूखे हुए केशवाले उस 'अतिथि' को उन-उन शृङ्गार सामग्रियोंसे अलङ्कृत किया ॥ २२ ॥

तेऽस्य मुक्तागुणोन्नद्धं मौलिमन्तर्गतस्रजम् ।
प्रत्यूपुः पद्मरागेण प्रभामण्डलशोभिना ॥ २३ ॥

त इति । ते प्रसाधका मुक्तागुणेन मौक्तिकसरेणोन्नद्धमुद्बद्धमन्तर्गतस्रजमस्यातिथेर्मौलिं धम्मिल्लं प्रभामण्डलशोभिना पद्मरागेण माणिक्येन प्रत्यूपुः प्रत्युप्तं चक्रुः ॥२३॥

उन शृङ्गारकर्ताओंने ऊपर उठाकर मोतियों की लडोंसे बाँधे गये तथा बीचमें (पुष्पों-की) मालासे युक्त उस 'अतिथि' के बालों के बीच-बीचमें प्रभा-समूहसे शोभमान माणिक्योंको गूँथा ॥ २३ ॥

उस समय वन्दियोंसे स्तुत सत्क्रियमाण वह अतिथि ब्राह्मणोंसे अभिनन्दित गर्जते हुए मेघके समान दिखलायी पड़ते थे ॥ १५ ॥

तस्य सन्मन्त्रपूताभिः स्नानमद्भिः प्रतीच्छतः ।
ववृधे वैद्युतस्याग्नेर्वृष्टिसेकादिव द्युतिः ॥ १६ ॥

तस्येति । सन्मन्त्रैः पूताभिः शुद्धाभिरद्भिः स्नानं प्रतीच्छतः कुर्वतस्तस्य वृष्टिसेकात् । विद्युतोऽयं वैद्युतस्तस्य वैद्युतस्याग्नेरिव । द्युतिर्ववृधे ॥ १६ ॥

श्रेष्ठ मन्त्रोंके द्वारा पवित्र जलसे स्नान करते हुए उस 'अतिथि'की कान्ति वर्षाके सिंचनसे बिजलीसम्बन्धी अग्निके तेजके समान बढ़ गयी ॥ १६ ॥

स तावदभिषेकान्ते स्नातकेभ्यो ददौ वसु ।
यावतैषां समाप्येरन्यज्ञाः पर्याप्तदक्षिणाः ॥ १७ ॥

स इति । सोऽतिथिरभिषेकान्ते स्नातकेभ्यो गृहस्थेभ्यस्तावत्तावत्परिमाणं वसु धनं ददौ । यावता वसुनैषां स्नातकानां पर्याप्तदक्षिणाः सम्पूर्णदक्षिणा यज्ञाः समाप्येरन् तावद्ददावित्यन्वयः ॥ १७ ॥

राज्याभिषेकके अन्तमें उस अतिथि राजाने उन ब्राह्मणोंके लिये उतना धन दिया जितनेसे उनके पर्याप्त (परिपूर्ण) दक्षिणावाले यज्ञ समाप्त हो जायें ॥ १७ ॥

ते प्रीतमनसस्तस्मै यामाशिषमुदैरयन् ।
सा तस्य कर्मनिर्वृत्तैर्दूरं पश्चात्कृता फलैः ॥ १८ ॥

ते इति । प्रीतमनसस्ते स्नातकास्तस्मै अतिथये यामाशिषमुदैरयन्नब्रुवन्सा आशीस्तस्यातिथेः कर्मनिर्वृत्तैः पूर्वपुण्यनिष्पन्नैः फलैः साम्राज्यादिभिर्दूरं पश्चात्कृता । स्वफलस्याप्यस्य तदानीमेव सम्पन्नत्वात्तदानुवादकत्वमित्यर्थः ॥ १८ ॥

प्रसन्नचित्त उन स्नातकोंने उस 'अतिथि' के लिये जो आशीर्वाद दिया वह उस 'अतिथि' के पूर्व कर्मोंसे प्राप्त फलोंके द्वारा बहुत पीछेके लिये हुआ अर्थात् 'अतिथि' के साम्राज्यादि फल पूर्वसम्पादित होनेसे उन ब्राह्मणोंके दिये गये आशीर्वाद का फल बहुत बाद प्राप्त होनेवाला हुआ ॥ १८ ॥

बन्धच्छेदं स बद्धानां वधार्हाणामवध्यताम् ।
धुर्याणां च धुरो मोक्षमदोहं चादिशद्गवाम् ॥ १९ ॥

बन्धच्छेदमिति । सोऽतिथिर्बद्धानां बन्धच्छेदं वधार्हाणामवध्यताम् । धुरं वहन्तीति धुर्या बलीवर्दादयस्तेषां धुरो भारस्य मोक्षं गवामदोहं वत्सानां पानार्थं दोहनिवृत्तिं चादिशदादिदेश ॥ १९ ॥

उस 'अतिथि' ने बँधे हुए (कैदी आदि) लोगोंके बन्धनको छोड़नेका और मारनेयोग्य (दोषीकर दण्ड पाये हुए अपराधी आदि) को नहीं मारनेका और ढोनेवालों (बैल

जय जयकार किये जाते हुए वे 'अतिथि' इन्द्रसभाके समान सभा (-भवन) में पहुँचे ॥

वितानसहितं तत्र भेजे पैतृकमासनम् ।
चूडामणिभिरुद्घृष्टपादपीठं महीक्षिताम् ॥ २८ ॥

वितानेति । तत्र सभाया वितानेनोल्लोचेन सहितम् । 'अस्त्री वितानमुल्लोचः' इत्यमरः । महीक्षिता राज्ञां चूडामणिभिः शिरोरत्नैरुद्घृष्टमुल्लिखितं पादपीठं यस्य तत् । पितुरिदं पैतृकम् । 'ऋतष्ठञ्' इति ठञ्प्रत्ययः । आसनं सिंहासनं भेजे ॥२८॥

वहाँपर चँदोवा लगे हुए तथा राजाओंके मुकुटमणियोंसे उल्लिखित (प्रणाम करते हुए राजाओंके मुकुटमणियोंसे छूए गये) पिताके सिंहासनपर बैठे ॥ २८ ॥

शुशुभे तेन चाक्रान्तं मङ्गलायतनं महत् ।
श्रीवत्सलक्षणं वक्षः कौस्तुभेनेव कैशवम् ॥ २९ ॥

शुशुभ इति । तेन चाक्रान्तम् । श्रीवत्सो नाम चिह्नविशेषः । तल्लक्षणं श्रीवत्सरूपम् । 'श्रीवत्सनन्द्यावर्तादिविच्छेदा बहवो द्वयोः' इति सज्जनः । महदधिकं मङ्गलायतनं मङ्गलगृहं सभारूपम् । कौस्तुभेन मणिनाऽऽक्रान्तं श्रीवत्सलक्षणम् । केशवस्येदं कैशवम् । वक्ष इव शुशुभे ॥ २९ ॥

उस 'अतिथि' से युक्त विशाल एवं मङ्गल स्थान वह 'श्रीवत्स' नामक गृह-विशेष 'कौस्तुभ' मणिसे युक्त महामङ्गल स्थान श्रीवत्स (विष्णु भगवान्‌की छातीका चिह्न विशेष) से चिह्नित विष्णुकी छातीके समान शोभित हुआ ॥ २९ ॥

बभौ भूयः कुमारत्वादाधिराज्यमवाप्य सः ।
रेखाभावादुपारूढः सामग्र्यमिव चन्द्रमाः ॥ ३० ॥

बभाविति । सोऽतिथिः कुमारत्वाद्बाल्याद्भूयो यौवराज्यमवाप्यैवानन्तरम् । अधिराजस्य भाव आधिराज्यं माहाराज्यमवाप्य । रेखाभावादर्धेन्दुत्वमवाप्यैव साम्रग्यमुपारूढः पूर्णतां गतश्चन्द्रमा इव बभौ इति व्याख्यानम् । तदपि यौवराज्याभावनिश्चये ज्याय एव ॥ ३० ॥

वे 'अतिथि' कुमारभाव होनेसे युवराजपदको प्राप्तकर तथा बादमें राज्यश्रीको प्राप्तकर रेखारूपसे पूर्णताको प्राप्त हुए अर्थात् चन्द्रमाके समान शोभित हुए ॥ ३० ॥

प्रसन्नमुखरागं तं स्मितपूर्वाभिभाषिणम् ।
मूर्तिमन्तममन्यन्त विश्वासमनुजीविनः ॥ ३१ ॥

प्रसन्नेति । प्रसन्नो मुखरागो मुखकान्तिर्यस्य तं स्मितपूर्वं यथा तथाऽभिभाषिणमाभाषणशीलं तमतिथिमनुजीविनः सेवकाः मूर्तिमन्तं विग्रहवन्तं विश्वासं विस्रम्भममन्यन्त । 'समौ विस्रम्भविश्वासौ' इत्यमरः ॥ ३१ ॥

अनुचरोंने प्रसन्न मुखकान्तिवाले तथा पहले मुस्कराकर भाषण करनेवाले उस 'अतिथि' को मूर्तिमान् विश्वास जैसा माना ॥ ३१ ॥

चन्दनेनाङ्गरागं च मृगनाभिसुगन्धिना ।
समापय्य ततश्चक्रुः पत्रं विन्यस्तरोचनम् ॥ २४ ॥

चन्दनेनेति । किं च । मृगनाभ्या कस्तूरिकया सुगन्धिना चन्दनेनाङ्गरागमङ्गविलेपनं समापय्य समाप्य ततोऽनन्तरं विन्यस्ता रोचना गोरोचना यस्मिंस्तत्पत्रं पत्ररचनां चक्रुः ॥ २४ ॥

कस्तूरीसे सुगन्धित चन्दनसे अङ्गमें लेपन करके बादमें गोरोचनसे युक्त पत्र-रचना की।

आमुक्ताभरणः स्रग्वी हंसचिह्नदुकूलवान् ।
आसीदतिशयप्रेक्ष्यः स राज्यश्रीवधूवरः ॥ २५ ॥

आमुक्तेति । आमुक्ताभरण आसञ्जिताभरणः । स्रगस्यास्तीति स्रग्वी । 'अस्मायामेधास्रजो विनिः' इति विनिप्रत्ययः । हंसाश्चिह्नमस्येति हंसचिह्नं । तद्दुकूलं तद्वान् । अत्र बहुव्रीहिणैवार्थसिद्धे मतुबानर्थक्येऽपि सर्वधनीत्यादिवत्कर्मधारयादपि मत्वर्थीयं प्रत्ययमिच्छन्ति । एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् । राज्यश्रीरेव वधूर्नवोढा तस्या वरो वोढा । 'वधूः स्नुषा नवोढा स्त्री वरो जामातृविट्पयोः' इति विश्वः । सोऽतिशयितमतिशयेन प्रेक्ष्यो दर्शनीय आसीत् । वरोऽप्येवंविशेषणः ॥ २५ ॥

मोतियोंके भूषणोंको पहने हुए, माला धारण किये हुए और हंसके चिह्नोंसे युक्त वस्त्रको पहने हुए राज्यलक्ष्मीरूपिणी नवोढा (नयी दुलहिन) के वर (पति) वे 'अतिथि' देखनेमें अत्यन्त सुन्दर लगते थे ॥ २५ ॥

नेपथ्यदर्शिनश्छाया तस्यादर्शे हिरण्मये ।
विरराजोदिते सूर्ये मेरौ कल्पतरोरिव ॥ २६ ॥

नेपथ्येति । हिरण्मये सौवर्णे आदर्शे दर्पणे नेपथ्यदर्शिनो वेषं पश्यतस्तस्यातिथेश्छाया प्रतिबिम्बम् । उदिते सूर्ये तपनमये मेरौ यः कल्पतरुस्तस्य छायेव विरराज । तस्य सूर्यसदृक्कान्तिबिम्बस्य स्वर्णमयत्वान्मेरावित्युक्तम् ॥ २६ ॥

सुवर्णके बने दर्पणमें शृङ्गारको देखनेवाले उस 'अतिथि' का प्रतिबिम्ब सूर्योदय होनेपर सुमेरु पर्वतमें कल्पवृक्षके (प्रतिबिम्बके) समान शोभित हुआ ॥ २६ ॥

स राजककुदव्यग्रपाणिभिः पार्श्ववर्तिभिः ।
ययावुदीरितालोकः सुधर्मानवमां सभाम् ॥ २७ ॥

स इति । सोऽतिथी राजककुदानि राजचिह्नानि छत्रचामरादीनि । 'प्राधान्ये राजलिङ्गे च वृषाङ्गे ककुदोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । तेषु व्यग्रा पाणयो येषां तैः पार्श्ववर्तिभिर्दीरितालोक उच्चारितजयशब्दः । 'आलोको जयशब्दः स्यात्' इति हलायुधः । सुधर्मा देवसभा तस्या अनवमामन्यूनां सभामास्थानीं ययौ । 'स्यात्सुधर्मा देवसभा' इत्यमरः ॥ २७ ॥

राजचिह्न (छत्र चामर आदि धारण करने) से व्यग्र हाथोंवाले पार्श्वस्थ लोगोंसे

जय जयकार किये जाते हुए वे 'अतिथि' इन्द्रसभाके समान सभा (-भवन) में पहुँचे ॥

वितानसहितं तत्र भेजे पैतृकमासनम् ।
चूडामणिभिरुद्घृष्टपादपीठं महीक्षिताम् ॥ २८ ॥

वितानेति । तत्र सभायां वितानेनोल्लोचेन सहितम् । 'अस्त्री वितानमुल्लोचः' इत्यमरः । महीक्षितां राज्ञां चूडामणिभिः शिरोरत्नैरुद्घृष्टमुल्लिखितं पादपीठं यस्य तत् । पितुरिदं पैतृकम् । 'ऋतष्ठञ्' इति ठञ्प्रत्ययः । आसनं सिंहासनं भेजे ॥२८॥

वहाँपर चँदोवा लगे हुए तथा राजाओंके मुकुटमणियोंसे उल्लिखित (प्रणाम करते हुए राजाओंके मुकुटमणियोंसे छूए गये) पिताके सिंहासनपर बैठे ॥ २८ ॥

शुशुभे तेन चाक्रान्तं मङ्गलायतनं महत् ।
श्रीवत्सलक्षणं वक्षः कौस्तुभेनेव कैशवम् ॥ २९ ॥

शुशुभ इति । तेन चाक्रान्तम् । श्रीवत्सो नाम चिह्नविशेषः । तल्लक्षणं श्रीवत्सरूपम् । 'श्रीवत्सनन्द्यावर्तादिविच्छेदा बहवो द्वयोः' इति सज्जनः । महदधिकं मङ्गलायतनं मङ्गलगृहं सभारूपम् । कौस्तुभेन मणिनाऽऽक्रान्तं श्रीवत्सलक्षणम् । केशवस्येदं कैशवम् । वक्ष इव शुशुभे ॥ २९ ॥

उस 'अतिथि' से युक्त विशाल एवं मङ्गल स्थान वह 'श्रीवत्स' नामक गृह-विशेष 'कौस्तुभ' मणिसे युक्त महामङ्गल-स्थान श्रीवत्स (विष्णु भगवान्‌की छातीका चिह्न विशेष) से चिह्नित विष्णुकी छातीके समान शोभित हुआ ॥ २९ ॥

बभौ भूयः कुमारत्वादाधिराज्यमवाप्य सः ।
रेखाभावादुपारूढः सामग्र्यमिव चन्द्रमाः ॥ ३० ॥

बभाविति । सोऽतिथिः कुमारत्वाद्बाल्याद्भूयो यौवराज्यमवाप्यैवानन्तरम् । अधिराजस्य भाव आधिराज्यं माहाराज्यमवाप्य । रेखाभावादर्धेन्दुत्वमवाप्यैव साममग्र्यमुपारूढः पूर्णतां गतश्चन्द्रमा इव बभौ इति व्याख्यानम् । तदपि यौवराज्याभावनिश्चये ज्याय एव ॥ ३० ॥

वे 'अतिथि' कुमारभाव होनेसे युवराजपदको प्राप्तकर तथा बादमें राज्यश्रीको प्राप्तकर रेखारूपसे पूर्णताको प्राप्त हुए अर्थात् चन्द्रमाके समान शोभित हुए ॥ ३० ॥

प्रसन्नमुखरागं तं स्मितपूर्वाभिभाषिणम् ।
मूर्तिमन्तममन्यन्त विश्वासमनुजीविनः ॥ ३१ ॥

प्रसन्नेति । प्रसन्नो मुखरागो मुखकान्तिर्यस्य तं स्मितपूर्वं यथा तथाऽभिभाषिणमाभाषणशीलं तमतिथिमनुजीविनः सेवका मूर्तिमन्तं विग्रहवन्तं विश्वासं विस्रम्भममन्यन्त । 'समौ विस्रम्भविश्वासौ' इत्यमरः ॥ ३१ ॥

अनुचरोंने प्रसन्न मुखकान्तिवाले तथा पहले मुस्कराकर भाषण करनेवाले उस 'अतिथि' को मूर्तिमान् विश्वास जैसा माना ॥ ३१ ॥

स पुरं पुरुहूतश्रीः कल्पद्रुमनिभध्वजाम् ।
क्रममाणश्चकार द्यां नागेनैरावतौजसा ॥ ३२ ॥

स इति । पुरुहूतश्रीः सोऽतिथिः कल्पद्रुमाणां निभाः समाना ध्वजा यस्यास्तां पुरमैरावतस्य ओज इवौजो बलं यस्य तेन नागेन कुञ्जरेण क्रममाणश्चरन्। 'अनुपसर्गाद्वा' इति वैकल्पिकमात्मनेपदम्। द्यां चकार स्वर्गलोकसदृशीं चकारेत्यर्थः। 'द्यौः स्वर्गसुरवर्त्मनोः' इति विश्वः ॥ ३२ ॥

इन्द्रके समान शोभावाले उस अतिथि ने कल्पवृक्षके समान पताकाओंवाली (अयोध्या) नगरीको ऐरावतके समान बलवान् हाथीसे घूमते हुए स्वर्ग (के समान) बना दिया ॥ ३२ ॥

तस्यैकस्योच्छ्रितं छत्रं मूर्ध्नि तेनामलत्विषा ।
पूर्वराजवियोगौष्म्यं कृत्स्नस्य जगतो हृतम् ॥ ३३ ॥

तस्येति । तस्यैकस्य मूर्ध्नि छत्रमुच्छ्रितमुन्नमितम् । अमलत्विषा तेन छत्रेण कृत्स्नस्य जगतः पूर्वराजस्य कुशस्य वियोगेन यदौष्म्यं सन्तापस्तद्धृतं नाशितम्। अत्र छत्रोन्नमनसन्तापहरणरूपयोः कारणकार्ययोर्भिन्नदेशत्वादसङ्गतिरलङ्कारः। तदुक्तम्—'कार्यकारणयोर्भिन्नदेशत्वे स्यादसङ्गतिः' इति ॥ ३३ ॥

उस एक अतिथि के मस्तक पर छत्र लगा हुआ था (किन्तु) उस श्वेतछत्रने सम्पूर्ण जगत् (प्रजा) के पूर्व (पहले) राजा (कुश) के विरहसे उत्पन्न सन्तापको दूर कर दिया। (एक व्यक्तिके छत्रका संसारके सन्तापको दूर करना आश्चर्यजनक है। वह अद्भुत कार्य राजा 'अतिथि' के प्रतापसे हुआ) ॥ ३३ ॥

धूमादग्नेः शिखाः पश्चादुदयादंशवो रवेः ।
सोऽतीत्य तेजसां वृत्तिं सममेवोत्थितो गुणैः ॥ ३४ ॥

धूमादिति । अग्नेर्धूमात्पश्चात् अनन्तरमित्यर्थः । शिखा ज्वालाः । रवेरुदयादनन्तरमंशवः । उत्तिष्ठन्त इति शेषः । सोऽतिथिस्तेजसामग्न्यादीनां वृत्तिं स्वभावमतीत्य गुणैः समं सहैवोत्थित उदितः, अपूर्वमिदमित्यर्थः ॥ ३४ ॥

अग्निकी ज्वाला (धूम) के बाद तथा सूर्यकी किरणें उदयके बाद दृष्टिगोचर होती हैं किन्तु वे 'अतिथि' तेजस्वियों (अग्नि आदि) के स्वभावका अतिक्रमण कर गुणों (प्रताप तथा दाक्षिण्य आदि) के साथ ही उदित हुए ॥ ३४ ॥

तं प्रीतिविशदैर्नेत्रैरन्वयुः पौरयोषितः ।
शरत्प्रसन्नैर्ज्योतिर्भिर्विभावर्य इव ध्रुवम् ॥ ३५ ॥

तमिति । पौरयोषितः प्रीत्या विशदैः प्रसन्नैर्नेत्रैः करणैस्तमतिथिमन्वयुरनुजग्मुः, ददृशुरित्यर्थः । कथमिव । शरदि प्रसन्नैर्ज्योतिर्भिर्नक्षत्रैर्विभावर्यो रात्रयो ध्रुवमिव ध्रुवताराख्यनक्षत्रमिवेत्यर्थः ॥ ३५ ॥

नगरकी नारियोंने प्रेमसे प्रसन्न नेत्रोंसे, निर्मल ताराओंसे युक्त रात्रिओंके समान उस 'अतिथि' का अनुगमन किया अर्थात् प्रसन्न नेत्रोंसे उस 'अतिथि' को देखा ॥ ३५ ॥

अयोध्यादेवताश्चैनं प्रशस्तायतनार्चिताः ।
अनुदध्युरनुध्येयं सान्निध्यैः प्रतिमागतैः ॥ ३६ ॥

अयोध्येति । प्रशस्तेष्वायतनेष्वालयेष्वर्चिता अयोध्यादेवताश्चानुध्येयमनुग्राह्यमेनमतिथिं प्रतिमागतैरर्चासङ्क्रान्तैः सान्निध्यैः सन्निधानैरनुदध्युरनुजगृहुः । 'अनुध्यानमनुग्रहः' इत्युत्पलमालायाम् । तदनुग्रहबुद्ध्या सन्निदधुरित्यर्थः ॥ ३६ ॥

श्रेष्ठ देवमन्दिरोंमें पूजित अयोध्यापुरीस्थ देवताओंने भी अनुग्रहके योग्य इस 'अतिथि' पर प्रतिमाओंमें आये हुए अपने सामीप्यसे अनुग्रह किया अर्थात् पूजाकालमें प्रतिमाओंमें आकर पूजन स्वीकार करनेसे अनुगृहीत किया ॥ ३६ ॥

यावन्नाश्यायते वेदिरभिषेकजलाप्लुता ।
तावदेवास्य वेलाऽन्तं प्रतापः प्राप दुःसहः ॥ ३७ ॥

यावन्नेति । अभिषेकजलैराप्लुता सिक्ता वेदिरभिषेकवेदिर्यावन्नाश्यायते न शुष्यति । कर्तरि लट् । तावदेवास्य राज्ञो दुःसहः प्रतापो वेलाऽन्तं वेलापर्यन्तं प्राप ॥

राज्याभिषेकके जलसे भींगी हुई वेदी जबतक सूखने भी नहीं पायी, तभीतक इस 'अतिथि' का दुःसह प्रताप समुद्रतटतक पहुँच गया ॥ ३७ ॥

वसिष्ठस्य गुरोर्मन्त्राः सायकास्तस्य धन्विनः ।
किं तत्साध्यं यदुभये साधयेयुर्न सङ्गताः ॥ ३८ ॥

वसिष्ठस्येति । गुरोर्वसिष्ठस्य मन्त्राः । धन्विनस्तस्यातिथेः सायकाः इत्युभये सङ्गताः सन्तो यत्साध्यं न साधयेयुस्तत्तादृक्साध्यं किम्, न किञ्चिदित्यर्थः । तेषामसाध्यं नास्तीति भावः ॥ ३८ ॥

गुरु वसिष्ठके मन्त्र तथा धनुर्धारी उस 'अतिथि' के बाण ये दोनों मिलकर वह कौनसा कार्य था, जिसे सिद्ध न कर सकें अर्थात् उनके लिए कोई कार्य असाध्य नहीं था ॥ ३८ ॥

स धर्मस्थसखः शश्वदर्थिप्रत्यर्थिनां स्वयम् ।
ददर्श संशयच्छेद्यान्व्यवहारानतन्द्रितः ॥ ३९ ॥

स इति । धर्मे तिष्ठन्तीति धर्मस्थाः सभ्याः । 'राज्ञा सभासदः कार्या रिपौ मित्रे च ये समाः' इत्युक्तलक्षणाः । तेषां सखा धर्मस्थसखः, तत्सहित इत्यर्थः । अतन्द्रितोऽनलसः स नृपः शश्वत्, अन्वहमित्यर्थः । अर्थिनां साध्यार्थवतां प्रत्यर्थिनां तद्विरोधिनां च संशयच्छेद्यान्संशयाद्धेतोश्छेद्यान्परिच्छेद्यान्, सन्दिग्धत्वादवश्यनिर्णेयानित्यर्थः । व्यवहारानृणादानादिविवादान्स्वयं ददर्शानुसन्दधौ, न तु प्राड्विवाकमेव नियुक्तवानित्यर्थः । अत्र याज्ञवल्क्यः—'व्यवहारान्नृपः पश्येद्विद्वद्भिर्ब्राह्मणैः सह' इति ॥ ३९ ॥

वह 'अतिथि' धार्मिक सभासदोंके साथ निरालस होकर कभी उभय प्रत्यर्थी (मुद्दई मुद्दालह) के सन्दिग्ध विवादों (मुकदमों) को स्वयं देखता था ॥ ३९ ॥

ततः परमभिव्यक्तसौमनस्यनिवेदितैः ।
युयोज पाकाभिमुखैर्भृत्यान्विज्ञापनाफलैः ॥ ४० ॥

तत इति । ततः परं व्यवहारदर्शनानन्तरं भृत्याननुजीविनः । अभिव्यक्तं मुखप्रसादादिलिङ्गैः स्फुटीभूतं यत्सौमनस्यं स्वामिना प्रसन्नत्वं तेन निवेदितैः सूचितैः पाकाभिमुखैः सिद्धप्रायैर्विज्ञापनानां विज्ञप्तीनां फलैः प्रेप्सितार्थैर्युयोज योजयामास । अत्र वृद्धस्मृतिः— निगृह्य अनभिव्यक्तौ निग्रहौ च यथाक्रमम् । भृत्यानां सौमनस्यं तु नवोऽप्यनवोऽप्यतो व्रजेत् ॥ इति । कविश्च वक्ष्यति—'यथोऽम्या स नवोऽप्यासीत्' इत्यादिना । अत्र सौमनस्यफलयोरम्रपाकादिभिर्भूपस्य वृक्षसमाधिर्व्यञ्जनत इत्यनुसन्धेयम् ॥ ४० ॥

इसके बाद (मुख प्रसन्नता आदिसे) स्पष्ट प्रसन्नतासे सूचित अत्येव शीघ्र सिद्ध होनेवाले सूचनाओंके फलों (पारितोषिकों) से भृत्योंको युक्त किया अर्थात् अनुजीवक भृत्योंको प्रसन्न होकर पारितोषिक दिया ॥ ४० ॥

प्रजास्तद्गुरुणा नद्यो नभसेव विवर्धिताः ।
तस्मिंस्तु भूयसीं वृद्धिं नभस्ये ता इवाययुः ॥ ४१ ॥

प्रजा इति । प्रजास्तस्यातिथेर्गुरुणा पित्रा कुशेन । नभसा श्रावणमासेन नद्य इव विवर्धिताः । तस्मिन्नतिथौ तु नभस्ये भाद्रपदे मासे ता इव नद्य इव भूयसीं वृद्धिमभ्युदयमापुः, प्रजापोषणेन पितरमतिशयितवानित्यर्थः ॥ ४१ ॥

प्रजायें उस 'अतिथि' के पिताके श्रावणमास (की वृद्धि) से नदियोंके समान बढ़ी तथा उस 'अतिथि' के राजा होनेपर तो भाद्रपदमासमें उन (नदियों) के समान अत्यधिक वृद्धि (उन्नति) को प्राप्त हो गई ॥ ४१ ॥

यदुवाच न तन्मिथ्या यद्ददौ न जहार तत् ।
सोऽभूद्भग्नव्रतः शत्रूनुद्धृत्य प्रतिरोपयन् ॥ ४२ ॥

यदिति । सोऽतिथिर्यदल्पं दानमानादिविषयमुवाच तन्न मिथ्याभूतं नाभूत् । यद्वस्तु ददौ तन्न जहार न पुनरादत्ते । किन्तु शत्रूनुद्धृत्योत्खाय प्रतिरोपयन् पुनः स्थापयन्नप्यतो भग्ननियमोऽभूत् ॥ ४२ ॥

उस 'अतिथि' ने जो कहा वह असत्य नहीं हुआ अर्थात् वैसा ही किया तथा जो (दान आदि) दिया, उसे हरण नहीं किया अर्थात् पुनः वापस नहीं लिया। (सर्वदा वचनोंमें सत्यव्रतका पालन किया), किन्तु शत्रुओंका उन्मूलन कर पुनः उस राज्यपर स्थापित करते हुए (राज्यच्युत कर पुनः उनको उनका राज्य वापस करते हुए) वे 'अतिथि' व्रत भङ्गवाले हुए ॥ ४२ ॥

वयोरूपविभूतीनामेकैकं मदकारणम् ।
तानि तस्मिन्समस्तानि न तस्योत्सिषिचे मनः ॥ ४३ ॥

वय इति । वयोरूपविभूतीनां यौवनसौन्दर्यैश्वर्याणां मध्य एकैकं मदकारणं मदहेतुः । तानि मदकारणानि तस्मिन् राज्ञि समस्तानि । मिलितानीति शेषः । तथाऽपि तस्यातिथेर्मनो नोत्सिषिचे न जगर्व । सिञ्चतेः स्वरितेत्वादात्मनेपदम् । अत्र वयोरूपादीनां गर्वहेतुत्वान्मदस्य च मदिराकार्यत्वेनातत्कारकत्वान्मदशब्देन गर्वो लक्ष्यत इत्याहुः । उक्तं च—'ऐश्वर्यरूपतारुण्यकुलविद्यावलैरपि । इष्टलाभादिना चेषामवज्ञा गर्व ईरितः । मदस्त्वानन्दसम्मोहः सम्भेदो मदिराकृतः ॥' इति । अत एव कविनाऽपि 'उत्सिषिचे' इत्युक्तम् । न तु 'उन्माद' इति ॥ ४३ ॥

अवस्था (युवावस्था), सुन्दर रूप तथा ऐश्वर्य, इनमेंसे एक एक गर्वका कारण होता है और उस 'अतिथि' में वे तीनों विद्यमान थे; किन्तु उनका मन गर्वित नहीं हुआ ॥४३॥

इत्थं जनितरागासु प्रकृतिष्वनुवासरम् ।
अक्षोभ्यः स नवोऽप्यासीद् दृढमूल इव द्रुमः ॥ ४४ ॥

इत्थमिति । इत्थमनुवासरमन्वहं प्रकृतिषु प्रजासु जनितरागासु जनित उत्पन्नो रागः प्रीतिर्यासु तासु सतीषु स राजा नवोऽपि । दृढमूलो द्रुम इव । अक्षोभ्योऽप्रधृष्य आसीत् ॥ ४४ ॥

इस प्रकार प्रतिदिन अनुरक्त प्रजाओंमें वे 'अतिथि' नये होते हुए भी दृढ जड़वाले वृक्षके समान क्षोभरहित (अजेय) थे ॥ ४४ ॥

अनित्याः शत्रवो बाह्या विप्रकृष्टाश्च ते यतः ।
अतः सोऽभ्यन्तरान्नित्यान्षट् पूर्वमजयद्रिपून् ॥ ४५ ॥

अनित्या इति । यतो बाह्याः शत्रवः प्रतिनृपा अनित्याः, द्विषन्ति स्निह्यन्ति चेत्यर्थः । किञ्च । ते बाह्या विप्रकृष्टा दूरस्थाश्च । अतः सोऽभ्यन्तरानन्तर्वर्तिनो नित्यान्षड् रिपून्कामक्रोधादीन्पूर्वमजयत् । अन्तःशत्रुजये बाह्या अपि न दुर्जया इति भावः ॥ ४५ ॥

बाहरी शत्रु (अन्य राजा आदि) अनित्य हैं और वे दूर भी रहते हैं, अतएव उस 'अतिथि' ने पहले अपने भीतर रहनेवाले तथा नित्य छः शत्रुओं (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य) को जीत लिया ॥ ४५ ॥

प्रसादाभिमुखे तस्मिंश्चपलाऽपि स्वभावतः ।
निकषे हेमरेखेव श्रीरासीदनपायिनी ॥ ४६ ॥

प्रसादाभिमुख इति । स्वभावतश्चपलाऽपि श्री प्रसादाभिमुखे तस्मिन्नृपे । निकषे निकषोपले हेमरेखेव । अनपायिनी स्थिराऽऽसीत् ॥ ४६ ॥

समान फैले हुए बादल भी अपनी प्रजा उस राजामें कसौटीपर स्वर्ण-रेखाके समान लि-
प्त नहीं रही॥ ४६॥

> कातर्यं केवला नीतिः शौर्यं श्वापदचेष्टितम्।
> अतः सिद्धिं समेताभ्यामुभाभ्यामन्वियेष सः॥ ४७॥

कातर्यमिति। केवला शौर्यवर्जिता नीतिः कातर्यं भीरुत्वम्। शौर्यं केवलमि-
त्यनुपजनीयम्। केवलं नीतिरहितं शौर्यं श्वापदचेष्टितम् व्याघ्रादिचेष्टासमानमि-
त्यर्थः। 'व्याघ्राद्यो वनचराः पशवः श्वापदा मताः' इति हलायुधः। अतो हेतोः
सोऽतिथिः समेताभ्यां संहताभ्यामुभाभ्यां नीतिशौर्याभ्यां सिद्धिं कार्यसिद्धिमन्वि-
येष गवेषितवान्॥ ४७॥

केवल (शूरताहीन) राजनीति (से ही कार्य करना) कायरता है तथा केवल (राज-
नीतिहीन) शूरता (से ही कार्य करना) हिंसक जन्तुओं (व्याघ्र-सिंह आदि) की चेष्टा
(के समान) है। अत एव 'अतिथि' ने सम्मिलित उन दोनों (राजनीति तथा शूरता)
से सिद्धिकी खोज की अर्थात् समयानुसार राजनीति और शूरता; दोनोंका आश्रय कर
कार्यसिद्धि करनेकी चेष्टा की॥ ४७॥

> न तस्य मण्डले राज्ञो न्यस्तप्रणिधिदीधितेः।
> अदृष्टमभवत्किंचिद् व्यभ्रस्येव विवस्वतः॥ ४८॥

नेति। न्यस्ताः सर्वतः प्रहिताः प्रणिधयश्चारा एव दीधितयो रश्मयो यस्य
तस्य। 'प्रणिधिः प्रार्थने चरे' इति यादवः। तस्य राज्ञः। व्यभ्रस्य निर्मेघस्य विव-
स्वतः सूर्यस्येव। मण्डले स्वविषये किंचिदप्यदृष्टमज्ञातं नाभवन्नासीत्।
चारचक्षुषा सर्वमपश्यदित्यर्थः॥ ४८॥

नियुक्त किये गये गुप्तचररूप किरणोंवाले उस राजाके देश अर्थात् राज्यमें गुप्तचरोंके
समान फैलाये गये किरणोंवाले मेघरहित सूर्यके मण्डलके समान कोई भी (गुप्तकार्य या
पदार्थ) अदृष्ट (अज्ञात) नहीं रहा। (सर्वत्र नियुक्त गुप्तचरोंके द्वारा ही
अतिथि समस्त राज्यके कार्योंको मालूम करते थे)॥ ४८॥

> रात्रिंदिवविभागेषु यदादिष्टं महीक्षिताम्।
> तत्सिषेवे नियोगेन स विकल्पपराङ्मुखः॥ ४९॥

रात्रिंदिवमिति। रात्रौ च दिवा च रात्रिंदिवम्। 'अचतुरविचतुरसुचतुरस्त्री-
पुंसधेन्वनडुह–' इत्यादिनाऽधिकरणार्थे द्वन्द्वेऽच्प्रत्ययान्तो निपातः। अस्य चात्यन्त-
सप्तम्यन्तम्। अत्र तत्पर्यवसानतया रात्रिंदिवमिति अहोरात्रयोरित्यर्थः। तयोर्विभागा
अंशाः प्रहराद्याः। तेषु महीक्षितां राज्ञां यदादिष्टमिदमस्मिन्काले कर्तव्यमिति
मन्वादिभिरुपदिष्टं तत्स राजा विकल्पपराङ्मुखः संशयरहितः सन्। नियोगेन
नियमेन सिषेवे अनुष्ठितवानित्यर्थः। अत्र कौटिल्यः—'कार्याणां नियोगविकल्प-

समुच्चया भवन्ति । अनेनैवोपायेन नान्येनेति नियोगः । अनेन वाक्येन वेति विकल्पः । अनेन चेति समुच्चयः' इति ॥ ४९ ॥

(राजनीतिकारोंने) रात-दिनके विभागोंमें राजाओंके लिये जो कुछ (कार्य करनेके लिये) कहा है, संशयरहित उस 'अतिथि' ने उसका नियमसे पालन किया अर्थात् राजनीतिशास्त्रकारोंके कथनानुसार रात-दिनके समयको विभागकर उस 'अतिथि' राजाने सब कार्योंका निरीक्षण किया ॥ ४९ ॥

मन्त्रः प्रतिदिनं तस्य बभूव सह मन्त्रिभिः ।
स जातु सेव्यमानोऽपि गुप्तद्वारो न सूच्यते ॥ ५० ॥

मन्त्र इति । तस्य राज्ञः प्रतिदिनं मन्त्रिभिः सह मन्त्रो विचारो बभूव । स मन्त्रः सेव्यमानोऽप्यन्वहमावर्त्यमानोऽपि जातु कदाचिदपि न सूच्यते न प्रकाश्यते । तत्र हेतुर्गुप्तद्वार इति सवृतेङ्गिताकारादिज्ञानमार्ग इत्यर्थः ॥ ५० ॥

प्रतिदिन मन्त्रियोंके साथ उस 'अतिथि' की गुप्तमार्गवाला मन्त्रणा (गुप्त परामर्श) होता थी, रात दिन की जाती हुई भी वह मन्त्रणा (किसीको) मालूम नहीं पड़ती थी ॥ ५० ॥

परेषु स्वेषु च क्षिप्तैरविज्ञातपरस्परैः ।
सोऽपसर्पैर्जजागार यथाकालं स्वपन्नपि ॥ ५१ ॥

परेष्विति । यथाकालमुक्तकालानतिक्रमेण स्वपन्नपि सोऽतिथिः परेषु शत्रुषु स्वेषु स्वकीयेषु च । मन्त्र्यादितीर्थेष्विति शेषः । क्षिप्तैः प्रहितैरविज्ञाताः परस्परे येषां तैः, अन्योन्याविज्ञातैरित्यर्थः । अपसर्पैश्चरैः । 'अपसर्पश्चरः स्पशः' इत्यमरः । जजागार बुद्धवान्, चारमुखेन सर्वमज्ञासीदित्यर्थः । अत्र कामन्दकः—'चारान्विचारयेत्तीर्थेष्वात्मनश्च परस्य च । पाषण्ड्यादीनविज्ञातानन्योन्यमितरैरपि ॥' इति ॥ ५१ ॥

यथासमय सोते हुए भी वे 'अतिथि' राजा शत्रुओं (के देशों) में तथा आत्मीय (मन्त्री-सेनापति आदि प्रकृतियों) में भेजे गये तथा आपसमें अपरिचित (एक दूसरे को गुप्तचर नहीं जाननेवाले) गुप्तचरोंसे निरन्तर जागरूक रहते थे ॥ ५१ ॥

दुर्गाणि दुर्ग्रहाण्यासंस्तस्य रोद्धुरपि द्विषाम् ।
न हि सिंहो गजास्कन्दी भयाद् गिरिगुहाशयः ॥ ५२ ॥

दुर्गाणीति । द्विषां रोद्धुः रोधकस्यापि, न तु स्वयं रोध्यस्येत्यर्थः । तस्य राज्ञो दुर्ग्रहाणि परैर्दुर्धर्षाणि दुर्गाणि महीदुर्गादीन्यासन् । न च निर्भीकस्य किं दुर्गैरिति वाच्यमित्यर्थान्तरन्यासमुखेनाह—न हीति । गजानास्कन्दति हिनस्तीति गजास्कन्दी सिंहो भयाद्धेतोः । गिरिगुहासु शेत इति गिरिगुहाशयो न हि, किन्तु स्वभावत एवेति शेषः । 'अधिकरणे शेते' इत्यच्प्रत्ययः । अत्र मनुः—'धन्वदुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वार्क्षमेव वा । नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत्पुरम् ॥' इति ॥ ५२ ॥

शत्रुओंको रोकनेवाले भी वह 'अतिथि' के लिये दुर्लभ थे; क्योंकि हाथियोंपर आक्रमण करनेवाला सिंह शरभके भयसे कन्दरामें नहीं सोता है। (किन्तु जैसे निर्भीक होकर सिंह सुरक्षित पर्वत-कन्दरामें सोता है, वैसे ही निर्भीक भी वह अतिथिके लिये दुर्गमें अजेय थे) ॥ ५१ ॥

मन्त्रमुख्याः समारम्भाः प्रत्यवेक्ष्या निरत्ययाः ।
गर्भशालिसधर्माणस्तस्य गूढं विपेचिरे ॥ ५२ ॥

मन्त्रमुख्या इति। मन्त्रमुख्याः कल्याणप्रधानाम्, न तु विपरीताः। प्रत्यवेक्ष्याः पुनःपुनःकृतमेतावत्कर्तव्यमित्यनुसन्धानेन विचारणीयाः। अत एव निरत्ययाः निर्दोषाः गर्भोऽन्तस्तस्मिन् पच्यन्ते ये शालयस्तेषां सधर्माणः अतिनिगूढा इत्यर्थः। 'धर्मो निष्केवलात्' इत्यनिच्प्रत्ययः समासान्तः। तस्य राज्ञः समारम्भाः इति समारम्भाः कर्माणि गूढमप्रकाशं विपेचिरे फलिता इत्यर्थः। 'फलानुमेयाः प्रारम्भाः' इति भावः ॥ ५२ ॥

मन्त्रणा प्रधानकारी विचारणीय (इतना काम पूर्ण हो चुका, अब इतना कार्य करना है इत्यादि प्रकारसे विचार करने योग्य अत एव) विघ्नरहित तथा भीतरमें ही पकने वाले (साठी नामक) धानके समान गर्भवाले अर्थात् बाहर बिना प्रकाशित हुए ही सफल होनेवाले उस 'अतिथि' के कार्य गुप्तरूपसे परिपक्व (सफल) होते थे अर्थात् फल-सिद्धि होनेपर ही उनके आरम्भका अनुमान होता था ॥ ५२ ॥

अपथेन प्रववृते न जातूपचितोऽपि सः ।
वृद्धौ नदीमुखेनैव प्रस्थानं लवणाम्भसः ॥ ५४ ॥

अपथेनेति। सोऽतिथिरुपचितोऽपि वृद्धिं गतोऽपि सन्। जातु कदाचिदप्यपथेन कुमार्गेण न प्रववृते न प्रवृत्तः, सर्वदा न प्रवृत इत्यर्थः। तथा हि लवणाम्भसः समुद्रस्य वृद्धौ पूरोत्पीडे सत्यां नदीमुखेनैव नदीप्रवेशमार्गेणैव प्रस्थानं निर्गमनम्, न त्वन्यथेत्यर्थः ॥ ५४ ॥

वृद्धिको प्राप्त भी वह 'अतिथि' ने कभी भी कुमार्गको नहीं पकड़ा, क्योंकि समुद्र भी ज्वार-समय नदीके रास्तेसे ही चलता है ॥ ५४ ॥

कामं प्रकृतिवैराग्यं सद्यः शमयितुं क्षमः ।
यस्य कार्यः प्रतीकारः स तन्नैवोदपादयत् ॥ ५५ ॥

काममिति। प्रकृतिवैराग्यं प्रजाविरागम्। वैराग्यमुत्पन्नमिति शेषः। सद्यः कामं सम्यक् शमयितुं प्रतिकर्तुं क्षमः शक्तः स राजा यस्य प्रकृतिवैराग्यस्य प्रतीकारः कार्यः करणीयः अवश्यकर्तव्य इत्यर्थः। तद्वैराग्यं नैवोदपादयत्। प्रत्यवमतीकारानुत्पादनपरमिति भावः। अत्र कीर्तितम्— पीना प्रकृतयो कोपं लुब्धा यान्ति विरागताम्।

विरक्ता यान्त्यमित्रं वा भर्तारं घ्नन्ति वा स्वयम्॥' तस्मात्प्रकृतीनां विरागकारणानि नोत्पादयेदित्यर्थः ॥ ५५ ॥

प्रजाके वैराग्य (उत्पन्न प्रेमका अभाव) को तत्काल शान्त करनेमें समर्थ भी उस 'अतिथि' ने जिस (वैराग्य अर्थात् प्रेमाभाव या विरोध) को शान्त करना पड़े, उसको पैदा होने नहीं दिया। ('प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' नीति के अनुसार उस 'अतिथि' राजाने प्रजाओंमें उत्पन्न विरोधको शक्तिसे दबानेकी अपेक्षा उसे पैदा ही न होने देना अच्छा समझा) ॥ ५५ ॥

शक्येष्वेवाभवद्यात्रा तस्य शक्तिमतः सतः।
समीरणसहायोऽपि नाम्भःप्रार्थी दवानलः ॥ ५६ ॥

शक्येष्विति। शक्तिमतः शक्तिसम्पन्नस्यापि सतस्तस्य राज्ञः शक्येषु शक्तिविषयेषु स्वस्माद्धीनबलेष्वेव विषये यात्रा दण्डयात्रा अभवत्, न तु समधिकेष्वित्यर्थः। तथा हि, समीरणसहायोऽपि दवानलोऽम्भःप्रार्थी जलान्वेषी न। दग्धुमिति शेषः। किन्तु तृणकाष्ठादिकमेवान्विष्यतीत्यर्थः। अत्र कौटिल्यः—'समज्यायोभ्यां सन्दधीत हीनेन विगृह्णीयात्' इति ॥ ५६ ॥

शक्तिशाली भी उस 'अतिथि' की यात्रा (चढाई) शक्य (जीतने योग्य अपनेसे दुर्बल राजाओं) पर ही हुई, क्योंकि वायुके सहायक होनेपर भी दावाग्नि जलकी चाहना नहीं करती अर्थात् जलको जलानेकी इच्छा नहीं करती, (अपितु तृण-काष्ठादिको ही जलाती है)॥

न धर्ममर्थकामाभ्यां बबाधे न च तेन तौ।
नार्थं कामेन कामं वा सोऽर्थेन सदृशस्त्रिषु ॥ ५७ ॥

नेति। स राजाऽर्थकामाभ्यां धर्मं न बबाधे न नाशितवान्। तेन धर्मेण च तावर्थकामौ न। अर्थं कामेन कामं वाऽर्थेन न बबाधे, एकत्रैवासक्तो नाभूदित्यर्थः। किन्तु त्रिषु धर्मार्थकामेषु सदृशस्तुल्यवृत्तिः अभूदित्यर्थः ॥ ५७ ॥

तीनों (अर्थ, धर्म तथा काम) में समान वृत्तिवाले उस 'अतिथि' राजाने अर्थ और कामसे धर्मको, धर्मसे अर्थ और कामको, अथवा कामसे अर्थको और अर्थसे कामको पीडित नहीं किया अर्थात् धर्म, अर्थ और काम तीनोंका समान रूपसे सेवन किया ॥ ५७ ॥

हीनान्यनुपकर्तॄणि प्रवृद्धानि विकुर्वते।
तेन मध्यमशक्तीनि मित्राणि स्थापितान्यतः ॥ ५८ ॥

हीनानीति। मित्राणि हीनान्यतिक्षीणानि चेदनुपकर्तॄण्यनुपकारीणि। प्रवृद्धान्यतिसमृद्धानि चेद्विकुर्वते विरुद्धं चेष्टन्ते, अपकुर्वत इत्यर्थः। 'अकर्मकाच्च' इत्यात्मनेपदम्। अतः कारणात्तेन राज्ञा मित्राणि सुहृदः। 'मित्रं सुहृदि मित्रोऽर्के' इति विश्वः। मध्यमशक्तीनि नातिक्षीणोच्छ्रितानि यथा तथा स्थापितानि ॥ ५८ ॥

दुर्बल मित्र कोई लाभ नहीं पहुँचाते तथा बलवान् मित्र विकारयुक्त हो जाते, अर्थात्

शत्रुओंको रोकनेवाले भी उस 'अतिथि' के लिये दुर्ग थे; क्योंकि हाथियोंपर आक्रमण करनेवाला सिंह भयसे पहाड़की कन्दरामें नहीं सोता है। (किन्तु जैसे निर्भीक सिंह सुरक्षित पर्वत-कन्दरामें सोता है वैसे ही निर्भीक भी उस 'अतिथि' के लिये दुर्ग अभेद्य थे) ॥ ५२ ॥

अभ्यग्रमुख्याः समारम्भाः प्रत्यवेक्ष्या निरत्ययाः ।
गर्भशालिसधर्माणस्तस्य गूढं विपेचिरे ॥ ५३ ॥

अभ्यग्रमुख्या इति । अभ्यग्रमुख्याः कल्याणप्रधानाः, न तु विपरीताः । प्रत्यवेक्ष्याः एतावत्कृतमेतावत्कर्तव्यमित्यनुसन्धानेन विचारणीयाः । अत एव निरत्ययाः निर्विघ्नाः गर्भेऽभ्यन्तरे पच्यन्ते ये शालयस्तेषां सधर्माणः अतिनिगूढा इत्यर्थः । 'धर्मादनिच् केवलात्' इत्यनिच्प्रत्ययः समासान्तः । तस्य राज्ञः समारम्भाः इति एवमारम्भाः कर्माणि गूढमप्रकाशं विपेचिरे फलिता इत्यर्थः । 'फलानुमेयाः प्रारम्भाः' इति भावः ॥ ५३ ॥

प्रजाओंका कल्याणकारी विचारणीय (इतना काम पूर्ण हो चुका अब इतना करने योग्य है इत्यादि प्रकारसे विचार करने योग्य अत एव) विघ्नरहित तथा भीतरमें ही पकने वाले (शाली नामक) धानके समान धर्मवाले अर्थात् बाहर बिना प्रकाशित हुए ही उत्पन्न होनेवाले उस 'अतिथि' के कार्य गुप्तरूपसे परिपक्व (सफल) होते थे अर्थात् फल-सिद्धि होनेपर ही उनके कार्यका अनुमान होता था ॥ ५३ ॥

अपथेन प्रववृते न जातूपचितोऽपि सः ।
वृद्धौ नदीमुखेनैव प्रस्थानं लवणाम्भसः ॥ ५४ ॥

अपथेनेति । सोऽतिथिरुपचितोऽपि वृद्धिं गतोऽपि सन् । जातु कदाचिदप्यपथेन कुमार्गेण न प्रववृते न प्रवृत्तः, अधर्मं न चचारेत्यर्थः । तथा हि लवणाम्भसः समुद्रस्य वृद्धौ पूरोत्पीडे सत्यां नदीमुखेनैव नदीप्रवेशमार्गेणैव प्रस्थानं निर्गमनम्, न त्वन्यथेत्यर्थः ॥ ५४ ॥

वृद्धिको प्राप्त भी उस 'अतिथि' ने कभी भी कुमार्गको नहीं पकड़ा, क्योंकि बढ़नेपर भी ज्वार-समुद्र नदीके रास्तेसे ही चढ़ता है ॥ ५४ ॥

कामं प्रकृतिवैराग्यं सद्यः शमयितुं क्षमः ।
यस्य कार्यः प्रतीकारः स तन्नैवोदपादयत् ॥ ५५ ॥

काममिति । प्रकृतिवैराग्यं प्रजाविरागम् । वैराग्यमिति शेषः । सद्यः कामं सम्यक्शमयितुं शक्तिकर्तुं क्षमः शक्तोऽपि स राजा यस्य प्रकृतिवैराग्यस्य प्रतीकारः कार्यः कर्तव्यः, अनर्थहेतुत्वादित्यर्थः । तत्प्रकृतिवैराग्यं नैवोदपादयत् । उत्पन्नप्रतीकारादनुत्पादनं वरमिति भावः । अत्र कौटिल्यः—'क्षीणा प्रकृतयो लोभं लुब्धा यान्ति विरागताम्।'

मैं सर्वदा तत्पर थे और दूसरोंके छिद्रों (व्यसन आदि दुर्बलावस्थाओं)
ए अपने छिद्रोंको छिपाते थे ॥ ६१ ॥

त्रा संवर्धितो नित्यं कृतास्त्रः साम्परायिकः ।
य दण्डवतो दण्डः स्वदेहान्न व्यशिष्यत ॥ ६२ ॥

डो दम सैन्य वा तद्वतो दण्डवतो दण्डसम्पन्नस्य तस्य राज्ञः
संवर्धितः पुष्टः कृतास्त्रः शिक्षितास्त्रः । सम्परायो युद्धम् । 'युद्धा-
त्यमरः । तमर्हतीति साम्परायिकः । 'तदर्हति' इति ठञ्प्रत्ययः ।
ण्डो यमे मानभेदे लगुडे दमसैन्ययोः' इति विश्वः । स्वदेहान्न
। स्वदेहेऽपि विशेषणानि योज्यानि । मूलबलं स्वदेहमिवारक्ष-

अतिथि'के पिता (कुश) के द्वारा सर्वदा बढ़ाया गया, अस्त्रमें
सैन्यबल शरीर से भिन्न नहीं हुआ अर्थात् वे अपने शरीर के
करते थे ॥ ६२ ॥

रोरत्नं नास्य शक्तित्रयं परः ।
स्मात्तदयस्कान्त इवायसम् ॥ ६३ ॥

रोरत्नमिव अस्य राज्ञः शक्तित्रयं परः शत्रुर्न चकर्ष ।
म् । अयस्कान्तो मणिविशेष आयसं लोहविकारमिव

इनकी तीनों शक्तियों (प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति और
किया, किन्तु उस 'अतिथि' ने शत्रुसे तीनों शक्तियों-
लिया (अपनी ओर खींच लिया) ॥ ६३ ॥

षु वनेषूपवनेष्विव ।
चेरुर्वेश्मस्विवाद्रिषु ॥ ६४ ॥

पीषु दीर्घिकास्विव । 'वापी तु दीर्घिका'
'आरामः स्यादुपवनम्' इत्यमरः । अद्रिषु
वैरं स्वेच्छया चेरुश्चरन्ति स्म ॥ ६४ ॥

भ्यश्च सम्पदः ।
षडंशभाक् ॥ ६५ ॥

पदश्च रक्षन् । स राजाऽऽश्रमैर्ब्रह्म-
उक्रम्य षडंशभावचक्रे । यथाक्रम-

[illegible] (शत्रुओं) को [illegible]

[illegible] इत्यादि [illegible] —

पराऽऽत्मनोः परिच्छिद्य शक्त्यादीनां बलाबलम् ।
ययावेभिर्बलिष्ठश्चेत्परस्मादास्त सोऽन्यथा ॥ ५९ ॥

परात्मन इति । [illegible] शक्त्यादीनां [illegible] बलाबलं परिच्छिद्य निश्चित्य । [illegible] इति मनुना [illegible] । [illegible] अत्र मनुः— [illegible] इति ॥ ५९ ॥

[illegible]

कोशेनाश्रयणीयत्वमिति तस्यार्थसंग्रहः ।
अम्बुगर्भो हि जीमूतश्चातकैरभिनन्द्यते ॥ ६० ॥

कोशेनेति । [illegible] तथा हि अम्बु गर्भे [illegible] जीमूतो मेघः । [illegible] इति ॥

[illegible] ([illegible] नहीं) [illegible] (ही) [illegible] है ॥ ६० ॥

परकर्मापहः सोऽभूदुद्यतः स्वेषु कर्मसु ।
आवृणोदात्मनो रन्ध्रं रन्ध्रेषु प्रहरन् रिपून् ॥ ६१ ॥

परकर्मापह इति । स राजा [illegible] परकर्मापहः [illegible] । स्वेषु कर्मसु उद्यतोऽभूत् । किञ्च । रिपून् रन्ध्रेषु प्रहरन् [illegible] । अत्र मनुः— [illegible] ॥ ६१ ॥

वे अतिथि दूसरों (शत्रुओं) के [illegible]

तथा अपने कार्योंमें सर्वदा तत्पर थे और दूसरोंके छिद्रों (व्यसन आदि दुर्बलावस्थाओं) में प्रहार करते हुए अपने छिद्रोंको छिपाते थे ॥ ६१ ॥

पित्रा संवर्धितो नित्यं कृतास्त्रः साम्परायिकः।
तस्य दण्डवतो दण्डः स्वदेहान्न व्यशिष्यत ॥ ६२ ॥

पित्रेति। दण्डो दमः सैन्यं वा तद्वतो दण्डवतो दण्डसम्पन्नस्य तस्य राज्ञः पित्रा कुशेन नित्यं संवर्धितः पुष्टः कृतास्त्रः शिक्षितास्त्रः। सम्परायो युद्धम्। 'युद्धायत्यो सम्परायः' इत्यमरः। तमर्हतीति साम्परायिकः। 'तदर्हति' इति ठक्प्रत्ययः। दण्डः सैन्यम्। 'दण्डो यमे मानभेदे लगुडे दमसैन्ययोः' इति विश्वः। स्वदेहान्न व्यशिष्यत नाभिद्यत। स्वदेहेऽपि विशेषणानि योज्यानि। मूलबलं स्वदेहमिवारक्षदित्यर्थः ॥ ६२ ॥

सैन्यबलयुक्त उस 'अतिथि'के पिता (कुश) के द्वारा सर्वदा बढ़ाया गया, अस्त्रमें शिक्षित और युद्धके योग्य सैन्यबल शरीर से भिन्न नहीं हुआ अर्थात् वे अपने शरीर के समान ही सेनाकी भी रक्षा करते थे ॥ ६२ ॥

सर्पस्येव शिरोरत्नं नास्य शक्तित्रयं परः।
स चकर्ष परस्मात्तदयस्कान्त इवायसम् ॥ ६३ ॥

सर्पस्येवेति। सर्पस्य शिरोरत्नमिव अस्य राज्ञः शक्तित्रयं परः शत्रुर्न चकर्ष। स तु परस्माच्छत्रोस्तच्छक्तित्रयम्। अयस्कान्तो मणिविशेष आयसं लोहविकारमिव चकर्ष ॥ ६३ ॥

सर्पके मस्तकपर मणिके समान इनकी तीनों शक्तियों (प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति और उत्साहशक्ति) को शत्रुने आकृष्ट नहीं किया, किन्तु उस 'अतिथि' ने शत्रुसे तीनों शक्तियोंको लोहेको चुम्बकके समान आकृष्ट कर लिया (अपनी ओर खींच लिया) ॥ ६३ ॥

वापीष्विव स्रवन्तीषु वनेषूपवनेष्विव।
सार्थाः स्वैरं स्वकीयेषु चेरुर्वेश्मस्विवाद्रिषु ॥ ६४ ॥

वापीष्विति। स्रवन्तीषु नदीषु। वापीषु दीर्घिकास्विव। 'वापी तु दीर्घिका' इत्यमरः। वनेष्वरण्येषूपवनेष्वारामेष्विव। 'आरामः स्यादुपवनम्' इत्यमरः। अद्रिषु स्वकीयेषु वेश्मस्विव सार्था वणिक्प्रभृतयः स्वैरं स्वेच्छया चेरुश्चरन्ति स्म ॥ ६४ ॥

तपो रक्षन्स विघ्नेभ्यस्तस्करेभ्यश्च सम्पदः।
यथास्वमाश्रमैश्चक्रे वर्णैरपि षडंशभाक् ॥ ६५ ॥

तप इति। विघ्नेभ्यस्तपो रक्षन्। तस्करेभ्यः सम्पदश्च रक्षन्। स राजाऽऽश्रमैर्ब्रह्मचर्यादिभिर्वर्णैरपि ब्राह्मणादिभिश्च यथास्वं स्वमनतिक्रम्य षडंशभाक्चक्रे। यथाक्रम-

माश्रमैस्तपसो वर्णैः सम्पदां च षष्ठांशभाक्कृत इत्यर्थः। षष्ठोंऽशः षष्ठांशः। षष्ठस्य वृत्तिविषये पूरणार्थस्य लुक् भाष्ये ॥ ६५ ॥

विघ्नों से तपस्याकी तथा चोरों से सम्पत्तिकी रक्षा करते हुए उस 'अतिथि' को आश्रमों (ब्रह्मचर्य आदि चार आश्रमों) तथा वर्णों (ब्राह्मण आदि चारो वर्णों) ने यथायोग्य (आश्रमोंने तपस्याके तथा वर्णोंने सम्पत्तिके) छठें हिस्सेका भागी बना दिया अर्थात् तपस्या तथा सम्पत्तिकी रक्षा करनेसे ब्रह्मचारी आदि चारों आश्रमों वाले और ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंवाले लोग क्रमशः अपनी अपनी तपस्या तथा सम्पत्ति का छठा भाग राजा 'अतिथि' को देने लगे ॥ ६५ ॥

खनिभिः सुषुवे रत्नं क्षेत्रैः सस्यं वनैर्गजान् ।
दिदेश वेतनं तस्मै रक्षासदृशमेव भूः ॥ ६६ ॥

खनिभिरिति। भूर्भूमिस्तस्मै राज्ञे रक्षासदृशं रक्षणानुरूपमेव वेतनं भृतिं दिदेश ददौ। कथम्। खनिभिराकरैः। 'खनिः स्त्रियामाकरः स्यात्' इत्यमरः। रत्नं माणिक्यादिकं सुषुवेऽजीजनत्। क्षेत्रैः सस्यम्। वनैर्गजान्हस्तिनः सुषुवे ॥ ६६ ॥

खानोंने रत्न, खेतोंने धान्य (अन्न) और वनोंने हाथियोंका उत्पादन किया (उत्पन्न कर अतिथि के लिए इस प्रकार दिया) पृथ्वीने रक्षाके योग्य ही वेतन उस 'अतिथि' के लिए प्रदान किया ॥ ६६ ॥

स गुणानां बलानां च षण्णां षण्मुखविक्रमः ।
बभूव विनियोगज्ञः साधनीयेषु वस्तुषु ॥ ६७ ॥

स इति। षण्मुखविक्रमः स राजा षण्णां गुणानां सन्धिविग्रहादीनां बलानां मूलभृत्यादीनां च साधनीयेषु वस्तुषु साध्येष्वर्थेषु विनियोगं जानातीति विनियोगस्य ज्ञ इति वा विनियोगज्ञः। कर्मविवक्षायामुपपदसमासः। 'आतोऽनुपसर्गे कः' इति कप्रत्ययः। शेषविवक्षायां षष्ठीसमासः। 'इगुपध—' इत्यादिना कप्रत्ययः। बभूव। 'इदमत्र प्रयोक्तव्यम्' इत्याद्यज्ञासीदित्यर्थः ॥ ६७ ॥

कार्तिकेयके समान पराक्रमी वह 'अतिथि' छः गुणों[1] तथा बलों[2] के साधनीय प्रयोजनोंमें प्रयोग को जाननेवाला हुआ। (वे अतिथि राजा किस स्थानपर कैसा कर्म करना तथा किसे व्यक्तिको किस स्थानपर नियुक्त करना आदिके कुशल ज्ञाता हुए) इस

इति क्रमात्प्रयुञ्जानो राजनीतिं चतुर्विधाम् ।
आतीर्थादप्रतीघातं स तस्याः फलमानशे ॥ ६८ ॥

इतीति। इति चतुर्विधाम्। सामाद्युपायैरिति शेषः। राजनीतिं दण्डनीतिं क्रमा

१. तदुक्तम्—'सन्धिर्ना विग्रहो यानमासनं द्वैधमाश्रयः।
षड्गुणाः' इत्यमरकोषः।

२. तदुक्तं कोषे—'मौलं भृत्यं सुहृच्छ्रेणी द्विषदाटविकं बलम्।' इति।

रसामादिक्रमादेव प्रयुञ्जानः स राजा आतीर्थान्मन्त्र्याद्यष्टादशात्मकतीर्थपर्यन्तम् । 'योनौ जलावतारे च मन्त्र्याद्यष्टादशस्वपि । पुण्यक्षेत्रे तथा पात्रे तीर्थं स्यात्' इति हलायुध । तस्या नीते. फलमप्रतीघातमप्रतिबन्ध यथा तथा आनशे प्राप्तवान् । मन्त्र्यादिषु यमुद्दिश्य य उपाय. प्रयुज्यते स तस्य फलतीत्यर्थः ॥ ६८ ॥

उस क्रमसे चार प्रकारकी राजनीति (साम, दाम, दण्ड और भेद) को प्रयुक्त करते हुए उस 'अतिथि'ने अट्ठारह तीर्थों तक निर्बाध रूपसे उस राजनीतिके फलको प्राप्त किया ॥६८॥

कूटयुद्धविधिज्ञेऽपि तस्मिन्सन्मार्गयोधिनि ।
भेजेऽभिसारिकावृत्तिं जयश्रीर्वीरगामिनी ॥ ६९ ॥

कूटयुद्धेति । कूटयुद्धविधिज्ञेऽपि कपटयुद्धप्रकाराभिज्ञेऽपि सन्मार्गेण योधिनि धर्मयोद्धरि तस्मिन्नतिथौ वीरगामिनी जयश्रीरभिसारिकावृत्तिं भेजे । 'कान्तार्थिनी तु या याति सङ्केत साभिसारिका' इत्यमरः । जयश्रीस्तमन्विष्यागच्छदित्यर्थः ॥६९॥

कपटयुद्धकी विधिके ज्ञाता होनेपर भी सन्मार्ग अर्थात् धार्मिक युद्ध करते हुए उस 'अतिथि' में वीरको प्राप्त करने वाली विजयलक्ष्मीने अभिसारिकावत् बर्ताव किया अर्थात् पतिको प्राप्त करनेकी अभिलाषिणी होकर 'अतिथि' के पास स्वय गयी । (युद्धमें 'अतिथि' ने विजय पायी)॥ ६९ ॥

प्रायः प्रतापभग्नत्वादरीणां तस्य दुर्लभ ।
रणो गन्धद्विपस्येव गन्धभिन्नान्यदन्तिनः ॥ ७० ॥

प्राय इति । अरीणां सर्वेषामपि प्रतापेनातितेजसैव भग्नत्वात्तस्य राज्ञ. । गन्धेन मदगन्धेनैव भिन्ना भग्ना अन्ये दन्तिनो येन तस्य गन्धद्विपस्येव । प्राय. प्रायेण रणो दुर्लभ. । खलर्थयोगेऽपि शेषविवक्षायां षष्ठीमिच्छन्तीत्युक्तम् ॥ ७० ॥

शत्रुओंके (उस 'अतिथि' के) प्रतापसे हतोत्साह या पराजित होनेसे उस 'अतिथि' का (मदधाराके) गन्धसे अन्य हाथियोंको भग्न (परास्त) करनेवाले मदप्रवाहयुक्त हाथीके समान युद्ध होना प्राय दुर्लभ ही था । (जिस प्रकार मदक्षरण करनेवाले मतवाले हाथीको मदके गन्धसे ही दूसरे हाथियोंके भग्नोत्साह होनेसे युद्ध करनेका अवसर प्राय. कम मिलता है, उसी प्रकार उस 'अतिथि' के प्रतापसे ही उनके शत्रुओंके भग्नोत्साह हो जाने से किसी शत्रुसे युद्ध करनेका अवसर प्राय कम मिलता था)॥ ७० ॥

प्रवृद्धौ हीयते चन्द्रः समुद्रोऽपि तथाविधः ।
स तु तत्समवृद्धिश्च न चाभूत्ताविव क्षयी ॥ ७१ ॥

प्रवृद्धाविति । प्रवृद्धौ सत्यां चन्द्रो हीयते । समुद्रोऽपि तथाविधश्चन्द्रवदेव प्रवृद्धौ हीयते । 'प्रवृद्ध' इति वा पाठ । स राजा तु ताभ्यां चन्द्रसमुद्राभ्यां समा वृद्धिर्यस्य स तत्समवृद्धिश्चाभूत् । तौ चन्द्रसमुद्राविव क्षयी । 'जिदृक्षि–' इत्यादिनेनिप्रत्यय । नाभूत् ॥ ७१ ॥

बढ़े हुए चन्द्रमा तथा समुद्र भी क्षीण हो जाते हैं किन्तु उन (चन्द्रमा तथा समुद्र) के समान बढ़ने वाले तो वे 'अतिथि' राजा हुए, पर उन दोनोंके समान क्षीण होनेवाले नहीं हुए अर्थात् सर्वदा समृद्धिमान् ही रहे ॥ ७१ ॥

सन्तस्तस्याभिगमनादत्यर्थं महतः कृशाः ।
उदधेरिव जीमूताः प्रापुर्दातृत्वमर्थिनः ॥ ७२ ॥

सन्त इति । अत्यर्थं कृशा दरिद्रा अत एवार्थिनो याचनशीलाः सन्तो विद्वांसो महतस्तस्य राज्ञोऽभिगमनात् । उदधेरभिगमनाज्जीमूता इव दातृत्वं वदान्यत्वं प्रापुः । अपितु दानभोगपर्याप्तं धनं प्रापुरित्यर्थः ॥ ७२ ॥

अत्यन्त दरिद्र याचक लोग उस राजाके पास जानेसे उस प्रकार (आवश्यक धन पाकर) दाता बन गये, जिस प्रकार निर्जल मेघ समुद्रके पास जानेसे (उससे अत्यधिक जल पाकर बरसने) देनेवाला बन जाता है ॥ ७२ ॥

स्तूयमानः स जिह्राय स्तुत्यमेव समाचरन् ।
तथाऽपि ववृधे तस्य तत्कारिद्वेषिणो यशः ॥ ७३ ॥

स्तूयमान इति । स राजा स्तुत्यं स्तोत्रार्हमेव कर्म समाचरन्नपि स्तूयमानः सन् । जिह्राय लज्जते स्म । तथाऽपि ह्रीमत्त्वेऽपि तत्कारिणः स्तोत्रकारिणो द्वेष्टीति तत्कारिद्वेषिणस्तस्य राज्ञो यशो ववृधे । 'गुणवत्स्वस्य सतः पुंसः स्तुतौ कस्य न मूकत्वम्' इति भावः ॥ ७३ ॥

प्रशंसनीय (कार्य) को ही करते हुए वे 'अतिथि' प्रशंसित होते हुए लज्जित होते थे तथापि प्रशंसा करनेवालोंसे द्वेष करनेवाले (प्रशंसा करनेको अभिनन्दन नहीं करनेवाले) उस 'अतिथि' का यश बढ़ता गया ॥ ७३ ॥

दुरितं दर्शनेन घ्नंस्तत्त्वार्थेन नुदंस्तमः ।
प्रजाः स्वतन्त्रयाञ्चक्रे शश्वत्सूर्य इवोदितः ॥ ७४ ॥

दुरितमिति । स राजा । उदितः सूर्य इव । दर्शनेन दुरितं घ्नन्विनाशयन् । तथा च स्मर्यते—'अग्निचित्कपिला सती राजा भिक्षुर्महोदधिः । दृष्टमात्राः पुनन्त्येते तस्मात्पश्येत नित्यशः ॥' इति । तत्त्वस्य वस्तुतत्त्वस्यार्थेन समर्पणेन च तमोऽज्ञानं ध्वान्तं च नुदन्नपघ्नन्प्रजाः स्वतन्त्रयाञ्चक्रे स्वाधीनाश्चकार ॥ ७४ ॥

उस 'अतिथि' ने दर्शनसे पापको तथा वस्तुतत्त्वके समर्थनसे अज्ञानको (सूर्यपक्षमें—अन्धकारको) दूर करते हुए उदयमान सूर्यके समान सर्वदा प्रजाओंको स्वतन्त्र कर दिया ॥ ७४ ॥

इन्दोरगतयः पद्मे सूर्यस्य कुमुदेंऽशवः ।
गुणास्तस्य विपक्षेऽपि गुणिनो लेभिरेऽन्तरम् ॥ ७५ ॥

इन्दोरिति । इन्दोः करा अप्रवेशभाजः, असंसर्गिता इत्यर्थः । सूर्यस्यांशवः कुमुदेऽगतयः । गुणिनस्तस्य गुणास्तु विपक्षे शत्रावप्यन्तरमवकाशं लेभिरे प्रापुः ॥ ७५ ॥

चन्द्रमाकी किरणों की कमलमें तथा सूर्यकी किरणोंकी कुमुदमें गति नहीं होती, किन्तु गुणवान् उस 'अतिथि' के गुणोंने शत्रुमें भी स्थान पाया अर्थात् शत्रु भी उस 'अतिथि' के गुणों की प्रशंसा करते थे ॥ ७५ ॥

पराभिसन्धानपरं यद्यप्यस्य विचेष्टितम् ।
जिगीषोरश्वमेधाय धर्म्यमेव बभूव तत् ॥ ७६ ॥

पराभिसन्धानपरमिति । अश्वमेधाय जिगीषोरस्य विचेष्टितं दिग्विजयरूपं यद्यपि पराभिसन्धानपरं शत्रुवञ्चनप्रधानं तथाऽपि तद्धर्म्यं धर्मादनपेतमेव । 'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते' इति यत्प्रत्यय । बभूव । 'मन्त्रप्रभावोत्साहशक्तिभि· । परान्सन्दध्यात्' इति कौटिल्यः ॥ ७६ ॥

अश्वमेध यज्ञके लिये विजयाभिलाषी उस 'अतिथि' की चेष्टा यद्यपि शत्रुओंको वञ्चित करने वाली थी, तथापि वह धर्मसे युक्त ही हुई । अथवा—उस 'अतिथि' की चेष्टा यद्यपि शत्रुको वञ्चित करनेवाली थी, तथापि अश्वमेध यज्ञके लिये विजयाभिलाषी (उस अतिथिकी) वह चेष्टा धर्मयुक्त ही हुई ॥ ७६ ॥

एवमुद्यन्प्रभावेण शास्त्रनिर्दिष्टवर्त्मना ।
वृषेव देवो देवानां राज्ञां राजा बभूव स· ॥ ७७ ॥

एवमिति । एवं शास्त्रनिर्दिष्टवर्त्मना शास्त्रोपदिष्टमार्गेण प्रभावेण कोशदण्डजेन तेजसा । 'स प्रतापः प्रभावश्च यत्तेज कोशदण्डजम्' इत्यमर' । उद्यन्नुद्गच्छन् । स वृषा वासवो देवानां देवो देवदेव इव राज्ञा राजा राजराजो बभूव ॥ ७७ ॥

इस प्रकार शास्त्रप्रदर्शित मार्गवाले प्रभावसे (अथवा—अपने प्रभावसे शास्त्रप्रदर्शित मार्गसे अर्थात् सन्मार्ग पर चलकर अपने प्रभावद्वारा) उन्नत होते हुए वे 'अतिथि' देवोंके देव इन्द्रके समान राजाओंके राजा हो गये अर्थात् जैसे इन्द्र देवदेव हैं, वैसे ही 'अतिथि' भी 'राजराज' हो गये ॥ ७७ ॥

पञ्चमं लोकपालानामूचुः साधर्म्ययोगतः ।
भूतानां महतां षष्ठमष्टमं कुलभूभृताम् ॥ ७८ ॥

पञ्चममिति । तम् । राजानमिति शेप । साधर्म्ययोगतो यथाक्रम लोकसरक्षण-परोपकारभूधारणरूपसमानधर्मत्ववलाल्लोकपालानामिन्द्रादीनां चतुर्णां पञ्चममूचु । महतां भूतानां पृथिव्यादीनां पञ्चाना षष्टमूचु· । कुलभूभृतां कुलाचलाना महेन्द्रमलयादीनां सप्तानामष्टममूचु ॥ ७८ ॥

(लोग उस राजराज' अतिथि' को क्रमशः लोकरक्षा, परोपकार और पृथ्वी धारणरूप) समान धर्मके सम्बन्धसे लोकपालों (इन्द्र, यम, वरुण और कुबेर) में पाँचवाँ, महाभूतों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) में छठा और कुलपर्वतों (महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमान् , ऋक्ष, विन्ध्य और पारियात्र) में आठवाँ कहने लगे ॥ ७८ ॥

दूरापवर्जितच्छत्रैस्तस्याज्ञां शासनार्पिताम् ।
दधुः शिरोभिर्भूपाला देवाः पौरंदरीमिव ॥ ७९ ॥

दूरापवर्जितच्छत्रैरिति । भूपालाः । शासनेषु पत्रेष्वर्पितामुपन्यस्तां तस्य राज्ञ आज्ञाम् । देवाः पौरंदरीमैन्द्रीमाज्ञामिव । दूरापवर्जितच्छत्रैर्दूरात्परिहृतातपत्रैः शिरोभिर्दधुः ॥ ७९ ॥

राजाओंने शासनमें की गयी उसकी आज्ञाको देवोंके प्रति इन्द्रकी आज्ञाके समान दूरसे ही छत्र (श्वेतच्छत्ररूप राजचिह्न) से रहित मस्तकोंसे धारण किया अर्थात् मस्तक झुकाकर उस 'अतिथि' की आज्ञाका पालन किया ॥ ७९ ॥

ऋत्विजः स तथाऽऽनर्च दक्षिणाभिर्महाक्रतौ ।
यथा साधारणीभूतं नामास्य धनदस्य च ॥ ८० ॥

ऋत्विज इति । स राजा महाक्रतावश्वमेधे ऋत्विजो याजकान्दक्षिणाभिस्तथाऽऽनर्चार्चयामास । अर्चतेर्भौवादिकाल्लिट् । यथास्य राज्ञो धनदस्य च नाम साधारणीभूतमेकीभूतम् । उभयोरपि धनदसंज्ञा यथा स्यात्तथेत्यर्थः ॥ ८० ॥

उस 'अतिथि' ने महायज्ञ अर्थात् अश्वमेध यज्ञमें ऋत्विजोंको दक्षिणाओंसे उस प्रकार सत्कार किया जिस प्रकार उस 'अतिथि' का और कुबेरका 'धनद' नाम समान ही गया अर्थात् अत्यधिक धनका दान देनेसे उस 'अतिथि' और कुबेर में कोई भेद नहीं रह गया ॥ ८० ॥

इन्द्राद्वृष्टिर्नियमितगदोद्रेकवृत्तिर्यमोऽभू-
द्यादोनाथः शिवजलपथः कर्मणे नौचराणाम् ।
पूर्वापेक्षी तदनु विदधे कोषवृद्धिं कुबेर-
स्तस्मिन्दण्डोपनतचरितं भेजिरे लोकपालाः ॥ ८१ ॥

इन्द्रादिति । इन्द्राद्वृष्टिरभूत् । यमो नियमिता निवारिता गदस्य रोगस्योद्रेकवृत्तिर्येन सोऽभूत् । यादोनाथो वरुणो नौचराणां नाविकानां कर्मणे संचाराय शिवजलपथः सुखजलमार्गोऽभूत् । तदनु पूर्वापेक्षी रघुरामादिमहिमाभिज्ञः कुबेरः कोषवृद्धिं विदधे । इत्थं लोकपालास्तस्मिन् राज्ञि विषये दण्डोपनतस्य शरणागतस्य चरितं वृत्तिं भेजिरे । 'दुर्बलो बलवत्सेवी विरुद्धाच्छङ्किता‍दिभिः । वर्तेत दण्डोपनतो भर्तर्येवमवस्थितः ॥' इति कौटिल्यः ॥ ८१ ॥

इति सञ्जीविनीव्याख्यायामतिथिवर्णनो नाम सप्तदशः सर्गः ॥ १७ ॥

(उस 'अतिथि' के राजा होनेपर) इन्द्रसे वर्षा हुई, यमने रोग वृद्धिको रोका, (वरुणने) नाविकों के कार्य (में सहायता देने) के लिये जलके मार्गोंको सुखपूर्वक पार होने योग्य बनाया और उसके बाद पहलेवालों (रघु, अज, दशरथ, राम आदि) की अपेक्षा करनेवाले कुबेरने (उस 'अतिथि' के) कोषको बढ़ाया ॥ ८१ ॥

यह 'मणिप्रभा' में 'अतिथिवर्णन' नामक 'सत्रहवाँ' सर्ग समाप्त हुआ ॥ १७ ॥

अष्टादशः सर्गः

स नैषधस्यार्थपतेः सुतायामुत्पादयामास निषिद्धशत्रुः ।
अनूनसारं निषधान्नगेन्द्रात्पुत्रं यमाहुर्निषधाख्यमेव ॥ १ ॥

यत्पादपांसुसम्पर्कादहल्यासीदपांसुला ।
कारुण्यसिन्धवे तस्मै नमो वैदेहिबन्धवे ॥

स इति । निषिद्धशत्रुर्निवारितरिपुः सोऽतिथिर्नैषधस्य निषधदेशाधीश्वरस्यार्थपते राज्ञः सुतायां निषधान्निषधाख्यान्नगेन्द्रात्पर्वतादनूनसारमन्यूनबलं पुत्रमुत्पादयामास । यं पुत्रं निषधाख्यं निषधनामकमेवाहुः ॥ १ ॥

जिसके चरणाम्बुजरज छूत ह्वा गौतमपत्नी सती बनी ।
दया-सिन्धु सीता-बान्धव उसको मम प्रणति है भक्ति-सनी ॥

उस 'अतिथि' ने निषध देशाधीशकी कन्यामें निषध पर्वत के समान बलवान् पुत्र उत्पन्न किया, जिसको (लोग) 'निषध' कहते हैं अर्थात् जिसका नाम 'निषध' है ॥ १ ॥

तेनोरुवीर्येण पिता प्रजायै कल्पिष्यमाणेन ननन्द यूना ।
सुवृष्टियोगादिव जीवलोकः सस्येन सम्पत्तिफलोन्मुखेन ॥ २ ॥

तेनेति । उरुवीर्येणातिपराक्रमेणात एव प्रजायै लोकरक्षणार्थं कल्पिष्यमाणेन तेन यूना निषधेन पिताऽतिथिः सुवृष्टियोगात्सम्पत्तिफलोन्मुखेन पाकोन्मुखेन सस्येन जीवलोक इव । ननन्द जहर्ष ॥ २ ॥

प्राणि-समूह महापराक्रमी तथा भविष्यमें प्रजारक्षाके लिये समर्थ युवक उस पुत्रसे इस प्रकार हर्षित हुआ जिस प्रकार अच्छी वृष्टि होनेसे पकनेवाले धान्यसे होता है ॥ २ ॥

शब्दादि निर्विश्य सुखं चिराय तस्मिन्प्रतिष्ठापितराजशब्दः ।
कौमुद्वतेयः कुमुदावदातैर्द्यामर्जितां कर्मभिरारुरोह ॥ ३ ॥

शब्दादीति । कुमुद्वत्या अपत्यं पुमान्कौमुद्वतेयोऽतिथिः शब्दादि शब्दस्पर्शादि सुखं सुखसाधनं विषयवर्गं निर्विश्योपभुज्य चिराय तस्मिन्निषधाख्ये पुत्रे प्रतिष्ठापितराजशब्दो दत्तराज्यः सन् । कुमुदावदातैर्निर्मलैः कर्मभिरश्वमेधादिभिरर्जितां सम्पादितां द्यां स्वर्गमारुरोह ॥ ३ ॥

'कुमुद्वती' पुत्र उस 'अतिथि' ने शब्द आदि (विषय-) सुखको चिरकालतक भोगकर तथा उस 'निषध'को राजा बनाकर कुमुदके समान निर्मल कर्मोंसे प्राप्त स्वर्गमें गमन किया ॥

पौत्रः कुशस्यापि कुशेशयाक्षः ससागरां सागरधीरचेताः ।
एकातपत्रां भुवमेकवीरः पुरार्गलादीर्घभुजो बुभोज ॥ ४ ॥

पौत्र इति । कुशेशयाक्षः शतपत्रलोचनः । 'शतपत्रं कुशेशयम्' इत्यमरः । सागरधीरचेताः समुद्रगम्भीरचित्त एकवीरोऽसहायशूरः पुरस्यार्गला कपाटविष्कम्भः ।

—'तडित्वान्कम्बोऽर्जुनो न वा' इत्यमरः। तदुदीर्णभुजः कुशस्य पौत्रो निषधोऽपि ससागरामेकातपत्रां भुवं बुभोज पालयामास। 'भुजोऽनवने' इत्युक्तेः परस्मैपदम्॥४॥

कमलतुल्य नेत्रवाले, समुद्रके समान धीर चित्तवाले, एक (मुख्य) शूर वीरवाले और नगरकी (रक्षार्थ) अर्गलाके समान लम्बी भुजावाले उस कुशके पौत्र 'निषध' ने समुद्र तक एकच्छत्र (होकर) पृथ्वीका भोग किया॥४॥

तस्यानलौजास्तनयस्तदन्ते वंशश्रियं प्राप नलाभिधानः।
यो नड्वलानीव गजः परेषां बलान्यमृद्नान्नलिनाभवक्त्रः॥५॥

तस्येति। अनलौजाः अग्नितेजाः नलाभिधानो नलनामकस्तनयस्तस्य निषधस्य तदन्ते तस्य निषधस्यान्तेऽवसाने वंशश्रियं राज्यलक्ष्मीं प्राप। नलिनाभवक्त्रो यो नलः। गजः नड्वलान्यपि नडप्रायस्थलानीव। 'नडशादाड्ड्वलच्' इति ड्वलच्प्रत्ययः। परेषां बलान्यमृद्नात्ममर्द॥५॥

उस 'निषध' के अग्निके समान तेजस्वी 'नल' नामक पुत्रने उसके बाद कुललक्ष्मी (राज्य) को प्राप्त किया, कमलतुल्य जिस (नल) ने नरकट समूहको हाथीके समान, शत्रुओं की सेनाको मर्दित (छिन्न-भिन्न) कर दिया॥५॥

नभश्चरैर्गीतयशाः स लेभे नभस्तलश्यामतनुं तनूजम्।
ख्यातं नभःशब्दमयेन नाम्ना कान्तं नभोमासमिव प्रजानाम्॥६॥

नभ इति। नभश्चरैर्गन्धर्वादिभिर्गीतयशाः स नलो नभस्तलश्यामतनुं नभःशब्दमयेन नाम्ना ख्यातम्, नभसाख्यमित्यर्थः। नभोमासमिव श्रावणमासमिव। प्रजानां कान्तं प्रियं तनूजं पुत्रं लेभे॥६॥

देव गन्धर्वोंसे गाये गये यशवाले उस 'नल' ने आकाशके समान श्यामवर्ण शरीरवाले 'नभस्' नामसे प्रसिद्ध और श्रावण मासके समान प्रजाओंके प्रिय पुत्रको प्राप्त किया॥६॥

तस्मै विसृज्योत्तरकोसलानां धर्मोत्तरस्तत्प्रभवे प्रभुत्वम्।
मृगैरजर्यं जरसोपदिष्टमदेहबन्धाय पुनर्बबन्ध॥७॥

तस्मै इति। धर्मोत्तरो धर्मप्रधानः स नलः प्रभवे समर्थाय तस्मै नभसे उत्तरकोसलानां प्रभुत्वमाधिपत्यं विसृज्य दत्त्वा जरसा जरयोपदिष्टम्, वार्धके विहितमित्यर्थः। मृगैरजर्यं तैः सह सङ्गतम्। 'अजर्यं सङ्गतम्' इति निपातनः। पुनर्देहसम्बन्धनिवृत्तये बबन्ध मोक्षार्थं वनं गत इत्यर्थः। अदेहबन्धाय इत्यत्र प्रसज्यप्रतिषेधेऽपि नञ्समास इष्यते॥७॥

धर्मप्रधान उस नल ने उत्तरकोसल देशोंका स्वामित्व समर्थ उस 'नभ' को देकर बुढ़ापामें अभिलषित मृगोंके साथकी मित्रता (वनवास) फिर देहके सम्बन्धरहित होनेके लिये (मुक्ति के लिये) किया॥

तेन द्विपानामिव पुण्डरीको राज्ञामजय्योऽजनि पुण्डरीकः ।
शान्ते पितर्याहृतपुण्डरीका यं पुण्डरीकाक्षमिव श्रिता श्रीः ॥८॥

तेनेति । तेन नभसा । द्विपानां पुण्डरीको दिग्गजविशेष इव । राज्ञामजय्यो जेतुमशक्य. । 'क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे' इति निपातनात्साधु पुण्डरीकः। पुण्डरीकाख्यः पुत्रोऽजनि जनितः । पितरि शान्ते स्वर्गते सति । आहृतपुण्डरीका गृहीतश्वेतपद्मा श्रीर्यं पुण्डरीकं पुण्डरीकाक्ष विष्णुमिव श्रिता ॥ ८ ॥

उस 'नभ' से हाथियोंके अजेय 'पुण्डरीक' (अग्निकोणका दिग्गज) के समान राजाओंका अजेय 'पुण्डरीक' (नामका पुत्र) हुआ । पिता (नभ) के मरनेपर श्वेतकमलधारिणी लक्ष्मीने विष्णुके समान उस (पुण्डरीक) का आश्रय किया ॥ ८ ॥

स क्षेमधन्वानममोघधन्वा पुत्रं प्रजाक्षेमविधानदक्षम् ।
क्ष्मां लम्भयित्वा क्षमयोपपन्नं वने तपः क्षान्ततरश्चचार ॥ ९ ॥

स इति । अमोघ धनुर्यस्य सोऽमोघधन्वा । 'धनुषश्च' इत्यनङादेश समासान्त । स पुण्डरीक प्रजानां क्षेमविधाने दक्ष क्षमयोपपन्न क्षान्तियुक्त क्षेम धनुर्यस्य त क्षेमधन्वान नाम पुत्रम् । 'वा संज्ञायाम्' इत्यनङादेश । क्ष्मा लम्भयित्वा प्रापय्य । लभेर्गत्यर्थत्वाद् द्विकर्मकत्वम् । क्षान्ततरोऽत्यन्तसहिष्णु सन् वने तपश्चचार ॥ ९ ॥

सफल धनुषवाले वे (पुण्डरीक) प्रजाओंके कल्याण करनेमें समर्थ और क्षमासे युक्त अर्थात् सहनशील 'क्षेमधन्वा' नामक पुत्रको पृथ्वी सौंपकर (राज्यभार देकर) अत्यन्त सहनशील होते हुए वनमें तपस्या करने लगे ॥ ९ ॥

अनीकिनीनां समरेऽग्रयायी तस्यापि देवप्रतिमः सुतोऽभूत् ।
व्यश्रूयतानीकपदावसानं देवादि नाम त्रिदिवेऽपि यस्य ॥ १० ॥

अनीकिनीनामिति । तस्य क्षेमधन्वनोऽपि समरेऽनीकिनीनां चमूनामग्रयायी देवप्रतिम इन्द्रादिकल्प सुतोऽभूत् । अनीकपदावसानमनीकशब्दान्तं देवादिदेवशब्दपूर्वं यस्य नाम देवानीक इति नामधेय त्रिदिवे स्वर्गेऽपि व्यश्रूयत विश्रुतम् ॥

उस 'क्षेमधन्वा' को भी युद्धमें सेनाओंके आगे चलनेवाला देवतुल्य पुत्र हुआ, जिसका नाम स्वार्गमें भी अन्तमें 'अनीक' तथा आदि में 'देव' पदसे युक्त अर्थात् 'देवानीक' प्रसिद्ध हुआ ॥ १० ॥

पिता समाराधनतत्परेण पुत्रेण पुत्री स यथैव तेन ।
पुत्रस्तथैवात्मजवत्सलेन स तेन पित्रा पितृमान्बभूव ॥ ११ ॥

पितेति । स पिता क्षेमधन्वा समाराधनतत्परेण शुश्रूषापरेण तेन पुत्रेण यथैव पुत्री बभूव तथैव स पुत्रो देवानीक आत्मजवत्सलेन तेन पित्रा पितृमान्बभूव, लोके पितृत्वपुत्रत्वयो फलमनयोरेवासीदित्यर्थ ॥ ११ ॥

"तद्विष्कम्भोऽर्गलं न ना' इत्यमरः। महौषधिमुखः कुशस्य पौत्रो निषधोऽपि ससाम्य रामेणात्मनो भुवं बुभोज पालयामास। 'भुजोऽनवने' इत्यनुक्तेः परस्मैपदम् ॥ ४ ॥

कमलतुल्य नेत्रवाले, समुद्रके समान धीर स्वभाववाले, नल (पुरुष) एवं वीरतावाले और नगरके (रक्षार्थ) अर्गलाके समान भुजाओंवाले उस कुशपौत्र 'निषध' ने समुद्र तक एकच्छत्र (होकर) पृथ्वीका भोग किया ॥ ४ ॥

तस्यानलौजास्तनयस्तदन्ते वंशश्रियं प्राप नलाभिधानः ।
यो नड्वलानीव गजः परेषां बलान्यमृद्नान्नलिनाभवक्त्रः ॥ ५ ॥

तस्येति। अनलौजा वह्नितेजाः नलाभिधानो नलाख्यस्तनयः तस्य निषधस्य तदन्ते तस्यावसाने वंशश्रियं राज्यलक्ष्मीं प्राप। नलिनाभवक्त्रो यो नलः। गजो नड्वलानि नडप्रायस्थलानीव। 'नडशादाड्ड्वलच्' इति ड्वलच्प्रत्ययः। परेषां बलान्यमृद्नात् अमर्दत् ॥ ५ ॥

उस 'निषध' के अग्निके समान तेजस्वी 'नल' नामक पुत्रने उसके बाद कुलश्री (राज्य) को प्राप्त किया, कमलवदन जिस (नल) ने नरकुल तृणको हाथीके समान, शत्रुओंकी सेनाको मर्दित (छिन्न-भिन्न) कर दिया ॥ ५ ॥

नभश्चरैर्गीतयशाः स लेभे नभस्तलश्यामतनुं तनूजम् ।
ख्यातं नभःशब्दमयेन नाम्ना कान्तं नभोमासमिव प्रजानाम् ॥ ६ ॥

नभ इति। नभश्चरैर्गन्धर्वादिभिर्गीतयशाः स नलो नभस्तलश्यामतनुं नभःशब्दमयेन नाम्ना ख्यातम्, नभःसंज्ञकमित्यर्थः। नभोमासमिव श्रावणमासमिव। प्रजानां कान्तं प्रियं तनूजं पुत्रं लेभे ॥ ६ ॥

देव गन्धर्वोंसे गाये गये यशवाले उस 'नल' ने आकाशके समान श्यामवर्ण शरीरवाले 'नभस्' नामसे प्रसिद्ध और श्रावण मासके समान प्रजाओंके प्रिय पुत्रको प्राप्त किया ॥ ६ ॥

तस्मै विसृज्योत्तरकोसलानां धर्मोत्तरस्तत्प्रभवे प्रभुत्वम् ।
मृगैरजर्यं जरसोपदिष्टमदेहबन्धाय पुनर्बबन्ध ॥ ७ ॥

तस्मै इति। धर्मोत्तरो धर्मप्रधानः स नलः प्रभवे समर्थाय तस्मै नभसे उत्तरकोसलानां प्रभुत्वमाधिपत्यं विसृज्य दत्त्वा जरसा जरयोपदिष्टम्, वार्धके विहितमित्यर्थः। मृगैरजर्यं तैः सह सङ्गतम्। 'अजर्यं सङ्गतम्' इति निपातः। पुनरदेहबन्धाय पुनर्देहसम्बन्धनिवृत्तये बबन्ध मोक्षार्थं वने चकार इत्यर्थः। अदेहबन्धाय स्वस्य प्रसज्यप्रतिषेधेऽपि नञ्समास इष्यते ॥ ७ ॥

धर्मप्रधान उस 'नल' ने उत्तरकोसलवासियोंका स्वामित्व समर्थ उस 'नभ' को देकर बुढ़ापा अवस्थाओंमें उचित मृगोंके साथमें मित्र (जन्मान्तरमें) देहके बन्धनरहित होनेके लिये (मुक्तिके लिए) कर लिया ॥ ७ ॥

पक्रमैः सामाद्युपायैः। 'सामादिभिरुपक्रमैः' इति मनुः। चतुर्दिगीशश्चतसृणां दिशामीशो बभूव ॥ १५ ॥

मनुष्योंके विशेष ज्ञाता तथा चतुर जिस 'अहीनगु' ने अवतार लिए हुए आदि पुरुष (विष्णु भगवान्) के समान सफल चार उपायों (साम, दान, दण्ड और भेद) से चारों दिक्पालों को जीत लिया ॥ १५ ॥

तस्मिन्प्रयाते परलोकयात्रां जेतर्यरीणां तनयं तदीयम्।
उच्चैःशिरस्त्वाज्जितपारियात्रं लक्ष्मीः सिषेवे किल पारियात्रम् ॥१६॥

तस्मिन्निति। अरीणां जेतरि तस्मिन्नहीनगौ परलोकयात्रां प्रयाते प्राप्ते सति। उच्चैः शिरस्त्वादुन्नतशिरस्कत्वाज्जितः पारियात्रः कुलशैलविशेषो येन तं पारियात्रं पारियात्राख्यं तदीयं तनयं लक्ष्मीः सिषेवे किल ॥ १६ ॥

शत्रुओंके विजेता उस 'अहीनगु' के परलोकयात्रा करनेपर (राज-) लक्ष्मीने उन्नतमस्तक होनेसे पारियात्र (सात कुलपर्वतोंमेंसे एक पर्वतविशेष) को जीतनेवाले 'पारियात्र' नामक उनके पुत्रका सेवन करने लगी अर्थात् 'अहीनगु' के मरनेपर उसका पुत्र 'पारियात्र' राजा हुआ ॥ १६ ॥

तस्याभवत्सूनुरुदारशीलः शिलः शिलापट्टविशालवक्षाः।
जितारिपक्षोऽपि शिलीमुखैर्यः शालीनतामव्रजदीड्यमानः ॥ १७ ॥

तस्येति। तस्य पारियात्रस्योदारशीलो महावृत्तः। 'शीलं स्वभावे सद्वृत्ते' इत्यमरः। शिलापट्टविशालवक्षाः शिलः शिलाख्यः सूनुरभवत्। यः सूनुः शिलीमुखैर्बाणैः। 'अलिबाणौ शिलीमुखौ' इत्यमरः। जितारिपक्षोऽपीड्यमानः स्तूयमानः सन्। शालीनतामधृष्टतां लज्जामव्रजदगच्छत्। 'स्यादधृष्टे तु शालीनः' इत्यमरः। 'शालीनकौपीने अधृष्टाकार्ययोः' इति निपातः ॥ १७ ॥

उस 'पारियात्र' को उदार स्वभाववाला और चट्टानके समान चौड़ी छातीवाला 'शिल' नामक पुत्र हुआ। बाणोंसे शत्रुओंके पक्षको जीतनेवाला भी जो स्तुति करनेपर लज्जित हुआ ॥ १७ ॥

तमात्मसम्पन्नमनिन्दितात्मा कृत्वा युवानं युवराजमेव।
सुखानि सोऽभुङ्क्त सुखोपरोधि वृत्तं हि राज्ञामुपरुद्धवृत्तम् ॥ १८ ॥

तमिति। अनिन्दितात्माऽगर्हितस्वभावः स पारियात्र आत्मसम्पन्नं बुद्धिसम्पन्नम्। 'आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्म वर्ष्म च' इत्यमरः। युवानं तं शिलं युवराजं कृत्वैव सुखान्यभुङ्क्त, न स्वकृत्वेत्येवकारार्थः। किमर्थं युवराजशब्दकरणमित्याशङ्क्यान्यथा सुखोपभोगो दुर्लभ इत्याह—सुखोपरोधीति। हि यस्माद्राज्ञां वृत्तं प्रजापालनादिरूपं सुखोपरोधि बहुलत्वात्सुखप्रतिबन्धकम्। अत एवोपरुद्धवृत्तम्, कारादिबद्धसदृशमित्यर्थः। उपरुद्धस्य स्वयमूढभारस्य च सुखं नास्तीति भावः ॥ १८ ॥

जिस प्रकार देवोंमें उत्तर जन (देवानीक नामक) पुत्रसे पिता ('क्षेमधन्वा') उऋण (?) मान हुए, उसी प्रकार गुणवत्तम उस पिताके वह पुत्र भी श्रेष्ठ पितृभक्त हुआ ॥ ११ ॥

पूर्वस्तयोरात्मसमे चिरोढामात्मोद्भवे वर्णचतुष्टयस्य ।

धुरं निधायैकनिधिर्गुणानां जगाम यज्वा यजमानलोकम् ॥ १२ ॥

पूर्व इति । गुणानामेकनिधिर्मुख्यो निधिर्यज्वा विधिवदिष्टवांस्तयोः पितृपुत्रयोर्मध्ये पूर्वः पिता क्षेमधन्वाऽऽत्मसमे स्वतुल्य आत्मोद्भवे पुत्रे देवानीके चिरोढां चिरधृतां वर्णचतुष्टयस्य धुरं रक्षाभारं निधाय यजमानलोकं यज्वलोकं जगाम ॥ १२ ॥

गुणोंका मुख्य आकर तथा विधिवत् यज्ञकर्ता (उन दोनों (पिता-पुत्रों) में प्रथम अर्थात् 'क्षेमधन्वा' नामक पिता आत्मतुल्य पुत्रमें चारों वर्णोंके चिरकालसे धारण किये गये भार (रक्षाभार) को रखकर यज्ञकर्ताओंके लोकको गये अर्थात् मर गये ॥ १२ ॥

वशी सुतस्तस्य वशंवदत्वात्स्वेषामिवासीद् द्विषतामपीष्टः ।

सकृद्विविग्नानपि हि प्रयुक्तं माधुर्यमीष्टे हरिणान्ग्रहीतुम् ॥ १३ ॥

वशीति । तस्य देवानीकस्य वशी समर्थः सुतोऽहीनगुर्नामेति वक्ष्यमाणनामकः । वशं वदतीति वशंवदः । 'प्रियवशे वदः खच्' इति खच्प्रत्ययः । तस्य भावस्तत्त्वम् । तस्माद्वशंवदत्वात्स्वेषामिव द्विषतामपीष्टः प्रिय आसीत् । अर्थान्तरन्यासेनार्थं समर्थयते । तथा हि मधुरस्वरकारितं माधुर्यं सकृदेकवारं विविग्नानपि त्रस्तानपि हरिणान्ग्रहीतुं वशीकर्तुमीष्टे शक्नोति ॥ १३ ॥

उस देवानीकका वशी पुत्र मधुरभाषी होनेसे आत्मीयोंके समान शत्रुओंका भी प्रिय हुआ; क्योंकि—प्रयुक्त मधुर वचन एकबार व्याकुल या डरे हुए हरिणोंको भी वशीभूत करनेमें समर्थ होता है ॥ १३ ॥

अहीनगुर्नाम स गां समग्रामहीनबाहुद्रविणः शशास ।

यो हीनसंसर्गपराङ्मुखत्वाद् युवाप्यनर्थैर्व्यसनैर्विहीनः ॥ १४ ॥

अहीनगुरिति । अहीनबाहुद्रविणः समग्रभुजपराक्रमः । 'द्रविणं काञ्चनं वित्तं द्रविणं च पराक्रमः' इति विश्वः । हीनसंसर्गपराङ्मुखत्वान्नीचसंसर्गविमुखत्वाद्धेतो युवाप्यनर्थैरनर्थकरैर्व्यसनैः पानद्यूतादिभिर्विहीनो रहितो योऽहीनगुर्नाम स पूर्वोक्तो देवानीकसुतः समग्रां सर्वां गां भुवं शशास ॥ १४ ॥

समस्त बाहुबलवाले उस ('अहीनगु') ने सम्पूर्ण पृथ्वीका शासन किया जो यौवनस्थ होता हुआ भी नीचोंके संसर्गसे विमुख रहनेसे अनर्थकारक व्यसनोंसे रहित था ॥ १४ ॥

गुरोः स चानन्तरमन्तरज्ञः पुंसां पुमानाद्य इवावतीर्णः ।

उपक्रमैरस्खलितैश्चतुर्भिश्चतुर्दिगीशश्चतुरो बभूव ॥ १५ ॥

गुरोरिति । पुंसामन्तरज्ञो चित्तज्ञश्चतुरो निपुणः सोऽहीनगुर्गुरोः पितुरनन्तरम् । अवतीर्णो भुवं प्राप्त आद्यः पुमान्विष्णुरिव । अस्खलितैरप्रतिहतैश्चतुर्भिः

उसके बाद इन्द्रतुल्य प्रभाववाला, युद्धमें वज्रके समान (भयङ्कर) ध्वनि करनेवाला, हीरोंकी खानरूपी भूषणवाली पृथ्वीका पति 'वज्रनाभ' नामक उस 'उन्ननाभ' का पुत्र हुआ।

तस्मिन् गते द्यां सुकृतोपलब्धां तत्सम्भवं शङ्खणमर्णवान्ता।
उत्खातशत्रुं वसुधोपतस्थे रत्नोपहारैरुदितैः खनिभ्यः ॥ २२ ॥

तस्मिन्निति। तस्मिन्वज्रणाभे सुकृतोपलब्धा सुधर्मार्जितां द्यां स्वर्गं गते सति। उत्खातशत्रुमुद्धृतशत्रुं शङ्खणं नाम तत्सम्भवं तदात्मजमर्णवान्ता वसुधा खनिभ्य आकरेभ्य उदितैरुत्पन्नै रत्नोपहारैरुत्कृष्टवस्तुसमर्पणैरुपतस्थे सिषेवे। 'जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तद्रत्नमभिधीयते' इति भरतविश्वौ ॥ २२ ॥

उस 'वज्रनाभ' के धर्मार्जित स्वर्गमें जाने (मरने) पर शत्रुओंका उन्मूलन किये हुए 'शङ्खण' नामक उस 'वज्रनाभ' के पुत्रको समुद्रपर्यन्त पृथ्वीने खानोंसे उत्पन्न रत्नोंके उपहारों द्वारा सेवा की अर्थात् 'वज्रनाभ' के पुत्र 'शङ्खण' ने समुद्रपर्यन्त पृथ्वीपर राज्य किया ॥२२॥

तस्यावसाने हरिदश्वधामा पित्र्यं प्रपेदे पदमश्विरूपः।
वेलातटेषूषितसैनिकाश्वं पुराविदो यं व्युषिताश्वमाहुः ॥ २३ ॥

तस्येति। तस्य शङ्खणस्यावसानेऽन्ते हरिदश्वधामा सूर्यतेजा। अश्विनोरिव रूपमस्येत्यश्विरूपोऽतिसुन्दरः। तत्पुत्र इति शेषः। पित्र्यमिति सम्बन्धिपदसामर्थ्यात्। पित्र्यं पदं प्रपेदे। वेलातटेषूषिता निविष्टाः सैनिका अश्वाश्च यस्य तम्। अन्वर्थनामानमित्यर्थः। यं पुत्रं पुराविदो वृद्धा व्युषिताश्वमाहुः ॥ २३ ॥

उस 'शङ्खण' के (मरनेके) बाद सूर्यके समान तेजस्वी तथा अश्विनीकुमारोंके समान (सुन्दर) रूपवाले (उस 'शङ्खण' के पुत्रने) पिताका पद (राज्य) प्राप्त किया, समुद्रतटों पर सैनिकों तथा घोड़ोंको रखनेसे इतिहासज्ञ लोग जिसको 'व्युषिताश्व' कहते हैं ॥ २३ ॥

आराध्य विश्वेश्वरमीश्वरेण तेन क्षितेर्विश्वसहो विजज्ञे।
पातुं सहो विश्वसखः समग्रां विश्वम्भरामात्मजमूर्तिरात्मा ॥२४॥

आराध्येति। तेन क्षितेरीश्वरेण व्युषिताश्वेन विश्वेश्वरं काशीपतिमाराध्योपास्य विश्वसहो नाम विश्वसखः समग्रां सर्वां विश्वम्भरां भुवं पातुं रक्षितुं सहत इति सहः पचाद्यच्। आत्मजमूर्तिः पुत्ररूप्यात्मा स्वयमेव। 'आत्मा वै पुत्रनामासि' इति श्रुतेः। विजज्ञे सुषुवे। विपूर्वो जनिर्गर्भविमोचने वर्तते। यथाऽऽह भगवान्पाणिनिः—'समां समां विजायते' इति ॥ २४ ॥

पृथ्वीपति उस 'व्युषिताश्व'ने विश्वेश्वर (काशीपति शङ्कर भगवान्) की आराधना कर संसारका (या सबका) मित्र और सम्पूर्ण पृथ्वीका पालन करनेमें समर्थ 'विश्वसह' नामक पुत्ररूप आत्मा (स्वयं) को उत्पन्न किया (काशी विश्वेश्वरके पूजक उस 'व्युषिताश्व' का 'विश्वसह' नामक पुत्र हुआ) ॥ २४ ॥

अतिशिर ... उस 'पारियात्र' ने ... पुत्रको युवराज बनाकर ही सुखों का भोग किया; क्योंकि पूर्ववंशज राजाओंका आचार (प्रजापालन आदि कार्य) सुखको रोकनेवाला होता है अतएव वह कारागार (जेल) के समान है ॥ १८ ॥

तं रागबन्धिष्ववितृप्तमेव भोगेषु सौभाग्यविशेषभोग्यम् ।
विलासिनीनामरतिक्षमापि जरा वृथा मत्सरिणी जहार ॥ १९ ॥

तमिति । रागं बध्नन्तीति रागबन्धीनि रागप्रवर्तकानीत्यर्थः । तेषु भोगेषु विषयेष्ववितृप्तमेव सन्तम् । किंच । विलासिनीनां भोगस्त्रीणां सौभाग्यविशेषेण सौन्दर्यातिशयेन हेतुना भोग्यं भोगार्हम् । '... विप्रलोभ' इति ... । तं पारियात्रं रतिक्षमा न भवतीत्यरतिक्षमापि अत एव वृथा मत्सरिणी रतिक्षमासु विलासिनीष्वित्यर्थः । जरा जहार वशीचकार ॥ १९ ॥

अनुराग बढ़ानेवाले भोगमें अतृप्त तथा विलासिनी स्त्रियोंके (अपनी) अधिक सुन्दरताके कारण भोग करने योग्य उस 'पारियात्र' को रतिमें असमर्थ भी (रतिमें समर्थ विलासिनी स्त्रियोंके साथ) द्वेष करनेवाली जरा (बुढ़ापा) ने व्यर्थ ही वशमें कर लिया । ('पारियात्र' वृद्ध हो गये परन्तु विषय-भोगसे उन्हें सन्तोष (निवृत्ति) नहीं हुआ) ॥ १९ ॥

उन्नाभ इत्युद्गतनामधेयस्तस्यायथार्थोन्नतनाभिरन्ध्रः ।
सुतोऽभवत्पङ्कजनाभकल्पः कृत्स्नस्य नाभिर्नृपमण्डलस्य ॥ २० ॥

उन्नाभेति । तस्य पारियात्रस्योन्नाभ इत्युद्गतनामधेयः प्रसिद्धनामा अयथार्थं यथा तथोन्नतं नाभिरन्ध्रं यस्य सः, गम्भीरनाभिरित्यर्थः । तदुक्तम्—'स्वरः सत्त्वं च नाभिश्च गाम्भीर्यं त्रिषु शस्यते ।' पङ्कजनाभकल्पो विष्णुसदृशः कृत्स्नस्य नृपमण्डलस्य नाभिः प्रधानम् । 'नाभिः प्रधाने कस्तूरीमदेऽपि क्वचिदीरितः' इति विश्वः । सुतोऽभवत् । 'अच्प्रत्यन्ववपूर्वात्सामलोम्नः' इत्यत्राजिति योगविभागादुन्नाभपद्मनाभादयः सिद्धाः ॥ २० ॥

उस 'पारियात्र' के 'उन्नाभ' नामक यथार्थविपरीत अधिक विशाल नाभिरन्ध्रवाला अर्थात् गम्भीर नाभि होनेसे विपरीतार्थक 'उन्नाभ' नामक विष्णुके समान और सम्पूर्ण राजसमूहमें प्रधान पुत्र हुआ ॥ २० ॥

ततः परं वज्रधरप्रभावस्तदात्मजः संयति वज्रघोषः ।
बभूव वज्राकरभूषणायाः पतिः पृथिव्याः किल वज्रणाभः ॥ २१ ॥

तत इति । ततः परं वज्रधरप्रभाव इन्द्रतेजाः संयति सङ्ग्रामे वज्रघोषोऽशनितुल्यध्वनिर्वज्रणाभो नाम तदात्मजस्तस्यात्मजो वज्राणां हीरकाणामाकरा एव भूषणानि यस्यास्तस्याः पृथिव्याः पतिर्बभूव किल खलु । 'वज्रं त्वस्त्री कुलिशशस्त्रयोः । मणिवेधे रत्नभेदेऽप्यशनावप्यन्तरे' इति विश्वः ॥ २१ ॥

निजे स्वकीयेऽधिकारे प्रजापालनकृत्य आधाय निधाय। ब्रह्मणो भावो ब्रह्मभूयं ब्रह्मत्वं तदेव गतिस्तामाजगाम, मुक्तोऽभूदित्यर्थः । 'स्याद् ब्रह्मभूयं ब्रह्मत्वम्' इत्यमरः। 'भुवो भावे' क्यप् ॥ २८ ॥

कीर्तियों से ब्रह्मलोक तक प्रसिद्ध वे 'कौशल्य' ब्रह्मज्ञानी 'ब्रह्मिष्ठ' नामक अपने पुत्रको ही अपने अधिकार (राज्य) पर नियुक्त कर ब्रह्मत्व गति अर्थात् मुक्तिको प्राप्त हुये ॥२८॥

तस्मिन्कुलापीडनिभे विपीडं सम्यङ्महीं शासति शासनाङ्काम् ।
प्रजाश्चिरं सुप्रजसि प्रजेशे ननन्दुरानन्दजलाविलाक्ष्यः ॥ २९ ॥

तस्मिन्निति। कुलापीडनिभे कुलशेखरतुल्ये। 'वैकक्षकं तु तत्। यत्तिर्यक् क्षिप्तमुरसि शिखास्वापीडशेखरौ' इत्यमरः। सुप्रजसि सत्सन्तानवति । 'नित्यमसिच्प्रजामेधयोः' इत्यसिच्प्रत्ययः। तस्मिन्प्रजेशे प्रजेश्वरे ब्रह्मिष्ठे शासनाङ्कां शासनचिह्नां महीं विपीडं निर्बाधं यथा तथा सम्यक्शासति। आनन्दजलाविलाक्ष्य आनन्दबाष्पाकुलनेत्राः प्रजाश्चिरं ननन्दुः ॥ २९ ॥

कुलशेखर तुल्य तथा श्रेष्ठ प्रजावाले उस (ब्रह्मिष्ठ नामक) राजाके शासन से अङ्कित पृथ्वीका यथायोग्य शासन करते रहने पर आनन्दाश्रुसे आकुल अर्थात् परिपूर्ण नेत्रवाली प्रजायें चिरकालतक आनन्दित रहीं ॥ २९ ॥

पात्रीकृतात्मा गुरुसेवनेन स्पष्टाकृतिः पत्ररथेन्द्रकेतोः ।
तं पुत्रिणां पुष्करपत्रनेत्रः पुत्रः समारोपयदग्रसंख्याम् ॥ ३० ॥

पात्रीकृतात्मेति। गुरुसेवनेन पित्रादिशुश्रूषया पात्रीकृतात्मा योग्यीकृतात्मा। 'योग्यभाजनयोः पात्रम्' इत्यमरः। पत्ररथेन्द्रकेतोर्गरुडध्वजस्य स्पष्टाकृतिः स्पष्टवपुः, तत्समरूप इत्यर्थः। 'आकृतिः कथिता रूपे सामान्यवपुषोरपि' इति विश्वः। पुष्करपत्रनेत्रः पद्मदलाक्षः पुत्रः पुत्राख्यो राजा। यद्वा पुत्रशब्द आवर्तनीयः। पुत्रः पुत्राख्यः पुत्रः सुतः। तं ब्रह्मिष्ठं पुत्रिणामग्रसंख्यां समारोपयत्, अग्रगण्यं चकारेत्यर्थः ॥

गुरु (पिता-मातादि बड़ों) की सेवासे आत्माको सत्पात्र बनाये हुये और गरुडध्वज की स्पष्ट आकृति (विष्णुतुल्य देह) वाले तथा कमलपत्रके तुल्य नेत्रवाले 'पुत्र' नामक पुत्रने उस 'ब्रह्मिष्ठ' को सत्पुत्रवालोंकी प्रथम गणनामें रख दिया ॥ ३० ॥

वंशस्थितिं वंशकरेण तेन सम्भाव्य भावी स सखा मघोनः ।
उपस्पृशन्स्पर्शनिवृत्तलौल्यस्त्रिपुष्करेषु त्रिदशत्वमाप ॥ ३१ ॥

वंशस्थितिमिति। स्पृश्यन्त इति स्पर्शा विषयाः। तेभ्यो निवृत्तलौल्यो निवृत्ततृष्णः। अत एव मघोन इन्द्रस्य सखा मित्रं भावी भविष्यन्, स्वर्गं जिगमिषुरित्यर्थः। स ब्रह्मिष्ठो वंशकरेण वंशप्रवर्तकेन तेन पुत्रेण वंशस्थितिं कुलप्रतिष्ठां सम्भाव्य सम्पाद्य त्रिषु पुष्करेषु तीर्थविशेषेषु। 'दिक्सङ्ख्ये संज्ञायाम्' इति समासः। उपस्पृशन्स्नानं कुर्वंस्त्रिदशत्वं देवभूयमाप ॥ ३१ ॥

अंशे हिरण्याक्षरिपोः स जाते हिरण्यनाभे तनये नयज्ञः।
द्विषामसह्यः सुतरां तरूणां हिरण्यरेता इव सानिलोऽभूत् ॥ २५ ॥

अंश इति। नयज्ञो नीतिज्ञः स विश्वसहः। हिरण्याक्षरिपोर्विष्णोरंशे हिरण्यनाभे नाम्नि तनये जाते सति। तरूणां सानिलो हिरण्यरेता हुतभुगिव द्विषां सुतरामसह्योऽभूत् ॥ २५ ॥

नीतिज्ञ वह 'विश्वसह' हिरण्याक्षके शत्रु अर्थात् विष्णुके अंशभूत 'हिरण्यनाभ' नामक पुत्रके उत्पन्न होनेपर शत्रुओंको वायुसे युक्त अग्निके समान वृक्षोंको असह्य हो गये ॥ २५ ॥

पिता पितॄणामनृणस्तमन्ते वयस्यनन्तानि सुखानि लिप्सुः।
राजानमाजानुविलम्बिबाहुं कृत्वा कृती वल्कलवान्बभूव ॥ २६ ॥

पितेति। पितॄणामनृणः, पितृऋणविमुक्त इत्यर्थः। 'प्रजया पितृभ्यः' इति श्रुतेः। अत एव कृती, कृतकृत्य इत्यर्थः। पिता विश्वसहोऽन्ते वयसि वार्धकेऽनन्तान्यविनाशीनि सुखानि लिप्सुः, मुमुक्षुरित्यर्थः। आजानुविलम्बिबाहुं दीर्घबाहुम्। भाग्यसम्पन्नमिति भावः। तं हिरण्यनाभं राजानं कृत्वा वल्कलवान्बभूव, वनं गत इत्यर्थः ॥ २६ ॥

पितृऋणसे मुक्त (अत एव) कृतकृत्य पिता (विश्वसह) अनन्तसुख (मोक्ष) को प्राप्त करनेका इच्छुक होकर आजानुबाहु (घुटने तक लम्बी भुजावाले) उस ('हिरण्यनाभ' नामक पुत्र) को राजा बनाकर (स्वयं) वल्कलधारी हो गये अर्थात् पुत्रको राज्यभार सौंप कर मुक्ति कामनासे इच्छुक 'विश्वसह' वनमें तप करनेके लिये चले गये ॥ २६ ॥

कौसल्य इत्युत्तरकोसलानां पत्युः पतङ्गान्वयभूषणस्य।
तस्यौरसः सोमसुतः सुतोऽभून्नेत्रोत्सवः सोम इव द्वितीयः ॥ २७ ॥

कौसल्य इति। उत्तरकोसलानां पत्युः पतङ्गान्वयभूषणस्य सूर्यवंशाभरणस्य सोमसुतः सोमं सुतवतः यज्वन इत्यर्थः। 'सोमे सुञः' इति क्विप्। तस्य हिरण्यनाभस्य। द्वितीयः सोमश्चन्द्र इव। नेत्रोत्सवो नयनानन्दकरः कौसल्य इति प्रसिद्ध औरसो धर्मपत्नीजः सुतोऽभूत् ॥ २७ ॥

उत्तर कोसलके राजा सूर्यकुलभूषण तथा सोमरसका पान करनेवाले अर्थात् यज्ञकर्ता उस 'हिरण्यनाभ' का दूसरे चन्द्रमाके समान नेत्रानन्ददायक 'कौसल्य' नामक पुत्र हुआ ॥ २७ ॥

यशोभिराब्रह्मसभं प्रकाशः स ब्रह्मभूयं गतिमाजगाम।
ब्रह्मिष्ठमाधाय निजेऽधिकारे ब्रह्मिष्ठमेव स्वतनुप्रसूतम् ॥ २८ ॥

यशोभिरिति। आ ब्रह्मसभाया आब्रह्मसभं ब्रह्मसदनपर्यन्तम्। अभिविधावव्ययीभावः। यशोभिः प्रकाशः प्रसिद्धः स कौसल्योऽतिशयेन ब्रह्मवन्तं ब्रह्मिष्ठम्, ब्रह्मविदमित्यर्थः। ब्रह्मशब्दान्मतुबन्तादिष्ठन्प्रत्यये 'विन्मतोर्लुक्' इति मतुपो लुक्। 'ब्रह्मनिष्ठे' इति विशेषः। ब्रह्मिष्ठं ब्रह्मिष्ठाख्यं स्वतनुप्रसूतं स्वात्मजमेव

निजे स्वकीयेऽधिकारे प्रजापालनकृत्य आधाय निधाय। ब्रह्मणो भावो ब्रह्मभूयं ब्रह्मत्व तदेव गतिस्तामाजगाम, मुक्तोऽभूदित्यर्थः। 'स्याद् ब्रह्मभूयं ब्रह्मत्वम्' इत्यमरः। 'भुवो भावे' क्यप् ॥ २८ ॥

कीर्तियों से ब्रह्मलोक तक प्रसिद्ध वे 'कौशल्य' ब्रह्मज्ञानी 'ब्रह्मिष्ठ' नामक अपने पुत्रको ही अपने अधिकार (राज्य) पर नियुक्त कर ब्रह्मत्व गति अर्थात् मुक्तिको प्राप्त हुये ॥२८॥

तस्मिन्कुलापीडनिभे विपीडं सम्यङ्महीं शासति शासनाङ्काम् ।
प्रजाश्चिरं सुप्रजसि प्रजेशे ननन्दुरानन्दजलाविलाक्ष्यः ॥ २९ ॥

तस्मिन्निति। कुलापीडनिभे कुलशेखरतुल्ये। 'वैकक्षक तु तत्। यत्तिर्यक् क्षिप्तमुरसि शिखास्वापीडशेखरौ' इत्यमरः। सुप्रजसि सत्सन्तानवति। 'नित्यमसिच्प्रजामेधयो' इत्यसिच्प्रत्ययः। तस्मिन्प्रजेशे प्रजेश्वरे ब्रह्मिष्ठे शासनाङ्कां शासनचिह्नां महीं विपीडं निर्बाध यथा तथा सम्यक्शासति। आनन्दजलाविलाक्ष्य आनन्दवाष्पाकुलनेत्रा प्रजाश्चिर ननन्दु ॥ २९ ॥

कुलशेखर तुल्य तथा श्रेष्ठ प्रजावाले उस (ब्रह्मिष्ठ नामक) राजाके शासन से अङ्कित पृथ्वीका यथायोग्य शासन करते रहने पर आनन्दाश्रुसे आकुल अर्थात् परिपूर्ण नेत्रवाली प्रजायें चिरकालतक आनन्दित रहीं ॥ २९ ॥

पात्रीकृतात्मा गुरुसेवनेन स्पष्टाकृतिः पत्त्ररथेन्द्रकेतोः ।
तं पुत्रिणां पुष्करपत्त्रनेत्रः पुत्रः समारोपयदग्रसंख्याम् ॥ ३० ॥

पात्रीकृतात्मेति। गुरुसेवनेन पित्रादिशुश्रूषया पात्रीकृतात्मा योग्यीकृतात्मा। 'योग्यभाजनयोः पात्रम्' इत्यमरः। पत्त्ररथेन्द्रकेतोर्गरुडध्वजस्य स्पष्टाकृतिः स्पष्टवपुः, तत्समरूप इत्यर्थः। 'आकृतिः कथिता रूपे सामान्यवपुषोरपि' इति विश्वः। पुष्करपत्त्रनेत्रः पद्मदलाक्ष पुत्रः पुत्राख्यो राजा। यद्वा पुत्रशब्द आवर्तनीय। पुत्रः पुत्राख्यः पुत्र सुतः। त ब्रह्मिष्ठ पुत्रिणामग्रसख्यां समारोपयत्, अग्रगण्य चकारेत्यर्थः ॥

गुरु (पिता-मातादि बड़ों) की सेवासे आत्माको सत्पात्र बनाये हुये और गरुडध्वज की स्पष्ट आकृति (विष्णुतुल्य देह) वाले तथा कमलपत्रके तुल्य नेत्रवाले 'पुत्र' नामक पुत्रने उस 'ब्रह्मिष्ठ' को सत्पुत्रवालोंकी प्रथम गणनामें रख दिया ॥ ३० ॥

वंशस्थितिं वंशकरेण तेन सम्भाव्य भावी स सखा मघोनः ।
उपस्पृशन्स्पर्शनिवृत्तलौल्यस्त्रिपुष्करेषु त्रिदशत्वमाप ॥ ३१ ॥

वंशस्थितिमिति। स्पृश्यन्त इति स्पर्शा विषया। तेभ्यो निवृत्तलौल्यो निवृत्ततृष्णः। अत एव मघोन इन्द्रस्य सखा मित्र भावी भविष्यन्, स्वर्गं जिगमिषुरित्यर्थः। स ब्रह्मिष्ठो वंशकरेण वंशप्रवर्तकेन तेन पुत्रेण वंशस्थितिं कुलप्रतिष्ठां सम्भाव्य सम्पाद्य त्रिषु पुष्करेषु तीर्थविशेषेषु। 'दिक्सख्ये सज्ञायाम्' इति समासः। उपस्पृशन्स्नान कुर्वंस्त्रिदशत्व देवभूयमाप ॥ ३१ ॥

जिन्होंने निरन्तर (बड़े यज्ञ) इन्द्रके भावी मित्र उस 'अहीनगु' राजाके वंशके प्रवर्तक उस ('पुत्र' नामक पुत्र) ने वंशस्थितिको सम्पादन कर त्रिपुष्करमें स्नान करते हुए अमर भावको प्राप्त किया ॥ ३१ ॥

तस्य प्रभानिर्जितपुष्परागं पौष्यां तिथौ पुष्यमसूत पत्नी ।
तस्मिन्नपुष्यन्नुदिते समग्रां पुष्टिं जनाः पुष्य इव द्वितीये ॥ ३२ ॥

तस्येति । तस्य पुत्राख्यस्य पत्नी पौष्यां पुष्यनक्षत्रयुक्तायां पौर्णमास्यां तिथौ । 'पुष्ययुक्ता पौर्णमासी पौषी' इत्यमरः । 'नक्षत्रेण युक्तः कालः' इत्यण्प्रत्ययः । 'टिड्ढाणञ्–' इत्यादिना ङीप् । प्रभया निर्जितः पुष्परागो मणिविशेषो येन तं पुष्यं पुष्याख्यमसूत । द्वितीये पुष्ये पुष्यनक्षत्र इव तस्मिन्नुदिते सति जनाः समग्रां पुष्टिं समृद्धिमपुष्यन् ॥ ३२ ॥

उस ('पुत्र' नामक राजा) की रानीने पुष्य नक्षत्रसे युक्त तिथिमें कान्तिसे पुखराज मणिको जीतनेवाले 'पुष्य' (नामक पुत्र) को उत्पन्न किया । द्वितीय पुष्य नक्षत्रके समान उसके उत्पन्न होनेपर लोगोंने समुन्नति की ॥ ३२ ॥

महीं महेच्छः परिकीर्य सूनौ मनीषिणे जैमिनयेऽर्पितात्मा ।
तस्मात्सयोगादधिगम्य योगमजन्मनेऽकल्पत जन्मभीरुः ॥ ३३ ॥

महीमिति । महेच्छो महाशयः । 'महेच्छस्तु महाशयः' इत्यमरः । जन्मभीरुः संसारभीरुः स पुत्रः सूनौ महीं परिकीर्य विसृज्य मनीषिणे महाविद्याविदुषे जैमिनये मुनयेऽर्पितात्मा शिष्यभूतः सन्नित्यर्थः । सयोगाद्योगयुक्तात्तस्माज्जैमिनेर्योगं योगविद्यामधिगम्याजन्मने जन्मनिवृत्तये मोक्षायाकल्पत समपद्यत । 'क्लृपि सम्पद्यमाने चतुर्थी वक्तव्या' मुक्त इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

महाशय एवं पुनः जन्मधारण करनेसे डरनेवाले वे 'पुत्र' नामक राजा (पुष्य नामक) पुत्रको पृथ्वी देकर विद्वान् जैमिनि मुनिको आत्मसमर्पण कर अर्थात् जैमिनिका शिष्य बनकर योगी उस (जैमिनि) से योग सीखकर मुक्त हो गये ॥ ३३ ॥

ततः परं तत्प्रभवः प्रपेदे ध्रुवोपमेयो ध्रुवसन्धिरुर्वीम् ।
यस्मिन्नभूज्ज्यायसि सत्यसन्धे सन्धिर्ध्रुवः सन्नमतामरीणाम् ॥ ३४ ॥

तत इति । ततः परं स पुष्यः प्रभवः कारणं यस्य स तत्प्रभवः, तदात्मज इत्यर्थः । ध्रुवेणौत्तानपादिनोपमेयः । 'ध्रुव औत्तानपादिः स्यात्' इत्यमरः । ध्रुवसन्धिरुर्वीं प्रपेदे । ज्यायसि श्रेष्ठे सत्यसन्धे सत्यप्रतिज्ञे यस्मिन्ध्रुवसन्धौ सन्नमतां प्रणमताम्, अनुद्धतानामित्यर्थः । अरीणां सन्धिर्ध्रुवः स्थिरोऽभूत् । ततः सार्थकनामेत्यर्थः ॥ ३४ ॥

उसके बाद उस 'पुष्य' के पुत्र 'ध्रुवसन्धि' नामक पुत्रने पृथ्वीको प्राप्त किया, बड़े तथा सत्यप्रतिज्ञ जिस 'ध्रुव' नामक राजामें झुकने (प्रणाम करने) हुए शत्रुओंकी स्थायी सन्धि हुई ॥ ३४ ॥

सुते शिशावेव सुदर्शनाख्ये दर्शात्ययेन्दुप्रियदर्शने सः ।
मृगायताक्षो मृगयाविहारी सिंहादवापद्विपदं नृसिंहः ॥ ३५ ॥

सुत इति । मृगायताक्षो नृसिंह पुरुषश्रेष्ठः स ध्रुवसन्धिर्दर्शात्ययेन्दुप्रियदर्शने प्रतिपच्चन्द्रनिभे सुदर्शनाख्ये सुते शिशौ सत्येव मृगयाविहारी सन् सिंहाद्विपद मरणमवापत् । व्यसनासक्तिरनर्थावहेति भावः ॥ ३० ॥

मृगतुल्य विशाल नेत्रवाले तथा मनुष्यश्रेष्ठ उस 'ध्रुवसन्धि' ने अमावास्याके बाद (द्वितीया) के चन्द्रमाके समान देखनेमें प्रिय 'सुदर्शन' नामक पुत्रके बालक रहने पर ही शिकार करते हुए, सिंहसे विपत्तिको प्राप्त किया अर्थात् वे सिंहसे मारे गये ॥ ३५ ॥

स्वर्गामिनस्तस्य तमैकमत्यादमात्यवर्गः कुलतन्तुमेकम् ।
अनाथदीना प्रकृतीरवेक्ष्य साकेतनाथं विधिवच्चकार ॥ ३६ ॥

स्वर्गामिन इति । स्वर्गामिन स्वर्यातस्य तस्य ध्रुवसन्धेरमात्यवर्गः । अनाथा नाथहीना अतएव दीना. शोच्याः प्रकृती प्रजा अवेक्ष्य । कुलतन्तु कुलावलम्बनमेकमद्वितीय त सुदर्शनमैकमत्याद्विधिवत्साकेतनाथमयोध्याधीश्वर चकार ॥ ३६ ॥

स्वर्गप्राप्त उस 'ध्रुवसन्धि' के मन्त्रिसमूहने अनाथ होनेसे दुःखित प्रजाओंको देखकर कुल के आश्रय एक 'सुदर्शन' को ही एकमत (सर्वसम्मति) से विधिपूर्वक अयोध्या का राजा बनाया ॥ ३६ ॥

नवेन्दुना तन्नभसोपमेयं शावैकसिंहेन च काननेन ।
रघोः कुलं कुड्मलपुष्करेण तोयेन चाप्रौढनरेन्द्रमासीत् ॥ ३७ ॥

नवेन्दुनेति । अप्रौढनरेन्द्र तद्रघो कुल नवेन्दुना बालचन्द्रेण नभसा व्योम्ना । शाव. शिशुरेक सिंहो यस्मिन् । 'पृथुक शावक शिशु' इत्यमर । तेन काननेन च । कुड्मल कुड्मलावस्थ पुष्कर पङ्कज यस्मिंस्तेन तोयेन चोपमेयमुपमातुमर्हमासीत् । नवेन्द्वाद्युपमानेन तस्य वर्धिष्णुताशौर्यश्रीमत्त्वानि सूचितानि ॥ ३७ ॥

अप्रौढ (बालक) राजावाला वह रघुकुल नये चन्द्रवाले आकाशके, बालक एकसिंहवाले वनके और अविकसित कमलवाले पानी (तालाव) के समान हुआ ॥ ३७ ॥

लोकेन भावी पितुरेव तुल्य. सम्भावितो मौलिपरिग्रहात्सः ।
दृष्टो हि वृण्वन्कलभप्रमाणोऽप्याशाः पुरोवातमवाप्य मेघः ॥ ३८ ॥

लोकेनेति । स बालो मौलिपरिग्रहात्किरीटस्वीकाराद्धेतोः पितुस्तुल्य पितृस्वरूप एव भावी भविष्यति लोकेन जनेन सम्भावितस्तर्कित । तथा हि, कलभप्रमाण. कलभमात्रोऽपि मेघ पुरोवातमवाप्याशा दिशो वृण्वन्गच्छन्दृष्टो हि ॥ ३८ ॥

लोगोंने उस (बालक राजा) को मुकुट धारण करने (राजा बनने) से पिताके ही तुल्य होनेवाला समझा, क्योंकि हाथीके प्रमाणवाले (अत्यन्त थोडे) भी मेघको पूर्ववायु (पुरवैया हवा) के साथमें दिशाओंको घेरते हुए देखा गया है ॥ ३८ ॥

। तिनकोंसे निरन्तर (कल्मष) रत्नके मानो मित्र उस 'अहीन' राजाने वंशके प्रकाशक उस ('पुत्र' नामक पुत्र) से मंत्रिमण्डलकी सम्भावना कर विषुवत्में स्नान करते हुए अमर नाकको प्राप्त किया ॥ ३१ ॥

तस्य प्रभानिर्जितपुष्परागं पौष्यां तिथौ पुष्यमसूत पत्नी ।
तस्मिन्नपुष्यन्नुदिते समग्रां पुष्टिं जनाः पुष्य इव द्वितीये ॥३२॥

तस्येति । तस्य पुत्राख्यस्य पत्नी पौष्यां पुष्यनक्षत्रयुक्तायां पौर्णमास्यां तिथौ । 'पुष्ययुक्ता पौर्णमासी पौषी' इत्यमरः । 'नक्षत्रेण युक्तः कालः' इत्यण्प्रत्ययः । 'टिड्ढाणञ्–' इत्यादिना ङीप् । प्रभया निर्जितः पुष्परागो मणिविशेषो येन तं पुष्यं पुष्याख्यमसूत । द्वितीये पुष्ये पुष्यनक्षत्र इव तस्मिन्नुदिते सति जनाः समग्रां पुष्टिं वृद्धिमपुष्यन् ॥ ३२ ॥

उस ('पुत्र' नामक राजा) की रानीने पुष्य नक्षत्रसे युक्त तिथिमें कान्तिसे पुखराज मणिको जीतनेवाले 'पुष्य' (नामक पुत्र) को उत्पन्न किया । द्वितीय पुष्य नक्षत्रके समान उसके उत्पन्न होनेपर लोगोंने अभ्युन्नति की ॥ ३२ ॥

महीं महेच्छः परिकीर्य सूनौ मनीषिणे जैमिनयेऽर्पितात्मा ।
तस्मात्सयोगादधिगम्य योगमजन्मनेऽकल्पत जन्मभीरुः ॥ ३३ ॥

महीमिति । महेच्छो महाशयः । 'महेच्छस्तु महाशयः' इत्यमरः । जन्मभीरुः संसारभीरुः स पुत्रः सूनौ महीं परिकीर्य विसृज्य मनीषिणे ब्रह्मविद्यानिपुणे जैमिनये मुनयेऽर्पितात्मा शिष्यभूतः सन्नित्यर्थः । सयोगाद्योगिनस्तस्माज्जैमिनेर्योगं योगविद्यामधिगम्याजन्मने जन्मनिवृत्त्यै मोक्षायाकल्पत समपद्यत । 'क्लृपि सम्पद्यमाने चतुर्थी वक्तव्या' । मुक्त इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

महाशय एवं पुनः जन्मधारण करनेसे डरनेवाले वे 'पुत्र' नामक राजा (पुष्य नामक) पुत्रको पृथ्वी देकर विद्वान् जैमिनि मुनिको आत्मसमर्पण कर अर्थात् जैमिनिका शिष्य बनकर योगी उस (जैमिनि) से योग सीखकर मुक्त हो गये ॥ ३३ ॥

ततः परं तत्प्रभवः प्रपेदे ध्रुवोपमेयो ध्रुवसन्धिरुर्वीम् ।
यस्मिन्नभूज्ज्यायसि सत्यसन्धे सन्धिर्ध्रुवः सन्नमतामरीणाम् ॥ ३४ ॥

तत इति । ततः परं स पुष्यः प्रभवः कारणं यस्य स तत्प्रभवः तदात्मज इत्यर्थः । ध्रुवेणौत्तानपादिनोपमेयः । 'ध्रुव औत्तानपादिः स्यात्' । इत्यमरः । ध्रुवसन्धिरुर्वीं प्रपेदे । ज्यायसि श्रेष्ठे सत्यसन्धे सत्यप्रतिज्ञे यस्मिन्ध्रुवसन्धौ सन्नमतां प्रणमताम्, अनुद्धतानामित्यर्थः । अरीणां सन्धिर्ध्रुवः स्थिरोऽभूत् । ततः सार्थकनामेत्यर्थः ॥ ३४ ॥

उसके बाद उस 'पुष्य' के पुत्र ध्रुवतुल्य 'ध्रुवसन्धि' नामक पुत्रने पृथ्वीको प्राप्त किया, श्रेष्ठ तथा सत्यप्रतिज्ञ जिस 'ध्रुव' नामक राजामें झुकते (प्रणाम करते) हुए राजाओंकी

मणौ महानील इति प्रभावादल्पप्रमाणेऽपि यथा न मिथ्या ।
शब्दो महाराज इति प्रतीतस्तथैव तस्मिन्युयुजेऽर्भकेऽपि ॥ ४२ ॥

मणाविति । अल्पप्रमाणेऽपि मणाविन्द्रनीले प्रभावात्तेजिष्ठत्वाद्धेतोर्महानील इति शब्दो यथा मिथ्या निरर्थको न, तथैवार्भके शिशावपि तस्मिन्सुदर्शने प्रतीतः प्रसिद्धो महाराज इति शब्दो न मिथ्या युयुजे ॥ ४२ ॥

छोटे आकारवाले भी (नीलम) मणिमें तेज (पानी) होनेसे 'महानील' यह नाम जिस प्रकार अशक्य नहीं है, उसी प्रकार बालक भी उस 'सुदर्शन'में प्रसिद्ध 'महाराज' शब्द भी अशक्य नहीं हुआ ॥ ४२ ॥

पर्यन्तसञ्चारितचामरस्य कपोललोलोभयकाकपक्षात् ।
तस्याननादुच्चरितो विवादश्चस्खाल वेलास्वपि नार्णवानाम् ॥४३॥

पर्यन्तेति । पर्यन्तयोः पार्श्वयोः सञ्चारिते चामरे यस्य तस्य बालस्य सम्बन्धिनः कपोलयोर्लोलावुभौ काकपक्षौ यस्य तस्मादाननादुच्चरितो विवादो वाचनमर्णवाना वेलास्वपि न चस्खाल, शिशोरपि तस्याज्ञाभङ्गो नासीदित्यर्थः । चपलसंसर्गेऽपि महान्तो न चलन्तीति ध्वनिः । उभयकाकपक्षादित्यत्र 'वृत्तिविषये उभयपुत्र इति वदुभशब्दस्थाने उभयशब्दप्रयोग' इत्युक्त प्राक् ॥ ४३ ॥

दोनों पार्श्वोंमें चलाये जाते हुए चामरोंवाले उस ('सुदर्शन' नामक नृपति) के कपोलद्वयमें हिलते हुए काकपक्षवाले मुखसे निकली हुई आज्ञा समुद्रोंके तटोंमें अर्थात् समुद्रतट तक भग्न नहीं हुई ॥ ४३ ॥

निर्वृत्तजाम्बूनदपट्टशोभे न्यस्तं ललाटे तिलकं दधानः ।
तेनैव शून्यान्यरिसुन्दरीणां मुखानि स स्मेरमुखश्चकार ॥ ४४ ॥

निर्वृत्तेति । निर्वृत्ता जाम्बूनदपट्टशोभा यस्य तस्मिन्कृतकनकपट्टशोभे ललाटे न्यस्त तिलक दधान स्मेरमुख स्मितमुख स राजाऽरिसुन्दरीणा मुखानि तेनैव तिलकेनैव शून्यानि चकार । अखिलमपि शत्रुवर्गमवधीदिति भावः ॥ ४४ ॥

स्वर्णनिर्मित पट्टसे शोभित ललाटमें लगाये गये तिलकको धारण करते हुए स्मितयुक्त मुखवाले, उस 'सुदर्शन' ने शत्रु-स्त्रियोंके मुखोंको उसीसे अर्थात् तिलकसे ही शून्य कर दिया । ('सुदर्शन' ने समस्त शत्रुओंको मारकर उनकी विधवा स्त्रियोंके ललाटको तिलक-शून्य कर दिया) ॥ ४४ ॥

शिरीषपुष्पाधिकसौकुमार्यः खेदं स यायादपि भूषणेन ।
नितान्तगुर्वीमपि सोऽनुभावाद् धुरं धरित्र्या बिभरांबभूव ॥ ४५ ॥

शिरीषेति । शिरषपुष्पाधिकसौकुमार्यः, कोमलाङ्ग इत्यर्थः । अत एव स राजा भूषणेनापि खेद श्रम यायाद्गच्छेत् । एवम्भूत स नितान्तगुर्वीमपि धरित्र्या

स राजवीथ्यामधिहस्ति यान्तमाधोरणालम्बितमग्र्यवेषम् ।
षड्वर्षदेशीयमपि प्रभुत्वात्प्रैक्षन्त पौराः पितृगौरवेण ॥ ३९ ॥

तमिति । राजवीथ्यां राजमार्गेऽधिहस्ति हस्तिनि । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । यान्तं गच्छन्तम्, हस्तिनमारुह्य गच्छन्तमित्यर्थः । आधोरणालम्बितं हस्त्यारोहैर्गृहीतमग्र्यवेषमग्र्यवेषं षड्वर्षाणि भूतः 'षड्वर्षः' । 'तद्धितार्थ-' इत्यादिना समासः । 'तमधीष्टो भृतो भूतो भावी' इत्यधिकारे 'चित्तवति नित्यम्' इति तद्धितस्य लुक् । ईषदसमाप्तः षड्वर्षः षड्वर्षदेशीयः । 'ईषदसमाप्तौ-' इत्यादिना देशीयर्प्रत्ययः । तं षड्वर्षदेशीयमपि बालमपि तं सुदर्शनं पौराः प्रभुत्वात्पितृगौरवेण प्रैक्षन्त । पितरि यादृशी गौरवबुद्धिस्तादृश्येवेत्यर्थः ॥ ३९ ॥

राजमार्गमें हाथीपर सवार होकर जाते हुए, (बालक होनेके कारण) हाथीवानसे ग्रहण किये (सम्हाले) गये श्रेष्ठ भूषणवाले और छः वर्षकी अवस्थावाले भी उस ('सुदर्शन' नामक बालक राजा) को राजा होनेसे नागरिकोंने पिताके समान गौरवसे देखा। (बालक होनेपर भी राजा होनेसे उस 'सुदर्शन' को नगरवासियोंने पिताके समान पूज्य माना) ॥ ३९ ॥

कामं न सोऽकल्पत पैतृकस्य सिंहासनस्य प्रतिपूरणाय ।
तेजोमहिम्ना पुनरावृतात्मा तद्व्याप चामीकरपिञ्जरेण ॥ ४० ॥

काममिति । स सुदर्शनः पैतृकस्य सिंहासनस्य कामं सम्यक् प्रतिपूरणाय नाकल्पत बालत्वादमुं न पर्याप्त इत्यर्थः । चामीकरपिञ्जरेण कनकगौरेण तेजोमहिम्ना पुनस्तेजःसम्पदा त्वावृतात्मा विस्तारितदेहः सन् तत्सिंहासनं व्याप व्याप्तवान् ॥ ४० ॥

वे ('सुदर्शन' बालक होनेके कारण) पिताके सिंहासनको पूर्ण करनेके लिए भले ही नहीं समर्थ हुए किन्तु सुवर्णके समान गौर तेजकी अधिकतासे विस्तृत देहवाले उन्होंने उस (सिंहासन) को व्याप्त (परिपूर्ण) कर दिया ॥ ४० ॥

तस्मादधः किंचिदिवावतीर्णावसंस्पृशन्तौ तपनीयपीठम् ।
सालक्तकौ भूपतयः प्रसिद्धैर्ववन्दिरे मौलिभिरस्य पादौ ॥ ४१ ॥

तस्मादिति । तस्मात्सिंहासनादधस्तादधोभागे मनाक् किंचिदिवावतीर्णौ लम्बमानौ तपनीयपीठं काञ्चनपादपीठमसंस्पृशन्तावप्राप्नुवन्तौ सालक्तकौ लाक्षारससहितावस्य सुदर्शनस्य पादौ भूपतयः प्रसिद्धैरुन्नतैर्मौलिभिर्मुकुटैर्ववन्दिरे प्रणेमुः ॥

उस सिंहासनसे थोड़ा-सा नीचेकी ओर लटकते हुए तथा (छोटे होनेसे) सोनेके पादपीठको स्पर्श नहीं करते हुए उस ('सुदर्शन' नामक बालक राजा) के अलक्तक लगे दोनों चरणोंको राजाओंने (चरण स्पर्श करनेके लिये) कुछ ऊपर उठाये हुए मस्तकोंसे प्रणाम किया ॥ ४१ ॥

न केवलं गच्छति तस्य काले ययुः शरीरावयवा विवृद्धिम्।
वंश्या गुणाः खल्वपि लोककान्ताः प्रारम्भसूक्ष्माः प्रथिमानमापुः ॥

नेति। काले गच्छति सति तस्य केवलं शरीरावयवा एव विवृद्धिं प्रसारं न ययुः। किन्तु वंशे भवा वंश्या लोककान्ता जनप्रियाः प्रारम्भे आदौ सूक्ष्मास्तस्य गुणाः शौर्यौदार्यादयोऽपि प्रथिमानं पृथुत्वमापुः खलु ॥ ४९ ॥

समयके व्यतीत होते रहनेपर उस 'सुदर्शन' के केवल शरीरके अवयव ही नहीं हृष्ट-पुष्ट हुए, किन्तु वंशज, लोक रमणीय और आरम्भमें सूक्ष्म गुण भी पुष्टता (वृद्धि) को प्राप्त हुआ ॥ ४९ ॥

स पूर्वजन्मान्तरदृष्टपाराः स्मरन्निवाक्लेशकरो गुरूणाम्।
तिस्रस्त्रिवर्गाधिगमस्य मूलं जग्राह विद्याः प्रकृतीश्च पित्र्याः ॥५०॥

स इति। स सुदर्शनः पूर्वस्मिञ्जन्मान्तरे जन्मविशेषे दृष्टपारा स्मरन्निव गुरूणामक्लेशकरः सन्। त्रयाणां धर्मार्थकामानां वर्गस्त्रिवर्गः तस्याधिगमस्य प्राप्तेर्मूलं तिस्रो विद्यास्त्रयीवार्त्तादण्डनीतीः पित्र्याः पितृसम्बन्धिनीः प्रकृतीः प्रजाश्च जग्राह स्वायत्तीचकार। अत्र कौटिल्य—'धर्माधर्मौ त्रय्यामर्थानर्थौ वार्त्तायां नयानयौ दण्डनीत्याम्' इति। अत्र दण्डनीतिनिर्णयद्वारा काममूलमिति द्रष्टव्यम्। आन्वीक्षिक्या अनुपादानं त्रय्यन्तर्भावपक्षमाश्रित्य। यथाऽऽह कामन्दकः—'त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिस्तिस्रो विद्या मनोर्मता। त्रय्या एव विभागोऽयं येन सान्वीक्षिकी मता ॥' इति ॥ ५० ॥

पहले जन्मान्तरमें अन्ततक देखी गयी (विद्याओंको) स्मरण करते हुएके समान, गुरुओंके सुखकारक उन 'सुदर्शन'ने पिता 'ध्रुवसन्धि' की तीनों विद्याओं (आन्वीक्षिकी, त्रयी और वार्ता) को तथा प्रकृतियों (मन्त्रों, सेना आदि) को वशीभूत कर लिया ॥

व्यूह्य स्थितः किञ्चिदिवोत्तरार्धमुन्नद्धचूडोऽञ्चितसव्यजानुः।
आकर्णमाकृष्टसबाणधन्वा व्यरोचतास्त्रेषु विनीयमानः ॥५१॥

व्यूह्येति अस्त्रेषु धनुर्विद्याया विनीयमानः शिक्ष्यमाणोऽत एवोत्तरार्धं पूर्वकायं किञ्चिदिव व्यूह्य विस्तीर्य स्थितः। उन्नद्धचूड ऊर्ध्वमुत्कृष्य बद्धकेशः। अञ्चितमाकुञ्चितं सव्यं जानु यस्य सः आकर्णमाकृष्टं सबाणं धनुर्धन्वा येन स तथोक्तः सन् व्यरोचताशोभत ॥ ५१ ॥

अस्त्र-(धनुष)-विद्या सीखते हुए, पूर्वार्द्ध (नाभिसे ऊपरका भाग) शरीरको विस्तीर्ण करके स्थित, ऊपर उठाकर बाँधे गये चूडावाले, शोभमान सव्य घुटनेवाले और कानतक खींचे हुए बाण सहित धनुषवाले (वे 'सुदर्शन') राजा शोभित हुए ॥ ५१ ॥

अथ मधु वनितानां नेत्रनिर्वेशनीयं
मनसिजतरुपुष्पं रागबन्धप्रवालम्।

गुरुं गुरुभ्यो भारमनुभावात्सामर्थ्यादविश्रान्तमूढ बभार। 'भौमीश्च गुर्वी गुरुभार' इति विस्मयापादानमस्य ॥ ४५ ॥

शिरीषके फूलसे भी अधिक सुकुमार थे सुदर्शन भूषणसे भी खिन्न होते थे, (पर) उन्होंने अत्यन्त भारी पृथ्वीके भारको महत्त्वसे धारण किया ॥ ४५ ॥

न्यस्ताक्षरामक्षरभूमिकायां कात्स्न्येन गृह्णाति लिपिं न यावत्।
सर्वाणि तावच्छ्रुतवृद्धयोगात्फलान्युपायुङ्क्त स दण्डनीतेः ॥४६॥

न्यस्ताक्षरामिति। अक्षरभूमिकायामक्षरलेखनस्थाने न्यस्ताक्षरां रचिताक्षरपङ्क्तिं लिपिं पञ्चाशद्वर्णात्मिकां मातृकां कात्स्न्येन यावन्न गृह्णाति स सुदर्शनस्तावच्छ्रुतवृद्धयोगाद्विद्यावृद्धसंसर्गात्सर्वाणि दण्डनीतेर्दण्डशास्त्रस्य फलान्युपायुङ्क्तानुभूत। मनोव बद्धकस्य तस्य पद्माधम्मास्यमार्थ मार्ड संवत्सर्वमिवासमवहित्यर्थः ॥

पट्टीपर लिखी गई वर्णमालाको पूर्णतया जबतक (वह) नहीं ग्रहण कर पाया है तबतक वे 'सुदर्शन' विद्यावृद्धोंके साथसे दण्डनीतिके फलोंका उपयोग करने लगे। (पूर्व वृद्धाश्रित कर्मोंके द्वारा बचपनसे ही निष्कण्टक राज्यके 'सुदर्शन' का साम्राज्यका मानो निस्तार किये हुआ) ॥ ४६ ॥

उरस्यपर्याप्तनिवेशभागा प्रौढीभविष्यन्तमुदीक्षमाणा।
संजातलज्जेव तमातपत्रच्छायाच्छलेनोपजुगूह लक्ष्मीः ॥ ४७ ॥

उरसीति। उरस्यपर्याप्तो निवेशभागो निवासावकाशो यस्याः सा अत एव प्रौढीभविष्यन्तं वर्धिष्यमाणमुदीक्षमाणा प्रौढत्वमुपगमिष्यतीति प्रतीक्षमाणा लक्ष्मीः संजातलज्जेव साकारशिशुं कन्येव तं सुदर्शनमातपत्रच्छायाच्छलेनोपजुगूहालिलिङ्ग। छत्रच्छाया लक्ष्मीरूपेति प्रसिद्धिः। प्रौढाङ्गनायाः प्रौढपुरुषसङ्गमे लज्जा भवतीति ध्वनिः ॥ ४७ ॥

'सुदर्शनकी छातीपर अपूर्ण निवास करने योग्य स्थानवाली भविष्यमें प्रौढ होते हुए (उन) को देखती हुई लक्ष्मीने लज्जित सी होती हुई उस सुदर्शनको छत्रकी छायाके बहानेसे आलिङ्गन किया ॥ ४७ ॥

अनश्नुवानेन युगोपमानमबद्धमौर्वीकिणलाञ्छनेन।
अस्पृष्टखड्गत्सरुणाऽपि चासीद्रक्षावती तस्य भुजेन भूमिः ॥४८॥

अनश्नुवानेनेति। युगोपमानं युगस्य दैर्घ्यमनश्नुवानेनाप्राप्नुवता। अबद्धं मौर्वीकिणो ज्याघातग्रन्थिरेव लाञ्छनं यस्य तेन। अस्पृष्टः खड्गत्सरुः खड्गमुष्टिर्येन तेन। 'त्सरुः खड्गादिमुष्टौ स्यात्' इत्यमरः। एवंविधेनापि च तस्य सुदर्शनस्य भुजेन भूमी रक्षावत्यासीत्। शिशोरपि तस्य तेजस्वात्तमित्यर्थः ॥ ४८ ॥

जुएकी समानताको नहीं प्राप्त, प्रत्यञ्चाके चिह्न (घट्टे, गट्टा) से रहित और तलवारकी मूठको नहीं स्पर्श किये हुए भी उस सुदर्शनके बाहुसे पृथ्वी सुरक्षित थी ॥ ४८ ॥

न केवलं गच्छति तस्य काले ययुः शरीरावयवा विवृद्धिम्।
वंश्या गुणाः खल्वपि लोककान्ताः प्रारम्भसूक्ष्माः प्रथिमानमापुः ॥

नेति। काले गच्छति सति तस्य केवलं शरीरावयवा एव विवृद्धिं प्रसारं न ययुः। किन्तु वंशे भवा वंश्या लोककान्ता जनप्रिया' प्रारम्भे आदौ सूक्ष्मास्तस्य गुणा' शौर्यौदार्यादयोऽपि प्रथिमानं पृथुत्वमापु' खलु ॥ ४९ ॥

समयके व्यतीत होते रहनेपर उस 'सुदर्शन' के केवल शरीरके अवयव ही नहीं हृष्ट-पुष्ट हुए, किन्तु वंशज, लोक रमणीय और आरम्भमें सूक्ष्म गुण भी पुष्टता (वृद्धि) को प्राप्त हुआ ॥ ४९ ॥

स पूर्वजन्मान्तरदृष्टपाराः स्मरन्निवाक्लेशकरो गुरूणाम्।
तिस्रस्त्रिवर्गाधिगमस्य मूलं जग्राह विद्याः प्रकृतीश्च पित्र्याः ॥५०॥

स इति। स सुदर्शनः पूर्वस्मिञ्जन्मान्तरे जन्मविशेषे दृष्टपारा स्मरन्निव गुरूणामक्लेशकर सन्। त्रयाणां धर्मार्थकामानां वर्गस्त्रिवर्ग. तस्याधिगमस्य प्राप्तेर्मूलं तिस्रो विद्यास्त्रयीवार्त्तादण्डनीती. पित्र्याः पितृसम्बन्धिनी' प्रकृती' प्रजाश्च जग्राह स्वायत्तीचकार। अत्र कौटिल्य –'धर्माधर्मौ त्रय्यामुर्थानर्थौ वार्त्ताया नयानयौ दण्डनीत्याम्' इति। अत्र दण्डनीतिर्नयद्वारा काममूलमिति द्रष्टव्यम्। आन्वीक्षिक्या अनुपादान त्रय्यन्तर्भावपक्षमाश्रित्य। यथाऽऽह कामन्दकः–'त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिस्तिस्रो विद्या मनोर्मता। त्रय्या एव विभागोऽयं येन सान्वीक्षिकी मता ॥' इति ॥ ५० ॥

पहले जन्मान्तरमें अन्ततक देखी गयी (विद्याओंको) स्मरण करते हुएके समान, गुरुओंके सुखकारक उन 'सुदर्शन ने पिता 'ध्रुवसन्धि' की तीनों विद्याओं (आन्वीक्षिकी, त्रयी और वार्ता) को तथा प्रकृतियों (मन्त्री, सेना आदि) को वशीभूत कर लिया ॥

व्यूह्य स्थित' किञ्चिदिवोत्तरार्धमुन्नद्धचूडोऽञ्चितसव्यजानुः।
आकर्णमाकृष्टसबाणधन्वा व्यरोचतास्त्रेषु विनीयमानः ॥५१॥

व्यूह्येति अस्त्रेषु धनुर्विद्यायां विनीयमान शिक्ष्यमाणोऽत एवोत्तरार्धं पूर्वकायं किञ्चिदिव व्यूह्य विस्तीर्य स्थित। उन्नद्धचूड ऊर्ध्वमुत्कृष्य बद्धकेशः। अञ्चितमाकुञ्चित सव्य जानु यस्य स आकर्णमाकृष्ट सबाण धनुर्धन्वा येन स तथोक्त सन् व्यरोचताशोभत ॥ ५१ ॥

अस्त्र-(धनुष) विद्या सीखते हुए, पूर्वार्द्ध (नाभिसे ऊपरका भाग) शरीरको विस्तीर्ण करके स्थित, ऊपर उठाकर बाँधे गये चूडावाले, शोभमान सव्य घुटनेवाले और कानतक खींचे हुए बाण सहित धनुषवाले (वे 'सुदर्शन') राजा शोभित हुए ॥ ५१ ॥

अथ मधु वनितानां नेत्रनिर्वेशनीयं
मनसिजतरुपुष्पं रागबन्धप्रवालम्।

अकृतकविधि सर्वाङ्गीणमाकल्पजातं
विलसितपदमाद्यं यौवनं स प्रपेदे ॥ ५२ ॥

अथेति । अथ स सुदर्शनो वनितानां नेत्रैर्निर्वेशनीयं भोग्यम् भोग्यमित्यर्थः । 'निर्वेशो भृतिभोगयोः' इत्यमरः । मधु क्षौद्रम् । रागबन्धोऽनुरागसन्तान एव प्रवालः पल्लवो यस्य तत् । मनसिज एव तरुस्तस्य पुष्पं पुष्पभूतम् । अकृतकविधि अकृत्रिमसम्पादनम् । सर्वाङ्गं व्याप्नोतीति सर्वाङ्गीणम् । 'तत्सर्वादेः पथ्यङ्गकर्मपत्रपात्रं व्याप्नोति' इत्यनेन खप्रत्ययः । आकल्पजातमाभरणसमूहभूतम् । आद्यं विलसितपदं विलासस्थानं यौवनं प्रपेदे । विशिष्टमधुपुष्पाकल्पजातविलासस्थानत्वेन यौवनस्य चतुर्धाकरणात्सविशेषणमालारूपकमेतत् ॥ ५२ ॥

इसके बाद उस 'सुदर्शन' ने स्त्रियोंके नेत्रोंसे भोग्य अर्थात् स्त्रियोंके दर्शनीय मधुरूप, कामदेव-वृक्षके पुष्परूप, अनुराग-समूहके नवपल्लव-रूप, स्वाभाविक, समस्त शरीरमें व्याप्त भूषणसमूहरूप विलासके प्रथम (मुख्य) स्थान युवावस्थाको प्राप्त किया ॥ ५२ ॥

प्रतिकृतिरचनाभ्यो दूतिसन्दर्शिताभ्यः
समधिकतररूपाः शुद्धसन्तानकामैः ।
अधिविविदुरमात्यैराहृतास्तस्य पूर्वं
प्रथमपरिगृहीते श्रीभुवौ राजकन्याः ॥ ५३ ॥

प्रतिकृतिरचनाभ्य इति । दूतिभिः कन्यापरीक्षार्थं प्रेषिताभिः सन्दर्शिताभ्यो दूतिसन्दर्शिताभ्यः प्रतिकृतीनां चित्रकारविलिखितकन्याप्रतिमानां रचनाभ्यो विन्यासेभ्यः । 'पञ्चमी विभक्ते' इति पञ्चमी । समधिकतररूपाः । चित्रनिर्माणादपि रमणीयनिर्माणा इत्यर्थः । शुद्धसन्तानकामैरमात्यैराहृता आनीता राजकन्याः पूर्वं तस्य सुदर्शनस्य सम्बन्धिन्यौ प्रथमपरिगृहीते श्रीभुवौ श्रीश्च भूश्च ते अधिविविदुः । अधिवेदनं सपत्नीभावं चक्रुरित्यर्थः । 'कृतसापत्निकाऽध्यूढाऽधिविन्ना' इत्यमरः ॥ ५३ ॥

इति सञ्जीविनीव्याख्यायां वंशानुक्रमो नामाष्टादशः सर्गः ॥ १८ ॥

—❧—

दूतियों द्वारा दिखलाये गये चित्रोंसे भी सुन्दरी और शुद्ध सन्तानकी चाहवाले मन्त्रियोंसे लायी गयी राजकन्याओंने (सुदर्शन के द्वारा) पहले स्वीकृत की गयी लक्ष्मी तथा पृथ्वीको सपत्नी बनाया अर्थात् पृथ्वी ही श्रीपति तथा पृथ्वीपति युवक 'सुदर्शन' को पति बनाया ॥ ५३ ॥

इस 'मणिप्रभा' टीकामें 'वंशानुक्रम' नामक अठारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ १८ ॥

एकोनविंशः सर्गः

अग्निवर्णमभिषिच्य राघवः स्वे पदे तनयमग्नितेजसम् ।
शिश्रिये श्रुतवतामपश्चिमः पश्चिमे वयसि नैमिषं वशी ॥ १ ॥

मनसो मम ससारबन्धमुच्छेत्तुमिच्छत' ।
रामचन्द्रपदाम्भोजयुगलं निगडायताम् ॥

अग्निवर्णमिति । श्रुतवतां श्रुतसम्पन्नानामपश्चिम' प्रथमो वशी जितेन्द्रियो राघवः सुदर्शनः पश्चिमे वयसि वार्द्धके स्वे पदे स्थानेऽग्नितेजस तनयमग्निवर्णमभिषिच्य नैमिष नैमिषारण्य शिश्रिये श्रितवान् ॥ १ ॥

ससार-बन्धोच्छेदके इच्छुक हमारे स्वान्तका ।
निविडसम हो पाद-पङ्कजयुगल सीताकान्तका ॥

विद्वानोंमें प्रधान एव जितेन्द्रिय रघु-कुलोत्पन्न 'सुदर्शन' अन्तिम अवस्था (बुढापा) में अग्निके समान तेजस्वी 'अग्निवर्ण' नामक पुत्रको अपने स्थानपर अभिषिक्त कर नैमिषारण्यको चले गये ॥ १ ॥

तत्र तीर्थसलिलेन दीर्घिकास्तल्पमन्तरितभूमिभिः कुशैः ।
सौधवासमुटजेन विस्मृतः सञ्चिकाय फलनिःस्पृहस्तपः ॥ २ ॥

तत्रेति । तत्र नैमिषे तीर्थसलिलेन दीर्घिका विहारवापीरन्तरितभूमिभि. कुशै. स्तल्प शय्यामुटजेन पर्णशालया सौधवास जलमन्दिरं विस्मृतो विस्मृतवान्स. । कर्तरि क्त. । फले स्वर्गादिफले नि स्पृहस्तप. सञ्चिकाय सञ्चितवान् ॥ २ ॥

वहाँपर तीर्थ जलसे (विहारकी) बावलियोंको, भूमि पर बिछाये गये कुशोंसे पलङ्कको, पर्णशालासे महलको भूले हुए (अतएव) फल प्राप्तिकी चाह नहीं करनेवाले वे 'सुदर्शन' तपका सञ्चय करने लगे ॥ २ ॥

लब्धपालनविधौ न तत्सुतः खेदमाप गुरुणा हि मेदिनी ।
भोक्तुमेव भुजनिर्जितद्विषा न प्रसाधयितुमस्य कल्पिता ॥ ३ ॥

लब्धपालनविधाविति । तत्सुत सुदर्शनपुत्रोऽग्निवर्णो लब्धस्य राज्यस्य पालनकर्मणि खेद नाप, अक्लेशेनापालयदित्यर्थ । कुत । हि यस्माद् भुजनिर्जितद्विषा गुरुणा पित्रा मेदिन्यस्याग्निवर्णस्य भोक्तुमेव कल्पिता । प्रसाधयितु न । प्रसाधन कण्टकशोधनम् । अलङ्कृतिर्ध्वन्यते । तथा च यथाऽलङ्कृता युवति. केवलमुपभुज्यते तद्वदिति भावः ॥ ३ ॥

उस 'सुदर्शन' के पुत्र (अग्निवर्ण) मिले हुए राज्य-पालनमें खिन्न नहीं हुए अर्थात् सरलतासे पृथ्वीपालन किया क्योंकि बाहु (-बल) से शत्रुओंको पराजित किये हुए पिता (सुदर्शन) ने इस (अग्निवर्ण) के भोगनेके लिये ही पृथ्वीको दिया था, कण्टकशोधन

(अग्निवर्णको शत्रुओंको मारकर भोग करने) के लिये नहीं दिया था अर्थात् सुदर्शनने पहले ही सब शत्रुओंको बाहुबलसे जीतकर पृथ्वीको निष्कण्टक बनाकर 'अग्निवर्ण' को राजा बनाया था, अतएव उस 'अग्निवर्ण' ने भाग्यशाली लोगोंके समान पृथ्वीका भोग करता था॥ ३॥

सोऽधिकारमभिकः कुलोचितं काश्चन स्वयमवर्तयत्समाः।
सन्निवेश्य सचिवेष्वतःपरं स्त्रीविधेयनवयौवनोऽभवत्॥ ४॥

स इति। अभिकः कामुकः। 'अनुकाभिकाभीकः कमिता' इति निपातः। 'कामुकः कमिताऽनुकः कम्रः कामयिताऽभिकः' इत्यमरः। सोऽभिकः कामी कुलोचितमधिकारं प्रजापालनं काश्चन समाः कतिचिद्वत्सरान्स्वयमवर्तयदकरोत्। अतः परं सचिवेषु सन्निवेश्य निधाय स्त्रीविधेयं स्त्र्यधीनं नवं यौवनं यस्य सोऽभवत् स्त्र्यासक्तोऽभूदित्यर्थः॥ ४॥

कामी उस 'अग्निवर्ण' ने कुछ वर्षों तक कुलोचित अधिकार (प्रजापालन कार्य) को स्वयं किया, इसके बाद युवावस्थावाला वह उसे मन्त्रियों को सौंपकर स्त्रियोंके अधीन (स्त्रियोंमें आसक्त) हो गया॥ ४॥

कामिनीसहचरस्य कामिनस्तस्य वेश्मसु मृदङ्गनादिषु।
ऋद्धिमन्तमधिकर्द्धिरुत्तरः पूर्वमुत्सवमपोहदुत्सवः॥ ५॥

कामिनीसहचरस्येति। कामिनीसहचरस्य कामिनस्तस्य मृदङ्गनादिषु मृदङ्गनादवत्सु वेश्मस्वधिकर्द्धिः पूर्वस्मादधिकसम्भार उत्तर उत्सवः। ऋद्धिमन्तं सम्भारवन्तं पूर्वमुत्सवमपोहदपानुदत्। उत्तरमुत्तरमधिकं तस्योत्सवपरम्परा वृत्तेत्यर्थः॥

कामिनीयुक्त उस अग्निवर्ण के मृदङ्ग बजते हुए महलोंमें पूर्वकी अपेक्षा बड़े समृद्धियुक्त उत्सवोंने पहलेके उत्सवको हटा दिया। (उत्तरोत्तर अधिक उत्सव 'अग्निवर्ण' के महलोंमें होता रहा)॥ ५॥

इन्द्रियार्थपरिशून्यमक्षमः सोढुमेकमपि स क्षणान्तरम्।
अन्तरेव विहरन्दिवानिशं न व्यपैक्षत समुत्सुकाः प्रजाः॥ ६॥

इन्द्रियार्थपरिशून्यमिति। इन्द्रियार्थपरिशून्यं शब्दादिविषयरहितमेकमपि क्षणान्तरं क्षणभेदं सोढुमक्षमोऽसहः सोऽग्निवर्णो दिवा च निशा च दिवानिशमन्तरेव विहरन्समुत्सुका दर्शनाकाङ्क्षिणीः प्रजा न व्यपैक्षत नापेक्षितवान्॥ ६॥

विषय-भोगसे रहित एक क्षणको भी सहन करनेमें असमर्थ उस अग्निवर्ण ने रात दिन अन्तःपुरमें ही विहार करते हुए उत्कण्ठित प्रजाओंकी अपेक्षा नहीं की (उसने राजकार्योंकी ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया)॥ ६॥

गौरवाद्यदपि जातु मन्त्रिणां दर्शनं प्रकृतिकाङ्क्षितं ददौ।
तद्गवाक्षविवरावलम्बिना केवलेन चरणेन कल्पितम्॥ ७॥

गौरवादिति। जातु कदाचिन्मन्त्रिणां गौरवाद् गुरुत्वाद्धेतोः, मन्त्रिवचनानुरोधादित्यर्थः। प्रकृतिभिः प्रजाभिः काङ्क्षितं यदपि दर्शनं ददौ तदपि गवाक्षविवराद् वलम्बिना केवलेन चरणेन चरणमात्रेण कल्पितं सम्पादितम्। न तु मुखावलोकनप्रदानेनेत्यर्थः॥ ७॥

मन्त्रियोंके गौरवसे प्रजाओंके द्वारा अभिलषित जो भी दर्शन दिया, वह केवल खिड़कीसे लटकते हुए केवल पैरसे ही दिया। (मन्त्रियोंके आग्रहसे खिड़कीसे लटकते हुए पैरका दर्शन ही कभी-कभी प्रजाको होता था, उनके मुखका दर्शन प्रजाको कभी नहीं मिलता था)॥ ७॥

तं कृतप्रणतयोऽनुजीविनः कोमलात्मनखरागरूषितम्।
भेजिरे नवदिवाकरातपस्पृष्टपङ्कजतुलाऽधिरोहणम्॥ ८॥

तमिति। कोमलेन मृदुलेनात्मनखानां रागेणारुण्येन रूषितं छुरितम्। अतएव नवदिवाकरातपेन स्पृष्टं व्याप्तं यत्पङ्कजं तस्य तुला साम्यमधिरोहति प्राप्नोतीति तुलाऽधिरोहणम्। तं चरणमनुजीविनः कृतप्रणतयः कृतनमस्काराः सन्तो भेजिरे सिषेविरे॥ ८॥

कोमल अपने नखोंकी कान्तिसे युक्त (अतएव) प्रातःकालके सूर्यप्रकाशसे युक्त कमलकी समानता करनेवाले उस चरणको प्रणाम करते हुए भृत्योंने सेवन किया॥ ८॥

यौवनोन्नतविलासिनीस्तनक्षोभलोलकमलाश्च दीर्घिकाः।
गूढमोहनगृहास्तदम्बुभिः स व्यगाहत विगाढमन्मथः॥ ९॥

यौवनेति। विगाढमन्मथः प्रौढमदनः सोऽग्निवर्णो यौवनेन हेतुनोन्नतानां विलासिनीस्तनानां क्षोभेणाघातेन लोलानि चञ्चलानि कमलानि यासां ताः। तदम्बुभिस्तासां दीर्घिकाणामम्बुभिर्गूढान्यन्तरितानि मोहनगृहाणि सुरतभवनानि यासु ताश्च दीर्घिका व्यगाहत व्यलोडयत्। स्त्रीभिः सह दीर्घिकासु विजहारेत्यर्थः॥

तीव्र कामवासनावाले उस (अग्निवर्ण) ने युवावस्थासे उन्नत विलासिनी-स्तनोंके आघातसे चञ्चल कमलोंवाली और उन (बावलियों) के जलसे गूढ सुरत गृहोंवाली बावलियोंको विलोडित किया अर्थात् युवती स्त्रियोंके साथ बावलियों में जलक्रीडा की॥ ९॥

तत्र सेकहृतलोचनाञ्जनैर्धौतरागपरिपाटलाधरैः।
अङ्गनास्तमधिकं व्यलोभयन्नर्पितप्रकृतकान्तिभिर्मुखैः॥ १०॥

तत्रेति। तत्र दीर्घिकास्वङ्गना सेकेन हृतं लोचनाञ्जनं नेत्रकज्जलं येषां ते। रज्यतेऽनेनेति रागो रागद्रव्यं लाक्षादि। रागस्य परिपाटलोऽङ्गगुणः। 'गुणे शुक्लादयः पुंसि' इत्यमरः। धौतो रागपरिपाटलो येषां ते तथोक्ता अधरा येषां ते, निवृत्तसाङ्क्रमिकरागैरित्यर्थः। अत एवार्पितप्रकृतकान्तिभिः, अभिव्यञ्जितस्वाभाविकरागैरित्यर्थः। एवंभूतैर्मुखैस्तमग्निवर्णमधिकं व्यलोभयन्प्रलोभितवत्यः॥

यहाँपर अङ्गनाओंने सिन्दूरसे धुले हुए मेघके अग्रभाग रंगके फूलोंसे रक्त ओठवाले (अतएव) अकृत्रिम (रंगोंके फूलोंसे स्वाभाविक) कान्तिवाले फूलोंसे उस अग्निवर्ण को हुआया॥ १०॥

प्राणकान्तमधुगन्धकर्षिणीः पानभूमिरचनाः प्रियासखः।
अभ्यपद्यत स वासितासखः पुष्पिताः कमलिनीरिव द्विपः॥११॥

प्राणकान्तेति। प्रियासखः सोऽग्निवर्णः प्राणकान्तैः प्राणतर्पणैर्मधुगन्धैः कर्षिणीर्मनोहारिणीः। रच्यन्त इति रचनाः। पानभूमय एव रचनाः रचिता पान भूमय इत्यर्थः। वासितासखः करिणीसहचरः। 'वासिता स्त्रीकरिण्योश्च' इत्यमरः। द्विपः पुष्पिताः कमलिनीरिव अभ्यपद्यताभिगतः॥ ११॥

प्रियाओंके सहित वे 'अग्निवर्ण' नामके राजा प्राण तृप्त करनेवाले मद्य-गन्धसे आकृष्ट करनेवाली (मद्य-) पानभूमियोंको खिली हुई कमलिनियोंको हथिनीके साथ हाथीके समान गये॥

सातिरेकमदकारणं रहस्तेन दत्तमभिलेषुरङ्गनाः।
ताभिरप्युपहृतं मुखासवं सोऽपिबद्बकुलतुल्यदोहदः॥ १२॥

सेति। अङ्गना रहो रहसि सातिरेकस्य अतिशयस्य मदस्य कारणं तेनाग्नि वर्णेन दत्तं मुखासवं मद्यमभिलेषुः। बकुलेन तुल्यदोहदस्तत्सदृशाभिलाषः। 'अथ दोह दम्। इच्छा काङ्क्षा स्पृहेहा तृट्' इत्यमरः। बकुलकुसुमस्याङ्गनामुखासवाभि लाषत्वम्। सोऽपि ताभिरङ्गनाभिरुपहृतं दत्तं मुखासवमपिबत्॥ १२॥

अङ्गनाओंने एकान्तमें (जिनके द्वारा अपने हाथोंसे दिये गये हैं) अधिक मदके कारण उस अग्निवर्ण से दिये गये मद्यकी चाहना की और बकुल (मौलसिरी) वृक्षके समान दोहदवाले 'अग्निवर्ण' ने भी उन (अङ्गनाओं) से दिये गये मद्यका पान किया॥ १२॥

अङ्कमङ्कपरिवर्तनोचिते तस्य निन्यतुरशून्यतामुभे।
वल्लकी च हृदयङ्गमस्वना वल्गुवागपि च वामलोचना॥ १३॥

अङ्कमिति। अङ्कपरिवर्तनोचिते यस्याङ्गविहारार्हे उभे तस्याग्निवर्णस्याङ्कमशून्यतां पूर्णतां निन्यतुः। के उभे। हृदयङ्गमस्वना मनोहरध्वनिर्वल्लकी वीणा च। वल्गु वाङ्मधुरभाषिणी वामलोचना कामिन्यपि च। हृदयं गच्छतीति हृदयङ्गमा। खच्प्रकरणे गमेः सुप्युपसंख्यानात्खच्प्रत्ययः। अङ्गाविरोधित्वपोषिणामाभरणोप योगितामस्तोत्यर्थः॥ १३॥

गोदमें रहने (विहार करने शयन करने या रखने) के योग्य, हृदयङ्गम (मधुर) ध्वनिवाली वीणा तथा मधुरभाषिणी सुलोचना (सुन्दर नेत्रोंवाली) स्त्री—इन दोनोंने उस 'अग्निवर्ण' के पार्श्वभागको अशून्य रखा अर्थात् उस 'अग्निवर्ण' के दोनों पार्श्वमें कामिनी और तथा वीणा रहती थी॥ १३॥

स स्वयं प्रहृतपुष्करः कृती लोलमाल्यवलयो हरन्मनः ।
नर्तकीरभिनयातिलङ्घिनीः पार्श्ववर्तिषु गुरुष्वलज्जयत् ॥ १४ ॥

स इति । कृती कुशल स्वयं प्रहृतपुष्करो वादितवाद्यमुखो लोलानि माल्यानि वलयानि च यस्य स तथोक्तो मनो हरन् । नर्तकीनामिति शेषः । सोऽग्निवर्णोऽभिनयातिलङ्घिनी., अभिनयेषु स्खलन्तीरित्यर्थं । नर्तकीर्विलासिनीः । 'शिल्पिनि ष्वुन्' इति ष्वुन्प्रत्ययः । 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इति ङीष् । 'नर्तकीलासिके समे' इत्यमरः । गुरुषु नाट्याचार्येषु पार्श्ववर्तिषु समीपस्थेषु सत्स्वेवालज्जयल्लज्जामगमयत् ॥ १४ ॥

(राजा बजानेमें) निपुण, स्वय बाजा (तबला–मृदङ्ग आदि) को बजाते हुए अतएव चञ्चल (हिलती हुई) माला तथा कङ्कणवाले नर्तकियों के मनको हरण करते हुए उस 'अग्निवर्ण' ने नृत्यका उल्लङ्घन (नियम–भङ्ग) करनेवाली नर्तकियोंको गुरुओं (नृत्य-वाद्य विद्याओंके आचार्यों) के समीप रहनेपर लज्जित कर दिया ॥ १४ ॥

चारु नृत्यविगमे च तन्मुखं स्वेदभिन्नतिलकं परिश्रमात् ।
प्रेमदत्तवदनानिलः पिबन्नत्यजीवदमरालकेश्वरौ ॥ १५ ॥

चार्विति । किञ्च । चारु सुन्दरं नृत्यविगमे लास्यावसाने परिश्रमाप्रवर्तनप्रयासात्स्वेदेन भिन्नतिलक विशीर्णतिलकं तन्मुख नर्तकीमुख प्रेम्णा दत्तवदनानिलः प्रवर्तितमुखमारुतः पिबन् । अमराणामलकायाश्चेश्वराविन्द्रकुबेरावत्यजीवदतिक्रम्याजीवत् । ततोऽप्युत्कृष्टजीवित आसीदित्यर्थं । इन्द्रादेरपि दुर्लभमीदृशं सौभाग्यमिति भावः ॥ १५ ॥

नृत्यके अन्तमें परिश्रमके कारण पसीनेसे विच्छिन्न तिलकवाले उस (नर्तकी) के सुन्दर मुखको (सुखानेके लिये) प्रेमसे मुखकी हवा देकर (मुखसे फूक लगाकर) पान (चुम्बन) करते हुए उस 'अग्निवर्ण' ने इन्द्र तथा कुवेरके जीवनको भी अतिक्रमण कर दिया । (उक्त आनन्द इन्द्र तथा कुवेरके जीवन सुखसे भी उत्तम था) ॥ १५ ॥

तस्य सावरणदृष्टसन्धयः काम्यवस्तुषु नवेषु सङ्गिनः ।
वल्लभाभिरुपसृत्य चक्रिरे सामिभुक्तविषयाः समागमाः ॥ १६ ॥

तस्येति । उपसृत्यान्यत्र गत्वा नवेषु नूतनेषु काम्यवस्तुषु शब्दादिष्विन्द्रियार्थेषु सङ्गिन आसक्तिमत सतस्तस्य सावरणा प्रच्छन्ना दृष्टा' प्रकाशाश्च सन्धयः साधनानि येषु ते समागमा सङ्गमा वल्लभाभि प्रेयसीभि. सामिभुक्तविषया अर्धोपभुक्तेन्द्रियार्थाश्चक्रिरे । यथेष्ट भुक्तश्चेत्तदाय नि स्पृह सन्नस्मत्समाप नायास्यतीति भाव । अत्र गोनर्दीय —'सन्धिर्द्विविध', सावरण प्रकाशश्च । सावरणो भिक्षुक्यादिना प्रकाश स्वयमुपेत्य केनापि' इति । 'इन स्वयमुपसृत्य विलोपार्थं तत्र स्थितोऽजाप स्वय सन्धेय ' इति वात्स्यायनः । अन्यत्र गत्र कथञ्चित्सन्धाय पुनरुपगम्यार्धोपभोगेनानिवृत्ततृष्ण चक्रुरित्यर्थं ॥ १६ ॥

समीप आकर नये-नये भोग्य वस्तुओंमें आसक्त उस 'अग्निवर्ण' के प्रमाद तथा रतिके साधनोंवाले समागमोंको स्त्रियोंने आधे सोये ही विफल बना कर दिया अर्थात् जिन स्त्रियोंके पास आनेका वचन देकर गये हुए 'अग्निवर्ण' से किसी प्रकार मिलकर स्त्रियोंने फिर आनेके लिये याचना करके विरहजनित अशान्ति कर दिया ॥ १६ ॥

अङ्गुलीकिसलयाग्रतर्जनं भ्रूविभङ्गकुटिलं च वीक्षितम् ।
मेखलाभिरसकृच्च बन्धनं वञ्चयन्प्रणयिनीरवाप सः ॥ १७ ॥

अङ्गुलीकिसलयेति । सोऽग्निवर्णः प्रणयिनीः प्रेयसीर्वञ्चयन् अङ्गुल्य एव किसलयानि तेषामग्राणि तैस्तर्जनं भर्त्सनं भ्रूविभङ्गेन भ्रूभेदेन कुटिलं वक्रं वीक्षितं वीक्षणं मेखलाभिरसकृद्बन्धनं चावाप । अपराधिनो दण्ड्या इति भावः ॥ १७ ॥

अन्यत्र विषयभोगार्थ जाकर स्त्रियोंको वञ्चित करनेवाले उस 'अग्निवर्ण' को स्त्रियोंने अङ्गुलिरूप पल्लवाग्रभागसे तर्जित किया, भ्रू मटकाकर तिरछी देखा तथा मेखलाओं (करधनियों) से अनेक बार बाँधा ॥ १७ ॥

तेन दूतिविदितं निषेदुषा पृष्ठतः सुरतवाररात्रिषु ।
शुश्रुवे प्रियजनस्य कातरं विप्रलम्भपरिशङ्किनो वचः ॥ १८ ॥

तेनेति । सुरतस्य वारो वासरः तस्य रात्रिषु दूतीनां विदितं यथा तथा पृष्ठतः प्रियजनस्य पश्चाद्भागे निषेदुषा तेनाग्निवर्णेन विप्रलम्भपरिशङ्किनो विरहशङ्किनः । प्रियश्चासौ जनश्च प्रियजनः, तस्य कातरं वचः 'प्रियागमनेन मां पाहीत्येवमादि' दीनवचनं शुश्रुवे ॥ १८ ॥

सुरत-दिनकी रात्रियोंमें दूतीके मालूम रहनेपर ही प्रियाके पीछे (छिपकर) बैठे हुए उस 'अग्निवर्ण' ने वञ्चनाकी शङ्का करनेवाली प्रियाका कातर वचन ('हे दूति! प्रियतम 'अग्निवर्ण' के बिना आये मैं जीवित नहीं रहूँगी अतः उन्हें शीघ्र बुला लाओ' इत्यादि दीनवचन) सुना ॥ १८ ॥

लौल्यमेत्य गृहिणीपरिग्रहान्नर्तकीष्वसुलभासु तद्वपुः ।
वर्तते स्म स कथंचिदालिखन्नङ्गुलीक्षरणसन्नवर्तिकः ॥ १९ ॥

लौल्यमिति । गृहिणीपरिग्रहाद्गृहिणीभिः समागमाद्धेतोर्नर्तकीषु वेश्यास्वसुलभासु दुर्लभासु सतीषु लौल्यमौत्सुक्यमेत्य प्राप्य । अङ्गुल्योः क्षरणेन स्वेदेन सन्नवर्तिको विगलितवर्तिकः सोऽग्निवर्णस्तासां नर्तकीनां वपुस्तद्वपुरालिखन् कथंचिद्वर्तते स्म ॥ १९ ॥

रानियोंके समागमसे (डरकर) नर्तकियों तथा दुर्लभ वरस्त्रियोंमें लोलुप होकर (अत्यन्त उत्कण्ठित होकर) अङ्गुलियोंके स्वेदयुक्त हो जानेसे गिरी हुई तूलिका (चित्र बनानेवाली कूची) वाले वह 'अग्निवर्ण' ने उन नर्तकियों (या रानियों) के शरीर (स्तन, कपोल आदि) पर चित्र (मकरादिकी चित्रकारी करते) हुए किसी प्रकार (बड़े कष्टसे) समय बिताया ॥ १९ ॥

प्रेमगर्वितविपक्षमत्सरादायताच्च मदनान्महीक्षितम् ।
निन्युरुत्सवविधिच्छलेन तं देव्य उज्झितरुषः कृतार्थताम् ॥२०॥

प्रेमगर्वितेति । प्रेम्णा स्वविषयेण प्रियस्यानुरागेण हेतुना गर्विते विपक्षे सपत्नजने मत्सराद्वैरादायतात्प्रवृद्धान्मदनाच्च हेतोर्देव्यो राज्य उज्झितरुषस्त्यक्तकोपाः सत्यस्त महीक्षितमुत्सवविधिच्छलेन महोत्सवकर्मव्याजेन । कृतोऽर्थः प्रयोजन येन स कृतार्थ, तस्य भावस्तत्ता निन्यु । मदनमहोत्सवव्याजान्नीतेन तेन स्वमनोरथं कारयामासुरित्यर्थः ॥ २० ॥

प्रेमसे गर्वित सपत्नी लोगोंमें असूयासे बढे हुए काम वासना से प्रणय कोपको छोडी हुई रानियोंने उत्सव कार्यके बहानेसे उस राजा को कृतार्थ किया । (उत्सव करनेके बहानेसे उनके साथ सम्भोगादि कर अपने मनोरथको पूरा किया) ॥ २० ॥

प्रातरेत्य परिभोगशोभिना दर्शनेन कृतखण्डनव्यथाः ।
प्राञ्जलिः प्रणयिनीः प्रसादयन्सोऽदुनोत्प्रणयमन्थरः पुनः ॥ २१ ॥

प्रातरिति । सोऽग्निवर्णं प्रातरेत्यागत्य परिभोगशोभिना दर्शनेन हेतुना । दृशेर्ण्यन्ताल्ल्युट् । कृता खण्डनव्यथा यासा तास्तथोक्ता, खण्डिता इत्यर्थः । तदुक्तम्—'ज्ञातेऽन्यासङ्गविकृते खण्डितेर्ष्याकषायिता' इति । प्रणयिनी प्राञ्जलि प्रसादयस्तथाऽपि प्रणयमन्थरः प्रणयेन नर्तकीगतेन मन्थरोऽलस, तत्र शिथिलप्रयत्न सन्नित्यर्थः । पुनरदुनोत्पर्यतापयत् ॥ २१ ॥

प्रात काल (दूसरी स्त्रियोंके) सम्भोगसे शोभित दर्शनसे अपने प्रेमके खण्डित होनेसे दु खित (खण्डिता) प्रियाओंको हाथ जोडकर प्रसन्न करते हुए उस अग्निवर्णने प्रेममें शिथिल होकर उन्हें फिर सन्तप्त किया । (दूसरी स्त्रियोंके साथ सम्भोग करनेके चिह्नसे युक्त आये हुए पतिको देखकर ईर्ष्यासे युक्त स्त्री 'खण्डिता' कहलाती है) ॥ २१ ॥

स्वप्नकीर्तितविपक्षमङ्गनाः प्रत्यभैत्सुरवदन्त्य एव तम् ।
प्रच्छदान्तगलिताश्रुबिन्दुभिः क्रोधभिन्नवलयैर्विवर्तनैः ॥ २२ ॥

स्वप्नकीर्तितेति । स्वप्ने कीर्तितो विपक्ष सपत्नजनो येन तम् । तमग्निवर्णम् । अवदन्त्य एव । त्वया गोत्रस्खलनं कृतमित्यनुपालम्भमाना एव । अङ्गना स्त्रिय. प्रच्छदस्यास्तरणपटस्यान्ते मध्ये गलिता अश्रुबिन्दवो येषु तै क्रोधेन भिन्नानि भग्नानि वलयानि येषु तैर्विवर्तनै पराग्विलम्बनै प्रत्यभैत्सु प्रतिचक्रु, तिरश्चक्रुरित्यर्थः ॥

स्वप्नमें सपत्नीका नाम लिये हुए उस 'अग्निवर्ण'से कुछ नहीं बोलती हुई स्त्रियोंने ऊपर बिछाये गये चादरोंपर गिरती हुई अश्रुबिन्दु हैं जिनमें ऐसे तथा क्रोधसे तोड दिये गये हैं कङ्कण जिनमें, ऐसे विमुख होकर सोनेसे (उस अग्निवर्णको) तिरस्कृत किया ॥२२॥

क्लृप्तपुष्पशयनांल्लतागृहानेत्य दूतिकृतमार्गदर्शनः ।
अन्वभूत्परिजनाङ्गनारतं सोऽवरोधभयवेपथूत्तरम् ॥ २३ ॥

समीप आकर नये-नये भोग्य वस्तुओंमें आसक्त उस 'अग्निवर्ण' के प्रत्यक्ष तथा परोक्ष लक्षणोंवाले समागमोंको प्रियाओंने आपसमें नये विश्वासघात कर दिया अर्थात् मिल भोगार्थ आगत नये हुए 'अग्निवर्ण' से किसी प्रकार मिलकर प्रियाओंने फिर जानेके लिये मार्ग उन्हें विघ्नोंसे अवरुद्ध कर दिया ॥ १६ ॥

अङ्गुलीकिसलयाग्रतर्जनं भ्रूविभङ्गकुटिलं च वीक्षितम् ।
मेखलाभिरसकृच्च बन्धनं वञ्चयन्प्रणयिनीरवाप सः ॥ १७ ॥

अङ्गुलीकिसलयेति । सोऽग्निवर्णः प्रणयिनीः प्रेयसीर्वञ्चयन् अङ्गुलय एव किसलयानि तेषामग्राणि तैस्तर्जनं भर्त्सनं भ्रूविभङ्गेन भ्रूभेदेन कुटिलं वक्रं वीक्षितं वीक्षणं चासकृन्मेखलाभिर्बन्धनं चावाप । अपराधिनो दण्ड्या इति भावः ॥ १७ ॥

अन्यत्र विषयभोगार्थ जाकर प्रियाओंको वञ्चित करनेवाले उस 'अग्निवर्ण' को प्रियाओंने अङ्गुलिरूप नवपल्लवाग्रभागसे तर्जित किया, भ्रू मटकाकर तिरछी देखा तथा मेखलाओं (करधनियों) से अनेक बार बांधा ॥ १७ ॥

तेन दूतिविदितं निषेदुषा पृष्ठतः सुरतवाररात्रिषु ।
शुश्रुवे प्रियजनस्य कातरं विप्रलम्भपरिशङ्किनो वचः ॥ १८ ॥

तेनेति । सुरतस्य वारो वासरः तस्य रात्रिषु दूतीभिर्विदितं यथा तथा पृष्ठतः प्रियजनस्य पश्चाद्भागे निषेदुषा तेनाग्निवर्णेन विप्रलम्भपरिशङ्किनो विरहशङ्किनः। प्रियश्चासौ जनश्च प्रियजनः, तस्य कातरं वचः 'प्रियागमनेन मां पाहि' इत्येवमादि दीनवचनं शुश्रुवे ॥ १८ ॥

सुरत-दिवसकी रात्रियोंमें दूतीके मालूम रहनेपर ही प्रियाके पीछे (छिपकर) बैठे हुए उस 'अग्निवर्ण' ने वञ्चनाकी शङ्का करनेवाली प्रियाका कातर वचन ('हे दूति! प्रियतम 'अग्निवर्ण' को बिना आये मैं जीवित नहीं रहूँगी अतः तू उन्हें शीघ्र बुला लाओ' इत्यादि दीनवचन) सुना ॥ १८ ॥

लौल्यमेत्य गृहिणीपरिग्रहान्नर्तकीष्वसुलभासु तद्वपुः ।
वर्तते स्म स कथंचिदालिखन्नङ्गुलीक्षरणसन्नवर्तिकः ॥ १९ ॥

लौल्यमिति । गृहिणीपरिग्रहाद्धेतोः समागमान्नर्तकीषु वेश्यास्वसुलभासु दुर्लभासु सतीषु लौल्यमौत्सुक्यमेत्य प्राप्य । अङ्गुल्योः क्षरणेन स्वेदेन सन्नवर्तिको विगलितवर्णिकः सोऽग्निवर्णस्तासां नर्तकीनां वपुस्तद्वपुरालिखन् [illegible] स्मावर्तत ॥ १९ ॥

रानियोंके समागमसे (ऊबकर) नर्तकियों तथा दुर्लभ नर्तकियोंमें लोलता प्राप्तकर (अत्यधिक लिप्त होकर) अङ्गुलियोंके स्वेदयुक्त हो जानेसे गिरी हुई कलम (चित्र बनानेवाली कूची) वाले उस 'अग्निवर्ण' ने उन नर्तकियों (या रानियों) के शरीर (स्तन, कपोल आदि) पर चित्रित (अङ्गरागसे चित्रकारी करते) हुए किसी प्रकार (बड़े कष्टके साथ) समय बिताया ॥ १९ ॥

प्रेमगर्वितविपक्षमत्सरादायताच्च मदनान्महीक्षितम् ।
निन्युरुत्सवविधिच्छलेन तं देव्य उज्झितरुषः कृतार्थताम् ॥२०॥

प्रेमगर्वितेति । प्रेम्णा स्वविषयेण प्रियस्यानुरागेण हेतुना गर्विते विपक्षे सपत्नजने मत्सराद्वैरादायताद्प्रवृद्धान्मदनाच्च हेतोर्देव्यो राज्य उज्झितरुपस्त्यक्तकोपाः सत्यस्त महीक्षितमुत्सवविधिच्छलेन महोत्सवकर्मव्याजेन । कृतोऽर्थः प्रयोजन येन स कृतार्थ, तस्य भावस्तत्ता निन्यु । मदनमहोत्सवव्याजान्नीतेन तेन स्वमनोरथ कारयामासुरित्यर्थः ॥ २० ॥

प्रेमसे गर्वित सपत्नी लोगोंमें असूयासे बढे हुए काम वासना से प्रणय कोपको छोडी हुई रानियोंने उत्सव कार्यके बहानेसे उस राजा को कृतार्थ किया । (उत्सव करनेके बहानेसे उनके साथ सम्भोगादि कर अपने मनोरथको पूरा किया) ॥ २० ॥

प्रातरेत्य परिभोगशोभिना दर्शनेन कृतखण्डनव्यथाः ।
प्राञ्जलिः प्रणयिनीः प्रसादयन्सोऽदुनोत्प्रणयमन्थरः पुनः ॥ २१ ॥

प्रातरिति । सोऽग्निवर्ण प्रातरेत्यागत्य परिभोगशोभिना दर्शनेन हेतुना । ईर्ष्यार्थन्ताल्ल्युट् । कृता खण्डनव्यथा यासा तास्तथोक्ता, खण्डिता इत्यर्थः । तदुक्तम्—'ज्ञातेऽन्यासङ्गविकृते खण्डितेर्ष्याकषायिता' इति । प्रणयिनी प्राञ्जलि प्रसादयस्तथाऽपि प्रणयमन्थर प्रणयेन नर्तकीगतेन मन्थरोऽलस, तत्र शिथिलप्रयत्न सन्नित्यर्थः । पुनरदुनोत्पर्यतापयत् ॥ २१ ॥

प्रात काल (दूसरी स्त्रियोंके) सम्भोगसे शोभित दर्शनसे अपने प्रेमके खण्डित होनेसे दु खित (खण्डिता) प्रियाओंको हाथ जोडकर प्रसन्न करते हुए उस अग्निवर्णने प्रेममें शिथिल होकर उन्हें फिर सन्तप्त किया । (दूसरी स्त्रियोंके साथ सम्भोग करनेके चिह्नसे युक्त आये हुए पतिको देखकर ईर्ष्यासे युक्त स्त्री 'खण्डिता' कहलाती है) ॥ २१ ॥

स्वप्नकीर्तितविपक्षमङ्गनाः प्रत्यभैत्सुरवदन्त्य एव तम् ।
प्रच्छदान्तगलिताश्रुबिन्दुभिः क्रोधभिन्नवलयैर्विवर्तनैः ॥ २२ ॥

स्वप्नकीर्तितेति । स्वप्ने कीर्तितो विपक्ष सपत्नजनो येन तम् । तमग्निवर्णम् । अवदन्त्य एव । त्वया गोत्रस्खलन कृतमित्यनुपालम्भमाना एव । अङ्गना स्त्रिय प्रच्छदस्यास्तरणपटस्यान्ते मध्ये गलिता अश्रुबिन्दवो येषु तै क्रोधेन भिन्नानि भग्नानि वलयानि येषु तैर्विवर्तनै पराग्विलम्बनै प्रत्यभैत्सुः प्रतिचक्रु, तिरश्चक्रुरित्यर्थः ॥

स्वप्नमें सपत्नीका नाम लिये हुए उस 'अग्निवर्ण'से कुछ नहीं बोलती हुई स्त्रियोंने ऊपर बिछाये गये चादरोंपर गिरती हुई अश्रुबिन्दु हैं जिनमें ऐसे तथा क्रोधसे तोड दिये गये हैं कङ्कण जिनमें, ऐसे विमुख होकर सोनेसे (उस अग्निवर्णको) तिरस्कृत किया ॥२२॥

क्लृप्तपुष्पशयनांल्लतागृहानेत्य दूतिकृतमार्गदर्शनः ।
अन्वभूत्परिजनाङ्गनारतं सोऽवरोधभयवेपथूत्तरम् ॥ २३ ॥

मधुपुष्पशयनानीति । सोऽग्निवर्णो दूतिभिः कृतमार्गदर्शनः सन् । मधुपुष्प शयनानि उपवनगृहाणि ... पुत्र्यमात्रसमेन यो वेपथुः कम्पस्तदुत्तरं तत्प्रधानं यथा तथा परिजनमुपचारं दासीरतमन्वभूत् । परिजनमासाद्यत्वा येति विग्रहः । अत्र दीर्घान्तस्यापि दूतीशब्दस्य ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम् इति ह्रस्वत्वं कृतम् । 'अपि माषं मषं कुर्याच्छन्दोभङ्गं त्यजेद्गिराम्' इत्युपदेशात् ॥ २३ ॥

दूतियोंसे बतलाये गये मार्गवाले उस 'अग्निवर्ण'ने वसन्ती सभी पुष्पोंसे सम्पादित रचना शय्याओं (कुञ्जों) में जाकर अन्तःपुरके भयसे अधिक कम्पन युक्त होते हुए दासियोंके साथ सम्भोग किया ॥ २३ ॥

नाम वल्लभजनस्य ते मया प्राप्य भाग्यमपि तस्य काङ्क्ष्यते ।

लोलुपं ननु मनो ममेति तं गोत्रविस्खलितमूचुरङ्गनाः ॥२४॥

नामेति । मया ते वल्लभजनस्य प्रियजनस्य नाम प्राप्य तथाप्यप्राप्तार्थं कम्पया तस्य वल्लभजनस्य भाग्यम् । तत्परिहासकारणमिति शेषः । तदपि काङ्क्ष्यते । ननु यत मम मनो लोलुपं गृध्नु । इत्यनेन प्रकारेण अङ्गनाः योषित गोत्रे नाम्नि विस्खलितं स्खलितवन्तं तमग्निवर्णमूचुः । 'गोत्रं नाम्नि कुलेऽपि च' इति यादवः । तन्नामलाभे सति तद्भाग्यमपि काङ्क्षति मे मनः । अहो लुब्धेति सोल्लुण्ठमुपालम्भमन्वोत्पर्थः इत्यर्थः ।

मैं तुम्हारी प्रियाके नामको सुनकर अवश्य ही उसके भाग्यको भी चाहती हूँ (क्योंकि) मेरा मन लोभी है इस प्रकार देवियोंने गोत्रस्खलित (स्वप्न या बातचीतमें दूसरी प्रियाका नाम लेनेवाले) उस 'अग्निवर्ण' से कहा । (इस प्रकार उन्हें व्यङ्ग्यसे उपालम्भ किया) ॥ २४ ॥

चूर्णबभ्रु लुलितस्रगाकुलं छिन्नमेखलमलक्तकाङ्कितम् ।

उत्थितस्य शयनं विलासिनस्तस्य विभ्रमरतान्यपावृणोत् ॥ २५ ॥

चूर्णबभ्रुमिति । चूर्णबभ्रु चूर्णैर्नानावर्णैरपोमुखावरिस्थिताया स्त्रियाः केशादिपुरस्थितैः कुङ्कुमादिभिर्बभ्रु पिङ्गलम् । 'बभ्रु स्यात्पिङ्गले त्रिषु' इत्यमरः । लुलितस्रगाकुलं करिपतस्रजस्रजे स्त्रिया भूमिगतमस्तकया पतिताभिर्लुलिताभिः स्रग्भिराकुलम् । छिन्न मेखलं हरिविक्रमकरणे स्त्रिया उपरिस्थितेकचरणत्वाच्छिन्नमेखलम् । अलक्तकाङ्कितं धेनुकबन्धे भूतलनिहितकान्तावरणतलादालाक्षारागकल्पितं शयनं तल्पम् । उत्थितस्य । शयनादिति भावः । विलासिनस्तस्याग्निवर्णस्य विभ्रमरतानि कौतुकरतानि सुरत बन्धविशेषानित्यर्थः । अपावृणोत् प्रकटीचकार । ध्यानमताधीनां रतिरहस्ये—

व्यावर्त्तनं रतमिदं स्त्रिया यदि स्यादधोमुखचतुष्पदाकृतिः । तत्परि समवसितस्य वल्लभा स्यात् कुचादिपतत्परिचितरिवारिति ॥ भूगतस्तनभुजाननकामुकाद्गतरितत्रभपोमुखी स्त्रियम् । ब्रध्नति स्वकरात्कृष्टमेहने वल्लभे करिपदं तदुच्यते ॥ योषिदेकचरणे समुन्निते जायते हि हरिविक्रमाह्वयः । स्यात्तदुत्तपदयुग्मका स्त्रिये यदि योषिदेति करिस्कन्धकमा ॥ अमतो यदि कटेरधोमुखी धेनुकं तत्तदुच्यते स्त्रिये ॥ इति ॥ २५ ॥

चूर्ण (गिरे हुए कुङ्कुमादि-चूर्ण) से पिङ्गल वर्ण, पड़ी हुई मालाओंसे व्याप्त, टूटी हुई करधनीवाली और महावरसे चिह्नित शय्या (शय्यासे) उठे हुए विलासी उस 'अग्निवर्ण' के विलासयुक्त रमणको स्पष्ट करती थी ॥ २५ ॥

स स्वयं चरणरागमादधे योषितां न च तथा समाहितः ।
लोभ्यमाननयनः श्लथांशुकैर्मेखलागुणपदैर्नितम्बिभिः ॥ २६ ॥

स इति । सोऽग्निवर्णः स्वयमेव योषितां चरणयो रागं लाक्षारसमादधेऽर्पयामास । किञ्च । श्लथांशुकैः प्रियाङ्गस्पर्शादिति भावः । नितम्बिभिर्नितम्बवद्भिर्मेखलागुणपदैर्जघनैः । 'पश्चान्नितम्बः स्त्रीकट्याः क्लीबे तु जघनं पुरः' इत्यमरः । लोभ्यमाननयन आकृष्यमाणदृष्टिः सन् । तथा समाहितोऽवहितो नादधे यथा सम्यग्रागरचना स्यादिति भावः ॥ २६ ॥

इस 'अग्निवर्ण'ने स्त्रियोंके चरणोंमें महावर स्वयं लगाया, किन्तु शिथिल वस्त्रवाले एवं नितम्बवाले जघनोंसे लुब्धनेत्रवाले (वस्त्र हटनेसे नितम्बयुक्त जङ्घाओंके देखनेमें आसक्त) वे वैसा (पाद-रञ्जनके योग्य) सावधान नहीं रह सके अर्थात् स्त्रियोंके चरणोंको स्वयं रंगते हुए वे 'अग्निवर्ण' उनके वस्त्रहीन जघनोंको देखनेमें आसक्त होकर उत्तम प्रकारसे उनका चरण नहीं रंग सके ॥ २६ ॥

चुम्बने विपरिवर्तिताधरं हस्तरोधि रशनाविघट्टने ।
विघ्नितेच्छमपि तस्य सर्वतो मन्मथेन्धनमभूद्वधूरतम् ॥ २७ ॥

चुम्बन इति । चुम्बने प्रवृत्ते सति विपरिवर्तिताधरं परिहृतोष्ठम् । रशनाविघट्टने ग्रन्थिविस्रंसने प्रसक्ते सति हस्तं रुणद्धि वारयतीति हस्तरोधि । इत्थं सर्वतः सर्वत्र विघ्नितेच्छं प्रतिहतमनोरथमपि वधूनां रतं सुरतं तस्याग्निवर्णस्य मन्मथेन्धनं कामोद्दीपनमभूत् ॥ २७ ॥

प्रियाओंने चुम्बनमें मुख फेर लिया और करधनी खोलते समय हाथसे रोक दिया, इस तरह सब प्रकारसे रुकी हुई इच्छावाले भी वधूके रमणने उस 'अग्निवर्ण'के कामाग्निको बढ़ाया ॥ २७ ॥

दर्पणेषु परिभोगदर्शिनीर्नर्मपूर्वमनुपृष्ठसंस्थितः ।
छायया स्मितमनोज्ञया वधूर्ह्रीनिमीलितमुखीश्चकार सः ॥ २८ ॥

दर्पणेष्विति । सोऽग्निवर्णो दर्पणेषु परिभोगदर्शिनीः सम्भोगचिह्नानि पश्यन्तीर्वधूर्नर्मपूर्वं परिहासपूर्वमनुपृष्ठं तासां पृष्ठभागे संस्थितः सन् । स्मितेन मनोज्ञया छायया दर्पणगतेन स्वप्रतिबिम्बेन ह्रीनिमीलितमुखीर्लज्जाऽवनतमुखीश्चकार । समागतं दृष्ट्वा लज्जिता इत्यर्थः ॥ २८ ॥

दर्पणोंमें सम्भोगके चिह्नों (दन्तक्षत, नखक्षत आदि) को देखती हुई स्त्रियोंके

परिहासपूर्वक पीछे खड़े हुए उस 'अग्निवर्ण' ने मुस्कराते मनोहर (दर्पणोंमें पड़ी हुई अपनी) परछाईं से उन स्त्रियोंको लजाते लजवुती कर दिया अर्थात् दर्पणमें प्रतिबिम्बित मुखके पीछे खड़ा होकर मुस्कुराते हुए 'अग्निवर्ण'को जानकर उन स्त्रियोंने लजाते मुखको नीचा कर लिया ॥ २८ ॥

कण्ठसक्तमृदुबाहुबन्धनं न्यस्तपादतलमग्रपादयोः ।

प्रार्थयन्त शयनोत्थितं प्रियास्तं निशात्ययविसर्गचुम्बनम् ॥२९॥

कण्ठसक्तेति । प्रियाः शयनादुत्थितं तमग्निवर्णं कण्ठसक्तं कण्ठार्पितं मृदुबाहुबन्धनं यस्मिंस्तत् । अग्रपादयोः स्वकीययोर्न्यस्ते पादतले यस्मिंस्तत् । निशात्यये विसर्गो विसृज्य गमनं तत्र यच्चुम्बनं तत्प्रार्थयन्त । 'दुहयाच्' इत्यादिना द्विकर्मकत्वम् । अत्र गोनर्दीयः—'रतावसाने यदि चुम्बनादि प्रयुज्य यायान्मदयोऽस्य जायाः' इति ॥ २९ ॥

प्रियाओंने शय्यासे उठे हुए उस अग्निवर्ण से कण्ठमें कोमल बाहुसे जोड़कर (अपने) उनके पैरोंमें रखे अग्निवर्णके चरणतलको रखकर प्रातःकाल में शय्या छोड़कर जाते समय चुम्बनकी प्रार्थना की ॥ २९ ॥

प्रेक्ष्य दर्पणतलस्थमात्मनो राजवेषमतिशक्रशोभिनम् ।

पिप्रिये न स तथा यथा युवा व्यक्तलक्ष्म परिभोगमण्डनम् ॥३०॥

प्रेक्ष्येति । युवा सोऽग्निवर्णोऽतिशक्रं यथा तथा शोभमानमतिशक्रशोभिनं दर्पणतलस्थं दर्पणसङ्क्रान्तमात्मनो राजवेषं प्रेक्ष्य तथा न पिप्रिये न तुतोष यथा व्यक्तलक्ष्म प्रकटचिह्नं परिभोगमण्डनं प्रेक्ष्य पिप्रिये ॥ ३० ॥

युवक वे अग्निवर्ण दर्पणमें प्रतिबिम्बित इन्द्रकी शोभाको तिरस्कृत करनेवाले अपने राजवेषको देखकर वैसा प्रसन्न नहीं हुए, जैसा स्पष्ट चिह्नोंवाले सम्भोगमें सम्भोग शृङ्गारको देखकर प्रसन्न हुए ॥ ३० ॥

मित्रकृत्यमपदिश्य पार्श्वतः प्रस्थितं तमनवस्थितं प्रियाः ।

विद्म हे शठ ! पलायनच्छलान्यञ्जसेति रुरुधुः कचग्रहैः ॥ ३१ ॥

मित्रकृत्यमिति । मित्रकृत्यं सुहृत्कार्यमपदिश्य व्याजीकृत्य पार्श्वतः प्रस्थितम् न्यतो गन्तुमुद्युक्तमनवस्थितमवस्थानशून्यं तमग्निवर्णं प्रियाः, हे शठ हे गूढविप्रियकारिन् 'गूढविप्रियकृच्छठः' इत्यमरः । तव पलायनस्य च्छलान्यञ्जसा तत्त्वतः । तत्त्वे त्वद्धाऽञ्जसा द्वयम् इत्यमरः । विद्म जानीमः । 'विदो लटो वा' इति वैकल्पिको मादेशः । इति । पलायनेति शेषः । कचग्रहैः केशाकर्षणै रुरुधुः । अत्र गोनर्दीयः—'कान्तं गच्छन्तमन्यत्र मित्रकार्ये तथापदि । प्रियोक्तेषु प्रियतमा न्यस्तात्मा वारयेत्तदा ॥' इति । विरहमनुभवितुमसमर्था वारयामासुः—'मित्रकृत्यं व्यपदिश्यान्यत्र गच्छसीति' इति ॥ ३१ ॥

मित्र-कार्यका बहाना कर पाससे जाते हुए ठहरने में असक्त (विरक्त) उस 'अग्निवर्ण' को प्रियाओंने 'हे कपटी (गुप्त सम्भोगके द्वारा हमारा अप्रिय करनेवाले) कपटसे तुम्हारे भागनेको हमलोग अच्छी तरह जानती हैं' ऐसा (कहकर उनके) केशोंको पकड़कर घेर लिया ॥ ३१ ॥

तस्य निर्दयरतिश्रमालसा कण्ठसूत्रमपदिश्य योषितः ।
अध्यशेरत बृहद्भुजान्तरं पीवरस्तनविलुप्तचन्दनम् ॥ ३२ ॥

तस्येति । निर्दयरतिश्रमेणालसा निश्चेष्टा योषितः कण्ठसूत्रमालिङ्गनविशेषमपदिश्य व्याजीकृत्य पीवरस्तनाभ्यां विलुप्तचन्दनं प्रमृष्टाङ्गरागं तस्याग्निवर्णस्य बृहद्भुजान्तरमध्यशेरत वक्षःस्थले शेरते स्म । कण्ठसूत्रलक्षणं तु—'यत्कुर्वते वक्षसि वल्लभस्य स्तनाभिघातं निविडोपगूहात् । परिश्रमार्थं शनकैर्विदग्धास्तत्कण्ठसूत्रं प्रवदन्ति सन्तः ॥' इदमेव रतिरहस्ये स्तनालिङ्गनमित्युक्तम् । तथा च—'उरसि कमितुरुच्चैरादिशन्ती वराङ्गी स्तनयुगमुपधत्ते यत्स्तनालिङ्गनं तत्' इति ॥ ३२ ॥

निर्दय (अत्यधिक) रमणके परिश्रमसे आलसयुक्त स्त्रियाँ 'कण्ठसूत्र' आलिङ्गनका बहानाकर बड़े-बड़े स्तनोंसे पोंछे गये चन्दनवाले उनकी विशाल छातीपर सो गयीं ॥३२॥

सङ्गमाय निशि गूढचारिणं चारदूतिकथितं पुरोगताः ।
वञ्चयिष्यसि कुतस्तमोवृतः कामुकेति चकृषुस्तमङ्गनाः ॥३३॥

सङ्गमायेति । सङ्गमाय सुरतार्थं निशि गूढमज्ञातं चरतीष्टगृहं प्रति गच्छतीति गूढचारी । तं चारदूतिकथितम् । चरन्तीति चारा गूढचारिण्यः । 'ज्वलितिकसन्तेभ्यो णः' इति णप्रत्ययः । चाराश्च ता दूत्यश्च चारदूत्यः ताभिः कथितं निवेदितं तमग्निवर्णमङ्गनाः पुरोऽग्रेगताः । अवरुद्धमार्गाः, सत्य इत्यर्थः । हे कामुक ! तमसा वृतो गूढः सन् कुतो वञ्चयिष्यसीति उपालभ्येति शेषः । चकृषुः, स्ववासं निन्युरित्यर्थः ॥ ३३ ॥

सम्भोगके लिए रातमें छिपकर जाते हुए गुप्त घूमनेवाले दूतियोंके बतलाये गये उस 'अग्निवर्ण'को आगे पहुँची हुई अङ्गनाएँ 'हे कामुक ! अन्धकारमें छिपकर कैसे (हमलोगोंको) ठगोगे' ऐसा (कहकर अपने शयनगृहमें) खींच ले गयीं ॥ ३३ ॥

योषितामुडुपतेरिवार्चिषां स्पर्शनिर्वृतिमसाववाप्नुवन् ।
आरुरोह कुमुदाकरोपमां रात्रिजागरपरो दिवाशयः ॥ ३४ ॥

योषितामिति । उडुपतेरिन्दोरर्चिषां भासामिव । 'ज्वाला भासो न पुंस्यर्चिः' इत्यमरः । योषितां स्पर्शनिर्वृतिं स्पर्शसुखमवाप्नुवन् । किञ्च, रात्रिषु जागरपरः दिवा दिवसेषु शेते स्वपितीति दिवाशयः । 'अधिकरणे शेतेः' इत्यच्प्रत्ययः । असावग्निवर्णः कुमुदाकारस्योपमां साम्यमारुरोह प्राप ॥ ३४ ॥

कमलके चिह्नोंके समान, स्त्रियोंके स्पर्श—सुखको प्राप्त करते हुए तथा रात्रिमें जगनेसे दिनमें सोते हुए उस 'अग्निवर्ण' ने कुमुदाकरकी समताको प्राप्त किया ॥ ३४ ॥

वेणुना दशनपीडिताधरा वीणया नखपदाङ्कितोरवः ।
शिल्पकार्य उभयेन वेजितास्तं विजिह्मनयना व्यलोभयन् ॥ ३५ ॥

वेणुनेति । दशनैः पीडिताधरा दष्टोष्ठ्यः । नखपदैर्नखक्षतैरङ्कितोरवश्चिह्नितोरवः, प्रमिताधरोरुस्थानस्पर्शा इत्यर्थः । तथापि वेणुना वीणया वेणुमयेन । अधरोरुपीडाकारिणेत्यर्थः । वेजिताः पीडिताः स्त्रियः वेणुवीणावादनादिकं कुर्वन्तीति शिल्पकार्यो गायिकाः । 'कर्मण्यण्' इत्यण् 'टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः' इत्यनेन ङीप् । तं विजिह्मनयनाः कुटिलकटाक्षाः सत्यः । तं वेजितं कामयसि वृथा मा पीडयतीति साभिप्रायं पश्यन्त्य इत्यर्थः । व्यलोभयन् । तथापि कामकेलिक्रममपि तस्याकर्षणमेवाभूदिति भावः ॥ ३५ ॥

दन्तक्षतसे पीड़ित अधरोंवाली तथा नखक्षतसे चिह्नित जङ्घाओं (जाँघों) वाली (तथापि क्रमशः ओठ (अधर) तथा जङ्घाओंको पीड़ित करनेवाली) वंशी तथा वीणासे दोनोंसे पीड़ित शिल्प (वंशी तथा वीणा बजानेकी कला) को करती हुई अर्थात् वंशी तथा वीणा बजाती हुई कुटिलनेत्रवाली (दन्तक्षत एवं नखक्षतसे इन दोनोंको पीड़ित होना जानकर भी ये 'अग्निवर्ण' अधर एवं जङ्घोंको पीड़ाकारी वंशी तथा वीणा बजवा रहे हैं इस अभिप्राय भावनासे कुटिल देखनेवाली) स्त्रियोंने उस अग्निवर्णको लुभाया (उस कारणसे पीड़ित शिल्प के कुटिल दर्शनसे भी अग्निवर्णको आनन्द मिलता था) ॥ ३५ ॥

अङ्गसत्त्ववचनाश्रयं मिथः स्त्रीषु नृत्यमुपधाय दर्शयन् ।
स प्रयोगनिपुणैः प्रयोक्तृभिः संजघर्ष सह मित्रसंनिधौ ॥ ३६ ॥

अङ्गेति । अङ्ग इत्यादि । सत्त्वमन्तःकरणम् । वचनं गीतं चाश्रयः कारणं यस्य तदङ्गसत्त्ववचनाश्रयम् । आङ्गिकसात्त्विकवाचिकरूपेण त्रिविधमित्यर्थः । यथाह भरतः— सामान्याभिनयो नाम ज्ञेयो वागङ्गसत्त्वजः इति । नृत्यमभिनयं मिथो रहसि स्त्रीषु नर्तकीषूपधाय निधाय दर्शयन् । स मित्रसंनिधौ सहचरसमक्षं प्रयोगेऽभिनये निपुणैः कुशलैः प्रयोक्तृभिरभिनयार्थप्रकाशकैर्नाट्याचार्यैः सह संजघर्ष संघर्षं कृतवान् । सङ्घर्षः पराभिभवेच्छा ॥ ३६ ॥

आङ्गिक, सात्त्विक तथा वाचिक (इन तीन प्रकारके) नृत्यको स्त्रियोंके द्वारा कराकर दिखलाते हुए उस 'अग्निवर्ण' ने मित्रोंके पास चतुर प्रयोक्ताओंको (नाट्याचार्यों) के साथ स्पर्धा की ॥ ३६ ॥

इदानीं प्रावृषि तस्य कृत्रिमाद्रिषु विहारविलासमाह—

अंसलम्बिकुटजार्जुनस्रजस्तस्य नीपरजसाऽङ्गरागिणः ।
प्रावृषि प्रमदबर्हिणेष्वभूत्कृत्रिमाद्रिषु विहारविभ्रमः ॥ ३७ ॥

अंसलम्बि इति। प्रावृष्यंसलम्बिन्य कुटजानामर्जुनानां ककुभानां च स्रजो यस्य तस्य। नीपानां कदम्बकुसुमानां रजसाऽङ्गरागिणोऽङ्गरागवतस्तस्याग्निवर्णस्य प्रमदबर्हिणेषून्मत्तमयूरेषु कृत्रिमाद्रिषु विहार एव विभ्रमो विलासोऽभूदभवत् ॥ ३७ ॥

वर्षाकालमें कन्धेसे लटकती हुई कोरैया तथा अर्जुनके फूलोंकी मालावाले तथा कदम्बके परागका अङ्गराग लगाये हुए उस 'अग्निवर्ण'ने मतवाले मोरोंवाले कृत्रिम (बनावटी) पर्वतोंमें विहाररूप विलास किया ॥ ३७ ॥

विग्रहाच्च शयने पराङ्मुखीर्नानुनेतुमबलाः स तत्वरे।
आचकाङ्क्ष घनशब्दविक्लवास्ता विवृत्य विशतीर्भुजान्तरम् ॥

विग्रहाच्चेति। प्रावृषीत्यनुषज्यते । सोऽग्निवर्णो विग्रहात्प्रणयकलहाच्छयने शय्यायां पराङ्मुखीरबला अनुनेतुं न तत्वरे त्वरितवान्। किन्तु घनशब्देन घनगर्जितेन विक्लवाश्चकिता अत एव विवृत्य स्वयमेवाभिमुखीभूय भुजान्तरं विशतीः प्रविशन्तीः। 'आच्छीनद्योर्नुम्' इति नुम्विकल्पः। ता अबला आचकाङ्क्ष। स्वयग्रहादेव साम्मुख्यमैच्छदित्यर्थः ॥ ३८ ॥

(वर्षाकालमें) उस 'अग्निवर्ण' ने प्रणयकलहसे शय्यापर विमुख (पीठ फेरी) हुई अबलाओंको मनानेकी शीघ्रता नहीं की, (किन्तु) मेघके गर्जनसे व्याकुल (अतएव) लौट कर (सामने मुखकर स्वयं) हृदयमें प्रवेश (आलिङ्गन) करती हुई उनको चाहा। (मेघ-गर्जनसे उत्पन्न कामोद्दीपनसे व्याकुल होकर प्रणयकलहमें विमुख होकर सोई हुई ये स्त्रियाँ स्वयं मेरी छातीसे लिपटकर आलिङ्गन करें, ऐसी इच्छा की) ॥ ३८ ॥

कार्तिकीषु सवितानहर्म्यभाग्यामिनीषु ललिताङ्गनासखः।
अन्वभुङ्क्त सुरतश्रमापहां मेघमुक्तविशदां स चन्द्रिकाम् ॥३९॥

कार्तिकीष्विति। कार्तिकस्येमाः कार्तिक्यः। 'तस्येदम्' इत्यण्। तासु यामिनीषु निशासु, शरद्रात्रिष्वित्यर्थः। सवितानान्युपरिवस्त्रावृतानि हर्म्याणि भजतीति सवितानहर्म्यभाक्। भजेर्ण्विप्रत्ययः। हिमवारणार्थं सवितानमुक्तम्। ललिताङ्गनासखः सोऽग्निवर्णः सुरतश्रमापहां मेघमुक्ता चासौ विशदा च ताम्। बहुलग्रहणात्सविशेषण समासः। चन्द्रिकामन्वभुङ्क्त ॥ ३९ ॥

कार्तिककी रात्रियोंमें चँदोवे सहित महलके छतोंका सेवन करनेवाले सुन्दरियों सहित उस 'अग्निवर्ण'ने सम्भोगके खेदको दूर करनेवाली मेघरहित होनेसे निर्मल चाँदनीका भोग किया ॥ ३९ ॥

सैकतं च सरयूं विवृण्वतीं श्रोणिबिम्बमिव हंसमेखलम्।
स्वप्रियाविलसितानुकारिणीं सौधजालविवरैर्व्यलोकयत् ॥ ४० ॥

सैकतमिति। किञ्च, हंसा एव मेखला यस्य तत्सैकतं पुलिनं श्रोणिबिम्बमिव

चन्द्रके किरणोंके समान, स्त्रियोंके स्पर्श-सुखको प्राप्त करते हुए तथा रात्रिमें जगेसे दिनमें सोते हुए उस अग्निवर्ण ने कुमुदाकरकी समताको प्राप्त किया ॥ ३४ ॥

वेणुना दशनपीडिताधरा वीणया नखपदाङ्कितोरवः ।

शिल्पकार्य उभयेन वेजितास्तं विजिह्मनयना व्यलोभयन् ॥ ३५ ॥

वेणुनेति । दशनैः पीडिताधरा दष्टोष्ठाः । नखपदैर्नखक्षतैरङ्कितोरवश्चिह्नितोरवः, अनिवार्यतरोषपीडाक्षमा इत्यर्थः । तथापि वेणुना वीणया चेत्युभयेन । [illegible] रोगपीडाकारिणेत्यर्थः । वेजिताः पीडिताः स्त्रियः वेणुवीणावादनादिकं कुर्वन्तीति शिल्पकार्यो नायिकाः । 'कर्मण्यण्' इत्यण् 'टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः' इत्यनेन ङीप् । तं विजिह्मनयनाः कुटिलदृष्टयः सत्यः । स्वं वेदितं कामकृपि दृष्ट्वा नः पीडयतीति साभिप्रायं पश्यन्त्य इत्यर्थः । व्यलोभयन् । तथापि पाकैकमपि तस्याकर्षकमेवाभूदिति भावः ॥ ३५ ॥

दन्तक्षतसे पीडित अधरोंवाली तथा नखक्षतसे चिह्नित जङ्घाओं (जघनों) वाली (तथा पि क्रमशः ओठ (अधर) तथा जघनोंको पीडित करनेवाली) वंशी तथा वीणासे दोनोंसे पीडित स्त्रियां (वंशी तथा वीणा बजानेकी कला) को करती हुई अर्थात् वंशी तथा वीणा बजाती हुई कुटिलनेत्रवाली (दन्तक्षत एवं नखक्षतसे इनमेंसे पीडित होना जानकर भी ये अग्निवर्ण अधर एवं जघनके पीडाकारी वंशी तथा वीणा बजवा रहे हैं इस भावसे कुटिल देखनेवाली) स्त्रियोंने उस अग्निवर्णको लुभाया (उस कारणसे पीडित स्त्रियोंके कुटिल दर्शनसे भी अग्निवर्णको आनन्द मिलता था) ॥ ३५ ॥

अङ्गसत्त्ववचनाश्रयं मिथः स्त्रीषु नृत्यमुपधाय दर्शयन् ।

स प्रयोगनिपुणैः प्रयोक्तृभिः संजघर्ष सह मित्रसंनिधौ ॥ ३६ ॥

अङ्गेति । अङ्ग इत्यादि । सात्त्विकमङ्गरचना । वचनं गीतं वाचिका कारणं यस्य तदङ्गसत्त्ववचनाश्रयम् । आङ्गिकसात्त्विकवाचिकरूपेण त्रिविधमित्यर्थः । अथाह भरतः—'सामान्याभिनयो नाम ज्ञेयो वागङ्गसत्त्वजः' इति । नृत्यमभिनयं मिथो रहसि स्त्रीषु अर्थवीरूपधाय निधाय दर्शयन् । स मित्रसंनिधौ सहचरसमक्षमर्थात् मित्राणि निपुणैः इतिभिः प्रयोक्तृभिरभिनयार्थप्रकाशकैर्नटाचार्यैः सह संजघर्ष संघर्षं कृतवान् । सङ्घर्षः पराभिभवेच्छा ॥ ३६ ॥

आङ्गिक, सात्त्विक तथा वाचिक (इन तीन प्रकारके) नृत्योंको स्त्रियोंके द्वारा कराकर दिखाते हुए उस अग्निवर्ण ने मित्रोंके पास चतुर प्रयोक्ताओं (नाट्याचार्यों) के साथ स्पर्धा की ॥ ३६ ॥

इत्थं प्रकृति वर्षा कृत्रिमाद्रिषु विरचितविहारप्रकारमाह—

अंसलम्बिकुटजार्जुनस्रजस्तस्य नीपरजसाङ्गरागिणः ।

प्रावृषि प्रमदबर्हिणेष्वभूत्कृत्रिमाद्रिषु विहारविभ्रमः ॥ ३७ ॥

वायु से उत्पन्न पल्लव सहित आम्रमञ्जरीको देखकर प्रणयकलहको छोडती हुई असह्य विरह-वाले उस 'अग्निवर्ण'को अनुनीत किया (स्वयं मनाया) ॥ ४३ ॥

ताः स्वमङ्कमधिरोप्य दोलया प्रेङ्खयन्परिजनापविद्धया ।
मुक्तरज्जु निबिडं भयच्छलात्कण्ठबन्धनमवाप बाहुभिः ॥ ४४ ॥

ता इति । ता अङ्गना. स्वमङ्क स्वकीयमुत्सङ्गमधिरोप्य परिजनेनापविद्धया सम्प्रेषितया दोलया मुक्तरज्जु त्यक्तदोलासूत्रं यथा तथा प्रेङ्खयश्चालयन्भयच्छलात्पतनभयमिषाद्बाहुभिरङ्गनाभुजैर्निविड कण्ठबन्धनमवाप प्राप । स्वयङ्ग्रहाश्लेषसुखमन्वभूदित्यर्थ. ॥ ४४ ॥

उन अङ्गनाओंको अपनी गोदमें बिठाकर दास-दासिओंसे हिलाये जाते हुए झूलेसे रस्सी छोडकर चलाते हुए उस 'अग्निवर्ण'ने भय के बहाने उन अङ्गनाओंकी भुजाओंमे गाढ बन्धनको प्राप्त किया (स्वयं किये गये झूलेसे गिरने का बहाना द्वारा अङ्गनाओंके द्वारा किये गये गाढ आलिङ्गनके सुखको 'अग्निवर्ण'ने प्राप्त किया) ॥ ४४ ॥

तं पयोधरनिषिक्तचन्दनैर्मौक्तिकग्रथितचारुभूषणै· ।
ग्रीष्मवेषविधिभि सिषेविरे श्रोणिलम्बिमणिमेखलैः प्रियाः ॥ ४५ ॥

तमिति । प्रिया पयोधरेषु स्तनेषु निषिक्तमुत्क्षिप्त चन्दन येषु तै । मौक्तिकैर्ग्रथितानि प्रोतानि चारुभूषणानि येषु तै, मुक्ताप्रायाभरणैरित्यर्थ । श्रोणिलम्बिन्यो मणिमेखला मरकतादिमणियुक्तकटिसूत्राणि येषु तादृशैर्ग्रीष्मवेषविधिभिरुष्णकालोचितनेपथ्यविधानै, शीतलोपायैरित्यर्थ । तमग्निवर्णं सिषेविरे ॥ ४५ ॥

प्रियाओंने स्तनोंमें लगाये गये चन्दनोंवाले'मुक्तामालाओंसे गुथे हुए सुन्दर आभूषणों वाले तथा नितम्बोंपर लटकती हुई मणियोंकी करधनियोंवाले ग्रीष्मकालीन वेषके उपायों (शीतकर यत्नों) से उस 'अग्निवर्ण'की सेवा की ॥ ४५ ॥

यत्स लग्नसहकारमासवं रक्तपाटलसमागमं पपौ ।
तेन तस्य मधुनिर्गमात्कृशश्चित्तयोनिरभवत्पुनर्नवः ॥ ४६ ॥

यत्स इति । सोऽग्निवर्णो लग्न सहकारश्चूतपल्लवो यस्मिंस्त रक्तपाटलस्य पाटलकुसुमस्य समागमो यस्य तमासव मद्य पपौ । इति यत्तेनासवपानेन मधुनिर्गमाद्वसन्तापगमात्कृशो मन्दवीर्यस्तस्य चित्तयोनि· काम· पुनर्नव प्रबलोऽभवत् ॥

उस 'अग्निवर्ण'ने जो आम्रपल्लव लगे हुए तथा पाटलपुष्पसे युक्त मद्यका पान किया, उस मद्यके पानसे, वसन्तके बीतनेसे कृश (विषयभोगमें असमर्थ) हुए उस 'अग्निवर्ण'के मनकी कामनामना फिर नयी हो गयी ॥ ४६ ॥

एवमिन्द्रियसुखानि निर्विशन्नन्यकार्यविमुखः स पार्थिवः ।
आत्मलक्षणनिवेदितानृतूनत्यवाहयदनङ्गवाहित· ॥ ४७ ॥

एवमिति । एवमनङ्गवाहितः कामप्रेरितोऽन्यकार्यविमुखः स पार्थिव इन्द्रियाणां

विहसन्तीव । अत एव स्वमिथाविकसितान्यनुकरोतीति तद्विधां प्रसूनम् । कौमुदं वाक्यमपि यथावत् स एव विवरणमपि तेभ्योऽकरोत् ॥ ४० ॥

और उसका मेखला (करधनी) वाले उसको नितम्बका अनुकरण करनेवाली सरयूके मध्यकी विहसन्तियोंको लियों (स्त्रियों)ने देखा ॥ ४० ॥

मर्मरैरगुरुधूपगन्धिभिर्व्यक्तहेमरशनैस्तमेकतः ।
जहुराग्रथनमोक्षलोलुपं हैमनैर्निवसनैः सुमध्यमाः ॥ ४१ ॥

मर्मरैरिति । मर्मरैः संस्कारविशेषाच्छब्दायमानैः । 'अथ मर्मरः । स्वनिते वस्त्रपर्णानाम्' इत्यमरः । अगुरुधूपगन्धिभिर्व्यक्तहेमरशनैर्व्यक्ताः प्रकाशमानाः हेमरशना येषु तैर्हैमनैर्हेमन्ते भवैः । 'सर्वत्राण्च तलोपश्च' इति हेमन्तशब्दादण्प्रत्ययस्तलोपश्च । निवसनैरंशुकैः सुमध्यमाः स्त्रिय एकतो निवसनैकदेशे आग्रथनमोक्षयोर्नीवी ग्रन्थिबन्धमोक्षयोर्लोलुपमासक्तं तं जहुराचकृषुः ॥ ४१ ॥

मर्मर (धूप देनेके कारण अच्छी तरह मुर मुर शब्द करनेवाले), अगरुके धूपसे सुगन्धयुक्त, करधनीके कारण दिखलाई पड़ती हुई करधनियोंवाले हेमन्त-सम्बन्धी वस्त्रोंसे सुन्दर कटिभागवाली स्त्रियोंने नितम्बके एक भागमें नीवीके बाँधने और खोलनेमें लोलुप उस अग्निवर्णको आकृष्ट किया ॥ ४१ ॥

अर्पितस्तिमितदीपदृष्टयो गर्भवेश्मसु निवातकुक्षिषु ।
तस्य सर्वसुरतान्तरक्षमाः साक्षितां शिशिररात्रयो ययुः ॥ ४२ ॥

अर्पितेति । निवाता वातरहिताः कुक्षयोऽभ्यन्तराणि येषां तेषु गर्भवेश्मसु गृहाभ्यन्तरगृहेष्वर्पिता दत्ताः स्तिमिता निश्चलास्तादृशा दीपा एव दृष्टयो यासां ताः । अत एवाभिमतसाक्षित्वं च गम्यते । सर्वसुरतान्तरक्षमाः सकलसुरतविशेषयोग्याः । दीर्घत्वात् सर्वेषां सुरतान्तराणां सुरतभेदानां क्षमाः शिशिररात्रयस्तस्याग्निवर्णस्य साक्षितां ययुः । शिशिरकालरात्रयः साक्षिण्य इव बभूवुरित्यर्थः ॥ ४२ ॥

वायुरहित भीतरी हिस्सोंवाले अन्तरके महलोंमें वायुहीन स्थान होनेसे निश्चल स्थिर होकरके दीपकी ज्योति हुई (टकटक देखती हुई) तथा सम्पूर्ण सुरतभेदों (आसनों)के समर्थ रात्रियोंने उस अग्निवर्णके साक्षित्वको प्राप्त किया । (अनुकूल समय तथा एकान्त स्थान होनेसे अग्निवर्णने इच्छापूर्वक विविध प्रकारके सम्भोग किये) ॥ ४२ ॥

दक्षिणेन पवनेन संभृतं प्रेक्ष्य चूतकुसुमं सपल्लवम् ।
अन्वनैषुरवधूतविग्रहास्तं दुरुत्सहवियोगमङ्गनाः ॥ ४३ ॥

दक्षिणेति । अङ्गना दक्षिणेन पवनेन मलयानिलेन संभृतं जनितं सपल्लवं चूतकुसुमं प्रेक्ष्यावधूतविग्रहास्त्यक्तविरोधाः सत्यो दुरुत्सहवियोगं दुःसहविरहं तमन्वनैषुः । तद्विरहमसहमाना स्वयमेवानुनीतवत्य इत्यर्थः ॥ ४३ ॥

(पतली कमरवाली) अङ्गनाओंने, दक्षिण (मलयाचल पर्वतसे बहनेवाली)

वायु से उत्पन्न पल्लव सहित आम्रमञ्जरीको देखकर प्रणयकलहको छोड़ती हुई असह्य विरह-वाले उस 'अग्निवर्ण'को अनुनीत किया (स्वय मनाया) ॥ ४३ ॥

ताः स्वमङ्कमधिरोप्य दोलया प्रेङ्खयन्परिजनापविद्धया ।
मुक्तरज्जु निबिडं भयच्छलात्कण्ठबन्धनमवाप बाहुभिः ॥ ४४ ॥

ता इति । ता अङ्गना॰ स्वमङ्क स्वकीयमुत्सङ्गमधिरोप्य परिजनेनापविद्धया सम्प्रेपितया दोलया मुक्तरज्जु त्यक्तदोलासूत्र यथा तथा प्रेङ्खयश्चालयन्भयच्छलात्प-तनभयमिषाद्बाहुभिरङ्गनाभुजैर्निबिड कण्ठबन्धनमवाप प्राप । स्वयङ्ग्रहाश्लेपसु-खमन्वभूदित्यर्थ॰ ॥ ४४ ॥

उन अङ्गनाओंको अपनी गोदमें बिठाकर दास-दासिओंसे हिलाये जाते हुए झूलेसे रस्सी छोडकर चलाते हुए उस 'अग्निवर्ण'ने भय के बहाने उन अङ्गनाओंकी भुजाओंमे गाढ बन्धनको प्राप्त किया (स्वय किये गये झूलेसे गिरने का बहाना द्वारा अङ्गनाओंके द्वारा किये गये गाढ आलिङ्गनके सुखको 'अग्निवर्ण'ने प्राप्त किया) ॥ ४४ ॥

तं पयोधरनिषिक्तचन्दनैर्मौक्तिकग्रथितचारुभूषणैः ।
ग्रीष्मवेषविधिभिः सिषेविरे श्रोणिलम्बिमणिमेखलैः प्रियाः ॥ ४५ ॥

तमिति । प्रिया पयोधरेषु स्तनेषु निषिक्तमुत्क्षिप्त चन्दन येषु तै । मौक्तिकैर्ग्र-थितानि प्रोतानि चारुभूषणानि येषु तै , मुक्ताप्रायाभरणैरित्यर्थ॰ । श्रोणिलम्बिन्यो मणिमेखला मरकतादिमणियुक्तकटिसूत्राणि येषु तादृशैर्ग्रीष्मवेषविधिभिरुष्णकालो-चितनेपथ्यविधानै , शीतलोपायैरित्यर्थ॰ । तमग्निवर्णं सिषेविरे ॥ ४५ ॥

प्रियाओंने स्तनोंमें लगाये गये चन्दनोंवाले मुक्तामालाओंसे गुथे हुए सुन्दर आभूषणों वाले तथा नितम्बोंपर लटकती हुई मणियोंकी करधनियोंवाले ग्रीष्मकालीन वेषके उपायों (शीतकर यत्नों) से उस 'अग्निवर्ण'की सेवा की ॥ ४५ ॥

यत्स लग्नसहकारमासवं रक्तपाटलसमागमं पपौ ।
तेन तस्य मधुनिर्गमात्कृशश्चित्तयोनिरभवत्पुनर्नवः ॥ ४६ ॥

यत्स इति । सोऽग्निवर्णो लग्न सहकारश्चूतपल्लवो यस्मिंस्त रक्तपाटलस्य पाट-लकुसुमस्य समागमो यस्य तमासव मद्य पपौ । इति यत्तेनासवपानेन मधुनिर्ग-माद्वसन्तापगमात्कृशो मन्दवीर्यस्तस्य चित्तयोनि॰ काम पुनर्नव प्रबलोऽभवत् ॥

उस 'अग्निवर्ण'ने जो आम्रपल्लव लगे हुए तथा पाटलपुष्पसे युक्त मद्यका पान किया, उस मद्यके पानसे, वसन्तके बीतनेसे कृश (विषयभोगमें असमर्थ) हुए उस 'अग्निवर्ण'के मनकी कामवासना फिर नयी हो गयी ॥ ४६ ॥

एवमिन्द्रियसुखानि निर्विशन्नन्यकार्यविमुखः स पार्थिवः ।
आत्मलक्षणनिवेदितानृतूनत्यवाहयदनङ्गवाहित॰ ॥ ४७ ॥

एवमिति । एवमनङ्गवाहितः कामप्रेरितोऽन्यकार्यविमुख स पार्थिव इन्द्रियाणां

निह्नुवतीम् । अत एव सामिपार्श्विकसितामनुकुर्वतीमिति तद्विधां सरयूम् । सौधस्य जालानि गवाक्षाः त एव विवराणि तैर्व्यलोकयत् ॥ ४० ॥

और हंसरूप मेखला (करधनी) वाले उसने नितम्बका अनुकरण करनेवाली सरयूको महलकी खिड़कियोंके छिद्रों (छेदों) से देखा ॥ ४० ॥

मर्मरैरगुरुधूपगन्धिभिर्व्यक्तहेमरशनैस्तमेकतः ।
जहुराग्रथनमोक्षलोलुपं हैमनैर्निवसनैः सुमध्यमाः ॥ ४१ ॥

मर्मरैरिति । मर्मरैः शब्दकारविशेषाननुकुर्वाणैः । 'अथ मर्मरः । स्वनिते वस्त्रपर्णानाम्' इत्यमरः । अगुरुधूपगन्धिभिर्व्यक्तहेमरशनैः सूक्ष्मत्वात्प्रकाशमानकाञ्चीगुणैः हैमनैर्हेमन्ते भवैः । 'सर्वत्राण् च तलोपश्च' इति हेमन्तशब्दादण्प्रत्ययस्तलोपश्च । निवसनैर्वस्त्रैः सुमध्यमाः स्त्रियः एकतो नितम्बैकदेशे आग्रथनमोक्षयोर्नीवीबन्धमोक्षयोर्लोलुपमासक्तं तं जहुराचकृषुः ॥ ४१ ॥

मर्मर (पुष्ट होनेके कारण चलनेके समय चुर-चुर शब्द करनेवाले), अगरके धूपसे गन्धयुक्त, पतलापनके कारण दिखलाई पड़ती हुई करधनियोंवाले हेमन्त-सम्बन्धी कपड़ोंसे सुन्दर कटिभागवाली स्त्रियोंने नितम्बके एक भागमें नीवीके बाँधने और खोलनेमें लोलुप उस 'अग्निवर्ण'को आकृष्ट किया ॥ ४१ ॥

अर्पितस्तिमितदीपदृष्टयो गर्भवेश्मसु निवातकुक्षिषु ।
तस्य सर्वसुरतान्तरक्षमाः साक्षितां शिशिररात्रयो ययुः ॥ ४२ ॥

अर्पितेति । निवाता वातरहिताः कुक्षयोऽभ्यन्तराणि येषां तेषु गर्भवेश्मसु गृहाभ्यन्तरगृहेष्वर्पिता दत्ताः स्तिमिता निवातत्वान्निश्चला दीपा एव दृष्टयो यासां ताः साक्षित्वोचितमिदं च गम्यते । सर्वसुरतान्तरक्षमास्तापस्वेदापनोदनसमर्थत्वात् सर्वेषां सुरतान्तराणां सुरतभेदानां क्षमाः शिशिररात्रयस्तस्य साक्षितां ययुः । विविधकामकेलीसाक्षिण्यो बभूवुरित्यर्थः ॥ ४२ ॥

वायुहीन भीतरी हिस्सेंवाले अन्तरके महलोंमें वायुहीन स्थान होनेसे निश्चल स्थिर दीपकरूप दृष्टिसे व्याप्त हुई (एकटक देखती हुई) तथा सम्पूर्ण सुरतभेदों (कार्यों) के समर्थ रात्रियोंने उस अग्निवर्णके साक्षित्वको प्राप्त किया । (अनुकूल समय तथा एकान्त स्थान होनेसे रात्रियोंमें इच्छापूर्वक विविध प्रकारके सम्भोग किये) ॥ ४२ ॥

दक्षिणेन पवनेन सम्भृतं प्रेक्ष्य चूतकुसुमं सपल्लवम् ।
अन्वनैषुरवधूतविग्रहास्तं दुरुत्सहवियोगमङ्गनाः ॥ ४३ ॥

दक्षिणेति । अङ्गना दक्षिणेन पवनेन मलयानिलेन सम्भृतं जनितं सपल्लवं चूतकुसुमं प्रेक्ष्यावधूतविग्रहास्त्यक्तप्रणयकलहाः सत्यो दुरुत्सहवियोगं दुःसहविरहं तमन्वनैषुः । उद्दीपकसद्भावात् स्वयमेवानुनीतवत्य इत्यर्थः ॥ ४३ ॥

(मलय पर्वतसे) आनेवाली, दक्षिण (अनुकूल पवनसे ... बहनेवाली)

तस्येति । तस्य राज्ञः पाण्डुवदना । अल्पभूषणा परिमिताभरणा सावलम्बं दासादिहस्तावलम्बसहितं गमनं यस्याः सा सावलम्बगमना । मृदुस्वना हीनस्वरा । राज्ञः सोमस्य यक्ष्मा राजयक्ष्मा क्षयरोगः तेन या परिहानिः क्षीणावस्था सा । कामयते विषयानिच्छतीति कामयानः । कमेर्णिङन्ताच्छानच् । 'अनित्यमागमशासनम्' इति मुमागमाभावः । एतदेवाभिप्रेत्योक्तं वामनेनापि–'कामयानशब्दः सिद्धोऽनादिश्च' इति । तस्य समवस्थया कामुकावस्थया तुलां साम्यमाययौ प्राप । कालकृतो विशेषोऽवस्था । 'विशेषः कालिकोऽवस्था' इत्यमरः ॥ ५० ॥

पाण्डुवर्ण मुखवाली, अत्यल्प भूषणोंवाली (जिसमें परिमित भूषण पहना जाय ऐसी), अवलम्बनके सहित (दास-दासी या दण्ड आदिके सहारेसे) गमनवाली और क्षीणस्वरवाली क्षयरोगकी खिन्नताने कामुकके समान अवस्थाको प्राप्त किया अर्थात् 'अग्निवर्ण' हाथ आदिका सहारा लेकर चलने लगे और क्षीण स्वरसे बोलने लगे ॥ ५० ॥

व्योम पश्चिमकलास्थितेन्दु वा पङ्कशेषमिव घर्मपल्वलम् ।
राज्ञि तत्कुलमभूत्क्षयातुरे वामनार्चिरिव दीपभाजनम् ॥ ५१ ॥

व्योमेति । राज्ञि क्षयातुरे सति तत्कुलं पश्चिमकलायां स्थित इन्दुर्यस्मिंस्तत्कलावशिष्टेन्दु व्योम वा व्योमेव । वाशब्द इवार्थे । यथाह दण्डी–'इववद्वायथाशब्दौ' इति । पङ्कशेषं घर्मपल्वलमिव । वामनार्चिरल्पशिखं दीपभाजनं दीपपात्रमिवाभूत् ॥

राजा 'अग्निवर्ण'के क्षयरोगी होनेपर वह रघुकुल अन्तिमकलासे अवशिष्ट चन्द्रकलावाले आकाशके समान, कीचडमात्र बचे हुए ग्रीष्मकालीन छोटे जलाशयके समान, छोटी लव (ज्वाला) वाले दीपपात्रके समान हो गया ॥ ५१ ॥

बाढमेष दिवसेषु पार्थिवः कर्म साधयति पुत्रजन्मने ।
इत्यदर्शितरुजोऽस्य मन्त्रिणः शश्वदूचुरघशङ्किनीः प्रजाः ॥ ५२ ॥

बाढमिति । बाढं सत्यमेष पार्थिवो दिवसेषु पुत्रजन्मने पुत्रोदयार्थं कर्म जपादिकं साधयति । इत्येवमदर्शितरुजो निगूहितरोगाः सन्तोऽस्य राज्ञो मन्त्रिणोऽघशङ्किनीर्व्यसनशङ्किनीः प्रजाः शश्वदूचुः ॥ ५२ ॥

'ये राजा 'अग्निवर्ण' सत्य, दिनोंमें पुत्रोत्पत्तिके लिये पर्याप्त कर्मसाधन जपादि करते हैं' ऐसा उस 'अग्निवर्ण'के रोगको छिपानेवाले मन्त्रियोंने अनिष्टकी आशङ्का करनेवाली प्रजाओंसे सर्वदा कहा ॥ ५२ ॥

स त्वनेकवनितासखोऽपि सन्पावनीमनवलोक्य सन्ततिम् ।
वैद्ययत्नपरिभाविनं गदं न प्रदीप इव वायुमत्यगात् ॥५३॥

स इति । स त्वग्निवर्णोऽनेकवनितासखः सन्नपि । पावनीं पित्रृणमोचनीं सन्त-

सुखान्यपि सुखकराणि अपराध्यानि निर्विशन्नुपभुञ्जानो सचिवैः [illegible] चिह्नैर्विशेषैर्ज्ञापितम्। अयमद्यापि वर्तत इति ज्ञापितम्। [illegible] युगमयत् ॥ ४७ ॥

इस प्रकार कामसे प्रेरित दूसरे कार्य (प्रजापालन राज्यनिरीक्षणादि) से विमुख उस 'अग्निवर्ण' राजाने इन्द्रिय-सुखकर विषयोंको भोगते हुए, अपने अङ्गोंसे (लक्षण पहनी) हुई ऋतुओंको बिताया ॥ ४७ ॥

तं प्रमत्तमपि न प्रभावतः शेकुराक्रमितुमन्यपार्थिवाः ।
आमयस्तु रतिरागसम्भवो दक्षशाप इव चन्द्रमक्षिणोत् ॥ ४८ ॥

तमिति। प्रमत्तं व्यसनासक्तमपि तं नृपं प्रभावतोऽन्यपार्थिवा आक्रमितुमभिभवितुं न शेकुर्न शक्ताः। रतिरागसम्भव आमयो व्याधिस्तु, क्षयरोग इत्यर्थः। दक्षस्य दक्षप्रजापतेः शापश्चन्द्रमिव। अक्षिणोत्कर्शयत्। शापोऽपि रतिरागसम्भव इति। अत्र दक्षः किलात्मनः स्वकन्या उपेक्ष्य रोहिण्यामेव रममाणं राजानं सोमं शशाप। शापशब्दस्यापि [illegible] तं क्षिणोतीत्युपपत्स्यते ॥ ४८ ॥

दूसरे राजा लोग (विषयासक्त होकर राज्यनिरीक्षण प्रजापालन आदि कार्य नहीं करनेसे) प्रमाद करते हुए उस अग्निवर्ण पर (उनके) प्रतापके कारण आक्रमण करनेके लिये समर्थ नहीं हुए, किन्तु रतिमें राग करनेसे उत्पन्न रोगने राजाको उस प्रकार क्षीणकर दिया, जिस प्रकार रति रागसे उत्पन्न दक्ष-शाप चन्द्रमाको क्षीण करता है ॥ ४८ ॥

पौराणिक कथा—दक्ष प्रजापतिने अन्य अपनी कन्याओं को छोड़कर रोहिणी में ही अधिक रति करनेसे चन्द्रमा को क्षीण होनेका शाप दिया, वही शाप आजतक चन्द्रमा के क्षीण होनेमें कारण होता है।

दृष्टदोषमपि तन्न सोऽत्यजत्सङ्गवस्तु भिषजामनाश्रवः ।
स्वादुभिस्तु विषयैर्हृतस्ततो दुःखमिन्द्रियगणो निवार्यते ॥ ४९ ॥

दृष्टदोषमपीति। भिषजां वैद्यानामनाश्रवो। वचसि न स्थितः। 'वचने स्थित आश्रवः' इत्यमरः। अविधेय इत्यर्थः। स दृष्टदोषमपि। रोगजननादिति भावः। तत् सङ्गस्य वस्तु सङ्गवस्तु स्त्रीमद्यादिकं सङ्गजनकं वस्तु नात्यजत्। तथा हि। इन्द्रियगणः स्वादुभिर्विषयैर्हृतस्तु हृतश्चेत्ततस्तेभ्यो विषयेभ्यो दुःखं कृच्छ्रेण निवार्यते। यदि वार्यतेति शेषः। दुस्त्यजाः खलु विषया इत्यर्थः ॥ ४९ ॥

वैद्योंकी बात नहीं सुननेवाले उस 'अग्निवर्ण'ने देखे गये दोषोंवाले भी उस संसर्ग पदार्थ (स्त्री मद्य आदि) को नहीं छोड़ा, क्योंकि प्रियकर विषयोंके वशीभूत इन्द्रिय—समूहको उन (इन्द्रिय-प्रियकर विषयों) से दुःखपूर्वक रोका जाता है ॥ ४९ ॥

तस्य पाण्डुवदनाऽल्पभूषणा सावलम्बगमना मृदुस्वना ।
राजयक्ष्मपरिहानिराययौ कामयानसमवस्थया तुलाम् ॥ ५० ॥

तस्येति। तस्य राज्ञः पाण्डुवदना। अल्पभूषणा परिमिताभरणा सावलम्बं दासादिहस्तावलम्बसहितं गमनं यस्याः सा सावलम्बगमना। मृदुस्वना हीनस्वरा। राज्ञः सोमस्य यक्ष्मा राजयक्ष्मा क्षयरोगः तेन या परिहानिः क्षीणावस्था सा। कामयते विषयानिच्छतीति कामयानः। कमेर्णिङन्ताच्छानच्। 'अनित्यमागमशासनम्' इति मुमागमाभावः। एतदेवाभिप्रेत्योक्तं वामनेनापि-'कामयानशब्दः सिद्धोऽनादिश्च' इति। तस्य समवस्थया कामुकावस्थया तुलां साम्यमाययौ प्राप। कालकृतो विशेषोऽवस्था। 'विशेषः कालिकोऽवस्था' इत्यमरः॥ ५०॥

पाण्डुवर्ण मुखवाली, अत्यल्प भूषणोंवाली (जिसमें परिमित भूषण पहना जाय ऐसी), अवलम्बनके सहित (दास-दासी या दण्ड आदिके सहारेसे) गमनवाली और क्षीणस्वर-वाली क्षयरोगकी खिन्नताने कामुकके समान अवस्थाको प्राप्त किया अर्थात् 'अग्निवर्ण' हाथ आदिका सहारा लेकर चलने लगे और क्षीण स्वरसे बोलने लगे॥ ५०॥

व्योम पश्चिमकलास्थितेन्दु वा पङ्कशेषमिव घर्मपल्वलम्।
राज्ञि तत्कुलमभूत्क्षयातुरे वामनार्चिरिव दीपभाजनम्॥ ५१॥

व्योमेति। राज्ञि क्षयातुरे सति तत्कुलं पश्चिमकलायां स्थित इन्दुर्यस्मिंस्तत्कलावशिष्टेन्दु व्योम वा व्योमेव। वाशब्द इवार्थे। यथाह दण्डी-'इववद्वायथाशब्दौ' इति। पङ्कशेषं घर्मपल्वलमिव। वामनार्चिरल्पशिखं दीपभाजनं दीपपात्रमिवाभूत्॥

राजा 'अग्निवर्ण'के क्षयरोगी होनेपर वह रघुकुल अन्तिमकलासे अवशिष्ट चन्द्रकला-वाले आकाशके समान, कीचडमात्र बचे हुए ग्रीष्मकालीन छोटे जलाशयके समान, छोटी लव (ज्वाला) वाले दीपपात्रके समान हो गया॥ ५१॥

बाढमेष दिवसेषु पार्थिवः कर्म साधयति पुत्रजन्मने।
इत्यदर्शितरुजोऽस्य मन्त्रिणः शश्वदूचुरघशङ्किनीः प्रजाः॥ ५२॥

वाढमिति। बाढं सत्यमेष पार्थिवो दिवसेषु पुत्रजन्मने पुत्रोदयार्थं कर्म जपादिकं साधयति। इत्येवमदर्शितरुजो निगूहितरोगाः सन्तोऽस्य राज्ञो मन्त्रिणोऽघशङ्किनीर्व्यसनशङ्किनीः प्रजाः शश्वदूचुः॥ ५२॥

'ये राजा 'अग्निवर्ण' सत्य, दिनोंमें पुत्रोत्पत्तिके लिये पर्याप्त कर्मसाधन जपादि करते हैं' ऐसा उस 'अग्निवर्ण'के रोगको छिपानेवाले मन्त्रियोंने अनिष्टकी आशङ्का करनेवाली प्रजाओंसे सर्वदा कहा॥ ५२॥

स त्वनेकवनितासखोऽपि सन्पावनीमनवलोक्य सन्ततिम्।
वैद्ययत्नपरिभाविनं गदं न प्रदीप इव वायुमत्यगात्॥५३॥

स इति। स त्वग्निवर्णोऽनेकवनितासखः सन्नपि। पावनीं पितृऋणमोचनीं सन्त-

हिमवत्क्षोभेन पुरुषमपाप्नोत्यर्थः । वैद्ययत्नपरिभाविनं गदं रोगम् । प्रदीपो वायु-
मिव । नात्यगादतिचक्राम ममारेत्यर्थः ॥ ५३ ॥

फिर वे 'अग्निवर्ण' राजा अनेक स्त्रियोंके साथ रहते हुए भी प्रवीण सम्भोगमें भी वैद्योंके यत्नको व्यर्थ करनेवाले रोगको वायुको दीपकके समान अतिक्रमण नहीं कर सके (रोगको नहीं जीत सके अर्थात् मर गये) ॥ ५३ ॥

तं गृहोपवन एव संगताः पश्चिमक्रतुविदा पुरोधसा ।
रोगशान्तिमपदिश्य मन्त्रिणः सम्भृते शिखिनि गूढमादधुः ॥५४॥

तमिति । पश्चिमक्रतुविदाऽन्त्येष्टिविधिज्ञेन पुरोधसा संगताः समेता मन्त्रिणो गृहोपवन एव गृहाराम एव । 'आरामः स्यादुपवनम्' इत्यमरः । रोगशान्तिम- पदिश्य शान्तिकर्म व्यपदिश्य तमग्निवर्णं सम्भृते समिद्धे शिखिन्यग्नौ गूढमप्रका- शमादधुर्निदधुः । अग्निसंस्कारं चक्रुरित्यर्थः ॥ ५४ ॥

अन्तिम संस्कार (अन्त्येष्टि) की विधिके ज्ञाता पुरोहितके साथ मन्त्रियोंने मिलकर उस 'अग्निवर्ण' को गृहके उपवनमें ही रोगकी शान्तिकर्मका बहाना करके जलती हुई अग्निमें गुप्तरूपसे (बिना किसीको दिखाये) जला दिया ॥ ५४ ॥

तैः कृतप्रकृतिमुख्यसंग्रहैराशु तस्य सहधर्मचारिणी ।
साधुदृष्टशुभगर्भलक्षणा प्रत्यपद्यत नराधिपश्रियम् ॥ ५५ ॥

तैरिति । आशु शीघ्रं कृता प्रकृतिमुख्यानां पौरजनप्रधानानां संग्रहः संमे- लनं यैस्तैर्मन्त्रिभिः साधु निपुणं दृष्टशुभगर्भलक्षणा परीक्षितशुभगर्भचिह्ना तस्याग्निवर्णस्य सहधर्मचारिणी नराधिपश्रियं प्रत्यपद्यत राजलक्ष्मीं प्राप ॥ ५५ ॥

(फिर) शीघ्र ही प्रधान नागरिकोंको इकट्ठा कर मन्त्रियोंसे अच्छी तरह मालूम हुए गर्भके लक्षणोंवाली उस 'अग्निवर्ण' की सहधर्मिणी (पटरानी) ने राजलक्ष्मीको प्राप्त किया ॥ ५५ ॥

तस्यास्तथाविधनरेन्द्रविपत्तिशोका-
दुष्णैर्विलोचनजलैः प्रथमाभितप्तः ।
निर्वापितः कनककुम्भमुखोज्झितेन
वंशाभिषेकविधिना शिशिरेण गर्भः ॥ ५६ ॥

तस्या इति । तथाविधया नरेन्द्रविपत्त्या यः शोकस्तस्मादुष्णैर्विलोचनजलैः प्रथमाभितप्तस्तस्या गर्भः कनककुम्भानां मुखैरुज्झितेन शिशिरेण शीतलेन वंशाभिषेकविधिना कुलक्रमाभिषेककर्मणा निर्वापित आप्यायितः ॥ ५६ ॥

उस प्रकार राजा (पति) की विपत्ति (मृत्यु) जन्य शोकसे उत्पन्न आँसुओंसे पहले सन्तप्त उस रानीका गर्भ स्वर्णकलशोंके मुखसे गिरे हुए ठण्डे वंशाभिषेककी विधिसे शीतल अर्थात् पुष्ट हुआ ॥ ५६ ॥

तं भावार्थं प्रसवसमयाकाङ्क्षिणीनां प्रजाना-
मन्तर्गूढं क्षितिरिव नभोबीजमुष्टिं दधाना।
मौलैः सार्धं स्थविरसचिवैर्हेमसिंहासनस्था
राज्ञी राज्यं विधिवदशिषद्भर्तुरव्याहताज्ञा ॥ ५७ ॥

तमिति। प्रसवो गर्भमोचनम्। फलं च विवक्षितम्। 'स्यादुत्पादे फले पुष्पे प्रसवो गर्भमोचने' इत्यमरः। तस्य यः समयस्तदाकाङ्क्षिणीनां प्रजानां भावार्थं भावाय, भूतय इत्यर्थः। 'भावो लीलाक्रियाचेष्टाभूत्यभिप्रायजन्तुषु' इति यादवः। क्षितिरन्तर्गूढं नभोबीजमुष्टिमिव। श्रावणमास्युप्तं बीजमुष्टिं यथा धत्ते तद्वदित्यर्थः। मुष्टिशब्दो द्विलिङ्गः। 'अक्लीबौ मुष्टिमुस्तकौ' इति यादवः। अन्तर्गूढमन्तर्गतं तं गर्भं दधाना हेमसिंहासनस्थाऽव्याहताज्ञा राज्ञी मौलैर्मूलादागतैर्वा। आप्तैरित्यर्थः। स्थविरसचिवैर्वृद्धामात्यैः सार्धं भर्तू राज्यं विधिवद्विध्यर्हम्, यथाशास्त्रमित्यर्थः। अर्हार्थे वतिप्रत्ययः। अशिषच्छास्ति स्म। 'सर्तिशास्त्यर्तिभ्यश्च' इति च्लेरङ्। 'शास इदङ्हलोः' इतीकारः ॥ ५७ ॥

इति महामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया सञ्जीविनीसमाख्यया व्याख्यया समेतो महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये अग्निवर्णशृङ्गारो नामैकोनविंशः सर्गः ॥ १९ ॥



फल-समय (फल लगनेवाले कार्तिक मास) को चाहनेवाली प्रजाओं (किसानों) की उन्नतिके लिए भीतरमें छिपे हुए तथा श्रावणमासमें बोये गये बीजकी मूठको धारण करती हुई पृथ्वीके समान प्रसूतिसमय (बालकके पैदा होनेका दशम मास) को चाहनेवाली प्रजाओंकी उन्नतिके लिए अन्तर्गुप्त (उदरमें स्थित) उस गर्भको धारण करती हुई राज-सिंहासनस्थ और अस्खलित शासनवाली उस रानीने विश्वासपात्र मन्त्रियोंके साथ विधिपूर्वक पतिके राज्यका शासन किया ॥ ५७ ॥

वैक्रमे वसुखखाक्षि(२००८)वत्सरे सौम्ययुक्'विजया'ख्यदिक्तिथौ।
पूर्णतामुपगता 'मणिप्रभा' विश्वनाथपदपङ्कजेऽर्पिता ॥ १ ॥
हरगोविन्दभक्तेन हरगोविन्दशास्त्रिणा।
हरगोविन्दतो लब्धं यत्तत्तत्र समर्पितम् ॥ २ ॥

समाप्तं रघुवंशमहाकाव्यम्।



> लङ्केश्वरस्य भवने सुचिरं स्थितेति
> रामेण लोकपरिवादभयाकुलेन ।
> निर्वासितां जनपदादपि गर्भगुर्वीं
> सीतां वनाय परिकर्षति लक्ष्मणोऽयम् ॥'

अत्र नृत्यप्रयोगार्थं स्वभार्याह्वानमिच्छता सूत्रधारेण 'सीतां वनाय परिकर्षति लक्ष्मणोऽयम्' इति सीतालक्ष्मणयोः प्रवेशं सूचयित्वा निष्क्रान्तेन स्वप्रयोगमतिशयान एष प्रयोगः प्रयोजितः ।

(३—'प्रवर्तक' प्रस्तावना)

कालं प्रवृत्तमाश्रित्य सूत्रधृग्यत्र वर्णयेत् ।
तदाश्रयश्च पात्रस्य प्रवेशस्तत्प्रवर्तकम् ॥ ३७ ॥

यथा—

'आसादितप्रकट—' इत्यादि । 'ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टो रामः'

ओह ! यह तो लक्ष्मण है जो गर्भिणी सीता को लङ्कापति रावण के भवन में रहने के कारण लोकापवाद के भय से राम द्वारा देशनिर्वासन का दण्ड दिये जाने पर वन की ओर खींचे लिये जा रहा है।'

यहाँ 'प्रयोगातिशय' इसलिये है क्योंकि सूत्रधार नृत्यप्रयोग के लिये अपनी आर्या (नटी) को बुलाना चाहता है किन्तु 'वन की ओर सीता को लक्ष्मण खींचे जा रहा है' आदि कहकर सीता और लक्ष्मण के प्रवेश की सूचना दे देता है और स्वयं रंगमंच से निकल जाता है। इस प्रकार सूत्रधार स्वयं अपने पूर्व प्रयोग अर्थात् नृत्यानुष्ठान का अतिक्रमण करके अन्य प्रयोग अर्थात् सीता और लक्ष्मण के प्रवेश की सूचना देते 'प्रयोगातिशय' नामक प्रस्तावना कर रहा है।

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि ने 'प्रयोगातिशय' की यह परिभाषा की है—

> 'प्रयोगे तु प्रयोगं तु सूत्रधारः प्रयोजयेत् ।
> ततश्च प्रविशेत् पात्रं प्रयोगातिशयो हि सः ॥ (नाट्यशास्त्र । २२.१९)

अर्थात् जहाँ सूत्रधार प्रस्तावना-रूप एक प्रयोग अथवा नृत्यानुष्ठान में नाट्यात्मक अन्य प्रयोग अथवा नृत्यानुष्ठान कर दे और पात्र का प्रवेश हो वहाँ जो प्रस्तावना हुआ करती है वह 'प्रयोगातिशय' कही जाया करती है।

अभिनवभारतीकार ने इसीलिए कहा है—

'सूत्रधार एव यत्र प्रयोगे प्रयोगं समुद्रकमकरयुगलवद् योजयति स प्रयोगद्वयरूपत्वात् प्रयोगातिशयः।

अनुवाद—'प्रवर्तक' वह प्रस्तावना-प्रकार है जिसमें सूत्रधार नाट्यप्रयोग के समय वसन्त आदि ऋतु का वर्णन किया करता है और पात्र उस वर्णन की श्लेषसंगति के आधार पर रंगमञ्च पर आ पहुँचता है।

इसका उदाहरण ('कृत्यराम' नामक रूपक-प्रबन्ध की) 'आसादितप्रकट' आदि प्रस्तावना है, जहाँ सूत्रधार 'आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहास'—निर्मल चन्द्रिका से विभूषित—'विगतघनान्त'—सौन्दर्यसम्पूर्ण—'संफुल्लबन्धुजीव'—बन्धुजीवपुष्प के विकास—किंवा संतमसावृत वन काल के विनाशक शरत्समय का वर्णन कर रहा है और इसकी श्लेषसंगी 'आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहास'—पराजित रावण के चन्द्रहास खड्ग

(५—'अवलगित' प्रस्तावना)

यत्रैकत्र समावेशात्कार्यमन्यत्प्रसाध्यते ।
प्रयोगे खलु तज्ज्ञेयं नाम्नावलगितं बुधैः ॥ ३८ ॥

यथा शाकुन्तले—

सूत्रधारो नटीं प्रति । 'तवाऽस्मि गीतरागेण—' इत्यादि । ततो राज्ञः प्रवेशः ।

को लिये—'विशुद्धकान्त'—साध्वी सीता के सङ्ग 'सभृतबन्धुजीव'—वानर सैनिकों और लक्ष्मण को पुनरुज्जीवित किये किंवा रावण जैसे अज्ञानसतमस के संहारक राम का प्रवेश करा देती है ।

विमर्श—नाट्यशास्त्रकार भरत मुनि ने 'प्रवर्त्तक' प्रस्तावना का यह लक्षण किया है—

'कालप्रवृत्तिमाश्रित्य वर्णना या प्रयुज्यते ।
तदाश्रयाच्च पात्रस्य प्रवेशस्तत् प्रवृत्तकम् ॥ (नाट्यशास्त्र २०.३७)

जिसे आचार्य अभिनवगुप्त ने इस प्रकार समझाया है—

'यदा कालप्रवृत्तिं काञ्चिदवलम्ब्य यथा सूत्रधारेण किञ्चिद् वस्तु वर्ण्यते तदाश्रयेण च पात्रस्य प्रवेश तत्कालप्रवृत्त्या स्वार्थोक्तत्वात् प्रवृत्तकम् ।'

उपर्युक्त प्रस्तावना-चतुष्टय में यह स्पष्ट है कि सूत्रधार के वाक्य, अर्थ, आह्वान तथा समय-वर्णन की विचित्रता से रङ्गमञ्च पर पात्र का प्रवेश हुआ करता है । नाट्य-पात्र के प्रवेश के ये चित्र-विचित्र प्रकार हैं जिनमें किसी एक रूपक में किसी एक का ही आश्रय लिया गया है । भरत मुनि का यही आदेश भी है—

'पात्रप्रन्थैरसबाध प्रकुर्यादामुखं तत ।' (नाट्यशास्त्र २०.३९)

अनुवाद—'अवलगित' वह प्रस्तावना-भेद है जहाँ सूत्रधार अपने प्रस्तावनानुष्ठान रूप एक प्रयोग में नाट्यारम्भ-रूप अन्य प्रयोग की भी युक्तिपूर्वक योजना कर दिया करता है और पात्र का प्रवेश हो जाता है ।

इसका उदाहरण 'अभिज्ञानशाकुन्तल' की प्रस्तावना है, जहाँ सूत्रधार नटी से कहता है—'आर्ये ! तुम्हारे मनोहर गीत राग की ओर मैं उसी प्रकार खिंचा जा रहा हूँ जैसे दौड़ते हरिण की ओर यह राजा दुष्यन्त खिंचा आ रहा है ।' और रङ्गमञ्च पर दुष्यन्त का प्रवेश हो जाता है ।

विमर्श—भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में 'अवलगित' का यह लक्षण है—

'यत्रान्यस्मिन् समावेश्य कार्यमन्यत् प्रसाध्यते ।
तच्चावलगितं नाम विज्ञेय नाट्ययोक्तृभि ॥'

(नाट्यशास्त्र १८.११६)

जिसे अभिनवगुप्तपादाचार्य ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'यत्रोत्तरे दीयमाने अन्यानुसधानपूर्वकेऽप्यन्यत् कार्यं सिध्यति तदान्यकार्यावलगनाद-वलगितम् ।'

अर्थात् जहाँ सूत्रधार के अन्यार्थक वचन से अन्य कार्य भी सम्पन्न हो जाय वहाँ 'अवलगित' नामक आमुख-भेद हुआ करता है ।

(आमुखोपयुक्त वीथ्यंग)

योज्यान्यत्र यथालाभं वीथ्यङ्गानीतराण्यपि ।

अत्र आमुखे । उद्घात्य(त)कावलगितयोरितराणि वीथ्यङ्गानि वक्ष्यमाणानि।

(नखकुट्ट के मत में प्रस्तावना का अन्य प्रकार)

नखकुट्टस्तु—

नेपथ्योक्तं श्रुतं यत्र त्वाकाशवचनं तथा ॥ ३९ ॥
समाश्रित्यापि कर्तव्यमामुखं नाटकादिषु ।
एषामामुखभेदानामेकं कञ्चित्प्रयोजयेत् ॥ ४० ॥
तेनार्थमथ पात्रं वा समाक्षिप्यैव सूत्रधृक् ।
प्रस्तावनान्ते निर्गच्छेत्ततो वस्तु प्रयोजयेत् ॥ ४१ ॥

(वस्तु : इतिवृत्त : १—आधिकारिक २—प्रासंगिक)

वस्त्वितिवृत्तम् ।

इदं पुनर्वस्तु बुधैर्द्विविधं परिकल्प्यते ।
आधिकारिकमेकं स्यात्प्रासङ्गिकमथापरम् ॥ ४२ ॥

अनुवाद—आमुख अथवा प्रस्तावना के जो पाँच प्रकार बताये गये उनमें से किसी एक की योजना में वीथी के अन्य अङ्गों की भी उपयोगितानुसार योजना की जा सकती है।

यहाँ (कारिका में) 'अत्र' का अभिप्राय 'अवलगित' नामक प्रस्तावनाभेद का नहीं अपितु पञ्चविध 'आमुख' का अभिप्राय है। 'उद्घात्यक' और 'अवलगित' के अतिरिक्त जो वीथ्यङ्ग हैं उनका आगे निरूपण किया जायगा।

अनुवाद—रूपक-प्रबन्धों के पञ्चविध आमुख का जो निरूपण किया गया वहाँ तो रङ्गमञ्च पर उपस्थित सूत्रधार अथवा स्थापक द्वारा पात्र का प्रवेश हुआ करता है किन्तु आमुख का एक और भी प्रकार है जिसे 'नखकुट्ट' ने कहा है और जिसमें नेपथ्य-वचन अथवा आकाशभाषित के अवलम्ब पर ही सूत्रधार प्रस्तावना कर दिया करता है। इन षड्विध प्रस्तावनाओं में किसी एक की ही योजना किसी एक रूपक-प्रबन्ध के लिये आवश्यक है। सूत्रधार का यह कर्तव्य है कि रूपकप्रबन्ध के वृत्तान्त अथवा पात्रविशेष की सूचना के बाद प्रस्तावना समाप्त कर दे और स्वयं रंगमञ्च से निकल जाय जिसके बाद रूपक-प्रयोग आरम्भ हो जाय।

यहाँ कारिका के 'वस्तु' पद का अभिप्राय 'इतिवृत्त' का अभिप्राय है।

विमर्श—(क) साहित्यदर्पण की 'लक्ष्मी'-टीका में 'नखकुट्ट' की जो आमुख का भाग बताया गया है (अयाम्यपिसूचितपात्रप्रवेशोऽपि नखकुट्टमते षष्ठः प्रभेद इति दर्शयितुमाह—नखकुट्टस्त्विति—पृ० १४) यह निर्देश है।

(ख) रूपक-प्रबन्धों में पात्रप्रवेश के पहले का भाग ही 'आमुख' अथवा प्रस्तावना है और उसके बाद का भाग 'नाट्य' है। 'नाट्य' का सूचक होने के कारण प्रस्तावना को 'आमुख' कहा गया है (ईषन्मुखं मुखसन्धिमुखनाट्यारम्भः—आमुखम्—प्रस्तावनापरपर्यायेणाप्येतदुच्यते)।

अनुवाद—नाट्यकोविदों के अनुसार रूपक-प्रबन्ध में, 'वस्तु' अथवा 'इतिवृत्त' दो

अधिकारः फले स्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः ।
तस्येतिवृत्तं कविभिराधिकारिकमुच्यते ॥ ४३ ॥

फले प्रधानफले । यथा बालरामायणे रामचरितम् ।

अस्योपकरणार्थं तु प्रासङ्गिकमितीष्यते ।

अस्याधिकारिकेतिवृत्तस्य उपकरणनिमित्तं यच्चरितं तत्प्रासङ्गिकम् । यथा सुग्रीवादिचरितम् ।

प्रकार का हुआ करता है—(१ला) आधिकारिक और (२रा) प्रासङ्गिक । 'अधिकार' का अभिप्राय फल के स्वामित्व का अभिप्राय है और 'अधिकारी' वह कहा जाया करता है जो फल का स्वामी हुआ करता है । इस प्रकार 'अधिकारी' (अर्थात् प्रधान नायक) से सम्बद्ध जो इतिवृत्त हुआ करता है उसे 'आधिकारिक' इतिवृत्त कहा जाया करता है ।

यहाँ 'फले स्वाम्यम्' में 'फले' का अभिप्राय प्रधान फल का अभि प्राय है (आनुषङ्गिक अथवा अप्रधान का नहीं) । 'आधिकारिक' इतिवृत्त का निदर्शन 'बालरामायण' में उपनिबद्ध राम का रावण-वध-सम्बद्ध इतिवृत्त है ।

और जिसे 'प्रासङ्गिक' इतिवृत्त कहा गया है वह ऐसा इतिवृत्त हुआ करता है जो 'आधिकारिक' इतिवृत्त का सहायक किंवा उपयोगी हुआ करता है ।

यहाँ, कारिका में 'अस्य' का अभिप्राय 'आधिकारिक इतिवृत्त' का अभिप्राय है और 'उपकरणार्थ' का अभिप्राय उपकरण अथवा सहायता के निमित्तभूत चरित अथवा वृत्त का अभिप्राय है जिसे 'प्रासङ्गिक' नाम दिया गया है ।

'प्रासङ्गिक' इतिवृत्त-प्रकार का उदाहरण राम-सम्बन्धी रूपक-प्रबन्ध में सुग्रीव आदि से सम्बद्ध वृत्त है ।

विमर्श—अनभिनेय काव्य का शरीर 'वृत्त' माना गया है और अभिनेय काव्य का शरीर 'इतिवृत्त' अथवा कविद्वारा उपस्कृत वृत्त । कवि द्वारा वृत्त के उपस्कार का साधन सन्धि-योजना है जिसमें वृत्त के प्रकार-वैचित्र्य की कल्पना रहा करती है । कोई भी वृत्त स्वभावत न तो आधिकारिक हो सकता है और न प्रासङ्गिक । यह तो कवि की कल्पना है जो एक ही वृत्त में 'अधिकार' और 'प्रसङ्ग' का भेद करके एक को 'आधिकारिक' रूप में प्रस्तुत करती है और दूसरे को 'प्रासङ्गिक' रूप में । 'आधिकारिक' वृत्त तो रूपक-प्रबन्ध का व्यापकवृत्त हुआ करता है और 'प्रासङ्गिक' इस व्यापक वृत्त का 'उपकरण'भूत वृत्त रहा करता है । अभिनवभारती'कार ने 'आधिकारिक'पद की यह निरुक्ति की है—'**अधिकार सर्वत्रानुयायित्वम् हृदयानुयायित्वं प्रयोजनमस्य (तत्)**।' जिससे यह स्पष्ट है कि रूपक का 'आधिकारिक'वृत्त वह है जिसे कवि रूपक प्रबन्ध-व्यापी बनाया करता है । 'प्रासङ्गिक' पद की निरुक्ति 'अभिनवभारती'कार ने इस प्रकार की है—

'**प्रसक्तिर्हि प्रसङ्ग तत आगतं प्रासगिकं, प्रसज्यते वा प्रधानफलनिष्पत्तये इति प्रसङ्गस्तत आगतम् ।**'

जिससे यह निश्चित हो जाता है कि 'प्रासगिक' वृत्त 'आधिकारिक' वृत्त का ही उपस्कारक वृत्त हुआ करता है ।

नाट्यदर्पण की इन पंक्तियों में, जिनमें 'अभिनवभारती' के अभिप्रायों का सार खींचा हुआ है, 'आधिकारिक' और 'प्रासगिक' का यह तात्पर्य बताया गया है—

(पताकास्थानक : नाट्यीय उपयोग)

पताकास्थानकं योज्यं सुविचार्येह वस्तुनि ॥ ४४ ॥

इह नाट्ये ।

यत्रार्थे चिन्तितेऽन्यस्मिंस्तल्लिङ्गोऽन्यः प्रयुज्यते ।
आगन्तुकेन भावेन पताकास्थानकं तु तत् ॥ ४५ ॥

मुख्यमितिवृत्तमङ्गं प्रासङ्गिकं कथितम्। मुख्यं सर्वप्रबन्धव्यापित्वात् प्रधानम्। इष्टं सर्वोत्कर्षेण कविरभिप्रेतं फलं यस्य। वृत्तं चरितम् अंगं मुख्यवृत्तस्योपकारित्वादवयवः। प्रसंगात् परकीयप्रयोजनानुगमात् प्रासंगिकम्। इह तावत् निसर्गतः किञ्चिच्चरितं मुख्यमंगं वा किन्तु बहुष्वपि फलेषु कविर्यस्यात्यन्तमुत्कर्षमभिप्रैति तत्फलमिष्टम्। अनेन च यद् फलवद् वृत्तं तदिह मुख्यम्। तदितरदंगत्वात् प्रासंगिकम्। रामप्रबन्धेषु हि सुग्रीवमैत्री-शरणागतविभीषणरक्षण-रावणवध-सीताप्रत्यानयनादिषु सीताप्रत्यानयनस्यैव प्राधान्यं कविना प्रतिपादितम्। तत्संपादनमात्र तदितरेषु प्रवृत्तेः। अत एव तान्यङ्गानि। कविरपि न स्वेच्छया फलस्योत्कर्षं निबद्धुमर्हतीति निरूपयितव्येव। यस्य धीरोदात्तादेर्यदेव फलमुचितं तस्यैवोत्कर्षो निबन्धनीयः। प्रासंगिकस्यापि च मुख्यवृत्तप्रयत्नेनैव निष्पत्तिर्विधेया। प्रबन्धान्तरे हि तदपि मुख्यं स्यात्। कथितमिति यत्रैव मुख्यो नेता फलसिद्धौ सहायमपेक्षते तत्रैव प्रासंगिकम्, न सर्वत्र।

(नाट्यदर्पण १म विवेक)

संस्कृत के रूपक-प्रबन्धों में जो कथावस्तु-रचना (Plot Construction) है उसमें सर्वत्र आधिकारिक और यथावसर प्रासंगिक वृत्त का योजना-वैचित्र्य स्पष्टतया परिलक्षित होता है।

अनुवाद—रूपक-प्रबन्धों की 'इतिवृत्त-रचना' में वैचित्र्य के आधान के लिये कवि के लिये यह अपेक्षित है कि वह विचारपूर्वक 'पताकास्थानक' की योजना करे।

यहाँ कारिका में 'इह' पद का अभिप्राय 'नाट्य (अथवा रूपक) का अभिप्राय है।

'पताकास्थानक' क्या है ? 'पताकास्थानक' वह है जिसे नाट्य के उस स्थान पर जहाँ नाट्यकार किसी एक प्रयोजन अथवा उपाय की चिन्ता कर रहा है उसके समान अन्य प्रयोजन अथवा उपाय की अकस्मात् अतर्कित उपस्थिति हो जाया करती है।

विमर्श—'पताकास्थानक' एक प्रकार का इतिवृत्त ही है। इस इतिवृत्त-प्रकार की योजना मुख्य इतिवृत्त में वैचित्र्य का आधान किया करती है (तेन पताकास्थानकमितिवृत्तमेवोच्यते। प्रथम कर्म्यमार्गं तु पताकावद्रूपं पताकास्थानमित्यर्थोक्तं भवति। स चान्योऽर्थस्तल्लिङ्गस्तन्मुख्यमर्थं किमयति विचित्रप्रतीतिः। अभिनवभारती नाट्यशास्त्र १९ २ ।)

'पताका' और 'पताकास्थानक' इन इतिवृत्त-प्रकारों में परस्पर भेद है। 'पताका' एक वृत्त जो रूपक प्रबन्धों के मुख्य वृत्त का उपकारक होने से एक निश्चित स्थान पर और पर्याप्त समय तक निरन्तर चलनेवाला वृत्त हुआ करता है किन्तु 'पताकास्थानक' वह वृत्त है जो कहीं-कहीं उपनिबद्ध हुआ करता है और नाट्य के सौन्दर्यवर्द्धन के लिए ही उपनिबद्ध हुआ करता है। नाट्यदर्पणकार ने इसीलिए कहा है—

'चिन्तितार्थापरप्राप्तिर्यत्र सा व्योपकारिणी।
पताकास्थानकं तत्तु चतुर्धा मन्दमं क्वचित् ॥

(१ म पताकास्थानक)

तद्भेदानाह—

सहसैवार्थसंपत्तिर्गुणवत्युपचारतः ।
पताकास्थानकमिदं प्रथमं परिकीर्तितम् ॥ ४६ ॥

यथा रत्नावल्याम्—

'वासवदत्तेयम्' इति राजा यदा तत्कण्ठपाशं मोचयति तदा तदुक्त्या 'सागरिकेयम्' इति प्रत्यभिज्ञाय 'कथं ? प्रिया मे सागरिका ?

अलमलमतिमात्रं साहसेनामुना ते
त्वरितमयि ! विमुञ्च त्वं लतापाशमेतम् ।
चलितमपि निरोद्धुं जीवितं जीवितेशे !
क्षणमिह मम कण्ठे बाहुपाशं निधेहि ॥'

अत्र फलरूपार्थसंपत्तिः पूर्वापेक्षयोपचारातिशयाद् गुणवत्युत्कृष्टा ।

अर्थ—कर्म-करणव्युत्पत्त्या प्रयोजनमुपायश्च । अध्यवसितात् प्रयोजनादुपायाच्चान्यस्य प्रयोजनस्योपायस्य च प्राप्तिर्यत्रेति वृत्ते उपकारिणी प्रधानफलोपकारिका तदितिवृत्तं पताकास्थानकम् । उपकारित्वमात्रसाम्यात् पताकास्थानं एव तुल्यं पताकास्थानकम्, न पुनः पताकास्थानमेव । अत एव तुशब्दः पताकास्वरूपाद् व्यतिकरं द्योतयति । मण्डनमिति एकमपि पताकास्थानकं नाट्य-काव्यस्यालङ्करणम्, किं पुनर्द्वे त्रीणि चत्वारि वा ? एतद्विहीनं रूपकं न कार्यमित्यर्थः । क्वचिदित्यन्तराऽन्तरा, न तु पताकावन्निरन्तरम् । अत एव पताकातो भिद्यते । (नाट्यदर्पण १म विवेक)

अनुवाद—'पताकास्थानक के चार भेद हैं जिन्हें क्रमशः बताया जा रहा है—

पहला 'पताकास्थानक' वह है जहाँ सामाजिकों को अकस्मात् अभीष्ट अर्थ का परिचय मिल जाता है क्योंकि यहाँ कवि एक प्रयोजन तो मन में रखता है और दूसरे का उपनिबन्धचातुर्य दिखाया करता है ।

इसका उदाहरण 'रत्नावली' का यह प्रसंग है—

'नायक उदयन 'सागरिका' को, गले में लतापाश का फन्दा लगाते देख, वासवदत्ता समझ लेता है किन्तु उसकी बोली से यह जान कर कि वह तो उसकी प्रियतमा 'सागरिका' है उसके बाहु-पाश को अपने गले का फन्दा बनाने को उत्सुक हो उठता है और कहने लगता है—

तू यह आत्मघात का साहस क्यों कर बैठी ! अरे इस लतापाश को फेंक और अपने इस प्रियतम के गले में अपना बाहुपाश डाल दे जिससे तेरे विरह में भागने के इच्छुक इसके प्राण भागने न पाँय ।'

यहाँ अकस्मात् इष्ट-लाभ की प्राप्ति है क्योंकि सामाजिक उदयन को बहुत देर से सागरिका के प्रेम-मिलन-सुख का प्रार्थी देखते आये हैं और सहसा इस प्रकार के प्रेम-मिलन-सुख के पानेवाले उदयन को देख प्रसन्नता से भर उठते हैं ।

विमर्श—यह 'पताकास्थानक' भी एक विचित्र वृत्त-भेद ही है । इस वृत्त-भेद में भी कोई न कोई नायक अवश्य होना चाहिये । 'अभिनवभारती'कार के अनुसार दैवयोग और देशकाल-विशेष के कारण नायक के जो भिन्न भिन्न रूप हो सकते हैं, उनमें से किसी एक रूप में, वह स्वयं इस वृत्त-भेद का नायक हो जाया करता है —

(२ य पताकास्थानक)

वचः सातिशयं श्लिष्टं नानाबन्धसमाश्रयम् ।
पताकास्थानकमिदं द्वितीयं परिकीर्तितम् ॥ ४७ ॥

यथा वेण्याम्—

'रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः ।'

अत्र रक्तादीनां रुधिरशरीरार्थहेतुकश्लेषवशेन बीजार्थप्रतिपादनान्नेतृमङ्गल प्रतिपत्तौ सत्यां द्वितीयं पताकास्थानकम् ।

'अशान्त्वात् प्रयोगस्य विशिष्टं तद्वैचित्र्यकारि च प्रयोजनान्तरं सूचकम् । तत्र च दैव-योगात्, तथाभूतदैवकृतयोगात् नायकस्यास्मैवान्यपरिसम्भियोगात् कल्पितमेव, समारि-कैव वा मरणमेवोचितमित्यन्यापिसम्बन्धेन भवतीति पताकास्थानकसद्भावं भजते ।

(अभिनवभारती भाग २ य पृष्ठ १९)

अनुवाद—दूसरा 'पताकास्थानक' वह है जहाँ प्रकृत विषय की वर्णना में ऐसा श्लिष्ट वचन-विन्यास किया हुआ रहता है जो अप्रकृत के भी उपयुक्त हो जाता है और एक चमत्कार की सृष्टि कर जाता है।

इसका उदाहरण वेणीसंहार का यह प्रसङ्ग है—

'सूत्रधार मंगलाशंसन करता है—'सभृत्याः' (अनुचर-परिचरों के साथ) 'क्षत-विग्रहाः' (लड़ाई-झगड़े की नीति से विमुख और पक्षान्तर में, क्षत-विक्षत शरीर किये) किं वा 'रक्तप्रसाधितभुवः' (प्रजाजनों के रञ्जक तथा साम्राज्य को सुशोभित करनेवाले और पक्षान्तर में, लोहूलुहान शरीर किये धरती पर गिरे-पड़े) 'कुरुराजसुताः' (कुरुराज धृतराष्ट्र के कुमार-गण) 'स्वस्थाः भवन्तु' (आनन्द करें और पक्षान्तर में-मर मिटें)।'

यहाँ 'पताकास्थानक' का दूसरा प्रकार इसलिये स्पष्ट दिखायी पड़ रहा है क्योंकि 'रक्त' और 'विग्रह' आदि श्लिष्ट पदों का ऐसा विन्यास किया हुआ है जिससे 'रुधिर' और शरीर का भी अर्थ निकल पड़ता है और भीम के वेणीसंहार रूप प्रतिज्ञापालन के बीजभूत कृतार्थ की अभिव्यक्ति हो उठती है जो कि 'वेणीसंहार' रूप फल की एक शुभ-सूचना सी ही है।

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि ने इस 'पताकास्थानक' प्रकार की यह परिभाषा की है—

'वचः सातिशयं श्लिष्टं काव्यबन्धसमाश्रयम् ।
पताकास्थानकमिदं द्वितीयं परिकीर्तितम् ॥ (नाट्यशास्त्र १९. ३१)

जिसे साहित्यदर्पणकार ने इस प्रकार ग्रहण किया है—

'वचः सातिशयं श्लिष्टं नानाबन्धसमाश्रयम् ।
पताकास्थानकमिदं द्वितीयं परिकीर्तितम् ॥

यहाँ 'काव्यबन्धसमाश्रयम्' के स्थान पर 'नानाबन्धसमाश्रयम्' बदला गया है। 'अभिनव भारतीकार' ने 'काव्यबन्धसमाश्रयम्' का अभिप्राय यह बतलाया है—

'काव्यस्य प्रकृतस्य वर्णनीयस्य यो बन्धः अतिशयोक्त्यादिरूपः योजनं तन्निमित्तपर्याय-सूचनं (तत्र) ।

'नानाबन्धसमाश्रयम्' का भी यही भावार्थ होना चाहिये। 'नानाबन्ध' का तात्पर्य 'तर्कवा-गीशी' टीका में 'विविधविशेषण-समन्वय' (साहित्यदर्पण : तर्कवागीश-विरचित व्याख्या पृष्ठ २०१)

(३ य पताकास्थानक)

अर्थोपक्षेपकं यत्तु लीनं सविनयं भवेत् ।
श्लिष्टप्रत्युत्तरोपेतं तृतीयमिदमुच्यते ॥ ४८ ॥

लीनमव्यक्तार्थम् , श्लिष्टेन सम्बन्धयोग्येनाभिप्रायान्तरप्रयुक्तेन प्रत्युत्तरेणोपेतम्, सविनय विशेषनिश्चयप्राप्त्या सहितं सपाद्यते यत्तत्तृतीय पताकास्थानम् ।

यथा वेण्या द्वितीयेऽङ्के—

'कञ्चुकी—देव ! भग्नं भग्नम् ।
राजा—केन ?
कञ्चुकी—भीमेन ।
राजा—कस्य ?
कञ्चुकी—भवतः ।
राजा—आ ! किं प्रलपसि ?
कञ्चुकी—(सभयम्) देव ! ननु ब्रवीमि । भग्न भीमेन भवतः ।

वताया है जो यहाँ एक आशिक अभिप्राय-प्रकार अवश्य है किन्तु सम्पूर्ण नहीं । 'नानावन्ध' की यह व्याख्या अर्थात्—

'नानावन्धो बीजप्रकाशननायकमगलसूचनादिरूप '

यहाँ असगत है। 'विमला' व्याख्या (पृष्ठ २५१) में 'नानाबन्ध' को दिया गया है जिससे कोई अभिप्राय नहीं निकलता । वस्तुत विश्वनाथ पद से, अभिप्राय 'अतिशयोक्ति' 'समासोक्ति' आदि-आदि अर्थयोजना-प्रकार

अनुवाद—तीसरा 'पताकास्थानक' वह है जिसमें ऐसे प्रत्युत्तर की योजना हुआ करती है जिससे अस्फुट भी अभिप्रेत निश्चय हो जाया करता है ।

यहाँ 'लीनम्' का अभिप्राय अस्फुट (किन्तु प्रस्तुत रूप से अभीष्ट) प्राय है, 'श्लिष्टप्रत्युत्तरोपेतम्' का तात्पर्य प्रस्तुत अर्थ से सवन्धयोग्य युक्त प्रत्युत्तर का तात्पर्य है और 'सविनयम्' का अर्थ 'विनय' अथवा युक्त का अर्थ है । तात्पर्य यह है कि तीसरा 'पताकास्थानक' से युक्त हुआ करता है ।

इसका निदर्शन 'वेणीसहार' के द्वितीय अङ्क का यह प्रसंग है—

'कन्चुकी—महाराज ! तोड़ दिया, तोड दिया !
राजा—अरे ! किसने ?
कन्चुकी—भीम ने ।
राजा—किसका ?
कन्चुकी—आप का ।
राजा—अरे ! क्या वोल रहा है ?
कन्चुकी—(भयभीत होकर)—महाराज ! वात यह है कि
आपका ।

राजा—धिग् वृद्धापसद ! कोऽयमद्य ते व्यामोहः ?

कञ्चुकी—देव ! न व्यामोहः ।

सत्यमेव—

भग्नं भीमेन भवतो मरुता रथकेतनम् ।
पतितं किङ्किणीक्वणबद्धाक्रन्दमिव क्षितौ ॥'

अत्र दुर्योधनोरुभङ्गरूपप्रस्तुतसंक्रान्तमर्थोपक्षेपणम् ।

(४ र्थ पताकास्थानक)

द्व्यर्थो वचनविन्यासः सुश्लिष्टः काव्ययोजितः ।
प्रधानार्थान्तराक्षेपी पताकास्थानकं परम् ॥ ४९ ॥

यथा रत्नावल्याम्—

'उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणा-
दायासं श्वसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मनः ।
अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं
पश्यन् कोपविपाटलद्युति मुखं देव्याः करिष्याम्यहम् ॥'

राजा—अरे बुड्ढे ! यह सब क्या अण्डबण्ड बक रहा है ?

कञ्चुकी—महाराज ! अण्डबण्ड नहीं । बात यह है कि (भीमेन मरुता) भयङ्कर बवण्डर ने आपके रथ का ध्वज तोड़ दिया है जो कि किङ्किणी की ध्वनि के बहाने मानो क्रन्दन करते हुए पृथिवी पर लोट रहा है ।

यहाँ प्रत्युत्तर वाक्य की जो योजना है उससे ऐसे अर्थ का उपक्षेप अथवा प्रत्यायन किया जा रहा है जो कि यहाँ दुर्योधन के जंघाभङ्ग-रूप प्रस्तुत अर्थ में समाप्त होकर सहृदय सामाजिक को चमत्कृत कर देता है ।

विमर्श—यहाँ साहित्यदर्पणकार की 'वृत्ति' अभिनवभारती की इन पंक्तियों का आधार ले रही है—

'भीमसमुद्भवरूपप्रस्तुतसमर्पणार्थं, श्लिष्टेन संबन्धयोग्येनाभिप्रायान्तरप्रयुक्तेनापि प्रत्युत्तरेणोपेतं सप्रश्नं सविनयं विशेषेण भवेत विशेषणमिश्रप्राप्त्या सहितं संपद्यते तत् तृतीयं पताकास्थानकम् । (अभिनवभारती १ प भाग, पृ० २)

अनुवाद—चौथा 'पताकास्थानक' वह है जहाँ ऐसे द्व्यर्थक वचन का उपन्यास हुआ करता है जो कि मुख्य अभिप्राय से भिन्न अभिप्राय का प्रत्यायक हो जाता ही है साथ ही साथ रूपक-प्रबन्ध के इतिवृत्त के भी उपयुक्त बन जाता है ।

इसका दृष्टान्त 'रत्नावली' का यह प्रसङ्ग है—

'राजा—आज 'उद्दामोत्कलिकां' (बहुत अधिक संख्या में खिलती कलियों वाली और प्रेमसिक्त की उत्कण्ठा से भरी) 'विपाण्डुररुचं' (पीले रंग की कलियों से पीली-पीली और प्रेम-विरह में पीली पड़ी) 'प्रारब्धजृम्भां (कुछ खिलने वाली और अलसायी) 'क्षणात् अविरलैः श्वसनोद्गमैरात्मन आयासमातन्वतीम्' (अकस्मात् निरन्तर चलते पवन के झोंकों से झकझोरी और विरह-वेदना की आहों से क्लान्त बनी) 'समदनां' (मदन वृक्ष पर चढ़ी और काम-भावना में पगी) इस उद्यानलता को एक सुन्दरी की भाँति बड़ी

अत्र भाव्यर्थः सूचितः।

(पताकास्थानक की योजना में नाटककार का स्वातन्त्र्य)

एतानि चत्वारि पताकास्थानानि क्वचिन्मङ्गलार्थं क्वचिदमङ्गलार्थं सर्वसन्धिषु भवन्ति। काव्यकर्तुरिच्छावशाद् भूयो भूयोऽपि भवन्ति।

यत्पुनः केनचिदुक्तम्—'मुखसन्धिमारभ्य सन्धिचतुष्टये क्रमेण भवन्ति' इति। तदन्ये न मन्यन्ते, एषामत्यन्तमुपादेयानामनियमेन सर्वत्रापि सर्वेषामपि भवितु युक्तत्वात्।

देख-देख मुझे यही इच्छा होती है कि वासवदत्ता के हृदय में मान उत्पन्न कर दूँ और उसके कोपरक्त मुख को देख आनन्द मनाऊँ।'

यहाँ यह स्पष्ट है कि 'रत्नावली' नाटिका के भावी वृत्त का उपक्षेप अथवा प्रत्यायन हो रहा है (क्योंकि बाद में उदयन को सागरिका के प्रेम में पगे देख वासवदत्ता का मुह कोप से लाल हो जाता है)।

विमर्श—'रत्नावली' के उपर्युक्त 'उद्दामोत्कलिकाम्' आदि सदर्भ को दशरूपककार ने तो 'पताकास्थानक' माना है क्योंकि यहाँ 'तुल्यविशेषण' की महिमा से भावी वृत्त का उपक्षेप किया जा रहा है किन्तु 'अभिनवभारती'कार ने इसमें 'व्याहार' नामक वीथ्यङ्ग का उदाहरण देखा है और 'पताकास्थानक' की कल्पना का खण्डन भी किया है—

'उद्दामोत्कलिकाम्' इति तु नोदाहरणम्, द्व्यर्थताप्रतिपत्तावपि हि नात्रार्थेन सहकारिता कुत्रचिदाचरिता। तस्मादेतद्-वीथ्यङ्गस्य व्याहारस्यैवोदाहरण युक्तम्।'

(अभिनवभारती, ३ य भाग, पृष्ठ २२)

'अभिनवभारती'कार के अनुसार 'रत्नावली' का यह प्रसङ्ग, अर्थात्—'प्रीत्युत्कर्षकृतो दृशामुदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्षते' आदि इस पताकास्थानक-प्रकार का उदाहरण है जहाँ सध्यासमय के वर्णन से सागरिका को उदयन की उपस्थिति की सूचना मिल जाती है और वह बोल पटती है—

'अय सो राजा उदयणो जस्स अहं तादेण दिण्णा' ('अय स राजा उदयनो यस्याहं तातेन दत्ता'-रत्नावली—१ म अङ्क)।'

अनुवाद—ये उपर्युक्त चार प्रकार के 'पताकास्थानक' हैं। इनकी योजना रूपक-प्रबन्धों की सभी सन्धियों में हो सकती है। कहीं इनकी योजना से मङ्गलाशंसा हुआ करती है और कहीं अमङ्गलाशसा (जैसा कि उद्धृत प्रसङ्गों में स्पष्ट है)। इनकी योजना रूपककार की इच्छा पर निर्भर है। आवश्यकतानुसार इन्हें कई बार भी उपनिबद्ध किया जा सकता है।

'पताकास्थानक' की योजना के सम्बन्ध में एक आध नाट्याचार्य यह कहते हैं—'पताकास्थानक चार हैं इसलिये इनकी योजना 'मुख' संधि से प्रारम्भ कर 'विमर्श' सन्धि तक ही क्रमश की जानी चाहिये'। किन्तु अन्य नाट्यमर्मज्ञ इस नियम को नहीं माना करते क्योंकि उनका कहना यह है कि 'पताकास्थानक' तो नाट्य-प्रबन्ध के लिये अत्यन्त आवश्यक तत्त्व है और इसलिये सभी सन्धियों में सभी प्रकार के पताकास्थानकों की योजना हो सकती है न कि पहली सन्धि में पहले की और दूसरी आदि में दूसरे आदि की, (वस्तुत पताकास्थानक-योजना का अनियम ही सबसे सुन्दर नियम है)।

विमर्श—'पताकास्थानक' की योजना के सम्बन्ध में 'अभिनवभारती'कार का भी यही कथन है—

(रूपक की इतिवृत्त-रचना : चरितचित्रण अथवा रस के अनुकूल)

यत्स्यादनुचितं वस्तु नायकस्य रसस्य वा ।
विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत् ॥ ५० ॥

अनुचितमितिवृत्तं यथा—रामस्य छद्मना वालिवधः । तच्चोदात्तराघवे नोक्तमेव । वीरचरिते तु वाली रामवधार्थमागतो रामेण हत इत्यन्यथा कृतः ।

(अर्थोपक्षेपक की योजना : कवि-स्वातन्त्र्य का एक प्रकार विशेष)

अङ्केष्वदर्शनीया या वक्तव्यैव च संमता ।
या च स्यादावर्षपर्यन्तं कथा दिनद्वयादिजा ॥ ५१ ॥
अन्या च विस्तरा सूच्या सार्थोपक्षेपकैर्बुधैः ।

'पताकानायकेन हि महोपताः कर्तव्यं तदेकेन क्रियते चतुष्टयेन वा । केचित्तु—चतुर्षु सन्धिषु चत्वारः पताकानायकाः तेषां यथाक्रमं सूचकानि पताकास्थानकानि, प्रथमं मुखसन्धौ यावच्चतुर्थमवमर्शसन्धाविति । तथासत् पताका इव प्रकरीकार्यबिन्दुबीजाना-मपि सूचकान्तराणि वक्तव्यानि स्युः, चत्वारश्च नियमेन पताकानायकाः भवेयुः ... न च मुखसन्ध्याचार्ये द्वितीयं प्रतिमुखसन्धाविस्यादिक्रमो न्याय्ये कथ्ये वा सामग्रमाविपत्ति-इत्यलमनेन । (अभिनवभारती भाग १ म पृष्ठ-२१)

अनुवाद—रूपक-प्रबन्धों की इतिवृत्त-रचना में कवि के लिये यह आवश्यक है कि या तो वह मूलवृत्त के उस अंश को छोड़ ही दे जो अभीष्ट चरित-चित्रण अथवा रसभाव के प्रतिकूल पड़ रहा हो या उसे यथासंभव दूसरा रूप दे दे ।

उदाहरण के लिये 'उदात्तराघव' को लिया जा सकता है जहाँ कवि ने राम के चरित विकास किंवा तत्सम्बन्धी रसभाव के अनुचित (रामविषयक मूलवृत्त के अंशभूत) राम द्वारा छिपकर वालि के वध का वृत्तान्त छोड़ दिया है । अथवा 'महावीरचरित' को देखा जा सकता है जहाँ महाकवि ने इस वृत्त को दूसरा रूप दे दिया है अर्थात् इसका इस प्रकार वर्णन किया है कि 'वालि ही राम का वध करने आता है और राम उसे मार डालते हैं ।

विमर्श—रूपक-प्रबन्ध में 'अनितिवृत्तनीय' वृत्त के सम्बन्ध में धनञ्जयार्पणकार का भी यही कथन है—

अनुर्गुणं च विरुद्धं च नायकस्य रसस्य वा ।
वृत्तं यत्तत् परित्याज्यं प्रकल्प्यमन्यथाऽन्यथा ॥

अगुणमनुचितं विरुद्धं विपरीतं परित्याज्यमुपेक्षणीयम् । धीरललितस्य अनुचितं परस्त्रीसंभोगादि, विरुद्धं धीरोदात्तत्वादि । शृङ्गारस्य प्रच्छन्नमार्जनान्-जुगुप्सितम्, बीभत्सस्य विरुद्धः । अन्यथैवौचित्येनाविरोधेन वा (नाट्यदर्पण १ म विवेक) ।

अनुवाद—रूपक-कवि के लिये, वृत्तबन्ध के संघटन में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि ऐसी घटना जिसे रस की दृष्टि से तो अङ्क के अन्तर्गत स्थान देना अनुचित है किन्तु पूर्वापर वृत्त-योजना की दृष्टि से निर्दिष्ट करना भी अपेक्षित है 'अर्थोपक्षेपक' की योजना द्वारा सूचित की जाय । इसी प्रकार ऐसी घटनायें भी 'अर्थोपक्षेपक'योजना द्वारा

अङ्केषु अदर्शनीया कथा युद्धादिकथा।

वर्षादूर्ध्वं तु यद्वस्तु तत्स्याद्वर्षादधोभवम् ॥ ५२ ॥

उक्तं हि मुनिना—

'अङ्कच्छेदे कार्यं मासकृतं वर्षसञ्चितं वापि।
तत्सर्वं कर्तव्यं वर्षादूर्ध्वं न तु कदाचित् ॥'

एवं च चतुर्दशवर्षव्यापिन्यपि रामवनवासे ये ये विराधवधादयः कथा-शास्ते ते वर्षवर्षावयवदिनयुग्मादीनामेकतमेन सूचनीया न विरुद्धाः।

दिनावसाने कार्यं यद्दिने नैवोपपद्यते।
अर्थोपक्षेपकैर्वाच्यमङ्कच्छेदं विधाय तत् ॥ ५३ ॥

(अर्थोपक्षेपक स्वरूप और प्रकार-निर्देश)

अथ के तेऽर्थोपक्षेपका इत्याह—

अर्थोपक्षेपकाः पञ्च विष्कम्भकप्रवेशकौ।
चूलिकाङ्कावतारोऽथ स्यादङ्कमुखमित्यपि ॥ ५४ ॥

ही सूचित की जॉय, जिनमें दो दिन से लेकर सालभर का (अर्थात् अधिक) समय लगा हा या जो वहुत विस्तार रखती हो।

यहाँ 'अङ्क' में अदर्शनीय घटना का अभिप्राय युद्ध आदि सरीखी घटनाओं का अभिप्राय है।

एक वर्ष से अधिक समय में घटी घटनाओं की योजना भी 'अर्थोपक्षेपक' द्वारा ही की जा सकती है किन्तु इसके लिये अपेक्षित यह है कि एक वर्ष से अधिक का घटनाकाल एक वर्ष के भीतर ही मान लिया जाय। नाट्याचार्य भरतमुनि का यही आदेश है—

'वह वृत्त जो एक मास में घटित हुआ हो अथवा एक वर्ष में सम्पन्न हुआ हो, अङ्कच्छेद अर्थात् विष्कम्भक आदि अर्थोपक्षेपक-प्रकारों में से किसी एक के द्वारा वर्णित किया जा सकता है। किन्तु एक वर्ष से अधिक समय में घटी घटना का उपनिवन्ध कदापि नहीं होना चाहिये।'

और वस्तुत इसीलिये रामविषयक रूपक-प्रवन्धों में, राम के १४ साल के वनवास-काल में घटित, विराध-वध आदि-आदि कथाओं को, एक वर्ष अथवा एक वर्ष के भीतर अथवा एक दिन या दो दिन में ही घटित रूप से अर्थोपक्षेपकों द्वारा उपनिवद्ध किया गया है जिसमें नाट्यशास्त्र की मर्यादा की भी पूर्ण रक्षा हुई है।

अनुवाद—अर्थोपक्षेपक प्रकार—

'अर्थोपक्षेपक' के पाच प्रकार हैं—(१) विष्कम्भक, (२) प्रवेशक, (३) चूलिका, (४) अङ्कावतार और (५) अङ्कमुख।

विमर्श—सरस इतिवृत्त का निवन्धन तो 'अङ्क' में हुआ करता है किन्तु नीरस और इसी-लिये अनिवन्धनीय इतिवृत्त-प्रकार की भी योजना पूर्वापरवृत्त-सम्बन्ध की दृष्टि से अपेक्षित ही हुआ करती है। अनिवन्धनीय इतिवृत्त की सूचना के जो उपाय हैं उन्हें 'अर्थ' अथवा इतिवृत्त के 'उपक्षेपक' अथवा प्रत्यायक होने के नाते 'अर्थोपक्षेपक' कहा गया है।

(१म अर्थोपक्षेपक : विष्कम्भक : दो भेद)

वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः ।
संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शितः ॥ ५५ ॥
मध्येन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां सम्प्रयोजितः ।
शुद्धः स्यात्स तु संकीर्णो नीचमध्यमकल्पितः ॥ ५६ ॥

तत्र शुद्धो यथा—मालतीमाधवे श्मशाने कपालकुण्डला । सङ्कीर्णो यथा—रामाभिनन्दे क्षपणककापालिकौ ।

(२य अर्थोपक्षेपक : प्रवेशक)

अथ प्रवेशकः—

प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः ।
अङ्कद्वयान्तर्विज्ञेयः शेषं विष्कम्भके यथा ॥ ५७ ॥

अनुवाद—इन पञ्चविध अर्थोपक्षेपकों में 'विष्कम्भक' वह अर्थोपक्षेपक हुआ करता है जो कि भूत और भावी कथा-भागों की सूचना दिया करता है और अङ्क की अपेक्षा कम विस्तार रखा करता है। इसकी योजना अङ्क के आरम्भ में ही की जाया करती है (मध्य अथवा अन्त में नहीं)। इसके दो प्रकार हैं—१ला वह जिसे 'शुद्ध विष्कम्भक' कहते हैं और जिसमें मध्यम प्रकृति के एक पात्र अथवा दो पात्रों के द्वारा वृत्त किंवा वर्तिष्यमाण वृत्तान्त भागों की सूचना दे दी जाया करती है और २रा वह, जिसे 'मिश्र' (अथवा सङ्कीर्ण) विष्कम्भक कहा गया है क्योंकि इसमें नीच और मध्यम प्रकृति के पात्रों द्वारा भूत और भावी अवान्तर घटनायें सूचित की जाया करती हैं।

'शुद्ध विष्कम्भक' के उदाहरण के लिये 'मालतीमाधव' (के तृतीय अङ्क) का विष्कम्भक पर्याप्त है जहाँ श्मशान में उपस्थित कपालकुण्डला भूत और भावी वृत्तान्तों की सूचना देती है। इसी प्रकार 'सङ्कीर्ण विष्कम्भक' के निदर्शन-रूप में 'रामाभिनन्द' नाटक में क्षपणक और कापालिक द्वारा प्रयुक्त विष्कम्भक लिया जा सकता है।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार की 'यह विष्कम्भक'-परिभाषा यहाँ ध्यान देने योग्य है—

'अङ्कानर्हस्य वृत्तस्य विष्कम्भस्त्वनुरक्षिता ।
संक्षिप्य सत्कृतेनोक्तिरन्यौ मध्यमैर्जनैः ॥
शुद्धो विष्कम्भकस्तत्र सङ्कीर्णो नीच-मध्यमैः ।
अङ्कसन्धायक: सम्बन्धसन्धानातीतकालवान् ॥

अर्थात् रूपक प्रबन्धों में कतिपय ऐसे भी कथाभाग उपनिबद्ध किये जाते हैं जो 'अङ्कानर्ह' अर्थात् अरसद होने के कारण या रसद होने पर भी एक दिन में अभिनय के लिये असम्भावनीय होने के कारण 'अङ्क में अनभिनेय' हुआ करते हैं। ऐसे कथाभागों की योजना आगे के अङ्क के इतिवृत्त के उपयोगी होने के नाते 'विष्कम्भक' द्वारा की जाया करती है। 'विष्कम्भक' पद की यह व्युत्पत्ति—'विष्कम्नाति अनुसन्धानेन वृत्तमुपष्टम्भयतीति विष्कम्भकः' जिससे यह स्पष्ट है कि यह 'अङ्कसन्धायक' हुआ करता है। 'अङ्कसन्धायक' होने का अभिप्राय अङ्कार्थ का संसूचक होना है अथवा दो अङ्कों या दो अङ्कार्थों का सम्बन्धक (संबद्ध कराने वाला) होता है।

अनुवाद—'प्रवेशक' भी विष्कम्भक की ही भाँति वृत्त और वर्तिष्यमाण इतिवृत्त का

अङ्कद्वयस्यान्तरिति प्रथमाङ्केऽस्य प्रतिषेधः। यथा—वेण्यामश्वत्थामाङ्के राक्षसमिथुनम्।

(३य अर्थोपक्षेपक : चूलिका)

अथ चूलिका—

अन्तर्जवनिकासंस्थैः सूचनार्थस्य चूलिका।

यथा वीरचरिते चतुर्थाङ्कस्यादौ—'(नेपथ्ये) भो भो वैमानिकाः, प्रवर्तन्तां रङ्गमङ्गलानि' इत्यादि। 'रामेण परशुरामो जित' इति नेपथ्ये पात्रैः सूचितम्।

(४र्थ अर्थोपक्षेपक अङ्कावतार)

अथाङ्कावतार —

अङ्कान्ते सूचितः पात्रैस्तदङ्कस्याविभागतः ॥ ५८ ॥

यत्राङ्कोऽवतरत्येषोऽङ्कावतार इति स्मृतः।

सूचक हुआ करता है। इसकी योजना दो अङ्कों के बीच मे की जाया करती है और इसमें 'अनुदात्तोक्ति' अर्थात् संस्कृतभिन्न प्राकृतादि भाषा द्वारा कथावस्तु की सूचना हुआ करती है। इसका प्रयोग नीच पात्रों का कार्य है।

दो अकों के बीच में 'प्रवेशक' की योजना का यह तात्पर्य है कि पहले अंक में इसकी योजना निषिद्ध है। इसके उदाहरण के लिए, 'वेणीसंहार' के तृतीय अक अर्थात् 'अश्वत्थामाङ्क' के राक्षस-मिथुन का वृत्तान्त देखा जा सकता है।

विमर्श—'प्रवेशक' और 'विष्कम्भक' में जो वस्तुत भेद है वह भाषा का भेद है। 'प्रवेशक' की भाषा प्राकृत हुआ करती है और 'विष्कम्भक' की संस्कृत अथवा संस्कृत-प्राकृत। 'प्रवेशक' को इसलिए 'प्रवेशक' कहा जाया करता है क्योंकि इसका कार्य सामाजिक-हृदय में अप्रत्यक्ष अर्थ का प्रवेश कराना हुआ करता है (अप्रत्यक्षान् अर्थान् सामाजिकहृदये प्रवेशयतीति प्रवेशक)।

अनुवाद—'चूलिका' वह अर्थोपक्षेपक-प्रकार है जिसमें पात्र नेपथ्य के भीतर से ही वस्तुविशेष की सूचना दिया करते हैं।

इसका उदाहरण 'महावीर-चरित' के चतुर्थ अक के आरम्भ में यह वृत्त-सूचना है—

(नेपथ्य से)

अरे वैमानिक गण! रङ्गमङ्गल कार्य प्रारम्भ किये जाय। आदि।

यहाँ नेपथ्यवर्ती पात्र राम द्वारा परशुराम की विजय की सूचना दे रहे हैं।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने 'चूलिका' की यह परिभाषा की है—

'वस्तुन सूचनं चूला पात्रैर्नेपथ्यसंस्थितैः ॥

वस्तुन इति कस्यचिदर्थस्य सूचनमुपक्षेप। पात्रै· स्त्रीपुंसै नेपथ्यसंस्थितैर्यवनिकान्तरदेशस्थायिभि। सा चूडेव चूलिका रङ्गाभिनेयार्थस्य नेपथ्यपात्रोक्ते शिखाकल्पत्वात्।'

अनुवाद—'अङ्कावतार' वह अर्थोपक्षेपक-भेद है जिसे पिछले अंक के अन्त में, उस अक में पात्रों द्वारा, अग्रिम अक की सूचना कहा करते हैं।

यथा—

अभिज्ञाने पञ्चमाङ्के पात्रैः सूचितं षष्ठाङ्कस्तदङ्कस्याङ्गविशेष इवावतीर्णं।

(५म अर्थोपक्षेपक : अङ्कमुख)

अथाङ्कमुखम्—

यत्र स्यादङ्क एकस्मिन्नङ्कानां सूचनाऽखिला ॥ ५९ ॥

तदङ्कमुखमित्याहुर्बीजार्थख्यापकं च तत्।

यथा—

मालतीमाधवे प्रथमाङ्कादौ कामन्दक्यवलोकिते भूरिवसुप्रभृतीनां भाविभूमिकानां परिक्षिप्तकथाप्रबन्धस्य च प्रसङ्गात्सन्निवेशं सूचितवत्यौ।

(अङ्कास्य' यथा है?)

अङ्कान्तपात्रैर्वाङ्कास्यं छिन्नाङ्कस्यार्थसूचनात् ॥ ६० ॥

इसका उदाहरण 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के पञ्चम अंक के पात्रों द्वारा सूचित उसका छठा अंक है जो पञ्चम अंक के ही अङ्गरूप से उपस्थित है।

विमर्श—'अङ्कावतार' की नाटकदर्पणकार-सम्मत रूपरेखा यह है—

'साऽङ्कावतारो यत् पात्रैरङ्कान्तरमसूचनम्।

पात्रान्तरभावेन यस्यैवाङ्कस्य पात्रैरविच्छिन्नार्थतया सूचनीयार्थस्याभावात्। प्रवेशक-विष्कम्भक-सूचनारहितमङ्कान्तरं भवति स द्वितीयाङ्कावतारणादङ्कावतारः।

(नाट्यदर्पण : १म विवेक)

अनुवाद—'अङ्कमुख' वह अर्थोपक्षेपक-प्रकार है जिस एक अङ्क में अन्य अङ्कार्थों की सूचना कहा जाया करता है और जिसमें बीज तथा अर्थ (फल) दोनों संक्षेप में सूचित हुआ करते हैं।

इसका उदाहरण 'मालतीमाधव' के प्रथम अङ्क का आरम्भ है जहाँ 'कामन्दकी' और 'अवलोकिता' द्वारा, भूरिवसु आदि की अग्रिम भूमिका की सूचना दे दी जाती है और संक्षिप्त कथाप्रबन्ध भी उपस्थित कर दिया जाता है।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार का यह 'अङ्कमुख'-निरूपण 'भावप्रकाशनकार' के इस 'अङ्कास्य' लक्षण का अनुसरण करता है

'सूचनं सकलाङ्कानां तदङ्कमुखं बुधैः।
यथा 'मौर्यमिवी दर्पण पाठेद् मिरिपस्थदे' ॥
अवलोकितया पृष्टकामन्दकीपुत्रेण च।
ममात्मजा स्वकामादिदृष्ट सर्वाङ्कसूचनम् ॥
अत्र मुख्यं निर्दिष्टं कथोपरि निरूपिता क्रिया यतयोः।
पुनरप्य वै तदङ्कमुखमिति मन्यो बुधस्तितम् ॥

(भावप्रकाशन : अष्ट अधिकार)

यह 'अङ्कमुख' का एक और भी प्रकार है जिसे 'अङ्कास्य' कहते हैं। 'अङ्कास्य' का अभिप्राय पूर्व अङ्क के अन्त में प्रविष्ट पात्रों द्वारा अग्रिम प्रस्तुत अङ्कों की सूचना का अभिप्राय है।

अङ्कान्तपात्रैरङ्कान्ते प्रविष्टैः पात्रैः। यथा वीरचरिते द्वितीयाऽङ्कान्ते—
'(प्रविश्य)

सुमन्त्रः—भगवन्तौ वशिष्ठविश्वामित्रौ भवतः सभार्गवानाह्वयतः।

इतरे—क्व भगवन्तौ ?

सुमन्त्र—महाराजदशरथस्यान्तिके।

इतरे—तत्तत्रैव गच्छाम' इत्यङ्कपरिसमाप्तौ। '(तत' प्रविशन्त्युपविष्टा वशिष्ठविश्वामित्रपरशुरामा)' इत्यत्र पूर्वाङ्कान्त एव प्रविष्टेन सुमन्त्रपात्रेण शतानन्दजनककथाविच्छेदे उत्तराङ्कमुखसूचनादङ्कास्यम्' इति।

एतच्च धनिकमतानुसारेणोक्तम्। अन्ये तु—'अङ्कावतरणेनैवेदं गतार्थम्' इत्याहु।

यहाँ कारिका के 'अङ्कान्तपात्रै' का तात्पर्य 'अङ्क के अन्त में प्रविष्ट पात्रों का' तात्पर्य है।

इसका उदाहरण 'महावीरचरित' के द्वितीय अङ्क के अन्त में प्रयुक्त यह अर्थोपक्षेपक है—

(प्रवेश करके)

सुमन्त्र—भगवान् वशिष्ठ और विश्वामित्र भार्गव परशुराम और आप सबको बुला रहे हैं।

और लोग—कहाँ हैं भगवान् वशिष्ठ और विश्वामित्र ?

सुमन्त्र—महाराज दशरथ के पास विराजमान हैं।

और लोग—तब वहीं चला जाय।

यहाँ द्वितीय अङ्क के अन्त में वशिष्ठ, विश्वामित्र और परशुराम का प्रवेश होता है। इसे 'अङ्कास्य' इसलिए माना गया है क्योंकि पूर्व अङ्क में प्रविष्ट पात्र 'सुमन्त्र' द्वारा जनक और शतानन्द-सम्बन्धी कथावस्तु का विच्छेद हो जाता है और अग्रिम अङ्क की कथावस्तु के मुख अथवा आरम्भ की सूचना दे दी जाती है।

यहाँ 'अङ्कास्य' का यह अभिप्राय आचार्य धनिक के मत का अनुसरण करते हुये बताया गया है। अन्य नाट्याचार्य 'अङ्कावतार' से ही इसे गतार्थ मानते हैं (क्योंकि इसमें और अङ्कावतार में कोई भेद नहीं।)

विमर्श—'अङ्कमुख' के इस प्रकार का यही अभिप्राय भावप्रकाशनकार ने भी प्रकाशित किया है—

'पूर्वाङ्कान्तप्रविष्टैर्यदुत्तराङ्कार्थसूचनम्।
पूर्वाङ्कार्थानुवृत्त्यर्थं तदङ्कास्यमुदीरितम्॥
अङ्कान्तपात्रैरङ्कास्य छिन्नाङ्कार्थस्य सूचनम्।
यथा हि वीरचरिते द्वितीयेऽङ्केऽवसानके॥
रामभार्गवयोर्मध्ये सुमन्त्रेण प्रविश्य तु।
विश्वामित्रवशिष्ठौ च तदाह्वानेन सूचितौ॥
रामयोस्तत्र कलहाविच्छेदेनैव तौ पुन।
तृतीयाङ्कप्रवेशेन सुमन्त्रेणैव सूचितौ॥'

(भावप्रकाशन ७म अधिकार)

(विष्कम्भक आदि की योजना-व्यवस्था)

अपेक्षितं परित्याज्यं नीरसं वस्तु विस्तरम् ।
यदा संदर्शयेच्छेषमामुखानन्तरं तदा ॥ ६१ ॥
कार्यो विष्कम्भको नाट्य आमुखाक्षिप्तपात्रकः ।

यथा—रत्नावल्यां यौगन्धरायणप्रयोजितः ।

यदा तु सरसं वस्तु मूलादेव प्रवर्तते ॥ ६२ ॥
आदावेव तदाऽङ्कः स्यादामुखाक्षेपसंश्रयः ।

यथा—शाकुन्तले ।

विष्कम्भकाद्यैरपि नो वधो वाच्योऽधिकारिणः ॥ ६३ ॥
अन्योऽन्येन तिरोधानं न कुर्याद्रसवस्तुनोः ।

रसः शृङ्गारादिः । यदुक्तं धनिकेन—
'न चातिरसतो वस्तु दूरं विच्छिन्नतां नयेत् ।
रसं वा न तिरोदध्याद्वस्त्वलङ्कारलक्षणैः ॥' इति ।

अनुवाद—इन अर्थोपक्षेपक-प्रकारों की योजना की यह व्यवस्था है—

जहाँ रूपक-प्रबन्ध के सरस आरम्भ के लिये लम्बी-चौड़ी नीरस कथा का छोड़ना आवश्यक है वहाँ सबद्ध अपेक्षित कथा का वर्णन भी आवश्यक है और इसके लिये आमुख अथवा प्रस्तावना के बाद में ही आमुख-सूचित पात्र द्वारा विष्कम्भक का प्रयोग उपयुक्त माना गया है। 'रत्नावली' में, आमुख' के बाद, यौगन्धरायण द्वारा प्रयुक्त जो 'विष्कम्भक' है वह इसी विष्कम्भक—योजना के नियम का निदर्शन है।

किन्तु यदि रूपक-प्रबन्ध का शुरू आरम्भ से ही सरस हो तब आमुख अथवा प्रस्तावना द्वारा पात्र-प्रवेश की सूचना के बाद ही अङ्क का आरम्भ आवश्यक है। यहाँ विष्कम्भक की योजना अपेक्षित नहीं।

अभिज्ञानशाकुन्तल का आरम्भ इसी नियम का निदर्शन है।

विष्कम्भक आदि की योजना द्वारा भी नायक के वध का वर्णन कदापि नहीं किया जाना चाहिए। साथ ही साथ न तो वृत्तान्त-वर्णन द्वारा रस का तिरोधान करना चाहिए और न रस के धाराविरोह अभिव्यञ्जन द्वारा वृत्तान्त को ही तिरोहित करना चाहिए।

यहाँ 'रसवस्तुनः' में 'रस' का अभिप्राय शृङ्गार आदि रसों का अभिप्राय है। आचार्य धनिक का भी इस सम्बन्ध में यही कथन है—

'न तो रस की अनवरत योजना द्वारा कथावस्तु का विच्छेद उचित है और न वस्तु-वर्णन अथवा अलङ्कार-वर्णन द्वारा रस का ही तिरोधान उपयुक्त है।

विमर्श—अर्थोपक्षेपक की योजना का एक मात्र प्रयोजन ऐसी सूच्यवस्तु की सूचना है जोकि रूपक के हित के लिये अपेक्षित हो—

'अर्थोपक्षेपकैः सूच्यं पञ्चभिः प्रतिपादयेत् ।
विष्कम्भ-चूलिकाङ्कास्याङ्कावतारप्रवेशकैः ॥
सूच्यार्थसूचनोपायाः सूरिभिः पञ्च कीर्तिताः ।

(भावप्रकाशन : अष्टम अधिकार)

(अर्थप्रकृति-पञ्चक : नामनिर्देश)

बीजं बिन्दुः पताका च प्रकरी कार्यमेव च ॥ ६४ ॥
अर्थप्रकृतयः पञ्च ज्ञात्वा योज्या यथाविधि ।

अनुवाद—रूपक-निर्माण के उपयुक्त जो 'अर्थप्रकृतिपञ्चक' है वह यह है—(१) बीज (२) बिन्दु, (३) पताका, (४) प्रकरी और (५) कार्य । रूपक में इन अर्थप्रकृतियों का नियमानुसार उपनिबन्ध आवश्यक माना गया है ।

यहाँ 'अर्थप्रकृति' का अभिप्राय 'अर्थ' अथवा प्रयोजन की 'प्रकृति' का है और 'प्रकृति' का अभिप्राय 'सिद्धि-हेतु' अथवा 'साधक उपाय' का अभिप्राय है ।

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि ने श्री रूपक-प्रबन्ध में अर्थप्रकृति-पञ्चक की यथाविधि योजना का आदेश दिया था (अर्थप्रकृतय. पञ्च ज्ञात्वा योज्या यथाविधि–नाट्यशास्त्र : १९.२१) । 'अर्थ-प्रकृति' क्या है ? इसकी मीमांसा में 'अभिनवभारती'कार ने यह कहा है—

'इतिवृत्तविषये यथा येन प्रकारेणाधिकारिकस्य खण्डनलक्षणेन पञ्चावस्था उक्ता स्तेनैव प्रकारेणार्थप्रकृतयोऽपि पञ्चैव पठ्यन्ते । तदनभिधाने उपायादिस्वरूपाऽपरिज्ञानात् प्रारम्भाद्यवस्थाना परमार्थतोऽसवेदने आधिकारिकत्वमविदित स्यात् । यत्रार्थं फल तस्य प्रकृतय उपाया. फलहेतव इत्यर्थ । तत्र जडचेतनतया द्विधा करणम्, जडश्च मुख्यकारण-भूत , गूढतरो वा, आद्य बीज द्वितीय कार्यं करणीय प्रयोक्तव्यमित्यर्थ । चेतनोऽपि द्विधा मुख्य उपकरणभूतश्च, अन्त्योऽपि द्विधा स्वार्थसिद्धिसहिततया परार्थसिद्ध्या युक्तः शुद्ध्याऽपि च, तत्राद्यो बिन्दुः द्वितीय पताका तृतीयः प्रकरी । तदेतै पञ्चभिरुपायै. पूर्णफल निष्पाद्यते । अन्ये त्वाहुः—अर्थस्य समस्तरूपकवाच्यस्य प्रकृतय प्रकरणान्यवयवार्थ-खण्डा इत्यर्थप्रकृतय एतच्च व्याख्यान नातीव प्रकृत पोषयति । सन्ध्यादीनामपि चार्थ-प्रकृतित्वमत्र व्याख्याने स्यात्, इतिवृत्तमेव च समुदायरूपम् । अर्थ इतिवृत्ते प्रकृतय इति वक्तव्येऽर्थग्रहणमतिरिक्त स्यात्, इत्यवस्थाभिश्च तुल्यतावर्णन वर्णनमात्र स्यादिति किमनेन (अभिनवभारती - २ य भाग, पृष्ठ १२) ।'

अर्थात् रूपक के आधिकारिक इतिवृत्त के अन्तरङ्ग विश्लेषण में 'अवस्थापञ्चक' का जो विश्लेषण किया जाया करता है उसका पूर्ण परिज्ञान तब तक नहीं हो सकता जब तक उसके (आधिकारिक इतिवृत्त के) बहिरङ्ग विश्लेषण में 'अर्थप्रकृति-पञ्चक' का स्वरूप निर्धारित न कर लिया जाय । 'अर्थप्रकृति' का अभिप्राय 'अर्थ' अथवा फल के उपाय अथवा हेतु का अभिप्राय है । फलहेतु अथवा फलोपाय प्रथमत दो प्रकार से विभक्त किये जा सकते हैं—(१ ला) जडरूप फलसाधन और (२ रा) चेतनरूप फलसाधन । यह जडरूप फलोपाय भी दो प्रकार से विभक्त दिखायी दे सकता है—(१ ला) बीज, जोकि फल का मुख्य कारण है और (२ रा) कार्य, जिसे बीज से फलोत्पादन के लिये प्रयुक्त किया जाया करता है । इसी प्रकार चेतनरूप फलोपाय के भी दो भेद हो सकते हैं—(१ ला) मुख्य और (२ रा) सहकारी । यह 'सहकारी' रूप चेतन फलहेतु भी दो प्रकार का हो सकता है—(१ ला) स्वार्थसिद्धिपूर्वक परार्थ का साधक और (२ रा) स्वार्थनिरपेक्ष रूप से परार्थ का साधक । इन त्रिविध चेतनरूप फलोपायों में बिन्दु तो मुख्य फलोपाय है और पताका और प्रकरी प्रथम और द्वितीय प्रकार के सहकारी फलोपाय हैं ।

यहाँ यह स्पष्ट है कि 'फल' को रूपककार और नायक दोनों का फल माना गया है । रूपक-कार के लिये रूपक का फल रसोल्लास है और रूपक में 'नायक का फल धर्मार्थ-काममोक्ष रूप पुरुषार्थचतुष्टय में से कोई एक अथवा परस्पर सभिन्न पुरुषार्थ हो सकता है ।

(१म अर्थप्रकृति : बीज)

अर्थप्रकृतयः प्रयोजनसिद्धिहेतवः। तत्र बीजम्—

अल्पमात्रं समुद्दिष्टं बहुधा यद्विसर्पति ॥ ६५ ॥
फलस्य प्रथमो हेतुर्बीजं तदभिधीयते ।

यथा—रत्नावल्यां वत्सराजस्य रत्नावलीप्राप्तिहेतुर्दैवानुकूल्यलालितो यौगन्धरायणव्यापारः। यथा वा—वेण्यां द्रौपदीकेशसंयमनहेतुर्भीमसेनक्रोधोपचितो युधिष्ठिरोत्साहः।

'अर्थप्रकृति' के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न अभिप्राय भी प्रचलित रहे हैं। कुछ लोग अर्थप्रकृति को अर्थ अथवा समस्त रूपकार्थ का 'अवयव' अथवा खण्ड मानते रहे हैं किन्तु ऐसा मानने से 'अर्थप्रकृति और 'सन्धि' का स्वरूप-विवेक अस्पष्ट हो जाता है। कुछ लोग अर्थ को इतिवृत्त मानकर 'अर्थप्रकृति' को इतिवृत्त में प्रकृति' उपाय भी समझते रहे हैं किन्तु ऐसा समझने से 'अर्थप्रकृति' और अवस्थापञ्चक का भेद समाप्त हो जाता है। इसलिये अर्थप्रकृति' को 'फलोपाय' मानना ही समीचीन है।

अनुवाद—'बीज' वह अर्थप्रकृति है जिसे मुख्य फल का मुख्य हेतु अथवा उपाय कहा गया है। धान्य-बीज की भाँति रूपक-प्रबन्ध का यह 'बीज' आरम्भ में अत्यन्त सूक्ष्म रूप में उपस्थित रहा करता है और उत्तरोत्तर विकसित और वृद्धिशील होता जाता है।

जैसे कि 'रत्नावली' के आरम्भ में अनुकूल भाग्य से उपकृत अमात्य यौगन्धरायण के व्यापार का जो वर्णन है जिस पर वत्सराज उदयन की सागरिका-प्राप्ति निर्भर है वह 'बीज' रूप अर्थप्रकृति की ही योजना है।

अथवा जैसे कि 'वेणीसंहार' के आरम्भ में भीमसेन के क्रोधावेश से सम्बद्ध युधिष्ठिर के युद्धोत्साह का जो वर्णन है जोकि द्रौपदी के केशसंयमन (वेणीसंहार : चुके केशपाश का सँवारना) का निदान है, उसमें 'बीज' रूप अर्थप्रकृति की ही रूपरेखा लक्षित करती है।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार की इन पंक्तियों में जिनमें 'अभिनवभारती' का बीजसम्बन्धी मत संक्षिप्त किया हुआ है 'बीज' का यह स्वरूप है—

'स्वल्पोद्दिष्टस्तु तन्मात्रो हेतुर्बीजं प्ररोहणात्।
यथाहि गम्भीरव्यापारसमन्वितो मुख्यफलव्यवसायो यो हेतुमुख्यसाध्योपायः स धान्यबीजवद् बीजम्। प्ररोहणादुत्तरत्र शाखोपशाखादिभिर्विस्तरणात्। इदं यथासामन्तरं निरूप्यते। बीजं हि नानाप्रकारमितिवृत्तार्थस्योपायः। आमुखे तु रूपकप्रस्तावनार्थं नटस्यैव वृत्तम्। न पुनरत्र नायककार्यरसो मुख्यरसस्य प्रधानार्थभिकार्यभेदः। अत एवामुखोक्तं अपि बीजात्मकं प्रविष्टमात्रकपात्रेण पुनरुच्यन्ते। यथा च रत्नावल्याम्—
'द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात्।
आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः॥
इत्याद्यामुखोक्तं यौगन्धरायणः पठति।
तत्र बीजं क्वचित् व्यापाररूपम्। यथा रत्नावल्यां वत्सराजस्य रत्नावलीप्राप्तिहेतुरनुकूलदैवा सागरिकान्तःपुरनिक्षेपादिर्यौगन्धरायणव्यापारः।
क्वचित्तु व्यसनविपुलितरूपकं व्यसनोपक्षेपरूपम्।' ''

(२ य अर्थप्रकृति · विन्दु)

अवान्तरार्थविच्छेदे विन्दुरच्छेदकारणम् ॥ ६६ ॥

यथा—रत्नावल्यामनङ्गपूजापरिसमाप्तौ काव्यार्थविच्छेदे सति 'उदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्षते' इति सागरिका श्रुत्वा '(सहर्षम्) कध एसो सो उदअणणरिन्दो' (कथमेष स उदयननरेन्द्र.) इत्यादिरवान्तरार्थहेतुः ।

क्वचिद् व्यसनाभ्युदययोरुपक्षेपरूपम् । क्वचिद् व्यसनोपनिपाते तन्निवृत्त्युपक्रमरूपम् । यथा मुद्राराक्षसे चाणक्य --

'आ क एष मयि स्थिते चन्द्रगुप्तमभिभवितुमिच्छति ?
नन्दकुलकालभुजगीं कोपानलवहललोलधूमलताम् ।
अद्यापि वध्यमाना वध्य को नेच्छति शिखा मे ?
इत्यादि नायक-प्रतिनायकामात्याद्याश्रयेण विचित्ररूपो वीजोपन्यास ।'

(नाट्यदर्पण १ म विवेक)

'वीज' का अन्यविध भी विश्लेषण किया गया है। फलवीज, वस्तुवीज और अर्थवीज के रूप में त्रिविध वीज की कल्पना प्राचीन नाट्याचार्यों की कल्पना है—

फले यस्य हिं सहार फलवीज तु तद्भवेत् ।
वस्तुवीज कथा ज्ञेया अर्थवीजं तु नायक ॥

अनुवाद— 'विन्दु वह अर्थप्रकृति है जिसे रूपक-प्रवन्धों के अवान्तर वृत्त-विच्छेद की सभावना में अविच्छेद का कारण कहा गया है ।

इसके उदाहरणरूप में 'रत्नावली' का वह प्रसङ्ग पर्याप्त है जहाँ सागरिका की कामपूजा समाप्त होने पर वृत्त-विच्छेद सभव है किन्तु वन्दी के इस वाक्य अर्थात् 'अस्तापास्तसमस्तभासि दशासुदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्षते' के सुनने के वाद सागरिका की इस उक्ति अर्थात् 'क्या ये ही महाराज उदयन हैं' आदि से अग्रिम इतिवृत्त अविच्छिन्न रूप से चल निकलता है—

विमर्श—'अभिनवभारती'कार ने भरतमुनि के इस 'विन्दु'-लक्षण अर्थात्—

'प्रयोजनानां विच्छेदे यदविच्छेदकारणम् ।
यावत्समाप्तिर्वन्धस्य स विन्दु परिकीर्तित ॥'

के विमर्श में यह कहा है—

'प्रयुज्यते फल यैरुपायानुष्ठानै तेषामितिवृत्तवशादवश्यकर्तव्यतादिभिर्विच्छेदेऽपि सति यदनुसन्धानात्मक प्रधाननायकगत सन्धिद्रव्यज्ञान विन्दु ज्ञानविचारण फललाभोपायत्वात् । यावदविच्छेद प्रत्यनुसन्धानेन न कृतस्तावन्न किञ्चिदपि कार्यं निर्वहति । ननु वीज तावत् फलान्तमास्ते विन्दोस्तु कथ स्थितिरित्याह यावत् समाप्तिरिति । यावत्त्वस्य वध्यमानस्य फलस्य सम्यगाप्तिस्तावत् । एतदुक्त भवति—सकलोपायप्रतिजागरणनिमित्त ह्यनुसन्धान यावद्धि मुख्यनायकेन प्रत्यनुसन्धानेन न क्रियते तावद् जडाजडरूप सर्वोप्युपायधर्मोऽनुपायकल्प एव । एव प्रधानानुसन्धानचेतनव्यापार कारणानुग्राही स्वय च परमकारणस्वभावस्तैलविन्दुवत् सर्वव्यापकत्वादपि विन्दु । वीज च मुखसन्धेरेव प्रवर्त्यात्मानमुन्मेषयति विन्दुस्तदनन्तरमिति विमर्शोऽनयो , द्वे अपि तु समस्तेतिवृत्तव्यापके (अभिनवभारती, भाग ३ य, पृष्ठ–१४) ।'

अर्थात् नाटकीय इतिवृत्त में आवश्यक कार्यजन्य व्यवधान के निवारणार्थ जो नायकादिगत उपायानुसन्धान की योजना चला करती है उसे 'विन्दु' कहा गया है। प्रत्येक नाटकीय चरित

(३ य अर्थप्रकृति : पताका)

व्यापि प्रासङ्गिकं वृत्तं पताकेत्यभिधीयते ।

यथा—रामचरिते सुग्रीवादेः, वेण्यां भीमादेः, शाकुन्तले विदूषकस्य चरितम् ।

(पताका की मध्यपर्यन्त योजना)

पताकानायकस्य स्यान्न स्वकीयं फलान्तरम् ॥ ६७ ॥
गर्भे सन्धौ विमर्शे वा निर्वाहस्तस्य जायते ।

यथा—सुग्रीवादे राज्यप्राप्त्यादि । यत्तु मुनिनोक्तम्—

'आ गर्भाद्वा विमर्शाद्वा पताका विनिवर्तते ॥' इति ।

तत्र पताकेति । पताकानायकफलं निर्वहणपर्यन्तमपि पताकाया प्रवृत्तिदर्शनात्' इति व्याख्यातमभिनवगुप्तपादैः ।

की अपनी अपनी कार्यसिद्धि है और उसके अपने-अपने उपाय हैं जिनका अनुसन्धान अथवा अन्वेषण आवश्यक ही है। इस प्रकार 'विन्दु' को रूपक-प्रबन्ध में व्याप्त ज्ञान अथवा विचारक इतिवृत्त मान माना गया है और इसकी योजना अनिवार्य बतायी गयी है।

अनुवाद—'पताका' वह प्रासङ्गिक इतिवृत्त है जो व्यापक हुआ करता है और प्रधान फल का सहायक बना करता है।

उदाहरण के लिये रामचरितसम्बन्धी रूपक-प्रबन्धों में सुग्रीवादिसम्बन्धी वृत्तान्त अथवा 'वेणीसंहार' में भीमसेन-सम्बन्धी वृत्तान्त अथवा 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में विदूषक-सम्बन्धी वृत्तान्त।

अनुवाद—'पताका' रूप प्रासंगिक इतिवृत्त का भी एक नायक हुआ करता है किन्तु आधिकारिक नायक-विषयक फल के अतिरिक्त उसका अन्य कोई फल उपनिबद्ध नहीं किया जाया करता। पताकानायक का अपना जो फल है उसका उपनिबन्ध गर्भसन्धि अथवा विमर्शसन्धि में ही समाप्त हो जाता है।

उदाहरण के लिये (रामचरित आदि रूपक-प्रबन्धों में) सुग्रीवादि-वृत्तान्त रूप जो 'पताका' है उसमें सुग्रीवादि का राज्यलाभादिरूप फल गर्भ अथवा विमर्शसन्धि में ही उपनिबद्ध है न कि निर्वहण सन्धि में (क्योंकि वहाँ तो मुख्य नायक के ही फल का उपनिबन्ध अपेक्षित है)।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि भरतमुनि की इस उक्ति अर्थात् 'पताका को गर्भसन्धि अथवा विमर्शसन्धि की समाप्ति के पहले ही निष्पन्न अथवा समाप्त हो जाना चाहिए' का पताकानायक-संबन्धी उपर्युक्त फल-योजना के सिद्धान्त से कोई विरोध नहीं पड़ता क्योंकि यहाँ, जैसा कि अभिनवगुप्तपादाचार्य का कहना है, 'पताका' का अभिप्राय (उपचारतः) पताकानायकगत फल का अभिप्राय है न कि पताकारूप प्रासङ्गिक इतिवृत्त का, जो कि (गर्भ और विमर्श तक ही नहीं अपितु) निर्वहण सन्धि तक भी चला करता है।

विमर्श—यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि साहित्यदर्पणकार का 'तत्र पताकेति पताकानायक फलं—"दर्शनात्' आदि जो कथन है वह 'अभिनवभारती' की इन पंक्तियों का भावानुवाद रूप है—

(४ र्थ अर्थप्रकृति-प्रकरी और उसकी विधान-व्यवस्था)

प्रासङ्गिकं प्रदेशस्थं चरितं प्रकरी मता ॥ ६८ ॥

यथा—कुलपत्यङ्के रावणजटायुसंवादः ।

प्रकरी नायकस्य स्यान्न स्वकीयं फलान्तरम् ।

यथा—जटायोः मोक्षप्राप्तिः ।

स्वफलसिद्धये यतमानस्य तत्र तत्रावश्य पृथग्गणनाशङ्केति, तत्प्रशमनप्रयोजनम् अस्मत्पक्षे कस्मिंस्तर्हि प्रधानसन्धौ तस्यानुयायित्वमिति दर्शयितुमाह—आगर्भादाविमर्शा-द्वेति प्रतिमुखे गर्भे यदि वा । यमर्थं व्याप्य 'निवर्तते पताकेतिवृत्तं तावत्येव पताकानाय-कस्य स्वफलसिद्धिरुपनिवन्धनीया, सिद्धफलस्त्वसौ प्रधानफल एव व्याप्रियमाण आसी-नोऽपि भूतपूर्वगत्या पताकाशब्दवाच्योऽय मुख्यत्वेन । अत्राह कस्माद् यस्मादिति । कस्माद-स्याभिप्राय , प्रधानवच्च कल्प्येतेत्युक्तत्वात् निर्वाहादपि किं तद्भवति, अत्रोत्तर यस्मादिति निर्वहणपर्यन्ते तत्फले क्रियमाणे तुल्यकालयोरुपकार्योपकारकत्वाभावात् तेन प्रधानो-पकारभावो न भवेत् ।' अभिविधावाङ् । ये तु मर्यादाया व्याचक्षते ते न सम्यगमस्त '

(अभिनवभारती • ३ य भाग, पृष्ठ १८)

अनुवाद—'प्रकरी' वह अर्थप्रकृति है जिसे रूपक-प्रबन्धों के अल्पदेश व्यापक प्रासङ्गिक वृत्त के रूप में देखा जाया करता है। इसके उदाहरण के लिये 'कुलपत्यङ्क' के रावण-जटायु-संवाद-सम्बन्धी वृत्तान्त को लिया जा सकता है।

'प्रकरी' रूप प्रासङ्गिक किंवा अल्पदेश-व्यापक वृत्त का भी नायक अवश्य हुआ करता है किन्तु मुख्य नायक के फल के अतिरिक्त प्रकरी-नायक का और कोई फल नहीं हुआ करता (अर्थात् 'प्रकरी'-नायक का कार्यकलाप उसके अपने प्रयोजन-विशेष के लिये नहीं अपि तु 'आधिकारिक'-नायक के ही उद्देश्यविशेष के लिये हुआ करता है)। जैसे कि 'जटायु' की जो मोक्षप्राप्ति है वह उसके प्रयत्नों का फल नहीं अपितु राम के सीतालाभरूप फल का ही साधन है।

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि के अनुसार 'प्रकरी' का यह स्वरूप है—

'फलं प्रकल्प्यते यस्या परार्थायैव केवलम् ।
अनुबन्धविहीनत्वात् प्रकरीति विनिर्दिशेत् ॥'

(नाट्यशास्त्र १९ २५)

अर्थात् 'प्रकरी' वह इतिवृत्त-विशेष है जो स्वार्थनिरपेक्ष रहा करता है और एकमात्र आधि कारिक इतिवृत्त के ही लिये विनियुक्त किया जाया करता है। इसीलिये 'प्रकरी'नायक का कृत्यानुष्ठान अपने लिये नहीं अपि तु एकमात्र 'आधिकारिक'नायक के ही लिये हुआ करता है।

नाट्यदर्पणकार ने 'प्रकरी' का सुन्दर विवेचन किया है—

'प्रकरी' चेत् क्वचिद् भावी चेतनोऽन्यप्रयोजन ।'

'क्वचिद् भावी वृत्तैकदेशव्यापी अन्यस्य मुख्यनायकस्यैव प्रयोजन यस्य स चेतन सहकारी प्रकर्षेण स्वार्थानपेक्षया करोतीति प्रकरी । • • यथा रामप्रबन्धेषु जटायु । चेदित्यनेन पताकावदनवश्यभावित्वमाह । क्वचिद् भावित्वात् स्वार्थनिरपेक्षत्वाच्च पताका-तो भेद ।' (नाट्यदर्पण : १ म विवेक)

अर्थात् 'प्रकरी' को यदि वृत्तविशेष कहने के बदले चरितविशेष कहा जाय तो कोई आपत्ति नहीं। 'प्रकरी' रूपक-प्रबन्धों का वह चरितविशेष है जो मुख्य नायक के लिये ही सब कुछ

(५) अथ अर्थप्रकृति : कार्य

अपेक्षितं तु यत्साध्यमारम्भो यन्निबन्धनः ॥ ६९ ॥
समापनं तु यत्सिद्ध्यै तत्कार्यमिति संमतम् ।

यथा—रामचरिते रावणवधः ।

किया करता है। 'प्रकरी' भी नायक का एक सहकारी चरित है किन्तु स्वार्थनिरपेक्ष रहकर नायक के प्रयोजनों का सम्पादक बना करता है। प्रकरी की योजना अनिवार्य नहीं अपि तु वैकल्पिक है।

'प्रकरी' के इस स्वरूप को देखते साहित्यदर्पण की लक्ष्मी-टीका का यह प्रकरी-विमर्श—

'प्रकरीति। प्रकरी तत्प्रकरी नायकस्य जटायुप्रभृतेः स्वकीय फलान्तर स्वप्रयोजन विशेषरूप न स्यात् किन्तु तदवशा नायकफलोत्पादकैव स्यादिति भावः। उदाहरति—यथेति। जटायोर्मोक्षप्राप्तिरिति। अयमाशय—जटायोर्मोक्षप्राप्तिर्यद्यपि न प्रकृतोपयोगिनी किन्तु तस्यैव पुण्यफलमिवेति तदिदमुक्तम् न पताका। या खलु रावणेन समाप्ता स प्रकृतोपयोगित्वस्य प्रासंगिकत्वात् प्रकरीत्वम्। एतद्व्यतिरिक्तस्य तु तदेकदेश-वर्तित्वमात्रम् (लक्ष्मी-टीका, पृ०—१५१)'

कुछ असत्य सा ही प्रतीत होता है।

साथ ही साथ साहित्यदर्पण के अंग्रेजी अनुवाद (पृष्ठ १५१) में 'प्रकरी-विमर्श' का यह अनुवाद—

A object of the hero other than the principal is not the Prakari.

बिल्कुल निरर्थक सा ही दिखायी देता है।

अनुवाद—'कार्य' रूप अर्थप्रकृति का अभिप्राय उस प्रधानतया अवस्थित साध्य का है जिसके उद्देश्य से नायक के कार्यों का आरम्भ हुआ करता है और जिसकी सिद्धि में नायक का कृत्यानुष्ठान समाप्त माना जाया करता है।

उदाहरण के लिये रामचरितसम्बन्धी रूपक-प्रबन्धों में 'रावणवध' का जो निरूपण है वह कार्यरूप अर्थप्रकृति का ही निदर्शन है।

विमर्श—'कार्य' रूप अर्थप्रकृति के निरूपण में नाट्याचार्यों में पर्याप्त मतभेद रहता आया है। भरतमुनि के अनुसार 'कार्य' का यह स्वरूप है—

> 'यदाधिकारिकं वस्तु सम्यक् प्राज्ञैः प्रयुज्यते।
> तदर्थो यः समारम्भस्तत्कार्यं परिकीर्तितम्॥' (नाट्यशास्त्र १९. २१)

जिसे आचार्य अभिनवगुप्त ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'यदाधिकारिकमिति—प्राज्ञैः प्रधाननायकपताकानायकप्रकरीनायकैमिलितकवैः, यद्वस्तु फलरूपं प्रयुज्यते संपाद्यते सपाद्यत्वेनानुसन्धीयते तत्फलप्रयोजनो यः संपूर्णतायामी पूर्वं परिगृहीतस्य प्रधानस्य बीजात्मोपायस्य फलम् आरभत इत्यारम्भसम्प्राप्यो प्रम्यगुण क्रियाप्रपत्तिः सर्वोऽर्थः सहकारी कार्यमित्युच्यते चेतनैः कार्यते फलमिति व्युत्पत्त्या। सम्पत्तिरिति प्रभुमन्त्रोत्साहशक्तित्रयसम्पत्तैरित्यर्थः। तेन जनपद-कोष-दुर्गादिकम्यापार वैचित्र्यं सामाद्युपायवर्गं इत्येतत् सर्वं कार्येऽन्तर्भवति। तत्र परं प्रथमपरिगृहीतः प्रधान भूतोऽभ्युपायो बीजत्वेनोक्तः।

विवक्षा अभिप्राय यह है—जिस कार्यविशेष की दृष्टि से प्रधान नायक, पताका-नायक और प्रकरी-नायक का कार्यव्यापार चला करता है उसके लिये जो भी नायकका साधन-समुदाय है

वह सब 'कार्य' रूप अर्थप्रकृति के अन्तर्गत रहा करता है। प्रधान उपाय तो 'बीज' है हाँ किन्तु उसका सहायक जो कुछ भी उपाय है वह सब 'कार्य' रूप ही है (कार्यते फलमिति कार्यम्)। इस प्रकार नाटककार द्वारा 'बीज' रूप से निक्षिप्त वृत्तविशेष की सफलता के लिये नियोजित जो भी वृत्त-वैचित्र्य है वह सब 'कार्य' रूप ही है।

'कार्य' का यही अभिप्राय नाट्यदर्पणकार ने भी लिया है—

साध्ये बीजसहकारी कार्यम्—

प्रधाननायक-पताकानायक-प्रकरीनायकैः साध्ये प्रधानफलत्वेनाभिप्रेते बीजस्य प्रारम्भावस्थोपक्षिप्तस्य प्रधानोपायस्य सहकारी सम्पूर्णतादायी सैन्य-कोश-दुर्ग-सामाद्युपायलक्षणो द्रव्य-गुण-क्रियाप्रभृति सर्वोऽर्थश्चेतनैः कार्यते फलमिति कार्यम्। अयमत्रोपायानां निबन्धसंक्षेपः-सहायानपेक्षाणां नायकानां वृत्ते बीज-बिन्दु-कार्याणि त्रय एवोपायाः, सहायापेक्षाणान्तु पताका-प्रकरीभ्यामन्यतरया वा सह पञ्च चत्वारो वेति।'

'कार्यं स्तु मुख्यतया—

कार्यं. फलं प्रत्युपकारविशेषैः पुनर्बीजादीनां मुख्यता बाहुल्यं प्राधान्यं वा निबन्धनीयम्। तत्र बीजबिन्द्वोस्तावन्मुख्यत्वमेव सर्वव्यापित्वात्। पताका-प्रकरी-कार्याणां तु मुख्यफलं प्रत्युपयोगापेक्षया एकस्य द्वयोस्त्रयाणां वा मुख्यत्वमन्येषां चामुख्यत्वम्। तत्र पताकायां मुख्यत्वं यथा श्रीशूद्रकविरचितायां मृच्छकटिकायां पूर्वोपकारोपगृहीतस्यार्यकस्य। प्रकर्यां यथा वीरनागविरचितायां कुन्दमालायां सीतायास्तदपत्ययोश्च पालनसंयोजनाभ्यां स्वफलनिरपेक्षस्य वाल्मीके। उभयोर्यथारामप्रबन्धेषु सुग्रीवविभीषणयोर्जटायुहनूमदङ्गदादीनाञ्च। पताका-प्रकर्योरल्पत्वेऽभावे वा सर्वत्र कार्यस्य मुख्यत्वमिति।'

(नाट्यदर्पण १ म विवेक)

अर्थात् 'बीज' रूप से उपक्षिप्त नायक के उपाय किं वा इस उपाय से सम्बद्ध इतिवृत्त की सफलता-सम्पूर्णता के लिये सर्वत्र रूपक-प्रबन्धों में 'कार्य' रूप का अर्थ प्रकृति की योजना अनिवार्य है। नायक सहायतापेक्षी हो अथवा सहायतानपेक्षी हो, प्रासङ्गिक वृत्त की योजना की गयी हो या न की गयी हो, 'कार्य' की योजना आवश्यक है क्योंकि बिना सैन्य-दुर्ग-कोष आदि साधनवर्णन के कार्यारम्भ की सफलता का अभिव्यञ्जन कदापि सम्भव नहीं।

किन्तु 'दशरूपक'कार ने 'कार्य' का दूसरा ही लक्षण-निरूपण किया है—

'तस्येतिवृत्तस्य किं फलमित्याह—

कार्यं त्रिवर्गस्तच्छुद्धमेकानेकानुबन्धि च।

-धर्मार्थकामाः फलं तस्य शुद्धमेकैकमेकानुबन्धं द्विच्यनुबन्धं वा।'

तत्साधनं व्युत्पादयति—

स्वल्पोद्दिष्टस्तु तद्धेतुर्बीजं विस्तार्यनेकधा।

स्तोकोद्दिष्टः कार्यसाधकः पुरस्तादनेकप्रकारं विस्तारी हेतुविशेषो बीजवद् बीजम्, तच्च महाकार्यावान्तरकार्यहेतुभेदादनेकप्रकारमिति।'

(दशरूपक १म प्रकाश)

अर्थात् 'कार्य'से अभिप्राय धर्म अर्थ-कामरूप पुरुषार्थ से है जिसकी प्राप्ति के लिए नायक के कार्यारम्भ आदि का चित्रण किया जाया करता है। यह कार्य 'महाकार्य' 'अवान्तर कार्य' आदि रूपों में विभक्त रहा करता है। 'कार्य' बीज का सहकारी (साधन) नहीं अपितु बीज का साध्य है—

दशरूपककार के इस 'कार्य' लक्षण के प्रभाव में ही भावप्रकाशनकार की यह 'कार्य-परिभाषा' निकली है।

(अवस्थापञ्चक स्वरूप और प्रकार निर्देश)

अवस्थाः पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः ॥ ७० ॥
आरम्भयत्नप्राप्त्याशानियताप्तिफलागमाः ।

"बीजं बिन्दुः पताका च प्रकरी कार्यमेव च ।
अर्थप्रकृतयः पञ्च ज्ञात्वा योज्या यथाविधि ॥
एते कथाशरीरस्य हेतवः परिकीर्तिताः ।
साधनत्वाद्धि बीजस्य प्रथमं तदुपक्षिपेत् ॥
साध्यत्वादेव कार्यस्य सर्वान्ते तत्प्रयोजयेत् ।
अविच्छेदाय रचयेद् बिन्दुं मध्ये तयोरपि ॥
तत्र तत्र यथायोगं पताकां प्रकरीं न्यसेत् ।
एवम् अर्थप्रकृतयस्तत्प्रवृत्तिश्च दर्शिता ॥
... ...
ताताज्ञामभिनीतिमेति वाक्ये कार्यं विरोध्यते ।
'ताताज्ञामधिमौलि मौक्तिकमपि कृत्वा महापोत्रिणो
रक्षाविरविलासपत्रमकरी यद्वा धृतं मेदिनी ।
सेतुर्दक्षिणपश्चिमौ जलनिधी सीमन्तपर्यन्तितौ
कल्पान्ते च कृतं समस्तमधुनाभीतोपसर्गं जगत् ॥
अत्र धर्मार्थनिष्पत्तिः फलत्वेन प्रकल्पिता ॥"

(भावप्रकाशन षष्ठ अधिकार)

यहाँ स्पष्टतया 'बीज' को साधन और धर्मार्थकामरूप 'कार्य' को फल अथवा साध्य निर्दिष्ट किया गया है।

साहित्यदर्पणकार का 'कार्य' लक्षण 'दशरूपक' और 'भावप्रकाशन' के 'कार्य'लक्षण के आधार पर निकला है। ऐसा प्रतीत होता है कि साहित्यदर्पणकार ने यहाँ अपनी सूक्ष्मबुद्धि का साथ छोड़ दिया है क्योंकि यदि 'कार्य' भी साध्य ही हो तो 'फलागम' और 'कार्य' (पाँचवीं अवस्था और पाँचवीं अर्थप्रकृति) को पृथक् पृथक् गिनाने और बताने की क्या आवश्यकता।

अनुवाद—फल के उद्देश्य से जो कार्य प्रारम्भ किया जाय उसकी ये पाँच अवस्थाएँ स्वभावतः हुआ करती हैं—१ आरम्भ २. यत्न ३. प्राप्त्याशा, ४ नियताप्ति और ५. फलागम।

विमर्श—अवस्थाभिनिरूपण में भी साहित्यदर्पणकार ने दशरूपक के ही इस अवस्था-लक्षण का सहारा लिया है—

'अवस्थाः पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः ।
आरम्भ-यत्न-प्राप्त्याशा-नियताप्ति-फलागमाः ॥' (दशरूपक १.१)

यहाँ यह स्पष्ट है कि 'अवस्थापञ्चक' नाट्यशास्त्र का पारिभाषिक पद न होकर सामान्यार्थक पद हो गया है। यहाँ अवस्थापञ्चक' के रूप में किसी कार्य अथवा व्यापार की पाँच दशाओं का ही निरूपण किया गया है। किन्तु भरत मुनि के इस 'अवस्थापञ्चक' निरूपण अर्थात्—

'संसाध्ये फलयोगे तु व्यापारः कारणस्य (यस्य) यः ।
तस्यानुपूर्व्या विज्ञेयाः पञ्चावस्थाः प्रयोक्तृभिः ॥
प्रारम्भश्च प्रयत्नश्च तथा प्राप्तेश्च सम्भवः ।
नियता च फलप्राप्तिः फलयोगश्च पञ्चमः ॥ (नाट्यशा०

(१म अवस्था ' आरम्भ)

तत्र—

भवेदारम्भ औत्सुक्यं यन्मुख्यफलसिद्धये ॥ ७१ ॥

यथा—रत्नावल्यां रत्नावल्यन्त पुरनिवेशार्थं यौगन्धरायणस्यौत्सुक्यम् । एव नायकनायिकादीनामप्यौत्सुक्यमाकरेपु बोद्धव्यम् ।

(२य अवस्था यत्न)

प्रयत्नस्तु फलावाप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः ।

के परामर्श में अभिनवभारतीकार का जो कथन है—

'अथ कविप्रयत्नेन साध्यो व्यापारपरिस्पन्दो यो वाङ्मनसगतस्तस्य या अवस्था, आनुपूर्व्येति-उद्देशक्रमेणैव प्रयोक्तृभि कविभिर्निवन्धनीयतया ज्ञातव्या ता उद्दिशति-प्रारम्भश्चेति । चकारैस्तथाशव्देन चावश्यंभाविक्रमत्वमासामुच्यते । न हि प्रेक्षापूर्वकारिणोऽवस्थान्तरासभावनायां प्रारम्भ उचितो भवति, तत्प्रारम्भश्चेदुत्तरोत्तरावस्था-प्रसर एव । पञ्चम इत्यनेन क्रमो विवक्षित इति दर्शयति । एता क्रमेण दर्शयितुमाह (औत्सुक्यमात्रवन्धस्त्विवति)—महत प्रधानभूतस्य फलस्य युज्यमानस्य तत्तन्नायकोचितस्य यद्बीजमुपायसम्पत् तस्य यदौत्सुक्यमात्र तद्विपयस्मरणोत्कण्ठानुरूपम् , अनेनोपायेनैतत् सिद्ध्यतीति, तस्य वन्धो हृदये निरूढि प्रारम्भ, सा च नायकस्यामात्यस्य नायिकाया प्रतिनायकस्य दैवस्य वा तस्या हि तथैवानुमानाद् व्यवस्था' ।

(अभिनवभारती नाट्यशास्त्र १९. ७. ८)

उससे यह पता चलता है कि 'अवस्थापञ्चक' का सम्बन्ध नायक से तो है किन्तु कवि अथवा नाटककार से भी है । वास्तविक जीवन के नायकादि के व्यापार का 'अवस्थापञ्चक' नाटककार की कला द्वारा नाटक के 'अवस्थापञ्चक' के रूप में परिणत हुआ करता है । नाटक का 'अवस्था-पञ्चक' नाटक के मुख्य चरितों के व्यक्तित्व के क्रमिक विकास चित्रण का विश्लेषण है । इस 'अवस्थापञ्चक' की समुचित योजना के ही लिये 'अर्थप्रकृतिपञ्चक'रूप इतिवृत्तयोजना की यथास्थान और यथासमव आवश्यकता हुआ करती है ।

अनुवाद—'आरम्भ' कार्य की वह अवस्था है जिसे मुख्य फल की सिद्धि के लिये औत्सुक्य कहा गया है ।

जैसे कि 'रत्नावली' में, नायक वत्सराज उदयन के अन्त पुर में नायिका रत्नावली के निवेश के लिये, अमात्य यौगन्धरायण का जो औत्सुक्य-वर्णन है उसमें आरम्भावस्था की ही योजना दिखायी देती है । अन्यान्य रूपक-प्रवन्धों में अन्यान्य नाटकीय चरितों जैसे कि नायक, नायिका आदि-आदि के औत्सुक्यवन्ध की योजना की गयी है किन्तु यह सव भी 'आरम्भ' दशा की ही योजना है ।

विमर्श—'आरम्भ' का अभिप्राय केवल मुख्यफलसिद्धि के लिये उपायविपयक औत्सुक्य ही नहीं अपितु इस औत्सुक्य के अनुरूप वाङ्मनस-व्यापार भी है जैसा कि नाट्यदर्पणकार ने स्पष्ट कहा है—

'उपायविपयमौत्सुक्यमौत्सुक्यानुगुणो व्यापारश्चारम्भावस्थेत्यर्थ ।

(नाट्यदर्पण-१ म विवेक)

अनुवाद—'प्रयत्न' वह कार्यावस्था है जिसे फलप्राप्ति के लिये सत्वर उद्योग के रूप में देखा जाया करता है ।

यथा रत्नावल्याम्—'तहवि ण अत्थि अण्णो दंसण उवाओ त्ति जधा तधा आलिहिअ जधासमीहिदं करइस्सम्।' [तथापि नास्त्यन्यो दर्शनोपाय इति यथा तथा आलिख्य यथासमीहितं करिष्यामि] इत्यादिना प्रतिपादितो रत्नावल्या चित्रलेखनादिर्वत्सराजसङ्गमोपायः। यथा च—रामचरिते समुद्रबन्धनादिः।

(३य अवस्था : प्राप्त्याशा)

उपायापायशङ्काभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसम्भवः ॥ ७२ ॥

यथा—रत्नावल्यां तृतीयेऽङ्के वेषपरिवर्तनाभिसरणादेः सङ्गमोपायाद्वासवदत्तालक्षणापायशङ्कया चानिर्धारितैकान्तसङ्गमरूपफलप्राप्तिः प्राप्त्याशा।

एवमन्यत्र।

जैसे कि 'रत्नावली' के, इस प्रसङ्ग अर्थात् 'उदयन से मिलने का और तो कोई उपाय नहीं केवल जैसे-तैसे उन्हें चित्र में खींचकर अपनी इच्छा पूरी करूँ' में उपनिबद्ध, वत्सराज से मिलने के लिये, रत्नावली का चित्रलेखनरूप जो व्यापार है उसमें 'प्रयत्न' दशा का ही स्वरूप परिलक्षित होता है। इसी प्रकार रामचरित-सम्बन्धी रूपक-प्रबन्धों में समुद्रबन्धन आदि व्यापार-वर्णन प्रयत्न-दशा की ही योजना के रूप में देखा जा सकता है।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने 'अभिनवभारती' का अनुसरण करते हुये 'प्रयत्न' का बड़ा सुन्दर लक्षण किया है—

'प्रयत्नो व्यापृतौ त्वरा। मुख्यफलोपायव्यापारमे त्वराऽनेनोपायेन विना फलं न भवतीति निश्चयेन परमौत्सुक्यं प्रवर्तनं परमः प्रयत्नः। औत्सुक्यमात्रमारम्भः परमौत्सुक्यं तु प्रयत्न इत्यर्थः (नाट्यदर्पण : १ म विवेक)।'

अर्थात् प्रयत्न आरम्भ की ही उत्तरावस्था है। आरम्भ यदि औत्सुक्य है तो प्रयत्न परमौत्सुक्य।

अनुवाद—'प्राप्त्याशा' वह कार्यावस्था है जिसे फलसिद्धि के साधक और प्रतिबन्धक के पारस्परिक द्वन्द्व में फलसिद्धि की आशा अथवा सम्भावना कहा गया है।

जैसे कि 'रत्नावली' के तृतीय अङ्क में रत्नावली के वासवदत्ता-वेष में अभिसाररूप सङ्गमोपाय (उदयन-मिलन के साधक) और वासवदत्ता की उपस्थिति के रूप में उसके सङ्गमापाय (उदयन-मिलन के प्रतिबन्धक) के द्वन्द्व में उदयन-मिलन रूप फल की सम्भावना अथवा आशा का जो चित्रण है वह प्राप्त्याशावस्था की ही योजना है।

इसी भाँति अन्य रूपकप्रबन्धों में अन्यविध प्राप्त्याशा-योजना देखी जा सकती है।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार के अनुसार 'प्राप्त्याशा' का यह स्वरूप है :—

'फलसंभावना किञ्चित् प्राप्त्याशा हेतुमात्रतः। मात्रग्रहणेन फलान्तरयोगः प्रतिबन्धनिश्चयश्च व्यवच्छिद्यते। फलान्तरासंबन्धादनिश्चितबाधकाभावादुपायादीषत् प्रधानफलस्य या सम्भावना न तु निश्चयः सा मातेः प्रधानफलकामस्याशा प्राप्त्याशा।

(नाट्यदर्पण १ म विवेक)

तात्पर्य यह है कि रूपक प्रबन्धों में जो प्राप्त्याशा-योजना है वह नायकचरितों के अन्तर्द्वन्द्व और बहिर्द्वन्द्व की ही अभिव्यञ्जना है।

(४थ अवस्था : नियताप्ति)

अपायाभावतः प्राप्तिर्नियताप्तिस्तु निश्चिता ।

अपायाभावान्निर्धारितैकान्तफलप्राप्तिः। यथा रत्नावल्याम्—'राजा—देवी-प्रसादन त्यक्त्वा नान्यमत्रोपायं पश्यामि।' इति देवीलक्षणापायस्य प्रसादनेन निवारणान्नियतफलप्राप्तिः सूचिता।

(५म अवस्था फलागम)

साऽवस्था फलयोगः स्याद्यः समग्रफलोदयः ॥ ७३ ॥

यथा—रत्नावल्या रत्नावलीलाभश्चक्रवर्तित्वलक्षणफलान्तरलाभसहितः। एवमन्यत्र।

अनुवाद—'नियताप्ति' कार्य की वह अवस्था है जिसे 'अपायाभाव' अर्थात् विघ्नबाधा की निवृत्ति में फल-प्राप्ति की सभावना का निश्चय कहा गया है।

'अपायाभावात् निश्चिता प्राप्ति' का अभिप्राय विघ्न के निराकरण में निर्धारित फलप्राप्ति का अभिप्राय है। जैसे कि 'रत्नावली' के इस प्रसङ्ग अर्थात् 'वासवदत्ता को प्रसन्न करने के अतिरिक्त उदयन से मिलने का और कोई उपाय नहीं' में, वासवदत्ता-प्रसादनरूप उपाय के द्वारा, उदयन-मिलन के विघ्नों की निवृत्ति में, उदयन-मिलन की सभावना का जो निश्चय है उसमें 'नियताप्ति' की ही झलक दिखायी दिया करती है।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने 'नियताप्ति' का यह लक्षण किया है—

'नियताप्तिरुपायानां साकल्यात् कार्यनिर्णय ।

प्रधानफलहेतूना प्रतिवन्धकाभावेन सकलसहकारिसम्पत्त्या कार्यस्य प्रधानफलस्य निर्णयो भविष्यत्येवेति निश्चयो नियता फलाव्यभिचारिण्याप्तिर्नियताप्तिः।'

(नाट्यदर्पण १म विवेक)

अनुवाद—'फलागम' वह कार्यावस्था है जिसे समग्र फललाभ कहा गया है।

जैसे कि 'रत्नावली' में ही, नायक वत्सराज उदयन के रत्नावली-लाभ और साथ ही साथ चक्रवर्तित्व-लाभ का जो वर्णन है वह 'फलागम' की अवस्था की ही योजना है।

इसी प्रकार अन्य रूपक-प्रबन्धों की भी फलागमावस्था पहचानी जा सकती है।

विमर्श—आचार्य रामचन्द्र और गुणचन्द्र ने 'फलागम' का यह विमर्श किया है जो यहाँ ध्यान देने योग्य है—

'साक्षादिष्टार्थसम्भूतिर्नायकस्य फलागम ।

साक्षात् समनन्तर न तु दानादिभ्य स्वर्गादिफलमिव जन्मान्तरभाविनी इष्टस्याभि-प्रेतस्य अर्थस्य प्रयोजनस्य सम्यक् पूर्णत्वेन भूतिरुत्पत्ति । फलस्यागम आगमारम्भो न पुनरागतत्वम्। इह फलस्योत्पत्त्यावेश पञ्चम्यवस्था। उत्पतनस्य तु नायकेन य. संभोगस्तत् प्रबन्धस्य मुख्य साध्यम्। अतएव फले साध्ये नायकस्य पञ्चावस्था सङ्ग-च्छन्ते। नायकस्येत्यनेन चावस्थान्तराणि सचिव-नायिका-विपक्ष-दैवादिव्यापारैरपि निबध्यन्ते इत्युक्त भवति। तानि तु तथा निबद्धान्यपि फलतो नायक एव पर्यवस्यन्ति। फलागम पुनर्नायकस्यैव निबद्ध्यते।' (नाट्यदर्पण १म विवेक)

अर्थात् 'फलागम' का अभिप्राय नायक का समग्र फललाभ नहीं अपि तु उसके समग्र फल के लाभ का आरम्भ है। फल की प्राप्ति फलागम नहीं अपि तु फल की उत्पत्ति फलागम है। अन्यथा इसे कार्यावस्था कैसे कहा जा सकता है।

('सन्धि' स्वरूप-निरूपण)

यथासंख्यमवस्थाभिराभिर्योगात्तु पञ्चभिः ।
पञ्चधैवेतिवृत्तस्य भागाः स्युः पञ्च सन्धयः ॥ ७४ ॥

तल्लक्षणमाह—

अन्तरैकार्थसम्बन्धः सन्धिरेकान्वये सति ।

एकेन प्रयोजनेनान्वितानां कथांशानामवान्तरैकप्रयोजनसम्बन्धः सन्धिः ।

तद्भेदानाह—

(सन्धिपञ्चक)

मुखं प्रतिमुखं गर्भो विमर्श उपसंहृतिः ॥ ७५ ॥
इति पञ्चास्य भेदाः स्युः क्रमाल्लक्षणमुच्यते ।

अनुवाद—'अर्थप्रकृतिपञ्चक'रूप वृत्तभेद के साथ अवस्थापञ्चक की क्रमिक सम्बद्ध योजना के कारण नाटकीय इतिवृत्त के जो पाँच भाग हुआ करते हैं उन्हें ही पाँच संधियाँ कहा करते हैं।

यहाँ 'संधि' का अभिप्राय एक प्रधान इतिवृत्त के साथ परस्पर सम्बद्ध अन्य अवान्तर इतिवृत्त-खण्डों के सम्बन्ध का अभिप्राय है।

तात्पर्य यह है नाटक के इतिवृत्त-खण्डों का अपने-अपने उद्देश्य-विशेषों के साथ सम्बन्ध तो 'सन्धि' है ही, साथ ही साथ इन परस्पर संबद्ध इतिवृत्त-खण्डों और उनके उद्देश्यों का प्रधान नाटकीय इतिवृत्त और उसके मुख्य उद्देश्यविशेष के साथ जो सम्बन्ध है वह भी 'संधि' ही है।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार ने 'अभिनवभारती' के सन्धि-विमर्श के आधार पर 'सन्धि' का यह स्वरूप-विवेक किया है—

'सन्धयो मुख्यवृत्तांशाः पञ्चावस्थानुगाः क्रमात्। मुख्यस्य स्वतन्त्रस्य महावाक्यार्थस्यांशा भागाः परस्पर स्वरूपेण चाङ्गेन सन्धीयन्त इति सन्धयः अवस्थाभिः प्रारम्भादिभिरनुगता अनुयाता अवस्था समाप्तौ समाप्यन्त इत्यर्थः। (नाट्यदर्पण : १ म विवेक)

अर्थात् यदि रूपक-प्रबन्ध को एक 'महावाक्य' और रूपक-प्रबन्धार्थ को 'महावाक्यार्थ' माना जाय तो सन्धिपञ्चक को इसका अंशपञ्चक अथवा भागपञ्चक मानना पड़ेगा। महावाक्यरूप रूपकप्रबन्ध के ये पाँच अंश अथवा भाग अपने अपने अवान्तर अंशों अथवा भागों में तो संश्लिष्ट रहा ही करते हैं परस्पर भी संश्लिष्ट अथवा सुसंबद्ध ही उपनिबद्ध किये जाया करते हैं। अपने अपने अंशों में सुसंश्लिष्ट किंवा परस्पर संबद्ध यह पंचविध रूपकार्थराशि ही सन्धिपञ्चक है।

अनुवाद—इस 'सन्धि' के ये पाँच भेद हैं—(१) मुख (२) प्रतिमुख (३) गर्भ (४) विमर्श और (५) उपसंहृति (अथवा निर्वहण)।

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि ने पञ्चविध सन्धि का यह निर्देश किया है—

'मुखं प्रतिमुखं चैव गर्भो विमर्श एव च।
तथा निर्वहणं चेति नाटके पञ्च सन्धयः॥

जिसे अभिनवभारतीकार ने इस प्रकार समझाया है—

'मुखं प्रतिमुखं चेति। समुचयपदैः पञ्चानां सर्वासामवस्थानामस्य न्यायसिद्धम्। नियम-

(१ म सन्धि-मुखसन्धि)

यथोद्देशं लक्षणमाह—

यत्र बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा ॥ ७६ ॥
प्रारम्भेण समायुक्ता तन्मुखं परिकीर्त्तितम् ।

यथा—रत्नावल्या प्रथमेऽङ्के ।

वाचिभि क्रमनियम । नाटक इत्यभिनेयरूपके इत्यर्थ. । महावाक्यार्थरूपस्य रूपकार्थस्य पञ्चाशा अवस्थाभेदेन कल्प्यन्ते । ' तेनार्थावयवा सन्धीयमाना परस्परमङ्गैश्च सन्धय इति समाख्या निरुक्ता ।' (अभिनवभरती नाट्यशास्त्र १९ ३७)

अर्थात् अपने-अपने अङ्गों में सम्बद्ध और परस्पर सम्बद्ध जो रूपकार्थ के पाच अश अथवा अवयव हैं वे ही पाच सन्धिया हैं ।

अनुवाद—क्रमश 'सन्धिपञ्चक' का निरूपण किया जा रहा है । इस 'सन्धिपञ्चक' में जो प्रथम सन्धि है उसे 'मुख' कहा करते हैं । 'मुखसन्धि' का अभिप्राय रूपक की अर्थराशि का वह अश है जिसके साथ नायक की प्रारम्भावस्था सम्बद्ध रहा करती है और जिसमें 'बीज' रूप अर्थप्रकृति की योजना हुआ करती है । यह 'मुखसन्धि' रूप अर्थराशि ऐसी हुआ करती है जिसमें भिन्न-भिन्न रसभावों की अभिव्यञ्जना भरी रहा करती है ।

जैसे कि 'रत्नावली' नाटिका के प्रथम अङ्क की जो अर्थराशि है वह 'मुखसन्धि'रूप ही अर्थराशि है ।

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि के अनुसार 'मुखसन्धि' का यह लक्षण है—

'यत्र बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससंभवा ।
काव्ये शरीरानुगता तन्मुख परिकीर्तितम् ॥'

जिसे 'अभिनवभारती'कार ने इस प्रकार समझाया है—

'प्रागारम्भभावित्वान्मुखमिव मुखम्, यावत् क्रियावत्यर्थभागराशौ बीजस्य मुखोपायस्य सम्यगुत्पत्ति' शरीरेण प्रारम्भात्मना अनुगता भवति, नानाभूतोऽर्थवशात् प्रसङ्गायातो रससभवो य स्यात् । एतदुक्त भवति-प्रारम्भोपयोगी यावानर्थराशि प्रसक्तानुप्रसक्त्या विचित्रास्वाद आपतित तावान् मुखसन्धि, तदभिधायी च रूपकैकदेश । यथा रत्नावल्या प्रथमोऽङ्क । तथा हि, अमात्यस्य वीरो, वत्सराजस्य श्रृङ्गाराङ्कुतौ, तत श्रृङ्गार इति इयानय सागरिकाया राजदर्शनेऽमात्यप्रारम्भविषयीकृतेऽर्थराशिरुपयोगीति मुखसन्धि ।'

(अभिनवभारती - नाट्यशास्त्र - १९ ३९)

अर्थात् 'मुख'सन्धि वह नाटकीय अर्थराशि है जिसके दर्शन में नाटक के मुख का दर्शन सम्पन्न हुआ करता है । नाटक के मुख होने के लिये, नाटक की यह आरम्भिक अर्थराशि रसभाववैचित्र्य से भरी हुआ करती है । 'मुख' इस प्रारम्भोपयोगी अर्थराशि को तो कहते ही हैं, साथ ही साथ इसके अभिधायक रूपक-प्रबन्ध के एकदेश को भी 'मुख' ही कहते हैं । इस दृष्टि से 'रत्नावली' के प्रथम अंक में 'मुख'सन्धि का दर्शन और 'रत्नावली' के प्रथम अङ्क का मुख-सन्धि के रूप में दर्शन—दोनों एक ही बात है ।

(२ य सन्धि : प्रतिमुख)

फलप्रधानोपायस्य मुखसन्धिनिवेशिनः ॥ ७७ ॥
लक्ष्यालक्ष्य इवोद्भेदो यत्र प्रतिमुखं च तत् ।

यथा—रत्नावल्यां द्वितीयेऽङ्के वत्सराजसागरिकासमागमहेतोरनुरागबीजस्य प्रथमाङ्कोपक्षिप्तस्य सुसंगता-विदूषकाभ्यां ज्ञायमानतया किंचिल्लक्ष्यस्य वासवदत्तया चित्रफलकवृत्तान्तेन किंचिदुन्नीयमानस्योद्देशरूप उद्भेदः ।

अनुवाद—'प्रतिमुख' वह सन्धि है जिसमें मुखसन्धि-निहित बीज का ऐसा उद्भेद हुआ करता है जो लक्ष्य और अलक्ष्य-दोनों रूप का रहा करता है।

जैसे कि 'रत्नावली के द्वितीय अङ्क की जो अर्थराशि है वह 'प्रतिमुखसन्धि'रूप अर्थराशि है क्योंकि इसमें नायक वत्सराज और नायिका रत्नावली के उस प्रेमबीज का उद्भेद दिखायी पड़ता है जो कि उनके परस्पर मिलन के हेतुरूप में प्रथम अङ्क में ही निक्षिप्त हो चुका है। रत्नावली के प्रथमाङ्क में उपक्षिप्त प्रेमबीज का यह उद्भेद इसलिये किञ्चिन्मात्र लक्ष्य है क्योंकि सुसंगता और विदूषक इससे पूर्णतया परिचित बताये गये हैं। यह इसलिये किञ्चिन्मात्र अलक्ष्य सी है क्योंकि वासवदत्ता को इसकी जो कुछ भी जानकारी है वह सागरिका द्वारा चित्रित वत्सराज के चित्र के आधार पर अनुमान द्वारा ही है प्रत्यक्षतः नहीं।

विमर्श—यहां नाट्यदर्पणकार का यह 'प्रतिमुख'-विमर्श जिस पर 'अभिनवभारती' की छाप है ध्यान देने योग्य है—

'प्रतिमुखं किंचिल्लक्ष्यबीजोद्घाटसमन्वितः।

प्रधानवृत्तांस इह उत्तरेषु च स्पर्धते। किंचिल्लक्ष्यस्य मुखसन्धौ गम्भीरत्वेन न्यस्तत्वाद्दीपस्य प्रकाशस्य बीजस्य प्रधानोपायस्योद्घाटेन प्रकटप्रकाशनेन सम्यगनुगता प्रयत्नावस्थापरिच्छिन्ना या प्रधानवृत्तांस स मुखस्याभिमुख्येन वर्तत इति प्रतिमुखम्। 'दीपाय न्यस्मारसि' इत्यादिना इत्यात्मेन सागरिकावेष्टितकर्म बीजं मुखसन्धौ न्यस्तं वसन्तोत्सवकामदेवपूजादिना तिरोहितत्वमुपलक्ष्यम्। तच्च च सुसङ्गतारचित-वत्सराज-सागरिका समागमेन द्वितीयाङ्के उद्घाट इति।' (नाट्यदर्पण : १ म विवेक)

यहां यह स्पष्ट है कि 'रत्नावली' के प्रथम अङ्क में उपक्षिप्त प्रेमबीज के द्वितीय अङ्क में उद्भेद की लक्ष्यता और अलक्ष्यता का सम्बन्ध सामाजिकों के साथ है न कि पात्रों के साथ।

किन्तु विश्वनाथ कविराज ने दशरूपककार की इस 'प्रतिमुख'-मीमांसा अर्थात्—

'लक्ष्यालक्ष्यतयोद्भेदस्तस्य प्रतिमुखं भवेत्।

... ... तस्य बीजस्य किंचिल्लक्ष्यस्य किंचिदलक्ष्य इवोद्भेदः प्रकाशनं तत्प्रति मुखम्। यथा रत्नावल्यां द्वितीयेऽङ्के वत्सराजसागरिकासमागमहेतोरनुरागबीजस्य प्रथमाङ्कोपक्षिप्तस्य सुसङ्गताविदूषकाभ्यां ज्ञायमानतया किंचिल्लक्ष्यस्य वासवदत्तया च चित्रफलकवृत्तान्तेन किंचिदुन्नीयमानस्य दृश्यादृश्यरूपतयोद्भेदः प्रतिमुखसन्धिरिति।

(दशरूपक : १ म प्रकाश)

का अनुसरण किया है और बीजोद्भेद की दृश्यादृश्य-रूपता को 'रत्नावली' के पात्रों की दृष्टि से देखा है न कि सामाजिक की दृष्टि से।

(३ य सन्धि गर्भसन्धि)

फलप्रधानोपायस्य प्रागुद्भिन्नस्य किञ्चन ॥ ७८ ॥
गर्भो यत्र समुद्भेदो ह्रासान्वेषणवान्मुहुः ।

फलस्य गर्भीकरणाद्गर्भः । यथा रत्नावल्या द्वितीयेऽङ्के—'सुसंगता—सहि, अदक्खिणा दाणिं सि तुमं जा एवं भट्टिणा हत्थेण गहिदा वि कोवं ण मुञ्चसि' [सखि ! अदक्षिणेदानीमसि त्वं या एवं भर्त्रा हस्तेन गृहीतापि कोपं न मुञ्चसि] इत्यादौ समुद्भेदः । पुनर्वासवदत्ताप्रवेशे ह्रासः । तृतीयेऽङ्के—'तद्वार्तान्वेषणाय गतः कथं चिरयति वसन्तकः' इत्यन्वेषणम् । विदूषकः—ही ही भो, कोसम्बीरज्जलम्भेणावि ण तादिसो पिअवअस्सस्स परितोसो जादिसो मम सआसादो पियवअणं सुणिअ भविस्सदि' [ही ही भोः कौशाम्बीराज्यलाभेनापि न तादृशः प्रियवयस्यस्य परितोषः यादृशो मम सकाशात् प्रियवचनं श्रुत्वा भविष्यति] इत्यादावुद्भेदः । पुनरपि वासवदत्ताप्रत्यभिज्ञानाद् ह्रासः । सागरिकायाः सङ्केतस्थानगमनेऽन्वेषणम् । पुनर्लतापाशकरणे उद्भेदः ।

अनुवाद—'गर्भ' वह सन्धि है जिसे 'मुख' और 'प्रतिमुख' सन्धि में क्रमश किंचिन्मात्र उद्भिन्न प्रधानोपायरूप वीज का ऐसा समुद्भेदन कहा जाया करता है जिसमें वीज के ह्रास और विकास की चिन्ता साथ-साथ चला करती है ।

इस सन्धि को 'गर्भ' इसलिये कहा करते हैं क्योंकि इसमें नाटक का प्रधान फल गर्भित (अन्तर्निविष्ट) प्रतीत हुआ करता है । उदाहरण के लिये, 'रत्नावली' के द्वितीय अङ्क का जो यह प्रसङ्ग अर्थात्—

'सुसङ्गता-सखी ! तेरे प्रियतम ने अपने हाथ से तुझे पकड़ रखा है लेकिन तू है जो कोप छोड़ना नहीं जानती ।' आदि है, उसमें तो मुखसन्धि-निक्षिप्त अनुराग-वीज का समुद्भेद दिखायी पड़ रहा है । इसके अनन्तर वासवदत्ता के पुन प्रवेश में इस वीज का ह्रास परिलक्षित होता है । तत्पश्चात् तृतीय अङ्क के इस सन्दर्भ अर्थात् 'सागरिका का समाचार जानने, वसन्तक, न जाने, कब निकला लेकिन अभी तक न आया ।' आदि में, इसका अनुसन्धान प्रतीत होता है और विदूषक का जो यह कथन अर्थात्—'कौशाम्बी का राज्य मिलने पर भी मेरे प्रियवयस्य को उतनी खुशी न होगी जितनी मेरे मुँह से इस आनन्द की बात सुन लेने पर' आदि है, उसमें इसी का विकास पता चल रहा है । इसी प्रकार वासवदत्ता के पहचानने में इस वीज के ह्रास और सागरिका के प्रेममिलन-स्थान पर पहुँचने में इसके अनुसन्धान और लतापाश से सागरिका के आत्मघात-चिन्तन में समुद्भेद की जो प्रक्रिया दिखायी देती है वह सब 'गर्भसन्धि' रूप ही अर्थराशि है ।

विमर्श—आचार्य रामचन्द्र के अनुसार 'गर्भ' सन्धिका यह अभिप्राय है—

'वीजस्यौन्मुख्यवान् गर्भो लाभालाभगवेषणैः ।

उत्पत्त्युद्घाटनदशाद्वयाविष्टस्य वीजस्यौन्मुख्यं फलजननाभिमुख्यं तद्वान् । प्राप्त्याशया तृतीयावस्थया परिच्छिन्नो लाभालाभगवेषणैः पुनः पुनर्भवद्भिर्युक्तः प्रधानवृत्तांशो गर्भसन्धिः । ''' अत्र पुनः पुनर्लाभालाभगवेषणैर्वीजस्यौन्मुख्यं दर्शितम् । अतएव फल

(५ वीं सन्धि : विमर्श-सन्धि)

अथ विमर्श—

यत्र मुख्यफलोपाय उद्भिन्नो गर्भतोऽधिकः ॥ ७९ ॥
शापाद्यैः सान्तरायश्च स विमर्श इति स्मृतः ।

यथा शाकुन्तले चतुर्थाङ्कादौ—'अनसूया—पिअंवदे, जइ वि गन्धव्वेण विवाहेण णिव्वुत्तकल्लाणा पिअसही सउन्दला अणुरूवभत्तुभाइणी संवुत्तेति णिव्वुदं मे हिअअम्, तह वि एत्तिअं चिन्तणिज्जम्' [प्रियंवदे ! यद्यपि गान्धर्वेण विवाहेन निर्वृत्तकल्याणा प्रियसखी शकुन्तला, तथापि अनुरूपभर्तृगामिनी संवृत्तेति निर्वृतं मे हृदयम्, तथाप्येतावच्चिन्तनीयम्] इत्यत आरभ्य सप्तमाङ्कोपक्षिप्ताच्छकुन्तलाप्रत्यभिज्ञानात्प्रागर्थसञ्चयः शकुन्तलाविस्मरणरूपविघ्नालिङ्गितः ।

प्राप्तिसम्भावनात्मको गर्भसन्धिरुच्यते । इह गर्भसन्ध्यपेक्षया प्रधानफलसंभावनात्मकत्वम् " 'अवमर्शसन्धौ तु प्राप्त्यया प्रधानफलनिश्चयरूपत्वादिति विशेषः ॥
(नाट्यदर्पण १ म विवेक)

अर्थात् 'गर्भसन्धि' रूपकरचना की वह अर्थराशि है जिसे 'मुख' और 'प्रतिमुख' सन्धियों का स्वाभाविक विकास कह सकते हैं। बीज की उत्पत्ति के बाद उद्घाटन और उद्घाटन के बाद उसके उद्भेद स्वभावतः हुआ करता है। गर्भसन्धि में फलप्राप्ति की सम्भावना अभिव्यक्त होती है फलप्राप्ति का निश्चय नहीं। 'बीज' के उद्भाव और ह्रास और अन्वेषण अथवा विघ्न-बाधा और उसके निराकरण में जो द्वन्द्व है उसका प्रदर्शन रूपक की एक अनिवार्य आवश्यकता है।

अनुवाद—'विमर्श (अथवा अवमर्श) वह सन्धि है जिसमें गर्भसन्धि से उद्भिन्न प्रधानोपाय रूप बीज और भी अधिक, उद्भिन्न प्रतीत हुआ करता है और साथ ही साथ बाह्य परिस्थिति (जैसे कि शापादि) के कारण आनेवाली विघ्न-बाधाओं से भी व्यवहित दिखायी दिया करता है।

उदाहरणके लिए, 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के चतुर्थ अङ्क के आरम्भक इस संदर्भ अर्थात्—
'अनसूया—प्रियंवदे ! यद्यपि हमारी सखी शकुन्तला का गान्धर्वविधि से विवाह-मङ्गल सम्पन्न हो चुका और वह अपने योग्य पति को भी पा चुकी, किन्तु हम लोगों को इस बात की चिन्ता है'

आदि, से लेकर सप्तम अङ्क में उपनिबद्ध शकुन्तला-प्रत्यभिज्ञान (शकुन्तला की पहचान) रूप वृत्तान्त के पहले जो भी इतिवृत्त भाग है वह 'विमर्श' सन्धिरूप ही अर्थराशि है।

इसमें पहले की अपेक्षा अधिक फलोन्मुख बीज अर्थात् दुष्यन्तगत शकुन्तला-विषयक प्रेम-प्रस्ताव के विकास में विघ्न घटना की योजना की गयी है वह 'शकुन्तलाविस्मरण' (दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला की विस्मृति) की घटना है जो कि इस समस्त अर्थराशि को 'विमर्श' रूप बना रही है।

विमर्श—विमर्श [illegible] अवमर्श भी कहा करते हैं। अभिनव [illegible] किया है—

'गर्भनिर्भिन्नबीजार्थो विलोभनकृतोऽपि वा ।
[illegible] स विमर्श इति स्मृतः ॥

गर्भनिर्भिन्नबीजार्थ इति । क्वचिद् विमर्श इति पठन्ति अन्ये अवमर्श इति । तत्र

(५ म सन्धि • निर्वहणसन्धि)

अथ निर्वहणम्—

बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम् ॥ ८० ॥
एकार्थमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत् ।

यथा—वेण्याम्, 'कञ्चुकी—(उपसृत्य, सहर्षम्) महाराज ! वर्धसे । अय खलु भीमसेनो दुर्योधनक्षतजारुणीकृतसर्वशरीरो दुर्लक्ष्यव्यक्तिः' इत्यादिना द्रौपदीकेशसयमनादिमुखसन्ध्यादिबीजाना निजनिजस्थानोपक्षिप्तानामेकार्थयोजनम् ।

यथा वा—शाकुन्तले सप्तमाङ्के शकुन्तलाभिज्ञानादुत्तरोऽर्थराशिः । एषामङ्गान्याह—

सन्देहात्मको विमर्श । ननु पूर्व सभावनाप्रत्यय तत• सशय इति नेदमुचितम्, संशयनिर्णयान्तरालवर्तिनं हि तर्कं तार्किका प्राहु । किं च विमर्शसन्धिर्नियतफलप्राप्त्यवस्थया व्याप्त, तच्च नियतत्व सदेहश्चेति किमेतत् । 'अत्राहु –तर्कानन्तरमपि हेत्वन्तरवशाद् बाधच्छलरूपतापराकरणे सशयो भवेत्, किं न भवति ! इहापि च निमित्तबलात् कुतश्चित् संभावितमपि फल यदा बलवता प्रत्यूह्यते कारणानि च बलवन्ति भवन्ति तदा जनकविघातकयोस्तुल्यबलत्वात् कथ न सदेह । तुल्यबलविरोधकविधीयमानवैधुर्यव्याधूननसन्धीयमानस्फारफलावलोकनाया च पुरुषकार सुतरामुद्धुरकन्धरीभवतीति तर्कानन्तरमत्र सशय• ततो निर्णय इत्येतदेवोचिततरम् ।' (अभिनवभारती १९, ४२)

अर्थात् 'प्राप्त्याशा' के बाद 'नियताप्ति' की अवस्था का जो क्रम है वही 'गर्भ' के बाद 'विमर्श' का क्रम है। फलप्राप्ति की सभावना होने पर भी सदेह का होना इसलिये स्वाभाविक है क्योंकि विघ्न-बाधाओं की मुठभेड समाप्त नहीं हुई है। फलप्राप्ति की नियत सभावना और विघ्नबाधा के कारण इसकी संदिग्धता के द्वन्द्व में जो नाटकीय चरित का विकास हुआ करता है उसका एक अपना ही सौन्दर्य और महत्त्व है। 'विमर्श' सन्धि में नाटक के प्रधान चरित का पौरुष और भी अधिक उद्दीप्त रूप से प्रकाशित हुआ करता है।

अनुवाद—निर्वहण सन्धि –'निर्वहण सन्धि' रूपक प्रबन्ध की वह अर्थराशि है जिसमें उन-उन सन्धिओं में यत्र-तत्र उपन्यस्त बीजादि रूप इतिवृत्ताश प्रधान फल के निष्पादक बनते दिखायी दिया करते हैं।

उदाहरण के लिये 'वेणीसहार' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'कञ्चुकी—(पास पहुँच कर, सहर्ष) महाराज ! जय हो।

दुर्योधन के रक्त से रजित और इसीलिये पहचान में •न आने वाले ये भीमसेन ही हैं' आदि में इस नाटक के प्रधान फल के निष्पादन का जो उपन्यास है वह निर्वहण सन्धि रूप ही रूपकार्थ है। वस्तुत यही वह रूपकार्थ है जिसकी निष्पत्ति के लिये उन-उन सधियों में यथास्थान विन्यस्त द्रौपदीकेशसयमनादिरूप बीजादिभूत इतिवृत्ताश उन्मुख किं वा उत्सुक होते रहे हैं।

अथवा 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के सप्तमाङ्क में शकुन्तला की पहचान की घटना के बाद की जो वृत्त-योजना है उसे भी 'निर्वहण' के निदर्शन रूप में ले सकते हैं।

(सन्ध्यङ्ग-निरूपण : 'मुख' सन्धि के १२ अङ्ग)

उपक्षेपः परिकरः परिन्यासो विलोभनम् ॥ ८१ ॥
युक्तिः प्राप्तिः समाधानं विधानं परिभावना ।
उद्भेद करणं भेद एतान्यङ्गानि वै मुखे ॥ ८२ ॥

(१ म अङ्ग—उपक्षेप)

यथोद्देशं लक्षणमाह—

काव्यार्थस्य समुत्पत्तिरुपक्षेप इति स्मृतः ।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार के अनुसार 'निर्वहण' का यह स्वरूप है—

'सबीजबिन्द्ववस्था नानाभावा मुखादयः ।
एकार्थयोगिनो यस्मिन्नसौ निर्वहणं मुखम् ॥

बीजस्य बिन्दुः विकारः ... सह बीजबिन्दुभिरवस्थाभिः आरम्भादिभिर्वर्तन्ते । नाना विविधा भावाः स्थायिव्यभिचारि-सात्त्विका अथवा भावयन्ति फलं साधयन्ति भावा उपाया बिन्दु-पताका-प्रकरी-कार्याणि च । सुखफले च फले रति-हासोत्साह-विस्मय-स्थायिभावचतुष्टयं धृति-गर्वौत्सुक्य-मत्यादि-व्यभिचारिचतुष्टयं च मुखादीनाम् । दुःखदायी तु फले क्रोध-शोक-भय-जुगुप्सा-स्थायिभावचतुष्टयमौग्र्यादि-व्यभिचारिचतुष्टयञ्च हास्यम् । मुखादयो मुख-प्रतिमुख-गर्भ-विमर्शाः । एतेन मुखसाध्येन भावक-प्रतिभावक-नायिकानायकादि-व्यापारे सम्यगर्थित्वेन मुखान्ते संवदयन्ते यस्मिन् प्रधानवृत्तांशे स फलागमावस्थया परिच्छिन्नो निर्वहणसन्धिः । मुखमिति प्रारम्भस्य निर्वाहणभावित्वात् सर्वरूपकेष्वस्यावश्यम्भावमाह । (नाट्यदर्पण : १ म विवेक)

अर्थात् रूपक प्रबन्ध का जहाँ कहीं आरम्भ है वहीं अन्त भी है । रूपक के आरम्भ के उपयुक्त जो भी इतिवृत्त-चरित अथवा रसभावादि-रूप अर्थराशि है वही अन्त में उपसंहृत की जाया करती है और एकमात्र आनन्द में परिणत हुआ करती है ।

अनुवाद—अब इन सन्धियों के अङ्गों का निरूपण किया जा रहा है । सर्वप्रथम 'मुख' सन्धि के ये १२ अङ्ग हैं—(१) उपक्षेप (२) परिकर (३) परिन्यास (४) विलोभन (५) युक्ति, (६) प्राप्ति (७) समाधान (८) विधान (९) परिभावना (१०) उद्भेद, (११) करण और (१२) भेद ।

विमर्श—नाट्यशास्त्र में भरत मुनि ने सन्ध्यङ्गों का बड़ा सुन्दर अभिप्राय बताया है—

'अङ्गहीनो नरो यद्वन्नैवारम्भक्षमो भवेत् ।
अङ्गहीनं तथा काव्यं न प्रयोगक्षमं भवेत् ॥
उदात्तमपि यत् काव्यं स्यादङ्गैः परिवर्जितम् ।
हीनत्वाद्धि प्रयोगस्य न सतां रञ्जयेन्मनः ॥
काव्यं यदपि हीनार्थं सम्यगङ्गैः समन्वितम् ।
दीप्तत्वात्तु प्रयोगस्य शोभामेति न संशयः ॥ (नाट्यशास्त्र १९.५१–५५)

अनुवाद—मुखसन्धि के अङ्गों का क्रमशः यह स्वरूप है :—

(१) 'उपक्षेप' वह है जिसे काव्यार्थ की समुत्पत्ति कहा करते हैं । 'काव्यार्थ' का अभिप्राय रूपक अथवा अन्य काव्यों के प्रस्तुत विषयरूप इतिवृत्त का अभिप्राय है । जैसे कि 'वेणीसंहार' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

काव्यार्थ इतिवृत्तलक्षणप्रस्तुतताभिधेय । यथा वेण्याम्–'भीमः—

लाक्षागृहानलविषान्नसभाप्रवेशैः

प्राणेषु वित्तनिचयेषु च नः प्रहृत्य ।

आकृष्य पाण्डववधूपरिधानकेशान्

स्वस्था भवन्ति मयि जीवति धार्तराष्ट्राः ॥

(२ य अङ्ग-परिकर)

समुत्पन्नार्थबाहुल्यं ज्ञेयः परिकरः पुनः ॥ ८३ ॥

यथा तत्रैव—

प्रवृद्धं यद्वैरं मम खलु शिशोरेव कुरुभि-

र्न तत्रार्यो हेतुर्न भवति किरीटी न च युवाम् ।

जरासंधस्योरःस्थलमिव विरूढं पुनरपि

क्रुधा भीमः सन्धिं विघटयति यूयं घटयत ॥

'भीम—ओह ! लाक्षागृह में आग लगा कर, विषमय अन्न खिला कर, द्यूत-सभा में बुला कर, धन-सम्पत्ति छीन कर, प्राण लेने के प्रयत्न कर और द्रौपदी के केश और वस्त्र खोल-खींच कर, मेरे जीते-जागते, क्या कौरव राजगण स्वस्थ बैठे आनन्द मनाया करें ?'

आदि में मुखसन्धि के 'उपक्षेप' रूप अङ्ग की ही योजना है क्योंकि यहाँ 'वेणीसंहार' रूप काव्यार्थ की उत्पत्ति स्पष्ट दिखायी दे रही है ।

विमर्श—'उपक्षेप' का वास्तविक अभिप्राय इतिवृत्त-रूप काव्यार्थ की ही समुत्पत्ति नहीं अपितु रूपक बन्ध के मुख्य रसभावरूप अर्थ की भी समुत्पत्ति है । जैसे कि साहित्यदर्पणकार ने 'वेणी-संहार' नाटक के जिस प्रसङ्ग का उल्लेख किया है वह इसीलिए 'उपक्षेप' नहीं कि उसमें वेणीसंहार के इतिवृत्त का बीजावाप हुआ है अपि तु इसलिए है कि उसमें वेणीसंहार के मुख्यरस का बीज बोया गया प्रतीत हो रहा है और साथ ही साथ नायक-चरित का युद्धोत्साह-रूप वैशिष्ट्य भी परिलक्षित हो रहा है ।

'उपक्षेप' अत्यन्त आवश्यक सन्ध्यङ्ग है बिना इसके नाटक की अर्थराशि का वृक्ष कदापि उत्पन्न नहीं हो सकता ।

अनुवाद—'परिकर' का अभिप्राय उत्पन्न काव्यार्थ (अथवा नाट्यार्थ) का बाहुल्य अथवा विकासोन्मुख होना है । जैसे कि 'वेणीसंहार' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'भीम—बचपन से ही कौरवों के साथ मेरा वैरभाव बढ़ता आया है । इसके लिए न मुझे युधिष्ठिर को दोष देना है और न अर्जुन को और न तुम्हीं दोनों (नकुल और सह-देव) को । मैं तो जरासंध के वक्षस्थल की भाँति पहले टूटी और फिर जुड़ी, कौरवों और पाण्डवों की इस सन्धि को तोड़ने की प्रतिज्ञा कर रहा हूँ । अब तुम लोगों की हिम्मत हो तो इसे जोड़कर देख लो ।'

में, मुखसन्धि के जिस 'अङ्ग' की योजना है वह 'परिकर' ही है क्योंकि यहाँ 'वेणीसंहार-रूप' काव्यार्थाङ्कुर पहले की अपेक्षा अधिक विकासोन्मुख दिखायी दे रहा है ।

विमर्श—'परिकर' का अभिप्राय 'परिकरण अथवा उपक्षिप्त अर्थ के स्वल्प विस्तार का अभि-प्राय है । 'वेणीसंहार' की उपर्युक्त उक्ति में भीम का युद्धोत्साह किंवा क्रोधावेश और भी अधिक स्पष्ट रूप से प्रतीत होने लगता है ।

(३ य अङ्ग—परिन्यास)

तन्निष्पत्तिः परिन्यासः—

यथा तत्रैव—

चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघातसंचूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणिरुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः॥

अत्रोपक्षेपो नाम वेणीसंहारस्य काव्याभिधेयस्य संक्षेपेणोपक्षेपणमात्रम्। परिकरस्तस्यैव बहुलीकरणम्। परिन्यासस्ततोऽपि निश्चयापत्तिरूपतया परितो हृदये न्यसनम्, इत्येषां भेदः। एतानि चाङ्गानि उक्तेनैव पौर्वापर्येण भवन्ति, अङ्गान्तराणि त्वन्यथापि।

(४र्थ अङ्ग—विलोभन)

—गुणाख्यानं विलोभनम्।

यथा तत्रैव, 'द्रौपदी—णाध, किं दुक्करं तुए परिकुविदेण' [नाथ ! किं दुष्करं त्वया कुपितेन] यथा वा मम चन्द्रकलायां चन्द्रकलावर्णने—'सेयम्, तारुण्यस्य विलास'— इत्यादि। यत्तु शाकुन्तलादिषु 'ग्रीवाभङ्गाभिरामम्—' इत्यादि मृगादिगुणवर्णनं तद्बीजार्थसम्बन्धाभावान्न संध्यङ्गम्। एवमङ्गान्तराणामप्यूह्यम्।

अनुवाद—'परिन्यास' कहते हैं पूर्वोपक्षिप्त किंवा स्वल्प विस्तृत काव्यार्थ के विशेष निश्चय को। जैसे कि 'वेणीसंहार' के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'भीम—द्रौपदी! चिन्ता न कर इन प्रचण्ड भुजदण्डों में घूमती अपनी गदा के प्रहार से दुर्योधन की जाँघें तोड़ दूँगा और उसके गाढ़े लाल-लाल रक्त से अपने हाथ रँगे किए तेरी वेणी सँवारूँगा।

में 'परिन्यास' की ही रूपरेखा झलक रही है।

यहाँ उपक्षेप-परिकर और परिन्यास के क्रम का अभिप्राय यह है—'उपक्षेप' तो इतिवृत्तरूप काव्य अथवा नाट्य के अर्थ का संक्षेप में उपन्यास-मात्र है जिसे 'परिकर' कहते हैं वह इसी संक्षेपतः उपस्थित काव्यार्थ का किञ्चिन्मात्र विस्तार है और 'परिन्यास' इसके बाद की अवस्था है जिसमें किञ्चिन्मात्र विस्तृत काव्यार्थ का विशेष निश्चय दिखाई दिया करता है तथा यह काव्यार्थ हृदय में स्थान पाने लगता है। ये तीन अङ्ग तो ऐसे हैं जिनकी योजना, जिस क्रम से इनका निर्देश है उसी क्रम से की जाया करती है किन्तु अन्य जो ९ अङ्ग हैं उनकी योजना क्रम अथवा व्युत्क्रम दोनों प्रकार से हो सकती है।

अनुवाद— 'विलोभन' का अभिप्राय गुणकथन अथवा गुणवर्णन का अभिप्राय है। जैसे कि 'वेणीसंहार' के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'द्रौपदी—नाथ ! आप जब क्रुद्ध हो जायँ तब क्या नहीं कर सकते !'

आदि में अथवा मेरी अपनी कृति 'चन्द्रकला' के इस चन्द्रकला-वर्णन-प्रसङ्ग अर्थात् 'यही चन्द्रकला है तरुणता की विलास मूर्ति' आदि में जो गुणवर्णन है वह 'विलोभन' रूप ही है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि 'अभिज्ञानशाकुन्तल' आदि के 'ग्रीवाभङ्गाभिरामम्' आदि सूक्ति में जो मृग आदि का गुणवर्णन है उसमें कोई 'सन्ध्यङ्ग' योजना नहीं क्योंकि इस रूपक के बीजभूत अर्थ से इसका कोई सम्बन्ध नहीं। इसी प्रकार अन्य

(५म अङ्ग : युक्ति)

संप्रधारणमर्थानां युक्तिः—

यथा—वेण्यां-'सहदेवो भीमं प्रति आर्य ! किं महाराजसन्देशोऽयमव्युत्पन्न एवार्येण गृहीतः' इत्यत प्रभृति यावद्भीमवचनम्।

'युष्मान् ह्रेपयति क्रोधाल्लोके शत्रुकुलक्षयः।
न लज्जयति दाराणां सभायां केशकर्षणम् ॥' इति।

(६ठा अङ्ग—प्राप्ति)

—प्राप्तिः सुखागमः ॥ ८४ ॥

यथा तत्रैव—'मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपात्—' इत्यादि। 'द्रौपदी—(श्रुत्वा सहर्षम्) णाध, अस्सुदपुव्व क्खु एद वअणम्, ता पुणो पुणो भण।' [नाथ अश्रुतपूर्वं खल्विद वचनम्, तत्पुन पुनर्भण !]

प्रसङ्गों में भी 'सन्ध्यङ्ग' और सन्ध्यङ्ग की भाँति प्रतीत होने वाले अन्य वैशिष्ट्यों का विवेक स्वयं कर लेना चाहिये (अर्थात् यह ध्यान रखना चाहिये कि 'सन्ध्यङ्ग' रूपक के वीजभूत अर्थ से ही सम्बद्ध तत्त्व है)।

विमर्श—'विलोभन' 'गुणाख्यान' रूप हुआ करता है। इससे प्रस्तुत कृत्य के सम्पादन की अभिलाषा स्थिर की जाया करती है। 'वेणीसंहार' के उपर्युक्त प्रसङ्ग में भीम की 'वेणीसंहार' विषयक अभिलाषा का ही स्थिरीकरण किया हुआ है। 'परिन्यास' के वाद 'विलोभन' की योजना हुआ करती है। कुछ नाट्याचार्य, जैसे कि धनिक और धनञ्जय आदि, तो इसे 'मुखसन्धि' का ही अङ्ग मानते हैं किन्तु कुछ नाट्याचार्य, जैसे कि रामचन्द्र, गुणचन्द्र आदि, ऐसे भी हैं जो इसे अन्य सन्धियों के लिये भी उपयुक्त मानते हैं।

अनुवाद—'युक्ति' कहते हैं 'अर्थसंप्रधारण' अथवा कर्त्तव्यनिश्चय को। जैसे कि, 'वेणी-संहार' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'सहदेव (भीम के प्रति) आर्य ! आपने महाराज का संदेश ठीक-ठीक नहीं समझा।' आदि से लेकर भीमसेन की इस उक्ति अर्थात्—

'सहदेव ! भरी राज-सभा से द्रौपदी का केशकर्षण तुम लोगों के लिये क्योंकर लज्जा-जनक लगने लगे, अरे ! तुम लोगों को तो क्रोध में आकर शत्रुवंश के संहार करने में लज्जा लग रही होगी !'

तक जो सन्दर्भ है उसमें 'युक्ति' की ही योजना की गयी है।

विमर्श—'युक्ति' अथवा 'अर्थसंप्रधारण' में, गुण-दोष के विवेकपूर्वक, कार्यपर्यालोचन का अभिप्राय छिपा है। युक्ति की योजना में सन्ध्यङ्ग निर्देश के क्रम का कोई महत्त्व नहीं, क्योंकि 'विलोभन' के वाद 'युक्ति'-योजना का कोई नियम नहीं दिखायी देता। 'परिकर' के वाद भी 'युक्ति' की योजना की जा सकती है और की भी गयी है।

अनुवाद—'प्राप्ति' का अभिप्राय सुखागम है। जैसे कि 'वेणीसंहार' के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'भीम—मैं भला संग्राम में कौरवों पर क्यों क्रोध करने लगा'।

आदि के अनन्तर—

'द्रौपदी (सुनकर, प्रसन्नता के साथ) प्रियतम ! पहले कभी तुम्हारे मुँह से ऐसी

(७ म अङ्ग-समाधान)

बीजस्यागमनं यत्तु तत्समाधानमुच्यते ।

यथा तत्रैव—'(नेपथ्ये कलकलानन्तरम्) भो भो द्रुपदविराटवृष्ण्यन्धकसहदेवप्रभृतयः ! अस्मदक्षौहिणीपतयः कौरवचमूप्रधानयोधाश्च शृण्वन्तु भवन्तः—

यत्सत्यव्रतभङ्गभीरुमनसा यत्नेन मन्दीकृतं
यद्विस्मर्तुमपीहितं शमवता शान्तिं कुलस्येच्छता ।
तद्द्यूतारणिसंभृतं नृपसुताकेशाम्बराकर्षणैः
क्रोधज्योतिरिदं महत्कुरुवने यौधिष्ठिरं जृम्भते ॥'

अत्र 'स्वस्था भवन्तु मयि जीवति—' इत्यादि बीजस्य प्रधाननायकाभिमतत्वेन सम्यगाहितत्वात्समाधानम् ।

जाय न छुआई पड़ी ! कहो कहो फिर-फिर यही कहो । आदि में जिस संभ्रम की योजना है वह 'प्राप्ति' ही है ।

विमर्श—'प्राप्ति' का अभिप्राय केवल सुख का आगम नहीं अपितु सुखहेतु का भी आगम है जैसा कि नाट्यदर्पणकार का कथन है—

'प्राप्तं सुखसम्प्राप्तिः—सुखस्य सुखहेतोश्च सम्यगन्वेषणात्प्राप्तिः प्रापणम्'
(नाट्यदर्पणः १ म विवेक)

इसकी योजना एक बार ही हो ऐसा कोई नियम नहीं । वैचित्र्य के लिये इसकी अनेक बार भी योजना की जा सकती है ।

अनुवाद—'समाधान' वह है जिसे बीज का आगमन अथवा समीचीन रूपसे आधान कहा गया है ।

जैसे कि 'वेणीसंहार' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'(नेपथ्य में डङ्का बजने के बाद) अरे ! द्रुपद, विराट, वृष्णि, अन्धक और सहदेव प्रभृति अक्षौहिणीनायको और कौरवसेनाध्यक्षो ! सुनो—

आज कौरववन में महाराज युधिष्ठिर की क्रोधाग्नि धधक रही है वही क्रोधाग्नि जिसे सत्यपालन की प्रतिज्ञा के टूटने के डर से परिश्रमपूर्वक बुझा सा दिया गया था जिसे कुलक्षय और कुलशान्ति के लिए विस्मृतिगर्भ तक में डाल दिया गया था, किन्तु द्यूत की अरणि और द्रौपदी के केशाम्बराकर्षण की हवा भला कबतक उसे शान्त रहने देती !'

आदि, में 'समाधान' की ही योजना स्पष्ट दिखायी दे रही है ।

यहाँ 'समाधान' इसीलिए है क्योंकि यहाँ 'मेरे जीते-जागते क्या कौरव स्वस्थचित्त हुए आनन्द मनायेंगे' आदि भीमवचन में उपक्षिप्त युद्धोन्मादविषयक बीज का ही समीचीन आधान किया जा रहा है ।

विमर्श—'समाधान' वस्तुतः बीज का ही पुनर्न्यास है । उपक्षिप्त बीज के समीचीन आधान का अभिप्राय इसका यही है । नाट्यदर्पणकार ने इसीलिये समाधान को 'पुनर्न्यास' कहा है—

पुनर्न्यासः समाहितिः ॥

संक्षिप्योपक्षिप्तस्य बीजस्य स्फुटतामतिपादनार्थं पुनर्न्यासः प्रतिनिर्देशविशेषः सम्यगा-समन्तात् धानं धारणं समाहितिः' (नाट्यदर्पणः १ म विवेक) ।

(८ म अङ्ग—विधान)

सुखदुःखकृतो योऽर्थस्तद्विधानमिति स्मृतम् ॥ ८५ ॥

यथा बालचरिते—

'उत्साहातिशयं वत्स ! तव बाल्यं च पश्यतः ।
मम हर्षविषादाभ्यामाक्रान्तं युगपन्मनः ॥'

यथा वा मम प्रभावत्याम्—'नयनयुगासेचनकम्—' इत्यादि ।

(९ म अङ्ग—परिभावना)

कुतूहलोत्तरा वाचः प्रोक्ता तु परिभावना ।

यथा वेण्यां द्रौपदी युद्धं स्यान्न वेति संशयाना तूर्यशब्दानन्तरम् 'णाध ! किं दाणिं एसो पलअजलहरत्थणिदमन्थरखणे खणे समरदुन्दुभि ताडीअदि ।' [नाथ ! किमिदानीमेष प्रलयजलधरस्तनितमन्थर क्षणे क्षणे समरदुन्दुभिस्ताड्यते]

अनुवाद—'विधान' वह है जिसे सुख-दुःख अथवा सुख या दुःख का एकत्र या अनेकत्र उपनिपात कहा गया है। जैसे कि 'बालचरित' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'राम ! क्या बताऊँ, एक ओर तुम्हारा उत्साह और दूसरी ओर तुम्हारे बाल्यभाव को देखकर, मेरा मन एक ही साथ हर्ष और विषाद से आक्रान्त हो उठा है !'

आदि में या मेरी अपनी कृति 'प्रभावती-परिणय' के 'नेत्रयुगल की संतृप्तिरूप' आदि संदर्भ में, जिस सन्ध्यङ्ग की योजना है वह 'विधान' ही है।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार के अनुसार 'विधान' का यह स्वरूप है—

'विधानं सुखदुःखाप्तिः'—

द्वयोः सुखदुःखयोरेकत्रानेकत्र वा पात्रे प्राप्तिरेकस्य वा सुखस्य दुःखस्य वा प्राप्तिर्विधानम्। एकत्र पात्रे सुखदुःखयोः प्राप्तिर्यथा मालतीमाधवे—

'माधवः—

यद् विस्मयस्तिमितमस्तमितान्यभावमानन्दमन्दममृतप्लवनादिवाभूत् ।
तत् सन्निधौ तदधुना हृदयं मदीयमङ्गारचुम्बितमिव व्यथमानमास्ते ॥'

इत्यनेन सानुरागमालत्यवलोकनान्माधवस्य सुखदुःखाप्तिः।' (नाट्यदर्पण १ म विवेक)

'प्राप्ति' और 'विधान' दो भिन्न-भिन्न स्वभाव के अङ्ग हैं। 'प्राप्ति' तो सुखान्वेषण अथवा सुखसाधनान्वेषण है किन्तु 'विधान' सुखसन्निधानरूप है। सुख के अन्वेषण और सन्निधान में जो भेद है वही 'प्राप्ति' और 'विधान' के परस्पर भेद का हेतु है।

अनुवाद—'परिभावना' वह है जिसे कुतूहलपूर्ण वचन का विन्यास कहा गया है। जैसे कि 'वेणीसंहार' में 'युद्ध होगा या न होगा' के संदेह में पड़ी द्रौपदी की जो यह उक्ति है—

'प्राणनाथ ! क्या बात है कि रह-रह कर, प्रलयकालीन मेघगर्जन की भाँति गंभीर और भयङ्कर समर-दुन्दुभि का नाद सुनायी पड़ रहा है।'

उसमें 'परिभावना' की ही रूपरेखा झलक रही है।

विमर्श—'परिभावना' का तात्पर्य विस्मय है—

'जिज्ञासातिशयेन किमेतदिति कौतुकानुबन्धे विस्मयः परिभावना।'

(नाट्यदर्पण : १ म विवेक)

(१० अङ्ग-उद्भेद)

बीजार्थस्य प्ररोहः स्यादुद्भेदः—

यथा तत्रैव—'द्रौपदी—अण्ण च णाह, पुणोवि तुम्हेहिं समराअदो आअच्छिअ समास्सासइदव्वा। [अन्यच्च नाथ ! पुनरपि युष्माभिः समरादागत्याहं समाश्वासयितव्या]

भीमः—ननु पाञ्चालराजतनये ! किमद्याप्यलीकाश्वासनया—

भूयः परिभवक्लान्तिलज्जाविधुरिताननम्।
अनिःशेषितकौरव्यं न पश्यसि वृकोदरम् ॥

(११ अङ्ग-करण)

—करणं पुनः ॥ ८६ ॥

प्रकृतार्थसमारम्भः—

यथा तत्रैव—'देवि ! गच्छामो वयमिदानीं कुरुकुलक्षयाय' इति।

विस्मयाभिव्यञ्जक वचन-विन्यास द्वारा उपक्षिप्त बीजवस्तु से सम्बद्ध जिज्ञासा की ही पुष्टि की जाया करती है।

अनुवाद—'उद्भेद' का अभिप्राय बीजार्थ का प्ररोह है। जैसे कि 'वेणीसंहार' के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'द्रौपदी—नाथ! एक बात और संग्राम से लौटकर एकबार फिर मुझे सान्त्वना देना।

भीम—पाञ्चालराजकुमारी ! अब झूठी सान्त्वना क्यों ?

अब तू इस भीम को अपमान से कलंकित और म्लानमुख न देख पाओगी। अब तो कौरवों का सर्वनाश करके प्रसन्नवदन भीम तेरे सामने होगा।

आदि में जो सम्बन्ध है वह 'उद्भेद' रूप ही है।

विमर्श—'उद्भेद' का स्वरूप नाट्यदर्पण की इन पंक्तियों में स्पष्ट है—

'स्वरूपप्ररोह उद्भेदः—अङ्कुरावस्थापन्नस्य बीजस्य स्वरूपप्ररोहः। किञ्चित् फलस्य प्रधानानुकूल्यप्रदर्शनं चान्यस्योपक्षिप्तस्योद्भेदः। बीजस्योत्पादनमङ्कुररूपम्, उद्भेद पुनरङ्कुरावस्थापन्नात् भूमिभ्यस्तथान्योपक्षिप्तस्य प्राचीनावस्था इत्यर्थः मुखसन्धेरेवाङ्गम् न पुनरन्यत्वात् प्रतिमुखसन्धेः।' (नाट्यदर्पण प्रथम विवेक)

अर्थात् 'उद्भेद' तो मुखसन्धि का अंग है और 'उद्वार' प्रतिमुख सन्धि का। 'उद्भेद' बीज की अंकुरावस्था की तैयारी है और 'उद्वार' बीज का अंकुरोत्पादन है। 'उद्भेद' के बाद ही 'उद्वार' की सम्भावना है पहले नहीं। इसलिये 'उद्भेद' मुखसन्धि का अङ्ग है—और 'उद्वार' प्रतिमुख सन्धि का।

अनुवाद—'करण' का अभिप्राय प्रस्तुत विषय के समारम्भ का अभिप्राय है।

जैसे कि 'वेणीसंहार' का यह प्रसंग अर्थात्—

'भीम—देवी ! अब हम कुरुवंश के सर्वनाश के लिये चल पड़े हैं।

आदि में जो सम्बन्ध है वह करण ही है।

विमर्श—करण' अवसर के अनुकूल कार्यारम्भ है। इस अंग की योजना से भी उपक्षिप्त बीज का ही परिपोष किया जाया करता है। ऊपर के उदाहरण में भीम का युद्धोत्साहरूप बीज अभिव्यक्ति परिपुष्ट होता दिखायी दे रहा है।

(१२ अङ्ग–भेद)

—भेदः संहतभेदनम् ।

यथा तत्रैव—'अत एवाद्यप्रभृति भिन्नोऽहं भवद्भ्य ।'

केचित्तु—'भेदः प्रोत्साहना' इति वदन्ति ।

(प्रतिमुखसन्धि के १३ अङ्ग : निर्देश)

अथ प्रतिमुखाङ्गानि—

विलासः परिसर्पश्च विधुतं तापनं तथा ॥ ८७ ॥
नर्म नर्मद्युतिश्चैव तथा प्रगमनं पुनः ।
विरोधश्च प्रतिमुखे तथा स्यात्पर्युपासनम् ॥ ८८ ॥
पुष्पं वज्रमुपन्यासो वर्णसंहार इत्यपि ।

अनुवाद—'भेद' कहते हैं सघविघात को ।
जैसे कि 'वेणीसहार' के इस प्रसग अर्थात्—

'भीम—इसीलिये आज से मेरा और तुम लोगों का कोई सम्बन्ध नहीं ।'

आदि में जिस सन्ध्यङ्ग का विनिवेश है वह 'भेद' है ।

कुछ नाट्याचार्य 'भेद' का अभिप्राय (सघविघात नहीं अपितु) 'प्रोत्साहन' मानते हैं ।

विमर्श—'भेद' का एक और भी अभिप्राय है और वह है 'पात्रनिर्गम' । नाट्यदर्पणकार ने 'भेद' की यह स्वरूपमीमासा की है—

'भेदनं पात्रनिर्गम —रङ्गप्रविष्टानां पात्राणां निर्गमो रगान्निःसरणं येन तद् भेदनम् । पात्राणा यथास्व प्रयोजनवशादितश्चेतश्च गन्तुमन्यार्थोऽप्यभिप्राय उद्यमो वा रंगान्निर्गममापादयन् भेदनमुच्यते । यथा वेणीसंहारे भीमो द्रौपद्या सग्रामापायशङ्किन्या शरीरानपेचे पराक्रमे निषिद्ध प्रत्याह—

'अयि सुचत्रिये !

अन्योन्यास्फालभिन्नद्विपरुधिरवसासान्द्रमस्तिष्कपङ्के
मग्नाना स्यन्दनानामुपरि कृतपदन्यासविक्रान्तपत्तौ ।
स्फीतासृक्पानगोष्ठीरसदशिवशिवातूर्यनृत्यत्कवन्धे
सग्रामैकार्णवान्त पयसि विचरितुं पण्डिता पाण्डुपुत्रा ॥'

इत्येतेन हि सग्रामविचरणे पाण्डवानां पाण्डित्यख्यापनेन संग्रामावतरणाभिप्राय सहदेवस्य चात्मनश्च संघातभेदनार्थ एवोपदर्शित इति भेदोऽङ्गम् ।

अन्ये तु भेद प्रोत्साहनमाहु ।

अन्ये तु सहतानां प्रतिपक्षाणां बीजफलोत्पत्तिनिरोधकाना विश्लेपक भेदरूपमुपाय भेदन मन्वते ।' (नाट्यदर्पण · प्रथम विवेक)

अनुवाद—'प्रतिमुख' सन्धि के ये १३ अङ्ग हैं—(१) विलास, (२) परिसर्प, (३) विधुत, (४) तापन, (५) नर्म, (६) नर्मद्युति, (७) प्रगमन, (८) विरोध, (९) पर्युपासन, (१०) पुष्प, (११) वज्र, (१२) उपन्यास और (१३) वर्णसहार ।

विमर्श—प्रतिमुखसन्धि के इन अगों की योजना से नाटकीय इतिवृत्त में वैचित्र्य का

(१ अङ्ग—विलास)

तत्र—

समीहा रतिभोगार्था विलास इति कथ्यते ॥ ८९ ॥

रतिलक्षणस्य भावस्य यो हेतुभूतो भोगो विषयः प्रमदा पुरुषो वा तदर्था समीहा विलासः ।

यथा शाकुन्तले—

'कामं प्रिया न सुलभा मनस्तु तद्भावदर्शनाश्वासि ।
अकृतार्थेऽपि मनसिजे रतिमुभयप्रार्थना कुरुते ॥'

आधान किया जाता है। यद्यपि ये अङ्ग प्रतिमुख के ही अंग हैं किन्तु अन्यत्र भी इनका उपन्यास किया जाता है।

अनुवाद—'विलास' का अभिप्राय रतिभाव (वस्तुतः रत्यादिरूप स्थायीभावों) के विषयभूत पदार्थों के लिए अभिलाषा है।

'रतिभोगार्था समीहा' विलास है। इसका तात्पर्य यह है—'रतिभोग' कहते हैं रति-रूप भाव के हेतुभूत 'भोग' अथवा विषय जैसे कि स्त्री और पुरुष को। 'रतिभोग' के लिये अर्थात् प्रेमिका के हृदय में प्रेमी के लिए और प्रेमी के हृदय में प्रेमिका के लिए जो समीहा अथवा अभिलाषा है वह है 'रतिभोगार्था समीहा'। 'विलास' इसी समीहा का पारिभाषिक नाम है।

जैसे कि अभिज्ञानशाकुन्तल के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'दुष्यन्त—मेरे लिए प्रिया शकुन्तला को पाना भले ही कठिन हो किन्तु मेरा मन उसके अनुरागचिह्नों के मनन-चिन्तन में ही लीन रहा करता है। चाहे मेरा और उसका मिलन हो या न हो मुझे इसी से सन्तोष है कि हम दोनों एक दूसरे को चाहने लगे हैं।'

में, दुष्यन्त के हृदय में शकुन्तला से मिलने की अभिलाषा का जो अभिव्यञ्जन है उसमें 'विलास' का स्वरूप स्पष्ट है।

विमर्श—'विलास' प्रतिमुखसन्धि का प्रथम अङ्ग है और प्रतिमुखसन्धि रूपकसामान्य की एक विशेष अर्थराशि हुआ करती है न कि शृङ्गारमय रूपकों की ही। इस दृष्टि से 'विलास' की 'रतिभोगार्था समीहा' ऐसा लक्षण नहीं प्रतीत होता। यहाँ यदि 'रति' पद को स्थायिभावमात्र का उपलक्षण मान लिया जाय तब 'विलास' की परिभाषा ठीक बैठ जाती है। वस्तुतः नाट्यदर्पणकार का यही मत कथन है—

'प्रतिमुखस्य प्रारम्भावसरत्वाद् विलसनीयम्, स एव सुखे रस उपस्थिस्थायी विभावानुभावव्यभिचारिभिः पोषणीयः। क्रमश्च स्थायी सुखसम्पादनमस्ता स्यात्। प्रतिमुखे विलासेन स एव विलास्यते। विलासप्रकारान्तरमन्यत्र वेतराण्यङ्गानि विलसनीयानि। वीरादिरसप्रधानेष्वपि रूपकेषु युद्धरसादिसम्पत्तिर्यो दृश्यते विलासः।' (नाट्यदर्पण : प्रथम विवेक)

अर्थात् जैसे शृङ्गारप्रधान रूपक-प्रबन्धों में नायक और नायिका की परस्पर रतिसमीहा को 'विलास' कहा गया है वैसे ही वीर-रसप्रधान रूपक-प्रबन्धों में उत्साहविषयक समीहा भी 'विलास' ही है।

(२ अङ्ग-परिसर्प)

इष्टनष्टानुसरणं परिसर्पश्च कथ्यते ।

यथा शाकुन्तले—

'राजा—भवितव्यमत्र तया । तथा हि—

अभ्युन्नता पुरस्तादवगाढा जघनगौरवात्पश्चात् ।
द्वारेऽस्य पाण्डुसिकते पदपङ्क्तिर्दृश्यतेऽभिनवा ॥'

(३ अङ्ग-विधुत)

कृतस्यानुनयस्यादौ विधुतं त्वपरिग्रहः ॥ ९० ॥

यथा तत्रैव—'अलं वो अन्तेउरविरहपज्जुस्सुएण राएसिणा उवरुद्धेण ।'
[अलं व अन्तःपुरविरहपर्युत्सुकेन राजर्षिणा उपरुद्धेन]

केचित्तु—'विधृतं स्यादरतिः' इति वदन्ति ।

अनुवाद—'परिसर्प' का तात्पर्य किसी लुप्तप्राय किन्तु अभीष्ट वस्तु का अन्वेषण है ।
जैसे कि 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—
'राजा—'यहाँ मेरी प्रियतमा अवश्य होगी । क्योंकि—
इस लतामण्डप के द्वार पर पीली बालू के ऊपर पड़े, आगे की ओर ऊँचे और नितम्बभार से पीछे की ओर दबे, नये-नये पद-चिह्न उसी की सूचना दे रहे हैं ।'
में, दुष्यन्त के द्वारा, अदृश्य शकुन्तला का जो अनुसधान वर्णित है वह 'परिसर्प' का ही निदर्शन है ।

विमर्श—'परिसर्प' को कतिपय नाट्याचार्य 'अनुसर्पण' कहा करते हैं। 'अनुसर्पण' का अभिप्राय नष्ट किन्तु इष्ट वस्तु की ईहा है। (नष्टेष्टेहाऽनुसर्पणम्—पूर्वमुपलब्धस्य पुनरन्तरितस्येतिवृत्तवशादभिलषितस्यार्थस्येहाऽन्वेषणमनुसर्पणम्)।

यह 'परिसर्प' अथवा 'अनुसर्पण' इतिवृत्त का अंश अथवा अवयव नहीं। इसका सम्बन्ध चरितचित्रण से है। मुख्य-रूपक-चरित के हृदय के भाव का इसके साथ सम्बन्ध है। किन्तु जैसा कि मुख्य रूपक-चरित का चित्रण ही इतिवृत्त के वैचित्र्य का नियामक होता है, 'विलास' और 'परिसर्प' को इतिवृत्तरूप रूपकार्थ का अंग बताया गया है। नष्टवस्तु का अन्वेषण किसी भी रसभाव से सम्बद्ध रूपक-प्रबन्ध में अपेक्षित हैं । 'अभिज्ञानशाकुन्तल' का उदाहरण एक सकेतमात्र है।

अनुवाद—'विधुत' का अभिप्राय किसी पूर्वकृत अनुनय या सान्त्ववचन के परित्याग का अभिप्राय है ।

जैसे कि 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'शकुन्तला—मेरे लिये तुम लोग अन्तःपुर के विरह में व्याकुल इस राजर्षि को न रोको ।'
आदि में, दुष्यन्त को रोक रखने के लिये, शकुन्तला के पूर्वकृत अनुनय के परित्याग का जो वर्णन है उसमें 'विधुत' की योजना है ।

कुछ नाट्याचार्य इसे 'विधृत' कहते हैं और 'विधृत' का अभिप्राय 'अरति' (अरुचि) बताते हैं ।

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि ने 'विधुत' के बदले 'विधूत' को सन्ध्यङ्ग माना है—

(४ अङ्ग-तापन)

उपायादर्शनं यत्तु तापनं नाम तद्भवेत् ।

यथा रत्नावल्याम्—'सागरिका—

दुल्लहजणाणुराओ लज्जा गरुई परव्वसो अप्पा ।
पिअसहि विसमं पेम्मं मरणं सरणं णवरि एक्कम् ॥'

[दुर्लभजनानुरागो लज्जा गुर्वी परवश आत्मा ।
प्रियसखि ! विषमं प्रेम मरणं शरणं केवलमेकम् ॥]

(५ अङ्ग-नर्म)

परिहासवचो नर्म—

यथा रत्नावल्याम्—

'सुसंगता—सहि ! जस्स किदे तुमं आअदा सो अअं दे पुरदो चिट्ठदि ।
[सखि ! यस्य कृते त्वमागता सोऽयं ते पुरस्तिष्ठति]

सागरिका—(साभ्यसूयम्) कस्स किदे अहं आअदा ? [कस्य कृते अहमागता ?]

'कृतस्यानुनयस्यादौ विधूतं ह्यपरिग्रहः ।'

(नाट्यशास्त्र १९-७०)

किन्तु 'विधुत' और 'विधूत' का अभिप्राय एक ही है । 'पूर्वकृत अनुनय का अपरिग्रह' की 'अरति' अथवा 'अरुचि' है इसलिये दशरूपककार की 'विधूत'-परिभाषा भी ठीक ही है । नाट्यदर्पणकार ने इस सन्ध्यङ्ग को 'विधुत' अथवा 'विधूत' न कहकर 'धूनन' कहा है—

'धूननं साम्न्यनादरः—

साम्न्यनुनये अनादरो समागमाद्यर्थितः 'धमोऽप्रसादपत्वात् । (नाट्यदर्पण : प्रथम विवेक)

अनुवाद—'तापन' का अभिप्राय संतापनिवारक उपाय के अदर्शन अथवा अननुसारण का अभिप्राय है ।

जैसे कि 'रत्नावली' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'सागरिका—प्रिय सखि ! दुर्लभ प्रेमी से मैंने प्रेम किया, लज्जा आगे नहीं बढ़ने देती मेरी पराधीनता अलग मुझे सता रही है, प्रेम बढ़ता ही जा रहा है अब तो केवल मरने में ही अवसाद है ।

में वत्सराज से मिलने के उपाय के संबन्ध में सागरिका के मन का जो अभिप्राय अभिव्यक्त हो रहा है उसमें 'तापन' की ही रूपरेखा झलक रही है ।

विमर्श—नाट्यशास्त्रकार भरत मुनि के अनुसार 'तापन' का यह स्वरूप है—

'अपायदर्शनं यत्तु तापनं नाम तद्भवेत् । (नाट्यशास्त्र : १९-७०)

दशरूपककार ने 'तापन' के बदले 'शम' को प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग बताया है और 'शम' का अभिप्राय 'अरति का उपशमन' कहा है ।

अनुवाद—'नर्म' का तात्पर्य परिहासपूर्ण वचन है ।

जैसे कि 'रत्नावली' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'सुसंगता—सखि ! जिसके लिए तू यहाँ आयी है वह तो तेरे सामने विराजमान है ।

सागरिका—(चिढ़कर) क्या किसके लिए मैं यहाँ आयी हूँ ?

'सुसंगता—अल अण्णसंकिदेण। ण चित्तफलअस्स।' [अलम् अन्यशङ्कितेन ननु चित्रफलकस्य]

(६ अङ्ग—नर्मद्युति)

—धृतिस्तु परिहासजा ॥ ९१ ॥

नर्मद्युतिः—

यथा तत्रैव—

'सुसंगता—सहि ! अदक्खिणा दार्णि सि तुम जा एव्वं भट्टिणा हत्थावलम्बिदावि कोव ण मुञ्चसि। [सखि ! अदक्षिणेदानीमसि त्वं, यद् एव भर्त्रा हस्तावलम्बितापि कोप न मुञ्चसि]

सागरिका—(सभ्रूभङ्गमीषद्विहस्य) सुसंगदे ! दाणि वि कीलिदु न विरमसि।' [सुसङ्गते ! इदानीमपि क्रीडितु न विरमसि]

केचित्तु—'दोपस्याच्छादन हास्य नर्मद्युतिः' इति वदन्ति।

सुसगता—तुम सशक क्यों हो कि किसी और के लिये यहाँ आयी हो। अरे ! मैं तो इस 'चित्रफलक' के लिये कह रही थी।'
आदि में जो हास-परिहास-पूर्ण वार्तालाप है उसमें 'नर्म' की ही योजना है।

विमर्श—'नर्म' को क्रीडा के लिये 'हास परिहास' माननेका अभिप्राय यह है कि इस सन्ध्यङ्ग की योजना शृङ्गार रस प्रधान रूपकप्रबन्धों में ही सभव है।

नाट्यदर्पणकार ने स्पष्ट कहा है—

'एते च नर्म-नर्मद्युती अङ्गे कामप्रधानेष्वेव रूपकेषु निवन्धमर्हत.। कैशिकीप्राधान्येन तेषा हास्योचितत्वात्।' (नाट्यदर्पण १ म विवेक)

अनुवाद—'नर्मद्युति' का तात्पर्य परिहास में भी धैर्य धारण करना है।

जैसे कि 'रत्नावली' के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'सुसगता—सखि ! तू भी कितनी गलती कर रही है कि अपने प्रियतम के हाथ में आने पर भी कोप नहीं छोड़ती ?

सागरिका—(भौंहें चढाकर, मुस्कराते हुए) तू हमेशा मजाक किया करती है।'

आदि में, सुसगता के परिहास से भी न घबड़ानेवाली सागरिका का जो चित्रण है उसमें 'नर्मद्युति' की ही रूपरेखा स्पष्ट है।

कुछ नाट्याचार्य 'नर्मद्युति' को किसी दोष का आच्छादक हास-परिहास माना करते हैं।

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि के अनुसार 'नर्मद्युति' का यह लक्षण है—

'दोपप्रच्छादनार्थं तु हास्यं नर्मद्युति स्मृता।' (नाट्यशास्त्र १९-७८)

जिसे 'अभिनवभारती'कार ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'दोषो येनोक्तेन प्रच्छादयितुमिष्यते तस्यापि हास्यजनकत्वेन नर्म च सुतरां द्योतित भवतीति नर्मद्युति।'

विमर्श—नर्मद्युति का यही अभिप्राय नाट्यदर्पणकार ने भी लिया है—

'दोपावृतौ तु तद्द्युति —

दोपावृत्त्यै दोपाच्छादनाय,यत् पुनर्हसन हास्यहेतुर्वाक्य सा तस्य नर्मणो द्योतनं नर्मद्युति। (नाट्यदर्पण प्रथम विवेक)

(७ अङ्ग—प्रगमन)

—प्रगमनं वाक्यं स्यादुत्तरोत्तरम् ।

यथा विक्रमोर्वश्याम्—

'उर्वशी—जअदु जअदु महाराओ । [जयतु जयतु महाराजः]

राजा—

मया नाम जितं यस्य त्वया जय उदीर्यते ।' इत्यादि ।

(८ अङ्ग—विरोध)

विरोधो व्यसनप्राप्तिः—

यथा चण्डकौशिके—

'राजा—नूनमसमीक्ष्यकारिणा मया अन्धेनेव स्फुरच्छिखाकलापो ज्वलनः पद्भ्यां समाक्रान्तः ।'

किन्तु साहित्यदर्पणकार की 'नर्मद्युति-परिभाषा' दशरूपककार के इस 'नर्मद्युति-लक्षण' अर्थात्—

'धृतिस्तज्जा द्युतिर्मता' (दशरूपक १-४१)

का अनुसरण करती है।

अनुवाद—'प्रगमन' कहते हैं उत्कृष्टतर उत्तरवचन को। जैसे कि 'विक्रमोर्वशीयम्' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'उर्वशी—जय हो महाराज ! जय हो।

राजा—जिसकी जय तुम मनाओ उसकी जय तो है ही।

आदि में, पुरूरवा का जो उत्कृष्ट उत्तर है उसमें 'प्रगमन' का ही स्वरूप स्पष्ट है।

विमर्श—नाट्यशास्त्रकार भरतमुनि ने 'प्रगमन' के बदले 'प्रगयण' नाम रखा है। किन्तु अभिप्राय एक ही है। नाट्यदर्पणकार ने 'प्रगमन' को 'प्रतिवाक्श्रेणी' कहा है—

'प्रगमः प्रतिवाक्श्रेणिः—

उत्तरप्रतिपक्षिणी वाक् प्रतिवाक् तस्याः श्रेणिः। अपकर्षतो हि प्रतिवचने उत्कर्षतो वाऽपि। यथा वेणीसंहारे—

भानुमती—आर्यपुत्र ! अस्तिमात्रं मे शङ्का बाधते।

तत्समाश्वासयतु मामार्यपुत्रः।

राजा—अयि देवि !

किं नो व्याप्तदिशां प्रकम्पितभुवामक्षौहिणीनां फलं ?

किं द्रोणेन किमङ्गराजविशिखैरेवं यदि क्लाम्यसि।

भीरु ! भ्रातृशतस्य मे भुजवनच्छायासुखोपस्थिता

त्वं दुर्योधनकेसरीन्द्रगृहिणी शङ्कास्पदं किं तव ?

भानुमती—आर्यपुत्र ! यदि मे निश्चितं शङ्का सुप्तासु रजनीदिवेषु।

(नाट्यदर्पण : प्रथम विवेक)

अनुवाद—'विरोध' का अभिप्राय विपत्ति का आगमन है। जैसे कि 'चण्डकौशिक' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'राजा—मैंने भी बिना सोचे-समझे जैसे अन्धा आग पर पैर रख दे वैसा न करना चाहिए था, वही कर डाला !'

(९ अङ्ग—पर्युपासन)

——क्रुद्धस्यानुनयः पुनः ॥ ९२ ॥

स्यात्पर्युपासनं——

यथा रत्नावल्याम्—

'विदूषकः—भो, मा कुप्य । एसा हि कदलीघरन्तरं गदा' [भोः मा कुप्य एषा हि कदलीगृहान्तरं गता] इत्यादि ।

(१० अङ्ग-पुष्प)

——पुष्पं विशेषवचनं मतम् ।

यथा तत्रैव—'(राजा हस्ते गृहीत्वा स्पर्शं नाटयति)'

विदूषक—भो वअस्स ! एसा अपुव्वा सिरी तए समासादिदा । [भो वयस्य ! एषा अपूर्वा श्रीस्त्वया समासादिता]

राजा—वयस्य ; सत्यम्—

श्रीरेषा, पाणिरप्यस्याः पारिजातस्य पल्लवः ।
कुतोऽन्यथा स्रवत्येष स्वेदच्छद्मामृतद्रवः ॥'

आदि में, 'विरोध' का ही स्वरूप स्पष्ट है ।

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि ने इसे 'निरोध' कहा है—

'या तु व्यसनसम्प्राप्तिः स निरोधः प्रकीर्तितः ।'

(नाट्यशास्त्र १९-७९)

नाट्यदर्पणकार इसे 'रोध' कहते हैं—'रोधोऽर्ति –अर्तिः खेदो व्यसनमिष्टरोधाद् रोधः ।'

अनुवाद—'पर्युपासन' वह है जिसे क्रोधोपशमन के लिये अनुनय कहा गया है । जैसे कि 'रत्नावली' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'विदूषक—कोप न करो महाराज ! वह तो कदलीकुज के भीतर चली गयी ।' आदि में, विदूषक के द्वारा वत्सराज के कोपोपशमन के लिये जो अनुनय किया गया है वह 'पर्युपासन' है ।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने 'पर्युपासन' के बदले 'सान्त्वन' को सन्ध्यङ्ग माना है । किन्तु दोनों का अभिप्राय एक ही है । जैसे पर्युपासन को 'क्रुद्धानुनय' कहा गया है वैसे ही 'सान्त्वन' को 'क्रुद्धानुकूलन' (सान्त्वनं नाम क्रुद्धस्यानुकूलनम्) ।

अनुवाद—'पुष्प' का अभिप्राय 'विशेष वचन' अर्थात् चित्ताकर्षक वचनविन्यास है । जैसे कि 'रत्नावली' के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'(राजा हाथ में सागरिका को पकड़कर स्पर्शानन्द का अभिनय करता है)'

विदूषक—प्रियवयस्य ! तुम्हारे हाथ तो एक अपूर्व लक्ष्मी लग गयी ।

राजा—मित्र ! तुमने ठीक कहा—

यह वस्तुतः लक्ष्मी है और इसके हाथ वस्तुतः पारिजात-पल्लव हैं, अन्यथा स्वेद-बिन्दुओं के रूप में अमृत की बूँदें कहाँ से टपक पड़तीं !'

आदि में, जो चित्ताकर्षक वचनविन्यास है वह 'पुष्प' रूप प्रतिमुखसन्धि के अङ्ग का एक सुन्दर निदर्शन है ।

(११ अङ्ग-वज्र)

प्रत्यक्षनिष्ठुरं वज्रम्—

यथा तत्रैव—

'राजा—कथमिहस्थोऽहं त्वया ज्ञातः ?

सुसंगता—ण केवलं तुमं समं चित्तफलएण। ता जाव गदुअ देवीए णिवेदइस्सम्।' [न केवलं त्वं समं चित्रफलकेन। तद्यावद्गत्वा देव्यै निवेदयिष्यामि]

(१२ अङ्ग-उपन्यास)

—उपन्यासः प्रसादनम् ॥ ९३ ॥

यथा तत्रैव—

'सुसंगता—भट्टा ! अलं सङ्काए। मए वि भट्टिणीए पसादेण कीलिदं ज्जेव एदिहिं। ता किं कण्णाभरणेण। अदो वि मे गरुअरो पसाओ, जं

नाट्यदर्पणकार ने 'पुष्प' को 'विशेषवद् वाक्य' कहा है और इसका यह अभिप्राय बताया है—

'पूर्वं स्वयमन्येन वा केनचित् प्रयुक्तं वचनमपेक्ष्य यद् विशेषयुक्तं वचनं प्रयुज्यते तेनान्येन वा तत् पूर्वस्माद् विशेषवत्। तच्च वाक्यं पुष्पमिव पुष्पम्। अलङ्करणत्वात् पुष्पमिव पूर्ववाक्यस्यालङ्कारकारित्वात्।

(नाट्यदर्पण १-प्रथम विवेक)

इससे यह स्पष्ट है कि इस संध्यङ्ग की योजना रूपकप्रबन्धों के कथोपकथन (Dialogue) में वैचित्र्य के आधान के लिये की जाती है।

अनुवाद—'वज्र' कहते हैं कठोर वचन-विन्यास को।

जैसे कि 'रत्नावली' के इस प्रसंग अर्थात्—

'राजा—मैं यहाँ हूँ—यह तुम्हें कैसे पता ?

सुसंगता—केवल अकेले ही क्यों, चित्रफलक के साथ कहिये—मैं अभी जाकर महारानी से सब बताती हूँ।'

आदि में सुसंगता का जो कठोर वचन-विन्यास है उसमें 'वज्र' की ही रूपरेखा स्पष्ट हो रही है।

विमर्श—'वज्र' नामक संध्यङ्ग की योजना का तात्पर्य पूर्वप्रयुक्त वचन या पूर्वनिर्दिष्ट विषय के प्रत्यक्ष वचन या विषय के उपन्यास का तात्पर्य है। वेणीसंहार के निम्न प्रसङ्ग में इसका स्वरूप अधिक स्पष्टरूप से दिखायी पड़ता है—

'अश्वत्थामा—(कर्णमुद्दिश्य) रे रे राधागर्भभारभूत ! सूतापसद !

कथमपि न निषिद्धो दुःखिता भीरुणा वा
द्रुपदतनयपाणिस्तेन पित्रा ममाद्य।
तव भुजबलदर्पाध्मायमानस्य वाम-
शिरसि चरण एष न्यस्यते वारयैनम् ॥

अनुवाद—'उपन्यास' कहते हैं प्रसादात्मक वचन-विन्यास या वस्तुस्थापन को।

जैसे कि 'रत्नावली' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'सुसंगता—महाराज ! शङ्कित होने की कोई बात नहीं। महारानी की कृपा से मुझे

तुए अहं एत्थ आलिहिदत्ति कुविदा मे पिअसही साअरिआ। एसा ज्जेव पसादीअदु।' [भर्तः अल शङ्कया। मयापि भर्त्र्या प्रसादेन क्रीडितमेव एतैः। तत्किं कर्णाभरणेन अतोऽपि मे गुरुतरः प्रसाद एषः, यत्त्वया अहमालिखितेति कुपिता मे प्रियसखि सागरिका। एषैव प्रसाद्यताम्]

केचित्तु—'उपपत्तिकृतो ह्यर्थ उपन्यासः स कीर्तितः।' इति वदन्ति।

उदाहरन्ति च, तत्रैव—'अदिमुहरा क्खु सा गब्भदासी' इति। [अतिमुखरा खलु सा गर्भदासी]

(१३ अङ्ग-वर्णसंहार)

चातुर्वर्ण्योपगमनं वर्णसंहार इष्यते।

यथा महावीरचरिते तृतीयेऽङ्के—

'परिषदियमृषीणामेष वीरो युधाजित् सह नृपतिरमात्यैर्लोमपादश्च वृद्धः।
अयमविरतयज्ञो ब्रह्मवादी पुराणः प्रभुरपि जनकानामङ्ग भो याचकास्ते॥'

इत्यत्र ऋषिक्षत्त्रादीनां वर्णानां मेलनम्।

अभिनवगुप्तपादास्तु—'वर्णशब्देन पात्राण्युपलक्ष्यन्ते। संहारो मेलनम्' इति व्याचक्षते।

ऐसे आभरणों से खेल करने का अवसर मिल चुका है। मुझे कर्णाभरण नहीं चाहिये। मुझे तो आपने तभी बहुत बड़ा पारितोषिक दिया जब कि मेरा चित्र खींच लिया, जिसने मेरी प्रिय सखी सागरिका को मुझसे नाराज कर रखा है। आप उसी को प्रसन्न करें।

आदि में, जो प्रसादजनक वचनविन्यास हैं उसमें 'उपन्यास' का ही स्वरूप स्पष्ट हो रहा है।

कतिपय नाट्याचार्य 'उपन्यास' को युक्तियुक्त अर्थ का उपस्थान कहा करते हैं और इसके निदर्शन-रूप से 'रत्नावली' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'विदूषक—यह अन्तःपुर की परिचारिका, यह गर्भदासी बड़ी बातूनी है।'

को उद्धृत करते हैं।

विमर्श—'उपन्यास' के सम्बन्ध में साहित्यदर्पणकार ने जिस मतान्तर का उल्लेख किया है, वह भरतमुनि का यह उपन्यास-लक्षण है—

'उपपत्तिकृतो योऽर्थ उपन्यासश्च स स्मृतः।' (नाट्यशास्त्र)

अनुवाद—'वर्णसंहार' का अभिप्राय चातुर्वर्ण्य का एकत्र उपस्थान है।

जैसे कि 'महावीरचरित' के तृतीय अङ्क के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'यह ऋषिसभा विराज रही है, ये वीर महाराज युधाजित् अपने अमात्यवर्ग के साथ विराज रहे हैं, ये अङ्गराज वयोवृद्ध लोमपाद विराजमान हैं, ये महायाज्ञिक ब्रह्मवादी जनकवंशी महाराज सीरध्वज उपस्थित हैं। और सब के सब आपके याचक बने आये हुये हैं।'

आदि में, ऋषियों, राजाओं आदि सभी वर्णवाले लोगों का जो एकत्र सम्मेलन उपनिबद्ध है, उसमें 'वर्णसंहार' की ही रूपरेखा झलक रही है।

किन्तु आचार्य अभिनवगुप्त ने 'वर्ण' का अभिप्राय 'नाटकीय पात्र' और 'संहार' का

उदाहरन्ति च रत्नावल्यां द्वितीयेऽङ्के—'अदो वि मे अअं गुरुअरो पसाओ'
[अतोऽपि मे अयं गुरुतरः प्रसादः]
इत्यादेरारभ्य 'णंहत्थे गेण्हिअ पसादेहि णम्'। [ननु हस्ते गृहीत्वा प्रसादय एनाम्]
राजा—क्वाऽसौ' इत्यादि।

(गर्भसन्धि के १३ अङ्ग—निर्देश)

अथ गर्भाङ्गानि—

अभूताहरणं मार्गो रूपोदाहरणे क्रमः ॥ ९४ ॥
संग्रहश्चानुमानं च प्रार्थना क्षिप्तिरेव च ।
त्रो(तो)टकाधिबलोद्वेगा गर्भे स्युर्विद्रवस्तथा ॥ ९५ ॥

अभिप्राय 'सम्मेलन' बताया है और इस 'वर्णसंहार' (नाटकीय पात्र-सम्मेलन) के उदाहरण रूप में, 'रत्नावली' के द्वितीय अङ्क में—

'सुसंगता—इससे भी बढ़कर मेरे लिये यही प्रसाद है।

आदि संदर्भ से लेकर 'महाराज ! हाथ में लीजिये इन्हें प्रसन्न कीजिये। राजा—वह कहाँ है कहाँ है ?' आदि सन्दर्भ तक का वस्तुवर्णन दिया है।

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि का वर्णसंहार-लक्षण यह है—

'चातुर्वर्ण्योपगमनं वर्णसंहार इष्यते' (नाट्यशास्त्र : १९ ८२)

जिसे 'अभिनवभारती'कार अभिनवगुप्तपादाचार्य ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'चातुर्वर्ण्यसम्मेलनं पात्राण्युपकल्प्यन्ते। तेन यत्र पात्राणि पृथक् स्थितान्यपि मील्यन्ते स वर्णसंहारः। उपाध्यायास्त्वाहुः—इह वीरप्रधाने ताबदायकप्रतिनायकौ तत्सचिवा च प्रधानत्वेन वर्ण्यन्त इति वर्णाः अप्रधानेऽपि नायको नायिका तत्सचिवौ चेति।

अभिनवगुप्तपादाचार्य ने नाट्याचार्यवर्णचतुष्टय के मेलन में 'वर्णसंहार' मानने वालों पर कटाक्ष भी किया है—

'यत्तु ब्राह्मणादिवर्णचतुष्टयमेलनमिति तदसङ्गत्वादुपहास्यमेव।

किन्तु आश्चर्य है कि साहित्यदर्पणकार को वर्णसंहार का यह विवेचन अभिमत नहीं।

अनुवाद—गर्भसन्धि के ये १३ अङ्ग हैं—(१) अभूताहरण (२) मार्ग (३) रूप, (४) उदाहरण (५) क्रम (६) संग्रह (७) अनुमान (८) प्रार्थना (९) क्षिप्ति (१०) त्रोटक (अथवा तोटक), (११) अधिबल, (१२) उद्वेग और (१३) विद्रव।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार ने 'मुख' और 'प्रतिमुख' सन्धियों के अङ्गों की ही भाँति 'गर्भ सन्धि' के भी अङ्गों का लक्षण-निर्देश और परिगणन 'दशरूपक' के ही आधार पर किया है। नाट्यदर्पणकार ने 'अभिनवभारती' के अनुसरण में गर्भसन्धि के इन आठ अङ्गों को तो नाटकीय इतिवृत्त की उपयोगिता की दृष्टि से उपयुक्त बताया है—

संग्रहो रूपमनुमा प्रार्थनोदाहृतिः क्रमः।
उद्वेगो विद्रवश्चेत्यद् गुम्फता कार्यमष्टकम् ॥

और इन पाँच अङ्गों को अनिवार्य माना है—

'आक्षेपोऽधिबलं मार्गोऽप्यभूताहरणतोटके।
पञ्चैतानि प्रधानानि गर्भेऽङ्गानि जगोवृधाः ॥

सन्ध्यङ्ग-योजना के संदर्भ में ऐसी समीक्षा उपयुक्त थी। किन्तु साहित्यदर्पणकार ने इसे ओझल किया है।

(१—अभूताहरण)

तत्र व्याजाश्रयं वाक्यमभूताहरणं मतम् ।

यथा अश्वत्थामाङ्के—

'अश्वत्थामा हत इति पृथासूनुना स्पष्टमुक्त्वा
स्वैरं शेषे गज इति पुनर्व्याहृतं सत्यवाचा ।
तच्छ्रुत्वाऽसौ दयिततनयः प्रत्ययात्तस्य राज्ञः
शस्त्राण्याजौ नयनसलिलं चापि तुल्यं मुमोच ॥'

(२—मार्ग)

तत्त्वार्थकथनं मार्गः—

यथा चण्डकौशिके—

'राजा—भगवन् !
गृह्यतामर्जितमिदं भार्यातनयविक्रयात् ।
शेषस्यार्थे करिष्यामि चण्डालेऽप्यात्मविक्रयम् ॥'

अनुवाद—'अभूताहरण' का अभिप्राय व्याजगर्भ वचनविन्यास है। जैसे कि (वेणी-सहार के) 'अश्वत्थामाङ्क' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'सत्यवादी पृथापुत्र (युधिष्ठिर) ने पहले से कहा—'अश्वत्थामा मारा गया' और वाद में धीरे से कहा 'हाथी'। पुत्रवत्सल द्रोण ने अश्वत्थामा की मृत्यु पर विश्वास कर लिया और शस्त्र के साथ साथ आँख के आँसू गिरा दिये।'

में, जो व्याजगर्भ वचनबन्ध है, उसमें 'अभूताहरण' का स्वरूप स्पष्ट है।

विमर्श—नाटयशास्त्रकार भरतमुनि ने 'अभूताहरण' की यह परिभाषा की है—

'कपटापाश्रय वाक्यमभूताहरण विदुः ।' (नाटयशास्त्र १९.८२)

इस सन्ध्यङ्ग की योजना रूपकविशेष के रसभाव की उपयोगिता के आधार पर की जाती है। भिन्न-भिन्न रसभावसम्बन्धी रूपक प्रबन्धों में भिन्न-भिन्न प्रकार के कपट अथवा छद्म-विषयक प्रसङ्ग उपस्थित हो सकते हैं।

अनुवाद—'मार्ग' कहते हैं प्रकृत विषय से सबद्ध होने योग्य परमार्थ वचन को। जैसे कि 'चण्डकौशिक' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'ऋषिराज ! पत्नी और पुत्र को बेचकर जो लाया हूँ उसे स्वीकार करें। जो कुछ बाकी रहे, चण्डाल के हाथ अपने आप को बेचकर पूरा करूँगा।'

में, हरिश्चन्द्र का जो प्रसगोचित यथार्थ वचन है वह 'मार्ग' का ही निदर्शन है।

विमर्श—'मार्ग' को सभी नाटयाचार्य 'तत्त्वार्थकथन' या 'तत्त्वार्थशसन' मानते हैं। 'मार्ग' रूप सन्ध्यङ्ग की बडी सुन्दर योजना 'मुद्राराक्षस' के इस प्रसग में है—

'राजा—(प्रविश्य स्वगतम्)

राज्य हि नाम राजधर्मानुवृत्तिपरतन्त्रस्य भूपतेर्महदप्रीतिस्थानम्। कुत —

परार्थानुष्ठाने रहयति नृप स्वार्थपरता
परित्यक्तस्वार्थो नियतमयथार्थ क्षितिपति ।
परार्थश्चेत् स्वार्थादभिमततरो हन्त ! परवान्
परायत्त प्रीते कथमिव रस वेत्ति पुरुष. ॥

(१—रूप)

—रूपं वाक्यं वितर्कवत् ॥ ९६ ॥

यथा रत्नावल्याम्—

'राजा—

मनः प्रकृत्यैव चलं दुर्लक्ष्यं च तथापि मे ।
कामेनैतत्कथं विद्धं समं सर्वैः शिलीमुखैः ॥'

(७—उदाहरण)

उदाहरणमुत्कर्षयुक्तं वचनमुच्यते ।

यथा अश्वत्थामाङ्के—

'यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनां
यो यः पाञ्चालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो वा ।
यो यस्तत्कर्मसाक्षी, चरति मयि रणे यश्च यश्च प्रतीपः
क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमिह जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम् ॥'

अपि च दुराराध्या कश्मीरात्मभिश्चिरपि राजभिः । कुतः—

तीक्ष्णादुद्विजते मृदौ परिभवत्रासान्न संतिष्ठते
मूर्खं द्वेष्टि न गच्छति प्रणयितामत्यन्तविद्वत्स्वपि ।
शूरेभ्योऽप्यधिकं बिभेत्युपहसत्येकान्तभीरूनहो
श्रीर्लब्धप्रसरेव वेशवनिता दुःखोपचर्या भृशम् ॥

यहाँ 'मार्ग' की योजना इसलिये है क्योंकि चन्द्रगुप्त का यह यथार्थवचन सामान्यरूप का होते हुए भी प्रकृत प्रसङ्ग के सर्वथा अनुकूल है ।

अनुवाद—'रूप' कहते हैं वितर्कयुक्त वचन को । जैसे कि 'रत्नावली' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'राजा—मन तो स्वभावतः चंचल हुआ करता है जिससे इसे निशाना बनाना असंभव है किन्तु तब भी काम ने एक ही साथ अपने सभी बाणों से मेरा मन कैसे बिद्ध कर दिया, कुछ समझ नहीं आता ।

में, वत्सराज का जो वितर्कयुक्त वचन है, उसमें 'रूप' का ही स्वरूप दिखायी देता है ।

विमर्श—जैसे अनिश्चित अथवा अनिर्धारित 'आकार' को रूप कहा जाता करता है वैसे ही नानाप्रकार के अर्थों से उत्पन्न संशय अथवा अनवधारण का उपन्यास 'रूप' नामक सन्ध्यङ्ग है । मुखसन्धि का 'युक्ति' नामक अंग भी अर्थविषयक ऊहापोह ही है किन्तु उसमें अर्थ का आकार निश्चित रहा करता है जब कि प्रतिमुखसन्धि के अंगभूत 'रूप' में अनिश्चित आकार के अर्थों के सम्बन्ध में तर्क वितर्क हुआ करता है ।

अनुवाद—'उदाहरण' कहते हैं स्वविषयक या परविषयक उत्कर्ष के सूचक वचन-विन्यास को । जैसे कि 'वेणीसंहार' के 'अश्वत्थामाङ्क' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'पाण्डव-सेना के जो-जो वीर अपने बाहुबल के अभिमान में चूर हथियार लिये खड़े हैं, पाञ्चाल राजवंश के जो-जो बच्चे, बूढ़े और आगे जन्म लेने वाले राजकुमार हैं, मेरे पिता के वध को जो-जो खड़े हुये देखते रहे हैं और मेरे आगे जो-जो शत्रु-पक्ष के समर्थक हो रहे हैं, उन-उन का ही क्यों काल का भी प्राण लेने मैं अश्वत्थामा, अब आ ही पहुँचा ।'

(५—क्रम)

भावतत्त्वोपलब्धिस्तु क्रमः स्यात्—

यथा शाकुन्तले—

'राजा—

स्थाने खलु विस्मृतनिमेषेण चक्षुषा प्रियामवलोकयामि ।

तथाहि—

उन्नमितैकभ्रूलतमाननमस्याः पदानि रचयन्त्याः ।
पुलकाञ्चितेन कथयति मय्यनुरागं कपोलेन ॥'

(६—संग्रह)

—संग्रहः पुनः ॥ ९७ ॥

सामदानार्थसंपन्नः—

यथा रत्नावल्याम्—

'राजा—साधु वयस्य ! इदं ते पारितोषिकम् ।' (इति कटकं ददाति) ।

आदि में, अश्वत्थामा का जो स्वोत्कर्षसूचक वचन है उसमें 'उदाहरण' की बड़ी सुन्दर योजना है ।

विमर्श—'उदाहरण' का तात्पर्य उत्कर्ष का आहरण अथवा अभिव्यञ्जन है (उदाहृति समुत्कर्ष)

अनुवाद—'भाव' अर्थात् पराभिप्राय अथवा भावी अर्थ के निर्णय को 'क्रम' नामक सन्ध्यङ्ग कहा गया है । जैसे कि 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के इस प्रसङ्ग अर्थात् -

'राजा—प्रियतमा शकुन्तला को, निर्निमेष नयनों से देखना, मेरे लिये सर्वथा उचित है क्योंकि—

पद-रचना में चिन्तामग्न मेरी प्रिया का यह मुख, जिसकी शोभा एक भौंह के ऊपर उठे रहने के कारण विचित्र लग रही है और जिसमें आनन्द के रोमाञ्च उठते जा रहे हैं, अपने कपोलफलक से मेरे प्रति अनुराग की सूचना सा दे रहा है ।'

आदि में, दुष्यन्त के द्वारा शकुन्तलागत भाव का जो उन्नयन है उसमें 'क्रम' की रूपरेखा स्पष्ट है ।

विमर्श—साहित्यदर्पण की तर्कवागीशी, लक्ष्मी तथा विमला व्याख्याओं में 'भाव' का अभिप्राय नायक-नायिका का स्वभावज अलङ्कार (निर्विकारात्मके चित्ते भाव प्रथमविक्रिया) माना गया है जो कि सर्वथा अप्रासङ्गिक है । यहाँ 'भाव' का अर्थ 'अभिप्राय' अथवा 'भावी अर्थ' है जिसका ऊहापोह अथवा प्रतिभादि द्वारा उन्नयन 'क्रम' नामक सन्ध्यङ्ग की रूपरेखा है । क्रमो भावस्य निर्णय —भावस्य पराभिप्रायस्याथवा भाव्यमानस्यार्थस्योहप्रतिभाऽऽदिवशान्निर्णयो यथावस्थितरूपनिश्चय क्रम । बुद्धिस्तत्र क्रमते न प्रतिहन्यत इत्यर्थ ।

अनुवाद—'संग्रह' का तात्पर्य साम, दान, आदि के द्वारा अभीष्ट अर्थ का लाभ है । जैसे कि 'रत्नावली' के इस प्रसङ्ग अर्थात् -

'राजा—प्रियवयस्य ! लो यह पारितोपिक (और अपना रत्नवलय दे देता है) ।' आदि में, जो सन्ध्यङ्ग है वह 'संग्रह' रूप ही है ।

विमर्श—'संग्रह' का अभिप्राय साम-दान-दण्ड-भेद आदि की योजना का अभिप्राय है । किसी भी रसभावविशिष्ट रूपक प्रबन्ध में इसकी यथास्थान योजना संभव है ।

(७—अनुमान)

—लिङ्गादूहोऽनुमानता ।

यथा जानकीराघवे नाटके—

'राम—

लीलागतैरपि तरङ्गयतो धरित्रीमालोकनैर्नमयतो जगतां शिरांसि ।
तस्यानुमापयति काञ्चनकान्तिगौरकायस्य सूर्यतनयत्वमधृष्यतां च ॥'

(८—प्रार्थना)

रतिहर्षोत्सवानां तु प्रार्थनं प्रार्थना भवेत् ॥ ९८ ॥

यथा रत्नावल्याम्—

'प्रिये सागरिके ।

शीतांशुर्मुखमुत्पले तव दृशौ, पद्मानुकारौ करौ,
रम्भास्तम्भनिभं तथोरुयुगलं, बाहू मृणालोपमौ ।
इत्याह्लादकराखिलाङ्गि ! रभसान्निःशङ्कमालिङ्ग्य मा
मङ्गानि त्वमनङ्गतापविधुराण्येह्येहि निर्वापय ॥'

इयं च प्रार्थनाख्यमङ्गम् । यन्मते निर्वहणे भूतार्थसरस्वत्प्रशस्तिनामाङ्गं नास्ति तन्मतानुसारेणोक्तम् , अन्यथा पञ्चषष्टिसङ्ख्यत्वप्रसङ्गात् ।

अनुवाद—'अनुमान' कहते हैं किसी साधन विशेष के आधार पर किसी साध्यविशेष के ज्ञान को । जैसे कि 'जानकीराघव' नाटक के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'राम—परशुराम की यह विलासपूर्ण चाल, जिससे पृथिवी काँप उठी है परशुराम की यह दृष्टि जिससे संसार के सिर नीचे झुक रहे हैं और परशुराम की यह दिव्य देह जिसमें काञ्चन की कान्ति भी फीकी पड़ रही है बस इन सबसे यही सूचित होता है कि या तो ये सूर्यपुत्र हैं या सर्वथा अप्रधृष्य महामानव !'

विमर्श—अनुमान तो हेतुपूर्वक साध्यनिश्चय है और 'युक्ति' का अभिप्राय क्या है । इस लिये दोनों संध्यङ्ग भिन्न-भिन्न हैं ।

अनुवाद—'प्रार्थना' का तात्पर्य परस्पर प्रेममिलन महर्ष तथा प्रमोदजनक पदार्थ की याचना है । जैसे कि 'रत्नावली' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'राजा—प्रिये सागरिके !

तेरे तो अङ्ग-प्रत्यङ्ग आह्लाद के ही जनक हैं—तेरा मुख चन्द्रमा है तेरे नयन नील-कमल हैं, तेरे हाथ पद्म हैं तेरे ऊरुयुगल कदलीस्तम्भ हैं, और तेरी भुजायें मृणालोपम कोमल हैं । और कामपीड़ित मेरा यह शरीर तेरे बिना कितना संतप्त है । तू आ जा और अपने आलिङ्गन से मुझे शान्ति पहुँचा जा ।

यहाँ में वत्सराज की सागरिका के आलिङ्गन के लिये जो याचना है उसमें इस 'प्रार्थना' नामक सन्ध्यङ्ग की रूपरेखा स्पष्ट है ।

गर्भसन्धि का यह 'प्रार्थना' नामक अङ्ग वस्तुतः यहाँ मतान्तर के रूप में ही निर्दिष्ट किया गया है क्योंकि जो नाट्याचार्य निर्वहणसन्धि में 'प्रशस्ति' नामक अङ्ग को अतिरिक्त अंग नहीं मानते क्योंकि उनके अनुसार 'प्रार्थना' से ही 'प्रशस्ति' का अभिप्राय गतार्थ हो जाता है, उनके लिये यहाँ 'प्रार्थना' की मान्यता अनिवार्य है । 'प्रार्थना' के

(९—क्षिप्ति)

रहस्यार्थस्य तद्भेदः क्षिप्तिः स्यात्—

यथाश्वत्थामाङ्के—

'एकस्यैव विपाकोऽयं दारुणो भुवि वर्तते।
केशग्रहे द्वितीयेऽस्मिन्नून निःशेषिता प्रजाः॥'

(१०—त्रोटक)

—त्रो(तो)टकं पुनः।

संरब्धवाक्—

यथा चण्डकौशिके—

'कौशिक —आः,पुनः कथमद्यापि न सम्भृता स्वर्णदक्षिणा।'

अतिरिक्त 'प्रशस्ति' को भी सन्ध्यङ्ग मानने से तो सध्यङ्गों की संख्या ६५ हो जायगी. इसलिये 'प्रार्थना-वादी' नाट्याचार्यों के लिए 'प्रशस्ति' को अतिरिक्त संध्यङ्ग मानना आवश्यक नहीं।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने गर्भसन्धि के इस अङ्ग को माना है और इसका यह लक्षण किया है—

'प्रार्थना भावयाचनम्—
भावाना साध्यफलोचितानां रति-हर्षोत्सवादीना याचन प्रार्थना।'

(नाट्यदर्पण, १ म विवेक)

अनुवाद—'क्षिप्ति' वह है जिसे रहस्यात्मक इतिवृत्त की सूचना कहा गया है। जैसे कि 'वेणीसंहार' के 'अश्वत्थामाङ्क' में—

'जो कुछ हो चुका वह तो केवल द्रौपदी के केशाकर्षण का भयङ्कर परिणाम रहा और द्रोण के केशाकर्षण से अब जो होने जा रहा है वह ससार के विनाश से कम अनर्थपूर्ण कदापि न होगा।'

आदि रूप में, भावी अश्वत्थामाविषयक इतिवृत्त की जो सूचना है उसमें 'क्षिप्ति' नामक सध्यङ्ग का ही स्वरूप स्पष्ट है।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने 'क्षिप्ति' को 'आक्षेप' कहा है और इसका यह लक्षण किया है—

'आक्षेपो बीजप्रकाशनम्—
प्राप्त्याशावस्थानिबद्धस्य बीजस्य मुखकार्योपायस्य प्रकाशनं प्रकर्षेणाविर्भावनमाक्षेप।'

वस्तुत रहस्यरूप इतिवृत्त का प्रकाशन प्राप्त्याशावस्था के बीज का ही प्रकाशन है अन्य कुछ नहीं।

अनुवाद—'त्रोटक' (अथवा तोटक) का तात्पर्य क्रोधाभिव्यञ्जक वचनविन्यास का है। जैसे कि 'चण्डकौशिक' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'कौशिक—ओह! फिर तुमने कहा कि अभी तक मेरी स्वर्णदक्षिणा तुम न जुटा पाये?' आदि में कौशिक-विश्वामित्र का जो रोषपूर्ण वचनविन्यास है उसमें 'त्रोटक' की योजना स्पष्ट है।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने 'तोटक' की बड़ी सुन्दर व्याख्या की है—

'तोटकं गर्भित वचः—
क्रोध-हर्षादिसम्भूतावेगगर्भितं वचनं तोटयति भिनत्ति हृदयमिति तोटकम्।'

(११ अधिबल)

—अधिबलमभिसन्धिच्छलेन यः ॥ ९९ ॥

यथा रत्नावल्याम्—

'काञ्चनमाला—भट्टिणि, इअं सा चित्तसालिआ। वसन्तअस्स सण्णं करेमि' [भर्त्रि ! इयं सा चित्रशालिका तदावसन्तकस्य संज्ञां करोमि ।] इत्यादि ।

(१२—उद्वेग)

नृपादिजनिता भीतिरुद्वेगः परिकीर्तितः ।

यथा वेण्याम्—

'प्राप्तावेकरथारूढौ पृच्छन्तौ त्वामितस्ततः ।
स कर्णारिः स च क्रूरो वृककर्मा वृकोदरः ॥'

(१३—विद्रव)

शङ्काभयत्रासकृतः सम्भ्रमो विद्रवो मतः ॥ १०० ॥

अनुवाद—'अधिबल' का अभिप्राय किसी व्याज से किसी के अभिप्राय का अन्वेषण है । जैसे कि 'रत्नावली' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'काञ्चनमाला महारानी ! यह रही चित्रशाला । अब मैं वसन्तक को इशारा करती हूँ ।' आदि में जो सन्ध्यङ्ग है वह 'अधिबल' है ।

विमर्श—नाट्याचार्यों में 'अधिबल' के स्वरूप के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है । कोई 'अधिबल' को 'अतिबलयोग' मानते हैं तो कोई इसे 'कपट का अन्यथाभाव' कहते हैं । किसी-किसी नाट्याचार्य ने 'क्षेत्रसम्पादन' को अधिबल कहा है जिसका बड़ा सुन्दर उदाहरण यह है—

'भीमसेनः (धृतराष्ट्रमुद्दिश्य) अभिवादये सम्भुना—

कृष्टा केशेषु भार्या नृपसदसि यथा पाण्डवानां नृपैर्यैः,
सर्वे ते क्रोधवह्नौ कृतशलभकुलावज्ञया येन दग्धाः ।
आर्यस्त्वां भावयेऽहं न खलु भुजबलश्लाघया नापि दर्पात्
पुत्रैः पौत्रैश्च कर्मण्यतिगुरुणि कृते तात ! साक्षी मम त्वम् ॥

अनुवाद—'उद्वेग' का अभिप्राय किसी कारणवश उत्पन्न भय का अभिप्राय है । जैसे कि 'वेणीसंहार' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'एक रथ पर आरूढ और तुम्हें पता लगाते ये दोनों आ रहे हैं जिनमें एक तो कर्ण का घातक है और दूसरा क्रूर वृकोदर है ।'

आदि में जो सन्ध्यङ्ग है वह 'उद्वेग' है ।

विमर्श—'उद्वेग' भय की उपस्थिति का नाम है भय का कारण कोई भी हो उसके उपस्थान का वर्णन 'उद्वेग' है । 'शृङ्गाररसप्रधान रूपक में प्रतिनायिका की उपस्थिति में भयवर्णन 'उद्वेग' होगा और अन्यरसविषयक रूपकों में अन्य प्रकार के भय का वर्णन उद्वेग माना जायगा ।

अनुवाद—'विद्रव' का तात्पर्य शङ्का, भय और त्रास से सम्भूत संभ्रम अथवा चित्त की व्याकुलता है । जैसे कि इस संदर्भ अर्थात्—

'कालान्तककरालास्य क्रोधोद्भूतं दशाननम् ।
विलोक्य वानरानीके सम्भ्रम' कोऽप्यजायत ॥'

(विमर्शसन्धि के १३ अङ्ग निर्देश)

अथ विमर्शाङ्गानि—

अपवादोऽथ संफेटो व्यवसायो द्रवो द्युतिः ।
शक्तिः प्रसङ्गः खेदश्च प्रतिषेधो विरोधनम् ॥ १०१ ॥
प्ररोचना विमर्शे स्यादादानं छादनं तथा ।

(१—अपवाद)

दोषप्रख्यापवादः स्यात्—

यथा वेण्याम्—

'युधिष्ठिरः—पाञ्चालक ! कच्चिदासादिता तस्य दुरात्मनः कौरव्यापसदस्य पदवी ।

पाञ्चालकः—न केवल पदवी, स एव दुरात्मा देवीकेशपाशस्पर्शपातकप्रधानहेतुरुपलब्धः ।'

'काल की भाँति विकराल मुखवाले और क्रोध में पागल दशानन को देखते ही वानर-सेना में भगदड़ मच गयी ।'
आदि में जो सम्भ्रमवर्णन है उसमें 'विद्रव' की ही रूपरेखा स्पष्ट है ।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने 'विद्रव' की यह सुन्दर व्याख्या की है—

'भयत्रासकारिणो वस्तुनो या शङ्काऽपायकारकत्वसभावना सा द्रवति श्लथीभवति हृदयमनेनेति द्रव (विद्रव)। उपनतं भयमुद्वेग, तत्संभावना तु विद्रव. ।'
अर्थात् भयङ्कर वस्तु की समावना तो 'विद्रव' है और ऐसी वस्तु की उपस्थिति 'उद्वेग' है। इससे 'विद्रव' और 'उद्वेग' का भेद स्पष्ट है ।

अनुवाद—'विमर्श' सन्धि के ये १३ अङ्ग हैं—(१) अपवाद, (२) संफेट, (३) व्यवसाय, (४) द्रव, (५) द्युति, (६) शक्ति, (७) प्रसङ्ग, (८) खेद, (९) प्रतिषेध, (१०) विरोधन, (११) प्ररोचना, (१२) आदान और (१३) छादन ।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार ने यहाँ यह विचार छोड दिया कि द्रव, प्रसङ्ग, सम्फेट, अपवाद, छादन, द्युति, खेद, निरोध और सरम्भ की तो प्रयोजनवश योजना हुआ करती है और शक्ति, प्ररोचना, आदान और व्यवसाय इस सन्धि के प्रमुख अङ्ग हैं ।

अनुवाद—'अपवाद' कहते हैं दोष के प्रख्यापन को। जैसे कि 'वेणीसंहार' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'युधिष्ठिर—पाञ्चालक ! क्या तुझे उस कौरवाधम दुर्योधन के रहने-सहने का कुछ पता मिला ?

पाञ्चालक—महाराज ! केवल रहने-सहने का ही क्यों, यह कहिये कि देवी द्रौपदी के केशाकर्षण का वह महापापी ही मिल गया ।'
आदि में, जो सन्ध्यङ्ग है वह 'अपवाद' ही है ।

विमर्श—'अपवाद' नामक सन्ध्यङ्ग की योजना वहाँ की जाया करती है, जहाँ स्वविषयक

(१—संफेट)

—सफेटो रोषभाषणम् ॥ १०२ ॥

यथा तत्रैव—

'दुर्योधन—अरे रे मरुत्तनय ! वृद्धस्य राज्ञः पुरतो निन्दितमप्यात्मकर्म श्लाघसे । शृणु रे—

कृष्टा केशेषु भार्या तव तव च पशोस्तस्य राज्ञस्तयोर्वा
प्रत्यक्षं भूपतीनां मम भुवनपतेराज्ञया द्यूतदासी ।
तस्मिन् वैरानुबन्धे वद किमपकृतं तैर्हता ये नरेन्द्रा
बाह्वोर्वीर्यातिभारद्रविणगुरुमदं मामजित्वैव दर्पः ॥

भीमः—(सक्रोधम्) आः पाप !

दुर्योधन—आः पाप !' इत्यादि ।

(३—व्यवसाय)

व्यवसायश्च विज्ञेयः प्रतिज्ञाहेतुसंभवः ।

यथा तत्रैव—

'भीमः—

निहताशेषकौरव्यः क्षीबो दुःशासनासृजा ।
भङ्क्ता दुर्योधनस्योर्वोर्भीमोऽयं शिरसा नतः ॥'

अथवा परविषयक रोष के व्यञ्जन का प्रसङ्ग आया करता है । किसी भी रसभावविषयक रूपक-प्रबन्ध में इसकी यथोचित योजना संभव है ।

अनुवाद—'संफेट' कहते हैं रोषपूर्वक भाषण को । जैसे कि 'वेणीसंहार' के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'दुर्योधन—अरे भीम भीमार्जुन ! क्या तुम्हें वयोवृद्ध महाराज के आगे भी अपने नीच कर्मों पर घमण्ड हो रहा है—अरे सुन तो !

मुझ भुवनपति की आज्ञा से राज-सभा के समक्ष तुझ पशु (भीम) के समक्ष और तेरे (अर्जुन के) भी समक्ष उस तुम्हारे राजा और उन तुम्हारे दोनों भाइयों के समक्ष सभी के समक्ष मेरी द्यूतदासी तेरी स्त्री के केश खींचे गये तो हुआ क्या ? हमारी-तुम्हारी शत्रुता में उन हजारों राजाओं का क्या अपराध जो व्यर्थ में मारे गये ! अरे, अभी क्या घमण्ड करते हो अभी तो बाहुबल का महापर्व में दुर्योधन बचा है बिना मुझे हराये यह घमण्ड ?

भीम—(क्रुद्ध होकर) अरे पापी !

दुर्योधन—अरे पापी !'

आदि में दुर्योधन और भीम का जो रोषभाषण है उसमें 'संफेट' का ही स्वरूप झलक रहा है ।

विमर्श—'संफेट' वस्तुतः ऐसा उत्तर-प्रत्युत्तर है जो क्रोध का अभिव्यञ्जक हुआ करता है । इसकी योजना अर्थप्रधान वीररसभावविषयक रूपक-प्रबन्धों की विशेषता है ।

अनुवाद—'व्यवसाय' कहते हैं हेतु के साथ-साथ कार्य के निर्देश को । जैसे कि 'वेणीसंहार' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'भीम—महाराज ! कौरववंश के विनाशक, दुःशासन के रक्त से सने और दुर्योधन के जंघाद्वय के भंजक, इस भीम का सिर झुकाकर, आपको प्रणाम स्वीकार हो ।

(४—द्रव)

द्रवो गुरुव्यतिक्रान्तिः शोकावेगादिसम्भवा ॥ १०३ ॥

यथा तत्रैव—

'युधिष्ठिर—भगवन्! कृष्णाग्रज! सुभद्राभ्रातः!

ज्ञातिप्रीतिर्मनसि न कृता, क्षत्रियाणां न धर्मो
रूढं सख्यं तदपि गणितं नानुजस्यार्जुनेन।
तुल्यः कामं भवतु भवतः शिष्ययोः स्नेहबन्धः
कोऽयं पन्था यदसि विमुखो मन्दभाग्ये मयि त्वम् ॥'

(५—द्युति)

तर्जनोद्वेजने प्रोक्ता द्युतिः—

यथा तत्रैव दुर्योधनं प्रति कुमारवृकोदरेणोक्तम्—

'जन्मेन्दोर्विमले कुले व्यपदिशस्यद्यापि धत्से गदां
मां दुःशासनकोष्णशोणितमधुक्षीबं रिपुं मन्यसे।
दर्पान्धो मधुकैटभद्विषि हरावप्युद्धतं चेष्टसे
त्रासान्मे नृपशो! विहाय समरं पङ्केऽधुना लीयसे ॥'

आदि में, जो भीम का वचन है उसमें 'व्यवसाय' का स्वरूप स्पष्ट है।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने 'व्यवसाय' का यह लक्षण किया है—

'व्यवसायोऽर्थहेतुयुक्—

युगिति योजनं युक्। अर्थनीयफलस्य हेतुस्तद्योगो व्यवसायः।

अर्थात् अभिलषित वस्तु की प्राप्ति के लिये जो समुचित उपायबन्ध है वह 'व्यवसाय' है।

अनुवाद—'द्रव' कहते हैं शोकावेग अथवा क्रोधावेग आदि के कारण, पूज्य व्यक्ति के प्रति, अनादर भाव के प्रदर्शन को। जैसे कि 'वेणीसंहार' के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'युधिष्ठिर—भगवन्! कृष्णाग्रज! सुभद्राभ्रातः!

आपने इसका भी ध्यान न रखा कि हम सब सम्बन्धी हैं, क्षात्रधर्म भी आप भूल पड़े, अर्जुन के साथ, अपने अनुज (कृष्ण) के मित्रभाव पर भी आपका ध्यान न गया, आप यह भी भूल गये कि दुर्योधन और भीम—दोनों ही आपके समान गुरु-स्नेह के अधिकारी हैं, अधिक क्या कहूँ, ऐसा लगता है जैसे मेरा दुर्भाग्य ही आपको असार्ग पर अग्रसर कर रहा हो।'

आदि में, शोकाविष्ट युधिष्ठिर द्वारा बलराम के अनादर का जो वर्णन है उसमें 'द्रव' का स्वरूप स्पष्ट है।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने भी 'द्रव' को 'पूज्यव्यतिक्रम' ही माना है किन्तु 'पूज्यव्यतिक्रम' का अभिप्राय पूजनीय व्यक्ति का अनादर न लेकर 'पूज्यव्यक्ति द्वारा 'मार्गभ्रंश' लिया है।

अनुवाद—'द्युति' का अभिप्राय किसी की भर्त्सना करना अथवा किसी को भयभीत करना आदि है। जैसे कि 'वेणीसंहार' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

(कुमार वृकोदर अर्थात् भीम की दुर्योधन के प्रति उक्ति)

'अरे दुर्योधन! आज भी तू अपने को चन्द्रवंश का राजकुमार मान रहा है। आज भी तू गदा धारण कर रहा है। आज भी तू दुःशासन के उष्ण रक्त-पान से मत्त मुझे

(६—शक्ति)

—शक्तिः पुनर्भवेत् ।

विरोधस्य प्रशमनम्—

यथा तत्रैव—

'कुर्वन्त्वाप्ता हतानां रणशिरसि जना भस्मसाद् देहभारा
नश्रून्मिश्रं कथञ्चिद्ददतु जलममी बान्धवा बान्धवेभ्यः ।
मार्गन्तां ज्ञातिदेहान् हतनरगहने खण्डितान् गृध्रकङ्कै-
रस्तं भास्वान् प्रयातः सह रिपुभिरयं संह्रियन्तां बलानि ॥'

(७—प्रसङ्ग)

—प्रसङ्गो गुरुकीर्तनम् ॥ १०४ ॥

यथा मृच्छकटिकायाम्—

'चाण्डालकः—एसो क्खु सागरदत्तस्स सुवो अज्जविस्सदत्तस्स णत्तिओ

अपना शत्रु समझ रहा है। आज भी तू मधुसूदन, कंसमारि कृष्ण के प्रति उपेक्षा दिखा रहा है। अरे नरपशु ! तो फिर सामने आ जा। मेरे डर से संग्राम से भागकर, तालाब-पंक में क्यों छिपा है ?'

आदि में दुर्योधन की जो भर्त्सना है उसमें 'द्युति' की रूपरेखा स्पष्ट है।

विमर्श—'द्युति' में तर्जन और उद्वेजन, भर्त्सना और धर्षण साक्षात् अथवा असाक्षात् अनादर और अपमान सब कुछ अन्तर्भूत है। इस संध्यङ्ग की योजना वीररसप्रधान रूपकों का सौन्दर्य है। इतिवृत्त-विन्यास और चरित्र-चित्रण दोनों के लिये इस संध्यङ्ग की आवश्यकता है।

अनुवाद—'शक्ति' कहते हैं विरोध के प्रशमन को। जैसे कि 'वेणीसंहार' के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'अब संग्राम समाप्त हुआ अब सगे-सम्बन्धी अपने मृत सगे-सम्बन्धियों की अन्त्येष्टि-क्रिया में लग जायँ अब बन्धु-बान्धव अपने दिवंगत बन्धु-बान्धवों के लिये आँसू से भरे तर्पण प्रारम्भ कर दें अब इष्ट-मित्र गिद्धों और कौवों से नोची-खसोटी अपने मृत इष्ट-मित्रों की देह, मुर्दों के इस जंगल से ढूँढ निकालें। अब शत्रुसंताप के साथ-साथ भगवान् भास्कर भी अस्त हो चुके, अब सेनायें संग्राम से छुट्टी पा जाँय।

आदि में कुरु-पाण्डव-विरोध का जो प्रशमन-वर्णन है, उसमें इस 'शक्ति' की ही झलक दिखायी दे रही है।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने 'शक्ति' को विरोध का प्रशमन न मानकर 'कुद्धप्रसादन' माना है—

'कुद्धप्रसादनं शक्तिः। क्रुद्धस्य प्रसादनमनुकूलनं बुद्धिविभवादिशक्तिकार्यत्वेन सा शक्तिः। यदि वा क्रुद्धस्य द्विषतः प्रकर्षेण सादनं विनाशनं शक्तिः।'

और 'कुद्धप्रसादन' को इसलिये 'शक्ति' कहा है क्योंकि बुद्धि-शक्ति से क्रुद्ध व्यक्ति को प्रसन्न किया जा सकता है। क्रुद्ध व्यक्ति का विनाश भी 'कुद्धप्रसादन' का एक अभिप्राय है।

अनुवाद—'प्रसङ्ग' का अभिप्राय पूजनीय पुरुष का गुणवर्णन है—

जैसे कि 'मृच्छकटिक' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'चाण्डालक—ये रहे श्रीसागरदत्त के पुत्र आर्य विश्वदत्त के पौत्र चारुदत्त जो फाँसी

चालुदत्तो वावादिदु वज्झट्ठाण णिज्जइ। एदेण किल गणिआ वसन्तसेणा सुअण्णलोहेण वावादिदेत्ति [एषु खलु सागरदत्तस्य सुतः आर्यविश्वदत्तस्य नप्ता चारुदत्तो व्यापादयितु वध्यस्थान नीयते। एतेन किल गणिका वसन्तसेना सुवर्णलोभेन व्यापादिता]।

चारुदत्तः—(सनिर्वेद स्वगतम्)

मखशतपरिपूत गोत्रमुद्भासित यत्
सदसि निबिडचैत्यब्रह्मघोषैः पुरस्तात्।
मम निधनदशायां वर्त्तमानस्य पापै-
स्तदसदृशमनुष्यैर्घुष्यते घोषणायाम् ॥'

इत्यनेन चारुदत्तवधाभ्युदयानुकूलप्रसङ्गाद् गुरुकीर्त्तनमिति प्रसङ्गः।

(८—खेद)

मनश्चेष्टासमुत्पन्नः श्रमः खेद इति स्मृतः।

मनःसमुत्पन्नो यथा मालतीमाधवे—

'दलति हृदयं गाढोद्वेगो द्विधा न च भिद्यते
वहति विकलः कायो मोह न मुञ्चति चेतनाम्।
ज्वलयति तनूमन्तर्दाहः, करोति न भस्मसात्
प्रहरति विधिर्मर्मच्छेदी, न कृन्तति जीवितम् ॥'

एव चेष्टासमुत्पन्नोऽपि।

के लिये वध्यभूमि पर ले जाये जा रहे हैं। धनलोभ के कारण गणिका वसन्तसेना की हत्या इनका अपराध है।

चारुदत्त (निर्विण्ण होकर, स्वगत)—

ओह! कहाँ मेरा सैकड़ों यज्ञकर्मों के सम्पादन से परम पुनीत प्रसिद्ध वंश जिसकी प्रशसा में मन्दिरों और चैत्यों में वेदध्वनियाँ गूँजती रहीं। लेकिन, अब मरणासन्न मुझे देख-देख यह नीच चाण्डाल, मेरे अपराध की घोषणा के साथ-साथ मेरे पुनीत वश पर कलक लगा रहा है।'

आदि में, वध-घोषणा के साथ-साथ चारुदत्त का जो गौरव-वर्णन है, उसमें 'प्रसङ्ग' का स्वरूप स्पष्ट दिखायी दे रहा है।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने भी 'प्रसङ्ग' को महापुरुष-सकीर्तन ही कहा है—

'प्रसङ्गो महता कीर्ति —
कीर्ति सशब्दनम्।'

अनुवाद—'खेद' कहते हैं शोक आदिरूप मन अथवा शरीर के व्यापारों के कारण समुत्पन्न परिश्रम को।

जैसे कि 'मानसखेद' का 'मालतीमाधव' में यह वर्णन—

'प्यारी मालती के विरह का शोकावेग, मेरा हृदय विदीर्ण कर रहा है, लेकिन तब भी यह फटता नहीं। यह व्याकुल शरीर मूर्च्छित हो रहा है, लेकिन तब भी होश बाकी है। भीतर की जलन शरीर को जला रही है, लेकिन तब भी यह जलकर राख नहीं हुआ। दुर्भाग्य मर्मान्तक चोट कर रहा है, लेकिन तब भी प्राण बाकी है।'

इसी भाँति, चेष्टासमूत 'खेद' का उदाहरण ढूंढ लिया जा सकता है।

(९—प्रतिषेध)

ईप्सितार्थप्रतीघातः प्रतिषेध इतीष्यते ।

यथा मम प्रभावत्यां विदूषकं प्रति—

'प्रद्युम्नः—सखे ! कथमिह त्वमेकाकी वर्तसे ? क्व नु पुनः प्रियसखीजनानुगम्यमाना प्रियतमा मे प्रभावती ?

विदूषकः—असुरपइणा आआरिअ कहिं पि णीदा [असुरपतिना आकार्य कुत्रापि नीता]।

प्रद्युम्नः—(दीर्घं निःश्वस्य)

हा पूर्णचन्द्रमुखि ! मत्तचकोरनेत्रे !
मामानताङ्गि ! परिहाय कुतो गतासि ?
गच्छ त्वमद्य ननु जीवित ! तूर्णमेव
दैवं कदर्थनपरं कृतकृत्यमस्तु ॥'

(१०—विरोधन)

कार्यात्ययोपगमनं विरोधनमिति स्मृतम् ॥

यथा वेण्याम्—

'युधिष्ठिरः—

तीर्णे भीष्ममहोदधौ कथमपि द्रोणानले निर्वृते
कर्णाशीविषभोगिनि प्रशमिते शल्ये च याते दिवम् ।
भीमेन प्रियसाहसेन रभसादल्पावशेषे जये
सर्वे जीवितसंशयं वयममी वाचा समारोपिताः ॥'

विमर्श—'खेद' का अभिप्राय इसी नाट्यप्रसङ्ग कायिक अथवा मानसिक परिश्रम ही माना है। यद्यपि कायिक अथवा मानसिक श्रम व्यभिचारिभावों में गिना जाता है किन्तु रसाभिव्यक्ति के परिपोष के लिए इसे सन्ध्यङ्ग भी मान लिया गया है।

अनुवाद—'प्रतिषेध' का अभिप्राय अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति में विघ्नबाधा का अभिप्राय है। जैसे कि, मेरी कृति 'प्रभावती' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'प्रद्युम्न (विदूषक से)—मित्र ! तुम यहाँ अकेले कैसे ? मेरी प्रियतमा प्रभावती और उसकी सखियाँ कहाँ गयीं ?

विदूषक—उसे तो राक्षसराज कहीं बुला ले गया।

प्रद्युम्न—(आह खींचकर)।

हा पूर्णचन्द्रमुखि ! हा मत्तचकोराक्षि ! हा सुन्दरि ! मुझे छोड़ तू कहाँ चल दी ! मेरे प्राण ! तू भी शीघ्र चल बस। मेरा दुर्भाग्य अब आनन्द मनाये।

आदि में जो सन्ध्यङ्ग है वह प्रतिषेध ही है।

अनुवाद—'विरोधन' का अभिप्राय किसी कर्तव्य में विक्षेपस्थापन है। जैसे कि 'वेणीसंहार' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'युधिष्ठिर भीष्मपराक्रमरूप सागर भी पार कर चुके, द्रोणरूप अग्नि भी बुझ चुकी, कर्ण सा विषधर भी मर चुका और शल्य सा शूर भी स्वर्ग पहुँचा दिया गया। विजय

(११—प्ररोचना)

प्ररोचना तु विज्ञेया संहारार्थप्रदर्शिनी ॥ १०६ ॥

यथा वेण्याम्—

'पाञ्चालकः—अह देवेन चक्रपाणिना सहितः—इत्युपक्रम्य कृतं सन्देहेन ।

पूर्यन्ता सलिलेन रत्नकलशा राज्याभिषेकाय ते
कृष्णात्यन्तचिरोज्झिते तु कबरीबन्धे करोतु क्षणम् ।
रामे शातकुठारभास्वरकरे क्षत्रद्रुमोच्छेदिनि
क्रोधान्धे च वृकोदरे परिपतत्याजौ कुतः संशयः ॥'

(१२—आदान)

कार्यसंग्रह आदानम्—

यथा वेण्याम्—'भो भोः समन्तपञ्चकचारिण' ।

नाहं रक्षो न भूतो रिपुरुधिरजलाह्लादिताङ्ग' प्रकामं
निस्तीर्णोरुप्रतिज्ञाजलनिधिगहन' क्रोधनः क्षत्रियोऽस्मि ।

तो निश्चित ही थी लेकिन, साहसरसिक भीम ने दुर्योधन-वध की प्रतिज्ञा क्या कर ली, हम सबको प्राण-संशय में डाल दिया ।'
आदि में, जो सध्यङ्ग है वह 'विरोधन' रूप ही है ।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने 'विरोधन' को 'विरोध' कहा है—

'विरोधं प्रस्तुतज्यानिः—प्रस्तुतस्य कार्यस्य ज्यानिर्त्ययः विरोध इव विरोधः ।'
किन्तु दोनों का अभिप्राय एक ही है ।

अनुवाद—'प्ररोचना' कहते हैं अभिलषित अर्थ के ऐसे प्रदर्शन को मानो वह संपन्न हो गया हो । जैसे कि 'वेणीसंहार' के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—'पाञ्चालक—मैं चक्रपाणि भगवान् कृष्ण द्वारा' आदि से लेकर, इस प्रसंङ्ग अर्थात्—

'अब विजय में क्या संदेह !

अब महाराज युधिष्ठिर के राज्याभिषेक के लिये रत्नकलशों में जल भरा जाय, अब द्रौपदी, बहुत दिनों से न सँवारे गये अपने केशों को सँवार ले, अब जब कि तीक्ष्ण कुठार से सुशोभित भुजा वाले, क्षत्रियकानन के संहारक परशुराम और क्रोधान्ध भीम सग्राम में कूद पडे हैं तब विजय में क्या सदेह ।'
आदि तक, वेणीसहाररूप भावी कार्य का निष्पन्न रूप से जो वर्णन है उसमें 'प्ररोचना' की योजना स्पष्ट है ।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने 'प्ररोचना' की वडी विशद व्याख्या की है—

'भावसिद्धि· प्ररोचना—निर्वहणसन्धौ भाविनोऽर्थस्य सिद्धि सिद्धत्वेनोपक्रमणं, प्रकर्षेण रोच्यते दीप्यतेऽनया रूपकार्थ इति प्ररोचना ।'

और इसके उदाहरण-रूप में, वेणीसहार का ही 'पूर्यन्ताम्' आदि प्रसङ्ग उद्धृत कर यह कहा है कि इस प्रसङ्ग में 'प्ररोचना' इसलिये है क्योंकि यहाँ भविष्य में सम्पन्न होने वाले 'युधिष्ठिर-राज्याभिषेक' और 'द्रौपदीकेशसयमन' को सम्पन्नरूप से वर्णित किया गया है ।

अनुवाद—'आदान' कहते हैं 'कार्यसग्रह' अथवा मुख्य फल के दर्शन को । जैसे कि 'वेणीसहार' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'भीम—अरे समन्तपञ्चक के रणक्षेत्र में विचरनेवालो ! मैं राक्षस नहीं, मैं प्रेत नहीं,

भो भो राजन्यवीराः! समरशिशिरशिखाभुक्तशेषाः! कृतं व-
स्त्रासेनानेन लीनैर्हतकरितुरगान्तर्हितैरास्यते यत् ॥'

अत्र समस्तरिपुवधकार्यस्य समुपसंहृतत्वादादानम्।

(१६—छादन)

—तदाहुश्छादनं पुनः।
कार्यार्थमपमानादेः सहनं खलु यद्भवेत् ॥ १०७ ॥

यथा तत्रैव—

'अर्जुनः—आर्य! प्रसीद किमत्र क्रोधेन—

अप्रियाणि करोत्येष वाचा शक्तो न कर्मणा।
हतभ्रातृशतो दुःखी प्रलापैरस्य का व्यथा ॥'

(निर्वहण सन्धि के १४ अङ्ग। निर्देश)

अथ निर्वहणाङ्गानि।

सन्धिर्विबोधो ग्रथनं निर्णयः परिभाषणम्।
कृतिः प्रसाद आनन्दः समयोऽप्युपगूहनम् ॥ १०८ ॥
भाषणं पूर्ववाक्यं च काव्यसंहार एव च।
प्रशस्तिरिति संहारे ज्ञेयान्यङ्गानि नामतः ॥ १०९ ॥

मैं क्रोध का अवतार वह क्षत्रिय हूँ जिसने कुरुक्षेत्र में भी भरकर स्नान किया है और अपने भयङ्कर प्रणरूपी अपार पारावार को पार कर लिया है। अरे क्षत्रिय-वीरो! अरे संग्रामानल में बचने से बचे-खुचे इस सैनिको! डरो मत, शूरता से, अपने हाथी-घोड़ों के रथ के पीछे मत छिपो।

आदि में अनुपयस्त कार्य का जो उपसंहार-वर्णन है, उसमें 'आदान' का स्वरूप स्पष्ट है।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने 'आदान' को 'फलसामीप्य' कहा है और 'फलसामीप्य' का अभिप्राय मुख्यफल का साक्षात्कार बताया है।

अनुवाद—'छादन' कहते हैं कार्यसिद्धि के लिये अपमान आदि के सहन करने को। जैसे कि वेणीसंहार के ही इस प्रसङ्ग में अर्थात्—

'अर्जुन—आर्य! आप क्रुद्ध न हों—

इस दुर्योधन को जो कुछ खरी-खोटी सुनानी हो सुना लेने दीजिए। यह अभागा अब क्या बिगाड़ सकता है। इसे तो इसके सैकड़ों भाइयों की मौत खा रही है। इसके प्रलाप से होता क्या है।'

आदि में अपमान-सहन का जो वर्णन है उसमें 'छादन' की ही योजना है।

विमर्श—नाट्यदर्पण के अनुसार छादन 'मन्युमार्जन' अथवा 'अपमानसहन' है—

'छादनं मन्युमार्जनम्—

मन्युरपमानो येन मार्ज्यते तत् छादनम्।' (नाट्यदर्पण १ विवेक)

अनुवाद—निर्वहण सन्धि के ये १४ अङ्ग हैं—(१) सन्धि, (२) विबोध (३) ग्रथन,

(१—संधि)

तत्र—

बीजोपगमनं सन्धिः—

यथा तत्रैव (वेण्याम्)—

'भीमः—भवति ! यज्ञवेदिसम्भवे ! स्मरति भवती यन्मयोक्तम्-'चञ्चद्भुजे'त्यादि ।'

अनेन मुखे क्षिप्तबीजस्य पुनरुपगमनमिति सन्धिः।

(२—विबोध)

—विबोधः कार्यमार्गणम् ।

यथा तत्रैव—

'भीमः—मुञ्चतु नामार्यः क्षणमेकम् ।

युधिष्ठिर.—किमपरमवशिष्टम् ?

भीमः—सुमहदवशिष्टम् । संयमयामि तावदनेन सुयोधनशोणितोक्षितेन पाणिना पाञ्चाल्या दु:शासनावकृष्ट केशहस्तम् ।

---

(४) निर्णय, (५) परिभाषण, (६) कृति, (७) प्रसाद, (८) आनन्द, (९) समय, (१०) उपगूहन, (११) भाषण, (१२) पूर्ववाक्य, (१३) काव्यसंहार और (१४) प्रशस्ति ।

अनुवाद—'सन्धि' का अभिप्राय (मुखसन्धि में) निक्षिप्त बीज (रूप इतिवृत्त-वैचित्र्य) का उपगमन अथवा पुन:संधान है । जैसे कि 'वेणीसंहार' के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'भीम—अरी यज्ञवेदिसम्भवे ! क्या तुझे याद है कि मैंने क्या कहा था—अपने प्रचण्ड भुजदण्ड में घुमायी जाती   '

आदि में, जो सन्ध्यङ्ग है वह 'सन्धि'रूप ही है क्योंकि यहाँ 'मुखसन्धि' में निक्षिप्त बीज का उपगमन अथवा पुन: संधान किया जा रहा है ।

विमर्श—'निर्वहण' में इस 'सन्धि' नामक अङ्ग की योजना आवश्यक है क्योंकि इसके द्वारा रूपक के उपक्रम और उपसंहार का सम्बन्ध स्थापित किया जाया करता है । नाट्यदर्पणकार ने इसीलिये कहा है—

'सन्धिर्बीजफलागम —

मुखसन्धौ न्यस्तस्य प्रारम्भावस्थाविषयीकृतस्य बीजस्योद्घाटोन्मुख्याद्यैर्विकारै: फले फलागमावस्थायामागमनं ढौकनं सन्धि । ·   अत्र मुखे यदुप्तं बीजं तन्निकटीभूतमिति । इदमङ्गमवश्यं निबन्धनीयमिति ।' (नाट्यदर्पण १ म विवेक)

अनुवाद—'विबोध' का अभिप्राय कर्त्तव्य का अनुसंधान है । जैसे कि 'वेणीसंहार' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'भीम—आप मुझे, थोड़ी देर के लिये छोड़ दें ।

युधिष्ठिर—अब क्या बाकी है ?

भीम—अभी बहुत कुछ बाकी है । अभी तो मुझे, दुर्योधन के रक्त से सने इन हाथों से, दु:शासन द्वारा खोली गयी, द्रौपदी की वेणी सँवारनी है ।

युधिष्ठिरः—गच्छतु भवान्, अनुभवतु तपस्विनी वेणीसंहारम् ।' इति ।
अनेन केशसंयमनकार्यस्यान्वेषणाद्विबोधः ।

(३—ग्रथन)

उपन्यासस्तु कार्याणां ग्रथनं—

यथा तत्रैव—

'भीमः—पाञ्चालि ! न खलु मयि जीवति संहर्तव्या दुःशासनविलुलिता वेणिरात्मपाणिभ्याम् । तिष्ठ, स्वयमेवाहं संहरामि ।' इति ।

अनेन कार्यस्योपक्षेपाद् ग्रथनम् ।

(४—निर्णय)

—निर्णयः पुनः ॥ ११० ॥

अनुभूतार्थकथनं—

यथा तत्रैव—

'भीमः—देव अजातशत्रो ! अद्यापि दुर्योधनहतकः ! मया हि तस्य दुरात्मनः—

भूमौ क्षिप्तं शरीरं निहितमिदमसृक्चन्दनाभं निजाङ्गे
लक्ष्मीरार्ये निषिक्ता चतुरुदधिपयःसीमया सार्धमुर्व्या ।

युधिष्ठिर—अच्छी बात है । जाओ द्रौपदी अब भी 'वेणीसंहार' (वेणी के सँवारने) का सुख लिये ।'

यहाँ, जो स्पष्ट है वह 'विबोध' ही है क्योंकि यहाँ भीम के द्वारा 'वेणीसंहार' रूपी स्वकर्तव्य के अन्वेषण का ही वर्णन है ।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने 'विबोध' को 'निरोध' कहा है और 'निरोध' का यह लक्षण किया है—

निरोधः कार्यमीमांसा—

वस्तुतः कार्यस्य मुखमेव कार्यान्वेषणं तथैवकार्यानुविचयनमपिनिरोधः किन्तु दोनों का अभिप्राय एक ही है ।

अनुवाद—'ग्रथन' वह है जिसे कार्य का उपन्यास अथवा उपक्षेप कहा गया है । जैसे कि 'वेणीसंहार' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'भीम—पाञ्चालि ! मेरे जीते-जागते, तुम्हें अपने हाथों दुःशासन द्वारा खोली गयी अपनी वेणी न बाँधनी चाहिये । ठहर, मैं स्वयं इसे गूँथूँगा ।'

यहाँ मैं भीमसेन के कर्तव्यरूप वेणीबन्धन का जो वर्णन है उसमें 'ग्रथन' की ही योजना है ।

विमर्श—'ग्रथन' को इसलिये 'ग्रथन' कहते हैं क्योंकि इसके द्वारा व्यापार और फल का सम्बन्ध स्थापित किया जाया करता है (ग्रथ्यते सम्बध्यते व्यापारेण मुखफलमनेनेति ग्रथनम्) ।

अनुवाद—'निर्णय' कहते हैं अनुभूत अर्थ के कथन को । जैसे कि 'वेणीसंहार' के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'भीम—महाराज ! अजातशत्रो ! क्या आज भी वह नीच दुर्योधन बचा हुआ है ? अरे, मैंने उस नीच का—

भृत्या मित्राणि योधाः कुरुकुलमनुजा दग्धमेतद्रणाग्नौ
नामैक यद् ब्रवीषि क्षितिप ! तदधुना धार्त्तराष्ट्रस्य शेषम् ॥'

(५—परिभाषण)

—वदन्ति परिभाषणम् ।

परि कृतं वाक्यम्—

यथा शाकुन्तले

'राजा— थ सा तत्रभवती किमाख्यस्य राजर्षेः पत्नी ?

तापसी—को ! धम्मदारपरिच्चाइणो णामं गेण्हिस्सदि' [कस्तस्य धर्मदारपरित्यागिनो नाम ग्रहीष्यति] ।

शरीर मिट्टी में मिला दिया है, रक्तचन्दन की भाँति उसका लाल रक्त मेरे शरीर का अङ्गराग बन रहा है, आप को विजयश्री मिली है और चारों समुद्रों से घिरी यह वसुन्धरा आप की चेरी बन चुकी है, कुरुवंश के अनुचर-परिचर, इष्ट-मित्र, शूर-वीर सब के सब इस रणानल में जल-भुन चुके हैं, अब तो जिसे आप 'दुर्योधन' कहते हैं वह केवल नाममात्र बच रहा है।'
आदि में भीम का जो अनुभूतार्थ वर्णन है उसमें 'निर्णय' का ही रूप स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने 'निर्णय' का यह लक्षण किया है—

'निर्णयोऽनुभवख्याति —ज्ञेयेऽर्थे सन्दिहानमप्रतिपाद्यमानं वा प्रति यदनुभवस्यानुभूतस्यार्थस्य निर्णयार्थं कथनं तद् ज्ञेयार्थनिर्णयान्निर्णयः।' (नाट्यदर्पण . १ म विवेक) ।

इस सन्ध्यङ्ग की योजना भी अनिवार्य मानी गयी है ।

अनुवाद—'परिभाषण' वह है जिसे परिवाद अथवा निन्दा का सूचक भाषण कहा गया है । जैसे कि, 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'राजा—आर्ये ! यह तो बताइये कि आप इन्हें किस नाम के राजा की पत्नी कहना चाहती हैं ?

तापसी—जिसने अपनी पत्नी का परित्याग कर दिया है उस पापी का नाम कौन ले !'
आदि में, तापसी का जो दुष्यन्त-निन्दन है उसमें 'परिभाषण' का स्वरूप स्पष्ट है।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने 'परिभाषण' को 'परिभाषा' कहा है और 'परिभाषा' की यह व्याख्या की है—

'परिभाषा स्वनिन्दनम्—

स्वापराधोद्घट्टनं परिभाषा । यथा 'तापसवत्सराजे' वासवदत्ता प्रति राजा (सास्रम्)-देवि ! किं ब्रवीषि ?

यथा तथा धृतप्राण निःस्नेह निरपत्रपम् ।
आनन्दामृतवर्षिण्या दृष्ट्याप्यनुगृहाण माम् ॥

यथा वा 'नलविलासे' दमयन्तीं प्रति नल —

न प्रेम निहितं चित्ते न चाचारः सतां स्मृतः ।
त्यजता त्वां वने देवि ! मया दारुणमाहितम् ॥

(६—कृति)

—लब्धार्थशमनं कृतिः ॥ १११ ॥

यथा वेण्याम्—

'कृष्णः—एते भगवन्तो व्यास-वाल्मीकिप्रभृतयोऽभिषेकं धारयन्तस्तिष्ठन्ति इति।'

अनेन प्राप्तराज्यस्याभिषेकमङ्गलैः स्थिरीकरणं कृतिः।

(७—प्रसाद)

शुश्रूषादिः प्रसादः स्यात्—

यथा तत्रैव भीमेन द्रौपद्याः केशसंयमनम्।

(८—आनन्द)

—आनन्दो वाञ्छितागमः ॥

यथा वा 'राघवाभ्युदये' रामः (स्वगतम्)—

वैदेहीं हृतवांस्तथैव महतः संख्ये विधाय क्रमा-

दक्षोत्पाटितकन्धरो दशमुखः कीनाशदासीकृतः।

प्राप्तान् पद्मिरहेऽप्यहं विरहजान् क्लेशानपाकोऽसुर

वक्त्रं दर्शयितुं तथापि न पुरस्तस्या विकलः क्षमः ॥

साहित्यदर्पणकार के अनुसार तो 'परिभाषण' परनिन्दा-सूचक भाषण माना गया है किन्तु नाट्यदर्पणकार के अनुसार यह स्वनिन्दात्मक वचन है।

अनुवाद—'कृति' कहते हैं उपलब्ध विषय के द्वारा चित्त-शान्ति के वर्णन को। जैसे कि 'वेणीसंहार' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'कृष्ण—भगवान् व्यास और वाल्मीकि आदि महर्षि अभिषेक (जल) लिये आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।

आदि में, अभिषेकमङ्गल द्वारा, युधिष्ठिर के चित्त में शान्ति और स्थिरता की स्थापना का जो वर्णन है उसमें 'कृति' की ही रूपरेखा झलक रही है।

विमर्श—'कृति' का अभिप्राय क्षेम अथवा लब्ध अर्थ का परिपालन है जैसा कि नाट्यदर्पणकार का कथन है—

'कृतिः क्षेमम्—लब्धस्य परिपालनं क्षेमः।'

अनुवाद—'प्रसाद' का अभिप्राय सेवा परिचर्या आदि का अभिप्राय है। जैसे कि 'वेणीसंहार' में भीम द्वारा द्रौपदी के केशसंयमन की घटना का जो उपक्रम है वह 'प्रसाद' रूप संध्यङ्ग की ही योजना है।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने 'प्रसाद' को 'उपास्ति' कहा है और 'उपास्ति' का अभिप्राय 'सेवा' बताया है—

'सेवोपास्तिः—सेवा परप्रसत्तिहेतुरुपचारः।'

नाट्यदर्पणकार के अनुसार 'प्रसाद' नाट्याचार्य भरत के अतिरिक्त अन्य नाट्यकोविदों के मत का सन्ध्यङ्ग है—

'अन्ये त्वस्य स्थाने प्रियहितोपचाराभिधां प्रसत्ति प्रसादमङ्गं मन्यन्ते।

(नाट्यदर्पण : १ म विवेक)

अनुवाद—'आनन्द' वह है जिसे मनोरथ की पूर्ति में संतोष कहा गया है।

यथा तत्रैव—

'द्रौपदी—विसुमरिदं एदं वावार णाधस्स पसादेण पुणो वि सिक्खिस्स।'
[विस्मृतमेन व्यापारं नाथस्य प्रसादेन पुनरपि शिक्षिष्ये]।

(९—समय)

समयो दुःखनिर्याणं—

यथा रत्नावल्याम्—

'वासवदत्ता—(रत्नावलीमालिङ्गय) समस्सस बहिणिए ! समस्सस'
[समाश्वसिहि भगिनि ! समाश्वसिहि]।

(१०—उपगूहन)

—तद्भवेदुपगूहनम् ॥ ११२ ॥

यत् स्याद्भुतसम्प्राप्तिः—

यथा मम प्रभावत्या नारददर्शनात् प्रद्युम्न ऊर्ध्वमवलोक्य—

'दधद्विद्युल्लेखामिव कुसुममाला परिमल-
भ्रमद्भृङ्गश्रेणीध्वनिभिरुपगीता तत इतः।
दिगन्त ज्योतिर्भिस्तुहिनकरगौरैर्धवलय-
न्नित कैलासाद्रिः पतति वियत. किं पुनरिदम् ॥'

जैसे कि 'वेणीसहार' के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'द्रौपदी—मैं तो वेणी बाँधना भूल सी ही गयी थी, लेकिन अब आपकी कृपा से इसे फिर सीख जाऊँगी।'
आदि में, द्रौपदी के अभिलषित लाभ और संतोष का जो वर्णन है उसमें 'आनन्द' की ही योजना है।

विमर्श—आनन्द के हेतु होने के नाते 'वाञ्छितागम' को आनन्द कहा गया है जैसा कि नाट्यदर्पणकार का कथन है—'प्रकारशतैर्वाञ्छितस्यार्थितस्य सामस्त्येनागम प्राप्तिरानन्द-हेतुत्वादानन्द'।'

अनुवाद—'समय' वह सन्ध्यङ्ग है जिसे दु.ख का अपगमन (दूर हो जाना) कहा गया है। जैसे कि 'रत्नावली' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'वासवदत्ता—(रत्नावली को गले लगाकर) घबड़ाओ नहीं बहन।'
आदि में, रत्नावली के दु खनिर्याण का जो वर्णन है उसमें 'समय' का स्वरूप स्पष्ट है।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार के अनुसार 'समय' का यह लक्षण है—

'समयो दु खनिर्वास —
दु'खनिर्गमयुक्त' काल समय।

अनुवाद—'उपगूहन' कहते हैं विस्मय की प्राप्ति को। जैसे कि, मेरी अपनी कृति 'प्रभावती' में, नारद के दर्शन से ऊपर की ओर दृष्टि उठाये, प्रद्युम्न की जो यह उक्ति है—

'यह क्या ? यह क्या है जो सान्द्र सौरभ-लोभ से मँडराते भौंरों की गुजार से भरी

(११—भाषण)

—सामदानादि भाषणम्।

यथा चण्डकौशिके—

'धर्मः—तदेहि धर्मलोकमधितिष्ठ।'

(१२—पूर्ववाक्य)

पूर्ववाक्यं तु विज्ञेयं यथोक्तार्थोपदर्शनम् ॥ ४१३ ॥

यथा वेण्याम्—

'भीमः—बुद्धिमतिके! क्व सा भानुमती। परिभवतु सम्प्रति पाण्डवदारान्।'

(१३—काव्यसंहार)

वरप्रदानसम्प्राप्तिः काव्यसंहार इष्यते।

यथा सर्वत्र—किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि। इति।

चमकती पुष्पमाला धारण किये तथा चन्द्रधवल तेज से दिगन्त को प्रकाशित करते हुये इधर आता जा रहा है? कहीं यह कैलास पर्वत तो नहीं या और कुछ तो नहीं है?'
इसमें 'उपगूहन' का स्वरूप स्पष्ट है।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने 'उपगूहन' के स्थान पर 'परिगूहन' नाम प्रयुक्त किया है और 'परिगूहन' का यह अभिप्राय बताया है—

'विस्मयस्याधिमात्रात्मकत्वाद्वरसस्य प्राप्तिः परिगूहनम्।'

अनुवाद—'भाषण' का अभिप्राय सान्त्वनात्मक, प्रियकर अथवा हितकारक वचन है। जैसे कि 'चण्डकौशिक' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'धर्म—हरिश्चन्द्र! इधर आओ तुम्हें धर्मलोक में विचरना है।'

आदि में, हरिश्चन्द्र के लिये सान्त्वनात्मक धर्म का जो वचन है उसमें 'भाषण' की योजना है।

विमर्श—'भाषण' वस्तुतः प्रियहितवचन है। इसकी योजना भिन्न-भिन्न रसभावादिमय रूपकग्रन्थों में की गयी है।

अनुवाद—'पूर्ववाक्य' वह है जिसे पूर्वोक्त विषय अथवा वचन का पुनर्दर्शन कहा गया है। जैसे कि, 'वेणीसंहार' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'भीम—बुद्धिमतिके! कहाँ गयी वह भानुमती? अब देखें कैसे पाण्डव-पत्नी का अपमान करती है।'
आदि में जो सन्ध्यङ्ग है वह 'पूर्ववाक्य' ही है।

विमर्श—'पूर्ववाक्य' का दूसरा नाम 'प्राग्भाव' है। नाट्यदर्पणकार ने 'प्राग्भाव' नाम से ही इस सन्ध्यङ्ग का स्मरण किया है—

'प्राग्भावः कृत्यदर्शनम्।'

किन्तु 'प्राग्भाव' का अभिप्राय किसी के कृत्य का किसी के द्वारा दर्शन है। नाट्यदर्पणकार के अनुसार 'पूर्ववाक्य' कतिपय नाट्याचार्यों की मान्यता का सन्ध्यङ्ग है—'[illegible] पूर्ववाक्यमङ्गमत्र स्थाने कैश्चिदामनन्ति।'

अनुवाद—'काव्यसंहार' वह सन्ध्यङ्ग है जिसे वरप्रदान की सम्प्राप्ति कहा गया है। जैसे

(१४–प्रशस्ति)

नृपदेशादिशान्तिस्तु प्रशस्तिरभिधीयते ॥ ११४ ॥

यथा प्रभावत्याम्—

'राजानः सुतनिर्विशेषमधुना पश्यन्तु नित्यं प्रजा
जीयासु' सदसद्विवेकपटवः सन्तो गुणग्राहिणः।
सस्यस्वर्णसमृद्धय' समधिकाः सन्तु क्ष्मामण्डले
भूयादव्यभिचारिणी त्रिजगतो भक्तिश्च नारायणे ॥'

अत्र चोपसंहारप्रशस्त्योरन्त एकेन क्रमेणैव स्थितिः।

(सन्ध्यङ्ग–निवेश में मतभेद)

'इह च मुखसधौ उपक्षेपपरिन्यासयुक्त्युद्भेदसमाधानानां प्रतिमुखे च परिसर्पणप्रगमनवज्रोपन्यासपुष्पाणां गर्भेऽभूताहरणमार्गत्रो (तो)टकाधिबलक्षेपाणां विमर्शेऽपवादशक्तिव्यवसायप्ररोचनादानानां प्राधान्यम्। अन्येषां च यथा सम्भवस्थिति' इति केचित्।

कि समस्त रूपकप्रबन्धों में, 'किन्ते भूयः प्रियमुपकरोमि' का जो उपनिबन्ध किया जाया करता है वह 'काव्यसहार' की ही योजना है।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने 'काव्यसहार' की यह सुन्दर परिभाषा की है—

'वरेच्छा काव्यसंहार.

ईप्सित दातुमभिलाषो वरेच्छा। तज्जनितो 'भूय. किं ते प्रियमुपकरोमि,' इति प्रश्न इत्यर्थ। स च गृहीतग्रप्रतीच्छति प्रतीच्छति च सम्पादयितुर्भूयसीमिच्छा दर्शयितुं, निवध्यते। तत्र सति सर्वस्मिन्नेवेप्सिते सम्पन्ने प्रस्तुत काव्यस्येव संह्रियत इति काव्यसहार।

अनुवाद—'प्रशस्ति' का तात्पर्य नृप, देश, देव आदि का स्वस्त्ययन अथवा आशीर्वचन आदि है। जैसे कि 'प्रभावती' की यह 'प्रशस्ति'—

'राजा लोग सदा पुत्रवत् प्रजापालन करते रहें, सदसद्विवेकशील, गुणग्राही सज्जन सदा दीर्घायु बने रहें, पृथिवी पर धन-धान्य और रूप्य-सुवर्ण की सम्पत्ति बरसती रहे और सारा त्रिभुवन भगवान् नारायण का एकान्त भक्त बन जाय।'

'काव्यसहार' और 'प्रशस्ति,' इन दोनों सन्ध्यङ्गों की योजना क्रमश' ही की जाया करती है (अर्थात् पहले 'काव्यसहार' और उसके बाद 'प्रशस्ति' की योजना आवश्यक है)

विमर्श—'प्रशस्ति' रूपकप्रबन्धों का अन्त मङ्गल है (प्रशस्ति शुभशासना)। इसका उपनिबन्ध अनिवार्य माना गया है। इसे नाटकीय इतिवृत्त के अन्तर्गत रहनेवाली वस्तुयोजना कहा गया है।

अनुवाद—इन उपर्युक्त सन्ध्यङ्गों की योजना के सम्बन्ध में आचार्यों में मतभेद पाया जाता है। कुछ नाट्याचार्य तो सभी सन्धियों के सभी सन्ध्यङ्गों की योजना आवश्यक मानते हैं और कुछ का यह कथन है—'मुखसन्धि के प्रमुख अङ्ग उपक्षेप, परिन्यास, युक्ति, उद्भेद और समाधान हैं, प्रतिमुखसन्धि में परिसर्पण, प्रगमन, वज्र, उपन्यास और पुष्प की योजना अनिवार्य हैं, गर्भसन्धि के लिये अभूताहरण, मार्ग, तोटक, अधिबल और क्षेप अपेक्षित हैं और विमर्शसन्धि के मुख्य अङ्ग अपवाद, शक्ति, व्यवसाय, प्ररोचना और आदान हैं। इन निर्दिष्ट सन्ध्यङ्गों के अतिरिक्त और जो अवशिष्ट सन्ध्यङ्ग हैं उनकी योजना

(सन्ध्यङ्गयोजना-विषयक परिनिष्ठित सिद्धान्त)

चतुःषष्टिविधं ह्येतदङ्गं प्रोक्तं मनीषिभिः ।
कुर्यादनियते तस्य सन्धावपि निवेशनम् ॥ ११५ ॥
रसानुगुणतां वीक्ष्य रसस्यैव हि मुख्यता ।

यथा वेणीसंहारे तृतीयाङ्के दुर्योधनकर्णयोर्महत्सम्प्रधारणम् । एवमन्यत्रापि । यत्तु रुद्रटादिभिः 'नियम एव' इत्युक्तं तल्लक्ष्यविरुद्धम् ।

रूपकविशेष के उपयोगविशेष की ही दृष्टि से की जा सकती है और की भी गयी है।

विमर्श—सन्ध्यङ्गों की 'उद्देशक्रमानुसार' योजना तथा 'उपयोगानुसार' योजना के दो मत हैं। अभिनवभारतीकार ने उपयोगानुसार सन्ध्यङ्गयोजना का सिद्धान्त अपनाया है और दशरूपककार ने उद्देशक्रमानुसार सन्ध्यङ्गयोजना का सिद्धान्त स्वीकार किया है।

अनुवाद—नाट्यशास्त्रविदों ने तो ६४ सन्ध्यङ्ग गिनाये हैं (जिनका लक्षण-निरूपण किया जा चुका), किन्तु इनकी योजना के सम्बन्ध में परिनिष्ठित सिद्धान्त यह है—रूपक-प्रबन्धों का सारभूत अर्थ रस है और उसी सन्ध्यङ्ग की योजना आवश्यक है जो रूपक-प्रबन्धों के रसरूप सारार्थ के अनुकूल हो। इस दृष्टि से एक सन्धि के अङ्ग की योजना दूसरी सन्धि में भी की जा सकती है।

एक सन्धि के अङ्ग की दूसरी सन्धि में योजना का उदाहरण 'वेणीसंहार' का तृतीय अङ्क है जहाँ सन्धि तो गर्भसन्धि है किन्तु वहाँ मुखसन्धि के अङ्ग 'संप्रधारण' की योजना की गयी है और बड़ी सुन्दरता से की गयी है। अन्य रूपकप्रबन्धों की यही बात है। आचार्य रुद्रट आदि का यह कथन कि 'जो अंग जिस सन्धि का हो उसकी उसी सन्धि में योजना की जाय' ठीक नहीं जचता क्योंकि रूपकप्रबन्ध इसके उलटे चलते दिखाई देते हैं।

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि का सन्ध्यङ्गयोजना के सम्बन्ध में यह आदेश था—

'यथासन्धि तु कर्तव्यान्येतान्यङ्गानि नाटके ।
कविभिः काव्यकुशलै रसभावमपेक्ष्य तु ॥
सम्मिश्राणि कदाचित्तु द्वित्रियोगेन वा पुनः ॥
ज्ञात्वा कार्यमवस्थां च कार्याण्यङ्गानि सन्धिषु ॥

(नाट्यशास्त्र १९. १४–१५)

जिसे 'अभिनवभारती'कार ने इस प्रकार द्योतित किया—

'यथासन्धि इति—यो यस्मिन् सन्धौ योग्य इत्यर्थः । योग्यता च कविरेव जानाति, न च मुख्यकवयः किंतु प्रबन्धयोजनासमर्थाः । तदाह—कविभिरित्यादि । ननु कथं कीदृक् तत् प्रबन्धनिर्माणकौशलमित्याह—रसभावमपेक्ष्येति तदपेक्षा च कौशलमित्यर्थः । रस एव हि मौल्या व्युत्पत्तिमदे नाट्यरसके साधनमित्युक्तम् । ततश्च यद् यथा यद् यस्यानुपयोगि तदयोजितमो रचितदृश्यवर्षैरत्यन्तविरसान्तरमप्ययोजितं तदुद्धारेणान्यप्रविष्टं सत् पुष्टिं व्याधिनिवृत्तिं च विधत्ते, तथैव पुनर्योजितो वस्तुनमनुप्रवेष्टुमसमर्थो सुन्दर तदुचितरससंक्रमणता मात्रान्तमनसो विनेयजनस्य उपायो वस्तुनि अवसरपादपकल्पताये कल्पते । रससंक्रमितम विभावादिरूपतयैव नाम्यपेतुर्क वदे । तान्यङ्गानि क्लिश्यमानि विपरीतरसभावादिसंपूर्णभावमात्रं भवन्ति यानि तत्करसाद्रितमनसा परमान्तरविरेकत्वयैवासमदमिष्या समुचितमावरं वय्यकल्पामनुवर्तन्ते । इतिवृत्तादिप्वेतेऽपि हि

(सन्ध्यङ्गनिवेश की उपयोगिता)

इष्टार्थरचनाश्चर्यलाभो वृत्तान्तविस्तरः ॥ ११६ ॥
रागप्राप्तिः प्रयोगस्य गोप्यानां गोपनं तथा ।
प्रकाशनं प्रकाश्यानामङ्गानां षड्विधं फलम् ॥ ११७ ॥
अङ्गहीनो नरो यद्वन्नैवारम्भक्षमो भवेत् ।
अङ्गहीनं तथा काव्यं न प्रयोगाय युज्यते ॥ ११८ ॥
संपादयेतां संध्यङ्गं नायकप्रतिनायकौ ।
तदभावे पताकाद्यास्तदभावे तथेतरत् ॥ ११९ ॥

रसस्यैव पोषक, अन्यथा विच्छेदे स्थाय्यादेस्त्रुटितत्वात् क्व रसवार्ता ! तेन रसस्यैवाय विभावादिपरिकरो यदङ्गचक्रमिति । ... ... ननु सन्धिपरतन्त्रैरङ्गैर्भवितव्यम्, तद्रसपारतन्त्र्यमेषा कुतस्त्यम् ? उच्यते—सन्धयो ह्यवस्थापरतन्त्रा, प्रारम्भाभिधानदशाविशेषोपयोगिकथाखण्डलक मुखसन्धिरित्युक्तम्, एवमन्यत्र । ... नन्वत किम् ? इदमतो भवतीत्याह—रसभावापेक्षया तु कार्यं स्थितम् ...... कार्यमपि रसप्रवाहजननपर्यन्तत्वेन कृतार्थतां संपद्यते इति यावत् ।

समिश्राणीति सन्ध्यन्तरोक्तं सन्ध्यन्तरेऽपीत्यर्थः । यथा युक्तिर्मुखेऽप्युक्ता गर्भेऽप्युपनिबद्धा वितर्कव्यभिचार्यंशपोषकभावेन वेणीसहारे । द्वित्रीति द्वित्वत्रित्वयोगेनेत्यर्थः । तेनैकमपि सन्ध्यङ्गं तत्रैव सन्धौ द्विस्त्रिर्वा कर्त्तव्यम् ।' (अभिनवभारती, पृष्ठ ६१-६२)

अर्थात् जिसे 'अङ्गचक्र' (६४ सन्ध्यङ्ग) कहते हैं वह रसाभिव्यञ्जक विभावादि-परिकर के अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं । जैसे विभावादियोजना रस-समुल्लास के लिये हुआ करती है वैसे ही अङ्गचक्र-योजना भी रसप्रवाह के ही लिये अपेक्षित है न कि नाट्यशास्त्र की मर्यादा के अनुपालन के लिये । ध्वनिकार आनन्दवर्धन की यह सूक्ति यहाँ स्मरण रखने योग्य है—

'सन्धिसन्ध्यङ्गघटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया ।
नतु केवलया शास्त्रस्थितिसम्पादनेच्छया ॥' (ध्वन्यालोक ३ १२)

अर्थात् काव्य प्रबन्धों में सन्धिघटना या सन्ध्यङ्गयोजना एक मात्र रसाभिव्यञ्जन के ही लिये आवश्यक है न कि नाट्यशास्त्र की विधि के अनुष्ठान के लिये । लोचनकार ने इसीलिये कहा है—

'भरतमुनिना सन्ध्यङ्गानां रसाङ्गभूतमितिवृत्तप्राशस्त्योत्पादनमेव प्रयोजनमुक्तम् । न तु पूर्वरङ्गाङ्गवददृष्टसम्पादन विघ्नादिवारण वा ।' (ध्वन्यालोकलोचन, पृष्ठ ३४०)

अनुवाद—उपर्युक्त सन्ध्यङ्गों की योजना से रूपक-प्रबन्धों का जो लाभ है वह ६ प्रकार का हुआ करता है—(१) अभीष्ट अर्थ की योजना, (२) सामाजिक हृदय में आश्चर्यभाव का सङ्क्रमण, (३) कथानक का विस्तार, (४) सामाजिक हृदय में रूपकदर्शन के प्रति अनुराग का उत्पादन, (५) गोपनीय विषय का गोपन और (६) प्रकाशनीय विषय का प्रकाशन । जैसे अङ्गहीन मनुष्य किसी भी कार्य में समर्थ नहीं हो सकता वैसे ही अङ्गहीन काव्य-प्रबन्ध भी अभिनय के उपयुक्त नहीं रह सकता । इसलिये रूपक-प्रबन्ध अपना नाम तभी सार्थक सिद्ध कर सकते हैं जबकि इनमें उपनिबद्ध नायक और प्रतिनायक के वाग्विलासों में सन्ध्यङ्गों की रूपरेखा झलका करे । नायक और प्रतिनायक के वाग्व्यवहारों के बाद सन्ध्यङ्गों की योजना का अवसर पताका आदि अर्थप्रकृतियों की

प्रायेण प्रधानपुरुषप्रयोज्यानि सन्ध्यङ्गानि भवन्ति । किन्तूपक्षेपादित्रयं बीजस्याल्पमात्रसमुद्दिष्टत्वादप्रधानपुरुषप्रयोजितमेव साधु ।

(रसाभिव्यञ्जन के लिये सन्ध्यङ्गयोजना)

रसव्यक्तिमपेक्ष्यैषामङ्गानां संनिवेशनम् ।
न तु केवलया शास्त्रस्थितिसंपादनेच्छया ॥ १२० ॥

तथा च यद्वेण्यां दुर्योधनस्य भानुमत्या सह विप्रलम्भो दर्शितः, तत्तादृशेऽवसरेऽत्यन्तमनुचितम् ।

अविरुद्धं तु यद्वृत्तं रसादिव्यक्तयेऽधिकम् ।
तदप्यन्यथयेद्धीमान वदेद्वा कदाचन ॥ १२१ ॥

योजना में है। और यदि वहाँ अवसर न मिले तो बीज, बिन्दु आदि की योजना में तो सन्ध्यङ्गों का स्वरूप-प्रदर्शन आवश्यक ही है।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि सन्ध्यङ्गों की योजना का सर्वावसर तो वस्तुतः रूपक-प्रबन्धों के मुख्य चरितों के ही कथोपकथन में रहा करता है किन्तु 'उपक्षेप' 'परिकर' और 'परिन्यास' की योजना अप्रधान चरितों के भी कथोपकथन में सम्भव है क्योंकि इनका (उपक्षेप आदि का) सम्बन्ध बीज के आवाप प्रकार और औत्सुक्य से है और आवाप प्रकार और औत्सुक्य की अवस्थाओं में बीजरूप इतिवृत्त संक्षेपतः ही उपन्यस्त हुआ करता है।

विमर्श—'नाट्यदर्पण' की इन पंक्तियों में सन्ध्यङ्ग-योजना की पद्धति और उपयोगिता का बड़ा रोचक वर्णन है—

'सन्धिनामवान्यङ्गानि सन्धिरूपस्याङ्गिनोऽभ्युपकारकत्वेन निष्पादकत्वात्। अङ्गानि च वृत्तविस्तरकारित्वादवश्यं निबन्धनीयानि। अन्यथा—'रामस्य पत्नी रावणेन अपहृता रामेण च तत्पुनः समुपलभ्य सुग्रीव सहाय वानराधिराज्यप्रतिपादनादुपकृत्य समुद्रसेतुबन्धमाधाय निहत्य च रावणं प्रत्यानीते'त्येवं प्रारम्भाद्यवस्थाभिरुपनिबद्धैः पञ्चभिरपि सन्धिभिर्निर्वाहादुपायपुष्टैर्निबद्धे रूपके वृत्तसंक्षेपः स्यात्। तथा च न चमत्कारः। किञ्च रञ्जकमपि वृत्तमङ्गैर्विच्छेदेन निबध्यमानं परां रतिमावहति। कर्णवदनस्य पुनरम्यमाणमपि वृत्तमङ्गसङ्ख्या निबद्धमपुनरुक्तमिवाभाति। अवान्तरकार्यत्वपरता चाङ्गसम्बद्धस्य वृत्तस्य न भवति। (नाट्यदर्पण १ म विवेक)

अनुवाद—सन्ध्यङ्गों की योजना का उद्देश्य रस की अभिव्यक्ति है न कि शास्त्रस्थ की मर्यादा का पालन।

सन्ध्यङ्गयोजना के इस सिद्धान्त को देखते 'वेणीसंहार' में किया गया दुर्योधन के विरह में व्याकुल भानुमती का चित्रण (अर्थात् प्रतिमुख-सन्धि के अङ्ग 'विलास' का उपनिबन्ध) अत्यन्त अनुचित प्रतीत होता है (क्योंकि इससे वेणीसंहार के रसभाव का कोई परिपोष नहीं होता, यह तो केवल शास्त्रस्थिति की रक्षा के लिये उपनिबद्ध किया हुआ है)।

रूपकप्रबन्ध के रचयिता का एकमात्र कर्तव्य जिस प्रकार रसाभिव्यञ्जन हुआ करता है (न कि नाट्यशास्त्र की मर्यादाओं का अनुसरण), यह इससे भी स्पष्ट है कि मूलवृत्त के अविरुद्ध रहनेवाली भी कथावस्तु, यदि वह रसविशेष के उत्कर्ष के उपयुक्त न हो तो या तो बदल दी जाया करती है या बिल्कुल छोड़ दी जाया करती है।

अनयोरुदाहरण सत्प्रबन्धेष्वभिव्यक्तमेव ।

(वृत्ति-विचार)

अथ वृत्तय —

> शृङ्गारे कैशिकी वीरे सात्त्वत्यारभटी पुनः ।
> रसे रौद्रे च बीभत्से वृत्तिः सर्वत्र भारती ॥ १२२ ॥
> चतस्रो वृत्तयो ह्येताः सर्वनाट्यस्य मातृकाः ।
> स्युर्नायिकादिव्यापारविशेषा नाटकादिषु ॥ १२३ ॥

रसाभिव्यञ्जन के लिये, इतिवृत्त के हेर-फेर (अथवा सन्ध्यङ्ग-योजना में रसापेक्षा) के उदाहरण तो सभी प्रसिद्ध-प्रबन्ध हैं ही।

विमर्श—अनिदार्शनिक आनन्दवर्धनाचार्य के शब्दों में सधि-सन्ध्यङ्ग-घटना के नियम के अनुपालन का यह निर्देश है—

'रसादिव्यञ्जकत्वे [प्रबन्धस्य चेदमन्यन्मुख्यं निबन्धनं यत्सन्धीना मुखप्रतिमुखगर्भावमर्शनिर्वहणाख्याना तदङ्गानाञ्चोपक्षेपादीना घटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया, यथा—रत्नावल्याम्, न तु केवलं शास्त्रस्थितिसम्पादनेच्छया, यथा—वेणीसंहारे विलासाख्यस्य प्रतिमुखसन्ध्यङ्गस्य प्रकृतरसनिबन्धाननुगुणमपि द्वितीयेऽङ्के भरतमतानुसरणमात्रेच्छया घटनम्।'
(ध्वन्यालोक ३ य उद्योत)

और यहाँ साहित्यदर्पणकार ने इसी का अनुसरण किया है।

अनुवाद—अब 'वृत्ति-चतुष्टय' का निरूपण किया जा रहा है—

'वृत्ति' कहते हैं नाटकादि प्रबन्धों में उपनिबद्ध नायक-नायिका आदि के विविध व्यापारों को। 'वृत्ति' वस्तुत अभिनयमात्र की जननी है। 'वृत्ति' चार प्रकार की हुआ करती है—(१) 'कैशिकी', जो शृङ्गाररस के अभिव्यञ्जन के लिये है, (२) 'सात्त्वती' जिससे वीररस की अभिव्यक्ति का सम्बन्ध है, (३) 'आरभटी' जो रौद्र और बीभत्स रस के प्रतिपादन के लिये है और (४) भारती, जिसका सम्बन्ध सभी रसों से है।

विमर्श—भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में 'वृत्ति' का बडा विशद और विचारोत्तेजक वर्णन है। यहीं यह भी बताया गया है कि वेदचतुष्टय से अङ्गचतुष्टयात्मक नाट्यवेद की भाँति वृत्ति-चतुष्टय का भी विकास हुआ है—

> 'ऋग्वेदाद्भारती क्षिप्ता यजुर्वेदाच्च सात्वती।
> कैशिकी सामवेदाच्च शेषा चाथर्वणादपि ॥ (नाट्यशास्त्र २०, २५)

वैसे तो 'वृत्ति'-तत्त्व एकरूप ही है क्योंकि 'कायिक', 'वाचिक' और 'मानसिक' व्यापारों में परस्पर असम्भेद (असंकीर्णता) सर्वथा असम्भव है। किन्तु 'काय-वाङ्-मनस्' की चेष्टाओं में, प्रत्येक के यथास्थान प्राधान्य की दृष्टि से, वृत्तितत्त्व को चतुर्विध बताया गया है। इस वृत्ति-चतुष्टय में भारती वृत्ति रूपकप्रबन्धों में चित्रित चरितों का वाग्व्यापार है। नाट्याचार्य भरतमुनि ने स्पष्ट कहा है—

> 'भाषतो वाक्यभूयिष्ठा भारतीयं भविष्यति।' (नाट्यशास्त्र २२. ९)

भारती वृत्ति शब्द-वृत्ति है—इस सम्बन्ध में सभी नाट्याचार्य एकमत हैं। अभिनवभारतीकार ने 'भारती' को 'पाठ्यप्रधाना' अथवा 'वाग्वृत्ति' कहा है। रसार्णवसुधाकरकार ने भारती को स्पष्टतया 'शब्दवृत्ति' माना है—

आसां तु मध्ये वृत्तीनां सम्प्रवृत्तिस्तु भारती ।
तिस्रोऽर्थवृत्तयस्तेषाः तच्चतस्रो हि वृत्तयः ॥' (रसार्णवसुधाकर : १ १८८)

भरतमुनि की यह 'भारती'-समीक्षा यहाँ ध्यान देने योग्य है—

'या वाक्प्रधाना पुरुषप्रयोज्या स्त्रीवर्जिता संस्कृतवाक्ययुक्ता ।
स्वनामधेयैर्भरतैः प्रयुक्ता सा भारती नाम भवेत्तु वृत्तिः ॥

(नाट्यशास्त्र २२.२५)

यहाँ भारती वृत्ति के 'वाक्प्रधाना वृत्ति' होने में तो कोई विवाद नहीं किन्तु 'पुरुषप्रयोज्या' 'स्त्रीवर्जिता' और 'संस्कृतवाक्ययुक्ता' मानने में विचार-विमर्श की आवश्यकता है। कैसे तो रूपक-प्रबन्धों में प्राकृत वाग्व्यवहार भी पर्याप्त है किन्तु नाट्यशास्त्र की परिभाषा के अनुसार उसे 'भारती वृत्ति' नहीं माना जा सकता। यहाँ संभवतः ऐसा प्रतीत होता है कि नाट्याचार्य भरतमुनि ने प्रधान पुरुष चरितों के संस्कृत वाग्व्यापार की दृष्टि से भारती को 'संस्कृतवाक्ययुक्ता' कहा है। भारती वृत्ति स्त्री-चरितों का वाग्व्यापार नहीं मानी गयी क्योंकि स्त्री-चरितों की वृत्ति सात्वती अथवा कैशिकी वृत्ति है। स्त्री-चरितों के वाग्व्यापार उनके हाव-भावों से अनुप्राणित रहा करते हैं इसलिये शुद्ध भारती का दर्शन वहाँ नहीं हो सकता। नाट्यदर्पणकार का यह वृत्तितत्त्व-विमर्श भी यहाँ ध्यान देने योग्य है—

'भारती सात्वती कैशिक्यारभटी च वृत्तयः ।
रसभावाभिनयगाश्चतस्रो नाट्यमातरः ॥

पुरुषार्थसाधको विचित्रो व्यापारो वृत्तिः। रसभावाभिनयाः वक्ष्यमाणास्तांस्तान्मध्यस्थेन गच्छन्ति। रसभावाभिनयगम्भितो हि सर्वो नाट्ये—व्यापारः। 'चतस्र' इति चतुर्वैस्त्वमन्यतमवर्त्तिप्राधान्यविवक्षया, अपरथाऽनेकव्यापारसंवलितमेकमेव वृत्तितत्त्वम्। न नाम प्रबन्धेषु व्यापारान्तरासंवलितः कोऽप्येकाकी कायिको वाचिको मानसो वा व्यापारो दृश्यते। कायिकस्य हि व्यापृतत्वे मानसेनापि विवेकेन व्यापारेण सम्भिन्नत्वे। सम्यगेवाभिव्यक्तिमभावस्पर्शं विना रञ्जकस्य कायव्यापारपरिस्पन्दस्याभावात्। वाचिको नाम स्वयं कायपरिस्पन्दाविनाभाविन्य एव ताल्वादिव्यापाराभावे वचनानुच्चारणात् प्राणादिरूपकायपरिस्पन्दाभावे मनोवृत्त्यनुपलम्भनात्। मनःशून्यश्च व्यापारः कायिको वाचिको वाऽज्ञानकारणादविवक्षणीय एव। निरूपणमपि च तस्यार्थं बुद्धिपूर्वकमेव निसर्गतो विधीयते। अतः संकीर्णत्वेऽप्यंशप्राधान्यापेक्षया वृत्तयश्चतस्रः। नाट्यस्याभिनेयकाव्यस्य मातर इव मातरः। काव्या हि वर्णनीयत्वेन कविहृदये व्यवस्थितास्ताभ्यः काव्यमुत्पद्यते। 'नाट्य' इति च प्रस्तावापन्नम्। तेनानभिनेयेऽपि काव्ये वृत्तयो भवन्त्येव। न हि व्यापारशून्यं किञ्चिद् वर्णनीयमस्ति। रसानन्त्ये च नाट्यमिति रसस्य व्यापारशून्यस्येवावस्थितेऽपि न कश्चिद् दोषः। भूयसां तु व्यापाराभावेन वृत्त्यभावेऽपि न नाट्यस्य वृत्तिमत्त्वहानिः, बाहुल्यापेक्षया वृत्तिमत्त्वस्याभिमतत्वादिति।' (नाट्यदर्पण : ३ य विवेक)

अर्थात् क्या अभिनेय और क्या अनभिनेय—दोनों प्रकार के काव्यबन्धों की जननी 'वृत्ति' ही है। जब कि कवि हृदय में वर्ण्य चरित का सम्पूर्ण सक्रिय व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित हो जाता है तभी काव्य की उत्पत्ति होती है अन्यथा नहीं। वर्ण्य चरित के सम्पूर्ण सक्रिय व्यक्तित्व और काव्य की वृत्ति में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव का सम्बन्ध रहा करता है। चार वृत्तियों की व्याख्या में वर्ण्य चरित का ही विवेचन किया जाया करता है जैसे व्यक्तित्व एक अविभाज्य तत्त्व है किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि इसका विवेचन न किया जाय। वृत्तितत्त्व एक है किन्तु विवेचन बुद्धि में

(१—कैशिकी वृत्ति)

तत्र कैशिकी—

या श्लक्ष्णनेपथ्यविशेषचित्रा स्त्रीसंकुला पुष्कलनृत्यगीता ।
कामोपभोगप्रभवोपचारा सा कैशिकी चारुविलासयुक्ता ॥१२४॥

(कैशिकी के अङ्ग : १—नर्म)

नर्म च नर्मस्फूर्जो नर्मस्फोटोऽथ नर्मगर्भश्च ।
चत्वार्यङ्गान्यस्या—

तत्र—

—वैदग्ध्यक्रीडितं नर्म ॥ १२५ ॥

इष्टजनावर्जनकृत्तच्चापि त्रिविधं मतम् ।
विहितं शुद्धहास्येन सशृङ्गारभयेन च ॥ १२६ ॥

तत्र केवलहास्येन विहित यथा रत्नावल्याम्—

अनुवाद—'कैशिकी' वह वृत्ति है जिसमें नानाविध मनोरम वेशभूषण की शोभा रहा करती है, जो रमणी-पात्र के बाहुल्य से विचित्र लगा करती है, जिसके लिये बहुविध नृत्य, गीत आदि की योजना आवश्यक है, जिसमें कामोपभोग अथवा रतिसुख से सबद्ध बहुविध व्यापारों का प्राधान्य रहा करता है और जो सुन्दर हाव-भावादि से समन्वित हुआ करती है।

विमर्श—'कैशिकी' पद की यह व्युत्पत्ति है—

'अतिशायिन केशा सन्त्यासामिति केशिका स्त्रिय 'स्तनकेशवतीत्वं हि स्त्रीणां लक्षणमि'ति तत्प्रधानत्वात् तासामिय कैशिकी ।'

और इस व्युत्पत्ति से ही यह सिद्ध है कि इस वृत्ति में स्त्रीबाहुल्य, नेपथ्यवैचित्र्य, कामव्यवहार तथा सगीतप्राचुर्य स्वभावत रहा करते हैं। इस वृत्ति का सम्बन्ध शृङ्गार रस से है और विलासमय हास-परिहास से भी। तात्पर्य यह है कि जहाँ कहीं भी लालित्य और माधुर्य हो वह सब कैशिकी का ही क्षेत्र है। 'सगीतरत्नाकर'कार शार्ङ्गदेव ने इसीलिये कहा है—

'वागङ्गाभरणानां या सौकुमार्येण निर्मिता ।
उल्लसद्गीतनृत्ताढ्या शृङ्गाररसनिर्भरा ॥
नि शङ्क' कैशिकीं ब्रूते तां सौन्दर्यैकजीविताम् ।'

अनुवाद—'कैशिकी' के ये चार भेद हैं—(१) नर्म, (२) नर्मस्फूर्ज, (३) नर्मस्फोट और (४) नर्मगर्भ।

इन चारों में 'नर्म' वह है जिसे प्रियजन का मनोरञ्जक, बहुविध क्रीडाविलास कहा गया है। इसमें भी तीन विशेषतायें देखी जाती है—१ ली, केवल हास-परिहासमय लीला, २ री, शृङ्गारगर्भ हास्यलीला और ३ री, भयमिश्रित हासलीला।

पहली विशेषता से विशिष्ट अर्थात् शुद्ध हास्यपूर्वक क्रीडाविलास का उदाहरण 'रत्नावली' का यह प्रसङ्ग है—

'वासवदत्ता—(फलकमुद्दिश्य सहासम्) एसा वि अवरा तव समीवे जधालिहिदा एदं किं अज्जवसन्तअस्स विण्णाणम्' [एषाऽप्यपरा तव समीपे यथा लिखिता एतत् किमार्यवसन्तकस्य विज्ञानम्।]

सशृङ्गारहास्येन यथा शाकुन्तले राजानं प्रति—

'शकुन्तला—असंतुट्ठो उण किं करिस्सदि [असन्तुष्टः पुनः किं करिष्यति]।

राजा—इदम्। (इति व्यवसितः शकुन्तलावक्त्रं ढौकते)'

सभयहास्येन यथा रत्नावल्याम्, आलेख्यदर्शनावसरे।

'सुसंगता—जाणिदो मए एसो वुत्तन्तो समं चित्तफलएण। ता देवीए गदुअ णिवेदइस्सम्' [ज्ञातो मया एष वृत्तान्तः, समं चित्रफलकेन। तद्देव्यै गत्वा निवेदयिष्यामि।]

एतद्वाक्यसम्बन्धि नर्मोदाहृतम्। एवं वेषचेष्टासम्बन्ध्यपि।

(२—नर्मस्फूर्ज)

नर्मस्फूर्जः सुखारम्भो भयान्तो नवसंगमः।

यथा मालविकया सङ्केतनायकमभिसृतायाम्

'वासवदत्ता—(चित्रफलक देखकर हँसी के साथ) यह जो तुम्हारे पास दूसरी चित्रित की गयी है क्या यह भी आर्य वसन्तक की चित्रकारी है?'

दूसरी विशेषता वाले अर्थात् शृङ्गारगर्भ क्रीडाविलास का उदाहरण 'अभिज्ञानशाकुन्तल' का यह प्रसङ्ग रहा—

'शकुन्तला (दुष्यन्त से)—

यदि यह मधुकर असन्तुष्ट रहा तो क्या कर लेगा?

राजा—यह कर लेगा। (कहकर चुम्बन से शकुन्तला का मुँह ढक देता है)।

तीसरी विशेषता वाले अर्थात् भयसम्मिश्र क्रीडाविलास का उदाहरण 'रत्नावली' का यह प्रसङ्ग है—

'सुसंगता—(चित्र देख लेने पर) मुझे यह सब और यह चित्र सब कुछ पता चल गया है। अब मैं महारानी को जाकर बताती हूँ।'

ये उपर्युक्त उदाहरण तो वाक्यसम्बद्ध नर्म के उदाहरण रहे। इसी भाँति वेषसम्बद्ध अथवा चेष्टासम्बद्ध 'नर्म' के भी निदर्शन दिये जा सकते हैं।

विमर्श—भरतमुनि ने 'नर्म' का यह लक्षण किया है—

'आस्थापितशृङ्गारं विशुद्धकरणं निवृत्तवीररसम्।
हास्यप्रवचनबहुलं नर्म त्रिविधं विजानीयात्॥
ईर्ष्याक्रोधप्रायं सोपालम्भकरणानुविद्धं च।
आत्मोपक्षेपकृतं सविप्रलम्भं स्मृतं नर्म॥ (नाट्यशास्त्र २१ ४७ ८)

अनुवाद—'नर्मस्फूर्ज वह कैशिकी भेद है जिसे प्रेमी-प्रेमिका का ऐसा नव-संगम कहा गया है जो कि आरम्भ में आनन्ददायक और अन्त में (प्रतिकूलविकार के कारण) भय का जनक हुआ करता है।

इसके निदर्शन-रूप में 'मालविकाग्निमित्र' का यह प्रसङ्ग देखा जा सकता है—

'नायकः—

विसृज सुन्दरि ! सङ्गमसाध्वसं ननु चिरात्प्रभृति प्रणयोन्मुखे ।
परिगृहाण गते सहकारतां त्वमतिमुक्तलताचरित मयि ॥

मालविका—भट्टा, देवीए भएण अप्पणो वि पिअं कउं ण पारेमि' (भर्त्तः ! देव्या भयेन आत्मनोऽपि प्रियं कर्त्तुं न पारयामि) इत्यादि ।

(३—नर्मस्फोट)

अथ नर्मस्फोटः—

नर्मस्फोटो भावलेशैः सूचिताल्परसो मतः ॥ १२७ ॥

यथा मालतीमाधवे—

'गमनमलसं शून्या दृष्टि' शरीरमसौष्ठवं
श्वसितमधिक किन्त्वेतत् स्यात् किमन्यदितोऽथवा ।
भ्रमति भुवने कन्दर्पाज्ञा विकारि च यौवनं
ललितमधुरास्ते ते भावाः क्षिपन्ति च धीरताम् ॥'

'नायक (सकेतस्थान पर अभिसारिणी मालविका से मिलने पर)—
प्रिये ! इस प्रेम-मिलन में तुझे भय क्यों हो ? मैं तो पता नहीं कब से तेरे प्रेम का पुजारी हो गया हूँ । तुझे तो, जैसे माधवी लता सहकार-पादप से मिले, वैसे ही मुझसे मिल जाना चाहिये ।

मालविका—प्रियतम ! मैं क्या करूँ ! महारानी का डर मुझे ऐसा लगा है कि मैं अपनी यह कामना भी पूरी नहीं कर सकती ।'

विमर्श—कैशिकी का यह द्वितीय भेद नाट्यशास्त्र में 'नर्मस्फुञ्ज' नाम से कहा गया है । 'नर्मस्फुञ्ज' की परिभाषा यह है—

'नवसङ्गमसभोगो रतिसमुदयवेषवाक्यसंयुक्तः ।
ज्ञेयो नर्मस्फुञ्जो ह्यवसानभयात्मकश्चैव ॥' (नाट्यशास्त्र . २०.५९)

अभिनवभारतीकार की यह 'नर्मस्फुञ्ज' व्युत्पत्ति—

'नर्मणः स्फुञ्जो विघ्न इति'

भी इस कैशिकीविशेष का नाम 'नर्मस्फुञ्ज' ही प्रमाणित करती है ।

दशरूपककार के अनुसार इसका नाम 'नर्मस्फिञ्ज' है—

'नर्मस्फिञ्जो सुखारम्भो भयान्तो नवसगमे ।' (दशरूपक २ ५१)

अनुवाद—'नर्मस्फोट' वह कैशिकी-भेद है जिसे (भय, हास, हर्ष, त्रास, रोष आदि) विविध भावलेशों से किंचिन्मात्र अभिव्यक्त प्रेमी-प्रेमिका के रतिभाव का वैचित्र्य कहा गया है ।

इसका उदाहरण 'मालतीमाधव' का यह प्रसङ्ग है—

'मकरन्द—माधव को यह सब क्या हो रहा है-चाल में आलस, दृष्टि की शून्यता, शरीर की ग्लानि, श्वास का बाहुल्य, पता नहीं क्या रोग है ! यह सब रोग नहीं, बस मालती के प्रेम का प्रभाव है । ससार में काम का शासन अक्षुण्ण है, यौवन में चित्त को कौन सभाल सकता है और सौन्दर्य और माधुर्य तो सदा हृदय को उद्वेलित करने के लिये ही उत्पन्न हुये है ।'

अत्रसंगमनादिभिर्माधवक्लेशैर्माधवस्य मालत्यामनुराग स्तोक प्रकाशित ।

(४—नर्मगर्भ)

नर्मगर्भो व्यवहृतिर्नेतु प्रच्छन्नवर्तिन ।

यथा—

तत्रैव सखीरूपधारिणा माधवेन मालत्या मरणव्यवसायवारणम् ।

(२—सात्त्वती वृत्ति : अङ्गचतुष्टय : स्वरूपनिरूपण)

अथ सात्त्वती—

सात्त्वती बहुला सत्त्व-शौर्यत्यागदयार्जवैः ॥ १२८ ॥
सहर्षा क्षुद्रशृङ्गारा विशोका साद्भुता तथा ।
उत्थापकोऽथ सांघात्यः संलापः परिवर्तकः ॥ १२९ ॥
विशेषा इति चत्वारः सात्त्वत्याः परिकीर्तिताः ।
उत्तेजनकरी शत्रोर्वागुत्थापक उच्यते ॥ १३० ॥

यहाँ यह स्पष्ट है कि वाक्य में आकस आदि माधवक्लेशों से मालती के प्रति माधव के प्रेम का कुछ-कुछ प्रकाशन अवश्य हो रहा है।

विमर्श—यहाँ साहित्यदर्पणकार ने दशरूपक का ही सर्वथा अनुसरण किया है। नाट्याचार्य भरतमुनि का यह नर्मस्फोट-लक्षण ही सभी नाट्यशास्त्रकारों की नर्मस्फोट-परिभाषा का आधार है—

'विविधानां भावानां लवैर्लवैर्भूषितो बहुविशेषः ।
असमग्राक्षिप्तरसो नर्मस्फोटस्तु विज्ञेयः ॥ (नाट्यशास्त्र : २ १)

अनुवाद— 'नर्मगर्भ' कैशिकी का वह भेद है जिसे छद्मवेषधारी प्रेमी का, प्रेमिका के साथ प्रेमव्यवहार कहा गया है।

इसका उदाहरण 'मालतीमाधव' का वह प्रसङ्ग है जहाँ माधव मालती की सखी के वेष में मालती को उसके मरण-निश्चय से डिगाने की सफल चेष्टा करता है।

विमर्श—नाट्यशास्त्र में 'नर्मगर्भ' की यह परिभाषा है—

'विज्ञानरूपशोभाधनादिभिर्नायको गुणैर्यत्र ।
प्रच्छन्नं व्यवहरते कार्यवशान्नर्मगर्भोऽसौ ॥ (नाट्यशास्त्र १ ११)

अभिनवभारतीकार की यह 'नर्मगर्भ' व्युत्पत्ति भी इसका अभिप्राय स्पष्ट कर देती है—

'नर्मोपयोगिनः विज्ञानाद्या गर्भीकृता इव प्रच्छन्नतया वर्तन्ते यथा मकरन्दकरूपो माधवः संकेतस्थानं गच्छति।'

अनुवाद—सात्त्वती वृत्ति—

'सात्त्वती' वह वृत्ति है जिसमें सत्त्व शौर्य त्याग दया और आर्जव आदि का प्रकाश हुआ करता है। इसमें प्रसन्नता की प्राप्ति स्वाभाविक है। इसमें शृङ्गार का भी पुट रहा करता है। करुण का इसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं। इसमें अद्भुत रस के प्रकाशन का अद्भुत सामर्थ्य है। इसके ये चार अंगविशेष हैं—(१) उत्थापक, (२) सांघात्य (३) संलाप और (४) परिवर्तक। इन चारों अंगों में (१) 'उत्थापक' का अभिप्राय परपक्ष को उत्तेजित करनेवाली वाणी का अभिप्राय है।

यथा महावीरचरिते—

'आनन्दाय च विस्मयाय च मया दृष्टोऽसि दुःखाय वा
वैतृष्ण्यन्तु ममापि सम्प्रति कुतस्त्वद्दर्शने चक्षुषः।
त्वत्साङ्गत्यसुखस्य नाऽस्मि विषयस्तत् किं वृथा व्याहृतैः ?
अस्मिन् विश्रुतजामदग्न्यदमने पाणौ धनुर्जृम्भताम् ॥'

मन्त्रार्थदैवशक्त्यादेः सांघात्यः सङ्घभेदनम् ।

मन्त्रशक्त्या यथा—मुद्राराक्षसे राक्षससहायानां चाणक्येन स्वबुद्ध्या भेदनम् । अर्थशक्त्यापि तत्रैव ।

दैवशक्त्या यथा—रामायणे रावणाद्विभीषणस्य भेदः ।

संलापः स्याद्गभीरोक्तिर्नानाभावसमाश्रयः ॥ १३१ ॥

यथा वीरचरिते—

'रामः—अयं स, यः किल सपरिवारकार्त्तिकेयविजयावर्जितेन भगवता नीललोहितेन परिवत्सरसहस्रान्तेवासिने तुभ्यं प्रसादीकृतः परशुः ।

परशुरामः—राम दाशरथे ! स एवायमार्यपादानां प्रियः परशुः ।' इत्यादि ।

जैसे कि 'महावीरचरित' की इस उक्ति अर्थात्—

'तुम मेरी आँखों के सामने आये–मुझे आनन्द देने के लिये, आश्चर्यचकित करने के लिये और दुःख भी देने के लिये ! तुम्हें देखते भला मेरी आँखों में तृप्ति कहाँ ? मैं तुम्हारा शत्रु ठहरा, मेरा और तुम्हारा सग-साथ कहाँ और सग-साथ का आनन्द भी कहाँ ! व्यर्थ अब मैं कुछ नहीं कहता, बस अपने हाथ में धनुष पकड़ो, मैं भी देखूँ कि महावीर परशुराम के विजेता के हाथ में कितना दम है ।'

में, जो नाट्यात्मक वैशिष्ट्य है वह सात्वती वृत्ति के 'उत्थापक' रूप अंश का ही वैशिष्ट्य है ।

(२) अर्थात् 'साघात्य' का अभिप्राय मन्त्रशक्ति, अर्थशक्ति, दैवशक्ति आदि-आदि शक्तियों द्वारा सघ-भेदन का अभिप्राय है । जैसे कि (महाकवि विशाखदत्त रचित) 'मुद्राराक्षस' में, चाणक्य की राजनीति के दाँवपेंच से, राक्षस के सहायकों में फूट पैदा करने का वर्णन, 'मन्त्रशक्तिकृत' साघात्य की ही योजना है । अर्थशक्तिकृत 'साघात्य' भी मुद्राराक्षस में ही यत्र-तत्र स्पष्ट है । दैवशक्तिकृत 'साघात्य' का उदाहरण रामायण-कथाश्रित नाटकों में रावण और विभीषण के पारस्परिक भेद का प्रकाशन है ।

(३) अर्थात् 'सलाप' ऐसी गभीर उक्ति को कहते हैं जिसमें विविध भावों के प्रकाशन का सामर्थ्य रहा करता है । जैसे कि 'महावीरचरित' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'राम—ओह ! क्या यही वह परशु है जिसे कुमार कार्तिकेय और उनके सहायकों पर आपकी विजय से प्रसन्नहृदय भगवान् शङ्कर ने, सहस्रों वर्षों तक धनुर्वेद का अभ्यास करनेवाले आप जैसे अपने शिष्य को, पुरस्कार रूप में दिया है ?

परशुराम—राम ! तुमने ठीक कहा, हमारे पूज्य आचार्य शङ्कर का यही वह प्रिय परशु है ।'

इत्यादि में, जो वृत्ति है वह 'सलाप'रूप सात्वती वृत्ति ही है ।

प्रारब्धादन्यकार्याणां करणं परिवर्तकः ।

यथा वेण्याम्—

'भीमः—सहदेव ! गच्छ त्वं गुरुमनुवर्तस्व । अहमप्यस्त्रागारं प्रविश्यायुधसहायो भवामीति यावत् । अथवा आमन्त्रयितव्यैव मया पाञ्चाली ।' इति ।

और (४) अर्थात् 'परिवर्तक' वह सात्वती प्रकार है जिसे प्रस्तुत कार्य से भिन्न प्रकार के कार्यों में तत्परता का प्रकाशन कहा करते हैं। जैसे कि 'वेणीसंहार' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'भीम—सहदेव ! जाओ तुम युधिष्ठिर का साथ दो। मैं भी तब तक अस्त्रागार में जाता हूँ और अस्त्र लेकर आता हूँ। और मुझे द्रौपदी से भी तो विदा लेनी है।

आदि में जो वृत्ति-योजना है वह सात्वती-वृत्ति के 'परिवर्तक'रूप प्रकार की ही योजना है।

विमर्श—(क) सात्वती वृत्ति का सर्वप्रथम अभिप्राय अनुकार्य पुरुषों के विविध मानसिक व्यापार का अभिप्राय है। साथ ही साथ आङ्गिक, वाचिक और सात्त्विक अभिनय से युक्त अनुकर्तृजन (नट) के भी मानसव्यापारप्रकाशन का नाम 'सात्वती वृत्ति' ही है। नाटकीय चरितों के मानसिक व्यापार भिन्न-भिन्न प्रकारों से प्रकाशित हुआ करते हैं। कहीं विविध गम्भीर उक्ति-प्रत्युक्ति (संलाप) द्वारा कहीं एक कार्य में करते हुये कार्यान्तर के प्रति तत्परता (परिवर्तक) द्वारा कहीं परपक्ष में उत्तेजना की उत्पत्ति (उत्थापक) के द्वारा और कहीं नीति के दाँवपेंच से परपक्ष-भेदन (संघात्य) के द्वारा अनुकार्य चरितों का जो भी व्यक्तित्व-प्रकाशन है वह सब एक शब्द में 'सात्वती वृत्ति' कहा जाता है (इदं च मानसं कर्म विविधाभिर्गम्भीराभिरुक्तिभिः, प्रारब्धकार्यपरित्यागस्य कार्यान्तरपरिग्रहेण संग्रामाय परोत्साहनेन सामप्रभृत्युपायैः चारित्रसङ्घातभेदनमनेनान्यैश्च बहुभिः प्रकारैर्व्यज्यत इति—नाट्यदर्पण ३४ विवेक)। वस्तुतः तो 'सात्वती वृत्ति' के प्रकार-परिगणन की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि मानसिक कर्मोपक्रम की गणना असंभव है, किन्तु नाटकों में निबद्ध चरितों के मानसव्यापार का विश्लेषण करते हुए कतिपय नाट्याचार्यों ने कतिपय मानस-व्यापारों को सात्वती के भेद-प्रभेद के रूप में मान लिया है। साहित्यदर्पणकार भी इन्हीं नाट्याचार्यों के अनुयायी हैं।

(ख) नाट्याचार्य भरतमुनि ने सात्वती वृत्ति का यह स्वरूप-निरूपण किया है—

'या सात्त्वतेनेह गुणेन युक्ता न्यायेन वृत्तेन समन्विता च ।
हर्षोत्कटा संहृतशोकभावा सा सात्त्वती नाम भवेत्तु वृत्तिः ॥
वागङ्गाभिनयवती सत्त्वोत्थानवचनप्रकरणेषु ।
सत्त्वाधिकारयुक्ता विज्ञेया सात्त्वती वृत्तिः ॥
वीराद्भुतरौद्ररसा निरस्तशृङ्गारकरुणनिर्वेदा ।
उद्धतपुरुषप्राया परस्पराधर्षणकृता च ॥'
'उत्थापकश्च परिवर्तकश्च संलापकश्च संघात्यः ।
चत्वारोऽस्या भेदा विज्ञेया नाट्यतत्त्वज्ञैः ॥
अहमप्युत्थास्यामि त्वं तावद्दर्शयात्मनः शक्तिम् ।
इति संघर्षसमुत्थस्तज्ज्ञैरुत्थापको ज्ञेयः ॥
उत्थानसमारब्धानर्थानुत्सृज्य योऽर्थयोगवशात् ।
अन्यानर्थान् कुरुते स चापि परिवर्तको ज्ञेयः ॥
साधर्षजो निराधर्षजोऽपि वा रागवचनसंयुक्तः ।

साधिक्षेपालापो ज्ञेयः सँल्लापकः सोऽपि॥
मन्त्रार्थवाक्यशक्त्या दैववशादात्मदोषयोगाद्वा।
सघातभेदजननस्तज्ज्ञैः सघात्यको ज्ञेयः॥'
(नाट्यशास्त्र २०. ४१-५०)

जिससे यह पता चलता है कि 'सात्त्वती वृत्ति' का सम्बन्ध सात्त्विकाभिनय से है और इसमें वीर, रौद्र और अद्भुत रसों के अभिव्यञ्जन की शक्ति निहित है। धर्मयुद्ध के प्रेमी वीर पुरुषों का मनोव्यापार यदि 'सात्त्वती' की कल्पना का मूल है तो कूटयुद्ध के धर्नी योद्धा लोगों का मानस-व्यापार 'आरभटी' की कल्पना का मूल है। 'धीरोदात्त' नायक के मानसिक व्यापार का विश्लेषण यदि 'सात्त्वती' के रूप में किया जा सकता है तो 'धीरोद्धत' नायक का मनोव्यापार-विश्लेषण 'आरभटी' के रूप में।

'सात्त्वती' का सम्बन्ध शृंगार, करुण और निर्वेद से नहीं है क्योंकि वैसे तो रति, शोक और निर्वेद से आविष्ट लोगों में भी मनोव्यापार अवश्य हुआ करता है किन्तु इन भावों के आवेश में मन का व्यापार उतना उन्मुक्त और स्फूर्तिशील नहीं हुआ करता जितना कि उत्साह, क्रोध और विस्मय के भावों के आवेश में। 'शृङ्गार' में मन भोगविषयों में निमग्न रहा करता है, 'करुण' में मन भोग विषयों से दूर भागना चाहता है और निर्वेद में मन किंकर्त्तव्य-विमूढ पड़ा रहता है। उत्साहशील, क्रुद्ध किंवा विस्मयस्तिमित व्यक्ति के मन की स्फूर्ति कुछ विचित्र ही हुआ करती है। जहाँ कहीं कवि अथवा नाटककार अपनी काव्य अथवा नाट्यकृतियों में उत्साहाविष्ट, क्रोधाक्षिप्त किंवा विस्मयाविद्ध चरित का चित्रण करता है वहाँ 'सात्त्वती वृत्ति' की ही रूपरेखा निर्मित होती है।

सात्त्वती वृत्ति के प्रथम प्रकार का 'उत्थापक' नाम सर्वथा सार्थक है क्योंकि उत्साह, क्रोध अथवा विस्मय के भावों का प्रथम परिस्पन्द मन को अधिक से अधिक ऊपर उठाता है। दबे मन का उत्साह क्या और क्रोध क्या और विस्मय भी क्या? 'वेणीसंहार' में भीम के मनोव्यापार की जो रूपरेखा इस सूक्ति अर्थात्—

'स्पृष्टा येन शिरोरुहेषु पशुना पाञ्चालराजात्मजा
येनास्याः परिधानमप्यपहृतं राज्ञां कुरूणां पुरः।
यस्योरःस्थलशोणितासवमहं पातुं प्रतिज्ञातवान्
सोऽयं मद्भुजपञ्जरे निपतितः संरक्ष्यतां कौरवाः॥'

में खिंची है उसमें सात्त्वती के 'उत्थापक' प्रकार का ही चित्र झलक रहा है।

क्रोध के आवेश में उठा मन जिधर चाहे उधर चल पड़ता है, एक कार्य को छोड़कर दूसरे कार्य में समर्थ हो सकता है। उत्साह और विस्मय से आविष्ट मन की भी यही बात है। इस परिस्थिति में मन के व्यापार को 'परिवर्तक' कहना उचित ही है।

मन की यह उठान और पटक परस्पर अधिक्षेपपूर्ण वचनों में और भी अधिक प्रकाशित होती है और यही 'सँल्लापक' की रूपरेखा है। केवल अधिक्षेपपूर्ण वचन से ही 'सत्त्व' का पूर्ण प्रकाश नहीं हो जाता। उत्साह और क्रोध के आवेश में पक्ष और प्रतिपक्ष एक दूसरे को दबाने के लिये तरह-तरह की चालें सोचने और चलने में लग जाते हैं। यहाँ मन का व्यापार बड़ा व्यापक और स्फूर्तिमय हो उठता है। इसके नामकरण के लिये 'सघात्य' शब्द का प्रयोग किया जाया करता है जोकि सात्त्वती के एक प्रकारविशेष का नाम है।

(ग) भरतनाट्यशास्त्र और अभिनवभारती के इस 'सात्त्वती'विश्लेषण को बाद के नाट्याचार्यों ने, परम्परा-रक्षण के ही रूप में, अपने-अपने ढंग से अपने-अपने ग्रन्थों में उपनिबद्ध

(३—आरभटीवृत्तिः साङ्गोपाङ्गवर्णन)

अथारभटी—

> मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्भ्रान्त्यादिचेष्टितैः ॥ १३२ ॥
> संयुक्ता वधबन्धाद्यैरुद्धतारभटी मता ।
> वस्तूत्थापनसंफेटौ संक्षिप्तिरवपातनम् ॥ १३३ ॥
> इति भेदास्तु चत्वार आरभट्याः प्रकीर्तिताः ।
> मायाद्युत्थापितं वस्तु वस्तूत्थापनमुच्यते ॥ १३४ ॥

यथोदात्तराघवे—

'जीयन्ते जयिनोऽपि सान्द्रतिमिरव्रातैर्वियद्व्यापिभि
र्भास्वन्तः सकला रवेरपि कराः कस्मादकस्मादमी ।
एते चोग्रकबन्धकण्ठरुधिरैराध्मायमानोदरा
मुञ्चन्त्याननकन्दरानलमुचस्तीव्रान् रवान् फेरवाः ॥' इत्यादि ।

> सम्फेटस्तु समाघातः क्रुद्धसत्वरयोर्द्वयोः ।

यथा मालत्यां माधवाघोरघण्टयोः ।

किया है। 'उत्तापक' 'परिवर्तक' 'संलापक' और 'संघात्य' जो कि 'नियुद्ध' अथवा 'मल्लयुद्ध' में प्रतिस्पर्धी योद्धाओं के वाक्-वचन और मन के सम्मिलित व्यापारों के विविध नामरूप हैं नाट्यशास्त्र में 'सात्वती' वृत्ति के 'प्रकारचतुष्टय' की पारिभाषिकता में स्वीकार किये गये हैं। वाक् और वचन का सहयोग होने पर भी मन के व्यापारों का प्राधान्य 'सात्वती' की संज्ञा का कारण है।

अनुवाद—आरभटी वृत्ति—'आरभटी वह वृत्ति है जिसे माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, उद्भ्रान्ति आदि-आदि के व्यापारों में प्रवृत्त मन का कर्मकलाप कहा जाया करता है। शत्रु का वध अथवा बन्धन आदि इसी वृत्ति के बाह्य रूप हैं। इसका औद्धत्य के साथ अटूट सम्बन्ध है। इसके चार भेद हैं—(१) वस्तूत्थापन (२) संफेट, (३) संक्षिप्ति और (४) अवपातन। इन चारों भेदों में (१) अर्थात् 'वस्तूत्थापन' वह है जिसे माया आदि के द्वारा वस्तु का उत्थापन अथवा प्रकटन कहा जाया करता है।

उदाहरण के लिए, 'उदात्तराघव' की इस सूक्ति अर्थात्—

'आकाशमण्डल को आच्छन्न करनेवाले घनघोर सघनतम-समूह से अकस्मात् ऐसा लगता है जैसे भगवान् भास्कर के भी प्रचण्ड किरणसमूह पराजित होते जा रहे हैं और चारों ओर भयंकर रुण्ड-मुण्डों के रुधिर-पान से फूलते से प्रतीत होनेवाले, पेटों को फुलाए और कन्दरोपम मुखों से आग की सी लपटें निकालते शृगालों ने भीषण चीत्कार मचाना प्रारम्भ कर दिया है।'

में जिस मायोत्थापन का प्रकाशन है उसमें आरभटी के ही 'वस्तूत्थापन' रूप प्रथम प्रकार का दर्शन किया जा सकता है।

(२) अर्थात् 'संफेट' वह आरभटी-प्रकार है जिसे क्रुद्ध और त्वराशील दो और विपक्ष का परस्पर समाघात (प्रहार) कहा जाया करता है।

जैसे कि 'मालतीमाधव' में, माधव और 'अघोरघण्ट' का जो घात-प्रतिघात-वर्णन है उसमें 'संफेट' की ही रूपरेखा दिखायी देती है।

संक्षिप्ता वस्तुरचना शिल्पैरितरथापि वा ॥ १३५ ॥
संक्षिप्तिः स्यान्निवृत्तौ च नेतुर्नेत्रन्तरग्रहः ।

यथोदयनचरिते कलिञ्जहस्तिप्रयोग । द्वितीय यथा वालिनिवृत्त्या सुग्रीव.। यथा वा परशुरामस्यौद्धत्यनिवृत्त्या शान्तत्वापादनम्–'पुण्या ब्राह्मणजातिः–'इति।

प्रवेशत्रासनिष्क्रान्तिहर्षविद्रवसंभवम् ॥ १३६ ॥
अवपातनमित्युक्तं—

यथा कृत्यारावणे षष्ठेऽङ्के—'(प्रविश्य खड्गहस्तः पुरुषः)' इत्यत प्रभृति निष्क्रमणपर्यन्तम् ।

---

(३) अर्थात् 'संक्षिप्ति' वह आरभटी-भेद है जिसे कौशल द्वारा अथवा और किसी प्रकार से किसी वस्तुविशेष की संक्षिप्त रचना कहा गया है। साथ ही साथ एक नाटकीय चरित के स्थान पर दूसरे नाटकीय चरित (अथवा किसी नाटकीय चरित के किसी एक वैशिष्ट्य के स्थान पर उसके दूसरे वैशिष्ट्य) का परिवर्तन भी 'संक्षिप्ति' ही है।

उदाहरण के लिए, वत्सराज उदयनके चरित से सम्बद्ध रूपक-प्रबन्धों में 'कलिञ्ज-हस्तिप्रयोग' (लकड़ी के बने नकली हाथी से उदयन को वश में करने की घटना) वस्तुत 'कौशल द्वारा उत्थापित वस्तुविशेष' रूप संक्षिप्ति-प्रकार ही है। इसी भाँति, एक नाटकीय चरित के स्थान पर दूसरे नाटकीय चरित के परिवर्तन में जो 'संक्षिप्ति' सम्भव है उसका उदाहरण रामचरित से सम्बद्ध रूपक-प्रबन्धों (जैसे कि 'महावीरचरित') में मृत वालि के स्थान पर सुग्रीव की स्थापना में देखा जा सकता है। इसी प्रकार किसी नाटकीय चरित के एक वैशिष्ट्य के स्थान पर उसके दूसरे वैशिष्ट्य के परिवर्तन में जो संक्षिप्ति-रूप हो सकता है वह भी, राम-सम्बन्धी रूपक-प्रबन्धों (जैसे कि 'महावीर-चरित') में ही, परशुराम के उद्धत स्वभाव के बदले उनके शान्त-सौम्य स्वभाव के परिवर्तन में, जिसे 'पुण्या ब्राह्मणजाति ' आदि सूक्तिओं में स्पष्ट देखा जा सकता है, स्पष्ट प्रतीत हुआ करता है। और—

(४) अर्थात् 'अवपातन' वह आरभटी-प्रकार है जिसे इतस्तत यातायात, त्रास, हर्ष, विद्रव आदि-आदि का सम्मेलन कहा गया है।

जैसे कि 'कृत्यारावण' के षष्ठ अंक में 'एक खड्गधारी पुरुष के प्रवेश' (प्रविश्य खड्गहस्त पुरुष) से लेकर उस खड्गधारी पुरुष के निष्क्रमण (रंग-मञ्च से चले जाने) तक का जो प्रसग है उसमें 'अवपातन' का ही स्वरूप परिलक्षित होता है।

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि ने 'आरभटी' वृत्ति की यह परिभाषा की है—

'आरभटप्रायगुणा तथैव बहुकपटवञ्चनोपेता।
दम्भानृतवचनवती त्वारभटी नाम विज्ञेया॥
पुस्तावपातप्लुतलङ्घितानि
च्छेद्यानि मायाकृतमिन्द्रजालम्।
चित्राणि युद्धानि च यत्र नित्य
तां तादृशीमारभटीं वदन्ति॥

षाड्गुण्यसमारब्धा हठातिसम्पातविद्रवोपेता ।
लाभालाभार्थकृता विज्ञेया वृत्तिरारभटी ॥
संक्षिप्तिकावपातौ वस्तूत्थापनमथापि संफेटः ।
एते ह्यस्या भेदाः ॥
अन्वर्थशिल्पयुक्तो बहुपुस्तोत्थानचित्रनेपथ्यः ।
संक्षिप्तवस्तुविषयो ज्ञेयः संक्षिप्तका नाम ॥
भयहर्षसमुत्थानं विद्रवविनिपातसम्भ्रमाचरणम् ।
क्षिप्रप्रवेशनिर्गममवपातमिमं विजानीयात् ॥
सर्वरससमासकृतं सविद्रवाविद्रवाश्रयं वापि ।
नाट्ये विभाव्यते यत्तद्वस्तूत्थापनं ज्ञेयम् ॥
संरम्भसम्प्रयुक्तो बहुयुद्धनियुद्धकपटनिर्भेदः ।
शस्त्रप्रहारबहुलः संफेटो नाम विज्ञेयः ॥

(नाट्यशास्त्र २२।६४-७१)

जिसका अभिप्राय यह है—'आरभटी' वृत्ति वस्तुतः क्रोधावेग आदि से संभूत कायिक, वाचिक और मानसिक व्यापार-विशेष का नाम है। 'आरभट' ऐसे योद्धा को कहा करते हैं जो कि 'आर' अथवा 'प्रतोद' (हाथी के चलाने के अङ्कुश) के समान हिंसन-समर्थ हो। जहाँ भी रूपक-प्रबन्धों में ऐसे 'आरभट' हों वहाँ 'आरभटी' वृत्ति विराजमान रहा करती है। 'आरभट' (योद्धा) और अङ्कुश, दम्भ, माया आदि-आदि के भिन्न-भिन्न प्रकारों का सम्बन्ध समान है। इसलिये 'आरभटी' में अङ्कुश, दम्भ, माया आदि-आदि की अनेकानेक विचित्रताओं का समावेश रहा करता है। 'आरभटी' वृत्ति के साथ आङ्गिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य—इन चारों अभिनयों का सम्बन्ध है। यह वृत्ति रौद्र रसभावों से समन्वित वृत्ति है—'भयानके च बीभत्से रौद्रे चारभटी भवेत्'। (नाट्यशास्त्र)

यद्यपि चारों वृत्तियाँ परस्पर संकीर्ण वृत्तियाँ हैं क्योंकि कायिक, वाचिक और मानस व्यापारों का असंकीर्ण विभाग असम्भव है किन्तु तब भी किसी व्यापार के किञ्चिन्मात्र प्राधान्य के कारण, आरभटी भारती आदि विभाग किये जा सकते हैं। नाट्याचार्य भरतमुनि ने इसीलिए कहा है—

'न ह्येकरसजं काव्यं किञ्चिदस्ति प्रयोगतः ।
भावो वापि रसो वापि प्रवृत्तिर्वृत्तिरेव वा ॥
सर्वेषां समवेतानां रूपं यस्य भवेद्बहु ।
स मन्तव्यो रसः स्थायी शेषाः सञ्चारिणो मताः ॥

(नाट्यशास्त्र । २२,१७-१८)

और इसीलिये आचार्य अभिनवगुप्त का भी कहना है—

'चतस्र इति चतुर्भेदत्वम् अन्यतमपेक्षासमावाप्त्यविवक्षया। अपरथा अनेकव्यापार-समवस्थितमेव वृत्तिलक्षणम्, न नाम प्रबन्धेषु व्यापारान्तरासंवलिता कोऽप्येकाकी-कायिको वाचिको मानसो वा व्यापारो दृश्यते।

किन्तु बाद के नाट्याचार्यों में वृत्ति-तत्त्व के इस विमर्श के बदले 'वृत्तिचतुष्टय' की परम्परा का ही प्रचलन दिखाई देता है। साहित्यदर्पणकार ने भी 'वृत्तयो नाट्यमातरः' की मान्यता का ही ध्यान रखा है और इसी दृष्टि से 'आरभटी' और उसके प्रकारों का लक्षण-निरूपण आदि किया है।

(४—भारती वृत्ति)

—पूर्वमुक्तैव भारती ।

(नाट्योक्ति-निर्देश)

अथ नाट्योक्तयः—

अश्राव्यं खलु यद्वस्तु तदिह स्वगतं मतम् ॥ १३७ ॥
सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यात्तद्भवेदपवारितम् ।
रहस्यं तु यदन्यस्य परावृत्य प्रकाश्यते ॥ १३८ ॥
त्रिपताककरेणान्यानपवार्यान्तरा कथाम् ।
अन्योन्यामन्त्रणं यत्स्यात्तज्जनान्ते जनान्तिकम् ॥ १३९ ॥
किं ब्रवीषीति यन्नाट्ये विना पात्रं प्रयुज्यते ।
श्रुत्वेवानुक्तमप्यर्थं तत्स्यादाकाशभाषितम् ॥ १४० ॥

यः कश्चिदर्थो यस्माद्गोपनीयस्तस्यान्तरत ऊर्ध्वं सर्वाङ्गुलिनाभितानामिकं त्रिपताकलक्षणं कर कृत्वान्येन सह यन्मन्त्र्यते तज्जनान्तिकम्। परावृत्यान्यस्य रहस्यकथनमपवारितम् । शेष स्पष्टम् ।

अनुवाद—'वृत्तिचतुष्टय' में भारती वृत्ति का जो स्वरूप है उसका निरूपण पहले ही (अर्थात् स्थापना-निरूपण के प्रसङ्ग में) कर दिया गया है ।

विमर्श—भारती वृत्ति और वाचिकाभिनय का अटूट सवन्ध है । यह वृत्ति समस्त रूपक-भेदों और समस्त रस-भेदों की वृत्ति है । आचार्य रामचन्द्र ने स्पष्ट कहा है—

'सर्वरूपकभावित्वात्, रसानां च वागजन्यत्वात् सर्वरसात्मकत्वम् 'भारतीरूपत्वात् व्यापारस्य भारतीति ।' (नाट्यदर्पण ३ य विवेक)

अनुवाद—नाट्योक्ति-निरूपण —

'स्वगत' का अभिप्राय ऐसे वचन से है जो किसी दूसरे को सुनाने के लिये न हो। (इसी को 'आत्मगत' भी कहा करते हैं)। 'प्रकाश' सभी के श्रवण-योग्य वचन का नाम है। 'अपवारित' उस वचन को कहते हैं जिसे किसी के प्रति गोपनीय समझकर, उससे अन्यत्र हटकर, दूसरे पर प्रकाशित किया जाया करता है । 'जनान्तिक' कई एक पात्रों के परस्पर वार्तालाप के प्रसङ्ग में, दो पात्रों के बीच होनेवाली वह वातचीत है जिसे वे 'त्रिपताक' नामक हस्त-मुद्रा द्वारा इसलिये किया करते हैं जिसमें और कोई उसे सुनने उनके पास न आना चाहे । 'आकाशभाषित' वह वातचीत है जो विना किसी और पात्र की उपस्थिति के, 'क्यों भाई क्या कहा ?' आदि कह-सुनकर, एक ही पात्र द्वारा, कही-सुनी जाया करती है । यहाँ 'जनान्तिक' का अभिप्राय यह है—

जव कोई पात्र किसी पात्र के प्रति कोई वात गोपनीय रखना चाहता है तव वह ऐसी हस्त-मुद्रा बनाया करता है जिसमें और सव अगुलियाँ तो ऊपर उठी रहें और अनामिका झुकी रहे । यह हस्त-मुद्रा 'त्रिपताक'-कर कही जाती है। इस प्रकार 'त्रिपताक' दिखा कर, एक को सुनने से मना करके, दूसरे को सुनायी गयी वात 'जनान्तिक' है। 'अपवारित' भी एक प्रकार की गोपनीय वातचीत ही है जिसे दो पात्र आपस में किया करते हैं

(नाटकपात्रों का नाम-निर्देश)

दत्तां सिद्धां च सेनां च वेश्यानां नाम दर्शयेत् ।
दत्तप्रायाणि वणिजां चेटचेट्योस्तथा पुनः ॥ १४१ ॥
वसन्तादिषु वर्ण्यस्य वस्तुनो नाम यद्भवेत् ।

वेश्या यथा वसन्तसेनादि । वणिग्विष्णुदत्तादि । चेटः कलहंसादि । चेटी मन्दारिकादि ।

और उस पात्र की ओर पीठ फेरकर किया करते हैं जिसे वे सुनाना नहीं चाहते। 'जनान्तिक' और 'अपवारित' के अतिरिक्त 'स्वगत' आदि नाट्योक्तियाँ तो स्वयं स्पष्ट हैं।

विमर्श—नाट्यशास्त्र में नाटकीय वृत्त के चार मुख्य प्रकारों का निर्देश है। ये चार मुख्य प्रकार—'सूच्य' 'प्रयोज्य' 'अभ्यूह्य' और 'उपेक्ष्य' कहे जाते हैं। 'सूच्य' तो वह वृत्त है जो नीरस हुआ करता है किन्तु नाटकीय इतिवृत्त के लिये उपयोगी भी रहा करता है। इसी के लिये 'विष्कम्भक' आदि की योजना अपेक्षित होती है। 'प्रयोज्य' वह वृत्त है जो सरस हुआ करता है और अभिनय-चतुष्टय द्वारा सामाजिकों के साक्षात्कार के लिये समर्पित किया जाया करता है। इन दोनों वृत्तों के साथ सम्बद्ध गमनागमनादिरूप वृत्त 'अभ्यूह्य' प्रकार का वृत्त है। 'उपेक्ष्य' वृत्त का अभिप्राय भोजन-स्नान-शयनादि से सम्बद्ध वृत्त है जो मर्यादोपयोगी किन्तु रसविरोधी होने के कारण रूपक-प्रबन्धों में यत्र-तत्र उपनिबद्ध किया जाया करता है। इन चार मुख्य वृत्त-प्रकारों के अतिरिक्त 'प्रकाश' 'स्वगत' 'अपवारित' 'जनान्तिक' और 'आकाशभाषित' भी रूपकप्रबन्धों के वृत्त-भेद ही हैं। 'प्रकाश' वह वृत्त-प्रकार है जो सर्वश्राव्य हुआ करता है। (यद्वृत्तमगोप्यतयाऽन्येषामपि श्राव्यं तत् प्रकाशत इति प्रकाशम्)। 'स्वगत' वह वृत्तभेद है जो अन्यों के लिये गोपनीय माना जाया करता है। (यत् पुनरन्यस्मै गोप्यतया स्वहृदयेव स्थितं तत् स्वगतम्)। 'अपवारित' वह वृत्त-प्रकार है जिसे एक किसी के लिये गोपनीय रखकर वर्णित किया जाया करता है (परावृत्य अन्यतरमेनाप्रकाशितव्येभ्यः पराङ्मुखीभूयाऽन्यस्मै यद् रहस्यकथा या तदपवार्यत यद्गूढं प्रकाश्यत इत्यपवारितम्)। 'जनान्तिक' भी एक वृत्तभेद ही है (त्रिपताकाऽन्तरोऽन्यम् अपरान् जनान् वक्तुमनान्तिकम् ऊर्ध्वसर्वाङ्गुलिर्वक्रानामिका करत्रिपताका साऽन्तरमयमन्यं प्रति व्यवधाय यत्र, अन्येन सह यदसौ मन्त्रयते तत्स्यैव गोप्यत्वात् जनान्तिकं व्यपदेशया मिथः जनान्तिकम्)। इसी भाँति 'आकाशभाषित' भी एक पात्र का ही प्रश्न-प्रतिवचनरूप वृत्त है (कश्चित् स्वोच्चरितमनुभाष्यमाणमिव परकीयं प्रश्नं, क्वचित् स्वयमुत्तरमस्यानुभाष्यमाणमिव परकीयमुत्तरम्)।

अनुवाद—रूपक-प्रबन्धों में नायिका या उपनायिका रूप में उपनिबद्ध गणिका का नाम ऐसा रखना चाहिए जिसके अन्त में 'दत्ता' 'सिद्धा' या 'सेना' पद अवश्य आवे। इसी प्रकार वणिग्जन के नामकरण के लिए ऐसे पद चुनने चाहियें जिनके अन्त में 'दत्त' पद अवश्य आवे। 'चेट' और 'चेटी' के नाम ऐसे रखे जाँय जो कि वसन्त आदि ऋतुओं में वर्णनीय वस्तुओं के वाचक पद हों।

जैसे कि, 'वेश्या' का नाम 'वसन्तसेना' आदि वणिग्जन का नाम 'विष्णुदत्त' आदि चेट का नाम 'कलहंस' आदि और 'चेटी' का नाम 'मन्दारिका' आदि।

विमर्श—नाटकीय पात्रों के नाम निर्देश में वास्तविक जीवन के नाम-निर्देश की छाया झलकती है। जैसे वास्तविक जीवन में दीर्घकाय पुरुष का नाम 'भीम' या 'भीमसेन' रखा जाता

(नाटक का नामकरण)

नाम कार्यं नाटकस्य गर्भितार्थप्रकाशकम् ॥ १४२ ॥

यथा रामाभ्युदयादिः।

('प्रकरण' का नाम-निरूपण)

नायिकानायकाख्यानात्संज्ञा प्रकरणादिषु ।

यथा मालतीमाधवादिः।

('नाटिकादि' का नामकरण)

नाटिकासट्टकादीनां नायिकाभिर्विशेषणम् ॥ १४३ ॥

यथा रत्नावली कर्पूरमञ्जर्यादिः।

(नाटक के कतिपय प्रयोग-विशेष : निर्देश)

प्रायेण ण्यन्तकः साधिर्गमेः स्थाने प्रयुज्यते ।

यथा शाकुन्तले–ऋषी, 'गच्छाव' इत्यर्थे 'साधयावस्तावत्'।

(नाटक के पात्रों के सबोधन-प्रकार)

राजा स्वामीति देवेति भृत्यैर्भट्टेति चाधमैः ॥ १४४ ॥
राजर्षिभिर्वयस्येति तथा विदूषकेण च ।
राजन्नित्यृषिभिर्वाच्यः सोऽपत्यप्रत्ययेन च ॥ १४५ ॥
स्वेच्छया नामभिर्विप्रैर्विप्र आर्येति चेतरैः ।
वयस्येत्यथवा नाम्ना वाच्यो राज्ञा विदूषकः ॥ १४६ ॥

करता होगा वैसे ही रूपक-प्रबन्धों में भी इसी प्रकार का नाम अपेक्षित माना गया है। यही बात अन्यान्य नामप्रकारों की भी है।

अनुवाद—'नाटक' का नाम ऐसा होना चाहिये जिससे उसके भीतरी अभिप्राय का प्रकाशन हो जाय। जैसे कि 'रामाभ्युदय' आदि।

अनुवाद—'प्रकरण' आदि का नाम नायिका और नायक के मिले-जुले नाम पर रखना उचित है। जैसे कि 'मालतीमाधव' आदि।

अनुवाद—नाटिका और सट्टक आदि का नाम नायिका के नाम पर रखना चाहिये। जैसे कि 'रत्नावली' 'कर्पूरमञ्जरी' आदि।

अनुवाद—रूपक-प्रबन्धों में 'साध्' धातु का ण्यन्तरूप 'साधयति' प्राय 'गम्' धातु के रूप-'गच्छति' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ करता है।

उदाहरण के लिये 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में दोनों ऋषि 'गच्छाव' न कहकर 'साधयावस्तावत्' कहते हैं।

अनुवाद—सेवकों के द्वारा राजा को 'स्वामिन्' और 'देव' शब्दों से सम्बोधित किया जाया करता है। अधम प्रकृति के व्यक्ति 'भट्ट' शब्द के द्वारा राजा को सम्बोधित किया करते हैं। एक राजा दूसरे राजा के लिये 'वयस्य' पद का प्रयोग करता है। विदूषक भी राजा को 'वयस्य' कहकर ही पुकारा करता है। 'ऋषि-जन' यदि राजा को सबोधित करते

वाच्यौ नटीसूत्रधारावार्यनाम्ना परस्परम् ।
सूत्रधारं वदेद्भाव इति वै पारिपार्श्विकः ॥ १४७ ॥
सूत्रधारो मारिषेति हण्डे इत्यधमैः समाः ।
वयस्येत्युत्तमैर्हंहो मध्यैरार्येति चाग्रजः ॥ १४८ ॥
भगवन्निति वक्तव्याः सर्वैर्देवर्षिलिङ्गिनः ।
वदेद्राज्ञीं च चेटीं च भवतीति विदूषकः ॥ १४९ ॥
आयुष्मन् रथिनं सूतो वृद्धं तातेति चेतरः ।
वत्सपुत्रकतातेति नाम्ना गोत्रेण वा सुतः ॥ १५० ॥
शिष्योऽनुजश्च वक्तव्योऽमात्य आर्येति चाधमैः ।
विप्रैरयममात्येति सचिवेति च भण्यते ॥ १५१ ॥
साधो ! इति तपस्वी च प्रशान्तश्चोच्यते बुधैः ।
स्वगृहीताभिधः पूज्यः शिष्याद्यैर्विनिगद्यते ॥ १५२ ॥
उपाध्यायेति चाचार्यो महाराजेति भूपतिः ।

हैं तो 'राजन्' पद का प्रयोग करते हैं अथवा अपत्यप्रत्ययान्त ('पौरव' आदि) पद का प्रयोग करते हैं। ब्राह्मणों द्वारा ब्राह्मण का सम्बोधन स्वेच्छापूर्वक किया जा सकता है। ब्राह्मण लोग नाम लेकर भी एक दूसरे को सम्बोधित कर सकते हैं किन्तु और लोगों के द्वारा ब्राह्मण के लिये 'आर्य' पद ही सम्बोधन-पद के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है। नटी और सूत्रधार एक दूसरे के सम्बोधन में 'आर्य' और 'आर्या' पद का प्रयोग किया करते हैं। पारिपार्श्विक यदि सूत्रधार को सम्बोधित करे तो 'भाव' पद का प्रयोग करता है और सूत्रधार यदि पारिपार्श्विक को सम्बोधित करे तो 'मारिष' पद का प्रयोग करता है। नीच श्रेणी के लोग परस्पर सम्बोधन के लिये 'हण्डे' पद का व्यवहार करते हैं, उच्च श्रेणी के लोग परस्पर आमन्त्रण के लिये 'वयस्य' पद का प्रयोग करते हैं और मध्यश्रेणी के लोगों के परस्पर सम्बोधन में 'हंहो' पद का प्रयोग हुआ करता है। छोटे भाई के लिये बड़े भाई के आमन्त्रण में 'आर्य' पद का प्रयोग हुआ करता है। देव ऋषि और संन्यासी आदि के सम्बोधन के लिए 'भगवन्' पद प्रयुक्त हुआ करता है। रानी और चेटी को आमन्त्रित करने के लिये विदूषक के द्वारा 'भवती' पद का प्रयोग हुआ करता है। सूत के द्वारा रथी के सम्बोधन में 'आयुष्मन्' पद का प्रयोग किया जाया करता है। पुत्रक के द्वारा वृद्ध के आमन्त्रण में 'तात' पद प्रयुक्त होता है। पिता के द्वारा प्रयुक्त पुत्र के आमन्त्रणपद 'वत्स' 'पुत्रक' 'तात' साधारण नाम अथवा गोत्र-नाम हैं। गुरु के द्वारा शिष्य के तथा अग्रज के द्वारा अनुज के सम्बोधन-पद भी 'वत्स' 'पुत्रक' 'तात' आदि ही हैं नीच श्रेणी के लोगों द्वारा 'अमात्य' का आमन्त्रण 'आर्य' पद से हुआ करता है। विप्रजन अमात्य को 'अमात्य' अथवा 'सचिव' पद से सम्बोधित किया करते हैं। तपस्वी और वीतराग का सम्बोधन-पद 'साधो' है। शिष्य आदि के द्वारा पूजनीय पुरुष का आमन्त्रण 'सुगृहीत नाम' पद के प्रयोगपूर्वक हुआ करता है आचार्य का आमन्त्रण 'उपाध्याय' पद के प्रयोग से किया जाया करता

स्वामीति, युवराजस्तु कुमारो भर्तृदारकः ॥ १५३ ॥
भद्रसौम्यमुखेत्येवमधमैस्तु कुमारकः ।
वाच्या प्रकृतिभी राज्ञः कुमारी भर्तृदारिका ॥ १५४ ॥
पतिर्यथा तथा वाच्या ज्येष्ठमध्याधमैः स्त्रियः ।
हलेति सदृशी, प्रेष्या हञ्जे वेश्याज्जुका तथा ॥ १५५ ॥
कुट्टिन्यम्बेत्यनुगतैः पूज्या च जरती जनैः ।
आमन्त्रणैश्च पाषण्डा वाच्याः स्वसमयागतैः ॥ १५६ ॥
शका(शक्या)दयश्च संभाष्या भद्रदत्तादिनामभिः ।
यस्य यत्कर्म शिल्पं वा विद्या वा जातिरेव वा ॥ १५७ ॥
तेनैव नाम्ना वाच्योऽसौ ज्ञेयाश्चान्ये यथोचितम् ।

(रूपकों का भाषा-विभाग)

अथ भाषाविभागः—

पुरुषाणामनीचानां संस्कृतं स्यात्कृतात्मनाम् ॥ १५८ ॥
सौरसेनी प्रयोक्तव्या तादृशीनां च योषिताम् ।

है और राजा का आमन्त्रण 'महाराज' पद से सम्पन्न हुआ करता है। युवराज का आमन्त्रणपद 'स्वामिन् है, राजकुमार का आमन्त्रण-पद 'भर्तृदारक' है और नीच श्रेणी के लोगों के उपयुक्त, राजकुमार के सम्बोधन-पद, 'भद्र', 'भद्रमुख' आदि हैं। प्रजाजन के द्वारा राजकुमारी को 'भर्तृदारिका' पद से सम्बोधित किया जाया करता है। उच्च, नीच और मध्य श्रेणी के लोग स्त्री के लिए उसी आमन्त्रणपद का प्रयोग किया करते हैं जो कि उसके पति के आमन्त्रण में प्रयुक्त किया जाया करता है। समान श्रेणी के स्त्री-पात्र 'हला' पद से एक दूसरे को आमन्त्रित किया करते हैं। दासी का आमन्त्रण 'हञ्जे' पद से, वेश्या का आमन्त्रण 'अज्जुका' पद से और कुट्टिनी का आमन्त्रण 'अम्ब' पद से हुआ करता है। पूजनीय वृद्धा स्त्री का आमन्त्रण-पद 'अम्ब' ही है। पाषण्ड (कापालिक) आदि लोगों का आमन्त्रण उनके सम्प्रदाय में प्रचलित नामों द्वारा ही किया जाया करता है। शक, यवन आदि लोगों के लिए 'भद्र', 'दत्त' आदि नाम सबोधन में प्रयुक्त होते हैं। वस्तुत. बात यह है कि किसी के सम्बोधन में ऐसे ही पद का प्रयोग किया जाया करता है जो कि उसके कर्म, उसके कौशल, उसकी विद्या और उसकी जाति के अनुरूप हो। अन्यत्र तो, जहाँ जैसा उचित हो वहाँ वैसा सम्बोधन किया जाया करता है।

विमर्श—नाटकीय पात्रों के सम्बोधन अथवा आमन्त्रणप्रकारों पर भी लोक-जीवन के सम्बोधन अथवा आमन्त्रणप्रकारों की छाप है। रूपकों में पात्रों की नाम-व्यवस्था वस्तुतः 'लोक धर्मी' की योजना है, न कि 'नाट्यधर्मी' की।

अनुवाद—(रूपक-प्रबन्धों में) उच्च श्रेणी के पढ़े-लिखे पुरुषों की भाषा 'संस्कृत' हुआ करती है। उच्च श्रेणी की पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ 'शौरसेनी' में बातचीत करती दिखायी

आसामेव तु गाथासु महाराष्ट्रीं प्रयोजयेत् ॥ १५९ ॥
अत्रोक्ता मागधी भाषा राजान्तःपुरचारिणाम् ।
चेटानां राजपुत्राणां श्रेष्ठानां चार्धमागधी ॥ १६० ॥
प्राच्या विदूषकादीनां, धूर्तानां स्यादवन्तिजा ।
योधनागरिकादीनां दाक्षिणात्या हि दीव्यताम् ॥ १६१ ॥
शबराणां शकादीनां शाबरीं सम्प्रयोजयेत् ।
बाह्लीकभाषोदीच्यानां द्राविडी द्राविडादिषु ॥ १६२ ॥
आभीरेषु तथाभीरी चाण्डाली पुक्कसादिषु ।
आभीरी शाबरी चापि काष्ठपात्रोपजीविषु ॥ १६३ ॥
तथैवाङ्गारकारादौ पैशाची स्यात्पिशाचवाक् ।
चेटानामप्यनीचानामपि स्यात्सौरसेनिका ॥ १६४ ॥
बालानां षण्ढकानां च नीचग्रहविचारिणाम् ।
उन्मत्तानामातुराणां सैव स्यात्संस्कृतं क्वचित् ॥ १६५ ॥
ऐश्वर्येण प्रमत्तस्य दारिद्र्योपद्रुतस्य च ।
भिक्षुवल्कधरादीनां प्राकृतं संप्रयोजयेत् ॥ १६६ ॥
संस्कृतं संप्रयोक्तव्यं लिङ्गिनीषूत्तमासु च ।
देवीमन्त्रिसुतावेश्यास्वपि कैश्चित्तथोदितम् ।

जाया करती है। कुलीन स्त्रियों के गीत की भाषा 'महाराष्ट्री' है। राजा के अन्तःपुर में रहनेवाले वामन कुब्ज आदि लोगों की भाषा मागधी हुआ करती है। चेट, राजपुत्र और श्रेष्ठिजन की भाषा अर्धमागधी है। विदूषक आदि 'प्राच्या (गौडी)' भाषा का व्यवहार किया करते हैं। धूर्तों की भाषा 'आवन्ती' है। युद्धसेवी सैनिकों और नागरिकों की भाषा 'दाक्षिणात्या (वदर्भी)' है। शबरों और शक-यवन आदि लोगों की भाषा 'बाह्लीक' और द्राविड़ों (दक्षिण के लोगों) की भाषा 'द्राविडी' है। आभीरों की भाषा 'आभीरी' और चण्डालों की भाषा चाण्डाली हुआ करती है। लकड़ी का काम करनेवालों की भाषा 'आभीरी' अथवा 'शाबरी' दोनों में से कोई भी हो सकती है। अङ्गार आदि की भाषा 'पैशाची' हुआ करती है। उत्तम और मध्यम श्रेणी की चेटियों की भाषा 'शौरसेनी' है। साथ ही साथ बालकों नपुंसकों छोटे ज्योतिषियों, उन्मत्तों और आतुर लोगों की भाषा भी 'शौरसेनी' ही हुआ करती है। कहीं-कहीं इन्हें 'संस्कृत' बोलते हुए भी प्रदर्शित किया जाया करता है। धनोन्मत्त अथवा दरिद्र और साथ ही साथ भिक्षुक अथवा वल्कधारक की भाषा 'प्राकृत' रखी जाया करती है। उत्तम जाति की ब्रह्मचारिणियों अथवा परिव्राजिकाओं की भाषा संस्कृत हुआ करती है। कुछ आचार्य रानी सचिवपुत्री

कार्यतश्चोत्तमादीनां कार्यो भाषाविपर्ययः ॥ १६८ ॥
योषित्सखीबालवेश्याकितवाप्सरसां तथा ।
वैदग्ध्यार्थं प्रदातव्यं संस्कृतं चान्तरान्तरा ॥ १६९ ॥

एषामुदाहरणान्याकरेषु बोद्धव्यानि । भाषालक्षणानि मम तातपादाना भाषार्णवे ।

(नाट्य-'लक्षण' और नाट्य-'अलङ्कार')

षट्त्रिंशल्लक्षणान्यत्र, नाट्यालंकृतयस्तथा ।
त्रयस्त्रिंशत्प्रयोज्यानि वीथ्यङ्गानि त्रयोदश ॥ १७० ॥
लास्याङ्गानि दश यथालाभं रसव्यपेक्षया ।

यथालाभ प्रयोज्यानीति सम्बन्ध । अत्रेति नाटके ।

और वेश्या के लिये भी 'सस्कृत' का प्रयोग उचित मानते हैं। जहाँ तहाँ कार्यवश भाषापरिवर्तन भी किया जा सकता है। साथ ही साथ स्त्री, सखी, बालक, वेश्या, द्यूतकार और अप्सरा के लिये बीच-बीच में 'सस्कृत' भाषा में भी बोलना उचित माना गया है। क्योंकि इससे उनकी विदग्धता का प्रकाशन किया जाया करता है।

इन भाषाओं के उदाहरण रूपक-प्रबन्धों में स्वय देखे जा सकते हैं। इन भाषाओं के स्वरूप-विमर्श के लिये हमारे पूज्य पितृचरण का 'भाषार्णव' नामक ग्रन्थ पर्याप्त है।

विमर्श—सस्कृत के रूपक प्रबन्धों में 'भाषाविधान' का सिद्धान्त वास्तविक जीवन के वाग्-व्यवहार की अनुकृति पर आश्रित है। नाट्यदर्पणकार ने सक्षेप में 'भाषाविधान' का यह सिद्धान्त उपस्थित किया है—

'देवानीचनृणा पाठ सस्कृतेनाथ जातुचित् ।
महिषी-मन्त्रिजा-पण्यस्त्रीणामव्याजलिङ्गिनाम् ॥
बाल-षण्ड-ग्रहग्रस्त-मत्त-स्त्री-रूपयोषिताम् ।
प्राकृतेनोत्तमस्यापि दारिद्र्यैश्वर्यमोहिन ॥
अत्यन्तनीचभूतादौ पैशाची मागधी च वाक् ।
शौरसेनी तु नीचस्य देशोद्देशे स्वदेशगी ॥
तिर्यग्जात्यन्तरादीनामानुरूप्येण सङ्कथा ।
भाषा-प्रकृति-वृत्तादे कार्यत क्वापि लङ्घनम् ॥' (नाट्यदर्पण ४र्थ विवेक)

अनुवाद—नाटक में, रसाभिव्यञ्जन की दृष्टि से, जहाँ जैसा उचित हो, इन-इन का उपनिबन्ध अपेक्षित है—

(क) ३६ नाट्य-लक्षण ।
(ख) ३३ नाट्यालङ्कार ।
(ग) १३ वीथ्यङ्ग और
(घ) १० लास्याङ्ग ।

(यहाँ नाट्य-लक्षण, नाट्यालङ्कार, वीथ्यङ्ग और लास्याङ्ग के यथालाभ अर्थात् उपयोगितानुसार प्रयोग का निरूपण किया जा रहा है इसलिये कारिका के)

'यथालाभ पद का सम्बन्ध 'प्रयोज्यानि' पद से है और 'अत्र' पद से अभिप्राय 'नाटक' से है।

(३६ लक्षणों का नाम निर्देश)

तत्र लक्षणानि—

भूषणाक्षरसंघातौ शोभोदाहरणं तथा ॥ १७१ ॥
हेतुसंशयदृष्टान्तास्तुल्यतर्कः पदोच्चयः ।
निदर्शनाभिप्रायो च प्राप्तिर्विचार एव च ॥ १७२ ॥
दिष्टोपदिष्टे च गुणातिपातातिशयौ तथा ।
विशेषणनिरुक्ती च सिद्धिभ्रंशविपर्ययौ ॥ १७३ ॥
दाक्षिण्यानुनयौ मालार्थापत्तिर्गर्हणं तथा ।
पृच्छा प्रसिद्धिः सारूप्यं संक्षेपो गुणकीर्तनम् ॥ १७४ ॥
लेशो मनोरथोऽनुक्तसिद्धिः प्रियवचस्तथा ।

विमर्श—'नाट्य-लक्षण' और 'नाट्यालङ्कार' का एकमात्र उपयोग नाटक के इतिवृत्तरूप शरीर में रसाभिव्यञ्जन-सामर्थ्य का अधिकाधिक आधान है। लक्षणों की योजना से 'नाटक' का इतिवृत्तात्मक शरीर नया-नया नवीन हुआ करता है और रमणीय बना करता है। 'वीथी' वस्तुतः 'भारतीवृत्ति' की ही एक सुन्दर झाँकी है। सभी रूपक-प्रबन्ध 'वीथी' (वक्र-मार्ग) से ही काम करते हैं। लास्याङ्गों का नाटक में उपयोग कवि और अभिनेता-दोनों की दृष्टि से है और इसका कारण 'रचनावैचित्र्य' है। वैसे तो विश्वनाथ कविराज के पूर्ववर्ती नाट्यशास्त्रीय प्रकरणों ने भी इनका विवेचन छोड़ दिया था क्योंकि इन प्रकरणों का उद्देश्य नाटक-निर्माण की प्रक्रिया का विश्लेषण था न कि अभिनय-प्रक्रिया का। विश्वनाथ कविराज ने प्राचीन नाट्यशास्त्रीय मर्यादा के निर्देशरूप से ही इनका निरूपण किया है न कि समसामयिक 'रंगमंच' की कार्यप्रणाली के विश्लेषणरूप से।

अनुवाद—(१) भूषण (२) अक्षरसंघात (३) शोभा, (४) उदाहरण, (५) हेतु, (६) संशय (७) दृष्टान्त (८) तुल्यतर्क, (९) पदोच्चय (१०) निदर्शन (११) अभिप्राय (१२) प्राप्ति (१३) विचार (१४) दिष्ट, (१५) उपदिष्ट (१६) गुणातिपात (१७) गुणातिशय (१८) विशेषण (१९) निरुक्ति, (२०) सिद्धि, (२१) भ्रंश (२२) विपर्यय (२३) दाक्षिण्य (२४) अनुनय (२५) माला, (२६) अर्थापत्ति (२७) गर्हण (२८) पृच्छा (२९) प्रसिद्धि (३०) सारूप्य (३१) संक्षेप (३२) गुणकीर्तन (३३) लेश (३४) मनोरथ (३५) अनुक्तसिद्धि और (३६) प्रियवचन।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार का यह षट्त्रिंशल्लक्षण-निरूपण भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के १६ वें अध्याय के लक्षणनिरूपण-प्रकरण के इस पाठान्तर का अनुसरण करता है—

भूषणाक्षरसंघातौ शोभोदाहरणं तथा ।
हेतुसंशयदृष्टान्ताः प्राप्त्यभिप्राय एव च ॥
निदर्शनं निरुक्तं च सिद्धिश्चाथ विशेषणम् ।
गुणातिपातातिशयौ तुल्यतर्कः पदोच्चयः ॥
दिष्टं चैवोपदिष्टं च विचारोऽथ विपर्ययः ।
भ्रंशश्चानुनयो माला दाक्षिण्यं गर्हणं तथा ॥

(१—लक्षण-प्रकार · भूषण)

तत्र—

लक्षणानि गुणैः सालंकारैर्योगस्तु भूषणम् ॥ १७५ ॥

यथा—'आक्षिपन्त्यरविन्दानि मुग्धे ! तव मुखश्रियम् ।
कोपदण्डसमग्राणा किमेषामस्ति दुष्करम् ॥'

अर्थापत्ति प्रसिद्धिश्च पृच्छा सारूप्यमेव च ।
मनोरथश्च लेशश्च सक्षोभो गुणकीर्तनम् ॥
ज्ञेयाभ्यनुक्तसिद्धिश्च प्रिय वचनमेव च ।
षट्त्रिंशल्लक्षणान्येवं काव्यबन्धेषु निर्दिशेत् ॥ (नाट्यशास्त्र १६ · १–५)

अनुवाद—भूषण—इन ३६ लक्षणों में 'भूषण' वह लक्षण है जिसे माधुर्यादि गुण किंवा अनुप्रास-उपमादि अलङ्कारों द्वारा दृश्य (अथवा श्रव्य-) काव्य-प्रबन्ध के कथाशरीर में सौन्दर्य का सयोग अथवा 'अलङ्करण' कहा जाया करता है। उदाहरण के लिए निम्न सूक्ति अर्थात्—

'अरी सुन्दरी ! तू इतनी मुग्धा है कि कमल तेरी मुखश्री का अपहरण करने पर उतारू हो उठे हैं। ये कमल, जिनके पास कोष (बीजकोप तथा प्रभूत धनराशि) किंवा दण्ड (कमलनाल तथा सैन्य) की कोई कमी नहीं, जो भी कर डालें थोडा ही है।'

विमर्श—(क) साहित्यदर्पण की सभी सस्कृत किंवा हिन्दी टीकाओं और व्याख्याओं में 'भूषण' नामक लक्षण का अभिप्राय अस्पष्ट ही रह गया है। जैसे कि 'तर्कवागीशी' टीका की यह भूषण-व्याख्या—'गुणैर्माधुर्यौज प्रसादैर्यमकोपमाद्यलङ्कारसहितैर्योगः परस्परमेलकः' जितनी 'भूषण' के अभिप्राय से दूर है उतनी ही 'विमला' व्याख्या की यह भूषण-टीका 'अलङ्कारसहित गुणों के योग को भूषण कहते हैं,' 'भूषण' के तात्पर्य से विमुख है। वस्तुत तो 'लक्षण' का ही अभिप्राय इन टीकाओं में अस्पष्ट है। 'गुण', 'अलङ्कार' और 'लक्षण' का जब तक विस्पष्ट विभाग न समझा जाय तब तक लक्षण का निरूपण भ्रामक ही होगा। इन तीनों का प्रविभाग आचार्य अभिनवगुप्त की इन पक्तिओं में स्पष्ट है—

'लक्षणानि गुणालङ्कारमहिमानमनपेक्ष्य स्वसौभाग्येनैव शोभन्ते। लक्षणं महापुरुषस्य पद्मादिरेखादिवत् काव्यशरीरस्य सौन्दर्यदायि। अलङ्कारस्तु रत्नाभरणादिवदेव, येन विनापि स्वसौन्दर्येणैव पुरुष' प्रतिभासते। गुणस्तु प्रवृत्तिद्योतितो धैर्यादिवत् काव्यस्य शब्दार्थरचनामाश्रयति। यथा लक्षणरहित पुरुषो न सुन्दरशब्दवाच्यस्तथा लक्षणवर्जं कथाशरीर गुणालङ्कारोज्ज्वलमपि नीरसत्व भजत् प्रौढकाव्याभिधान नार्हति। कथाशरीर-सपन्नेपु काव्येष्वेव लक्षणानि निर्वर्त्यन्ते न तु मुक्तकादिषु खण्डकाव्येपु, अत एव 'काव्य-बन्धास्तु कर्त्तव्या' इति मुनिनैव मुक्तकादिवारणपरमुक्तम्।

(अभिनवभारती : नाट्यशास्त्र : १६ अध्याय)

अर्थात् गुण और अलङ्कारों से लक्षण का भेद इस प्रकार समझा जा सकता है कि गुण और अलङ्कार तो काव्य सामान्य की विशेषतायें है किन्तु 'लक्षण' एक ऐसा वैशिष्ट्य है, जो केवल कथाशरीर-सम्पन्न काव्य प्रबन्ध का ही वैशिष्ट्य है। जैसे धैर्यादि गुण किंवा रत्नकटकादि अलङ्कारों से युक्त भी मानवशरीर लक्षणरहित होने पर प्रभावमय नहीं प्रतीत हुआ करता वैसे ही माधुर्यादि गुण किंवा अनुप्रास-उपमादि अलङ्कारों से युक्त भी काव्य का कथाशरीर भूषणादि लक्षण से शून्य होने पर प्रभावोत्पादक नहीं लगा करता।

(ख) काव्य में 'भूषण' नामक लक्षण वह है जिसके होने पर माधुर्यादि गुण और उपमादि

(२—अक्षरसंघात)

वर्णनाक्षरसंघातश्चित्रार्थैरक्षरैर्मितैः ।

यथा शाकुन्तले—

'राजा—कच्चित्सख्यां वो नातिबाधते शरीरसन्तापः ।

प्रियंवदा—सम्पदं लद्धोसहो उवसमं गमिस्सदि' [साम्प्रतं लब्धौषधमुपशमं गमिष्यति]।

(३—शोभा)

सिद्धैरर्थैः समं यत्राप्रसिद्धोऽर्थः प्रकाशते ॥ १७६ ॥
श्लिष्टश्लक्ष्णविचित्रार्था सा शोभेत्यभिधीयते ।

यथा—

'सद्वंशसम्भवः शुद्धः कोटिदोऽपि गुणान्वितः ।
कामं धनुरिव क्रूरो वर्जनीयः सतां प्रभुः ॥

अलङ्कारों से युक्त काव्यशरीर अधिकाधिक रसोन्मेषक हुआ करता है। माधुर्यादि गुण और उपमादि अलङ्कारों से युक्त काव्यशरीर में वह वस्तु जिसके होने पर रसोन्मेषता प्रबल रूप से सम्भव है, वस्तुतः एक विशिष्ट कविव्यापार ही है जो शब्द और अर्थ के व्यापारों में स्फुरित हुआ करता है। जैसा कि ध्वनिकार की इस उक्ति अर्थात्—

'ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे समीक्ष्य विनिवेशितः ।
रूपकादिरलङ्कारवर्ग एति यथार्थताम् ॥

का संकेत है। इस चतुर्विध कविव्यापार की एक झलक वह है जिसे 'भूषण' नामक लक्षण के रूप में प्राचीन काव्य-शास्त्र-कोविदों ने देखा-दिखाया है।

अनुवाद—'अक्षरसंघात' नामक लक्षण वह लक्षण है जिसे स्वल्प किन्तु श्लिष्ट अक्षरों द्वारा विचित्र अर्थ का उपवर्णन कहा गया है। जैसे कि 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'राजा—क्या यह शरीरसंताप तुम्हारी सखी को बहुत अधिक तो कष्ट नहीं पहुँचा रहा है?

प्रियंवदा—अब जब कि इसे दवा मिल गयी तब तो शान्त हो ही जायगा।

में यह 'अक्षरसंघात' नामक (कविव्यापाररूप) लक्षण ही है जिससे यहाँ नाटक का काव्यशरीर मनोरम और हृदयग्राही बन रहा है।

विमर्श—अक्षरसंघात एक महत्त्वपूर्ण लक्षण है और इसे अल्प किन्तु श्लिष्ट शब्द-प्रयोग द्वारा रसोचित विभावादिरूप अर्थ के 'उपवर्णन' के लिए संकेतित किया गया है। अभिनवगुप्तपादाचार्य ने यों सुन्दरता से अक्षरसंघात नामक लक्षण का स्वरूप समझाया है—

'तथापि मानिनीत्वचरमपि ईर्ष्याविप्रलम्भे तदपीत्वमभिव्यनक्ति, वरतनुरिति संभोगे विभावत्वं तमेव भावयन्ति। (अभिनवभारती पृ० १)

अनुवाद—'शोभा' वह लक्षण है जिसके कारण अप्रसिद्ध भी अर्थ सिद्ध अर्थ के समान प्रकाशित हुआ करता है। अप्रसिद्ध अर्थ के सिद्ध अर्थ के समान प्रकाशित होने का अभिप्राय यह है कि साधारण भी वर्ण्य विषय इसके कारण सहृदयहृदयहारी और सरस बन जाया करता है। जैसे कि निम्न सूक्ति अर्थात्—

'मनस्वी लोगों को चाहिए कि इस राजा से चाहे वह 'सद्वंशसम्भव' (सत्कुलप्रसूत)

(४—उदाहरण)

यत्र तुल्यार्थयुक्तेन वाक्येनाभिप्रदर्शनात् ॥ १७७ ॥
साध्यतेऽभिमतश्चार्थस्तदुदाहरणं मतम् ।

यथा—

'अनुयान्त्या जनातीत कान्त साधु त्वया कृतम् ।
का दिनश्री विनार्केण का निशा शशिना विना ॥'

'शुद्ध' (पवित्राचरण) 'कोटिद' (महादानी) और 'गुणान्वित' (महागुणशाली) ही क्यों न हो, उसी प्रकार बचते रहना उचित है जिस प्रकार किसी 'सद्वंशसंभव' (अच्छे बांस के बने), 'शुद्ध' (कीटादिवेधरहित) 'कोटिद' (असख्य रिपुगण के संहारक) और 'गुणान्वित' (प्रत्यञ्चायुक्त) धनुष से बचा जाया करता है ।'
इत्यादि में, जो लक्षण है, वह 'शोभा' है ।

विमर्श—'शोभा' का अभिप्राय एक ऐसा कविव्यापार (शब्दार्थव्यापार) है जिससे अशोभन भी अर्थ शोभित लगने लगता है । आचार्य अभिनवगुप्त ने अभिज्ञानशाकुन्तल की इस सूक्ति अर्थात्—

'मेदश्छेदकृशोदर लघु भवत्युत्थानयोग्यं वपु
सत्त्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमच्चित्तं भयक्रोधयो ।
उत्कर्ष स च धन्विना यदिषव सिध्यन्ति लक्ष्ये चले
मिथ्या हि व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग्विनोद कुत ॥'

में, 'शोभा' का दर्शन किया है क्योंकि यहाँ एकमात्र कविव्यापार ही अनुचित भी अर्थ को औचित्यपूर्ण दिखा रहा है ।

अनुवाद—'उदाहरण' वह लक्षण है जिसे किसी निगूढ अभिप्राय का निगूढार्थक किंवा तुल्यार्थक वाक्य द्वारा प्रतिपादन कहा गया है । जैसे कि निम्न सूक्ति अर्थात्—

'जनककुमारी ! तूने अपने 'जनातीत' बनवास के लिये अग्रसर (तथा लोकोत्तर प्रियतम राम का अनुगमन कर बड़ा ही अच्छा किया । विना सूर्य के दिन-श्री क्या और विना चन्द्र के रात्रि क्या ?'
में, जो 'लक्षण' है वह उदाहरण ही है ।

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि ने 'उदाहरण' की यह परिभाषा की है—

'यत्र तुल्यार्थयुक्तेन वाक्येनाभिप्रदर्शनात् ।
साध्यते निपुणैरर्थस्तदुदाहरण स्मृतम् ॥'

जिसकी अभिनवभारतीकारकृत व्याख्या यह है—

'परेषा दुर्भेद्यपरमार्थेन तुल्यार्थप्रयुक्तेन वाक्येन निगूढाशय कस्मैचिन्निपुणैर्यत्र प्रकाश्यते तदुदाहरणम् । ' यथा 'प्रद्युम्नाभ्युदये' तृतीयेऽङ्केऽन्तर्नाटिकाया सूत्रधारवचनम्—

'देवदनुजाधिप त्वा त्रिभुवनलक्ष्मीरिव स्वय रागात् ।
अभिरूपमभिसृतवती नलकूवरमत्र नाटके रम्भा ॥'
अत्राभिसरणमेव प्रद्युम्नसगमोपाय इत्यर्थ साध्यते ।'

(अभिनवभारती नाट्यशास्त्र . १९ अध्याय पाठान्तर)

'उदाहरण' के उपर्युक्त स्वरूप को देखते हुए 'साहित्यदर्पण' की सस्कृत और हिन्दी व्याख्याओं में जो 'उदाहरणनिरूपण' है वह भ्रान्तिपूर्ण ही प्रतीत होता है ।

(६—हेतु)

हेतुर्वाक्यं समासोक्तमिष्टकृद्धेतुदर्शनात् ॥ १७८ ॥

यथा वेण्यां भीमं प्रति—

चेटी—एवं मए भणिदं भाणुमदि! तुम्हाणं अमुक्केसु केसेसु कहं देवीए केसा संजमिअन्तित्ति [एवं मया भणितं भानुमति! युष्माकममुक्तेषु केशेषु कथं देव्याः केशाः संयम्यन्ते]।

(७—संशय)

संशयोऽज्ञाततत्त्वस्य वाक्ये स्याद्यदनिश्चयः।

यथा ययातिविजये—

'इयं स्वर्गाधिनाथस्य लक्ष्मीः किं यक्षकन्यका।
किं चास्य विषयस्यैव देवता किमु पार्वती॥'

(८—दृष्टान्त)

दृष्टान्तो यस्तु पक्षेऽर्थसाधनाय निदर्शनम् ॥ १७९ ॥

अनुवाद—'हेतु' वह कथन है जिसे संक्षिप्त तथा युक्तियुक्त किन्तु अभिमत अभिप्राय का अवबोधक वाक्य कहा गया है। जैसे कि 'वेणीसंहार' के इस सन्दर्भ अर्थात्—

'चेटी—(भीम के प्रति)—मैंने कहा था—भानुमति! जब तक तुम्हारे केश न खुलें तब तक द्रौपदी के केश क्योंकर बँध जाँय।

आदि में जो कथन है वह 'हेतु' है।

विमर्श—अभिनवभारतीकार ने 'हेतु' का यह स्वरूप-निर्देश किया है—

'अल्पसाधनयुक्तियुक्त मितवाक्यार्थं विविधभङ्ग्युक्तं वचनम्।'

(अभिनवभारती : १६वाँ अध्याय पाठान्तर)

अनुवाद—'संशय' वह कथन है जिसे किसी वाक्य में किसी अज्ञात किन्तु सारभूत अर्थ के सम्बन्ध में अनिश्चय का उपन्यास कहा गया है। जैसे कि 'ययातिविजय' के इस सन्दर्भ अर्थात्—

'क्या यह सुन्दरी इन्द्र की राजलक्ष्मी है? कोई यक्षकन्या है? इस राज्य की अधिष्ठात्री देवी है? साक्षात् पार्वती है?' आदि में जो कथन है वह 'संशय' है।

विमर्श—साहित्यदर्पण की संस्कृत किंवा हिन्दी व्याख्याओं में 'संशय' नामक लक्षण का जो अभिप्राय बताया गया है वह संशय मात्र ही रह गया है। 'संशय' तो एक काव्य अथवा नाट्य-वाक्य का सौन्दर्य है जिसे कवि अथवा नाटककार इस प्रकार रचा करता है जिसमें वह भावों किंवा विचारों के आकस्मिक आवेग के कारण असमाधेय तथा अपरिहार्य-सा लगा करे। इस 'लक्षण' का दर्शन अभिज्ञानशाकुन्तल के निम्न सन्दर्भ में जैसा कि अभिनवभारतीकार ने किया है स्पष्टतया किया जा सकता है—

तिष्ठेत् कोपवशात् प्रभावपिहिता दीर्घं न सा कुप्यति
स्वर्गायोत्पतिता भवेन्मयि पुनर्भावार्द्रमस्या मनः।
तां हर्तुं विबुधद्विषोऽपि न च मे शक्ताः पुरोवर्तिनीं
सा चात्यन्तमगोचरं नयनयोर्यातेति कोऽयं विधिः॥

अनुवाद—'दृष्टान्त वह कथन है जिसे पदार्थसाधकहेतु का मनोहर निदर्शन कहा

यथा वेण्याम्—

'सहदेव.—आर्य ! उचितमेवैतत्तस्या यतो दुर्योधनकलत्रं हि सा' इत्यादि।

(८—तुल्यतर्क)

तुल्यतर्को यदर्थेन तर्कः प्रकृतिगामिना।

यथा तत्रैव—

'प्रायेणैव हि दृश्यन्ते काम स्वप्नाः शुभाशुभाः।
शतसंख्या पुनरिय सानुज स्पृशतीव माम्॥'

(९—पदोच्चय)

संचयोऽर्थानुरूपो यः पदानां स पदोच्चयः॥ १८०॥

यथा शाकुन्तले—

'अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू।
कुसुममिव लोभनीय यौवनमङ्गेषु सनद्धम्॥'

अत्र पदपदार्थयोः सौकुमार्यं सदृशमेव।

जाया करता है। जैसे कि 'वेणीसंहार' में—

'सहदेव—आर्य ! उसके (भानुमती के) लिये तो यह सब उचित ही है क्योंकि वह तो दुर्योधन की पत्नी है।'

आदि जो संदर्भ है वह 'दृष्टान्त' रूप लक्षण से ही विभूषित है।'

विमर्श—भरतमुनि के अनुसार 'दृष्टान्त' लक्षण का यह स्वरूप है—

'सर्वलोकमनोग्राही यस्तु पक्षार्थसाधक।
हेतोर्निदर्शनकृत स दृष्टान्त इति स्मृत॥'

(नाट्यशास्त्र १६।१२)

जिसे अभिनवभारतीकार ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'धर्माविरुद्धतया सर्वलोकमनोग्राही वचनं निदर्शनोपष्टम्भं दृष्टान्तसञ्ज्ञकं लक्षणम्'।

(अभिनवभारती १६।१२)

अनुवाद—'तुल्यतर्क' का अभिप्राय है प्रकृत (प्रत्यक्ष) अर्थ के परामर्श के द्वारा अप्रकृत (अप्रत्यक्ष) अर्थ के प्रकाशन का। जैसे कि 'वेणीसहार' के इस सन्दर्भ अर्थात्—

'शुभ और अशुभ स्वप्न तो प्राय लोग देखा ही करते हैं किन्तु 'एक सौ सर्पों के मारने' का यह स्वप्न-दर्शन मुझे, जिसके एक सौ भाई हैं, कुछ खटक सा रहा है।'

में, जो लक्षण है वह 'तुल्यतर्क' ही है।

अनुवाद—'पदोच्चय' का अभिप्राय है अर्थानुरूप पद-सन्दर्भ का। जैसे कि 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' के इस सन्दर्भ अर्थात्—

'शकुन्तला का अधर कोमल लताकिसलय की लालिमा लिये है, दोनों बाँहें लता की दो टहनियों की कोमलता लिये हैं और यौवन तो फूल की भाँति अङ्ग-अङ्ग में झलक ही रहा है।'

में, जो लक्षण है, वह 'पदोच्चय' है क्योंकि यहाँ सुकुमार अर्थ के अनुरूप सुकुमार पद की योजना स्पष्ट प्रतीत हो रही है।

(१०—निदर्शन)

यत्रार्थानां प्रसिद्धानां क्रियते परिकीर्तनम् ।
परपक्षव्युदासार्थं तन्निदर्शनमुच्यते ॥ १८१ ॥

यथा—

'क्षात्रधर्मोचितैर्धर्मैरलं शत्रुवधे नृपाः ।
किं तु वालिनि रामेण मुक्तो बाणः पराङ्मुखे ॥'

(११—अभिप्राय)

अभिप्रायस्तु सादृश्यादभूतार्थस्य कल्पना ।

यथा शाकुन्तले—

'इदं किलाव्याजमनोहरं वपुस्तपःक्षमं साधयितुं य इच्छति ।
ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया शमीलतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति ॥'

(१२—प्राप्ति)

प्राप्तिः केनचिदंशेन किंचिद्यत्रानुमीयते ॥ १८२ ॥

यथा मम प्रभावत्याम्—

'अनेन खलु सर्वतश्चरता चञ्चरीकेणावश्यं विदिता भविष्यति प्रियतमा मे प्रभावती ।'

अनुवाद—'निदर्शन' का अभिप्राय है प्रसिद्ध अर्थ के परिकीर्तन का जिसमें कहीं कोई अन्य समाधान न हो सके। जैसे कि इस सूक्ति अर्थात्—

'यह तो ठीक ही है कि राजगण क्षत्रियोचित संग्राम-धर्म से शत्रुओं का वध किया करते हैं किन्तु राम ने जो बालि पर बाण छोड़ा वह उसके पराङ्मुख रहने पर छोड़ा संमुख रहने पर नहीं)।'
में जो कथन है वह 'निदर्शन' है।

विमर्श—'साहित्यदर्पण' की यह कारिका नाट्यशास्त्र (१६।२५) की ही कारिका का स्वरूप है।

अनुवाद—'अभिप्राय' का तात्पर्य सादृश्य के कारण अभूतपूर्व अर्थ की कल्पना है। जैसे कि, 'अभिज्ञानशाकुन्तल' की इस सूक्ति अर्थात्—

'वाह! इस निसर्गसुन्दर (शकुन्तला के) शरीर को जो तपस्या के कष्टों के सहने योग्य बनाना चाहता है वह वस्तुतः नीलकमल के किसलय के किनारे से शमी वृक्ष को काटना चाहता है।
में जो कथन है वह 'अभिप्राय' है।

विमर्श—भरतमुनि के अनुसार 'अभिप्राय' का स्वरूप यह है—

'अभूतपूर्वो यो ह्यर्थः सादृश्यात् परिकल्पितः ।
लोकस्य हृदयग्राही सोऽभिप्राय इति स्मृतः ॥ (नाट्यशास्त्र १६।१४)

अनुवाद—'प्राप्ति' का अभिप्राय है—किसी वस्तु के अंश मात्र से उस वस्तु का अनुमान। जैसे कि मेरी अपनी कृति 'प्रभावतीपरिणय' की इस उक्ति अर्थात्—

'यह भ्रमर जो सर्वत्र विचरा करता है अवश्य जानता होगा कि मेरी प्रियतमा प्रभावती कहाँ है।

(१३—विचार)

विचारो युक्तिवाक्यैर्यदप्रत्यक्षार्थसाधनम् ।

यथा मम चन्द्रकलायाम्—

'राजा—नूनमियमन्त पिहितमदनविकारा वर्तते ।

यतः—

हसति परितोषरहित निरीक्ष्यमाणापि नेक्षते किञ्चित् ।
सख्यामुदाहरन्त्यामसमञ्जसमुत्तर दत्ते ॥'

(१४—दिष्ट)

देशकालस्वरूपेण वर्णना दिष्टमुच्यते ॥ १८३ ॥

यथा वेण्याम्—

'सहदेवः—

यद्वैद्युतमिव ज्योतिरार्ये क्रुद्धेऽद्य सम्भृतम् ।
तत्प्रावृडिव कृष्णेयं नून सवर्द्धयिष्यति ॥'

में, जो लक्षण है वह 'प्राप्ति' ही है (क्योंकि चञ्चरीक के विचरण से, उस (चञ्चरीक) के प्रभावतीविषयक ज्ञान का अनुमान हो रहा है)।

विमर्श—भरतमुनि का 'प्राप्ति'-लक्षण यह है—

'दृष्ट्वैवावयवान् काश्चिद् भावो यत्रानुमीयते ।
प्राप्ति तामभिजानीयाल्लक्षण नाटकाश्रयम् ॥' (नाट्यशास्त्र १६।१३)

अनुवाद—'विचार' का अभिप्राय है—युक्तियुक्त वाक्य से अप्रत्यक्ष वस्तु के साधन का। जैसे कि मेरी अपनी कृति 'चन्द्रकला' के इस सन्दर्भ अर्थात्—

'राजा—अवश्य ही यह-अपने हृदय में प्रेम छिपाये हुई है- क्योंकि—यह हँसती है किन्तु प्रसन्नता से नहीं, इसे सखियाँ देखती हैं किन्तु वह उन्हें नहीं देखती और इससे सखियाँ बहुत कुछ कहती हैं किन्तु वह उनसे कुछ नहीं बोलती।'

में, जो लक्षण है वह 'विचार' है।

विमर्श—भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में 'विचार' का यह लक्षण दिया हुआ है—

'पूर्वाशयसमानार्थैरप्रत्यक्षार्थसाधनै ।
अनेकोपाधिसयुक्तो विचार परिकीर्तित ॥' (नाट्यशास्त्र १६।२४)

जिसका अभिनवभारतीकार ने यह उदाहरण दिया है—

'साध्ये निश्चितमन्वयेन घटित विभ्रत्सपक्षे स्थिति
व्यावृत्त च विपक्षतो भवति यत्तत् साधनं सिद्धये ।
यत्साध्य स्वयमेव तुल्यमुभयो पक्षे विरुद्ध च यत्
तस्याङ्गीकरणेन वादिन इव स्यात् स्वामिनो निग्रह' ॥' (मुद्राराक्षस)

अनुवाद—'दिष्ट' का अभिप्राय है—देश और काल के स्वरूपानुसार वस्तु-वर्णना का। जैसे कि 'वेणीसहार' के इस सन्दर्भ अर्थात्—

'सहदेव—आज क्रुद्ध भीम में वैद्युत अग्नि की सी जो प्रतिशोध-ज्वाला धधक रही है वह अवश्यमेव वर्षा सी द्रौपदी के कारण और भी भभक उठेगी।'

में, जो लक्षण दिखायी दे रहा है वह 'दिष्ट' ही है।

(१५—उपदिष्ट)

उपदिष्टं मनोहारि वाक्यं शास्त्रानुसारतः ।

यथा शाकुन्तले—

'शुश्रूषस्व गुरून्, कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने,
भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः ।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी,
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः ॥'

(१६—गुणातिपात)

गुणातिपातः कार्यं यद्विपरीतं गुणान्प्रति ॥ १८४ ॥

यथा मम चन्द्रकलायां चन्द्रं प्रति—

'जइ संहरिज्जइ तमो घेप्पइ सअलेहिं ते पाओ ।
वससि सिरे पसुवइणो तहवि हु इत्थीअ जीअणं हरसि ॥'
[यदि संह्रियते तमो गृह्यते सकलैस्तव पादः ।
वससि शिरसि पशुपतेस्तथापि स्त्रीणां जीवनं हरसि ॥]

(१७—गुणातिशय)

यः सामान् गुणोद्रेकः स गुणातिशयो मतः ।

विमर्श—भरतमुनि ने 'दिष्ट' में कुछ और बातें भी देखी हैं—

'यथादेशं यथाकालं यथारूपं च वर्ण्यते ।
यदत्यर्थं परोक्षं वा यदं (दिष्ट) तद्दृष्टोऽपि वा ॥ (नाट्यशास्त्र १६. २१)

अनुवाद—'उपदिष्ट' वह कथन है जिसे शास्त्रानुसार मनोहरवाक्य-विन्यास कहा गया है। जैसे कि 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'बड़े-बूढ़ों की सेवा करना, सपत्नियों के प्रति प्रियसखी-भाव रखना, पति से किसी कारण अप्रसन्न होने पर भी उनके विरुद्ध आचरण न करना, परिजनों के प्रति दया भाव रखना और सौभाग्य वृद्धि में भी अभिमान से दूर रहना। ऐसा यदि तूने किया तो महाराज दुष्यन्त की सच्ची गृहिणी बन जायेगी। ऐसा न करनेवाली ही वामाचरणें कुल की पीड़ा बनी रहती है।

में जो कथन है वह 'उपदिष्ट' ही है।

विमर्श—भरतमुनि के अनुसार 'उपदिष्ट' का यह लक्षण है—

'परिगृह्य तु शास्त्रार्थं यद्वाक्यमभिधीयते ।
विद्वन्मनोहरं स्वान्तमुपदिष्टं तदुच्यते ॥' (नाट्यशास्त्र १६.२४)

अनुवाद—'गुणातिपात' का अभिप्राय ऐसा गुणवर्णन है जिसमें गुणविरोध का आभास हुआ करे। जैसे कि मेरी अपनी कृति 'चन्द्रकला' के इस सन्दर्भ अर्थात्—

'भले ही तुम अँधेरा दूर किया करो किन्तु संसार के प्राणी तुम्हारे पैरों (किरणों) को खींचना ही चाहा करते हैं। भले ही तुम भगवान् शङ्कर के मस्तक पर विराजो किन्तु वियोगिनियों का प्राण लेनेवाले भी तुम्हीं हो।

में जो चन्द्रोपालम्भवर्णन है वह 'गुणातिपात' का ही उदाहरण है।

अनुवाद—'गुणातिशय' का अभिप्राय है—गुण-सामान्य के कीर्तन से गुणविशेष के

यथा तत्रैव—

'राजा—(चन्द्रकलाया मुखं निर्दिश्य)

असावन्तश्चञ्चद्विकचनवनीलाब्जयुगल-
स्तलस्फूर्जत्कम्बुर्विलसदलिसंघात उपरि ।
विना दोषासङ्गं सततपरिपूर्णाखिलकलः
कुतः प्राप्तश्चन्द्रो विगलितकलङ्कः सुमुखि ! ते ॥'

(१८—विशेषण)

सिद्धानर्थान् बहूनुक्त्वा विशेषोक्तिर्विशेषणम् ॥ १८५ ॥

यथा—

'तृष्णापहारी विमलो द्विजावासो जनप्रियः ।
ह्रदः पद्माकरः किन्तु बुधस्त्वं स जलाशयः ॥'

(१९—निरुक्ति)

पूर्वसिद्धार्थकथनं निरुक्तिरिति कीर्त्यते ।

यथा वेण्याम्—'निहताशेषकौरव्य —' इत्यादि ।

अनुकीर्तन का। जैसे कि मेरी ही कृति 'चन्द्रकला' के इस सन्दर्भ अर्थात्—

'राजा—(चन्द्रकला के मुख को लक्ष्यकर)—

अरी सुमुखि ! यह तो बता कि मुझे यह निष्कलङ्क किंवा बिना 'दोषासंग' (रात्रि किंवा दोषों के सम्पर्क) के ही, निरन्तर षोडश कलाओं से परिपूर्ण (संगीतादि कलाओं से सुशोभित), चन्द्र (मुख) कहाँ से मिल गया, जिसके भीतर इतने सुन्दर नीलकमल युगल (नयन) खिले दीख रहे हैं, जिसके नीचे इतना सुन्दर कम्बु (शंख तथा ग्रीवा भाग) चमक रहा है और जिसके ऊपर भ्रमरसमूह (केशपाश) मँडराते लग रहे हैं।' में, जो लक्षण है वह 'गुणातिशय' है।

अनुवाद—'विशेषण' वह लक्षण है जिसे 'प्रसिद्ध अर्थ के उपवर्णन के अनन्तर उसके वैशिष्ट्य का अनुकीर्तन' कहा गया है। जैसे कि यह सूक्ति अर्थात्—

'तृष्णापहारी' (जलाशयपक्ष में-प्यास मिटानेवाला और वर्ण्य पुरुषपक्ष में याचक जन की आकांक्षा के निवर्तक) 'विमल' (जलाशयपक्ष में-स्वच्छजलपूर्ण और पुरुष पक्ष में-निर्मल हृदय) 'द्विजावास' (जलाशयपक्ष में-जलपक्षियों के निवासभूत और पुरुषपक्ष में-ब्राह्मणों के आश्रयदाता) 'जनप्रिय' (जलाशयपक्ष में-सुन्दर किं वा पुरुष पक्ष में-हितकारक) और 'पद्माकर' (जलाशयपक्ष में-कमलों के आवास और पुरुषपक्ष में-लक्ष्मी के आवास) जैसे आप हैं वैसा ही जलाशय भी है। किन्तु आप 'बुध' पण्डित ठहरे और जलाशय 'जडाशय' मूर्ख (अचेतन) ही ठहरा।'

अनुवाद—'निरुक्ति' वह लक्षण है जिसे पूर्वसिद्ध अर्थ का वर्णन कहा गया है। जैसे कि 'वेणीसंहार' की 'निहताशेषकौरव्य' आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति में जो लक्षण है वह 'निरुक्त' ही है।

विमर्श—नाट्यशास्त्र की निरुक्ति (निरुक्त) परिभाषा यह है—

'निरवद्यस्य वाक्यस्य पूर्वोक्तार्थप्रसिद्धये ।
यदुच्यते तु वचनं निरुक्तं तदुदाहृतम् ॥' (नाट्यशास्त्र . १६ १६)

(२०—सिद्धि)

बहूनां कीर्तनं सिद्धिरभिप्रेतार्थसिद्धये ॥ १८६ ॥

यथा—

'यद्वीर्यं कूर्मराजस्य यश्च शेषस्य विक्रमः ।
पृथिव्या रक्षणे राजन्नेकत्र त्वयि तत्स्थितम् ॥'

(२१—भ्रंश)

दृप्तादीनां भवेद्भ्रंशो वाच्यादन्यतरद्वचः ।

यथा वेण्याम्—कञ्चुकिनं प्रति

'दुर्योधन'—

सहभृत्यगणं सबान्धवं सहमित्रं ससुतं सहानुजम् ।
स्वबलेन निहन्ति संयुगे नचिरात्पाण्डुसुतः सुयोधनम् ॥'

(२२—विपर्यय)

विचारस्यान्यथाभावः संदेहात्तु विपर्ययः ॥ १८७ ॥

यथा—

'मत्वा लोकमदातारं संतोषे यैः कृता मतिः ।
त्वयि राजनि ते राजन् तथा व्यवसायिनः ॥'

(२३—दाक्षिण्य)

दाक्षिण्यं चेष्टया वाचा परचित्तानुवर्तनम् ।

अनुवाद—'सिद्धि' वह कथन है जिसे एक अभिप्रेत अर्थ की सिद्धि के लिये अनेकों अभिप्रेत अर्थों का वर्णन कहा गया है। जैसे कि, इस सूक्ति अर्थात्—

'महाराज! पृथिवी के रक्षण में जो भी कूर्मावतार विष्णु का वीर्य है और जो भी शेषनाग का विक्रम है वह सब एक आप ही में एकत्रित है। में जो कथन है वह 'सिद्धि' है।

अनुवाद—'भ्रंश' वह कथन है जिसे 'किसी दृप्त व्यक्ति का किसी विषय के वर्णन के स्थान पर विषयान्तर का वर्णन करना' कहा करते हैं। जैसे कि 'वेणीसंहार' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'दुर्योधन (कञ्चुकी से)—अब शीघ्र ही संग्राम में क्या भृत्यवर्ग, क्या बन्धुबान्धव क्या मित्र और क्या अनुज—सबके साथ सुयोधन को पाण्डुपुत्र अपने पराक्रम से मार गिरा देगा!

में जो कथन है वह 'भ्रंश' है (क्योंकि क्षोभ में आकर दुर्योधन पाण्डवों को स्वयं मार डालने के बदले पाण्डवों द्वारा अपने मारे जाने का वर्णन कर डालता है)।

अनुवाद—'विपर्यय' वह कथन है जिसे संदेह के कारण पूर्वविचार का परिवर्तन कहा जाया करता है। जैसे कि, इस सूक्ति अर्थात्—

'महाराज! वे लोग जो यह सोचकर कि 'कोई भी ऐसा नहीं है जो दान दे सके' सन्तोष-साधन कर चुके थे अब आपके रहते अपना निश्चय बदल चुके हैं।

में जो कथन है वह 'विपर्यय' है।

अनुवाद—'दाक्षिण्य' वह कथन है जिसे चेष्टा अथवा वाणी द्वारा परचित्त के अनुवर्तन-वर्णन में देखा जा सकता है। जैसे कि इस सन्दर्भ अर्थात्—

वाचा यथा—

'प्रसाधय पुरीं लङ्कां राजा त्वं हि विभीषण !
आर्येणानुगृहीतस्य न विघ्नः सिद्धिमन्तरा ॥'

एवं चेष्टयाऽपि ।

(२४—अनुनय)

वाक्यैः स्निग्धैरनुनयो भवेदर्थस्य साधनम् ॥ १८८ ॥

यथा वेण्याम्—अश्वत्थामानं प्रति—

'कृपः—दिव्यास्त्रग्रामकोविदे भारद्वाजतुल्यपराक्रमे किं न संभाव्यते त्वयि ।'

(२५—माला)

माला स्याद्यदभीष्टार्थं नैकार्थप्रतिपादनम् ।

यथा शाकुन्तले—

'राजा—
किं शीकरैः क्लमविमर्दिभिरार्द्रवातं सञ्चारयामि नलिनीदलतालवृन्तम् ।
अङ्के निवेश्य चरणावुत पद्मताम्रौ संवाहयामि करभोरु ! यथासुखं ते ॥'

(२६—अर्थापत्ति)

अर्थापत्तिर्यदन्यार्थोऽर्थान्तरोक्तेः प्रतीयते ॥ १८९ ॥

यथा वेण्याम्—द्रोणोऽश्वत्थामानं राज्येऽभिषेक्तुमिच्छतीति कथयन्तं कर्णं प्रति—

'राजा—साधु अङ्गराज ! साधु, कथमन्यथा—

'राक्षसराज विभीषण ! अब तुम राजा हो, लङ्का की राजधानी अब तुम्हीं से शोभित होगी । भला आर्य राम का अनुग्रह हो और कार्यसिद्धि के बिना कोई विघ्न पड़ जाय !' में, 'वाणी' द्वारा परचित्तानुवर्तनात्मक 'दाक्षिण्य' स्पष्ट है ।

अनुवाद—'अनुनय' वह लक्षण है जिसे स्निग्ध वचनों द्वारा अभिप्रेत अर्थ का साधन कहा गया है । जैसे कि, 'वेणीसंहार' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'कृप—(अश्वत्थामा से) दिव्यास्त्रों के एक पण्डित और आचार्य द्रोण सरीखे पराक्रमी तुमसे क्या कुछ नहीं हो सकता ?'

आदि में 'अनुनय' नामक लक्षण का स्वरूप स्पष्ट है ।

अनुवाद—'माला' वह लक्षण है जिसे अभीष्ट के प्रतिपादक अनेक अभिप्रेत अर्थों का उपवर्णन कहा करते हैं । जैसे कि 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'राजा—प्रिये ! क्या शीतल जलबिन्दुओं से भिगोये नलिनीपत्र से तुझे पखा झलूँ ? क्या तेरे कमलसम कोमल चरणों को गोद में लेकर दबाऊँ, जिसमें तुझे अच्छा लगे ?'

इत्यादि में, जो लक्षण है वह 'माला' है ।

अनुवाद—'अर्थापत्ति' वह लक्षण है जिसे किसी एक वस्तु के वर्णन से, किसी दूसरी वस्तु का प्रकाशन कहा जाया करता है । जैसे कि 'वेणीसंहार' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'(कर्ण के यह कहने पर कि द्रोण अश्वत्थामा को राजा बनाना चाहते हैं) दुर्योधन—अङ्गराज ! बहुत ठीक कहा तुमने ! नहीं तो—

यस्यामयं सोऽतिरथो पश्यमानं किरीटिना ।
सिन्धुराजमुपेक्षेत नैव चेत्कथमन्यथा ॥'

(२७—गर्हण)

दूषणोद्घोषणायां तु भर्त्सना गर्हणं तु तत् ।

यथा तत्रैव—कर्णं प्रति—

'अश्वत्थामा—

निर्वीर्यं गुरुशापभाषितवशात्किं मे तवेवायुधं ?
सम्प्रत्येव भयाद्विहाय समरं प्राप्तोऽस्मि किं त्वं यथा ?
जातोऽहं स्तुतिवंशकीर्तनविदां किं सारथीनां कुले ?
क्षुद्रारातिकृताप्रियं प्रतिकरोम्यस्रेण नास्रेण यत् ?'

(२८—पृच्छा)

अभ्यर्थनापरैर्वाक्यैः पृच्छार्थान्वेषणं मता ॥ १९० ॥

यथा तत्रैव—

'सुन्दरकः—अज्जा, अवि णाम सारहिदुदिओ दिट्ठो तुम्हेहिं महाराओ दुर्योधणो ण वेत्ति ।' [आर्याः, अपि नाम सारथिद्वितीयो दृष्टो युष्माभिर्महाराजो दुर्योधनो न वेति]

(२९—प्रसिद्धि)

प्रसिद्धिर्लोकसिद्धार्थैरुत्कृष्टैरर्थसाधनम् ।

यथा विक्रमोर्वश्याम्—

वे अतिरथ आचार्य द्रोण सिन्धुराज (जयद्रथ) को स्वयं अभयदान देकर भी, क्योंकर चुपचाप बैठे रहे जब कि अर्जुन सिन्धुराज को मार रहा था ।'

आदि में जो कथन है वह 'अर्थापत्ति' है ।

अनुवाद—'गर्हण' वह कथन है जिसे 'दोषोद्घोषण होने पर भर्त्सना का प्रकाशन' कहा गया है । जैसे कि 'वेणीसंहार' के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'अश्वत्थामा (कर्ण के प्रति)—क्या गुरु के शाप-वचन से तुम्हारी तरह मेरा भी अस्त्र निर्वीर्य हो गया ? क्या मैं भी तुम्हारी तरह कभी संग्राम से भाग निकला हूँ ? क्या मैं भी तुम्हारी तरह राजवंशावली के गुणगायक सारथियों के कुल में जन्मा हूँ ? कि इन क्षुद्र शत्रुओं के अपकार का प्रतीकार अस्त्र से न देकर रोने-धोने से हूँ ?'

में जो कथन है वह 'गर्हण नामक कथन है ।

अनुवाद—'पृच्छा' वह कथन है जिसे अभ्यर्थनापरक वचनों से अभिमत अर्थ का अन्वेषण' कहा गया है । जैसे कि 'वेणीसंहार' के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'सुन्दरक—अरे भले लोगो ! क्या आपने सारथि के साथ महाराज दुर्योधन को इधर कहीं देखा है ?'

आदि में 'पृच्छा' नामक ही कथन स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है ।

अनुवाद—'प्रसिद्धि' वह लक्षण है जिसे किसी उत्कृष्ट और लोकप्रसिद्ध अर्थ के आधार पर किसी अभिमत अर्थ का साधन कहा गया है । जैसे कि 'विक्रमोर्वशीय' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'राजा—
सूर्याचन्द्रमसौ यस्य मातामहपितामहौ।
स्वयं कृतः पतिर्द्वाभ्यामुर्वश्या च भुवा च यः॥'

(३०—सारूप्य)

सारूप्यमनुरूपस्य सारूप्यात्क्षोभवर्धनम् ॥ १९१ ॥

यथा वेण्याम्—दुर्योधनभ्रान्त्या भीमं प्रति—
'युधिष्ठिरः—दुरात्मन्! दुर्योधनहतक!–' इत्यादि।

(३१—संक्षेप)

संक्षेपो यत्तु संक्षेपादात्मान्यार्थे प्रयुज्यते।

यथा मम चन्द्रकलायाम्—
'राजा—प्रिये!
अङ्गानि खेदयसि किं शिरीषकुसुमपरिपेलवानि मुधा।
(आत्मान निर्दिश्य—)
अयमीहितकुसुमानां सम्पादयिता तवास्ति दासजनः॥'

(३२—गुणकीर्तन)

गुणानां कीर्तनं यत्तु तदेव गुणकीर्तनम् ॥ १९२ ॥

यथा तत्रैव—
'नेत्रे खञ्जनगञ्जने सरसिजप्रत्यर्थि—' इत्यादि।

'राजा—मैं पूछ रहा हूँ। मैं वह हूँ जिसके मातामह और पितामह सूर्य और चन्द्र हैं और जिसे उर्वशी और पृथिवी, दोनों ने अपना पति वरण किया है।'
में, जो लक्षण है, वह 'प्रसिद्धि' नामक ही लक्षण है।

अनुवाद—'सारूप्य' वह लक्षण है जिसे 'किसी पूर्वानुभूत वस्तु का मन क्षोभकारक सारूप्यवर्णन' कहा गया है। जैसे कि 'वेणीसंहार' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'(दुर्योधन के भ्रम से भीम को लक्ष्यकर) युधिष्ठिर—नीच! महापतित दुर्योधन!' इत्यादि में जो कथासविधान का सौन्दर्य है वह 'सारूप्य' नामक लक्षण के ही कारण है।

अनुवाद—'संक्षेप' वह लक्षण है जिसे किसी अन्य पदार्थ के स्थान पर, संक्षेप के लिये, आत्मानुकीर्तन कहा गया है। जैसे कि मेरी अपनी कृति 'चन्द्रकला' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'राजा—प्रिये! शिरीषकुसुम की भाँति कोमल अपने अङ्गों को तू क्योंकर कष्ट दे रही है?
(अपने आप को निर्दिष्टकर) तेरे मनचाहे फूलों को चुनने के लिये तो तेरा यह दास खड़ा ही है।'
में, जो लक्षण है वह 'संक्षेप' ही है।

अनुवाद—'गुणकीर्तन' वह लक्षण है जिसे गुणों का उपवर्णन कहा गया है।
जैसे कि मेरी अपनी कृति 'चन्द्रकला' की 'नेत्रे खञ्जनगञ्जने सरसिजप्रत्यर्थि' आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति 'गुणकीर्तन' का ही दृष्टान्त है।

(३३—लेश)

स लेशो भण्यते वाक्यं यत्सादृश्यपुरःसरम् ।

यथा वेण्याम्—

'राजा—

'हते जरति गाङ्गेये पुरस्कृत्य शिखण्डिनम् ।
या श्लाघा पाण्डुपुत्राणां सैवाऽस्माकं भविष्यति ॥'

(३४—मनोरथ)

मनोरथस्त्वभिप्रायस्योक्तिर्भङ्ग्यन्तरेण यत् ॥ १९३ ॥

यथा—

'रतिकेलिकलः किंचिदेष मन्मथमन्थरः ।
पश्य सुभ्रु ! समालम्बात्कादम्बश्चुम्बति प्रियाम् ॥'

(३५—अनुक्तसिद्धि)

विशेषार्थोहविस्तारोऽनुक्तसिद्धिरुदार्यते ।

यथा—

'पुष्पदूषितकायाम्—

इमावेतौ तन्वि ! यावेतौ चारुचन्द्रमसं प्रति ।
प्राज्ञे कल्याणनामानावुभौ तिष्यपुनर्वसू ॥'

अनुवाद—'लेश' वह कथन है जिसे सादृश्यप्रकाशनसमर्थ वाक्य का उपन्यास कहा जाया करता है। जैसे कि 'वेणीसंहार' की इस सूक्ति अर्थात्—

'राजा—अभिमन्यु के मारने पर हमारी भी वही प्रशंसा होगी जो शिखण्डी को आगे कर भीष्म के मारने पर पाण्डुपुत्रों की प्रशंसा हुई।'

में जो कथन है वह 'लेश' है।

अनुवाद—'मनोरथ' वह कथन है जिसे किसी अभिमत अभिप्राय का, विचित्रता के साथ प्रकाशन कहा गया है। जैसे कि इस सूक्ति अर्थात्—

'अरी सुन्दरी ! रतिकेलि में मधुर कूजन करनेवाला किंवा काममोहित यह हंस आनन्द के साथ हंसी का चुम्बन करता दिखाई दे रहा है।

में जो कथन है वह 'मनोरथ' है।

अनुवाद—'अनुक्तसिद्धि' वह कथन है जिसे किसी (अवर्णित भी) अर्थविशेष का ऊह अथवा तर्कणा द्वारा विस्तार कहा गया है। जैसे कि 'पुष्पदूषितका' के इस संदर्भ अर्थात्—

बुद्धिमति सीते ! कान्तिमान् चन्द्र के समीप जो ये दो दिखायी दिया करते हैं वही ही स्वनामधन्य 'तिष्य' और 'पुनर्वसु' कहा करते हैं।

में जो कथन है वह 'अनुक्तसिद्धि' ही है (क्योंकि यहाँ विश्वामित्र, राम और लक्ष्मण। अवर्णित भी अभिप्राय ऊह द्वारा ही विसदृश्य से प्रतीत हो जाता है)।

(३६—प्रियोक्ति-प्रियवचन)

स्यात्प्रयाणयितुं पूज्यं प्रियोक्तिर्हर्षभाषणम् ॥ १९४ ॥

यथा शाकुन्तले—

'उदेति पूर्वं कुसुमं ततः फलं घनोदयः प्राक्तदनन्तरं पयः ।
निमित्तनैमित्तिकयोरयं विधिस्तव प्रसादस्य पुरस्तु सम्पदः ॥'

(नाट्यालङ्कार : नामनिर्देश)

अथ नाट्यालङ्काराः—

आशीराक्रन्दकपटाक्षमागर्वोद्यमाश्रयाः ।
उत्प्रासनस्पृहाक्षोभपश्चात्तापोपपत्तयः ॥ १९५ ॥
आशंसाध्यवसायौ च विसर्पोल्लेखसंज्ञितौ ।
उत्तेजनं परीवादो नीतिरर्थविशेषणम् ॥ १९६ ॥
प्रोत्साहनं च साहाय्यमभिमानोऽनुवर्तनम् ।
उत्कीर्त्तनं तथा याच्ञा परिहारो निवेदनम् ॥ १९७ ॥
प्रवर्तनाख्यानयुक्तिप्रहर्षाश्चोपदेशनम् ।
इति नाट्यालङ्कृतयो नाट्यभूषणहेतवः ॥ १९८ ॥

विमर्श—नाट्यशास्त्र की 'अनुक्तसिद्धि' परिभाषा यह है—

'प्रस्तावेनैव शेषोऽर्थः कृत्स्नो यत्र प्रतीयते ।
वचनेन विनाऽनुक्तसिद्धिः सा परिकीर्तिता ॥' (नाट्यशास्त्र १६. ४०)

अनुवाद—'प्रियोक्ति' (प्रियवचन) वह लक्षण है जिसे पूज्य लोगों की विज्ञापना के लिये आनन्दजनक भाषण कहा गया है। जैसे कि 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'संसार में कारण और कार्य का यही नियम है कि पहले फूल फूलता है तब फल निकलता है, पहले मेघ मँडराते हैं तब वर्षा होती है। किन्तु महर्षि कण्व के अनुग्रह और भक्तजनों के कल्याण में यह लौकिक कार्यकारणभाव लागू ही नहीं होता।'

में, जो 'लक्षण' है वह 'प्रियोक्ति' है।

विमर्श—क्या नाट्य और क्या काव्य—सर्वत्र कथाशरीर के संविधान में आलाप-संलाप का वैदग्ध्य स्पष्ट परिलक्षित हुआ करता है। यह सब वस्तुतः तो कर्त्तव्य-कर्म ही है किन्तु शब्दार्थ व्यापार के रूप में ही इसका प्रकाशन हुआ करता है। 'प्रियोक्ति' भी इसी कथाशरीर-संविधान के उपयुक्त सम्भाषण वैदग्ध्य का एक रूप है।

अनुवाद—नाट्यालङ्कार ये हैं जो कि नाट्य के शोभाधायक हुआ करते हैं—

(१) आशी, (२) आक्रन्द, (३) कपट, (४) अक्षमा, (५) गर्व, (६) उद्यम, (७) आश्रय, (८) उत्प्रासन, (९) स्पृहा, (१०) क्षोभ, (११) पश्चात्ताप, (१२) उपपत्ति, (१३) आशंसा, (१४) अध्यवसाय, (१५) विसर्प, (१६) उल्लेख, (१७) उत्तेजन, (१८) परीवाद, (१९) नीति, (२०) अर्थविशेषण, (२१) प्रोत्साहन, (२२) साहाय्य, (२३) अभिमान, (२४) अनुवर्तन, (२५) उत्कीर्तन, (२६) याच्ञा, (२७) परिहार, (२८) निवेदन, (२९) प्रवर्त्तन, (३०) आख्यान, (३१) युक्ति, (३२) प्रहर्ष और (३३) उपदेशन।

(१—आशीः)

आशीरिष्टजनाशंसा—

यथा शाकुन्तले—

'ययातेरिव शर्मिष्ठा भर्तुर्बहुमता भव ।
पुत्रं त्वमपि सम्राजं सेव पूरुमवाप्नुहि ॥'

(२—आक्रन्द)

—आक्रन्दः प्रलपितं शुचा ।

विमर्श—भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के १६ वें अध्याय में ३६ नाट्यलक्षणों (अथवा नाट्य भूषणों) का निरूपण है। प्राचीन काल से ही इस अध्याय का पाठभेद चला आ रहा है। कुछ नाट्यशास्त्रकारों ने एक पाठ अपनाया है और कुछ ने दूसरा। १२ वीं शताब्दी के भोजराज ने दोनों पाठों को अपनाकर नाट्यलक्षण की संख्या दूनी कर दी है। साहित्यदर्पणकार ने दोनों पाठों को अपनाकर एक के आधार पर ३६ नाट्यलक्षण और दूसरे के आधार पर ३३ नाट्यालङ्कारों की कल्पना की है। 'अभिनवभारती' के अनुशीलन करनेवालों को यह स्पष्ट हो जाता है कि—'नाट्यालङ्कार' और 'नाट्यलक्षण' की पृथक् कल्पना कुछ ऐसी है जिसके सम्बन्ध में निःसन्दिग्ध विमर्श संभवतः कहीं नहीं हुआ है। भरतमुनि के अनुसार तो 'लक्षण' काव्यगत के लक्षण हैं (काव्यबन्धास्तु कर्तव्याः षट्त्रिंशल्लक्षणान्विताः—नाट्यशास्त्र १६.१६९) और 'काव्य विभूषण' का अभिप्राय रखते हैं किन्तु भरतमुनि के अनुयायियों में 'लक्षण' के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न मत प्रचलित रहे हैं। श्री भट्टनीत तथा अभिनवगुप्ताचार्य तो 'लक्षण' का सम्बन्ध 'काव्य' से मानते हैं किन्तु, भोजराज शारदातनय विश्वनाथ कविराज आदि के अनुसार 'लक्षण' का सम्बन्ध 'नाट्य' से है। इसके अतिरिक्त कतिपय नाट्यशास्त्रकार 'लक्षण' और 'अलङ्कार' को भिन्न भिन्न नाट्यधर्मों के रूप में देखते हैं और कतिपय ऐसे हैं जिन्होंने 'लक्षण' को 'अलङ्कार' (विभूषण) का ही समानार्थक मान लिया है। विश्वनाथ कविराज ने अपने सभी पूर्वाचार्यों के 'लक्षण' और 'अलङ्कार'विषयक मतों का सामञ्जस्य स्वीकार कर ३६ नाट्यलक्षणों और ३३ नाट्यालङ्कारों का निरूपण कर डाला है। 'भावप्रकाशन'कार शारदातनय के प्रभाव में विश्वनाथ कविराज ने नाट्य के 'लक्षण' और 'अलङ्कार' का विवेचन किया है। विश्वनाथ कविराज के निर्दिष्ट 'गर्व' 'उत्प्रासन' 'आशंसा' 'अध्यवसाय' 'विसर्प' 'उल्लेख' 'साहाय्य' 'अनुवर्तन' 'उत्तेजन' 'उपदेशन' और 'प्रवर्तन' नामक नाट्यालङ्कार (अथवा 'नाट्यलक्षण') भरत नाट्यशास्त्र 'नाट्यदर्पण' 'दशरूपक' आदि में कहीं नहीं उपलब्ध होते। 'भावप्रकाशन' के आधार पर इस रूप में सम्भवतः इनका पूर्वनिर्देश हुआ हो। जो कुछ भी हो 'लक्षण' अथवा 'अलङ्कार' का विस्पष्ट विवेचन विश्वनाथ कविराज ने भी नहीं किया। इनके 'भेद' और 'अभेद' और 'भेदाभेद' की विवेचना विश्वनाथ कविराज के भी सामने पूर्ववत् ही (अव्यक्त रूप से) जटिल दिखायी दे रही है।

अनुवाद—'आशीः' वह नाट्यालङ्कार है जिसे इष्टजन की आशंसा अथवा शुभ-कामना कहा गया है। जैसे कि, 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के इस सन्दर्भ अर्थात्—

"जैसे महाराज ययाति के लिये महारानी शर्मिष्ठा रही वैसे ही अपने पति के लिये तू हो जा और जैसे महारानी शर्मिष्ठा ने सम्राट् पुरु को जन्म दिया वैसे ही तू भी एक सम्राट् पुत्र से पुत्रवती हो।"

में जो नाट्यालङ्कार है वह 'आशीः' है।

अनुवाद—'आक्रन्द' वह नाट्यालङ्कार है जिसे शोकादि के आवेग के कारण प्रलाप

यथा वेण्याम्—

'कञ्चुकी—हा देवि ! कुन्ति ! राजभवनपताके !—' इत्यादि ।

(३—कपट)

कपटं मायया यत्र रूपमन्यद्विभाव्यते ॥ १९९ ॥

यथा कुलपत्यङ्के—

'मृगरूपं परित्यज्य विधाय कपटं वपुः ।
नीयते रक्षसा तेन लक्ष्मणो युधि संशयम् ॥'

आदि के उपवर्णन में देखा जा सकता है। जैसे कि, 'वेणीसंहार' के इस प्रसंग अर्थात्—

'कञ्चुकी—हा देवि ! कुन्ति ! हा राजभवनपताके !' आदि में 'आक्रन्द' की ही शोभाधायकता दिखाई देती है।

विमर्श—नाट्यशास्त्र के एक पाठ का 'आक्रन्द' लक्षण यह है—

'आत्मभावमुपन्यस्य परसादृश्यमुक्तिभिः ।
तीव्रार्थभाषणं यत्स्यादाक्रन्दः स तु कीर्तितः ॥'

जिसकी 'अभिनवभारती'-सम्मत व्याख्या यह है—

तीव्रः साक्षादवाच्यो योऽर्थस्तस्य परं प्रति सादृश्ययोजनप्रकारैरात्माभिप्रायं प्रमुखे दत्त्वा तत्समन्ततः भाषणं स्फुटकथनं तन्निजभावाविष्करणप्रधानत्वादाक्रन्दो नाम लक्षणम्। यथा ममैव—

'किं पान्थ त्वरसे विलोकय निशां या ह्युन्मुखी पाण्डुरा
चन्द्रं चुम्बितुमीहते प्रकटयन्त्यग्रे सरागां स्थितिम् ।
यद्वा नागरभोगदुर्ललितकैर्न्यस्तापि न ज्ञायते
ग्रामेऽग्राम्यजनोपभोगसुभगं निर्व्याजरम्यं सुखम् ॥'

अत्रोत्तरेणार्धेन ग्रामीणो रम्यतमो भोजनशयनादिसम्भोग इति वक्त्र्या मोहप्रायोऽवाच्य आत्माभिप्रायः । तदरोचकत्वं तदुभयं प्रमुखे निधाय निशाकरवृत्तान्तसादृश्येन तीव्रः स्वात्मानुराग आविष्कृतः'— (अभिनवभारती नाट्यशास्त्र १६. १९)

यहाँ यह स्पष्ट है कि साहित्यदर्पणकार ने इस 'आक्रन्द' लक्षण का अनुसरण नहीं किया है अपितु 'भोजराज' तथा 'शारदातनय' के इस आक्रन्दस्वरूप अर्थात्—

'आक्रन्दोऽभीष्टविषयः शोकलाभ उदाहृतः'

का ही दर्शन किया है।

अनुवाद—'कपट' वह नाट्यालङ्कार है जिसे व्याजपूर्वक किसी वस्तु के एक भिन्न रूप का प्रकाशन कहा गया है। जैसे कि 'कुलपत्यङ्क' (किसी नाटक के अङ्कविशेष) की इस सूक्ति अर्थात्—

'मारीच ने अपना मृगरूप छोड़कर राक्षसरूप ग्रहण कर लिया है और वह संग्राम में लक्ष्मण को प्राणसंशय में डाल रहा है।'

में, जो नाट्यालङ्कार है वह 'कपट' है।

विमर्श—नाट्यशास्त्र का 'कपट' लक्षण यह है—

'छलमुक्त्वा त्वन्येषामभिसन्धानाभिभावकं कपटम् ।' (नाट्यशास्त्र १६. ३०)

(७—अक्षमा)

अक्षमा सा परिभवः स्वल्पोऽपि न विषह्यते ।

यथा शाकुन्तले—

'राजा—भो सत्यवादिन् ! अभ्युपगतं तावदस्माभि । किं पुनरिमामभिसन्धाय लभ्यते ।

शार्ङ्गरवः—विनिपातः—' इत्यादि ।

(८—गर्व)

गर्वोऽवलेपजं वाक्यं—

यथा तत्रैव—

'राजा—ममापि नाम सत्त्वैरभिभूयन्ते गृहाः ।'

(९—उद्यम)

—कार्यस्यारम्भ उद्यमः ॥ २०० ॥

यथा कुम्भाङ्के—

'रावणः—पश्यामि शोकविवशोऽन्तकमेव तावत् ।'

(१०—आश्रय)

ग्रहणं गुणवत्कार्यहेतोराश्रय उच्यते ।

यथा विभीषणनिर्भर्त्सनाङ्के—

'विभीषणः—राममेवाश्रयामि' इति ।

अनुवाद—'अक्षमा' वह नाट्यालङ्कार है जिसमें तिरस्कार भी असहन की असहनशीलता का वर्णन किया गया है। जैसे कि 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'राजा—अरे सत्यवादी मुनिराज ! मैंने समझ लिया कि मैं अपराधी ठहरा। लेकिन इस नारी को अपनाने से मुझे क्या मिलेगा, यह नहीं समझ सका !

शार्ङ्गरव—सर्वनाश मिलेगा महाराज ! सर्वनाश ।

इत्यादि में अक्षमा की व्यावहारिकता इतिवृत्त को सुन्दर बना रही है।

अनुवाद—'गर्व' वह नाट्यालङ्कार है जिसमें अभिमानपूर्वक किसी वचन का उपनिबन्ध किया गया है। जैसे कि 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'राजा—आह ! मेरे घर पर भी जीवजन्तुओं का आक्रमण !'

आदि में 'गर्व' ही नाट्यालङ्कार के रूप में दिखाई दे रहा है।

अनुवाद—'उद्यम' वह नाट्यालङ्कार है जिसमें कार्यारम्भ का वर्णन किया गया है। जैसे कि 'कुम्भाङ्क' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'रावण—इन्द्रजित् न रहा, मैं अब अपने आप ही साक्षात् यमराज के रूप में देख रहा हूँ।'

आदि में 'उद्यम' का स्वरूप स्पष्ट है।

अनुवाद—'आश्रय' वह नाट्यालङ्कार है जिसमें कार्यसिद्धि के लिए गुणयुक्त व्यक्ति के आश्रय लेने का वर्णन आदि किया गया है। जैसे कि 'विभीषणनिर्भर्त्सनाङ्क' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

(८—उत्प्रासन)

उत्प्रासनं तूपहासो योऽसाधौ साधुमानिनि ॥ २०१ ॥

यथा शाकुन्तले—

'शार्ङ्गरवः—राजन्! अथ पुनः पूर्ववृत्तान्तमन्यसङ्गाद्विस्मृतो भवान्। तत्कथमधर्मभीरोर्दारपरित्यागः—' इत्यादि।

(९—आकाङ्क्षा)

आकाङ्क्षा रमणीयत्वाद्वस्तुनो या स्पृहा तु सा।

यथा तत्रैव—

'राजा—

चारुणा स्फुरितेनायमपरिक्षतकोमलः।
पिपासतो ममानुज्ञां ददातीव प्रियाधरः ॥'

(१०—क्षोभ)

अधिक्षेपवचःकारी क्षोभः प्रोक्तः स एव तु ॥ २०२ ॥

यथा—

'त्वया तपस्विचाण्डाल! प्रच्छन्नवधवर्तिना।
न केवलं हतो वाली स्वात्मा च परलोकतः ॥'

'विभीषण—अच्छी बात है अब मैं राम की शरण लूँगा।'
आदि में, 'आश्रय' ही इतिवृत्त-सौन्दर्य का वर्द्धक है।

अनुवाद—'उत्प्रासन' वह नाट्यालङ्कार है जिसे अपने आप को सज्जन माननेवाले किसी दुर्जन के उपहास को वर्णन कहा गया है। जैसे कि 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'शार्ङ्गरव—राजन्! यदि पहली बातें (शकुन्तला से अपना गान्धर्वविवाह) आप कार्यव्यग्र होने के कारण भूल गये हैं तब भी अधर्म से डरनेवाले आपका यह धर्मपत्नी-परित्याग कैसा?'
आदि में, 'उत्प्रासन' ही इतिवृत्त का उपरञ्जक अलङ्कार है।

अनुवाद—'आकांक्षा' वह नाट्यालङ्कार है जिसे किसी वस्तु की मनोहरता के कारण उसकी लालसा का वर्णन कहा गया है। जैसे कि 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'राजा—अब तक अचुम्बित होने के कारण अतिशय कोमल प्रियाधर की यह सुन्दर फड़कन, ऐसा लगता है, मुझे रसपान की अनुज्ञा सी दे रही है।'
आदि में 'आकांक्षा' का ही उपनिबन्ध है।

अनुवाद—'क्षोभ' वह नाट्यालङ्कार है जिसे अधिक्षेपार्थक वचन का उपन्यास कहा गया है। जैसे कि, इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'अरे तपस्वि-चाण्डाल! राम! छिपकर मारनेवाले तूने मुझ वाली को ही नहीं मारा, अपने आपको भी परलोक के लिये नष्ट कर दिया।'
आदि में, इतिवृत्त का जो अलङ्कार है वह 'क्षोभ' ही है।

(११—पश्चात्ताप)

मोहावधीरितार्थस्य पश्चात्तापः स एव तु।

यथानुतापाङ्के—

'रामः—

किं देव्या न विचुम्बितोऽस्मि बहुशो मिथ्याभिशप्तस्तदा।' इति।

(१२—उपपत्ति)

उपपत्तिर्मता हेतोरुपन्यासोऽर्थसिद्धये ॥ २०१ ॥

यथा चम्पशिखायाम्—

'म्रियसे म्रियमाणे या त्वयि जीवति जीवति।
तां यदीच्छसि जीवन्तीं रक्षात्मानं ममासुभिः ॥'

(१३—आशंसा)

आशंसनं स्यादाशंसा—

यथा श्मशाने—

'माधवः—

तत्पश्येयमनङ्गमङ्गलगृहं भूयोऽपि तस्या मुखम्।' इति ॥

(१४—अध्यवसाय)

—प्रतिज्ञाध्यवसायकः।

यथा मम प्रभावत्याम्—

अनुवाद—'पश्चात्ताप' वह नाट्यालङ्कार है जिसे मोहवश अवधीरित वस्तु के लिये अनुताप का वर्णन कहा गया है। जैसे कि 'अनुतापाङ्क' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'राम—ओह! सीता ने मुझ पर कितने प्रेमापराध लगाये, मेरा चुम्बन भी उसने स्वीकार न किया!'

आदि में, जो नाट्यालङ्कार है वह 'पश्चात्ताप' है।

अनुवाद—'उपपत्ति' वह नाट्यालङ्कार है जिसे कार्यसिद्धि के लिये उपयुक्त साधन का उपन्यास कहा गया है। जैसे कि, 'चम्पशिखा' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'जो तेरे मरने पर मर जायगी और जीने पर जीती रहेगी, उसे यदि जीवित रखना चाहता हो तो मेरे प्राण से अपने आपको बचा ले।'

आदि में जो नाट्यालङ्कार है वह 'उपपत्ति' है।

अनुवाद—'आशंसा' वह नाट्यालङ्कार है जिसे अभिलषित वस्तु की प्राप्ति के लिये आशा का वर्णन कहा गया है। जैसे कि 'मालतीमाधव' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'माधव—यदि मैं काम के मङ्गलावास प्रियामुख को बारंबार देखता तो कैसा अच्छा होता!

आदि में जो नाट्यालङ्कार है वह 'आशंसा' है।

अनुवाद—'अध्यवसाय' वह नाट्यालङ्कार है जिसे किसी कार्य पर आरूढ़ होने के निश्चय का वर्णन कहा गया है। जैसे कि, मेरी अपनी कृति 'प्रभावतीपरिणय' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'वज्रनाभः—

अस्य वक्षः क्षणेनैव निर्मथ्य गदयानया।
लीलयोन्मूलयाम्येष भुवनद्वयमद्य वः॥'

(१५—विसर्प)

विसर्पो यत्समारब्धं कर्मानिष्टफलप्रदम्॥ २०४॥

यथा वेण्याम्—

'एकस्यैव विपाकोऽयम्—' इत्यादि।

(१६—उल्लेख)

कार्यग्रहणमुल्लेखः—

यथा शाकुन्तले—राजानं प्रति—

'तापसौ—समिदाहरणाय प्रस्थितावावाम्। इह चास्मद्गुरोः कण्वस्य कुलपतेः साधिदैवत इव शकुन्तलयानुमालिनीतीरमाश्रमो दृश्यते। न चेदन्य-(था)कार्यातिपातः, प्रविश्य गृह्यतामतिथिसत्कारः' इति।

(१७—उत्तेजन)

—उत्तेजनमितीष्यते।

स्वकार्यसिद्धयेऽन्यस्य प्रेरणाय कठोरवाक्॥ २०५॥

यथा—

'इन्द्रजिच्चण्डवीर्योऽसि नाम्नैव बलवानसि।
धिग्धिक्प्रच्छन्नरूपेण युध्यसेऽस्मद्भयाकुलः॥'

'वज्रनाभ— क्षणभर में अपनी इस गदा से इसकी छाती चूर-चूरकर अब मैं दोनों लोकों का समूलोन्मूलन कर दिखाता हूँ।'
आदि में, जो 'अलङ्कार' है वह 'अध्यवसाय' ही है।

अनुवाद—'विसर्प' वह नाट्यालङ्कार है जिसे किसी अनिष्टकारक कार्यारम्भ का उपवर्णन कहा गया है।

जैसे कि 'वेणीसंहार' के प्रसङ्ग 'एकस्यैव विपाकोऽयम्' आदि में जो नाट्यालङ्कार है वह 'विसर्प' ही है।

अनुवाद—'उल्लेख' वह नाट्यालङ्कार है जिसे किसी कार्य के करने की स्वीकृति का वर्णन कहा गया है। जैसे कि 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'दोनों तापस (राजा से)—हम दोनों तो समिधा लाने निकले हैं। यहाँ मालिनी-तीर पर साक्षात् देवी की भाँति शकुन्तला के संरक्षण में, हमारे कुलपति कण्व का आश्रम है। यदि आपको कोई विशेष कार्य न हो, तो वहाँ चलें और हमारा आतिथ्य स्वीकार करें।' आदि में जो नाट्यालङ्कार है वह 'उल्लेख' है।

अनुवाद—'उत्तेजन' वह नाट्यालङ्कार है जिसे अपनी कार्यसिद्धि के निमित्त, किसी दूसरे को प्रेरित करने के लिये, कठोर वचन का उपन्यास कहा गया है। जैसे कि इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'इन्द्रजित्, तू तो प्रचण्डवीर्य है, तेरे नाम से ही तेरी शक्ति का महत्त्व स्पष्ट हुआ

(१८—परीवाद)

भर्त्सना तु परीवादो—

यथा सुन्दराङ्के—

'दुर्योधनः—धिग् धिग् सूत! किं कृतवानसि।

वत्सस्य मे प्रकृतिदुर्ललितस्य पापः पापं विधास्यति—'इत्यादि।

(१९—नीति)

—नीतिः शास्त्रेण वर्तनम्।

यथा शाकुन्तले—

'दुष्यन्तः—विनीतवेषप्रवेश्यानि तपोवनानि।' इति।

(२०—अर्थविशेषण)

उक्तस्यार्थस्य यत्तु स्यादुत्कीर्तनमनेकधा ॥ २०६ ॥

उपालम्भविशेषेण तत् स्यादर्थविशेषणम्।

यथा शाकुन्तले राजानं प्रति—

'शार्ङ्गरवः—आः कथमिदं नाम, किमुपन्यस्तमिति? ननु भवानेव नितरां लोकवृत्तान्तनिष्णातः।

सतीमपि ज्ञातिकुलैकसंश्रयां जनोऽन्यथा भर्तृमतीं विशङ्कते।
अतः समीपे परिणेतुरिष्यते प्रियाप्रिया वा प्रमदा स्वबन्धुभिः ॥'

करता है, कितने दुःख की बात है कि तब भी तू मुझसे डर रहा है और छद्मरूप में मुझसे बचना चाहता है!'
आदि में जो नाट्यालङ्कार है वह 'उत्तेजन' है।

अनुवाद—'परीवाद' वह नाट्यालङ्कार है जिसे भर्त्सनायुक्त वचन का उपनिबन्ध कहा गया है। जैसे कि (वेणीसंहार के) 'सुन्दराङ्क' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'दुर्योधन—धिक्कार है तुझ सारथी को! यह तूने क्या किया? ओह! अब तो वह नीच भीम मेरे प्रिय अनुज दुःशासन को मार ही डालेगा।
आदि में जो नाट्यालङ्कार है वह 'परीवाद' ही है जो कि यहाँ इतिवृत्त को सुन्दर बना रहा है।

अनुवाद—'नीति' वह नाट्यालङ्कार है जिसे शास्त्रानुसरण का वर्णन कहा गया है। जैसे कि 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'दुष्यन्त—तपोवन के भीतर चलना है। ऐसे वेष में चलना होगा जिसमें नम्रता झलके।
आदि में जो नाट्यालङ्कार-योजना है वह 'नीति' की ही योजना है।

अनुवाद—'अर्थविशेषण' वह नाट्यालङ्कार है जिसे पूर्वोक्त भी अर्थ का, उपालम्भ के अभिप्राय से अनेकबार पुनर्वचन कहा गया है। जैसे कि, 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'शार्ङ्गरव (राजा से)—ओह! क्या तुमने कहा कि 'यह सब क्या?' अरे लोक-वृत्तान्तनिपुण तुम्हारे जैसे राजा लोग होंगे इस बात से अनभिज्ञ भला ऐसे कहाँ—

देखा तो यही जाता है कि लोग, सती भी सधवा स्त्री पर, यदि वह अपने माता-पिता के घर ही रहती रहे, तरह तरह की शंकाएँ करने लगते हैं। इसीलिए सभी माता-पिता यही

(२१—प्रोत्साहन)

प्रोत्साहनं स्यादुत्साहगिरा कस्यापि योजनम् ॥ २०७ ॥

यथा बालरामायणे—

'कालरात्रिकरालेयं स्त्रीति किं विचिकित्ससि ।
तज्जगत्त्रितय त्रातुं तात ! ताडय ताडकाम् ॥'

(२२—साहाय्य)

साहाय्यं सङ्कटे यत्स्यात् सानुकूल्यं परस्य च ।

यथा वेण्याम्—कृप प्रति—

'अश्वत्थामा—त्वमपि तावद्राज्ञः पार्श्ववर्ती भव ।
कृपः—वाञ्छाम्यहमद्य प्रतिकर्तुम्–' इत्यादि ।

(२३—अभिमान)

अभिमानः स एव स्यात्—

यथा तत्रैव—

'दुर्योधनः—मातः किमप्यसदृशं कृपण वचस्ते—' इत्यादि ।

चाहते हैं कि उनकी विवाहिता पुत्री, चाहे वह अपने पति की प्यारी हो या न हो, पति के पास ही रहे ।'

आदि में जो, नाट्यालङ्कार हैं वह 'अर्थविशेपण' है ।

अनुवाद—'प्रोत्साहन' वह नाट्यालङ्कार है जिसे किसी को किसी कार्यसिद्धि की ओर प्रवृत्त करने के लिये, उत्साहवर्धक वचन का विन्यास कहा गया है । जैसे कि (महाकवि राजशेखरकृत) 'बालरामायण' के इस सदर्भ अर्थात्—

'तात ! यह ताडका स्त्री नहीं, कालरात्री सी एक विभीषिका है । त्रिभुवन की रक्षा के लिये इसे मारना ही उचित है ।'

आदि में, जो नाट्यालङ्कार है वह 'प्रोत्साहन' है ।

विमर्श—नाट्यशास्त्र के अनुसार 'प्रोत्साहन' का यह स्वरूप है—

'उत्साहजननै स्पष्टैरर्थैरौपम्यसंश्रयै ।
प्रसिद्धैरुपगूढै च ज्ञेय प्रोत्साहन बुधै ॥' (नाट्यशास्त्र २६ १०)

जिसकी 'अभिनवभारती' व्याख्या स यह स्पष्ट हो जाता है कि 'प्रोत्साहन' के द्वारा काव्य-नाट्य के इतिवृत्तशरीर का सौन्दर्य निखारा जाया करता है ।

अनुवाद—'साहाय्य' वह नाट्यालङ्कार है जिसे सङ्कटकाल में किसी दूसरे के प्रति सहायता का उपवर्णन कहा गया है । जैसे कि 'वेणीसहार' के इस सदर्भ अर्थात्—

'अश्वत्थामा (कृप से)—आप भी अब महाराज के समीप पहुँचे ।

कृप—मैं भी चाहता हूँ कि शत्रुओं से बदला ले लूँ ।'

आदि में, जो नाट्यालङ्कार है वह 'साहाय्य' है ।

अनुवाद—'अभिमान' वह नाट्यालङ्कार है जिसे अभिमानसूचक वाक्य-प्रयोग कहा गया है । जैसे कि 'वेणीसहार' के इस सदर्भ अर्थात्—

'दुर्योधन—माँ ! तुम्हारी बात (अर्थात् पाण्डवों को साथ देने की बात) बड़ी दीनताभरी और तुम्हारे लिये सर्वथा अनुचित सी लग रही है ।'

(२७—अनुवर्तन)

—प्रश्रयादनुवर्तनम् ॥ २०८ ॥

अनुवृत्तिः—

यथा शाकुन्तले—

'राजा—(शकुन्तलां प्रति) अपि ! तपो वर्धते ?

अनसूया—दाणिं अदिधिविसेसलाहेण' [इदानीमतिथिविशेषलाभेन] इत्यादि।

(२८—उत्कीर्तन)

—भूतकार्याख्यानमुत्कीर्तनं मतम् ।

यथा बालरामायणे—

'अत्रासीत्फणिपाशबन्धनविधिः शक्त्या भवद्देवरे।

गाढं वक्षसि ताडिते हनुमता द्रोणाद्रिरत्राहृतः ।' इत्यादि।

आदि में जो नाट्यालङ्कार है वह अभिमान है।

विमर्श—नाट्यशास्त्र में अभिमान की यह परिभाषा है—

कार्यमाणस्तु बहुभिर्वचनैः कार्ययुक्तिभिः।

न या पर्यवतिष्ठेत सोऽभिमानस्तु संज्ञितः ॥ (नाट्यशास्त्र १६, ८)

और अभिनवभारतीकार ने इसे 'अभिमान' कहकर इस स्वरचित सूक्ति अर्थात्—

'सीतावोरसुतप्रभुः यदि कथाः कस्मात्तनो मे कृतं

संपत्स्यन्त्यत्र [illegible]।

किं प्राणान् न हरन्तु [illegible]

सीदन्ते किन्तु पक्षिमोहविवशात् [illegible] ॥'

के आधार पर इसे इस प्रकार समझाया है—

'अत्र हि तावत्सर्वस्यार्थेन करणा कृता यस्यां कार्ययुक्तिभिः [illegible] " "

कार्यमाणोऽपि या न निवर्तते ।' 'तथाभूतोऽर्थोऽभिमानः' [illegible]

जिससे ऐसा लगता है जैसे नाट्यालङ्कारों का नाम भी आचार्य-भेद से भिन्न-भिन्न होता चला गया है।

अनुवाद—'अनुवर्तन' वह नाट्यालङ्कार है जिसे विनयपूर्वक किसी के सत्कारादि का वर्णन कहा जाया करता है।

जैसे कि 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के इस सन्दर्भ अर्थात्—

'राजा (शकुन्तला से) कहिये आप की तपस्या तो निर्विघ्न चल रही है !

अनसूया—अब विशेषतया, जब कि आप जैसे अतिथिविशेष मिल गये हैं।'

आदि में 'अनुवर्तन' का ही स्वरूप स्पष्ट है।

अनुवाद—'उत्कीर्तन' वह नाट्यालङ्कार है जिसे भूतपूर्व कार्यों अथवा वृत्तान्तों का उपवर्णन कहा गया है। जैसे कि, इस सन्दर्भ अर्थात्—

'यही वह स्थान है जहाँ हम लोग नागपाश में बाँधे गये थे यह वह स्थान है जहाँ तुम्हारे देवर की छाती में मेघनाद की शक्ति (अस्त्रविशेष) ने चोट की थी और हनुमान् जिनके लिए द्रोणाचल (के साथ-साथ सञ्जीवनी बूटी) उठा लाये थे।'

आदि में जो नाट्यालङ्कार है वह 'उत्कीर्तन' है।

(२६—याच्ञा)

याच्ञा तु क्वापि याच्ञा या स्वयं दूतमुखेन वा ॥ २०९ ॥

यथा—

'अद्यापि देहि वैदेहीं दयालुस्त्वयि राघवः ।
शिरोभिः कन्दुकक्रीडां किं कारयसि वानरान् ॥'

(२७—परिहार)

परिहार इति प्रोक्तः कृतानुचितमार्जनम् ।

यथा—

'प्राणप्रयाणदुःखार्त उक्तवानस्म्यनक्षरम् ।
तत्क्षमस्व विभो ! किं च सुग्रीवस्ते समर्पितः ॥'

(२८—निवेदन)

अवधीरितकर्तव्यकथनं तु निवेदनम् ॥ २१० ॥

यथा राघवाभ्युदये—

अनुवाद—'याच्ञा' वह नाट्यालङ्कार है जिसे स्वय या दूतमुख से, किसी से किसी वस्तु की याचना का उपनिबन्ध कहा गया है। जैसे कि, इस सदर्भ अर्थात्—

'अभी समय है तुम सीता को लौटा दो। राक्षसों के मुण्डों से वानरसैनिकों की कन्दुकक्रीडा क्यों प्रारम्भ कराओ ? राम दयालु हैं। सोच लो।'

आदि में, जो नाट्यालङ्कार है वह 'याच्ञा' है।

विमर्श—भरत-नाट्यशास्त्र में 'याच्ञा' का यह लक्षण है—

'आदौ यत्क्रोधजननमन्ते हर्षप्रवर्धनम् ।
यत्र प्रियं पुनर्वाक्य सा याच्ञा परिकीर्तिता ॥' (नाट्यशास्त्र १६ २२)

जिसे अभिनवभारतीकार ने अपनी इस स्वरचित सूक्ति अर्थात्—

'भूमि कण्टकिनी पुरो विटपिन प्रायो बहूपद्रवा
भूयश्चैष दिवाकरो मृगयते सन्ध्याङ्गनासङ्गमम् ।
तद्विश्रम्य जनोऽयमत्र सदने ग्राम्योचितं सेव्यतां
प्रात पान्थ विचार्य चेतसि चिर स्थातासि गन्तासि वा ॥'

के आधार पर इस प्रकार समझाया है—

'प्रथम यत्तदात्वे परुषमायत्यां च सत्फल वस्तूच्यते ततश्च प्रियम्। पुन शब्दात्ततो हितं पुन प्रियमित्येव प्रबोध्यस्य प्रबोधधिया याचनाद् याच्ञा।'

अनुवाद—'परिहार' वह नाट्यालङ्कार है जिसे किसी पूर्वकृत अनुचित कार्य के परिहार का वर्णन कहा गया है जैसे कि इस संदर्भ अर्थात्—

'हे राम ! अपने प्राणों के वियोग में व्याकुल मैंने तुम्हें जो भी अनुचित कहा उसके लिये क्षमा चाहता हूँ। तुम्हारी सेवा के लिये सुग्रीव को सौंप रहा हूँ।'

आदि में, जो नाट्यालङ्कार है वह 'मार्जन' है।

अनुवाद—'निवेदन' वह नाट्यालङ्कार है जिसे पहले तिरस्कृत विषय का पुन. स्वीकारवर्णन कहा गया है। जैसे कि 'राघवाभ्युदय' के इस सदर्भ अर्थात्—

'लक्ष्मणः—आर्य ! समुद्राभ्यर्थनया गन्तुमुद्यतोऽसि तत्किमेतत् ।'

(२९—प्रवर्तन)

प्रवर्तनं तु कार्यस्य यत्स्यात्साधुप्रवर्तनम् ।

यथा वेण्याम्—

'राजा—कञ्चुकिन् ! देवस्य देवकीनन्दनस्य बहुमानाद्वत्सस्य भीमसेनस्य विजयमङ्गलाय प्रवर्त्यन्तां तत्रोचिताः समारम्भाः ।'

(३०—आख्यान)

आख्यानं पूर्ववृत्तोक्तिः—

यथा तत्रैव—

'देशः सोऽयमरातिशोणितजलैर्यस्मिन् ह्रदाः पूरिताः—' इत्यादि ।

(३१—युक्ति)

—युक्तिरर्थावधारणम् ॥ २११ ॥

यथा तत्रैव—

'यदि समरमपास्य नास्ति मृत्योर्भयमिति युक्तमितोऽन्यतः प्रयातुम् ।
अथ मरणमवश्यमेव जन्तोः किमिति मुधा मलिनं यशः कुरुध्वम् ॥'

'लक्ष्मण—आर्य ! आप तो समुद्र की ही अभ्यर्थना से प्रयाण के लिये उद्यत हुए, लेकिन अब क्या !'
आदि में जो नाट्यालङ्कार है वह 'निवेदन' है ।

अनुवाद—'प्रवर्तन' वह नाट्यालङ्कार है जिसे किसी अभिलषित कार्य की ओर प्रवृत्ति-वर्णन कहा गया है । जैसे कि 'वेणीसंहार' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'राजा—कञ्चुकी ! भगवान् देवकीनन्दन कृष्ण के कहने से भीमसेन के विजयमङ्गल की तैयारियाँ ठीक हों ।'
आदि में जो नाट्यालङ्कार है वह 'प्रवर्तन' है ।

अनुवाद—'आख्यान' वह नाट्यालङ्कार है जिसे पूर्ववृत्तान्त का अनुवर्णन कहा गया है । जैसे कि 'वेणीसंहार' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'अश्वत्थामा—यही वह स्थान है जहाँ शत्रुओं के रक्तजल से जलाशय भर दिये गये थे ।'
आदि में जो नाट्यालङ्कार है वह 'आख्यान' है ।

अनुवाद—'युक्ति' वह नाट्यालङ्कार है जिसे उद्देश्य-निश्चय का वर्णन कहा गया है । जैसे कि, 'वेणीसंहार' के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'अश्वत्थामा—वीरो ! यदि संग्राम के अतिरिक्त अन्यत्र मरने का डर नहीं तब तो भाग जाओ । लेकिन यदि एक न एक दिन सबको मरना ही है तो यशको क्यों कलङ्कित करते हो ?'
आदि में जो नाट्यालङ्कार है वह 'युक्ति' है ।

विमर्श—नाट्यशास्त्र में 'युक्ति' का यह स्वरूप है—

'साध्यते योऽर्थसम्बन्धो महद्भिः समवायतः ।
परस्परानुकूल्येन सा युक्तिः परिकीर्तिता ॥' (नाट्यशास्त्र १९.९५)

(३२—प्रहर्ष)

प्रहर्षः प्रमदाधिक्यं—

यथा शाकुन्तले—

'राजा—तत्किमिदानीमात्मानं पूर्णमनोरथं नाभिनन्दामि ।'

(३३—उपदेशन)

—शिक्षा स्यादुपदेशनम् ।

यथा तत्रैव—

'सहि, ण जुत्तं अस्समवासिणो जणस्स अकिदसक्कार अदिधिविसेसं उज्झिअ सच्छन्ददो गमनम्' [सखि ! न युक्तमाश्रमवासिनो जनस्य अकृतसत्कारमतिथिविशेषमुज्झित्वा स्वच्छन्दतो गमनम्] ।

(नाट्य-लक्षण और नाट्यालङ्कार : वास्तविक ऐकरूप्य और भेद-निर्देश की परम्परा)

एषा च लक्षणनाट्यालङ्कराणा सामान्यत एकरूपत्वेऽपि भेदेन व्यपदेशो गड्डुलिकाप्रवाहेण ।

जिसे अभिनवभारतीकार ने इस सूक्ति अर्थात्—

'लावण्यसिन्धुरपरैव हि केयमत्र
यत्रोत्पलानि शशिना सह संप्लवन्ते ।
उन्मज्जति द्विरदकुम्भतटी च यत्र
यत्रापरे कदलिकाण्डमृणालदण्डा ॥'

के आधार पर इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'अत्र महद्भिरुत्कृष्टैर्नेत्रवदनादिभि परस्परशोभात्मकानुकूल्योपलक्षितेन समवायेनैकविश्रान्त्याऽर्थ सवध्यमान उपपद्यमानोऽपूर्वतरङ्गिणीलक्षण साधित इति योजनादिय युक्ति । प्रतीयमान रूपकमत्रेति चेत् किं तत शरीरं लक्षणमयमेवेत्युक्तमसकृत् ।

अनुवाद—'प्रहर्ष' वह नाट्यालङ्कार है जिसे आनन्दातिरेक का वर्णन कहा गया है । जैसे कि 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'राजा—तब तो मुझे अपने आप को पूर्णमनोरथ समझते हुये प्रसन्नता से भर उठना चाहिये ।'

आदि में, जो नाट्यालङ्कार है वह 'प्रहर्ष' है ।

अनुवाद—'उपदेशन' वह नाट्यालङ्कार है जिसे शिक्षादान का वर्णन कहा गया है । जैसे कि 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'अनसूया—अरी सखी ! हम लोग आश्रम के रहनेवाले हैं इसलिये किसी अतिथि-विशेष का सत्कार किये विना, स्वच्छन्दता से कहीं चला जाना, हमारे लिये ठीक नहीं ।'

आदि में, जो नाट्यालङ्कार है वह 'उपदेशन' है ।

अनुवाद—अब तक जिन 'भूषण' आदि नाट्यलक्षणों और 'आशी' आदि नाट्यालङ्कारों का पृथक्-पृथक् विवेचन किया गया उनके सम्बन्ध में यह जान लेना आवश्यक है कि वस्तुत तो नाट्य के 'लक्षण' और 'अलङ्कार' एक ही तत्त्व हैं क्योंकि दोनों का उद्देश्य नाट्य के इतिवृत्त-शरीर की शोभाधायकता ही है । अब नाट्यशास्त्रकारों ने जो इन्हें भिन्न भिन्न नाम और रूप का मान रखा है उसका एक ही कारण प्रतीत होता है और वह 'गड्डलिकाप्रवाह' अथवा 'गतानुगतिकता' है ।

(नाट्यलक्षण और नाट्यालङ्कार : प्रयोग-भेद और अनिवार्य योजना)

एषु च केषाञ्चिद् गुणालङ्कारभावसन्ध्यङ्गविशेषान्तर्भावेऽपि नाटके प्रयत्नत: कर्तव्यत्वाद्विशेषोक्तिः।

यदाह च—

पञ्चसन्धि चतुर्वृत्ति चतुःषष्ट्यङ्गसंयुतम् ।
षट्त्रिंशल्लक्षणोपेतमलङ्कारोपशोभितम् ॥
महारसं महाभोगमुदात्तरचनान्वितम् ।
महापुरुषसत्कारं साध्वाचारं जनप्रियम् ॥
सुश्लिष्टसन्धियोगं च सुप्रयोगं सुखाश्रयम् ।
मृदुशब्दाभिधानं च कविः कुर्यात्तु नाटकम् ॥

विमर्श—साहित्यदर्पणकार का यह 'नाट्यलक्षणालङ्काराभिधान' भरतमुनि की इस मान्यता अर्थात्—

'षट्त्रिंशदेतानि तु लक्षणानि प्रोक्तानि वै भूषणसम्मितानि ।
काव्येषु भावार्थगतानि तज्ज्ञैः सम्यक् प्रयोज्यानि यथारसं तु ॥'

(नाट्यशास्त्र १७. ४)

के आधार पर प्रवर्तित हुआ है। उचित भी यही है कि 'लक्षण' और 'अलङ्कार' को अभिन्न माना जाय। विश्वनाथ कविराज ने यहाँ वस्तुस्थिति अपनायी। यह तो अच्छा ही किया। किन्तु पहले ही यदि 'लक्षण और 'अलङ्कार का ऐकरूप्य निर्दिष्ट कर दिया गया होता तो इनके पृथक् विवेचन का यह सब आयास-प्रयास न करना पड़ा होता। ऐसा लगता है कि भावप्रकाशन-कार के प्रभाव में पड़ने से साहित्यदर्पणकार ने यह सब दुर्बल प्रयास किया है।

अनुवाद—ऊपर निरूपित नाट्य-लक्षणों और नाट्यालङ्कारों में कतिपय ऐसे भी 'लक्षण और 'अलङ्कार' हैं जो माधुर्यादि गुण उपमादि अलङ्कार विभावादि भाव किंवा मुखादि सन्ध्यङ्गों में स्वभावतः अन्तर्भूत प्रतीत होते हैं। किन्तु तब भी इन्हें गुण, अलङ्कार, भाव और सन्ध्यङ्गों से पृथक् मानकर जो निर्दिष्ट किया गया उसका एक कारण है और वह यह है कि नाट्य-नाटक में लक्षणयोजना और अलङ्कारयोजना के प्रति कवि को प्रयत्नशील होने की आवश्यकता है। इसीलिये नाट्याचार्य भरतमुनि की यह मान्यता है—

'कवि को ऐसे नाटक की रचना करनी चाहिये जिसमें सन्धिपञ्चक का विन्यास हो, वृत्तिचतुष्टय का उपनिबन्ध हो ६४ सन्ध्यङ्गों की योजना हो ३६ लक्षणों का समावेश हो अलङ्कारों की शोभाधायकता हो पुरुषार्थोपयुक्त रसों का संचार हो अधिकाधिक मनोरञ्जक रसभावों का अनुपालन हो शब्द और अर्थ के गुणों का समुचित विन्यास हो महापुरुषों के चरित की चर्चा हो, जीवनोपदेश की भरमार हो सामाजिकजन के लिये मनोरञ्जनसामग्री हो, *सन्धियों और सन्ध्यङ्गों का सुसंश्लिष्ट विन्यास हो* प्रयोगों की योजना हो छन्दों और वृत्तों का वैचित्र्य हो और मधुर किंवा प्रसन्न शब्दों द्वारा वस्तु-वर्णना हो (नाट्यशास्त्र : १९. ११९ १२१)।

तात्पर्य यह है कि नाटक में लक्षण और अलङ्कारों की योजना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि इससे रसाभिव्यञ्जन का सम्बन्ध है।

विमर्श—विश्वनाथ कविराज अभिनवभारती की लक्षणमीमांसा से पूर्ण परिचित हैं। यहाँ उन्होंने लक्षण के सम्बन्ध में अभिनवभारतीकार की 'दशरूपी' का निर्देश किया है। लक्षण

और 'गुण' का वास्तविक ऐकरूप्य और व्यावहारिक भेद भी एक 'लक्षण'विषयक सिद्धान्त है जैसा कि 'अभिनवभारती' की इन पंक्तियों में स्पष्ट है—

'एकेषां तु दर्शन—कवेर्य प्रतिभात्मा प्रथमपरिस्पन्द तद्व्यापारचलोपनता.' गुणा., प्रतिभावत एव हि रसाभिव्यञ्जनसामर्थ्यं माधुर्यादिरूपनिबन्धनसामर्थ्यं, न सामान्यकवे । अनेन शब्देनेद वस्तु वर्णयामीत्येवभूतवर्णनापरपर्यायद्वितीयव्यापारसपाद्यास्त्वलङ्कारा ।'

'शब्दानमीभि शब्दैरर्थानमीभिरर्थैं संघटयामीत्येवमात्मकस्तु यस्तृतीय कवे परिस्पन्द तदधीनात्मलाभादिशब्दात्मार्थात्मककाव्यशरीरसश्रितानि वक्ष्यमाणश्लेपादिगुणदशकसमभिव्यञ्जनपराणि शब्दार्थोपसस्कारकल्पानि क्रियारूपाणि लक्षणानीति, यदुक्तं तत्रैव—

काव्येप्यस्ति तथा कश्चित् स्निग्ध स्पर्शोऽर्थशब्दयो ।
य श्लेपादिगुणव्यक्तिदश्च स्याल्लक्षणस्थित. ॥'

(अभिनवभारती नाट्यशास्त्र १६ अध्याय)

अर्थात् 'गुण, अलङ्कार और लक्षण' कवि की प्रतिभा के त्रिविध स्फुरणरूप से तो त्रिविध तत्त्व हैं। कविप्रतिभा का प्रथम उन्मेष माधुर्यगुणरूप में, द्वितीय उन्मेष अलङ्कारयोजना में और तृतीय उन्मेष लक्षणविन्यास में परिलक्षित देखा जा सकता है। किन्तु शब्दों का पारस्परिक गुम्फनवैचित्र्य और अर्थों का पारस्परिक सदर्भ-सौन्दर्य जैसे 'गुण' का स्वरूप है वैसे ही 'लक्षण' का भी और इस दृष्टि से गुण और लक्षण का ऐकरूप्य भी है।

इसी भाँति 'लक्षण' और 'अलङ्कार' का भी ऐकरूप्य और भेद लक्षणविषयक ही सिद्धान्त है जो कि अभिनवभारती की निम्न पंक्तियों में प्रतीत होता है—

'काव्ये तावल्लक्षणं शरीर, तस्योपमादयस्त्वयोऽर्थभागे, यथा हि पृथग्भूतेन हारेण रमणी विभूष्यते तथोपमानेन शशिना तत्सादृश्येन वा कविबुद्धिचञ्चलतया परिवर्तमानत्वात् पृथक् सिद्धेनैव प्रकृतवर्णनीयवनितावदनादि सुन्दरीक्रियत इति तदेवालङ्कार । उपाध्यायमतन्तु—लक्षणबलादलङ्काराणा वैचित्र्यमागच्छति । तथा हि—गुणानुवादनाम्ना लक्षणेन योगात् प्रशसोपमा, अतिशयनाम्नाऽतिशयोक्ति, मनोरथाख्येनाप्रस्तुतप्रशसा, मिथ्याध्यवसायेनापह्नुति, सिद्धया तुल्ययोगितेति, एवमन्यदुत्प्रेक्ष्यम् । लक्षणानाञ्च परस्परवैचित्र्यादप्यनन्तो विचित्रभाव, यथा प्रतिषेधमनोरथयो समेलनादाक्षेप इति ।'

(अभिनवभारती अध्याय १६)

अर्थात् 'लक्षण' और 'अलङ्कार' में उपस्कार्योपस्कारकभाव होने से दोनों परस्पर भिन्न भी हैं और 'लक्षण' और 'अलङ्कार' के पारस्परिक वैचित्र्य-सयोग से सभूत काव्यसौन्दर्य की दृष्टि से दोनों का समन्वय भी सभव है—

'लक्षण' और 'सन्ध्यङ्ग' के भेदाभेद का भी सिद्धान्त लक्षणविषयक ही सिद्धान्त है जैसा कि निम्न पंक्तियों में स्पष्ट है—

'अन्ये मन्यन्ते—इतिवृत्तखण्डलकान्येव सन्ध्यङ्गकानि लक्षणानीति च व्यपदिश्यन्ते। निमित्तभेदात् पूर्वापरसम्बन्धेन बीजोपक्षिप्तेऽर्थे निर्वहणपर्यन्ते परस्परसन्धायकत्वेन सन्ध्यङ्गतया व्यपदेश, रसविशेषोपयोगितया वृत्त्यङ्गवाचोयुक्ति, काव्यगतख्यातिप्राशस्त्योपयोगितया महापुरुषगतपाशध्वजपादरेखादिवल्लक्षणशब्दवाच्यता' (अभिनवभारती अध्याय १६) अर्थात् 'सन्ध्यङ्ग' और 'लक्षण' एकरूप भी हैं और भिन्नरूप भी। इतिवृत्तरूप शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग होने के नाते तो 'लक्षण' और 'सन्ध्यङ्ग' एक रूप हैं किन्तु निमित्तभेद से दोनों में भेद भी किया जा सकता है। इतिवृत्तखण्डों को, इस दृष्टि से कि ये परस्पर एक दूसरे से

(नाट्यलक्षण और नाट्यालङ्कार। उपयोग-भेद और अनिवार्य योजना)

एषु च केषाञ्चिद् गुणालङ्कारभावसन्ध्यङ्गविशेषान्तर्भावेऽपि नाटके प्रयत्नतः कर्तव्यत्वात्तद्विशेषोक्तिः।

एतानि च—

पञ्चसन्धि चतुर्वृत्ति चतुःषष्ट्यङ्गसंयुतम्।
षट्त्रिंशल्लक्षणोपेतमलङ्कारोपशोभितम्॥
महारसं महाभोगमुदात्तरचनान्वितम्।
महापुरुषसत्कारं साध्वाचारं जनप्रियम्॥
सुश्लिष्टसन्धियोगं च सुप्रयोगं सुखाश्रयम्।
मृदुशब्दाभिधानं च कविः कुर्यात्तु नाटकम्॥

विमर्श—साहित्यदर्पणकार का यह 'नाट्यलक्षणालङ्कारभेदवाद' भरतमुनि की इस मान्यता अर्थात्—

'षट्त्रिंशल्लक्षणानि तु काव्यानि प्रोक्तानि वै भूषणसम्मितानि।
काव्येषु भावार्थगतानि तज्ज्ञैः सम्यक् प्रयोज्यानि यथारसं तु॥'
(नाट्यशास्त्र १६. ४)

के आधार पर प्रवर्तित हुआ है। उचित तो यही है कि 'लक्षण' और 'अलङ्कार' को अभिन्न माना जाय। विश्वनाथ कविराज ने यहीं वस्तुदृष्टि अपनायी। यह तो अच्छा ही किया। किन्तु पहले ही यदि 'लक्षण' और अलङ्कार का ऐकरूप्य निर्दिष्ट कर दिया गया होता तो इनके पृथक् विवेचन का यह सब आयास प्रयास न करना पड़ा होता। ऐसा लगता है कि भावप्रकाशन कार के प्रभाव में पड़ने से साहित्यदर्पणकार ने यह सब दुर्वह प्रयास किया है।

अनुवाद—ऊपर निरूपित नाट्य-लक्षणों और नाट्यालङ्कारों में कतिपय ऐसे भी 'लक्षण' और 'अलङ्कार' हैं जो माधुर्यादि गुण, रूपकादि अलङ्कार, विभावादि भाव किंवा मुखाद्यङ्ग सन्ध्यङ्गों में स्वभावतः अन्तर्भूत प्रतीत होते हैं। किन्तु तब भी इन्हें गुण, अलङ्कार, भाव और सन्ध्यङ्गों से पृथक् मानकर जो निर्दिष्ट किया गया उसका एक कारण है और वह यह है कि काव्य-नाटक में लक्षणयोजना और अलङ्कारयोजना के प्रति कवि को प्रयत्नशील होने की आवश्यकता है। इसीलिये नाट्याचार्य भरतमुनि की यह मान्यता है—

'कवि को ऐसे नाटक की रचना करनी चाहिए जिसमें सन्धिपञ्चक का विन्यास हो, वृत्तिचतुष्टय का उपनिबन्ध हो, ६४ सन्ध्यङ्गों की योजना हो, ३६ लक्षणों का समावेश हो, अलङ्कारों की शोभाधायकता हो, पुरुषार्थोपयुक्त रसों का सञ्चार हो, अधिकाधिक मनोरञ्जक रसभावों का अनुभावन हो, शब्द और अर्थ के गुणों का समुचित विन्यास हो, महापुरुषों के चरित की चर्चा हो, लोकोपदेश की भरमार हो, सामाजिकजन के लिये मनोरञ्जनसामग्री हो, सन्धियों और सन्ध्यङ्गों का सुसम्बद्ध विन्यास हो, प्रयोगों की योजना हो, शब्दों और वृत्तों का वैचित्र्य हो और मधुर किंवा प्रसन्न शब्दों द्वारा वस्तु वर्णना हो (नाट्यशास्त्र : १६. ११९-१२१)।

तात्पर्य यह है कि नाटक में लक्षण और अलङ्कारों की योजना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि इससे रसाभिव्यञ्जन का संवर्धन है।

विमर्श—विश्वनाथ कविराज अभिनवभारती की व्याख्याशैली से पूर्ण परिचित हैं। यहाँ उन्होंने [illegible] २ [illegible] ४ में अभिनवभारतीकार की उक्तियों का निर्देश किया है। 'लक्षण'

और 'गुण' का वास्तविक ऐकरूप्य और व्यावहारिक भेद भी एक 'लक्षण'विषयक सिद्धान्त है जैसा कि 'अभिनवभारती' की इन पंक्तियों में स्पष्ट है—

'एकेषा तु दर्शन—कवेर्यं प्रतिभात्मा प्रथमपरिस्पन्द तद्व्यापारवलोपनता; गुणा, प्रतिभावत एव हि रसाभिव्यञ्जनसामर्थ्यं माधुर्यादेरुपनिबन्धनसामर्थ्यं, न सामान्यकवे.। अनेन शब्देनेद वस्तु वर्णयामीत्येवभूतवर्णनापरपर्यायद्वितीयव्यापारसंपाद्यास्त्वलङ्कारा.।'

'शब्दानमीभि शब्दैरर्थानमीभिरर्थै संघटयामीत्येवमात्मकस्तु यस्तृतीय कवे परिस्पन्द. तदधीनात्मलाभादिशब्दात्मार्थात्मककाव्यशरीरसश्रितानि वक्ष्यमाणश्लेषादिगुणदशकसमभिव्यञ्जनपराणि शब्दार्थोपसस्कारकल्पानि क्रियारूपाणि लक्षणानीति, यदुक्त तत्रैव—

काव्येप्यस्ति तथा कश्चित् स्निग्ध. स्पर्शोऽर्थशब्दयो ।
य. श्लेषादिगुणव्यक्तिदश्च स्याल्लक्षणस्थित ॥'

(अभिनवभारती नाट्यशास्त्र १६ अध्याय)

अर्थात् 'गुण, अलङ्कार और लक्षण' कवि की प्रतिभा के त्रिविध स्फुरणरूप से तो त्रिविध तत्त्व हैं। कविप्रतिभा का प्रथम उन्मेष माधुर्यगुणरूप में, द्वितीय उन्मेष अलङ्कारयोजना में और तृतीय उन्मेष लक्षणविन्यास में परिलक्षित देखा जा सकता है। किन्तु शब्दों का पारस्परिक गुम्फनवैचित्र्य और अर्थों का पारस्परिक सदर्भ-सौन्दर्य जैसे 'गुण' का स्वरूप है वैसे ही 'लक्षण' का भी और इस दृष्टि से गुण और लक्षण का ऐकरूप्य भी है।

इसी भाँति 'लक्षण' और 'अलङ्कार' का भी ऐकरूप्य और भेद लक्षणविषयक ही सिद्धान्त है जो कि अभिनवभारती की निम्न पंक्तियों में प्रतीत होता है—

'काव्ये तावल्लक्षणं शरीरं, तस्योपमादयस्त्रयोऽर्थभागे, यथा हि पृथग्भूतेन हारेण रमणी विभूष्यते तथोपमानेन शशिना तत्सादृश्येन वा कविबुद्धिचञ्चलतया परिवर्तमानत्वात् पृथक् सिद्धेनैव प्रकृतवर्णनीयवनितावदनादि सुन्दरीक्रियत इति तदेवालङ्कार ।' उपाध्यायमतन्तु—लक्षणबलादलङ्काराणा वैचित्र्यमागच्छति । तथा हि—गुणानुवादनाम्ना लक्षणेन योगात् प्रशसोपमा, अतिशयनाम्नाऽतिशयोक्ति, मनोरथाख्येनाप्रस्तुतप्रशंसा, मिथ्याध्यवसायेनापह्नुति, सिद्धया तुल्ययोगितेति, एवमन्यदुत्प्रेक्ष्यम् । लक्षणानाञ्च परस्परवैचित्र्यादप्यनन्तो विचित्रभाव, यथा प्रतिषेधमनोरथयो समेलनादाक्षेप इति।'

(अभिनवभारती अध्याय १६)

अर्थात् 'लक्षण' और 'अलङ्कार' में उपस्कार्योपस्कारकभाव होने से दोनों परस्पर भिन्न भी हैं और 'लक्षण' और 'अलङ्कार' के पारस्परिक वैचित्र्य-सयोग से सभूत काव्यसौन्दर्य की दृष्टि से दोनों का समन्वय भी सभव है—

'लक्षण' और 'सन्ध्यङ्ग' के भेदाभेद का भी सिद्धान्त लक्षणविषयक ही सिद्धान्त है जैसा कि निम्न पंक्तियों में स्पष्ट है—

'अन्ये मन्यन्ते—इतिवृत्तखण्डलकान्येव सन्ध्यङ्गकानि लक्षणानीति च व्यपदिश्यन्ते। निमित्तभेदात् पूर्वापरसम्बन्धेन बीजोपक्षिप्तेऽर्थे निर्वहणपर्यन्ते परस्परसन्धायकत्वेन सन्ध्यङ्गतया व्यपदेश, रसविशेषोपयोगितया वृत्त्यङ्गवाचोयुक्ति, काव्यगतख्यातिप्राशस्त्योपयोगितया महापुरुषगतपाशध्वजपादरेखादिवल्लक्षणशब्दवाच्यता' (अभिनवभारती अध्याय १६) अर्थात् 'सन्ध्यङ्ग' और 'लक्षण' एकरूप भी हैं और भिन्नरूप भी। इतिवृत्तरूप शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग होने के नाते तो 'लक्षण' और 'सन्ध्यङ्ग' एक रूप हैं किन्तु निमित्तभेद से दोनों में भेद भी किया जा सकता है। इतिवृत्तखण्डों को, इस दृष्टि से कि ये परस्पर एक दूसरे से

इति मुनिनोक्तत्वान्नाटकेऽप्ययं कर्तव्यान्येव ।

(वीथ्यङ्ग : संकेत)

वीथ्यङ्गानि वक्ष्यन्ते ।

(लास्य के अङ्ग : निर्देश)

लास्याङ्गान्याह—

गेयपदं स्थितपाठ्यमासीनं पुष्पगण्डिका ॥ २१२ ॥
प्रच्छेदकस्त्रिगूढं च सैन्धवाख्यं द्विगूढकम् ।
उत्तमोत्तमकं चान्यदुक्तप्रत्युक्तमेव च ॥ २१३ ॥
लास्ये दशविधं ह्येतदङ्गमुक्तं मनीषिभिः ।

(१—लास्याङ्ग : गेयपद)

तत्र—

तन्त्रीभाण्डं पुरस्कृत्योपविष्टस्यासने पुरः ॥ २१४ ॥
शुद्धं गानं गेयपदं—

यथा—

गौरीगृहे वीणां वादयन्ती मलयवती ।

मिले-जुले नाटक का शरीर-सन्धान बनाते हैं 'सन्ध्यङ्ग' कहा जा सकता है और इस दृष्टि से कि इनके द्वारा नाट्य में ख्याति और प्रशस्ति पाया करती है 'लक्षण' भी माना जा सकता है।

'लक्षण' और 'विभाव' के भेदाभेदवाद में भी उपर्युक्त दृष्टि ही कारणरूप से दिखाई देती है।

(ख) 'लक्षण' के सम्बन्ध में इस 'चर्चा' का निष्कर्ष 'नाटकलक्षणप्रवाह' के रूप में ही निकाला जा सकता है जैसा कि साहित्यदर्पणकार ने निकाला है किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि साहित्यदर्पणकार इस 'नाटकलक्षणप्रवाह' में प्रवाहित कैसे हुये !

अनुवाद—नाटक में वीथ्यङ्गों का भी उपयोग है। 'वीथी' के जो-जो अङ्ग हैं उनका विवेचन यथावसर किया जा रहा है।

अनुवाद—(नाट्योपयोगी) लास्याङ्गों का निरूपण किया जा रहा है—लास्य के ये १० अङ्ग हैं जो नाटक के लिए उपयोगी हैं—(१) गेयपद, (२) स्थितपाठ्य, (३) आसीन (४) पुष्पगण्डिका, (५) प्रच्छेदक, (६) त्रिगूढ (७) सैन्धव (८) द्विगूढक, (९) उत्तमोत्तमक और (१०) उक्तप्रत्युक्त।

विमर्श—कवि और अभिनेता के लिये नाट्य में लास्याङ्गों का समुचित विनियोग इसलिये आवश्यक माना गया है क्योंकि इससे 'रञ्जनावैचित्र्य' की निष्पत्ति हुआ करती है। आचार्य अभिनवगुप्त ने इसीलिये कहा है—'यानि लास्याङ्गानि वक्ष्यन्ते तेष्वः कविरुद्वैचित्र्यार्थी लोकापरिदृष्टोऽपि रञ्जनावैचित्र्याय कविप्रयोक्तृभिर्नाट्ये निबन्धनीयः।

(अभिनवभारती नाट्यशास्त्र : १९-११)

अनुवाद—'गेयपद' वह लास्याङ्ग है जिसे तन्त्री भाण्ड अर्थात् सर्वविध वाद्योपकरणपूर्वक, रंगमंच पर स्वस्थ चित्त बैठे हुये गायकों का शुद्ध (वस्तुतः शुष्क अथवा अभिनयशून्य) गायन कहा जाया करता है। जैसे कि 'रत्नावली' में प्रयुक्त, पार्वतीमन्दिर में वीणा बजाती 'मलयवती' का—

'उत्फुल्लकमलकेसरपरागगौरद्युते ! मम हि गौरि ! ।
अभिवाञ्छितं प्रसिध्यतु भगवति ! युष्मत्प्रसादेन ॥'

(२—स्थितपाठ्य)

—स्थितपाठ्यं तदुच्यते ।
मदनोत्तापिता यत्र पठति प्राकृतं स्थिता ॥ २१५ ॥

अभिनवगुप्तपादास्त्वाहुः—

उपलक्षणं चैतत् । क्रोधोद्भ्रान्तस्यापि प्राकृतपठनं स्थितपाठ्यम् । इति ।

(३, ४, ५—आसीन, पुष्पगण्डिका, प्रच्छेदक)

निखिलातोद्यरहितं शोकचिन्तान्विताबला ।
अप्रसाधितगात्रं यदासीनासीनमेव तत् ॥ २१६ ॥
आतोद्यमिश्रितं गेयं छन्दांसि विविधानि च ।
स्त्रीपुंसयोर्विपर्यासचेष्टितं पुष्पगण्डिका ॥ २१७ ॥

'विकसित कमलकेसर-पराग सी गौरवर्ण वाली भगवति गौरि ! आप की अनुकम्पा हो, मेरे मनोरथ पूर्ण हों ।'
आदि अभिप्रायपूर्ण गान 'गेयपद' नामक लास्याङ्ग की ही योजना है ।

विमर्श—आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार 'गेयपद' यह है—

'ध्रुवागानपञ्चकमन्तरालापस्वररहितं यत्र प्रयोगयोग्यं भवति, स काव्यप्रयोगो गेयपदमित्युक्तं भवति' (अभिनवभारती १६. १२१)

अनुवाद—'स्थितपाठ्य' वह लास्याङ्ग है जिसे किसी कामपीडिता का, भावावेश के साथ प्राकृतसूक्ति-पाठ कहा गया है।

'स्थितपाठ्य' के सम्बन्ध में आचार्य अभिनवगुप्त का यह मत है—भरतमुनि का 'स्थितपाठ्य' के सम्बन्ध में यह कथन कि यह 'मदनानलतप्ताङ्गी' का प्राकृत-पाठ है वस्तुत यह अभिप्राय रखता है कि क्रोध में पागल व्यक्ति का भी प्राकृत-पाठ 'स्थितपाठ्य' ही है (क्योंकि यहाँ 'मदनानलतप्ताङ्गी' पद क्रोधादि के आवेश में आये लोगों का उपलक्षण है)।

विमर्श—अभिनवभारती में आचार्य अभिनवगुप्त की ये पंक्तियाँ हैं—

'एतच्चावेशोपलक्षणं तेन क्रोधाविष्टोऽपि संस्कृतेन पठतीत्याद्यपि (स्थितपाठ्यमेव) मन्तव्यम् ।'

यहाँ यह स्पष्ट है कि साहित्यदर्पणकार ने स्मृति के आधार पर अभिनवगुप्ताचार्य के मत का उल्लेख किया है ।

अनुवाद—'आसीन' वह लास्याङ्ग है जिसे शोकाकुला किंवा चिन्ता में डूबी अभिनेत्री सुन्दरी का, विना किसी आतोद्य और विना किसी गात्रप्रसार (आङ्गिक अभिनय) के, रगमञ्च पर आसीन होना कहा जाया करता है । 'पुष्पगण्डिका' उस लास्याङ्ग को कहते हैं जिसमें विविध छन्दों में आतोद्य के साथ गान हुआ करता है और स्त्री पुरुष बनकर और पुरुष स्त्री बने अभिनय किया करते हैं। और 'प्रच्छेदक' वह लास्याङ्ग है जिसे किसी

इति मुनिनोक्तत्वान्नाटकेऽवश्यं कर्तव्यान्येव ।

(वीथ्यङ्ग : संकेत)

वीथ्यङ्गानि वक्ष्यन्ते ।

(लास्य के अङ्ग : निर्देश)

लास्याङ्गान्याह—

गेयपदं स्थितपाठ्यमासीनं पुष्पगण्डिका ॥ २१२ ॥

प्रच्छेदकस्त्रिगूढं च सैन्धवाख्यं द्विगूढकम् ।

उत्तमोत्तमकं चान्यदुक्तप्रत्युक्तमेव च ॥ २१३ ॥

लास्ये दशविधं ह्येतदङ्गमुक्तं मनीषिभिः ।

(१—लास्याङ्ग : गेयपद)

तत्र—

तन्त्रीमाण्डं पुरस्कृत्योपविष्टस्यासने पुरः ॥ २१४ ॥

शुद्धं गानं गेयपदं—

यथा—

गौरीगृहे वीणां वादयन्ती मलयवती ।

मिले-जुले नाटक का शरीर-संस्थान बनाते हैं 'सन्ध्यङ्ग' कहा जा सकता है और इस दृष्टि से कि इनके द्वारा काव्य में ख्याति और महत्त्व आया करता है 'अङ्ग' भी माना जा सकता है।

'लक्षण' और 'विभाव' के भेदाभेदवाद में भी उपर्युक्त दृष्टि ही कारणरूप से दिखाई देती है।

(ग) 'लक्षण' के सम्बन्ध में इस 'संग्रहणी' का निष्कर्ष 'षट्त्रिंशल्लक्षणवाद' के रूप में जो निकाला जा सकता है जैसा कि साहित्यदर्पणकार ने निकाला है किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि साहित्यदर्पणकार इस 'षट्त्रिंशल्लक्षणवाद' में पक्षपाती कैसे हुये।

अनुवाद—नाटक में वीथ्यङ्गों का भी उपयोग है। 'वीथी' के जो-जो अङ्ग हैं उनका विवेचन यथावसर किया जा रहा है।

अनुवाद—(नाट्योपयोगी) लास्याङ्गों का निरूपण किया जा रहा है—लास्य के ये १० अङ्ग हैं जो नाटक के लिए उपयोगी हैं—(१) गेयपद, (२) स्थितपाठ्य, (३) आसीन (४) पुष्पगण्डिका, (५) प्रच्छेदक, (६) त्रिगूढ (७) सैन्धव (८) द्विगूढक, (९) उत्तमोत्तमक और (१०) उक्तप्रत्युक्त।

विमर्श—कवि और अभिनेता के लिये नाटक में लास्याङ्गों का समुचित विनियोग इसलिये आवश्यक माना गया है क्योंकि इससे 'रञ्जनावैचित्र्य' की निष्पत्ति हुआ करती है। आचार्य अभिनवगुप्त ने इसीलिये कहा है—'यानि लास्याङ्गानि वक्ष्यन्ते तेष्वपि कविभिर्वैचित्र्याधायिनो लोकाचारिदृष्टेऽपि रञ्जनावैचित्र्याय कविप्रयोक्तृभिर्नाटये निबन्धनीयाः।

(अभिनवभारती नाट्यशास्त्र : १९. ११)

अनुवाद—'गेयपद' वह लास्याङ्ग है जिसे तन्त्री भाण्ड अर्थात् सर्वविध वाद्योपकरण रंगमंच पर रखकर किन्तु बैठे हुये गायकों का शुद्ध (वस्तुतः शुष्क अथवा अभिनयशून्य) गायन कहा जाया करता है। जैसे कि 'रत्नावली' में प्रयुक्त, पार्वतीमन्दिर में वीणा बजाती मलयवती का—

(७—सैन्धव)

कश्चन भ्रष्टसंकेतः सुव्यक्तकरणान्वितः ॥ २१९॥
प्राकृतं वचनं वक्ति यत्र तत्सैन्धवं मतम् ।

करणं वीणादिक्रिया ।

(८—द्विगूढक)

चतुरस्रपदं गीतं मुखप्रतिमुखान्वितम् ॥ २२० ॥
द्विगूढं रसभावाढ्यम्—

अनुवाद—'सैन्धव' वह लास्याङ्ग है जिसे (रसाभिव्यञ्जनसमर्थ) वीणावादनादि-पूर्वक, किसी 'भ्रष्टसकेत' (रसोचित ध्वनिविकार को भूले हुये) अभिनेता का, प्राकृत-प्राय सूक्तिओं का पाठ कहा गया है। यहाँ 'करण' का अभिप्राय वीणादिवादन का अभिप्राय है।

विमर्श—नाट्यशास्त्र में 'सैन्धव' अथवा 'सैन्धवक' नामक लास्याङ्ग का यह लक्षण है—

'पात्र विभ्रष्टसकेत सुव्यक्तकरणान्वितम् ।
प्राकृतैर्वचनैर्युक्त विदु. सैन्धवक बुधा ॥' (नाट्यशास्त्र १९-१३१)

जिसे अभिनवभारतीकार ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'अथ सैन्धवकादुपजीव्यमशं स्वीकर्तुमाह-पात्र विभ्रष्टसंकेतमिति—

'सैन्धवीमाश्रिता भाषा ज्ञेय तत्सैन्धव बुधै । सूपवाद्यादिसयुक्तम्' इति च लास्याङ्ग-विधाने (अध्याय ३१) वक्ष्यते । तत्र यदा नान्यप्राकृतादिभाषोपकरणत्वेन सैन्धवी-प्राया आश्रीयते तद्रसोपयोगि रञ्जनाधिक्यात्, अलौकिकोऽयमर्थो रञ्जनोपयोगी लास्या-ङ्गात् स्वीकृतो भवति । तथा हि श्रृङ्गाररसे सातिशयोपयोगिनी प्राकृतभाषेति सट्टक. कर्पूर-मञ्जर्याख्यो राजशेखरेण तन्मय एव निबद्ध, भेज्जलेन राधाविप्रलम्भाख्यो रासकाङ्क सैन्ध-वभाषाबाहुल्येन, चन्द्रकेण स्वानि रूपकाणि वीररौद्राधिकोपयोगीनि सस्कृतभाषयैव । अत एव च तत्तद्रसोपयोगतारतम्यादेवैकतमस्यातोऽन्यस्यात्र प्राधान्य कल्प्यते ।'

(अभिनवभारती १९ १३१)

अर्थात् रसोचित 'सैन्धवी' आदि प्राकृतभाषानिबद्ध सूक्ति का पाठ सैन्धव है।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि 'सैन्धव' नामक लास्याङ्ग की कल्पना 'सैन्धवी' भाषा-निबद्ध पाठादि के कारण हुई है न कि चञ्चल पुरुष द्वारा प्रयुक्त होने के कारण, जैसा कि 'साहित्यदर्पण' के एक सस्कृतव्याख्याकार ने कहा है—'कश्चन पुरुषो यत्र प्राकृतं वचन वक्ति तत्र सैन्धवे-नाश्वेनेव चञ्चलेन पुरुषेण प्रयुक्तत्वात् सैन्धव नाम लास्याङ्ग विदु । यथा—स्वप्नवासवदत्ते-(राजा)-श्रुतिसुखनिनदे कथ नु देव्या इत्यादि ।'

(साहित्यदर्पण 'लक्ष्मी' व्याख्या पृष्ठ ४३३)

अनुवाद—'द्विगूढक' वह लास्याङ्ग है जिसमें 'मुख' और 'प्रतिमुख' नामक अङ्गों से युक्त किंवा रसभावरमणीय चतुरस्रपद गीत की योजना हुआ करती है।

विमर्श—साहित्यदर्पण की सस्कृत और हिन्दी व्याख्याओं मे 'मुखप्रतिमुखान्वितम्' पद से 'मुख' और 'प्रतिमुख' सन्धि का अभिप्राय लिया गया है (विमला टीका . पृष्ठ ३०५ और लक्ष्मी टीका, पृष्ठ ४३३) जो कि सर्वथा असगत है। अभिनवभारतीकार ने स्पष्ट कहा है—'मुख-प्रतिमुखौ सन्धी इत्येतदपि न समीचीनम् अनुपयोगादस्यार्थस्य, 'मुखप्रतिमुखे गीतका-ङ्गत्वेन हि' इत्यादि ।

अन्यासक्तं पतिं मत्वा प्रेमविच्छेदमन्युना ।
वीणापुरःसरं गानं स्त्रियाः प्रच्छेदको मतः ॥ २१८ ॥

(९—त्रिगूढक)

स्त्रीवेषधारिणां पुंसां नाट्यं श्लक्ष्णं त्रिगूढकम् ।

यथा मालत्याम्—

'मकरन्दः—एषोऽस्मि मालती संवृत्तः ।'

सुन्दरी का, अपने पति को किसी अन्य सुन्दरी के प्रति अनुरक्त देख प्रेमभङ्ग के कारण वीणावादनपूर्वक गान कहा गया है ।

विमर्श—'आसीन' नामक लास्याङ्ग को करुणरससमन्वित नाट्य का उपरञ्जक कहा गया है। (आसीनपाठ्यानुपजीवितेभ्यस्समासेन योगतया सर्वत्र करुणादौ रञ्जनोपयोगि—अभिनव भारती)।

'पुष्पगण्डिका' का तात्पर्य अभिनवभारतीकार के शब्दों में यह है—'मालासादृश्यात् पुष्पगण्डिका गानवृत्तगीठगतवैचित्र्ययोगात्'। अर्थात् माला की भाँति जहाँ नृत्य, गान और गीत का सम्मिश्रण-वैचित्र्य हो वह 'पुष्पगण्डिका' है।

नाट्यशास्त्र में 'प्रच्छेदक' का यह लक्षण है—

'प्रच्छेदकस्य विक्षेपो यत्र चन्द्रातपाहताः ।
स्त्रियः प्रियेषु सज्जन्ते ह्यपि विप्रियकारिषु ॥ (नाट्यशास्त्र : १९. १२९)

जिसे अभिनवभारतीकार ने इस प्रकार समझाया है—

'प्रच्छेदक' इति लास्यविधाने (नाट्यशास्त्र : अध्याय ३१) पठ्यते । 'ज्योत्स्नायां मदिरायां वा दर्पणे सलिलेऽथवा । छायासादृश्यरूपस्तस्य महदर्थोऽभिसूचितम् ॥' इति (नाट्यशास्त्र : अध्याय ३१) स्त्रियाः प्रच्छेदकस्य लक्षणमुक्तम् । तत्र ज्योत्स्नायां चन्द्रे, प्रसाधने दर्पणे, पानगोष्ठ्यां पाने स्वप्रतिबिम्बितपराङ्गनाप्रतिबिम्बे सति कान्ताया अमर्ष इति स्त्रियाः प्रच्छेदं प्रतिबिम्बनमितिपर्यायात् एवं रसोपयोग्यर्थैर्बिम्बानुकृतिविशेषग्रहणं प्रच्छेदकानुपजीवितम् । यथाप्युदाहरणमाह—

यद् यत्रास्ति न तत्रास्य कविर्वर्णनमर्हति ।
यत्रासंभवि तत्रास्य तद्वर्ण्यं सौभगस्यदम् ॥
पिशोऽभिरिन्दुरो धीर्या तस्यिकुम्भकम्भिता ।
ईदृक् स्याद्यथा न स्याद् किं कदाचन कुत्रचित् ॥ इत्यादि ।

अनुवाद—'त्रिगूढक' वह लास्याङ्ग है जिसे स्त्रीवेषधारी पुरुषनटों का मनोहर अभिनय कहा गया है। जैसे कि 'मालतीमाधव' में 'मकरन्द' का 'मालती'रूप में जो अभिनय है वह 'त्रिगूढक' नामक लास्याङ्ग है (जिसकी, भवभूति ने अपने मालतीमाधव में योजना की है)।

विमर्श—नाट्यशास्त्र में 'त्रिगूढक' की यह परिभाषा है—

अनिष्ठुरश्लक्ष्णपदं समवृत्तैरलङ्कृतम् ।
नाट्यं पुरुषभावाढ्यं त्रिगूढकमिति स्मृतम् ॥ (नाट्यशास्त्र १९. ११)

यथा—

बालरामायणम्।

(२य रूपक-भेद प्रकरण 'सभेद निरूपण)

अथ प्रकरणम्—

भवेत्प्रकरणे वृत्तं लौकिकं कविकल्पितम् ॥ २२४ ॥

शृङ्गारोऽङ्गी नायकस्तु विप्रोऽमात्योऽथवा वणिक्।

सापायधर्मकामार्थपरो धीरप्रशान्तकः ॥ २२५ ॥

विप्रनायकं यथा मृच्छकटिकम्। अमात्यनायक मालतीमाधवम्। वणिङ्नायकं पुष्पभूषितम्।

नायिका कुलजा क्वापि वेश्या क्वापि द्वयं क्वचित्।

तेन भेदास्त्रयस्तस्य तत्र भेदस्तृतीयकः ॥ २२६ ॥

कितवद्यूतकारादिविटचेटकसंकुलः।

कुलस्त्री पुष्पभूषिते। वेश्या तु रङ्गवृत्ते। द्वे अपि मृच्छकटिके। अस्य नाटकप्रकृतित्वाच्छेप नाटकवत्।

अनुवाद—'प्रकरण' वह रूपक विशेष है जिसका वृत्त लौकिक किंवा कवि-कल्पित हुआ करता है, जिसमें श्रृङ्गार की अभिव्यञ्जना अङ्गी-रस के रूप में हुआ करती है, जिसका नायक विप्र, अमात्य और वणिक्-श्रेणी में से किसी एक का हो सकता है और जिसमें नायक को 'धीरशान्त' प्रकृति तथा विपरीत परिस्थिति में पड़े रहने पर भी धर्म-अर्थ और काम-परायण रूप में चित्रित किया जाया करता है।

जैसे कि (महाकवि शूद्रक-रचित) 'मृच्छकटिक' जिसका नायक (चारुदत्त) एक ब्राह्मण है, (महाकवि भवभूति-रचित) 'मालतीमाधव' जिसका नायक (माधव) एक राजसचिव है और 'पुष्पभूपित', जिसका नायक एक वणिक् है।

नायिकाभेद से भी प्रकरण में भेद दिखायी देता है। जैसे कि कोई प्रकरण ऐसा है जिसमें कुलस्त्री नायिकारूप में चित्रित की गयी है, कोई ऐसा, जिसमें वेश्या को नायिका बनाया गया है और कोई ऐसा, जिसमें कुलजा और वेश्या दोनों नायिकारूप में वर्णित की गयी हैं। इन तीनों 'प्रकरण' भेदों में तीसरा अर्थात् 'कुलजा-वेश्या-नायिका-द्वयात्मक' जो 'प्रकरण' है उसमें धूर्त, द्यूतकार, विट और चेट आदि का भी पर्याप्त चित्रण रहा करता है।

जैसे कि 'पुष्पदूपित' नामक प्रकरण में कुलजा का नायिकारूप में चित्रण, 'तरङ्गदत्त' नामक प्रकरण में वेश्या का नायिकारूप मे चित्रण और 'मृच्छकटिक' में कुलजा और वेश्या—दोनों का नायिकारूप में चित्रण स्पष्ट दिखायी देता है।

प्रकरण की अन्य विशेपतायें नाटक की विशेपतायें हैं क्योंकि यह रूपक-प्रकार नाटक का ही निष्यन्दरूप है।

विमर्श—(क) नाट्याचार्य भरतमुनि ने 'प्रकरण' का यह विशद विवेचन किया है—

'यत्र कविरात्मशक्त्या वस्तु शरीरं च नायकं चैव।

औत्पत्तिकं प्रकुरुते प्रकरणमिति तद् बुधैर्ज्ञेयम् ॥

(९—उत्तमोत्तमक)

—उत्तमोत्तमकं पुनः ।
कोपप्रसादजमधिक्षेपयुक्तं रसोत्तरम् ॥ २२१ ॥

(१०—उक्तप्रत्युक्त)

हावहेलान्वितं चित्रश्लोकबन्धमनोहरम् ।
उक्तिप्रत्युक्तिसंयुक्तं सोपालम्भमलीकवत् ॥ २२२ ॥
विलासान्वितगीतार्थमुक्तप्रत्युक्तमुच्यते ।

स्पष्टान्युदाहरणानि ।

(महानाटक क्या है)

एतदेव यदा सर्वैः पताकास्थानकैर्युतम् ॥ २२३ ॥
अङ्कैश्च दशभिर्धीरा महानाटकमूचिरे ।

एतदेव नाटकम् ।

अनुवाद—'उत्तमोत्तमक' वह लास्याङ्ग है जिसे कोप किंवा प्रसादसम्भूत आक्षेपपूर्ण, उत्तरोत्तर रसमनोहर हेला तथा हाव से युक्त और चित्र-विचित्रपद-बन्धमय गायन कहा जाया करता है।

विमर्श—'उत्तमोत्तमक' की यह निरुक्ति ध्यान देने योग्य है—

'उत्तमानि तावल्लास्याङ्गानि तेभ्योऽपीदमुत्तमम्, सर्वं हि रसपर्यवसितं प्रायः। तथा संज्ञापि कृता' (अभिनवभारती नाट्यशास्त्र १९. ११४)

अनुवाद—'उक्तप्रत्युक्त' वह लास्याङ्ग है जिसे आकाशभाषित स्वगत आदि रूप से (अलीकवत्) उक्ति-प्रत्युक्तिमय उपालम्भपूर्ण, विलासयुक्त गीतप्रयोग कहा गया है।

इसके और पूर्वनिर्दिष्ट लास्याङ्गों के उदाहरण स्पष्ट हैं।

विमर्श—लास्याङ्गों के प्रयोग और उपयोग का परम प्रयोजन नाटक का रचनावैचित्र्य है जो कि रसास्वाद में सहायक है। अभिनवभारतीकार ने स्पष्ट कहा है—

'तथा ह्यलौकिकमेतेष्वप्युपयोगि रसोचितं सर्वलोकोपकारि यद्वैचित्र्यं तत्कारणत्वाल्लास्येष्वाह।'

किन्तु साहित्यदर्पणकार के लिये यह सब लास्याङ्गसम्बन्धी रचनावैचित्र्य-निरूपण परम्परा का अनुसरण मात्र रहता है न कि समसामयिक रङ्गमञ्च की परिस्थिति का उपयोग।

अनुवाद—वह नाटक 'महानाटक' कहा जाया करता है जिसमें चतुर्विध पताकास्थानक की योजना रहा करती है और जिसका वस्तु-चरित-वर्णन १० अङ्कों में किया गया होता है।

यहाँ कारिका में 'एतदेव' से 'नाटक' का अभिप्राय लिया गया है (न कि पूर्वपरामृष्ट उक्तप्रत्युक्तरूप लास्याङ्ग का)। महानाटक के उदाहरणरूप में (महाकवि राजशेखर कृत) 'बालरामायण' नाटक लिया जा सकता है।

विमर्श—'महानाटक' की कल्पना 'महाकाव्य' की कल्पना सरीखी है। यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि अलङ्कारशास्त्र में 'महारस' की कोई कल्पना नहीं और इसलिये 'महानाटक' अथवा 'महाकाव्य' का नियामक रस-विस्तार नहीं अपि तु शरीर-विस्तार ही है।

यथा—

बालरामायणम्।

(२य रूपक-भेद प्रकरण . सभेद निरूपण)

अथ प्रकरणम्—

भवेत्प्रकरणे वृत्तं लौकिकं कविकल्पितम् ॥ २२४ ॥

शृङ्गारोऽङ्गी नायकस्तु विप्रोऽमात्योऽथवा वणिक्।

सापायधर्मकामार्थपरो धीरप्रशान्तकः ॥ २२५ ॥

विप्रनायकं यथा मृच्छकटिकम्। अमात्यनायकं मालतीमाधवम्। वणिङ्नायकं पुष्पभूषितम्।

नायिका कुलजा क्वापि वेश्या क्वापि द्वयं क्वचित्।

तेन भेदास्त्रयस्तस्य तत्र भेदस्तृतीयकः ॥ २२६ ॥

कितवद्यूतकारादिविटचेटकसंकुलः।

कुलस्त्री पुष्पभूषिते। वेश्या तु रङ्गवृत्ते। द्वे अपि मृच्छकटिके। अस्य नाटकप्रकृतित्वाच्छेषं नाटकवत्।

अनुवाद—'प्रकरण' वह रूपक विशेष है जिसका वृत्त लौकिक किंवा कवि-कल्पित हुआ करता है, जिसमें श्रृङ्गार की अभिव्यञ्जना अङ्गी-रस के रूप में हुआ करती है, जिसका नायक विप्र, अमात्य और वणिक्-श्रेणी में से किसी एक का हो सकता है और जिसमें नायक को 'धीरशान्त' प्रकृति तथा विपरीत परिस्थिति में पड़े रहने पर भी धर्म-अर्थ और काम-परायण रूप में चित्रित किया जाया करता है।

जैसे कि (महाकवि शूद्रक-रचित) 'मृच्छकटिक' जिसका नायक (चारुदत्त) एक ब्राह्मण है, (महाकवि भवभूति-रचित) 'मालतीमाधव' जिसका नायक (माधव) एक राजसचिव है और 'पुष्पभूषित', जिसका नायक एक वणिक् है।

नायिकाभेद से भी प्रकरण में भेद दिखायी देता है। जैसे कि कोई प्रकरण ऐसा है जिसमें कुलस्त्री नायिकारूप में चित्रित की गयी है, कोई ऐसा, जिसमें वेश्या को नायिका बनाया गया है और कोई ऐसा, जिसमें कुलजा और वेश्या दोनों नायिकारूप में वर्णित की गयी हैं। इन तीनों 'प्रकरण' भेदों में तीसरा अर्थात् 'कुलजा-वेश्या-नायिका-द्वयात्मक' जो 'प्रकरण' है उसमें धूर्त, द्यूतकार, विट और चेट आदि का भी पर्याप्त चित्रण रहा करता है।

जैसे कि 'पुष्पदूषित' नामक प्रकरण में कुलजा का नायिकारूप में चित्रण, 'तरङ्गदत्त' नामक प्रकरण में वेश्या का नायिकारूप में चित्रण और 'मृच्छकटिक' में कुलजा और वेश्या—दोनों का नायिकारूप में चित्रण स्पष्ट दिखायी देता है।

प्रकरण की अन्य विशेषतायें नाटक की विशेषतायें हैं क्योंकि यह रूपक-प्रकार नाटक का ही निष्यन्दरूप है।

विमर्श—(क) नाट्याचार्य भरतमुनि ने 'प्रकरण' का यह विशद विवेचन किया है—

'यत्र कविरात्मशक्त्या वस्तु शरीरं च नायकं चैव।
औत्पत्तिकं प्रकुरुते प्रकरणमिति तद् बुधैर्ज्ञेयम्॥

यदनार्षमथाहार्यं काव्यं प्रकरोत्यभूतगुणयुक्तम्।
उत्पन्नबीजवस्तु प्रकरणमिति तदपि विज्ञेयम्॥
यन्नाटके मयोक्तं वस्तु शरीरं च वृत्तिभेदाश्च।
तत्प्रकरणेऽपि योज्यं सलक्षणं सर्वसन्धिषु तु॥
विप्रवणिक्सचिवानां पुरोहितामात्यसार्थवाहानाम्।
चरितं यन्नैकविधं ज्ञेयं तत्प्रकरणं नाम॥
नोदात्तनायककृतं न दिव्यचरितं न राजसम्भोगम्।
बाह्यजनसम्प्रयुक्तं तज्ज्ञेयं प्रकरणं तज्ज्ञैः॥
दासविटश्रेष्ठियुतं वेशस्त्र्युपचारकारणोपेतम्।
मन्दकुलस्त्रीचरितं काव्यं कार्यं प्रकरणे तु'॥ (नाट्यशास्त्र १८ ४९-५)

जिसका अभिप्राय यह है—प्रकरण वह रूपक-प्रकार है जिसके कविकल्पितशरीर चरित्रचित्रण किया वस्तु-निरूपण में कवि की कल्पना का हाथ रहा करता है (प्रकर्षेण क्रियते कल्प्यते नेता, फलं वस्तु वा व्यस्त-समस्ततयाऽत्रेति प्रकरणम्)। इस रूपक-प्रकार में भी वैविध्य-भेद हैं। एक प्रकार का वह प्रकरण हो सकता है जिसमें नेता कल्पित हो और वृत्त तथा फल अकल्पित हों, दूसरे प्रकार का वह जिसमें वृत्त कल्पित हो और नेता और फल अकल्पित हों, तीसरे प्रकार का वह जिसमें फल कल्पित हो और नेता और वृत्त अकल्पित हों; चौथे प्रकार का वह जिसमें नेता और वृत्त कल्पित हों और फल अकल्पित हो पाँचवें प्रकार का वह जिसमें नेता और फल कल्पित हों और वृत्त अकल्पित हो छठे प्रकार का वह जिसमें फल और वृत्त कल्पित हों और नेता अकल्पित हो और सातवें प्रकार का वह जिसमें नेता, फल और वृत्त तीनों के तीनों कल्पित हों।

(ख) नायिका-भेद के कारण 'प्रकरण' के इक्कीस भेदों का परिगणन किया गया है। नाटकदर्पणकार ने स्पष्ट कहा है—

'कुलस्त्री गृहवार्तायां पण्यस्त्री तु विपर्यये।
विटे पत्नी नृप तस्मादेकविंशतिधाऽप्यदः॥'

गृहवार्तायां गार्हस्थ्योचितपुरुषार्थसाधके वृत्ते कुलस्त्रैव की नायिकात्वेन अभिधातव्या निबन्धनीया यथा पुष्पदूषितके। विपर्यये तु गार्हस्थ्यधर्मोचितपुरुषार्थाकर्मणि वेश्यैव नायिकात्वेन निबन्धनीया यथा तरङ्गदत्ते। उभयप्रयोगस्य विट एव विभागाभावमयोरप्यव-कारणम्। विटे गीत-नृत्य-वाद्यविचक्षणे धूत पान-वेश्यादिषु प्रसक्ते कलानुरूपके मृच्छकटिके नायकत्वेन विवक्षिते। कुलस्त्री वेश्या इति द्वयं तदुचितगार्हस्थ्यपुरुषार्थापेक्षया निबन्धनीयम्।

'यथा इतरसंकीर्णभेदत्रयस्य सप्तभेदं प्रकरणं तस्मादेकविंशतिधाऽप्ययं पुनः प्रकरणम्। चतुर्दश इतरा सप्त संकीर्णाः प्रकरणभेदाः।' (नाट्यदर्पण : २ व विवेक)

विश्वनाथ कविराज ने केवल तीन प्रकरणभेदों का निर्देश किया है। ऐसा करना युक्तियुक्त भी है क्योंकि कविकल्पना का हाथ होने से प्रकरण में अनन्त भी कल्पनायें हो सकती हैं जैसे की नायिका का कल्पित होना अथवा अकल्पित होना आदि-आदि जिससे इस प्रकार प्रकरण की भेदसंख्या असीमित हो जायगी। 'प्रकरण' अथवा 'प्रकरण' का सामान्य अर्थ स्वीकार कर लेने से चाहे कितनी भी अन्यान्य विविधतायें हों प्रकरणभेद की संख्या नहीं बढ़ सकेगी।

(ग) साहित्यदर्पण के उपलब्ध संस्करणों में वणिक्-नायकात्मक प्रकरण का उदाहरण 'पुष्पभूषित' नामक प्रकरण दिया गया है किन्तु यह पाठ अशुद्ध है। यहाँ 'पुष्पदूषित' अथवा 'पुष्पदूषितक' पाठ होना चाहिये। अभिनवभारतीकार ने 'पुष्पदूषितक' नाम का उल्लेख किया है—

(३य रूपक-प्रकार भाण)

अथ भाणः—

भाणः स्याद्धूर्तचरितो नानावस्थान्तरात्मकः ॥ २२७ ॥
एकाङ्क एक एवात्र निपुणः पण्डितो विटः ।
रङ्गे प्रकाशयेत्स्वेनानुभूतमितरेण वा ॥ २२८ ॥
संबोधनोक्तिप्रत्युक्ती कुर्यादाकाशभाषितैः ।
सूचयेद्वीरशृङ्गारौ शौर्यसौभाग्यवर्णनैः ॥ २२९ ॥
तत्रेतिवृत्तमुत्पाद्यं वृत्तिः प्रायेण भारती ।
मुखनिर्वहणे सन्धी लास्याङ्गानि दशापि च ॥ २३० ॥

अत्राकाशभाषितरूपपरवचनमपि स्वयमेवानुवदन्नुत्तरप्रत्युत्तरे कुर्यात्। शृङ्गारवीररसौ च सौभाग्यशौर्यवर्णनया सूचयेत्। प्रायेण भारती, कापि

'एतदेवाभिमन्यमानेन पुष्पदूषितकेऽशोकदत्तादिशब्दाकर्णनेन समुद्रदत्तस्य शङ्का योपनिबद्धा सा न दोषाय'

नाट्यदर्पणकार को भी 'पुष्पदूषितक' का ही पता है—

'एवं च पुष्पदूषितकेऽशोकदत्तादिशब्दाकर्णनेन समुद्रदत्तस्य नन्दयन्त्या या व्यलीकशङ्कोपनिबद्धा सा न दोषाय'

इसी प्रकार 'रङ्गवृत्त' (वेश्या तु रङ्गवृत्ते) पाठ अशुद्ध है क्योंकि इस प्रकरण का नाम 'तरङ्गदत्त' है (यथा मृच्छकटी पुष्पदूषितक-तरङ्गदत्तादिषु नाट्यदर्पण २ य विवेक)।

अनुवाद—'भाण' वह रूपक-प्रकार है जिसमें धूर्तचरित का चित्रण हुआ करता है, नानाविध लोकोपयोगी व्यवहारों का उपनिबन्ध रहा करता है और जिसकी रचना एक अङ्क में ही सम्पूर्ण हुआ करती है। इसमें एक ही कुशल किं वा बुद्धिमान् नायक, जो कि 'विट' हुआ करता है, स्वानुभूत अथवा परानुभूत विषयों का रङ्ग—सामाजिकों को परिचय दिया करता है। इस प्रकार के विषय-परिचय में वह 'आकाशभाषित' आदि का आश्रय लेकर, किसी न किसी को सम्बोधित किया करता है और उक्ति-प्रत्युक्ति द्वारा अपना अभिप्राय सामाजिकों पर प्रकाशित किया करता है। इसमें शृङ्गार और वीर रसों की अभिव्यञ्जना हुआ करती है जिसके लिये विलास-वर्णन और शौर्य-वर्णन अपेक्षित रहा करते हैं। इसका इतिवृत्त कवि-कल्पित हुआ करता है। इसमें प्राय. भारती वृत्ति का ही बाहुल्य रहा करता है। सन्धिपञ्चक में 'मुख' और 'निर्वहण' सधिओं की योजना यहाँ आवश्यक है। मनोरञ्जन-वैचित्र्य की दृष्टि से इसमें दसों लास्याङ्गों का उपन्यास उचित माना गया है।

यहाँ 'आकाशभाषित'की योजना का तात्पर्य यह है कि किसी अन्य पात्र के न होने पर भी, विट, स्वय ही, अन्य पात्र की उक्ति की कल्पना कर लिया करता है और उत्तर-प्रत्युत्तर रूप में विषय का विस्तार कर दिया करता है। शृङ्गार और वीर रसों की सूचना के लिये यहाँ सौभाग्य और शौर्य के वर्णन ही साधन माने गये हैं। यहाँ 'प्राय भारती वृत्ति के बाहुल्य होने' का अभिप्राय यह है कि कहीं-कहीं कैशिकी वृत्ति भी यहाँ अपेक्षित रहा

कैशिक्यपि वृत्तिर्भवति । लास्याङ्गानि गेयपदादीनि । उदाहरणं लीलामधुकरः ।

(षष्ठ रूपक-प्रकार : व्यायोग)

अथ व्यायोगः —

ख्यातेतिवृत्तो व्यायोगः स्वल्पस्त्रीजनसंयुतः ।
हीनो गर्भविमर्शाभ्यां नरैर्बहुभिराश्रितः ॥ २३१ ॥
एकाङ्कश्च भवेदस्त्रीनिमित्तसमरोदयः ।
कैशिकीवृत्तिरहितः प्रख्यातस्तत्र नायकः ॥ २३२ ॥
राजर्षिरथ दिव्यो वा भवेद्धीरोद्धतश्च सः ।

करती है। यहाँ 'लास्याङ्गों' का अभिप्राय 'गेयपद' आदि पूर्वनिर्दिष्ट दस लास्याङ्गों का अभिप्राय है। इस रूपक-प्रकार के उदाहरण के लिए 'लीलामधुकर' को लिया जा सकता है।

विमर्श—'भाण' शब्द की यह व्युत्पत्ति है—

'भण्यते व्योमोक्त्या (आकाशभाषितेन) नायकेन स्वपरवृत्तं प्रकाश्यतेऽनेनेति भाणः' अर्थात् 'भाण' वह रूपकप्रकार है जिसमें नायक 'आकाशभाषित' के द्वारा स्ववृत्त और परवृत्त का प्रकाशन किया करता है।

'भाण' में शृङ्गार और वीर रस का ही प्राधान्य हुआ करता है किन्तु वह भी विलास और विक्रम के वर्णन के आधार पर ही अपेक्षित माना गया है, न कि विशद चरित-विकास के आधार पर।

'भाण' के लिये 'लोकानुरञ्जक' होना अत्यन्त आवश्यक है। इसीलिये इसमें विट 'वेश्या' आदि के वृत्तान्त का वर्णन स्वभावतः अपेक्षित हुआ करता है। इसकी उपयोगिता का निर्देश करते हुए—'नाट्यदर्पण'कार ने यह कहा है—

'अत्र विटादीनां परवञ्चनात्मकं वृत्तं वेश्याकामुकप्रभृतीनां व्यापारज्ञानार्थं व्युत्पादयति इति।' अर्थात् 'भाण' में 'विट-चरित चित्रण' का उद्देश्य धूर्तजन की वञ्चना से सामाजिकों को सावधान और सतर्क करना है।

नाट्यशास्त्र का यह भाण-लक्षण भाण के स्वरूप और प्रयोजन का पूर्णतया परिचायक है—

'आत्मानुभूतशंसी परसंश्रयवर्णनाविशेषस्तु ।
विविधाश्रयो हि भाणो विज्ञेयस्त्वेकहार्यश्च ॥
परवचनमात्मसंस्थं प्रतिवचनैरुत्तरोत्तरग्रथितैः ।
आकाशपुरुषकथितैरङ्गविकारैरभिनयैश्चैव ॥
धूर्तविटसंप्रयोज्यो नानावस्थान्तरात्मकश्चैव ।
एकाङ्को बहुचेष्टः सततं कार्यो बुधैर्भाणः ॥'

(नाट्यशास्त्र : १८। ८-११)

अनुवाद—व्यायोग—'व्यायोग' उस रूपक प्रकार का नाम है जिसका इतिवृत्त प्रख्यात हुआ करता है जिसमें स्त्रीपात्रों की संख्या बहुत कम और पुरुषपात्रों की संख्या प्रचुर हुआ करती है, जिसके लिये 'गर्भ' और 'विमर्श' सन्धियों की योजना अपेक्षित नहीं रहा करती और जिसकी एक अङ्क में ही समाप्ति आवश्यक मानी गयी है। इसमें ऐसे संग्राम का वर्णन हुआ करता है जिसका कारण स्त्री न हो। इसमें कैशिकी वृत्ति नहीं रहा करती। इसका नायक कोई प्रसिद्ध पुरुष हुआ करता है जिसके लिये राजर्षि

हास्यशृङ्गारशान्तेभ्य इतरेऽत्राङ्गिनो रसाः ॥ २३३ ॥

यथा सौगन्धिकाहरणम् ।

(५म रूपक-भेद : समवकार)

अथ समवकार —

वृत्तं समवकारे तु ख्यातं देवासुराश्रयम् ।
सन्धयो निर्विमर्शास्तु त्रयोऽङ्कास्तत्र चादिमे ॥ २३४ ॥

अथवा देवविशेष होना आवश्यक है। इसमें धीरोदात्त प्रकृति के ही नायक का चित्रण अपेक्षित है। इसमें हास्य, शृङ्गार और शान्त—इन तीन रसों को छोड़कर, अन्य रसों में से किसी को भी अङ्गी अथवा प्रधानरूप में रखा जा सकता है।

'व्यायोग' के उदाहरण के लिए 'सौगन्धिकाहरण' को लिया जा सकता है।

विमर्श—भरतनाट्यशास्त्र में 'व्यायोग' का यह लक्षण है—

'व्यायोगस्तु विधिज्ञैः कार्यः प्रख्यातनायकशरीरः ।
अल्पस्त्रीजनयुक्तस्त्वेकाहकृतस्तथा चैव ॥
बहवश्च तत्र पुरुषा व्यायच्छन्ते यथा समवकारे ।
न च तत्प्रमाणयुक्तः कार्यस्त्वेकाङ्क एवायम् ॥
न च दिव्यनायककृतः कार्यो राजर्षिनायकनिबद्धः ।
युद्धनियुद्धाधर्षणसंघर्षकृतश्च कर्तव्यः ॥
एवंविधस्तु कार्यो व्यायोगो दीप्तकाव्यरसयोनिः' ।'

(नाट्यशास्त्र १८. ९०–९३)

'व्यायोग' शब्द की व्युत्पत्ति से ही इस रूपक-प्रकार का स्वरूप पहचाना जा सकता है। 'व्यायोग' की व्युत्पत्ति यह है—

'विशेषेण आ समन्तात् युज्यन्ते कार्यार्थं सरभन्तेऽत्रेति व्यायोग. ।'

नाटक और प्रकरण तो 'पूर्णसन्धि' रूपकप्रकार हैं किन्तु भाण और व्यायोग आदि 'न्यून-सन्धि' रूपकभेद हैं। रूपकों के 'पूर्णसन्धि' और 'अपूर्णसन्धि' होने का यह अभिप्राय है—

'नाटकादिनायकस्य तु प्रेक्षापूर्वकारित्वेनातिसहत्वाद् हितबहुफलकर्तव्यारम्भित्वेन विनिपातप्रत्ययापाकरणाच्च सर्वावस्थासम्भवेन पञ्चापि सन्धयो भवन्त्येव। अत्र (व्यायोगे) च गर्भाविमर्शसन्धिप्रतिषेधे एतत्सन्धिपरिच्छेदिके प्राप्त्याशा-नियताप्ती अवस्थे अपि प्रतिषिद्धे एव।' (नाट्यदर्पण २य विवेक)

अर्थात् 'नाटक' में तो सन्धिपञ्चक की साङ्गोपाङ्ग योजना अपेक्षित रहा करती है क्योंकि यहाँ का नायक एक अनुकरणीयचरित महापुरुष हुआ करता है जो कि आशा-निराशा के द्वन्द्व में पड़ा, अपनी कार्यसिद्धि के लिए, सतत जागरूक रहा करता है किन्तु 'व्यायोग' में ऐसी बात नहीं हुआ करती। यहाँ युद्ध-नियुद्ध-संघर्ष आदि के वर्णन वैचित्र्य का ही महत्त्व है और इसलिये नायक की प्राप्त्याशा और नियताप्ति की अवस्थाओं का निरूपण आवश्यक नहीं।

अनुवाद—समवकार—'समवकार' वह रूपकभेद है जिसका वृत्त देवविषयक अथवा असुरविषयक हुआ करता है और पुराणादिप्रसिद्ध हुआ करता है। इसमें 'विमर्श'सन्धि को छोडकर और सन्धियों की रचना अपेक्षित है। इसकी रचना तीन अङ्कों में सम्पूर्ण हुआ करती है, जिनमें, पहले अङ्क में मुख और प्रतिमुखसंधि दूसरे में गर्भसन्धि और

सन्धी द्वावन्त्ययोस्तद्वदेक एको भवेत्पुनः ।
नायका द्वादशोदात्ताः प्रख्याता देवमानवाः ॥ २३५ ॥
फलं पृथक्पृथक्तेषां वीरमुख्योऽखिलो रसः ।
वृत्तयो मन्दकैशिक्यो नात्र बिन्दुप्रवेशकौ ॥ २३६ ॥
वीथ्यङ्गानि च तत्र स्युर्यथालाभं त्रयोदश ।
गायत्र्युष्णिङ्मुखान्यत्र च्छन्दांसि विविधानि च ॥ २३७ ॥
त्रिशृङ्गारस्त्रिकपटः कार्यश्चायं त्रिविद्रवः ।
वस्तु द्वादशनालीभिर्निष्पाद्यं प्रथमाङ्कगम् ॥ २३८ ॥
द्वितीयेऽङ्के चतसृभिर्द्वाभ्यामङ्के तृतीयके ।

नालिका घटिकाद्वयमुच्यते । बिन्दुप्रवेशकौ च नाटकोक्तावपि नात्र विधातव्यौ । तत्र—

धर्मार्थकामैस्त्रिविधः शृङ्गारः कपटः पुनः ॥ २३९ ॥
स्वाभाविकः कृत्रिमश्च दैवजो विद्रवः पुनः ।

तीसरे में निर्वहणसन्धि की योजना आवश्यक है। इसमें १२ नायकों का चरित्र-चित्रण हुआ करता है जिनके लिए धीरोदात्त होना प्रख्यात होना और दिव्य अथवा अदिव्य होना आवश्यक है। इन १२ नायकों में प्रत्येक का प्रयोजन पृथक्-पृथक् हुआ करता है। इसमें वीर रस की ही 'अङ्गी'-रूप में अभिव्यक्ति अपेक्षित है और अन्य रस अङ्गरूप से उपनिबद्ध हुआ करते हैं। इसमें 'कैशिकी' के पुट के साथ-साथ और तीनों वृत्तियाँ आवश्यक हैं। इसके लिए 'बिन्दु'-निक्षेप की आवश्यकता नहीं और न 'प्रवेशक' योजना की ही अपेक्षा है। इसमें उपयोगिता की दृष्टि से जहाँ-तहाँ वीथी के १३ अङ्गों का उपन्यास आवश्यक है। इसमें गायत्री और उष्णिक छन्दों के प्राधान्य के साथ-साथ वृत्त-वैविध्य भी अपेक्षित है। समवकार के लिए 'त्रिशृङ्गार' 'त्रिकपट' और 'त्रिविद्रव' होना आवश्यक है। इसके प्रथमाङ्क का इतिवृत्त १२ घड़ी में द्वितीयाङ्क का इतिवृत्त ८ घड़ी में और तृतीयाङ्क का इतिवृत्त ४ घड़ी में समाप्त किया जाया करता है।

यहाँ (कारिका में) 'नालिका' का अभिप्राय दो घड़ी का है। वैसे तो नाटक का लक्षण समवकार आदि रूपक-प्रकारों में भी अनुगत माना गया है किन्तु समवकार के लिए बिन्दु-निक्षेप और 'प्रवेशक'-योजना आवश्यक नहीं समझी गयी है और इसीलिए इसके लक्षण में 'नात्र बिन्दुप्रवेशकौ' पद उपन्यस्त हैं।

'समवकार' के 'त्रिशृङ्गार' होने का अभिप्राय 'त्रिविधशृङ्गारयुक्त' होना है। 'त्रिविध-शृङ्गार' का अभिप्राय धर्मशृङ्गार अर्थशृङ्गार और कामशृङ्गार का अभिप्राय है। समवकार 'त्रिकपट' हुआ करता है—इसका अभिप्राय यह है कि इसमें स्वाभाविक कृत्रिम और दैवज—तीन प्रकार के कपट की योजना हुआ करती है। इसी प्रकार 'समवकार' के

अचेतनैश्चेतनैश्च चेतनाचेतनैः कृतः ॥ २४० ॥

तत्र शास्त्राविरोधेन कृतो धर्मश्रृङ्गारः। अर्थलाभार्थकल्पितोऽर्थश्रृङ्गारः। प्रहसनश्रृङ्गारः कामश्रृङ्गार। तत्र कामश्रृङ्गारः प्रथमाङ्क एव। अन्ययोस्तु न नियम इत्याहुः। चेतनाचेतना गजादयः। समवकीर्यन्ते बहवोऽर्था अस्मिन्निति-समवकारः।

'त्रिविद्रव' होने का तात्पर्य अचेतन, चेतन और चेतनाचेतनात्मक तीन विद्रवप्रकारों से युक्त होना है।

यहाँ 'धर्मश्रृङ्गार' से शास्त्रानुकूल श्रृङ्गार समझा जाया करता है और 'अर्थश्रृङ्गार' से अर्थलाभार्थक श्रृङ्गार। 'कामश्रृङ्गार' का तात्पर्य प्रहसनात्मक श्रृङ्गार है। समवकार के प्रथमाङ्क में जिस श्रृङ्गार की योजना हुआ करती है वह 'कामश्रृङ्गार' है। द्वितीयाङ्क और तृतीयाङ्क के लिये कोई विशेष नियम नहीं है जैसा कि नाट्याचार्यों का मत है। यहाँ 'चेतनाचेतनात्मक विद्रव' का अभिप्राय हाथी आदि द्वारा संभव उपद्रव का अभिप्राय है,। समवकार को इसलिये समवकार कहते हैं क्योंकि इसमें चित्र-विचित्र अर्थ उपनिबद्ध रहा करते हैं। 'समवकार' का उदाहरण 'समुद्रमथन' है।

विमर्श—(क) 'समवकार' की उपयोगिता के सम्बन्ध में अभिनवभारतीकार का यह कथन है—'एवं श्रद्धालवो देवताभक्ता तद्देवयात्रादावनेन प्रयोगेणानुगृह्यन्ते, निरनुसन्धान-हृदया स्त्रीबालमूर्खाश्च विद्रवादिनाहृतहृदया क्रियन्ते' (अभिनवभारती नाट्यशास्त्र. अध्याय १८) अर्थात् समवकार के अभिनय का स्थान देवमन्दिर का प्रागण है और समय देवयात्रा का दिवस। देवभक्त जनसमाज के सामने देवविशेषों की चरितचर्चा देवभक्ति के प्रचार का सुन्दर साधन है। समवकार में 'विद्रव' (बहुविध उत्पात) के अभिनय से अव्युत्पन्न जन-समाज का भी पर्याप्त मनोरञ्जन हुआ करता है।

नाट्यदर्पणकार ने भी 'समवकार' की सामाजिक उपयोगिता का यही सकेत किया है—

'समवकारे च सक्षिप्त सहास्य श्रृङ्गारः परो विद्रवो देवासुरवैरनिमित्तं सम्प्रहारादिकं च दिव्यप्रभावसाध्यं लौकिकीभिरुपपत्तिभिर्हीन मायेन्द्रजाल-प्लुत-लङ्घनोच्छेद्य-पुस्तावपातादिबहुलयाऽऽरभटया वृत्त्या सर्वमपि प्रहसन-कपट-विद्रवादिकुतूहलिना परा तुष्टिमुत्पादयितु व्युत्पाद्यते। यदाहुः—

शूरास्तु वीर-रौद्रेषु नियुद्धेष्वाहवेषु च।
बाला मूर्खाः स्त्रियश्चैव हास्य-शोक-भयादिषु ॥'

अर्थात् जैसे 'समवकार' में चित्र-विचित्र अर्थ समवकीर्णरूप से उपनिबद्ध रहा करते हैं वैसे ही इस रूपक-प्रकार के सामाजिक भी विविध प्रकार के लोग हुआ करते हैं जिन्हें, इसमें, चित्र-विचित्र-रूप का मनोरञ्जन मिला करता है।

(ख) 'त्रिश्रृङ्गार' अर्थात् 'धर्मश्रृङ्गार', 'अर्थश्रृङ्गार' और 'कामश्रृङ्गार' का अभिप्राय यह है—'यहाँ 'श्रृङ्गार' शब्द का अर्थ श्रृङ्गार रस नहीं अपितु प्रेमी प्रेमिकायुगल है जो कि श्रृङ्गार का आलम्बन विभाव हुआ करता है। अब 'धर्मश्रृङ्गार' का अर्थ हुआ 'धर्म' अथवा गार्हस्थ्यधर्माचरण के द्वारा प्रेमी-प्रेमिकायुगल का परस्पर सयोग और साथ ही साथ प्रेमी प्रेमिकायुगल का ऐसा पारस्परिक सम्बन्ध जिसका उद्देश्य गार्हस्थ्यधर्माचरण अथवा परदारवर्जनादिपूर्वक रतिसुखास्वाद हो। 'कामश्रृङ्गार' का तात्पर्य हुआ 'काम' अथवा रतिसुख के द्वारा स्त्री-पुरुषयुगल का सयोग अथवा रतिसुख के लिये स्त्री-पुरुषयुगल का सम्बन्ध। इसी प्रकार 'अर्थश्रृङ्गार' का अभिप्राय है अर्थ अथवा

यथा—समुद्रमथनम्।

(षष्ठ रूपक-भेद : डिम)

अथ डिमः—

मायेन्द्रजालसङ्ग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः ।
उपरागैश्च भूयिष्ठो डिमः ख्यातेतिवृत्तकः ॥ २४१ ॥

धन-धान्यादि के द्वारा स्त्री-पुरुषयुगल का परस्पर संयोग अथवा 'धर्म' के लिये स्त्री-पुरुषयुगल का पारस्परिक सम्बन्ध। नाट्यदर्पणकार ने स्पष्ट किया है—

'धर्मकामार्थाः फलं हेतवश्च यस्य (शृङ्गारस्य) तत्र परस्त्रीसंयोगरूपस्य शृङ्गारस्य परदारवर्जनादिको धर्मः फलम्, दानादिकस्तु धर्मः स्त्र्यादिकामस्य हेतुः। काम-शृङ्गार सम्प्राप्त्यां स्त्रीपुंसयो रतिस्तद्धेतुश्च स्त्रीपुंसादिरुच्यते। तत्र स्त्रीपुंसादिरूपशृङ्गारस्य रतिरूपः कामः फलम्। रतिरूपस्य शृङ्गारस्य स्त्रीपुंसादिरूपः कामो हेतुः। अत्र च कामशृङ्गारे स्त्री परस्त्री कन्या च ग्राह्या, न पुनः स्वदारा वेश्या वा। यथा समुद्रमथने लक्ष्म्याः। स्वदारार्थी हि धर्मस्याप्यनुप्रवेशेन केवलस्यैव कामस्य फल-हेतुभावो न स्यात्। अर्थो राज्य-सुवर्ण-धन-धान्य-पश्वादिः। तत्र धन्ययोषितां केषांचित् सुभगानां पुंसां चार्थफलः शृङ्गारः। वेश्यादिषु च पुंसामर्थहेतुकः शृङ्गारः। दैत्यादीनामपि गान्धर्व-पैशाचादिरूपाणां रम्यार्थसमीहा भवत्येव। तदाराधकानां चार्थप्राप्तिः। (नाट्यदर्पण २य विवेक)

(ग) 'त्रिकपट' का तात्पर्य अभिनवभारतीकार के शब्दों में यह है—

'कपटो वञ्चना। त्रिधा तत्र वञ्चना 'पुरुषेण कदाचित् केनचित्' कपटो भवति स हि वस्तुगतक्रमविहितः। वस्तु फलं तत्प्राप्तौ वस्तुगतः फलसाधकः कर्ता तस्य यः क्रमः उपायचिन्तनादिः तेन विहितः प्रधानपरार्थ एव वञ्चकेन कल्प्यते स पुरुषकृतः। यत्र तु वञ्चनीयोऽपि सापराधः स परप्रयुक्तः कपटः। यत्र तु द्वयोरपि न कश्चिदभिसन्धिर्दोषः काकतालीयेन तुल्यफलप्रभिसन्धानयतोरन्योन्यं उपघातेनापरस्परवधेन युज्यते तत्र वञ्चना सा दैवकृता वञ्चना।'

यहाँ साहित्यदर्पणकार ने 'वस्तुगतक्रमविहित' को 'स्वाभाविक' 'परप्रयुक्त' को 'कृत्रिम' और 'दैववशसम्भूत' को 'दैवज' मानकर 'त्रिकपट' का कथन किया है।

(घ) 'त्रिविद्रव' का अभिप्राय यह है—

'विद्रवन्ति प्रपलायन्ते जना यस्मादिति विद्रवोऽनर्थः। 'त्रि' इति प्रकारत्रयमुक्तम्। तत्र जीवोत्थो हस्त्यादिकृतः। अजीवोत्थः सस्यादिकृतः। जीवाजीवोत्थो नगरोपरोधजः।

(नाट्यदर्पण : २य विवेक)

साहित्यदर्पणकार ने 'जीवोत्थ' को 'चेतनविद्रव', 'अजीवोत्थ' को 'अचेतनविद्रव' और 'जीवाजीवोत्थ' को 'चेतनाचेतनविद्रव' मानकर 'त्रिविद्रव' का अभिप्राय स्पष्ट किया है। 'त्रिविद्रव' के सम्बन्ध में नाट्यशास्त्र की ये पंक्तियाँ बहुत स्पष्ट हैं—

'युद्धजलसंभवो वा वाय्वग्निगजेन्द्रसम्भ्रमकृतो वा।
नगरोपरोधजो वा विज्ञेयो विद्रवस्त्रिविधः ॥ (नाट्यशास्त्र : १८.७)

अनुवाद—डिम :—'डिम' वह रूपकप्रकार है जिसमें माया, इन्द्रजाल, संग्राम किंवा क्रोधादि से उद्भ्रान्त व्यक्तियों की चेष्टाओं का बाहुल्य रहा करता है और जिसमें निर्घात-उल्कापात-सूर्यचन्द्रोपराग आदि का वर्णन हुआ करता है इसका इतिवृत्त

अङ्गी रौद्ररसस्तत्र सर्वेऽङ्गानि रसाः पुनः ।
चत्वारोऽङ्का मता नेह विष्कम्भकप्रवेशकौ ॥ २४२ ॥
नायका देवगन्धर्वयक्षरक्षोमहोरगाः ।
भूतप्रेतपिशाचाद्याः षोडशात्यन्तमुद्धताः ॥ २४३ ॥
वृत्तयः कैशिकीहीना निर्विमर्शाश्च सन्धयः ।
दीप्ताः स्युः षड्साः शान्तहास्यशृङ्गारवर्जिताः ॥ २४४ ॥

अत्रोदाहरण च 'त्रिपुरदाहः' इति महर्षिः ।

(७म रूपक-भेद : ईहामृग)

अथेहामृगः—

ईहामृगो मिश्रवृत्तश्चतुरङ्कः प्रकीर्तितः ।

प्रख्यात होना चाहिये । इसमें रौद्र तो अङ्गी अथवा प्रधान रस हुआ करता है और अन्य रस अङ्गरूप से उपनिवद्ध किये जाया करते है । इसकी रचना के लिये अङ्कचतुष्टय पर्याप्त है । इसमें विष्कम्भक और प्रवेशक की योजना आवश्यक नहीं । इसके १६ नायक हुआ करते हैं जो कि देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, सर्प, भूत, प्रेत, पिशाचादि जैसे अत्यन्त उद्धतप्रकृति के जीव हुआ करते हैं । इसमें कैशिकी को छोडकर अन्य तीनों वृत्तिओं का विन्यास रहा करता है । इसमें 'विमर्श'सन्धि के अतिरिक्त अन्य सन्धियों की योजना अपेक्षित है । इसके लिये शान्त, हास्य और शृङ्गार को छोड़कर अन्य ६ रसों की दीप्ति अत्यावश्यक है ।

'डिम' का उदाहरण 'त्रिपुरदाह' है जैसा कि महर्षि भरत का कथन है ।

विमर्श—अभिनवभारती के अनुसार 'डिम' की व्युत्पत्ति यह है—

'डिमो डिम्बो विद्रव इति पर्याया , तद्योगादय डिम' । अन्ये तु डयन्त इति डिमा उद्धतनायकास्तेषा वृत्तिर्यत्रेति ।'

अर्थात् 'डिम' कहते हैं विद्रव अथवा उत्पात को और जिस रूपकप्रकार में उत्पातवर्णन का बाहुल्य हो वह रूपकप्रकार डिम है । नाट्यशास्त्र में 'डिम' का यह लक्षण है—

'प्रख्यातवस्तुविषय प्रख्यातोदात्तनायकश्चैव ।
षड्रसलक्षणयुक्तश्चतुरङ्को वै डिम. कार्य ॥
शृङ्गारहास्यवर्ज शेषै सर्वै रसै समायुक्त ।
दीप्तरसकाव्ययोनिर्नानाभावोपसम्पन्न ॥
निर्घातोल्कापातैरुपरागेणेन्दुसूर्ययोर्युक्त. ।
युद्धनियुद्धाधर्षणसफेटकृतश्च कर्तव्य ॥
मायेन्द्रजालबहुलो बहुपुस्तोत्थानयोगयुक्तश्च ।
देवभुजगेन्द्रराक्षसयक्षपिशाचावकीर्णश्च ॥
षोडशनायकबहुल सात्त्वत्यारभटिवृत्तिसंपन्न ।
कार्यो डिम प्रयत्नान्नानाश्रयभावसम्पन्न ॥'

(नाट्यशास्त्र २८. ८४-८८)

अनुवाद—ईहामृग —'ईहामृग' वह रूपकप्रकार है जिसका इतिवृत्त ऐतिहासिक

यथा—समुद्रमथनम्।

(षष्ठ रूपक-भेद : डिम)

अथ डिमः—

मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः।
उपरागैश्च भूयिष्ठो डिमः ख्यातेतिवृत्तकः॥ २४१॥

धन-धान्यादि के द्वारा स्त्री-पुरुषयुगल का परस्पर संयोग अथवा 'धर्म' के लिये स्त्री-पुरुषयुगल का पारस्परिक सम्बन्ध। नाट्यदर्पणकार ने स्पष्ट लिखा है—

'धर्मकामार्थाः फलं हेतवश्च यस्य (शृङ्गारस्य) तत्र पत्नीसंयोगरूपस्य शृङ्गारस्य परदारवर्जनादिरूपो धर्मः फलम्, दानादिकस्तु धर्मः स्वपरिग्रहकामस्य हेतुः। कामशृङ्गारशब्दाभ्यां स्त्रीपुंसयो रतिस्तदपेक्षश्च स्त्रीपुंसादिरुच्यते। तत्र स्त्रीपुंसादिरूपशृङ्गारस्य रतिरूपः कामः फलम्। रतिरूपस्य शृङ्गारस्य स्त्रीपुंसादिरूपः कामो हेतुः। अत्र च कामशृङ्गारे स्त्री परस्त्री कन्या च ग्राह्या, न पुनः स्वदारा वेश्या वा। यथा शाकुन्तलादयः। स्वदारादौ हि धर्मस्याप्यनुप्रवेशेन केवलस्यैव कामस्य फल-हेतुभावो न स्यात्। अर्थो रत्न-सुवर्ण-धन-धान्य-पश्वादि। तत्र पण्ययोषितां केषाञ्चित् सुभगानां पुंसो वार्थफलः शृङ्गारः। वेश्यादिषु च पुंसामर्थहेतुकः शृङ्गारः। देवादीनामपि गान्धर्व-यक्षादिरूपाणां राज्यार्थसमीहा भवत्येव। तदाराधकानां चार्थप्राप्तिः। (नाट्यदर्पण : २य विवेक)

(ग) 'त्रिकपट' का तात्पर्य अभिनवभारतीकार के शब्दों में यह है—

'कपटो वञ्चना। त्रिधा तत्र वञ्चना 'वस्त्वेव कदाचित् चेतनरूपं कपटो भवति स हि वस्तुगतक्रमविहिता वस्तु एक तथासी वस्तुगतं फलसाधकं कर्ता तस्य या क्रमा उपायविरचनाविधिः तेन विहिता अनापराधे एव वञ्चकेन वञ्च्यते स एवमुक्तः। यत्र तु वञ्चकोऽपि सापराधः स परप्रयुक्तः कपटः। यत्र तु द्वयोरपि न कश्चिदभिसन्धिर्दैवात् काकतालीयेन तुल्यफलाभिसन्धानयोरन्योन्य उपक्रमेणापरस्यापक्रमेण युज्यते तत्र वञ्चना सा दैवकृता वञ्चना।

यहाँ साहित्यदर्पणकार ने 'वस्तुगतक्रमविहित' को 'स्वाभाविक' 'परप्रयुक्त' को 'कृत्रिम' और 'दैवसमुत्पन्न' को 'दैवज' मानकर 'त्रिकपट' का कथन किया है।

(घ) 'त्रिविद्रव' का अभिप्राय यह है—

'विद्रवन्ति यस्मिन् जना यस्मादिति विद्रवोऽनर्थः। 'त्रि' इति प्रकारत्रययुक्तः। तत्र जीवोत्थो हस्त्यादिजः। अजीवोत्थः अग्न्यादिजः। जीवाजीवोत्थो नगरोपरोधजः।

(नाट्यदर्पण : २य विवेक)

साहित्यदर्पणकार ने 'जीवोत्थ' को चेतनविद्रव 'अजीवोत्थ' को अचेतनविद्रव और जीवाजीवोत्थ को चेतनाचेतनविद्रव मानकर 'त्रिविद्रव' का अभिप्राय स्पष्ट किया है। 'त्रिविद्रव' के सम्बन्ध में नाट्यशास्त्र की ये पंक्तियाँ बहुत स्पष्ट हैं—

'युद्धजलसंभवो वा वाय्वग्निगजेन्द्रसंभ्रमकृतो वा।
नगरोपरोधजो वा विज्ञेयो विद्रवस्त्रिविधः॥' (नाट्यशास्त्र १८.७०)

अनुवाद—डिम :—'डिम वह रूपकप्रकार है जिसमें माया, इन्द्रजाल, संग्राम किंवा क्रोधादि से उद्भ्रान्त व्यक्तियों की चेष्टाओं का बाहुल्य रहा करता है और जिसमें विशेषतः चन्द्रग्रहण-सूर्यग्रहणोपराग आदि का वर्णन हुआ करता है इसका इतिवृत्त

यथा—कुसुमशेखरविजयादि'।

(८म रूपक-प्रकार · अङ्क)

अथाङ्क'—

उत्सृष्टिकाङ्क एकाङ्को नेतारः प्राकृता नराः ॥ २५० ॥
रसोऽत्र करुणः स्थायी बहुस्त्रीपरिदेवितम् ।
प्रख्यातमितिवृत्तं च कविर्बुद्ध्या प्रपञ्चयेत् ॥ २५१ ॥
भाणवत्सन्धिवृत्त्यङ्गान्यस्मिञ्जयपराजयौ ।

इस रूपकप्रकार के उदाहरण 'कुसुमशेखरविजय' आदि है।

विमर्श—(क) भरतनाट्यशास्त्र मे 'ईहामृग' की यह परिभाषा है—

'दिव्यपुरुषाश्रयकृतो दिव्यस्त्रीकारणोपगतयुद्ध ।
सुविहितवस्तुनिबद्धो विप्रत्ययकारकश्चैव ॥
उद्धतपुरुषप्राय स्त्रीरोषप्रथितकाव्यबन्धश्च ।
सक्षोभविद्रवकृत. सफेटकृतस्तथा चैव ॥
स्त्रीभेदनापहरणावमर्दनप्राप्तवस्तुश्रृङ्गार ।
ईहामृगस्तु कार्य सुसमाहितकाव्यबन्धश्च ॥
यद्व्यायोगे कार्य ये पुरुषा वृत्तयो रसाश्चैव ।
ईहामृगेऽपि ते स्यु केवलममरस्त्रिया योग ॥
यत्र तु वधेप्सितानां वधो ह्युद्यतो भवेद्धि पुरुषाणाम् ।
किञ्चिद् व्याज कृत्वा तेषां युद्ध शमयितव्यम् ॥'

(नाट्यशास्त्र १२ ७८-८२)

(ख) अभिनवभारतीकार ने 'ईहामृग' की यह व्युत्पत्ति दी है—

'ईहा चेष्टा मृगस्येव स्त्रीमात्रार्था यत्र स ईहामृग ।' (अभिनवभारती अ. १८)

अर्थात् ईहामृग को इसलिए 'ईहामृग' कहा करते हैं क्योकि यहाँ नायक मृग की भाँति एक-मात्र स्त्रीप्राप्ति में ही तत्पर चित्रित किया जाया करता है।

(ग) साहित्यदर्पण के 'विमला'व्याख्याकार ने 'ईहामृग' की व्युत्पत्ति (**नायको मृगवद्-लभ्या नायिकामत्र ईहते वाञ्छतीतीहामृग**) का यह आशय समझाया है—'इसमें मृग के तुल्य अलभ्य कामिनी को नायक चाहता है, अत इसे 'ईहामृग' कहते हैं,' किन्तु 'अभिनवभारती' के देखते यह अभिप्राय ठीक नहीं प्रतीत होता। साहित्यदर्पणकार का वही अभिप्राय है जो कि 'अभिनवभारती' के आचार्य का है। तात्पर्य यह है कि इस रूपकप्रकार में नायक मृगवत् चेष्टा में निरत (स्त्रीभोगपरायण) दिखाया जाता करता है, न कि नायिका 'मृगवत्' अलभ्य वर्णित की जाया करती है।

अनुवाद—'अङ्क'-'अङ्क' अथवा 'उत्सृष्टिकाङ्क' वह रूपकप्रकार है जो कि एक अङ्क में ही रचा जाया करता है और जिसमें साधारण पुरुषों को नायकरूप में चित्रित किया जाया करता है। इसमें करुण रस 'अङ्गी' हुआ करता है, क्योंकि यहाँ नारी-विलाप का वर्णन प्रचुर मात्रा में रहा करता है। इसका इतिवृत्त प्रख्यात हुआ करता है और नाटककार की कल्पना द्वारा विस्तार के साथ वर्णित किया जाया करता है। इसमें सन्धि, वृत्ति और इनके अङ्गों की योजना 'भाण' के समान हुआ करती है। इसमें जय-पराजय, युद्ध-नियुद्ध

मुखप्रतिमुखे सन्धी तत्र निर्वहणं तथा ॥ २४५ ॥
नरदिव्यावनियमौ नायकप्रतिनायकौ ।
ख्यातौ धीरोद्धतावन्यो गूढभावादयुक्तकृत् ॥ २४६ ॥
दिव्यस्त्रियमनिच्छन्तीमपहारादिनेच्छतः ।
शृङ्गाराभासमप्यस्य किञ्चित्किञ्चित्प्रदर्शयेत् ॥ २४७ ॥
पताकानायका दिव्या मर्त्या वापि दशोद्धताः ।
युद्धमानीय संरम्भं परं व्याजान्निवर्तते ॥ २४८ ॥
महात्मानो वधप्राप्ता अपि वध्याः स्युरत्र नो ।
एकाङ्को देव एवात्र नेतेत्याहुः परे पुनः ॥ २४९ ॥
दिव्यस्त्रीहेतुकं युद्धं नायकाः षडितीतरे ।

मिश्रं ख्याताख्यातम्। अन्यः प्रतिनायकः। पताकानायकास्तु नायकप्रतिनायकयोर्मिलिता दश। नायको मृगवदलभ्यां नायिकामत्र ईहते वाञ्छतीतीहामृगः।

और कल्पित वृत्तों का सम्मिश्रण हुआ करता है और जिसकी रचना के लिये चार अङ्क पर्याप्त माना गया है। इसमें मुख प्रतिमुख और निर्वहण की तीन ही सन्धियाँ आवश्यक हैं। इसमें नायक और प्रतिनायक के देव और मानव—दोनों होने में कोई रोक-टोक नहीं (अर्थात् यदि नायक देव हो तो मानव भी प्रतिनायक हो सकता है और यदि प्रतिनायक देव हो तो नायक के रूप में मानव का भी चित्रण हो सकता है)। इसके नायक और प्रतिनायक के लिए प्रख्यात और धीरोद्धत होना आवश्यक है। इसका प्रतिनायक प्रच्छन्न आचारवाला और अनुचित कर्मों में तत्पर रहा करता है। इसमें प्रतिनायक के माध्यम से शृङ्गाराभास की भी कुछ थोड़ी सी अभिव्यञ्जना स्वाभाविक है क्योंकि यहाँ प्रतिनायक के कार्यों में उसके प्रेम की अनिच्छुक किसी दिव्याङ्गना का अपहरण आदि भी वर्णित रहा करता है। इसके पताकानायक दस हुआ करते हैं जो कि दिव्य अथवा मानव—दोनों प्रकार के हो सकते हैं। यहाँ प्रतिनायक का बध, युद्धस्थान में प्रदर्शित करके, किसी न किसी बहाने, समाप्त कर दिया जाता करता है। यहाँ वध्ययोग्य भी लोगों के वध का वर्णन नहीं किया जाया करता। कुछ नाट्याचार्यों ने 'ईहामृग' के लिये, एक अङ्क की ही रचना पर्याप्त मानी है और देव को ही नायकरूप में स्वीकार किया है। कुछ और आचार्यों के अनुसार इस रूपकप्रकार में छः नायक आवश्यक हैं जो कि किसी दिव्याङ्गना के कारण परस्पर लड़ते-झगड़ते चित्रित किये जाया करते हैं।

कारिका में 'मिश्र' पद से प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध (प्रख्यात और कल्पित) इतिवृत्त का अभिप्राय लिया गया है। 'अन्य' पद का अभिप्राय 'प्रतिनायक' का अभिप्राय है। इसके पताकानायकों अर्थात् नायक के सहायकों और प्रतिनायक के सहायकों की संख्या दस हुआ करती है। 'ईहामृग' को इसलिये ईहामृग कहते हैं क्योंकि इस रूपकप्रकार में नायक मृग की भाँति ऐसी नायिका की ईहा अथवा कामना में निरत चित्रित किया जाया करता है जो कि अलभ्य अथवा दुष्प्राप्य हुआ करती है।

यथा—कुसुमशेखरविजयादिः ।

(८म रूपक-प्रकार अङ्क)

अथाङ्क—

उत्सृष्टिकाङ्क एकाङ्को नेतारः प्राकृता नराः ॥ २५० ॥
रसोऽत्र करुणः स्थायी बहुस्त्रीपरिदेवितम् ।
प्रख्यातमितिवृत्तं च कविर्बुद्ध्या प्रपञ्चयेत् ॥ २५१ ॥
भाणवत्सन्धिवृत्त्यङ्गान्यस्मिञ्जयपराजयौ ।

इस रूपकप्रकार के उदाहरण 'कुसुमशेखरविजय' आदि है।

विमर्श—(क) भरतनाट्यशास्त्र मे 'ईहामृग' की यह परिभाषा है—

'दिव्यपुरुषाश्रयकृतो दिव्यस्त्रीकारणोपगतयुद्ध ।
सुविहितवस्तुनिवद्धो विप्रत्ययकारकश्चैव ॥
उद्धतपुरुषप्राय स्त्रीरोषग्रथितकाव्यवन्धश्च ।
सक्षोभविद्रवकृत. सफेटकृतस्तथा चैव ॥
स्त्रीभेदनापहरणावमर्दनप्राप्तवस्तुश्रृङ्गार' ।
ईहामृगस्तु कार्य सुसमाहितकाव्यवन्धश्च ॥
यद्व्यायोगे कार्य ये पुरुषा वृत्तयो रसाश्चैव ।
ईहामृगेऽपि ते स्यु केवलममरस्त्रिया योग ॥
यत्र तु वधेप्सितानां वधो ह्युदग्रो भवेद्धि पुरुषाणाम् ।
किञ्चिद् व्याज कृत्वा तेषां युद्ध शमयितव्यम् ॥'

(नाट्यशास्त्र १२ ७८-८२)

(ख) अभिनवभारतीकार ने 'ईहामृग' की यह व्युत्पत्ति दी है—

'ईहा चेष्टा मृगस्येव स्त्रीमात्रार्था यत्र स ईहामृग ।' (अभिनवभारती अ. १८)

अर्थात् ईहामृग को इसलिए 'ईहामृग' कहा करते हैं क्योंकि यहाँ नायक मृग की भाँति एक-मात्र स्त्रीप्राप्ति में ही तत्पर चित्रित किया जाया करता है।

(ग) साहित्यदर्पण के 'विमला'व्याख्याकार ने 'ईहामृग' की व्युत्पत्ति (**नायको मृगवद्-लभ्या नायिकामत्र ईहते वाञ्छतीतीहामृग**) का यह आशय समझाया है—'इसमें मृग के तुल्य अलभ्य कामिनी को नायक चाहता है, अत इसे 'ईहामृग' कहते हैं,' किन्तु 'अभिनवभारती' के देखते यह अभिप्राय ठीक नहीं प्रतीत होता। साहित्यदर्पणकार का वही अभिप्राय है जो कि 'अभिनवभारती' के आचार्य का है। तात्पर्य यह है कि इस रूपकप्रकार में नायक मृगवत् चेष्टा में निरत (स्त्रीभोगपरायण) दिखाया जाता करता है, न कि नायिका 'मृगवत्' अलभ्य वर्णित की जाया करती है।

अनुवाद—'अङ्क'-'अङ्क' अथवा 'उत्सृष्टिकाङ्क' वह रूपकप्रकार है जो कि एक अङ्क में ही रचा जाया करता है और जिसमें साधारण पुरुषों को नायकरूप में चित्रित किया जाया करता है। इसमें करुण रस 'अङ्गी' हुआ करता है, क्योंकि यहाँ नारी-विलाप का वर्णन प्रचुर मात्रा में रहा करता है। इसका इतिवृत्त प्रख्यात हुआ करता है और नाटककार की कल्पना द्वारा विस्तार के साथ वर्णित किया जाया करता है। इसमें सन्धि, वृत्ति और इनके अङ्गों की योजना 'भाण' के समान हुआ करती है। इसमें जय-पराजय, युद्ध-नियुद्ध

युद्धं च वाचा कर्तव्यं निर्वेदवचनं बहु ॥ २५२ ॥

इमं च केचित् नाटकाद्यन्तःपात्यङ्कपरिच्छेदार्थमुत्सृष्टिकाङ्कनामानम् आहुः। अन्ये तु—उत्क्रान्ता विलोमरूपा सृष्टिर्यत्रेत्युत्सृष्टिकाङ्कः। यथा—शर्मिष्ठा ययाति।

(९म रूपक-भेद। वीथी। वीथी के १३ अङ्ग)

अथ वीथी—

वीथ्यामेको भवेदङ्कः कश्चिदेकोऽत्र कल्प्यते।
आकाशभाषितैरुक्तैश्चित्रां प्रत्युक्तिमाश्रितः ॥ २५३ ॥
सूचयेद्भूरि शृङ्गारं किञ्चिदन्यान्रसान् प्रति।

आदि बातों द्वारा प्रकाशित किये जाया करते हैं। साथ ही साथ इसमें निर्वेदप्राय वचनों का भी बाहुल्य रहा करता है।

कतिपय नाट्याचार्य इस रूपक-प्रकार का 'उत्सृष्टिकाङ्क' नाम अधिक उचित समझते हैं। उनका कहना यह है कि 'अङ्क' तो नाटकादि रूपक-प्रबन्धों का सर्वसम्मत अन्तर्विभाग है और इसलिये 'अङ्क' शब्द के द्वारा एक रूपकभेद को सूचित करना उचित नहीं।

कुछ नाट्याचार्य 'उत्सृष्टिकाङ्क' की यह व्युत्पत्ति बताते हैं—

वह रूपकप्रकार 'उत्सृष्टिकाङ्क' है जिसकी (इतिवृत्तरचना आदि) सृष्टि उत्क्रान्त अथवा अन्य रूपकप्रकारों से उल्टी हुआ करती है।

'उत्सृष्टिकाङ्क' का उदाहरण 'शर्मिष्ठाययाति' है।

विमर्श—(क) 'भावप्रकाशन'कार ने 'अङ्क' अथवा 'उत्सृष्टिकाङ्क' का यह स्वरूप-निर्देश किया है—

'उत्सृष्टिकाङ्के प्रख्यातमितिवृत्तं क्वचिद् भवेत्।
क्वचिदेतदुत्पाद्यमप्रख्यातं कवेर्धिया ॥
दिव्यैरयुक्तः पुरुषैः शेषैरन्यैः समन्वितः।
कैशिकीवृत्तिहीनश्च सात्वत्यारभटीयुतः ॥
निवृत्तयुद्धसंरम्भमहारनिधनोद्धतः ।
प्रभूतकरुणस्त्रीणां परिदेवितमेदुरः ॥
निर्वेदभाषितैः स्त्रीणां नानाव्याकुलचेष्टितैः।
अविज्ञातकथाभावः कर्तव्योऽभ्युदयान्वितः ॥
एवमुत्सृष्टिकाङ्कस्तु कर्तव्यः काव्यवेदिभिः ॥

(भावप्रकाशन अष्टम अधिकार)

(ख) अभिनवभारती में 'उत्सृष्टिकाङ्क' पद की एक और प्रकार की ही व्युत्पत्ति दी गयी है—

'उत्क्रमणीया सृष्टिर्जीवितं यासां ता उत्सृष्टिकाः शोचन्त्यः स्त्रियस्ताभिरङ्कित इति तथोक्तः। (अभिनवभारती : १८ अध्याय)

अनुवाद—वीथी-'वीथी' वह रूपकप्रकार है जिसमें एक ही अङ्क हुआ करता है और एक ही नायक 'आकाशभाषित' के द्वारा, विचित्र-विचित्र उत्तर-प्रत्युत्तर-पूर्वक, अन्यान्य काल्पनिक पात्रों से आलाप-संलाप करते हुये चित्रित किया जाया करता है। इसमें शृङ्गार रस की अभिव्यक्ति अधिक और अन्य रसों की अभिव्यक्ति कम रखी जाया करती है।

मुखनिर्वहणे सन्धी अर्थप्रकृतयोऽखिलाः ॥ २५४ ॥

कश्चिदुत्तमो मध्यमोऽधमो वा शृङ्गारबहुलत्वाच्चास्याः कैशिकीवृत्तिबहुलत्वम् ।

अस्यास्त्रयोदशाङ्गानि निर्दिशन्ति मनीषिणः ।
उद्धात्य(त)कावलगिते प्रपञ्चस्त्रिगतं छलम् ॥२५५॥
वाक्केल्यधिबले गण्डमवस्यन्दितनालिके ।
असत्प्रलापव्याहारमृद(मार्द)वानि च तानि तु ॥ २५६ ॥

(वीथ्यङ्ग—लक्षण . १—उद्धात्यक, २—अवलगित)

तत्रोद्धात्य(त)कावलगिते प्रस्तावनाप्रस्तावे सोदाहरण लक्षिते ।

(३—प्रपञ्च)

मिथो वाक्यमसद्भूत प्रपञ्चो हास्यकृन्मतः ।

इसमें सन्धियाँ तो केवल 'मुख' और 'निर्वहण' दो ही हुआ करती हैं किन्तु अर्थप्रकृतियाँ पाँचों ।

यहाँ कारिका में 'कश्चित्' का अभिप्राय उत्तम, मध्यम अथवा अधम प्रकृति के नायक का अभिप्राय है । 'वीथी' में शृङ्गार-बाहुल्य का अभिप्राय कैशिकी-प्राचुर्य का अभिप्राय है ।

नाट्यशास्त्रकोविदों ने 'वीथी' के १३ अङ्ग बताये हैं—(१) उद्धात्यक, (२) अवलगित, (३) प्रपञ्च, (४) त्रिगत, (५) छल, (६) वाक्केलि, (७) अधिबल, (८) गण्ड, (९) अवस्यन्दित, (१०) नालिका, (११) असत्प्रलाप, (१२) व्याहार और (१३) मृदव (अथवा मार्दव)।

विमर्श—'वीथी' भारतीवृत्ति का एकदेश हैं । भारतीवृत्ति के एकदेश होने के कारण इसमें वक्रोक्तिवैचित्र्य का बाहुल्य रहा करता है । इसीलिये वीथी की यह निरुक्ति है—

'वक्रोक्तिमार्गेण गमनाद् वीथीव वीथी'

अर्थात् वीथी को इसलिये 'वीथी' कहते हैं क्योंकि यह वीथी (गली) की भाँति टेढ़ी-मेढ़ी (उक्तिवक्रतापूर्ण) हुआ करती है । 'वीथी' के १३ अङ्ग वस्तुत इसके वक्रोक्ति वैचित्र्य के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं । इसीलिये साङ्गोपाङ्ग वीथी को रूपकमात्र के लिये उपकारक माना गया है जैसा कि अभिनवभारतीकार का मत है—

'नाटिकादिभाणान्तसमस्तरूपकोपजीव्यत्वाद् वीथीं लक्षयति ।'

और जैसा कि इनका नाट्यदर्पणकारकृत यह समर्थन है—

'सर्वेषा रूपकाणा नाटकादीना वक्रोक्त्यादिसङ्कुलत्रयोदशाङ्गप्रवेशेनोपयोगिनी वैचित्र्यकारिका ।'

अनुवाद—इन तेरह अङ्गों में (१) उद्धात्यक और (२) अवलगित का स्वरूप नाटक की प्रस्तावना अथवा आमुख के निरूपण-प्रसङ्ग में पहले ही निर्दिष्ट किया जा चुका है (इसलिए यहाँ इनके अतिरिक्त अङ्गों का ही स्वरूप निरूपण किया जा रहा है)।

अनुवाद—'प्रपञ्च' वह वाक्यसन्दर्भ है जो परस्पर हासजनक किंवा मिथ्यारूप

यथा विक्रमोर्वश्याम्—

वलभीस्थविदूषकचेट्योरन्योन्यवचनम्।

(७—त्रिगत)

त्रिगतं स्यादनेकार्थयोजनं श्रुतिसाम्यतः ॥ २५७ ॥

यथा तत्रैव—

'राजा—

सर्वक्षितिभृतां नाथ, दृष्टा सर्वाङ्गसुन्दरी।
रामा रम्ये वनान्तेऽस्मिन् मया विरहिता त्वया ॥

(नेपथ्ये तत्रैव प्रतिशब्दः)

राजा—कथं दृष्टेत्याह।' अत्र प्रश्नवाक्यमेवोत्तरत्वेन योजितम्। नटादित्रितयविषयमेवेदमिति कश्चित्।

हुआ करता है। जैसे कि 'विक्रमोर्वशीय' में वलभी पर बैठे विदूषक और चेटी का आलाप संलाप।

विमर्श—भरतनाट्यशास्त्र के अनुसार 'प्रपञ्च' का यह स्वरूप है—

'यदसद्भूतं वचनं संस्तवयुक्तं द्वयोः परस्परं यत्तु।
एकस्य चार्थहेतोः स हास्यजननः प्रपञ्चः स्यात् ॥' (नाट्यशास्त्र १८।१२)

अर्थात् दो पात्रों के परस्पर परिहासात्मक अथवा प्रशंसात्मक किंवा हासोपहासपूर्ण मिथ्यालाप का नाम प्रपञ्च है। परस्पर वार्तालाप में एक दूसरे के अभिप्राय का प्रपञ्चन अथवा विस्तार स्वाभाविक है। यह भी स्वाभाविक है कि इस प्रकार के वार्तालाप में झूठमूठ बातें बनायी जाँय। 'प्रपञ्च' तो वस्तुतः लोकजीवन की ही वस्तु है। किन्तु लोकजीवन में इसके द्वारा शुद्ध मनोरंजन की संभावना नहीं। इसको नाटक के क्षेत्र में पदार्पण करते ही शुद्ध मनोरञ्जनात्मक बना देता है। इसीलिए कतिपय नाट्याचार्य परकीयाप्रेमप्रसङ्ग विट-चेट के ऐसे वार्तालाप में इसका स्वरूप-वर्णन किया करते हैं—

'रण्डा चण्डा दीक्षिता धर्मदारा मद्यं मांसं खाद्यते पीयते च।
भिक्षा भोज्यं चर्मखण्डं च शय्या कौलो धर्मः कस्य नो भाति रम्यः ॥'

अनुवाद—'त्रिगत' वह है जिसे श्रुति-साम्य के कारण अनेक अर्थों की योजना कहा करते हैं। जैसे कि 'विक्रमोर्वशीय' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'राजा—'क्षितिभृन्नाथ! इस वनान्त में खोई हुई सर्वाङ्गसुन्दरी रमणी को कहीं देखा है?

(नेपथ्य में प्रतिध्वनि)

ओह! इसने तो कहा कि देखा है।' आदि में जो वीप्सा है वह 'त्रिगत' है।

कुछ नाट्याचार्य (जैसे कि दशरूपककार आदि) 'त्रिगत' को इसीलिए त्रिगत कहते हैं क्योंकि यह नट नटी और सूत्रधार—इन तीन अभिनेताओं द्वारा प्रयुक्त किया जाया करता है (किन्तु इस मान्यता की कोई विशेष प्रामाणिकता नहीं)।

विमर्श—(क) भरतनाट्यशास्त्र में 'त्रिगत' का यह लक्षण है—

'श्रुतिसारूप्यादस्मिन् बहवोऽर्था युक्तिभिर्नियुज्यन्ते।
यद्धास्यमहास्यं वा तत्त्रिगतं नाम विज्ञेयम् ॥' (नाट्यशास्त्र। १८ अध्याय)

(५—छल)

प्रियाभैरप्रियैर्वाक्यैर्विलोभ्यच्छलनाच्छलम् ।

यथा वेण्याम्—

'भीमार्जुनौ—

कर्ता द्यूतच्छलानां, जतुमयशरणोद्दीपनः सोऽभिमानी
राजा दुःशासनादेर्गुरुरनुजशतस्याङ्गराजस्य मित्रम् ।
कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयनपटुः पाण्डवा यस्य दासाः
क्वाऽऽस्ते दुर्योधनोऽसौ कथयत, न रुषा, द्रष्टुमभ्यागतौ स्वः ॥'

यहाँ 'श्रुतिसारूप्य' का अभिप्राय शब्द सादृश्य का अभिप्राय है और 'त्रि' से तीन का ही नहीं अपितु अनेक का अर्थ लिया गया है। अभिनवभारतीकार ने इसीलिये कहा है—

'त्रिशब्दोऽनेकोपलक्षणम्, अनेकमर्थं गतमिति त्रिगतम् । वाक्ये मुख्यमुत्तरमनेकप्रश्न-साधारणम् । इह तु य एव प्रश्नस्तदेव प्रतिवचनमिति विशेष यथा—
सर्वक्षितिभृता नाथ ! इत्यादि ।'

(ख) भावप्रकाशनकार ने कतिपय नाट्याचार्यों के मतानुसार नटादित्रितयालाप को भी 'त्रिगत' कहा है और यह बताया है कि यह 'त्रिगत' नाटक की प्रस्तावना में ही प्रयुक्त होता है—

'श्रुतिसाम्यादनेकार्थयोजन त्रिगत त्विह । नटादित्रितयालाप पूर्वरङ्गे तदिष्यते ॥
एतत्प्रस्तावनात्मेति कथ्यते नाट्यवेदिभि ॥'

(ग) नाट्यदर्पणकार ने 'त्रिगत' का एक और भी स्वरूपनिर्देश किया है जो कि कतिपय नाट्याचार्यों को मान्य है—

'यद्वा शब्दोऽव्यक्त ध्वनिमात्रं तत्साम्येनानेकार्थयोजन त्रिगतम् । यथेन्दुलेखायां वीथ्याम्—
राजा—वयस्य !
किं नु कलहसनादो मधुरो मधुपायिना नु झङ्कार ।
हृदयगृहदेवतायास्तस्या नु सनूपुरक्वण. ॥' (नाट्यदर्पण २य विवेक)

अनुवाद—'छल' का अभिप्राय वस्तुत अप्रिय किन्तु प्रिय प्रतीत होनेवाले वाक्यों द्वारा किसी की वञ्चना का अभिप्राय है। जैसे कि 'वेणीसंहार' की इस सूक्ति अर्थात्—

'भीम और अर्जुन—बताओ कहाँ है द्यूतकपट का वह कुशल कलाकार, लाक्षागृह का वह निर्माता और दाहक, अभिमान का वह धनी, दु शासनादि का वह राजा, अनुजशत का वह अग्रज, अङ्गराज का वह मित्र, द्रौपदी के केशाम्बरकर्पण का वह व्यसनी, और दासतापाश में पाण्डवों को बाँधनेवाला वह दुर्योधन ? हम उसके दर्शन के लिए आये हैं, क्रोध से नहीं !'

आदि में, जो वीथी का अंग है वह 'छल' है।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार का यह सोदाहरण छल निरूपण 'भावप्रकाशन' के आधार पर हुआ है। भावप्रकाशनकार का छल लक्षण यह है—

'प्रियैरिवाप्रियैर्वाक्यैर्विलोभ्य छलना छलम् ।' (भावप्रकाशन ८म अधिकार)

और उदाहरण भी 'कर्ता द्यूतच्छलानाम्' आदि ही है।

यथा विक्रमोर्वश्याम्—

वलभीस्थविदूषकचेट्योरन्योन्यवचनम् ।

(७—त्रिगत)

त्रिगतं स्यादनेकार्थयोजनं श्रुतिसाम्यतः ॥ २५७ ॥

यथा तत्रैव—

'राजा—

सर्वक्षितिभृतां नाथ, दृष्टा सर्वाङ्गसुन्दरी ।
रामा रम्ये वनान्तेऽस्मिन् मया विरहिता त्वया ॥

(नेपथ्ये तत्रैव प्रतिशब्दः)

राजा—कथं दृष्टेत्याह ।' अत्र प्रश्नवाक्यमेवोत्तरत्वेन योजितम् । नटादित्रितयविषयमेवेदमिति कश्चित् ।

हुआ करता है । जैसे कि 'विक्रमोर्वशीय' में वलभी पर बैठे विदूषक और चेटी का वाक्-संलाप ।

विमर्श—भरतनाट्यशास्त्र के अनुसार 'प्रपञ्च' का यह लक्षण है—

'यदसद्भूतं वचनं संस्तवयुक्तं द्वयोः परस्परं यत्तु ।
एकस्य चार्थहेतोः स हास्यजननः प्रपञ्चः स्यात् ॥' (नाट्यशास्त्र : १८ ११)

अर्थात् दो पात्रों के परस्पर परिहासात्मक अथवा प्रशंसात्मक किंवा हास्योपहासपूर्ण मिथ्यालाप का नाम प्रपञ्च है । परस्पर वार्तालाप में एक दूसरे के अभिप्राय का प्रपञ्चन अथवा विस्तार स्वाभाविक है । यह भी स्वाभाविक है कि इस प्रकार के वार्तालाप में झूठमूठ बातें बनायी जाँय । 'प्रपञ्च' तो वस्तुतः लोकजीवन की ही वस्तु है । किन्तु लोकजीवन में इसके द्वारा शुद्ध मनोरंजन की संभावना नहीं । इसका नाट्य के क्षेत्र में प्रयोग इसे शुद्ध मनोरञ्जनात्मक बना देता है । इसीलिए प्रसिद्ध नाट्याचार्य पत्नीप्रेमकुपित विट-चेट के पीछे वार्तालाप में इसका स्वरूप-दर्शन किया करते हैं —

'रक्ता पत्न्या दीक्षिता धर्मदारा मद्यं मांसं खाद्यते पीयते च ।
भिक्षा भोज्यं चर्मखण्डं च शय्या कौलो धर्मः कस्य नो भाति रम्यः ॥'

अनुवाद—'त्रिगत' वह है जिसे श्रुति-साम्य के कारण अनेक अर्थों की योजना कहा करते हैं । जैसे कि 'विक्रमोर्वशीय' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'राजा—'क्षितिधरनाथ ! इस वनान्त में खोई हुई सर्वाङ्गसुन्दरी रमणी को कहीं देखा है ?

(नेपथ्य में प्रतिध्वनि)

ओह ! इसने तो कहा कि देखा है !' आदि में जो योजना है वह 'त्रिगत' है ।

कुछ नाट्याचार्य (जैसे कि दशरूपककार आदि) 'त्रिगत' को इसीलिए 'त्रिगत' कहते हैं क्योंकि यह नट, नटी और सूत्रधार—इन तीन अभिनायकों द्वारा प्रयुक्त किया जाया करता है (किन्तु इस मान्यता की कोई विशेष प्रामाणिकता नहीं)।

विमर्श—(क) भरतनाट्यशास्त्र में 'त्रिगत' का यह लक्षण है—

श्रुतिसारूप्यादस्मिन् बहवोऽर्था युक्तिभिर्नियुज्यन्ते ।
यद्धास्यमहास्यं वा तत्त्रिगतं नाम विज्ञेयम् ॥' (नाट्यशास्त्र : १८ अध्याय)

(७—अधिबल)

अन्योन्यवाक्याधिक्योक्तिः स्पर्धयाधिबलं मतम् ।

यथा मम प्रभावत्याम्—

'वज्रनाभः—

अस्य वक्षः क्षणेनैव निर्मथ्य गदयानया ।
लीलयोन्मूलयाम्येष भुवनद्वयमद्य वः ॥

प्रद्युम्नः—अरे अरे असुरापसद ! अलममुना बहुप्रलापेन ।

मम खलु—

अद्य प्रचण्डभुजदण्डसमर्पितोरुकोदण्डनिर्गलितकाण्डसमूहपातैः ।
आस्तां समस्तदितिजक्षतजोक्षितेयं क्षोणिः क्षणेन पिशिताशनलोभनीया ॥'

(८—गण्ड)

गण्डं प्रस्तुतसंबन्धि भिन्नार्थं सत्वरं वचः ॥ २६० ॥

यथा वेण्याम्—

'राजा—

अध्यासितुं तव चिराज्जघनस्थलस्य पर्याप्तमेव करभोरु ! ममोरुयुग्मम् ॥

अनन्तरम् (प्रविश्य)

विमर्श—दशरूपककार ने 'प्रस्तुत साकाङ्क्ष वाक्य की समाप्ति' को 'वाक्केलि' कहा है —

'वाक्यस्य प्रकान्तस्य साकाङ्क्षस्य विनिवर्तनं वाक्केलिः ।' (दशरूपक ३ १७)

और इसका यह उदाहरण दिया है—

'त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्गे ।
इत्यादिभिः प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धां तामेव शान्तमथवा किमतः परेण ॥'

अनुवाद—'अधिबल' कहते हैं परस्पर स्पर्द्धापूर्वक बढ़-चढ़कर बातचीत करने को। जैसे कि मेरी ही कृति 'प्रभावतीपरिणय' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'वज्रनाभ—इस गदा से क्षण भर में इसका वक्षस्थल विदीर्ण कर दूँगा और तुम दोनों का इहलोक और परलोक, चुटकी बजाते, मिट्टी में मिला दूँगा।

प्रद्युम्न—अरे नीच राक्षस ! बन्द कर अपना प्रलाप, देख—

आज, मेरे प्रचण्ड भुजदण्ड में सुशोभित इस भीषण कोदण्ड (धनुष) से छूटनेवाले बाण क्षण-भर में दैत्यवंश के रक्त से पृथिवी भिगो देंगे और मांसभोजी प्राणिओं को प्रसन्न कर डालेंगे।'

आदि में, जो 'वीथ्यङ्ग' है वह अधिबल है।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार का 'अधिबल'-लक्षण दशरूपक के 'अधिबल'-लक्षण का ही उद्धरण है। 'अधिबल' के सुन्दर दृष्टान्त 'वेणीसंहार' में यत्र-तत्र देखे जा सकते हैं। उक्ति-प्रत्युक्ति में स्पर्धा द्वारा ही बलाधिक्य आ सकता है और इसीलिये यहाँ 'स्पर्द्धा' को ही मूल कारण माना गया है।

अनुवाद—'गण्ड' कहते हैं प्रस्तुत विषय से सबद्ध किन्तु विरुद्धार्थक वचन के सहसा उपन्यास को। जैसे कि 'वेणीसंहार' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'राजा—अरी सुन्दरी ! मेरा यह ऊरुयुगल तेरे जघनमण्डल का आसन बनने के लिये पूर्णरूप से उद्यत है।

('छल' विषयक मतभेद)

अन्ये त्वाहुश्छलं किञ्चित्कार्यमुद्दिश्य कस्यचित् ॥२५८॥
उदीर्यते यद्वचनं वञ्चनाहास्यरोषकृत् ।

(६—वाक्केलि)

वाक्केलिर्हास्यसम्बन्धो द्वित्रिप्रत्युक्तितो भवेत् ॥ २५९ ॥

द्वित्रीत्युपलक्षणम् ।

यथा—

'भिक्षो ! मांसनिषेवणं प्रकुरुषे, किं तेन मद्यं विना
मद्यं चापि तव प्रियं प्रियमहो वाराङ्गनाभिः सह ।
वेश्याऽप्यर्थरुचिः कुतस्तव धनं द्यूतेन चौर्येण वा
चौर्यद्यूतपरिग्रहोऽपि भवतो, नष्टस्य कान्या गतिः ॥'

(वाक्केलिविषयक मतभेद)

केचित्—'प्रक्रान्तवाक्यस्य साकाङ्क्षस्यैव निवृत्तिर्वाक्केलिः' इत्याहुः । अन्ये 'अनेकस्य प्रश्नस्यैकमुत्तरम् ।'

अनुवाद—कुछ नाट्याचार्य 'छल' का यह लक्षण करते हैं—

'छल' वह वञ्चनात्मक, हास्यजनक किंवा रोषकारक वचन है जिसे किसी उद्देश्य-विशेष से किसी के प्रति प्रयुक्त किया जाता है।

विमर्श—यहाँ साहित्यदर्पणकार ने भरतमुनि का यह छल-लक्षण अर्थात्—

'अन्यार्थमेव वाक्यं छलमभिसन्धानहास्यरोषकरम् ।'

आदि मतान्तररूप में स्वीकार किया है।

अनुवाद—'वाक्केलि' का अभिप्राय कतिपय उक्ति-प्रत्युक्तियों द्वारा हास-परिहास की सृष्टि का अभिप्राय है। यहाँ कारिका में 'द्वित्रि'—'दो-तीन' का अभिप्राय दो-तीन का नहीं अपितु अधिक का है क्योंकि 'द्वित्रि' पद 'अधिक' का उपलक्षण है।

जैसे कि निम्न सूक्ति अर्थात्—

"(गृहस्वामी) भिक्षुदेव ! क्या मांस खा रहे हैं ? (भिक्षु) बिना मदिरा के मांस खाना भी तो क्या खाना ! (गृहस्वामी) तो क्या मदिरा भी चाहिये ? (भिक्षु) मदिरा तो चाहिये ही किन्तु साथ साथ वाराङ्गना मिल जाय तो और भी अच्छा। (गृहस्वामी) लेकिन वाराङ्गना तो पैसे से मिल पायेगी, आपके पास पैसा कहाँ ? (भिक्षुक) धन की क्या कमी चोरी और जुआ चालू रहे ! (गृहस्वामी) ओह ! तो आप चोर और जुआरी भी हैं ? (भिक्षुक) अरे भाई ! बरबादी में चारा ही क्या ?"

आदि में जो हास-परिहास की सृष्टि है वह 'वाक्केलि' के ही कारण है।

विमर्श—'वाक्केलि' एक वचन-क्रीडा है। वचनक्रीडा 'वक्रोक्ति' और 'प्रत्युक्ति' दोनों प्रकार से संभव है। साहित्यदर्पणकार का 'वाक्केलि'-उदाहरण प्रत्युक्तिपूर्वक वाक्केलि का उदाहरण है।

अनुवाद—कतिपय नाट्याचार्यों (जैसे कि दशरूपककार आदि) के मत में 'वाक्केलि' का अभिप्राय किसी साकाङ्क्ष प्रस्तुत वचन की समाप्ति है। कतिपय ऐसे भी नाट्याचार्य हैं जो 'वाक्केलि' को अनेक प्रश्नों का एक उत्तर मानते हैं।

(७—अधिवल)

अन्योन्यवाक्याधिक्योक्तिः स्पर्धयाधिबलं मतम् ।

यथा मम प्रभावत्याम्—

'वज्रनाभः—

अस्य वक्ष क्षणेनैव निर्मथ्य गदयानया ।
लीलयोन्मूलयाम्येष भुवनद्वयमद्य वः ॥

प्रद्युम्नः—अरे अरे असुरापसद ! अलममुना बहुप्रलापेन ।

मम खलु—

अद्य प्रचण्डभुजदण्डसमर्पितोरुकोदण्डनिर्गलितकाण्डसमूहपातैः ।
आस्ता समस्तदितिजक्षतजोक्षितेयं क्षोणिः क्षणेन पिशिताशनलोभनीया ॥'

(८—गण्ड)

गण्डं प्रस्तुतसंबन्धि भिन्नार्थं सत्वरं वचः ॥ २६० ॥

यथा वेण्याम्—

'राजा—

अध्यासितुं तव चिराज्जघनस्थलस्य पर्याप्तमेव करभोरु ! ममोरुयुग्मम् ॥

अनन्तरम् (प्रविश्य)

विमर्श—दशरूपककार ने 'प्रस्तुत साकाक्ष वाक्य की समाप्ति' को 'वाक्केलि' कहा है —
'वाक्यस्य प्रकान्तस्य साकाङ्क्षस्य विनिवर्त्तनं वाक्केलि ।' (दशरूपक ३ १७)
और इसका यह उदाहरण दिया है—
'त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्गे ।
इत्यादिभिः प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धा तामेव शान्तमथवा किमतः परेण ॥'

अनुवाद—'अधिवल' कहते हैं परस्पर स्पर्द्धापूर्वक वढ़-चढ़कर वातचीत करने को। जैसे कि मेरी ही कृति 'प्रभावतीपरिणय' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'वज्रनाभ—इस गदा से क्षण भर में इसका वक्षस्थल विदीर्ण कर दूँगा और तुम दोनों का इहलोक और परलोक, चुटकी वजाते, मिट्टी में मिला दूँगा।

प्रद्युम्न—अरे नीच राक्षस ! वन्द कर अपना प्रलाप, देख—

आज, मेरे प्रचण्ड भुजदण्ड में सुशोभित इस भीषण कोदण्ड (धनुष) से छूटनेवाले वाण क्षण-भर में दैत्यवंश के रक्त से पृथिवी भिगो देंगे और मासभोजी प्राणिओं को प्रसन्न कर डालेंगे।'

आदि में, जो 'वीथ्यङ्ग' है वह अधिवल है।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार का 'अधिवल'–लक्षण दशरूपक के 'अधिवल'–लक्षण का ही उद्धरण है। 'अधिवल' के सुन्दर दृष्टान्त 'वेणीसंहार' में यत्र-तत्र देखे जा सकते हैं। उक्ति-प्रत्युक्ति में स्पर्धा द्वारा ही वलाधिक्य आ सकता है और इसीलिये यहाँ 'स्पर्द्धा' को ही मूल कारण माना गया है।

अनुवाद—'गण्ड' कहते हैं प्रस्तुत विषय से संवद्ध किन्तु विरुद्धार्थक वचन के सहसा उपन्यास को। जैसे कि 'वेणीसंहार' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'राजा—अरी सुन्दरी ! मेरा यह ऊरुयुगल तेरे जघनमण्डल का आसन वनने के लिये पूर्णरूप से उद्यत है।

कञ्चुकी—देव ! भग्नं भग्नम्-इत्यादि ।'

अत्र रथकेतनभङ्गार्थं धनुर्भङ्गार्थे सम्बन्धे सम्बद्धम् ।

(९—अपवारित)

व्याख्यानं स्वरसोक्तस्यान्यथापवारितं भवेत् ।

यथा छलितरामे—

सीता—जाद ! कल्लं क्खु अओज्झाए गन्तव्वम्, तहिं सो राआ विणएण पणमिदव्वो [जात ! कल्यं खलु अयोध्यायां गन्तव्यम्, तत्र स राजा विनयेन प्रणमितव्यः]।

लवः—अय किमावाभ्यां राजोपजीविभ्यां भवितव्यम् ।

सीता—जाद ! सो क्खु तुम्हाणं पिदा [जात ! स युष्माकं पिता]।

लवः—किमावयो रघुपतिः पिता ?

(कञ्चुकी का प्रवेश)

कञ्चुकी—महाराज ! वह तो टूट चुका।

आदि में जो 'वीथ्यङ्ग' है वह गण्ड है क्योंकि यहाँ रथ के ध्वजदण्ड के टूटने से सम्बद्ध मुनी-वचन दुर्योधन के ऊरुयुगल के भङ्गरूप अर्थ में भी सम्बद्ध हो रहा है।

विमर्श—(क) उत्तररामचरित का निम्न प्रसङ्ग भी 'गण्ड' का एक सुन्दर निदर्शन है—

'रामः—इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयो-

रसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहलश्चन्दनरसः ।

अयं बाहुः कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः

किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः ॥

(प्रविश्य) प्रतिहारी—देव उवत्थिदो (देव ! उपस्थितः)।'

(ख) भरतनाट्यशास्त्र के अनुसार गण्ड का यह लक्षण है—

सरम्भसंभ्रमयुतं विवादयुक्तं तथापवादकृतम् ।

बहुवचनाक्षेपकृतं गण्डं प्रवदन्ति तत्त्वज्ञाः ॥ (नाट्यशास्त्र १८.२५)

गण्ड का शब्दार्थ फोड़ा भी होता है। जैसे किसी फोड़े में दुःख एवं मवाद भरा रहता है वैसे ही इस वीथ्यङ्ग में दुःख अर्थ भरा रहता है जिसके कारण इसे गण्ड कहते हैं—

'अन्याभिप्रायेणाकस्मात् प्रयुक्तं प्रतिवचनतयाऽनुचारितमपि प्रतिवचनरूपतया प्रकाशते यत् संबद्धं वचनं तद् दुःखार्थगर्भत्वाद् दुःखोपचितगर्भगण्ड इव गण्डः।'

(भावप्रकाशन : २४ निर्ण०)

अनुवाद—'अपवारित' कहते हैं स्वाभिप्राय के प्रकाशक वचन के अन्यथा व्याख्यान को। जैसे कि 'छलितराम' के इस प्रसङ्ग में अर्थात्—

'सीता—पुत्र ! तुम्हें अयोध्या में सावधानी से जाना है। वहाँ राजा के साथ विनय पूर्वक मिलना है।

लव—तो क्या हम दोनों भाई राजा की सेवा करेंगे ?

सीता—वे तुम्हारे पिता हैं।

लव—क्या रघुराज हमारे पिता हैं ?

सीता—(साशङ्कम्) मा अण्णधा सङ्कद्धम्, ण क्खु तुम्हाण सअलाए ज्जेव पुहवीएत्ति' [मा अन्यथा शङ्कध्वम्, न खलु युष्माकम्, सकलाया एव पृथिव्या ।]

(१०—नालिका)

प्रहेलिकैव हास्येन युक्ता भवति नालिका ॥ २६१ ॥

सवरणकार्युत्तर प्रहेलिका ।

यथा रत्नावल्याम्—

'सुसङ्गता—सहि जस्स किदे तुम आअदा सो इद ज्जेव चिट्ठदि [सखि ! यस्य कृते त्वमागता स इत एव तिष्ठति ।]

सागरिका—कस्स किदे अहं आअदा [कस्य कृते अहमागता ।]

सुसङ्गता—ण क्खु चित्तफलअस्स' [ननु चित्रफलकस्य ।]

अत्र त्व राज्ञः कृते आगतेत्यर्थः सवृत ।

सीता—(घबराकर) नहीं, नहीं, घबराओ नहीं, तुम्हारे ही नहीं, सारी पृथिवी के पिता हैं ।'

आदि में, जो वीथ्यङ्गविन्यास है वह 'अवस्यन्दित' का ही विन्यास है ।

विमर्श—'अवस्यन्दित' को ही 'अवस्पन्दित' भी कहा गया है । नाट्यदर्पणकार ने 'अवस्पन्दित' का यह अभिप्राय प्रकाशित किया है—

'स्वेच्छोक्तस्याऽन्यथाख्यान यदवस्पन्दितं तु तत् ।

स्वेच्छया वर्णनाभिप्रायमात्रेणोक्तस्यान्यथाऽऽख्यानमन्यार्थकथनरूपं यत् तदवस्पन्दितं चक्षु स्पन्दनादिवदन्तर्गतसूचनीयसभवात् ।

अर्थात् जैसे चक्षु स्पन्दन से हृदय का अभिप्राय प्रकाशित होता है वैसे ही 'अवस्पन्दित' रूप वचनविन्यास से हृदय का अभिप्राय प्रकट किया जाया करता है ।

अनुवाद— 'नालिका' कहते हैं हास-परिहासयुक्त पहेली को। यहाँ 'प्रहेलिका' (पहेली) का अभिप्राय एक ऐसे उत्तर का अभिप्राय है जहाँ कोई बात छिपायी गयी प्रतीत होती है । जैसे कि 'रत्नावली' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'सुसगता—सखी ! जिसके लिये तू यहाँ आयी है वह यहीं विराजमान है ।

सागरिका—किसके लिये मैं यहाँ आयी ?

सुसगता—अरे ! इस चित्रफलक के लिये समझ लो ।'

आदि में, जो वचनविन्यास है वह 'नालिका' रूप है क्योंकि यहाँ यह बात कि 'तू राजा के लिये आयी है' छिपायी गयी प्रतीत हो रही है ।

विमर्श—नाट्यदर्पण के अनुसार 'नालिका' का यह स्वरूप है—

'हास्याय वञ्चना नाली—

परप्रतारणकारि यदुत्तर हास्याय हासनिमित्त निगूढार्थत्वात भवति सा नाली व्याजरूपा प्रणालिका ।' (नाट्यदर्पण २य विवेक)

(११—असत्प्रलाप)

असत्प्रलापो यद्वाक्यमसम्बद्धं तथोत्तरम् ।
अगृह्णतोऽपि मूर्खस्य पुरो यच्च हितं वचः ॥ २६२ ॥

तत्राद्यं यथा मम प्रभावत्याम्—

'प्रद्युम्नः—(सहकारवल्लीमवलोक्य सानन्दम्) अहो कथमिहैव—
अलिकुलमञ्जुलकेशी परिमलबहला रसावहा तन्वी ।
किसलयपेशलपाणिः कोकिलकलभाषिणी प्रियतमा मे ॥'

एवमसंबद्धोत्तरेऽपि । तृतीयं यथा—वेण्यां दुर्योधनं प्रति गान्धारीवाक्यम् ।

(१२—व्याहार)

व्याहारो यत्परस्यार्थे हास्यक्षोभकरं वचः ।

यथा मालविकाग्निमित्रे—'(लास्यप्रयोगावसाने मालविका निर्गन्तुमिच्छति)।

विदूषकः—मा दाव उवदेससुद्धा गमिस्ससि [मा तावदुपदेशशुद्धा गमिष्यसि]
(इत्युपक्रमेण)

अनुवाद—'असत्प्रलाप' कहते हैं असंबद्ध वाक्य अथवा उत्तर को। साथ ही साथ न समझनेवाले व्यक्ति के लिये हितकारक वचनोपन्यास भी 'असत्प्रलाप' ही है।

जैसे कि 'असंबद्ध-वाक्य'रूप असत्प्रलाप का यह उदाहरण जो कि मेरी ही कृति 'प्रभावतीपरिणय' की सूक्ति है—

'प्रद्युम्न (सहकारवल्ली को देखकर प्रसन्नता से)—ओह ! तो क्या यहीं—मेरी यह अलिकुलमञ्जुलकेशी भ्रमरों की भाँति काले-काले बालोंवाली (और भ्रमररूप केशपाशवाली), 'परिमलबहुला'—रतिपरिमल से भरी (और सौरभवाली) 'रसावहा'-आनन्द देनेवाली (और रस से भरी) 'तन्वी'-युवती (और पतली सी), 'किसलयपेशलपाणि'-पल्लवोपम कोमल हाथवाली (और पल्लवरूप हाथवाली) और 'कोकिलकलभाषिणी'-कोकिल की भाँति मीठी बोलीवाली (और कोकिलकूजनरूप वाणीवाली) प्रियतमा है !'

इसी भाँति 'असंबद्ध उत्तररूप' असत्प्रलाप का दृष्टान्त ढूँढ़ लिया जा सकता है। तीसरे प्रकार के 'असत्प्रलाप' का निदर्शन वेणीसंहार में दुर्योधन के प्रति गान्धारी का वाक्य है।

विमर्श—दशरूपककार के अनुसार 'असत्प्रलाप' का यह लक्षण है—असंबद्धकथाप्रायोऽसत्प्रलापो यथोत्तरः। नाटक में 'असत्प्रलाप' परिनिष्पन्न के लिये आवश्यक है। इसमें 'असंगति' का चमत्कार का वर्णन नहीं किया जा सकता क्योंकि वत्सराजादि महोन्माद वैदग्ध्य आदि-आदि के निरूपण में 'असत्प्रलाप' का ही सौन्दर्य और उपयोग दिखाई पड़ा करता है।

अनुवाद—'व्याहार' कहते हैं दूसरे के लाभार्थ हासजनक अथवा क्षोभकारक वचनविन्यास को। जैसे कि—'मालविकाग्निमित्र' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

(लास्यप्रयोग के बाद मालविका नाट्यगृह से जाना चाहती है)

विदूषक—तू शास्त्र का उल्लंघन कर यहाँ से नहीं जा सकती।

गणदासः—(विदूषक प्रति) आर्य ! उच्यता यस्त्वया क्रमभेदो लक्षितः।

विदूषकः—पढम बम्भणपूआ भोदि, सा इमाए लङ्घिदा [प्रथम ब्राह्मणपूजा भवति, सा अनया लङ्घिता]। (मालविका स्मयते)' इत्यादिना नायकस्य विशुद्ध-नायिकादर्शनप्रयुक्तेन हासलोभकारिणा वचसा व्याहारः।

(१३—मृदव)

दोषा गुणा गुणा दोषा यत्र स्युर्मृद(र्मार्द)वं हि तत् ॥२६३॥

क्रमेण यथा—

> प्रिय ! जीवितताक्रौर्य नि'स्नेहत्व कृतघ्नता।
> भूयस्त्वद्दर्शनादेव ममैते गुणता गता.॥
> तस्यास्तद्रूपसौन्दर्य भूषित यौवनश्रिया।
> सुखैकायतन जात दु खायैव ममाधुना॥

(रूपकों में वीथ्यङ्गों का निवेश और उपयोग)

एतानि चाङ्गानि नाटकादिषु सम्भवन्त्यपि वीथ्यामवश्य विधेयानि स्पष्ट-

---

गणदास—(विदूषक से) कहो भाई ! इसने क्या शास्त्र का उल्लघन किया ?

विदूषक—सबसे पहले तो ब्राह्मणपूजा होनी चाहिये। इसे इसने कहाँ किया ?

(मालविका मुसकरा देती है)'

इत्यादि में, 'व्याहार' की ही योजना है क्योंकि यहाँ नायक अग्निमित्र को, मालविका-दर्शन का नि शङ्क अवसर देने के लिये, विदूषक का यह हासकारक और लोभजनक वचन-विन्यास 'व्याहार' रूप ही है।

विमर्श—'व्याहार' की इस निरुक्ति अर्थात्—

'विविधोऽर्थ आह्रियतेऽनया (उक्त्या) इति व्याहार' से ही इस वीथ्यङ्ग का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

अभिनवभारतीकार ने 'व्याहार' की दूसरी निरुक्ति की है—'विविधोऽर्थोऽभिनीयते येन (स व्याहार)।'

अनुवाद—'मृदव' का अभिप्राय ऐसा वचन-विन्यास है जिसमें दोष गुण जैसे लगा करते हैं और गुण दोष जैसे।

क्रमश उदाहरण (दोष की गुणवत् प्रतीति)—

'प्रियतम ! तुम्हारे वियोग में मेरा जीना, मेरी क्रूरता, नि स्नेहता और कृतघ्नता ही समझा जायगा। किन्तु तुम्हारे पुनर्मिलन से, क्रूरता, नि स्नेहता और कृतघ्नता के ये सब दोष, मेरे गुण ही मान लिये जायेंगे।'

(गुण की दोषवत् प्रतीति)

'उसका यौवन की श्री से समृद्ध वह रूपसौन्दर्य पहले कितना आनन्ददायक रहा ! किन्तु अब (उसके वियोग में) तो वह सब मेरे लिये दु खरूप ही हो गया है।'

विमर्श—'मृदव' की व्युत्पत्ति यह है—

'मृदा परपक्षमर्दनेन स्वपक्षमवति रक्षतीति मृदवम्—गुणस्य दोषीकरण दोषस्य च गुणी-करणम्।'

(नाट्यदर्पण २य विवेक)

अनुवाद—वैसे तो ये सभी वीथ्यङ्ग नाटकादिरूपक-प्रबन्धों में पाये जाया करते हैं

यथा नाटकादिषु विनिविष्टान्यपीहोदाहृतानि । वीथीव नानारसानां चात्र मालारूपतया स्थितत्वाद्वीथीयम् । यथा—मालविका ।

(१०म रूपक-प्रकार : प्रहसन : सप्रभेदनिरूपण : १म भेद : शुद्ध प्रहसन)

अथ प्रहसनम्—

भाणवत्सन्धिसन्ध्यङ्गलास्याङ्गाङ्कैर्विनिर्मितम् ।
भवेत्प्रहसनं वृत्तं निन्द्यानां कविकल्पितम् ॥ २६४ ॥
अत्र नारभटी, नापि विष्कम्भकप्रवेशकौ ।
अङ्गी हास्यरसस्तत्र वीथ्यङ्गानां स्थितिर्न वा ॥ २६५ ॥

तत्र—

तपस्विभगवद्विप्रप्रभृतिष्वत्र नायकः ।
एको यत्र भवेद्धृष्टो हास्यं तच्छुद्धमुच्यते ॥

यथा कन्दर्पकेलिः ।

(२य भेद : सङ्कीर्ण प्रहसन)

आश्रित्य कञ्चन जनं संकीर्णमिति तद्विदुः ॥ २६६ ॥

यथा—धूर्तचरितम् ।

किन्तु 'वीथी' नामक रूपकप्रकार में इनकी योजना अनिवार्य मानी गयी है और इसीलिये 'वीथी' के निरूपणप्रसङ्ग में इनका सोदाहरण निरूपण किया गया है। 'वीथी' को इसलिये वीथी कहा करते हैं क्योंकि यह रसभावों की वीथी अथवा पंक्ति (माला) सी रची जाया करती है। उदाहरण के लिये 'मालविका'।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार ने वीथी नामक रूपक-प्रकार का उदाहरण 'मालविका' दिया है। यह रूपक-प्रबन्ध मालविकाग्निमित्र के अतिरिक्त अन्य कोई रूपकप्रबन्ध होगा। नाट्यदर्पणकार ने 'इन्दुलेखा' और 'बकुलवीथी' नामक वीथी-रूपकों का निर्देश किया है।

अनुवाद—'प्रहसन' वह रूपक-प्रकार है जिसमें सन्धि संध्यङ्ग लास्याङ्ग और अङ्क की रचना भाण की भाँति हुआ करती है। इसका इतिवृत्त अधम प्रकृति के नायक का इतिवृत्त होता है और कविकल्पित होता है।

प्रहसन में 'आरभटी' वृत्ति नहीं हुआ करती और न विष्कम्भक और प्रवेशक की ही रचना की जाया करती है।

प्रहसन का अङ्गी रस हास्य रस हुआ करता है। इसमें वीथ्यङ्ग-योजना ऐच्छिक है अनिवार्य नहीं।

वह प्रहसन 'शुद्ध' प्रहसन कहा जाया करता है जिसमें तपस्वी संन्यासी और ब्राह्मण श्रेणी के व्यक्तियों में से किसी एक प्रकार के व्यक्ति को एकनायक के रूप में चित्रित किया जाया करता है। जैसे कि 'कन्दर्पकेलि' नामक प्रहसन-प्रबन्ध।

इसके अतिरिक्त 'संकीर्ण प्रहसन' वह प्रहसन-प्रकार है जिसमें किसी भी अधम प्रकृति के व्यक्ति का नायकरूप में चित्रण किया जाया करता है। जैसे कि 'धूर्तचरित' नामक

('संकीर्ण' प्रहसनविषयक मतभेद तथा 'विकृत'नामक प्रहसननिरूपण)

वृत्तं बहूनां धृष्टानां सङ्कीर्णं केचिदूचिरे।
तत्पुनर्भवति द्व्यङ्कमथवैकाङ्कनिर्मितम् ॥ २६७ ॥

यथा—लटकमेलकादिः।

मुनिस्त्वाह—

'वेश्याचेटनपुंसकविटधूर्ता बन्धकी च यत्र स्युः।
अविकृतवेषपरिच्छदचेष्टितकरणं तु सङ्कीर्णम् ॥' इति।

विकृतं तु विदुर्यत्र षण्ढकञ्चुकितापसाः।
भुजङ्गचारणभटप्रभृतेर्वेषवाग्युताः ॥ २६८ ॥

इदं तु सङ्कीर्णेनैव गतार्थमिति मुनिना पृथङ्नोक्तम्।

विमर्श—'प्रहसन' श्रेणी के रूपकों का अपना ही उपयोग है जैसा कि नाट्यदर्पणकार का कथन है—

'प्रहसनेन हि पाखण्डिप्रभृतीनां चरितं विज्ञाय विमुखः पुरुषो न भूयस्तान् वञ्चकानुपसर्पति।'

अर्थात् 'प्रहसन' में दम्भ-पाखण्ड आदि दुर्गुणोंवाले नायकचरित का जो चित्रण हुआ करता है उससे सामाजिकों को यह लाभ हुआ करता है कि वे दम्भी, पाखण्डी आदि लोगों के फेर में पड़ने से बच जाते हैं।

अनुवाद—कतिपय नाट्याचार्य उस प्रहसन को संकीर्ण प्रहसन कहा करते हैं जिसमें कई एक धृष्टनायकों का चरितचित्रण रहा करता है और जो एक अङ्क अथवा दो अंक का हुआ करता है। 'संकीर्ण' प्रहसन का उदाहरण 'लटकमेलक' आदि प्रहसन-प्रबन्ध हैं।

यहाँ भरतमुनि का मत यह है—

'संकीर्ण प्रहसन वह 'प्रहसन' है जिसमें वेश्या, विट, चेट, बन्धकी, नपुंसक और विदूषक आदि का चरित चित्रित रहा करता है और उनकी वेष-भूषा और प्रवृत्ति-चेष्टा का अविकल अनुकरण किया जाया करता है।'

इसके अतिरिक्त 'विकृत' प्रहसन वह प्रहसन-प्रकार है जिसमें नपुंसक, कञ्चुकी और तापसलोग कामुक, चारण और योद्धा लोगों की वेष-भूषा और बोल-चाल का अनुकरण किया करते हैं।

भरतमुनि ने इस तृतीय प्रहसन-प्रकार का निरूपण नहीं किया है क्योंकि उनके अनुसार यह भी द्वितीय प्रहसन-प्रकार अर्थात् 'संकीर्ण प्रहसन' में ही अन्तर्भूत है।

विमर्श—भावप्रकाशकार ने त्रिविध प्रहसन का यह स्वरूप बताया है—

'भाणवत् स्यात् प्रहसनं तत्त्रिधा परिभिद्यते।
शुद्धं क्वाप्यथ सङ्कीर्णं क्वचिद् वैकृतमित्यपि ॥
तत्र श्रोत्रियनिर्ग्रन्थशाक्यादीनां यथाग्रथम्।
भाषाचेष्टिततद्रूपहास्यवाक्यसमन्वितम् ॥
चेटचेटीविटव्याप्तं शुद्धं प्रहसनं भवेत्।
उद्घात्यकादिवीथ्यङ्गैर्मिश्रं सङ्कीर्णमुच्यते ॥
विटकामुकचेटादिवचोवेषधरैस्तु यत्।
परिव्राण्मुनिषण्ढाद्यैः कृतं वैकृतमुच्यते ॥

(उपरूपक-निरूपण : १ला प्रकार : नाटिका)

अथोपरूपकाणि । तत्र—

नाटिका क्लृप्तवृत्ता स्यात् स्त्रीप्राया चतुरङ्किका ।
प्रख्यातो धीरललितस्तत्र स्यान्नायको नृपः ॥ २६९ ॥
स्यादन्तःपुरसम्बद्धा सङ्गीतव्यापृताथवा ।
नवानुरागा कन्यात्र नायिका नृपवंशजा ॥ २७० ॥
सम्प्रवर्तेत नेतास्यां देव्यास्त्रासेन शङ्कितः ।
देवी भवेत्पुनर्ज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवंशजा ॥ २७१ ॥
पदे पदे मानवती तद्वशः सङ्गमो द्वयोः ।
वृत्तिः स्यात्कैशिकी स्वल्पविमर्शाः सन्धयः पुनः ॥ २७२ ॥

द्वयोर्नायिकानायकयोः ।

यथा—रत्नावली—विद्धशालभञ्जिकादिः ।

सैरन्ध्रिका स्यात् संकीर्णा यथा 'सागरकौमुदी' ।
'कलिकेलि'प्रहसनं पञ्चवैकृतमीरितम् ॥
(भावप्रकाशनम् : ८ अधिकार)

अनुवाद—अब उपरूपकों का निरूपण किया जा रहा है। इन उपरूपकों में—
सर्वप्रथम जो उपरूपक है वह 'नाटिका' है। 'नाटिका' वह उपरूपक है जिसका वृत्त कवि द्वारा कल्पित हुआ करता है। इसमें स्त्री-चरित ही अधिकाधिक चित्रित हुआ करते हैं। इसका चार अङ्कों में समाप्त होना आवश्यक है। इसमें किसी प्रख्यात राजवंश के, धीर ललित प्रकृति वाले, राजा को 'नायक' रूप में रखा जाया करता है। इसमें जो 'नायिका' हुआ करती है उसके लिए नायक के अन्तःपुर से सम्बद्ध होना अथवा संगीतकला में निपुण होना, राजकुलोत्पन्न होना तथा नवानुरागवती कन्या होना अपेक्षित है। इसमें नायक राजा का नायिका के प्रति रतिभाव देवी अथवा राजमहिषी के भय से अनुचित रूप से ही प्रकाशित किया जाया करता है। यहाँ 'देवी' से अभिप्राय राजकुल में उत्पन्न ज्येष्ठ या 'प्रगल्भा' प्रकृति वाली राजरानी से है जो कि पग पग पर मान करती चित्रित की जाया करती है तथा जिसकी अनुकम्पा पर ही नायक और नायिका का प्रेम-मिलन वर्णित हुआ करता है। इसमें कैशिकी वृत्ति का प्राधान्य रहा करता है और अंशमात्र विमर्श सन्धि के साथ सन्धि-चतुष्टय की रचना हुआ करती है।

यहाँ (पदे पदे मानवती आदि कारिका में) 'द्वयोः' का अभिप्राय 'नायकनायिकयोः' नायक और नायिका (के प्रेम-मिलन) का अभिप्राय है। उदाहरण के लिए (महाकवि हर्ष-रचित) 'रत्नावली' (महाकवि राजशेखर-रचित) 'विद्धशालभञ्जिका' आदि नाटिकाएँ पर्याप्त हैं।

विमर्श—नाटिका नामक उपरूपक वस्तुतः 'नाटक' और 'प्रकरण' नामक रूपकों के ही सम्मिश्र-सम्मिलन के रूप में माना जाता है। इसकी 'इतिवृत्त-कल्पना' का कल्पित होना आवश्यक है और इसमें नायक का राजकुलोत्पन्न होना भी अपेक्षित है इस प्रकार 'प्रकरण' की भाँति

(२१। प्रकार : त्रोटक)

अथ त्रोटकम्—

सप्ताष्टनवपञ्चाङ्कं दिव्यमानुषसंश्रयम् ।
त्रोटकं नाम तत्प्राहुः प्रत्यङ्कं सविदूषकम् ॥ २७३ ॥

प्रत्यङ्कसविदूषकत्वादत्र शृङ्गारोऽङ्गी । सप्ताङ्कं यथा—स्तम्भितरम्भम् । पञ्चाङ्कं यथा—विक्रमोर्वशीयम् ।

'इतिवृत्त' और नाटक की भाँति 'नायक' की रचना और चर्चा से 'नाटिका' की रूप-रेखा बना करती है। नाट्यशास्त्रकार भरतमुनि ने इसीलिये कहा है—

'प्रकरणनाटकभेदादुत्पन्नं वस्तु नायको नृपतिः ।
अन्तःपुरसंगीतककन्यामधिकृत्य कर्त्तव्या ॥
स्त्रीप्राया चतुरङ्का ललिताभिनयात्मिका सुविहिताङ्गी ।
बहुनृत्तगीतवाद्या रतिसम्भोगात्मिका चैव ॥
राजोपचारयुक्ता प्रसादनक्रोधदम्भसंयुक्ता ।
नायकदेवीदूती सपरिजना नाटिका ज्ञेया ॥'

(नाट्यशास्त्र २०. ६० ६१ (चौ. स. सी)

अनुवाद—'त्रोटक' वह उपरूपक-प्रकार है जो पाँच, सात, आठ अथवा अधिक से अधिक नव अङ्कों में रचा जाया करता है। इसमें देव और मानव—दोनों का समिश्र वृत्त वर्णित हुआ करता है। इसके प्रत्येक अङ्क में 'विदूषक' की उपस्थिति आवश्यक है।

'प्रत्येक अङ्क में विदूषक की उपस्थिति' का अभिप्राय यह है कि 'त्रोटक' में शृङ्गार रस का ही प्रधान अभिव्यञ्जन हुआ करता है। सप्ताङ्कपरिमित 'त्रोटक' के उदाहरण के लिए 'स्तम्भितरम्भ' नामक उपरूपक लिया जा सकता है। पञ्चाङ्कपरिमित 'त्रोटक' का उदाहरण (महाकवि कालिदास कृत) 'विक्रमोर्वशीयम्' है।

विमर्श—'त्रोटक' को ही 'तोटक' भी कहा जाया करता है। भावप्रकाशनकार आचार्य शारदातनय ने 'तोटक' (त्रोटक) का यह लक्षण दिया है जिसमें आचार्यों के मतभेद-निर्देश के साथ साथ सोदाहरण स्वरूप निर्देश भी स्पष्ट है—

'दिव्यमानुषसंयोगो यत्राङ्कैरविदूषकैः ॥

तदेव तोटकं भेदो नाटकस्येति हर्षवाक् । तदव्यापकमित्यन्ये नाद्रियन्ते विपश्चितः ॥
नवाष्टसप्तपञ्चाङ्कं दिव्यमानुषसङ्गमम् । तोटकं नाम तत् प्राहुर्भेदं नाटकसम्भवम् ॥
इत्येक आहुराचार्या अन्ये त्वेवं प्रचक्षते । दिव्यमानुषसंयोगस्तोटकं नाटकानुगम् ॥
नवाङ्कं तोटकं दृष्टं मेनकानहुषाह्वयम् । तोटकं मदलेखाख्यं यत्तत् स्तम्भितरम्भकम् ॥
क्रमादष्टाङ्कसप्ताङ्कौ दृश्येते ह्यविदूषकौ । यद्विक्रमोर्वशीयाख्यं पञ्चाङ्कं तोटकं स्मृतम् ॥'

(भावप्रकाशन ८म अधिकार)

विश्वनाथ कविराज ने केवल 'स्तम्भितरम्भक' नामक तोटक का उल्लेख किया है जब कि भावप्रकाशनकार को 'मेनकानहुष' और 'मदलेखा' नामक और तोटकों का पता है। ये तीनों तोटक' आजकल अनुपलब्ध हैं। महाराज भोज उपरूपकों में 'तोटक' का उल्लेख नहीं करते।

(छठा प्रकार : गोष्ठी)

अथ गोष्ठी—

> प्राकृतैर्नवभिः पुम्भिर्दशभिर्वाप्यलङ्कृता।
> नोदात्तवचना गोष्ठी कैशिकीवृत्तिशालिनी ॥
> हीना गर्भविमर्शाभ्यां पञ्चषड्योषिदन्विता। ॥ [illegible]९ ॥
> कामशृङ्गारसंयुक्ता स्यादेकाङ्कविनिर्मिता ॥ २[illegible] ॥

यथा—रैवतमदनिका।

(सातवाँ प्रकार सट्टक)

अथ सट्टकम्—

> सट्टकं प्राकृताशेषपाठ्यं स्यादप्रवेशकम्।
> न च विष्कम्भकोऽप्यत्र प्रचुरश्चाद्भुतो रसः ॥ २७६ ॥
> अङ्का जवनिकाख्याः स्युः स्यादन्यन्नाटिकासमम्।

यथा—कर्पूरमञ्जरी।

अनुवाद—गोष्ठी—'गोष्ठी' वह उपरूपक-प्रकार है जिसमें नव या दस साधारण श्रेणी के पुरुषों का चरित वर्णित हुआ करता है। इसीलिए इसमें उदात्त वचन नहीं पाए जाते। इसमें कैशिकी वृत्ति ही प्रधान वृत्ति है। इसमें ५ या ६ स्त्री पात्र आ सकते हैं। सन्धियों में गर्भ और विमर्श का यहाँ कोई स्थान नहीं। यहाँ 'कामशृङ्गार' अपेक्षित माना गया है। इसकी रचना एक अङ्क में ही की जाया करती है। उदाहरण के लिये 'रैवतमदनिका' नामक उपरूपक लिया जा सकता है।

विमर्श—भावप्रकाशनकार शारदातनय के अनुसार 'गोष्ठी' का यह स्वरूप है—

> 'कर्मोत्साहकर्मैकाङ्का गोष्ठी शृङ्गारसम्भृता।
> [illegible]
> प्राकृतैर्नवभिः पुम्भिः दशभिर्वाप्यलङ्कृता।
> गर्भविमर्शसन्धिभ्यां शून्या योषिद्[illegible]॥
> अत्र स्यात् कैशिकी वृत्तिः [illegible]।
> न [illegible] भवति [illegible]॥

(भावप्रकाशन ९ म अधिकार)

विश्वनाथ कविराज का भी गोष्ठी-लक्षण वस्तुतः इसी आशय का है।

अनुवाद—सट्टक—सट्टक नामक उपरूपक वह है जिसकी रचना आरम्भ से अन्त तक, प्राकृत भाषा में की जाया करती है। इसमें 'प्रवेशक' और 'विष्कम्भक' दोनों में किसी की भी आवश्यकता नहीं हुआ करती। इसका प्रधान रूप से अभिव्यञ्जनीय 'अद्भुत' रस हुआ करता है। इसकी और विशेषताएँ 'नाटिका' की ही विशेषताएँ हैं केवल इसके 'अङ्कों का [illegible] 'जवनिका' [illegible] है। उदाहरण के लिए (महाकवि राजशेखर प्रणीत) 'कर्[illegible]

विमर्श—आचार्य [illegible] कथन है—

(पाँचवाँ प्रकार : नाट्यरासक)

अथ त्रोटकम्—

सप्ताष्टनवमेकाङ्कं बहुताललयस्थिति ॥ २७७ ॥

त्रोटकं :कं तद्वत्पीठमर्दोपनायकम् ।

प्रत्यङ्कसविदूषयत्र सशृङ्गारो नारी वासकसज्जिका ॥ २७८ ॥

यथा—विक्रमोर्वहणे सन्धी लास्याङ्गानि दशापि च ।

————प्रतिमुखं सन्धिमिह नेच्छन्ति केवलम् ॥ २७९ ॥

'रतिवृत्त' औसन्धिद्वयवती यथा—नर्मवती । सन्धिचतुष्टयवती यथा–विलासवती ।

करती है । ——

'सट्टक नाटिकाभेदो नृत्यभेदात्मकं भवेत् ।
कैशिकीभारतीयुक्तहीनरौद्ररसादिकम् ॥
सर्वसन्धिविहीनञ्च नाटिकाप्रतिरूपकम् ।
शूरसेनमहाराष्ट्रवाच्यभाषादिकल्पितम् ॥
अङ्कस्थानीयविच्छेदचतुर्यवनिकान्तरम् ।
छादनस्खलनभ्रान्तिनिह्नवादेरसंभवात् ॥
न वदेत् प्राकृतीं भाषा राजेति कतिचिज्जगु ।
मागध्या शौरसेन्या वा वदेद्राजेति केचन ॥
नाटिकाप्रतिरूप यद्विशेषो रूपकस्य तत् ।
सट्टक तेन तस्याहु भाषा ता प्राकृतीं परे ॥
राजशेखरक्लृप्त तद् यथा कर्पूरमञ्जरी ।' (भावप्रकाशन ९म अधिकार)

'सट्टक' श्रेणी के उपरूपकों में राजशेखररचित 'कर्पूरमञ्जरी' ही आजकल उपलब्ध है ।

र' अनुवाद—नाट्यरासक—'नाट्यरासक' वह उपरूपक-प्रकार है जिसकी रचना एक अङ्क लि ही हुआ करती है । इसमें लय और ताल का पर्याप्त स्थान और महत्त्व है । इसका उद ाक उदात्त प्रकृति का हुआ करता है । इसमें नायक का सहायक 'पीठमर्द' भी श्यक है । इसमें शृङ्गार के पुट के साथ-साथ हास्यरस को ही प्रधान रस रखा जाया तना है । इसकी नायिका 'वासकसज्जा' नायिका के रूप में चित्रित की जाया करती है । सा में 'मुख' और 'निर्वहण' नाम की दो सन्धियों की ही रचना पर्याप्त है । लास्य के दस इसमें अपेक्षित हैं । कुछ नाट्याचार्यों की दृष्टि में, इसमें प्रतिमुख सन्धि नहीं रहा ी (और सन्धियाँ तो आवश्यक ही हैं) ।

त उदाहरण के लिये, 'नर्मवती' नामक नाट्यरासक, जिसकी रचना दो सन्धियों में की ना है और 'विलासवती' नामक नाट्यरासक, जिसमें चार सन्धियाँ हैं ।

इ **विमर्श**—'नाट्यरासक' का शारदातनय-सम्मत स्वरूप यह है—

नर्मनीभिर्भुवो भर्तु चेष्टितं यत्र नृत्यते । रागाद्वसन्तमालोक्य स ज्ञेयो नाट्यरासक ॥
अ (भावप्रकाशन ९म अधिकार)

विश्वनाथ कविराज ने अपने लक्षण में 'नाट्यरासक' की जिन जिन विशेषताओं का निर्देश या है वे भावप्रकाशनकार के नाट्यरासक-लक्षण में नहीं पायी जाती । 'भावप्रकाशन'कार ौर उनके पूर्ववर्ती 'शृङ्गारप्रकाश'कार के अनुसार 'नाट्यरासक' का अभिप्राय नारी-पात्रों द्वारा नायकचरित का नृत्याभिनय है किन्तु विश्वनाथ कविराज ने इसकी अङ्क-रचना, सन्धियोजना,

(षष्ठ प्रकार : प्रस्थानक)

अथ प्रस्थानकम्—

प्रस्थाने नायको दासो हीनः स्यादुपनायकः ।
दासी च नायिका वृत्तिः कैशिकी भारती तथा ॥ २८० ॥
सुरापानसमायोगादुद्दिष्टार्थस्य संहृतिः ।
अङ्कौ द्वौ लयतालादिर्विलासो बहुलस्तथा ॥ २८१ ॥

यथा—शृङ्गारतिलकम् ।

(७ वाँ प्रकार : उल्लाप्य)

अथोल्लाप्यम्—

उदात्तनायकं दिव्यवृत्तमेकाङ्कभूषितम् ।
शिल्पकाङ्गैर्युतं हास्यशृङ्गारकरुणै रसैः ॥ २८२ ॥
उल्लाप्यं बहुसंग्राममस्रगीतमनोहरम् ।

रसाभिव्यक्ति आदि-आदि विशेषताओं का भी उल्लेख किया है। विश्वनाथ कविराज द्वारा निर्दिष्ट 'नर्मवती' और 'विलासवती' नामक नाट्यरासक आजकल अनुपलब्ध हैं।

अनुवाद—प्रस्थानक—'प्रस्थानक' वह उपरूपक-भेद है जिसमें कोई भृत्य 'नायक'-रूप में चित्रित हुआ करता है और उसका उपनायक उससे भी हीन श्रेणी का रहा करता है। इसमें किसी दासी को 'नायिका'-रूप में रखा जाया करता है। यहाँ 'कैशिकी' और 'भारती' दो वृत्तियाँ अपेक्षित हैं। इसके उपस्थापित विषय की समाप्ति मदिराविनोद के वर्णन के साथ हुआ करती है। इसे दो अङ्कों में ही रचा जाया करता है। इसमें लय और ताल आदि आदि सङ्गीतात्मक विलास अधिक मात्रा में रहा करते हैं। उदाहरण के लिये 'शृङ्गारतिलक' को लिया जा सकता है।

विमर्श—आचार्य शारदातनय ने 'प्रस्थानक' (अथवा प्रस्थान) का यह लक्षण किया है—

'प्रस्थानं कैशिकीवृत्तियुतं हीनोपनायकम् ।
आपानकैकनिर्वर्त्यं कमतालकलानुगम् ॥
दासाविनायकं द्व्यङ्कं विलक्षेद्याविनायकम् ।
सुरानिर्वहणोपेतं शृङ्गारतिलकं यथा ॥'

(भावप्रकाशन : ९म अधिकार)

वस्तुतः आचार्य शारदातनय और विश्वनाथ कविराज का 'प्रस्थानक'-लक्षण एक समान ही है। दोनों आचार्यों ने 'शृङ्गारतिलक' को प्रस्थानक के ही उदाहरण-रूप में स्वीकार किया है।

अनुवाद—उल्लाप्य-'उल्लाप्य' (अथवा उल्लाप्यक) वह उपरूपक-प्रकार है जिसमें किसी उदात्त प्रकृति के नायक का चरित-चित्र खींचा जाया करता है। इसका वृत्त देवता-संबन्धी वृत्त हुआ करता है। इसमें एक अंक का ही विधान अपेक्षित है। (आगे विविक्त) शिल्पक नामक उपरूपक-प्रकार के (आशंसादि) अंक इसमें भी निबद्ध किये जाया करते हैं। इसमें शृङ्गार हास्य और करुण रस का अवतार अपेक्षित माना गया है। इसे सुन्दर बनाने के लिये संग्राम के वर्णन और 'अस्रगीत' (जवनिकान्तर्गत—परदे के पीछे गाया जाने वाला किंवा प्रस्तुत विषय-सूचक गीत) के गायन का सहारा लिया जाया

चतस्रो नायिकास्तत्र त्रयोऽङ्का इति केचन ॥ २८३ ॥

शिल्पकाङ्गानि वक्ष्यमाणानि । यथा—देवीमहादेवम् ।

(८ वाँ प्रकार—काव्य)

अथ काव्यम्—

काव्यमारभटीहीनमेकाङ्कं हास्यसङ्कुलम् ।
खण्डमात्राद्विपदिकाभग्नतालैरलंकृतम् ॥ २८४ ॥
वर्णमात्राछड्डणिकायुतं शृङ्गारभाषितम् ।
नेता स्त्री चाप्युदात्तात्र सन्धी आद्यौ तथान्तिमः ॥ २८५ ॥

यथा—यादवोदयम् ।

करता है। कुछ नाट्याचार्यों ने इसमें चार नायिकाओं का चित्रण और तीन अङ्कों का विधान आवश्यक माना है। शिल्पक के अङ्गों का आगे निरूपण किया जा रहा है। इसका उदाहरण 'देवीमहादेव' नामक उपरूपक लिया जा सकता है।

विमर्श—'उल्लाप्य' को ही 'उल्लोप्य' अथवा 'उल्लोप्यक' भी कहा गया है। और इसका यह लक्षण किया गया है—

'उल्लोप्यकं स्यादेकाङ्कमवमर्शविनाकृतम् ।
निष्प्रवृत्तिनिधानञ्च शिल्पकाङ्गविभूषितम् ॥
हास्यशृङ्गारकारुण्ययुक्तमुज्ज्वलवेषवत् ।
बहुपुस्त च चतुरोज्ज्वलनायकनायिकम् ॥
यथा देवीमहादेव यथा चोदात्तकुञ्जरम् ।
यस्मिन्नुल्लोप्यकं नाम ध्यङ्ग गीत प्रवर्तते ॥'

(भावप्रकाशन ९ अधिकार)

विश्वनाथ कविराज के समय में 'देवीमहादेव' नामक 'उल्लाप्य' ही उपलब्ध होगा, किन्तु शारदातनय के समय में 'उदात्तकुञ्जर' नामक भी उल्लोप्य (अथवा उल्लाप्य) उपलब्ध था। आजकल इनमें कोई भी उपलब्ध नहीं।

अनुवाद—काव्य वह उपरूपक-भेद है जिसमें हास्य रस का प्राधान्य रहा करता है। इसमें 'आरभटी' को छोड़ कर और वृत्तियाँ अपेक्षित हैं। इसकी रचना एक अङ्क में ही की जाया करती है। इसमें 'खण्डमात्रा' 'द्विपदिका', 'भग्नताल' आदि गीतभेदों का उपरञ्जन आवश्यक है। इसमें शृङ्गार रस के प्रकाशक 'वर्णमाला' और 'छड्डलिका' छन्दों से एक सुन्दरता आया करती है। इसके नायक और नायिका उदात्त प्रकृति के लोग हुआ करते हैं। इसमें 'मुख' और 'निर्वहण' दो ही सन्धियों का निबन्ध आवश्यक है। इसका उदाहरण 'यादवोदय' नामक उपरूपक है।

विमर्श—'भावप्रकाशन' कार के अनुसार 'काव्य' नामक उपरूपक का यह लक्षण है—

'काव्य सहास्यशृङ्गार सर्ववृत्तिसमन्वितम् ।
सभग्नतालद्विपदीखण्डमालापरिष्कृतम् ॥
गर्भावमर्शसन्धिभ्या हीनमेकाङ्कमेव च ।
क्वचिल्लास्ययुत वा स्याद्विटचेटीसमन्वितम् ॥

(९ वाँ प्रकार—प्रेक्षण)

अथ प्रेक्षणम्—

> गर्भावमर्शरहितं प्रेक्षणं हीननायकम् ।
> असूत्रधारमेकाङ्कमविष्कम्भप्रवेशकम् ॥ २८६ ॥
> नियुद्धसम्फेटयुतं सर्ववृत्तिसमाश्रितम् ।
> नेपथ्ये गीयते नान्दी तथा तत्र प्ररोचना ॥ २८७ ॥

यथा—वालिवध' ।

> कुब्जाङ्गमाधवयुतं कल्पितोदात्तनायकम् ।
> एवं प्रकल्पयेत् काव्यं तद् गौरीविजयो यथा ॥
> विप्रामात्यवणिक्पुत्रनायिकानायकोऽभवकम् ।
> सुविभ्रमभाषासायात्यैविरन्तरान्तरा ॥
> प्रथितं विटचेटप्रविवेषमायाभिरेव वा ।
> पूर्वं वा कल्पयेत् काव्यं यथा सुग्रीवकेलनम् ॥

(भावप्रकाशन ९म अधिकार)

'काव्य नामक उपरूपक और अन्य-काव्य का अवान्तर भेद 'काव्य' परस्पर भिन्न-भिन्न कृतियाँ हैं। शारदातनय का 'काव्य'लक्षण साहित्यदर्पण के 'काव्य'लक्षण से कुछ भिन्न है। शारदातनय को 'सुग्रीवकेलन' नामक एक और 'काव्य' का पता है।

अनुवाद—'प्रेक्षण' वह उपरूपक-प्रकार है जिसमें नीच प्रकृति का नायक चित्रित किया जाया करता है। इसमें 'गर्भ' और 'विमर्श' दोनों सन्धियाँ नहीं रखी जाया करतीं। इसमें सूत्रधार की कोई आवश्यकता नहीं। इसके लिये एक अङ्क की रचना अपेक्षित है। इसमें विष्कम्भक और प्रवेशक दोनों में से कोई नहीं रखा जाया करता। इसमें नियुद्ध (बाहुयुद्ध) और सम्फेट (सरोष भाषण) आवश्यक हैं। इसमें सभी वृत्तियाँ अपेक्षित हैं। इसमें नेपथ्य में ही 'नान्दी-गायन' किया जाया करता है और 'प्ररोचना' (कवि-नट-सामाजिक आदि की प्रशंसा) भी कर दी जाया करती है। इसका उदाहरण 'वालिवध' है।

विमर्श—'प्रेक्षण' को ही 'प्रेक्षणक' भी कहते हैं। शारदातनय ने 'प्रेक्षणक' (प्रेक्षण) का यह लक्षण दिया है—

> 'पदार्थाभिनयं यस्य कल्पितं च कथान्वितम् ।
> कुरुते नर्तकी यत्र सोऽपि नर्तनकः पुनः ॥
> काव्यं द्विधा स्याच्छुद्धिकं समस्ताससमन्वितम् ।
> सुताकथापुरवाभ्यां यत्र कर्तुं प्रवर्तते ॥
> गर्भावमर्शरहितं सर्ववृत्तिसमन्वितम् ।
> प्राकृतमागधीशौरसेनीकं रसमात्रयुक् ॥
> हिंसन्तीति वदन्त्येतद्वृत्तमाद्यमनामकम् ।
> भारत्यारभटीयुक्तं क्वचित्स्यात्तत्र सात्वती ॥
> यथा वालिवधाख्यम् नृसिंहविजयो यथा ।
> पूर्वनेपथ्यपाठैर्वा नान्दी तस्य विधीयते ॥

(१०वां प्रकार—रासक)

अथ रासकम्—

रासकं पञ्चपात्रं स्यान्मुखनिर्वहणान्वितम् ।
भाषाविभाषाभूयिष्ठं भारतीकैशिकीयुतम् ॥ २८८ ॥
असूत्रधारमेकाङ्कं सवीथ्यङ्गं कलान्वितम् ।
श्लिष्टनान्दीयुतं ख्यातनायिकं मूर्खनायकम् ॥ २८९ ॥
उदात्तभावविन्याससंश्रितं चोत्तरोत्तरम् ।
इह प्रतिमुखं सन्धिमपि केचित्प्रचक्षते ॥ २९० ॥

यथा—मेनकाहितम् ।

क्वचिद् गर्भावमर्शौ स्त· क्वचिद् वृत्तिचतुष्टयम् ।
क्वचिन्नेपथ्यवाक्पाठ्य न कदाचन सूत्रधृत् ॥
एव प्रेक्षणक विद्याद् यथा त्रिपुरमर्दनम् ॥'

शारदातनय के अनुसार 'नर्तनक' और 'प्रेक्षणक' दोनों प्रक्षणक-प्रकार हैं । विश्वनाथ कविराज ने 'नर्तनक' को छोड दिया है। शारदातनय के समय तक तीन प्रेक्षणक उपलब्ध प्रतीत होते हैं जबकि विश्वनाथ कविराज को एक अर्थात् 'वालिवध' का ही पता है ।

अनुवाद—'रासक' वह उपरूपक-भेद है जिसमें पाँच-पाँच पात्र रहा करते हैं। इसमें 'मुख' और 'निर्वहण' दो संधियाँ ही रची जाया करती हैं। इसमें 'भाषा' और 'विभाषा' दोनों का अधिकाधिक प्रयोग हुआ करता है। इसके लिये भारती और कैशिकी—दो वृत्तिया पर्याप्त हैं। इसमें भी 'सूत्रधार' नहीं रहा करता। इसकी रचना एक अङ्क में ही की जाया करती है। इसमें 'वीथी' के सभी अङ्गों की योजना आवश्यक है। इसके लिये नृत्य-गीत आदि-आदि कलाओं की अपेक्षा हुआ करती है। इसका नान्दी-गायन श्लिष्ट पद द्वारा किया जाया करता है। इसकी नायिका कोई प्रसिद्ध रमणी हुआ करती है और इसका नायक कोई मूर्ख पुरुष। इसमें उत्तरोत्तर उदात्त भावों का विन्यास किया जाया करता है। कुछ नाट्याचार्य इसके लिये प्रतिमुख सन्धि की भी रचना आवश्यक मानते हैं। इसका उदाहरण 'मेनकाहित' नाम का उपरूपक-ग्रन्थ है।

विमर्श—'रासक' और 'नाट्यरासक' के सम्बन्ध में नाट्याचार्यों का भेदवाद, अभेदवाद और भेदाभेदवाद–तीनों मिलते ह । विश्वनाथ कविराज भेदवादी हैं ।

'अभिनवभारती' का 'रासक' स्वरूप विश्वनाथ कविराज के रासक-लक्षण से भिन्न है—

'अनेकनर्तकी योज्य चित्रताललयान्वितम् ।
आचतुष्षष्टियुगलाद्रासक मसृणोद्धतम् ॥'

अर्थात्—'रासक' एक नृत्तात्मक प्रबन्ध है न कि नाट्यात्मक ।

विश्वनाथ कविराज का रासक-लक्षण भावप्रकाशनकार के एक प्रकार के रासक के लक्षण के समान है—

'अथ रासकमेकाङ्क सूत्रधारेण वर्जितम् ।
सुश्लिष्टनान्दीयुक्तञ्च पञ्चपात्र त्रिसन्धिकम् ॥
पूर्णभाषाविभाषाभि कैशिकीभारतीयुतम् ।

(११ वाँ प्रकार—संलापक)

अथ संलापकम्—

> संलापकेऽङ्काश्चत्वारस्त्रयो वा नायकः पुनः।
> पाषण्डः स्याद्रसस्तत्र शृङ्गारकरुणेतरः॥ २९१॥
> भवेयुः पुरसंरोधच्छलसंग्रामविद्रवाः।
> न तत्र वृत्तिर्भवति भारती न च कैशिकी॥ २९२॥

यथा—मायाकापालिकम्।

(१२ वाँ प्रकार—श्रीगदित)

अथ श्रीगदितम्—

> प्रख्यातवृत्तमेकाङ्कं प्रख्यातोदात्तनायकम्।
> प्रसिद्धनायिकं गर्भविमर्शाभ्यां विवर्जितम्॥ २९३॥

> वीथ्यङ्गसम्मितं मुख्यनायकं ख्यातनायिकम्।
> गर्भावमर्शशून्यं च कथापोद्घातभूषितम्।
> उदात्तभावविन्याससमुपेतं सोत्तरोत्तरम्॥
> एवं कवज्ञमुदितं रासकस्याथ लक्षणम्।

(भावप्रकाशन : ९ म अधिकार)

अनुवाद—'संलापक' वह उपरूपक-प्रकार है जिसकी रचना तीन या चार अङ्कों में हुआ करती है, जिसमें किसी पाषण्डी को नायकरूप में चित्रित किया जाया करता है और जिसमें शृङ्गार और करुण को छोड़कर और कोई भी एक रस अङ्गीरूप में अभिव्यक्त किया जा सकता है। इसमें नगरोपरोध युक्त संग्राम, भ्रम-संभ्रम आदि आदि की वर्णना का बाहुल्य रहा करता है। इसके लिए न तो भारती वृत्ति अपेक्षित है और न कैशिकी इसका उदाहरण 'माया-कापालिक' है।

विमर्श—भावप्रकाशनकार ने 'संलापक' का यह विशद लक्षण किया है—

> 'संलापकस्येतिवृत्तं मतस्यार्थं चोत्पाद्यमेव वा।
> मिश्रं वा तत्र शृङ्गारहास्यौ नैवाङ्गिता क्वचित्॥
> नायके धीरशान्ताख्यास्तस्य रसाः स्मृताः।
> प्रायः सपरपक्षान्तःपाषण्डनायकाः॥
> देवादिभ्यः परपुरस्योपरोधनम्।
> सात्त्वत्यारभटीवृत्तिसहितश्च सविद्रवः॥
> अङ्कास्त्रयो द्वितीयेऽङ्के तास्वप्युपयुञ्जते।
> तृतीयोऽङ्कः सकपटः प्रथमाऽङ्कः सविद्रवः।
> चतुर्ष्वपि प्रतिमुखसन्ध्यां संलापको भवेत्॥

(भावप्रकाशन : म अधिकार)

अनुवाद—श्रीगदित—'श्रीगदित' वह उपरूपकभेद है जिसका इतिवृत्त प्रख्यात वृत्त का बना हुआ होता है जिसकी रचना एक अङ्क में समाप्त होती है और जिसमें किसी प्रख्यात और धीरोदात्त प्रकृति के नायक का चरित चित्रित किया हुआ होता है। इसकी

भारतीवृत्तिबहुलं श्रीतिशब्देन संकुलम् ।
मतं श्रीगदितं नाम विद्वद्भिरुपरूपकम् ॥ २९४ ॥

यथा—क्रीडारसातलम्—

श्रीरासीना श्रीगदिते गायेत्किंचित्पठेदपि ।
एकाङ्को भारतीप्राय इति केचित्प्रचक्षते ॥ २९५ ॥

ऊह्यमुदाहरणम् ।

(१३ वा प्रकार-शिल्पक)

अथ शिल्पकम्—

चत्वारः शिल्पकेऽङ्काः स्युश्चतस्रो वृत्तयस्तथा ।
अशान्तहास्याश्च रसा नायको ब्राह्मणो मतः ॥ २९६ ॥
वर्णनात्र श्मशानादेर्हीनः स्यादुपनायकः ।
सप्तविंशतिरङ्गानि भवन्त्येतस्य तानि तु ॥ २९७ ॥
आशंसातर्कसंदेहतापोद्वेगप्रसक्तयः ।

नायिका के लिये प्रख्यात होना आवश्यक है। इसमें गर्भ और विमर्श सधियाँ नहीं हुआ करतीं। इसमें भारती वृत्ति का बाहुल्य रहा करता है और 'श्री' शब्द का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ करता है।

इसका उदाहरण 'क्रीडारसातल' नामक उपरूपक-प्रबन्ध है।

'श्रीगदित' का एक और भी प्रकार है जिसे कतिपय नाट्याचार्य माना करते हैं। इस श्रीगदित-प्रकार में श्रीवेषधारिणी नटी रगमच पर बैठ कर कुछ गाती और पद पढ़ती दिखायी जाया करती है। इसमें एक अङ्क हुआ करता है और भारती वृत्ति का प्राचुर्य रहा करता है।

इसका उदाहरण ढूँढ़ा जा सकता है।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार का द्वितीय 'श्रीगदित' लक्षण भोजराज के इस श्रीगदित-लक्षण का अनुसरण करता है—

'तत्र श्रीरिव दानवशत्रोर्यस्मिन् कुलाङ्गना पत्यु ।
वर्णयति शौर्यधैर्यप्रभृतिगुणानग्रतस्सख्याः ॥
पत्या च विप्रलब्धा गातव्ये तान् क्रमादुपालभते ।
श्रीगदितमिति मनीषिभिरुदाहृतोऽसौ पदाभिनय ॥' (शृङ्गारप्रकाश)

इस श्रीगदित प्रकार का उदाहरण भावप्रकाशनकार के अनुसार 'रामानन्द' नामक उपरूपक प्रबन्ध है।

अनुवाद—शिल्पक—'शिल्पक' वह उपरूपक-प्रकार है जिसमें चार अङ्क और चारों वृत्तिया हुआ करती हैं। इसमें शान्त और हास्य को छोड़ कर अन्य रसों की अभिव्यञ्जना की जाया करती है। इसका नायक ब्राह्मण हुआ करता है। इसमें श्मशान आदि का वर्णन किया जाया करता है। इसका उपनायक अधम प्रकृति का व्यक्ति हुआ करता है। इसके २७ अङ्ग हुआ करते हैं-(१) आशसा, (२) तर्क, (३) सदेह, (४) ताप, (५) उद्वेग

प्रयत्नग्रथनोत्कण्ठावहित्थाप्रतिपत्तयः ॥ २९८ ॥
विलासालस्यबाष्पाणि प्रहर्षाश्वासमूढताः ।
साधनानुगमोच्छ्वासविस्मयप्राप्तयस्तथा ॥ २९९ ॥
लाभविस्मृतिसंफेटा वैशारद्यं प्रबोधनम् ।
चमत्कृतिरित्यमीषां स्पष्टत्वाल्लक्ष्म नोच्यते ॥ ३०० ॥

संफेटग्रथनयोः पूर्वमुक्तत्वादेव लक्ष्म सिद्धम् ।
यथा—कनकावतीमाधवः ।

(१७ वाँ प्रकार-विलासिका)

अथ विलासिका—

शृङ्गारबहुलैकाङ्का दशलास्याङ्गसंयुता ।
विदूषकविटाभ्यां च पीठमर्देन भूषिता ॥ ३०१ ॥
हीना गर्भविमर्शाभ्यां सन्धिभ्यां हीननायका ।
स्वल्पवृत्ता सुनेपथ्या विख्याता सा विलासिका ॥ ३०२ ॥

---

(६) प्रसक्ति, (७) प्रयत्न, (८) ग्रथन (९) उत्कण्ठा (१०) अवहित्था, (११) प्रतिपत्ति (१२) विलास (१३) आलस्य (१४) बाष्प (१५) प्रहर्ष (१६) आश्वास (१७) मूढता, (१८) साधनानुगम (१९) उच्छ्वास (२०) विस्मय (२१) प्राप्ति (२२) लाभ (२३) विस्मृति (२४) संफेट, (२५) वैशारद्य, (२६) प्रबोधन और (२७) चमत्कृति। इन अङ्गों के लक्षण इनके नाम से ही स्पष्ट हैं।

इनमें 'संफेट' और 'ग्रथन' जो अधिक पारिभाषिक हैं, पहले ही स्पष्ट कर दिये गये हैं।

इस उपरूपक-प्रकार का उदाहरण 'कनकावतीमाधव' नामक उपरूपक-प्रबन्ध है।

विमर्श—विश्वनाथ कविराज का 'विलासिका'-लक्षण भावप्रकाशनकार के इस विलासिका-लक्षण का अनुसरण करता है—

> विलासिकाशृङ्गारा स्याच्चतुर्वृत्तिविराजिता ।
> हास्यं विना रसैः पूर्णा ख्यातोदात्तनायका ॥
> हीनोपनायका क्वापि रसभावादिसमाकुला ।
> ऊढा पुनर्भूः कन्या वा तत्र स्युः सचिवस्त्रियः ॥
> मालती माधवस्येव कमलस्य कलावती ।
> अङ्गानि सप्तविंशत्युत्कण्ठादीनि च क्रमात् ॥
>
> (भावप्रकाशन : ८ म अधिकार)

अनुवाद—विलासिका—'विलासिका' वह उपरूपक-प्रकार है जो शृङ्गाररस-मधुर हुआ करता है और जिसकी रचना के लिए एक अङ्क पर्याप्त माना गया है। इसमें लास्य के दसों अङ्गों की योजना आवश्यक है। इसमें विदूषक, विट और पीठमर्द का चरितचित्रण अपेक्षित है। इसमें गर्भ और विमर्श सन्धियाँ नहीं हुआ करतीं। इसका नायक अधम प्रकृति का पुरुष हुआ करता है। इसमें वृत्त की मात्रा थोड़ी रहा करती है। इसमें वेशभूषा पर विशेष ध्यान रखा जाया करता है।

केचित्तु तत्र विलासिकास्थाने विनायिकेति पठन्ति। तस्यास्तु 'दुर्मल्लिकायामन्तर्भाव.' इत्यन्ये।

(१५ वाँ प्रकार—दुर्मल्लिका)

अथ दुर्मल्लिका —

दुर्मल्ली चतुरङ्का स्यात् कैशिकीभारतीयुता।
अगर्भा नागरनरा न्यूननायकभूषिता ॥ ३०३ ॥
त्रिनालिः प्रथमोऽङ्कास्यां विटक्रीडामयो भवेत्।
पञ्चनालिर्द्वितीयोऽङ्को विदूषक विलासवान् ॥ ३०४ ॥
षण्णालिकस्तृतीयस्तु पीठमर्दविलासवान्।
चतुर्थो दशनालिः स्यादङ्कः क्रीडितनागरः ॥ ३०५ ॥

यथा—बिन्दुमती।

कतिपय नाट्याचार्य इसे 'विलासिका' न कह कर 'विनायिका' कहा करते हैं। और कुछ 'विनायिका' को 'दुर्मल्लिका' नामक उपरूपक-भेद में अन्तर्भूत देखा करते हैं।

विमर्श—भावप्रकाशनकार,ने इस उपरूपक प्रकार का कोई निर्देश नहीं किया है।

अनुवाद—दुर्मल्लिका—'दुर्मल्लिका' वह उपरूपक-प्रकार है जिसकी रचना चार अङ्कों में की जाया करती है और जिसमें कैशिकी और भारती वृत्ति का उपनिवन्धन हुआ करता है। इसमें गर्भ सन्धि नहीं हुआ करती। इसके पात्र कला-कुशल हुआ करते हैं। इसका नायक नीच प्रकृति का व्यक्ति हुआ करता है। इसका प्रथम अङ्क ऐसा हुआ करता है जिसका अभिनय तीन नाडी (६ घड़ी) का समय लिया करता है और विट की विविध क्रीडाओं से परिपूर्ण रहा करता है। इसके दूसरे अङ्क के अभिनय में पाँच नाडी (१० घड़ी) का समय लगा करता है और विदूषक की लीलायें प्रचुर मात्रा में रहा करती हैं। इसका तीसरा अङ्क ६ नाडी (१२ घड़ी) का समय लिया करता है और पीठ-मर्द की भावभंगिओं से भरपूर हुआ करता है। इसके चौथे अङ्क में दश नाडी (२० घड़ी) का समय लगा करता है और नायक की क्रीडायें प्रदर्शित की जाया करती हैं।

इसका उदाहरण 'विन्दुमती' नामक उपरूपक-प्रवन्ध है।

विमर्श—भावप्रकाशनकार ने 'दुर्मल्लिका' का यह स्वरूप बताया है —

'अथ दुर्मल्लिकानाम प्रौढनागरनायिका।
चतुरङ्का चतुस्सन्धिर्गर्भसन्धिविनाकृता॥
विटो विलसति स्वैरं प्रथमाङ्के त्रिनाडिका।
विदूपको द्वितीयेऽङ्के विलसत्पञ्चनाडिक॥
पीठमर्दो विहरति तृतीये सप्त नाडिका।
विटादित्रितयक्रीडा चतुर्थे दश नाडिका॥
चौर्यरतिप्रतिभेदं यूनोरनुरागवर्णनं क्वापि।
यत्र ग्राम्यकथाभि' कुरुते किल दूतिका रहसि॥
मन्त्रयति च तद्विपयन्यग्जातित्वेन याचते च वसु।
लब्ध्वापि लब्धुमिच्छति या सा दुर्मल्लिका नाम्ना॥

(१६ वाँ प्रकार—प्रकरणिका)

अथ प्रकरणिका—

नाटिकैव प्रकरणी सार्थवाहादिनायका।
समानवंशजा नेतुर्भवेद्यत्र च नायिका॥ ३०६॥

मृग्यमुदाहरणम्।

(१७ वाँ प्रकार—हल्लीश)

अथ हल्लीशः—

हल्लीश एक एवाङ्कः सप्ताष्टौ दश वा स्त्रियः।
वागुदात्तैकपुरुषः कैशिकीवृत्तिरुज्ज्वला।
मुखान्तिमौ तथा सन्धी बहुताललयस्थितिः॥३०७॥

यथा—केलिरैवतकम्।

एषा दुर्मल्लिका मन्ये भाणुर्मल्लिकमिति।
यस्यामुपहास्याः स्युः पुरोहितामात्यतापसादीनाम्॥
नारम्भाभिर्योगः सापि च मल्लिका भवति।
कुलकन्या मल्लिका चेह महाराष्ट्रभाषया भवति॥
गोरोचने च कार्यास्मद्भवती भावरसचिता।'

(भावप्रकाशन : ९ म अधिकार)

साहित्यदर्पणकार का 'दुर्मल्लिका' लक्षण 'भावप्रकाशन' के प्रथम दुर्मल्लिका-प्रकार का लक्षण है।

अनुवाद—प्रकरणिका—'प्रकरणिका' (प्रकरणी) वस्तुतः उस नाटिका को कहा करते हैं जिसमें नायक के रूप में सार्थवाह (सेठ) आदि का चित्रण किया जाया करता है और नायिका के रूप में उसकी सजातीय किसी स्त्री का।

इसका उदाहरण ढूँढ़ना चाहिए।

विमर्श—'प्रकरणी' का निरूपण नाट्यदर्पणकार ने भी किया है किन्तु उसे 'रूपक' की श्रेणी में स्थान दिया है न कि उपरूपक की। 'नाटिका' और 'प्रकरणी' वस्तुतः नाटक और प्रकरण की विधानाओं के सादृश्य के परिणाम हैं (कैशिकीबहुलत्वं च नाटकधर्मः, प्रकरणस्यापि कैशिकीत्वात्। अमात्यार्थपतिवणिगादिनायकत्वं च प्रकरणधर्मः। तथा नाटकप्रकरणयोरपि)

(नाट्यदर्पण : २ य विवेक)

अनुवाद—हल्लीश—'हल्लीश' वह उपरूपक-प्रकार है जिसमें एक ही अङ्क रहा करता है और सात आठ या दस स्त्रीपात्र हुआ करते हैं। इसका नायक उदात्तवाणी का व्यक्ति हुआ करता है। इसमें कैशिकी वृत्ति का बाहुल्य अपेक्षित है। इसमें मुख और निर्वहण केवल दो ही सन्धियाँ पर्याप्त हैं। इसमें राग, ताल, लय आदि का प्राचुर्य रहा करता है।

उदाहरण के लिए 'केलिरैवतक' पर्याप्त है।

विमर्श—अभिनवभारतीकार का हल्लीशक-लक्षण यह है—

मण्डलेन तु यन्नृत्तं हल्लीसकमिति स्मृतम्।
एकस्तत्र तु नेता स्याद् गोपस्त्रीणां यथा हरिः॥

(अभिनवभारती : पृ १८१)

(१८—वाँ प्रकार—भाणिका)

अथ भाणिका—

भाणिका श्लक्ष्णनेपथ्या मुखनिर्वहणान्विता ।
कैशिकीभारतीवृत्तियुक्तैकाङ्कविनिर्मिता ॥ ३०८ ॥
उदात्तनायिका मन्दनायकात्राङ्गसप्तकम् ।
उपन्यासोऽथ विन्यासो विबोधः साध्वसं तथा ॥ ३०९ ॥
समर्पणं निवृत्तिश्च संहार इति सप्तमः ।
उपन्यासः प्रसङ्गेन भवेत्कार्यस्य कीर्तनम् ॥ ३१० ॥
निर्वेदवाक्यव्युत्पत्तिर्विन्यास इति स स्मृतः ।
भ्रान्तिनाशो विबोधः स्यान्मिथ्याख्यानं तु साध्वसम् ॥३११॥
सोपालम्भवचः कोपपीडयेह समर्पणम् ।
निदर्शनस्योपन्यासो निवृत्तिरिति कथ्यते ॥ ३१२ ॥
संहार इति च प्राहुर्यत्कार्यस्य समापनम् ।

यहाँ यह स्पष्ट है कि साहित्यदर्पणकार ने इस लक्षण का अनुसरण नहीं किया है। साहित्य-दर्पणकार का 'हल्लीश' लक्षण 'भावप्रकाशन'कार के इस हल्लीसक-लक्षण से भी कुछ-कुछ भिन्न है —

'अथ हल्लीसक सप्त नवाष्टदशनायिकम् ।
सानुदात्तोक्ति चैकाङ्क कैशिकीवृत्तिभूषितम् ॥
एकाङ्क वा भवेद्द्व्यङ्कं विमर्शमुखसन्धिमत् ।
सगेयलास्य यतिमत् खण्डताललयान्वितम् ॥
एकविश्रामसहित यथा स्यात् केलिरैवतम् ॥'

अनुवाद—'भाणिका' वह उपरूपकभेद है जिसमें सुन्दर नेपथ्य-रचना अपेक्षित हुआ करती है। इसमें मुख और निर्वहण सधियाँ ही रहा करती हैं। इसमें कैशिकी और भारती वृत्तियों की ही योजना हुआ करती है। इसके लिए एक अङ्क ही पर्याप्त है। इसकी नायिका उदात्त प्रकृति की रमणी हुआ करती है और नायक नीच वश का व्यक्ति हुआ करता है। इसके सात अङ्ग हुआ करते हैं—(१) उपन्यास, (२) विन्यास, (३) विबोध, (४) साध्वस, (५) समर्पण, (६) निवृत्ति और (७) सहार। इस 'अङ्गसप्तक' में 'उपन्यास' का अभिप्राय प्रसङ्गवश कार्य का कीर्तन है, 'विन्यास' का अभिप्राय निर्वेदद्योतक वचनविन्यास है, 'विबोध' का अभिप्राय भ्रम का निराकरण है, 'साध्वस' का अभिप्राय मिथ्या-अहकार का प्रदर्शन है, 'समर्पण' का अभिप्राय कोपपूर्वक निन्दाबहुल वचन है, 'निवृत्ति' का अभिप्राय निदर्शन (उदाहरण) का उपन्यास है और 'सहार' कार्य की समाप्ति का नाम है।

स्पष्टान्युदाहरणानि ।

यथा—कामदत्ता ।

एतेषां सर्वेषां नाटकप्रकृतित्वेऽपि यथौचित्यं यथालाभं नाटकोक्तविशेषपरिग्रहः । यत्र च नाटकोक्तस्यापि पुनरुपादानं तत्र तत्सद्भावस्य नियमः ।

'श्रव्य' काव्य निरूपण

अथ श्रव्यकाव्यानि—

श्रव्यं श्रोतव्यमात्रं तत्पद्यगद्यमयं द्विधा ॥ ३१२ ॥

इस अङ्क-सप्तक का उदाहरण स्पष्ट है। इस उपरूपक-प्रकार का उदाहरण 'कामदत्ता' है।

यद्यपि ये सभी उपरूपक प्रकार 'नाटक' नामक रूपकप्रबन्ध से ही मिलते हैं किन्तु इनमें औचित्य की दृष्टि से नाटक की विशेषताओं का समावेश किया जाया करता है। जहाँ-जहाँ इन उपरूपक-प्रकारों के कथनों में नाटक की विशेषताओं का स्पष्ट निर्देश किया गया है वहाँ यह समझना आवश्यक है कि निर्दिष्ट विशेषतायें इनमें अवश्यमेव अपेक्षित हैं।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार का यह भाणिका-लक्षण 'भावप्रकाशनकार' के इस भाणिका-लक्षण से भिन्न है—

'प्रायो हरिचरितमिति स्वीकृतगाथादि वर्णमात्रकम् ।
सुकुमारप्रयोगा भाणोऽपि च भाणिका भवति ॥
दिव्याभिसारीनिर्विवर्जिता कल्पितकथासंयुता ।
ताळकान्तरानुगता क्वचिदपि रथ्यादिसङ्कलिता ॥
आर्योद्गाहनिवारणगाथाभ्यवसन्तमधुपाद्यैर्भिः ।
विषमैश्च विहीना वीथ्योक्ता वर्जितोत्कटैः ॥
षट्सूत्रि भाणिकायां नव वृत्त वा नियमतो विधीयन्ते ।
नवमाधिपत्येषु स्थानेषु च भगवताश्च स्यात् ॥
स्थानान्तरेषु तस्या क्वचाश्मे चरम्पका क्रियते ।
विविधवचोविन्यासैः सम्यग्जनोत्साहसंपत्तिः ॥
कास्याङ्ग-सन्धिनियमा भाणवदेवात्र भाणिकायां स्यात् ॥
अथ भाण्यद्विमुखमराल्पमेषण्यमग्रिका ।
गर्भावमर्शहीना च मुखप्रतिमुखभूषिता ॥
स्वल्पवृत्तमवन्ध्या च वीथ्यङ्गैरपि समन्विता ।
विदूषकेण सहिता सुखहास्यसमन्विता ॥
पाञ्चालरीतिनियता भवेद्वीणावती यथा ॥

(भावप्रकाशन : ९ म अधिकार)

अनुवाद—अब तक 'दृश्य' काव्यों का निरूपण किया गया अब इसके बाद 'श्रव्य' काव्यों का निरूपण किया जा रहा है—

'श्रव्य' काव्य उस रमणीय वाक्य को कहा करते हैं जो केवल श्रवण-योग्य हुआ करता है (अर्थात् जिसे रंगमञ्च पर अभिनय द्वारा प्रदर्शित नहीं किया जाया करता

(१ म श्रव्य काव्य-प्रकार · पद्यमय अथवा पद्य-काव्य)

तत्र पद्यमयान्याह—

छन्दोबद्धपदं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम् ।
द्वाभ्यां तु युग्मकं सांदानितकं त्रिभिरिष्यते ॥ ३१४ ॥
कलापकं चतुर्भिश्च पञ्चभिः कुलकं मतम् ।

(१—पद्यात्मक काव्य-प्रकार · मुक्तक)

तत्र मुक्तक यथा मम—

'सान्द्रानन्दमनन्तमव्ययमज यद्योगिनोऽपि क्षण
साक्षात्कर्तुमुपासते प्रति मुहुर्ध्यानैकतानाः परम् ।
धन्यास्ता मथुरापुरीयुवतयस्तद्ब्रह्म या कौतुका-
दालिङ्गन्ति समालपन्ति शतधाऽकर्षन्ति चुम्बन्ति च ॥'

अपितु स्वय पढ़ा अथवा सुना जाया करता है।) इस काव्य के भी दो भेद है—१ ला पद्यमय श्रव्य काव्य और २ रा गद्यमय श्रव्य काव्य।

इन दोनों में, पहले 'पद्यात्मक' श्रव्य काव्यों के स्वरूप बताये जा रहे हैं—

'पद्यात्मक' काव्य वह है जिसके पद छन्दोबद्ध हुआ करते हैं। यह 'पद्यात्मक' काव्य भी कई प्रकार का हुआ करता है, जैसे कि १ 'मुक्तक', जिसके पद्य (अपने अर्थ में) अन्य किसी पद्य की आकाङ्क्षा से 'मुक्त' अथवा स्वतन्त्र हुआ करते हैं, २. युग्मक, जिसमें दो पद्यों की रचना पर्याप्त मानी जाया करती है, ३. सादानितक, जिसकी रचना तीन पद्यों में पूर्ण हो जाया करती है, ४ कलापक, जिसकी रूप-रेखा पद्य-चतुष्क में पूर्ण हो जाती है और ५ कुलक, जिसमें पाँच पद्यों का एक 'कुल' दिखायी दिया करता है।

अनुवाद—इन पद्य काव्यों में जो 'मुक्तक' काव्य है उसका स्वरूप-निदर्शन निम्न स्वरचित सूक्ति में स्पष्ट है—

'धन्य हैं वे मथुरा की युवतियाँ, जो उस आनन्दमय, अनन्त, अनादि किंवा शाश्वत परात्पर परब्रह्म को अपने भुजापाश में बाँधा करती हैं, आलाप-सलाप में रिझाया करती हैं, छीना-झपटी में सताया करती हैं और चुम्बनों में भुलाया करती हैं, जिसके क्षण भर के भी साक्षात्कार के लिये, ध्यानमग्न योगियों को निर्विकल्प समाधि में लीन होना पड़ता है।'

विमर्श—विश्वनाथ कविराज की उपर्युक्त सूक्ति 'मुक्तक' काव्य है। सस्कृत काव्य-साहित्य के जितने 'मुक्तक'-रत्न उपलब्ध हैं उनसे कहीं अधिक खो गये हैं और कदाचित् सदा के लिये खो गये हैं। 'मुक्तक' की रचना सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश तीनों भाषाओं में होती रही है। 'मुक्तक' काव्य के सम्बन्ध में आचार्य आनन्दवर्धन की यह उक्ति स्मरणीय है—

'मुक्तकेषु प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिन कवयो दृश्यन्ते। यथा ह्यमरुकस्य कवेर्मुक्तका श्रृङ्गाररसस्यन्दिन प्रबन्धायमाना प्रसिद्धा एव—(ध्वन्यालोक ३ य उद्योत)।'

अर्थात् रसास्वाद की दृष्टि से 'मुक्तक' रचनायें प्रबन्ध काव्य की भाँति महत्त्वपूर्ण हैं। अमरुक के मुक्तकों में बहनेवाली श्रृङ्गार मन्दाकिनी का जिसने आनन्द लिया हो, उसे प्रबन्ध काव्यों के क्षीरसागर से क्या प्रयोजन ?

(३—पद्यात्मक काव्य-प्रकार : युग्मक)

युग्मकं यथा मम—

> किं करोषि करोपान्ते कान्ते ! गण्डस्थलीमिमाम् ।
> प्रणयप्रवणे कान्तेऽनैकान्ते नोचिताः क्रुधः ॥
> इति यावत्कुरङ्गाक्षीं वक्तुमीहामहे वयम् ।
> तावदाविरभूच्चूते मधुरो मधुपध्वनिः ॥'

एवमन्यान्यपि ।

'मुक्तक' और 'रस' का सम्बन्ध अटूट है। प्रबन्धकाव्यों में तो विभावादियोजना का मक्रिक-प्रकार दिखायी दिया करता है किन्तु 'मुक्तक' में रस-योजना के पृथक् पृथक् तत्त्व इतने शक्तिशाली हुआ करते हैं कि एक से ही अन्य-समावेश हो जाया करता है और रस का आस्वादन आरम्भ हो जाता है।

आचार्य अभिनवगुप्त ने 'मुक्तक' की जो यह निरुक्ति बतायी है—

'मुक्तमन्येनानालिङ्गितं तस्य संज्ञायां कन्। तेन स्वतन्त्रतया परिसमाप्तनिराकाङ्क्षार्थमपि प्रबन्धमध्यवर्ति न मुक्तकमित्युच्यते—(ध्वन्यालोकलोचन : ३ य उद्योत)।

उसमें 'मुक्तक' के स्वरूप की सुन्दर झाँकी दिखायी देती है।

अनुवाद—इसी प्रकार 'युग्मक' का उदाहरण भी निम्न स्वरचित सूक्ति में स्पष्ट है—

'जैसे ही मैंने उस मृगनयनी सुन्दरी को कहना चाहा—प्रिये ! तू क्योंकर अपने हाथों पर कपोलस्थली रखे पड़ी है तेरा प्रियतम तो एकमात्र तेरे ही प्रेम में पगा है भला ऐसे प्रेमी के प्रति मान-कोप की क्या आवश्यकता—कि आम्र-मञ्जरियों के झुरमुट में मधुर भ्रमर-गुंजार सुनाई पड़ने लगी।'

इसी भाँति और पद्यात्मक काव्य-प्रकारों जैसे कि सांदानितक आदि के उदाहरण स्वयं ढूँढ लिये जा सकते हैं।

विमर्श—विश्वनाथ कविराज ने 'युग्मक' और 'सान्दानितक' को दो पृथक् प्रकार का पद्य काव्य कहा है किन्तु आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार 'युग्मक' ही 'सांदानितक' प्रतीत होता है। 'सांदानितक' का लक्षण आचार्य अभिनवगुप्त ने यह किया है—'द्वाभ्यां क्रियासमाप्तौ सन्दानितकम्' (ध्वन्यालोकलोचन : ३ य उद्योत)। काव्यानुशासनकार हेमचन्द्राचार्य के अनुसार भी 'युग्मक' कोई पृथक् पद्यकाव्य-प्रकार नहीं अपितु 'सांदानितक' ही, दो पद्यों में पूर्ण होने के कारण, 'युग्मक' कहा जा सकता है।

विश्वनाथ कविराज ने आचार्य अभिनवगुप्त और हेमचन्द्राचार्य के 'विशेषक' नामक काव्य प्रकार को जो तीन पद्यों में पूर्ण हो जाया करता है (त्रिभिर्विशेषकम्) 'सांदानितक' मान रखा है।

इस 'विशेषक' अथवा 'सांदानितक' का उदाहरण महाकवि माघ का यह विशेषक (अथवा सांदानितक) है—

> 'अभिमुखमुपयाः समस्य कण्ठे द्रुतपरिरम्भपरिश्लथनीविस्तनेन ।
> हृषिततनुरुहो भुजेन भर्तुर्मुहुरमुचुम्बितमेकबाहुम् ॥
> मुहुरसुसममाघ्नती नितान्तं प्रणदितकाञ्चिनितम्बमण्डलेन ।
> पिपमितपृथुहारयष्टितोर्जकुचमितरं तद्रुरस्थले विपीडम् ॥
> गुरुतरकलनूपुरानुनादं सललितनर्तितवामपादपद्मा ।
> इतरदनतिलोलमादधाना पदमथ मन्मथमन्थरं जगाम ॥
> (शिशुपालवध : ७. १६-१८)

(महाकाव्य स्वरूप-विनिश्चय)

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः ॥ ३१५ ॥

किन्तु आचार्य मल्लिनाथ ने महाकवि माघ के निम्न 'सदानितक' अर्थात्—

'विरोधिवचसो मूकान् वागीशानपि कुर्वते ।
जडानप्यनुलोमार्थान् प्रवाच कतिना गिर ॥
सङ्क्षिप्तस्याप्यतोऽस्यैव वाक्यस्यार्थगरीयस ।
सुविस्तरतरा वाचो भाष्यभूता भवन्तु मे ॥'
(शिशुपालवध २. २४, २५)

का उल्लेख किया है जिसकी रचना दो पद्यों में ही पूर्ण है।

'कलापक' की परिभाषा आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार यह है—'चतुर्भि. कलापकम्' अर्थात् वह काव्यबन्ध 'कलापक' है जो चार पद्यों का बना होता है। इसका उदाहरण यह है—

'या घर्मभासस्तनयापि शीतलै स्वसा यमस्यापि जनस्य जीवनै ।
कृष्णाऽपि शुद्धैरधिक विधातृभिर्विहन्तुमंहासि जलै. पटीयसी ॥
यस्या महानीलतटीरिव द्रुता प्रयान्ति पीत्वा हिमपिण्डपाण्डव. ।
कालीरपस्ताभिरिवाऽनुरञ्जिता क्षणेन भिन्नाञ्जनवर्णता घना. ॥
व्यक्त बलीयान् यदि हेतुरागमादपूरयत् सा जलधि न जाह्नवी ।
गङ्गौघनिर्भर्त्सितशम्भुकन्धरासवर्णमर्ण. कथमन्यथाऽस्य तत् ॥
अभ्युद्यतस्याक्रमितु जवेन गा तमालनीला नितरा धृतायतिः ।
सीमेव सा तस्य पुर क्षण बभौ बलाम्बुराशेर्महतो महापगा ॥'
(शिशुपालवध १२ ६७-७०)

'कुलक' को पाँच अथवा पाँच से अधिक पद्यों का बन्ध कहा गया है (पञ्चप्रभृतिभि कुलकम् ध्वन्यालोकलोचन . ३ य उद्योत) महाकवि माघ का यह 'कुलक' बन्ध प्रसिद्ध है—

'सकलमपि निकामं कामकेलान्यनारीरतरभसविमर्दे भिन्नवत्यङ्गरागम् ।
इदमिति महदेवाश्चर्यमाश्चर्यधाम्नस्तव खलु मुखरागो यन्न भेद प्रयात' ॥
प्रकटतरमिम माद्राङ्गुरन्या रमण्य स्फुटमिति सविशंकं कान्तया तुल्यवर्ण ।
चरणतलसरोजाक्रान्तिसक्रान्तयाऽसौ वपुषि नखविलेखो लाक्षया रञ्जितस्ते ॥
तदवितथमवादीर्यन्मम त्व प्रियेति प्रियजनपरिमुक्तं यद्दुकूल दधान ।
मदधिवसतिमागा कामिनां मण्डनश्रीर्व्रजति हि सफलत्व वल्लभालोकनेन ॥
नवनखपदमङ्ग गोपयस्यंशुकेन स्थगयसि मुहुरोष्ठ पाणिना दन्तदष्टम् ।
प्रतिदिशमपरस्त्रीसगशसी विसर्पन् नवपरिमलगन्ध केन शक्यो वरीतुम ॥
इति कृतवचनाया कश्चिदभ्येत्य बिभ्यद् गलितनयनवारेर्याति पादावनामम् ।
करुणमपि समर्थ मानिना मानभेदे रुदितमुदितमस्त्र योषितां विग्रहेषु ॥'
(शिशुपालवध ११. ३१-३५)

महाकवि माघ के 'शिशुपालवध' में पद्यषट्कात्मक, पद्यसप्तकात्मक, पद्याष्टकात्मक किं वा पद्यनवकात्मक 'कुलक' भी उपलब्ध होते हैं जिनमें 'काव्य' की विशेषतायें ओतप्रोत हैं।

अनुवाद—पद्यकाव्य के प्रकारों में जो 'सर्गबन्धात्मक' काव्यप्रकार है उसे 'महाकाव्य' कहा करते हैं। (चरित्रवर्णन की दृष्टि से) इस 'सर्गबन्ध'रूप महाकाव्य में एक ही नायक का चरित चित्रित किया जाया करता है। यह नायक चाहे कोई देवविशेष हो,

सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः ।
एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा ॥ ३१६ ॥
शृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते ।
अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसन्धयः ॥ ३१७ ॥
इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम् ।
चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत् ॥ ३१८ ॥
आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा ।
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम् ॥ ३१९ ॥
एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः ।
नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह ॥ ३२० ॥
नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते ।

या प्रख्यात राजवंश का राजा हो ऐसा हुआ करता है जिसमें 'धीरोदात्त' नायक के गुण विद्यमान रहा करते हैं। किसी किसी महाकाव्य में एक राजवंश में उत्पन्न अनेकों कुलीन राजाओं की भी चरित्र-चर्चा दिखाई पड़ती है। (रसाभिव्यञ्जन की दृष्टि से) शृंगार वीर और शान्त रसों में से कोई एक ही रस किसी महाकाव्य में 'अङ्गी' अथवा 'प्रधान' रूप से परिपुष्ट किया जा सकता है। इन तीनों रसों में से जो रस भी 'अङ्गी' अथवा 'प्रधान' रहा करे उसकी अपेक्षा अन्य सभी रस 'अङ्ग' अथवा 'अप्रधान' रूप से अभिव्यक्त किये जा सकते हैं। (सन्धान-रचना की दृष्टि से) नाटक की सभी सन्धियाँ महाकाव्य में आवश्यक मानी गई हैं। (इतिवृत्त-योजना की दृष्टि से) कोई भी ऐतिहासिक अथवा किसी महापुरुष के जीवन से सम्बद्ध कोई लोकप्रसिद्ध वृत्त यहाँ वर्णित किया जा सकता है। वैसे तो (उपयोगिता की दृष्टि से) महाकाव्य में धर्म, अर्थ काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थचतुष्टय का काव्यात्मक निरूपण किया जाया करता है किन्तु परम फल के रूप में किसी एक का ही सर्वतोभद्र उपनिबन्ध युक्तियुक्त माना गया है।

इन उपर्युक्त स्वरूप-संगत विशेषताओं के अतिरिक्त कतिपय अन्यान्य भी विशेषतायें हैं जो सामान्यरूप महाकाव्य में पायी जाया करती हैं। जैसे कि—(१) महाकाव्य का आरम्भ मङ्गलात्मक हुआ करता है। यह मङ्गल या तो 'नमस्कारात्मक' हो या 'आशीर्वादात्मक' हो या 'वस्तुनिर्देशात्मक' हो, महाकवि की इच्छा कि वा विषय-वर्णन पर निर्भर है। (२) किसी किसी महाकाव्य में 'खलनिन्दा' (दुष्ट प्रकृति के आलोचकों की निन्दा) तथा 'सज्जनप्रशंसा' (साधु प्रकृति के आलोचकों की प्रशंसा) भी उपनिबद्ध रहा करती है। (३) प्रत्येक सर्ग में किसी एक वृत्त में पद्य रचे जाया करते हैं और प्रत्येक सर्ग के अन्त में उस वृत्त को छोड़ कर अन्य वृत्त में पद्य-रचना की जाया करती है। (४) आठ सर्ग से कम सर्ग महाकाव्य में नहीं हुआ करते और न सर्ग भी ऐसे हुआ करते हैं जो न तो बहुत छोटे ही और न बहुत बड़े। (५) किसी किसी महाकाव्य में भिन्न भिन्न वृत्तों में भी बद्ध पद्यों से सर्ग-निर्माण हुआ करता है। (६) किसी सर्ग के

सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत् ॥ ३२१ ॥
संध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः ।
प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागराः ॥ ३२२ ॥
संभोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः ।
रणप्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयादयः ॥ ३२३ ॥
वर्णनीया यथायोगं साङ्गोपाङ्गा अमी इह ।
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा ॥ ३२४ ॥
नामास्य सर्गोपादेयकथया सर्गनाम तु ।

सन्ध्यङ्गानि यथालाभमत्र विधेयानि 'अवसानेऽन्यवृत्तकैः' इति बहुवचनमविवक्षितम् । साङ्गोपाङ्गा इति जलकेलिमधुपानादयः ।

यथा—रघुवंश-शिशुपालवध-नैषधादयः ।

अन्त में उसके अगले सर्ग में आने वाले वृत्त की सूचना आवश्यक हुआ करती है। (७) सर्गबन्धनात्मक काव्य में इन इन विषयों का यथास्थान किंवा यथासम्भव साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया जाया करता है—(१) संध्या (२) सूर्य (३) चन्द्र (४) रात्रि (५) प्रदोष (६) अन्धकार (७) दिन (८) प्रात काल (९) मध्याह्न (१०) मृगया (११) पर्वत (१२) ऋतु (१३) वन-उपवन (१४) समुद्र (१५) सम्भोग (१६) विप्रयोग (१७) मुनि (१८) स्वर्ग (१९) नगर (२०) यज्ञ (२१) संग्राम (२२) यात्रा (२३) विवाह (२४) सामाद्युपायचतुष्टय (२५) पुत्रजन्म आदि आदि । (८) महाकाव्य का नामकरण-संस्कार कवि के नाम पर वर्ण्य चरित के आधार पर, नायक के नाम के अनुसार अथवा इनके अतिरिक्त किसी अन्य आधार पर किया हुआ रहता है और (९) महाकाव्य के सर्ग का भी नाम रखा जाया करता है जो कि उसमें वर्ण्य वृत्त के अनुसार हुआ करता है।

महाकाव्य में सन्धिपञ्चक की रचना तो अनिवार्यतः हुआ करती है किन्तु सन्ध्यङ्गों की रचना (अनिवार्य नहीं अपि तु) उनकी उपयोगिता की दृष्टि से ही यत्र तत्र की जाया करती है।

यहाँ ('एकवृत्तमयैः पद्यैः' आदि कारिका में) 'अवसानेऽन्यवृत्तकैः (अन्त में भिन्न वृत्तों से रचना) का अभिप्राय (सर्ग-रचना में व्यवहृत वृत्त की अपेक्षा) सर्गान्त में किसी एक भिन्न वृत्त की रचना का अभिप्राय है (न कि अनेकानेक भिन्न वृत्तों का) क्योंकि यहाँ बहुवचन के प्रयोग में बहुत्व का अभिप्राय विवक्षित नहीं।

सन्ध्यादि के 'साङ्गोपाङ्ग' वर्णन का तात्पर्य जलकेलि, मधुपान आदि-आदि, उन-उन कालों अथवा स्थानों आदि में सभव मानव कार्यकलापों तथा मनोविनोदों के वर्णन का तात्पर्य है।

सर्गबन्धरूप 'महाकाव्य' के उदाहरण के रूप में 'रघुवंश' (जिसका नाम वर्ण्य नायक के वशज एक महाप्रतापी राजा के नाम पर है), 'शिशुपालवध' (जिसका नाम प्रतिनायक-संबन्धी वृत्त के नाम पर है और 'नैषध' (जिसका नाम नायक के उपनाम

यथा वा मम—राघवविलासादि ।

पर है) आदि देखे जा सकते हैं। अथवा मेरी 'राघवविलास' आदि 'सर्गबन्ध' कृतियाँ 'महाकाव्य' के निदर्शनार्थ पर्याप्त हैं।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार का 'महाकाव्य'-लक्षण जितना विशद और पूर्ण है उतना अन्य आचार्यों का नहीं। साहित्यदर्पणकार ने इतिवृत्त, चरित्रचित्रण और रसभावाभिव्यञ्जन—तीनों की दृष्टि से 'महाकाव्य' का स्वरूप-निरूपण किया है। साहित्यदर्पण का महाकाव्य-लक्षण वस्तुतः लोचनकार के इस सूक्ष्म संकेत अर्थात्—'महाकाव्यरूपः पुरुषार्थफलः समस्तवस्तुवर्णनाप्रबन्धः सर्गबन्धः संस्कृत एव ।' (ध्वन्यालोकलोचन : ३ य उद्योत) का विशद वर्णन है।

यहाँ महाकाव्य में सन्धि सन्ध्यङ्गादि-योजना का निर्देश ध्वनिकार की इस मान्यता का ही समर्थन है—

विभावभावानुभावसञ्चार्यौचित्यचारुणः ।
विधिः कथाशरीरस्य वृत्तस्योत्प्रेक्षितस्य वा ॥
इतिवृत्तवशायातां त्यक्त्वाऽननुगुणां स्थितिम् ।
उत्प्रेक्ष्याऽप्यन्तराभीष्टरसोचितकथोन्नयः ॥
सन्धिसन्ध्यङ्गघटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया ।
न तु केवलया शास्त्रस्थितिसम्पादनेच्छया ॥
उद्दीपनप्रशमने यथावसरमन्तरा ।
रसस्यारब्धविश्रान्तेरनुसन्धानमङ्गिनः ॥
अलङ्कृतीनां शक्तावप्यानुरूप्येण योजनम् ।
प्रबन्धस्य रसादीनां व्यञ्जकत्वे निबन्धनम् ॥ (ध्वन्यालोक : ३ य उद्योत)

साहित्यदर्पणकार ने 'महाकाव्य' की और जिन छोटी-मोटी विशेषताओं का उल्लेख किया है वे वस्तुतः सभी उपलब्ध महाकाव्यों की विशेषताएँ हैं।

भावप्रकाशनकार ने सर्गबन्ध का तो लक्षण अवश्य किया है किन्तु उसे 'महाकाव्य' नहीं कहा है—

'यत्र श्रुतीतिहासाद्याः पैशाचा वाप्यपैशाचाः ।
निबद्धा वर्णनोपेताः सर्गबन्धः स इष्यते ॥
सर्गबन्धेन तुल्यो यः प्राकृतेन निबध्यते ।
आश्वासबन्धः स इति सेतुबन्धवदुच्यते ॥
अपभ्रंशेन यत्तो यः मात्राच्छन्दोभिरन्वितः ।
स सन्धिबन्धो विज्ञेयः यथाऽभिमन्युमारिका ॥
वृत्तान्ता विप्रकीर्णाः स्युः संहिता यत्र कोविदैः ।
सा संहितेत्यभिहिता रघुवंशो यथा कृतः ॥

(भावप्रकाशन : ९ म अधिकार)

ऐसा प्रतीत होता है कि सर्गबन्धों में महाकाव्य की कल्पना विश्वनाथ कविराज की प्रतिभा की एक देन है। भावप्रकाशनकार के अनुसार 'रघुवंश' 'संहिता' है किन्तु साहित्यदर्पणकार के अनुसार 'महाकाव्य'। वस्तुतः 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' की कल्पना ने ही 'महाकाव्य' की कल्पना की है।

(महाकाव्य-सम्बन्धी कतिपय आनुषङ्गिक विशेषतायें . आर्ष-महाकाव्य में 'सर्ग' के बदले 'आख्यान' रचना)

अस्मिन्नार्षे पुनः सर्गा भवन्त्याख्यानसंज्ञकाः ॥ ३२५ ॥

अस्मिन्महाकाव्ये । यथा—महाभारतम् ।

अनुवाद—**यही 'सर्गबन्ध' का काव्यप्रकार, जिसे प्राचीन ऋषि-कवियों ने रचा है 'सर्ग' के बदले 'आख्यान' में विभाजित किया गया है।**

यहां (कारिका में) 'अस्मिन्' से 'महाकाव्ये' (महाकाव्य में) का अर्थ लिया गया है। इसके उदाहरण के लिये (महर्षि-महाकवि व्यास-प्रणीत) 'महाभारत' लिया जा सकता है।

विमर्श—'महर्षि व्यास-प्रणीत 'महाभारत' आर्ष महाकाव्य है'—इस धारणा के प्रवर्त्तक साहित्यदर्पणकार हैं। ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने महाभारत को महाकाव्य नहीं अपितु 'महाकाव्यात्मक शास्त्र' कहा है—'**महाभारतेऽपि शास्त्ररूपे काव्यच्छायान्वयिनि वृष्णिपाण्डवविरसावसानवैमनस्यदायिनी समाप्तिमुपनिबध्नता महामुनिना वैराग्यजननतात्पर्यं प्राधान्येन स्वप्रबन्धस्य दर्शयता मोक्षलक्षण पुरुषार्थः शान्तो रसश्च मुख्यतया विवक्षाविषयत्वेन सूचित। ...तदेवमनुक्रमणीनिर्दिष्टेन वाक्येन भगवद्व्यतिरेकिण' सर्वस्यान्यस्यानित्यतां प्रकाशयता मोक्षलक्षण एवैक' पर- पुरुपार्थ शास्त्रनये, काव्यनये च तृष्णाक्षयसुखपरिपोषलक्षणः शान्तो रसो महाभारतस्याङ्गित्वेन विवक्षित इति सुप्रतिपादितम्** (ध्वन्यालोक ४र्थ उद्योत)। अर्थात् मोक्षरूप परम पुरुषार्थ के प्रतिपादन की दृष्टि से तो महाभारत 'शास्त्र' है किन्तु शान्त रस की मधुर अभिव्यञ्जना की दृष्टि से 'काव्य'।

'महाभारत' आदि आर्षकवि-प्रबन्धों को ही देखते अन्य आलङ्कारिकों ने काव्य के अन्यविध विभाग किये हैं —

'शास्त्र काव्यं शास्त्रकाव्य काव्यशास्त्रं च भेदत ।
चतुष्प्रकार प्रसर सतां सारस्वतो मत ॥
शास्त्र काव्यविद प्राहु सर्वकाव्याङ्गलक्षणम् ।
काव्य विशिष्टशब्दार्थसाहित्यसदलङ्कृति ॥
शास्त्रकाव्य चतुर्वर्गप्रायं सर्वोपदेशकृत् ।
भट्टि भौमककाव्यादि काव्यशास्त्र प्रचक्षते ॥
शास्त्रं कुर्यात् प्रयत्नेन प्रसन्नार्थमनुष्टुभा ।
येन सर्वोपकाराय याति सुस्पष्टसेतुताम् ॥
काव्ये रसानुसारेण वर्णनानुगुणेन च ।
कुर्वीत सर्ववृत्ताना विनियोग विभागवित् ॥
शास्त्रकाव्येऽतिदीर्घाणा वृत्ताना न प्रयोजनम् ।
काव्यशास्त्रेऽपि वृत्तानि रसायत्तानि काव्यवित् ॥
पुराणप्रतिबिम्बेषु प्रसन्नोपायवर्त्मसु ।
उपदेशप्रधानेषु कुर्यात्सर्वेष्वनुष्टुभम् ॥
नानावृत्तविशेषास्तु कवे शस्तस्य शासनात् ।
यान्ति प्रभोरिवात्यन्तमयोग्या अपि योग्यताम् ॥'

इस विभाग के अनुसार महाभारत 'शास्त्रकाव्य' सिद्ध होता है न कि महाकाव्य। विश्वनाथ

(प्राकृत भाषा में रचित महाकाव्य में सर्गों के बदले 'आश्वास' की रचना)

प्राकृतैर्निर्मिते तस्मिन्सर्गा आश्वाससंज्ञकाः ।
छन्दसा स्कन्धकेनैतत्क्वचिद्गलितकैरपि ॥ ३२६ ॥

यथा—सेतुबन्धः। यथा वा मम—कुवलयाश्वचरितम्।

(अपभ्रंश भाषा में रचित महाकाव्य में 'सर्ग' के बदले 'कुडवक' की रचना)

अपभ्रंशनिबद्धेऽस्मिन् सर्गाः कुडवकाभिधाः ।
तथापभ्रंशयोग्यानि च्छन्दांसि विविधान्यपि ॥ ३२७ ॥

यथा—कर्णपराक्रमः।

(काव्य : स्वरूप-निरूपण)

भाषाविभाषानियमात्काव्यं सर्गसमुज्झितम् ।
एकार्थप्रवणैः पद्यैः सन्धिसामग्र्यवर्जितम् ॥ ३२८ ॥

यथा—भिक्षाटनम्, आर्याविलासश्च।

कविराज ने महाभारत को 'आर्ष महाकाव्य' कहकर अपने काव्यविषयक सिद्धान्त (वाक्यं रसात्मकं काव्यम्) का बड़ा सुन्दर पुष्टीकरण किया है।

अनुवाद—यही महाकाव्य यदि प्राकृत भाषा में रचा गया हो तो 'सर्गों' में रचित न होकर 'आश्वासों' में रचित हुआ करता है। इन 'आश्वासों' में जो छन्द प्रयुक्त हुआ करते हैं वे अधिकतर 'स्कन्धक' अथवा 'गलितक' नाम के छन्द हुआ करते हैं।

उदाहरण के लिये (महाकवि प्रवरसेन-विरचित) 'सेतुबन्ध'। अथवा मेरी अपनी रचना—'कुवलयाश्वचरित'।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार ने काव्यात्मकता की दृष्टि से संस्कृत और प्राकृत के महाकाव्यों में कोई भेद नहीं किया है और यह सर्वथा उचित ही है। 'सर्ग' के स्थान पर 'आश्वास' की रचना प्राचीन निर्माण-परम्परा का अनुसरण-मात्र है न कि अन्य कुछ।

अनुवाद—यही महाकाव्य यदि अपभ्रंश भाषा में रचा जाय तो उसमें 'सर्ग' रचना के बदले 'कुडवक' की रचना हुआ करती है। इन 'कुडवकों' में अपभ्रंश भाषा के योग्य अनेकानेक छन्द रचे जाया करते हैं।

उदाहरण के लिये—'कर्णपराक्रम'।

अनुवाद—(महाकाव्य के अतिरिक्त) 'काव्य' पद्य-प्रबन्ध का वह प्रकार है जो संस्कृत प्राकृत कि वा अपभ्रंश भाषा में निबद्ध किया जाया करता है। इसमें 'सर्गों' का बन्ध आवश्यक नहीं और न सन्धिपञ्चक की सम्पूर्ण रचना ही अपेक्षित है। इसकी रूपरेखा 'एकार्थप्रवण' अर्थात् एक वृत्त अथवा चरित से सम्बद्ध पद्य-कदम्ब से ही पूर्ण हो जाया करती है।

उदाहरण के लिये—'भिक्षाटन काव्य' और 'आर्याविलास' आदि।

(खण्डकाव्य : लक्षण और उदाहरण)

खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च ।

यथा—मेघदूतादि ।

('कोष' रूप पद्य प्रबन्ध : स्वरूप निर्देश)

कोषः श्लोकसमूहस्तु स्यादन्योन्यानपेक्षकः ॥ ३२९ ॥
व्रज्याक्रमेण रचितः स एवातिमनोरमः ।

सजातीयानामेकत्र सन्निवेशो व्रज्या । यथा मुक्तावल्यादि ।

(२ य श्रव्यकाव्य-प्रकार : गद्यमय अथवा गद्य-काव्य)

अथ गद्यकाव्यानि ।

तत्र गद्यम्—

वृत्तगन्धोज्झितं गद्यं मुक्तकं वृत्तगन्धि च ॥ ३३० ॥
भवेदुत्कलिकाप्रायं चूर्णकं च चतुर्विधम् ।

अनुवाद—'काव्य' अथवा 'महाकाव्य' के कतिपय लक्षणों से युक्त जो पद्य-प्रबन्ध है उसे 'खण्डकाव्य' कहा करते हैं। जैसे कि (महाकवि कालिदास रचित) 'मेघदूत' इत्यादि।

विमर्श—'मेघदूत' मुक्तकों का बना खण्डकाव्य है। मेघदूत के मुक्तकों के सम्बन्ध में आचार्य अभिनवगुप्त ने कहा है—'पूर्वापरनिरपेक्षेणापि हि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्। यथा—त्वामालिख्य प्रणयकुपितामित्यादिश्लोक । (ध्वन्यालोकलोचन ३ य उद्योत)

अनुवाद—'कोष' पद्यों का वह संग्रह है जिसमें सभी पद्य परस्पर स्वतन्त्र अस्तित्व रखा करते हैं। यह 'कोष' तब अधिक सुन्दर लगा करता है जब कि सजातीय पद्य एक-एक स्थान पर संगृहीत रहा करते हैं।

यहाँ 'व्रज्या' का अभिप्राय सजातीय पद्यों के एकत्र सन्निवेश' का अभिप्राय है। उदाहरण के लिए 'मुक्तावली' (सूक्तिमुक्तावली) आदि।

विमर्श—काव्यानुशासनकार हेमचन्द्राचार्य के अनुसार 'कोष' (कोश) रूप पद्यप्रबन्ध का अभिप्राय स्वरचित अथवा अन्यरचित सूक्तियों का संग्रह है—'स्वपरकृतसूक्तिसमुच्चय कोष' (काव्यानुशासन ८ १३)। संस्कृत काव्य साहित्य में अनेकानेक पद्यप्रबन्ध आज भी उपलब्ध हैं जो 'कोष' रूप ही रचे गये हैं। 'आर्यासप्तशती' आदि पद्य-प्रबन्ध यदि स्वरचित सूक्तियों के समुच्चयरूप हैं तो 'सदुक्तिकर्णामृत' आदि पद्य प्रबन्ध अन्यान्य कवि-रचित सूक्तियों के संग्रह हैं। इन कोष प्रबन्धों के निर्माण में विविधविषयक काव्य-सूक्तियों का प्रचार मूल कारण प्रतीत होता है। मनोरञ्जन और उपदेश—दोनों उद्देश्यों से कोष प्रबन्ध रचे गये प्रतीत होते हैं।

अनुवाद—अब श्रव्य-काव्य के २ य प्रकार 'गद्यकाव्य' का निरूपण किया जा रहा है। यहाँ 'गद्य' का अभिप्राय यह है—

'गद्य' वह शब्दार्थ-योजना है जो छन्दोबद्ध नहीं हुआ करती। गद्य के चार प्रकार हैं—(१) मुक्तक, (२) वृत्तगन्धि, (३) उत्कलिकाप्राय और (४) चूर्णक। इनमें (१) 'मुक्तक' वह गद्य-बन्ध है जो असमस्त पदों में रचा जाया करता है, (२) 'वृत्तगन्धि', वह गद्य-प्रकार है जिसमें वृत्तों के अंश यत्र-तत्र प्रतीत हुआ करते हैं, (३) 'उत्कलिकाप्राय', वह गद्य-

आद्यं समासरहितं वृत्तभागयुतं परम् ॥ ३३१ ॥
अन्यद्दीर्घसमासाढ्यं तुर्यं चाल्पसमासकम् ।

मुक्तकं यथा—'गुरुर्वचसि पृथुरुरसि—' इत्यादि ।

वृत्तगन्धि यथा मम—

'समरकण्डूलनिबिडभुजदण्डकुण्डलीकृतकोदण्डशिञ्जिनीटङ्कारोज्जागरितवैरिनगर' इत्यादि । अत्र 'कुण्डलीकृतकोदण्ड'—इत्यनुष्टुब्वृत्तस्य पादः, 'समरकण्डूल' इति च प्रथमाक्षरद्वयरहितस्तस्यैव पादः ।

उत्कलिकाप्रायं यथा ममैव—'अणिसविसुमरणिसिदसरविसरविदलिदसमरपरिगदपवरपरबल—' [अनिश-विस्मर-निशित-शर-विसर-विदलित-समर-परिगत-प्रवर-परबल] इत्यादि ।

चूर्णकं यथा मम—'गुणरत्नसागर ! जगदेकनागर ! कामिनीमदन ! जनरञ्जन !' इत्यादि ।

(गद्यकाव्य के अवान्तर भेद—(१) कथा)

कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम् ॥ ३३२ ॥
क्वचिदत्र भवेदार्या क्वचिद्वक्त्रापवक्त्रके ।
आदौ पद्यैर्नमस्कारः खलादेर्वृत्तकीर्तनम् ॥ ३३३ ॥

भेद है जो लम्बे लम्बे समस्त पदों से रचा गया होता है और (४) चूर्णक वह गद्य रचना है जिसमें छोटे छोटे समस्त पदों का उपनिबन्ध हुआ करता है।

उदाहरण के लिये—(१) मुक्तकगद्यकाव्य 'गुरुर्वचसि पृथुरुरसि' (वचन में गौरव रखने वाला तथा बृहस्पतितुल्य; वक्ष में विशाल तथा महाराज पृथु के तुल्य) आदि (जहाँ यह स्पष्ट है कि प्रत्येक पद 'मुक्त' अथवा अन्य पद-निरपेक्ष रहने के कारण सुन्दर लग रहा है); (२) वृत्तगन्धि गद्य-काव्य (मेरी स्वरचित कृति)—'समरकण्डूल-निबिडभुजदण्डकुण्डलीकृतकोदण्डशिञ्जिनीटङ्कारोज्जागरितवैरिनगर।' इत्यादि जहाँ 'कुण्डलीकृतकोदण्ड' पद अनुष्टुप् छन्द का चरण बन रहा है और 'समरकण्डूल' पद भी पहले के दो अक्षरों को हटा देने पर अनुष्टुप् छन्द का ही चरण बन जाता है; (३) उत्कलिकाप्राय गद्य-काव्य (मेरी स्वरचित कृति)—'अनिश-विस्मर-निशित-शर-विसर-विदलित समर-परिगत-प्रवर-परबल !' इत्यादि (जहाँ लम्बे समस्त पद स्पष्ट दिखायी पड़ रहे हैं) और (४) 'चूर्णक' गद्यकाव्य (स्वरचित कृति)—'गुणरत्नसागर ! जगदेकनागर ! कामिनीमदन ! जनरञ्जन !' इत्यादि (जहाँ स्वल्प समास वाले पदों की योजना का सौन्दर्य स्पष्ट झलक रहा है)।

अनुवाद—गद्यकाव्य का एक प्रभेद 'कथा' है जिसमें सरस इतिवृत्त की रचना हुआ करती है। इस 'कथा' की यह भी विशेषता है कि इसमें कहीं-कहीं 'आर्या' छन्द रचा जाया करता है और कहीं 'वक्त्र' और 'अपवक्त्र' छन्दों की भी रचना हुआ करती है। इसके प्रारम्भ में नमस्कारात्मक 'मङ्गल' किया जाया करता है और खल निन्दा तथा सज्जन प्रशंसा-सम्बन्धी वृत्त भी उपनिबद्ध रहा करते हैं। उदाहरण के लिये (महाकवि बाणरचित) 'कादम्बरी' आदि कथाएँ हैं।

यथा—कादम्बर्यादिः।

(२–आख्यायिका)

आख्यायिका कथावत्स्यात्कवेर्वंशानुकीर्तनम्।
अस्यामन्यकवीनां च वृत्तं पद्यं क्वचित्क्वचित्॥ ३३४॥
कथांशानां व्यवच्छेद आश्वास इति बध्यते।
आर्यावक्त्रापवक्त्राणां छन्दसा येन केनचित्॥ ३३५॥
अन्यापदेशेनाश्वासमुखे भाव्यर्थसूचनम्।

यथा—हर्षचरितादि। 'अपि त्वनियमो दृष्टस्तत्राप्यन्यैरुदीरणात्।' इति दण्ड्याचार्यवचनात् केचित् 'आख्यायिका नायकेनैव निबद्धव्या' इत्याहुः, तदयुक्तम्। आख्यानादयश्च कथाख्यायिकयोरेवान्तर्भावान्न पृथगुक्ताः।

यदुक्तं दण्डिनैव—

'अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातयः।' इति।

एषामुदाहरणम्—पञ्चतन्त्रादि।

विमर्श—'कथा' गद्यकाव्य का एक प्रकार विशेष है। 'कथा' में विकट बन्धप्राचुर्य तो होता ही है किन्तु इसका रसबन्ध-वैचित्र्य ही इसे 'काव्य श्रेणी में स्थापित करने में समर्थ होता है—'कथायां तु विकटबन्धप्राचुर्येऽपि गद्यस्य रसबन्धोक्तमौचित्यमनुसर्तव्यम्' (ध्वन्यालोक ३य उद्योत)।

अनुवाद—'आख्यायिका' भी 'कथा की ही भांति गद्यकाव्य का एक प्रकार है। इसमें भी प्राय 'कथा' की ही विशेषतायें रहा करती हैं। इसमें कवि अपने वंश का अनुकीर्तन करता है और यत्र-तत्र अन्य कवियों की भी चर्चा किया करता है। इसमें जहां-तहां पद्यसूक्तियां भी रहा करती हैं। इसके कथांशों का व्यवच्छेद (परिच्छेद) 'आश्वास' नाम से निर्दिष्ट किया जाया करता है। इसमें, 'आश्वास' के प्रारम्भ में, आर्या, वक्त्र और अपवक्त्र छन्दों में से किसी एक के द्वारा, किसी विषय-वर्णन के बहाने, वर्णनीय विषय की सूचना भी दी जाया करती है।

इसके उदाहरण रूप में (महाकवि बाण आदि कृत) 'हर्षचरित' आदि आख्यायिका-बन्ध प्रसिद्ध हैं।

कुछ काव्याचार्यों का यह कहना कि 'आख्यायिका' नायक द्वारा कथित आख्यान रूप है' ठीक नहीं है क्योंकि काव्याचार्य दण्डी ने स्पष्ट कहा है कि 'आख्यायिका में नायक द्वारा आख्यान-कथन का कोई नियम नहीं क्योंकि कतिपय आख्यायिकायें ऐसी भी हैं जिनके आख्यान-कथन नायक-भिन्न पात्रों द्वारा भी किये गये पाये जाते हैं।' 'कथा' और 'आख्यायिका' के अतिरिक्त 'आख्यान' आदि को भिन्न प्रकार के गद्यकाव्य मानने की आवश्यकता नहीं क्योंकि इन्हें 'कथा' अथवा 'आख्यायिका' में ही अन्तर्भूत किया जा सकता है। वस्तुत. आचार्य दण्डी का भी यही मत है—'अन्य अनेक आख्यान-जातियां 'कथा' अथवा 'आख्यायिका' में ही अन्तर्भूत हैं।' इन आख्यान-जातियों के उदाहरण-रूप में 'पञ्चतन्त्र' आदि रचनायें देखी जा सकती हैं।

आद्यं समासरहितं वृत्तभागयुतं परम् ॥ ३३१ ॥
अन्यद्दीर्घसमासाढ्यं तुर्यं चाल्पसमासकम् ।

मुक्तकं यथा—'गुरुर्वचसि पृथुरुरसि—' इत्यादि ।

वृत्तगन्धि यथा मम—

'समरकण्डूलनिविडभुजदण्डकुण्डलीकृतकोदण्डशिञ्जिनीटङ्कारोज्जागरितवैरिनगर' इत्यादि । अत्र 'कुण्डलीकृतकोदण्ड'—इत्यनुष्टुब्वृत्तस्य पादः, 'समरकण्डूल' इति च प्रथमाक्षरद्वयरहितस्तस्यैव पादः ।

उत्कलिकाप्रायं यथा ममैव—'अणिसविसुमरणिसिदसरविसरविदलिदसमरपरिगदपवरपरबल—' [अनिश-विसृमर-निशित-शर-विसर-विदलित-समर-परिगतप्रवर-परबल] इत्यादि ।

चूर्णकं यथा मम—'गुणरत्नसागर ! जगदेकनागर ! कामिनीमदन ! जनरञ्जन !' इत्यादि ।

(गद्यकाव्य के अवान्तर भेद—(१) कथा)

कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम् ॥ ३३२ ॥
क्वचिदत्र भवेदार्या क्वचिद्वक्त्रापवक्त्रके ।
आदौ पद्यैर्नमस्कारः खलादेर्वृत्तकीर्तनम् ॥ ३३३ ॥

भेद है जो लम्बे लम्बे समस्त पदों में रचा गया होता है और (४) 'चूर्णक' वह गद्य रचना है जिसमें छोटे छोटे समस्त पदों का उपनिबन्ध हुआ करता है।

उदाहरण के लिये—(१) मुक्तकगद्यकाव्य 'गुरुर्वचसि पृथुरुरसि' (वचन में गौरव रखने वाला तथा बृहस्पतितुल्य, वक्ष में विशाल तथा महाराज पृथु के तुल्य) आदि (यहाँ यह स्पष्ट है कि प्रत्येक पद 'मुक्त' अथवा अन्य पद-निरपेक्ष रहने के कारण सुन्दर लग रहा है); (२) वृत्तगन्धि गद्य-काव्य (मेरी स्वरचित कृति)—'समरकण्डूलनिविडभुजदण्डकुण्डलीकृतकोदण्डशिञ्जिनीटङ्कारोज्जागरितवैरिनगर।' इत्यादि जहाँ 'कुण्डलीकृतकोदण्ड' पद अनुष्टुप् छन्द का चरण बन रहा है और 'समरकण्डूल' पद भी पहले के दो अक्षरों को हटा देने पर अनुष्टुप् छन्द का ही चरण बन जाता है; (३) उत्कलिकाप्राय गद्य-काव्य (मेरी स्वरचित कृति)—'अनिश विसृमर निशितशरविसर विदलित समर-परिगतप्रवर-परबल।' इत्यादि (जहाँ लम्बे समस्त पद स्पष्ट दिखायी पड़ रहे हैं और (४) 'चूर्णक' गद्यकाव्य (स्वरचित कृति)—'गुणरत्नसागर! जगदेकनागर! कामिनीमदन! जनरञ्जन!' इत्यादि (जहाँ स्वल्प समास वाले पदों की योजना का सौन्दर्य स्पष्ट झलक रहा है)।

अनुवाद—गद्यकाव्य का एक प्रभेद 'कथा' है जिसमें सरस इतिवृत्त की रचना हुआ करती है। इस 'कथा' की यह भी विशेषता है कि इसमें कहीं-कहीं 'आर्या' छन्द रचा जाया करता है और कहीं 'वक्त्र' और 'अपवक्त्र' छन्दों की भी रचना हुआ करती है। इसके प्रारम्भ में नमस्कारात्मक 'मङ्गल' किया जाया करता है और खल-निन्दा तथा सज्जन-प्रशंसा-सम्बन्धी पद्य भी उपनिबद्ध रहा करते हैं। उदाहरण के लिए (महाकवि बाणरचित) 'कादम्बरी' आदि पर्याप्त हैं।

यथा—कादम्बर्यादिः।

(२–आख्यायिका)

आख्यायिका कथावत्स्यात्कवेर्वंशानुकीर्तनम्।
अस्यामन्यकवीनां च वृत्तं पद्यं क्वचित्क्वचित्॥ ३३४॥
कथांशानां व्यवच्छेद आश्वास इति बध्यते।
आर्यावक्त्रापवक्त्राणां छन्दसा येन केनचित्॥ ३३५॥
अन्यापदेशेनाश्वासमुखे भाव्यर्थसूचनम्।

यथा—हर्षचरितादिः। 'अपि त्वनियमो दृष्टस्तत्राप्यन्यैरुदीरणात्।' इति दण्ड्याचार्यवचनात् केचित् आख्यायिका नायकेनैव निबद्धव्या' इत्याहुः, तदयुक्तम्। आख्यानादयश्च कथाख्यायिकयोरेवान्तर्भावान्न पृथगुक्ताः।

यदुक्तं दण्डिनैव—
'अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातयः।' इति।
एषामुदाहरणम्—पञ्चतन्त्रादि।

विमर्श—'कथा' गद्यकाव्य का एक प्रकार विशेष है। 'कथा' में विकट बन्धप्राचुर्य तो होता ही है किन्तु इसका रसबन्ध-वैचित्र्य ही इसे 'काव्य-श्रेणी में स्थापित करने में समर्थ होता है—'कथायां तु विकटबन्धप्राचुर्येऽपि गद्यस्य रसबन्धोक्तमौचित्यमनुसर्तव्यम्' (ध्वन्यालोक ३य उद्योत)।

अनुवाद—'आख्यायिका' भी 'कथा की ही भांति गद्यकाव्य का एक प्रकार है। इसमें भी प्रायः 'कथा' की ही विशेषतायें रहा करती हैं। इसमें कवि अपने वंश का अनुकीर्तन करता है और यत्र-तत्र अन्य कवियों की भी चर्चा किया करता है। इसमें जहां-तहां पद्यसूक्तिया भी रहा करती हैं। इसके कथांशों का व्यवच्छेद (परिच्छेद) 'आश्वास' नाम से निर्दिष्ट किया जाया करता है। इसमें, 'आश्वास' के प्रारम्भ में, आर्या, वक्त्र और अपवक्त्र छन्दों में से किसी एक के द्वारा, किसी विषय-वर्णन के बहाने, वर्णनीय विषय की सूचना भी दी जाया करती है।

इसके उदाहरण रूप में (महाकवि बाण आदि कृत) 'हर्षचरित' आदि आख्यायिका-बन्ध प्रसिद्ध हैं।

कुछ काव्याचार्यों का यह कहना कि 'आख्यायिका' नायक द्वारा कथित आख्यान रूप है' ठीक नहीं है क्योंकि काव्याचार्य दण्डी ने स्पष्ट कहा है कि 'आख्यायिका में नायक द्वारा आख्यान-कथन का कोई नियम नहीं क्योंकि कतिपय आख्यायिकायें ऐसी भी हैं जिनके आख्यान-कथन नायक-भिन्न पात्रों द्वारा भी किये गये पाये जाते हैं।' 'कथा' और 'आख्यायिका' के अतिरिक्त 'आख्यान' आदि को भिन्न प्रकार के गद्यकाव्य मानने की आवश्यकता नहीं क्योंकि इन्हें 'कथा' अथवा 'आख्यायिका' में ही अन्तर्भूत किया जा सकता है। वस्तुत आचार्य दण्डी का भी यही मत है—'अन्य अनेक आख्यान-जातियां 'कथा' अथवा 'आख्यायिका' में ही अन्तर्भूत हैं।' इन आख्यान-जातियों के उदाहरण-रूप में 'पञ्चतन्त्र' आदि रचनायें देखी जा सकती हैं।

(गद्यपद्यात्मक काव्य-प्रबन्ध : १—चम्पू)

अथ गद्यपद्यमयानि—

गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते ॥ ३३६ ॥

यथा—देशराजचरितम्।

(२—विरुद)

गद्यपद्यमयी राजस्तुतिर्विरुदमुच्यते ।

यथा—विरुदमणिमाला।

(३—करम्भक)

करम्भकं तु भाषाभिर्विविधाभिर्विनिर्मितम् ॥ ३३७ ॥

यथा मम—षोडशभाषामयी प्रशस्तिरत्नावली।

(अन्यान्य काव्यप्रकारों का निर्दिष्ट काव्यभेदों में अन्तर्भाव)

एवमन्येऽपि भेदा उद्देशमात्रप्रसिद्धत्वादुक्तभेदानतिक्रमाच्च न पृथग्लक्षिताः।

इति साहित्यदर्पणे दृश्यश्रव्यकाव्यनिरूपणो नाम षष्ठः परिच्छेदः।

अनुवाद—गद्यपद्यात्मक काव्यप्रबन्ध—वह काव्यप्रकार जो गद्यपद्यमय हुआ करता है 'चम्पू' कहा जाया करता है।

इस काव्यप्रकार के उदाहरणरूप में 'देशराजचरित' आदि देखे जा सकते।

अनुवाद—'विरुद' भी एक गद्य-पद्यमय काव्यप्रबन्ध है जिसमें राज-प्रशस्ति की जाया करती है।

इसका उदाहरण 'विरुदमणिमाला' है।

अनुवाद—'करम्भक' वह काव्य-प्रकार है जो विविध भाषाओं में रचा जाया करता है।

इसका उदाहरण मेरी कृति 'प्रशस्तिरत्नावली' है जिसमें १६ भाषायें प्रयुक्त हैं।

अनुवाद—इन उपरिनिर्दिष्ट काव्यप्रकारों के अतिरिक्त भी अनेकानेक काव्यप्रकार मिले-गिनाये गये हैं। किन्तु इनका यहाँ पृथक् लक्षण-निरूपण अभिप्रेत नहीं क्योंकि इनके और निर्दिष्ट काव्य-प्रकारों के स्वरूप में कोई भेद नहीं प्रतीत होता।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार ने जिन काव्य प्रकारों का स्वरूप-निरूपण किया है उनके अतिरिक्त जिन काव्य-प्रकारों का नाम निर्देश मिलता है—

'येन केनापि तालेन गद्यपद्यसमन्वितम्। जयेत्युपक्रमं मालिन्यादिप्रासविचित्रितम् ॥
तद्वाक्यान्ते वाक्यं विभक्त्यन्ताङ्कसंयुतम्। तदेवोक्तविभक्त्या यत् मधुरं पदपूर्वकम् ॥
विमुक्तगुणसम्बन्धः स्वाभावात्मकम्। आद्यन्तपदसंयुक्ता संस्कृतप्राकृतात्मिका ॥
षड्भिर्वा चतुर्भिर्वा वाक्यैः स्वपद्यसमन्विता। प्रतिस्कन्धं भिन्नवाक्यरीतिर्विरुदपोषिता ॥
सर्वतो देवतास्तुतिरेषा भोगस्तम्भं मता। स्वर्णेनामाङ्कविरुदवर्णनप्रचुरोज्ज्वला ॥
वाक्याडम्बरसंयुक्ता कथिता विरुदावली। ताराणां संख्यया पद्यैर्युक्ता तारावली मता ॥
विद्येषां संख्यया पद्यैर्युक्ता विद्यावली मता। रत्नानां संख्यया पद्यैर्युक्ता रत्नावली मता ॥
पद्यैश्च पञ्चभिर्युक्ता प्रोक्ता रत्नावली ।

साहित्यदर्पण का षष्ठ परिच्छेद समाप्त

सप्तमः परिच्छेदः

(काव्य के दोष स्वरूप निरूपण)

इह हि प्रथमतः काव्ये दोषगुणरीत्यलङ्काराणामवस्थितिक्रमो दर्शितः' संप्रति के त इत्यपेक्षायामुद्देशक्रमप्राप्तानां दोषाणा स्वरूपमाह—

रसापकर्षका दोषाः,—

अस्यार्थः प्रागेव स्फुटीकृत'। तद्विशेषानाह—

(दोष-तत्त्व ' प्रकार-निरूपण)

—ते पुनः पञ्चधा मताः ।

पदे तदंशे वाक्येऽर्थे संभवन्ति रसेऽपि यत् ॥ १ ॥

स्पष्टम् । तत्र—

अनुवाद—काव्य लक्षण के प्रसङ्ग में यह बताया जा चुका है कि दोष, गुण, रीति और अलङ्कार की काव्य मे कैसी अवस्थिति है। अब यहाँ यह बताना आवश्यक है कि दोष आदि काव्य-तत्त्व क्या हैं? सर्वप्रथम, जैसा कि इनका निर्देश-क्रम है, दोष-तत्त्व का निरूपण किया जा रहा है—

'दोष' वे हैं जो रस (काव्य के आत्म-तत्त्व) के अपकर्षक हुआ करते हैं।

'दोष'के रसापकर्षक होने का जो अभिप्राय है वह पहले ही (अर्थात् वाक्यं रसात्मक काव्य दोषास्तस्यापकर्षका' साहित्यदर्पण १-३ आदि में) स्पष्ट कर दिया गया है।

विमर्श—विश्वनाथ कविराज ने काव्य स्वरूप-निरूपण की अपनी दृष्टि से 'दोष'-तत्त्व का निरूपण किया है। काव्य के 'रसात्मक वाक्य' रूप होने के कारण, काव्य के दोष 'रस के अपकर्षक तत्त्व' ही हो सकते हैं। रस के अपकर्षकारक तत्त्वों में 'साक्षात्' और 'परम्परया' रस के अपकर्ष का स्वभाव मानना युक्तियुक्त ही है। 'साक्षात्' रस के अपकर्ष की ये तीन सभावनायें हैं—(१) रस की प्रतीति का अभाव, (२) रस की विलम्ब से प्रतीति और (३) रसप्रतीति में चमत्कार की मात्रा की न्यूनता। इस दृष्टि से काव्य के परम हेय तत्त्व रसदोष ही सिद्ध होते हैं। 'रस-दोष' की उत्पत्ति कवि की अशक्ति से सम्बद्ध है। कवि की 'अव्युत्पत्ति' भी काव्य के अपकर्ष का कारण है। इस अव्युत्पत्ति' से उन दोषों का सबन्ध है जो परम्परया रस के अपकर्ष-जनक तत्त्व हुआ करते हैं। मानव के शरीर में काणत्व, खञ्जत्व आदि की भाति काव्य के शब्दार्थ शरीर में श्रुति-कटुत्व, अपुष्टार्थत्व आदि दोष हुआ करते हैं और मानव के मूर्खत्व, अलसत्व आदि की भाति काव्य के वे दोष हैं जिन्हें एक शब्द में 'रस दोष' कहा गया है।

यहाँ काव्यप्रकाशकार की दोष-मीमासा साहित्यदर्पणकार के दोष स्वरूप विवेक को प्रभावित कर रही है।

अनुवाद—ये रस के अपकर्षकारक दोष पाँच प्रकार के हैं—(क) पदगत दोष, (ख) पदांशगत दोष, (ग) वाक्यगत दोष, (घ) अर्थगत दोष और (ङ) रसगत दोष। इनका स्वरूप इनके नाम से ही स्पष्ट है।

(पद पदांश-वाक्य-गत दोष निर्देश)

दुःश्रवत्रिविधाश्लीलानुचितार्थाप्रयुक्तताः ।
ग्राम्याप्रतीतसन्दिग्धनेयार्थनिहतार्थताः ॥ २ ॥
अवाचकत्वं क्लिष्टत्वं विरुद्धमतिकारिता ।
अविमृष्टविधेयांशभावश्च पदवाक्ययोः ॥ ३ ॥
दोषाः केचिद्भवन्त्येषु पदांशेऽपि पदे परे ।
निरर्थकासमर्थत्वे च्युतसंस्कारता तथा ॥ ४ ॥

(पददोष-निरूपण : १—दुःश्रवत्व)

परुषवर्णतया श्रुतिदुःखावहत्वं दुःश्रवत्वम् ।
यथा—

'कार्तार्थ्यं यातु तन्वङ्गी कदाऽनङ्गवशंवदा ।'

(२—अश्लीलत्व : त्रिविध)

अश्लीलत्वं व्रीडाजुगुप्साऽमङ्गलव्यञ्जकत्वात्त्रिविधम् ।
क्रमेणोदाहरणम्—

अनुवाद—पदगत दोष ये हैं—(१) दुःश्रवत्व (श्रुतिकटुत्व) (२) त्रिविध अश्लीलत्व (३) अनुचितार्थत्व (४) अप्रयुक्तत्व, (५) ग्राम्यत्व (६) अप्रतीतत्व (७) संदिग्धत्व (८) नेयार्थत्व (९) निहतार्थत्व (१०) अवाचकत्व, (११) क्लिष्टत्व, (१२) विरुद्धमतिकारित्व, (१३) अविमृष्टविधेयांशत्व (१४) निरर्थकत्व (१५) असमर्थत्व और (१६) च्युतसंस्कारत्व । इनमें 'निरर्थकत्व' असमर्थत्व और 'च्युतसंस्कारत्व' तो केवल पदगत दोष हैं किन्तु अन्य वाक्यगत भी हैं। साथ ही साथ इन्हीं में कतिपय जैसे कि 'दुःश्रवत्व' आदि ऐसे हैं जो 'पदांशगत' भी हुआ करते हैं।

अनुवाद—'दुःश्रवत्व' पद अथवा पदांश की वह परुषवर्णता है जो काव्य—पाठक के कानों को दुःखित किया करती है। जैसे कि इस पद्य में—

अनङ्गवशंवदा (कामोन्माद के वशीभूत) यह तन्वङ्गी (सुन्दरी) कब (अपने प्रियतम के मिलन सुख से) 'कार्तार्थ्य' (प्रेम की कृतार्थता) पायेगी ?'

[यहाँ यह स्पष्ट है कि 'कार्तार्थ्य' पद की कर्कश वर्णध्वनियाँ कानों के पर्दे छेद डालती हैं जिससे 'अनङ्गवशंवदा तन्वङ्गी' का विप्रलम्भ काव्य-पाठक के हृदय तक नहीं पहुँच पाता]

विमर्श—'दुःश्रवत्व' का ही दूसरा नाम 'कष्टत्व' है। पद के कर्कश श्रवण से सामाजिक का चित्त व्यथित हो उठता है और अर्थ-परामर्श के प्रति उन्मुख नहीं होना चाहता। पर भी दुःश्रवता से निम्न पंक्तियाँ आपन्न प्रतीत हो रही हैं—

'वर्षहिं जलदो घन घन दर्पहिं चातक ।
पांशुविलग्न गीता काकोऽर्कं चर्वति हृदयं मम ॥

अनुवाद—'अश्लीलत्व' वह दोष है जो कि पद अथवा पदांश में व्रीडा (लज्जा), जुगुप्सा (घृणा) और अमङ्गल के अभिप्राय के अभिव्यञ्जन के कारण त्रिविध रूप से देखा जाया करता है।

इसके क्रमशः उदाहरण ये हैं—

(व्रीडाभिव्यञ्जनरूप अश्लीलत्व)

'दृप्तारिविजये राजन् ! साधन सुमहत्तव ।'

(जुगुप्सा और अमङ्गल के अभिव्यञ्जन में अश्लीलत्व)

'प्रससार शनैर्वायुर्विनाशे तन्वि ! ते तदा ।'

अत्र साधन–वायु–विनाश–शब्दा अश्लीलाः ।

(३—अनुचितार्थत्व)

'शूरा अमरता यान्ति पशुभूता रणाध्वरे ।'

अत्र पशुत्व कातर्यमभिव्यनक्तीत्यनुचितार्थत्वम् ।

(४—अप्रयुक्तत्व)

अप्रयुक्तत्वं तथा प्रसिद्धावपि कविभिरनादृतत्वम् ।

'राजन् ! दर्प में चूर शत्रुगण पर विजय पाने के लिये आप का 'साधन' (सैन्यबल) महान् है ।'

'अरी सुन्दरी ! तेरे 'विनाश' (अदर्शन) के समय ऐसा हुआ कि 'वायु' धीरे-धीरे निकल पड़ी ।'

यहाँ 'साधन' पद (यद्यपि सैन्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है किन्तु) 'लिङ्ग' के लज्जास्पद अभिप्राय का अभिव्यञ्जन करने के कारण अश्लील है, 'वायु' पद (यद्यपि पवन के अर्थ में प्रयुक्त है किन्तु) 'अपानवायु' के घृणास्पद अभिप्राय के अभिव्यञ्जन से अश्लील है और 'विनाश' पद (भले ही इसे 'न देखने' के अर्थ में प्रयुक्त किया गया हो) 'मृत्यु' के अमङ्गलास्पद अभिप्राय का अभिव्यञ्जक होने के कारण अश्लील लग रहा है ।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार ने काव्यप्रकाश' में उद्धृत अश्लील सूक्तियों के उद्धरण के बदले उन सूक्तियों के अश्लील पदों को लेकर अपने श्लोक बनाये हैं और व्रीडा, जुगुप्सा किं वा अमङ्गल के अभिव्यञ्जक त्रिविध 'अश्लीलत्व' के उदाहरण दिये हैं । 'दृप्तारिविजये' आदि में 'साधन' पद वस्तुतः व्रीडाभिव्यञ्जक है क्योंकि इससे वर्ण्य भूपाल का उत्साह युद्धविषयक उत्साह के रूप में प्रकाशित होने के बदले कामलम्पटता के उत्साह के रूप में प्रकाशित होने लगता है । इसी भाँति 'प्रससार' आदि में 'वायु' और 'विनाश' पद 'जुगुप्सा' और 'अमङ्गल' के अभिव्यञ्जक हैं क्योंकि इनके द्वारा यहाँ नायक-हृदय में नायिका के विरह से वासन्तिक वायु के प्रेमोद्दीपन का अभिप्राय नहीं प्रकाशित होता अपि तु नायक की लम्पटता का ही अभिप्राय अभिव्यक्त होता है ।

अनुवाद—'अनुचितार्थत्व' पद का वह दोष है जिसके द्वारा ऐसे अर्थ का अभिव्यञ्जन हुआ करता है जिससे वर्ण्य विषय में अनौचित्य प्रतीत होने लगता है । जैसे कि—'वे शूर-वीर जो सङ्ग्रामयज्ञ के पशु (भैंसे और बकरे) हैं, वस्तुतः अमर हो जाते हैं' आदि में 'पशु' पद में 'अनुचितार्थत्व' स्पष्ट है क्योंकि इसके द्वारा यहाँ शूर-वीरों की विवशता और दयनीयता का अभिप्राय प्रकाशित किया जा रहा है जो कि वर्ण्य विषय के लिये सर्वथा अनुचित है ।

['अनुचितार्थत्व' उस कवि के पद-प्रयोग में सम्भव है जो अव्युत्पन्न हो । व्युत्पत्ति से ही उचितानुचितत्व का परिज्ञान सम्भव है ।]

अनुवाद—'अप्रयुक्तत्व' वह दोष है जिसे किसी पद की, कोष आदि में उस रूप से प्रसिद्धि होने पर भी कवि-सम्प्रदाय में अप्रयुक्ति कहा गया है । जैसे कि—

यथा—

'भाति पद्मः सरोवरे ॥'

अत्र पद्मशब्दः पुंल्लिङ्गः ।

(५—ग्राम्यत्व)

ग्राम्यत्वं यथा—

'कटिस्ते हरते मनः ॥'

अत्र कटिशब्दो ग्राम्यः ।

(६—अप्रतीतत्व)

अप्रतीतत्वमेकदेशमात्रप्रसिद्धत्वम् ।

यथा—

'योगेन दलिताशयः ॥'

अत्र योगशास्त्र एव वासनार्थ आशयशब्दः ।

'सरोवर में पद्म (पद्मः-पुल्लिङ्ग) सुशोभित हो रहा है।' आदि में पुल्लिङ्ग 'पद्म' शब्द में 'अप्रयुक्तत्व' स्पष्ट है क्योंकि कोषादि में तो 'पद्म' शब्द पुल्लिङ्ग रूप में प्रसिद्ध है किन्तु कविसम्प्रदाय में 'पद्म' शब्द सदा नपुंसकलिङ्ग में ही प्रयुक्त हुआ करता है।

['अप्रयुक्तत्व' दोष उसी कवि की रचना में रह सकता है जिसमें 'व्युत्पत्ति' का अभाव हो। 'व्युत्पत्ति' केवल शब्दानुशासन में प्रवीणता नहीं अपितु काव्यानुशासन में निपुणता भी है। 'अप्रयुक्तत्व' दोष से वही कवि बच सकता है जिसने काव्य-साहित्य का अध्ययन और अनुशीलन किया हो।]

अनुवाद—'ग्राम्यत्व' वह दोष है जिसे पदों का गँवारूपन कहा जाया करता है। जैसे कि—'तेरी 'कटि' (कमर) तो मेरा चित्त चुरा रही है।
आदि में 'कटि' पद ग्राम्य है क्योंकि इसे गँवार लोग ही प्रयोग में लाया करते हैं। इसके प्रयोग से यहाँ कवि का गँवारूपन झलकता है।

विमर्श—पदों के प्रयोग में ग्रामीणता और विदग्धता अथवा असभ्यता और सभ्यता की जाँच-बीन से 'ग्राम्य' दोष की कल्पना हुई है। विदग्ध अथवा सभ्य कवि 'नितम्ब' पद का प्रयोग करता है। यद्यपि 'कटि' और 'नितम्ब' का अर्थ एक ही है किन्तु विदग्ध-गोष्ठी में 'नितम्ब' पद का प्रयोग हुआ करता है न कि 'कटि' का। 'नितम्ब' पद के साथ जो विदग्ध भावनायें जुड़ी हैं उनका 'कटि' पद से कोई संपर्क नहीं। 'कटि' पद के प्रयोग से शृंगारभाव की प्रतीति में ग्रामीणता अथवा असभ्यता की भी गन्ध आ जाती है। इसलिए आलङ्कारिकों ने ऐसे पदों को ग्राम्य कहा है।

अनुवाद—'अप्रतीतत्व' वह दोष है जिसे पद की एकदेशीयता अथवा एकशास्त्रमात्र में प्रसिद्ध कहा गया है।

जैसे कि—'योग (चित्तवृत्तिनिरोध) से विनष्ट आशय (वासना) वाला (मोक्ष प्राप्त करता है)' आदि में। यहाँ 'आशय' पद ऐसा है जो एकमात्र योगदर्शन में ही 'वासना' के अर्थ में प्रसिद्ध है (न कि लोक अथवा काव्य में)।

विमर्श—अभिगम के लिए प्रतीत पदों का प्रयोग अपेक्षित है न कि अप्रतीत पदों का। भिन्न-भिन्न शास्त्रों के पदों के प्रयोग से कवि का पाण्डित्य-प्रदर्शन भले ही हो जाय, काव्य-निर्माण नहीं हो सकता।

(७—संदिग्धत्व)

'आशीःपरम्परा वन्द्यां कर्णे कृत्वा कृपां कुरु ।'

अत्र वन्द्यामिति किं वन्दीभूतायामुत वन्दनीयामिति संदेहः ।

(८—नेयार्थत्व)

नेयार्थत्वं रूढिप्रयोजनाभावादशक्तिकृतं लक्ष्यार्थप्रकाशनम् ।

यथा—

'कमले चरणाघातं मुखं सुमुखि ! तेऽकरोत् ।'

अत्र चरणाघातेन निर्जितत्वं लक्ष्यम् ।

अनुवाद—'संदिग्धत्व' वह दोष है जिसे किसी पद के द्वारा संदेहात्मक अर्थ का उपस्थापन कहा गया है। जैसे कि—

'महाराज ! आप प्रशंसा से भरी (वन्द्या) आशीर्वाद-परम्परा सुनें और कृपा करें।'

यहां 'वन्द्याम्' पद में 'संदिग्धत्व' स्पष्ट दिखायी दे रहा है क्योंकि यहां यह संदेह उत्पन्न हो जाता है कि इससे 'प्रशंसापूर्ण' का अर्थ लिया जाय या 'वन्दी बनायी गयी नारी' का।

विमर्श—'वन्द्याम्' प्रयोग ऐसा है जो 'वन्द्या' (वन्दनीया) शब्द की द्वितीया के एकवचन का रूप है और 'वन्दी' शब्द की सप्तमी के भी एक वचन का रूप है। दोनों का भिन्न भिन्न अर्थ है। ऐसे पद के प्रयोग में सहृदय काव्य-पाठक उद्विग्न हो उठता है क्योंकि उसे कवि का तात्पर्य निस्संदिग्ध नहीं प्रतीत हुआ करता। जब तक कवि का तात्पर्य निःसंदिग्ध न प्रतीत हो तब तक काव्य का आस्वाद क्यों कर मिले ?

अनुवाद—'नेयार्थत्व' वह दोष है जिसे किसी पद के द्वारा ऐसे लक्ष्यार्थ का प्रकाशन कहा गया है जिसमें न तो कोई रूढि हो और न प्रयोजन और जिसका कारण एकमात्र प्रयोक्ता की अशक्ति अर्थात् अव्युत्पत्ति हो। उदाहरण के लिए—

'अरी सुमुखि ! तेरे मुख ने तो कमल पर चरणाघात [पादप्रहार) कर दिया।'

यहां 'चरणाघात' पद में 'नेयार्थत्व' दोष है क्योंकि इससे 'जीत लेने' का जो लक्ष्यार्थ निकलता है ['चरणाघात' पद का वाच्यार्थ यहां अनुपपन्न है। भला 'मुख' के साथ चरणाघात—लात मारने—की क्रिया का क्या सम्बन्ध !] वह रूढि और प्रयोजन-शून्य है और वस्तुतः प्रयोक्ता के असामर्थ्य के कारण है।

विमर्श—'नेयार्थ' पद उन पदों को कहा करते हैं जो निषिद्ध लाक्षणिक पद हैं जैसा कि आचार्य कुमारिल ने कहा है—

'निरूढा लक्षणाः काश्चित्सामर्थ्यादभिधानवत् ।
क्रियन्ते साम्प्रतं काश्चित् काश्चिन्नैव त्वशक्तितः ॥'

अर्थात् कुछ लाक्षणिक पद तो ऐसे हैं जो प्रयोग-प्रवाह में पड़कर 'वाचक' सरीखे बन गये हैं जैसे कि 'कुशल' आदि पद। कुछ पद ऐसे हैं जो प्रयोजनवश, यथासमय और यथासंभव लाक्षणिक बन जाया करते हैं जैसे कि 'गङ्गायां घोषः' आदि में 'गङ्गा' आदि पद। किन्तु बिना रूढि अथवा प्रयोजन के ही जो पद लाक्षणिक मान लिये जाया करते हैं जैसे कि 'रूपो घटः' आदि में, रूपवान् के अर्थ में 'रूप' आदि पद, वे वस्तुतः निषिद्ध लाक्षणिक पद हैं और प्रयोक्ता की अव्युत्पत्ति के प्रदर्शक हुआ करते हैं।

इस प्रकार निषिद्ध लाक्षणिक पदों के प्रयोग में 'नेयार्थत्व' का दोष स्वाभाविक ही है।

(९—निहतार्थत्व)

निहतार्थत्वमुभयार्थस्य शब्दस्याप्रसिद्धेऽर्थे प्रयोगः ।

यथा—

'यमुनाशम्बरमम्बरं व्यतानीत् ।'

शम्बरशब्दो दैत्ये प्रसिद्धः, इह तु जले निहतार्थः ।

(१०—अवाचकत्व)

यथा—

'गीतेषु कर्णमादत्ते ।'

अत्राङ्पूर्वो दाम् धातुर्दानार्थेऽवाचकः ।

यथा वा—

'दिनं मे त्वयि संप्राप्ते ध्वान्तच्छन्नापि यामिनी ।'

अत्र दिनमिति प्रकाशमयार्थेऽवाचकम् ।

अनुवाद—'निहतार्थत्व' वह दोष है जिसे किसी उभयार्थक पद का अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग कहा गया है। उदाहरण के लिये—

'यमुनाशम्बर (यमुना का जल) आकाश में व्याप्त हो गया।

यहाँ 'शम्बर' शब्द में 'निहतार्थत्व' स्पष्ट है कि क्योंकि इसे इसके अप्रसिद्ध 'जल' रूप अर्थ में प्रयुक्त किया गया है जो कि इसके प्रसिद्ध दैत्यरूप अर्थ से (जो कि अनायास अविलम्ब प्रतीत हो उठता है) तिरोहित अथवा तिरस्कृत हो रहा है।

विमर्श—पदों के प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध अर्थों का विवेक 'निहतार्थत्व' दोष से बचने का उपाय है। कोशादि से पदों का चयन काव्य-निर्माण के उपयुक्त नहीं क्योंकि कोशादि से यह पता चलना कठिन है कि किसी पद का कौन अर्थ प्रसिद्ध है और कौन अप्रसिद्ध। अर्थ की प्रसिद्धि और अप्रसिद्धि तो लोक-व्यवहार के परिज्ञान से ही जानी जा सकती है।

अनुवाद—'अवाचकत्व' वह दोष है जिसे किसी पद के द्वारा ऐसे अर्थ के उपस्थापन में देखा जाता करता है जिसमें उसकी वाचकता नहीं रहा करती। जैसे कि—

'वह (गीतेषु कर्णमादत्ते) गीत पर कान दे रहा है।

यहाँ आङ् उपसर्गपूर्वक 'दाम्' धातु (आदत्ते) का जो प्रयोग है उसमें अवाचकत्व स्पष्ट है क्योंकि 'आदत्ते' पद लेने के अर्थ का वाचक है न कि 'देने' के अर्थ का। 'देने' के अर्थ की वाचकता से शून्य इस पद के प्रयोग में 'अवाचकत्व' तो होगा ही।

अथवा—

'जब तुम आ गए तब तो अँधेरी रात भी मेरे लिए (दिन) प्रकाशपूर्ण हो गयी।'

यहाँ 'दिन' पद 'प्रकाशपूर्णता' के अर्थ में अवाचक है क्योंकि इसकी वाचकता तो 'सूर्यावच्छिन्न समय' के ही अर्थ में स्वीकृत है न कि प्रकाशमयता के अर्थ में भी।

विमर्श—जब पद विवक्षित अर्थ का उपस्थापन न करे तब वह 'अवाचक' न हो तो क्या हो ? 'अवाचक' पद का प्रयोग भी कवि की अव्युत्पत्ति का ही परिणाम है। व्युत्पन्न कवि के पद अवाचक नहीं हुआ करते। अवाचक पद को 'असमर्थ' भी कहा करते हैं। 'अवाचक' अथवा 'असमर्थ' पद वस्तुतः वह पद है जो कि 'अविमृष्ट' हुआ करता है अर्थात् ऐसे अर्थ में प्रयुक्त हुआ करता है। जिसमें वह अवाचक है। इन उदाहरण से 'अवाचकत्व' का अभिप्राय बहुत स्पष्ट हो जाता है—

(११—क्लिष्टत्व)

क्लिष्टत्वमर्थप्रतीतेर्व्यवहितम् ,

यथा—

'क्षीरोदजावसतिजन्मभुवः प्रसन्ना' ।'

अत्र क्षीरोदजा लक्ष्मीस्तस्या वसतिः पद्मं तस्य जन्मभुवो जलानि ।

[१२—विरुद्धमतिकृत्व]

'भूतयेऽस्तु भवानीशः' ।'

अत्र भवानीशशब्दो भवान्याः पत्यन्तरप्रतीतिकारित्वाद्विरुद्धमतिकृत् ।

[१३—अविमृष्टविधेयांशत्व]

विधेयस्य विमर्शाभावेन गुणीभूतत्वम् अविमृष्टविधेयांशत्वम् ।

'विभजन्ते न ये भूपमालभन्ते न ते श्रियम् ।
आवहन्ति न ते दुःख प्रस्मरन्ति न ये प्रियाम् ॥'

यहां 'विभजन' को 'सेवा', 'आलभन' को 'लाभ', 'आवहन' को 'वहन' अथवा 'धारण' और 'प्रस्मरण' को 'अत्यधिक स्मृति' के अर्थ में लिया गया है किन्तु इन अर्थों में इन पदों की कोई शक्ति नहीं। विभजन की शक्ति 'बाटने', 'आलभन' की शक्ति 'मारने', 'आवहन' की शक्ति करने और 'प्रस्मरण' की शक्ति 'भूलने' के अर्थ में है।

अनुवाद—'क्लिष्टत्व' वह दोष है जिसे किसी पद के द्वारा विवक्षित अर्थ की प्रतीति के व्यवधान अथवा विलम्ब में देखा जाया करता है। जैसे कि—

'क्षीरोदजावसतिजन्मभूमि (जल) कितने प्रसन्न हैं।'

यहां 'क्षीरोदजावसतिजन्मभू' पद 'क्लिष्टत्व' से दूषित है क्योंकि इसके विवक्षित 'जल' रूप अर्थ की प्रतीति में इतना व्यवधान है कि पहले 'क्षीरोदजा' से 'लक्ष्मी' के अर्थ, फिर 'क्षीरोदजावसति' से 'कमल' के अर्थ और तब 'क्षीरोदजावसतिजन्मभू' से कमल के उत्पत्ति-क्षेत्र 'जल' के अर्थ तक पहुँचते-पहुँचते क्लेश होने लगता है।

विमर्श—बुझौवल बुझाने में तो क्लिष्ट पद के प्रयोग में कोई दोष नहीं किन्तु काव्य-रचना में क्लिष्ट पद रसभाव की प्रतीति को क्लेशमय और क्लेशकर बना देते हैं। जबकि पद से व्यवहित अर्थ की प्रतीति हो तब रस-प्रतीति कहा से हो ?

अनुवाद—'विरुद्धमतिकृत्व' अथवा 'विरुद्धमतिकारित्व' वह दोष है जिसे किसी पद से ऐसे अर्थ के उपस्थापन में देखा जाया करता है जो कि प्रकृत अर्थ से विपरीत हुआ करता है। जैसे कि—

'भवानीपति (शङ्कर) सबका कल्याण करें' में। यहां 'भवानीश' पद में 'विरुद्धमतिकृत्व' स्पष्ट है क्योंकि यह पद प्रकृत अर्थ के विपरीत अथवा उपमर्दक अर्थ का अवबोध करा रहा है ('भवानी' पद का अर्थ है वह देवी (पार्वती) जिसके पति भव अथवा शङ्कर हैं। 'शङ्कर' को 'भवानीश' कहने से यह अभिप्राय भी अभिव्यक्त हो उठता है कि भवानी के और भी पति होंगे और इस प्रकार यहाँ देवविषयक रतिभाव की अभिव्यञ्जना में अधर्म के आतङ्क का भी अंश अभिव्यक्त हो उठता है जो कि सर्वथा अनुचित है)।

अनुवाद—'अविमृष्टविधेयांशत्व' वह दोष है जिसे वहाँ देखा जाया करता है जहाँ 'विधेय' अथवा प्रधान रूप से परामर्श योग्य अंश, अप्रधान रूप से निर्दिष्ट किया गया होता है। उदाहरण के लिये, इस सूक्ति अर्थात्—

यथा—

'स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः' ।

अत्र वृथात्वं विधेयम्, तच्च समासे गुणीभावादनुवाद्यत्वप्रतीतिकृत् ।

यथा वा—

'रक्षांस्यपि पुरः स्थातुमलं रामानुजस्य मे ।'

अत्र रामस्येति वाच्यम् ।

यथा वा—

'आसमुद्रक्षितीशानाम् ।'

अत्रासमुद्रमिति वाच्यम् ।

यथा वा—

'यत्र ते पतति सुभ्रु ! कटाक्षः षष्ठबाण इव पञ्चशरस्य ।'

अत्र षष्ठ इवेत्युत्प्रेक्ष्यम् ।

'स्वर्ग रूपी छोटे से गाँव की लूट-खसोट में व्यर्थ के लिये मतवाले बने इन भुजदण्डों से क्या ?' में। यहाँ प्रधानतया परामर्श-योग्य जो अंश है वह (उच्छूनता का) 'वृथात्व' (व्यर्थ होना) है किन्तु इसे समास में डालकर अप्रधान बना दिया गया है जिससे इसमें 'विधेयता' के बदले 'अनुवाद्यता' (उद्देश्यता) प्रतीत हो उठती है।

[यहाँ कवि को कहना है—स्वर्गरूपी छोटे से गाँव की लूट-खसोट में इन भुजदण्डों का 'मतवालापन व्यर्थ है' किन्तु कवि कहता है—स्वर्गरूपी छोटे से गाँव की लूट-खसोट में व्यर्थ के लिए 'मतवाले बने इन भुजदण्डों का क्या काम ?' यहाँ 'उच्छूनता' (मतवालापन) उद्देश्यरूप से—और 'वृथा' विधेयरूप से रखने योग्य है किन्तु 'वृथोच्छूनैः' पद में तत्पुरुष समास में पूर्वपद की अपेक्षा उत्तरपद की मात्रा प्रधानता होने से विधेयभूत 'वृथा' पद गौण हो गया है और उद्देश्यभूत 'उच्छून' पद प्रधान बन गया है। इस प्रकार प्रधानतया परामर्श-योग्य अंश अप्रधान रूप से यहाँ प्रतीत हो रहा है। जिससे विवक्षित अभिप्राय की प्रतीति में विघ्न पड़ रहा है।]

अथवा इस सूक्ति अर्थात्—'मुझ रामानुज के भी सामने राक्षस टिक सकेंगे ?' में। यहाँ 'रामानुज' इस षष्ठीतत्पुरुष समास वाले पद के बदले 'राम के अनुज (रामस्यानुजः)' इस षष्ठी विभक्त्यन्त पद के प्रयोग में 'विधेय' अर्थात् दुर्दान्तराक्षस-संहारक राम के सम्बन्ध का 'विमर्श' अपेक्षित था क्योंकि तभी लक्ष्मण का वीर्योद्गार अधिकाधिक अभिव्यक्त हो सकता था किन्तु ऐसा न होने से अविमृष्टविधेयांशता का दोष बना पाया।

अथवा (महाकवि कालिदास की) इस सूक्ति अर्थात्—'समुद्रपर्यन्त पृथिवी के सम्राटों का' आदि में। यहाँ 'आसमुद्रं क्षितीशानाम्' इस असमस्त पद के प्रयोग से ही कवि का यह विवक्षित अभिप्राय कि 'रघुवंशी राजाओं का आधिपत्य पृथिवी के साथ-साथ समुद्र पर भी था' प्रकाशित हो सकता था किन्तु 'आसमुद्रक्षितीशानाम्' इस समस्त पद के प्रयोग से केवल यही प्रतीत हो पाता है कि 'रघुवंशी राजाओं का अधिकार समुद्रपर्यन्त पृथिवी पर ही था'। इस प्रकार यहाँ विधेय रूप से प्रयोग-योग्य 'आसमुद्रम्' पद को 'क्षितीश' पद के साथ समस्त कर देने से 'विधेयाविमर्श' दोष स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है।

अथवा इस सूक्ति अर्थात्—'अरी सुन्दरी ! पञ्चशर (काम) के छठे बाण (षष्ठ बाण) की भाँति जहाँ भी तेरा कटाक्ष जा पड़ता है' आदि में। यहाँ 'षष्ठबाण इव' पद में 'विधे-

यथा वा—

'अमुक्ता भवता नाथ ! मुहूर्त्तमपि सा पुरा ।'

अत्रामुक्तेत्यत्र 'नञः प्रसज्यप्रतिषेधत्व'मिति विधेयत्वमेवोचितम् ।

(नञ् का 'प्रसज्यप्रतिषेध' रूप अभिप्राय और समासाभाव में इसकी रचा)

यदाहु —

'अप्राधान्यं विधेर्यत्र प्रतिषेधे प्रधानता ।
प्रसज्यप्रतिषेधोऽसौ क्रियया सह यत्र नञ् ॥'

याविमर्श' स्पष्ट है क्योंकि यहाँ जो कवि का उत्प्रेक्ष्य है वह 'षष्ठत्व' है और यही विधेय है जिसे बाण के साथ समस्त पद बना कर गौण कर दिया गया है। यहा 'षष्ठ इव' का प्रयोग होना चाहिये था जिसमें 'विधेय' का विमर्श स्पष्ट होता और उत्प्रेक्षण का चमत्कार अक्षुण्ण रहता।

अथवा इस सूक्ति अर्थात्—'नाथ ! पहले जो क्षण-भर के लिये भी आपसे अमुक्त रही' आदि में। यहाँ कवि को 'न मुक्ता' पद का प्रयोग करना चाहिये था क्योंकि तभी 'मुक्त करने' (छोड़ने) के विपरीत 'नहीं मुक्त करने' (न छोड़ने) का अभिप्राय जो कि यहाँ 'नञ्' का 'प्रसज्यप्रतिषेध' रूप अभिप्राय है, प्रधान रूप से प्रकाशित हो सकता था। किन्तु समास में पड़ जाने से यह अभिप्राय अप्रधान बन गया है जिससे यहाँ 'विधेयाविमर्श' दोष आ उपस्थित हुआ है।

विमर्श— अविमृष्टविधेयांशत्व' अथवा 'विधेयाविमर्श' एक ही दोष के दो नाम हैं। 'विधेय' वह है जो प्रधानतया प्रतिपिपादयिषित अथवा प्रतिपादन योग्य अर्थ हुआ करता है। इस 'विधेय' रूप अर्थ का 'अविमर्श' तब होता है जब उसे उपसर्जन अथवा अप्रधान बना दिया जाता है। 'विधेय' के 'अविमर्श' के स्थलों में 'समास' का स्थल सबसे बड़ा है। 'समास' वस्तुत सामर्थ्य अथवा अर्थों की सङ्गति पर निर्भर है न कि वक्ता अथवा लेखक की इच्छा पर। 'अर्थों की सङ्गति' का अभिप्राय, अर्थों का परस्पर सम्बन्ध' है। 'अमुक्ता' आदि सूक्ति में यह 'सामर्थ्य' विशेषण-विशेष्य-भाव-रूप है। यहाँ जो समास है वह नञ्समास है जिसमें उत्तरपदार्थ प्रधान हुआ करता है। 'अमुक्ता' में उत्तरपदार्थ की प्रधानता से यह स्पष्ट है कि यहा कोई न कोई पदार्थ, वस्तुत नञ का अर्थ, अप्रधान है अर्थात् विशेषण है। नञ्समास का विषय 'पर्युदास' का विषय हुआ करता है क्योंकि 'पर्युदास' में ही 'नञ' विशेषण (अप्रधान) रूप से रहा करता है और सुबन्तरूप उत्तरपद के साथ समस्त हुआ करता है। 'पर्युदास' का शब्दार्थ है 'परि' अर्थात् प्रतिषेध का वर्जन करके (प्रतिषेध को गौण बना कर) किसी दूसरे (प्रतिषेध के प्रतियोगी) का विधान करना (उत्+आस)। नञ् समास का विषय 'प्रसज्यप्रतिषेध' नहीं। 'प्रसज्यप्रतिषेध' पर्युदास का ठीक उलटा है। 'प्रसज्यप्रतिषेधात्मक' 'नञ् में निषेध का अर्थ ही प्रधान रहा करता है इसलिये यहाँ समास निषिद्ध माना जाया करता है।

अनुवाद—'नञ्' की प्रसज्यप्रतिषेधात्मकता क्या है ? इसके सम्बन्ध में यह प्रमाण ध्यान में रखने योग्य है—

'जहाँ विध्यंश की अप्रधानता और प्रतिषेधांश की प्रधानता प्रतीत हुआ करती है और नञ् का सम्बन्ध क्रिया के साथ रहा करता है वहाँ 'नञ्' का अभिप्राय 'प्रसज्य-प्रतिषेध' (प्राप्ति के विपरीत निषेध) का अभिप्राय हुआ करता है।' जैसे कि—

यथा—

'नवजलधरः सन्नद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः।'

उक्तोदाहरणे तु तत्पुरुषसमासे गुणीभावे नञः पर्युदासतया निषेधस्य विधेयतयानवगमः।

यदाहु—

'प्रधानत्वं विधेर्यत्र प्रतिषेधेऽप्रधानता।
पर्युदासः स विज्ञेयो, यत्रोत्तरपदेन नञ्॥'

तेन—

'जुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे धर्ममनातुरः।
अगृध्नुराददे सोऽर्थमसक्तः सुखमन्वभूत्॥'

अत्रात्रस्ततादि अनूद्यात्मगोपनाद्येव विधेयमिति नञः पर्युदासतया गुणीभावो युक्तः।

ननु 'अश्राद्धभोजी ब्राह्मणः' 'असूर्यंपश्या राजदाराः' इत्यादिवत् 'अमुक्ता'

(महाकवि कालिदास की) यह सूक्ति अर्थात्—

'यह तो नवजलधर सन्नद्ध खड़ा है न कि दृप्त निशाचर।

में यहाँ 'नञ्' को इसलिये समास में नहीं डाला गया है क्योंकि यहाँ प्रधान रूप से निषेध (दृप्त निशाचर के प्रतिषेध) का ही अभिप्राय विवक्षित है।

किन्तु 'अमुक्ता' आदि सूक्ति में 'नञ्' को तत्पुरुष समास में समस्त करके गौण बना दिया गया है जिससे इसका 'प्रसज्यप्रतिषेधात्मक' अभिप्राय न निकल कर 'पर्युदासात्मक' अभिप्राय निकल रहा है जिससे निषेध की प्रधानता नहीं प्रतीत हो पाती।

यहाँ 'नञ्' की पर्युदासात्मकता के सम्बन्ध में यह प्रमाण ध्यान देने योग्य है—

'जहाँ विधि प्रधान रूप से और प्रतिषेध अप्रधान रूप से प्रतीत हो और 'नञ्' का सम्बन्ध उत्तरपद के साथ हो वहाँ जो 'नञ्' का अभिप्राय हुआ करता है वह पर्युदासात्मक हुआ करता है। जैसे कि—

(महाकवि कालिदास के रघुवंश की) यह सूक्ति अर्थात्—

'महाराज दिलीप निर्भीक होकर अपने शरीर की रक्षा करते रहे, नीरोग रहते हुये धर्म का पालन करते रहे, अलोलुप होकर अर्थ-संग्रह करते रहे और अनासक्त रहते हुये सुखभोग करते रहे।

यहाँ 'अत्रस्त' आदि में 'नञ्' को समास में डाल दिया गया है जो कि उचित ही है क्योंकि यहाँ 'अत्रस्त (निर्भीक) रहते हुए' आदि उद्देश्य हैं न कि विधेय। यहाँ जो विधेय है वह तो 'आत्मरक्षण' आदि है। इस प्रकार यहाँ 'नञ्' का अभिप्राय 'पर्युदास' रूप है (न कि प्रसज्यप्रतिषेधरूप) और इसलिये इसका तत्पुरुष समास में अन्तर्भाव हो जाना खटकता नहीं अपितु सर्वथा समीचीन लगता है।

यहाँ यह शङ्का हो सकती है—जैसे 'अश्राद्धभोजी ब्राह्मण' अथवा 'असूर्यंपश्या राजदारा' इत्यादि प्रसङ्गों में नञ् के समास में पड़ जाने पर भी 'नञ्' का अभिप्राय 'प्रसज्यप्रतिषेध' रूप लिया जा सकता है (क्योंकि ब्राह्मण के 'अश्राद्धभोजी' कहे जाने से उसमें श्राद्धभोजन का अभाव और राजदारा के 'असूर्यंपश्या' कहे जाने से उनमें सूर्यदर्शन का अभाव ही प्रतीत होता है) वैसे ही 'अमुक्ता' आदि पूर्वोद्धृतप्रसङ्ग में समास में पड़े

इत्यत्रापि प्रसज्यप्रतिषेधो भवतीति चेद् ? न, अत्रापि यदि भोजनादिरूप-क्रियांशेन नञः सम्बन्ध. स्यात्तदैव तत्र प्रसज्यप्रतिषेधत्वं वक्तुं शक्यम् , न च तथा, विशेष्यतया प्रधानेन तद्भोज्यार्थेन कर्त्रंशेनैव नञः सम्बन्धात् ।

यदाहु'—

'श्राद्धभोजनशीलो हि यतः कर्ता प्रतीयते ।
न तद्भोजनमात्रं तु कर्तरीनेर्विधानतः ॥' इति ।

'अमुक्ता' इत्यत्र तु क्रियथैव सह सबन्ध इति दोष एव ।

'नञ्' का अभिप्राय प्रसज्यप्रतिषेधात्मक (मोचन का अभावरूप) क्योंकर न लिया जाय ? किन्तु इसका समाधान यह है—'अश्राद्धभोजी ब्राह्मण' आदि प्रसङ्गों में भी 'नञ्' का अभिप्राय प्रसज्यप्रतिषेधरूप नहीं अपितु वस्तुत पर्युदासरूप ही है। यहाँ 'नञ्' का अभिप्राय तव कहीं प्रसज्यप्रतिषेधरूप हो सकता जब कि इसका सम्बन्ध 'भोजन' (और दर्शन) आदि रूप क्रिया-भाग के साथ जुड पाता। किन्तु यहाँ तो 'नञ्' का सम्बन्ध (विशेषणभूत भोजन-क्रिया अथवा दर्शन क्रिया के साथ नहीं अपितु) विशेष्य-भूत और इसलिये प्रधान रूप से अवस्थित कर्तृरूप अश के साथ जुड़ा है। तभी तो कहा गया है—

'श्राद्धभोजी' पद में जो ('सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये' इस सूत्र से) 'इनि' प्रत्यय है वह कर्ता के अर्थ में है और इसलिये इसका अभिप्राय 'श्राद्धभोजनशील' हुआ करता है न कि श्राद्धभोजन मात्र (इससे यह स्पष्ट है कि 'अश्राद्धभोजी' पद में 'नञ्' का सम्बन्ध क्रियांश के साथ नहीं अपि तु कर्त्रंश–प्रत्ययार्थ–के साथ है और 'नञ्' का अर्थ पर्युदा-सात्मक है ।.)

इस नञ्विमर्श का निष्कर्ष यही निकला कि 'अमुक्ता' आदि में विधेयाविमर्श दोष तदवस्थ ही रहा क्योंकि यहाँ प्रसज्यप्रतिषेधार्थक 'नञ्' का सम्बन्ध क्रिया के साथ है और इसलिये इसे समास में डाल कर अप्रधान नहीं बनाया जा सकता ।

विमर्श —यहाँ साहित्यदर्पणकार का यह विचार-विमर्श 'व्यक्तिविवेक'कार आचार्य महिम भट्ट की इन पङ्क्तियों का अनुसरण कर रहा है—

'नन्वश्राद्धभोजीत्यत्र प्रसज्यप्रतिषेधेऽपि यथा समास इष्यते तद्वदिहापि भविष्यति । नैव शक्यम् , यतो न तावदत्र नञ. श्राद्धेनोत्तरपदार्थेनाभिसम्बन्ध कश्चित् प्रतीयते, अपि तु विशेष्यतया प्राधान्येन तद्भोज्यर्थेनैव । तत्रापि कर्त्रंश एव प्रधान न क्रियाश । श्राद्धभोजनशीलो ह्यत कर्ता प्रतीयते न तद्भोजनमात्र कर्त्तरि णिनेर्विधा-नात् । ततस्तदभिसम्बन्ध एव शाब्दो न क्रियाभिसम्बन्ध । सा हि सामर्थ्यादवसीयते, तदुपादानमन्तरेण कर्तृत्वानुपपत्ते । तच्छ्रवणमात्रविप्रलम्भकृतश्चाय प्रसज्यप्रतिषेधभ्रम , न पुनराञ्जस्येन तत्र तद्रूपता नाम काचित् सभवति। सा हि वाक्यादेवावसीयते न वृत्ते , तयो सिद्धसाध्यार्थनिष्ठतया भिन्नार्थत्वादिति भवितव्यमेव तत्र समासेन । एवमसूर्यम्प-श्याटिष्वपि द्रष्टव्यम् । इह तु प्रतिषेधस्य प्राधान्यविवक्षा न विधे , तत कोऽवकाश समासस्य ।'

(व्यक्तिविवेक २य विमर्श)

अर्थात् जैसे 'अश्राद्धभोजी' (न श्राद्ध भुङ्क्ते इत्यश्राद्धभोजी) आदि प्रसङ्गों में, समास में अप्रधानतया अवस्थित भी 'नञ्', अभावबोधक होने के कारण, प्रसज्यप्रतिषेधरूप ही माना जाया करता है वैसे ही 'अमुक्ता' आदि [illegible] भी समास में [illegible] भूत नञ् को 'प्रसज्य-

(क्लिष्टत्व-विरुद्धमतिकारित्व और अविमृष्टविधेयांशत्व की पदगतता की व्यवस्था)

एते च क्लिष्टत्वादयः समासगता एव पददोषाः ।

(वाक्यगत दोष-निरूपण : १ दुःश्रवत्व)

वाक्यं दुःश्रवत्वं यथा—

'स्मरार्त्यैव कदा लप्स्ये कार्तार्थ्यं विरहे तव ॥'

(२ अश्लीलत्व)

कृतप्रवृत्तिरन्यार्थे कविर्वान्तं समश्नुते ॥

अत्र जुगुप्साव्यञ्जिकाश्लीलता ।

(३—नेयार्थत्व)

'उदयत्कमललौहित्यैर्वालाभिर्भूषिता तनुः ॥'

अभिधेय ही स्वीकार न माना जाय और 'अविमृष्टविधेयांशत्व' की संभावना न की जाय। किन्तु यहां बात वस्तुतः यह है कि अश्राद्धभोजी आदि प्रसङ्गों में नञ् प्रसज्यप्रतिषेधात्मक नहीं अपितु पर्युदासात्मक ही है। क्योंकि अश्राद्धभोजी (श्राद्धं भोक्तुं शीलमस्येति श्राद्धभोजी न श्राद्धभोजी अश्राद्धभोजी कश्चिद् ब्राह्मण) में यदि नञ् समास की उपपत्ति देखी जाय तो यही पता चलेगा कि यहां 'नञ्' का सम्बन्ध प्रधानभूत कर्तृरूप अंश के साथ है न कि अप्रधानरूप से अवस्थित क्रियारूप अंश के साथ। अब जब कि 'नञ्' का सम्बन्ध क्रियारूप अंश के साथ नहीं तब इसे पर्युदास रूप माना जायगा न कि प्रसज्यप्रतिषेधरूप।

अनुवाद—क्लिष्टत्व आदि (अर्थात् विरुद्धमतिकारित्व तथा अविमृष्टविधेयांशत्व) दोष ऐसे हैं जो समास में ही पददोष कहे जा सकते हैं (क्योंकि समास के अभाव में ये वाक्यदोष हैं)

अनुवाद—'दुःश्रवत्व' दोष वाक्य का भी दोष है। जैसे कि—'तेरे विरह में स्मरार्ति (कामपीडा) से कब मुझे कब कार्तार्थ्य (कृतार्थता) की प्राप्ति होगी' आदि में।

[यहाँ यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त वाक्य की कर्णकठोरता से सहृदय का हृदय उद्विग्न हो उठता है और विरही प्रेमी की प्रेमभावना का स्पर्श भी नहीं करना चाहता।]

अनुवाद—अश्लीलत्व भी वाक्यगत दोष के रूप में दिखायी दिया करता है। जैसे कि—'जो कवि दूसरे के शब्द और अर्थ अपनाया करता है वस्तुतः वान्त (वमन) भोजन किया करता है।' आदि में। यहाँ वाक्यगत अश्लीलत्व स्पष्ट है क्योंकि 'वान्तं समश्नुते' आदि वाक्य एक घृणास्पद अभिप्राय का प्रकाशन करता है।

विमर्श—साहित्यदर्पण की 'विमला' और 'लक्ष्मी' टीका में यहाँ वाक्यदोष की सिद्धि के लिये 'प्रवृत्ति पद से पुरीषोत्सर्ग का घृणास्पद अभिप्राय लिया गया है किन्तु 'प्रवृत्ति पद का 'पुरीषोत्सर्ग' अर्थ यहां समुचित नहीं। यहाँ 'वान्तं समश्नुते' यह पदसमुदायात्मक वाक्य अश्लील है क्योंकि इसीसे घृणा का अभिप्राय अभिव्यक्त हो जाता है।

अनुवाद—वाक्यगत 'नेयार्थत्व' इस दृष्टान्त से समझा जा सकता है—

'बालाभि—सुन्दरियों ने 'उदयत्कमललौहित्यैः'—चमकीले पद्मराग मणियों से (कमल = पद्म + लौहित्य = राग = पद्मरागमणिभि) अपने-अपने शरीर अलंकृत किये।

अत्र कमललौहित्यं पद्मरागः, वक्राभिर्वामाभिः, इति नेयार्थता ।

(४—क्लिष्टत्व)

'धम्मिल्लस्य न कस्य प्रेक्ष्य निकाम कुरङ्गशावाक्ष्याः ।
रज्यत्यपूर्वबन्धव्युत्पत्तेर्मानस शोभाम् ॥'

अत्र धम्मिल्लस्य शोभा प्रेक्ष्य कस्य मानस न रज्यतीति सवन्ध क्लिष्ट ।

(५—अविमृष्टविधेयाशत्व)

'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरय.' इति ।

अत्र चायमेव न्यक्कार इति न्यक्कारस्य विधेयत्व विवक्षितम् । तच्च शब्दरचनावैपरीत्येन गुणीभूतम् । रचना च पदद्वयस्य विपरीतेति वाक्यदोष' ।

(अविमृष्टविधेयांशत्व (विधेयाविमर्श) की अन्यान्य सम्भावनाएँ)

'आनन्दयति ते नेत्रे योऽसौ सुभ्रु ! समागत. ।'

इत्यादिषु 'यत्तदोर्नित्यसंबन्ध.' इति न्यायादुपक्रान्तस्य यच्छब्दस्य निरा-

---

यहाँ (विना रूढि अथवा प्रयोजन के) 'कमललौहित्य' पद से 'पद्मरागमणि' और 'वक्रा पद से वामा अथवा सुन्दरियों का लक्ष्यार्थ प्रतिपादित किया गया है । इसलिये यहाँ वाक्यगत 'नेयार्थत्व' स्पष्ट दिखायी दे रहा है ।

अनुवाद—वाक्यगत 'क्लिष्टत्व' जैसे कि—

'कुरङ्गशावाक्ष्या '—इस मृगनयनी की, 'अपूर्वबन्धव्युत्पत्ते.'—अद्भुत विन्यासवाली, 'धम्मिल्लस्य'—बँधी चोटी की, 'शोभाम्'—सुन्दरता को, निकाम प्रेक्ष्य—देख कर, कस्य मानस न रज्यति' कौन है जिसका मन मोहित नहीं हो जाता ?'

यहाँ वाक्यगत 'क्लिष्टत्व' स्पष्ट है क्योंकि 'धम्मिलस्य शोभा प्रेक्ष्य कस्य मानस न रज्यति' (चोटी की सुन्दरता देख किसका मन मुग्ध नहीं हो जाता) आदि पद अपने परस्पर अन्वय में महाक्लेश उठाते दिखायी दे रहे हैं ।

विमर्श—यहाँ किसी सुन्दरी के केशपाश का रत्युद्बोधक सौन्दर्य-वर्णन विवक्षित अवश्य है किन्तु सहृदय काव्य पाठक का हृदय इससे मुग्ध होने के वदले उद्विग्न हो उठता है क्योंकि उसे कवि-प्रयुक्त पदों के परस्पर सम्बन्ध ज्ञान में क्लेश उठाना पडता है । क्लेश में 'रस' कहाँ ?

अनुवाद—वाक्यगत 'अविमृष्टविधेयांशत्व', जैसे कि—

'अपमान तो यह है मेरे भी शत्रु हो गये' आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति । यहां कवि को कहना है—'यही मेरा अपमान है आदि, जिसमें यह स्पष्ट है कि 'अपमान' (न्यक्कार) विधेय रूप से विवक्षित है । किन्तु यहा शब्द-योजना ऐसी उलटी-पलटी कर दी गयी जिसमें विधेयवाचक 'न्यक्कार' पद (उद्देश्यवाचक 'अयम्' पद के पहले प्रयुक्त कर दिये जाने से) अप्रधान वन गया है । इस प्रकार यहा जो 'अविमृष्टविधेयांशत्व' है वह वाक्यदोष के रूप में दिखायी दे रहा है क्योंकि यहाँ दो पदों (वाक्य) की रचना में उलटफेर है ।

अनुवाद—ऐसे वाक्यों में भी 'अविमृष्टविधेयांशत्व ही है—

'अरी सुन्दरी ! वह जो तेरे नेत्रों को आनन्दित किया करता है, आया हुआ है ।'

यहाँ 'अविमृष्टविधेयाशत्व' इस प्रकार है—शब्द-शास्त्र का यह सामान्य नियम है कि 'यत्' (जो) और 'तत्' (वह) पद नियमत सवद्ध रहा करते हैं (क्योंकि ये दोनों परस्पर सापेक्ष और साकांक्ष पद हैं) । जव 'यत्' पद उद्देश्य रूप से प्रस्तुत हो तो

काङ्क्षाप्रतिपत्तये तच्छब्दसमानार्थतया प्रतिपाद्यमाना इदमेतददःशब्दा विधेया एव भवितुं युक्ताः । अत्र तु यच्छब्दनिकटस्थतया अनुवाद्यत्वप्रतीतिकृत् ।

तच्छब्दस्यापि यच्छब्दनिकटस्थितस्य प्रसिद्धपरामर्शित्वमात्रम् ।

यथा—

'यः स ते नयनानन्दकरः सुभ्रु ! स आगतः ।'

यच्छब्दव्यवधानेन स्थितास्तु निराकाङ्क्षत्वमवगमयन्ति ।

यथा—

'आनन्दयति ते नेत्रे योऽधुनाऽसौ समागतः ।'

एवमिदमादिशब्दोपादानेऽपि । यत्र च यत्तदोरेकस्यार्थत्वं संभवति, तत्रैकस्योपादानेऽपि निराकाङ्क्षत्वप्रतीतिरिति न क्षतिः । तथाहि यच्छब्दस्योत्तरवाक्यगतत्वेनोपादाने सामर्थ्यात् पूर्ववाक्ये तच्छब्दस्यार्थत्वम् ।

यथा—

'आत्मा जानाति यत्पापम् ।'

उसकी अपेक्षा की पूर्ति के लिये 'तत्' पद के समानार्थक 'इदम्' 'एतद्' तथा 'अदस्' पदों में से कोई भी व्यवहृत हो सकता है। किन्तु जो भी व्यवहृत हो उसे विधेय रूप से ही व्यवहृत होना चाहिए। अब यहाँ 'आनन्दयति ते नेत्रे योऽसौ सुभ्रु समागतः' आदि में जो 'यत् (यः)' पद उद्देश्य रूप से प्रयुक्त है उसके लिये 'अदस्' (असौ) पद विधेय सा नहीं अपितु उद्देश्य सा ही बना रहा है क्योंकि 'यत्' के साथ इसके सान्निध्य से केवल यही पता चलता है कि यह जिसका निर्देश कर रहा है वह एक प्रसिद्ध वस्तु है। 'अदस्' शब्द ही क्यों यदि 'तत्' शब्द भी 'यत्' के अत्यन्त सन्निहित हो तो वह भी 'यत्' पदार्थ की प्रसिद्धि का ही बोधक मात्र रह जाता है। जैसे कि यदि कहा जाय—

'अरी सुन्दरी ! वह जो तेरे नेत्रों का आनन्ददायक है आया हुआ है'।

तो, यहाँ 'यत् (यः)' पद का सन्निकटवर्ती 'तत् (सः)' पद भी (विधेय नहीं बन रहा—अपि तु) 'यत्' पदार्थ की प्रसिद्धि का ही अवबोध करा रहा है। अभिप्राय यह है कि यदि 'तत्' आदि पद 'यत्' पद से कुछ दूर रहा करें तभी वे 'यत्' पद की अपेक्षापूर्ति कर सकते हैं (और विधेय रूप में देखे जा सकते हैं) जैसे कि—

'जो तेरे नेत्रों को आनन्दित किया करता है वह अभी आया हुआ है।' आदि वाक्य में। वस्तुतः यही बात वहाँ भी लागू होती है जहाँ 'इदम्' आदि पद ('यत्' पद से कुछ हट कर) प्रयुक्त हुआ करते हैं।

यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है और वह यह है कि यदि कहीं 'यत्' और 'तत्' पदों में से कोई एक पद अप्रयुक्त होने पर भी अर्थ-सामर्थ्य से प्रतीत हो तो वहाँ किसी एक के प्रयोग में भी दूसरे की अपेक्षा-पूर्ति हो जाती है और (उद्देश्य-विधेय भाव में) किसी प्रकार की कोई त्रुटि नहीं दिखायी देती। जैसे कि यदि बाद के वाक्य में (उद्देश्यबोधक) 'यत्' पद प्रयुक्त हो रहा हो तो पहले वाक्य में (विधेयबोधक) 'तत्' पद के प्रयोग के बिना भी, उसकी ('तत्' पद की) अर्थतः उपस्थिति हो जायगी। उदाहरण के लिये—

'जो पाप है [उसे] अन्तःकरण स्वयं जान लेता है।'

एवम्—

'य सर्वशैलाः परिकल्प्य वत्सं मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदक्षे।
भास्वन्ति रत्नानि महौषधींश्च—'

इत्यादावपि।

तच्छब्दस्य प्रक्रान्तप्रसिद्धानुभूतार्थत्वे यच्छब्दस्यार्थत्वम्।

क्रमेण यथा—

(१—प्रक्रान्तवाचक 'तत्' के प्रयोग में)

'स हत्वा वालिनं वीरस्तत्पदे चिरकाङ्क्षिते।
धातोः स्थान इवादेशं सुग्रीवं सन्यवेशयत्॥'

(२—प्रसिद्धि-बोधक 'तत्' के प्रयोग में)

'स वः शशिकलामौलिस्तादात्म्यायोपकल्पताम्।'

(३—पूर्वानुभूत पदार्थ के स्मारक रूप 'तत्' के प्रयोग में)

'तामिन्दुसुन्दरमुखीं हृदि चिन्तयामि।'

यत्र च यच्छब्दनिकटस्थितानामपीदमादिशब्दाना भिन्नलिङ्गविभक्तित्व तत्रापि निराकाङ्क्षत्वमेव।

इसी भाँति ऐसे प्रसङ्गों जैसे कि—

'दोहन कर्म में दक्ष मेरु पर्वत के दोग्धा रहने पर भी पर्वत वृन्द ने जिसे वत्स बनाया और वसुन्धरा से महार्घ रत्नों और महौषधियों को दूह लिया, (वही यह हिमालय है)।' आदि में भी (बाद के वाक्य में प्रयुक्त 'यत्' पद की अपेक्षापूर्ति पहले वाक्य-'अस्त्युत्तरस्याम्'-आदि में अप्रयुक्त किन्तु अर्थत लब्ध 'तत्' पद से स्वभावत हो रही है जिससे विधेयाविमर्शत्व की आशङ्का दूर हो जाती है)।

प्रयुक्त न होने पर भी 'यत्' शब्द इन तीन परिस्थितियों में अर्थलभ्य रहा करता है-(१) जहाँ 'तत्' शब्द प्रक्रान्त अर्थात् प्रकरणप्राप्त के बोधकरूप से प्रयुक्त हो, (२) जहाँ 'तत्' शब्द प्रसिद्धि के बोधकरूप से व्यवहृत हो और (३) जहाँ 'तत्' शब्द से पूर्वानुभूत पदार्थ का स्मरण करवाया गया हो। जैसे कि क्रमश —

'उस महावीर (राम) ने वाली को मार कर, बहुत पहले से आकाङ्क्षित, उस (वाली) के स्थान पर, सुग्रीव को उसी प्रकार प्रतिष्ठित कर दिया जिस प्रकार (वैयाकरणों द्वारा) 'धातु' के स्थान पर 'आदेश' की प्रतिष्ठा की जाया करती है।'

[यहाँ प्रयुक्त 'तत्' (स) पद प्रकरणप्राप्त का बोधक है और इसलिये 'यत्' अर्थत उपस्थित हो जाता है जिससे उद्देश्य-विधेय-भाव में कोई त्रुटि नहीं आती।]

'वे चन्द्रशेखर भगवान् शिव आप सब को अपना सायुज्य प्रदान करें।'

[यहाँ प्रयुक्त 'तत्' (स) पद प्रसिद्धिबोधक है और इसलिये 'यत्' पद के प्रयोग की आवश्यकता नहीं। 'यत्' यहाँ अर्थत उपस्थित है।]

'उस चन्द्रमुखी का ध्यान मैं हृदय में कर रहा हूँ।'

[यहाँ 'तत्' (ताम्) पद पूर्वानुभूत वस्तु का वाचक है और इसलिये इसे 'यत्' शब्द की अपेक्षा नहीं। 'यत्' शब्द यहाँ अर्थसामर्थ्य से ही उपस्थित है।]

यहाँ एक और भी बात है और वह [illegible] यदि 'इदम्' आदि शब्द 'यत्' शब्द के

क्रमेण यथा—

'विभाति मृगशावाक्षी येदं भुवनभूषणम् ।'

(भिन्न विभक्ति में 'यत्' शब्द के सन्निकृष्ट 'तत्' शब्द की निराकांक्षता)

'इन्दुर्विभाति यस्तेन दग्धाः पथिकयोषितः ।'

क्वचिदनुपात्तयोर्द्वयोरपि सामर्थ्यादवगमः ।

यथा—

'न मे शमयिता कोऽपि भारस्येत्युर्वि ! मा शुचः ।
नन्दस्य भवने कोऽपि बालोऽस्त्यद्भुतपौरुषः ॥'

अत्र योऽस्ति, स ते भारस्य शमयितेति बुध्यते ।

'यद्यद्विरहदुःखं मे तत्को वाऽपहरिष्यति ।'

इत्यत्रैको यच्छब्दः साकाङ्क्ष इति न वाच्यम्, तथाहि—यद्यदित्यनेन केन

निकटवर्ती हों किन्तु भिन्न लिङ्ग अथवा भिन्न विभक्ति में हों तो वे निराकांक्ष माने जाया करते हैं (अर्थात् वे 'यत्' शब्द की आकांक्षा के पूरक हो जाया करते हैं)। जैसे कि क्रमशः (भिन्न लिङ्ग में 'यत्' शब्द के सन्निकृष्ट 'इदम्' शब्द की निराकांक्षता)—

'यह मृगनयनी जो कि भुवनभूषण है बड़ी सुन्दर लग रही है।'

[यहाँ 'या' पद का सन्निकटवर्ती भिन्न लिङ्ग 'इदम्' पद 'या' पद की आकांक्षा की पूर्ति कर देता है।]

'यह चन्द्रमा, जो कि चमक रहा है विरहिणी रमणियों को संतप्त कर चुका है।'

[यहाँ 'यत्' (यः) शब्द के सन्निकृष्ट भिन्नविभक्ति का 'तत्' (तेन) शब्द 'यत्' शब्द की आकांक्षा का पूरक बन गया है।]

कहीं ऐसा भी संभव है कि 'यत्' और 'तत्' दोनों व्यवहृत न हों किन्तु अर्थसामर्थ्य से प्रतीत हो जायँ। जैसे कि—

'वसुन्धरे ! इसलिये शोक न कर कि तेरे भार को दूर करनेवाला कोई भी नहीं है, क्योंकि नन्द के घर में एक अद्भुत पौरुष वाला बालक विद्यमान है।'

यहाँ (उपर्युक्त श्लोक-वाक्य में) यह स्पष्ट पता चल जाता है कि 'जो (अर्थात् बालकृष्ण) है वह तेरे (अत्याचार-) भार को दूर करेगा।'

ऐसे प्रसङ्ग जैसे कि—

'मुझे विरह का जो-जो दुःख है उसे कौन दूर करेगा ?'

आदि में ऐसी शङ्का ठीक नहीं कि (दो 'यत्' शब्दों में से) एक 'यत्' शब्द साकांक्ष रह जाता है। क्योंकि यहाँ बात यह है कि 'यद् यत्' शब्द से (वीप्सा द्वारा) सभी प्रकार के दुःख विवक्षित हैं और एक ही 'तत्' शब्द के द्वारा इन सभी प्रकार के दुःखों का परामर्श हो जाता है।

विमर्श—विधेयाविमर्श दोष के उपर्युक्त वाक्यगत रूप की समीक्षा पर 'व्यक्तिविवेक'कार का प्रभाव स्पष्ट है। 'व्यक्तिविवेक'कार आचार्य महिमभट्ट का इस सम्बन्ध में यह कथन है—

'यत्र यत्तदोरेकतरनिर्देशेनोपक्रमस्तत्र तदन्यतरपरामर्शिना तदितरेणोपसंहारो न्याय्यः तयोरन्यपुरुषानिवेशादर्थलेनेहत्वात् तयोश्च परस्परापेक्षया नित्यत्वात्। अत एवाहुः—'यत्तदोर्नित्यमभिसम्बन्धः' इति। स चायमनयोरुपक्रमोपसंहारो द्विविधः शाब्दश्चार्थश्चेति। तयोरुभयोस्सद्भावे सति शाब्दो यथा—

चिद्रूपेण स्थित सर्वात्मक वस्तु विवक्षितम् । तथाभूतस्य तस्य तच्छब्देन परामर्शः । एवमन्येषामपि वाक्यगतत्वेनोदाहरण बोध्यम् ।

(पदांश-गत दोष १-दुःश्रवत्व : स्वरूप तथा निदर्शन)

पदांशे दुःश्रवत्व यथा—

'तद्गच्छ सिद्ध्यै कुरु देवकार्यम् ।'

(२—निहतार्थत्व)

'धातुमत्ता गिरिर्धत्ते ।'

'यदुवाच न तन्मिथ्या यद् ददौ न जहार तत् ।'

यथा च—

'स दुर्मनि श्रेयसि यस्य नादर स पूज्यकर्मा सुहृदां शृणोति य ।' इति । एकतरस्योपादाने सत्यार्थं तदितरस्यार्थसामर्थ्येनोपक्षेपात् । तत्र तद केवलस्योपादाने सत्यार्थस्त्रिविध' प्रसिद्धानुभूतप्रकान्तवस्तुविषयतयोपकल्पितसन्निधिना यदा तस्याभिसम्बन्धात् ।

केचित् पुनरुपात्तवस्तुविषयतयोपकल्पितयोर्द्वयोरप्याक्षेपादस्य चतुर्थमपि प्रकारमिच्छन्ति । यथा—

'ये नाम केचिदिह न प्रथयन्त्यवज्ञां जानन्ति ते किमपि तान् प्रति नैष यत्न ।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा कालो ह्यय निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥'

अत्र स कोऽप्युत्पत्स्यते य प्रति यत्नो मे सफलीभविष्यतीत्युभयोरपि तयोरर्थादाक्षेप. । यश्चैकवाक्ये कर्तृत्वेनोक्तो यश्चेदमादिभि । तच्छब्देन परामर्शो न तयोरुपपद्यते ॥ यतोऽध्यस्यायमाणोऽर्थ स तेभ्य प्रतिपद्यते । न चासौ तत्परामर्शसहिष्णुरसमन्वयात् ॥

तस्मादपेतप्रक्रान्तसम्बन्धसहायस्यास्य यदोऽनुपपन्नप्रक्रस्यमानवस्तुसमन्वयस्यैकाकिन सार्थभ्रष्टस्येव तपस्विन पथिकस्य सन्मार्गोपदेशिक तच्छब्दाध्याहारमेवैकशरणमन्तरेण नापरोऽभिमतार्थसङ्क्रमोपाय सभवति । स चैवविधेषु सूक्तिरत्नेषु कलङ्कायमानो मनागपि न काव्यमाणिक्यवैकटिकानां सचेतसा मनास्यावर्जयितुमलमिति ।

(व्यक्तिविवेक २ य विमर्श)

अनुवाद— इसी भांति अन्य दोषों के भी वाक्यगत रूप स्वय देखे जा सकते हैं ।

विमर्श—काव्यप्रकाशकार ने उपर्युक्त सभी दोषों के वाक्यगत स्वरूप का सोदाहरण निरूपण किया है । जैसे कि वाक्यगत 'ग्राम्यत्व' का निरूपण—

'ताम्बूलभृतगल्लोऽय भल्ल जल्पति मानुष' । करोति खादन पान सदैव तु यथा तथा ॥'

आदि ।

अनुवाद—इसी भाँति पद के अश में भी 'दु श्रवत्व' सभव है जैसे कि (महाकवि कालिदास के कुमारसम्भव की) इस उक्ति में ही—

'अब जाओ, तुम्हारा कार्य सिद्ध हो, देवकार्य सम्पन्न हो ।'

[यहाँ 'गच्छ' के 'च्छ' और 'सिद्ध्यै' के 'द्ध्यै' में कर्णकटुता स्पष्ट है क्योंकि इन्द्र के द्वारा मदन के प्रति निवेदन के प्रसङ्ग में श्रुतिमधुर ही पद किं वा पदांश-ध्वनियाँ सुनाई देनी चाहिये थीं ।]

अनुवाद—पदांश में निहतार्थत्व—

अत्र मत्तशब्दः क्षीबार्थे निहतः।

(३—अवाचकत्व)

'वर्ण्यते किं महासेनो विजेयो यस्य तारकः।'

अत्र विजेय इति कृत्यप्रत्ययः क्तप्रत्ययार्थेऽवाचकः।

(४—अश्लीलत्व)

'पाणिः पल्लवपेलवः'।

पेलवशब्दस्याद्याक्षरे अश्लीले।

(५—नेयार्थत्व)

'समरे निहताः शूरा वचोबाणत्वमागताः।'

अत्र वचःशब्दस्य गीःशब्दवाचकत्वे नेयार्थत्वम्। यथा तत्रैव बाणस्थाने शरेति पाठे। अत्र पदद्वयमपि न परिवृत्तिसहम्। जलध्यादौ उत्तरपदम्, वाडवानलादौ पूर्वपदम्।

'वह पर्वत धातुमत्ता (गन्धक, अभ्रक आदि धातुओं की भरमार) धारण करता है।'

यहाँ यह स्पष्ट है कि 'धातुमत्ता' पद का 'मत्ता' रूप अंश 'मदमाती नारी' के अर्थ में प्रसिद्ध है जिससे यहाँ विवक्षित 'मतुप्' प्रत्यय का अर्थ निहत अथवा तिरस्कृत कर दिया गया है।

अनुवाद—पदांशगत अवाचकत्व—

'उन महासेन का क्या बखान किया जाय जो तारकासुर को जीत चुके हैं।'

यहाँ 'विजेय' पद में जो कृत्यसंज्ञक 'यत्' (अचो यत् से विहित) प्रत्यय है वह यहाँ विवक्षित (भूतकालवाचक) 'क्त' प्रत्यय के अर्थ में अवाचक है।

['विजेय' पद का अंशभूत 'यत्' प्रत्यय यहाँ अवाचक है। इसलिये यहाँ जो अवाचकत्व है वह पदांशगत है न कि पदगत।]

अनुवाद—पदांशगत अश्लीलत्व (व्रीडाव्यञ्जक अश्लीलत्व)—

इसका हाथ पल्लव की भाँति पेलव (कोमल) है।

यहाँ यह स्पष्ट है कि 'पेलव' पद का 'पेल' रूप अंश अश्लील है (क्योंकि इसका अभिप्राय अण्डकोष है जो कि व्रीडाव्यञ्जक है)।

अनुवाद—पदांशगत नेयार्थत्व—

समर में मर मिटने वाले शूर-वीर 'वचोबाण' (देव) रूप हो जाते हैं।'

यहाँ पद का 'वचस्' रूप अंश नेयार्थ है क्योंकि 'देवता' के अर्थ में 'गीर्वाण' पद प्रसिद्ध है न कि 'गिर्' और 'बाण' का पर्यायभूत अन्य 'वचोबाण' आदि पद (बिना रूढि अथवा प्रयोजन के 'वचस्' शब्द का 'गिर्' के अर्थ में काल्पनिक प्रयोग नेयार्थता के अतिरिक्त और कुछ नहीं)। 'गीर्वाण' पद के उत्तरवर्ती 'बाण' रूप अंश के बदले यदि उसके पर्यायभूत 'शर' पद को रख दें तब भी यहाँ पदांशगत नेयार्थत्व रह ही जायगा। वस्तुतः बात यह है कि 'गीर्वाण' पद के पूर्ववर्ती तथा उत्तरवर्ती अंशों को उनके पर्यायों के द्वारा बदला नहीं जा सकता (क्योंकि बदल जाने पर नेयार्थता का दोष आ जायगा) कुछ ऐसे भी पद हैं जिनके उत्तरवर्ती अंश का उनके पर्यायों में परिवर्तन असम्भव है जैसे कि 'जलधि' पद (क्योंकि यदि 'धि' रूप अंश को बदल कर 'धर' कर दें तो 'जलधि' के अर्थ में 'जलधर' पद अयथार्थ हो जायगा)। कुछ पद ऐसे भी हैं जिनके पूर्ववर्ती अंश का

(पदांशगत दोष : उपसंहार)

एवमन्येऽपि यथासंभवं पदांशदोषा ज्ञेयाः। निरर्थकत्वादीनां त्रयाणां च पदमात्रगतत्वेनैव लक्ष्ये संभवः।

क्रमतो यथा—

(निरर्थकत्व दोष)

'मुञ्च मानं हि मानिनि !॥'

अत्र हिशब्दो वृत्तपूरणमात्रप्रयोजनः।

(असमर्थत्व दोष)

'कुञ्जं हन्ति कृशोदरी।'

अत्र हन्तीति गमनार्थे पठितमपि न तत्र समर्थम्।

('च्युतसंस्कृतित्व' दोष)

'गाण्डीवी कनकशिलानिभं भुजाभ्यामाजघ्ने विषमविलोचनस्य वक्षः।'

'आङो यमहनः', 'स्वाङ्गकर्मकाच्च' इत्यनुशासनबलादाङ्पूर्वस्य हनः स्वाङ्गकर्मकस्यैवात्मनेपदं नियमितम्। इह तु तल्लङ्घितमिति व्याकरणलक्षणहीनत्वात् च्युतसंस्कारत्वम्।

उनके पर्यायों में परिवर्तन अनुचित है जैसे कि 'वाडवानल' पद (क्योंकि यदि 'वडवानल' पद के पूर्ववर्ती 'वडवा' रूप अंश को बदल कर 'अश्वानल' कर दिया जाय तो 'वडवाग्नि' की प्रतीति न हो पायगी और नेयार्थता का दोष लग जायगा)।

अनुवाद—इसी भाँति अन्य दोषों के भी पदांशगत रूप यथासम्भव स्वयं देखे जा सकते हैं।

इन दोषों में निरर्थकत्व आदि (अर्थात् निरर्थकत्व, असमर्थत्व और च्युतसंस्कृतित्व) दोष ऐसे हैं जो केवल पदगत रूप में ही काव्य-साहित्य में दिखाई देते हैं (न कि पदांशगत अथवा वाक्यगत रूप में भी)। जैसे कि क्रम से—

'अरी मान करने वाली ! अब तो अपना मान छोड़।'

यहाँ उपर्युक्त उक्ति में 'हि' पद केवल वृत्तपूर्ति के ही लिए प्रयुक्त है (क्योंकि इसका कोई भी अर्थ यहाँ अन्वित नहीं होता)। अथवा, जैसे कि—

'यह कृशोदरी कुञ्ज में जा रही है (कुञ्ज हन्ति)।'

यहाँ जो 'हन्ति' पद प्रयुक्त है वह शब्द-शास्त्र में गमन के अर्थ में निर्दिष्ट तो है किन्तु गमन के अभिप्राय का प्रत्यायक कदापि नहीं हो सकता।

इसी भाँति 'गाण्डीवधारी अर्जुन ने, त्रिलोचन शिव के कनकशिला-सरीखे वक्षःस्थल पर, अपनी भुजाओं से प्रहार प्रारम्भ कर दिया (आजघ्ने)।'

(महाकविभारवि की) इस सूक्ति में जो 'आजघ्ने' पद है उसमें 'च्युतसंस्कृतित्व' स्पष्ट है। कारण यह है कि 'आङ्' उपसर्गपूर्वक 'हन्' धातु का आत्मनेपद में प्रयोग पाणिनीय व्याकरणशास्त्र के 'आङो यमहनः (१ ३ २८)' सूत्र के अनुसार होता अवश्य है किन्तु 'स्वाङ्गकर्मकाच्च' आदि वार्तिक की अनुवृत्ति के कारण तभी होता है जब कि मारने की क्रिया का कर्म 'स्वाङ्ग' (मारने वाले का अपना अङ्ग) हुआ करता है।

'नन्वत्र 'आजघ्ने' इति पदस्य स्वतो न दुष्टता, अपि तु पदान्तरापेक्षयैव इत्यस्य वाक्यदोषता ? नैवम् तथाहि गुणदोषालङ्काराणां शब्दार्थगतत्वेन व्यवस्थितेस्तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वं हेतुः । इह तु दोषस्य 'आजघ्ने' इति पदमात्रस्यैवान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वम्, पदान्तराणां परिवर्तनेऽपि तस्य तादवस्थ्यादिति पददोषत्वमेव। तथा यथेहात्मनेपदस्य परिवृत्तावपि न पद दोषः, तथा हन्प्रकृतेरपीति न पदांशदोषः।

एवं 'पद्म' इत्यत्राप्रयुक्तस्य पदगतत्वं बोध्यम्। एवं प्राकृतादिव्याकरण-लक्षणहीनानामपि च्युतसंस्कारत्वमूह्यम् ।

(कतिपय दोषों के स्वरूप-भेद)

इह तु शब्दानां सर्वथा प्रयोगाभावेऽसमर्थत्वम्। विरलप्रयोगे निहतार्थत्वम्। निहतार्थत्वमनेकार्थशब्दविषयम्। अप्रतीतत्वं त्वेकार्थस्यापि शब्दस्य

यहाँ (भारवि ने) इस नियम का उल्लङ्घन किया है जिससे यह प्रयोग व्याकरण के नियम के विरुद्ध है यहाँ 'च्युतसंस्कृतित्व' दोष आ जाता है।

यहाँ ('आजघ्ने' आदि में) यह कहा जा सकता है कि अपने आप में तो 'आजघ्ने' पद व्याकरण से अनुमोदित है और इसमें जो भी दोष है वह दूसरे पद (अर्थात् विषम-विलोचनस्य वक्षः) की अपेक्षा से है जिसके देखते यहाँ 'वाक्यगत' च्युतसंस्कृतित्व की कल्पना की जा सकती है (न कि पदमात्रगत दोष की)। किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं। बात यह है कि गुण, दोष किंवा अलङ्कारों को शब्दगत अथवा अर्थगत रूप से जो व्यवस्थित माना गया है उसका कारण अन्वय-व्यतिरेक' का सिद्धान्त है (अर्थात् जो दोष अथवा गुण अथवा अलङ्कार जिस शब्द अथवा अर्थ के रहने पर रहे और न रहने पर न रहे वह उसी शब्द अथवा अर्थ का दोष अथवा गुण अथवा अलङ्कार माना जाया करता है)। यहाँ जो च्युतसंस्कृतित्व है वह 'आजघ्ने' इस एक पद के रहने से ही है क्योंकि इसे हटा देने से यह दोष हट जाता है। इसलिये यहाँ 'च्युतसंस्कृतित्व' पददोष है (न कि वाक्यदोष) क्योंकि अन्य पदों के बदल देने पर भी यह दोष बना ही रह जाता है। यहाँ इसे पदांशगत दोष भी नहीं माना जा सकता क्योंकि जैसे 'आत्मनेपद' को बदल देने पर यह दोष हट जाता है वैसे ही हन् धातु को बदल देने पर भी (पदांश दोष तो तब तब होता जब कि प्रकृति और प्रत्यय दोनों में से किसी एक के बदल देने पर भी बना रहता)।

इसी भाँति 'पद्म' (पुल्लिंग में 'पद्म शब्द) आदि में जो 'अप्रयुक्तत्व' दोष है वह 'पद गत' ही माना जाना चाहिये। साथ ही साथ प्राकृत भाषाओं के व्याकरण-नियमों के विरुद्ध जो प्रयोग हैं उनमें भी वस्तुतः 'च्युतसंस्कृतित्व' दोष ही देखा जाना चाहिये।

अनुवाद—यहाँ इन कतिपय उपर्युक्त दोषों का परस्पर भेद इस प्रकार समझना चाहिये—'असमर्थत्व' तब हुआ करता है जब कि किसी शब्द का ऐसे अर्थ में प्रयोग किया जाय जिसमें उसे कभी प्रयुक्त नहीं किया जाया करता। 'निहतार्थत्व' ऐसे शब्द के प्रयोग में रहा करता है जिसका किसी अर्थ में कदाचित् ही (जैसे कि श्लिष्टप्रसङ्ग में) प्रयोग किया जाया करता है। 'निहतार्थत्व' की सम्भावना तो अनेकार्थक शब्द के प्रयोग में (वस्तुतः विरल प्रयोग में) है किन्तु 'अप्रतीतत्व' ऐसे एकार्थक अथवा अनेकार्थक शब्द के भी प्रयोग में सम्भव है जो कि उस अर्थ में सर्वत्र प्रयुक्त न होता हो जिसमें उसे प्रयुक्त

सार्वत्रिकप्रयोगविरहः । अप्रयुक्तत्वमेकार्थशब्दविषयम् । असमर्थत्वमनेकार्थ-शब्दविषयम् । असमर्थत्वे हन्त्यादयोऽपि गमनार्थे पठिताः । अवाचकत्वे दिनादयः प्रकाशमयाद्यर्थं न तथेति परस्परभेदः ।

(वाक्यदोष : स्वरूप तथा भेद-निरूपण)

एवं पददोषसजातीया वाक्यदोषा उक्ता', सम्प्रति तद्विजातीया उच्यन्ते—

'वर्णानां प्रतिकूलत्वं, लुप्ताऽऽहतविसर्गते ।
अधिकन्यूनकथितपदताहतवृत्तता ॥ ५ ॥
पतत्प्रकर्षता, सन्धौ विश्लेषाश्लीलकष्टताः ।
अर्धान्तरैकपदता समाप्तपुनरात्तता ॥ ६ ॥
अभवन्मतसम्बन्धाक्रमामतपरार्थताः ।
वाच्यस्यानभिधानं च भग्नप्रक्रमता तथा ॥ ७ ॥
त्यागः प्रसिद्धेरस्थाने न्यासः पदसमासयोः ।
संकीर्णता गर्भितता दोषाः स्युर्वाक्यमात्रगाः ॥ ८ ॥

किया गया है । 'अप्रयुक्तत्व' दोष का विषय वह शब्द है जो एकार्थक हुआ करता है और 'असमर्थत्व' दोष का वह जो अनेकार्थक हो । 'असमर्थत्व' और 'अवाचकत्व' का भेद उदाहरण से ही स्पष्ट है । 'असमर्थत्व' दोष का उदाहरण 'गमन' के भी अर्थ में पठित 'हन्' धातु (हन् हिंसागत्यो) का (हिंसा के बदले) गमन के अर्थ में प्रयोग है (क्योंकि जङ्घा, पद्धति आदि शब्दों के अतिरिक्त) इसे गमन के अर्थ में प्रयुक्त नहीं किया जाया करता ('गच्छति' के बदले 'हन्ति' का प्रयोग सर्वथा दुष्ट प्रयोग है)। 'अवाचकत्व' के उदाहरण-रूप में 'प्रकाशमय' आदि अर्थों में प्रयुक्त 'दिन' आदि शब्दों को लिया जा सकता है जो कि इन अर्थों में शब्दशास्त्र में कदापि निर्दिष्ट नहीं ।

अनुवाद—अब उन वाक्यदोषों का निरूपण किया जा रहा है जो कि एकमात्र वाक्यगत हुआ करते हैं क्योंकि अब तक जिन वाक्यदोषों का निरूपण किया गया वे पददोषों के सजातीय थे । ये दोष एकमात्र वाक्यदोष हैं—

१ प्रतिकूलवर्णत्व
२ लुप्तविसर्गत्व
३ आहतविसर्गत्व
४ अधिकपदत्व
५ न्यूनपदत्व
६ कथितपदत्व
७ हतवृत्तत्व
८ पतत्प्रकर्षत्व
९ सन्धिविश्लेष
१० सन्ध्यश्लीलत्व
११ सन्धिकष्टत्व
१२ अर्धान्तरैकपदत्व
१३ समाप्तपुनरात्तत्व
१४. अभवन्मतसम्बन्धत्व
१५. अक्रमत्व
१६. अमतपरार्थत्व
१७ वाच्यानभिधान
१८ भग्नप्रक्रमत्व
१९ प्रसिद्धित्याग
२० अस्थानस्थपदत्व
२१ अस्थानस्थसमासत्व
२२ सकीर्णत्व
और
२३ गर्भितत्व ।

'नन्वत्र 'आत्मने' इति पदस्य स्वतो न दुष्टता, अपि तु पदान्तरापेक्षयैव इत्यस्य वाक्यदोषता ? नैवम् यथाहि गुणदोषालङ्काराणां शब्दार्थगतत्वेन व्यवस्थितेस्तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वं हेतुः । इह तु दोषस्य 'आत्मने' इति पदमात्रस्यैवान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वम्, पदान्तराणां परिवर्तनेऽपि तस्य तादवस्थ्यादिति पददोषत्वमेव । तथा यथेहात्मनेपदस्य परिवृत्तावपि न पद दोष', तथा हन्प्रकृतेरपीति न पदांशदोषः'।

एवं 'पद्म' इत्यत्राप्रयुक्तस्य पदगतत्वं बोध्यम् । एवं प्राकृतादिव्याकरण लक्षणहीनानामपि च्युतसंस्कारत्वमूह्यम् ।

(कतिपय दोषों के स्वरूप-भेद)

इह तु शब्दानां सर्वथा प्रयोगाभावेऽसमर्थत्वम् । विरलप्रयोगे निहतार्थत्वम् । निहतार्थत्वमनेकार्थशब्दविषयम् । अप्रतीतत्व त्वेकार्थस्यापि शब्दस्य

यहाँ (भारवि ने) इस नियम का उल्लङ्घन किया है जिससे यह प्रयोग व्याकरण के नियम के विरुद्ध है यहाँ 'च्युतसंस्कृतित्व' दोष आ जाता है।

यहाँ ('आत्मने आदि में) यह कहा जा सकता है कि अपने आप में तो 'आत्मने' पद व्याकरण से अनुमोदित है और इसमें जो भी दोष है वह दूसरे पद (अर्थात् विनम विकोचनस्य तथा) की अपेक्षा से है जिसके देखते यहाँ 'वाक्यगत' च्युतसंस्कृतित्व की कल्पना की जा सकती है (न कि पदमात्रगत दोष की)। किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं। बात यह है कि गुण दोष किंवा अलङ्कारों को शब्दगत अथवा अर्थगत रूप से जो व्यवस्थित माना गया है उसका कारण 'अन्वय व्यतिरेक' का सिद्धान्त है (अर्थात् जो दोष अथवा गुण अथवा अलङ्कार जिस शब्द अथवा अर्थ के रहने पर रहे और न रहने पर न रहे वह उसी शब्द अथवा अर्थ का दोष अथवा गुण अथवा अलङ्कार माना जाया करता है)। यहाँ जो च्युतसंस्कृतित्व है वह 'आत्मने' इस एक पद के रहने से ही है क्योंकि इसे हटा देने से यह दोष हट जाता है। इसलिये यहाँ 'च्युतसंस्कृतित्व' पददोष है (न कि वाक्यदोष) क्योंकि अन्य पदों के बदल देने पर भी यह दोष बना ही रह जाता है। यहाँ इसे पदांशगत दोष भी नहीं माना जा सकता क्योंकि जैसे 'आत्मनेपद' को बदल देने पर यह दोष हट जाता है वैसे ही हन् धातु को बदल देने पर भी (पदांश दोष तो यह तब होता जब कि प्रकृति और प्रत्यय दोनों में से किसी एक के बदल देने पर भी बना रहता)।

इसी भाँति 'पद्म' (पुल्लिंग में 'पद्म शब्द') आदि में जो 'अप्रयुक्तत्व' दोष है वह 'पदगत' ही माना जाना चाहिये। साथ ही साथ प्राकृत भाषाओं के व्याकरण-नियमों के विरुद्ध जो प्रयोग हैं उनमें भी वस्तुतः 'च्युतसंस्कृतित्व' दोष ही देखा जाना चाहिये।

अनुवाद—यहाँ इन कतिपय उपर्युक्त दोषों का परस्पर भेद इस प्रकार समझना चाहिये—'असमर्थत्व' तब हुआ करता है जब कि किसी शब्द का ऐसे अर्थ में प्रयोग किया जाय जिसमें उसे कभी प्रयुक्त नहीं किया जाया करता। 'निहतार्थत्व' ऐसे शब्द के प्रयोग में रहा करता है जिसका किसी अर्थ में कदाचित् ही (जैसे कि श्लिष्टप्रसङ्ग में) प्रयोग किया जाया करता है। 'निहतार्थत्व' की सम्भावना तो अनेकार्थक शब्द के प्रयोग में (वस्तुतः विरल प्रयोग में) है किन्तु 'अप्रतीतत्व' ऐसे एकार्थक अथवा अनेकार्थक शब्द के भी प्रयोग में सम्भव है जो कि उस अर्थ में सर्वत्र प्रयुक्त न होता हो जिसमें उसे प्रयुक्त

(२—लुप्तविसर्गत्व)

'गता निशा इमा बाले ।'

अत्र लुप्ता विसर्गाः ।

(३—आहतविसर्गत्व)

आहता ओत्वं प्राप्ता विसर्गा यत्र ।

यथा—'धीरो वरो नरो याति ।'

(४—अधिकपदत्व)

'पल्लवाकृतिरक्तोष्ठी ।'

अत्राकृतिपदमधिकम् ।

('अधिकपदत्व' विषयक विशेष विचार)

एवम्—

'सदाशिवं नौमि पिनाकपाणिम् ।'

इति विशेषणमधिकम् ।

यहाँ यह तो निश्चित है कि साहित्यदर्पणकार ने 'काव्यप्रकाश' के अनुरोध पर 'प्रतिकूलवर्णत्व' का स्वरूप निरूपण किया है किन्तु 'रीति' को काव्योत्कर्षकारक अतिरिक्त तत्त्व माननेवाले आचार्य के लिये 'अरीतिमत्' का स्वरूप निरूपण कदाचित् युक्तिसंगत होता ।

अनुवाद—'अरी सुन्दरी ! ये रातें यों ही बीत गयीं ।'

यहाँ ('गता निशा इमा बाले' आदि में) विसर्गों का लोप है जिसमें 'लुप्तविसर्गत्व' दोष दिखायी दे रहा है ।

[सकार के 'ससजुषो रुः' से रुत्व, 'भोभगोअघोऽपूर्वस्य योऽशि' से यत्व तथा 'हलि सर्वेषाम्' और 'लोपः शाकल्यस्य' से यलोप होने पर 'लुप्तविसर्गत्व' का जन्म होता है । जिस वाक्य में विसर्ग का उच्चारण हो उसमें पाठ सौन्दर्य किंवा पाठ माधुर्य रहा करता है । किन्तु यदि विसर्ग लुप्त रहे तो पाठ में असौकर्य तो होता ही है साथ ही साथ नीरसता भी उत्पन्न हो जाती है ।]

अनुवाद—'आहतविसर्गत्व' वहाँ होता है जहाँ विसर्ग ओकार के रूप में परिवर्तित हो जाया करते हैं । जैसे कि 'धीरो वरो नरो याति' सरीखे वाक्य में ।

[विसर्गों के ओकार में परिवर्तन से वाक्यपाठ में नीरसता आ जाती है जिसके कारण 'आहतविसर्गत्व' अथवा 'उपहतविसर्गत्व' को वाक्य दोष माना गया है ।]

अनुवाद—'अधिकपदत्व', जैसे कि—

'पल्लव की आकृति की भाँति लाल ओठोंवाली ।' यहाँ यह स्पष्ट है कि 'आकृति' पद (अनुपयुक्त होने के कारण) अधिक लग रहा है (क्योंकि नायिका के ओठों की तुलना 'पल्लव' से ही की जाया करती है, उसकी आकृति से नहीं) ।

अनुवाद—इसी भाँति इस उक्ति जैसे कि—

'पिनाकपाणि सदाशिव (भगवान् शङ्कर) को प्रणाम ।' आदि में, विशेषणरूप से प्रयुक्त 'पिनाकपाणि' पद अधिक प्रतीत हो रहा है (क्योंकि भगवान् शङ्कर की स्तुति के प्रसङ्ग में इसका उपयोग अकिञ्चित्कर ही है) । किन्तु (महाकवि कालिदास के कुमारसंभव की) इस सूक्ति अर्थात्—

(वाक्यगतदोष : १ प्रतिकूलवर्णत्व)

वर्णानां रसानुगुण्यविपरीतत्वं प्रतिकूलत्वम् ।

यथा मम—

'ओवट्टइ उल्लट्टइ सअणे कहिँपि मोट्टाअइ णो परिहट्टइ ।
हिअएण फिट्टइ लज्जाइ खुट्टइ दिहीए सा ॥'

(अपवर्तयति उद्वर्तयति शयने कुत्रापि मोट्टायति नो परिघट्टयति ।
हृदयेन स्फिट्यति लज्जया खुट्यति धृत्या सा ॥)

अत्र टकाराः शृङ्गाररसपरिपन्थिनः केवलं शक्तिप्रदर्शनाय निबद्धाः । एषां चैकद्वित्रिचतुष्प्रयोगे न तादृग्रसभङ्ग इति न दोषः ।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार ने काव्यप्रकाशकार-सम्मत वाक्यदोषों का ही निरूपण किया है। काव्यप्रकाशकार के अनुसार वाक्यमात्रगत दोषों की संख्या २१ है। साहित्यदर्पणकार ने काव्यप्रकाश निरूपित 'विसन्धित्व' दोष को 'सन्धिविश्लेष' 'सन्ध्यश्लीलत्व' और 'सन्धिकष्टत्व' नामक तीन दोषों के रूप में देखा है जिससे साहित्यदर्पणकार की वाक्यदोषसंख्या २३ हो गयी है।

अनुवाद—'प्रतिकूलवर्णत्व' वह दोष है जिसे रसाभिव्यञ्जन के प्रतिकूल वर्णों की योजनावाले वाक्य में देखा जाया करता है। उदाहरण के लिये इस स्वरचित काव्य-वाक्य अर्थात्—

'तुम्हारे विरह में यह सुन्दरी पलंग पर करवटें बदला करती है हाथ-पैर पटका करती है मोट्टायित में व्यग्र रहा करती है और सभी काम छोड़-छाड़कर पड़ी रहा करती है इसका हृदय फटा पड़ता है और लज्जा के कारण इसकी बेचैनी बढ़ती दिखायी दिया करती है।' आदि में। यहाँ 'प्रतिकूलवर्णत्व' इसलिये है क्योंकि यहाँ कवि ने शक्तिप्रदर्शन के लिये (प्रतिकूलवर्णत्व के निदर्शन में अपना कवि-कौशल दिखाने के लिये) यहाँ के कोमल रस—वस्तुतः शृंगार रस—के विरुद्ध टवर्गवर्णों की योजना की है। वैसे यदि दो-एक अथवा तीन-चार बार इनका प्रयोग हो जाय तो कोई विशेष रसभंग अथवा दोष नहीं होता किन्तु इनका अनेक बार प्रयोग जैसा कि यहाँ स्पष्ट है, दोषावह ही बना रहता है।

विमर्श—सरस्वतीकण्ठाभरणकार के अनुसार 'प्रतिकूलवर्णत्व' दोष का नाम 'अरीतिमत्' है—
'गुणानां दृश्यते यत्र श्लेषादीनां विपर्ययः । अरीतिमदिति प्राहुस्तत् त्रिधैव प्रचक्षते ॥ शब्दार्थोभयभेदस्य प्राधान्यात् प्रथमं त्रिधा । मुक्ता श्लेषादियोगेन पुनर्भेदोपपद्यते ॥ अत्र वा श्लेषसमतासौकुमार्यविपर्ययः । शब्दप्रधानमाहुस्तमरीतिमदिदं पदम् ॥ विपर्ययेण श्लेषस्य संदर्भः शिथिलो भवेत् । भवेत्तु एव विषमो समताया विपर्ययात् ॥ सौकुमार्यविपर्यासात् कठोरं उपजायते । या तु कान्तिप्रसादार्थव्यक्तीनामन्यथागतिः ॥ अर्थप्रधानः सोऽत्रास्ति वाक्ये गुण्यविपर्ययः । अप्रसन्नं भवेद् वाक्यं प्रसादस्य विपर्ययात् ॥

(सरस्वतीकण्ठाभरण । १ १८-२४)

अर्थात् श्लेष, प्रसाद, समता, सौकुमार्य आदि गुणों के योग से ही वाक्यों में काव्यता की प्रतीति हुआ करती है किन्तु इनके अभाव में वाक्य काव्याभास में बदल जाते हैं। गुणों के विपर्यय में रीतिभङ्ग स्वाभाविक है क्योंकि गुणवती पदरचना का ही नाम 'रीति' है। श्लेष के विपर्यय में संदर्भ में शैथिल्य 'समता' के विपर्यय में बन्ध में वैषम्य और सौकुमार्य के विपर्यय में रचना में कठोरता का होना निश्चित ही है।

(२—लुप्तविसर्गत्व)

'गता निशा इमा बाले !'

अत्र लुप्ता विसर्गाः ।

(३—आहतविसर्गत्व)

आहता ओत्वं प्राप्ता विसर्गा यत्र ।

यथा—'धीरो वरो नरो याति ।'

(४—अधिकपदत्व)

'पल्लवाकृतिरक्तोष्ठी ।'

अत्राकृतिपदमधिकम् ।

('अधिकपदत्व' विषयक विशेष विचार)

एवम्—

'सदाशिव नौमि पिनाकपाणिम् ।'

इति विशेषणमधिकम् ।

यहाँ यह तो निश्चित है कि साहित्यदर्पणकार ने '...' का स्वरूप-निरूपण किया है किन्तु 'रीति' को काव्योत्कर्षक ... के लिये 'अरीतिमत्' का स्वरूप निरूपण कदाचित् युक्तिसंगत ...

अनुवाद—'अरी सुन्दरी ! ये रातें यों ही बीत गयीं ।' यहाँ ('गता निशा इमा बाले' आदि में) विसर्गों का लोप ... दोष दिखायी दे रहा है ।

[सकार के 'ससजुषो रु' से रुत्व, 'भोभगोअघो... सर्वेषाम्' और 'लोप शाकल्यस्य' से यलोप होने पर ... जिस वाक्य में विसर्ग का उच्चारण हो उसमें पाठ सौन्दर्य ... किन्तु यदि विसर्ग लुप्त रहे तो पाठ में असौकर्य तो होता ... भी उत्पन्न हो जाती है ।]

अनुवाद—'आहतविसर्गत्व' वहाँ होता है जहाँ विसर्ग ... हो जाया करते हैं । जैसे कि 'धीरो वरो नरो याति' ...

[विसर्गों के ओकार में परिवर्तन से वाक्यपाठ में ... 'आहतविसर्गत्व' अथवा 'उपहतविसर्गत्व' को वाक्य दोष ...

अनुवाद—'अधिकपदत्व', जैसे कि—

'पल्लव की आकृति की भाँति लाल ओठोंवाली ।' यहाँ ... (अनुपयुक्त होने के कारण) अधिक लग रहा है (क्योंकि ... 'पल्लव' से ही की जाया करती है, उसकी आकृति से नहीं)

अनुवाद—इसी भाँति इस उक्ति जैसे कि—

'पिनाकपाणि सदाशिव (भगवान् शङ्कर) को प्रणाम ... प्रयुक्त 'पिनाकपाणि' पद अधिक प्रतीत हो रहा है (क्योंकि ... प्रसङ्ग में इसका उपयोग अकिञ्चित्कर ही है) । किन्तु (... सम्भव की) इस सूक्ति अर्थात्—

'कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणेः' इति ।

अत्र तु पिनाकपाणिपदं विशेषप्रतिपत्त्यर्थमुपात्तमिति युक्तमेव ।

यथा वा—'वाचमुवाच कौत्सः ।'

अत्र वाचमित्यधिकम् । उवाचेत्यनेनैव गतार्थत्वात् ।

क्वचित्तु विशेषणदानार्थं तत्प्रयोगो युज्यते ।

यथा—'उवाच मधुरां वाचम्' इति ।

केचित्त्वाहुः—यत्र विशेषणस्यापि क्रियाविशेषणत्वं सम्भवति तत्रापि तत्प्रयोगो न घटते ।

यथा—'उवाच मधुरं धीमान्' इति ।

(५—न्यूनपदत्व)

'यदि मय्यर्पिता दृष्टिः किं ममेन्द्रतया तदा ।'

अत्र प्रथमे त्वयेति पदं न्यूनम् ।

(६—कथितपदत्व)

'रतिलीलाश्रमं भिन्ते सलीलमनिलो वहन् ।'

अत्र लीलाशब्दः पुनरुक्तः ।

'पिनाकपाणि महादेव का भी धैर्य डिगा दूँ' आदि में विशेषणरूप से प्रयुक्त यहाँ 'पिनाकपाणि' पद सर्वथा (सार्थक किंवा) निर्दुष्ट है क्योंकि इसके द्वारा भगवान् शङ्कर की एक विशेषता (वस्तुतः दुर्जेयता) का अवबोध कराया जा रहा है।

अधिकपदत्व' का यह भी एक स्पष्ट उदाहरण है—

'कौत्स वचन बोले'—('वाचमुवाच कौत्सः' रघुवंश । ५ म सर्ग) यहाँ 'वाचम्' पद अधिक है क्योंकि 'उवाच' पद के प्रयोग से ही 'वचन' के उच्चारण का अभिप्राय निकल आता है। किन्तु कभी-कभी विशेषण के प्रयोग की सार्थकता के लिये इस पद का प्रयोग आवश्यक हो जाता है जैसे कि—

'वह बड़ा मीठा वचन बोला।' किन्तु यहाँ कतिपय आचार्य (जैसे कि काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट) अधिकपदत्व' ही मानते हैं क्योंकि उनका कहना यह है कि यदि विशेषण (जैसे कि 'उवाच मधुरां वाचम्' में 'मधुराम् पद) को क्रियाविशेषण ('उवाच मधुरं धीमान् में मधुरम् पद) के रूप में व्यवहृत किया जाय तब यह स्पष्ट हो जायगा कि 'वाचम् आदि पद अधिक हैं और प्रयोग योग्य नहीं हैं। इसीलिये—'उवाच मधुरं धीमान्' आदि वाक्य निर्दुष्ट हैं (क्योंकि यहाँ कोई पद अनुपयुक्त होने से अधिक नहीं है)

अनुवाद—'न्यूनपदत्व' जैसे कि—

'यदि (आपने) मेरी ओर कृपा-दृष्टि की तो मुझे इन्द्रके पदकी भी कोई चिन्ता नहीं।'

'यहाँ (यदि मय्यर्पिता दृष्टि—इस) प्रथम चरण में 'त्वया' पद की कमी रह गयी है जिससे इसमें 'न्यूनपदत्व' का दोष आ गया है।

अनुवाद—'कथितपदत्व' जैसे कि—

'यह लीला करती बहती समीर रतिलीला की श्रान्ति भगा रही है।'

'यहाँ 'लीलापद पुनरुक्त है क्योंकि 'सलीलम्' के विशेषण के रहते हुए 'रतिलीलाश्रम' में 'लीला' पद अनावश्यक प्रतीत हो रहा है।

एवम्—'जक्षुर्विसं धृतविकासिविसप्रसूनाः।'

अत्र विसशब्दस्य धृतपरिस्फुटतत्प्रसूना इति सर्वनाम्नैव परामर्शो युक्तः।

(७—हतवृत्तत्व)

हतवृत्तम्—लक्षणानुसरणेऽप्यश्रव्यम्, रसाननुगुणम्, अप्राप्तगुरुभावान्त-लघु च। क्रमेण यथा—

'हन्त! सततमेतस्या हृदयं भिन्ते मनोभवः कुपितः।'

'अयि! मयि मानिनि! मा कुरु मानम्।'

इदं वृत्तं हास्यरसस्यैवाऽनुकूलम्।

'विकसित-सहकार-भार हारि-परिमल एष समागतो वसन्तः'।

इसी भाँति (महाकवि माघ के शिशुपालवध ५म सर्ग की) इस सूक्ति अर्थात्—

'हाथों में कमल के फूल (विसप्रसून) लिये हुये सैनिकों ने कमलनाल (विस) खाना प्रारम्भ किया।'

में, जो 'धृतविकासिविसप्रसूना' पद है उसमें 'विस' पद पुनरुक्त है क्योंकि यहाँ 'धृत-परिस्फुटतत्प्रसूना' पद का प्रयोग होना चाहिये था जिसमें पूर्वप्रयुक्त 'विस' का 'तत्' इस सर्वनाम पद द्वारा परामर्श हो जाता और 'कथितपदत्व' की कोई सभावना भी न रह पाती।

अनुवाद—'हतवृत्त' उस प्रकार का वृत्त है जो (१) छन्द शास्त्र के नियमानुसार ठीक होने पर भी, सुनने में खटक जाया करता है, (२) प्रकृत रस के अननुगुण अथवा प्रतिकूल लगा करता है और (३) जिसके पाद के अन्त का लघुवर्ण गुरु नहीं हो पाता (जैसा कि नियमानुसार उसे होना चाहिये)। इस प्रकार के वृत्त में बद्ध काव्यवाक्य 'हतवृत्तत्व' दोष से दूषित रहा करता है। उदाहरण के लिये—

'ओह! निरन्तर ही ऐसा होता है कि कामदेव क्रुद्ध होकर इस सुन्दरी के हृदय पर प्रहार किया करते हैं।'

[यहाँ अर्थात् 'हन्त सततमेतस्या हृदयं भिन्ते मनोभव कुपितः' में 'हतवृत्तत्व' इस लिये है क्योंकि वैसे तो यह आर्या छन्दःशास्त्र के नियम अर्थात्—

'यस्या पादे प्रथमे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या॥'

आदि का अनुसरण कर रही है किन्तु सुनने में खटक जाती है क्योंकि प्रथम चरण 'अनुष्टुप्' सा सुनायी पड़ता है और बाद में आर्या की चाल प्रतीत होती है।]

अथवा

'अरी मान करने वाली! मुझ पर मान न कर।'

यहाँ भी 'हतवृत्तत्व' है क्योंकि यहाँ का जो (पज्झटिका नामक) वृत्त है वह हास्य रस के अभिव्यञ्जन के अनुकूल हुआ करता है (जब कि यहाँ का रस शृङ्गार है)।

अथवा

'खिली हुई आम की मंजरियों के मधुर सौरभ से सना वसन्त का समय आ पहुँचा।'

यस्यापान्ते लघोरपि गुरुभाव उक्तः, तत्सर्वत्र द्वितीयचतुर्थपादविषयम्। प्रथमतृतीयपादविषयन्तु वसन्ततिलकादेरेव।

अत्र 'मधुसुरभितसौरभ आगतो वसन्तः' इति पाठे युक्तः।

यथा वा—

> 'अन्यास्ता गुणरत्नरोहणभुवो धन्या मृदन्यैव सा
> सम्भाराः खलु तेऽन्य एव विधिना यैरेष सृष्टो युवा।
> श्रीमत्कान्तिजुषां द्विषां करतलात् स्त्रीणां नितम्बस्थलात्
> दृष्टे यत्र पतन्ति मूढमनसामस्त्राणि वस्त्राणि च' ॥

अत्र 'वस्त्राणि च' इति बन्धस्य श्लथत्वमुचितम्। 'वस्त्राण्यपि' इति पाठे तु दार्ढ्यमिति न दोषः। 'इदमप्राप्तगुरुभावान्तलघु' इति काव्यप्रकाशकारः। वस्तु तस्तु 'लक्षणाऽननुसरणोऽप्यमन्यम्' इत्यन्ये।

यहाँ 'हतवृत्तत्व' इसलिये है क्योंकि 'विकसितसहकारभारहारि' इस प्रथम चरण के अन्त का लघुवर्ण गुरुवर्ण के रूप में नहीं सुनायी देता (जैसा कि नियमानुसार उसे सुनायी देना चाहिये)। छन्दःशास्त्र का यह नियम कि पाद के अन्त का लघुवर्ण गुरुवर्ण के रूप में (विकल्पतः) सुनायी पड़ना चाहिये वस्तुतः और छन्दों के तो द्वितीय और चतुर्थ चरणों के लिये अनिवार्य है किन्तु 'वसन्ततिलक' आदि वृत्तों के प्रथम और तृतीय चरणों में भी इसे लागू माना गया है (इसलिये यहाँ के पुष्पिताग्रा वृत्त के प्रथम चरण में इसे लागू होते न देखकर 'हतवृत्तत्व' की प्रतीति स्वाभाविक है)।

यहाँ यदि '(विकसितसहकारभारहारि) मधुसुरभितसौरभ आगतो वसन्तः' यह पाठ कर दिया जाय तो 'हारि' का 'रि' आगे के संयुक्त 'म' के प्रभाव से गुरुवर्ण के रूप में सुनायी पड़ने लगता है और 'हतवृत्तत्व' का दोष हट जाता है।

अथवा

'गुणरत्नों की उत्पादिका वह भूमि कोई और ही भूमि है, वह सौभाग्यशालिनी मिट्टी कोई और ही मिट्टी है और वे सम्भार (साधन) कोई और ही सम्भार हैं जिनसे विधाता ने इस युवक को बनाया है। तभी तो यह बात है कि इसके देखते (भय अथवा काम से) मुग्ध हृदय वाले शत्रुओं के हाथ से शस्त्र और सुन्दरियों के नितम्ब से वस्त्र सहसा छूट पड़ते हैं।

यहाँ भी 'हतवृत्तत्व' है क्योंकि (यहाँ के 'शार्दूलविक्रीडित' वृत्त के अन्तिम चरण के अन्त में) 'वस्त्राणि च' में जो अन्तलघु वर्ण है उसके कारण यह वृत्त ढीला-ढाला सुनायी पड़ रहा है। यहीं यदि 'वस्त्राणि च' के बदले 'वस्त्राण्यपि' कर दिया जाय तो (बन्ध-शैथिल्य हट जाता है और) बन्ध में दृढ़ता अथवा गम्भीरता आ जाती है।

काव्यप्रकाशकार (आचार्य मम्मट) ने भी इसे ('अन्यास्ता' आदि का) हतवृत्त ही माना है किन्तु 'अप्राप्तगुरुभावान्तलघु'रूप 'हतवृत्त' कहा है (अर्थात् यहाँ 'हतवृत्त' इसलिये है क्योंकि 'वस्त्राणि च' का अन्तिम लघुवर्ण किसी प्रकार से भी गुरुवर्ण के रूप में नहीं सुनायी देता जैसा कि इसके लिए आवश्यक है)। किन्तु इसकी 'हतवृत्तता' जैसा कि अन्य आचार्यों का कहना है, '(छन्दःशास्त्र के अनुसरण में भी) अश्रव्यता के कारण' मानी जानी चाहिये।

(८—पतत्प्रकर्षत्व)

'प्रोज्ज्वलज्ज्वलनज्वालाविकटोरुसटाच्छटः ।
श्वासक्षिप्तकुलक्ष्माभृत् पातु वो नरकेशरी ॥'

अत्र क्रमेणानुप्रासप्रकर्षः पतितः ।

(९—सन्धिविश्लेष)

'दलिते उत्पले एते अक्षिणी अमलाङ्गि ! ते' ।

विमर्श—'रसवादी काव्याचार्य 'हतवृत्तता' को एक बडा दोष मानते हैं । वृत्त और रस का परस्पर सम्बन्ध है और इसीलिये रसानुगुण वृत्त की रचना आवश्यक मानी गयी है । महाकवि क्षेमेन्द्र ने ठीक ही कहा है—

'काव्ये रसानुसारेण वर्णनानुगुणेन च । कुर्वीत सर्ववृत्तानां विनियोगं विभागवित् ॥'
'वृत्तरत्नावली कामादस्थाने विनिवेशिता । कथयत्यज्ञतामेव मेखलेव गले कृता ॥'

(सुवृत्ततिलक ३य विन्यास)

अर्थात् वृत्तरचना के पहले 'रस' और 'वर्ण्यवस्तु' का विचार आवश्यक है । जो वृत्त रसानुकूल और वर्णनानुकूल होता है वही काव्य का वास्तविक माध्यम है । यदि विना सोचे समझे कोई कवि कविता के गले में छन्दों की माला पहना दे तो वह अपनी ही मूर्खता प्रकाशित करता है । करधनी को किसी सुन्दरी के गले में पहनानेवाला मूर्ख ही तो हैं !

'वृत्त' और 'रस' के आनुगुण्य के सम्बन्ध में भी क्षेमेन्द्र की ये पक्तिया ध्यान देने योग्य हैं—

'शृङ्गारालम्बनोदारनायिकारूपवर्णनम् । वसन्तादितदङ्ग च सच्छायमुपजातिभि ॥
रथोद्धता विभावेषु भव्या चन्द्रोदयादिषु । षाड्गुण्यप्रगुणा नीतिर्वंशस्थेन विराजते ॥
वसन्ततिलक भाति सङ्करे वीर-रौद्रयो । उपपन्नपरिच्छेदकाले शिखरिणी मता ॥
औदार्यरुचिरौचित्यविचारे हरिणी वरा । साक्षेपक्रोधधिक्कारे पर पृथ्वी भरक्षमा ॥
प्रावृट्प्रवासव्यसने मन्दाक्रान्ता विराजते ।' (सुवृत्ततिलक : ३य विन्यास)

अनुवाद—'पतत्प्रकर्षत्व' (वह दोष है जिसे वन्ध के क्रमिक प्रकर्ष के ह्रास में देखा जाया करता है), जैसे कि—

'प्रचण्ड ज्वलन (अग्नि) की ज्वाला की भाँति विशाल और भयङ्कर सटाभार वाले किंवा श्वासोच्छ्वास से कुचालकों को डिगा देने वाले वे नरसिंह भगवान् आप सब का कल्याण करें ।'

यहाँ 'पतत्प्रकर्षत्व' स्पष्ट है क्योंकि अनुप्रास का प्रकर्ष क्रमश. गिरता ही दिखायी दे रहा है ।

विमर्श—वन्ध में क्रमश प्रकर्ष के ह्रास का कारण कवि की अशक्ति है । प्रकर्ष के उत्तरोत्तर पतन से काव्य-पाठक के काव्यानन्द में भी क्रमिक ह्रास का होना स्वाभाविक है । वन्ध की पतत्प्रकर्षता रसविघातक हो सकती है । इसीलिये आलङ्कारिकों ने इसे वाक्यदोष माना है और इससे वचने के लिये कवियों को चेतावनी दी है ।

अनुवाद—'सन्धिविश्लेष' (वह दोष है जिसे इच्छानुसार अथवा शब्दशास्त्र के नियमानुसार सन्धि के अभाव में देखा जाया करता है ।) जैसे कि—

'अरी सुन्दरी ! तेरी ये आँखें खिले नीलकमल हैं ।'

एवंविधसन्धिविश्लेषस्य असकृत् प्रयोग एव दोषः । अनुशासनमुल्लङ्घ्य वृत्तभङ्गभयमात्रेण सन्धिविश्लेषस्य तु सकृदपि ।

यथा—

'वासवाशामुखे भाति इन्दुश्चन्दनबिन्दुवत् ।'

(१० —अश्लीलत्व)

'चलण्डामरचेष्टित' इति ।

अत्र सन्धौ जुगुप्साव्यञ्जकमश्लीलत्वम् ।

(११—सन्धिकष्टत्व)

'उर्व्यसावत्र तर्वाली मर्वन्ते चार्ववस्थितिः' ।

अत्र सन्धौ कष्टत्वम् ।

(यहाँ 'इकिते उत्पके एते अश्विनी अमकाशि' आदि पदों में प्रगृह्य संज्ञा के कारण कहीं भी सन्धि नहीं। इसलिये यहाँ सन्धिविश्लेष का दोष स्पष्ट दिखायी दे जाता है।) इस प्रकार के 'सन्धिविश्लेष' को इसलिये दोष माना जाता है क्योंकि अनेक बार सन्धिभङ्ग ठीक नहीं (अनेक बार सन्धिभङ्ग से तो पाठ-सौन्दर्य बिगड़ जाता है)। व्याकरण-शास्त्र के नियम के उल्लंघन में किया गया सन्धिभङ्ग चाहे वह छन्दोभङ्ग से ही क्यों न बचाने सन्धिविश्लेष' का ही दोष है। उदाहरण के लिए—

'वासवाशा मुखे भाति इन्दुश्चन्दनबिन्दुवत् (पश्चिम दिशा के मुखमण्डल पर चन्द्रमा ऐसा चमक रहा है मानो चन्दन-बिन्दु हो) आदि प्रसङ्गों में छन्दोभङ्ग से बचने के लिये जो ('भाति-इन्दुः' में) सन्धि न की गयी उसमें व्याकरणशास्त्र के सन्धि-नियम के उल्लंघन के कारण, भले ही वह एक बार ही क्यों न किया गया हो 'सन्धिविश्लेष' का ही दोष झलक जाता है।

अनुवाद—'अश्लीलत्व' (वह दोष है जिसे सन्धि के कारण अश्लीलता की प्रतीति में देखा जाया करता है) जैसे कि—

'(वेगादुड्डीय गगने) चलण्डामरचेष्टितः ।
(अयमुत्पतते पत्री ततोऽत्रैव रुचिं कुरु ॥)

आदि प्रसङ्गों में 'चलन्+डामरचेष्टितः' में सन्धि के कारण जो 'लण्ड' (अथवा 'लण्ड') की श्रुति हो रही है उसमें एक जुगुप्सावह अभिप्राय (स्थूल किंवा दीर्घ पुरीष अथवा पुरुष के जननेन्द्रिय) की प्रतीति के हो जाने के कारण अश्लीलता उत्पन्न हो जाती है।

अनुवाद—'सन्धिकष्टत्व' (वह दोष है जिसे सन्धिविधान के कारण उत्पन्न होनेवाली श्रुतिकटुता अथवा श्रुतिकर्कशता में देखा जाया करता है) जैसे कि—

'इस मर्वन्त'(मरुभूमि के प्रान्तभाग) में 'चार्ववस्थिति' (बड़ी सुन्दर लगने वाली) और (उर्वी) बहुत बड़ी 'तर्वाली' (वृक्षपंक्ति) दिखायी पड़ रही है।

आदि प्रसङ्गों में जो (व्याकरण के नियमानुसार) सन्धिविधान दिखायी दे रहा है उसके कारण श्रुतिकर्कशता उत्पन्न हो रही है (जिसमें 'सन्धिकष्टत्व' स्पष्ट झलक उठता है)।

(१२—अर्धान्तरैकपदत्व)

'इन्दुर्विभाति कर्पूरगौरैर्धवलयन् करैः ।
जगन्मा कुरु तन्वङ्गि ! मान पादानते प्रिये ॥'

अत्र जगदिति प्रथमार्द्धे पठितमुचितम् ।

(१३—समाप्तपुनरात्तत्व)

'नाशयन्तो घनध्वान्त तापयन्तो वियोगिनः ।
पतन्ति शशिन' पादा भासयन्तः क्षमातलम् ॥'

अत्र चतुर्थपादो वाक्यसमाप्तावपि पुनरुपात्त ।

(१४—अभवन्मतसवन्धत्व)

अभवन्मतसम्बन्धो यथा—

'या जयश्रीर्मनोजस्य यया जगदलङ्कृतम् ।
यामेणाक्षीं विना प्राणा विफला मे कुतोऽद्य सा ॥'

अत्र यच्छब्दनिर्दिष्टाना वाक्याना परस्परनिरपेक्षत्वात् तदेकान्तःपातिना एणाक्षीशब्देन अन्येषा सम्बन्ध. कवेरभिमतो नोपपद्यत एव ।

अनुवाद—'अर्धान्तरैकपदत्व' (वह दोष है जिसे किसी श्लोक-वाक्य के पूर्वार्द्ध के पद के उत्तरार्ध में लगे रहने अथवा उत्तरार्ध के पद के पूर्वार्ध में चले जाने में देखा जाया करता है) जैसे कि—

'अरी सुन्दरी ! यह चन्द्रमा कर्पूर की भाँति शुभ्र किरणों से धवल बनाते हुये, चमक रहा है, जगत को । पैरों पर गिरे अपने प्रियतम पर अब तो मान न कर ।' आदि सूक्तियों में, जो दोष है वह 'अर्धान्तरैकपदत्व' का ही दोष है क्योंकि यहाँ पूर्वार्ध में रखने योग्य 'जगत्' पद उत्तरार्ध में रखा हुआ दिखायी दे रहा है ।

अनुवाद—'समाप्तपुनरात्तत्व' (वह दोष है जिसे वाक्य के समाप्त हो जाने पर भी पुन उससे समन्वित होनेवाले पद के प्रयोग में देखा जाया करता है) जैसे कि—

'घने अँधेरे को छिन्न-भिन्न करने वाली, वियोगियों को सतप्त करती चन्द्र-किरणें नीचे उतर रही हैं, धरातल को चमकाती हुई ।'

यहाँ (तीन चरणों में) वाक्य के समाप्त हो जाने पर भी जो चतुर्थ चरण (भासयन्त क्षमातलम्—धरातल को चमकाती हुई) रचा गया है उसमें 'समाप्तपुनरात्तत्व' का दोष आ लगा है ।

अनुवाद—'अभवन्मतसवन्धत्व' (वह दोष है जिसे ऐसे वाक्य में देखा जाया करता है जहाँ किसी पद का अभिप्रेत सम्बन्ध अथवा अन्वय उत्पन्न न हो सके) जैसे कि—

'जो कि कामदेव की विजयलक्ष्मी है, जिसके द्वारा यह ससार सुशोभित हो रहा है और जिस मृगनयनी के विना मेरा जीवन निष्फल है, आज वह कहाँ है ?'

यहाँ 'अभवन्मतसवन्धत्व' है क्योंकि कवि के चाहने पर भी 'एणाक्षी' पद का सम्बन्ध, पूर्वार्ध के परस्पर निरपेक्ष (स्वतन्त्र) दोनों वाक्यों ('या जयश्रीर्मनोजस्य' और 'यया जगदलङ्कृतम्') से नहीं बैठ पाता। पूर्वार्ध के दोनों वाक्य परस्पर निराकाङ्क्ष इसलिये हैं क्योंकि दोनों 'यत्' शब्द से युक्त हैं। और 'एणाक्षी' पद इनसे इसलिये सवद्ध नहीं हो

'यां विनामी वृथा प्राणा धन्याक्षी सा क्वाद्य मे'।

इति तच्छब्दनिर्दिष्टवाक्यान्तःपातित्वेऽपि यच्छब्दनिर्दिष्टवाक्यैः सम्बन्धो घटते।

यथा वा—

'ईक्षसे यत्कटाक्षेण तदा धन्वी मनोभुवः।'

अत्र यदित्यस्य तदेत्यनेन सम्बन्धो न घटते।

'ईक्षसे चेत्' इति तु युक्तः पाठः।

यथा वा—

'ज्योत्स्नाचयः पयःपूरस्तारकाः कैरवाणि च।
राजति व्योमकासारराजहंसः सुधाकरः॥'

अत्र व्योमकासारशब्दस्य समासे गुणीभावात्तदर्थस्य न सर्वैः संयोगः।

विधेयाविमर्शे यथाविमृष्टं तथैव दुष्टम्। इह तु प्रधानस्य कासारपदार्थस्य

पाता क्योंकि यह (उत्तरार्ध का) एक वाक्य ('यामेनाशी विना' आदि) में ही अन्तर्भूत पड़ा दिखायी दे रहा है।

यहाँ यदि 'यां विनामी वृथा प्राणा धन्याक्षी सा क्वाद्य मे।'—और जिसके बिना मेरा जीवन व्यर्थ है वह मृगनयनी अब कहाँ है—कर दिया जाय तो 'धन्याक्षी' पद, भले ही यह 'तत्' शब्द से युक्त (विधेय) वाक्य के अन्तर्गत क्यों न रहे 'यत्' शब्द से निर्दिष्ट दोनों (उद्देश्य) वाक्यों से अभेद रूप से सम्बद्ध हो जाता है (और यहां से 'अभवन्मत सम्बन्धत्व' का दोष भी हट जाता है)।

अथवा

'यदि तू किसी पर कटाक्ष चलाती है तब तो कामदेव धनुर्धररूप में उसके सामने खड़ा ही हो जाता है।

यहाँ भी 'अभवन्मतसम्बन्धत्व' है क्योंकि यहां प्रयुक्त 'यत्' पद (जिसका अर्थ 'यदि' है) 'तदा' पद के साथ (जो कि कालवाचक है) सम्बद्ध नहीं हो पाता। किन्तु यहीं यदि (ईक्षसे यत् के स्थान पर) 'ईक्षसे चेत्' कर दिया जाय तो 'चेत्' और तदा का अभिमत सम्बन्ध स्थापित हो जाता है (और यह दोष भी हट जाता है)।

अथवा

'चाँदनी जलराशि है तारे कुमुद हैं और व्योमसरोवर का राजहंस चन्द्रमा शोभायमान है।

यहाँ अभवन्मतसंबन्धत्व इसलिये है क्योंकि 'व्योमकासार' (गगनसरोवर) पद समास में पड़कर गौण हो गया है और पूर्वार्ध के दोनों वाक्यों ('ज्योत्स्नाचयः पयःपूरः' और 'तारकाः कैरवाणि च') में जैसा कि उचित था, संबद्ध नहीं हो पाता।

'विधेयाविमर्श' (अविमृष्टविधेयांशत्व) और 'अभवन्मतसंबन्धत्व' में परस्पर भेद है। 'विधेयाविमर्श' में तो वही पद दोषयुक्त माना जाया करता है जो कि (प्रधानरूप से उपन्यस्त होने के बदले) अप्रधानरूप से उपन्यस्त किया गया होता है। किन्तु 'अभवन्मतसम्बन्धत्व' में समस्त वाक्य के अर्थ में विरोध की प्रतीति हो उठती है क्योंकि जब कि 'कासार' (सरोवर) पद का अर्थ समास में पड़कर प्रधानतया प्रतीत न हो तब तो यह

प्राधान्येनाऽप्रतीते सर्वोऽपि पय'पूरादिशब्दार्थस्तदङ्गतया न प्रतीयत इति सर्ववाक्यार्थविरोधाऽवभास इत्युभयोर्भेदः।

'अनेन च्छिन्दता मातु' कण्ठं परशुना तव।
वद्धस्पर्द्धः कृपाणोऽय लज्जते मम भार्गव !॥'

अत्र 'भार्गवनिन्दाया प्रयुक्तस्य मातृकण्ठच्छेदनकर्त्तृत्वस्य परशुना सम्वन्धो न युक्तः' इति प्राच्याः। 'परशुनिन्दामुखेन भार्गवनिन्दाधिक्यमेव वैदग्ध्य द्योतयति' इत्याधुनिकाः।

निश्चित ही है कि 'पय पूर' आदि पदों के अर्थ उसके अङ्गरूप से कदापि प्रतीत नहीं हो सकते (और साङ्गरूपक की योजना समुचित नहीं वन सकती)।

[तात्पर्य यह है कि 'ज्योत्स्नाचय.' आदि में साङ्गरूपक वाँधा गया है। आकाश पर सरोवर (कासार) का आरोप किया गया है और चाँदनी पर जलराशि तथा तारागण पर कुमुद का। किन्तु जव तक तत्पुरुप समास में पड़ा 'कासार' पदार्थ अप्रधान वना रहे तव तक उसके अङ्गरूप से 'अभिप्रेत 'पय पूर' आदि पदार्थ उससे क्योंकर सवद्ध हो पावें और क्योंकर साङ्गरूपक उपपन्न हो सके !]

प्राचीन आलङ्कारिकों (जैसे कि काव्यप्रकाशकार के अनुयायियों) के अनुसार इस सूक्ति अर्थात्—

'भार्गव परशुराम ! माता का गला काटनेवाले, तुम्हारे इस परशु के साथ स्पर्द्धा करने में मेरा यह कृपाण लज्जित हो रहा है, अन्यथा ' '

में, 'अभवन्मतसम्वन्धत्व' है क्योंकि यहाँ भार्गव परशुराम की निन्दा के प्रकाशन के लिये प्रयुक्त, मातृकण्ठ-छेदन के कर्तृत्व के साथ 'परशु' का सम्वन्ध नहीं स्थापित हो पाता (क्योंकि 'परशु' तो मातृकण्ठ-छेदन के 'करण'रूप से ही सम्वद्ध हो सकता है)। किन्तु नवीन काव्याचार्य (वस्तुत साहित्यदर्पणकार और उनके अनुयायी लोग) यहाँ यह दोष नहीं मानते क्योंकि उनका कहना यह है कि यहाँ तो परशु की निन्दा के द्वारा भार्गव परशुराम का अधिकाधिक तिरस्कार अभिव्यक्त किया जा रहा है जिसमें दोष के वदले कवि कौशल झलक रहा है (अचेतन परशु पर तो मातृकण्ठ-छेदन के कर्तृत्व का आरोप है और इसी से वह निन्दनीय है किन्तु चेतन परशुराम तो और भी अधिक निन्दनीय है जिसके साथ मातृकण्ठ-छेदन के मुख्य कर्तृत्व का सम्वन्ध है)।

विमर्श—काव्यप्रकाशकार ने 'अभवन्मतसम्वन्धत्व' का वैज्ञानिक विवेचन किया है। उनके अनुसार इस दोष के ये ६ नियामक हैं—

१. विभक्ति-भेद
२. पदन्यूनत्व
३. आकाङ्क्षाविरह
४. समासच्छन्नता
५. व्यङ्ग्यसम्वन्धाभाव और
६ व्युत्पत्तिविरोध

यहाँ साहित्यदर्पणकार को इस दोष की ये सभी नियामकतायें मान्य हैं। 'व्यङ्ग्यसम्वन्धाभाव-निवन्धन' अभवन्मतसम्वन्धत्व के उदाहरण में काव्यप्रकाशकार ने यह सूक्ति उद्धृत की है—

'चापाचार्यस्त्रिपुरविजयी कार्तिकेयो विजेय शस्त्रव्यस्त सदनमुदधिर्भूरियं हन्तकार।
अस्त्येवैतत् किमु कृतवता रेणुकाकण्ठवाधां वद्धस्पर्द्धस्तव परशुना लज्जते चन्द्रहास॥'

और इसमें इस दोष को इस प्रकार दिखाया है—

(१५—अक्रमत्व)

अक्रमता यथा—

'समय एव करोति बलाबलं प्रणिगदन्त इतीव शरीरिणाम् ।
शरदि हंसरवाः परुषीकृतस्वरमयूरमयूरमणीयताम् ॥'

अत्र परामृश्यमानवाक्यानन्तरमेवेति शब्दोपयोगो युज्यते, न तु 'प्रणिगदन्त' इत्यनन्तरम् ।

एवम्—

'द्वयं गतं संप्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः ।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥'

अत्र त्वमित्यनन्तरमेव चकारो युक्तः ।

'(वागार्थावसिवपुरविजयी इत्यादौ) भार्गवस्य निन्दायां तात्पर्यम्, कृतवतेति पदेन सा प्रतीयते कृतवत इति तु पाठे प्रत्ययोऽपि भवति । (काव्यप्रकाश : ७म उल्लास)

यहाँ साहित्यदर्पणकार की जो आलोचना है उसमें कोई विशेष तत्त्व नहीं । 'ब्रह्म की निन्दा से ब्रह्मचारी की निन्दा की पराकाष्ठा' का अभिप्राय अभिव्यक्त तो हो सकता है किन्तु इसकी अभिव्यक्ति का माध्यम यही सूक्ति है जिसमें 'अभवन्मतसम्बन्धत्व' का दोष कहा है । यहाँ साहित्यदर्पणकार यह नहीं स्पष्ट करते कि 'अनेन च्छिन्दता' आदि में यह दोष गुण हो गया है !

अनुवाद—'अक्रमता' अथवा 'अक्रमत्व' (वह दोष है जो कि, जिस पद के पहले या पीछे जिस पद का प्रयोग उचित हो उसे वहाँ न कर अन्यत्र करने में देखा जाता करता है) जैसे कि (महाकवि माघ के 'शिशुपालवध' की) इस सूक्ति अर्थात्—'मानो इस बात को कहते हुये कि संसार में 'सबका बलाबल समय के ही अधीन है' शरद् ऋतु में कलहंसों की ध्वनि मयूरों की केका को कठोर बनाती हुई, बड़ी मनोरम बना रही है ।'
में जो दोष है वह 'अक्रमत्व' है। यहाँ 'इति' शब्द का प्रयोग, वस्तुतः, 'समय एव करोति बलाबलम्' इस वाक्यके बाद होना चाहिये था क्योंकि 'इति' शब्द के द्वारा इसी वाक्यार्थ का परामर्श अपेक्षित है। ऐसा न करके 'प्रणिगदन्तः' पद के बाद जो 'इति' का प्रयोग किया गया है उसमें 'अक्रमत्व' दोष आ गया है।

इसी प्रकार (महाकवि कालिदास के कुमारसम्भव की) इस सूक्ति अर्थात्—

'कपालपाणि शिव के समागम की कामना के कारण संप्रति दो वस्तुयें शोचनीय हो गयी हैं—एक तो चन्द्रमा की यह (जगत्प्रसिद्ध) कान्तिमती कला और दूसरी लोकलोचन की चन्द्रिका तू (अर्थात् पार्वती) ।'
में भी यह 'अक्रमत्व' ही दिखाई दे रहा है क्योंकि यहाँ 'त्वम्' पद के बाद ही 'च' शब्द का प्रयोग उचित था (न कि 'अस्य लोकस्य' के बाद । यहाँ तो 'च' के द्वारा 'चन्द्रकला और 'लोकलोचन की चन्द्रिका पार्वती' का समुच्चय अभिप्रेत है 'लोक' का नहीं)।

विमर्श—अक्रमत्व का ही दूसरा नाम 'क्रमभेद' है। भले ही यह दोष पदों के समुचित क्रम के विपर्यय के कारण हो किन्तु इसका प्रभाव बोद्धा की प्रतीति पर पड़ता है और वाक्यार्थ में विसंस्थुलता उत्पन्न कर देता है जिससे वाक्य-रचना के दूषित होने का निश्चय हो जाता है। 'समय एव करोति बलाबलं' आदि सूक्ति में परामर्शनीय पदार्थ के परिच्छेद के लिये 'इति' पद का प्रयोग है किन्तु यहाँ जो परामर्शनीय पदार्थ है वह 'समय एव करोति बलाबलम्' है न कि 'समय एव करोति बलाबलं प्रणिगदन्तः' है। इसलिए यह स्पष्ट है कि 'इति' के

(१६—अमतपरार्थत्व)

अमतपरार्थता यथा—

'राममन्मथशरेण ताडिता—' इत्यादि ।

अत्र शृङ्गाररसस्य व्यञ्जको द्वितीयोऽर्थ' प्रकृतरसविरोधित्वादनिष्टः ।

(१७—वाच्यानभिधान)

वाच्यस्यानभिधानं यथा—

व्युत्क्रम में यहा वाक्य विसस्थुल हो रहा है और 'अक्रमत्व' का निदर्शन लग रहा है। यहां व्यक्तिविवेककार आचार्य महिमभट्ट की ये पक्तियां ध्यान देने योग्य हैं—

'उक्तिस्वरूपावच्छेदफलो यत्रेतिरिष्यते ।
न तत्र तस्मात् प्राक् किञ्चिदुक्तेरन्यत् पदं वदेत् ॥
उपाधिभावाद् स्वा शक्तिं स पूर्वत्रादधाति हि ।
न च स्वरूपावच्छेद पदस्यान्यस्य सम्मतः ॥
इतिनैवेतरेपामप्यव्ययानां गति. समा ।
ज्ञेयेत्थमेवमादीनां तज्जातीयार्थयोगिनाम् ॥
यतस्ते चादय इव श्रूयन्ते यदनन्तरम् ।
तदर्थमेवावच्छिन्द्युरासमञ्जस्यमन्यथा ॥
अथानन्तर्यनियमस्तेपामर्थौचितीवशात् ।
अन्यतस्तर्हि तत्कार्यसिद्धेस्ते स्युरपार्थका ॥
केश्चिदेव हि केपाञ्चिद् दूरस्थैरपि सङ्गति. ।
न जातु सर्वै. सर्वेपामित्येतदभिधास्यते ॥ (व्यक्तिविवेक २य विमर्श)

अर्थात् जहा किसी उक्ति के स्वरूप-व्यवच्छेद के लिए 'इति' शब्द प्रयुक्त हो वहा यह आवश्यक है कि इस 'इति' के पहले उस उक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी भी पद का प्रयोग न किया जाय । 'इति' शब्द वस्तुत पूर्ववाक्य का अवच्छेदक हुआ करता है क्योंकि यह उसका उपाधिरूप है, इसलिए इसके पूर्व, वक्तव्य वस्तु के अतिरिक्त, अन्य किसी भी पद का निवेश अनुचित है । यही बात 'इत्थम्', 'एवम्' आदि अन्य अव्यय-पदों की भी है । क्योंकि जैसे समुच्चयार्थक 'च' अपने पूर्वनिर्दिष्ट पदार्थ का व्यवच्छेदक अथवा परामर्शकारक हुआ करता है वैसे ही 'इत्थम्', 'एवम्' आदि भी । यदि ऐसी बात न हो तो अर्थ ही असगत हो जायगा ।

वाक्य विन्यास एक कला है । इस कला में कवि को कितना सतर्क होना चाहिये इसका बड़ा सूक्ष्म विवेक 'अक्रमत्व' के निरूपण में किया गया है ।

अनुवाद—'अमतपरार्थत्व' वह दोष है जिसे ऐसे वाक्य में देखा जाया करता है जिसका (अप्रकृत-रूप से अभिव्यङ्ग्य) अर्थ प्रकृत अर्थ के विरुद्ध हुआ करता है । जैसे कि (महाकवि कालिदास के रघुवश की) इस सूक्ति अर्थात्—

'रामरूपी मन्मथ के द्वारा बाणों से आहत (ताडका)'—आदि में ।

यहां 'अमतपरार्थत्व' स्पष्ट है क्योंकि यहां जो दूसरा शृङ्गारपरक (अप्रकृत) अर्थ निकल रहा है वह प्रकृत रस (वस्तुत बीभत्स रस) रूप वाक्यार्थ का विरोधी होने के कारण 'अमत' अथवा अनुचित है ।

अनुवाद—'वाच्यानभिधान' (वह दोष है जिसे ऐसे वाक्य में देखा जाया करता है जिसमें 'वाच्य' अथवा अवश्यवक्तव्य पद का 'अभिधान' नहीं रहा करता) जैसे कि—

'व्यतिक्रमलवं कं मे वीक्ष्य वामाक्षि ! कुप्यसि ।'

अत्र व्यतिक्रमलवमपीत्यपिशब्दो वक्तव्यो नोक्तः ।

न्यूनपदत्वे वाचकपदस्यैव न्यूनता विवक्षिता, अपेस्तु न तथात्वमित्यनयोर्भेदः । एवमन्यत्रापि ।

यथा वा—

'चरणानतकान्तायास्तन्वि ! कोपस्तथापि ते ॥'

अत्र चरणानतकान्तासीति वाच्यम् ।

अरी सुन्दर नयनों वाली ! तुमने मुझमें कौन सा प्रेम-व्यतिक्रम का लेश देखा कि रुष्ट हो गयी ?'

यहाँ 'व्यतिक्रमलवम्' के बाद 'अपि (भी)' का अभिधान आवश्यक था जिसके न होने से 'वाच्यानभिधान' का दोष आ गया है क्योंकि बिना 'अपि' के अभिप्रेत अर्थ की प्रतीति असंभव है । यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिये कि 'वाच्यानभिधान' और 'न्यूनपदत्व' एक नहीं अपितु परस्पर भिन्न दोष हैं । 'न्यूनपदत्व' तो वहाँ हुआ करता है जहाँ (किसी अवश्य वक्तव्य) वाचक पद की कमी रहा करती है । उपर्युक्त उदाहरण में 'अपि' वाचक पद नहीं, इसलिए यहाँ 'न्यूनपदत्व' नहीं अपितु 'वाच्यानभिधान' दोष है । इसी प्रकार अन्य प्रसङ्गों में भी 'न्यूनपदत्व' और 'वाच्यानभिधान' का परस्पर भेद स्वयं समझा जा सकता है । जैसे कि इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'अरी सुन्दरी ! तुम्हारा जिसके चरणों पर प्रियतम गिरा पड़ा हो फिर भी यह प्रेम-मान नहीं हटता ।'

आदि में 'वाच्यानभिधान' इसलिये है क्योंकि यहाँ अवश्यवक्तव्य पद 'चरणानतकान्तासि' है जिसे प्रयुक्त न कर 'चरणानतकान्तायाः' का प्रयोग किया गया जो उचित नहीं ।

विमर्श (क)—काव्यप्रकाशकार का 'अनभिहितवाच्यत्व' और साहित्यदर्पणकार द्वारा निर्दिष्ट 'वाच्यानभिधान'-दोनों वस्तुतः एक ही दोष के दो नाम हैं । काव्यप्रकाशकार ने भी 'विक्रमोर्वशीयम्' की इस सूक्ति अर्थात्—

'त्वयि निबद्धरतेः प्रियवादिनः प्रणयभङ्गपराङ्मुखचेतसः ।
कमपराधलवं मम पश्यसि त्यजसि मानिनि ! दासजनं यतः ॥'

में 'अनभिहितवाच्यत्व' की छानबीन की है और इसे इस प्रकार निरूपित किया है—

'अपराधलवमपीति वाच्यम्'—(काव्यप्रकाश : ७ म उल्लास)

किन्तु साहित्यदर्पणकार ने इस दोष के ही निदर्शनार्थ 'विक्रमोर्वशीयम्' की उपर्युक्त पंक्तियों को तोड़-मरोड़ कर यह लिखा है—

'व्यतिक्रमलवं कं मे वीक्ष्य वामाक्षि ! कुप्यसि ।
अत्र व्यतिक्रमलवमपीत्यपिशब्दो वक्तव्यो नोक्तः ॥'

यहाँ यह स्पष्ट है कि साहित्यदर्पणकार ने 'व्यतिक्रमस्य लवमपि' के बदले, बिना सोचे-समझे, समस्त 'व्यतिक्रमलवम्' पद को 'अवश्यवक्तव्य' पद बताया है । काव्यप्रकाश से भिन्नता और नवीनता के आभास के कारण अविराम चिन्तन से यहाँ ऐसी असङ्गत बात लिख दी है जो कदापि क्षम्य नहीं । जब तक 'व्यतिक्रमलवम्' पद को असमस्त रूप से (व्यतिक्रमस्य लवम् इस रूप से) प्रयुक्त न किया जाय तब तक 'अपि' की 'अवश्यवक्तव्यता' युक्तियुक्त नहीं हो सकती ।

(१८—भग्नप्रक्रमत्व)

भग्नप्रक्रमता यथा—

'एवमुक्तो मन्त्रिमुख्यै रावणः प्रत्यभाषत ।'

अत्र वचधातुना प्रक्रान्तं प्रतिवचनमपि तेनैव वक्तुमुचितम् । तेन 'रावणः प्रत्यवोचत' इति पाठो युक्तः । एवं च सति न कथितपदत्वदोषः, तस्योद्देश्य-व्यतिरिक्तविषयकत्वात् । इह हि वचनप्रतिवचनयोरुद्देश्यप्रतिनिर्देशत्वम् ।

यथा—

'उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च ।'

(ख) 'वाच्यानभिधान' दोष की एक और भी रूपरेखा है जिसे न तो काव्यप्रकाशकार ने दिखाया है और न कविराज विश्वनाथ ने ही । व्यक्तिविवेककार आचार्य महिमभट्ट के अनुसार, 'वाच्यानभिधान (वाच्यावचन) की यह रूप-रेखा किसी सूक्ति के लिये अपेक्षित किसी अलङ्कार के 'अवचन' अथवा 'अनभिधान' (योजना के न करने) में दिखायी दिया करती है—

'यत्रान्यस्यालङ्कारस्य विषयेऽलङ्कारान्तरनिबन्धस्सोऽपि वाच्यावचन दोषः । तत्र समासोक्तिविषये श्लेषस्योपनिबन्धो यथा—

अलकालिकुलाकीर्णमारक्तच्छदसुन्दरम् ।
आमोदिकर्णिकाकान्त भाति तेऽञ्जमिवाननम् ॥'

अत्र हि अञ्जसमुचितविशेषणोपादानसामर्थ्यात्तिसस्याञ्जस्योपमानभावावगम समासोक्तेरेव विषयो युक्तो न श्लेषस्य, तत्रैव तस्यानुमीयमानतया सचेतनचमत्कारकारित्वोपपत्तेः, श्लेषे सु तस्य वाच्यतया तद्विपरीतत्वादित्युक्तम् । ... ',

(व्यक्तिविवेक २य परामर्श)

अर्थात् 'वाच्यावचन' अथवा 'वाच्यानभिधान' का एक प्रकार वह है जहा किसी एक अलङ्कार के क्षेत्र में दूसरे अलङ्कार का समावेश कर दिया जाया करता है ।

अनुवाद—'भग्नप्रक्रमत्व' वह दोष है जिसे विना कारण के (किसी क्रम अथवा परिपाटी को छोड़ देना कहा जाया करता है) जैसे कि—

'मुख्य मुख्य मन्त्रियों के द्वारा इस प्रकार कहे-सुने गये (उक्तः) रावण ने उन्हें यह प्रतिभाषण दिया (प्रत्यभाषत) ।'

यहा 'उक्त' पद में 'वच्' धातु का उपक्रम है और इसलिये (उपसहार में भी) 'प्रत्यभाषत' के बदले 'प्रत्यवोचत' पद का ही प्रयोग उचित था (ऐसा न होने से यहां 'भग्नप्रक्रमत्व' का दोष आ लगा है)। यहां यह कहना कि 'एवमुक्तो मन्त्रिमुख्यै रावण प्रत्यवोचत' कहने में 'कथितपदत्व' दोष हो जाता है, ठीक नहीं । बात यह है कि 'कथित-पदत्व' वहीं होता है जहा 'उद्देश्य-प्रतिनिर्देश-भाव' नहीं रहा करता । यहा ('एवमुक्त • प्रत्यवोचत ।' आदि सूक्ति में) 'कथितपदत्व' कैसे हो सकता है जबकि 'वचन' और 'प्रतिवचन' में 'उद्देश्यप्रतिनिर्देशभाव' झलक रहा है । (यह 'उद्देश्य-प्रतिनिर्देशभाव' है—'उद्देश्योऽनूद्य स एव प्रतिनिर्देश्य प्रतीतिमान्थर्यपरिहारार्थ पुनरभिधेयो यत्र स ' अर्थात् 'उद्देश्य-प्रतिनिर्देशभाव' वहा हुआ करता है 'जहा 'उद्देश्य' अथवा पूर्व उच्चारित का, प्रतीति की एकरसता की दृष्टि से, पुन उच्चारण किया जाय)। 'उद्देश्यप्रतिनिर्देश-भाव' इस उदाहरण से स्पष्ट समझा जा सकता है—

'सूर्य लाल-लाल ही उदित होता है और लाल-लाल ही डूबता है ।'

इत्यत्र हि यदि पदान्तरेण स एवार्थः प्रतिपाद्यते तदान्योऽर्थ इव प्रतिभासमानः प्रतीतिं स्थगयति ।

यथा वा—

> 'ते हिमालयमामन्त्र्य पुनः प्रेक्ष्य च शूलिनम् ।
> सिद्धं चास्मै निवेद्यार्थं तद्विसृष्टाः खमुद्ययुः ॥'

अत्र 'अस्मै' इतीदमा प्रक्रान्तस्य तेनैव तत्समानाभ्यामेतददःशब्दाभ्यां वा परामर्शो युक्तो न तच्छब्देन ।

यथा वा—

> 'उदन्वच्छिन्ना भूः स च पतिरपां योजनशतम् ।'

अत्र 'मिता भूः पत्यापां स च पतिरपाम्' इति युक्तः पाठः ।

एवम्—

> 'यशोऽधिगन्तुं सुखलिप्सया वा मनुष्यसंख्यामतिवर्तितुं वा ।
> निरुत्सुकानामभियोगभाजां समुत्सुकेवाङ्कमुपैति सिद्धिः ॥'

अत्र 'सुखमीहितुम्' इत्युचितम् ।

यहाँ यदि 'लाल-लाल' के अभिप्राय का 'ताम्र' पद के अतिरिक्त अन्य किसी (रक्त अथवा लोहित आदि) पद से प्रतिपादन किया जाय तब (पदभेद के कारण) इस अभिप्राय में भी कुछ भिन्नता प्रतीत होने लगेगी और (उदय किंवा अस्त के समय लाल-लाल सूर्य रूप) अर्थ की एकरस प्रतीति (जो यहाँ अपेक्षित है) स्थगित हो जायगी।

अथवा जैसे कि—'उन मरीचि आदि ऋषि-मुनियों ने हिमालय से विदा ली शूली महादेव का दर्शन किया, उन्हें पार्वती के विवाह की पक्की बात बतायी और उनकी आज्ञा लेकर स्वर्ग-मार्ग की ओर प्रस्थान किया। (कुमारसम्भव : सर्ग ६)

यहाँ भी 'भग्नप्रक्रमत्व' स्पष्ट है क्योंकि 'अस्मै' पद से 'इदम्' के द्वारा शूली महादेव का परामर्श आरम्भ किया गया है और इसलिए 'इदम्' के ही द्वारा अथवा 'इदम्' के समानार्थक 'एतद्' अथवा 'अदस्' शब्द के द्वारा इसका उपसंहार भी किया जाना चाहिये था न कि 'तद्' शब्द के द्वारा ('इदम्' शब्द तो पूर्वानुभूत किंवा पुरोवर्ती वस्तु का वाचक है और 'तद्' शब्द पूर्वानुभूत किन्तु असमक्ष वस्तु का। 'इदम्' के बदले 'तद्' के प्रयोग से कवि का विवक्षित अर्थ एकरस नहीं प्रतीत होता)।

अथवा जैसेकि 'पृथ्वी समुद्र से घिरी है और सागर सैकड़ों योजन विस्तीर्ण है।'

यहाँ भी 'भग्नप्रक्रमत्व' ही है। यहाँ यदि 'मिता भूः पत्यापां स च पतिरपाम्' कर दिया जाय तो यह दोष दूर हो जायगा और अर्थ की अपेक्षित ऐक्य-प्रतीति निर्विघ्न होती रहेगी।

अथवा जैसे कि—'यश पाने के लिए, सुख पाने की इच्छा से अथवा समाज में सर्वश्रेष्ठ बनने के लिये जो लोग निष्काम रूप से सतत कर्मव्यपरायण रहा करते हैं वस्तुतः उन्हीं के पास सफलता उत्सुकता से पहुँच सकती है—

(किरातार्जु० ३ : ४० श्लो०)

यहाँ भी 'भग्नप्रक्रमत्व' खटक रहा है। यहाँ यदि ('सुखलिप्सया' के बदले) 'सुखमीहितुम्' कर दिया जाय तो यह दोष दूर हो जायगा।

अत्राद्ययोः प्रकृतिविषयः प्रक्रमभेदः। तृतीये पर्यायविषयः, चतुर्थे प्रत्ययविषयः। एवमन्यत्रापि।

(१९—प्रसिद्धित्याग)

प्रसिद्धित्यागो यथा—

'घोरो वारिमुचां रवः।

अत्र मेघानां गर्जितमेव प्रसिद्धम्। यदाहुः—

'मञ्जीरादिषु रणितप्राय पक्षिषु च कूजितप्रभृति।
स्तनितमणितादि सुरते मेघादिषु गर्जितप्रमुखम्॥' इत्यादि।

इन उपर्युक्त उदाहरणों में, पहले दोनों (अर्थात् 'एवमुक्तो मन्त्रिमुख्यै' और 'ते हिमालयमामन्त्र्य') में 'भग्नप्रक्रमत्व' 'प्रकृतिविषयक' है, तीसरे (अर्थात् 'उदन्वच्छिन्ना भू' आदि) में 'पर्यायविषयक' है और चौथे (अर्थात् 'यशोऽधिगन्तुम्' आदि) में 'प्रत्ययविषयक' है। इसी भाति अन्यत्र अन्यान्यविषयक 'भग्नप्रक्रमत्व' स्वयं देखा जा सकता है।

विमर्श — भग्नप्रक्रमत्व' (प्रक्रमभेद) की व्यक्तिविवेककार-कृत यह मीमासा यहा ध्यान देने योग्य है—

'प्रक्रमभेदोऽपि शब्दानौचित्यमेव। स हि यथा प्रक्रममेकरसप्रवृत्ताया प्रतिपत्तृप्रवृत्तेरुत्खात इव परिस्खलनखेददायी रसभङ्गाय पर्यवस्यति। किञ्च सर्वत्रैव शब्दार्थव्यवहारे विद्वद्भिरपि लौकिकक्रमोऽनुसर्त्तव्य। लोकश्च मा भूद्रसास्वादप्रतीते परिम्लानतेति यथाप्रक्रममेवैनमाद्रियते नान्यथा। स चायमनन्तप्रकार सभवति। प्रकृति-प्रत्यय-पर्यायादीना तद्विषयभावाभिमतानामानन्त्यात्।

(व्यक्तिविवेक २य विमर्श)

अर्थात् प्रक्रमभेद एक प्रकार का शब्दानौचित्य है। जैसे कोई रथारोही ऊबड-खाबड रास्ते पर चलने में निरन्तर गिरने से डरा करता है और रथारोहण का आनन्द भी नहीं पाया करता वैसे ही 'प्रक्रमभेद' के प्रसङ्गों में सहृदय सामाजिक रसास्वाद से वञ्चित रहा करता है। प्रक्रम का भङ्ग काव्य का एक अक्षम्य अपराध है। इसके प्रकार अनन्त हैं। प्रकृति-प्रक्रमभेद, सर्वनाम-प्रक्रमभेद, प्रत्यय-प्रक्रमभेद, पर्याय-प्रक्रमभेद, विभक्ति-प्रक्रमभेद, उपसर्ग-प्रक्रमभेद, वचन-प्रक्रमभेद, कालविशेष प्रक्रमभेद, कारकशक्ति प्रक्रमभेद आदि-आदि प्रकार' इसके प्रमुख भेदों में गिने जाया करते हैं।

अनुवाद—'प्रसिद्धित्याग' (वह दोष है जिसे 'कविसमय'प्रसिद्धि का त्याग कहा गया है) जैसे कि—

'यह मेघों का भयङ्कर रव आदि' सूक्ति।

यहाँ 'प्रसिद्धित्याग' इसलिये है क्योंकि मेघों के सम्बन्ध में 'गर्जित' शब्द प्रसिद्ध है न कि 'रव'। जैसे कि (रुद्रट के काव्यालङ्कार में) कहा भी गया है—

'मञ्जीर आदि की ध्वनि के सम्बन्ध में 'रणित' प्रभृति, पक्षियों के शब्द के सम्बन्ध में 'कूजित' प्रभृति, सभोग के शब्द के प्रसङ्ग में 'स्तनित', 'मणित' आदि और मेघ आदि के सम्बन्ध में 'गर्जित' प्रभृति शब्द प्रसिद्ध हैं।'

विमर्श—यहाँ 'प्रसिद्धि' का अभिप्राय जैसा कि काव्यप्रकाशकार का कथन है, एक प्रकार के 'कवि समय' का अभिप्राय है—

(१०—अस्थानस्थपदत्व)

अस्थानस्थपदता यथा—

'तीर्थे तदीये गजसेतुबन्धात्प्रतीपगामुत्तरतोऽस्य गङ्गाम्।
अयत्नबालव्यजनीबभूवुर्हंसा नभोलङ्घनलोलपक्षाः॥'

अत्र तदीयपदात्पूर्वं गंगामित्यस्य पाठो युक्तः। एवम्—

'हितान्न यः संशृणुते स किंप्रभुः॥'

अत्र संशृणुत इत्यतः पूर्वं नञः स्थितिरुचिता।

अत्र च पदमात्रस्यास्थाने निवेशेऽपि सर्वमेव वाक्यं विवक्षितार्थप्रत्यायने मन्थरमिति वाक्यदोषता। एवमन्यत्रापि। इह केऽप्याहुः—'पदस्थानेन वाचक-

---

'मञ्जीरादिषु रणितप्रायं पक्षिषु च कूजितप्रभृति।
स्तनितमणितादि सुरते मेघादिषु गर्जितप्रमुखम्॥

इति प्रसिद्धिमतिक्रान्तम्। यथा—

'महाप्रलयमारुतक्षुभितपुष्करावर्तक—
प्रचण्डघनगर्जितप्रतिरुतानुकारी मुहुः।
रवः श्रवणभैरवः स्थगितरोदसीकन्दरः
कुतोऽद्य समरोदधेरयमभूतपूर्वः पुरः॥

अत्र रवो मण्डूकादिषु प्रसिद्धो न तूत्कृष्टेऽपि सिंहनादे।

और इस 'प्रसिद्धि' के त्याग में प्रसिद्धित्याग अथवा 'प्रसिद्धिहतत्व' की संभावना स्वाभाविक है।

अनुवाद—'*अस्थानस्थपदत्व*' (वह दोष है जिसे अनुचित स्थान में किसी पद के विन्यास में देखा जाया करता है) जैसे कि (महाकवि कालिदास के रघुवंश की यह सूक्ति—

'उसके तीर्थ अथवा अवतरणस्थान पर गजसमूह के द्वारा सेतु का निर्माण कर, जब कि महाराज कुश प्रतिकूलगामिनी गङ्गा को पार किया करते थे तब आकाशमार्ग के पार करने में चञ्चल पक्षवाले हंस, उनके लिये अनायास चमर का काम करने लगते थे।

यहाँ 'अस्थानस्थपदत्व' इसलिये है क्योंकि 'तदीय' पद अनुचित स्थान पर पड़ा हुआ है। यदि 'तदीय' पद के पहले 'गङ्गाम्' का प्रयोग कर दिया जाय तो ('तद्' के द्वारा पूर्वनिर्दिष्ट 'गङ्गा' का परामर्श होने से) यह दोष दूर जाय।

इसी प्रकार (महाकवि भारवि के किरातार्जुनीय की) यह सूक्ति—

'जो राजा अपने हितचिन्तकों से हित की बात नहीं सुनता' आदि।

यहाँ भी 'अस्थानस्थपदत्व' है क्योंकि 'नञ्' का प्रयोग अनुचित स्थान पर किया हुआ है। यहाँ 'संशृणुते' के पहले 'न' का प्रयोग उचित होता (और तब यह दोष भी दूर जाता)।

यहाँ यह शङ्का ठीक नहीं कि जब पदमात्र के अस्थान (अनुचित स्थान) पर रहने के कारण 'अस्थानस्थपदत्व' दोष उत्पन्न होता है तब इसको पददोष क्यों न माना जाय। कारण यह है कि किसी पद के अनुचित स्थान पर पड़े रहने पर समस्त वाक्य अभिप्रेत अर्थ की प्रतीति में शिथिल हो जाता है जिससे इसे 'वाक्यदोष' मानना ही युक्तियुक्त है। यही बात वस्तुतः अन्य वाक्यगत दोषों के सम्बन्ध में भी लागू होती है।

यहाँ कुछ लोग यह कहते हैं कि 'अस्थानस्थपदत्व' में जो 'पद' शब्द है उसमें वाचक

मेव प्रायशो निगद्यते, न च नञो वाचकता, निर्विवादात्स्वातन्त्र्येणार्थबोधनविरहात्' इति। यथा—'द्वय गतम्-' इत्यादौ त्वमित्यनन्तरं चकारानुपादानादक्रमता तथात्रापीति।

(२१—अस्थानस्थसमासत्व)

अस्थानस्थसमासता यथा—

'अद्यापि स्तनशैलदुर्गविषमे सीमन्तिनीनां हृदि
स्थातुं वाञ्छति मान एष धिगिति क्रोधादिवालोहितः।
प्रोद्यद्दूरतरप्रसारितकरः कर्षत्यसौ तत्क्षणा-
त्फुल्लत्कैरवकोषनिःसरदलिश्रेणीकृपाण शशी॥'

पद का ही ग्रहण हुआ करता है और इसलिये जब कि 'हितान्न य सश्रृणुते' आदि में 'नञ्' वाचक पद नहीं, क्योंकि निर्विवाद और स्वतन्त्र रूप से इसमें अर्थबोधकता नहीं रहा करती, तब यहां यह दोष भी नहीं माना जा सकता। यहाँ तो जैसे (द्वय गतम्) आदि सूक्ति में, 'त्वम्' के बाद 'च' के अनुपादान में 'अक्रमत्व' माना जाया करता है, वैसे ही 'अक्रमत्व' ही मानना ठीक है (अस्थानस्थपदत्व नहीं)।

विमर्श—यहाँ यह बात विचारणीय है कि साहित्यदर्पणकार ने तो महाकवि कालिदास की 'तीर्थे तदीये गजसेतुबन्धात्' आदि सूक्ति में 'अस्थानस्थपदत्व' का निरीक्षण किया है और प्राचीन काव्याचार्य महिमभट्ट ने 'क्रमभेद', जैसा कि इन पक्तियों में स्पष्ट है—

'तीर्थे तदीये गजसेतुबन्धात् प्रतीपगामुत्तरतोऽस्य गङ्गाम्।' इति। अत्र हि परामर्शनीयमर्थमनुक्त्वैव यस्तस्य सर्वनामपरामर्श स क्रमभेदो दोष। तस्य हि प्रक्रान्तोऽर्थो विषय इष्टो न प्रक्रंस्यमान, तस्य स्मृतिपरामर्शरूपत्वात्। स्मृतेश्चानुभूत एवार्थो विषयो नानुभविष्यमाण। अत्र च प्रतीतिमात्रमनुभवोऽभिमतो नेन्द्रियविषयभाव। न स गङ्गार्थ प्रतीतपूर्वो य. परामृश्येतेति परामर्शक्रमभेदो दोषः।' (व्यक्तिविवेक . २य विमर्श)

अर्थात् 'तीर्थे तदीये' आदि में 'क्रमभेद' है क्योंकि यहाँ परामर्शयोग्य अर्थ का निरूपण किये बिना ही, उसे 'तत्' सर्वनाम द्वारा निर्दिष्ट किया गया है। प्रक्रान्त (वर्णन के लिये उपस्थापित) अर्थ ही 'तत्' के द्वारा परामर्श योग्य माना जा सकता है न कि प्रक्रस्यमान अर्थ (वह अर्थ जिसका निरूपण आगे किया जाय)। जब गङ्गारूप अर्थ का पहले कोई पता नहीं, तब उसका ('तदीये') 'तत्' द्वारा कैसा परमर्श? इसलिये परामर्श के क्रम का भग होने से यहाँ 'क्रमभेद' निश्चित है।

वस्तुत यहाँ व्यक्तिविवेककार की ही दोष समीक्षा ठीक है, साहित्यदर्पणकार की नहीं। बात यह है कि 'तीर्थे तदीये' आदि सूक्ति में पदनिवेश के अनौचित्य से अभिप्रेत अर्थ की प्रतीति नहीं हो पाती जिसके कारण यहाँ क्रमभेद अथवा अक्रमत्व मानना ही उचित है। 'अस्थानस्थपदत्व' में प्रस्तुत अर्थ प्रतीत होता है और पद निवेश खटका करता है।

अनुवाद—'अस्थानस्थसमासत्व' (वह दोष है जिसे किसी वाक्य में, किसी समस्त पदावली के अनुचित प्रयोग में देखा जाया करता है) जैसे कि—

'अरे! यह चन्द्रमा तो सभवत यह सोचकर कि उसके सामने भी, स्तनों के 'शैल दुर्ग से विकट, रमणियों के हृदय में प्रेम-कोप स्थान पाना चाहता है, क्रोध से तमतमाया'

अत्र कोपिन उक्तौ समासो न कृतः, कवेरुक्तौ कृतः ।

(२१—सङ्कीर्णत्व)

वाक्यान्तरपदानां वाक्यान्तरेऽनुप्रवेशः सङ्कीर्णत्वम् । यथा—

'चन्द्रं मुञ्च कुरङ्गाक्षि ! पश्य मानं नभोऽङ्गने ।'

अत्र नभोऽङ्गने चन्द्रं पश्य मानं मुञ्चेति युक्तम् ।

'क्लिष्टत्वमेकवाक्यविषयम्' इत्यस्माद्भिन्नम् ।

(२२—गर्भितत्व)

वाक्यान्तरे वाक्यान्तरानुप्रवेशो गर्भितता । यथा—

'रमणे चरणप्रान्ते प्रणतिप्रवणेऽधुना ।
वदामि सखि ! सत्यं ते कदाचिन्नोचिता क्रुधः ॥'

हुआ अपने लम्बे-लम्बे किरण-हस्त को फैलाये शीघ्रता के साथ विकसित कुमुद-कोष से भ्रमरावली के रूप में अपनी कज्जल कालिमा दिखायी पड़ रहा है।

यहाँ 'अस्थानस्थसमासत्व' है क्योंकि क्रुद्ध (चन्द्रमा) की उक्ति में समास नहीं किया गया (जोकि वक्तृत्व के लिये उचित था) और कवि की उक्ति (अर्थात् 'दूरतरप्रसारितकरः' और 'कुमुद्वत्कैरवकोषनिःसरदलिश्रेणीकृपाणम्') में समास कर दिया गया (यहाँ वस्तु सौकुमार्य कहीं अधिक अच्छा लगता)।

विमर्श—'अस्थानस्थसमासत्व' का साहित्यदर्पणकारकृत निरूपण वस्तुतः 'काव्यप्रकाश' का अक्षरशः अनुकरण अथवा अनुसरण है। 'अस्थानस्थसमासत्व' इसलिये वाक्यदोष है क्योंकि रस की ओजस्विता के बिना रसभाव का समुचित आस्वाद नहीं मिल सकता।

अनुवाद—सङ्कीर्णत्व वह दोष है जिसे एक वाक्य के अन्तर्गत प्रयोगोचित पदों का, दूसरे वाक्य में अनुप्रवेश कहा करते हैं। जैसे कि—

अरी मृगनयनी! चन्द्रमा को छोड़ देख अपने मान को इस आकाश के आँगन में।

यहाँ युक्तियुक्त वाक्य यह होता—'नभोऽङ्गने चन्द्रं पश्य मानं मुञ्च'—(आकाश के आँगन में चन्द्रमा को देख और अपना मान छोड़)।'

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि 'सङ्कीर्णत्व' और 'क्लिष्टत्व' में परस्पर भेद है। सङ्कीर्णत्व' अनेक वाक्यविषयक दोष है और 'क्लिष्टत्व' एक वाक्यविषयक।

विमर्श—सरस्वतीकण्ठाभरणकार भोजराज के अनुसार 'सङ्कीर्णत्व' का यह स्वरूप निर्दिष्ट है—

'वाक्यान्तरपदैर्मिश्रं संकीर्णमिति तद्विदुः । यथा—

धनुर्नादयति धन्विनः दूरं क्ष्वेडति निर्भरं ध्वजः ।
रथाङ्गं गृह्णाति कष्टं ह्वयति नदार्दं रथिरः ॥

जिसे रत्नदर्पणकार ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'वाक्यान्तरसंबन्धीन्यपि पदानि वाक्यान्तरमनुप्रविश्य तथा प्रतीतिं विघ्नन्ति यथा समुदाय एव दूषितो भवति।

अनुवाद—'गर्भितत्व' वह दोष है जिसे एक वाक्य के भीतर दूसरे वाक्य का अनुप्रवेश कहा गया है। जैसे कि—

अरी सखी! जब कि प्रियतम पैरों पर क्षमायाचना के लिये गिरा पड़ा हो तब इस समय मेरा तुमसे यही कहना है कि, क्रोध करना उचित नहीं।'

(अर्थदोष : स्वरूप तथा भेद)

अर्थदोषानाह—

अपुष्टदुष्क्रमग्राम्यव्याहताश्लीलकष्टताः ।
अनवीकृतनिर्हेतुप्रकाशितविरुद्धताः ॥ ९ ॥
सन्दिग्धपुनरुक्तत्वे ख्यातिविद्याविरुद्धते ।
साकाङ्क्षता सहचरभिन्नताऽस्थानयुक्तता ॥ १० ॥
अविशेषे विशेषश्चानियमे नियमस्तथा ।
तयोर्विपर्ययौ विध्यनुवादायुक्तते तथा ॥ ११ ॥
निर्मुक्तपुनरुक्तत्वमर्थदोषाः प्रकीर्तिताः ।

तद्विपर्ययो विशेषेऽविशेषो नियमेऽनियमः ।

(१—अपुष्टत्व)

अत्रापुष्टत्वं मुख्यानुपकारित्वम् । यथा—

'विलोक्य वितते व्योम्नि विधुं मुञ्च रुषं प्रिये ।'

अत्र विततशब्दो मानत्यागं प्रति न किञ्चिदुपकुरुते ।

[यहाँ 'रमणे चरणप्रान्ते प्रणतिप्रवणेऽधुना क्रुधः कदाचित् नोचिताः'—इस वाक्य के भीतर 'वदामि सखि ते तत्त्वम्' यह वाक्य आ घुसा है जिससे अर्थ की प्रतीति ठीक नहीं हो पाती ।]

अनुवाद—अर्थ के दोष ये हैं—

(१) अपुष्टत्व, (२) दुष्क्रमत्व, (३) ग्राम्यत्व, (४) व्याहतत्व, (५) अश्लीलत्व, (६) कष्टत्व, (७) अनवीकृतत्व, (८) निर्हेतुत्व, (९) प्रकाशितविरुद्धत्व, (१०) सन्दिग्धत्व, (११) पुनरुक्तत्व, (१२) ख्यातिविरुद्धत्व, (१३) विद्याविरुद्धत्व, (१४) साकाङ्क्षत्व, (१५) सहचरभिन्नत्व, (१६) अस्थानयुक्तत्व, (१७) अविशेष में विशेष (अविशेषपरिवृत्तत्व), (१८) अनियम में नियम (अनियमपरिवृत्तत्व), (१९) विशेष में अविशेष (विशेषपरिवृत्तत्व), (२०) नियम में अनियम (नियमपरिवृत्तत्व), (२१) विध्ययुक्तत्व, (२२) अनुवादायुक्तत्व और (२३) निर्मुक्तपुनरुक्तत्व ।

यहाँ 'तयोर्विपर्ययौ' का अभिप्राय है (अविशेष में विशेष का विपर्यय अर्थात्) 'विशेष में अविशेष' और (अनियम में नियम का विपर्यय अर्थात्) 'नियम में अनियम' ।

अनुवाद—'अपुष्टत्व' वह अर्थदोष है जिसे मुख्य अर्थ के अनुपकारक किसी पदार्थ की योजना में देखा जाया करता है । जैसे कि—

'प्रिये ! इस वितत व्योम में चन्द्रमा को देख और मान छोड़ दे ।' यहाँ जो मुख्य अर्थ है वह 'मानत्याग' है और इस मुख्य अर्थ के प्रति, व्योम के विशेषणरूप से प्रयुक्त

अधिकपदत्वे पदार्थान्वयप्रतीते: समकालमेव बाधप्रतिभासः, इह तु पश्चादिति विशेषः।

(२—दुष्क्रमत्व)

दुष्क्रमता यथा—

'देहि मे वाजिनं राजन् ! गजेन्द्रं वा मदालसम् ।'

अत्र गजेन्द्रस्य प्रथमं याचनमुचितम् ।

(३—ग्राम्यत्व)

'स्वपिहि त्वं समीपे मे स्वपिम्येवाधुना प्रिये ! ।'

अत्रार्थो ग्राम्यः ।

(४—व्याहतत्व)

कस्यचित्प्रागुत्कर्षमपकर्षं वाभिधाय पश्चात्तदन्यथाप्रतिपादनं व्याहतत्वम् ।

यथा—

'हरन्ति हृदयं यूनां न नवेन्दुकलादयः ।
वीक्ष्यते यैरियं तन्वी लोकलोचनचन्द्रिका ॥'

'विरत क्रम पदार्थ की कोई उपयोगिता नहीं प्रतीत होती। यहाँ अधिकपदत्व की शंका नहीं होनी चाहिए क्योंकि 'अपुष्टत्व' और 'अधिकपदत्व' में परस्पर भेद है। 'अधिकपदत्व' में तो पदार्थों की अन्वय-प्रतीति के ही साथ बाध का भी भान हो उठता है किन्तु 'अपुष्टत्व' में (जैसा कि उपर्युक्त उदाहरण में स्पष्ट है) अन्वय-प्रतीति के बाद ही बाध-प्रतीति हुआ करती है।

अनुवाद—'दुष्क्रमत्व' वह अर्थदोष है जिसे वस्तुओं के निरूपण क्रम के अनौचित्य में देखा जाया करता है। जैसे कि—

'महाराज ! मुझे एक घोड़ा दे दीजिये अथवा न हो तो एक मदोन्मत्त गजराज ही दे डालिए।'

यहाँ 'दुष्क्रमत्व' स्पष्ट है क्योंकि 'अश्वयाचन' से पहले गजेन्द्र-याचन का उपनिबन्ध उचित होता।

[बहुमूल्य वस्तु की माँग पहले की जाती है जिसके न मिल सकने की दशा में अल्प मूल्य वस्तु की याचना का अवसर आता है। लोक में याचना का यही क्रम है। इसे बिगाड़ कर यहाँ कवि ने 'दुष्क्रमत्व' का आह्वान किया है]

अनुवाद—'ग्राम्यत्व' वह अर्थदोष है जिसे अविदग्ध मनुष्यों की सी बातचीत में देखा जाया करता है। जैसे कि—

'तू मेरे पास सोजा। प्रिये ! मैं अभी तेरे पास ही सोऊँगा।'

यहाँ 'ग्राम्यत्व' स्पष्ट है क्योंकि यहाँ प्रेमी और प्रमिका का यह प्रेम-प्रकाशन अविदग्धता और असभ्यता-पूर्ण बन रहा है।

अनुवाद—'व्याहतत्व' वह अर्थदोष है जिसे वहाँ देखा जाया करता है जहाँ किसी वस्तु का पहले उत्कर्ष या अपकर्ष दिखा कर बाद में उसके विपरीत अपकर्ष या उत्कर्ष वर्णन होने लगता है। जैसे कि—

'नवोदित चन्द्र-चन्द्रिका आदि के दर्शन से युवा प्रेमियों का हृदय वश में नहीं हो पाता। उनका हृदय तो इस सुन्दरी के दर्शन से वश में हुआ करता है जो कि लोक-लोचन की चन्द्रिका है।

अत्र येषामिन्दुकला नानन्दहेतुस्तेषामेवानन्दाय तन्व्याश्चन्द्रिकात्वारोपः।

(५—अश्लीलत्व)

'हन्तुमेव प्रवृत्तस्य स्तब्धस्य विवरैषिणः।
यथाशु जायते पातो न तथा पुनरुन्नतिः॥'

अत्रार्थोऽश्लीलः।

(६—कष्टत्व)

'वर्षत्येतदहर्पतिर्न तु घनो धामस्थमच्छं पयः
सत्यं सा सवितुः सुता सुरसरित्पूरो यया प्लावितः।
व्यासस्योक्तिषु विश्वसित्यपि न कः, श्रद्धा न कस्य श्रुतौ
न प्रत्येति तथापि मुग्धहरिणी भास्वन्मरीचिष्वपः॥'

अत्र यस्मात्सूर्याद्वृष्टेर्यमुनायाश्च प्रभवस्तस्मात्तयोर्जलमपि सूर्यप्रभवम्। ततश्च सूर्यमरीचीनां जलप्रत्ययहेतुत्वमुचितम्, तथापि मृगी भ्रान्तत्वात्तत्र

यहा 'व्याहतत्व' इसलिए है क्योंकि पहले तो चन्द्र-चन्द्रिका को युवा प्रेमियों का आनन्द-निदान न बताया गया (अपकर्ष-वर्णन) और अब उनके आनन्द के हेतु-रूप में सुन्दरी पर चन्द्रिका का आरोप कर दिया गया (उत्कर्ष-वर्णन)।

अनुवाद—'अश्लीलत्व' वह अर्थदोष है जिसे व्रीडा, जुगुप्सा, अमङ्गल आदि-आदि के अभिव्यञ्जक अर्थ में देखा जाया करता है। जैसे कि—

'ऐसे क्रूरहृदय पुरुष का, जो मारने में लगा रहता है, अकडा रहा करता है और छिन्द्रान्वेषण में तत्पर हुआ करता है, पतन जितना शीघ्र सभव है उतना उत्थान नहीं।'

यहाँ 'अश्लीलत्व' स्पष्ट है क्योंकि यहाँ जो दूसरा अर्थ अभिव्यक्त हो रहा है—'जो सुरतक्रीडा में, योनि-ताडन में लगा करता है, स्तब्ध है और योनिच्छिद्र को ढूँढा करता है ऐसे दुष्ट शिश्न (पुरुषेन्द्रिय) का पतन जितना शीघ्र सभव है उतना उत्थान नहीं।' यह अश्लील है।

विमर्श—अर्थगत 'अश्लीलत्व' काव्य-साहित्य में इसलिये दोष माना गया है क्योंकि काव्य का प्रयोजन सरसोपदेश भी है। 'सरसोपदेश' और 'अश्लीलत्व' साथ नहीं रह सकते। सभ्यता और सस्कृति की रक्षा कविता का भी उद्देश्य है। इसलिये कविजन को अश्लीलता-पूर्ण विषयों की अवतारणा से वचना आवश्यक है। अन्यथा सहृदय हृदय में उद्वेग उत्पन्न हो सकता है, न कि भाव सवेग जोकि रसास्वाद में ही सभव है। 'अश्लीलता' रस विघातक है। इसलिये दोष है।

अनुवाद—'कष्टत्व' वह अर्थदोष है जिसके कारण कोई अर्थ कष्टपूर्वक अवगत हुआ करता है। जैसे कि—

'वह सूर्य है जो कि अपने मण्डलान्तर्गत निर्मल जल की वर्षा किया करता है, मेघ भला यह वर्षा कैसे करे। वह सूर्यसुता यमुना है जो कि सुरनदी गङ्गा को आप्लावित किया करती है, न कि और कोई। भला कौन है जो महर्षि व्यास के वचन (सूर्य से वृष्टि की होने की बात) पर विश्वास न करे? ऐसा कौन है जिसे श्रुति पर ('आदित्याजायते वृष्टि' आदि श्रुति-वचन पर) श्रद्धा न हो? किन्तु यह मुग्ध मृगी ऐसी है जा सूर्यरश्मियों में जल की सभावना पर बिलकुल विश्वास नहीं करती।'

यहाँ 'कष्टत्व' है। यहा यह अप्रस्तुत अर्थ निकल रहा है—'वृष्टि और यमुना—दोनों का जल सूर्य से उत्पन्न होता है क्योंकि वृष्टि और यमुना—दोनों सूर्य से उत्पन्न हैं। इसलिये

अधिकपदत्वे पदार्थान्वयप्रतीतेः समकालमेव बाधप्रतिभासः, इह तु पश्चादिति विशेषः।

(१—दुष्क्रमत्व)

दुष्क्रमता यथा—

'देहि मे वाजिनं राजन् ! गजेन्द्रं वा मदालसम् ।'

अत्र गजेन्द्रस्य प्रथमं याचनमुचितम्।

(२—ग्राम्यत्व)

'स्वपिहि त्वं समीपे मे स्वपिम्येवाधुना प्रिये ! ।'

अत्रार्थो ग्राम्यः।

(३—व्याहतत्व)

कस्यचित्प्रागुत्कर्षमपकर्षं वाभिधाय पश्चात्तदन्यप्रतिपादनं व्याहतत्वम्।

यथा—

'हरन्ति हृदयं यूनां न नवेन्दुकलादयः।
वीक्ष्यते यैरियं तन्वी लोकलोचनचन्द्रिका ॥'

'विवक्षित पद पदार्थ की कोई उपयोगिता नहीं प्रतीत होती। यहाँ 'अधिकपदत्व' की शंका नहीं होनी चाहिए क्योंकि 'अपुष्टत्व' और 'अधिकपदत्व' में परस्पर भेद है। 'अधिकपदत्व' में तो पदार्थों की अन्वय-प्रतीति के ही साथ बाध का भी भान हो उठता है किन्तु 'अपुष्टत्व' में (जैसा कि उपर्युक्त उदाहरण में स्पष्ट है), अन्वय-प्रतीति के बाद ही बाध-प्रतीति हुआ करती है।

अनुवाद—'दुष्क्रमत्व' वह अर्थदोष है जिसे वस्तुओं के निबन्धन क्रम के अनौचित्य में देखा जाया करता है। जैसे कि—

'महाराज ! मुझे एक घोड़ा दे दीजिये अथवा न हो तो एक मदोन्मत्त गजराज ही दे डालिए।'

यहाँ 'दुष्क्रमत्व' स्पष्ट है क्योंकि 'अश्वयाचन' से पहले गजेन्द्र-याचन का उपनिबन्ध उचित होता।

[बहुमूल्य वस्तु की माँग पहले की जाती है जिसके न मिल सकने की दशा में अल्प मूल्य वस्तु की याचना का अवसर आता है। लोक में याचना का यही क्रम है। इसे बिगाड़ कर यहाँ कवि ने 'दुष्क्रमत्व' का आह्वान किया है]

अनुवाद—'ग्राम्यत्व' वह अर्थदोष है जिसे अविदग्ध मनुष्यों की सी बातचीत में देखा जाया करता है। जैसे कि—

'तू मेरे पास सोजा। प्रिये ! मैं अभी तेरे पास ही सोऊँगा।

यहाँ 'ग्राम्यत्व' स्पष्ट है क्योंकि यहाँ प्रेमी और प्रेमिका का यह प्रेम-प्रकाशन अविदग्धता और असभ्यता-पूर्ण बना रहा है।

अनुवाद—'व्याहतत्व' वह अर्थदोष है जिसे वहाँ देखा जाया करता है जहाँ किसी वस्तु का पहले उत्कर्ष या अपकर्ष दिखा कर बाद में उसके विपरीत अपकर्ष या उत्कर्ष वर्णन हुआ करता है। जैसे कि—

'नवोदित चन्द्र-चन्द्रिका आदि के दर्शन से युवा प्रेमियों का हृदय वश में नहीं हो पाता। उनका हृदय तो इस सुन्दरी के दर्शन से वश में हुआ करता है जो कि लोक-लोचन की चन्द्रिका है।

अत्र येषामिन्दुकला नानन्दहेतुस्तेषामेवानन्दाय तन्व्याश्चन्द्रिकात्वारोपः।

(५—अश्लीलत्व)

'हन्तुमेव प्रवृत्तस्य स्तब्धस्य विवरैषिणः।
यथाशु जायते पातो न तथा पुनरुन्नतिः॥'

अत्रार्थोऽश्लीलः।

(६—कष्टत्व)

'वर्षत्येतदहर्पतिर्न तु घनो धामस्थमच्छं पयः
सत्यं सा सवितुः सुता सुरसरित्पूरो यया प्लावितः।
व्यासस्योक्तिषु विश्वसित्यपि न कः, श्रद्धा न कस्य श्रुतौ
न प्रत्येति तथापि मुग्धहरिणी भास्वन्मरीचिष्वपः॥'

अत्र यस्मात्सूर्याद्वृष्टेर्यमुनायाश्च प्रभवस्तस्मात्तयोर्जलमपि सूर्यप्रभवम्। ततश्च सूर्यमरीचीनां जलप्रत्ययहेतुत्वमुचितम्, तथापि मृगी भ्रान्तत्वात्तत्र

यहां 'व्याहतत्व' इसलिए है क्योंकि पहले तो चन्द्र-चन्द्रिका को युवा प्रेमियों का आनन्द-निदान न बताया गया (अपकर्ष-वर्णन) और अब उनके आनन्द के हेतु-रूप में सुन्दरी पर चन्द्रिका का आरोप कर दिया गया (उत्कर्ष-वर्णन)।

अनुवाद—'अश्लीलत्व' वह अर्थदोष है जिसे व्रीडा, जुगुप्सा, अमङ्गल आदि-आदि के अभिव्यञ्जक अर्थ में देखा जाया करता है। जैसे कि—

'ऐसे क्रूरहृदय पुरुष का, जो मारने में लगा रहता है, अकड़ा रहा करता है और छिद्रान्वेषण में तत्पर हुआ करता है, पतन जितना शीघ्र संभव है उतना उत्थान नहीं।'

यहाँ 'अश्लीलत्व' स्पष्ट है क्योंकि यहाँ जो दूसरा अर्थ अभिव्यक्त हो रहा है—'जो सुरतक्रीड़ा में, योनि-ताड़न में लगा करता है, स्तब्ध है और योनिच्छिद्र को ढूँढ़ा करता है ऐसे दुष्ट शिश्न (पुरुषेन्द्रिय) का पतन जितना शीघ्र संभव है उतना उत्थान नहीं।' यह अश्लील है।

विमर्श—अर्थगत 'अश्लीलत्व' काव्य-साहित्य में इसलिये दोष माना गया है क्योंकि काव्य का प्रयोजन सरसोपदेश भी है। 'सरसोपदेश' और 'अश्लीलत्व' साथ नहीं रह सकते। सभ्यता और संस्कृति की रक्षा कविता का भी उद्देश्य है। इसलिये कविजन को अश्लीलता-पूर्ण विषयों की अवतारणा से बचना आवश्यक है। अन्यथा सहृदय हृदय में उद्वेग उत्पन्न हो सकता है, न कि भाव-संवेग जोकि रसास्वाद में ही संभव है। 'अश्लीलता' रस विघातक है। इसलिये दोष है।

अनुवाद—'कष्टत्व' वह अर्थदोष है जिसके कारण कोई अर्थ कष्टपूर्वक अवगत हुआ करता है। जैसे कि—

'वह सूर्य है जो कि अपने मण्डलान्तर्गत निर्मल जल की वर्षा किया करता है, मेघ भला यह वर्षा कैसे करे। वह सूर्यसुता यमुना है जो कि सुरनदी गङ्गा को आप्लावित किया करती है, न कि और कोई। भला कौन है जो महर्षि व्यास के वचन (सूर्य से वृष्टि की होने की बात) पर विश्वास न करे? ऐसा कौन है जिसे श्रुति पर ('आदित्याज्जायते वृष्टि' आदि श्रुति-वचन पर) श्रद्धा न हो? किन्तु यह मुग्ध मृगी ऐसी है जो सूर्यरश्मियों में जल की संभावना पर बिलकुल विश्वास नहीं करती।'

यहाँ 'कष्टत्व' है। यहां यह अप्रस्तुत अर्थ निकल रहा है—'वृष्टि और यमुना—दोनों का जल सूर्य से उत्पन्न होता है क्योंकि वृष्टि और यमुना—दोनों सूर्य से उत्पन्न हैं। इसलिये

अक्षप्रत्ययं न करोति। अयमप्रस्तुतोऽप्यर्थो दुर्बोधः, दूरे चास्मात्प्रस्तुतावबोध इति कष्टार्थत्वम्।

(७—अनवीकृतत्व)

'सदा चरति खे भानुः सदा वहति मारुतः।
सदा धत्ते भुवं शेषः सदा धीरोऽविकत्थनः॥'

अत्र सदेत्यनवीकृतत्वम्।

अत्रास्य पदस्य पर्यायान्तरेणोपादानेऽपि यदि नाम्यद्विच्छित्त्यन्तरं तदास्य दोषस्य सद्भाव इति कथितपदत्वाद्भेदः।

नवीकृतत्वं यथा—

'भानुः सकृद्युक्ततुरङ्ग एव रात्रिंदिवं गन्धवहः प्रयाति।
बिभर्ति शेषः सततं धरित्रीं षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः॥' इति।

सूर्यरश्मियों में जल की सम्भावना पर विश्वास उचित है किन्तु हरिणी मतिभ्रम में पड़ी है और उसे सूर्य-किरणों में पानी का विश्वास नहीं हो रहा है।' यह अप्रस्तुत अर्थ स्वयं कष्टसाध्य है और इसलिये इसके आधार पर निकलने वाला प्रस्तुत अर्थ अर्थात् नायक पर नायिका के अविश्वास का अभिप्राय और भी अधिक दुःसाध्य बन रहा है।

अनुवाद— 'अनवीकृतत्व' वह अर्थदोष है जिसे एक ही प्रकार से बिना किसी विच्छित्ता और नवीनता के किसी अर्थ के उपन्यास में देखा जाया करता है। जैसे कि—

सूर्य सदा आकाश में विचरण करता है, वायु सदा बहती रहा करती है, शेषनाग सदा पृथ्वी का भार वहन किया करते हैं और गम्भीर स्वभाव के लोग सदा आत्मश्लाघा-पराङ्मुख हुआ करते हैं।

यहाँ 'अनवीकृतत्व' है क्योंकि प्रत्येक बार 'सदा' के प्रयोग से चारों चरणों के अर्थ, विच्छित्ता और नवीनता से शून्य बन रहे हैं।

यहाँ 'कथितपदत्व' की आशङ्का नहीं होनी चाहिये क्योंकि 'कथितपदत्व' और 'अनवीकृतत्व' में परस्पर भेद है। यहाँ तो 'अनवीकृतत्व' स्पष्ट है क्योंकि 'सदा' पद के बदले इसके अन्य (सर्वदा, अजस्र आदि) पर्यायवाचक पद के प्रयोग में भी यहाँ किसी विच्छित्ता का आधान नहीं हो सकता (किन्तु 'कथितपदत्व' में पर्याय-परिवर्तन से दोष-शुद्धि सभी मानते हैं)।

उपर्युक्त सूक्ति में नवीनता का आधान इस प्रकार सम्भव है (जैसा कि महाकवि कालिदास की निम्न सूक्ति में स्पष्ट है)—

सूर्य एक बार ही अपने रथ में घोड़ों को जोता करता है, वायु, क्या रात और क्या दिन निरन्तर बहा करती है, शेष सदा पृथ्वी का भार वहन किया करता है और जो षष्ठांशवृत्ति (प्रजापालक) राजगण हैं उनका भी धर्म यह सतत कर्तव्यशीलता ही है।'

विमर्श— 'सदा चरति खे भानुः' में 'अनवीकृतत्व' और 'भानुः सकृद्युक्ततुरङ्ग एव' में नवीकृतत्व स्पष्ट है। नवीनता में चमत्कार है। निर्वेचन में चमत्कार कहाँ! 'सदा चरति' आदि में भी एक प्रकार के ही अर्थ का एक प्रकार से ही अभिधान है किन्तु 'भानुः सकृद्युक्ततुरङ्ग एव' आदि में भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्णित भिन्न-भिन्न वर्गों में संवलित एक अर्थ का उपन्यास किया हुआ है।

(८—निर्हेतुत्व)

'गृहीतं येनासीः परिभवभयान्नोचितमपि
प्रभावाद्यस्याभून्न खलु तव कश्चिन्न विषयः ।
परित्यक्तं तेन त्वमपि सुतशोकान्न तु भया-
द्विमोक्ष्ये शस्त्र ! त्वामहमपि यतः स्वस्ति भवते ॥'

अत्र द्वितीयशस्त्रमोचने हेतुर्नोक्त इति निर्हेतुत्वम् ।

(९—प्रकाशितविरुद्धत्व)

'कुमारस्ते नराधीश ! श्रियं समधिगच्छतु ।'

अत्र 'त्वं म्रियस्व' इति विरुद्धार्थप्रकाशनात्प्रकाशितविरुद्धत्वम् ।

(१०—संदिग्धत्व)

'अचला अबला वा स्युः सेव्या ब्रूत मनीषिणः ? ।'

अत्र प्रकरणाभावाच्छान्तशृङ्गारिणोः को वक्तेति निश्चयाभावात्सन्दिग्धत्वम् ।

अनुवाद—'निर्हेतुत्व' वह अर्थदोष है जिसे विना किसी हेतु के उपन्यस्त अर्थ में देखा जाया करता है । जैसे कि (वेणीसंहार, ३य अङ्क की यह सूक्ति)—

'अरे शस्त्र ! क्षात्रकृत तिरस्कार के भय से, ब्राह्मणोचित आचार के प्रतिकूल भी, तुझे, जिस मेरे पूज्य पिता ने ग्रहण किया, उनके प्रभाव से तू सर्वत्र अप्रतिहत और अप्रधृष्य रहता आया है । उन्होंने तेरा परित्याग कर दिया केवल पुत्र-शोक के कारण, किसी के डर से नहीं । अब मैं भी तुझे छोड़ रहा हूँ । जा तेरा कल्याण हो ।'

यहाँ 'निर्हेतुत्व' इसलिये है क्योंकि (जैसे द्रोण-कृत शस्त्रपरित्याग के लिये सुतशोक को हेतुरूप से उपन्यस्त किया गया है वैसे) अश्वत्थामा द्वारा किये जानेवाले शस्त्र-परित्याग के लिये कोई हेतु उपन्यस्त नहीं किया गया ।

अनुवाद—'प्रकाशितविरुद्धत्व' वह अर्थदोष है जिसे ऐसे अभिव्यङ्ग्य अर्थ में देखा जाया करता है जो कि विवक्षित अर्थ के प्रतिकूल लगा करता है । जैसे कि—

'महाराज ! आपके राजकुमार को राजलक्ष्मी मिले ।' यहां एक अर्थ प्रकाशित हो रहा है—'महाराज ! अब आप मर जाँय ।' और यह स्पष्ट है कि यह अर्थ यहां विवक्षित अभिप्राय के सर्वथा विरुद्ध है । इसलिए यहां 'प्रकाशितविरुद्धत्व' स्पष्ट है ।

अनुवाद—'संदिग्धत्व' वह अर्थदोष है जिसे ऐसे अर्थ में देखा जाया करता है जो कि संदिग्ध रहा करता है । जैसे कि—

'पण्डितगण ! आप ही बतावें कि (परमेश्वर की आराधना के लिये) पर्वत की शरण लूँ या (सुरत-सुख के लिये) अबलाओं की सेवा करूँ ।'

यहां 'संदिग्धत्व' इसलिये है क्योंकि प्रकरण के अभाव में यह निश्चय करना असम्भव है कि यहां का वक्ता शान्तप्रकृति का है या शृङ्गारी ।

विमर्श—काव्यप्रकाशकार ने 'संदिग्धत्व' के निदर्शन-रूप में यह काव्य-सूक्ति उद्धृत की थी—

'मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमार्याः समर्यादमुदाहरन्तु ।
सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणामुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम् ॥'

और साहित्यदर्पणकार ने इस को तोड़-मरोड़कर इस प्रकार बना दिया—

'अचला अबला वा स्युः सेव्या ब्रूत मनीषिणः ।'

(११—पुनरुक्तत्व

'सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः॥'
अत्र द्वितीयार्धे व्यतिरेकेण द्वितीयपादस्यैवार्थ इति पुनरुक्तता।

यहाँ यह स्पष्ट है कि विश्वनाथ कविराज की उदाहरण-सूक्ति काव्य-सूक्ति नहीं और तब यहाँ दोष-निरूपण भी निष्प्रयोजन ही है।

अनुवाद—'पुनरुक्तत्व' वह अर्थदोष है जिसे एक प्रकार से प्रतिपादित अर्थ के पुनः प्रकारान्तर से प्रतिपादन में देखा जाया करता है जैसे कि—

'सहसा कोई कार्य करना ठीक नहीं अविवेकिता ही आपदाओं की जननी है। संपदा तो स्वयं ही गुण खोजती है और विवेकी का स्वयंवरण किया करती है।'

यहाँ 'पुनरुक्तत्व' है क्योंकि (इस श्लोक के पूर्वार्द्ध के) द्वितीय पाद (अविवेकः परमापदां पदम्) का ही अर्थ उत्तरार्ध में व्यतिरेक द्वारा (वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव संपदः) उपन्यस्त किया हुआ है।

विमर्श—व्यक्तिविवेककार ने 'पुनरुक्तत्व' (पौनरुक्त्य) का बड़ा विशद विचार किया है। उनकी दृष्टि में 'आर्थ पौनरुक्त्य' एक महादोष है—

'पौनरुक्त्यमार्थमेवाभ्युपगन्तुं युक्तं न शाब्दं, तस्यार्थभेदे सत्यदुष्टत्वात्। अनुक्तं 'तस्य च शब्दपुनरुक्तं पृथग् वाच्यम्, अर्थपुनरुक्तत्वेनैव गतार्थत्वात्। न ह्यर्थभेदे शब्द साम्येऽपि कश्चिद्दोषः। यथा—

'हसति हसति स्वामिन्युच्चै रुदत्यपि रोदिति
धनलवपरिक्रीतं यन्त्रं प्रनृत्यति नृत्यति॥ इति

तदभेदे तु दुष्टमेव। अन्यत्र तात्पर्यभेदात्। तत्र भूषणमेव न दूषणम्। तस्यानुप्रासविशेषविषयत्वेनेष्टत्वात्। (व्यक्तिविवेक २य विमर्श)

अर्थात् 'अर्थपुनरुक्ति' के अतिरिक्त 'शब्दपुनरुक्ति' मानने की कोई आवश्यकता नहीं। 'शब्द पुनरुक्ति' स्वतः दोष भी नहीं क्योंकि अर्थभेद होने पर शब्द-साम्य में क्या दोष! अर्थ के एक होने पर ही शब्द-साम्य दोषावह हुआ करता है। किन्तु तात्पर्यभेद होने पर अर्थैक्य में भी शब्द साम्य निर्दुष्ट ही है।

इस 'पौनरुक्त्य' दोष में नाना प्रकारों की संभावना है जिन्हें 'व्यक्तिविवेककार' ने संक्षेप में निर्दिष्ट भी किया है—

'सामर्थ्यसिद्धस्यार्थस्य यथार्था पुनरुक्तता।
तात्पर्यभेदाच्छब्दस्य द्विरुक्तिः साध्वपीष्यते॥
पौनरुक्त्यमिति ह्येषा पौनरुक्त्यतया स्थितम्।
तत्र दूषणमेवाद्यमपरं भूषणं स्मृतम्॥
शब्दालङ्कारनिपुणैर्यदनुप्राससंश्रया।
तस्योदाहृतमेव प्राग् दूषणं तु वितन्यते॥
प्रकृतिप्रत्ययार्थाभ्यां पदवाक्यार्थ एव च।
विषयो बहुधा ज्ञेयः स क्रमेणोपदर्श्यते॥
अभिन्न एव धात्वर्थः प्रकृतेः प्रत्ययस्य च।
तत् पौनरुक्त्योपहतं पदमाहुर्विपश्चितः॥

(१२—प्रसिद्धिविरुद्धत्व)

प्रसिद्धिविरुद्धता यथा—

'ततश्चचार समरे शितशूलधरो हरिः।'

अत्र हरेः शूल लोकेऽप्रसिद्धम्।

यथा वा—

'पादाघातादशोकस्ते सञ्जाताङ्कुरकण्टकः।'

अत्र पादाघातादशोकेषु पुष्पमेव जायत इति प्रसिद्धं न त्वङ्कुर इति कविसमयख्यातिविरुद्धता।

(१३—विद्याविरुद्धत्व)

'अधरे करजक्षत मृगाक्ष्याः।'

विहितस्य बहुव्रीहे कर्मधारयशङ्कया।
शब्दस्य मत्वर्थीयादेर्व्यक्तैव पुनरुक्तता॥

पुनरुक्तिप्रकाराणामिति दिङ्मात्रमीरितम्।
विवेक्तुं को हि कार्त्स्न्येन शक्नोत्यवकरात्करम्॥' (व्यक्तिविवेक २य विमर्श)

साहित्यदर्पणकार द्वारा उदाहृत 'पुनरुक्तत्व' वस्तुत 'पौनरुक्त्य' का एक प्रकार है जिसे 'व्यक्तिविवेककार' ने इस प्रकार सकेतित किया है—

'वाक्यार्थविषय पौनरुक्त्यं यथा—

सहसा विदधीत न क्रियामविवेक परमापदा पदम्।
वृणते हि विमृश्यकारिण गुणलुब्धा स्वयमेव सपद.॥

अत्र हि अविवेकप्रयुक्तमविमृश्यकारित्वलक्षण सहसाकार्यकारित्व नामापदामविकलं कारणमिति तेपा कार्यकारणभावमन्वयवाक्येन प्रतिपाद्य पुन. कारणाभावरूप विमृश्यकारित्वमनूद्य तत्कार्यभूतविपदभावरूपाणा सपदा सद्भावो भणित इति व्यतिरेकवाक्येनापि तेपां कार्यकारणभाव एवाभिहित इति तस्य पुनरुक्तता। अन्वय-वाक्यादेव तदवगते.।'

(व्यक्तिविवेक २य विमर्श)

अनुवाद—'प्रसिद्धिविरुद्धत्व' वह अर्थदोष है जिसे लोक-प्रसिद्धि अथवा कवि-प्रसिद्धि के विरुद्ध किसी अर्थ के उपन्यास में देखा जाया करता है। जैसे कि—

'तव तीक्ष्ण शूल धारण किये भगवान् विष्णु सग्राम में विचरण करने लगे।'

यहाँ 'प्रसिद्धिविरुद्धत्व' स्पष्ट है क्योंकि लोक में विष्णु का शूल-धारण अप्रसिद्ध है (शूल-धारण तो वस्तुत महादेव के लिये प्रसिद्ध है, विष्णु के लिये नहीं)।

अथवा

'अरी सुन्दरी! तेरे पाद-प्रहार से यह अशोक-पादप अङ्कुरों से भर उठा है।'

यहाँ भी 'प्रसिद्धिविरुद्धत्व' है क्योंकि कवि समय के अनुसार, रमणी के चरण-प्रहार से, अशोक-पादप में पुष्पोद्गम प्रसिद्ध है, अङ्कुरोद्गम नहीं। पहले उदाहरण में तो लोक-प्रसिद्धि के विरुद्ध अर्थ के अभिधान में 'प्रसिद्धिविरुद्धत्व' रहा, किन्तु यहाँ कवि-समय-प्रसिद्धि के विरुद्ध अर्थ के वर्णन में 'प्रसिद्धिविरुद्धत्व' है।

अनुवाद—'विद्याविरुद्धत्व' वह अर्थदोष है जिसे व्याकरण-भिन्न शास्त्र के विरुद्ध प्रतीत होने वाले अर्थ के अभिधान में देखा जाया करता है (व्याकरण-भिन्न इसलिये क्योंकि

(११—पुनरुक्तत्व

'सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ॥'
अत्र द्वितीयार्धे व्यतिरेकेण द्वितीयपादस्यैवार्थ इति पुनरुक्तता ।

यहाँ यह स्पष्ट है कि विश्वनाथ कविराज की उदाहरण-सूचि क्रम-सूचि नहीं और तब यहाँ दोष-निरीक्षण भी निष्प्रयोजन ही है।

अनुवाद—'पुनरुक्तत्व' वह अर्थदोष है जिसे एक प्रकार से प्रतिपादित अर्थ के पुनः प्रकारान्तर से प्रतिपादन में देखा जाया करता है जैसे कि—

'सहसा कोई कार्य करना ठीक नहीं अविवेकिता ही आपदाओं की जननी है। संपदा तो स्वयं ही गुण खोजती है और विवेकी का स्वयंवरण किया करती है।

यहाँ 'पुनरुक्तत्व' है क्योंकि (इस श्लोक के पूर्वार्द्ध के) द्वितीय पाद (अविवेकः परमापदां पदम्) का ही अर्थ उत्तरार्ध में व्यतिरेक द्वारा (वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव संपदः) उपन्यस्त किया हुआ है।

विमर्श—व्यक्तिविवेककार ने 'पुनरुक्तत्व' (पौनरुक्त्य) का बड़ा विशद विचार किया है। उनकी दृष्टि में 'आर्थ पौनरुक्त्य' एक महादोष है—

'पौनरुक्त्यमार्थमेवाभ्युपगन्तुं युक्तं न शाब्दं तस्यार्थभेदे सत्यदुष्टत्वात्। अदुष्टं 'तच्च न शब्दपुनरुक्तं पृथग् वाच्यम्, अर्थपुनरुक्ततयैव गतार्थत्वात्। न ह्यर्थभेदे शब्दसाम्येऽपि कश्चिद्दोषः। यथा—

'हसति हसति स्वामिन्युच्चै रुदत्यपि रोदिति
प्रथितकणिकाकीर्णं चाम्भः प्रस्तौति सुप्यति ॥ इति

तदभेदे तु दुष्टैव। अन्यत्र तात्पर्यभेदात्। तच्च भूषणमेव न दूषणम्। तस्यानुप्रासविशेषविषयत्वेनेष्टत्वात्। (व्यक्तिविवेक : २य विमर्श)

अर्थात् 'अर्थपुनरुक्ति' के अतिरिक्त 'शब्दपुनरुक्ति' मानने की कोई आवश्यकता नहीं। 'शब्द पुनरुक्ति' स्वतः दोष भी नहीं क्योंकि अर्थभेद होने पर शब्द-साम्य में क्या दोष ! अर्थ के एक होने पर ही शब्द-साम्य दोषावह हुआ करता है। किन्तु तात्पर्यभेद होने पर अर्थैक्य में भी शब्द साम्य निर्दुष्ट ही है।

इस 'पौनरुक्त्य' दोष में नाना प्रकारों की संभावना है जिन्हें व्यक्तिविवेककार ने संक्षेप में निर्दिष्ट भी किया है—

'सामर्थ्यसिद्धस्यार्थस्य यथार्थो पुनरुक्तता ।
तात्पर्यभेदाच्छब्दस्य द्विरुक्तिः साऽपदिश्यते ॥
पौनरुक्त्यमिति द्वेधा पौनरुक्त्यतया स्थितम् ।
तत्र दूषणमेवाद्यमपरं भूषणं स्मृतम् ॥
शब्दालङ्कारनिपुणैर्लाटानुप्राससंज्ञया ।
तच्चोदाहृतमेव प्राग् दूषणं तु वितन्यते ॥
प्रकृतिप्रत्ययार्थोऽस्य पदवाक्यार्थ एव च ।
विषयो बहुधा ज्ञेयः स क्रमेणोपदर्श्यते ॥
अभिन्न एव यथार्थः प्रकृतेः प्रत्ययस्य च ।
तत् पौनरुक्त्योपहतं पदमाहुर्विपश्चितः ॥

(१२—प्रसिद्धिविरुद्धत्व)

प्रसिद्धिविरुद्धता यथा—

'ततश्चचार समरे शितशूलधरो हरिः ।'

अत्र हरेः शूलं लोकेऽप्रसिद्धम् ।

यथा वा—

'पादाघातादशोकस्ते सञ्जाताङ्कुरकण्टकः ।'

अत्र पादाघातादशोकेषु पुष्पमेव जायत इति प्रसिद्धं न त्वङ्कुर इति कविसमयख्यातिविरुद्धता ।

(१३—विद्याविरुद्धत्व)

'अधरे करजक्षतं मृगाक्ष्याः ।'

विहितस्य बहुव्रीहे कर्मधारयशङ्कया ।
शब्दस्य मत्वर्थीयादेर्व्यक्तैव पुनरुक्तता ॥

पुनरुक्तिप्रकाराणामिति दिङ्मात्रमीरितम् ।
विवेक्तुं को हि कार्त्स्न्येन शक्नोत्यवकरात्करम् ॥'(व्यक्तिविवेक २य विमर्श)

साहित्यदर्पणकार द्वारा उदाहृत 'पुनरुक्तत्व' वस्तुत 'पौनरुक्त्य' का एक प्रकार है जिसे 'व्यक्तिविवेककार' ने इस प्रकार सकेतित किया है—

'वाक्यार्थविषय पौनरुक्त्यं यथा—

सहसा विदधीत न क्रियामविवेक परमापदा पदम् ।
वृणते हि विमृश्यकारिण गुणलुब्धा स्वयमेव सपद. ॥

अत्र हि अविवेकप्रयुक्तमविमृश्यकारित्वलक्षण सहसाकार्यकारित्वं नामापदामविकल कारणमिति तेषा कार्यकारणभावमन्वयवाक्येन प्रतिपाद्य पुन. कारणाभावरूप विमृश्यकारित्वमनूद्य तत्कार्यभूतविपदभावरूपाणा सपदा सद्भावो भणित इति व्यतिरेकवाक्येनापि तेषा कार्यकारणभाव एवाभिहित इति तस्य पुनरुक्तता । अन्वय-वाक्यादेव तदवगते. ।'

(व्यक्तिविवेक २य विमर्श)

अनुवाद—'प्रसिद्धिविरुद्धत्व' वह अर्थदोष है जिसे लोक-प्रसिद्धि अथवा कवि-प्रसिद्धि के विरुद्ध किसी अर्थ के उपन्यास में देखा जाया करता है । जैसे कि—

'तब तीक्ष्ण शूल धारण किये भगवान् विष्णु सग्राम में विचरण करने लगे ।'

यहाँ 'प्रसिद्धिविरुद्धत्व' स्पष्ट है क्योंकि लोक में विष्णु का शूल-धारण अप्रसिद्ध है (शूल-धारण तो वस्तुत महादेव के लिये प्रसिद्ध है, विष्णु के लिये नहीं) ।

अथवा

'अरी सुन्दरी ! तेरे पाद-प्रहार से यह अशोक-पादप अङ्कुरों से भर उठा है ।'

यहाँ भी 'प्रसिद्धिविरुद्धत्व' है क्योंकि कवि समय के अनुसार, रमणी के चरण-प्रहार से, अशोक-पादप में पुष्पोद्गम प्रसिद्ध है, अङ्कुरोद्गम नहीं । पहले उदाहरण में तो लोक-प्रसिद्धि के विरुद्ध अर्थ के अभिधान में 'प्रसिद्धिविरुद्धत्व' रहा, किन्तु यहाँ कवि-समय-प्रसिद्धि के विरुद्ध अर्थ के वर्णन में 'प्रसिद्धिविरुद्धत्व' है ।

अनुवाद—'विद्याविरुद्धत्व' वह अर्थदोष है जिसे व्याकरण-भिन्न शास्त्र के विरुद्ध प्रतीत होने वाले अर्थ के अभिधान में देखा जाया करता है (व्याकरण-भिन्न इसलिये क्योंकि

अत्र शृङ्गार (काम) शास्त्रविरुद्धत्वाद्विद्याविरुद्धता ।

एवमन्यशास्त्रविरुद्धत्वमपि ।

(१४—साकाङ्क्षत्व)

'ऐशस्य धनुषो भङ्गं क्षत्रस्य च समुन्नतिम् ।
स्त्रीरत्नं च कथं नाम मृष्यते भार्गवोऽधुना ॥'

अत्र स्त्रीरत्नमुपेक्षितुमिति साकाङ्क्षता ।

(१५—सहचरभिन्नत्व)

'सज्जनो दुर्गतौ मग्नः कामिनी गलितस्तनी ।
खलः पूज्यः समज्यायां तापाय मम चेतसः ॥'

अत्र सज्जनः कामिनी च शोभनौ तत्सहचरः खलोऽशोभन इति सहचर-भिन्नत्वम् ।

(१६—अस्थानयुक्तत्व)

'आज्ञा शक्रशिखामणिप्रणयिनी शास्त्राणि चक्षुर्नवं

व्याकरण के विरुद्ध अभिधान में तो 'च्युतसंस्कारत्व' का नित्यदोष एक पृथक् दोष है ही)। जैसे कि—

'मृगनयनी के अधर पर यह नखक्षत आदि ।

यहाँ 'विद्याविरुद्धत्व' है क्योंकि यहाँ 'अधर पर नखक्षत' का जो वर्णन है वह काम-शास्त्र के विरुद्ध है ।

इसी भाँति अन्यान्य शास्त्रों के विपरीत अर्थों के अभिधान में भी 'विद्याविरुद्धत्व' ही माना जाया करता है ।

अनुवाद—'साकाङ्क्षत्व' वह अर्थदोष है जिसे ऐसे अर्थ के अभिधान में देखा जाया करता है जिसकी आकांक्षा तो बनी रह किन्तु जिसका प्रतिपादन न किया जाय । जैसे कि—

अब भला भार्गव परशुराम के लिये यह कैसे सम्भव हो कि वे शिव-पिनाक का भङ्ग और क्षत्रिय जाति का उत्कर्ष और साथ ही साथ स्त्रीरत्न (की उपेक्षा) सहन कर लें ।

यहाँ 'साकाङ्क्षत्व' है क्योंकि यहाँ स्त्रीरत्न की 'उपेक्षा' के अर्थ की आकांक्षा बनी है किन्तु इसे प्रतिपादित नहीं किया गया है ।

विमर्श—अर्थ की निराकाङ्क्ष प्रतीति के बिना रसास्वाद संभव नहीं । इसलिये साकाङ्क्ष अर्थ के उपन्यास में दोष की मान्यता आवश्यक है ।

अनुवाद—'सहचरभिन्नत्व' वह अर्थदोष है जिसे सजातीय अर्थों के बीच किसी विजातीय अर्थ के उपनिबन्ध में देखा जाया करता है । जैसे कि—

'दुर्गति में पड़ा सज्जन पुरुष उन्नत स्तनों से रहित सुन्दरी और सभा में पूजा पाने वाला दुष्ट—ये तीनों मेरे चित्त में चुभा करते हैं ।

यहाँ 'सहचरभिन्नत्व' स्पष्ट है क्योंकि 'सज्जन' और 'सुन्दरी' के शोभन अर्थों के साथ 'दुष्ट' के अशोभन अर्थ का उपन्यास किया हुआ है ।

अनुवाद—'अस्थानयुक्तत्व' वह अर्थदोष है जिसे अनुपयुक्त स्थान पर प्रयुक्त होने वाले वाक्यार्थ में देखा जाया करता है जैसे कि—(महाकवि राजशेखर के 'बालरामायण' के प्रथम अङ्क की यह सूक्ति)—

'जिसकी आज्ञा मुकुट-मणि की भाँति इन्द्र को भी शिरोधार्य है जिसके लिये शास्त्र

भक्तिर्भूतपतौ पिनाकिनि पदं लङ्केति दिव्या पुरी।
उत्पत्तिर्द्रुहिणान्वये च तदहो नेदृग्वरो लभ्यते
स्याच्चेदेष न रावण क नु पुनः सर्वत्र सर्वे गुणाः॥'

अत्र न रावण इत्येतावतैव समाप्यम्।

(१७—अविशेष में विशेष)

हीरकाणां निधेरस्य सिन्धोः किं वर्णयामहे।'

अत्र रत्नानां निधेरित्यविशेष एव वाच्यः।

(१८—अनियम में नियम)

'आवर्त्त एव नाभिस्ते नेत्रे नीलसरोरुहे।
भङ्गाश्च वलयस्तेन त्वं लावण्याम्बुवापिका॥'

अत्रावर्त एवेति नियमो न वाच्यः।

(१९—विशेष में अविशेष)

'यान्ति नीलनिचोलिन्यो रजनीष्वभिसारिकाः।'

नवीन दिव्य दृष्टि का कार्य किया करते हैं, जिसकी शिवभक्ति सर्वविदित है, जिसका दिव्य स्थान लङ्कापुरी के नाम से प्रसिद्ध है और जिसका जन्म ब्रह्मा के महान् वंश में हुआ है उसके समान भला और कोई वर कहाँ मिले! बस एक बात है कि यह 'रावण' है। किन्तु सब गुण सर्वत्र रहते कहाँ हैं?'

यहाँ 'अस्थानयुक्तत्व' है क्योंकि यहाँ के वाक्यार्थ को, जिसे 'स्याच्चेदेष न रावण' पर ही समाप्त हो जाना चाहिये (क्योंकि 'रावण' पद से ही 'वर के रूप में रावण के निषेध' की 'अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनि' प्रतीत हो उठती है), अनुपयुक्तस्थान पर समाप्त किया गया है ('क नु पुन सर्वत्र सर्वे गुणा' पर वाक्यार्थ का समाप्त होना तो अनुचित है क्योंकि यह विवक्षित अर्थ के विरुद्ध पड़ता है)।

अनुवाद—'अविशेष में विशेष' वह अर्थदोष है जिसे सामान्य-कथन के बदले विशेष-कथन में देखा जाया करता है (जिससे विवक्षित अर्थ-प्रतीति में विलम्ब पड़ता है और रसभाव-प्रतीति भी विलम्ब से हो पाती है)। जैसे कि—

'हीरों के निधान इस समुद्र का क्या वर्णन करें' आदि।

यहाँ 'अविशेष मे विशेष' का अर्थदोष स्पष्ट है क्योंकि यहाँ 'रत्नों के निधान' इस सामान्य-कथन के बदले 'हीरों के निधान' इस विशेष-कथन से अभिप्रेत अर्थ-प्रतीति में विलम्ब लग रहा है।

अनुवाद—'अनियम में नियम' वह अर्थदोष है जिसे अनियमत. कथन के बदले नियमाभिधान में देखा जाया करता है। जैसे कि—

'तेरी नाभि आवर्त ही ठहरी, तेरे नेत्र नीलकमल रहे और तेरी त्रिवली तरङ्ग है—अरी! सचमुच ही तू लावण्य की जलवापी है।'

यहाँ 'अनियम में नियम' का दोष स्पष्ट है क्योंकि 'आवर्त एव' इस नियमाभिधान की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

अनुवाद—'विशेष में अविशेष' वह अर्थदोष है जिसे विशेष-वचन के बदले सामान्य के अभिधान में देखा जाया करता है। जैसे कि—

'नीले वस्त्र पहन कर अभिसारिकायें रातों में निकल रही हैं।'

अत्र तमिस्रास्विति रजनीविशेषो वाच्य'।

(१०—नियम में अनियम)

'आपातसुरसे भोगे निमग्नाः किं न कुर्वते।'

अत्र आपात एवेति नियमो वाच्य'।

ननु वाच्यस्यानभिधाने 'व्यतिक्रमलक्षम्' इत्यादावपेरभावः, इह चैवकारस्येति कोऽनयोर्भेदः। अत्राह—'नियमस्य वचनमेव पृथग्भूतं नियमपरिवृत्ते विषय' इति, तत्र तथा सत्यपि द्वयो' शब्दार्थदोषतायां नियामकाभावात्।

तस्मा गतिरिति चेत्? 'व्यतिक्रमलक्षम्' इत्यादौ शब्दोच्चारणानन्तरमेव दोषप्रतिभासः, इह त्वर्थप्रत्ययानन्तरमिति भेद'। एवं च शब्दपरिवृत्तिसहत्वा

यहाँ 'विशेष में अविशेष' का दोष है क्योंकि यहाँ 'रजनी' (रात) इस सामान्य वचन का कोई प्रयोजन नहीं यहाँ तो 'तमिस्रा' (अँधेरी रात) इस विशेष-वचन का स्वारस्य है (क्योंकि नीलाभिषोक वाली रमणियों के अभिसार के लिए इसी की उपयोगिता है)।

अनुवाद—*'नियम में अनियम' यह अर्थदोष है जिसे नियमतः अभिधान के बदले अनियम से अभिधान में देखा जाया करता है।* जैसे कि—

'आरम्भ में अच्छे लगने वाले विषय-सुख में डूबे लोग सभी प्रकार के अकार्य किया करते हैं।'

यहाँ 'नियम में अनियम' का दोष दिखायी दे रहा है क्योंकि यहाँ 'आपातसुरसे'—'आरम्भ में अच्छे लगने वाले' इस अनियमतः अभिधान के बदले 'आपात एव सुरसे'—'आरम्भ में ही अच्छे लगने वाले' इस नियमाभिधान की आवश्यकता प्रतीत होती है (क्योंकि तभी 'अन्य समय के व्यावर्तन' का अपेक्षित अभिप्राय निकल सकता है)।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि 'वाच्यानभिधान' और 'नियमेऽनियमाभिधान' में भेद क्या? जैसे 'व्यतिक्रमलक्षम्' आदि में 'अपि' के अभाव में 'वाच्यानभिधान' वैसे ही यहाँ 'आपातसुरसे' आदि में 'एव' के अभाव में 'नियमेऽनियमाभिधान'! इसका यह उत्तर कि 'नियमेऽनियमाभिधान' तो एक विशेष बात है जो कि नियम के अकथन में देखी जाती है और जिसके कारण नियमपरिवृत्ति अथवा नियम में अनियम के अभिधान का दोष उत्पन्न होता है किन्तु 'वाच्यावचन' वह है जिसे नियमद्योतक पद के अतिरिक्त भी पद के अभाव में देखा जाया करता है, ठीक नहीं जँचता। बात यह है कि यदि ऐसा मान भी लिया जाय तब भी न तो 'वाच्यानभिधान' को शब्ददोष सिद्ध करने का कोई कारण बताया जा सकता है और न 'नियमेऽनियमाभिधान' को अर्थदोष मानने का (क्योंकि जब कि दोनों में वक्तव्य पद का अभाव ही कारण है तब दोनों को पददोष क्यों न मान लिया जाय)।

किन्तु यहाँ एक बात है और वह यह है—'वाच्यानभिधान' के प्रसङ्गों—जैसे कि 'व्यतिक्रमलक्षम्' आदि—में तो ऐसा होता है कि शब्दोच्चारण के बाद ही दोष का ज्ञान हो उठता है किन्तु 'नियमेऽनियमाभिधान' के स्थल पर, जैसे कि 'आपातसुरसे' आदि में अर्थबोध के बाद पता चलता है कि कुछ खटक रहा है। इस प्रकार प्राचीन आलङ्कारिकों द्वारा मान्य शब्दार्थदोष-व्यवस्था का यह सिद्धान्त कि 'शब्ददोष वह है जो शब्द बदलने से हट जाय और अर्थदोष वह जो शब्द बदलने पर भी न हटे' अन्ततोगत्वा इस

सहत्वाभ्यां पूर्वैराद्दतोऽपि शब्दार्थदोषविभाग एवं पर्यवस्यति—यो दोषः शब्द-परिवृत्त्यसहः स शब्ददोष एव। यश्च पदार्थान्वयप्रतीतिपूर्वबोध्यः सोऽपि शब्ददोषः। यश्चार्थप्रतीत्यनन्तरं बोध्यः सोऽर्थाश्रय इति। एवं चानियमपरिवृत्तित्वादेरप्यधिकपदत्वाद् भेदो बोद्धव्यः। अमतपरार्थत्वे तु 'राममन्मथशरेण—' इत्यादौ नियमेन वाक्यव्यापित्वाभिप्रायाद्वाक्यदोषता। अश्लीलत्वादौ तु न नियमेन वाक्यव्यापित्वम्।

(२१—विध्ययुक्तत्व)

'आनन्दितस्वपक्षोऽसौ परपक्षान् हनिष्यति।'

अत्र परपक्ष हत्वा स्वपक्षमानन्दयिष्यतीति विधेयम्।

(२२—अनुवादायुक्तत्व)

'चण्डीशचूडाभरण! चन्द्र! लोकतमोपह!।
विरहिप्राणहरण! कदर्थय न मां वृथा॥'

अत्र विरहिण उक्तौ तृतीयपादस्यार्थो नानुवाद्यः।

रूप में परिनिष्ठित होता है—'वह दोष, जो शब्द-परिवर्तन के वाद भी बना रहे, शब्द-दोष है और वह दोष भी शब्ददोष ही है जो कि पदार्थों के अन्वय-वोध के पहले ही प्रतीत हो जाता है। इसके विपरीत अर्थदोष वह है जिसका पता अर्थबोध के वाद लगा करता है'। इस परिनिष्ठित सिद्धान्त का अनुसरण करने से यह भी निर्धारित हो जाता है कि 'अनियमपरिवृत्ति' आदि अर्थदोष 'अधिकपदत्व' आदि पददोषों से सर्वथा भिन्न प्रकार के दोष हैं।

यहाँ एक और भी वात ध्यान में रखनी चाहिये और वह यह है—'अमतपरार्थत्व' में भी अर्थप्रतीति के वाद दोष-प्रतिभास होता है जैसा कि 'राममन्मथशरेण' आदि प्रसङ्गों में स्पष्ट है किन्तु इसे अर्थदोष न मान कर वाक्यदोप ही माना जाया करता है क्योंकि वह दोष वस्तुत समस्त वाक्य में व्याप्त होने से वाक्यदोष ही कहा जा सकता है। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि 'हन्तुमेव प्रवृत्तस्य' आदि में 'अश्लीलत्व' भी, वाक्य-व्यापक होने से, वाक्यदोष मान लिया जाय क्योंकि यहाँ यह आवश्यक नहीं की अश्लीलता समस्त वाक्य में ही व्याप्त हो (क्योंकि यहाँ यह 'अश्लीलता' 'हन्तुमेव' आदि वाक्यांश में भी है और 'विवरैपिण' आदि पद में भी)।

अनुवाद—'विध्ययुक्तत्व' वह अर्थदोष है जिसे विधेय के अयोग्य अर्थ में विधेय-तात्पर्य का समर्पण कहा जाया करता है। जैसे कि—

'अपने पक्ष को आनन्दित करने वाला वह राजा परपक्ष का सहार कर डालेगा।'

यहा 'विध्ययुक्तत्व' है क्योंकि यहाँ जो विधेय है वह यह है—'परपक्ष का सहार कर यह राजा अपने पक्ष के लोगों को प्रसन्न कर देगा।' इस विधेय के वदले, यहाँ ऐसे अर्थ को विधेय वनाया गया है जो कि वस्तुत विधेय वनने के योग्य नहीं।

अनुवाद—'अनुवादायुक्तत्व' वह अर्थदोप है जिसे ऐसे उद्देश्य के अभिधान में देखा जाया करता है जो कि विधेय के अनुकूल नहीं प्रतीत हुआ करता। जैसे कि—

'हे चण्डीशचूडाभरण! हे ससार के तमोनाशक! हे विरहिप्राणहरण चन्द्र! मुझे व्यर्थ के लिये तग न कर।'

(१९—निर्मुक्तपुनरुक्तत्व)

'लग्नं रागावृताङ्ग्या सुदृढमिह ययैवासियष्टयारिकण्ठे
मातङ्गानामपीहोपरि परपुरुषैर्या च दृष्टा पतन्ती ।
तत्सक्तोऽयं न किञ्चिद्गणयति विदितं तेऽस्तु तेनास्मि दत्ता
भृत्येभ्यः श्रीनियोगाद्गदितुमिति गतेवाम्बुधिं यस्य कीर्तिः ॥'

अत्र विदितं तेऽस्त्वित्यनेन समापितमपि वचनं तेनेत्यादिना पुनरुपात्तम् ।

(रसदोष : स्वरूप तथा प्रकार-निरूपण)

अथ रसदोषानाह—

रसस्योक्तिः स्वशब्देन स्थायिसंचारिणोरपि ॥ १२ ॥
परिपन्थिरसाङ्गस्य विभावादेः परिग्रहः ।
आक्षेपः कल्पितः कृच्छ्रादनुभावविभावयोः ॥ १३ ॥
अकाण्डे प्रथनच्छेदौ तथा दीप्तिः पुनः पुनः ।

यहाँ 'अनुचितार्थत्व' स्पष्ट है क्योंकि जब कि यहाँ का वक्ता एक विरही है तब इस सूक्ति के तृतीय चरण ('विरहिमाण्डहरण') का अर्थ क्योंकर उचित चन्द्रोदय के रूप में समझा जा सकता है ! (अर्थात् चन्द्र के विशेषणरूप में 'विरहिमाण्डहरण' का उपन्यास ठीक नहीं क्योंकि कोई विरही किसी ऐसी वस्तु से जोकि विरहिमाण्डहरण' हो, प्राणभिक्षा क्योंकर माँग सके !)

अनुवाद—'निर्मुक्तपुनरुक्तत्व वह अर्थदोष है जिसे वहाँ देखा जाया करता है जहाँ पहले समाप्त की हुई बात पुनः प्रतिपादित की जाया करती है। जैसे कि—

'इस राजा की कीर्ति लक्ष्मी के पिता समुद्र के पास पहुँच रही है और लक्ष्मी की आज्ञा से उसे मानो यह सन्देश दे रही है कि 'यह राजा तो मुझ लक्ष्मी को कुछ समझता नहीं, यह तो उस तलवार का प्रेमी बना है जो कि 'रागावृताङ्गी' (रक्त से सनी और प्रेम में पगी) शत्रुओं के गले लगा करती है और जिसे हजारों लोग मातङ्गों (हाथियों और नीच चाण्डालों) के ऊपर भी गिरती-पड़ती देखा करते हैं। इस राजा ने मुझे अपने भृत्यों तक को सौंप दिया है—यह भी जान लेना।'

यहाँ 'निर्मुक्तपुनरुक्तत्व' स्पष्ट है क्योंकि यहाँ वाक्यार्थ तो 'विदितं तेऽस्तु' पर ही समाप्त हो चुका था किन्तु इसे 'तेनास्मि'आदि के द्वारा पुनः प्रतिपादित किया गया।

अनुवाद—अब रस-सम्बन्धी दोषों का निरूपण किया जा रहा है। रस-दोष ये हैं—

(१) रस की स्वशब्द-वाच्यता (रसस्य स्वशब्दवाच्यत्वम्)
(२) स्थायिभाव की स्वशब्दवाच्यता (स्थायिनः स्वशब्दवाच्यत्वम्)
(३) व्यभिचारिभाव की स्वशब्द-वाच्यता (व्यभिचारिणः स्वशब्द-वाच्यत्वम्)
(४) प्रकृतरस-विरुद्धविभावादियोजना (परिपन्थिरसाङ्गग्रहणम्)
(५) अनुभाव की कष्ट-कल्पना (कष्टकल्पितानुभावत्वम्)
(६) विभाव की कष्ट-कल्पना (कष्टकल्पितविभावत्वम्)
(७) अकाण्ड में रस-विस्तार (अकाण्डे रसप्रथनम्)

अङ्गिनोऽननुसंधानमनङ्गस्य च कीर्तनम् ॥ १४ ॥
अतिविस्तृतिरङ्गस्य प्रकृतीनां विपर्ययः ।
अर्थानौचित्यमन्यच्च दोषा रसगता मताः ।

(१—रस की स्वशब्दवाच्यता)

रसस्य स्वशब्दो रसशब्दः शृङ्गारादिशब्दश्च ।

क्रमेण यथा—

'तामुद्वीक्ष्य कुरङ्गाक्षीं रसो नः कोऽप्यजायत ।'
'चन्द्रमण्डलमालोक्य शृङ्गारे मग्नमन्तरम् ।'

(२—स्थायिभाव की स्वशब्दवाच्यता)

स्थायिभावस्य स्वशब्दवाच्यत्वं यथा—

'अजायत रतिस्तस्यास्त्वयि लोचनगोचरे ।'

(३—व्यभिचारिभाव की स्वशब्दवाच्यता)

व्यभिचारिण' स्वशब्दवाच्यत्वं यथा—

---

(८) अकाण्ड में रसच्छेद (अकाण्डे रसच्छेद)
(९) पुन पुन रस-दीप्ति (पुन पुन रसोद्दीप्ति)
(१०) अङ्गी रस का अननुसधान (अङ्गिरसाननुसधानम्)
(११) प्रकृत रस के अनुपकारक का अति विस्तृत वर्णन (अनङ्गरसकीर्तनम्)
(१२) अङ्गभूत रस-भावादि का अतिविस्तार (अङ्गरसातिविस्तृतिः)
(१३) प्रकृति-विपर्यय
(१४) अर्थानौचित्य

अनुवाद—रसदोषों के उदाहरण क्रमशः दिये जा रहे हैं । सर्वप्रथम 'रस की स्वशब्द-वाच्यता' वह रसदोष है जिसे आस्वादात्मक रसरूप अनुभव अथवा उसके प्रकार-वैचित्र्य का 'रस' अथवा 'शृङ्गार' आदि वाचक पदों द्वारा अभिधान किया गया है । जैसे कि—

'उस मृगनयनी को देखकर हम लोगों में एक अपूर्व रस उत्पन्न हुआ ।'

अथवा

'चन्द्रमण्डल को देखकर हृदय शृङ्गार में डूब गया ।'

विमर्श—'रस' शब्द के प्रयोग से न तो रस उपस्थित होता है और न 'शृङ्गार' शब्द के प्रयोग से शृङ्गार । रस तो एक अखण्ड स्वप्रकाशानन्दरूप सवेदन है । यह एकमात्र अभिव्यङ्ग्य तत्त्व है । इसे कदापि वाच्य नहीं बनाया जा सकता । इसे वाच्य बनाने में कोई चमत्कार नहीं मिल सकता । इसीलिए 'रस की स्वशब्दवाच्यता' एक रसदोष के रूप में मान्य है ।

अनुवाद—'स्थायिभाव की स्वशब्दवाच्यता', जैसे कि—

'तुम पर दृष्टिपात क्या हुआ, उसके हृदय में रति उत्पन्न हो गयी ।'

[यहाँ शृङ्गार रस के स्थायी भाव रति को उसके वाचक शब्द द्वारा अभिहित किया गया है । इस अभिधान से सहृदय हृदय में रति की अभिव्यञ्जना कहाँ ?]

अनुवाद—'व्यभिचारिभाव की स्वशब्दवाच्यता', जैसे कि—

'जाता लज्जावती मुग्धा प्रियस्य परिचुम्बने।'

अत्र प्रथमे पादे 'आसीन्मुकुलिताक्षी सा' इति लज्जाया अनुभावमुखेन कथने युक्तः पाठः।

(४—प्रकृत रस-विरुद्ध विभावादि-योजना)

'मानं मा कुरु तन्वङ्गि ! ज्ञात्वा यौवनमस्थिरम्।'

अत्र यौवनास्थैर्यनिवेदनं शृङ्गाररसस्य परिपन्थिनः शान्तरसस्याङ्गं शान्तस्यैव च विभाव इति शृङ्गारे तत्परिग्रहो न युक्तः।

(५—अनुभाव की कष्टकल्पना)

'धवलयति शिशिररोचिषि भुवनतलं लोकलोचनानन्दे।
ईषत्क्षिप्तकटाक्षा स्मेरमुखी सा निरीक्ष्यतां तन्वी॥'

अत्र रसस्योद्दीपनालम्बनविभावावनुभावपर्यवसायिनौ स्थिताविति कष्टकल्पना।

'प्रियतम के परिचुम्बन में वह मुग्धा लजा गयी।

[यहाँ लज्जा के व्यभिचारिभाव का उसके वाचक पद द्वारा ही उपस्थापन है उससे रति की अभिव्यञ्जना का सम्बन्ध नहीं और न उसमें सहृदय-हृदय को ही स्पर्श करने का सामर्थ्य है।]

यहाँ यदि प्रथम चरण में 'आसीन्मुकुलिताक्षी सा' (उसकी आँखें मुकुलित हो गयीं) कर दिया जाय तो 'लज्जा' रूप व्यभिचारी भाव अनुभाव द्वारा अभिव्यक्त होने लगे और यह दोष भी हट जाय।

अनुवाद—'प्रकृत रस-विरुद्ध विभावादि-योजना' जैसे कि—

अरी सुन्दरी ! यौवन टिकने वाला नहीं। तू अपना मान छोड़।

यहाँ शृङ्गार रस का प्रसङ्ग है और इसलिए यहाँ उसके विरोधी शान्त रस के अङ्गभूत और शान्त के ही विभावरूप से उपयुक्त 'यौवन के अस्थैर्य' का वर्णन सर्वथा अनुचित है।

विमर्श—विरोधी रस के उपयुक्त विभावादि का परिग्रह एक भयङ्कर रसदोष है। ध्वनिकार श्री आनन्दवर्धनाचार्य ने इसे इस प्रकार प्रतिपादित किया है—

'प्रस्तुतरसापेक्षया विरोधी यो रसस्तस्य सम्बन्धिनां विभावभावानुभावानां परिग्रहो रसविरोधहेतुकः संभवनीयः। तत्र विरोधिरसविभावपरिग्रहो यथा शान्तरसविभावेषु तद्विभावतयैव निरूपितेष्वनन्तरमेव शृङ्गारादिविभाववर्णने। विरोधिरसभावपरिग्रहो यथा प्रियं प्रति प्रणयकलहकुपितासु कामिनीषु वैराग्यकथाभिरनुनये।

(ध्वन्यालोक ३य उद्योत)।

अनुवाद—'अनुभाव की कष्टकल्पना' जैसे कि—

'तिरछी चितवनों और मिठहँसते मुखवाली उस सुन्दरी को तब देखो जब कि संसार के नेत्रों को आनन्दित करने वाले चन्द्रमा की शीतल चाँदनी चारों ओर छिटक रही हो।'

यहाँ शृङ्गार के उद्दीपनविभाव 'चन्द्रदर्शन' और आलम्बनविभाव 'वर्णित नायिका' दोनों के द्वारा 'नायकनयन के आह्लाद' रूप अनुभाव का बड़ी कष्ट-कल्पना से पता चल पाता है और इस विलम्ब में रसास्वाद भी कष्टसाध्य हो जाता है (क्योंकि यहाँ जब तक नायकनिष्ठ अनुभाव का उपनिबन्ध न किया जाय तब तक नायकगत शृङ्गार की अभिव्यक्ति कैसे हो)।

(६—विभाव की कष्ट-कल्पना)

'परिहरति रतिं मतिं लुनीते स्खलतितरां परिवर्तते च भूयः ।
इति बत विषमा दशाऽस्य देहं परिभवति प्रसभं किमत्र कुर्मः ॥'

अत्र रतिपरिहारादीनां करुणादावपि सम्भवात्कामिनीरूपो विभावः कृच्छ्राद्राक्षेप्यः ।

(७—अकाण्ड में रसविस्तार)

अकाण्डे प्रथनं यथा—वेणीसंहारे द्वितीयेऽङ्के प्रवर्तमानानेकवीरसंक्षयेऽकाले दुर्योधनस्य भानुमत्या सह शृङ्गारप्रथनम् ।

(८—अकाण्ड में रसच्छेद)

छेदो यथा—वीरचरिते राघवभार्गवयोर्धाराधिरूढेऽन्योन्यसंरम्भे 'कङ्कणमोचनाय गच्छामी'ति राघवस्योक्तिः ।

(९—पुन. पुन' रसदीप्ति)

पुनः पुनर्दीप्तिर्यथा—कुमारसभवे रतिविलापे ।

(१०—अङ्गी रस का अननुसंधान)

अङ्गिनोऽननुसंधानं यथा—रत्नावल्या चतुर्थेऽङ्के बाभ्रव्यागमने सागरिकाया विस्मृतिः ।

अनुवाद—'विभाव की कष्टकल्पना', जैसे कि—

'मेरे मित्र की दशा बड़ी बुरी है । इसे न तो किसी वस्तु की कोई स्पृहा होती है और न यह धैर्य ही धर पाता है, अकारण ही यह कुछ इधर-उधर की बोल पड़ता है और सदा करवटें बदला करता है । समझ में नहीं आता कि क्या किया जाय ।'

यहाँ 'स्पृहा के निराकरण' (रतिपरिहार) आदि अनुभाव ऐसे हैं जो करुण रस में भी सभव हैं और इसलिये इनके द्वारा यहाँ का 'कामिनी'रूप आलम्बन विभाव बड़े कष्ट से पता चल पाता है (जिसमें रसभग स्पष्ट है)।

अनुवाद—'अकाण्ड अथवा अनवसर में रसविस्तार', जैसे कि—

वेणीसहार के द्वितीय अङ्क में, जहाँ महाभयङ्कर नरसहार मचा हुआ है, असमय में ही, दुर्योधन और भानुमती का जो प्रेम-प्रकाशन है वह अकाण्ड में शृङ्गार का विपुल वर्णन होने से एक महादोष है ।

अनुवाद—'अकाण्ड अथवा अनवसर में रसच्छेद', जैसे कि—

'महावीरचरित' में, जहाँ राम और परशुराम का वीरदर्प उमड़ा पड़ रहा है, राम का यह कथन कि 'वे कङ्कणमोचन के लिये जा रहे है' (जिसमें राम के हृदय में उत्साह के बदले कातर्य का ही भाव प्रतीत हो उठता है और रसभङ्ग की अवस्था आ पहुँचती है)।

अनुवाद—'पुन पुन' रसदीप्ति', जैसे कि—

'कुमारसंभव' के रतिविलाप का प्रसङ्ग (जहाँ शोक का पौन पुन्येन आस्वाद आनन्दात्मक होने के बदले उद्वेगात्मक हो उठता है)।

अनुवाद—'रत्नावली' नाटिका के चतुर्थ अङ्क का वह प्रसङ्ग जहाँ कञ्चुकी 'बाभ्रव्य' के आगमन से, वत्सराज उदयन सागरिका को ही भूल जाते हैं ।

(११—प्रकृतरस के अनुपकारक का विस्तृत वर्णन)

अनङ्गस्य कीर्तनं यथा—कर्पूरमञ्जर्यां राजनायिकयोः स्वयं कृतं वसन्तस्य वर्णनमनादृत्य बन्दिवर्णितस्य प्रशंसनम्।

(१२—अप्रस्तुत रस-भावादि का अतिविस्तार)

अङ्गस्यातिविस्तृतिर्यथा—किराते सुराङ्गनाविलासादि।

(१३—प्रकृतिविपर्यय)

प्रकृतयो दिव्या अदिव्या दिव्यादिव्याश्चेति। तेषां धीरोदात्तादिता। तेषामप्युत्तमाधममध्यमत्वम्। तेषु च यो यथाभूतस्तस्यायथावर्णने प्रकृतिविपर्ययो दोषः। यथा—धीरोदात्तस्य रामस्य धीरोद्धतवच्छद्मना वालिवधः। यथा वा—कुमारसंभवे उत्तमदेवतयोः पार्वतीपरमेश्वरयोः सम्भोगशृङ्गारवर्णनम्। 'इदं पित्रोः सम्भोगवर्णनमिवात्यन्तमनुचितम्' इत्याहुः।

(१४—अन्यानौचित्य)

अन्यदनौचित्यं देशकालादीनामन्यथा यद्वर्णनम्। तथा सति हि काव्यस्यासत्यताप्रतिभासेन विनेयानामुन्मुखीकाराऽसम्भवः।

अनुवाद—'अनङ्गकीर्तन' (प्रकृत रस के अनुपकारक का विस्तृत वर्णन) जैसे कि—

'कर्पूरमञ्जरी' (राजशेखरकृत सट्टक-प्रबन्ध) का वह प्रसङ्ग जहाँ दोनों राजनायिकायें स्वयंवर्णित वसन्तसौन्दर्य की प्रशंसा के बदले, चारण द्वारा वर्णित वसन्त-सुषमा की प्रशंसा करने में लग जाती हैं।

अनुवाद—'अङ्ग की अतिविस्तृति' (अप्रस्तुत रसभावादि का अति विस्तृत वर्णन) जैसे कि—

'किरातार्जुनीय' में अप्सराओं के राग-रंग का अतिविस्तृत वर्णन (जिससे अर्जुननिष्ठ उत्साह की अभिव्यक्ति में विलम्ब और विघ्न दोनों पड़ते दिखायी देते हैं)।

अनुवाद—'प्रकृतिविपर्यय' वह रसदोष है जिसे प्रकृति अर्थात् दिव्य अदिव्य और दिव्यादिव्य रूप से त्रिविध प्रकृति और इसके धीरोदात्त आदि भेद-प्रभेद और इन भेद-प्रभेदों के भी उत्तम मध्यम और अधम रूप प्रकार-त्रय के स्वरूप के प्रतिकूल वर्णन में देखा जाया करता है। जैसे कि धीरोदात्त प्रकृति के राम का, धीरोद्धत प्रकृति के नायक की भाँति छल से बालि को मारना 'प्रकृतिविपर्यय' नामक रसदोष है। अथवा 'कुमारसंभव' में देवश्रेष्ठ पार्वती और परमेश्वर का संभोगशृङ्गार वर्णन जिसे आचार्य मम्मट ने 'अपने माँ-बाप के सम्भोग-वर्णन की भाँति अत्यन्त अनुचित माना है' 'प्रकृतिविपर्यय' का एक अत्यन्त सुन्दर निदर्शन है।

अनुवाद—'अन्यविध अनौचित्य' अथवा अर्थानौचित्य वह रसदोष है जिसे देश काल आदि के अयथोचित वर्णन में देखा जाया करता है। यह इसलिये एक भयङ्कर रसदोष है क्योंकि ऐसे वर्णन से काव्य में असत्यता प्रतीत होने लगती है और सामाजिक, जिन्हें काव्य से शिक्षा लेनी है ऐसे काव्य के प्रति कदापि आकृष्ट नहीं किये जा सकते।

विमर्श—औचित्य-निर्वाह के सम्बन्ध में ध्वनिसिद्धान्तिक आनन्दवर्धन की यह कारिका यहाँ स्मरण रखने योग्य है—

'अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥' (ध्वन्यालोक । १४ उद्योत)

(अलङ्कार-दोष : पूर्वनिरूपित दोष-वर्ग में अन्तर्भाव, उपमादिगत दोष 'अनुचितार्थत्व')

एभ्यः पृथगलङ्कारदोषाणां नैव संभवः ॥ १५ ॥

एभ्य उक्तदोषेभ्यः। तथाहि—उपमायामसादृश्यासंभवयोरुपमानस्य जातिप्रमाणगतन्यूनत्वाधिकत्वयोरर्थान्तरन्यासे उत्प्रेक्षितार्थसमर्थने चानुचितार्थत्वम्। क्रमेण यथा—

'ग्रथ्नामि काव्यशशिनं विततार्थरश्मिम् ।'
'प्रज्वलज्जलधारावन्निपतन्ति शरास्तव ।'
'चण्डाल इव राजाऽसौ सङ्ग्रामेऽधिकसाहसः।'
'कर्पूरखण्ड इव राजति चन्द्रबिम्बम् ।'
'हरवन्नीलकण्ठोऽय विराजति शिखावलः ।'
'स्तनावद्रिसमानौ ते ।'

अनुवाद—जिन दोषों का अब तक निरूपण किया गया उनके अतिरिक्त 'अलङ्कार-दोष' की प्राचीन आलङ्कारिक-सम्मत मान्यता निरर्थक है।

यहाँ कारिका के 'एभ्यः' का अभिप्राय 'उपर्युक्त दोषों' का अभिप्राय है। तात्पर्य यह है कि प्राचीन आलङ्कारिकों द्वारा माने गये उपमालङ्कार में 'असादृश्य' और 'असभव' उपमान में जातिगत किं वा प्रमाणगत 'न्यूनत्व' तथा 'आधिक्य' तथा 'अर्थान्तरन्यास' में उत्प्रेक्षित अर्थ का 'यथाकथचित् समर्थन' आदि जो अलङ्कारगत दोष हैं वे सब के सब 'अनुचितार्थत्व' दोष में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। जैसे कि क्रमश.—

'मैं ऐसे काव्य-चन्द्र की रचना में लगा हूँ जिसकी अर्थ-रश्मियाँ चतुर्दिक् फैला करें।'

[यहां उपमालकार में 'असादृश्य' अथवा साधारण धर्म की अप्रसिद्धि के कारण सादृश्याभाव का जो दोष है वह वस्तुत 'अनुचितार्थत्व' ही है।]

'तुम्हारे बाण ऐसे निकल रहे हैं मानों तपे जल की धार हों।'

[यहा उपमालकार में 'असम्भव' अर्थात् उपमान की असंभावना का जो दोष है वह भी 'अनुचितार्थत्व' रूप ही है।]

'यह राजा तो सग्राम में चण्डाल की भांति महा साहसी दिखायी देता है।'

[यहा उपमालकार में उपमान के जातिगत न्यूनत्व का जो दोष है वह वस्तुत. 'अनुचितार्थत्व' दोष ही है।]

'यह चन्द्रबिम्ब कर्पूरखण्ड की भाति शोभित हो रहा है।'

[यहां उपमालङ्कार में उपमान के प्रमाणगत न्यूनत्व का जो दोष है वह एक प्रकार का 'अनुचितार्थत्व' है।]

'यह मयूर महादेव की भाँति नीलकण्ठ है और बड़ा ही सुन्दर लग रहा है।'

[यहाँ उपमालङ्कार में उपमान के जातिगत आधिक्य का जो दोष है वह 'अनुचितार्थत्व' में ही अन्तर्भूत है।]

'तेरे स्तन पहाड़ की भांति हैं।'

[यहा उपमालङ्कार में उपमान के प्रमाणगत आधिक्य का जो दोष है वह 'अनुचितार्थत्व' के अतिरिक्त कोई पृथक दोष नहीं।]

'दिवाकराद्रक्षति यो गुहासु लीनं दिवाभीतमिवान्धकारम्।
क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैःशिरसामतीव ॥'

एवमादिषूत्प्रेक्षितार्थस्यासम्भवत्वेन प्रतिभासनं स्वरूपमित्यनुचितमेव तत्समर्थनम्।

(यमक-दोष : अप्रयुक्तत्व)

यमकस्य पादत्रयगतस्याप्रयुक्तत्वं दोषः। यथा—

'सहसाभिजनैः स्निग्धैः सहसा कुञ्जमन्दिरम्।
उदिते रजनीनाथे सहसा याति सुन्दरी ॥'

(उत्प्रेक्षागत दोष : अवाचकत्व)

उत्प्रेक्षायां यथाशब्दस्योत्प्रेक्षाद्योतकस्यावाचकत्वम्।

यथा—

'एष मूर्तो यथा धर्मः क्षितिपो रक्षति क्षितिम्।'

(अनुप्रासगत दोष : प्रतिकूलवर्णत्व)

एवमनुप्रासे वृत्तिविरुद्धस्य प्रतिकूलवर्णत्वम्।

'यही वह हिमालय है जो मानो सूर्य से डरे हुए और गुफाओं में छुपे-छिपे अँधेरे की रक्षा किया करता है। और ऐसा करे भी क्यों नहीं क्योंकि जो बड़े हैं वे शरण में आए छोटों पर भी ममत्व ही रखा करते हैं।' (कुमारसंभव : १म सर्ग)

यहाँ अर्थान्तरन्यास में जो उत्प्रेक्षित अर्थ है वह असद्रूप है और इसलिये उसका समर्थन भी अनुचित है। इस प्रकार यह अर्थान्तरन्यास-दोष भी 'अनुचितार्थत्व' में ही अन्तर्भूत है।

अनुवाद—'यमक' अलङ्कार में 'पादत्रयवर्तिता' का जो दोष है वह वस्तुतः 'अप्रयुक्तत्व' रूप ही दोष है। जैसे कि—

'वह सुन्दरी, चन्द्रोदय होने पर अपने स्निग्ध सखीजन के साथ (स्निग्धैः अभिजनैः सह), हँसती-मुस्काती (सहसा = हसेन हास्येन सह इति सहसा) बिना कुछ सोचे-विचारे (सहसा) कुञ्ज-मन्दिर की ओर चल पड़ी है।

यहाँ यमक में 'पादत्रयवर्तिता' का दोष है क्योंकि आलङ्कारिकों का सिद्धान्त है कि 'यमक त्रिपात् (पादत्रयगत) नहीं होना चाहिये' (यमकं तु विधातव्यं न कदाचिदपि त्रिपात्)। किन्तु यह यमक-दोष वस्तुतः 'अप्रयुक्तत्व' में ही अन्तर्भूत दिखायी देता है क्योंकि जब कि पादत्रयवर्ती यमक प्रयोग-योग्य नहीं तब उसका यह 'अप्रयुक्तत्व' दोष से ही दूषित माना जायगा।

अनुवाद—'उत्प्रेक्षालङ्कार' में 'उत्प्रेक्षण अथवा संभावन के अर्थ में (सादृश्यार्थक) 'यथा' शब्द के प्रयोग में जो दोष माना गया है वह 'अवाचकत्व'रूप ही दोष है। जैसे कि—

'यह राजा मानो शरीर धारी धर्म होकर पृथ्वी की रक्षा करता है।

यहाँ 'यथा' के प्रयोग में जो उत्प्रेक्षा-दोष है (क्योंकि सादृश्यबोधक 'यथा' शब्द से उत्प्रेक्षा का अभिप्राय अभिव्यक्त नहीं हो पाता) वह 'अवाचकत्व' में अन्तर्भूत है।

अनुवाद—'अनुप्रास' में 'वृत्तिविरोध' का दोष 'प्रतिकूलवर्णत्व' में अन्तर्भूत समझना चाहिये। जैसे कि—

यथा—

'ओवट्टइ उल्लट्टइ—' इत्यादौ ।

(उपमागत दोष : अधिकपदत्व, न्यूनपदत्व)

उपमायां च साधारणधर्मस्याधिकन्यूनत्वयोरधिकपदत्वं न्यूनपदत्वं च । क्रमेणोदाहरणम्—

'नयनज्योतिषा भाति शंभुर्भूतिसितद्युतिः ।
विद्युतेव शरन्मेघो नीलवारिदखण्डधृक् ॥'

अत्र भगवतो नीलकण्ठत्वस्याप्रतिपादनाच्चतुर्थपादोऽधिकः ।

'कमलालिङ्गितस्तारहारहारी मुर द्विषन् ।
विद्युद्विभूषितो नीलजीमूत इव राजते ॥'

अत्रोपमानस्य सबलाकत्व वाच्यम् ।

(उपमागत दोष : भग्नप्रक्रमत्व)

अस्यामेवोपमानोपमेययोर्लिङ्गवचनभेदस्य कालपुरुषविध्यादिभेदस्य च भग्नप्रक्रमत्वम् ।

'ओवट्टइ उल्लट्टइ' आदि ।'

यहा' शृङ्गार रस की सानुप्रास रचना में, ओजोगुण के अभिव्यञ्जक वर्णों की जो योजना है, जिसे प्राचीन आलङ्कारिक 'वृत्तिविरोध' माना करते हैं, उसमें 'प्रतिकूलवर्णत्व' रूप ही दोष दिखायी देता है ।

अनुवाद—'उपमालङ्कार' में 'धर्माधिकत्व' और 'धर्मन्यूनत्व' के जो दोष माने गये हैं वे वस्तुत 'अधिकपदत्व' और 'न्यूनपदत्व' में ही अन्तर्भूत हैं । जैसे कि क्रमश—

'भस्माङ्गराग से शुभ्रकान्तिवाले महादेव शङ्कर अपने भाललोचन से ऐसे शोभायमान हुआ करते हैं जैसे नीलमेघ के टुकड़े से युक्त 'शरत्कालीन शुभ्र मेघ विद्युत्प्रकाश से शोभायमान लगा करता है ।'

यहा उपमालङ्कार में साधारण धर्मगत 'अधिकत्व' का दोष है क्योंकि (उपमेयभूत) महादेव शङ्कर के लिये 'नीलकण्ठ धारण' का साधारण धर्म प्रतिपादित नहीं। और (उपमान रूप) शरन्मेघ में 'नीलवारिद-खण्ड-धारण' का धर्म प्रतिपादित है। यहां इस प्रकार 'नीलवारिदखण्डधृक्' यह चतुर्थ चरण 'अधिकपदत्व' दोष से दूषित है ।

'लक्ष्मी से आलिङ्गित तथा मनोहर मुक्ताहार से सुशोभित मुरजित् भगवान् विष्णु विद्युत् से विभूषित नीलमेघ की भाति सुन्दर लगा करते हैं ।'

यहा जो 'उपमालङ्कार' है उसमें 'धर्मन्यूनत्व' का दोष है क्योंकि जैसे (उपमेयभूत) भगवान् विष्णु के लिये 'मुक्ताहार धारण' का धर्म प्रतिपादित है वैसे ही (उपमानभूत) नीलमेघ के लिये भी बलाका अथवा 'बकपंक्ति योग' का धर्म प्रतिपादित होना चाहिये था। किन्तु यह 'धर्मन्यूनत्व' वस्तुत 'न्यूनपदत्व' दोष से ही गतार्थ समझा जाना चाहिये ।

अनुवाद—'उपमालङ्कार' में ही (प्राचीन आलङ्कारिकों द्वारा मान्य) जो अन्य अलङ्कार-दोष जैसे कि उपमान और उपमेय में 'भिन्नलिङ्गत्व', 'भिन्नवचनत्व', 'कालभेद',

क्रमेणोदाहरणम्—

'सुधेव विमलश्चन्द्रः ।'

'ज्योत्स्ना इव सिता कीर्तिः ।'

'काप्यभिख्या तयोरासीद् व्रजतोः शुद्धवेषयोः ।
हिमनिर्मुक्तयोर्योगे चित्राचन्द्रमसोरिव ॥'

अत्र तथाभूतचित्राचन्द्रमसोः शोभा न खल्वासीत्। अपि तु सर्वदापि भवति ।

'लतेव राजसे तन्वि ।'

अत्र लता राजते, त्वं तु राजसे ।

'चिरं जीवतु ते सूनुर्मार्कण्डेयमुनिर्यथा ।'

अत्र मार्कण्डेयमुनिर्जीवत्येव, न खल्वेतदस्य 'जीवतु' इत्यनेन विधेयम्।

इह तु यत्र लिङ्गवचनभेदेऽपि न साधारणधर्मस्यान्यथाभावस्तत्र न दोषः ।

क्रमेणोदाहरणम्—

'मुखं चन्द्र इवाभाति ।'

'पुरुषभेद' 'विभक्तिभेद' आदि-आदि हैं वे वस्तुतः 'भग्नप्रक्रमत्व' में अन्तर्भूत दिखायी देते हैं। क्रमशः उदाहरण के लिये—

'यह चन्द्रमा सुधा की भाँति निर्मल है।'

[यहाँ 'उपमा' में उपमानगत जो 'लिङ्गभेद' है वह 'प्रक्रमभेद' रूप ही दोष है।]

'ज्योत्स्नाओं की भाँति शुभ्र कीर्ति।

[यहाँ 'उपमा' में उपमानगत 'वचनभेद' का दोष एक प्रकार का 'प्रक्रमभेद' रूप ही दोष है।]

'शुद्ध वेष में महर्षि वसिष्ठ के तपोवन के प्रति एकसाथ प्रस्थानोन्मुख महारानी सुदक्षिणा और महाराज दिलीप की वही शोभा हुई जो कि हिमविमुक्त चित्रा और चन्द्रमा की हुआ करती है। (रघुवंश : १ म सर्ग)।

यहाँ 'उपमा' में 'कालभेद' का जो दोष है क्योंकि उपमेयभूत सुदक्षिणा और दिलीप की शोभा तो अतीत से संबद्ध है जब कि उपमानभूत चित्रा और चन्द्रमा की शोभा प्रतिवर्ष की वस्तु है, वह 'प्रक्रमभेद' का ही रूपान्तर है।

'अरी सुन्दरी! तुम लता की भाँति सुन्दर हो।'

यहाँ उपमा' में 'पुरुषभेद' का जो दोष है क्योंकि 'लता सुन्दर है' और 'तुम सुन्दर हो' कहने में पुरुषान्तरत्व स्पष्ट है वह 'प्रक्रमभेद' के अतिरिक्त और कोई अलङ्कारदोष नहीं

'तेरा पुत्र मार्कण्डेय मुनि की भाँति चिरजीवी होवे।

[यहाँ 'उपमा' में विधिभेद' का जो दोष है क्योंकि मार्कण्डेय मुनि तो सदा चिर जीवी हैं और इसलिये उनके चिरजीवन ('जीवतु') की विधेयता असङ्गत है वह वस्तुतः 'प्रक्रमभेद' रूप ही दोष है।]

यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है और वह यह है कि जहाँ उपमा में लिङ्ग और वचन का भेद होने पर भी साधारण धर्म में कोई वैषम्य नहीं उत्पन्न हुआ करता वहाँ 'भग्नप्रक्रमत्व' का दोष नहीं लगा करता। जैसे कि क्रमशः—

'मुख चन्द्रमा की भाँति चमक रहा है।

'तद्वेषोऽसदृशोऽन्याभिः स्त्रीभिर्मधुरताभृतः ।
दधते स्म परां शोभा तदीया विभ्रमा इव ॥'

पूर्वोदाहरणेषु उपमानोपमेययोरेकस्यैव साधारणधर्मेणान्वयसिद्धेः प्रक्रान्तस्यार्थस्य स्फुटोऽनिर्वाहः ।

(अनुप्रासगत दोष · अपुष्टार्थत्व)

एवमनुप्रासे वैफल्यस्यापुष्टार्थत्वम् ।

यथा—'अनणुरणन्मणिमेखलमविरलशिञ्जानमञ्जुमञ्जीरम् ।
परिसरणमरुणचरणे ! रणरणकमकारणं कुरुते ॥'

[यहाँ उपमेयभूत 'मुख' और उपमानभूत 'चन्द्र' में लिङ्गभेद स्पष्ट है किन्तु 'आभाति' का साधारण धर्म दोनों में समानरूप से अनुगत है। इसलिये यहाँ 'प्रक्रमभेद' की कोई सम्भावना नहीं।]

'(मधुरताभृत.) माधुर्यमय किंवा (अन्याभि स्त्रीभिरसदृश. तद्वेष.) और स्त्रियों से विलक्षण उस सुन्दरी का वेष वैसे ही अनिर्वचनीयरूप से सुन्दर लगता है जैसे (मधुरताभृत) मधुरता से भरे तथा (अन्याभि स्त्रीभिरसदृश) और स्त्रियों से विलक्षण लगने वाले (तदीया विभ्रमा) उसके हावभाव अनिर्वचनीय रूप से सुन्दर लगा करते हैं।'

[यहाँ 'उपमा' में, उपमान और उपमेय के 'वचनभेद' का दोष स्पष्ट है, क्योंकि 'मधुरताभृत.', 'असदृश' और 'दधते' तो उपमेय में एकवचनान्त रूप से सवद्ध होते हैं किन्तु उपमान में बहुवचनान्त रूप से। किन्तु यहाँ 'प्रक्रमभेद' इसीलिये नहीं क्योंकि ये साधारणधर्मबोधक पद अपने स्वरूप को अक्षुण्ण बनाये हुये ही उपमान और उपमेय में अनुगत हो जाते हैं।]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पूर्वोद्धृत ('नयनज्योतिषा' आदि से लेकर 'मार्कण्डेयमुनिर्यथा' तक की) उदाहरण—सूक्तियों में 'भग्नप्रक्रमत्व' क्यों माना गया है। बात यह है कि उनमें, उपमेय और उपमान में से केवल एक ही साधारण धर्म से संवद्ध हो पाता है और इस प्रकार प्रक्रान्त अर्थ (उपमान और उपमेय में साधर्म्य की अनुगति) का निर्वाह नहीं हो पाता और जबकि प्रक्रान्त अर्थ का निर्वाह न हो तब तो 'प्रक्रमभेद' का मानना अनिवार्य ही है।

अनुवाद—'अनुप्रास' में (वस्तुत शब्दालङ्कार में) 'वैफल्य' अथवा 'वैयर्थ्य' का जो दोष माना गया है वह एक प्रकार का 'अपुष्टार्थत्व' है। जैसे कि—

'अरी लाल कमल की भांति लाल चरणवाली ! क्या बात है कि मणिमेखला की विपुल ध्वनि तथा निरन्तर ध्वनित मञ्जीर की मोहक रुनझुन से सुशोभित, तेरा यह इतस्तत संचरण, अकारण ही मुझमें रणरणक (कामचिंता) उत्पन्न किया करता है।'

[यहाँ जो अनुप्रास है उसमें प्रकृत रस की कोई उत्कर्षाधायकता नहीं। मणिमेखला के रणन के लिये 'अनणु', मञ्जु मञ्जीर के लिये 'अविरलशिञ्जान' आदि-आदि पद केवल अनुप्रास-बन्ध के लिये उपन्यस्त हैं। इस प्रकार अनुप्रास का यह दोष 'अपुष्टार्थत्व' का ही एक रूपान्तर प्रतीत हो रहा है।]

(समासोक्ति तथा अप्रस्तुतप्रशंसागत दोष : पुनरुक्तत्व)

एवं समासोक्तौ साधारणविशेषणवशात्परार्थस्य प्रतीतावपि पुनस्तस्य शब्देनोपादानस्याप्रस्तुतप्रशंसाया व्यञ्जनयैव प्रस्तुतावगते शब्देन तदभिधानस्य च पुनरुक्तत्वम्।

क्रमेणोदाहरणम्—

'अनुरागवन्तमपि लोचनयोर्दधतं वपुः सुखमतापकरम्।
निरकासयद्रविमपेतवसुं वियदालयादपरदिग्गणिका॥'

अत्रापरदिगित्येतावतैव तस्या गणिकात्वं प्रतीयते।

'आहूतेषु विहङ्गमेषु मशको नायान् पुरो वार्यते
मध्ये वा धुरि वा वसंस्तृणमणिर्धत्ते मणीनां धुरम्।
खद्योतोऽपि न कम्पते प्रचलितुं मध्येऽपि तेजस्विना
धिक्सामान्यमचेतसं प्रभुमिवानामृष्टतत्त्वान्तरम्॥'

अत्राचेतस' प्रभोरभिधानमनुचितम्।

अनुवाद—इसी भांति 'समासोक्ति' में जहाँ साधारण विशेषण के सामर्थ्य से प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति स्वाभाविक है पुनः स्पष्टतः प्रतीयमान अर्थ के अभिधान के कारण अथवा 'अप्रस्तुतप्रशंसा' में जहाँ व्यञ्जनाव्यापार से ही प्रस्तुत अर्थ का बोध संभव है पुनः स्पष्ट प्रस्तुत अर्थ के अभिधान के कारण जो 'अलङ्कारदोष' हो सकता है वह वस्तुतः 'पुनरुक्तत्व' (पौनरुक्त्य) रूप ही दोष समझा जाना चाहिये। उदाहरण के लिये क्रमशः—

'पश्चिम दिशा रूप गणिका ने अनुराग युक्त (लाल) और नेत्रों के लिये सुखकर और शीतल भी सूर्य को 'अपेतवसु' (किरणरहित और निर्धन) समझकर गगनालय से ही बाहर निकाल दिया।'

यहाँ (शिशुपालवध : नवम सर्ग की सूक्ति) समासोक्ति में 'अपरदिक्' पद से ही 'वेश्या' का व्यङ्ग्यार्थ निकल सकता है किन्तु 'गणिका' पद के द्वारा उसे जो पुनः प्रतिपादित किया गया है उसके कारण यहाँ 'पुनरुक्त्व' का दोष आ गया है।

इसी प्रकार 'जब पक्षियों को बुलाओ तो मच्छड़ भी अपने को विहङ्गम जाति का मान कर उनके साथ दौड़ पड़ता है जब मणियों का लेखा-जोखा करो तो तृणमणि भी, मणि जाति का होने के कारण उनके बीच स्थान पा जाता है, जब ज्योतिर्मय पदार्थों की गणना करो तो खद्योत (जुगनू) भी अपने आप को ज्योतिर्मय जाति का पदार्थ मानकर पहुँच जाते हैं। धिक्कार है किसी विवेकशून्य किंवा मूर्ख राजा की भाँति उस 'सामान्य' (जातिमात्र) को जो कहीं भी तत्त्वतारतम्य नहीं देखा करता'।

यहाँ (भल्लटशतक की इस सूक्ति में) 'अप्रस्तुतप्रशंसा' में व्यञ्जनाव्यापार से ही प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति संभव है। किन्तु 'अचेतसं प्रभुम्' इस शब्दोपादान से इसे पुनः अभिहित करके अलङ्कार-दोष से दूषित कर दिया गया है। किन्तु यह अलङ्कार-दोष भी वस्तुतः एक प्रकार का 'पुनरुक्त्व' (पौनरुक्त्य) दोष ही है।

(अनुप्रासगत अन्य दोष : ख्यातिविरुद्धत्व)

एवमनुप्रासे प्रसिद्ध्यभावस्य ख्यातविरुद्धत्वम् ।

यथा—

'चक्राधिष्ठिततां चक्री गोत्रं गोत्रभिदुच्छ्रितम् ।
वृषं वृषभकेतुश्च प्रायच्छन्नस्य भूभुजः ॥'

(उपर्युक्त दोष : अनित्यत्वव्यवस्था, 'दुःश्रवत्व' की अनित्यता)

उक्तदोषाणां च क्वचिद् गुणत्वमित्याह—

वक्तरि क्रोधसंयुक्ते तथा वाच्ये समुद्धते ।
रौद्रादौ तु रसेऽत्यन्तं दुःश्रवत्वं गुणो भवेत् ॥ १६ ॥

एषु चास्वादस्वरूपविशेषात्मकतया मुख्यगुणप्रकर्षोपकारित्वाद् गुण इति व्यपदेशो भाक्तः ।

क्रमेण यथा—

'तद्विच्छेदकृशस्य कण्ठलुठितप्राणस्य मे निर्दयं
क्रूरः पञ्चशरः शरैरतिशितैर्भिन्दन्मनो निर्भरम् ।
शम्भोर्भूतकृपाविधेयमनसः प्रोद्दामनेत्रानल-
ज्वालाजालकरालितः पुनरसावास्तां समस्तात्मना ॥'

अनुवाद—अनुप्रास में 'प्रसिद्ध्यभाव' का जो दोष माना गया है उसे 'ख्यातिविरुद्धत्व' में ही अन्तर्भूत समझना चाहिये । जैसे कि—

'ये ही वे महाराज हैं जिन्हें चक्रधारी विष्णु भगवान् ने चक्रवर्तित्व दिया है, गोत्रभिद् इन्द्र भगवान् ने वंश दिया है और वृषभकेतु महादेव शंकर ने धर्म दिया है ।'

यहाँ (चक्राधिष्ठिततां चक्री आदि में) अनुप्रास के आवेश में कवि ने ऐसी बातों का उल्लेख कर दिया है जो पुराणादि के द्वारा प्रमाणित नहीं। यह 'अनुप्रास-दोष' ख्याति-विरुद्धत्व का ही एक रूपान्तर है ।

अनुवाद—उपर्युक्त दोष कैसे कहीं दोष नहीं लगते और कहीं गुण सरीखे लगा करते हैं, इसका विचार किया जा रहा है—

सर्वप्रथम 'दुःश्रवत्व' दोष ऐसा है जो कि वक्ता के क्रोधावेश, वर्ण्य विषय के औद्धत्य तथा रौद्र आदि रसभाव के अभिव्यञ्जन में वस्तुतः गुण का ही कार्य किया करता है।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि उपर्युक्त परिस्थितिओं में 'दुःश्रवत्व' दोष का 'गुण' कहने में उपचार का आश्रय लिया गया है । बात यह है कि वैसे तो ओज, माधुर्य आदि गुण आनन्दानुभवात्मक रसभाव के स्वरूपविशेष हैं किन्तु उपर्युक्त परिस्थितिओं में 'दुःश्रवत्व' आदि के द्वारा रसभाव के समुत्कर्ष और रसधर्मभूत ओज आदि मुख्य गुणों के अभिव्यञ्जन में साहाय्य के कारण यदि 'दुःश्रवत्व' आदि को 'गुण' कहा गया तो आपत्ति क्या ?

उदाहरण के लिये क्रमशः—

'उसके विरह में दीन-हीन और वस्तुतः कण्ठागतप्राण मेरे हृदय पर, निर्दयतापूर्वक, तीक्ष्ण बाणों से प्रहार करनेवाला यह क्रूर पञ्चशर काम, क्या ही अच्छा होता यदि,

(समासोक्ति तथा अप्रस्तुतप्रशंसागत दोष : पुनरुक्तत्व)

एवं समासोक्तौ साधारणविशेषणवशात्परार्थस्य प्रतीतावपि पुनस्तस्य शब्देनोपादानस्याप्रस्तुतप्रशंसायां व्यञ्जनयैव प्रस्तुतार्थावगतौ शब्देन तदभिधानस्य च पुनरुक्तत्वम्।

क्रमेणोदाहरणम्—

'अनुरागवन्तमपि लोचनयोर्दधतं वपुः सुखमतापकरम्।
निरकासयद्रविमपेतवसुं वियदालयादपरदिग्गणिका ॥'

अत्रापरदिगित्येतावतैव तस्या गणिकात्वं प्रतीयते।

'आहूतेषु विहङ्गमेषु मशको नायान् पुरो वार्यते
मध्ये वा धुरि वा वसंस्तृणमणिर्धत्ते मणीनां धुरम्।
खद्योतोऽपि न कम्पते प्रचलितुं मध्येऽपि तेजस्विनां
धिक्सामान्यमचेतसं प्रभुमिवानामृष्टतत्त्वान्तरम् ॥'

अत्राचेतस' प्रभोरभिधानमनुचितम्।

अनुवाद—इसी भाँति 'समासोक्ति' में, जहाँ साधारण विशेषण के सामर्थ्य से प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति स्वाभाविक है पुनः उसका प्रतीयमान अर्थ के अभिधान के कारण अथवा 'अप्रस्तुतप्रशंसा' में जहाँ व्यञ्जनाव्यापार से ही प्रस्तुत अर्थ का बोध संभव है, पुनः उसका प्रस्तुत अर्थ के अभिधान के कारण जो 'अकङ्कारदोष' हो सकता है वह वस्तुतः 'पुनरुक्तत्व' (पौनरुक्त्य रूप ही दोष समझा जाना चाहिये। उदाहरण के लिये, क्रमशः—

'पश्चिम दिशा रूप गणिका ने अनुराग युक्त (लाल) और नेत्रों के लिये सुखकर और शीतल भी सूर्य को 'अपेतवसु' (किरणरहित और निर्धन) समझकर गगनालय से ही बाहर निकाल दिया।'

यहाँ (शिशुपालवध : ९म सर्ग की सूक्ति) समासोक्ति में 'अपरदिक्' पद से ही 'वेश्या' का व्यङ्ग्यार्थ निकल सकता है किन्तु 'गणिका' पद के द्वारा उसे जो पुनः प्रतिपादित किया गया है उसके कारण यहाँ 'पुनरुक्तत्व' का दोष आ गया है।

इसी प्रकार 'जब पक्षियों को बुलाओ तो मच्छड़ भी अपने को विहङ्गम जाति का मान कर उनके साथ दौड़ पड़ता है जब मणियों का लेखा-जोखा करो तो तृणमणि भी मणि जाति का होने के कारण उनके बीच स्थान पा जाता है, जब ज्योतिर्मय पदार्थों की गणना करो तो खद्योत (जुगनू) भी अपने आप को ज्योतिर्मय जाति का पदार्थ मानकर पहुँच जाते हैं। धिक्कार है किसी विवेकशून्य किंवा मूर्ख राजा की भाँति उस 'सामान्य' (जातिमात्र) को जो कहीं भी स्वरूपतारतम्य नहीं देखा करता'।

यहाँ (भल्लटशतक की इस सूक्ति में) 'अप्रस्तुतप्रशंसा' में व्यञ्जनाव्यापार से ही प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति संभव है। किन्तु 'अचेतस प्रभुम्' इस शब्दोपादान से इसे पुनः अभिहित करके अलङ्कार-दोष से दूषित कर दिया गया है। किन्तु यह अलङ्कार-दोष भी वस्तुतः एक प्रकार का 'पुनरुक्तत्व' (पौनरुक्त्य) दोष ही है।

यथा—

'करिहस्तेन सबाधे प्रविश्यान्तर्विलोडिते।
उपसर्पन् ध्वजः पुंसः साधनान्तर्विराजते॥'

अत्र हि सुरतारम्भगोष्ठ्याम्—

'ताम्बूलदानविधिना विसृजेद्वयस्यां
द्व्यर्थैः पदैः पिशुनयेच्च रहस्यवस्तु' इति कामशास्त्रस्थितिः।

आदिशब्दाच्छमकथाप्रभृतिषु बोद्धव्यम्।

(निहतार्थत्व-अप्रयुक्तत्व : अनित्यत्वनियम)

स्यातामदोषौ श्लेषादौ निहतार्थाप्रयुक्तते॥ १७॥

यथा—

'पर्वतभेदि पवित्रं जैत्रं नरकस्य बहुमतं गहनम्।
हरिमिव हरिमिव हरिमिव सुरसरिदम्भः पतन्नमत॥'

'जब कि घमासान युद्ध में घुसकर गजराज की सूँड रास्ता बना दे, तब वीर योद्धा का विजय-ध्वज सेना के बीच पहुँच कर बड़ा भव्य दृश्य उपस्थित किया करता है।'

[यहाँ अभिव्यङ्ग्य अश्लील अर्थ यह है—'जब कि 'करिहस्त' (अर्थात् तर्जनी, मध्यमा और अनामिका अगुलियों द्वारा योनि शैथिल्य के लिये बनाये गये, मुद्राविशेष) के द्वारा 'संबाध' (योनि) में प्रवेश पाकर और उसे अच्छी तरह विलोडित करके पुरुष का 'ध्वज' (लिङ्ग) 'साधन' (योनि) के भीतर बारबार आया-जाया करता है तो सचमुच बड़ा आनन्द आता है।']

यहाँ जो भी 'अश्लीलत्व' है वह 'गुण' हो रहा है क्योंकि यह उक्ति काम-गोष्ठी से सम्बद्ध है और काम-शास्त्र की यह मर्यादा है कि 'सखी को पान आदि देकर बाहर भेज दिया जाय और गोपनीय कामवार्ता द्व्यर्थक पदों द्वारा ही प्रकाशित की जाय।'

यहाँ कारिका में 'आदि' पद इसीलिये प्रयुक्त है जिसमें 'कामगोष्ठी' की भाति 'शमगोष्ठी' आदि का भी ग्रहण कर लिया जाय।

अनुवाद—'निहतार्थत्व' और 'अप्रयुक्तत्व' दोष भी श्लेष आदि के प्रसङ्गों में दोष नहीं समझे जाते। जैसे कि—

'सुरनदी के उस पवित्र जल-प्रपात को नमस्कार है जो कि 'हरिमिव हरिमिव हरिमिव' विष्णु और इन्द्र और दुर्गावाहन सिंह की भाँति 'पर्वतभेदि'—हिमालय को विदीर्ण कर प्रवाहित हुआ है। 'पवित्रम्' परम पावन ह, 'नरकस्य जैत्रम्'—पाप-संताप का नाशक है और 'गहनम्' अचिन्त्य प्रताप वाला है।'

[विष्णुपक्ष में—'पर्वतभेदि पवित्रम्'—पर्वतों के विदारक वज्र से गोकुल के रक्षक, 'नरकस्य जैत्रम्'–नरकासुर के संहारक, 'बहुमतम्'–सर्वपूज्य, गहनम्'–अचिन्तनीय महिमावाले। इन्द्रपक्ष में–'पर्वतभेदि पवित्रम्'–पहाड़ों के पक्ष काटनेवाले, पवि अथवा वज्र से देवों की रक्षा करने वाले, 'जैत्रम्'—सर्वत्र विजयी, 'नरकस्य बहुमतम्' दयापात्र मानव के पूज्य, 'गहनम्'–दुर्जेय। सिंहपक्ष में—'पर्वतभेदि पवित्रम्'–पहाड़ों की गुफा में रहने वाले और अपनी वासभूमि के स्वयं एकमात्र रक्षक, 'नरकस्य जैत्रम्' दुर्बल मानव को तुच्छ समझने वाले, बहुमत गहनम्' अनेकानेक गजराजों के संहारक।]

अत्र शृङ्गारे कुपितो वक्ता ।

'मूर्धन्याधूयमानध्वनदमरधुनीलोलकल्लोलजालो
धूधूताम्भोऽवधूम्यत्प्रसभमभिनभःक्षिप्तनक्षत्रलक्षम् ।
ऊर्ध्वन्यस्ताङ्घ्रिदण्डभ्रमिभररभसोद्यन्नभस्वत्प्रवेग-
भ्रान्तब्रह्माण्डखण्डं प्रवितरतु शिवं शाम्भवं ताण्डवं वः ॥'

अत्रोद्धतताण्डवं वाच्यम् । इमे पद्ये मम ।

रौद्रादिरसस्य एतद्द्वितयापेक्षयापि दुःश्रवत्वमत्यन्तं गुणः ।

यथा—

'उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिम्—' इत्यादि ।

अत्र बीभत्सो रसः ।

(अश्लीलत्व की अनित्यत्व-व्यवस्था)

सुरतारम्भगोष्ठ्यादावश्लीलत्वं तथा पुनः ।

तथा पुनरिति गुण एव ।

लीलयाधा के प्रसंग भगवान् शङ्कर के प्रचण्ड नेत्रानल की ज्वालाओंमें पुनः पूर्वरूप से भस्मसात् हो जाता ।'

यहाँ इस शृङ्गाररसमयी सूक्ति में जो 'दुःश्रवत्व' है वह वस्तुतः गुण का कार्य कर रहा है । कारण यह है कि यहाँ जो वक्ता है वह काम के प्रति क्रोधावेश से भरा हुआ है और इसलिये उसके मनःक्षोभ के प्रकाशक कर्णकटु वर्ण खटकते नहीं अपितु अच्छे ही लगते हैं ।

और

'भगवान् शङ्कर का वह ताण्डव, जिसमें उनके जटाजूट में चक्कर काटने वाली और अनन्त निनाद से भरी सुरनदी की तरङ्गतरङ्ग-मालाओं से छिटकते जलकणों के बहाने लाखों तारा नक्षत्र गगन-मण्डल की ओर फेंक जाते दिखायी पड़ा करते हैं और जिसमें दण्डवत् ऊपर उठे चरण के द्रुततर वेगपूर्वक नचाने से उत्पन्न प्रबल प्रभञ्जन के झोंकों के साथ समस्त ब्रह्माण्ड नाचता सा लगा करता है आप सबका सदा कल्याण करता रहे ।

यहाँ जो वर्ण्य विषय है अर्थात् 'ताण्डव' वह एक औद्धत्यपूर्ण विषय है और इसलिये यहाँ जो भी 'दुःश्रवत्व' है वह गुण का ही कार्य करता दिखायी दे रहा है ।

ये उपर्युक्त सूक्तियाँ स्वरचित सूक्तियाँ हैं ।

रौद्र आदि दीप्त रसों में दुःश्रवत्व वस्तुतः उपर्युक्त दोनों परिस्थितियों की अपेक्षा कहीं अधिक गुण सा लगा करता है । जैसे कि (महाकवि-भवभूति रचित 'मालतीमाधव' की सूक्ति)—

'उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिम्' आदि । यहाँ जो अभिव्यङ्ग्य रस है वह 'बीभत्स' है और यह निर्विवाद है कि यहाँ का 'दुःश्रवत्व' रसाभिव्यञ्जक हो रहा है ।

अनुवाद—'अश्लीलत्व' दोष भी काम-गोष्ठी आदि की परिस्थिति में दोष न रहके गुण का ही कार्य किया करता है ।

यहाँ (कारिका में) 'तथा पुनः' (पुनः उसी प्रकार होने) का अभिप्राय 'गुणवत् होने' का अभिप्राय है । जैसे कि—

(कथितपदत्व' अनित्यत्व-व्यवस्था)

—कथितं च पदं पुनः ॥ १८ ॥
विहितस्यानुवाद्यत्वे विषादे विस्मये क्रुधि ।
दैन्येऽथ लाटानुप्रासेऽनुकम्पायां प्रसादने ॥ १९ ॥
अर्थान्तरसंक्रमितवाच्ये हर्षेऽवधारणे ।

गुण इत्येव ।

यथा—

'उदेति सविता ताम्रः—' इत्यादि ।

अत्र विहितानुवादः ।

'हन्त ! हन्त ! गतः कान्तो वसन्ते सखि ! नागतः ।'

अत्र विषादः ।

'चित्र चित्रमनाकाशे कथं सुमुखि ! चन्द्रमाः ।'

अत्र विस्मयः ।

'सुनयने नयने निधेहि' इति ।

अत्र लाटानुप्रासः ।

'नयने तस्यैव नयने च ।'

अनुवाद—जिसे 'कथितपदत्व' दोष कहा करते है वह निम्न परिस्थितिओं में गुण-सा लगा करता है ।

(१) विहित अथवा उद्देश्य के प्रतिनिर्देश में, (२) विषाद में, (३) विस्मय में, (४) क्रोध में, (५) दीनता में, (६) लाटानुप्रास में, (७) अनुकम्पा में, (८) किसी के प्रसादन = प्रसन्न करने में, (९) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि में, (१०) हर्ष में और (११) अवधारण अथवा विषय-निश्चय में ।

यहाँ पूर्वकारिका से 'गुण' पद की अनुवृत्ति आ रही है जिससे यह अभिप्राय निकलता है कि 'कथितपदत्व' गुण हो जाता है । जैसे कि—

'उदेति सविता ताम्र' (सूर्य लाल-लाल ही उगता है) आदि, यहाँ उद्देश्य का प्रतिनिर्देश करना है इसलिये 'ताम्र एवास्तमेति च' में 'ताम्र' पद में 'कथितपदत्व' दोष नहीं ।

'ओह ! वसन्त आ गया, ओह ! कान्त न आये ।'

यहाँ विषाद के कारण 'हन्त', 'हन्त' आदि पदों में 'कथितपदत्व' दोष नहीं अपितु गुण है ।

'अरे ! अरे ! विना आकाश के यह चन्द्रमा कहाँ से निकल पड़ा !'

यहाँ विस्मय के कारण 'चित्र चित्रम्' आदि में कथितपदत्व गुण का कार्य कर रहा है ।

'अरी सुनयने ! अपने नयन तो इधर कर ।'

यहाँ लाटानुप्रास के कारण 'नयने नयने' में 'कथितपदत्व' गुण सा सुदर लग रहा है ।

'उसी के नयन नयन हैं ।'

अत्रेन्द्रपक्षे पवित्रशब्दो निहतार्थः । सिंहपक्षे मतङ्गशब्दो मातङ्गार्थेऽप्रयुक्तः ।

(अप्रतीत्व । अनित्यता-नियम)

गुणः स्यादप्रतीतत्वं ज्ञत्वं चेद्वक्तृवाच्ययोः ।

यथा—

'त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्तिनीम् ।
त्वद्दर्शिनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः ॥'

स्वयं वापि परामर्शे—

अप्रतीतत्वं गुण इत्यनुषज्यते ।

यथा—

'पुंसः कलाभिस्तमसां विवृद्धये क्षीणस्य तामिः क्षयये च ययाम् ।
शून्यं निरालम्बपदावलम्बं तमात्मचन्द्रं परिशीलयामि ॥'

यहाँ 'पवित्र' पद इन्द्रपक्ष में 'निहतार्थ' है (क्योंकि इसका लोकप्रसिद्ध अर्थ 'पावन' है, 'पवि' अथवा 'वज्र' से रक्षक नहीं) । साथ ही साथ 'मतङ्ग' पद, सिंहपक्ष में 'अप्रयुक्त' है क्योंकि यहाँ 'मातङ्ग' पद ही प्रयुक्त होता है । किन्तु यहाँ श्लेष का प्रसङ्ग होने से 'निहतार्थत्व' और 'अप्रयुक्तत्व' के दोनों दोष दोष नहीं प्रतीत होते ।

अनुवाद—'अप्रतीत्व' दोष वहाँ गुण की भाँति रहा करता है जहाँ वक्ता और वाच्य (श्रोता) दोनों विषय के समझनेवाले हुआ करते हैं । जैसे कि (कुमारसम्भव २य सर्ग की सूक्ति)—

'हे देवाधिदेव ! आप ही वह प्रकृति हैं जिससे पुरुषार्थचतुष्टय का प्रवर्तन हुआ करता है । हे शङ्कर ! आप ही वह पुरुष हैं जो द्रष्टामात्र रहा करता है और सदा अनासक्त कूटस्थ विराजता है ।

[यहाँ 'प्रकृति' 'पुरुष' आदि-आदि पद के प्रयोग में 'अप्रतीतत्व' की आशङ्का इसलिये नहीं होनी चाहिये क्योंकि यहाँ महाकवि ने ऐसे वक्ता (अर्थात् देववृन्द) और ऐसे श्रोता (अर्थात् महादेव शङ्कर) की उद्भावना की है जो सर्वज्ञ हैं ।]

यह 'अप्रतीतत्व' वहाँ भी गुण सा ही लगा करता है जहाँ कोई जिज्ञासु वक्ता किसी दुर्बोध वस्तु-परामर्श में निरत प्रतीत हुआ करता है ।

[यहाँ 'स्वयं वापि परामर्शे' के साथ 'अप्रतीतत्वं गुणः' का, जोकि कारिका के पूर्वचरण में है अनुषङ्ग अथवा सम्बन्ध समझ लेना चाहिये । जैसे कि—

'मैं उस अपूर्व चिन्मय किंवा निरालम्ब आत्म-चन्द्र का चिन्तन करता हूँ जोकि अविद्यात्मक अन्धकार के संचालन के लिये अपनी मायाविभूति रूपी कलाओं से पूर्ण हो जाता है और इन अविद्यात्मक कार्यकलापों के संहार के लिये, अपनी मायाविभूति से रहित होकर परमब्रह्मरूप से अवस्थित हो जाता है ।

[यहाँ जब कि वक्ता वेदान्त-रहस्य से परिचित है और स्वयं तत्त्व-पर्यालोचन में निरत है तब 'अप्रतीतत्व' की क्या संभावना ? यहाँ औरों को प्रतीत होने वाला यह 'अप्रतीतत्व' वस्तुतः गुणरूप ही बना रहता है ।]

(कथितपदत्व' अनित्यत्व-व्यवस्था)

—कथितं च पदं पुनः ॥ १८ ॥

विहितस्यानुवाद्यत्वे विषादे विस्मये क्रुधि ।
दैन्येऽथ लाटानुप्रासेऽनुकम्पायां प्रसादने ॥ १९ ॥
अर्थान्तरसंक्रमितवाच्ये हर्षेऽवधारणे ।

गुण इत्येव ।

यथा—

'उदेति सविता ताम्रः—' इत्यादि ।

अत्र विहितानुवादः ।

'हन्त ! हन्त ! गतः कान्तो वसन्ते सखि ! नागतः ।'

अत्र विषादः ।

'चित्र चित्रमनाकाशे कथ सुमुखि ! चन्द्रमाः ।'

अत्र विस्मय' ।

'सुनयने नयने निधेहि' इति ।

अत्र लाटानुप्रासः ।

'नयने तस्यैव नयने च ।'

अनुवाद—जिसे 'कथितपदत्व' दोष कहा करते हैं वह निम्न परिस्थितिओं में गुण-सा लगा करता है ।

(१) विहित अथवा उद्देश्य के प्रतिनिर्देश में, (२) विषाद में, (३) विस्मय में, (४) क्रोध में, (५) दीनता में, (६) लाटानुप्रास में, (७) अनुकम्पा में, (८) किसी के प्रसादन = प्रसन्न करने में, (९) अर्थान्तरसक्रमितवाच्यध्वनि में, (१०) हर्ष में और (११) अवधारण अथवा विषय-निश्चय में ।

यहाँ पूर्वकारिका से 'गुण.' पद की अनुवृत्ति आ रही है जिससे यह अभिप्राय निकलता है कि 'कथितपदत्व' गुण हो जाता है । जैसे कि—

'उदेति सविता ताम्र' (सूर्य लाल लाल ही उगता है) आदि, यहाँ उद्देश्य का प्रतिनिर्देश करना है इसलिये 'ताम्र एवास्तमेति च' में 'ताम्र' पद में 'कथितपदत्व' दोष नहीं ।

'ओह ! वसन्त आ गया, ओह ! कान्त न आये ।'

यहाँ विषाद के कारण 'हन्त', 'हन्त' आदि पदों में 'कथितपदत्व' दोष नहीं अपितु गुण है ।

'अरे ! अरे ! विना आकाश के यह चन्द्रमा कहाँ से निकल पड़ा !'

यहाँ विस्मय के कारण 'चित्र चित्रम्' आदि में कथितपदत्व गुण का कार्य कर रहा है ।

'अरी सुनयने ! अपने नयन तो इधर कर ।'

यहाँ लाटनुप्रास के कारण 'नयने नयने' में 'कथितपदत्व' गुण सा सुंदर लग रहा है ।

'उसी के नयन नयन हैं ।'

इत्यादावर्थान्तरसंक्रमितवाच्यो ध्वनि ।
एवमन्यत्रापि ।

(संदिग्धत्व । कथितत्वा-नियम)

सन्दिग्धत्वं तथा व्याजस्तुतिपर्यवसायि चेत् ॥ २० ॥

गुण इत्येव यथा—

'पृथुकार्तस्वरपात्रं भूषितनिःशेषपरिजनं देव ।
विलसत्करेणुगहनं सम्प्रति सममावयोः सदनम् ॥'

(कष्टत्व । गुणव्यवस्था)

वैयाकरणमुख्ये तु प्रतिपाद्येऽथ वक्तरि ।

कष्टत्वं दुःश्रवत्वं वा—

गुण इत्येव ।

यहाँ 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि' में 'नयने-नयने में प्रतीत होनेवाला 'कथित-पदत्व' दोष नहीं अपितु गुण है । इसी भाँति अन्य प्रसङ्गों में 'कथितपदत्व' की गुणरूपता स्वयं देखी जा सकती है ।

अनुवाद—'सन्दिग्धत्व' दोष भी गुण हो जाता है यदि वह व्याजस्तुति में समाप्त हो ।

यहाँ भी पूर्वकारिका से 'गुण' की अनुवृत्ति आ रही है ।

उदाहरण के लिये—

'महाराज ! इस समय तो हमारा और आपका भवन एक समान ही है—'पृथुकार्त-स्वरपात्रम्' (राजपक्ष में) पृथूनि बृहन्ति कार्तस्वरस्य सुवर्णस्य पात्राणि भाजनादीनि यत्र—अनेकानेक स्वर्ण-पात्रों से विभूषित, (याचक-पक्ष में) पृथुकानां शिशूनां आर्तस्वर स्य क्षुत्पिपासाजन्यो पात्रं स्थानम्—भूख प्यास से चीखते-बिलबिलाते बाल-बच्चों की करुण ध्वनि से भरा, 'भूषितनिःशेषपरिजनम्' (राज-पक्ष में) भूषिताः रत्नालङ्कृताः निःशेषाः सर्वे परिजनाः सेवकाः यत्र—रत्नालंकृत अनुचर-परिचारों से भरपूर, (याचक-पक्ष में) भुवि स्थण्डिले उषिताः आसनाभावात् स्थिताः निःशेषाः परिजनाः समग्राः कुटुम्ब-व्यापकाः यत्र—पृथ्वी पर इधर उधर लोट लगानेवाले लोगों से भरपूर, 'विलसत्करेणुगह-नम्' (राज-पक्ष में) विलसन्तीभिः करेणुभिः गहनम्—सुंदर-सुंदर हथिनियों से सुशो-भित, (याचक-पक्ष में) विलसत्भिः बिलवर्तिभिः मूषकादिभिः उत्कीर्णैः रेणुभिर्गहनम्—बिल में घुसे चूहों की धूल से धूसर !'

यहाँ 'सन्दिग्धत्व' स्पष्ट है क्योंकि 'पृथुकार्तस्वरपात्रम्' आदि का अर्थ-निर्णय नहीं हो पाता । किन्तु इस उक्ति के व्याजस्तुतिरूप होने से यह 'सन्दिग्धत्व' दोष के बदले गुण सा बना करता है ।

अनुवाद—'कष्टत्व' तथा 'दुःश्रवत्व' ... जाया करते ... वक्ता और श्रोता दोनों वैयाकरण होने का अभिमान रखते ...

यथा—

'दीधीवेवीट्समः कश्चिद्गुणवृद्ध्योरभाजनम् ।
क्विप्प्रत्ययनिभः कश्चिद्यत्र सन्निहिते न ते ॥'

अत्रार्थः कष्टः । वैयाकरणश्च वक्ता । एवमस्य प्रतिपाद्यत्वेऽपि ।

'अत्रास्मार्पमुपाध्याय त्वामहं न कदाचन ।'

अत्र दुःश्रवत्वम् । वैयाकरणो वाच्यः । एवमस्य वक्तृत्वेऽपि ।

(ग्राम्यत्व अतित्यत्व-व्यवस्था)

—ग्राम्यत्वमधमोक्तिषु ॥ २१ ॥

गुण इत्येव । यथा मम—

'यहाँ कुछ लोग तो ऐसे हैं जो 'दीधीङ्' और 'वेवीङ्' धातुओं के समान न तो गुण (दया दाक्षिण्य और 'अदेङ् गुण ' से परिभाषित गुण) के भाजन हैं और न वृद्धि (धन-समृद्धि और 'वृद्धिरेचि' से परिभाषित वृद्धि) के ही। साथ ही साथ कुछ ऐसे भी हैं जो क्विप् प्रत्यय की भाँति सर्वलुप्त हैं और जिनके सम्पर्क में आने से औरों को भी गुण और वृद्धि का सौभाग्य नहीं मिल पाता ।'

यहाँ जो अर्थ है वह बड़ा कष्टगम्य है किन्तु यह सब 'कष्टत्व' इसलिये गुणवत् प्रतीत होता है क्योंकि यहाँ का वक्ता एक वैयाकरण है और अपने शास्त्र-पाण्डित्य के प्रदर्शन का इच्छुक है ।

इसी भाँति यह 'कष्टत्व' वहाँ भी गुण ही समझा जायगा जहाँ श्रोता वैयाकरण हो और अपने व्याकरण-पाण्डित्य का अभिमान रखता हो ।

इसी प्रकार—

'इस विषय में मैंने कभी भी अपने उपाध्याय को स्मरण करने का कष्ट नहीं किया ।'

यहां 'अस्मार्षम्' आदि में 'दु श्रवत्व' है किन्तु यहां के श्रोता के वैयाकरण होने से इसे दोष न मानकर, गुण ही माना जायगा । इसी प्रकार यह 'दु श्रवत्व' वहा भी गुण ही होगा जहा वक्ता वैयाकरण हो ।

विमर्श—बोद्धव्य-वैशिष्ट्य से 'कष्टत्व' की गुणरूपता के उदाहरण में काव्यप्रकाशकार ने यह सूक्ति उद्धृत की थी—

'यदा त्वामहमद्राक्षं पदविद्याविशारदम् ।
उपाध्यायं तदाऽस्मार्षं समस्प्राक्षं च सम्मदम् ॥

जिसे साहित्यदर्पणकार ने तोड-मरोडकर 'दु श्रवत्व' की गुणरूपता के उदाहरण में उद्धृत किया है । किन्तु पाठकों से यह छिपा नहीं है कि साहित्यदर्पण के उद्धरण में 'दु श्रवत्व' का आभासमात्र भले ही मिले सम्पूर्ण स्वरूप कदापि नहीं है ।

अनुवाद—जिसे 'ग्राम्यत्व' दोष कहा गया है वह, अधम अथवा अपढ़ लोगों की उक्ति में, गुण सा ही लगा करता है ।

यहां भी पूर्वकारिका से 'गुण ' पद अनुवृत्त है ।

उदाहरण के लिये, यह स्वरचित सूक्ति

'एसो ससहरबिम्बो दीसइ हेअङ्गवीणपिण्डो व्व ।
एदे अस्ससमोहा पडन्ति आसासु दुद्धधार व्व ।।'
[एष शशधरबिम्बो दृश्यते हैयङ्गवीनपिण्ड इव ।
एते चास्यमयूखाः पतन्त्याशासु दुग्धधारा इव ॥]
इय विदूषकोक्ति ।

('निर्हेतुत्व' की गुण व्यवस्था)

निर्हेतुता तु ख्यातेऽर्थे दोषतां नैव गच्छति ।

यथा—'संप्रति संध्यासमयश्चक्रद्वन्द्वानि विघटयति ।'

('ख्यातिविरुद्धत्व' की गुणव्यवस्था, 'कविसमय-कीर्तन')

कवीनां समये ख्याते गुणः ख्यातविरुद्धता ॥ २२ ॥

कविसमयख्यातानि च—

मालिन्यं व्योम्नि पापे, यशसि धवलता वर्ण्यते हासकीर्त्योः
रक्तौ च क्रोधरागौ ; सरिदुदधिगतं पङ्कजेन्दीवरादि ।
तोयाधारेऽखिलेऽपि प्रसरति च मरालादिकः पक्षिसङ्घो ।
ज्योत्स्ना पेया चकोरैर्जलधरसमये मानसं यान्ति हंसाः ॥२३॥
पादाघातादशोकं विकसति बकुलं योषितामास्यमद्यै
र्यूनामङ्गेषु हाराः, स्फुटति च हृदयं विप्रयोगस्य तापैः ।

'चन्द्रमा का यह बिम्ब ऐसा लगता है जैसे मक्खन का गोला हो और उसकी ये किरणें चारों ओर ऐसी छिटक रही हैं मानों दूध की धारायें हों।

यहाँ जो 'ग्राम्यत्व' है वह, इसके वक्ता के विदूषक होने के कारण गुण का कार्य कर रहा है।

अनुवाद—'निर्हेतुत्व' दोष वहाँ दोष नहीं माना जाया करता जहाँ वर्ण्य विषय लोकप्रसिद्ध हुआ करता है। जैसे कि—

'इस समय यह संध्याकाल चक्रवाक-मिथुन को अलग-अलग करता प्रतीत हो रहा है।

यहाँ संध्या के समय चक्रवाक मिथुन के परस्पर वियोग की बात वस्तुतः लोकप्रसिद्ध बात है। इसलिए यहाँ जो भी 'निर्हेतुत्व' है वह खटकता नहीं।

अनुवाद—जिसे 'ख्यातिविरुद्धत्व' का दोष कहा गया है वह कवि-समयप्रसिद्धि के कारण कहीं गुण का ही कार्य किया करता है।

यहाँ कवि-समय प्रसिद्धि में इनकी गणना है—

'आकाश और पाप में कृष्णवर्णता, यश हास और कीर्ति में शुभ्रवर्णता, क्रोध और अनुराग में रक्तवर्णता, रक्त और नील कमल का नदी-समुद्रादि में अस्तित्व समस्त भूभागवर्ती जलाशयों में राजहंस किंवा चक्रवाक आदि का अवस्थान चकोर पक्षी के द्वारा चन्द्रिका का पान वर्षाकाल में हंसों का मानसरोवर के प्रति प्रस्थान रमणियों के पाद-प्रहार से अशोक में फूल खिलना और उनके मुखोच्छिष्ट मद्य से बकुल का विकसित

मौर्वी रोलम्बमाला धनुरथ विशिखाः कौसुमाः पुष्पकेतो-
भिन्नं स्यादस्य बाणैर्युवजनहृदयं स्त्रीकटाक्षेण तद्वत् ॥ २४ ॥
अह्न्यम्भोजं, निशायां विकसति कुमुदं, चन्द्रिका शुक्लपक्षे
मेघध्वानेषु नृत्यं भवति च शिखिनां नाप्यशोके फलं स्यात् ।
न स्याज्जाती वसन्ते; न च कुसुमफले गन्धसारद्रुमाणा-
मित्याद्युन्नेयमन्यत्कविसमयगतं सत्कवीनां प्रबन्धे ॥ २५ ॥

एषामुदाहरणान्याकरेषु स्पष्टानि ।

होना, युवक और युवती के अङ्गों में मुक्ताहार, वियोग में संताप से हृदय का विदीर्ण हो जाना, कामदेव की प्रत्यञ्चा के रूप में भ्रमर-पङ्क्ति, काम के धनुष और वाण के रूप में पुष्प, काम-वाण और नारी कटाक्ष से युवा प्रेमिओं के हृदय का विदीर्ण होना, दिन में कमल का खिलना, रात में कुमुद का विकसित होना, शुक्लपक्ष में ही चाँदनी का छिटकना, मेघ गर्जन के समय मयूरों का नाच उठना, अशोक में फल का अभाव, वसन्त में मालती का न खिलना, चन्दन में फूल और फल का न होना और इसी भाँति काव्य-साहित्य में उपलब्ध कवि समय अथवा कवि-सम्प्रदाय की चित्र-विचित्र बातें।'

इनके उदाहरण काव्य-प्रबन्धों में यत्र-तत्र स्वय ढूँढ़े जा सकते हैं।

विमर्श—'कविसमय' क्या है ? इसकी मीमासा महाकवि राजशेखर के शब्दों में यह है—

'अशास्त्रीयमलौकिक च परम्परायात यमर्थमुपनिवध्नन्ति कवय स कविसमय.। 'नन्वेष दोष कथङ्कार पुनरुपनिवन्धनार्ह.' इति आचार्या । 'कविमार्गानुग्राही कथमेषः दोष ? इति यायावरीय ।'

अर्थात् 'कविसमय' वस्तुत ऐसे काव्य वर्णित अर्थ का नाम है जो कि अशास्त्रीय किंवा अलौकिक होने पर भी कविपरम्परा के द्वारा काव्य-साहित्य में उपनिवद्ध किया जाया करता है। अशास्त्रीय और अलौकिक होने पर भी इस अर्थप्रकार का उपनिवन्ध दोषावह नहीं क्योंकि इसका कार्य काव्य-मार्ग को प्रशस्त करना है।

यह 'कविसमय' तीन प्रकार का है—१. असत् का उपनिवन्ध, २. सत् का अनिवन्ध और ३. पदार्थ-नियम। महाकवि राजशेखर के अनुसार इस त्रिविध कविसमय का यह अभिप्राय है—

'तत्र सामान्यस्यासतो निवन्धनम्—यथा नदीषु पद्मोत्पलादीनि, जलाशयमात्रेऽपि हसादयः, यत्र तत्र पर्वतेषु सुवर्णरत्नादिकञ्च। नदीपद्मानि यथा—

'दीर्घीकुर्वन् पटु मदकल कूजितं सारसाना
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषाय.।
यत्र स्त्रीणा हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूल
शिप्रावात प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकार ॥'' •

सतोऽप्यनिवन्धनम्—तद् यथा—न मालती वसन्ते, न पुष्पफल चन्दनद्रुमेषु, न फलमशोकेषु। •

अनेकत्र प्रवृत्तवृत्तीनामेकत्राचरणं नियम, तद् यथा समुद्रेष्वेव मकरा, ताम्रपर्ण्यामेव मौक्तिकानि। • •

('पुनरुक्तत्व' की अदोषता)

धनुर्ज्यादिषु शब्देषु शब्दास्तु धनुरादयः ।
आरूढत्वादिबोधाय—

यथा—'पूरिते रोदसी ध्वानैर्धनुर्ज्यास्फालनोद्भवैः ।'[1]

अत्र ज्याशब्देनापि गतार्थत्वे धनुःशब्देन ज्याया धनुष्यारूढत्वं बोध्यते ।

असतोऽपि द्रव्यस्य निबन्धनम्—मुष्टिग्राह्यत्वं सूचिभेद्यत्वं च तमसः, कुम्भोपवाह्यत्वं च ज्योत्स्नायाः ।

द्रव्यस्य सतोऽनिबन्धनम्, तद्यथा—कृष्णपक्षे सत्या अपि ज्योत्स्नायाः शुक्लपक्षे अन्धकारस्य ।

द्रव्यनियमः, तद्यथा—मलय एव चन्दनस्थानम्, हिमवत्येव भूर्जोत्पत्तिस्थानम् ।

असतोऽपि क्रियार्थस्य निबन्धनम्, यथा—चक्रवाकमिथुनस्य निशि भिन्नतटाश्रयणम्, चकोराणां चन्द्रिकापानम् ।

सतोऽपि क्रियार्थस्यानिबन्धनम्, तद्यथा—दिवा नीलोत्पलानामविकासः निशा निशि च शेफालिकाकुसुमानामविभ्रंशः ।

असतो गुणस्य निबन्धनम्, यथा—यशोहासप्रभृतौ शौक्ल्यम्, अयशसः पापप्रभृतेश्च कृष्णत्वम् ।

सतोऽपि गुणस्यानिबन्धनम्, यथा—कुन्दकुड्मलानां कामिदन्तानां च रक्तत्वम्, कमलमुकुलप्रभृतेश्च हरितत्वम्, प्रियङ्गुपुष्पाणां च पीतत्वम् ।

गुणनियमस्तु तद्यथा—सामान्योपादाने माणिक्यानां शोणता, पुष्पाणां शुक्लता मेघानां कृष्णता च ।

कृष्णनीलयोः, कृष्णहरितयोः कृष्णश्यामयोः, पीतरक्तयोः, शुक्लगौरयोरेकत्वेन निबन्धनं च कविसमयः । (काव्यमीमांसा अध्याय १४ १५)

संस्कृत काव्य-साहित्य का एक धर्म-प्रकार कविसमय के रूप में प्रायः सभी कवियों द्वारा उपनिबद्ध हुआ है । महाकवि राजशेखर की निम्न उक्ति से यह अनुमान किया जा सकता है कि सर्वप्रथम 'कविसमय' का निर्धारण राजशेखर का ही किया हुआ है—

'सोऽयं कवीनां समयः काव्ये सुप्त इव स्थितः ।
स साम्प्रतमिहास्माभिर्यथाबुद्धि विबोधितः ॥'

(काव्यमीमांसा १६ अध्याय)

अनुवाद—कतिपय पदों में 'पुनरुक्तत्व' दोष नहीं माना जाता । जैसे कि 'ज्या (धनुष की प्रत्यञ्चा) आदि के बदले 'धनुर्ज्या' आदि प्रयुक्त किये जा सकते हैं जिनके अभिप्राय धनुष पर चढ़ाई प्रत्यञ्चा आदि निकलते हैं (न कि केवल धनुष की प्रत्यञ्चा आदि जो कि 'ज्या' आदि के अभिप्राय हैं) ।

उदाहरण के लिये—

'(धनुर्ज्या) धनुष पर चढ़ी प्रत्यञ्चा के आस्फालन से उत्पन्न ध्वनियों से पृथ्वी और आकाश दोनों भर गये ।

यहाँ यह स्पष्ट है कि केवल 'ज्या' पद के प्रयोग से भी 'धनुर्ज्या' का अभिप्राय निकल सकता था किन्तु 'धनुर्ज्या' कहने से 'धनुष पर चढ़ी अथवा चढ़ाई प्रत्यञ्चा' का विशेष अभिप्राय निकल रहा है जो कि यहाँ वस्तुतः विवक्षित है ।

आदिशब्दात्—

'भाति कर्णावतंसस्ते ।'

अत्र कर्णस्थितत्वबोधनाय कर्णशब्दः । एव श्रवणकुण्डलशिरःशेखर-प्रभृतिः । एव निरुपपदो मालाशब्द पुष्पस्रजमेवाभिधत्त इति स्थितावपि 'पुष्प-माला विभाति ते ।' अत्र पुष्पशब्द उत्कृष्टपुष्पवृद्धयै ।

एवं 'मुक्ताहार' इत्यत्र मुक्ताशब्देनान्यरत्नामिश्रितत्वम् ।

—प्रयोक्तव्याः स्थिता अमी ॥ २६ ॥

धनुर्ज्यादयः सत्काव्यस्थिता एव निबद्धव्याः, न त्वस्थिता 'जघनकाञ्ची-करकङ्कणादयः ।

(न्यूनपदत्व की अदोषता)

उक्तावानन्दमग्नादेः स्यान्न्यूनपदता गुणः ।

यथा—

'गाढालिङ्गनवामनीकृतकुचप्रोद्भिन्नरोमोद्गमा

यहाँ (धनुर्ज्यादिषु में) 'आदि' पद का प्रयोग इसलिये किया गया है जिसमें अन्य पुनरुक्तवत् प्रतीत होने वाले पदों में भी पुनरुक्तत्व का परिहार समझ लिया जाय ।

जैसे कि—

'तेरा कर्णावतंस बड़ा सुन्दर लग रहा है ।'

यहाँ केवल 'अवतस' शब्द से ही 'कर्णावतंस' का अभिप्राय निकल सकता था किन्तु 'कान में पहने कनफूल' के विशेष अभिप्राय के अवबोधनार्थ 'कर्ण' शब्द का भी प्रयोग किया गया है । इसी प्रकार 'श्रवणकुण्डल', 'शिर शेखर' प्रभृति पदों में भी, इन इन अङ्गों में अवस्थिति के अवबोध के लिये, 'श्रवण' और 'शिरस्' आदि पदों का प्रयोग निर्दुष्ट माना जायगा ।

इसी प्रकार विना किसी उपपद के प्रयुक्त 'माला' शब्द से भी पुष्पहार (फूल की माला) का अर्थ निकल सकता है किन्तु 'तेरी पुष्पमाला बड़ी सुन्दर लग रही है' आदि प्रयोगों में 'पुष्प' पद के योग से सुन्दर-सुन्दर फूलों की गुथी माला का विशेष अभिप्राय प्रकाशिक किया जाया करता है ।

इसी प्रकार 'हार' के बदले 'मुक्ताहार' के प्रयोग से 'अन्य रत्नों से अमिश्रित मौक्तिक के हार' का विशेष अभिप्राय प्रकाशित किया जाया करता है ।

किन्तु इन उपर्युक्त पुनरुक्तवत् प्रतीत होने वाले पदों के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिये कि इनमें से उन्हीं का प्रयोग दोषावह नहीं जो कि काव्य-प्रबन्धों में यत्र-तत्र प्रयुक्त हो चुके हैं ।

जैसे कि 'धनुर्ज्या' आदि पद काव्य-प्रबन्धों में यत्र तत्र प्रयुक्त है और इनके प्रयोग में कोई आपत्ति नहीं । किन्तु 'जघनकाञ्ची', 'करकङ्कण' आदि का प्रयोग ठीक नहीं क्योंकि काव्य-प्रबन्धों में इन्हें प्रयुक्त नहीं किया गया ।

अनुवाद—'न्यूनपदत्व' दोष भी वहाँ गुण ही हो जाया करता है जहाँ आनन्द में विभोर अथवा शोकाकुल लोगों की उक्ति का उपनिबन्ध हो । जैसे कि—

'गाढालिङ्गन से दबे हुए स्तनोंवाली, आनन्द के रोमाञ्च से भरी, सान्द्र स्नेहरस के

मा दुस्सहरसातिरेकविगलच्छ्रीमन्नितम्बाम्बरा ।
मा मा मानद ! माति मामलमिति क्षामाक्षरोल्लापिनी
सुप्ता किं नु मृता नु किं मनसि मे लीना विलीना नु किम् ॥'

अत्र पीडयेति न्यूनम् ।

क्वचिन्न दोषो न गुणः —

न्यूनपदत्वमित्येव । यथा—

'तिष्ठेत्कोपवशात्प्रभावपिहिता दीर्घं न सा कुप्यति
स्वर्गायोत्पतिता भवेन्मयि पुनर्भावार्द्रमस्या मनः ।
तां हर्तुं विबुधद्विषोऽपि न च मे शक्ताः पुरोवर्तिनीं
सा चात्यन्तमगोचरं नयनयोर्यातेति कोऽयं विधिः ॥'

अत्र प्रभावपिहितेति भवेदिति चेत्यनन्तरं 'नैतद्यत' इति पदानि न्यूनानि। एषां पदानां न्यूनतायामप्येषवाक्यव्यङ्ग्यस्य वितर्काख्यव्यभिचारिभावस्योत्कर्षाकरणान्न गुणः । 'दीर्घं न से'त्यादिवाक्यमन्यथा च प्रतिपत्त्या तिष्ठेदित्यादिवाक्यप्रतिपत्तेबाध स्फुटमेवावभासत इति न दोषः ।

आलिङ्गन से नितम्ब को अनावृत कर देनेवाली, 'अरे ! बस बस करो अब नहीं' इत्यादि अक्षरों को अस्फुट स्वर से निकालती यह सुन्दरी पता नहीं, सो गयी है या मर गयी है या मेरे मन में बस गयी है या हृदय में घुल मिल गयी है ।

यहाँ 'न्यूनपदत्व' प्रतीत ही है क्योंकि 'माम्' के बाद 'पीडय' पद जो कि प्रयुक्त होना चाहिये छोड़ दिया गया है। किन्तु यह सब इसलिये न्यूनपदत्व नहीं क्योंकि आनन्दातिरेक में इतना ही पर्याप्त है और इसी से रसातिरेक का अनुभव सम्भव है ।

कहीं-कहीं पर ऐसा भी होता है कि 'न्यूनपदत्व' न तो दोष सा लगे और न गुण सा ही ।

यहाँ, 'क्वचित् दोषो न गुणः' आदि में 'न्यूनपदत्वम्' पद की आवृत्ति है। उदाहरण के लिये (महाकवि कालिदास के 'विक्रमोर्वशीयम्' की यह सूक्ति)।

'क्या ऐसा तो नहीं कि मेरी प्रिया उर्वशी प्रणय-कोप के कारण अपनी अन्तर्धान विद्या के प्रभाव से अन्तर्हित हो गयी ? किन्तु इतनी देर तक तो वह कभी रूठ नहीं हुई। क्या ऐसा तो नहीं कि वह स्वर्गलोक में उड़ कर चली गयी ? किन्तु मुझे तो वह हृदय से चाहती है । क्या ऐसा तो नहीं कि असुर उसे चुरा ले गये ? किन्तु मेरे रहते भला असुर उसे कैसे चुरा सकें ! कहीं भी वह दिखाई नहीं पड़ती ! यह सब क्या हो गया ! क्या हो रहा है !'

यहाँ भी 'न्यूनपदत्व' है क्योंकि (प्रथम चरण में) 'प्रभावपिहिता' और (द्वितीय चरण में) 'भवेत्' पदों के बाद 'नैतद्यत (ऐसी बात नहीं क्योंकि)' पद की न्यूनता प्रतीत हो रही है। किन्तु इन पदों की यह न्यूनता यहाँ 'गुण' का कार्य इसलिये नहीं कर रही है क्योंकि इनके द्वारा, इस समस्त वाक्य में व्यङ्ग्य 'वितर्क' रूप व्यभिचारी भाव का कोई विशेष परिपोष नहीं प्रतीत होता इसका यह अभिप्राय नहीं कि यह 'न्यूनपदत्व' यहाँ दोष है। वस्तुतः यह 'न्यूनपदत्व' यहाँ दोष भी नहीं क्योंकि 'दीर्घं न सा कुप्यति' आदि प्रतिचरणगत उत्तरार्ध वाक्य के अर्थसामर्थ्य से ही 'तिष्ठेत् कोपवशात्

(अधिकपदत्व की अदोषता)

—गुणः क्वाऽप्यधिकं पदम् ॥ २७ ॥

यथा—

'आचरति दुर्जनो यत्सहसा मनसोऽप्यगोचरानर्थान् ।
तन्न न जाने जाने स्पृशति मनः किं तु नैव निष्ठुरताम् ॥'

अत्र 'न न जाने' इत्ययोगव्यवच्छेदे ।

द्वितीये 'जाने' इत्यनेन नाहमेव जाने इत्यन्ययोगव्यवच्छेदाद्विच्छित्ति-विशेषः ।

(समाप्तपुनरात्तत्व की अदोषता)

समाप्तपुनरात्तत्वं न दोषो न गुणः क्वचित् ।

यथा—'अन्यास्ता गुणरत्न—' इत्यादि ।

अत्र प्रथमार्धेन वाक्यसमाप्तावपि द्वितीयार्धवाक्यं पुनरुपात्तम् ।

एवं च विशेषणमात्रस्य पुनरुपादाने समाप्तपुनरात्तत्वं न वाक्यान्तरस्येति विज्ञेयम् ।

प्रभावपिहिता' आदि प्रतिचरणगत पूर्वार्द्ध वाक्य के अभिप्राय का निराकरण स्पष्ट प्रतीत हो रहा है जिसके लिये 'नैतद्यत' पद की न्यूनता कोई न्यूनता नहीं प्रतीत होती ।

अनुवाद—कहीं-कहीं 'अधिकपदत्व' गुणवत् प्रतीत हुआ करता है । जैसे कि—

'यह बात कि 'दुष्ट मनुष्य अकस्मात् कुछ ऐसे कार्य कर डालते हैं जिन्हें कोई सोच भी न सकें' ऐसा नहीं कि मैं न जानता होऊँ किन्तु कुछ प्रतिकार इसलिए नहीं करता क्योंकि मेरे हृदय में निष्ठुरता का भाव उत्पन्न ही नहीं होता ।'

यहाँ 'अधिकपदत्व' प्रतीत होता है क्योंकि 'न जाने' में 'न' अधिक है । किन्तु यह 'अधिकपदत्व' यहाँ गुण का ही कार्य कर रहा है क्योंकि इससे वक्ता के साथ, प्रस्तुत दुर्जन पुरुष के आचरण के ज्ञान का जो 'अयोग'–असबन्ध–हो सकता था उसका व्यवच्छेद अथवा निवारण किया जा रहा है (अयोगव्यवच्छेद) जिससे 'अह जाने एव' का विशेष अभिप्राय अभिव्यक्त हो उठता है ।

इसी प्रकार 'जाने जाने' में दूसरी वार प्रयुक्त 'जाने' पद अधिक प्रतीत होता है किन्तु यह 'अधिकपदत्व' गुण सा ही लग रहा है क्योंकि इसके द्वारा 'अहमेव जाने' (मैं ही जानता हूँ, कोई दूसरा क्या जानेगा) का एक सुन्दर अभिप्राय प्रकाशित हो जाता है जिसमें 'अन्ययोगव्यवच्छेद' (वक्ता के अतिरिक्त अन्य लोगों में प्रस्तुत दुर्जन पुरुष के दुराचरण के ज्ञान के निराकरण) का मर्म अन्तर्निहित है ।

अनुवाद—कहीं-कहीं 'समाप्तपुनरात्तत्व' न तो दोष सा लगता है और न गुण सा ही । जैसे कि—

'अन्यास्ता गुणरत्नरोहणभुव ' आदि सूक्ति में ।

यहाँ यह स्पष्ट है कि प्रथमार्ध में ही वाक्य समाप्त हो चुका है किन्तु 'श्रीमत्कान्ति-जुषाम्' आदि द्वितीयार्ध वाक्य के रूप में पुन उपात्त है । किन्तु तव भी यहाँ 'समाप्त-पुनरात्तत्व' कोई दोष नहीं क्योंकि यहाँ विशेषणमात्र का पुन उपादान नहीं अपितु साकांक्ष वाक्य का पुन उपादान है । 'समाप्तपुनरात्तत्व' तो विशेषणमात्र के उपादान में

(गर्भितत्व की अदोषता)

गर्भितत्वं गुणः क्वापि—

यथा—

'दिङ्मातङ्गघटाविभक्तचतुराघाटा मही साध्यते
सिद्धा सापि वदन्त एव हि वयं रोमाञ्चिताः पश्यत ।
विप्राय प्रतिपाद्यते किमपरं रामाय तस्मै नमो
यस्मादाविरभूत्कथाद्भुतमिदं यत्रैव चास्तं गतम् ॥'

अत्र वदन्त एवेत्यादि वाक्यस्य वाक्यान्तरप्रवेशात् चमत्कारातिशयं पुष्णाति।

(पतत्प्रकर्षत्व की अदोषता)

—पतत्प्रकर्षता तथा ॥ २८ ॥

तथेति क्वचित् गुणः । यथा—'चञ्चद्भुज—' इत्यादि ।
अत्र चतुर्थपादे सुकुमारार्थतया शब्दाडम्बरत्यागो गुणः ।

(रसगत दोषों की अनित्यत्वव्यवस्था)

क्वचिदुक्तौ स्वशब्देन न दोषो व्यभिचारिणः ।
अनुभावविभावाभ्यां रचना यत्र नोचिता ॥ २९ ॥

सम्भव था । यहाँ इसे गुण भी नहीं माना जा सकता क्योंकि इसके पुनः उपादान से कोई चमत्कार-विशेष भी यहाँ उत्पन्न नहीं होता।

अनुवाद—'गर्भितत्व' दोष भी कहीं-कहीं गुण सा बना करता है । जैसे कि—

'उस पृथ्वी को जीता जाता है जिसकी चारों सीमायें चारों दिशाओं तक पहुँचा करती हैं। और 'यह पृथ्वी जीत ली गयी' कहते हुए जब लोग रोमाञ्चित हो उठते हैं तो उसे ब्राह्मण को दान में दे दिया जाता है। हम तो बस यह अद्भुत कथा जिससे उत्पन्न हुई और जिनके साथ अस्त हो गयी उन अद्वितीय दानवीर परशुराम के आगे हाथ जोड़े खड़े हैं।'

यहाँ 'गर्भितत्व' है क्योंकि 'वदन्त एव हि वयं रोमाञ्चिताः पश्यत' यह वाक्य 'दिङ्मातङ्गघटाविभक्तचतुराघाटा मही साध्यते सिद्धा सापि विप्राय प्रतिपाद्यते' इस वाक्य के बीच में घुसा पड़ा है। किन्तु तब भी इसे यहाँ गुण ही माना जायगा क्योंकि इसी के द्वारा विस्मय-चमत्कार का यहाँ अधिकाधिक परिपोष किया जा रहा है जो कि सर्वथा अपेक्षित है।

अनुवाद—इसी प्रकार 'पतत्प्रकर्षत्व' भी कहीं-कहीं गुण हो जाता है।

यहाँ 'पतत्प्रकर्षता तथा' में 'तथा' से 'पतत्प्रकर्षत्व' के गुण होने का अभिप्राय लिया गया है। जैसे कि—

'चञ्चद्भुजभ्रमित' आदि पूर्वोद्धृत वेणीसंहार-सूक्ति।

यहाँ चतुर्थ चरण (उत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः) में शब्दाडम्बर का जो परित्याग है जिसमें पतत्प्रकर्षत्व स्पष्ट है वह गुणवत् प्रतीत हो रहा है क्योंकि इससे यहाँ का कोमल भाव सुंदरता से अभिव्यक्त हो उठता है।

अनुवाद—कहीं-कहीं पर व्यभिचारिभाव का उसके वाचक पद द्वारा अभिधान भी दोष नहीं हुआ करता, यदि, वहाँ अनुभाव तथा विभाव की योजना में कोई औचित्य न हो।

यत्रानुभावविभावमुखेन प्रतिपादने विशदप्रतीतिर्नास्ति, यत्र च विभावानुभावकृतपुष्टिराहित्यमेवानुगुणं तत्र व्यभिचारिणः स्वशब्देनोक्तौ न दोषः।

यथा—

'औत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा व्यावर्तमाना ह्रिया
तैस्तैर्बन्धुवधूजनस्य वचनैर्नीताभिमुख्यं पुनः।
दृष्ट्वाग्रे वरमात्तसाध्वसरसा गौरी नवे सङ्गमे
संरोहत्पुलका हरेण हसता श्लिष्टा शिवायास्तु वः॥'

अत्रौत्सुक्यस्य त्वरारूपानुभावमुखेन प्रतिपादने सङ्गमे न झटिति प्रतीतिः, त्वराया भयादिनापि सम्भवात्। ह्रियोऽनुभावस्य च व्यावर्तमानस्य कोपादिना सम्भवात्। साध्वसहासयोस्तु विभावादिपरिपोषस्य प्रकृतरसप्रतिकूलप्रायत्वादित्येषां स्वशब्दाभिधानमेव न्याय्यम्।

सञ्चार्यादेर्विरुद्धस्य बाध्यत्वेन वचो गुणः।

तात्पर्य यह है कि जबकि अनुभाव और विभाव की योजना से किसी व्यभिचारी भाव की विशद प्रतीति न हो सके अथवा जब कि विभाव और अनुभव के द्वारा परिपोष न पाना ही किसी रसभाव के चमत्कार के लिए अधिक उपयुक्त हो जाय तब वाचक पद से उस व्यभिचारी भाव का अभिधान दोष नहीं माना जा सकता। जैसे कि (रत्नावली की यह सूक्ति)—

'प्रियतम शिव के साथ नवमिलन में उत्सुकता से शीघ्र चल पड़ने वाली किन्तु स्वाभाविक लज्जा से पुन लौट पड़ने में लगी, उन-उन सखी-सहेलियों के कहने-सुनने से सामने लायी गयी किन्तु महादेव को वर के रूप में देखते ही भय के वशीभूत बनी और हँसते प्रियतम के द्वारा आलिङ्गन में बँधी तथा आनन्द से रोमाञ्चित वह देवी पार्वती आप सबका कल्याण करें।'

यहाँ 'व्यभिचारिभावों का स्वशब्दोपादान' दोष नहीं क्योंकि यदि 'औत्सुक्य' रूप व्यभिचारी भाव को सत्वर गमन के अनुभाव द्वारा प्रतिपादित किया गया होता तो प्रेममिलन में औत्सुक्य की अविलम्ब प्रतीति न हो पाती। इसका कारण यह है कि सत्वर गमन भय अथवा हर्ष से भी सम्भव है औत्सुक्य से ही क्यों ? (किन्तु यहाँ तो 'औत्सुक्य' की ही अभिव्यञ्जना अभिप्रेत है जो कि इसी पद के उपादान में सभव है) इसी प्रकार 'ह्री' (लज्जा) की विशद अभिव्यक्ति के लिए इसके वाचक पद का ही प्रयोग उचित है क्योंकि 'व्यावर्तन' (लौट पड़ने) के अनुभाव द्वारा इसका प्रकाशन असंभव है। व्यावर्तन के अनुभाव का संबन्ध केवल लज्जा से ही नहीं अपितु कोप अथवा भय से भी है और इसी के निराकरण के लिए यहाँ 'ह्री' (लज्जा) पद प्रयुक्त किया गया है।

इसी प्रकार 'साध्वस' और 'हास' के भाव भी अपने वाचक पदों द्वारा ही यहाँ प्रतिपादित हैं और इसी में औचित्य है क्योंकि यदि विभाव आदि के द्वारा इन भावों का परिपोष किया गया होता तब तो ये सब यहा के शृङ्गाररस के प्रतिकूल से लगते (क्योंकि भयानक और हास्य रस के स्थायीभावों का प्रकाशन-प्रपञ्च शृङ्गार के प्रतिकूल ही पड़ेगा अनुकूल नहीं)।

इसी प्रकार जहाँ विरुद्ध रस-भाव के विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों की

यथा—

'क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलम्—' इत्यादि।

अत्र प्रशमाङ्गानां वितर्कमतिशङ्काधृतीनामभिलाषाङ्गैरौत्सुक्यस्मृतिदैन्यचिन्ताभिस्तिरस्कारः पर्यन्ते चिन्ताप्रधानमास्वादप्रकर्षमाविर्भावयति।

विरोधिनोऽपि स्मरणे साम्येन वचनेऽपि वा ॥ २० ॥
भवेद्विरोधो नान्योन्यमङ्गिन्यङ्गत्वमाप्तयोः।

क्रमेण यथा—

'अयं स रशनोत्कर्षी—' इत्यादि।

अत्रालम्बनविच्छेदे रतेरसात्मतया स्मर्यमाणानां तदङ्गानां शोकोद्दीपकतया करुणानुकूलता।

'सरागया स्रुतघनघर्मतोयया कराहतिध्वनितपृथूरुपीठया।
मुहुर्मुहुर्दशनविलङ्घितोष्ठया रुषा नृपाः प्रियतमयेव भेजिरे ॥'

योजना इस प्रकार की गयी होती है जिसमें वे प्रकृत रस से दबे-दबाये रहा करते हैं तो वहाँ यह 'विरुद्धविभावादिपरिग्रह' दोष न होकर गुण ही हुआ करता है। जैसे कि—

'क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलम्' इत्यादि।

यहाँ यह स्पष्ट है कि विरुद्धरसभावरूप 'शम' के अङ्गभूत वितर्क, मति शङ्का और धृतिरूप व्यभिचारिभावों की ऐसी योजना की गई है जिसमें ये यहाँ के अभिलाषविप्रलम्भ शृङ्गार के परिपोषक औत्सुक्य स्मृति दैन्य और चिन्ता के व्यभिचारिभावों से दबा दिये गये हैं जिससे अन्त में चिन्ता की धाराप्रवाहिकता की आनन्दानुभूति हो उठती है और अधिकाधिक परिपुष्ट विप्रलम्भ का आस्वाद मिल जाता है। इस प्रकार यहाँ 'विरुद्धविभावादिपरिग्रह' का दोष गुण का ही कार्य करता प्रतीत हो रहा है।

इसी प्रकार परस्पर विरुद्ध रसों के अङ्गों का एकत्र समावेश भी दोष होने के बदले गुण ही हो जाया करता है यदि निम्न रीतियों से यह विरुद्ध रस-योजना हुई हो—

(क) प्रकृत रस के विरोधी रस या भाव का स्मरण-रूप से उपनिबन्धन
(ख) परस्पर विरुद्ध रस या भाव की साम्य-विवक्षा-पूर्वक योजना और
(ग) एक प्रधान रस के साथ परस्पर विरुद्ध रसों का अङ्गरूप से अभिव्यञ्जन।

जैसे कि (प्रकृत रस के विरोधी रस या भाव के स्मरण रूप से उपनिबन्धन में रस-दोष-परिहार)—

'अयं स रशनोत्कर्षी' इत्यादि (महाभारतसूक्ति)।

यहाँ यह स्पष्ट है कि रतिभाव की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं हो रही है क्योंकि इसका आलम्बनविभावरूप नायक भूरिश्रवा मर चुका है किन्तु तब भी इसके आश्रय रशना-कर्षण आदि की ऐसी योजना की हुई है जिसमें वे अतीत की स्मृति के रूप में प्रतीत हो रहे हैं और अन्ततोगत्वा शोक को उद्दीप्त करते हुये यहाँ के करुणरस के ही परिपोषक बने दिखायी दे रहे हैं।

अथवा

(परस्पर विरुद्ध रस या भाव की साम्यविवक्षा-पूर्वक योजना में रसदोष-परिहार)—
'सरागया' आदि अर्थात् क्रोध या अनुराग के आवेश में लाल-लाल नेत्रों अथवा स्वेदार्द्र

अत्र सम्भोगशृङ्गारो वर्णनीयवीरव्यभिचारिणः क्रोधस्यानुभावसाम्येन विवक्षितः ।

'एकं ध्याननिमीलनान्मुकुलितप्राय द्वितीयं पुनः
पार्वत्या वदनाम्बुजस्तनभरे सम्भोगभावालसम् ।
अन्यद्दूरविकृष्टचापमदनक्रोधानलोद्दीपित
शम्भोभिन्नरसं समाधिसमये नेत्रत्रयं पातु वः ॥'

अत्र शान्तशृङ्गाररौद्ररसपरिपुष्टा भगवद्विषया रतिः ।

यथा वा—

'क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोंऽशुकान्त
गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः संभ्रमेण ।
आलिङ्गन् योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः
कामीवाद्रापराधः स दहतु दुरित शाम्भवो वः शराग्निः ॥'

नेत्रों वाली, 'स्रुतघनघर्मतोयया'—'क्रोध अथवा सत्त्व के उद्रेक से निकले स्वेद जल से भींगी, 'कराहतिध्वनितपृथूरुपीठया'—अपने या प्रियतम के काराघात से 'ऊरुदेश पर चोट पड़ने से विह्वल बनी और 'मुहुर्मुहुर्दशनविलंघितोष्ठया' बार बार ओठ चबाती या प्रियतम के दशन-क्षत से पीड़ित अधर वाली, क्रुद्धतारूपिणी प्रियतमा ने, शिशुपाल के पक्षवाले सभी राजाओं को अपने वश में कर लिया ।'

यहाँ प्रकृत वीर रस के विरोधी संभोगशृंगार की योजना है किन्तु यह योजना इस प्रकार की गयी है जिसमें इसके अनुभाव (सरागता आदि) प्रकृत वीररस के व्यभिचारी 'क्रोध' के अनुभावों के समान वर्णित हैं । इसलिये यहाँ भी रसदोष की कोई संभावना नहीं ।

अथवा

(एक प्रधान रस के साथ परस्पर विरुद्ध रसों के अङ्गरूप से अभिव्यञ्जन में रसदोष-परिहार)

'समाधिस्थ महादेव शङ्कर का वह पहला नेत्र जो कि ध्यान-बन्ध में बन्द सा रहा करता है, वह दूसरा नेत्र जो कि पार्वती के मुख कमल और उन्नत उरोजों पर प्रणय-भाव रखा करता है और वह तीसरा नेत्र जो कि धनुर्धर कामदेव को भस्मीभूत करने वाले क्रोधानल की ज्वालाओं से जला करता है, विविध रसभावों की अनुभूति कराते हुये, आप सब का कल्याण मङ्गल करता रहे ।'

यहां भगवद्विषयक रतिभाव ही मुख्य रूप से 'अभिव्यङ्ग्य है और इसलिये इसके परिपोषक और इसके साथ अङ्गरूप से अभिव्यङ्ग्य शान्त, शृङ्गार और रौद्ररस किसी प्रकार का पारस्परिक विरोध करते नहीं प्रतीत होते ।

अथवा

'त्रिपुरान्तक महादेव शङ्कर का वह बाणानल जो कि प्रेमापराधी कामी की भाँति, त्रिपुरासुर की विरह-विह्वल सुन्दरियों से छिटक दिये जाने पर भी, उनका हाथ पकड़ा करता है, दूर किये जाने पर भी उनके वस्त्र के अञ्चल छूआ करता है, हटा दिये जाने पर भी उनके केशपाश में हाथ लगाया करता है, संभ्रमवश आखों से परे किये जाने पर भी, उनके पैरों पर आ गिरा करता है और दूर से रोके जाने 'पर भी उन्हें आलिङ्गन करना चाहता है, आप सबके पाप-सन्ताप का शमन करता रहे ।'

अत्र कविगता भगवद्विषया रतिः प्रधानम्। तस्याः परिपोषकतया भगवतस्त्रिपुरध्वंसे प्रत्युत्साहस्यापरिपुष्टतया रसपदवीमप्राप्ततया भावमात्रस्य करुणोऽङ्गम्। तस्य च कामीवेति साम्यबलादायातः शृङ्गारः।

एवं चाविश्रान्तिधामतया करुणस्याप्यङ्गतैवेति द्वयोरपि करुणशृङ्गारयोर्भगवदुत्साहपरिपुष्टतद्विषयरतिभावास्वादप्रकर्षकतया यौगपद्यसम्भवादङ्गत्वेन न विरोधः।

ननु समूहालम्बनात्मकपूर्णघनानन्दरूपस्य रसस्य तादृशेनेतररसेन कथं विरोधः सम्भावनीयः? एकवाक्ये निवेशप्रादुर्भावयोर्यौगपद्यविरहेण परस्परोपमर्दकत्वानुपपत्तेः। नाप्यङ्गाङ्गिभावः, द्वयोरपि पूर्णतया स्वातन्त्र्येण विश्रान्तेः।

सत्यमुक्तम्। अत एवात्र प्रधानेतरेषु रसेषु स्वातन्त्र्यविश्रामराहित्यात्पूर्णरसभावमात्राच्च विलक्षणतया संचारिरसनाम्ना व्यपदेशः प्राच्यानाम्।

अस्मत्पितामहानुजकविपण्डितमुख्यश्रीचण्डीदासपादानां तु खण्डरसनाम्ना।

यहाँ प्रधानरूप से अभिव्यङ्ग्य जो भाव है वह कविनिष्ठ शिवविषयक रति अथवा भक्ति का भाव है। इसके परिपोष के लिये जिस विरुद्ध भाव की यहाँ योजना है वह है त्रिपुरध्वंस में निरत भगवान् शङ्कर के 'उत्साह' का भाव जो कि वीररस के रूप में परिपुष्ट न हो सकने के कारण भाव रूप में ही रह गया है और जिसके अङ्ग के रूप में करुण रस का अवभास हो रहा है जो कि वस्तुतः 'कामीव' इस साम्य-विवक्षा से आक्षिप्त शृङ्गार को अपना अङ्ग बनाये विराजमान है। यह करुण भी यहाँ अन्तिम आस्वाद का विषय नहीं बन रहा है। और इसीलिये अङ्गरूप से ही यहाँ इसका अनुभव हो रहा है। इस प्रकार करुण और शृङ्गार दोनों यहाँ भगवन्निष्ठ उत्साहभाव से परिपुष्ट कविनिष्ठ भगवद्-विषयक रतिभाव के परिपोषक बन रहे हैं और इसलिये इनका सहावस्थान रसदोष का उत्पादक नहीं अपितु कविनिष्ठ भगवद्विषयक रतिभाव का अधिकाधिक परिपोषक ही प्रतीत हो रहा है

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है—जब कि 'रस' विभावादि-वर्ग का सम्वलित विभाव्य-रूप एक अखण्ड आनन्दात्मक अनुभव है तब इसी प्रकार के दूसरे रसरूप अनुभव से इसका विरोध क्योंकर सम्भव है? साथ ही साथ जब कि इस प्रकार के दो रसरूप अनुभवों का एक काव्य-वाक्य में निवेश अथवा एक काव्य-वाक्य द्वारा अभिव्यञ्जन एक समय में असम्भव है तब इनमें परस्पर उपमर्द्य-उपमर्दक-भाव की क्या सम्भावना हो सकती है? इसके अतिरिक्त, जबकि दो रस पूर्णतया अभिव्यक्त हों और स्वतन्त्र रूप से आनन्दानुभव के विषय बन रहे हों तब उनमें अङ्गाङ्गिभाव भी क्योंकर माना जा सकता है?

प्रश्न तो ठीक है और वस्तुतः इसीलिये प्राचीन आलङ्कारिक ऐसे प्रसङ्गों पर अप्रधान तथा व्यङ्ग्य रस को 'सञ्चारी रस' कहा करते हैं क्योंकि उनके अनुसार इस प्रकार का रस न तो स्वतन्त्र रूप से आस्वाद-विषय हो पाता है और न मुख्य रस की भाँति पूर्णतया अभिव्यङ्ग्य ही हो सकता है अपितु अपनी ही सामग्री से परिपुष्ट होकर एक विलक्षण भाव सा बना रहता है।

और वस्तुतः इसीलिये हमारे पितामह के अनुज कवि पण्डित-प्रकाण्ड, आचार्य श्रीचण्डीदास ने इस प्रकार के रस को 'खण्ड रस' कहा है—

यदाहुः—

'अङ्गं बाध्योऽथ संसर्गी यद्यङ्गी स्याद्रसान्तरे।
नास्वाद्यते समग्रं तत्ततः खण्डरसः स्मृतः ॥' इति।

ननु 'आद्यः करुणबीभत्सरौद्रवीरभयानकैः' इत्युक्तनयेन विरोधिनोर्वीरश्रृङ्गारयोः कथमेकत्र—

'कपोले जानक्याः करिकलभदन्तद्युतिमुपि
स्मरस्मेरस्फोरोड्डमरपुलक वक्त्रकमलम्।
मुहुः पश्यच्छृण्वन् रजनिचरसेनाकलकलं
जटाजूटग्रन्थिं द्रढयति रघूणां परिवृढः ॥'

इत्यादौ समावेशः। अत्रोच्यते—इह खलु रसाना विरोधिताया अविरोधितायाश्च त्रिधा व्यवस्था। कयोश्चिदालम्बनैक्येन, कयोश्चिदाश्रयैक्येन, कयोश्चिन्नैरन्तर्येणेति। तत्र वीरश्रृङ्गारयोरालम्बनैक्येन विरोधः। तथा हास्यरौद्रबीभत्सैः सम्भोगस्य। वीरकरुणरौद्रादिभिर्विप्रलम्भस्य। (आलम्बनैक्येन) आश्रयैक्येन च वीरभयानकयोः। नैरन्तर्यविभावैक्याभ्यां शान्तश्रृङ्गारयोः। त्रिधाऽयं

'वह रस जो कि अपने आप में अङ्गी (मुख्य) होने पर भी दूसरे रस का अङ्ग (उपकारक) बन जाया करता है अथवा विरोधी होने पर भी, प्रकृत रस के साथ, साम्यविवक्षा से, एकत्र समावेश पा जाता है अथवा विना विरोध के, स्वतन्त्र रूप से ही प्रकृत रस में सम्मिलित हो जाता है, जिससे उसका पार्यन्तिक आस्वाद नहीं मिल सकता, 'खण्डरस' कहा जाया करता है।'

यहाँ यह कहा जा सकता है कि जबकि 'प्रथम अर्थात् श्रृङ्गार रस, करुण बीभत्स-रौद्र-वीर और भयानक रसों से विरुद्ध पड़ता है' इस पूर्वोक्त सिद्धान्त के अनुसार वीर और श्रृङ्गार में परस्पर विरोध है तब एक काव्यवाक्य जैसे कि—

'एक ओर तो रघुराज राम हाथी के बच्चे के दांत की कांति से पूर्ण कपोलवाले सीता के मुख-कमल पर काम-विकास और प्रेम के रोमाञ्च देखने में निरत हैं और दूसरी ओर वे राक्षस-सेना का कोलाहल सुनकर अपने जटाजूट की गाँठ भी बाँध रहे हैं।'

इत्यादि में, इनका एकत्र समावेश क्योंकर अनुचित नहीं? किन्तु इसका समाधान इस प्रकार किया जा सकता है—

'दो रसों के विरोध या अविरोध की तीन सभावनायें हैं—(१) या तो दोनों का आलम्बन एक हो (२) या दोनों का आश्रय एक हो (३) या दोनों एक दूसरे के बाद विना व्यवधान के अभिव्यङ्ग्य हो रहे हों। अब वीर और श्रृङ्गार का जो विरोध है उसका कारण उनके आलम्बन का एक होना है। इसी भाँति सभोग श्रृङ्गार के साथ हास्य, रौद्र और बीभत्स के विरोध का कारण आलम्बन का ऐक्य ही है। यही बात विप्रलम्भ श्रृङ्गार के साथ वीर, करुण और रौद्र आदि के विरोध की भी है। आश्रय की एकता (और आलम्बन की एकता) के कारण जो विरोध सभव है वह वीर और भयानक में देखा जा सकता है। अव्यवहित रूप से एक दूसरे के बाद अभिव्यञ्जन में और विभावैक्य के कारण शांत और श्रृङ्गार परस्पर विरुद्ध पड़ते हैं। वीर रस का अद्भुत और रौद्र से उपर्युक्त तीनों सभावनाओं में अविरोध ही रहा करता है। यही अविरोध श्रृङ्गार का अद्भुत के साथ और भयानक का बीभत्स के भी साथ दिखायी देता है।'

विरोधो वीरस्याद्भुतरौद्राभ्याम्। शृङ्गारस्याद्भुतेन भयानकस्य बीभत्सेनेति।

तेनात्र वीरशृङ्गारयोर्भिन्नालम्बनत्वान्न विरोधः। एवं च वीरस्य नायकनिष्ठत्वेन भयानकस्य प्रतिनायकनिष्ठत्वेन निबन्धे भिन्नाश्रयत्वेन न विरोधः। यच्च नागानन्दे शान्ताश्रयस्यापि जीमूतवाहनस्य मलयवत्यनुरागो दर्शितः, तत्र 'अहो गीतमहो वादित्रम्' इत्यद्भुतस्यान्तरा निवेशनान्नैरन्तर्याभावान्न शान्तशृङ्गारयोर्विरोधः। एवमन्यदपि ज्ञेयम्। 'पाण्डुक्षामं वदनम्—' इत्यादौ च पाण्डुतादीनामङ्गभावः करुणविप्रलम्भेऽपीति न विरोधः।

(सर्वदोष-प्रतिप्रसव। समस्त दोषों की अनित्यत्वव्यवस्था)

अनुकारे च सर्वेषां दोषाणां नैव दोषता ॥ ३१ ॥

सर्वेषां दुःश्रवत्वप्रभृतीनाम्।

यथा—

'एष दुश्च्यवनं नौमीत्यादि जल्पति कश्चन।'

अत्र दुश्च्यवनशब्दोऽप्रयुक्तः।

अब यदि इस दृष्टि से 'कपोले जानक्याः' आदि काव्य-वाक्य पर विचार किया जाय तो यह स्पष्ट है कि यहाँ वीर और शृङ्गार में कोई विरोध नहीं क्योंकि दोनों भिन्न-भिन्न आलम्बन पर अभिव्यक्त हो रहे हैं (अर्थात् शृङ्गार तो सीता रूप आलम्बन पर प्रकाशित हो रहा है और वीर राक्षस-सैन्य रूप आलम्बन पर)। इसी प्रकार जब कि वीर रस नायकनिष्ठ रूप से अभिव्यञ्जित हो और भयानक रस की अभिव्यक्ति प्रतिनायक के आलम्बन पर हो तब दोनों में आश्रय-भेद के कारण जो भी विरोध है वह हट जाया करता है। 'नागानन्द' नाटक में जो शम रूप स्थायीभाव के आश्रय (नायक) 'जीमूतवाहन' का (नायिका) 'मलयवती' के प्रति प्रेमानुराग प्रकाशित है उसमें शान्त और शृङ्गार का इसलिये कोई विरोध नहीं क्योंकि यहाँ इन दोनों रसों का अव्यवहित अभिव्यञ्जन नहीं है अपितु इनके बीच में 'अहो गीतम् अहो वादित्रम्' आदि के द्वारा अद्भुत रस का सञ्चार कर दिया गया है। इसी भाँति अन्यत्र काव्य-नाट्य-प्रबन्ध में अन्य रसों के भी अविरोध का रहस्य समझा जा सकता है।

'पाण्डुक्षामं वदनम्' आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति में भी 'करुण' और 'करुण विप्रलम्भ' के अंगों का विरोध इसलिये नहीं क्योंकि यहाँ 'पाण्डुता' आदि करुण रस के असाधारण अनुभाव नहीं अपितु करुण विप्रलम्भ के भी साधारण अनुभाव हैं।

अनुवाद—इन उपर्युक्त समस्त दोषों का एक अमोघ अपवाद यह है जिसे 'अनुकरण' कहते हैं। अर्थात् अनुकरण में कोई भी दोष दोष नहीं माना जा सकता। (क्योंकि अनुकार्य का दोष अनुकरण में दोष नहीं हुआ करता)। जैसे कि—

'यह मैं दुश्च्यवन (इन्द्र) को प्रणाम कर रहा हूँ, ऐसी बात कोई बक झक रहा है।'

यहाँ 'दुश्च्यवन' शब्द, इन्द्र के अर्थ में अप्रयुक्त होने पर भी, प्रयुक्त किया हुआ है किन्तु यह 'अप्रयुक्तत्व' यहाँ दोष नहीं क्योंकि यहाँ वक्ता किसी दूसरे की उक्ति का अनुकरण करते यह सब कह रहा है।

अन्येषामपि दोषाणामित्यौचित्यान्मनीषिभिः ।
अदोषता च गुणता ज्ञेया चानुभयात्मता ॥ ३२ ॥

अनुभयात्मता अदोषगुणता ।

इति साहित्यदर्पणे दोषनिरूपणो नाम सप्तमः परिच्छेदः ।



इस उपर्युक्त विचारधारा का अनुसरण करते हुये, औचित्य की दृष्टि से, अन्य दोषों की भी अदोषता अथवा गुणरूपता अथवा अदोष गुणता यत्र-तत्र स्वयं बुद्धिमान् पाठक समझ सकते हैं।

यहाँ कारिका में 'अनुभयात्मता' का अभिप्राय 'अदोष-गुणता' (न तो दोष हो और न गुण हो) का अभिप्राय है।

विमर्श—काव्यप्रकाशकार ने 'अनुकरण' को समस्त पद-दोषों का अपवाद-स्थान माना है—

'अनुकरणे तु सर्वेषाम् ।
सर्वेषां श्रुतिकटुप्रभृतीना दोषाणाम् । यथा—
मृगचक्षुषमद्राक्षमित्यादि कथयत्ययम् ।
पश्यैष च गवित्याह सुत्रामाण यजेति च ॥' (काव्यप्रकाश ७म उल्लास)

यहाँ साहित्यदर्पणकार ने काव्यप्रकाशकार की ही मान्यता का अनुसरण किया है किन्तु ऐसे प्रसग में किया है जिससे यह स्पष्ट होना कठिन है कि अनुकरण पद-दोषों का ही अपवाद-स्थान है या अन्य दोषों, जैसे कि अर्थगत अथवा रसगत दोषों का भी। अर्थगत अथवा रसगत दोष अनुकार्य अथवा अनुकरण—दोनों प्रकार के वाक्यों में दोष ही प्रतीत होते हैं, गुण नहीं।

साहित्यदर्पण सातवाँ परिच्छेद समाप्त।



अष्टम. परिच्छेद

(काव्य में गुण-तत्त्व : स्वरूप और उपयोग)

गुणानाह—

रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा ।

गुणाः—

यथा खल्वङ्गित्वमाप्तस्यात्मन उत्कर्षहेतुत्वाच्छौर्यादयो गुणशब्दवाच्याः, तथा काव्येऽङ्गित्वमाप्तस्य रसस्य धर्माः स्वरूपविशेषा, माधुर्यादयोऽपि स्वसमर्पकपदसन्दर्भस्य काव्यव्यपदेशस्यौपयिकानुगुण्यभाज इत्यर्थः । यथा चैषां रसमात्रस्य धर्मत्वं तथा दर्शितमेव ।

(गुणविभाग : माधुर्य ओज तथा प्रसाद)

माधुर्यमोजोऽथ प्रसाद इति ते त्रिधा ॥ १ ॥

ते गुणाः ।

अनुवाद—अब गुण-निरूपण किया जा रहा है—

जैसे प्राणि-शरीर में सारभूत आत्मतत्त्व के धर्म शौर्य औदार्य आदि गुण कहे जाते हैं वैसे ही काव्य-शरीर में सारभूत रस-तत्त्व के धर्म माधुर्य-ओज आदि भी गुण कहे जाया करते हैं।

तात्पर्य यह है कि जैसे प्राणिमात्र के शरीर-संस्थान में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण आत्म-तत्त्व के उत्कर्षकारक, शौर्य और औदार्य आदि 'गुण' शब्द से प्रतिपादित किये जाया करते हैं वैसे ही शब्दार्थ-शरीर रूप काव्य के परमसार रस के धर्मभूत माधुर्य ओज आदि, भी, जो कि वस्तुतः रस के स्वरूपविशेष हैं 'गुण' कहे गये हैं और इसलिए गुण कहे गये हैं क्योंकि ये ही वे रस-धर्म हैं जो कि रसाभिव्यञ्जक पद समुदाय के 'काव्य' कहे जाने के एकमात्र निदान हैं और जिनका एकमात्र कार्य अपने आधारभूत 'रस' का उत्कर्षवर्धन है। जिस प्रकार यह 'गुण' रसरूप आत्मतत्त्व के ही धर्म हैं—इसका प्रतिपादन पहले ही (प्रथम परिच्छेद में) किया जा चुका है।

विमर्श—'गुण रस के धर्म हैं'—यह सिद्धान्त ध्वनिवादियों का एक परिनिष्ठित काव्य सिद्धान्त है। आचार्य आनन्दवर्धन ने स्पष्ट कहा है—

'तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः ।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत् ॥'

ये तमर्थं रसादिलक्षणमङ्गिनं सन्तमवलम्बन्ते ते गुणाः शौर्यादिवत्। वाच्यवाचकलक्षणान्यङ्गानि ये पुनस्तदाश्रितास्तेऽलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत्। (ध्वन्यालोक २य उद्योत)

काव्यप्रकाशकार और साहित्यदर्पणकार ने इसी 'गुणवाद' का निरूपण और विवेचन किया है जिसके अनुसार गुण रसरूप काव्यात्मतत्त्व के धर्म सिद्ध होते हैं न कि शब्द अथवा अर्थ के।

अनुवाद—ये रसधर्मभूत गुण तीन हैं—(१) माधुर्य (२) ओज और (३) प्रसाद।
यहाँ कारिका में 'ते' का अभिप्राय 'गुणाः' का है।

तत्र—

(माधुर्यनिरूपण)

चित्तद्रवीभावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते ।

यत्तु-केनचिदुक्तम्—'माधुर्यं द्रुतिकारणम्' इति तन्न, द्रवीभावस्यास्वाद-स्वरूपाह्लादाभिन्नत्वेन कार्यत्वाभावात् । द्रवीभावश्च स्वाभाविकानाविष्टत्वात्मककाठिन्यमन्युक्रोधादिकृतदीप्तत्वविस्मयहासाद्युपहितविक्षेपपरित्यागेन रत्याद्याकारानुविद्धानन्दोद्बोधेन सहृदयचित्तार्द्रप्रायत्वम् । तच्च—

विमर्श—माधुर्य, ओज तथा प्रसाद रूप से गुणत्रैविध्य के निर्धारण में काव्यप्रकाशकार का यह कथन है—

'इदानीं गुणानां भेदमाह—माधुर्यौजःप्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश ।'

(काव्यप्रकाश ' ८म उल्लास)

जिसमें यह स्पष्ट है कि रस-धर्म होने के नाते तीन ही गुण काव्य-गुण कहे जा सकते हैं न कि वामनादि सम्मत दस गुण । साहित्यदर्पणकार ने वाद-विवाद की आशंका से 'न पुनर्दश' का संकेत छोड़ दिया है किन्तु इसका निर्देश आवश्यक-सा लगता है क्योंकि ध्वनिवादी आचार्य यों ही तीनों गुणों को काव्य-गुण नहीं मानते अपितु रसधर्मता की कसौटी पर कसकर ही इन्हें काव्य-गुण मानते हैं । वामनादिसम्मत १० गुण शब्द अथवा अर्थ के धर्म भले ही हों रसके धर्म कदापि नहीं । रसवाद और गुणवाद के इस समन्वय में काव्यप्रकाशकार की भाँति साहित्यदर्पणकार का भी कार्य स्तुत्य है ।

अनुवाद—इस 'गुणत्रितय' में—

'माधुर्य' वह है जिसे एक ऐसा आह्लाद अथवा आनन्द कह सकते हैं जिसका स्वरूप सहृदय-हृदय की 'द्रुति' अथवा 'द्रवीभूतता' (पिघल पड़ना) है ।

'माधुर्य' के सम्बन्ध में किसी काव्याचार्य (काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट) का यह कहना कि 'माधुर्य चित्त की द्रुति का कारण है' सर्वथा चतुरस्र नहीं लगता । बात यह है कि जबकि 'हृदय की द्रुति अथवा द्रवीभावमयता' आस्वादात्मक आह्लाद से कोई भिन्न वस्तु नहीं तब इसे (हृदयाह्लाद रूप) 'माधुर्य' का कार्य कैसे मान लिया जाय ? हृदय की द्रुति अथवा द्रवीभावमयता क्या है ? 'हृदय की द्रुति अथवा द्रवीभावमयता' वस्तुतः सहृदय के हृदय का पिघल-सा पड़ना है और यह तभी सम्भव है जब कि सहृदय का हृदय (उत्साहादिजन्य) अनावेश अर्थात् विषयग्रहण में असामर्थ्य के स्वभाव-सुलभ 'काठिन्य', अनुताप अमर्ष आदि से सम्भूत 'दीप्तत्व' किंवा हास-विस्मय आदि से उत्पन्न 'विक्षेप' से सर्वथा मुक्त होकर रति आदि कोमल भावों के स्वरूप से अनुविद्ध आनन्द के अनुभव में लीन हो जाता है ।

विमर्श—यहाँ साहित्यदर्पणकार ने आचार्य मम्मट की इस माधुर्य-मीमांसा अर्थात्—

'आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम् ।' (काव्यप्रकाश ८. ६८)

आदि पर आक्षेप किया है । 'माधुर्य' और आह्लाद' अथवा आस्वाद एक अभिन्न अनुभव है—इस सम्बन्ध में दोनों आचार्य एकमत हैं । दोनों में जो भेद है उसका कारण दोनों के काव्यविषयक मत का भेद है । काव्यप्रकाशकार के अनुसार 'माधुर्य' द्रुतिकारक है, द्रुतिरूप नहीं क्योंकि वैसे तो 'माधुर्य' शृङ्गार आदि मधुर रसों का आस्वादविशेष है किन्तु इसका अभिव्यक्ति क्षेत्र वह शब्दार्थयुगल है जो कि मधुर शृङ्गारमय हुआ करता है । शब्दार्थयुगल के माधुर्य

(माधुर्य का अभिव्यक्ति-क्षेत्र)

संभोगे करुणे विप्रलम्भे शान्तेऽधिकं क्रमात् ॥ २ ॥

सम्भोगादिशब्दा उपलक्षणानि । तेन सम्भोगाभासादिष्वप्येतस्य स्थितिर्ज्ञेया ।

का अभिप्राय मधुर शृङ्गार रस के अभिव्यञ्जन का सामर्थ्य है। इसीलिये गुण भी 'रसधर्म-गुण' के 'धर्म' होने के कारण रूप से निर्दिष्ट किये गये हैं। साहित्यदर्पणकार ने 'माधुर्य' 'आह्लाद' और 'द्रुति' को एक ही आनन्दानुभव मान लिया है। भले ही यह मान्यता साहित्यदर्पणकार की वैयक्तिक अनुभूति से प्रमाणित हो किन्तु यह निश्चित है कि यों भी प्राचीन प्रमाण है वह काव्यप्रकाशकार के ही पक्ष के अधिक अनुकूल है।

ध्वनिवादी आनन्दवर्धन की ये पंक्तियाँ भी काव्यप्रकाशकार की मान्यता को ही प्रमाणित करती प्रतीत हो रही हैं—

'शृङ्गारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत् ।
माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः ॥

यहाँ जब कि यह कहा गया कि 'माधुर्य सम्भोग शृङ्गार की अपेक्षा विप्रलम्भ शृङ्गार में और विप्रलम्भ शृङ्गार की भी अपेक्षा करुण रस में उत्तरोत्तर प्रकृष्ट हुआ करता है क्योंकि सहृदय के हृदय की आर्द्रता (द्रुति या द्रवीभावमयता) संभोग की अपेक्षा विप्रलम्भ में और विप्रलम्भ की अपेक्षा करुण में अधिक बढ़ी रहा करती है तब तो यह सिद्ध ही है कि माधुर्य 'आर्द्रता' का कारण है न कि 'आर्द्रता' से अभिन्न वस्तु है।

यह 'आर्द्रता' अथवा चित्त की द्रुति या द्रवीभावमयता क्या है ? इसके सम्बन्ध में लोचनकार की यह पंक्ति ध्यान देने योग्य है—

'आर्द्रतामिति—सहृदयस्य चेतः स्वाभाविकमनाविष्टत्वात्मकं काठिन्यं क्रोधादिदीप्तरूपत्वं विस्मयहासादिरूपविरतिं च त्यजतीत्यर्थः । (ध्वन्यालोकलोचन । २य उद्योत)

अनुवाद—अब 'माधुर्य' के क्षेत्र का निरूपण किया जा रहा है। यह 'माधुर्य संभोग-शृङ्गार करुण रस विप्रलम्भ शृङ्गार और शान्त रस में अनुगत रहा करता है और इनमें भी उत्तरोत्तर मधुर हुआ करता है।

यहाँ, कारिका में 'संभोग' आदि शब्द उपलक्षण-मात्र हैं और इसलिये 'सम्भोग शृङ्गार' आदि की भाँति 'संभोगशृङ्गाराभास' आदि में भी 'माधुर्य' की अवस्थिति मानी जानी चाहिये।

विमर्श—(क) माधुर्य के अभिव्यक्ति-क्षेत्र के सम्बन्ध में काव्यप्रकाशकार का यह कथन है—

'करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम् । (काव्यप्रकाश ८. ६९)

साहित्यदर्पणकार यहाँ काव्यप्रकाशकार से सहमत हैं। किन्तु साहित्यदर्पणकार की यह धारणा कि 'माधुर्य शृङ्गाराभास आदि का भी धर्म अथवा स्वरूप-विशेष है' काव्यप्रकाशकार आदि प्राचीन आचार्यों से नहीं दिखाई देती।

(ख) साहित्यदर्पणकार ने 'गुण' के अतिरिक्त 'गुणाभास' की कल्पना नहीं की है। शृङ्गाराभासमयी रचना में माधुर्य की अपेक्षा संभवतः माधुर्याभास (!) का अस्तित्व मानना अधिक युक्तियुक्त होता। वैसे तो आस्वादात्मक अनुभव की दृष्टि से 'रस' और 'रसाभास' में कोई तारतम्य नहीं और गुणों को रस की भाँति रसाभास का भी धर्म मानना उचित है किन्तु, 'आभासत्व' में अनुगत धर्म भी 'धर्माभास' न हो जाय इसलिये संभवतः प्राचीन आचार्यों ने इस 'रस-गुण'-मीमांसा में विवेचन-बुद्धि को बहुत अधिक नहीं बढ़ाया।

(माधुर्य के अभिव्यञ्जन-साधन)

मूर्ध्नि वर्गान्त्यवर्णेन युक्ताष्टठडढान्विना ।
रणौ लघू च तद्व्यक्तौ वर्णाः कारणतां गताः ॥ ३ ॥
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा मधुरा रचना तथा ।

यथा—

'अनङ्गमङ्गलभुवस्तदपाङ्गस्य भङ्गयः ।
जनयन्ति मुहुर्यूनामन्तःसन्तापसन्ततिम् ॥'

यथा वा मम—

'लताकुञ्जं गुञ्जन् मदवदलिपुञ्जं चपलयन्
समालिङ्गन्नङ्गं द्रुततरमनङ्गं प्रबलयन् ।
मरुन्मन्दं मन्दं दलितमरविन्दं तरलयन्
रजोवृन्दं विन्दन् किरति मकरन्दं दिशि दिशि ॥'

अनुवाद—(रसधर्मभूत) इस 'माधुर्य' के अभिव्यञ्जन के जो निमित्त हैं वे ये हैं—

(१) वर्ण, जैसे कि (कर्णकटु) ट, ठ, ड और ढ को छोड़कर 'क' से 'म' पर्यन्त के वर्ण, जो कि अपने-अपने वर्ग के अन्त्य वर्ण से मिलकर श्रुतिमधुर ध्वनि की सृष्टि किया करते हैं (जैसे कि अनङ्ग, कुञ्ज आदि में), अन्य वर्ण से असयुक्त रेफ और मूर्धन्य 'ण'कार।

(२) असमस्त रचना।

(३) अल्पसमासवती रचना और (४) मधुर पद-योजना।

जैसे कि (अपने-अपने वर्ग के अन्त्य वर्ण से सम्बद्ध वर्णों की माधुर्य-व्यञ्जकता)—

'उस सुन्दरी के अपाङ्गों (नेत्रप्रान्तों) की वे (भङ्गिमायें) लीलायें, जो अनङ्ग की मङ्गलमयी जन्मभूमियाँ हैं, युवा प्रेमिओं के हृदय में निरन्तर संताप उत्पन्न किया करती हैं।'

[यहाँ 'अनङ्ग', 'मङ्गल', 'अपाङ्ग', 'भङ्गी', 'जनयन्ति', और 'अन्तःसन्तापसन्ततिम्' में वग के प्रथम वर्ण, अपने वर्गान्त्य वर्ण से सबद्ध हुये, माधुर्य की अभिव्यञ्जना में तत्पर लग रहे हैं।]

इसी भाति (असमस्त किंवा अल्प समासवती रचना में उपर्युक्त प्रकार के वर्णों की माधुर्य-व्यञ्जकता)—

'यह समीर मधुर गुञ्जन में मग्न भ्रमरपुञ्ज से भरे लताकुञ्ज को चञ्चल बना रहा है, प्रेमी-जन के अङ्ग-अङ्ग का आलिङ्गन करता हुआ, उनके अन्तरङ्ग में अनङ्ग (काम) का सञ्चार कर रहा है, मन्द मन्द सञ्चरित होता हुआ अरविन्द वन को तरङ्गित कर रहा है और सुरभित सुमनों के पराग का अङ्गराग लगाकर चारों ओर मकरन्द की मधुर वृष्टि करता जा रहा है।'

यह सूक्ति स्वरचित सूक्ति है।

[यहाँ असमस्त अथवा अल्पसमासवाली रचना की माधुर्य-व्यञ्जकता स्पष्ट है। यह सूक्ति विश्वनाथ कविराज की कविता का एक सुन्दर निदर्शन है। विश्वनाथ कविराज कवि थे और परम रसिक थे। यहाँ कवित्व और रसिकत्व का मणिकाञ्चन-संयोग स्पष्ट दिखाई दे रहा है।]

(ओजोगुण : स्वरूप तथा क्षेत्र-निरूपण)

ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते ॥ ४ ॥
वीरबीभत्सरौद्रेषु क्रमेणाधिक्यमस्य तु ।

अस्यौजसः । अत्रापि वीरादिशब्दा उपलक्षणानि । तेन वीराभासादावप्यस्यावस्थितिः ।

(ओजोगुण के अभिव्यञ्जन-साधन)

वर्गस्याद्यतृतीयाभ्यां युक्तौ वर्णौ तदन्तिमौ ॥ ५ ॥
उपर्यधो द्वयोर्वा सरेफौ टठडढैः सह ।
शकारश्च षकारश्च तस्य व्यञ्जकतां गताः ॥ ६ ॥
तथा समासो बहुलो घटनौद्धत्यशालिनी ।

अनुवाद—जिसे 'ओज' कहते हैं वह सहृदयहृदय की वह दीप्ति अथवा प्रज्वलित-भावता है जिसका स्वरूप चित्त की विस्तृति अथवा उग्रता है। यह ओज वीर बीभत्स और रौद्ररस में उत्तरोत्तर प्रकृष्टरूप से विराजमान रहा करता है।

यहाँ कारिका में 'अस्य' पद का अभिप्राय 'ओज' का अभिप्राय है। यहाँ भी वीर आदि शब्द उपलक्षण हैं। इसलिये वीराभास आदि में भी ओज की अवस्थिति मान्य है।

विमर्श—यहाँ भी साहित्यदर्पणकार ने आचार्य मम्मट की आलोचना की है। काव्यप्रकाश-कार मम्मट के अनुसार ओज 'दीप्तिकारण' है 'दीप्तिरूप' नहीं जैसा कि इस पंक्ति से स्पष्ट है—

'दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थिति ।' (काव्यप्रकाश : ८.६९)

'दीप्ति' एक आस्वादविशेष है और रौद्रादि रसों के अनुभव का परिणामस्वरूप है। यह दीप्ति ही वस्तुतः 'ओज' है और रौद्रादि रस इस दीप्ति अथवा ओज के ही आस्वादरूप हैं। रौद्रादिरसों को ओज कहा जा सकता है किन्तु यहाँ उपचार का आश्रय मानना पड़ेगा। इसी प्रकार रौद्रादि रस के प्रकाशनसमर्थ शब्द और अर्थ तथा दीर्घ समासयुक्त वाक्य भी उपचारतः 'दीप्ति' ही कहे जा सकते हैं। 'चित्त की विस्तृति' चित्त की एक अवस्था है जिसकी उत्पत्ति दीप्ति अथवा ओज अथवा रौद्रादिरसास्वाद से संभव है।

अनुवाद—इस ओज के जो अभिव्यञ्जन साधन हैं वे ये हैं—

(१) वर्ण—जैसे कि कवर्ग आदि वर्गों के प्रथम (क, च, ट, त, प) और तृतीय (ग, ज, ड, द, ब) वर्णों का उनके अपने-अपने अन्त्य वर्णों (वर्गों के प्रथम वर्णों के अन्त्य वर्ण ख, छ, ठ, थ, फ और वर्गों के तृतीय वर्णों के अन्त्य वर्ण (घ, झ, ढ, ध, भ) से संयोग (जैसे कि पुच्छ, बद्ध आदि में) नीचे, ऊपर अथवा दोनों ओर से, किसी वर्ण के साथ संयुक्त रेफ (जैसे कि वक्त्र, निर्ह्राद आदि में) संयुक्त अथवा असंयुक्त ट, ठ, ड और ढ तालव्य शकार और मूर्धन्य षकार।

(२) दीर्घसमासवती रचना।

(३) औद्धत्यपूर्ण पदयोजना।

यथा—

'चञ्चद्भुज-' इत्यादि ।

(प्रसादगुण : स्वरूप तथा क्षेत्र-निर्देश)

चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः ॥ ७ ॥

स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च ।

व्याप्नोति आविष्करोति ।

उदाहरण के लिये (दीर्घसमासवती किंवा उद्धत पदरचना में दीप्त वर्णों की ओजोव्यञ्जकता) 'चञ्चद्भुजभ्रमित' आदि पूर्वोदाहृत वेणीसंहार-सूक्ति ।

विमर्श—'चञ्चद्भुजभ्रमित' आदि सूक्ति की ओजोमयता के प्रदर्शन में लोचनकार की ये पंक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं—

'चञ्चदिति—चञ्चद्भ्यां वेगादावर्तमानाभ्यां भुजाभ्यां भ्रमिता येयं चण्डा दारुणा गदा तया योऽभितः सर्वत ऊर्वोर्घातस्तेन सम्यक् चूर्णितं पुनरनुत्थानोपहत कृतमूरुयुगलं युगपदेवोरुद्वयं यस्य तं सुयोधनमनादृत्यैव स्त्यानेनाश्यानतया न तु कालान्तरशुष्कतया वबद्धहस्ताभ्यामविगलद्रूपमत्यन्तमाभ्यन्तरतया घन न तु रसमात्रस्वभाव यच्छोणित रुधिर तेन शोणौ लोहितौ पाणी यस्य स । अत एव स भीम कातरत्रासदायी । तवेति—यस्यास्तत्तदपमानजात कृत देव्यनुचितमपि तस्यास्तव कचानुत्तसयिष्यति, उत्तसवत. करिष्यति, वेणीत्वमपहरन् करविच्युतशोणितशकलैर्लोहितकुसुमापीडेनेव योजयिष्यतीत्युत्प्रेक्षा, देवीत्यनेन कुलकलत्रखिलीकारस्मरणकारिणा क्रोधस्यैवोद्दीपनविभावत्व कृतमिति नात्र शृङ्गारशङ्का कर्त्तव्या । सुयोधनस्य चानादरणं द्वितीयगदाघातदानाद्यनुद्यम । स च सञ्चूर्णितोरुत्वादेव । स्त्यानग्रहणेन द्रौपदीमन्युप्रक्षालने त्वरा सूचिता । समासेन च सन्ततवेगवहनस्वभावात् तावत्येव मध्ये विश्रान्तिमलभमाना चूर्णितोरुद्वयसुयोधनानादरणपर्यन्ता प्रतीतिरेकत्वेनैव भवतीत्यौद्धत्यस्य परं परिपोषिका ।' (ध्वन्यालोकलोचन २य उद्योत)

अर्थात् 'चञ्चद्भुजभ्रमित' आदि जो रचना है उसमें दीर्घसमास की ओजोव्यञ्जकता स्पष्ट है। दीर्घसमास के कारण सहृदय हृदय की प्रज्वलितप्रायता आरम्भ से अन्ततक अविश्रान्त रहा करती है । दीप्ति की यह अविश्रान्ति ओज का एक अनुभव-विशेष है ।

अनुवाद—जिसे 'प्रसाद' कहते हैं वह सहृदय-हृदय की एक ऐसी निर्मलता है जो कि चित्त में उसी भाँति व्याप्त हो जाती है जिस भाँति सूखी लकड़ी में आग । यह 'प्रसाद' सभी रसों का धर्म अथवा स्वरूप-विशेष है और इसकी अवस्थिति सभी रचनाओं की विशेषता हुआ करती है ।

यहा कारिका में 'व्याप्नोति' का अभिप्राय 'आविष्करोति' का अभिप्राय है । चित्त का आविष्कार, चित्त के व्यासङ्ग—विक्षेप की निवृत्ति में, उसकी विमलता है ।

विमर्श—काव्यप्रकाशकार ने 'प्रसाद' का यह स्वरूप विवेक किया है—

'शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत् सहसैव य ।
व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थिति ॥
अन्यदिह चित्तम् ,

(काव्यप्रकाश ८म उल्लास)

और यही वस्तुत ध्वनिकार-कृत भी प्रसाद विवेक है—

(प्रसादगुण के अभिव्यञ्जन-साधन)

शब्दास्तद्व्यञ्जका अर्थबोधकाः श्रुतिमात्रतः ॥ ८ ॥

यथा—

'सूचीमुखेन सकृदेव कृतव्रणस्त्वं
मुक्ताकलाप ! लुठसि स्तनयोः प्रियायाः ।
बाणैः स्मरस्य शतशो विनिकृत्तमर्मा
स्वप्नेऽपि तां कथमहं न विलोकयामि ॥'

(माधुर्यादि गुणत्रय की शब्दगुणता। औपचारिक)

एषां शब्दगुणत्वं च गुणवृत्त्योच्यते बुधैः ।

शरीरस्य शौर्यादिगुणयोग इव इति शेषः ।

'समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वरसान् प्रति ।
स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियः ॥ (ध्वन्यालोक २य उद्योत)

लोचनकार ने भी 'प्रसाद' की यही स्वरूप-मीमांसा की है—

'समर्पकत्वम्—सम्यगर्पकत्वं हृदयसंवादेन प्रतिपत्तॄन् प्रति स्वात्मावेशेन व्यापारकत्वं झटिति शुष्ककाष्ठाग्निदृष्टान्तेन । अकलुषोदकदृष्टान्तेन च तदकालुष्यं प्रसन्नत्वं नाम सर्वरसानां गुणः । उपचारात्तु तथाविधे व्यङ्ग्येऽर्थे शब्दार्थयोः समर्पकत्वं तदपि प्रसादः । तमेव व्याचष्टे—प्रसाद इति—ननु रसगतो गुणस्तत् कथं शब्दार्थयोः इत्याशङ्क्याह—स चेति । च शब्दोऽवधारणे । सर्वरससाधारण एव गुणः । स एव च गुणः पूर्वमिति । सर्वा पेयं रचना शब्दगता चार्थगता च समस्ता चासमस्ता च तत्र साधारण्यम् ।'

(ध्वन्यालोकलोचन २य उद्योत)

अनुवाद—इस 'प्रसाद' के अभिव्यञ्जन-साधन वे शब्द हैं, जिनके अर्थ उनके श्रवण मात्र से ही झलक पड़ते हैं।

उदाहरण के लिये—

अरी मुक्ताहार ! जब कि एक बार भी (गूँथे जाने के समय) सूची के अग्र भाग से विद्ध होने पर तू, किसी प्रेयसी के स्तनों पर लोटने लगता है तो सहस्रों बार काम के बाणों से छिन्न-भिन्न हृदयवाले मुझे वह प्रेयसी, क्या बात है कि, स्वप्न में भी कभी नहीं दीख पड़ती।

विमर्श—'प्रसाद' के उदाहरण-रूप में काव्यप्रकाशकार द्वारा उद्धृत यह सूक्ति बड़ी सुन्दर है—
'परिम्लानं पीनस्तनजघनसङ्गादुभयतः तनोर्मध्यस्यान्तः परिमिलनमप्राप्य हरितम् ।
इदं व्यस्तन्यासं श्लथभुजलताक्षेपवलनैः कृशाङ्ग्याः सन्तापं वदति बिसिनीपत्रशयनम् ॥'
(काव्यप्रकाश : ८म उल्लास)

अनुवाद—आलङ्कारिक आचार्य (उपर्युक्त) माधुर्य ओज और प्रसाद गुणों को शब्द-गुण भी कहा करते हैं किन्तु ऐसा कहने में 'गुणवृत्ति' अथवा 'उपचार' का ही आश्रय लिया करते हैं।

यहाँ 'गुणवृत्ति' अथवा 'उपचार' से माधुर्यादि के शब्दगुण होने में जो अभिप्राय लिया है वह यह है—जैसे आत्ममात्र के धर्म भी शौर्य और औदार्य आदि (स्वाश्रय-भूतित्वरूप परम्परासंबन्ध से) शरीर के धर्म रूप में कल्पित किये जा सकते हैं वैसे

(प्राचीन-अलङ्कारशास्त्र-सम्मत श्लेष, समाधि, औदार्य तथा प्रसाद का ओजोगुण में अन्तर्भाव)

श्लेषः समाधिरौदार्यं प्रसाद इति ये पुनः ॥ ६ ॥
गुणाश्चिरन्तनैरुक्ता ओजस्यन्तर्भवन्ति ते ।

ओजसि भक्त्या ओजःपदवाच्ये शब्द (अर्थ) धर्मविशेषे ।
तत्र श्लेषो बहूनामपि पदानामेकपदवद्भासनात्मा ।

यथा—

'उन्मज्जज्जलकुञ्जरेन्द्ररभसास्फालानुबन्धोद्धताः
सर्वाः पर्वतकन्दरोदरभुवः कुर्वन् प्रतिध्वानिनीः ।
उच्चैरुच्चरति ध्वनिः श्रुतिपथोन्माथी यथाय तथा
प्रायप्रेङ्खदसंख्यशङ्खधवला वेलेयमुद्गच्छति ॥'

ही रसमात्र के धर्म, माधुर्य और ओज आदि भी (स्वाश्रयाश्रयित्वरूप परम्परासंवन्ध से) शब्द अथवा अर्थ के गुण रूप में मान लिये जाया करते हैं।

विमर्श—रसधर्मभूत माधुर्यादि गुणत्रय के शब्दगुण और अर्थगुण कहे जाने में 'उपचार' के आश्रय का जो अभिप्राय है वह लोचनकार की इस पंक्ति से अत्यधिक स्पष्ट है—

'एतदुक्तं भवति—वस्तुतो माधुर्यं नाम शृङ्गारादे रसस्यैव गुणः । तन्मधुररसाभिव्यञ्जकयोः शब्दार्थयोरुपचरितं मधुरशृङ्गाररसाभिव्यक्तिसमर्थता शब्दार्थयोर्माधुर्यमिति हि लक्षणम् ।'

और इस पंक्ति से भी—

'एवं माधुर्यौज प्रसादा एव त्रयो गुणा उपपन्ना भामहाभिप्रायेण । ते च प्रतिपत्रास्वादमया मुख्यतया तत आस्वाद्ये उपचारिता रसे ततस्तद्व्यञ्जकयोः शब्दार्थयोरिति तात्पर्यम् ।'

(ध्वन्यालोक लोचन २य उद्योत)

अर्थात् वस्तुतः माधुर्यादि तीनों गुण सहृदय सामाजिक के आस्वादरूप हैं। इन्हें रसगुण कहने में उपचार का आश्रय लिया गया है और उपचार से ही इन्हें शब्द और अर्थ के भी गुण कहा जा सकता है जैसा कि कहा भी गया है।

अनुवाद—प्राचीन आलङ्कारिकों (जैसे कि आचार्य वामन आदि) के द्वारा, शब्द-गुण के रूप में गिनाये गये 'श्लेष', 'समाधि', 'औदार्य', और 'प्रसाद' गुण कोई अतिरिक्त गुण-तत्त्व नहीं अपितु 'ओज' में ही अन्तर्भूत दिखायी देते हैं।

यहा 'श्लेष' आदि के 'ओज' में अन्तर्भूत होने का अभिप्राय वस्तुतः 'ओज' पद की उपादानलक्षणा-द्वारा लक्षित ओजोमय शब्द-धर्म अथवा बन्धगाढत्व में अन्तर्भूत होने का अभिप्राय है।

जैसे कि वामनादि सम्मत 'श्लेष'रूप शब्दगुण, जो कि अनेकों पदों के ऐसे बन्ध का नाम है जिसमें वे एक पद की भाँति सश्लिष्ट प्रतीत हुआ करते हैं और जिसे निम्न सूक्ति जैसे कि—

'कानों के परदों को फाड़ डालनेवाली किंवा ऊपर उठते हुए भीमकाय गजाकार तरङ्गों के निरन्तर सवेग आस्फालन से विकट लगने वाले समस्त पर्वत-कदरागर्भ को प्रतिध्वनित करने वाली यह घोर ध्वनि ऐसी उठ रही है जिससे यही पता चलता है जैसे

अथ बन्धवैकट्यात्मकत्वादोज एव ।

समाधिरारोहावरोहक्रमः । आरोह उत्कर्षो, अवरोहोऽपकर्षः, तयोः क्रमो वैरस्यानावहो विन्यासः । यथा—'चञ्चद्भुज–' इत्यादि । अत्र पादत्रये क्रमेण बन्धस्य गाढता । चतुर्थपादे त्वपकर्षः । तस्यापि च तीव्रप्रयत्नोच्चार्यतया ओजस्विता ।

उदारता विकटत्वलक्षणा । विकटत्वं पदानां नृत्यत्प्रायत्वम् ।

यथा—

'सुचरणविनिविष्टैर्नूपुरैर्नर्तकीनां झणिति रणितमासीत्तत्र चित्रं कलं च ।'

अत्र च वामनमतानुसारेण रसानुसन्धानमन्तरेणैव शब्दप्रौढोक्तिमात्रेणौजः ।
प्रसाद ओजोमिश्रितशैथिल्यात्मा ।

यथा—

'यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदात् पाण्डवीनां चमूनाम्' इति ।

इतस्ततः चलायमान मस्तक देशों से शुभ-चमक बनाने वाले समूह की प्रलयकालीन चक्रराशि चमक पड़ी हो ।'

इत्यादि में स्पष्ट देखा जा सकता है, वस्तुतः विकट गुम्फरूप 'ओज' के अतिरिक्त और कोई काव्य-तत्त्व नहीं ।

इसी प्रकार 'समाधि'रूप शब्दगुण, जिसे बन्ध का क्रमिक आरोह और अवरोह (उतार चढ़ाव) रूप कहा गया है—और 'बन्ध के क्रमिक आरोह और अवरोह' का अभिप्राय उसके आरोह अथवा उत्कर्ष और अवरोह अथवा अपकर्ष (बन्धगाढत्व और बन्ध-शैथिल्य) के ऐसे क्रम अथवा विन्यास का अभिप्राय है जिससे सहृदय हृदय में वैरस्य (नीरसता) का संचार नहीं हुआ करता और जिसे चञ्चद्भुजभ्रमित आदि सूक्ति द्वारा उदाहृत किया गया है जिसके तीन चरणों में बन्ध-गाढत्व से और चतुर्थ चरण में बन्ध-शैथिल्य होने पर भी तीव्र प्रयत्न से उच्चारण किये जाने के कारण ओजोमयता स्पष्ट है, वह भी वस्तुतः ओज में ही अन्तर्भूत है ।

इसी प्रकार 'औदार्य'रूप शब्दगुण जिसे पदों का विकटत्व अथवा नृत्यत्प्रायत्व कहा गया है और जिसे इस सूक्ति अर्थात्—

'नर्तकियों के सुन्दर चरणों में विन्यस्त नूपुरों ने ऐसी झनझनाहट पैदा की जो मिठास से भरी और सर्वथा विस्मयजनक प्रतीत हुई ।

के आधार पर समझाया गया है वह भी 'ओज' से ही गतार्थ है । वैसे तो यहाँ वीररस के अभाव में 'ओज' नहीं हो सकता किन्तु, वामन के मत का अनुसरण करते हुए, रस के अनुसंधान के बिना ही केवल गाढबन्धता के देखते इस सूक्ति को भी ओजस्विनी मान लेने में कोई आपत्ति नहीं (क्योंकि यहाँ एकमात्र तात्पर्य औदार्य अथवा विकटबन्धता का ओज में अन्तर्भाव है) ।

इसी प्रकार 'प्रसाद' नामक शब्दगुण, जिसका स्वरूप ओज अथवा बन्धगाढत्व से मिश्रित बन्ध शैथिल्य का सौन्दर्य है और जिसे—'यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदात् पाण्डवीनां चमूनाम्' आदि पूर्वोद्धृत वेणीसंहारसूक्ति द्वारा उदाहृत किया जाया करता है, वस्तुतः 'ओज' में ही अन्तर्भूत है ।

(प्राचीन-अलङ्कारशास्त्र-सम्मत 'पृथक्पदत्व'रूप माधुर्य का 'माधुर्य' गुण में अन्तर्भाव)

माधुर्यव्यञ्जकत्वं यदसमासस्य दर्शितम् ॥ १० ॥
पृथक्पदत्वं माधुर्यं तेनैवाङ्गीकृतं पुनः ।

यथा—

'श्वासान्मुञ्चति' इत्यादि ।

(प्राचीन-अलङ्कारशास्त्र-सम्मत अर्थव्यक्ति का 'प्रसाद' में अन्तर्भाव)

अर्थव्यक्तेः प्रसादाख्यगुणेनैव परिग्रहः ॥ ११ ॥
अर्थव्यक्तिः पदानां हि झटित्यर्थसमर्पणम् ।

स्पष्टमुदाहरणम् ।

विमर्श—'श्लेष' की परिभाषा यह है—

'शब्दानां भिन्नानामप्येकत्वप्रतिभानप्रयोजकः संहितयैकजातीयवर्णविन्यासविशेषो गाढत्वापरपर्यायः श्लेषः ।'

'समाधि'—लक्षण—

'बन्धगाढत्वशिथिलत्वयोः क्रमेणावस्थापनं समाधिः ।'

'औदार्य'—स्वरूप—

'कठिनवर्णघटनारूपविकटत्वलक्षणोदारता ।'

'प्रसाद'—

'गाढत्वशैथिल्याभ्यां व्युत्क्रमेण मिश्रणं प्रसादः ।'

अनुवाद—प्राचीन आलङ्कारिक-सम्मत 'माधुर्य' को भी, जिसे 'पृथक्पदत्व' कहा गया है, उस रसधर्मभूत 'माधुर्य' में अन्तर्भूत मानना उचित है जिसकी अभिव्यक्ति असमस्त पदरचना द्वारा हुआ करती है ।

जैसे कि—'श्वासान् मुञ्चति' आदि पूर्वोदाहृत सूक्ति में जो 'पृथक्पदत्व'रूप माधुर्य है उसे असमस्त पदरचना द्वारा अभिव्यङ्ग्य 'माधुर्य' का ही निदर्शन माना जा सकता है ।

विमर्श—आचार्य वामन ने 'माधुर्य'रूप शब्दगुण का यह लक्षण किया है—

'पृथक्पदत्वं माधुर्यम्' बन्धस्य पृथक्पदत्वं यत्तन्माधुर्यम् ।
समासदैर्घ्यनिवृत्तिपरञ्चैतत् ।

(काव्यालङ्कारसूत्र ३; १.,२०)

अनुवाद—इसी प्रकार प्राचीन आलङ्कारिकों का 'अर्थव्यक्ति' नामक शब्दगुण, जिसका स्वरूप पदों का अनायास अर्थबोधन है, 'प्रसाद' गुण द्वारा ही गतार्थ समझना चाहिये । 'अर्थव्यक्ति' का उदाहरण स्पष्ट है ।

विमर्श—'अर्थव्यक्ति' का यह लक्षण है—

'झगिति प्रतीयमानार्थान्वयकत्वमर्थव्यक्तिः ।'

उदाहरण के लिये यह सूक्ति—

'नितरां परुषा सरोजमाला न मृणालानि विचारपेशलानि ।
यदि कोमलता तवाङ्गकानामथ का नाम कथाऽपि पल्लवानाम् ॥'

(रसगङ्गाधर १म आनन)

(प्राचीन-अलङ्कारशास्त्र-सम्मत 'कान्ति' तथा 'सुकुमारता' : दोषत्यागरूप)

ग्राम्यदुःश्रवतात्यागात्कान्तिश्च सुकुमारता ॥ १२ ॥

अङ्गीकृतेति सम्बन्धः । तत्र हासिकादिपदविन्यासवैपरीत्येनालौकिकशोभाशालित्वम् । सुकुमारता अपारुष्यम् अनयोरुदाहरणे स्पष्टे ।

(प्राचीन-अलङ्कारशास्त्र-सम्मत 'समता' : गुणत्रय में अन्तर्भाव)

क्वचिद्दोषस्तु समता मार्गाभेदस्वरूपिणी ।
अन्यथोक्तगुणेष्वस्या अन्तःपातो यथायथम् ॥ १३ ॥

मसृणेन विकटेन वा मार्गेणोपक्रान्तस्य सन्दर्भस्य तेनैव परिनिष्ठानं मार्गाभेदः । स च क्वचिद्दोषः ।

तथाहि—

'अव्यूढाङ्गमदृढपाणिजठराभोगं च बिभ्रद्वपुः
पारीन्द्रः शिशुरेष पाणिपुटके सम्मातु किं तावता ।
यद्घुर्घुरगन्धसिन्धुररावप्रोद्दामदानार्णव-
स्रोतः शोषणरोषणात्पुनरिह कल्पाग्निरभ्यायते ॥'

अनुवाद—प्राचीन अलङ्कारशास्त्र में वर्णित 'कान्ति' और 'सुकुमारता' नामक जो दो शब्दगुण हैं वे क्रमशः 'ग्राम्यत्व' और 'दुःश्रवत्व' दोषों के परिहाररूप ही हैं।

यहाँ 'ग्राम्यदुःश्रवतात्यागात् कान्तिश्च सुकुमारता' आदि कारिका में 'तेनैवाङ्गीकृतं पुनः' आदि कारिका से विभक्तिविपरिणाम के द्वारा 'अङ्गीकृता' पद अध्याहृत समझना चाहिए। 'कान्ति'गुण वस्तुतः हासिक (हरवाहे) प्रभृति लोगों के पद-प्रयोग से विलक्षण पद-प्रयोग में रहा करता है। अग्राम्य-पद-प्रयोग में एक अलौकिक सौन्दर्य होने के कारण कान्ति की कल्पना की गयी है। 'सुकुमारता' का अभिप्राय बन्ध का अपारुष्य अथवा निष्ठुर अक्षरों से राहित्य' है। इन दोनों के उदाहरण यहाँ अपेक्षित नहीं क्योंकि ये स्वयं देखे जा सकते हैं।

अनुवाद—प्राचीन आलङ्कारिकों द्वारा स्वीकृत 'समता' नामक शब्दगुण जिसे 'मार्गाभेद' अथवा उपक्रम और उपसंहार में बन्ध का ऐकरूप्य कहा जाया करता है, वस्तुतः तो गुण होने के बदले यत्र-तत्र 'दोष' सा ही प्रतीत होता है और यदि कहीं गुण सा भी हुआ करता है तो उपर्युक्त प्राचीन-अलङ्कारशास्त्र-सम्मत गुणों में ही यथासंभव अन्तर्भूत दिखायी दिया करता है।

यहाँ 'मार्गाभेद' का तात्पर्य मसृण (माधुर्यव्यञ्जक) अथवा विकट (ओजोव्यञ्जक) बन्ध के रूप में रचित सन्दर्भ का उसी प्रकार से समापन है। किन्तु इस प्रकार का सन्दर्भ-समापन कहीं-कहीं दोष भी हो जाता है। जैसे कि—

'भला इससे क्या होता है कि एक सिंह-शावक, जिसके अङ्ग पुष्ट नहीं और न जिसके हाथ पैर पेट आदि ही पूर्णरूपेण सशक्त हैं किसी के हाथों में आ जाय ? अरे, जब कि इसके क्रोध में वह शक्ति आती है जिससे सैकड़ों मदोन्मत्त गजराजों के मदसमुद्र की उमुक्त तरङ्गें सूखने लगती हैं, तब पता चलता है कि कल्पान्त की अग्नि भी इसके आगे कुछ नहीं है !'

अत्रोद्धतेऽर्थे वाच्ये सुकुमारवन्धत्यागो गुण एव। अन्यविधस्थाने माधुर्यादावेवान्तःपातः।

यथा—

'लताकुञ्ज गुञ्जन्–' इत्यादि।

(प्राचीन-अलंकारशास्त्र-सम्मत अर्थगुण · गुणत्रय में अन्तर्भाव)

ओजः प्रसादो माधुर्यं सौकुमार्यमुदारता।
तदभावस्य दोषत्वात्स्वीकृता अर्थगा गुणाः॥ १४॥

ओजः साभिप्रायत्वरूपम्। प्रसादोऽर्थवैमल्यम्। माधुर्यमुक्तिवैचित्र्यम्। सौकुमार्यमपारुष्यम्। उदारता अग्राम्यत्वम्। एषां पञ्चानामप्यर्थगुणानां यथाक्रममपुष्टार्थाधिकपदानवीकृतामङ्गलरूपाश्लीलग्राम्याणां निराकरणेनैवाङ्गीकारः। स्पष्टान्युदाहरणानि।

अर्थव्यक्तिः स्वभावोक्त्यालङ्कारेण तथा पुनः।
रसध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यानां कान्तिनामकः॥ १५॥

आदि सन्दर्भ के तृतीय चरण में जहाँ वाच्य अथवा वर्णनीय विषय औद्धत्यपूर्ण है, प्रथम और द्वितीय चरणों के प्रक्रान्त सुकुमारवन्ध का निर्वाह दोष ही होता गुण नहीं। और वस्तुत इसीलिये यहाँ कवि ने इसे छोड़कर विकटवन्ध का आश्रय लिया है।

इससे भिन्न प्रकार के प्रसङ्गों में, यदि प्रक्रान्त मार्ग का निर्वाह अथवा 'समता' गुण हो तब उसे कहीं (ललितवन्ध के देखते) माधुर्य में अथवा कहीं (उद्धतवन्ध के देखते) ओज में अन्तर्भूत मानना ही युक्तियुक्त है। जैसे कि यदि 'लताकुञ्ज गुञ्जन्' आदि सूक्ति में, मार्गाभेद के देखते, 'समता' को गुण माना जाय, तब यह स्पष्ट है कि यह 'समता गुण' ललितवन्ध से अभिव्यङ्ग्य 'माधुर्य' के अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं।

अनुवाद—इसी प्रकार, प्राचीन आलंकारिकों (जैसे कि आचार्य वामन आदि) द्वारा मान्य 'ओज', 'प्रसाद', 'माधुर्य', 'सौकुमार्य' और 'औदार्य' नामक जो अर्थ-गुण हैं, वे भी, इन गुणों के अभावरूप दोष के परिहार के अतिरिक्त और कोई गुण-तत्त्व नहीं।

प्राचीन आलंकारिकों ने 'ओज' से पदों की अभिप्राय-गर्भता, 'प्रसाद' से अर्थ-निर्मलता, 'माधुर्य' से उक्ति-विचित्रता, 'सौकुमार्य' से अपरुषता और 'औदार्य' से अग्राम्यता का अभिप्राय लिया है। अब ये पाँच अर्थ-गुण ऐसे हैं जिन्हें गुण मानने के बदले दोषाभावरूप मानना अधिक उचित है। अर्थात् यह मानना अधिक उचित है कि 'ओज' 'अपुष्टार्थत्व' का अभाव प्रसाद, 'अधिकपदत्व' का परित्याग माधुर्य, 'अनवीकृतत्व' का परिहार सौकुमार्य, 'अमंगलव्यञ्जक अश्लीलत्व' का वर्जन और 'औदार्य' 'ग्राम्यत्व' का निराकरण है। इन अर्थ-गुणों अथवा वस्तुत दोष-परिहारों के उदाहरण यत्र तत्र स्वयं देखे जा सकते हैं।

इसी भांति, प्राचीन आलंकारिक-सम्मत 'अर्थव्यक्ति' नामक जो गुण है वह भी वस्तुत अर्थगुण नहीं अपितु स्वभावोक्ति अलंकार का एक स्वरूप-विशेष है। और जिसे 'कान्ति' नामक अर्थ-गुण कहा गया है उसे तो रस की मुख्य अभिव्यक्ति अथवा गुणीभूत अभिव्यक्ति में, निःसंदिग्धरूप से अन्तर्भूत मानना ही उचित है।

अङ्गीकृत इति सम्बन्धः । अर्थव्यक्तिर्वस्तुस्वभावस्फुटत्वम् । कान्तिर्दीप्तरसत्वम् । स्पष्टे उदाहरणे ।

श्लेषो विचित्रतामात्रमदोषः समता परम् ।

श्लेषः क्रमकौटिल्यानुल्बणत्वोपपत्तियोगरूपघटनात्मा । तत्र क्रमः क्रियासन्ततिः, विदग्धचेष्टितं कौटिल्यम्, अप्रसिद्धवर्णनाविरहोऽनुल्बणत्वम्, उपपादकयुक्तिविन्यास उपपत्तिः, एषां योगः सम्मेलनं स एव रूपं यस्या घटनायास्तद्रूपः श्लेषो वैचित्र्यमात्रम् । अनन्यसाधारणरसोपकारित्वातिशयविरहादिति भावः ।

यथा—

'दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे—' इत्यादि ।

अत्र दर्शनादयः क्रियाः, उभयसमर्थनरूपं कौटिल्यम्, लोकसंव्यवहाररूपमनुल्बणत्वम्, 'एकासनसंस्थिते', 'पश्चादुपेत्य', 'नयने पिधाय', 'ईषद्वक्रित

यहाँ, 'अर्थव्यक्ति' 'कान्तिनामक॰' आदि कारिका में पूर्वकारिका से विभक्ति-विपरिणाम द्वारा, 'अंगीकृता' (स्वीकृता) का अध्याहार है। 'अर्थव्यक्ति' का अभिप्राय 'वस्तुस्वभाव की स्फुटता' का अभिप्राय है और रस की प्रतीति अथवा स्फुट अभिव्यक्ति का जो नाम है वह 'कान्ति' है।

यहाँ 'अर्थव्यक्ति' (वस्तुतः स्वभावोक्ति) और 'कान्ति' (रस की स्फुट प्रतीति) के उदाहरण नहीं दिये जा रहे हैं क्योंकि ये स्वयं देखे जा सकते हैं।

इसी प्रकार प्राचीन-अलंकारशास्त्र-सम्मत 'श्लेष' नामक अर्थ-गुण कोई गुण नहीं अपितु एक बन्ध-वैचित्र्य मात्र है। और जिसे 'समता' नामक अर्थ-गुण कहा गया है वह दोषाभाव के अतिरिक्त कोई और तत्त्व नहीं।

'श्लेष' क्या है? 'श्लेष' है—एक ऐसी घटना अथवा रचना जिसमें 'क्रम' और 'कौटिल्य' किंवा 'अनुल्बणत्व' और 'उपपत्ति' का समुचित मेल रहा करे।

यहाँ 'क्रम' का अभिप्राय क्रियासंतति अथवा क्रिया-परम्परा का अभिप्राय है, 'कौटिल्य' वस्तुतः विदग्धचेष्टा का नाम है। 'अनुल्बणत्व' में अप्रसिद्ध वर्णन के विरह का अभिप्राय अन्तर्गर्भ है, 'उपपत्ति' से उपपादक युक्तियों के विन्यास का तात्पर्य लिया गया है-और 'श्लेष' उस रचना को कहा गया है जिसका रूप 'क्रम-कौटिल्य-अनुल्बणत्व-उपपत्ति' के योग अथवा सम्मेलन का रूप है। यह 'श्लेष' अन्ततोगत्वा एक प्रकार का बन्ध-वैचित्र्य सा ही सिद्ध होता है। इसे 'गुण' कहना निरर्थक है क्योंकि गुण तो वह है जो अधिक से अधिक अनन्य सामान्यरूप से रस का उपकार किया करता है। बन्ध-वैचित्र्य से रसोत्कर्ष का क्या सम्बन्ध? उदाहरण के लिए—

'दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे'

इत्यादि सूक्ति में 'श्लेष' अथवा बन्ध-वैचित्र्य है क्योंकि यहाँ 'दर्शन' 'नयनपिधान' आदि क्रिया-सन्ततिरूप 'क्रम' ज्येष्ठा और कनिष्ठा नायिकाओं के चुम्बन तथा नयन-पिधान द्वारा अनुरञ्जन में 'कौटिल्य' इस प्रकार के प्रेम के लोकव्यवहारात्मक होने में 'अनुल्बणत्व' और 'एकासन पर संस्थिति' पीछे से पहुँचने 'आँखमिचौनी के खेल' 'गर्दन के तिरछे घुमाने' आदि की उपपत्ति अथवा उपपादकता के परस्पर सम्मेलन का

कन्धर'' इति चोपपादकानि, एषां योग'। अनेन च वाच्योपपत्तिग्रहणव्यग्रतया रसस्वादो व्यवहितप्राय इत्यस्यागुणता।

समता च प्रक्रान्तप्रकृतिप्रत्ययाविपर्यासेनार्थस्य विसंवादिताविच्छेदः। स च प्रक्रमभङ्गरूपविरह एव।

स्पष्टमुदाहरणम्।

न गुणत्वं समाधेश्च—

समाधिश्चायोन्यन्यच्छायायोनिरूपद्विविधार्थदृष्टिरूप.। तत्रायोनिरर्थो यथा—

'सद्योमुण्डितमत्तहूणचिबुकप्रस्पर्धि नारङ्गकम्।

अन्यच्छायायोनिर्यथा—

'निजनयनप्रतिबिम्बैरम्बुनि बहुश. प्रतारिता काऽपि।
नीलोत्पलेऽपि विमृशति करमर्पयितु कुसुमलावी ॥'

अत्र नीलोत्पलनयनयोरतिप्रसिद्ध सादृश्यं विच्छित्तिविशेषेण निबद्धम्।

सौन्दर्य स्पष्ट झलक रहा है। किन्तु यह सब रस का उपकारक नहीं अपितु व्यवधायक ही है क्योंकि जब कि सहृदय सामाजिक का मन यहाँ के वर्ण्य विषय की उपपत्ति और युक्ति में व्यग्र रहे, जैसा कि उसके लिये स्वाभाविक है, तो रसभावादि की प्रतीति तो व्यवहित-प्राय हो ही गयी। अन्ततोगत्वा यही कहा जा सकता है कि 'श्लेष' गुण नहीं अपितु रचनावैचित्र्यमात्र है जो कि सर्वत्र रसानुगुण नहीं हुआ करता।

इसी प्रकार प्राचीन-अलङ्कारशास्त्र सम्मत 'समता' नामक अर्थगुण, जिसे, उपक्रम और उपसहार-दोनों में समान प्रकृति और प्रत्यय के प्रयोग द्वारा वर्ण्य वस्तु में विसंवादित और विषमता की प्रतीति का निराकरण रूप माना जाया करता है, गुण नहीं अपितु 'भग्नप्रक्रमत्व' रूप दोष का अभावमात्र है। इसका उदाहरण भी नहीं दिया जा रहा है क्योंकि यह स्वयं स्पष्ट है।

इसी प्रकार 'समाधि' नामक अर्थगुण को भी गुण मानना अनुचित है। यह 'समाधि' क्या है? 'समाधि' है—'अयोनि' अर्थात् अपने बुद्धिवैभव से उपकल्पित अवर्णितपूर्व काव्यार्थ और 'अन्यच्छायायोनि' अर्थात् कवि-परम्परा-प्रसिद्ध काव्यार्थ के आधार पर पुनः परिकल्पित पूर्ववर्णितच्छाय काव्यार्थ—दोनों प्रकार के काव्यविषयक अर्थों का दर्शन। जैसे कि 'अयोनि' अथवा स्वबुद्धिवैभव से उपकल्पित काव्यार्थ के दर्शन में 'समाधि'—

'यह नारङ्गी का फल ऐसा लग रहा है जैसे अभी अभी मुण्डित, किसी मदोन्मत्त यवन की ठुड्डी हो।'

इसी प्रकार 'अन्यच्छायायोनि' अथवा कवि परम्परा-प्रसिद्ध काव्यार्थ के आधार पर पुन परिकल्पित काव्यार्थ के दर्शन में 'समाधि'—

'कोई मालिन पानी में पड़ते अपने नेत्र के प्रतिबिम्ब से ठगी सी होकर, नील कमल के तोड़ने में भी सोच-विचार करती दिखायी दे रही है।'

यहाँ 'निजनयन' आदि सूक्ति में 'अन्यच्छायायोनि' रूप अर्थ-दर्शन का अभिप्राय है—कविपरम्परा से ही नीलकमल और नयन का सादृश्य सिद्ध चला आ रहा है किन्तु यहाँ कवि ने इस प्रसिद्ध सादृश्य रूप अर्थ में, अपनी कल्पना से एक और ही विच्छित्रता

अस्य चासाधारणशोभानाधायकत्वान्न गुणत्वम्, किन्तु काव्यशरीरमात्रनिर्वर्तकत्वम्।

क्वचित् 'चन्द्रम्' इत्येकस्मिन् पदार्थे वक्तव्ये 'अत्रेर्नयनसमुत्थं ज्योतिः' इति वाक्यवचनम्। क्वचित् 'निदाघशीतलहिमकालोष्णसुकुमारशरीरावयवा योषित्' इति वाक्यार्थे वक्तव्ये 'वरवर्णिनी' इति पदाभिधानम्। क्वचिदेकस्य वाक्यार्थस्य किञ्चिद्विशेषनिवेशायानेकैर्वाक्यैरभिधानमित्येवंरूपो व्यासः। क्वचिद् बहुवाक्यप्रतिपाद्यस्यैकवाक्येनाभिधानमित्येवंरूपः समासश्च, इत्येवमादीनामन्यैरुक्तानां न गुणत्वमुचितम्, अपि तु वैचित्र्यमात्रावहत्वम्।

—तेन नार्थगुणाः पृथक् ॥ १६ ॥

तेनोक्तप्रकारेण। अर्थगुणा ओजःप्रभृतयः प्रोक्ताः।

इति साहित्यदर्पणे गुणविवेचनो नामाष्टमः परिच्छेदः।

का आधान कर दिया है जिससे यह प्रसिद्ध काव्यार्थ नवीन सा बन रहा है। किन्तु यह सब अर्थवैचित्र्यरूप 'समाधि' गुण नहीं क्योंकि इससे रस का कोई अलौकिकसामान्य उपकार नहीं हो रहा है। यह 'समाधि' तो वस्तुतः यहाँ के अर्थात्मक काव्यशरीर के निष्पादन से ही सम्बद्ध है। रस-सौन्दर्य के उल्लास से इसका क्या सम्बन्ध?

इसी प्रकार प्राचीन आलङ्कारिकों द्वारा मान्य ओज के चार भेद (क्योंकि पाँचवें भेद को पहले ही 'अपुष्टार्थत्व' रूप दोष का अभावमात्र सिद्ध किया जा चुका है) गुण नहीं अपि तु वैचित्र्यमात्र ही है। जैसे कि, पदार्थ में वाक्यरचना रूप 'ओज' जिसे 'चन्द्र' इस एक पदार्थ के बदले 'अत्रेर्नयनसमुत्थं ज्योतिः' (रघुवंश २. ७५) इस वाक्यरचना में देखा जा सकता है वाक्यार्थ में पदरचनारूप 'ओज' जो कि 'निदाघशीतलहिमकालोष्णसुकुमारशरीरावयवा योषित्' (गरमी में शीतल और सर्दी में उष्ण तथा सुकुमार अङ्गों वाली स्त्री) इस वाक्यार्थ के बदले 'वरवर्णिनी' इस पदरूप में स्पष्ट है 'व्यासरूप ओज' जिसे एक वाक्यार्थ के बदले किञ्चिन्मात्र विशेषाधानपूर्वक, अनेक वाक्यार्थों की रचना में देखा जाया करता है और 'समास' रूप ओज जो कि अनेक वाक्यार्थों के बदले एक वाक्य में विषय-प्रतिपादन का अभिप्राय रखता है और इसी भाँति अन्य आचार्यों द्वारा गुण रूप से मान्य अन्यान्य वैचित्र्य, वस्तुतः 'गुण' नहीं अपितु वैचित्र्याधायक मात्र ही माने जा सकते हैं क्योंकि रस का इनसे क्या सम्बन्ध?

इस विचार-विमर्श से यही सिद्ध होता है कि प्राचीन-अलङ्कारशास्त्र-सम्मत अर्थगुण माधुर्यादि गुणत्रय के अतिरिक्त कोई अन्य काव्य-तत्त्व नहीं।

यहाँ कारिका में 'तेन' का अभिप्राय 'उक्तप्रकारेण' (उपर्युक्त विचारपद्धति से देखते हुये) का अभिप्राय है और 'अर्थगुण' का तात्पर्य ओज आदि (आचार्य वामन तथा भोजराज-प्रतिपादित) गुणों का तात्पर्य है जिनका प्रतिपादन किया जा चुका है।

विमर्श—(क) यहाँ साहित्यदर्पणकार ने, आचार्य मम्मट की अर्थगुण-समीक्षा के आधार पर, अर्थगुणों को गुणत्रय में अन्तर्भूत सिद्ध किया है। प्राचीन अलङ्कारशास्त्र-सम्मत अर्थगुण रस के

धर्म अथवा स्वरूपविशेष नहीं और इसलिये इन्हें गुण मानना निरर्थक है—यह सिद्धान्त वस्तुतः एक समीचीन सिद्धान्त है।

(ख) दस अर्थगुणों में 'ओज' का यह स्वरूप है—

'एकस्य पदार्थस्य बहुभि पदैरभिधानम्, बहूनां चैकेन, तथैकस्य वाक्यार्थस्य बहुभिर्वाक्यैर्बहुवाक्यार्थस्यैकवाक्येनाभिधानम्, विशेषणाना साभिप्रायत्वञ्चेति पञ्चविधमोजः।'

(रसगङ्गाधर)

जिसमें 'पदार्थ में वाक्यरचना', 'वाक्यार्थ में 'पदाभिधान', 'व्यास' और 'समास' रूप चतुर्विध प्रौढिप्रतिपादनवैचित्र्य के अतिरिक्त और कोई गुण तत्त्व नहीं। जैसे कि 'पदार्थ में वाक्यरचना'—

'सरसिजवनबन्धुश्रीसमारम्भकाले रजनिरमणराज्यं नाशमाशु प्रयाति।
परमपुरुषवक्त्राद्दुद्गताना नराणां मधु मधुरगिरां च प्रादुरासीद् विनोदः॥'

यहाँ यह स्पष्ट है कि 'उष काल में' इस एक पदार्थ के स्थान पर—'सरसिजवनबन्धुश्रीसमारम्भकाले' यह वाक्यरचना की गयी है जिसमें 'प्रौढि' तो अवश्य है किन्तु रसोल्लास सामर्थ्य नहीं।

इसी प्रकार वाक्यार्थ में पदाभिधान'—

'खण्डितानेककआलिमअुरञ्जनपण्डिताः।
मण्डिताखिलदिक्प्रान्ताश्चण्डांशोर्भान्ति भानवः॥'

यहाँ 'यस्या पराङ्गनागेहात् पति प्रातर्गृहेऽभ्रति' इस वाक्यार्थ के स्थान पर 'खण्डिता' इस एक पद के प्रयोगस्वारस्य में 'प्रौढि' अवश्य है किन्तु यह 'प्रौढि' कोई रसधर्म नहीं अपितु उक्तिवैचित्र्य मात्र है।

इसी प्रकार 'व्यास अथवा विस्तीर्ण वचन'—

'अयाचित सुख दत्ते याचितश्च न यच्छति।
सर्वस्व चापि हरते विधिरुच्छृङ्खलो नृणाम्॥'

यहाँ 'सर्वं दैवाधीनम्' इस एक वाक्यार्थ के स्थान पर अनेकों वाक्यों की रचना में 'व्यास' रूप प्रौढि है जो कि प्रतिपादनवैचित्र्य के अतिरिक्त और कोई काव्य-तत्त्व नहीं।

इसी प्रकार 'समास' अथवा सक्षिप्त वचन—

'तपस्यतो मुनेर्वक्त्राद्वेदार्थमधिगत्य स।
वासुदेवनिविष्टात्मा विवेश परम पदम्॥'

यहाँ **'मुनिस्तपस्यति, तद्वक्त्रात् स वेदार्थमधिगतवान्, तदनन्तरं वासुदेवे परमब्रह्मणि मन आवेशयत्, ततश्च मुक्तोऽभूत्'** इत्यादि वाक्यार्थसमूह के स्थान पर एक वाक्यार्थ की योजना में 'प्रौढि' का स्वरूप स्पष्ट है। किन्तु यह भी प्रतिपादनवैचित्र्यमात्र ही है, रसधर्मरूप गुण नहीं।

साहित्यदर्पण आठवाँ परिच्छेद समाप्त



नवम परिच्छेद

(काव्य में रीति-तत्त्व : स्वरूप और उपयोग)

अथोद्देशक्रमप्राप्तमप्यलङ्कारनिरूपणं बहुवक्तव्यत्वेनोल्लङ्घ्य रीतिमाह—

पदसङ्घटना रीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत् ।

उपकर्त्री रसादीनां—

रसादीनामर्थाच्छब्दार्थशरीरस्य काव्यस्यात्मभूतानाम् ।

(रीतिभेद : वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली तथा लाटी)

—सा पुनः स्याच्चतुर्विधा ॥ १ ॥

वैदर्भी चाथ गौडी च पाञ्चाली लाटिका तथा ।

अनुवाद—अब काव्य में रीति-तत्त्व क्या है ? इसका विचार-विमर्श किया जा रहा है। अलङ्कार का निरूपण बाद में किया जायगा। वैसे तो 'रीति'-निरूपण के पहले, जैसे की 'उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुणालङ्काररीतयः' इस काव्यलक्षण के उद्देश्य-क्रम से सिद्ध है, अलङ्कार का ही निरूपण आवश्यक था किन्तु इस विषय के विस्तृत होने के कारण इसे बाद में ही प्रस्तुत करना उचित है।

'रीति' क्या है ?

रीति अङ्ग-रचना की भाँति पद-रचना अथवा पद-संघटना है जो कि रसभावादि की अभिव्यञ्जना में सहायक हुआ करती है।

यहाँ कारिका में 'रसादीनाम्' का अभिप्राय 'शब्दार्थशरीरस्य काव्य के आत्मभूत रसादि' का अभिप्राय है।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार के अनुसार 'रीति' और 'संघटना' एक ही वस्तु है। 'रीति' अथवा 'संघटना' रस की अभिव्यक्ति का निमित्त है और इसीलिये साहित्यदर्पणकार ने इसे रसभावादि की उपकर्त्री माना है। काव्यप्रकाशकार ने रीतितत्त्व पर कोई विशेष प्रकाश नहीं डाला था क्योंकि प्राचीन ध्वनिवादी आचार्यों की दृष्टि में 'वृत्ति' और 'रीति' का रहस्य वर्ण-संघटनावैशिष्ट्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। ध्वनिकार का स्पष्ट कथन है—

'वर्णसंघटनाधर्माश्च ये माधुर्यादयस्तेऽपि प्रतीयन्ते। तदनतिरिक्तवृत्तयो वृत्तयोऽपि याः कैश्चिदुपनागरिकाद्याः प्रकाशिताः, ता अपि गताः श्रवणगोचरम्। रीतयश्च वैदर्भीप्रभृतयः।'

और लोचनकार की भी इस सम्बन्ध में यही समीक्षा है—

'रीतयश्चेति—तदनतिरिक्तवृत्तयोऽपि गताः श्रवणगोचरमिति सम्बन्धः। तद्वृत्तीनाम माधुर्यादयो गुणाः, तेषां च समुचितवृत्त्यर्पणे यदन्योन्यमेलनक्षमत्वं पानक इव गुडमरिचादिरसानां संघातरूपतागमनं दीप्तललितमध्यमवर्णनीयविषयं गौडीय-वैदर्भ-पाञ्चालदेशहेवाकप्राचुर्यदृशा तदेव त्रिविधं रीतिरित्युक्तम्। (ध्वन्यालोक तथा लोचन ३य उद्योत) किन्तु साहित्यदर्पणकार 'रीति' को न छोड़ सके। संभवतः रुद्रट और भोजराज के प्रभाव में पड़कर साहित्यदर्पणकार ने 'रीति' और 'काव्य' के उपकार्योपकारकभाव-सम्बन्ध पर यह जोर दिया है।

अनुवाद—रीति चार प्रकार की है—(१) वैदर्भी (२) गौडी (३) पाञ्चाली और (४) लाटी।

सा रीतिः ।

(वैदर्भी सोदाहरण स्वरूप-निरूपण)

तत्र—

माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णै रचना ललितात्मिका ॥ २ ॥
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते ।

यथा—

'अनङ्गमङ्गलभुवः-' इत्यादि ।

यहाँ कारिका में 'सा' का अभिप्राय 'रीति' का अभिप्राय है ।

विमर्श—रीतिचतुष्टय में 'वैदर्भी' और 'गौडी' की मान्यता भामह और दण्डी से भी प्राचीन है । दण्डी की यह उक्ति—

'इति मार्गद्वय भिन्न तत्स्वरूपनिरूपणात् । तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकविस्थिता ॥
इक्षुक्षीरगुडादीना माधुर्यस्यान्तर महत् । तथापि न तदाख्यातु सरस्वत्यापि पार्यते ॥'
(काव्यादर्श १. १०१–१०२)

'वैदर्भ' और 'गौड' मार्गों (वैदर्भी और गौडी रीतियों) के स्वरूप विवेक को अलङ्कार-शास्त्र की समीक्षा की एक बहुत बडी कसौटी सी मानती है । रीतिवाद के प्रवर्त्तक आचार्य वामन 'पाञ्चाली' रीति के प्रथम प्रवर्तक हैं । वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली के अतिरिक्त 'लाटी' अथवा 'लाटीया' को, चौथी रीति के रूप में स्वीकार करनेवाले सर्वप्रथम आचार्य रुद्रट हैं । इस प्रकार साहित्यदर्पणकार ने कई शताब्दिओं में प्रवर्तित रीति-चतुष्टय तत्त्व को काव्य के एक तत्त्वरूप में स्वीकार किया है । रीति-चतुष्टय की मान्यता में साहित्यदर्पणकार का अभिप्राय वस्तुतः यही है कि 'जब काव्य रसात्मक वाक्य है तो 'रीति' इसकी एक विशेषता अवश्य है' । 'भावप्रकाशन'कार कि इन पक्तियों में, जिन्होंने साहित्यदर्पणकार की काव्य-समीक्षा को पर्याप्त रूप से प्रभावित किया है, 'रीतिचतुष्टय' का यह सकेत ध्यान देने योग्य है—

'प्रतिवचनं प्रतिपुरुषं तदवान्तरजातितः प्रतिप्रीति ।
आनन्त्यात् सक्षिप्य प्रोक्ता कविभिश्चतुर्धैव ॥
त एवाक्षरविन्यासास्ता एवाक्षरपक्तय ।
पुसि पुसि विशेषेण कापि कापि सरस्वती ॥'
(भावप्रकाशन, पृष्ठ ११–१२)

अनुवाद—इस रीतिचतुष्टय में—

'वैदर्भी' वह रीति है जिसे माधुर्य के अभिव्यञ्जक वर्णों से पूर्ण, असमस्त अथवा स्वल्प समासयुक्त ललित रचना कहा गया है ।

जैसे कि—

'अनङ्गमङ्गलभुव' आदि पूर्वोद्धृत रचना ।

विमर्श—'वैदर्भी' के सम्बन्ध में महाकवि श्रीहर्ष की यह सूक्ति बडी सुन्दर है—

'धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि ।
इत स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति ॥'
(नैषधीयचरित ३. ११६)

(आचार्य रुद्रट-सम्मत वैदर्भी-स्वरूप : निर्देश)

रुद्रटस्त्वाह—

असमस्तैकसमस्ता युक्ता दशभिर्गुणैश्च वैदर्भी ।
वर्गद्वितीयबहुला स्वल्पप्राणाक्षरा च सुविधेया ॥

अत्र दशगुणास्तन्मतोक्ताः श्लेषादयः ।

(गौडीरीति : सोदाहरण स्वरूप-निर्देश)

ओजःप्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बरः पुनः ॥ ३ ॥
समासबहुला गौडी—

यथा—

'चञ्चद्भुज—' इत्यादि ।

(आलङ्कारिक पुरुषोत्तम-सम्मत गौडी-स्वरूप : संकेत)

पुरुषोत्तमस्त्वाह—

महाकवि बिल्हण की यह वैदर्भी-गुणगाथा भी ध्यान देने योग्य है—

'अनभ्रवृष्टिः श्रवणामृतस्य सरस्वतीविभ्रमजन्मभूमिः ।
वैदर्भरीतिः कृतिनामुदेति सौभाग्यलाभप्रतिभूः पदानाम् ॥'

(विक्रमाङ्कदेवचरित १.९)

अनुवाद—'वैदर्भी' के सम्बन्ध में (काव्यालङ्कार के रचयिता) आचार्य रुद्रट का यह मत है—

'वैदर्भी रीति अथवा कविता-पद-रचना इस प्रकार की हुआ करती है जिसमें समस्त पदावली का प्रयोग नहीं हुआ करता, यदि एक आध पद समस्त हो जाँय तो कोई हानि नहीं जिसमें श्लेषादि दसों शब्दगुण विराजमान रहा करते हैं जिसमें द्वितीय वर्ग अर्थात् वर्गों के वर्णों का बाहुल्य सुन्दर लगा करता है और जिसमें ऐसे वर्ण रहा करते हैं जोकि स्वल्प प्रयत्न से उच्चरित हो सकते हैं।

यहाँ 'युक्ता दशभिर्गुणैश्च' में दस गुणों का अभिप्राय आचार्य रुद्रट-सम्मत 'श्लेष' (आदि दस शब्दगुणों का अभिप्राय है।

अनुवाद—'गौडी' वह रीति है जिसे ओज गुण के अभिव्यञ्जक वर्णों से पूर्ण समास—प्रचुर, उद्भट रचना कहा गया है।

जैसे कि—

'चञ्चद्भुजभ्रमित' आदि पूर्वोद्धृत रचना।

विमर्श—रीतिवाद के प्रवर्तक आचार्य वामन के अनुसार गौडी रीति का स्वरूप यह है—

'समस्तात्युद्भटपदामोजःकान्तिगुणान्विताम् ।
गौडीयामिति गायन्ति रीतिं रीतिविचक्षणाः ॥' (काव्यालङ्कारसूत्र)

जिससे यह स्पष्ट है कि वैदर्भी और गौडी परस्पर विषम स्वभाव की रीतियाँ अथवा पद रचनायें हैं।

अनुवाद—'गौडी' के सम्बन्ध में आलङ्कारिक पुरुषोत्तम का यह मत है—

'बहुतरसमासयुक्ता सुमहाप्राणाक्षरा च गौडीया ।
रीतिरनुप्राससमहिमपरतन्त्रा स्तोकवाक्या च ॥'

(पाञ्चाली रीतिः सोदाहरण स्वरूप-निरूपण)

—वर्णैः शेषैः पुनर्द्वयोः ।
समस्तपञ्चषपदो बन्धः पाञ्चालिका मता ॥ ४ ॥

द्वयोर्वैदर्भीगौड्योः ।

यथा—

'मधुरया मधुबोधितमाधवीमधुसमृद्धिसमेधितमेधया ।
मधुकराङ्गनया मुहुरुन्मदध्वनिभृता निभृताक्षरमुज्जगे ॥'

(भोजराज सम्मत पाञ्चाली-स्वरूप)

भोजस्त्वाह—

'समस्तपञ्चषपदामोजःकान्तिसमन्विताम् ।
मधुरां सुकुमारां च पाञ्चालीं कवयो विदुः ॥'

(लाटी रीति · सोदाहरण स्वरूप विवेक)

लाटी तु रीतिर्वैदर्भीपाञ्चाल्योरन्तरे स्थिता ।

'गौडी रीति ऐसी हुआ करती है जिसमें समासबाहुल्य रहा करता है, जिसमें ऐसे वर्णों का प्राचुर्य हुआ करता है जो कि महाप्राण (जैसे कि वर्ग के द्वितीय और चतुर्थ वर्ण) कहे जाया करते हैं, जिसमें अनुप्रास-वैशिष्ट्य आवश्यक है और जिसमें (समास-बाहुल्य के कारण) वाक्यों का प्रयोग कम हुआ करता है ।

अनुवाद—'पाञ्चाली' वह रीति है जिसे माधुर्य और ओज के अभिव्यञ्जक वर्णों को छोड़कर अन्य अवशिष्ट वर्णों अर्थात् प्रसाद के अभिव्यञ्जक वर्णों से ऐसी पदरचना कहा गया है जिसमें पाँच या छः पदों के समासों से बड़े समासों का प्रयोग नहीं हुआ करता ।

यहाँ कारिका में 'द्वयो' का अभिप्राय वैदर्भी और गौडी रीतियों का अभिप्राय है ।

जैसे कि (महाकवि माघ के शिशुपालवध की यह सूक्ति)—

'वसन्त के कारण विकसित वासन्ती की मकरन्द-सम्पदा से बढ़ी-चढ़ी स्वरमाधुरी वाली स्वतः मधुरकण्ठी किंवा उत्तरोत्तर उन्मादकता में बढ़ती ध्वनि वाली भ्रमरी ने बड़ी मीठी गुञ्जार प्रारम्भ कर दी ।'

यहाँ 'पाञ्चाली' रीति अथवा प्रसन्न वर्णों की पदरचना का सौन्दर्य दर्शनीय है ।

अनुवाद—'पाञ्चाली' के सम्बन्ध में आलंकारिक भोजराज का यह मत है—

'पाञ्चाली रीति वह रीति है जिसमें पाँच या छः पदों से अधिक पद वाले समास नहीं प्रयुक्त किये जाया करते, जिसमें ओज और कान्ति के गुण विराजमान रहा करते हैं और जो कि माधुर्य के अभिव्यञ्जक किंवा कोमल वर्णों से पूर्ण पदरचना हुआ करती है ।'

अनुवाद—'लाटी' वह रीति है जिसमें वैदर्भी और पाञ्चाली—दोनों रीतियों की विशेषतायें विराजमान रहा करती हैं ।

यथा—

'अयमुदयति मुद्राभञ्जनः पद्मिनीनामुदयगिरिवनालीबालमन्दारपुष्पम्।
विरहविधुरकोकद्वन्द्वबन्धुर्विभिन्दन् कुपितकपिकपोलक्रोडताम्रस्तमांसि॥'

(अन्य काव्याचार्य-सम्मत लाटी-स्वरूप)

कश्चिदाह—

'मृदुपदसमाससुभगा युक्तैर्वर्णैर्न चातिभूयिष्ठा।
उचितविशेषणपूरितवस्तुन्यासा भवेल्लाटी॥'

(अन्य आलंकारिक-सम्मत रीति चतुष्टय-स्वरूप)

अन्ये त्वाहुः—

'गौडी डम्बरबद्धा स्याद्वैदर्भी ललितक्रमा।
पाञ्चाली मिश्रभावेन लाटी तु मृदुभिः पदैः॥'

(रचना के नियामक)

क्वचित्तु वक्त्राद्यौचित्यादन्यथा रचनादयः॥ ५॥

जैसे कि—

'कमलवन को विकसित करने वाला उदयाचल पर्वत की वनवीथिका का नवविकसित मन्दारपुष्प विरहविधुर चक्रवाक के जोड़े का एकमात्र बान्धव किंवा कुपित कपि के कपोल की भाँति रक्ताभ यह सूर्य अँधेरे का उन्मूलन करते हुए उदय हो रहा है।

विमर्श—आचार्य रुद्रट के अनुसार 'गौडी-पाञ्चाली-लाटी' का स्वरूप विवेक यह है—

'पाञ्चाली लाटीया गौडीया चेति नामतोऽभिहिताः।
लघुमध्यायतविरचनसमासभेदादिमास्तत्र॥
द्विपदा पाञ्चाली लाटीया पञ्च सप्त वा यावत्।
शब्दाः समासवन्तो भवति यथाशक्ति गौडीया॥

(काव्यालंकार २ ४५)

अनुवाद—किसी काव्याचार्य के मत में 'लाटी' का स्वरूप यह है—

'लाटी रीति ऐसी हुआ करती है जिसमें कोमल पदों के समास का सौन्दर्य देखने योग्य हुआ करता है जिसमें संयुक्त वर्णों का प्रयोग स्वल्पमात्रा में ही हुआ करता है और जिसमें प्रकृतोपयुक्त विशेषणों से रमणीय वर्ण्य वस्तु की एक अपनी ही छटा बिखरा करती है।

अनुवाद—कतिपय काव्याचार्यों ने रीति-चतुष्टय का यह संक्षिप्त स्वरूप बताया है—

'वैदर्भी रीति का अभिप्राय 'मधुरबन्ध' 'गौडी' रीति का अभिप्राय 'उद्धतबन्ध' 'पाञ्चाली रीति का अभिप्राय 'मिश्रबन्ध' और 'लाटी रीति का अभिप्राय 'मृदुबन्ध' का अभिप्राय है।

विमर्श—रीति-चतुष्टय का यह उपर्युक्त संक्षिप्त विवेक 'रीति' और 'बन्ध' (संघटना) के अभेद का एक सुन्दर निदर्शन है [illegible] साहित्य के [illegible] चतुर्विध [illegible] से एक रूप हैं।

अनुवाद—काव्य साहित्य में रीति अथवा पदरचना के उपर्युक्त सिद्धान्त का अपवाद भी दृष्टिगत होता है जिसके कारण वक्त्रौचित्य वाच्यौचित्य आदि आदि हैं।

वक्त्रादीत्यादिशब्दाद्वाच्यप्रबन्धौ। रचनादीत्यादिशब्दाद् वृत्तिवर्णौ। तत्र वक्त्रौचित्याद्यथा—

'मन्थायस्तार्णवाम्भःप्लुतकुहरचलन्मन्दरध्वानधीर
कोणाघातेषु गर्जत्प्रलयघनघटान्योन्यसङ्घट्टचण्ड.।
कृष्णाक्रोधाग्रदूतः कुरुकुलनिधनोत्पातनिर्घातवातः
केनास्मत्सिंहनादप्रतिरसितसखो दुन्दुभिस्ताडितोऽयम्॥

अत्र वाच्यक्रोधाद्य (न) भिव्यञ्जकत्वेऽपि भीमसेनवक्तृत्वेनोद्धता रचनादयः। वाच्यौचित्याद्यथोदाहृते 'मूर्धन्व्याधूयमान—' इत्यादौ। प्रबन्धौचित्याद्यथा नाटकादौ रौद्रेऽप्यभिनयप्रतिकूलत्वेन न दीर्घसमासादय.। एवमाख्यायिकायां शृङ्गारेऽपि न मसृणवर्णादयः। कथाया रौद्रेऽपि नात्यन्तमुद्धताः। एवमन्यदपि ज्ञेयम्।

इति साहित्यदर्पणे रीतिविवेचनो नाम नवमः परिच्छेदः।



यहाँ करिका में 'वक्त्राद्यौचित्यात्' में जो 'आदि' पद प्रयुक्त है उससे वाच्य और प्रबन्ध के औचित्यों का ग्रहण किया गया है। साथ ही साथ 'रचनादय' में प्रयुक्त 'आदि' शब्द वृत्ति अर्थात् समास और वर्णों के अन्यथाभाव अथवा वैपरीत्य के सूचनार्थ है।

जैसे कि वक्त्रौचित्य से रचनादि का अन्यथाभाव—

'मन्थन के कारण विक्षुब्ध पारावार के जलसघात से भरी कन्दराओंवाले मन्दराचल के घोर निध्वान के समान गम्भीर, नक्कारों के बजने के समय, गर्जना करनेवाले प्रलयकालीन मेघसघात के परस्पर सघर्षण के प्रचण्ड नाद के समान भयङ्कर, द्रौपदी के क्रोध के ससूचक, कुरुवश के विनाश के सूचक, उत्पातरूप निर्घात वात के समान भीषण और हमारे सिंहनाद के प्रतिध्वान की भाँति भयानक यह रणदुन्दुभि-निध्वान कहाँ से प्रारम्भ हो गया?'

यहाँ (वेणीसहार की इस सूक्ति में) क्रोधादि दीप्त रसों की अभिव्यञ्जकता का प्रश्न न होने पर भी, क्योंकि यहाँ जो वर्ण्य वस्तु है वह सहदेव के प्रति भीम की जिज्ञासा मात्र है, रचना, वृत्ति और वर्णों का अन्यथाभाव स्पष्ट है। इस अन्यथाभाव अथवा रचनादि विपर्यय का कारण वक्ता भीमसेन के उद्धत व्यक्तित्व के औचित्य का अनुसरण है।

इसी प्रकार वाच्यौचित्य के कारण रचनादिविपर्यय—

जैसे कि 'मूर्धन्व्याधूयमान' आदि पूर्वोद्धृत ताण्डव वर्णन-सूक्ति।

प्रबन्धौचित्य के कारण रचनादि-विपर्यय का दर्शन वहाँ हुआ करता है जहाँ नाटकादि-प्रबन्ध में, रौद्ररस के प्रसङ्ग में भी, अभिनय की दृष्टि से, लम्बे-लम्बे समास आदि का प्रयोग नहीं किया जाया करता। प्रबन्धौचित्य की रचना-नियामकता वहाँ भी स्पष्ट है जहाँ आख्यायिका-प्रबन्ध में, शृङ्गार रस के प्रसङ्ग में भी, मृदुल वर्ण इत्यादि का अभाव दिखायी दिया करता है। इसी प्रकार कथा प्रबन्ध में, रौद्र रस के प्रसङ्ग में भी, उद्धत बन्ध का परिहार प्रबन्धौचित्य की रचना-नियामकता का ही निदर्शन है। इसी भाँति अन्यान्य प्रबन्धों के औचित्य के कारण जो रचनादि विपर्यय हुआ करता है वह स्वय देखा जा सकता है।

विमर्श—काव्यप्रकाशकार ने तो 'गुणाश्रया संघटना' के अपवाद-रूप में 'वाच्यौचित्य' आदि का निर्देश किया है किन्तु साहित्यदर्पणकार के अनुसार 'वाच्यौचित्य आदि 'रीति' के अपवादरूप हैं।

रचना के नियामकों में 'रसौचित्य' का स्थान सर्वोपरि है जैसा कि ध्वनिकार का स्पष्ट कथन है—

रसबन्धोक्तमौचित्यं भाति सर्वत्र संश्रिता।
रचना विषयापेक्षं तत्तु किञ्चिद् विभेदवत्॥ (ध्वन्यालोक ३ । ६)

अर्थात् क्या पद्यबन्ध और क्या गद्यबन्ध—उभयत्र रसौचित्य ही रचना अथवा संघटना का नियामक है। जहाँ-तहाँ 'विषयौचित्य' के कारण रचना में जो वैषम्य संभव है वह वस्तुतः 'रसौचित्य' का ही एक अवान्तरवैचित्र्य है।

रसौचित्य के बाद 'वक्त्रौचित्य' का स्थान है। 'वक्त्रौचित्य' की रचना-नियामकता के सम्बन्ध में ध्वनिकार का यह विवेचन ध्यान देने योग्य है—

'तत्र वक्ता कविः कविनिबद्धो वा कविनिबद्धश्चापि रसभावरहितो रसभावसमन्वितो वा । तत्र यदा कविरपगतरसभावो वक्ता तदा रचनायाः कामचारः। यदापि कविनिबद्धो वक्ता रसभावरहितस्तदा स एव। यदा तु कविः कविनिबद्धो वा वक्ता रसभावसमन्वितो रसश्च प्रधानाश्रितत्वाद् ध्वन्यात्मभूतस्तदा नियमेनैव तत्रासमासा-मध्यमसमासे एव संघटने'—(ध्वन्यालोक : तृतीय उद्योत)

अर्थात् वक्ता के औचित्य के कारण रचना-नियमन में सर्वप्रथम यह देखना है कि 'वक्ता' का अभिप्राय 'कवि' और 'कविप्रतिभोत्थापित चरित' दोनों का है। जहाँ कवि अथवा कविनिबद्ध चरित रसभावविच्छायशून्य हों वहाँ कोई भी रचना क्षम्य है किन्तु यदि कवि अथवा कविनिबद्ध चरित रसभावसमन्वित है तो रचना का 'असमासा' अथवा 'मध्यमसमासा' होना अनिवार्य है।

रचना का तीसरा नियामक 'वाच्यौचित्य' है। 'वाच्यौचित्य' का अभिप्राय यह है—

'वाच्यं च ध्वन्यात्मरसाङ्गं रसाभासाङ्गं वा, अभिनेयार्थमनभिनेयार्थं वा, उत्तम-प्रकृत्याश्रयं तदितराश्रयं वेति बहुप्रकारम्। (ध्वन्यालोकः तृतीय उद्योत)

चतुर्थ रचनानियामक 'विषयौचित्य' अथवा प्रबन्धौचित्य है जैसा कि ध्वनिकार का यह कथन है—

'विषयाश्रयमप्यन्यदौचित्यं तां नियच्छति। काव्यप्रभेदाश्रयतः स्थिता भेदवती हि सा॥

वक्तृवाच्यगतौचित्ये सत्यपि विषयाश्रयमन्यदौचित्यं संघटनां नियच्छति। यतः काव्यस्य प्रभेदा मुक्तकं संस्कृत-प्राकृतापभ्रंशनिबद्धम्। सन्दानितक-विशेषक-कलापक-कुलकानि। पर्यायबन्धः, परिकथा खण्डकथासकलकथे, सर्गबन्धोऽभिनेयार्थमाख्यायिका-कथे इत्येवमादयः। तदाश्रयेणापि संघटना विशेषवती भवति।

(ध्वन्यालोक : तृतीय उद्योत)

जिसे लोचनकार ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'विषयाश्रयमिति—विषयशब्देन संघातविशेष उक्तः। यथा हि सेनात्मकसंघात-निवेशी पुरुषः कातरोऽपि तदौचित्यादनुगुणतयैवास्ते तथा काव्यवाक्यमपि संघातविशे-षात्मकसम्पादितकाव्यविशिष्टं तदौचित्येन वर्तते। अधिकमप्येतदाह—सत्यपि वक्तृवाच्यौचित्ये विषयौचित्यं केवलं तारतम्यभेदमात्रप्रत्यासम न तु विषयौचित्येन वक्तृवाच्यौचित्यं निवार्यत इति।' (ध्वन्यालोकलोचन तृतीय उद्योत)

साहित्यदर्पण नवाँ परिच्छेद समाप्त



दशमः परिच्छेदः

(काव्य में अलङ्कार-तत्त्व : स्वरूप और उपयोगिता)

अथावसरप्राप्तानलङ्कारानाह—

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः ।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥ १ ॥

यथा अङ्गदादयः शरीरशोभातिशायिनः शरीरिणमुपकुर्वन्ति, तथानुप्रासोपमादयः शब्दार्थशोभातिशायिनो रसादेरुपकारका । अलङ्कारा अस्थिरा इति नैषां गुणवदावश्यकी स्थिति. ।

अनुवाद—अब (काव्य के दोष, गुण और रीति-तत्त्व के निरूपण के बाद) जो अवशिष्ट काव्य-तत्त्व हैं अर्थात् 'अलङ्कार', उनका निरूपण किया जा रहा है—

'अलङ्कार' शब्द और अर्थ के उन अस्थिर धर्मों को कहा करते हैं जो (मानव के शरीर की शोभा के बढ़ानेवाले) 'अङ्गद' (बाजूबन्द) आदि अलङ्कारों की भाँति (काव्य के शरीरभूत) शब्द और अर्थ की शोभा बढ़ाया करते हैं और (अन्ततोगत्वा) (काव्य के आत्मभूत) रस भाव के अभिव्यञ्जन में सहायक हुआ करते हैं।

तात्पर्य यह है कि जैसे अङ्गद (बाजूबन्द) आदि आभूषण मनुष्य-शरीर के सौन्दर्य की अभिवृद्धि करते हुए मनुष्य के व्यक्तित्व के प्रकाशन में सहायता पहुँचाया करते हैं वैसे ही 'अनुप्रास' और 'उपमा' आदि 'अलङ्कार' (काव्य के शरीरभूत) शब्द और अर्थ के सौन्दर्य की अभिवृद्धि करते हुए (काव्य के आत्मतत्त्व) रस-भाव के प्रकाशन में सहायता पहुँचाया करते हैं। अलङ्कारों को 'शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म' कहने का अभिप्राय यह है कि काव्य में इनकी स्थिति गुणों की भाँति आवश्यक अथवा अनिवार्य नहीं हुआ करती।

विमर्श—ध्वनिवादी आलङ्कारिक अलङ्कारों को काव्य के 'अस्थिर धर्म' के रूप में मानते हैं। इस मान्यता की मूल भावना ध्वनिकार की यह उक्ति है—

विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन । काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैपिता ॥
निर्व्यूढावपि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम् । रूपकादेरलङ्कारवर्जस्याङ्गत्वसाधनम् ॥'

(ध्वन्यालोक २. १८-१९)

जिसमें यह स्पष्ट है कि रसरूप अङ्गी की दृष्टि से ही अलङ्कारों का ग्रहण-परित्याग, निर्वाह-अनिर्वाह आदि संभव हैं। और अलङ्कारों का ग्रहण-परित्याग इस बात का प्रमाण है कि अलङ्कार काव्य के अस्थिर धर्म अथवा आगमापायी वैशिष्ट्य हैं।

काव्य में अलङ्कारों की उपयोगिता काव्य के वाच्यवाचक रूप अङ्गों की शोभावर्धकता के ही कारण है जैसा कि लोचनकार ने स्पष्ट कहा है—

'वाच्यवाचकलक्षणान्यङ्गानि ये पुन (अवलम्बन्ते) तदाश्रितास्तेऽलङ्कारा मन्तव्या. कटकादिवत्।' (ध्वन्यालोकलोचन २.६)

यही बात काव्यप्रकाशकार की इस उक्ति का भी रहस्य है—

'उपकुर्वन्ति त सन्त येऽङ्गद्वारेण जातुचित् । हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादय ॥'

(शब्दालङ्कार : १ पुनरुक्तवदाभास)

शब्दार्थयो प्रथम शब्दस्य बुद्धिविषयत्वाच्छब्दालङ्कारेषु वक्तव्येषु शब्दार्थालङ्कारस्यापि पुनरुक्तवदाभासस्य चिरन्तनै शब्दालङ्कारमध्ये लक्षितत्वात्प्रथम तमेवाह—

आपाततो यदर्थस्य पौनरुक्त्येन भासनम् ।
पुनरुक्तवदाभासः स भिन्नाकारशब्दगः ॥ २ ॥

उदाहरणम्—

'भुजङ्गकुण्डली व्यक्तशशिशुभ्रांशुशीतगु' ।
जगन्त्यपि सदापायादव्याच्चेतोहर' शिव' ॥'

अत्र भुजङ्गकुण्डल्यादिशब्दानामापातमात्रेण सर्पाद्यर्थतया पौनरुक्त्यप्रतिभासनम् । पर्यवसाने तु भुजङ्गरूप कुण्डल विद्यते यस्येत्याद्यन्यार्थत्वम् । 'सदापायात्' इत्यत्र क्रियागतोऽयमलङ्कार', 'पायात्' इत्यस्य 'अपायात्' इत्यत्र पर्यवसानात् ।

'ये वाच्यवाचकलक्षणाङ्गातिशयमुखेन मुख्यरस संभविनमुपकुर्वन्ति ते कण्ठाद्यङ्गानामुत्कर्षाधानद्वारेण शरीरिणोऽप्युपकारका हारादय इवालङ्काराः । यत्र तु नास्ति रसस्तत्रोक्तिवैचित्र्यमात्रपर्यवसायिनः । क्वचित्तु सन्तमपि नोपकुर्वन्ति । (काव्यप्रकाश ८।६७)

साहित्यदर्पणकार ने यह अलङ्कार [illegible] नहीं दिया है किन्तु '[illegible] गुणालङ्कारहितयो', साहित्यदर्पण १।१) आदि [illegible] में एक [illegible] में ही, गुण के साथ अलङ्कारों का [illegible] [illegible] [illegible] होगा ।

अनुवाद—यद्यपि यहाँ पहले शब्दालङ्कारों का ही निरूपण उचित है क्योंकि शब्द और अर्थ—इन दोनों में शब्द की ही उपस्थिति पहले हुआ करती है किन्तु यहाँ सर्वप्रथम शब्द और अर्थ—दोनों के अलङ्कार 'पुनरुक्तवदाभास' का निरूपण इसलिये किया जा रहा है क्योंकि प्राचीन आलङ्कारिक इसे शब्दालङ्कार में ही अन्तर्भूत मान चुके हैं।

'पुनरुक्तवदाभास'—

'पुनरुक्तवदाभास' वह अलङ्कार है जिसमें अर्थ (वस्तुतः तो नहीं किन्तु) आपाततः पुनरुक्तवत् प्रतीत हुआ करता है और शब्द भिन्न आकार अथवा स्वरूप के हुआ करते हैं।

जैसे कि—'भुजङ्गकुण्डली' [illegible] में कुण्डलरूप में सर्पों को धारण करनेवाले, 'व्यक्तशशिशुभ्रांशुशीतगु' (मस्तक पर) स्पष्टरूप से [illegible] 'शशि' अथवा चन्द्र-चिह्न से [illegible] अथवा चन्द्रमा से विभूषित [illegible] शिव वे [illegible] 'जगन्त्यपि सदापायात्' [illegible] अथवा शिव—संसार से रक्षा करें।

यहाँ 'पुनरुक्तवदाभास' है क्योंकि आपाततः 'भुजङ्गकुण्डली' और 'शशि-शुभ्रांशु-शीतगु' [illegible] [illegible] एक ही अर्थ के [illegible] होने से पुनरुक्त से प्रतीत हो रहे हैं। यह तो बाद में होता है कि इन शब्दों के भिन्न भिन्न अर्थ जैसे कि 'भुजङ्गकुण्डली' आदि के 'भुजङ्गरूप कुण्डल जिसके साथ' (भुजङ्गरूप कुण्डलवाले) आदि अर्थ स्पष्ट हो जाते हैं। यहाँ 'सदापायात्' में क्रियावाचक शब्दों के आपाततः

'भुजङ्गकुण्डली' इति शब्दयोः प्रथमस्यैव परिवृत्तिसहत्वम्। 'हरः शिव' इति द्वितीयस्यैव। 'शशिशुभ्रांशु' इति द्वयोरपि। 'भाति सदानत्यागः' इति न द्वयोरपि। इति शब्दपरिवृत्तिसहत्वासहत्वाभ्यामस्योभयालङ्कारत्वम्।

(२—अनुप्रास भेद-प्रभेद-निर्देश)

अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्।

स्वरमात्रसादृश्य तु वैचित्र्याभावान्न गणितम्। रसाद्यनुगतत्वेन प्रकर्षेण न्यासोऽनुप्रासः।

(प्रथम भेद : छेकानुप्रास)

छेको व्यञ्जनसङ्घस्य सकृत्साम्यमनेकधा ॥ ३ ॥

पौनरुक्त्य में भी यही अलङ्कार दिखायी देता है क्योंकि अन्त में 'सदापायादव्यात्' का अभिप्राय 'सदाऽपायात् विघ्नात् अव्यात्' निकल पड़ता है।

यहाँ 'भुजङ्गकुण्डली' इन दो शब्दों मे पहला अर्थात् 'भुजङ्ग' शब्द ही परिवृत्तिसह शब्द है (अर्थात् इसे बदल देने पर भी इस अलङ्कार में कोई क्षति नहीं हो सकती) और 'हर. शिव' में दूसरा अर्थात् 'शिव' शब्द ही बदला जा सकता है (किन्तु तब भी यह अलङ्कार अक्षुण्ण ही रहेगा)।

काव्यप्रकाशकार द्वारा उदाहृत इस सूक्ति अर्थात्—

'अरिवधदेहशरीर सहसारथिसूततुरगपादात।
भाति सदानत्याग. स्थिरतायामवनितलतिलक ॥'

में 'भाति सदानत्याग' में दान और त्याग—दोनों शब्द ऐसे हैं जिनका पर्याय द्वारा परिवर्तन नहीं किया जा सकता क्योंकि ऐसा करने से यहाँ इस अलङ्कार के ही नष्ट-भ्रष्ट हो जाने का डर है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यह अलङ्कार शब्द और अर्थ—दोनों का अलङ्कार है—शब्द का अलङ्कार इसलिये क्योंकि कहीं शब्द की परिवृत्ति में यह अलङ्कार नष्ट हो जाता है और अर्थ का अलङ्कार इसलिये क्योंकि कहीं शब्द की परिवृत्ति से भी इस अलङ्कार का स्वरूप नहीं बिगड़ता (जैसा कि उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट ही है)।

विमर्श—'पुनरुक्तवदाभास' से शब्दालङ्कार-वर्णन क प्रारम्भ की परिपाटी प्राचीन है। साहित्यदर्पणकार ने भी प्राचीन आलङ्कारिकों की परम्परा का अनुसरण किया है। यहाँ भी 'काव्यप्रकाशकार' की एक प्रकार से आलोचना ही का गयी है।

अनुवाद—'अनुप्रास' वह शब्दालङ्कार है जिसे स्वर के वैसादृश्य में भी, शब्द अथवा व्यञ्जन का सादृश्य कहा गया है।

स्वरमात्र के सादृश्य में 'अनुप्रास' इसलिये नहीं माना जाया करता क्योंकि स्वर-सादृश्य में कोई विचित्रता नहीं प्रतीत हुआ करती। 'अनुप्रास' को इसलिये अनुप्रास कहा करते हैं क्योंकि यह रसभावादि के अनुकूल एक 'प्रकृष्ट' अथवा चमत्कारपूर्ण शब्द-न्यास (अनु+प्र+आस) अथवा शब्दावृत्तिरूप अलङ्कार हुआ करता है।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार ने 'शब्दसाम्य' को अनुप्रास की रूपरेखा कहा है जब कि काव्यप्रकाशकार के अनुसार अनुप्रास का अभिप्राय 'वर्णसाम्य' है—**वर्णसाम्यमनुप्रास।**

(काव्यप्रकाश ९म उल्लास)

अनुवाद—अनुप्रास का प्रथम भेद अर्थात् 'छेकानुप्रास' वह है जिसे व्यञ्जन समुदाय के सकृत् अथवा एक बार होनेवाले अनेक प्रकार के साम्य में देखा जाया करता है।

छेकश्छेकानुप्रासः। अनेकधेति स्वरूपतः क्रमतश्च। रसः सर इत्यादौ क्रमभेदेन सादृश्यं नास्यालङ्कारस्य विषयः।

उदाहरणं मम तातपादानाम्—

'आदाय बकुलगन्धानन्धीकुर्वन् पदे पदे भ्रमरान्।
अयमेति मन्दमन्दं कावेरीवारिपावनः पवनः॥'

अत्र गन्धानन्धीति संयुक्तयोः, कावेरीवारीत्यसंयुक्तयोः, पावनः पवन इति व्यञ्जनानां बहूनां सकृदावृत्तिः। छेको विदग्धस्तत्प्रयोज्यत्वादेष छेकानुप्रासः।

(द्वितीय भेद। वृत्त्यनुप्रास)

अनेकस्यैकधा साम्यमसकृद्वाप्यनेकधा।
एकस्य सकृदप्येष वृत्त्यनुप्रास उच्यते॥ ४॥

एकधा स्वरूपत एव, न तु क्रमतोऽपि। अनेकधा स्वरूपतः क्रमतश्च। सकृदपीत्यपि शब्दादसकृदपि।

उदाहरणम्—

'उन्मीलन्मधुगन्धलुब्धमधुपव्याधूतचूताङ्कुर-
क्रीडत्कोकिलकाकलीकलकलैरुद्गीर्णकर्णज्वराः।

यहाँ कारिका में 'छेक' का अभिप्राय छेकानुप्रास का अभिप्राय है 'अनेकधा' (साम्य) का तात्पर्य स्वरूपतः साम्य और क्रमतः साम्य का तात्पर्य है। यहाँ यह ध्यान रखना उचित है कि 'रसः सरः' आदि पदों में क्रमभेद से जो व्यञ्जनसादृश्य है उसमें 'छेकानुप्रास' की कोई संभावना नहीं।

जैसे कि मेरे पूज्य पितृचरण की इस सूक्ति का 'छेकानुप्रास'—

'कावेरी के जल-संस्पर्श से पावन पवन मन्द-मन्द गति से चल रहा है और बकुल की सुरभि से सुरभित बना पग-पग पर भ्रमरों को मस्त बना रहा है।'

यहाँ 'गन्धानन्धीकुर्वन्' में संयुक्त 'न्ध्' 'कावेरीवारि' में असंयुक्त 'वार' और 'पावनः पवनः' में अनेक असंयुक्त व्यञ्जनों (प-व-न) की जो एक बार आवृत्ति है उसमें 'छेक' अथवा विदग्ध कवि द्वारा प्रयुक्त इस अनुप्रास अर्थात् 'छेकानुप्रास' की छटा वस्तुतः दर्शनीय है।

अनुवाद—द्वितीय अनुप्रास-भेद अर्थात् वृत्त्यनुप्रास वह शब्दालङ्कार है जिसे अनेक व्यञ्जनों की एक प्रकार की (अर्थात् स्वरूपतः) समानता अथवा अनेक व्यञ्जनों की अनेक बार (स्वरूपतः और क्रमतः) आवृत्ति या एक वर्ण की एक बार किंवा अनेक बार आवृत्ति कहा करते हैं।

यहाँ कारिका में 'एकधा' (साम्य) का तात्पर्य केवल 'स्वरूपतः' (साम्य) का तात्पर्य है क्रमतः (साम्य) का नहीं। 'अनेकधा' (साम्य) का अभिप्राय स्वरूप और क्रम—दोनों प्रकार के साम्य का अभिप्राय है और 'सकृदपि' में 'अपि' शब्द के प्रयोग से 'असकृत्' (अनेक बार) का भी अर्थ संगृहीत किया गया है।

उदाहरण के लिये—

'वसन्त ऋतु के ये दिन जो कि प्रचुर मात्रा में समुद्गत पुष्परस के सौरभ से मत्त मधुपों द्वारा कम्पित आम्रमञ्जरियों के आस्वाद में लीन कोकिलकुल की काकली की

नीयन्ते पथिकैः कथं कथमपि ध्यानावधानक्षण-
प्राप्तप्राणसमासमागमरसोल्लासैरमी वासराः ॥'

अत्र 'रसोल्लासैरमी' इति रसयोरेकधैव साम्यम्, न तु तेनैव क्रमेणापि द्वितीये पादे, कलयोरसकृत्तेनैव क्रमेण च। प्रथमे एकस्य मकारस्य सकृत्, धकारस्य चासकृत्। रसविषयव्यापारवती वर्णरचना वृत्तिः, तदनुगतत्वेन प्रकर्षेण न्यसनाद् वृत्त्यनुप्रासः।

(३ य भेद : श्रुत्यनुप्रास)

उच्चार्यत्वाद्यदेकत्र स्थाने तालुरदादिके।
सादृश्यं व्यञ्जनस्यैव श्रुत्यनुप्रास उच्यते ॥ ५ ॥

उदाहरणम्—

'दृशा दग्धं मनसिजं जीवयन्ति दृशैव याः।
विरूपाक्षस्य जयिनीस्ताः स्तुमो वामलोचनाः ॥'

अत्र जीवयन्ति' इति, 'याः' इति, 'जयिनी' इति। अत्र जकारयकारयोरेकत्र स्थाने तालावुच्चार्यत्वात्सादृश्यम्। एवं दन्त्यकण्ठ्यानामप्युदाहार्यम्। एष च सहृदयानामतीव श्रुतिसुखावहत्वाच्छ्रुत्यनुप्रास'।

कलध्वनि से विरहिओं के कानों को दु खित कर रहे हैं, वस्तुत. उन वियोगिओं के लिये, जिन्हें प्रियाचिन्तन के समय प्रियामिलन का परमानन्द मिलने लगता है, बड़े कष्टकर प्रतीत हो रहे हैं।

यहाँ 'रसोल्लासैरमी' में 'र-स' का एक प्रकार का ही अर्थात् स्वरूपत ही साम्य दिखायी देता है क्रमत' नहीं। इसके दूसरे चरण में 'क ल' की, अनेक वार, स्वरूपत किंवा क्रमश.-दोनों प्रकार की समानता है। साथ ही साथ प्रथम चरण में 'म' की एक वार और 'ध' की अनेक वार आवृत्ति स्पष्ट है। इस प्रकार इस सूक्ति में वृत्त्यनुप्रास का सौन्दर्य स्पष्ट दिखायी दे रहा है। इस अनुप्रासभेद के वृत्त्यनुप्रास कहे जाने का यह अभिप्राय है—'वृत्ति' एक ऐसी रचना है जिसमें रसाभिव्यञ्जन का सामर्थ्य रहा करता है और इस 'वृत्ति' के अनुकूल वर्णों का जो प्रकृष्ट न्यास है वह 'वृत्त्यनुप्रास' है।

अनुवाद—'श्रुत्यनुप्रास' वह अनुप्रासभेद है जिसे तालु, दन्त आदि स्थानों में से किसी एक स्थान में उच्चरित व्यञ्जनों का सादृश्य कहा जाया करता है। उदाहरण के लिये—

'उन वामलोचनाओं (सुन्दर नयनोंवाली रमणिओं) को नमस्कार है जो कि दग्ध काम को दृष्टि से ही पुनरुज्जीवित किया करती हैं और इस प्रकार विरूपाक्ष भगवान् शिव को भी जीतनेवाली हैं।'

यहाँ 'श्रुत्यनुप्रास' स्पष्ट है क्योंकि 'जीवयन्ति', 'या' और 'जयिनी.' में ऐसे 'ज' और 'य' वर्णों का सादृश्य है जो कि तालु-स्थानीय हैं।

इसी प्रकार दन्तस्थानीय, कण्ठस्थानीय आदि वर्णों के सादृश्य में श्रुत्यनुप्रास के स्वरूप स्वय देखे जा सकते हैं।

इस अनुप्रास-प्रकार को इसलिये 'श्रुत्यनुप्रास' कहा जाया करता है क्योंकि समान स्थानीय वर्णों का सादृश्य सहृदयों को बड़ा श्रुतिसुखावह (कर्ण-प्रिय) लगा करता है।

अत्रानेकपदानां पौनरुक्त्यम्। एष च प्रायेण लाटजनप्रियत्वाल्लाटानुप्रासः।

—ऽनुप्रासः पञ्चधा ततः ॥ ७ ॥

स्पष्टम्।

(१—यमक)

सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यञ्जनसंहतेः।

क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते ॥ ८ ॥

अत्र द्वयोरपि पदयोः क्वचित्सार्थकत्वं क्वचिन्निरर्थकत्वम्। क्वचिदेकस्य सार्थकत्वमपरस्य निरर्थकत्वम्। अत उक्तम्—'सत्यर्थे' इति। 'तेनैव क्रमेण' इति दमो मोद इत्यादेर्विविक्तविषयत्वं सूचितम्। एतच्च पादपादार्धश्लोकावृत्तित्वेन पादाद्यावृत्तेश्चानेकविधतया प्रभूततममेदम्।

हव्यवाहन (कामाग्नि) है और जिसके पास प्रेमिका है उसके लिये हव्यवाहन (दावानल) भी तुहिनदीधिति (चन्द्रमा) है।

यहाँ अनेक पदों की आवृत्ति का सौन्दर्य दर्शनीय है जिससे यहाँ का 'लाटानुप्रास' बड़ा मनोरम बन रहा है। यह अनुप्रासभेद इसलिये 'लाटानुप्रास' कहा जाया करता है क्योंकि लाटदेश के कविजनों का यह बड़ा प्रिय अनुप्रास है।

इस उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि अनुप्रास पाँच प्रकार का हुआ करता है (अर्थात् १ छेकानुप्रास २ वृत्त्यनुप्रास ३ श्रुत्यनुप्रास ४ अन्त्यानुप्रास और ५ लाटानुप्रास)।

यह कारिकांश स्वयं स्पष्ट है।

विमर्श—लाटानुप्रास वह अनुप्रासप्रकार है जिसे 'लाटजनवल्लभ' अर्थात् लाटमान्त के कवियों और रसिकों का परमप्रिय अनुप्रास कहा गया है। प्राचीन आलंकारिकों ने इसके भी अनेकानेक भेद प्रभेद बताये हैं। सरस्वतीकण्ठाभरणकार ने इसके प्रकार-चतुष्क का निरूपण किया है—

'स वाक्यघटितो व्यस्तः समस्त उभयः पुनः।
उभयं चावृत्ताक्षं च गर्भश्चैवाभिधीयते ॥'

(सरस्वतीकण्ठाभरण २ । १२)

और इसकी अवान्तर जातियों को यमक-जातियों की भाँति प्रचुर संख्यावाली बताया है—

'यमकानां हि यावन्तो वर्ण्यन्ते भेदसम्पदः।
अनुप्रासस्य लाटानां मिदास्तावन्त एव हि ॥'

(सरस्वतीकण्ठाभरण २ । १५)

अनुवाद—'यमक' वह शब्दालंकार है जिसे, सार्थक होने पर भिन्न अर्थवाले स्वर व्यञ्जन-समूह की पूर्वक्रमानुसार आवृत्ति कहा करते हैं।

यहाँ कारिका में सत्यर्थे (अर्थे सति सार्थक होने पर) इसलिये कहा गया है क्योंकि 'यमक' में ऐसा होता है कि कहीं-कहीं तो दोनों पद सार्थक हुआ करते हैं और कहीं-कहीं दोनों निरर्थक और कहीं-कहीं ऐसा भी हुआ करता है कि एक पद तो सार्थक रहा करता है और दूसरा निरर्थक। 'तेनैव क्रमेण (पूर्वक्रमानुसार) कहने का यह अभिप्राय है कि 'दमो मोदः' सदृश स्वर-व्यंजन-समूह की आवृत्ति को 'यमक' न समझा जाय क्योंकि

(पदावृत्तिरूप यमक)

दिङ्मात्रमुदाह्रियते—

'नवपलाश-पलाशवनं पुरः स्फुटपराग-परागत-पङ्कजम् ।
मृदुल तान्त-लतान्तमलोकयत् स सुरभिं सुरभिं सुमनोभरैः ॥'

अत्र पदावृत्तिः। 'पलाशपलाश' इति 'सुरभि सुरभिम्' इत्यत्र च द्वयोः सार्थकत्वम्। 'लतान्तलतान्त' इत्यत्र प्रथमस्य निरर्थकत्वम्। 'परागपराग' इत्यत्र द्वितीयस्य। एवमन्यत्राऽप्युदाहार्यम्।

'यमकादौ भवेदैक्यं डलोर्बवोर्लरोस्तथा ।'

इत्युक्तनयात् 'भुजलता जडतामबलाजनः' इत्यत्र न यमकत्वहानिः।

यहाँ 'द' और 'म' रूप स्वर-व्यजन समूह का क्रम उलटा हुआ दिखायी दे रहा है। 'यमक' की भेदसंख्या अतिप्रचुर है क्योंकि पादावृत्ति, पादार्धावृत्ति, श्लोकावृत्ति आदि-आदि प्रकार की आवृत्तियाँ 'यमक' की ही विविध रूपरेखायें हैं और इनमें भी प्रत्येक के अनेकानेक प्रकार (जैसे कि पाद के आद्यभाग की आवृत्ति, मध्यभाग की आवृत्ति और अन्त्यभाग की आवृत्ति आदि-आदि) सभव हैं (जोकि काव्य-साहित्य में उपलब्ध भी हुआ करते हैं)।

दिग्दर्शनमात्र के लिये उदाहरण :—

'श्रीकृष्ण ने 'सुमनोभरै सुरभिं सुरभिम्' फूलों से सुरभित उस 'सुरभि' अर्थात् वसन्त समय का दर्शन किया जो 'नवपलाशपलाशवनम्' नये-नये पलाशों अर्थात् किसलयों से लहलहाते पलाशवन के सौन्दर्य से समृद्ध, 'स्फुटपरागपरागतपङ्कजम्'—खिले हुए और पराग अर्थात् पुष्परज से परागत अथवा व्याप्त कमलों की मोहकता से मधुर और 'मृदुलतान्तलतान्तम्'—मृदुल अर्थात् सुकुमार किंवा तान्त अथवा आतप से सतप्त लताओं की कोमलता से रमणीय लग रहा था।'

यहाँ जो 'यमक' है वह 'पदावृत्ति'प्रकार का है क्योंकि 'पलाश', 'पराग', 'मृदुल' आदि पदों की आवृत्ति स्पष्ट दिखाई दे रही है।

यहाँ 'पलाश-पलाश', 'सुरभिं सुरभिम्' ये दोनों पद ऐसे हैं जो सार्थक हैं। किन्तु 'लतान्त लतान्त'—में पहला 'लतान्त' निरर्थक है [क्योंकि यहाँ जो पद है वह 'लतान्त' नहीं अपितु 'मृदुल'–'तान्त' है)। इसी प्रकार 'पराग पराग' में दूसरा जो 'पराग' पद है वह कोई अर्थ नहीं रखता (क्योंकि यहाँ पद 'पराग' नहीं अपितु 'परागत' है)।

इसी भाँति 'पादावृत्ति' आदि यमक प्रकारों में सार्थक अथवा निरर्थक स्वर-व्यजन-समुदाय की आवृत्ति के उदाहरण स्वय ढूँढ लिये जा सकते हैं।

'यमक में 'ड' और 'ल', 'व' और 'ब' किंवा 'र' और 'ल' वर्णों में कोई भेद नहीं माना जाया करता'—यह एक सर्वमान्य आलकारिक सिद्धान्त है। इसलिये 'भुजलतां जडतामबलाजन' आदि प्रसगों में यमक बन्ध में कोई क्षति नहीं मानी जाती।

विमर्श—यमक का अवान्तर जातियों की सख्या के सबध में सरस्वतीकण्ठाभरणकार का यह कथन है—

'चतुस्त्रिद्व्येकपादेषु यमकानां विकल्पना ।
आदिमध्यान्तमध्यान्तमध्याद्यन्ताश्च सर्वत ॥

अत्रानेकपदानां पौनरुक्त्यम्। एष च प्रायेण लाटजनप्रियत्वाल्लाटानुप्रासः।

—ऽनुप्रासः पञ्चधा ततः ॥ ७ ॥

स्पष्टम्।

(१—यमक)

सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यञ्जनसंहतेः।
क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते ॥ ८ ॥

अत्र द्वयोरपि पदयोः क्वचित्सार्थकत्वं क्वचिन्निरर्थकत्वम्। क्वचिदेकस्य सार्थकत्वमपरस्य निरर्थकत्वम्। अत उक्तम्—'सत्यर्थे' इति। 'तेनैव क्रमेण' इति दमो मोद इत्यादेर्विविक्तविषयत्वं सूचितम्। एतच्च पादपादार्धश्लोकावृत्तित्वेन पादाद्यावृत्तेश्चानेकविधतया प्रभूततमभेदम्।

इन्दुवदन (दावाग्नि) है और जिसके पास प्रेमिका है उसके लिये इन्दुवदन (दावानल) भी तुहिनदीधिति (चन्द्रमा) है।

यहाँ अनेक पदों की आवृत्ति का सौन्दर्य दर्शनीय है जिससे यहाँ का 'लाटानुप्रास' बड़ा मनोरम बन रहा है। यह अनुप्रासभेद इसलिये 'लाटानुप्रास' कहा जाया करता है क्योंकि लाटदेश के कविजनों का यह बड़ा प्रिय अनुप्रास है।

इस उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि अनुप्रास पाँच प्रकार का हुआ करता है (अर्थात् १ छेकानुप्रास २. वृत्त्यनुप्रास ३. श्रुत्यनुप्रास ४ अन्त्यानुप्रास और ५ लाटानुप्रास)।

यह कारिकांश स्वयं स्पष्ट है।

विमर्श—लाटानुप्रास वह अनुप्रासप्रकार है जिसे 'लाटजनवल्लभ' अर्थात् लाटप्रान्त के कवियों और रसिकों का परमप्रिय अनुप्रास कहा गया है। प्राचीन आलंकारिकों ने इसके भी अनेकानेक भेद-प्रभेद बताये हैं। सरस्वतीकण्ठाभरणकार ने इसके प्रकार-पञ्चक का निरूपण किया है—

'स वाच्यवाहितो व्यस्तः समस्तः समयः पुनः।
यमकं चक्रवाकं च गर्भश्चैवाभिधीयते ॥

(सरस्वतीकण्ठाभरण २. १ १)

और इसकी अवान्तर जातियों की यमक-जातियों की भाँति प्रचुर संख्या बतायी गया है—

'यमकानां हि यावन्त्यो यथोक्ते भेदसंख्यया।
अनुप्रासस्य लाटानां विधास्तावत्य एव हि ॥

(सरस्वतीकण्ठाभरण २. १ ५)

अनुवाद—'यमक' वह शब्दालंकार है जिसे, सार्थक होने पर भिन्न अर्थवाले स्वर व्यंजन-समूह की पूर्वक्रमानुसार आवृत्ति कहा करते हैं।

यहाँ कारिका में सत्यर्थे (अर्थे सति सार्थक होने पर) इसलिये कहा गया है क्योंकि 'यमक' में ऐसा होता है कि कहीं-कहीं तो दोनों पद सार्थक हुआ करते हैं और कहीं-कहीं दोनों निरर्थक और कहीं-कहीं ऐसा भी हुआ करता है कि एक पद तो सार्थक रहा करता है और दूसरा निरर्थक। 'तेनैव क्रमेण' (पूर्वक्रमानुसार) कहने का यह अभिप्राय है कि 'दमो' [illegible] यद्यपि स्वर-व्यञ्जन-समूह की आवृत्ति को 'यमक' न समझा जाय क्योंकि

(पदावृत्तिरूप यमक)

दिङ्मात्रमुदाह्रियते—

'नवपलाश-पलाशवनं पुरः स्फुटपराग-परागत-पङ्कजम् ।
मृदुल तान्त-लतान्तमलोकयत् स सुरभिं सुरभिं सुमनोभरैः ॥'

अत्र पदावृत्तिः । 'पलाशपलाश' इति 'सुरभिं सुरभिम्' इत्यत्र च द्वयोः सार्थकत्वम् । 'लतान्तलतान्त' इत्यत्र प्रथमस्य निरर्थकत्वम् । 'परागपराग' इत्यत्र द्वितीयस्य । एवमन्यत्राऽप्युदाहार्यम् ।

'यमकादौ भवेदैक्य डलोर्बवोर्लरोस्तथा ।'

इत्युक्तनयात् 'भुजलता जडतामबलाजनः' इत्यत्र न यमकत्वहानिः ।

यहाँ 'द' और 'म' रूप स्वर-व्यजन समूह का क्रम उलटा हुआ दिखायी दे रहा है । 'यमक' की भेदसख्या अतिप्रचुर है क्योंकि पादावृत्ति, पादार्धावृत्ति, श्लोकावृत्ति आदि-आदि प्रकार की आवृत्तियाँ 'यमक' की ही विविध रूपरेखायें हैं और इनमें भी प्रत्येक के अनेकानेक प्रकार (जैसे कि पाद के आद्यभाग की आवृत्ति, मध्यभाग की आवृत्ति और अन्त्यभाग की आवृत्ति आदि-आदि) सभव हैं (जोकि काव्य-साहित्य में उपलब्ध भी हुआ करते हैं) ।

दिग्दर्शनमात्र के लिये उदाहरण —

'श्रीकृष्ण ने 'सुमनोभरै सुरभिं सुरभिम्' फूलों से सुरभित उस 'सुरभि' अर्थात् वसन्त समय का दर्शन किया जो 'नवपलाशपलाशवनम्' नये-नये पलाशों अर्थात् किसलयों से लहलहाते पलाशवन के सौन्दर्य से समृद्ध, 'स्फुटपरागपरागतपङ्कजम्'—खिले हुए और पराग अर्थात् पुष्परज से परागत अथवा व्याप्त कमलों की मोहकता से मधुर और 'मृदुलतान्तलतान्तम्'—मृदुल अर्थात् सुकुमार किंवा तान्त अथवा आतप से सतप्त लताओं की कोमलता से रमणीय लग रहा था ।'

यहाँ जो 'यमक' है वह 'पदावृत्ति'प्रकार का है क्योंकि 'पलाश', 'पराग', 'मृदुल' आदि पदों की आवृत्ति स्पष्ट दिखाई दे रही है ।

यहाँ 'पलाश-पलाश', 'सुरभिं सुरभिम्' ये दोनों पद ऐसे हैं जो सार्थक हैं । किन्तु 'लतान्त लतान्त'—में पहला 'लतान्त' निरर्थक है [क्योंकि यहाँ जो पद है वह 'लतान्त' नहीं अपितु 'मृदुल'-'तान्त' है)। इसी प्रकार 'पराग पराग' में दूसरा जो 'पराग' पद है वह कोई अर्थ नहीं रखता (क्योंकि यहाँ पद 'पराग' नहीं अपितु 'परागत' है) ।

इसी भाँति 'पादावृत्ति' आदि यमक-प्रकारों में सार्थक अथवा निरर्थक स्वर-व्यजन-समुदाय की आवृत्ति के उदाहरण स्वयं ढूँढ लिये जा सकते हैं ।

'यमक में 'ड' और 'ल', 'ब' और 'व' किंवा 'र' और 'ल' वर्णों में कोई भेद नहीं माना जाया करता'—यह एक सर्वमान्य आलकारिक सिद्धान्त है । इसलिये 'भुजलता जडतामबलाजन ' आदि प्रसगों में यमक बन्ध में कोई क्षति नहीं मानी जाती ।

विमर्श—यमक का अवान्तर जातियों की सख्या के सबध में सरस्वतीकण्ठाभरणकार का यह कथन है—

'चतुस्त्रिद्व्येकपादेषु यमकानां विकल्पना ।
आदिमध्यान्तमध्यान्तमध्याद्यन्ताश्च सर्वत ॥

(चर्तुर्थ भेद : अन्त्यानुप्रास)

व्यञ्जनं चेद्यथावस्थं सहाद्येन स्वरेण तु ।
आवर्त्यतेऽन्त्ययोज्यत्वादन्त्यानुप्रास एव तत् ॥ ६ ॥

यथावस्थमिति यथासम्भवमनुस्वारविसर्गस्वरयुक्ताक्षरविशिष्टम् ।
एष च प्रायेण पादस्य पदस्य चान्ते प्रयोज्यः ।

पादान्तगो यथा मम—

'केशः काशस्तबकविकासः कायः प्रकटितकरभविलासः ।
चक्षुर्दग्धवराटककल्पं त्यजति न चेतः काममनल्पम् ॥'

'मन्दं हसन्तः पुलकं वहन्तः' इत्यादि ।

विमर्श—काव्यप्रकाश में 'श्रुत्यनुप्रास' की कोई चर्चा नहीं। कविराज विश्वनाथ ने संभवतः सरस्वतीकण्ठाभरणकार के प्रभाव में पड़कर इसकी चर्चा की है। सरस्वतीकण्ठाभरणकार के अनुसार 'श्रुत्यनुप्रास' सर्वश्रेष्ठ अनुप्रास है—

'प्रायेण श्रुत्यनुप्रासस्तेष्वनुप्रासमापकः । तस्यायेव हि वैदर्भी भाति तेन विभिविता ॥
निवेशयति वाग्देवी प्रतिभावतः कवेः । पुण्यैरनुमनुप्रासं ससमाधिमिति चेतसि ॥'
(सरस्वतीकण्ठाभरण २ ७९-८१)

अर्थात् अनुप्रास-प्रकारों में सर्वोत्तम जो अनुप्रास है वह 'श्रुत्यनुप्रास' है। यह अनुप्रास प्रतिभाशाली कवि की मन-समाधि का परिणाम है। यही वह अनुप्रास है जिसे 'वैदर्भी' की रूपरेखा का निष्पादक कहा जा सकता है।

सरस्वतीकण्ठाभरणकार ने इस अनुप्रास-प्रकार के अनेकानेक अवान्तर प्रभेदों का निर्देश किया है जिनमें मसृण, वर्णसम्, वर्णोत्कट वर्णानुत्कट आदि-आदि मुख्य हैं।

निम्न पंक्तियों में इस अनुप्रास-प्रकार की महिमा गायी हुई है—

'यथा ज्योत्स्ना चन्द्रमसं यथा लावण्यमङ्गनाम् । अनुप्रासस्तथा काव्यमलङ्कर्तुमयं क्षमः ॥
अनुप्रासः कविगिरां पदवर्णमयोऽपि यः । सोऽप्ययमेव स्तबकिता श्रियं कामपि पुष्यति ॥'
(सरस्वतीकण्ठाभरण २. ७९-८०)

अनुवाद—चतुर्थ अनुप्रास-भेद अर्थात् अन्त्यानुप्रास वह है जिसे प्रथम स्वर के साथ यथावस्थ व्यञ्जन की ऐसी आवृत्ति में देखा जाया करता है जोकि पद अथवा पाद के अन्त में हुआ करती है।

यहाँ कारिका में 'यथावस्थम्' का अभिप्राय अनुस्वार विसर्ग किंवा स्वरयुक्त अक्षर के यथासम्भव पूर्ववत् रहने का अभिप्राय है। यह अन्त्यानुप्रास प्रायः पाद के अन्त में अथवा जहाँ-तहाँ पद के अन्त में भी प्रयुक्त हुआ करता है।

उदाहरण के लिये पादान्तवर्ती अन्त्यानुप्रास जोकि मेरी इस स्वरचित सूक्ति अर्थात्—'केश हैं कास के फूल सरीखे श्वेत काय है करभ अथवा ऊँट के समान बेढंगा और आँखें हैं जली कौड़ी की भाँति निस्तेज। किन्तु मन अभी भी विषय-तृष्णा में रम रहा है।'

अथवा

'मन्दं हसन्तः पुलकं वहन्तः' आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति में स्पष्ट है।

विमर्श—'अन्त्यानुप्रास' की मान्यता में 'विश्वनाथ कविराज ने सम्भवतः संस्कृत-

(५ म भेद · लाटानुप्रास)

शब्दार्थयोः पौनरुक्त्यं भेदे तात्पर्यमात्रतः ।
लाटानुप्रास इत्युक्तो—

उदाहरणम्—

स्मेरराजीवनयने नयने किं निमीलिते ।
पश्य निर्जितकन्दर्पं कन्दर्पवशगं प्रियम् ॥

अत्र विभक्त्यर्थस्य पौनरुक्त्येऽपि मुख्यतरस्य प्रातिपदिकांशद्योत्यधर्मिरूपस्य भिन्नार्थत्वाल्लाटानुप्रासत्वमेव ।

'नयने तस्यैव नयने च ।'

अत्र द्वितीयनयनशब्दो भाग्यवत्त्वादिगुणविशिष्टत्वरूपतात्पर्यमात्रेण भिन्नार्थः ।

यथा वा—

'यस्य न सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य ।
यस्य च सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य ॥'

संस्कृत कवियों की रचनाओं के माधुर्य का विश्लेषण किया है। पीयूषवर्ष जयदेव-कृत 'चन्द्रालोक' में एक अनुप्रास-प्रकार को 'स्फुटानुप्रास' कहा गया है—

'श्लोकस्याद्ये तदर्धे वा वर्णावृत्तिर्यदि ध्रुवा । तदा मता मतिमतां स्फुटानुप्रासता सताम् ॥'

अर्थात् श्लोक के पूर्वार्द्ध के अन्त में आनवाले वर्ण की, श्लोक के उत्तरार्ध के अन्त में, आवृत्ति का नाम 'स्फुटानुप्रास' है किन्तु, विश्वनाथ कविराज का 'अन्त्यानुप्रास' और पीयूषवर्ष जयदेव का 'स्फुटानुप्रास' वस्तुत एक ही अनुप्रास-भेद के दो नाम हैं।

अनुवाद—**'लाटानुप्रास'** वह अनुप्रासभेद है जिसे ऐसे शब्दों और अर्थों की आवृत्ति कहा करते हैं जोकि केवल तात्पर्यंत भिन्न हुआ करते हैं। उदाहरण के लिये—

'अरी 'स्मेरराजीवनयने' (खिले कमल सरीखे नेत्रोंवाली) ! 'नयने किं निमीलिते'—(तूने अपने नेत्र क्यों बन्द कर लिये हैं ?) देख, अपने 'निर्जितकन्दर्प' (काम को भी सौंदर्य में परास्त करनेवाले) 'कन्दर्पवशग' (काम के वशीभूत) प्रियतम को तो देख !'

यहाँ विभक्त्यर्थ की आवृत्ति के न होने पर भी, प्रातिपदिक रूप अंशों जैसे कि 'नयन-नयन', 'कन्दर्प-कन्दर्प' आदि की आवृत्ति स्पष्ट है और यह भी स्पष्ट है कि प्रातिपदिक रूप अंशों द्वारा बोध्य प्रधानभूत धर्मीरूप (नेत्र और काम) अर्थ अभिन्न है (तथा तात्पर्यंत भिन्न भी है) इस प्रकार यहाँ 'लाटानुप्रास' स्पष्ट है।

अथवा

जैसे कि—'नयने तस्यैव नयने च' (वस्तुत उसी की आँखें आँखें हैं)।

यहाँ 'नयने-नयने' में विभक्त्यर्थ भी आवृत्त है और दूसरा नयन शब्द तात्पर्यंत भिन्न अर्थ का भी उपस्थापक है क्योंकि इसमें भाग्यशीलता आदि गुणों की विशेषता का अभिप्राय निगूढ है। इस प्रकार यह 'लाटानुप्रास' का एक सर्वांग समीचीन उदाहरण है।

अथवा

जैसे कि—'जिसके पास प्रेमिका नहीं उसके लिये तुहिनदीधिति (चन्द्रमा) भी

अत्रानेकपदानां पौनरुक्त्यम्। एष च प्रायेण लाटजनप्रियत्वाल्लाटानुप्रासः।

—ऽनुप्रासः पञ्चधा ततः ॥ ७ ॥

स्पष्टम्।

(१—यमक)

सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यञ्जनसंहतेः।
क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते ॥ ८ ॥

अत्र द्वयोरपि पदयोः क्वचित्सार्थकत्वं क्वचिन्निरर्थकत्वम्। क्वचिदेकस्य सार्थकत्वमपरस्य निरर्थकत्वम्। अत उक्तम्—'सत्यर्थे' इति। 'तेनैव क्रमेण' इति दमो मोद इत्यादेर्विविक्तविषयत्वं सूचितम्। एतच्च पादपादार्धश्लोकावृत्तित्वेन पादावृत्तेश्चानेकविधतया प्रभूततमभेदम्।

हव्यवहन (बाडाग्नि) है और जिसके पास प्रेमिका है उसके लिये हव्यवहन (दावानल) भी तुहिनदीधिति (चन्द्रमा) है।

यहाँ अनेक पदों की आवृत्ति का सौन्दर्य दर्शनीय है जिससे यहाँ का 'लाटानुप्रास' बड़ा मनोरम बन रहा है। यह अनुप्रासभेद इसलिये 'लाटानुप्रास' कहा जाया करता है क्योंकि लाटदेश के कवियों का यह बड़ा प्रिय अनुप्रास है।

इस उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि अनुप्रास पाँच प्रकार का हुआ करता है (अर्थात् १ छेकानुप्रास २. वृत्त्यनुप्रास ३. श्रुत्यनुप्रास ४ अन्त्यानुप्रास और ५. लाटानुप्रास)।

यह कारिकांश स्वयं स्पष्ट है।

विमर्श—लाटानुप्रास वह अनुप्रासप्रकार है जिसे 'लाटजनवल्लभ' अर्थात् लाटप्रान्त के कवियों और रसिकों का परमप्रिय अनुप्रास कहा गया है। प्राचीन आलंकारिकों ने इसके भी अनेकानेक भेद प्रभेद बताये हैं। सरस्वतीकण्ठाभरणकार ने इसके प्रकार-वर्ग का निरूपण किया है—

'स वाक्यपदयोर्व्यस्तः समस्त उभयः पुनः।
यमकं चक्रवाकं च गर्भश्चैवाभिधीयते ॥

(सरस्वतीकण्ठाभरण २ । १ ?)

और इसकी अवान्तर जातियों को यमक-जातियों की भाँति प्रचुर संख्यावाली बताया है—

'यमकानां हि यावन्तो वर्ण्यन्ते भेदभक्तयः।
अनुप्रासस्य लाटानां विद्यास्तावन्त एव हि ॥

(सरस्वतीकण्ठाभरण २ । १ ५)

अनुवाद—'यमक' वह शब्दालंकार है जिसे सार्थक होने पर भिन्न अर्थवाले स्वर व्यंजन-समूह की पूर्वक्रमानुसार आवृत्ति कहा करते हैं।

यहाँ कारिका में सत्यर्थे (अर्थे सति सार्थक होने पर) इसलिये कहा गया है क्योंकि यमक में ऐसा होता है कि कहीं-कहीं तो दोनों पद सार्थक हुआ करते हैं और कहीं-कहीं दोनों निरर्थक और कहीं-कहीं ऐसा भी हुआ करता है कि एक पद तो सार्थक रहा करता है और दूसरा निरर्थक। 'तेनैव क्रमेण' (पूर्वक्रमानुसार) कहने का यह अभिप्राय है कि 'दमो मोदः' सरीखे स्वर-व्यञ्जन-समूह की आवृत्ति को 'यमक' न समझा जाय क्योंकि

(पदावृत्तिरूप यमक)

दिङ्मात्रमुदाह्रियते—

'नवपलाश-पलाशवनं पुरः स्फुटपराग-परागत-पङ्कजम् ।
मृदुल तान्त-लतान्तमलोकयत् स सुरभि सुरभिं सुमनोभरैः ॥'

अत्र पदावृत्तिः। 'पलाशपलाश' इति 'सुरभि सुरभिम्' इत्यत्र च द्वयोः सार्थकत्वम्। 'लतान्तलतान्त' इत्यत्र प्रथमस्य निरर्थकत्वम्। 'परागपराग' इत्यत्र द्वितीयस्य। एवमन्यत्राऽप्युदाहार्यम्।

'यमकादौ भवेदैक्य डलोर्बवोर्लरोस्तथा ।'

इत्युक्तनयात् 'भुजलता जडतामबलाजनः' इत्यत्र न यमकत्वहानिः।

यहाँ 'द' और 'म' रूप स्वर-व्यजन समूह का क्रम उलटा हुआ दिखायी दे रहा है। 'यमक' की भेदसख्या अतिप्रचुर है क्योंकि पादावृत्ति, पादार्धावृत्ति, श्लोकावृत्ति आदि-आदि प्रकार की आवृत्तियाँ 'यमक' की ही विविध रूपरेखायें हैं और इनमें भी प्रत्येक के अनेकानेक प्रकार (जैसे कि पाद के आद्यभाग की आवृत्ति, मध्यभाग की आवृत्ति और अन्त्यभाग की आवृत्ति आदि-आदि) सभव हैं (जोकि काव्य-साहित्य में उपलब्ध भी हुआ करते हैं)।

दिग्दर्शनमात्र के लिये उदाहरण —

'श्रीकृष्ण ने 'सुमनोभरैः सुरभि सुरभिम्' फूलों से सुरभित उस 'सुरभि' अर्थात् वसन्त समय का दर्शन किया जो 'नवपलाशपलाशवनम्' नये-नये पलाशों अर्थात् किसलयों से लहलहाते पलाशवन के सौन्दर्य से समृद्ध, 'स्फुटपरागपरागतपङ्कजम्'—खिले हुए और पराग अर्थात् पुष्परज से परागत अथवा व्याप्त कमलों की मोहकता से मधुर और 'मृदुलतान्तलतान्तम्'—मृदुल अर्थात् सुकुमार किंवा तान्त अथवा आतप से सतप्त लताओं की कोमलता से रमणीय लग रहा था।'

यहाँ जो 'यमक' है वह 'पदावृत्ति'प्रकार का है क्योंकि 'पलाश', 'पराग', 'मृदुल' आदि पदों की आवृत्ति स्पष्ट दिखाई दे रही है।

यहाँ 'पलाश-पलाश', 'सुरभि सुरभिम्' ये दोनों पद ऐसे हैं जो सार्थक हैं। किन्तु 'लतान्त लतान्त'—में पहला 'लतान्त' निरर्थक है [क्योंकि यहाँ जो पद है वह 'लतान्त' नहीं अपितु 'मृदुल'–'तान्त' है)। इसी प्रकार 'पराग-पराग' में दूसरा जो 'पराग' पद है वह कोई अर्थ नहीं रखता (क्योंकि यहाँ पद 'पराग' नहीं अपितु 'परागत' है)।

इसी भाँति 'पादावृत्ति' आदि यमक-प्रकारों में सार्थक अथवा निरर्थक स्वर-व्यजन-समुदाय की आवृत्ति के उदाहरण स्वय ढूँढ लिये जा सकते हैं।

'यमक में 'ड' और 'ल', 'व' और 'व' किंवा 'र' और 'ल' वर्णों में कोई भेद नहीं माना जाया करता'—यह एक सर्वमान्य आलकारिक सिद्धान्त है। इसलिये 'भुजलता जडतामवलाजन' आदि प्रसगों में यमक वन्ध में कोई क्षति नहीं मानी जाती।

विमर्श—यमक का अवान्तर जातियों की सख्या के सबध में सरस्वतीकण्ठाभरणकार का यह कथन है—

'चतुस्त्रिद्व्येकपादेषु यमकानां विकल्पना ।
आदिमध्यान्तमध्यान्तमध्याद्यन्ताश्च सर्वत ॥

(७—वक्रोक्ति)

अन्यस्यान्यार्थकं वाक्यमन्यथा योजयेद्यदि ।
अन्यः श्लेषेण काक्वा वा सा वक्रोक्तिस्ततो द्विधा ॥ ९ ॥

द्विधेति श्लेषवक्रोक्तिः काकुवक्रोक्तिश्च । क्रमेणोदाहरणम्—

(श्लेषवक्रोक्ति । सभङ्ग और अभङ्ग श्लेषवक्रोक्ति)

'के यूयं स्थल एव सम्प्रति वयं प्रश्नो विशेषाश्रयः
किं ब्रूते विहगः स वा फणिपतिर्यत्रास्ति सुप्तो हरिः ।
वामा यूयमहो विडम्बरसिकः कीदृक् स्मरो वर्तते
येनास्मासु विवेकशून्यमनसः पुंस्वेव योषिद्भ्रमः ॥'

अत्र विशेषपदस्य 'विः पक्षी', 'शेषो नागः' इत्यर्थद्वययोग्यत्वात् सभङ्गश्लेषः । अन्यत्र त्वभङ्गः ।

(काकुवक्रोक्ति)

'काले कोकिलवाचाले सहकारमनोहरे ।
कृतागसः परित्यागात्तस्याश्चेतो न दूयते ॥'

अत्यन्तबहवस्तेषां भेदाः संभेदयोनयः ।
मुक्त्वा मुक्तामणीनेव दर्शयन्ते तत्र केचन ॥

(सरस्वतीकण्ठाभरण २ ११-१२

अनुवाद—'वक्रोक्ति' वह शब्दालङ्कार है जहाँ 'श्लेष' के कारण अथवा 'काकु' (ध्वनि विकार) के कारण, किसी के अन्यार्थक वाक्य को किसी अन्य अर्थ में लगा लिया जाया करता है । 'श्लेष' के कारण ऐसा होने से 'श्लेष-वक्रोक्ति' और 'काकु' के कारण ऐसा होने से 'काकु-वक्रोक्ति' इस प्रकार वक्रोक्ति के दो प्रकार हुआ करते हैं ।

यहाँ कारिका में 'द्विधा' (दो प्रकार की) कहने का अभिप्राय 'श्लेषवक्रोक्ति' और 'काकुवक्रोक्ति' रूप से वक्रोक्ति के दो प्रकारों के संग्रह का अभिप्राय है ।

क्रमशः उदाहरण—

(वक्ता-) के 'यूयम्'—कौन हैं आप लोग ? (श्रोता-) 'स्थल एव सम्प्रति वयम्'—हम लोग तो अभी सूखी जमीन पर हैं ('के' का अर्थ (जलपर) किया गया है जिसके अनुसार में 'स्थले' (स्थल पर) कहा गया है)। (वक्ता-) 'प्रश्नो विशेषाश्रयः'—हम तो आप लोगों के बारे में जानना चाहते हैं (श्रोता-) क्या आप ने किसी 'पक्षिविशेष' के बारे में पूछा या 'फणिराज' शेषनाग के बारे में—साफ बताइये ? (यहाँ 'वि+शेष' का भंग कर पक्षी और शेषनाग अर्थ किया गया है)। (वक्ता-) आप भी बड़े ऐसे हैं ! (श्रोता-) अरे ! आप कम नहीं आप भी बड़े ठग हैं अरे कहाँ से ऐसा प्रेम आप के पास लग गया जिससे हम पुरुषों में आप को स्त्री का भ्रम होने लगा ? (यहाँ 'वामा' का अर्थ 'स्त्री' किया गया है ।)

यहाँ 'विशेष' पद में 'वि=पक्षी और शेष=शेषनाग' ये दो अर्थ हैं जिससे यहाँ जो 'श्लेष' है वह सभङ्ग श्लेष है । किन्तु अन्यत्र (जैसे कि 'के' आदि में) अभङ्ग श्लेष है । इस प्रकार यहाँ 'द्विविध श्लेषवक्रोक्ति' स्पष्ट है ।

कोकिल की कूक से मधुर और आम्रमञ्जरी से मनोहर इस वसन्त में अपराधी प्रेमी के परित्याग से उस सुन्दरी का हृदय दुःखित नहीं होता ।

अथ कयाचित्सख्या निषेधार्थे नियुक्तो नञ् अन्यथा काक्वा दूयत एवेति विध्यर्थे घटितः।

(५—भाषासमक)

शब्दैरेकविधैरेव भाषासु विविधास्वपि।
वाक्यं यत्र भवेत्सोऽयं भाषासम इतीष्यते ॥ १० ॥

यथा मम—

'मञ्जुलमणिमञ्जीरे कलगम्भीरे विहारसरसीतीरे।
विरसासि केलिकीरे किमालि ! धीरे च गन्धसारसमीरे ! ॥'

एष श्लोकः संस्कृत-प्राकृत-शौरसेनी-प्राच्यावन्तीनागरापभ्रंशेष्वेकविध एव।

'सरस कइण कव्वम् ।'

इत्यादौ तु 'सरसम्' इत्यत्र संस्कृतप्राकृतयोः साम्येऽपि वाक्यगतत्वाभावे वैचित्र्याभावान्नायमलङ्कारः।

(६—श्लेष)

श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते।

यहाँ 'काकुवक्रोक्ति' इसलिये है क्योंकि 'न दूयते' का निषेधार्थक नञ्, विदग्ध सखी द्वारा, काकु (गले की आवाज) से, 'दूयते एव' (अवश्य दुखित होता है) के अर्थ में बदल दिया गया है जिससे यह निषेधार्थक वाक्यविध्यर्थक बन रहा है।

अनुवाद—'भाषासम' (अथवा भाषासमक) वह शब्दालङ्कार है जिसे देखने में एक प्रकार के किन्तु वस्तुत विविध भाषाओं के शब्दों से बने वाक्य के सौन्दर्य में देखा जाया करता है।

जैसे कि मेरी यह स्वरचित सूक्ति—

'अरी सखी ! मधुर और गम्भीर ध्वनि वाले मजुल मणि-मजीरों से क्या रूठना? क्रीडा-वापिका के तीर से क्या रोष? क्रीडाशुक पर क्या क्षोभ? और इस चन्दन-सुरभित मलय-समीर से कैसी अनबन? अरे, रूठो अपने प्रेमी पर, इन्हें तो अपनाओ!'

यहाँ 'भाषासम' इसलिये है क्योंकि यह श्लोक-वाक्य सस्कृत, प्राकृत, शौरसेनी, प्राच्या, अवन्ती, नागर और अपभ्रश भाषाओं में एक सा ही लगेगा।

'सरस कइण कव्वं' इत्यादि में, सस्कृत और प्राकृत में एक प्रकार से लगने वाले 'सरस' पद के देखते, 'भाषासम' का भ्रम नहीं होना चाहिये क्योंकि यह अलङ्कार तो विविध भाषाओं के एक समान लगने वाले शब्दों द्वारा घटित वाक्य-बन्ध का वैचित्र्य है। 'सरस' इस एक पद में कोई वैचित्र्य नहीं और इसलिये यहाँ इस अलङ्कार की भी कोई सभावना नहीं।

विमर्श—'भाषासमक' प्राचीन आलङ्कारिकों का शब्दालङ्कार नहीं। 'भाषाश्लेष' से 'भाषासमक' की रूपरेखा का पार्थक्य १४ वीं शताब्दी के आलङ्कारिकों का कार्य है। सभव है विश्वनाथ कविराज ही इसके प्रथम प्रवर्त्तक हों।

अनुवाद—'श्लेष' वह अलङ्कार है जिसे श्लिष्ट पदों द्वारा अनेक अर्थों के अभिधान में

वर्णप्रत्ययलिङ्गानां प्रकृत्योः पदयोरपि ॥ ११ ॥
श्लेषाद्विभक्तिवचनभाषाणामष्टधा च सः ।

क्रमेणोदाहरणम्—

(१—वर्णश्लेष)

'प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ विफलत्वमेति बहुसाधनता ।
अवलम्बनाय दिनभर्तुरभून्न पतिष्यतः करसहस्रमपि ॥'

अत्र 'विधौ' इति विधुविधिशब्दयोरुकारेकारयोरौकाररूपत्वाद्वर्णश्लेषः ।

(२—प्रत्ययश्लेष)

'किरणा हरिणाङ्कस्य दक्षिणश्च समीरणः ।
कान्तोत्सङ्गजुषां नूनं सर्व एव सुधाकिरः ॥'

अत्र 'सुधाकिरः' इति क्विप्-क-प्रत्यययोः । किं चात्र बहुवचनैकवचनयोरैकरूप्याद्वचनश्लेषोऽपि ।

देखा जाया करता है। यह श्लेष आठ प्रकार का हुआ करता है—(१) वर्णश्लेष (२) प्रत्ययश्लेष, (३) लिङ्गश्लेष (४) प्रकृतिश्लेष, (५) पदश्लेष, (६) विभक्तिश्लेष, (७) वचनश्लेष और (८) भाषाश्लेष।

श्लेष के इन आठ प्रकारों के उदाहरण क्रमशः दिये जा रहे हैं—

(१—वर्णश्लेष)

'विधौ—विधि के और चन्द्रमा के प्रतिकूल हो जाने पर, सभी साधन व्यर्थ हो जाते हैं। तभी तो सूर्य के 'करसहस्र' किरण-समूह, और हस्त-समूह अस्तकाल के समय, उसे सहारा देने में असमर्थ रहा करते हैं।

यहाँ (शिशुपालवध की उपर्युक्त सूक्ति में) 'वर्णश्लेष' स्पष्ट है क्योंकि 'विधौ' पद ऐसा है जिसमें 'विधि' और 'विधु' के अन्तिम वर्ण इकार और उकार सप्तमी विभक्ति के एकवचन में 'औ' के एक रूप में परिणत दिखायी दे रहे हैं।

(२—प्रत्ययश्लेष)

'कान्तोत्सङ्गजुषाम्—कान्ता (प्रिया) अथवा कान्त (प्रियतम) के आलिङ्गन में आनन्दित प्रेमी अथवा प्रेमिकाओं के लिये हरिणाङ्कस्य किरणा दक्षिणश्च समीरणः—चन्द्रमा की चाँदनी और मलय समीर, नूनं सर्व एव—वस्तुतः सब कुछ 'सुधाकिरः'—(बहुवचनान्त 'किरणाः' के योग में सुधां किरन्तीति सुधाकिरः और एकवचनान्त 'समीरणः' के साथ सुधां किरतीति सुधाकिरः) अमृत की वर्षा करने वाले ही लगा करते हैं।

यहाँ 'सुधाकिरः' में 'क्विप्' और 'क' दोनों प्रत्ययों के मेल के कारण 'प्रत्ययश्लेष' स्पष्ट है ('किरणाः सुधाकिरः' = 'सुधां किरन्तीति सुधाकिरः' सुधा+कॄ+क्विप प्रथमा बहुवचनान्त रूप और 'समीरणः सुधाकिरः' = सुधां किरतीति सुधाकिरः, सुधा+कॄ+क, प्रथमा एकवचनान्त रूप)।

'सुधाकिरः' में (श्लेष का सप्तम प्रकार) वचनश्लेष भी माना जा सकता है क्योंकि यहाँ बहुवचन और एकवचन के रूप एक सरीखे बन रहे हैं।

(३—लिङ्गश्लेष)

'विकसन्नेत्रनीलाब्जे तथा तन्व्याः स्तनद्वयी।
तव दत्तां सदामोद लसत्तरलहारिणी ॥'

अत्र नपुंसकस्त्रीलिङ्गयोः श्लेषो वचनश्लेषोऽपि।

(४—प्रकृतिश्लेष)

'अयं सर्वाणि शास्त्राणि हृदि ज्ञेषु च वक्ष्यति।
सामर्थ्यकृदमित्राणां मित्राणां च नृपात्मजः ॥'

अत्र 'वक्ष्यति' इति वहिवच्योः, 'सामर्थ्यकृत्' इति कृन्तति-करोत्योः प्रकृत्योः।

(५—पदश्लेष)

'पृथुकार्तस्वरपात्रम्–' इत्यादि। अत्र पदभङ्गे विभक्तिसमासयोरपि वैलक्षण्यात्पदश्लेषः, न तु प्रकृतिश्लेषः।

(३—लिङ्गश्लेष)

'तन्व्या लसत्तरलहारिणी विकसन्नेत्रनीलाब्जे तथा स्तनद्वयी—इस सुन्दरी के वे खिले कमल सरीखे नेत्र (विकसन्नेत्रनीलाब्जे), जो कि 'लसत्तरलहारिणी' (लसन्ती शोभमाने तरले चञ्चले हारिणी मनोज्ञे चेति–नपुंसकलिङ्ग प्रथमा द्विवचनान्त रूप) बड़े सुन्दर, बड़े चञ्चल किंवा बड़े मनोहर हैं और इसकी 'स्तनद्वयी' जो 'लसत्तरलहारिणी' (लसन् शोभमान तरल मध्यमणिर्यस्य स हारो यस्या सा–स्त्रीलिङ्ग प्रथमा एकवचनान्त रूप) सुन्दर मध्यमणि से सुशोभित मुक्ताहार से मनोरम है–ये दोनों, 'तव आमोदम् सदा दत्ताम्' सदा तुम्हें प्रसन्नता प्रदान करें (विकसन्नेत्रनीलाब्जे के साथ 'दत्ताम्'=दधाताम्, लोट् परस्मैपद द्विवचन और स्तनद्वयी के साथ 'दत्ताम्'=दद्यात्, लोट् आत्मनेपद एकवचन)।

यहाँ 'लसत्तरलहारिणी' में नपुंसकलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग के मेल के कारण लिङ्गश्लेष स्पष्ट है। यहाँ 'दत्ताम्' में द्विवचन और एकवचन के मेल से 'वचनश्लेष' भी दर्शनीय लग रहा है।

(४—प्रकृतिश्लेष)

'अयं नृपात्मज '—यह राजकुमार, अमित्राणां मित्राणाञ्च सामर्थ्यकृत्—जो कि शत्रुओं का 'सामर्थ्यकृत्' (सामर्थ्यं कृन्तति छिनत्तीति) बल-संहारक है और मित्रों का भी 'सामर्थ्यकृत्' (सामर्थ्यं करोतीति) बल-वर्द्धक है, सर्वाणि शास्त्राणि हृदि ज्ञेषु च वक्ष्यति–अपने हृदय और विद्वत्समाज में सभी शास्त्रों का धारण और प्रवचन द्वारा प्रतिपादन करेगा।'

यहाँ 'प्रकृतिश्लेष' इसलिये है क्योंकि 'वक्ष्यति' में वह् धातु और वच् धातु, परस्पर मिली-जुली दिखायी दे रही हैं और 'सामर्थ्यकृत्' में कृत् और कृञ् धातुओं का परस्पर मेल दर्शनीय है।

(५—पदश्लेष)

'पृथुकार्तस्वरपात्रम्' आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति। यहाँ 'पदश्लेष' है प्रकृतिश्लेष नहीं क्योंकि पदों के भङ्ग करने (जैसे कि पृथु+कार्तस्वर, पृथुक्+आर्तस्वर आदि रूप से पृथक्-पृथक् करने) पर, विभक्ति और समास दोनों पृथक्-पृथक् प्रतीत होने लगते हैं। 'पदश्लेष' में 'प्रकृतिश्लेष' से यही भेद है कि पदश्लेष में तो पद के साथ-साथ विभक्ति और समास भी पृथक्-पृथक् प्रतीत हुआ करते हैं किन्तु 'प्रकृतिश्लेष' में विभक्ति और समास का वैलक्षण्य अथवा पार्थक्य नहीं रहा करता। इस दृष्टि से, इस सूक्ति अर्थात्—

यथा—

'नीतानामाकुलीभावं लुब्धैर्भूरिशिलीमुखैः ।
सदृशे वनवृद्धानां कमलानां त्वदीक्षणे ॥'

अत्र लुब्धशिलीमुखादिशब्दानां श्लिष्टत्वेऽपि विभक्तेरभेदात्प्रकृतिश्लेषः, अन्यथा सर्वत्र पदश्लेषप्रसङ्गः ।

(५—विभक्तिश्लेष)

'सर्वस्वं हर सर्वस्य त्वं भवच्छेदतत्परः ।
नयोपकारसांमुख्यमायासि तनुवर्तनम् ॥'

अत्र 'हर' इति पक्षे शिवसम्बोधनमिति सुप् । पक्षे हृञ्धातोस्तिङिति विभक्तेः । एवं 'भव' इत्यादौ ।

(६—वचनश्लेष)

अस्य च भेदस्य प्रत्ययश्लेषेणापि गतार्थत्वे प्रत्ययान्तरासाध्यसुबन्तविषयत्वेन विच्छित्तिविशेषाश्रयणात्पृथगुक्तिः ।

'त्वदीक्षणे, उस सुन्दरी के नेत्र 'लुब्धैः भूरिशिलीमुखैः आकुलीभावं नीतानां वनवृद्धानां कमलानां सदृशे'—ऐसे हैं जिन्हें बहुत अधिक बाणों से सजे-बजे व्याधों द्वारा व्याकुल किये गये वनवासी मृगों के नेत्र किंवा सौरभ के प्रेमी अनेकानेक भ्रमरों द्वारा घिरे वनवासी कमलों के फूलों के समान कहा जा सकता है।
में 'प्रकृतिश्लेष' मानना ही उचित है क्योंकि यहाँ 'लुब्ध शिलीमुख' आदि शब्दों में श्लिष्टता रहने पर भी विभक्ति (और साथ ही साथ समास) में कोई भेद नहीं प्रतीत होता। यदि ऐसी बात न मानी जाय (अर्थात् यदि विभक्ति आदि के अभेद में भी पदश्लेष ही माना जाया करे) तब तो सर्वत्र पदश्लेष ही हुआ करे और प्रकृतिश्लेष का कहीं भी कोई क्षेत्र न रह जाय।

(५—विभक्तिश्लेष)

(शिव के प्रति शिवभक्त की उक्ति) हे शङ्कर महादेव ! 'त्वं सर्वस्य सर्वस्वम्'—तुम्हीं इस चराचर जगत् के सर्वस्व हो 'त्वं भवच्छेदतत्परः' तुम्हीं प्राणिमात्र के लिये इस संसार अथवा जन्म-मरण-परम्परा के तोड़ने वाले हो और 'त्वं नयोपकारसांमुख्यं तनुवर्तनमायासि' तुम्हीं ऐसे हो जो समय-समय पर ऐसा शरीर धारण किया करते हो जो सदाचरण और सदुपदेश से सबका कल्याणकारी हुआ करता है।'
'(अपने पुत्र के प्रति चोर की उक्ति)' हे पुत्र ! 'त्वं सर्वस्य सर्वस्वं हर' तू सब का सब कुछ चुराया कर 'त्वं छेदतत्परो भव'—जो कोई भी तुझे रोके-टोके उसे मिट्टी में मिला दे, 'आयासि वर्तनं तनु'—ऐसा व्यवहार कर जिसमें लोग तंग हो जाँय और 'अपकारसांमुख्यं नय'—किसी के साथ कोई भी उपकार न कर।
यहाँ एक पक्ष (अर्थात् शिवपक्ष) में 'हर' पद सम्बोधन का पद है जिससे यहाँ 'सु' विभक्ति मानी है और दूसरे अर्थात् चोर पक्ष में यह पद (हरणार्थक) 'हृ' धातु से (लोट्लकार में) विहित 'सिप्' विभक्ति का रूप है। इसी प्रकार 'भव' पद, शिवपक्ष में सम्बोधन की 'सु' विभक्ति का रूप है और चोरपक्ष में 'भू' धातु से (लोट्लकार में) विहित 'सिप्' विभक्ति का रूप है। इस प्रकार यहाँ विभक्तिश्लेष का सौन्दर्य स्पष्ट है।
यद्यपि इस प्रकार के विभक्तिश्लेष को प्रत्ययश्लेष में अन्तर्भूत भी किया जा सकता है

(८—भाषाश्लेष)

'महदे सुरसन्ध मे तमव समासङ्गमागमाहरणे ।
हर बहुसरणं त चित्तमोहमवसर उमे सहसा ॥'

अत्र संस्कृतमहाराष्ट्रयोः ।

(श्लेषगत भेद-प्रभेद)

पुनस्त्रिधा सभङ्गोऽथाभङ्गस्तदुभयात्मकः ॥ १२ ॥

एतद्भेदत्रय चोक्तभेदाष्टके यथासम्भव ज्ञेयम् ।

यथा वा—

'येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्काय' पुरास्त्रीकृतो
यश्चोद्वृत्तभुजङ्गहारवलयो गङ्गा च योऽधारयत् ।
यस्याहु शशिमच्छिरोहर इति स्तुत्य च नामामराः
पायात्स स्वयमन्धकक्षयकरस्त्वा सर्वदोमाधवः ॥'

क्योंकि सुप् और तिङ् विभक्ति भी प्रत्ययरूप ही हैं किन्तु इसे इसलिये एक पृथक् श्लेष-प्रकार माना गया है क्योंकि यह और प्रत्ययों (जैसे कि क्विप् आदि) से निष्पन्न न होने और एक मात्र सुबन्त और तिङन्तरूप होने के कारण एक अपनी ही विचित्रता रखता प्रतीत होता है ।

'(संस्कृत भाषा में अर्थ) हे महदे ! हे उमे ! हे भक्तजनों को आनन्दित करनेवाली देवी पार्वती ! आगमाहरणे सुरसन्ध मे समासङ्गमव—आगम-ज्ञान के उपार्जन में, देवों द्वारा अभिलषित ज्ञान-प्रेम को, मुझ में स्थापित करो, अवसरे बहुसरणं त चित्तमोह सहसा हर—और समय समय पर, मेरे मन के उस मोहान्धकार का शीघ्र नाश करती रहो जो कि उसे नाना प्रकार से घेरा करता है ।

'(महाराष्ट्री में अर्थ) हे हरवहु ! हे गौरी ! हे पार्वती ! धमे मह रसं देसु–धर्म में मेरा प्रेम बढ़ाओ, तमवस आस गमागमा हर–इस जन्ममरणरूप ससार से, मेरी तमोमयी तृष्णा को, दूर हटा दो, त सरण तुम ही मेरे लिये एक मात्र शरण हो, मे चित्तमोह अवसरउ–और मेरे चित्त के सभी व्यामोहों को दूर कर दो ।'

यहाँ संस्कृत और महाराष्ट्री भाषाओं का श्लेष स्पष्ट है ।

अनुवाद—यह श्लेष, पदों के भङ्ग-अभङ्ग के कारण, तीन प्रकार का हो जाया करता है—(१) सभङ्गश्लेष, (२) अभङ्गश्लेष और (३) सभङ्गाभङ्गश्लेष ।

श्लेष का यह भेदत्रय इसके उपर्युक्त आठ प्रकारों में ही यथासभव अनुगत समझ लेना चाहिये । अथवा इसके लिये यह निम्न सूक्ति उदाहृत की जा रही है जिसमें सभङ्ग, अभङ्ग और सभङ्गाभङ्ग श्लेष का स्वरूप एकत्र स्पष्ट है—

'(विष्णु-पक्ष में) स माधवः त्वा पायात्–वे माधव अर्थात् लक्ष्मीपति विष्णु तुम्हारी रक्षा करें, येन अभवेन अन ध्वस्तम्–जो अजन्मा हैं और (कृष्णरूप में) शकटासुर के सहारक है, येन पुरा बलिजित्काय स्त्रीकृत –जिन्होंने, अमृतमथन के समय, बलिदानव के सहारक अपने रूप को 'मोहिनी' रूप में परिवर्तित किया है, यश्च उद्वृत्तभुजगङ्गहा—जो अनाचारी कालियनाग का दमन कर चुके हैं, य रवलयः–जो श्रुतियों और उपनिषदों के अन्तिम रहस्य हैं, य अग गाञ्च अधारयत्-जिन्होंने (कृष्णरूप में) गोवर्धन पर्वत

अत्र 'येन' इत्यादौ सभङ्गश्लेषः। 'अन्धक-' इत्यादावभङ्गः। अनयोश्चैकत्र सम्भवात्सभङ्गाभङ्गात्मको ग्रन्थगौरवभयात्पृथङ्नोदाहृतः।

(श्लेषविषयक शास्त्रार्थ)

इह केचिदाहुः—'सभङ्गश्लेष एव शब्दश्लेषविषयः। यत्रोदात्तादिस्वरभेदाद्भिन्नप्रयत्नोच्चार्यत्वेन भिन्नयोः शब्दयोर्जतुकाष्ठन्यायेन श्लेषः। अभङ्गस्त्वर्थश्लेष एव। यत्र स्वराभेदादभिन्नप्रयत्नोच्चार्यतया शब्दाभेदादर्थयोरेकवृन्तगतफलद्वयन्यायेन श्लेषः। यो हि यदाश्रितः स तदलङ्कार एव। अलङ्कार्यालङ्करणभावस्य लोकवदाश्रयाश्रयिभावेनोपपत्तिः' इति।

और (कूर्मरूप में) इस पृथिवी को धारण किया है, यस्य च शशिमच्छिरोहर इति स्तुत्यं नाम अमराः आहुः—जिन्हें देवता लोग शशिमत् अर्थात् चन्द्रमा के नाशक राहु के मस्तक का काटनेवाला कहा करते हैं अन्धकक्षयकरः—जो कि यादवों के निवास (द्वारका धाम) के संस्थापक और संहारक-दोनों हैं सर्वदः—और जो कि सब कुछ के दाता हैं, सब के मनोरथ सफल करने वाले हैं।

(शिव-पक्ष में) येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्कायः पुरा अस्त्रीकृतः—मनोभव अथवा काम के संहारक, जिन्होंने त्रिपुरदाह के समय बलिजित् विष्णु के शरीर को अपने अस्त्र में प्रयुक्त किया यश्च उद्वृत्तभुजङ्गहारवलयः—जिन्होंने कुण्डली मारे हुये सर्पराज को अपना हार और वलय बनाया, यः गङ्गां च अधारयत्—जिन्होंने अपने मस्तक पर गङ्गा को समाहित, यस्य च शिरः शशिमत् इति हर इति च स्तुत्यं नाम अमराः आहुः—जिनका चन्द्रार्धकृतमस्तक और स्तुत्य 'हर' नाम देवगण की वन्दना का विषय है अन्धकक्षयकरः—जिन्होंने अन्धकासुर का संहार किया, उमाधवः—और जो उमा के पति हैं वे भगवान् शङ्कर सर्वदा तुम्हारी रक्षा करें।

यहाँ सभङ्ग अभङ्ग और सभङ्गाभङ्ग—तीनों प्रकार के श्लेष दर्शनीय हैं। इस एक ही सूक्ति में 'येन' इत्यादि में सभङ्गश्लेष 'अन्धकक्षयकरः' में अभङ्गश्लेष और अन्यत्र सभङ्गाभङ्गश्लेष की अवस्थिति रखते हुये यह आवश्यक नहीं कि इन्हें भिन्न-भिन्न सूक्तियों द्वारा उदाहृत किया जाय क्योंकि ग्रन्थ के आकार-प्रकार के बढ़ने का भी तो डर है।

अनुवाद—यहाँ कतिपय आचार्यों (जैसे कि अलङ्कारसर्वस्वकार [आचार्य रुय्यक] आदि) का यह कहना है कि 'सभङ्ग श्लेष की गणना शब्दालङ्कारों में की जानी चाहिये क्योंकि यही श्लेष-प्रकार शब्दश्लेष का विषय है क्योंकि यहीं ऐसा संभव है कि उदात्तादि स्वरों के भेद के कारण भिन्न-भिन्न प्रयत्नों द्वारा उच्चारण करने योग्य भिन्न-भिन्न भी शब्द, 'जतु' (लाख) और 'काष्ठ' (लकड़ी) की भाँति परस्पर एक दूसरे से चिपके अथवा मिले-जुले से प्रतीत हुआ करते हैं। अभङ्गश्लेष को तो अर्थालङ्कार मानना उचित है क्योंकि यह श्लेष-प्रकार अर्थश्लेष का विषय है। यहाँ उदात्तादि स्वरों की अभिन्नता से उच्चारण के बाह्य और आभ्यन्तर प्रयत्नों में भेद न होने के कारण शब्दों में भेद नहीं हुआ करता और अर्थ एक गुच्छे में लगे दो फलों की भाँति परस्पर चिपके अथवा जुड़े-जुड़ाये लगा करते हैं। कोई अलङ्कार इसीलिये शब्द अथवा अर्थ का अलङ्कार कहा जाया करता है क्योंकि वह शब्द अथवा अर्थ पर आश्रित रहा करता है। जिसे काव्य में अलङ्कार्य-अलङ्करणभाव कहते हैं उसमें वस्तुतः लोक के अलङ्कार्य-अलङ्करणभाव की ही भाँति आश्रयाश्रयिभाव (आधाराधेयभाव) रूप संबन्ध ही ठीक बैठता है।'

तदन्ये न क्षमन्ते। तथाहि—अत्र ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यदोषगुणालङ्काराणा शब्दार्थगतत्वेन व्यवस्थितेरन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेन नियम इति।

न च 'अन्धकक्षय-' इत्यादौ शब्दाभेदः, 'अर्थभेदेन शब्दभेदः' इति दर्शनात्। किं चात्र शब्दस्यैव मुख्यतया वैचित्र्यबोधोपायत्वेन कविप्रतिभयोट्टङ्कनाच्छब्दालङ्कारत्वमेव। विसदृशशब्दद्वयस्य बन्धे चैवविधस्य वैचित्र्याभावाद् वैचित्र्यस्यैव चालङ्कारत्वात्। अर्थमुखप्रेक्षितया चार्थालङ्कारत्वेऽनुप्रासादीनामपि रसादिपरत्वेनार्थमुखप्रेक्षितयार्थालङ्कारत्वप्रसङ्गः। शब्दस्याभिन्नप्रयत्नोच्चार्यत्वेनार्थालङ्कारत्वे 'प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ' इत्यादौ शब्दभेदेऽप्यर्थालङ्कारत्व तवापि प्रसज्ज्यतीत्युभयत्रापि शब्दालङ्कारत्वमेव। यत्र तु शब्दपरिवर्त्तनेऽपि न श्लेषत्वखण्डना, तत्र—

किन्तु अन्य काव्याचार्यों (जैसे कि काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट आदि) को यह सब मान्य नहीं। उनका कहना यह है—ध्वनि, गुणीभूतव्यङ्ग्य, दोष, गुण और अलङ्कार की शब्दगतता अथवा अर्थगतता की व्यवस्था का एकमात्र नियामक 'अन्वयव्यतिरेक' का सिद्धान्त है। यहाँ 'आश्रयाश्रयिभाव' अथवा 'आधाराधेयभाव' का क्या काम? इसलिये शब्द के भेद अथवा अभेद से, 'येन ध्वस्तमनोभवेन' आदि सूक्ति में, कहीं शब्दश्लेष (सभङ्गश्लेष) और कहीं जैसे कि 'अन्धकक्षय' आदि में अर्थश्लेष (अभङ्ग श्लेष) का मानना युक्तियुक्त नहीं क्योंकि 'अन्धकक्षय' आदि में, जब कि अर्थ भिन्न हैं, तब, शब्द की अभिन्नता कैसी? क्योंकि यह तो एक मान्य सिद्धान्त है कि 'यदि कहीं अर्थ भिन्न-भिन्न हैं तो वहाँ शब्द भी भिन्न-भिन्न ही होंगे।'

साथ ही साथ 'अन्धकक्षय' आदि में शब्दश्लेष की मान्यता अधिक युक्तिसगत दिखायी देती है क्योंकि यहाँ जो भी चमत्कार है वह एकमात्र इस शब्द के ही कारण है जिसे कवि की प्रतिभा यहाँ उट्टङ्कित कर रही है। यदि यहाँ अन्य प्रकार के दो शब्द रख दिये जाँय तो यह चमत्कार नष्ट होता दिखायी देगा और जब चमत्कार ही नष्ट हो जायगा तो अलंकार कहाँ से रह पायगा क्योंकि जो भी 'अलकार' है वह तो 'वैचित्र्य' रूप है। इसके अतिरिक्त यहां यह भी ध्यान रखना चाहिये कि यदि अर्थ की दृष्टि से इस अलकार को अर्थालकार मानना है तो अनुप्रास आदि को भी अर्थालकार ही मानना पड़ेगा क्योंकि अनुप्रास आदि शब्दालकार भी (अर्थनिरपेक्ष नहीं अपितु) रसभावादि रूप अर्थ की अपेक्षा रखा करते हैं। यहा यह भी कहना उचित नहीं कि जब कि 'अन्धकक्षय' आदि शब्द एक ही प्रयत्न से उच्चारण किये जाने योग्य हैं, तब इन्हें अर्थश्लेष का ही विषय मानना ठीक है क्योंकि तब तो 'प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ' आदि में भी, जहा 'विधि' और 'विधु' शब्द के सप्तमी एकवचनान्तरूप वस्तुत भिन्न भिन्न होने पर भी, एक प्रयत्न से उच्चरित हो सकते हैं, अर्थश्लेष ही मानना पड़ जायगा। इसलिये यहा यही मानना ठीक है कि सभङ्ग और अभङ्ग दोनों प्रकार के श्लेष शब्दालकाररूप ही हैं (और 'अन्धकक्षय' आदि तथा 'प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ' आदि में जो श्लेष है वह शब्दश्लेष ही है)। इसका यह अभिप्राय नहीं कि अर्थश्लेप का कोई विषय ही नहीं बच पाता। अर्थश्लेप का विषय वह है जहा शब्द के बदल देने पर भी श्लेप में कोई क्षति नहीं आया करती। जैसे कि निम्नसूक्ति अर्थात्—

'स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम् ।
अहो सुसदृशी वृत्तिस्तुलाकोटेः खलस्य च ॥'

इत्यादावर्थश्लेषः । अस्य चालङ्कारान्तरविविक्तविषयतया असम्भवाद्विधीयमानेऽप्यलङ्कारान्तरेऽप्यपवादत्वेन तद्बाधकतया तत्प्रतिभोत्पत्तिहेतुत्वमिति केचित् ।

इत्थमत्र विचार्यते—समासोक्त्यप्रस्तुतप्रशंसादौ द्वितीयार्थस्यानभिधेयतया नास्य गन्धोऽपि । 'विद्वन्मानसहंस-' इत्यादौ श्लेषगर्भे रूपकेऽपि मानसशब्दस्य चित्तसरोरूपोभयार्थत्वेऽपि रूपकेण श्लेषो बाध्यते । सरोरूपस्यैवार्थस्य विश्रान्तिधामतया प्राधान्यात्, श्लेषे त्वर्थद्वयस्यापि समकक्षत्वम् ।

'सन्निहितबालान्धकारा भास्वन्मूर्तिश्च' इत्यादौ विरोधाभासेऽपि विरुद्धार्थस्य प्रतिभातमात्रस्य प्ररोहाभावान्न श्लेषः । एवं पुनरुक्तवदाभासेऽपि ।

'थोड़े में ही ऊपर उठना और थोड़े में ही नीचे गिरना यही वह चाल है जो कि तराजू की डंडी और खल की एक समान चाल है ।

में जो श्लेष है वह अर्थश्लेष है (क्योंकि 'स्तोकेन' आदि पदों के बदले 'स्वल्पेन' आदि रख देने पर भी यहाँ 'श्लेष' तो अक्षुण्ण ही दिखायी देता रहता है)।

यहाँ प्राचीन काव्याचार्यों (जैसे कि आचार्य उद्भट और आचार्य रुय्यक) की यह मान्यता भी ठीक नहीं जँचती कि 'श्लेष का क्षेत्र अन्य अलङ्कारों से असङ्कीर्ण रहा करता है श्लेष अन्य अलङ्कारों के आभासमात्र का उत्पादक हुआ करता है और 'श्लेष' अन्य अलङ्कारों का अपवादरूप होने से उनका बाधक है (अर्थात् अन्य अलङ्कार सामान्य रूप हैं और श्लेष विशेष रूप होने से बाधक है)। यहाँ इस प्रकार देखना है—'समासोक्ति' 'अप्रस्तुतप्रशंसा' आदि के प्रसङ्गों में श्लेष की गन्ध भी नहीं रहती क्योंकि वहाँ प्रतीत होनेवाला जो दूसरा अभिप्राय हुआ करता है वह अभिधेयरूप नहीं अपितु व्यङ्ग्यरूप ही हुआ करता है (और श्लेष के लिये दोनों अर्थों का वाच्यरूप होना ही सर्वमान्य है)। 'विद्वन्मानसहंस' आदि सूक्ति में भी जहाँ श्लेषगर्भ रूपक है और 'मानस' शब्द मन और सरोवररूप दोनों अर्थों का वाचक है ऐसा नहीं कि श्लेष द्वारा रूपक बाधित हो अपितु ऐसा है कि रूपक द्वारा ही श्लेष बाधित हो रहा है क्योंकि यहाँ अन्ततोगत्वा रूपक चमत्कार के कारण, 'सरोवररूप' अर्थ पर ही सहृदय की आस्था जमती है। यहाँ श्लेष की संभावना तो तब होती जबकि सरोवररूप और मनरूप दोनों अर्थ परस्पर निरपेक्ष होते और प्रधानतया विराजमान प्रतीति होते।

इसी प्रकार यदि 'सन्निहितबालान्धकारा भास्वन्मूर्तिश्च' (विरोध—घुप-घुप अन्धकार युक्त और सूर्य की मूर्ति, विरोधपरिहार—केशरूप अन्धकार से युक्त और प्रकाशमान रूपवाली) आदि विरोधाभास के प्रसङ्गों को देखा जाय तो वहाँ भी (आपाततः विरुद्ध और अन्ततः अविरुद्ध अर्थों के मेल के कारण) 'श्लेष' की संभावना नहीं दिखायी पड़ती क्योंकि यहाँ जो विरुद्ध अर्थ है वह आपाततः भले ही प्रतीत हो अन्ततः तो कदापि अवस्थित नहीं रहता। यही बात 'पुनरुक्तवदाभास' के स्थलों पर भी लागू होती है (क्योंकि यहाँ भी दूसरे अर्थ के आभासमात्र रूप से ही रह जाने के कारण 'श्लेष' की संभावना समाप्त हो जाती है)।

तेन 'येन ध्वस्त-' इत्यादौ प्राकरणिकयोः, 'नीतानाम्-' इत्यादावप्राकर-णिकयोरेकधर्माभिसबन्धात्तुल्ययोगितायाम्,

'स्वेच्छोपजातविषयोऽपि न याति वक्तुं
देहीति मार्गणशतैश्च ददाति दु खम् ।
मोहात्समुत्क्षिपति जीवनमप्यकाण्डे
कष्ट प्रसूनविशिख. प्रभुरल्पबुद्धिः ॥'

इत्यादौ च प्राकरणिकाप्राकरणिकयोरेकधर्माभिसन्बन्धाद् दीपके ।

'सकलकल पुरमेतज्जातं सम्प्रति सुधाशुबिम्बमिव' ।

इत्यादौ चोपमाया विद्यमानायामपि श्लेषस्यैतद्विषयपरिहारेणासंभवाद् एषा च श्लेषविषयपरिहारेणापि स्थितेरेतद्विषये श्लेषस्य प्राधान्येन चमत्का-

---

इससे जो निष्कर्ष निकल सकता है वह यही है कि 'येन ध्वस्तमनोभवेन' आदि में विष्णुपरक और शिवपरक-दोनों प्राकरणिक (प्रकृतरूप से विवक्षित) अर्थों और 'नीतानामाकुलीभावम्' आदि में, (कमल और हरिणरूप) दोनों अप्राकरणिक (अप्रकृत) अर्थों में, एक धर्म ('येन ध्वस्तमनोभवेन' आदि में 'अन्धकक्षयकरत्व' आदि और 'नीतानामाकुलीभावम्' आदि में 'वनवृद्धत्व' आदि) के अनुप्रवेश के कारण 'तुल्ययोगिता' (पदार्थाना प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत् । एकधर्माभिसवन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता) की संभावना होने पर भी 'श्लेष' की ही मान्यता युक्तिसगत है । इसी प्रकार इस सूक्ति अर्थात्—

'बड़े दु ख की बात है कि प्रसूनविशिख (पुष्पबाण) कामदेव और अल्पबुद्धि राजा दोनों समानरूप से ही दु खदायी हुआ करते हैं—स्वेच्छोपजातविषयोऽपि देहीति वक्तु न याति—कामदेव स्वेच्छामात्र से प्राणिमात्र को अपने बाणों का लक्ष्य बनाया करता है और सदा अनङ्ग ही कहा जाया करता है और अल्पबुद्धि राजा भी स्वेच्छया देश-देशान्तरों पर प्रभुत्व प्राप्त करता है किन्तु किसी के द्वारा 'कुछ दीजिये' की याचना से अछूता रहा करता है, मार्गणशतैश्च दु ख ददाति—कामदेव अपने बाणों से प्राणिमात्र को विद्ध करता है, और अल्पबुद्धि राजा याचना की यातनाओं से लोगों को पीडित किया करता है और, मोहात् अकाण्डे जीवनमपि समुत्क्षिपति—कामदेव प्राणिमात्र के हृदय में प्रेम मोह उत्पन्न करके अचानक प्राण भी हर लेता है और अल्पबुद्धि राजा भी मोहवश प्रजाजन का प्राण हरण किया करता है ।'

आदि में प्राकरणिक (राजरूप) और अप्राकरणिक (कामरूप) अर्थों में, एक धर्म (स्वेच्छोपजातविषयत्व आदि) के 'अभिसवन्ध के कारण 'दीपक' (अप्रस्तुत-प्रस्तुतयोर्दीपक तु निगद्यते) की सभावना होने पर भी 'श्लेष' मानना ही अधिक उचित है । यही बात 'सकलकल पुरमेतज्जात सम्प्रति सुधाशुबिम्बमिव' (सकलकल—कोलाहल से युक्त यह नगर इस समय सकलकल—सम्पूर्ण कलाओंवाले—चन्द्रबिम्ब की भाति लग रहा है) आदि प्रसङ्गों में भी लागू होती है । क्योंकि यहाँ 'उपमा' की सभावना होने पर भी, 'श्लेष' की ही मान्यता युक्तिसिद्ध प्रतीत होती है । अब इन उपर्युक्त अलङ्कारों के प्रसङ्गों में अन्ततोगत्वा 'श्लेष' की ही मान्यता क्यों युक्तिसिद्ध होती है ? इस पर यदि विचार किया जाय तो यही कहा जायगा कि इन अलङ्कारों के क्षेत्रों के अतिरिक्त 'श्लेष' का कोई क्षेत्र नहीं बचता और इन अलङ्कारों के क्षेत्र ऐसे हैं जहाँ 'श्लेष' की कोई छूआ-

रिसम्प्रतीतेश्च श्लेषस्यैव व्यपदेशो भवितुं युक्तः, अन्यथा तद्व्यपदेशस्य सर्वथा भावप्रसङ्गाच्चेति।

अत्रोच्यते—न तावत्परमार्थतः श्लेषस्यालङ्कारान्तराविविक्तविषयता 'येन ध्वस्त—' इत्यादिना विविक्तविषयत्वात्। न चात्र तुल्ययोगिता, तस्याश्च द्वयोरर्थयोर्वाच्यत्वनियमाभावात्। अत्र च माधवोमाधवयोरेकस्य वाच्यत्वनियमे परस्य व्यङ्ग्यत्वं स्यात्। किञ्च—तुल्ययोगितायामप्येकस्यैव धर्मस्यानेकधर्मिसम्बन्धितया प्रतीतिः इह त्वनेकेषां धर्मिणां पृथक्पृथग्धर्मसम्बन्धतया। 'सकलकलम्—' इत्यादौ च नोपमाप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेषः। पूर्णोपमाया निर्विषयत्वापत्तेः 'कमलमिव मुखं मनोज्ञमेतत्' इत्यादावस्ति पूर्णोपमाया विषय इति चेत्? न, यदि 'सकल—' इत्यादौ शब्दश्लेषतया नोपमा तत्किमपराद्धं 'मनोज्ञम्' इत्यादावर्थश्लेषेण।

शून्य नहीं रहती। साथ ही साथ जब कि इन उपर्युक्त प्रसङ्गों में 'श्लेष' का ही प्राधान्य स्पष्ट है और यह भी स्पष्ट है कि जो भी वैचित्र्य है वह श्लेष-जन्य ही है तो इन्हें 'श्लेष' मानने में क्या आपत्ति है? क्योंकि यदि ऐसा न माना जाय तब तो 'श्लेष' नाम का कोई अलङ्कार ही कहीं प्रतीत नहीं होता। किन्तु 'श्लेष' के सम्बन्ध में यह विचार-विमर्श सर्वथा चतुरस्र नहीं। यहाँ जो समझना है वह यह है—वस्तुतः ऐसी बात नहीं कि 'श्लेष' का क्षेत्र सदा अन्य अलङ्कारों से संकीर्ण ही रहा करता है क्योंकि 'येन ध्वस्तमनोभवेन' आदि से ही यह स्पष्ट है कि किस प्रकार 'श्लेष' का क्षेत्र अन्य अलङ्कारों से सर्वथा विविक्त अथवा भिन्न हुआ करता है। 'येन ध्वस्तमनोभवेन' आदि में, विष्णुपरक और शिवपरक रूप से विवक्षित दोनों प्राकरणिक अर्थों में 'तुल्ययोगिता' की तो संभावना ही नहीं हो सकती क्योंकि यहाँ ये दोनों अर्थ स्पष्टतया वाच्यरूप से विवक्षित हैं जब कि 'तुल्ययोगिता' के लिये यह आवश्यक नहीं कि जिन दो प्राकरणिक अर्थों में एक धर्म का योग हो वे दोनों अर्थ वाच्य रूप ही हुआ करें। यहाँ यह कहना भी ठीक नहीं कि 'मा-धव' (विष्णु) और 'उमा-धव' (शिव) रूप अर्थों में कोई एक अर्थ वाच्य है क्योंकि तब दूसरा अर्थ व्यङ्ग्य हो जायगा और 'श्लेष' की गन्ध ही उड़ जायगी! यहाँ 'तुल्ययोगिता' की इसलिये भी कोई सम्भावना नहीं क्योंकि 'तुल्ययोगिता' में तो ऐसा हुआ करता है कि एक ही धर्म अनेकों धर्मियों से सम्बद्ध प्रतीत हुआ करता है और यहाँ ऐसा है कि अनेकों धर्मी भिन्न-भिन्न धर्मों से संबद्ध प्रतीत हो रहे हैं। (अर्थात् यदि शिव-पक्ष में मनोभवध्वंस आदि धर्म अनुगत हैं तो विष्णु-पक्ष में शकटासुरवध आदि धर्म सम्बद्ध प्रतीत हो रहे हैं)।

इसी प्रकार यदि 'सकलकलम्' आदि सूक्ति को लिया जाय तो यह स्पष्ट दिखायी देगा कि यहाँ जो 'श्लेष' है वह उपमा के प्रतिभासमात्र का कारण नहीं जिससे यह सिद्ध हो जाय कि यहाँ जो अलङ्कार है वह श्लेष ही है उपमा नहीं, क्योंकि ऐसा होने पर तो 'पूर्णोपमा' का विषय ही उच्छिन्न हो जायगा! अब यदि यह कहा जाय कि पूर्णोपमा के विषय तो 'कमलमिव मुखं मनोज्ञमेतत्' आदि-आदि काव्य-सन्दर्भ हैं ही और इसलिये 'सकलकलम्' आदि में श्लेषद्वारा पूर्णोपमा के बाधित हो जाने से ऐसा नहीं हो सकता कि पूर्णोपमा का क्षेत्र ही कहीं न दिखायी दे, तब यहाँ यह उत्तर दिया जायगा कि 'यदि सकलकलम्' आदि में शब्दश्लेष मानने से उपमा मानना अनुचित हो तब 'कमल-

'स्फुटमर्थालङ्कारावेतावुपमासमुच्चयौ, किन्तु ।
आश्रित्य शब्दमात्र सामान्यमिहापि सभवतः ॥'

इति रुद्रटोक्तदिशा गुणक्रियासाम्यवच्छब्दसाम्यस्याप्युपमाप्रयोजकत्वात् ।

ननु गुणक्रियासाम्यस्यैवोपमाप्रयोजकता युक्ता, तत्र साधर्म्यस्य वास्तवत्वात् । शब्दसाम्यस्य तु न तथा, अत्र साधर्म्यस्यावास्तवत्वात् । ततश्च पूर्णोपमाया अन्यथानुपपत्त्या गुणक्रियासाम्यस्यैवार्थश्लेषविषयतया परित्यागे पूर्णोपमाविषयता युक्ता, न तु 'सकल–' इत्यादौ शब्दसाम्यस्यैवेति चेत् ? न-'साधर्म्यमुपमा' इत्येवाविशिष्टस्योपमालक्षणस्य शब्दसाम्याद्व्यावृत्तेरभावात् । यदि च शब्दसाम्ये साधर्म्यमवास्तवत्वान्नोपमाप्रयोजकम्, तदा कथ 'विद्वन्मानस–' इत्यादावाधारभूते चित्तादौ सरोवराद्यारोपो राजादेहंसाद्यारोपप्रयोजकः ।

किञ्च–यदि वास्तवसाम्य एवोपमाङ्गीकार्या, तदा कथं त्वयापि 'सकल-

---

मिव मुखं मनोज्ञमेतत्' में भी उपमा न मानकर, अर्थश्लेष ही क्यों न मान लिया जाय, (क्योंकि यहाँ 'मनोज्ञत्व' आदि धर्म उपमान और उपमेय—दोनों में अन्वित होने से श्लिष्ट ही तो है)? यहाँ यह कहना भी ठीक नहीं कि 'इव' शब्द की उपस्थिति में 'उपमा' की ही मान्यता युक्तियुक्त होगी क्योंकि तब तो 'सकलकलम्' आदि में भी 'उपमा ही मानना पड़ जायगा क्योंकि औपम्य जैसे 'इव' शब्द के सद्भाव में सभव है वैसे ही शब्द-साधर्म्य में भी, जैसा कि 'सकलकलम्' आदि में स्पष्ट ही है। तभी तो आचार्य रुद्रट का वह कथन है—

'यह ठीक है कि अर्थाश्रित होने से उपमा और समुच्चय–दोनों निस्सदिग्धरूप से अर्थ के ही अलङ्कार हैं किन्तु यह भी ठीक है कि कहीं शब्द-साधर्म्य के आधार पर, इन्हें शब्द-गत भी मान लिया जाय।

जिसके देखते यही मानना उचित है कि जैसे गुण साम्य और क्रिया-साम्य उपमा के नियामक हैं वैसे ही शब्द-साम्य भी उपमा का एक नियामक ही है। अब यहाँ यदि यह कहा जाय कि गुण-साम्य और क्रिया-साम्य तो उपमा के वास्तविक प्रयोजक हैं क्योंकि-ये ही दोनों ऐसे हैं जिन्हें वास्तविक साधर्म्य का आश्रय माना जा सकता है और जो शब्दसाम्य है उसमें उपमा की कोई प्रयोजकता नहीं क्योंकि ऐसा साम्य वास्तविक साधर्म्य का आश्रय नहीं और इस दृष्टि से जहा कहीं जैसे कि कमलमिव आदि में, गुण-साम्य और क्रिया साम्य हो, वहाँ, अर्थश्लेष न मानकर (क्योंकि उपमा ऐसे प्रसङ्गों में अर्थश्लेष का अपवाद है) पूर्णोपमा ही मानी जायगी और जहाँ, जैसे कि 'सकलकलम्' आदि में, केवल शब्द-साम्य हो वहाँ पूर्णोपमा नहीं मानी जायगी क्योंकि विना ऐसी व्यवस्था के पूर्णोपमा का विषय ही कहीं नहीं मिल पायेगा, तो इसका सीधा उत्तर यह होगा कि जब कि 'भेद में साधर्म्य' (साधर्म्यमुपमा) ही उपमा का लक्षण है और साधर्म्य में सभी प्रकार के (अर्थात् शब्दकृत भी) साधर्म्य सगृहीत हैं तो यह कदापि सभव नहीं कि शब्द-साधर्म्य में उपमा न मानी जाय।

यहाँ यह कहकर भी छुटकारा मिलना कथिन है कि शब्दकृत साधर्म्य अवास्तविक साधर्म्य है और इसलिये इसे उपमा का प्रयोजक नहीं माना जायगा क्योंकि तब को 'विद्वन्मानसहस' आदि सूक्ति में राकादिरूप अर्थपर हसादिरूप अर्थ के आरोप (रूपण) के

कमलम्—' इत्यादौ वाच्यमूलोपमाऽङ्गीक्रियते ? किन्त्वत्र श्लेषस्यैव साम्यनिर्वाहकत्वम्, न तु साम्यस्य श्लेषनिर्वाहकत्वम्, श्लेषमन्तरेण प्रथम साम्यस्यासंभवात्, इत्युपमाया एवाङ्गित्वेन व्यपदेशो न्याय्यम् 'प्रधानेन हि व्यपदेशा भवन्ति' इति न्यायात्।

ननु शब्दालङ्कारविषयेऽङ्गाङ्गिभावसंकरो नाङ्गीक्रियते तत्कथमत्र श्लेषोपमयोरङ्गाङ्गिभावः संकर इति चेत् ? न, अर्थानुसन्धानविरहिण्यनुप्रासादावेव तथानङ्गीकारात्। एवं दीपकादावपि ज्ञेयम्।

'सत्पक्षा मधुरगिरः प्रसाधिताशा मदोद्धतारम्भाः।
निपतन्ति धार्तराष्ट्राः कालवशान्मेदिनीपृष्ठे॥'

विमितरूप से चित्रादिरूप अर्थपर सरोवरादिरूप अर्थ का अभेदारोप (रूपक) जो कि शब्द-साधर्म्यकृत होने पर भी मान्य है असमान्य हो जायगा।

यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि यदि वास्तविक साम्य में ही उपमा की मान्यता ठीक है तब अवास्तविक साम्य के प्रसङ्ग जैसे कि 'सकलकलम्' आदि में उपमा की चर्चा भी नहीं होनी चाहिये, चाहे उसे अन्त में श्लेष द्वारा वाधित ही क्यों न कर दिया जाय। जैसे 'सकलकलम्' आदि के सम्बन्ध में वस्तुतः जो बात है वह तो यह है—यहाँ (शब्द) श्लेष ही साम्य का निर्वाह कर रहा है न कि साम्य द्वारा श्लेष का निर्वाह किया जा रहा है क्योंकि श्लेष के पहले साम्य की संभावना ही असंभव है और इस दृष्टि से यहाँ 'उपमा' ही प्रधान (अङ्गी) रूप से विराजमान है (क्योंकि श्लेष तो उपमा के अङ्ग अथवा साधनरूप से ही चरितार्थ हो चुका है) और इस नियम अर्थात् जो प्रधान हुआ करता है उसी का नाम लिया जाता करता है' के रहते यहाँ जिस अलङ्कार का नाम लिया जायगा वह 'उपमा' है श्लेष नहीं।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि 'सकलकलम्' आदि में 'श्लेष' और 'उपमा' का अङ्गाङ्गिभाव संकर मानना ठीक नहीं क्योंकि शब्दालङ्कारों ('सकलकलम्' में शब्द-श्लेष और शब्द-साधर्म्यमिश्र उपमा) में अङ्गाङ्गिभाव संकर नहीं माना जाता करता। किन्तु इसका उत्तर यह होगा कि जिन शब्दालङ्कारों में अङ्गाङ्गिभाव-सङ्कर नहीं माना जाया करता वे अनुप्रास आदि ही हैं क्योंकि उन्हीं में अर्थ के अनुसंधान की आवश्यकता नहीं पड़ा करती। (किन्तु यहाँ जैसे कि 'सकलकलम्' आदि में शब्द-श्लेष और शब्दसाधर्म्य-मिश्र उपमा में अर्थानुसंधान की आवश्यकता है वहाँ तो अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर की मान्यता युक्तियुक्त ही है।)

यही उपर्युक्त दृष्टि शब्द-साधर्म्यकृत दीपक आदि अलङ्कारों के प्रसङ्गों में जो रूप हो वहाँ भी रखनी चाहिये।

अन्त में वेणीसंहार की इस सूक्ति अर्थात्—

'सत्पक्षाः'—सुन्दर पंखोंवाले, मधुरगिरः—मधुर शब्द करते प्रसाधिताशाः—सर्वत्र सरस्सीम्यमें बिखेरते मदोद्धतारम्भाः—शरदागम के आनन्द में स्वच्छन्द विहार करते, धार्तराष्ट्राः—ये हंस कालवशात्—इस शरत्समय में मेदिनीपृष्ठे निपतन्ति—वस्तुतः सर्वत्र पृथिवी पर विचरते दिखायी दे रहे हैं।

अत्र शरद्वर्णनया प्रकरणेन धार्तराष्ट्रादिशब्दानां हंसाद्यर्थाभिधाने नियमनाद्दुर्योधनादिरूपोऽर्थः शब्दशक्तिमूलो वस्तुध्वनिः। इह च प्रकृतप्रबन्धाभिधेयस्य द्वितीयार्थस्य सूच्यतयैव विवक्षितत्वादुपमानोपमेयभावो न विवक्षित इति नोपमाध्वनिर्न वा श्लेष इति सर्वमवदातम्।

(७—चित्रालङ्कार)

पद्माद्याकारहेतुत्वे वर्णानां चित्रमुच्यते ।

आदिशब्दात्खड्ग-मुरज-चक्र-गोमूत्रिकादयः। अस्य च तथाविधलिपिसन्निवेशविशेषवशेन चमत्कारविधायिनामपि वर्णानां तथाविधश्रोत्राकाशसमवायवि-

---

में, 'उपमाध्वनि' और 'श्लेष' का जो झगड़ा है उसका भी निपटारा कर दिया जा रहा है। यहाँ कुछ काव्याचार्य 'उपमाध्वनि' मानते हैं क्योंकि उनके अनुसार यहाँ यह अभिप्राय निकलता है कि जैसे 'सत्पक्षा-बड़े-बड़े सहायकोंवाले, मधुरगिरः-मिष्टभाषी, प्रसाधिताशाः-विजय की आकांक्षा से भरे, मदोद्धतारम्भाः-वीरदर्प में चूर होकर सग्राम की तैयारी किये, धार्तराष्ट्राः-दुर्योधन आदि कौरवराजकुमार, कालवशात्-समय के फेर से, मेदिनीपृष्ठे निपतन्ति-सर्वत्र युद्ध-क्षेत्र में मर-कट कर गिर-पड़ रहे हैं वैसे ही सत्पक्षाः-सुन्दर पखोंवाले · धार्तराष्ट्राः-ये हस इतस्तत · · विचरते दिखायी दे रहे हैं।'

किन्तु वस्तुत यह सब उपमाध्वनि नहीं क्योंकि यहाँ 'सत्पक्षा' आदि शरद्वर्णन-सबन्धी सन्दर्भ का जो दुर्योधन-सम्बद्ध दूसरा अभिप्राय है उसमें उपमानोपमेयभाव की विवक्षा नहीं अपितु नाटकीय इतिवृत्त की सूचना ही विवक्षित है। यहा 'श्लेष' की भी कोई सभावना इसलिये नहीं क्योंकि हंसपरक वाच्यार्थ और दुर्योधनादिपरक व्यङ्ग्यार्थ में श्लेष कैसा? यहां तो वस्तुत शब्दशक्तिमूल वस्तुध्वनि का सौन्दर्य दर्शनीय है क्योंकि जहा एक ओर शरद्वर्णन रूप प्रकरण के कारण 'धार्तराष्ट्र' आदि शब्दों की अभिधा 'हंस' आदि अर्थों के प्रतिपादन में नियन्त्रित हो रही है वहाँ दूसरी ओर शब्दशक्ति की महिमा से (शाब्दी व्यञ्जना के कारण) दुर्योधनादिपरक द्वितीयार्थ भी प्रकाशित हो रहा है।

इस विशद विचार से श्लेष का स्वरूप स्पष्ट हो गया इसमें कोई संदेह नहीं।

अनुवाद—'चित्र' वह शब्दालङ्कार है जिसे वर्णों के ऐसे विन्यास-वैचित्र्य में देखा जाया करता है जिसमें पद्म आदि की रूपरेखा झलक जाया करती है।

यहा कारिका में 'आदि' पद का प्रयोग इसलिये है जिसमें खड्ग, मुरज, चक्र, गोमूत्रिका आदि आदि चित्रों की रूपरेखा का भी ग्रहण कर लिया जाय।

'चित्र' को शब्दालङ्कार कहने में उपचार का आश्रय लिया जाया करता है। यहा 'उपचार' के आश्रय का अभिप्राय यह है—वस्तुत तो शब्दात्मक वर्ण आकाश के गुण हैं और समवाय सम्बन्ध से आकाश में ही रहा करते हैं और चित्रालङ्कार के रूप में जो वर्ण-विन्यास है वह पद्मादि रूप में रचित लिपिसन्निवेश के अतिरिक्त और कुछ नहीं। किन्तु वैचित्र्याधायक लिपिसन्निवेशरूप वर्णों का वैचित्र्याधायक श्रोत्राकाशसमवेत वर्णों से कोई भेद नहीं हुआ करता। इसलिये यह निश्चित ही है कि आकाशनिष्ठ वर्णों को उपचारत आकारनिष्ठ मान लिया जाय। इस प्रकार आकाशसमवेत वर्णों का पद्माद्याकारनिष्ठ वर्णों से औपचारिक अभेद ही 'चित्रालङ्कार' के शब्दगत अलङ्कार होने का कारण है।

ग्रेपपक्षेण चमत्कारविधायिभिर्वर्णभेदेनोपचारात्पद्मबन्धाद्याकारत्वम्। तत्र पद्मबन्धो यथा मम—

'मारमा सुषमा चारुरुचा मारवधूत्तमा।
मात्तधूर्तमावासा सा वामा मेऽस्तु मा रमा॥'

एषोऽष्टदलपद्मबन्धो दिग्दलेषु निर्गमप्रवेशाभ्यां श्लिष्टवर्णः, किन्तु विदिग्दलेष्वन्यथा, कर्णिकाक्षरं तु श्लिष्टमेव। एवं खड्गबन्धादिकमप्यूह्यम्।

काव्यान्तर्गडुभूततया तु नेह प्रपञ्च्यते।

उदाहरण के लिये यह स्वरचित 'पद्मबन्ध'—

'मारमा सुषमा'

[जिसका अर्थ यह है—मार-मा-सुषमा = मार अर्थात् कामदेव की मा = शोभा की भाँति सुषमा अथवा शोभावाली चारुरुचा मारवधूत्तमा = अपनी सुन्दरता से मार अर्थात् कामदेव की वधू रति को भी पराजित करनेवाली मात्तधूर्तमावासा = विट-जैर आदि के द्वारा अगम्य भवन में विराजमान सा वामा = वह सुन्दरी, मेऽस्तु = मुझे मिल जाय रमा मा अस्तु = लक्ष्मी हो अथवा न मिले]

यह उपर्युक्त पद्मबन्ध 'अष्टदल-पद्म'-बन्ध है। इसके अष्टदलपद्मबन्ध होने का अभिप्राय यह है कि इसके कतिपय वर्ण चारों दिशाओं में फैले दलों अथवा पंखड़ियों पर निर्गम और प्रवेश अर्थात् अनुलोम और प्रतिलोम-पाठ में श्लिष्ट अथवा एकरूप से लगा करते हैं और कतिपय ऐसे भी रहा करते हैं जो विदिशाओं में स्थित दलों पर केवल प्रवेश अथवा निर्गम (केवल अनुलोम अथवा केवल प्रतिलोम पाठ) के कारण श्लिष्ट अथवा एकरूप नहीं रहा करते। एकवर्ण जो कर्णिकाक्षर है वह श्लिष्ट अथवा एकरूप का ही रहा करता है। इस प्रकार के चित्र-बन्ध की भाँति अन्य भी चित्र-प्रकार जैसे कि खड्गबन्ध आदि स्वयं समझ लिये जा सकते हैं।

यहाँ चित्रालङ्कार का भेद-प्रभेद सविस्तर नहीं बताया जा रहा है क्योंकि काव्य के लिये यह अलङ्कार एक ऐसी गांठ का काम करता है जिससे रस का प्रवाह विच्छिन्न हो जाता है और सहृदयहृदय उद्विग्न हो उठता है।

विमर्श—(क) प्रायः सभी आलङ्कारिकों ने 'चित्र' अलङ्कार की चर्चा की है। अतिवादी आलङ्कारिक इसे आस्वादित कवि की रचना कहा करते हैं। चित्रालङ्कार का निर्माण-नैपुण्य काव्य की एक शाब्दिक साधना है। इस साधना का अभ्यास प्रायः सभी संस्कृत के कवि कर चुके हैं।

(ख) विश्वनाथ कविराज का चित्रालङ्कार-लक्षण 'अलङ्कारसर्वस्व' के इस चित्र-लक्षण का अनुकरण करता है—

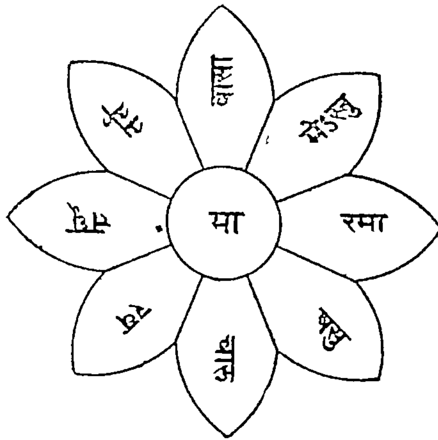
'वर्णानां खड्गाद्याकृतिहेतुत्वे चित्रम्।'

पीतकलत्यप्रस्तावे स्थानविशेषश्लिष्टवर्णविन्यासात्मकं चित्रलक्षणम्। यद्यपि लिप्यक्षराणां खड्गाद्याकृतिसंनिवेशविशिष्टत्वं तथापि श्रोत्राकाशसमवेतवर्णात्मकशब्दाभेदेन तेषां लोके प्रतीतेर्वाचकशब्दालङ्कारोऽयम्।

—अलङ्कारसर्वस्व पृ॰ १

(ग) विश्वनाथ कविराज द्वारा प्रदर्शित 'अष्टदलपद्मचित्र' इस प्रकार देखा जा सकता है—

(अष्टदलपद्मचित्र)



(घ) चित्रालङ्कार का विशद विवेचन सरस्वतीकण्ठाभरणकार ने किया है। सरस्वतीकण्ठाभरणकार के अनुसार 'चित्र' ध्वनिशून्य रचना नहीं जिससे वह आलेख्य की भाँति निर्जीव लगा करे। चित्र की परिभाषा वस्तुतः यह है—

'वर्णस्थानस्वराकारगतिबन्धान् प्रतीह यः । नियमस्तद् बुधैः षोढा चित्रमित्यभिधीयते ॥'

अर्थात् 'चित्र' वह रचना है जो कि व्यञ्जन, (उच्चारण) स्थान, स्वर, पद्मादि आकृति, गति (पढने का विशेष ढग) और बन्ध के नियम से आश्चर्यजनक हुआ करती है।

'चित्र' के अनेकानेक भेद-प्रभेद हैं जो कि उपर्युक्त षड्विध वर्णादि नियम के ही परिणाम हैं। वर्ण अथवा व्यञ्जन-नियम के कारण 'वर्णचित्र' बनता है जिसे निम्न सूक्ति में देखा जा सकता है—

'न नोननुन्नो नुन्नेनो नाना नानानना ननु ।
नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नेनो नानेना नुन्ननुन्ननुत् ॥'

यहाँ 'न' इस एक व्यञ्जन के ही नियमत प्रयोग से 'एकव्यञ्जन चित्र' बना हुआ है।

स्थान नियम से 'स्थान-चित्र' की रचना हुआ करती है जिसमें 'निष्कण्ठ्य', 'निस्तालव्य', 'निरोष्ठ्य' आदि-आदि के अनेकों भेद-प्रभेद हैं। उदाहरण के लिये यह 'निष्कण्ठ्य चित्र'—

'भूरिभूतिं पृथुप्रीतिसुरुमूर्तिं पुरुस्थितिम् ।
विरिञ्चि सूचिरुचिधीः शुचिभिर्नुतिभिर्धिनु ॥'

स्वर-नियम से 'स्वर चित्र' रचे जाते हैं। इस 'स्वरचित्र' के भी 'ह्रस्वैकस्वर', 'दीर्घैकस्वर' आदि-आदि भेद-प्रभेद हैं। जैसे कि, यह 'ह्रस्वैकस्वर'-चित्र—

'उरुगुं द्युगुरु युत्सु चुक्रुशुस्तुष्टुवु पुरु । लुलुभुः पुपुषुर्मुत्सु मुमुहुर्नु मुहुर्मुहुः ॥'

आकार-नियम के परिणाम-स्वरूप पद्मादि आकृतियों के उन्मुद्रण में जो 'चित्र' बना करता है उसके प्रकार-वैचित्र्य का क्या कहना ? आकार चित्रों में चतुर्दलपद्म, अष्टदलपद्म, षोडशदलपद्म, आदि-आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय है। जैसे कि 'अष्टदलपद्म'—

'याश्रिता पावनतया यातनच्छिदनीचया ।
याचनीया धिया माया यामायासं स्तुता श्रिया ॥'

गति-नियम भी चित्र-निर्माण का कारण है। गति-चित्र के भी अनेकों भेद हैं जिनमें 'गत-प्रत्यागत', 'तुरङ्ग-पद', 'सर्वतोभद्र' आदि प्रसिद्ध हैं। उदाहरण के लिये 'गतप्रत्यागत' चित्र—

'वारणागगभीरा सा साराभीगगणारवा । कारितारिवधा सेना नासेधावरितारिका ॥

स्थान-नियम से 'चित्र' के अनेकानेक भेद निष्पन्न होते हैं जिनमें 'त्रिचतुष्कचक्रबन्ध' 'हीर, शरबन्ध' 'विविक्तिबन्ध' आदि मुख्य हैं। उदाहरण के लिये 'पद्मबन्ध'—

'कमलाकविहारिविकासविशेषवहं बकवञ्च
न नगाग्निकरं दिवि सारमनारमणं चरतां च ।
तमसां चक्रहानि विकासवशेन वरं वनकम्प
न नमामि चिरं सवितारमनादिमहं जगतां च ॥

'चित्र' की भेद-गणना असंभव है। साथ ही साथ काव्य-साहित्य में इसका कोई विशेष उपयोग भी नहीं। सरस्वतीकण्ठाभरणकार का इसीलिये यह कथन है—

'दुष्करत्वात् कठोरत्वात् दुर्बोधत्वात् विभावके ।
दिङ्मात्रं दर्शितं चित्रे शेषमूह्यं महात्मभिः ॥

(क) साहित्यदर्पणकार ने उपर्युक्त चित्र-भेदों में केवल आकृति-नियम के चित्र-भेदों का निर्देश किया जिनमें 'अष्टदलपद्मचित्र' की रचना का संकेत भी कर दिया है। अष्टदलपद्मचित्र के निर्माण का यह नियम है जैसा कि सरस्वतीकण्ठाभरणकार का कथन है—

'कर्णिकायां न्यसेदेकं द्वे द्वे दिक्षु विदिक्षु च ।
प्रवेशनिर्गमौ दिक्षु कुर्यादष्टदलाम्बुजे ॥

अर्थात् 'अष्टदलपद्म' में एक वर्ण कर्णिका अथवा बीजकोष के केन्द्र में रहना चाहिये और पूर्व आदि दिशाओं तथा पूर्व-पश्चिम आदि की विदिशाओं में दो-दो वर्णों को विन्यस्त करना चाहिये। दिशाओं में विन्यस्त वर्णों का अनुलोम-प्रतिलोम पाठ हुआ करता है और विदिशाओं में स्थित वर्ण केवल अनुलोमतः पढ़े जाया करते हैं।

कभी-कभी कविजन अपने काव्यों को देवार्पण करने के लिये 'अष्टदलपद्म' चित्र रचा करते हैं और उसमें अपने नाम भी अंकित रखा करते हैं। उदाहरण के लिये महाकवि राजशेखर-रचित यह 'अष्टदलकमल' चित्र जो कि 'राजशेखरकमल' कहा जाया करता है—

'राजावधाविरम्या विसररसविद्म्याजयाक्रमापकारा
राजः पद्माभयोषा नयनमनयनस्या स्वधा स्वम्भमारा ।
रासा न्यस्तस्थिरत्वा श्रुतिनमनहितः श्रीः करवारवारा
राया रसास्तु मह्यं शिवममनविभ्राजविभ्रमवतारा ॥

(ख) ध्वनिवादी आलङ्कारिकों के लिये अलङ्कार-विवेचन आवश्यक है। विश्वनाथ कविराज ध्वनिवादी आलङ्कारिक हैं। विश्वनाथ कविराज ने 'चित्रालङ्कार' का सोदाहरण लक्षण-निरूपण किया है और इसे 'काव्यान्तर्गडुभूत' कहा है। किन्तु विश्वनाथ कविराज का यह सब विवेचन अलङ्कारशास्त्र की प्राचीन परम्परा का अनुसरण मात्र ही है 'रसात्मक वाक्य' की अलङ्कार-योजना का निरूपण कदापि नहीं। विश्वनाथ कविराज को 'चित्रकाव्य' नामक काव्य-प्रकार मान्य नहीं किन्तु शब्दालङ्कारों में 'चित्रालङ्कार' अवश्य मान्य है। ऐसा लगता है जैसे प्राचीन साहित्यिक परम्परा और नवीन काव्य मर्यादा के द्वन्द्व में ही 'साहित्यदर्पण' की रचना हुई है और इसलिये साहित्यदर्पणकार का समीक्षात्मक संतुलन कहीं-कहीं शिथिल हो गया है। चित्रालङ्कार यदि काव्यान्तर्गडुभूत है और रसात्मक वाक्य को काव्य मानने वाले आचार्य के लिये तो ऐसा ही है—तब इसके लक्षण-निरूपण की भी कोई आवश्यकता न थी। किन्तु अलङ्कारसर्वस्वकार आचार्य रुय्यक और सरस्वतीकण्ठाभरणकार भोजराज के प्रभाव में पड़कर विश्वनाथ कविराज ने चित्रालङ्कार को भी 'साहित्यदर्पण' के ही भीतर स्थान दिया है और अष्टदलों को भी दिखाने का प्रयास कर दिया है। व्यक्तिविशेष कवियों से अन्यथा लिखना कठिन है

(प्रहेलिका : अलङ्कारत्वखण्डन)

रसस्य परिपन्थित्वान्नालङ्कारः प्रहेलिका ॥ १३ ॥
उक्तिवैचित्र्यमात्रं सा च्युतदत्ताक्षरादिका ।

च्युताक्षरा दत्ताक्षरा च्युतदत्ताक्षरा च ।

उदाहरणम्—

'कूजन्ति कोकिलाः साले यौवने फुल्लमम्बुजम् ।
किं करोतु कुरङ्गाक्षी वदनेन निपीडिता ॥'

अत्र 'रसाले' इति वक्तव्ये 'साले' इति 'र' च्युतः । 'वने' इत्यत्र 'यौवने' इति 'यौ' दत्त । 'वदनेन' इत्यत्र 'मदनेन' इति 'म' च्युत 'व' दत्तः । आदि-शब्दात्क्रियाकारकगुप्त्यादय ।

तत्र क्रियागुप्तिर्यथा—

'पाण्डवानां सभामध्ये दुर्योधन उपागतः ।
यस्मै गा च सुवर्णं च सर्वाण्याभरणानि च ॥'

अत्र 'दुर्योधनः' इत्यत्र 'अदुर्योऽधनः' इति । 'अदु' इति क्रियागुप्तिः । एवमन्यत्रापि ।

अनुवाद—शब्दालङ्कारों में 'प्रहेलिका' को भी एक अलङ्कार माना गया है । किन्तु इसे अलङ्कार मानना ठीक नहीं क्योंकि इससे काव्यात्मभूत रस में विघ्न ही पड़ा करता है । 'प्रहेलिका' के 'च्युताक्षरा', 'दत्ताक्षरा', 'च्युतदत्ताक्षरा' आदि प्रकार अधिक से अधिक उक्तिवैचित्र्य-मात्र ही कहे जा सकते हैं ।

यहाँ कारिका के 'च्युतदत्ताक्षरादिका' पद में 'च्युताक्षरा', 'दत्ताक्षरा' और 'च्युतदत्ताक्षरा' इन तीन प्रकार की प्रहेलिकाओं का ग्रहण किया गया है ।

उदाहरण के लिये—

'साल पर कोयलें कूक रही हैं और यौवन में कमल खिले हुये हैं । यह मृगनयनी, जो कि वदन से निपीडित है, क्या करे ?'

यहाँ 'साले' में 'च्युताक्षरा' प्रहेलिका है क्योंकि यहाँ के उपयुक्त पद 'रसाले' के 'र' को छोड़ दिया गया है । यहीं 'यौवने' में 'दत्ताक्षरा' प्रहेलिका है । क्योंकि यहाँ के उचित 'वने' पद में 'यौ' को जोड़ दिया गया है । इसी प्रकार 'वदनेन' में 'च्युतदत्ताक्षरा' प्रहेलिका है क्योंकि यहाँ के उपयुक्त 'मदनेन' पद का 'म' निकल गया है (च्युत) और उसके स्थान पर 'व' चला आया है (दत्त) ।

कारिका के 'च्युतदत्ताक्षरादिका' पद में 'आदि' का प्रयोग इसलिये है जिसमें यहाँ 'क्रियागुप्ति', 'कारकगुप्ति' आदि-आदि प्रहेलिका-प्रकार सगृहीत मान लिये जाँय । जैसे कि क्रियागुप्ति—

'पाण्डवों की सभा में जो निर्धन व्यक्ति गया उसे उन्होंने गौ, भूमि, स्वर्ण किंवा नाना भाँति के रत्न दिये ।'

यहाँ 'क्रियागुप्ति' स्पष्ट है क्योंकि यहाँ 'दुर्योधन' पद में 'अदु' क्रिया छिपी हुई है । 'सभामध्ये दुर्योधन' में यह छिपी क्रिया इस प्रकार निकलती है—'अदु'+या+अधनः

(अर्थालङ्कार । १—उपमा)

अथावसरप्राप्तेष्वर्थालङ्कारेषु सादृश्यमूलेषु लक्षितव्येषु तेषामप्युपजीव्यत्वेन प्राधान्यात् प्रथममुपमामाह—

साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः ॥ १४ ॥

रूपकादिषु साम्यस्य व्यङ्ग्यत्वम्, व्यतिरेके च वैधर्म्यस्याप्युक्तिः, उपमेयोपमायां वाक्यद्वयम्, अनन्वये त्वेकस्यैव साम्योक्तिरित्यस्या भेदः ।

नपागतः'। इसी प्रकार 'कारकगुप्ति' आदि रूप की प्रहेलिकाओं के उदाहरण स्वयं देख लिये जा सकते हैं।

विमर्श—(क) चित्रालङ्कार 'अप्रधानाङ्गभूत' है और प्रहेलिका 'रसपरिपन्थिनी' है। तब इनका सोदाहरण अलग-निरूपण करना 'गड्डरिकाप्रवाह' नहीं तो और क्या है ?

(ख) विश्वनाथ कविराज का 'प्रहेलिका'-निरूपण सरस्वतीकण्ठाभरणकार के प्रभाव में हुआ है। 'प्रहेलिका' क्या है ? सरस्वतीकण्ठाभरणकार ने 'प्रहेलिका' को 'गोष्ठी-कुतूहल' कहा है और इसके ६ प्रकारों का सविस्तर निरूपण किया है—

'प्रहेलिका सकृत्स्पष्टा साऽपि पोढा व्युत्पन्नतरा। च्युताक्षरोभयं मुष्टिर्बिन्दुमत्यर्थवत्यपि ॥
क्रीडागोष्ठीविनोदेषु तज्ज्ञैराकीर्णमन्त्रणे। परव्यामोहने चापि सोपयोगा प्रहेलिका ॥
(सरस्वतीकण्ठाभरण २ १११-१४)

'प्रहेलिका' का उपयोग गोष्ठी विनोद रहस्यभाषण और दूसरे को व्यामोहित करने में ही है। इससे यह स्पष्ट है कि काव्य में 'प्रहेलिका' का कोई स्थान नहीं।

(ग) विश्वनाथ कविराज द्वारा निर्दिष्ट 'क्रियागुप्ति' 'कारकगुप्ति' आदि प्रहेलिका-प्रकार सरस्वतीकण्ठाभरण के अनुसार 'गूढ' के भेद-प्रभेद हैं—

क्रियाकारकसम्बन्धे पदाभिप्रायसंवृतिः। गोपितैः षड्विधं प्राहुर्गूढं गूढार्थवेदिनः ॥
(सरस्वतीकण्ठाभरण २ ११५)

इसमें 'क्रियागुप्ति' का यह उदाहरण बड़ा सुन्दर है—

'स्तनजघनभराभिराममस्मद् गमनमिदं मदिरालसेक्षणायाः।
कथमिव सहसा बकोत्कयन्तो मदनशरस्मरजर्जरा युवानः ॥

यहाँ 'स्त' क्रियापद गुप्त है क्योंकि उपर्युक्त श्लोक-वाक्य इस प्रकार है—'अघनभराभिराममस्मद् मदिरालसेक्षणायाः गमनमबकोत्कयन्तो हे युवानः ! कथमिव पूर्व मदनशरस्मर जर्जरा न स्त।

अनुवाद—अब अर्थालङ्कारों के निरूपण के आरम्भ में सादृश्यमूलक अर्थालङ्कारों का विवेचन आवश्यक समझ कर सर्वप्रथम 'उपमा' का स्वरूप-विवेक किया जा रहा है क्योंकि यही वह अलङ्कार है जिसे सादृश्यमूलक अर्थालङ्कारों का मूल माना गया है और जो कि वस्तुतः एक सर्वाधिक चमत्कारपूर्ण अलंकार है।—

'उपमा' क्या है ? 'उपमा' वह अलंकार है जिसे उपमान और उपमेय का ऐसा साम्य अथवा 'सादृश्य' कहा करते हैं जो कि स्पष्टतः एक वाक्य में प्रतिपादित रहा करता है और जिसमें वैधर्म्य की कोई भी चर्चा नहीं हुआ करती।

'उपमा दो पदार्थों का वह वैधर्म्यवाच्य साम्य है जो कि एक वाक्य-प्रतिपाद्य हुआ करता है'—इस परिभाषा से यह स्पष्ट है कि उपमा 'रूपक' आदि अलङ्कारों से भिन्न जिनमें (दो पदार्थों का) साम्य (वाच्य नहीं अपितु) व्यङ्ग्य हुआ करता है 'व्यतिरेक' से

(उपमा के भेद-प्रभेद · १म पूर्णोपमा · श्रौती और आर्थी)

सा पूर्णा यदि सामान्यधर्म औपम्यवाचि च ।
उपमेयं चोपमानं भवेद्वाच्यम्—

सा उपमा । साधारणधर्मो द्वयोः सादृश्यहेतू गुणक्रिये मनोज्ञत्वादि । औपम्यवाचकमिवादि । उपमेयं मुखादि । उपमानं चन्द्रादि ।

पृथक् है जिसमें (साम्य के साथ-साथ) वैधर्म्य की भी चर्चा रहा करती है, 'उपमेयोपमा' से एक रूप नहीं जिसमें साम्य (एक वाक्य में नहीं अपितु) दो वाक्यों में प्रतिपादित हुआ करता है और 'अनन्वय' से भी अलग है जिसमें (दो पदार्थों का नहीं अपितु) एक पदार्थ का ही साम्य वर्णित रहा करता है ।

विमर्श—(क) काव्य में 'उपमा' की उपयोगिता और उत्कर्षाधायकता के सबन्ध में एक कवि ने यह कहा—

'अलङ्कारशिरोरत्नं सर्वस्वं काव्यसपदाम् ।
उपमा कविवशस्य मातेवेति, मतिर्मम ॥'

अर्थात् 'उपमा' वस्तुत कविता की जननी है । 'उपमा' पर कविवश का अस्तित्व निर्भर है । 'उपमा' कविता का सर्वस्व है और यही वह अलकार है जो कि कविता का चूडामणि है ।

आलकारिक 'उपमा' को अलकार-वृक्ष का बीज मानते हैं—

'उपमैवानेकप्रकारवैचित्र्येणानेकालङ्कारबीजभूतेति प्रथमं निर्दिष्टा ।'

(रुय्यक . अलङ्कारसर्वस्व)

अर्थात् 'उपमा' में वह शक्ति है जो कि अनेकानेक अलकारों को जन्म दे सकती है । अलकार का तात्पर्य वैचित्र्य है और उपमा समस्त वैचित्र्य की मातृभूमि है ।

(ख) 'उपमा' को 'अवैधर्म्य साम्य' मानने का यह अभिप्राय है—'साम्य' अथवा 'साधर्म्य' के तीन प्रकार हैं—(१) भेदप्राधान्य जैसे कि 'व्यतिरेक' में, (२) अभेदप्राधान्य, जैसे कि रूपक में और (३) भेदाभेदतुल्यत्व । इस साम्य अथवा साधर्म्य के तृतीय प्रकार अर्थात् 'भेदाभेदतुल्यत्व' की सभावना में जो सादृश्य की अनुभूति है वह उपमा है (**एव च भेदाभेदतुल्यत्वविषये यः सादृश्यप्रत्ययो जायते तस्योपमाविषयत्वमुक्तम्**—आचार्य जयरथ) । अलङ्कारसर्वस्वकार ने भी इसीलिए कहा है—

'यत्र किञ्चित् सामान्य कश्चिच्च विशेष· स विषय सदृशतायाः ।'

अर्थात् सादृश्य की प्रतीति का विषय वह वस्तु है जिसमें अभेदहेतुक सामान्य और भेदहेतुक विशेष दोनों रहा करते हैं ।

अनुवाद—**यह उपमा तब 'पूर्णोपमा' हुआ करती है जबकि इसमें उपमेय, उपमान, साधारण धर्म और उपमावाचक पद सभी स्पष्टतया प्रतिपादित रहा करते हैं ।**

यहां कारिका में 'सा' का अभिप्राय 'उपमा' का है, 'साधारण धर्म' का अभिप्राय उपमान और उपमेयरूप से अवस्थित दो पदार्थों के पारस्परिक सादृश्य के नियामक 'मनोज्ञत्व' (सौन्दर्य) आदि गुण किंवा क्रिया आदि का है और 'औपम्यवाचक' का अभिप्राय सादृश्य के साक्षात् प्रतिपादक 'इव' आदि पदों का अभिप्राय है । 'उपमेय' उसे कहते हैं जो कि सादृश्य का आश्रयभूत पदार्थ हुआ करता है जैसे कि 'मुख' आदि और 'उपमान' वह है जिसे सादृश्य का निश्चितरूप से सबन्धी पदार्थ कहा जाया करता है जैसे कि 'चन्द्र' आदि ।

—इयं पुनः ॥ १५ ॥

श्रौती यथेववाशब्दा इवार्थो वा वतिर्यदि ।
आर्थी तुल्यसमानाद्यास्तुल्यार्थो यत्र वा वतिः ॥ १६ ॥

यथेववादयः शब्दा उपमानानन्तरप्रयुक्ततुल्यादिपदसाधारणा अपि श्रुतिमात्रेणोपमानोपमेयगतसादृश्यलक्षणसम्बन्धं बोधयन्तीति तत्सद्भावे श्रौत्युपमा। एवं 'तत्र तस्येव' इत्यनेनेवार्थे विहितस्य वतेरुपादाने। तुल्यादयस्तु—'कमलेन तुल्यं मुखम्' इत्यादावुपमेय एव। 'कमलं मुखस्य तुल्यम्' इत्यादावुपमान एव। 'कमलं मुखं च तुल्यम्' इत्यादावुभयत्रापि विश्राम्यन्तीत्यर्थानुसन्धानादेव साम्यं प्रतिपादयन्तीति तत्सद्भावे आर्थी। एवं 'तेन तुल्यम्—' इत्यादिना तुल्यार्थे विहितस्य वतेरुपादाने।

यह 'पूर्णोपमा' दो प्रकार की हुआ करती है—(१) वह जिसे 'श्रौती' पूर्णोपमा कहा करते हैं क्योंकि इसमें 'यथा' 'इव' 'वा' आदि जैसे औपम्यवाचक पद अथवा 'इव' के अर्थ में विहित 'वति' प्रत्यय का प्रयोग हुआ करता है जिसके श्रवणमात्र से ही सादृश्य का अभिप्राय प्रतीत हो उठता है और (२) वह जो कि 'आर्थी' पूर्णोपमा कही गई है क्योंकि इसमें प्रयुक्त 'तुल्य' 'समान' आदि औपम्यवाचक पद अथवा तुल्यार्थक 'वति' प्रत्यय से जो सादृश्य प्रतीत हुआ करता है वह (साक्षात् नहीं अपितु) अर्थानुसन्धान-पूर्वक ही प्रतीत हुआ करता है।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि क्योंकर 'यथा' 'इव' 'वा' आदि जैसे किसी पद के प्रयोग में उपमा 'श्रौती' हुआ करती है। 'यथा' 'इव' 'वा' आदि के रहने से उपमा इसलिये 'श्रौती' हुआ करती है क्योंकि ये पद ऐसे हैं जो कि उपमान के बाद 'प्रयुक्त' किये जानेवाले 'तुल्य' आदि पदों के समान होने पर भी श्रवणमात्र से ही उपमान और उपमेय दोनों में अनुगत सादृश्य के स्वरूप को स्पष्ट प्रकट कर दिया करते हैं। इसी भाँति 'तत्र तस्येव' (५-१-११६) इस पाणिनि-सूत्र से 'इव' के अर्थ में विहित 'वति' प्रत्यय के प्रयोग में भी उपमा 'श्रौती' ही हुआ करती है क्योंकि इस प्रत्यय का श्रवणमात्र ही उपमान और उपमेय के पारस्परिक साम्य का स्पष्ट परिचय दे दिया करता है।

किन्तु 'तुल्य' आदि पदों के प्रयोग में उपमा 'आर्थी' हुआ करती है। 'तुल्य' आदि पदों के प्रयोग में उपमा के 'आर्थी' होने का कारण यह है कि उपमान और उपमेय दोनों में अनुगत सादृश्य के मूलभूत साम्य अथवा साधर्म्य का प्रतिपादन इनके श्रवणमात्र से नहीं अपितु इनके अर्थावबोध के कारण हुआ करता है क्योंकि कहीं जैसे कि 'कमल के तुल्य मुख है' आदि में 'तुल्य' आदि पद केवल उपमेय से संबद्ध प्रतीत होते हैं, कहीं जैसे कि 'कमल मुख के तुल्य है' आदि में 'तुल्य' आदि पद केवल उपमान से संबद्ध दिखाई देते हैं और कहीं-कहीं जैसे कि 'कमल और मुख तुल्य हैं' आदि में ऐसा भी होता है कि ये पद उपमान और उपमेय दोनों में संबद्ध रहा करते हैं (इसलिये जब तक इनके अर्थ का पर्यालोचन न हो तब तक उभयगत साम्य अथवा साधर्म्य का स्पष्टीकरण नहीं हो पाता)। इसी प्रकार 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' (५-१-११५) इस पाणिनिसूत्र से विहित 'वति' प्रत्यय के अर्थानुसन्धान से साम्य का अवबोध होने के कारण, इस प्रत्यय के प्रयोग में भी उपमा 'आर्थी' ही हुआ करती है।

(पूर्णोपमागत भेद : तद्धितगा, समासगा और वाक्यगा पूर्णोपमा)

द्वे तद्धिते समासेऽथ वाक्ये—

द्वे श्रौती आर्थी च। उदाहरणम्—

(तद्धितगा, समासगा और वाक्यगा श्रौती पूर्णोपमा)

'सौरभमम्भोरुहवन्मुखस्य कुम्भाविव स्तनौ पीनौ।
हृदयं मदयति वदनं तव शरदिन्दुर्यथा बाले!॥'

अत्र क्रमेण त्रिविधा श्रौती।

विमर्श—उपमा के 'श्रौती' होने का तात्पर्य सादृश्य का 'इवादि' शब्द से प्रतिपादित होना है—इवादि शब्द दो भिन्न वस्तुओं के सादृश्य के अभिधायक हुआ करते हैं—**'यथेवशब्दौ सादृश्यमाहतुर्व्यतिरेकिणो.'** (भामह)।

'उपमा' का 'आर्थी' होना 'तुल्यादि' शब्द से सादृश्य का प्रत्यायन है जैसा कि आचार्य मल्लिनाथ का कथन है—

'इवादीनामप्यर्थाद् सदृशपर्यवसानं श्रुत्या तु सादृश्यगमकत्वमेवेति तत्प्रयोगे श्रौती-त्यर्थ। तुल्यादिशब्दानां तु श्रुत्या सदृशपरत्वमर्थात्तु सादृश्यपर्यवसानमिति तेषां प्रयोगे त्वार्थीत्याह।'

अनुवाद—'श्रौती' और 'आर्थी' प्रकारों की यह द्विविध पूर्णोपमा तद्धितगा, समासगा और वाक्यगा होने के कारण ६ प्रकार की हो जाया करती है।

यहाँ कारिका में 'द्वे' से श्रौती और आर्थी दोनों प्रकार की पूर्णोपमाओं का अभिप्राय लिया गया है। जैसे कि—

अनुवाद—'अरी सुन्दरी! तेरे मुख का सौरभ कमलवत् है, तेरे दोनों स्तन दो घड़ों की भाँति पीन (मोटे) हैं और तेरा मुख उसी प्रकार हृदय को आनन्दित किया करता है जिस प्रकार शरद् ऋतु का चन्द्रमा।'

यहाँ पूर्वार्द्ध के प्रथम और द्वितीय वाक्य में क्रमश 'तद्धितगा' और 'समासगा' श्रौती पूर्णोपमा है और उत्तरार्ध में 'वाक्यगा' श्रौती पूर्णोपमा परिलक्षित हो रही है।

[यहा 'सौरभमम्भोरुहवन्मुखस्य' में तद्धितगा श्रौती पूर्णोपमा है—उपमेय 'मुख' है, उपमान अम्भोरुह है, सौरभ दोनों में अनुगत साधारण धर्म है और 'अम्भोरुहवत्' (अम्भोरुहस्येव अम्भोरुहवत्) में 'इव' के अर्थ में विहित तद्धित प्रत्यय 'वति' के रूप में औपम्यवाचक पद भी विराजमान है। इसी प्रकार—'कुम्भाविव स्तनौ पीनौ' में समासगा श्रौती पूर्णोपमा दिखायी दे रही है क्योंकि यहा उपमेय 'स्तन', उपमान 'कुम्भ', साधारण धर्म 'पीनत्व' और उपमावाचक पद 'इव'—ये उपमा के चारों अङ्ग विराजमान हैं। यह श्रौती पूर्णोपमा 'समासगा' इसलिये है क्योंकि यहां 'कुम्भाविव' समस्तपद है जिसमें 'इवेन समासो विभक्त्यलोप पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व च' इस वार्तिक के अनुसार समास तथा विभक्ति के लोप का अभाव दोनों स्पष्ट हैं। इसी भाँति 'हृदयं मदयति वदन तव शरदिन्दु-र्यथा बाले' में वाक्यगा श्रौती पूर्णोपमा का स्वरूप स्पष्ट है क्योंकि यहा 'वदन' उपमेय है, 'शरदिन्दु' उपमान है, 'मादकता' साधारण धर्म है और 'यथा' के रूप में औपम्यवाचक पद भी विद्यमान है।]

(तद्धितगा समासगा और वाक्यगा आर्थी पूर्णोपमा)

'मधुरः सुधावदधरः पल्लवतुल्योऽतिपेलवः पाणिः ।
चकितमृगलोचनाभ्यां सदृशी चपले च लोचने तस्याः ॥'

अत्र क्रमेण त्रिविधा आर्थी ।

—पूर्णा षडेव तत् ।

स्पष्टम् ।

(लुप्तोपमा : भेद-प्रभेद)

लुप्ता सामान्यधर्मादेरेकस्य यदि वा द्वयोः ॥ १७ ॥
त्रयाणां वानुपादाने श्रौत्यार्थी सापि पूर्ववत् ।

सा लुप्ता ।

अनुवाद—'उस सुन्दरी का अधर सुधावत् मधुर है, हाथ पल्लवतुल्य सुकुमार हैं और नेत्र चकित मृग के नेत्रों के समान चञ्चल हैं।'

यहाँ प्रथमार्ध के प्रथम वाक्य में 'तद्धितगा' द्वितीय वाक्य में 'समासगा' और उत्तरार्ध में 'वाक्यगा' आर्थी पूर्णोपमा क्रमशः दिखायी दे रही हैं।

['मधुरः सुधावदधरः' में तद्धितगा आर्थी पूर्णोपमा है क्योंकि यहाँ अधर 'उपमेय' सुधा 'उपमान' माधुर्य 'साधारण धर्म' और (सुधावत् में) 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' (५ १ ११५) इस पाणिनि-सूत्र से 'तुल्य' के अर्थ में विहित तद्धित 'वति' प्रत्ययरूप औपम्यवाचक पद—ये चारों विराजमान हैं। 'पल्लवतुल्योऽतिपेलवः पाणिः' में समासगा आर्थी पूर्णोपमा का स्वरूप स्पष्ट झलक रहा है क्योंकि यहाँ उपमेय 'पाणि' उपमान 'पल्लव' साधारण धर्म 'सौकुमार्य' और (पल्लवतुल्य में) औपम्यवाचक समासगत 'तुल्य' पद, ये सभी उपमा के अङ्ग उपस्थित हैं। इसी प्रकार 'चकितमृगलोचनाभ्यां सदृशी चपले च लोचने तस्याः' में वाक्यगा आर्थी पूर्णोपमा की शोभा दिखायी दे रही है क्योंकि यहाँ लोचन 'उपमेय' चकितमृगलोचन 'उपमान' चपलता 'साधारणधर्म' और सदृश के रूप में 'औपम्यवाचक' पद, ये चारों उपमा के अङ्ग विद्यमान हैं।]

इस प्रकार यह सिद्ध है कि पूर्णोपमा ६ प्रकार की हुआ करती है।

'पूर्णा षडेव तत्' आदि कारिकांश स्वयं स्पष्ट है।

विमर्श—पूर्णोपमा के प्रकारभेद का कोष्ठक :—

पूर्णोपमा
- श्रौती
  - १ तद्धितगा
  - २ समासगा
  - ३ वाक्यगा
- आर्थी
  - ४ तद्धितगा
  - ५ समासगा
  - ६ वाक्यगा

अनुवाद—'लुप्तोपमा' वह है जिसमें उपमा के साधारण धर्म आदि अङ्ग-चतुष्टय में से एक या दो या तीन लुप्त रहा करते हैं। 'पूर्णोपमा' की ही भाँति लुप्तोपमा भी मुख्यतः 'श्रौती' और 'आर्थी' दो रूपों की हुआ करती है।

यहाँ कारिका में 'सा' का अभिप्राय 'लुप्तोपमा' का अभिप्राय है।

तद्भेदमाह—

पूर्णावद्धर्मलोपे सा विना श्रौतीं तु तद्धिते ॥ १८ ॥

सा लुप्तोपमा धर्मस्य साधारणगुणक्रियारूपस्य लोपे पूर्णावदिति पूर्वोक्त-रीत्या षट्प्रकारा, किं त्वत्र तद्धिते श्रौत्या असम्भवात्पञ्चप्रकारा।

उदाहरणम्—

'मुखमिन्दुर्यथा पाणिः पल्लवेन समः प्रिये।
वाचः सुधा इवोष्ठस्ते बिम्बतुल्यो मनोऽश्मवत् ॥'

इस 'लुप्तोपमा' का भेद-परिगणन किया जा रहा है—

सर्वप्रथम वह लुप्तोपमा, जिसमें साधारण धर्म लुप्त अथवा अप्रतिपादित रहा करता है और जिसे 'धर्मलुप्ता उपमा' कहा जाया करता है, पूर्णोपमा की भाँति ६ प्रकार की होनी चाहिये किन्तु तद्धित मे इसके 'श्रौतीरूप' की असभावना के कारण, पाच प्रकार की ही मानी जाया करती है।

तात्पर्य यह है कि गुण अथवा क्रियारूप साधारण धर्म के लोप अथवा अनुपादान में जो 'लुप्तोपमा' हुआ करती है उसमें, पूर्वप्रतिपादित प्रकार से, पूर्णोपमा की भांति, प्रकार-षट्क की सभावना है किन्तु वस्तुत इसके जितने प्रकार माने जाया करते हैं वे पाच ही है क्योंकि 'तद्धितगा श्रौती लुप्तोपमा' नामक प्रकार की कोई रूप-रेखा यहा बनती नहीं दिखायी देती (कारण यह है कि 'तत्र तस्येव' सूत्र से षष्ठ्यन्त अथवा सप्तम्यन्त साधर्म्य-वाचक पद के ही सहारे 'वति' रूप तद्धित प्रत्यय विहित हो सकता है किन्तु जब कि यहाँ साधर्म्यवाचक पद का लोप अथवा अनुपादान है तब तो यह निश्चित ही है कि 'वति' प्रत्यय प्रयुक्त ही नहीं हो सकता और साधारण धर्म के लोप में 'तद्धितगा श्रौती लुप्तोपमा' की कोई सभावना भी नहीं हो सकती)।

उदाहरण के लिये—

'प्रिये ! तुम्हारा मुख चन्द्रमा की भाँति है, तुम्हारा हाथ पल्लव के समान है, तुम्हारी वाणी सुधा सरीखी है, तुम्हारे ओठ बिम्बतुल्य है किन्तु तुम्हारा मन अश्मवत् (पत्थर की भाँति) है।'

['मुखमिन्दुर्यथा' में वाक्यगा श्रौती धर्मलुप्तोपमा है क्योंकि मुख 'उपमेय', इन्दु 'उपमान' तथा 'यथा' औपम्यवाचक पद—ये तीनों यहा, इस वाक्य में, उपस्थित हैं किन्तु 'मदयति अथवा आनन्दयति' का साधारण धर्म लुप्त अथवा अप्रतिपादित पड़ा है। 'पाणि पल्लवेन सम' में वाक्यगा आर्थी धर्मलुप्तोपमा है क्योंकि पाणि के रूप में 'उपमेय' पल्लव के रूप में 'उपमान' और सम के रूप में 'औपम्यवाचक' पद तो हैं किन्तु कोमलता का साधारण धर्म लुप्त है। 'वाच सुधा इव' में समासगा श्रौती धर्म लुप्तोपमा है क्योंकि यहाँ माधुर्यरूप साधारण धर्म तो अप्रयुक्त है किन्तु उपमेय 'वाणी' उपमान 'सुधा' और 'सुधा इव' में 'इवेन सह' आदि वार्तिक के अनुसार, विभक्त्यलोप के साथ, औपम्यवाचक समासगत 'इव' पद—तीनों उपस्थित हैं। 'ओष्ठस्ते बिम्बतुल्य' में समासगा आर्थी धर्म-लुप्तोपमा दिखायी दे रही है क्योंकि यहां 'रक्तता' का साधारण धर्म अनुपात्त है और उपमेय के रूप में 'ओष्ठ', उपमान के रूप में 'बिम्ब' और औपम्यवाचक पद के रूप में समासगत 'तुल्य' शब्द विराजमान हैं। इसी प्रकार 'मनोऽश्मवत्' में तद्धितगा आर्थी धर्मलुप्तोपमा स्पष्ट है क्योंकि यहाँ तृतीयान्त 'अश्मन्' शब्द से 'तुल्य' के अर्थ में 'तेन

(धर्मलुप्तोपमा के पाँच प्रकार)

आधारकर्मविहिते द्विविधे च क्यचि क्यङि ।
कर्मकर्त्रोर्णमुलि च स्यादेवं पञ्चधा पुनः ॥ १९ ॥

(१—आधार और २ कर्म से विहित 'क्यच् प्रत्यय' के प्रयोग में धर्मलुप्तोपमा)

'धर्मलोपे लुप्ता' इत्यनुवर्तते । क्यच्-क्यङ्-णमुलः कलापमते इन्-आयि-यम् ।

क्रमेणोदाहरणम्—

'अन्तःपुरीयसि रणेषु, सुतीयसि त्वं
पौरं जनं तव सदा रमणीयते श्रीः ।
दृष्टः प्रियाभिरमृतद्युतिदर्शमिन्द्र-
सञ्चारमत्र भुवि सञ्चरसि क्षितीश ! ॥'

अत्र 'अन्तःपुरीयसि' इत्यत्र सुखविहारास्पदत्वस्य, 'सुतीयसि' इत्यत्र स्नेहनिर्भरत्वस्य च साधारणधर्मस्य लोपः ।

तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' से विहित 'वति' रूप औपम्यवाचक तद्धित प्रत्यय, उपमान के रूप में 'अरम' और उपमेय के रूप में 'मम'—ये तीन तो स्पष्टतया प्रतिपादित हैं किन्तु कठिनता का साधारण धर्म लुप्त है। इस प्रकार यहाँ 'धर्मलुप्तोपमा' के प्रकारान्तर का निदर्शन स्पष्ट है।]

विमर्श—धर्मलुप्तोपमा को सरस्वतीकण्ठाभरणकार ने 'लुप्तपूर्णा' उपमा कहा है—'लोपे सामान्यधर्मस्य लुप्तपूर्णेति गद्यते' (सरस्वतीकण्ठाभरण ४ १७)। 'लुप्तपूर्णा' का उदाहरण यह है—'राजीवमिव ते वक्त्रं नेत्रे नीलोत्पले इव। रम्भास्तम्भाविवोरू च करिकुम्भाविव स्तनौ ॥

धर्मलुप्तोपमा के उपर्युक्त पाँचों प्रकार वस्तुतः 'लुप्तपूर्णा' की कल्पना में अन्तर्भूत प्रतीत होते हैं। ऐसा लगता है कि विभाजन के आग्रह के कारण अन्य आलङ्कारिकों को 'लुप्तपूर्णा' मान्य नहीं हुई।

अनुवाद—इस धर्मलुप्तोपमा के ये अन्य भी पाँच प्रकार हुआ करते हैं—(१) आधार अथवा अधिकरण से विहित 'क्यच्' प्रत्यय के प्रयोग में (२) कर्म से विहित 'क्यच्' प्रत्यय के प्रयोग में (३) कर्ता से विहित 'क्यङ्' प्रत्यय के प्रयोग में (४) कर्मोपपद 'णमुल्' प्रत्यय के प्रयोग में और (५) कर्त्रुपपद 'णमुल्' प्रत्यय के प्रयोग में।

यहाँ कारिका में पूर्वकारिका से 'धर्मलोपे लुप्ता' इस पद का अध्याहार है। पाणिनि-व्याकरण के मत में जो 'क्यच्' 'क्यङ्' और णमुल् प्रत्यय हैं वे ही कलाप अथवा कातन्त्र व्याकरण के मत में क्रमशः 'इन्', 'आयि' और 'यम्' कहे जाया करते हैं।

धर्मलुप्तोपमा के इन पाँचों प्रकारों के उदाहरण क्रमशः दिये जा रहे हैं—

'महाराज! आप ही ऐसे हैं जो समरों में ऐसा विहार करते हैं जैसे अन्तःपुर में, आप ही ऐसे हैं जो अपने प्रजाजन के प्रति पुत्र की भाँति व्यवहार किया करते हैं, आप ही ऐसे हैं जिनके लिए राजलक्ष्मी रमणी की भाँति रहा करती है, आप ही ऐसे हैं जो अपनी प्रेमिकाओं द्वारा चन्द्र की भाँति देखे जाया करते हैं और आप ही ऐसे हैं जो इस भूलोक में इन्द्र की भाँति विचरण किया करते हैं।'

यहाँ 'अन्तःपुरीयसि' (अन्तःपुरेष्विवाचरसि—अन्तःपुरीयसि—'उपमानादाचारे'

एवमन्यत्र ।

इह च यथादितुल्यादिविरहाच्छ्रौत्यादिविशेषचिन्ता नास्ति । इदं च केचिदौपम्यप्रतिपादकस्यैवादेर्लोप उदाहरन्ति, तदयुक्तम्—क्यङादेरपि तदर्थविहितत्वेनौपम्यप्रतिपादकत्वात् ।

ननु क्यङादिषु सम्यगौपम्यप्रतीतिर्नास्ति प्रत्ययत्वेनास्वतन्त्रत्वाद् इवादिप्रयोगाभावाच्चेति न वाच्यम्, कल्पबादावपि तथाप्रसङ्गात् । न च कल्पबादी-

---

(३ १-१०) सूत्र के अन्तर्गत 'अधिकरणाच्चेति०' इस वार्तिक के द्वारा, उपमानवाचक 'अन्त पुरे'रूप अधिकरण पद से आचार के अर्थ में विहित क्यच् प्रत्यय) में 'सुखपूर्वक विहार' का साधारण धर्म लुप्त है और 'सुतीयसि' (सुतं पुत्रमिवाचरसि सुतीयसि- 'उपमानादाचारे' सूत्र से उपमानवाचक 'सुतम्'रूप कर्मपद से आचार के अर्थ में विहित क्यच् प्रत्यय) में 'स्नेहाधिक्य' का साधारण धर्म अनुपात्त है। इसी भांति 'रमणीयते' (रमणी इव आचरति-रमणीयते-'कर्तु क्यङ् सलोपश्च' ३-१-११ सूत्र से उपमानवाचक 'रमण'रूप कर्तृपद से आचार के अर्थ में विहित 'क्यङ्' प्रत्यय) 'वशवदता अथवा अधीनता' के साधारण धर्म का लोप, 'अमृतद्युतिदर्शम्' (अमृतद्युतिमिव दृष्ट्वा-अमृतद्युतिदर्शम्-'उपमाने कर्मणि च' २३-४-३५ सूत्र से, उपमानवाचक 'अमृतद्युतिम्' इस कर्मोपपद में, दृश् धातु से भाव में णमुल् प्रत्यय तथा 'कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोग.'— ३-४ ४९, यस्माण्णमुलुक्त स एव धातुरनुप्रयोक्तव्य ' के अनुसार दृश् धातु का अनुप्रयोग) में 'लोचनाह्लादकत्व' के साधारण धर्म का लोप और 'इन्द्रसञ्चार सञ्चरसि' (इन्द्र इव चरित्वा इन्द्रसञ्चार सञ्चरसि, 'उपमाने कर्मणि च' ३-४-३५ सूत्र से उपमानवाचक इन्द्र रूप कर्त्रुपपद में 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'चर्' धातु से भाव में 'णमुल्' प्रत्यय) में 'अप्रतिहतगतित्व' के साधारण धर्म का लोप स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है।

धर्मलुप्तोपमा के इन उपर्युक्त पाचों प्रकारों में 'श्रौती' और 'आर्थी' रूपों के अनुसधान की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि यहाँ यथा, इव आदि पद, जो कि उपमा के 'श्रौती' रूप के सूचक हैं और तुल्य, सदृश आदि पद जो कि उसके 'आर्थी' रूप के परिचायक हैं व्यवहृत ही नहीं हो सकते।

कतिपय काव्याचार्य (जैसे कि काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट) क्यच् आदि प्रत्ययों के प्रयोग में निर्दिष्ट उपर्युक्त धर्मलुप्तोपमा को 'वाचकलुप्तोपमा' कहा करते हैं क्योंकि उनकी दृष्टि में यहा उपमावाचक पद का लोप दिखायी दिया करता है। किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि 'क्यङ्' आदि प्रत्यय ऐसे हैं जो 'इव' के अर्थ में विहित हुआ करते हैं और औपम्य का अभिप्राय रखा करते हैं जिससे इनके प्रयोग में 'वाचकलुप्तोपमा' की मान्यता असगत ही सिद्ध हो जाती है (यहा तो धर्मलुप्तोपमा की ही मान्यता युक्ति-सगत है और प्रमाणसिद्ध भी है)।

यहा यह कहना भी ठीक नहीं कि जब कि 'क्यङ्' आदि प्रत्यय स्वतन्त्र नहीं और साथ ही साथ जब कि यहा 'इव' आदि पदों का भी प्रयोग नहीं, तब इनसे सादृश्य की समीचीन प्रतीति क्योंकर युक्तिसगत हो। बात यह है कि यदि 'क्यङ्' आदि के प्रयोग में औपम्य की प्रतीति समीचीन नहीं मानी जा सकती तब 'कल्पप्' आदि प्रत्ययों के प्रयोग में औपम्य की प्रतीति क्योंकर समीचीन मान ली जाय ? यहा यह कहना भी निरर्थक ही है कि 'कल्पप' आदि प्रत्यय तो 'इव' आदि की भांति औपम्य के अभिधायक

नामिवादितुल्यतयौपम्यस्य वाचकत्वम्, क्यङादीनां तु द्योतकत्वम्, इवादीनामपि वाचकत्वे निश्चयाभावात्। वाचकत्वे वा 'समुदितं पदं वाचकम्' 'प्रकृतिप्रत्ययौ स्वस्वार्थबोधकौ' इति च मतद्वयेऽपि वत्यादिक्यङादीनां साम्यमेवेति। यच्च केचिदाहुः—'वत्यादय इवार्थेऽनुशिष्यन्ते, क्यङादयस्त्वाचारार्थे' इति, तदपि न; न खलु क्यङादय आचारमात्रार्थाः अपि तु सादृश्याचारार्थाः इति। तदेवं धर्मलोपे दशप्रकारा लुप्ता।

हैं किन्तु 'क्यङ' आदि ऐसे हैं जिन्हें औपम्य का अभिधायक अथवा वाचक नहीं अपितु द्योतक अथवा व्यञ्जक ही कहा जा सकता है क्योंकि इसका कहां से निश्चय कि 'इव' आदि औपम्य के वाचक ही हैं (द्योतक नहीं), और यदि 'कल्पप्' आदि को औपम्य का वाचक ही माना जाय तब इसी सिद्धान्त के अनुसार ऐसा माना जा सकता है कि 'प्रकृति-प्रत्ययरूप समुदित पद ही वाचक पद है' और 'प्रकृति तथा प्रत्यय अपने-अपने अर्थ के बोधक हुआ करते हैं'। किन्तु तब 'कल्पप्' तथा 'वति' और 'क्यङ्' आदि प्रत्ययों में समानता ही माननी पड़ेगी (क्योंकि जैसे 'कल्पप्' प्रत्यय सादृश्य का वाचक अथवा द्योतक है वैसे ही 'वति' और 'क्यङ' आदि प्रत्यय भी सादृश्य के वाचक अथवा द्योतक ही प्रत्यय हैं)।

यहां कुछ आलङ्कारिकों का यह कथन भी युक्तिसंगत नहीं कि 'वति आदि प्रत्यय तो इव आदि के अर्थ में विहित हुआ करते हैं और क्यङ् आदि ऐसे हैं जो आचार आदि के अर्थ में अनुशिष्ट हैं (और इसलिये क्यङ् आदि के द्वारा औपम्य की समीचीन प्रतीति असंभव है)। कारण यह है कि 'क्यङ्' आदि प्रत्यय केवल आचार का ही नहीं अपितु सादृश्यान्वित आचार का अभिधान रखा करते हैं (जिससे इनके प्रयोग में उपर्युक्त 'कान्ता-पुरीयसि' आदि सूक्ति में वाचकलुप्तोपमा की अपेक्षा धर्मलुप्तोपमा की ही मान्यता अधिक युक्तियुक्त प्रतीत हो रही है)।

इस प्रकार साधारणधर्म के लोप में दस प्रकार की धर्मलुप्तोपमा स्पष्ट है।

विमर्श—(क) काव्यप्रकाशकार के अनुसार 'समासगता' 'कर्मक्यङ्गता' 'आधारक्यङ्गता' 'क्यङ्गता' 'कर्मणमुल्गता' और 'कर्तृणमुल्गता' लुप्तोपमायें 'वाचकलुप्ता' के भेद-प्रभेद हैं किन्तु साहित्यदर्पणकार ने इन्हें धर्मलुप्तोपमा के प्रकारभेद के रूप में स्वीकार किया है। साहित्यदर्पणकार की यह मान्यता ही पण्डितराज जगन्नाथ की इस समीक्षा की जन्म देती है—

'अत्रेदमवधेयम्—कर्माधारक्यचि क्यङि च वाचकलुप्तोदाहरणं प्राचामसंगतमिव धर्मलोपस्यापि तत्र संभवात्। न च क्यजाद्यर्थे आचार एव साधारणधर्मोऽस्तीति वाच्यम्। धर्ममात्ररूपस्याचारस्योपमाप्रयोजकत्वाभावात्। 'नारीयते समरसीमनि' इत्यादौ इत्यन्वयनिवेशितैः कातरत्वादिभिरभिव्यञ्जितस्याचारस्योपमानिष्पादकत्वात्। यदि च क्यचि आचारमात्रमुपमानिष्पादकं स्यात्तदा 'त्रिदिवं त्वत्कृते भारतायते' इत्यादौ सुप्रसिद्धत्वादिरूपाचारोपस्थितावप्युपमालङ्कारोऽभिव्यक्तः तस्यैव च 'सुपर्वभिः शोभितमन्तराभिरैः' इति चरणान्तरनिवेशे तस्या निष्पत्तेः क्यङन्तर्भावेऽपि धर्मलोपो नोपपद्यते। उपमानप्रतीकतया सन्देहकल्प्येन साधारणधर्मवाचकस्यैव धर्मलोपस्याभिधानात्। अन्यथा 'मुखमिन्दुमिवं यस्य' इत्यादौ पूर्णोपमापत्तेरिति दिक्।' (रसगङ्गाधर : उपमाप्रकरण)

(ख) 'इव' आदि की 'वाचकता-द्योतकता' के संबन्ध में रसगङ्गाधरकार की ये पंक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं—

(उपमानलुप्तोपमा : वाक्यगा तथा समासगा)

उपमानानुपादाने द्विधा वाक्यसमासयोः ।

उदाहरणम्—

'तस्या मुखेन सदृशं रम्यं नास्ते न वा नयनतुल्यम्' ।

अत्र मुखनयनप्रतिनिधिवस्त्वन्तरयोर्गम्यमानत्वादुपमानलोपः । अत्रैव च 'मुखेन सदृशम्' इत्यत्र 'मुख 'यथेद' 'नयनतुल्यम्' इत्यत्र 'दृगिव' इति पाठे श्रौत्यपि संभवतीति । अनयोर्भेदयोः प्रत्येकं श्रौत्यार्थीत्वभेदेन चतुर्विधत्वसम्भवेऽपि प्राचीनाना रीत्या द्विप्रकारत्वमेवोक्तम् ।

(वाचकलुप्तोपमा · समासगा और क्विप्प्रत्ययगा)

औपम्यवाचिनो लोपे समासे क्विपि च द्विधा ॥ २० ॥

'तत्रेवादीना द्योतकत्वमेव न वाचकत्वम्, निपातत्वादुपसर्गवत् । द्योतकत्वञ्च स्वसमभिव्याहृतपदान्तरेण शक्त्या लक्षणया वा तादृशार्थबोधने तात्पर्यग्राहकत्वेनोपयोगित्वमिति वैयाकरणाः । उपसर्गाणा द्योतकत्वमावश्यकम् । अन्यथा 'उपास्यते गुरुः', 'अनुभूयते सुखम्' इत्यादौ गुर्वादेर्लेनाभिधान न स्यात् । धात्वर्थकर्मताविरहात् । इवादीनां तु वाचकत्वम्, बाधकाभावात् । प्रागुक्तहेतुस्त्वप्रयोजकत्वान्न साधक । अन्यथा अव्ययत्वादिति हेतुना अव्ययमात्रस्यैव द्योतकापत्तिरिति नैयायिकाः ।'

(रसगङ्गाधर उपमाप्रकरण)

अनुवाद—उपमान के लोप में जो 'उपमानलुप्तोपमा' हुआ करती है वह दो प्रकार की है—(१) वाक्यगा उपमानलुप्तोपमा और (२) समासगा उपमानलुप्तोपमा ।

जैसे कि—

'उसके मुख के सदृश कोई वस्तु सुन्दर नहीं और न उसके नयनतुल्य ही कोई सुन्दर वस्तु है ।'

यहाँ उपमान का लोप है क्योंकि न तो यहाँ 'मुख' के प्रतिनिधिरूप में किसी अन्य वस्तु का उपादान है और न नयन के प्रतिनिधिरूप में ही किसी दूसरी वस्तु का प्रतिपादन है । यहाँ तो 'मुख' और 'नयन' के उपमानरूप से चन्द्र और पद्मरूप वस्तुओं की अभिव्यञ्जना हो जाती है (और उपमानलुप्ता उपमा की रूप-रेखा स्पष्ट झलक उठती है) । यहीं यदि 'मुखेन सदृशम्' के स्थान पर 'मुखं यथेदम्' और 'नयनतुल्यम्' के स्थान पर 'दृगिव' कर दिया जाय तो उपमानलुप्तोपमा के 'श्रौती'रूप की भी सभावना स्पष्ट दिखायी दे जाय । वैसे तो 'वाक्यगा' किंवा 'समासगा' उपमानलुप्तोपमा में भी 'श्रौती' और 'आर्थी' भेदों की सभावना है जिससे इसके चार प्रकार माने जा सकते हैं किन्तु प्राचीन आलङ्कारिकों की रीति का अनुसरण करते हुये, यहाँ इसके वाक्यगत और समासगत भेदों की ही गणना की गयी है ।

विमर्श—'उपमानलुप्तोपमा' क्योंकर वाक्यगा और समासगा—दो प्रकारों की ही हो सकती है ? इसके सबन्ध में प्रदीपकार की यह उक्ति ध्यान देने योग्य है—

'न वा श्रौती । इवादीनामुपमानमात्रान्वितत्तया तदनुपादाने तेषामप्यनुपादानात् अतो वाक्यसमासयोरेव । तयोरप्यार्थी एवेति द्विप्रकारा लुप्तोपमानोपमा ।'

अनुवाद—औपम्यवाचक पद के लोप में जो वाचकलुप्तोपमा हुआ करती है उसके दो भेद हैं—(१) समासगा वाचकलुप्तोपमा और (२) क्विप्गा वाचकलुप्तोपमा ।

क्रमेणोदाहरणम्—

(समासगा वाचकलुप्तोपमा)

'वदनं मृगशावाक्ष्याः सुधाकरमनोहरम् ।'

(क्विपा वाचकलुप्तोपमा)

'गर्दभति श्रुतिपरुषं व्यक्तं निनदन् महात्मना पुरतः ।'

अत्र 'गर्दभति' इत्यत्रौपम्यवाचिनः क्विपो लोपः। न चेहोपमेयस्यापि लोपः, 'निनदन्' इत्यनेनैव निर्देशात् ।

(धर्मोपमानलुप्तोपमा : भेदद्वय)

द्विधा समासे वाक्ये च लोपे धर्मोपमानयोः ।

इनके क्रमशः उदाहरण ये हैं—

'इस मृगनयनी का मुख चन्द्र(सा) सुन्दर है ।'

'यह लोगों के सामने कर्कशतापूर्वक और जोर से बोलता हुआ यह मनुष्य गधे का सा काम कर रहा है ।

(यहाँ 'वदनं मृगशावाक्ष्याः सुधाकरमनोहरम्' में समासगा वाचकलुप्तोपमा है क्योंकि उपमेय 'वदन' उपमान 'सुधाकर' और साधारणधर्म 'मनोहरत्व' तो स्पष्ट प्रतिपादित हैं किन्तु 'सुधाकर इव मनोहरम्-सुधाकरमनोहरम्' में उपमावाचक 'इव' पद लुप्त है) इसी प्रकार 'गर्दभति' (गर्दभ इव आचरति गर्दभति 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब्वा वक्तव्यः' इस वार्तिक-नियम के अनुसार उपमानवाचक 'गर्दभ' पद से आचार के अर्थ में क्विप् प्रत्यय और क्विप् का सर्वापहारी लोप) में औपम्यवाचक क्विप् के लोप में वाचक लुप्तोपमा स्पष्ट है (क्योंकि यहाँ 'निनदन्' के रूप में 'उपमेय' 'गर्दभ' के रूप में 'उपमान' और 'श्रुतिपारुष्य' के रूप में साधारणधर्म स्पष्टतया प्रतिपादित हैं)।

'गर्दभति श्रुतिपरुषम्' आदि में उपमेय के लोप की आशंका नहीं होनी चाहिये क्योंकि यहाँ 'निनदन्' इस कर्तृपद से ही यहाँ उपमेय का निर्देश स्पष्टतया प्रतीत हो रहा है।

विमर्श—रसगङ्गाधरकार के अनुसार 'क्विप्गा लुप्तोपमा केवल वाचकलुप्तोपमा नहीं अपितु 'वाचकधर्मलुप्तोपमा' है—

'वाचकधर्मलुप्ता क्विप्गता यथा—

कुवलयवनोच्चलदाभासकलशामय पयोनिधेः पुलिने ।
विविधायसीकीर्णपथे हारन्ति हरन्ति हीरन्ति ॥

अत्र हार-हर-हीर-शब्दाः आचारार्थके क्विपि लुप्ते वाचके । तत्र हारादिभिरुपमा कलयन्ता हारादिसादृश्यं बोधयन्ति । लुप्तोऽपि स्पष्टः क्विबाचारमिति पक्षे वाचकधर्मलोप स्पष्ट एव । हारादिरूपा एव कल्पना तादृशसादृश्यमित्यमात्रमिति पक्षे सादृश्यस्यैव धर्मस्यापि तन्मात्रबोधकाभावाल्लोप एव ।' (रसगङ्गाधर : उपमाप्रकरण)

अनुवाद—साधारणधर्म और उपमान-दोनों के लोप में जो 'धर्मोपमानलुप्तोपमा' हुआ करती है वह दो प्रकार की है—(१) समासगा धर्मोपमानलुप्तोपमा और (२) वाक्यगा धर्मोपमानलुप्तोपमा ।

'तस्या मुखेन' इत्यादौ 'रम्यम्' इति स्थाने 'लोके' इति पाठेऽनयोरुदाहरणम्।

(धर्मवाचकलुप्तोपमा - भेदद्वय)

क्विप्समासगता द्वेधा धर्मेवादिविलोपने ॥ २१ ॥

उदाहरणम्—

'विधवति मुखाब्जमस्याः'

अत्र 'विधवति' इति मनोहरत्व-क्विप्प्रत्यययोर्लोपः। 'मुखाब्जम्' इति च समासगा। केचित्त्वत्रायिप्रत्ययलोपमाहुः।

(उपमेयलुप्तोपमा)

उपमेयस्य लोपे तु स्यादेका प्रत्यये क्यचि।

यथा—

'अरातिविक्रमालोकविकस्वरविलोचनः।
कृपाणोदग्रदोर्दण्डः स सहस्रायुधीयति ॥'

'तस्या मुखेन सदृशं रम्यं नास्ते न वा नयनतुल्यम्।' आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति में 'रम्यम्' के बदले 'लोके' कर देने से (अर्थात् 'तस्या मुखेन सदृशं लोके नास्ते न वा नयनतुल्यम्' आदि पाठ में) धर्मोपमानलुप्तोपमा के 'वाक्यगत' और 'समासगत' दोनों रूपों के उदाहरण मिल जायेंगे।

विमर्श—'धर्मोपमानलुप्ता' का यह उदाहरण बड़ा सुन्दर है—

'गाहितमखिलं विपिनं परितो दृष्टाश्च विटपिनः सर्वे।
सहकार न प्रपेदे मधुपेन तथापि ते समं जगति ॥'

यहाँ 'तथापि ते समम्' के बदले 'भवत्समम्' कर देने पर 'समासगा धर्मोपमानलुप्ता' दिखायी देने लगती है।

अनुवाद—साधारण धर्म और उपमावाचक पद के लोप में जो 'धर्मवाचकलुप्तोपमा' हुआ करती है उसके दो प्रकार हैं—(१) क्विप्गा धर्मवाचकलुप्तोपमा और (२) समासगा धर्मवाचकलुप्तोपमा। जैसे कि—

'विधवति मुखाब्जमस्या (इसका मुखकमल चन्द्र-सा लग रहा है)।'

यहाँ जो 'विधवति' (विधुरिवाचरति विधवति) पद है उसमें 'मनोहरत्व' रूप साधारणधर्म और क्विप्प्रत्ययरूप औपम्यवाचक—दोनों लुप्त हैं। इसी प्रकार 'मुखाब्जम्' में समासगा धर्मवाचकलुप्तोपमा है (क्योंकि यहाँ भी 'मनोहरत्व' रूप साधारणधर्म और 'इव' रूप उपमावाचक पद—दोनों लुप्त हैं)।

कुछ लोग 'विधवति' में 'आयि' प्रत्यय का लोप मानते हैं (किन्तु यहाँ जो धर्मवाचक लुप्तोपमा है वह धर्म और 'आयि' प्रत्यय के लोप के कारण नहीं अपितु धर्म और सादृश्य वाचक प्रत्यय के लोप के ही कारण है)।

अनुवाद—उपमेय के लोप में जो 'उपमेयलुप्तोपमा' हुआ करती है वह क्यच् प्रत्यय के प्रयोग में ही हुआ करती है और एक प्रकार की ही हुआ करती है।

जैसे कि—

'शत्रुओं के पराक्रमपूर्ण कृत्यों के दर्शन से प्रसन्न नेत्रवाला और कृपाण-धारण से

अत्र 'सहस्रायुधमिवात्मानमाचरति' इति वाक्ये उपमेयस्यात्मनो लोपः। न चेहौपम्यवाचकलोपः, उक्तादेव न्यायात्। अत्र केचिदाहुः—'सहस्रायुधेन सह वर्तत इति ससहस्रायुधः स इवाचरतीति वाक्यात्ससहस्रायुधीयतीति पद सिद्धौ विशेष्यस्य शब्दानुपात्तत्वादिहोपमेयलोपः' इति, तन्न विचारसहम्, कर्तरि क्यचोऽनुशासनविरुद्धत्वात्।

(धर्मोपमेयलुप्तोपमा)

धर्मोपमेयलोपेऽन्या—

यथा—

मचकुर सुखदनक्वाका वह शूरवीर राजा अपने आप को सहस्रायुध की भाँति (संग्राम में) प्रकाशित कर रहा है।

यहाँ 'सहस्रायुधमिवात्मानमाचरति' (उपमानादाचारे ३।१।१० सूत्र से उपमानवाचक 'सहस्रायुधम्' इस कर्मपद से आचार के अर्थ में 'क्यच्' = सहस्रायुधीयति) इस वाक्य में उपमेयभूत 'आत्मानम् (स्वयं) का लोप है जिससे यहाँ 'उपमेयलुप्तोपमा' स्पष्ट है (क्योंकि यहाँ उपमान 'सहस्रायुध' साधारणधर्म 'अरातिविक्रमालोकविकस्वरविलोचनत्व' आदि और क्यच् प्रत्यय के रूप में उपमावाचक पद—ये तो तीनों विराजमान हैं)।

यहाँ 'वाचकलुप्तोपमा' की आशंका नहीं करनी चाहिये (जो कि काव्यप्रकाशकार ने की है) क्योंकि, जब कि 'क्यच्' आदि प्रत्यय सादृश्य-वाचक प्रत्यय हैं और यहाँ 'क्यच्' की उपस्थिति है तब वाचकलुप्तोपमा की यहाँ क्या संभावना !

कतिपय आलङ्कारिकों (चण्डीदास आदि) ने यहाँ 'उपमेयलुप्तोपमा' की स्वरूप-सिद्धि के लिये जो यह कहा है कि (यहाँ 'ससहस्रायुधीयति' में 'स' और 'सहस्रायुधीयति' को पृथक्-पृथक् पद मानकर उपमेयलुप्तोपमा की रूप-रेखा नहीं देखी जा सकती और इसलिये) यहाँ जो पद है वह 'ससहस्रायुधीयति' है, जिसकी निष्पत्ति 'सहस्रायुधेन सह वर्तते इति ससहस्रायुधः स इवाचरतीति' आदि रूप से हुआ करती है और इस प्रकार यहाँ 'ससहस्रायुधीयति' इस क्रिया के कर्तृपद का अनुपादान ही दिखायी दे रहा है जिससे यहाँ 'उपमेयलुप्तोपमा' स्पष्ट है वह सब वस्तुतः युक्तियुक्त नहीं। कारण यह है कि 'उपमानादाचारे' के द्वारा कर्मोपपद से ही 'क्यच्' का विधान हो सकता है न कि कर्तृपद से भी (यहाँ 'ससहस्रायुधीयति' में कर्तृपद से क्यच्विधान तो सर्वथा अपाणिनीय है)।

विमर्श—रसगङ्गाधरकार के अनुसार 'क्यङ्' लुप्तोपमा केवल उपमेयलुप्ता नहीं अपितु 'धर्मोपमेयलुप्ता' रूपमा हुआ करती है—

'तथा तिलोत्तमीयन्त्या मृगशावकचक्षुषा।
ममाद्य मानुषो लोकोऽ नाकलोक इवाभवत् ॥

तिलोत्तमीयन्त्येति तिलोत्तमामिवात्मानमाचरन्त्येत्याचारार्थकक्यचि तिलोत्तमापदस्य तिलोत्तमासादृश्ये लाक्षणिकतया वाचकस्य लुप्तत्वेन प्रतीयमानतया आत्मन उपमेयस्य चानुपादानाल्लोपः। स्पष्ट तु सा धौपमेया। आचारकर्मेण उपमानस्य तिलोत्तमारूपस्य तत्कर्मानुपमेयान्वयानुपमानसाधर्म्यगतेः। अत आत्मनैवात्रोपमेयतयोन्नेया।'

(रसगङ्गाधर अलङ्कारप्रकरण)

अनुवाद—साधारण धर्म और उपमेय के लोप में जो 'धर्मोपमेयलुप्तोपमा' हुआ करती है वह भी एक प्रकार की ही है। जैसे कि—

'यशांसि प्रसरति भवतः क्षीरोदीयन्ति सागराः सर्वे।'

अत्र क्षीरोदमिवात्मानमाचरन्तीत्युपमेय आत्मा साधारणधर्मः शुक्लता च लुप्तौ।

(त्रिलुप्तोपमा)

—त्रिलोपे च समासगा ॥ २२ ॥

यथा—

'राजते मृगलोचना।'

अत्र मृगस्य लोचने इव चञ्चले लोचने यस्या इति समासे उपमाप्रतिपादकसाधारणधर्मोपमानानां लोपः।

(उपमाभेद संकलन)

तेनोपमाया भेदाः स्युः सप्तविंशतिसंख्यकाः।

पूर्णा षड्विधा, लुप्ता चैकविंशतिविधेति मिलित्वा सप्तविंशतिप्रकारोपमा। एषु चोपमाभेदेषु मध्येऽलुप्तसाधारणधर्मेषु भेदेषु विशेष प्रतिपाद्यते—

'आपके यश के फैलते हुये, ऐसा लगता है जैसे, सभी सागर क्षीरसागर बन रहे हैं।'

यहाँ 'धर्मोपमेयलुप्तोपमा' इसलिये है क्योंकि यहाँ 'क्षीरोदीयन्ति' 'क्षीरोदमिवात्मानमाचरन्ति' में उपमेयभूत 'आत्मानम्' और 'शुक्लत्वादि' रूप साधारणधर्म—दोनों लुप्त हैं।

अनुवाद—उपमान, साधारणधर्म और औपम्यवाचक पद, तीनों के लोप में जो 'धर्मोपमानवाचकलुप्तोपमा' हुआ करती है वह केवल 'समासगा' ही हुआ करती है।

जैसे कि—'वह मृगलोचना बड़ी सुन्दर है।'

यहाँ 'मृगलोचना' इस समस्त पद में, जिसका विग्रह 'मृगस्य लोचने इव चञ्चले लोचने यस्या' है, उपमानभूत 'लोचन', वाचक रूप 'इव' और साधारणधर्मरूप 'चाञ्चल्य'—तीनों लुप्त दिखायी दे रहे हैं।

विमर्श—'मृगलोचना' में त्रिलुप्तोपमा की जो निष्पत्ति है वह 'प्रदीप'कार के शब्दों में इस प्रकार है—

'अत्र यदि मृगशब्देन लक्षणया तल्लोचने विवक्ष्येते तदा नेदमुदाहरणम्। यदा तु मृगलोचने इव लोचने यस्या इत्यर्थो विवक्ष्यते तदा 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च' इत्यनेन मृगलोचनेत्युपमानपूर्वपदस्य नयनशब्देन बहुव्रीहौ उपमानवाचिनि मृगलोचने इति पूर्वपदे उत्तरपदभूतस्य लोचनशब्दस्य लोपे उपमेयभूतस्य नयनमात्रस्योपादानादिदमुदाहरणम्।'

अनुवाद—इस प्रकार 'उपमा' के सब मिलाकर २७ प्रकार सिद्ध हुए।

उपमा के २७ प्रकारों का अभिप्राय यह है—पूर्णोपमा के छः भेद+लुप्तोपमाके २१ भेद=उपमा के २७ प्रकार।

विमर्श—(क) विश्वनाथ कविराज-सम्मत 'उपमा-भेद' यह है—

पूर्णोपमा के ६ प्रकार

१—तद्धितगा श्रौती पूर्णोपमा—'सौरभमम्भोरुहवत्।'
२—समासगा श्रौती पूर्णोपमा—'कुम्भाविव स्तनौ पीनौ।'
३—वाक्यगा श्रौती पूर्णोपमा—'हृदयं मदयति वदनं तव शरदिन्दुर्यथा।
४—तद्धितगा आर्थी पूर्णोपमा—'मधुरः सुधावदधरः'
५—समासगा आर्थी पूर्णोपमा—'पल्लवतुल्याऽतिपेशलः पाणिः।'
६—वाक्यगा आर्थी पूर्णोपमा—'चकितमृगलोचनाभ्यां सदृशी चपले च लोचने तस्याः।'

लुप्तोपमा के २१ प्रकार

१—तद्धितगा श्रौती लुप्तोपमा—'मनोऽश्मवत्।'
२—समासगा श्रौती लुप्तोपमा—'वाचः सुधा इव।
३—वाक्यगा श्रौती लुप्तोपमा—'मुखमिन्दुर्यथा बाले।
४—समासगा आर्थी लुप्तोपमा—'ओष्ठस्ते बिम्बतुल्यः।'
५—वाक्यगा आर्थी लुप्तोपमा—'पाणिः पल्लवेन समः।
६—आधारक्यचनिष्पन्ना लुप्तोपमा—'अन्तःपुरीयसि।'
७—कर्मक्यचनिष्पन्ना लुप्तोपमा—'पौरं जनं सुतीयसि।
८—कर्तृपदक्यङ्निष्पन्ना लुप्तोपमा—'श्रीस्तव रमणीयते।
९—कर्मोपपदणमुल्निष्पन्ना लुप्तोपमा—'अमृतपुसितवर्दं दृष्टः।
१०—कर्तृपदणमुल्निष्पन्ना लुप्तोपमा—'इन्द्रसञ्चारं सञ्चरसि।
११—समासगा उपमानलुप्तोपमा—'न वा नयनतुल्यं (रम्यमास्ते)।
१२—वाक्यगा उपमानलुप्तोपमा—'तस्या मुखेन सदृशं रम्यं नास्ते।'
१३—समासगा वाचकलुप्तोपमा—'सुधाकरमनोहरं वदनम्।
१४—क्विपगा वाचकलुप्तोपमा—'गर्दभति श्रुतिपरुषम्।
१५—समासगा धर्मोपमानलुप्तोपमा—'लोके न वा नयनतुल्यमास्ते।'
१६—वाक्यगा धर्मोपमानलुप्तोपमा—'तस्या मुखेन सदृशं रम्यं लोके नास्ते।
१७—समासगा धर्मोपमावाचकलुप्तोपमा—'मुखाब्जमस्याः।
१८—क्विपगा ,, —'विधवति मुखाब्जमस्याः।
१९—उपमेयलुप्तोपमा—'विकस्वरविलोचनः स सहस्रायुधीयति।
२०—धर्मोपमेयलुप्तोपमा—'चौरीयन्ति सागरम्।
२१—धर्मोपमानवाचकलुप्तोपमा—'राजते मृगलोचना।'

इस प्रकार सब मिलकर उपमा के २७ भेद हैं।

(ख) शब्दानुशासनशास्त्र (व्याकरण) के आधार पर 'उपमा' के भेद-प्रभेद की परम्परा आचार्य मम्मट द्वारा प्रवर्तित हुई है—

'यथेवशब्दयोगेन सा श्रुत्यामुपमार्हति। तद्धितादिपदस्यैषा त्वन्यस्येतुकृता द्विधा॥
सर्वेषामिहितान्येषा साम्यवाचकविच्युतौ। साम्योपमेयतद्धादिविनियोगाच्च भिद्यते॥
उपमानोपमेयोक्तौ साम्यतद्धादिविच्युतात्। क्वचित् समासे तद्धादिविरहेण क्वचिच्च सा॥
तथोपमानाधारे च कर्मण्यपि च क्यचि स्थिता। क्वचित्सा कर्तुराचारे क्यङा सा च क्विपा क्वचित्॥

(उपमा में साधारण धर्म : स्वरूप तथा प्रकार-निर्देश)

एकरूपः क्वचित्क्वापि भिन्नः साधारणो गुणः ॥ २३ ॥

भिन्ने बिम्बानुबिम्बत्वं शब्दमात्रेण वा भिदा ।

तत्र एकरूपे यथा उदाहृतम्—'मधुरः सुधावदधरः—' इत्यादि । बिम्बप्रतिबिम्बत्वे यथा—

'भल्लापवर्जितैस्तेषां शिरोभिः श्मश्रुलैर्महीम् ।
तस्तार सरघाव्याप्तैः स क्षौद्रपटलैरिव ॥'

अत्र 'श्मश्रुलैः' इत्यस्य 'सरघाव्याप्तैः' इति दृष्टान्तवत्प्रतिबिम्बनम् ।

उपमाने कर्मणि वा कर्तरि वा यो णमुल् कषादिगतः ।
तद्वाच्या सा वतिना च कर्मसामान्यवचनेन ॥
षष्ठीसप्तम्यन्ताच्च यो वतिर्नामतस्तदभिधेया ।
कल्पप्प्रभृतिभिरन्यैश्च तद्धितैः सा निबध्यते कविभिः॥ (अलङ्कारसारसंग्रह)

किन्तु व्याकरणशास्त्र के आधार पर उपमा के विभाजन के अनौचित्य के सबन्ध में अप्पयदीक्षित की यह उक्ति ध्यान देने योग्य है—

'एवमयं पूर्णालुप्ताविभागो वाक्य–समास–प्रत्ययविशेषगोचरतया शब्दशास्त्रव्युत्पत्तिकौशलप्रदर्शनमात्रप्रयोजनो नातीवालङ्कारशास्त्रे व्युत्पाद्यतामर्हति । न वा लुप्तानामयं सामस्त्येन विभागः ।'

(चित्रमीमांसा)

अनुवाद—'उपमा' के उपर्युक्त २७ प्रकारों में से अब उन प्रकारों की कतिपय विशेषतायें निर्दिष्ट की जा रही हैं जिनमें साधारण धर्म का लोप नहीं हुआ करता—

जिन उपमा-भेदों में साधारण धर्म लुप्त नहीं हुआ करता, उनमें उसकी (साधारण धर्म की) ये कतिपय अवस्थायें हुआ करती हैं—

(१) कहीं-कहीं (उपमान और उपमेय दोनों में) साधारण धर्म एक रूप का ही रहा करता है ।

(२) कहीं-कहीं साधारण धर्म भिन्नरूप का हुआ करता है (अर्थात् उपमानगत साधारण धर्म से उपमेयगत साधारण धर्म भिन्न लगा करता है) और साधारण धर्म की इस भिन्नरूपता की दो संभावनायें हुआ करती हैं—(क) या तो उसमें बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव का सम्बन्ध हो या (ख) केवल शब्दमात्र का भेद हो ।

साधारण धर्म की पहली अवस्था अर्थात् 'एकरूपता' की अवस्था की पहचान के लिये 'मधुरः सुधावदधरः' आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति पर्याप्त है (जहाँ 'सुधा' उपमान और 'अधर'–उपमेय में 'माधुर्य' का साधारण धर्म एक रूप से ही विराजमान दिखायी दे रहा है) ।

साधारण धर्म की दूसरी अवस्था अर्थात् भिन्नरूपता में 'बिम्बप्रतिबिम्बभाव' की अवस्था के निदर्शन के लिये (महाकवि कालिदास की) यह सूक्ति दर्शनीय है—

'महाराज रघु के द्वारा, बाणों से काटे गये यवनों के दाढ़ीभरे सिर जमीन पर ऐसे बिछने लगे जैसे मधुमक्खियों से भरे मधु के छत्ते बिछे हों ।'

यहाँ, जैसा कि 'दृष्टान्त' अलङ्कार में दिखायी दिया करता है, उपमेयगत 'श्मश्रुलता' और उपमानगत 'सरघाव्याप्तता' के भिन्नरूप साधारण धर्मों में बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव का सम्बन्ध स्पष्ट झलक रहा है ।

शब्दमात्रेण भिन्नत्वे यथा—

'स्मेरं विधाय नयनं विकसितमिव नीलमुत्पलं मयि सा।
कथयामास कृशाङ्गी मनोगतं निखिलमाकूतम्॥'

अत्रैके एव स्मेरत्वविकसितत्वे प्रतिवस्तूपमावच्छब्दभेदेन निर्दिष्टे।

(उपमा के अन्यान्य वैचित्र्य। (क) एकदेशविवर्तिनी उपमा)

एकदेशविवर्तिन्युपमा वाच्यत्वगम्यते ॥ २४ ॥
भवेतां यत्र साम्यस्य—

यथा—

'नेत्रैरिवोत्पलैः पद्मैर्मुखैरिव सरःश्रियः।
पदे पदे विभान्ति स्म चक्रवाकैः स्तनैरिव॥'

अत्रोत्पलादीनां नेत्रादीनां सादृश्यं वाच्यं सरःश्रीणां चाङ्गनासाम्यं गम्यम्।

इसी प्रकार शब्दमात्र के भेद से साधारण धर्म की भिन्नरूपता के उदाहरण के लिये यह सूक्ति—

'उस कृशाङ्गी सुन्दरी ने खिले नीलकमल सरीखे अपने विहँसते नेत्रों को मेरे सामने किया और (बिना बोले ही) अपने हृदय के समस्त भावों को मुझ पर प्रकाशित कर दिया।'

यहाँ, जैसे कि 'प्रतिवस्तूपमा' अलङ्कार में हुआ करता है, एक रूप के ही प्रतीत होनेवाले उपमानगत 'विकसितत्व' और उपमेयगत 'स्मेरत्व' में शब्दभेद से भिन्नरूपता स्पष्ट झलक रही है।

विमर्श—(क) साहित्यदर्पणकार का यह साधारणधर्मविषयक विवेचन 'अलङ्कारसर्वस्व' की इन पंक्तियों पर अवलम्बित है—

'तत्रापि साधारणधर्मस्य क्वचिदनुगामितया एकरूप्येण निर्देशः। क्वचिद् वस्तुप्रतिवस्तुभावेन पृथङ्निर्देशः। पृथनिर्देशे च सम्बन्धिभेदमात्रम् (न पुनः स्वरूपभेद इत्यर्थः—अनुवाद) प्रतिवस्तूपमावत्। बिम्बप्रतिबिम्बभावो वा दृष्टान्तवत्।

(ख) 'वस्तुप्रतिवस्तुभाव' का अभिप्राय यह है—

'एकस्यैव धर्मस्य सम्बन्धिभेदेन द्विरुपादानं वस्तुप्रतिवस्तुभावः।'

और 'बिम्बप्रतिबिम्बभाव' का अभिप्राय है—

वस्तुतो भिन्नयोर्धर्मयोः परस्परसादृश्यादभिन्नतयाध्यवसितयोर्द्विरुपादानं बिम्बप्रतिबिम्बभावः।

अनुवाद—यह भी उपमा की एक विचित्रता ही है जिसे 'एकदेशविवर्तिनी उपमा' कहा करते हैं। यह 'एकदेशविवर्तिनी उपमा' वह है जहाँ साम्य (अथवा सादृश्य) वाच्य और व्यङ्ग्य—दोनों रूपों में दिखायी दिया करता है।

जैसे कि—

'शरत्कालीन सरोवर-सुषमा, नेत्रों की भाँति उत्पलों, मुख की भाँति कमलों और स्तनों की भाँति चक्रवाकयुगलों से सुशोभित लगती रही।'

यहाँ नेत्र और उत्पल, मुख और पद्म तथा स्तन और चक्रवाक का सादृश्य तो वाच्य है (साक्षात् शब्दतः प्रतिपादित है) किन्तु 'सरोवर-सुषमा' और 'रमणी' का साम्य व्यङ्ग्यरूप से विवक्षित है।

(ख—रसनोपमा)

—कथिता रसनोपमा ।

यथोर्ध्वमुपमेयस्य यदि स्यादुपमानता ॥ २५ ॥

यथा—

'चन्द्रायते शुक्लरुचापि हंसो हंसायते चारुगतेन कान्ता ।
कान्तायते स्पर्शसुखेन वारि वारीयते स्वच्छतया विहायः ॥'

(ग—मालोपमा)

मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते ।

यथा—

'वारिजेनेव सरसी शशिनेव निशीथिनी ।
यौवनेनेव वनिता नयेन श्रीर्मनोहरा ॥'

विमर्श—साहित्यदर्पणकार की 'एकदेशविवर्तिनी' उपमा की मान्यता ने रसगङ्गाधरकार की निम्न उपमा-कल्पना को प्रभावित किया है—

'इयमपि रूपकवत् केवलनिरवयवा, मालारूपनिरवयवा, समस्तवस्तुविषयसावयवा, एकदेशविवर्तिसावयवा, केवलश्लिष्टपरम्परिता, मालारूपश्लिष्टपरम्परिता, केवलशुद्धपरम्परिता, मालारूपशुद्धपरम्परिता चेत्यष्टधा ।' (रसगङ्गाधर उपमाप्रकरण)

अनुवाद—उपमा की दूसरी विचित्रता 'रसनोपमा' है । 'रसनोपमा' वह उपमा है जिसमें उपमेय उत्तरोत्तर उपमानरूप में परिणत होते-चलते दिखाई दिया करता है ।

जैसे कि—

'शरद् ऋतु की महिमा से इस स्वच्छ सरोवर में, यह हस, अपनी शुभ्र कान्ति से, चन्द्रमा सा लग रहा है, यह सुन्दरी, अपनी सुन्दर चाल से, हस सी चलती दिखाई दे रही है; यह जल, अपने आनन्ददायक स्पर्श से, रमणी का सा आनन्द दे रहा है और यह आकाश, अपनी निर्मलता से अपने आपको ऐसा दिखा रहा है जैसे निर्मल जल हो ।'

यहाँ यह स्पष्ट है कि पूर्ववर्णित उपमेय उपमानरूप में परिवर्तित होता चल रहा है जैसे कि 'हस' जो प्रथम वाक्य में चन्द्र की अपेक्षा उपमेय था, द्वितीय वाक्य में 'रमणी' की अपेक्षा उपमान बन रहा है और 'जल' जो कि उत्तरार्ध के पूर्व वाक्य में रमणी की अपेक्षा उपमेय था, उत्तर वाक्य में 'आकाश' की अपेक्षा उपमान बन गया है ।

विमर्श—रसगङ्गाधरकार को भी 'रसनोपमा' मान्य है—

'उपमेयानां स्वस्वोपमानानुपमानानामुपमेयतायां रसनोपमा । यथा—

'भूधरा इव मत्तेभा मत्तेभा इव सूनवः ।
सुता इव भटास्तस्य परमोन्नतविग्रहाः ॥'

अनुवाद—मालोपमा भी उपमा की ही एक विचित्रता है । 'मालोपमा' वह उपमा है जिसमें एक उपमेय के अनेक उपमान दिखायी दिया करते हैं ।

'राजनय से राजलक्ष्मी इस प्रकार मनोरम लगा करती है जिस प्रकार कमल से सरसी, चन्द्रमा से रात्रि और यौवन से रमणी मनोरम लगा करती है ।'

शब्दमात्रेण भिन्नत्वे यथा—

'स्मेरं विधाय नयनं विकसितमिव नीलमुत्पलं मयि सा ।
कथयामास कृशाङ्गी मनोगतं निखिलमाकूतम् ॥'

अत्रैक एव स्मेरत्वविकसितत्वे प्रतिवस्तूपमावच्छब्दभेदेन निर्दिष्टे ।

(उपमा के अन्यान्य वैचित्र्य : (क) एकदेशविवर्तिनी उपमा)

एकदेशविवर्तिन्युपमा वाच्यत्वगम्यत्वे ॥ २४ ॥
भवेतां यत्र साम्यस्य—

यथा—

'नेत्रैरिवोत्पलैः पद्मैर्मुखैरिव सरःश्रियः ।
पदे पदे विभान्ति स्म चक्रवाकैः स्तनैरिव ॥'

अत्रोत्पलादीनां नेत्रादीनां सादृश्यं वाच्यं सरःश्रीणां चाङ्गनासाम्यं गम्यम् ।

इसी प्रकार शब्दमात्र के भेद से साधारण धर्म की भिन्नरूपता के उदाहरण के लिये यह सूक्ति—

'उस कृशाङ्गी सुन्दरी ने खिले नीलकमल सरीखे अपने विहँसते नेत्रों को मेरे सामने किया और (बिना बोले ही) अपने हृदय के समस्त भावों को मुझ पर प्रकाशित कर दिया।'

यहाँ जैसे कि 'प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार में हुआ करता है' एक रूप के ही प्रतीत होनेवाले उपमानगत 'विकसितत्व' और उपमेयगत 'स्मेरत्व' में शब्दभेद से भिन्नरूपता स्पष्ट झलक रही है।

विमर्श—(क) साहित्यदर्पणकार का यह साधारणधर्मनिरूपण विवेचन 'अलङ्कारसर्वस्व' की इन पङ्क्तियों पर अवलम्बित है—

'तत्रापि साधारणधर्मस्य क्वचिदनुगामितया एकरूप्येण निर्देशः। क्वचिद् वस्तुप्रतिवस्तुभावेन पृथङ्निर्देशः। पृथङ्निर्देशे च सम्बन्धिभेदमात्रम् (न पुनः स्वरूपभेदः किञ्चिदित्यर्थः—अनुवाद) प्रतिवस्तूपमावत्। बिम्बप्रतिबिम्बभावो वा दृष्टान्तवत्।

(ख) 'वस्तुप्रतिवस्तुभाव' का अभिप्राय यह है—

'एकस्यैव धर्मस्य सम्बन्धिभेदेन द्विरुपादानं वस्तुप्रतिवस्तुभावः।

और 'बिम्बप्रतिबिम्बभाव' का अभिप्राय है—

'वस्तुतो भिन्नयोर्धर्मयोः परस्परसादृश्यादभिन्नतयाध्यवसितयोर्द्विरुपादानं बिम्बप्रतिबिम्बभावः।

अनुवाद—यह भी उपमा की एक विचित्रता ही है जिसे 'एकदेशविवर्तिनी उपमा' कहा करते हैं। यह 'एकदेशविवर्तिनी उपमा' वह है जहाँ साम्य (अथवा सादृश्य) वाच्य और व्यङ्ग्य—दोनों रूपों में दिखायी दिया करता है।

जैसे कि—

'शरत्कालीन सरोवर-सुषमा, नेत्रों की भाँति उत्पलों, मुख की भाँति कमल और स्तनों की भाँति चक्रवाकयुगलों से सुशोभित बनती रही।'

यहाँ नेत्र और 'उत्पल' 'मुख और 'पद्म' तथा 'स्तन' और 'चक्रवाक' का सादृश्य तो वाच्य है (साक्षात् शब्दतः प्रतिपादित है) किन्तु 'सरोवर-सुषमा' और 'रमणी' का साम्य व्यङ्ग्यरूप से विवक्षित है।

अर्थादेकवाक्ये। यथा—

'राजीवमिव राजीव जलं जलमिवाजनि।
चन्द्रश्चन्द्र इवातन्द्रः शरत्समुदयोद्यमे॥'

अत्र राजीवादीनामन्यसदृशत्वप्रतिपादनार्थमुपमानोपमेयभावो वैवक्षिकः। 'राजीवमिव पाथोजम्' इति चास्य लाटानुप्रासाद्विविक्तो विषयः। किन्त्वत्रोचितत्वादेकशब्दप्रयोग एव श्रेयान्।

तदुक्तम्—

'अनन्वये च शब्दैक्यमौचित्यादानुषङ्गिकम्।
अस्मिंस्तु लाटानुप्रासे साक्षादेव प्रयोजकम्॥' इति।

यहाँ 'एक ही वस्तु की उपमान और उपमेय रूप में कल्पना' के निर्देश से यह स्वयं पता चल जाता है कि ऐसी सम्भावना तभी हो सकती है जब कि 'वाक्य भी एक ही हो' जैसे कि—

'शरद् ऋतु के समुल्लास का आरम्भ क्या हुआ कमल कमल सरीखा, जल जल सरीखा और चन्द्रमा चन्द्रमा सरीखा निर्मल लगने लगा।'

यहाँ 'अनन्वय' अलङ्कार है क्योंकि एक ही वाक्यमें 'कमल' आदि वस्तुओंकी उपमान और उपमेय-दोनों रूपों में जो कल्पना है उसमें 'अनन्वय' अर्थात् अन्य उपमानों के सद्भाव और सादृश्यके 'अभाव' (अनन्वय) का कविहृदय सम्मत अभिप्राय स्पष्ट घटित हो रहा है।

'अनन्वय' और 'लाटानुप्रास' परस्पर भिन्न-भिन्न अलङ्कार हुआ करते हैं क्योंकि 'राजीवमिव पाथोजम्' आदि में, शब्द-भेद होने पर भी, एक ही पद्मरूप वस्तु में, उपमान और उपमेयरूपता की कल्पना के कारण 'अनन्वय' की रूपरेखा तो स्पष्ट हो जाती है किन्तु 'लाटानुप्रास' की कोई भी सभावना नहीं दिखायी देती। किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाल लेना चाहिये कि यदा-कदा 'अनन्वय' में शब्द-भेद का भी होना अपेक्षित है क्योंकि 'अनन्वय' के लिये यही उचित है कि उपमान और उपमेय-वाचक शब्दों में कोई स्वरूप-भेद नहीं प्रतीत हुआ करे। इसीलिये ऐसा कहा भी गया है—

'अनन्वय' में (उपमान और उपमेय-विषयक) शब्द की जो अभिन्नरूपता है वह वर्ण्य वस्तु की, उपमान और उपमेयरूपता की कल्पना के औचित्य की दृष्टि से स्वाभाविक ही है (यह एक दूसरी बात है कि कहीं शब्द-भेद होने पर भी 'अनन्वय' ही हो)। किन्तु जिसे 'लाटानुप्रास' कहते हैं उसके लिये तो शब्द की एकरूपता अनिवार्य है (क्योंकि शब्द भेद में 'लाटानुप्रास' हो ही नहीं सकता)।

विमर्श—(क) 'अनन्वय' की यह व्युत्पत्ति है—

'न विद्यते उपमेयस्य उपमानान्तरेण अन्वयः संबन्धो वाऽत्रेति अनन्वयः।' अर्थात् 'अनन्वय' वह है जिसमें उपमेय, 'अपने अतिरिक्त किसी अन्य उपमान से, किसी प्रकार सादृश्य रखता नहीं प्रतिपादित किया जाया करता। इसीलिये 'अनन्वय' का प्रयोजन 'द्वितीयसब्रह्मचारिनिवृत्ति' अथवा 'अपने अतिरिक्त अन्य उपमान का निषेध' हुआ करता है। अलङ्कारशास्त्र के प्रणेता आचार्य भामह ने इसीलिये 'अनन्वय' का यह लक्षण किया है—

'यत्र तेनैव तस्य स्यादुपमानोपमेयता। असादृश्यविवक्षातस्तमित्याहुरनन्वयम्॥'

जिसे आचार्य उद्भट ने इस सूक्ति में घटाया है—

'यस्य वाणी स्ववाणीव स्वक्रियेव क्रियाऽमला।
रूपं स्वमिव रूपं च लोकलोचनलोभनम्॥'

(उपमा के अनन्त वैचित्र्य : वर्गीकरण की असंभावना)

क्वचिदुपमानोपमेययोरपि प्रकृतत्वं यथा—

'हंसश्चन्द्र इवाभाति जलं व्योमतलं यथा।
विमलाः कुमुदानीव तारकाः शरदागमे ॥'
'अस्य राज्ञो गृहे भान्ति भूपानां ता विभूतयः।
पुरन्दरस्य भवने कल्पवृक्षभवा इव ॥'

अत्रोपमेयभूतविभूतिभिः 'कल्पवृक्षभवा इव' इत्युपमानभूता विभूतय आक्षिप्यन्त इत्याक्षेपोपमा। अत्रैव 'गृहे' इत्यस्य 'भवने' इत्यनेन प्रतिनिर्देशात्प्रतिनिर्देश्योपमा इत्यादयश्च न लक्षिताः, एवंविधवैचित्र्यस्य सहस्रधा दर्शनात्।

(१—अनन्वय)

उपमानोपमेयत्वमेकस्यैव त्वनन्वयः ॥ २६ ॥

अनुवाद—(उपमा-वैचित्र्य का वर्गीकरण असम्भव है क्योंकि प्राचीन अलङ्कारशास्त्र की यह मान्यता कि 'उपमान सदा अप्रकृत हुआ करता है' इस वास्तविकता के देखते ठीक नहीं बैठती कि) कहीं-कहीं काव्य-साहित्य में उपमेय की भाँति उपमान भी प्रकृत ही रहा करता है जैसे कि—

'शरद् के आगमन पर हंस चन्द्रमा की भाँति जल आकाश की भाँति और कुमुद तारागण की भाँति सुन्दर लगा करते हैं।'

'इस महाप्रतापी राजा के भवन में सामन्त राजगण की वे विभूतियाँ इस प्रकार सुशोभित लगा करती हैं जिस प्रकार पुरन्दर इन्द्र के भवन में कल्पवृक्ष की विभूतियाँ।'

[यहाँ 'हंसश्चन्द्र इवाभाति' आदि में यह स्पष्ट है कि 'हंस' आदि उपमेय की भाँति 'चन्द्र' आदि उपमान भी प्रकृत रूप से विवक्षित हैं क्योंकि शरद्-वर्णन में दोनों ही अपेक्षित हैं। किन्तु इस प्रकार के वैचित्र्य के आधार पर उपमा की भेद-कल्पना असंभव है।]

इसी प्रकार 'अस्य राज्ञो गृहे' आदि सूक्ति में एक विचित्र ही उपमा (आक्षेपोपमा) दिखायी दे रही है क्योंकि यहाँ उपमेयरूप से अवस्थित 'सामन्त राजगण की विभूतियों' द्वारा उपमान रूप से अवस्थित 'कल्पवृक्ष की विभूतियों' का आक्षेप अथवा अभिव्यञ्जन हो रहा है जिसमें 'कल्पवृक्षभवा इव' की शाब्दी व्यञ्जना का हाथ स्पष्ट दिखायी दे रहा है। यहीं '(राज्ञः) गृहे' का '(पुरन्दरस्य) भवने' द्वारा जो प्रतिनिर्देश है उसमें 'प्रतिनिर्देश्योपमा' की विचित्रता झलक रही है। किन्तु इस प्रकार के उपमावैचित्र्य की गणना ही वस्तुतः असम्भव है। इसलिये यहाँ इनके आधार पर सम्भव उपमाभेदों का निर्देश अपेक्षित नहीं।

विमर्श—उपमा की विविधताओं को ही लक्ष्य कर अप्पयदीक्षित ने इसे एक ऐसी 'शैलूषी' अथवा नर्तकी कहा है जो कि काव्य के रङ्गमञ्च पर विविध हावभावों के साथ नाचती रहा करती है।

अनुवाद—'अनन्वय' वह अलङ्कार है जिसमें एक ही वस्तु उपमान और उपमेय—दोनों रूपों में कल्पित हो जाया करती है—

(४—स्मरणालङ्कार)

सदृशानुभवाद्वस्तुस्मृतिः स्मरणमुच्यते ॥ २७ ॥

यथा—

'अरविन्दमिदं वीक्ष्य खेलत्खञ्जनमञ्जलम्।
स्मरामि वदनं तस्याश्चारु चञ्चललोचनम् ॥'

जहाँ दो वाक्य हों। पूर्ववाक्यस्थ उपमेय के द्वारा द्वितीय वाक्यस्थ उपमान की उपमा अथवा सादृश्य-कल्पना दो वाक्यों की ही अपेक्षा करती है।

'उपमेयोपमा' 'का उद्देश्य 'उपमानान्तरविरस्कार' है। इसलिये जहाँ 'उपमेय के द्वारा उपमा' होने पर भी अन्य उपमान का तिरस्कार अभिव्यङ्ग्य नहीं हुआ करता वहाँ 'उपमेयोपमा' भी नहीं हुआ करती। जैसे कि—

'सविता विधवति विधुरपि सवितरति तथा दिनन्ति यामिन्य।
यामिनयन्ति दिनानि च सुखदुःखवशीकृते मनसि॥

आदि सूक्ति में, दो वस्तुओं में उपमानोपमेयभाव का पर्यायत परिवर्तन तो अवश्य है किन्तु उपमेयोपमा नहीं क्योंकि इसका उद्देश्य 'उपमानान्तरतिरस्कार' नहीं अपितु सुखदु खादिरूप संवेग के कारण मन की विवशता का प्रदर्शन है। 'उपमेयोपमा' में भी साधारण धर्म की एकरूपता और विम्वप्रतिविम्व तथा वस्तुप्रतिवस्तुरूपता की संभावनायें संगत हैं। साधारण धर्म की एकरूपता में 'उपमेयोपमा' का एक सुन्दर निदर्शन यह सूक्ति है—

'खमिव जल जलमिव खं हंसश्चन्द्र इव हस इव चन्द्र.।
कुमुदाकारास्तारास्ताराकाराणि कुमुदानि ॥'

यहाँ यह स्पष्ट है कि सर्वत्र उपमेय और उपमान में विमलता का धर्म एक रूप का ही प्रतीत हो रहा है।

इसी प्रकार साधारण धर्म की वस्तुप्रतिवस्तुरूपता की अवस्था में 'उपमेयोपमा' का यह निदर्शन ध्यान देने योग्य है—

'सच्छायाम्भोजवदना सच्छायवदनाम्बुजा।
वाप्योऽङ्गना इवाभान्ति यत्र वाप्य इवाङ्गना ॥'

पण्डितराज जगन्नाथ द्वारा उद्धृत इस सूक्ति अर्थात—

'रमणीयस्तवकयुता विकसितवक्षोजयुगलशालिन्य।
लतिका इव ता वनिता वनिता इव रेजिरे लतिका. ॥'

में भी, साधारण धर्म की विम्व-प्रतिविम्वरूपता में 'उपमेयोपमा' का स्वरूप स्पष्ट झलक रहा है।

अनुवाद—'स्मरण' वह अलङ्कार है जिसे समान रूप अथवा समान गुण वाली एक वस्तु के अनुभव से, उसके सदृश दूसरी वस्तु की स्मृति का उपनिवन्ध कहा जाया करता है। जैसे कि—

'जब कि इस कमल को देखता हूँ जो कि पास विचरते खजन-युगल से सुन्दर लग रहा है तब उस सुन्दरी के उस मुख का स्मरण हो आता है जिसमें दोनों चञ्चल नेत्रों की शोभा विराजमान रहा करती है।'

(१—उपमेयोपमा)

पर्यायेण द्वयोरेतदुपमेयोपमा मता ।

एतदुपमानोपमेयत्वम् । अर्थाद्वाक्यद्वये ।

यथा—

> 'कमलेव मतिर्मतिरिव कमला, तनुरिव विभा विभेव तनुः ।
> धरणीव धृतिर्धृतिरिव धरणी, सततं विभाति बत यस्य ॥'

अत्रास्य राज्ञः श्रीबुद्ध्यादिसदृशं नान्यदस्तीत्यभिप्रायः ।

(ख) 'अनन्वय' और 'लाटानुप्रास' का भेद-निर्देश आलङ्कारिकों की परम्परा से चलता आ रहा है। अनन्वय में शब्द-भेद सम्भव है किन्तु लाटानुप्रास में शब्द-भेद असम्भव माना गया है। अनन्वय में 'अर्थपौनरुक्त्य' रहा करता है किन्तु लाटानुप्रास के लिये 'शब्दार्थपौनरुक्त्य' अपेक्षित है। इसीलिये 'राजीवमिव राजीवम्' में 'अनन्वय' हो सकता है किन्तु लाटानुप्रास नहीं। वैसे 'अनन्वय' को सर्वश्रेष्ठ बनाने के लिये शब्दैक्य की अपेक्षा अवश्य है क्योंकि तभी उपमान और उपमेय की एकरूपता निस्संदिग्ध प्रतीत हो सकती है। 'एकावलीकार' ने 'अनन्वय' और 'लाटानुप्रास' के भेद के सम्बन्ध में इसीलिये कहा है—

'पौनरुक्त्यस्य तात्पर्यमात्रभिन्नस्यात्र प्रयोजकत्वात् अनन्वये चार्थमात्रगतयुगपदुपमानोपमेयभावस्य प्रयुक्तत्वात्। शब्दैक्यस्य पुनरौचितीवशेन प्रसङ्गसङ्गतत्वात्।'

औचितीवश से अथवा औचित्य के कारण अनन्वय में शब्दैक्य का अभिप्राय यह है—

'उद्देश्यप्रतिनिर्देश्ययोरैकरूप्यमिति न्यायबलमात्मप्रत्यया पर्यायमक्रमभङ्गरूपदोषं तु कलमस्येनेत्यर्थः।' (तरलव्याख्या)

अर्थात् अनन्वय के प्रसंग का अनुसरण करते अनन्वय में शब्दैक्य बड़ी माना जाया करता। अनन्वय में शब्दैक्य तो उद्देश्य और प्रतिनिर्देश्य की एकरूपता की रक्षा के ही लिये आवश्यक है।

अनुवाद—'उपमेयोपमा वह अलङ्कार है जहाँ, दो वस्तुयें बारी-बारी से, परस्पर उपमान और उपमेयरूप में कल्पित दिखायी दिया करती हैं।

यहाँ कारिका में 'एतत्' का अभिप्राय 'उपमानोपमेयत्व' का अभिप्राय है (क्योंकि 'एतत्' शब्द से पूर्व कारिका के 'उपमानोपमेयत्व' का निर्देश किया जा रहा है)।

यहाँ दो वस्तुओं में परस्पर उपमानोपमेय-भाव की कल्पना से यह स्पष्ट पता चल रहा है कि ऐसी सम्भावना दो वाक्यों में ही हो सकती है (अनन्वय की भाँति एक वाक्य में नहीं)। जैसे कि—

'कितने आश्चर्य और आनन्द की बात है कि ये महाराज ऐसे हैं जिनकी बुद्धि लक्ष्मी-सरीखी लक्ष्मी बुद्धि-सरीखी कान्ति दिव्य देह-सरीखी दिव्य देह कान्ति-सरीखी धृति पृथिवी-सरीखी और पृथिवी धृति-सरीखी विराजमान हैं।

यहाँ 'उपमेयोपमा' का एक निगूढ अभिप्राय है और वह यह प्रकाशित करता है कि वर्ण्य भूपाल की बुद्धि और लक्ष्मी आदि के समान और किसी की बुद्धि और लक्ष्मी आदि नहीं हैं।

विमर्श—'उपमेयोपमा' में वस्तुओं के वास्तविक उपमानोपमेयभाव का पर्यवसान (व्यावृत्ति) परिवर्तन स्वाभाविक है क्योंकि 'उपमेयोपमा' का अभिप्राय 'उपमेय के द्वारा उपमा' है अत एव 'उपमेयेनोपमा' व्युत्पत्ति । उपमेय के द्वारा उपमा' नहीं हो सकती है

(४—स्मरणालङ्कार)

सदृशानुभवाद्वस्तुस्मृतिः स्मरणमुच्यते ॥ २७ ॥

यथा—

'अरविन्दमिदं वीक्ष्य खेलत्खञ्जनमञ्जलम् ।
स्मरामि वदनं तस्याश्चारु चञ्चललोचनम् ॥'

जहाँ दो वाक्य हों । पूर्ववाक्यस्थ उपमेय के द्वारा द्वितीय वाक्यस्थ उपमान की उपमा अथवा सादृश्य-कल्पना दो वाक्यों की ही अपेक्षा करती है ।

'उपमेयोपमा' का उद्देश्य 'उपमानान्तरतिरस्कार' है । इसलिये जहाँ 'उपमेय के द्वारा उपमा' होने पर भी अन्य उपमान का तिरस्कार अभिव्यङ्ग्य नहीं हुआ करता वहाँ 'उपमेयोपमा' भी नहीं हुआ करती । जैसे कि—

'सविता विधवति विधुरपि सवितरति तथा दिनन्ति यामिन्यः ।
यामिनयन्ति दिनानि च सुखदुःखवशीकृते मनसि ॥

आदि सूक्ति में, दो वस्तुओं में उपमानोपमेयभाव का पर्यायत परिवर्तन तो अवश्य है किन्तु उपमेयोपमा नहीं क्योंकि इसका उद्देश्य 'उपमानान्तरतिरस्कार' नहीं अपितु सुखदु खादिरूप सवेगा के कारण मन की विवशता का प्रदर्शन है । 'उपमेयोपमा' में भी साधारण धर्म की एकरूपता और विम्वप्रतिविम्व तथा वस्तुप्रतिवस्तुरूपता की सभावनायें सगत हैं । साधारण धर्म की एकरूपता में 'उपमेयोपमा' का एक सुन्दर निदर्शन यह सूक्ति है—

'खमिव जलं जलमिव ख हंसश्चन्द्र इव हंस इव चन्द्रः ।
कुमुदाकारास्तारास्ताराकाराणि कुमुदानि ॥'

यहाँ यह स्पष्ट है कि सर्वत्र उपमेय और उपमान में विमलता का धर्म एक रूप का ही प्रतीत हो रहा है ।

इसी प्रकार साधारण धर्म की वस्तुप्रतिवस्तुरूपता की अवस्था में 'उपमेयोपमा' का यह निदर्शन ध्यान देने योग्य है—

'सच्छायाम्भोजवदना सच्छायवदनाम्बुजा ।
वाप्योऽङ्गना इवाभान्ति यत्र वाप्य इवाङ्गना ॥'

पण्डितराज जगन्नाथ द्वारा उद्धृत इस सूक्ति अर्थात—

'रमणीयस्तवकयुता विकसितवक्षोजयुगलशालिन्यः ।
लतिका इव ता वनिता वनिता इव रेजिरे लतिकाः ॥'

में भी, साधारण धर्म की विम्व-प्रतिविम्वरूपता में 'उपमेयोपमा' का स्वरूप स्पष्ट झलक रहा है ।

अनुवाद—'स्मरण' वह अलङ्कार है जिसे समान रूप अथवा समान गुण वाली एक वस्तु के अनुभव से, उसके सदृश दूसरी वस्तु की स्मृति का उपनिवन्ध कहा जाया करता है । जैसे कि—

'जव कि इस कमल को देखता हूँ जो कि पास विचरते खजन-युगल से सुन्दर लग रहा है तव उस सुन्दरी के उस मुख का स्मरण हो आता है जिसमें दोनों चञ्चल नेत्रों की शोभा विराजमान रहा करती है ।'

'मयि सकपटम्—' इत्यादौ च स्मृतेः सादृश्यानुभवं विनोत्थापितत्वान्नायमलङ्कारः। राघवानन्दमहापात्रास्तु—वैसादृश्यात्स्मृतिमपि स्मरणालङ्कारमिच्छन्ति। तत्रोदाहरणं तेषामेव।

यथा—

> 'शिरीषमृद्वी गिरिषु प्रपेदे यदा यदा दुःखशतानि सीता।
> तदा तदास्याः सदनेषु सौख्यलक्षाणि दध्यौ गलदश्रु रामः॥'

'स्मरण' अलङ्कार तो सादृश्य-दर्शन से उत्थापित स्मृति-रूप ही हुआ करता है और इसीलिये 'मयि सकपट किञ्चित् क्वापि प्रणीतविलोचने' आदि (तृतीय परिच्छेद में 'स्मृति' रूप व्यभिचारी भाव के उदाहरणार्थ उद्धृत) सूक्ति में 'स्मरण' अलङ्कार की कोई संभावना नहीं क्योंकि यहाँ जो 'स्मृति' है वह सादृश्य दर्शन से उत्थापित स्मृति नहीं अपि तु प्रणय की चिन्ता से उत्पन्न 'स्मृति' है।

'सादृश्यदर्शन से संभूत स्मृति के अतिरिक्त वैसादृश्यदर्शन से संभूत स्मृति भी 'स्मरण' अलङ्कार है'—यह 'स्मरण'-संबन्धी मत राघवानन्द महापात्र ने अपनाया है। इस मत में 'स्मरण' का यह उदाहरण उन्हीं का दिया हुआ है—

'जब जब शिरीषकोमलाङ्गी सीता पहाड़ी जगहों पर तरह तरह से व्यथित दिखाई पड़ी तब तब राम आँखों से आँसू बहाते राजभवन में सुलभ उसके अपरिमित सुखों का ध्यान करते रहे।'

विमर्श—विश्वनाथ कविराज का 'स्मरण'-लक्षण अलङ्कार-सर्वस्व और काव्य-प्रकाश के स्मरण लक्षणों का अनुसरण करता है। अलङ्कार-सर्वस्व और काव्यप्रकाश में 'सदृशानुभव से वस्त्वन्तर की स्मृति' को 'स्मरण' अलङ्कार कहा गया है—'सदृशानुभवाद् वस्त्वन्तरस्मृतिः स्मरणम्' (अलङ्कार-सर्वस्व), 'यथानुभवमर्थस्य दृष्टे तत्सदृशे स्मृतिः। स्मरणम्' (काव्यप्रकाश)। स्मरण अलङ्कार केवल 'स्मृति' नहीं अपि तु सादृश्योत्थापित स्मृति है—यही धारणा प्रायः सभी आलङ्कारिकों की है। आचार्य रुय्यक (अलङ्कारसर्वस्वकार) ने स्पष्ट कहा है—

'सादृश्यं विना तु स्मृतिर्नायमलङ्कारः।'

विश्वनाथ कविराज भी वस्तुतः 'सादृश्योत्थापित स्मृति' को ही स्मरण अलङ्कार मानते हैं किन्तु सादृश्य की भाँति वैसादृश्य भी स्मृति का कारण हो सकता है और इसलिये वैसादृश्योत्थापित स्मृति को भी स्मरण अलङ्कार मानने वाले आचार्य हो चुके हैं जिनमें राघवानन्द महापात्र का नामोल्लेख स्वयं विश्वनाथ कविराज ने ही किया है।

'स्मरण' अलङ्कार की रूपरेखा के सम्बन्ध में 'अलङ्कारसर्वस्व' के व्याख्याकार आचार्य जयरथ की यह उक्ति ध्यान देने योग्य है—

'अतएव स्मर्यमाणेनानुभूयमानस्य अनुभूयमानेन वा स्मर्यमाणस्य सादृश्यपरिकल्पनमयमलङ्कारः। यदुक्तम्—

> यथा दर्पेण जनिता सादृश्यात् स्मर्यमाणगा।
> स्मर्यमाणाङ्गसाम्यात्तु तथैयं दर्पणायिनी॥

अर्थात् 'स्मरण' अलङ्कार अथवा सदृशानुभव से वस्त्वन्तर-स्मृति का अभिप्राय स्मरण की जाती हुई वस्तु से अनुभव की जाती हुई वस्तु की सादृश्य-कल्पना अथवा अनुभव की जाती

(५—रूपक)

रूपकं रूपितारोपाद्वि(पो वि)षये निरपह्नवे ।

हुई वस्तु से स्मरण की जाती हुई वस्तु की सादृश्य कल्पना है। अनुभव की जाती हुई वस्तु से स्मरण की जाती हुई वस्तु की सादृश्य-परिकल्पना में 'स्मरण' का स्वरूप निम्न मेघदूत-सूक्ति में देखिये—

'तस्यास्तीरे रचितशिखरः पेशलैरिन्द्रनीलैः
क्रीडाशैलः कनककदलीवेष्टनप्रेक्षणीयः ॥
मद्गेहिन्याः प्रिय इति सखे चेतसा कातरेण
प्रेक्ष्योपान्तस्फुरिततडितं त्वां तमेव स्मरामि ॥'

यहाँ प्रत्यक्षदृश्य मेघ और स्मृति-सिद्ध क्रीडाशैल की सादृश्य-कल्पना में 'स्मरण' अलङ्कार की रूपरेखा बडी सुन्दरता से उभर आयी है।

(ख) पण्डितराज जगन्नाथ को 'स्मरण' अलङ्कार के इस उपर्युक्त लक्षण पर आपत्ति है क्योंकि उनके अनुसार 'स्मरण' का लक्षण यह है—

'सादृश्यज्ञानोद्बुद्धसंस्कारप्रयोज्यं स्मरणं स्मरणालङ्कारः'

यहाँ 'सादृश्यानुभव' के बदले 'सदृशज्ञान' से उद्बुद्ध स्मृति को स्मरण अलङ्कार माना गया है जिसमें सदृशानुभव की भाँति सदृशस्मृति से भी उत्थापित स्मृति में 'स्मरण' अलङ्कार का दर्शन किया जा सके। बात भी वस्तुतः ठीक ही है। पण्डितराज ने स्पष्ट कहा है—

'यदपि 'सदृशानुभवाद्वस्त्वन्तरस्मृतिः स्मरणम्' इत्यलङ्कारसर्वस्वरत्नाकरयोः स्मरणालङ्कारलक्षणमुक्तम्' तदपि न। सदृशस्मरणादुद्बुद्धेन संस्कारेण जनिते स्मरणे अव्याप्तेः। यथा—

'सन्त्येवास्मिन् जगति बहवः पक्षिणो रम्यरूपा-
स्तेषां मध्ये मम तु महती वासना चातकेषु।
यैरध्यक्षैरथ निजसखं नीरदं स्मारयद्भिः
स्मृत्यारूढं भवति किमपि ब्रह्म कृष्णाभिधानम् ॥'

अत्र च चातकदर्शनादेकसम्बन्धिज्ञानादुत्पन्नेनापरसम्बन्धिनो जलधरस्य भगवत्सदृशस्य स्मरणेन जनितं भगवतः स्मरणं भगवद्विषयकरतिभावाङ्गम्। यदि च 'सदृशानुभवात्' इत्यपहाय 'सदृशज्ञानात्' इति लक्षणे निवेश्यते तदा भवत्यस्यापि संग्रह इति दिक्।'

अर्थात् सदृशानुभव की भाँति सदृशस्मरणद्वारा उद्बुद्ध संस्कार से उत्थापित स्मृति भी स्मरणालङ्कार ही है।

(ग) 'स्मरण' अलङ्कार की जन्मभूमि वस्तुतः उपमा है। उपमा में साधारणधर्म की एकरूपता और भिन्नरूपता में बिम्बप्रतिबिम्बभाव तथा वस्तुप्रतिवस्तुभाव की जो कतिपय संभावनायें हैं वे 'स्मरण' के लिये भी लागू हैं।

अनुवाद—'रूपक वह अलङ्कार है जिसे (विषयी अथवा उपमान द्वारा) अनपह्नुत (न छिपाये गये) विषय (आरोप विषय-उपमेय) पर विषयी (उपमान) का अभेदारोप कहा जाया करता है।

'रूपित-' इति परिणामाद्-व्यवच्छेदः। एतच्च तत्प्रस्तावे विवेचयिष्यामः। 'निरपह्नवे' इत्यपह्नुतिव्यवच्छेदार्थम्।

तत्परम्परितं साङ्गं निरङ्गमिति च त्रिधा ॥ २८ ॥

तद्रूपकम्।

(परम्परितरूपक : सप्रभेद निरूपण)

तत्र—

यत्र कस्यचिदारोपः परारोपणकारणम्।
तत्परम्परितं श्लिष्टाश्लिष्टशब्दनिबन्धनम् ॥ २९ ॥
प्रत्येकं केवलं मालारूपं चेति चतुर्विधम्।

यहाँ कारिका में 'रूपित' पद का प्रयोजन 'परिणाम' अलङ्कार से 'रूपक' के व्यवच्छेद अथवा पार्थक्य का प्रदर्शन है और इसका विवेचन 'परिणाम' अलङ्कार के निरूपण-प्रसङ्ग में किया जा रहा है। साथ ही साथ यहाँ 'निरपह्नवे' पद इसलिये रखा गया है जिसमें 'अपह्नुति' से (जिसमें विषय का निषेध रहा करता है) 'रूपक' का स्वरूप-व्यवच्छेद स्पष्ट होता रहे।

विमर्श—अलङ्कारसर्वस्वकार ने 'रूपक' की इस व्युत्पत्ति में ही 'रूपक' का स्वरूप बता दिया है—

विषयिणा विषयस्य रूपवत्ता करणाद्रूपकम्।

'एकावली' की यह 'रूपक'-व्युत्पत्ति भी युक्तियुक्त ही है—

'यदा तु विषयी विषयं रूपयति रूपवन्तं करोति तदन्वर्थाभिधानं रूपकम्।

अनुवाद—'रूपक' के तीन (मुख्य) प्रकार हैं—(१) परम्परित (२) साङ्ग और (३) निरङ्ग।

यहाँ (कारिका में) 'तत्' से 'रूपक' का निर्देश किया जा रहा है।

विमर्श—'साङ्ग' रूपक को 'सावयव' और 'निरङ्ग' को 'निरवयव' भी कहा जाता करता है। साङ्ग अथवा सावयव रूपक का अभिप्राय है—'सहावयवैरारोप्यमाणो वर्तते यत्र तत्' (अर्थात् उपमेय का ऐसा रूपण जिसमें उसके अवयव भी रूपित हुआ करें), 'निरङ्ग' अथवा निरवयव रूपक का तात्पर्य है—'अवयवेभ्यो निष्क्रान्त आरोप्यमाणो यत्र तत्' (अर्थात् अवयवरहित उपमेय का उपमान से तादात्म्यारोप) और 'परम्परित' रूपक का अर्थ है 'परम्परैकस्य माहात्म्यादपरस्यारूपणस्वभावं यत्र तत्' (अर्थात् एक के तादात्म्यारोप के कारण अन्य का तादात्म्यारोप)।

अनुवाद—रूपक के उपर्युक्त भेदत्रय में—

'परम्परित रूपक वह रूपक है जिसमें एक का अभेदारोप दूसरे के अभेदारोप का कारण हुआ करता है। इसके दो भेद हैं—(१) श्लिष्टशब्दनिबन्धनपरम्परित और (२) अश्लिष्टशब्दनिबन्धनपरम्परित। (१ क) अर्थात् श्लिष्टशब्दनिबन्धनपरम्परित भी दो प्रकार का है—श्लिष्टशब्दनिबन्धन'केवल'परम्परित और श्लिष्टशब्दनिबन्धन'माला'परम्परित। इसी प्रकार (२ ख) अर्थात् अश्लिष्टशब्दनिबन्धनपरम्परित भी 'केवल' और 'माला' रूप होने से दो प्रकार का ही है।

तत्र श्लिष्टशब्दनिबन्धनं केवलपरम्परितम्।

यथा—

आहवे जगदुद्दण्ड! राजमण्डलराहवे।
श्रीनृसिंहमहीपाल! स्वस्त्यस्तु तव बाहवे॥'

अत्र राजमण्डलं नृपसमूह एव चन्द्रबिम्बमित्यारोपो राजबाहौ राहुत्वारोपे निमित्तम्।

मालारूप यथा—

'पद्मोदयदिनाधीश. सदागतिसमीरण।
भूभृदावलिदम्भोलिरेक एव भवान् भुवि॥'

अत्र पद्मायाः उदय एव पद्मानामुदय, सतामागतिरेव सदागमनम्, भूभृतो राजान एव पर्वता इत्याद्यारोपो राज्ञः सूर्यत्वाद्यारोपनिमित्तम्।

अश्लिष्टशब्दनिबन्धन केवल यथा—

'पान्तु वो जलदश्यामाः शार्ङ्गज्याघातकर्कशा'।
त्रैलोक्यमण्डपस्तम्भाश्चत्वारो हरिबाहवः॥'

जैसे कि श्लिष्टशब्दनियन्धन'केवल'परम्परित—

'हे नृसिंह महीपाल! हे महापराक्रमी महाराज! संग्राम में प्रचण्डवलशाली राजमण्डल रूपी चन्द्रमा के लिये राहुस्वरूप आप का भुजदण्ड सदा विजयी हो।'

यहाँ 'राजमण्डल' शब्द श्लिष्ट है क्योंकि इसका अभिप्राय 'राजसमूह' और 'चन्द्रविम्ब' दोनों है। इस प्रकार यहाँ 'राजमण्डल' (राजसमूह) रूप विषय पर 'राजमण्डल' (चन्द्रविम्ब) रूप विषयी का आरोप स्पष्ट है। और जैसा कि यह आरोप वर्ण्य भूपाल के बाहुदण्ड पर राहु के आरोप का निमित्त लग रहा है, यहाँ श्लिष्टशब्दनिवन्धन 'केवल'-परम्परित रूपक का लक्षण स्पष्टतया घटित हो रहा है।

इसी प्रकार, श्लिष्टशब्दनिवन्धन'माला'परम्परित, जैसे कि—

'हे महाराज! इस जगतीतल पर आप ही एक ऐसे हैं जो 'पद्मोदय' (ऐश्वर्य-पराकाष्ठा) रूप 'पद्मोदय' (कमलविकास) के लिये सूर्यरूप, 'सदागति' (सज्जनागम) रूप 'सदागति' (निरन्तर विचरण) के लिये पवन रूप और 'भूभृदावलि' (राजवर्ग) रूप 'भूभृदावलि' (पर्वतसमूह) के लिये वज्ररूप से सदा विराजमान हैं।'

यहाँ भी 'पद्मोदय', 'सदागति' और 'भूभृदावलि' पद श्लिष्ट पद हैं। यहाँ पद्मा अथवा लक्ष्मी के उदय (पद्मोदय) पर, पद्मों के उदय (पद्मोदय = कमलविकास) का आरोप, सज्जनों के आगमन (सदागति) पर सदा आगमन (सदागति) का आरोप और 'भूभृदावलि' (राजसमूह) पर भूभृदावलि (पर्वतसमूह) का आरोप स्पष्ट है और यह भी स्पष्ट है कि यह आरोप वर्ण्य भूपाल पर सूर्य, पवन और वज्र की आरोप माला का निमित्त बन रहा है।

अश्लिष्टशब्दनिबन्धन'केवल'परम्परित का उदाहरण यह है—

'मेघ के समान श्याम, शार्ङ्ग धनुष की प्रत्यञ्चा के आस्फालन से कठोर किंवा त्रैलोक्य रूपी मण्डल के स्तम्भरूप, भगवान् विष्णु के चारों भुजदण्ड आप सब का कल्याण करें।'

यहाँ कोई भी शब्द श्लिष्ट नहीं और त्रैलोक्य पर मण्डप का जो आरोप है वह विष्णु-भुजाओं पर स्तम्भों के आरोप के निमित्तरूप से प्रतीत हो रहा है।

अत्र त्रैलोक्यस्य मण्डपत्वारोपो हरिबाहूनां स्तम्भत्वारोपे निमित्तम्।

मालारूपं यथा—

मनोजराजस्य सितातपत्रं श्रीखण्डचित्रं हरिदङ्गनायाः।
विराजते व्योमसरः सरोजं कर्पूरपूरप्रभमिन्दुबिम्बम्॥'

अत्र मनोजादे राजत्वाद्यारोपश्चन्द्रबिम्बस्य सितातपत्रत्वाद्यारोपे निमित्तम्। 'तत्र च राजभुजादीनां राहुत्वाद्यारोपो राजमण्डलादीनां चन्द्रमण्डलत्वाद्यारोपे निमित्तम्' इति केचित्।

इसी प्रकार अश्लिष्टशब्दनिबन्धन 'माला' परम्परित का उदाहरण—

'कामरूप राजराजेश्वर का श्वेत राजच्छत्र, पूर्वदिशारूप सुन्दरी का चन्दनतिलक और गगनरूप सरोवर का कमल यह कर्पूरधवलचन्द्रबिम्ब कितना सुन्दर लग रहा है।

यहाँ यह स्पष्ट है कि 'काम' आदि पर 'राजा' आदि का जो अभेदारोप है वह 'चन्द्रबिम्ब' आदि पर 'श्वेतच्छत्र' आदि के अभेदारोप के निमित्तरूप से विराजमान है। इस प्रकार इस आरोप-माला में अश्लिष्ट शब्दों के प्रयोग के कारण अश्लिष्टशब्दनिबन्धन 'माला'परम्परित रूपक स्पष्ट झलक रहा है।

उक्त चतुर्विध परम्परित रूपक के सम्बन्ध में कतिपय काव्याचार्यों का यह कहना है—'राजमण्डलराहवे' आदि में, एक के रूपण को दूसरे के रूपण का निमित्त इस प्रकार मानना उचित है कि 'राजबाहु' आदि पर 'राहु' आदि के अभेदारोप को 'राजमण्डल' (राजवर्ग) आदि पर 'राजमण्डल' (चन्द्रबिम्ब) आदि के अभेदारोप का निमित्त माना जाय (इसलिये 'राजमण्डल' आदि पर 'राजमण्डल' आदि के अभेदारोप को 'राजबाहु' आदि पर 'राहु' आदि के अभेदारोप का निमित्त मानना ठीक नहीं)।

विमर्श—'एक के आरोपमाहात्म्य से दूसरे के अभेदारोप में परम्परित रूपक की मान्यता तो सभी आलङ्कारिकों की है किन्तु 'किसका आरोप-माहात्म्य किसके अभेदारोप का निमित्त है' इस सम्बन्ध में विश्वनाथ कविराज ने उदाहरण प्रसङ्गों में अपने मत का निर्देश कर जिन काव्याचार्यों के भिन्न मत का उल्लेख किया है उनमें अलङ्कारसर्वस्वकार आचार्य रुय्यक मुख्य हैं। रुय्यक ने श्लिष्टशब्दनिबन्धन 'माला'परम्परित का यह उदाहरण दिया है—

'विद्वन्मानसहंस वैरिकमलासंकोचदीप्तद्युते
दुर्गामार्गणनीललोहित समित्स्वीकारवैश्वानर।
सत्यप्रीतिविधानदक्ष विजयप्राग्भावभीम प्रभो
साम्राज्यं वरवीर वत्सरशतं वैरिञ्चमुच्चैः क्रियाः॥

और इसमें 'परम्परित' का लक्षण इस प्रकार बताया है—

'अत्र त्वमेव हंस इत्यारोपपूर्वको मानसमेव मानसमित्याद्यारोप इति श्लिष्टशब्दं मालापरम्परितम्।'

जिसे आचार्य जयरथ ने इन शब्दों में स्पष्ट किया है—

'विद्वदित्यादिहंसरूपणा माहात्म्यान्मानसरूपणेति परम्परितम्'

आचार्य रुय्यक का यह मत सर्वप्रथम काव्यप्रकाशकार द्वारा ही दूषित किया गया है—

अत्र (विद्वन्मानसहंस इत्यादौ) मानसमेव मानसम्, कमलानां संकोच एव कमलासंकोचः, दुर्गाणाममार्गणमेव दुर्गाया मार्गणम्, समितां स्वीकार एव समिधां

(साङ्गरूपक समस्तवस्तुविषय और एकदेशविवर्ति)

अङ्गिनो यदि साङ्गस्य रूपणं साङ्गमेव तत् ॥ ३० ॥

समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्ति च ।

तत्र—

आरोप्याणामशेषाणां शाब्दत्वे प्रथमं मतम् ॥ ३१ ॥

प्रथमं समस्तवस्तुविषयम् ।

यथा—

'रावणावग्रहक्लान्तमिति वागमृतेन सः ।
अभिवृष्य मरुत्सस्यं कृष्णमेघस्तिरोदधे ॥'

अत्र कृष्णस्य मेघत्वारोपे वागादीनाममृतत्वादिकमारोपितम् ।

यत्र कस्यचिदार्थत्वमेकदेशविवर्ति तत् ।

स्वीकार , सस्ये प्रीतिरेव सत्यामप्रीति , विजयः पराभव एव विजयोऽर्जुनः एवमारोपणनिमित्तो हंसादेरारोपः ।' (काव्यप्रकाश १०. ९५)

इन दोनों मतों में, विश्वनाथ कविराज और आचार्य मम्मट का मत एक ही है । दोनों ही आचार्य अलङ्कारसर्वस्वकार का खण्डन करते हैं । किन्तु निष्पक्ष भाव से देखते, अलङ्कारसर्वस्वकार का ही मत अधिक युक्तिसंगत लगता है । कारण यह है कि जब कि कवि का ध्यान मुख्य वर्ण्य विषय (और इसलिए मुख्य आरोप विषय) प्रकृत भूपाल पर है तो उस पर की जाने वाली 'हंस' आदि की अभेदारोप माला ही मुख्य आरोप-माला है जिसकी दृष्टि से 'मानस' पर 'मानस' आदि के आरोप का स्वारस्य और सार्थक्य ठीक ठीक समझा जा सकता है ।

अनुवाद—रूपक का द्वितीय भेद 'साङ्ग' रूपक वह रूपक है जिसमें अङ्गों के रूपण के साथ-साथ अङ्गी का रूपण हुआ करता है । इस रूपक-प्रकार के भी दो भेद हैं—(१) समस्तवस्तुविषय और (२) एकदेशविवर्ति ।

इनमें (१ ला) अर्थात् 'समस्तवस्तुविषय' साङ्गरूपक वह रूपक हुआ करता है जिसमें (कवि-निरूपित) समस्त आरोप्यमाण (उपमान) शब्दत उपात्त रहा करते हैं। यहाँ (कारिका में) 'प्रथमम्' का तात्पर्य 'समस्तवस्तुविषय' प्रकार के रूपक का तात्पर्य है ।

इसका उदाहरण यह है—

'जब कि विष्णुरूपी मेघ ने रावणरूपी अवग्रह (अवर्षण) से क्लान्त देववृन्दरूपी सस्य (धान्य शालि-क्षेत्र) को वाणीरूपी अमृतवर्षा से सींच दिया तब वह तिरोहित हो गया ।'

यहाँ रूपक की 'साङ्गता' और 'समस्तवस्तुविषयता' इसलिये है क्योंकि कवि ने अङ्गी रूप से अवस्थित 'मेघ' रूप आरोप्यमाण (उपमानभूत) पदार्थों को शब्दतः प्रतिपादित किया है और इसके अङ्ग-रूप से निरूपित 'सस्य' तथा 'अवग्रह' और 'अमृत'-रूप आरोप्यमाण पदार्थों को भी शब्दत ही उपनिबद्ध किया है ।

और (२ रा) अर्थात् 'एकदेशविवर्ति' साङ्गरूपक वह रूपक-प्रकार है जिसमें (किसी न किसी अङ्ग से सम्बद्ध) कोई न कोई आरोप्यमाण (उपमानभूत चन्द्र आदि) पदार्थ शब्दत प्रतिपादित न हो कर अर्थलभ्य रहा करता है ।

कस्यचिदारोप्यमाणस्य ।

यथा—

'लावण्यमधुभिः पूर्णमास्यमस्या विकस्वरम् ।
लोकलोचनरोलम्बकदम्बैः कैर्न पीयते ? ।।'

अत्र लावण्यादौ मधुत्वाद्यारोपः शाब्दः, मुखस्य पद्मत्वारोप आर्थः ।

न चेयमेकदेशविवर्तिन्युपमा विकस्वरत्वधर्मस्यारोप्यमाणे पद्मे मुख्यतया वर्तमानात् मुखे चोपचरितत्वात् ।

यहाँ, कारिका में 'कस्यचित्' का अभिप्राय 'आरोप्यमाण' (उपमान) का अभिप्राय है। इसका उदाहरण यह है—

'लोगों के कौन ऐसे नेत्ररूपी भ्रमरसंघ नहीं हैं जो कि लावण्यरूपी मधु रस से भरे इसके खिले मुख के पान के कम्पर हैं।'

यहाँ रूपक की 'साङ्गता' और 'एकदेशविवर्तिता' इसलिये है क्योंकि कवि ने 'रोलम्ब' को यहाँ आरोप्यमाण मानकर अक्रम से अवस्थित 'मधु'रूप आरोप्यमाण को तो शब्दतः प्रतिपादित किया है किन्तु ('आस्य' के लिये) 'कमल' आदि रूप आरोप्यमाण का अर्थतः ही प्रकाशित छोड़ दिया है। यहाँ ('नेत्रैरिवोत्पलैः' आदि की भाँति) 'एकदेशविवर्तिनी' उपमा की आशङ्का न होनी चाहिये क्योंकि यहाँ कवि ने 'विकस्वरता' (खिल उठने) के धर्म का जो उल्लेख किया है वह (जैसा कि 'रूपक' के लिये आवश्यक है) आरोप्यमाणभूत 'कमल' में तो अवश्य अवस्थित है (किन्तु जैसा कि 'उपमा' के लिये स्वाभाविक है) 'मुख' में (अवस्थित नहीं अपि तु) उपचरित अथवा कल्पित ही प्रतीत हो रहा है (जिससे यहाँ रूपक की मान्यता ही युक्तियुक्त दिखायी दे रही है)।

विमर्श—(क) समभेद 'साङ्ग' अथवा 'सावयव' रूपक का पण्डितराज जगन्नाथकृत यह लक्षण यहाँ स्मरणीय है—

'परस्परसापेक्षनिष्पत्तिकानां रूपकाणां संघातः सावयवम् ।

तथापि—

'समस्तानि वस्तून्यारोप्यमाणानि शब्दोपात्तानि यत्र तत्समस्तवस्तुविषयम् ।'

'यत्र च कश्चिदवयवे शब्दोपात्तमारोप्यमाणं कश्चिदार्थसामर्थ्यसिद्धं तदेकदेशे शब्दानुपात्तविषयिके अवयवरूपके विवर्तनात् स्वस्वरूपगोपनेनान्यथात्वेन वर्तनादेकदेशविवर्ति ।'

यथा—

'एकदेशो उपात्तविषयिके अवयवे विशेषेण स्फुटतया वर्तनादेकदेशविवर्ति ।'

(रसगङ्गाधर : रूपक-प्रकरण)

(ख) 'एकदेशविवर्ति रूपक' और 'एकदेशविवर्तिनी उपमा' का भेद साधारण धर्म की उपमान-संगति और उपमेय-संगति के भेद के आधार पर स्पष्ट हो जाता है। जैसे कि 'मुखकमलं विकस्वरम्' में विकस्वरता का धर्म कमल में तो समवेत है किन्तु मुख में असंगत और इसलिये यहाँ 'मुखमेव कमलम्' इस अभेदारोप में रूपक ही मान्य होगा। इसके अतिरिक्त 'मुखकमलं विहसति' में 'विहसन' का धर्म मुख में तो वस्तुतः संगत लगता है किन्तु कमल में केवल उपचारतः ही संगत प्रतीत होता है। इसलिये यहाँ 'मुखं कमलमिव' इस उपमित समास में 'उपमा' ही मानी जायगी।

(निरङ्गरूपक : भेदद्वय)

निरङ्गं केवलस्यैव रूपणं तदपि द्विधा ॥ ३२ ॥

मालाकेवलरूपत्वात्—

तत्र मालारूपं निरङ्गं यथा—

'निर्माणकौशलं धातुश्चन्द्रिका लोकचक्षुषाम् ।
क्रीडागृहमनङ्गस्य सेयमिन्दीवरेक्षणा ॥'

केवलं यथा—

'दासे कृतागसि भवत्युचितः प्रभूणां
पादप्रहार इति सुन्दरि ! नात्र दूये ।
उद्यत्कठोरपुलकाङ्कुरकण्टकाग्रै-
र्यद्भिद्यते मृदु पदं ननु सा व्यथा मे ॥'

(रूपकभेद सकलन)

—तेनाष्टौ रूपके भिदाः ।

'चिरन्तनैरुक्ता' इति शेषः ।

अनुवाद—रूपक का तृतीय-भेद 'निरङ्ग' रूपक वह रूपक है जिसमें अङ्गीरूप से अवस्थित आरोप्यमाण (उपमान) का ही अभेदारोप हुआ करता है। यह भी दो प्रकार का है—

(१ ला) 'माला'निरङ्गरूपक और (२ रा) केवलनिरङ्गरूपक ।

(१ ले) अर्थात् 'माला'निरङ्गरूपक का उदाहरण यह है—

'यह कमलनयनी सुन्दरी विधाता की निर्माणचातुरी है, लोक नेत्र की चन्द्रिका है और अनङ्ग की विलासभूमि है।'

[यहाँ रूपक की 'निरङ्गता' और 'मालारूपता' इसलिए है क्योंकि कवि ने यहाँ अपने प्रधान वर्ण्य विषय 'सुन्दरी' का ही तीन-तीन आरोप्यमाणपदार्थों जैसे कि 'निर्माण-चातुरी', 'चन्द्रिका' और 'विलासभूमि' से तादात्म्यारोप स्थापित किया है, न कि इनसे संबद्ध अङ्गों का भी ।]

(२ रे) अर्थात् 'केवल' निरङ्गरूपक का उदाहरण यह रहा—

'अरी सुन्दरी ! इसका मुझे क्लेश नहीं कि यदि दास अपराध करे तो उसे स्वामी का पादप्रहार सहना ही पड़ता है। मुझे तो इसका डर है कि तेरे चरण-स्पर्श से उत्पन्न, मेरे अङ्ग के पुलकाङ्कुररूपी काँटों से, तेरा कोमल चरण न छिद जाय।'

[यहाँ 'केवल' निरङ्ग रूपक इसलिये है क्योंकि कवि ने 'पुलकाङ्कुर'रूप विषय का ही 'कण्टकाग्र'रूप विषयी से अभेदारोप स्थापित किया है न कि उससे सम्बद्ध अङ्गों का भी।]

विमर्श—'साङ्ग' रूपक में तो परस्पर सापेक्ष रूपक-सघात का दर्शन हुआ करता है किन्तु 'निरङ्ग' रूपक रूपक सघात की सापेक्षता से शून्य हुआ करता है

अनुवाद—इस प्रकार 'रूपक' अलङ्कार के सब मिलाकर आठ भेद हैं।

यहाँ कारिका में 'रूपक' के आठ प्रकारों का जो निर्देश है वह प्राचीन आलङ्कारिकों के मतानुसार है।

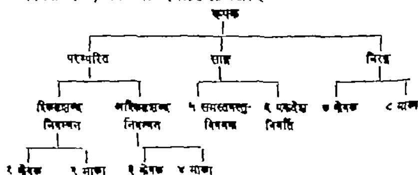
(रूपक-वैचित्र्य)

क्वचित्परम्परितमप्येकदेशविवर्ति यथा—

'खड्गः क्ष्मासौविदल्लः समिति विजयते मालवाखण्डलस्य ॥'

अत्रार्थः क्ष्मायां महिषीत्वारोपः खड्गे सौविदल्लत्वारोपे निमित्तम् । अस्य भेदस्य पूर्ववन्मालारूपत्वेऽप्युदाहरणं मृग्यम् ।

विमर्श—(क) 'रूपक' का भेद-चित्र इस प्रकार है—



(ख) विश्वनाथ-कविराज का उपर्युक्त रूपक-विभाजन आचार्य रुय्यक और आचार्य मम्मट के रूपक-विभाजन का अनुसरण करता है। आचार्य रुय्यक ने 'अष्टविध' रूपक का यह उल्लेख किया है—

इदं तु निरवयवं सावयवं परम्परितमिति त्रिविधम् । आद्यं केवलं मालारूपं चेति द्विधा । द्वितीयं समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्ति चेति द्विधैव । तृतीयं श्लिष्टाश्लिष्टशब्दनिबन्धनत्वेन द्विविधं सत् प्रत्येकं केवल-मालारूपत्वाच्चतुर्विधम् । तदेवमष्टौ रूपकभेदाः ।'

(अलङ्कारसर्व॰ पृ॰ ३५)

(ग) किसी प्रयोजनविशेष के ही कारण कविजन एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ से अभेदारोप स्थापित किया करते हैं अन्यथा नहीं। सादृश्यनिमित्तक आरोप ही 'रूपक' है। किन्तु कुछ काव्याचार्य अन्यनिमित्तक आरोप को भी 'रूपक' मानते हैं। जैसे कि निम्नसूक्ति अर्थात्—

अमृतकवलकन्दो सोमारम्भिसा प्रमोदरसभमा सिविमसवर्ण ज्योत्स्नावापी तुषारधराङ्किता ।
मनसिजवसती श्रृङ्गारश्रीविमानमहो नु भो विरहपिशुनचन्द्रा एषा कुत्र मृगाक्षेयम् ॥'

में 'इन्दुरूप भवन पर कार्यरूप भवन का जो आरोप है वह सादृश्यनिमित्तक नहीं अपितु सम्बन्धान्तरनिमित्तक है, किन्तु है 'रूपक' ही।

अनुवाद—उपर्युक्त अष्टविध रूपक के अन्यविध भी वैचित्र्य काव्य-साहित्य में दृष्टिगत हुआ करते हैं। जैसे कि कहीं-कहीं 'परम्परित' रूपक में 'एकदेशविवर्तिता'—

'मालव के आखण्डल मालवेन्द्र का खड्ग जो कि पृथ्वी का कञ्चुकीय है संग्राम में विजयशील ही रहा करता है।'

यहाँ 'परम्परित' रूपक में 'एकदेशविवर्तिता' का वैचित्र्य इसलिए लक्षित हो रहा है क्योंकि 'खड्ग' पर 'कञ्चुकीत्व' का जो आरोप है वह 'क्ष्मा' (पृथिवी) पर अर्थ-सामर्थ्य से लब्ध 'राजमहिषीत्व' के आरोप के कारण है।

इस 'एकदेशविवर्ति' परम्परित रूपक में 'माला'रूप की भी संभावना है जिसका उदाहरण ढूँढ़ा जा सकता है।

दृश्यन्ते क्वचिदारोप्याः श्लिष्टाः साङ्गेऽपि रूपके ॥ ३३ ॥

तत्रैकदेशविवर्ति श्लिष्टं यथा मम—

'करमुदयमहीधरस्तनाग्रे गलिततमःपटलांशुके निवेश्य ।
विकसितकुमुदेक्षणं विचुम्बत्ययममरेशदिशो मुखं सुधांशुः ॥'

समस्तवस्तुविषयं यथा—अत्रैव 'विचुम्बति–' इत्यादौ 'चुचुम्बे हरिद्बला-मुखमिन्दुनायकेन' इति पाठे । न चात्र श्लिष्टपरम्परितम् ? अत्र हि 'भूभृदा-वलिदम्भोलि'–' इत्यादौ राजादौ पर्वतत्वाद्यारोपं विना वर्णनीयस्य राजादेर्दं-

---

['माला' एकदेशविवर्ति परम्परितरूपक का उदाहरण यह रहा—

'छत्रं सितं शाम्बरशात्रवस्य श्रीगण्डचित्रं हरितोऽचलायाः ।
विराजते चारु नभःसरोजं कर्पूरपूरप्रभमिन्दुबिम्बम् ॥

यहाँ शम्बरशत्रु पर अर्थलभ्य 'राजत्व' के आरोप से एकदेशविवर्तिता और एकनिमित्तक अन्यारोप की माला के कारण 'माला-परम्परित' रूपक का स्वरूप स्पष्ट है ।]

इसी प्रकार कहीं कहीं 'साङ्ग' रूपक भी (परम्परित की भाँति) श्लिष्ट-शब्द-निबन्धन रूप में दिखायी दिया करता है क्योंकि कतिपय आरोप्यमाण श्लिष्ट शब्दों द्वारा उपात्त रहा करते हैं ।

उदाहरण के लिये 'एकदेशविवर्ति' प्रकार का श्लिष्ट शब्द-निबन्धन साङ्गरूपक—

'यह चन्द्रमा, उदयाचलरूपी स्तनाग्रभाग पर, जिस पर से अन्धकाररूपी अञ्चल गिर गया है, अपने किरणरूपी हाथ रख रहा है और पश्चिम दिशा के विकसित कुमुद रूपी नेत्रों से रमणीय मुख का चुम्बन करता दिखायी दे रहा है ।'

यहीं यदि 'विचुम्बत्ययममरेशदिशो मुखं सुधांशुः' के स्थान पर (चुचुम्बे हरिद्बला-मुखमिन्दुनायकेन । पश्चिमदिशारूपी रमणी के मुख का चन्द्ररूपी नायक चुम्बन कर रहा है) कर दिया जाय तो 'समस्तवस्तुविषय' प्रकार के श्लिष्टशब्दनिबन्धन साङ्गरूपक का स्वरूप स्पष्ट हो जायगा (क्योंकि पश्चिम दिशा पर 'नायिकात्व' और चन्द्रमा पर 'नायकत्व' का आरोप शब्दतः उपात्त दिखायी देने लगेगा) ।

यहाँ 'करमुदयमहीधरस्तनाग्रे' आदि एकदेशविवर्ति-श्लिष्टशब्द-निबन्धन साङ्ग रूपक-सूक्ति में 'श्लिष्टपरम्परित' रूपक का भ्रम नहीं होना चाहिये । कारण यह है कि 'परम्परित' रूपक के 'भूभृदावलिदम्भोलि' आदि पूर्वोद्धृत प्रसङ्ग में 'राजवर्ग' आदि पर 'पर्वत' आदि के आरोप के बिना वर्ण्य भूपाल आदि पर 'वज्र' आदि के आरोप की असंगति के देखते यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'परम्परित' रूपक वहाँ हुआ करता है जहा एक के आरोप-माहात्म्य से दूसरे के आरोप में अप्रसिद्ध सादृश्य का भी निमित्त रहा करता है ('करमुदयमहीधरस्तनाग्रे' आदि में ऐसी बात कहा ? यहाँ 'कर' (हाथ) का 'कर' (किरण) पर आरोप, 'नायक' का 'सुधांशु' पर आरोप और 'नायिका' का 'पश्चिम दिशा' पर आरोप ऐसा नहीं जो एक दूसरे के आरोप पर निर्भर हो और न यहाँ आरोप का निमित्त अप्रसिद्ध सादृश्य ही दिखायी दे रहा है) ।

किन्तु, 'भूभृदावलिदम्भोलि ' आदि में 'परम्परित' की उपर्युक्त सगति के देखते 'पद्मो-दयदिनाधीशः' आदि में 'परम्परित' को असङ्गत क्यों न माना जाय ? 'पद्मोदयदिनाधीशः' आदि में 'परम्परित' मानना इसलिये ठीक नहीं लगता कि यहाँ सूर्य आदि के साथ वर्ण्य

न्मौक्तिकादिरूपणं सर्वथैव सादृश्याभावादसङ्गतम्। यर्हि कथं 'पद्मोदयदिनाधीशः-' इत्यादौ परम्परितम्, राजादेः सूर्यादिना सादृश्यस्य तेजस्वितादिहेतुकस्य सम्भवादिति न वाच्यम्। तथा हि—राजादेस्तेजस्वितादिहेतुकं सुस्पष्टं सादृश्यम्, न तु प्रकृते विवक्षितम्, पद्मोदयादेरेव द्वयोः साधारणधर्मतया विवक्षितत्वात्। इह तु महीधरादेः स्तनादिना सादृश्यं पीनत्वोत्तुङ्गत्वादिना सुस्पष्टमेवेति न श्लिष्टपरम्परितम्।

क्वचित्समासाभावेऽपि रूपकं दृश्यते—

'मुखं तव कुरङ्गाक्षि ! सरोजमिति नान्यथा।'

क्वचिद्वैयधिकरण्येऽपि यथा—

'विदधे मधुपश्रेणीमिह भ्रूलतया विधिः।'

क्वचिद्वैधर्म्येऽपि यथा—

भूपाल आदि का, तेजस्विता की दृष्टि से प्रसिद्ध सादृश्य विद्यमान है और साथ ही साथ इस आरोप के निमित्तरूप से 'पद्मोदय' आदि पर 'पद्मोदय' आदि का आरोप भी नहीं दिखायी देता (और इसलिये यहाँ 'साङ्ग रूपक भले ही माना जाय 'परम्परित' तो नहीं ही माना जा सकता)। किन्तु, इस समस्या का समाधान यह है—'पद्मोदयदिनाधीश' आदि में सूर्य के साथ वर्ण्य भूपाल का, तेजस्वितादिहेतुक सादृश्य स्पष्ट तो अवश्य है किन्तु अभिप्रेत नहीं। यहाँ जो सादृश्य अभिप्रेत है वह 'पद्मोदयत्व' हेतुक ही सादृश्य है और साथ ही साथ 'पद्मोदय (लक्ष्मी के अभ्युदय) पर 'पद्मोदय' (कमलविकास) का जो आरोप है वह 'वर्ण्यभूपाल' पर 'सूर्य' के आरोप के निमित्तरूप से भी दिखायी पड़ रहा है (जिससे 'पद्मोदयदिनाधीश' में साङ्गरूपक की सम्भावना निर्मूल हो जाती है)। इस प्रकार 'करमुदयमहीधरस्तनाग्रे' आदि में जो 'रूपक' है वह 'परम्परित' नहीं अपितु श्लिष्टसम्बन्धविन्यास एकदेशविवर्ति 'साङ्ग' रूपक ही है क्योंकि 'स्तन' आदि के साथ 'महीधर' आदि का जो सादृश्य है उसमें 'पीनता' और 'उत्तुङ्गता' की हेतुता स्वयं अतिपरिस्फुट है।

कहीं-कहीं समास के अभाव में भी 'रूपक' का दर्शन स्वाभाविक है। जैसे कि—

'अरी मृगनयनी ! यह सच है कि तेरा मुख सरोज है।

(इस प्रकार 'रूपक' में 'व्यस्त' 'समस्त' और 'व्यस्तसमस्त' आदि वैचित्र्य भी पाये ही जाते हैं)।

('सामानाधिकरण्य की भाँति) वैयधिकरण्य' में भी 'रूपक' का सौन्दर्य विराजमान रहा करता है। जैसे कि—

'विधाता ने इस सुन्दरी के मुखपङ्कज पर भ्रूलता के रूप में भ्रमरश्रेणी की रचना कर दी है।

[यहाँ यह स्पष्ट है कि भ्रूलता और 'मधुपश्रेणी' भिन्न-भिन्न विभक्तियों में हैं किन्तु 'भ्रूलता' पर 'मधुपश्रेणी' का आरोप अवश्य प्रतीत हो रहा है।]

कहीं-कहीं (साधर्म्य की भाँति) वैधर्म्य में भी 'रूपक' दिखायी दिया करता है। जैसे कि इस सूक्ति में ही—

'सौजन्याम्बुमरुस्थली सुचरितालेख्यद्युभित्तिर्गुण-
ज्योत्स्नाकृष्णचतुर्दशी सरलतायोगश्वपुच्छच्छटा।
यैरेषापि दुराशया कलियुगे राजावली सेविता
तेषां शूलिनि भक्तिमात्रसुलभे सेवा कियत्कौशलम्॥'

इदं मम।

अत्र च केषाञ्चिद्रूपकाणां शब्दश्लेषमूलत्वेऽपि रूपकविशेषत्वादर्थालङ्कारमध्ये गणनम्। एवं वक्ष्यमाणालङ्कारेषु बोध्यम्।

अधिकारूढवैशिष्ट्यं रूपकं यत्तदेव तत्।

तदेवाधिकारूढवैशिष्ट्यसञ्ज्ञकम्।

यथा मम—

'इदं वक्त्रं साक्षाद्विरहितकलङ्कः शशधरः सुधाधाराधारश्चिरपरिणतं बिम्बमधरः।
इमे नेत्रे रात्रिन्दिवमधिकशोभे कुवलये तनुर्लावण्यानां जलधिरवगाहे सुखतरः॥'

अत्र कलङ्कराहित्यादिनाधिकं वैशिष्ट्यम्।

'इस कलिकाल में जो लोग उस दुष्ट हृदयवाली राजावली (राजगण) की सेवा कर चुके हैं जो कि सुजनतारूपी जलधारा के लिये मरुभूमि, सच्चरित्रतारूपी चित्रवीथी के लिये आकाशभित्ति, गुणावलीरूपी चन्द्रिका के लिये अँधेरी चौदस की तिथि और सरलता के सम्बन्ध के लिये कुत्ते की पूँछ है, उनके लिये, केवल भक्ति से सुलभ भगवान् शङ्कर की आराधना में, कोई कौशल अपेक्षित नहीं।'

[यहाँ 'मरुभूमित्व' आदि विरुद्ध धर्मों के आरोप में भी 'रूपक' अक्षुण्ण ही दिखायी दे रहा है।]

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि कई रूपक ऐसे भी हुआ करते हैं जो कि शब्दश्लेष के आधार पर रचित रहा करते हैं। किन्तु ये भी रूपक के ही विविध वचित्र्य रूप हैं और इसीलिये इन्हें सामान्यतः अर्थालङ्कारभूत रूपक के ही अन्तर्गत मान लिया गया है। यही बात आगे प्रतिपादित अलङ्कारों में भी समझनी चाहिये।

एक और भी रूपकवैचित्र्य है जिसे 'अधिकारूढवैशिष्ट्य' सञ्ज्ञक 'रूपक' कहा करते हैं क्योंकि इसमें आरोप्यमाण (उपमान) की अपेक्षा आरोपविषय (उपमेय) में कुछ वैशिष्ट्य (विशेषण योग) भी विराजमान रहा करता है। उदाहरणके लिये इस स्वरचित सूक्ति में 'अधिकारूढवैशिष्ट्य' रूपक—

'उस सुन्दरी का मुख साक्षात् कलङ्करहित चन्द्र है, अमृतधारा का आधार उसका अधर सुपक्व बिम्बफल है, उसके नेत्र रात-दिन रमणीय लगनेवाले नीलकमल हैं और उसका शरीर लावण्य का वह समुद्र है जिसमें स्नान सुखदायक ही सिद्ध होता है।'

यहाँ 'अधिकारूढवैशिष्ट्य' इसलिये है क्योंकि आरोपविषय (उपमेय) में 'कलङ्कराहित्य' आदि की वह विशेषता विराजमान है जो कि आरोप्यमाण (उपमान) में नहीं दिखायी देती।

विमर्श—(क) विश्वनाथ कविराज के रूपक वैचित्र्य-निरूपण का आधार 'अलङ्कारसर्वस्व'-कार का रूपक वैचित्र्य निर्देश है। 'अलङ्कारसर्वस्व'कार ने 'अष्टविध' रूपक का निरूपण करके उन अन्य रूपक-प्रकारों का भी सकेत किया है जो कि प्राचीन आलङ्कारिकों को मान्य है। आचार्य दण्डी का रूपक-विभाग यह है—

(६—परिणाम)

विषयात्मतयारोप्ये प्रकृतार्थोपयोगिनि ॥ ३४ ॥

परिणामो भवेत्तुल्यातुल्याधिकरणो द्विधा ।

आरोप्यमाणस्यारोपविषयात्मतया परिणमनात्परिणामः ।

यथा—'स्मितेनोपायनं दूरादागतस्य कृतं मम ।
स्तनोपपीडमाश्लेषः कृ(त)तो द्यूते पणस्तया ॥'

अत्रोपायनपणौ वसनाभरणादिभावेनोपयुज्येते । अत्र तु नायकसमागमप्रवृत्तयोः स्मिताश्लेषरूपतया । प्रथमार्धे वैयधिकरण्येन प्रयोगः, द्वितीये सामानाधिकरण्येन ।

'उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमिष्यते । यथा बाहुलता पाणिपद्मं चरणपल्लवः ॥
अङ्गुल्यः पल्लवान्यासन् कुसुमानि नखार्चिषः । बाहू लते वसन्तश्रीस्त्वं नः प्रत्यक्षचारिणी ॥
इत्येतदसमस्ताख्यं समस्तं पूर्वरूपकम् (बाहुलता इत्यादि) ।
स्मितं पुष्पोद्गमोऽयमिति समस्तव्यस्तरूपकम् ॥'
(काव्यादर्श २ ६६-६८)

और इसे भी विश्वनाथ कविराज ने निर्दिष्ट कर दिया है। इसके अतिरिक्त आचार्य रुय्यक द्वारा प्रस्तुत—

'पश्चाद् राक्षसलक्ष्म्याः हरितमणिमयी पौरुषस्येषस्ताड़ो
....
संग्रामप्रासनाभ्यस्तुरतपतिमद्योईसमीहाम्युपाद
....॥

आदि सूक्ति में 'चक्रवर्तिनि पत्यावृत' और 'स्त्रीलम्पाभुजलता' आदि में वैधर्म्यनिमित्तक 'परम्परित' भी विश्वनाथ कविराज को मान्य ही है।

(ग) रसगङ्गाधरकार का रूपक निरूपण विश्वनाथ कविराज के रूपक-निरूपण से प्रभावित है। रसगङ्गाधरकार ने रूपक-वैचित्र्य में साधर्म्य की दृष्टरूपता, विधिरूपता और .... और केवल दृश्योपादान आदि का भी विवेचन किया है और साथ ही साथ रूपक, ... आदि और रूपक प्रकारों का भी स्वरूप-निरूपण कर दिया है।

अनुवाद—'परिणाम' वह अलङ्कार है जिसमें 'उपमेय' से 'उपमान' का अभेदारोप ऐसा हुआ करता है जो कि प्रकृतार्थोपयोगी हुआ करता है। इसके भी दो भेद हैं—(१) तुल्याधिकरण (अर्थात् समानविभक्तिक अथवा समानाधिकरणक) परिणाम और (२) अतुल्याधिकरण (अर्थात् असमानविभक्तिक अथवा व्यधिकरणक) परिणाम।

'परिणाम' को परिणाम इसलिए कहते हैं क्योंकि इसमें जो आरोप्यमाण (उपमान) रहा करता है वह आरोपविषय (उपमेय) के रूप में परिणत हुआ करता है।

इसका उदाहरण यह है—

'जब मैं अपनी प्रेयसी के पास पहुँचा तब उसने मुस्कान .... मुझे भेंट दी और .... में .... के रूप में बाजी भी रख दी।'

यहाँ 'परिणाम' इसलिए है क्योंकि 'उपायन' और 'पण' (भेंट और बाजी) को कि और परिस्थिति में वस्त्र अथवा आभूषण आदि के रूप में उपयुक्त होते, यहाँ प्रेयसी के समागम और इसी के साथ .... की परिस्थिति में 'स्मित' और 'आश्लेष' के रूप में

रूपके 'मुखचन्द्र पश्यामि' इत्यादावारोप्यमाणचन्द्रादेरुपरञ्जकतामात्रम्, न तु प्रकृते दर्शनादावुपयोगः। इह तूपायनादेर्विषयेण तादात्म्य प्रकृते च नायकसंभावनादावुपयोगः। अत एव रूपके आरोप्यस्यावच्छेदकत्वमात्रेणान्वय', अत्र तु तादात्म्येन।

'दासे कृतागसि–' इत्यादौ रूपकमेव, न तु परिणामः। आरोप्यमाणकण्टकस्य पादभेदनकार्यस्याप्रस्तुतत्वात्। न खलु तत्कस्यचिदपि प्रस्तुतकार्यस्य घटनार्थमनुसन्धीयते।

अयमपि रूपकवदधिकारूढवैशिष्ट्यो दृश्यते।

यथा—

'वनेचराणा वनितासखानां दरीगृहोत्सङ्गनिषक्तभासः।
भवन्ति यत्रौषधयो रजन्यामतैलपूराः सुरतप्रदीपाः॥'

उपयुक्त होते दिखाई दे रहे हैं। यहाँ प्रथमार्ध में जो 'परिणाम' है उसमें आरोप्यमाण (उपायनम्) और आरोपविषय (स्मितेन) भिन्न भिन्न विभक्तियोंवाले शब्दों द्वारा उपात्त हैं और द्वितीयार्थ में ऐसा है कि आरोप्यमाण (पण) और आरोपविषय (आश्लेष) दोनों एक ही वभक्तिओंवाले शब्दों द्वारा उपात्त हैं।

'रूपक' और 'परिणाम' का भेद इसी से स्पष्ट है कि 'मुखचन्द्र पश्यामि' (मुखचन्द्र का दर्शन कर रहा हूँ) आदि रूपक के प्रसङ्गों में तो आरोप्यमाण (उपमान) 'चन्द्र' आदि पदार्थ आरोपविषय (उपमेयभूत) 'मुख' के उपरञ्जक अथवा शोभातिशय के सूचकमात्र ही प्रतीत हुआ करते हैं न कि प्रस्तुत विषय जैसे कि दर्शन (पश्यामि) की क्रिया आदि के साथ सम्बद्ध रहा करते हैं किन्तु उपर्युक्त 'परिणाम' के प्रसङ्गों में यह स्पष्ट है कि आरोप्यमाण 'उपायन' आदि परार्थ, आरोपविषय 'स्मित' आदि के साथ, इस प्रकार तादात्म्य स्थापित किये पड़े हैं कि प्रस्तुत विषय—जैसे कि प्रेमी के स्वागत-सत्कार आदि में उपयुक्त होते दिखाई दे रहे हैं। तात्पर्य यह है कि जहाँ 'रूपक' में 'उपमान' (आरोप्यमाण) 'उपमेय' के अवच्छेदक अथवा उपरञ्जक रूप से अन्वित हुआ करता है, वहाँ 'परिणाम' में यह (उपमान), उस (उपमेय) के साथ, सर्वात्मना एकरूप हो जाया करता है और उसके कार्य में भी उपयुक्त हुआ करता है। इस दृष्टि से 'दासे कृतागसि' आदि प्रसङ्गों में 'परिणाम' नहीं अपितु 'रूपक' अलङ्कार ही सिद्ध होता है क्योंकि यहाँ 'रोमाञ्च' पर आरोप्यमाण (उपमान) 'कण्टकाग्र' आदि पदार्थ ऐसे हैं जिनके सम्बन्ध में 'पादभेदन' (पैर के छेदने) आदि कार्यों की चर्चा सर्वथा अप्रासङ्गिक सी ही लगती है। यहाँ भला प्रस्तुत मानभङ्गरूप कार्य में कण्टकाग्र के 'पादभेदन' (पैर में चुभने) का क्या उपयोग?

'परिणाम' भी, रूपक की ही भाँति' 'अधिकारूढवैशिष्ट्य' प्रकार का भी हो सकता है। जैसे कि, इस सूक्ति अर्थात्—

'यही वह हिमालय है जिसकी कन्दराओं में किरणों को फैलाती दिव्य औषधियाँ, प्रियतमाओं के साथ प्रेमविहार करते वनेचरों के लिये, रात के समय, विना तेल के रति-प्रदीप का कार्य किया करती हैं।'

अत्र प्रदीपानामौषध्यात्मतया प्रकृते सुरतोपयोगिन्यन्धकारनाशे उपयोगोऽतैलपूरत्वेनाधिक्यवैशिष्ट्यम्।

(८—संदेह : सप्रभेदनिरूपण)

सन्देहः प्रकृतेऽन्यस्य संशयः प्रतिभोत्थितः ॥ ३५ ॥
शुद्धो निश्चयगर्भोऽसौ निश्चयान्त इति त्रिधा।

यत्र संशय एव पर्यवसानं स शुद्धः।

यहाँ 'परिणाम' इसलिये है कि 'औषधियों' पर आरोपित 'सुरतप्रदीप' औषधियों के साथ इतने एकरूप (अभिन्न) हो रहे हैं कि प्रस्तुत प्रेमविहार के उपयुक्त अन्धकार विनाशरूप कार्य का सम्पादन करते दिखायी दे रहे हैं और इसमें 'अधिकाभेदवैशिष्ट्य' की विचित्रता इस प्रकार मिली है कि 'अतैलपूरता' का विशेषणप्रयोग प्रदीपों की अपेक्षा औषधियों को ही अधिक उत्कृष्ट सिद्ध कर रहा है।

विमर्श—काव्यप्रकाशकार ने 'परिणाम' अलङ्कार की कोई चर्चा नहीं की। विश्वनाथ कविराज ने 'अलङ्कारसर्वस्व' की 'परिणाम'मान्यता के आधार पर 'परिणाम' का लक्षण-परीक्षण किया है। 'अलङ्कारसर्वस्व' में 'परिणाम' का यह स्वरूप है—

'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः।'

आरोप्यमाणं रूपके प्रकृतोपयोगित्वाभावात् प्रकृतोपरञ्जकत्वेनैव केवलेनान्वयं भजते। परिणामे तु प्रकृतात्मतया—आरोप्यमाणस्योपयोग इति प्रकृतमारोप्यमाणरूपत्वेन परिणमति।

अर्थात् 'परिणाम' का अभिप्राय आरोप्यमाण अथवा उपमान की प्रकृतोपयोगिता है। 'रूपक' में जो आरोप्यमाण अथवा उपमान हुआ करता है वह प्रकृतोपयोगी नहीं हुआ करता अपितु प्रकृतोपरञ्जक हुआ करता है किन्तु 'परिणाम' में आरोप्यमाण, प्रकृत का रूप बनकर प्रकृतोपयोगी हो जाया करता है।

'रसगङ्गाधर'कार ने आरोप्यमाण की प्रकृतोपयोगिता का यह तात्पर्य लिया है—

'विषयी यत्र विषयात्मतयैव प्रकृतोपयोगी न स्वातन्त्र्येण स परिणामः। अत एव विषयाभेदो विषयिण्युपयुज्यते। रूपके तु नैवमिति रूपकादस्य भेदः। यथा—

अपारे संसारे विषमविषयारण्यसरणौ
मम भ्रामं भ्रामं विगलितविरामं जडमतेः।
परिश्रान्तस्यायं तरणितनयातीरनिलयः
समन्तात् संतापं हरिनवतमालस्तिरयतु ॥

अत्र मार्गवृक्षात्मतयैव तमालस्य संसारतापनिवर्तनक्षमत्वम्। मार्गश्रान्तजनसंतापहारकत्वाद्रमणीयपयोमाधारत्वाच्च तमाले विषयितापात्रता। (रसगङ्गाधर : परिणाम-प्रकरण)

अनुवाद—'संदेह' वह अलङ्कार है जिसे प्रकृत (उपमेय) में अप्रकृत का प्रतिभोत्थापित संशय कहा जाया करता है। यह तीन प्रकार का हुआ करता है—(१) शुद्ध संदेह, (२) निश्चयगर्भसंदेह और (३) निश्चयान्त संदेह।

'संदेह' के इन तीन भेदों में पहला अर्थात् शुद्ध संदेह वह है जिसमें आरम्भादि, मध्य और अन्त में संशय में ही समाप्त रहा करता है। जैसे कि—

यथा—

'किं तारुण्यतरोरियं रसभरोद्भिन्ना नवा वल्लरी
वेलाप्रोच्छलितस्य किं लहरिका लावण्यवारांनिधेः ।
उद्गाढोत्कलिकावतां स्वसमयोपन्यासविश्रम्भिणः
किं साक्षादुपदेशयष्टिरथवा देवस्य शृङ्गारिणः ॥'

यत्रादावन्ते च संशय एव मध्ये निश्चयः स निश्चयमध्यः ।

यथा—

'अयं मार्तण्डः किं स खलु तुरगैः सप्तभिरितः
कृशानुः किं सर्वाः प्रसरति दिशो नैष नियतम् ।
कृतान्तः किं साक्षान्महिषवहनोऽसाविति पुनः
समालोक्याजौ त्वां विदधति विकल्पान् प्रतिभटाः ॥'

अत्र मध्ये मार्तण्डाद्यभावनिश्चयः, राजनिश्चये द्वितीयसंशयोत्थानासंभवात्

यत्रादौ संशयोऽन्ते च निश्चयः स निश्चयान्तः ।

यथा—

'किं तावत्सरसि सरोजमेतदारादाहोस्विन्मुखमवभासते तरुण्याः ।
संशय्य क्षणमिति निश्चिकाय कश्चिद्विब्वोकैर्बकसहवासिनां परोक्षैः ॥'

'यह सुन्दरी क्या है ? क्या यह तारुण्यतरु की रसीली नवमञ्जरी है ? क्या यह उद्वेल्लित लावण्य-सागर की लहर तो नहीं ? अथवा क्या यह, प्रेमिकाजन के लिये उत्कण्ठित प्रेमीजनों को प्रणय-पाठ पढ़ाने में उत्सुक, कामदेव की उपदेश-यष्टि है ?

[यहाँ उपमेयभूत कामिनी में उपमानभूत वल्लरी आदि का ऐसा संशय विराजमान है जो कविप्रतिभा द्वारा उत्थापित है (स्वारसिक नहीं) और साथ ही साथ आदि से अन्त तक अक्षुण्ण बना हुआ है ।]

दूसरा अर्थात् निश्चयगर्भ संदेह वह संदेह प्रकार है जिसके आदि और अन्त में संशय, किन्तु, मध्य में निश्चय विराजमान रहा करता है । जैसे कि—

'महाराज ! संग्राम में आपको देख-देख शत्रु-सैनिक यह सोचा करते हैं—'क्या यह सूर्य तो नहीं ? किन्तु सूर्य के तो सात घोड़े हुआ करते हैं ! क्या यह अग्नि तो नहीं ? किन्तु अग्नि तो सर्वत्र विचरणशील नहीं ? तो क्या यह यमराज है ? किन्तु यमराज तो महिष-वाहन हुआ करता है ।'

[यहाँ आदि से अन्ततक उपमेयभूत भूपाल पर, उपमानभूत 'मार्त्तण्ड' आदि का जो कविप्रतिभोत्थापित संशय है, उसके मध्य में 'मार्तण्ड' आदि के अन्योन्याभाव (भेद) का निश्चय भी विराजमान दिखाई दे रहा है । यहाँ यह मानना ठीक नहीं कि 'मार्तण्ड' के अभाव निश्चय के बाद (उपमेयभूत) भूपाल का भी निश्चयात्मक ज्ञान हो जाता है क्योंकि यदि ऐसी बात होती तो आगे कृशानुरूप से और उसके भी आगे यमरूप से संशय की जो उत्पत्ति हो रही है वह क्योंकर हो पाती ?]

तीसरा अर्थात् 'निश्चयान्त' संदेह वह संदेह प्रकार है जिसके आदि में संशय किन्तु अन्त में निश्चय प्रतीत हुआ करता है । जैसे कि—(शिशुपालवध की यह सूक्ति)—

'कृष्ण के किसी सहचर को क्षणभर के लिये यह संशय हुआ कि दूर, सरोवर में कमल खिला है या स्नान करती हुई किसी तरुणी का मुख झलक रहा है किन्तु जैसे ही

अप्रतिभोत्थापिते तु 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इत्यादिसंशये नायमलङ्कारः।

'मध्यं तव सरोजाक्षि! पयोधरभरार्दितम्।
अस्ति नास्तीति संदेहः कस्य चित्ते न भासते॥'

अत्रातिशयोक्तिरेव, उपमेये उपमानसंशयस्यैवैतदलङ्कारविषयत्वात्।

(८—भ्रान्तिमान्)

साम्यादतस्मिंस्तद्बुद्धिर्भ्रान्तिमान् प्रतिभोत्थितः॥ ३६॥

यथा—

'मुग्धा दुग्धधिया गवां विदधते कुम्भानधो वल्लवाः
कर्णे कैरवशङ्कया कुवलयं कुर्वन्ति कान्ता अपि।

उसमें यहाँ चक्र-सहवासी कमलों में चकम्प हाव-भाव का वर्णन किया, उसे निश्चय हो गया कि यह वस्तु क्या है।

[यहाँ आरम्भ में, उपमेयभूत लक्ष्मीवदन में उपमानभूत कमल का संशय और अन्त में लक्ष्मी वदनरूप वस्तुतत्त्व का निश्चय स्पष्ट प्रतीत हो रहा है।]

'संदेह'अलङ्कार उस प्रकार के संशय में नहीं हुआ करता जिसमें कविप्रतिभा का अपि तु संशयात्मक ज्ञानप्रकारमात्र है।

कविप्रतिभोत्थापित भी 'संशय' तभी 'संदेह' अलङ्कार हो सकता है जब कि वह प्रकृत में अप्रकृतविषयक संशयात्मक अनुभवरूप रहा करता है। इसलिये निम्न सूक्ति अर्थात्—

'अरी कमल सरीखे नैनोंवाली! स्तनों के भार से तेरी कमर ऐसी पिसी-पिसी हो रही है कि सब के मन में यह सन्देह हो उठता है कि यह (तेरी कमर) है भी या नहीं' में जो संशय है उसमें 'संदेह' नहीं अपि तु (असम्बन्ध में सम्बन्धरूप) 'अतिशयोक्ति' की ही रूपरेखा स्पष्ट है क्योंकि 'संदेह'-अलङ्कार का विषय वही संशय हुआ करता है जो कि उपमेय में उपमान-विषयक संशय कहा जाया करता है।

विमर्श—(क) विश्वनाथ कविराज का यह 'संदेह'-निरूपण आचार्य रुय्यक की इस 'संदेह' मीमांसा से प्रभावित है—

'विषयस्य संदिह्यमानत्वे संदेहः। अभेदप्राधान्ये आरोप इत्येव। विषयः प्रकृतोऽर्थः, यस्मिन्नितरोऽप्रकृतः संदिह्यते। अप्रकृतमसंदेहे विषयोऽपि संदिह्यत एव। तेन प्रकृताप्रकृतगतत्वेन कविप्रतिभोत्थापिते संदेहे संदेहालङ्कारः। स च त्रिविधः। शुद्धो निश्चयगर्भो निश्चयान्तश्च। (अलङ्कारसर्वस्व पृ० ५१)।

(ख) उत्तररामचरित (१.२१) की निम्न-सूक्ति में जो 'संदेह' अलङ्कार है उसकी रसोत्कर्षकता वस्तुतः अपूर्व है—

प्रश्चोतन्नु हरिचन्दनपल्लवानां निष्पीडितेन्दुकरकन्दलजो नु सेकः।
आतप्तजीवितपुनः परितर्पणो मे संजीवनौषधिरसो नु हृदि प्रसिक्तः॥

अनुवाद—'भ्रान्तिमान्' अलङ्कार वह है जिसे, सादृश्य के कारण एक वस्तु में दूसरी वस्तु का ऐसा अनुभव कहा जाया करता है जो (स्वारसिक नहीं अपि तु) कविप्रतिभोत्थापित हुआ करता है।

इसका उदाहरण यह है—

'चन्द्रमा की चमकती चाँदनी किसके हृदय में भ्रम नहीं पैदा करती! मुग्ध-बल्लव

कर्कन्धूफलमुच्चिनोति शबरी मुक्ताफलाशङ्कया
सान्द्रा चन्द्रमसो न कस्य कुरुते चित्तभ्रमं चन्द्रिका ॥'

अस्वरसोत्थापिता भ्रान्तिर्नायमलङ्कारः। यथा—'शुक्तिकायां रजतम्' इति। न चासादृश्यमूला।

यथा—

'संगमविरहविकल्पे वरमिह न सगमस्तस्याः।
सङ्गे सैव तथैका त्रिभुवनमपि तन्मय विरहे ॥'

गोपवृन्द, इसे दूध की धार समझ लेते हैं और उसे रोकने के लिये, गौओं के स्तनों के नीचे दोहन-घट रखने लगते हैं, मुग्धहृदय रमणियाँ इसे देख कर, नीलकमल को भी श्वेत-कमल मान लेती हैं, और कानों का अलङ्कार बनाने लगती हैं और शबरयुवतिया जब इसे देखती हैं तब तो कर्कन्धू (झरबेरी) को भी मोती मानकर चुनने में लग जाती हैं।'

[यहाँ चन्द्रिका में दुग्ध, कुवलय में कुमुद और बदरीफल में मुक्ताफल का जो कवि-प्रतिभोत्थापित भ्रम है उसमें 'भ्रान्तिमान्' अलङ्कार का स्वरूप स्पष्टतया परिलक्षित हो रहा है।]

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि 'सीप में चांदी' सरीखी भ्रान्ति को भ्रान्तिमान् अलङ्कार नहीं माना जाया करता। 'भ्रान्तिमान्' अलङ्कार वह 'भ्रान्ति' है जो कि एक मात्र कविप्रतिभा द्वारा उत्थापित हुआ करती है। साथ ही साथ यह भी ध्यान रहे कि वही 'भ्रान्ति' भ्रान्तिमान् अलङ्कार की रूप-रेखा है जो कि सादृश्यमूलक हुआ करती है? इसलिये इस प्रकार की भ्रान्ति जो कि निम्न सूक्ति अर्थात्—

'यदि यह सोचा जाय कि उस सुन्दरी के मिलन और विरह में कौन अच्छा है तो मिलन को तो कदापि अच्छा नहीं माना जा सकता, क्योंकि जब कि उससे मिलन होता है तब वह अकेली लगा करती है और जब उससे विरह होता है तब ऐसा लगता है जैसे समस्त संसार में वही व्याप्त है।'

में, प्रतीत हो रही है, 'भ्रान्तिमान्' अलङ्कार नहीं अपितु भावनासभूत भ्रान्तिमात्र है।

विमर्श—अलङ्कार को 'भ्रान्तिमान्' कैसे कह सकते हैं? 'भ्रान्तिमान्' वह हो सकता है जिसके मन में भ्रान्ति हो। अलङ्कार तो वाच्य-सौन्दर्य है। वाच्य सौन्दर्य क्योंकर 'भ्रान्तिमान्' हो जाय? यह एक शङ्का है जिसके समाधान के लिये आचार्य रुय्यक की यह उक्ति स्मरण रखने योग्य है—

'भ्रान्तिश्चित्तधर्मः। स विद्यते यस्मिन् भणितिप्रकारे स भ्रान्तिमान्।'

जिस पर आचार्य जयरथ की यह समीक्षा भी भुलाने योग्य नहीं—

'अतश्चालङ्कारे भ्रान्तिसद्भाव उपचरित।'

पण्डितराज जगन्नाथ ने इसीलिये कहा है—

'अत्र च भ्रान्तिमात्रमलङ्कार। भ्रान्तिमानलङ्कार इति व्यवहारस्त्वौपचारिक।

तथा चाहु'—

'प्रमात्रन्तरधीर्भ्रान्तिरूपा यस्मिन्ननूद्यते।
स भ्रान्तिमानिति ख्यातोऽलङ्कारे त्वौपचारिक ॥'

(९—उल्लेख)

क्वचिद् भेदाद् ग्रहीतॄणां विषयाणां तथा क्वचित्।
एकस्यानेकधोल्लेखो यः स उल्लेख उच्यते ॥ ३७ ॥

क्रमेणोदाहरणम्—

(ज्ञातृभेदनिबन्धन उल्लेख)

'प्रिय इति गोपवधूभिः शिशुरिति वृद्धैरधीश इति देवैः।
नारायण इति भक्तैर्ब्रह्मेत्यग्राहि योगिभिर्देवः ॥'

अत्रैकस्यापि भगवतस्तत्तद्गुणयोगादनेकधोल्लेखे गोपवधूप्रभृतीनां रुच्यादयो यथायोगं प्रयोजकाः।

यदाहुः—

'यथारुचि यथार्थित्वं यथाव्युत्पत्ति भिद्यते।
आभासोऽप्यर्थ एकस्मिन्ननुसन्धानसाधितः ॥'

अत्र भगवतः प्रियत्वादीनां वास्तवत्वाद् ग्रहीतृभेदाच्च न मालारूपकम्, न च भ्रान्तिमान्, न चाभेदे भेद इत्येवं रूपातिशयोक्तिः। तथा हि—'अस्य

अनुवाद—'उल्लेख' वह अलङ्कार है जिसे कहीं ज्ञातृभेद से अथवा विषय-भेद से एक वस्तु का अनेक प्रकार का उल्लेख अर्थात् ज्ञान अथवा वर्णन कहा करते हैं।

क्रमशः उदाहरण—

'भगवान् कृष्ण का दर्शन कर युवती गोपियों ने उनमें प्रियतम का, वृद्ध गोपों ने शिशु का, देवों ने अधीश्वर का, भक्तों ने नारायण का और योगियों ने परात्पर ब्रह्म का दर्शन किया।

यहाँ 'उल्लेख' स्पष्ट है क्योंकि भगवान् कृष्णरूप वस्तु तो एकरूप ही है किन्तु उसमें प्रियत्वादिरूप अनेक धर्म हैं जिनके कारण उसका अनेक प्रकार का अनुभव किंवा वर्णन हो रहा है।

यहाँ इस प्रकार के 'उल्लेख' अथवा अवभासना का एक निमित्त है और वह निमित्त गोपी प्रभृति दर्शकों की रुचि आदि का भेद है। 'उल्लेख' के निमित्तों के सम्बन्ध में (ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में) यह कहा गया है—

'चाहे वस्तु एक ही क्यों न हो किन्तु उसका अनुसन्धानसाधित अथवा सावधानता-पूर्वक ज्ञान द्वारा सम्भूत भी आभास रुचि-भेद, प्रयोजन-भेद और भावना-भेद से भिन्न भिन्न प्रकार का ही हुआ करता है।

(जिसके देखते यह स्पष्ट है कि 'प्रिय इति' आदि सूक्ति में कृष्णरूप वस्तु का विविध आभास वर्णित है जिसमें 'उल्लेख' की रूपरेखा निखर रही है।) यहाँ न तो 'मालारूपक' की शङ्का होनी चाहिये और न 'भ्रान्तिमान्' की और न अतिशयोक्ति की ही क्योंकि भगवान् कृष्ण के प्रियत्व आदि धर्म आरोपित नहीं अपितु वास्तविक हैं और साथ ही साथ यहाँ भगवान् कृष्ण के प्रियत्व आदि विविध धर्मों के दर्शक एक नहीं अपि तु अनेक निर्दिष्ट हैं (जो कि भ्रान्त नहीं अपि तु सर्वथा निर्भ्रान्त हैं और रुच्यादिभेद से कृष्ण को

देवाङ्गलावण्यम्–' इत्यादौ लावण्यादेर्विषयस्य पृथक्त्वेनाध्यवसानम्। न चेह भगवती गोपवधूप्रभृतिभिः प्रियत्वाद्यध्यवसीयते प्रियत्वादेर्भगवति तत्काले तात्त्विकत्वात्। केचिदाहु'—'अयमलङ्कारो नियमेनालङ्कारान्तरविच्छित्तिमूलः। उक्तोदाहरणे च शिशुत्वादीना नियमनाभिप्रायात्प्रियत्वादीनां भिन्नत्वाध्यवसाय इत्यतिशयोक्तिरस्ति, तत्सद्भावेऽपि ग्रहीतृभेदेन नानात्वप्रतीतिरूपो विच्छित्ति-विशेष उल्लेखाख्यभिन्नालङ्कारप्रयोजक। श्रीकण्ठजनपदवर्णने—'वज्रपञ्जरमिति शरणागतैः, अम्बरविवरमिति वातिकैः' इत्यादिश्चातिशयोक्तेर्विविक्तो विषयः। इह च रूपकालङ्कारयोगः।'

वस्तुतस्तु—'अम्बरविवरम्–' इत्यादौ भ्रान्तिमन्तमेवेच्छन्ति न रूपकम्, भेदप्रतीतिपुरःसरस्यैवारोपस्य गौणीमूलरूपकादिप्रयोजकत्वात्।

भिन्न-भिन्न रूप में देख रहे हैं)। अतिशयोक्ति (अथवा वस्तुत अभेद में भेदरूपा अति-शयोक्ति) भी यहाँ इसलिये नहीं हो सकती क्योंकि जैसे 'अन्यदेवाङ्गलावण्यम्' आदि सूक्ति में नायिका के प्रकृत नारीसुलभ लावण्य को ही अप्रकृत असाधारण लावण्य के रूप में अध्यवसित अथवा निश्चितरूप से प्रतिपादित किया जा रहा है वैसे यहाँ भगवान् कृष्ण में गोपवधू प्रभृति के द्वारा प्रियत्व आदि का अध्यवसान नहीं किया जा रहा है। भगवान् कृष्ण का प्रियत्व आदि तो, गोपी आदि के स्थितिकाल में, वास्तविक अथवा तात्त्विक रूप का है (न कि काल्पनिक रूप का)।

'उल्लेख' अलङ्कार के सम्बन्ध में कतिपय काव्याचार्यों का यह भी कथन है–'उल्लेख' ऐसा अलङ्कार है जो कि नियमत अन्य अलङ्कारों के चमत्कारों के आधार पर बना करता है। इस प्रकार 'प्रिय इति' आदि सूक्ति में, ऐसा नहीं कि 'अतिशयोक्ति' न हो क्योंकि 'कृष्ण गोपवृद्धों के लिये ही शिशु हैं' आदि रूप से, कृष्ण में जो 'शिशुत्व' आदि धर्मों का नियम-निर्धारण है, उसमें यह स्पष्ट है कि कृष्ण के प्रियत्वादि धर्मों में शिशुत्वादिक धर्मों का अध्यवसान अथवा अभेद-निश्चय किया जा रहा है जिसमें अभेद में भेदरूपा 'अति-शयोक्ति' बन चुकी है। किन्तु इस 'अतिशयोक्ति' के होने पर भी यहाँ एक और भी विचित्रता है जो कि ज्ञातृभेद से कृष्णरूप एक वस्तु के नानाविध आभास के रूप में दिखायी दे रही और इसी विचित्रता के कारण, यह मानना पड़ता है कि यहाँ 'अति-शयोक्ति' से भिन्न एक और ही अलङ्कार है और वह अलङ्कार 'उल्लेख' है। इस दृष्टि से (महाकवि बाणरचित 'हर्षचरित' में) 'श्रीकण्ठ'जनपद के वर्णन में आयी, 'शरणागतों ने नगर को, वज्रपञ्जर समझा, वातिकों (खनिजशास्त्रियों) ने अम्बरविवर (असुरविवर= खान) समझा' आदि सूक्ति में भी, 'उल्लेख' अलङ्कार की ही शोभा दिखायी देती है किन्तु यहाँ जो 'उल्लेख' है उसका मूल अतिशयोक्ति नहीं अपितु 'रूपक' अलङ्कार है (क्योंकि श्रीकण्ठजनपद पर वज्रपञ्जरत्व, अम्बरविवरत्व आदि का अभेदारोप किया हुआ है न कि अभेदाध्यवसान)।'

वैसे, श्रीकण्ठजनपद-वर्णन की उपर्युक्त सूक्ति में जैसा कि कुछ काव्यमर्मज्ञों का कहना है, वस्तुत जो अलङ्कार है वह 'भ्रान्तिमान्' है (जिसके आधार पर 'उल्लेख'की रूपरेखा खड़ी है), न कि 'रूपक' क्योंकि गौणी लक्षणा के आधार पर निर्भर 'रूपक' के लिए जिस 'अभेदारोप' की आवश्यकता हुआ करती है उसका नियामक भेदपुरस्सर अथवा भेददर्शनपूर्वक अभेदारोप है (जिसकी यहाँ कोई सभावना नहीं और जिस अभेदारोप की

यथाहु शारीरकमीमांसाभाष्यव्याख्याने श्रीवाचस्पतिमिश्रा—'अपि च परशब्दः परत्र लक्ष्यमाणगुणयोगेन वर्तते इति यत्र प्रयोक्तृप्रतिपत्त्रोः संप्रतिपत्तिः स गौणः, स च भेदप्रत्ययपुरःसरः' इति। इह तु वाचिकजना श्रीकण्ठजनपदवर्णने भ्रान्तिकृत एवाम्बरविषयतयारोप इति।

अत्रैव च 'तपोवनमिति मुनिभिः कामायतनमिति वेश्याभिः' इत्यादौ परिणामालङ्कारयोगः।

(विषयभेदनिबन्धन उल्लेख)

'गाम्भीर्येण समुद्रोऽसि गौरवेणासि पर्वतः।'

इत्यादौ चानेकधोल्लेखे गाम्भीर्यादिविषयभेदः प्रयोजकः। अत्र च रूपकयोगः। 'गुरुर्वचसि, पृथुरुरसि, अर्जुनो यशसि—' इत्यादिषु चास्य रूपकादिविविक्तो विषय इति। अत्र हि श्लेषमूलातिशयोक्तियोगः।

यहाँ सम्भावना है यह भ्रमपुरस्सर अभेदारोप है जो कि 'भ्रान्तिमान्' का नियामक हो सकता है)। अब गौणी लक्षणा क्योंकर भेदपुरस्सर अभेदारोप में ही संभव है इसके लिये (भगवत्पाद शङ्कराचार्यकृत) 'शारीरक मीमांसाभाष्य' की 'भामती' व्याख्या में श्रीवाचस्पति मिश्र की यह उक्ति ध्यान देने योग्य है—

'शब्द का गौणी लक्षणारूप व्यापार वहाँ रहा करता है जहाँ प्रयोक्ता (वक्ता) और प्रतिपत्ता (श्रोता) का यह अनुभव हुआ करता है कि भिन्न अर्थ के वाचक शब्द को लक्ष्यमाण के रूप में प्रतीत धर्म के सम्बन्ध से, भिन्न अर्थ में व्यवहृत किया गया है। इस प्रकार गौणीलक्षणारूप शब्दव्यापार में भेदप्रतीति का पुट अनिवार्य है।

अब श्रीवाचस्पति मिश्र की उपर्युक्त 'गौणी' मीमांसा के देखते यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि श्रीकण्ठजनपदवर्णन में श्रीकण्ठजनपद पर 'वज्रपञ्जर' 'असुरविवर' आदि का जो आरोप है वह भेदप्रतीतिपुरस्सर नहीं अपितु भ्रान्तिपुरस्सर ही है (जिससे यहाँ 'भ्रान्तिमान्' अलङ्कार के योग से 'उल्लेख' मानना अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है)।

श्रीकण्ठजनपद-वर्णन के प्रसङ्ग में ही 'मुनियों द्वारा (नगर) तपोवन समझा गया, वेश्याओं द्वारा कामायतन समझा गया' आदि उक्ति में भी 'उल्लेख' ही अलङ्कार है किन्तु इसके मूल में 'परिणाम' अलङ्कार का वैचित्र्य पड़ा है (न कि रूपक अथवा भ्रान्तिमान् का)।

इसी प्रकार विषयभेद में 'उल्लेख' का उदाहरण यह है—

'महाराज! आप गम्भीरता में समुद्र हैं और गौरव में पर्वत' आदि'।

यहाँ प्रकृत भूपाल का समुद्र आदि रूप में जो उल्लेख है उसका कारण गाम्भीर्य आदि-आदि धर्मों का भेद है जिससे इसे रूपकयोगमूलक 'उल्लेख' कहा जा सकता है।

इसी प्रकार (हर्षचरित) 'वचन में गौरवयुक्त और बृहस्पतिरूप वक्षःस्थल में विशाल और पृथुराजरूप यश में स्वच्छ और अर्जुनरूप' आदि प्रसङ्गों में जो अलङ्कार है वह विषयभेदनिबन्धन 'उल्लेख' ही है जिसके मूल में श्लेषमूलक अतिशयोक्ति का योग पड़ा है 'रूपक' का नहीं (क्योंकि यहाँ 'गुरु' आदि विषय के निगरण और 'समुद्र' आदि विषयी के अध्यवसान की सी कोई भी बात नहीं दिखायी देती)।

विमर्श—विश्वनाथ कविराज का उल्लेख-विमर्श बड़ा सुन्दर और सारगर्भित है। इसमें अलङ्कारसर्वस्व का आधार सर्वथा स्पष्ट है। आचार्य रुय्यक ने स्पष्ट कहा है—

'एकमेव वस्तु अनेकधा गृह्यते सा रूपबहुत्वोल्लेखनादुल्लेखः। न चेयं निर्निमित्त-

(१०—अपह्नुतिः)

प्रकृतं प्रतिषिध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुतिः ।

इयं द्विधा । क्वचिदपह्नवपूर्वक आरोपः, क्वचिदारोपपूर्वकोऽपह्नव इति । क्रमेणोदाहरणम्—

(अपह्नवपूर्वक आरोप में 'अपह्नुति')

'नेदं नभोमण्डलमम्बुराशिर्नैताश्च तारा नवफेनभङ्गाः ।
नायं शशी कुण्डलितः फणीन्द्रो नासौ कलङ्कः शयितो मुरारिः ॥'

(आरोपपूर्वक अपह्नव में 'अपह्नुति')

'एतद्विभाति चरमाचलचूडचुम्बि
डिण्डीर पिण्ड-रुचि-शीतमरीचिबिम्बम् ।
उज्ज्वालितस्य रजनीं मदनानलस्य
धूमं दधत्प्रकटलाञ्छनकैतवेन ॥'

इदं पद्यं मम ।

एवम्—

'विराजति व्योमवपुः पयोधिस्तारामयास्तत्र च फेनभङ्गाः.' इत्याद्याकारेण
: प्रकृतनिषेधो बोध्यः ।

ल्लेखमात्रमपि तु नानाविधधर्मयोगित्वाख्यनिमित्तवशादेतत् क्रियते । तत्र रुच्यर्थित्व-
ुत्पत्तयो. यथायोगं प्रयोजिकाः ।'

अनुवाद—'अपह्नुति' वह अलङ्कार है जिसे प्रकृत (उपमेय) के (शब्दतः अथवा
र्थतः) प्रतिषेध अथवा असत्यत्व-व्यवस्थापन के साथ, अप्रकृत (उपमान) का आहार्य-
श्चय कहा गया है । इसके भी दो प्रकार हैं—(१) अपह्नव अथवा उपमेय-प्रतिषेध-
र्वक आरोप (उपमान-व्यवस्थापन) और (२) आरोप अथवा उपमान-स्थापनपूर्वक
पह्नव अर्थात् उपमेय-प्रतिषेध । क्रमश उदाहरण ये हैं—

'यह गगनमण्डल नहीं, यह तो क्षीरसागर है, ये तारागण नहीं, ये तो फेनखण्ड हैं,
ह चन्द्रमा नहीं, यह तो कुण्डल बाँधे शेषनाग है और यह कलङ्क नहीं, यह तो शयन
रते भगवान् विष्णु हैं ।'

[यहाँ शब्दतः अपह्नवपूर्वक आरोप स्पष्ट है क्योंकि नञ्चतुष्टय के उपादान से,
भोमण्डल' आदि 'प्रकृत' का प्रतिषेध करके 'क्षीरसागर' आदि अप्रकृत की सत्यत्व-
ापना की गयी है ।]

'अस्ताचल के शिखर पर विराजमान, यह फेनपिण्डधवल चन्द्र-बिम्ब ऐसा लग रहा
जैसे स्पष्ट दृश्यमान कलङ्क के बहाने, रातभर जलकर बुझनेवाली कामाग्नि की धूम
खा धारण कर रहा हो ।'

यह स्वरचित सूक्ति है (इसमें अर्थतः 'आरोपपूर्वक अपह्नव स्पष्ट है क्योंकि 'धूम'
प अप्रकृत का आरोप करके 'कलङ्क' रूप प्रकृत का अपह्नव किया जा रहा है और नञ्
अभाव में, 'कैतव' पद के अर्थसामर्थ्य से ही, प्रकृत का प्रतिषेध भी विवक्षित दिखाई
रहा है)।

प्रकृत-प्रतिषेध की और भी विचित्रतायें सम्भव हैं जिनमें 'अपह्नुति' अलङ्कार रहा

(अपह्नुति का प्रकारान्तर)

गोपनीयं कमप्यर्थं द्योतयित्वा कथञ्चन ॥ ३८ ॥
यदि श्लेषेणान्यथा वान्यथयेत्साप्यपह्नुतिः ।

श्लेषेण यथा—

'काले वारिधराणामपतितया नैव शक्यते स्थातुम् ।
उत्कण्ठितासि तरले ! नहि नहि सखि ! पिच्छिलः पन्थाः' ॥'

अत्र 'अपतितया' इत्यत्र पतिं विनेत्युक्त्वा पश्चात्पतनाभावेन इत्यन्यथा कृतम् ।

करता है। जैसे कि 'यह तो आकाश के रूप में क्षीरसागर है जिसमें ताराओं के रूप में फेन दिखायी पड़ रहे हैं।' यहाँ प्रकृति के प्रतिषेध की एक विचित्रता है और इस प्रकार के प्रकृतप्रतिषेध में भी 'अपह्नुति' की ही रूपरेखा रहा करती है।

विमर्श—'अपह्नुति' का अभिप्राय आरोपविषय (उपमेय) के अपह्नव में आरोप्यमाण (उपमान) की प्रतीति है जिसकी बन्धच्छाया तीन रूपों की है—(१) अपह्नवपूर्वक आरोप (२) आरोपपूर्वक अपह्नव और (३) छलादि शब्द से अपह्नवनिर्देश। आचार्य रुय्यक का इस विषय में कथन है—

आरोपगर्भस्त्वाथारोपविषयापह्नुतावारोप्यमाणप्रतीतावपह्नुत्याख्योऽलङ्कारः । तस्य च त्रयी बन्धच्छाया—अपह्नवपूर्वक आरोपः, आरोपपूर्वकोऽपह्नवः, छलादिशब्दैरसत्यत्वप्रतिपादकैर्वापह्नवनिर्देशः। पूर्वोक्तभेदद्वये वाक्यभेदः। तृतीयभेदे त्वेकवाक्यता।

(अलङ्कारसर्वस्व पृ ९९)

अपह्नुति' में सादृश्यनिबन्धन अथवा संबन्धान्तरनिबन्धन आरोप आवश्यक है। इसमें सादृश्य निबन्धन आरोप में साधारणधर्म की एकरूपता किंवा बिम्बप्रतिबिम्बरूपता—दोनों सम्भव हैं। साधारणधर्म की बिम्बप्रतिबिम्बरूपता में आरोपगर्भ अपह्नव का दृष्टान्त यह सुन्दर सूक्ति है—

न ज्योत्स्नासरणं नभो न सितिकण्ठच्छायापयो वाम्बुदो
नो ताराप्रकरो न फेनमसृणपोतप्लवो मण्डलम् ।
क्षीराम्भोमयपोऽप्ययमपामिव रसौ फेनाद्धिमा मन्दरः
पृष्ठेऽयं मणिभृग एष कमठस्थायं सुधानिर्झरः ॥

अनुवाद—'अपह्नुति' का एक प्रकारविशेष वह है जिसमें, किसी गोपनीय वस्तुरहस्य को, किसी प्रकार द्योतन करके पुनः श्लेष द्वारा अथवा प्रकारान्तर से अन्य अभिप्राय के रूपमें प्रकाशन हुआ करता है।

जैसे कि श्लेष द्वारा गोपनीय अर्थ के द्योतनपूर्वक अन्यथाकरण में अपह्नुति—

(वियोगिनी की उक्ति है—) मेघों का यह समय है इस समय बिना प्रियतम के (अपतितया) जीना कठिन है (नैव शक्यते स्थातुम्)। (सखी कहती है—) अरी चपले ! इतनी उत्कण्ठित क्यों हो गयी ? (वियोगिनी उत्तर देती है—) अरी सखी ! ऐसी बात नहीं। रास्ता पिच्छल है (अपतितया स्थातुं न शक्यते—) चलने पर गिर पड़ना आवश्यक होगा।'

यहाँ 'अपतितया (अविद्यमानः संनिधौ वर्तमानः पतिर्यस्याः सा अपतिस्तस्या भावः अपतिता तया) में 'पतिविना' पद से एक गोपनीय अर्थविशेष को प्रकाशित करके,

अश्लेषेण यथा—

'इह पुरोऽनिलकम्पितविग्रहा
मिलति का न वमस्पतिना लता।
स्मरसि किं सखि! कान्तरतोत्सवं
नहि घनागमरीतिरुदाहृता॥'

वक्रोक्तौ परोक्तेरन्यथाकारः, इह तु स्वोक्तेरेवेति भेदः। गोपनकृता गोपनीयस्यापि प्रथममभिहितत्वाच्च व्याजोक्तेः।

पुन. श्लेष से, (अपतितया = न पतिता अपतिता तया) उसे 'पतनाभाव' रूप से छिपाया जा रहा है।

इसी प्रकार, विना श्लेष के, किसी प्रकाशित होते गोपनीय अर्थ के अन्यथाकरण अथवा अपह्नव में 'अपह्नुति' का उदाहरण यह है—

'(नायिका की उक्ति—) अरी सखी! ऐसी कौन सी लता है जो वरसात की इस हवा से काँपती हुई किसी वनस्पति से नहीं सट जाती? (सखी की उक्ति—) अरी क्या! ऐसा तो नहीं कि इसे देख तू अपने प्रियतम के साथ अपना रतिविहार याद कर उठी! (नायिका की उक्ति—) नहीं-नहीं, मैंने तो वरसात के स्वभाव के वारे में कहा।'

यहाँ 'वक्रोक्ति' की आशङ्का इसलिये नहीं होनी चाहिये क्योंकि 'वक्रोक्ति' में तो दूसरे की उक्ति का अन्यथाकरण हुआ करता है और यहाँ, जैसा कि स्पष्ट है, अपनी ही उक्ति का दूसरा अर्थ लिया जाया करता है। यहाँ 'व्याजोक्ति' की भी कोई संभावना नहीं क्योंकि यहाँ बात छिपानेवाला गोपनीय बात को पहले ही कह दिया करता है (जव कि 'व्याजोक्ति' में गोपनीय बात पहले नहीं कही जाती है)।

विमर्श—'अपह्नुति' का उपर्युक्त प्रकारान्तर काव्यप्रकाशकार को मान्य नहीं। आचार्य दण्डी ने इस अपह्नुति भेद का निरूपण अवश्य किया है जैसा कि काव्यादर्श (२. ३०४) की निम्न उक्ति से स्पष्ट है—

'अपह्नुतिरपह्नुत्य किञ्चिदन्यार्थदर्शनम्।
न पञ्चेषु स्मरस्तस्य सहस्रं पत्रिणामिति॥'

यहाँ, साहित्यदर्पणकार ने, आचार्य दण्डी का अनुसरण करते हुए, इस अपह्नुति-प्रकार का भी परिगणन और लक्षण निरूपण किया है।

'अपह्नुति' के दो भेदों में तो 'औपम्य' अन्तर्गर्भ रहा करता है किन्तु यह तृतीय भेद ऐसा है जिसमें उपमानोपमेयभाव की कोई चर्चा नहीं रहा करती। सरस्वतीकण्ठाभरणकार ने इस अपह्नुति-भेद का सप्रभेद निरूपण किया है—

'अनौपम्याभिधीयमानापह्नोतव्यवस्तु पूर्वा यथा—

'राजकन्यानुरक्तं मां रोमोद्भेदेन रक्षकाः।
अवगच्छेयुरा ज्ञातमहो शीतानिलं वनम्॥'

अत्र राजकन्यानुरागलक्षणस्य रोमाञ्चकारणस्य रक्षकावगतिहेतो पूर्वमेवाभिहितस्य च वनानिलशैत्यलक्षणेन कारणान्तरेणापह्नव। न चैतयो, सादृश्यमस्ति सेयमनौपम्याभिधीयमानापह्नोतव्यवस्तु। कार्यात्पूर्वं कारणोपन्यासेन पूर्वेत्युच्यते।'

(सरस्वतीकण्ठाभरण ४. ८७)

(११—निश्चय)

अन्यन्निषिध्य प्रकृतस्थापनं निश्चयः पुनः ॥ ३९ ॥

निश्चयाख्योऽयमलङ्कारः । अन्यदित्यारोप्यमाणम् ।

यथा मम—

> 'वदनमिदं न सरोजं नयने नेन्दीवरे एते ।
> इह सविधे मुग्धदृशो भ्रमर ! मुधा किं परिभ्रमसि ॥'

यथा वा—

> 'हृदि बिसलताहारो नायं भुजङ्गमनायकः
> कुवलयदलश्रेणी कण्ठे न सा गरलद्युतिः ।
> मलयजरजो नेदं भस्म प्रियारहिते मयि
> प्रहर न हरभ्रान्त्यानङ्ग ! क्रुधा किमु धावसि ॥'

न चायं निश्चयान्तः संदेहः, तत्र संशयनिश्चययोरेकाश्रयत्वेनावस्थानात् । अत्र तु भ्रमरादेः संशयो नायकादेर्निश्चयः । किञ्च न भ्रमरादेरपि संशयः एक-

---

अनुवाद—'निश्चय' वह अलङ्कार है जिसे अप्रकृत के निषेध के साथ प्रकृत का आहार्य-निश्चय कहा करते हैं ।

(प्रकृतनिषेध के साथ अप्रकृत के आहार्यनिश्चय में अपह्नुति-अलङ्कार की भाँति अप्रकृतनिषेध के साथ प्रकृत का आहार्यनिश्चय) 'निश्चय' नामक एक अलङ्कार है। यहाँ (कारिका में) 'अन्यत्' का अभिप्राय आरोप्यमाण (अथवा उपमान) का अभिप्राय है।

इसका उदाहरण यह स्वरचित सूक्ति है—

'यह मुख है कमल नहीं, ये नयन हैं इन्दीवर नहीं। अरे भ्रमर ! इस मुग्धाक्षी सुन्दरी के पास इतनी मस्तता के साथ क्यों घूम रहा है ?'

अथवा यह सूक्ति—

अरे अनङ्ग ! मैं प्रियतमा के वियोग में एक विरही जीव ठहरा, मेरे हृदय पर कमल-नाल का यह हार है सर्पराज वासुकि नहीं; मेरे गले में नीलकमल के किसलय पड़े हैं, हलाहल की काली कान्ति नहीं और मेरे शरीर में चन्दन का चूर्ण लगा है भस्म नहीं। मुझ पर भला शङ्कर के भ्रम से तू क्यों क्रोधपूर्वक टूट पड़ना चाहता है ।'

[यहाँ 'वदनमिदम्' आदि में उपमेयभूत वदन और नयन के आहार्यनिश्चय के साथ उपमानभूत 'सरोज' और 'इन्दीवर' का निषेध है और 'हृदि बिसलताहारः' आदि में उपमेयभूत 'बिसलता' आदि के स्थापन के साथ उपमानभूत 'भुजङ्गमनायक' का प्रतिषेध है जिसमें 'निश्चय' की रूपरेखा स्पष्ट है।]

'निश्चय' और 'निश्चयान्त संदेह' परस्पर भिन्न अलङ्कार हैं। 'निश्चयान्त संदेह' में ऐसा होता है कि 'संशय' और 'निश्चय' दोनों एक ही आश्रय पर (एक ही व्यक्ति में) अवस्थित रहते हैं। किन्तु 'निश्चय' में जैसा कि उपर्युक्त 'वदनमिदम्' आदि सूक्ति में स्पष्ट है संशय का आश्रय भ्रमर आदि हैं और निश्चय का आश्रय (वक्ता) नायक आदि। वैसे तो वस्तुतः भ्रमर में भी यहाँ संशय नहीं माना जा सकता क्योंकि यदि भ्रमर के हृदय में संशय हो जो कि यहाँ वदन और सरोजरूप कोटिद्वयावगाही ज्ञान है, तब यह कैसे संभव है कि वह वदन और नयन के पास पहुँचे (क्योंकि भ्रमर के लिये ऐसा करना तभी संभव है जब कि वह निस्संदिग्ध हो)।

कोटयधिके ज्ञाने, तथा समीपागमनासंभवात्। तर्हि भ्रान्तिमानस्तु, अस्तु नाम भ्रमरादेर्भ्रान्तिः। न चेह तस्याश्चमत्कारविधायित्वम्, अपि तु तथाविधनायकाद्युक्तेरेवेति सहृदयसवेद्यम्। किञ्चाविवक्षितेऽपि भ्रमरादेः पतनादौ भ्रान्तौ वा नायिकाचाटुवादिरूपेणैव संभवति तथाविधोक्तिः। न च रूपकध्वनिरयम्, मुखस्य कमलत्वेनानिर्धारणात्। न चापह्नुतिः, प्रस्तुतस्यानिषेधादितिपृथगेवायमलङ्कारश्चिरन्तनोक्तालङ्कारेभ्यः। शुक्तिकाया रजतधिया पतति पुरुषे शुक्तिकेयं न रजतमिति कस्यचिदुक्तिर्नायमलङ्कारो वैचित्र्याभावात्।

(१२—उत्प्रेक्षालङ्कार : सप्रभेदनिरूपण)

भवेत्संभावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना।
वाच्या प्रतीयमाना सा प्रथमं द्विविधा मता ॥ ४० ॥
वाच्येवादिप्रयोगे स्यादप्रयोगे परा पुनः।
जातिर्गुणः क्रिया द्रव्यं यदुत्प्रेक्ष्यं द्वयोरपि ॥ ४१ ॥

किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि यहां 'भ्रान्तिमान्' मान लिया जाय क्योंकि 'भ्रमर' आदि के हृदय में, सरोज आदि की भ्रान्ति से सरोज आदि के समीप जाने की बात सगत लगने लगती है। क्यों? इसलिये कि यहां, जैसा कि सहृदयों का अनुभव है, भ्रान्ति में कोई चमत्काराधायकता नहीं प्रतीत होती। यहाँ जो भी चमत्कार है वह नायकादि की इस प्रकार की उक्ति में ही है क्योंकि चाहे भ्रमर आदि नायिका वदन पर टूट पड़े या न टूट पड़े या भ्रमर आदि के हृदय में भ्रान्ति हो या न हो, नायिका को प्रसन्न करने के लिये, इस प्रकार की चाटूक्ति सर्वथा सभव है और युक्तिसगत भी है। यहाँ 'रूपक ध्वनि' की भी कोई सभावना नहीं क्योंकि यहाँ नायिका-वदन और कमल में अभेदारोप का निर्धारण कहाँ किया जा रहा है? इसमें 'अपह्नुति' भी नहीं क्योंकि यहाँ प्रस्तुत (उपमेय) का निषेध नहीं किया गया। इसलिये यहाँ यही मानना आवश्यक है कि यहाँ जो (निश्चय नामक) अलङ्कार है वह प्राचीन आलङ्कारिकों के निर्धारित अलङ्कारों से विलक्षण रूप का ही अलङ्कार है।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि यदि चादी समझकर सीप उठानेवाले को यह कहा जाय कि 'यह सीप है चादी नहीं' तो इस प्रकार की उक्ति को 'निश्चय' अलङ्कार नहीं माना जाया करता क्योंकि इस प्रकार के लौकिक, स्वारसिक प्रकृत-स्थापन में कोई वैचित्र्य नहीं (और अलङ्कार के लिये वैचित्र्य होना आवश्यक है)।

विमर्श—(क) साहित्यदर्पणकार की 'निश्चय'-कल्पना में एक मौलिकता है। इस कल्पना में युक्ति यह है कि यदि प्रकृत के निषेध और अप्रकृत के प्रतिष्ठापन में 'अपह्नुति' है तो अप्रकृत के निषेध और प्रकृत के प्रतिष्ठापन' में भी कोई 'अलङ्कार' अवश्य होना चाहिये। साहित्यदर्पणकार ने इस 'अलङ्कार' को 'निश्चय' नामक अलङ्कार माना है क्योंकि इसमें 'अप्रकृत निषेध के साथ प्रकृत-निर्धारण' की जो विचित्रता है उसका विश्लेषण किए बिना 'उत्प्रेक्षा' का विश्लेषण पूरा नहीं हो पाता।

अनुवाद 'उत्प्रेक्षा' वह अलङ्कार है जिसे अप्रकृत के रूप में प्रकृत की सम्भावना कहा करते हैं। इसके प्रथमतः दो प्रकार हैं—(१) वाच्योत्प्रेक्षा और (२) प्रतीयमानोत्प्रेक्षा। इनमें पहली अर्थात् वाच्योत्प्रेक्षा वह है जिसमें 'इव' आदि उत्प्रेक्षा-

तद्दष्टापि प्रत्येकं भावाभावाभिमानतः ।
गुणक्रियास्वरूपत्वान्निमित्तस्य पुनश्च ता ॥ ४२ ॥
द्वात्रिंशद्विधतां यान्ति—

तत्र वाच्योत्प्रेक्षायामुदाहरणं दिङ्मात्रं यथा—

(वाच्योत्प्रेक्षा)

'ऊरुः कुरङ्गकदृशश्चञ्चलचेलाञ्चलो भाति ।
सपताकः कनकमयो विजयस्तम्भः स्मरस्येव ॥'

अत्र विजयस्तम्भस्य बहुवाचकत्वाज्जात्युत्प्रेक्षा ।

(वाच्यगुणोत्प्रेक्षा)

'ज्ञाने मौनं क्षमा शक्तौ त्यागे श्लाघाविपर्ययः ।
गुणा गुणानुबन्धित्वात्तस्य सप्रसवा इव ॥'

अत्र सप्रसवत्वं गुणः ।

वाचक पदों का प्रयोग हुआ करता है और दूसरी अर्थात् प्रतीयमानोत्प्रेक्षा वह जिसमें 'इव' आदि उत्प्रेक्षावाचक पदों का प्रयोग नहीं हुआ करता। इन दोनों प्रकार की उत्प्रेक्षाओं में जो 'उत्प्रेक्ष्य' वस्तु है वह चतुर्विध है—१ जाति, २ गुण, ३ क्रिया और ४ द्रव्य। इस प्रकार से उत्प्रेक्षायें आठ प्रकार की हुईं। ये अष्टविध उत्प्रेक्षायें भी उत्प्रेक्ष्य में 'भावाभिमान' और 'अभावाभिमान' के द्वैविध्य से सोलह प्रकार की हुईं और इन षोडशविध उत्प्रेक्षाओं में उत्प्रेक्षण के निमित्त के, गुणरूप और क्रियारूप से द्विविध होने के कारण उत्प्रेक्षा के ३२ प्रकार हो गये।

यहाँ पहले 'वाच्योत्प्रेक्षा' के कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं—

'इस मृगनयनी का ऊरु, जिस पर हवा से हिलता अंचल फहरा रहा है ऐसा लगता है मानो कामदेव का वह स्वर्णमय विजयस्तम्भ हो जिस पर पताका फहरा रही हो।'

यहाँ 'वाच्योत्प्रेक्षा' स्पष्ट है क्योंकि उत्प्रेक्षावाचक 'इव' शब्द प्रयुक्त है। यहाँ का उत्प्रेक्ष्य है यह 'जाति' रूप है क्योंकि 'विजयस्तम्भ' एक व्यक्ति का नहीं अपितु अनेक व्यक्तियों में अनुगत 'सामान्य' अथवा 'जाति' ('स्तम्भत्व') का वाचक शब्द है। (यहाँ इस उत्प्रेक्ष्य में भावाभिमान भी स्पष्ट है क्योंकि 'विजयस्तम्भ' भावरूप पदार्थ है। साथ ही साथ यहाँ उत्प्रेक्षण का गुणरूप निमित्त भी है जो कि नायिका के ऊरु का 'सौन्दर्य' है।)

'महाराज दिलीप में ज्ञान था और ज्ञान के साथ मौन भी। उनमें शक्ति थी और शक्ति के साथ क्षमा भी। उनमें त्याग था और त्याग के साथ आत्मश्लाघा का अभाव भी। ऐसा लगता था मानो उनके प्रत्येक गुण परस्पर निर्विरोध रहते हुए, सहोदर से थे।'

यहाँ भी वाच्योत्प्रेक्षा स्पष्ट है क्योंकि उत्प्रेक्षण में 'इव' शब्द का प्रयोग किया हुआ है। यहाँ जो उत्प्रेक्ष्य है वह 'गुण' रूप है क्योंकि 'सप्रसव' पद का अभिप्राय 'सप्रसवत्व' गुण का अभिप्राय है (क्योंकि 'संयोग' 'विभाग' आदि पदों की भाँति 'प्रसव' पद भी 'प्रसवत्व' का अभिप्राय रखने से गुणवाचक पद है)।

(वाच्यक्रियोत्प्रेक्षा)

'गङ्गाम्भसि सुरत्राण ! तव निःशाननिस्वनः ।
स्नातीवारिवधूवर्गगर्भपातनपातकी ॥'

अत्र स्नातीति क्रिया ।

(वाच्यद्रव्योत्प्रेक्षा)

'मुखमेणीदृशो भाति पूर्णचन्द्र इवापरः ।,

अत्र चन्द्र इत्येकव्यक्तिवाचकत्वाद् द्रव्यशब्दः । एते भावाभिमाने ।
अभावाभिमाने यथा—

'कपोलफलकावस्याः कष्ट भूत्वा तथाविधौ ।
अपश्यन्ताविवान्योन्यमीदृक्षां क्षामता गतौ ॥'

अत्रापश्यन्ताविति क्रियाया अभावः । एवमन्यत् । निमित्तस्य गुणक्रियारूपत्वे यथा—'गङ्गाम्भसि' इत्यादौ स्नातीवेत्युत्प्रेक्षानिमित्तं पातकित्व गुणः । 'अपश्यन्तौ–' इत्यादौ क्षामतागमनरूप निमित्त क्रिया । एवमन्यत् ।
प्रतीयमानोत्प्रेक्षा यथा—

'सुल्तान ! विजययात्रा का सूचक, आपके रणवाद्य (नक्कारे) का निनाद गङ्गाजल में स्नान करता सा लग रहा है मानो उसे शत्रुनारियों के गर्भपात के महापातक का प्रायश्चित्त करना हो ।'

यहाँ क्रियोत्प्रेक्षा है क्योंकि यहाँ जो उत्प्रेक्ष्य है वह 'स्नानरूप क्रिया है । साथ ही साथ 'इव' शब्द के प्रयोग में इस उत्प्रेक्षा की वाच्यता भी स्पष्ट है ।

'इस मृगनयनी का मुख ऐसा चमक रहा है मानो दूसरा चन्द्रमा हो ।'

यहाँ 'द्रव्योत्प्रेक्षा' इसलिए है क्योंकि यहाँ जो उत्प्रेक्ष्य है वह 'चन्द्र' शब्द द्वारा प्रतिपादित है और चन्द्र शब्द ऐसा है जो कि एक व्यक्ति का वाचक शब्द है अर्थात् 'द्रव्य' शब्द है ।

ये उपर्युक्त उत्प्रेक्षायें 'भावाभिमानिनी' हैं क्योंकि इनमें जो भी जात्यादिरूप वस्तु उत्प्रेक्ष्य है वह 'भाव'रूप है (अभाव'रूप नहीं) ।

'उत्प्रेक्ष्य' के अभावाभिमान में उत्प्रेक्षा का यह उदाहरण देखिए—

'इस विरहिणी के सुन्दर कपोल, कितने दु ख की बात है कि अब, ऐसे कृश हो रहे हैं मानो एक दूसरे को न देख पा रहे हों ।'

यहाँ अभावाभिमान स्पष्ट है क्योंकि 'अपश्यन्तौ' पद से दर्शन की क्रिया के अभाव का ही अभिप्राय निकलता है जो कि उत्प्रेक्ष्य है (और जिसका निमित्त अत्यधिक कृशता है) । इसी भाँति जाति, गुण और द्रव्यरूप उत्प्रेक्ष्यों में अभावाभिमान के उदाहरण स्वय ढूँढ़े जा सकते हैं । इन उत्प्रेक्षाओं में उत्प्रेक्षण-निमित्त की गुणरूपता और क्रियारूपता भी स्पष्ट है क्योंकि जैसे 'गङ्गाम्भसि' आदि सूक्ति में उत्प्रेक्ष्य स्नान-क्रिया के निमित्तरूप से 'पातकित्व' का गुण प्रतीत हो रहा है वैसे ही 'अपश्यन्ताविम' आदि सूक्ति में—अदर्शन क्रिया के निमित्तरूप से 'कृशताप्राप्ति' की क्रिया प्रतीत हो रही है ।

अब प्रतीयमानोत्प्रेक्षा के उदाहरण लिखे जा रहे हैं—

'तन्वङ्ग्या स्तनयुग्मेन मुखं न प्रकटीकृतम् ।
हाराय गुणिने स्थानं न दत्तमिति लज्जया ॥'

अत्र लज्जयेवेति इवाद्यभावात् प्रतीयमानोत्प्रेक्षा । एवमन्यत् ।

ननु ध्वनिनिरूपणप्रस्तावेऽलङ्काराणां सर्वेषामपि व्यङ्ग्यत्वं भवतीत्युक्तम् । सम्प्रति पुनर्विशिष्य कथमुत्प्रेक्षायाः प्रतीयमानत्वम् ? उच्यते—व्यङ्ग्योत्प्रेक्षायाम्—'महिलासहस्स–' इत्यादावुत्प्रेक्षणं विनापि वाक्यविश्रान्तिः । इह तु स्तनयोर्लज्जाया असम्भवाल्लज्जयेवेत्युत्प्रेक्षयैवेति व्यङ्ग्यप्रतीयमानोत्प्रेक्षयोर्भेदः ।

अत्र वाच्योत्प्रेक्षायाः षोडशसु भेदेषु मध्ये विशेषमाह—

—तत्र वाच्याभिदाः पुनः ।

विना द्रव्यं त्रिधा सर्वाः स्वरूपफलहेतुगाः ॥ ४२ ॥

यत्रोक्तेषु वाच्यप्रतीयमानोत्प्रेक्षयोर्भेदेषु मध्ये ये वाच्योत्प्रेक्षायाः षोडश भेदास्तेषु च जात्यादीनां त्रयाणां ये द्वादश भेदास्तेषां प्रत्येकं स्वरूपफलहेतु

'इस सुन्दरी के स्तनयुग्म ने मानों गुणी (सूत में गुम्फित) हार के लिए स्थान न दिया हो इस लज्जा से अपना मुख ही प्रकट नहीं किया ।'

यहाँ 'इव' आदि उत्प्रेक्षावाचक पद के अभाव में 'प्रतीयमाना' उत्प्रेक्षा स्पष्ट है और 'लज्जया' पद से निमित्तभूत लज्जारूप गुण की उत्प्रेक्ष्यता भी स्पष्ट है । इसी भाँति अन्य विध प्रतीयमानोत्प्रेक्षा के उदाहरण स्वयं समझ लिये जा सकते हैं ।

यहाँ यह आशङ्का हो सकती है कि जब कि ध्वनि-निरूपण के प्रसङ्ग में सभी अलङ्कारों की व्यङ्ग्यता का निर्देश किया जा चुका है तब यहाँ 'उत्प्रेक्षा' को अलग से 'प्रतीयमानोत्प्रेक्षा' कहने की क्या आवश्यकता ? इसका समाधान यह रहा—'व्यङ्ग्य उत्प्रेक्षालङ्कार' और 'प्रतीयमानोत्प्रेक्षा' एक नहीं अपितु भिन्न काव्यतत्त्व हैं । 'व्यङ्ग्य उत्प्रेक्षा' के 'महिलासहस्स' आदि उदाहरणों में जो बात दिखायी देती है वह यह है कि वहाँ 'अमाअन्ती' आदि की सम्भावना के बिना भी वाक्यसमाप्ति में कोई त्रुटि नहीं आती । किन्तु वाच्यालङ्काररूप 'प्रतीयमानोत्प्रेक्षा' के 'तन्वङ्ग्या' आदि प्रसङ्गों में जब तक उत्प्रेक्षावाचक 'इव' आदि पद का काल्पनिक अध्याहार न किया जाय—क्योंकि अचेतन स्तनों में चेतन के धर्म लज्जा की क्या सम्भावना ?—तब तक वाक्यविश्रान्ति ही असंभव लगने लगती है ।

वाच्योत्प्रेक्षा के उपर्युक्त १६ भेदों में कुछ और विशेष अथवा वैचित्र्य मिलते हैं जिसका निरूपण किया जा रहा है—

वाच्योत्प्रेक्षा के भेदों में, द्रव्यमूलक भेद-चतुष्टय को छोड़कर, जाति-गुण और क्रिया मूलक जो १२ भेद हैं उनमें प्रत्येक के तीन तीन भेद हुआ करते हैं—(१) स्वरूपोत्प्रेक्षा, (२) फलोत्प्रेक्षा और (३) हेतूत्प्रेक्षा ।

तात्पर्य यह है वाच्योत्प्रेक्षा और प्रतीयमानोत्प्रेक्षा के जो भेद बताये जा चुके हैं जिनमें, वाच्योत्प्रेक्षा के १६ भेद निर्दिष्ट हैं उनमें जाति गुण और क्रिया—इन तीन उत्प्रेक्षण प्रकारों के आधार पर हुए १२ भेद ऐसे हैं जो स्वरूप फल और हेतुगत होने के कारण ३६ प्रकार के हो जाते हैं । द्रव्य का उत्प्रेक्षण द्रव्य-स्वरूप का ही उत्प्रेक्षण हो सकता है

गतत्वेन द्वादशभेदस्तया षट्त्रिंशद्भेदाः। द्रव्यस्य स्वरूपोत्प्रेक्षणमेव सम्भवतीति चत्वार इति मिलित्वा चत्वारिंशद्भेदाः।

अत्र स्वरूपोत्प्रेक्षया यथा पूर्वोदाहरणेषु 'स्मरस्य विजयस्तम्भः' इति। 'सप्रसवा इव' इत्यादयो जातिगुणस्वरूपगाः। फलोत्प्रेक्षा यथा—

'रावणस्यापि रामास्तो भित्त्वा हृदयमाशुगः।
विवेश भुवमाख्यातुमुरगेभ्य इव प्रियम्॥'

अत्राख्यातुमिति भूप्रवेशस्य फल क्रियारूपमुत्प्रेक्षितम्।

हेतूत्प्रेक्षा यथा—

'सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वा भ्रष्ट मया नूपुरमेकमुर्व्याम्।
अदृश्यत त्वच्चरणारविन्दविश्लेपदुःखादिव बद्धमौनम्॥'

अत्र दुःखरूपो गुणो हेतुत्वेनोत्प्रेक्षितः। एवमन्यत्।

उक्त्यनुक्त्योर्निमित्तस्य द्विधा तत्र स्वरूपगाः।

तेषु चत्वारिंशत्संख्याकेषु भेदेषु मध्ये ये स्वरूपगायाः षोडशभेदास्ते उत्प्रेक्षानिमित्तस्योपादानानुपादानाभ्यां द्वात्रिंशद् भेदा इति मिलित्वा षट्पञ्चा-

---

(द्रव्यफल अथवा द्रव्यहेतु का नहीं)—इसलिये द्रव्यगत वाच्योत्प्रेक्षा के भेद-चतुष्टय के साथ जात्यादिगत वाच्योत्प्रेक्षा के ३६ भेदों को मिलाकर ४० प्रकार की वाच्योत्प्रेक्षायें सिद्ध हुईं। इन ४० प्रकार की वाच्योत्प्रेक्षाओं में, स्वरूपगा वाच्योत्प्रेक्षा के उदाहरण के लिये, पूर्वोदाहृत सूक्तियों में आयी 'स्मरस्य विजयस्तम्भ' आदि सूक्ति ही ली जा सकती हैं जहाँ 'स्तम्भत्व' जाति के स्वरूप की उत्प्रेक्षा स्पष्ट है। इसी प्रकार पूर्वोदाहृत 'ज्ञाने मौनम्' आदि में 'सप्रसवा इव' में जो उत्प्रेक्षा है, उसमें गुण स्वरूप का उत्प्रेक्षण देखा जा सकता है। फलोत्प्रेक्षा के उदाहरण के लिये निम्न सूक्ति देखिये—

'राम द्वारा चलाये गये बाण ने रावण के भी हृदय को विद्ध कर दिया और मानो इस प्रसन्नता की बात को सर्पों पर प्रकट करने के लिये, वह पृथिवी में घुस गया।'

यहाँ भूप्रवेश के फल के रूप में प्रियाख्यानरूप क्रिया के स्वरूप की उत्प्रेक्षा स्पष्ट है।

इसी प्रकार हेतूत्प्रेक्षा का उदाहरण यह है—

'यही वह जगह है, जहाँ तुम्हें ढूँढ़ते हुए, मुझे पृथिवी पर गिरा हुआ, तुम्हारा एक नूपुर ऐसा निःशब्द दिखायी पड़ा मानो तुम्हारे चरणारविन्द के विश्लेष के दुःख से वह मौन—मूक पड़ा हो।'

यहाँ यह स्पष्ट है कि दुःखरूप गुण (बद्धमौनता के) हेतुरूप से उत्प्रेक्षित है।

इसी प्रकार अन्यविध उत्प्रेक्षाओं के दृष्टान्त स्वयं समझ लिये जा सकते हैं।

इन उपर्युक्त स्वरूपगत, फलगत तथा हेतुगत वाच्योत्प्रेक्षा-भेदों में 'स्वरूपोत्प्रेक्षा' दो प्रकार की हुआ करती है—(१) 'उक्तनिमित्ता' स्वरूपोत्प्रेक्षा और (२) 'अनुक्तनिमित्ता' स्वरूपोत्प्रेक्षा।

यहाँ ऐसा समझना चाहिये—'उत्प्रेक्षा' के ४० प्रकार बताये जा चुके हैं। इन ४० प्रकारों में स्वरूपोत्प्रेक्षा के १६ प्रकार हैं। इन १६ प्रकार की स्वरूपोत्प्रेक्षाओं में उत्प्रेक्षण का निमित्त उपात्त भी हो सकता है और अनुपात्त भी। इस प्रकार 'स्वरूपोत्प्रेक्षा' के ३२ भेद सिद्ध हुए। अब 'स्वरूपोत्प्रेक्षा' के ३२ भेद और 'फलोत्प्रेक्षा' तथा 'हेतूत्प्रेक्षा' के

रात् भेदा वाच्योत्प्रेक्षायाः। तत्र निमित्तस्योपादाने यथा पूर्वोदाहृते 'स्नातीव' इत्युत्प्रेक्षायां निमित्तं पावकित्वमुपात्तम्। अनुपादाने यथा—'चन्द्र इवापर' इत्यत्र तमाधिपसौन्दर्यातिशयो नोपात्तः।

हेतुफलयोस्तु नियमेन निमित्तस्योपादानमेव, यथा हि—'विश्लेषदुःखा-दिव' इत्यत्र यन्निमित्तं वक्रमौनत्वम् 'आस्यात्तुमिव' इत्यत्र च भूप्रवेशस्तयोरनु-पादानेऽसङ्गतमेव वाक्यं स्यात्।

प्रतीयमानायाः षोडशसु भेदेषु विशेषमाह—

मतीयमानाभेदाश्च प्रत्येकं फलहेतुगाः ॥ ४४ ॥

यथोदाहृते 'तन्वङ्ग्या स्तनयुग्मेन' इत्यत्र लज्जयेवेति हेतूत्प्रेक्षा। अस्यामपि निमित्तस्यानुपादानं न सम्भवति। इवाद्यनुपादाने निमित्तस्य चाकी-र्तने उत्प्रेक्षणस्य प्रमातुर्निरपेक्षमशक्यत्वात्। स्वरूपोत्प्रेक्षाऽप्यत्र न भवति, धर्मान्तरतादात्म्यनिबन्धनायामस्यामिवाद्यप्रयोगे विशेषणयोगे सत्यतिशयोक्तेर-भ्युपगमात्।

---

१२ भेदों को मिलाकर ५२ प्रकार की वाच्योत्प्रेक्षायें स्पष्ट हो गयीं। निमित्त के उपादान में स्वरूपोत्प्रेक्षा के उदाहरण के लिए, पूर्वोदाहृत 'गङ्गाम्भसि' आदि सूक्ति में, 'स्नातीव' में जो उत्प्रेक्षा है उसे लिया जा सकता है क्योंकि उसमें उत्प्रेक्षण के निमित्तरूप से 'पावकित्व' का उपादान स्पष्टतया किया हुआ है। निमित्त के अनुपादान में 'स्वरूपोत्प्रेक्षा' का उदाहरण पूर्वोदाहृत 'मुखमेणीदृशो भाति' आदि सूक्ति में, 'पूर्णचन्द्र इवापरः' की उत्प्रेक्षा है जहाँ उत्प्रेक्षण के निमित्तरूप से असाधारण सौन्दर्य आदि का उपादान नहीं किया गया।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि 'स्वरूपोत्प्रेक्षा' की भाँति 'फलोत्प्रेक्षा' और 'हेतूत्प्रेक्षा' के भी १६-१६ भेद नहीं हुआ करते क्योंकि फल और हेतु की उत्प्रेक्षायें निमित्त के उपादान के बिना हो ही नहीं सकतीं। 'फलोत्प्रेक्षा' और 'हेतूत्प्रेक्षा' में निमित्त का उपादान नितान्त आवश्यक है। उदाहरण के लिए 'सैषा स्थली' आदि सूक्ति में 'विश्लेषदुःखादिव' में जो 'हेतूत्प्रेक्षा' है वह तब तक नहीं हो सकती जब तक 'वक्र-मौनता' के निमित्त का उपादान न किया जाय। इसी भाँति 'पृथास्वापि' आदि सूक्ति में, 'आस्यात्तुमिव' में जो फलोत्प्रेक्षा है वह तब तक असंभव है जब तक 'भूप्रवेश'रूप निमित्त उपात्त न हो। यहाँ वस्तुतः बात यह है कि इन उत्प्रेक्षा-भेदों में निमित्त के उपादान के बिना वाक्य ही असंगत हो जाता है (और जब वाक्य असंगत हो गया तो उत्प्रेक्षा कहाँ से संगत हो जाय)।

अब प्रतीयमानोत्प्रेक्षा के १६ भेदों के अवान्तर वैशिष्ट्य का दिग्दर्शन किया जा रहा है—

प्रतीयमानोत्प्रेक्षा के जो १६ भेद हैं उनमें प्रत्येक के, 'फलगत' और 'हेतुगत' रूप से दो-दो प्रकार हो जाया करते हैं। जैसे कि पूर्वोदाहृत 'तन्वङ्ग्या स्तनयुग्मेन' आदि सूक्ति में 'मुख (चूचुक) के प्रकट करने' के हेतुरूप से 'लज्जा' की उत्प्रेक्षा की गई है। 'प्रतीयमानोत्प्रेक्षा' में भी निमित्त का उपादान अत्यावश्यक है क्योंकि जब कि यहाँ उत्प्रेक्षावाचक 'इव' आदि पद नहीं और उत्प्रेक्षा का निमित्त भी अनुपात्त हो तब यह

यथा—'अयं राजापरः पाकशासनः' इति। विशेषणाभावे च रूपकस्य, यथा—'राजा पाकशासनः' इति।) तदेवं द्वात्रिंशत्प्रकारा प्रतीयमानोत्प्रेक्षा।

उक्त्यनुक्त्योः प्रस्तुतस्य प्रत्येकं ता अपि द्विधा।

ता उत्प्रेक्षाः। उक्तौ यथा—'ऊरुः कुरङ्गकदृशः—' इति।

अनुक्तौ यथा मम प्रभावत्याम् 'प्रद्युम्नः—इह हि सम्प्रति दिगन्तरमाच्छादयता तिमिरपटलेन—

घटितमिवाञ्जनपुञ्जैः पूरितमिव मृगमदक्षोदैः।
ततमिव तमालतरुभिर्वृतमिव नीलांशुकैर्भुवनम्॥'

अत्राञ्जनेन घटितत्वादेरुत्प्रेक्षणीयस्य विषयव्याप्तत्व नोपात्तम्।

कैसे सम्भव है कि कोई भी यह जान सके कि वहाँ 'उत्प्रेक्षा' हुई है। 'प्रतीयमानोत्प्रेक्षा' में स्वरूपगत भेद भी असंभव ही है क्योंकि जब कि 'स्वरूपोत्प्रेक्षा' में एकधर्मी के साथ 'धर्म्यन्तर' (अर्थात् अन्य धर्मी) का तादात्म्य अथवा अभेद आवश्यक हो और इव आदि उत्प्रेक्षावाचक पद भी न रहें तथा साथ ही साथ असंभवविशेषण का भी उपादान हो तब यह सब वैचित्र्य 'अतिशयोक्ति' की रूपरेखा का निर्देश कर सकता है न कि उत्प्रेक्षा का।

जैसे कि 'यह राजा दूसरा इन्द्र है' आदि प्रसङ्गों में, राजरूप एकधर्मी के साथ इन्द्ररूप अन्यधर्मी की तादात्म्यभावना में, 'अपर'रूप असंभवविशेषण ('अपर' विशेषण इसलिये असम्भव है क्योंकि 'इन्द्र' एक ही हैं) का जो योग है (और साथ ही साथ 'इव' आदि उत्प्रेक्षावाचक पद का भी जो अनुपादान है) उसमें 'अतिशयोक्ति' ही दिखायी देती है (प्रतीयमाना स्वरूपोत्प्रेक्षा नहीं) और यदि 'यह राजा इन्द्र है' आदि कहा जाय, तब असंभव-विशेषण के अभाव में (और साथ ही साथ 'इव' आदि उत्प्रेक्षावाचक पद के अनुपादान में) जो 'अलङ्कार' दिखायी देगा वह (प्रतीयमाना स्वरूपोत्प्रेक्षा नहीं अपितु) 'रूपक' अलङ्कार ही होगा। इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि 'प्रतीयमानोत्प्रेक्षा' के ३२ ही भेद हुआ करते हैं।

'उत्प्रेक्षा' के अब तक जो भेद निर्दिष्ट किये गये, उन सब में प्रस्तुत (प्राकरणिक अथवा उपमेय) की उक्ति और अनुक्ति के भेद से, दो-दो भेद हो जाया करते हैं।

यहाँ (कारिका में) 'ता' का अभिप्राय 'उत्प्रेक्षा' के समस्त भेदों का अभिप्राय है (न कि पूर्वपरामृष्ट ३२ प्रकार की प्रतीयमानोत्प्रेक्षा का) उत्प्रेक्षा में 'प्रस्तुत की उक्ति' के उदाहरण के लिये 'ऊरु कुरङ्गकदृश' आदि सूक्ति पर्याप्त है (जिसमें प्रस्तुत अथवा उपमेयभूत 'ऊरु' स्पष्टतया शब्दतः उपात्त है)। इसी प्रकार 'प्रस्तुत की अनुक्ति' में, उत्प्रेक्षा के उदाहरणरूप में, स्वरचित 'प्रभावती' नाटिका की यह सूक्ति ध्यान देने योग्य है—

'प्रद्युम्न—इस समय यह अन्धकार दिग्दिगन्त को आच्छन्न कर रहा है जिससे ऐसा लगता है—

मानो सारा संसार अञ्जनराशि से बना हुआ सा हो, कस्तूरीचूर्ण से भरा हुआ सा हो, तमालवीथी से व्याप्त सा हो और नीलांशुक से आवृत सा हो।'

यहाँ जो उत्प्रेक्षणीय है अर्थात् उपमानभूत 'अञ्जनघटितत्व' आदि है वह ऐसा है जिसके लिये उपमेयरूप 'तिमिरव्यापन' आदि शब्दतः उपात्त नहीं।

यथा वा—

'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः'।

अत्र तमसो लेपनस्य व्यापनरूपो विषयो नोपात्तः। अञ्जनवर्षणस्य तमःसम्पातः। अनयोश्चोत्प्रेक्षानिमित्तं च तमसोऽतिबहुलत्वं धारारूपेणाधःसंयोगश्च यथासंख्यम्।

केचित्तु—'अलेपनकर्तृभूतमपि तमो लेपनकर्तृत्वेनोत्प्रेक्षितं व्यापनं च निमित्तम्, एवं नभोऽपि वर्षणक्रियाकर्तृत्वेन' इत्याहुः।

'प्रस्तुत की अनुक्ति' में 'उत्प्रेक्षा' की रूपरेखा भिन्न (मृच्छकटिक) सूक्ति में भी स्पष्ट है—

'ऐसा लगता है जैसे अन्धकार समस्त शरीर को लेप रहा हो और आकाश अञ्जन बरसा रहा हो।'

यहाँ अन्धकार के 'लेपन' रूप उपमान के लिये 'व्यापन' रूप प्रस्तुत अथवा विषय का उपादान नहीं किया गया है। इसी प्रकार 'अञ्जनवर्षण' रूप उपमान के लिये 'तमस्संपात' रूप प्रस्तुत अथवा विषय भी अनुपात्त ही छोड़ दिया गया है। इन दोनों उत्प्रेक्षाओं में उत्प्रेक्षा का निमित्त भी दिया हुआ है जो कि क्रमशः 'अन्धकार का बाहुल्य' और उसका 'धारासम्पातरूप से पृथिवी पर गिरना' है (इस प्रकार यहाँ—प्रस्तुत की अनुक्ति में, क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा का स्वरूप स्पष्ट है)।

वैसे कुछ अन्याचार्य 'लिम्पति' आदि में द्रव्योत्प्रेक्षा मानते हैं क्योंकि उनका यह कहना है कि यहाँ 'तिमिर' जो कि 'लेपन' की क्रिया का कर्ता नहीं हो सकता, 'लेपन' क्रिया के कर्ता के रूप में उत्प्रेक्षित है जिसके लिये 'व्यापन' रूप निमित्त भी प्रतीत हो रहा है और 'आकाश' जिसमें 'वर्षण' की क्रिया का कर्तृत्व असम्भव है, वर्षण-क्रिया के कर्ता के रूप में उत्प्रेक्षित है।

विमर्श—(क) 'उत्प्रेक्षा' की व्युत्पत्ति यह है—'उत्+प्र+ईक्षा = उत्कटा प्रकृष्टस्य उपमानस्य ईक्षा ज्ञानमुत्प्रेक्षा' (उद्योत, पृ० ११)। इस व्युत्पत्ति से ही यह स्पष्ट है कि उत्प्रेक्षा अलङ्कार का चमत्कार किसी 'प्रकृत' की अप्रकृत 'अप्रकृत' के रूप में 'सम्भावना' है। 'संभावना' एक ज्ञानप्रकार है। सम्भावनात्मक ज्ञान संशय अथवा भ्रम आदि नहीं अपितु इनसे एक भिन्न प्रकार का ही अनुभव है जैसा कि 'अलङ्कारसर्वस्व' की 'विमर्शिनी' व्याख्या के रचयिता आचार्य जयरथ ने कहा है—

'उत्प्रेक्षा सम्भावनमिष्टप्राप्तिवितर्कप्रतीतिमूलेति शास्त्रतः संदेहमूलत्वम्। तस्य भिन्नरूपत्वात्। उभयकोटिपरामर्शात्मकत्वाविशेषात् संशयवदुत्प्रेक्षायाः संशयमूलत्वमिति चेत्, नैतत्। उभयपक्षपरामर्शात्मकत्वेऽपि संशयतर्कयोर्भिन्नरूपत्वात्। तथा हि—स्थाणुर्वा पुरुषो वेति सामान्येन पक्षद्वयोल्लेखी संशयः। पुरुषेणानेन भवितव्यमित्येकतरपक्षानुकूलकारणदर्शनेन पक्षान्तरबाधकमिव तर्कः। पुरुष एवायमिति पक्षान्तरसंस्पर्शेनैकतरपक्षविनिर्णयो निश्चय इत्यस्ति सहृदयसाक्षिकं प्रत्ययानां वैविध्यम्। अनिश्चितोभयपक्षावलम्बी किं स्विदिति विमर्शः सन्देहः। एकतरपक्षावलम्बी तु तर्क इति। तेन संदेहनिश्चयान्तरालवर्ती तर्क इव ... भेदमावहन्त्युपमाकृतिरिव समस्तमानोऽस्मत्यनुमानाकाशः।

अर्थात् वैसे तो 'संशयात्मक' और 'सम्भावनात्मक' दोनों ज्ञान अनिश्चयात्मक (अनवधारणारूप) ज्ञानप्रकार हैं किन्तु दोनों में परस्पर भेद है। 'संशय' में दो पक्षों का उल्लेख अनिवार्य है। 'क्या यह ठूठ है या आदमी' इसी प्रकार का ज्ञान 'संशय' रूप हुआ करता है। किन्तु 'संभावना' में, किसी कारणवश, दो पक्षों में से एक पक्ष का बाध और एक का प्रतिष्ठापन स्वाभाविक है। 'यह आदमी ही होगा' इस प्रकार का ज्ञान संभावनात्मक ज्ञान प्रकार है। इस प्रकार दोनों पक्षों के अवलम्बन करनेवाले 'संदेह' और एकपक्षावलम्बी 'तर्क' अथवा 'संभावना' को एक मानना अनुचित है इसलिये यह स्पष्ट है कि 'उत्प्रेक्षा' और 'संदेह' पृथक् पृथक् स्वरूप के अलङ्कार अथवा काव्य वैचित्र्य हैं।

(ख) 'उत्प्रेक्षा' और 'अतिशयोक्ति' अध्यवसायगर्भ अलङ्कार हैं किन्तु दोनों में दो प्रकार का 'अध्यवसाय' रहा करता है जिससे दोनों परस्पर भिन्न भिन्न अलङ्कार के रूप में माने जाया करते हैं। 'अध्यवसाय' का अर्थ 'विषयनिगरण' है। उत्प्रेक्षा में भी 'विषयनिगरण' रहा करता है किन्तु यह 'सिद्ध' रूप का न होकर 'साध्य' रूप का हुआ करता है। 'अतिशयोक्ति' में जो 'विषयनिगरण' हुआ करता है वह 'साध्य' नहीं अपितु 'सिद्ध' रहा करता है। 'विमर्शिनी'कार ने इसीलिये कहा है—

'एवमप्यनिश्चयात्मकसंभावनाप्रत्ययमूलत्वादुत्प्रेक्षाया कथमध्यवसायमूलत्वम्। तस्य हि विषयनिगरण विषयिनिश्चयश्च स्वरूपम्। न चात्रैकमपि सभवति। विषयोपादाना-न्निश्चयाभावाच्चेति। अत्रोच्यते—इह द्विधास्त्यध्यवसायः। स्वारसिक उत्पादितश्च। तत्र स्वारसिके विषयानवगम एव निमित्तसामर्थ्यात् स्वरसत एव विषयप्रतीतेरुल्ला-सात्। .... इतरत्र तु विषयमवगम्यापि तदन्त कारेण प्रतिपत्तौ स्वात्मपरतन्त्र-विकल्पनाद् विषये प्रतिपत्तिमुत्पादयेत्। जानान एव हि विषयिविविक्त विषयं तत्र प्रयो-जनपरतया विषयिणमध्यवस्येत्। तत्राद्यो भ्रान्तिमदादिविषय। तत्र हि प्रमात्रन्तरगता स्वारसिकयेव तथाविधा प्रतिपत्तिर्वक्त्रानूद्यते न तूत्पाद्यते। ..... स्वारसिकत्वं पुनः कविप्रतिभानिर्वर्तितमेवेष्टम्। अन्यथा हि भ्रान्तिमात्रस्यादिति .... ..इतरस्तूत्प्रेक्षाविषय. स च द्विविध सिद्ध साध्यश्च। सिद्धो यत्र विषयस्यानुपात्ततया निगीर्णत्वादध्यवसितप्राधा-न्यम्। साध्यो यत्रेवाद्युपादानात् सभावनाप्रत्ययात्मकत्वाद्विषयस्य निगीर्यमाणत्वादध्य-वसायक्रियाया एव प्राधान्यम्। अत एव चात्र क्वचिद्विषयानुपादानम्। वाच्यो-पयोग्यध्यवसायस्य साध्यमानत्वेनोपक्रान्तत्वात्। क्वचिच्च विषस्यानुपादानेऽपि न सिद्धत्वम्। इवाद्युपादानान्निगीर्यमाणताया प्राधान्यात् सभावनाप्रत्ययस्यैवोद्रेकात्। अत एव चात्र विषयस्य निगीर्यमाणत्वादारोपगर्भत्व न वाच्यम्। तत्र विषयस्य विषयितया प्रतीति.। इह पुनर्विषयस्य निगीर्यमाणत्वेन विषयिण एव प्रतीतिः। ननु विषयनिग-रणमध्यवसायस्य लक्षणम्, इह पुनर्विषयस्य निगीर्यमाणतेति कथमत्राध्यवसायतेति चेत्, नैतत्। 'विषयन्त कृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात् चाध्यवसानिका' इत्याद्युक्त्याऽध्यव-सायस्य विषयिणा विषयस्यान्त करण लक्षणम्। तच्च विषयस्य निगरणेन निगीर्यमाण-त्वेन वा भवतीति न कश्चिद्विशेष निगीर्यमाणमपि पूर्वोक्तरीत्या विषयस्योपात्तस्यानु-पात्तस्य वा भवतीत्यपि न कश्चिद्विशेष। एव सिद्धेऽध्यवसायेऽध्यवसितप्राधान्यम् साध्ये च स्वरूपप्राधान्यमिति सिद्धम्। यदेव चाध्यवसायस्य साध्यत्व तदेव सभावना-त्मकत्वम्। सभावना ह्येकतरपक्षशिथिलीकारेण पक्षान्तरदार्ढ्येन च प्रादुर्भवती-त्यस्या. साध्याध्यवसायतुल्यकक्षत्वम्। तस्यापि विषयशिथिलीकारेण विषयि-दार्ढ्येन चोत्पत्ते.।'

(अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ ६९-७०)

(उत्प्रेक्षावैचित्र्य)

अलङ्कारान्तरोत्था सा वैचित्र्यमधिकं भजेत् ॥ ४५ ॥

तत्र सापह्नवोत्प्रेक्षा यथा मम—

'अश्रुच्छलेन सुदृशो हुतपावकधूमकलुषाक्ष्याः ।
अप्राप्य मानमङ्गे विगलति लावण्यवारिपूर इव ॥'

---

(१) 'उत्प्रेक्षा' सर्वप्रथम दो प्रकार की है—१ वाच्योत्प्रेक्षा और २. प्रतीयमानोत्प्रेक्षा। 'वाच्योत्प्रेक्षा' भी 'स्वरूपगत' 'फलगत' और 'हेतुगत' रूप से मुख्यतया तीन प्रकार की है। इन तीनों प्रकारों में 'स्वरूपगत वाच्योत्प्रेक्षा' के ३२ भेद हैं। ३२ भेद इसलिए क्योंकि पहले तो अप्रकृत के रूप में सम्भावित प्रकृत के 'जाति' 'गुण' 'क्रिया' और 'द्रव्य' रूप से चार प्रकार हैं जो कि 'भावाभिमान' और 'अभावाभिमान' के रूप से, दो-दो प्रकार के होकर आठ प्रकार के हो जाया करते हैं। ये आठों प्रकार उत्प्रेक्षा के निमित्त के 'गुणरूप' और 'क्रियारूप' से द्विविध होने के कारण दो दो प्रकार के होकर १६ बन जाते हैं। इन १६ प्रकारों में प्रत्येक में निमित्त के 'उपादान' और 'अनुपादान' के द्वैविध्य के कारण दो दो प्रकार स्वाभाविक हैं जिससे स्वरूपगत वाच्योत्प्रेक्षा के ३२ प्रकार सिद्ध हो जाते हैं।

(२) अर्थात् 'फलगत' वाच्योत्प्रेक्षा में द्रव्य की फलोत्प्रेक्षा और उसके प्रकारभेदों की कोई संभावना न होने के कारण बारह भेद ही संभव हैं।

(३) अर्थात् 'हेतुगत' वाच्योत्प्रेक्षा भी बारह प्रकार की ही हुआ करती है क्योंकि वाच्योत्प्रेक्षा के इस भेद में द्रव्य की हेतूत्प्रेक्षा और उसके भेदप्रभेद की संभावना नहीं रहा करती। इस प्रकार वाच्योत्प्रेक्षा के ये ५६ (स्वरूपगत के ३२ फलगत के १२ हेतुगत के १२) भेद प्रस्तुत के 'प्रतिपादन' और 'अप्रतिपादन' के द्विविध वैचित्र्य के कारण ११२ प्रकार के सिद्ध होते हैं।

प्रतीयमानोत्प्रेक्षा' ६४ प्रकार की है। ६४ प्रकार की इसलिये क्योंकि इसमें स्वरूपोत्प्रेक्षा के ३२ भेद असंभव हैं किन्तु १६ 'फलगत' और १६ 'हेतुगत' भेद आवश्यक हैं जो कि प्रस्तुत के 'प्रतिपादन' और अप्रतिपादन' के द्वैविध्य के कारण ६४ हो जाते हैं।

इस प्रकार उत्प्रेक्षा की भेदसंख्या १७६ है (वाच्योत्प्रेक्षा ११२ + प्रतीयमानोत्प्रेक्षा ६४ उत्प्रेक्षा १७६)।

(४) किन्तु 'रसगङ्गाधर'कार के अनुसार उपर्युक्त उत्प्रेक्षाभेद-संख्या प्राचीन आलङ्कारिकों की परम्परा सी ही तात्त्विक नहीं—

'इह जात्यादयो हि भेदाः प्राचामनुरोधादुदाहृताः। वस्तुतस्तु नैषां चमत्कारे वैलक्षण्यमस्तीत्यनुपादेयतैव। चमत्कारवैलक्षण्यं पुनर्हेतुफलस्वरूपात्मकानां त्रयाणां प्रकाराणामेवेति।

(रसगङ्गाधर : उत्प्रेक्षाप्रकरण)

अनुवाद—यही 'उत्प्रेक्षा' यदि उसके मूल में और अलंकार का योग हो तो अधिकाधिक वैचित्र्य धारण करती दिखाई दिया करती है। उदाहरण के लिये, यह स्वरचित सूक्ति, जिसमें 'अपह्नुति'-अलंकार-मूलक उत्प्रेक्षा का वैचित्र्य स्पष्ट है—

'आहुतियों से भरी यज्ञाग्नि के धूम से कलुषित आँखोंवाली इस सुन्दरी के आँसुओं के बहाने ऐसा लगता है जैसे इसका मान इसके अङ्गों में न समा सकने के कारण लावण्यजल के प्रवाह के रूप में बह निकला है।

श्लेपहेतुगा यथा—

'मुक्तोत्कर' सङ्कटशुक्तिमध्याद्विनिर्गतः सारसलोचनायाः।
जानीमहेऽस्या' कमनीयकम्बुग्रीवाधिवासाद्गुणवत्त्वमाप ॥'

अत्र गुणवत्त्वे श्लेपः कम्बुग्रीवाधिवासादिवेति हेतूत्प्रेक्षाया हेतुः। अत्र 'जानीमहे' इत्युत्प्रेक्षावाचकम्।

एवम्—

मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः।

क्वचिदुपमोपक्रमोत्प्रेक्षा यथा—

'पारेजलं नीरनिधेरपश्यन्मुरारिरानीलपलाशराशीः।
वनावलीरुत्कलिकासहस्रप्रतिक्षणोत्कूलितशैवलाभा' ॥'

इत्यत्राभाशब्दस्योपमावाचकत्वादुपक्रमे उपमा। पर्यवसाने तु जलधितीरे शैवालस्थिते सम्भावनानुपपत्तौ सम्भावनोत्थापनमित्युत्प्रेक्षा।

एवं विरहवर्णने—'केयूरायितमङ्गदैः—' इत्यत्र 'विकासिनीलोत्पलतिस्म कर्णे मृगायताक्ष्या' कुटिल' कटाक्ष' इत्यादौ च ज्ञेयम्।

[यहाँ 'छल' शब्द के उपादान से, प्रस्तुत 'अश्रु' के प्रतिषेध के साथ, अप्रस्तुत 'लावण्यवारिपूर' के स्थापन में 'अपह्नुति' स्पष्ट है और इस 'अपह्नुति' की भित्ति पर, क्रियोत्प्रेक्षा का जो वैचित्र्य है वह देखने ही योग्य है।]

इसी प्रकार 'श्लेपालंकारमूलक उत्प्रेक्षा का उदाहरण यह रहा—

'ऐसा लगता है जैसे 'संकटशुक्ति' (छोटी सीप और संकटाकीर्ण संसार) के भीतर से निकला हुआ यह 'मुक्तोत्कर' (मोतियों और मुक्त पुरुषों का समूह) इस सारसलोचना (कमलनयनी) सुन्दरी के, कमनीयशखतुल्य ग्रीवा के 'अधिवास' (निवास या वासना) के कारण 'गुणवान्' (सूत्रयुक्त और सत्त्वादिगुणयुक्त) हो गया है।'

यहाँ 'गुणवत्त्व' पद श्लिष्ट है (क्योंकि इसके 'सूत्रयुक्तत्व' और 'उत्कर्षवत्व' दो-दो अभिप्राय निकलते हैं)। यहाँ 'कम्बुग्रीवाधिवासादिव' के रूप में हेतु की भी उत्प्रेक्षा है और 'जानीमहे' पद उत्प्रेक्षावाचक है (इस प्रकार यहाँ श्लेपमूलक उत्प्रेक्षा स्पष्ट है)।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि ('जानीमहे' की भाँति) और भी उत्प्रेक्षावाचक पद हैं जिनमें 'मन्ये', 'शके', 'ध्रुवम्', 'प्राय', 'नूनम्' (खलु किमु-किम्) आदि प्रसिद्ध हैं।

अब उपमामूलक उत्प्रेक्षा का उदाहरण देखिये—

'भगवान् कृष्ण ने, समुद्र के तीर पर, हरे हरे पत्तों से भरी वनवीथी क्या देखी, लहरों से निरन्तर फेंकी जाती शैवलराशि देख ली।'

यहाँ उपमामूलक उत्प्रेक्षा इसलिये है क्योंकि कवि ने, उपक्रम में, उपमावाचक 'आभा' शब्द के प्रयोग में, उपमा की रचना की है और अन्त में सभावना अथवा उत्प्रेक्षण का उत्थान दिखाया है क्योंकि जबकि समुद्र के तीर पर शैवलपंक्ति की अवस्थिति अनुपपन्न है तब उसकी स्थिति का वर्णन 'सभावना' रूप ही हो सकता है। इसी भाँति—

'प्रयास्यन्तं प्रियं श्रुत्वा गोविन्दं व्रजयोषिताम्।
तत्क्षणाजातमौनाना केयूरायितमङ्गदै ॥'

'प्रियतम कृष्ण प्रवास पर जा रहे हैं—यह सुनकर अकस्मात् मौन धारण की हुई व्रज की

भ्रान्तिमदलङ्कारे 'मुग्धा दुग्धधिया—' इत्यादौ भ्रान्तानां गोपादीनां विषयस्य चन्द्रिकादेर्ज्ञानमेव नास्ति, तदुपनिबन्धनस्य कविनैव कृतत्वात्। इह तु संभावनाकर्तुर्विषयस्यापि ज्ञानमिति द्वयोर्भेदः।

संदेहे तु समकक्षतया कोटिद्वयस्य प्रतीतिः, इह तूत्कटा संभाव्यभूतैककोटिः। अतिशयोक्तौ विषयिणः प्रतीतस्य पर्यवसानेऽसत्यता प्रतीयते, इह तु प्रतीतिकाल एवेति भेदः।

सुन्दरियों के बाजूबन्द केयूर अर्थात् कंगन से हो गये। (विरह की कृशता के कारण कंगन की जगह पर आ गये) आदि विरहवर्णन-सूक्ति में 'केयूरायितमङ्गदैः' में क्यङ् प्रत्यय के प्रयोग में, उपक्रम में उपमा स्पष्ट है जिसके आधार पर (अङ्गद) बाजूबन्दों की, कंकण स्थान पर स्थिति की अनुपपत्ति में स्थिति की संभावना की गयी है जिसमें उत्प्रेक्षा स्पष्ट है। यही बात—

> 'नासाप्रमुक्तमपरप्रसारिरोचिर्भिर्मायेव च विद्रुमत्वम्।
> विकासिनीलोत्पलकलिसम कर्णे मृगायताक्ष्याः कुटिलः कटाक्षः॥'

आदि सूक्ति में 'मृगनयनी के कुटिल कटाक्ष उसके कानों पर खिले नीलकमल से लगने लगे' आदि की उपक्रमोपमा में दिखायी देती है जहाँ अन्त में कानों पर कटाक्ष की स्थिति की अनुपपत्ति में स्थिति की 'सम्भावना' की गयी है और 'उत्प्रेक्षा' में वाक्य समाप्ति होती है।

यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि जैसे 'मुग्धा दुग्धधिया' आदि सूक्ति में 'भ्रान्तिमान्' अलङ्कार का दर्शन हुआ करता है वैसे ही 'ऊरु कुरङ्गकदृशः' आदि सूक्ति में भी, कामिनी के 'ऊरु' आदि में 'विपर्यस्तम्भ' आदि की भ्रान्ति के कारण 'भ्रान्तिमान्' क्यों न माना जाय। किन्तु यह शङ्का इसलिये निर्मूल है कि 'मुग्धा दुग्धधिया' आदि भ्रान्तिमान् प्रसङ्गों में तो भ्रम में पड़े गोप आदि को विषय अथवा उपमेयभूत 'चन्द्रिका' आदि अभि का ज्ञान भी नहीं होता क्योंकि यह तो कवि है जो 'चन्द्रिका' का कथन करता है (और गोप आदि 'सीप में चाँदी की भ्रान्ति की भाँति 'चाँदनी आदि में दुग्ध-धार आदि की भ्रान्ति में ही मग्न हैं) किन्तु 'ऊरु कुरङ्गकदृशः' आदि उत्प्रेक्षा-प्रसङ्ग ऐसे हैं जिनमें सम्भावना करने वाले को विषय अथवा उपमेयभूत 'ऊरु' आदि का भी ज्ञान हो रहा है। इस प्रकार 'भ्रान्तिमान्' और 'उत्प्रेक्षा' के क्षेत्र परस्पर पृथक्-पृथक् ही प्रतीत होते हैं।

'उत्प्रेक्षा' में संदेहालङ्कार' का भी भ्रम नहीं हो सकता क्योंकि 'संदेह' में ऐसा होता है कि उपमेय और उपमानविषयक ज्ञान की दोनों कोटियाँ समकक्ष प्रतीत हुआ करती हैं और यहाँ 'उत्प्रेक्षा में ऐसा कि एक ही संभाव्यकोटि उत्कटतया प्रतीत होती है। 'उत्प्रेक्षा' में 'अतिशयोक्ति' की भी भ्रान्ति असंभव ही है क्योंकि 'अतिशयोक्ति' में ऐसा होता है कि आरम्भ में विषयी का स्वरूप प्रतीत हो जाता है और अन्त में उसकी असत्यता का पता चलता है किन्तु यहाँ उत्प्रेक्षा में विषयी (उपमान) के स्वरूप की प्रतीति के समय में ही उसकी असत्यता की भी प्रतीति हो उठती है।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि कुछ व्याख्याताओं (अलङ्कारसर्वस्वकार आदि) ने (किरातार्जुनीय-नवम सर्ग की) निम्नसूक्ति अर्थात्—

'रञ्जिता नु विविधास्तरुशैला नामित नु गगनं स्थगितं नु ।
पूरिता नु विषमेषु धरित्री संहृता नु ककुभस्तिमिरेण ॥'

इत्यत्र यत्तर्वादौ तिमिराक्रान्तता रञ्जनादिरूपेण संदिह्यत इति संदेहालङ्कार इति केचिदाहुः, तन्न—एकविषये समानबलतयाऽनेककोटिस्फुरणस्यैव संदेहत्वात् । इह तु तर्वादिव्याप्तेः प्रतिसबन्धिभेदो व्यापनादेर्निगरणेन रञ्जनादेः स्फुरणं च ।

अन्ये तु—'अनेकत्वनिर्धारणरूपविच्छित्त्याश्रयत्वेनैककोटयधिकेऽपि भिन्नोऽयं संदेहप्रकारः' इति वदन्ति स्म, तदप्ययुक्तम्—निगीर्णस्वरूपस्यान्यतादात्म्यप्रतीतिर्हि सभावना, तस्याश्चात्र स्फुटतया सद्भावात् नुशब्देन चेवशब्दवत्तस्या द्योतनादुत्प्रेक्षैवेयं भवितुं युक्ता, अलमदृष्टसदेहप्रकारकल्पनया ।

'क्या अन्धकार से सब वृक्ष और पर्वत काले रग में रँग से दिये गये? क्या ऐसा तो नहीं कि आकाश नीचे गिर पड़ा या ढक सा गया? क्या पृथिवी ऊँची-नीची जगहों में बराबर कर दी गयी? अथवा क्या फैली दिशायें सिकोड़ दी गयीं?'

आदि में, 'सदेहालङ्कार' का जो दर्शन किया है और यह कहा है कि यहाँ वृक्षादि की अन्धकारपूर्णता रञ्जनादि के रूप में सन्देहास्पद बन रही है, वह ठीक नहीं। कारण यह है कि यहाँ 'सदेह' की कोई सभावना ही नहीं क्योंकि जिसे 'सदेह' कहते हैं वह तो एक विषय (अर्थात् उपमेय) में, समकक्षरूप से, अनेककोटिक ज्ञान का स्फुरण हुआ करता है। यहाँ ऐसा स्फुरण कहाँ? यहा तो तरु, शैल, गगन, पृथिवी आदि प्रत्येक पदार्थ की तिमिराच्छन्नता भिन्न-भिन्न प्रकार की बतायी गयी है और रञ्जन, नामन, स्थगन आदि भिन्न-भिन्न रूपों में सभावित प्रतीत हो रही है और साथ ही साथ यहा यह भी स्पष्ट है कि तमोव्यापनरूप विषय के निगरण अथवा अपलाप में रञ्जन आदि रूप विषयी की सभावना हो रही है (जिसमें 'उत्प्रेक्षा' की ही रूपरेखा निखरती दिखायी दे रही है)।

उपर्युक्त तिमिरवर्णन-सूक्ति में ही, कुछ और आलङ्कारिकों ने एक और प्रकार के संदेहालङ्कार का दर्शन किया है और यह कहा है कि यहाँ 'संदेह' का जो स्वरूप है उसमें तमोव्यापन और रञ्जनादिरूप ज्ञान का स्फुरण नहीं अपितु तमोव्यापनरूप एककोटिक ज्ञान का ऐसा उत्कट स्फुरण है जो कि रञ्जन, नामन, स्थगन आदि अनेक रूपों में निर्धारित होने के कारण एक और ही वैचित्र्य रख रहा है। किन्तु यह मत भी अनुपपन्न ही है क्योंकि यहाँ 'सशय' नहीं अपितु 'संभावना' है जो कि निगीर्णस्वरूप विषय की, अन्य अथवा विषयी के साथ, एक तादात्म्य-भावना है। यह तादात्म्य-भावना यहाँ इसलिये स्पष्ट है क्योंकि 'इव' शब्द के समानार्थक 'नु' शब्द के द्वारा (जो कि उत्प्रेक्षावाचक शब्द है) इसे यहाँ प्रतिपादित कर दिया गया है। इसलिये यहाँ जो अलङ्कार है वह 'उत्प्रेक्षा' ही है। यहाँ ऐसे सदेहप्रकार की कल्पना की क्या आवश्यकता जिसे और किसी ने भी नहीं माना।

अब यह बताना आवश्यक है कि 'मन्ये' आदि उत्प्रेक्षावाचक पदों के प्रयोग में भी सभावना की प्रतीति के अभाव में, उत्प्रेक्षालङ्कार नहीं हुआ करता। जैसे कि निम्नसूक्ति अर्थात्—

'यदेतच्चन्द्रान्तर्जलदलवलीलां वितनुते
तदाचष्टे लोकः शशक इति नो मां प्रति तथा।
अहं त्विन्दुं मन्ये त्वदरिविरहाक्रान्ततरुणी-
कटाक्षोल्कापातव्रणकिणकलङ्काङ्किततनुम् ॥'

इत्यत्र 'मन्ये'शब्दप्रयोगेऽप्युक्तरूपायाः सम्भावनाया अप्रतीतेर्वितर्कमात्रं नासापह्नवोत्प्रेक्षा।

'राजन्! चन्द्रमा में काले बादल के टुकड़े सा जो दिखायी पड़ा करता है उसे लोग 'शश' कहा करते हैं, किन्तु मुझे यह सब मान्य नहीं। मैं तो ऐसा समझता हूँ कि चन्द्रमा में जो दाग है वह तुम्हारे शत्रुओं की विरहिणी प्रेमिकाओं के कटाक्षरूपी उल्कापात से उत्पन्न व्रण का चिह्न है।

यहाँ, 'मन्ये' शब्द तो अवश्य प्रयुक्त है किन्तु यहाँ 'निगीर्णस्वरूप विषय की अन्यतादात्म्य-प्रतीति' रूप संभावना नहीं दिखायी देती। इसलिये ऐसे प्रसङ्गों में अपह्नवमूलक उत्प्रेक्षा नहीं अपि तु वितर्कमात्र ही मानना उचित है और युक्तियुक्त भी है।

विमर्श—उत्प्रेक्षा-वैचित्र्य का अभिप्राय अन्य अलङ्कारमूलक उत्प्रेक्षा-प्रकार के सौन्दर्य का अभिप्राय है। साहित्यदर्पणकार का यह उत्प्रेक्षा-वैचित्र्य-विचार 'अलङ्कारसर्वस्व' की उत्प्रेक्षा-मीमांसा से प्रभावित है। अलङ्कारसर्वस्वकार ने उत्प्रेक्षा-वैचित्र्य के रूप में 'सापह्नवोत्प्रेक्षा' का उल्लेख किया है—'सापह्नवोत्प्रेक्षा यथा—

गतासु तीरं तिमिघट्टनेन ससंभ्रमं पौरविलासिनीषु।
यत्रोल्लसत्फेनततिच्छलेन मुक्ताट्टहासेव विभाति सिप्रा॥

अत्र इवशब्दप्रयोगात् संभावनं फेनततिप्रयोगाच्चापह्नवो गम्यते। एवं इवशब्द-सम्प्रयोगेऽपि ज्ञेयम्।

इसी प्रकार 'उपमोपक्रमोत्प्रेक्षा' भी उत्प्रेक्षा की ही एक विचित्रता के रूप में आचार्य रुय्यक द्वारा निर्दिष्ट है—'उपमोपक्रमोत्प्रेक्षा यथा—

कस्तूरीतिलकन्ति भालफलके देव्या मुखाम्भोरुहे
रोलम्बन्ति तमालबालमुकुलोत्तंसन्ति मौलावपि।
याः कर्णे विकचोत्पलन्ति कुचयोरङ्के च कालागुरु—
स्थासन्ति प्रथयन्तु तास्तव शिवं श्रीकण्ठकण्ठत्विषः॥

अत्र यद्यपि 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विप्' इत्युपमानात् 'क्विब्विधानादुपमाप्रतीति-स्तथाप्युपमानस्य प्रकृते सम्बन्धित्वात् संभावनोत्थाने उत्प्रेक्षायां पर्यवसानम्।

(अलङ्कारसर्वस्व पृ० ७९)

'विमर्शिनीकार' के अनुसार 'अतिशयोक्तिमयी' उत्प्रेक्षा में भी काव्य-चारुत्व की विशेषतायें दिखाई दिया करती हैं। जैसे कि—

'पुष्करिः परया पक्ष्मा वाल्मिकिप्रपरम्परा।
अभ्रमरैव यासेम्यैर्विरलीवत नर्मदा॥

आदि में 'अभेद में भेद' रूप अतिशयोक्तिमूलक 'उत्प्रेक्षा'। अथवा जैसे कि—

'पद्मानेव सदोद्भूता विवेक सहर्षिता।
हैमव सदोऽरणस्यामेव सदोदिता॥

आदि में कार्यकारण की पूर्वापरताविपर्यय अतिशयोक्ति से अनुप्राणित 'उत्प्रेक्षा' अथवा, जैसे कि—

(१२—अतिशयोक्तिः सप्रभेद निरूपण)

सिद्धत्वेऽध्यवासायस्यातिशयोक्तिर्निगद्यते ।

विषयनिगरणेनाभेदप्रतिपत्तिर्विषयिणोऽध्यवसायः ।

अस्य चोत्प्रेक्षायां विषयिणोऽनिश्चितत्वेन निर्देशात्साध्यत्वम्, इह तु निश्चितमात्रेण, इहापि मुख द्वितीयश्चन्द्र इत्यादौ ।

यदाहुः—

'विषयस्यानुपादानेऽप्युपादानेऽपि सूरयः ।
अधःकरणमात्रेण निगीर्णत्व प्रचक्षते ॥' इति ।

भेदेऽप्यभेदः सम्बन्धेऽसम्बन्धस्तद्विपर्ययौ ॥ ४६ ॥
पौर्वापर्यात्मकः कार्यहेत्वोः सा पञ्चधा ततः ।

तद्विपर्ययौ अभेदे भेदः, असम्बन्धे सम्बन्धः । सा अतिशयोक्तिः । अत्र भेदेऽभेदो यथा मम—

'अखर्वगर्वस्मितदन्तुरेण विराजमानोऽधरपल्लवेन ।
समुत्थित चीरविपाण्डुराणि पीत्वेव सद्यो द्विषता यशासि ॥'

आदि में, कार्यकारणभाव की क्रमिकता की विपर्ययरूपा अतिशयोक्ति से उत्थापित 'उत्प्रेक्षा' ।

अनुवाद—'अतिशयोक्ति' वह अलङ्कार है जिसे 'अध्यवसाय' की सिद्धि की प्रतीति कहा करते हैं ।

'अध्यवसाय' क्या है ? 'अध्यवसाय' है विषय (उपमेय) के निगरणपूर्वक, उस (निगीर्ण-स्वरूप-विषय) के साथ विषयी (उपमान) की अभेद-प्रतिपत्ति । यह 'अध्यवसाय' उत्प्रेक्षा में भी रहा करता है किन्तु सिद्धरूप का न होकर साध्यरूप का ही हुआ करता है क्योंकि जब कि 'उत्प्रेक्षा' में 'विषयी' (उपमान) का निर्देश अनिश्चित रूप से किया जाया करता है, 'अतिशयोक्ति' में ऐसा हुआ करता है कि 'विषयी' (उपमान) निश्चित रूप से निर्दिष्ट प्रतीत हुआ करता है । 'उत्प्रेक्षा' में 'विषय-निगरण' का अभिप्राय 'विषय का अधःकरणमात्र'—उसके वास्तविक स्वरूप का अपलापमात्र है और 'अतिशयोक्ति' में, जैसे कि 'यह मुख दूसरा चन्द्रमा है' आदि अतिशयोक्ति में, जो विषयनिगरण है उसमें भी विषय का अधःकरणमात्र ही दिखायी दे रहा है । इसलिये कहा भी गया है—

'चाहे विषय का शब्दतः उपादान हो या न हो, यदि उसका स्वरूप अधःकृत है अर्थात् छिपा-छिपाया प्रतीत हो रहा है तो यही उसका 'निगरण' है ।'

'अतिशयोक्ति' पाँच प्रकार की हुआ करती है—१ ला, भेद में भी अभेद-वर्णना, २ री, सम्बन्ध में भी असम्बन्ध-वर्णना, ३ री, अभेद में भी भेद-वर्णना, ४ थी, असम्बन्ध में भी सम्बन्ध-वर्णना और ५ वीं, कार्य कारण भाव-नियम की विपर्यय-वर्णना ।

यहाँ कारिका में 'तद्विपर्ययौ' का अभिप्राय भेद में अभेद-वर्णन और सम्बन्ध में असम्बन्ध-वर्णन के विपरीत अभेद में भेद और असम्बन्ध में सम्बन्ध-वर्णन का अभिप्राय है और 'सा' पद से 'अतिशयोक्ति' का निर्देश किया गया है ।

इन अतिशयोक्ति-भेदों का उदाहरण दिया जा रहा है । पहली—अर्थात् भेद में अभेद वर्णनारूप अतिशयोक्ति का यह स्वरचित उदाहरण देखिये—

'कथमुपरि कलापिनः कलापो विलसति तस्य तलेऽष्टमीन्दुखण्डम् ।
कुवलययुगलं ततो विलोलं तिलकुसुमं तदधः प्रवालमस्मात् ॥'

अत्र कान्ताकेशपाशादेर्मयूरकलापादिभिरभेदेनाध्यवसायः ।
यथा वा—'विरलेपद्युत्याविव बद्धमीनम्' । अत्र चेतनगतमीनित्वमन्यत्, अचेतनगतं चान्यदिति द्वयोर्भेदेऽप्यभेदः ।

एवम्—

'सहाधरदलेनास्या यौवने रागभाक्प्रियः ।'

अत्राधरस्य रागो लौहित्यम्, प्रियस्य रागः प्रेम, द्वयोर्भेदः ।

अभेदे भेदो यथा—

'अन्यदेवाङ्गलावण्यमन्याः सौरभसम्पदः ।
तस्याः पद्मपलाशाक्ष्याः सरसत्वमलौकिकम् ॥'

सम्बन्धेऽसम्बन्धो यथा—

'अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः ।

कैसा आश्चर्य है ! ऊपर मयूर-कलाप है नीचे अष्टमी का चन्द्रमा विराजमान है उसके नीचे दो चञ्चल नीलकमल झलक रहे हैं, उनके नीचे तिल का फूल दिखायी दे रहा है और तब विद्रुम (मूँगे) का सौन्दर्य निखर रहा है।

यहाँ पर स्पष्ट है कि कामिनी के कचपाश-भाल-फलक-नेत्र-नासिका और अधरोष्ठ का, मयूरकलाप अष्टमीचन्द्र नीलकमल, तिलपुष्प और विद्रुम से भेद होने पर भी अभेदाध्यवसाय विराजमान है जिसमें 'अतिशयोक्ति' अलङ्कार झलक रहा है।

उसी प्रकार पूर्वोदाहृत 'विरलेपद्युत्याविव बद्धमीनम्' आदि में भी, भेद में अभेदरूपा अतिशयोक्ति स्पष्ट है क्योंकि यहाँ भी चेतन के धर्मभूत 'मीन' (पानी के रोकने) और अचेतन के धर्मभूत 'मौन' (निष्पन्दता) में भेद होने पर भी अभेद अथवा तादात्म्य का ही अध्यवसाय दिखायी दे रहा है। इसी भाँति इस सूक्ति अर्थात्—

'इस सुन्दरी का यौवनकाल ऐसा रहा कि इसके अधरोष्ठ के साथ-साथ इसका प्रियतम भी रागमय हो गया।
में भी, भेद में अभेद के अध्यवसाय में 'अतिशयोक्ति' की ही रूपरेखा दिखायी दे रही है क्योंकि अधर और प्रियतम के 'राग' में भेद होने पर भी—अधर का 'राग' उसकी लालिमा है और प्रियतम का राग है प्रेम—अभेद का ही वर्णन किया गया है।

दूसरी अतिशयोक्ति अर्थात् अभेद में भेदरूपा अतिशयोक्ति का उदाहरण यह रहा—

'इस कमलनयनी कामिनी के अङ्गों का लावण्य भी कुछ और, मुखसौरभ भी कुछ और तथा उसकी सरसता भी कुछ और ही है !'

[यहाँ पर स्पष्ट है कि वर्ण्य रमणी के लावण्य आदि वास्तविक ही लावण्य आदि हैं किन्तु कवि ने इनमें असाधारणता की कल्पना कर भेद का अध्यवसाय कर लिया है।]

तीसरी 'अतिशयोक्ति' अर्थात् सम्बन्ध में असम्बन्धरूप अतिशयोक्ति का उदाहरण (विक्रमोर्वशीय की) यह सूक्ति है—

'क्या इस उर्वशी की सृष्टि का प्रजापति कान्ति का अनवरत स्रोत चन्द्रमा है ?

वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातु प्रभवेन्मनोहरमिद रूप पुराणो मुनि· ।।'

अत्र पुराणप्रजापतिनिर्माणसम्बन्धेऽप्यसम्बन्धः ।

असम्बन्धे सम्बन्धो यथा—

'यदि स्यान्मण्डले सक्तमिन्दोरिन्दीवरद्वयम् ।
तदोपमीयते तस्या ।वदनं चारुलोचनम् ।।'

अत्र यद्यर्थबलादाहृतेन सम्बन्धेन सम्भावनया सम्बन्धः । कार्यकारणयोः पौर्वापर्यविपर्ययश्च द्विधा भवति । कारणात्प्रथम कार्यस्य भावे द्वयोः समकालत्वे च ।

क्रमेण यथा—

'प्रागेव हरिणाक्षीणां चित्तमुत्कलिकाकुलम् ।
पश्चादुद्भिन्नबकुलरसालमुकुलश्रियः ।।'

'सममेव समाक्रान्त द्वय द्विरदगामिना ।
तेन सिंहासन पित्र्य मण्डलं च महीक्षिताम् ।।'

या प्रेम का देवता मदन है? या फूलों का आकर वसन्त है? भला वेदाभ्यास से जडबुद्धि किंवा विषयों से विरत हृदयवाले ब्रह्मा का क्या सामर्थ्य जो ऐसे मनोहर रूप का निर्माण कर सके!'

यहाँ 'सम्बन्ध में असम्बन्ध' इसलिये स्पष्ट है क्योंकि उर्वशी की सृष्टि में जगत्स्रष्टा ब्रह्मा के सामर्थ्य का सम्बन्ध होने पर भी, 'वेदाभ्यासजडत्व' आदि के कारण, असम्बन्ध का ही निरूपण किया गया है।

चौथी 'अतिशयोक्ति' अर्थात् 'असम्बन्ध में सम्बन्ध'रूप अतिशयोक्ति का उदाहरण यह है—

'यदि चन्द्रमा के मण्डल में दो नीलकमल जुड़े हों तब कहीं संभव है कि इस रमणी के मनोरम नयनों वाले मुख की उपमा मिल जाये।'

यहाँ 'असम्बन्ध में सम्बन्ध' इसलिये है क्योंकि 'यदि' पद के अर्थ-सामर्थ्य से, चन्द्रमण्डल के साथ नीलकमल के आरोपित सम्बन्ध की सभावना स्पष्ट है।

कार्य-कारणभाव के पौर्वापर्य के विपर्यय में होनेवाली 'अतिशयोक्ति' दो प्रकार की हुआ करती है क्योंकि कार्य और कारण के पूर्वापरभाव का विपर्यय दो प्रकार का है—पहला, कारण के पहले कार्य का प्रादुर्भावरूप और दूसरा, कार्य और कारण का एककालिक अवस्थानरूप। जैसे कि 'कारण के पहले कार्य के प्रादुर्भावरूप' कार्यकारणभाव-विपर्यय में होनेवाली 'अतिशयोक्ति' अर्थात् चौथी 'अतिशयोक्ति' का उदाहरण—

'मृगनयनी सुन्दरिओं का हृदय प्रेममिलन की उत्कण्ठा से पहले भर उठा और बाद में ऐसा हुआ कि मौलश्री और आम की मञ्जरिओं में शोभा आ विराजी।'

इसी प्रकार कार्य और कारण के समकालिक अवस्थानरूप कार्यकारणभाव-विपर्यय में होनेवाली पाँचवीं 'अतिशयोक्ति' का उदाहरण—

'गजगामी महाराज रघु ने पिता के राजसिंहासन और समस्त राजमण्डल पर एक साथ ही अपना अधिकार जमा लिया (रघुवंश)।'

—

इह केचिदाहुः—'केशपाशादिगतो लौकिकोऽतिशयोऽलौकिकत्वेनाध्यवसीयते। केशपाशादीनां कलापादिभिरध्यवसाये 'अन्यदेवाङ्गलावण्यम्' इत्यादिप्रकारेऽप्यव्याप्तिर्लक्षणस्य' इति।

तन्न, तत्रापि ह्यन्यदङ्गलावण्यमन्यत्वेनाध्यवसीयते। तथाहि 'अन्यदेव' इति स्थाने 'अन्यदिव' इति पाठेऽध्यवसायस्यासाध्यत्वमेवेत्युत्प्रेक्षाङ्गीक्रियते। 'प्रागेव हरिणाक्षीणाम्—' इत्यत्र चकुलादिभीप्या प्रथमभाविताऽपि पश्चाद्भावित्वे

[यहाँ यह स्पष्ट है कि प्रागेव हरिणाक्षीणाम् आदि सूक्ति में कामिनियों के हृदय में उत्कण्ठारूप कार्य का प्रादुर्भाव पहले वर्णित है और उसके कारणरूप से अवस्थित बकुल और आम्र-मंजरियों का विकास बाद में वर्णित है। इस प्रकार यहाँ वस्तुतः परभाविनी उत्कण्ठा के साथ कविकल्पना से पूर्वभाविनी उत्कण्ठा के अध्यवसाय में कार्यकारणभाव की विपर्ययरूपा 'अतिशयोक्ति' का स्वरूप स्पष्ट है। इसी प्रकार सममेव समाक्रान्तम् आदि सूक्ति में पैतृक सिंहासन पर अधिकाररूप 'कारण' और राजमण्डलवशीकरणरूप 'कार्य' की एककालिकता के वर्णन में, कार्यकारणभाव का विपर्यय स्पष्ट है जिसमें कार्य और कारण के लौकिक पूर्वापरभाव का, उनकी काल्पनिक एककालिकता के साथ अध्यवसाय भी स्पष्ट है।]

यहाँ कतिपय काव्याचार्यों (जैसे कि अलङ्कारसर्वस्वकार रुय्यक आदि) का यह कहना है कि—'कमलमुपरि कलापिना' आदि सूक्ति में जो 'अतिशयोक्ति' है उसमें वर्ण्य रमणी के केशपाश आदि से सम्बद्ध वास्तविक सौन्दर्य (रूप धर्म) का ही कविसमर्पित सौन्दर्य (रूप धर्म) के साथ अध्यवसाय-अभेद में भेद का आहार्यनिश्चय किया हुआ है न कि उसके केशपाश आदि (रूप धर्मी) का मयूरकलापादि (रूप धर्मी) के रूप में कोई अध्यवसाय विवक्षित है क्योंकि यदि ऐसा न माना जाय तब 'अन्यदेवाङ्गलावण्यम्' आदि सूक्ति में (जहाँ सामान्य लावण्यरूप धर्म में असामान्य लावण्यरूप धर्म अध्यवसित प्रतीत हो रहा है) अभेद में भेदरूप 'अतिशयोक्ति' का लक्षण अव्याप्त हो जायगा (क्योंकि जब कि एक धर्मी का दूसरे धर्मी के रूप में 'अध्यवसाय' ही अतिशयोक्ति' हो तो एक धर्म का दूसरे धर्म के रूप में अध्यवसाय अतिशयोक्ति' न हो सकेगी)। किन्तु यह सब कथन युक्तियुक्त नहीं क्योंकि 'अन्यदेवाङ्गलावण्यम् आदि में जो अभेद में भेद के अध्यवसाय' का रूप है उसमें यह स्पष्ट है कि 'अन्यनारीसुलभ' (अभिन्न) लावण्य ही 'अनन्यनारीसुलभ' (भिन्न असाधारण, केवल प्रकृत नायिकावर्ती) लावण्य के रूप में अध्यवसित है। क्यों? इसलिये कि यदि 'अन्यदेव' के बदले यहाँ 'अन्यदिव' कर दिया जाय तो यह, अभेद में भेद का अध्यवसाय (सिद्ध न होकर) साध्य बन जाता है और यहाँ अतिशयोक्ति' न होकर 'उत्प्रेक्षा' होने लगती है (इसलिये यह स्पष्ट है कि 'अन्यदेव' के प्रयोग में अभेद में भेद के अध्यवसाय के सिद्ध होने के कारण, 'अन्यदेवाङ्गलावण्यम्' आदि सूक्ति में 'अतिशयोक्ति' लक्षण सर्वथा घटित हो रहा है)। यही बात 'प्रागेव हरिणाक्षीणाम्' आदि सूक्ति में कार्यकारणभाव के विपर्ययरूप 'अतिशयोक्ति' में भी दिखायी देती है क्योंकि यहाँ भी बकुलशोभा आदि की 'पूर्वभाविता' (रमणी-हृदय में रत्युद्रेक के पहले खिलनेवाली मौलश्री आदि की सुन्दरता) ही उसकी 'पश्चाद्भाविता' (रमणी-हृदय में रत्युद्रेक के बाद में खिलने वाली मौलश्री आदि की सुन्दरता) के रूप में

नाध्यवसिता, अत एवात्रापीवशब्दयोगे उत्प्रेक्षा, एवमन्यत्र।

अध्यवसित दिखायी दे रही है और वस्तुत इसीलिये यहाँ भी 'एव' के वदले 'इव' कर देने से, अध्यवसाय की साध्यता में 'उत्प्रेक्षा' दिखायी पड़ने लगती है (जिससे यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'एव' के रहने से, अध्यवसाय की सिद्धता के कारण, यहाँ अतिशयोक्ति का लक्षण सर्वथा लागू हो रहा है)। (इसी प्रकार सम्बन्ध में असम्बन्ध और असम्बन्ध में सम्बन्धरूप की अतिशयोक्तिओं में भी अध्यवसाय की सिद्धता स्पष्ट है जिसके अभाव में अर्थात् अध्यवसाय की साध्यता में 'उत्प्रेक्षा' की रूपरेखा सिद्ध हो जाती है। निष्कर्ष यही है कि 'अलङ्कारसर्वस्व' आदि की यह मान्यता कि 'दो धर्मों–एक वास्तविक और दूसरे कविसमर्पित–के ही अध्यवसाय में 'अतिशयोक्ति' सभव है, न कि दो धर्मिओं के अध्यवसाय में' ठीक नहीं जँचती)।

विमर्श—(क) एक धर्म का दूसरे धर्म के रूप में 'अध्यवसाय' अतिशयोक्ति है या एक धर्मी का दूसरे धर्मी के रूप में 'अध्यवसाय'—इस समस्या के सम्बन्ध में अलङ्कारसर्वस्वकार का मत यह है—

'एषु पञ्चसु भेदेषु भेदेऽभेदादिवचनं लोकातिक्रान्तगोचरम्। अत्र चातिशयाख्य यत् फल प्रयोजकत्वान्निमित्त तत्राऽभेदाध्यवसाय। तथा हि—'कमलमनम्भसि' इत्यादौ वदनादीना कमलाद्यैर्भेदेऽपि वास्तवं सौन्दर्यं कविसमर्पितेन सौन्दर्येणाभेदेनाध्यवसित, भेदेऽभेदवचनस्य निमित्तम्। तत्र च सिद्धोऽध्यवसाय इत्यध्यवसितप्राधान्यम्। न तु वदनादीना कमलादिभिरभेदाध्यवसायो योजनीय.। अभेदे भेद इत्यादिषु प्रकारेष्वव्याप्ते। तत्र हि 'अण्ण लडहत्तणअ' इत्यादौ सातिशयं लडहत्वं निमित्तभूतमभेदेनाध्यवसितम्। एवमन्यत्रापि ज्ञेयम्।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ ८८)

अर्थात् 'अतिशयोक्ति' में 'कमल' आदि धर्मी के रूप में 'वदन' आदि धर्मी का अध्यवसाय विवक्षित नहीं अपितु कविसमर्पित सौन्दर्य के रूप से बास्तव सौन्दर्य का अध्यवसाय अपेक्षित है। किन्तु 'अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी' कार ने 'धर्म' और 'धर्मी' दोनों के अध्यवसाय में अतिशयोक्ति का औचित्य माना है—

'यावता ह्यध्यवसितप्राधान्यमस्या लक्षणम्। तच्च धर्मिणामस्तु धर्माणां वेति को विशेषो येनाऽव्याप्ति स्यात्। प्रत्युत धर्मयोरभेदाध्यवसायाभ्युपगमे उपमादीनामप्यतिशयोक्तिप्रसङ्ग स्यात्। तत्रापि धर्माणामेव भेदेऽभेदविवक्षणात्।'

(अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी पृष्ठ ८८)

(ख) 'अतिशयोक्ति' को अलङ्कारों का 'परायण' अथवा 'आश्रय' कहा गया है। वेदों की ऋचाओं में भी इस अलङ्कारसौन्दर्य का दर्शन होता है। यह ऋचा—

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्ष परिषस्वजाते।
तयोरन्य पिप्पल स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥'

अतिशय के चमत्कार से पूर्ण है। इसी प्रकार स्मृतिओं में 'अतिशयोक्ति' पायी जाती है। भगवद्गीता स्मृति की यह सूक्ति—

'या निशा सर्वभूतानां तस्या जागर्ति सयमी।
यस्या जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुने.॥'

अतिशयोक्ति का एक सुन्दर उदाहरण है।

—

(१७—तुल्ययोगिता)

पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत् ॥ ४७ ॥
एकधर्माभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता ।

अन्येषामप्रस्तुतानाम्। धर्मो गुणक्रियारूपः ।

उदाहरणम्—

(दो प्रस्तुत पदार्थों में एक क्रियारूप धर्म के योग में 'तुल्ययोगिता')

'अनुलेपनानि कुसुमान्यबलाः
कृतमन्यवः पतिषु दीपदशाः ।
समयेन तेन सुचिरं शयित
प्रतिबोधितस्मरमबोधिषत ॥'

अत्र सन्ध्यावर्णनस्य प्रस्तुतत्वात्प्रस्तुतानामनुलेपनादीनामेकबोधनक्रियाभिसम्बन्धः ।

(दो अप्रस्तुत पदार्थों में एक गुणरूप धर्म के योग में 'तुल्ययोगिता'

'तदङ्गमार्दवं द्रष्टुः कस्य चित्ते न भासते ।
मालतीशशभृल्लेखाकदलीनां कठोरता ॥'

इत्यत्र मालत्यादीनामप्रस्तुतानां कठोरतारूपैकगुणसम्बन्धः ।

अनुवाद—'तुल्ययोगिता' वह अलङ्कार है जिसे केवल प्रस्तुत (प्रकरणप्राप्त) पदार्थों अथवा अप्रस्तुत पदार्थों का एक धर्म से अभिसम्बन्ध कहा गया है ।

यहाँ कारिका में 'अन्येषाम्' का अभिप्राय 'अप्रस्तुत' अथवा 'अप्राकरणिक' पदार्थों का अभिप्राय है और 'धर्म' से गुण अथवा क्रियारूप धर्म अभिप्रेत है । उदाहरण के लिये—

सन्ध्याकाल ने चन्दनादि के अङ्गरागों फूलों पतियों पर मान-कोप करने वाली अबलाओं और दीपकों की बत्तियों को इस प्रकार प्रतिबोधित किया जिसमें बहुत देर तक सोया हुआ काम जग उठा ।

'यहाँ, इस शिशुपालवध-सूक्ति में यह स्पष्ट है कि सन्ध्यावर्णन के प्रसङ्ग में, जितने भी प्रस्तुत अथवा प्राकरणिक 'अनुलेपन' आदि हैं उन सब में एक ही 'प्रतिबोधन' रूप क्रिया सम्बन्ध दिखाई दे रही है ।

[तात्पर्य यह है कि यद्यपि अनुलेपन पुष्प, मानवती अबलाओं और दीपशिखाओं के 'अवबोधन' में—स्वरूप-भेद अवश्य है क्योंकि अनुलेपनों का 'बोध' उनका 'स्मरण' पुष्पों का 'बोध' उनका विकास मानवती अबलाओं का 'बोध' उनके लिये मान छोड़ने की चिन्ता और दीपशिखाओं का 'बोध' उनका प्रज्वलित होना है किन्तु तब भी यहाँ की एकरूपता में क्रियाओं की एकरूपता की कल्पना से इन प्राकरणिक पदार्थों का एकक्रियारूप धर्म से सम्बन्ध स्पष्ट है जिसमें 'तुल्ययोगिता' की शोभा झलक रही है ।]

इसी प्रकार—

'उस सुन्दरी के अङ्गों की सुकुमारता के दर्शन से कौन ऐसे लोग हैं जिनके मन में यह ध्यान नहीं आता कि मालती के पुष्प चन्द्रमा की कला और कदली के किसलय कठोरता से भरे हैं ।'

यहाँ 'तुल्ययोगिता' इसलिये स्पष्ट है क्योंकि वर्ण्य नायिका के प्रसङ्ग में, जितने

एवम्—

'दानं वित्तादृतं वाचः कीर्त्तिधर्मौ तथायुषः।
परोपकरणं कायादसारात्सारमाहरेत् ॥'

अत्र दानादीनां कर्मभूतानां सारतारूपैकगुणसम्बन्ध एकाहरणक्रियासम्बन्धः।

भी मालती आदि अप्रस्तुत पदार्थ उपनिबद्ध हैं, उन सब में 'कठोरता' का गुणरूप धर्म सर्वथा सम्बद्ध प्रतीत हो रहा है।

इसी प्रकार गुण और क्रिया रूप द्विविध धर्म के एकत्र अभिसम्बन्ध में भी 'तुल्ययोगिता' ही हुआ करती है जैसे कि निम्न सूक्ति अर्थात्—

'बुद्धिमान् लोगों के लिये यह आवश्यक है कि वे धन से दान, वाणी से सत्य, जीवन से यश और धर्म तथा शरीर से परोपकार—इस प्रकार, असार से सार का ग्रहण किया करें।'

में ही। यहाँ 'आहरण' की क्रिया के कर्मरूप से उपनिबद्ध दान, ऋत, कीर्ति, धर्म और परोपकार रूप पदार्थों के साथ 'सारता' रूप गुण का सम्बन्ध और साथ ही साथ 'आहरण' के क्रियारूप धर्म का भी सम्बन्ध स्पष्ट प्रतीत हो रहा है।

विमर्श—(क) साहित्यदर्पणकार ने 'तुल्ययोगिता' के निरूपण में यह स्पष्ट नहीं किया कि यहाँ 'औपम्य' अभिव्यङ्ग्य रहा करता है या नहीं। 'अलङ्कारसर्वस्व'कार के अनुसार 'तुल्ययोगिता' में औपम्य अथवा उपमानोपमेयभाव की अभिव्यङ्ग्यता आवश्यक है—

'औपम्यस्य गम्यत्वे पदार्थगतत्वेन प्रस्तुतानामप्रस्तुतानां वा समानधर्माभिसम्बन्धे तुल्ययोगिता। इत्याद्यप्रयोगे ह्यौपम्यस्य गम्यत्वम्।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ ८९)

अर्थात् 'तुल्ययोगिता' उन अलङ्कारों में से है जो कि 'गम्यमानौपम्याश्रय' हुआ करते हैं अर्थात् उपमानोपमेयभाव की अभिव्यञ्जना किया करते हैं। इस अलङ्कार में प्रस्तुत (प्राकरणिक) पदार्थों अथवा अप्रस्तुत (अप्राकरणिक) पदार्थों में गुणरूप अथवा क्रियारूप धर्म का योग 'पदार्थ-गत' रूप से प्रतीत हुआ करता है और इसलिये इसे 'वाक्यार्थगत'रूप से औपम्य की अभिव्यञ्जना रखने वाली 'प्रतिवस्तूपमा' से पृथक् किया जा सकता है।

(ख) यद्यपि साहित्यदर्पणकार ने तुल्ययोगिता के भेद-चतुष्टय का निर्देश नहीं किया किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इसके चारों भेद साहित्यदर्पणकार को मान्य हैं। 'विमर्शिनी'कार आचार्य जयरथ ने 'तुल्ययोगिता' के चार भेदों का निर्देश किया है—

'अनेनैव चास्या प्रकृतानामप्रकृतानां च गुणक्रियात्मकधर्मयोगाद् द्वैविध्येन चतुष्प्रकारत्वमप्युक्तम्' (अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी—पृष्ठ ९०)।

(ग) 'तुल्ययोगिता' की व्युत्पत्ति यह है —

'तुल्यधर्मेण योगो (सम्बन्धो) जातोऽस्यामिति अन्वर्थनामा तुल्ययोगिता' (एकावली, पृष्ठ २३९)। इस व्युत्पत्ति से ही 'तुलययोगिता' का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

(घ) 'औपम्य, की अभिव्यञ्जना में 'तुल्ययोगिता' के निदर्शन के लिये ये सूक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं—

(१) 'शम्भोर्यन्नखरश्मिभिः प्रणमतश्चूडामणित्वे स्थिता
गङ्गा चन्द्रकला च सर्वजगतां वन्द्यत्वमापादिता।
युक्ताया परतापदावविपदः कन्या पितॄणामसौ
दूरीकार्यहिमालया कथमुमापादद्वयी प्राप्यते ॥'

यहाँ पार्वती की पादद्वया के वर्णन प्रसङ्ग में, गङ्गा और चन्द्रकलारूप अप्रकृत पदार्थों में

(१५—दीपकालङ्कार)

अप्रस्तुतप्रस्तुतयोर्दीपकं तु निगद्यते ॥ ४८ ॥
अथ कारकमेकं स्यादनेकासु क्रियासु चेत् ।

क्रमेणोदाहरणम्—

'बलावलेपादधुनापि पूर्ववत्
प्रबाध्यते तेन जगज्जिगीषुणा ।
सतीव योषित्प्रकृतिः सुनिश्चला
पुमांसमभ्येति भवान्तरेष्वपि ॥'

अत्र प्रस्तुतायाः सुनिश्चलायाः प्रकृतेरप्रस्तुतायाश्च योषित एकानुगमनक्रियासम्बन्धः ।

'दूरं समागतवति त्वयि जीवनाथे
भिन्ना मनोभवशरेण तपस्विनी सा ।
उत्तिष्ठति स्वपिति वासगृहं त्वदीय-
मायाति याति हसति श्वसिति क्षणेन ॥'

इदं मम । अत्रैकस्या नायिकाया उत्थानाद्यनेकक्रियासम्बन्धः । अत्र च गुणक्रिययोरादिमध्यावसानसद्भावेन त्रैविध्यं न लक्षितम्, तथाविधवैचित्र्यस्य सर्वत्रापि सहस्रधासम्भवात् ।

'जायाफल' की क्रिया का सम्बन्ध स्पष्ट है पर्व गद्य और पद्यका में 'अभ्यास' आदिरूप औपम्य भी झलक रहा है ।

अनुवाद—'दीपक' वह अलङ्कार है जिसे प्रस्तुत (प्राकरणिक) और अप्रस्तुत (अप्राकरणिक) में एक धर्म का अभिसंबन्ध कहा जाया करता है। साथ ही साथ अनेक क्रियाओं के साथ एक कारक का सम्बन्ध भी 'दीपक' ही है।

'दीपक' के क्रमशः उदाहरण ये हैं—

'महापराक्रमी शिशुपाल, अपने बल के घमण्ड से आज भी (इस जन्म में भी) संसार को पीड़ित कर रहा है। ठीक ही है क्योंकि सती स्त्री की भाँति मानव-प्रकृति भी जन्म-जन्मान्तर में मनुष्य का साथ दिया करती है।

यहाँ 'शिशुपालवध' की इस सूक्ति में स्थिर मानव प्रकृति 'प्रस्तुत' और 'प्राकरणिक' है और सती स्त्री 'अप्रस्तुत' अथवा 'अप्राकरणिक' और इन दोनों में अनुगमन रूप क्रिया का धर्म समान भाव से सम्बद्ध निर्दिष्ट किया हुआ है।

'तुम्हारे सरीखे प्रियतम के दूर चले जाने पर काम के बाणों से बिद्ध वह बेचारी कभी उठती है कभी लेटती है कभी तुम्हारे निवासस्थान पर जाती है कभी तुम्हारे निवासस्थान से लौटती है कभी हँसती है और कभी-कभी आह भरा करती है।'

'यहाँ, इस स्वरचित सूक्ति में एक नायिका का उत्थान-शयन आदि अनेक क्रियाओं से संबन्ध वर्णित है।

प्राचीन आलङ्कारिकों ने गुण अथवा क्रियारूप धर्म के आदि, मध्य और अन्त में उपनिबद्ध किए जाने के कारण 'दीपक' का आदि, मध्य किंवा अन्त्य दीपक के रूप में

तीन प्रकार का मान रखा है। किन्तु यह 'त्रैविध्य' यहाँ अनावश्यक समझा गया है क्योंकि इस प्रकार का वैचित्र्य अन्य अलङ्कारों में भी सम्भव है और सहस्रों प्रकार से सम्भव है (जिससे केवल 'दीपक' में इसका उल्लेख निरर्थक है)।

विमर्श—(क) कतिपय काव्याचार्य, जैसे कि आचार्य उद्भट आदि, 'दीपक' में भी 'औपम्य' की अभिव्यङ्ग्यता आवश्यक मानते हैं। साहित्यदर्पणकार इसके विरुद्ध नहीं किन्तु स्पष्टतया समर्थक भी नहीं प्रतीत होते। 'अनेक क्रियाओं से एक कारक के अभिसवन्ध में दीपक की मान्यता इस बात का प्रमाण है कि साहित्यदर्पणकार को यहाँ 'औपम्य' की अभिव्यञ्जना अनिवार्य नहीं प्रतीत हुई।

(ख) 'दीपक' पद की निरुक्ति यह है—

'प्राकरणिकाप्राकरणिकयोर्मध्यादेकत्र निर्दिष्ट समानो धर्मः प्रसङ्गेनान्यत्रोपकाराद् दीपनाद् दीपसादृश्येन दीपकाख्यालङ्कारोत्थापकः।' (अलङ्कारसर्वस्व पृ ७२)

अर्थात् 'दीपक' को इसलिये 'दीपक' कहते हैं क्योंकि इसमें प्राकरणिक अथवा अप्राकरणिक के बीच, कहीं भी, एक के साथ, निर्दिष्ट धर्म दूसरे के साथ, उसी प्रकार समवेत हो जाया करता है जिस प्रकार एक स्थान पर रखा दीपक, उस स्थान के साथ-साथ अन्य स्थान को भी प्रकाशित किया करता है।

रसगङ्गाधरकार ने 'दीपक' का तात्पर्य इस प्रकार बताया है—

प्रकृतानामप्रकृतानाञ्चैकधर्माभिसम्बन्धो दीपकम्। ···प्रकृतार्थमुपात्तो धर्मः प्रसङ्गादप्रकृतमपि दीपयति प्रकाशयति सुन्दरीकरोतीति दीपकम्। यद्वा दीप इव दीपकम्, सञ्ज्ञाया कन्। दीपसादृश्यञ्च-प्रकृताप्रकृतप्रकाशकत्वेन बोध्यम्।'

(रसगङ्गाधर दीपकप्रकरण)

(ग) आचार्य भामह की 'दीपक' परिभाषा यह थी—

'आदिमध्यान्तविषयं त्रिधा दीपकमिष्यते। एकस्यैव व्यवस्थत्वादिति तद्भिद्यते त्रिधा॥
अमूनि कुर्वतेऽन्वर्थामस्याख्यामर्थदीपनात्। त्रिभिर्निदर्शनञ्चेदं त्रिधा निर्दिश्यते यथा॥'

(काव्यालङ्कार २ १५, १६)

जिसे आचार्य उद्भट ने इस प्रकार स्पष्ट किया—

'आदिमध्यान्तविषया प्राधान्येतरयोगिन। अन्तर्गतोपमा धर्मा यत्र तद्दीपकं विदुः॥'

इन त्रिविध दीपकों में 'आदिदीपक' का उदाहरण यह है—

'श्यामला प्रावृषेण्याभिर्दिशो जीमूतपङ्क्तिभि। भुवश्च सुकुमाराभिर्नवशाद्वलराजिभि॥'

यहाँ 'श्यामलता' का धर्म आरम्भ में ही निर्दिष्ट है।

'मध्यदीपक' के निदर्शन के लिये निम्न सूक्ति पर्याप्त है—

'मालिनीरंशुकभृतः स्त्रियोऽलङ्कुरुते मधु। हारीतशुकवाचश्च भूधराणामुपत्यका॥'

यहाँ 'अलङ्कृत' किये जाने का धर्म मध्य में उपात्त है।

'अन्त्यदीपक' का दृष्टान्त यह है—

'तदानीं स्फीतलावण्यचन्द्रिकाभरनिर्भरः। कान्ताननेन्दुरिन्दुश्च कस्य नानन्दकोऽभवत्॥'

यहाँ 'आनन्दकत्व' का धर्म अन्त में प्रतिपादित है।

साहित्यदर्पणकार ने उपर्युक्त 'दीपक'-मान्यता का ही खण्डन किया है जो कि युक्तियुक्त है क्योंकि 'दीपक' की वास्तविक रूपरेखा प्रकृत और अप्रकृत के एकधर्माभिसम्बन्ध में ही बनती है। धर्म का आदि, मध्य और अन्त में निर्देश तो दीपक के सहस्रों बन्ध वैचित्र्यों में से एक वैचित्र्य-मात्र है न कि [illegible]

(१६—प्रतिवस्तूपमा)

प्रतिवस्तूपमा सा स्याद्वाक्ययोर्गम्यसाम्ययोः ॥ ४९ ॥
एकोऽपि धर्मः सामान्यो यत्र निर्दिश्यते पृथक् ।

यथा—

'धन्यासि वैदर्भि ! गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि ।
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति ॥'

अत्र समाकर्षणमुत्तरलीकरणं च क्रियैकैव पौनरुक्त्यनिरासाय भिन्नवाचकतया निर्दिष्टा ।

इयम् मालयाऽपि दृश्यते यथा—

'विमल एव रविर्विशदः शशी प्रकृतिशोभन एव हि दर्पणः ।
शिवगिरिः शिवहाससहोदरः सहजसुन्दर एव हि सज्जनः ॥'

(क) 'तुल्ययोगिता' से 'दीपक' का भेद इसलिये स्पष्ट है क्योंकि जहाँ 'तुल्ययोगिता' में केवल प्रस्तुत अथवा केवल अप्रस्तुत पदार्थों में एकधर्माभिसम्बन्ध अपेक्षित है वहाँ 'दीपक' में प्रस्तुत और अप्रस्तुत का एकधर्माभिसम्बन्ध अभिप्रेत है। रसगङ्गाधरकार 'दीपक' को पृथक् अलङ्कार न मानकर 'तुल्ययोगिता' का ही एक प्रकार-वैविध्य मानने के समर्थक हैं—

'तुल्ययोगितातो दीपकं न पृथग्भावमर्हति। धर्मसकृद्वृत्तिमूलाया विच्छित्तेरविशेषात्। विच्छित्तिवैलक्षण्यस्यैवालङ्कारविभागहेतुत्वात्। अत्र धर्मस्य सकृद्वृत्तेरविशेषेऽपि धर्मिणां प्रकृताप्रकृतत्वाभ्यां प्रकृतमात्रत्वेन च तुल्ययोगिताया दीपकस्य विशेष इति वाच्यम्''' 'सर्वेषामप्यलङ्काराणां प्रभेदैरेवैकरूप्यापत्तेः।'' 'तस्मात्तुल्ययोगिताया एव त्रैविध्यमुचितम्। प्रकृतानामेव धर्मस्य सकृद्वृत्तिः, अप्रकृतानामेव प्रकृताप्रकृतानां चेति। (रसगङ्गाधर ३११ ३१७)

अनुवाद—'प्रतिवस्तूपमा' वह अलङ्कार है जिसे सादृश्य की अभिव्यञ्जना से भरे दो वाक्यार्थों में पृथक्-पृथक् शब्दों द्वारा एक साधारण धर्म का निर्देश माना जाया करता है। जैसे कि—

हे विदर्भकुमारी दमयन्ती ! तुम सचमुच ही धन्य हो क्योंकि तुम्हीं ऐसी हो जिसने अपने महनीय गुणों से महाराज नल का हृदय आकृष्ट कर रखा है। भला, इससे बढ़ कर चन्द्रिका की क्या स्तुति कि वह समुद्र को भी अपनी ओर चञ्चल बना दिया करती है।

यहाँ ('नैषधीयचरित की इस सूक्ति में) 'प्रतिवस्तूपमा' स्पष्ट है क्योंकि 'समाकर्षण' (आकृष्ट करने) और 'उत्तरलीकरण' (चञ्चल बनाने) की एक रूपवाली क्रिया ही पुनरुक्तिदोष के निराकरण के लिये भिन्न भिन्न वाचक शब्दों द्वारा निर्दिष्ट की गयी है।

प्रतिवस्तूपमा का 'माला'-रूप भी काव्यसाहित्य में दिखायी पड़ा करता है। इस सूक्ति में 'माला प्रतिवस्तूपमा' देखिये—

'सूर्य स्वभाव से ही निर्मल है, चन्द्रमा स्वभाव से ही विशद है, दर्पण स्वभावतः ही सुन्दर हुआ करता है, कैलास स्वभावतः ही महादेव के अट्टहास की भाँति शुभ्र है और सज्जन पुरुष भी स्वभाव से ही सुन्दर हुआ करते हैं।

अत्र विमलविशदादिरर्थत एक एव।

वैधर्म्येण यथा—

'चकोर्य्य एव चतुराश्चन्द्रिकापानकर्मणि।
विनावन्तीर्न निपुणाः सुदृशो रतनर्मणि॥'

(१७—दृष्टान्त)

दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्॥ ५०॥

सधर्मस्येति प्रतिवस्तूपमाव्यवच्छेदः। अयमपि साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां द्विधा।

क्रमेणोदाहरणम्—

'अविदितगुणापि सत्कविभणितिः कर्णेषु वमति मधुधाराम्।
अनधिगतपरिमलापि हि हरति दृशं मालतीमाला॥'

यहाँ भी 'कथितपदता' रूप दोष के निवारण के लिये, एक ही 'स्वच्छता' का धर्म विमल, विशद आदि आदि भिन्न-भिन्न वाचक पदों द्वारा प्रतिपादित किया हुआ है। जिसमें 'माला-प्रतिवस्तूपमा' का स्वरूप स्पष्ट झलक रहा है।

यह 'प्रतिवस्तूपमा' साधर्म्य की भाति वैधर्म्य में भी हुआ करती है, जैसे कि—

'चन्द्रिका के पान में चकोरियाँ ही चतुर हैं। तभी तो अवन्ती की रमणिओं को छोड़ कर और रमणियाँ रतिक्रीड़ा में निपुण नहीं पायी जातीं।'

[यहा 'चतुरता' और 'निपुणता' का एकरूप ही धर्म, पृथक्-पृथक् पदों द्वारा निर्दिष्ट है और 'चकोरिओं' तथा 'अवन्ती की नारिओं' में साम्य भी अभिव्यङ्ग्य है। 'वैधर्म्य' में प्रतिवस्तूपमा यहां इसलिये है क्योंकि आपातत 'नैपुण्य', निषेधार्थक नञ् के योग के, 'चातुर्य' से विलक्षण सा लग रहा है।]

विमर्श—'प्रतिवस्तूपमा' की निरुक्ति यह है—

प्रतिवस्तुप्रतिवाक्यार्थमुपमा समानधर्मोऽस्यामिति (प्रतिवस्तूपमा)'।

तात्पर्य यह है कि 'वस्तु' शब्द वाक्यार्थ का अभिप्राय रखता है और इस प्रकार प्रत्येक वाक्यार्थ में समान धर्म के अभिसवन्ध के कारण 'प्रतिवस्तूपमा' की रूपरेखा निष्पन्न होती है। रसगङ्गाधरकार ने इसीलिये 'प्रतिवस्तूपमा' का यह लक्षण किया है—

'वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्नसाधारणधर्मकवाक्यार्थयोरार्थमौपम्यं प्रतिवस्तूपमा।'

अनुवाद—'दृष्टान्त' वह अलङ्कार है जिसे समान धर्म से युक्त उपमान और उपमेय रूप वाक्यार्थों (अथवा प्रकृत और अप्रकृतरूप धर्मिद्वय में) बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव की झलक कहा करते हैं।

यहा कारिका में 'सधर्मस्य' पद का उपादान इसलिये है जिसमें 'प्रतिवस्तूपमा' से 'दृष्टान्त' को पृथक् किया जा सके ('प्रतिवस्तूपमा' में साधारण धर्म में बिम्बप्रतिबिम्बभाव अपेक्षित नहीं अपितु धर्मिद्वय में बिम्बप्रतिबिम्बभाव अपेक्षित हुआ करता है और 'दृष्टान्त' में, धर्मसहित धर्मिद्वय में प्रतिबिम्बन अथवा बिम्बप्रतिबिम्बभाव की झलक आवश्यक है)।

'दृष्टान्त' भी, साधर्म्य और वैधर्म्य के कारण, दो प्रकार का हुआ करता है। जैसे कि 'साधर्म्य' में दृष्टान्त—

'किसी अच्छे कवि की सूक्ति, चाहे उसके गुण की परख हुई हो या न हुई हो, सुनने वा और यह ठीक भी है क्योंकि मालती की

'त्वयि दृष्टे कुरङ्गाक्ष्याः स्रंसते मदनव्यथा।
दृष्टानुदयभाजीन्दौ ग्लानिः कुमुदसंहतेः॥'

'वसन्तलेखैकनिबद्धभावं परासु कान्तासु मनः कुतो नः।
प्रफुल्लमल्लीमधुलम्पटः किं मधुव्रतः काङ्क्षति वल्लिमन्याम्॥'

इदं पद्यं मम। अत्र 'मनः कुतो नः' इत्यस्य 'काङ्क्षति वल्लिमन्याम्' इत्यस्य चैकरूपतयैव पर्यवसानात्प्रतिवस्तूपमैव।

इह तु कर्णे मधुधारावमनस्य नेत्रहरणस्य च साम्यमेव, न त्वैकरूप्यम्। अत्र समर्थ्यसमर्थकवाक्ययोः सामान्यविशेषभावोऽर्थान्तरन्यासः, प्रतिवस्तूपमा-दृष्टान्तयोस्तु न तथेति भेदः।

माला चाहे उसकी गन्ध पहचान में आवे या न आवे देखने वालों की दृष्टि को अपनी ओर बरबस खींच ही लिया करती है।'

इसी प्रकार वैधर्म्य में दृष्टान्त—

'जब तुम दिखायी पड़ जाते हो तब तो उस मृगनयनी की मदनपीड़ा दूर भाग जाती है क्योंकि कुमुदावली तभी तक दीन-हीन दिखायी पड़ा करती है जब तक चन्द्रमा उदित न हुआ हो।

अथवा निम्न स्वरचित-सूक्ति में 'दृष्टान्त (!)

'वसन्तलेखा में लगा हुआ हमारा मन अन्य सुन्दरियों में क्योंकर रमना चाहे? भला खिली चमेली के मधुरस का लम्पट भौंरा क्या किसी अन्य लता को चाहा करता है।'

यहाँ 'मनः कुतो नः (हमारा मन क्योंकर रमे) और 'काङ्क्षति वल्लिमन्याम्' (दूसरी लता को चाहे) ये दोनों वाक्य ऐसे हैं जो कि अन्ततोगत्वा एक ही अभिप्राय रखते हैं और 'प्रतिवस्तूपमा' की रूपरेखा बना रहे हैं। इसलिये यहाँ 'दृष्टान्त नहीं अपितु 'प्रतिवस्तूपमा' ही मानी जा सकती है। किन्तु 'अविदितगुणापि' आदि सूक्ति में 'कानों में मधुधार की वर्षा' और 'नेत्रों के आकृष्ट करने के धर्मों में, एकरूपता के बदले, समान-रूपता ही प्रतीत होती है जिससे यहाँ 'दृष्टान्त' के ही स्वरूप का दर्शन हो सकता है।

यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि 'प्रतिवस्तूपमा' और 'दृष्टान्त' में जो प्रकृत और अप्रकृत-विषयक समर्थ्य' और समर्थक' वाक्यार्थ हुआ करते हैं उनमें सामान्य विशेषभाव नहीं (अपितु बिम्बप्रतिबिम्बभाव) हुआ करता है। सामान्यविशेषभाव तो 'अर्थान्तरन्यास' में रहा करता है जहाँ 'समर्थ्य' और 'समर्थक' रूप से अवस्थित दो वाक्यार्थों में सामान्य और विशेष का सम्बन्ध के माने बिना काम नहीं चलता।

विमर्श—(क) 'दृष्टान्त' और 'प्रतिवस्तूपमा' के पारस्परिक भेद के सम्बन्ध में रसगङ्गाधरकार की यह उक्ति ध्यान देने योग्य है—

'अस्य चालङ्कारस्य (दृष्टान्तस्य) प्रतिवस्तूपमया भेदकमेतदेव यत्तस्यां धर्मो न प्रतिबिम्बितः, किन्तु शुद्धसामान्यात्मनैव स्थितः। इह तु प्रतिबिम्बितः।

(रसगङ्गाधर : दृष्टान्तप्रकरण)

अर्थात् 'दृष्टान्त और 'प्रतिवस्तूपमा' परस्पर भिन्न-भिन्न अलङ्कार हैं 'दृष्टान्त' में तो दोनों वाक्यों के धर्मों का बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव आवश्यक है किन्तु 'प्रतिवस्तूपमा' के लिये दोनों वाक्यों में भिन्न शब्दों द्वारा प्रतिपादित एक साधारण धर्म की ही अपेक्षा है।

(१८—निदर्शनालङ्कार)

सम्भवन् वस्तुसम्बन्धोऽसम्भवन् वाऽपि कुत्रचित् ।
यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत्सा निदर्शना ॥ ५१ ॥

तत्र सम्भवद्वस्तुसम्बन्धनिदर्शना यथा—

'कोऽत्र भूमिवलये जनान् मुधा तापयन् सुचिरमेति सम्पदम् ।
वेदयन्निति दिनेन भानुमानाससाद चरमाचलं ततः ॥'

अत्र रवेरीदृशार्थवेदनक्रियायां वक्तृत्वेनान्वयः सम्भवत्येव । ईदृशार्थज्ञापनसमर्थचरमाचलप्राप्तिरूपधर्मवत्त्वात् । स च रवेरस्ताचलगमनस्य परितापिनां

आचार्य जयरथ के अनुसार 'दृष्टान्त' और 'प्रतिवस्तूपमा' के भेद का अभिप्राय यह भी है—

'यतोऽस्यां प्रकृतार्थस्य विशेषाभिधित्सया सादृश्यार्थमप्रकृतमर्थान्तरमुपादीयते । अत एव चात्र प्रकृताप्रकृतयोरुपमानोपमेयभावः । दृष्टान्ते पुनरेतादृशो वृत्तान्तोऽन्यत्रापि स्थित इति प्रकृतस्यार्थस्याविस्पष्टा प्रतीतिर्मा भूदिति प्रतीतिविशदीकरणार्थमर्थान्तरमुपादीयते । (अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ २५)

अर्थात् 'प्रतिवस्तूपमा' में अप्रकृत का उपादान, प्रकृत के सम्बन्ध में किसी विशेषता के वर्णन की इच्छा से किया जाया करता है किन्तु 'दृष्टान्त' में अप्रकृत का उपादान इसलिये हुआ करता है जिसमें प्रकृत की विशद प्रतीति हुआ करे ।

(ख) पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार 'दृष्टान्त' और 'प्रतिवस्तूपमा' को भिन्न भिन्न अलङ्कार मानना अनावश्यक है—

'यदि तु न तेषां दाक्षिण्य तदैकस्यैवालङ्कारस्य द्वौ भेदौ—प्रतिवस्तूपमा दृष्टान्तश्च । यच्चानयो किञ्चिद्वैलक्षण्य तत्प्रभेदताया एव साधकम् , नालङ्कारताया इति सुवचम् ।'

(रसगङ्गाधर दृष्टान्तप्रकरण)

अर्थात् यदि प्राचीन आलकारिकों के अलकार-विभाजन में कोई विशेष चातुर्य नहीं माना जाय तव तो एक अलकार के ही विभागरूप में 'प्रतिवस्तूपमा' और 'दृष्टान्त' देखे जा सकते हैं न कि भिन्न भिन्न अलकारों के रूप में ।

अनुवाद—'निदर्शना' वह अलङ्कार है जिसे सम्भव अथवा असम्भव (उपपन्न अथवा अनुपपन्न) 'वस्तुसम्बन्ध' अर्थात् दो वाक्यार्थों के परस्परान्वय में बिम्बप्रतिबिम्बभाव (सादृश्य) की झलक कहा करते हैं ।

उपपन्न अथवा अवाधित वाक्यार्थों के परस्परान्वय में, विम्बप्रतिविम्बभाव की झलक में जो 'निदर्शना' होती है उसे 'सम्भवद्वस्तुसम्बन्धनिदर्शना' कहा करते हैं । इसका उदाहरण यह है—

'इस ससार में ऐसा कौन है जो व्यर्थ के लिये लोगों को पीड़ा पहुँचावे और सम्पदाओं का उपभोग करता रहे । वस्तुत इसी वात को सूचित करते हुए दिन भर के वाद ही सूर्य अस्ताचल की ओर चला जाया करता है ।'

यहाँ 'वस्तुसम्बन्ध' की 'सम्भाव्यता' अथवा उपपत्ति स्पष्ट है । कारण यह है कि यहाँ इस प्रकार के आशय अर्थात् 'इस ससार में दूसरों को दुख देने वाले वहुत दिन तक सुखी नहीं रह सकते' आदि के सूचित करने (वेदन) में 'सूर्य' को जो वक्तारूप से वर्णित किया गया है उसमें कोई अनुपपत्ति नहीं दिखाई देती क्योंकि जब कि 'सूर्य' के लिये

विपत्पातेश्च बिम्बप्रतिबिम्बभावं बोधयति । असम्भवद्वस्तुनिदर्शना त्वेकवाक्यानेकवाक्यगतत्वेन द्विविधा ।

तत्रैकवाक्यगा यथा—

'कलयति कुवलयमालाललितं कुटिलः कटाक्षविक्षेपः ।
अधरः किसलयलीलामाननमस्याः कलानिधेर्विलासम् ॥'

अत्रान्यस्य धर्मं कथमन्यो वहत्विति कटाक्षविक्षेपादीनां कुवलयमालादिगतललितादीनां कलनमसम्भवात्तल्ललितादिसदृशं ललितादिकमवगमयत्कटाक्षविक्षेपादेः कुवलयमालादेश्च बिम्बप्रतिबिम्बभावं बोधयति ।

यथा वा—

'प्रयाणे तव राजेन्द्र ! मुक्ता वैरिमृगीदृशाम् ।
राजहंसगतिः पद्भ्यामाननेन शशिद्युतिः ॥'

'अस्ताचल की ओर चल पड़ने' के सामर्थ्य का निर्देश किया हुआ है तब तो इस प्रकार के अभिप्राय के बोधन में भी उस (सूर्य) का सामर्थ्य युक्तियुक्त ही है। यहाँ इस प्रकार सूर्य का अस्तगमन-क्रिया से यह सम्बन्ध अन्ततोगत्वा, 'सूर्य के अस्ताचल की ओर चले जाने' और अत्याचारी लोगों के विपत्ति में पड़ने'—इन दोनों वाक्यार्थों में बिम्बप्रतिबिम्बभाव (सादृश्य) की स्थापना करता प्रतीत हो रहा है।

इसके अतिरिक्त ऐसी 'निदर्शना' जो कि ऐसे वाक्यार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध में होनेवाले 'बिम्बप्रतिबिम्बभाव' में रहा करती है जो अनुपपन्न अथवा बाधित प्रतीत हुआ करते हैं, वह है जिसे 'असंभवद्वस्तुसम्बन्धनिदर्शना' कहा करते हैं। 'असंभवद्वस्तुसंबन्धनिदर्शना' भी दो प्रकार की है—पहली एकवाक्यगा (एक वाक्य में ही होनेवाली) और दूसरी अनेकवाक्यगा (एक से अधिक वाक्यों में होने वाली)। इसके 'एकवाक्यगा' रूप का निदर्शन यह सूक्ति है—

'इस सुन्दरी के कुटिल कटाक्ष नीलकमलों की माला के विलास अपनाये हुये हैं, इसका अधरोष्ठ ऐसा है जो कोमल पल्लव की लीला धारण किया करता है और इसका मुख तो चन्द्रमा के विभ्रमविलास से पूर्ण है ही।

यहाँ 'वस्तुसम्बन्ध' की अनुपपत्ति इसीसे स्पष्ट है कि यहाँ यह प्रतिपादित किया हुआ है कि 'एक का धर्म दूसरे में संक्रान्त हो रहा है'। जब कि 'एक का धर्म दूसरे में नहीं संक्रान्त हो सकता' तब यह निश्चित है कि 'कटाक्षविक्षेप' आदि कुवलयमाला आदि के धर्मरूप से अवस्थित 'विलास आदि' का धारण नहीं कर सकते। इसलिये यहाँ जो तात्पर्य प्रकाशित हो रहा है वह यह है कि 'कटाक्षविक्षेप आदि कुवलयमाला आदि के विलास आदि के समान विलास का धारण कर रहे हैं' और यह तात्पर्य वस्तुतः 'कटाक्षविक्षेप आदि' और 'कुवलयमाला आदि' में 'बिम्बप्रतिबिम्बभाव' अथवा सादृश्य की ही झलक, अन्ततोगत्वा, दिखला रहा है (यहाँ एक वाक्य में ही दो धर्मियों का सादृश्य-निदर्शन है जिससे यहाँ 'एकवाक्यगा' असंभवद्वस्तुसम्बन्धनिदर्शना का स्वरूप दिखायी दे रहा है)।

अथवा, इस सूक्ति में 'एकवाक्यगा' असंभवद्वस्तुसम्बन्धनिदर्शना देखिये—

'महाराज ! जब आप शत्रुओं पर विजययात्रा के लिये चल पड़े तब शत्रुओं की मृगनयनी सुन्दरियों के चरणों ने राजहंसों की चाल छोड़ दी और उनके मुखों ने चन्द्रमा की कान्ति से हाथ धो लिया।

अत्र पादाभ्यामसम्बद्धराजहंसगतेस्त्यागोऽनुपपन्न इति तयोस्तत्सम्बन्धः कल्प्यते, स चासम्भवन् राजहंसगतिमिव गतिं बोधयति ।

अनेकवाक्यगा यथा—

'इदं किलाव्याजमनोहरं वपुस्तपःक्लमं साधयितुं य इच्छति ।
ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया शमीलतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति ॥'

अत्र यच्छब्दनिर्दिष्टवाक्यार्थयोरभेदेनान्वयोऽनुपपद्यमानस्तादृशवपुस्तपःक्लमत्वसाधनेच्छा नीलोत्पलपत्त्रधारया शमीलताच्छेदनेच्छेवेति बिम्बप्रतिबिम्बभावे पर्यवस्यति ।

यथा—

'जन्मेदं वन्ध्यतां नीतं भवभोगोपलिप्सया ।
काचमूल्येन विक्रीतो हन्त ! चिन्तामणिर्मया ॥'

अत्र भवभोगलोभेन जन्मनो व्यर्थतानयनं काचमूल्येन चिन्तामणिविक्रय इवेति पर्यवसानम् ।

यहाँ वर्ण्य शत्रुनारिओं के चरणों के लिये राजहंसों की चाल के छोड़ने की बात अनुपपन्न सी लगती है। यहाँ 'नारीचरण' और 'राजहंसगति के त्याग' में (धर्मधर्मिभावरूप) संबन्ध की कल्पना आवश्यक हो जाती है। यह सम्बन्ध तभी उपपन्न होता है जब शत्रुनारिओं की चाल और राजहंसों की चाल में 'सादृश्य' प्रकाशित होने लगता है जिससे यह प्रतीत होता है कि यहा शत्रुनारिओं के चरण राजहंसों की चाल के समान चाल का परित्याग करते वर्णित किये जा रहे हैं।

इसी प्रकार 'अनेकवाक्यगा' असंभवद्वस्तुसंबन्धनिदर्शना का उदाहरण (महाकवि कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल की) यह सूक्ति है—

'अरे! इस निसर्गसुन्दर (शकुन्तला के) शरीर को, जिस ऋषि ने तपस्या के कष्टों के सहन करने में समर्थ बनाना ठान लिया है उसने सचमुच, नीलकमल के किसलय की कोर से शमीवृक्ष के काटने का निश्चय कर लिया है।'

यहाँ यह स्पष्ट है कि 'तपस्या के कष्टों के सहन करने में समर्थ बनाने' और 'शमीवृक्ष के काटने'—इन दोनों वाक्यार्थों में, जोकि 'य' और 'स' पदों से सम्बद्ध रूप से रचे गये हैं, परस्पर अभेदरूप से अन्वय अनुपपन्न है किन्तु अन्ततोगत्वा इनमें इस प्रकार के 'बिम्बप्रतिबिम्बभाव' (सादृश्य) का दर्शन हो जाता है कि 'कोमलाङ्गी शकुन्तला के शरीर को तपःसाधन में समर्थ बनाने की इच्छा' ऐसी है जो कि 'नीलोत्पलपत्र की धार से शमीवृक्ष के काटने की इच्छा' के समान है। इस प्रकार इन दोनों वाक्यार्थों का अन्वय संगत बन जाता है।

अथवा दूसरे निदर्शन के लिये यह सूक्ति देखिये—

'संसार के सुखों की भोगलिप्सा से मेरा सारा जीवन व्यर्थ बीत गया। ओह! मैंने तो चिन्तामणि को काच के मोल बेच डाला।'

यहाँ भी इन दोनों वाक्यार्थों का अनुपपन्न संबन्ध अन्त में इनके इस 'बिम्बप्रतिबिम्ब' भाव में विश्रान्त हो रहा है कि 'भवभोग की लिप्सा से जीवन का व्यर्थयापन, वस्तुतः, काच के मूल्य में चिन्तामणि के विक्रय के समान है'।

एवम्—

'क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः ।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥'

अत्र मन्मत्या सूर्यवंशवर्णनमुडुपेन सागरतरणमिवेति पर्यवसानम् ।
इयं च क्वचिदुपमेयवृत्तस्योपमानेऽसम्भवेऽपि भवति ।

यथा—

'योऽनुभूतः कुरङ्गाक्ष्यास्तस्या मधुरिमाधरे ।
समास्वादि स मृद्वीकारसे रसविशारदैः ॥'

अत्र प्रकृतस्याधरस्य मधुरिमधर्मस्य द्राक्षारसेऽसम्भवात्पूर्ववत्साम्ये पर्यवसानम् ।

मालारूपाऽपि यथा मम—

'क्षिपसि शुकं वृषदंशकवदने मृगमर्पयसि मृगादनरदने ।
वितरसि तुरगं महिषविषाणे निदधच्चेतो भोगविताने ॥'

इह बिम्बप्रतिबिम्बभावाक्षेपं विना वाक्यार्थापर्यवसानम् । दृष्टान्ते तु पर्यव-

---

इसी भाँति (महाकवि कालिदास के रघुवंश की) यह सूक्ति भी इस निदर्शना प्रकार का ही उदाहरण है—

'कहाँ तो सूर्यवंशका वर्णन ! और कहाँ मेरी अल्पज्ञ बुद्धि ! ऐसा लगता है जैसे मैं अज्ञानवश उडुप (तमेड या डोंगी) के सहारे अपार पारावार को पार करने चल पड़ा होऊँ।'

यहाँ भी दोनों वाक्यार्थों अर्थात् अल्प बुद्धि से सूर्यवंश के वर्णन और 'उडुप से सागर के संतरण' में संबन्ध अनुपपन्न है किन्तु अन्त में इनकी इस 'सादृश्य' में विश्रान्ति हो जाती है कि 'मेरी अल्प बुद्धि से सूर्यवंश का वर्णन हो सकना ऐसा ही है जैसा कि उडुप से सागर के पार पहुँच सकना'।

यह निदर्शना वहाँ भी दिखायी देती है जहाँ 'उपमेय'-संबन्धी व्यवहार 'उपमान' में असंभव सा प्रतीत होता है। जैसे कि यहाँ—

'उस मृगनयनी के अधर में मुझे जिस मधुरता का आस्वाद मिला उसे रसज्ञजन मृद्वीका रस (अंगूर) में ही पा सके।

यहाँ यह स्पष्ट है कि वर्ण्य नायिका-अधर की मधुरता द्राक्षारस में असंभव है किन्तु अन्त में यह भी स्पष्ट है कि वर्ण्य नायिका-अधर की मधुरता द्राक्षारस की मधुरता के समान प्रतिपादित की जा रही है।

यह 'निदर्शना' मालारूप में भी पायी जाया करती है। जैसे कि मेरी इस स्वरचित सूक्ति में जो 'निदर्शना' है वह 'माला निदर्शना' है—

'अरे तुम जो अपने मन को सांसारिक भोग-विलास में रमा रहे हो मानो एकतो तोते को बिलाव के मुँह में फेंक रहे हो हिरन को बघेरे के जबड़ों में डाल रहे हो और घोड़े को भैंसे की सींगों पर रख रहे हो।

यहाँ यह स्पष्ट है कि 'विषयभोग में मन के रमाने' और 'तोते को बिलाव के मुँह में फेंकने आदि' में जब तक, 'बिम्बप्रतिबिम्बभाव' (सादृश्य) की स्थापना न हो जाय तब तक वाक्यार्थ में विश्रान्ति नहीं आ सकती। यहाँ वाक्यार्थ 'बिम्बप्रतिबिम्बभाव' में

सितेन वाक्यार्थेन सामर्थ्याद्बिम्बप्रतिबिम्बताप्रत्यायनम् । नापीयमर्थापत्तिः, तत्र 'हारोऽयं हरिणाक्षीणाम्—' इत्यादौ सादृश्यपर्यवसानाभावात् ।

(१९—व्यतिरेक · सप्रभेद निरूपण)

आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताऽथवा ।
व्यतिरेकः—

ही समाप्त होकर संगत हो जाते हैं जिससे यह प्रतीत हो जाता है कि यहाँ 'विषय-भोग में चित्त का अर्पण' वस्तुत 'विलाव के मुँह में तोते के फेंकने' आदि के समान प्रतिपादित किया जा रहा है ।

यहाँ 'निदर्शना' और 'दृष्टान्त' का यह भेद समझ लेना आवश्यक है—'निदर्शना' में तो विम्बप्रतिविम्बभाव के आक्षेप के विना वाक्यार्थ ही विश्रान्त नहीं हुआ करता किन्तु 'दृष्टान्त' में वाक्यार्थ की विश्रान्ति के वाद, सामर्थ्यवश, विम्बप्रतिविम्बभाव का आक्षेप अथवा प्रत्यायन हुआ करता है ।

'निदर्शना' और 'अर्थापत्ति' अलङ्कार में भी परस्पर भेद है—'निदर्शना' के लिये विम्ब-प्रतिविम्बभाव अनिवार्य है किन्तु 'अर्थापत्ति' के लिये, जैसा कि 'हारोऽय हरिणाक्षीणाम्' आदि अर्थापत्ति-प्रसङ्गों में स्पष्ट है, विम्बप्रतिविम्बभाव अथवा सादृश्य में वाक्यार्थ की विश्रान्ति अपेक्षित नहीं ।

विमर्श—अलङ्कारसर्वस्वकार ने 'दृष्टान्त' और 'निदर्शना' का भेदक यह माना है—

निरपेक्षयोर्वाक्यार्थयोर्हि विम्बप्रतिविम्बभावो दृष्टान्तः । यत्र च प्रकृते वाक्यार्थे वाक्यार्थान्तरमारोप्यते सामानाधिकरण्येन तत्र सम्बन्धानुपपत्तिमूला निदर्शनैव युक्ता, न दृष्टान्त । एव च—

'शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य ।
दूरीकृता. खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभि· ॥'

इत्यत्र दृष्टान्तबुद्धिर्न कार्या । उक्तन्यायेन निदर्शनाप्राप्तेः' । (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ ९९)

अर्थात् 'दृष्टान्त' तो स्वतन्त्र रूप से अवस्थित दो वाक्यार्थों का विम्बप्रतिविम्बभाव है किन्तु 'निदर्शना' तब होती है जब कि प्रकृत वाक्यार्थ पर अप्रकृत वाक्यार्थ के सामानाधिकरण्यपूर्वक आरोप में, दोनों में, सम्बन्ध की अनुपपत्ति के निवारण के लिये, 'सादृश्य' कल्पना की जाया करती है ।

अनुवाद—'व्यतिरेक' वह अलङ्कार है जिसे उपमान की अपेक्षा उपमेय के आधिक्य-वर्णन अथवा न्यूनत्व-वर्णन में देखा जाया करता है ।

यह 'व्यतिरेक' ४८ प्रकार का हुआ करता है—(१ ला) 'व्यतिरेक' वह है जिसमें उपमान की अपेक्षा उपमेय के उत्कर्ष का 'हेतु' प्रतिपादित रहा करता है । इसके अतिरिक्त जहाँ उपमान की अपेक्षा उपमेय के उत्कर्ष का 'हेतु' प्रतिपादित नहीं हुआ करता वहाँ इस (व्यतिरेक) के ये तीन प्रकार हुआ करते हैं—(१ ला) जिसमें केवल उपमेय का आधिक्य-साधक हेतु उपनिबद्ध हो, (२ रा) जिसमें केवल उपमान का न्यूनत्व-साधक हेतु उपनिबद्ध हो और (३ रा) जिसमें उपमेय के उत्कर्ष अथवा उपमान के अपकर्ष के साधक किसी भी हेतु का कोई भी उपनिबन्ध न हो । इस प्रकार उपमेय के उत्कर्ष हेतु की उक्ति में एक और अनुक्ति में तीन भेदों को मिलाकर व्यतिरिक्त के ४ भेद सिद्ध हुये । इन चारों में से प्रत्येक साम्य अथवा उपमानोपमेयभाव के शब्दत कथन, अर्थत. अव-

स च—

—एक उक्तेऽनुक्ते हेतौ पुनस्त्रिधा ॥ ५२ ॥

चतुर्विधोऽपि साम्यस्य बोधनाच्छब्दतोऽर्थतः ।
आक्षेपाच्च द्वादशधा श्लेषेऽपीति त्रिरष्टधा ॥ ५३ ॥
प्रत्येकं स्यान्मिलित्वाऽष्टचत्वारिंशद्विध पुनः ।

उपमेयस्योपमानादाधिक्ये हेतुरुपमेयगतमुत्कर्षकारणमुपमानगतं निकर्षकारणं च । तयोर्द्वयोरप्युक्तावेकः, प्रत्येकं समुदायेन वाऽनुक्तौ त्रिविध इति चतुर्विधेऽप्यस्मिन्नुपमानोपमेयत्वस्य निवेदनं शब्देन अर्थेन आक्षेपेण चेति द्वादशप्रकारोऽपि श्लेषे, 'अपि' शब्दादश्लेषेऽपीति चतुर्विंशतिप्रकारः । उपमानान्न्यूनतायामप्यनयैव भङ्ग्या चतुर्विंशतिप्रकारतेति मिलित्वा अष्टचत्वारिंशत्प्रकारो व्यतिरेकः ।

उदाहरणम्—

'अकलङ्कं मुखं तस्या न कलङ्की विधुर्यथा ।'

बोधन और आक्षेपतः प्रत्यायन के कारण तीन तीन प्रकार का हुआ करते हैं जिससे 'व्यतिरेक' के १२ प्रकार निष्पन्न होते हैं। व्यतिरेक के ये बारहों भेद 'श्लेष' और 'अश्लेष' दोनों में सम्भव हैं जिससे इसके २४ प्रकार हो गये। इसी प्रकार उपमान की अपेक्षा उपमेय के न्यूनत्व-वर्णन में जो 'व्यतिरेक' हुआ करता है उसके भी ये ही २४ प्रकार हुआ करते हैं। इस प्रकार सब मिलाकर 'व्यतिरेक' के ४८ प्रकार सिद्ध हुए।

यहाँ 'व्यतिरेक' का अर्थात् उपमान से उपमेय के उत्कर्ष का जो हेतु है उसका अभिप्राय उपमेयगत उत्कृष्टता और उपमानगत निकृष्टता से सम्बद्ध किसी कारणविशेष का अभिप्राय है। इन दोनों प्रकार के हेतुओं की 'उक्ति' में तो प्रथम प्रकार का 'व्यतिरेक' हुआ करता है और इनकी 'अनुक्ति' में द्वितीय प्रकार का 'व्यतिरेक' जो कि तीन प्रकार का है—(१ क) केवल उपमेयगत उत्कर्षहेतु की अनुक्ति में (२ ग) केवल उपमानगत अपकर्षहेतु की अनुक्ति में और (३ ग) दोनों प्रकार के हेतुओं की अनुक्ति में। इस चतुर्विध 'व्यतिरेक' में उपमानोपमेयभाव तीन प्रकार से प्रतिपादित हो सकता है—(१ क) शब्दतः, (२ ग) अर्थतः और (३ ग) आक्षेपतः (अर्थात् इवादि पदों के अभाव में भी उपमानोपमेयभाव की कल्पना द्वारा)। इसलिये इस चतुर्विध 'व्यतिरेक' के बारह प्रकार निष्पन्न होते हैं। ये बारहों प्रकार श्लिष्टपदनिबन्धन भी हो सकते हैं और जैसा कि 'अपि' का अभिप्राय है अश्लिष्टपदनिबन्धन भी। इस प्रकार उपमान की अपेक्षा उपमेय के उत्कर्षरूप व्यतिरेक के ये २४ प्रकार हैं। इसी ढंग से, उपमान की अपेक्षा उपमेय के अपकर्षरूप 'व्यतिरेक' के भी २४ ही प्रकार सिद्ध होते हैं और इन दोनों को मिलाकर यह स्पष्ट है कि 'व्यतिरेक' के समस्त प्रकार ४८ हैं।

उदाहरण के लिये यह सूक्ति—

'उस सुन्दरी का जो निष्कलङ्क मुख है वह कलङ्की चन्द्रमा जैसा नहीं।'

अत्रोपमेयगतमकलङ्कत्वमुपमानगतं च कलङ्कित्व हेतुद्वयमप्युक्तम्, यथा शब्दप्रतिपादनाच्च शाब्दमौपम्यम्।

अत्रैव 'न कलङ्किविधूपमम्' इति पाठे आर्थम्। 'जयतीन्दु कलङ्किनम्' इति पाठे त्विववत्तुल्यादिपदविरहादाक्षिप्तम्। अत्रैवाकलङ्कपदत्यागे उपमेयतोत्कर्षकारणानुक्तिः। कलङ्किपदत्यागे चोपमानगतनिकर्षकारणानुक्तिः। द्वयोरनुक्तौ द्वयोरनुक्तिः।

श्लेषे यथा—

'अतिगाढगुणायाश्च नाब्जवद्भङ्गुरा गुणाः।'

अत्रेवार्थे वतिरिति शाब्दमौपम्यम्। उत्कर्षनिकर्षकारणयोर्द्वयोरप्युक्तिः। गुणशब्दः श्लिष्टः। अन्ये भेदाः पूर्ववदूह्याः। एतानि चोपमेयस्योपमानादाधिक्य उदाहरणानि। न्यूनत्वे दिङ्मात्र यथा—

यहाँ उपमेयगत उत्कर्ष के हेतुरूप में 'निष्कलङ्कता' और उपमानगत अपकर्ष के हेतुरूप में 'कलङ्कित्व' दोनों उपात्त हैं। साथ ही साथ 'यथा' शब्द के प्रयोग में, चन्द्र और मुख का 'शाब्द' उपमानोपमेयभाव भी स्पष्ट है। यहीं यदि 'न कलङ्की विधुर्यथा' के बदले 'न कलङ्किविधूपमम्' कर दिया जाय तो 'आर्थ' उपमानोपमेयभाव स्पष्ट हो जाता है और यदि 'जयतीन्दु कलङ्किनम्' (कलङ्की चन्द्रमा को पराजित कर रहा है) कर दिया जाय तो 'आक्षिप्त' उपमानोपमेयभाव की प्रतीति हो जाती है क्योंकि इव, तुल्य आदि पदों के अभाव में भी जो 'उपमानोपमेयभाव' हो वह 'आक्षिप्त' ही कहा जा सकता है।

इसी उदाहरण में यदि 'अकलङ्क' पद हटा दिया जाय, तो उपमेयगत उत्कर्षहेतु की अनुक्ति में 'व्यतिरेक' का स्वरूप दिखायी देने लगता है और यदि 'कलङ्की' पद हटा दिया जाय, तो उपमानगत अपकर्ष हेतु की अनुक्ति में जो 'व्यतिरेक' की रूपरेखा है वह स्पष्ट हो जाती है। और यदि 'अकलङ्क' और 'कलङ्की' दोनों पद हटा दिये जाँय तब उपमेयगत उत्कर्षहेतु और उपमानगत अपकर्षहेतु—दोनों की 'अनुक्ति' में 'व्यतिरेक' का स्वरूप दिखायी देने लगता है। यहाँ जो व्यतिरेक है वह 'अश्लिष्टशब्दनिबन्धन' है।

श्लिष्टशब्दनिबन्धन 'व्यतिरेक' का उदाहरण यह है—

'अत्यन्त गाढ़ (चिरस्थायी) गुण (सौन्दर्य आदि गुण तथा तन्तुसन्तान) वाली इस सुन्दरी के जो गुण हैं वे कमल की भाति भङ्गुर नहीं।'

यहा जो औपम्य अर्थात् उपमानोपमेयभाव है वह 'शाब्द' है क्योंकि 'अब्जवत्' में जो 'वति' प्रत्यय है वह ('तत्र तस्येव' से विहित होने के कारण) 'इव' के अर्थ में विहित है। यहां उपमेयगत उत्कर्षकारण के रूप में 'अतिगाढगुणत्व' और उपमानगत अपकर्षकारण के रूप में 'भङ्गुरगुणत्व'—दोनों की उक्ति है। साथ ही साथ यहां 'गुण' शब्द श्लिष्ट है।

'व्यतिरेक' के और जो प्रकार हैं उन्हें उपर्युक्त रीति से स्वयं काव्य-साहित्य में देखा जा सकता है। यहा यह ध्यान रखना चाहिये कि उदाहृत-सूक्तियों में जो 'व्यतिरेक' है वह उपमान की अपेक्षा उपमेय का आधिक्य अथवा उत्कर्ष-वर्णन रूप 'व्यतिरेक' है।

उपमान की अपेक्षा उपमेय का अपकर्ष-वर्णनरूप जो 'व्यतिरेक'-प्रकार है उसके दिग्दर्शन के लिये यह सूक्ति पर्याप्त है—

'क्षीणः क्षीणोऽपि शशी भूयो भूयोऽभिवर्धते सत्यम्।
विरम प्रसीद सुन्दरि! यौवनमनिवर्ति यातं तु ॥'

अत्रोपमेयभूतयौवनास्थैर्यस्याधिक्यम्। तेनात्र 'उपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये वा व्यतिरेकः' इति केषांचिल्लक्षणे विपर्यये 'वेतिपदमनर्थकम्' इति यत्केचिदाहुः। तन्न विचारसहम्। तथाहि—अत्राधिक्यन्यूनत्वे सत्त्वासत्त्वे एव विवक्षिते। अत्र च चन्द्रापेक्षया यौवनस्यासत्त्वं स्फुटमेव। अस्तु वात्रोदाहरणे यथाकथंचिद्गतिः।

'हनूमदाद्यैर्यशसा मया पुनर्द्विषां हसैर्दूतपथः सितीकृतः।'

इत्यादिषु का गतिरिति सुष्ठूक्तं 'न्यूनताऽथवा' इति।

'अरी सुन्दरी! यह तो सच है कि चन्द्रमा बार-बार क्षीण होता है और बार-बार बढ़ भी जाता है। किन्तु यौवन यदि एक बार चला गया तो फिर लौटने का नहीं। ठहर जा, मान छोड़, प्रसन्न हो जा।

[यहाँ स्पष्ट है कि उपमानभूत 'चन्द्रमा' की अपेक्षा उपमेयभूत 'यौवन' के अपकर्ष का वर्णन है क्योंकि जहाँ 'चन्द्रमा' में 'क्षीणता में भी अभिवृद्धि' की विशेषता (अधिकता) का निर्देश है वहाँ 'यौवन' में 'अपुनरागमन' (चले जाने पर न लौट सकने की) न्यूनता का प्रतिपादन है।]

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि कतिपय काव्याचार्य (जैसे कि 'काव्यप्रकाश'कार आदि), इस सूक्ति में भी उपमेयगत आधिक्य-वर्णन रूप 'व्यतिरेक' मानकर—क्योंकि उपमानभूत 'चन्द्रमा' के 'स्थैर्य' की अपेक्षा उपमेयभूत 'यौवन' में 'अस्थैर्य' का वर्णन उपमेय के आधिक्य का ही वर्णन है—अलङ्कारसर्वस्वकार के इस 'व्यतिरेक' लक्षण अर्थात् 'व्यतिरेक वह है जिसमें उपमान से उपमेय का आधिक्य अथवा इसके विपर्यय (अर्थात् उपमान से उपमेय के न्यूनत्व) का वर्णन हुआ करता है' का खण्डन कर चुके हैं क्योंकि उनके अनुसार इस लक्षण में 'उपमान से उपमेय के आधिक्य' के 'विपर्यय' का उल्लेख निरर्थक सिद्ध होता है। किन्तु इन काव्याचार्यों की यह मान्यता युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होती। कारण यह है कि 'क्षीणः क्षीणः' आदि सूक्ति में उपमानगत आधिक्य के रूप में 'स्थैर्य' का प्रतिपादन है और उपमेयगत न्यूनत्व के रूप में 'अस्थैर्य' का और यह सब के लिये स्पष्ट है कि चन्द्रमा की अपेक्षा यौवन अस्थिर हुआ करता है जिससे यहाँ उपमेयगत 'न्यूनत्व'-वर्णन रूप 'व्यतिरेक' निर्संदिग्ध सिद्ध हो जाता है।

अथवा, यदि यहाँ किसी प्रकार उपमेयभूत यौवन का आधिक्य-वर्णन रूप ही 'व्यतिरेक' मान लिया जाय तब भी निम्न सूक्ति जैसे कि—

'हनूमान् आदि ने तो दूतमार्ग (दूत-कर्म) को यश से उज्ज्वल बनाया किन्तु मैंने उसे शत्रुओं के हास-परिहास से उज्ज्वल किया।'

आदि के लिये उपमेयगत न्यूनत्व-वर्णन रूप व्यतिरेक का मानना अगत्या आवश्यक ही हो जाता है। इसलिये 'अलङ्कारसर्वस्व'कार का उपमेयगत न्यूनत्वरूप भी 'व्यतिरेक' मानना उचित ही है और सर्वथा चतुरस्र भी है।

विमर्श—उपमान की अपेक्षा उपमेय के न्यूनगुणत्व में 'व्यतिरेक' की मान्यता और उसके तात्पर्यविशेष के सम्बन्ध में 'विमर्शिनी' कार की यह उक्ति ध्यान देने योग्य है—

'शशियौवनयोर्हि समावेशेऽपि चन्द्रत्वे शशिनः पुनरागमनमपि संभवति न तु यौवनी-

(२०—सहोक्ति)

सहार्थस्य बलादेकं यत्र स्याद्वाचकं द्वयोः ॥ ५४ ॥
सा सहोक्तिर्मूलभूतातिशयोक्तिर्यदा भवेत् ।

अतिशयोक्तिरप्यत्राभेदाध्यवसायमूला कार्यकारणपौर्वापर्यविपर्ययरूपा च। अभेदाध्यवसायमूलापि श्लेषभित्तिकान्यथा च।

क्रमेणोदाहरणम्—

(श्लेषमूल-अभेदाध्यवसायमूल-अतिशयोक्तिमूलक सहोक्ति)

'सहाधरदलेनास्या यौवने रागभाक्प्रियः।'

अत्र रागपदे श्लेषः।

स्येति ततोऽस्य न्यूनगुणत्वम्। नन्वत्र विपर्यये वेति सूचित भेदान्तरमयुक्तम्—उपमानादुपमेयस्य न्यूनगुणत्वे वास्तवत्वावास्तवत्वे चालङ्कारत्वानुपपत्ते। यौवनस्य चात्रास्थिरत्वे प्रतिपाद्ये चन्द्रापेक्षयाऽधिकगुणत्वमेव विवक्षितम् यदेतच्चन्द्रवद्यात सन्न पुनरायातीति। असदेतत्—यतोऽत्र चन्द्रवद् गतं सद्यौवन यदि पुनरप्यागच्छेत्तत्प्रिय प्रति चिरमीर्ष्यानुबन्धो युज्येत। कालान्तरेऽपि ह्यस्य तदवलोकनादिना सफलीकार स्यात्। इदं पुनर्हतयौवन यात सत् पुनर्नागच्छतीति ईर्ष्याद्यन्तरायपरिहारेण निरन्तरतयैव प्रियेण सह सफलयितव्यमिति 'धिगीर्ष्याम्, त्यज प्रिय प्रति मन्यु, कुरु प्रसादम्' इत्यस्मिन् प्रियवयस्योपदेशे प्रिय प्रति कोपोपशमाय चन्द्रापेक्षया यौवनस्यापुनरागमनं न्यूनगुणत्वेनैव विवक्षितमिति वाक्यार्थविद एव प्रमाणम्। न चैतद् वास्तवमुपमेयस्य न्यूनगुणत्वम्। तस्यैव सातिशयत्वेन प्रतिपाद्यत्वात। प्रकृतार्थोपरञ्जकत्वे हि सर्वथा कवे. सरम्भ तच्चाधिकगुणमुखेन भवत्वितरथा वेति को विशेष.। तस्माद् युक्तमेव विपर्यये वेति सूत्रम्'।

(अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १०२)

इसका तात्पर्य यह है कि उपमेय का न्यूनगुणत्व भी प्रकृत अर्थ की एक शोभाधायकता ही है और इसलिए व्यतिरेक के एक प्रकार के रूप में इसे मानना युक्तियुक्त ही है।

अनुवाद—'सहोक्ति' वह अलङ्कार है जिसे 'सह' शब्द के अर्थ-सामर्थ्य से, एक शब्द द्वारा दो अर्थों की ऐसी वाचकता में देखा जाया करता है जिसके मूल में 'अतिशयोक्ति' का रहना आवश्यक है।

यहाँ कारिका में जिस 'अतिशयोक्ति'प्रकार को 'सहोक्ति' का मूलभूत बताया गया है वह अभेदाध्यवसायमूलक किंवा कार्यकारणभाव का पौर्वापर्य-विपर्यय-मूलक अतिशयोक्ति प्रकार है। यह अभेदाध्यवसायमूल अतिशयोक्तिप्रकार 'श्लेषमूलक' और 'अश्लेषमूलक' दोनों रूपों का हो सकता है। जैसे कि क्रमश —

'यौवन के आगमन में इस सुन्दरी के अधरोष्ठ के साथ ही साथ इसका प्रेमी भी रागयुक्त हो गया।'

यहाँ 'राग' पद श्लिष्ट है (और इस श्लिष्ट पद के एक अर्थ 'लाल रग' और दूसरे अर्थ 'अनुराग' में अभेद का भी अध्यवसाय है। साथ ही साथ 'सह' शब्द के अर्थ-सामर्थ्य से, 'राग' पद के द्वारा इसके दोनों अर्थ अभिहित भी हो रहे हैं।

अथवा जैसे कि इस स्वरचित सूक्ति में अध्यवसायमूल अतिशयोक्तिमूलक सहोक्ति—

'सह कुमुदकदम्बैः काममुल्लासयन्तः
सह घनतिमिरौघैर्धैर्यमुत्सारयन्तः ।
सह सरसिजषण्डैः स्वान्तमामीलयन्तः
प्रतिदिशममृतांशोरंशवः संचरन्ति ॥'

इदं मम । अत्रोल्लासादीनां संबन्धिभेदादेव भेदः, न तु श्लिष्टतया ।

'सममेव नराधिपेन सा गुरुसंमोहविलुप्तचेतना ।
अगमत् सह तैलबिन्दुना ननु दीपार्चिरिव क्षितेस्तलम् ॥'

इयं च मालयापि संभवति । यथोदाहृते 'सह कुमुदकदम्बैः—' इत्यादौ ।

'लक्ष्मणेन समं रामः काननं गहनं ययौ ।'

इत्यादौ चातिशयोक्तिमूलत्वाभावान्नायमलङ्कारः ।

'चन्द्रमा की किरणें कुमुदों के साथ काम को भी उल्लसित कर रही हैं सघन-तमस्समूह के साथ (विरहीजनों) के धैर्य का भी ध्वंस कर रही हैं, कमलों के साथ (प्रेमीजनों के) हृदय को भी निमीलित कर रही हैं और चारों ओर यही चरम दिखलाती हुई फैलती जा रही हैं।

यहाँ 'उल्लासयन्तः' आदि पद श्लिष्ट नहीं किन्तु अपने सम्बन्धी पदार्थों जैसे कि 'कुमुद' आदि और 'काम' आदि के भेद से भिन्न भिन्न अर्थ के प्रतिपादक बन रहे हैं जिससे कुमुद-कदम्ब के 'उल्लास' (खिलने) आदि और काम के 'उल्लास' (बढ़ने) आदि में अभेदाध्यवसाय स्पष्ट है जिसके आधार पर 'सह' शब्द के अर्थ-सामर्थ्य से 'उल्लासयन्तः' आदि से दोनों अर्थों का अभिधान हो रहा है।

इसी प्रकार 'कार्यकारणपौर्वापर्यविपर्ययरूप अतिशयोक्तिमूलक' सहोक्ति का यह उदाहरण देखिए—

'मूर्च्छा से चेतना-शून्य बनी वह सुन्दरी, महाराज के साथ-साथ ऐसे नीचे आ गिरी जैसे तैलबिन्दु के साथ-साथ दीपशिखा गिर पड़ी हो।

[यहाँ जो 'सहोक्ति' है वह कार्यकारणभाव के पौर्वापर्य के विपर्ययरूप 'अतिशयोक्ति' अलङ्कार के आधार पर है। यहाँ कार्यकारणभाव के पौर्वापर्य का विपर्यय इसलिए है क्योंकि वर्ण्य नायिका के 'भूपतन' और वर्ण्य भूपाल के 'भूपतन' में कारण और कार्य का सम्बन्ध है जो कि यहाँ विपरीत रूप से अर्थात् एक समय में ही सम्पन्न होते हुए प्रतिपादित किया हुआ है।]

यह 'सहोक्ति' मालारूप भी हुआ करती है जिसके उदाहरण रूप में 'सह कुमुदकदम्बैः' आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति देखी जा सकती है।

'सहोक्ति' के अलङ्कार होने के लिए (केवल 'सह' पद और इसके समानार्थक 'साकम्' आदि पदों की उक्ति अभिप्रेत नहीं अपितु) 'अतिशयोक्ति' की मूल-भित्ति अपेक्षित है। इसलिए 'राम लक्ष्मण के साथ-साथ बीहड़ वन में गये' आदि प्रसङ्गों में (जहाँ अतिशयोक्ति के चमत्कार का सर्वथा अभाव है) 'सह' शब्द की उक्ति में भी सहोक्ति अलङ्कार नहीं हुआ करता।

विमर्श—'सहोक्ति' के निरूपण में विश्वनाथ कविराज ने यह नहीं निर्दिष्ट किया कि 'सह' शब्द के योग से एक पद से निरूपित दो अर्थों में 'उपमानोपमेय'भावरूप संबन्ध रहा करता है या नहीं। वस्तुतः काव्यप्रकाशकार का यह 'सहोक्ति'-लक्षण—

(२१—विनोक्ति)

विनोक्तिर्यद्विनान्येन नासाध्वन्यदसाधु वा ॥ ५५ ॥

नासाधु अशोभन न भवति। एवं च यद्यपि शोभनत्व एव पर्यवसानं तथाप्यशोभनत्वाभावमुखेन शोभनवचनस्यायमभिप्रायो यत्कस्यचिद्वर्णनीयस्याशोभनत्वं तत्परसन्निधेरेव दोषः तस्य पुनः स्वभावतः शोभनत्वमेवेति।

यथा—

विना जलदकालेन चन्द्रो निस्तन्द्रतां गतः।
विना ग्रीष्मोष्मणा मञ्जुर्वनराजिरजायत ॥'

'सा सहोक्तिः सहार्थस्य वलादेकं द्विवाचकम्'

ही साहित्यदर्पण-सम्मत 'सहोक्ति' का आधार है। किन्तु अलङ्कारसर्वस्वकार ने 'सहोक्ति' में औपम्य की विवक्षा भी मानी है—

'उपमानोपमेययोरेकस्य प्राधान्यनिर्देशेऽपरस्य सहार्थसंवन्धे सहोक्तिः'—

'सहार्थप्रयुक्तश्च गुणप्रधानभाव । उपमानोपमेयत्व चात्र वैवक्षिकम्। द्वयोरपि प्राकरणिकत्वादप्राकरणिकत्वाद्वा सहार्थसामर्थ्याद्धि तयोस्तुल्यकक्षत्वम्। तत्र तृतीयान्तस्य नियमेन गुणत्वादुपमानत्वम्। अर्थाच्च परिशिष्टस्य प्रधानत्वादुपमेयत्वम्। शाब्दश्चात्र गुणप्रधानभाव । वस्तुतस्तु विपर्ययोऽपि स्यात्। तत्र नियमेनातिशयोक्तिमूलत्वमस्याः। सा च कार्यकारणप्रतिनियमविपर्ययरूपा अभेदाध्यवसायरूपा च। अभेदाध्यवसायश्च श्लेषभित्तिकोऽन्यथा वा।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १०३-१०४)

अर्थात् 'सहोक्ति' अलङ्कार की समावना तमी होती है जब कि उपमान और उपमेय में एक तो प्रधानतया निर्दिष्ट रहा करता है और दूसरा, 'सह' शब्द के योग से, उसके साथ सवद्ध हुआ करता है। उपमान और उपमेय का अभिप्राय अप्राकरणिक और प्राकरणिक का भी है और इसलिये, 'सह' शब्द के योग में, दोनों की समकक्षता की प्रतीति 'सहोक्ति' का वैचित्र्य है जिसके मूल में अतिशयोक्ति का रहना स्वाभाविक है और आवश्यक भी। 'सहोक्ति' में अप्रधान और प्रधान का औपम्य वैवक्षिक है वास्तविक नहीं।

महाकवि कालिदास की यह सहोक्ति सूक्ति बडी सुन्दर है—

'वपुषा करणोज्झितेन सा निपतन्ती पतिमप्यपातयत्।
ननु तैलनिषेकविन्दुना सह दीपार्चिरुपैति मेदिनीम् ॥' (रघुवंश ८. ३८)

अनुवाद—'विनोक्ति' वह अलङ्कार है जिसे (विना अथवा इसके समानार्थक अन्य पदों के अर्थ-सामर्थ्य से) एक वस्तु के अभाव में दूसरी वस्तु की साधुता (शोभनता) अथवा असाधुता (अशोभनता) के प्रतिपादन में देखा जाया करता है।

यहा कारिका में 'न असाधु' का अभिप्राय 'अशोभन न होने' का अभिप्राय है। और यद्यपि 'अशोभन न होने' का, अन्ततोगत्वा, अभिप्राय 'शोभन होना' ही है किन्तु 'शोभन होने' के लिये 'अशोभन न होना' जो कहा गया है उसका तात्पर्य 'किसी दूसरी वस्तु के सान्निध्य से किसी वस्तु की अशोभनता' किन्तु अपने आप में शोभनता के प्रतिपादन का तात्पर्य है।

उदाहरण के लिये (अशोभनता की अभावरूपा 'विनोक्ति') 'विना वर्षा ऋतु के चन्द्रमा निर्मल लगने लगता है और ग्रीष्म के सताप के विना वनवीथी रमणीय हो जाता है।'

[यहा यह स्पष्ट है कि 'चन्द्रमा' और 'वनवीथी' अपने आप में तो शोभन हैं किन्तु

'असाध्यशोभन यथा—

'अनुयान्त्या जनातीतं कान्तं साधु त्वया कृतम्।
का दिनश्रीर्विनार्केण का निशा शशिना विना॥'

'निरर्थकं जन्म गतं नलिन्या यया न दृष्टं तुहिनांशुबिम्बम्।
उत्पत्तिरिन्दोरपि निष्फलैव दृष्टा विनिद्रा नलिनी न येन॥'

अत्र परस्परविनोक्तिभङ्ग्या चमत्कारातिशयः। विनाशब्दप्रयोगाभावेऽपि विनार्थविवक्षायां विनोक्तिरेवेयम्। एवं सहोक्तिरपि सहशब्दप्रयोगाभावेऽपि सहार्थविवक्षायां भवतीति बोध्यम्।

वर्षा और ग्रीष्म के सद्भाव में अशोभन हो जाया करते हैं। इस अशोभनता के अभाव का यहाँ प्रतिपादन भी स्पष्ट ही है।]

इसी प्रकार, शोभनता को असम्भवता 'विनोक्ति'

'चन्द्रनन्दिनि! अपने लोकोत्तरचरित प्रियतम का अनुगमन करनेवाली तूने क्या ही अच्छा किया। भला सूर्य के बिना दिनश्री क्या! और चन्द्रमा के बिना रजनी क्या?'

इसी प्रकार 'विना' पद के समानार्थक पदों के योग में भी 'विनोक्ति' हुआ करती है जैसे कि निम्न सूक्ति में—

'उस कमलिनी का जन्म व्यर्थ गया जिसने शीतकिरण चन्द्रमा का दर्शन न किया और उस चन्द्रमा का आविर्भाव भी निष्फल ही रहा जिसने खिली हुई कमलिनी को न देखा।

यहाँ एक दूसरे के बिना 'कमलिनी' और 'चन्द्रमा' की उत्पत्ति की निरर्थकता का जो वर्णन है उसमें एक विशेष चमत्कार आ गया है। यद्यपि यहाँ 'विना' पद का प्रयोग नहीं हुआ है किन्तु यह स्पष्ट है कि 'विना' पद के अर्थ का अभिप्राय विवक्षित है। इसलिये इसे 'विनोक्ति' अलङ्कार का ही निदर्शन माना जायगा। 'सहोक्ति' में भी 'सह' शब्द का प्रयोग नहीं अपितु 'सह' शब्द की अर्थविवक्षा अपेक्षित है जिससे 'सह' शब्द का प्रयोग न होने पर भी, 'सह' शब्द के अर्थ की विवक्षा में 'सहोक्ति' ही मानी जाया करती है।

विमर्श—'अलङ्कारसर्वस्व'कार ने 'विनोक्ति' का यह लक्षण किया है—

'विना किञ्चिदन्यस्य सदसत्त्वाभावो विनोक्तिः। सत्त्वस्य शोभनत्वस्य भावः शोभनत्वम्। एवमसत्त्वस्याशोभनत्वस्य भावोऽशोभनत्वम्। ते द्वे सत्त्वासत्त्वे यत्र कस्यचित् संनिधानाभिधायते सा द्विधा विनोक्तिः। अत्र च शोभनत्वाशोभनत्वसत्त्वाभावमेव वक्ष्यामासत्ताद्योतनाभिधानसम्बन्धिवृत्तिप्रयुक्ता तन्निवृत्तिरिति व्यापारार्थम्।

(अलङ्कारसर्वस्व, पृ० १०५)

'सहोक्ति' की कल्पना से 'विनोक्ति' का जन्म हुआ है। 'विनोक्ति' अलङ्कार वस्तुतः 'सहोक्ति' का प्रतिपक्ष है। कवि कहता है—'विनयेन विना का श्रीः का निशा शशिना विना। रहिता सत्कवित्वेन कीदृशी वाग्विदग्धता॥' कवि की इस उक्ति में 'विनोक्ति' का चमत्कार झलक रहा है। विनय के अभाव में श्री की असत्प्रायता है—इसका अभिप्राय है 'विनय' के रहने पर ही 'श्री' के रहने में सुन्दरता है अर्थात् 'श्री' की चिन्ता छोड़ 'विनय' की ही चिन्ता की जाय, आदि। 'विना' शब्द के अभाव में भी 'विना' शब्द की अर्थविवक्षा हुआ करती है और ऐसी अवस्था में भी 'विनोक्ति' का ही वैचित्र्य रहा करता है।

(२२—समासोक्ति)

समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः।
व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः ॥ ५६ ॥

अत्र समेन कार्येण प्रस्तुतेऽप्रस्तुतव्यवहारसमारोपः।

यथा—

'व्याधूय यद्वसनमम्बुजलोचनाया
वक्षोजयोः कनककुम्भविलासभाजोः।
आलिङ्गसि प्रसभमङ्गमशेषमस्या
धन्यस्त्वमेव मलयाचलगन्धवाह ! ॥'

अत्र गन्धवाहे हठकामुकव्यवहारसमारोपः।

लिङ्गसाम्येन यथा—

'असमाप्तजिगीषस्य स्त्रीचिन्ता का मनस्विनः।
अनाक्रम्य जगत्कृत्स्नं नो सन्ध्या भजते रविः ॥'

अत्र पुंस्त्रीलिङ्गमात्रेण रविसन्ध्ययोर्नायकनायिकाव्यवहारः।

विशेषणसाम्य तु श्लिष्टतया, साधारण्येन, औपम्यगर्भत्वेन च त्रिधा।

अनुवाद—'समासोक्ति' वह अलङ्कार है जिसे 'सम' अर्थात् (प्रस्तुत और अप्रस्तुत में) समानरूप से समन्वित होनेवाले कार्य, लिङ्ग और विशेषण के बल से, प्रस्तुत पर अप्रस्तुत के व्यवहार का आरोप कहा जाया करता है।

उदाहरण के लिये, समानरूप से समन्वित हो सकनेवाले 'कार्य' के सामर्थ्य से, प्रस्तुत पर अप्रस्तुत के व्यवहार-समारोप में 'समासोक्ति'—

'अरे मलयानिल ! तू धन्य है क्योंकि तू ही ऐसा है जो इस कमलनयनी सुन्दरी के, कनक-कलश सरीखे कुचों से, वस्त्र हटाकर, इसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग का हठपूर्वक आलिङ्गन किया करता है।'

यहाँ 'मलयानिल' पर (जो कि प्रस्तुत है क्योंकि यहाँ कवि मलयानिल का ही वर्णन कर रहा है) 'हठकामुक' के व्यवहार (जैसे कि बलात् आलिङ्गन आदि) का समारोप स्पष्ट है जिसमें 'समकार्यमूला' समासोक्ति की रूपरेखा झलक रही है।

इसी प्रकार 'समलिङ्ग-मूला' समासोक्ति का उदाहरण यह सूक्ति है—

'जिसकी विजयाकाङ्क्षा पूर्ण न हुई हो, उस वीर मनस्वी की स्त्री-चिन्ता कैसी ? ऐसा कभी नहीं होता कि सूर्य, समस्त ससार पर छाये विना, सन्ध्या का सग किया करे।'

यहाँ 'रवि' के पुल्लिङ्ग और 'सध्या' के स्त्रीलिंग होने के कारण 'रवि' और 'सध्या' पर नायक और नायिका के व्यवहार का समारोप हो रहा है जिसमें 'समल्ङ्गिमूला' समासोक्ति स्पष्ट है।

'समविशेषणमूला' समासोक्ति के तीन भेद हैं क्योंकि विशेषण की समानता (१) श्लिष्टता, (२) साधारणता और (३) औपम्यगर्भता के कारण तीन रूपों की हुआ करती है।

श्लिष्टतया यथा मम—

'विकसितमुखीं रागासङ्गाद् गलत्तिमिरावृतिं
दिनकरकरस्पृष्टामैन्द्रीं निरीक्ष्य दिशं पुरः ।
जरठलवलीपाण्डुच्छायो भृशं कलुषाम्बरः
श्रयति हरितं हन्त ! प्राचेतसीं तुहिनद्युतिः ॥'

अत्र मुखरागादिशब्दानां श्लिष्टता । अत्रैव हि 'तिमिरावृतिम्' इत्यत्र 'तिमिरांशुकम्' इति पाठे एकदेशस्य रूपणेऽपि समासोक्तिरेव, न त्वेकदेशविवर्तिरूपकम्, तत्र हि तिमिरांशुकयो रूप्यरूपकभावो द्वयोरावरकत्वेन स्फुटसादृश्यतया परसापेक्ष्यमनपेक्ष्यापि स्वमात्रविश्रान्त इति न समासोक्तिबुद्धिं व्याहन्तुमीशः ।

यत्र तु रूप्यरूपकयोः सादृश्यमस्फुटं तत्रैकदेशान्तररूपणं विना तदसङ्गतं स्यादित्यशाब्दमप्येकदेशान्तररूपणमार्थमपेक्षत एवेति तत्रैकदेशविवर्तिरूपकमेव । यथा—

जैसे कि श्लिष्टता से विशेषण-साम्य में 'समासोक्ति' की यह स्वरचित निदर्शन-सूक्ति—

'चन्द्रमा ने अपने सामने ऐन्द्री दिशा (इन्द्रसंबन्धिनी, पूर्व दिशा) को देखा—'दिनकरकरस्पृष्टा' जो कि सूर्य के 'कर' (किरणों तथा हाथों) के स्पर्श-सुख में विभोर पड़ी थी 'रागासङ्गाद् विकसितमुखीम्' जिसका मुख (अग्रभाग और मुँह) राग (उषा की लालिमा और प्रेम) के आवेश से 'विकसित' (प्रफुल्लित और प्रकाशित) हो रहा था, 'गलत्तिमिरावृतिम्' और जिसकी 'तिमिरावृति' (अन्धकार का आवरण और अभिसार का कृष्णांशुक) खिसक चुकी थी और अन्त में वह (चन्द्रमा) 'जरठलवलीपाण्डुच्छाया' पकी लवली (हरफरवरी) के समान पीला पड़ कर तथा 'कलुषाम्बर' (मध्य भाग में मलिन और हृदय में दुःखाकुल) होते हुये 'प्राचेतसीम्' (प्राचेतस अथवा वरुण-संबन्धिनी दिशा और मृत्यु) की शरण में ही जाकर शान्त हुआ।

यहाँ यह स्पष्ट है कि 'मुख' 'राग' आदि पद श्लिष्ट हैं (जिनकी महिमा से 'समासोक्ति', रचना हुई है)।

यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि यदि 'तिमिरावृतिम्' (तिमिरस्य आवृतिर्यस्याः, तिमिरकृतावृतिर्यस्यास्ताम्) पद के बदले तिमिरांशुकम् (तिमिरमेव अंशुकं यस्याः ताम् तिमिरांशुकाम्) पद रख दिया जाय तो एक अंश में आरोप की प्रतीति के होते रहने पर भी, इस सूक्ति में 'एकदेशविवर्तिरूपक' न हो सकेगा अपितु 'समासोक्ति' ही रहेगी। कारण यह है कि 'तिमिर' और 'अंशुक' का रूप्यरूपकभाव ऐसा है जो 'नायी' और 'नायिका' के रूप्यरूपकभाव की अपेक्षा नहीं रखता अपितु अपने आप में पूर्णतया प्रकाशित हो रहा है और इस रूप्यरूपकभाव का मूलभूत 'आवरकत्व' (आच्छादन) रूप सादृश्य भी ऐसा है जो परिस्फुटरूप से ही प्रतीत हो रहा है। इसलिये इस सूक्ति के एक अंश में अवस्थित 'एकदेशविवर्तिरूपक' में यह क्षमता नहीं कि सम्पूर्ण सूक्ति में व्याप्त 'समासोक्ति' को हटा सके।

किन्तु कई ऐसे प्रसङ्ग भी हैं जहाँ 'एकदेशविवर्तिरूपक' का ही चमत्कार अन्त तक विराजमान रहता है और 'समासोक्ति' की कोई भी सम्भावना नहीं हुआ करती। ऐसे प्रसङ्ग वे हैं जिनमें एकदेश में रूप्यरूपकभाव रहा करता है किन्तु इस रूप्यरूपकभाव का

'जस्स रणन्तेउरए करे कुणन्तस्स मण्डलग्गलअं।
रससंमुही वि सहसा परम्मुही होइ रिउसेणा॥'
(यस्य रणान्त.पुरके करे कुर्वाणस्य मण्डलाग्रलताम्।
रससम्मुख्यपि सहसा पराङ्मुखी भवति रिपुसेना॥)

अत्र रणान्तःपुरयोः सादृश्यमस्फुटमेव। क्वचिच्च यत्र स्फुटसादृश्यानामपि बहूनां रूपण शाब्दमेकदेशस्य चार्थं तत्रैकदेशविवर्तिरूपकमेव। रूपकप्रतीतेर्व्याप्तितया समासोक्तिप्रतीतितिरोधायकत्वात्। नन्वस्ति रणान्तःपुरयोरपि सुखसंचारतया स्फुट सादृश्यमिति चेत्? सत्यमुक्तम्, अस्त्येव, किन्तु वाक्यार्थपर्यालोचनसापेक्षम्, न खलु निरपेक्षम्, मुखचन्द्रादेर्मनोहरत्वादिवद्रणान्त.पुरयोः स्वतः सुखसञ्चारत्वाभावात्।

मूलभूत सादृश्य अस्फुट रहा करता है और अन्य अशों में रूप्यरूपकभाव की कल्पना के विना असंगत भी लगा करता है और इस असगति के निवारण के लिये, अन्य अशों में भी, शाब्द आरोप के न होने पर भी, अर्थसामर्थ्य से रूप्यरूपकभाव का आक्षेप कर लिया जाया करता है। उदाहरण के लिये निम्न सूक्ति देखी जाय—

'यह वह राजा है जिसके हाथ की पकड़ में, रणरूपी अन्त पुर में खड्गलता (तलवार) को देख देख रणरस में पगी भी शत्रुसेना सहसा पीछे भाग खड़ी होती है।'

यहाँ जो अलङ्कार है वह 'एकदेशविवर्ति' रूपक है न कि 'समासोक्ति'। कारण यह है कि इस सूक्ति के एक अंश में विराजमान 'रण' और 'अन्त पुर' का रूप्यरूपकभाव ऐसा है जिसका आधारभूत सादृश्य अस्फुट है (और इसलिये 'खड्गलता' और 'रिपुसेना' में स्त्रीलिङ्ग के कारण, 'खड्गलता' पर नायिका-व्यवहार और 'रिपुसेना' पर प्रतिनायिका-व्यवहार के समारोप की प्रतीति होने पर भी 'समासोक्ति' की संभावना नहीं हो रही है क्योंकि जब कि 'रण' और 'अन्त पुर' का रूप्यरूपकभाव 'खड्गलता' और 'रिपुसेना' पर 'नायिकात्व' और 'प्रतिनायिकात्व' के आरोप के विना असगत हो जाय, तब तो, शाब्द हो या न हो, आर्थ आरोप के कारण यहाँ 'एकदेशविवर्ति' रूपक की मान्यता अनिवार्य ही हो जाती है)।

इसके अतिरिक्त ऐसे प्रसङ्गों में भी 'एकदेशविवर्ति' रूपक ही माना जायगा जहाँ रूप्यरूपक-भाव के मूलभूत सादृश्य के स्फुट होने पर भी, बहुत अंशों में तो आरोप शाब्द रहे किन्तु एक अश में अर्थ-सामर्थ्य-सिद्ध बन जाय। कारण यह है कि ऐसे प्रसङ्गों में, शाब्द आरोप के बाहुल्य के कारण, रूप्यरूपकभाव की प्रतीति, नि सन्दिग्ध रूप से अधिक व्यापक हुआ करती है और 'समासोक्ति' की सम्भावना को ढक लिया करती है। किन्तु इसका निष्कर्ष यह नहीं कि 'यस्य रणान्त पुरे' आदि में भी, यह मानकर कि यहाँ भी 'रण' और 'अन्त·पुर' में 'सुखसचरण' रूप सादृश्य स्फुट है, 'समासोक्ति' की सम्भावना कर ली जाय। क्यों? इसलिये कि भले ही यहा 'रण' और 'अन्त पुर' में 'सुखसचरण' रूप सादृश्य स्फुट हो किन्तु यह 'सुखसचरण' (आनन्द से विचरण) रूप सादृश्य ऐसा है जो (निरपेक्ष) स्वतन्त्र नहीं अपितु यहाँ के सम्पूर्ण वाक्यार्थ की पर्यालोचना पर निर्भर (सापेक्ष) है और साथ ही साथ 'मुख' और 'चन्द्र' के 'मनोहरत्व' आदि रूप सादृश्य की भाँति स्वत.सिद्ध भी नहीं (क्योंकि यह तो वर्ण्य प्रस्तुत के

साधारण्येन यथा—

'निसर्गसौरभोद्भ्रान्तभृङ्गसंगीतशालिनी ।
उदिते वासराधीशे स्मेराजनि सरोजिनी ॥'

अत्र निसर्गेत्यादिविशेषणसाम्यात्सरोजिन्यां नायिकाव्यवहारप्रतीतौ 'स्मेराजनि' स्मेरत्वधर्मस्य समारोपः कारणम् । तेन विना विशेषणसाम्यमात्रेण नायिकाव्यवहारप्रतीतेरसम्भवात् ।

औपम्यगर्भत्वं पुनस्त्रिधा सम्भवति, उपमारूपकसङ्करगर्भत्वात् ।

तत्रोपमागर्भत्वे यथा—

'दन्तप्रभापुष्पचिता पाणिपल्लवशोभिनी ।
केशपाशालिवृन्देन सुवेषा हरिणेक्षणा ॥'

सम्बद्ध 'प्रताप' रूप अर्थ की अभिव्यञ्जना है न कि 'रम' पर 'अम्बुपुरत्व' का आरोप जो कि 'मुखसचरण' रूप सादृश्य की स्फुट प्रतीति का निमित्त बन रहा है)।

अब समभेदक धर्मयुक्त 'समासोक्ति' का उदाहरण देखिये—

'दिनपति सूर्य का उदय हुआ और स्वाभाविक सौरभ से मुग्ध भ्रमरों की गुञ्जारस्य गीतध्वनि से भरी पद्मिनी मुसकुरा उठी (खिल पड़ी)।

यहाँ, साधारण धर्म की समानता में 'समविशेषणमूलक' समासोक्ति स्पष्ट है क्योंकि यहाँ 'निसर्गसौरभोद्भ्रान्तभृङ्गसंगीतशालित्व' का विशेषण ऐसा है जो प्रस्तुत 'सरोजिनी' और अप्रस्तुत 'नायिका' दोनों ओर समान रूप से अन्वित हो रहा है और 'सरोजिनी' में 'नायिका' के व्यवहार की प्रतीति का निमित्त बन रहा है। किन्तु यहाँ जिसे व्यवहार-समारोप कहते हैं उसकी प्रतीति का कारण केवल 'नायिका' से संबद्ध 'स्मेरत्व' (मुसकुराहट) धर्म को ही माना जा सकता है जो कि सरोजिनी के 'स्मेरत्व' अर्थात् विकास रूप धर्म पर आरोपित है क्योंकि केवल 'निसर्गसौरभ' आदि विशेषणसाम्य से ही यहाँ नायिका-व्यवहार का समारोप नहीं सिद्ध हो पाता (तात्पर्य यह है कि ऐसे प्रसङ्गों में विशेषणसाम्य पर जो 'समासोक्ति' हुआ करती है वहाँ अप्रस्तुतगत धर्म का प्रस्तुत के धर्म पर समारोप ही वस्तुतः कारणरूप से अवस्थित रहा करता है)।

अब औपम्यगर्भ विशेषण-साम्य में समासोक्ति की मान्यता अथवा अमान्यता का विचार आवश्यक है। विशेषण-साम्य में जो 'औपम्य' छिपा रहता है उसकी ये तीन अवस्थायें हुआ करती हैं—(१ ली) उपमागर्भता की अवस्था, (२ री) रूपकगर्भता की अवस्था और (३ री) उपमा-रूपक सांकर्य-गर्भता की अवस्था। अब (१ ली) अर्थात् विशेषण-साम्य में औपम्यगर्भता की अवस्था निम्न सूक्ति में स्पष्ट है—

'यह मृगनयनी जो कि 'दन्तप्रभापुष्पचिता' (दन्तप्रभाः पुष्पाणीव तैः चिता = पुष्प सरीखी दाँतों की कान्ति से पूर्ण और 'दन्तप्रभासदृशैः पुष्पैश्चिता = दाँतों की कान्ति के सदृश कान्ति वाले फूलों से भरी) 'पाणिपल्लवशोभिनी' (कोमल पल्लव इव तेन शोभिनी = पल्लव सरीखे हाथों से सुन्दर और 'पाणिसदृश पल्लवैः शोभते तच्छीला' = हाथों के सदृश पल्लवों से सुशोभित) और 'सुवेषा (सुन्दर वेष-भूषा से सुसज्जित) है 'केशपाशालिवृन्देन राजते' भ्रमरसमूह सरीखे अपने केशपाश से बड़ी मनोहर लग रही है तथा केशपाश सरीखे भ्रमरसमूह से बड़ी मनोहर प्रतीत हो रही है ('केशपाशा अलिवृन्दमिव तेन' तथा 'केशपाशसदृशेन' अलिवृन्देन)।

अत्र सुवेषत्ववशात्प्रथमं दन्तप्रभाः पुष्पाणीवेत्युपमागर्भत्वेन समासः। अनन्तरं च दन्तप्रभासदृशैः पुष्पैश्चितेत्यादिसमासान्तराश्रयेण समानविशेषणमाहात्म्याद्धारसेक्षणायां लताव्यवहारप्रतीतिः। रूपकगर्भत्वे यथा—'लावण्यमधुभिः पूर्णम्–' इत्यादि। सङ्करगर्भत्वे यथा–'दन्तप्रभापुष्प–' इत्यादि। 'सुवेषा' इत्यत्र 'परीता' इति पाठे ह्युपमारूपकसाधकाभावात्सङ्करसमाश्रयणम्। समासान्तरं पूर्ववत्। समासान्तरमहिम्ना लताप्रतीतिः। एषु च येषा मते उपमासङ्करयोरेकदेशविवर्तिता नास्ति तन्मते आद्यतृतीययोः समासोक्तिः।

द्वितीयस्तु प्रकार एकदेशविवर्तिरूपकविषय एव। पर्यालोचने त्वाद्ये प्रकारे एकदेशविवर्तिन्युपमैवाङ्गीकर्तुमुचिता।

यहाँ 'सुवेषा' इस विशेषण-पद की महिमा से, जो कि उपमा का उपपादक पद है और प्रस्तुत 'नायिका' में ही अन्वित हो सकता है, यह स्पष्ट है कि 'दन्तप्रभापुष्पचिता' आदि विशेषण भी प्रस्तुत नायिका में ही अन्वित होने योग्य हैं क्योंकि 'दन्तप्रभापुष्पचिता' आदि में 'दन्तप्रभा' पुष्पाणीव तैश्चिता' आदि अर्थ में जो समास सम्पन्न होता है उसमें 'उपमा' का अन्तर्भाव निर्विवाद है। इसके वाद जब कि 'दन्तप्रभापुष्पचिता' आदि में 'दन्तप्रभासदृशैः पुष्पैश्चिता' आदि रूप से मध्यमपदलोपी समास किया जाता है तब यह स्पष्ट हो जाता है कि इन विशेषणों की महिमा से, जो कि प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों में समान रूप से अन्वित हो सकते हैं, प्रकृत 'मृगनयनी' पर 'लता' के व्यवहार का समारोप किस प्रकार किया हुआ है (इस प्रकार यहाँ औपम्यगर्भ विशेषण-साम्य में 'समासोक्ति' की रूपरेखा स्पष्ट दिखायी देने लगेगी)।

इसी प्रकार (२ री) अर्थात् रूपकगर्भता की अवस्था में, विशेषणसाम्य में 'समासोक्ति' के दर्शन के लिये यह पूर्वोद्धृत सूक्ति देखिये—

'लावण्यरूपी मधुरस से भरा इस सुन्दरी का विकसित मुख'''आदि'

[यहाँ 'लावण्यमधुभिः' आदि में 'मयूरव्यंसकादयश्च' इस सूत्र से रूपक समास है। 'लावण्य' और 'मधु' आदि में 'आह्लादकत्व' आदि रूप 'सादृश्य' भी स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। जो कि यहाँ के रूप्यरूपक-भाव में मूलरूप से पड़ा है। साथ ही साथ 'लावण्य मधु' आदि का रूप्यरूपक-भाव ऐसा है जो निरपेक्ष स्वतन्त्रतया अवस्थित-प्रतीत हो रहा है क्योंकि, इसके लिये, जैसा कि स्पष्ट है, 'मुख' पर 'पद्मत्व' के आरोप की कोई अपेक्षा नहीं दिखायी देती। 'किन्तु 'पद्म' में ही अन्वित हो सकने वाला 'विकस्वरत्व' का धर्म इसी बात को सिद्ध करता है कि 'पद्म' का 'विकस्वरत्व' मुख के 'विकस्वरत्व' पर आरोपित है जिससे 'मुख' पर पद्मव्यवहार की प्रतीति में 'समासोक्ति' स्पष्ट प्रतीत हो उठती है।]

अव, (३ री) अर्थात् उपमा-रूपक-साङ्कर्यगर्भता की अवस्था में, विशेषण साम्य में 'समासोक्ति' के निदर्शन के लिये पूर्वोद्धृत 'दन्तप्रभापुष्पचिता' आदि सूक्ति ही पर्याप्त है। यहाँ यदि 'सुवेषा' के स्थान पर 'परीता' कर दिया जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि यहाँ न तो 'उपमा' का साधक कोई प्रमाण रहेगा और न 'रूपक' का ही (क्योंकि 'दन्तप्रभापुष्पचिता' मे 'दन्तप्रभा पुष्पाणीव तैश्चिता' इस रूप में उपमा समास भी संगत होगा और 'दन्तप्रभा एव पुष्पाणि तैश्चिता' इस रूप में रूपकसमास भी उपपन्न रहेगा) और अन्त में उपमारूपक सदेह-संकर की मान्यता अनायास सिद्ध हो जायगी। और

अन्यथा—

'ऐन्द्रं धनु पाण्डुपयोधरेण शरद्दधानार्द्रनखक्षताभम् ।
प्रमोदयन्ती सकलङ्कमिन्दुं तापं रवेरभ्यधिकं चकार ॥'

इत्यत्र कथं शरदि नायिकाव्यवहारप्रतीतिः, नायिकापयोधरेणार्द्रनखक्षताभ शक्रचापधारणासम्भवात् ।

ननु 'आर्द्रनखक्षताभम्' इत्यत्र स्थितमप्युपमानत्वं वस्तुपर्यालोचनया ऐन्द्रे

इसके बाद जब कि, 'दन्तप्रभापुष्पचिता' आदि पदों में उसी रूप का समास माना जाय जो कि 'सुवेषा' पद के सम्बन्ध में पहले माना गया, तब यह स्पष्ट हो जायगा कि यहाँ किस प्रकार प्रकृत नायिका पर लता का आरोप किया गया है (क्योंकि यहाँ 'सुवेषत्व' का धर्म केवल नायिका में अन्वित प्रतीत होता था यहाँ 'पारीतत्व' का धर्म नायिका और लता दोनों में अनुगत प्रतीत होगा और 'नायिका' में 'लता' की प्रतीति निस्सन्दिग्ध रूप से होने लगेगी)।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि कुछ आलङ्कारिकों (जैसे कि रुय्यक आदि) के अनुसार जो कि उपमा और रूपक के संदेह संकर की 'एकदेशविवर्तिता' नहीं मानते 'दन्तप्रभापुष्पचिता' सुवेषा आदि प्रथम और 'दन्तप्रभापुष्पचिता पारीता' आदि तृतीय उदाहरणों में तो 'समासोक्ति अलङ्कार है किन्तु 'लावण्यमधुभिः' आदि द्वितीय उदाहरण में जो अलङ्कार है वह 'एकदेशविवर्तिरूपक' है (क्योंकि 'लावण्यमधुभिः' आदि में जिस 'विकस्वरत्व' धर्म का निर्देश है वह वैसे तो 'मुख' में बाधित प्रतीत होता है किन्तु 'मुख' पर 'कमलत्व' के आरोप में उपचारतः अन्वित हो जाता है)।

किन्तु यदि उपर्युक्त समासोक्ति-मान्यता पर विमर्श किया जाय तो यही निष्कर्ष निकल सकता है कि 'दन्तप्रभा सुवेषा' आदि प्रथम सूक्ति में 'समासोक्ति' की अपेक्षा 'एकदेशविवर्तिनी उपमा' की ही मान्यता अधिक युक्तियुक्त है। अन्यथा निम्न सूक्ति अर्थात्—

'यह शरद् ऋतु, जिसके 'पाण्डुपयोधर' (शुभ्र मेघमण्डल और शुभ्रपीत स्तनयुग्म) पर नूतन नखक्षत की आभावाला इन्द्रधनुष झलक रहा है जो कि 'सकलङ्क' ('मृग' रूप लाञ्छनयुक्त और परस्त्रीगमनरूप दोषयुक्त) चन्द्रमा को प्रमुदित (निर्मल ज्योत्स्ना रतिसुख में विभोर) बना रही है और सूर्य (और प्रियतम) को बहुत अधिक 'सन्तप्त' (तीक्ष्ण आतपमय और मनस्तापयुक्त) करती दिखायी दे रही है (आ पहुँची)।

आदि में (जहाँ इन्द्रधनुष में नखक्षत का सादृश्य और मेघ में कुच का सादृश्य तो शाब्द है और शरद्ऋतु में नायिका, चन्द्रमा में उपनायक तथा सूर्य में नायक का औपम्य अर्थसामर्थ्य सिद्ध है) यह कैसे संभव है कि शरद्ऋतु में नायिका के व्यवहार की प्रतीति में 'समासोक्ति' काम करे जब कि नायिकापयोधर (स्त्री के स्तन) के साथ नवीन नखक्षत की कान्तिवाले इन्द्रधनुष के धारण का धर्म अन्वित ही नहीं हो सकता ('ऐन्द्रं धनुः' आदि में यह तो 'एकदेशविवर्तिनी उपमा' है जिसके दर्शन में 'इन्द्रधनुष' और 'नखक्षत' 'शरद्' और 'नायिका' 'चन्द्रमा' और 'प्रतिनायक' तथा 'सूर्य' और 'नायक' का औपम्य स्पष्ट हो जाता है)।

यहाँ यदि 'ऐन्द्रं धनुः' आदि में यह कहा जाय कि 'एकदेशविवर्तिनी उपमा' की संभावना इसलिए नहीं होनी चाहिये क्योंकि 'आर्द्रनखक्षताभम्' में औपम्य शब्दतः

धनुषि सञ्चारणीयम् । यथा—'दध्ना जुहोति' इत्यादौ हवनस्यान्यथासिद्धेर्दध्नि सञ्चार्यते विधिः ।

एवञ्चेन्द्रचापाभमार्द्रनखक्षतं दधानेति प्रतीतिर्भविष्यतीति चेत् ? न, एवंविधनिर्वाहे कष्टसृष्टिकल्पनादेकदेशविवर्त्युपमाङ्गीकारस्यैव ज्यायस्त्वात् ।

अस्तु वात्र यथाकथञ्चित्समासोक्तिः । 'नेत्रैरिवोत्पलैः पद्मैः—' इत्यादौ चान्यगत्यसम्भवात् । किं चोपमायां व्यवहारप्रतीतेरभावात्कथं तदुपजीविकायाः समासोक्तेः प्रवेशः ।

यदाहुः—

'व्यवहारोऽथवा तत्त्वमौपम्ये यत्प्रतीयते ।
तन्नौपम्यं समासोक्तिरेकदेशोपमा स्फुटा ॥'

प्रतिपादित है और इसलिये यहाँ 'समासोक्ति' मानना ही ठीक है क्योंकि 'आर्द्रनखक्षताभम्' में, जैसा कि इस सूक्ति का अर्थ रहस्य है, 'नखक्षत' की उपमानता 'इन्द्रधनुष' में लागू मान ली जायगी और 'इन्द्रधनुष की भाँति नखक्षत धारण करती' इस अर्थ की प्रतीति में 'समासोक्ति' सिद्ध हो जायगी । अब 'नखक्षत' की उपमानता का 'इन्द्रधनुष' में क्योंकर सञ्चार किया गया (अर्थात् नखक्षत को उपमेय मानकर इन्द्रधनुष को क्योंकर उपमान मान लिया गया) इसके लिये मीमांसकों का 'अदग्धदहन-न्याय' ही प्रमाण है जिसके अनुसार 'अप्राप्त का ही विधान' सम्भव है, प्रमाणान्तर से प्राप्त का नहीं अर्थात् जैसे कि 'दध्ना जुहोति' आदि विधिवाक्य का अभिप्राय 'दधि'मात्र का विधान है न कि 'अग्निहोत्र' का भी जो कि 'अग्निहोत्र जुहोति' इस विधि से ही प्राप्त है वैसे ही 'आर्द्रनखक्षताभम् ऐन्द्र धनुर्दधाना' का अभिप्राय 'ऐन्द्रचापाभ नखक्षतं दधाना' ही है, जैसा कि इस सूक्ति के पूर्वापरपर्यालोचन से सिद्ध है ।

किन्तु इस उपर्युक्त 'समासोक्ति कल्पना' में, जैसा कि स्पष्ट है, कष्टकल्पना ही प्रतीत हो रही है । इसलिये यहाँ 'समासोक्ति' न मानकर 'एकदेशविवर्तिनी उपमा' का ही मानना श्रेयस्कर है । अथवा यदि 'ऐन्द्र धनु' आदि में किसी प्रकार उपमानुप्राणित 'समासोक्ति' मान भी ली जाय तब भी यह तो अगत्या मानना ही पड़ेगा कि 'नेत्रैरिवोत्पलै' आदि में 'समासोक्ति' नहीं अपितु केवल 'एकदेशविवर्तिनी उपमा' ही अलङ्कार है । यहा एक बात और भी विशेषरूप से विचारणीय है और वह यह है कि जब कि 'उपमा' में, एक वस्तु (उपमेयरूप वस्तु) पर दूसरी (उपमानरूप) वस्तु के व्यवहार का समारोप नहीं हुआ करता अपितु एक वस्तु की, दूसरी वस्तु से सादृश्य-प्रतीति ही सब कुछ है, तब यह कैसे मान लिया जाय कि सादृश्यप्रतीति पर निर्भर 'उपमा' में व्यवहार-समारोप की प्रतीति पर निर्भर 'समासोक्ति' प्रवेश पा जाया करती है (अर्थात् 'उपमानुप्राणित समासोक्ति' की कल्पना निराधार सी ही है) । तभी तो यह कहा गया है कि—

'औपम्य अर्थात् सादृश्यगर्भ विशेषण-प्रयोग के प्रसगों में जो व्यवहार-समारोपरूप अथवा स्वरूप समारोपरूप सादृश्य प्रतीत हुआ करता है उसमें 'समासोक्ति' नहीं हुआ करती क्योंकि उसमें तो 'एकदेशविवर्तिनी उपमा' का ही चमत्कार-प्रतीति सिद्ध हुआ करता है ।'

एवञ्चोपमारूपकयोरेकदेशविवर्तिताङ्गीकारे तन्मूलसङ्करेऽपि समासोक्तेरप्रवेशो न्यायसिद्ध एव।

तेनौपम्यगर्भविशेषणोत्थापितत्वं नास्या विषय इति विशेषणसाम्ये श्लिष्टविशेषणोत्थापिता साधारणविशेषणोत्थापिता चेति द्विधा। कार्यलिङ्गयोस्तुल्यत्वे च द्विविधेति चतुष्प्रकारा समासोक्तिः।

सर्वत्रैवात्र व्यवहारसमारोपः कारणम्। स च क्वचिल्लौकिके वस्तुनि लौकिकवस्तुव्यवहारसमारोपः, शास्त्रीये वस्तुनि शास्त्रीयवस्तुव्यवहारसमारोपः, लौकिके वा शास्त्रीयवस्तुव्यवहारसमारोपः, शास्त्रीये वा लौकिकवस्तुव्यवहार समारोप इति चतुर्धा।

तत्र लौकिकवस्त्वपि रसादिभेदादनेकविधम्। शास्त्रीयमपि तर्कायुर्वेदज्योतिःशास्त्रप्रसिद्धतयेति बहुप्रकारा समासोक्तिः। दिङ्मात्रं यथा—'व्याधूय यद्वसनम्—' इत्यादौ लौकिके वस्तुनि लौकिकस्य हठकामुकव्यवहारस्य समारोपः।

इससे क्या सिद्ध हुआ? यही कि जब कि 'उपमा' और 'रूपक' में 'एकदेशविवर्तिता' की मान्यता निर्विवाद है (जिससे इनके प्रसङ्गों में 'समासोक्ति' कदापि नहीं मानी जा सकती) तब यह भी निर्विवाद ही है कि उपमा और रूपकमूलक संदेहसंकर के प्रसंगों में भी 'समासोक्ति' की मान्यता युक्तियुक्त नहीं। इससे यह सिद्ध है कि (अलङ्कारसर्वस्वकार आदि आलङ्कारिकों द्वारा मान्य) औपम्यगर्भ विशेषण-साम्य 'समासोक्ति' का विषय नहीं हुआ करता।

निष्कर्ष यह निकलता है कि वह समासोक्ति जो कि विशेषण-साम्य में हुआ करती है केवल दो प्रकार की ही है—(१ ली) श्लिष्टविशेषणनिबन्धना समासोक्ति और (२ री) साधारणविशेषणनिबन्धना समासोक्ति। इस प्रकार समविशेषणमूला 'समासोक्ति' के इन दो प्रकारों को मिलाकर 'समासोक्ति' के चार प्रकार युक्तियुक्त प्रतीत होते हैं।

'समासोक्ति' का प्रयोजक व्यवहार-समारोप ही है जो कि इसके चारों प्रकारों में व्याप्त है। इस व्यवहार-समारोप के भी चार रूप हैं—(१ ला) लौकिक वस्तु पर लौकिक वस्तु का व्यवहार-समारोप (२ रा) शास्त्रीय वस्तु पर शास्त्रीय वस्तु का व्यवहार-समारोप, (३ रा) लौकिक वस्तु पर शास्त्रीय वस्तु का व्यवहार-समारोप और (४ था) शास्त्रीय वस्तु पर लौकिक वस्तु का व्यवहार-समारोप। इनके पहले रूप की भी अनेकों प्रकार की संभावनायें हैं क्योंकि लौकिक वस्तु में भी, रसभावादि के भेद से भिन्न भिन्न रूपों का दर्शन हुआ करता है। इसी भांति दूसरे रूप के भी अनेक प्रकार प्रतीत होते हैं क्योंकि शास्त्रीय वस्तु के भी प्रकार अनेक हैं जैसा कि तर्क-आयुर्वेद-ज्योतिःशास्त्र आदि-आदि भिन्न भिन्न शास्त्रों के प्रचलन और प्रवर्तन से स्पष्ट है।

इस दृष्टि से देखते यही कहा जा सकता है कि 'समासोक्ति' (चार ही प्रकार की नहीं जैसा कि ऊपर कहा गया अपितु) अनेक प्रकार की हुआ करती है जैसा कि स्पष्ट है। दिग्दर्शनमात्र के लिए, यदि 'व्याधूय यद्वसनमम्बुजलोचनायाः' आदि सूक्ति की 'समासोक्ति' को देखें तो यह पता चल जायगा कि एक ('मलयानिल'रूप) लौकिक वस्तु पर, दूसरी 'हठकामुक'रूप लौकिक वस्तु के व्यवहार का समारोप क्या है और कैसा है? इसी प्रकार यदि निम्न-सूक्ति अर्थात्—

'यैरेकरूपमखिलास्वपि वृत्तिषु त्वां
पश्यद्भिरव्ययमसंख्यतया प्रवृत्तम् ।
लोपः कृतः किल परत्वजुषो विभक्ते-
स्तैर्लक्षणं तव कृतं ध्रुवमेव मन्ये ॥'

अत्रागमशास्त्रप्रसिद्धे वस्तुनि व्याकरणप्रसिद्धवस्तुव्यवहारसमारोपः। एवमन्यत्र।

रूपकेऽप्रकृतमात्मस्वरूपसन्निवेशेन प्रकृतस्य रूपमवच्छादयति। इह तु स्वावस्थासमारोपेणावच्छादितस्वरूपमेव तं पूर्वावस्थातो विशेषयति। अत एवात्र व्यवहारसमारोपो न तु स्वरूपसमारोप इत्याहुः।

उपमाध्वनौ श्लेषे च विशेष्यस्यापि साम्यम्, इह तु विशेषणमात्रस्य। अप्रस्तुतप्रशंसायां गम्यत्वम्, इह त्वप्रस्तुतस्येति भेदः।

'हे प्रभो! सोचता हूँ कि जिन लोगों ने तुम्हें, तुम्हारी विविध (सृष्टि स्थिति-संहृति आदि) अवस्थाओं में भी एकरूप किंवा अव्यय (अनश्वर) निर्विकार और असङ्ख्य रूपों वाला देखा है और ऐसा देख कर 'तत्'-'त्वम्' आदि रूप में प्रकाशित समस्त भेद-भाव का उच्छेद कर दिया है, उन्होंने ही तुम्हारा सचमुच लक्षण किया है (उन्होंने ही तुम्हें सचमुच पहचाना है)।'

आदि की 'समासोक्ति' पर विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि (एक शास्त्र अर्थात्) वेदान्तशास्त्र में प्रसिद्ध (ब्रह्मरूप) वस्तु पर (दूसरे शास्त्र अर्थात्) व्याकरण-शास्त्र में प्रसिद्ध ('निपात'रूप) वस्तु का व्यवहार-समारोप क्या और कैसा हुआ करता है। यहाँ व्याकरण-प्रसिद्ध 'निपात'रूप वस्तु के व्यवहार-समारोप का अभिप्राय 'यैरेक' आदि सूक्ति के इस निपातपरक अर्थ में समझा जा सकता है—'हे निपात! सोचता हूँ कि जिन लोगों ने तुम्हें, अनेक (कृत्-तद्धित-समास आदि) वृत्तिओं में भी परिवर्तन-शून्य किं वा अव्यय ('अव्यय' पद द्वारा वोध्य) तथा वचननिर्देश से शून्य—व्याकरण में अव्यय पदों के वचन आदि का विचार नहीं हुआ करता-माना है और ऐसा देखकर तुममें, तुम्हारी परवर्तिनी (सुप् आदि) विभक्तिओं का लोप स्वीकार किया है, उन्होंने ही तुम्हें सचमुच पहचाना है (तुम्हारे लिये 'चादयोऽसत्त्वे', 'प्रादय', आदि सूत्रों और सिद्धान्तों को वनाया)।

इसी प्रकार अन्यत्र भी (काव्य-साहित्य में) विविध प्रकार के व्यवहार-समारोप के दृष्टान्त देखे जा सकते हैं।

यहाँ (वस्तुत एकदेशविवर्तिरूपक) और 'समासोक्ति' का यह परस्पर भेद समझ लेना चाहिये—'रूपक' में जो 'अप्रकृत' (उपमानरूप) रहा करता है वह अपने स्वरूप के समारोप से, 'प्रकृत' के स्वरूप को ढँक लिया करता है किन्तु 'समासोक्ति' में ऐसा हुआ करता है कि 'अप्रकृत' अपनी अवस्था को 'प्रकृत' पर आरोपित किया करता है जिससे उस (प्रकृत) का स्वरूप तो नहीं ढका करता किन्तु उसकी अवस्था में कुछ विशेषता अवश्य आ जाया करती है। वस्तुत. इसीलिये 'समासोक्ति' को 'व्यवहार-समारोप' कहा गया है न कि 'स्वरूपसमारोप'।

'समासोक्ति' और 'उपमाध्वनि' भी एक नहीं और न 'समासोक्ति' और 'अर्थश्लेष' ही एक हैं। यह है कि 'उपमाध्वनि' और 'अर्थश्लेष' में तो विशेष्य का भी

साम्य अपेक्षित है किन्तु 'समासोक्ति' में एकमात्र विशेषण-साम्य की ही अपेक्षा रहा करती है। 'समासोक्ति' से 'अप्रस्तुतप्रशंसा' का भेद इसलिये सिद्ध है क्योंकि जहाँ 'अप्रस्तुतप्रशंसा' में 'प्रस्तुत' गम्यरूप से प्रतीत हुआ करता है वहाँ 'समासोक्ति' में 'अप्रस्तुत' की ही गम्यरूप से प्रतीति हुआ करती है।

विमर्श—(क) 'समासोक्ति' की कल्पना विशेषण-वैचित्र्य के अनुसंधान का परिणाम है। कविजन अपने काव्यों में ऐसे विशेषणों का प्रयोग किया करते हैं जिनसे अप्रस्तुत की अभिव्यक्ति हुआ करती है और प्रस्तुत का सौन्दर्य और भी अधिक निखरा करता है। 'समासोक्ति' में अप्रस्तुत अभिव्यक्त होकर प्रस्तुत की ही विशेषता बढ़ाया करता है। आचार्य रुय्यक ने इसी लिए कहा है—

'एवं समासोक्तौ व्यवहारसमारोपादप्रस्तुतेन प्रस्तुतस्य वैशिष्ट्यकरणमवच्छेदकत्वं विधीयते। रूपके तु रूपसमारोपाद्रूपकल्पितत्वान्मात्राच्छादकत्वमित्यनयोर्भेदः।

(अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृ० १०९)

अर्थात् 'समासोक्ति' में अप्रस्तुत प्रस्तुत का अवच्छेदक अथवा वैशिष्ट्याधायक रहा करता है। किन्तु रूपक में अप्रस्तुत प्रस्तुत का आच्छादक अथवा अपने रूप में रूपित करने वाला हुआ करता है।

अप्रस्तुत की अवच्छेदकता का अभिप्राय प्रस्तुत पर उसके व्यवहार का समारोप है और आच्छादकता का अभिप्राय प्रस्तुत पर उसके रूप का समारोप है—

'विशेषणसाम्यादपि प्रतीयमानमप्रस्तुतं प्रस्तुतावच्छेदकत्वेन प्रतीयते। अवच्छेदकत्वाद् व्यवहारसमारोपो न रूपसमारोपः। रूपसमारोपे त्वाच्छादितत्वेन प्रकृतस्य तद्रूपकल्पितत्वाद्रूपकमेव। (अलङ्कारसर्वस्व पृ० १०९)

अर्थात् 'रूपक' में भले ही ऐसा हो कि प्रस्तुत अप्रस्तुत के रूप में रूपित होकर अपने स्वरूप का परित्याग कर दे किन्तु 'समासोक्ति' में तो प्रस्तुत अपने स्वरूप में विराजमान रहा करता है और अभिव्यक्त अप्रस्तुत की वैशिष्ट्याधायकता के कारण विचित्र रूप से रमणीय भी लगा करता है।

(ख) विश्वनाथ कविराज ने अलङ्कारसर्वस्वकार की ही 'समासोक्ति'-सम्भावनाओं को अपने शब्दों में प्रकट किया है। जो कुछ भी अलङ्कारसर्वस्व का खण्डन-मण्डन सा प्रतीत होता है वह सब वस्तुतः आचार्य रुय्यक द्वारा ही प्रतिपादित प्राचीन और नवीन मान्यताओं की आलोचना प्रत्यालोचना है। जैसे विश्वनाथ कविराज ने 'औपम्यगर्भ विशेषणोत्थापित' समासोक्तिप्रकार का खण्डन अवश्य किया है किन्तु उसका भी आधार 'अलङ्कारसर्वस्व' और 'विमर्शिनी' की ही युक्ति प्रतियुक्तियाँ हैं। 'विमर्शिनी' कार ने स्पष्ट कहा है—

समासोक्तिरिति तद्ग्रहणस्येव। यथा—'य च दन्तक्षतेनोद्गमस्यैकदेशविवर्तिरूपकमनुप्रमासंकरालैकदेशिनी सा।' अतदैतन्मताभिप्रायेणोक्तम्। प्रत्यक्षप्रमते हि वक्ष्यमाण नीत्या तयोः संकरः। यत्तु यदि तयोर्भेदप्रमते संकरस्तदौपम्यगर्भविशेषणोत्थापिता समासोक्तिप्रकारस्तर्हि न सम्भवति। तस्यैकदेशविवर्तिरूपकस्यैकदेशविवर्तिन्युपमासंकरान्मयैवातोऽन्तरप्रतीतिसिद्धेर्वैयर्थ्यात्। नैतत्। यतोऽस्त्येव तावदौपम्यगर्भविशेषणोत्थत्वं समासोक्तेः। किन्त्वेतदन्ययेतरसहचरितमेवास्या निमित्तता प्रभवति न पुनः केवलम्। तथात्वे हि विशेषणानामौपम्यगर्भत्वे एकदेशविवर्तिन्या उपमायाः प्राप्तिः। तत्र रिक्तकसहचरितमेतद् यथा—

अत्र प्रकरणादिनियमाभावाद् द्वावपि राजसूर्यौ वाच्यौ ।

(२५—अप्रस्तुतप्रशंसालंकार · सप्रभेद निरूपण)

क्वचिद्विशेषः सामान्यात्सामान्यं वा विशेषतः ।
कार्यान्निमित्तं कार्यं च हेतोरथ समात्समम् ॥ ५८ ॥
अप्रस्तुतात्प्रस्तुतं चेद् गम्यते पञ्चधा ततः ।
अप्रस्तुतप्रशंसा स्याद्—

क्रमेणोदाहरणम्—

(सामान्य से विशेष की अभिव्यञ्जना में 'अप्रस्तुतप्रशंसा')

'पादाहतं यदुत्थाय मूर्धानमधिरोहति ।
स्वस्थादेवापमानेऽपि देहिनस्तद्वरं रजः ॥'

अत्रास्मदपेक्षया रजोऽपि वरमिति विशेषे प्रस्तुते सामान्यमभिहितम् ।

नामक राजा) प्रकाशित हो रहे हैं ।'

यहाँ 'प्रकरण' आदि अभिधानियामकों में एक की भी सम्भावना नहीं। इसलिये यहाँ राजपरक किं वा सूर्यपरक—दोनों अर्थ वाच्यरूप से ही विवक्षित प्रतीत हो रहे हैं (जिसमें 'श्लेष' का स्वरूप स्पष्ट झलक रहा है)।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार ने 'श्लेष' को शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार—दोनों प्रकार का अलङ्कार माना है। शब्दालङ्कार के रूप में 'श्लेष' को शब्दश्लेष कहा है और अर्थालङ्कार के रूप में इसे 'अर्थश्लेष' माना है। 'अर्थश्लेष' और 'शब्दशक्त्युद्भवध्वनि' के भेद के सम्बन्ध में 'प्रदीप'कार की यह उक्ति ध्यान देने योग्य है—

'यत्रोभयोरर्थयोस्तात्पर्यं स श्लेषः । यत्र त्वेकस्मिन्नेव तत्, सामग्रीमहिम्ना तु द्वितीयार्थप्रतीतिः सा व्यञ्जनेति ।'

अलङ्कारसर्वस्वकार ने 'समासोक्ति' और 'अर्थश्लेष' के भेद के सम्बन्ध में यह कहा है—

'केवलविशेषणसाम्यं समासोक्तावुक्तं विशेष्ययुक्तविशेषणसाम्यं त्वधिकृत्येदमुच्यते ।'

(अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १२१)

अनुवाद—'अप्रस्तुतप्रशंसा' वह अलङ्कार है जिसे अप्रस्तुत से प्रस्तुत की ऐसी अभिव्यञ्जना में देखा जाया करता है जिसकी ये पाँच सम्भावनायें हुआ करती हैं—(१ ली) अप्रस्तुतरूप सामान्य से प्रस्तुतरूप विशेष की अभिव्यञ्जना, (२ री) अप्रस्तुतरूप विशेष से प्रस्तुतरूप सामान्य की अभिव्यञ्जना, (३ री) अप्रस्तुतरूप कार्य से प्रस्तुतरूप कारण की अभिव्यञ्जना, (४ थी) अप्रस्तुतरूप कारण से प्रस्तुतरूप कार्य की अभिव्यञ्जना और (५ वीं) अप्रस्तुतरूप समान वस्तु से प्रस्तुतरूप समान वस्तु की अभिव्यञ्जना। इन पञ्चविध सम्भावनाओं के कारण अप्रस्तुतप्रशंसा भी पाँच प्रकार की हुआ करती है।

इसके उदाहरण क्रमशः ये हैं—

'अपमानित होने पर भी चुप बैठ जाने वाले मनुष्य से तो वह धूल अच्छी है जो कि पैरों तले रौंदी जाने पर भी रौंदनेवाले के सिर पर जा बैठती है।' (शिशुपालवध)

यहाँ जो प्रस्तुत अभिव्यङ्ग्य है वह यह विशेषरूप अर्थ है—'शिशुपाल से अपमानित और किंकर्त्तव्यविमूढ पड़े रहने वाले हम लोगों की अपेक्षा धूल अच्छी है'। इसे सामान्य-

(२७—श्लेष)

शब्दैः स्वभावादेकार्थैः श्लेषोऽनेकार्थवाचनम् ॥ ५७ ॥

'स्वभावादेकार्थैः' इति शब्दश्लेषाद् व्यवच्छेदः। 'वाचनम्' इति च ध्वनेः। उदाहरणम्—

> 'प्रवर्तयन् क्रियाः साध्वीर्मालिन्यं हरितां हरन्।
> महसा भूयसा दीप्तो विराजति विभाकरः ॥'

आकृष्ट करता प्रतीत हुआ करता है 'परिकर' अलङ्कार की कल्पना का मूलकारण है। अलङ्कारसर्वस्वकार ने इसीलिये कहा है—

'विशेषणानां साभिप्रायत्वं प्रतीयमानार्थगर्भीकारः। अत एव प्रसन्नगम्भीरपदत्वात् ध्वनेर्विषयः। एवं च प्रतीयमानांशस्य वाच्योन्मुखत्वात् परिकर इति सार्थकं नाम।'

(अलङ्कारसर्वस्व पृ० ११)

(ख) 'परिकर' के लिये एक विशेषण की अभिप्रायगर्भता अपेक्षित है या अनेक विशेषणों की इस संबन्ध में आचार्यों में पर्याप्त मतभेद है।

काव्यप्रकाशकार अलङ्कारसर्वस्वकार विमर्शिनीकार आदि के अनुसार अनेक विशेषणों की साभिप्रायता ही 'परिकर' की रूपरेखा है—

'यद्यप्यपुष्टार्थस्य दोषताभिधानात्तन्निराकरणेन पुष्टार्थस्वीकारः कृतः, तथाप्येकनिष्ठत्वेन बहूनां विशेषणानामेवमुपन्यासे वैचित्र्यमित्यलङ्कारमध्ये गणितः।

(काव्यप्रकाश परिकरप्रकरण)

'विशेषणसाकाङ्क्षत्वं बहुत्वमेव विवक्षितम्। अन्यथा ह्यपुष्टार्थस्य दोषत्वाभिधानात्तन्निराकरणेनैव स्वीकृतस्य पुष्टार्थत्वस्य विषयः स्यात्। एवमेवंविधानेकविशेषणोपन्यासद्वारेण वैचित्र्यप्रतिपत्त्या संभवतीत्यस्यालङ्कारत्वम्' (अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी पृ० ११)।

विश्वनाथ कविराज भी इस संबन्ध में इन्हीं आचार्यों के अनुयायी हैं। किन्तु पण्डितराज जगन्नाथ के मत में एक विशेषण की अभिप्रायगर्भता भी 'परिकर' की ही रूपरेखा मानी गयी है—)

'विशेषणानेकत्वं हि व्यङ्ग्यार्थविच्छायकत्वाद्वैचित्र्यविशेषाधायकमस्तु नाम। न तु प्रकृतालङ्कारशरीरमेव तदिति वक्तुं शक्यम्। 'विधिविञ्चितकरिमाहितपदे (स्वर्लोककल्लोलिनि)! त्वं तापं तिरयाशु मम भवभयव्याकुलस्यात्मनः॥' इति मादृशोक्ते एकस्यैव विशेषणस्य चमत्कारिताया अनपह्नवनीयत्वात्। 'अपि काव्यप्रकाशस्य तस्यैव ह्यन्त-र्भावनमस्याः। दूरस्थे त्वपि किं वा कमपत्नो विस्तरेणालम्। अनेकैकविशेषणसाधारणेनैव सकलस्यापार्थसज्जीवनात्।' (रसगङ्गाधर : परिकरप्रकरण)

अनुवाद—'श्लेष' वह अलङ्कार है जिसे स्वभावतः एक अर्थ के वाचक पदों द्वारा अनेक अर्थों का अभिधान अथवा प्रतिपादन कहा जाया करता है।

यहाँ कारिका में 'स्वभावादेकार्थैः' इसलिये कहा गया है जिसमें इस अलङ्कार (श्लेष अथवा अर्थश्लेष) को 'शब्दश्लेष' से (जिसमें शब्द स्वभावतः द्व्यर्थक रहा करते हैं) पृथक् रूप से समझा जा सके। साथ ही साथ 'अनेकार्थवाचनम्' में 'वाचनम्' का प्रयोग इसलिये है जिसमें 'ध्वनि' से (जहाँ अनेक अर्थों की व्यञ्जना हुआ करती है) इस अलङ्कार को (जिसमें अनेक अर्थों का अभिधान अपेक्षित है) पृथक् किया जा सके। इसका उदाहरण यह है—

'सर्वत्र धार्मिक क्रिया-कर्म में प्रवृत्ति कराते हुये चतुर्दिक् मालिन्य का निराकरण करते हुये किं वा महनीय तेज से दीप्त ये विभाकर (भगवान् सूर्य अथवा विभाकर

अत्र प्रकरणादिनियमाभावाद् द्वावपि राजसूर्यौ वाच्यौ।

(२५—अप्रस्तुतप्रशंसालंकार · सप्रभेद निरूपण)

क्वचिद्विशेषः सामान्यात्सामान्यं वा विशेषतः।
कार्यान्निमित्तं कार्यं च हेतोरथ समात्समम्॥ ५८॥
अप्रस्तुतात्प्रस्तुतं चेद् गम्यते पञ्चधा ततः।
अप्रस्तुतप्रशंसा स्याद्—

क्रमेणोदाहरणम्—

(सामान्य से विशेष की अभिव्यञ्जना में 'अप्रस्तुतप्रशंसा')

'पादाहतं यदुत्थाय मूर्धानमधिरोहति।
स्वस्थादेवापमानेऽपि देहिनस्तद्वरं रजः॥'

अत्रास्मदपेक्षया रजोऽपि वरमिति विशेषे प्रस्तुते सामान्यमभिहितम्।

नामक राजा) प्रकाशित हो रहे हैं।'

यहाँ 'प्रकरण' आदि अभिधानियामकों में एक की भी सम्भावना नहीं। इसलिये यहाँ राजपरक किं वा सूर्यपरक—दोनों अर्थ वाच्यरूप से ही विवक्षित प्रतीत हो रहे हैं (जिसमें 'श्लेष' का स्वरूप स्पष्ट झलक रहा है)।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार ने 'श्लेष' को शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार—दोनों प्रकार का अलङ्कार माना है। शब्दालङ्कार के रूप में 'श्लेष' को शब्दश्लेष कहा है और अर्थालङ्कार के रूप में इसे 'अर्थश्लेष' माना है। 'अर्थश्लेष' और 'शब्दशक्त्युद्भवध्वनि' के भेद के सम्बन्ध में 'प्रदीप'कार की यह उक्ति ध्यान देने योग्य है—

'यत्रोभयोरर्थयोस्तात्पर्यं स श्लेष। यत्र त्वेकस्मिन्नेव तत्, सामग्रीमहिम्ना तु द्वितीयार्थप्रतीति· सा व्यञ्जनेति।'

अलङ्कारसर्वस्वकार ने 'समासोक्ति' और 'अर्थश्लेष' के भेद के सम्बन्ध में यह कहा है—

'केवलविशेषणसाम्यं समासोक्तावुक्तं विशेष्ययुक्तविशेषणसाम्य त्वधिकृत्येदमुच्यते।'

(अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १२१)

अनुवाद—'अप्रस्तुतप्रशंसा' वह अलङ्कार है जिसे अप्रस्तुत से प्रस्तुत की ऐसी अभिव्यञ्जना में देखा जाया करता है जिसकी ये पाँच सम्भावनायें हुआ करती हैं—(१ ली) अप्रस्तुतरूप सामान्य से प्रस्तुतरूप विशेष की अभिव्यञ्जना, (२ री) अप्रस्तुतरूप विशेष से प्रस्तुतरूप सामान्य की अभिव्यञ्जना, (३ री) अप्रस्तुतरूप कार्य से प्रस्तुतरूप कारण की अभिव्यञ्जना, (४ थी) अप्रस्तुतरूप कारण से प्रस्तुतरूप कार्य की अभिव्यञ्जना और (५ वीं) अप्रस्तुतरूप समान वस्तु से प्रस्तुतरूप समान वस्तु की अभिव्यञ्जना। इन पञ्चविध सम्भावनाओं के कारण अप्रस्तुतप्रशंसा भी पाच प्रकार की हुआ करती है।

इसके उदाहरण क्रमश ये हैं—

'अपमानित होने पर भी चुप बैठ जाने वाले मनुष्य से तो वह धूल अच्छी है जो कि पैरों तले रौंदी जाने पर भी रौंदनेवाले के सिर पर जा बैठती है।' (शिशुपालवध)

यहाँ जो प्रस्तुत अभिव्यङ्ग्य है वह यह विशेषरूप अर्थ है—'शिशुपाल से अपमानित और किंकर्त्तव्यविमूढ पड़े रहने वाले हम लोगों की अपेक्षा धूल अच्छी है'। ...

(विशेष से सामान्य की अभिव्यञ्जना में 'अप्रस्तुतप्रशंसा')

'स्रगियं यदि जीवितापहा हृदये किं निहिता न हन्ति माम् ।
विषमप्यमृतं क्वचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया ॥'

अत्रेश्वरेच्छया क्वचिदहितकारिणोऽपि हितकारित्वं हितकारिणोऽप्यहितकारित्वमिति सामान्ये प्रस्तुते विशेषोऽभिहितः । एवञ्चात्राप्रस्तुतप्रशंसामूलोऽर्थान्तरन्यासः ।

दृष्टान्ते प्रख्यातमेव वस्तु प्रतिबिम्बत्वेनोपादीयते । इह तु विषामृतयोरमृतविषीभावस्याप्रसिद्धेन तस्य सद्भावः ।

(कार्य से कारण की अभिव्यञ्जना में 'अप्रस्तुतप्रशंसा')

'इन्दुर्लिप्त इवाञ्जनेन जडिता दृष्टिर्मृगीणामिव,
प्रम्लानारुणिमेव विद्रुमदलं श्यामेव हेमप्रभा ।
कार्कश्यं कलया च कोकिलवधूकण्ठेष्विव प्रस्तुतं
सीतायाः पुरतश्च हन्त ! शिखिनां बर्हाः सगर्हा इव ॥'

(अपमानित और अपमान सहने वाले मनुष्य मात्र की अपेक्षा धूल अच्छी है आदि) रूप अर्थ के अभिधान द्वारा अभिव्यञ्जित रखा गया है ।

'यदि यह फूल की माला प्राण ले लेने वाली है तो मेरी छाती पर लटकती हुई मेरा प्राण क्यों नहीं ले लेती ! ओह ! ईश्वर की भी क्या लीला है कि एक के लिये तो विष भी अमृत हो जाता है और दूसरे के लिये अमृत भी विष बन जाता है । (रघुवंश)

यहाँ 'ईश्वर की इच्छा से अमङ्गलजनक भी वस्तु की मङ्गलकारिता और मङ्गलजनक भी वस्तु की अमङ्गलकारिता' का जो अभिप्राय है वह एक प्रस्तुतरूप 'सामान्य' अभिप्राय है और इसकी प्रतीति जिससे हो रही है वह यहाँ उपनिबद्ध एक अप्रस्तुतरूप विशेष अभिप्राय अर्थात् 'अमृत के विषवत् और विष के अमृतवत् होने' का अभिप्राय है । यहाँ एक प्रकार से 'अर्थान्तरन्यास' का भी वैचित्र्य झलक रहा है (क्योंकि यहाँ सामान्य से विशेष का समर्थन भी हो रहा है) किन्तु इसका भी मूल यहाँ की 'अप्रस्तुत प्रशंसा' ही है ।

यहाँ 'दृष्टान्त' अलङ्कार की कोई सम्भावना नहीं क्योंकि (भले ही यहाँ 'विष के कदाचित् अमृत और अमृत के कदाचित् विष होने तथा माला के द्वारा इन्दुमती के प्राणहरण और अज के प्राणदान' में बिम्बप्रतिबिम्बभाव प्रतीत हो किन्तु) 'दृष्टान्त' में जिस वस्तु को 'प्रतिबिम्ब' (उपमान) रूप से उपन्यस्त किया जाया करता है उसके लिये यह आवश्यक है कि वह प्रसिद्ध हो । यहाँ विष के अमृत और अमृत के विष होने' का जो उपनिबन्ध है वह एक अप्रसिद्ध वस्तु है और इसलिये यहाँ 'दृष्टान्त' की कल्पना निर्मूल ही है ।

'सीता के (मुख के) आगे चन्द्रमा ऐसा लगता है जैसे कालिख से पुता हो। (नेत्रों के आगे) हिरणियों के नयन ऐसे लगते हैं जैसे जड़ीभूत हो रहे हों। (ओठों की लाली के आगे) मूँगे के दाने ऐसे लगते हैं जैसे उनकी लाली फीकी पड़ गयी हो। (अङ्गशोभा के आगे) सोने की चमक ऐसी लगती है जैसे काली पड़ गयी हो (मीठी बोली के आगे) कोयल की कूक ऐसी लगती है जैसे कर्कशता से भर उठी हो और (केशपाश के आगे) मोर के पंख ऐसे लगते हैं जैसे किसी भी काम के न हों ।'

अत्र सम्भाव्यमानेभ्य इन्द्रादिगताञ्जनलिप्तत्वादिभ्यः कार्येभ्यो वदनादिगतसौन्दर्यविशेषरूपं प्रस्तुतं कारणं प्रतीयते।

(कारण से कार्य की अभिव्यञ्जना में 'अप्रस्तुतप्रशंसा')

'गच्छामीति यथोक्तया मृगदृशा निःश्वासमुद्रेकिणं
त्यक्त्वा तिर्यगवेक्ष्य बाष्पकलुषेणैकेन मा चक्षुषा।
अद्य प्रेम मदर्पितं प्रियसखीवृन्दे त्वया बध्यता-
मित्थं स्नेहविवर्धितो मृगशिशुः सोत्प्रासमाभाषितः॥'

अत्र कस्यचिद्गमनरूपे कार्ये कारणमभिहितम्।

(समान वस्तु से समान वस्तु की अभिव्यञ्जना में 'अप्रस्तुतप्रशसा')

तुल्ये प्रस्तुते तुल्याभिधाने च द्विधा श्लेषमूला सादृश्यमात्रमूला च। श्लेषमूलाऽपि समासोक्तिवद्विशेषणमात्रस्य श्लेषवद्विशेष्यस्यापि श्लेषे भवतीति द्विधा।

क्रमेण यथा—

(समासोक्ति की भाँति केवल विशेषण की श्लिष्टता में श्लेषमूला 'अप्रस्तुतप्रशंसा')

'सहकारः सदामोदो वसन्तश्रीसमन्वितः।
समुज्ज्वलरुचिः श्रीमान् प्रभूतोत्कलिकाकुलः॥'

यहाँ 'चन्द्रमा आदि में कालिख की पुताई आदि' (अप्रस्तुतरूप) कार्यों की जो सभावना की गई है उसके द्वारा, उनके कारणभूत, सीता के मुख आदि के सौन्दर्य-विशेष की, जोकि यहाँ प्रस्तुत है, स्पष्टतया प्रतीति हो उठती है।

'जब कि मैंने उस सुन्दरी से यह कहा कि 'मैं अब जा रहा हूँ' तब उसने लम्बी आह खींची, आँसूभरी आँख से मुझे तिरछे देखा और प्रेम से पाले मृगछौने से, एक दुख-भरी मुस्कराहट के साथ, यह कहा कि 'अब तू मेरी सखियों से वैसे ही प्यार करना जैसे आज तक मुझसे करता रहा है।'

यहा जिसका अभिधान है वह एक अप्रस्तुतरूप कारण (विरहविह्वला नायिका की मृत्यु सूचना) है और इससे जिस प्रस्तुतरूप कार्य की प्रतीति हो रही है वह नायक की देशान्तरगमननिवृत्ति का कार्य है।

जहा समान वस्तु से समान वस्तु की अभिव्यञ्जना में 'अप्रस्तुतप्रशसा' हुआ करती है वहा वह दो प्रकार की हुआ करती है—(१ ली) श्लेषमूला अप्रस्तुतप्रशसा और (२ री) सादृश्यमात्रमूला अप्रस्तुतप्रशंसा।

यह (१ ली) अर्थात् श्लेषमूला अप्रस्तुतप्रशंसा 'समासोक्ति' की भांति, केवल विशेषण की श्लिष्टता में भी हुआ करती है और 'श्लेष' की भांति वहां भी हुआ करती है जहाँ विशेष्य भी श्लिष्ट रहा करता है। जैसे कि क्रमशः—

'आम्र का वृक्ष भी कितना विचित्र हुआ करता है—'सदामोद'—निरन्तर 'आमोद' अर्थात् सौरभ और 'मोद' अर्थात् आनन्द से युक्त, 'वसन्तश्रीसमन्वित'—वसन्त की श्री अर्थात् शोभा और वसन्तकालीन वेशभूषा से विभूषित, 'समुज्ज्वलरुचि' चमकती कान्ति से भरपूर, 'श्रीमान्'—शोभा से पूर्ण और सुन्दर वेषधारी और 'प्रभूतोत्कलिकाकुल' निकली हुई मञ्जरियों से भरा और अत्यधिक उत्कण्ठा से भरा।'

अत्र विशेषणमात्रश्लेषवशादप्रस्तुतात्सहकारात्कस्यचित्प्रस्तुतस्य नायकस्य प्रतीतिः।

(श्लेष की भाँति विशेष्य की भी श्लिष्टता में श्लेषमूला 'अप्रस्तुतप्रशंसा')

पुंस्त्वादपि प्रविचलेद्यदि यद्यधोऽपि
यायाद्यदि प्रणयने न महानपि स्यात्।
अभ्युद्धरेत्तदपि विश्वमितीदृशीयं
केनापि दिक्प्रकटिता पुरुषोत्तमेन॥'

अत्र पुरुषोत्तमपदेन विशेष्येणापि श्लिष्टेन प्रचुरप्रसिद्ध्या प्रथमं विष्णुरेव बोध्यते। तेन वर्णनीयः कश्चित्पुरुषः प्रतीयते।

सादृश्यमात्रमूला यथा—

'एकः कपोतपोतः शतशः श्येनाः क्षुधाभिधावन्ति।
अम्बरमावृतिशून्यं हरहर शरणं विधेः करुणा॥'

अत्र कपोतादप्रस्तुतात्कश्चित्प्रस्तुतः प्रतीयते। इयं च क्वचिद्वैधर्म्येणापि भवति।

'धन्याः खलु वने वाताः कह्लारस्पर्शशीतलाः।
राममिन्दीवरश्यामं ये स्पृशन्त्यनिवारिताः॥'

यहाँ केवल विशेषणों के श्लेष से अप्रस्तुतरूप 'सहकार (आम्रवृक्ष)' के द्वारा किसी प्रस्तुतरूप नायक की प्रतीति हो रही है—

'यह ('मोहिनी'अवतार में) चाहे पुंस्त्व (वीरता अथवा पुरुष के स्वरूप) का भी परित्याग कर दे, चाहे नीचे (वराह अवतार में पाताल में या निम्न स्थान पर) भी क्यों न चला जाय चाहे (वामनअवतार में) 'प्रणयन (कर्म या प्रतिष्ठा) में बड़ा भी न हो सके, किन्तु इतना निश्चित है कि संसार का उद्धार अवश्य करता रहता है। और वस्तुतः यही तो वह आदर्श है जो कि इस विलक्षण पुरुषोत्तम (भगवान् विष्णु और पुरुषोत्तम नामक राजा) ने प्रकट कर दिखाया है।

यहाँ यह स्पष्ट है कि विशेष्यभूत 'पुरुषोत्तम' पद भी (विष्णुवाचक और राजवाचक होने से) श्लिष्ट है। इस पद के द्वारा पहले, विष्णुरूप अर्थ जो कि अधिक प्रसिद्ध है, प्रतीत हो जाता है और इसके बाद यहाँ प्रकृत पुरुषोत्तम नामक राजा की अभिव्यक्ति हो उठती है।

अब (२ री) अर्थात् 'सादृश्यमात्रमूला' अप्रस्तुतप्रशंसा का उदाहरण यह है—

'एक छोटा सा कबूतर का बच्चा बच रहा है। उस पर सैकड़ों भूखे बाज टूट पड़ रहे हैं। आकाश में छिपने की कोई जगह नहीं! ओह! ईश्वर की दया का ही सहारा है।

यहाँ कपोत अप्रस्तुत है और उससे किसी प्रस्तुतरूप असहाय पुरुष की प्रतीति हो उठती है।

यह (सादृश्यमात्रमूला) अप्रस्तुतप्रशंसा कहीं-कहीं वैधर्म्य के आधार पर भी दिखाई दिया करती है—

कमलों के स्पर्श से शीतल वनवायु के वे झोंके सचमुच धन्य हैं जो कि बिना किसी रोक-टोक के नीलकमलवत् श्याम राम का स्पर्श किया करते हैं।'

अत्र वाता धन्या अहमधन्य इति वैधर्म्येण प्रस्तुतः प्रतीयते। वाच्यस्य सम्भवासम्भवोभयरूपतया त्रिप्रकारेयम्। तत्र सम्भवे उक्तोदाहरणान्येव।

असम्भवे यथा—

'कोकिलोऽहं भवान् काकः समान कालिमावयोः।
अन्तर कथयिष्यन्ति काकलीकोविदाः पुनः॥'

अत्र काककोकिलयोर्वाकोवाक्य प्रस्तुतस्याध्यारोपण विनाऽसम्भवि।

उभयरूपत्वे यथा—

'अन्तश्छिद्राणि भूयासि कण्टका बहवो बहिः।
कथं कमलनालस्य माभूवन् भङ्गुरा गुणाः॥'

अत्र प्रस्तुतस्य कस्यचिदध्यारोपण विना कमलनालान्तश्छिद्राणां गुणभङ्गुरीकरणे हेतुत्वमसम्भवि। अन्येषा तु सम्भवीत्युभयरूपत्वम्। अस्याश्च समासोक्तिवद् व्यवहारसमारोपप्राणत्वाच्छब्दशक्तिमूलाद्वस्तुध्वनेर्भेद'।

यहाँ 'वनवायु के झोंके भाग्यशाली' हैं यह तो अप्रस्तुत है और इससे 'मैं अभागा हूँ' यह प्रस्तुत, जिसमें वैधर्म्य का अभिप्राय स्पष्ट है, अभिव्यक्त हो उठता है।

यह 'अप्रस्तुतप्रशसा' इस दृष्टि से तीन प्रकार की हुआ करती है (१) कहीं तो 'अप्रस्तुतरूप वाच्यार्थ सभाव्य हुआ करता है, (२) कहीं वह असभाव्य रहा करता है और (३) कहीं वह सभाव्य और असभाव्य दोनों रूपों में अवस्थित दिखायी पड़ा करता है। वाच्यार्थ की सभाव्यता में जो 'अप्रस्तुतप्रशंसा' हुआ करती है उसके उदाहरण-रूप में तो पूर्वोद्धृत सूक्तियाँ ही देखी जा सकती हैं। और वाच्यार्थ की असंभाव्यता में अप्रस्तुत प्रशसा' के उदाहरण के लिये यह सूक्ति देखने योग्य है—

'मैं कोयल हूँ, तू कौआ है—हम दोनों में कालापन तो समान ही है किन्तु हम दोनों में जो भेद है उसे वे ही जानते हैं जो कि 'काकली' (स्वरमाधुरी) की पहचान रखा करते हैं।'

यहां काक और कोकिल का यह वाकोवाक्य (प्रश्नोत्तरपूर्ण आलाप) रूप वाच्यार्थ असभाव्य है (क्योंकि काक और कोकिल यह सब प्रश्नोत्तर क्यों कर सकें) किन्तु इसकी असभाव्यता का निराकरण इसलिए हो जाता है क्योंकि यहा प्रस्तुतरूप अर्थ (बाहर से समान किन्तु भीतर से असमान दो पुरुषों के व्यवहाररूप अर्थ) की अभिव्यञ्जना स्पष्टरूप से हो उठती है।

वाच्यार्थ की सभाव्यता असभाव्यता की अवस्था में 'अप्रस्तुतप्रशसा' का उदाहरण यह है—

'भीतर छिद्र ही छिद्र है और बाहर काँटे ही काँटे। फिर भला कमलनाल के गुण क्यों कर न भगुर हुआ करें।'

यहा यह स्पष्ट है कि 'कमलनाल के छिद्रों के कारण उस (कमलनाल) के गुणों (तन्तुओं) की भङ्गुरता' का वाच्यार्थ, जो कि अप्रस्तुतरूप है, असम्भाव्य है और इस असम्भाव्यता के निराकरण के लिये यहा 'किसी प्रस्तुत पुरुष के दोषों और उस (पुरुष) के गुणों की नाशवत्ता' का व्यङ्ग्यार्थ अवश्य समझा जाया करता है। किन्तु यहीं 'कमलनाल के बाहर के काँटों और उस (कमलनाल) के गुणों (तन्तुओं) की भङ्गुरता' का अप्रस्तुतरूप वाच्यार्थ सम्भाव्य भी है, किन्तु इसकी भी उपपत्ति तभी हो पाती है

उपमाध्वनावप्रस्तुतस्य व्यङ्ग्यत्वम्। एवं समासोक्तावपि। श्लेषे तु द्वयोरपि वाच्यत्वम्।

(११—व्याजस्तुति)

—उक्ता व्याजस्तुतिः पुनः ॥ ५९ ॥

निन्दास्तुतिभ्यां वाच्याभ्यां गम्यत्वे स्तुतिनिन्दयोः।

जब कि इसके द्वारा 'किसी प्रस्तुत पुरुष के शुभ गुणों और उसके दया-दाक्षिण्यादि गुणों की मधुरता' का व्यङ्ग्यार्थ निकल आता है जो कि वस्तुतः यहाँ निकल ही रहा है। इस प्रकार अप्रस्तुतरूप वाच्यार्थ की संगम्यता-असंगम्यता के सङ्कर में 'अप्रस्तुतप्रशंसा' का स्वरूप यहाँ स्पष्ट झलक उठता है। यहाँ जो 'अप्रस्तुतप्रशंसा' है उसके संबन्ध में यह ध्यान रखना चाहिये कि, समासोक्ति की भाँति इसका भी प्राण अथवा चमत्कार 'व्यवहारसमारोप' ही है (न कि रूपक की भाँति रूपसमारोप)। इससे यह भी स्पष्ट है कि यह 'अप्रस्तुतप्रशंसाप्रकार' शब्दशक्तिमूलक वस्तुध्वनि से सर्वथा भिन्न हुआ करता है (क्योंकि शब्दशक्त्युद्भवध्वनि में व्यवहारसमारोप का कोई भी पुट नहीं रहा करता)। यह 'अप्रस्तुतप्रशंसा-प्रकार' अलङ्कारध्वनि—वस्तुतः उपमालङ्कारध्वनि—भी नहीं क्योंकि (जब कि अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रस्तुतरूप अर्थ वाच्य हुआ करता है) 'उपमाध्वनि' में अप्रस्तुतरूप अर्थ व्यङ्ग्यरूप से अवस्थित दिखायी दिया करता है। 'समासोक्ति' में भी अप्रस्तुतरूप अर्थ व्यङ्ग्य रहा करता है और इसलिये यहाँ 'समासोक्ति' का भी भ्रम नहीं हो सकता। इस 'अप्रस्तुतप्रशंसाप्रकार' में श्लेषालङ्कार का भी भ्रम न होना चाहिये क्योंकि श्लेषालङ्कार में अप्रस्तुत और प्रस्तुत दोनों अर्थ वाच्य रहा करते हैं (और अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रस्तुतरूप अर्थ वाच्य तथा प्रस्तुतरूप अर्थ व्यङ्ग्य हुआ करता है)।

विमर्श—(क) अप्रस्तुत और प्रस्तुत में सामान्यविशेषभाव, कार्यकारणभाव और सारूप्य की संभावना के कारण अप्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रतीति में 'अप्रस्तुतप्रशंसा' की कल्पना स्वाभाविक है। अलङ्कारसर्वस्वकार ने इसीलिये कहा है—

'इहाप्रस्तुतस्य वर्णनमेवायुक्तमप्रस्तुतत्वात्। प्रस्तुतपरत्वे तु कदाचिद् युक्तं स्यात्। न चाप्रस्तुतात्संबन्धे प्रस्तुतप्रतीतिः अतिप्रसङ्गात्। सम्बन्धे तु भवन्ती न त्रिविधं संबन्धमतिवर्तते। तस्यैवार्थान्तरप्रतीतिहेतुत्वोपपत्तेः। त्रिविधश्च संबन्धः—सामान्यविशेषभावः, कार्यकारणभावः, सारूप्यं चेति। (अलङ्कारसर्वस्व पृष्ठ १११)

अप्रस्तुत और प्रस्तुत में 'सामान्यविशेषभाव और 'कार्यकारणभाव' के संबन्ध के कारण सामान्य से विशेष और विशेष से सामान्य की प्रतीति तथा कार्य से कारण और कारण से कार्य की प्रतीति भी स्वाभाविक ही है और इसलिये अप्रस्तुतप्रशंसा के चार भेद युक्तियुक्त ही हैं। और अप्रस्तुत और प्रस्तुत में सारूप्यसंबन्ध के कारण अप्रस्तुतप्रशंसा का पाँचवाँ भेद भी युक्तिसिद्ध ही है।

(ख) अप्रस्तुतप्रशंसा में 'अर्थान्तरन्यास' और 'दृष्टान्त' के सौन्दर्य के आविर्भाव के संबन्ध में 'अलङ्कारसर्वस्व'कार की यह उक्ति ध्यान देने योग्य है—

'तत्र सामान्यविशेषत्वेन कार्यकारणत्वेन सारूप्येण च पञ्चभेदप्रकाशकस्त्विदं तत्र द्वयोः सामान्यविशेषयोः कार्यकारणयोश्च यदा वाच्यत्वं भवति तदार्थान्तरन्यासाविर्भावः। सारूप्ययोस्तु वाच्यत्वे दृष्टान्तः। अप्रस्तुतस्य वाच्यत्वे प्रस्तुतस्य गम्यत्वे सर्वत्राप्रस्तुतप्रशंसेति निर्णयः। (अलङ्कारसर्वस्व पृष्ठ ११८)

अनुवाद—'व्याजस्तुति' वह अलङ्कार है जिसे निन्दात्मक वाच्यार्थ से स्तुतिरूप व्यङ्ग्यार्थ

निन्दया स्तुतेर्गम्यत्वे व्याजेन स्तुतिरिति व्युत्पत्त्या व्याजस्तुतिः। स्तुत्या निन्दाया गम्यत्वे व्याजरूपा स्तुतिः।

क्रमेण यथा—

(व्याजेन स्तुतिः = निन्दा के बहाने स्तुति)

'स्तनयुगमुक्ताभरणाः कण्टककलिताङ्गयष्टयो देव!।
त्वयि कुपितेऽपि प्रागिव विश्वस्ता द्विट्स्त्रियो जाताः॥'

इदं मम।

(व्याजरूपा स्तुतिः = स्तुति का बहाना मात्र)

'व्याजस्तुतिस्तव पयोद! मयोदितेयं
यज्जीवनाय जगतस्तव जीवनानि।
स्तोत्रं तु ते महदिद घन! धर्मराज-
साहाय्यमर्जयसि यत्पथिकान्निहत्य॥'

और स्तुतिरूप वाच्यार्थ से निन्दारूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति में देखा जाया करता है।

'निन्दारूप वाच्यार्थ से स्तुतिरूप व्यङ्ग्यार्थ' की प्रतीति में 'व्याजस्तुति' की व्युत्पत्ति है 'व्याजेन स्तुति' अर्थात् 'निन्दा के बहाने स्तुति' और 'स्तुतिरूप वाच्यार्थ से निन्दारूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति' में 'व्याजस्तुति' की जो व्युत्पत्ति है वह है—'व्याजरूपा स्तुति' अर्थात् स्तुति का बहाना मात्र।

क्रमश. जैसे कि—

'महाराज! आपके क्रुद्ध होने पर भी शत्रुनारियां निश्चिन्त हैं क्योंकि पहले की ही भांति उनके स्तन अब भी 'मुक्ताभरण' हैं (पहले इसलिये 'मुक्ताभरण' थे क्योंकि मौक्तिक के आभूषणों से विभूषित थे और अब आभूषणशून्य होने के कारण 'मुक्ताभरण' हैं) और उनकी अङ्गयष्टि भी पूर्ववत् ही 'कण्टककलित' है (पहले इसलिये 'कण्टककलित' थी क्योंकि रतिसुख के आनन्द-रोमाञ्चों से भर उठती थी और अब इसलिये 'कण्टककलित' है क्योंकि प्राण लेकर जगलों में भागते-फिरने के कारण जगली कांटों से बिंधी) हैं।'

यह सूक्ति स्वरचित सूक्ति है।

'हे मेघ! यह तो मैं तुम्हारी व्याजस्तुति कर रहा हूँ कि तुम्हारा जल जगत् के जीवन के लिये है। किन्तु वस्तुत तुम्हारी सबसे बड़ी स्तुति तो यह है कि तुम वियोगी जनों का प्राण लेकर यमराज की सहायता किया करते हो।'

विमर्श—'अलङ्कारसर्वस्व'कार ने 'व्याजस्तुति' की यह स्वरूप-मीमासा की है—

'यत्र स्तुतिरभिधीयमानाऽपि प्रमाणान्तराद् बाधितस्वरूपा निन्दायां पर्यवस्यति तत्राऽसत्यत्वाद् व्याजरूपा स्तुतिरित्यनुगमेन व्याजस्तुति.। यत्रापि निन्दाशब्देन प्रतिपाद्यमाना पूर्ववद् बाधितरूपा स्तुति. पर्यवसिता भवति सा द्वितीया व्याजस्तुति। व्याजेन निन्दामुखेन स्तुतिरिति कृत्वा।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १४२)

अर्थात् 'व्याजस्तुति' की दो ही सभावनायें हैं। पहली सभावना वह है जिसमें अप्रस्तुत स्तुतिरूप अर्थ से प्रस्तुत निन्दारूप अर्थ अभिव्यङ्ग्य हुआ करता है और दूसरी वह जिसमें अप्रस्तुत निन्दारूप अर्थ के आधार पर प्रस्तुत स्तुतिरूप व्यङ्ग्यार्थ निकला करता है।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि अप्रस्तुत निन्दा अथवा स्तुतिरूप अर्थ से स्तुति अथवा निन्दारूप प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति होने पर भी 'व्याजस्तुति' में अप्रस्तुतप्रशंसा की भ्रान्ति नहीं

(४०—पर्यायोक्त)

पर्यायोक्तं यदा भङ्ग्या गम्यमेवाभिधीयते ॥ ६० ॥

उदाहरणम्—

'स्पृष्टास्ता नन्दने शच्याः केशसम्भोगलालिताः ।
सावज्ञं पारिजातस्य मञ्जर्यो यस्य सैनिकैः ॥'

अत्र हयग्रीवेण स्वर्गो विजित इति प्रस्तुतमेव गम्यं कारणं वैचित्र्यविशेषप्रतिपत्तये सैन्यस्य पारिजातमञ्जरीसावज्ञस्पर्शनरूपकार्यद्वारेणाभिहितम् । न चेयं कार्यात्कारणप्रतीतिरूपाप्रस्तुतप्रशंसा, तत्र कार्यस्याप्रस्तुतत्वात्, इह तु वर्णनीयस्य प्रभावातिशयबोधकत्वेन कार्यमिति कारणवत्प्रस्तुतम् ।

हुआ करती। कारण यह है कि 'अप्रस्तुतप्रशंसा' में तो अप्रस्तुत और प्रस्तुत में 'सामान्यविशेषभाव' 'कार्यकारणभाव' और 'सारूप्य' का संबन्ध रहा करता है किन्तु 'व्याजस्तुति' में अप्रस्तुत और प्रस्तुत में इन तीनों संबन्धों से भिन्न स्तुतिनिन्दारूप सम्बन्ध-वैचित्र्य का चमत्कार मिला करता है। इसीलिये आचार्य रुय्यक का यह कथन है—'स्तुतिनिन्दारूपत्वस्य विच्छित्तिविशेषस्य भावादप्रस्तुतप्रशंसातो भेदः।' (अलङ्कारसर्वस्व पृ० १४१)

'व्याजस्तुति' में व्यञ्जनामूलक 'ध्वनि' का भी भ्रम निराधार है क्योंकि यहाँ 'व्याजस्तुति' में स्तुति अथवा निन्दारूप वाच्यार्थ अनुपपन्न होकर निन्दा अथवा स्तुतिरूप अर्थ के लिये जिसमें वाच्यार्थ विश्रान्त हुआ करता है अपने आपको समर्पित कर जाया करता है जहाँ 'ध्वनि' में ऐसा हुआ करता है कि वाच्यार्थ की विश्रान्ति के बाद वक्ता अथवा वाच्य के औचित्य-पर्यालोचन से स्तुति अथवा निन्दारूप वाच्यार्थ निन्दा अथवा स्तुतिरूप व्यङ्ग्यार्थ का प्रत्यायन किया करता है। 'विमर्शिनी'कार आचार्य जयरथ ने इसीलिये कहा है—

'अत एवास्या ध्वनेर्भेदः। स (ध्वनिः) हि विश्रान्ते वाच्यार्थे वक्त्राद्यौचित्यपर्यालोचनावशादवगम्यते। इह (व्याजस्तुतौ) पुनः प्रथमावगम्यमानम् वाच्यार्थस्य स्वयमनुपपद्यमानत्वात् परत्र निन्दादौ स्वं समर्पयति। तत्रैव प्रकृतवाक्यार्थस्य विश्रान्तेः।'
(अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृ० १४२)

और यही अभिप्राय 'रसगङ्गाधर'कार की इस उक्ति का भी है—

'आमुखेऽपि विशेषमेव ('अप्रस्तुतप्रशंसाभ्यां निन्दास्तुतिभ्यां स्तुतिनिन्दयोः क्रमेण पर्यवसाने व्याजस्तुतिः' इति लक्षणसूत्र उपात्ते यद् विशेषणं तेनेति) तयोः पर्यवसानमात्रं वदन् वाच्यत्वमभिप्रैति। अत एव नास्या ध्वनित्वम्। ध्वनौ हि विश्रान्ते वाच्येऽप्रस्तुतमहिम्नार्थान्तरमवगम्यते। न चैवं प्रकृते। (रसगङ्गाधर व्याजस्तुतिप्रकरण)

अनुवाद—'पर्यायोक्त' वह अलङ्कार है जिसे व्यङ्ग्य अर्थ के उक्तिवैचित्र्यपूर्वक अभिधान में देखा जाया करता है। इसका उदाहरण यह है—

"(यह वह प्रतापी दैत्यराज हयग्रीव है) जिसके सैनिक इन्द्राणी के केशों के सँवारने के काम में आने वाली नन्दनवन की पारिजात-मञ्जरियों को बड़ी उद्दण्डता के साथ तोड़ा करते हैं।

यहाँ जो व्यङ्ग्यार्थ निकल रहा है वह यह है कि 'हयग्रीव ने स्वर्ग पर विजय पा ली है' यह व्यङ्ग्यार्थ प्रस्तुतरूप अर्थ है और कारणरूप भी अर्थ है किन्तु इसे एक विशेष प्रकार के चमत्कार के उत्पादन के लिये इस रूप में न कह कर दूसरे रूप में अर्थात् कार्यरूप में कहा गया है क्योंकि यहाँ 'सैनिकों द्वारा पारिजात-मञ्जरियों के उद्दण्डतापूर्वक तोड़ने की बात'

एवञ्च—

'अनेन पर्यासयताऽश्रुबिन्दून् मुक्ताफलस्थूलतमान् स्तनेषु ।
प्रत्यर्पिताः शत्रुविलासिनीनामाक्षेपसूत्रेण विनैव हाराः ॥'

अत्र वर्णनीयस्य राज्ञो गम्यभूतशत्रुमारणरूपकारणवत्कार्यभूतं तथाविध-शत्रुस्त्रीक्रन्दनजलमपि प्रभावातिशयबोधकत्वेन वर्णनार्हमिति पर्यायोक्तमेव ।

'राजन् राजसुता न पाठयति मा देव्योऽपि तूष्णीं स्थिताः
कुब्जे ! भोजय मां कुमारसचिवैर्नाद्यापि किं भुज्यते ।
इत्थं राजशुकस्तवारिभवने मुक्तोऽध्वगैः पञ्जरा-
च्चित्रस्थानवलोक्य शून्यवलभावेकैकमाभाषते ॥'

अत्र प्रस्थानोद्यतं भवन्त श्रुत्वा सहसैवारयः पलायिता इति कारणं प्रस्तु-तम् । 'कार्यमपि वर्णनार्हत्वेन प्रस्तुतम्' इति केचित् ।

(हयग्रीव के स्वर्गविजयरूप कारण के) कार्यरूप में ही प्रतीत हो सकती है । यहाँ (वाच्य) कार्य से (व्यङ्ग्य) कारण की प्रतीति सी जो लग रही है उसमें कार्य से कारण की प्रतीति में होने वाली 'अप्रस्तुतप्रशंसा' का भ्रम नहीं होना चाहिये क्योंकि 'अप्रस्तुतप्रशंसा' में तो कार्य प्रस्तुत नहीं रहा करता किन्तु पर्यायोक्त में कारण की भाँति कार्य भी प्रस्तुत ही रहा करता है जैसे कि यहाँ ही (व्यङ्ग्य) स्वर्गविजयरूप कारण की भाँति वाच्यभूत हैं 'सैनिकजनकृत मञ्जरी त्रोटनरूप' कार्य भी प्रस्तुत ही लग रहा है क्योंकि इसी के द्वारा यहाँ वर्ण्य विषय (जैसे कि यहाँ दैत्यराज हयग्रीव) के प्रभावातिशय का प्रतिपादन किया जा रहा है ।

इसी प्रकार इस सूक्ति अर्थात्—

'इस प्रतापी भूपाल ने शत्रुनारियों के स्तनों पर मोतियों सरीखे उनके अश्रुकणों की वर्षा करके उन्हें ऐसे मुक्ताहार से विभूषित कर दिया है जिसमें गुम्फनसूत्र की भी आवश्यकता नहीं ।'

में भी जो अलङ्कार है वह 'पर्यायोक्त' ही है क्योंकि यहाँ भी वर्ण्य भूपालकृत शत्रुसंहाररूप कारण की भाँति, जो कि व्यङ्ग्य है, वाच्यरूप से अवस्थित, 'शत्रुनारीजनसवद्ध अश्रुजल-रूप' कार्य भी प्रस्तुत ही प्रतीत हो रहा है और वर्ण्यविषय का एक प्रभावशाली प्रति-पादन प्रकार सा ही लग रहा है ।

इस सूक्ति अर्थात्—

'राजन् ! आपके शत्रु के प्रासाद में पथिकों द्वारा पिंजड़ा खोलकर बाहर निकाला गया राजशुक, सूनी अटारी में अपने चित्रलिखित स्वामी आदि को देख-देख उन सबसे इस प्रकार कहा करता है—'महाराज ! राजकुमारी मुझे 'राम राम' नहीं सिखाती, राज-रानियाँ भी चुपचाप बैठी हुई हैं, अरी कुब्जे ! मुझे खाना क्यों नहीं देती, राजकुमार और उनके सचिव लोग भी क्या अब तक उपासे पड़े हैं ?'

में भी, कतिपय काव्याचार्य (वस्तुत साहित्यदर्पणकार और उनके अनुयायी लोग) 'पर्यायोक्त' ही मानते हैं क्योंकि उनके अनुसार यहाँ (कारण की भाँति) कार्य (राजशुक का अपने स्वामी आदि की मृत्यु में यह प्रलाप) भी वर्ण्य भूपाल के प्रभावातिशय के प्रतिपादनार्थ प्रस्तुतरूप से ही उपात्त है क्योंकि यहाँ (व्यङ्ग्यरूप से अवस्थित) 'राजन् !

अन्ये तु—'राजशुकवृत्तान्तेन कोऽपि प्रस्तुतप्रभावो बोध्यत इत्यप्रस्तुत प्रशंसैव' इत्याहुः ।

आपको विजययात्रा के लिये प्रस्थानोद्यत सुनकर शत्रुगण सहसा भाग खड़े हुये आदि कारण भी प्रस्तुत ही बना रहा है ।

किन्तु कुछ काव्याचार्य उपर्युक्त 'राजन्' आदि सूक्ति में 'अप्रस्तुत प्रशंसा' ही मानते हैं क्योंकि उनकी दृष्टि में यहाँ 'राजशुक के वृत्तान्त से किसी प्रस्तुत प्रभावशाली राजा का ही बोध' विवक्षित है ।

विमर्श—(क) 'अलङ्कारसर्वस्व'कार का 'पर्यायोक्त'विवेचन यह है—

'गम्यस्यापि भङ्ग्यन्तरेणाभिधानं पर्यायोक्तम् ।

यदेव गम्यतं तस्यैवाभिधाने पर्यायोक्तम् । गम्यस्य सतः कथमभिधानमिति चेद् गम्यापेक्षया प्रकारान्तरेणाभिधानस्याभावात् । न हि तस्यैव तदैव तथैव विच्छित्त्या गम्यत्वं वाच्यत्वं च सम्भवति । अतः कार्यमुखद्वारेणाभिधानम् ।' (अलङ्कारसर्वस्व पृ० १४२)

अर्थात् कोई भी अर्थ एक ही समय गम्य और वाच्य दोनों रूपों का नहीं हो सकता । इसलिये गम्य अर्थ का वाच्यरूप में अभिधान एक वैचित्र्य है जैसे कि यदि 'कारण'रूप प्रस्तुत अर्थ गम्य है तो उसे 'कार्य'रूप में अभिहित किया जा सकता है और यह अभिधान-वैचित्र्य 'पर्यायोक्त' की रूपरेखा है ।

विश्वनाथ कविराज के 'पर्यायोक्त'निरूपण पर इसका पूरा प्रभाव पड़ रहा है ।

(ख) प्राचीन अलङ्कारवादी काव्याचार्य 'पर्यायोक्त' को इसलिये एक अलङ्कारविशेष मानते रहे हैं क्योंकि इसमें व्यङ्ग्यरूप अर्थ का चमत्कार झलकता रहा है किन्तु ध्वनिवादी काव्याचार्य भी 'पर्यायोक्त' को एक अलङ्कार मानते हैं जैसा कि आचार्य अभिनवगुप्त का कथन है

अत एव पर्यायेण प्रकारान्तरेण अवगमनात्मना व्यङ्ग्येनोपलक्षितं सद्यदभिधीयते तदभिधीयमानमुक्तमेव सत् पर्यायोक्तमेवाभिधीयते इति लक्षणपदम् पर्यायोक्तमिति लक्ष्यपदम् अर्थालङ्कारत्वं सामान्यलक्षणञ्चेति सर्वं युज्यते ।

(ध्वन्यालोकलोचन, पृ० ११, निर्णयसागर संस्करण)

ध्वनिवादी अलङ्कारशास्त्र में 'पर्यायोक्त' का स्वरूप वही नहीं जो अलङ्कारवादी अलङ्कारशास्त्र में है । अलङ्कारवादी अलङ्कारशास्त्र के अनुसार तो प्रस्तुत अर्थ का वाच्यवाचकवृत्ति के अतिरिक्त व्यङ्ग्यव्यञ्जकवृत्ति द्वारा अभिधान 'पर्यायोक्त' है किन्तु ध्वनिवादी अलङ्कारशास्त्र में 'पर्यायोक्त' वह है जहाँ गम्य अर्थ का प्रकारान्तर से अभिधान हुआ करता है । 'पर्यायोक्त' में गम्य अथवा व्यङ्ग्य अर्थ उतना चमत्कारपूर्ण नहीं हुआ करता जितना कि उसका प्रकारान्तर से अभिधान ।

(ग) पण्डितराज जगन्नाथ ने 'पर्यायोक्त' की अन्य सम्भावनायें भी निर्दिष्ट की हैं—

'अथ वाक्यद्वारा क्वचित् कारणेन वाच्येन कार्यस्य गम्यत्वं क्वचित् कार्येण कारणस्य क्वचिदुभयोरपि सम्बन्धिनान्येन सम्बन्धिनान्तरस्य चेति विपुलविषयता ।

(रसगङ्गाधर पर्यायोक्तप्रकरण)

'तदेवं संक्षेपतस्थितिः । नागेशभट्टीयां तु पर्यायोक्तत्वे एकस्मिन्नेव विषयेऽनन्तप्रकाराः सम्पद्यन्ते किमुत विषयभेदे । यथा 'हर भवशिरागन्तव्यम्' इति विषये 'अयं देवोऽनङ्गदेव्याः' इति 'पतिव्रताकर्तव्या' इति 'सखकलत्रम्या कर्तव्या' इति 'प्रकाशनीया' इति 'पीयूषस्यास्य मायाम्बुनीयमपि' इति 'तमांसि तिरस्करणीयानि' इति 'अस्मदवनतो सन्तापो हरणीयः' इति 'मनोरथाः पूरणीयाः' इत्यादि । (रसगङ्गाधर, पृ० ५५९)

(२८—अर्थान्तरन्यास)

सामान्यं वा विशेषेण विशेषस्तेन वा यदि ।
कार्यं च कारणेनेदं कार्येण च समर्थ्यते ॥ ६१ ॥
साधर्म्येणेतरेणार्थान्तरन्यासोऽष्टधा ततः ।

क्रमेणोदाहरणम्—

(साधर्म्य के द्वारा सामान्य का विशेष से समर्थन)

'बृहत्सहायः कार्यान्तं क्षोदीयानपि गच्छति ।
सम्भूयाम्भोधिमभ्येति महानद्या नगापगा ॥'

अत्र द्वितीयार्धगतेन विशेषरूपेणार्थेन प्रथमार्धगतः सामान्योऽर्थः सोपपत्तिकः क्रियते ।

(साधर्म्य के द्वारा विशेष का सामान्य से समर्थन)

'यावदर्थपदां वाचमेवमादाय माधवः ।
विरराम महीयांसः प्रकृत्या मितभाषिणः ॥'

(साधर्म्य के द्वारा कार्य का कारण से समर्थन)

'पृथ्वि ! स्थिरा भव भुजङ्गम ! धारयैनां
त्वं कूर्मराज ! तदिदं द्वितयं दधीथाः ।
दिक्कुञ्जराः ! कुरुत तत्त्रितये दिधीर्षां
मार्यः करोति हरकार्मुकमाततज्यम् ॥'

अनुवाद—'अर्थान्तरन्यास' वह अलङ्कार है जिसे साधर्म्य अथवा वैधर्म्य के द्वारा, 'सामान्य' का विशेष से, 'विशेष' का सामान्य से, 'कार्य' का कारण से और 'कारण' का कार्य से समर्थन कहा गया है। इस 'अर्थान्तरन्यास' के इस प्रकार आठ भेद सिद्ध होते हैं। इनके क्रमशः उदाहरण ये हैं—

'बड़े की सहायता से छोटा भी कार्य सिद्ध कर लेता है। बड़ी नदी के साथ मिली छोटी पहाड़ी नदी भी समुद्र तक पहुँच जाती है।' (शिशुपालवध २. १००)

यहाँ पूर्वार्द्ध-प्रतिपाद्य 'सामान्य'रूप अर्थ द्वितीयार्ध-वर्णित 'विशेष'रूप अर्थ से समर्थित हो रहा है जिसमें साधर्म्य का सम्बन्ध स्पष्ट है (क्योंकि कार्यान्तगमन और समुद्रगमन परस्पर समान रूप से ही विवक्षित हैं)।

'श्रीकृष्ण ऐसी बात बोले जिसके शब्द और अर्थ परस्पर नपे-तुले रहे और इसके बाद चुप हो गये। वस्तुतः बड़े लोगों का यह स्वभाव ही है कि वे मितभाषी हुआ करते हैं।'

यहाँ पूर्वार्द्धगत अर्थ 'विशेष'रूप अर्थ है जिसका उत्तरार्धगत अर्थ से, जो कि 'सामान्यरूप है, समर्थन किया जा रहा है' यहाँ 'नपी-तुली बात' और 'मितभाषित्व' में परस्पर साम्य अथवा साधर्म्य भी स्पष्ट है जो कि इस 'समर्थन' का प्रयोजक है।

'अरी पृथिवी ! सम्हल जा, अरे शेषनाग ! पृथिवी को सम्हालो, अरे कूर्मराज ! पृथिवी और शेष दोनों को सम्हालो, अरे दिग्गजगण ! इन तीनों का सम्हालना तुम्हारा काम है, देखो, आर्य राम शिव के धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ा रहे हैं।'

अत्र कारणभूत हरकार्मुकावनम्रीकरण पृथिवीस्थैर्यादे: कार्यस्य समर्थकम्।

(साधर्म्य के द्वारा कारण का कार्य से समर्थन)

'सहसा विदधीत न क्रियाम्' इत्यादौ सम्पद्वरण कार्य सहसा विधानाभावस्य विमृश्यकारित्वरूपस्य कारणस्य समर्थकम्।

एतानि साधर्म्ये उदाहरणानि।

वैधर्म्ये यथा—

> 'इत्थमाराध्यमानोऽपि क्लिश्नाति भुवनत्रयम्।
> शाम्येत्प्रत्यपकारेण नोपकारेण दुर्जनः॥'

अत्र सामान्यं विशेषस्य समर्थकम्।

'सहसा विदधीत—' इत्यत्र सहसाविधानाभावस्यापत्पदत्वं विरुद्धं कार्यं समर्थकम्। एवमन्यत्।

यहाँ कार्य का कारण से समर्थन स्पष्ट है क्योंकि 'पृथिवी के सुस्थिर होने' आदि कार्यों को 'हरकार्मुक की नम्रता के बढ़ाने' के कारण द्वारा समर्थित किया जा रहा है। यहाँ जो 'साधर्म्य' है वह कार्य की उत्पत्तियोग्यता और कारण की उत्पादनयोग्यता का साम्य रूप है।

'सहसा विदधीत न क्रियाम्' आदि (किरातार्जुनीय-सूक्ति)। यहाँ कारण का कार्य द्वारा समर्थन स्पष्ट है क्योंकि 'सहसा कार्य न करना अर्थात् सोच-विचारकर कार्य करना' तो यहाँ कारणरूप से उपनिबद्ध है और 'वृणीवरण' (सम्पत्तिलाभ) के कार्य द्वारा समर्थित किया गया है (यहाँ 'सम्पत्प्राप्ति'रूप कार्य की उत्पत्तियोग्यता और 'विमृश्यकारित्व'रूप कारण की उत्पादनयोग्यता में साम्य के कारण 'साधर्म्य' की प्रयोजकता भी स्पष्ट है)।

ये उपर्युक्त उदाहरण तो साधर्म्यनिबन्धन समर्थ्यसमर्थक भाव के उदाहरण रहे।

निम्न सूक्ति में 'वैधर्म्य के द्वारा, विशेष का सामान्य से समर्थन' देखिए—

'यह तारकासुर, देवों द्वारा, इस प्रकार आराधना पाकर भी त्रिभुवन पर अत्याचार करता जा रहा है। दुष्ट प्रत्यपकार से शान्त हुआ करता है, उपकार से कहाँ? (कुमार संभव-२य सर्ग)'

यहाँ उत्तरार्धगत अर्थ 'सामान्य'रूप अर्थ है जिसके द्वारा पूर्वार्धगत 'विशेष'रूप अर्थ का समर्थन किया जा रहा है (यहाँ जो समर्थ्य-समर्थक भाव है उसमें वैधर्म्य का हाथ स्पष्ट है क्योंकि 'आराधना पाकर कोमलता का कार्य किया जाता है और यहाँ उसके विरुद्ध अत्याचार का कार्य हो रहा है)।

इसी प्रकार 'सहसा विदधीत' आदि सूक्ति में वैधर्म्य द्वारा 'कारण का कार्य से समर्थन' देखा जा सकता है क्योंकि यहाँ आपदाओं के प्रदान (आपत्पदत्व) रूप कार्य से 'सहसा क्रियाविधान के अभाव' अथवा 'विमृश्यकारित्व (सोच समझकर कार्य करने) का समर्थन किया जा रहा है जिसमें 'वैधर्म्य' की प्रयोजकता स्पष्ट है क्योंकि यहाँ 'विमृश्यकारित्व और आपत्पदत्व (कारण और कार्य) में जो संबन्ध है वह वैधर्म्य का ही संबन्ध है (साधर्म्य का नहीं)।

विमर्श—(क) 'अर्थान्तरन्यास' एक प्रसिद्ध अलङ्कार है। अलङ्कारशास्त्र के प्रवर्तकाचार्य

भामह ने भी इसका निरूपण किया है। आचार्य भामह के शब्दों में इस अलङ्कार का स्वरूप यह है—

'उपन्यसनमन्यस्य यदर्थस्योदिताद्दते। ज्ञेयस्सोऽर्थान्तरन्यासः पूर्वार्थानुगतो यथा ॥'

(काव्यालङ्कार २. ७१)

वस्तुत यही बात आचार्य दण्डी को भी मान्य है—

'ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासो वस्तु प्रस्तुत्य किञ्चन।
तत्साधनसमर्थस्य न्यासो योऽन्यस्य वस्तुनः॥ (काव्यादर्श २. १६९)

'अर्थान्तरन्यास' शब्द की व्युत्पत्ति से भी यही अभिप्राय निकलता है—

'अर्थ्यते इति अर्थ· प्रस्तुत इति यावत्, अन्य· अर्थः अर्थान्तरं तस्य न्यासः'

अर्थात् प्रस्तुत से अतिरिक्त अप्रस्तुत अर्थ का ऐसा उपनिबन्ध जो कि अन्ततोगत्वा प्रस्तुत का समर्थक हो, 'अर्थान्तरन्यास' है। अलङ्कारसर्वस्वकार ने इस अलङ्कार की यह समीक्षा की है—

'सामान्यविशेषकार्यकारणभावाभ्यां निर्दिष्टप्रकृतसमर्थनमर्थान्तरन्यासः।'

निर्दिष्टस्याभिहितस्य समर्थनार्हस्य प्रकृतस्य समर्थकात्पूर्वं पश्चाद्वा निर्दिष्टस्य यत्समर्थनमुपपादनं न स्वपूर्वत्वेन प्रतीतिरनुमानरूपा सोऽर्थान्तरन्यासः। तत्र सामान्यं विशेषस्य विशेषो वा सामान्यस्य समर्थक इति द्वौ भेदौ। तथा कार्यं कारणस्य कारणं वा कार्यस्य समर्थकमित्यपि द्वौ भेदौ। तत्र भेदचतुष्टये प्रत्येकं साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां भेदद्वयेऽष्टौ भेदाः। हिशब्दाभिधानानभिधानाभ्यां समर्थकपूर्वोपन्यासोत्तरोपन्यासाभ्यां च भेदान्तरसंभवेऽपि न तद्गणना सहृदयहृदयहारिणी। वैचित्र्यस्याभावात्। तस्माद् भेदाष्टकमेवेहोट्टङ्कितम्।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १३९)

अर्थात् 'अर्थान्तरन्यास' एक इस प्रकार का वाच्यचमत्कार है जिसमें उपपादन की अपेक्षा रखने वाले 'प्रकृत' का, चाहे वह पहले निर्दिष्ट किया गया हो या बाद में निर्दिष्ट किया जाय, समर्थक वाक्य द्वारा उपपादन अथवा समर्थन कहा करते हैं। 'अर्थान्तरन्यास' में प्रकृत का समर्थन होता है न कि उसका अनुमानतः नवीन अनुभव। 'सामान्य' वस्तु का विशेष से और 'विशेष' वस्तु का 'सामान्य' से उपपादन 'हि', 'यत्' आदि शब्दों के उपादान में शाब्द भी हो सकता है और इन शब्दों के अनुपादान में आर्थ भी।

(ख) 'अर्थान्तरन्यास' और दृष्टान्त' भिन्न भिन्न रूप के अलङ्कार हैं जैसा कि 'उद्योत'कार का कथन है—

'अनुपपद्यमानतया सम्भाव्यमानस्यार्थस्योपपादनार्थं यदर्थान्तरं न्यस्यते सोऽर्थान्तरन्यास। दृष्टान्ते तु सामान्यं सामान्येन विशेषो विशेषेण समर्थ्यते इति ततो भेद।'

अर्थात् अर्थान्तरन्यास में तो 'सामान्य'रूप सम्भाव्य अर्थ के समर्थन के लिये, 'विशेष'रूप अर्थान्तर का और 'विशेष'रूप सम्भाव्य अर्थ के समर्थन के लिये 'सामान्य'रूप अर्थान्तर का उपन्यास हुआ करता है किन्तु 'दृष्टान्त' में ऐसा होता है कि 'सामान्य' का समर्थन 'सामान्य' से और 'विशेष' का समर्थन 'विशेष' से ही किया जाया करता है।

(ग) विश्वनाथ कविराज ने 'अलङ्कारसर्वस्व'कार की मान्यता का ही अनुसरण कर कार्यकारणभाव के आश्रय पर 'अर्थान्तरन्यास' के दो भेदों का निरूपण किया है। किन्तु 'अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी'कार की दृष्टि में 'अर्थान्तरन्यास' के कार्यकारणभावनिबन्धन दोनों भेद युक्तियुक्त नहीं हैं—

कार्यकारणभावाश्रयस्य भेदद्वयस्य काव्यलिङ्गत्वं ग्रन्थकृदेव वक्ष्यतीति सामान्यविशेषभावाश्रयमेव भेदद्वयमाश्रयणीयम् (अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी [illegible])

(१९—काव्यलिङ्ग)

हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते ॥ ६२ ॥

तत्र वाक्यार्थता यथा—

> 'यस्यन्नेत्रसमानकान्ति सलिले मग्नं तदिन्दीवरं
> मेघैरन्तरितः प्रिये ! तव मुखच्छायानुकारी शशी ।
> येऽपि त्वद्गमनानुकारिगतयस्ते राजहंसा गता-
> स्त्वत्सादृश्यविनोदमात्रमपि मे दैवेन न क्षम्यते ॥'

अत्र चतुर्थपादे पादत्रयवाक्यानि हेतवः ।

पदार्थता यथा मम—

> 'त्वद्वाजिराजिनिर्धूतधूलीपटलपङ्किलाम् ।
> न धत्ते शिरसा गङ्गां भूरिभारभिया हरः ॥'

अत्र द्वितीयार्धे प्रथमार्धमेकपदं हेतुः ।

अनेकपदं यथा मम—

> 'पश्यन्त्यसंख्यपथगां त्वद्दानजलवाहिनीम् ।
> देव ! त्रिपथगात्मानं गोपयत्युग्रमूर्धनि ॥'

'रसगङ्गाधर'कार का भी यही मत है—

'यत्तु कारणेन कार्यस्य कार्येण कारणस्य वा समर्थनम् इत्यपि भेदद्वयमर्थान्तरन्यासस्याऽलङ्कारसर्वस्वकारो व्यरूपयत् तन्न । तस्य काव्यलिङ्गविषयत्वात् ।' (रस० गङ्गा०)

अनुवाद—'काव्यलिङ्ग' वह अलङ्कार है जिसे किसी अर्थ के उपपादन के लिये 'वाक्यार्थ अथवा पदार्थ' के हेतुरूप से उपनिबन्धन में देखा जाया करता है।

जैसे कि 'वाक्यार्थ के हेतुरूप में उपनिबन्धन में 'काव्यलिङ्ग' जिसका उदाहरण यह है—

'हे कामिनि ! तुम्हारी नेत्र-कान्ति की भाँति कान्तिवाला नीलकमल तो पानी में डूब गया, तुम्हारी मुख-कान्ति सी कान्तिवाला चन्द्रमा मेघों के पर्दे में छिप गया और तुम्हारी विचित्र चाल सी चालवाले राजहंस (वर्षा के आते ही) मानसरोवर भाग निकले। ओह ! ऐसा लगता है जैसे दैव को यह भी सह्य नहीं कि मैं तुम्हारे सादृश्य के साथ भी अपना मन बहला सकूँ !'

यहाँ प्रथम तीन चरणों के वाक्यार्थ चौथे चरण के वाक्यार्थ के (काव्यात्मक) उपपादन के लिये हेतुरूप से उपनिबद्ध हैं।

इसी प्रकार 'पदार्थ के हेतुरूप में उपनिबन्धन में काव्यलिङ्ग' का यह स्वरचित निदर्शन—

'राजन् ! रणभूमि में आपके अश्वसंघों के द्वारा उड़ाई हुई धूलराशि से पंकिल गङ्गा का भारी बोझ के डर से, महादेव शिव अपने मस्तक पर धारण नहीं करते।'

यहाँ प्रथम चरण का (त्वद्वाजिराजिनिर्धूतधूलीपटलपङ्किलाम्) समस्त पद पर द्वितीय चरण के उपपादकरूप से ही उपन्यस्त दिखायी दे रहा है।

इसी भाँति 'अनेक पदार्थ के भी हेतुरूप में उपनिबन्धन में काव्यलिङ्ग' का यह स्वरचित उदाहरण देखिए—

'महाराज ! आपके दान-सङ्कल्प के जल की नदी को असंख्य मार्गों में प्रवाहित देख-देखकर त्रिपथगा गङ्गा अपने आपको भगवान् शिव के जटा-जूट में छिपा रही है।'

इह केचिद् वाक्यार्थगतेन काव्यलिङ्गेनैव गतार्थतया कार्यकारणभावेऽर्थान्तरन्यासं नाद्रियन्ते। तदयुक्तम्, तथा ह्यत्र हेतुस्त्रिधा भवति—ज्ञापको निष्पादकः समर्थकश्चेति। तत्र ज्ञापकोऽनुमानस्य विषयः, निष्पादकः काव्यलिङ्गस्य, समर्थकोऽर्थान्तरन्यासस्य, इति पृथगेव कार्यकारणभावेऽर्थान्तरन्यासः काव्यलिङ्गात्। तथा हि—'यत्त्वन्नेत्र–' इत्यादौ चतुर्थपादवाक्यम्, अन्यथा साकाङ्क्षतयासमञ्जसमेव स्यात् इति पादत्रयगतवाक्य निष्पादकत्वेनापेक्षते। 'सहसा विदधीत–' इत्यादौ तु—

'परापकारनिरतैर्दुर्जनैः सह सङ्गतिः।
वदामि भवतस्तत्त्व न विधेया कदाचन॥'

[यहाँ पूर्वार्ध के अनेकों पद (के अर्थ) उत्तरार्ध के अर्थ के उपपादक हेतु के रूप में उपन्यस्त हैं।]

कुछ काव्याचार्यों (जैसे कि काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट आदि) का यहाँ यह कहना है कि जब कि वाक्यार्थगत 'काव्यलिङ्ग' में ही कार्य से कारण और कारण से कार्य का समर्थन-वैचित्र्य अन्तर्भूत हो जाता है तब कार्य से कारण और कारण से कार्य के समर्थनरूप 'अर्थान्तरन्यास' की कोई आवश्यकता नहीं। किन्तु उनका यह कथन युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता। यहाँ इस प्रकार देखना है—'हेतु' तीन प्रकार का हो सकता है—(१) ज्ञापक हेतु, (२) निष्पादक हेतु और (३) समर्थक हेतु। इनमें 'ज्ञापक' रूप हेतु अनुमानालङ्कार का विषय है और जिसे 'निष्पादक' रूप हेतु कहते हैं वह 'काव्यलिङ्ग' का विषय है और तीसरा अर्थात् 'समर्थक'रूप हेतु 'अर्थान्तरन्यास' का ही विषय हो पाता है। इस प्रकार यह नि सदिग्ध है कि कार्यकारणभाव का 'अर्थान्तरन्यास' (जिसमें समर्थक हेतु रहा करता है) कार्यकारणभावगत 'काव्यलिङ्ग' से (जिसके लिये निष्पादक हेतु की अपेक्षा है) सर्वथा भिन्न प्रकार का ही अलङ्कार है और इसे 'यत्त्वन्नेत्रसमानकान्ति' आदि सूक्ति में देखा जा सकता है जिसका चौथा चरण साकांक्ष पड़ा है और अपने निष्पादक हेतु के रूप में पहले तीन चरणों के वाक्यार्थ की अपेक्षा कर रहा है जिससे वह समजस बन जाता है।

यहाँ एक बात ध्यान देने की है और वह यह है कि 'सहसा विदधीत न क्रियाम्' आदि सूक्ति में, जिसमें कार्यकारण भाव पर आश्रित 'अर्थान्तरन्यास' है, 'काव्यलिङ्ग' की शङ्का नहीं होनी चाहिये। कारण यह है कि यहाँ बिना विचारे कार्य न किया जाय' यह वाक्यार्थ स्वय उपपन्न है और इसे किसी अन्य उपपादक वाक्य की कोई आकांक्षा नहीं दिखायी देती क्योंकि इसमें उसी प्रकार का उपदेश है जैसे कि इस सूक्ति अर्थात्—

'परापकारी दुर्जन पुरुषों का सग कदापि न करना चाहिये—यही सच्ची बात है जिसे मैं बता रहा हूँ।' आदि में। 'विमृश्यकारी व्यक्ति को सम्पत्ति स्वय वरण करती है'—यह वाक्यार्थ 'बिना सोचे-समझे कार्य न किया जाय' इस वाक्यार्थ का केवल समर्थन करने के लिये उपनिबद्ध है न कि इसके हेतुरूप में उपन्यस्त है। इससे यह स्पष्ट है कि कार्यकारणभाव-निबन्धन 'अर्थान्तरन्यास' जिसमें एक वाक्यार्थ, अपनी उपपत्ति के लिये, दूसरे वाक्यार्थ की आकांक्षा नहीं किया करता 'काव्यलिङ्ग' से सर्वथा भिन्न है जिसमें एक वाक्यार्थ दूसरे उपपादक वाक्यार्थ की आकांक्षा रखा करता है।

इत्यादिषु तु परैरामात्रेणापि निराकाङ्क्षतया स्वतोऽपि गतार्थं सहसा विवा-
दमार्थं सम्प्रकरणं सोपपत्तिकमेव करोतीति पृथगेव कार्यकारणभावेऽर्थान्तर-
न्यास: काव्यलिङ्गात्।

न मन्ये शिरसा गङ्गां भूरिभारभिया हर।
त्वद्वाजिराजिनिर्धूतधूलिभिः पङ्किला हि सा॥'

इत्यत्र हिशब्दोपादानेन पङ्किलत्वादिविषयहेतुत्वस्य स्फुटतया नायमलङ्कारः
वैचित्र्यस्यैवालङ्कारत्वात्।

यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि जहाँ उपपादक हेतु का उपन्यास हेतुत्व में किया गया हो वहाँ काव्यलिङ्ग नहीं हुआ करता (क्योंकि काव्यलिङ्ग के लिये व्यङ्ग्य की अपेक्षा हुआ करती है वाच्य हेतु की नहीं)। जैसे कि यदि निम्न सूक्ति अर्थात्—

'राजन्! महादेव ने बहुत भारी बोझ के डर से गङ्गा को अपने सिर पर रखना छोड़ दिया है क्योंकि अब यह तुम्हारी अश्वसेनाओं से उड़ायी गयी धूल के कारण कीचड़ ही कीचड़ हो गयी है।'

आदि को देखा जाय जहाँ (हेतुत्वबोधक) 'हि' (हि हेतावधारणे) शब्द के उपादान से हेतुत्व की वाच्यता स्पष्ट है और ऐसा लगता है जैसे (त्वद्वाजिराजिनिर्धूत-धूलिभिः) 'पङ्किलत्वात्' के अर्थ में ही 'हि' पद प्रयुक्त किया गया है तो यह निस्संदिग्ध है कि यहाँ 'काव्यलिङ्ग' अलङ्कार की कोई संभावना नहीं। अलङ्कार तो वैचित्र्य को कहते हैं और जब कि हेतु की वाच्यता में वैचित्र्य ही नष्ट हो गया तब 'अलङ्कार' ही कहाँ रहा!

विमर्श—(क) भामह और दण्डी आदि प्राचीन काव्याचार्य 'काव्यलिङ्ग' को अलङ्कार नहीं मानते। उनकी दृष्टि में वैचित्र्य ही अलङ्कार है और काव्यलिङ्ग में कोई वैचित्र्य नहीं इसलिये यहाँ किसी प्रकार का 'अलङ्कारत्व' नहीं। 'काव्यलिङ्ग' केवल 'निर्हेतुत्व' दोष का अभावमात्र माना जा सकता है। 'रसगङ्गाधर'कार ने इसलिये कहा है—

'अत्र वदन्ति—काव्यलिङ्गं नालङ्कारः। वैचित्र्यात्मनो विच्छित्तिविशेषस्याभावात्। स हि चमत्कारसंसर्गेण कविप्रतिभाविशेष तन्निर्मितत्वप्रयुक्तचमत्कृतिविशेषो वेत्युच्यम्। न चाय-योरन्यतरस्याप्यत्र सम्भवः। हेतुहेतुमद्भावस्य वस्तुसिद्धत्वेन कविप्रतिभानिर्वर्त्यायोगात्। अत एव चमत्कृतिरपि दुर्लभा। सर्वेषामिति विच्छित्तिविशेषोऽत्राप्यस्तीति तु न वाच्यम्। तस्य श्लेषार्थप्रयोज्यत्वेन काव्यलिङ्गस्यालङ्कारतापादकत्वासिद्धेः। अत तूपस्कारकवैचित्र्याधिकरणं तदुपस्कार्यवैचित्र्यं तथाऽस्तु नामोपस्कारकादुपस्कार्यस्य पृथग-लङ्कारत्वम्। यथाऽऽहि उपोद्धे हेतूपमेयेषु। अत तूपस्कारकवैचित्र्य एव विश्रान्ति स्तत्रोपस्कार्यमलङ्कार एव। यथा मन्यते। एवं तर्हि बहूनामलङ्कारत्वेन प्राचीनैरनङ्गीकृता-नामलङ्कारतापत्तिरिति चेत्, अस्तु, किं नश्छिन्नम्। तस्मात् निर्हेतुत्वदोषाभाव-काव्यलिङ्गमित्यपि वदन्ति। (रसगङ्गाधर काव्यलिङ्गप्रकरण)

अर्थात् 'काव्यलिङ्ग' को अलङ्कार मानना अनुचित है क्योंकि 'काव्यलिङ्ग' में वह शोभा नहीं जिसे विच्छित्ति कहा जाया करता है। न तो 'काव्यलिङ्ग' में कविप्रतिभा का ही कोई हाथ है जिससे उसे अलङ्कार माना जाय और न किसी चमत्कारविशेष का ही कोई पुट है जिससे उसमें किसी वैचित्र्य का पता चले। दो वस्तुओं का हेतुहेतुमद्भाव वास्तविक हुआ करता है, कवि-प्रतिभानिर्वर्तित नहीं। यहाँ यह भी कहना ठीक नहीं कि 'श्लेष' आदि के अनुप्राणन से काव्यलिङ्ग को अलङ्कार माना जा सकता है क्योंकि तब तो 'श्लेष' के ही अलङ्कार मानने से काम चल जाता

है 'काव्यलिङ्ग' को पृथक् अलङ्कार मानने की क्या आवश्यकता है ? ऐसे प्रसंगों में जो भी चमत्कार है वह उपस्कारक 'श्लेष' का चमत्कार है न कि उपस्कार्य 'काव्यलिङ्ग' का। अन्ततोगत्वा यही कहा जा सकता है कि 'काव्यलिङ्ग' कोई अतिरिक्त अलंकार-तत्त्व नहीं अपितु 'निर्हेतुत्व' दोष का अभाव-रूप है।

(ख) साहित्यदर्पणकार ने 'अलंकारसर्वस्व'कार के काव्यलिङ्ग-विवेचन के आधार पर 'काव्य-लिङ्ग' का लक्षण निरूपण किया है। किन्तु 'अलंकारसर्वस्वविमर्शिनी'कार की इन युक्तियों के देखते यही प्रतीत होता है कि अलङ्कारसर्वस्व का काव्यलिङ्ग विवेचन केवल प्राचीन आलङ्कारिक (आचार्य उद्भटप्रवर्तित) परम्परा का अनुसरणमात्र है न कि वस्तुतत्त्व का पर्यालोचन—

'ननु हेतोर्वाक्यपदार्थोभयनिबन्धे न कश्चिद्विच्छित्तिविशेष' प्रतीयत इति कथमस्याऽलङ्कारत्वमुक्तम्। न हि साध्यसाधनायोपात्तस्य हेतोरेव प्रकारद्वयातिरेकेणोपनिबन्धः स्यात्। न च यथासंभवविनोपनिबन्धमात्रेणालङ्कारत्वं वक्तु युक्तम्। कविप्रतिभात्मकस्य विच्छित्तिविशेषात्मकस्यालङ्कारत्वेनोक्तत्वात्। न चैवमुपनिबन्धात् कश्चिदतिशय इति कथमस्यालङ्कारत्वम्'। सत्यम्। यद्यप्येवमुपनिबन्धस्य वस्तुवृत्तेरसम्भवान्न कश्चिदतिशयः प्रतीयते तथापि ग्रन्थकृता प्राच्यैर्लक्षितत्वादेतदिह लक्षितम्। "अथ साध्यप्रतीतये हेतोरुपनिबन्धादस्त्येव वैचित्र्यातिशय इति चेत् तर्ह्यनुमानमेवेदं स्यान्नालङ्कारान्तरम्। साध्यसाधनस्य तल्लक्षणत्वेन वक्ष्यमाणत्वात्। एवं हेतोर्वाक्यपदार्थतयोपनिबद्धस्य वास्तवत्वादस्य पृथगलङ्कारत्वं न युक्तम्। उक्तवक्ष्यमाणनीत्याऽनुमान एवान्तर्भावोपपत्तेः।'

(अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १८३-१८४)

ऐसी स्थिति में 'साहित्यदर्पण'कार का 'काव्यलिङ्ग'-निरूपण केवल एक प्राचीन आलङ्कारिक परम्परा का अनुसरणमात्र-सा लगता है न कि और कुछ।

(ग) साहित्यदर्पणकार ने हेतुत्रय के विभाग के आधार पर अनुमान, अर्थान्तरन्यास और काव्यलिङ्ग का जो विषय-विभाजन किया है वह एक नवीन कल्पना है। प्राचीन काव्याचार्य 'ज्ञापक' और 'कारक' दो ही हेतु मानते रहे हैं जैसा कि आचार्य दण्डी का कथन है—

'कारकज्ञापकौ हेतू तौ चानेकविधौ तथा' (काव्यादर्श २-२३५)।

और जैसे अग्निपुराण (३४३, २९-३०) ने निर्दिष्ट किया है—

'सिसाधयिषितार्थस्य हेतुर्भवति साधकः।
कारको ज्ञापक इति द्विधा सोऽप्युपजायते॥'

इन दोनों हेतुओं में 'कारक' हेतु का अभिप्राय यह है—

'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च प्रयुक्तिं चान्तरा विशन्।
उदासीनोऽपि वा कुर्यात् कारकं तत् प्रचक्षते॥'

(सरस्वतीकण्ठाभरण, ३ १३)

अर्थात् 'कारक' हेतु वह है जो कि उदासीन रहते हुये भी प्रवृत्ति, निवृत्ति और प्रयुक्ति का सम्पादक हुआ करता है।

जिसे 'ज्ञापक' हेतु कहते हैं उसका स्वरूप यह है—

'द्वितीया च तृतीया च चतुर्थी सप्तमी च यम्।
क्रियानाविष्टमाचष्टे लक्षणं ज्ञापकश्च यः॥'

अर्थात् वह हेतु जो 'ज्ञापक' हुआ करता है किसी क्रिया का निर्वर्तक नहीं हुआ करता—अपितु कार्य अथवा कारणरूप से रहते हुये कारण अथवा कार्य की स्थिति का समर्थन मात्र किया करता है।

(१०—अनुमानालङ्कार)

अनुमानं तु विच्छित्त्या ज्ञानं साध्यस्य साधनात् ।

यथा—

'जानीमहेऽस्या हृदि सारसाक्ष्या विराजतेऽन्तः प्रियवक्त्रचन्द्रः ।
तत्कान्तिजालैः प्रसृतैस्तदङ्गेष्वापाण्डुता कुड्मलताक्षिपद्मे ॥'

अत्र रूपकवशाद्विच्छित्तिः ।

यथा वा—

'यत्र पतत्यबलानां दृष्टिर्निशिताः पतन्ति तत्र शराः ।
तच्चापरोपितशरो धावत्यासां पुरः स्मरो मन्ये ॥'

अत्र कविप्रौढोक्तिवशाद्विच्छित्तिः । उत्प्रेक्षायामनिश्चिततया प्रतीतिः, इह तु निश्चिततयेत्युभयोर्भेदः ।

साहित्यदर्पणकार ने 'कारक' हेतु को ही 'निष्पादक' और 'समर्थक' दो भिन्न रूपों में विभक्त कर 'काव्यलिङ्ग' और 'अर्थान्तरन्यास' की भेद-सिद्धि की है जिसमें नवीनता अवश्य है किन्तु युक्तियुक्तता नहीं ।

अनुमान—'अनुमान' वह अलङ्कार है जिसे एक विच्छित्ति के साथ साधन द्वारा साध्य का ज्ञान कहा जाया करता है । जैसे कि—

'ऐसा लगता है जैसे इस कमलनयनी सुन्दरी के हृदय में उसके प्रियतम का मुख-चन्द्र विराज रहा है क्योंकि तभी तो उसकी सर्वत्र फैलने वाली शुभ्र कान्ति से इसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग पाण्डु (श्वेत-पीत) वर्ण के हो रहे हैं और नेत्रकमल भी मुकुलित (मुँदे) दिखायी पड़ रहे हैं ।

यहाँ 'अनुमान' अलङ्कार है जिसमें रूपक—वस्तुतः निरङ्ग केवलरूपक ('वक्त्रचन्द्र' तथा 'अक्षिपद्म' का रूप्यरूपकभाव) के कारण एक चमत्कारविशेष की प्रतीति स्पष्ट है ।

अथवा, जैसे कि—

'जहाँ सुन्दरियों के कटाक्ष पड़ते हैं वहीं काम के बाण बरसने लगते हैं । ऐसा प्रतीत होता है जैसे इन सुन्दरियों के आगे-आगे धनुष पर बाण चढ़ाये कामदेव दौड़ता जा रहा हो ।

यहाँ भी 'अनुमान' ही अलङ्कार है किन्तु इसकी विच्छित्ति का विधान (कोई अन्य अलङ्कार नहीं अपितु) कवि की प्रौढ उक्ति है ।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि 'उत्प्रेक्षा' और 'अनुमान' भिन्न-भिन्न प्रकार के अलङ्कार हैं क्योंकि 'उत्प्रेक्षा' में सम्भावनात्मक ज्ञान अनिश्चितरूप का रहा करता है किन्तु 'अनुमान' में यह निश्चितरूप का हो जाया करता है ।

विमर्श—(क) 'अनुमान' लोक और काव्य दोनों के क्षेत्र की वस्तु है । लौकिक 'अनुमान' में कोई चमत्कार नहीं रहा करता । किन्तु काव्यात्मक 'अनुमान' चमत्कारपूर्ण हुआ करता है । चमत्कारपूर्ण 'अनुमान' ही अनुमानालङ्कार है । 'अनुमान' में चमत्कार का आधान कविप्रतिभा का कार्य है जैसा कि 'रसगङ्गाधर' का भी कथन है—

'अनुमितिकरणमनुमानम्—

अनुमितिश्चानुमितित्ववती । अनुमितित्वं चानुमिनोमीति मानससाक्षात्कारसाक्षिके

(३१—हेत्वलङ्कार)

अभेदेनाभिधा हेतुर्हेतोर्हेतुमता सह ॥ ६३ ॥

जातिविशेष' । व्याप्तिप्रकारकपक्षधर्मतानिश्चयजन्यज्ञान वानुमिति.। तस्याश्च करणं व्याप्तिप्रकारकलिङ्गनिश्चय इत्येके । व्याप्यत्वेन निश्चीयमानं लिङ्गमित्यपरे । इदं च साधारणमनुमानम् । अस्य च कविप्रतिभोल्लिखितत्वेन चमत्कारित्वे काव्यालङ्कारता ।' (रसग० अनु०)

(ख) 'अनुमान' शब्द की व्युत्पत्ति, जैसा कि नैयायिकों का मत है, यह है—'अनुमीयते अनेन इत्यनुमानम् (करणे ल्युट्) ।' इस दृष्टि से 'अनुमान' अथवा 'अनुमितिकरण' का अभिप्राय 'परामर्श' अथवा 'तृतीय लिङ्गपरामर्श' है । कुछ नैयायिक 'लिङ्गज्ञान' अथवा 'व्याप्तिज्ञान' को अनुमितिकरण कहा करते हैं । किन्तु आलङ्कारिकों की 'अनुमान' की व्युत्पत्ति यह है—

'अनुमीयत इत्यनुमानम् (भावे ल्युट्) ।'

अर्थात् 'अनुमान' साधन से साध्य का ज्ञान है । 'अनुमिति' ही अनुमान है । यह 'अनुमान' (अथवा 'अनुमिति') तभी अलङ्कार हो सकता है जब कि उसमें लौकिक अनुमान से विलक्षणता हो । लौकिक अनुमान अथवा तार्किक अनुमान लोक-जीवन की प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति से सबद्ध है किन्तु काव्यात्मक अनुमान का प्रयोजन काव्यपाठक के हृदय में चमत्कार का उत्पादन है । आचार्य जयरथ (अलकारसर्वस्वविमर्शिनी के रचयिता) ने इसीलिये कहा है—

'अतश्चास्य (अनुमानालङ्कारस्य) कविकर्मैव वैलक्षण्यनिमित्तमिति भावः । एवं च कविकर्माभावाद् यत्र विच्छित्तिविशेषाश्रयण न स्यात् तत्र नायमलङ्कार । यथा—'यो यत्कथाप्रसङ्गेच्छिन्नच्छिन्नायतोष्णनिश्वास' । स भवति तं प्रति रक्तस्त्वं च तथा दृश्यसे सुतनु ॥' अत्र रक्तत्व प्रति विशिष्टस्य नि.श्वसितस्यार्थेऽपि हेतुत्वे वास्तवत्वात् कविप्रतिभानिर्वर्तितत्वाभावान्नायमलङ्कार । कविकर्मण एवालङ्कारनिबन्धनत्वेनोक्तत्वात् आर्थत्वस्य तदप्रयोजकत्वात् ।' (अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १८३)

(ग) अलङ्कारान्तरगर्भ 'अनुमान' के अतिरिक्त शुद्ध 'अनुमान' भी अनुमानालङ्कार हुआ करता है । शुद्ध 'अनुमान' के उदाहरणरूप में आचार्य रुय्यक ने निम्न सूक्ति उद्धृत की है—

'यत्रैता लहरीचलाचलदृशो व्यापारयन्ति भ्रुवं यत्तत्रैव पतन्ति संततममी मर्मस्पृशो मार्गणाः। तच्चक्रीकृतचापमञ्चितशरप्रेङ्खत्कर. क्रोधनो धावत्यग्रत एव शासनधर. सत्य सदासां स्मर.॥'

यह सूक्ति कितनी सुन्दर है ! इसी सूक्ति को अपने शब्दों में गढते हुये साहित्यदर्पणकार ने 'यत्र पतत्यबलानाम्' आदि सूक्ति गढी है जिसमें 'अनुमान' का लक्षण तो अवश्य घटता है किन्तु 'काव्यात्मकता' नहीं घटित होती । कारण यह है कि 'अबलानाम्' की ध्वनि में वह सौन्दर्य नहीं जो कि 'लहरीचलाचलदृश ' की ध्वनि में है जो कि यहाँ अत्यन्त उपयोगी है ।

(घ) अनुमानालङ्कार के विवेचन में रसगङ्गाधरकार की दृष्टि बड़ी सूक्ष्म है । 'रसगङ्गाधर'कार ने 'अनुमान' की रूपरेखा का यह विशद दर्शन किया है—

'अत्रेद बोध्यम्—मन्ये इत्यादिवाचकपदोपादाने वाच्यमनुमानम् । वक्ति, कथयतीत्यादि लक्षकपदोपादाने लक्ष्यम्। तदन्यतरानुपादाने साध्याचिसायामनुमितौ प्रतीयमानम् । साध्यस्याप्यनुपादाने लिङ्गमात्रोपादानेन यत्रागूर्यमाण साध्यं तत्र ध्वन्यमानम् । ''अतोऽनुमितिरेवानुमानम् । तस्याश्च वाच्यत्व लक्ष्यत्व-प्रतीयमानत्व ध्वन्यमानत्वानां साम्राज्यम् ल्युटश्च करण इव भावेऽपि ।' (रसगङ्गाधर अनुमानप्रकरण)

अनुवाद—'हेतु' वह अलङ्कार है जिसे हेतुमान् के साथ हेतु का अभेदरूप से वर्णन कहा गया है ।

यथा मम—'तारुण्यस्य विलास'—' इत्यत्र वशीकरणहेतुर्नायिका वशीकरणत्वेनोक्ता, विलासह्रासयोस्त्वध्यवसायमूलोऽयमलङ्कारः।

(११—अनुकूलालङ्कार)

अनुकूलं प्रातिकूल्यमनुकूलानुबन्धि चेत्।

यथा—

'कुपितासि यदा तन्वि ! निधाय करजक्षतम्।
बधान भुजपाशाभ्यां कण्ठमस्य दृढं तदा॥'

इसका उदाहरण मेरी स्वरचित सूक्ति—'तारुण्यस्य विलास' आदि है। यहाँ 'हेतु' अलङ्कार इसलिये है क्योंकि (प्रेमी पुरुषों के हृदय के) वशीकरण की 'हेतु' रूप नायिका को 'वशीकरण'रूप से वर्णित किया गया है। साथ ही साथ (तारुण्यस्य विलासः में) 'विलास' और (समधिकलावण्यसंपदो ह्रासः में) 'ह्रास' में अभेदाध्यवसायमूलक 'हेतु' अलङ्कार स्पष्ट दिखायी दे रहा है।

विमर्श—(क) आचार्य भामह की दृष्टि में 'हेतु' नाम का कोई भी अलङ्कार नहीं। आचार्य दण्डी ने 'हेतु' को वाणी अथवा कविता का उत्तम भूषण कहा है—

हेतुश्च सूक्ष्मलेशौ च वाचामुत्तमभूषणम्। (काव्यादर्श २ २३५)

किन्तु आचार्य दण्डी का 'हेतु' अलङ्कार 'काव्यलिङ्ग' अलङ्कार है।

आचार्य रुद्रट 'हेतु' अलङ्कार के सर्वप्रथम समर्थक आलङ्कारिक हैं—

हेतुमता सह हेतोरभिधानमभेदकृद्भवेद्यत्र।
सोऽलङ्कारो हेतुः स्यादन्येभ्यः पृथग्भूतः॥ (काव्यालङ्कार ७.८२)

किन्तु काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट ने आचार्य रुद्रट का खण्डन किया है और 'हेतु' को अतिरिक्त अलङ्कार न मानने का आदेश दिया है—

(हेतुमता सह हेतोरभिधानमभेदतो हेतुः) इति हेत्वलङ्कारोऽत्र न लक्षितः। आयुर्घृतमित्यादिरूपो ह्येष न भूषणतां कदाचिदर्हति वैचित्र्याभावात्। 'अविरलकमलविकासः सकलालिमदश्च कोकिलानन्दः। रम्योऽयमेति संप्रति लोकोत्कण्ठाकरः कालः॥' इत्यत्र काव्यरूपतां कोमलानुप्रासमहिम्नैव समाम्नासिषुर्न तु हेत्वलङ्कारकल्पनयेति पूर्वोक्तं काव्यलिङ्गमेव हेतुः। (काव्यप्रकाश १० म उल्लास)

किन्तु ऐसा लगता है कि काव्यप्रकाशकार के खण्डन के आवेश में विश्वनाथ कविराज ने 'हेतु' को 'काव्यलिङ्ग' और 'अनुमान' से पृथक्रूप का अलङ्कार मान लिया है।

उद्योतकार ने इसीलिये यह निर्णय किया है कि 'हेतु' को पृथक् अलङ्कार मानना अनुचित है—

'एवं हेतुहेतुमतोरभेदाध्यवसायेऽप्येषा (अतिशयोक्तिः)। यथा 'विकासयन् समन्तादिमानि सकलमानसानि विधुमण्डलीर्दर्शयति कोकिलालापम्। समीरयति सुरभिदलसीरि वासन्तिकीवासं सर्पं तदीयमयमेकमलोकमूर्तं मे॥ इत्यादौ विकासमादिपदस्य तद्धेतौ तदध्यवसायात्। एतेन 'हेतोर्हेतुमता सार्धमभेदो हेतुरुच्यते। इति हेत्वलङ्कारोऽयं पृथगित्यपास्तमित्याहुः।

अनुवाद—'अनुकूल' वह अलङ्कार है जिसे प्रतिकूल (वस्तु) द्वारा अनुकूलता के संपादन में देखा जाया करता है। जैसे कि—

'अरी सुन्दरी ! यदि तू कुपित हो गयी तो इस (प्रेमी) के शरीर पर नखक्षत क्या कर इसके गले को अपने बाहुपाश से बाँध दे।

अस्य च विच्छित्तिविशेषस्य सर्वालङ्कारविलक्षणत्वेन स्फुरणात्पृथगलङ्कारत्वमेव न्याय्यम्।

(३३—आक्षेपालङ्कार)

वस्तुनो वक्तुमिष्टस्य विशेषप्रतिपत्तये ॥ ६४ ॥
निषेधाभास आक्षेपो वक्ष्यमाणोक्तगो द्विधा।

तत्र वक्ष्यमाणविषये क्वचित्सर्वस्यापि सामान्यतः सूचितस्य निषेधः, क्वचिदंशोक्तावंशान्तरे निषेध इति द्वौ भेदौ। उक्तविषये च क्वचिद्वस्तुस्वरूपस्य निषेधः, क्वचिद्वस्तुकथनस्येति द्वौ, इत्याक्षेपस्य चत्वारो भेदाः।

यहाँ (इस सूक्ति में) एक ऐसी विचित्रता झलक रही है जिसे अन्य किसी भी अलङ्कार के वैचित्र्य में नहीं देखा जा सकता। इसलिये यही उचित है कि इस वैचित्र्य-प्रकार को एक पृथक् अलङ्कार (अर्थात् 'अनुकूल' अलङ्कार) के रूप में स्वीकार किया जाय।

विमर्श—'अनुकूल' अलङ्कार' रसवादी विश्वनाथ कविराज की कल्पना की एक देन है। 'अनुकूल' अलङ्कार की नयी कल्पना का आधार 'विषम' अलङ्कार की प्राचीन मान्यता है। 'विषम' अलङ्कार की परिभाषा यह रही—

'गुणौ क्रिये वा चेत्स्यातां विरुद्धे हेतुकार्ययोः। यद्वारब्धस्य वैफल्यमनर्थस्य च संभवः॥
विरूपयोः सघटना या च तद्विषमं मतम्।' (साहित्यदर्पण)

जिसमें यह स्पष्ट है कि यदि अननुरूप पदार्थों का एक प्रकार का ससर्ग एक 'अलङ्कार' है तो अननुरूप पदार्थों का दूसरे प्रकार का ससर्ग भी एक 'अलङ्कार'प्रकार अवश्य हो सकता है। किन्तु इस यत्किञ्चिन्मात्र वैलक्षण्य के आधार पर 'अनुकूल' की अतिरिक्त मान्यता आचार्य दण्डी के इस अलङ्कारनिरूपण सिद्धान्त के प्रतिकूल ही दिखायी देती है—

'काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते। ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति॥
किन्तु बीजं विकल्पानां पूर्वाचार्यैः प्रदर्शितम्। तदेव परिसंस्कर्तुमयमस्मत्परिश्रमः॥'

(काव्यादर्श, २. १-२)

अर्थात् अलङ्कार तो शब्द अथवा अर्थ के वे धर्म अथवा वैशिष्ट्य हैं जो कि काव्य की शोभा के सपादक हुआ करते हैं। काव्य की शोभा के आधायक शब्द-धर्मों अथवा अर्थ-धर्मों का इयत्ता-निर्धारण नहीं हो सकता। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि यत्किञ्चिन्मात्र वैचित्र्य के आधार पर नये-नये अलङ्कारों की कल्पना की जाय।

कम से कम विश्वनाथ कविराज को यहाँ यह देखना आवश्यक था कि 'अनुकूल' अलङ्कार के पृथक् अलङ्कार मानने अथवा न मानने से 'रसात्मक वाक्य' में विशेषता का आधान सभव है अथवा नहीं। रसध्वनिवादी काव्याचार्य के लिये 'अनुकूल' को अतिरिक्त अलङ्कार मानना युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता।

अनुवाद—'आक्षेप' वह अलङ्कार है जिसे विवक्षित वस्तु के ऐसे आपातत निषेध में देखा जाया करता है जो कि अन्ततोगत्वा उसकी विशेषता के प्रतिपादन के लिये किया जाया करता है। इसके ये दो प्रकार हैं—(१ ला) वक्ष्यमाण वस्तुगत निषेधाभासरूप आक्षेप और (२ रा) उक्त वस्तुगत निषेधाभासरूप आक्षेप।

वक्ष्यमाण वस्तुगत निषेधाभासरूप 'आक्षेप' भी दो प्रकार का हुआ करता है—(१ ला) वह, जिसमें सामान्यतया सूचित समस्त वस्तु का निषेध किया जाया करता है और (२ रा) वह, जिसमें एक अश में सूचित वस्तु का दूसरे अश में निषेध हुआ

क्रमेण यथा—

(सामान्यतया सूचित वस्तु का सर्वात्मना निषेधरूप वक्ष्यमाणविषयगत आक्षेप)

'स्मरशरशतविधुराया भणामि सख्या कृते किमपि ।
क्षणमिह विश्रम्य सखे ! निर्दयहृदयस्य किं वदाम्यथवा ॥'

अत्र सख्या विरहस्य सामान्यतः सूचितस्य वक्ष्यमाणविषये निषेधः ।

(एक अंश के कथन और दूसरे अंश के निषेध में वक्ष्यमाण विषयगत आक्षेप)

'तव विरहे हरिणाक्षी निरीक्ष्य नवमालिकां दलिताम् ।
हन्त ! नितान्तमिदानीम् आः किं हतजल्पितैरथवा ॥'

अत्र मरिष्यतीत्यंशो नोक्तः ।

(वस्तुस्वरूप के निषेध में उक्त विषयगत आक्षेप)

'बालअ ! णाहं दूती तुअ पिओसि त्ति ण मह वावारो ।
सा मरइ तुज्झ अअसो एअं धम्मक्खरं भणिमो ॥'

[बालक ! नाहं दूती तस्याः प्रियोऽसि इति न मे व्यापारः ।
सा म्रियते तवायशः एतद् धर्माक्षरं भणामः ॥]

अत्र दूतीत्वस्य वस्तुनो निषेधः ।

करता है। इसी प्रकार उक्त वस्तुगत निषेधाभासरूप आक्षेप भी दो प्रकार का है—(१ क) वह जिसमें वस्तु के स्वरूप का निषेध हुआ करता है और (२ ख) वह जिसमें वस्तु के कथन अथवा वर्णन का निषेध किया जाया करता है। इस प्रकार 'आक्षेप' के चार भेद सिद्ध होते हैं।

जैसे कि क्रमशः—

'हे सखे ! क्षण भर विश्राम करके मैं तुमसे अपनी उस सखी के विषय में कहूँगी जिसका हृदय काम के असंख्य बाणों द्वारा विद्ध हो चुका है। अथवा तुम जैसे निठुरहृदय के आगे कहूँ भी तो क्या कहूँ।

यहाँ यह स्पष्ट है कि किसी सखी द्वारा किसी नायिका की विरह-व्यथा की सामान्यतः सूचना दी जा रही है किन्तु 'किं भणामि' की उक्ति से उसके सम्बन्ध में आगे कही जाने वाली बात (वस्तुतः उसकी मृत्यु) का निषेध कर दिया जा रहा है।

अरे सुभग ! तुम्हारे विरह में वह मृगनयनी सुन्दरी खिली हुई नवमालिका को देख कर इस समय कितने दुःख की बात है कि अवश्य ही 'ओह ! अथवा, इन बुरी बातों के कहने से भी क्या काम !'

यहाँ 'हन्त नितान्तम्' की उक्ति में वर्ण्य नायिका की दुर्दशा का अंशतः कथन है किन्तु 'मरिष्यति' का आगे कहा जाने वाला दूसरा अंश निषिद्ध कर दिया गया है।

'बच्चे ! मैं दूती नहीं। मैं इसलिये भी नहीं आयी कि तुम उसके प्यारे हो। मैं तो तुमसे केवल ये धर्माक्षर कहने आयी हूँ कि वह मर जायगी और सभी पाप तुम पर लगेगा !'

यहाँ यह स्पष्ट है कि उक्त दूतीस्वरूप का निषेध किया गया है।

(वस्तुकथन के निषेध में उक्त वस्तुगत आक्षेप)

'(विरहे तव तन्वङ्गी कथं क्षपयतु क्षपाम् ।
दारुणव्यवसायस्य पुरस्ते भणितेन किम् ? ।।'

अत्र कथनस्योक्तस्यैव निषेधः ।

प्रथमोदाहरणे सख्या अवश्यम्भाविमरणमिति विशेषः प्रतीयते । द्वितीयेऽशक्यवक्तव्यत्वादि, तृतीये दूतीये यथार्थवादित्वम्, चतुर्थे दुःखस्यातिशयः ।

न चायं विहितनिषेधः, अत्र निषेधस्याभासत्वात् ।

(आक्षेप का प्रकारान्तर)

अनिष्टस्य तथार्थस्य विध्याभासः परो मतः ॥ ६५ ॥

तथेति पूर्ववद्विशेषप्रतिपत्तये ।

यथा—

'गच्छ गच्छसि चेत् कान्त ! पन्थानः सन्तु ते शिवाः ।
ममापि जन्म तत्रैव भूयाद्यत्र गतो भवान् ।।'

'अरे सुभग ! तुम्हारे वियोग में वह सुन्दरी भला किस प्रकार रात बितावे ? अथवा तुम्हारे सरीखे क्रूर आचरण वाले के आगे कुछ कहने से भी क्या ?'

यहाँ उक्त वस्तुकथन का निषेध स्पष्ट है ।

इन चारों उदाहरणों में विवक्षित वस्तु की 'विशेषता' का जो अभिप्राय है जिसके लिये वक्ष्यमाण अथवा उक्त विषय का निषेध किया गया है वह यह है—पहले अर्थात् 'स्मरशरशतविधुराया' आदि में सखी का 'अवश्यभावी मरण' रूप जो अभिप्राय प्रतीत हो रहा है वह 'विशेष' है, दूसरे अर्थात् 'तव 'विरहे हरिणाक्षी' आदि में यह 'विशेष' प्रतीत हो रहा है कि 'उसकी दुर्दशा का वर्णन असंभव है', तीसरे अर्थात् 'बालअ ! णाहं दूती' आदि में 'दूती होने पर भी यथार्थवादिता' का अभिप्राय 'विशेष' रूप से विवक्षित है और चौथे अर्थात् 'विरहे तव तन्वङ्गी' आदि में जो 'विशेष' है वह विरहिणी की 'दुःख-पराकाष्ठा' का अभिप्राय है ।

इन 'आक्षेप'-सूक्तियों के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि इनमें जिसका विधान अथवा प्रतिपादन किया गया है उसका निषेध ही वह वैचित्र्य है जो आक्षेप-अलङ्कार का स्वरूप है क्योंकि वस्तुतः जिसे 'आक्षेप' अलङ्कार कहा करते हैं वह 'विहित' के 'निषेध में नहीं अपितु उसके 'निषेधाभास' (आपातत निषेध) में रहा करता है ।

अनुवाद—एक प्रकार का 'आक्षेप' वह भी है जिसे अनिष्ट अर्थ के ऐसे 'विध्याभास' अथवा (आपातत विधान) में देखा जाया करता है जिससे किसी विशेष अभिप्राय का प्रकाशन हुआ करता है ।

यहाँ कारिका में 'तथा' का अभिप्राय यह है कि जैसे प्रथम 'आक्षेप' प्रकार में विहित का निषेधाभास एक विशेष अभिप्राय के प्रकाशनार्थं अपेक्षित माना गया है वैसे ही इस 'आक्षेप'-प्रकार में भी अनिष्ट अर्थ का विध्याभास एक विशेष अभिप्राय के अवबोधनार्थ ही अभिप्रेत हुआ करता है ।

जैसे कि—

'मेरे प्रियतम ! जा रहे हो तो जाओ, तुम्हारे मार्ग मङ्गलमय हों, किन्तु, ईश्वर से मेरी यही प्रार्थना है कि मैं भी पुनः वहीं जन्म लूँ जहाँ तुम जा रहे हो ।'

अत्रानिष्टत्वाद्गमनस्य विधिः प्रस्थानरूपो निषेधे पर्यवस्यति । विशेषश्च गमनस्यात्यन्तपरिहार्यस्वरूपं प्रतीयते ।

यहाँ जो 'अनिष्ट' अर्थ है वह 'प्रियतम का प्रवास'रूप अर्थ है। इस अनिष्ट अर्थ का 'गच्छ गच्छसि चेत्' के रूप में जो विधान है वह अपने आप में असंगत है और अन्ततः ('मा गच्छ' के रूप में) गमन के निषेध का ही अर्थ रखता है जिससे यह विशेष अभिप्राय प्रकाशित हो रहा है कि ऐसी अवस्था में अन्यत्र जाना सर्वथा अनुचित है।

विमर्श—(क) 'साहित्यदर्पण'कार का 'आक्षेप'-लक्षण आचार्य उद्भट के इस आक्षेप-लक्षण के अनुरूप है—

प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया ।
आक्षेप इति तं सन्तः शंसन्ति कवयः सदा ॥
वक्ष्यमाणोक्तविषयः स च द्विविध इष्यते ।
निषेधेनैवमुक्तस्य विशेषस्य च कीर्तितः ॥ (काव्यालङ्कारसारसंग्रह २।२)

'आक्षेप' में जिस अर्थविशेष की प्रतिपत्ति के लिये विहित का निषेधाभास अथवा अनिष्ट का विध्याभास अपेक्षित रहा करता है वह 'अर्थविशेष' वस्तुतः व्यङ्ग्यरूप अर्थ है। इस व्यङ्ग्यरूप अर्थ के कारण आक्षेप-सूक्तियों को 'ध्वनि' नहीं कहा जा सकता क्योंकि इन सूक्तियों का सौन्दर्य इस व्यङ्ग्य'रूप 'विशेष' में नहीं अपितु इस व्यङ्ग्यरूप 'विशेष' के प्रतिपादन-वैचित्र्य में रहा करता है। ध्वनिकार ने इसीलिये कहा है—

'आक्षेपेऽपि व्यङ्ग्यविशेषाक्षेपिणो वाच्यस्यैव चारुत्वम् । प्राधान्येन वाक्यार्थ आक्षेपोक्तिसामर्थ्यादेव ज्ञायते । तत्र शब्दोपारूढरूपो विशेषाभिधानेच्छया प्रतिषेधरूपो य आक्षेपः स एव व्यङ्ग्यविशेषमाक्षिपन् मुख्यं काव्यशरीरम् । चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यविवक्षा । (ध्वन्यालोक, पृष्ठ १११)

अर्थात् जैसे 'आक्षेप' में भले ही व्यङ्ग्यरूप 'विशेष' प्रतीत हो किन्तु इस अलङ्कार की रूप-रेखा इस व्यङ्ग्यरूप 'विशेष' में नहीं अपितु इस व्यङ्ग्यरूप 'विशेष' के व्यञ्जक वाच्य-वैचित्र्य में ही रहा करती है। व्यङ्ग्य के सौन्दर्य की अपेक्षा वाच्य का अधिक सौन्दर्य ही 'आक्षेप' का काव्यशरीर की भाँति प्रतीत हुआ करता है। इसलिये यहाँ 'ध्वनि' की कोई संभावना नहीं।

(ख) 'अलङ्कारसर्वस्व'कार ने 'आक्षेप' की यह सुन्दर समीक्षा की है—

'उक्तवक्ष्यमाणयोः प्राकरणिकयोर्विशेषप्रतिपत्त्यर्थं निषेधाभास आक्षेपः—

इह प्राकरणिकोऽर्थः प्राकरणिकत्वादेव वक्तुमिष्यते तथाविधस्य विधातुमिष्टस्य निषेधः कर्तुं न युज्यते। स कृतोऽपि बाधितस्वरूपत्वात् निषेधायत इति निषेधाभासः सम्पन्नः। तस्यैतस्य करणं प्रकृतगतत्वेन विशेषप्रतिपत्त्यर्थम्। अन्यथा गजस्नानतुल्यं स्यात्। स चाभ्यासमात्रोऽपि निषेधस्तथोक्तस्य वा स्यात् वक्ष्यमाणविषयत्वेन वक्ष्यमाणस्य वा स्यात्। इत्याक्षेपस्य द्वयी गतिः। तत्रोक्तविषयत्वेन वैधर्म्यपरमार्थोक्षेपमात्रम्। वक्ष्यमाणविषयत्वेनावश्यवक्ष्यमाणोक्तमाक्षेपः। एवं चार्थमेवाक्षेपस्यास्य द्व्याक्षेपाविति वदन्ति। तत्रोक्तविषये वस्त्वेवेदमत्र विशेषस्तस्यैवाक्षेपः। वक्ष्यमाणविषये त्विदमत्र विशेषः। इदमत्र विवक्षितत्वेनास्य सामान्यरूपस्य निषेधः। तेनात्र रूपभेदः। विशेषस्य चात्र कथमुपात्तत्वाद्व्यस्तत्वम् तत्रोक्तविषये आक्षेपे कश्चिदंशो निषिध्यते कश्चिदंशोऽनुक्त इति द्वौ भेदौ। वक्ष्यमाणविषये तु वस्तुरूपमेव निषिध्यते तत्र सामान्यप्रतिज्ञायां कश्चिद् विशेषनिष्ठत्वेन निषिध्यते कश्चित्तु प्रतिज्ञोपन्यासान्तरगतत्वेनेत्यत्रापि द्वौ भेदौ। तदेवमस्य चत्वारो भेदाः। अयमाक्षेपविषयत्वं सामान्यविशेषभावमवलम्ब्य चारु प्रकारिप्रकारभाव-लक्षणम्। (अलङ्कारसर्वस्व, पृ १७५-१७९)

अर्थात् 'आक्षेप' का अभिप्राय 'विधि' और 'निषेध' द्वारा 'निषेध' और 'विधि' का उक्ति-वैचित्र्य है। यदि प्राकरणिक अर्थ 'विधि'रूप है तो उसका 'निषेध' असगत है। इसी प्रकार यदि प्राकरणिक अर्थ 'निषेध'रूप है तो उसका 'विधान' अनुपपन्न है। इसलिये 'विधि' का निषेध अथवा 'निषेध' का विधान वास्तविक नहीं अपितु प्रातीतिक अथवा आभासरूप ही सिद्ध होता है। 'विधि' का निषेध अथवा 'निषेध' का विधान यों ही नहीं किया जाया करता अपितु किसी विशेष अभिप्राय के प्रकाशनार्थ ही किया जाया करता है। नहीं तो जिसका विधान किया जाय उसी का निषेध किया जाय अथवा जिसका निषेध किया जाय उसीका विधान किया जाय—यह सब 'गज स्नान' (हाथी के नहाने) की भाँति निरर्थक ही है। प्राचीन आलङ्कारिकों ने दो प्रकार के 'आक्षेप' इसलिए माने थे क्योंकि एक आक्षेपप्रकार में 'कैमर्थ्यपर्यालोचन' (क्यों ऐसा किया गया इस प्रश्न) और दूसरे आक्षेपप्रकार में 'वक्ष्यमाणनयनागूरण' (आगे कही जानेवाली बात के प्रकाशन) का रहस्य अन्तर्निहित रहा करता है। किन्तु वस्तुत. यहा ऐसा है कि उक्तविषयक 'आक्षेप' की ही भाँति 'वक्ष्यमाणविषयक' आक्षेप में भी 'कैमर्थ्यपर्यालोचन' (क्यों ऐसा किया गया—इस प्रश्न) का ही तात्पर्य रहा करता है। इसलिये प्राचीन आलङ्कारिकों के 'आक्षेप'-लक्षण में 'आक्षेप' के प्रकारद्वय का कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता।

वस्तुत 'आक्षेप' का पृथक्-पृथक् लक्षण ही युक्तियुक्त है। जैसे कि 'उक्तविषयक' आक्षेप के लिए यह कहना उचित है कि इसमें 'वस्तुनिषेध' और 'वस्तुकथननिषेध' हुआ करता है और 'वक्ष्यमाणविषयक' आक्षेप में केवल 'वस्तुकथन' निषेध ही 'सामान्यत' सूचित के निषेध' और 'एक अश के कथनपूर्वक अन्य अश के निषेध'—इन दो रूपों में दिखाई दिया करता है।

(ग) अनिष्ट अर्थ के विध्याभासरूप 'आक्षेप' की 'आक्षेप' प्रकार के रूप में कल्पना आचार्य रुय्यक ने सर्वप्रथम की है। यह कल्पना विश्वनाथ कविराज को भी मान्य है। आचार्य रुय्यक का इस सम्बन्ध में यह कथन है—

'यथेष्टस्येष्टत्वादेव निषेधोऽनुपपन्नः एवमनिष्टस्याप्यनिष्टत्वादेव विधानं नोपपद्यते। तत्क्रियमाण प्रस्खलद्रूपत्वान्निषेधं पर्यवस्यति। ततश्च विधेरुपकरणीभूतो निषेध इति विधिनाऽयं निषेधोऽनिष्टविशेषपर्यवसायी निषेधागूरणादाक्षेप।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १५२)

अर्थात् जैसे इष्ट होने के नाते इष्ट का निषेध अनुपपन्न है वैसे ही अनिष्ट होने के नाते अनिष्ट का भी विधान अनुपपन्न ही है। तब भी यदि 'अनिष्टविधान' किया जाता है तो इसका अभिप्राय अन्ततोगत्वा निषेधरूप ही निकल सकता है जिसे 'विध्याभास' कहा जा सकता है।

निम्न सूक्तियाँ 'आक्षेप' की बडी सुन्दर सूक्तियाँ हैं—

'त्व जीवित त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्गे।
इत्यादिभि' प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धा तामेव शान्तमथवा किमिहोत्तरेण॥'

(उत्तररामचरित, ३य अङ्क)

'नो किञ्चित् कथनीयमस्ति सुभग प्रौढा. परं त्वादृशाः
पन्थान कुशला भवन्तु भवत को मादृशामाग्रह।
किंत्वेतत् कथयामि सततरतक्लान्तिच्छिदस्तास्त्वया
स्मर्त्तव्या शिशिरा सहसगतयो गोदावरीवीचय.॥'

(अलङ्कारसर्वस्व • उद्धरण)

'रे खल तव चरितं विदुषामग्रे विविच्य वक्ष्यामि।
अलमथवा पापात्मन् कृतया कथयापि ते हतया॥'

(पण्डितराज जगन्नाथ)

अत्रानिष्टत्वाद्गमनस्य विधिः प्रस्खलद्रूपो निषेधे पर्यवस्यति। विशेषश्च गमनस्यात्यन्तपरिहार्यस्वरूपं प्रतीयते।

यहाँ जो 'अनिष्ट' अर्थ है वह 'प्रियतम का प्रवास'रूप अर्थ है। इस अनिष्ट अर्थ का 'गच्छ गच्छसि चेत्' के रूप में जो विधान है वह अपने आप में असंगत है और अन्ततः ('मा गच्छ' के रूप में) गमन के निषेध का ही अर्थ रखता है जिससे वह विशेष अभिप्राय प्रकाशित हो रहा है कि 'ऐसी अवस्था में अन्यत्र जाना सर्वथा अनुचित है।

विमर्श—(क) साहित्यदर्पणकार का 'आक्षेप'-लक्षण आचार्य उद्भट के इस आक्षेप-लक्षण के अनुरूप है—

> प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया।
> आक्षेप इति तं सन्तः शंसन्ति कवयः सदा॥
> वक्ष्यमाणोक्तविषयः स च द्विविध इष्यते।
> विधेयेनैवतद्रूपो विधेयस्य च कीर्तितः॥ (काव्यालङ्कारसारसंग्रह २.२-४)

'आक्षेप' में जिस 'अर्थविशेष' की प्रतिपत्ति के लिये विहित का निषेधाभास अथवा अनिष्ट का विध्याभास अपेक्षित रहा करता है वह अर्थविशेष वस्तुतः व्यङ्ग्यरूप अर्थ है। इस व्यङ्ग्यरूप अर्थ के कारण आक्षेप-सूक्तियों को 'ध्वनि' नहीं कहा जा सकता क्योंकि इन सूक्तियों का सौन्दर्य इस व्यङ्ग्यरूप 'विशेष' में नहीं अपितु इस व्यङ्ग्यरूप 'विशेष' के प्रतिपादन-वैचित्र्य में रहा करता है। ध्वनिकार ने इसीलिये कहा है—

'आक्षेपेऽपि व्यङ्ग्यविशेषाक्षेपिणो वाच्यस्यैव चारुत्वम्। प्राधान्येन वाक्यार्थ आक्षेपोक्तिसामर्थ्यादेव ज्ञायते। तत्र शब्दोपारूढरूपो विशेषाभिधानेच्छया प्रतिषेधरूपो य आक्षेपः स एव व्यङ्ग्यविशेषमाक्षिपन् मुख्यं काव्यशरीरम्। चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यविवक्षा।' (ध्वन्यालोक, पृष्ठ १११)

अर्थात् जैसे 'आक्षेप' में भले ही व्यङ्ग्यरूप विशेष प्रतीत हो किन्तु इस अलङ्कार की रूप-रेखा इस व्यङ्ग्यरूप 'विशेष' में नहीं अपितु इस व्यङ्ग्यरूप 'विशेष' के व्यञ्जक वाच्य-वैचित्र्य में ही रहा करती है। व्यङ्ग्य के सौन्दर्य की अपेक्षा वाच्य का अधिक सौन्दर्य ही 'आक्षेप' का काव्यशरीर की भाँति प्रतीत हुआ करता है। इसलिये यहाँ 'ध्वनि' की कोई संभावना नहीं।

(ख) अलङ्कारसर्वस्वकार ने 'आक्षेप' की यह सुन्दर समीक्षा की है—

'उक्तवक्ष्यमाणयोः प्राकरणिकयोर्विशेषप्रतिपत्त्यर्थं निषेधाभास आक्षेपः—

इह प्राकरणिकोऽर्थः प्राकरणिकत्वादेव वक्तुमिष्यते। तथाविधस्य विधातव्यस्य निषेधः कर्तुं न युज्यते। स क्रियमाणोऽपि बाधितस्वरूपत्वात् निषेधवत् इति निषेधाभासः सम्पद्यते। तस्यैतस्य कार्यं प्रकृतगतत्वेन विशेषप्रतिपत्त्यर्थम्। अन्यथा गजस्नानतुल्यं स्यात्। स चाभासमात्रोऽपि निषेधस्तावदुक्तस्य वा स्यात् वक्ष्यमाणस्य वा स्यात्। इत्याक्षेपस्य द्वयी गतिः। तत्रोक्तविषयत्वेन वैधर्म्यपरमाक्षेपवमाक्षेपः। वक्ष्यमाणविषयत्वेनाधपथकथनमनुप्रमाक्षेपः। एवं चार्थभेदादाक्षेपाणाम् द्वावाक्षेपाविति वदन्ति। तत्रोक्तविषये वस्तुनैवस्य निषेधस्तस्यैवाक्षेपः। वक्ष्यमाणविषये त्विदस्य निषेधः। इह सम्बन्धिनस्सम्बन्धस्य सामान्यरूपस्य निषेधः। तेनात्र कथनभेदः। विशेषस्य चात्र सम्यगुपात्तत्वादम्यत्वात् तत्रोक्तविषय आक्षेपे कश्चिद्वस्तु निषिध्यते कश्चिद्वस्तुकथनमिति द्वौ भेदौ। वक्ष्यमाणविषये तु वस्तुकथनमेव निषिध्यते तत्र सामान्यप्रतिज्ञायां क्वचिद् विशेषनिष्ठत्वेन निषिध्यते क्वचित्पुनरङ्गोपाङ्गान्यतरपरत्वेनेत्यत्रापि द्वौ भेदौ। तदेवमस्य चत्वारो भेदाः। सम्यगुपन्यस्तनिरूपणं सामान्यविशेषमात्रमप्रकटमस्य चात्र प्रकारिप्रकारभावकथनम्। (अलङ्कारसर्वस्व पृ० १४५-१४६)

अर्थात् 'आक्षेप' का अभिप्राय 'विधि' और 'निषेध' द्वारा 'निषेध' और 'विधि' का उक्ति-वैचित्र्य है। यदि प्राकरणिक अर्थ 'विधि'रूप है तो उसका 'निषेध' असगत है। इसी प्रकार यदि प्राकरणिक अर्थ 'निषेध'रूप है तो उसका 'विधान' अनुपपन्न है। इसलिये 'विधि' का निषेध अथवा 'निषेध' का विधान वास्तविक नहीं अपितु प्रातीतिक अथवा आभासरूप ही सिद्ध होता है। 'विधि' का निषेध अथवा 'निषेध' का विधान यों ही नहीं किया जाया करता अपितु किसी विशेष अभिप्राय के प्रकाशनार्थ ही किया जाया करता है। नहीं तो जिसका विधान किया जाय उसी का निषेध किया जाय अथवा जिसका निषेध किया जाय उसीका विधान किया जाय—यह सब 'गज स्नान' (हाथी के नहाने) की भाँति निरर्थक ही है। प्राचीन आलङ्कारिकों ने दो प्रकार के 'आक्षेप' इसलिए माने थे क्योंकि एक आक्षेपप्रकार में 'कैमर्थ्यपर्यालोचन' (क्यों ऐसा किया गया इस प्रश्न) और दूसरे आक्षेपप्रकार में 'वक्ष्यमाणानयनागूरण' (आगे कही जानेवाली वात के प्रकाशन) का रहस्य अन्तर्निहित रहा करता है। किन्तु वस्तुत यहा ऐसा है कि उक्तविषयक 'आक्षेप' की ही भाँति 'वक्ष्यमाणविषयक' आक्षेप में भी 'कैमर्थ्यपर्यालोचन' (क्यों ऐसा किया गया—इस प्रश्न) का ही तात्पर्य रहा करता है। इसलिये प्राचीन आलङ्कारिकों के 'आक्षेप'-लक्षण में 'आक्षेप' के प्रकारद्वय का कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता।

वस्तुत 'आक्षेप' का पृथक्-पृथक् लक्षण ही युक्तियुक्त है। जैसे कि 'उक्तविषयक' आक्षेप के लिए यह कहना उचित है कि इसमें 'वस्तुनिषेध' और 'वस्तुकथननिषेध' हुआ करता है और 'वक्ष्यमाणविषयक' आक्षेप में केवल 'वस्तुकथन' निषेध ही 'सामान्यत' सूचित के निषेध' और 'एक अश के कथनपूर्वक अन्य अश के निषेध'—इन दो रूपों में दिखाई दिया करता है।

(ग) अनिष्ट अर्थ के विध्याभासरूप 'आक्षेप' की 'आक्षेप' प्रकार के रूप में कल्पना आचार्य रुय्यक ने सर्वप्रथम की है। यह कल्पना विश्वनाथ कविराज को भी मान्य है। आचार्य रुय्यक का इस सम्बन्ध में यह कथन है—

'यथेष्टस्येष्टत्वादेव निषेधोऽनुपपन्न. एवमनिष्टस्याप्यनिष्टत्वादेव विधानं नोपपद्यते। तत्क्रियमाण प्रस्खलद्रूपत्वान्निषेध पर्यवस्यति। ततश्च विधेरुपकरणीभूतो निषेध इति विधिनाऽय निषेधोऽनिष्टविशेषपर्यवसायी निषेधागूरणादाक्षेप।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १५२)

अर्थात् जैसे इष्ट होने के नाते इष्ट का निषेध अनुपपन्न है वैसे ही अनिष्ट होने के नाते अनिष्ट का भी विधान अनुपपन्न ही है। तब भी यदि 'अनिष्टविधान' किया जाता है तो इसका अभिप्राय अन्ततोगत्वा निषेधरूप ही निकल सकता है जिसे 'विध्याभास' कहा जा सकता है।

निम्न सूक्तियाँ 'आक्षेप' की बडी सुन्दर सूक्तियाँ हैं—

'त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्गे।
इत्यादिभि' प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धां तामेव शान्तमथवा किमिहोत्तरेण॥'

(उत्तररामचरित, ३य अङ्क)

'नो किञ्चित् कथनीयमस्ति सुभग प्रौढाः परं त्वादृशाः
पन्थानः कुशला भवन्तु भवत. को मादृशामाग्रह।
किन्त्वेतत् कथयामि सततरतक्लान्तिच्छिदस्तास्त्वया
स्मर्तव्या' शिशिरा. सहसगतयो गोदावरीवीचय॥'

(अलङ्कारसर्वस्व उद्धरण)

'रे खल तव चरितं विदुषामग्रे विविच्य वक्ष्यामि।
अलमथवा पापात्मन् कृतया कथयापि ते हतया॥'

(पण्डितराज जगन्नाथ)

(१७—विभावना । भेद-प्रभेद)

विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते ।

उक्तानुक्तनिमित्तत्वाद्द्विधा सा परिकीर्तिता ॥ ६६ ॥

विना कारणमुपनिबध्यमानोऽपि कार्योदय: किञ्चिदन्यत्कारणमपेक्ष्यैव भवितु युक्त: । तच्च कारणान्तरं क्वचिदुक्तं क्वचिदनुक्तमिति द्विधा ।

यथा—

(उक्तनिमित्ता विभावना यथा में)

'अनायासकृशं मध्यमशङ्कतरले दृशौ ।
अभूषणमनोहारि वपुर्वयसि सुभ्रुव: ॥'

अत्र वयोरूपनिमित्तमुक्तम् ।

(अनुक्तनिमित्ता विभावना)

अत्रैव 'वपुर्भाति मृगीदृश:' इति पाठेऽनुक्तम् ।

अनुवाद—'विभावना' वह अलङ्कार है जिसे कारण के अभाव में भी कार्य की उत्पत्ति का वर्णन कहा करते हैं । 'विभावना' के दो प्रकार हैं—(१) वह जिसमें कारणाभाव में कार्योत्पत्ति का निमित्त प्रतिपादित हो अर्थात् 'उक्तनिमित्ता' विभावना और (२) वह जिसमें कारणाभाव में कार्योत्पत्ति के निमित्त का प्रतिपादन न किया जाय अर्थात् 'अनुक्तनिमित्ता' विभावना ।

यह निश्चित है कि कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती । यदि कारण के अभाव में भी कार्य की उत्पत्ति का वर्णन हो तो यह अवश्यम्भावी है कि कोई न कोई ऐसा कारणविशेष अवश्य होगा (जिसकी दृष्टि से कारण के बिना भी कार्य संपन्न हो सकता है)। कहीं पर यह कारणविशेष प्रतिपादित हो सकता है (जैसे कि उक्तनिमित्ता विभावना में) और कहीं इसका प्रतिपादन नहीं किया जाया करता (जैसे कि अनुक्तनिमित्ता विभावना में । वस्तुत: इस कारण अथवा निमित्तविशेष की 'उक्ति' और 'अनुक्ति' के ही कारण 'विभावना' के दो भेद निष्पन्न होते हैं । उदाहरण के लिए—

'यौवन की अवस्था में इस सुन्दरी की कमर बिना आयास-प्रयास के ही कृश हो रही है, इसकी आँखें बिना किसी आशंका के ही चञ्चलता से भर उठी हैं और इसकी देह बिना किसी आभूषण के ही मनोहर लग रही है ।

यहाँ 'आयास' 'आशंका' और 'आभूषण'रूप प्रसिद्ध कारणों के अभाव में ही 'कृशता' 'तरलता' और 'मनोहरता'रूप कार्यों की उत्पत्ति वर्णित है और ऐसे वर्णन का निमित्त भी प्रतिपादित है जो कि 'यौवन'रूप निमित्त है (इस प्रकार यहाँ 'उक्तनिमित्ता' विभावना की झलक स्पष्ट है)।

'उपर्युक्त अनायासकृशं मध्यम् आदि सूक्ति में ही 'वपुर्वयसि सुभ्रुव:' के बदले 'वपुर्भाति मृगीदृश:' कर देने से 'अनुक्तनिमित्त' विभावना का लक्षण घटित हो जाता है (क्योंकि 'यौवन'रूप निमित्त के न रहने पर यहाँ की विभावना अनुक्तनिमित्ता' ही कही जा सकती है)।

विमर्श—'विभावना' एक प्राचीन अलङ्कार है । आचार्य दण्डी का 'विभावना'-लक्षण यह है—

'प्रसिद्धहेतुव्यावृत्त्या यत्किञ्चित्कारणान्तरम् ।
यत्र स्वाभाविकत्वं वा विभाव्यं सा विभावना ॥ (काव्यादर्श २ १९९)

(३५—विशेषोक्ति)

सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्तिस्तथा द्विधा ।

यहाँ यह स्पष्ट है कि 'विभावना' का वैचित्र्य प्रसिद्ध कारण के परित्याग के साथ-साथ अप्रसिद्ध कारण की कल्पना में रहा करता है अलङ्कारसर्वस्वकार का इसीलिए यह कथन है—

'इह कारणान्वयव्यतिरेकानुविधानात् कार्यस्य कारणमन्तरेणासंभव'। अन्यथा विरोधो दुष्परिहर स्यात्। यदि तु कयाचिद्भङ्गया तथाभाव उपनिबध्यते तदा विभावनाख्योऽलङ्कार। विशिष्टतया कार्यस्य भावनात्। सा च भङ्गिर्विशिष्टकारणाभावोपनिबद्धा (यया भङ्ग्या कारण विनापि कार्यसभव उपनिबध्यत इत्यर्थ —विमर्शिनी)। अप्रस्तुत कारणं वस्तुतोऽस्तीति विरोधपरिहार.।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १५७)

अर्थात् जब कि यह सभी जानते हैं कि बिना कारण के कार्य नहीं हो सकता तब कारण के अभाव में कार्य का सद्भाव वर्णन एक ऊटपटाग-सी ही बात है। किन्तु कविजन ऐसा वर्णन किया करते हैं। उनके इस प्रकार के वर्णन में एक वैचित्र्य है और वही 'विभावना' अलङ्कार है। 'विभावना' का अर्थ है कार्योत्पत्ति की ऐसी 'भावना' जिसमें एक विचित्रता है। यह 'विचित्रता' वस्तुत कारण के अभाव में कार्यसद्भाव की ही विचित्रता है। जीवलोक में यह विचित्रता सभव नहीं। यह तो एक मात्र काव्यलोक की विशेषता है। 'कारण के अभाव में कार्य का सद्भाव' क्या है? प्रस्तुत कारण के परिहार के साथ, अप्रस्तुत कारण की कार्यसाधकता ही, कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति—कल्पना है।

(ख) 'विभावना' के मूल में अतिशयोक्ति का बीज पड़ा रहता है। जैसे कि 'अनायासकृशम्' आदि सूक्ति में ही यौवन-जन्य 'कृशता' और परिश्रमजन्य 'कृशता' का अभेदाध्यवसान स्पष्ट है क्योंकि तभी 'कृशता' के परिश्रमरूप कारण के परिहार और यौवनरूप कारण की भावना की उपपत्ति ठीक बैठती है। 'अलङ्कारसर्वस्व'कार ने इसीलिये कहा है—

'सा (अतिशयोक्ति) च अस्यामव्यभिचारिणीति न तद्बाधेनास्या उत्थानम्, अपि तु तदनुप्राणितत्वेन।' (अलङ्कारसर्वस्व पृष्ठ १५९)

अर्थात् 'विभावना' में अतिशयोक्ति का अनुप्राणन स्वाभाविक है। यहाँ 'अतिशयोक्ति' द्वारा 'विभावना' बाधित नहीं होती अपितु सबल बना करती है।

'अलङ्कारसर्वस्व' विमर्शिनीकार को भी यह मत अभिप्रेत है—

'अतश्च क्वचिच्छुद्धस्यापि सभवात् सर्वत्रास्यातिशयोक्त्यनुप्राणितत्वमिति न वाच्यमिति यदुक्त तदयुक्तम्।'

किन्तु पण्डितराज जगन्नाथ ने 'विभावना' के लिये सर्वत्र 'अतिशयोक्ति' का अनुप्राणन आवश्यक नहीं माना है—

'मा स्म भूत्सर्वत्र विभावनायामतिशयोक्तिरनुप्राणिका। आहार्याभेदबुद्धिमात्रमेवानुप्राणकम्। तच्च क्वचिदतिशयोक्त्या, क्वचिच्च रूपकेणेति न दोष।' (रसगङ्गाधर पृष्ठ ५८०)

निम्न 'विभावना' सूक्ति बड़ी सुन्दर है—

'निरुपादानसभारमभित्तावेव तन्वते। जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने॥'

अनुवाद—**'विशेषोक्ति' वह अलङ्कार है जिसे कारण के सद्भाव में कार्य का अभाव-वर्णन कहा जाया करता है। यह भी दो प्रकार की है—(१) 'उक्तनिमित्ता' विशेषोक्ति और (२) 'अनुक्तनिमित्ता' विशेषोक्ति।**

यहाँ कारिका में 'तथा' का अभिप्राय, निमित्त को उक्ति और अनुक्ति के कारण 'विशेषोक्ति' के दो भेदों में विभक्त होने का अभिप्राय है।

तथेत्युक्तानुक्तनिमित्तत्वात्। तत्रोक्तनिमित्ता यथा—

'धनिनोऽपि निरुन्मादा युवानोऽपि न चञ्चलाः।
प्रभवोऽप्यप्रमत्तास्ते महामहिमशालिनः॥'

अत्र महामहिमशालित्वं निमित्तमुक्तम्। अत्रैव चतुर्थपादे 'कियन्तः सन्ति भूतले' इति पाठे त्वनुक्तम्। अचिन्त्यनिमित्तत्वं चानुक्तनिमित्तस्यैव भेद इति पृथङ् नोक्तम्।

यथा—

'स एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः।
हरतापि तनुं यस्य शम्भुना न हृतं बलम्॥'

अत्र तनुहरणेनापि बलाहरणे निमित्तमचिन्त्यम्। इह च कार्याभावः कार्यविरुद्धसद्भावमुखेनापि निबध्यते। विभावनायामपि कारणाभावः कारणविरुद्धसद्भावमुखेन।

जैसे कि 'उक्तनिमित्ता' विशेषोक्ति—

'वे लोग महामहिमशाली महापुरुष हैं जो धनी होने पर भी निरभिमान, युवा होने पर भी स्थिर बुद्धिवाले और प्रभुत्व रखने पर भी अप्रमत्त हुआ करते हैं।'

यहाँ 'धन' 'यौवन' और 'प्रभुत्व'रूप कारण के सद्भाव में भी 'उन्माद' 'चञ्चलता' और 'प्रमाद'रूप कार्य के अभाव का वर्णन है और इसके निमित्तरूप से 'महामहिमशालित्व' का भी प्रतिपादन है जिसमें 'विशेषोक्ति' का 'उक्तनिमित्ता' होना स्पष्ट है।

यहाँ यदि 'महामहिमशालिनः' इस चतुर्थ चरण के स्थान पर 'कियन्तः सन्ति भूतले' (संसार में ऐसे कितने लोग हैं जो) कर दिया जाय तो 'अनुक्तनिमित्ता' विशेषोक्ति का स्वरूप प्रकट उठता है।

(काव्यप्रकाशकार द्वारा प्रतिपादित) विशेषोक्ति का 'अचिन्त्यनिमित्तक' रूप वस्तुतः उसका 'अनुक्तनिमित्तक' रूप ही है। इसलिये यहाँ 'अचिन्त्यनिमित्तक' विशेषोक्ति-भेद का कोई निरूपण अपेक्षित नहीं।

जैसे कि 'विशेषोक्ति के 'अचिन्त्यनिमित्तक' भेद के उदाहरणरूप से उद्धृत यह सूक्ति अर्थात्—

'यह कुसुमायुध (काम) ही ऐसा है जो अकेला होते हुये भी तीनों लोकों पर विजय पाया करता है क्योंकि शम्भु तो उसके शरीर का विनाश करने पर भी उसके बल का विनाश भगवान् शङ्कर द्वारा न हो सका।'

वस्तुतः 'अनुक्तनिमित्ता' विभावना का ही निदर्शन प्रतीत होता है क्योंकि शरीर के विनाश में भी बल के विनाश के अभाव का जो वर्णन है उसमें निमित्त का 'अचिन्त्य' होना उसके 'अनुक्त' होने के ही बराबर है।

'विशेषोक्ति' के संबन्ध में यह ध्यान रखना चाहिये कि यहाँ (कारण के सद्भाव में) कार्य के अभाव का वर्णन किसी कार्य के विरोधी किसी पदार्थ के सद्भाव-वर्णन द्वारा भी किया जा सकता है। 'विभावना' में भी यही बात है क्योंकि वहाँ भी (कार्य के सद्भाव में) कारण के अभाव का वर्णन कारण के विरोधी किसी पदार्थ के सद्भाव-वर्णन में संभव है। उदाहरण के लिए 'यः कौमारहरः' आदि (पूर्वोद्धृत) सूक्ति पर्याप्त है जहाँ (उत्कण्ठारूप कार्य के सद्भाव में) उत्कण्ठा-कारण 'वर' आदि का अभाव-वर्णन उत्कण्ठा-

एवञ्च 'यः कौमारहर'' इत्यादेरुत्कण्ठाकारणविरुद्धस्य निबन्धनाद्विभावना। 'य' कौमार-' इत्यादेः कारणस्य च कार्यविरुद्धाया उत्कण्ठाया निबन्धनाद्विशेषोक्तिः, एवञ्चात्र विभावनाविशेषोक्त्यो. सङ्करः। शुद्धोदाहरणं तु मृग्यम्।

कारण के विरोधी (अर्थात् 'वर' आदि के सद्भाव) के वर्णन द्वारा किया गया है जिसमें 'विभावना' स्पष्ट झलक रही है। यहीं 'विशेपोक्ति' का भी चमत्कार प्रतीत हो रहा है जिसमें 'वर' आदिरूप कारण के सद्भाव में (उत्कण्ठाभावरूप) कार्य के अभाव का वर्णन (उत्कण्ठाभावरूप) कार्य के विरोधी अर्थात् उत्कण्ठा के सद्भाव के वर्णन द्वारा किया जा रहा है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'य कौमारहरः' आदि सूक्ति में 'विभावना' और 'विशेपोक्ति' का (संदेह) 'सङ्कर' बडा सुन्दर लग रहा है।

वस्तुत. जहाँ भी एक दृष्टि से 'विभावना' है वहाँ दूसरी दृष्टि से 'विशेपोक्ति' का संदेह स्वाभाविक है इसलिये 'शुद्ध' विभावना अथवा 'शुद्ध' विशेपोक्ति के निदर्शन काव्य-साहित्य में ढूँढ़ने पर ही सभवत कहीं मिलें (अन्यथा तो इन दोनों के सदेहसकर का वैचित्र्य उपलब्ध ही होता है)।

विमर्श—(क) 'अलङ्कारसर्वस्व'कार ने विशेपोक्ति का यह स्वरूप-निर्देश किया है—

'कारणसामग्र्ये कार्यानुत्पत्तिर्विशेपोक्तिः—इह समग्राणि कारणानि नियमेन कार्यमुत्पादयन्ति इति प्रसिद्धम्। अन्यथा समग्रत्वस्यैवाभावप्रसङ्गात्। यत्तु सत्यपि सामग्र्ये न जनयति कार्यं सा किञ्चिद्विशेपमभिव्यक्तुप्रयुज्यमाना विशेपोक्तिः।'(अलङ्कारसर्वस्व, पृ.१६१)
अर्थात् यह तो सिद्ध ही है कि एक कोई कारण कार्य-जनक नहीं अपितु कारण सामग्री कार्य-जनक है। कारण सामग्री के रहने पर भी कार्य का न होना एक विशेप कारण की अभिव्यञ्जना है जो कि 'विशेपोक्ति'रूप वाच्यवैचित्र्य के द्वारा ही समव है। इसलिये 'विभावना' के विपरीत स्वभाववाली 'विशेपोक्ति' एक अलङ्कारप्रकार है।

'विशेपोक्ति' की व्युत्पत्ति यह है—'विशेपं कञ्चित् प्रतिपादयितुमुक्ति. विशेपोक्तिः'। यह व्युत्पत्ति भी कारण सामग्री के सद्भाव में कार्योत्पत्ति के अभाव के निमित्तरूप से एक विशेप कारण की कल्पना की सिद्धि कर रही है।

(ख) 'य कौमारहर ' आदि में काव्यप्रकाशकार को 'विभावना-विशेपोक्तिसङ्कर' की स्फुटता नहीं दिखायी देती किन्तु विश्वनाथ कविराज ने यहा 'विभावना विशेपोक्तिसङ्कर' का सौन्दर्य अत्यन्त स्पष्ट रूप से देखा है। यहा पण्डितराज जगन्नाथ की यह समीक्षा ध्यान देने योग्य है—

'कारणाभावकार्याभावयोर्यत्र प्रतियोगितावच्छेदकविशेपवैशिष्ट्येन श्रुत्या प्रतिपादनं तत्र विभावनाविशेषोक्तयो शाब्दत्वम्। यथा—

'भगवद्वदनाम्भोजं पश्यन्त्या अप्यहर्निशम्। तृष्णाधिकमुदेतिस्म गोपसीमन्तिनीदृश.'॥

लोके ह्यसन्निकर्षस्तृष्णाकारणम्। तदभावे सन्निकर्षेऽपि तृष्णोपनिवद्धा। तथा सन्निकर्षस्तृप्तिकारणम्। तस्मिन् सत्यपि तृप्त्यभावो वोधित'। परन्तु कारणाभाव कार्याभावयोर्न प्रागुक्तप्रकारेण प्रतिपादनमित्यार्थत्वमेव तदुभयसशयसकरस्य। अमुमेव चार्थं मनसिकृत्य मम्मटभट्टै. 'य कौमारहर 'इति पद्यमुदाहृत्योक्तम्-'अत्र स्फुटो न कश्चिदलङ्कार ' इति।

(रसगङ्गाधर, पृष्ठ ५८९)

अर्थात् काव्यप्रकाशकार का यह कथन कि 'य कौमारहर ' आदि में कोई अलङ्कार स्फुटरूप से नहीं झलकता, सर्वथा युक्तियुक्त है। कारण यह है कि यहाँ विभावना विशेपोक्ति का 'सदेहसकर'

(३६—विरोधालङ्कार : सप्रभेद निरूपण)

जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्गुणो गुणादिभिस्त्रिभिः ॥ ६७ ॥
क्रिया क्रियाद्रव्याभ्यां यद् द्रव्यं द्रव्येण वा मिथः ।
विरुद्धमिव भासेत विरोधोऽसौ दशाकृतिः ॥ ६८ ॥

क्रमेण यथा—

(जाति का जाति से विरोधवर्णन-रूप 'विरोध')

'तव विरहे मलयमरुद्दवानलः, शशिरुचोऽपि सोष्माणः ।
हृदयमलिरुतमपि भिन्ते नलिनीदलमपि निदाघरविरस्याः ॥'

(गुण का गुण से विरोधवर्णनरूप 'विरोध')

'सन्ततमुसलासङ्गाद्बहुतरगृहकर्मघटनया नृपते ! ।
द्विजपत्नीनां कठिनाः सति भवति कराः सरोजसुकुमाराः ॥'

सुस्पष्टता नहीं प्रतीत हो सकता। 'विभावना' और विशेषोक्ति अलङ्कार 'शाब्द' और 'आर्थ' रूप से दो प्रकार के हुआ करते हैं। इनका 'शाब्द' रूप वह है जहाँ 'कारणाभाव' और 'कार्याभाव' का प्रतिपादन इनके 'प्रतियोगी' के वैशिष्ट्य के प्रतिपादनपूर्वक अर्थात् स्पष्टतः किया जाया करता है। 'यः कौमारहरः' आदि में ऐसी बात नहीं क्योंकि यहाँ उत्कण्ठारूप कार्य के कारण का अभाव स्पष्टतः प्रतिपादित नहीं। यहाँ यह कहा गया है कि 'जो वर आदि हैं वे वे ही हैं'। न कि यह कि 'जो वर आदि हैं। वे वे नहीं हैं ऐसा नहीं'। इसी प्रकार यहाँ उत्कण्ठाभावरूप कार्य का अभाव स्पष्टतः प्रतिपादित नहीं क्योंकि यहाँ यह नहीं कहा गया कि 'मन नहीं उत्कण्ठित होता ऐसी बात नहीं' अपितु यह कि 'मन उत्कण्ठित होता है'। इस प्रकार 'अन्ततः' यहाँ आर्थ 'विशेषोक्ति' और आर्थ 'विभावना' का 'संदेहसंकर' माना ही जा सकता है जिसका अभिप्राय यही है कि यहाँ 'विभावना विशेषोक्ति' संकर स्फुट नहीं अपितु अस्फुट है और अस्फुट होने के कारण विचारणीय भी नहीं।

अनुवाद—'विरोध' वह अलङ्कार है जिसे दस रूपों में देखा जाया करता है—

(१) जाति के जाति से विरोधवर्णन में।
(२) जाति के गुण से विरोधवर्णन में।
(३) जाति के क्रिया से विरोधवर्णन में।
(४) जाति के द्रव्य से विरोधवर्णन में।
(५) गुण के गुण से विरोधवर्णन में।
(६) गुण के क्रिया से विरोधवर्णन में।
(७) गुण के द्रव्य से विरोधवर्णन में।
(८) क्रिया के क्रिया से विरोधवर्णन में।
(९) क्रिया के द्रव्य से विरोधवर्णन में और
(१०) द्रव्य के द्रव्य से विरोधवर्णन में।

इस 'दशरूप' विरोधालङ्कार के क्रमशः ये उदाहरण हैं—

'अरे प्रेमी युवक ! तुम्हारे वियोग में उस सुन्दरी की यह दशा है कि मलयानिल दावानल बन रही है चन्द्रमा की किरणें संतापदायक हो रही हैं भ्रमरों की गुंजार हृदय विदारण कर रही है और नलिनी-किसलय ग्रीष्म का सूर्य बना रहा है।

'राजन् ! ब्राह्मणों की स्त्रियों के वे हाथ जो अब तक सदा मूसल की कुटाई-पिसाई और दिन-रात घरेलू काम में लगे रहने के कारण कड़े हो रहे थे आज आप के राजा होते कमल के समान कोमल दिखायी दे रहे हैं।

(क्रिया के साथ गुण-विरोध-वर्णन-रूप 'विरोध')

'अजस्य गृह्णतो जन्म निरीहस्य हतद्विषः ।
स्वपतो जागरूकस्य याथार्थ्यं वेद कस्तव ॥'

(गुण का द्रव्य से विरोध वर्णनरूप 'विरोध')

'वल्लभोत्सङ्गसङ्गेन विना हरिणचक्षुषः ।
राकाविभावरीजानिर्विषज्वालाकुलोऽभवत् ॥'

(क्रिया के साथ क्रिया का विरोध वर्णन रूप 'विरोध')

'नयनयुगासेचनकं मानसवृत्त्यापि दुष्प्रापम् ।
रूपमिदं मदिराक्ष्या मदयति हृदयं दुनोति च मे ॥'

(क्रिया का द्रव्य के साथ विरोध-वर्णनरूप 'विरोध')

'त्वद्वाजि' इत्यादि ।

(द्रव्य का द्रव्य के साथ विरोध-वर्णनरूप 'विरोध')

'वल्लभोत्सङ्ग'—इत्यादिश्लोके चतुर्थपादे 'मध्यन्दिनदिनाधिप' इति पाठे द्रव्ययोर्विरोधः ।

अत्र 'तव विरह–' इत्यादौ पवनादीनां बहुव्यक्तिवाचकत्वात् जातिशब्दानां दवानलोष्महृदयभेदनसूर्यैर्जातिगुणक्रियाद्रव्यरूपैरन्योन्यं विरोधो मुखत आभासते, विरहहेतुकत्वात्समाधानम् । 'अजस्य–' इत्यादावजत्वादिगुणस्य जन्मग्रहणादिक्रियया विरोधः, भगवतः प्रभावस्यातिशायित्वात्तु समाधानम् ।

'हे परमेश्वर ! आप अजन्मा होकर भी जन्म ग्रहण किया करते हैं, निरीह होकर भी शत्रु संहार किया करते हैं, योगनिद्रामग्न रहते हुये भी जागरूक रहा करते हैं—आपका यथार्थ स्वरूप भला कौन जान सकता है ?'

'प्रियतम के अङ्क के सुख-सम्बन्ध के न रहने से उस मृगनयनी सुन्दरी के लिये, अब पूर्णिमा का चन्द्रमा विष की लपटों से लिपटा प्रतीत हुआ करता है ।'

'उस मदिरेक्षणा सुन्दरी का वह रूप, जो नयनयुगल के शान्तिदायक और अचिन्तनीय सौन्दर्य का केन्द्र है, मेरे हृदय में पीड़ा भी पहुँचाया करता है और आनन्द भी भरा करता है ।'

'त्वद्वाजिराजिनिर्धूत' आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति (जहाँ शिवरूप 'द्रव्य' और 'न धारण करने' की क्रिया का विरोध आभासित हो रहा है)।

'वल्लभोत्सङ्गसङ्गेन' आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति के चतुर्थ चरण में, 'विषज्वालाकुलोऽभवत्' के स्थान पर, यदि 'मध्यन्दिनदिनाधिप' (पूर्णिमा का चन्द्रमा मध्याह्न का सूर्य हो जाया करता है) कर दिया जाय तब दो द्रव्यों का विरोध आभासित होने लगता है ।

इन उपर्युक्त उदाहरण-सूक्तिओं में 'विरोध' और 'विरोध-परिहार' का अभिप्राय इस प्रकार समझना चाहिये—'तव विरहे' आदि सूक्ति में 'मलयसमीर' आदि शब्द जातिवाचक शब्द हैं क्योंकि इनमें अनेकानेक व्यक्तिओं की वाचकता निहित है । यहाँ 'मलयपवन' आदि का 'दावानल'रूप जाति (क्योंकि 'दावानल' पद जातिवाचक पद है), 'ऊष्मा'रूप गुण (क्योंकि 'ऊष्मा' शब्द गुणवाचक शब्द है), 'हृदयभेदन'रूप क्रिया

'त्वद्वाजि-' इत्यादौ 'हरोऽपि शिरसा गङ्गां न धत्ते' इति विरोधः, 'त्वद्वाजि-' इत्यादिकविप्रौढोक्त्या तु समाधानम्। स्पष्टमन्यत्।

विभावनायां कारणाभावेनोपनिबध्यमानत्वात्कार्यमेव बाध्यत्वेन प्रतीयते, विशेषोक्तौ च कार्याभावेन कारणमेव; इह त्वन्योन्यं द्वयोरपि बाध्यत्वमिति भेदः।

(क्योंकि 'हृदयभेदन' पद क्रियावाचक शब्द है) और 'सूर्य' रूप द्रव्य (क्योंकि 'सूर्य' शब्द द्रव्यवाचक शब्द है) के साथ विरोध आपाततः अवश्य प्रतीत हो रहा है किन्तु यहाँ इस विरोध के परिहार का हेतु भी उपनिबद्ध है जो कि 'विरह' रूप हेतु है (इस प्रकार यहाँ 'विरोध' (वस्तुतः विरोधाभास) रूप वाच्य-वैचित्र्य की प्रतीति निर्विवाद रूप से हो रही है)। अजस्य गृह्णतो जन्म आदि सूक्ति में जो विरोध आभासित होता है जैसे कि अजत्व आदि गुण और 'जन्मग्रहण' आदि क्रिया का पारस्परिक विरोध उसका समाधान परमेश्वर की अलौकिक महिमा के द्वारा हो रहा है। 'त्वद्वाजिराजि' आदि सूक्ति में जो यह विरोध प्रतीत होता है कि 'हैं तो भगवान् शङ्कर किन्तु गङ्गा को नहीं धारण कर सकते' उसका परिहार 'त्वद्वाजिराजि' आदि की कविप्रौढोक्ति द्वारा किया जा रहा है। अन्य सूक्तियों में आपाततः प्रतीत विरोध का उपशमन स्पष्ट है।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि (आपाततः विरोध-प्रतीति में समान होने पर भी) 'विरोध' 'विभावना' और विशेषोक्ति पृथक्-पृथक् स्वरूप वाले अलङ्कार हैं। 'विभावना' में कवि जब कारण के अभाव का उपनिबन्ध करके कार्य की उत्पत्ति का वर्णन करता है तो यह स्पष्ट है कि यहाँ 'कार्योत्पत्ति' (असंगत सी प्रतीत होने के कारण) 'बाध्य' रूप की रहा करती है। विशेषोक्ति में जो बात है वह इससे ठीक उल्टी है क्योंकि यहाँ कार्याभाव के उपनिबन्ध के साथ कारण-सद्भाव का जो वर्णन हुआ करता है उसमें कारण ही (असंगत प्रतीत होने के कारण) 'बाध्य' रूप का हुआ करता है। किन्तु विरोध में जो बाध्य-बाधक भाव की प्रतीति हुआ करती है वह समान बलवाले पदार्थों की परस्पर 'बाध्यता' अथवा 'विरुद्धता' की प्रतीति है।

विमर्श—(क) 'विरोध' अलङ्कार का अभिप्राय आपाततः विरोध के प्रस्तावक और इसीलिये चमत्कार विरोध-समाधायक दृष्टिवैचित्र्य का अभिव्यञ्जन है। अलङ्कारसर्वस्वकार ने स्पष्ट कहा है

'विरुद्धाभासत्वं विरोधः'—

इह जात्यादीनां चतुर्णां पदार्थानां प्रत्येकं सजातीयविजातीयाभ्यां विरोधित्वे सम्भवे विरोधः। स च समाधानं विना दुष्टो दोषः। सति तु समाधाने प्रमुख एवाभासमानत्वाद्विरोधाभासः। (अलङ्कारसर्वस्व, पृ० १५४)

(३७—असङ्गति)

कार्यकारणयोर्भिन्नदेशतायामसङ्गतिः ।

पण्डितराज जगन्नाथ का भी यही कथन है—

'एकाधिकरणसम्बद्धत्वेन प्रतिपादितयोरर्थयोर्भासमानैकाधिकरणासम्बद्धत्वम् , एकाधिकरणासम्बद्धत्वभान वा विरोध ।

स च प्ररूढोऽप्ररूढश्च । प्ररोहश्च वाधवुद्ध्यनभिभूतत्वम् । तद्वैपरीत्यमप्ररोह. । तत्राद्यो दोपस्य विपय , द्वितीयश्चालङ्कारस्य । अत एवेम विरोधाभासमाचक्षते । आ ईपद्भासत इत्याभास. । विरोधश्चासावाभासश्चेति । आमुख एव प्रतीयमानो झगिति जायमानाविरोधवुद्धितिरस्कृत इति यावत्' । (रसगङ्गाधर, पृष्ठ ५७०)

अर्थात् 'विरोध' का अभिप्राय एक आश्रय के साथ सम्बद्ध रूप से प्रतिपादित दो पदार्थों के ऐसे परस्पर असम्बन्ध का अभिप्राय है जो कि उस आश्रय पर उनमें आभासित हुआ करता है। यह विरोध 'प्ररूढ' अथवा वास्तविक और 'अप्ररूढ' अथवा आपातत प्रतीत दो रूपों का हो सकता है । इनमें वास्तविक 'विरोध' तो एक महादोप है किन्तु आपातत प्रतीत 'विरोध' अथवा 'विरोधाभास' एक अलङ्कार अथवा वैचित्र्य है ।

(ख) 'विरोध' का क्षेत्र 'विभावना' तथा 'विशेपोक्ति' के क्षेत्र से कही अधिक व्यापक है । पण्डितराज जगन्नाथ ने इसीलिये कहा है—

'तत्रापि कार्यकारणादिवुद्ध्यनालीढो विरोधाभासो विरोधालङ्कार. । तदालीढस्तु विभावनादिर्वक्ष्यमाण ।' (रसगङ्गाधर, पृष्ठ ५७०)

अर्थात् कार्यकारणभाव के क्षेत्र को छोड कर अन्यत्र आपातत विरोधप्रतीति 'विरोध' अलङ्कार की कल्पना का मूल है । यह तो 'विभावना' और 'विशेषोक्ति' का क्षेत्र है जहा कार्यकारणभाव सम्बद्ध विरोध प्रतीत हुआ करता है ।

अलङ्कारसर्वस्वकार ने भी इसी दृष्टि से कहा था—

'कारणाभावेन चोपक्रान्तत्वाद् वलवता कार्यमेव वाध्यमानत्वेन प्रतीयते, न तु तेन कारणाभाव इत्यन्योन्यवाधकत्वानुप्राणिताद् विरोधालङ्काराद् भेद' । एवं विशेपोक्तौ कार्याभावेन कारणसत्ताया एव वाध्यमानत्वमुन्नेयम् । येन साऽपि विरोधाद् भिन्ना स्यात्' ।

(अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १५८)

अर्थात् 'विभावना' और 'विशेपोक्ति' विरोधालङ्कार से भिन्न अलङ्कार-प्रकार हैं । कारण यह है कि जहाँ 'विभावना' और 'विशेपोक्ति' में पहले में कारणाभाव के द्वारा कार्य 'वाध्य' प्रतीत होता है और दूसरे में कार्याभाव के द्वारा कारण, वहाँ 'विरोधालङ्कार' में कार्य और कारण दोनों में पारस्परिक 'विरोध' रहा करता है ।

आचार्य जयरथ ने इसी की पुष्टि में यह पङ्क्ति उद्धृत की है—

'कारणस्य निपेधेन वाध्यमान फलोदय । विभावनायामाभाति विरोधोऽन्योन्यवाधनम् ॥
अतो दूरविभेदोऽस्या विरोधेन व्यवस्थित ॥' (अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १५७)

अनुवाद—'असङ्गति' वह अलङ्कार है जिसे कार्य और कारण के भिन्न-भिन्न आश्रय में अवस्थान का वर्णन कहा जाया करता है (जिसका निमित्त कारण वैचित्र्य हुआ करता है)।

यथा—

> सा बाला, वयमप्रगल्भमनसः, सा स्त्री, वयं कातराः
> सा पीनोन्नतिमत्पयोधरयुगं धत्ते, सखेदा वयम्।
> साक्रान्ता जघनस्थलेन गुरुणा, गन्तुं न शक्ता वयं
> दोषैरन्यजनाश्रयैरपटवो जाताः स्म इत्यद्भुतम्॥'

जैसे कि—

'बाला (थोड़ी अवस्था वाली) तो वह सुन्दरी है और अप्रगल्भता (चञ्चलता) हमारे मन में बसी है; स्त्री तो वह है और कातरता हम में रहा करती है; मांसल और उन्नत उरोजों वाली तो वह है और खेद हमें हो रहा है; जघनस्थल के भार से तो वह दबी है और चलने-फिरने में असमर्थ हम हैं। कितना आश्चर्य है कि दूसरे के दोषों से हममें दोष उत्पन्न हो रहे हैं।'

[यहाँ 'असङ्गति' इसलिये है क्योंकि 'बालत्व' 'पीनत्व' आदि कारणों का आश्रय तो वर्ण्य नायिका है और 'अप्रगल्भत्व' 'कातरत्व' आदि कार्यों का आश्रय वर्ण्य नायक बन रहा है।]

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि 'असङ्गति' और 'विरोध' एक रूप के अलङ्कार नहीं क्योंकि यहाँ 'असङ्गति' 'विरोध' (रूप उत्सर्ग अथवा नियम) का अपवाद है (क्योंकि 'असङ्गति' के लिए कार्य-कारण भाव से संबद्ध दो पदार्थों का जो कि वस्तुतः 'समानाधिकरण' अथवा एक आश्रय पर अवस्थित हुआ करते हैं, भिन्न-भिन्न अधिकरणों में अवस्थानरूप विरोध अपेक्षित है) यहाँ 'विरोध' के लिए भिन्न-भिन्न आश्रय वाले दो पदार्थों के आश्रयैक्यरूप विरोध की अपेक्षा है।

विमर्श—(क) 'असङ्गति' का अभिप्राय है—उचित सङ्गति का अभाव। 'अलङ्कारसर्वस्व'कार ने इसकी यह समीक्षा की है—

'तयोस्तु भिन्नदेशत्वेऽसङ्गतिः। तयोरिति कार्यकारणयोः। यद्देशमेव कारणं तद्देशमेव कार्यं युक्तम्। न हि महानसस्थो वह्निः पर्वतदेशस्थं धूमं जनयति। यदा त्वन्यदेशत्वं कारणस्यान्यदेशत्वं वा कार्यमुपनिबध्यते तदोचितसङ्गतिनिवृत्तेरसङ्गत्याख्योऽलङ्कारः।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृ० १६४)

अर्थात् कार्यकारण के देशविभिन्नत्व-वर्णन में 'असङ्गति'रूप चमत्कृतिविम्ब रहा करता है। लोक में यही देखा जाता है कि जहाँ 'कारण' विद्यमान रहता है वहीं वह 'कार्य' भी उत्पन्न कर सकता है। ऐसा नहीं हुआ करता कि रसोईघर की आग से पहाड़ पर धुआँ उत्पन्न हो। किन्तु जब कवि कारण और कार्य का स्थान भिन्न-भिन्न बताता है जिसमें उसकी लोकोत्तर प्रतिभा का हाथ रहता है तब 'असङ्गति'रूप चमत्कृतिविम्ब का निर्देश आवश्यक हो जाता है।

(ख) साहित्यदर्पणकार ने 'असङ्गति' में 'अतिशयोक्ति' के अनुप्राणन की बात नहीं कही है। वस्तुतः यहाँ अभेदाध्यवसाय की अन्तर्मग्नता आवश्यक है। जैसे कि 'सा बाला' आदि सूक्ति में जो 'असङ्गति' है उसमें अभेद का अध्यवसाय स्पष्ट है क्योंकि वास्यनिमित्त 'अप्रगल्भत्व' आदि और प्रेमनिमित्त 'अप्रगल्भत्व' आदि में 'अभेदाध्यवसाय' होने से ही (अर्थात् दोनों में एकरूपता की कल्पना के ही कारण) भिन्न-भिन्न देश में कार्य और कारण के अवस्थान में जो 'विरोध' संभव है उसका समाधान किया जा सकता है। अन्यथा 'असङ्गति' का अलङ्कार होना असंभव है। 'अलङ्कारसर्वस्व'कार ने इसीलिये कहा है।

'अत्र (सा बाला वयमप्रगल्भमनस—इत्यादौ) वास्यनिमित्तमप्रगल्भत्वमन्यत् प्रेमनिमित्तमन्यदित्यनयोरभेदाध्यवसायः। एवमन्यत्र ज्ञेयम्।'

(अलङ्कारसर्वस्व पृ० १६४)

अरयाश्चापवादकत्वादेकदेशस्थयोर्विरोधे विरोधालङ्कारः ।

(३८—विषमालङ्कार : सप्रभेद निरूपण)

गुणौ क्रिये वा चेत्स्यातां विरुद्धे हेतुकार्ययोः ॥ ६९ ॥
यद्वारब्धस्य वैफल्यमनर्थस्य च सम्भवः ।
विरूपयोः संघटना या च तद्विषमं मतम् ॥ ७० ॥

क्रमेण यथा—

और 'अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी'कार ने इसका इसीलिए समर्थन किया है—

'अनेनातिशयोक्तिरस्या अप्यनुप्राणकत्वेन कटाक्षिता। अन्यथा हि विरोधो दुष्परिहरः स्यात्।' (अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १६४)

किन्तु पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार, 'असङ्गति' के लिए 'अतिशयोक्ति का अनुप्राणन' उतना आवश्यक नहीं जितना कि यथासम्भव 'अभेदाध्यवसान' का हुआ करता है—

'अस्या च विभावनायामिव कार्यांशेऽतिशयोक्त्यनुप्राणनमावश्यकम्। अन्यथा विरोधो दुष्परिहर एव स्यादित्यलङ्कारसर्वस्वकारादीना मतम्। तच्च—

'दृष्टिर्मृगीदृशोऽत्यन्तं श्रुत्यन्तपरिशीलिनी।
मुच्यन्ते बन्धनात् केशा विचित्रा वैधसी गतिः ॥'

इत्यस्मन्निर्मितोदाहरणे व्यभिचारादसङ्गतम्। न हि। 'मुच्यन्ते बन्धनात् केशा' इत्यत्र केशबन्धनमुक्त्यंशेऽतिशयोक्तिरस्ति। किन्तु श्लेषभित्तिकाभेदाध्यवसानमात्रम्। तस्माद् येन केनापि प्रकारेण कार्यांशेऽभेदाध्यवसानमावश्यकमिति तु सङ्गतम्।'

(रसगङ्गाधर, पृष्ठ ५९०-५९१)

(ग) 'असङ्गति' अलङ्कार 'विरोध' का बाधक है न कि 'विरोध' 'असङ्गति' का। 'विरोध' उत्सर्गरूप है और 'असङ्गति' विरोध का अपवादरूप। उत्सर्ग (नियम) अपवाद का क्षेत्र छोड़कर ही अपना क्षेत्र बनाता है। रसगङ्गाधरकार ने इसीलिए कहा है—

'व्यधिकरणत्वेन प्रसिद्धयो. समानाधिकरणत्वेनोपनिबन्धने विरोधालङ्कार । समानाधिकरणत्वेन प्रसिद्धयोर्द्वयोर्वैयधिकरण्येनोपनिबन्धनेऽसङ्गति.। ' इत्थं च स्फुट एव विरोधालङ्कारादसङ्गतेर्भेद । (रसगङ्गाधर, पृष्ठ ५९२)

अर्थात् 'विरोध' से 'असङ्गति' भिन्न है क्योंकि 'विरोध' में तो उन पदार्थों के समान आधार पर अवस्थान में विरोध आभासित होता है जिनकी भिन्न भिन्न आधार पर अवस्थिति प्रसिद्ध है। किन्तु 'असङ्गति' में, जिन पदार्थों के भिन्न भिन्न आधार पर अवस्थान वर्णन में विरोध की प्रतीति होती है वे ऐसे हुआ करते हैं जिनकी समान आधार पर अवस्थित प्रसिद्ध रहा करती है।

अनुवाद—'विषम' वह अलङ्कार है जिसे निम्न सम्भावनाओं में देखा जाया करता है—

(१) जब कि कारण और कार्य के गुण अथवा उनकी क्रियायें परस्पर विरुद्ध रूप से वर्णित हों।

(२) जब कि आरब्ध कार्य की विफलता और साथ ही उसमें अनर्थ की उत्पत्ति का वर्णन हो।

(३) जब कि दो विरुद्ध पदार्थों की परस्पर सघटना का उपनिबन्ध हो।

'विषम' अलङ्कार के क्रमश उदाहरण ये हैं—

(कारणगुण से कार्यगुण के विरोध में 'विषम')

'सद्यः करस्पर्शमवाप्य चित्रं रणे रणे यस्य कृपाणलेखा।
तमालनीला शरदिन्दुपाण्डु यशस्त्रिलोकाभरणं प्रसूते॥'

अत्र कारणरूपासिलतायाः 'कारणगुणा हि कार्यगुणमारभन्ते' इति स्थितेर्विरुद्धा शुक्लयशस उत्पत्तिः।

(कारण की क्रिया से कार्य की क्रिया के विरोध में 'विषम')

'आनन्दममन्दमिमं कुवलयदललोचने! ददासि त्वम्।
विरहस्त्वयैव जनितस्तापयतितरां शरीरं मे॥'

अत्रानन्दजनककर्तृरूपकारणात्तापजनकविरहोत्पत्तिः।

(आरब्ध कार्य के वैफल्य में अनर्थोत्पत्तिरूप 'विषम')

'अयं रत्नाकरोऽम्भोधिरित्यसेवि धनाशया।
धनं दूरेऽस्तु वदनमपूरि क्षारवारिभिः॥'

अत्र केवलं काङ्क्षितधनलाभो नाभूत्, प्रत्युत क्षारवारिभिर्वदनपूरणम्।

(विरूपघटना में 'विषम')

'क्व वनं तरुवल्कभूषणं नृपलक्ष्मीः क्व महेन्द्रवन्दिता।
नियतं प्रतिकूलवर्तिनो बत धातुश्चरितं सुदुःसहम्॥'

'रणस्थली में जगह-जगह पर उस प्रतापी राजा के हाथ का स्पर्श पाकर कितने आश्चर्य की बात है कि, उसकी तलवार, जो तमालपत्र की भाँति नीली-नीली चमका करती है ऐसे यश का विस्तार कर देती है जो शरदृतु की चाँदनी की भाँति शुभ्र-धवल और संसार का एक अलङ्कार हो जाता है। (नवसाहसाङ्कचरित)

यहाँ 'विषम'अलङ्कार का सौन्दर्य दिखायी दे रहा है क्योंकि यहाँ इस नियम अर्थात् 'कारण के गुण ही कार्य के गुण के उत्पादक हुआ करते हैं' के विरुद्ध यह वर्णन किया गया है कि 'असिलता'रूप कारण का 'नीलत्व'गुण कार्यभूत यश में 'नीलत्व' का उत्पादन न कर 'शुक्लत्व' का उत्पादन कर रहा है।

'अरी नीलकमल से नयनों वाली! तू ही मुझे (अपने मिलन में) यह सान्द्र आनंद दिया करती है और तेरा ही विरह मेरे शरीर को इतना संतप्त किया करता है।

(रुद्रट : काव्यालङ्कार-उद्धरण)

यहाँ भी 'विषम' है क्योंकि यहाँ आनन्दजनक 'नायिका'रूप कारण से जिस क्रिया की उत्पत्ति का वर्णन किया जा रहा है वह संतापजनक 'विरह' है जो कि उसके सर्वथा विरुद्ध है।

'यह समुद्र रत्नाकर है—यह सोचकर धनप्राप्ति की अभिलाषा से उसकी सेवा की गई, किन्तु हुआ क्या? धन मिलना तो दूर रहा, उलटे मुँह में खारा पानी आ घुसा।

यहाँ 'विषम' है क्योंकि यहाँ यह वर्णन है कि 'आरब्ध कार्य अर्थात् मनोवाञ्छित धनलाभ तो हुआ नहीं उलटे अनर्थ अर्थात् खारे जल से मुखपूरण हो गया।

'कहाँ तो वन जिसमें पेड़ों की छाल के वस्त्र पहने जाते हैं और कहाँ राजलक्ष्मी जिसकी देवराज भी उपासना किया करते हैं। ओह! उस विधाता का चरित जो सदा प्रतिकूल रहा करता है कितना दुःसह हुआ करता है।

अत्र वनराज्यश्रियोर्विरूपयोः संघटना। इदं मम।

यथा वा—

'विपुलेन सागरशयस्य कुक्षिणा भुवनानि यस्य पपिरे युगक्षये।
मदविभ्रमासकलया पपे पुन. स पुरस्त्रियैकतमयैकया दृशा॥'

यह विषम-सूक्ति स्वरचित सूक्ति है। इसमें दो विरूप पदार्थों अर्थात् 'वन' और 'राज्यश्री' का एकत्र मेल वर्णित किया हुआ है।

अथवा (विरूपपदार्थों की संघटना में 'विषम' का यह उदाहरण)—

'जो सागरशायी कृष्ण भगवान्, युगान्तकाल में, अपनी कुक्षि (उदर) में समस्त भुवनों को आत्मसात् कर लिया करते हैं उन्हें द्वारका की एक नागरी ने, कामोन्माद के कारण अधखुली अपनी एक आँख में ही भरकर रख लिया।' (शिशुपालवध सर्ग १३)

[यहाँ भगवान् कृष्ण के सम्बन्ध में दो विरूप पदार्थों अर्थात 'भुवनों के आत्मसात् करने' और 'एक नारी की एक आँख में ही समा जाने' का वर्णन है जिसमें 'विषम' का स्वरूप स्पष्ट झलक रहा है।]

विमर्श— (क) 'अलङ्कारसर्वस्व'कार के शब्दों में 'विषम' की समीक्षा यह है—

'विरूपकार्यानर्थयोरुत्पत्तिर्विरूपसघटना च विषमम्। विरोधप्रस्तावेनेह लक्षणम्। तत्र कारणगुणप्रक्रमेण कार्यमुत्पद्यत इति प्रसिद्धौ यद्विरूपं कार्यमुत्पद्यमान दृश्यते तदेकं विषमम्। तथा कश्चिदर्थं साधयितुमुद्यतस्य न केवल तस्यार्थस्याप्रतिलम्भो यावदनर्थप्राप्तिरपीति द्वितीय विषमम्। अत्यन्तानुरूपसघटनयोर्विरूपयोश्च सघटन तृतीयं विषमम्। अननुरूपससर्गो हि विषमम्।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १६१)

अर्थात् 'विषम' का अभिप्राय वस्तुतः अननुरूप पदार्थों के परस्पर ससर्ग का वर्णन है। एक 'विषम'रूप वाच्यवैचित्र्य वह है जिसमें कारणगुण के विरुद्ध कार्यगुण की उत्पत्ति का वर्णन हुआ करता है। दूसरा 'विषम'रूप वाच्यसौन्दर्य वह है जिसमें आरब्ध अर्थ की असमाप्ति के साथ-साथ अनर्थ की भी प्राप्ति का वर्णन किया जाया करता है और तीसरा 'विषम' रूप वाग्वैलक्षण्य वह है जिसमें अत्यन्त अननुरूप ससर्ग वाले पदार्थों अथवा अननुरूप पदार्थों का परस्पर संसर्ग वर्णित हुआ करता है। ये तीनों 'विषम' पृथक् पृथक् हैं। इनमें 'प्रकार' और 'प्रकारी' (प्रकारप्रकारिभाव) के सवन्ध की कोई विवक्षा नहीं हो सकती (**एकमित्याद्यभिदधता ग्रन्थकृता विषमाणां भिन्नत्वमुक्तम्, न प्रकारप्रकारित्वम्, सामान्यलक्षणस्यासंभवात्**— विमर्शिनी, पृष्ठ १६५)।

(ख) 'विषम'रूप वाच्यवैचित्र्य में कविप्रतिभा का हाथ मानना आवश्यक है क्योंकि स्वभावत अननुरूप पदार्थों के ससर्ग अथवा कार्यकारणभाव के स्वाभाविक वैरूप्य में 'विषम'रूप अलङ्कार नहीं हुआ करता। 'अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी'कार ने इसीलिये कहा है—

'यद्यपि 'गोमयाद् वृश्चिकोत्पत्ति' इतिवत् कार्यकारणयोर्वास्तव विरूपत्व सभवति, तथापीह कविप्रतिभानिर्वर्तितमेव तद् ग्राह्यम्। तेन—

'द्राक्षाफलानि शिखरेषु शिलोच्चयाना पीयूपसाररसनिर्भरगर्भवन्ति।
विष्वगूदपत्कठिनकायनिगूढश्रृङ्गश्रृङ्गाटकानि पुनरम्भसि सभवन्ति॥'

इत्यादौ विषम न वाच्यम्। ईदृश एव कार्यकारणभावस्य वस्तुत सभवात्।

(अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १६५

निम्नलिखित सूक्ति एक बडी सुन्दर 'विषम'-सूक्ति है—

(३९—समालङ्कार)

समं स्यादानुरूप्येण श्लाघा योग्यस्य वस्तुनः ।

यथा—

> 'शशिनमुपगतेयं कौमुदी मेघमुक्त
> जलनिधिमनुरूपं जह्नुकन्यावतीर्णा ।
> इति समगुणयोगप्रीतयस्तत्र पौरा
> श्रवणकटु नृपाणामेकवाक्यं विवव्रुः ॥'

'अरण्यानी क्वेयं धृतकनकसूत्रः क्व स मृगः, क्व मुक्ताहारोऽयं क्व च स पतगः क्वेयमबला । क्व तत् कन्यारत्नं ललितमहिभर्तुः क्व च वयम्, स्वमाकूतं धाता विवृतमिमुतं क्वाप्यकृत मे ॥'
(अलङ्कारसर्वस्व प्रकरण)

अनुवाद—'सम' वह अलङ्कार है जिसमें परस्पर अनुरूप पदार्थों के संसर्ग का वर्णन किया गया है ।

उदाहरण के लिये—

'यह कौमुदी मेघनिर्मुक्त चन्द्रमा से जा मिली, यह जाह्नवी अपने योग्य समुद्र के पास जा पहुँची—इस प्रकार इन्दुमती और अज की जोड़ी की प्रशंसा में लगे, परस्पर अनुरूप पदार्थों के संसर्ग में प्रसन्न होने वाले, नगरवासी जन एक स्वर से यह सब ऐसे कहने लगे जिससे अन्य राजगण के कान ईर्ष्यावश फटने लगे । (रघुवंश ६ सर्ग ८)

[यहाँ परस्पर अनुरूप पदार्थों के संसर्ग-वर्णन में 'सम' का सौन्दर्य स्पष्ट झलक रहा है]

विमर्श—(क) 'सम' वस्तुतः विरूपसंघटनात्मक 'विषम' का विपर्यय है जैसा कि 'अलङ्कार सर्वस्व'कार का कथन है—

'तद्विपर्ययः समम् ।

विषमवैधर्म्यादिह प्रस्तावः । यद्यपि विषमस्य भेदत्रयमुक्तं तथापि तत्रकत्रैव संभवान्यो भेदः परामृश्यते । पूर्वभेदद्वयविपर्ययस्यानलङ्कारत्वात् । अन्त्यभेदविपर्ययस्तु चारुत्वात्समाख्योऽलङ्कारः । स वास्तिकपामविरूपविपर्ययेण द्विविधः ।

(अलङ्कारसर्वस्व पृष्ठ १९७)

अर्थात् 'सम'अलङ्कार की कल्पना में 'विषम' के वैधर्म्य से संगत साम्यवैचित्र्य के निरूपण का हाथ है । 'विषम' के तीन भेदों में पहले दो भेदों का विपर्यय तो अलङ्कारत्व नहीं हो सकता किन्तु तीसरे अर्थात् विरूपसंघटनात्मक 'विषम' के विपर्यय में 'सम'रूप साम्यवैचित्र्य का दर्शन स्वाभाविक है ।

(ख) साहित्यदर्पणकार ने समालङ्कार को केवल 'अनुरूपसंघटनात्मक' माना है अननुरूप-संघटनात्मक नहीं । अलङ्कारसर्वस्वकार ने अननुरूप पदार्थों के परस्पर संसर्ग में भी 'सम'रूप साम्यवैचित्र्य देखा है—

'चित्रं चित्रं बत बत महच्चित्रमेतद् विचित्रं जातो दैवादुचितरचनासंविधाता विधाता ।
यन्निम्बानां परिणतफलस्फीतिरास्वादनीया, यच्चैतस्याः कवलनकलाकोविदः काककोलः ॥
अत्रानभिरूपाणां निम्बानां काकानां च समागमः प्रशंसितः ।' (अलङ्कारसर्वस्व पृ० १९०)

(ग) पण्डितराज जगन्नाथ की समालङ्कार-समीक्षा' दूसरी ही है—

अनुरूपसंसर्गः समम् ।

संसर्गः पूर्ववद् द्विविधः । तत्रोत्पत्तिरूपजन्यस्य संसर्गस्यानुरूपत्वं कारणस्य स्वसमानगुण-कार्योत्पत्त्या, कारणगुणस्यानुसरणरूपतया तत्कार्योत्पत्त्या, अस्तिविविधित्वमानयनं प्रकृष्ट

(४०—विचित्रालङ्कार)

विचित्रं तद्विरुद्धस्य कृतिरिष्टफलाय चेत् ॥ ७१ ॥

यथा—

'प्रणमत्युन्नतिहेतोर्जीवितहेतोर्विमुञ्चति प्राणान् ।
दुःखीयति सुखहेतोः को मूढः सेवकादन्यः ॥'

कारणात्तत्प्राप्त्या च । संयोगादिलक्षणस्यापि संसर्गिणोरन्यतरगुणस्वरूपानुग्राह्यान्यतरगुणस्वरूपतयाऽनुरूपत्वम् । एवं चानुरूपसंसर्गत्वेन सामान्यलक्षणेन सर्वे भेदाः संगृहीता भवन्ति ।' (रसगङ्गाधर, पृष्ठ ६०३)

यहाँ अलङ्कारसर्वस्व की समीक्षा में यह प्रदर्शित किया गया है कि 'सम' भी 'विषम' की भाँति तीन भेदों वाला है क्योंकि 'अनुरूपसंसर्गता' की विशेषता इसके तीनों भेदों में, जो कि 'विषम' के तीनों भेदों के विपर्यय रूप हैं, सर्वथा अनुगत प्रतीत होती है ।

अनुवाद—'विचित्र' वह अलङ्कार है जिसे अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति के लिये, उसके अननुरूप अथवा विरुद्ध कार्य के वर्णन में देखा जाया करता है ।

जैसे कि—

'सेवक से बढ़कर मूढ़ और कौन है जो कि अपनी उन्नति के लिये प्रणत हुआ करता है, अपने जीवन के लिये प्राण-परित्याग किया करता है और अपने सुख के लिये दुःख भोगा करता है ।'

[यहाँ 'विचित्र' अलङ्कार है क्योंकि 'उन्नति' के लिये 'प्रणति' (झुकने), 'जीवन' के लिये 'प्राणत्याग' और 'सुख' के लिये 'दुःखभोग' के कार्य विरुद्ध हैं और इन्हीं का यहाँ वर्णन किया हुआ है ।]

विमर्श—(क) 'विचित्र'अलङ्कार की सर्वप्रथम कल्पना 'अलङ्कारसर्वस्व'कार की कल्पना है जैसा कि 'अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी'कार का स्पष्ट निर्देश है—

'एतद्धि ग्रन्थकृतैवाभिनवत्वेनोक्तम् ।' (अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १६९) ।'

'अलङ्कारसर्वस्व'कार के अनुसार 'विचित्र' का स्वरूप यह है—

'स्वविपरीतफलनिष्पत्तये प्रयत्नो विचित्रम् । यस्य हेतोर्यत्फलं तस्य यदा तद्विपरीतं भवति तदा तद्विपरीतफलनिष्पत्त्यर्थं कस्यचित्प्रयत्न उत्साहो विचित्रालङ्कारः । आश्चर्यप्रतीतिहेतुत्वात् ।'

अर्थात् 'विचित्र'अलङ्कार इसलिये मान्य है क्योंकि यह आश्चर्यप्रतीति का एक हेतु है । यहाँ आश्चर्यप्रतीति इसलिये हुआ करती है क्योंकि अभीष्टप्राप्ति के लिये, उसके विपरीत क्रिया के अनुष्ठान का आग्रह, एक आश्चर्यजनक बात है ।

(ख) 'विचित्र' और 'विषम' परस्पर भिन्न अलङ्कार हैं । 'विचित्र' में तो ऐसा है कि 'कारण-निषेध की प्रतीति' के बाद 'कार्यवैपरीत्यप्रतीति' हुआ करती है किन्तु 'विषम' में 'कार्यवैपरीत्य-प्रतीति' के बाद 'कारणनिषेध' का अवसर आता है । 'अलङ्कारसर्वस्व'कार ने 'विचित्र' और 'विषम' का यह भेद, इन शब्दों में निर्दिष्ट किया है—

'न चायं प्रथमो विषमालङ्कारप्रकारः । स्वनिषेधमुखेन वैपरीत्यप्रतीतेः । विपरीतप्रतीत्या तु स्वनिषेधस्तस्य विषयः । यथा—'तमालनीलां शरदिन्दुपाण्डु यशस्त्रिलोकाभरणं प्रसूते' इत्यादि । इह त्वन्यथा प्रतीतिः ।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १६८)

'विषम' और 'विचित्र' के परस्पर भेद के सम्बन्ध में पण्डितराज जगन्नाथ ने एक और बात बताई है—

(७१—अधिकालङ्कार)

आश्रयाश्रयिणोरेकस्याधिक्येऽधिकमुच्यते ।

आश्रयाधिक्ये यथा—

> 'किमधिकमस्य ब्रूमो महिमानं वारिधेर्हरिर्यत्र ।
> अज्ञात एव शेते कुक्षौ निक्षिप्य भुवनानि ॥'

आश्रिताधिक्ये यथा—

> 'युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनो जगन्ति यस्यां सविकासमासत ।
> तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विषस्तपोधनाभ्यागमसम्भवा मुदः ॥'

'न च कारणाननुरूपं कार्यमिति विषमभेदोऽयं वाच्यः, विषमे पुरुषकृतेरनपेक्षणात्। कार्यकारणगुणवैरूप्येणैव तद्भेदविस्मयात्। (रत्नाकर पृ० १९)
अर्थात् 'विषम' और 'विचित्र' इसलिये भी परस्पर भिन्न-भिन्न अलङ्कार हैं क्योंकि जहाँ 'विषम' में कारण के विरुद्ध कार्य की स्वयं उत्पत्ति का वर्णन हुआ करता है वहाँ 'विचित्र' में, विरुद्ध फल की उत्पत्ति के लिये कार्यानुष्ठान में पुरुष-प्रयत्न का वर्णन हुआ करता है।

'अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी'कार ने भी 'विषम' और 'विचित्र' का यही भेद निर्दिष्ट किया है—

'यद्यपि विषमे विरूपस्य कार्यस्य स्वयमेवोत्पत्तिरिह (विचित्रे) च तन्निष्पत्तये प्रयत्न इति स्थितोऽप्यनयोः स्फुटो भेदस्तथापि प्रत्यक्षता विशेषपरिपोषायैव सूत्रेऽधिकाभ्यां भेदोऽभ्युक्तः। (अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी पृ० १९९)

अनुवाद—'अधिक' वह अलङ्कार है जो आधार और आधेय में से एक के आधिक्य के वर्णन में देखा जाया करता है।

जैसे कि आधार के आधिक्य के वर्णन में यह 'अधिक' रूप वाक्यवैचित्र्य (अलङ्कार)।

'इस सागर की महिमा का इससे अधिक क्या वर्णन किया जाय कि इसमें, कहीं किसी कोने में अज्ञातरूप से वे भगवान् विष्णु शयन किया करते हैं जिनकी कुक्षि में (प्रलय के समय) समस्त संसार समा जाया करता है।

अथवा

जैसे कि आधेय के आधिक्य के वर्णन में यह 'अधिक'अलङ्कार—

'युगान्त में जीवमात्र को अपने में समेट लेनेवाले, जिस कैटभारि कृष्ण के शरीर में सारा ब्रह्माण्ड फैलकर समा जाता है उसमें तपोधन नारद के शुभागमन की प्रसन्नता न समा सकी। (शिशुपालवध)

विमर्श—'अधिक' की समीक्षा 'अलङ्कारसर्वस्व'कार ने इस प्रकार की है—

'आश्रयाश्रयिणोरनानुरूप्यमधिकम्। विरोधप्रस्तावादिह निर्देशः। अनानुरूप्यस्य विरोधोत्थापकत्वात्। तच्चानानुरूप्यमाश्रयस्य वैपुल्येऽपि आश्रितस्य परिमितत्वाद्वा भवति महाश्रितस्य वैपुल्येऽप्याश्रयस्य परिमितत्वाद् वा स्यात्। (अलङ्कारसर्वस्व पृ० १९९)
अर्थात् यद्यपि आश्रयाश्रयिभाव की अननुरूपता भी एक अननुरूप संघटना होने से, 'विषम' की ही कल्पना करा सकती है किन्तु यहाँ 'विषम नहीं अपितु अधिक'अलङ्कार की स्वरूपता देखी जानी चाहिये। कारण यह है कि जहाँ 'विषम' के लिये केवल दो अननुरूप पदार्थों की संघटना का वर्णन अपेक्षित हुआ करता है वहाँ अधिक के लिये आश्रयाश्रयिभाव (आधाराधेयभाव) रूप से ही सम्बद्ध दो पदार्थों की अननुरूप संघटना का वर्णन आवश्यक माना जाया करता है। अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनीकार ने इसीलिये कहा है—

(४२—अन्योन्यालङ्कार)

अन्योन्यमुभयोरेकक्रियायाः कारणं मिथः ॥ ७२ ॥

'त्वया सा शोभते तन्वी तया त्वमपि शोभसे ।
रजन्या शोभते चन्द्रश्चन्द्रेणापि निशीथिनी ॥'

(४३—विशेषालङ्कार.)

यदाधेयमनाधारमेकं चानेकगोचरम् ।
किञ्चित्प्रकुर्वतः कार्यमशक्यस्येतरस्य वा ॥ ७३ ॥
कार्यस्य करणं दैवाद्विशेषस्त्रिविधस्ततः ।

'एव च परिमितत्वापरिमितत्वयो. सापेक्षत्वात्तथाविधवस्तुद्वयसघटनयैव तदवगमन-सिद्धिरित्यत्राधाराधेययोस्सघटनेनैवाननुरूपत्वमवगम्यते । विषमे चानन्यापेक्षत्वेन स्वत एवाननुरूपयो. सघटनमित्यनयोर्महान् भेद इत्यत्र पिण्डार्थ. ।'

(अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १७०)

अनुवाद—'अन्योन्य' वह अलङ्कार है जो परस्पर दो पदार्थों के द्वारा की गई एक क्रिया के वर्णन में देखा जाया करता है । जैसे कि—

'वह सुन्दरी तुम से सुशोभित होती है और तुम उससे सुशोभित होते हो । रात से चन्द्रमा की और चन्द्रमा से रात की शोभा है ।'

विमर्श—'अन्योन्य' की कल्पना 'विरोध' की रूपरेखा पर आश्रित हैं । 'परस्पर क्रियाजनन का वर्णन 'अन्योन्य' अलङ्कार है किन्तु परस्पर जनन विरुद्ध बाध है, इसका वर्णन 'अलङ्कार' क्योंकर कहा जाय ? इसके सम्बन्ध में 'अलङ्कारसर्वस्व'कार का यह कथन है—

'इहापि विरोधप्रस्ताव एव निर्देशकारणम् । परस्परजननस्य विरुद्धत्वात् । क्रियाद्वारकं यत्र परस्परोत्पादकत्व (परस्परनिष्पादकत्वम्), न स्वरूपनिवन्धन, स्वरूपस्य तथात्वोक्तिविरोधात् , तत्रान्योन्याख्योऽलङ्कार । यथा—

'कण्ठस्य तस्या· स्तनवन्धुरस्य मुक्ताकलापस्य च निस्तलस्य ।
अन्योन्यशोभाजननाद् वभूव साधारणो भूषणभूष्यभाव. ॥'

अत्र शोभाक्रियामुखक परस्परजननम् । (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १७०)

अर्थात् 'अन्योन्य' अलङ्कार में जिसमें दो पदार्थों की परस्परजनकता का वर्णन हुआ करता है दो पदार्थों के स्वरूपत परस्परोत्पादन का अभिप्राय विवक्षित नहीं अपितु क्रिया अथवा धर्म द्वारा परस्पर निष्पादन का अभिप्राय विवक्षित है ।

रसगङ्गाधरकार ने 'अन्योन्य' का यह स्वरूप और भी अधिक स्पष्ट कर दिया है—

'द्वयोरन्योन्येनान्योन्यस्य विशेषाधानमन्योन्यम् । विशेषश्च क्रियादिरूप । यथा—

'सुदृशो जितरत्नजालया सुरतान्तश्रमविन्दुमालया । अलिकेन च हेमकान्तिना विदधे काऽपि रुचि परस्परम् ॥' अत्र गुणरूपविशेषाधानम् । रुचेर्गुणत्वात् । न च विधानरूप-क्रियात्मकविशेषाधानमिह शङ्कयम्, भावनासामान्यरूपस्य (क्रियासामान्यरूपस्य) विधानस्याचमत्कारित्वेनाविशेषत्वात् ।' (रसगङ्गाधर, पृष्ठ ६११)

अनुवाद—'विशेष' वह अलङ्कार है जिसे निम्न सभावनाओं में देखा जाया करता है—

(१) जब कि विना आधार के ही आधेय का वर्णन-वैचित्र्य दिखायी दे ।
(२) जब कि एक वस्तु अनेक स्थानों पर एक समय में विराजमान वर्णित हो ।

क्रमेण यथा—

'दिवमप्युपयातानामाकल्पमनल्पगुणगणा येषाम्।
रमयन्ति जगन्ति गिरः कथमिव कवयो न ते वन्द्याः॥'

'कानने सरिदुद्देशे गिरीणामपि कन्दरे।
पश्यन्त्यन्तकसङ्काशं त्वामेकं रिपवः पुरः॥'

'गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम्॥'

---

(३) जब कि एक कार्य करते हुये किसी के द्वारा, अन्य अशक्य कार्य का भी दैववश सम्पादन उपनिबद्ध हो।

इन तीनों सम्भावनाओं में, तीनों विशेषालङ्कारों के क्रमशः उदाहरण ये हैं—

(बिना आधार के आधेय के वर्णन में 'विशेष') 'उन कवियों की वन्दना क्यों न की जाय जिनकी महनीय गुणमयी कविता उनके दिवंगत हो जाने पर भी, कल्प-कल्पान्तर तक, संसार को आनन्द-निमग्न बनाया करती है।

[यहाँ कविता के आधारभूत कविजन के अभाव में भी आधेयभूत कविता की अवस्थिति के वर्णन में 'विशेष' का वैचित्र्य स्पष्ट झलक रहा है।]

(एक वस्तु के, एक समय में, अनेक आधार पर अवस्थान-वर्णन में 'विशेष')

'राजन्! आपके शत्रुगण, यमराज के समान आपको वनों में देखते हैं, नदियों के कछारों पर देखते हैं और पहाड़ों की कन्दराओं में देखते हैं।'

[यहाँ एक समय में ही एक राजा का 'कानन' आदि अनेक स्थानों पर जो अवस्थान-वर्णन है उसमें 'विशेष' के दूसरे रूप का चमत्कार स्पष्ट है।]

(अशक्य कार्य के दैववश सम्पादन में 'विशेष') 'इन्दुमुखि! निर्दय मृत्यु ने तेरा हरण करते हुए, मेरी गृहिणी मेरे सचिव मेरी सखी मेरी ललित कलाओं में प्रियशिष्या—मेरे सब कुछ का हरण कर लिया!' (रघुवंश)

[यहाँ इन्दुमतीहरणरूप एक कार्य में संलग्न यम के द्वारा, दैववश 'गृहिणी' आदि अनेक वस्तु-हरण का जो वर्णन है उसमें 'विशेष' का तीसरा रूप स्पष्ट दिखाई दे रहा है।]

विमर्श—'अलङ्कारसर्वस्व'कार की 'विशेष'-परिभाषा यह है—

'अनाधारमाधेयमेकमनेकगोचरमशक्यवस्त्वन्तरकरणं विशेषः।

इहाधारमन्तरेणाधेयं न वर्तत इति स्थितावपि यत्तत्परिहारेणाधेयस्योपनिबन्धः स एको विशेषः। यच्चैकं वस्तु परिमितं युगपदनेकत्र वर्तमानं क्रियते स द्वितीयो विशेषः। यच्च किञ्चिदारभमाणस्याशक्यवस्त्वन्तरकरणं स तृतीयो विशेषः। आनुकूल्यपरिहारस्य-विरोधप्रस्तावाद्विशेषोक्तिः। (अलङ्कारसर्वस्व पृ० १०१)

अर्थात् 'विशेष' तीन अलङ्कारों का संवलन अलङ्कार है। 'विशेष' के तीनों रूपों में 'विच्छित्ति' अनुस्यूत है।

निम्न 'विशेष' सूक्तियाँ बड़ी सुन्दर हैं—

अङ्गेषु ताम्रहरिचन्दनपङ्कचर्चा मार्गोऽवतारयतमपि च पल्लवश्वाः।
योऽभ्युद्गता पतिवियोगविषादमग्नो ज्योत्स्नाभिसारपरिकर्म स कल्पमासीत्॥

(४४—व्याघात)

व्याघातः स तु केनापि वस्तु येन यथाकृतम् ॥ ७४ ॥
तेनैव चेदुपायेन कुरुतेऽन्यस्तदन्यथा ।

यथा—

'दृशा दग्ध मनसिजम्—' इत्यादि ।

(व्याघात' प्रकारान्तर)

सौकर्येण च कार्यस्य विरुद्धं क्रियते यदि ॥ ७५ ॥

(अत्र हरिचन्दनचर्चादिना न केवल पतिवियोगविषाददम्भ' कृतो यावदभिसारिका-परिकर्मापि कृतमित्यस्य वस्त्वन्तरकरणात्मैवायं 'विशेष' ।)

'अङ्गानि चन्दनरसादपि शीतलानि चन्द्रातप वमति वाहुरय यशोभि. ।
चालुक्यगोत्रतिलक ! क्व वसत्यसौ ते दुर्वृत्तभूपपरितापगुरु प्रताप ॥'

(अत्राङ्गादीनामनर्हत्वेनाधारत्वाभावेऽप्याधेयस्य प्रतापस्य स्थितिरिति विशेषा-लङ्कारत्वम् ।) (अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १७२, १७३)

अनुवाद—'व्याघात' वह अलङ्कार है जिसे, एक उपाय द्वारा, किसी से सिद्ध की गयी किसी वस्तु का, उसी उपाय द्वारा, दूसरे से उस (वस्तु) के ठीक विपरीत बना देने के वर्णन-वैचित्र्य में देखा जाया करता है ।

जैसे कि 'दृशा दग्ध मनसिजम्' आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति (जहाँ यह वर्णन है कि जिस दृष्टि से शिव ने कामदेव को जला दिया उसी दृष्टि से सुन्दरियों ने उसे जिला दिया) ।

विमर्श—'व्याघात' के इस रूप की मीमासा 'अलङ्कारसर्वस्व'कार ने इस प्रकार की है—

'य कश्चिदुपायविशेषमवलम्ब्य केनचिन्निष्पादितं वस्तु तत्तोऽन्येन केनचित् तत्प्रतिद्व-न्द्विना तेनैवोपायविशेषेण यदन्यथा क्रियते स निष्पादितवस्तुव्याहतिहेतुत्वाद् व्याघात ।'

(अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १७३)

अर्थात् 'व्याघात' का तात्पर्य 'किसी निष्पादित वस्तु के विघात' का उपनिवन्ध है ।

'अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी'कार ने इसे और भी स्पष्ट कर दिया है—

'अतश्च यत्र न निष्पन्नस्य वस्तुनो व्याहतिरुपनिबध्यते तत्र नायमलङ्कार. । निष्पत्तेरे-वाप्ररोहाद्व्याघातायोगात् । निष्पन्नवस्तुव्याहतिर्हि व्याघात । फल चात्र—व्याहतिकारिण-स्तद्वैलक्षण्यम् । अत एव 'उत्पत्तिविनाशयोरेकोपायत्वे व्याघात' इति न सूत्रणीयम् । एव हि व्याघातत्वमेव न स्यात् ।

'कुलममलिन भद्रामूर्तिर्मति श्रुतिशालिनी
भुजवलमल स्फीता लक्ष्मी प्रभुत्वमखण्डितम् ।
प्रकृतिसुभगा ह्येते भावा अमीभिरय जनो
व्रजति सुतरां दर्पं राजस्त एव तवाङ्कुशा ॥'

इत्यत्र च कुलादयो यथान्येषा दर्पहेतवो न तथा तव । प्रत्युत विनयकारिण इत्येवं-विधगुणविशिष्टेभ्य पुरुषान्तरेभ्योऽस्य वैलक्षण्यमात्र विवक्षितम् । न तु कुलादिभिरुत्पादि-तोऽपि तव दर्पो व्याहत इति येन व्याघातालङ्कारो भवति । निष्पादितवस्तुव्याहतेर-भावात्तन्निवन्धनत्वेन चास्योक्तत्वात् । (अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १७४)

अनुवाद—दूसरे प्रकार का 'व्याघात' वह अलङ्कार है जिसे सौकर्य के साथ, किसी के द्वारा निष्पादित कार्य के अन्यथाकरण (उलट देने) के वर्णन में देखा जाया करता है ।

व्याघात इत्येव।

'इहैव त्वं तिष्ठ द्रुतमहमहोभिः कतिपयैः
समागन्ता कान्ते! मृदुरसि न चायाससहना।
मृदुत्वं मे हेतुः सुभग! भवता गन्तुमधिकं
न मृद्वी सोढा यद्विरहकृतमायासमसमम्॥'

अत्र नायकेन नायिकाया मृदुत्वं सहगमनाभावहेतुत्वेनोक्तम्। नायिकया च प्रत्युत सहगमने ततोऽपि सौकर्येण हेतुतयोपन्यस्तम्।

यहाँ पूर्वकारिका से 'व्याघात' पद अनुवृत्त समझना चाहिये। उदाहरण के लिये—

'प्रिये! तू यहीं रह मैं दो-चार दिनों में ही बहुत शीघ्र, वापस लौट आऊँगा। तू सुकुमार है तू मार्ग-कष्ट नहीं सहन कर सकती। (प्रियतमा की उक्ति) प्रियतम! मैं सुकुमार हूँ इसीलिये तो मुझे तुम्हारे साथ चलने की अधिक आवश्यकता है क्योंकि सुकुमार होने के नाते तुम्हारे विरह के विषम कष्ट सहने में मैं कैसे समर्थ हो सकूँगी?'

यहाँ 'व्याघात' स्पष्ट है क्योंकि यहाँ, नायक ने नायिका की जिस 'मृदुता' (सुकुमारता) को अपने साथ न चलने के हेतुरूप से प्रस्तुत किया है वही नायिका द्वारा, उलटे ही, बड़ी सरलता के साथ सहगमन के प्रबल हेतुरूप में उपन्यस्त कर दी गयी है।

विमर्श—'अलङ्कारसर्वस्व'कार ने इस व्याघात-प्रकार को 'सौकर्येण कार्यविरुद्धक्रिया च व्याघातः' कहा है और इसका तात्पर्य यह बताया है—

'विवक्षितकार्यं निष्पादयितुं सम्भाव्यमानः कारणविशेषस्तत्कार्यविरुद्धनिष्पादकत्वेन यत्समर्थ्यते सोऽपि सम्भाव्यमानकार्यव्याहतिनिबन्धनत्वात् व्याघातः। कार्यविरुद्धस्य निष्पत्तिश्च कार्यापेक्षया सुकरा। तस्य कारणत्वस्यात्यन्तं तदानुगुण्यात्। अतश्च कार्याभिमतस्य कार्यत्वाभावः। तद्विरुद्धस्यैव सौकर्येण कार्यत्वात्। अत एव द्वितीयाद् विषमाद् भेदः। तत्र हि कार्यस्यानुत्पत्तिरनर्थस्य चोद्गमनम्। इह तु कार्यं कार्यमेव न भवति तद्विरुद्धस्यानर्थस्य व्यतिरेकिणोऽप्यत्र सुतरां कार्यत्वात्'। (अलङ्कारसर्वस्व पृ० १७५)

अर्थात् 'व्याघात' का यह एक रूप है जिसे 'सम्भाव्यमान' कार्य की व्याहति अथवा विघात कहा जा सकता है। किसी कार्य की निष्पत्ति की अपेक्षा उसके विरुद्ध कार्य की निष्पत्ति अधिक सुगम हुआ करती है क्योंकि वहाँ जो कारण हो सकता है वह कार्यविरुद्ध कार्य की निष्पत्ति के लिये अधिक उपयुक्त हो सकता है। इस 'व्याघात'प्रकार में 'विषम' की भाँति ऐसा नहीं कि कार्य की अनुत्पत्ति के साथ-साथ अनर्थ की उत्पत्ति का उपनिबन्ध हो। यहाँ (इस 'व्याघात'-प्रकार में) जो कार्य है वह वस्तुतः कार्य का विरोधी होने पर भी कार्यरूप ही है न कि अनर्थरूप।

दोनों व्याघात-प्रकारों का भेद 'विमर्शिनी'कार के शब्दों में यह है—

'अत एवास्य प्रथमाद् व्याघाताद् भेदः। तत्र हि येन केनचिदुपायेन निष्पादितं वस्तु तदैवान्येनान्यथाक्रियते इत्युक्तम्। इह तु किञ्चिन्निष्पादयितुं संभाव्यमानस्य कारणस्य तद्विरुद्धनिष्पादकत्वेन समर्थनम्।' (अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी पृ० १७५)

अर्थात् जहाँ प्रथम व्याघातभेद में एक के द्वारा किसी कारण से निष्पादित वस्तु का उसके प्रतिद्वन्द्वी द्वारा, अन्यथाकरण विवक्षित रहा करता है वहाँ द्वितीय व्याघातभेद में किसी कार्य के निष्पादक रूप से संभावित किसी कारण द्वारा उस कार्य के विरुद्ध कार्य-निष्पादन का समर्थन अपेक्षित हुआ करता है।

(४५—कारणमाला)

परं परं प्रति यदा पूर्वपूर्वस्य हेतुता ।

तदा कारणमाला स्यात्—

यथा—

'श्रुतं कृतधियां सङ्गाज्जायते विनयः श्रुतात् ।
लोकानुरागो विनयान्न किं लोकानुरागतः ॥

अनुवाद—'कारणमाला' वह अलङ्कार है जो उत्तरोत्तर वस्तु के लिये पूर्व-पूर्व-वर्णित वस्तु की हेतुता के उपनिबन्ध में देखा जाया करता है। जैसे कि—

'विद्वान् लोगों के सग-साथ से शास्त्रज्ञान मिलता है, शास्त्रज्ञान से विनय की प्राप्ति होती है, विनय से लोगों का प्रेम प्राप्त होता है और जब कि लोगों का प्रेम प्राप्त हो जाय तो ऐसी कौन वस्तु है जो प्राप्त न हो जाय ?'

[यहाँ पूर्व-पूर्ववर्णित 'शास्त्र'ज्ञान आदि को उत्तरवर्ण्य 'विनय' आदि के कारण-रूप से उपनिबद्ध किया गया है जिसमें 'कारणमाला'रूप वाच्य-वैचित्र्य स्पष्ट है ।

विमर्श—(क) 'कारणमाला' का अलङ्कार कल्पना में 'कार्यकारणक्रम' निमित्तरूप से पड़ा है न कि वस्तुओं का श्रृङ्खलारूप से उपनिवन्ध, जैसा कि 'विमर्शिनीकार' का स्पष्ट कथन है—

'न पुन केवलमेव श्रृखलात्वमित्यर्थ'। अतएव कारणमालेत्यस्या अन्वर्थमभिधानम्। एवमन्येभ्य श्रृखलाबन्धोपचित्रितेभ्योऽलङ्कारेभ्योऽस्या विषयविभाग., न हि तेषु कार्य-कारणक्रम एव चारुत्वहेतु ,विशेषणविशेष्यभावादेवान्तरस्य विच्छित्तिविशेषस्य सम्भवात् ।
(अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १७७)

(ख) पण्डितराज जगन्नाथ (रसगङ्गाधर, पृष्ठ ६२०) ने 'कारणमाला' की एक और भी सम्भावना निर्दिष्ट की है जिसमें उत्तरोत्तर वर्णित, वस्तु पूर्वपूर्ववर्णित वस्तु के कारणरूप से उपन्यस्त की गयी होनी है—'तत्र पूर्वं पूर्वं कारणं परं परं कार्यमित्येका (कारणमाला), पूर्वपूर्वं कार्यं परपर कारणमित्यपरा (कारणमाला)।'

इस 'कारणमाला'-भेद का उदाहरण यह है—

'स्वर्गापवर्गौ खलु दानलक्ष्मीर्दान प्रसूते विपुला समृद्धि ।
समृद्धिमल्पेतरभागधेय भाग्य च शभो ! तव पादभक्तिः ॥'

(ग) 'कारणमाला'रूप वाच्यवैचित्र्य की निष्पत्ति के लिये पण्डितराज जगन्नाथ की यह विचारधारा ध्यान देने योग्य है—

'इह च यद्यादौ कारणोक्तिरेव प्रस्तूयते तदा पुनस्तस्य कारण तस्यापि कारणमिति, तत्कस्यचित् कारणं तदपि कस्यचिदिति वा कारणमाला युक्ता। यदा तु कार्योक्तिस्तदा तस्य कार्यं तस्यापि कार्यमिति, तत् कस्यचित् कार्यं तदपि कस्यचिदिति वा युक्ता। सर्वथैव य' शब्द कार्यकारणतोपस्थापक आदौ प्रयुक्तः स एव निर्वाह्य । एवं क्रमेण निब-न्धनमाकाङ्क्षानुरूपत्वाद्रमणीयम्। अन्यथा तु भग्नप्रक्रम स्यात्। यथा प्राचीनानां पद्यम्—

जितेन्द्रियत्व विनयस्य कारणं गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते ।
गुणाधिके पुसि जनोऽनुरज्यते जनानुरागप्रभवा हि सम्पद' ॥'

अत्र जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं श्रुत्वा जितेन्द्रियत्वस्यापि किं कारणमिति, विनय-कस्य कारणमिति वा आकाङ्क्षोदेति। कारणस्यैव श्रुतिवशात् पूर्वमुपस्थिते । ···एवं च

(७६—मालादीपक)

—तन्मालादीपकं पुनः ॥ ७६ ॥

धर्मिणामेकधर्मेण सम्बन्धो यद्यथोत्तरम् ।

यथा—

'त्वयि सङ्गरसम्प्राप्ते धनुषासादिताः शराः ।
शरैररिशिरस्तेन भूस्तया त्वं त्वया यशः ॥'

अत्रासादनक्रिया धर्मः ।

(७७—एकावली)

पूर्वं पूर्वं प्रति विशेषणत्वेन परं परम् ॥ ७७ ॥

विषयता कस्य कारणमित्याकाङ्क्षायां 'गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते' इति वाक्यं यद्यपि पृथक् परिपूर्णं भवति तथापि न साकाङ्क्षत्वमपगतम् । (रसगङ्गाधर पृ ६२)

अनुवाद—'मालादीपक' वह अलङ्कार है जो 'धर्मी'रूपसे वर्णित अनेक वस्तुओं का उत्तरोत्तर, एकधर्माभिसम्बन्ध (एक धर्म से सम्बद्ध होना) कहा जाया करता है। जैसे कि—

'राजन्! जब आप संग्राम में पहुँचे तब आपके धनुष ने बाणों को प्राप्त किया, बाणों ने शत्रु के मस्तक प्राप्त किये शत्रु के मस्तकों ने (नीचे गिरकर) पृथिवी प्राप्त की, पृथिवी ने आपको प्राप्त किया और आपने यश प्राप्त किया।

यहाँ यह स्पष्ट है कि 'आसादन-क्रिया' (प्राप्त करने की क्रिया) रूप 'धर्म' अनेकों धर्मियों के साथ उत्तरोत्तर संबद्ध होता हुआ वर्णित किया गया है (जिसमें 'मालादीपक' की झलक स्पष्ट दिखायी दे रही है)।

विमर्श—'मालादीपक' की एक पृथक् अलङ्कार रूप में कल्पना इसलिये की गयी है क्योंकि इसमें भी शृङ्खलात्व का एक अतिरिक्त वैचित्र्य दिखायी दिया करता है। आचार्य रुय्यक ने इसीलिये कहा है—

'उत्तरोत्तरस्य पूर्व पूर्व प्रत्युत्कर्षहेतुत्वे एकावली। पूर्वस्य पूर्वस्योत्तरोत्तरोत्कर्षनिबन्धनत्वे तु मालादीपकम्। मालात्वेन चास्यविशेषमाश्रित्य दीपकप्रस्तावोऽस्यलक्षणे लक्षणं कृतम्। गुणावहत्वमुत्कर्षहेतुत्वम्।' (अलङ्कारसर्वस्व पृ १७२)

और इसी लिये आचार्य जयरथ ने इसका इस प्रकार समर्थन किया है—

'मालादीपकमिति शृङ्खला लक्ष्यते। तस्या पूर्वोपमानत्वात्। नचात्र मालोपमावत् मालाशब्दो ज्ञेयः। एकस्योपमेयस्य बहूपमानोपादानाभावात्। अत्र ह्यौपम्यमेव नास्ति। ओजस्वकलापीनि ('संग्रामप्राङ्गणमागतेन भवता चापे समारोपिते देवाकर्णय येन येन सहसा यद् यत्समासादितम्। कोदण्डेन शराः शरैररिशिरस्तेनापि भूमण्डलं, तेन त्वं भवता च कीर्तिरतुला कीर्त्या च लोकत्रयम्' इत्यादौ) तस्याविवक्षणात्। अत एवास्य दीपकमेवत्वं न वाच्यम्। औपम्यजीवितं हि तत् (दीपकम्) प्राच्यैः पुनरेतद्दीपकमालाप्रयुक्तत्वातदनन्तरं लक्षितम्। शृङ्खलात्वेन तु विच्छित्त्यन्तरस्य भावादिमिहेह लक्षणं युक्तम्। एतच्च दीपक एव ग्रन्थकृतोक्तम्—ग्रन्थान्तरेण तु मालादीपकं प्रस्तावान्तरे लक्षयिष्यत इति। (अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी पृ १७५)

अनुवाद—'एकावली' वह अलङ्कार है जिसे पूर्व-पूर्व वर्णित वस्तु के विशेषणरूप से

स्थाप्यतेऽपोह्यते वा चेत् स्यात्तदैकावली द्विधा ।

क्रमेणोदाहरणम्—

(पूर्व-पूर्ववर्णित के विशेषणरूप से उत्तरोत्तर वर्ण्य वस्तु के स्थापन में एकावली)

'सरो विकसिताम्भोजमम्भोजं भृङ्गसङ्गतम् ।
भृङ्गा यत्र ससङ्गीताः सङ्गीतं सस्मरोदयम् ॥'

(पूर्व पूर्व वर्णित वस्तु के विशेषण रूप से उत्तरोत्तर वर्ण्य वस्तु के अपोहन में एकावली)

'न तज्जल यन्न सुचारुपङ्कज न पङ्कज तद्यदलीनषट्पदम् ।
न षट्पदोऽसौ न जुगुञ्ज यः कलं न गुञ्जित तन्न जहार यन्मनः ॥'

क्वचिद्विशेष्यमपि यथोत्तर विशेषणतया स्थापितमपोहितं च दृश्यते ।

यथा—

'वाप्यो भवन्ति विमलाः स्फुटन्ति कमलानि वापीषु ।
कमलेषु पतन्त्यलय' करोति सङ्गीतमलिषु पदम् ॥'

एवमपोहनेऽपि ।

उत्तरोत्तर वर्ण्य वस्तु का स्थापन अथवा अपोहन (रखना अथवा हटाना) कहा जाया करता है। इस 'स्थापन' और 'अपोहन' के भेद से 'एकावली' अलङ्कार के भी दो भेद हुआ करते हैं। इनके क्रमश. उदाहरण ये हैं—

'सरोवर ऐसा है जिसमें कमल खिले हैं, कमल ऐसे हैं जिन पर भ्रमर बैठे हैं, भ्रमर ऐसे हैं जिनमें सगीत-माधुरी भरी है और सगीत ऐसा है जो कामोद्दीपक प्रतीत हो रहा है।'

यहाँ पूर्व-पूर्ववर्णित 'सरोवर' आदि के विशेषणरूप में उत्तरोत्तर वर्ण्य, 'अम्भोज' आदि का उपनिवन्ध है जिसमें 'एकावली' का रूप स्पष्ट झलक रहा है।

(विश्वामित्र के साथ चलते राम के मार्ग में) 'ऐसा कोई सरोवर न था, जिसमें सुन्दर कमल न खिले हों, ऐसा कोई कमल न था, जिसमें भौंरे न छिपे हों, ऐसा कोई भौंरा न था, जो मधुर गुजार न कर रहा हो और ऐसी कोई गुजार न थी, जो मन को न लुभा रही हो।' (भट्टिकाव्य २ १९)।

[यहाँ यह स्पष्ट है कि पूर्व पूर्व वर्णित वस्तु के लिये, उत्तरोत्तर वर्ण्य वस्तु, जो कि विशेषणरूप से उपनिवद्ध है, अपोहित (हटायी जाती) दिखायी दे रही है।]

'एकावली' में यदा-कदा ऐसा भी हुआ करता है कि विशेष्य का, उत्तरोत्तर, विशेषण-रूप से स्थापन अथवा अपोहन किया जाया करता है। जैसे कि—

'जलवापियाँ स्वच्छ दीख रही हैं, जलवापियों में कमल खिले हुए हैं, कमलों पर भ्रमर टूट पड रहे हैं और भ्रमरों में गुजार समा रही है।'

[यहाँ प्रथम चरण में विशेष्यभूत 'वाप्य' है जिसके विशेषण रूप से 'विमला' का उपादान है किन्तु दूसरे चरण में विशेष्यभूत वापी को 'कमल' का विशेषण वना दिया गया है। यही क्रम आगे भी चल रहा है, जिसमें 'एकावली' का एक नया रूप झलक रहा है।]

विशेष्य के, विशेषण रूप से स्थापन की भाँति 'अपोहन' में भी 'एकावली' का यह नया रूप दिखाई दिया करता है। जैसे कि—

(७८—सार)

उत्तरोत्तरमुत्कर्षो वस्तुनः सार उच्यते ॥ ७८ ॥

यथा—

'राज्ये सार वसुधा वसुधायामपि पुरं पुरे सौधम् ।
सौधे तल्पं तल्पे वराङ्गनानङ्गसर्वस्वम् ॥'

'पुण्यक्षेत्रं न सर्वत्र पुण्यक्षेत्रे न नास्तिकाः ।
नास्तिकेषु न धर्मोऽस्ति न धर्मे दुःखहेतुता ॥

विमर्श—(क) 'एकावली' में पूर्व-पूर्ववर्णित की उत्तरोत्तर वस्तु के 'विशेषण'रूप से जो स्थापना हुआ करती है उसमें विशेषण का अभिप्राय यह है—

'स्वरूपमात्रेणावगतस्य वस्तुनो व्यावर्तकतया वैशिष्ट्यमवगम्यते तद्विशेषणम्।' एतदुक्तमिति (अलङ्कारसर्वस्वकारः)–'उत्तरोत्तरस्य पूर्वं पूर्वं प्रत्युत्कर्षहेतुत्वे एकावलीति।'

(अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी)

अर्थात् 'विशेषण' वह है जो अपने से सम्बद्ध (विशेष्यरूप) वस्तु की विशेषता व्यक्त करता है अथवा उत्कर्षवृद्धि किया करता है।

(ख) निम्न सूक्ति 'एकावली' का एक सुन्दर निदर्शन है—

'पुराणि यस्यां सवराङ्गनानि वराङ्गना रूपपुरस्कृताङ्गाः ।
रूपं समुन्मीलितसद्विलासमस्त्रं विलासाः कुसुमायुधस्य ॥

(नवसाहसाङ्कचरित)

अनुवाद—'सार'अलङ्कार वह है जिसे वर्ण्य वस्तु के उत्तरोत्तर उत्कर्ष-वर्णन में देखा जाया करता है। जैसे कि—

'राज्य में यदि कोई सार है तो वह पृथिवी है; पृथिवी में यदि कोई सार है तो वह नगर है नगर में यदि कोई सार है तो वह महल है महल में यदि कोई सार है तो वह पलंग है और पलंग में यदि कोई सार है तो वह है रतिसर्वस्व एक सुन्दरी।

[यहाँ 'राज्य' आदि वर्ण्य वस्तु का जो उत्तरोत्तर उत्कर्ष-वर्णन किया जा रहा है उसमें 'सार' का वैचित्र्य स्पष्ट है।]

विमर्श—(क) 'सार' को अलङ्कारसर्वस्वकार 'उदार' कहते हैं—'उत्तरोत्तरमुत्कर्षवद् सारः'। किन्तु ये दोनों नाम एक ही काव्यवैचित्र्य के नाम हैं। उत्तरोत्तर उत्कर्ष वर्णन की चतुर्विध सम्भावनायें हैं—(१ ली) एक वस्तु के स्वरूपतः उत्कर्ष के वर्णन की (२ री) एक वस्तु के धर्मतः उत्कर्ष के वर्णन की (३ री) अनेक वस्तुओं के स्वरूपतः उत्कर्ष के वर्णन की और (४ थी) अनेक वस्तुओं के धर्मतः उत्कर्ष के वर्णन की। जैसे कि एक वस्तु के स्वरूपतः उत्कर्ष वर्णन में 'सार'—

'किं कुम्भं किं नु रत्नं तिलकमथ तथा कुण्डलं कौस्तुभो वा
चक्रं वा वारिजं वा स्मरमदयुवतिभिर्वर्णितान्येपि देहे ।
कर्णे नीलो कपोले नयसि हरि करे नाभिदेशे च दृष्टं
पायाद्वोऽर्थैर्निर्मं स च मधुहरिपूर्वर्धमानः क्रमेण ॥

अथवा, जैसे कि एक वस्तु के धर्मतः उत्कर्षवर्णन में 'सार'—

'अतसीकुसुमसमं मुखे तदनु त्वत्कचमेचकद्युति ।
अथ वाक्यमात्रमासर्क मधुरं सम्प्रति सर्वतस्तमः ॥

(४९—यथासंख्यालङ्कार)

यथासंख्यमनूद्देश उद्दिष्टानां क्रमेण यत् ।

'उन्मीलन्ति नखैर्लुनीहि वहति क्षौमाञ्चलेनावृणु
क्रीडाकाननमाविशन्ति वलयक्वाणैः समुत्त्रासय ।
इत्थं वञ्जुलदक्षिणानिलकुहूकण्ठेषु साङ्केतिक-
व्याहाराः सुभग ! त्वदीयविरहे तस्याः सखीना मिथः ॥'

(अत्रैकस्यैव तमसो निबिडत्वाख्यधर्ममुखेनोत्तरोत्तरमुत्कर्ष. ।)

(अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १८०)

(ख) पण्डितराज जगन्नाथ ने उत्तरोत्तर निकर्ष-वर्णन को भी 'सार' का एक रूप विशेष माना है—

'सैव (श्रृङ्खलैव) संसर्गस्योत्कृष्टापकृष्टभावरूपत्वे सार. ।'

इस 'सार' विशेष का उदाहरण यह है—

तृणाल्लघुतरस्तूलस्तूलादपि च याचक ।
वायुना किं न नीतोऽसौ मामयं प्रार्थयेदिति ॥'

(ग) आचार्य जयरथ और पण्डितराज जगन्नाथ ने शृङ्खलाबन्धरूप चार अलङ्कारों जैसे कि 'कारणमाला', 'मालादीपक', 'एकावली' और 'सार' के सम्बन्ध में यह सिद्ध किया है कि ये अलङ्कार 'शृखला' नामक एक अलङ्कार के चार भेद नहीं अपितु पृथक् पृथक् अलङ्कार हैं—

'(शृङ्खलाबन्धोपचिता.) अलङ्कारा इति न पुन शृङ्खलैवैकोऽलङ्कार' । एवं हि साधर्म्यमप्येक एवालङ्कार स्यात् । न ह्युपमादिषु साधर्म्यपरिहारेण प्रत्येक कश्चिद् विच्छित्तिविशेषसम्भव. येनालङ्कारभेद स्यात् । एव विरोधोऽप्येक एव वाच्य । एव सप्ताद्यानामेवालङ्काराणां लक्षणप्रणयनप्रसङ्ग । अथोपमादीनामपि साधर्म्यादाववान्तरोऽस्ति विशेष इति चेत् तर्हि कारणमालादीनामपि शृङ्खलाबन्धोपचित्रितत्वेऽपि वक्ष्यमाणनीत्या कार्यकारणविशेषणविशेष्यभावाद्यात्मास्त्येवावान्तरोऽपि विच्छित्तिविशेष येनोपमादिवत् पृथगेवैषामलङ्कारत्व युक्तम् ।' (अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १७६)

'एव शृङ्खलाविषयाणामलङ्काराणां विच्छित्तिवैलक्षण्यस्यानुभवसिद्धत्वात् पृथगलङ्कारत्वे सिद्धे शृखलाया विरोधाऽभेदसाधर्म्यादिवदनुप्राणकतैवोचिता न पृथगलङ्कारता । तथात्वेऽभेदादीनामपि पृथगलङ्कारतापत्ते ।' (रसगङ्गाधर, पृष्ठ ६२९)

अनुवाद—'यथासख्य' वह अलङ्कार है जिसे पूर्वोद्दिष्ट (पहले प्रतिपादित) पदार्थों का क्रमश पुन कथन कहा जाया करता है।

जैसे कि—

'अरे सुभग प्रेमी युवा ! तुम्हारे वियोग में विह्वल उस सुन्दरी की सखियाँ वजुल, दक्षिणानिल और कोकिलकण्ठ के सम्बन्ध में इस प्रकार सकेतभाषा में बात-चीत करती सुनायी दिया करती हैं—एक कहती है—'खिल रहे हैं' तो दूसरी बोलती है—'नखों से नोच डालो', एक कहती है 'बह रही है' तो दूसरी बोलती है—'रेशमी डुपट्टे से ढक दे', एक कहती है—'केलिवन में आ रही है' तो दूसरी कहती है—'कङ्कण की आवाज से डरा कर भगा दे।'

विमर्श—'यथासख्य'अलङ्कार, 'अलङ्कारसर्वस्व'कार की दृष्टि में, वाक्यन्यायमूलक

(५—पर्यायालङ्कार)

क्वचिदेकमनेकस्मिन्ननेकं चैकगं क्रमात् ॥ ७९ ॥
भवति क्रियते वा चेत्तदा पर्याय इष्यते ।

क्रमेण यथा—

(एक वस्तु के अनेक स्थान पर क्रमशः अवस्थान-वर्णन में 'पर्याय')

'स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः ।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे क्रमेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः ॥'

(अनेक वस्तुओं के एकत्र क्रमशः अवस्थान-वर्णन में 'पर्याय')

'विचरन्ति विलासिन्यो यत्र श्रोणिभरालसाः ।
वृककाकशिवास्तत्र धावन्त्यरिपुरे तव ॥'

अलङ्कार है। तात्पर्य यह है कि 'यथासंख्य' अलङ्कार के रूप में जिस वाक्यवैचित्र्य का विवेचन किया जा सकता है वह वाक्यविन्यास का एक वैचित्र्य है न कि और कुछ—

'उद्दिष्टानामर्थानां क्रमेणानुद्देशो यथासंख्यम्। ऊर्ध्वं निर्दिष्टा उद्दिष्टाः। पश्चान्निर्देशोऽनुद्देशः। स चार्थान्तरगतः सम्बन्धमात्र सामर्थ्यात् प्रतीयते। ऊर्ध्वं निर्दिष्टानामर्थानां पश्चान्निर्दिष्टैरर्थैः क्रमेण सम्बन्धो यथासंख्यमिति वाक्यार्थः। अन्ये त्विममलङ्कारं क्रमसंज्ञयाऽभिदधिरे। तच्च यथासंख्यं शाब्दमार्थं च द्विधा। शाब्दं यथासमस्तानां पदानामसमस्तौ पदार्थानुरक्तः सम्बन्धः। तत्र क्रमसम्बन्धस्यातिरोहितस्य प्रत्येयत्वात्। आर्थं तु यत्र समासः क्रियते तत्र समुदायस्य समुदायेन सह सम्बन्धस्य शाब्दत्वादवयवानामर्थादेवावयवगतः क्रमसम्बन्धः प्रतीयते। (अलङ्कारसर्वस्व पृ० १८८)

अर्थात् पूर्वनिर्दिष्ट पदार्थों का पश्चान्निर्दिष्ट पदार्थों के साथ क्रम से सम्बन्ध एक प्रकार की वाक्य-शोभा है और यही वाक्य शोभा यथासंख्य अलङ्कार की रूपरेखा है। यदि इसके प्रतिपादित पदार्थ के साथ बाद में प्रतिपादित पदार्थ का सम्बन्ध व्युत्क्रम से हो तब तो यह दोष है। किन्तु यथासंख्य अलङ्कार है 'अपक्रम' रूप दोष का अभावमात्र नहीं। यथासंख्य इसलिये अलङ्कार है क्योंकि इस वाक्यवैचित्र्य के निर्माण में कविप्रतिभा का हाथ रहा करता है। विमर्शिनीकार ने इसी लिये कहा है—

'दोषाभावमात्र (अपक्रमरूपदोषपरिहारमात्रमिति) च नालङ्कारत्वम्। अस्य (यथासंख्यस्य) कविप्रतिभासमुल्लिखितविशेषत्वेनोक्तत्वात्। तस्मै चास्य 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' इत्यादिसूत्रोदाहरणानां 'तुदीशालातुरवर्मतीकूचवाराड्ढक्छण्ढञ्यकः' इत्यादीनामप्यलङ्कारत्वप्रसङ्गः।' (अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी पृ० १८८)

अनुवाद—'पर्याय' वह अलङ्कार है जिसे एक वस्तु के अनेक में अथवा अनेक वस्तुओं के एक में क्रमशः 'अवस्थान' अथवा क्रमशः 'सम्पादन' के वर्णन में देखा जाया करता है। इसके क्रमशः उदाहरण ये हैं—

'वर्षा की पहली बूँदें तपस्या में लगी गिरिराज कुमारी (पार्वती) पर जब गिरीं तब पहले, क्षण भर के लिये पलकों पर टिकीं तदनन्तर अधरोष्ठ पर रुकीं बाद में उन्नत उरोजों पर टकरायीं फिर त्रिवली तक पहुँचीं और तब अन्त में नाभि तक पहुँच गयीं। (कुमारसम्भव)

राजन्! आपके शत्रु की राजधानी में जहाँ पहले जघनभार से अलसायी विलासिनी रमणियाँ विहार किया करती थीं वहाँ अब भेड़िये कौए और गीदड़ दौड़ मचाते दिखायी दे रहे हैं।

(एक वस्तु के अनेक स्थान पर क्रमश संपादन अथवा विधान-वर्णन में 'पर्याय')

'विसृष्टरागादधरान्निवर्तितः स्तनाङ्गरागादरुणाच्च कन्दुकात् ।
कुशाङ्कुरादानपरिक्षताङ्गुलिः कृतोऽक्षसूत्रप्रणयी तया करः ॥'

(अनेक वस्तुओं के एकत्र संपादन अथवा विधान-वर्णन में 'पर्याय')

'ययोरारोपितस्तारो हारस्तेऽरिवधूजनैः ।
निधीयन्ते तयोः स्थूलाः स्तनयोरश्रुबिन्दवः ॥'

एषु च क्वचिदाधारः सहतरूपोऽसहतरूपश्च । क्वचिदाधेयमपि । यथा—'स्थिताः क्षणम्–' इत्यत्रोदबिन्दवः पद्मादावसंहतरूप आधारे क्रमेणाभवन् । 'विचरन्ति–' इत्यत्राधेयभूता वृकादय संहतरूपारिपुरे क्रमेणाभवन् । एवमन्यत् ।

अत्र चैकस्यानेकत्र क्रमेणैव वृत्तेर्विशेषालङ्काराद् भेदः । विनिमयाभावात्परिवृत्ते ।

'गिरिराज कुमारी (पार्वती) ने, अपना वह हाथ, जिसे, वह लाक्षाराग से शून्य अपने अधरोष्ठ से और स्तनों के अगराग से रचित कन्दुक से हटा चुकी थी, तपस्या करते समय, अगुलियों के क्षत-विक्षत करने वाले कुशों के अङ्कुरों के उखाड़ने में और रुद्राक्ष की माला के फेरने में लगा दिया ।' (कुमारसम्भव)

'राजन् ! आपकी शत्रुनारिओं ने अपने जिन उरोजों पर पहले विशुद्ध मोतियों के हार धारण किये थे, अब, उन्हीं पर, वे अपने आँसुओं की बड़ी बड़ी बूँदें रखतीं दिखाई दे रही हैं ।'

'पर्याय' के उपर्युक्त चारों प्रकारों के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि इनमें जो वस्तु 'आधार'रूप हुआ करती है वह कहीं-कहीं पर तो 'सहत' अथवा मिली-जुली हुआ करती है और कहीं कहीं पर 'असहत' अथवा अलग अलग रहा करती है । इसी प्रकार 'आधेय'रूप वस्तु भी, यहाँ, यत्र तत्र 'सहत' और 'असहत'—दोनों रूपों की हुआ करती है । जैसे कि 'स्थिता क्षण पक्ष्मसु ताडिताधरा' आदि (कुमारसभव) सूक्ति में, वर्षा की बूँदें, क्रमश , 'असहत' अलग अलग 'पलक' आदि रूप आधारों पर अवस्थित वर्णित की गयी हैं । 'विचरन्ति विलासिन्या.' आदि सूक्ति में ऐसा है कि 'वृक' आदिरूप आधेय वस्तुओं का, 'शत्रुनगर'रूप 'सहत' अथवा सम्मिलित आधार पर, क्रमश. अवस्थान उपनिबद्ध किया हुआ है । इसी भाँति 'विसृष्टरागादधरान्निवर्तित' और 'ययोरारोपितस्तारो हार' आदि सूक्तियों में भी, क्रमश 'सहत' और 'असहत' आधारों पर एक और अनेक वस्तुओं के, क्रमश , सपादन अथवा विधान का वर्णन, स्पष्ट है ।

'पर्याय' (प्रथम प्रकार के पर्याय) का 'विशेष' अलङ्कार से भेद इसीलिये स्पष्ट है क्योंकि जहाँ 'पर्याय' के लिए, एक वस्तु के, अनेक स्थानों पर, क्रमश अवस्थान अथवा विधान का वर्णन अपेक्षित है वहाँ 'विशेष' (द्वितीय प्रकार के 'विशेष') के लिये, जो अपेक्षित है, वह, एक वस्तु की, अनेक स्थान पर, एक साथ ही, अवस्थिति का वर्णन-वैचित्र्य है ।

'पर्याय' परिवृत्ति से भी भिन्नरूप का अलकार है क्योंकि 'पर्याय' में (एक वस्तु, अनेक स्थानों पर, क्रमश अवस्थित अथवा सपादित रूप से वर्णित होती है और)

(८१—परिवृत्ति)

परिवृत्तिर्विनिमयः समन्यूनाधिकैर्भवेत् ॥ ८० ॥

क्रमेणोदाहरणम्—

('समान' और 'न्यून' वस्तु के साथ विनिमय में परिवृत्ति')

'दत्त्वा कटाक्षमेणाक्षी जग्राह हृदयं मम ।
मया तु हृदयं दत्त्वा गृहीतो मदनज्वरः ॥'

अत्र प्रथमेऽर्धे समेन, द्वितीयेऽर्धे न्यूनेन ।

('अधिक के साथ विनिमय' में 'परिवृत्ति')

'तस्य च प्रवयसो जटायुषः स्वर्गिणः किमिव शोच्यतेऽधुना ।
येन जर्जरकलेवरव्ययात्क्रीतमिन्दुकिरणोज्ज्वलं यशः ॥'

अत्राधिक्येन ।

किसी प्रकार की परस्पर लेन देन (विनिमय) की कोई बात नहीं होती किन्तु परिवृत्ति में परस्पर 'विनिमय' का अभिप्राय अन्तर्निहित रहा करता है ।

विमर्श— अलङ्कारसर्वस्वकार ने 'पर्याय' की यह समीक्षा की है—

क्रमप्रस्तावादिहोच्यते । एकमाधेयमनेकस्मिन्नाधारे यदि तिष्ठति स एकः पर्यायः । अन्ये त्वनेकगोचरमिति मात्रयैव विशेषालङ्कारोऽप्युक्तः । तद्विपर्ययमिहोच्यते द्वितीयाङ्गयोक्तम्—क्रमेणेति । इह च क्रमोपादानाभावे तत्र यौगपद्यप्रतीतिः । तेनास्य ततो विविक्तविषयत्वम् । यथा—

'एकस्मिन्नाधारेऽनेकमाधेयं यत्र द्वितीयः पर्यायः' स विनिमयाभावात् परिवृत्तेर्भिन्नः । तस्यां हि विनिमयो लक्षणत्वेन वक्ष्यते । तत्राद्योऽसंहतरूपः संहतरूपोऽपि द्विविधः । तथा द्वैविध्यमाधाराधेयगतमिति चत्वारोऽस्य भेदाः ।

(अलङ्कारसर्वस्व पृ० १९)

जिससे यह स्पष्ट है कि 'साहित्यदर्पण' का पर्याय निरूपण अलङ्कारसर्वस्व का ऋणी है । 'पर्याय' के अलङ्कार माने जाने में 'रसगङ्गाधर' कार की यह युक्ति ध्यान देने योग्य है—

'यथाधाराधेयभावसंबन्धक्रमेषु क्वचिदपि कविकल्पनापेक्षा तद्वैतायमलङ्कारः । यत्र तु सर्वांशे लोकसिद्धत्वं न तत्र कश्चिदलङ्कारः ।

(रसगङ्गाधर पृ० ४४७)

अनुवाद—'परिवृत्ति' वह अलङ्कार है जिसे किसी वस्तु का, 'समान' 'न्यून' अथवा 'अधिक' वस्तु से विनिमय-वर्णन में देखा जाया करता है ।

इसके उदाहरण क्रमशः ये हैं—

'उस मृगनयनी सुन्दरी ने मुझे अपना कटाक्ष दिया और बदले में मुझसे मेरा हृदय ले लिया । मैंने उस सुन्दरी को अपना हृदय दिया और बदले में उससे कामज्वर ले लिया ।

यहाँ प्रथमार्ध में समान के साथ और उत्तरार्ध में 'न्यून' के साथ 'विनिमय' में परिवृत्ति का वैचित्र्य स्पष्ट झलक रहा है ।

दिवंगामी उस वृद्ध जटायु के लिए क्योंकर शोक मनाया जाय जिसने अपने जीर्ण-शीर्ण शरीर के नाश से चन्द्रमा की किरणों के समान शुभ्र निर्मल यश खरीद लिया ।

यहाँ 'अधिक' के साथ 'विनिमय' में 'परिवृत्ति' अलंकार दिखाई दे रहा है ।

विमर्श—(क) 'परिवृत्ति' अलङ्कार के लिये जिस प्रकार का 'विनिमय' (लेन-देन का व्यवहार) अपेक्षित है वह कविकल्पना प्रसूत होना चाहिये न कि लोक सिद्ध। लोक सिद्ध 'विनिमय' अलङ्कार नहीं—

'एषु दानादानव्यवहार कविकल्पित एव न तु वास्तवः। यत्र वास्तवस्तत्र नालङ्कारः यथा—'कीणन्ति प्रविकचलोचनाः समन्तात् मुक्ताभिर्वदरफलानि यत्र बालाः।'

(रसगङ्गाधर पृष्ठ ६४८)

(ख) 'परिवृत्ति' के लक्षण में 'विनिमय' का अभिप्राय, 'अलङ्कारसर्वस्व'कार के अनुसार यह है—

'विनिमयोऽत्र किञ्चित्त्यक्त्वा कस्यचिदादानम्। समेन तुल्यगुणेन त्यज्यमानेन तादृशस्यैवादानम्। तथाधिकेनोत्कृष्टगुणेन दीयमानेन न्यूनस्य गुणहीनस्य परिग्रहः। एवं न्यूनेन हीनगुणेन त्यज्यमानेनाधिकगुणस्योत्कृष्टस्य स्वीकार। तदेषा त्रिप्रकारा परिवृत्ति।'

(अलकारसर्वस्व पृष्ठ १९१)

अर्थात् 'विनिमय' एक वस्तु को देकर दूसरी वस्तु के लेने का नाम है।

किन्तु आचार्य मम्मट ने 'विनियम' का अर्थ 'एक वस्तु को देकर दूसरी वस्तु का लेना' नहीं माना है अपि तु 'एक व्यक्ति के द्वारा, अपनी कोई वस्तु देकर, दूसरे से उसकी किसी वस्तु का लेना' स्वीकार किया है। पण्डितराज जगन्नाथ का भी यही मत है—

'परकीययत्किञ्चिद्वस्त्वादानविशिष्टं परस्मै स्वकीययत्किञ्चिद्वस्तुसमर्पणं परिवृत्तिः।'

क्रम इति यावत्। सा च तावद् द्विविधा समपरिवृत्तिर्विषमपरिवृत्तिश्च। समपरिवृत्तिरपि द्विविधा—उत्तमैरुत्तमानाम् न्यूनैर्न्यूनानाञ्चेति। विषमपरिवृत्तिरपि तथा—उत्तमैर्न्यूनाना न्यूनैरुत्तमानाञ्चेति।' (रसगङ्गाधर पृष्ठ ६४७)

विश्वनाथ कविराज 'विनिमय' के दोनों अभिप्रायों में 'परिवृत्ति' अलङ्कार मानते हैं जैसा कि उनके उद्धृत उदाहरणों से स्पष्ट है।

(ग) 'परिवृत्ति' में जिन दो वस्तुओं में 'आदान प्रदान' विवक्षित है, उनमें 'औपम्य' के अभिप्राय का अन्तर्निहित होना बहुत उत्तम है। आचार्य जयरथ ने इसका इस प्रकार समर्थन किया है—

'अतश्चात्र द्वयोरपि तुल्यगुणत्वात्त्यज्यमानादीयमानयोर्गम्यमानमौपम्यम्। एवं च तन्निमित्तस्य साधारणधर्मस्यापि त्रैविध्यम्। साधारणधर्मस्यानुगामितया पुनरत्र तुल्यगुणत्वं यथा—'

'सुधावदातं पाण्डुत्वं विनिधाय कपोलयोः। भीरुस्तयोस्तथा शत्रूणां निःशेषमकरोद् यशः॥'

(अत्र) सुधावदातमित्यस्यानुगामित्वम्। बिम्बप्रतिबिम्बभावो यथा—

'लतानामेतासामुदितकुसुमानां मरुदसौ
मतं लास्यं दत्त्वा श्रयति भृशमामोदमसमम्।
लतास्त्वध्वन्यानामहह दृशमादाय रभसाद्
ददत्याधिव्याधिभ्रमरुदितमोहव्यतिकरम्॥'

... शुद्धसामान्यरूपत्वं यथा—

'मनोहरं स्वं प्रतिवेसनाय रुतं प्रकल्प्योन्मदचित्तहारि।
मध्वाददानो मधुपायिलोक पद्माकराणामनृणी बभूव॥'

(अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १९२)

(५२—परिसंख्यालङ्कार)

प्रश्नादप्रश्नतो वापि कथिताद्वस्तुनो भवेत् ।
तादृगन्यव्यपोहश्चेच्छाब्द आर्थोऽथवा तदा ॥ ८१ ॥
परिसंख्या—

क्रमेणोदाहरणम्—

(शाब्दव्यपोह में 'परिसंख्या')

'किं भूषणं सुदृढमत्र यशो न रत्नं
किं कार्यमार्यचरितं सुकृतं न दोषः ।
किं चक्षुरप्रतिहतं धिषणा न नेत्रं
जानाति कस्त्वदपरः सदसद्विवेकम् ॥'

अत्र व्यवच्छेद्यं रत्नादि शाब्दम् ।

(आर्थव्यपोह में 'परिसंख्या')

'किमाराध्यं सदा पुण्यं कश्च सेव्यः सदागमः ।
को ध्येयो भगवान् विष्णुः किं काम्यं परमं पदम् ॥'

अत्र व्यवच्छेद्यं पापाद्यार्थम् । अनयोः प्रश्नपूर्वकत्वम् ।

अप्रश्नपूर्वकत्वे यथा—

अनुवाद—'परिसंख्या' वह अलङ्कार है जो प्रश्नपूर्वक अथवा बिना प्रश्न के, किसी एक वस्तु के कथन से उसके सदृश, किसी दूसरी वस्तु के शब्दतः अथवा अर्थतः 'व्यपोह' अथवा 'व्यवच्छेद' में देखा जाया करता है।

इसके क्रमशः उदाहरण ये हैं—

संसार में सुदृढ भूषण क्या है? यश न कि रत्न। कर्तव्य क्या है? सज्जनों की भाँति पुण्याचरण न कि (सुरापानादि) दुष्कर्म। अप्रतिहतचक्षु क्या है? बुद्धि, न कि नेत्र। और सदसद्विवेक का ज्ञान किसे है? तुम्हें, न कि और किसी को।

यहाँ (प्रश्नपूर्वक, 'यश आदि रूप वस्तु के कथन से) 'रत्न' आदि रूप तत्सदृश अन्य वस्तु की जो 'व्यावृत्ति' अथवा 'व्यवच्छेद' है वह 'शाब्द' अर्थात् साक्षात् शब्द्य है (क्योंकि व्यवच्छेद्य 'रत्न' आदि शब्दतः उपात्त हैं)।

'आराध्य क्या है? पुण्य; सेव्य क्या है? सत्शास्त्र; ध्येय क्या है? भगवान् विष्णु और काम्य क्या है? परम पद।'

यहाँ (प्रश्न पूर्वक) 'पुण्य' आदि रूप वस्तु-कीर्तन से अर्थसामर्थ्य वश 'पाप' आदि सामर्थ्यरूप वस्तु की व्यावृत्ति स्पष्ट है (अर्थवश इसलिये क्योंकि यहाँ 'पाप' आदि रूप व्यवच्छेद्य वस्तुओं का शब्दतः उपादान नहीं किया जा रहा है)।

इन दोनों उदाहरणों में प्रश्नपूर्वक (एक वस्तु के कीर्तन से दूसरी सदृश वस्तु की) 'व्यावृत्ति' की गयी है।

बिना प्रश्न के (एक वस्तु के कीर्तन से दूसरी सदृश वस्तु के व्यवच्छेद में) 'परिसंख्या' के ये उदाहरण हैं—(शाब्द व्यावृत्ति में 'परिसंख्या')

'भक्तिर्भवे न विभवे व्यसनं शास्त्रे न युवतिकामास्त्रे।
चिन्ता यशसि न वपुषि प्रायः परिदृश्यते महताम् ॥'

(अर्थलभ्य व्यावृत्ति में 'परिसख्या')

'बलमार्तभयोपशान्तये विदुषां समतये बहु श्रुतम्।
वसु तस्य न केवलं विभोर्गुणवत्तापि परप्रयोजनम् ॥'

श्लेषमूलत्वे चास्या वैचित्र्यविशेषो यथा—

'यस्मिंश्च राजनि जितजगति पालयति महीं चित्रकर्मसु वर्णसङ्कराश्चापेषु गुणच्छेदा –' इत्यादि।

'बड़े लोगों की भक्ति 'भव' (शिव-शङ्कर) में होती है न कि 'विभव' (धन-समृद्धि) में, व्यसन शास्त्र में होता है न कि रमणी रूप कामास्त्र में और चिन्ता यश के लिये रहती है न कि शरीर के लिये।'

[यहाँ जो अप्रश्नपूर्वक 'परिसख्या' है उसमें शाब्द व्यावृत्ति स्पष्ट है।]

'महाराज दशरथ का बल, आर्त प्रजाजन के भय-निवारण के लिये, शास्त्रज्ञान, विद्वज्जन के समान के लिये, धन, परोपकार के लिये और गुण भी दूसरों की भलाई के ही लिये थे।' (रघुवंश ८. ३१)

'परिसख्या' श्लेषमूलक भी हुआ करती है और इसमें और भी अधिक विचित्रता रहा करती है। जैसे कि (कादम्बरी की यह सूक्ति)—

'जब कि दिग्विजयी और प्रजापालक महाराज शूद्रक राजा थे तब 'वर्णसकरता' (रंगों का मिश्रण) चित्रों में ही हुआ करती थी (न कि जातियों में वर्णसङ्करता थी), 'गुणच्छेद' (प्रत्यञ्चा का टूटना) धनुषों में ही दिखायी देता था (न कि प्रजाजन में गुणों की कमी थी) आदि, आदि।'

विमर्श—(क) 'परिसख्या' के अलङ्कार होने के लिये 'कवि-प्रतिमा-प्रसूत ही अन्यवस्तु-व्यवच्छेद, अपेक्षित है न कि लोकसिद्ध वस्तु व्यवच्छेद अथवा नैयायिक या मीमासक सम्मत वस्तु-व्यवच्छेद—

'अत्र चालौकिकं वस्तु गृह्यमाणं वस्त्वन्तरव्यवच्छेदे पर्यवस्यति इति व्यवच्छेद्यवस्त्वन्तरशब्दमात्रं वेति नियमाभाव। अलौकिकत्वाभिप्रायेणैव क्वचित् प्रश्नपूर्वकं ग्रहणम्।'

(अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १९४)

'अलौकिकमिति कविप्रतिभानिर्वर्तितम्'। (अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १९४)

(ख) 'परिसख्या' शब्द का अर्थ 'वर्जनबुद्धि' है—

'कस्यचित् परिवर्जनेन कुत्रचित् सख्यान वर्णनीयत्वेन गणनं परिसंख्या'।

(अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १९३)

(ग) निम्न 'परिसख्या'सूक्तियाँ बडी सुन्दर हैं—

'कौटिल्यं कचनिचये करचरणाधरदलेषु रागस्ते।
काठिन्यं कुचयुगले तरलत्वं नयनयोर्वसति ॥'

'किमासेव्यं पुंसां सविधमनवद्यं द्युसरितः
किमेकान्ते ध्येयं चरणयुगलं कौस्तुभभृतः।
किमाराध्यं पुण्यं किमभिलषणीयं च करुणा
यदासक्त्या चेतो निरवधिविमुक्त्यै प्रभवति ॥'

(५१—उत्तरालङ्कार)

—उत्तरं प्रश्नस्योत्तरादुन्नयो यदि ।
यच्चासकृदसंभाव्यं सत्यपि प्रश्न उत्तरम् ॥ ८२ ॥

यथा मम—

'वीक्षितुं न क्षमा श्वश्रूः स्वामी दूरतरं गतः ।
अहमेकाकिनी बाला तवेह वसतिः कुतः ॥'

अनेन पथिकस्य वसतियाचनं प्रतीयते ।

'का विसमा देव्वगई किं लद्धव्वं जणो गुणग्गाही ।
किं सोक्खं सुकलत्तं किं दुग्गेज्झं खलो लोओ ॥'
(का विषमा दैवगतिः किं लब्धव्यं जनो गुणग्राही ।
किं सौख्यं सुकलत्रं किं दुर्ग्राह्यं खलो लोकः ॥)

अत्रान्यव्यपोहे तात्पर्याभावात् परिसंख्यातो भेदः । न चेदमनुमानम्, साध्यसाधनयोर्द्वयोर्निर्देश एव तस्याङ्गीकारात् । न च काव्यलिङ्गम्, उत्तरस्य प्रश्नं प्रत्यजनकत्वात् ।

'तीर्थं गङ्गा तदितरदपां निर्मलं संयमानां
देवी तस्याः प्रसवनिलयो नाकिलोकोऽन्ये वराकाः ।
सा पद्मास्ते स हि जनपदो भूमिकामातमन्यत्
तां वो नित्यं नमति स भुवो बोधरूप्यस्ततोऽन्या ॥

अनुवाद—'उत्तर' वह अलङ्कार है जो (१) उत्तर द्वारा प्रश्न के उन्नयन (ऊहापोह) में अथवा (२) प्रश्न होने पर अनेक असम्भाव्य उत्तर के वैचित्र्य में देखा जाया करता है।

उदाहरण के लिए यह स्वरचित सूक्ति—

'सास देख नहीं पाती स्वामी परदेस गये हैं मैं बाला अकेली हूँ, अब भला तुम्हें यहाँ रहने की जगह कैसे मिले ?'

यहाँ (नायिका) के उत्तर से निवास-स्थान की याचना के सम्बन्ध में, पथिक के प्रश्न का उन्नयन-वैचित्र्य स्पष्ट दिखाई दे रहा है।

अथवा

'सबसे कठोर क्या है ? भाग्य का विधान, किसकी प्राप्तिकामना होनी चाहिये ? गुणग्राही व्यक्ति की; सुख क्या है ? सुशील पत्नी की और किसे वश में करना दुष्कर है ? दुष्ट को।

[यहाँ कई एक प्रश्न हैं जिनके असम्भाव्य (साधारण बुद्धि द्वारा अगम्य) उत्तर दिये गये हैं।]

'उत्तर' और 'परिसंख्या' परस्पर भिन्नस्वरूप के अलंकार हैं क्योंकि जहाँ 'परिसंख्या' में 'अन्यव्यावृत्ति' की आवश्यकता है वहाँ 'उत्तर' में 'अन्यव्यावृत्ति' की अपेक्षा का कोई तात्पर्य नहीं। 'उत्तर' को 'अनुमान'अलङ्कार से भी गतार्थ करना असंभव है क्योंकि 'अनुमान' में 'साध्य' और 'साधन'—दोनों का निर्देश अनिवार्य हुआ करता है (और 'उत्तर' में अर्थात् प्रथम प्रकार के 'उत्तरालङ्कार' में केवल उत्तर का ही निर्देश अपेक्षित

(५४—अर्थापत्ति)

दण्डापूपिकयान्यार्थागमोऽर्थापत्तिरिष्यते ।

'मूषिकेण दण्डो भक्षित' इत्यनेन तत्सहचरितमपूपभक्षणमर्थादायातं भवतीति नियतसमानन्यायादर्थान्तरमापततीत्येष न्यायो दण्डापूपिका ।

अत्र च क्वचित्प्राकरणिकादर्थादप्राकरणिकस्यार्थस्यापतनं क्वचिदप्राकरणिकार्थात् । प्राकरणिकार्थस्येति द्वौ भेदौ ।

है । 'उत्तरालङ्कार' को 'काव्यलिङ्ग'रूप भी नहीं माना जा सकता क्योंकि 'उत्तरालङ्कार' में जो प्रश्न उपनियद्ध हुआ करता है वह 'उत्तर' का कारक हेतु नहीं हुआ करता (अपितु व्यञ्जक हेतु ही माना जा सकता है)।

विमर्श—(क) 'अलङ्कारसर्वस्व'कार की 'उत्तरालङ्कार' समीक्षा यह है—

'उत्तरात् प्रश्नोन्नयनमसकृदसंभाव्यमुत्तरं चोत्तरम् । यत्रानुपनिबध्यमानोऽपि प्रश्न उपनिबध्यमानादुत्तरादुन्नीयते तदेकमुत्तरम् । न चेदमनुमानम् । पक्षधर्मतादेरनुद्देशात् । यत्र च प्रश्नपूर्वकसभावनीयमुत्तर तच्च न सकृत् तावन्मात्रेण चारुत्वाप्रतीते., अतश्चासकृन्निबन्धे द्वितीयमुत्तरम् । न चेयं परिसख्या व्यवच्छेद्यव्यवच्छेदकपरत्वाभावात् ।'

(अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २१६)

इसमें यह स्पष्ट है कि उत्तर के द्वारा प्रश्न के उन्नयन अथवा प्रश्न के लिये अनेक वार असम्भावनीय उत्तर-दान में, कविप्रतिभा का हाथ आवश्यक है । 'विमर्शिनी'कार ने इसीलिये 'असभावनीय' उत्तर का अभिप्राय 'कविप्रतिभानिर्वर्तित उत्तर' माना है—(असंभावनीयमिति कविप्रतिभानिर्वर्तितमित्यर्थः)।' (अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ २१६)

(ख) पण्डितराज जगन्नाथ को 'प्रश्न' अथवा 'असभावनीय उत्तर' का 'असकृत'-दान मान्य नहीं । उनके अनुसार एक भी प्रश्न या असभावनीय उत्तर में 'उत्तरालङ्कार' का वैचित्र्य झलक जाता है—

'प्रश्नोत्तरयोराकूतगर्भत्वे तावतैव चमत्काराश्नासकृदुपादानापेक्षा । आकूतविरहे त्वसकृदुपादानकृतश्चमत्कारोऽपेक्ष्यते निबद्धप्रश्ने । आक्षिप्तप्रश्ने तु प्रश्नाक्षेपकृत चमत्कार यदि मन्यन्ते सहृदयास्तदा सकृदुपादानेऽप्यलङ्कारत्वमस्तु ।' (रसगङ्गाधर, पृष्ठ ७०३)

अर्थात् यदि प्रश्न अथवा उत्तर ऐसे हों जिनके भीतर एक विशेष अभिप्राय छिपा हो, तब 'उत्तरालङ्कार' रूप वाच्य वैचित्र्य निष्पन्न ही हो जाया करता है । इसके लिये 'असकृत्' प्रश्न या 'उत्तर' की कोई अपेक्षा नहीं मानी जाती ।

(ग) निम्न सूक्तियाँ 'उन्नीत प्रश्न' अथवा 'निबद्ध-प्रश्न' दोनों रूप के 'उत्तरालङ्कार' की सुन्दर सूक्तियाँ हैं—

'रोगस्य ते चिकित्सां निदानमालोच्य सुन्दरि करिष्ये ।
मा हन्त कातरा भू रसक्रियायां नितान्तनिपुणोऽस्मि ॥'
'किमिति कृशासि कृशोदरि किं तव परकीयवृत्तान्तैः ।
कथय तथापि मुदे मम, कथयिष्यति, याहि पान्थ, तव जाया ॥'

अनुवाद—'अर्थापत्ति' वह अलङ्कार है जिसे 'दण्डापूपिका-न्याय' से अन्य अर्थ की 'आपत्ति' अथवा प्रतीति कहा करते हैं ।

यहाँ 'दण्डापूपिका-न्याय' का अभिप्राय यह है—किसी ने कहा—'चूहा लकड़ी चबा गया' और इससे अनायास समझ लिया गया 'चूहा लकड़ी पर रखे मालपूए भी साथ साथ

क्रमेणोदाहरणम्—

(प्राकरणिक से अप्राकरणिक अर्थ की आपत्ति में 'अर्थापत्ति')

'हारोऽयं हरिणाक्षीणां लुठति स्तनमण्डले ।
मुक्तानामप्यवस्थेयं के वयं स्मरकिङ्कराः ॥'

(अप्राकरणिक से प्राकरणिक अर्थ की आपत्ति में 'अर्थापत्ति')

'विललाप स बाष्पगद्गदं सहजामप्यपहाय धीरताम् ।
अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिणाम् ॥'

अत्र च समानन्यायस्य श्लेषमूलत्वे वैचित्र्यविशेषो यथोदाहृते-'हारोऽयम्-' इत्यादौ । न चेयमनुमानम्, समानन्यायस्य सम्बन्धरूपत्वाभावात् ।

जा गया'। इसी भाँति अर्थवश एक अर्थ से अनायास दूसरे अर्थ की प्रतीति का होना 'दण्डापूपिका-न्याय' से अर्थप्रतीति का होना है क्योंकि 'चूहे के लकड़ी खा जाने से उसके मालपूए खा जाने' और 'एक बात से दूसरी बात के अनायास समझ लेने में एक सी ही बात (समानन्याय) दिखाई देती है। 'अर्थापत्ति' में कहीं तो 'प्राकरणिक' अर्थ से 'अप्राकरणिक' अर्थ की आपत्ति या अनायास प्रतीति दिखाई देती है और कहीं ऐसा भी हुआ करता है कि—'अप्राकरणिक' अर्थ से 'प्राकरणिक' अर्थ आपन्न या अनायास प्रतीत हो जाय। इस प्रकार इसके दो रूप स्पष्ट दिखाई देते हैं।

इनके क्रमशः उदाहरण ये हैं—

'मोती का हार हरिणाक्षी सुन्दरियों के स्तनमण्डलों पर लोटा करता है। जब कि 'मुक्तों' या 'मौक्तिकों' (मुक्तानाम्=मौक्तिकानाम् वीतरागाणाम्) की यह दशा है तब हमारे सरीखे काम-किङ्कर लोगों की तो बात ही क्या है !

[यहाँ 'मौक्तिक' और 'वीतराग' रूप वस्तु प्राकरणिक है और 'अवीतरागव्यक्ति' रूप वस्तु अप्राकरणिक है। दोनों में जो समानता है वह 'मुक्तत्व'रूप धर्म की समानता है। यहाँ, जब कि यह कह दिया गया कि 'मुक्त या मुक्त भी रमणियों के प्रेम में पागल हैं तो यह अनायास प्रतीत हो गया कि 'जो स्मर-किङ्कर हो वह तो रमणीजन का क्रीतदास है ही।]

'महाराज अज अपनी स्वाभाविक धीरता को छोड़ कर आँसू बहा-बहा कर विलाप करने लगे। जब बहुत तपा हुआ लोहा भी मुलायम हो जाता है तब प्राणियों की तो बात ही क्या ! (रघुवंश ८ ४३)'

यहाँ जो अप्राकरणिक अर्थ है वह 'तपे लोहे का मुलायम पड़ना' है जिससे 'प्राणियों के शरीर की मृदुता' का प्राकरणिक अर्थ आपन्न अथवा प्रतीत होता वर्णित किया जा रहा है। यहाँ दोनों में जो समानता है वह 'संतप्तता' की समानता है।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि जबकि 'समानन्याय' (समानता की बात) श्लेषोत्थापित हो तब 'अर्थापत्ति' अलङ्कार और भी अधिक वैचित्र्यपूर्ण लगने लगता है जैसा कि 'हारोऽयम्' आदि सूक्ति में (यहाँ 'मुक्तानाम्' पद श्लिष्ट है क्योंकि इससे 'मौक्तिक' और 'वीतराग' दोनों अर्थों का अभिधान हो रहा है) स्पष्ट है।

अर्थापत्ति अलङ्कार अनुमानालङ्कार से भिन्न रूप का अलङ्कार हुआ करता है क्योंकि यहाँ जो 'समानन्याय' अपेक्षित है उसमें (व्याप्यव्यापकभाव रूप) सम्बन्ध का कोई अभिप्राय विवक्षित नहीं।

विमर्श—'अर्थापत्ति' मीमांसा संमत एक प्रमाण है—

'प्रमाणषट्कविज्ञातो यत्रार्थो नान्यथा भवेत्।
अदृष्टं कल्पयेदन्यं साऽर्थापत्तिरुदाहृता ॥' (श्लोकवार्तिक)

जिसका तात्पर्य 'उपपाद्यज्ञान' से 'उपपादककल्पना' है। जैसे कि जब हम यह कहते या समझते हैं कि **'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते'** (देवदत्त मोटा है किन्तु दिन में खाना नहीं खाता), तब यह कल्पना कर ली जाती है कि 'देवदत्त रात्रौ भुङ्क्ते' अर्थात् 'रात में देवदत्त अवश्य खाता होगा।' यहाँ देवदत्त की पीनता (मोटाई) 'उपपाद्य' है और इसके ज्ञान से 'उपपादक' अथवा 'रात्रिभोजन' की कल्पना अर्थापत्ति है। इस प्रकार 'अर्थापत्ति' का अभिप्राय 'अर्थस्यापत्तिर्यस्मात्' और 'अर्थस्यापत्तिः'—दोनों प्रकार का निकलता है अर्थात् 'उपपाद्यज्ञान', जो कि उपपादक कल्पना का 'करण' है वह भी अर्थापत्ति है और 'उपपादक-कल्पना', जो कि उपपाद्यज्ञान का फल है वह भी 'अर्थापत्ति' ही है।

मीमांसकों की इस 'अर्थापत्ति' और आलङ्कारिकों की 'अर्थापत्ति' में यह समानता है कि जैसे 'रात्रिभोजन' रूप उपपादक कल्पना से दिवाभोजन रहित देवदत्त की 'पीनता' की उपपत्ति हो जाया करती है वैसे ही 'तपे लोहे के मुलायम पड़ने' से, समान न्याय द्वारा, संतप्त प्राणी का द्रवीभूत होना, भी अनायास समझ लिया जा सकता है।

किन्तु मीमांसकों की 'अर्थापत्ति' में 'अर्थापत्ति'रूप वाच्यसौन्दर्य का कोई अन्तर्भाव नहीं, पण्डितराज जगन्नाथ ने इसीलिये कहा है—

'नेयं (अर्थापत्तिरूपालङ्कृतिः) वाक्यविस्संमतायामर्थापत्तौ निविशते। आपादकस्यार्थस्यापतितमर्थं विनाऽनुपपत्तेरत्राभावात्। नाप्यनुमाने। आपततोऽर्थस्यापादकासमानाधिकरणत्वेन व्याप्यत्वपक्षधर्मत्वयोर्दूरापास्तत्वात्। न च येन कारणेनैकार्थसिद्धिस्तेनैव लिङ्गेनापरार्थानुमानमिति वाच्यम्। अर्थान्तरसिद्धेरनुमित्यात्मकताविरहात्। यतोऽयमर्थोऽपि भवितुमर्हतीति बुद्धेराकारः, न तु भवत्येवेति। नापि यद्यर्थातिशयोक्तौ। तस्या विपरीतार्थ एव द्वयोर्विश्रान्तेः। न चेह तथा, आपादकस्य सिद्धत्वादापततश्च संभाव्यमानत्वाद् यथाश्रुत एव विश्रान्तेः, तस्माद् येन न्यायेनैकोऽर्थः सिद्धस्तेनैव न्यायेनापरोऽप्यर्थः सेद्धुमर्हतीत्येवरूपेयमर्थापत्तिः। अस्याश्चार्थान्तरं लोकेऽविद्यमानमपि कविना स्वप्रतिभया कल्पयित्वा यदापाद्यते तदालङ्कारत्वम्। यथा—

**(लीलालुण्ठितशारदापुरधियामस्मादृशानां पुरो
विद्यासद्मविनिर्गलत्कणमुषो वल्गन्ति चेद् बालिशाः।
अद्य श्वः) 'फणिनां शकुन्तशिशवो' (दन्तावलानां शशाः
सिंहानां च सुखेन मूर्धनि पदं धास्यन्ति शालावृकाः ॥)**

इत्यादौ।' अन्यथा तु कैमुतिकन्यायतामात्रम्। यथा—

**'उदुम्बरफलानीव (ब्रह्माण्डान्यत्ति यः सदा।
सर्वगर्वापहः कालस्तस्य के मशका वयम् ॥)' इत्यादौ।'**

(रसगङ्गाधर, पृष्ठ ६५४-५५)

अर्थात् आलङ्कारिकों की अर्थापत्ति में 'समानन्याय' से एक उपपन्न अर्थ से, दूसरे उपपाद्यमान अर्थ की जो 'आपत्ति' (प्रतीति) हुआ करती है उसमें कविप्रतिभा का हाथ अवश्य रहा करता है। बिना कविप्रतिभा के जो अर्थ आपादित किया जायगा उसमें 'कैमुतिकता' (जब यह ऐसे हो सकता है तब उसके वैसे होने में क्या हर्ज है) की ही बात रहेगी, 'काव्यात्मकता' की नहीं। 'कैमुतिक न्याय' से अलौकिक अर्थ की आपत्ति अथवा अनायास प्रतीति नहीं हुआ करती। यह तो कवि की 'अर्थापत्ति' है जो कि 'समानन्याय' से लोकोत्तर अर्थों की भी आपत्ति करवाया करती है।

(५०—विकल्पालङ्कार)

विकल्पस्तुल्यबलयोर्विरोधश्चातुरीयुतः ॥ ८३ ॥

यथा—

'नमयन्तु शिरांसि धनूंषि वा कर्णपूरीक्रियन्तामाज्ञा मौर्व्यो वा।'

अत्र शिरसां धनुषां च नमनयोः सन्धिविग्रहोपलक्षणत्वात् सन्धिविग्रहयोश्चैकदा कर्तुमशक्यत्वाद्विरोधः, स चैकपक्षाश्रयणपर्यवसानः।

तुल्यबलत्वं चात्र धनुःशिरोनमनयोर्द्वयोरपि स्पर्धया सम्भाव्यमानत्वात्। चातुर्यं चात्रौपम्यगर्भत्वेन। एवं 'कर्णपूरीक्रियन्ताम्' इत्यत्रापि।

एवं—

'युष्माकं कुरुतां भवार्तिशमनं नेत्रे धनुर्वा हरेः।'

अत्र श्लेषावष्टम्भेन चारुत्वम्।

'दीयतामर्जितं वित्तं देवाय ब्राह्मणाय वा।'

इत्यत्र चातुर्याभावान्नायमलङ्कारः।

कुमारसम्भव की यह सूक्ति 'अर्थापत्ति' का एक सुन्दर निदर्शन है—

'पशुपतिरपि तान्यहानि कृच्छ्रादगमयदद्रिसुतासमागमोत्कः।
कमपरमवशं न विप्रकुर्युर्विभुमपि तं यदमी स्पृशन्ति भावाः॥'

अनुवाद—'विकल्प' वह अलङ्कार है जिसमें एक विचित्रता के साथ दो समबल वस्तुओं के पारस्परिक विरोध का निरूपण किया जाया करता है।

जैसे कि—

'शत्रुगण या तो अपने सिर झुका दें या धनुष झुका दें, या तो हमारी आज्ञा अपने कानों तक ले जावें या अपने धनुष की प्रत्यञ्चा अपने कानों तक ले जाँय।'

यहाँ 'विकल्प' का चमत्कार दिखायी दे रहा है क्योंकि यहाँ संधि के उपलक्षणभूत 'सिर झुकाने' (शिरोनमन) और विग्रह के उपलक्षणभूत 'धनुष झुकाने' (धनुर्नमन) में इसलिये विरोध स्पष्ट झलक रहा है क्योंकि ये दोनों बातें एक समय में सम्भव नहीं। यह विरोध अन्ततः, दोनों में से एक पक्ष के अवलम्बन से समाप्त होता है। यहाँ 'सिर झुकाने' और 'धनुष झुकाने' में तुल्यबलता इसलिये है क्योंकि दोनों में परस्पर स्पर्धा सी दिखायी जा रही है। यहाँ (समबल वस्तुओं के विरोध प्रदर्शन में) 'चातुर्य' अथवा 'वैचित्र्य' का अभिप्राय (दोनों समबल वस्तुओं में) परस्पर 'औपम्य' अथवा 'सादृश्य' निर्देश का अभिप्राय है (जैसे यहाँ 'नमयन्तु' आदि में 'नमन' रूप साधारण धर्म 'सिर' और 'धनुष' दोनों में अनुगत रूप से निर्दिष्ट किया गया है)। यही बात 'आज्ञा कानों तक ले जाँय या प्रत्यञ्चा कानों तक ले जाँय' आदि में भी लागू है। इसी प्रकार इस सूक्ति अर्थात्—

'(भक्तिप्रह्वविलोकनप्रणयिनी नीलोत्पलस्पर्धिनी
ध्यानालम्बनतां समाधिनिरतैर्नीते हितप्राप्तये।
लावण्यस्य महानिधी रसिकतां लक्ष्मीदृशोस्तन्वती)
युष्माकं कुरुतां भवार्तिशमनं नेत्रे धनुर्वा हरेः॥'

में जो 'विकल्प'-भाव है उसमें श्लेषविजृम्भित औपम्यगर्भता का वैचित्र्य झलक रहा

है क्योंकि 'आप के पाप संताप की शान्ति भगवान् विष्णु की आँखें करें या उनकी देह करे' की उक्ति में 'आँखों' और 'देह' की समस्पर्धिता स्पष्ट है जिसका कारण 'कुरुताम्' (कृ=परस्मैपद, प्रथमपुरुष, द्विवचनान्त रूप, 'नेत्रे' से क्रियारूप से सम्बद्ध और 'कृ' आत्मनेपद, प्रथमपुरुष, एकवचनान्त रूप, 'तनु' से क्रियारूप से सम्बद्धनी के 'वचन-श्लेष' और 'भक्तिप्रह्वविलोकनप्रणयिनी' आदि विशेषणों के लिङ्ग-श्लेष (प्रणयिन्) नपुंसक लिङ्ग, प्रथमा द्विवचनान्त रूप 'नेत्रे' से सम्बद्ध और 'प्रणयिनी' स्त्रीलिङ्ग, प्रथमा एक वचनान्त रूप, 'तनु' से सवद्ध) से 'नेत्र' और 'देह' की सादृश्यगर्भता स्पष्ट दिखायी दे रही है।

इससे यह निष्कर्ष स्वय निकल पडता है कि ऐसी सूक्तिओं जैसे कि—

'जो भी अर्जित धन हो उसे देवों या ब्राह्मणों को दे देना चाहिये।'

आदि में, जहाँ शुद्ध और श्लेषनिबन्धन औपम्यगर्भता का वैचित्र्य नहीं, 'विकल्प' अलङ्कार नहीं रहा करता।

विमर्श—(क) 'विकल्प' अलङ्कार 'अलङ्कारसर्वस्व' कार की कल्पना की एक देन है। 'अलङ्कारसर्वस्व' कार ने स्वय कहा है—'प्राचीन आलङ्कारिक विकल्प का स्वरूपविवेक नहीं कर पाये थे' (**पूर्वैरकृतविवेकोऽत्र दर्शित इत्यवगन्तव्यम्**–अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २००)। आचार्य जयरथ ने भी यही माना है कि 'समुच्चय' अलङ्कार के प्रतिपक्षरूप से 'विकल्प' अलङ्कार की कल्पना सर्वप्रथम आचार्य रुय्यक की ही कल्पना है—

'**अनेनास्य (विकल्पालङ्कारस्य) ग्रन्थकृदुपज्ञत्वमेव दर्शितम्**'। (विमर्शिनी, पृष्ठ २००)

(ख) 'विकल्प' एक ज्ञानप्रकार है। इस ज्ञानप्रकार में 'नियत उभय पक्ष का अवलम्बन' स्वाभाविक है 'व्रीहिभिर्यजेत यवैर्वा' आदि वास्तविक विकल्प में कोई अलङ्कार नहीं। अलङ्कार तो उसी 'विकल्प' में सम्भव है जो कि कवि प्रतिभा निर्वर्तित हो। इसीलिये 'विकल्प-अलङ्कार' की रूपरेखा में शुद्ध औपम्य गर्भता अथवा श्लेषोत्थापित औपम्य-गर्भता आवश्यक हुआ करती है। 'अलङ्कारसर्वस्व'कार ने इसीलिये कहा है—

'औपम्यगर्भत्वाच्चात्र चारुत्वम्   क्वचिच्छ्लेषावलम्बनेनाप्यय दृश्यते'।

(अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १९८)

और इसीलिये 'विमर्शिनी'कार का भी कथन है—

'ननु च 'यवैर्व्रीहिभिर्वा यजेत' इति वास्तवाद् विकल्पादस्य को विशेष इत्याशङ्क्याह–औपम्येत्यादि। औपम्य साधारणधर्मनिबन्धनमिति तस्याप्यत्र त्रैधम्। एव च यत्रैवौपम्यगर्भत्व तत्रैवायमलङ्कारो न त्वन्यथेति भाव। यथा—

'निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु, लक्ष्मी. परापततु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा, न्याय्यात्पथ प्रविचलन्ति पदं न धीरा ॥'
'अत्रौपम्यगर्भत्वाभावाद् विकल्पमात्रत्वम् (न तु विकल्पालङ्कार.)'।

(अलङ्कारसर्वस्व विमर्शिनी, पृष्ठ १९८)

पण्डितराज जगन्नाथ का भी यही मत है—

'अय (विकल्पालङ्कार) च समुच्चयस्य प्रतिपक्षभूतो व्यतिरेक इवोपमाया। अत्र च विकल्प्यमानयोरौपम्यमलङ्कारतावीजम्, तदादायैव चमत्कारस्योल्लासात्, अन्यथा तु विकल्पतामात्रम्। यथा 'जीवन मरण वाऽस्तु नैव धर्म त्यजाम्यहम्' इत्यादौ। अत्र जीवन-मरणयोर्नौपम्यस्य प्रतीति।' (रसगङ्गाधर, पृष्ठ ६५६)

(५६—समुच्चयालङ्कार : सप्रभेद-निरूपण)

समुच्चयोऽयमेकस्मिन् सति कार्यस्य साधके।
खलेकपोतिकान्यायात्तत्करः स्यात्परोऽपि चेत् ॥ ८४ ॥
गुणौ क्रिये वा युगपत्स्यातां यद्वा गुणक्रिये।

यथा मम—

'हहो धीरसमीर! हन्त जननं ते चन्दनक्ष्माभृतो
दाक्षिण्यं जगदुत्तरं परिचयो गोदावरीवारिभिः।
प्रत्यङ्गं दहसीति मे त्वमपि चेदुद्दामदावाग्निवन्
मत्तोऽयं मलिनात्मको वनचरः किं वक्ष्यते कोकिलः ॥'

अत्र दाहे एकस्मिंश्चन्दनक्ष्माभृज्जन्मरूपे कारणे सत्यपि दाक्षिण्यादीनां हेत्वन्तराणामुपादानम्।

अत्र सर्वेषामपि हेतूनां शोभनत्वात्सद्योगः। अत्रैव चतुर्थपादे मत्तादीनामशोभनानां योगादसद्योगः।

अनुवाद—'समुच्चय' वह अलङ्कार है जिसे निम्न सम्भावनाओं में देखा जाया करता है—

(१ ली) यदि कोई एक वस्तु किसी कार्य की सिद्धि कर रही हो तो 'खले कपोतिका' न्याय से किसी दूसरी वस्तु का भी उस कार्य के साधकरूप से वर्णन किया जाय।

(२ री) जब दो गुणों या दो क्रियाओं या गुण और क्रिया का एक साथ ही एकत्र उत्पादन अथवा अवस्थान वर्णित हो।

उदाहरण के लिए यह स्वरचित सूक्ति—

'अरे मलयमारुत! तेरा जन्म चन्दनवन से भरे पहाड़ों से हुआ है तेरा दाक्षिण्य (दक्षिण दिशा से बहना और प्राणिमात्र के लिए अनुकूलता) अलौकिक है तू गोदावरी की शीतल लहरियों के सम्पर्क से शीतल है किन्तु तब भी धधकती दावाग्नि की भाँति तुमसे मेरे अङ्ग-अङ्ग जलने जा रहे हैं! अरे! अब मैं उस वनचर (जंगली) कोयल को क्या उलाहना दूँ जो कि (बाहर और भीतर—दोनों ओर से) काली है (और अपनी कूक से मुझे संतप्त कर रही है)।

यहाँ 'समुच्चय' स्पष्ट है क्योंकि मलयमारुत में 'दाह' के अनौचित्य के प्रदर्शनार्थ 'चन्दनवन से भरे पहाड़ों से उत्पत्ति' के कारण के उपनिबद्ध होने पर भी 'दाक्षिण्य' आदि अन्य कारणों का उपन्यास किया जा रहा है।

यहाँ जो 'समुच्चय' है उसे 'सद्योग' रूप समुच्चय समझना चाहिये क्योंकि यहाँ (चन्दनवनोत्पत्ति, दाक्षिण्य, गोदावरीजलसम्पर्क आदि) शोभनरूप के ही हेतुओं का समुच्चय दिखायी दे रहा है। इस सूक्ति के चतुर्थ चरण में (दाह के औचित्य के प्रदर्शनार्थ) 'असद्योग'रूप 'समुच्चय' माना जा सकता है क्योंकि 'मत्तता' 'मलिनात्मकता' आदि अशोभनरूप के हेतुओं का 'खले कपोत' न्याय से संयोग यहाँ स्पष्ट प्रतीत हो रहा है।

सदसद्योगो यथा—

'शशी दिवसधूसरो गलितयौवना कामिनी
सरो विगतवारिज मुखमनक्षर स्वाकृते. ।
प्रभुर्धनपरायण' सततदुर्गत. सज्जनो
नृपाङ्गनगत' खलो मनसि सप्त शल्यानि मे ॥'

इह केचिदाहु—'शशिप्रभृतीनां शोभनत्वं खलस्याशोभनत्वं चेति सदसद्योग.' इति । अन्ये तु—'शशिप्रभृतीना स्वतः शोभनत्वं धूसरत्वादीनां त्वशोभनत्वमिति सदसद्योग. ।' अत्र हि शशिप्रभृतिपु धूसरत्वादेरत्यन्तमनुचितत्वमिति विच्छित्तिविशेपस्यैव चमत्कारविधायित्वम् । 'मनसि सप्त शल्यानि मे' इति सप्तानामपि शल्यत्वेनोपसहारश्च । 'नृपाङ्गनगतः खल' इति तु क्रमभेदाद् दुष्टत्वमावहति सर्वत्र विशेष्यस्यैव शोभनत्वेन प्रक्रमादिति ।

इसी प्रकार 'सदसद्योग'रूप समुच्चय, जैसे कि—

'मेरे मन मे ये सात काटे चुभे हुये हैं—वह 'चन्द्रमा', जिसकी शोभा दिन के कारण नष्ट हो जाया करती है, वह 'कामिनी' जिसका यौवन नष्ट हो चुका होता है, वह 'सरोवर', जिसमें कमल नहीं खिलते, वह 'मुखड़ा', जो सुन्दर लगता है किन्तु मूर्खता झलकाया करता है, वह 'राजा', जो धन का लोलुप है, वह 'सज्जन', जो दुर्गति में पड़ा रहता है और वह 'खल' जो राज-दरवार में पहुँच रखा करता है ।'

इस उपर्युक्त 'शशी दिवसधूसरो गलितयौवना' आदि सूक्ति के 'समुच्चय' के सम्बन्ध में कुछ आलकारिकों का यह कहना है कि 'यहाँ सदसद्योगरूप समुच्चय इसलिये है क्योंकि शशिप्रभृतिरूप शोभन वस्तुओं और 'खल'रूप अशोभन वस्तु का एकत्र सयोग दिखायी देता है' । किन्तु कुछ आलङ्कारिक ऐसा कहते हैं कि 'यहाँ सदसद्योगरूप समुच्चय इसलिये है क्योंकि शशिप्रभृतिरूप स्वय शोभन पदार्थों के साथ 'धूसरत्व' आदि रूप अशोभन वस्तुओं का सयोग प्रतीत हो रहा है। अब यहाँ यह देखना है कि इस 'समुच्चय' में 'सदसद्योग' का क्या रहस्य है? वात वस्तुत यहाँ यह है कि यहाँ शशिप्रभृति स्वय शोभन वस्तुओं के साथ (अन्य कारणजन्य) 'धूसरत्व' आदि अशोभन वस्तुओं का जो अत्यन्त अनुचित संयोग है उसी में 'सदसद्योग' है क्योंकि जो भी वैचित्र्य है वह उसी में है और उसी के चमत्कार के कारण यहाँ सदसद्योगरूप समुच्चय का सौन्दर्य झलक रहा है । साथ ही साथ 'मेरे मन के ये सात काटे हैं' इस उपसहार से भी यही सिद्ध है कि यहाँ शोभन वस्तु का अशोभन वस्तु के साथ अनुचित सयोग ही 'सदसद्योग' का अभिप्राय है (न कि शशिप्रभृति शोभनरूप पदार्थषट्क के साथ 'खल'रूप अशोभन पदार्थ का सयोग)। वस्तुत इस सूक्ति में 'नृपाङ्गनगत खल ' की उक्ति तो 'भग्नप्रक्रमत्व' के दोष से दूपित है (और इसलिये यहाँ चरणत्रय में ही 'सदसद्योग' के देखते सदसद्योग-रूप समुच्चय मानना उचित है)। 'नृपाङ्गनगत खल ' में 'भग्नप्रक्रमत्व' इसलिये है क्योंकि अन्यत्र तो शोभनरूप वस्तुयें (जैसे कि शशी, कामिनी आदि) विशेष्यरूप से उपनिवद्ध हैं (और अशोभन वस्तुयें विशेपणरूप से, किन्तु यहाँ अशोभनरूप वस्तु जैसे कि 'खल' का उपन्यास विशेष्यरूप से है और शोभनरूप वस्तु जैसे कि 'नृपाङ्गन' का उपनिवन्ध विशेषणरूप से हुआ है)।

इह च खले कपोतवत्सर्वेषां कारणानां साहित्येनावतारः। समाध्यलङ्कारे त्वेककार्यं प्रति साधके समग्रेऽप्यन्यस्य काकतालीयन्यायेनापतनमिति भेदः।

'अरुणे च तरुणि नयने तव मलिनं च प्रियस्य मुखम्।
मुखमानतं च सखि ते ज्वलितश्चास्यान्तरे स्मरज्वलनः॥'

अत्राद्येऽर्धे गुणयोर्यौगपद्यम्, द्वितीये क्रिययोः।

उभयोर्यौगपद्ये यथा—

'कलुषं च तवाहितेष्वकस्मात्सितपङ्केरुहसोदरश्रि चक्षुः।
पतितं च महीपतीन्द्र! तेषां वपुषि प्रस्फुटमापदां कटाक्षैः॥'

'धुनोति चासिं तनुते च कीर्तिम्।'

इत्यादावेकाधिकरणेऽप्येष दृश्यते।

न चात्र दीपकम्, एते हि गुणक्रियायौगपद्ये समुच्चयप्रकारा नियमेन कार्यकारणकालनियमविपर्ययरूपातिशयोक्तिमूलाः, दीपकस्य चातिशयोक्तिमूलत्वाभावः।

यहाँ 'समुच्चय' और (आगे प्रतिपादित) 'समाधि' का भेद समझ लेना चाहिये— 'समुच्चय' में कारणों का एकत्र उपनिपात (उतरना) 'खले कपोतन्याय' से होता है (अर्थात् जैसे खलिहान में दाना चुगने के लिये सभी कबूतर एक साथ उतर पड़ते हैं वैसे ही यहाँ एक कार्य की सिद्धि के लिये सभी कारण एक साथ आ उपस्थित होते हैं) और 'समाधि' में ऐसा होता है कि एक हेतु के पर्याप्तरूप से कार्य-साधन में समर्थ होने पर अन्य हेतु 'काकतालीयन्याय' से अकस्मात् उपस्थित होता दिखायी देता है।

गुणों के यौगपद्य में 'समुच्चय' तथा क्रियाओं के यौगपद्य में भी) जैसे कि—

'अरी सुन्दरी! इधर तेरी आँखें लाल हुईं और उधर तेरे प्रिय का मुँह काला पड़ा! किन्तु जब तेरा सिर (कोप-शान्ति के कारण) नीचे झुकेगा तब तेरे प्रिय के हृदय में कामाग्नि धधक उठेगी।

यहाँ पूर्वार्द्ध में 'अरुणत्व' और 'मलिनत्व' रूप दो गुणों का युगपदुत्थान वर्णित है और उत्तरार्द्ध में 'आनमन' और 'ज्वलन' रूप दो क्रियाओं का युगपदवस्थान वर्णित है (जिसमें 'समुच्चय' का वैचित्र्य स्पष्ट झलक रहा है)।

गुण और क्रिया के यौगपद्य में समुच्चय जैसे कि—

'राजन्! श्वेत कमल की कान्ति वाले आप के नेत्र जब शत्रुओं पर कलुषित हुये, तब उन पर आपदाओं की ढेरी निगाहें बरसने लगीं।'

'राजन्! एक ओर तो तुम अपनी तलवार भाँजते हो और दूसरी ओर कीर्ति फैलाते हो।

यहाँ, 'कलुषं च' आदि में एक अधिकरण में ही गुण और क्रिया ('कलुषत्व' रूप गुण और 'पतन' रूप क्रिया) का यौगपद्य है और 'धुनोति' आदि में दो क्रियाओं ('धुनोति' और 'तनुते' रूप क्रियाओं) का युगपदवस्थान है। इससे यह स्पष्ट है कि 'समुच्चय' (केवल व्यधिकरण में 'गुण-क्रिया' आदि के युगपद् अवस्थान में ही नहीं अपि तु) एकाधिकरण में भी (गुण-क्रिया आदि के यौगपद्य में) रहा करता है। यहाँ 'दीपक' की संभावना न होनी चाहिये (यह सोच कर कि 'धुनोति' और 'तनुते' क्रियायें एक राजरूप कर्त्ता से संबद्ध हैं) कारण यह है कि 'समुच्चय' के सभी प्रकारों में जिनमें गुण-क्रिया आदि का यौगपद्य अनिवार्य रूप से अपेक्षित है 'अतिशयोक्ति' का ही चमत्कार

(५७—समाधि)

समाधिः सुकरे कार्ये दैवाद्वस्त्वन्तरागमात् ॥ ८५ ॥

मूलरूप से रहा करता है क्योंकि यहाँ जो भी गुण-क्रियादि-यौगपद्य है वह नियमतः कारण और कार्य के पौर्वापर्य का विपर्ययरूप ही हुआ करता है। जब कि 'दीपक' में 'अतिशयोक्ति' का कोई अन्तर्भाव विवक्षित नहीं तब 'दीपक' को समुच्चय के मूल में मानना निरर्थक है।

विमर्श—(क) 'समुच्चय' में 'खले कपोत' न्याय अथवा 'खले कपोतिका' न्याय से गुणों, क्रियाओं अथवा गुण और क्रिया आदि का भिन्न अथवा अभिन्न अधिकरण में युगपदवस्थान विवक्षित रहा करता है। 'खले कपोत न्याय' की परिभाषा यह है—

'खले कपोता इव प्रतिकृति खले कपोतिका। धान्यमर्दनस्थले कपोतानां युगपदापतन तन्न्याय' खले कपोतिका-न्याय'।
अर्थात् खलिहान में एक साथ दाना चुगने के लिए गिरने वाले कबूतरों की भाँति, किसी एक आधार पर, एक साथ, अनेकों (गुण-कारण आदि) का अवतरण 'खले कपोतिकान्याय' से अवतरण अथवा अवस्थान हुआ करता है। मीमासाचार्य शबरस्वामी ने भी कहा है—

'अर्थेन प्रधानोपकारेण खले कपोतवद् युगपत्संनिपतन्त्यङ्गानि (मीमांसा-सूत्र-भाष्य ११. १ १६)।'
किन्तु 'समाधि' में 'काकतालीय' न्याय से एक कार्य में, एक कारण के रहते हुए, दूसरा प्रबल कारण, अकस्मात् आ पहुँचना है। 'काकतालीय' न्याय का लक्षण यह है—

'काकागमनमिव तालपतनमिव काकतालं काकतालमिव काकतालीयं तस्य न्यायः।'
अर्थात् जैसी आकस्मिकता ताड के पेड़ पर कौए के आकर बैठने और उसके सिर पर ताड के फल के गिर जाने से उसकी मृत्यु में है वैसी ही आकस्मिकता से, किसी कार्य की सिद्धि के लिए, एक कारण के रहते, दूसरे का उपनिपात, 'काकतालीय' न्याय से उपनिपात है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने भी स्पष्ट कहा है—

'न चास्मिन् वक्ष्यमाण-समाध्यलङ्कारत्वमाशङ्क्यम्, समाधौ हि एकेन कार्ये निष्पाद्यमानेऽप्यन्येनाकस्मिकमापतता कारणेन सौकर्यादिरूपोऽतिशयो यत्र संपाद्यते स विषय.। अस्मिस्तु समुच्चयप्रभेदे यत्रैककार्यं संपादयितु युगपदनेके खले कपोता इवाहमहमिकया सपतन्ति, कार्यस्य च न कोऽप्यतिशय' स'।' (रसगङ्गाधर, पृष्ठ ६६०)

(ख) निम्न सूक्तियाँ 'समुच्चय' की सुन्दर सूक्तियाँ हैं—

'दुर्वारा स्मरमार्गणा प्रियतमो दूरे मनोऽत्युत्सुक
गाढ प्रेम नव वयोऽतिकठिना प्राणा कुल निर्मलम्।
स्त्रीत्व धैर्यविरोधि मन्मथसुहृत् काल' कृतान्तोऽक्षमो
नो सख्यश्चतुरा कथ नु विरह सोढव्य इत्थ शठ ॥'
'सित ज्योत्स्नाजालैररुणरुचि सध्याकरभरै-
स्तमस्तोमै श्यामच्छवि भपटलै पीतमपि च।
नभो नीलीनील रतिरमण-लीला-विहरणे
स्थली धात्रा चित्र चतुरमधुना चित्रितमद ॥'

अनुवाद—'समाधि' वह अलङ्कार है जिसे दैववश उपस्थित किसी वस्तु के कारण, किसी कार्य के सौकर्य-वर्णन में देखा जाया करता है। जैसे कि—

यथा—

'मानमस्या निराकर्तुं पादयोर्मे पतिष्यतः ।
उपकाराय दिष्ट्येदमुदीर्णं घनगर्जितम् ॥'

(५८—प्रत्यनीक)

प्रत्यनीकमशक्तेन प्रतीकारे रिपोर्यदि ।
तदीयस्य तिरस्कारस्तस्यैवोत्कर्षसाधकः ॥ ८६ ॥

तस्यैवेति रिपोरेव । यथा मम—

जब तक मैं उस मानिनी के मान के निराकरण के लिए उसके पैरों पर पड़ूँ तब तक भाग्यवश मेरी सहायता के लिए, मेघ की गर्जना प्रारम्भ हो गई।

यहाँ 'समाधि' इसलिए है क्योंकि 'मान निराकरण'रूप कार्य के लिए 'पादपतन' रूप कारण के रहते हुए भी अकस्मात् 'मेघगर्जन' रूप प्रबल कारण का उपनिपात वर्णित हुआ है जिससे 'माननिवारण' के कार्य का सुकरता से संपादन प्रतीत हो रहा है।

विमर्श—'अलङ्कारसर्वस्व' कार ने 'समाधि' की यह परिभाषा की है—

'कारणान्तरयोगात् कार्यस्य सुकरत्वं समाधिः। केनचिदारब्धस्य कार्यस्य कारणान्तरयोगात् सौकर्यं यत् स सम्यगाधानात् समाधिः। समुच्चय-सादृश्यादयमनन्तरमुपन्यस्तः'।

(अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २०५)

अर्थात् 'समुच्चय' के साथ 'समाधि' का कुछ सादृश्य है क्योंकि 'एक के कार्यसाधक रहते दूसरे के कार्यसाधक होने का' वर्णन जैसे 'समुच्चय' है वैसे ही 'एक के कार्यकारक रहते, दूसरे के द्वारा कार्य की सुकरता का वर्णन 'समाधि' है। किन्तु दोनों में परस्पर वैलक्षण्य भी है जो कि दोनों के भिन्न-भिन्न अलङ्कार होने का कारण है। यह वैलक्षण्य एक में (समुच्चय में) 'खले कपोत-न्याय' से दोनों कारणों का एक साथ उपस्थित होना है और दूसरे में (समाधि में) 'काकतालीय-न्याय' से एक कारण के रहते दूसरे का आकस्मिक सहयोग-संपादन है। 'सौकर्य' का तात्पर्य अन्य कारण के योग से कार्य का 'सरलता' से संपादन और 'सौष्ठव' से संपादन—दोनों है।

'मानमस्याः' आदि सूक्ति में सुखपूर्वक अथवा सरलता से कार्य-संपादनरूप 'समाधि' है और सौष्ठव के साथ कार्य-संपादनरूप 'समाधि' के लिए निम्नसूक्ति देखी जा सकती है—

'धैर्यं लीलामरण्यमभितश्चोदयित्वा प्रयान्त्याः
सख्या पत्रावलि-मृगमद-स्पर्शितरसमुरोऽहः ।
वैचित्र्योऽस्य कुचकलशयोः साम्यमाप कार्यमाप्ते
पुंस्त्वमार्यं पत्नित्वमभिता पारिपूर्ण्यं बिभाव ॥

(चित्रमीमांसा : प्रकरण पृ० २ ६)

अनुवाद—'प्रत्यनीक' वह अलङ्कार है जिसे वहाँ देखा जाया करता है जहाँ किसी प्रबल शत्रु के प्रतीकार में असामर्थ्य के कारण, उसके किसी संबन्धी के प्रतीकार का वर्णन हुआ करता है जिससे अन्ततः उस प्रबल शत्रु का ही उत्कर्ष प्रकट हुआ करता है।

यहाँ कारिका में 'तस्यैव' का अभिप्राय 'रिपोरेव' का अभिप्राय है। उदाहरण के लिए यह स्वरचित सूक्ति—

'मध्येन तनुमध्या मे मध्यं जितवतीत्ययम् ।
इभकुम्भौ भिनत्त्यस्याः कुचकुम्भनिभौ हरिः ॥'

(५९—प्रतीपालङ्कार)

**प्रसिद्धस्योपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम् ।
निष्फलत्वाभिधानं वा प्रतीपमिति कथ्यते ॥ ८७ ॥**

'इस पतली कमर वाली सुन्दरी ने, अपनी पतली कमर से, मेरी (पतली) कमर की सुन्दरता जीत ली है—यह सोचकर ही वस्तुत. सिंह, इन सुन्दर कुच कुम्भों की भाँति गज-कुम्भों (हाथी के मस्तक के दोनों भागों) को फाड़ डालना चाहता है।'

विमर्श—(क) आचाय रुय्यक ने 'प्रत्यनीक' का यह स्वरूप बताया है—

'प्रतिपक्षतिरस्काराशक्तौ तदीयस्य तिरस्कार. प्रत्यनीकम् ।

यत्र वलवत प्रतिपक्षस्य दुर्वलेन प्रतिपक्षेण तिरस्कार कर्तुं न शक्यते इति तत्संबन्धिनो दुर्वलस्य तं वाधितु तिरस्कार क्रियते तत् प्रत्यनीकम् । अनीकस्य सैन्यस्य प्रतिनिधि प्रत्यनीकमुच्यते । तत्तुल्यत्वादिदमपि प्रत्यनीकमुच्यते । यथाऽनीकेऽभियोक्तव्ये तत्राऽसामर्थ्यात् तत्प्रतिनिधिभूतमन्यदभियुज्यते, तद्वदिह प्रतिपक्षे विजेये तदीयस्य दुर्वलस्य तिरस्करणमित्यर्थं । प्रतिपक्षगतत्वेन वलवत्त्वख्यापन प्रयोजनम् ।'

(अलङ्कारसवस्व, पृष्ठ २०६-२०७)

इसमें यह स्पष्ट है कि 'प्रत्यनीक' के रूप में जिस वाच्यवैचित्र्य की कल्पना है उसमें 'प्रवल' और 'दुर्वल' अनीक अथवा सैन्य की गतिविधि की भाँति दो प्रतिपक्षभूत पदार्थों की गतिविधि का चित्रण किया हुआ रहता है। 'प्रत्यनीक' में प्रवल शत्रु के 'सम्वन्धी' दुर्वल शत्रु के प्रतीकार का जो अभिप्राय है उसमें प्रवल और दुर्वल शत्रु का 'सम्वन्ध' सादृश्यादिमूलक ही सम्वन्ध हुआ करता है (तत्सवन्धित्व च सादृश्यादिसम्वन्धमूलम्-विमर्शिनी, पृष्ठ २०६) 'प्रत्यनीक' के प्रयोजन के सम्वन्ध में 'अलङ्कारसर्वस्व-विमर्शिनी'कार का यह कथन है—

'अत्र ह्यतिरस्कार्यतिरस्करणा(त्)तिरस्करणकर्तुर्निन्दाद्वारेण वलवत. प्रतिपक्षस्य प्रतीकार्यत्वात् स्तुतिप्रतिपादने तात्पर्यम् ।' (विमर्शिनी, पृष्ठ २०७)

(ख) पण्डितराज जगन्नाथ ने 'प्रत्यनीक' को 'हेतूत्प्रेक्षा' में अन्तर्भूत मानना अधिक युक्तियुक्त समझा है—

'हेतूत्प्रेक्षयैव गतार्थत्वान्नेद (प्रत्यनीकम्) अलङ्कारान्तर भवितुमर्हति । ' अस्मिन्नलङ्कारे हेतुत्वनिश्चीयमान, हेतूत्प्रेक्षाया तु सभाव्यमानमित्यस्ति विशेष इति चेत्, प्रतीयमानहेतूत्प्रेक्षाया अनुत्प्रेक्षात्वापत्ते । वाचकस्येवादेरभावाद्धेतुत्वस्य निश्चीयमानतायास्तत्रापि (हेतूत्प्रेक्षायामपि) वक्तु शक्यत्वात् ।

'यस्य किञ्चिदपकर्तुमक्षम कायनिग्रह गृहीत-विग्रह ।
कान्तवक्त्रसदृशाकृतिं कृती राहुरिन्दुमधुनाऽपि वाधते ॥'

इत्यलङ्कारसर्वस्वकृतोदाहृते प्राचीनपद्येऽपि भगवद्-वैरानुवन्धादिव भगवद्वक्त्रसदृशमिन्दु राहुर्वाधत इति प्रतीतेरुत्प्रेक्षैव गम्यमाना । प्रतिपक्षगतवलवत्त्वस्वात्मगतदुर्वलत्वयो प्रतीतेर्हेतूत्प्रेक्षान्तरादस्य वैलक्षण्यम् । नैतावता हेतूत्प्रेक्षाया वहिर्भवितुमिद (प्रत्यनीकम्) ईष्टे, किंतु तदवान्तरविशेषीभवितुम् ।' (रसगङ्गाधर, पृष्ठ ६६६)

अनुवाद—'प्रतीप' वह अलङ्कार है जिसे उपमेयरूप में प्रसिद्ध उपमान की कल्पना अथवा निष्फलता का प्रतिपा[illegible] करते हैं।

क्रमेण यथा—

(प्रसिद्ध उपमान की उपमेय-कल्पना में 'प्रतीप')

'यस्त्वन्नेत्रसमानकान्तिसलिले मग्नं तदिन्दीवरम् ।' इत्यादि ।

(प्रसिद्ध उपमान की निष्फलता के प्रतिपादन में 'प्रतीप')

'तद्वक्त्रं यदि मुद्रिता शशिकथा हा हेम सा चेद्द्युतिः,
तच्चक्षुर्यदि हारितं कुवलयैस्तच्चेत्स्मितं का सुधा ? ।
धिक्कन्दर्पधनुर्भ्रुवौ यदि च ते किं वा बहु ब्रूमहे
यत्सत्यं पुनरुक्तवस्तुविमुखः सर्गक्रमो वेधसः ॥'

अत्र वक्त्रादिभिरेव चन्द्रादीनां शोभातिवहनात्तेषां निष्फलत्वम् ।

क्रमशः उदाहरण ये हैं—

'अरी सुन्दरी ! वह नीलकमल जो तेरे नयनों के समान सुन्दर और मनोहर था अब पानी में जा डूबा है । आदि ।

'यदि सच पूछा जाय तो विधाता की इस सृष्टि में एक वस्तु के बराबर दूसरी वस्तु नहीं रहा करती क्योंकि यदि वह (सुन्दरी का) मुख है तो चन्द्रमा की चर्चा चलाना व्यर्थ है, यदि वह (सुन्दरी के देह की) कान्ति है तो सोना बिचारा किस काम का, यदि वह (सुन्दरी की) आँखें हैं तो नीलकमल तो कहीं के न रहे, यदि वह (सुन्दरी की) मुसकुराहट है तो सुधा कुछ नहीं जँचती और अधिक क्या कहा जाय यदि वह (सुन्दरी की) भ्रुकुटि है तो कामदेव के धनुष को धिक्कार है ।'

यहाँ 'मुख' आदि में ही चन्द्र आदि की अपेक्षा अधिक 'सौन्दर्य' आदि के होने के कारण चन्द्र आदिरूप प्रसिद्ध उपमानों की निष्फलता का प्रतिपादन स्पष्ट है जिसमें 'प्रतीप' का स्वरूप झलक रहा है ।

विमर्श—'प्रतीप' की 'अलङ्कारसर्वस्वकार' कृत मीमांसा यह है—

'उपमानस्याक्षेप उपमेयताकल्पनं वा प्रतीपम् । उपमेयस्यैवोपमानभारोद्वहनसामर्थ्यादुपमानस्य कैमर्थ्येनाक्षेपः आक्षेपणं क्रियते तदेकं प्रतीपम् उपमानप्रतिकूलत्वादुपमेयस्य प्रतीपमिति व्यपदेशः । यदुपमानतया प्रसिद्धस्योपमानान्तरप्रतिपिपादयिषया अनादरार्थमुपमेयत्वं कल्प्यते तत्पूर्वोक्तगत्या द्वितीयं प्रतीपम् ।' (अलङ्कारसर्वस्व पृष्ठ १०)

यहाँ यह स्पष्ट है कि 'प्रतीप' का सामान्यलक्षण नहीं किया गया अपितु दो प्रकार के 'प्रतीप' अलङ्कारों का स्वरूप-निर्देश किया गया है (एके द्विविधमित्यभिदधता ग्रन्थकृता प्रतीपालङ्कारस्य पुनः सामान्यलक्षणाभावादेकमेव द्विप्रकारमित्युक्तम्—विमर्शिनी, पृ १०८) । ये दोनों प्रकार के 'प्रतीप' उपमा के प्रकार-विशेष नहीं अपितु स्वतन्त्र अलङ्कार हैं । कारण यह है कि यहाँ उपमान के आक्षेप और उपमान की उपमेय-कल्पना का वैचित्र्य ऐसा है जो 'उपमा' में असंभव है । इन दोनों प्रतीप-प्रकारों का प्राण 'साधर्म्य' है जो कि यहाँ व्यङ्ग्यरूप में विराजमान रहा करता है । बिना 'साधर्म्य' अथवा औपम्य के प्रतीप के ये दोनों प्रकार अलङ्कार नहीं कहे जा सकते ।

निम्न सूक्तियाँ 'प्रतीप' की सुन्दर सूक्तियाँ हैं—

'मुखेन सखि पीयूषपेशलेन विभासि ते । उपमानतया चन्द्रं प्रियेणालिख्यते मुधा ॥'

'किं कर्पूरैर्यदि साधुधारा मुक्ताफलैः किं यदि बालिकाऽसौ ।
किं पूर्णचन्द्रैर्यदि रूपशोभा कान्त्यपमास्ते यदि चन्द्रमाः किम् ॥

(प्रतीप · प्रकारान्तर)

उक्त्वा चात्यन्तमुत्कर्षमत्युत्कृष्टस्य वस्तुनः ।
कल्पितेऽप्युपमानत्वे प्रतीपं केचिदूचिरे ॥ ८८ ॥

यथा—

'अहमेव गुरुः सुदारुणानामिति हालाहल ! तात ! मा स्म दृश्यः ।
ननु सन्ति भवादृशानि भूयो भुवनेऽस्मिन् वचनानि दुर्जनानाम् ॥'

अत्र प्रथमपादेनोत्कर्षातिशय उक्तः । तदनुक्तौ तु नायमलङ्कारः ।

यथा—

'ब्रह्मेव ब्राह्मणो वदति' इत्यादि ।

अनुवाद—'प्रतीप' का एक रूप वह भी है जिसमें पहले तो किसी अत्यन्त उत्कृष्ट वस्तु का उत्कर्ष-वर्णन किया जाया करता है और बाद में उसे, किसी दूसरी वस्तु के उपमान रूप में कल्पित कर दिया जाता है। जैसे कि—

'अरे कालकूट विष ! तुझे यह घमण्ड क्योंकि तू ही दारुणतम वस्तुओं के सिरमौर है ! अरे ! तुझ सरीखे दारुण तो दुष्टों के वचन हैं जिनकी इस ससार में कोई गणना नहीं हो सकती।'

यहाँ प्रथम चरण में 'हालाहल' का अत्यधिक उत्कर्ष प्रतिपादित है (जिससे यह स्पष्ट है कि इससे बढ़कर प्राणघातक ससार में कुछ भी नहीं किन्तु वाद में दुष्ट वचनों के उपमान रूप में इसे कल्पित भी कर लिया गया है जिसमें यह अभिप्राय अभिव्यक्त हो रहा है कि भले ही दुष्ट वचनों से प्राण न निकले किन्तु हालाहल-पान की सी व्याकुलता इनमें अवश्य रहा करती है)। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि जहाँ वस्तु का अत्यधिक उत्कर्ष न वर्णित हो वहाँ 'प्रतीप' की कोई संभावना नहीं हुआ करती।

जैसे कि 'यह ब्राह्मण ब्रह्मा के समान बोल रहा है' आदि उक्ति में 'प्रतीप' की खोज व्यर्थ है क्योंकि यहाँ 'ब्रह्मा' के उत्कर्ष का कोई वर्णन नहीं (यहाँ तो अधिक से अधिक 'उपमा' ही मानी जा सकती है)।

विमर्श—(क) साहित्यदर्पण की 'विमला' टीका (पृष्ठ २२३) में **'उक्त्वा चात्यन्तमुत्कर्षम्'** आदि सदर्भ का यह अनुवाद दिया गया है—

'किसी अत्युत्कृष्ट वस्तु का अत्यन्त उत्कर्ष वर्णन करके पाछे किसी दूसरी वस्तु को उसकी उपमान वना देने पर भी कोई लोग प्रतीपालङ्कार मानते हैं। जैसे—अहमिति। हे तात हालाहल, (कालकूट विष) यह घमण्ड मत करो कि दारुण वस्तुओं में सब के गुरु हम ही हैं। तुम्हारे जैसे प्राणघातक इस ससार में दुर्जनों के बहुतेरे वचन विद्यमान हैं। यहाँ प्रथम चरण में हालाहल का उत्कर्ष कहा फिर उसे दुर्जन वचनों का उपमान वना दिया।'

किन्तु यदि यहाँ के रेखाङ्कित पदों को देखा जाय तो यह स्पष्ट पता चल जाता है कि पहले रेखाङ्कित पद का जो आशय है वह दूसरे रेखाङ्कित पद के आशय से झगडा कर रहा है। पहले तो यह कहा गया कि अत्यन्त उत्कृष्ट वस्तु के उत्कर्ष-वर्णन के बाद, किसी दूसरी वस्तु को, उस अत्यन्त उत्कृष्ट वस्तु का उपमान वना देना, कुछ लोगों का 'प्रतीप' है किन्तु 'अहमेव' आदि में, इसे घटित करते समय, यह सकेत कर दिया गया (क्योंकि 'उसे' पद से बढे-चढे, दारुणता के उत्कर्ष वाले 'हालाहल' का ही सम्बन्ध बैठ सकता है) कि यहाँ 'किसी दूसरी वस्तु को' उस अत्यन्त

(१०—मीलित)

मीलितं वस्तुनो गुप्तिः केनचित्तुल्यलक्ष्मणा ।

अत्र समानलक्षणं वस्तु कचिदागन्तुकम् ।

क्रमेण यथा—

(सहज रूप की तुल्यलक्षण वस्तु के द्वारा गोपन में 'मीलित')

'लक्ष्मीवक्षोजकस्तूरीलक्ष्म वक्षःस्थले हरेः ।
ग्रस्तं नालक्षि भारत्या भासा नीलोत्पलाभया ।।'

उत्कृष्ट वस्तु का उपमान नहीं बनाया जाता अपितु उसी अत्यन्त उत्कृष्ट वस्तु को किसी दूसरी वस्तु का उपमान बनाया जाता है ।

इस झगड़े का निपटारा तभी हो सकता है जब कि यह कहा जाय—'किसी अत्यन्त उत्कृष्ट वस्तु का अत्यन्त उत्कर्ष वर्णन करके, पीछे उसे किसी दूसरी वस्तु का उपमान बना देने पर भी कोई लोग प्रतीपालङ्कार मानते हैं ।

अलङ्कार-सर्वस्वकार की यह 'प्रतीप'-समीक्षा भी यही सिद्ध करती है कि स्वतः अत्यन्त उत्कृष्ट वस्तु का पहले अत्यधिक उत्कर्ष-वर्णन करके, पीछे अन्य वस्तु के उपमानरूप में प्रतिपादन 'प्रतीप' है—

'अनेन न्यायेनोत्कृष्टगुणत्वात् यदुपमानभावमपि न सहते तस्यैवोपमानभावकल्पने प्रतीपमेव' । (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २१)

'विमर्शिनी'कार भी वस्तुतः इसी अभिप्राय के समर्थक हैं—

'उपमानभावं यो न सहते तस्योपमानत्वपरिकल्पनेन प्रतिकूलवर्तित्वात् (प्रतीपत्वा-दिति) । (अलङ्कारसर्वस्व-विमर्शिनी पृष्ठ २१)

(ख) पण्डितराज जगन्नाथ की मीमांसा देखिए तो 'प्रतीप' नाम का अलङ्कार ही छूमन्तर हो जाता है—

एवं चाद्यं प्रतीपं प्रसिद्धोपमानस्योपमेयविशेषणत्वम् एव अत एव द्वितीयतृतीयावपि भेदावुपमा-विशेषावेव । उपमानोपमेययोस्तिरस्कारस्योपमान्तरात् वैलक्षण्यं प्रयोजयेत् न तूपमा-सामान्यात् तदुपस्थूलतयैव तत्प्रतीतेः । न हि शाखा भावुर्पलिलयेन पर्यवसानात् विकल्पमेवापर्यावसी भवति । अपि च यदुपमानोपमेययोस्तिरस्कारोऽलङ्कारतामपोहेत स्यात् पुरस्कारोऽपि तथा स्यात् । 'एवं च क्वचनैकत्वमात्राद्यालङ्कारान्तरत्वं भवता अस्याप्यलङ्कारान्तरत्वमभ्युपेयं स्यात् । (रसगङ्गाधर पृष्ठ ६०)

अनुवाद—'मीलित' वह अलङ्कार है जिसे किसी समान लक्षण वाली वस्तु से किसी दूसरी वस्तु के गोपन (छिपाव) के वैचित्र्य में देखा जाया करता है ।

यहाँ यह 'तुल्यलक्षण' अथवा 'समानलक्षण' वस्तु (अथवा वस्तु का चिह्नरूप समान धर्म) 'सहज' (स्वाभाविक) और 'आगन्तुक' दोनों रूपों में मान्य है ।

इनके क्रमशः उदाहरण ये हैं—

'भगवान् विष्णु के वक्षःस्थल में लगा लक्ष्मी के उरोजों के कस्तूरी-लेप का चिह्न, सरस्वती को न पता चला क्योंकि, वह नीलकमल की कान्ति वाली, विष्णु की देहशोभा से एक रूप का हो गया था ।

अत्र भगवत' श्यामा कान्तिः सहजा ।

(आगन्तुक रूप की तुल्यलक्षण वस्तु द्वारा गोपन में 'मीलित')

'सदैव शोणोपलकुण्डलस्य यस्या मयूखैररुणीकृतानि ।
कोपोपरक्तान्यपि कामिनीनां मुखानि शङ्कां विदधुर्न यूनाम् ॥'

अत्र माणिक्यकुण्डलस्यारुणिमा मुखे आगन्तुक' ।

(६१—सामान्यालङ्कार)

सामान्यं प्रकृतस्यान्यतादात्म्यं सदृशैर्गुणैः ॥ ८९ ॥

यथा—

'मल्लिकाचितधम्मिल्लाश्चारुचन्दनचर्चिताः ।
अविभाव्याः सुखं यान्ति चन्द्रिकास्वभिसारिकाः ॥'

मीलिते उत्कृष्टगुणेन निकृष्टगुणस्य तिरोधानम् , इह तूभयोस्तुल्यगुणतया भेदाग्रहः ।

यहां भगवान् विष्णु की जिस श्यामल कान्ति से कस्तूरी-चिह्न की एकरूपता बताई गई है वह 'सहज' रूप की है ।

'जिस नगरी में पद्मरागमणि के कर्ण-कुण्डलों की लाल-लाल किरणों से लाल-लाल लगने वाले, रमणीजन के मुख, क्रोध से लाल होने पर भी, कामीजन के हृदय में कोई शका नहीं उत्पन्न करते थे (अर्थात् कामीजन को यह पता न चल पाता था कि रमणियों के मुख क्रोध से लाल हैं या लाल मणि के कर्णाभरण की किरणों से लाल हैं) ।

यहाँ पद्मरागमणि के कुण्डलों की लालिमा, जिसके द्वारा क्रोध में लाल रमणी-मुख की लाली का छिप जाना बताया गया है, मुख के लिये 'आगन्तुक' है ।

विमर्श—'अलङ्कारसर्वस्व'कार ने 'मीलित' को 'एक वस्तु के द्वारा दूसरी वस्तु का निगूहन' कहा है—

'सहजेनागन्तुकेन वा लक्ष्मणा यद्वस्त्वन्तरे वस्त्वन्तरं निगूह्यते तदन्वर्थाभिधानं मीलितम् । न चायं सामान्यालंकार, तस्य हि साधारणगुणयोगाद् भेदानुपलक्षणरूपम् । अस्य तूत्कृष्टगुणेन निकृष्टगुणस्य तिरोधानमिति महाननयोर्विशेष ।'

(अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २१०)

अर्थात् 'मीलित' वह है जिसमें एक वस्तु के उत्कृष्ट गुण के द्वारा दूसरी वस्तु के निकृष्ट गुण का तिरोधान प्रतीत हुआ करता है । इससे यह स्पष्ट है कि यह अलङ्कार 'सामान्य' अलङ्कार से भिन्न है क्योंकि 'सामान्य' में दो वस्तुओं के भेद के अदर्शन का कारण उनका सामान्य गुण-योग है न कि एक के द्वारा दूसरे का तिरोधान ।

अनुवाद—'सामान्य' वह अलङ्कार है जिसमें साधारण गुण के योग से, प्रकृत वस्तु अन्य वस्तु से अभिन्न रूप की निरूपित हुआ करती है । जैसे कि—

'मल्लिका की कलिओं से केशपाशों को सजा कर और देह में चन्दन के अङ्गराग लगा कर, अभिसारिकायें, चादनी रातों में, अभिसार किया करती हैं और किसी की भी पहचान में नहीं आतीं ।'

'मीलित' में उत्कृष्ट गुण से निकृष्ट गुण का तिरोधान विवक्षित रहा करता है किन्तु 'सामान्य' में दो वस्तुओं के भेद की अप्रतीति का कारण (गुण-तिरोधान नहीं अपितु)

(६१—तद्गुणालङ्कार)

तद्गुणः स्वगुणत्यागादत्युत्कृष्टगुणग्रहः ।

यथा—

'जगाद वदनच्छद्मपद्मपर्यन्तपातिनः ।
नयन् मधुलिहः श्वैत्यमुदंशुदशनांशुभिः ॥'

समान गुणों का योग माना जाया करता है जिससे दोनों भिन्न-भिन्न रूप के अलङ्कार सिद्ध होते हैं।

विमर्श—'सामान्य' का अलङ्कारसर्वस्वकार ने यह स्वरूप बताया है—

'यत्र प्रस्तुतस्य वस्तुनोऽप्रस्तुतेन साधारणगुणयोगादैकात्म्यं भेदाग्रहणलक्षणैकात्म्यं निबध्यते तत्समानगुणयोगात् सामान्यम्।' (अलङ्कारसर्वस्व पृष्ठ २११)
अर्थात् 'सामान्य' का अभिप्राय समान गुणयोग के कारण प्रस्तुत और अप्रस्तुत के भेद का अग्रह अथवा अनध्यवसाय है।

प्रस्तुत और अप्रस्तुत के भेदाग्रह में भी यह अलङ्कार अपह्नुति रूप नहीं अपितु एक स्वतंत्र अलङ्कार हुआ करता है—

'न चेयमपह्नुतिः किञ्चिदपि कस्यचिदप्रतिषेधात्।' (अलङ्कारसर्वस्व पृष्ठ २११)
अर्थात् जहाँ 'अपह्नुति' में एक के अपह्नव से दूसरे का आरोप विवक्षित है वहाँ 'सामान्य' में अपह्नव-पूर्वक आरोप का कोई अभिप्राय नहीं रहा करता अपितु सामान्यगुणयोग से उपमेय और उपमान का 'भेदाग्रह' अथवा 'ऐकात्म्य' ही अभिप्रेत रहा करता है।

यहाँ भी साधारण गुण का 'भिन्न' अर्थात् अनुगामित्व शुद्धसामान्यरूपत्व और बिम्बप्रतिबिम्बभाव आवश्यक है जैसा कि 'विमर्शिनी'कार ने कहा है—

'साधारणगुणत्वं च विरूपत्वमप्राप्यं सिद्धम्। तेन साधारणगुणत्वमनुगामितया यथा "मध्ये वाससमग्रीणमुखानाममलत्विषाम्। रमणीरकस्यस्तामेति" यत्र पूर्वेणानुसन्धेयम् ॥

'अन्तःप्रमिलत्कपोलमनुगामितया सहनिर्दिष्टम्' इत्यादि।

पण्डितराज जगन्नाथ की यह 'सामान्य'-समीक्षा यहाँ ध्यान देने योग्य है—

'ननु भेदाग्रह एव मीलित-सामान्य-तद्गुण-साधारण्य एकोऽलङ्कारोऽस्तु, किमलङ्कारत्रयेण। मीलिते तावत् प्रकृताप्रकृतधर्मिगुणानां भेदाग्रहः। सामान्ये केषाञ्चित् गुण-गुणिभेदाग्रहः कस्याञ्चित्कथित्य धर्मिव्यक्तिमात्रभेदाग्रहश्च। तद्गुणेऽपि रक्तगुणे रक्तगुणभेदाग्रहः। न चावान्तरभेदसत्त्वादेकालङ्कारत्वमनुपपन्नमिति वाच्यम्। लुप्तोपमादिकाः पूर्णोपमादेः पृथगलङ्कारतापत्तेः। तस्मात् भेदाग्रहस्य यथो मीलितादयोऽवान्तरभेदा इति युक्तम्, न तु पृथगलङ्कार इति चेत् उच्यते—एवं सर्वभेदोऽप्यभावेऽलङ्कारा। तद्वान्तरभेदा रूपकपरिणामातिशयोक्तिप्रमुखा इत्यपि वक्तुं शक्यते चतुरस्र। विच्छित्तिभेदस्तु प्रकृतेऽपि तुल्यः।' (रसगङ्गाधर पृष्ठ ६९५)

अनुवाद—'तद्गुण' वह अलङ्कार है जिसमें कोई वस्तु अपने गुण का परित्याग करती और (अपने समीपस्थ) उत्कृष्ट गुणवाली वस्तु के गुण का ग्रहण करती निरूपित हुआ करती है। जैसे कि—(शिशुपालवध की यह सूक्ति)

'श्रीकृष्ण जब बोले तब ऐसा लगा जैसे वे अपने मुखरूप कमल के चतुर्दिक मंडराने वाले भ्रमरों को अपनी उज्ज्वल दन्त-कान्ति से शुक्लरूप बना रहे हों।

मीलिते प्रकृतस्य वस्तुनो वस्त्वन्तरेणाच्छादनम्, इह तु वस्त्वन्तरगुणेनाक्रान्तता प्रतीयत इति भेदः।

(६३—अतद्गुणालङ्कार)

तद्रूपाननुहारस्तु हेतौ सत्यप्यतद्गुणः॥ ९०॥

यथा

'हन्त! सान्द्रेण रागेण भृतेऽपि हृदये मम।
गुणगौर! निषण्णोऽपि कथं नाम न रज्यसि॥'

यथा वा—

'गाङ्गमम्बु सितमम्बु यामुन कज्जलाभमुभयत्र मज्जतः।
राजहंस! तव सैव शुभ्रता चीयते न च न चापचीयते॥'

'मीलित' और 'तद्गुण' में परस्पर भेद है क्योंकि 'मीलित' में तो प्रकृत वस्तु का अन्य वस्तु से आच्छादन विवक्षित रहा करता है किन्तु 'तद्गुण' में ऐसा होता है कि एक वस्तु अन्य वस्तु के गुण से आक्रान्त प्रतीत हुआ करती है।

विमर्श—'तद्गुण' की व्युत्पत्ति है—**'तस्योत्कृष्टगुणस्य गुणा अस्मिन्निति तद्गुणः'** अर्थात् 'तद्गुण' को इसलिये 'तद्गुण' कहा जाता है क्योंकि इसमें उत्कृष्ट गुणवाली 'अप्रकृत' वस्तु का गुण 'प्रकृत' वस्तु में विद्यमान वर्णित हुआ करता है। 'अलङ्कारसर्वस्व'कार ने इसीलिये कहा है—

'यत्र परिमितस्य वस्तुन समीपवर्तिप्रकृष्टवस्तुगुणस्य स्वीकरणं स तद्गुण.। तस्योत्कृष्टगुणस्य गुणा अस्मिन्निति कृत्वा। न चेद मीलितम्। तत्र हि प्रकृतं वस्तु वस्त्वन्तरेणाच्छादितस्वेन प्रतीयते। इह त्वनपह्नुतस्वरूपमेव प्रकृतं वस्तु वस्त्वन्तरगुणोपरक्ततया प्रतीयत इत्यस्त्यनयोर्भेद'। (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २१३)

अर्थात् 'तद्गुण' में अनपह्नुतस्वरूप प्रकृत का अप्रकृत के गुण से उपराग अभिप्रेत है क्योंकि यहाँ अप्रकृत वस्तु से प्रकृत वस्तु के स्वरूप-तिरोधान की कोई विवक्षा नहीं हुआ करती।

निम्न 'तद्गुण'सूक्तिया बडी सुन्दर हैं—

'विभिन्नवर्णा गरुडाग्रजेन सूर्यस्य रथ्याः परित स्फुरन्त्या।
रत्नै पुनर्यत्र रुच रुचा स्वामानिन्यिरे वशाकरीरनालै॥'
'इन्दूदयश्चन्दनमिन्दुवक्त्रा चैत्रस्तवेत्यादि सहायसपत्।
वपुश्च श्रृङ्गारमय स मन्ये सन्तापकस्त्व हरवह्नियोगात्॥'
'अधरेण समागमाद्रदानामरुणिम्ना पिहितोऽपि शुद्धभाव.।
हसितेन सितेन पक्ष्मलाक्ष्या पुनरुल्लासमवाप जातपक्ष॥'

अनुवाद—'अतद्गुण' वह अलङ्कार है जिसमें, कारण होने पर भी, प्रकृत वस्तु, अप्रकृत वस्तु के गुण का अनुहार अथवा स्वीकार करती नहीं वर्णित होती। जैसे कि—

'अरे प्रियतम! मेरे हृदय में, जो कि प्रगाढ राग (प्रेम या लाली) से भरा हुआ है, रहते हुए भी, तुम, कुछ ऐसे 'गुणगौर' अपने गुणों के कारण शुभ्र-रूप हो कि तुममें कोई राग (प्रेम या लाली) सम्भव नहीं।'

अथवा—

'राजहंस! तुम शुभ्र वर्ण के गगाजल और कज्जल वर्ण के यमुनाजल—दोनों में स्नान किया करते हो किन्तु तुम्हारी शुभ्रता न बढ़ती है और न घटती है अपितु जैसी की तैसी

पूर्वत्रातिरक्तहृदयसम्पर्कात् प्राप्तवदपि गुणगौरशब्दवाच्यस्य नायकस्य रा
न निष्पन्नम् , उत्तरत्राप्रस्तुतप्रशंसायां विद्यमानायामपि गङ्गायमुनापेक्षया
तस्य हंसस्य गङ्गायमुनयोः संपर्केऽपि न तद्रूपता। अत्र च गुणाग्रहणरूप
च्छित्तिविशेषाभयाद्विशेषोक्तेर्भेदः, वर्णान्तरोत्पत्त्यभावाच्च विषमात् ।

(६७—सूक्ष्मालङ्कार)

संलक्षितस्तु सूक्ष्मोऽर्थ आकारेणेङ्गितेन वा ।
कयापि सूच्यते भङ्ग्या यत्र सूक्ष्मं तदुच्यते ॥ ६१ ॥

यहाँ पहले उदाहरण (अर्थात् 'हन्त सान्द्रेण' आदि) में यह स्पष्ट है कि नायिक
प्रगाढ़ राग से भरे हृदय के सम्पर्क से, नायक के हृदय में 'अनुराग' की संभावना के
पर भी, अनुराग का न होना निर्दिष्ट है क्योंकि 'गुणगौर' शब्द का यही अभिप्राय है
नायिका के अनुरक्त हृदय में निवास करने पर भी नायक अनुराग-शून्य पड़ा है।

दूसरे उदाहरण (अर्थात् गाङ्गमम्बु आदि) में जहाँ राजहंस के इस प्रकार के व
में एक प्रकार की 'अप्रस्तुतप्रशंसा' का भी अभिप्राय स्पष्ट है (क्योंकि अप्रस्तुत 'राज
की प्रशंसा से किसी प्रस्तुत धीरप्रकृति महापुरुष की प्रशंसा का ही भाव प्रकाशित
रहा है) यह निश्चित है कि गङ्गा-यमुना की अपेक्षा राजहंस अधिक महत्त्वम
है और गङ्गाजल तथा यमुनाजल के साथ सम्पर्क में भी, उनके गुणों का ग्रहण न क
वर्णित हो रहा है जिसमें 'अतद्गुण' का स्वरूप स्पष्ट झलक रहा है।

'अतद्गुण' को 'विशेषोक्ति'-रूप नहीं माना जा सकता क्योंकि जहाँ अतद्गुण में गु
के अननुसार अथवा अग्रहण का एक विशेष चमत्कार रहा करता है वहाँ 'विशेषोक्ति'
इस प्रकार का कोई चमत्कार विवक्षित नहीं। (तात्पर्य यह है कि 'हन्त सान्द्रेण' आ
में कवि 'नायिका के प्रेम-पगे हृदय में रहते रहने' और तब भी अनुरक्त न होने
कार्यकारणभाव की कोई कल्पना नहीं कर रहा अपितु 'लाक्षारस के सम्पर्क में प
लाली न पकड़ने' की ही विचित्र कल्पना का आनन्द ले रहा है)।

अतद्गुण' में 'विषम' का भी भ्रम नहीं हो सकता क्योंकि जहाँ 'विषम' में (प्रथ
प्रकार के 'विषम' में) कार्य का गुण या क्रियारूप धर्म कारण के गुण या क्रियारूप ध
से विरुद्ध रूप का वर्णित किया जाया करता है वहाँ 'अतद्गुण' में (कार्यकारण की गुण
क्रिया में परस्पर विरोध का कोई अर्थ अपेक्षित नहीं अपि तु उपरागहेतु के होने पर भी)
उपराग अथवा अन्य वर्ण की उत्पत्ति का अभाव-वर्णन ही अभिप्रेत रहा करता है।

विमर्श—'अतद्गुण' तद्गुण का प्रतिपक्षरूप अलङ्कार है—'तस्य प्रकृतस्य गुणा अस्मि
अप्रकृते न सन्तीति अतद्गुणः' अथवा, 'तस्य अप्रकृतस्य गुणा अस्मिन् प्रकृते न सन्तीति
अतद्गुणः।' 'अलङ्कारसर्वस्व'कार ने भी कहा है—

'तद्गुणप्रस्तावात्तद्विपर्ययरूपोऽतद्गुण उच्यते। तस्योत्कृष्टगुणस्यास्मिन् गुणा
न सन्तीति। यद्वा तस्याप्रकृतस्य रूपानुगुणाः सत्यपि हेतौ सोऽतद्गुणः। तस्या
प्रकृतस्य गुणा नास्मिन् सन्तीति कृत्वा।' (अलङ्कारसर्वस्व पृ० ११४)

निम्न सूक्ति में 'अतद्गुण' की बड़ी सुन्दर रचना हुई है—

'धवलोऽसि यद्यपि सुन्दर तथापि त्वया मम रञ्जितं हृदयम्।
रागभरितेऽपि हृदये सुभग निहितो न रक्तोऽसि ॥

अनुवाद—'सूक्ष्म' वह अलङ्कार है जिसमें आकार अथवा चेष्टा से पहचान में आनेवाले

सूक्ष्म स्थूलमतिभिरसलक्ष्यः।

अत्राकारेण यथा—

'वक्त्रस्यन्दिस्वेदबिन्दुप्रबन्धैर्दृष्ट्वा भिन्न कुङ्कुम कापि कण्ठे।
पुस्त्व तन्व्या व्यञ्जयन्ती वयस्या स्मित्वा पाणौ खड्गलेखा लिलेख ॥'

अत्र कयाचित्कुङ्कुमभेदेन सलक्षित कस्याश्चित्पुरुषायितं पाणौ पुरुपचिह्न-खड्गलेखालिखनेन सूचितम्।

इङ्गितेन यथा—

'सङ्केतकालमनस विट ज्ञात्वा विदग्धया।
हसन्नेत्रार्पिताकूत लीलापद्मं निमीलितम् ॥'

अत्र विटस्य भ्रूविक्षेपादिना लक्षितः सङ्केतकालाभिप्रायो रजनीकाल-भाविना पद्मनिमीलनेन प्रकाशित.।

कोई सूक्ष्म (सूक्ष्म बुद्धि द्वारा सवेद्य) वस्तु किसी और युक्ति से प्रकाशित की जाया करती है। यहाँ 'सूक्ष्म.' का अभिप्राय 'स्थूल बुद्धि द्वारा असलक्ष्य होने' का अभिप्राय है।

जैसे कि आकार द्वारा संलक्ष्य सूक्ष्म वस्तु के, अन्य युक्ति से प्रकाशन में 'सूक्ष्म'—

'किसी सुन्दरी ने, अपनी किसी सखी के मुख से टपकी पसीने की बूंदों की रेखाओं से उसके गले के कुकुम लेप को दो भागों में बँटे देखकर, मुसकराहट के साथ, उसकी हथेली पर तलवार का एक रेखाचित्र खींच दिया जिससे उसका पुरुषत्व (उसका पुरुषायित रतिविलास) सूचित हो गया।'

यहा 'सूक्ष्म' इसलिये है क्योंकि यहां किसी सुन्दरी ने अपनी सखी के गले के कुंकुम-भेद से उसकी पुरुषायित रति की पहचान तो कर ली है किन्तु उसकी हथेली पर, पुरुष के चिह्नविशेष 'खड्ग' के चित्रण की युक्ति से, उसे (विपरीत रतिविलास को) सूचित भी कर दिया है।

इङ्गित अथवा चेष्टा द्वारा सलक्ष्य सूक्ष्म वस्तु के, अन्य युक्ति से प्रकाशन में 'सूक्ष्म'—

'जब कि उस चतुर सुन्दरी ने, अपने प्रेमी को प्रेममिलन के समय के जानने के लिये बड़ा उत्सुक देखा तब उसने अपनी हँसती आंखों से अपना अभिप्राय बताते, अपने हाथ के क्रीडा-कमल की पखुड़िओं को बन्द कर लिया।'

यहाँ जो सूक्ष्म अर्थ है वह प्रेममिलन का समय है जिसके जानने के लिये प्रेमी बड़ा उत्सुक है। यह सूक्ष्मरूप अर्थ प्रेमी द्वारा नायिका की 'आखों की हँसी' से ज्ञात किया गया है (हँसी में आंखें बद हो जाती हैं इसलिये प्रकाश की समाप्ति अर्थात् 'सन्ध्या' को प्रेममिलन के समय-रूप में जान लिया गया है) किन्तु लीलाकमल के निमीलन की युक्ति से इस सन्ध्याकालरूप सूक्ष्म अर्थ को पुन प्रकाशित किया जा रहा है।

विमर्श—'सूक्ष्म' की 'अलङ्कारसर्वस्व'कारकृत समीक्षा यह है—

'सलक्षितसूक्ष्मार्थप्रकाशनं सूक्ष्मम्।

इह सूक्ष्म स्थूलमतिभिरसलक्ष्यो योऽर्थ, यदा कुशाग्रमतिभिरिङ्गिताकाराभ्या सलक्ष्यते तदा तस्य सलक्षितस्य विदग्ध प्रति प्रकाशन सूक्ष्ममलङ्कार।'

(अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २१७)

यहां यह स्पष्ट है कि 'सूक्ष्म'अलकार का अभिप्राय, इगित अथवा आकार द्वारा सलक्षित सूक्ष्म-अर्थ का प्रकाशन है।

(९५—व्याजोक्ति)

व्याजोक्तिर्गोपनं व्याजादुद्भिन्नस्यापि वस्तुनः।

यथा—

'शैलेन्द्रप्रतिपाद्यमानगिरिजाहस्तोपगूढोल्लस-
द्रोमाञ्चादिविसंष्ठुलाखिलविधिव्यासङ्गभङ्गाकुलः।
हा शैत्यं तुहिनाचलस्य करयोरित्यूचिवान् सस्मितं
शैलान्तःपुरमातृमण्डलगणैर्दृष्टोऽवताद्वः शिवः॥'

नेयं प्रथमापह्नुतिः, अपह्नवकारिणो विषयस्यानभिधानात्। द्वितीयापह्नुतेश्च भेदस्तत्प्रस्तावे दर्शितः।

अनुवाद—'व्याजोक्ति' वह अलङ्कार है जिसमें किसी उद्भिन्न अथवा प्रकट हुई भी वस्तु के, किसी बहाने से छिपाने का अभिप्राय अन्तर्भूत रहा करता है। जैसे कि—

'वे शिव जो हिमालय द्वारा कन्यादान के समय पार्वती के कराश्लेष से उत्पन्न आनन्द-रोमाञ्च से व्यग्र होने के कारण समस्त विवाह विधि में गड़बड़ी पैदा करने से व्याकुल हुआ करते हैं और अपने इस प्रेमातिरेक को छिपाने के लिये 'ओह! हिमालय के हाथ कितने ठंडे हैं' कह-कहकर मुसकरा दिया करते हैं जिससे हिमालय के अन्तःपुर में विराजमान मातृमण्डल (ब्राह्मी आदि मातृवर्ग) भी हँसी से लोटपोट हो जाता है आप सब का सदा कल्याण करते रहें।'

यहाँ 'व्याजोक्ति' स्पष्ट है क्योंकि शिव के रोमाञ्चित होने से पार्वती के प्रति उनका जो अनुराग उद्भिन्न है उसे हिमालय के हाथों की शीतलता के व्याज से छिपाया जा रहा है।

'व्याजोक्ति' और पहले प्रकार की 'अपह्नुति' (वह अपह्नुति जिसमें उपमेय का निषेध करके, उसके स्थान पर, अन्य की स्थापना की जाया करती है) परस्पर भिन्न-भिन्न अलङ्कार हैं क्योंकि 'व्याजोक्ति' में छिपाने वाला व्यक्ति, 'विषय' का (उपमेय का) निर्देश नहीं किया करता (जब कि पहली अपह्नुति में होता है कि 'विषय' का निर्देश किया जाता है और उसके अपह्नव के साथ, अन्य की स्थापना हुआ करती है)।

'व्याजोक्ति' और द्वितीय प्रकार की अपह्नुति का भेद, पहले ही अपह्नुति के प्रसङ्ग में बतलाया जा चुका है (जिससे यहाँ इसका पुनर्निर्देश अपेक्षित नहीं)।

विमर्श—'व्याजोक्ति' की 'अलङ्कारसर्वस्व'कार-कृत परिभाषा यह है—

'उद्भिन्नवस्तुनिगूहनं व्याजोक्तिः'

यत्र निगूढं वस्तु कुतश्चिन्निमित्तादुद्भिन्नं प्रकटतां प्राप्तं सद् वस्त्वन्तरप्रक्षेपेण निगूहनम् अवकल्प्यते सा वस्त्वन्तरप्रक्षेपरूपस्य व्याजस्य कथनाद् व्याजोक्तिः।

(अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २१८)

इससे यह स्पष्ट है कि व्याजोक्ति में 'उद्भिन्न' और 'निगूहित' (जैसे कि शिव के रतिभाव और शैत्यरूप) वस्तुओं में उपमानोपमेयभाव का कोई अभिप्राय अपेक्षित नहीं। यहाँ जो 'व्याज' है उसका तात्पर्य 'वस्त्वन्तरप्रक्षेप' है जैसे कि 'शैलेन्द्रप्रतिपाद्यमान' आदि सूक्ति में रतिभाव के निगूहन के लिये 'शैत्य'रूप वस्तु का प्रक्षेप।

(६६—स्वभावोक्ति)

स्वभावोक्तिर्दुरूहार्थस्वक्रियारूपवर्णनम् ॥ ९२ ॥

दुरूहयोः कविमात्रवेद्ययो अर्थस्य डिम्भादेः स्वयोस्तदेकाश्रययोश्चेष्टास्वरूपयो ।

यथा मम—

'लाङ्गूलेनाभिहत्य क्षितितलमसकृद्दारयन्नग्रपद्भ्या-
मात्मन्येवावलीय द्रुतमथ गगनं प्रोत्पतन् विक्रमेण ।
स्फूर्जद्धूङ्कारघोषः प्रतिदिशमखिलान् द्रावयन्नेष जन्तून्
कोपाविष्टः प्रविष्टः प्रतिवनमरुणोच्छूनचक्षुस्तरक्षुः ॥'

'काव्यप्रकाश'कार ने भी 'व्याजोक्ति' में साम्य अथवा सादृश्य का अन्तर्भाव अपेक्षित नहीं माना है—'न चेयमपह्नुतिः प्रकृताप्रकृतोभयनिष्ठस्य साम्यस्येहासंभवात् ।'

(काव्यप्रकाश . १० म उल्लास)

उद्योतकार ने भी इसी अभिप्राय से कहा है—

'तत्र (अपह्नुतौ) उपमेयनिषेधपूर्वकमुपमानव्यवस्थापनम् । अत्र तु किञ्चिदनिषिध्यैव निमित्तान्तरप्रयुक्तत्वज्ञापनमित्यपि बोध्यम् ।

अनुवाद—'स्वभावोक्ति' वह अलङ्कार है जिसे दुरूह अर्थात् सूक्ष्म अथवा कल्पनाशील कविजन द्वारा सवेद्य, पदार्थों के स्वरूप किंवा उनकी क्रियाओं का वर्णन कहा करते हैं।

यहाँ (कारिका के पद) 'दुरूहार्थ-स्वक्रियारूपवर्णनम्' में 'दुरूहयोः' का अभिप्राय है—केवल कविजन द्वारा वेद्य का, 'अर्थस्य' का अभिप्राय है—बालक प्रभृति विविध वस्तुजात का और 'स्वक्रियारूपयो' का अभिप्राय है—'स्वयो' अर्थात् अपने अपने प्रातिस्विक, 'क्रियारूपयो' अर्थात् चेष्टा किंवा स्वरूप का।

इसके उदाहरण के लिये यह स्वरचित सूक्ति देखिये—

'बार बार अपनी पूँछ से धरती पर चोट करते और अगले पजों से उसे बार बार नोचते-खसोटते, अपने शरीर को एक क्षण में सिकोड़ते और सहसा जोर से ऊपर की ओर उछलते, भयङ्कर 'घूँ घूँ' शब्द करते और जानवरों को चारों ओर भगाते, क्रोध में चूर, लाल-लाल फूली हुई आँखों वाला यह बघेरा जंगल में घुसा जा रहा है।'

यहाँ यह स्पष्ट है कि बघेरे के स्वरूप का जो चित्रण है वह 'स्वभावोक्ति' के सौन्दर्य से पूर्ण है।

विमर्श—(क) 'स्वभावोक्ति' प्राचीन आलङ्कारिक-मर्यादा का एक अलङ्कार है। आचार्य रुद्रट ने इसका यह लक्षण किया है—

'संस्थानावस्थान-क्रियादि यद्यस्य यादृशं भवति ।
लोके चिरप्रसिद्धं तत्कथनमनन्यथा जातिः ॥
शिशुमुग्धयुवतिकातर-तिर्यक्सम्भ्रान्तहीनपात्राणाम् ।
सा कालावस्थोचितचेष्टासु विशेषतो रम्या ॥'

(काव्यालंकार . ७. ३० ३१)

इसमें यह स्पष्ट है कि 'स्वभावोक्ति' को 'जाति' भी कहा जाता है! 'जाति' का अभिप्राय सरस्वतीकण्ठाभरणकार के अनुसार यह है—

'नानावस्थासु जायन्ते यानि रूपाणि वस्तुनः । स्वेभ्य स्वेभ्यो निसर्गेभ्यस्तानि जातिं प्रचक्षते ॥

अर्थव्यक्तेरियं भेदमियत्ता प्रतिपद्यते । यावन्मात्रं भवति रूप सा सार्वकालिकम् ॥
स्वरूपमाश्रयो हेतुरिति तद्भेदहेतवः । ते संस्थानावस्थेषु सा विशेषेण शोभते ॥
तत्र स्वरूपं संस्थानमवस्थानं तथैव च । वेषो व्यापार इत्यादेः प्रभेदैर्बहुधा स्थितम् ॥
मुग्धाङ्गनार्भकस्तिर्यङ् नीचपात्राणि चाश्रयाः । तेषां कालश्च देशश्च साधनानि च हेतवः ॥

(सरस्वतीकण्ठाभरण ३। ४८)

अर्थात् 'जाति' का अभिप्राय 'वस्तु-स्वभाव' है। वस्तु स्वभाव का वह उन्मीलन अथवा उद्घाटन जिसमें कवि-प्रतिभा का हाथ रहा करता है जाति-अलङ्कार है (कविप्रतिभामात्रप्रकाशनीयरूपोद्घाटनं जातिरिति कथ्यते—रत्नदर्पणव्याख्या-सरस्वतीकण्ठाभरण पृ० ३२२)। वस्तु-स्वभाव में 'वस्तु स्वरूप' वस्तु-संस्थान, वस्तु-अवस्थान वेष व्यापार आदि आदि सभी अन्तर्भूत हैं। कवि की प्रतिभा-शक्ति में ही वह सामर्थ्य है जिससे वह वस्तु-स्वभाव के उल्लेख में सफल हुआ करता है जैसे कि कहा भी गया है—

'रसानुगुणशब्दार्थचिन्तास्तिमितचेतसः । क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः ॥
सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते । येन साक्षात्करोत्येष भावांस्त्रैकाल्यवर्तिनः ॥'

'जाति अथवा 'स्वभावोक्ति' का अलङ्कार की श्रेणी में इसीलिए स्थान है क्योंकि इसमें वस्तु-स्वभाव का जो वर्णन हुआ करता है वह कविप्रतिभा-प्रसूत होने से चमत्कारपूर्ण हुआ करता है। चमत्कार-शून्य वस्तु-वर्णन 'स्वभावोक्ति' नहीं अपितु 'वार्ता' अथवा बात-चीत है।

(च) विश्वनाथ कविराज ने अलङ्कारसर्वस्व की 'स्वभावोक्ति'-मीमांसा का अनुसरण किया है। अलङ्कारसर्वस्वकार की स्वभावोक्ति-मीमांसा यह है—

'सूक्ष्मवस्तुस्वभावयथावद्वर्णनं स्वभावोक्तिः'—

इह वस्तुस्वभाववर्णनमात्रं नालङ्कारः । तत्त्वे सति सर्वं काव्यमलङ्कारि स्यात् । न हि तत्काव्यमस्ति यत्र न वस्तुस्वभाववर्णनम् । तदर्थं सूक्ष्मग्रहणम् । सूक्ष्मः कविमात्रगम्यः । अत एव तद्विषय एव यो वस्तुस्वभावस्तस्य यथावदन्यूनानतिरिक्तत्वेन वर्णनं स्वभावोक्तिरलङ्कारः । (अलङ्कारसर्वस्व पृ० २२१)

अर्थात् 'स्वभावोक्ति (स्वभाव + उक्ति) का तात्पर्य सूक्ष्म अर्थात् कविप्रतिभामात्र से संवेद्य वस्तु स्वभाव की तदनुरूप उक्ति अथवा वर्णन का तात्पर्य है। केवल वस्तु-स्वभाव-वर्णन 'स्वभावोक्ति' अलंकार नहीं अपितु कविप्रतिभामात्रवेद्य वस्तु स्वभाव का यथावद् वर्णन 'स्वभावोक्ति' है।

वस्तु के सूक्ष्म गुण का स्वभाव-वर्णन को अलङ्कार इसलिए माना जाया करता है क्योंकि इसमें सहृदय हृदय एक चमत्कार का अनुभव किया करता है। लोक-जीवन की वस्तुओं के सूक्ष्म धर्मों के विषय में सहृदय पाठक का जो हृदयसंवाद हुआ करता है वही स्वभावोक्ति की अलंकार कल्पना का मूलकारण है। 'स्वभावोक्ति' में किस प्रकार का 'हृदयसंवाद' संभव है—इसका निरूपण आचार्य जयरथ के शब्दों में इस प्रकार है—

'ईदृगिदं वस्तु इत्यत्र हृदयसंवादः । स च यथा—

पश्य लावण्यपयाम् हस्ते रामकीपाशिप्रसृतः ।
स्पृष्ट्वा हा हेति संभ्रान्ता धात्री कैरैर्विहस्यते ॥

अत्र धात्रीगर्भीरतस्य स्वभाव इति वस्तुनिर्दिष्टो हृदयसंवादः ।

यथा वा—

बद्धास्थार्द्रं सीता विनयति तरुमे स्वगृहिणे
सुमित्रापुत्राय प्रथितविशेषं तदनु च ।
वदाम्यं वत्साम्यं वदनशिरसं यच्च शिरसे
कण्ठं वा मूकं वा स्वपिति तु तेन स्वसमनम् ॥

(६७—भाविक)

अद्भुतस्य पदार्थस्य भूतस्याथ भविष्यतः ।
यत्प्रत्यक्षायमाणत्वं तद्भाविकमुदाहृतम् ॥ ९२ ॥

यथा—

'मुनिर्जयति योगीन्द्रो महात्मा कुम्भसम्भवः ।
येनैकचुलुके दृष्टौ दिव्यौ तौ मत्स्यकच्छपौ ॥'

यथा वा—

'आसीदञ्जनमत्रेति पश्यामि तव लोचने ।
भाविभूषणसम्भारां साक्षात्कुर्वे तवाकृतिम् ॥'

अत्रेदमेव गृहिणीना स्वभाव इति सवाद ।' (अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ २२६-२२७) अर्थात् 'स्वभावोक्ति' में 'हृदयसवाद' का अभिप्राय 'वस्तुसवाद' का अभिप्राय है। 'रसादि' में जो 'हृदयसवाद' है उसका तात्पर्य 'परकीय चित्तवृत्ति की आत्मीय चित्तवृत्ति से अभेद-भावना' है—

'परकीयायाश्चित्तवृत्तेरात्मीयचित्तवृत्त्यभेदेन परामर्शो हृदयसवाद । तस्य च स्वपर-विभागाभावाद् देशकालाभावाच्च व्यापकत्वेन प्रतीते· साधारण्यम् । अत एव परमाद्वैत-ज्ञानतुल्यत्वम् । तस्य ह्ययमित्येव परामर्श· । तद्व्यतिरिक्तस्यान्यस्याऽसभवात् ।'

(अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ २२६)

'स्वभावोक्ति' के वैचित्र्य से प्रभावित सहृदय-हृदय यही अनुभव किया करता है कि कवि ने जिस वस्तु का वर्णन किया है वह वस्तु वस्तुत वैसी है। 'हृदयसवाद' ही वस्तुगत और चित्त-वृत्तिगत—द्विविध होने से स्वभाव-वर्णन किंवा रस वर्णन-दोनों में व्याप्त रहा करता है ।

निम्नलिखित सूक्ति 'स्वभावोक्ति' का एक सुन्दर निदर्शन है जिसमें 'वस्तुसवाद' के साथ-साथ 'हृदयसवाद' भी स्वत सिद्ध दिखाई देता है ।

'किञ्चित् कुञ्चितचञ्चुचुम्बनमुखस्फारीभवल्लोचना
स्वप्ने मोदितचारुचाटुकरणैश्चेतोऽर्पयन्ती मुहु· ।
कूजन्ती विततैकपक्षतिपुटेनालिङ्ग्य लीलालस
धन्य कान्तमुपान्तवर्तिनमिय पारावत सेवते ॥'

अनुवाद—'भाविक' वह अलङ्कार है जिसे किसी भूत अथवा भावी अद्भुत पदार्थ का ऐसा चित्रण कहा जाया करता है जिससे वह प्रत्यक्षवत् प्रतीत होने लगता है ।

इसका उदाहरण यह है—

'उन योगिराज कुम्भजन्मा महामुनि अगस्त्य की जय हो जिन्होंने (समुद्र का आचमन करते समय) अपने एक चुल्लू में, उन दिव्य मत्स्य (मत्स्यावतार विष्णु) और कच्छप (कच्छपावतार विष्णु)—दोनों को देख लिया था ।'

अथवा यह—'अब भी मुझे तुम्हारी वे आँखें दिखाई दे रही हैं जिनमें कभी तुम अञ्जन लगाया करती थी और तुम्हारी वह रूपरेखा भी मेरी आँखों के आगे खड़ी है जिसे तुम आभूषणों से सुशोभित करोगी ।'

यहाँ 'मुनिर्जयति' आदि में 'भाविक' का वैचित्र्य इसलिए स्पष्ट है क्योंकि इस सूक्ति के अनुशीलन मात्र से सहृदय काव्य पाठक की भावना दृष्टि के आगे लोकोत्तर-चरित

न चायं प्रसादाख्यो गुणः, भूतभाविनोः प्रत्यक्षायमाणत्वे तस्याहेतुत्वात्। न चाद्भुतो रसः, विस्मयं प्रत्यस्य हेतुत्वात्। न चातिशयोक्तिरलङ्कारः, अध्यवसायाभावात्। न च भ्रान्तिमान्, भूतभाविनोर्भूतभावितयैव प्रकाशनात्।

न च स्वभावोक्तिः, तस्य लौकिकवस्तुगतसूक्ष्मधर्मस्वभावस्यैव यथावद्वर्णनं स्वरूपम्, अस्य तु वस्तुनः प्रत्यक्षायमाणस्वरूपो विच्छित्तिविशेषोऽस्तीति।

यदि पुनर्वस्तुनः क्वचित्स्वभावोक्त्यावप्यस्या विच्छित्तेः सम्भवस्तदोभयोः सङ्करः।

'अनातपत्रोऽप्ययमत्र लक्ष्यते सितातपत्रैरिव सर्वतो वृतः।
अचामरोऽप्येष सदैव वीज्यते विलासबालव्यजनेन कोऽप्ययम्॥'

अत्र प्रत्यक्षायमाणस्यैव वर्णनान्नायमलङ्कारः, वर्णनावशेन प्रत्यक्षायमाणस्यैव स्वरूपत्वात्।

महर्षि अगस्त्य का अति प्राचीन रूप प्रत्यक्ष सा दिखाई देने लगता है। इसी प्रकार 'आसीदञ्जनमत्रेति' आदि में 'भाविक' का जो प्रयोग होता है उसमें किसी रमणी की भूतकाल किंवा भविष्यत्काल से सम्बद्ध अलौकिक रमणीयता का साक्षात्कार होने लगता है।

'भाविक' एक अलङ्कार है—वाच्यवैचित्र्य अथवा वर्णनवैचित्र्य है। इसे 'प्रसाद' गुण में अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता क्योंकि 'प्रसाद' गुण से भूत और भावी वस्तु की प्रत्यक्षवत् प्रतीति का कोई संबन्ध नहीं माना जाया करता। 'भाविक' अलङ्कार 'अद्भुत रस' नहीं क्योंकि यह विस्मय का हेतु हो सकता है (और अद्भुत रस ऐसा हुआ करता है जिसे अभिव्यक्त विस्मयरूप कहा गया है)। इसे अतिशयोक्ति रूप भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि यहाँ (भूत अथवा भावी वस्तु में प्रत्यक्ष वस्तु के) किसी प्रकार के 'अध्यवसाय' की कोई सम्भावना नहीं (जब कि 'अतिशयोक्ति' में अध्यवसाय अथवा तादात्म्य-प्रतीतिरूप अतिशय ही सब कुछ हुआ करता है)। 'भाविक' में 'भ्रान्तिमान्' की भी भ्रान्ति नहीं होनी चाहिये क्योंकि यहाँ भूत वस्तु भूत वस्तु के ही रूप में और भावी वस्तु भावी वस्तु के ही रूप में प्रकाशित हुआ करती है (यहाँ ऐसा कभी नहीं होता कि भावी वस्तु में भूतता अथवा भूत वस्तु में भाविता का प्रकाशन हो)।

'भाविक' वस्तुतः 'स्वभावोक्ति' से भी भिन्न रूप का अलङ्कार हुआ करता है क्योंकि जहाँ 'स्वभावोक्ति' में लौकिक वस्तु के सूक्ष्म धर्म का यथावत् वर्णन अभिप्रेत है वहाँ 'भाविक' में वस्तु के ऐसे वर्णन का वैचित्र्य रहा करता है जिससे वह प्रत्यक्षवत् प्रतीत हुआ करती है। यह दूसरी बात है कि जहाँ-तहाँ सूक्ष्म-सुभग वस्तु-स्वभाव-वर्णन (स्वभावोक्ति) में 'भाविक' (वस्तुस्वभाव की प्रत्यक्षायमाणता) का भी पुट दिया गया हो। किन्तु जहाँ कहीं भी ऐसी बात हो वहाँ 'स्वभावोक्ति' नहीं अपि तु 'स्वभावोक्ति' और 'भाविक' का 'सङ्कर' ही मानने योग्य है।

'भाविक' के उपर्युक्त स्वरूप की दृष्टि से यदि निम्नलिखित सूक्ति अर्थात्—

'राजच्छत्र के बिना भी ये ऐसे लगते हैं जैसे चारों ओर से श्वेत राजच्छत्र से वेष्टित हों और बिना चँवर के भी ये ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे चतुर्दिक् से चँवरों द्वारा सुशोभित हों—भला ऐसा महापुरुष और कौन है ?'
को देखें तो यह निर्विवाद है कि यहाँ 'भाविक' की कोई संभावना नहीं हो सकती।

यत्पुनरप्रत्यक्षायमाणस्यापि वर्णने प्रत्यक्षायमाणत्वं तत्रायमलङ्कारो भवितु युक्तः, यथोदाहृते 'आसीदञ्जनम्'—इत्यादौ।

कारण यह है कि 'भाविक' वहाँ नहीं हुआ करता जहाँ किसी प्रत्यक्षवत् प्रतीत होने वाली वस्तु का वर्णन किया जाया करता है (जैसा कि यहाँ स्पष्ट है) अपितु वहाँ हुआ करता है जहाँ कवि के वर्णना-वैचित्र्य से भूत अथवा भावी वस्तु की प्रत्यक्षवत् प्रतीति हुआ करती है। कवि की वर्णना-वैचित्री से अप्रत्यक्ष वस्तु की प्रत्यक्षवत् प्रतीति में ही 'भाविक' की रूपरेखा रहा करती है जैसा कि 'आसीदञ्जनमत्रेति' आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति में स्पष्ट है।

विमर्श—(क) 'भाविक' प्राचीन आलङ्कारिक-मान्यता का एक अलङ्कार है। आचार्य भामह ने इसका स्वरूप इस प्रकार निर्दिष्ट किया है—

'भाविकत्वमिति प्राहु प्रबन्धविषय गुणम्। प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते यत्रार्था भूतभाविन.॥
चित्रोदात्ताद्भुतार्थत्व कथाया स्वभिनीतता। शब्दानाकुलता चेति तस्य हेतु प्रचक्षते॥'

(भामह काव्यालङ्कार ३. ५२-५३)

आचार्य भामह की यह मान्यता आचार्य उद्भट द्वारा भी प्रमाणित है—

'प्रत्यक्षा इव यत्रार्था दृश्यन्ते भूतभाविन.। अत्यद्भुता. स्यात्तद्वाचामनाकुल्येन भाविकम्॥'

(अलङ्कारसारसंग्रह . ६ १२)

'भाविक' के सम्बन्ध में इन विचारधाराओं का विशदीकरण 'अलङ्कारसर्वस्व' कार ने इस प्रकार किया है—

'अतीतानागतयो प्रत्यक्षायमाणत्व भाविकम्। अतीतानागतयोर्भूतभाविनोरर्थयोरलौकिकत्वेनात्यद्भुतत्वाद् व्यस्तसम्बन्धरहितशब्दसन्दर्भसमर्पितत्वाच्च प्रत्यक्षायमाणत्वं भाविकम्। कविगतो भाव आशय श्रोतरि प्रतिबिम्बत्वेनास्तीति, भावो भावना वा पुन. पुनश्चेतसि निवेशन सोऽत्रास्तीति। न चेय भ्रान्ति, भूतभाविनो. भूतभावितयैव प्रकाशनात। नाऽपि रामोऽभूदितिवद् वस्तुमात्रम्। भूतभाविगतस्य प्रत्यक्षत्वादिगतस्य धर्मस्य स्फुटस्याधिकस्य प्रतिलम्भात्। नापीयमतिशयोक्ति, अन्यस्यान्यतयाऽध्यवसायाभावात्। न हि भूतमन्यभूतभावित्वेनाध्यवसीयते, अभूतभावि वा भूतभावित्वेनापि, प्रत्यक्षमप्रत्यक्षगतत्वेन, अप्रत्यक्षमपि प्रत्यक्षत्वेन।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २२३-२२४)

अर्थात् 'भाविक' की पृथक् अलङ्काररूप में मान्यता इसीलिये अनिवार्य है क्योंकि यही वह वाच्यवैचित्र्य है जिससे कवि हृदयगत भाव अथवा अभिप्राय सहृदय हृदय में प्रतिबिम्बित हुआ करता है। 'भाविक' को इसलिये भी 'भाविक' कहा जाया करता है क्योंकि इसी में वह सामर्थ्य है जिससे सहृदय-हृदय वर्ण्य वस्तु की 'भावना' करने में समर्थ हुआ करता है। कवि के हृद्गत अभिप्राय के सहृदय-हृदय में प्रतिबिम्बित होने अथवा कविवर्णित वस्तु की सहृदय-हृदय द्वारा 'भावना' किये जाने का जो कारण है वह एक ऐसा वर्णना-वैचित्र्य है जिससे अतीत और अनागत अथवा भूत और भावी वस्तु का ऐसा अनुभव हुआ करता है जो भावनाप्रत्यक्षरूप अनुभव है और एक अलौकिक अनुभव है। सहृदय हृदय में इस अलौकिक अनुभव की उत्पत्ति तभी हो सकती है जब कि कवि की शब्दार्थ-योजना में प्रसाद हो और कविवर्णित वस्तु में विस्मयजनकता की शक्ति हो। भूत अथवा भावी वस्तु की 'भावना' भ्रान्ति नहीं अपि तु एक अलौकिक साक्षात्कार है जो कवि और सहृदय के हृदय की एक विशेषता है। 'भूत अथवा भावी वस्तु में ऐसी कोई विशेषता नहीं जिसमें वह प्रत्यक्षवत् प्रतीत होने लगे।' यह तो कवि-प्रतिभा है जो अपनी शब्दमूर्ति में भूत और भावी वस्तुओं का प्रत्यक्ष कराया करती है और सहृदय हृदय में चमत्कार उत्पन्न

किया करती है। भाविक' एक सर्वोत्तीर्ण अलङ्कार है, ऐसा अलङ्कार है जिसका स्वरूप अन्य अलङ्कारों में नहीं देखा जा सकता।

यह 'भावना' क्या है जो 'भाविक' की कल्पना का आधार है—इसके सम्बन्ध में 'अलङ्कारसर्वस्व' कारने यह विचार किया है—

केवलवस्तुप्रस्तावे प्रतिपत्तुः सामग्री उपयुज्यते। सा च लोकयात्रायां चक्षुरादीन्द्रिय-स्वभावा, योगिनामतीन्द्रियार्थदर्शने भावना वस्तुगत्याऽभ्युपगन्तव्यत्वमुक्ता। काव्यप्रस्तावे च वस्तूनामादरप्रत्ययेन इति सम्प्रदायमाम्नातात्। (अलङ्कारसर्वस्व पृ० २२५)

अर्थात् भाविक के रूप में कवि का जो वस्तु-वर्णन-वैचित्र्य है वह वस्तुतः कवि की 'भावना' शक्ति के ही कारण है। कवि की 'भावना' की भाँति सहृदय की भी 'भावना' होती है। कवि और सहृदय की 'भावना' एक अलौकिक, अतीन्द्रिय योगिप्रत्यक्षवत् प्रत्यक्ष ज्ञान है जिसमें भूत और भावी वस्तु अपने अपने काल से अनवच्छिन्न रूप में ही प्रत्यक्षवत् प्रतीत हुआ करती है। 'भावना' वस्तुमात्र की नहीं हो सकती अपि तु उसी वस्तु की हुआ करती है जिसके प्रति कवि के हृदय में विस्मयावेश उत्पन्न हुआ करता है। विस्मय से आविष्ट कवि-हृदय में जो वस्तु प्रवेश करती है उसमें एक अलौकिक चमत्कार रहा करता है। सहृदय-हृदय जब ऐसी वस्तु की 'भावना' करता है तब उसे भी वह वस्तु चमत्कारजनक लगा करती है और वह उसमें एकतान हो कर रमने लगता है।

कवि किसी वस्तु को 'भावना' को ऐसे शब्दों में ही प्रकाशित करने पर 'भाविक अलङ्कार' की रचना कर सकता है। जो कि अनाकुल हों अथवा प्रसाद गुण से पूर्ण हों। 'अलङ्कारसर्वस्व' विमर्शिनीकार ने इसीलिये कहा है—

'यद्यपि वाचामनाकुलत्वं सर्वत्रैव वर्णनीयम्, तथापि तत्र वैपुल्येनार्थविशेषात् प्रतीति-विघ्नमात्रफलम्। इह तु तदनाकुलत्वेनातीतानागतयोः प्रत्यक्षायमाणत्वमेव न स्यात् इति प्राधान्येनैतदुक्तम्। एवमनेन हेतुद्वयेन (अलौकिकत्वेन वाचामनाकुलत्वेन च) अस्या-लङ्कारत्वमुक्तम्। इह हि केचिदर्थाः कविवचसि सुसङ्गमपि स्वाः वाच्यवाचकयो रामणी-यकमिच्छन्ति। अत एवैकस्यापि रमणीयत्वहानौ नास्यालङ्कारत्वम्। इह हि कश्चिदर्थः कविवचसि सुसङ्गमपि स्वाः अपि निजसीमप्रमाणाभावात् स्वप्नहर्करायत् सहृदयानामसौ स्वरूपतया वाच्यतामञ्चति। केचित्तु सुभगा अपि दुर्भगसंयोपारोहितया सहृदयानामना-वर्जका एवेत्युभयसपेक्षत्वमस्यामवगन्तव्यम्। (अलङ्कारसर्वस्व-विमर्शिनी पृ० २२४)

अर्थात् वैसे तो प्रसादपूर्णता सर्वत्र अपेक्षित है किन्तु 'भाविक' में इसे अत्यन्त आवश्यक माना गया है। कारण यह है कि प्रसाद के अभाव में भूत और भावी वस्तु का ऐसा वर्णन जिसमें वह प्रत्यक्षवत् प्रतीत हो सके, असंभव है। वस्तुतः वाणी की अनाकुलता और वर्ण्य वस्तु की विस्मयजनकता ही 'भाविक' की कल्पना का कारण है। जिसे शब्द और अर्थ की रमणीयता कहा करते हैं उसका अभिप्राय कवि-वर्णित वस्तुओं या कवि-प्रयुक्त शब्दों में स्वरूपतः झलक उठना है। बहुत सी ऐसी भी वस्तुएँ हैं जो कवि की शब्दार्थ-योजना में स्पष्ट झलका करती हैं किन्तु उनमें अपना कोई सौन्दर्य न होने से सहृदय हृदय के आवर्जन की शक्ति नहीं रहा करती और इस लिये वे सहृदय श्रवण-पाठक द्वारा उसी भाँति देख समझी जाया करती हैं जिस भाँति भित्ति में लगी मिट्टी। ऐसी वस्तुओं के वर्णन में 'भाविक' की संभावना नहीं हुआ करती। 'भाविक' की संभावना वहाँ भी नहीं है जहाँ वर्ण्य वस्तु तो सुभग सुकुमार हो किन्तु रचना सौभाग्य-हीन हो। इसीलिये, 'भाविक' के लिये दोनों की अपेक्षा है—सूक्ष्म-सुभग वस्तु-स्वभाव की और अनाकुल अथवा प्रसादपूर्ण शब्दार्थ-योजना की भी।

(६८—उदात्तालङ्कार)

लोकातिशयसम्पत्तिवर्णनोदात्तमुच्यते ।
यद्वापि प्रस्तुतस्याङ्गं महतां चरितं भवेत् ॥

क्रमेणोदाहरणम्—

(लोकोत्तर वैभव-वर्णनरूप 'उदात्त')

'अध कृताम्भोधरमण्डलाना यस्यां शशाङ्कोपलकुट्टिमानाम् ।

(ख) साहित्यदर्पणकार ने 'अनातपत्रोऽपि' आदि में 'भाविक' की रूपरेखा की जो असभावना निर्दिष्ट की है उसे 'अलङ्कारसर्वस्व' (पृष्ठ २२९-२३०) की इस उक्ति के पर्यालोचन से स्पष्टतया समझा जा सकता है—

'अय त्वत्र विचारलेश' सभवति–इह क्वचिद् वर्णनीयस्य वर्णनावशादेव प्रत्यक्षायमाणत्वम्, क्वचित् प्रत्यक्षायमाणस्यैव वर्णनम् । आद्यो यथोदाहृत प्राक् (मुनिर्जयतीत्यत्र) । द्वितीयो यथा—'अनातपत्रोऽप्ययमत्र ' ' इति । अत्र प्रथमप्रकारविषयोऽयमलङ्कारो न प्रकारान्तरगोचर । कविसमर्पितानां धर्माणा ह्यलङ्कारत्वात् । न हिमांशुलावण्यादीनामिव वस्तुसन्निवेशिनाम् । अपि च 'शब्दानाकुलता चेति तस्य हेतून्प्रचक्षते' इति भामहीये, 'वाचामनाकुलत्वेनापि भाविक' मिति चोद्भटलक्षणे व्यस्तसवन्धरहितशब्दसदर्भसमर्पितत्व प्रत्यक्षायमाणत्वप्रतिपादक कथं प्रयोजकीभवेत्, यदि वस्तुसन्निवेशधर्मिगतत्वेनापि भाविक स्यात् । तस्माद् वास्तवमेव महत्त्वमुत्तरत्र प्रकारविषये वर्णितमिति नायमलङ्कार । यदि तु वास्तवमेवात्र सौन्दर्यं कविनिबद्ध कविनिबद्धवक्तृनिबद्ध वा सकलवक्तृगोचरीभूत स्वभावोक्तिवदलङ्कारतया वर्ण्यते यदायमपि प्रकारो नातीव दुश्लिष्ट । अत एव 'प्रत्यक्षा इव यत्रार्था क्रियन्ते भूतभाविन । तद्भाविकम्' इति एवमन्यैर्भाविकलक्षणमकारि ।'

अर्थात् वैसे तो यह निर्विवाद है कि कवि की वर्णनाशक्ति से, देशत अथवा कालत सुदूर वस्तु के भावनाप्रत्यक्ष में ही, 'भाविक' की रूपरेखा निहित रहा करती है किन्तु प्रत्यक्षवत् प्रतीत होने वाली वस्तु के वर्णन को भी 'भाविक' मानना असगत नहीं । वस्तु में सनिविष्ट धर्म का नाम 'अलङ्कार' नहीं अपितु उस 'धर्म' का नाम अलङ्कार है जो वस्तु में कविप्रतिभा द्वारा समर्पित किया जाय—इस दृष्टि से देखते तो यह निश्चित है कि 'अनातपत्रोऽप्ययमत्र' आदि में 'भाविक' की मान्यता अनुचित है क्योंकि यहाँ कविसमर्पित वस्तु-धर्म का उल्लेख नहीं अपितु केवल वस्तुगत धर्म का उल्लेख है । किन्तु यहीं यदि यह माना जाय कि कवि ने वस्तुसनिविष्ट धर्म का ऐसा स्वाभाविक वर्णन किया है जिससे वह सहृदयमात्र के लिये प्रत्यक्षकल्प प्रतीत हो उठी है तो इस सूक्ति में भी 'भाविक' की मान्यता किसी प्रकार सभव ही है ।

'अलङ्कारसर्वस्व' की इस समीक्षा के देखते 'साहित्यदर्पण' के एक आध टीकाकारों का यह कहना कि विश्वनाथ कविराज ने 'अलङ्कारसर्वस्व' का यहाँ खण्डन किया है, सर्वथा उचित नहीं प्रतीत होता ।

अनुवाद—'उदात्त' वह अलङ्कार है जिसे लोकोत्तर वैभव का वर्णन कहा गया है । साथ ही साथ उदात्त अथवा महनीयचरित पुरुषों का वह वर्णन भी 'उदात्त' अलङ्कार ही कहा जाया करता है जो कि प्रस्तुत वर्ण्य वस्तु के अङ्ग अथवा उपकारकरूप से प्रतीत हुआ करता है ।

क्रमश उदाहरण ये है—

'यही वह नगरी है जिसमें मेघ-[illegible] अटारिओं पर चन्द्रकान्त

ज्योत्स्नानिपातात्क्षरता पयोभिः केलीवनं वृद्धिमुरीकरोति ॥'

(अङ्गभूत उदात्तचरित का वर्णनरूप 'उदात्त')

'नाभिप्रभिन्नाम्बुरुहासनेन संस्तूयमानः प्रथमेन धात्रा ।
अमुं युगान्तोचितयोगनिद्रः संहृत्य लोकान् पुरुषोऽधिशेते ॥'

मणि की बनी फर्शें चाँदनी के स्पर्श से जलधारा बहाया करती हैं जिससे क्रीडावन सदा लहलहाते रहा करते हैं।

[यहाँ यह स्पष्ट है कि कवि ने वर्ण्य नगरी की ऐसी सम्पत्ति का वर्णन किया है जिसे लोक में देखना असंभव है। यही ऋद्धि-वर्णन यहाँ का अलङ्कार है जिसे 'उदात्त' अलङ्कार कहा करते हैं।]

सीते ! यही वह समुद्र है जिसमें नाभिकमलयोनि (भगवान् विष्णु की नाभि से उत्पन्न कमल से जन्म लेनेवाले) आदि ब्रह्मा द्वारा पूजनीय परमपुरुष (भगवान् विष्णु) जगत् के प्रलय के बाद, योगनिद्रा में निलीन हुये शयन किया करते हैं।

(रघुवंश १३-६)

[यहाँ महाकवि कालिदास ने भगवान् विष्णु का जो वर्णन किया है जो कि एक महनीय किंवा उदात्त चरित-वर्णन है वह समुद्र-वर्णन के अङ्गरूप से रहने के कारण, 'उदात्त' अलङ्कार का एक सुन्दर निदर्शन बन गया है।

विमर्श—(क) 'उदात्त' शब्द का ही अर्थ समृद्धिमद् वस्तु है और साथ ही साथ महनीय चरित भी 'उदात्त' ही कहा जाया करता है। जिस वस्तु का वर्णन ऐसा हुआ करता है जिससे उसकी अलौकिक विभूतियों का अभिव्यञ्जन हो उसमें 'उदात्त' अलङ्कार की मान्यता स्वाभाविक ही है। इसी प्रकार किसी महनीय पुरुष का ऐसा वर्णन जिससे किसी प्रस्तुत वस्तु की महनीयता प्रतीत हुआ करे, 'उदात्त' अलङ्कार की ही रूपरेखा है। 'अलङ्कारसर्वस्व'कार ने इसीलिये कहा है—

'स्वभावोक्तौ भाविके च यथावद्वस्तुवर्णनम्। तद्विपर्ययत्वेनारोपितवस्तुवर्णनात्मक उदात्तस्यावसरः। तत्रासंभाव्यमानविभूतियुक्तस्य वस्तुनो वर्णनं कविप्रतिभोत्थापितमेकं लक्षणमुदात्तम्।

'महापुरुषाणामुदात्तचरितानामभिभूतवस्त्वन्तराङ्गभावेनोपनिबध्यमानं चरितं चोदात्तम्। महापुरुषचरितस्योदात्तत्वात्।' (अलङ्कारसर्वस्व पृ० २१)

अर्थात् जैसे यथावस्थित वस्तु के एक प्रकार के वर्णन में 'स्वभावोक्ति' और दूसरे प्रकार के वर्णन में 'भाविक' अलङ्कार का अनुसंधान किया जाया करता है वैसे ही अयथावस्थित वस्तु के वर्णन में 'उदात्त' की कल्पना स्वाभाविक ही है। अलौकिक समृद्धि से सम्पन्न वस्तु का वर्णन कविप्रतिभोत्थापित ऐश्वर्य का वर्णन है और यहाँ 'उदात्त' अलङ्कार है। उदात्त महापुरुष के वर्णन से यदि किसी अन्य वर्ण्य वस्तु की उदात्तता प्रकाशित हो तो वहाँ भी 'उदात्त' अलङ्कार का ही चमत्कार रहा करता है।

(ख) 'अलङ्कारसर्वस्व-विमर्शिनी'कार ने अङ्गभूत महापुरुष-वर्णन में 'उदात्त' का स्वरूप और भी अधिक स्पष्ट किया है—

'अभिभूतस्य वस्तुनो महापुरुषचरितमुत्कर्षप्रतिपिपादयिषयाङ्गतयोपनिबध्यमानमेवालङ्कारत्वम् न तूपलक्षणपरतयोपात्तमिति तात्पर्यार्थः। तत्र यथोदाहृतम् ('तदिदमरण्यं यस्मिन् दशरथवचनानुपालनव्यसनी। निवसन् बाहुसहायश्चकार रक्षःक्षयं रामः' इत्यत्र)

(६९—रसवत्, ७०-प्रेय, ७१-ऊर्जस्वि, ७२-समाहित)

रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमस्तथा ।
गुणीभूतत्वमायान्ति यदाऽलङ्कृतयस्तदा ॥ ९५ ॥
रसवत्प्रेयऊर्जस्विसमाहितमिति क्रमात् ।

तदाभासो रसाभासो भावाभासश्च । तत्र रसयोगाद्रसवदलङ्कारो यथा—'अयं स रसनोत्कर्षी–' इत्यादि ।

'कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः शापेनास्तङ्गमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्तुः ।
यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु ॥'

अत्राङ्गिनो गिरिविशेषस्य वसतियोग्यत्वादिदर्शनार्थमुत्कर्षप्रतिपिपादयिषया रामसीतादिचरितमुपलक्षणपरं तत्र नायमलङ्कारः ।

यथा—

'गोदावर्याः करिकुलमदक्षोदक्षोदकायाः पारे पारे वत वत परामृश्यतामृष्यमूकः ।
कङ्कालाद्रौ पिहितगगने दुन्दुभेर्यत्र रामः पादाङ्गुष्ठं निजमपि भवद्दैवतं निर्ममेऽस्तम् ॥'

अत्र पवनं प्रति वियोगिन्या उक्तौ रामचरितमुपलक्षणमात्रपरम् । न ह्यङ्गभूतेनाङ्गिनः कश्चिद् विशेषो विवक्षितः ।

'अत्रासीत् फणिपाशबन्धनविधिः शक्त्या भवद्देवरे
गाढं वक्षसि ताडिते हनुमता द्रोणाद्रिरत्राहृतः ।
दिव्यैरिन्द्रजिदत्र लक्ष्मणशरैर्लोकान्तरं प्रापित-
स्तस्याप्यत्र मृगाक्षि ! राक्षसपतेः कृत्ता च कण्ठाटवी ॥'

इत्यत्र तु रामस्य सीतां प्रत्युक्तावुपलक्षणीभूतदेशविशेषः पाशबन्धनाद्येव साक्षाद्विवक्षितमिति न महापुरुषचरितस्य वस्त्वन्तरं प्रत्यङ्गभाव इति नायमलङ्कारः' ।

(अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ २३१)

अर्थात् 'अङ्गभूतमहापुरुषवर्णन' रूप उदात्त इसीलिये उदात्त का एक प्रकार माना गया है क्योंकि इसके द्वारा अङ्गिरूप वर्ण्य वस्तु के उत्कर्ष का प्रकाशन किया जाया करता है। इस दृष्टि से जहाँ कहीं ऐसा महापुरुष का वर्णन हो, जो कि वर्ण्य वस्तु का उत्कर्ष प्रकाशक न हो कर, केवल उपलक्षणमात्र अथवा ससूचक सा लगा करे वहाँ 'उदात्त' की कोई सम्भावना नहीं होनी चाहिये। 'कश्चित् कान्ता' आदि सूक्तिओं में महापुरुष-वर्णन अवश्य है किन्तु इसका उद्देश्य वर्ण्य वस्तु का वैभव प्रकाशन नहीं अपि तु वर्ण्यवस्तु का उपलक्षण होना है। इसलिये इन सूक्तिओं में 'उदात्त' का अनुसधान असगत है।

जिसे 'उदात्त' अलङ्कार की शोभासम्पत्ति का दर्शन करना हो उसके लिये महाकवि परिमल गुप्त के 'नवसाहसाङ्कचरित' और महाकवि रत्नाकर के 'हरविजय' की सूक्तियाँ देखने योग्य हैं।

अनुवाद—'रसवत्', प्रेय', 'ऊर्जस्वि' और 'समाहित' वे अलङ्कार हैं जिन्हें क्रमशः 'रस', भाव', रसाभास-भावाभास' तथा 'भावप्रशम' को अङ्गरूप से अवस्थान में देखा जाया करता है।

यहाँ कारिका में 'तदाभासौ' का अभिप्राय 'रसाभास' और 'भावाभास'–दोनों का है।

इन चारों अलङ्कारों में, 'रसवत्', जिसमें अङ्गरूप से अवस्थित रस रहा करता है, इस सूक्ति में स्पष्ट है—

'अयं स रशनोत्कर्षी (पीनस्तनविमर्दनः । नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः ॥)'

अत्र शृङ्गारः करुणस्याङ्गम्। एवमन्यत्रापि। प्रकृष्टप्रियत्वात्प्रेयः।

यथा मम—

'आमीलितालसविवर्तिततारकाक्षीं
मत्कण्ठबन्धनदरश्लथबाहुवल्लीम्।
प्रस्वेदवारिकणिकाचितगण्डबिम्बां
संस्मृत्य तामनिशमेति न शान्तिमन्तः॥'

अत्र सम्भोगशृङ्गारः स्मरणाख्यभावस्याङ्गम्। स च विप्रलम्भस्य। ऊर्जो बलम्, अनौचित्यप्रवृत्तौ तदत्रास्तीत्यूर्जस्वि।

यथा—

'वनेऽखिलकलासक्ताः परिहृत्य निजस्त्रियः।
त्वद्वैरिवनितावृन्दे पुलिन्दाः कुर्वते रतिम्॥'

अत्र शृङ्गाराभासो राजविषयकरतिभावस्याङ्गम्। एवं भावाभासोऽपि।

समाहितं परिहारः।

यहाँ 'रसवत्' इसलिये है क्योंकि यहाँ 'शृङ्गार' रस 'करुणरस' के अङ्गरूप से उपनिबद्ध है (अङ्गरूप से इसलिये क्योंकि यहाँ कवि 'करुण' की अभिव्यञ्जना में दत्तचित्त है और उसी की उत्कृष्ट प्रतीति के लिये 'शृङ्गार' का आधान कर रहा है)।

इसी प्रकार अन्य रसों की अङ्गता में भी 'रसवत्' अलङ्कार यत्र-तत्र स्वयं देखा जा सकता है।

'प्रेय' जिसे काव्याचार्यों का अत्यधिक आवर्जक अथवा सहृदय का अत्यधिक मनोरञ्जक अलङ्कार कहा करते हैं निम्न स्वरचित सूक्ति में दिखायी दे रहा है—

अधखुली, अलसायी कि वा कनीनिका की चञ्चलता से भरी आँखों वाली मेरे द्वारा आलिङ्गित होने पर प्रत्यालिङ्गन में शिथिल भुजलता वाली, कपोलों पर पसीने की बूँदें छलकाती, उस सुन्दरी की जब याद आती है तो मेरा हृदय रह-रह कर उद्विग्न हो उठता है।

यहाँ 'प्रेय' अलङ्कार इसलिये है क्योंकि यहां जो 'सम्भोगशृङ्गार' उपनिबद्ध है वह 'स्मृति' रूप भाव का अधिकाधिक परिपोषक होने से अङ्गरूप से ही उपनिबद्ध है। और यह 'स्मृति' रूप व्यभिचारिभाव अन्ततोगत्वा यहां के अङ्गी रस 'विप्रलम्भशृङ्गार' के उत्कृष्ट रूप से उद्दीपक होने के कारण अङ्गरूप से ही उपनिबद्ध पड़ा है।

'ऊर्जस्वी' जिसका अभिप्राय यह अलङ्कार है जिसमें अनौचित्य प्रवृत्त रस और भाव (रसाभास और भावाभास) रूप 'ऊर्ज' अथवा 'बल' विद्यमान रहा करता है, इस सूक्ति में दर्शनीय है—

'राजन्! जंगलों के भील, अपनी-अपनी कलावती स्त्रियों को छोड़ कर अब आपकी शत्रु-रमणियों के प्रेम में पागल हो रहे हैं।'

यहां 'ऊर्जस्वि' अलङ्कार इसलिये है क्योंकि यहां राजविषयक 'रति' भाव के अङ्गरूप से अवस्थित 'शृङ्गाराभास' का 'ऊर्ज' अथवा बल स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। इसी प्रकार राजादिविषयक रतिभाव के अङ्गरूप से उपनिबद्ध 'भावाभास' रूप 'ऊर्ज' के कारण जो 'ऊर्जस्वी' अलङ्कार हुआ करता है उसका उदाहरण स्वयं देखा जा सकता है।

यथा—
'अविरलकरवालकम्पनैर्भ्रुकुटीतर्जनगर्जनैर्मुहुः ।
ददृशे तव वैरिणां मदः स गतः क्वापि तवेक्षणेक्षणात् ॥'
अत्र मदाख्यभावस्य प्रशमो राजविषयरतिभावस्याङ्गम् ।

'समाहित', जिसे किसी भाव के परिहार या प्रशमन (भावशान्ति अथवा भाव की प्रशाम्यदवस्था) के अङ्गरूप से उपनिबन्ध में देखा जाया करता है, इस सूक्ति में स्पष्ट है-

'राजन्! आपके शत्रुओं का वह मद जो कि पहले, उनकी तलवारों के चमकाने और भौंहों के तरेरने और तर्जन गर्जन में दिखाई पड़ता रहा, अब, आपके सामने आने पर, पता नहीं, क्षणभर में कहा गायब हो गया।'

यहाँ 'समाहित' अलङ्कार इसलिये है क्योंकि राजविषयक रतिभाव के अङ्गरूप से उपनिबद्ध 'मद' की प्रशाम्यदवस्था (भावशान्ति) का सौन्दर्य स्पष्ट प्रतीत हो रहा है।

विमर्श—(क) रसवदादि अलङ्कार-चतुष्टय का निरूपण साहित्यदर्पणकार ने इसीलिये किया है जिसमें 'काव्यप्रकाशकार' से उनकी नवीनता झलक उठे। काव्यप्रकाशकार ने तो 'रसवत्' आदि को अलङ्कार ही नहीं माना है क्योंकि उनकी दृष्टि में रसध्वनिवादी आनन्दवर्धनाचार्य की यह मान्यता सर्वथा शिरोधार्य है कि रस, भाव आदि 'अलङ्कार्य' है 'अलङ्कार' नहीं। रस, भाव आदि की अङ्गरूप से योजना 'गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य' का विषय है न कि 'अलङ्कार' अथवा वाच्य वाचक वैचित्र्य का। काव्यप्रकाशकार के अनुसार 'रसवत्', 'प्रेय', 'ऊर्जस्वि' और 'समाहित' 'अपराङ्गव्यङ्ग्य-गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य' के रूप हैं। साहित्यदर्पणकार भी रसध्वनिवादी आचार्य हैं और 'गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य' के अपराङ्गव्यङ्ग्य' रूप प्रभेद में 'रसवत्' आदि को अन्तर्भूत मा भी दिखा चुके हैं जैसा कि इन पंक्तियों से स्पष्ट है—

'इतरस्य रसादेरङ्गं रसादिव्यङ्ग्यम्।
यथा—
'अयं स रसनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः। नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः ॥'
अत्र शृङ्गारः करुणस्याङ्गम् ...'

किन्तु अलङ्कारनिरूपण के प्रसङ्ग में पुनः 'रसवत्' आदि का अलङ्काररूप में प्रदर्शन करना कुछ विचित्र सा लगता है। वस्तुतः साहित्यदर्पणकार ने यहाँ 'अलङ्कारसर्वस्व' और 'विमर्शिनी' की विचारधाराओं का अनुसरण किया है।

(ख) 'अलङ्कारसर्वस्व' की विचारधारा यह है—

'रसभावतदाभासतत्प्रशमानां निबन्धनेन रसवत्प्रेय-ऊर्जस्वि,समाहितानि।'

'चित्तवृत्तिविशेषस्वभावत्वाच्च रसादीनामिह तद्वदलङ्काराणां प्रस्तावः। अत एव चत्वारोऽलङ्कारा युगपल्लक्षिताः। तत्र विभावानुभावव्यभिचारिभिः प्रकाशितो रत्यादिश्चित्तवृत्तिविशेषो रसः। भावो विभावानुभावाभ्यां सूचितो निर्वेदादिस्त्रयस्त्रिंशद्भेदः। देवादिविषयश्च रत्यादिर्भावः। तदाभासो रसाभासो भावाभासश्च। आभासत्वमविषयप्रवृत्त्यानौचित्यम्। तत्प्रशमः उक्तप्रकाराणां निवर्तमानत्वेन प्रशाम्यदवस्था। तत्रापि रसस्य परविश्रान्तिरूपत्वात् सा न सम्भवति इति परिशिष्टभेदविषयो द्रष्टव्यः। एषामुपनिबन्धक्रमेण रसवदादयोऽलङ्काराः। रसो विद्यते यत्र निबन्धने व्यापारात्मनि तद्रसवत्। प्रियतरं प्रेयो निबन्धनमेव द्रष्टव्यम्। एवमूर्जं बलं विद्यते यत्र, तदपि निबन्धनमेव। अनौचित्यप्रवृत्तत्वादत्र बलयोगः। समाहितं परिहारः। स च प्रकृतत्वादुक्तभेदविषयः प्रशमापरपर्यायः'

(अलङ्कारसर्वस्व. पृष्ठ २३२-२३३)

अर्थात् विभावादि द्वारा अभिव्यक्त रत्यादिरूप चित्तवृत्तिविशेष तो रस है और जिसे 'रसवत्' अलङ्कार कहा करते हैं वह ध्वनि की एक विचित्र वर्णना है जिसमें 'रस' रहा करता है। इसी प्रकार 'प्रेय' 'ऊर्जस्वि' और 'समाहित' भी इसीलिये अलङ्कार हैं क्योंकि ये भी ध्वनि के ऐसे वर्णना-वैचित्र्य-रूप हैं जिनमें 'भाव' 'रसाभास-भावाभास' तथा 'भावप्रशम' रहा करते हैं।

यहाँ सबसे बड़ा प्रश्न यह उठता है जैसा कि 'विमर्शिनी'कार की इस उक्ति में स्पष्ट है—

'ननु च परविश्रान्तिरूपस्य काव्यात्मनोऽलङ्कार्यस्य रसस्य कथमलङ्कारत्वं सङ्गच्छते।'
(अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी पृ० १११)

कि जब कि 'रस' स्वयं आत्मविश्रान्तिरूप और काव्य के आत्मतत्त्वरूप होने के कारण 'अलङ्कार्य' है तब इसे 'अलङ्कार' क्योंकर कहा जा सकता है? इसका उत्तर 'अलङ्कारसर्वस्व'कार ने यह दिया है

'तत्र यस्मिन् दर्शने वाच्यार्थीभूता रसादयो रसवदाद्यलङ्काराः, तथाङ्गभूतरसादिविषये द्वितीय (महापुरुषचरितैरर्थवर्णनरूपाः) उदात्तालङ्कारः। यन्मते त्वङ्गभूते रसादिविषये रसवदाद्यलङ्कारास्तन्मतस्य रसादिव्यतिरिक्ता व्याप्तत्वादुदात्तालङ्कारस्य विषयो वाच्यमिच्छते तद्विषयस्य रसवदादिना व्याप्तत्वात्। (अलङ्कारसर्वस्व पृ० १११)

अर्थात् 'वाच्यभाववाद' और 'ध्वनिवाद' दोनों की दृष्टि से 'रसवत्' अलङ्कार की मान्यता सिद्ध है। 'वाच्यभाववाद' में तो 'रसवत्' अलङ्कार वाच्यार्थीभूत अथवा अस्फुटरूप से प्रतीत रस का ही नाम है क्योंकि अङ्गरूप से उपनिबद्ध रस 'उदात्त' अलङ्कार के क्षेत्र का विषय बन जाता है। 'ध्वनिवाद' की दृष्टि में भी 'रस' के अतिरिक्त 'रसवत्' अलङ्कार की मान्यता आवश्यक है क्योंकि यदि अङ्गिरूप से अवस्थित रस काव्यात्मतत्त्व है तब अङ्गरूप से उपनिबद्ध रस को 'रसवत्' अलङ्कार के रूप में माना ही जा सकता है।

अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनीकार ने उपर्युक्त 'रसवत्' विमर्श पर यह परामर्श किया है—

अङ्गभूतस्य रसादेरलङ्कारत्वं युक्तम्। तथा च वाच्योपमादीनां सर्वालङ्काराणां अङ्गत्वमुपस्कारकत्वमलङ्कारत्वे निबन्धनम्, अङ्गभूतानामपि रसेन तत् क्रियत एव अङ्गस्य रसादेरप्युपस्कारकत्वभावात्। अतश्चोपमादीनामलङ्कारत्वे वाच्यस्येव वाच्यो वाच्यस्येव रसादीनाम यद्यपि चोपमादयोऽर्थालङ्कारास्तथापि तस्य वाच्यार्थस्य विभावादिरूपतया पर्यवसानमुपपर्यवसायित्वमेवेति काव्यात्मनो व्यङ्ग्यस्य रसादेरेव तदलङ्कार्यत्वम्। किं पुनस्तस्य शब्दमुखेनोपस्कारकत्वं शब्दालङ्काराः, अर्थमुखेन त्वर्थालङ्काराः। तदुक्तम-तैरपि हि अलङ्कारैरभिरञ्जितं काव्यमेव तत्पितृवृत्तिविशेषोचितरसभावात्मना तथाऽवकल्प्य ते। तथा अचेतनं शवशरीरमिव कटककुण्डलादिभूषितमपि न भाति अलङ्कार्यस्याभावात्। अतश्च देहद्वारेण सर्वत्रात्मैवालङ्कार्यः। एवमस्यापि शब्दार्थशरीरद्वारकमुपस्कारकत्वेनालङ्कार्यत्वम्। तत्र 'रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्। अलङ्कृतीनां सर्वासामलङ्कारत्वसाधनम्॥' इति दृशा रसाद्यपेक्षयैवालङ्काराणां विनिवेशनं चोचितम्। अतश्चेदमपि अङ्गस्य वाच्यार्थीभूतत्वेन प्रधानस्य रसादेरुपस्कारकत्वस्याङ्गभावेन रसादेरलङ्कारत्वं युक्तम्। यदाहु—

'प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः।
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः॥'

'प्रधानतां यत्र रसादयो गता रसो रसादिव्यभिचारतो भवेत्।
भवन्ति ते यत्र रसादिपोषका रसाद्यलङ्कारतया हि मा पृथक्॥'
(अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी पृ० ११२)

अर्थात् अङ्गीरूप से विराजमान 'रस' को अलङ्कार्य (काव्यात्मतत्त्व) और अङ्गरूप अवस्थित 'रस' को 'अलङ्कार' मानना सर्वथा युक्तियुक्त है। जैसे प्रकृत वस्तु की उपस्कारकता के कारण उपमा आदि को अलंकार कहना उचित होता है। उपमा आदि अर्थालङ्कार अर्थ के अलंकार हैं किन्तु इनके द्वारा जो अर्थ अलंकृत किया जाया करता है वह अन्त में रसाभिव्यञ्जक विभावादिरूप है

ही परिणत हो जाया करता है जिससे यह मानना आवश्यक हो जाता है कि उपमादि के द्वारा काव्यात्मभूत रसरूप 'अलङ्कार्य' ही अन्ततः अलङ्कृत किया जाया करता है। शरीर के कटक, कुण्डल आदि अलङ्कारों के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है कि ऐसे तो अङ्ग ही उनके द्वारा अङ्ग प्रत्यङ्ग अलङ्कृत प्रतीत हों किन्तु अन्ततोगत्वा 'व्यक्तित्व' ही अलङ्कृत हुआ करता है। अलङ्कार का रसापेक्ष होना ही उसका 'अलङ्कारत्व' अथवा वास्तविक स्वरूप है। इस दृष्टि से वाक्यार्थीभूत रस को 'अलङ्कार्य' और उसके उपरञ्जक अथवा उपस्कारक (शोभाधायक) रस को 'अलङ्कार' मानना युक्तिसगत ही है। तात्पर्य यह है कि प्रधान रस सदा 'अलङ्कार्य' है और रस की 'अलङ्कार'-दशा वह है जिसमें एक रस प्रधानतया अभिव्यक्त दूसरे रस के परिपोषण के लिये पड़ा रहता है।

(ग) व्यभिचारी भावों की 'अङ्गता' में उनका 'प्रेय' अलङ्कार होना स्वाभाविक है। व्यभिचारी भावों की तीन श्रेणियाँ हैं—१ली वह, जिसमें 'निर्वेद' आदि व्यभिचारी भाव रसाभिव्यञ्जन के साधनरूप से ही उपनिबद्ध दिखाया दिया करते हैं, २री वह, जिसमें यदा-कदा 'निर्वेद' आदि व्यभिचारी भाव स्वय अभिव्यङ्ग्यरूप से प्रतीत हुआ करते हैं और ३री वह, जिसमें 'निर्वेद' आदि व्यभिचारी भाव वर्ण्य विषय के अङ्गरूप से अवस्थित होने के कारण, 'अलङ्कार' (प्रेयोलङ्कार) के रूप में देखे जा सकते हैं। इस श्रेणीविभाग की व्यवस्था से ही 'प्रेयोलङ्कार' की मान्यता निर्विवाद सिद्ध है और इस प्रकार की सम्भावनायें—

> 'निर्वेदादीना सर्वदैवाङ्गभावात् प्रेयोऽलङ्कारस्तद्व्यपेक्षो न वाच्य ।
> तस्मादेतेषा व्यङ्ग्यताया ध्वनित्व न प्राधान्यं क्वापि यस्माद् भजन्ते ॥
> एतेन भावप्रशमादयोऽपि व्यङ्ग्या सदैव ध्वनिता प्रयान्ति ।
> ध्वनित्वमिष्ट यदि तर्हि तेषु न लक्षणीयस्तु समाहितादि ॥'

निर्मूल हैं जैसा कि 'विमर्शिनी'कार का कथन है।

(घ) 'अय स रशनोत्कर्षी' आदि सूक्तियों में ध्वन्यभाववाद के अनुसार वाक्यार्थीभूत 'करुण' रस 'रसवत्' अलङ्कार और अङ्गभूत 'शृङ्गार' रस 'उदात्त' अलङ्कार कहा जायगा किन्तु ध्वनिवाद की दृष्टि में यहाँ का करुण 'रसध्वनि' रूप और शृङ्गार 'रसवत्' अलङ्कारूप दिखायी देगा। दोनों मतों में 'रसवत्' आदि अलङ्कार-चतुष्टय सगत है असगत नहीं।

(ङ) विश्वनाथ कविराज की दृष्टि सम्भवतः आचार्य कुन्तक की 'रसवत्'-मीमासा पर नहीं पडी। आचार्य कुन्तक ने 'रसवत्' की ऐसी मीमासा की है जिसके देखते 'रसवत्' की रूपरेखा कुछ और ही रूप की दिखाई देती है उनका कहना यह है—

'रसवत्' नाम का अलङ्कार एक कोरी कल्पना है। कारण यह है कि यहाँ 'अलङ्कार्य' और 'अलङ्कार' का विश्लेषण असभव है। यह तो कहा नहीं जा सकता कि 'रस' ही 'अलङ्कार्य' है और वही 'अलङ्कार' है क्योंकि प्रतिपाद्य और प्रतिपादनवैचित्र्य में भेद का होना अनिवार्य है। 'रस तो सदा प्रतिपाद्य है और जिसे 'अलङ्कार' कहते हैं वह प्रतिपादन-वैचित्र्य के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ? जब हम यह कहते हैं कि 'यह काव्य 'रसवत्' अलङ्कारयुक्त काव्य है' तब यह कहाँ पता चल पाता है कि उस काव्य में 'रस' के अतिरिक्त 'रसवत्' भी कोई अतिरिक्त तत्त्व है ? जैसे कि यदि शृङ्गारादि रस 'अलङ्कार्य' है तब उसके 'अलङ्कार'रूप से कुछ दूसरी वस्तु ही देखी जानी चाहिये। यदि 'शृङ्गारादि'रस ही आनन्दचमत्कारात्मक होने के नाते 'अलङ्कार' कहा जाय, तब इस अलकार द्वारा अलङ्कृत होने वाली किसी दूसरी वस्तु को ही 'अलङ्कार्य' मानना पडेगा ?

> 'अलङ्कारो न रसवत् परस्याप्रतिभासनात् ।
> स्वरूपादतिरिक्तस्य शब्दार्थासङ्गतेरपि ॥'

(७३—भावोदय, ७४—भावसन्धि ७५—भावशबलता)

भावस्य चोदये सन्धौ मिश्रत्वे च तदाख्यका ॥ ९६ ॥

तदाख्यका भावोदयभावसन्धिभावशबलनामानोऽलङ्काराः।

क्रमेणोदाहरणम्—

(भावोदय)

'मधुपानप्रवृत्तास्ते सुहृद्भिः सह वैरिणः।
श्रुत्वा कुतोऽपि त्वन्नाम लेभिरे विषमा दशाम्॥'

अत्र त्रासोदयो राजविषयरतिभावस्याङ्गम्।

तब 'रसवत्' का क्या अभिप्राय? इसका अभिप्राय यह है—

'रसेन वर्तते तुल्यं रसवत्त्वविधानतः।
योऽलङ्कारः स रसवत् तद्विदाह्लादनिर्मितेः॥

'योऽलङ्कारः स रसवत्' तुल्यन्यायः। यः किल पूर्वस्वरूपो रूपकादिः रसवदभिधीयते। किं स्वरूपेण—'रसेन वर्तते तुल्यम्'। रसेन शृङ्गारादिना तुल्यं वर्तते यथा ब्राह्मणवत् क्षत्रियस्तथैव। स रसवदलङ्कारः। कस्मात्—'रसवत्त्वविधानतः'। रसोऽस्यास्तीति रसवत् काव्यं तस्य भावस्तत्त्वम् तदा, सरसत्वसंपादनात्। 'तद्विदाह्लादनिर्मितेः'। तत् काव्यं विदन्तीति तद्विदः, तस्मात्तेषामाह्लादनिर्मितेरानन्दनिष्पादनात्। यथा रस काव्यस्य रसवत्तां तद्विदाह्लादं च विदधाति एवमुपमादिरप्युभयं निष्पादयन् निर्मितो रसवदलङ्कारः संपद्यते। यथा—

'उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम्।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया पुरोऽपि रागाद्गलितं न लक्षितम्॥'

अत्र स्वाभावसरससमुचितसुकुमारस्वरूपयोः शशिनिशयोर्वर्ण्यमानयोः' रूपकालङ्कारः समारोपितकान्तवृत्तान्तः अविलोपनिबद्धः। स च श्लेषच्छायामनोहरविशेषणवक्रभावात्'' काव्यस्य सरसतामुल्लासयंस्तद्विदाह्लादमादधानः स्वयमेव रसवदलङ्कारतां समासादितवान्। (वक्रोक्तिजीवित। ३य उन्मेष)

अर्थात् 'रसवत्' कोई अतिरिक्त अलङ्कार नहीं अपितु काव्य में रसवत्ता के आपादक उपमा, रूपक आदि अलङ्कारों का ही एक रमणीय रूपविशेष है। जहाँ 'उपमा' काव्य में सरसता का संपादन करे वहाँ उपमा ही 'रसवत्' होगी, जहाँ 'रूपक' आदि वहाँ रूपक आदि 'रसवत्' होंगे।

अनुवाद—'भावोदय' 'भावसन्धि' और 'भावशबलता' वे अलङ्कार हैं जिन्हें क्रमशः भाव की उदयावस्था सन्ध्यवस्था और मिश्रणावस्था के उपनिबन्ध में देखा जा सकता है।

यहाँ कारिका में 'तदाख्यका' का अभिप्राय भाव के उदय में 'भावोदय' सन्धि में 'भावसन्धि' और मिश्रण अथवा शबलता में भावशबलता' नामक अलंकारों का अभिप्राय है।

इनके क्रमशः उदाहरण ये हैं—

'राजन्! मित्रगण के साथ मदिरापान में लगे आपके शत्रुगण कहीं से आप का नाम सुनते ही बड़ी बुरी दशा में पड़ गये!'

यहाँ 'त्रास' के भाव की उदयावस्था का चित्रण है। यह 'भावोदय' वस्तुतः यहाँ (कविनिबद्ध) राजविषयक रतिभाव के अङ्ग अथवा उपकारकरूप से उपनिबद्ध है (और इसीलिये इसे 'भावोदय' अलंकार के रूप में देखा जाया करता है)।

(भावसन्धि)

'जन्मान्तरीणरमणस्याङ्गसङ्गसमुत्सुका ।
सलज्जा चान्तिके सख्याः पातु नः पार्वती सदा ॥'

अत्रौत्सुक्यलज्जयोश्च संधिर्देवताविषयरतिभावस्याङ्गम् ।

(भावशबलता)

'पश्येत्कश्चिच्चल चपल ! रे ! का त्वराहं कुमारी
हस्तालम्बं वितर हहहा ! व्युत्क्रमः कासि यासि ।
इत्थं पृथ्वीपरिवृढ ! भवद्विद्विषोऽरण्यवृत्तेः
कन्या कञ्चित्फलकिसलयान्याददानाभिधत्ते ॥'

अत्र शङ्कासूयाधृतिस्मृतिश्रमदैन्यविबोधौत्सुक्यानां शबलता राजविषयरति-भावस्याङ्गम् ।

इह केचिदाहुः—'वाच्यवाचकरूपालङ्करणमुखेन रसाद्युपकारका एवालङ्काराः, रसादयस्तु वाच्यवाचकाभ्यामुपकार्या एवेति न तेषामलङ्कारता भवितुं युक्ता' इति ।

'भगवती पार्वती हमारा कल्याण करें जो कि अपने जन्मान्तर के पति (भगवान् शङ्कर) के अङ्ग-स्पर्श के आनन्द के लिये उत्कण्ठित रहा करती हैं और अपने सखीवृन्द के समीप होने से लज्जित भी हुआ करती हैं।'

यहाँ 'औत्सुक्य' और 'लज्जा' के (व्यभिचारी) भावों की जो सन्ध्यवस्था चित्रित है वह (कविनिष्ठ) पार्वतीविषयक रतिभाव के अङ्गरूप से ही चित्रित है (जिसमें 'भावसन्धि' अलङ्कार का सौन्दर्य स्पष्ट दिखाई दे रहा है)।

'राजन् ! जंगल में भगे आप के किसी शत्रु राजा की राजकुमारी फल फूल तोड़ती, इस प्रकार किसी से बातचीत करती सुनाई पड़ा करती है—अरे ! कोई देख लेगा, तू बड़ा चचल है, जा परे हट, इतनी जल्दी क्या है ? मैं तो अभी कुमारी ही हूँ, अरे ! जरा हाथ का सहारा दे, ओह ! क्या कर रहा है ? किधर चल पड़ा ?'

यहाँ शङ्का, असूया, धृति, स्मृति, श्रम, दैन्य, विबोध और औत्सुक्य—इन भावों की शबलता (परस्पर उपमर्द्य उपमर्दकरूप से अवस्थिति) स्पष्ट है और यह भी स्पष्ट है कि यह भावशबलता-चित्रण यहाँ (कविनिष्ठ) राजविषयक रतिभाव के अङ्ग होने से 'अलङ्कार' ('भावशबलता' नामक अलङ्कार) के रूप में दिखाई दे रहा है।

'रसवत्' आदि की अलङ्कार रूप में कल्पना के (औचित्य और अनौचित्य के) सबन्ध में कतिपय काव्याचार्यों का यह कथन है—

'जिन्हें 'अलङ्कार' कहा करते हैं वे इसीलिये 'अलङ्कार' हुआ करते हैं क्योंकि उनके द्वारा वाच्य और वाचक (अर्थ और शब्द) में शोभा का आधान किया जाया करता है जिससे रस के उल्लास में सहायता मिला करती है। इस दृष्टि से देखते यह कैसे कहा जाय कि 'रस' आदि ही, जो कि वस्तुत वाच्य और वाचक में आहित वैचित्र्य से अलङ्कृत किये जाया करते हैं ('अलङ्कार्य' हुआ करते हैं), 'रसवत्' आदि अलङ्कार-रूप में माने जा सकते हैं ?'

अन्ये तु—'रसाद्युपकारमात्रेणेहालङ्कृतिव्यपदेशो भाक्तश्चिरन्तनप्रसिद्ध्या स्वीकार्य एव' इति।

अपरे च—'रसाद्युपकारमात्रेणालङ्कारत्वं मुख्यतो रूपकादौ तु भाक्तमभिधानम्, अजागलस्तनन्यायेन' इति।

अभियुक्तास्तु—'स्वव्यञ्जकवाच्यवाचकाद्युपकृतैरङ्गभूतैः रसादिभिरङ्गिनो रसादेर्वाच्यवाचकोपस्कारद्वारेणोपकुर्वद्भिरलङ्कृतिव्यपदेशो लभ्यते। समासोक्तौ तु नायिकादिव्यवहारमात्रस्यैवालङ्कृतिता, न त्वास्वादस्य तस्योपरीतिविरहात्' इति मन्यन्ते।

अत एव ध्वनिकारेणोक्तम्—

अन्य काव्यमर्मज्ञों का यह मत है—

'रस आदि को 'रसवत्'-आदि अलङ्कार इसलिये माना जा सकता है क्योंकि प्राचीन आलङ्कारिकों की यही परम्परा रही है और साथ ही—साथ ऐसा भी है कि (जब कि 'रूपक' आदि रस के उपकारक होने से अलङ्कार कहे जाया करते हैं तब) अङ्गभूत 'रस' आदि भी यदि, अङ्गीरूप से अवस्थित रस आदि के उपकारक हों तो उपचारतः 'अलङ्कार' ही कहे जाने योग्य हैं।

कुछ लोगों की विचारधारा यह है—

'वस्तुतः तो 'रसवत्' आदि ही मुख्यतया 'अलङ्कार' माने जाने योग्य हैं क्योंकि रस का उपकार मुख्यतः इन्हीं के द्वारा सम्भव है। इनके अतिरिक्त 'रूपक' आदि को जो अलङ्कार कहा जाया करता है वह इसलिये क्योंकि वे साक्षात् तो वाच्य (अर्थ) आदि के सौन्दर्याधायक हुआ करते हैं और परम्परया (उपचारतः) 'अजागलस्तनन्याय' से (बकरी के गले में वस्तुतः जैसे 'स्तन' न होने पर भी जैसे 'स्तन' के आकार की होने से 'स्तन' कहा जाया करता है वैसे ही उपचीरकर्त्वेन 'आकार-साम्य' से) 'रस' के उपकारकारक अथवा उपस्कारक हुआ करते हैं।'

किन्तु प्रामाणिक लोगों की धारणा यह है—

'अपने-अपने अभिव्यञ्जक वाच्य और वाचक (अथवा वाच्य और वाचक के वैचित्र्य) द्वारा उपस्कृत अथवा उपकृत 'रस' 'भाव' आदि को 'रसवत्' आदि अलङ्कारों का रूप इसलिये दिया जा सकता है क्योंकि उनका कार्य [illegible] प्रधान रूप से उपस्थित 'रस' 'भाव' आदि के अभिव्यञ्जक वाच्य-वाचक का [illegible] अथवा उपकार हो हुआ करता है। जैसे 'समासोक्ति' में जो 'अलङ्कारता' है उसका अभिप्राय 'नायक-नायिकादिगत' 'व्यवहार' का समारोप मात्र है न कि इस समारोप से उत्पन्न 'आस्वाद' क्योंकि यह आस्वाद, यदि हो भी तो, वैचित्र्य-वाचक का उपकारक न होने से, कदापि अलङ्काररूप नहीं हो सकता। (वैसे ही 'रसवत्' आदि में 'अलङ्कारता' का अभिप्राय अङ्गभूत रस द्वारा अङ्गी-रस का उपस्कारमात्र है और 'अङ्ग'-रस के 'आस्वाद' का अभिप्राय (अङ्गीरस का)—क्योंकि 'रसवत्' में अङ्गभूत रस भी आस्वाद्य है—अङ्गी रस के आस्वाद का, उसके अभिव्यञ्जक वाच्यवाचक के उपस्कार द्वारा, अधिकाधिक उत्कर्षाधानमात्र है।)

ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने इसीलिये कहा है—

'प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः ।
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः ॥'

यदि च रसाद्युपकारमात्रेणालङ्कृतित्वं तदा वाचकादिष्वपि तथा प्रसज्येत । एवं च यच्च कैश्चिदुक्तम्—'रसादीनामङ्गित्वे रसवदाद्यलङ्कारः, अङ्गत्वे तु द्वितीयोदात्तालङ्कार'' इति तदपि परास्तम् ।

'जहाँ कोई रस, वस्तु अथवा अलंकृतिरूप वाक्यार्थ प्रधानतया प्रतीत हो वहाँ यदि किसी 'रस' आदि की अङ्गरूप से अवस्थिति दिखायी पड़े तो इन अङ्गभूत 'रस' आदि को 'अलङ्कार' अथवा 'रसवत्' आदि अलङ्कार मानना उचित ही है।'

इस दृष्टि से देखते कतिपय काव्याचार्यों का यह कहना कि 'अलङ्कार' होने का अभिप्राय 'रसादि का उपकारमात्र' है वस्तुतः युक्तिसंगत नहीं, क्योंकि तब तो 'वाच्य-वाचक' भी 'अलङ्कार' कहे जायेंगे क्योंकि इनका कार्य रसादि के उपकारमात्र के अतिरिक्त और क्या है ? अन्ततोगत्वा अलङ्काराचार्यों का यह कथन भी कि 'जब रस आदि अङ्गीरूप से अवस्थित रहा करते हैं तब उन्हें 'रसवत्' आदि अलङ्कार कहा जाया करता है और जब कि वे अङ्गरूप से ही रह जाते हैं तब उन्हें 'उदात्त' का द्वितीय प्रकार माना जाया करता है' सर्वथा खण्डित ही सिद्ध होता है।

विमर्श—(क) 'रसवत' आदि अलङ्कारचतुष्टय की भाँति 'भावोदय' आदि तीन अलङ्कारों की मान्यता प्राचीन अलङ्कारवादी परम्परा की मान्यता है। ध्वनिवादी आचार्य रुय्यक और जयरथ ने 'ध्वन्यभाववाद' और 'ध्वनिवाद' दोनों की दृष्टि से इन अलङ्कारों को माना है और इनका लक्षण निरूपण भी किया है। आचार्य रुय्यक ने इन अलङ्कारों को 'चित्तवृत्तिगत' कहा है और इनका यह स्वरूप निर्दिष्ट किया है—

'भावोदयो भावसंधिर्भावशबलता च पृथगलङ्काराः ।
भावस्योक्तरूपस्योदय उद्गमावस्था, संधिर्द्वयोर्विरुद्धयोः स्पर्धित्वेनोपनिबन्धः, शबलता च बहूनां पूर्वपूर्वोपमर्देनोपनिबन्धः । एते च पृथग् रसवदादिभ्यो भिन्नालङ्काराः । एतत् प्रतिपादनं चोद्भटादिभिरेषां पृथगलङ्कारत्वेन निर्दिष्टत्वात् । अथ च संकरसंसृष्टिवैलक्षण्येनैते सर्वालङ्काराः पृथक्केवलत्वेनालङ्कारा इति सर्वालङ्कारशेषत्वेनोक्तम् ।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २३९)
इसमें यह स्पष्ट है कि 'भावोदय' आदि की पृथक् अलङ्काररूप में मान्यता का कारण, उनका अङ्गरूप में अवस्थान है।

(ख) विश्वनाथ कविराज ध्वनिवादी आलङ्कारिक हैं। उन्होंने इन अलङ्कारों के उदाहरण ध्वनिवाद की दृष्टि से दिये हैं न कि ध्वन्यभाववाद की दृष्टि से। वस्तुतः विश्वनाथ कविराज ने इनके 'अलङ्कार' मानने में वही विचारधारा अपनायी है जो कि आचार्य जयरथ की विचारधारा है—

'एवं निर्वेदादीनां रसव्यक्तौ सहकारित्वम्, अङ्गित्वे ध्वनित्वम्, अङ्गत्वे चालङ्कारत्वमिति विषयविभागः ।' (अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ २३६)

किन्तु एक बात विचारणीय है—एक सूक्ति में अङ्गभूत और अङ्गीरूप दो रसों के होने पर, यह तो कहा जा सकता है कि अङ्गरूप से अवस्थित 'रस' अङ्गीरूप से अभिव्यङ्ग्य रस का 'अलङ्कार' अथवा उपस्कारक (शोभावर्धक) है क्योंकि अपने अभिव्यञ्जक तत्त्वों से अभिव्यक्त अङ्गभूत रस का काम, अपने ही अभिव्यञ्जक तत्त्वों से, अभिव्यङ्ग्य 'अङ्गी', अथवा प्रधान रस का परिपोषण हुआ करता है किन्तु इसका क्या अभिप्राय कि 'अङ्गरूप से अभिव्यङ्ग्य, रस अङ्गीरस के अभिव्यञ्जक वाच्य वाचकवर्ग का उपस्कारक हुआ करता है ? क्या ऐसा निर्णय विश्वनाथ कविराज के लिये युक्तियुक्त है ? भला, 'रस' चाहे वह अङ्गरूप से ही अभिव्यङ्ग्य क्यों न हो, वाच्यवाचकवर्ग

(उपर्युक्त अलङ्कारों का परस्पर-संमिश्रण । १ म प्रकार-संसृष्टि)

यद्येत एवालङ्काराः परस्परविमिश्रिताः ।
तदा पृथगलङ्कारौ संसृष्टिः सङ्करस्तथा ॥ ९७ ॥

यथा लौकिकालङ्काराणामपि परस्परमिश्रणे पृथक्चारुत्वेन पृथगलङ्कारत्वं तथोक्तरूपाणां काव्यालङ्काराणामपि परस्परमिश्रत्वे संसृष्टिसङ्कराख्यौ पृथगलङ्कारौ ।

तत्र—

'मिथोऽनपेक्षमेतेषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते ।

एतेषां शब्दार्थालङ्काराणाम् ।

यथा—

'देव पायादपायान्नः स्मेरेन्दीवरलोचन ।
संसारध्वान्तविध्वंसहंसः कंसनिषूदनः ॥'

अत्र पायादपायादिति यमकम्, संसारेत्यादौ चानुप्रास इति शब्दालङ्कारयो

का सौन्दर्याधायक माना जा सकता है ? यदि अलङ्कृत 'रस' को अङ्गी रस के वाच्यवाचकभाव का उपस्कारक अथवा सौन्दर्याधायक मान लिया गया तब तो प्राचीन अलङ्कारवाद की रसविषयक मान्यतायें ही स्वीकार कर ली गयीं। 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' के सिद्धान्त के अनुसार यह कैसे संभव है कि 'रस वाच्यवाचकभावों का उपस्कारक अथवा उपस्कार्य भी हो सकता है ? यह एक बड़ी समस्या है। साहित्यदर्पणकार ने इस समस्या पर ध्यान नहीं दिया अपितु 'विमर्शिनी' की मान्यतायें ही अपने शब्दों में व्यक्त कर दीं।

अनुवाद—उपर्युक्त अलङ्कार ही जिनका पृथक्-पृथक् स्वरूप निरूपण किया गया है, परस्पर संमिश्र रूप से भी काव्य-साहित्य में दिखाई दिया करते हैं और ऐसी अवस्था में इन्हें पृथक् अलङ्कार माना जाया करता है जो कि 'संसृष्टि' और 'सङ्कर' नाम से दो प्रकार का हुआ करता है।

तात्पर्य यह है कि जैसे लोकप्रसिद्ध (सुवर्ण, मणि आदि निर्मित) अलङ्कार परस्पर मिले-जुले (अर्थात् एक साथ में मिश्रित) होने पर एक अतिरिक्त ही शोभा रखने के कारण, एक भिन्न प्रकार के अलङ्कार से प्रतीत हुआ करते हैं वैसे ही उपर्युक्त सभी काव्य-प्रसिद्ध अलङ्कार, परस्पर मिले-जुले रहने पर एक और ही शोभा रखा करते हैं और 'संसृष्टि' तथा 'सङ्कर' नाम से पृथक् अलङ्कार के रूप में माने जाया करते हैं।

इन द्विविध अलङ्कारों में—

'संसृष्टि' वह अलङ्कार प्रकार है जिसे परस्परनिरपेक्ष अलङ्कारों की 'तिलतण्डुलवत्' पृथक् अवस्थिति कहा करते हैं।

यहाँ (कारिका में) 'एतेषाम्' का अभिप्राय शब्दालङ्कार अर्थालङ्कार और शब्दार्थालङ्कार—तीनों का अभिप्राय है। जैसे कि—

'खिले नीलकमल सरीखे नेत्रोंवाले और संसाररूपी अन्धकार के विध्वंस के लिये सूर्य से कंसनिषूदन भगवान् कृष्ण हमें सभी संकटों से बचाते रहें।

यहाँ कई एक अलंकार परस्पर संसृष्ट हैं। 'पायादपायात्' में यमक है और 'संसारध्वान्तविध्वंसहंसः' में अनुप्रास है। इस प्रकार दो शब्दालंकारों की (तिलतण्डुलवत्)

संसृष्टिः। द्वितीये पादे उपमा, द्वितीयार्धे च रूपकमित्यर्थालङ्कारयोः संसृष्टिः। एवमुभयोः स्थितत्वाच्छब्दार्थालङ्कारसंसृष्टिः।

परस्पर 'संसृष्टि' का सौन्दर्य यहाँ स्पष्ट है। इसी प्रकार द्वितीय चरण (अर्थात् स्मेरेन्दीवर-लोचन -स्मेरे विकसिते इन्दीवरे इव लोचने यस्य सः) में 'उपमा' और द्वितीयार्ध (अर्थात् 'संसारध्वान्तविध्वंसहंसः'-संसार एव ध्वान्तं तस्य विध्वंसः तस्मिन् हंसः रवि) में 'रूपक'-इन दोनों अर्थालङ्कारों की 'संसृष्टि' अलग झलक रही है। साथ ही साथ इस सूक्ति में निरपेक्षतया अवस्थित शब्दालंकार और अर्थालंकार की 'संसृष्टि' भी पृथक् रूप से ही दर्शनीय है।

विमर्श—(क) 'संसृष्टि' अलङ्कार की कल्पना एक प्राचीन आलंकारिक कल्पना है। इस कल्पना का आधार लोकप्रसिद्ध अलंकारों की परस्पर संघटना से सम्भूत एक विचित्र सौन्दर्य का दर्शन और विश्लेषण है जैसा कि 'अलंकारसर्वस्व'कार का यह कथन है—

'अधुनैषां सर्वेषामलङ्काराणां संश्लेषसमुत्थापितमलङ्कारद्वयमुच्यते। तत्र संश्लेषः संयोगन्यायेन समवायन्यायेन च द्विविधः। संयोगन्यायो यत्र भेदस्योत्कटतया स्थितिः। समवायन्यायो यत्र तस्यैवानुत्कटत्वेनावस्थानम्। तत्रोत्कटत्वेन स्थितौ तिलतण्डुलन्यायः। इतरत्र तु क्षीरनीरसादृश्यम्। क्रमेणैतदुच्यते—

'एषा तिलतण्डुलन्यायेन मिश्रत्वं संसृष्टिः।' तत्र यथा बाह्यालङ्काराणां सौवर्णमणिमयप्रभृतीनां पृथक्चारुत्वहेतुत्वेऽपि संघटनाकृतं चारुत्वान्तरं जायते, तद्वत् प्रकृतालङ्काराणामपि संयोजने चारुत्वान्तरमुपलभ्यते।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २४१)

अर्थात् जैसे सोने और मणि के अलङ्कार अपना-अपना अलग अलग सौन्दर्य रखा करते हैं और परस्पर संश्लिष्ट होने पर एक और ही सौन्दर्य की सृष्टि किया करते हैं वैसे ही शब्द और अर्थ के अलङ्कार भी अलग अलग सौन्दर्य तो रखा ही करते हैं किन्तु परस्पर संश्लेष में एक और ही विचित्र सौन्दर्य की झलक दिखाया करते हैं। अलङ्कारों का परस्पर संश्लेष दो प्रकार का हो सकता है—प्रथम वह, जिसे परस्पर निरपेक्ष अलङ्कारों का संश्लेष कहा जा सकता है और द्वितीय वह जिसे परस्पर सापेक्ष अलङ्कारों का संश्लेष कह सकते हैं। परस्पर निरपेक्ष अलङ्कारों का समिश्रण, 'तिल' और 'तण्डुल' के समिश्रण सा होने के कारण, 'संसृष्टि' अलङ्कार की पृथक् रूपरेखा का नियामक है।

(ख) 'संसृष्टि' के तीन प्रकार निर्दिष्ट किये गये हैं —

'तत्र तिलतण्डुलन्यायेन भवन्ती संसृष्टिस्त्रिधा। शब्दालङ्कारगतत्वेन, अर्थालङ्कारगतत्वेन, उभयालङ्कारगतत्वेन च।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २४४)

विश्वनाथ कविराज ने यद्यपि स्पष्टतया 'त्रिविध संसृष्टि' का उल्लेख नहीं किया है किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि विश्वनाथ कविराज के मत में भी संसृष्टि का त्रैविध्य सिद्ध है। शब्दालङ्कार-संसृष्टि का एक सुन्दर उदाहरण शिशुपालवध की यह सूक्ति है—

'वदनसौरभलोभपरिभ्रमद्भ्रमरसंभ्रमसंभृतशोभया।
चलितया विदधे कलमेखलाकलकलोऽलकलोलदृशान्यया॥'

जहाँ 'अनुप्रास' और 'यमक'—दो विजातीय अथवा भिन्न-स्वरूप के शब्दालङ्कार परस्पर संश्लिष्ट, हुये एक ही सौन्दर्य की सृष्टि करते दिखायी दे रहे हैं। इसी प्रकार अर्थालङ्कार-संसृष्टि के निदर्शन-रूप में 'मृच्छकटिक' की निम्न सूक्ति देखिये—

'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्निष्फलतां गता॥'

यहाँ उपमा और 'उत्प्रेक्षा' की संसृष्टि बड़ी मनोरम बन रही है।

'उभयालङ्कार संसृष्टि' के निदर्शनार्थ निम्न सूक्ति पर्याप्त है—

'आनन्दमन्थरपुरन्दरमुक्तमाल्यं मौलौ हठेन निहितं महिषासुरस्य।
पादाम्बुजं भवतु मे विजयाय मञ्जुमञ्जीरशिञ्जितमनोहरमम्बिकायाः॥'

यहाँ 'उपमा' और 'अनुप्रास' का तिलतण्डुलन्याय पर पृथक् ही शोभा-वैचित्र्य सा बन रहा है।

(सं०) आचार्य जयरथ ('अलङ्कारसर्वस्व' की 'विमर्शिनी' व्याख्या के रचयिता) ने अतिशय पर्यालोचन की है जिसमें 'संसृष्टि' और 'संकर' की मान्यता की बड़ी सुन्दर समीक्षा की गई है—

'अन्योन्यसंबन्धविवर्जितानामलङ्कृतीनां विविधत्वमेव।
असम्मिलितत्वादथ तादृशानां यथाविधत्वं पृथगेव तर्हि॥
तथाश्रयोऽस्त्येव परस्परं तद् गुणप्रधानत्वमथास्तमेव।
तदा न संसृष्टिकथा गुणस्य पराङ्गतायां खलु संकरः स्यात्॥
एकत्र चेद् द्वित्रि सहैव स्यात् द्वयं तदन्योन्यसमीक्षणेन।
न संकरोऽपापि न वा गुणत्वं कार्यान्तरोत्पादनशक्तियोगात्॥'

(अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ २४१)

अर्थात् परस्पर निरपेक्ष अलङ्कारों की एकत्र योजना में एक दोष है क्योंकि ऐसे अलङ्कार जिनमें आपस में कोई संबन्ध नहीं परस्पर असम्बद्ध पदों के प्रयोग की भाँति ही निरर्थक रहा करते हैं। यहाँ यदि यह कहा जाय कि एकत्र विनिविष्ट अलङ्कारों में संबन्ध रहा करता है तब तो इनमें 'गुणप्रधानभाव' की मान्यता अनिवार्य हो जाती है। किन्तु 'गुणप्रधानभाव' मानने पर तिलतण्डुलवत् अलङ्कार-सम्मिश्रणरूप संसृष्टि अलङ्कार का मानना निरर्थक हो जाता है क्योंकि 'गुणप्रधानभाव' (अङ्गाङ्गिभाव) में 'संकर' की ही मान्यता युक्तियुक्त हो सकती है। और एक बात यह भी है कि यदि एक आश्रयरूप शब्द वाक्य में दो अद्भुत अलङ्कार स्थित हों तब इन्हें 'संकर' भी मानना असंभव है क्योंकि जब कि ये दोनों 'अङ्ग' हैं तब इनमें अङ्गाङ्गिभाव की व्यवस्था कदापि युक्तियुक्त नहीं हो सकती।

किन्तु इस युक्ति का खण्डन भी आचार्य जयरथ ने ही किया है जो कि यह है—

'एवमेव हि संसृष्टिसंकरयोर्द्वयोर्बहूनां वाऽलङ्काराणां परस्परनिरपेक्षाणामपि संसर्गे सति वाक्यार्थप्रतिपत्तिः।

'समुदितेषु तु भवति समग्रसंनिधानान्वयस्य धर्मस्य प्रत्यक्षमुपलम्भात्। तथैव भिन्नकक्ष्याणामलङ्काराणां संघटनावशेन पूर्वापरैकीभावेनैकबुद्धिविरोहमुपलम्भात एव एकत्र संसर्गो नाम यस्य संसृष्टिसंकरव्यपदेशार्हत्वम्। अपि च रूपमेवाऽस्य विभक्तोदाहरणम्। 'चित्रफलक' इत्यादिरीत्या चित्रास्तरणादौ यथा स्वरूपस्य स्वान्तरात् स्वात्मत्वमपि विच्छेदाभावभासोऽवयवनिरूपणप्रत्ययः। चित्रस्यसम्यक्त्वमेव वस्तुरूपे भासते। तथैव भिन्नकक्ष्याणामप्यलङ्काराणां संघटमानत्वेन प्रतीतावैकत्वावसाय इति युक्तमेव संसृष्ट्यलङ्कारान्तरत्वम्। इत्यादीनां च माधुर्यस्य भेदेऽपि संमीलनायां पानकादिरसविषयत्वानुपलम्भात एव अतिरिक्तवैचित्र्यप्रतिभावस्तु द्वयानामपीति युक्तमलङ्कारान्तरत्वम्। न चास्य वाक्यार्थावगतस्य सामञ्जस्यवत्त्वं वाच्यम्। एकवैचित्र्यस्य द्वयोर्बहूनां वालङ्काराणामलङ्कारान्तरव्यापकमतिप्रयोजकत्वस्य स्वसमुचितसम्पिण्डनेन वेद्यमानत्वात्।' (अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी। 'संसृष्टि प्रकरण')

अर्थात् भिन्न भिन्न प्रकार के अलङ्कारों के संसर्ग में एक अतिरिक्त वैचित्र्य का अनुभव स्वाभाविक है। यह अतिरिक्त वैचित्र्य ही 'संसृष्टि' अथवा 'संकर' है। यह अतिरिक्त वैचित्र्य जब

(अलङ्कार-सम्मिश्रण का २य प्रकार सङ्कर)

अङ्गाङ्गित्वेऽलङ्कृतीनां तद्वदेकाश्रयस्थितौ ।
सन्दिग्धत्वे च भवति सङ्करस्त्रिविधः पुनः ॥ ९८ ॥

अङ्गाङ्गिभावो यथा—

'आकृष्टिवेगविगलद्भुजगेन्द्रभोग-
निर्मोकपट्टपरिवेष्टनयाम्बुराशेः ।
मन्थव्यथाव्युपशमार्थमिवाशु यस्य
मन्दाकिनी चिरमवेष्टत पादमूले ॥'

अत्र निर्मोकपट्टापह्नवेन मन्दाकिन्या आरोप इत्यपह्नुतिः । सा च मन्दाकिन्या वस्तुवृत्तेन यत्पादमूलवेष्टनं तच्चरणमूलवेष्टनमिति श्लेषमुत्थापयतीति तस्याङ्गम् । श्लेषश्च पादमूलवेष्टनमेव चरणमूलवेष्टनमित्यतिशयोक्तेरङ्गम्, अतिशयोक्तिश्च 'मन्थव्यथाव्युपशमार्थमिव' इत्युत्प्रेक्षाया अङ्गम् । उत्प्रेक्षा चाम्बुराशिमन्दाकिन्योर्नायकनायिकाव्यवहारं गमयतीति समासोक्तेरङ्गम् ।

लेकर नहीं सिद्ध किया जाता अपि तु स्वसंवेदनसिद्ध है । एक काव्य-वाक्य में एक अलङ्कार की चारुता की अपेक्षा दो अलङ्कारों की चारुता एक और ही वस्तु है । लौकिक अलङ्कारों के संसर्ग की ही भाँति काव्य के अलङ्कारों का संसर्ग एक अन्य प्रकार का ही सौन्दर्य हुआ करता है । इसलिये 'संसृष्टि' और 'सङ्कर' को शब्द और अर्थ के समस्त अलङ्कारों की अपेक्षा अन्य अलङ्कार-प्रकार मानना सर्वथा युक्तियुक्त है ।

अनुवाद—'सङ्कर' वह अलंकार है जिसे (दो या दो से अधिक) अलंकारों का ऐसा संमिश्रण कहा करते हैं जिसमें वे (१) या तो अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध से सम्बद्ध रहा करते हैं, (२) या एकत्र अवस्थित रहा करते हैं, (३) या संदेह के विषय बन जाया करते हैं । अलंकारों की इसी त्रिविध संकीर्णता के कारण 'संकर' भी तीन प्रकार का हुआ करता है—(१) अङ्गाङ्गिभावरूप संकर, (२) एकत्रावस्थानरूप संकर और (३) संदिग्धरूप संकर ।

जैसे कि (अनेक अलंकारों का) अङ्गाङ्गिभाव रूप संकर—

'यही वह समुद्र है जिसकी मन्थनव्यथा की शान्ति के लिये, मानों मन्दाकिनी (गङ्गा) उसके पादमूल (एक देश अथवा चरण) पर पड़ी रहती है और मन्थन-काल में, देव और असुरवृन्द द्वारा, एक दूसरे की ओर खींचा तानी के कारण छूट कर गिरी नागराज वासुकि की केंचुल के बहाने, उसके व्रण के उपचार के लिये, बँधी पट्टी सी दिखायी दिया करती है ।'

यहाँ 'अङ्गाङ्गिभाव संकर' स्पष्ट है । पहले तो 'निर्मोकपट्ट' (वासुकि की केंचुल) पर उसके अपह्नव अथवा अपलाप के साथ, 'मन्दाकिनी' के आरोप में 'अपह्नुति' (प्रकृत प्रतिषिध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुति) की रूप-रेखा उभर रही है । यह अपह्नुति यहाँ के 'श्लेष' की अङ्गभूत-सी प्रतीत हो रही है क्योंकि इसी के द्वारा मन्दाकिनी के वास्तविक 'पादमूलवेष्टन' (समुद्र के किसी एक भाग को सम्पर्क) और 'पदमूलवेष्टन' (चरणों पर पड़ने) की श्लिष्टता का अभिप्राय निकल रहा है (क्योंकि 'पादमूल' शब्द दोनों अर्थों का वाचक है) । यह 'श्लेष' भी यहाँ 'अतिशयोक्ति' का अङ्ग है क्योंकि इसी के

यथा वा—

'अनुरागवती संध्या दिवसस्तत्पुरःसरः ।
अहो ! दैवगतिश्चित्रा तथापि न समागमः ॥'

अत्र समासोक्तिर्विशेषोक्तेरङ्गम् ।

सन्देहसङ्करो यथा—

'इदमाभाति गगने भिन्दानं सन्ततं तमः ।
अमन्दनयनानन्दकरं मण्डलमैन्दवम् ॥'

अत्र किं मुखस्य चन्द्रतयाध्यवसानादतिशयोक्तिः, उत इदमिति मुखं निर्दिश्य चन्द्रत्वारोपाद्रूपकम्, अथवा इदमिति मुखस्य चन्द्रमण्डलस्य च द्वयोरपि प्रकृतयोरेकधर्माभिसम्बन्धात्तुल्ययोगिता, आहोस्विच्चन्द्रस्याप्रकृतस्यापि-

---

द्वारा पादस्पर्शन (समुद्र के एक देश के संस्पर्श) के साथ 'पादस्पर्श' (चरण-स्पर्श) अभेदाध्यवसाय में 'अतिशयोक्ति' का चमत्कार उत्पन्न किया जा रहा है। यह 'अतिशयोक्ति' भी यहाँ 'मन्मथव्यथा की मानो शान्ति के लिए' इस 'उत्प्रेक्षा' का अङ्ग है और अन्ततोगत्वा यह 'उत्प्रेक्षा' भी यहाँ 'अम्बुराशि' और 'मन्दाकिनी' में नायक और नायिका के व्यवहारसमारोप की प्रतीति कराती हुई दिखायी दे रही है जिसे देखते हुए यहाँ की 'समासोक्ति' का अङ्ग मानना स्वाभाविक ही है।

अथवा जैसे कि (दो अलंकारों का) यह अङ्गाङ्गिभावसंकर—

'सन्ध्या अनुराग से भरी है और दिन उसके आगे चल रहा है। किन्तु दैवगति इतनी विचित्र है कि इतना होने पर भी दोनों का परस्पर समागम नहीं हो पाता।'

यहाँ (संध्या और दिन पर नायिका और नायक के व्यवहार-समारोप में) 'समासोक्ति' की सुन्दरता दर्शनीय है किन्तु यह 'समासोक्ति' यहाँ की 'विशेषोक्ति' (सन्ध्या में अनुराग और दिन में सन्ध्या के सम्मुख उपस्थानरूप कारण-सद्भाव में भी समागम-रूप कार्य के अभाव-वर्णन में होने वाली विशेषोक्ति) के अङ्गरूप से अवस्थित है।

इसी प्रकार संदेहसंकर—

'सघन अन्धकार को दूर करता, लोकलोचन का आनन्ददायक, यह चन्द्रमण्डल आकाश में सुशोभित हो रहा है।

यहाँ 'संदेहसंकर' स्पष्ट है क्योंकि यहाँ यह निश्चय करना असंभव है कि कौन अलङ्कार है। क्या यहाँ इस दृष्टि से 'अतिशयोक्ति' मानी जाय कि (किसी सुन्दरी के) 'मुख' का 'चन्द्र' रूप से अध्यवसाय हो रहा है (जिसमें उपमेय का स्वरूप निगीर्ण पड़ा है)? या इस दृष्टि से 'रूपक' माना जाय कि 'इदम्' पद के द्वारा निर्दिष्ट 'मुख' पर 'चन्द्र' का अभेदारोप किया जा रहा है? अथवा, क्या इस दृष्टि से कि यहाँ 'इदम्' पद से निर्दिष्ट 'मुख' और 'चन्द्रमण्डल' रूप दो प्रकृत पदार्थों में (अमन्दनयनानन्दकरत्व आदि) समानधर्म का सम्बन्ध सिद्ध है 'तुल्ययोगिता' का दर्शन किया जाय? या यह देखते कि यहाँ (इदम् पद द्वारा निर्दिष्ट 'मुख' प्रकृत है और) 'चन्द्रमण्डल' अप्रकृत है (और प्रकृत और अप्रकृत में एक धर्म का अभिसंबन्ध है) 'दीपक' की रूपरेखा देखी जाय? अथवा कहीं ऐसा तो नहीं कि यहाँ 'समासोक्ति' का सौन्दर्य हो क्योंकि (नयनानन्दकरत्व आदि) विशेषण की समता से प्रस्तुतरूप चन्द्रमण्डल द्वारा अप्रस्तुतरूप मुख की प्रतीति

पकम्, किं वा विशेषणसाम्यादप्रस्तुतस्य मुखस्य गम्यत्वात्समासोक्तिः, यद्वा-प्रस्तुतचन्द्रवर्णनया प्रस्तुतस्य मुखस्यावगतिरित्यप्रस्तुतप्रशंसा, यद्वा मन्मथोद्दीपनः कालः स्वकार्यभूतचन्द्रवर्णनामुखेन वर्णित इति पर्यायोक्तिरिति बहूनामलङ्काराणां सन्देहात्सन्देहसङ्करः।

यथा वा—'मुखचन्द्रं पश्यामि' इत्यत्र किं मुखं चन्द्र इवेत्युपमा? उत चन्द्र एवेति रूपकमिति सन्देहः साधकबाधकयोर्द्वयोरेकतरस्य सद्भावे न पुनः सन्देहः।

यथा—

'मुखचन्द्रं चुम्बति' इत्यत्र चुम्बनं मुखस्यानुकूलमित्युपमायाः साधकम्। चन्द्रस्य तु प्रतिकूलमिति रूपकस्य बाधकम्।

'मुखचन्द्रः प्रकाशते, इत्यत्र प्रकाशाख्यो धर्मो रूपकस्य साधको मुखे उपचरितत्वेन संभवतीति नोपमाबाधकः।

स्वभावतः हो रही है? या यहाँ 'अप्रस्तुत प्रशंसा' क्यों न हो जब कि अप्रस्तुतरूप 'चन्द्रमण्डल' के वर्णन से प्रस्तुतरूप 'मुख' की प्रतीति में कोई संदेह नहीं? अथवा कहीं ऐसा तो नहीं कि यहाँ 'पर्यायोक्त' की योजना हो क्योंकि कामोद्दीपक (रात्रि के) समय का वर्णन यहाँ उसके कार्यरूप से अवस्थित चन्द्रबिम्ब के वर्णन द्वारा प्रतीत हो रहा है? इस प्रकार यहाँ यह स्पष्ट है कि इन अनेकानेक अलंकारों के संदेह में संभूत 'संदेह-संकर' का सौन्दर्य अवश्य विराजमान है।

इसी प्रकार दो अलंकारों का 'संदेह-संकर' भी यत्र-तत्र दिखायी दिया करता है। जैसे कि 'मुखचन्द्रं पश्यामि' इस उक्ति में ही यह संदेह हो उठता है कि क्या यहाँ इस दृष्टि से 'उपमा' मानी जाय कि 'मुख' को 'चन्द्र के सदृश' कहा गया है? या इस दृष्टि से 'रूपक' माना जाय कि 'मुख' को 'चन्द्ररूप' कहा गया है (यहाँ यह संदेह स्वाभाविक है क्योंकि यहाँ न तो 'उपमा' का साधक कोई हेतु उपनिबद्ध है जिससे 'रूपक' बाधित हो जाय और न 'रूपक' का ही साधक कोई हेतु उपनिबद्ध है जो कि 'उपमा' की संभावना को दूर हटा सके)।

अलंकारों में संदेह की संभावना तब नहीं होती जब कि या तो किसी एक का साधक और दूसरे का बाधक हेतु उपनिबद्ध हो या किसी एक के साधक अथवा दूसरे के बाधक हेतु का ही उपनिबन्ध किया गया हो। जैसे कि यदि यह कहा जाय कि 'वह मुखचन्द्र का चुम्बन कर रहा है' तब 'उपमा' का साधक हेतु मिल जाता है जो कि 'चुम्बन' के रूप में उपनिबद्ध है क्योंकि 'चुम्बन' 'चन्द्र' का नहीं अपि तु 'मुख' का ही किया जा सकता है (जिससे 'मुखं चन्द्र इव मुखचन्द्रस्तम् मुखचन्द्रम्' यह 'उपमा' स्पष्ट हो जाती है)। 'चुम्बन' का संबन्ध चन्द्रमा से असंभव है जिससे यहाँ 'रूपक' का बाधित होना निःसंदिग्ध सिद्ध है (इस प्रकार 'उपमा' के साधक और 'रूपक' के बाधक 'चुम्बन' रूप हेतु के उपनिबन्ध में यहाँ 'उपमा' और 'रूपक' में संदेह कदापि नहीं हो सकता)।

किसी एक (अलंकार) के साधक हेतु के उपनिबन्ध में भी दूसरे अलंकार का संदेह नहीं हुआ करता। जैसे कि यदि यह कहा जाय कि 'मुखचन्द्र चमक रहा है' तब 'प्रकाश' के रूप में 'रूपक' (मुखमेव चन्द्रः मुखचन्द्रः) का साधक हेतु स्पष्ट दिखायी दे जाता है

'राजनारायणं लक्ष्मीस्त्वामालिङ्गति निर्भरम् ।'

अत्र योषित आलिङ्गनं नायकस्य सादृश्ये नोचितमिति लक्ष्म्यालिङ्गनस्य राजन्यसंभवादुपमाबाधकम्, नारायणे संभवात्साधकम् ।

एवम्—

'वदनाम्बुजमेणाक्ष्या भाति चञ्चललोचनम् ।'

अत्र वदने लोचनस्य सम्भवादुपमायाः साधकता, अम्बुजे चासंभवाद्रूपकस्य बाधकता । एवं 'सुन्दरं वदनाम्बुजम्' इत्यादौ साधारणधर्मप्रयोगे 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इति वचनादुपमासमासो न सम्भवतीत्युपमाया

(जिससे 'रूपक' का स्वरूप झलक उठता है) किन्तु यह हेतु 'उपमा' (मुखं चन्द्र इव मुखचन्द्रः) का बाधक नहीं कहा जा सकता क्योंकि उपचारतः 'मुख' में भी 'प्रकाश'-रूप धर्म का सम्बन्ध संभव है (जिससे यहाँ रूपक और 'उपमा' का संदेह-संकर कदाचित् असम्भव नहीं)।

— इसी प्रकार किसी एक (अलङ्कार) के बाधक हेतु के उपनिबन्ध में भी दूसरे का निश्चय स्वाभाविक है। जैसे कि—

'लक्ष्मी आप जैसे राजनारायण का बड़े प्रेम से आलिङ्गन करती है।'

यहाँ यह स्पष्ट है कि जब कि किसी नायिका के लिये नायक के सदृश किसी पुरुष का आलिङ्गन अनुचित है तब लक्ष्मी के द्वारा 'नारायण के सदृश (राजा नारायण इव राजनारायणस्तम्) राजा का आलिङ्गन भी कोई औचित्य नहीं रखता। इसलिये यहाँ 'उपमा' का बाध निर्विवाद सिद्ध है। किन्तु लक्ष्मी के द्वारा नारायण (विष्णु) के आलिङ्गन में कोई अनौचित्य न होने से यहाँ 'रूपक' (राजा एव नारायणः राजनारायणस्तम्) की संभावना में कोई आपत्ति नहीं (इसलिये यहाँ 'उपमा' और 'रूपक' का संकर नहीं माना जा सकता) है।

(इसी प्रकार विशेषण भी जहाँ-तहाँ एक अलङ्कार के साधक और दूसरे के बाधक रूप में प्रयुक्त किया जाया करता है जिससे अलङ्कार संकर की संभावना दूर हो जाया करती है।) जैसे कि इस सूक्ति अर्थात्—

'इस मृगनयनी का मुखकमल चञ्चल नेत्र के साथ बड़ा सुन्दर लग रहा है।'

आदि में 'चञ्चललोचन'-रूप विशेषण 'उपमा' (वदनमम्बुजमिव, वदनाम्बुजम्) का तो साधक बन रहा है क्योंकि 'मुख' में 'लोचन' की स्थिति निर्विवाद सिद्ध है किन्तु इसमें 'रूपक' (वदनमेवाम्बुजं वदनाम्बुजम्) बाधकता भी निर्विवाद रूप से दिखायी दे रही है क्योंकि 'कमल' में 'लोचन' की सम्भावना असम्भव है (इसलिये यहाँ भी सन्देहसंकर का कोई अवसर नहीं)।

इसी प्रकार यदि साधारणधर्म भी किसी एक अलङ्कार के साधक और दूसरे के बाधक रूप में प्रतीत हो तो अलङ्कार-साङ्कर्य की संभावना हट जाती है। जैसे कि 'यह वदनाम्बुज (मुखकमल) सुन्दर है' आदि उक्तियों में, जब कि 'सौन्दर्य'-रूप साधारण-धर्म के उपादान के कारण 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' (अष्टाध्यायी [illegible])— (व्याघ्र आदि उपमानवाचक पदों के साथ उपमेय का समास तभी हुआ करता है जबकि साधारणधर्म का प्रयोग न किया जाय) इस समास-नियम के अनुसार उपमा-समास

बाधक.। एव चात्र मयूरव्यंसकादित्वाद्रूपकसमास एव। एकाश्रयानुप्रवेशो यथा मम—

'कटाक्षेणापीषत्क्षणमपि निरीक्षेत यदि सा
तदानन्दः सान्द्रः स्फुरति पिहिताशेषविषयः।
सरोमाञ्चोदञ्चत्कुचकलशनिर्भिन्नवसन
परीरम्भारम्भः क इव भवितामभोरुहदृशः॥'

अत्र कटाक्षेणापीषत्क्षणमपीत्यत्रच्छेकानुप्रासस्य निरीक्षेतेत्यत्र क्षकारमादाय वृत्त्यनुप्रासस्य चैकाश्रयेऽनुप्रवेशः। एव चात्रैवानुप्रासार्थापत्त्यलङ्कारयो'।

यथा वा—

'संसारध्वान्तविध्वस-' इत्यत्र रूपकानुप्रासयो।

की सभावना हट गयी तब यह स्पष्ट है कि 'उपमा' बाधित हो गयी और मयूरव्यसकादयश्च' (अष्टाध्यायी २-१ ७२) इस समास-नियम के अनुसार रूपक-समास (वदनमम्बुज वदनाम्बुजम्) के सिद्ध हो जाने पर 'रूपक' अलङ्कार की मान्यता युक्ति युक्त बन गयी (जिससे यहाँ भी 'उपमा' और 'रूपक' का 'सदेह सकर' निर्मूल हो गया)।'

अब 'एकाश्रयानुप्रवेश'रूप सकर का उदाहरण देखिये—

'यदि वह सुन्दरी अपनी तिरछी निगाहों से भी, मुझे, क्षणभर के लिये देख ले तो ऐसा अद्भुत आनन्द मिलने लगता है कि सब कुछ भूल पड़ता हूँ। फिर, उस कमलनयनी के आनन्द रोमांच से भरे किवा अनावृत उन्नत उरोजों के आलिङ्गन का आनन्द कैसा होगा, यह तो भगवान् ही जाने।'

इस स्वरचित सूक्ति में 'कटाक्षेणापीषत्क्षणमपि' में ('क्ष' के स्वरूपत और क्रमतः एक बार साम्य के कारण) 'छेकानुप्रास' और 'कटाक्षेणापीषत्क्षणमपि निरीक्षेत' में ('क्ष' के स्वरूपत और क्रमत तीन बार साम्य के कारण) 'वृत्त्यनुप्रास' दोनों स्पष्ट हैं और दोनों 'क्ष' रूप व्यञ्जन पर आश्रित होने के कारण 'एकाश्रयानुप्रवेशरूप' सकर का वैचित्र्य उत्पन्न कर रहे हैं। यहीं 'अनुप्रास' (छेकानुप्रास और वृत्त्यनुप्रास) और 'अर्थापत्ति' ('दण्डापूपिकयाऽन्यार्थागमोऽर्थापत्तिरिष्यते' जैसे कि कटाक्ष से देखने पर तो यह हाल है पूरी निगाह से देखने पर पता नहीं क्या हो, जरा सा देखने पर तो यह हाल है पूरा देखने पर पता नहीं क्या हो; क्षणभर देखने पर तो यह हाल है देर तक देखने पर पता नहीं क्या हो— इस त्रिविध अर्थापत्ति') का भी 'एकाश्रयानुप्रवेश'रूप सकर स्पष्ट प्रतीत हो उठता है (क्योंकि जो पद 'अर्थापत्ति' के उत्थापक हैं उन्हीं में 'अनुप्रास' की भी छटा विराजमान है।)

अथवा 'एकाश्रयानुप्रवेश'रूप सकर का उदाहरण देखिये (जहा 'एकपद'रूप एक आश्रय में विभिन्न रूप के विविध अलकार अनुप्रविष्ट है)—

'ससारध्वान्तविध्वसहस' । यहा 'रूपक' (ससार एव ध्वान्तं तमस्तस्य विध्वसे हस सूर्य. ससारध्वान्तविध्वसहस) और 'अनुप्रास' ('ध्व' और 'व' व्यञ्जनों के स्वरूपत और क्रमत सकृत् साम्य के कारण छेकानुप्रास) को एकपद में अनुप्रवेश होने से, अर्थालकार और शब्दालकार का 'एकाश्रयानुप्रवेशरूप' सकर बड़ा सुन्दर लग रहा है।

यथा वा—

'कुरबकारवकारणतां ययुः' इत्यत्र रवका रवका इत्येकं वकारवकार इत्येकमिति यमकयोः ।

यथा वा—

'अहिणअपओअरसिएसु पहिअसामाइएसु दिअहेसु ।
रहसपसारिअगीआणं णच्चिअं मोरविन्दाणम् ॥'

[अभिनवपयोदरसितेषु पथिकश्यामायितेषु दिवसेषु ।
रभसप्रसारितग्रीवाणां नृत्यं मयूरवृन्दानाम् ॥

अथवा

अभिनवपयोदरसितेषु पथिकश्यामायितेषु दिवसेषु ।
रभसप्रसारितग्रीवाणां नृत्तं मयूरवृन्दानाम् ॥]

अत्र 'पहिअसामाइएसु' इत्येकपदे पथिकश्यामायितेत्युपमा, पथिकसामाजिकेष्विति रूपकं प्रविष्टमिति ।

अथवा 'एकाश्रयानुप्रवेश' रूप संकर का यह उदाहरण (जिसमें समान रूप के एक से अधिक अलंकार अनुप्रविष्ट हैं)—

('विरचिता मधुनोपवनश्रियामभिनवा इव पत्रविशेषकाः ।
मधुलिहां मधुदानविशारदाः) कुरबकारवकारणतां ययुः ॥

यहाँ (रघुवंश ९. २९ की सूक्ति में) 'रवकारवका' का यमक और 'वकारवका' का 'यमक' दोनों एकपाद-रूप एक आश्रय में अनुप्रविष्ट होकर 'एकाश्रयानुप्रवेश' रूप संकर की सृष्टि करते स्पष्ट प्रतीत हो रहे हैं ।

अथवा 'एकाश्रयानुप्रवेश' रूप संकर का यह उदाहरण—

'अभिनव मेघों की (सरस गरीली) गर्जना से श्यामायमान किया (पथिकश्यामायितेषु, पथिकसामाजिकेषु वा) विरहव्याकुलप्रेमी जन के दुःखदायी अथवा विरहव्याकुल प्रेमी जनरूपी सामाजिक वृन्द को उत्सुक बनाने वाले, इन वर्षा के दिनों में, गर्दन ऊँची किये, मयूरों का नृत्य कितना सुन्दर लग रहा है ।'

यहाँ 'पहिअसामाइएसु' इस एक प्राकृत पद में (जहाँ 'पथिकश्यामायितेषु' और 'पथिकसामाजिकेषु' दोनों छाया-पाठसंभव हैं) 'पथिकश्यामायितेषु' (पथिकान् वियोगिनः प्रति श्यामा रात्रय इवाचरन्तीति श्यामायितेषु) की 'उपमा' और 'पथिकसामाजिकेषु' (पथिका एव सामाजिकास्तेषु) के 'रूपक'—दोनों का अनुप्रवेश स्पष्ट है (जिसमें 'एकानुप्रवेश' रूप संकर का एक अतिरिक्त वैचित्र्य दिखाई दे रहा है)।

विमर्श—(क) साहित्यदर्पण का 'संकर' विवेचन अलंकारसर्वस्व के 'संकर'निरूपण का एक मण्डन है । 'अलंकारसर्वस्व' के अनुसार 'संकर' का स्वरूप यह है—

(ग्रन्थ-समाप्ति)

श्रीचन्द्रशेखरमहाकविचन्द्रसूनु-
श्रीविश्वनाथकविराजकृतं प्रबन्धम् ।
साहित्यदर्पणममुं सुधियो विलोक्य
साहित्यतत्त्वमखिलं सुखमेव वित्त ॥ ६६ ॥

'क्षीरनीरन्यायेन तु सकर.—

मिश्रत्व इत्येव । अनुत्कटभेदत्वमुत्कटभेदत्वं च सकर । तत्र मिश्रत्वमङ्गाङ्गिभावेन, संशयेन, एकवाचकानुप्रवेशेन च त्रिधाभवत् सकर त्रिभेदमुत्थापयति ।'

(अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २४८)

अर्थात् अलकारों का पानी और दूध सा मिश्रण 'सकर' अलकार की रूपरेखा का जनक है। यह मिश्रण तीन प्रकार का है—अङ्गाङ्गिभावरूप, सशयरूप और एकवाचकानुप्रवेशरूप । और इसीलिए 'सकर' अलकार के भी ये तीन प्रकार हैं—

(ख) अलकारसर्वस्वकार ने एक वाचकानुप्रवेशरूप 'सकर' में शब्दालकार और अर्थालकार, दोनों की सकीर्णता स्वीकार की है जो कि काव्यप्रकाशकार को मान्य नहीं। काव्यप्रकाशकार के अनुसार 'एकवाचकानुप्रवेश' सकर शब्दालकार और अर्थालकार का सकर हुआ करता है—

'स्फुटमेकत्र विषये शब्दार्थालकृतिद्वयम् ।
व्यवस्थितं च '

उदाहरणम्—

'स्पष्टोल्लसत्किरणकेसरसूर्यबिम्ब विस्तीर्णकर्णिकमथो दिवसारविन्दम् ।
श्लिष्टाष्टदिग्दलकलापमुखावतार-बद्धान्धकारमधुपावलि सचुकोच ॥'
अत्रैकपदानुप्रविष्टौ रूपकानुप्रासौ ।' (काव्यप्रकाश सकर-प्रकरण)

किन्तु साहित्यदपणकार ने 'एकवाचकानुप्रवेश' सकर में दो शब्दालकारों के सकर, एक शब्दालङ्कार और एक अर्थालङ्कार के सकर तथा दो अर्थालङ्कारों के सकर की सम्भावना की है और उदाहरण द्वारा इसे प्रदर्शित भी किया है। वस्तुत साहित्यदर्पणकार 'अलङ्कारसर्वस्व' के 'एकवाचकानुप्रवेशरूप' सकर के विवेचन से प्रभावित हैं। अलङ्कारसर्वस्वकार ने एकवाचकानुप्रवेश' रूप सकर के सम्बन्ध में स्पष्ट कहा है—

'तृतीयस्तु प्रकार का एकवाचकानुप्रवेशलक्षण' । यत्रैकस्मिन् वाचकेऽनेकालकारानुप्रवेश , न च सदेह । यथा—

सुरारिनिर्गता नून नरकप्रतिपन्थिनी । तवापि मूर्ध्नि गङ्गेव चक्रधारा पतिष्यति ॥

अत्र सुरारिनिर्गतेति साधारणविशेषणहेतुका उपमा, नरकप्रतिपन्थिनीति श्लिष्टविशेषण समुत्थश्चोपमाप्रतिभोत्पत्तिहेतु श्लेषश्चैकस्मिन्नेव शब्देऽनुप्रविष्टौ, तस्योभयोपकारित्वात्। तुल्यजातीययोरप्यलकारयोरेकवाचकानुप्रवेशसम्भवात् ।'

(अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २५५)

साहित्यदर्पणकार, इस विवेचन की दृष्टि से, काव्यप्रकाश के समर्थक नहीं हो सकते।

अनुवाद—काव्य-साहित्य के बुद्धिमान् पाठक, महाकवि श्री चन्द्रशेखर के पुत्र

यावत्प्रसन्नेन्दुनिभानना श्रीर्नारायणस्याङ्कमलङ्करोति ।
तावन्मनः संमदयन् कवीनामेष प्रबन्धः प्रथितोऽस्तु लोके ॥१००॥

इत्यालङ्कारिकचक्रवर्तिसान्धिविग्रहिकमहापात्रश्रीविश्वनाथकविराजकृते
साहित्यदर्पणे दशमः परिच्छेदः ।



श्री कविराज विश्वनाथ की कृति इस 'साहित्यदर्पण' का अवलोकन करें और काव्य साहित्य के तत्त्वों का अभ्यास ज्ञान प्राप्त करें—यही अन्तिम विनय है।

यह साहित्यदर्पण जाता है, जब तक प्रसन्नचन्द्रवदना लक्ष्मी नारायण के अंक में सुशोभित है तब तक, कविजन और रसिक-समाज के हृदय में आनन्द का संचार करता रहेगा और साहित्य-जगत् में अपनी अनश्वर कीर्ति में विराजमान बना रहेगा।

अन्त्यमङ्गलम्

साहित्यस्य विमर्शो यत् स्वान्तमविधाय्य सुखम् ।
विश्वनाथस्य सम्भूत् सर्वेषां तद् भवेत् सदा ॥

साहित्यदर्पण : दशम परिच्छेद समाप्त

समाप्तश्चायं ग्रन्थः

उदाहृतश्लोकानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठाङ्क
अ	
अकलङ्क मुख तस्या.	७७०
अकस्मादेव तन्वङ्गी	१९२
अङ्गानि खेदयसि	४८७
अचला अबला वा स्यु'	६०३
अजस्य गृह्णतो जन्म	८१९
अजायत रतिस्तस्या	६११
अतिगाढगुणायाश्च	७७१
अत्ता एत्थ णिमज्जइ	१८
अत्युन्नतस्तनयुगा	३१५
अत्रान्तरे किमपि वाक्	१८४
अत्रासीत्फणिपाश	४९८
अत्रास्मार्षमुपाध्याय	६२७
अथ तत्र पाण्डुतनयेन	२२२
अथ प्रचण्डभुजदण्ड	५२५
अद्यापि देहि वैदेहीं	४९९
अद्यापि स्तनशैलदुर्गविषमे	५९७
अध कृताम्भोधरमण्ड	८७१
अधर किसलयराग	४७९
अधरे करजक्षत मृगाक्ष्या.	६०५
अध्यासितु तव चिरात्	५२४
अनङ्गमङ्गलभुव	६४५
अनणुरणन्मणिमेखलम्	६१९
अनलङ्कृतोऽपि सुन्दर !	१६४
अनन्यसाधारणधीधृता	३०५
अनन्वये च शब्दैक्य	७११
अनातपत्रोऽप्ययमत्र	८६८
अनायासकृश मध्यम्	८१४
अनुयान्त्या जनातीतम्	७७६
अनुरागवती सन्ध्या	८८६
अनुरागवन्तमपि	६२०
अनुलेपनानि कुसुमानि	७५८
अनेन लोकगुरुणा	३२६
अनेनच्छिन्दता मातु	५८९
अनेन पर्यासयताश्रु	७९७
अन्त पुरीयसि रणेषु	६९८
अन्तश्छिद्राणि भूयासि	७९३
अन्तिकगतमपि मामिय	१९५
अन्यदेवाङ्गलावण्यम्	८५४
अन्यासु तावदुपमर्दसहासु	३२३
अन्यास्ता गुणरत्नरोहण	५८४
अप्रधान विधिर्यत्र	५६७
अप्रियाणि करोत्वेष	४४४
अभ्युन्नता पुरस्तादवगाढा	४२३
अमित समित प्राप्तै	२९०
अमुं कनकवर्णाभ्	३०९
अमुक्ता भवता नाथ !	५६७
अयि ! मयि मानिनि !	५८३
अयमुदयति मुद्रा	६६२
अय मार्त्तण्ड किम् ?	७२९
अय रत्नाकरोऽम्भोधि	८२४
अय स रशनोत्कर्षी	३९१
अय सर्वाणि शास्त्राणि	६७७
अरविन्दमिद वीक्ष्य	७१३
अरातिविक्रमालोक	७०३
अरुणे च तरुणि !	८५२
अर्घ्यमर्घ्यमिति	२०६
अलमलमतिमात्र	३८४
अल स्थित्वा श्मशानेऽस्मिन्	३०९
अलिभ पसुत्तअ	२३९
अलिकुलमञ्जुलकेशी	५२८
अविदितगुणापि भणिति:	७६३
अविरलकरवालकम्पनै	८७५
अव्यूढाङ्गमरूढपाणि	६५२
अशक्नुवन् सोढुमधीर	२७५
अश्रुच्छलेन सुदृश	७४८
अश्वत्थामा हत इति	४३१
असमाप्तजिगीषस्य	७७७
असावन्तश्चञ्चद्विकच	४८३
असम्भृत मण्डनमङ्गयष्टे	१८०

विषय	पृष्ठाङ्क
असमर्थ समपरिग्रहक्षमा	२११
अस्माकं सखि वाससी	१७७
अस्य वक्त्रः कथमेव	४९५
अस्याः सर्गविधौ	७७३
अहमेव गुरुः सुदारुणानाम्	८७८
अहमेव मतो महीपतेः	१५१
अहिणवपओहर	८९
आ	
आकृष्टिवेगविगलत्	८८५
आक्षिपन्त्यरविन्दानि	४७१
आचरति दुर्जनो यत्	६६६
आज्ञा शक्रशिखा	१०२
आत्मा जानाति यत् पापम्	५४२
आदाय बकुलगन्धान्	६६८
आदित्योऽयं स्थितो मूढाः	६ ९
आनन्दममन्दमिमम्	८
आनन्दयति ते नेत्रे	५०१
आनन्दयति ते नेत्रे योऽधुना	५७२
आनम्राय च विस्मयाय च	४६१
आनन्दितस्वपक्षोऽसौ	६ ९
आपतन्तममुं दूरात्	२९२
आपातसुरसे भोगे	६०८
आमीलितालसविवर्त्ति	८०४
आवर्त एव नाभिस्ते	६००
आशीःपरम्परां वन्द्याम्	५६६
आश्लिष्टभूमिं रसितारमुच्चैः	२१२
आसमुद्रक्षितीशानाम्	५६१
आसादितप्रकटनिर्मल	३७३
आसीदञ्जनमत्रेति	८९०
आहवे जगदुद्दण्ड !	७१०
आहारे विरतिः समस्त	३१३
आहूतस्याभिषेकाय	१५७
आहूतेषु विहङ्गमेषु	६९०
इ–ई	
इति गदितवती रुषा	१७५
इति चापरकुलराजी	५७८
इयमसाध्यमानोऽपि	८
इदं किलाव्याज	७८
इदं वक्त्रं साक्षात्	७९१
इदमाभाति गगने	८८१
इन्दुर्लिप्त इवाञ्जनेन	७९
इन्दुर्विभाति कर्पूर	५८०
इन्दुर्विभाति यस्तेन	५७२
इन्दुबिम्बकपोलोऽसि	७९५
इयं स्वर्गाधिनाथस्य	७०८
इह पुरोऽनिलकम्पित	७१०
इहैव त्वं तिष्ठ सुतम्	८१९
ईक्षसे यत् कटाक्षेण	५८८
उ–ऊ	
उम त्रिपक्ष मिथ्यान्वा	८९
उत्कम्पो हृदय कृत्तिम्	३११
उत्क्षिप्त करकङ्कणद्वय	१००
उत्तिष्ठ दूति यामो	१०२
उत्फुल्लकमलकेसर	५०५
उत्साहातिशयं वत्स	७१९
उदन्वच्छिन्ना भूः	५९४
उदेति सविता ताम्रः	५९६
उदेति पूर्वं कुसुमं ततः	३८९
उद्दामोत्कलिका	६८८
उपरसमकौटिल्यैः	५००
उन्नमितैकभ्रूलता-	३११
उन्मज्जज्जलकुञ्जरेन्द्र	६१२
उन्मीलन्मधुगन्धलुब्ध	६६८
उन्मीलन्ति नखैर्लुनीहि	८१०
उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते	५५
उपदिशति कामिनीनाम्	६९
उपर्यासाद्य तर्वाली	५८१
उवाच मधुरां वाचम्	५८२
उवाच मधुरं धीमान्	,,
ऊरुः कुरङ्गदृशः	७७०
ए–ऐ	
एकं ध्यानमिमीलनात्	६६०
एका कपोतपोता	७७२
एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया	२९०
एकस्यैव विपाकोऽयम्	७१५

पय	पृष्ठाङ्क
...त्रासनसंस्थितिः	१६४
...द्विभाति चरमाचल	७३५
...मुक्तो मन्त्रिमुख्यैः	५९३
...संवादिनि देवर्षौ	३१६
...दुश्च्यवन नौमि	६४०
...मूर्त्तो यथा धर्मः	६१६
...सा कुडिलघणेण	२२२
...सो ससहरबिम्बो	६२८
...न्द्रं धनु पाण्डु	७८२
...शस्य धनुषो भङ्गम्	६०६
ओ–औ	
ओवट्टइ उल्लट्टइ	५८०
औत्सुक्येन कृतत्वरा	६३५
क	
कटाक्षेणापीषत्	८८९
कटिस्ते हरते मन	५६२
कथमीक्षे कुरङ्गाक्षी	२३४
कथमुपरि कलापिन	७५४
कदली कदली करभः	२८२
कदा वाराणस्यामिह	२६६
कपोलफलकावस्या	७४१
कपोले जानक्या	६३९
कमलालिङ्गितस्तार	६१७
कमले चरणाघातम्	५६३
कमलेण विअसिएण	२२४
कमलेव मतिर्मतिरिव	७१२
करमुदयमहीधरस्तनाग्रे	१९९
करिहस्तेन सम्बाधे	६२३
कर्त्ता द्यूतच्छलानां	५२३
कर्पूरखण्ड इव राजति	६१५
कलयति कुवलयमाला	७६६
कलुषञ्च तवाहितेष्वकस्मात्	८५२
कस्स व ण होइ रोसो	३४७
कानने सरिदुद्देशे	८३०
कामं प्रिया न सुलभा	३६६
कान्तास्त एव भुवन	२७४
कान्ते तथा कथमपि	१५९
काप्यभिख्यातयोरासीद्	६१८
काम प्रिया न सुलभा	४२२

विषय	पृष्ठाङ्क
कार्त्तार्थ्यं यातु तन्वङ्गी	५६०
कालरात्रिकरालेयं	४९७
कालान्तककरालास्यं	४३७
काले कोकिलवाचाले	६७४
काले वारिधराणाम्	७३६
कालो मधुः कुपित एष च	८८
का विसमा देव्वगई	८४४
किङ्करोपि करोपान्ते	५४८
किं रुद्धः प्रियया कया	१७४
किं शीकरैः क्लम	४८५
किं तारुण्यतरोरियम्	७२९
किं तावत् सरसि	,,
किं भूषण सुदृढमत्र	८४२
किमधिकमस्य ब्रूम	८२८
किमाराध्यं सदा पुण्यम्	८४२
किरणा हरिणाङ्कस्य	६७६
किसलयमिव मुग्धं	२२४
कुश्च हन्ति कृशोदरी	५७७
कुपिताऽसि यदा तन्वि !	८०८
कुमारस्ते नराधीश	६०३
कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणे	५८२
कुर्वन्त्वाशा हतानां	४४०
कूजन्ति कोकिलास्साले	६९१
कृतप्रवृत्तिरन्यार्थे	५७०
कृतमनुमतं दृष्टं वा	२५६
कृत्वा दीननिपीडनां	२२३
कृष्टा केशेषु भार्या	४३८
के द्रुमास्ते क्व वा ग्रामे	१९०
के यूय स्थल एव	६७४
केयूरायितमङ्गदैः	७४९
केश काशस्तवकविकासः	६७०
कोऽत्र भूमिवलये	७६५
कोकिलोऽहं भवान् काकः	७९३
क्रूरग्रहः स केतु	३७८
क्वचित्ताम्बूलाक्तः	१६१
क्व वन तरुवल्कलभूषणम्	८२४
क्व सूर्यप्रभवो वंश	७६८
क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः	६३६
क्षात्रधर्मोचितैर्धर्मैः	४८०
क्षिपसि शुकं वृषदंशक	७६८

विषय	पृष्ठाङ्क
क्षिप्तो हस्तावलग्नः	११७
क्षीणः क्षीणोऽपि शशी	७७२
क्षीरोदवेलेव सफेनपुञ्जा	५५५
क्षेमं ते ननु पक्ष्मलाक्षि	२५०
ख	
खड्गः क्ष्मासौविदल्लः	७२१
ग	
गङ्गाम्भसि सुरत्राण !	७३१
गच्छ गच्छसि चेत् कान्त !	८११
गच्छामीति मयोक्तया	७९१
गता निशा इमा बाले	५८१
गमनमलसं शून्या दृष्टिः	४५९
गर्वमसंवाह्यमिमं	७०२
गाढालिङ्गनवामनीकृतकुच	८११
गाढकान्तदशनक्षतव्यथा	२९१
गाढालिङ्गनवामनीकृतकुच	१११
गान्धीवी कनकशिला	[illegible]
गाम्भीर्येण समुद्रोऽसि	७३१
गीतेषु कर्णमादत्ते	५७२
गुरुजनपरतन्त्रतया बत	८९
गुरुतरकलनूपुरानुनादं	१८८
गुरोर्गिरः पञ्चदिनान्यधीत्य	२५१
गृहिणी सचिवः सखी	८९
गृहीतं येनासीः	६ ३
ग्रथितासर्वविमिदं	७३१
ग्रन्थामि काव्यशशिनम्	११५
घ	
घनितमिव मनसिजजोः	७७५
घोरो वारिमुचां रवः	५९५
च	
चकोर्य एव चतुराः	७११
चक्रविलिसितशिखी	६२१
चञ्चद्भुजभ्रमित	७११
चन्दनासक्तभुजगनिःश्वास	६१५
चन्द्रमामृतधामन	६ ९
चन्द्रं गता पद्मगुणान्न भुङ्क्ते	५९८
चन्द्रमण्डलमालोक्य	६११
चन्द्रायते शुक्लरुचापि	७०९
	२
चरणागतकान्तायाः	५९२
चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि	३११
चाञ्चल्यामरपेक्षितः	५८१
चापल्यां स्फुरितैर्नादं	२५३
चिन्तयन्ती जगत्	३ १
चिन्तामिः स्तिमितं मनः	२१४
चिरविरहिणोरुत्कण्ठा	२११
चित्रं चित्रमनाकाशे	१२५
चिरं जीवतु ते सूनुः	६१८
ज	
जङ्घाकाण्डोरुनालो	७८२
जत्रुर्मिस तनिकाशि	५८३
जयाय धवगृह	८१
जयलक्ष्मीकनकप्रमयी	२७३
जयत्याने भाम्यं	३२१
जम्बेन्द्रोर्मिजने कुले	३१९
जलाम्बुतरीयरम्य	८७५
जामेयं जम्बुतो गीतम्	७७०
जलकेलितरलकरतल	२५३
जसरतमश्चे परम्	[illegible]
जाता लताभवती भृङ्गा	६१२
जानीमोऽस्या हृदि	८ १
जीयन्ते जयिनोऽपि	३१४
ज्ञातोपालभ्यमवस्था	५९८
ज्योतिर्मीलितमनसि	७१९
ज्याघे मौल रमा नन्दी	७३०
ज्योत्स्ना इव सिता कीर्तिः	६१८
ज्योत्स्नाचन्द्र पयःपूरः	५८८
ज्वलतु गगने रात्री	१८३
ण	
णवरिअ त डवहुवड्ढं	२०९
त	
ततश्चचार समरे	६ ५
तत्परयेवमवाङ्मनः	७९२
तदङ्गमार्दवं द्रष्टुः	७७८
तदवितथमवादीर्यन्मम	३१९
तदमाक्षिमदपूर्व	३ ९
तद्गच्छ सिद्ध्यै कुरु	७७१
तद्वक्त्रं यदि मुद्रिता	८७१

विषय	पृष्ठाङ्क
तद्भ्रिच्छेदकृशस्य	६२१
तद्वेशोऽसदृशोऽन्याभि.	६१९
तनुस्पर्शादस्यादर	२०२
तन्वङ्ग्याः स्तनयुग्मेन	७४२
तव कितव किमाहितै	१७५
तव विरहे मलयमरुत्	८१८
तव विरहे हरिणाक्षी	८१०
तवास्मि गीतरागेण	३७४
तस्य च प्रवयसो जटायुप	८४०
तस्या मुखेन सदृशम्	७०१
तस्यास्तद्रूपसौन्दर्य	५२९
तह ते झति पउत्ता	१७९
ता जानीथा. परिमितकथां	१७३
तामिन्दुसुन्दरमुखीम्	५७३
तामुद्वीक्ष्य कुरङ्गाक्षीं	६११
तारुण्यस्य विलास.	१८१
तिष्ठेत् कोपवशात्	६३२
तीर्थे तदीये गजसेतु	५९६
तीर्णे भीष्ममहोदधौ	४४२
तीव्राभिषङ्गप्रभवेण	२११
तृष्णापहारी विमलो	४८३
ते हिमालयमामन्त्र्य	५९४
त्याग सप्तसमुद्र	२५७
त्रस्यन्ती चलशफरी	१९२
त्रिभागशेषासु निशासु	२३४
त्वया तपस्विचाण्डाल	४९३
त्वद्वाजिराजिनिर्धूत	२७१
त्वया सा शोभते तन्वी	८२९
त्वयि दृष्टे कुरङ्गाक्ष्या.	७६४
त्वयि सङ्गरसम्प्राप्ते	८३४
त्वामस्मि वच्मि विदुषा	३०२
त्वामामनन्ति प्रकृतिम्	६२४
द	
दत्ते सालसमन्थर भुवि	१५७
दत्त्वा कटाक्षमेणाक्षी	८४०
दत्त्वाभय सोऽतिरथो	४८६
दधद्विद्युल्लेखामिव	४४९
दन्तप्रभापुष्पचिता	७८०
दलति हृदय गाढोद्वेगो	४४१
दलिते उत्पले एते	

विषय	पृष्ठाङ्क
दशाननकिरीटेभ्य.	२९४
दान वित्ताद्दतं वाच'	७५९
दासे कृतागसि भव	७२१
दिङ्मातङ्गघटाविभक्त	६३४
दिन मे त्वयि सम्प्राप्ते	५६४
दिवसप्युपयातानाम्	८३०
दिवाकराद्रक्षति यो	६१६
दिवि वा भुवि वा	२७१
दिशि मन्दायते	२९२
दीधीवेवीङ्समः कश्चित्	६२७
दीपयन् रोदसीरन्ध्र	३२४
दीयतामर्जितं वित्तम्	८४८
दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्ति	१२४
दुर्गालङ्घितविग्रहो	८०
दुलहजणाणुराओ	४२४
दूरं समागतवति	७६०
दूरागतेन कुशल	१८९
दृप्तारिविजये राजन् !	५६१
दृशा दग्ध मनसिजम्	६६९
दृश्येते तन्वि ! यावेतौ	४८८
दृष्टा दृष्टिमधो ददाति	१५७
दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि !	२९२
दृष्टिस्तृणीकृतजगत्त्रय	१५३
दृष्ट्वा केशवगोपराग	३२८
दृष्ट्वैकासनसंस्थिते	१६५
देव पायादपायान्न.	८८२
देश' सोऽयमराति	५००
देहि मे वाजिन	६००
दोर्दण्डाञ्चितचन्द्र	२६२
द्वयं गत सम्प्रति शोच	५९०
द्वीपादन्यस्मादपि	३७१
ध	
धनिनोऽपि निरुन्मादा	८१६
धन्य स एव तरुणो	३०१
धन्यासि या कथयसि	१६०
धन्याऽसि वैदर्भि ! गुणै॰	७६२
धन्या खलु वने वाता	७९२
धम्मिल्लमर्धमुक्तं	१९१
धम्मिल्लस्य न कस्य	५७१
धम्मिल्ले नवमल्लिका	२९४

विषय	पृष्ठाङ्क
धवलयति शिशिररोचिषि	६१२
धातुमत्ता गिरिर्धत्ते	५७५
धिग्धन्यस्तुति मदमूर्च्छित	३११
धीरो वरो नरो याति	७८१
धुनोति चासिम्	६७२
ध्यातुश्चो पावदई	२११
न	
न खलु वयममुष्य दान	१७५
न च मेऽवगच्छति	११९
न चेह जीवितः	१०९
न तज्जलं यन्न सुचारु	८१५
न तथा भूतपत्यस्य	२१७
न धत्ते शिरसा गङ्गाम्	८०७
न मृते पर्वता गिरि	१४३
नमस्यन्तु शिरांसि	८२८
न मे शमयिता कोऽपि	५०७
नयनज्योतिषा माति	६१०
नवपुष्पासेवनकम्	८१९
नवजलधरः सन्नद्धोऽयम्	५९८
नवजलपदमङ्ग	९११
नवपलाशपलाशवनम्	६०३
नवं वर्षवरैर्मुखागम्या	१८९
नवभिन्नभिन्नाम्बुधरासनेन	८७२
नायमन्तो नमन्त्यान्ते	५८०
नाहं रक्षो न भूतो	७०१
निजनयनप्रतिबिम्बैः	६५५
निरर्थकं जन्म गतं	७७१
निर्माल्यमीलनं वायुः	७२१
निर्वाणवैरदहनाः	१०८
निर्वीर्यं गुरुशापभाषित	४८६
निःशेषच्युतचन्दनं	८८
निसर्गसौरभोद्भ्रान्त	७८
निःश्वासान्ध इवादर्शः	२८३
निहतासेवकैरम्याः	७३८
नीतानामाकुलीभावम्	६०८
नेत्रे खञ्जनगञ्जने सरसिज	१९९
नेत्रैरिवोत्पलैः	७०८
नवं तमोमलकमम्बु	७१५
नो चाटु श्रवणं कृतं न च	३०१
न्यक्कारो ह्ययमेव मे	५
प	
पद्मकुमिवार्ये क्षोणहति	२१९
पयोऽपरिवाधीतः	७१०
पन्थिअ ण एत्थ सत्थर	२८९
पन्थिअ पिवासिओ	१९९
परापकारनिरतैः	८१
परिचितिपमृपीना	७१९
परिस्फुरन्मीनमिव	२१
परिहरति रतिं मतिं	६११
पर्वतभेदिपवित्र जैत्रम्	६११
पद्मोपमिति साम्य	१६०
पद्मतामतिरस्कोरी	५८१
परस्परसंक्ष्ययपर्णा	१०१
परयामि शोक	३९९
परवेत् कस्मिचक चपक रे !	६०५
पाणिः पल्लवपेलवः	५८१
पाणिरोधमविरोधित	१८९
पान्थबाला समाभम्पे	६९१
पान्थ वामे वदनं हृदयं	२९५
पातालमालयोकास्ते	६०५
पायादर्थं चतुर्भ्याम	७८९
पान्तु वो जलदश्यामाः	७१०
पाते वर्षं नीरनिधेरपरस्य	७७९
पुष्पा मालाजवाहिरम्याय	३९५
पुरस्तादपि प्रविश	७८९
पूरिते रोदसी ध्वानैः	११
पूर्वन्तां सक्लेन	७०२
पृथुकार्तस्वरपात्रम्	६११
पृथ्वि ! स्थिरा भव	७८९
प्रमत्तमधुकरारावम्	६१५
प्रश्नमानुभविहितोः	८९०
प्रणयिसखीसलील	२१
प्रतिकूलतामुपगते	६०४
प्रकामीकर्णं विवेर्षेण	५१८
प्रयातो तव राजेन्द्र !	७११
प्रवर्तयन् क्रियाः साध्वीः	७८८
प्रविशि परीरं मम वत्स	७१५
प्रससार शनैर्वायुः	५१३
प्रसाधय पुरीं लङ्काम्	३८५
प्रसाधितस्याभितमप	१९१
प्रस्थानं वलयैः कृतं	३३७

विषय	पृष्ठाङ्क
प्रागेव हरिणाक्षीणाम्	७५५
प्राणप्रयाणदुःखार्त्त	४९९
प्राणेशेन प्रहितनखरे	२१८
प्रातिभं त्रिसरकेण गतानां	२०९
प्रासावेकरथारूढौ पृच्छन्तौ	४३६
प्रायश्चित्तं चरिष्यामि	२१५
प्रायेणैव हि दृश्यन्ते	४७९
प्रिय इति गोपवधूभि	७३२
प्रियजीवितताक्रौर्यं	५२९
प्रेमार्द्रा. प्रणयस्पृशः	२३३
प्रोज्ज्वलज्ज्वलनज्वाला	५८५
ब	
बलमार्त्तभयोपशान्तये	८४३
बलावलेपादधुनापि	७६०
बालअ ! णाहं दूदी	८१०
बाले ! नाथ ! विमुञ्च	१६३
बृहत्सहायः कार्यान्तम्	७९९
ब्राह्मणातिक्रमत्यागो	३२५
भ	
भक्तिर्भवे न विभवे	८४३
भग्नं भीमेन भवतो	३८८
भम धम्मिअ वीसत्थो	२८४
भस्मापवर्ज्जितैस्तेषाम्	७०७
भातिकर्णावतंसस्ते	६३१
भाति पद्म सरोवरे	५६२
भानुः सकृद्युक्ततुरङ्ग	६०२
भिक्षो ! मांसनिषेवण	५२४
भिसिणीअलसअणीए	२२५
भुक्तिमुक्तिकृदेकान्त	३०४
भुजङ्गकुण्डलीव्यक्त	६६६
भुजलता जडतामबलाजन	६७३
भूतयेऽस्तु भवानीश	५६५
भूमौ क्षिप्तं शरीर	४४६
भूय परिभवक्लान्ति	४२०
भो लङ्केश्वर ! दीयता	२५८
भ्रातर्द्विरेफ भवता	२१७
भ्रूभङ्गे रचितेऽपि दृष्टि	२४०
म	
मखशतपरिपूत	४४१
मञ्जुलमणिमञ्जीरे	६७५
मत्वा लोकम्	४८९

विषय	पृष्ठाङ्क
मथ्नामि कौरवशतं	३२३
मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे	२७
मधुपानप्रवृत्तास्ते	८७८
मधुरं सुधावदधरः	६९६
मधुरया मधुबोधित	६६१
मधुरवचनैः सभ्रूभङ्गैः	१६१
मध्य तव सरोजाक्षि !	७३०
मध्यस्य प्रथिमानमेति	१५७
मध्येन तनुमध्या मे	८५५
मनः प्रकृत्यैव चलं	४३२
मनोजराजस्य सितातपत्र	७१८
मन्थायस्तार्णवाम्भः	६६३
मन्दं हसन्तः पुलकं	६७०
मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायः	७४९
मया नाम जित	४२६
मयि सकपटं किंचित्क्वापि	२१८
महंदे सुरसन्धम्मे	६७९
मल्लिकाचितधम्मिल्ला	८५९
मल्लिकामुकुले चण्डि !	२९६
मल्लीमतल्लीषु वनान्तरेषु	२७५
महिलासहस्सभरिए	२९६
मा गर्वमुद्वह कपोलतले	१८९
मात किमप्यस	४९७
मान मा कुरु तन्वङ्गि !	६१२
मानमस्या निराकर्त्तुम्	८५४
मानोन्नतां प्रणयिनां	३२१
मामाकाशप्रणिहितभुज	२१२
मारमा सुषमा चारु	६८८
मुक्तोत्कर शङ्कटशुक्ति	७४९
मुख चन्द्र इवाभाति	६१८
मुखं तव कुरङ्गाक्षि !	७२४
मुखमिन्दुर्यथा पाणि.	६९७
मुखमेणीदृशो भाति	७४१
मुग्धा दुग्धधीया	७३०
मुञ्च मान हि मानिनि !	५७७
मुनिर्जयति योगीन्द्र	८६७
मुहुरङ्गुलिसंवृताधरोष्ठ	३१२
मुहुरुपहसितामिवा	१७५
मूर्द्धन्याधूयमान	६२२
मृगरूपं परित्यज्य	४९१
मृणालव्यालवलया	१८४

विषय	पृष्ठाङ्क
यत्कुम्भमखस्तुकारम्भ	२०५
म्रियते म्रियमाणे या	३५४
य	
यः कौमारहरः स एव	१४
य एते यज्वानस्तस्करः	५३१
यं सर्वशैलाः परिकल्प्य	७०३
यत्र ते पतति सुभ्रु !	५११
यत्र पतत्यबलानां दृष्टिः	८ १
यत्रोन्मदानां प्रमदाजनानां	३११
यत्सम्मोहसमानकान्ति	८ १
यत्सत्यव्रतभङ्ग	७१८
यथाद्रुचि यथार्थत्वं	७३२
यदाह धाम्ना यदमोदिर्त	२६७
यदि मन्मर्पिता दृष्टि	५८२
यदि समरमपास्य	५
यदि स्यान्मण्डले	७५५
यद्वेत्रवगान्तर्वंश	७५२
यद्विरहदुर्खं मे	५७४
यद्विर्यं कूर्मराजस्य	३८७
यद्वेत्यमिव	४८१
यमुनाजम्बरमम्बरम्	५१४
ययाद्वेति कर्मिष्ठा	७५
ययोरारोपितस्तारः	४३६
यशसि प्रसरति भवतः	७७५
यस्योऽपविनान्तुं मुत्कडि	५१४
यस्य न सविधे दयिता	६०१
यस्यासीपत सत्कसीम्नि	४०
यां विनाम्नीभूता माला	५८८
या जपमीर्मनोभवस्य	५६०
यासः सुन्दरि ! यादि	२४४
यास्तां सत्यपि सद्गुणा	१८५
याति लीलविलोक्तिभिः	१ ०
यावदर्थपदां वाचम्	७३६
युक्तः कलाभिस्तमसां विवृद्धये	६६४
युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मना	६६८
युष्मार्क कुरुतां भवार्तिशमनम्	६७८
युष्मान् हेपयति क्रोधलोके	७१०
येन ध्वस्तमनोभवेन	१०५
येऽरेकस्यमधिकास्वपि	७४५
योऽस्मत्तुः कुलाय्यकः	७६८
विषय	पृष्ठाङ्क
योरोय दूषितास्तथा	५८२
यो यः शस्त्रं बिभर्ति	३३१
र	
रक्तोत्फुल्लविशालकोश	२७५
रत्नास्यपि पुरस्यास्तुष्	५३६
रजनीषु विमलभानोः	२६१
रजिता नु विविधास्तरु	७५१
रतिकेलिकलः किञ्चित्	३८८
रतिलीलाश्रमं भिन्ते	५८२
रम्यान्तवारतस्तथा	२१२
रसने रसमास्ते	५३८
राजते मृगलोचना	७०५
राजन्नारायणं लक्ष्मीः	८८८
राजन् ! राजसुता	७६७
राजानः सुतनिर्विशेष	२५१
राजीवमिव राजीवम्	७११
राज्ञ च मधु देहम	२७८
राज्ये सारं वसुधा	४३६
रामभन्मथशरेण ताडिता	२१४
रामो मूर्ध्नि निधाय	२७५
राघवस्यापि रामास्ता	७२१
रात्र्याधमपुच्छमन्तम्	७१९
रोलम्बाः परिपूरयन्तु	३३६
ल	
लङ्केश्वरस्य भवने	१८
लक्ष्मणेन सम राम	७७४
लक्ष्मीपयोजकस्तूरी	६७८
लग्नं रागावृताङ्ग्या	६१०
लज्जामममतपसाद्याद्	१५६
लताकुञ्जं गुञ्ज	२७५
लतेव राजसे तन्वि !	३१८
लाक्षामृगेनामिदत्त	८१५
लावण्यधामकविताय	३३५
लावण्यं तदसौ कान्ति	३ २
लावण्यमपुमिः पूर्णम्	७४०
लिम्पतीव तमोऽङ्गानि	७३६
लीलाधरैरपि तरङ्गवतो	३१७
व	
वक्त्रस्यन्दिस्वेदबिन्दुप्रबन्धैः	६३३
वत्सराज मे महति	७३६

विषय	पृष्ठाङ्क
...न मगशावाक्ष्या	७०२
... न सरोजम्	७३८
...वदनाम्बुजमेणाक्ष्या	८८८
...नेऽखिलकलासक्ताः	८७४
...नराणां वनितासखा	७२७
... महासेन	५७६
...त्येतदहर्पतिर्न तु	६०१
...भोत्सङ्गसङ्गेन	८१९
वसन्तलेखैकनिबद्धभाव	७६४
वाचमुवाच कौत्सः	५८२
वाणीरकुडङ्गुड्डीणसउणि	३२७
वाप्यो भवन्ति विमला	८३५
वारिजेनेव सरसी	७०९
वासवासामुखे भाति	५८६
विकसन्नेत्रनीलाब्जे	६७७
विकसितसहकार भार	५८३
विकसितमुखीं रागा	७७८
विकासिनीलोत्पल	७४९
विचरन्ति विलासिन्य	८३८
विदधे मधुपश्रेणीमिह	७२४
...न्दूरे केयूरे कुरु	१७३
विधवति मुखाब्जमस्या	७०३
विनयति सुदृशो दृशो.	२४१
विना जलदकालेन	७७५
विपिने क्व जटानिबन्धनं	२५४
विपुलेन सागरशयस्य	८२५
विभाति मृगशावाक्षी	५१४
...पल एव रविविशद	७६२
... तव तन्वङ्गी	८११
विराजति व्योमवपु.	८३५
विललाप स बाष्पगद्गदम्	८४६
विलोकनेनैव तवामुना	२७१
विलोक्य वितते व्योम्नि	५९९
विवृण्वती शैलसुतापि	१७९
विषयस्यानुपादाने	७५३
विसृज सुन्दरि !	४५९
विसृष्टरागादधरान्निवर्त्तित	८३९
वीक्षितु न क्षमा श्वश्रू	८४४
वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुष	३७१
वृद्धोऽन्ध पतिरेषमञ्चक	

विषय	पृष्ठाङ्क
व्यतिक्रमलवं कं मे	५९२
व्यपोहितुं लोचनतो	१९२
व्यवहारोऽथवा तत्त्व	७८३
व्याजस्तुतिस्तव पयोद !	७९५
व्याधूय यद्वसनम्	७७७
श	
शठान्यस्या.	१४४
शशिनमुपगतेयम्	८२६
शशी दिवसधूसर	८५१
शिरीषमृद्वी गिरिषु	७१४
शिखरिणि क्व नु नाम	२९५
शिरसि धृतसुरापगे	३७०
शिरामुखै स्यन्दत	२५८
शीतांशुर्मुखमुत्पले	४३४
शुश्रूषस्व गुरून् कुरु	४८२
शून्य वासगृहं	२६
शूरा अमरतां यान्ति	५६१
शेफालिकां विदलितां	२३६
शैलेन्द्रप्रतिपाद्यमानगिरिजा	८६४
शोणं वीक्ष्य मुखं	१४३
श्रवणैः पेयमनेकै.	३६७
श्राद्धभोजनशीलो हि	५६९
श्रीरेषा पाणिरप्यस्या	४२७
श्रीहर्षो निपुण. कवि	३७४
श्रुतं कृतधियां स	८३३
श्रुताप्सरोगीतिरपि	१५४
श्रुत्वा यान्त ब्रहि	१८८
श्वासान् मुञ्चति भूतले	१९०
स	
सकेतकालमनसं	९०
संधौ सर्वस्वहरण	३२६
सगमविरहविकल्पे	७३१
संग्रामे निहता शूरा	५७६
सततमुषलासङ्गात्	८१८
स एकस्त्रीणि जयति	८१६
स एव सुरभि काल	१७८
सकलकलं पुरमेतत्	६८३
सज्जनो दुर्गतौ मग्नः	६०६
सज्जेहि सुरहिमासो	२९३
सतीमपि ज्ञातिकुलैक	४९६

विषय	पृष्ठाङ्क	विषय
सत्यता मधुरगिरः	५८१	सैषा स्थली यत्र
सदा चरति खे भानुः	५०२	सौजन्याम्बुमरुस्थली
सदाशिवं नौमि	५८१	सौरम्यमम्भोरुहवत्
सद्य एव सोण्णोत्पलकुड्मलस्य	८५२	स्तनयुगमश्रुस्नातं
सद्यः करस्पर्शमवाप्य चित्रम्	८१७	स्तोकेनोन्नतिमायाति
सद्य पुरीपरिसरेऽपि	२०८	स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु
सद्यो मुण्डितमत्तहूण	६५५	स्नाता तिष्ठति कुन्तलेश्वरसुता
सद्वंशसम्भवः शुद्धः	७०५	स्निग्धश्यामलकान्ति
सममेव नराधिपेन सा	७७७	स्पृष्टास्ता नन्दने शच्याः
सममेव समाक्रान्तम्	७५५	स्मरशरशतविधुरायाः
सम्य एव करोति	५९	स्मरात्पन्था कथा कस्ये
समपरिकाहाः समारकैपैः	१८२	स्मितेनोपायनं दूरात्
समीक्ष्य पुत्रस्य चिरात्	२२१	स्मेरं विधाय नयनम्
सम्प्रति सन्ध्यासमयः	६२८	स्मेरराजीवनयने
सरसिजमनुविद्धं शैवले	१८२	त्वमिव यदि जीवितापहा
सरागया स्रुतघनघर्म	६१६	स्वपिति त्वं समीपे मे
सरोविकसिताम्भोजम्	८६५	स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनविधौ
सर्वक्षितिभृतां	५२१	स्वच्छात्मता स्नपयति
सर्वस्वं हर सर्वस्य	६०८	स्वामिन् भंगुरयालकं
स वः शशिकलामौलिः	७०६	स्वामी निःश्वसिते
सहकारः सदामोदः	७९१	स्वामी मुग्धतरो वनं
सह कुमुदकदम्बैः	७०२	स्वेच्छोपजातविषयोऽपि
स हत्वा वालिनं वीरः	७०६	ह
सहभृत्यगणं सबान्धवं	३८७	हंसश्रेणीप्रहासमाति
सहसा विरचैः स्विन्नः	६११	हंहो धीर समीर! हन्त जननम्
सहसा विदधीत	६ ०	हते जरति गाङ्गेये
सहायवर्ष्मावस्था	७०७	हनूमदाद्यैर्यशसा मया
साम्राज्यलक्ष्मीरियम्	५५०	हन्त! सततमेतस्याः
सा पत्युः प्रथमापराध	३५८	हन्त सान्द्रेण रागेण
सा बाला वयमप्रगल्भमनसः	८११	हन्त हन्त गतः कान्तः
सार्धं त्वामुपसर्पितं	१०७	हन्तुमेव प्रभुत्वस्य
सायकापर्यङ्कम्	२३५	हरन्ति हृदयं यूनाम्
सार्धं मनोरथशतैः	११३	हरत्यघं सम्प्रति हेतुरेष्यतः
सुधाम्बुविचिविटैः	६७०	हरस्तु किञ्चित्
सुतनु! जहिहि कोपं	२७१	हसति परितोषरहितं
सुधैव विमलाभ्रामाः	६१८	हा पूर्णचन्द्रमुखि!
सुतनौ वचनैर्निषेवितं	६१५	हारोऽयं हरिणाक्षीणाम्
सुभग! त्वत्कथारम्भे	१८०	हितान्न यः संशृणुते
सुभगे! कोटिसंख्यत्वमुपेत्य	२९५	हिमस्नुतवन्तम्
सूचीमुखेन सकृदेव	६२८	हीरकान्ति निशीथस्य
सूर्याचन्द्रमसौ यस्य	७८७	हृदि बिसलताहारो